समकालीन भारतीय साहित्य

Vol. 25 2005 No. 117 - 122

117

117

जनवरी-फ़रवरी 2005 : मूल्य 25 रुपए

18

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

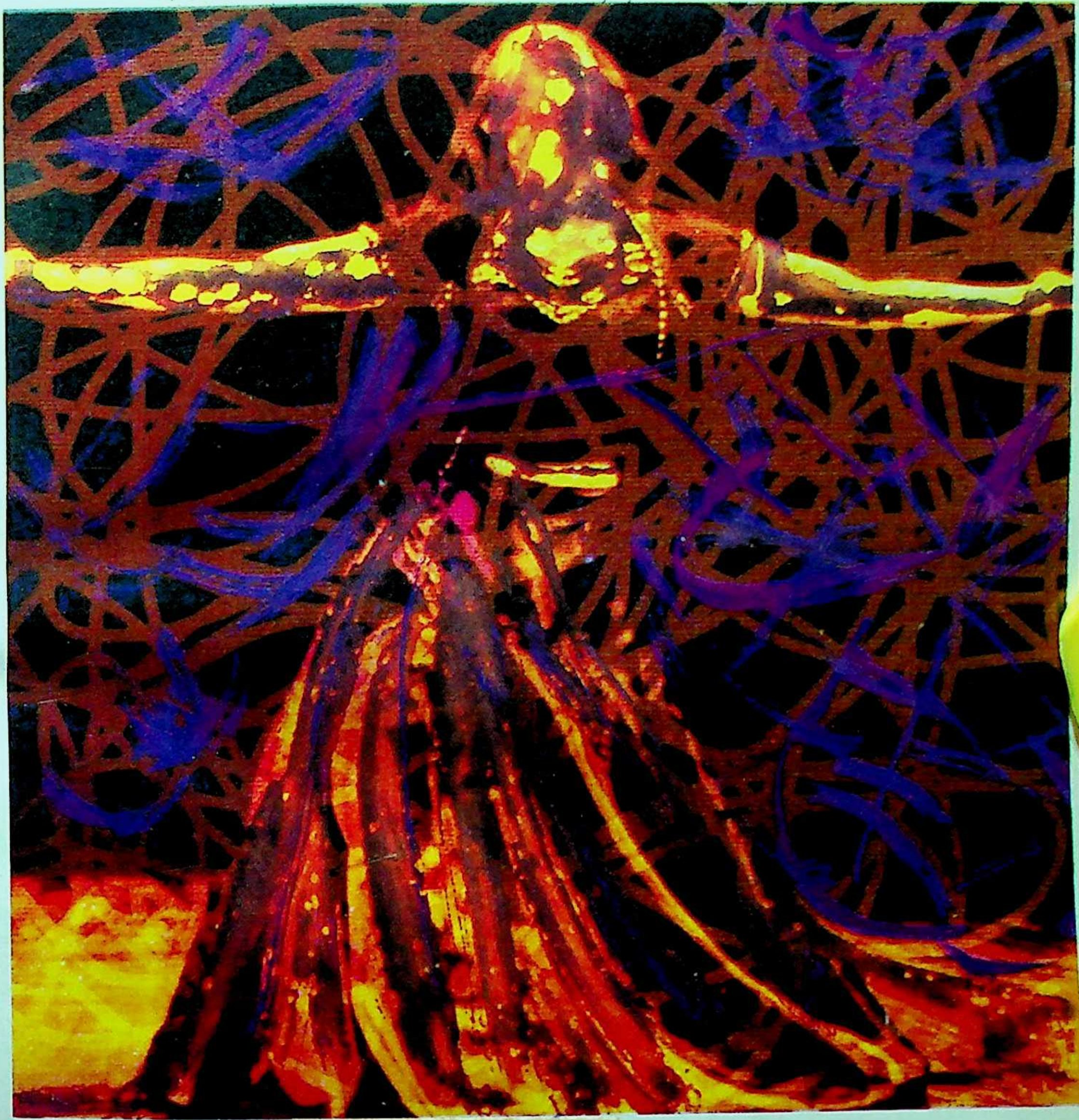

131402

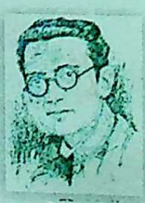

मंटो के अवसान के 50 वर्ष:

प्रो. गोपीचंद नारंग और शरद दत्त

सुनील गंगोपाध्याय, शक्ति चट्टोपाध्याय,
पन्नी सिंह, बद्री सिंह भाटिया, करनजीत सिंह,
नंदकिशोर नवल, मधुरेश, नासिरा शर्मा,
के. सच्चिदानंदन, एस. शेषारत्नम
और अन्य की रचनाएँ

नेपाली, तेलुगु, कन्नड की कविताओं पर विशेष; साथ में सात कहानियाँ

निवेदन

रचनाकारों से

- ☐ रचनाएँ काग़ज़ के एक ओर हाशिया छोड़ कर डबल-स्पेस टाइप कराके ही पता : संपादक, **समकालीन भारतीय साहित्य**, साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली 110001
- ☐ रचना की प्रति अपने पास अवश्य रखें। **रचनाएँ किसी भी दशा में वापस नह जाएँगी।**
- ☐ अनूदित (केवल भारतीय भाषाओं से) रचना के साथ मूल रचना का शीर्षक, रचनाका अनुमति मूल रचना का प्रकाशन वर्ष, पत्रिका/पुस्तक का शीर्षक, रचनाकार तथा अनु का परिचय अवश्य भेजें।
- ☐ रचना भेजने के बाद डेढ़ माह में स्वीकृति या अस्वीकृति की सूचना न मिल पत्र लिखें।
- ☐ रचना के साथ टिकट लगा पता लिखा लिफ़ाफ़ा क़तई न भेजें बल्कि अपना फ़ोन, मो नंबर, ई-मेल इत्यादि ज़रूर भेजें।

पाठकों से

आप जानते ही हैं कि *समकालीन भारतीय साहित्य* में साहित्य अकादेमी द्वारा मान्यता प्रद भारतीय भाषाओं की चुनी हुई रचनाओं के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होते हैं। इस के अति साहित्य, संस्कृति एवं भाषा-चिन्तन से संबंधित आलेख, पुस्तक समीक्षाएँ आदि भी प्रकाशित हैं। पिछले कुछ समय से अकादेमी ने अपने कार्यक्रमों एवं प्रकाशनों के दायरे में उन भाषाअ बोलियों को भी समाहित कर लिया है, जिन्हें अकादेमी की मान्यता नहीं मिली है। *समक भारतीय साहित्य* में हम यदा-कदा लोक-साहित्य एवं इन भाषाओं/बोलियों एवं इन में लि रहे साहित्य के बारे में शोधपूर्ण आलेख एवं इन के हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित करते हैं।

अपने पाठकों से हमारी अपेक्षा रहती है कि वे पत्रिका में प्रकाशित आलेखों, कहानियों, ना कविताओं एवं अन्य सामग्री पर अपनी टिप्पणियाँ और प्रतिक्रियाएँ भेजें। हमारी यह मंशा भी है कि आलेखों में प्रस्तुत कुछ मुद्दों पर संवाद का एक सिलसिला शुरू हो। हम ने इसी उ से 'पाठांतर' स्तंभ प्रारंभ किया है। आप से निवेदन है कि *समकालीन भारतीय साहित्य* में प्रक रचनाओं के बारे में अपनी सुस्पष्ट टिप्पणियाँ एवं प्रतिक्रियाएँ हमें प्रकाशनार्थ भेजें। टिप्पणिय प्रशंसापरक-अथवा निन्दापरक न हो कर गुण-दोष विवेचन पर आधारित एवं विचारपूर्ण हों। उ विचारों की हमें प्रतीक्षा रहेगी।

प्रो. के. सच्चिदानंदन, सचिव, द्वारा साहित्य अकादेमी के लिए प्रकाशित तथा नवचेतन प्रिंटर्स,
1-ई/2 झण्डेवालान एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110055 से मुद्रित / संपादक : अरुण प्रकाश

-131402

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

वर्ष 25 अंक 117 : जनवरी-फ़रवरी 2005

संपादक मंडल
गोपीचंद नारंग
सुनील गंगोपाध्याय
के. सच्चिदानंदन

संपादक
अरुण प्रकाश

131402

प्रकाशन का 25वाँ वर्ष

द्विमासिक
समकालीन भारतीय साहित्य
वर्ष 25 अंक 117 : जनवरी-फ़रवरी 2005

प्रकाशक : साहित्य अकादेमी

संपादकीय कार्यालय :
रवीन्द्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग,
नई दिल्ली 110001
फ़ोन : 2307 3312 (सीधा नंबर)
23386626, 23386627, 23386628 (पी.बी.एक्स) विस्तार 207
तार : साहित्यकार फ़ैक्स : 091-11-23382428

E-mail : secy@ndb.vsnl.net.in
Visit our Website at :
http://www.sahitya-akademi.org

© सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक, अनुवादक एवं साहित्य अकादेमी की स्वीकृति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से साहित्य अकादेमी, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

आवरण चित्र एवं रेखांकन : कुबेर दत्त : उम्र 55 वर्ष। जाने-माने हिंदी कवि, मीडियाकर्मी, स्वयं शिक्षित चित्रकार।

सज्जा : दिलीप कुमार टेलर : उम्र 43 वर्ष। देश-विदेश में प्रकाशनों तथा व्यापार प्रदर्शनियों के सुप्रसिद्ध डिज़ाइनर, चित्रकार।

रूप-चित्रण : सपना भारती : उम्र 25 वर्ष। चित्रकला में रुचि।

मूल्य : 25 रुपए
शुल्क-दर : एक वर्ष (6 अंक) 125 रुपए : तीन वर्ष (18 अंक) 350 रुपए

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर/6 ब्रिटिश पाउंड
एक वर्ष 50 डॉलर/30 पाउंड : तीन वर्ष 135 डॉलर/85 पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड
एक वर्ष 25 डॉलर/15 पाउंड : तीन वर्ष 70 डॉलर/44 पाउंड

शुल्क 'सचिव, साहित्य अकादेमी' के नाम से इस पते पर भेजें :
(केवल मनीऑर्डर, ड्राफ़्ट या नक़द) :
सचिव, साहित्य अकादेमी,
विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110001
फ़ोन : 23745297/23364207

SAMAKĀLĪN BHĀRATĪYA SĀHITYA :
A Bi-monthly journal of Indian literature from 24
languages, in Hindi, published by Sahitya Akademi,
Rabindra Bhavan, 35 Ferozeshah Road,
New Delhi-110001, India.

यह है नवीनीकरण का समय

जिनकी सदस्यता अंक 116 (नवंबर-दिसंबर 2004) तक समाप्त हो रही है, कृपया वे अपना नवीकरण करा लें। नवीनीकरण का फॉर्म यह है :

कृपया मुझे **समकालीन भारतीय साहित्य** नियमित रूप से भेजें।

एक वर्ष / तीन वर्ष . . . . से . . . . तक

बैंग ड्राफ़्ट / चैक / मनीऑर्डर संलग्न है

रु/$/ . . . .

मेरी प्रति इस पते पर प्रेषित की जाए :

नाम . . . .
पता . . . .
. . . .
. . . .
ई. मेल . . . .
फ़ोन . . . .

हस्ताक्षर

मूल्य (भारत) : एक प्रति 25 रुपए
एक वर्ष 125 रुपए : तीन वर्ष 350 रुपए

***** चैक/बैंक ड्राफ़्ट/मनीऑर्डर ''सचिव, साहित्य अकादेमी'' के नाम से ही निम्न पते पर भेजें : साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली-110001 या साहित्य अकादेमी, विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110001
(दिल्ली से बाहर के चैक स्वीकार्य नहीं।)

समकालीन
भारतीय साहित्य
साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

वर्ष 25, अंक 117 : जनवरी-फ़रवरी 2005

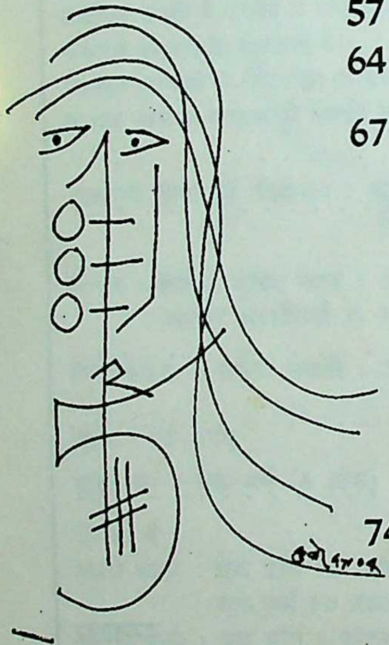

6 आमुख

मंटो के अवसान के 50 वर्ष

9 **गोपीचंद नारंग :** मंटो के पुनर्पाठ की भूमिका
22 **शरद दत्त :** मंटो : एक बेचैन रूह

संवाद

29 **शीर्षेन्दु मुखोपाध्याय :** शक्ति चट्टोपाध्याय बरक्स सुनील गंगोपाध्याय (बाङ्ला)

कहानी

45 **स्वामी :** अशांति की ओर (तेलुगु)
57 **पारमिता शतपथी :** पिंजरा (ओड़िया)
64 **शरद छेत्री :** मौत का कुआँ (नेपाली)

67 नेपाली कविता
राजेंद्र भंडारी : रात में छाङगु
कविता लामा : एक दिन का बचना
भविलाल लामिछाने : एक नई धरती के लिए
मोहन सुवेदी : संपर्क
जयंत कृष्ण शर्मा : ईश्वर के अन्वेषण में
नवसापकोटा : सृजन करो एक काग़ज़ का, रचो नया इतिहास
बैद्यनाथ उपाध्याय : अकेलापन

74 असमिया कविता
उदय कुमार शर्मा : घाव; कीचड़ से तानपुरे से
अर्चना पुजारी : साक्षात्कार; दर्पण
कुहेली भट्टाचार्य : मेरा "आपना"

हिंदी कहानी

79 **पुन्नी सिंह :** बच्चे सवाल नहीं करते
84 **बद्री सिंह भाटिया :** लोग फूलों को प्यार नहीं करते
93 **इंदु रश्मि :** अपना देश
102 **कमल :** बाहर वाली क़ब्रें

109 तेलुगु कविता
वरम् : जीवन की बूँद
ए. विद्यासागर : जीवन क्या है?

आशा राजू : परदेसी ख़त
अद्देपल्ली राममोहन राव : हाइटेक वसंत ऋतु
एस.वी. रामाराव : एक और कुरुक्षेत्र के लिए दुनिया तैयार है; ये सारे विचार मेरे हैं

116 **कन्नड कविता**
चन्नवीर कणवी : कवियों के लिए पुकार
जी.एस. शिवरुद्रप्पा : कुछ सवाल; विद्वानों के लिए
बरगुरु रामचंद्रप्पा: बच्चे का सवाल; बच्चे का गीत

रचना भूमि

120 **सतीश जायसवाल** : बस्तर : सूर्य-चंद्र का अनोखा लिपि शास्त्र

123 **हिंदी कविता**
सदाशिव श्रोत्रिय : वायुयान; नदी
केशुभाई देसाई : शिकायत; सपना
श्रीनिवास श्रीकांत : बात करती है हवा; गाँवः एक याद
सूरजपाल चौहान : मेरी माँ
अखिलेश मिश्र : मुट्ठी भर सपने; घड़ी के हाथ; यादों की सफ़ाई; सच का प्रतिशोध
अशोक सिंह : घर; पेड़; क्या होता है प्रेम?; मैं तुम्हारे आतंक से मुक्त होना चाहता हूँ ईश्वर!; जब भूख पर चर्चा होगी; छोटे लोग

शताब्दी-स्मरण

143 **करनजीत सिंह** : एक प्रगति एक परंपरा : मोहन सिंह (पंजाबी)
150 **नंदकिशोर नवल** : उत्तर-छायावाद, रहस्यवाद और रामकुमार वर्मा की कविता

आलेख

155 **एस. शेषारत्नम** : हिंदी और तेलुगु के लोकगीत
161 **ब्रह्मस्वरूप शर्मा** : समसामयिकता में सौंदर्य-बोध

मूल्यांकन

167 **के. सच्चिदानंदन** : दलित साहित्य मानवता का साहित्य है
मधुरेश : अतीत का सब कुछ
विजय बहादुर सिंह : अंतर्वस्तु की विदग्धता : मिट्टी जो कम पड़ गई
नासिरा शर्मा : शरीयत और मेव क़ानून में फँसी औरतें
राजाराम भादू : पराजय और प्रतिरोध का प्रत्याख्यान
रोहिणी अग्रवाल : नौ दिन चले अढ़ाई कोस
वेद प्रकाश : कथाविहीन कथा कहने का कौशल

193 **वर्ष के अन्य प्रकाशन**

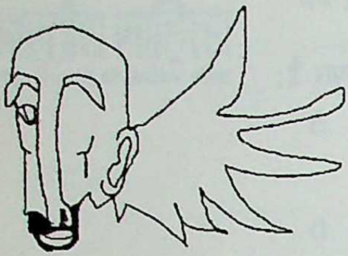

आमुख

मंटो की रचनाओं में प्रत्यक्ष राजनीतिक रुख कम ही मिलता है, हाँ, उसके प्रतिफलन पर तीखी टिप्पणियाँ ज़रूर मिलती हैं। मंटो ने लिखा है, ''लीडरों और दवा-फ़रोशों को मैं एक जुमले में शुमार करता हूँ। लीडरी और दवा-फ़रोशी दोनों पेशे हैं। और अगर सियासत से मुझे कोई दिलचस्पी है तो इतनी जितनी गांधी जी की सिनेमा से।'' मंटो की यह टिप्पणी जितनी प्रसिद्ध हुई उतनी ही यह ग़लतफ़हमी भी कि मंटो अराजक और अराजनीतिक लेखन करते थे। मंटो के बारे में यह हवाला भी मिलता है कि मंटो के अध्ययन-कक्ष में आतिशदान के ऊपर भगतसिंह की मूर्ति रखी रहती थी। मंटो अपने गुरु बारी साहब से वाल्तेयर, रूसो, मार्क्स, लेनिन, त्रात्स्की, स्तालिन वग़ैरह के बारे में बहस किया करते थे। इसका भी हवाला मिलता है। समाजी रिश्तों में पल रहे पाखंड के विरुद्ध विद्रोहात्मक तेवर ने मंटो की प्रच्छन्न राजनीतिक दृष्टि के महत्त्व को कमतर बनाया।

मंटो की पहली कहानी 'तमाशा' मंटो के नाम के बग़ैर अमृतसर से प्रकाशित 'खल्क' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। यह कहानी जलियांवाला बाग़ में अंग्रेज़ों द्वारा भारतीय जनता के घृणित नरसंहार से प्रेरित मानी जाती है। इस कहानी में खालिद के शहर के ऊपर उड़ते हवाई जहाज़ बेचैन, अंदर ही अंदर सुलगते शहर पर परचे गिराते हैं। शहर ख़ूनी हादसे (जलियांवाला नरसंहार) से बेचैन है। सशस्त्र पुलिस बल गश्त लगा रहे हैं। जलसों के आयोजन की सरकारी मनाही है फिर भी 'शहर के लोग बादशाह के मना करने पर भी शाम के क़रीब एक आम जलसा करने वाले हैं।'— डर है कि एक और ख़ौफ़नाक हादसा कहीं होकर न रहे। शहर में गोलीबारी होने लगती है। खालिद समझता है— हवाई जहाज़ से गिरे परचों में किसी तमाशे की सूचना होगी। वही तमाशा शुरू हो गया है। बाज़ार में चली गोली से एक घायल लड़के को अपने मकान के सामने देख खालिद रोने लगता है। घर वाले उसे बहला देते हैं कि लड़के की पिटाई स्कूल में हुई है। उसने सबक याद नहीं किया था। खालिद सोते वक़्त दुआ करता है कि पहाड़ा याद न करने की वजह से उसकी पिटाई न हो। खालिद को यह भी आशंका थी कि हवाई जहाज़ से गोले फेंके जाएँगे, सो वह अपनी नकली बंदूक़ से निशानेबाज़ी का अभ्यास करता है ताकि वह पूरी तरह बदला ले सके। मंटो ने लिखा है, ''काश! प्रतिरोध का यही नन्हा जज़्बा हर शख़्स में पैदा हो जाए।'' यह 'नन्हा जज़्बा' भगतसिंह के बचपन से ताल्लुक़ रखता है। भगतसिंह के जीवनीकार बताते हैं कि नन्हे भगतसिंह ने बंदूक़ का एक पौधा लगाया। उसका ख़याल था कि जैसे मक्के के पौधे से मक्का पैदा होता है, उसी तरह बंदूक़ की फ़सल भी होगी और जलियांवाला बाग़ का बदला लिया जा सकेगा। कोई ताज्जुब नहीं कि मंटो के अध्ययन-कक्ष में भगतसिंह की मूर्ति रखी रहती थी। जैसे नन्हे खालिद में भगतसिंह हैं वैसे ही मंटो में नन्हा खालिद है।

क़ुर्बानी रंग लाई और मुल्क़ आज़ाद हुआ तो मंटो को हम कहानी 'नया क़ानून' के मंगू कोचवान में पाते हैं। मंगू कोचवान है और कोचवान को जैसा होना चाहिए, वैसा ही है। मंगू लाहौर में सैनिक छावनी, माल रोड जैसे इलाक़ों में तांगा चलाता है। अंग्रेज़ी सिपाहियों को भी तांगे पर बैठाता है। छावनी के गोरे उसे सताया करते थे। वे पैसे को लेकर खिचखिच करते, गाली-गलौज़ करते। तिस पर गोरे भारत के शासक थे। इसलिए मंगू को गोरों से नफ़रत थी। आज़ादी आई, नया क़ानून लागू होने की बात मंगू ने सुनी। नया क़ानून—आज़ाद मुल्क का क़ानून।

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

वर्ष 25, अंक 118 : मार्च-अप्रैल 2005

6 आमुख

9 कृतिकार का पक्ष
पुरस्कृत लेखक : कृति का परिप्रेक्ष्य

33 बातचीत (कमलेश्वर से)
महावीर अग्रवाल : बड़े स्वप्न को बुनती है कहानी

44 आत्मकथा
बलबीर माधोपुरी : तिड़के शीशे की व्यथा

कहानी

53 **कानाइ कुंडू :** अमृत-मंथन (बाङ्ला)
66 **गुरमेल मडाहड़ :** गुरु का सिक्ख (पंजाबी)
85 **देवेंद्र सिंह :** पोसपूत (हिंदी)
93 **सिद्धनाथ सागर :** निदान (हिंदी)

103 हिंदी कविता
देवेंद्र शर्मा 'इंद्र' : ग़ज़ल : एक-चार
मानिक बच्छावत : समुद्र मुझे बुलाता है; मछुआरे
राजाराम भादू : शब्दों की दुनिया; धुआँ; हाथ नहीं आती छायाएँ; उत्खनन के लिए प्रतिश्रुत
विजय राठौर : सॉनेट : एक-चार
रमेश प्रजापति : दुख : एक, दो; चिंता; पिसता है अँधेरा; पूरा हँसता चेहरा
राजेंद्र कुमार कनौजिया : उम्मीद; दरवाज़े; नुकसान; दीमक
शेख मोहम्मद कल्याण : बहुत दिनों बाद; हम नहीं होते वहाँ; छूमंतर
राहुल राजेश : पाखी के लिए विदा-गीत; मुझे पसंद हैं ऐसी लड़कियाँ; एक अनाधुनिक प्रणय निवेदन; पिता का वसीयतनामा; माँ; मुझे अब भी; वेश्याएँ

आलेख

129 **विश्वनाथ त्रिपाठी :** मैं हूँ स्वयं निज प्रतिवाद
145 **सत्यकाम :** भारतीय उपन्यास और लोकजीवन
151 **मधु संधु :** भीष्म साहनी की कहानियों में नारी-विमर्श

यह है नवीनीकरण का समय

जिनकी सदस्यता अंक 116 (नवंबर-दिसंबर 2004) तक समाप्त हो रही है, कृपया वे अपना नवीकरण करा लें। नवीनीकरण का फॉर्म यह है :

कृपया मुझे **समकालीन भारतीय साहित्य** नियमित रूप से भेजें।

एक वर्ष / तीन वर्ष . . . . से . . . . तक

बैंक ड्राफ़्ट / चैक / मनीऑर्डर संलग्न है

रु/$/ . . . .

मेरी प्रति इस पते पर प्रेषित की जाए :

नाम . . . .
पता . . . .
. . . .
. . . .
ई. मेल . . . .
फ़ोन . . . .

हस्ताक्षर

मूल्य (भारत) : एक प्रति 25 रुपए
एक वर्ष 125 रुपए : तीन वर्ष 350 रुपए

* चैक/बैंक ड्राफ़्ट/मनीऑर्डर ''सचिव, साहित्य अकादेमी'' के नाम से ही निम्न पते पर भेजें : साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली-110001 या साहित्य अकादेमी, विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110001
(दिल्ली से बाहर के चैक स्वीकार्य नहीं।)

157 **कविता**

अनुराधा पाटील : इतिहास के पन्नों पर; कविता से परे एक और सच
उषा परब : मैं; घर; चार क़दम
इंद्रजित भालेराव : मेरी कविता; ज़मीन (मराठी)
जीवकांत : पोखरे का पानी; कुरुक्षेत्र में संकल्पित (मैथिली)
अब्दुस शाहिद चौधरी : एक आकाश के नीचे; सुनहरा प्रभात (मणिपुरी)

169 **मूल्यांकन**

त्रिलोचन : नेरुदा की मौलिकता का हिंदी में संचयन
रमेश उपाध्याय : सुखांत के विरुद्ध
महेश कटारे : टूटने से पहले
हरिसिंह पाल : भारत की सांस्कृतिक धरोहर
नंद भारद्वाज : जनगीत की लोक-संवेदना और सौंदर्य
देवेंद्र कुमार देवेश : कविता हो ही जाती है
पल्लव : जूझने का संकल्प : हिडिंब

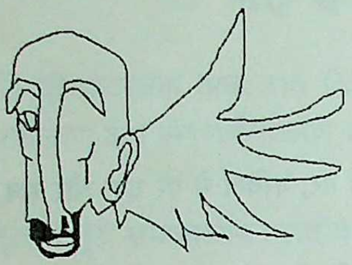

आमुख

अभी जब हमारे प्रधानमंत्री ने दूसरे देशों से सुनामी पीड़ितों के लिए सहायता लेने से विनम्रतापूर्वक मना किया तो मुझे गर्व की अनुभूति हुई। ऐसा क्यों हुआ, ज़ाहिर है यह गर्व एक भारतीय के रूप में हुआ। फिर भारतीयता का बिंदु ध्यान में आया।

भारतीयता एकीकृत अवधारणा है या एक बहुलतावादी समुच्चय का सार, इस पर बहसें हुई हैं और होती भी रहेंगी। दुनिया के लिए ऐसी बहस नई नहीं है। दो विश्व-युद्ध झेल चुका यूरोप आज भी अनेक समाजों, संस्कृतियों का संगम है। दोनों महायुद्धों में यूरोप को जन और धन की भारी हानि उठानी पड़ी। शीत युद्ध के दौरान ही यह अहसास बढ़ा कि वे, देश से आगे भी, यूरोपीय हैं। आज यूरोप में पुराने साम्यवादी देश, युनाइटेड किंगडम जैसे उपनिवेशवादी देश और तो और सोलोमन साम्राज्य के वंशधर तुर्की तक यूरोपीय आर्थिक समुदाय का हिस्सा बन चुके हैं। आर्थिक मुद्रा युरो सिर्फ़ आर्थिक लेनदेन का नहीं, वह यूरोपीय एकता का भी प्रतीक है। यूरोपीयता वस्तुतः महादेशीयता है।

उपमहादेश में स्थित भारत एक देश ज़रूर है पर वह आकार में यूरोप के समान भले ही न हो, आबादी और संस्कृतियों की संख्या के हिसाब से अधिक बड़ा है। भारत के ताने-बाने यूरोप जैसे ही हैं। इसलिए भारतीयता भी महादेशीयता ही है। पड़ोसी मुल्कों की जनता जब भी राजनीतिक संकट या प्राकृतिक विपदा में फँसती है तो निस्संकोच भारत की ओर रुख़ करती है। भारत एक राजनीतिक इकाई तो है पर एशियाइयों का तीर्थ और पनाहगाह भी है। महादेशीयता में देश के बने रहने में जैसे कोई संकोच नहीं होता वैसे ही देश के भीतर प्रांतों की गुंजाइश तो रहती है।

एक भारतीयता उदारवादियों की है तो एक भारतीयता पुरोगामियों की भी है। उदारवादी, सारवादी, भारतीयता संविधान सम्मत है तो पुरोगामी अपनी एकीकृत भारतीयता को शास्त्र सम्मत सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। लेकिन इससे आशंकाएँ पैदा होती हैं। मलयालम के लेखक पॉल ज़कारिया ने कहा : ''मलयाली सभ्यता का नागरिक होने के नाते मुझमें हमेशा रोष उत्पन्न होता है कि भारतीय सभ्यता के एकीकरण के चलते मुझे अतीत से उत्पन्न नई समस्याओं के बोझ को ढोने का हिस्सा बनने पर मजबूर होना पड़ता है... भारतीय होने का विचार मुझे पसंद है क्योंकि मैं आशावान हूँ।'' हम भारतीय अत्यधिक आशावान हैं कि लोक ही नहीं, परलोक को भी आशा से देखते हैं। चिरंतन आशा भी भारतीयता के मूलाधारों में से है।

❑

साहित्य अकादेमी के महत्तर सदस्य जाने-माने विद्वान विद्यानिवास मिश्र का एक दुर्घटना में निधन हो गया। वे संस्कृत साहित्य के पंडित और भाषाविद् तो थे ही, कवि-हृदय भी थे। वे अपने वैयक्तिक निबंधों के लिए सर्वाधिक जाने जाते थे। कोई एक दर्जन निबंध संग्रह उनकी सृजनात्मक प्रतिभा के उदाहरण हैं। मिश्र जी भारतीयता के परम आग्रही थे। हाँ, उनकी भारतीयता के केंद्र में लोक था। वे लोक में ही रमते थे। लोकभाषा भोजपुरी और अवधी के लिए किए गए उनके कार्य इसी लोक प्रेम के उदाहरण हैं। वे लोक के ही परिप्रेक्ष्य में हिंदू धर्म को देखते थे। ''हिंदू धर्म पोथी धर्म नहीं है, पंडित धर्म भी नहीं है, वह लोक द्वारा जीवित धर्म है।'' संस्कृति के मामले में भारतीयता ही उनके लिए निकष थी इसलिए वे पाश्चात्य दर्शन, अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य संस्कृति पर व्यंग-बाण चलाते रहे। शास्त्रार्थ करने वाले धुरंधर विद्वान वाली ज़िद ही

समकालीन
भारतीय साहित्य
साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

वर्ष 25, अंक 119 : मई–जून 2005

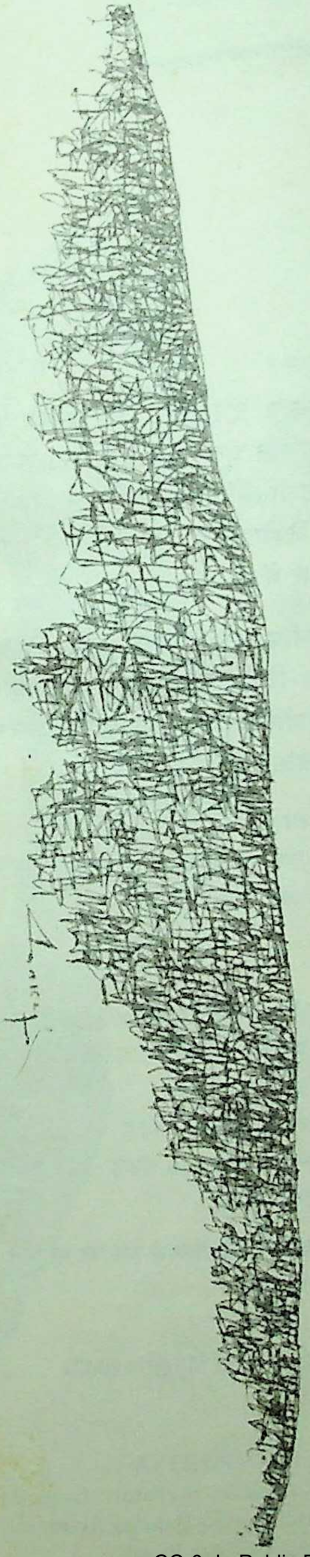

6 आमुख

साहित्य रूपक

9 अनुवाद का अनुभव

यादें

29 **निरुपमा दत्त :** कुछ हमें मरने का शौक़ भी था

कहानी

37 **मित्रा फुकन :** बोहाग (असमिया)
45 **ए. जे. उत्तम :** वॉक आउट (सिंधी)
49 **कला प्रकाश :** नर्स (सिंधी)
53 **प्रकाश पर्येकार :** वर्सल (कोंकणी)

कविता

59 **सुतिंदर सिंह ''नूर'' :** कुत्ते; मेरे देश में; प्रेम व पुस्तक; जब भेद
नहीं मिलता; तुम मनुष्य के बारे कैसे सोचते हो ? समय-
समय के बादशाह; महानगरी एक घर; कविता को उगन
दो अपने भीतर (पंजाबी)
रामसिंह चाहल : नया संसार; क्या निकट— क्या दूर; बिटिया क
विवाह; देखना (पंजाबी)
परमिंदर सोढ़ी : सूखा पत्ता; कुछ हाइकू (पंजाबी)
देवनीत : त्रिकुटी (पंजाबी)
तरसेम : नीम का वृक्ष और चिड़िया; अंतर; आवाज़; अकेला नह
हूँ मैं; उसने कहा; घर; नीली; थाने के पास से गुज़र
हुए; कितना अकेला (पंजाबी)
सुखजीत : तू भ्रम मत पाल; सिर्फ़ तेरे लिए वसु; कलाकारी (पंजाबी
ओम प्रभाकर : पतझड़ में गंध झरे!; चंद अल्फाज़; नज़र बाक़
(उर्दू)

रचना भूमि

89 **कमल :** संताल और उनकी दुनिया

कहानी

95 **हबीब कैफ़ी :** कलसी (हिंदी)
100 **सुदर्शन नारंग :** संधि-रेखा (हिंदी)
107 **तरसेम गुजराल :** आधा खुला दरवाज़ा (हिंदी)
116 **रजनी गुप्त :** धुआँ और धुंध (हिंदी)
128 **श्यामल बिहारी महतो :** समर्पण (हिंदी)
136 **इंदुलता महांति :** बस इतनी सी आस (ओड़िया)

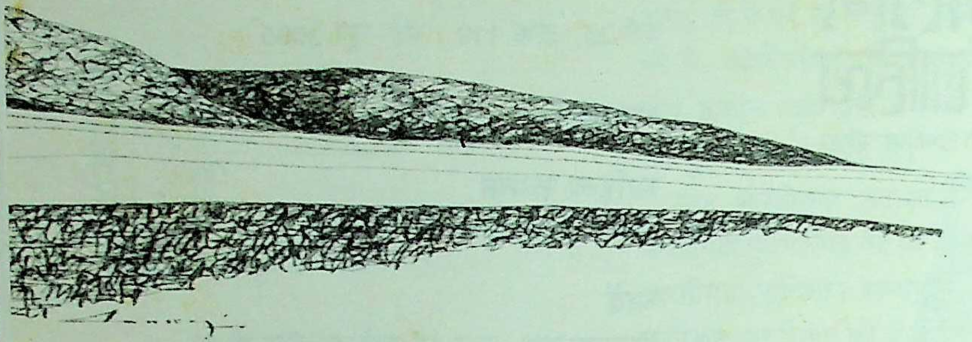

आवरण चित्र: पंकज दीक्षित : 40 वर्षीय स्वयं
एवं रेखांकन शिक्षित युवा चित्रकार। 50 से ऊपर प्रदर्शनियों में हिस्सेदारी। पोस्टर कला में विशेष रुचि। मध्यप्रदेश के अशोक नगर में रहते हैं।

सज्जा : दिलीप कुमार टेलर : उम्र 43 वर्ष। देश-विदेश में प्रकाशनों तथा व्यापार प्रदर्शनियों के सुप्रसिद्ध डिज़ाइनर, चित्रकार।

द्विमासिक
समकालीन भारतीय साहित्य
वर्ष 25 अंक 119 : मई-जून 2005

प्रकाशक : साहित्य अकादेमी

संपादकीय कार्यालय :
रवीन्द्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग,
नई दिल्ली-110001
फ़ोन : 2307 3312 (सीधा नंबर)
23386626, 23386627, 23386628
(पी.बी. एक्स) विस्तार 207
ार : साहित्यकार फ़ैक्स : 091-11-23382428

-mail : secy@ndb.vsnl.net.in
isit our Website at :
ttp://www.sahitya-akademi.gov.in

सर्वाधिकार सुरक्षित
काशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक, अनुवादक एवं ाहित्य अकादेमी की स्वीकृति आवश्यक है।

काशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से साहित्य अकादेमी, ंपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

मूल्य : 25 रुपए
शुल्क-दर : एक वर्ष (6 अंक) 125 रुपए : तीन वर्ष (18 अंक) 350 रुपए

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर/6 ब्रिटिश पाउंड
एक वर्ष 50 डॉलर/30 पाउंड : तीन वर्ष 135 डॉलर/85 पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड
एक वर्ष 25 डॉलर/15 पाउंड : तीन वर्ष 70 डॉलर/44 पाउंड

शुल्क 'सचिव, साहित्य अकादेमी' के नाम से इस पते पर भेजें :
(केवल मनीऑर्डर, ड्राफ़्ट या नक़द) :
सचिव, साहित्य अकादेमी,
विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110001
फ़ोन : 23745297/23364207

SAMAKĀLĪN BHĀRATĪYA SĀHITYA:
A Bi-monthly journal of Indian literature from 24 languages, in Hindi, published by Sahitya Akademi,
Rabindra Bhavan, 35 Ferozeshah Road,
New Delhi-110001, India

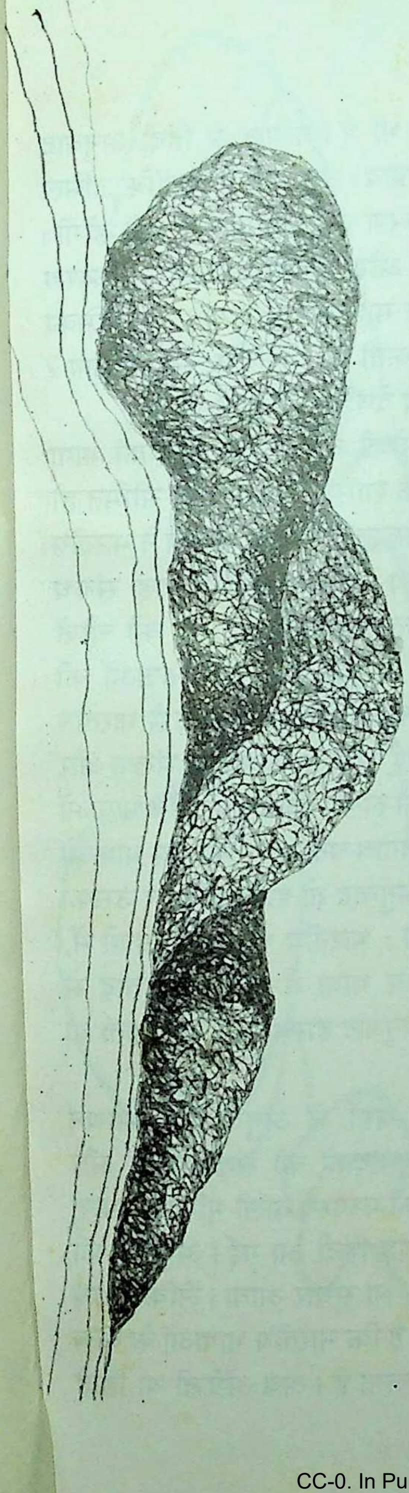

142 कविता

नूतन साखरदांडे : बारिश मन में; दिन एक; यह मेरा घर है; बिटिया मेरी; समझौता (कोंकणी)
संजीव वेरेंकर : हम बुझ नहीं गए थे; खा लो, ऐ मुर्ग़े; खो गया मैं; लहरें (कोंकणी)
सुदेश लोटलीकर : ज़ाकिर हुसेन को सुनते हुए (मराठी)
अर्जुन देव मजबूर : बर्फ़ का आदमी; जादूगर का खेल; दीवार पर टँगा चित्र; सृजन (कश्मीरी)
अमिता प्रजापति : छुट्टी का दिन; खनकन; यह मेरी सुबह है (हिंदी)
प्रेम रंजन अनिमेष : रेज़गारियाँ (हिंदी)

आलेख

159 **प्रेमलता वर्मा :** प्रवास में रचना : परिवेश एवं अभिव्यक्ति
166 **रमेश कुंतल मेघ :** अंतर्ज्ञानानुशासन का बहुरूपदर्शी
176 **प्रत्यूष गुलेरी :** कांगड़ा के विवाह-गीत
179 **हरबंस पटेल :** गुजराती दलित साहित्य में नारी (गुजराती)

184 कविता

नीरेंद्रनाथ चक्रवर्ती : प्राकृत वचन; एक कमरे में आधी रात, दूसरे कमरे में दिन की रोशनी (बाङ्ला)
शंख घोष : एक दिन सीढ़ियाँ चढ़कर; जिस दिन (बाङ्ला)
अमिताभ दासगुप्त : आओ, स्पर्श करो (बाङ्ला)
कृष्णा बासु : अधूरी चिट्ठी; नाम दो अग्निपरीक्षा, पाताल प्रवेश; औरत की लाश (बाङ्ला)
विवेकानंद : खौलता पानी; चुनाव (हिंदी)
यश मालवीय : गीत के हर अंतरे में साँस बोना; तुम्हारी धूप ने...; पेड़ पुराने हैं; हम ग़रीब का बथुवा हैं; चौराहे (हिंदी)

196 मूल्यांकन

जीवन सिंह : आलोचना-परंपरा की प्रासंगिकता
रामबक्ष : वैचारिक भावात्मक चिंतन
रामकुमार कृषक : झरते हुए फूलों की हँसी
मोहन सिंह : जड़ों की तलाश में
दिनेश कुमार शुक्ल : रचनाशीलता के तीन रंग
वेद प्रकाश : स्थूल यथार्थ में सौंदर्य-बोध

215 पाठांतर

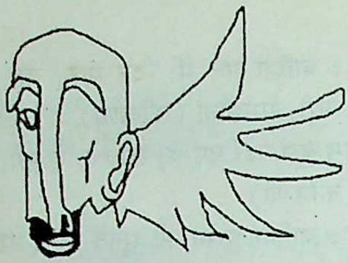

आमुख

सुप्रसिद्ध भारतीय चिंतक और कथाकार निर्मल वर्मा ने एक प्रसंग में लिखा है : ''आधुनिक लेखक की यह विडंबना कि संप्रेषणीयता सिर्फ़ अर्थ खोकर और अर्थ सिर्फ़ संप्रेषणीयता खोकर प्राप्त किया जा सकता है, आज के तकनीकी समाज की विलक्षण देन है।'' इस विडंबना से साबका अनुवादकों का भी पड़ता है। हाँ, वे इस विडंबना को तकनीकी समाज से पहले यानी कृषि समाज के दौर से ही झेलते आए हैं।

अनुवाद शब्द कब चलन में आया नहीं मालूम, लेकिन कृषि समाज के उत्कर्ष का दौर हमारे क्लासिकल साहित्य का दौर भी है। मूल क्लासिकल साहित्य ही नहीं, हमारे प्राचीन साहित्य में भाष्य और टीका दोनों का चलन रहा है। गौर से देखें तो ये दोनों ही अनुवाद के विस्तार हैं। इसमें भाष्यकार अनुवाद और व्याख्या दोनों की ज़िम्मेदारी उठाता है। कुछ विद्वान टीका को अनुवाद का निकटवर्ती मानते हैं। मुझे भी यही लगता है। प्राचीन साहित्य की पुस्तकों पर ऐसा पदबंध अकसर छपा देखा है: वाल्मीकि कृत रामायणम् भाषा टीका सहित। टीका किस में? भाषा में? रामायण तो है ही भाषा में फिर भाषा टीका पदबंध क्यों? संस्कृत भाषा नहीं, देवभाषा की मान्यता रही है। संस्कृतेत्तर भाषाओं को भाषा कहा जाता था। इसीलिए इस पदबंध का मंतव्य यह हुआ कि देवभाषा संस्कृत से भाषा (इस मामले में हिंदी) में अनुवाद। इस तरह भारत में अनुवाद-कर्म काफ़ी प्राचीन कर्म है।

फिर भी तमिल के कंब रामायण के बारे में हिंदीभाषी सुपरिचित नहीं थे, लोकमानस में यह अपरिचय आज भी है। तमिल से हिंदी अनुवाद दुष्कर ही नहीं, प्राय: असंभव था क्योंकि तमिल शब्दकोश, व्याकरण आदि समस्याएँ रही होंगी। तभी एक तमिल और हिंदी के बीच एक मध्यस्थ भाषा की ज़रूरत महसूस हुई होगी। यह भूमिका संस्कृत निभा सकती थी, लेकिन क्यों निभाए? भाषा का अनुवाद देवभाषा में क्यों हो?

इस देश में अंग्रेज़ी आई तो वह सत्ता की भाषा थी। औपनिवेशिक शासकों को प्रजा से सीमित ही सही, संवाद की ज़रूरत तो थी। तो अंग्रेज़ी ने भारतीय भाषाओं से संबंध बनाया। लेकिन यह संबंध अधिकांशत: इकतरफ़ा रहा। अंग्रेज़ी की चीज़ें भारतीय भाषाओं में आईं। भारतीय भाषाओं की पुस्तकें अंग्रेज़ी में नहीं गईं। पाँचवें दशक से भारतीय भाषाओं की रचनाएँ अंग्रेज़ी में अधिक संख्या और गति से अनूदित होने लगीं। लेकिन भारतीय भाषाओं का पारस्परिक अलगाव बना रहा। भारतीय भाषाओं की रचनाओं का अनुवाद तो होता था मगर उसका समीकरण होता था : भारतीय भाषा से अंग्रेज़ी में, फिर दूसरी भारतीय भाषा में। यानी अनुवाद से अनुवाद। ऐसे में अनुवाद हास्य-बिंदु बन जाता था तो आश्चर्य क्या?

पिछले पचास वर्षों में अनुवाद के साधन विकसित हुए, अनुवादकों की संख्या बढ़ी और अनुवाद में अंग्रेज़ी की मध्यस्थ वाली भूमिका समाप्त हो गई। उसकी जगह हिंदी आ गई। अनुवाद की गुणवत्ता में मामूली-सा सुधार आया। लेकिन अब सबसे सुखद स्थिति है कि भारतीय भाषाओं के बीच सीधे अनुवाद होने लगा है। अब अंग्रेज़ी या हिंदी

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

वर्ष 26 अंक 120 (जुलाई-अगस्त 2005)

6 *आमुख*

आलेख

9 **विनोद भट्ट** : हास्य मेरा पहला प्रेम (गुजराती)

स्मृति तर्पण : दिनकर

17 **कुमार विमल** : नमन पुनीत अनल को

कहानी

27 **सैयद मुहम्मद अशरफ़** : तूफ़ान (उर्दू)
37 **फ़ज़ले हस्नैन** : इनामी (उर्दू)
40 **तरन्नुम रियाज़** : यंबरज़ल (उर्दू)
58 **राजेंद्र राजन** : रिज़र्व फ़ॉरेस्ट (हिंदी)
65 **सुशांत सुप्रिय** : पिता के नाम (हिंदी)

69 *राजस्थानी कविता*
यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' : सच कुछ और है
मालचंद तिवाड़ी : इस तरह रखा तुमने; ताकते मुँह तुम्हारा और मेरा
मोहन आलोक : चिड़िया की बोली लिखो; रचना; फूल के क़रीब जाइए; बसंत
रमेश मयंक : प्रवासी, पक्षी; सुन सको तो
नंद किशोर चतुर्वेदी : बैसाखियाँ
संतोष माया मोहन : याद; मैं माँ
विनोद स्वामी : कबीर की आशा में; मेह; गाली

79 *तमिल कविता*
शिल्पी बालसुब्रह्मण्यम : सूरज का साया; मेरे गाँव का दरिया; प्यास

आलेख

83 **खगेंद्र ठाकुर** : कालिदास की कुल्हाड़ी
88 **सुवास कुमार** : साहित्यिक विधाओं की अवधारणा
91 **शंभु गुप्त** : हिंदी कविता : भाषा और शिल्प के नए तेवर
100 **रवि श्रीवास्तव** : मुझसे पहली-सी मोहब्बत...

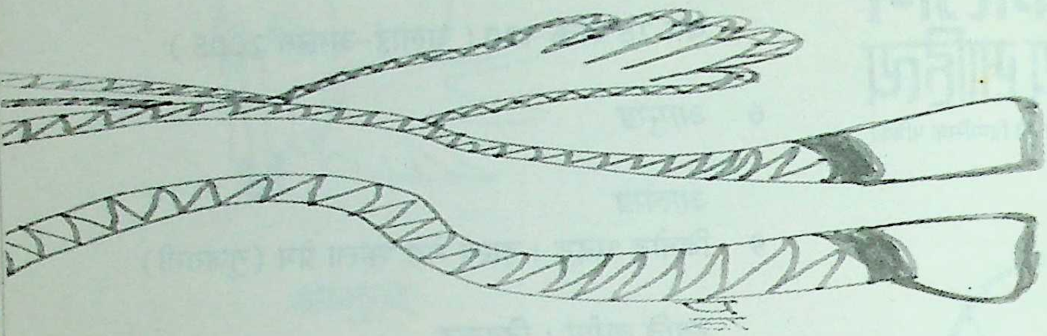

आवरण चित्र एवं रेखांकन : पन्ने कुँवर बच्छावत : जन्म 1942 स्वयं शिक्षित युवा चित्रकार। विभिन्न लोक-शैलियों से प्रेरित होकर लोकचित्रों एवं रेखाचित्रों की प्रदर्शनियाँ। 1996 का ब्राह्मी कला पुरस्कार। संपर्क : कलकत्ता में रहती हैं।

सज्जा : दिलीप कुमार टेलर : उम्र 43 वर्ष। देश-विदेश में प्रकाशनों तथा व्यापार प्रदर्शनियों के सुप्रसिद्ध डिज़ाइनर, चित्रकार। संप्रति दिल्ली निवास।

द्विमासिक
समकालीन भारतीय साहित्य
वर्ष 26 अंक 120 : जुलाई-अगस्त 2005

प्रकाशक : साहित्य अकादेमी

संपादकीय कार्यालय :
रवीन्द्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग,
नई दिल्ली-110001
फ़ोन : 2307 3312 (सीधा नंबर)
23386626, 23386627, 23386628
(पी.बी. एक्स) विस्तार 207/255
तार : साहित्यकार फ़ैक्स : 091-11-23382428

E-mail : secy@ndb.vsnl.net.in
Visit our Website at :
http://www.sahitya-akademi.gov.in

© सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक, अनुवादक एवं साहित्य अकादेमी की स्वीकृति आवश्यक है।

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से साहित्य अकादेमी, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

मूल्य : 25 रुपए
शुल्क-दर : एक वर्ष (6 अंक) 125 रुपए : तीन वर्ष (18 अंक) 350 रुपए

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर/6 ब्रिटिश पाउंड
एक वर्ष 50 डॉलर/30 पाउंड : तीन वर्ष 135 डॉलर/85 पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड
एक वर्ष 25 डॉलर/15 पाउंड : तीन वर्ष 70 डॉलर/44 पाउंड

शुल्क 'सचिव, साहित्य अकादेमी' के नाम से इस पते पर भेजें : (केवल मनीऑर्डर, ड्राफ़्ट या नक़द) :

SAMAKĀLĪN BHĀRATĪYA SĀHITYA:
A Bi-monthly journal of Indian literature from 24 languages, in Hindi, published by Sahitya Akademi,
Rabindra Bhavan, 35 Ferozeshah Road,
New Delhi-110001, India

संवत्सर

105 **दिलीप चित्रे :** असहिष्णुता के विरुद्ध

111 *हिंदी कविता*

श्याम कश्यप : फ़क़ीरों की ज़िद; राग फ़क़ीरी; सूर्योदय हेमंती; सागर सूर्यास्त; बारिश-बदली; रात रुपहली; स्वप्न-यामिनी; सलोनी रात; आग और फाग; अमर कंटक

उपेंद्र कुमार : सत्तू

राजेंद्र उपाध्याय : कबिर पावे ना तार जीवन चरिते; पेड़

विपिन जैन : सवेरा भी था; क्यों डरे कोई

विनय विश्वास : साहस; ख़र्च; सादगी; बड़े; आगमन; पंख

हरे प्रकाश उपाध्याय : सोचो एक दिन; नवागत के स्वागत में

यात्रा-वृत्तांत

129 **सतीश जायसवाल :** मिज़ोरम : अभी जो है, वही...

कहानी

140 **सुनील गंगोपाध्याय :** आदिम नारी (बाङ्ला)

155 **सुभाष पंत :** इक्कीसवीं सदी की एक दिलचस्प दौड़ (हिंदी)

163 **अलका पाठक :** सिंहासन बत्तीसी भाग-2 (हिंदी)

175 **मदन सैनी :** झूला (राजस्थानी)

180 *मूल्यांकन*

सुरेंद्र तिवारी : अँधेरे की आत्मा

जयप्रकाश कर्दम : दलित विमर्श बनाम गांधी

क्षितिज शर्मा : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जीवन की अभिव्यक्ति

केदार कुमार मंडल : एक नए भाव-बोध की खोज

अजय कुमार मिश्र : हिंदी उपन्यास परंपरा की एक सार्थक खोज

197 *पाठांतर*

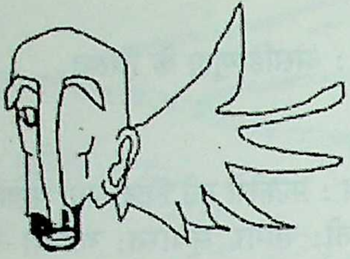

आमुख

जब हम प्रख्यात गुजराती हास्य-लेखक विनोद भट्ट के लेख के अनुवाद के संपादन में जुटे थे, तभी प्रतिष्ठित पत्रिका वागर्थ में जाने-माने कवि इब्बार रब्बी का स्मरण लेख हास्य लेखक जी. पी. श्रीवास्तव पर पढ़ने को मिला। और, मन विषाद से भर गया। हम हिंदी साहित्य वाले कैसे हो गए हैं! जहाँ बाल मुकुंद गुप्त के 'शिवशंभू के चिट्ठे' जैसे स्तंभ, 'मतवाला', 'चंकल्लस', 'नोंक-झोंक', 'मुस्कान', 'धूर्त्तपंच' और 'शंकर्स वीकली' जैसी पत्रिका की परंपरा रही हो, वहीं साहित्य हास्य को किनारे डालकर भुला दे! स्पानी उपन्यास 'डॉन किहोटे' के प्रकाशन के चार सौ वर्ष हो गए हैं। इसे सबसे पुराने उपन्यास के रूप में याद किया जा रहा है, हास्य उपन्यास के रूप में नहीं। उपन्यास स्वीकार्य है, हास्य नहीं। हमें जी.पी. श्रीवास्तव इसीलिए याद नहीं आते।

आधुनिकतावाद के साये में जब प्रयोगवाद आया तो शुद्ध साहित्यबाज़ी को प्रतिष्ठा मिलनी शुरू हो गई थी। इसके लपेटे में प्रगतिवादी भी आए। किसी के लिए गंभीरता का मार्ग कलावाद से होकर गुज़रता था तो किसी के लिए संघर्ष से। हास्य और व्यंग्य को साहित्य में शूद्र मान लिया गया। यह बात हरिशंकर परसाई ने बहुत पीड़ा के साथ लिखी है। गंभीरता का अर्थ हुआ कि आप हमेशा मुँह लटकाए घूमें। हँसे तो अगंभीरता के गुंजलक में फँसे। यह और बात है कि गंभीरता के अनेक हास्यास्पद व्यक्तित्व साहित्य में मिल जाते हैं। आधुनिकतावाद की सहेली नई समीक्षा से प्रेरित हमारी हिंदी आलोचना को लोकप्रियता से वैर रहा है। कुछ-कुछ इस अंदाज़ में कि जो लोकप्रिय होगा, वह गंभीर नहीं हो सकता। कहानी लोकप्रिय विधा बन रही है, तो उसमें गंभीरता नहीं है इसलिए कथा का औपन्यासिक रूप ही आलोचना के विचार के लिए उपयुक्त है। लेकिन ऐसे चिंतकों के पास प्रेमचंद, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल जैसे रचनाकारों की गंभीर रचनाओं की लोकप्रियता का कोई विश्लेषण नहीं है। ये ही गंभीर चिंतक बहुधा साहित्य से पाठकों की विमुखता पर विलाप करते पाए जाते हैं। और अगर कोई गंभीर लेखक लोकप्रिय हुआ तो उपेक्षा का ब्रह्मास्त्र उस पर चला देते हैं।

मंच पर पठित या अभिनीत जो भी हास्य है, सबका सब फूहड़ नहीं है। लेकिन जब पूरे हास्य को फूहड़ मान लिया गया हो तो वह साहित्य में क्या करे? आज हास्य मंच कविता और नाटक के हवाले है। हास्य साहित्य के बाहर है इसलिए साहित्य की शुचिता बची हुई है और गंभीर चिंतक इससे प्रसन्न हैं!

हास्य और व्यंग्य के संबंध पर विवाद रहा है। इनमें व्यंग्य के बारे में आलोचक यदा-कदा टीका-टिप्पणी कर देते हैं तो व्यंग्य-रचनाकार स्वयं को ब्राह्मण और हास्य को शूद्र समझते हैं। हास्य पर दो-एक आलोचना पुस्तकें हैं। व्यंग्य पर दस आलोचनात्मक पुस्तकें होंगी। छठे से आठवें दशक को व्यंग्य का स्वर्णकाल कहा जा सकता है जब हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवींद्रनाथ त्यागी और केशवचंद्र वर्मा अपने सृजन के सर्वोत्तम दौर में थे। अब वैसा दौर नहीं है फिर भी व्यंग्य-रचनाकार तो हैं। यदि वैसा दौर नहीं रहा तो इसकी ज़िम्मेवारी आलोचना की भी बनती है। नई प्रतिभाएँ व्यंग्य-रचना की ओर क्यों आकर्षित

समकालीन
भारतीय साहित्य
साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य 121 (सितंबर-अक्तूबर 2005)

6 आमुख

यात्रा-वृत्तांत

9 **प्रेमचंद :** दक्षिण भारत में हमारी हिंदी प्रचार यात्रा

आत्म-वृत्तांत

21 **हृदयेश :** मेरे भीतर शहर

जीवन

39 **बिटिया मुर्मू :** अभिशप्त संताल औरत (संताली)

45 ओड़िया कविता
ममतामयी चौधरी : टाइपिस्ट बेटी की माँ, टांगाइल साड़ी-1; टांगाइल साड़ी-2
अपर्णा महांति : नष्ट नारी-1
सुचेता मिश्र : प्रेम की तुलना
दीप्ति दास : मोहब्बत; प्यास
प्रवासिनी महाकुड़ तिवारी : मेरे भीतर कई नारियाँ; ऐश्वर्य

कहानी

57 **स्वराजव्रत सेनगुप्त :** पण्य-तरणी की कुलीन कन्या (बाङ्ला)
63 **शुभ्रा सान्याल :** मातृ वियोग (बाङ्ला)
68 **तारानंद वियोगी :** रानी अनारवती (मैथिली)

79 हिंदी कविता
प्रेमशंकर रघुवंशी : याद; संदूक़चा
सुधेश : ग़ज़ल
राजेंद्र स्वर्णकार : रात बीत गई; बहता दरिया
अजय प्रकाश : चालीस की उम्र का आदमी
आनंद संगीत : गृहिणी; स्त्रियाँ वे स्त्रियाँ; मैंने अपनी पत्नी को क्या दिया
राग तेलंग : छाता; आओ !; ऑफ़ द रिकॉर्ड; प्लास्टिक; कहीं किसी जगह; शब्दों से; बहुत भीड़ में

निबंध

95 **बी. एल. माली 'अशांत' :** बात और कहानी का अंतर्संबंध

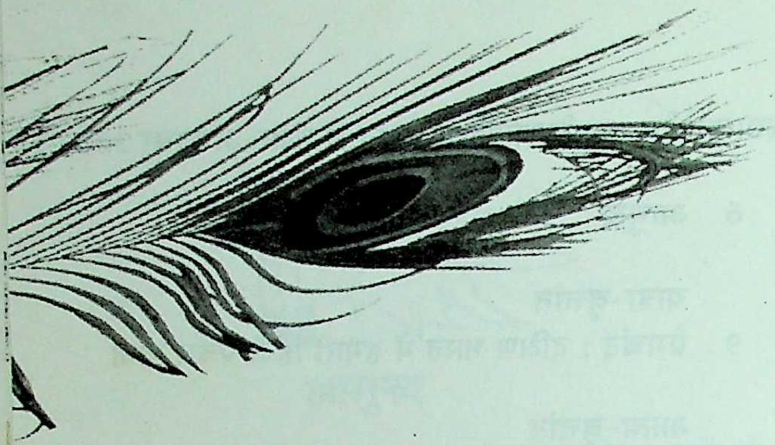

समकालीन भारतीय साहित्य

संपादक मंडल
गोपी चंद नारंग
सुनील गंगोपाध्याय
के. सच्चिदानंदन

साहित्य अकादेमी
की
द्विमासिक पत्रिका

संपादक
अरुण प्रकाश

प्रकाशन का 26वाँ वर्ष

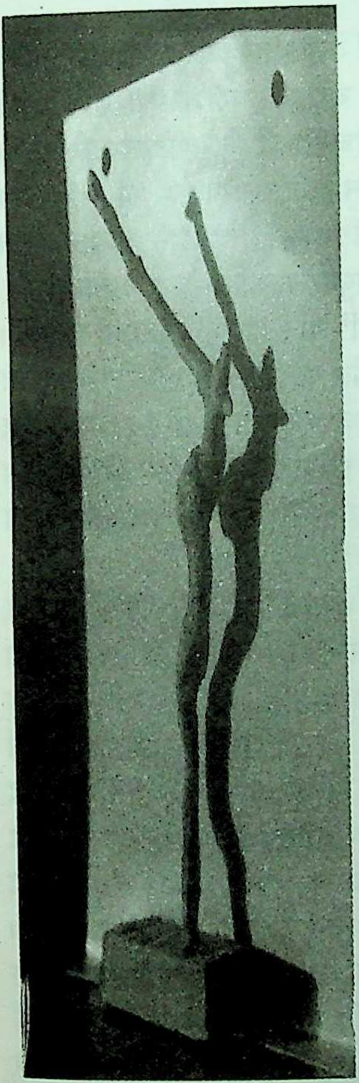

कहानी

101 **रतनलाल शांत :** पानी (कश्मीरी)
111 **एस. आर. हरनोट :** चश्मदीद (हिंदी)
118 **नीरजा माधव :** हाकिम (हिंदी)

आलेख

127 **के. एम. मालती :** समकालीन हिंदी-मलयालम कहानी : स्त्री-विमर्श
137 **विजयराघव रेड्डी :** मानवतावादी और असमिया काव्य-साहित्य
142 **ब्रह्मस्वरूप शर्मा :** सूचना तकनीकी की सापेक्षता में साहित्य

व्यंग्य

149 **बिपिन बिहारी मिश्र :** वाटरलु के अवसान पर (ओड़िया)

153 **कविता**
सुधांशु उपाध्याय : जिस्म; इससे ज़्यादा; कविता है; कुछ सोचिए; बताओ क्या करती!; घर कहाँ गया; प्यार लिख रहे; चौथे घर में मंगल (हिंदी)
शिवशंकर मिश्र : असंभावनाएँ; क्यों ऐसा हो गया है (हिंदी)
शैलेय : दृष्टि; कहते हैं इस बस में हिचकोले नहीं लगते; दुनिया (हिंदी)
जनार्दन मिश्र : कठिन है; पक रही है खिचड़ी (हिंदी)
श्रीकृष्ण कुमार त्रिवेदी : प्रभु, हे प्रभु, महाप्रभु! (हिंदी)
श्रीकांत उपाध्याय : नदी (हिंदी)
शांति छेत्री : धूप की ओर; सात टुकड़े (नेपाली)

177 **मूल्यांकन**
पुष्पपाल सिंह : स्वतंत्रचेता स्त्री की कहानियाँ
खगेंद्र ठाकुर : सदी के प्रश्नों पर सोचने का मतलब
सुरेश पंडित : तप्त रेगिस्तान में पानी की तलाश
रामबक्ष : कुछ समय बाद
ज्ञान चतुर्वेदी : फ़ैंटेसी लिखने के खतरे
ओम भारती : मैं किसी मेकअप में नहीं
सत्यकाम : अपने लोग

198 **पाठांतर**

-131402

आमुख

प्रेमचंद फिर आ गए हैं।

हालाँकि वे कहीं गए नहीं थे। उनके उपन्यास, उनकी कहानियाँ युवा से लेकर वृद्ध तक, स्कूल, कॉलेज के पाठ के रूप में और पुस्तकालयों तक से लेकर पढ़ी जाती हैं। प्रेमचंद आज भी हिंदी के सर्वाधिक लोकप्रिय लेखक हैं। उन्हें गुज़रे प्राय: सात दशक हो गए। फिर भी ठसके से बने हुए हैं। 25 वर्ष पहले उनकी जन्म-शताब्दी मनाई गई थी। तब भी संगोष्ठियों, विशेषांकों और प्रदर्शनियों की धूम मची थी। जब जन्म-शताब्दी वर्ष बीता तो कुछ लोगों को लगा कि अब प्रेमचंद विदा हो जाएँगे। पर ऐसा हुआ नहीं। इस वर्ष उनकी सवा सौवीं जयंती मनाई जा रही है। धूमधाम भी है। उन्हीं लोगों को फिर लग रहा है—अब वर्ष भर प्रेमचंद संचार-माध्यमों के केंद्रीय मंच पर छाए रहेंगे। ये तो ज़्यादती है! जो कुछ हो रहा है, कृतज्ञ राष्ट्र कर रहा है। उनके प्रशंसक कर रहे हैं। फिर भी प्रेमचंद के केंद्रीय मंच पर आने से कुछ लोगों को रोष है। रोष है, तो है। पर प्रेमचंद फिर आ गए हैं।

एक बड़े रचनाकार की मौजूदगी सिर्फ़ भौतिक नहीं होती। वह आलोचनात्मक मानदंड, पाठकीय सुरुचि, कलात्मक परिपाटी और जीवन-जगत के बारे में अपना दृष्टिकोण इसी धरा पर छोड़ जाता है। वह आनेवाली पीढ़ियों को प्रभावित करता रहता है। प्रेमचंद ने भी यही किया है।

स्वयं प्रेमचंद रवींद्रनाथ ठाकुर के प्रशंसक थे। उनके प्रभाव को उन्होंने एक साक्षात्कार में स्वीकार भी किया है। प्रेमचंद के पहले सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य पर रवींद्रनाथ ठाकुर का प्रभाव था। बाङ्ला पर तो था ही। कभी बंगाल के कुछ रचनाकारों ने रवींद्रनाथ से मुक्ति लेने का अभियान चलाया था। वे भी रवींद्रनाथ ठाकुर के सांस्कृतिक प्रभामंडल से मुक्ति चाहते थे। रवींद्रनाथ ठाकुर का प्रभामंडल आज भी है, अलबत्ता उस अभियान को मुक्ति प्राप्त हो गई।

'प्रेमचंद के प्रेत से मुक्ति दिलाओ' की माँग हिंदी कथा के एक कोने से उठी है। ऊपरी तौर पर यह विवाद पैदा करने वाला जुमला लग सकता है पर इसका गंभीरता से विवेचन होना चाहिए।

प्रेमचंद को मिथकीय, ऐतिहासिक और मानसिक चरित्र-निर्मितियों, कपोल-कथा स्थितियों के विरुद्ध जीवंत चरित्रों और मौजूदा समाज को कथा में प्रतिष्ठित करने का संघर्ष करना पड़ा था। लेकिन उनके निधन के बाद पुरानी प्रवृत्ति फिर हावी हो गई जिसके विरुद्ध 'नई कहानी' आंदोलन खड़ा हुआ। उसके बाद 'अकहानी' जैसा अल्पजीवी आंदोलन आया। जीवंत मनुष्य एक बार फिर साहित्य से बेदख़ल किया गया। 'समांतर कहानी' के संक्षिप्त दौर में जीवंत मनुष्य की वापसी 'आम आदमी' के तौर पर हुई। उसके बाद फिर सदिच्छाओं से निर्मित मनुष्य हिंदी कहानी में आया। आज की कहानी फिर प्रेमचंद की तर्ज़ पर मनुष्य को प्रस्तुत कर रही है। फिर परेशानी क्या है? आज की कथा-पीढ़ी की प्राथमिकताएँ प्राय: वे ही हैं जो प्रेमचंद की थीं। स्वाधीनता के स्वप्न की जगह

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

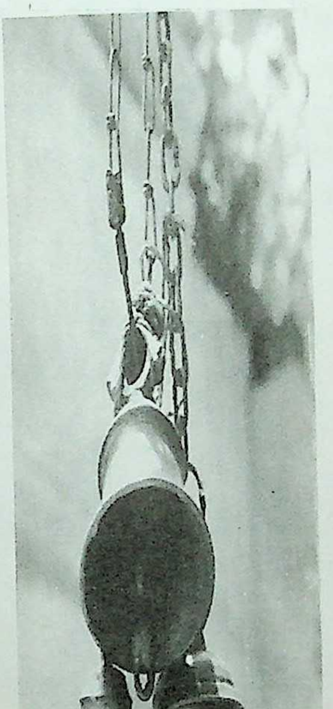

समकालीन भारतीय साहित्य : अंक 122 नवंबर-दिसंबर 2005)

6 आमुख

9 साक्षात्कार
प्रेमचंद : (बनारसीदास चतुर्वेदी, इंद्रनाथ मदान, टिकेकर)
: हमारा उद्देश्य जनमत को शिक्षित करना है

19 संस्मरण
शिवपूजन सहाय : प्रेमचंद जी के संस्मरण

विशेष खंड : संस्कृत

कहानी

27 **राजेंद्र मिश्र :** टूटा पिंजरा
31 **बनमाली विश्वाल :** सुखराम की सुखनिद्रा
33 **केशवचंद्र दास :** महान

35 कविता
राधावल्लभ त्रिपाठी : चूल्हा; कुत्ते की दुम
रामकरण शर्मा : अरे! पागल भेड़िये
रमाकांत शुक्ल : तुम्हारा भारत रोता है
जनार्दन प्रसाद पांडेय 'मणि' : अरे मित्र! यज्ञ कैसे संपन्न होगा!
हर्षदेव माधव : ख़ून
सागर कुमार : कारीगर

आलेख

43 **अजय कुमार मिश्र :** आधुनिक संस्कृत कविता
65 **आशा पांडे :** रामायण की स्त्रियाँ

कहानी

71 **सारा जोसेफ़ :** दोनों ओर से मजबूर (मलयालम)
77 **पोन्कुन्नम वर्की :** काली टोपी (मलयालम)
83 **मंगत बादल :** कितना पानी (राजस्थानी)

89 कविता
के. शिवा रेड्डी : एक और सुबह; रात; कविता लिखने के लिए; पीढ़ी दर पीढ़ी; कड़ी; शायद (तेलुगु),

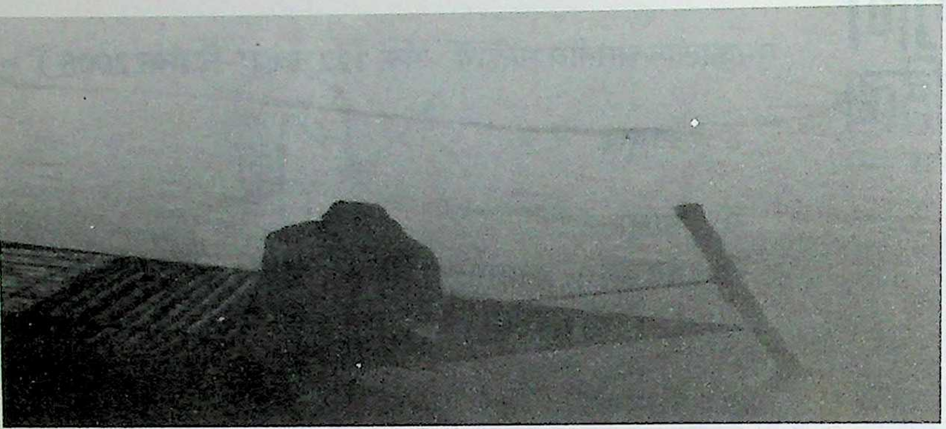

समकालीन भारतीय साहित्य

संपादक मंडल
गोपी चंद नारंग
सुनील गंगोपाध्याय
के. सच्चिदानंदन

साहित्य अकादेमी
की
द्विमासिक पत्रिका

संपादक
अरुण प्रकाश

प्रकाशन का 26वाँ वर्ष

नारायणजी : वसंत आ रहा है; कच्ची माटी रूपांतरित होती है (मैथिली)
सुरेश कुसूंबीवाल : गांधी; मनुष्य होने का मतलब (मराठी)
विजय वर्मा : श्रीकृष्ण; स्वर्णजयंती; मधुमक्खी; सरहदें (डोगरी)

पत्र
103 **पुष्पा भारती :** धर्मवीर भारती के पत्र

107 **हिंदी कविता**
गंगाप्रसाद विमल : लोग
सदानंद साही : कुएँ; शेष मिलने पर
कृष्ण कुमार रत्तू : अकाल में मृत्यु भोज
अशोक शाह : बरखा ओनिये भुलाई; दे दो पानी
शैलेंद्र कुमार त्रिपाठी : एक अदद; तीन बच्चे; कविता; कष्ट
ज्योतिकृष्ण वर्मा : अस्तित्व; मुट्ठी भर; तुम; अभिधा

आलेख
121 **आर. एस. सर्राजु :** अंतिम दशक के तेलुगु उपन्यास

हिंदी कहानी
131 **अमरकांत :** फूलरानी
139 **रमाकांत श्रीवास्तव :** महोत्सव
151 **लीलाधर मंडलोई :** स्मृति
156 **अंजना वर्मा :** सौदा
160 **रमेश प्रजापति :** जीभ कटा लड़का

163 **मूल्यांकन**
सुषमा भटनागर : उर्दू की देहरी पर रखा चिराग़
जीवन सिंह : नागफणी का जंगल
एच. बालसुब्रह्मण्यम : फ़ंतासी नहीं, ज़मीनी सच्चाई
जे. एल. रेड्डी : अनुवादक की विडंबना
कुहू चानना : स्त्री की निगाह से दो उपन्यास
सुरेंद्र स्निग्ध : अव्यक्त रिश्तों का ताज़ादम ताप

183 **पाठांतर**

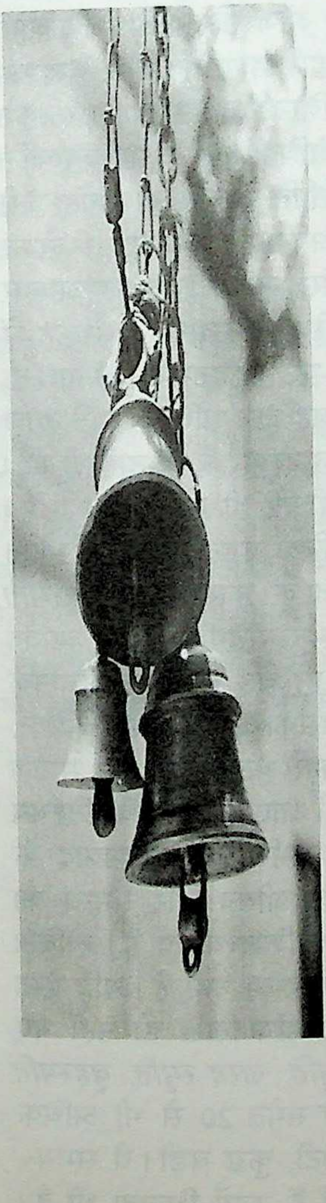

आमुख

संस्कृत की आरंभिक शिक्षा में रटंत-विद्या पर ज़ोर रहता है। मुझे रटंत से चिढ़ सो छात्र-जीवन में संस्कृत भाषा साहित्य मेरा प्रिय विषय कभी नहीं रहा। कृपालु संस्कृत शिक्षकों ने मुझे न्यूनतम उत्तीर्ण अंक देकर आगे बढ़ाया। कॉलेज में आने पर संस्कृत से पीछा ही छूट गया। कोई दो दशक पहले कवि विद्यापति से जुड़ी सामग्री खोजने लगा तो एक पुस्तक हाथ लगी— *कवि-शिक्षा*। यह कवियों का मैनुअल था जिसमें रचना-विधि, सौंदर्यशास्त्र वग़ैरह एक साथ थे। अब साहित्य में पर्याप्त विकसित रुचि थी इसलिए संस्कृत साहित्य के प्रति चिढ़ का स्थान उत्सुकता ने ले लिया। मूल संस्कृत पढ़ने की सलाहियत तो न बन पाई पर हिंदी में टीकाएँ पढ़ने लगा। मन में प्रश्न उठता कि आज के संस्कृत साहित्य की दशा-दिशा क्या है? संस्कृत साहित्य पर आयोजित खंड उसी जिज्ञासा का परिणाम है।

संस्कृत भाषा और साहित्य के सम्मुख छवि का संकट है। प्राचीनता, जड़ता की छवि। ईसा पूर्व 1500 ई. से लेकर आज तक लिखा गया संस्कृत साहित्य अनेक आक्रमणों, युद्धों, आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तनों की छाया में रचा गया। संस्कृत यदि महज़ ब्राह्मणों की भाषा होती तो जनक, कैकेय जैसे क्षत्रिय या रैक्व जैसे अवर्ण इसमें योगदान नहीं देते। यह महज़ पुरुष-सृजन होता तो ऋग्वेद में अपाला, घोषा आदि के सूक्त नहीं मिलते। उपनिषदों में मैत्रेयी, गार्गी, वाचकण्वी आदि दार्शनिक विमर्श में शामिल होती है।

संस्कृत की दूसरी धारा यानी लौकिक संस्कृत में भास, शूद्रक जैसे अवर्णों का महती योगदान है। दूसरे धर्मों के अनुयायियों ने भी संस्कृत को अपनाया। जैन विद्वानों ने इसमें भाषा में लिखा। हरिभद्र की पुस्तक *षड्दर्शन समुच्चय,* मल्लिषेण की *स्यादवादमंजरी* आज भी अनूठी मानी जाती है। बौद्धों के विरुद्ध ब्राह्मण थे। उधर बुद्ध का विद्रोह भाषा तक विस्तारित था। पालि संस्कृत के सामने आ गई। अधिकांश बौद्ध साहित्य पालि में है। पर आगे धर्मनीति दिग्नाग, अश्वघोष जैसे विद्वानों ने भी उसे अपनाया। शक, हूण से लेकर मुग़लों तक ने उसे संरक्षण दिया। बादशाह अकबर के दरबारी अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना ने संस्कृत में *गंगाष्टक* की रचना की। पंडितराज जगन्नाथ तो मुग़ल बादशाह शाहजहाँ द्वारा पोषित थे। पंडितराज की उपाधि भी मुग़ल दरबार में ही उन्हें दी गई।

संस्कृत की प्राचीनता ही उसके विरुद्ध है। कुछ लोग उसे सामाजिक जड़ता का वाहक मानते हैं। लेकिन इस जड़ता का कारण सिर्फ़ *मनुस्मृति* को माना जाता है। मनुस्मृति किसी एक व्यक्ति ने नहीं बनाया, न ही वह कहीं से अचानक अवतरित हुआ था। उसका आधार गौतम, वशिष्ठ, बौधायन आदि सूत्रकारों के धर्मसूत्र और समाज तथा उसके आदर्शों में आए परिवर्तन थे। निश्चय ही *मनुस्मृति* जैसा धर्मशास्त्र ब्राह्मणवाद के सिद्धांतों के मुताबिक जीवन और समाज का नियमन करने की कोशिश करता है। लेकिन *मनुस्मृति* कोई अंतिम सत्य नहीं है। यदि ऐसा होता तो अन्य स्मृति ग्रंथ लिखे ही नहीं गए होते। *याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति, वृहस्पति स्मृति, पराशर स्मृति* समेत 20 से भी अधिक स्मृतियाँ हैं। कुछ छोटी, कुछ बड़ी। वे समय-समय पर लिखी गई हैं उनमें भिन्नता भी है। ज़ाहिर है, धर्मशास्त्र में भी समय के साथ बदलाव

एक अप्रैल से नया क़ानून (इंडिया एक्ट) लागू होगा। मंगू को इस दिन का बेक़रारी से इंतज़ार था। उसके लिए नया क़ानून का अर्थ है—मेरा क़ानून। आम लोगों का क़ानून। उसे लागू करने वाला भी मंगू! एक गोरा, जिससे मंगू की पिछली बार झिकझिक हो चुकी थी, दीखता है तो मंगू उसे बिठाता है। अनाप-शनाप किराया माँगता है, गोरे के एतराज़ करने पर चाबुक से पीटने लगता है। पीटते-पीटते मंगू कहता जाता है—''पहली अप्रिल को भी वही अकड़फूँ... पहली अकड़फूँ को भी वही अकड़फूँ—अब हमारा राज है बच्चा।'' इस क्रोधित मंगू, गोरे को पीटने वाले मंगू के भीतर मंटो का गुस्सा है। वह भी मंटो का ही 'पर्सोना' है।

मंगू गोरे को पीट तो देता है पर यह दीगर बात है कि सिपाही उसे थाने ले जाते हैं। रास्ते में मंगू 'नया क़ानून! नया क़ानून!' चिल्ला रहा है। मंगू हवालात में बंद।

मंगू ऐसे मानसिक झटके से पागल हो गया होगा। बहुत गाढ़े रंग के सपने जब टूटते हैं तो ऐसा अवसाद पैदा होता है कि इनसान पागल हो जाता है। मेरा ख़याल है, मंगू ही टोबाटेक सिंह हो गया। स्याह हाशिये के ख़ौफ़नाक मंज़र, वहशी माहौल और सपनों के टूटने से ही टोबाटेक सिंह बना है। आख़िरकार टोबाटेक सिंह के भीतर भी मंटो ही है। मंटो के रूप में हैं खालिद और मंगू, ये दोनों टोबाटेक सिंह में समाहित हैं। वह पाकिस्तान पहुँच गया। भाषा छूट जाती है। उसके पास हर सवाल का एक ही जवाब है: ''ओ पड़दी गड़गड़ दी एनेक्स दी बेध्याना दी मूँग दी दाल ऑफ़...'' अर्थ के बग़ैर भाषा क्या? आज भी टोबाटेक सिंह हमारे-आप के भीतर बैठा है और उसके भीतर मंटो! अमानवीयता के विरुद्ध परिताप और क्रोध तथा मनुष्यता के समर्थन में अहर्निश जगा मंटो।

43 वर्ष की ही तो उमर थी जब मंटो का अवसान 18 जनवरी 1955 को हुआ। आज से 50 वर्ष पहले। मंटो को ख़ासतौर पर याद करने की ज़रूरत नहीं होती, वे याद तो आते ही रहते हैं, उनकी रचनाओं के पुनर्पाठ की ज़रूरत है। इसी क्रम में हम प्रो. गोपीचंद नारंग का लेख प्रकाशित कर रहे हैं। दूसरा लेख हमारे लिए विशेष रूप से लिखा है हिंदी में, मंटो की संपूर्ण रचनाओं के संपादक शरद दत्त ने।

पंजाबी साहित्य के मोहन सिंह का शताब्दी स्मरण अनूठे अंदाज़ में कर रहे हैं डॉ. करनजीत। उनका आलेख उनके यशस्वी योगदान को स्मरण करता है। नेपाली कविताएँ, हिन्दी कहानियाँ और हिन्दी के ही युवा कवि अशोक सिंह की कविताएँ आपका ध्यान आकृष्ट करेंगी। मूल्यांकन खंड को सँवारने में हमें कुछ कामयाबी मिली है इसे आप के सच्चिदानंदन, मधुरेश, विजयबहादुर सिंह, नासिरा शर्मा, रोहिणी अग्रवाल, राजाराम भादू और वेद प्रकाश की समीक्षाओं से गुज़रते वक़्त अनुभव कर सकेंगे।

नववर्ष की शुभकामनाओं सहित,

अरुण प्रकाश

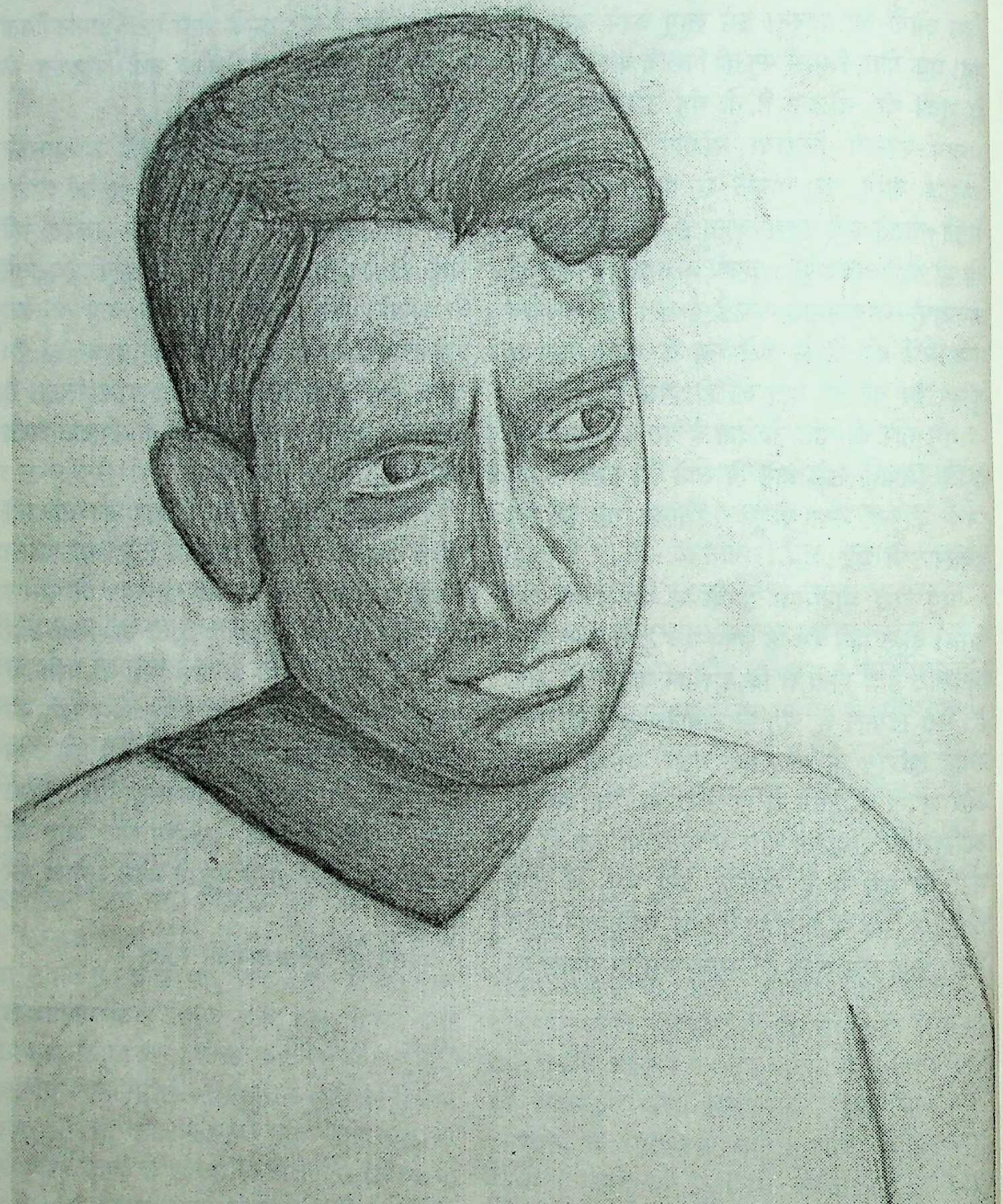

गोपीचंद नारंग

मंटो के पुनर्पाठ की भूमिका

मंटो का निधन 1955 में हुआ। इतने लंबे अरसे के बाद मंटो को दोबारा पढ़ते हुए कुछ बातें स्पष्ट रूप से ज़हन में सर उठाने लगती हैं। मंटो अव्वल व आख़िर एक बाग़ी था, समाज का बाग़ी, साहित्य और कला का विद्रोही, यानी हर वह शय जिसे Doxa या रूढ़ि कहा जाता है अर्थात् पुरानी-धुरानी मान्यताएँ, कल्पनाएँ या मानसिक रवैये, मंटो उन सबका दुश्मन था। मंटों के ख़ून में कुछ ऐसी गर्मी और गति थी कि वो स्वभावतः और आदतन हर उस चीज़ से शदीद नफ़रत करता था जिसे साधारणतः नैतिकता और तहज़ीब का लबादा पहना दिया गया हो। उसकी तीक्ष्ण दृष्टि फ़ौरी तौर पर लबादों को काटकर उस हक़ीक़त तक पहुँच जाती थी जो हर चंद कि कड़वी और तकलीफ़देह थी लेकिन सच्चाई की सतह रखती थी। वह उस नंगी कोरी सच्चाई का खोजी था जो सामने आती है तो आँखें चुँधिया जाती हैं।

मंटों को दोस्त—अहबाब तो बहुत मिले, लेकिन उसकी यात्रा एक बेचैन आत्मा की अकेली यात्रा थी जिसे उसकी ज़िंदगी में बहुत कम किसी ने समझा। बल्कि साधारणतः मंटो को ग़लत ही समझा गया और ज़िंदगी भर वो मलामतों और रुसवाइयों की चपेट में रहा। उसके अंदर की आग बराबर दहकती रही, और किसी मंज़िल पर भी उसके यहाँ थकान या उकताहट नाम की कोई चीज़ नज़र नहीं आती। आम समाजी तौर-तरीक़े, नैतिकता व अनुशासन या अदब व आर्ट के वो साँचे और कल्पनाएँ जिनका ताल्लुक़ अभिजात्य वर्ग या बुर्ज़वाज़ी से था और जो सदियों से जाने-पहचाने और स्वीकार्य चले आते थे, मंटो ने अपने सृजनात्मक अस्तित्व की पूरी शिद्दत से उन पर वार किया और उनकी ''पवित्रता'' को छिन्न-भिन्न कर दिया। मंटो की रूह एक घायल कलाकार की रूह है जो पूरे ज़माने से जूझती नज़र आती है। उसकी सृजनात्मक वेदना की तह में मूल प्रेरणा उसका यही रवैया है कि वह Doxa से किसी भी सतह पर समझौता न कर सकता था। इस बग़ावत की चिनगारियाँ ज़िंदगी भर उड़ती रहीं और पूरी उर्दू दुनिया मंटो के हाथों एक के बाद एक आघात का शिकार होती रही। मंटो की ज़िंदगी में मंटो को कम समझा गया बल्कि समझा ही नहीं गया।

यह बात भी स्पष्ट है कि पाखंड और Doxa की पहचान में मंटो अपने दौर के रचनाकारों से बहुत आगे था। शायद उस वक़्त मंटो के समकालीनों में किसी दूसरे को कहानी की विद्रोही अवस्था या तेवर का ऐसा गहरा एहसास ही नहीं था जैसा मंटो को था। उस वक़्त साहित्य

गोपीचंद नारंग का जन्म 1931 में दुक्की, बलूचिस्तान में हुआ। इनकी 40 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। पद्मभूषण, साहित्य अकादेमी पुरस्कार, उत्तर प्रदेश शासन का ग़ालिब पुरस्कार तथा कई राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित हैं। संपर्क : डी-252, सर्वोदय एनक्लेव, नई दिल्ली-110017

अनु. : 1957 में जन्में खुर्शीद आलम के दो कहानी-संग्रह *आधे-अधूरे*, *दरीदा* तथा आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हैं। इन्हें उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। संपर्क : एफ़-58, सेक्टर-40, नोएडा-201301

का आम वातावरण लक्ष्य प्राप्ति और नैतिकता से परिपूर्ण था। लक्ष्य प्राप्ति और नैतिकता का यह वातावरण हाली के मुक़दमा के काव्य-शास्त्र से प्रतिपादित चली आ रही थी और जिसको मान्यता प्रदान की थी अकबर और इक़बाल की शायरी ने, जिसे और मज़बूत किया था प्रेमचंद की आदर्शवादिता ने। एक ऐसे दौर में जब साधारणतः अदब को उद्देश्यवादिता और नैतिकता का प्रचारक समझा जाता था, मंटो ने उससे रूढ़िवाद और पुरानी नैतिकता को तोड़ने का काम लिया और अभिजात्य वर्ग की संस्कृति के पाखंड और मुलम्मासाज़ी को बेनक़ाब किया। यह अपने दौर के अदबी आस्थाओं से टक्कर लेने वाली बात थी जिसके लिए मंटो का ही हौसला चाहिए था। मंटो ने अपने अदालती मुक़दमों के सिलसिले में एक जगह बहुत दुख से कहा है :

‘‘चंद बरसों से मुक़दमे क़ायम करने वालों के नज़दीक अदब के मानी ये हैं कि अल्लामा इक़बाल मरहूम के बाद ख़ुदा ने अदब के सारे दरवाज़ों में ताले डालकर सारी चाबियाँ एक नेक बंदे के हवाले कर दी हैं। काश, अल्लामा मरहूम ज़िंदा होते।’’

(‘‘लज़्ज़ते संग’’, दस्तावेज़, पृ. 57)

मंटो को सच कहने की ज़रूरत का शुरू से ही शदीद एहसास था। ‘‘बू’’ पर मुक़दमा पंजाब सरकार ने चलाया था लेकिन शह मिल रही थी कुछ उर्दू अख़बारों से। उन अख़बारों और उनके संपादकों के बारे में मंटो तड़प कर लिखते हैं :

‘‘अफ़सोस सिर्फ़ इतना है कि ये पर्चे ऐसे लोगों की मिल्कियत हैं जो अंग विशेष की कमज़ोरी और शिथिलता को दूर करने के इश्तहार ख़ुदा और रसूल की क़समें खा-खाकर छापते हैं...मुझे अफ़सोस है कि पत्रकारिता जैसे सम्मानित पेशे पर ऐसे लोगों का वर्चस्व है जिनमें से अकसर कुश्ता फ़रोश हैं...’’

(वही, पृ. 57)

मंटो पर लोगों ने कैसे-कैसे वार नहीं किए, राजा साहब महमूदाबाद, हैदराबाद के माहिरुल क़ादरी, बंबई के हकीम मिर्ज़ा हैदर बेग, दैनिक नवाए वक़्त के संस्थापक हमीद निज़ामी और तरह-तरह के अदीब व पत्रकार। अलबत्ता अहमद नदीम क़ासमी मंटो की कला के प्रशंसक थे। कहानी ‘‘बू’’ उन्हीं ने *अदबे लतीफ़* में और बाद में कहानी ‘‘खोल दो’’ *नक़ूश* में प्रकाशित की थी। लेकिन फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने *पाकिस्तान टाइम्स* के संपादक के रूप में ‘‘ठंडा गोश्त’’ के बारे में जो राय दी वह लिखी हुई मौजूद है। उन्होंने कहा, ‘‘कहानी के लेखक ने अश्लीलता तो नहीं की लेकिन अदब के ऊँचे आदर्शों को पूरा भी नहीं किया, क्योंकि उसमें ज़िंदगी की मूल समस्याओं का संतोषजनक विश्लेषण नहीं है।’’ गोया अदब का उद्देश्य बुनियादी सच्चाइयों का विश्लेषण करना, और संतोषजनक विश्लेषण करना है यानी वह काम जो ख़ुद फ़ैज़ ने कभी नहीं किया था अर्थात् अगर फ़ैज़ शायर हैं तो इसलिए कि उनकी शायरी में गहरी दर्दमंदी और सौंदर्यबोधक रचाव है न कि समस्याओं का विश्लेषण और वह भी ‘‘संतोषजनक विश्लेषण’’ जो अव्वल व आख़िर एक सापेक्ष चीज़ है। ताजवर नजीबाबादी, शोरिश काश्मीरी, अबू सईद बज़्मी, मुहम्मद्दीन तासीर और बहुतों ने प्रतिकूल बयान दिए, अलबत्ता बारी अलीग, कन्हैया लाल कपूर, सूफ़ी मुस्तफ़ा तबस्सुम ने सच्चाई का पक्ष लिया, लेकिन मौलवी अब्दुल हक़ ने जवाब देना तक गवारा न किया। मंटो ने नियाज़ फ़तहपुरी, क़ाज़ी अब्दुल ग़फ़्फ़ार, ख़लीफ़ा अब्दुल हकीम, हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के नाम भी दिए, लेकिन उनके शहरों में अदालत ने उनकी गवाही रिकॉर्ड करने की इजाज़त नहीं दी। इन हालात में मंटो पर जो गुज़रती होगी चालीस-पैंतालीस वर्ष बाद उसकी कल्पना कीजिए तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मंटो के ऐसे वक्तव्य एक घायल आत्मा के वक्तव्य नहीं तो क्या हैं :

‘‘कहा जाता है कि मेरे दिलो-दिमाग़ पर औरत सवार है, मर्द के दिलो-दिमाग़ पर औरत नहीं तो क्या हाथी-घोड़ों को सवार होना चाहिए? जब कबूतरों को देखकर कबूतर गटकते हैं तो मर्द औरत को देखकर ग़ज़ल या अफ़साने क्यों न लिखे। औरतें कबूतरों से कहीं ज़्यादा दिलचस्प, ख़ूबसूरत और विचारशील हैं।’’

(‘‘अदबे जदीद’’, दस्तावेज़, पृ. 51)

“बेस्वाएँ अब से नहीं हज़ारों साल से हमारे बीच मौजूद हैं। उनका तज़्किरा इलहामी किताबों में भी मौजूद है। अब चूँकि किसी इलहामी किताब या पैग़ंबर की गुंजाइश नहीं रही, इसलिए उनका ज़िक्र अब आयतों में नहीं बल्कि उन अख़बारों और रिसालों या किताबों में देखते हैं जिन्हें आप अगर और लोबान जलाए बिना पढ़ सकते हैं और पढ़ने के बाद रद्दी में भी उठवा सकते हैं।”

(“सफ़ेद झूठ”, दस्तावेज़, पृ. 72)

मंटो पर बार-बार मुक़दमे चलाए गए, अदालतों, सेशन कोर्टों और हाईकोर्ट में घसीटा गया, तलाशियाँ और तलबियाँ हुई, सम्मन जारी हुए, ज़ुर्माने हुए, सज़ाएँ हुई, यानी ज़िल्लत व रुसवाई का वो क्या सामान था जो नहीं हुआ। जब पीड़ा हद से गुज़र जाए तो प्रतिवाद की इच्छा भी निकल जाती है। जब पूरा समाज और उसके साथ न्यायालय भी साहित्य से कल्याण और उपयोगिता का तक़ाज़ा करे तो बात भी उसी मुहावरे में करनी पड़ती है :

“अगर आप इन अफ़सानों को बर्दाश्त नहीं कर सकते तो इसका मतलब ये है कि ज़माना नाक़ाबिले बर्दाश्त है। जिस ख़राबी को मेरे नाम से संबद्ध किया जाता है वह दरअसल वर्तमान व्यवस्था की ख़राबी है।”

(“अदबे जदीद”, वही, पृ. 52)

“जो लोग अश्लील साहित्य का या जो कुछ भी ये है, ख़ात्मा कर देना चाहते हैं तो सही रास्ता यह है कि उन हालात का ख़ात्मा कर दिया जाए जो इस साहित्य के प्रेरक हैं।”

(“अदबे जदीद”, पृ. 53)

यहाँ स्पष्टतः मंटो यह कहता हुआ नज़र आता है कि इस तरह के साहित्य का समाजी हालात से एक और एक का संबंध है, यानी हालात बदल जाएँ तो साहित्य भी बदल जाएगा या साहित्य समाजी हालात को बदलने की क्षमता रखता है, या दूसरे शब्दों में साहित्य की अवस्था नैतिक या कल्याणकारी है। मंटो ने एक जगह साहित्य को “कड़वी दवा” भी कहा है :

“हमारी तहरीरें आपको कड़वी कसैली लगती हैं...नीम के पत्ते कड़वे सही मगर ख़ून को साफ़ करते हैं।”

(“अफ़सानानिगार और जिन्सी मैलान”, दस्तावेज़, पृ. 83)

लेकिन संभवतः यह सब कुछ प्रतिवाद के लिए था क्योंकि जिस तरह के हालात का मंटो का सामना था उसमें यही कुछ कहा जा सकता था और यही कुछ समझा भी जा सकता था। शायद अदालती कार्रवाई और वारंट गिरफ़्तारी से बचने के लिए सिवाय इसके कोई चारा भी नहीं था। इससे हटकर अगर कुछ कहा भी जाता तो और ग़लतफ़हमी व उलझन का कारण हो सकता था, वरना मंटो की असल राह तो उस कलाकारी की राह है जो अपना आधार ख़ुद है और जिसे किसी तथाकथित नैतिक या सुधार संबंधी दृष्टिकोण के अधीन नहीं लाया जा सकता। अदब के मामले में मंटो हरगिज़ किसी तरह के समझौतेबाज़ी का पक्षधर नहीं था। संभवतः उर्दू कहानीकारों में वह पहला शख़्स है जिसने अदब व आर्ट को बतौर अदब व आर्ट पहचानने और परखने पर ज़ोर दिया यानी अदब व आर्ट (या सौंदर्यशास्त्रीय प्रभाव) की नैतिकता और मज़हब से अपेक्षाकृत आज़ादी की कल्पना जो अदब की पहचान का आधार है। दूसरे शब्दों में, मंटो ने पहले से चले आ रहे उस कल्पना पर भरपूर चोट की कि अदब अभिजात्य वर्ग के मूल्यों या मध्यवर्ग की नैतिकता व आदाब का पाबंद है। मंटो का यह दृष्टिकोण हर उस जगह .ज्यादा खुलकर सामने आता है जहाँ कोर्ट कचहरी का दबाव या अदालती कार्रवाई का चक्कर नहीं है। मंटो को इसका शदीद एहसास था कि जो समस्याएँ उसकी चेतना व एहसास में हलचल मचाए हुए थीं या उसके अंतर में मंथन कर रही थीं, वो आम समस्याएँ नहीं थीं बल्कि उनका ताल्लुक़ इंसान की मूलप्रवृत्ति और उसके बुनियादी तक़ाज़ों से था या मनुष्य की साइकी की उन गहराइयों से था जहाँ शर ख़ैर को या अँधेरा उजाले को काटने में लगा रहता है और यह वैमनस्य मानवीय अस्तित्व के भेदों व रहस्य का हिस्सा है और इसका आसान हल आज तक कोई नहीं समझा सका :

‘‘अगर एक ही बार झूठ न बोलने और चोरी न करने की चेतावनी पर सारी दुनिया झूठ और चोरी से परहेज़ करती तो शायद एक ही पैग़ंबर काफ़ी होता...लेकिन जैसा आप जानते हैं पैग़ंबरों की सूची काफ़ी लंबी है। हम लिखने वाले पैग़ंबर काफ़ी नहीं। हम एक ही चीज़ को, एक ही समस्या को विभिन्न हालात में विभिन्न कोणों से देखते हैं और जो कुछ हमारी समझ में आता है, दुनिया के सामने पेश कर देते हैं और दुनिया को कभी मजबूर नहीं करते कि वह इसे स्वीकार ही करे। हम क़ानूनविद नहीं, न्यायाधीश भी नहीं। न्याय और क़ानून दूसरों का काम है। हम हुक़ूमतों पर नुक़्ताचीनी करते हैं लेकिन ख़ुद हाकिम नहीं बनते। हम ईमारतों के नक़्शे बनाते हैं लेकिन हम निर्माता नहीं। हम मर्ज़ बताते हैं लेकिन दवाख़ानों के मैनेजर नहीं।’’

(‘‘अफ़सानानिगार और जिन्सी मैलान’’, वही, पृ. 81-82)

एक और लेख ‘‘कसौटी’’ में मंटो ने कहा है :

‘‘अदब सोना नहीं जो उसके घटते-बढ़ते दाम बताए जाएँ, अदब ज़ेवर है और जिस तरह ख़ूबसूरत ज़ेवर शुद्ध सोना नहीं होता, उसी तरह सुंदर साहित्यिक कृति भी शुद्ध वास्तविकता नहीं होती...अदब या तो अदब है वरना एक बहुत बड़ी बेअदबी है। अदब और ग़ैर अदब में कोई बीच का इलाक़ा नहीं। बिलकुल जिस तरह इंसान या तो इंसान है या फिर गधा है।’’

(वही, पृ. 50-57)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि मंटो के अदब की कल्पना अपने दौर के लेखकों से बिलकुल अलग थी। उपरोक्त पंक्तियों में मंटो ने साफ़-साफ़ कह दिया है कि साहित्य न न्यायाधीश है न क़ानूनदां, उसका काम न हुक्म चलाना है और न नुस्ख़े लिखना। दूसरे उद्धरण में मंटो ने हक़ीक़त की शुद्ध धारणा को भी रद्द किया है कि भाषा या कला सच्चाई को ख़ालिस नहीं रहने देती, कुछ न कुछ मिलावट होती ही है और साहित्य का यथार्थ अपना अलग आधार रखता है। मंटो साहित्य की ऐसी बेलाग धारणा को उर्दू कहानी में प्रचलित कर रहा था जो इससे पहले उर्दू कहानी में नहीं थी औ जिसको अपनाने व स्वीकार करने में उर्दू को ख़ा वक़्त लगा। मंटो ने फ़्रांसीसी और रूसी कलाकृति को कम उम्र में ही अपने मस्तिष्क व चेतना क हिस्सा बना लिया था और कहानी के उच्च स्त शुरू ही से जौहर के रूप में उसके सृजनात्म मस्तिष्क में पैवस्त हो गए थे। मंटो को इसक एहसास था कि उसके अंतर में जो बेचैनी औ व्यग्रता थी और अपने आसपास से उसको जो ती असंतोष था, उसकी नवइयत ही अलग थी। स 1939 में अहमद नदीम क़ासमी के नाम एक ख़ में जब मंटो अभी सत्ताईस वर्ष का था, उसके वाक्य काफ़ी अर्थपूर्ण हैं :

‘‘कुछ भी हो मुझे इत्मीनान नसीब नहीं है। किसी चीज़ से संतुष्ट नहीं हूँ। हर चीज़ में मुझे एक कमी-सी महसूस होती है।’’

(‘‘नक़्श’’, मंटो अंक

ज़रूरी है कि इस आंतरिक बेचैनी और असंतो के संदर्भ में मंटो की कला और पात्रों को नए सि से देखा जाए। हक़ीक़त के जाने-पहचाने औ नियमित चेहरे से, उसके इस रूप से जो स्वीका और विश्वसनीय समझा जाता था, मंटो ने नक़ा नोच फेंका ताकि उस बहुरूप के पीछे पाखंड औ Doxa का जो घिनौना खेल था उसे सामने लाया ज सके। मंटो को Doxa से शदीद नफ़रत इसीलिए थ कि उसने अभिजात्य वर्ग के घृणित और आपराधि चेहरे को रेशमी पर्दों से ढाँप रखा था। जोगेश्वर कॉलेज, बंबई के एक जलसे में विभाजन से कु वर्ष पहले मंटो ने अपने ख़ास अंदाज़ में कहा था

‘‘मेरे पड़ोस में अगर कोई औरत हर रोज़ प से मार खाती है और फिर उसके जूते साफ़ करत है तो मेरे दिल में उसके लिए रत्ती भर हमदर्दी पैद नहीं होती लेकिन जब मेरे पड़ोस में कोई और अपने पति से लड़कर और ख़ुदकुशी की धमक देकर सिनेमा देखने चली जाती है और मैं पति क दो घंटे तक सख़्त परेशानी की हालत में देखता तो मुझे दोनों से एक अजीब व ग़रीब क़िस्म क हमदर्दी पैदा हो जाती है। किसी लड़के को कि

लड़की से इश्क़ हो जाए तो मैं उसे ज़ुकाम के बराबर भी अहमियत नहीं देता मगर वह लड़का मेरा ध्यान ज़रूर खींचेगा जो ज़ाहिर करे कि उस पर सैकड़ों लड़कियाँ जान देती हैं लेकिन वास्तव में वह मुहब्बत का उतना ही भूखा है जितना बंगाल का अकालग्रस्त बाशिंदा...मेरी हीरोइन चकले की एक टखियाई रंडी हो सकती है जो रात को जागती है और दिन को सोते में कभी-कभी यह डरावना ख़्वाब देखकर उठ बैठती है कि बुढ़ापा उसके दरवाज़े पर दस्तक देने आया है और बरसों की उचटती नींदें उसके भारी पपोटों पर जम गई हैं।''

(''अदबे जदीद'', पृ. 52)

हक़ीक़त के अपरिचित या सच्चाई के अलोकप्रिय रूप को देखने और सामने लाने की ख़्वाहिश मंटो की कला का मूल प्रेरक है। इस संदर्भ में मंटो के कुछ पात्रों यानी उन गिरी-पड़ी बाज़ारू औरतों को देखा जाए जिन्हें समाज साधारणतया दुत्कारा हुआ समझता है तो सवाल पैदा होता है कि क्या ये पात्र मात्र वही कुछ हैं जो देखने में नज़र आते हैं, और अगर ऐसा नहीं है तो फिर ये क्या हैं?

मंटो-अध्ययन की यह विडंबना काफ़ी रोचक है कि मंटो के उन ''बदनामे ज़माना'', पात्रों को मंटो की ज़िंदगी में तो ग़लत समझा ही गया, मंटो की मौत के बाद भी उनको ठीक से समझा नहीं गया। इस नासमझी के कारण अलग-अलग हो सकते हैं, लेकिन आधार एक है। यानी जब तक मंटो ज़िंदा रहा, विरोध मानसिक दुराग्रह के कारण था और कौन-सी ज़िल्लत व रुसवाई व मलामत व बदनामी है जो मंटो के हिस्से में न आई, और कौन-सी गाली है जो मंटो को न दी गई। मंटो की ज़िंदगी में उसके बारे में जो लिखा गया, ज़्यादातर सतही और पत्रकारी, लचर और पोच है। मृत्यु के बाद रवैया बिलकुल बदल गया लेकिन अगर पहले नितांत नुक़्स ही नुक़्स था तो बाद का अंदाज़ नितांत तारीफ़ी व प्रशंसनीय है अर्थात् अगर पहले पूर्णतः विरोध व खंडन है तो बाद में अतिशयोक्तिपूर्ण तारीफ़ व प्रशंसा है। दूसरे शब्दों में, अगर पहला रवैया सरासर भावुकता और ग़ैर-साहित्यिक था तो दूसरा रवैया भी उतना ही ग़ैर-साहित्यिक और अरचनात्मक है। मात्र दृष्टिकोण बदल गया है, प्रवृत्ति वही है यानी दोष भी सरासर भावुकता था और गुण भी सरासर भावुकता है अर्थात् न पहले रवैये की नवइयत साहित्यिक है न बाद के रवैये की नवइयत साहित्यिक है। न उसकी बुनियाद साहित्यपरक यानी समझ व विश्लेषण पर है और न इसकी। दोनों जगह भावना का प्रभाव है और जहाँ भावुकता होगी वहाँ या तो पूर्ण दोष होगा या पूर्ण गुण, साहित्यिक आलोचना बीच से ग़ायब हो जाएगी, विशेषतः वह आलोचना जो मामलात से निष्पक्ष फ़ासला चाहती है और पाठ के गहरे पठन पर आधारित होती है। मंटो की मौत के बाद जैसे दृष्टिकोण एकदम बदल गया, पहले बेहद नफ़रत थी तो बाद में पीड़ित होने का एहसास और कृपाभाव, और वही पहले जो अश्लील व कोपग्रस्त था रातों-रात पवित्र व पुनीत हो गया और उसकी गरिमा का गुणगान किया जाने लगा। इसलिए मंटो के बाद की आलोचना में सेक्स के क्रय-विक्रय और तवायफ़ों, रंडियों और बाज़ारू औरतों का उल्लेख फ़ैशन व फ़ॉर्मूले के रूप में होने लगा। पहले अगर यह अप्रिय था तो अब यह प्रशंसनीय समझा जाने लगा। पहले यह अश्लीलता व नंगेपन की श्रेणी में आता था तो अब इसमें सहानुभूति व गर्व की भावना सम्मिलित हो गई। दूसरे शब्दों में, जितना ग़लत यह पहले था उतना ग़लत यह बाद में भी रहा। मौत से पहले का मंटो अश्लील लेखक और नैतिकता को भ्रष्ट करने वाला था, बाद का मंटो मात्र कोठों, रंडियों, दलालों और भड़ुओं का कलाकार बना दिया गया, उसके सृजनात्मक दर्द व पीड़ा, उसकी आंतरिक बेचैनी, उसके अथाह दुख और उसकी गहरी आपत्ति पर जैसा ध्यान होना चाहिए था, वह समग्र रद्द और समग्र अनिवार्यता के उन असाहित्यिक भावात्मक रवैयों में कहीं दबकर रह गया।

इस बात पर ध्यान बहुत कम दिया गया कि मंटो ने बार-बार इस हक़ीक़त पर ज़ोर क्यों दिया है कि:

''हर औरत वेश्या नहीं होती लेकिन हर वेश्या औरत होती है।''

(''इस्मत फ़रोश'', वही, पृ. 92)

उसका कहना है :

"कोई वक़्त ऐसा भी ज़रूर आता होगा जब वेश्या अपने पेशे का लिबास उतारकर सिर्फ़ औरत रह जाती होगी।"

लेकिन आम इंसान जो कोठे पर जाता है उसको औरत से सरोकार नहीं सिर्फ़ देह या काम से सरोकार होता है : "वेश्या के कोठे पर हम नमाज़ या दरूद पढ़ने नहीं जाते। हम वहाँ इसलिए जाते हैं कि वहाँ जाकर हम मनचाही वस्तु बेरोक-टोक ख़रीद सकते हैं।" ("सफ़ेद झूठ", पृ. 73) लेकिन जो चीज़ मंटो के सृजनात्मक मस्तिष्क में बेचैनी पैदा करती है वह ख़रीदी और बेची जा सकने वाली वस्तु नहीं बल्कि इंसानी रूह का वह दर्द व पीड़ा है जो शरीर को बिकाऊ माल बनाने से पैदा होता है यानी मानवीय महानता का सौदा और बेबसी व बेचारगी का घाव जो अस्तित्व को खोखला और ज़िंदगी को अर्थहीन बना देता है। माल के दाम तो लगाए जा सकते हैं, इंसानी रूह की महानता के दाम नहीं लगाए जा सकते। मंटो शदीद अफ़सोस प्रकट करता है कि हमारी संस्कृति का एक पक्ष यह भी है कि "कुछ लोगों के नज़दीक औरत का वजूद ही अश्लील है। दुनिया में ऐसे लोग भी हैं जो पवित्र ग्रंथों से काम-इच्छा का आनंद हासिल करते हैं।"

(तहरीरी बयान संबद्ध "धुआँ", वही, पृ.66)

मंटो सवाल उठाता है कि अगर ऐसा होता तो फिर ख़ुदा औरत की रचना ही क्यों करता, क्योंकि ख़ुदा से कोई अपवित्र काम तो संपन्न नहीं हो सकता। मंटो को इस आचारसंहिता से चिढ़ थी जो मर्द और औरत के लिए दोहरे मापदंड तय करती है। मंटो बार-बार पूछता है कि क्या "नैतिकता ज़ंग नहीं जो समाज के उस्तरे पर असावधानी से जम गई है?" अश्लीलता की बहस करते हुए मंटो ने एक जगह कहा है : "औरत और मर्द का रिश्ता अश्लील नहीं, उसका उल्लेख भी अश्लील नहीं। अगर मैं औरत के सीने का ज़िक्र करना चाहूँगा तो उसे औरत का सीना ही कहूँगा, मूँगफली, मेज़ या उस्तरा नहीं कहूँगा।" (वही, पृ.66) अश्लीलता और सनसनीख़ेज़ी का जवाब देते हुए मंटो ने एक मौक़े पर कहा था, "मैं हंगामा पसंद नहीं। मैं लोगों के ख़यालात व जज़्बात में उथल-पुथल पैदा करना नहीं चाहता। मैं सभ्यता व संस्कृति और सोसायटी की चोली क्या उतारूँगा जो है ही नंगी। मैं उसे कपड़े पहनाने की भी कोशिश नहीं करता। यह मेरा काम नहीं, दरज़ियों का काम है।" ("अदबे जदीद", पृ. 53)। मंटो की कला का यह पहलू मामूली नहीं कि बाज़ारू औरतों और रंडियों की कहानियाँ बुनते हुए मंटो बार-बार उनके जिस्म से हटकर उनकी आत्मा का नज़ारा कराता है। मंटो को कुछ आलोचकों ने लिखा है कि मध्यम वर्ग की जिस पाखंडी नैतिकता पर मंटो वार करता है, औरत के मामले में उसी नैतिकता के तथाकथित आध्यात्मिक मूल्यों से वह समझौता करता हुआ नज़र आता है। शायद देखने में ऐसा मालूम होता हो लेकिन असलीयत इसके विपरीत है, इसलिए कि मंटो का प्रेरक बहरहाल जिस्म व सौंदर्य या आनंद नहीं, बल्कि रूह की वीरानी, व बेसरो सामानी है, या वह सूनापन और सन्नाटा जो रूह में हौल पैदा करता है और जहाँ मौत का साया लहराता रहता है; "औरतों में 99 प्रतिशत ऐसी होंगी जिनके दिल देह व्यापार के तारीक तिज़ारत के बावजूद बदकार मर्दों के दिल की बनिस्बत कहीं .ज्यादा रौशन होंगे...ऊपरी दृष्टि में इज़्ज़त बेचने वाली औरतों का मज़हब से लगाव एक ढोंग मालूम होता है मगर हक़ीक़त में यह उनकी रूह का वह हिस्सा पेश करता है जो समाज के ज़ंग से यह औरतें बचाकर रखती हैं...जिस्म दाग़ा जा सकता है मगर रूह नहीं दाग़ी जा सकती।" ("इस्मत फ़रोश", पृ. 90) मंटो के इन गिरे-पड़े पात्रों को इस दृष्टिकोण से नए सिरे से देखने की ज़रूरत है यानी मंटो जिस्म के दाग़ों का कलाकार है या रूह के बेदाग़ होने के अंतर्विरोध को लेखन में रूपांतरित करने वाला कलाकार? मेरी तुच्छ राय है कि मंटो बाज़ारी चीज़ या देह व्यापार से कहीं .ज्यादा इस दर्द व पीड़ा का कलाकार है जो औरत के Predicament यानी नियति से पैदा होता है, यानी मंटो बाह्य स्थिति से .ज्यादा अंतर की पीड़ा का कलाकार है। बाह्य विवरण और सामाजिक दृश्यांकन

से लाख यह प्रकट होता हो कि पेशे के परिदृश्य को आकृति दी जा रही है, हक़ीक़त इसके विपरीत है यानी यह कि पंक्तियों के मध्य का परिदृश्य खुलता और उभरता चला जाता है। मंटो इस अथाह दुख की तह लेना चाहता है जो इंसानियत के स्त्रीपक्ष की नियति है, यानी उस अथाह दुख को सृजनात्मक रूप से महसूस कर पाने की तड़प कलाकार मंटो की असली तड़प है। आइए कहानियों के पाठ में उतर कर देखें।

''काली सलवार'' में सबसे दर्दनाक और ग़ौरतलब स्थान वह है जब सुलताना अंबाला से दिल्ली आ चुकी है और पीर-फ़क़ीर गंडे-तावीज़ के बावजूद पेशे में मंदा ही मंदा है, आख़िरी कंगनी भी बिक चुकी है, ख़ुदाबख़्श सारा-सारा दिन ग़ायब रहता है और सुलताना का कोई हाल पूछने वाला नहीं तो उसे लगता है कि ख़ुदा ने तो छोड़ा ही था ख़ुदाबख़्श ने भी छोड़ दिया है और एक बेसरो सामान नंगी निचुड़ी बेसहारा रूह है जो ज़िंदगी की पटरियों पर इधर से उधर और उधर से इधर बेमक़सद भटक रही है :

''सड़क की दूसरी तरफ़ गोदाम था जो इस कोने से उस कोने तक फैला हुआ था। दाहिने हाथ की तरफ़ लोहे की छत के नीचे बड़ी-बड़ी गाँठें पड़ी रहती थीं और हर क़िस्म के माल-अस्बाब के ढेर से लगे रहते थे। बाएँ हाथ की तरफ़ खुला मैदान था जिसमें अनगिनत रेल की पटरियाँ बिछी हुई थीं। धूप में लोहे की पटरियाँ चमकतीं तो सुलताना अपने हाथों की तरफ़ देखती जिन पर नीली-नीली रगें बिलकुल उन पटरियों की तरह उभरी रहती थीं। इस लंबे और खुले मैदान में हर वक़्त इंजन और गाड़ियाँ चलती रहती थीं। कभी इधर कभी उधर। इन इंजनों और गाड़ियों की छक-छक और फ़क-फ़क सदा गूँजती रहती थी। सुबह-सवेरे जब वह उठकर बालकनी में आती तो एक अजीब समा उसे नज़र आता। धुँधलके में इंजनों के मुँह से गाढ़ा-गाढ़ा धुआँ निकलता था और गदले आसमान की ओर मोटे और भारी आदमियों की तरह उठता दिखाई देता था। भाप के बड़े-बड़े बादल भी एक शोर के साथ पटरियों से उठते थे और आँख झपकने की देर में हवा के अंदर घुल-मिल जाते थे। फिर कभी-कभी जब वह गाड़ी के किसी डिब्बे को जिसे इंजन ने धक्का देकर छोड़ दिया हो अकेले पटरियों पर चलता देखती तो उसे अपना ख़याल आता। वह सोचती कि उसे भी किसी ने ज़िंदगी की पटरी पर धक्का देकर छोड़ दिया है और वह ख़ुद-ब-ख़ुद जा रही है। दूसरे लोग काँटे बदल रहे हैं और वह चली जा रही है...न जाने कहाँ...फिर एक रोज़ ऐसा आएगा जब उस धक्के का ज़ोर आहिस्ता-आहिस्ता ख़त्म हो जाएगा और वह कहीं रुक जाएगी। किसी ऐसे स्थान पर जो उसका देखा-भाला न होगा।''

मंटो की सृजनात्मक दृष्टि वेश्या की साज-सज्जा, या अंदाज़ व ढंग पर नहीं बल्कि इसकी आंतरिक स्थिति पर केंद्रित होती है। जब वह बाहरी लिबास से हटकर मात्र एक औरत रह जाती है, हाड़-माँस की नर्मदिल औरत। हमारी आलोचना ने इन लम्हों पर बहुत कम ग़ौर किया है जब मंटो की कला औरत के आंतरिक अस्तित्व से संबोधित होती है। वास्तव में मंटो को रतिक्रिया का रचनाकार कहना उसका अपमान करना है। मंटो का विषय पेशेवर तवायफ़ या सुसज्जित गुड़िया हरगिज़ नहीं, बल्कि मंटो का विषय पेशा करने वाली औरत के अस्तित्व की कराह या उसकी रूह का दुख या उसके अंतर का सूनापन है जिसको कोई बाँट नहीं सकता। मंटो की कहानियों में ऐसे मौक़ों पर ग़ौर से देखा जाए तो सजावटी बाह्य रूप की ओट से औरत का अंतर ऐसे झाँकने लगता है जैसे पत्तियों को हटाकर कोई कली चटकने लगती है। ऐसे स्थान पर वेश्या का अस्तित्व कोई सीमित पात्र न रहकर जैसे सृष्टि की दर्दमंदी के अथाह संगीत का हिस्सा बनकर औरत के आर्की इमेज से एकसार हो जाता है। ''हतक'' की सौगंधी एक ऐसी ही हीन व कमज़ोर, प्यार के दो बोलों को तरसी हुई, निचुड़ी, मली-दली, बेबस व बेसहारा औरत है लेकिन अपमान के चरम से गुज़रने के बाद वह स्वाभिमान के उस लम्हे पर पहुँचती है जब वह औरत के पूरे अस्तित्व पर आच्छादित नज़र आती है। मंटो ने कहानी के आरंभ

ही से सौगंधी की सादगी और सरलता का और मुहब्बत के दो बोलों को तरसने का और माधो से फ़रेब खाने और निरंतर लुटते रहने का उल्लेख किया है, माँ के आर्किटाईप इमेज़ का बीज वहीं से सर उठाने लगता है।

''मुझ में क्या बुराई है?'' सौगंधी ने यह सवाल हर उस चीज़ से किया था जो उसकी आँखों के सामने थी। गैस के अंधे लैंप, लोहे के खंभे, फ़ुटपाथ के चौकोर पत्थर और सड़क की उखड़ी हुई बजरी—इन सब चीज़ों की तरफ़ उसने बारी-बारी देखा फिर आसमान की तरफ़ निगाहें उठाईं जो उसके ऊपर झुका हुआ था मगर सौगंधी को कोई जवाब न मिला। जवाब उसके अंदर मौजूद था। वह जानती थी कि वह बुरी नहीं अच्छी है। पर वह चाहती थी कि कोई उसका समर्थन करे—कोई—कोई—उस वक़्त कोई उसके कंधों पर हाथ रखकर सिर्फ़ इतना कह दे, ''सौगंधी कौन कहता है तू बुरी है, जो तुझे बुरा कहे वह आप बुरा है''—नहीं यह कहने की कोई ख़ास ज़रूरत नहीं थी। किसी का इतना कह देना काफ़ी था, ''सौगंधी तू बहुत अच्छी है।''

''वह सोचने लगी कि वह क्यों चाहती है कि कोई उसकी तारीफ़ करे। इससे पहले उसे इस बात की इतनी शिद्दत से ज़रूरत महसूस नहीं हुई थी। आज क्यों वह बेजान चीज़ों को भी ऐसी नज़रों से देखती है जैसे उन पर अपने अच्छे होने का एहसास तारी करना चाहती है। उसके जिस्म का पोर-पोर क्यों ''माँ'' बन रहा था—वह माँ बनकर धरती की हर वस्तु को अपनी गोद में लेने के लिए क्यों तैयार हो रही थी?—उसका मन क्यों चाहता था कि सामने वाले गैस के खंभे के साथ चिमट जाए और उसके सर्द लोहों पर अपने गाल रख दे—अपने गर्म-गर्म गाल और उसकी सारी सर्दी चूस ले।''

यहाँ शब्दों के पर्दों से क्या ''जननी'' का वह चेहरा नहीं झाँक रहा जो मर्द को जनती है, फिर उसके हाथों अब ज़िल्लत बर्दाश्त करती है, वजूद की शिकस्त के चरम तक पहुँचती है, रेज़ा-रेज़ा टुकड़ों को जिनमें से हर टुकड़ा सदियों की पीड़ा का प्रतिबिंब है, एकत्र करती है और फिर ख़ुद ही वजूद के सम्मान को बहाल करती है। यह रचना के मंडलीय कृत्य का रहस्य है। सौगंधी एक वेश्या है लेकिन उसके अंतर्मन में यह कैसी सरसराहट है। इन वाक्यों को दोबारा देखने की ज़रूरत है :

''आज क्यों वह बेजान चीज़ को भी ऐसी नज़रों से देखती है जैसे उन पर अपने अच्छे होने का एहसास तारी कर देना चाहती है। उसके जिस्म का पोर-पोर क्यों 'माँ' बन रहा था—वह माँ बनकर धरती की हर वस्तु को अपनी गोद में लेने को क्यों तैयार हो रही थी?''

क्या यह ''करुणा'' के विशाल रूप का या ममता अर्थात् औरत के अलौकिक और सृजनात्मक अस्तित्व का चेहरा नहीं जो सृष्टि के भेद भरे संगीत का हिस्सा है, लेकिन जो कानों में उसी वक़्त आता है जब हम ज़ाहिरी नियमित यथार्थ के हदबंदी में घिरी आँखों को बंद कर लेते हैं और अंदर की आँखों से पाठ की आत्मा में सफ़र करते हैं। करुणा की यह अंदरूनी लहर पूरे बयान की Irony में जारी रहती है जो सौगंधी और माधो के रिश्ते के अंतर्विरोध की सूरत में रूपायित होता रहता है। यहाँ तक कि रात के पिछले पहर की रहस्यमय ख़ामोशी में टॉर्च की चकाचौंध और सेठ की ''ऊँह'' रूटीन को झिंझोड़ कर रख देती है, ''गाली उसके पेट के अंदर से उठी और ज़बान की नोक पर आकर रुक गई। वह आख़िर गाली किसे देती। मोटर तो जा चुकी थी। उसकी दुम की सुर्ख़ बत्ती उसके सामने बाज़ार के अँधियारे में डूब रही थी और सौगंधी को ऐसा महसूस हो रहा था कि लाल-लाल अंगारा 'ऊँह' उसके सीने में बर्मे की तरह उतरती चली जा रही...''

इस भयानक सदमे की हालत में माधो के साथ जो भी हुआ कम था। यहाँ अस्तित्व के आतंक और कड़वी उदासी को मंटो ने जिस तरह उभारा है कलात्मक सौंदर्य का अद्‌भूत नमूना है। ज़िंदगी के शेड में खड़ी सुनसान ख़ाली ट्रेन जो मंटो की कला में औरत के अस्तित्व का रूपक है, मंटो ने इसको यहाँ भी उभारा है और सूनेपन व सन्नाटे की स्थिति का अजीबो-ग़रीब प्रभाव पैदा किया है :

''ख़ारिशज़द: कुत्ते ने भौंक-भौंककर माधो को कमरे से बाहर निकाल दिया। सीढ़ियाँ उतरकर जब कुत्ता अपनी टुंड-मुंड दुम हिलाता सौगंधी के पास वापस आया और उसके क़दमों के पास बैठकर कान फड़फड़ाने लगा तो सौगंधी चौंकी—ऐसा सन्नाटा जो उसने पहले कभी न देखा था, उसे ऐसा लगा कि हर शय ख़ाली है जैसे मुसाफ़िरों से लदी हुई रेलगाड़ी स्टेशनों पर मुसाफ़िर उतारकर अब लोहे के शेड में अकेली खड़ी है...''

ऐसा भी नहीं कि मंटो के यहाँ मात्र एक आवाज़ मिलती हो यानी लेखक की आवाज़, मंटो की कला आवाज़ों की रंगशाला है। बाज़ारू औरतों को अपने पेशे के बारे में कोई ख़ुशफ़हमी नहीं। सौगंधी से जब माधो की पहली मुलाक़ात होती है तो वह कहता है, ''तुझे लाज नहीं आती अपना भाव करते। जानती है तू मेरे साथ किस चीज़ का सौदा कर रही है, छिः छिः छिः—दस रुपए और जैसा तू कहती है ढाई रुपए दलाली के, बाक़ी रहे साढ़े सात, रहे ना साढ़े सात—अब इस साढ़े सात रुपल्लियों पर तू मुझे ऐसी चीज़ देने का वचन देती है जो तू दे ही नहीं सकती और मैं ऐसी चीज़ लेने आया हूँ जो मैं ले ही नहीं सकता...''

ऐसा ही ''काली सलवार'' में होता है। ''काली सलवार'' में जब सुलताना शंकर से मिलती है तो उससे पूछती है, ''आप काम क्या करते हैं?''

''यही जो तुम लोग करते हो।''

''क्या?''

''तुम क्या करती हो?''

''मैं...मैं...कुछ भी नहीं करती।''

''मैं भी कुछ नहीं करता।''

सुलताना ने भन्नाकर कहा, ''यह तो कोई बात न हुई। आप कुछ न कुछ तो ज़रूर करते होंगे।''

''तुम भी कुछ न कुछ ज़रूर करती होगी।''

''झक मारती हूँ।''

''मैं भी झक मारता हूँ।''

''तो आओ दोनों झक मारें।''

''मैं हाज़िर हूँ। मगर झक मारने के दाम मैं कभी नहीं दिया करता।''

''होश की दवा करो—यह लंगरख़ाना नहीं।''

''और मैं भी वॉलंटियर नहीं।''

सुलताना यहाँ रुक गई। उसने पूछा, ''यह वालंटियर कौन होते हैं?''

शंकर ने जवाब दिया, ''उल्लू के पट्ठे।''

''मैं भी उल्लू की पट्ठी नहीं।''

''मगर वह आदमी ख़ुदाबख़्श जो तुम्हारे साथ रहता है ज़रूर उल्लू का पट्ठा है।'' बाख्तिन के शब्दों में मंटो की कला Monologic नहीं बल्कि दोस्तोवस्की की तरह Dialogic या Polyphonic है जिसमें सोच की कई तहें या कई आवाज़ें एक साथ उभरती हैं और लेखक पात्रों के विभिन्न दृष्टिकोणों को स्वतंत्र रूप से उभरने देता है और उन्हें अपनी सोच के अधीन लाकर ज़बरदस्ती उनमें एकत्व पैदा करने की कोशिश नहीं करता। मंटो के पात्र लेखक की उत्पत्ति हैं लेकिन वह लेखक की अपनी सोच में अपना अस्तित्व खो दें, ऐसा नहीं। एक बहुत ही अलग और दिलचस्प पात्र बाबू गोपीनाथ है। मज़े की बात है कि उसमें लेखक बतौर सूत्रधार शुरू से आख़िर तक मौजूद है और समाप्ति में पश्चातापपूर्ण Irony के लम्हे को राह देने का हवाला भी उसी का चुभता हुआ वाक्य है लेकिन यह कहानी वस्तुतः पात्रों का नाचता हुआ रंगशाला है, अब्दुर्रहीम सैंडो, ग़फ़्फ़ार साईं, ग़ुलाम अली, कश्मीरी कबूतरी ज़ीनत बेगम, टी पट्टी फुल फुल फूटी मिसेज अब्दुर्रहीम उर्फ़ सरदार बेगम, मुहम्मद शफ़ीक़ तूसी, मुहम्मद यासीन, ग़ुलाम हुसैन वग़ैरह, छोटे-बड़े सब पात्र अपना-अपना रवैया, अपना अंदाज़, अपना रंग-ढंग, और अपना मनोविज्ञान रखते हैं, और अपने दृष्टिकोण, अपनी भाषा और अपने मुहावरे में बात करते हैं। यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि Polyphony की इससे बेहतर मिसाल उर्दू कहानी में शायद ही मिले। बाबू गोपीनाथ प्रत्यक्षतः बहुत से विरोधाभासों का मज़मूआ है लेकिन मंटो ने उसके कृत्य की सच्चाई को इस तरह तराशा है कि उसमें हद दर्जा इंसानी रचाव पैदा हो गया है। बाबू गोपीनाथ ज़ीनत का बहुत ख़याल करता है। ज़ीनत के आरामं के लिए हर सामान मुहय्या है लेकिन उन दोनों में

अजीब-सा खिंचाव भी है। बाबू गोपीनाथ को फ़क़ीरों और कंजरों की संगति का शौक़ है। उसने सोच रखा है कि जब दौलत ख़त्म हो जाएगी तो किसी फ़क़ीर के तकिए में जा बैठेगा। रंडी का कोठा और पीर का मज़ार, बस दो ही जगहें हैं जहाँ उसके दिल को सुकून मिलता है। ''इसलिए कि इन दोनों जगहों पर फ़र्श से अर्श तक धोखा ही धोखा होता है। जो आदमी ख़ुद को धोखा देना चाहे उसके लिए इनसे अच्छी जगह और क्या हो सकती है...रंडी के कोठे पर माँ-बाप अपनी औलाद से पेशा कराते हैं और मक़बरों और तकियों में इंसान अपने ख़ुदा से।''

बाबू गोपीनाथ की रंडीबाज़ी और दोस्तपरस्ती में और ज़ीनत की बेवकूफ़ी बल्कि बेहिसी में अजीब तरह का काला हास्य (Black Humour) है। ऐसा लगता है जैसे मंटो रंडीबाज़ी के इस माहौल के बख़िये उधेड़कर उस वर्ग को अंदर बाहर से देख रहा हो जिसके अत्याचारों से यह घिनौना माहौल पनपता है लेकिन मंटो दिखाता है कि धोखाधड़ी और गंदगी के इस माहौल में एक रौशन लकीर, ख़ुशदिली, ठिठोल और निश्छलता व त्याग की भी है लेकिन त्याग वह नहीं जो बताने और जताने के लिए होता है बल्कि वह बेमेल लगाव जिसका उजाला किसी झरने की तरह अंदर से फूटता है और जिसमें कोई मोल-तोल, कोई सौदा नहीं होता, कोई स्वार्थ कोई ''लेन'' नहीं होता मात्र देन ही देन होता है। दरअसल त्याग भी इस प्रकार के भाव के लिए एक मामूली-सा शब्द है। लगता है मंटो की कला ने रंडी की रूह में दबी जिस करुणा और ममता को सौगंधी में कार्यान्वित करने में अपने शिखर को पा लिया, बाबू गोपीनाथ उसी सिक्के का दूसरा पक्ष है, यानी मर्दाना पक्ष। कंजरों और भड़वों की हरामख़ोरी, लूट-खसोट और गंदगी के अंधकार में मंटो ने जिस तरह इस नूर को काढ़ा है, मंटो का हिस्सा है।

लेकिन बात सौगंधी या बाबू गोपीनाथ पर ख़त्म नहीं होती। मंटो के यहाँ सिक्का बराबर उलटता-पलटता रहता है। अगर सौगंधी चित है तो बाबू गोपीनाथ पट, और अगर बाबू गोपीनाथ पट है तो ''जानकी'' या ''मूज़ेल'' या ''बू'' की घाटन चित्र है। साधारणतया ममता से मुहब्बत व ख़िदमत का जो स्रोत मुराद है, उस मानी में देखना हो तो ''जानकी'' से ज़्यादा इस अपेक्षा पर कौन पूरा उतर सकता है। जानकी हालाँकि रंडी नहीं, लेकिन एक मर्द से दूसरे के उपभोग में आती-जाती रहती है यानी शोषण का साँचा और तक़ाज़ा बदलता रहता है, लेकिन नहीं बदलते तो जानकी के जज़्बात जिनसे ममता की फुहार बरसती रहती है। वह पेशावर से बंबई पहुँचती है। पेशावर में वह अज़ीज़ की प्रेमिका थी और दिन-रात अज़ीज़ की देखभाल में लगी रहती थी, उसकी दवा-दारू और इलाज-उपचार से लेकर उसके खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने तक हर चीज़ का जानकी ख़याल रखती थी और यह सब कुछ वह अपने शौक़ से करती थी। बंबई आने के बाद धीरे-धीरे वह सईद की देखभाल करने लगी। अज़ीज़ को उसका यह तौर पसंद न आया। बाद में सईद ने भी उसको छोड़ दिया तो उसने नारायण से रिश्ता पैदा कर लिया। मर्द चाहे कोई हो और उसका स्वभाव कैसा हो, जानकी, जानकी रहती है, यानी मुहब्बत व नेकी व त्याग का अमर स्रोत।

यहाँ एक क्षण रुककर इस बात पर ग़ौर करने में हर्ज नहीं कि मंटो उन वेश्या पात्रों में जिस औरत को खोजता है, क्या उसके मस्तिष्क के तहख़ाने या अचेतन के धुँधलकों में कोई ऐसा प्रतिबिंब है जिसकी पूर्ति इस प्रकार के पात्रों से होती हो। मंटो के बचपन के हालात ज़्यादा मालूम नहीं। उसके जीवनीकारों ने जो थोड़ी-बहुत मालूमात उपलब्ध कराई है, उनसे अलबत्ता इतना ज़रूर पता चलता है कि मंटो का बाप बहुत कठोर और निर्दयी व्यक्ति था। भाई ज़रूर थे मगर सौतेले, ऐसे में ले-देकर बस माँ या बीबी जान जो प्यार के इस शून्य को भर सकती थी और जिसकी ममतामयी गोद मंटो की एकमात्र शरणस्थली हो सकती थी। स्पष्ट है कि मंटो के ज़ेहन में शुरू ही से दर्द व पीड़ा ने घर कर लिया था। मंटो के अंतर्मन की कराह कई जगह सुनाई देती है :

''ऐ ख़ुदा, ऐ रब्बुल आलमीन...ऐ रहीम, ऐ करीम...सहादत हसन मंटो को...इस दुनिया से उठा ले जहाँ नूर में वह अपनी आँखें नहीं खोलता

लेकिन अँधेरे में ठोकरें खाता फिरता है...जहाँ रोना है, वहाँ हँसता है और जहाँ हँसना है वहाँ रोता है...''

(''पसमंज़र'', पृ. 159)

मंटो के लिए मुहब्बत और ममता और दुख अलग-अलग हक़ीक़त नहीं, एक ही हक़ीक़त के नाम हैं। दुख या पीड़ा की जो गहरी धारणा मंटो के यहाँ बार-बार उभरती है, वह करुणा की उस भव्य धारणा से .ज़्यादा दूर नहीं जो बौद्धी सोच में मिलती है। मंटो ने एक जगह लिखा है :

''दुख ही इंसानियत की क़िस्मत है। दुख ही सआदत हसन मंटो है। यह दुख ही आप है। यह दुख ही सारी दुनिया है।''

(''कसौटी'', पृ. 86)

मंटो की कला की बुनियादी हक़ीक़त यही है कि मंटो ने इंसानियत को 'दुख' की राह से समझा था। मंटो औरत के बारे में बार-बार कहता है कि जिस्म दाग़ा जा सकता है रूह नहीं। वह कहता है कि इस्मत फ़रोश औरतें उन मर्दों की अपेक्षा .ज़्यादा ख़ुश और रहमदिल होती हैं जो उनकी इस्मत का सौदा करने आते हैं। ये अपने अभिस्ताव के लिए किसी न किसी मूर्ति, किसी न किसी पीर-फ़क़ीर या किसी न किसी आस्था का ज़रूर ध्यान करती हैं, या शायद ''इस प्रकार का आध्यात्मिक भाव उसके अस्तित्व का वह हिस्सा है जिसे वह इस्मत फ़रोशी से बचाकर रखती हैं।''

इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो ''मूज़ेल'' के अस्तित्व की दिशाएँ ही दूसरी हैं। वह हर तरह के मज़हबी आचरण और दिखावे के विरुद्ध हैं। वह एक ख़ुशमिज़ाज, ख़ुशबाश, लाऊबाली यहूदी लड़की है जो बात-बात पर त्रिलोचन और सिख शक्ल-सूरत का मज़ाक़ उड़ाती है लेकिन यही मूज़ेल वक़्त आने पर त्रिलोचन का साथ देती है, फ़साद फूट पड़ने पर त्रिलोचन के साथ दंगाग्रस्त इलाक़े में मर्दानावार जाती है और त्रिलोचन की मंगेतर कृपाल कौर को बचाते-बचाते ख़ुद दंगाइयों का शिकार हो जाती है। यहाँ परिप्रेक्ष्य किसी कोठे या बाज़ारू औरत का नहीं, लेकिन मूज़ेल के ज़रिए मंटो एक बार फिर यह साबित करने में कामयाब नज़र आता है कि एक ऐसी घड़ी में जब बर्बरता आम रवैया है और इंसान गुनाह के गड्ढे में गिरा हुआ है, एक मामूली आवारा स्वभाव लाऊबाली लड़की रोशनी की किरन बनकर मुक्ति प्रदान करने वाली सिद्ध होती है।

यहाँ बहुतों को ''बू'' का उल्लेख असंगत लगेगा, क्योंकि यहाँ न तो कोई बाज़ारू औरत है, न ही मुक्ति का कोई पहलू है। देखा जाए तो पाप व पुण्य और सज़ा व प्रतिकार की भी कोई समस्या नहीं। ऊपर मंटो की कहानियों के इंसानों और उनके रवैयों का उल्लेख किया गया है जिनको ''आवाज़ें'' कहा गया। घाटन औरत पूरी कहानी (बू) में शायद एक शब्द भी नहीं बोलती, मात्र जब बारिश में शराबोर चोली की गाँठ उससे नहीं खुलती तो वह मराठी में कुछ बड़बड़ाती है। पूरी कहानी में सिवाय इस एक शब्द के ख़ामोशी है और यह ख़ामोशी और घाटन का ख़ामोश अस्तित्व वह ''आवाज़'' है जो कहानी में गहरी अर्थवत्ता क़ायम करती है। इस कहानी को मौसमों के आने-जाने, बारिश की बूँदों के गिरने और धरती की प्यासी कोख के भीगने या पुरुष और प्रकृति के मिलाप के स्वप्नफल के रूप में भी पढ़ा जा सकता है और इसमें एक अजीब रहस्य और आत्मविस्मृति है। मंटो ने सृजनात्मक तल्लीनता में कहानी को जिस तरह बुना है, उसमें बादलों के घिर आने और पीपल के पत्तों के सरसराने और नन्हीं-नन्हीं बूँदों में नहाने का बार-बार ज़िक्र आता है, यूँ घाटन और बतौर प्रकृति बार-बार मानसपटल पर उभरती है—''बरसात के यही दिन थे। खिड़की के बाहर पीपल के पत्ते...रात के दूधिया अँधेरे में झूमरों की तरह थरथरा रहे थे—जब उसने अपना सीना उसके सीने के साथ मिलाया तो रंधीर के जिस्म के हर रोंगटे ने उस लड़की के बदन के छिड़े हुए तारों की भी आवाज़ सुनी थी, मगर वह आवाज़ कहाँ थी? वह पुकार जो उसने घाटन लड़की के बदन की बू में सूँघी थी—वह पुकार जो दूध के प्यासे बच्चे के रोने से .ज़्यादा हर्षित करने वाली होती है, वह पुकार जो ख़्वाब की परिधि से निकल कर बेआवाज़ हो गई थी।'' इसी तरह कहानी के आख़िर में जब घाटन

नहीं बल्कि गोरी-चिट्टी लड़की—जिसका जिस्म दूध और घी में गुंधे हुए आटे की तरह मुलायम था लेटी हुई है, तब फिर बरसात के यही दिन थे, ''रंधीर खिड़की से बाहर देख रहा था। उसके क़रीब ही पीपल के नहाए हुए पत्ते झूम रहे थे। वह उनकी मस्ती भरी कपकपाहटों के उस पार कहीं बहुत दूर देखने की कोशिश कर रहा था जहाँ मटमैले बादलों में अजीबोग़रीब क़िस्म की रौशनी धुली हुई दिखाई दे रही थी—ठीक वैसी ही जैसी उस घाटन लड़की के सीने में उसे नज़र आई थी। ऐसी रौशनी जो रहस्यमय बात की तरह दबी लेकिन स्पष्ट थी।'' इस कहानी को काम-भाव के आनंद की कहानी के रूप में पढ़ना मंटो की तौहीन करना है। पूरी कहानी में घाटन की कल्पना जिस्मानी कम और उत्कृष्टात्मक ज़्यादा है—''मटमैले रंग की जवान छातियों में, जो कुँआरी थी, एक अजीबोग़रीब क़िस्म की चमक पैदा हो गई थी जो चमक होते हुए भी चमक नहीं थी। उसके सीने पर ये उभार दो दीये मालूम होते थे जो तालाब के गदले पानी पर जल रहे थे।'' रंधीर ''पुरुष'' है और घाटन ''प्रकृति'' जो प्रत्यक्षतः निष्क्रिय है लेकिन पूरे इंसानी अस्तित्व को बाँहों में लिए हुए है और सुख व आनंद को देने और लेने वाली है।

आख़िर में सरसरी इशारे अपेक्षाकृत कम प्रसिद्ध कहानियों की तरफ़ जैसे ''शारदा'', ''फ़ोभा बाई'' और ''बर्मी लड़की'' में भी औरत ख़ैर व मुहब्बत या त्याग व बलिदान के उपकार के उद्गम के रूप में सामने आती है। ''बर्मी लड़की'' में लड़की सुबह के मंद और शीतल हवा के एक झोंके की तरह आती है, दो-तीन दिन दो लड़कों के साथ एक फ़्लैट में रुकती है और यह जा वह जा। लड़की तो चली जाती है लेकिन फ़्लैट की हर चीज़ पर वह अपने सलीक़े, नारीत्व और मांपन की छाप छोड़ जाती है जिसको दोनों लड़के रह-रहकर याद करते हैं। ''बर्मी लड़की'' के विपरीत ''फ़ोभा बाई'' (शोभा बाई) और शारदा दोनों वास्तव में माँ हैं। शारदा का अस्तित्व और भी भरा-पूरा है क्योंकि उसके मांपन में माँ तो है, एक बहन, एक पत्नी और एक वेश्या भी है और उनमें से कोई पहलू किसी दूसरे पहलू से टकराव में नहीं। फ़ोभा बाई का कहीं ज़्यादा दुखद अस्तित्व है कि वह शहर में आक पेशा कर रही है ताकि पीछे वह जिस बेटे को छोड़ आई है उसको पाल सके। बदक़िस्मती से बेटा म जाता है और फ़ोभा बाई जो पेशे की आड़ में अप अंदर की माँ को बचाने की कोशिश में थी, तबा व बर्बाद हो जाती है। इसी तरह ''सड़क के किनारे'' में औरत माँ तो बन जाती है लेकिन मांपन इस एतबार से अधूरा रहता है कि वह अपने बच्चे क माँ नहीं बन सकती और रात के अँधेरे में बच्चे क सड़क के किनारे छोड़ देने पर मजबूर है। औरत क घायल रूह के हवाले से यहाँ भी जो सवाल मंट ने उठाया है, वह वासनात्मक कम और अस्तित संबंधी ज़्यादा है : ''रूहों का सिमटकर एक ह जाना, और एक हो कर वालेहाना वुस्अत अख़्तिया कर जाना—क्या यह सब शाइरी है?—नहीं, दो रू सिमटकर ज़रूर इस नन्हे से नुक़्ते पर पहुँचती हैं ज फैलकर सृष्टि बनता है लेकिन इस सृष्टि में ए रूह क्यों कभी-कभी घायल छोड़ दी जाती है—क्य इस दोष पर कि उसने दूसरी रूह को उस नन्हे नुक़्ते पर पहुँचने में मदद दी थी?''

सारांश यह है कि यह पीड़ा इंसान की नियति है मंटो के सृजनात्मक मस्तिष्क पर इस पीड़ा क परछाईं बराबर लहराती रहती है और उसके सुकू को डसती रहती है। मंटो का अवचेतन ज़्यादात इसी ज़हर से अपनी शक्लें तराशता और अमृ निकालता है। मंटो की गिरी-पड़ी औरतें और वेश्या इसी पीड़ा की उत्पत्ति हैं और इसी पीड़ा के वि और अमृत के घालमेल से बनी हैं। बार-बार य पीड़ा मंटो में एक ऐसी व्यग्रता को पैदा करती जहाँ विश्वास और अविश्वास की सीमाएँ धुँधल जाती हैं। ''मैं दरअसल आजकल, उस जगह पहुँ हुआ हूँ जहाँ यक़ीन और इनकार में तमीज़ नहीं सकती। जहाँ आप समझते हैं और नहीं भी समझते कभी-कभी ऐसा महसूस होता है कि दुनिया सा की सारी मुट्ठी में चल आई है और कभी-कभी य ख़याल पैदा होता है कि हम हाथी के जिस्म

चींटी की तरह रेंग रहे हैं।''

(अहमद नदीम क़ासमी के नाम,
नक़ूश मंटो नंबर)

इस बहस से स्पष्ट है कि अपने सर्वश्रेष्ठ क्षणों में मंटो की कला सृष्टि के रहस्य से हमआहंग होने का हौसला रखती है, और इस भेद भरे संगीत में मंटो का सुर पीड़ा व दर्दमंदी का सुर है। मंटो ने ज़िंदगी के अनुभव से पाया कि सृष्टि में सबसे ज़्यादा घायल रूह औरत की है जो इस कारगाहे-हस्ती में अपनी सर्वश्रेष्ठ पूँजी को बेचने पर मजबूर है लेकिन मर्द की वासनामयी और पराजित शिष्टाचार कि उलटे औरत ही को निंदित व रुसवा किया जाता है। मंटो Doxa का नक़ाब इसीलिए नोच फेंकता है कि वह अभिजात्य वर्ग को नंगा कर सके। मंटो की कला औरत की घायल रूह की कराह और दर्द की थाह को पाने की कला है। यही वजह है कि प्रायः मंटो के पात्र हाड़-माँस के आम इंसानों से कहीं ज़्यादा सच्चे, कहीं ज़्यादा स्थायी और कहीं ज़्यादा दर्दीले बन जाते हैं। वह हमें सद्मा पहुँचाते, झिंझोड़ते और कचोके लगाते हैं। उनका सौंदर्य प्रभाव शाश्वत इसीलिए है कि ज़िंदगी के भेद भरे संगीत में दुख-दर्द, पीड़ा और करुणा के कुछ ऐसे सुरों के अग्रदूत हैं जो क़ुदरत के कारख़ाने के मूल रहस्य का हिस्सा हैं और जिनको कोई नाम देना आसान नहीं।

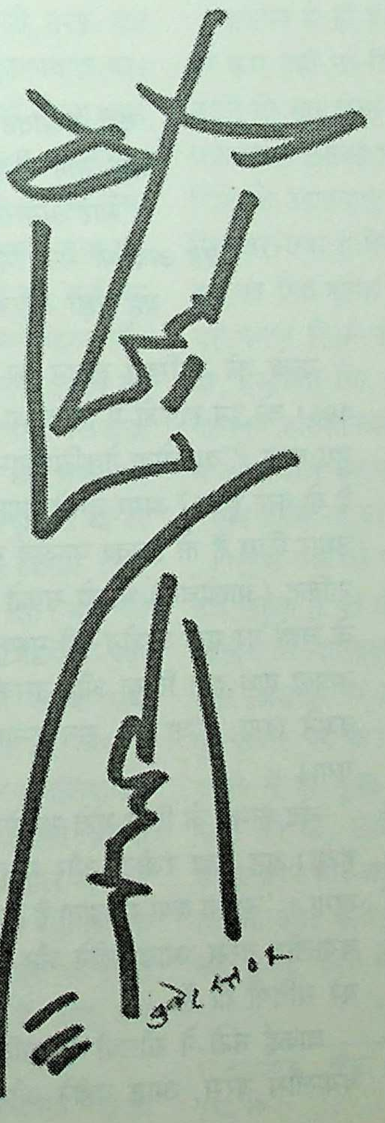

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

शरद दत्त

मंटो : एक बेचैन रूह

वह शख़्स जिसका नाम मंटो था, अपने जीते-जी लोगों के लि पहेली बना रहा और मरने के बाद भी पहेली बना हुआ है। य पहेली नहीं तो और क्या है कि उसकी मौत 18 जनवरी 1955 को हुई मगर अपना कत्बा (समाधिलेख) उसने 18 अगस्त 1954 को ही लिख दिया था, ठीक पाँच महीने पहले—न एक दिन इधर, न एक दिन उधर लिखने की तारीख़ 18 अगस्त और मरने की तारीख़ 18 जनवरी। कत्बे की इबारत भी ग़ौरतलब है :

786
कत्बा
यहाँ सआदत हसन मंटो दफ़न है।
उसके सीने में फ़न्ने-अफ़सानानिगारी के
सारे अस्रारो-रूमूज़ दफ़न हैं—
वह अब भी मनों मिट्टी के नीचे सोच रहा है कि
वह बड़ा अफ़सानानिगार है या ख़ुदा।

कत्बे की आख़िरी लाइन का तब्सरा देवेंद्र सत्यार्थी ने 18 जनवर 1961 को इन लफ़्ज़ों में किया था : ख़ुदा ने मंटो के कंधे पर हाथ रखत हुए कहा, ''वह टोबा टेकसिंह तुमने लिखा है?'' मंटो ने कहा, ''लिख है तो क्या हुआ? अगर तुमसे बयालीस बरस, आठ महीने और सात दि उधार लिए हैं तो इसका मतलब यह नहीं कि तुम मेरी कहानी के अच्छे नाक़िद (आलोचक) भी हो सकते हो...हटाओ अपना यह हाथ।'' ख़ुद के चेहरे पर एक अजीब-सी मुस्कुराहट आई। उसने मंटो के कंधे पर स अपना हाथ हटा लिया और उसकी तरफ़ अजीब-सी नज़रों से देखक कहने लगा, ''जा तेरे, सब गुनाह माफ़ किए।'' और पलटकर चल गया।

चंद लम्हों के लिए मंटो ख़ामोश रहा। वह उस तारीफ़ से ख़ुश नह हुआ। वह बड़ा रंजीदा और मलूल और ख़फ़ा-ख़फ़ा-सा नज़र आन लगा : ''साला क्या समझता है? मुझे हिरासां करता है...उसने मुझे सिर्फ़ बयालीस बरस, आठ महीने और सात दिन उधार दिए थे, मैंने तो सौगंध को सदियाँ दी हैं...!''

वाक़ई मंटो ने सौगंधी को सदियाँ दी हैं, मगर वह ख़ुद क्या सिर्फ़ बयालीस बरस, आठ महीने और सात दिन ही जिया? अगर उसक

दिल्ली दूरदर्शन के चीफ़ प्रोड्यूसर का जन्म 1946 में हुआ। *ऋतु आए ऋतु जाए* संगीतकार अनिल विश्वास की जीवनी पर राष्ट्रीय पुरस्कार, दिल्ली रत्न, कला रत्न से सम्मानित। संपर्क : 13, बाबर लेन, बंगाली मार्किट, नई दिल्ली 110001

भौतिक शरीर की बात करें तो यह सच है, लेकिन वह मंटो जो रचनाकार था, उसके बारे में यह सच नहीं है। उसे मनों मिट्टी तले सोए आज पूरे पचास साल हो गए हैं, मगर वह आज भी ज़िंदा है—अपनी रचनाओं में ज़िंदा है, अपने उन किरदारों में ज़िंदा है जिन्हें उसने पूरी तन्मयता के साथ अनुभूति की आँच में तपाकर गढ़ा था। अगर उसके किरदार सदियों तक लोगों के ज़ेहन में रहेंगे तो उनके साथ वह भी रहेगा।

मंटो एक बेचैन रूह था, मगर उसकी बेचैनी को लोग ठीक तरह समझ नहीं पाए और यही वजह थी कि वह लोगों के लिए पहेली बना रहा। एक तरफ़ उसमें रचनाकार का अहं था तो दूसरी तरफ़ वह निहायत ख़ुशमिज़ाज, नेकदिल व दोस्तनवाज़ था। किसी का दुख-दर्द उससे देखा नहीं जाता था। इसके साथ ही यह भी कि नाराज़ हुआ तो लगता आसमान फट पड़ेगा और थोड़ी ही देर में ऐसा सामान्य मानो कुछ हुआ ही नहीं। वह कब क्या कर बैठेगा, अंदाज़ा लगाना मुश्किल था। हद दर्ज़े का ज़िद्दी, मगर मोम की तरह पिघल जाने वाला भी। एक तरफ़ वह नास्तिक था तो दूसरी तरफ़ क़लम को काग़ज़ पर टिकाते ही सबसे पहले ''786'' लिखता था, ठीक वैसे ही जैसे कुछ हिंदू ''श्री गणेशाय नमः'' लिखते हैं। एक तरफ़ वह कम्युनिस्ट था तो दूसरी तरफ़ कुछ ऐसा भी कर बैठता जिसके लिए लोग उसे प्रतिक्रियावादी घोषित कर देते। मज़े की बात यह कि प्रगतिशील आंदोलन में पेश-पेश रहने वाले अली सरदार जाफ़री ने उसके एक अफ़साने को एक बार प्रगतिशीलता की मिसाल बताया तो दूसरी बार उसी अफ़साने पर प्रतिक्रियावाद का फ़तवा ज़ारी कर दिया। यह सब उसकी ज़िंदगी में तो हुआ ही, उसके मरने के पचास साल बाद भी हो रहा है और शायद आगे भी होता रहेगा। यह इसलिए कि मंटो ऐसी ताक़त का नाम था जिसे नकारने की हिम्मत लोगों में नहीं है और उसे स्वीकार करना भी उनके बूते का नहीं है।

लेकिन मंटो में यह ताक़त क्या अचानक पैदा हो गई थी? नहीं, बाहोश होते ही जो माहौल उसने अपने चारों तरफ़ देखा, यह सब उसकी देन है। उसने ज़िंदगी को बहुत क़रीब से देखा, महसूस किया और उसे अपने ख़ून का हिस्सा बना लिया।

मंटो का जन्म 11 मई 1912 को पुश्तैनी बैरिस्टरों के परिवार में हुआ था। उसके वालिद ख़ुद एक नामी बैरिस्टर और सेशंस जज थे। और माँ? सुनिए बक़लम मंटो : ''उसके वालिद, ख़ुदा उन्हें बख़्शे, बड़े सख़्तगीर थे और उसकी वालिदा बेहद नर्मदिल। इन दो पाटों के अंदर पिसकर यह दाना-ए-गंदुम किस शक्ल में बाहर आया होगा, इसका अंदाज़ा आप कर सकते हैं।''

बचपन से ही मंटो बहुत ज़हीन था, मगर शरारती भी कम नहीं था जिसके चलते एंट्रेंस का इम्तिहान उसने दो बार फेल होने के बाद पास किया। इसकी एक वजह उसका उर्दू में कमज़ोर होना भी था। उन्हीं दिनों के आसपास उसने तीन-चार दोस्तों के साथ मिलकर एक ड्रामेटिक क्लब खोला था और आग़ा हश्र का एक ड्रामा स्टेज़ करने का इरादा किया था। यह क्लब सिर्फ़ पंद्रह-बीस रोज़ क़ायम रह सका था, इसलिए कि वालिद साहब ने एक रोज़ धावा बोलकर हारमोनियम और तबले सब तोड़फोड़ दिए थे और वाज़े अल्फ़ाज़ में हमको बता दिया था कि ''ऐसे वाहियात शग्ल उन्हें बिलकुल पसंद नहीं।''[1]

एंट्रेंस तक की पढ़ाई उसने अमृतसर के मुस्लिम हाई स्कूल में की थी। सन् 1931 में उसने हिंदू सभा कॉलेज में दाख़िला लिया। उन दिनों पूरे देश में और ख़ासतौर पर अमृतसर में आज़ादी का आंदोलन पूरे उभार पर था। जलियांवाला बाग़ का नरसंहार 1919 में हो चुका था जब मंटो की उम्र कुल सात साल की थी, लेकिन उसके बाल-मन पर उसकी गहरी छाप थी। क्रांतिकारी गतिविधियाँ बराबर चल रही थीं और गली-गली में इनक़िलाब ज़िंदाबाद के नारे सुनाई पड़ते थे। दूसरे नौजवानों की तरह मंटो

---

[1] दस्तावेज़ : पाँच, संपादक : बलराज मेनरा व शरद दत्त, पृष्ठ 19

भी चाहता था कि जुलूसों और जलसों में बढ़चढ़कर हिस्सा ले और नारे लगाए, लेकिन वालिद की सख़्तगिरी के सामने वह मन मसोसकर रह जाता। आख़िरकार उसका यह रुझान अदब से मुखातिब हो गया। उसने पहला अफ़साना लिखा ''तमाशा'', जिसमें जलियाँवाला नरसंहार को एक सात साल के बच्चे की नज़र से देखा गया है। इसके बाद कुछ और अफ़साने भी उसने क्रांतिकारी गतिविधियों के ज़ेरे-असर लिखे।

सन् 1932 में मंटो के पिता का देहांत हो गया। भगत सिंह को उससे पहले फाँसी दी जा चुकी थी। मंटो ने अपने कमरे में पिता के फ़ोटो के नीचे कार्निश पर भगत सिंह की मूर्ति रखी और कमरे के बाहर एक तख़्ती पर लिखा ''दार-उल-अह्मर'' यानी ''लाल कमरा''। ज़ाहिर है कि रूसी साहित्य से उसकी दिलचस्पी बढ़ रही थी। इन्हीं दिनों उसकी मुलाक़ात अब्दुल बारी नाम के एक पत्रकार से हुई जिसने उसे रूसी साहित्य के साथ-साथ फ्रांसीसी साहित्य पढ़ने के लिए भी प्रेरित किया और उसने विक्टर ह्यूगो, लॉर्ड लिटन, गोर्की, चेखव, पुश्किन, ऑस्कर वाइल्ड, मोपासां आदि का अध्ययन किया। अब्दुल बारी की प्रेरणा पर ही उसने विक्टर ह्यूगो के एक ड्रामे—''द लास्ट डेज़ ऑफ़ ए कंडेम्ड''—का उर्दू में तर्ज़ुमा किया, जो ''सरगुज़तश्तए-असीर'' शीर्षक से लाहौर से प्रकाशित हुआ। यह ड्रामा ह्यूगो ने मृत्युदंड के विरोध में लिखा था जिसका तर्ज़ुमा करते हुए मंटो ने महसूस किया कि इसमें जो बात कही गई है वह उसके दिल के बहुत क़रीब है। अगर मंटो के तमाम अफ़सानों को ध्यान से पढ़ा जाए तो यह समझना मुश्किल नहीं होगा कि इस ड्रामे ने उसके रचनाकर्म को कितना प्रभावित किया था।

विक्टर ह्यूगो के इस तर्ज़ुमे के बाद मंटो ने ऑस्कर वाइल्ड के ड्रामे ''वेरा'' का तर्ज़ुमा शुरू किया। इस ड्रामे की पृष्ठभूमि 1905 का रूस है और इसमें ज़ार की क्रूरताओं के ख़िलाफ़ वहाँ के नौजवानों का विद्रोह ओजपूर्ण भाषा में अंकित किया गया है। इस ड्रामे का मंटो और उसके साथियों के दिलो-दिमाग़ पर ऐसा असर हुआ कि उन्हें अमृतसर की हर गली में मॉस्को दिखाई देने लगा।

दो ड्रामों का अनुवाद कर लेने के बाद मंटो ने अब्दुल बारी के ही कहने पर रूसी कहानियों का एक संकलन तैयार किया और उन्हें उर्दू में रूपांतरित करके ''रूसी अफ़साने'' उन्वान से प्रकाशित करवाया।

इन तमाम अनुवादों और फ्रांसीसी तथा रूसी साहित्य के अध्ययन से मंटो के मन में कुछ मौलिक लिखने की कुलबुलाहट होने लगी तो उसने पहला अफ़साना लिखा ''तमाशा'' जिसका ज़िक्र ऊपर हो चुका है।

इधर मंटो की ये साहित्यिक गतिविधियाँ चल रही थीं और उधर उसके दिल में आगे पढ़ने की ख़्वाहिश पैदा हो गई। आख़िर फ़रवरी 1934 को बाईस साल की उम्र में उसने अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में दाख़िला लिया। यह यूनिवर्सिटी उन दिनों प्रगतिशील मुस्लिम नौजवानों का गढ़ बनी हुई थी। अली सरदार जाफ़री से मंटो की मुलाक़ात यहीं हुई और यहाँ के माहौल ने उसके मन में कुलबुलाती रचनात्मकता को उकसाया। उसने अफ़साने लिखने शुरू कर दिए। ''तमाशा'' के बाद दूसरा अफ़साना उसने ''इंक़िलाब पसंद'' नाम से यहाँ आकर ही लिखा जो अलीगढ़ मैगज़ीन में प्रकाशित हुआ। यह मार्च 1935 की बात है। फिर तो सिलसिला शुरू हो गया और 1936 में मंटो का पहला मौलिक उर्दू कहानियों का संग्रह प्रकाशित हुआ, उन्वान था ''आतिशयारे''।

अलीगढ़ में सारी दिलचस्पियों के बावजूद मंटो वहाँ ज़्यादा नहीं ठहर सका और एक साल पूरा होने से पहले ही अमृतसर लौट गया और वहाँ से लाहौर चला गया जहाँ उसने कुछ दिन ''पारस'' नाम के एक अख़बार में काम किया और कुछ दिन के लिए ''मुसिव्वर'' नामक साप्ताहिक का संपादन किया। मगर उसे वहाँ सुकून नाम की चीज़ मयस्सर नहीं हुई और थोड़े ही दिनों में लाहौर को अलविदा कहकर वह बंबई पहुँच गया। चार साल बंबई में बिताए और कुछ पत्रिकाओं का संपादन तथा फ़िल्मों

के लिए लेखन करता रहा। जनवरी 1941 में दिल्ली आकर ऑल इंडिया रेडियो ज्वॉयन किया। यहाँ मंटो सिर्फ़ सत्रह महीने रहा, लेकिन सत्रह महीने का यह अर्सा उसकी रचनात्मकता का स्वर्णकाल था। इस दौरान उसके रेडियो-नाटकों के चार संग्रह प्रकाशित हुए—''आओ'', ''मंटो के ड्रामे'', ''जनाज़े'' तथा ''तीन औरतें''। उसके विवादास्पद अफ़सानों का मजमुआ ''धुआँ'' और समसामयिक विषयों पर लिखे गए लेखों का संग्रह ''मंटों के मज़ामीन'' भी दिल्ली प्रवास के दौरान ही प्रकाशित हुए। मगर उसकी बेचैन रूह फिर उसे बंबई खींच ले गई।

जुलाई 1942 के आसपास मंटो बंबई आया और जनवरी 1948 तक वहाँ रहा। फिर पाकिस्तान चला गया। बंबई के इस दूसरे प्रवास में उसका एक बहुत महत्त्वपूर्ण कहानी-संग्रह ''चुग़द'' प्रकाशित हुआ, जिसमें ''चुग़द'' के अलावा उसका एक बेहद चर्चित अफ़साना ''बाबू गोपीनाथ'' भी शामिल था। पाकिस्तान जाने के बाद उसके 14 कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए, जिनमें 161 अफ़साने संग्रहीत थे। इन अफ़सानों में ''सियाह हाशिए'', ''नंगी आवाज़ें'', ''लाइसेंस'', ''खोल दो'', ''टेटवाल का कुत्ता'', ''मम्मी'', ''टोबा टेकसिंह'', ''फुंदने'', ''बिजली पहलवान'' जैसे तमाम चर्चित अफ़साने शामिल हैं।

मंटो की ज़िंदगी का यह एक छोटा-सा ख़ाका इसलिए दिया गया है कि उसकी रचनात्मकता को समझने में कुछ मदद मिल सके। अब हम लौटते हैं सौगंधी की तरफ़ जिसका ज़िक्र देवेंद्र सत्यार्थी ने अपने तब्सरे में किया है। आप जानना चाहेंगे कौन थी यह सौगंधी, जिसे, बक़ौल सत्यार्थी, मंटो ने सदियाँ बख़्शा दीं?

सौगंधी किरदार है मंटो के एक अफ़साने की जिसका उन्वान है ''हतक''।

सौगंधी नाम है उस वेश्या का जो अकेलेपन का दर्द झेलते-झेलते तमाम मानवीय संबंधों से वंचित हो गई है और अब, वारिस अलवी के शब्दों में, ''कोई आदमी उसके लिए कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि कोई आदमी वहाँ है ही नहीं। सौगंधी की ज़िंदगी में भी नहीं और ज़ेहन में भी नहीं। उसका सरोकार अब सीधे-सीधे सृष्टि की अनदेखी ताकतों से है।''

उर्दू के मक़बूल अदबी परचे ''शऊर'' (संपादकः बलराज मेनरा, शरद दत्त) ने एक पूरा अंक ही सौगंधी पर केंद्रित निकाला था जिसमें वारिस अलवी तथा शमीम हनफ़ी जैसे आलोचकों की टिप्पणियों के साथ-साथ शह्रयार, बलराज कोमल, कुमार पाशी, सरमद सहबाई तथा मुहम्मद अलवी सरीखे शायरों की सौगंधी के दर्द से पुर नज़्में प्रकाशित की गई थीं। मंटो की क़लम ने सचमुच सौगंधी को अमरत्व दे दिया। फिर वारिस अलवी के ही शब्दों में, ''अगर ख़ुदा नहीं तो सौगंधी के दुख का हिसाब रखने वाला भी कोई नहीं, सिवाय मंटो के जिसने उस पर अफ़साना लिखकर अपना इनसानी क़र्ज़ चुकाया।''

लेकिन अकेली सौगंधी नहीं, मंटो के अफ़सानों के कितनी ही सौगंधियाँ हैं जो आज भी चीख़-चीख़कर समाज के ठेकेदारों से पूछ रही हैं : ''वेश्या क्या औरत नहीं होती? क्यों उसे बेरहम और जल्लाद समझा जाता है? क्यों उसका मुकाबला बाइस्मत औरत से करके यह साबित किया जाता है कि उसकी ज़ात मुहब्बत के जज़्बात से पूरी तरह ख़ारिज़ है?''

इस सिलसिले में ख़ुद मंटो का बयान ग़ौरतलब है। वे लिखते हैं, ''...दिल और उसकी धड़कनों से इस्मतफ़रोशी या इस्मतमआबी का कोई ताल्लुक़ नहीं—एक बाइस्मत औरत के सीने में मुहब्बत से आरी दिल हो सकता है और इसके बरक्स चकले की एक अदनातरीन वेश्या मुहब्बत से भरपूर दिल की मालिक हो सकती है।''

यह थी मंटो की मानवीय संवेदना जिसने उसके अफ़सानों में क़यामत का असर पैदा कर दिया और उसने जिस विषय पर भी क़लम उठाई, वह जीती-जागती शक्ल में हमारे सामने खड़ा हो गया, हमारी चेतना को पूरी शिद्दत से झकझोरता हुआ। लेकिन मंटो की बात अभी पूरी कहाँ हुई है! आगे

चलकर वह लिखता है, ''ज़रा उस वेश्या का तसव्वुर कीजिए जिसका इस दुनिया में कोई भी न हो। न भाई, न बहन, न माँ-बाप और न कोई दोस्त। अपने गाहकों से फ़रागत पाकर जब वह कमरे में अकेली, बिलकुल अकेली रह जाती होगी तो उसके दिलो-दिमाग़ की क्या कैफ़ियत होती होगी...? यह तारीकी उस अँधेरे में और कितनी तारीक हो जाती होगी...? अगर सारा दिन टोकरी ढोने के बाद मज़दूर को अपनी थकान दूर करने का ज़रिया नज़र न आए, अपनी दिलबस्तगी के लिए बीवी की बातें उसे नसीब न हों, न उसकी माँ हो जो उसके थके हुए कंधे पर हाथ रखकर उसकी तमाम कुलफ़तें (कष्ट) दूर कर दे तो बताइए उस मज़दूर की क्या हालत होगी—उस मज़दूर और उस वेश्या, दोनों की हालत एक जैसी है।''

सौगंधी का किरदार मंटो की ऐसी तमाम कहानियों के किरदारों का प्रतिनिधित्व करता है जिनका संबंध वेश्याओं और उनके दलालों से है। इस किरदार के माध्यम से ''लाइसेंस'' की नीती, ''काली शलवार'' की सुलताना, बरमी लड़की, फ़ेमाबाई, मम्मी, शारदा, बाबू गोपीनाथ के किरदार आप-से-आप खुलते चले जाते हैं।

वेश्याओं के जीवन से संबंधित कहानियों जैसी ही सशक्त कहानियाँ मंटो ने सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक दंगों में उलझी हुई हिंदू-मुस्लिम राजनीति को लेकर लिखी हैं। इस वर्ग की कहानियों में ''मूतरी'', ''खोल दो'', ''टोबा टेकसिंह'', ''टेटवाल का कुत्ता'', ''ठंडा गोश्त'' और ''सियाह हाशिए'' उल्लेखनीय हैं जिनमें वे अपने गहरे मानव-प्रेम और नैतिक क्षोभ के माध्यम से एक विशिष्ट बोध को अभिव्यक्त करते हैं।

मंटो के लिए सन् सैंतालीस के विभाजन का पीछा करने वाले दंगों की समस्या बुनियादी तौर पर एक मानवीय समस्या थी। यह और बात है कि इनसानी सरोकार की अभिव्यक्ति हर संवेदनशील लिखने वाले के यहाँ किसी-न-किसी मोड़ पर एक राजनीतिक आयाम ग्रहण कर लेती है। मंटो का बोध भी ''अराजनीतिक'' नहीं था, मगर उस बोध में एक सच्चा अर्थपूर्ण राजनीतिक आयाम दरअसल मंटो के फैलावदार चिंतन के मानव-प्रेम के द्वारा प्रविष्ट हुआ था।

एक ऐसे दौर में, जब इनसान वहशी बन गया था और निहत्थे कमज़ोर बच्चे, बूढ़े, औरतें जानवरों की तरह ज़िब्ह किए जा रहे थे, केवल रक्तपात के और विनाश के वर्जन या उनके विश्लेषण के आधार पर सच्ची कहानी नहीं लिखी जा सकती थी। उस त्रासदी की सच्चाई तक पहुँचने और उसे एक रचनात्मक सच्चाई का रूप देने के लिए अपने अस्तित्व और अपने परिवेश के बीच एक दूरी, अपनी तबीअत में एक निढालपन की जगह एक संगीनी पैदा करने की ज़रूरत थी। इस विषय पर मंटो की कहानियाँ हमें इसी भेद से परिचित कराती हैं।

मंटो की कहानियों का एक तीसरा वर्ग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इन कहानियों का बुनियादी सरोकार यौन-संबंधी अनुभवों के अर्थ और सत्य को समझना और व्याख्यायित करना है। इस वर्ग की कहानियों में चर्चित रही हैं—''धुआँ'', ''चुग़द'', ''नंगी आवाज़ें'', ''मेरा नाम राधा है'' और ''बू''। इन कहानियों पर अश्लीलता के आरोप लगे।

सवाल है कि मंटो की ये कहानियाँ क्या वाक़ई अश्लील हैं?

इसका एक जवाब यह दिया जा सकता है कि श्लीलता या अश्लीलता विषय में नहीं बल्कि उसे देखने वाले की आँख में या पढ़ने वाले के मन में होती है। लेकिन यह एक ऐसा सामान्यीकरण है जो सवाल की तह तक जाने में हमारी मदद नहीं करता। इसलिए अगर यह कहा जाए कि श्लीलता या अश्लीलता रचनाकार की मंशा में होती है तो इसके सहारे उपर्युक्त सवाल की तह तक पहुँचा जा सकता है। इस सिलसिले में ख़ुद मंटो ने एक मिसाल दी है जो क़ाबिले ग़ौर है :

> एक आर्ट गैलरी में नुमाइश के लिए नंगी औरतों की बहुत-सी तसवीरें पेश हुईं। उनमें से किसी

ने भी, जैसाकि ज़ाहिर है, देखने वालों का अख़लाक़ ख़राब न किया और शहवानी जज़्बात को उभारा। अलबत्ता एक तसवीर, जिसमें औरत का सारा बदन तो कपड़ों में छिपा हुआ था, सिर्फ़ एक ख़ास हिस्सा इस तरकीब से आधा उघाड़ा छोड़ दिया गया था कि देखने वालों के जज्बात में गुदगुदी-सी होती थी, अश्लील क़रार दी गई—क्यों? इसलिए कि आर्टिस्ट की नीयत में फ़र्क़ था। और उसने जान-बूझकर लिबास को कुछ इस तरह ऊपर उठा दिया था कि देखने वालों के दिलो-दिमाग़ में हलचल-सी मच जाए और वो अपने तसव्वुर से मदद लेकर उस आधे उघाड़े हिस्से को उघाड़ा देखने की कोशिश करें।

यह है रचनाकार की मंशा जो श्लीलता-अश्लीलता का फ़र्क़ समझने के लिए कसौटी का काम कर सकती है। मंटो की कहानियाँ इस कसौटी पर खरी उतरती हैं क्योंकि मंटो ने नंगी सच्चाईयों को कलात्मक ईमानदारी से पेश किया है ताकि हम उन सच्चाईयों से रूबरू होकर उनका विश्लेषण कर सकें और उन कारणों को समझ सकें जिनसे वे पैदा हुई हैं। मंटों के हर चित्रण में निस्संगता है और इसीलिए उसमें कलात्मक ऊँचाई तो मिलेगी मगर अश्लीलता नहीं।

मंटों की कहानियों का एक और वर्ग है जिनका संबंध एक तरफ़ सामाजिक सच्चाई से है तो दूसरी तरफ़ एक शुद्ध निजी प्रकार की आंतरिक सच्चाई से। मंटो ने इन दोनों के संयोग से कहानी की आंतरिक संरचना और अपने चरित्रों के मनोविज्ञान को यथार्थवाद का एक नया मर्म प्रदान किया है।

मंटो मूलतः फ्रांसीसी तथा रूसी यथार्थवादियों से प्रभावित रहा है। कहानी को अप्रत्याशित अंत पर लाकर छोड़ देने की कला में मोपासां बेमिसाल कलाकार हैं और मंटो ने भी अपनी बेशतर कहानियों में यही तकनीक अपनाई। अलावा इसके, मंटो अल्पतम शब्दों में अपनी बात कहता था जिसने उसकी कहानियों को कलात्मक ऊँचाई प्रदान की। अपनी बयालीस साल, आठ महीने और सात दिन की ज़िंदगी में उसे लिखने के लिए सिर्फ़ उन्नीस साल मिले और इन उन्नीस सालों में उसने 230 कहानियाँ, 67 रेडियो-नाटक, 22 ख़ाके (शब्दचित्र) और 70 मज़ामीम (लेख) लिखे।

अंत में यह कि मंटो उर्दू का एकमात्र साहित्यकार है जिसने पचास बरस पहले जो कुछ लिखा, उसमें आज की हक़ीक़त भी सिमटी हुई नज़र आती है।

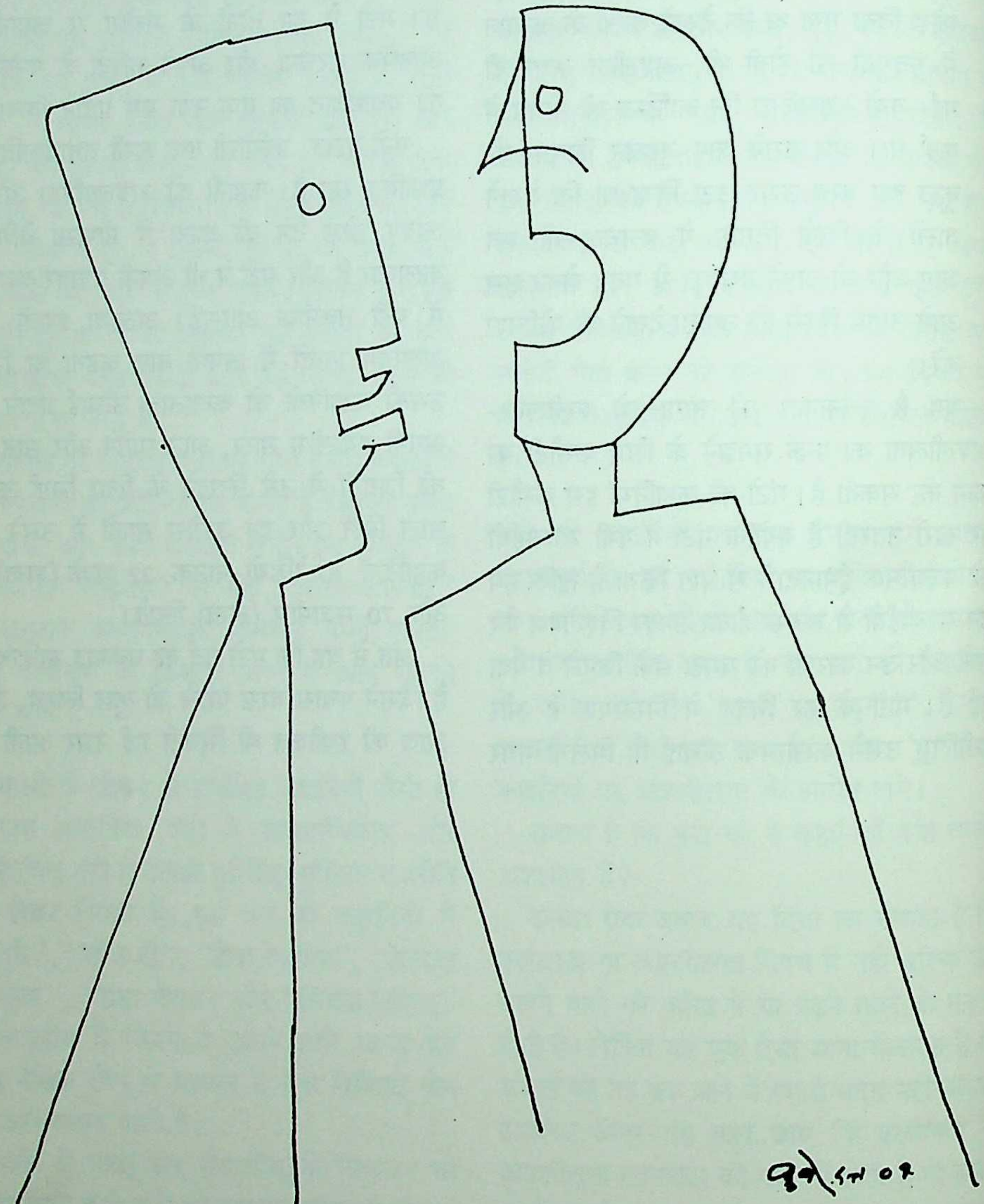

शीर्षेन्दु मुखोपाध्याय

शक्ति चट्टोपाध्याय
बरक्स
सुनील गंगोपाध्याय

लड़ाई शक्ति चट्टोपाध्याय और सुनील गंगोपाध्याय इन दो कवियों के मध्य थी। विषय था—इस दशक में तरुण कवि जो लिख रहे हैं और जो छापा जा रहा है वह कविता ही नहीं है। प्रस्तुतकर्ता और प्रतिवेदक थे—शीर्षेन्दु मुखोपाध्याय। उनकी भूमिका रही बीच-बीच में इस लड़ाई को उकसा भर देना, जिससे लड़ाई धीमी न पड़ जाए। दस वर्ष पहले हुई यह बातचीत कविता, कवि, साहित्य-पारिस्थिकी जैसे अंतरंग बिंदुओं पर रोशनी डालती है। ध्वनि अंकित यह बातचीत यहाँ हू-ब-हू दी जा रही है।

सुनील और शक्ति चट्टोपाध्याय आपस में बहुत पुराने मित्र हैं। कविता-लेखन के अनेक प्रसंगों द्वारा इस बंधुत्व का विकास हुआ है। किंतु, इन दो बंधुओं का स्वभाव, व्यक्तिगत मनोभाव, चरित्र सभी कुछ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। दोनों में और भी कुछ अंतर है। शक्ति भगवान पर विश्वास करता है और भूत से उसे बहुत डर लगता है। सुनील घोर नास्तिक है और भूत पर अविश्वास करता है, तो भी वैसी परिस्थिति में पड़ने पर उसे भय होगा या नहीं, मैं नहीं जानता। शक्ति में नारी के प्रति कोई आग्रह नहीं है, इस तरह का प्रचार किया जाता है। सुनील ने एक बार स्वयं स्वीकार किया था कि उसकी प्रिय वस्तुएँ दो हैं—''एक नारी और दूसरी हरीतिका''। किंतु मैंने उसे कभी हर्रे खाते हुए नहीं देखा है। नारी के विषय में बात रहने दो। दोनों व्यक्तियों में शराब के प्रति आकर्षण है। फिर भी सुनील दिन में शराब पीना पसंद नहीं करता। रात आठ के पहले जहाँ तक संभव हो वह पीना शुरू नहीं करता है। शक्ति नाश्ते से पहले ही शराब पीना शुरू कर देना चाहता है। सुनील बहुत ख़र्चीला है, शक्ति वैसा नहीं है। दोनों ही मध्यवय में पहुँचे हुए अत्यंत शांत, सफल गृहस्थ हैं। शक्ति का संतान प्रेम सांघातिक है, सुनील दायित्वशील पिता है। दोनों के पहनने के वस्त्र उनकी स्त्रियाँ ही ख़रीदती हैं। दोनों में किसी को भी मोज़ा पहनना पसंद नहीं है। ये दोनों एक-दूसरे को ''तुम'' कहकर बुलाते हैं। सिर्फ़ कविता ही इन दोनों को घनिष्ठ बनाए हुए है। कविता के विषय में भी इन दोनों का दुर्लंघ्य मतभेद है। शक्ति सिर्फ़ कविता (उसके शब्दों में पद्य) लिखता है, गद्य कम। सुनील उभयचर है। गद्य-पद्य दोनों ही लिखता है। आजकल कविता

शीर्षेन्दु मुखोपाध्याय का जन्म 1935 में ढाका में हुआ। इनकी लगभग 40 पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। साहित्य अकादेमी पुरस्कार, भुवालका पुरस्कार आदि से सम्मानित। संपर्क : 74डी, रहीम ओस्टागर रोड, कोलकाता 700045

अनु. 1937 में जन्मे रामशंकर द्विवेदी बाङ्ला से हिंदी अनुवाद करते हैं। उनके निबंध, समीक्षा, संस्मरण छप चुके हैं। संपर्क : 1260, नया रामनगर, पाठक का बगीचा के पास, उरई 285001

कम, गद्य बहुत अधिक। सुनील नए कवियों का बहुत बड़ा पृष्ठपोषक है। शक्ति बाद की पीढ़ी की कविताओं के प्रति थोड़ा उदासीन है। कुछ दिन पहले रविवारीय ''आनंद बाज़ार'' में उसने ''इतने कवि क्यों'' शीर्षक से एक रपट प्रकाशित करके विवाद खड़ा कर दिया था। उसमें उसने अपने मित्र सुनील पर भी आक्रमण किया था। परोक्ष रूप से अकवियों की भीड़ बढ़ाने में सुनील ने भी सहयोग किया है। शक्ति का एक मुख्य आरोप यह भी था। हाँ, इसको लेकर सुनील और शक्ति में प्रकट और प्रत्यक्ष रूप से कोई लड़ाई नहीं है। कभी उन्होंने कविता के विषय में कोई आलोचना भी की हो ऐसा भी याद नहीं पड़ता है। वरन् साहित्येतर अथवा साहित्य से असंबद्ध विषयों को लेकर ही बातचीत करना उन्हें अच्छा लगता है। संपादक के निर्देश से इन दो कवियों को ''समकालीन कविता'' विशेष रूप से ''इतने कवि क्यों'' संदर्भ में वाग्युद्ध कराने का दायित्व वर्तमान प्रस्तुतकर्ता ने निभाया। दोनों को उत्तेजित और उकसाते रहना ही प्रस्तुतकर्ता का मुख्य काम था। वर्तमान रपट उसी का परिणाम है।

प्रतिवेदक : शक्ति, कुछ दिन पहले तुमने ''आनंद बाज़ार'' में लिखा था कि इस समय अकवियों की भीड़ बहुत बढ़ गई है। और उसके लिए बहुत अंशों में सुनील उत्तरदायी है। यह जो कवियों को बढ़ावा दिया जा रहा है क्या इसके लिए सुनील ही ज़िम्मेवार है?

शक्ति : सुनील ज़िम्मेवार है इसका यह अर्थ है कि ''देश'' में कविता छापने का उत्तरदायित्व उसी का है—इसी कारण से।

प्रतिवेदक : सिर्फ़ ''देश'' ही क्यों, सुनील तो एक समय ''कृत्तिवास'' भी निकालता था। इसलिए बहुत दिनों से वह नए कवियों का पोषण करता आ रहा है। फिर, वह ख़ूब स्नेहशील भी है। क्या तुम्हें यह नहीं लगता है कि अकवियों की जो भीड़ आज बाङ्ला साहित्य में बढ़ रही है उसके लिए बहुत कुछ सिर्फ़ सुनील ही दोषी है?

शक्ति : हाँ, इसे तो मैंने अपने लेख में भी लिखा है और मेरी धारणा है कि अकवियों की भीड़ के लिए मूल रूप में सुनील ही ज़िम्मेवार है।

प्रतिवेदक : अच्छा, इसका अर्थ है कि आपको लगता है कि सुनील को अच्छी कविता की समझ अथवा अच्छे कवि की पहचान नहीं है?

शक्ति : नहीं, असल में सुनील की सहानुभूति की धारा इतनी प्रबल है कि इसी कारण किसी को लौटा नहीं पाता। और कुछ सुधार कर भी यदि नए कवियों को छापा जा सके तो इसी का प्रयास करता है। बहुत बार वह स्वयं क़लम लेकर ठीक-ठाक करता रहता है और छपा देता है।

प्रतिवेदक : अच्छा ठीक है। तुम तो इस ''सिम्पैथी'' का समर्थन करते नहीं हो। कारण यह सिम्पैथी यदि साहित्य को क्षति पहुँचाती है अथवा जंजाल बढ़ाती है, तब तो तुम उसे सद्‌गुण मानोगे नहीं।

शक्ति : नहीं, नहीं मानता।

प्रतिवेदक : तुम कहते हो कि स्नेहशील होते हुए सुनील जो काम कर रहा है, वह बाङ्ला साहित्य के लिए क्षतिकारक है। इसे थोड़ा स्पष्ट करके कहिए।

शक्ति : साहित्य के लिए क्षतिकारक का अर्थ है कि अत्यधिक कवियों की भीड़ बढ़ रही है। ख़ुद ही समझ सकते हो। ''देश'' के ''कविता स्तंभ'' के पृष्ठों पर ऐसे-ऐसे कवियों के नाम दिखाई देते हैं जिनसे लगता है शायद इन्होंने जीवन में पहली बार कविता लिखी है। और सुनील उन्हें ऐसे छापने बैठ जाता है जैसे वे अब विराट् कवि हो गए हों।

प्रतिवेदक : सुनील उन्हें क्यों छापता है?

शक्ति : सुनील तो दया-माया की ही मूर्ति है, लगता है इसीलिए छाप देता है। इसके अलावा सुनील के लिए और क्या कारण हो सकता है? ये तो सुनील का गुणगान करते घूमेंगे नहीं।

प्रतिवेदक : यह बात स्वयं सुनील से पूछो। वह क्यों छापता है यह पूछो?

शक्ति : (सुनील से) क्यों छापते हो?

सुनील : देखो शक्ति, तुम बीच-बीच में इधर-उधर उल्टी-सीधी बातें करते रहते हो, उनको मैं विशेष महत्व नहीं देता, प्रतिवाद तो करता ही

नहीं। कारण, लगता है, अच्छा शक्ति के कहने से क्या आता-जाता है। यहाँ शीर्षेन्दु हम दोनों के मध्य झगड़ा कराने का प्रयास कर रहा है, तुम उस जाल में मत फँसना। समझे! उल्टी-सीधी बातें कहने की कोई ज़रूरत नहीं है। बच्चे लोग कविता लिखते हैं उससे तुम्हें क्या परेशानी है?

शक्ति : नहीं, असुविधा कुछ नहीं है। और न पढ़ने से चल जाता है। न पढ़ने से मुझे व्यक्तिगत रूप से क्या परेशानी होगी! बात यह है कि वह कविता अगर मैं पढ़ता हूँ, तो मुझे उसमें कुछ नहीं मिलता है। यही असली बात है। दो-चार लोगों को छोड़कर शेष कवि तो एकदम असह्य हैं।

प्रतिवेदक : तुम जिन-जिन को कवि मानते हो उनके नाम बताओ न!

सुनील : वह बाद में होगा, बाद में...

शक्ति : वह तो बाद में बताने का है ही।

सुनील : मैं कहता हूँ कि यह जो तुमने कहा कि ''देश'' पत्रिका में मैं जो कविता छापता हूँ, यह तो ठीक नहीं है। ''देश'' के संपादक तो सागरमय घोष हैं। वे क्या छापेंगे, क्या नहीं छापेंगे, इसे तो वे ही तय करते हैं। मैं तो कई बार प्राथमिक रूप से एक चलता-सा चयन कर देता हूँ। कवि सुनील वसु भी चुनाव करते हैं। फिर भी, यह ठीक है कि इसके पहले मैं ''कृत्तिवास'' पत्रिका का संपादन करता था। पच्चीस वर्ष से कविता छापता आ रहा हूँ। बहुतों की कविताएँ छापी हैं। तो क्या तुम ऐसा मानते हो कि एक जेनरेशन में सौ-सौ अच्छे कवि जनमते हैं? कभी नहीं। तीन-चार लोगों की यदि अच्छे कवियों में गणना हो गई, कुल पंद्रह भी यदि सार्थक कविता लिख लेते हैं तो यही पर्याप्त है। इसके लिए दूसरों को अवसर देकर देखना होता है। कौन अच्छा लिखता है, कौन बुरा, यह सामने आ जाएगा। ऐसा समझ लो, तुमने जब लिखना प्रारंभ किया था, तो तुम्हारी दूसरी अथवा तीसरी कविता मैंने ''कृत्तिवास'' में छापी थी। तुम भी तो उस समय नए ही थे। तुम भी तो अन्य कवियों के बीच से ही ऊपर उठकर आए हो। उसी तरह की जिनकी भी कविता छापी जा रही हैं, उनमें से भी तो कोई ऊपर उठकर आ सकता है। इसमें बुराई क्या है?

शक्ति : नहीं दोष माने क्या—समझिए, इनकी मानसिकता किस तरह बदलती जा रही है अर्थात् जिस नए कवि की कविता तुमने छापी, वही महाकवि हो उठता है।

सुनील : नहीं, छापने भर से कैसे वह महाकवि हो जाएगा?

शक्ति : उनकी मानसिकता तो ऐसी ही हो जाती है।

सुनील : नहीं, कोई यदि ऐसा सोचकर एक-दो कविता छापने से कोई भयंकर कांड कर बैठता है तब तो वह डूब ही जाएगा। प्रत्येक कवि में इस तरह एक अहंकार रहता ही है कि मैं सबकी अपेक्षा अच्छा लिखता हूँ, और भीतर-भीतर सब समय एक भय भी लगा रहता है कि मैं जो लिखना चाहता हूँ नहीं लिख पा रहा हूँ। जिसमें ये दोनों रहते हैं वही कविता लिख पाता है। जो अति अहंकार में भरकर घूमता-फिरेगा वह समाप्त हो जाएगा। यह उसका काम है। फिर, कवियों की संख्या बढ़ाने से समाज की कोई क्षति भी नहीं है। चोर, डकैत, पाकेटमार अथवा व्याभिचारी, बदमाश यह सब होने की अपेक्षा लड़के यदि कविता लिखते हैं तो इसमें दोष क्या है?

प्रतिवेदक : नहीं, वह सब होकर भी कवि हुआ जा सकता है। शायद यह भी करते हों और इसके साथ-साथ कविता भी लिखते हों।

सुनील : उनके व्यक्तिगत जीवन के कार्यकलापों को जानने कौन जा रहा है?

प्रतिवेदक : शक्ति, क्या तुम मानते हो कि कविता व्यभिचार, जुआ अथवा चोरी की विरोधी है?

शक्ति : नहीं, विरोधी नहीं है। तो भी संसार में जो लोग कविता लिखते हैं वे ये सब काम नहीं करते हैं।

प्रतिवेदक : यह क्या कहते हो? सुनील इस बात का क्या समर्थन करते हो?

सुनील : हाँ, सामान्यतः देखा गया है कि कवि कुछ मुँह छिपाने वाले शरमीले-से होते हैं। कुछ-कुछ निरीह जैसे होते हैं। और यह बात कहना अतिशयोक्ति

न होगी कि जो अन्य काम नहीं कर सकते हैं, जो गुंडागीरी नहीं कर सकते हैं, जो व्यवसाय, काला-बाज़ारी नहीं कर सकते हैं, जो राजनीति में नेतागिरी नहीं कर पाए हैं, जो बहुत बड़े प्रेमी जीव नहीं हो पाए हैं, वही कविता-लेखन में आते हैं।

प्रतिवेदक : शक्ति, तुम यह बात नहीं मानते हो?

शक्ति : नहीं, यह मानता हूँ। यह बात मैं मानता हूँ।

सुनील : अरे, ऐसा! शक्ति ने मेरी बात मान ली।

प्रतिवेदक : मैंने तो अनेक कवियों को गुंडा, चोर देखा है?

सुनील : वे लोग अंत तक कवि नहीं रह जाते हैं। अनेक लोग कविता लिखते हैं, अनेक लोग कविता छापते हैं, इस कारण क्या वे कवि हो जाते हैं? वे नहीं होते हैं।

प्रतिवेदक : हम जानते हैं, एक विश्वविख्यात कवि परवर्ती जीवन में स्मगलिंग करने लगे थे।

सुनील : हूँ, रिम्बो।

शक्ति : रिम्बो।

प्रतिवेदक : अच्छे कवि भी ये सब करने में लग जाते हैं। यही नहीं, कवियों में बहुत से होमोसेक्सुअल भी होते हैं।

सुनील : होमोसेक्सुअलिटी ख़राब वस्तुओं में आती है या नहीं, सबसे पहले यही देखना चाहिए।

प्रतिवेदक : आप तो व्यभिचार शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। व्यभिचार का अर्थ ही है, जो स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक है उसकी सीमा के बाहर जाना ही व्यभिचार है।

सुनील : आजकल ज़रूर होमोसेक्सुअल लोगों को सहज, सामान्य मनुष्य माना जाता है। यह एक तरह का दर्शन है।

शक्ति : हाँ, हाँ। यह तो बहुत सामान्य है।

प्रतिवेदक : तुम तो आज मानो सुनील के साथ सहमत होने का निश्चय करके आए हो। और किन-किन विषयों में एकमत हो?

सुनील : कवि गुंडा होते हैं, स्मगलिंग करते हैं, ये दोनों तो अपवाद के समान हैं। फिर भी सुना गया है कि रिम्बो कविता लिखना छोड़कर स्मगलिं किया करता था। उस समय वह कवि नहीं रह गया था। इस तरह कुछ दिन कविता लिखकर फि छोड़कर कोई-कोई किसी अन्य रास्ते पर जाते भी देखे गए हैं। किंतु जिन्हें कविता लिखना आता है उन्हें एक बार ही दाँत-से-दाँत भींचकर बैठन पड़ता है। फिर वे किसी दूसरी दिशा में अपन दिमाग़ नहीं लगा पाते हैं।

प्रतिवेदक : किंतु कविता क्या उनमें पवित्रता क संचार कर देती है? कविता क्या उनके मन में ए छलनी की तरह काम करती है, जिस छलनी स उनके दुर्गुण निकलकर बाहर हो जाते हैं? एवं उसक भीतर से जो बाहर आता है, वह एकदम शुद्ध मनुष्य होता है—कविता से क्या इस तरह की को प्रक्रिया घटित होती है? मेरा यही प्रश्न है, दोन कवियों से।

सुनील : नहीं, शुद्ध मनुष्य कहने से जो बो होता है उसके अनुसार तो कवि को पहले की तर ऋषि होना होगा—जिसकी अब कोई सार्थकता न है। फिर भी कवि लोग जटिल मनुष्य होते हैं, इस कोई संदेह नहीं है। पहली बात, बाहर से समझ नहीं आती है। कवि को पहचानना बहुत कठिन है पहले के दिन होते तो कवि का चेहरा कवि-जैस होता, ढीला-ढाला कुर्ता पहनता और उसके ऊप से एक उत्तरीय ओढ़कर कवि की तरह सजता। इ समय वह सब रूप ख़त्म हो गया है। यदि उन कोई सौंदर्य बोध नहीं है, एक सौंदर्य-सृष्टि क आकांक्षा नहीं है, तो वे लिखेंगे क्यों? फिर, कवि लिखने से कुछ रुपया-पैसा भी नहीं मिलता है उतनी ख्याति भी नहीं मिलती है। जो लिख रहा है उसके लिखने के पीछे सौंदर्य-सृष्टि का व्याप निश्चय ही कारण रूप में रहेगा।

प्रतिवेदक : शक्ति, क्या सौंदर्य-सृष्टि ही कवि का उद्देश्य है?

शक्ति : मुझे तो नहीं लगता। मेरा मत आजकल जो कविता लिख रहे हैं, वे अन्य क काम नहीं कर सकते हैं, इसी कारण कविता लि

रहे हैं। एवं कविता लिखकर एक विशिष्ट ''नाम'' होने की चेष्टा कर रहे हैं। मैं कवि हूँ, मेरा वैशिष्ट्य है, मैं कविता लिखता रहता हूँ—इन कारणों से ही वे कविता लिख रहे हैं।

सुनील : अच्छा, इन नए लड़कों पर तुम्हारा इतना क्रोध क्यों है? नए लड़कों को लिखना नहीं चाहिए? लिखने से तुम्हें क्या परेशानी है?

शक्ति : नहीं, नए लड़के तो लिखेंगे ही, किंतु तुम्हें चुन कर छापना चाहिए।

सुनील : चुनाव ही तो किया जाता है। सुनो, तुम एक भूल कर रहे हो। पहली बात, नए लोग जो लिखने की चेष्टा कर रहे हैं—समझ लीजिए वे तीन हज़ार लड़के-लड़कियाँ हैं, जो तीन हज़ार में से मैं शायद एक सौ लोगों को ही छापता हूँ। यहीं पर एक तरह की छटनी हो जाती है। तुम शायद कहोगे, एक सौ व्यक्ति क्यों, मात्र पाँच लोगों को छापो, मैं इस पर विश्वास नहीं करता, मैं कहूँगा नहीं। इन पाँच लोगों को छापना उचित नहीं है। मैं सोचता हूँ जिन्हें शिल्प का ज्ञान थोड़ा हो गया है जिन्होंने थोड़ा शब्दों को पहचानना सीख लिया है, अवसर देने पर उन्हें प्रोत्साहन मिलता है। उनके अंदर से और भी कई विशेषताएँ कई बार बाहर आ जाती हैं।

शक्ति : मैं तो देखता हूँ सुनील, जो कविताएँ आजकल छापी जा रही हैं, मान लीजिए ''देश'' में ही ''शब्द'' के संबंध में प्रायः मुझे तो किसी में बिंदु मात्र भी समझ दिखाई नहीं देती है।

सुनील : वह तो तुम किसी भी नए में कुछ अच्छा न देख पाने के कारण नहीं समझ पा रहे हो, इसीलिए ऐसा क्या कभी हो सकता है?

शक्ति : इसके अलावा उन्हें छंद-संबंधी कुछ भी ज्ञान नहीं है। वे तो सीधा गद्य लिखे चले आ रहे हैं।

सुनील : यह भी ठीक नहीं है। मैं तो देख रहा हूँ, नए लड़के-लड़कियाँ विशेषकर अस्सी के दशक में जो लिख रहे हैं, वे छंद के संबंध में अत्यंत सजग हैं। जैसे यह जो जय गोस्वामी नाम का लड़का लिख रहा है, इसे लीजिए...

शक्ति : नहीं, जय को छोड़कर...

सुनील : नहीं, कुल मिलाकर मैं देख रहा हूँ कि इस समय जो लिख रहे हैं—अस्सी के दशक सत्तर के अंत में—वे ज़रूर छंद-वंद का कुछ क़ायदा-वायदा जानते हैं।

शक्ति : उदाहरण के लिए, जय, मल्लिका, सुबोध जैसे कितने लोग छंद के संबंध में कुछ प्रयासपूर्वक लिख रहे हैं।

सुनील : और दूसरी बात, अथवा छंद को लेकर इतना माथा-पच्ची करने की दरकार ही क्या है? छंद के अनुसार लिखना ही होगा इसका अर्थ ही क्या है? कई बार तो छंद एक प्रकार का बंधन हो जाता है। जैसे तुम करते हो, तुम छंद के अनेक नियमों को जानते हो इस कारण आजकल तुम्हारी अनेक कविताओं में सिर्फ़ छंदों के नियम ही रहते हैं—और कुछ भी नहीं रहता है। उसे देखकर यदि लड़कों का सिर घूम जाता है, वह ठीक नहीं है। कविता में कुछ वक्तव्य भी तो रहना चाहिए।

शक्ति : नहीं, वक्तव्य वस्तु तो रहती ही है—यह एक बार ही व्यक्तिगत विषय में चले आना है। इसे मेरी व्यक्तिगत दुर्बलता ही कह सकते हो।

सुनील : छंद सीखना तो अवश्य ज़रूरी है। मैं भी सबसे कहता हूँ, छंद सीख लो। फिर, प्रयोग करोगे या नहीं, यह बात अलग है। अस्त्र तो रखो, ज़रूरत होने पर व्यवहार कर सकोगे। किंतु बिना हथियार मत जाओ।

शक्ति : तुम थोड़ा सोचकर देखो!

सुनील : सब समय फटाफट अस्त्र चलाओगे, इसका कोई अर्थ नहीं है।

शक्ति : नहीं, नहीं, वह नहीं। बात हो रही है कि छंदानुसार कुछ लिखो तो। शमशेर अनवर को लीजिए न। मैं नाम लेकर कह रहा हूँ कि शमशेर को जीवन में एक भी कविता छंद में लिखते हुए नहीं देखा।

सुनील : फिर भी, छंद जानता है ऐसा लगता है। इसका प्रमाण है, वह जिस तरह से भाषा का प्रयोग करता है।

प्रतिवेदक : छंद का प्रयोग न कर पाने के फलस्वरूप शमशेर क्या कवि हो पाया, या नहीं हो

पाया? शक्ति, तुम शमशेर को कवि मानते हो या नहीं?

शक्ति : छंद का प्रयोग न कर पाने के फलस्वरूप कविता में एक विराट् कमी रह जाती है। समझ पा रहे हो? विराट खामी।

सुनील : तुम बार-बार एक ही बात कहते हो। तुमने यही बात एक अन्य स्थान पर भी लिखी है कि कविता सिंह ने बिलकुल छंद लिखना नहीं सीखा है। तुम्हारा ऐसा कहना क्या ठीक है? आलोक सरकार, शमसुर रहमान इनके संबंध में जो कुछ कहा है—यह सब बातें बिलकुल मत कहो।

शक्ति : नहीं, प्रथम बात यह कि छंद में जो लिखेगा वह छंद में भूल क्यों करेगा?

सुनील : भूल हो रही है या नहीं, यह बहुत बार तो व्याख्या के ऊपर निर्भर करता है। बहुत से कुछ-कुछ छंद बदलना चाहते हैं, फिर सभी क्या ग़लत ही लिखते हैं? बहुत-से छंदों में कुछ-कुछ बदलाव लाना चाहते हैं, मात्रा कुछ कम-अधिक करना चाहते हैं। तुम यदि इस समय एक रिज़िड नियम धर कर बैठे रहते हो कि सभी को एकदम बँधी-बँधाई एक ही परिपाटी में लिखना होगा, तो इसका कोई अर्थ नहीं है।

शक्ति : नहीं, बँधी-बँधाई परिपाटी में नहीं लिखना होगा।

सुनील : तुम्हारे मन में है, बुद्धदेव वसु कहा करते थे कि हम लोग ग़लत छंद लिखते हैं। बुद्धदेव वसु सोचते थे, हम लोग जो छंद लिखते हैं वे ठीक नहीं हैं। वे बहुत बकझक करते रहते थे। असल में वे यह नहीं समझ पाते थे कि हम लोग उस समय बोलचाल की भाषा को छंद में लाने की चेष्टा कर रहे हैं। इसीलिए वे जिस दृष्टि से मात्रा को गिन-गिन कर देखते थे उस दृष्टि से हमारी कविता होती नहीं थी। उसी तरह यह भी तो हो सकता है कि इस समय के लड़के-लड़कियाँ जिस छंद का व्यवहार कर रहे हैं वह हमसे कुछ अलग हो। बुद्धदेव वसु जैसी ही भूल करना हम लोगों के लिए उचित तो नहीं होगा।

प्रतिवेदक : शक्ति, इस समय के लड़के-लड़कियों में शब्द-सचेतनता तुम्हारे मत से किस रूप में है?

शक्ति : मुझे लगता है शब्द-सचेतनता उनमें बिलकुल नहीं है।

सुनील : और मुझे क्या लगता है जानते हो? लघु पत्रिकाओं में जिन कविताओं को पढ़ता उनमें कई बार देखता हूँ कि अधिकांश कवि शब की कारीगरी एवं शब्द-प्रयोग को लेकर इतने उन्म हैं कि पूरी कविता हुई या नहीं, इस ओर उनका एक बार भी नहीं रहता। शब्द को लेकर इतनी क्री ठीक नहीं है। ठीक है कि शब्द काव्य की आत्मा उसमें कवि को अपनी आत्मा भी तो उड़ेलनी होग सिर्फ़ शब्द को लेकर क्रीड़ा करना तो चलेगा नह इतने शब्दों को लेकर क्रीड़ा करना ठीक नह पृथिवी पर शब्दों की क्रीड़ा लेकर कविता का चल उठ चुका है। जैसे एक समय एब्स्ट्रैक्ट आर्ट कोई चित्र नहीं रहता, कुछ भी नहीं रहता सिर्फ़ र को लेकर क्रीड़ा करना रहता है। इस समय वह स बदल चुका है। इस समय जो आ रहे हैं, क अथवा चित्रकार जो लिख अथवा आँक रहे हैं अप निजी बात उनके...

प्रतिवेदक : शक्ति, तुम तो सुनील की ये बातें सुन रहे हो, तुम इन्हें स्वीकार नहीं कर रहे यह तो मैं तुम्हारा मुख देखकर ही समझ पा रहा

शक्ति : नहीं, मैं नहीं मानता हूँ, मैं नहीं मान सुनील अत्यंत सहानुभूतिपूर्वक विचार करता उसका यही असली दोष है।

सुनील : सहानुभूति किसी दोष का कारण न हो सकती।

शक्ति : मैं बहुत रिज़िडली होकर—अर्थात् रिज़ि हो जाता हूँ।

सुनील : तुम होते तो फेंक देते।

शक्ति : मैं फेंक देता। मैं छापता नहीं।

सुनील : मैं देखता हूँ कि नए लड़के तु कविता की पुस्तकें देते हैं तुम उन्हें तत्काल फेंक हो।

शक्ति : हाँ, उसका कारण है कि उनमें कु होता नहीं है।

सुनील : अरे! दो पन्ने उलट कर देखने

तुम्हारा क्या नुकसान होता?

शक्ति : उसका कारण है, उनकी कविता मैं दूसरी जगह पढ़ चुका होता हूँ। इसी कारण, नए तरह से उनकी पुस्तक पढ़ने की अब कोई ज़रूरत नहीं है। समझ पा रहे हो?

सुनील : यह ठीक ही कह रहा है।

शक्ति : फिर भी मैं सभी की पुस्तकें तो फेंकता नहीं हूँ—जिनमें देखता हूँ कि रंचमात्र भी कवित्व नहीं है, रंचमात्र भी लिखने की क्षमता नहीं है, उनकी कविता पढ़कर मैं अपना समय नष्ट करने किस दुख से जाऊँगा? वह मैं नहीं करता।

प्रतिवेदक : ऐसा है तो क्या तुम लघु-पत्रिकाएँ पढ़ते हो?

शक्ति : कुछ-कुछ पढ़ता हूँ। विशेषकर कविताएँ पढ़ने की मैं चेष्टा करता हूँ।

सुनील : सचमुच अथवा नहीं? क्या आजकल भी पढ़ते हो?

शक्ति : पहले नहीं पढ़ा करता था, आजकल पढ़ता हूँ। आजकल कई बार तो कड़ी बात कह बैठता हूँ। कई बार तो नाम लेकर भी कहता हूँ। नाम लेकर इसलिए कहता हूँ कि मैं यह देखना चाहता हूँ कि उन पर क्या प्रतिक्रिया होती है तथा वे क्या लिखते हैं या क्या नहीं लिखते हैं। ''देश'' की बात क्यों आती है। कारण, ''देश'' तो लिटिल मैगज़ीन नहीं है। ''देश'' एक प्रतिनिधि मूलक पत्रिका है। प्रति सप्ताह छह से लेकर आठ कविताएँ छापी जाती हैं। इसके माने एक मास में कितनी हुई? तीस मास के अंतर से जितनी कोई लघु-पत्रिका छापती है। तीन मास में जितनी कविताएँ वह छापती है ''देश'' उसकी अपेक्षा बहुत अधिक छाप सकती है। कैसे? हम लोग लिटिल मैगज़ीन में बहुत प्रयास से कविता दे पाते हैं। वह शायद ''देश'' की...

सुनील : वे सब लिटिल मैगज़ीन अब कहाँ हैं?

शक्ति : जैसे ''शतभिषा'' है, ''कौरव'' है...

सुनील : वे सब तो अब और नहीं हैं। ''शतभिषा'' आदि तो इस समय अनियमित है। सोचकर देखो, पहले जब एक समय बुद्धदेव वसु की ''कविता'' पत्रिका थी, उसमें अपनी एक कविता छपने पर हम ख़ूब गौरवान्वित अनुभव करते थे। उसके बाद ''कृत्तिवास'' थी, उस समय की ''शतभिषा'' भी अग्रणी थी।

शक्ति : ''पूर्वाशा'' थी...

सुनील : हाँ। नए लड़के अथवा जो प्रयोग के स्तर पर लिखना चाहते थे उनकी रचनाएँ छापी जाती थीं। इस समय वे सब लघु-पत्रिकाएँ अब कहीं नहीं हैं गणना करने योग्य...

शक्ति : अरे! इसी कारण तो मैं बार-बार ''देश'' की बात कह रहा हूँ, कारण यह है कि ''देश'' कविता और कहानियों के क्षेत्र में प्रायः लघु पत्रिकाओं की भूमिका निभा रही है। एट दी सेम टाइम यह जिस तरह से एक कमर्शियल पत्रिका है उसी तरह यह एक लघु पत्रिका भी है...

सुनील : सामान्यतः किसी भी लघु पत्रिका में इतनी कविताएँ नहीं छपती हैं। जब छापी जा रही हैं, तब ''देश'' को कविता-आंदोलन की एक सक्रिय भूमिका लेनी है। तुम क्या मानते हो कि लघु पत्रिका में यदि चालीस कविताएँ छापी जाती हैं, तो चालीसों अच्छी होती हैं? यदि दो भी अच्छी हैं तो यही बहुत है। इसीलिए मैं मानता हूँ कि ''देश'' ने इस मास जो चालीस कविताएँ छापी हैं, उनमें यदि पाँच भी अच्छी हों तो यथेष्ट है।

शक्ति : हाँ, वह ठीक है।

सुनील : और पाँच के अलावा शेष को अवसर दिया गया है। देखा जाता है कि उनके भीतर से और भी कुछ अच्छा बाहर आ सकता है अथवा नहीं।

प्रतिवेदक : शक्ति, तुम्हें नहीं लगता कि सिर्फ़ सुअवसर देने का ही नहीं पृष्ठ भरने की भी तो समस्या है?

शक्ति : पृष्ठ भरने लायक़ कविताएँ ''देश'' पत्रिका में इकट्ठी हो जाती हैं। यह मैं जानता हूँ।

सुनील : मैं कहूँगा इसे अंडर स्टेटमेंट ऑव दी इयर। कारण, जितनी कविताएँ जमा हैं, उनमें से यदि हम लोग सामान्य रूप से एक और चुनाव करें तो प्रति अंक में सिर्फ़ कविता छापने के लिए दो हज़ार पृष्ठ लगेंगे। हमें प्रतिदिन एक सौ कविताएँ मिलती हैं, इसका अर्थ है प्रति सप्ताह सात सौ

कविताएँ। उनमें से चुनकर हम छापते हैं आठ कविताएँ। महीने में हुई चालीस। इस प्रकार सात सौ में से हम चालीस कविताएँ छापते हैं। बात ऐसी नहीं है कि पन्ना भरने का प्रश्न हो।

शक्ति : नहीं, ऐसा मैं नहीं सोचता कि ''देश'' पृष्ठ भरने के लिए इतनी कविताएँ छापती है। यहाँ तो सुनील यह ''देश'' बहुत कुछ लघु-पत्रिका की भूमिका का निर्वाह करती है। इसी कारण 'कृत्तिवास' बंद हो गया। ''कृत्तिवास'' रहता तो ऐसा करता या नहीं मुझे संदेह है। ''कृत्तिवास'' में सुनील यथेच्छ रूप में कविता छापा करता था। यंग लड़कों की कविता छापने में तो मुझे आपत्ति नहीं है, किंतु अकविता छापने पर मुझे आपत्ति अवश्य है।

सुनील : यह भाई कैसे हो गया? पचास के दशक में जब लड़कों ने कविता लिखना आरंभ किया था तब उनमें पंद्रह, सोलह अथवा बीस लोग अच्छे कवि होते थे और इस समय अस्सी के दशक में एक-दो व्यक्तियों को छोड़कर बाकी सब अकवि हैं—यह सब कब और कैसे हो गया? समय तो रुक कर रहता नहीं है। समय तो बदल रहा है, नए-नए कवि आ रहे हैं, उनमें भी शक्तिशाली कवि उठकर खड़े हो रहे हैं। शायद पहचानने में भूल हो रही है। मैं कहूँगा, तुम जिन्हें अकवि कह रहे हो, शायद तुम उन्हें पहचान नहीं पाए हो, तुम शायद उनके डिक्शन को पकड़ नहीं पा रहे हो। तुम नए लड़कों की विचारसरणि का अनुसरण नहीं कर पा रहे हो।

शक्ति : नहीं, इस संदर्भ में तुम किसी एक व्यक्ति का नाम लो जिसकी कविता मैं समझ न पाया होऊँ। ठीक यही बात एक बार बुद्धदेव वसु ने भी कही थी कि मैं ''कविता'' पत्रिका बंद कर दूँगा, कारण, मैं तुम्हारी कविता समझ नहीं पा रहा हूँ। तुम्हारी क्या उस तरह की स्थिति हो गई है?

सुनील : नहीं, मेरी उस तरह की स्थिति नहीं हुई है। तुमको ही लगता है कि उस तरह की स्थिति हो गई है। तुम यह जो सभी को ख़राब कह रहे हो, उसका अर्थ है कि तुम समझ नहीं पा रहे हो। मैं भली प्रकार समझ लेता हूँ, इस कारण मैं उनको फॉलो कर पाता हूँ। मैं नियमित रूप से उनकी कविता पढ़ते आने के कारण ही उनको समझ पा र हूँ। और इसीलिए मुझे लगता है कि इनमें भी बहु से क्षमतावान् कवि हैं। महुआ चौधरी नाम की ए लड़की है, उसकी उम्र अट्ठारह-उन्नीस की होगी उसे पहचानता नहीं था, कभी सुना भी नहीं था, ए दिन वह अत्यंत विनय और लज्जापूर्वक आक प्रविष्ट हुई, मुझे अपनी दो-तीन कविताएँ दीं, मैं देखकर मुग्ध हो गया। एक लड़की, उसको कित अच्छा भाषा ज्ञान है, मोटे रूप में उसे छंद का ज्ञान है और उसमें गंभीर चिंतन भी है। उस उ की एक लड़की में इस प्रकार की विचार-शक्ति देखकर मैं अवाक् रह गया। ठीक यही चीज़ घटि हुई थी जब ''कृत्तिवास'' निकाला करता था। ए दिन एक मास्टर महाशय आकर बोले—मेरी ए शिष्या की कविता थोड़ा आप देखेंगे? सुनते ही मु ख़ूब क्रोध आया, कारण सामान्यतः मास्टर महाश छात्र-छात्राओं की जो सब कविताएँ लाते हैं, उन अधिकांश ही कूड़ा-करकट होती हैं। इसी कार मैंने पहले देखना नहीं चाहा। किंतु, देखकर मुग्ध गया। इतनी अच्छी कविता है? उसी लड़की व अब नाम हुआ है देवारति मित्र। उसकी रचना त छापी थी, बाद में वह एक प्रमुख कवि के रूप ख्यात हुई। तो यह कौन कह सकता है कि महुआ चौधरी एक दिन प्रधान कवि नहीं होगी?

शक्ति : नहीं, महुआ चौधरी का तो एक ना लिया, बहुत दुख के साथ मैं यह बताना चाहता कि सचमुच में महुआ चौधरी की कविता मैंने न पढ़ी है।

सुनील : यह देखो, जो अच्छी कविता है, व तुमने नहीं पढ़ी है।

शक्ति : महुआ की शायद दो अथवा ती कविताएँ तुम जानते हो।

सुनील : नहीं, गत बार के पूजा विशेषांक त उसकी कविताएँ छपी हैं। मैंने जानबूझ कर, अप इच्छा से ज़बरदस्ती छापी थीं। चाहता था सभी नज़र उसके ऊपर पड़ जाए।

शक्ति : महुआ चौधरी की कविता के संबंध मैं कुछ न कह सकूँगा—सुनील, मैं तुम्हें अनेक ना

बताऊँगा। तुम मलय गोस्वामी नाम के किसी व्यक्ति को जानते हो? उसकी भी कविता मैंने नहीं पढ़ी है।

सुनील : अरे, एकदम क्या कहूँ—सुररियलिस्टिक की तरह कविता लिखता है। किसी ग्रामीण अंचल में रहता है। लड़के को मैंने देखा नहीं है। डाक से उसकी कविताएँ आती हैं। किंतु इसकी चिंता-भावना तो अद्‌भुत है। यह एकदम नए ढंग से लिखता है। इस लड़के को तो तुम समझ पाते हो न! इधर तुम सभी को फालतू कहते फिर रहे हो। इससे क्या होगा भाई?

प्रतिवेदक : शक्ति जवाब दो न!

शक्ति : नहीं, यह तो मैंने इन दो लोगों को सिर्फ़ ''मिस'' कर दिया है।

सुनील : मैं इस तरह के तुम्हें एक-के-बाद एक कई उदाहरण दे सकता हूँ।

प्रतिवेदक : शक्ति, तुम उदाहरण चाहते हो। ऐसा भी हो सकता है कि एक व्यक्ति की कविता तुम दोनों लोगों ने पढ़ी हो।

शक्ति : ऐसा तो कई बार हुआ है।

सुनील : इसके अलावा ''मीडियॉकर'' भी हैं। सभी पीढ़ियों में ही ''मीडियॉकर'' कवि रहे हैं। वे अधिक अच्छे भी नहीं हैं तो बुरे भी नहीं हैं। एक ही तरह की कविता पाँच-दस वर्ष तक लिखते रहते हैं। तुम भी जानते हो इस तरह के बहुत से कवि हैं, जो लिखे चले जा रहे हैं, पुस्तक छपवा रहे हैं, किंतु उनका कोई उत्थान-पतन नहीं है। वे शालीग्राम शिला की तरह हैं। जिस तरह से लिखना शुरू किया था, उसी तरह से लिखे चले जा रहे हैं। इस तरह के कवि होते ही हैं। सभी भाषाओं में होते हैं। इसमें नया कुछ नहीं है।

शक्ति : अच्छा, यदि ऐसी बात है तो एक पूरा का पूरा पूजा विशेषांक क्यों नहीं तुम ऐसे ही नए कवियों की रचनाओं से निकालते हो?

सुनील : ऐसा करने से प्रतिष्ठित कवि हें-हें करेंगे?

शक्ति : वे क्यों करेंगे? रुको, तुमसे नाम लेकर ही कहता हूँ, वह कृष्णदेव की कविता छापने का क्या अर्थ है?

सुनील : अच्छा! यह दायित्व मैं नहीं संभाल सकता हूँ, इसीलिए पूजा विशेषांक की कविता छापने का भार मेरे ऊपर नहीं है। मुझे ज़िम्मेदारी नहीं दी जाती है। दूसरा कारण यह है कि पूजा विशेषांक जो निकालते हैं उनके तो व्यवसाय-व्यापार हैं, इसलिए उन्हें कुछ बड़े-बड़े नामों की ज़रूरत पड़ती है। इसलिए जो नाम वाले कवि हैं, वे लिख पाएँ न लिख पाएँ, उन्हें तो रखना ही होता है। जैसे अमिय चक्रवर्ती जब और लिख ही नहीं पाते थे, फिर भी उनकी रचनाएँ छापी जाती थीं। वे एक समय बहुत अच्छे कवि थे...

शक्ति : समझ लीजिए, बहुत बार ऐसा भी विचार किया जा सकता है कि हम जब लिख नहीं पा रहे हैं, तब हमारी कविताएँ नहीं छापी जाएँगी। ''शारदीया'' संख्या में भी नहीं छपेंगी। इससे क्या आता-जाता है?

सुनील : कवियों का प्रमुख दोष यह है कि वे जब लिख नहीं सकते हैं, तब वे इसे समझ नहीं पाते हैं। वे निश्चित रूप से सोचते हैं कि वे इस समय भी बहुत अच्छा लिखते जा रहे हैं।

शक्ति : नहीं, मैं समझ सकता हूँ।

सुनील : हम लोगों की वही नियति होती है। अन्य लोग समझते हैं कि नहीं, यह अच्छा नहीं हो रहा है, ऐसा सिर्फ़ कवि ही क्यों, गल्प, प्रबंध सभी क्षेत्रों में होता है। ऐसा नहीं है कि उपन्यासकार चुक गया है, फिर भी वह लिखे जा रहा है। नाम के कारण छपता जा रहा है। ऐसा नहीं हो रहा है क्या? सभी क्षेत्रों में ही यह हो रहा है।

शक्ति : ऐसा है तो इस बाढ़ को तुम और फैलाने की चेष्टा करो।

सुनील : मैं तो भाई कवियों की बाढ़ ला ही रहा हूँ। तुम्हीं शुरू से कहते आ रहे हो कि इतने कवियों को क्यों छाप रहे हो, इनमें कुछ नहीं है। तुम नई पीढ़ी को बाहर ही कर देना चाहते हो। लेकिन मेरा कहना है कि नई पीढ़ी को समझने में हमसे भूल हो भी सकती है। इस लिए सावधान रहने की ज़रूरत है। नई पीढ़ी तो कभी ख़राब नहीं हो सकती। सदा जो नए लोग आते हैं, वे कोई-न-कोई नई वस्तु

लेकर ही आएँगे। वे यदि हमारा अनुसरण अथवा हमारी नकल करें तो यह तो बहुत बुरी बात है। वे हमारी तरह क्यों लिखेंगे? वे दूसरी तरह से लिखेंगे।

शक्ति : मुश्किल क्या हो रही है कि आख़िर, वे अधिकांश समय कर क्या रहे हैं? अपनी भाषा के अलावा पढ़ना-लिखना तो वे भूल ही गए है।

सुनील : ओहो! तुमने तो एक और बात उठा दी।

शक्ति : बाहर के पढ़ने लिखने को ताक पर रखकर वे लोग सिर्फ़ सुनील और शक्ति को पढ़ रहे हैं और वहाँ से जो पाने योग्य है, उसे पा भी रहे हैं। उनमें कुछ-न-कुछ नवीनता तो है। लेकिन उन लोगों में से किसी से सुधीन दत्त का नाम पूछो अथवा चार लाइनें ज़बानी सुनाने को कहो तो नहीं सुना सकेंगे।

सुनील : मुझे तो लगता है इस समय बहुत से ऐसे नए लड़के हैं जो सुनील और शक्ति को भी नहीं पढ़ते हैं। कारण, सुनील और शक्ति को वे ग्रहण ही नहीं कर पाते हैं। तुमने शायद कहीं लिखा था कि नए कवियों को कविता लिखना सीखने के लिए शेक्सपीयर के सॉनिटों का अनुवाद करना होगा। बड़े कष्ट की बात है भाई। मैंने तो शेक्सपीयर के सॉनिटों का अनुवाद कभी नहीं किया है। तुमने शायद किया हो?

शक्ति : हाँ, मैंने तो किया है। शेक्सपीयर के सॉनेट अनुवाद करने को कहा है जिससे शब्द का वज़न, उसकी सीमाबद्धता, उसके छंदों की कारीगरी—इन सबकी उन्हें शिक्षा मिल जाएगी।

सुनील : यह तो गुरु गंभीर बात कही। जब तुमने स्वयं लिखना शुरू किया था, तब क्या तुमने इन सब चीज़ों को लेकर माथापच्ची की थी? तब तो जिसमें ख़ुशी हुई वही लिखा है। यही न? इस कारण उन सब सॉनिटों का अनुवाद कर, यह सब सीखकर कविता लिखना सीखना होगा—यह क्या कहते हो भाई, गँजेड़ी जैसी बात।

शक्ति : नहीं, कविता लिखने का क्या अर्थ है, ये सब छंद के संबंध में...

सुनील : तुमने जब कविता लिखना शुरू किया तब बिना किसी की परवाह किए उद्दाम भाव से बिना, कुछ सोचे-विचारे वही शब्द-प्रयोग करते रहे हो, यही तो तुम्हारी कविता का वैशिष्ट्य है। प्रथम दृष्टि में ही नज़र पड़ जाती है, यह एक कवि आया है जो कुछ भी नहीं मानता है। फॉर्म नहीं मानता, कुछ नहीं मानता, जैसी इच्छा है, लिखे जा रहा है, यही तो वैशिष्ट्य है।

शक्ति : हाँ, किंतु शक्ति चट्टोपाध्याय तो...

सुनील : अब तुम बड़ी गंभीरता से कह रहे हो, यह करना चाहिए, वह करना चाहिए, अनुवाद करना चाहिए, शब्दों की गणना करनी चाहिए, फॉर्म की जानकारी होनी चाहिए। ये सब तो आज की बातें हैं। प्रारंभ में क्या ये सब बातें रहती हैं? उस वक्त एक उद्दाम प्रेरणा रहनी हो तो श्रेयस्कर है। जो भाव से कविता नहीं लिख सकता, उसे लिखने की ज़रूरत नहीं है।

शक्ति : मामला क्या है सुनील जानते हो, बड़ा फीका पद्य लिखा जा रहा है, फिर उन्हें न सुनील-शक्ति दिखाई दे रहे हैं, न उत्पल दिखाई दे रहे हैं, यहाँ तक कि शरत् मुखोपाध्याय अथवा तारापद का हास्य भी नहीं दिखाई दे रहा है, अत्यंत सीरियसली गद्य में भी कुछ लाइनें कोई-कोई फेंक दे रहा है, जो पद्य रूप में प्रचलित भी हो रही हैं यहाँ तक कि छंद तैयार करने अथवा छंद गूँथने में जो प्रयास करना पड़ता है, आज उस दायित्व को भी कोई लेने को तैयार नहीं है। मेरा एकमात्र आरोप यही है। तुम पहले छंदबद्ध कविता लिखो, छंद में लिखना सीख लो, बाद में तुम छंद भंग कर सकते हो या जो इच्छा हो, वह कर सकते हो।

सुनील : छंद सीखना तो शक्ति अत्यंत सरल है। तुरंत ही कोई सीख सकता है। बहुतों को जानता हूँ छंद भलीभाँति जानते हैं, किंतु उनकी लिखी हुई चीज़ें कविता नहीं होती हैं।

शक्ति : वह जानता हूँ। तरुण कवियों से मेरा एकमात्र अनुरोध है कि वे पहले छंद लिखना सीखें, उसके पश्चात छंदभंग करें, इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

प्रतिवेदक : सुनील ने एक अच्छी बात भी कही

है। छंद जानकर कोई अच्छा कवि होगा, इसका कोई अर्थ नहीं है। अच्छा कवि होने के लिए आज के कवियों को क्या करना चाहिए।

शक्ति : यह कहना अत्यंत कठिन है।

प्रतिवेदक : तुम क्या कहते हो कि इस समय की जेनरेशन में कोई स्वतःस्फूर्त कवित्व नहीं है।

शक्ति : सुनील ने जिन दो लोगों का नाम लिया, उनके साथ वह घनिष्ठभाव से जुड़ा हुआ है।

सुनील : नहीं, उनके साथ मेरा अच्छा परिचय नहीं है। मैं और भी नाम बताऊँ? अपरिचित कवियों के नाम ही बता रहा हूँ। स्वप्न चक्रवर्ती नाम का एक लड़का है। वह वनगाँव-टनगाँव की तरफ़ कहीं रहता है। ऐसा मेरा अंदाज़ है। उसके हाथ की रचना मुझे बहुत सुंदर लगी थी। इसकी कविता पढ़कर देखी है, इसकी एक अलग दृष्टि है। यह बिलकुल दूसरी तरह से सोचता है। भिन्न रीति से शब्द-प्रयोग करता है। इसमें निश्चय ही एक वैशिष्ट्य है।

शक्ति : इसकी भी कोई रचना नहीं पढ़ी है।

सुनील : यह देखो, तुम जिन्हें पहचानते हो, उनकी कविता पढ़कर कहते हो कि ये बेकार हैं और जो अपरिचित हैं उनकी तरफ़ ताकतें भी नहीं हो। अपरिचित लोगों के भीतर से ही शायद एक दिन कोई अच्छा कवि निकल आए।

शक्ति : यह हो सकता है। नहीं, यह मेरा दोष है। मैं तो जनरल ट्रेंड के बारे में कह रहा हूँ।

प्रतिवेदक : आज तुम अपनी कमी की चर्चा नहीं करोगे, आज तुम सुनील की कमी बताओगे और सुनील तुम्हारी कमी बताएगा।

शक्ति : मेरे समय के बाद से अर्थात् पचास के दशक से साठ, सत्तर, यहाँ तक कि अस्सी को लीजिए। साठ-सत्तर में छंद को लेकर बहुत कम लिखा गया है।

सुनील : घूम-फिरकर तुम छंद की बात पर ही क्यों आ जाते हो? मुझे लगता है, छंद कुछ इतना महत्वपूर्ण नहीं है। जो लिखता है वह ठीक तरह से सीख लेगा।

प्रतिवेदक : आज के कवियों का जीवन कितना गंभीर है, इसके प्रति वे कितने सचेत हैं, इस संबंध में तुम्हें क्या लगता है शक्ति?

शक्ति : मुझे तो लगता है वे ख़ूब 'शेलो' अर्थात् छिछले हैं उनमें से अधिकांश कवि 'शेलो' हैं, उनके जीवन में वैसा गंभीर दुख बोध नहीं है, वैसा प्रेम-बोध भी नहीं है, आदतन, एक बँधी-बँधाई लीक पर लिखे चले जा रहे हैं, फिर भी सुनील ने जिनकी चर्चा की है, मैं उन्हें पढ़कर देखूँगा।

प्रतिवेदक : तुम तो सुनील से एक बात कह सकते हो कि देश में यदि इतनी बेकारी की समस्या न होती तो शायद इतने कवि न दिखाई देते।

सुनील : बेकार तो हैं ही। चालीस लाख अथवा इससे भी अधिक बेकार लोग दो काम कर सकते हैं, एक तो वे क्रांति कर सकते हैं, अथवा कविता लिख सकते हैं। दुख का विषय है हमारे देश के बेकार लोग क्रांति तो कर नहीं रहे हैं, आख़िर पॉकेटमारी से कविता लिखना तो बेहतर है।

शक्ति : इस संदर्भ में मैं सुनील की बात स्वीकार करता हूँ। यह तो अच्छा कार्य है।

प्रतिवेदक : इससे साहित्य की क्षति हो रही है, अकवियों की सृष्टि हो रही है, यह बात तुमने कैसे स्वीकार कर ली?

सुनील : पर शक्ति ज़रा रुको, क्यों शीर्षेन्दु तुम्हें उकसा रहा है। देश में बेकारी अधिक होने से ही कवियों की संख्या बढ़ रही है।

शक्ति : कवि भले अधिक हों, अगर वे कोई अपकर्म न करें, सिर्फ़ कविता ही लिखें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

प्रतिवेदक : कवि होते ही कोई अपकर्म नहीं करेगा। ऐसा क्या तुम मानते हो?

शक्ति : कवि लोग शुरुआत में जो अपकर्म करते हैं, वह हम लोगों ने तो कभी नहीं किया। वे लघु-पत्रिका निकालने जाकर ही सुनील दा और शक्ति दा की कविता चाहने लगते हैं। वह कितना भी ख़राब पद्य क्यों न हो। वह दोनों को छपाएँगे और उसके साथ अपनी गद्य-गुच्छ की तरह अकविता भी छपाएँगे। फिर लोगों से कहेंगे—यह देखिए सुनील दा, शक्ति दा ने लिखा है, इसलिए इसे ख़रीद लीजिए। इसमें हमने शायद अपनी ख़राब

कविता ही दे दी हो। क्या करें? बूढ़ी उम्र में और कितना टनाटन कविता लिखना संभव है?

प्रतिवेदक : ऐसा है, तब तो तुम बीच-बीच में ढेर सारी ख़राब कविताएँ भी लिखते हो?

शक्ति : हाँ, अवश्य।

प्रतिवेदक : उस दिन तुमने कहा था कि तुमसे भोपाल विषय पर कविता लिखने के लिए कहा गया था, और तुमने रातों-रात उसे लिख भी दिया था।

शक्ति : रातों-रात नहीं, दस मिनट में कहीं पद्य लिखा जाता है, हाँ, गद्य जैसा कुछ हो गया था। फिर भी, इस तरह की फरमाइशी रचना मैं प्रायः नहीं लिखता। निखिल सरकार से कहकर वे लोग जुगाड़ कर मुझसे ले गए थे। फिर, भोपाल त्रासदी भी तो बहुत मार्मिक थी।

प्रतिवेदक : ये सब फरमायशी कविताएँ तो न लिखने से भी चल सकता है।

शक्ति : हाँ, नहीं भी लिख सकता हूँ। लिखना अच्छा भी नहीं है। उन्हें संग्रह में भी शामिल नहीं करूँगा।

प्रतिवेदक : तुम तो समकालीन कवियों को स्वीकार नहीं करते हो। किन-किन को स्वीकार करते हो यह तो बताया नहीं।

शक्ति : समकालीन कवियों में अगर शंख घोष को लिया जाए तो उसकी कविता मुझे दूसरों से हटकर लगती है, अर्थात् मैं वैसी कविता न लिख पाऊँगा। उसकी कविता में यथेष्ट कवित्व रहता है। समकाल में लिखने के कारण मैं सुभाष दा को भी समकालीन लेखकों में लेता हूँ। यद्यपि वे उम्र में मुझसे बड़े हैं। सुभाष दा जैसी कविता भी मैं न लिख सकूँगा। हालाँकि सुनील कविता लिखने की तरफ़ ज़रा भी ध्यान नहीं दे रहा है, फिर भी जब कभी वह एकाएक कविता लिख डालता है, उसे पढ़कर मैं महसूस करता हूँ कि मैं सुनील जैसी कविता भी न लिख सकूँगा। तारापद जैसी भी न लिख सकूँगा। तारापद हँसी-ठट्ठा, मसख़री करता हुआ जो कविताएँ लिखता है, शरत् खूकी सीरीज़ के लिए जो कविताएँ लिख रहा है, मैं वैसी कविताएँ भी न लिख सकूँगा। मेरी रुचि और मिज़ाज उस तरह का नहीं है, किंतु इन्हें मैं मानता हूँ। मैं कविता सिंह को कवि के रू में मानता हूँ अस्वीकार नहीं करता, कविता सिं बीच-बीच में छंद की ऐसी भूल कर बैठती हैं कि

सुनील : अच्छा, तुम क्या निःसंदेह छंद मास्टर हो? तुम तो सिर्फ़ सभी की छंद संबंधी भूलें को ही लिए फिर रहे हो?

शक्ति : नहीं, कवियों में मिनिमम कवि कि एक छंद से शुरुआत करते हैं और दूसरे छंद चले जाते हैं! यह क्या है! मैं छंद का मास्टर नहीं हूँ, किंतु कवियों से कम-से-कम मैं इतनी अपेक्षा रखता ही हूँ।

सुनील : इसमें तो जो समालोचक हैं, वे अप दिमाग़ खपाएँगे, तुम्हें इससे क्या मतलब?

शक्ति : सुनने में आघात लगता है सुनील!

प्रतिवेदक : आलोक सरकार के संबंध में ...

शक्ति : आलोक सरकार के छंदों के संबंध मेरी जो धारणा है, वह व्यक्त करने पर सुनी मुझको बुरा-भला कहेगा, मुझसे बक-झक करेगा आलोक सरकार की कविता के छंदों को मैं किसी प्रकार से समझ नहीं सका हूँ। वक्तव्य वस्तु तो ठी है वे जो कहते हैं, कह लेते हैं, किंतु उनको कोई मेजर कवि नहीं मानता हूँ।

सुनील : जैसे लीजिए, आलोक रंजन दास गु बहुत दूर रहता है, इसी कारण उसके नाम का तुम उल्लेख तक नहीं किया है। वह तो एक मेजर क है।

शक्ति : मेजर कवि था। उसकी इस समय क कविता तुम पढ़कर देखो, उसमें कविता का कित अंश पाते हो? क्या पाते हो?

सुनील : वह तो शायद हम कई लोग धीरे-धीरे ''थे'' के दल में आते जा रहे हैं।

शक्ति : मैं तो अपनी ही बात कह रहा हूँ। तो 'थे' के वर्ग में आ ही गया हूँ। हठात् कभी अच्छ कविता लिख डालता हूँ, तब बहुत ख़ुशी होती है अक्सर जो लिखता हूँ उसमें कविता का अंश बहु कम हो गया है। अकस्मात् एकाध पंक्ति अच्छ निकल पड़ती है। एक ही लाइन तो मैं अच्छ लिखना नहीं चाहता हूँ पूरी कविता ही अच्छ

लिखना चाहता हूँ। फलस्वरूप सबसे पहले मैं अपनी ही समालोचना करना चाहता हूँ। और सोचता हूँ कि क्या ये लोग भी उसी गोत्र में पड़ेंगे।

प्रतिवेदक : अपनी आलोचना करने की तुम्हें ज़रूरत क्या है? वह तो तुम्हारे बाद की पीढ़ी के लोग कर ही रहे हैं।

शक्ति : वे तो सिर्फ़ गाली-गलौज़ कर रहे हैं। एकदम गाली देते हैं। विशेष रूप से पवित्र मुखोपाध्याय देख रहा हूँ कि...

सुनील : गाली-गलौज़ दो तरह की होती है। एक ईर्ष्या से की जाती है और एक होती है जिसे अकवि लोग गाली-गलौज़ कहते हैं। असफल कवि गोली खाए बाघ की तरह होते हैं, वे चारों ओर गाली-गलौज़ करते हुए घूमते रहते हैं। वे तो हैं ही, और भी एक तरह के हैं, जो सब नए कवि नए ढंग से लिखते हैं, वे शायद हम लोगों में घुलते-मिलते नहीं हैं, वे हमारी कविता को बुरा-भला कहते हैं। फिर भी इस विषय में पिछली पीढ़ी की कविता मन देकर पढ़नी पड़ती है, जैसे कि हमने पढ़ी है। पढ़कर ही शायद हम निश्चय कर पाते हैं कि मैं उस ढंग से नहीं लिखूँगा, दूसरे ढंग से लिखूँगा।

प्रतिवेदक : आजकल के लड़के क्या करते हैं, पढ़कर गाली-गलौज़ करने लगते हैं अथवा बिना पढ़े गाली-गलौज़ करते हैं? क्या समझकर गाली-गलौज़ करते हैं?

शक्ति : समझकर गाली-गलौज़ की गई हो ऐसा तो मैंने कहीं नहीं पढ़ा है। यहाँ तक ये ईर्ष्या से भी गाली देते हैं। शक्ति चट्टोपाध्याय की पुस्तकों की इतनी बिक्री क्यों है अथवा उसकी इतनी प्रतिष्ठा क्यों है इन सब बातों से उन्हें जलन होती है। शक्ति अथवा सुनील इन दो व्यक्तियों के संबंध में यही मनोभाव है। सुनील की तो एक और विराट् दिशा है—उपन्यास की दिशा। वहाँ भी गाली-गलौज़ की जा सकती है कि इतना लिखता क्यों है? यदि कोई सच्ची समालोचना करता है, तो उसे पढ़कर मुझे अवश्य अच्छा लगेगा। मैं उसे पत्र लिखूँगा। सुनील ने मेरी एक पुस्तक मल्लिका सेन गुप्त को समालोचना करने के लिए दी थी : ''कॉक्स बाजारे संध्या''। पुस्तक मल्लिका को अच्छी नहीं लगी। यही बात उसने लिखी है। पढ़कर पहले मुझे ख़ूब दुःख हुआ, बाद में मैंने स्वयं पुस्तक पढ़ी। पढ़कर देखा कि तीन कविताओं को छोड़कर मैंने पुस्तक में अन्य कविताएँ लिखी ही नहीं हैं, तब मैंने यह बात मल्लिका को भी बता दी।

सुनील : उसने तुम्हारे ऊपर श्रद्धा के साथ ही लिखा था।

शक्ति : सुनील ने ''वर्तमान'' पत्रिका में एक दिन मेरी कविता को लेकर आलोचना की थी। वह आलोचना मुझे इतनी अच्छी लगी कि वह मेरी प्रत्येक कविता पढ़ता है, उसका वह प्रमाण हो गई है। फिर भी मेरी इस समय की कविता उसे अच्छी नहीं लगती हैं। मैं धोखा देता हूँ आदि-आदि, उसे पढ़कर तो मुझे कोई दुख नहीं है। दुख जो होता है, वह अपने ही कारण—क्यों मैं नहीं लिख पाता हूँ—यह दुख होता है। उसके प्रति मुझे किसी तरह का क्रोध नहीं है।

प्रतिवेदक : सुनील की अद्यतन कविता के संबंध में तुम्हारा क्या मत है?

शक्ति : सुनील का कविता लिखना तो मुझे मोटे रूप में अच्छा ही लगता है। सभी कविताएँ, फिर भी वह उतना न समय लगाता है और उतना प्रयास भी नहीं करता है। वह अधिक प्रयास उपन्यास तथा गद्य-लेखन में करता है।

सुनील : बहुत बार तो उपन्यास भी अनायास लिख जाते हैं, किंतु, जब कविता लिखता हूँ, तब प्रयासपूर्वक ही लिखता हूँ। शायद कई बार तो लिख नहीं पाता हूँ। फिर भी मैंने कहा है और लिखा भी है कि इस चीज़ में मैं विश्वास नहीं करता, मुझे लिखने की ज़रूरत ही क्या है? जब दिमाग़ में आएगा, तभी लिखूँगा।

शक्ति : ऐसा तो आजकल मैं भी करता हूँ। अभ्यासवश आजकल और नहीं लिखता। एकाएक मेरी जब कविता लिखने की इच्छा होती है, तभी लिखता हूँ—इसी कारण कविता लिखना कम हो गया है शायद बुढ़ापा आ गया हो ...

सुनील : बुढ़ापा तुम्हें आया है या नहीं, नहीं

जानता, फिर भी लगता है कविता तो यौवन का ही धर्म है। कच्ची उम्र में कविता अधिक आती हैं। दिमाग़ में जब-तब पंक्ति घुमड़ने लगती है, पागल की तरह भूखे पेट कविता की पंक्ति जब-तब मन में चली आती है। घूमते-घूमते कविता की लाइन मन में आ रही हैक्या तुम्हें याद नहीं है, उन दिनों की वह सब कथा? बाद की उम्र में क्या होता है, कविता में एक वक्तव्य आ जाता है, एक चिंतन, विचार आ जाता है। इसे यदि तुम मान लेते हो, तो आजकल के लड़के जो अधिक लिख रहे हैं, उनके लेखन को तुम क्यों नहीं मानोगे? कच्ची उम्र का धर्म ही तो कविता है।

शक्ति : वह तो मैं निश्चय ही मानता हूँ। कविता लिखता भी हूँ किंतु कविता का उतना अच्छा मैं पाठक नहीं हूँ, फिर भी, इस समय की कविता मुझे क्यों संतुष्ट नहीं कर पाती हैं?

सुनील : एक्स्पेक्टेशन क्यों नहीं रहेगी? प्रत्याशा तो कर सकते हो कि इनमें से कोई-कोई अच्छा लिखेगा?

प्रतिवेदक : उम्र होने पर क्या और कवि कविता नहीं लिख पाते हैं? इस पर थोड़ा प्रकाश डाला जाए।

सुनील : साधारणतः उम्र होने पर कविता कम हो जाती है। रवींद्रनाथ ठाकुर की बात अलग है। वे मृत्यु के पहले भी लिखकर गए हैं। कच्ची उम्र में जब लिखा करता था, तब बेपरवाह का भाव था, बार-बार उन्हीं शब्दों को जमा देता था, जिनका शायद कोई अर्थ नहीं होता है। सिर्फ़ ध्वनि-माधुर्य के लिए उन्हें बैठा देता था। इससे ही शायद कविता उद्भासित हो उठती थी। उम्र होने पर कविता में फिलॉसफ़ी आ जाती है, कविता गरिष्ठ हो जाती है। इसके अलावा सचेतन दायित्व बोध काम करने लगता है। फलस्वरूप अधिकांश क्षेत्रों में देखा गया है कि जिसकी उम्र बढ़ गई है, वे कुछ स्टेटमेंट तरह की कविता लेखन की दिशा में मुड़ जाते हैं।

शक्ति : एक बात और है सुनील! इतने दिनों तक इतनी कविताएँ लिखी हैं कि अब आशंका होने लगी है कहीं पुनरावृत्ति न कर बैठूँ।

प्रतिवेदक : तुम्हारा तो कविता ही एकमात्र सहारा है। सुनील तो गद्य में भाग कर जा सकता है। तुम्हें तो कविता से ही चिपक कर रहना होगा। इसलिए यदि तुम्हें लगता है कि मैं तो चुकता जा रहा हूँ तो तुम लिखोगे कैसे?

शक्ति : यह होने पर तो लिखना बंद कर दूँगा।

सुनील : षष्ठी देवी रक्षा करें, शक्ति चुक रहा है ऐसी अशुभ वाणी कौन कह रहा है? शक्ति शीर्षेन्दु तुम्हें चिढ़ा रहा है।

शक्ति : बीच-बीच में मुझे लगने लगता है कि मैं और लिख नहीं पाऊँगा। समझो एक महीने तक कविता नहीं लिखी। उसके बाद अकस्मात् एक दिन लिखी। समझ सका कि अभी मैं बचा हुआ हूँ।

प्रतिवेदक : अच्छा, शक्ति तुम्हें क्या सुनील से पूछने की इच्छा नहीं होती है कि उसके इतना गद्य लिखने के कारण उसकी कविता की क्षति हुई है या नहीं?

शक्ति : यह प्रश्न मैं सुनील से पूछूँगा यही निश्चय करके तो मैं आया था। सुनील तुम्हारे इतना गद्य लिखने का कारण क्या है? अब तो तुम्हारा घर हो गया है, गाड़ी हो गई है, संपन्नता भी ख़ूब आ ही गई है।

सुनील : देखो शक्ति, अगर घर की बात कहते हो, तो शीर्षेन्दु को कहना है कि तुम तो निःसंदेह कलकत्ता के दस प्रतिशत के मालिक हो।

शक्ति : शीर्षेन्दु मज़ाक़ कर रहा है।

सुनील : कलकत्ता में चार-पाँच स्थानों पर तुम्हारी ज़मीन हैमैंने सुना है भाई!

शक्ति : एक जगह की ज़मीन बेचकर इस जगह पर घर बना लिया है, यही तो अपराध है।

सुनील : ऐसी कोई बात नहीं है, रुपया-पैसा के लिए लिखता नहीं हूँ, वैसे भी गद्य में तो बहुत अधिक पन्ने लिखने पड़ते हैं। मेरी ट्रेजडी है कि शारदीय संख्याओं में किसी भी तरह कोई मेरी कविताओं को आजकल नहीं छापता है। अन्य अंकों में कविता छापते हैं, किंतु, शारदीय संख्या होने से कविता नहीं चाहते, उपन्यास देना होगा। यही तो चल रहा है भाई।

शक्ति : तुम याद रखो, कविता लिखना ही तुम्हारा प्रधान कर्म है।

सुनील : कविता मैं कुछ कम लिखता हूँ, इस कारण कविता का विषय इस समय मुझमें फ्रेश रहता है। इस समय भी जब मैं अकेले में रास्ते में घूमता हूँ तो तुझे याद नहीं रहता कि मैं कहानी-उपन्यास लिखता हूँ। वही ''कृत्तिवास'' ज़माने के कविता लेखकों को याद करता हुआ घूमता रहता हूँ। अपने समूचे अस्तित्व में मुझे अपनी उपन्यासकार सत्ता का बोध कम होता है।

प्रतिवेदक : अच्छा सुनील, शक्ति क्या बहुत अधिक कविता लिखता है?

सुनील : शक्ति कविता के अलावा गल्प-उपन्यास भी लिखता है। पन्ने-पर-पन्ने लिखने होते हैं, इस कारण आजकल और नहीं लिख रहा है। कविता तो सचमुच में अधिक लिखता है। उसका दोष है ''फॉर्म'' को अत्यधिक आयत्त कर लेना। छंद तो नख की नोक पर रहता है, शब्द जादू की तरह आते-जाते हैं। फलस्वरूप तुरंत लिखकर दे सकता है। इससे रचना कभी ख़राब नहीं होती है। किंतु, वह उमंग नहीं रहती है।

शक्ति : तुम अभी कहो न, मैं इसी क्षण एक सॉनेट लिख सकता हूँ। मैंने सॉनेट चुन भी लिया है।

सुनील : सॉनेट एक एब्सोल्यूट फॉर्म है। सॉनेट एक व्यक्ति के हाथ-पैर बाँध देता है। वह क्या कविता होती है?

शक्ति : सुनील, तुम्हारी इस बात पर मैं आपत्ति करूँगा। मैं जो चतुर्दशपदी कविता लिखता हूँ, उसमें कई बहुत अच्छी कविताएँ हैं ...

सुनील : हाँ, मुझे भी कई पंक्तियाँ याद हैं, मेरा एतराज़ तो फॉर्म को लेकर है।

प्रतिवेदक : शक्ति, यह जो तुम अपने को ज़िम्मेदार मान रहे हो, तो इसके परिणामस्वरूप बाद की पीढ़ी के कवि तो कहेंगे कि महाशय आपने स्वयं भी तो कई तरह से धोखा-धड़ी की है, फिर मुझे उपदेश देने क्यों चले आए?

शक्ति : हाँ, वह तो हुआ ही है। सर्दी के ऊपर एक कविता लिखी है, वर्षा के ऊपर, यह शिल्प-नैपुण्य का फल था। एक बार बंधु दीपेंद्रनाथ वंद्योपाध्याय के अनुरोध से लेनिन के ऊपर कविता लिखनी पड़ी। और क्या करता, एक प्रेम की कविता लिखी पड़ी थी, उसी के नीचे महान् लेनिन के प्रति निवेदित लिखकर उसी को चला दिया। यह हुई शिल्प-नैपुण्य की दिशा। कवि न होने पर भी कोई व्यक्ति कारीगर तो हो ही सकता है।

सुनील : यह सब मत कहो, छप जाएगा, किंतु ...

शक्ति : समझो, फिर इन सब कविताओं के पीछे गालियाँ तो खानी ही पड़ रही हैं। ''भोपाल'' कविता को लेकर भी लड़के-वड़के गालियाँ तो देंगे ही।

प्रतिवेदक : शक्ति, तुम्हें नहीं लगता कि इस समय जो लड़के कविता लिख रहे हैं, वे कविता न लिखते तो क्या डॉक्टर अथवा इंज़ीनियर बन सकते थे? कविता का कीड़ा उनके दिमाग़ में रेंगता रहता है, इसी से उन्होंने अपने बारह बजवा लिए।

शक्ति : यह कर लिया है!

सुनील : यहाँ पर तो ''सरवाइवल ऑफ़ दी फिटेस्ट'' की बात है। जो डॉक्टर और इंज़ीनियर नहीं हो सके वे कवि हो गए...

प्रतिवेदक : यदि कवि भी न हो पाते?

सुनील : यदि कवि भी न हो पाते, तब यही उनकी नियति होती, इसमें कुछ किया नहीं जा सकता था।

प्रतिवेदक : इस पर क्या नियतिवाद मानते हो सुनील?

सुनील : नियति तो है बाङ्ला भाषा की नियति और क्या जिसे कहते हैं...

प्रतिवेदक : बाङ्ला भाषा की नियति के रूप में जो कहा जा रहा है, उसे हम नियति के रूप में ही जानते हैं। शक्ति तुम नियति मानते हो?

शक्ति : हाँ, मैं नियति मानता हूँ। मैं ईश्वर को मानता हूँ।

सुनील : नहीं, मैंने तो नियति के रूप में बाङ्ला भाषा की जो नियति है, उसी की बात कही थी। जैसे कोई बड़ी विपत्ति से बच गया तो उसे कहा जाता

है कि भगवान् ने बचा दिया। भगवान-वगवान की बात करने से क्या होगा। लेकिन कुछ लोग हमें मारने की चेष्टा कर रहे हैं।

प्रतिवेदक : शक्ति, यदि तुम ''देश'' पत्रिका की कविताओं के चयनकर्त्ता होते तो क्या करते?

शक्ति : तो मैं कोरा पन्ना छापता।

सुनील : एक घटना बताता हूँ। मैंने जब नए रूप में ''कृत्तिवास'' छापना शुरू किया तो शक्ति को कविता छाँटने का भार दिया, शक्ति शाम के समय आकर सभी कविताओं को ज़मीन में फेंक देता था। कहता, एक भी कविता छापने योग्य नहीं है। नहीं छापनी चाहिए। मैं पुनः उन्हें उठाकर रख लेता। वह चाहता है कि बाङ्ला भाषा की अंतिम कविता वही लिखेगा और किसी के भी लिखने की ज़रूरत नहीं है।

प्रतिवेदक : तुम्हारा यह मनोभाव क्या शक्ति अभी भी विद्यमान है?

शक्ति : हाँ, अभी भी है।

सुनील : शक्ति कविता को ख़तम ही कर दोगे। सिर्फ़ शक्ति चट्टोपाध्याय की कविता बीच-बीच में निकलेगी और बाक़ी किसी की भी कविता छापने की दरकार नहीं है।

शक्ति : नहीं, मैं सुनील की कविता निकालूँगा, शंख दा की कविता, सुभाष दा की कविता निकालूँगा। किंतु मैं मेघना पई की कविता तुम्हारी तरह कभी नहीं छापूँगा।

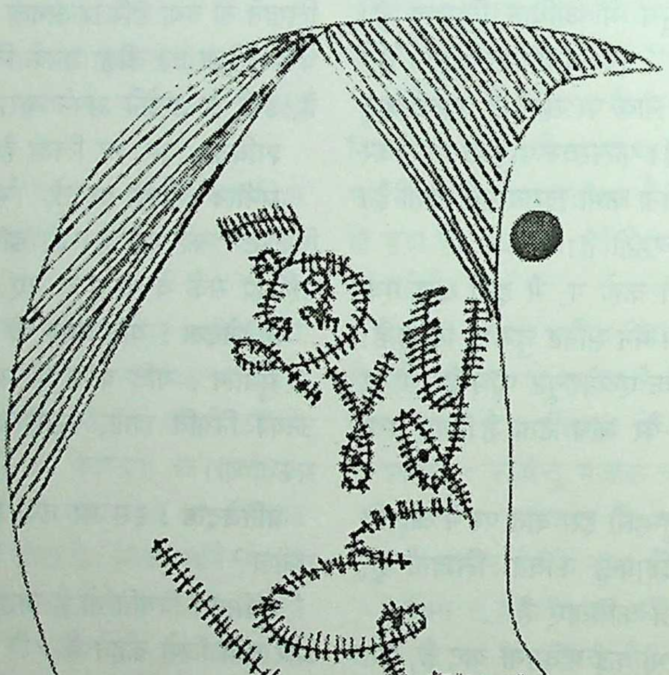

स्वामी

अशांति की ओर

कमर पर दो साल की बच्ची को लादे दुर्गम्मा चल रही है। दुर्गम्मा को चलते हुए पच्चीस साल से ऊपर हो गए फिर भी उसे लग रहा है जैसे वह आज ही पहली बार चल रही है।

दुर्गम्मा की चाल में ठसक है। उसे ऐसा भास हो रहा है जैसे गाँव का गाँव उसी को एकटक देख रहा है। शोभा-यात्रा में सबकी नज़रें बाँध पाने का अहसास लिए दुलहिन की तरह वह मंद-मंद मुस्कुरा रही है।

उस दिन घर में नहाने का साबुन नहीं था तो कपड़े धोने वाले साबुन से ही वह नहा ली थी। साबुत चोली एक भी नहीं थी तो बग़ल में फटी एक चोली ही अच्छी तरह सीकर पहन ली। साड़ी भी कोई ठीक-ठाक न दिखी तो उसने एक बदरंग साड़ी को धो-धाकर काम चला लिया। इस्त्री से अपरिचित कपड़ों में सलवटें कम नहीं, लेकिन उनमें भी दुर्गम्मा अनगढ़ हीरे की तरह चमक रही है।

हरिजन बस्ती की अपनी कोठरी से बाहर आते-आते उसने घर से बाहर बाड़ के काँटों में खिले एक पीले गेंदे को चट से तोड़कर जूड़े में खोंस लिया। हरिजन मंदिरों में नहीं जा सकते लेकिन मंदिर के देवता तो हरिजनों की कोठरियों में पधार सकते हैं! वह झट से ऐसे मुड़कर, जैसे कुछ याद आ गया हो, कोठरी में गई और राम के चित्र के सामने खड़ी होकर गालों को थपथपा लिया।

बैलों को पानी पिलाकर लौटा उसका पति वेंकटेशु कोठरी के सामने उसे दिखाई पड़ा। ''दफ़्तर में काम करने वाली बीबी जी जैसी लग रही है री आज तू!'' पत्नी को सहलाती-सी निगाह से देखते हुए उसने कहा और भौंहे उछालकर हँस दिया।

''तुम भी तो ढोर-डंगर के डागदर लग रहे हो!'' कहकर दुर्गम्मा खी-खी करके हँस पड़ी।

दुर्गम्मा उस दिन आँगनबाड़ी सेंटर में आया की नौकरी शुरू करने जा रही थी। बचपन में उसने ख़ूब पढ़-लिखकर मास्टरनी बनने के सपने देखे थे, लेकिन वे सपने सपने ही रह गए। स्कूल में विद्यार्थियों को लड़का-लड़की के ख़ानों में डालकर अलग-अलग बिठाना हर स्कूल की परंपरा है। इतना ही नहीं, दूसरी लड़कियों से हरिजन लड़कियों को अलग बिठाने का रिवाज़ भी उस स्कूल में था। यह रिवाज़ आज भी है! इस दूसरे रिवाज़ के पीछे थे उस स्कूल के ब्राह्मण अध्यापक और उनकी

स्वामी का जन्म 1952 में आंध्र प्रदेश के अनंतपुर में हुआ था। इनकी अब तक तीस कहानियाँ और दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : 6/65ए, मारुति नगर, अनंतपुर 515001 (आं. प्र.)

जे. एल. रेड्डी (अनु.) जन्म 1940। कई उपन्यासों तथा कहानियों का तेलुगु से हिंदी अनुवाद। साहित्य अकादेमी का अनुवाद पुरस्कार। संपर्क : बी-1/93, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

पीठ पर था कम्मा जाति[1] का सरपंच रंगय्या नायुडु। आज भी वह उस गाँव का सरपंच है।

इन दोनों परंपराओं की कृपा से दुर्गम्मा का स्कूल जीवन जल्द ही समाप्त हो गया। हर साल उसकी माँ बच्चा जन रही थी, सो उनको गोद में उठाए रखने और खिलाने-पिलाने के लिए उसको बीच में तीन साल पढ़ाई छोड़नी पड़ी। पाँचवीं कक्षा पूरी होते-होते वह तेरह साल की हो गई। रजस्वला भी हो गई। छठी कक्षा में दाख़िला लेती तो पड़ोस के गाँव तक एक मील पैदल चलना पड़ता। एक मील बहुत बड़ा फ़ासला तो नहीं होता, लेकिन उस एक ही मील में उनकी बेटी के साथ कोई भी मर्द कुछ भी कर सकता है—इस डर से उसके माता-पिता ने उसे अपर प्राइमरी स्कूल में भेजने से मना कर दिया।

"आपकी बेटी दुर्गम्मा को एक बार समझा दो तो बस सब याद हो जाता है।" स्कूल के मास्टर लोग उसकी तारीफ़ करते, तब भी उसके माता-पिता को यह सोचकर रंज होता कि लड़की जात की इस राँड़ को जितनी अकल है, उतनी हमारे लड़कों को क्यों नहीं मिली! दुर्गम्मा ने पढ़ने का अपना मौक़ा खोया, इसका असली कारण उसका लड़की होकर पैदा होना ही था।

जीवन में मास्टरनी तो नहीं बन सकी, पर कोई एक छोटी-मोटी नौकरी—आँगनबाड़ी की आया की ही सही—मिल जाने से उसमें एक नए उत्साह का संचार हुआ। मैं भी एक सरकारी कर्मचारी हूँ, यह अहसास उसके प्रत्येक रक्ताणु में हुलसने लगा। इस नौकरी के लिए गाँव में दो-तीन दूसरी औरतों ने भी होड़ा-होड़ी की थी। लेकिन आई.सी.डी.एस. की मैडम मेरी के घर की बार-बार परिक्रमा करके और एक हज़ार रुपए की भेंट तांबूल में रखकर अर्पित करने के बाद दुर्गम्मा ने वह नौकरी हासिल कर ली थी।

"हर आदमी अपनी जाति के आदमी की मदद करता है, पर हम हरिजनों में तो ऊपर के लोग नीचे के लोगों का ज़रा भी ख़याल नहीं करते," कहकर मैडम मेरी के प्रति उसने मन-ही-मन अपना आक्रो
व्यक्त किया था।

"तू बन-ठनकर अपनी नौकरी पर जाएगी तो घ
में रोटी कौन बनाएगा?" पति वेंकटेशु ने पूछा।

"तुम यह बात पूछोगे ही, यह सोचकर मैं
तड़के उठकर रोटी बना ली है," दुर्गम्मा बोली।

"तू चली जाएगी, तो खाना मुझे कौन देगा?"

"अपनी मास्टरनी जी से पूछकर आऊँगी औ
तुम्हें खाना देकर चली जाऊँगी।"

"बच्चों को स्कूल कौन भेजेगा?"

"अपनी मास्टरनी से पूछकर आऊँगी और बच्चे
को खाना दे दूँगी और स्कूल भेजकर चली जाऊँगी।"

"दोपहर को जानवरों को चारा कौन देगा?"

"तुम्हारे दादे का दादा!" दुर्गम्मा ने कहना चाह

आया का काम करेगी, महीने में डेढ़ सौ रुपय
घर में आएगा। गरम पानी के साथ ठंडे पानी क
तरह जुड़ेगा तो परिवार का काम चलता रहेगा, य
सोचकर मैं खटती रहती हूँ, और इस मरद को देखे
—ऐसे बात कर रहा है जैसे मैं नकटे-वकटे में ज
रही हूँ! यह सोचकर दुर्गम्मा को पति पर ज़ोर क
गुस्सा तो आया, लेकिन यह सोचकर उसने अप
को रोक लिया कि नौकरी के पहले दिन ही मर्द
लड़ पड़ना अच्छी बात नहीं है।

"रामेश्वरम जाओ तब भी शनीश्वरम से पीछ
नहीं छूटता" वाली मिसाल की तरह, औरत चा
कोई नौकरी करे, घर के काम और चौके से छुटका
नहीं होता, यह सोचकर उसने लंबी साँस छोड़ी
फिर, "अभी आती हूँ महराज!" कहकर दुर्गम्म
छोटी बच्ची को कमर पर उठाकर तेज़ क़दमों
चली गई।

आँगनबाड़ी की मास्टरनी मंडल के मुख्याल
उरवकोंडा में रहती है। जिस गाँव में काम करती है
वहाँ बस से जाती है। तनख़्वाह में से आधा
किराए में ही निकल जाता है। मास्टरनी के पहुँच
तक दुर्गम्मा आँगनबाड़ी केंद्र में झाड़ू लगाक
कचरा उठा लेती है। गाँव में गली-गली घूमती है
एक-एक घर के सामने रुकती है। पाँच बरस
कम उम्र के बच्चों को इकट्ठा करके, केंद्र में तैया

---

[1] एक ब्राह्मणेतर सवर्ण जाति

बिठा देती है। बच्चे पेशाब करते हैं तो पोंछे से साफ़ करती है। मैला करते हैं तो उस पर मक्खियाँ न बैठें, इसलिए फ़ौरन उस पर मिट्टी लाकर डाल देती है। बारह बजते-न-बजते बच्चों को पौष्टिक सत्तू दे देती है। फिर गाँव की गर्भिणी स्त्रियों को सत्तू दे आती है। बच्चों को केंद्र में न भेजकर सिर्फ़ सत्तू के लिए टीन का कटोरा लहराती हुई आने वाली औरतों को झिड़कती-दुत्कारती तो है, पर आख़िर में नर्मी बरतती है, ''कल से अपने बच्चो को सेंटर में नहीं भेजेंगी, तो सत्तू नहीं दूँगी,'' उनको ताक़ीद भी कर देती है।

तीन दिन में एक बार केंद्र का फ़र्श धो देती है। दस दिन में एक बार छत के जाले साफ़ कर देती है।

पंद्रह साल से नौकरी कर रही आँगनबाड़ी की मास्टरनी प्रशंसा में जब कहती है कि ''तुम्हारी तरह काम करने वाली आया मैंने अपनी सर्विस में नहीं देखी,'' तो दुर्गम्मा कहती है, ''काम नहीं करूँगी, तो जो तनखाह लेती हूँ, वह तन को लगेगा क्या अम्मा?''

''अपने आदमी को खाना देने और बच्चों को स्कूल भेजने के लिए बीच-बीच में दस-एक मिनट के लिए मुझे घर जाने देती रहो अम्मा, फिर जितना कहो, सब काम कर दूँगी।'' वह कहती है।

उस दिन दो तारीख़ थी। दुर्गम्मा के हाथ में तनख़्वाह आ गई थी। रंगय्या नायुडू के बाग़ में अंगूर की बेलों को पानी देकर उसका पति लौटा तब तक रात के आठ बज गए थे। आते ही उसने खाना देने को कहा। मुस्कुराते हुए दुर्गम्मा ने शराब के दो पैकेट मटके में से बाहर निकालकर उसके सामने रख दिए।

''कहाँ से लाई?'' वेंकटेशु ने उत्कंठा से पूछा।

बच्चों के पेपरमिंट के साथ ख़रीदे कैंची-छाप दो सिगरेटें भी उसके हाथ में देते हुए दुर्गम्मा बोली, ''मेरी तनखाह मिल गई!'' और अपनी प्रसन्नता के आवेग में खिलखिलाकर हँसती हुई अपने आदमी से लिपट गई।

''तू मेरी रानी है! मेरी जान है, मेरे पिछले जनमों का पुन्न है।'' नायुडु के बाग़ में पानी देने से आई थकान को क्षणभर में भूलकर उल्लसित वेंकटेशु बोल पड़ा।

एक दिन गाँव में एक ट्रैक्टर आया। बालवाड़ी के बच्चों को उप्पमा बनाकर खिलाने के लिए मकई की सूजी, पामोलिन का तेल वग़ैरह सामान उतारकर चला गया। उसी दिन से दुर्गम्मा को नौकरी में समस्या शुरू हो गई।

ग्यारह बजे तक उप्पमा बना देने का दायित्व दुर्गम्मा को सौंपकर, आँगनबाड़ी की टीचर बच्चों से बालगीत गवाने में मग्न हो गई। दुर्गम्मा पहले बोरिंग के पास जाकर कलसा भर पानी ले आई। दो महीने से काम से काले पड़े बरतन-भाँडे बोरे में से बाहर निकाले। राख लगाकर नारियल की जटा से उन्हें माँजा। फिर ख़ूब चमकने तक उनको पानी से धोती रही। फिर आँगनबाड़ी केंद्र के बाहर तीन पत्थरों का चूल्हा जमाकर आग सुलगाई। फिर देगची में अदहन चढ़ा दिया। एक बड़ी-सी कलछी में चट्-चट् करते बघार को ''सुंय्य'' की आवाज़ के साथ अदहन में मिला दिया। साथ ही दो मुट्ठी नमक भी उसमें डाल दिया। उसके बाद खौलते पानी में मकई का रवा उँड़ेलते हुए कलछी से हिलाती रही। बघार की ख़ुशबू उड़ाते उप्पमा से मुँह में पानी आने लगा तो मध्यावकाश में बाहर आए हुए बच्चे चूल्हे के आसपास ही मँडराने लगे।

तभी कुरवा[2] कृष्णप्पा वहाँ आ गया। वह मोटे कपड़े की मैली बनियान पहने हुए है। जलाकर बुझाई गई बीड़ी का एक टोंटा कान के ऊपर दबाए हुए है। कृष्णप्पा महज़ एक मज़दूर है। उसके पास एक धूर ज़मीन भी नहीं है। हाथ-पैर मारता है, तभी पेट में दाना जाता है। भेड़ों की ऊन कतरने का काम करता है। उसके साथ दो-तीन लोग और हैं।

''किसके लिए बनाया उप्पमा दुर्गम्मा तूने?'' भोला चेहरा बनाकर कृष्णप्पा ने पूछा।

''बच्चों के लिए भैया!'' कहकर दुर्गम्मा कुछ

---

2. आंध्र की एक दलितेतर पिछड़ी जाति।

झिझक से मुस्कुराई।

दुर्गम्मा को कुछ खटका हुआ। झट उसके दिमाग़ में एक ऐसा भाव प्रविष्ट हो गया, जैसे उससे कोई अनुचित काम हो गया हो। आज ही नहीं, जब से उसने होश सँभाला है, तबसे उसके लिए यह अपराधबोध नया नहीं है। क्या करने से ग़लत हो जाएगा और क्या न करने से मुसीबत सिर पर आ जाएगी, इस अपराधबोध और भीरुता की भावना मन में उसके स्त्री होने के कारण भी उत्पन्न हुई और उसकी जाति के कारण भी।

भय और विद्रोह परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। भय की परिणति ही विद्रोह में होती है। दुम दबाए बिल्ली में भी विद्रोह अपना पंजा खोलता है। इसी प्रकार दुर्गम्मा में विद्रोह का पंजा खोलने में कई उत्पीड़न सहायक हुए थे।

उन दिनों वह चौथी कक्षा में पढ़ती थी। दशहरे की छुट्टियों के बाद स्कूल उसी दिन खुल गया था।

''हमेशा हम लड़कियों को ही झाड़ू लगाना होगा क्या? कभी तुम लोग भी झाड़ू लगाओ न!'' क्लास में झाड़ू लगाने को लेकर लड़कियों ने लड़कों से हुज्जत की।

''झाड़ू लगाना हमारा काम नहीं है'' कहकर लड़के अड़ गए। अब झाड़ू कौन लगाए, यह प्रश्न लड़कियों के बीच उठ खड़ा हुआ।

''हम तो कम्मा हैं। तुम कुरुवा बच्चे लगाओ।'' कम्मा जाति के बच्चों ने कहा।

''हम कुरुवा हैं। तुम चमारों के बच्चे हो। तुम लोग लगाओ।'' कुरुवा जाति के बच्चों ने धौंस जमाई।

''हम हॉल में लगाते हैं, तुम लोग बरामदे में लगाओ।'' दुर्गम्मा ने प्रस्ताव रखा।

''जा जा!'' कम्मा जाति के बच्चों ने कहा।

''जा, जा, जा!'' कुरुवा जाति के बच्चों ने कहा।

''तब हमें भी क्या पड़ी है। जाओ!'' कहकर चमारों के बच्चे भी अड़ गए।

ब्राह्मण शिक्षक आए। धूल-गर्द से अँटे कमरे को एक छोर से दूसरे छोर तक देखा। पूछताछ की कि किसने झाड़ू नहीं लगाई है और क्यों। सबकी बातें सुनीं। कम्मा जाति के बच्चों को उन्होंने रत्ती भर उलाहना नहीं दिया। कुरुवा जाति के बच्चों डाँटने की औपचारिकता-भर निभाई। फिर चमा जाति के बच्चों को डाँटते हुए बोले, ''बड़ी चर चढ़ी है तुम पर राँडो!'' और उनकी जाति भाँति-भाँति से कोसते रहे। फिर सबको क़तार खड़ा करके उनसे हथेली फैलाने को कहा औ उनको इमली की खपच्ची से पीटा।

अपनी जाति के कारण जो गालियाँ, मार औ अपमान उसने सहे थे, वह सब आज उसके बच्च को भी सहना पड़े तो दुर्गम्मा पहले की तरह चु रहकर सहने वाली नहीं है। उसके बच्चों को अपमानि करने वाले अध्यापकों और ऊँची जाति के लोगों प वह शेरनी की तरह टूट पड़ती है। परंतु वह चा जितने गुस्से में हो, ''नीच जात की औरत! जबा पर लगाम रख! खबरदार!'' कहता हुआ उसके म की अतल गहराई से कोई स्वर उसे सावधान करत हुआ-सा सुनाई पड़ता रहता है। इस चेतावनी क लाँघने के लिए प्रेरित करने वाली परिस्थितियाँ उसके लिए कुरुवा कृष्णप्पा के रूप में उपस्थित हुईं।

''तुम चमारों के हाथ का खाना हम लोगों ने क खाया है क्या, जो आज के दिन हमारे बच्चों क अपने हाथ से बनाकर दे रही है?'' कृष्णप्पा पूछा। वह प्रश्न सामान्य रूप से पूछा गया प्रश् जैसा नहीं लगा। दुर्गम्मा से जवाबतलबी करत हुआ-सा जान पड़ा। दुर्गम्मा को कहाँ, किस कोने पड़े रहना चाहिए, यह याद दिलाता हुआ-स लगा।

मेरे पास इतनी सारी ज़मीन-जायदाद है, य सोचकर घमंड कर सके, ऐसा कोई संपन्न व्यक्ि नहीं है कुरवा कृष्णप्पा। मेरे पास इतना अधिकार है यह कहकर गाँव में छाती फुलाता फिरे ऐसी उसक हैसियत नहीं है। एक लँगोटी ख़रीदने की भी औक़ा से महरूम कुरुवा कृष्णप्पा के लिए अब धरती प केवल डोम-चमार ही बचे हैं जिनके सामने व अपना अहंकार प्रदर्शित कर सकता है।

''एक बार स्कूल आ जाने के बाद तो सब बच् एक ही जैसे होते हैं न!'' दुर्गम्मा ने जवाब दिय

‘‘ऐसे कैसे? आज नेम-धरम से बिटरे बच्चे कल अपने गाँव के नेम-धरम मानेंगे क्या? आज हम तुम लोगों के हाथ का बना खा लें, तो कल को तुम लोग कहने लगोगे—अब हम तुम्हारे मकानों और मंदिरों में भी घुसेंगे।’’ कुरुवा कृष्णप्पा अपनी दूरदर्शिता प्रदर्शित कर रहा था, तभी आँगनबाड़ी की टीचर बीच में बोली, ‘‘कोई बात नहीं जी, हरिजन होने पर भी दुर्गम्मा ने सारे बर्तन ख़ूब अच्छी तरह माँजकर उप्पमा बनाया है।’’

हरिजन साफ़-सुथरे नहीं होते—सुदूर अतीत में पुरखों द्वारा मन में जमाया हुआ यह भाव, आँगनबाड़ी की टीचर के मन में अब भी शायद सुरक्षित था।

साफ़-सफ़ाई व्यक्ति के पेशे और आर्थिक वर्ग से जुड़ी हुई चीज़ है। खेत में अनाज पैदा करने वाले मिट्टी की गंध से और दूध का उत्पादन करने वाले गोबर की बास से कैसे बचे रह सकते हैं? एक ओर तो उनके पैदा किए अनाज और दूध-दही का उपभोग करें, और दूसरी ओर उनके पसीने की गंध पर मलिनता का आरोप करें, ऐसी मनोवृत्ति शारीरिक श्रम से दूर रहने वाली जातियों में ही पनपती है। डाँड़ी पकड़ने वाली जाति की टीचर भी उस मनोवृत्ति से बच नहीं सकी थी। हरिजन लोग गंदे रहते हैं, इस सर्व-स्वीकृत सत्य के एक अपवाद के रूप में ही वह अपनी हरिजन आया के सुथरेपन को स्वीकार कर सकती थी।

‘‘कितनी भी सफाई करो, चमार का मैल तो चमार का ही मैल होता है न? वह कैसे खतम होगा अम्मा!’’ कुरुवा कृष्णप्पा ने तर्क किया।

दुर्गम्मा के सुथरेपन का कुरुवा कृष्णप्पा के लिए महत्त्वहीन हो जाना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। जिस आदमी की जाति में कंबल में खाना खाने का रिवाज हो, उसे कौन-सा मैलापन दुख देगा? मनुष्य जाति की मादा के लिए भगवान ने महीने में चार दिनों के शरीर धर्म का विधान रच रखा है, वरना इस कृष्णप्पा के परिवार की स्त्रियाँ कितने हफ़्तों में नहाती हैं, यह बता पाने की स्थिति में वह नहीं है।

‘‘रोज़ ही दुर्गम्मा अपने हाथ से सत्तू देती आई है, गाँव के बच्चे और गर्भिणी स्त्रियाँ सब खा तो रहे हैं न! फिर आज आप यह नई बात क्यों कह रहे हैं?’’ आँगनबाड़ी की टीचर ने पूछा। उसने अपनी नौकरी के धर्म के निर्वाह में दुर्गम्मा का पक्ष लेकर बात की।

‘‘सत्तू सत्तू है और उप्पमा उप्पमा! सत्तू को मशीन से निकालते हैं, इसलिए उसमें बुराई नहीं है। उप्पमा हाथ का बना खाना होता है न? उसे खाने से बिटर नहीं जाएँगे?’’ कृष्णप्पा ने टीचर को धर्म का मर्म समझाया।

‘‘बेजान आटे की मसीन की जो किम्मत है, क्या उतनी भी किम्मत हम चमारों की नहीं है? क्या हम भी तुम्हीं लोगों जैसे आदमी नहीं हैं?’’ दुर्गम्मा बोल पड़ी।

कृष्णप्पा के साथ आए उसी जाति के दो आदमी बहस करने लगे, ‘‘डोम-चमारों का बनाया खाने के लिए हम क्या इतने गए-गुजरे हैं? जाओ जाओ! बड़ी बताने वाली आई!’’ आवाज़ ऊँची करके वे चिल्ला पड़े। उनके बच्चे भी आँगनबाड़ी के उस केंद्र में आते हैं।

आमतौर पर ‘‘गए-गुज़रे’’ लोग ही आँगनबाड़ी के केंद्र में मिलने वाले सत्तू और उप्पमा के लिए दौड़ लगाते हैं। इस तरह, सरकारी माल की भीख माँगते समय आड़े न आने वाला उनका अहंकार, चमारिन के बनाए उप्पमा को खाने के मामले में आड़े आता है! बेचारे! वे लोग भी क्या करें? ‘‘ठीक है, अगर बी.सी. बच्चों को उप्पमा नहीं चाहिए, तो आप लोगों की मर्जी।’’ आँगनबाड़ी की टीचर ने कहा।

बच्चों की ओर मुड़कर गर्दन पर पड़े तौलिये को झाड़ते हुए कुरुवा कृष्णप्पा ने ज़ोर से कहा, ‘‘जाओ, जाओ! अपने सब कुरुवा बच्चे अपने-अपने घर जाओ! कल से सेंटर में आए तो अच्छा नहीं होगा। देख लो, हाँ!’’

जो बड़ी लड़कियाँ अपने छोटे-छोटे भाई-बहनों को साथ लेकर आई थीं, वे कृष्णप्पा का वीरावेश देख अपने-अपने भाई-बहनों को गोद में उठाकर वहाँ से भाग निकलीं।

पर जिन बच्चों के घर बड़े बच्चे नहीं थे जो घर

पहुँचा दें, ऐसे दो-तीन छोटे-छोटे बच्चे क्या करें? वे ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे। कुछ चमारों के बच्चे भी घबराकर भागने को हुए तो "तुम लोग बैठ जाओ" कहकर दुर्गम्मा उनको रोकने लगी। वहाँ का सारा वातावरण सरकारी अस्पताल में छोटे बच्चों को सूई लगाने वाले वार्ड की तरह हो गया।

"उप्पमा सारा एस.सी. बच्चों को ही दे देना आया! हम और क्या कर सकते हैं?" टीचर बोली।

"यह कैसे हो सकता है?" कुरुवा कृष्णप्पा चीख़ा, "एस.सी. बच्चे उप्पमा खाते रहें और हमारे बी.सी. बच्चे देखते खड़े रहें क्या?" उसने ऐसे पूछा, जैसे कोई बड़े अन्याय या अधर्म का काम हो रहा हो।

"फिर हमें क्या करने के लिए कहते हैं आप?" असमंजस में पड़कर आँगनबाड़ी की टीचर ने पूछा।

"हम बी.सी. वालों के लिए जो नहीं है, वह उप्पमा एस.सी. वालों के लिए भी नहीं होना चाहिए।"

"हमने यह तो नहीं कहा कि आपके बी.सी. बच्चों को उप्पमा नहीं मिलेगा?"

"आपने तो नहीं कहा। लेकिन हमारे बी.सी. बच्चे ही चमार-खाना नहीं खाएँगे।"

"आपने कहा हमारे बच्चों को उप्पमा नहीं चाहिए। ठीक है। लेकिन एस.सी. बच्चों को भी खाने नहीं देंगे तो आपको क्या मिलेगा?" आँगनबाड़ी की टीचर बोली। पूछने के लिए उसने ज़रूर यह पूछ लिया, लेकिन उसके स्वर में ज़्यादा ज़ोर या आग्रह नहीं था। वह अच्छी तरह जानती थी कि लोगों की तिकड़मों के सामने या अज्ञान के सामने हार माने बग़ैर उसके जैसी मास्टरनियाँ गाँव में नौकरी नहीं कर सकतीं।

"हमें तो कुछ नहीं मिलेगा। लेकिन इन चमारों को ऐसी नौकरियाँ देने वाली सरकार को ज़रूर अकल आ जाएगी।" कहकर कुरुवा कृष्णप्पा ने एक बार चारों तरफ़ नज़र दौड़ाई।

"अरे पकड़ो रे! इस उप्पमा को घूरे पर औंधा कर आते हैं। यह आदमियों के खाने लायक नहीं है, कुत्तों के खाने लायक है।" उसने चिल्लाकर कहा। उसके साथ का एक आदमी मदद के लिए आगे आया। रोकती दुर्गम्मा को परे धकेल कर कृष्ण उस आदमी की मदद से उप्पमा को घूरे पर उँड़ेल लौट आया।

इधर से एक और उधर से एक, दो कुत्ते घूरे पास आ गए। तीसरी दिशा से दो कुत्ते और पहुँच गए। दौड़कर घूरे पर चढ़कर "गुर्र-गु करके आपस में कुत्ते भिड़ने लगे। "कुंय्य-कुंय्य करके चीख़ने लगे। फिर बीच-बीच में एक-दू पर गुर्राते हुए, देग के साँचे में ढले हुए-से उप्प के पिंड को सूँघते हुए, साँप की तरह जीभ लप कर थोड़ा-थोड़ा करके चाटने लगे। एक कुत्ते ने मुँह में भर लिया लेकिन लसदार गरम-गरम उप्प जबड़ों में फँस गया। मुँह में छाले उभरने लगे, कुत्ता चीख़ता-चिल्लाता, आगे के पैरों से मुँह नोचता, घूरे-भर में लोटपोट होने लगा। घूरे में गोबर का चूरा था, वह हवा में उड़कर उप्पमा जमने लगा।

बड़े जतने से पकाए उप्पमा की दुर्गति को देख दुर्गम्मा को ऐसा लगा जैसे घूरे पर घसीटकर का अपमान किया गया है, गली के कुत्तों को उक कर उसके ऊपर छोड़ दिया गया है।

"ये भी कोई आदमी हैं? थू!" कहती हुई दुर्गम्मा ने घिन से देखा। दुर्गम्मा की ओर सीधे कर बात करने की हिम्मत नहीं हुई, इसीलिए कृष्ण आँगनबाड़ी की टीचर की ओर मुड़ा।

"हमें चमारिन आया नहीं चाहिए। हमारी बी.सी. औरत को अगर आया रखोगे, तो अपना सेंटर चलाओ। वरना हमें तुम्हारा आँगन सेंटर चाहिए ही नहीं।" वह बोला।

"चमारिन आया नहीं चाहिए, यह कहने तुम कौन होते हो?" दुर्गम्मा चीख़ पड़ी। उस ख़ून खौलकर कानों में उतर आया।

"आया की नौकरी मुझे न तुमने दिलवाई है तुम्हारे दादा ने। मुझे नौकरी से निकालने के कहने वाले तुम कौन होते हो?" उसने तर्क कि

"देख, देख, तू औरत जात है! जबान सँ कर बात कर! अच्छा नहीं होगा, बताए देता हूँ

‘‘क्यों, क्या करोगे तुम लोग? मैं औरत हूँ, यही विचार होता तो तुम सब आकर इस तरह हल्ला करते?’’ दुर्गम्मा चीख़ी।

छोटी जाति की औरतों पर अकड़ दिखाने वाले मर्दों से दुर्गम्मा का पहले कोई साबका न पड़ा हो, ऐसी बात नहीं है।

तब उसकी उम्र सोलह साल की रही होगी। अभी शादी नहीं हुई थी। मुँह धोकर पाउडर, माथे पर काली बिंदी और आँखों में काजल लगा लेती, तो वह आकाश से पृथ्वी पर उतरी कोई गंधर्वकन्या-सी लगती थी। उन्हीं दिनों सरपंच रंगय्या नायुडु के सालों में से एक इंटर में कई बार लुढ़क चुकने के बाद गरमाए कुत्ते की तरह गाँव में घूमा करता था। रतिरोग से पीड़ित आदमी की तरह लुंगी पहने, हमेशा हरिजन बस्ती के इर्द-गिर्द वह चक्कर लगाया करता। मुग्धा नायिका की तरह दिखाई पड़ती दुर्गम्मा की ओर ललचाई नज़रों से देखता रहता। बत्तीसी निकालकर हँसता। यह सब देख-देखकर जात के कुछ बड़े-बूढ़ों ने उस लड़के के पिता से हल्की-सी शिकायत की। कहते हैं कि उस सवर्ण पिता ने यह नसीहत दी कि ‘‘मेरे बेटे के बारे में मेरे पास झूठी-सच्ची शिकायतें लाने के बजाय तुम लोग अपनी लड़कियों को क्यों नहीं थामते?’’

इंटर फेल उस लड़के ने एक बार चारे के चट्टे के पास हाथ पकड़ लिया, तो दुर्गम्मा छुड़ाकर भाग आई। एक बार और मशीन वाले कमरे में उसे चिमटाने लगा, तो डर के मारे शोर मचाकर वह बच गई थी।

‘‘तुम्हारा सोना खरा हो तो कोई क्या कर सकता है? जाओ रे जाओ!’’ कहते हुए हल्के भाव से हँसकर उस लड़के के पिता ने शिकायत लेकर गए लोगों को ही झिड़ककर वापस भेज दिया था। तभी से दुर्गम्मा के भीतर सवर्ण मर्दों के प्रति असहिष्णुता का भाव पैदा होना शुरू हो गया था।

‘‘हमारा सोना कैसा है, इसकी परीक्षा आप लोग करते हैं। आप लोगों का सोना कैसा है, हमारे मर्द भी इसकी परीक्षा करके बताएँ, तो अच्छा रहेगा न?’’ इस तरह बात पूछने की अकल उस दिन उसको नहीं थी, इस बात का पछतावा दुर्गम्मा को आज तक है।

कृष्णप्पा ने दुर्गम्मा से सीधे सवाल नहीं किया था। तब भी दुर्गम्मा सीधे उसे लक्ष्य करके बहस पर उतर आई, तो कुरुवा कृष्णप्पा बड़े संकट में पड़ गया।

‘‘मैं औरत ही हूँ! तो क्या हुआ? क्या करेंगे आप लोग? हमारे मर्द लोग भी तुम लोगों की औरतों के पास जाकर, तुम लोग जो कर रहे हो वैसा ही हुल्लड़ करने लगें तो...?’’ दुर्गम्मा ज़बान लड़ाने लगी इतने लोगों के बीच एक औरत से अपमानित होना पड़ेगा, इस मर्दाना भय से उसका दिल डूबने लगा। ‘‘अरे तू क्या औरत है? तू तो मरद है,’’ बड़बड़ाते हुए, जबरन मन को ढाढ़स बँधाते हुए कृष्णप्पा तेज़ क़दम बढ़ाता हुआ सरपंच नायुडु के घर की ओर चल दिया।

दुर्गम्मा घर लौटी। छोटी बच्ची को गोद में लेकर दहलीज़ के पास ही बैठ गई। घूरे पर औंधाया उप्पमा उसकी आँखों के सामने तैर रहा है। घूरे में समाए उप्पमा की ओर देखती बच्चों की ललचाई आँखों को याद करके उसका मन विकल हो रहा है। छोटी बच्ची ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी तो वह उसे अपना दूध पिलाने लगी।

इतने में ख़ूब मुँह फुलाए वेंकटेशु आया। दुर्गम्मा से उसने कोई बात नहीं की। आते ही नट्टुई बैलों को पानी पिलाने के काम में लग गया।

घर के बाहर नीम के पेड़ के नीचे मिट्टी पुती नाद में बैल चारा खा रहे हैं। वेंकटेशु ने पानी की बाल्टी लाकर एक बैल के सामने रखी। बैल ने दो-तीन बार पानी से अपनी जीभ छुआने के बाद साभिप्राय वेंकटेशु के मुँह की ओर देखा।

‘‘खूब आदत पड़ी हुई है कमबखत को। तौडु[3] जब तक न छिड़को, तब तक पानी नहीं छूता,’’

---

[3] चावल को कूटने या पॉलिश करने से निकलने वाला आटे जैसा पदार्थ, जो पशुओं को खिलाया जाता है।

बड़बड़ाता हुआ वह घर के अंदर गया और एक कटोरे में तौडु लाकर बाल्टी के पानी पर थोड़ा-थोड़ा करके छिड़क दिया। बैल को शायद प्यास नहीं थी। वह पानी पिए बिना, जीभ को आगे करके सिर्फ़ तौडु को चाटने की कोशिश करने लगा। तैरते तौडु को पानी में घोलकर ''टुव्व...टुव्व...टुव्व...'' करते हुए वेंकटेशु ने पानी पीने के लिए बैल को पुचकारने का प्रयत्न किया। लेकिन बैल कुछ न समझते हुए, थूथन को आँखों तक बाल्टी के पानी में डुबोकर, तले में बैठे तौडु को खरोंचने लगा। इससे एक चौथाई पानी बाल्टी में से बाहर छलक गया।

वेंकटेशु का सब्र जवाब दे गया। ''धत् तेरे की, कमीना, साला! इससे तो भैंस भली!'' चिल्लाता वह औगी हाथ में लेकर बैल को तड़ातड़ ऐसे मारने लगा जैसे उस पर चढ़ आया हो।

''पागलपन सवार हो गया है क्या? गूँगे जीव को ऐसे क्यों धुन रहे हो?'' दरवाज़े से दुर्गम्मा चिल्लाई।

''हाँ...सवार हो गया है री! मैं पगला ही तो गया हूँ। जिन राँड़ों को घर में पड़े रहना चाहिए, वे चौपाल पर चढ़कर मरदों के साथ जबान लड़ाने लगें तो अब इस घर में मुझ मरद का क्या काम?''

दुर्गम्मा के चेहरे पर ऐसा भाव उभरा जैसे अब उसे अपने आदमी की पीड़ा का कारण समझ में आ गया हो। वह धीरे से बोली, ''ओह, अब समझी, कहीं का गुस्सा कहीं निकालने की बात हो रही है!''

अपने काम से मतलब रखते हुए जब वह काम कर रही थी, तब कुरुवा कृष्णप्पा ने ख़ामख़्वाह बड़ा बखेड़ा खड़ा कर दिया था। जवाब में वह क्या बोली थी यह सब दुर्गम्मा ने पति को ब्योरेवार सुनाया। सब सुनकर, ''तब भी...यह भी भूल कर कि तू औरत जात है, उतने सब मरदों के सामने बेहया की तरह बात करती है तू?'' वेंकटेशु चिल्ला उठा। कितना भी समझाओ, तब भी उसी को दोषी ठहराने वाले पति की ओर दुर्गम्मा ने गुस्से और नफ़रत से देखा। इतने में गाँव का चोबदार वहाँ आ गया और बोला, ''रंगय्या नायुडु ने बुलाया है तुम्हें।''

''क्यों? किसलिए?'' वेंकटेशु ने पूछा।

''पता नहीं। मुझे क्या मालूम। कुरुवा कृष्णप्पा है वहाँ। तुम जल्दी से आ जाओ।'' कहता हुआ चोबदार चला गया।

वेंकटेशु ने पत्नी की ओर आँखें तरेरकर ऐसे देखा जैसे कह रहा हो, इस सारे टंटे की जड़ तुम्हीं हो। दुर्गम्मा के चेहरे पर उभरे भाव से ऐसा लगा जैसे वह अपने पति के आक्रोश को समझ गई है। फिर ''मैं औरत जात हूँ। मेरा जबान खोलना गलत है। लेकिन तुम तो मरद हो न? नायुडु का हुक्म सुनकर गूँगे बैल की तरह सिर हिलाकर चले आओगे या हाड़-मास वाले मरद की तरह बात करके आओगे... यह मैं भी देखूँगी। होकर आओ।'' आहिस्ता से बात करते हुए भी दुर्गम्मा ने चुनौती-सी दे दी। फिर बाहर जाते पति की ओर देखती हुई छोटी बच्ची को उसने दूसरा स्तन दिया और आँचल सँभालकर गहरे सोच में डूब गई।

वेंकटेशु के पहुँचने तक कृष्णप्पा नायुडु के मकान के चबूतरे पर बैठा हुआ था। उसी चबूतरे प कुर्सी पर रंगय्या नायुडु आसीन था। वेंकटेशु ने सि पर पगड़ी की तरह लिपटे तौलिए को खोलक बग़ल में दबा लिया और झुककर सरपंच कं भक्तिभाव से नमस्कार किया। नमस्कार के जवाब सरपंच ने गंभीर मुखमुद्रा बनाकर सिर हिलाया औ कृष्णप्पा की ओर ऐसे देखा जैसे कह रहा हो, अ बताओ।

''अपने गाँव में आँगनबाड़ी सेंटर में वेंकटेशु कं बीवी दुर्गम्मा को आया बनाकर रखो, तो कैं चलेगा? चमारों का बनाया उप्पमा हमारे बच्चे कैं खाएँगे भैया?'' कुरुवा कृष्णप्पा ने वही बात छे जिसे वह वेंकटेशु के आने से पहले बता चुका थ

''यह कहो कि सरकार को अकिल नहीं है भैय डोमों और चमारों को भोटों के चक्कर में सर च लेती है। चप्पल लाकर कोई घर के भीतर रख ले है क्या? जिसकी जो जगह है, उसे वहीं रख चाहिए।'' उसने आगे कहा।

''जमाना बदल गया है न रे! जमाने के साथ ह को भी बदलना चाहिए।'' नायुडु ने उदास होक कहा।

नायुडु की बात सुनकर वेंकटेशु ने मन में ''जय भगवान!'' कहकर चैन की साँस ली।

''चमारों का बनाया खाने से हम बिटर नहीं जाएँगे क्या भैया?''

''हम लोग शहर जाते हैं तो होटलों में घुसकर चाय-काफी पीते हैं कि नहीं? नाश्ता-खाना खा रहे हैं कि नहीं? वहाँ सब बामन लोग ही पकाकर दे रहे हैं क्या? हमारे ही गाँव के चार चमार काम करते हैं उरवकोंडा के होटलों में। उन होटलों में खाने से जो मैल नहीं लगता, वह वेंकटेशु की बीवी के पकाए उप्पमा खाने से लग जाता है क्या?'' कहकर नायुडु मज़ाक़िया अंदाज़ में हँस पड़ा।

नायुडु के प्रति वेंकटेशु के मन में भक्तिभाव उफन कर हिलोरें लेने लगा। जाने क्यों, उसकी इच्छा हुई कि नायुडु के पैरों में ज़ोर से चिपटकर फूट-फूट कर रोए। छोटी जाति के लोगों की कमियों और बड़ी जाति के लोगों की उच्चता को झेलना किसी भी आदमी के लिए कष्टकर होता ही है! कृष्णप्पा आँखें फाड़कर ऐसे देखने लगा जैसे विश्वास नहीं हो रहा हो कि नायुडु ही यह बातें कह रहा है! कृष्णप्पा की हालत पर तरस खाते हुए नायुडु ने ''लेकिन...'' कहकर अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करना शुरू किया।

''हम लोग बुजुर्गों के जमाने से चली आ रही लोक रीतियों को इतनी जल्दी छोड़ नहीं सकते। अब मिसाल के लिए इस वेंकटेशु को ही लो। हम कहें कि इस चबूतरे पर आकर बैठ रे, तो बैठेगा क्या?'' बात को बीच में रोककर वेंकटेशु की ओर मुड़कर उसने पूछा, ''क्यों रे बैठेगा?'' मन में चाहे जितनी कटुता हो, प्रकट रूप से सौम्यता दर्शाते हुए बात करना नायुडु को विरासत में मिला हुआ कौशल है।

''अरे रे! यह काम मैं कैसे करूँगा मालिक!'' कहकर वेंकटेशु ने गाल थपथपा लिए।

वेंकटेशु से यही जवाब आएगा, इस विश्वास से ही नायुडु ने यह सवाल किया था। अपेक्षित उत्तर ही वेंकटेशु से पाकर रंगय्या नायुडु अपनी बुद्धि कुशलता पर स्वयं मुस्कुराया।

''हाँ, बात तो सही है! इस चबूतरे पर तुम इसलिए बैठ नहीं सकते, क्योंकि...अब तक तेरे बाप, दादा, परदादा कोई बैठा नहीं था, इसलिए। यही बात है न?'' नायुडु ने पूछा।

''यही बात है न?'' नायुडु ने इस सवाल का दूसरा जवाब क्या हो सकता था? ''यही बात है मालिक!'' वेंकटेशु फ़ौरन सहमत हो गया।

''यही हमारे रामन गाँव की लोकरीति है। यही रामन गाँव का रिवाज है।'' इस तरह फ़ैसला देकर, रंगय्या नायुडु अब तक जो तोता-मैना की कहानी जैसी बातें कर रहा था, अब आगे जो बात कहने जा रहा था, उसमें तालमेल बिठाने में लग गया।

''जिस तरह तेरे बाप-दादा कभी इस चबूतरे पर नहीं बैठे थे, उसी तरह हम लोगों ने भी तेरा चमार खाना नहीं खाया था। बता खाया था कभी?'' नायुडु ने पूछा।

''नहीं मालिक,'' वेंकटेशु ने भोलेपन से बात मानी।

''ऐसे में आज तुम लोगों के हाथ का खाना खाना पड़े, तो किसी को भी रंज तो होगा ही न?''

''बात सही है मालिक!''

''इसलिए एक काम कर!'' कहते हुए रंगय्या नायुडु ने आख़िरी मोहरा चलाया, ''तुझे भी नुकसान नहीं होना चाहिए और इन लोगों को भी रंज नहीं होना चाहिए। इसलिए कल से तेरी बीवी आँगनबाड़ी सेंटर में झाडू-पोंछे का काम करेगी। इस कृष्णि गाडु[4] की बीवी रसोई का काम देखेगी। वह तनख़्वाह डेढ़ सौ रुपए है न? उसे दोनों आधा-आधा बाँट लेना!'' फैसला देकर उसने पूछा, ''क्या कहते हो तुम लोग?''

इसमें अपने लिए फ़ायदे के अलावा कोई नुकसान न देखकर कुरुवा कृष्णप्पा ने झट से सिर हिलाया और ''जैसा तुम कहते हो, भैया!'' कहकर सहमति जता दी।

''क्यों रे, अब तू बता?''

---

[4] ''गाडु'' तेलुगु में व्यक्ति के साथ लगाया जाने वाला बहुप्रचलित हीनता-बोधक प्रत्यय है। यह प्रायः क्षुद्रजनों और बच्चों के नाम के साथ लगाया जाता है।

दिग्भ्रम की स्थिति से उबरे बग़ैर ही वेंकटेशु ने अनायास सहमति में सिर हिला दिया।

जिन लोगों ने अपनी आँखों से देखा होगा, वे तो यही समझेंगे कि इस तरह सिर हिलाने वाला वेंकटेशु ही है। लेकिन ऐसा भी माना जा सकता है कि वास्तव में उसके मृत पिता, दादा या उसके किसी पूर्वज ने ही उस क्षण उसमें प्रविष्ट होकर उससे सिर हिलवा लिया होगा। ''अब जाओ, अपना-अपना काम करो। झगड़ा-झमेला मत करना। हमारा गाँव बड़ा नेम-धरम वाला गाँव है! लोक-रीति मानने वाला गाँव है। हमेशा शांति रखने वाले गाँव के रूप में इसका बड़ा नाम है। यह नाम बिगाड़ना नहीं।'' कहकर नायुडु ने उन दोनों को हितोपदेश दिया।

हाँ, सचमुच वह शांतिप्रिय गाँव है। सरपंचगिरी के लिए रंगय्या नायुडु से मुक़ाबला करने वाला सूरमा उस गाँव में अभी तक पैदा नहीं हुआ है। ''तुम्हारे लिए जो अच्छा हो, वही स्टोर का डीलर बनेगा? क्यों?'' सख़्ती से ऐसे सवाल करने वाला ''हिकमती-होशियार'' आदमी भी गाँव में अभी पैदा नहीं हुआ है। नायुडु की खींची लकीर को बिल्ली तक नहीं लाँघती। झगड़ा चाहे कोई करे, आख़िरी फ़ैसला उसी का होता है। ऐसे में वह गाँव शांत नहीं रहेगा तो और कैसे रहेगा?

वेंकटेशु को सब विचित्र लग रहा है। नायुडु ने पहले किसका समर्थन किया था? उसी का तो! लेकिन आख़िर में फ़ैसला किसके पक्ष में दिया? क्या मालूम? वेंकटेशु सिर खुजाता हुआ वहाँ से चला गया।

बेचारा रंगय्या नायुडु भी करता तो क्या करता? उसके पास सौ एकड़ की खेती है। घरेलू नौकर न हों, तो केवल मज़दूरों से उस का काम नहीं चलता। मज़दूर लोग सवेरे काम पर आते हैं तो दिन डूबते-डूबते अपने घर की ओर भाग पड़ते हैं। घरेलू नौकर ऐसा नहीं कर सकते। उनको दिन-रात नायुडु के खेती के कामों में डूबना-उतराना ही पड़ता है। जब तक ऐसे दो-चार घरेलू नौकर न हों, तब तक नायुडु के काम नहीं सरते।

''अरे वेंकटेशु! मेरे यहाँ नौकरी क्यों नहीं क लेता रे?'' महीना भर पहले नायुडु ने बुलाकर क था।

''मजूरी के लिए हो तो आऊँगा, नौकरी न करूँगा मालिक!'' उसने जवाब दिया था। बात सही है! मज़दूरी करने में जो आज़ादी होती है, व नौकर हो कर रहने में कहाँ? पेट भरने के बाद ती दिन तक मुँह ढाँपकर सो भी जाओ, तो मज़दूर पूछने वाला कोई नहीं होता। तब भी तोते को रटा की तरह नायुडु ने दो-तीन बार समझाकर देखा थ पर वेंकटेशु माना नहीं। उसी का परिणाम है, रंगय् नायुडु का आज का फ़ैसला! नायुडु ने उसकी जा पर जो चोट की थी, उसका प्रभाव उसकी आर्थि स्थिति पर भी पड़ेगा और अंत में वही उसे उस मुट्ठी में ले आएगा, नायुडु को यही आशा थ नायुडु ज़ोर-जबर्दस्ती नहीं जानते, केवल राजनी जानते हैं!

नायुडु का फ़ैसला सुनते ही दुर्गम्मा ने पति पर ए अजीब-सी निगाह डाली। वेंकटेशु को लगा कि व निगाह उसके पुरुषत्व में जाकर गड़ गई है। दुर्गम ने हिक़ारत से बात की। एक-एक बात वेंकटेशु दब्बू मन में ख़ंजर की तरह धँसती गई।

''बात जो भी हो, बनाकर तो रखना ही पड़ है।'' उसने आराम से कहा। नायुडु के सामने अप भीरुता और बुद्धूपने को दार्शनिकता का पुट देने पत्नी के निकट कुछ तो इज़्ज़त बची रहेगी, ऐ उसे आशा थी।

''तुझे बाहर की बातों का पता नहीं है, चुप रह!' उसने कहा। दहलीज़ पार न जाने वाली औरत बा की ख़तरनाक राजनीति को कैसे समझेगी? ऐ चेतावनी और तिरस्कार भाव उसके स्वर में गूँज थे। स्त्री होने से दुर्गम्मा को सचमुच ही गाँव राजनीति को समझने का मौक़ा नहीं है। अब वेंकटे पुरुष तो है, पर उसके ऊपर की जाति के लोगों जितनी राजनीति समझ में आती है, उतनी उसे समझ में आए, इसकी संभावना नहीं है—यह बा

वह नहीं जानता।

बहुत कहने पर भी दुर्गम्मा ने नायुडु को उलटा-सीधा सुनाना बंद नहीं किया तो अंत में वेंकटेशु ने डपट दिया, ''औरत जात है, औरत जात की तरह पड़ी रह।''

''मरद मरद की तरह रहे तो औरत भी औरत की तरह पड़ी रहेगी।'' दुर्गम्मा भभक पड़ी।

''इसका क्या मतलब? यही न कि तू बाँका मरद है और मैं कोई जनखा नामर्द हूँ?'' कहकर वेंकटेशु ने पत्नी के गाल पर भरपूर थप्पड़ जड़ दिया। दुर्गम्मा गिरती-गिरती सँभली और ''तुम्हारी सारी मर्दानगी मेरे ही ऊपर!'' कहा, तो वेंकटेशु ने हाथ में औगी लेकर दो-चार लगा दिए और कहा, ''तू भी कोई औरत है? थू!'' और खखारकर थूकता हुआ वहाँ से बाहर चला गया।

अगले दिन दुर्गम्मा रोज़ की तरह आँगनबाड़ी में गई। जब तक सफ़ाई-वफ़ाई कर घर-घर से बच्चों को लाकर बिठाया, तब तक महारानी की तरह हाथ झुलाती हुई कृष्णप्पा की बीवी वहाँ आ गई। कलसा कहाँ है, बरतन कहाँ हैं, इस तरह पूछ-पूछकर जो सामान उसे चाहिए, वह सब उसने अपने हाथ में ले लिया। फिर कलसे से पानी लाकर खाना बनाना शुरू किया।

उसने चूल्हा सुलगाया। अदहन चढ़ाया। बघार डाला। मकई का आटा उसमें डाला। फिर उसे मिलाकर ढक्कन रख दिया।

यह सब देखते हुए दुर्गम्मा भी लकड़ी के चूल्हे की तरह धू-धू करके जलती रही। देग़ के अदहन की तरह सल-सल करके खौलती रही। पकते उप्पमा की तरह भक्-भक् करके पकती रही। फिर कुरुवा कृष्णप्पा की बीवी बच्चों को उप्पमा देने लगी तो वह अपने हाथों की तरफ़ ध्यान से देखती रह गई।

अगले दिन कुरुवा कृष्णप्पा की बीवी ने एक अड़ंगा और लगाया। ''रसोई बनाना ही मेरा काम है। जलाने के लिए लकड़ी लाने का काम भी तुम्हारा!''

दुर्गम्मा ने बिना कुछ जवाब दिए लकड़ी चुनकर लाने की ज़िम्मेदारी भी अपने ऊपर ले ली। आँगनबाड़ी की टीचर की सहानुभूति तो दुर्गम्मा के प्रति थी। लेकिन सरपंच की बात का विरोध करने में असमर्थ होने से, जो हो रहा था उसे तटस्थ दर्शक भाँति वह देखती रही।

पहली तारीख़ आकर चली गई। अगले दिन आँगनबाड़ी की टीचर आया का वेतन ले आई।

''मेरी तनखा...'' कुरुवा कृष्णप्पा की बीवी ने कहा।

''मेरी तनखा...'' दुर्गम्मा बोली।

आँगनबाड़ी की टीचर ने एक बार दोनों के चेहरों में देखा।

कृष्णप्पा की बीवी के चेहरे में हड़क और उतावलापन था।

दुर्गम्मा अपने अंदर जैसे किसी उबाल को बलात् रोक रही थी।

''तुम्हारी तनख़्वाह, तुम्हारी मर्ज़ी'' कहकर आँगनबाड़ी की टीचर ने दुर्गम्मा के हाथ में पूरे डेढ़ सौ रुपये रख दिए। नौकरी पाने के लिए हज़ार रुपए का जो उधार दुर्गम्मा ने किया था, वह उसके मन में एक बड़े प्रश्न की तरह उठ खड़ा हुआ।

कृष्णप्पा की बीवी ने बेताबी से... 'मेरी तनखा... लाओ मेरी तनखा...,'' कहा।

''दुर्गम्मा से ले लो।''

''मेरी तनखा...मेरी तनखा...''

''दुर्गम्मा से माँगो।''

''थू! उस चमारिन से माँगूँगी मैं?'' कुरुवा कृष्णप्पा की बीवी ने तमककर कहा।

दुर्गम्मा ने झट से सिर उठाया, ''इस चमारिन के नीचे काम करने वाली ही है तू!''

''जा री!''

''तू मेरे सामने हाथ पसारकर माँग री!''

''जा जा री कमीनी!''

''कल तूने नौकरी बाँट ली थी। आज तनखा बाँट रही है। कल जाने कौन-सी और चीज़ बाँटने को कहेगी, तू सौत है मेरी!''

''क्या बक रही है री तू? फिर से कह तो!''

कहती हुई कृष्णप्पा की बीवी चढ़ आई।

''कहूँगी री! कहूँगी। एक बार नहीं तीन बार कहूँगी। तू मेरी सौत है! तू मेरी सौत है!! तू मेरी सौत है!!!''

दोनों में झोंटा-झोंटी हुई। धम-धम करके दोनों ने एक-दूसरे को मुक्के मारे। गालियाँ दीं। बददुआएँ दीं...लड़ाई कुछ-कुछ शांत हो रही थी कि कुरुवा कृष्णप्पा मैदान में उतर आया। लाचारी की हालत में वेंकटेशु ने भी अपनी गरदन फँसाई। औरतों का झगड़ा मर्दों की लड़ाई में तब्दील हो गया।

उधर से कुरुवा कृष्णप्पा के छोटे-बड़े भाई लाठियाँ हाथ में लेकर कूद पड़े।

इधर से वेंकटेशु के साले छाती तान खड़े गए।

अब किसी की भी खोपड़ी फट सकती है।

किसी के भी घुटने की खुरियाँ फूट सकती

किसी भी क्षण यह सब नायुडु के कान में सकता है।

उसके बाद और भी बहुत कुछ हो सकता

सहसा निकल आई देवी दुर्गा की रोष-बड़ी-बड़ी आँखों की तरह दुर्गम्मा की आँखें भय दिखाई दे रही हैं।

चाहे देर से ही सही, अब गाँव ''अशांत'' के लिए सन्नद्ध है।

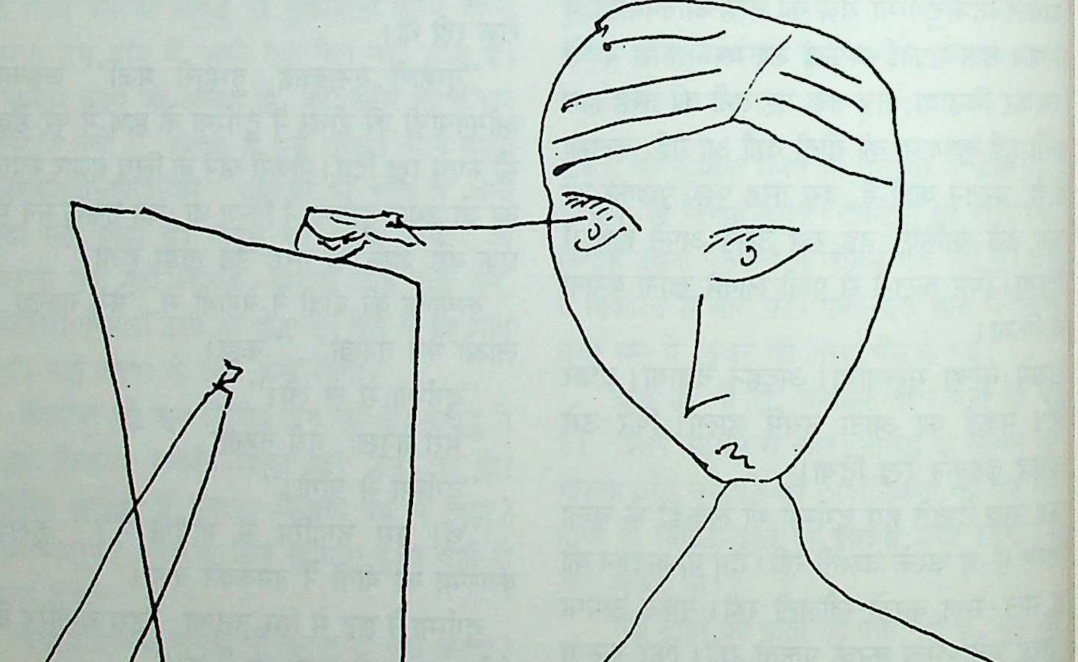

पारमिता शतपथी

पिंजरा

“कौन प्रिया, तुम्हीं बोल रही हो ना? इतने दिनों से आई हुई हो—एक फ़ोन तक नहीं किया, घर भी नहीं आई।”

“क्या कहा, फ़ोन किया था? मुझे तो नहीं बताया किसी ने। अरे नहीं, मैं कहाँ जाती हूँ घर से? चल फिर बात करूँगी तुझसे। हाँ सुन, अगर फिर फ़ोन करना तो सखी कहकर मत बुलाना, प्रिया कहना, समझ गई? इनकी सारी बहनें कॉन्वेंट की जो पढ़ी हुई हैं, यह सखी-वखी क्या है, ओल्ड फैशंड कहकर खिल्ली उड़ाएँगी। अच्छा सुन, घर आना तो यह मत कहना कि मैंने बुलाया था—कहना, बस यूँ ही चली आई मिलने।”

“मेरे जाने की बात छोड़। सुन, तू क्यों नहीं आ जाती सोमवार की शाम। उस दिन घर पर लोग भी कम होंगे।”

“नहीं-नहीं, शनि या रवि नहीं। इनकी छुट्टी रहती है। प्लीज़ तू ही आ जा सोमवार को।”

“चल ठीक है। काफ़ी देर हो गई। आना ज़रूर। ढेर सारी बातें करनी हैं तुझसे।”

जब प्रिया ने रिसीवर रखा, काफ़ी पसीना निकल आया था उसके चेहरे पर। सजग होते हुए उसने साड़ी के पल्लू से पसीना पोंछा। बरामदे से होकर दाहिनी ओर वाले कमरे में जाते हुए सामने दीवार पर बेसिन के ऊपर लगे आईने में चेहरा देखने के लिए एक सेकेंड रुकी वह। अगले ही पल सतर्क होते हुए चारों ओर देखा—उसे आईना देखते कहीं कोई देख तो नहीं रहा! कमरे में घुसते ही उसकी नज़र टेबल के कॉर्डलेस रिसीवर की ओर चली गई। अरे, रिसीवर तो नहीं है वहाँ! घबरा गई वह। ज़रूर कोई सुन रहा था उनकी बातें। कौन होगा? क्या रूबी होगी? ज़रूर अपनी ब्लू नाईटी पहने होठों पर तिरस्कार भरी मुस्कान बिखेरे यह कहते हुए निकल आएगी वह...

“और क्या है, सखी...”

गुड़िया सो रही है आराम से। बड़ी मसहरी लगा दी है प्रिया ने उसके चारों ओर। मसहरी उचकाकर अंदर घुस गई वह। गुड़िया ने पूरी चादर उघाड़ दी है—फिर से उढ़ाना होगा। बैठ गई प्रिया। समीर के बुक-शेल्फ से दो किताबें निकली हुई हैं, टेबल पर रखी हैं।

उठाकर शेल्फ में सजाना होगा। अरे, रिसीवर तो यहाँ रखा है किताबों के ऊपर। शायद स्नान घर से निकलकर समीर ने रख दिया होगा। राहतभरी साँस निकल आई बाहर प्रिया की छाती को थर्राती।

उसका मन ख़ुश था। इतने वर्षों बाद उसकी सहेली आई है। लगभग

1965 में जन्मी पारमिता शतपथी के कविता-संग्रह *विविध-अस्वप्न*, *भाषाक्षरा* प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : 4 आर/II, यूनिट-9 भुवनेश्वर 751022 (ओड़िशा)

राजेंद्रप्रसाद मिश्र (अनु.): 1955 में जन्मे मिश्र जी ने 30 पुस्तकों का ओड़िया से हिंदी अनुवाद किया है। साहित्य अकादेमी का अनुवाद पुरस्कार उन्हें मिल चुका है। संपर्क : एन.टी.पी.सी., सेक्टर-24, नोएडा-201301

कहती हुई कृष्णप्पा की बीवी चढ़ आई।

''कहूँगी री! कहूँगी। एक बार नहीं तीन बार कहूँगी। तू मेरी सौत है! तू मेरी सौत है!! तू मेरी सौत है!!!''

दोनों में झोंटा-झोंटी हुई। धम-धम करके दोनों ने एक-दूसरे को मुक्के मारे। गालियाँ दीं। बददुआएँ दीं...लड़ाई कुछ-कुछ शांत हो रही थी कि कुरुवा कृष्णप्पा मैदान में उतर आया। लाचारी की हालत में वेंकटेशु ने भी अपनी गरदन फँसाई। औरतों का झगड़ा मर्दों की लड़ाई में तब्दील हो गया।

उधर से कुरुवा कृष्णप्पा के छोटे-बड़े भाई लाठियाँ हाथ में लेकर कूद पड़े।

इधर से वेंकटेशु के साले छाती तान खड़े गए।

अब किसी की भी खोपड़ी फट सकती है।

किसी के भी घुटने की खुरियाँ फूट सकती

किसी भी क्षण यह सब नायुडु के कान में सकता है।

उसके बाद और भी बहुत कुछ हो सकता

सहसा निकल आई देवी दुर्गा की रोष- बड़ी-बड़ी आँखों की तरह दुर्गम्मा की आँखें भय दिखाई दे रही हैं।

चाहे देर से ही सही, अब गाँव ''अशांत'' के लिए सन्नद्ध है।

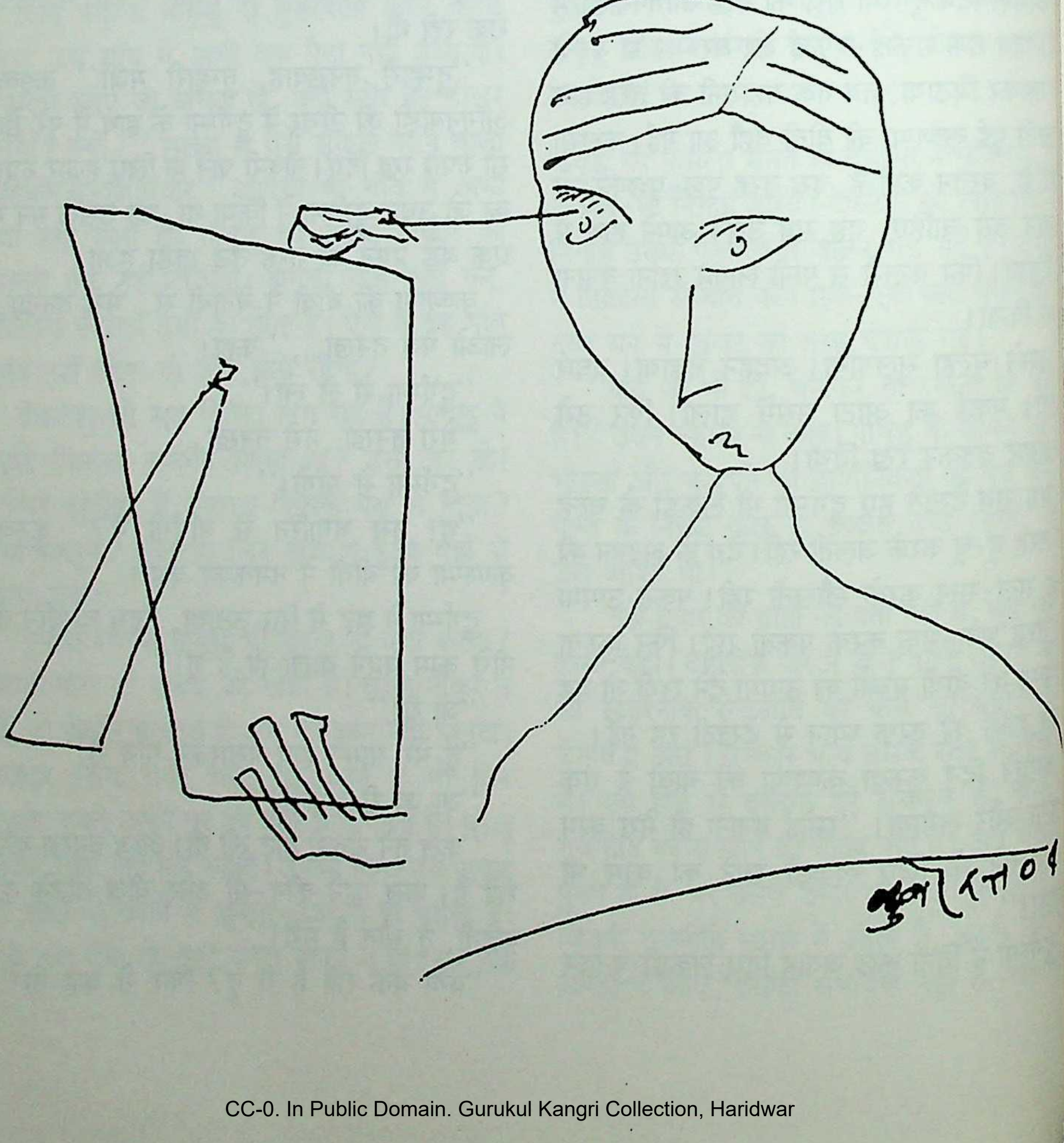

पारमिता शतपथी

पिंजरा

''कौन प्रिया, तुम्हीं बोल रही हो ना? इतने दिनों से आई हुई हो—एक फ़ोन तक नहीं किया, घर भी नहीं आई।''

''क्या कहा, फ़ोन किया था? मुझे तो नहीं बताया किसी ने। अरे नहीं, मैं कहाँ जाती हूँ घर से? चल फिर बात करूँगी तुझसे। हाँ सुन, अगर फिर फ़ोन करना तो सखी कहकर मत बुलाना, प्रिया कहना, समझ गई? इनकी सारी बहनें कॉन्वेंट की जो पढ़ी हुई हैं, यह सखी-वखी क्या है, ओल्ड फैशंड कहकर खिल्ली उड़ाएँगी। अच्छा सुन, घर आना तो यह मत कहना कि मैंने बुलाया था—कहना, बस यूँ ही चली आई मिलने।''

''मेरे जाने की बात छोड़। सुन, तू क्यों नहीं आ जाती सोमवार की शाम। उस दिन घर पर लोग भी कम होंगे।''

''नहीं-नहीं, शनि या रवि नहीं। इनकी छुट्टी रहती है! प्लीज़ तू ही आ जा सोमवार को।''

''चल ठीक है। काफ़ी देर हो गई। आना ज़रूर। ढेर सारी बातें करनी हैं तुझसे।''

जब प्रिया ने रिसीवर रखा, काफ़ी पसीना निकल आया था उसके चेहरे पर। सजग होते हुए उसने साड़ी के पल्लू से पसीना पोंछा। बरामदे से होकर दाहिनी ओर वाले कमरे में जाते हुए सामने दीवार पर बेसिन के ऊपर लगे आईने में चेहरा देखने के लिए एक सेकेंड रुकी वह। अगले ही पल सतर्क होते हुए चारों ओर देखा—उसे आईना देखते कहीं कोई देख तो नहीं रहा! कमरे में घुसते ही उसकी नज़र टेबल के कॉर्डलेस रिसीवर की ओर चली गई। अरे, रिसीवर तो नहीं है वहाँ! घबरा गई वह। ज़रूर कोई सुन रहा था उनकी बातें। कौन होगा? क्या रूबी होगी? ज़रूर अपनी ब्लू नाईटी पहने होठों पर तिरस्कार भरी मुस्कान बिखेरे यह कहते हुए निकल आएगी वह...

''और क्या है, सखी...''

गुड़िया सो रही है आराम से। बड़ी मसहरी लगा दी है प्रिया ने उसके चारों ओर। मसहरी उचकाकर अंदर घुस गई वह। गुड़िया ने पूरी चादर उघाड़ दी है—फिर से उढ़ाना होगा। बैठ गई प्रिया। समीर के बुक-शेल्फ से दो किताबें निकली हुई हैं, टेबल पर रखी हैं।

उठाकर शेल्फ में सजाना होगा। अरे, रिसीवर तो यहाँ रखा है किताबों के ऊपर। शायद स्नान घर से निकलकर समीर ने रख दिया होगा। राहतभरी साँस निकल आई बाहर प्रिया की छाती को थर्राती।

उसका मन ख़ुश था। इतने वर्षों बाद उसकी सहेली आई है। लगभग

1965 में जन्मी पारमिता शतपथी के कविता-संग्रह *विविध-अस्वप्न*, *भाषाक्षरा* प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : 4 आर/II, यूनिट-9 भुवनेश्वर 751022 (ओड़िशा)

राजेंद्रप्रसाद मिश्र (अनु.): 1955 में जन्मे मिश्र जी ने 30 पुस्तकों का ओड़िया से हिंदी अनुवाद किया है। साहित्य अकादेमी का अनुवाद पुरस्कार उन्हें मिल चुका है। संपर्क : एन.टी.पी.सी., सेक्टर-24, नोएडा-201301

चार वर्ष। एम.ए.का रिजल्ट निकलने के बाद अमेरिका गई थी, अब लौटी है। पीएच.डी.पूरी हो गई उसकी। वहीं किसी यूनिवर्सिटी में असिस्टेंट प्रोफ़ेसर बन गई है। अपने एक सहकर्मी को चुना है शादी के लिए। हिमाचल प्रदेश का है—उसके माता-पिता बहुत सालों से अमेरिका में हैं—डॉक्टर दंपत्ति हैं वे लोग। जब घर पर कोई नहीं होता, तब प्रिया मौसी को फ़ोन करके अपनी सहेली का हालचाल पूछ लेती है। चिट्ठी-पत्री का आदान-प्रदान बहुत दिनों से रुका हुआ है। उसकी शादी के बाद दो-तीन बार पत्र आए थे सखी के—प्रिया जवाब नहीं दे पायी थी। लेकिन सखी के अमेरिका चले जाने के एक महीने के भीतर ही शादी तय हो गई थी उसकी। प्रिया का मन बहुत ख़राब हुआ। काश, एक महीने बाद चली गई होती सखी! सखी ने भी बड़े अफसोस के साथ चिट्ठी लिखी थी। उसी सखी ने कल फ़ोन किया था। घर पर सभी लोग थे। थोड़ी-बहुत हाँ-ना में बातें करके फ़ोन रख दिया था प्रिया ने। आज सभी के अपने-अपने काम पर चले जाने के बाद उससे बात करनी चाही थी उसने। लेकिन रूबी अभी तक कॉलेज नहीं गई थी। आख़िर कितनी देर बग़ैर फ़ोन किए रह सकती थी वह! गनीमत है किसी ने सुना नहीं—राहतभरी मुस्कान उभर आई प्रिया के चेहरे पर।

आज कोई अच्छी सब्ज़ी बनाने को मन कर रहा था उसका। खाना पकाना उसे अच्छा लगता है। एक लड़का नौकर है, मदद के लिए—सब्ज़ियाँ वग़ैरह ख़रीद लाता है। मसाला पीसने एक तेलुगु महिला आती है, बर्तन माँजती है, झाड़ू-पोंछा करती है और कपड़े धो जाती है। उसका काम है घर के सभी लोगों के लिए मनपसंद खाना बनाना। उसे इस काम से कोई तकलीफ़ नहीं। ख़ुशी मन से रसोई में चली गई प्रिया।

इतना अच्छा परिवार देखकर उसके माता-पिता बहुत ख़ुश हुए थे। ससुर सुपरिन्टेंडिंग इंजीनियर थे। यही इकलौता बेटा—बड़ा, दो छोटी बहनें, और सास। अधिक झंझट नहीं है। ससुर जी की नौकरी और दो साल है। बड़ी ननद की शादी कब की हो चुकी है। छोटी की शायद इसी साल के अंत तक होगी। घर ही में लोग चर्चा कर रहे थे— थोड़ी-बहुत भनक पड़ी थी उसके कान में। ऐसे परिवार में उनकी बेटी जाएगी बहू बनकर, यह सोचकर बहुत ख़ुश हुए थे उसके माँ-बाप। एम.ए. होम साइंस की परीक्षा ख़त्म हुई ही थी कि शादी का रिश्ता आ गया। रिजल्ट निकलते ही शादी हो गई। सास, ससुर कई मर्तबा आए थे और ख़ूबसूरत लड़की को बहू बनाकर ले जाने के लिए अड़ गए थे—उन्हें और कुछ नहीं चाहिए था। अपने सुंदर चेहरे के कारण थोड़ा गर्व भी भर गया था प्रिया में। ये तो चार-पाँच बार आए होंगे। बिलकुल राज़ी नहीं हुई थी प्रिया उनके सामने निकलने के लिए, लेकिन माँ जबर्दस्ती भेज दिया करती थी। कुछ न कुछ उपहार भी उसके लिए लाया करते थे ये। कहा करते थे—प्रिया, मुझे केवल तुम्हारी ज़रूरत है। सिर्फ़ इसी एक साड़ी में तुम हमारे घर आना। बहुत अच्छी लगी थी उसे यह बात। यह महत्त्व उसका प्राप्य है, यह बात उसे विह्वल और चकित कर देती। उसके अध्यापक पिता ने तीनों भाई-बहनों की परवरिश बहुत अच्छी तरह की थी। यह सच है कि विलास-सामग्री से उसका परिचय नहीं हुआ था। लेकिन कहीं अधिक दहेज़ न देना पड़े इस बात का खटका लगा रहता था उसके पिता को। सास, ससुर की बातें साहस और आश्वासन भरती थीं उनमें। सास कहा करती थीं—केवल कुछ जोड़ी अच्छे-अच्छे कपड़े ही बिटिया के साथ भेजिएगा समधी जी, रिश्ते-नातेदारों को व्यवहार में देने के लिए। लिस्ट आई थी छोटे-बड़े एक सौ तेरह लोगों के नाम की। उसके पिता हतोत्साहित नहीं हुए थे—बड़े घराने की बात जो है। और कोई चीज़ देना न पड़ने के कारण वे बल्कि दुगुने उत्साह से साड़ी, पैंट, शर्ट के कपड़े, सलवार, कुरते इत्यादि ख़रीदने लगे। उसने भी कई बार पिताजी के स्कूटर में पीछे बैठकर रंग-बिरंगे कपड़ों की मार्केटिंग की थी। ख़रीदते समय थोड़ा झिझकती भी रही प्रिया। इतना धनी परिवार है—यदि कपड़े वग़ैरह पसंद न हुए? वह तो बहुत मामूली कपड़े पहनती है—बाज़ार में आने वाले तरह-तरह के

कपड़ों के बारे में उसे जानकारी ही नहीं होती। अंत में जब एक बड़े ट्रंक में सारा कुछ पैक हुआ, प्रिया ने आँखें मूँदकर एक मिनट तक देवी मैया को याद किया—देवी माँ, यह सारा कुछ वहाँ पसंद आ जाए। आँखें खोलने पर उसने देखा कि घर के कोने में रखी भगवान जी की खटोली के सामने झुककर माँ प्रणाम कर रही है। क्या माँ भी यही गुहार कर रही होंगी जगन्नाथ जी के आगे? अचानक एक सिहरन-सी फैल गई थी प्रिया के भीतर।

ससुराल में पहली मंज़िल पर एक के बाद एक कमरा पार करते हुए उसे ले जाया गया एक अपेक्षाकृत बड़े कमरे में। उसके पति भी पीछे-पीछे उसी कमरे में घुसे। साथ थीं उसकी दोनों ननदें और सास।

''क्या ये बक्से लाई हो अपने साथ? क्या ऐसे बक्से इस्तेमाल करेंगी मेरी बहनें? अच्छी चीज़ें नहीं मिलीं?'' खीझते हुए कहा था उसके पति ने। विवाह के बाद उसके लिए यह उनका प्रथम संभाषण था। कुछ अवाक् होते हुए ज़रा-सा सिर उठाया था प्रिया ने। सिर थोड़ा घुमाकर दोनों बक्सों को देखा। कोई कमी दिखाई न देने के कारण उसे और भी ओछा लगा। शायद ठीक नहीं है, संकोच से आँखें झुका लीं प्रिया ने।

''मेरी माँ का बक्सा कहाँ है? उनके लिए बक्सा क्यों नहीं लाई? साथ भेजा जाता है—क्या इतना भी नहीं मालूम तुम्हारे घर वालों को? माँ, मैंने कहा था ना, यही सब आभिजात्य न होने की बातें?''

पुनः खीझभरी आवाज़ सुनाई दी पति की। इस बार फिर चौंकी प्रिया। पर सिर नहीं उठा सकी। उसका नीचे की ओर झुका सिर शर्म से और भी नीचा हो गया। इतने में अंदर घुस आई थीं उसकी ससुराल और अब से उसके अपने घर की आत्मीय महिलाएँ—बहू का मुँह देखने। हर कोई कुछ न कुछ कहती; कुछ-कुछ उपहार भी देती जा रही थीं। उसकी बड़ी ननद सँभाल-सँभालकर बैग में रखती जा रही थीं—उसे कुछ ख़याल नहीं। न जाने क्यों काफ़ी पहले घटित कोई घटना बार-बार याद आ रही थी उसे।

अरे, ये सब बातें आज क्यों याद कर रही है वह! ये तो बहुत पहले की बातें हैं। घर बसाते समय तो ऐसी अनेक छोटी-बड़ी बातें भूलनी होती हैं। आज तो उसके लिए ख़ुशी का दिन है। थोड़ा मुस्कुराई प्रिया और रसोई में चली गई।

बचपन से ही वह शाकाहारी है। लेकिन ससुराल में सोमवार छोड़कर हर दिन मछली या माँस के बिना काम नहीं चलता। घर के सभी लोग उससे एक-एक मर्तबा कह चुके थे खाने के लिए। सास ने कहा था—जिस घर में जाना पड़ता है, वहीं के आचार-व्यवहार अपनाकर चलना होता है, यह सब क्या है? पति ने तो एक तरह से बाध्य ही कर दिया था। वह जैसे-तैसे थोड़ा-बहुत खा भी लिया करती थी, लेकिन अकसर उसे उल्टी हो जाया करती थी। उसके बाद गुड़िया के पेट में आ जाने के बाद से किसी ने बाध्य नहीं किया था। पर आज मछली की तरकारी ज़रूर अच्छी बनी होगी—बड़े जतन से बनाई है उसने। समीर का लंच ख़ुशी से करना अच्छा लगता था प्रिया को। ससुर के लिए हॉट केस में खाना जा चुका था। सास किटी पार्टी में गई है, देर से लौटेंगी। रूबी तो चार बजे यूनिवर्सिटी से लौटकर खाना खाती है। प्रिया को इंतज़ार था कि कब समीर खाकर उठे और रेस्ट लेने बेडरूम में घुसे। तभी वह बताएगी वह बात।

''एक ख़ुशख़बरी देनी है तुम्हें।'' प्रिया पलंग से सटकर खड़ी थी।

''कैसी ख़ुशख़बरी? और सुनो, जब परसों अभिजीत और उसकी पत्नी आए थे, कैसी वेश-भूषा बना रखी थी तुमने अपनी?''

''क्यों? मैंने तो नई सिल्क साड़ी पहन रखी थी। गंदी-गंदी पहनने के लिए माँ जी ने मना किया है। शाम को सिल्क साड़ी पहनने को कहा है—न जाने कब कौन चला आए घर में...''

''साड़ी कौन देखता है?'' समीर का बेसब्रीभरा स्वर प्रिया की बात काटते हुए सुनाई दिया, ''और ब्लाउज? ब्लाउज के बारे में सोचा है? दाहिने कंधे से ब्लाउज खिसककर ब्रा का स्ट्रैप दिख रहा था। क्या उस ओर नज़र थी महारानी की?''

शर्म से छुईमुई हो गई प्रिया—''दिख रहा था क्या, मुझे तो पता ही नहीं चला!''

''यही तो मैं कह रहा हूँ। पता कैसे नहीं चला? वह लुच्चा अभिजीत बार-बार उसी ओर खा जाने जैसी निगाह से देख रहा था, मानो स्साले ने ब्रेसिअर नहीं देखा कभी! मैंने कई बार तुम्हारा ध्यान खींचा। सभी ओर नज़र हो तब ना। बस, बुद्धू-सी बातें करने में मस्त थी।'' कुछ रुका समीर—''अभिजीत की बीवी मीता को नहीं देखा, कैसी टीप-टॉप थी, कहीं कोई नुक्श नहीं था।''

संकोच और अपमान से बोझिल हो गई प्रिया। समीर मुस्कुराते हुए मीता से उसके फिगर को लेकर मज़ाक़ करते-करते लोट-पोट हो गया। पर प्रिया को ख़ामोश देख समीर ने कहा, ''देख क्या रही हो? जाओ, जाकर कोल्ड ड्रिंक और थोड़ा-सा स्नैक्स लाने को कह दो नटवर को।'' चुपचाप वहाँ से चली आई थी प्रिया। गला भर आया था। पर कहाँ, उस बारे में तो वह समीर से पूछ ही नहीं पाई? क्यों नहीं पूछ पाती वह? जब समीर इस तरह कोई आक्षेप लगाता है, तब क्यों मुँह बंद हो जाता है उसका? छोड़ो, कोई ज़रूरत नहीं इनसे सखी के आने की बात बताने की। गुड़िया को गोद में लेकर सुलाने लगी प्रिया।

रोज़ की तरह साँझ झुक आई। समीर ऑफ़िस से लौटकर ताश खेलने चला गया क्लब। उसके पीछे-पीछे सास और ससुर गाड़ी लेकर निकल गए, कहीं डिनर का इनविटेशन है। न जाने क्यों उसे अकेला समय बहुत पसंद है। अकेले में वह गुड़िया के साथ खेला करती है और उसे बैट, रैट, कैट आदि सिखाती है। कभी-कभार कोई किताब लेकर बैठ जाती है। आज उसे समय है। वह सखी के साथ दुबारा फ़ोन पर कुछ और बातें करेगी! बेडरूम की ओर जाते-जाते ठिठक कर खड़ी हो गई प्रिया।

''नहीं, आज नहीं, कल सुविधा होगी। हाँ, फ़र्स्ट शो। तुम मदन साहू चौराहे पर गाड़ी खड़ी रखना। मैं रिक्शे से वहीं उतरूँगी। सुनो, थोड़ी जल्दी आना। वहाँ अकेले खड़े रहना बहुत बोरिंग होता है...।''

प्रिया भीतर चली गई। रूबी ने खट्ट से रिसी रख दिया। चेहरा पसीना-पसीना हो गया था उसक

''क्या बात है रूबी? किसका फ़ोन था?''

''ऐसे ही भाभी, कोई ख़ास नहीं।''

''सब जानती हूँ मैं, ठहरो, आज तुम्हारे भैया बताती हूँ।''

''क्या बताओगी भैया को, जाओ बता दो। सोच हो मेरे पास कुछ नहीं है तुम्हारे बारे में बताने क तुम बताओ तो सही, फिर देखो मैं क्या करती गुमसुम दिखने वाले अकसर डुबकी लगाकर पानी पीते हैं, समझीं?''

प्रिया चौंकी। क्या जानती है रूबी उसके बारे क्या कुछ कहेगी वह अपने भैया को? कौन-कौन भूल उसने कब-कब की है? उसी तरह खड़े-ख याद करने की कोशिश की उसने। उस दिन चंद्र को पुरानी साड़ी दी थी उसने, कोई देख नहीं सोचकर। रूबी ने शायद देख लिया हो। माँ एकाध बार फ़ोन करते समय वह रूबी के हा पकड़ी गई है। समीर से कभी माँगे हुए काफ़ी दि से सहेजकर रखे रुपयों में से पाँच सौ रुपए छ भाई को पिछले साल पूजा में पैंट-शर्ट सिलवाने लिए देते वक़्त रूबी उस कमरे में घुस आई अनजाने-सी कुछ माँगकर चली गई। इसी तरह छोटी-बड़ी बातें एक-एक करके याद आई प्रि को।

लेकिन देर रात नशे में धुत्त घर लौटे समीर कुछ कहने का उत्साह नहीं बचा था प्रिया में।

शायद रूबी जानती थी कि उसकी शांत-शि भाभी इन सब बातों की चर्चा करने का दुःसाहस न करेंगी।

रविवार की सुबह सभी देर से उठते हैं। आल आनंद और कर्महीन सुबह होती है वह सबों लिए। लेकिन प्रिया अपने सुबह जल्दी उठने में क व्यतिक्रम नहीं करती। छुट्टी होने के कारण अक अलग-अलग तरह का नाश्ता बनाने को मन कर है उसका। दो-तीन तरह का बनाती है—सबकी पस की अलग-अलग चीज़ें। न जाने क्यों आज कु

बनाने को जी नहीं कर रहा था उसका। प्रेशर-कूकर में मटर की रसेदार सब्ज़ी चढ़ाकर उसने जटिया को भेज दिया पासवाली हलवाई की दुकान से गरम-गरम बड़े, समोसे और जलेबी लाने। घर ख़र्च के पैसे और हिसाब सासू जी ही रखती हैं, इसलिए उधार लाने को कह दिया। सबके जगने तक उसने डायनिंग टेबल सजा दिया था। सबसे पहले कैसरोल खोलकर जलेबी देखी सासू जी ने। उनके चेहरे की रेखाएँ कुछ तन गईं। दूसरे बड़े कैसरोल में बड़े और समोसे देखकर वे खीझ उठीं, ''यह सब कहाँ से आया? ख़ुद तो बनाया नहीं होगा?''

प्रिया ने कोई जवाब नहीं दिया।

''दुकान से मँगवाया है ना? जानती नहीं कितने फ़ालतू तेल में बनाते हैं ये सब? इतना ख़र्च करके फिर वह कोलेस्ट्रॉल 'स्वीकार' क्यों मँगवाया जाता है घर में? खाने का मन था तो थोड़ी-सी उरद और चने की दाल भिगो देती रात को, सुबह मिक्सी में पीसकर छाँक लेती। कौन खाएगा ये बाज़ार की चीज़ें?'' कैसरोल खोलते ही बंद कर दिया उन्होंने।

''जटिया, हटा यहाँ से ये सब—सुबह-सुबह दुनिया भर की,... जितना खाना हो खा लेना, चंद्रमा को दे देना, बाक़ी बचे तो डाल देना डस्टबिन में।'' गर्दन घुमाकर देखा प्रिया की ओर, ''हाँ, तुम्हें भी जो खाना हो रख लो इसमें से। हम लोगों के लिए थोड़ा उपमा बना दो जल्दी। भूख लगी है सबको।''

रविवार और लोगों को इतना आनंद क्यों देता है, वह समझ नहीं पाती। परंतु उसके लिए यह दिन अन्य दिनों से अधिक लंबा होता है। उसके अन्य दिनों के शांत अखंड समय की शांति इस दिन बारंबार टूटती है। उसे घबराहट होती है, त्रस्त भी हो जाती है। किसी तरह रसोई बनाकर वह पुतली के पास चली जाए, इसी मौक़े की तलाश में रहती है। बेडरूम में पुतली को लेकर दो-तीन घंटे रह जाती है वह, पुतली के साथ खेलने और उसे खिलाने में व्यस्त रहती है। कभी-कभार पूरे परिवार के साथ वह रिश्ते-नातेदारों के घर या शादी-विवाह में जाती है। अधिकतर ससुर के रिश्तेदारों को डिनर के लिए बुलाया गया होता है। उसमें भी व्यस्त रहकर समय कट जाता है प्रिया का।

सोमवार। दिन के 10 बजे हैं। सभी जा चुके हैं अपने-अपने काम पर। पुतली भी एक बोतल दूध पीकर सो रही है। बेडरूम की खिड़की खोलकर परदे हटा दिए प्रिया ने। अकेले में वह यहीं बैठा करती है, बेडरूम की खिड़की से वह अपनी दुनिया देखा करती है—पच्चीस मीटर दूर के लोहे के गेट के भीतर का लॉन, तरह-तरह के फूलों से भरा बग़ीचा। दिन-प्रतिदिन एक-सा दृश्य देखकर अक्सर वह याद रखती है, किस कोने में बोगनवीलिया है, कहाँ ग्लॉडिवली, और कहाँ कॉसमॉस इत्यादि। किन पौधों में कोंपलें निकलीं, किस में कलियाँ, किस में फूल बस खिलने ही वाले हैं। बग़ीचे में जाने की ज़रूरत नहीं पड़ती उसे। बग़ीचे के चारों ओर आठ फ़ुट की दीवार और बदरंग लोहे के गेट के उस पार देखने की भी ज़रूरत नहीं पड़ती। इस बेडरूम की खिड़की से दिखने वाले उनके मकान की चौहद्दी से घिरे उस बग़ीचे का दृश्य ही उसके लिए काफ़ी है। हालाँकि उस लोहे के गेट में आड़ी-तिरछी कई छड़ें लगी हैं। उन छड़ों में कहाँ-कहाँ रंग छूटा हुआ है, यह भी आँखें बंद करके बता सकती है प्रिया।

आज बग़ीचे की फूल-पत्तियों में उसका मन रम नहीं रहा है। बीच-बीच में उसकी और सखी की यादों के टुकड़े बह-बहकर आ जाते हैं। स्कूल में पढ़ते समय, कॉलेज में इकट्ठे बिताए दिन, एक-दूसरे पर भरोसा करके कही गई यौवन के प्रारंभ की ऊल-जुलूल हँसी-ठट्ठा भरी अनेक बातें याद आ रही हैं। आज पूरे दिन एक हल्की-सी मुस्कान चिपकी हुई है प्रिया के होठों पर।

मानो कॉलिंग बेल का ही इंतज़ार था प्रिया को!

''माई डार्लिंग, ह्वाट ए सरप्राइज़! तू एक बच्ची की माँ भी बन गई है।'' उससे कुछ लंबी सखी ने ज़ोर से भींच लिया उसे और थोड़ा उठा भी लिया—पैर शायद दो उँगली ऊपर उठ गया था प्रिया का।

''रुक, रुक, धीरे-धीरे बोल,'' ख़ुद-ब-ख़ुद उसकी उँगली चली गई मुँह के पास।

''ह्वाय, बट् ह्वाय? ओ माय डियर!'' फिर से भींच लिया तनुश्री ने प्रिया को।

''नहीं, ऐसा कुछ नहीं, चल बता।''

''ओह!'' हँसते-हँसते बैठ गई ड्राइंग-रूम के सोफे पर तनुश्री। ''क्या इसी तरह यहाँ बिठाए रखेगी या अंदर चलें ढेर सारी बातें हैं करने को!''

''अंदर चलते पर कमरा काफ़ी बिखरा पड़ा है।'' कुंठित-सी बोली प्रिया।

''ठीक है। चल सुना, अपने हाल-चाल।''

''मेरा हाल-चाल तो देख ही रही है। बल्कि तू ही सुना, बड़ी इच्छा है सुनने की।'' उत्सुकता दिखाते हुए कहा प्रिया ने।

''अपनी क्या सुनाऊँ? पढ़ाई-पढ़ाई-पढ़ाई, सिर्फ़ पढ़ाई। तू तो कितने एक्सपीरीएंस प्राप्त कर चुकी, है ना?'' कुछ शरारतभरी निगाह से देखा प्रिया को तनुश्री ने।

''तू ज़रा भी नहीं बदली, बस थोड़ी गोरी हो गई है। बता ना, अपने हिमाचल प्रदेश वाले छैले की बात। मौसी ने कबकी तारीख़ पक्की की शादी के लिए? और बता ना, अपने बारे में—जानने की बड़ी इच्छा हो रही है।''

''राजकिरण तो—हाँ,'' मुस्कुरा दी तनुश्री। ''बड़ी इच्छा थी उसकी मेरे साथ आने की—मैंने ही मना कर दिया—कहा, इकट्ठे रिसेप्शन में चलना—कौन लादे-लादे घूमेगा उसे यहाँ पीठ पर—इतने दिनों बाद तो मैं आई हूँ। मेरे ही साथ पीएच.डी. करता था। तीन साल से उसे जानती हूँ। लग तो ठीक ही रहा है। पिछले एक साल से तो हम इकट्ठे रहने भी लगे हैं। बड़ा ऑकवर्ड लगता था—न जाने कैसा साबित हो? पर ही हैज़ कम आउट टू बी वंडरफुल।'' मैंने उससे कहा, ''प्रेम-फ्रेम की बातें छोड़ो। यह सब बहुत आसान है। घर के कामों में मुझे हेल्प करो—तब पता चल जाएगा तुम क्या कर सकोगे! रुटीन ऐसा होता है हमारा—आज मैं खाना पकाऊँगी तो डिश वह धोएगा, अगले दिन वह पकाएगा तो डिश मैं धो दूँगी।'' ठहाका मारकर हँसने लगी तनुश्री। ''क्या करूँ—गृहस्थी तो बसानी ही है। फ़ोटो लाई हूँ उसका। घर में छूट गया है। तुझे मेरे घर आना होगा फ़ोटो देखने। वरना मैं नाराज़ हो जाऊँगी, समझ ले।''

''ज़रूर जाती पर...'' किसी आहट की ओ ध्यान देते हुए कहा प्रिया ने। सचमुच बाहर से अंद आए प्रिया के सास-ससुर। सिर पर पल्लू रख हुए खड़ी हो गई प्रिया।

''माँ जी, ये तनुश्री है। अमेरिका से आई है चा साल बाद। मेरी बचपन की सखी है।''

''अरे वाह! अमेरिका से आई है। बहुत सुं जगह है अमेरिका। हमारे तो बहुत से रिलेटिव्स वहाँ। न जाने कब से बुला रहे हैं, पर जाना कहाँ पा रहा है? यूँ ही बिठाए रखी हो या कुछ खाने-पी को भी दिया है?'' उसकी सास ने रुककर पूछ प्रिया से।

''आंटी, प्रिया को मेरे घर भेज दीजिए ना- सिर्फ़ एक दिन के लिए। बहुत दिनों से जी-भरक बातें नहीं की हमने। मैं ख़ुद शनिवार को आकर ले जाऊँगी और रविवार शाम को छोड़ जाऊँगी। अ हाँ, तेरी नन्ही बिटिया कहाँ है?'' एक छोटी-स गुड़िया निकाली हैंड बैग से तनुश्री ने।

''उसकी जहाँ इच्छा होती है वह जाती है बेटी मैंने क्या कभी रोका है उसे? अच्छा, तुम लोग चा पी लो।'' प्रिया की सास भीतर चली गई। सोफे प बैठ जाने के बाद तनुश्री ने कहा, ''वाह, बड़ ब्रॉडमाइंडेड महिला हैं ये तो!''

न जाने क्यों बग़ीचे के सामने वाला लोहे क बदरंग गेट सहसा उभर आया प्रिया की आँखों आगे एक सेकेंड के लिए।

''तू बैठ, मैं चाय लाती हूँ। नमकपारे बनाए मैंने तेरे लिए, तुझे बहुत पसंद हैं ना'' कहते हु अंदर चली गई प्रिया।

चाय पीते हुए हाथ में एक पेपरवेट नचाती ज रही थी तनुश्री। ''तू आ कभी अमेरिका अपने हसबैं को लेकर, मेरे पास रहना।'' तनुश्री के हाथ से फ़र्श पर गिरकर लुढ़क गया वह पेपरवेट आवाज़ करत हुआ...।

मीना, मीना, मीना...

ज़रा गौर से सुना प्रिया ने, मानो आदतन।

मीना, मीना, मीना...

''अरे, ये कौन है? किसकी आवाज़ है यह

कहीं तेरी बेटी की तो नहीं?''

''नहीं, बेटी तो सो रही है। चलकर ख़ुद ही देख ले कौन है।'' तनुश्री को खींचकर अंदर ले गई प्रिया। ड्राइंग-रूम का पर्दा हटाते ही दिख गया बरामदे में ऊपर छत से लोहे की चेन से लटका एक पिंजरा, अंदर चकचक साफ़-सुथरा एक हरे रंग का चिकना तोता।

''ओ, बोलने वाला तोता। ब्यूटिफुल!''

मीना, मीना, मीना... उनको देखकर डैने फड़फड़ाते हुए पिंजरे में इधर-उधर डोलने लगा वह तोता।

''ये मीना कौन है?'' तनुश्री ने प्रिया की ओर देखा।

''और कौन? मैं ही हूँ।''

''तू! प्रिया तू? तू कैसे?''

''और कैसे?'' एक पतली-सी मुस्कान बिखेरी प्रिया ने।

मानो भर-भर मुट्ठी बिखर गईं बचपन की चपल, चंचल, शैतानियाँ न जाने किन-किन कोनों से निकल-निकलकर!

''हाँ, बता ना कैसे?'' तनुश्री और भी उत्सुक हो चली थी।

''क्या तू जानती है? शादी के समय ही मेरा नाम रख दिया गया था मीना। ऐसे में मेरा प्रिया नाम बड़े संकट में डाल देता था सबको—ख़ासकर सास-ससुर अकसर कैसे पुकारते प्रिया कहकर।'' साड़ी कंधे पर लपेटते हुए पल्लू के छोर में एक गाँठ बाँध रही थी प्रिया।

भर-भर मुट्ठी बिखरी हुई न जाने कबसे चीकट पड़ चुकीं उन तमाम पुरानी चीज़ों को मानो फिर से गँठिया रही थी प्रिया, दुबारा उन कोनों में हमेशा के लिए भेज देने।

''बिटिया को देखेगी ना? रुक मैं उसे जगाकर लाती हूँ।'' प्रिया जा रही थी।

''नहीं, नहीं, छोड़ दे, जगा मत।''

''तो फिर चल भीतर, ज़रा देखती तो जा उसे।''

''नहीं, नहीं, फिर कभी। यह डॉल उसे दे देना।'' बाहर जाने को डग बढ़ाया तनुश्री ने अन्यमनस्क-सा।

''चल गेट तक छोड़ दूँ तुझे।'' पीछे सिर घुमाकर अंदर की ओर देखने के बाद तनुश्री की ओर चल पड़ी प्रिया। उस बदरंग लोहे के गेट को खोलकर तनुश्री के जाने का रास्ता छोड़ दिया प्रिया ने।

''बाय तनु। फिर आना। तू फ़ोन मत करना, मैं करूँगी।''

''बाय!'' तनुश्री मुँह फेरकर आगे डग बढ़ा चुकी थी।

लोहे का बदरंग गेट बंद करके उसकी ओर ताक रही थी प्रिया।

उन ओनो-कोनों में भेजी हुई वे तमाम पुरानी चंचल चीज़ें मानो एक पतली पगडंडी से होकर उसकी नज़रों के सामने से हमेशा के लिए ओझल हो रही थीं।

शरद छेत्री

मौत का कुआँ

''सर्कस लगा है नज़दीक ही, जैसे आँगन में ही हो।''

मैंने पूछा, ''क्या ख़ासियत है वहाँ?''

बहुतों से सुना, ''मौत का कुआँ देखने लायक़ है वहाँ।''

मैंने कहा, ''कुआँ चीज़ ही ऐसी होती है हमेशा रहस्य भरी और रोमांचक।''

''देखने चलें!'' दोस्तों ने कहा।

''मैं नहीं जाऊँगा।'' मैंने अहं में कहा।

''क्यों...?'' सवाल से प्रहार करने की कोशिश की गई।

''पसंद नहीं है मुझे वैसा अनावश्यक तमाशा।'' टालने के विचार से मैंने कहा।

साधारणतः दोस्त पानी के ऊपर तैर रहे तेल जैसे होते हैं, तनिक तिरछा होते ही बह जाने वाले। मेरे मन के पानी के भीतर घुलकर स्थायी रूप से ठहरने की फ़ुरसत किसे है? उजड़ चुके होते हैं दिन-प्रतिदिन रंग बदलने वाले विविध दर्शन और सिद्धांत की चोटों से सब लोग। वैसी स्थिति में मुझे ज़ोर देकर किसी ने भी नहीं कहा, ''जाना ही होगा सर्कस, मौत का कुआँ देखने के लिए...''

दोस्तों से अलग होने के बाद मैंने सोचा, ''हमें संपूर्ण बनने का प्रयास तो करना चाहिए, अपने शरीर में अपने विचार को ही केवल खेलने का अवसर देकर। संपूर्ण बनकर अपनी इच्छा से सर्कस देखने पहुँचने में शासकीय तत्त्व की चमक होती है तो औरों के आग्रह में शासित क्यों बनें...?''

''नहीं जाऊँगा'' कहकर विपक्षी भाव तब दिखाने के बावजूद भी मन का ठेलना दूसरी बात है। घर की खिड़कियाँ और दरवाज़े बंद करने के बावजूद भी आवाज़ का आभास होते रहने से व्यक्ति सदा ही अस्थिर हो जाता है। किधर जाना चाहिए, निर्णय लिए बिना ही सर्कस देखने मैं पहुँच गया—यही मुझे अचरज हो रहा था। इसी अचरज से चढ़कर ऊँचे मचान जैसे ही बनाए गए स्थान पर पहुँचने के बाद मैं भी एक दर्शक की भूमिका में था—मौत के कुएँ में हो रहे तमाशे को मज़े के साथ देखने के लिए...।

वहाँ, दर्शकों के मचान के ठीक आगे ही कई मज़बूत फ्लेकों को ख़ूब तरीक़े से जोड़कर एक गहरा कुआँ जैसा बनाया गया था। प्रायः पंद्रह-बीस फ़ीट ऊँचे उस कुएँ की वृत्ताकार दीवार नीचे की ओर कम

शरद छेत्री का जन्म 1947 में हुआ। इनके दस कहानी-संग्रह, पाँच कविता-संग्रह, चार उपन्यास, तीन नाटक प्रकाशित हैं। साहित्य अकादेमी तथा अन्य पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : ''श्रीकुंज'', रसिक ग्राम, धोबी तलाउ, अच्छा राई रसिक पथ, दार्जीलिंग-734101

अनु. : बिर्ख खडका डुवर्सेली।

व्यास और क्रमशः ऊपर विस्तृत हो नज़र आती थी। वाह! एकाएक देखने पर ग़ज़ब का कुआँ लगता था वह—मनुष्य का मन जैसा ही, छोटी परिधि से निकलकर बड़ी में पहुँचा हुआ। "मौत का कुआँ" नाम से प्रचार में आया मनोरंजन से भरा आश्चर्य का कुआँ था, वहाँ देखने के लिए भी उत्सुक थे कई दर्शक।

कुएँ के बाहरी हिस्से से होकर दर्शकों को मचान में पहुँचने के बाद दृश्य को देखने के लिए कुछ समय इंतज़ार करना पड़ता था। दृश्य दिखाने के लिए पात्र घुसने का दरवाज़ा बंद रखा गया था, वह एकाएक खुलने से समय का परिवर्तन प्रत्यक्ष होने पर सब की दृष्टि वहीं केंद्रित हो जाती थी।

उसके बाद मोटर साईकिल पर चढ़कर एक चालक के भीतर प्रवेश करते ही दरवाज़ा बंद किया जाता था। नीचे ज़मीन में सामान्य वेग से मोटर साईकिल चलाकर दोनों हाथों को जोड़कर नमस्कार करने के पश्चात् उसी गति में चालक ने मोटर साईकिल के आगे लटकाया हुआ हेलमेट पहन लिया तो दर्शकों की तालियों की गड़गड़ाहट गूँज उठी।

उसी हौसले के वातावरण में मोटर साईकिल का वेग बढ़ने पर नीचे ज़मीन की परिधि में कुछेक बार चक्कर लगाने के बाद वह कुएँ की दीवार की ओर चढ़कर चक्कर लगाने लगा। इस तरह मोटर साईकिल के वेग को निरंतर बढ़ाकर वृत्ताकार कुएँ की दीवार पर ऊपर पहुँचने के ध्येय से चारों ओर चक्कर लगाने के उस तमाशे ने दर्शकों को रोमांचित कर दिया।

खेल भयंकर था वह। तनिक भी भूल हुई तो मौत के मुँह में जाना पड़ता। इसीलिए खेल का नाम ही था मौत का कुआँ। साहसिक तमाशा होने की वजह से आकर्षित होकर दर्शक सब कुछ भूल जाते थे। कुएँ के होंठों के पास वृत्ताकार दीवार पर चक्कर लगाते समय चालक हाथ उठाते हुए दर्शकों को छूने का प्रयास करता था तो कई दर्शक हाथों में रंगीन रुपए लिए उत्साहित दिखते थे। परिक्रमा करते हुए चालक दर्शकों के हाथ के रुपयों को छीनकर चतुराई भी दिखाता था जैसे चील अपना शिकार झपटकर छीनता है।

इसके बाद, कुछ समय पश्चात् कुएँ के नीचे का दरवाज़ा खोलकर दूसरी मोटर साईकिल प्रवेश करने से दर्शक और रोमांचित हो जाते थे। वहाँ चालक की गोद में एक आठ-दस साल का बालक होने से दर्शकों की तालियों की गड़गड़ाहट सारी आवाज़ों को दबा देती थी।

तब, मौत के कुएँ में वृत्ताकार दीवारों पर चक्कर लगाती हुई दो तेज़ मोटर साईकिलें दो उपग्रहों की भाँति आपस में टक्कर लगने से बचती हुई गतिशील दिखती थीं। मचान में खड़े दर्शक हाथों में रुपयों को दिखाकर मुग्ध होते थे। किसी के हाथ में पाँच के नोट, किसी के हाथ में दस या बीस और कितनों के सौ के नोट भी थे। लेकिन मौत को उपेक्षणीय मानी गई उस खेल में मोटर साईकिल के वेग के साथ बहकर ख़ूब ही यत्नपूर्वक चालकों द्वारा सौ के नोट को चुनकर पकड़ने की होड़ में विनोद उमड़ता दिखता था। सभी दर्शक चालक समेत बालक की प्रशंसा करने में बिलकुल नहीं थकते थे, जिसके कारण उस भयानक खेल के समाप्त होने पर मचान से नीचे उतरने वाले प्रत्येक दर्शक के चेहरे से ही मौत के कुएँ को जीत कर आने जैसी संतुष्टि झलकती थी।

बाहर निकलने के बाद चालक से पूछ ही बैठा एक सरल प्रवृत्ति का दर्शक, "मोटर साईकिल के वेग के साथ आपकी गोद में बालक भी था, तब डर नहीं लगा मौत का?"

"नहीं! मौत के कुएँ में घुसने के बाद डर किस का?" उत्तर था।

"उस बालक को भी नहीं लगता है डर?" फिर पूछा गया।

"उस कुएँ को बाहर से देखने से ही केवल मौत भयंकर लगती है, लेकिन भीतर घुसकर मौत से खेलना शुरू करते ही उसे जीतने के ध्यान में डर पता नहीं कहाँ चला जाता है। वहाँ मौत तुच्छ से भी तुच्छ लगती है। इसलिए उस खेल में डर न तो

मुझे लग रहा था, न मेरी गोद में बैठे मेरे प्यारे बेटे को...।''

''लेकिन कैसे पता लगा बालक का मन?'' फिर पूछा गया।

''बचपन में ही, मैं भी पिताजी की गोद में बैठकर वैसे ही मौत के कुएँ में घुसता था। पिताजी के साथ मोटर साईकिल में चढ़कर मौत के कुएँ के भीतर दीवार पर चक्कर लगाते समय मौत के विचार को संपूर्ण जीतना ही होगा, धारणा ऐसी स्थापित होती थी। इस तरह मौत का सामना किए बिना ही डर शब्द की उत्पत्ति न होने के अनुशासन में मैं बड़ा हुआ हूँ। मेरा बेटा भी उसी तरह बड़ा हो रहा है। इसी क्रम में एक दिन दुर्घटनावश पिताजी की आकस्मिक मौत हो गई, तो छुपकर आने वाली मौत को धिक्कारते हुए निष्क्रिय बनाने का खेल खेलने के लिए मैंने भी ख़ुद को सहज ही मज़बूत बना लिया है अर्थात् मेरी मौत के बाद मेरा बेटा भी वैसा ही करेगा, मेरी तरह ही...।''

''तब तो शायद पुश्तैनी खेल है आप सबका—इस प्रकार मौत के कुएँ में तमाशा दिखाना!'' बहुतों ने ऐसा ही कहा तो चालक प्रतिक्रिया के रूप
छोटी-सी टिप्पणी सुनाता है, ''हमारा ही केव
नहीं, सबका पुश्तैनी है वैसा ही। आपका भी ऐ
ही...''

''क्या कहा?'' सब जिज्ञासु हो जाते हैं।

सर्कस का उजाला वहीं अत्यधिक है जहाँ ख
होकर चालक बता रहा है, ''आश्चर्य! मौत
कुआँ हमसे अभिन्न केवल नहीं है, आप सबसे है
ही अभिन्न है। इसलिए हम सब ही उस त
पहुँचने का खेल खेल रहे होते हैं अर्थात् सब प्रा
गतिशील बनकर खेल रहे होते हैं उसी ओर, पु
से अविरल। प्रत्येक का लक्ष्य जीत हासिल क
होने के बावजूद भी विविधता आ जाती है और वे
तथा उपलब्धि बीच में ही होती है।''

तब, वहाँ के उजाले की परिधि में फँसे सब ले
वैसी ग़ज़ब की बातें सुनकर अवाक् रह गए।
लेकिन उस झिलमिलाती जगह से बाहर जायके
चर्चा चल रही थी—''सर्कस है वहाँ...''

''विशेषता क्या है?''

''मौत का कुआँ है वहाँ, रोमांचक...!''

1956 में
कविता-सं
का पर्दाह
हरफहरू,
हैं। इन्हें वि
मिल चुके
सिक्किम
तादोङ, ग

1954 में उ
हिंदी और
अनुवाद
सारस्वत
संपर्क :
दार्जीलिंग

कविता

नेपाली

राजेंद्र भंडारी

रात में छाङ्गु

फागुन के सहलाने के बाद
एकाएक भंग होती है समाधि
और प्रसन्न मुद्रा में चहल-पहल करने लगता है छाङ्गु का पानी।
लोगों की ख़ुशियों को उठाते-उठाते थककर
साँझभर जुगाली करती हैं छाङ्गु की चौंरियाँ
देर तक रेजगारी और नोट अलग करके गिनती रहती है दुकान की आइला।
साँझ संपूर्ण ढलते न ढलते
तिब्बत की तरफ़ से तेज़ी से आती है बार-बार ठंडी हवा।
और गजधम बैठा पोखर
और मौन और ठंडा हो जाता है।
हिमकन्या पहाड़ शाम के अतिथियों को
हिम परोस देते हैं
और ख़ुद सफ़ेद ओढ़नी सरकाकर शाम के समय
काले और गाढ़े वस्त्र के भीतर छुप जाते हैं।
फुर्र से उड़ जाती हैं चिड़ियाँ
और पेड़ एकांत में मुखामुख होते हैं
पर्यटकों के बिन कहे अचानक चले जाने के बाद
छाङ्गु पद्मासन में बैठ जाता है।
खन्नाटा-माँ की गोद में
बाल-बच्चों की तरह सो जाते हैं
आकाश, पेड़, पहाड़।
रातभर चाँद और तारे छाङ्गु में तैरते हैं।
द्वितीया का चाँद चमकता है चमकीले छाङ्गु में
तथागत के हृदय में संबोधि की तरह
प्रांजल, स्निग्ध, निर्मल
सुखदुः खातीत, निर्विकार।
सुबह ही ख़ुद को छिड़ककर हिम छाङ्गु को नमस्कार करता है
और छाङ्गु लहरों के हाथों से उसका स्वागत करता है
दिनभर पर्यटकों के कैमरों में
घुसते-निकलते रहने वाला छाङ्गु

1956 में जन्मे राजेंद्र भंडारी के कविता-संग्रह *हिऊँदे यी चिसा रात का पर्दाहरू, यी शब्दहरूः यी हरफहरू, क्षर/अक्षर* प्रकाशित हुए हैं। इन्हें दियालो पुरस्कार आदि भी मिल चुके हैं। संपर्क : नेपाली विभाग, सिक्किम सरकारी महाविद्यालय, तादोङ, गांतोक 737102 (सिक्किम)

1954 में जन्मे बिर्ख खडका डुवर्सेली हिंदी और नेपाली में लेखन और अनुवाद करते हैं। इन्हें साहित्य सारस्वत सम्मान मिल चुका है। संपर्क : दुर्गागढ़ी, प्रधाननगर, दार्जीलिंग 734403

रातभर समाधि में लीन हो जाता है।
अभी-अभी हृदय में छाङगु लेकर लौटा है
साल्ट लेक का सुब्रत बनर्जी
अब कोलकाता की कड़ी धूप हल्के ही सह लेगा वह साल
बैंगलोर के राजु नारायणन ने छाङगु दिखाने का वादा किय
अपनी नई दुल्हन से।
टैक्सी ड्राईवर छाङगु में नोटों को जमा देखते हैं
छाङगु में पर्यटकों को पहुँचाकर ही इस बार
आरिथाङ का बीरे साहिंला ने
अपने पोपले पिता के लिए
एक सेट चमकदार दाँत ख़रीद देने का सपना सजाया है।
पृथ्वी के तीसरे बड़े भाई
आकाश के छोटे भाई
कंचनजंघा जब संसार को
सफ़ेद हथेली से आशीर्वाद देता है
नाथूला से फुस-फुस हँसते हुए आती है हवा
और छाङगु के कान में क्या-क्या कहती है!
ज्यों-ज्यों हिम पिघलना शुरू करता है
जाड़ा और कड़ा और घना हो जाता है।
शरीर बनता है केवल साँस लेने वाला यंत्र
मांस-पिण्ड निष्क्रिय हो जाता है।
फिर साँझ ढलती है
अकेलेपन की ओढ़नी संपूर्ण ओढ़कर
छाङगु ध्यान में गजधम बैठ जाता है।
ऐसे तो छाङगु चुपचाप कहता रहता है
एक न एक दिन होना ही पड़ेगा सबको
अकेला
निस्संग
तटस्थ।

कविता लामा

एक दिन का बचना

1965 में जन्मी कविता लामा नेपाली की उभरती कवयित्री और समालोचिका हैं। एक समीक्षा ग्रंथ प्रकाशित। संपर्क : नेपाली विभाग, बिजनबारी डिग्री कॉलेज, बिजनबारी, दार्जीलिंग।

अनु. बिर्ख खडका डुवर्सेली

प्रति पल टूटते पहाड़ पर चढ़कर
उदित यह दिन
आज बहुत उदास है।
इसकी दुखती सिकुड़नों में

एक अँजुली गरम घाम
उगा न सकने की पीड़ा है
रात रात भर जगा रहकर
इसकी अनिद्रा की आँखों ने
शीतल चाँदनी रात की
मधुर मुस्कान देखकर
सुखद एक पल
अपना बना न सकने का
रोदन अलग है।
चिड़ियाँ घोंसला तक न बना सकने जैसा
सर्वांग नंगे बूढ़े पेड़ की तरह
ख़ुद से ही केवल दुखी होकर
यह यहाँ इस तरह
खड़ा होने और बचने का अर्थ है।
यह दिन आज
एक टुकड़ा उजाला हँसने के लिए भी
हिचकिचा रहा है,
बदनाम शहर के तालाब में
कई रात नहा चुका
यह दिन
विश्वासघात के कोड़े से
दग्ध लाल शरीर लेकर
उस तरफ़ की मेंड़ पर
चुपचाप अकेला खड़ा है।

भविलाल लामिछाने

एक नई धरती के लिए

हरी मखमली चुनरी ओढ़कर
उत्फुल्लित प्रकृति
पहाड़ों पर उग आए पौधे
और, धरती के ऊपर गगनचुंबी पेड़

नीचे—
वादियों में फैली
मखमली झालर से सजी
एक सजीव हरित पृथ्वी

1950 में जन्मे भविलाल लामिछाने 5 कविता-संग्रह, एक कहानी-संग्रह *कसका लागि?* प्रकाशित। संपर्क : शांतिपारा 1617, डिगबोई 786171 (असम)

अनु. खडकराज गिरी नेपाली में लिखते हैं और नेपाली-हिंदी में परस्पर अनुवाद करते हैं। संपर्क : सी.एम.एच. एरिया, 1702/बी, डाक-डिगबोई, 786171 (असम)

मैं
एक बूढ़ा पेड़
देख रहा हूँ सदियों से
निर्वासित अतीत को इतिहास में
बदलते हुए

कभी,
गाती थी कोयल यहाँ
चहचहाते थे पंछी
अठखेलियाँ करती उड़ती थीं तितलियाँ/झुंडों में
फुदकते थे मृग-शावक,
अट्टालिकाओं से गुज़रकर
यहीं आकर बरसते थे बादल
बहती थी हवा
पत्ते को छूकर

मिट्टी-तेल के कुओं से निकला धुआँ
पचाकर आज
मैं जराजीर्ण पड़ा हूँ

खोदकर मिट्टी
रक्तरंजित बनाकर इसे
धरती का चीरहरण कर
अट्टहास करने वाला
कौन दुःशासन है वह?
किसने किया धुआँ-धुआँ
—इन वादियों को?
—कच्चा जलाकर इन हरित जंगलों के टुकड़ों को?

बाँटकर हरे पत्तों को
खोकर अपनी डालों को
खड़ा हूँ मैं—
एक ठूँठा पेड़
कुछेक उखड़े जड़ों के ऊपर

हे ईश्वर!
अब तो मैं तैयार हूँ
अपना सब कुछ देने को
मेरे ढह जाने के बाद भी
यदि उग आती है
कोई एक नई धरती!

मोहन सुवेदी

संपर्क

पेड़ों ने हठात् ही बदला था अपना रंग
नदी ने अपनी निर्वाक गति
और, छिटककर आ गिरा था एक टुकड़ा तारा
संपूर्ण आकाश को हिलाते हुए

चाँदनी की स्निग्धता से धोकर
नीली नदी का प्रवाह
सुवर्ण रेखामय प्रवाह की उत्तप्त तरंग
हठात् ही बदलकर जन्मी
अनुभूति की मीठी उमंग

हथेली में रखकर एक-एक टुकड़ा सूरज
हर आदमी के चेहरे तक
पहुँचाएगा समय
पेड़ खिलने लगेंगे हरे-भरे होकर
फिर बहने लगेगी सरिता
अपनी ही गति में
आकाश समेटकर रखेगा वैसे ही
तारों को जकड़कर
अपने वक्ष में!

मोहन सुवेदी का जन्म 1964 में हुआ। इनका कविता-संग्रह *पृथिवी जसरी भोग्दैछु*, कहानी-संग्रह *माटो मान्छे र माया* प्रकाशित। संपर्क : भारतीय जीवन बीमा निगम, होजाई शाखा, होजाई मेन रोड, होजाई 782435, ज़िला नगाँव (असम)

जयंत कृष्ण शर्मा

ईश्वर के अन्वेषण में

आओ तपस्या करें, ढूँढ़ें ईश्वर को
कि छोड़ें रॉकेट हरेक तारे पर
चाँद से भी ऊपर उड़ाएँ रॉकेट
ढूँढ़ें ईश्वर को कहाँ है वह
आकाश से भी परे, कितने परे!

सुना था, ईश्वर बादलों पर बैठकर टहलता रहता है,
और, लेता है विश्राम
बँदिया के झरोखे से जाकर रने के शयन-कक्ष में,
कभी मंदिर, मस्जिद
कभी गिरजाघरों के गर्भगृहों में।

1973 में जन्मे जयंत कृष्ण शर्मा की *तक्षीर गल्प*, *मुख्यमंत्री* (नाटक); *प्लेटफार्म*, *सदनको मझेरीमा माटोको बास्ना* (कविता-संग्रह) प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : राजनीति विज्ञान विभाग, दरंग महाविद्यालय, तेजपुर-784001, शोणितपुर, असम

अनु. खडकराज गिरि

मंदिर के विग्रह में दूध चढ़ाकर
ढूँढ़ें क्या ईश्वर को?
पर मंदिर के बाहर है भूखे लोगों की जमात
वे पहले ही याचना के हाथ बढ़ा दें तो?

देश-देश में जब ढूँढ़ा ईश्वर को
परसों रात पता चला, ईश्वर है सोमालिया में
चमक रही हैं हड्डियाँ छाती पर—भूखा है पेट!

कल फिर सुना, ईश्वर है बस्निया में
गोली से सनी
—छाती से रिस रहा है ख़ून!

आज आया है ईश्वर मेरे ही देश में
धेमाजी में किसी ने पकड़कर
बनाया बंदी उसे, और
बेच दिया किसी अरुणाचली महाजन के हाथों।

पथरुघाट—नालापानी के साहसी ईश्वर को
मेरा पानी—सुगौली में घायल ईश्वर को
केकेरीकुसी—कार्बिआगलंग में संक्रांति के उत्सव पर
मार डाला किसी ने निर्ममता से!

बह रहा है ख़ून
फटकर कलेजा ईश्वर का!!

ईश्वर का श्राद्ध करने वाले—हे मेरा देश!
ईश्वर को रखोगे कफिन में या जलाओगे
—मैं नहीं जानता
सिर्फ़ प्रार्थना करता हूँ
कफिन से भी हो : ईश्वर फिर निकल आए
जलाने पर भी उसकी राख
गिरे उड़कर मेरे ही देश में!

नवसापकोटा

1948 में जन्मे नवसापकोटा के कविता-संग्रह *युक्लिप्टस : आउने पीढीलाई आशिर्वाद*, काथांतर प्रकाशित। संपर्क : कविता निकेतन, देवकोटा नगर, गुवाहाटी 781033 (असम)

सृजन करो एक कागज़ का, रचो नया इतिहास

मत करो स्वर्ण पदक और ताम्र पदक की बातें—
भूलकर भी नहीं लिखा गया है यहाँ के पत्थरों में
तुम्हारे पुरखों का इतिहास।

इतिहास ही जानना चाहते हो तो अपने पुरखों का--
जाओ ब्रह्मपुत्र और बराक के तटों को खोदो
नेफा और नागापहाड़ों की वादियों में छान मारो
लुसाई और मिजो पहाड़ों के घने जंगलों से गुज़रो
खासीपहाड़ की ढलान को मापो
मणिपुर के खाडल खोदो
लद्दाख के बर्फ़ीले पहाड़ों को उघाड़ दो
छंब के अभेद्य भंज्यांग का ''एक्स-रे'' लो
दुश्मनों को खदेड़ते-खदेड़ते शहीद हुए पुरखे
दुश्मनों की राह देखते-देखते शहीद हुए पुरखे
तुम वहाँ उनकी अस्थियों के साथ खुकुरी की मूठ पाओगे।

लिदु के कोयला-खदानों में जाकर देखो—
कोयला खोदते-खोदते उनके पुरखे कोयला बन गए हैं
डिगबोई के तेल शोधनगर में जाकर देखो—
तेल ढोते-ढोते तुम्हारे पितामह तेल बनकर जल गए हैं
उन खुले धान के खेतों में जाकर देखो—
वर्षाकाल में हल मारते-मारते बाढ़ में बह गए हैं
उन दुर्गम वन-प्रांत के गाय और भैंस
गोशाले में जाकर देखो—
घास काटते-काटते पेड़ से गिरकर मरे हैं
दार्जीलिङ के चाय-बागानों की वादियों का
मुआयना करो—
चाय की पंत्तियाँ चुनते-चुनते तुम्हारे पड़पुरुष
चाय के पौधों तले घिस-घिसकर खाद बन गए हैं
पर भूलकर भी कहीं नहीं लिखा गया है
यहाँ के पत्थरों में

तुम्हारे पुरखों का इतिहास।

इसीलिए,हे बेमंज़िल पुरखों के बेवारिश इतिहासकार!
भूल जाओ उन स्वर्ण और ताम्र पदकों की बातें
सृजन करो एक काग़ज़ का रचो नया इतिहास
तुम्हारे उन पुरखों का!

बैद्यनाथ उपाध्याय : जन्म 1967। नेपाली कवि, अनुवादक और पत्रकार। *जुनेली* (कविता-संग्रह) प्रकाशित। संपर्क : ग्राम पाकृबाडी, डाक खोवरां उदालगुडी-784509, असम।

अनु. स्वयं

बैद्यनाथ उपाध्याय

अकेलापन

अकेलापन कुछ होता है
यूँ है—

लाकर खड़ा करता है कठघरे में
हर एक को
किसी अपराधी की तरह!
सफ़ाई माँगता है
ठगी, झूठ और मक्कारी की
सबका हिसाब पुख़्ता कराता है।

आदमी आता अकेला है
और जाता भी अकेला है
फिर होता क्यों है अकेलापन
इतना डरावना!
हर आदमी लिए फिरता है
अपने भीतर एक खाई
वह जो छुपाता है
घना अँधेरा है
न देखे कोई उसका
वह असली चेहरा है।

अकेलापन होता
यूँ कोई आईना जैसा है
दिखा देता है सब कुछ
उसने जो छुपाया है।

असमिया

उदय कुमार शर्मा

घाव

शिला से शिव तक
हवा से प्यास तक
फ़र्श से आँगन तक
घाव
घाव और घाव

पेड़ ही गाना जानता है हरा-सुरीला गीत
पंछी ही गाते हैं मधुर आवाज़ में

ओ मेरी चाहत
नर्म कोंपल...

किसके वाण की सरसराहट

1957 में जन्मे उदय कुमार शर्मा की *तेज़र वलार बहनी*, *सजनार स्नेह सयत*, *नुपुर पिंढि नियार* पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : ए.एस.ई.बी., एल.एल.डी.सी., कहिलिपाढ़ा, गुवाहाटी 781019 (असम)

अनु. 1967 में जन्मे दिनकर कुमार का हिंदी में प्रकाशित कविता-संग्रह *आत्मनिर्वासन* और उपन्यास *नीहारिका* हैं। सोमदत्त पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : दूसरा तल, एफ.ए. 8, मानसरोवर गार्डन, रमेश नगर, नई दिल्ली 110015

कौन मरता है सिंदूर पोंछकर

लहर काटूँगा
धूप में सूखूँगा
बारिश में भीगूँगा
बाँस के नीचे बाँसुरी बजाऊँगा
गहरी रात की अँगड़ाई देखूँगा

दादाजी का दिया हुआ हिरण का सिंग
तेल रगड़ने पर आज भी दमकता है
मुड़ा हुआ लोहा
किस तरह लाल हुआ था देखना

ओ तुम्हारी चाहत
सेमल पर गिद्ध बैठे हैं देखो

राह-राह में गड्ढ़े, घाट-घाट में स्खलन
हाथ थाम लो, नहीं तो फिसल जाओगे

तुम्हारे सुडौल मुखड़े पर
चढ़ रहा है पानी

मवाद से भरा हुआ घाव

कोई भी मरहम किसी काम
नहीं आएगा याद रखना

कीचड़ से तानपुरे से

एक हाथ कीचड़ से लथपथ
दूसरे में तानपूरा

उँगलियों में उल्लास-आलिंगन
पानी की तरह सरल हृदय
नहीं है रेतकणों की झिलमिलाहट
अँधेरे की साँस
कमल-कंद की नहीं फूटने वाली गंध
ख़ामोश बेजान

हवा में राग रागिनी
सर्द-गर्म शरत हेमंत सुबह-शाम

दुराचार की वजह से धँसती कीचड़ हो जाती पत्थर
पथरीली देह पथरीली पोशाक पथरीले गान

पत्थर की सीढ़ी चढ़कर छूने जाएँगे आकाश गंगा

कुरूपता के पंजे से गरजकर टूटते तार

पानी में लिली की मुसकान
पत्थरों पर कोहरे की कविता

ता-ना-ना-ना

अर्चना पुजारी

साक्षात्कार

: आपका नाम—अनाहूत
: प्रिय काम
शब्द शिकार
: आपने यह पथ क्यों चुना
शिकार की लय और आनंद के लिए
और लक्ष्यभेद की मग्नता में
धराशायी किया जा सकता है संवेदनशील हृदय
: मन में ऐसी कौन-सी यात्रा है
ख़ूबसूरत 'स्वर्गरथ' पर चढ़कर एक बार घूमने की
: आपका अनुभव
हृदय में प्रेम का बीज रोपने से
पेड़ राहगीरों को छाया देगा
: कैसा माहौल आपको पसंद है
मार्ग का सर्द माहौल बहुत पसंद है
: प्रिय फूल
कुकुरमुत्ता
: प्रिय नदी
कभी मैदान न देखने वाली
ऊँचे पहाड़ की चंचल नदी
: यादगार दिन
मेरी मौत की घड़ी
: स्मृति जिसे भूलना चाहें
मेरा जन्म
: फ़ुरसत की प्रिय घड़ी
ट्रैफ़िक जाम में ठिठककर
किसी तरह आकाश देखने की कोशिश
: प्रिय पंछी

1961 में जन्मी अर्चना पुजारी के चार कविता-संग्रह, दो आलोचनात्मक पुस्तकें, चार बाल-साहित्य तथा अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हैं। कल्पद्रुम का काव्यश्री पुरस्कार। संपर्क : द्वारा उदय कुमार शर्मा, कहिलीपाडा, ए.एस.ई.जी. कॉलोनी, पो. कहिलीपाड़ा, गुवाहाटी 781019, असम

अनु. दिनकर कुमार

गिद्ध
: प्रिय शहर
अर्द्धनिर्मित फ़्लाई ओवर की अराजकता
घर के ऊपर घर चढ़ते हुए
फ़ुटपाथ के गड्ढे में मृत्यु से मुलाक़ात करवाने वाली
सड़ा-गला बदन पर मलने वाली
गुवाहाटी
जहाँ ख़ुद को गम कर सकते हैं हम सभी
: कौन-सा काम कठिन है
पड़ौसी के घर में बम
रखकर आना, आइए
हम सभी मानव बम बन जाएँ
: ईश्वर के बारे में धारणा
आह! ठहरिए ज़रा
मेट्रो रेल में सेट कर आता हूँ
ईश्वर से मिलने से पहले

दर्पण

दर्पण मुस्कुरा रहा है क्या, रूपमती
तुम्हारी हँसी की तरह महीन, बेआवाज़ हँसी
रुलाई भी सिसकी की तरह
इतनी वेदना से टूटेगा नहीं, रूपमती
दर्पण में वह दर्पण का ही चित्र है या तुम्हारी परछाईं
या किसी कलाकार की तूलिका की क्लासिक ब्यूटी

महाशय, आपका कुछ बिगाड़ा है क्या
तिरछी नज़रों से देख रहे हैं दर्पण को
बलिरेखा बुढ़ापे की ख़बर लाती है क्या
क्यों इतने परेशान हैं
मुझे पता है आपके लिए जीवन से भी प्रेम अधिक ऊँचा है
इसीलिए आपका सर्वस्व प्रेम के लिए न्यौछावर है
छाया मत देखना रूपमती, मन को खोल दो
आप भी मत देखें छाया, देखें साफ मन का मेला
सूरज जब दर्पण देखता है
खेल रहे कौवे बोलना भूल जाते हैं
दर्पण क्या झूठ बोलता है
भूलता है कुछ
फूल भी अपनी पोशाक भूल नहीं जाता
डाली पर जब पके फल की बात होती है

कुहेली भट्टाचार्य

''मेरा आपना''

अब यहाँ मेरा कोई नहीं है,
क्यों यह सही नहीं लगता
रेतीली मिट्टी में क्यों
इतनी आत्मीयता भाव?

दूर पर्वत की बर्फ़ीली चोटी
कुछ याद दिलाती है
यहाँ आसमान भी
बहुत जाना पहचाना-सा है
पर लोग बदल गए
सिवाय उस पागल बूढ़े के
जो मंदिर के आँगन में
बैठा रहता है,
आसमान को निहारता
वो भी बहुत करीब से जैसे।

क्यों एक छोटी-सी लड़की
मेरा आँचल खींच कर
अतीत में ले जा रही है—
चट्टानों पर पेंसिल का लिखा
कब का मिट चुका
मैं कैसे उसे पढ़ रही हूँ
जैसे आज भी साफ़-साफ़ लिखा है!

अब यहाँ मेरा कोई नहीं
पर हवा क्यों गुनगुनाती है
पेड़-पौधों से सिसकने की आवाज़
कैसे परायी हो सकती है
शायद, अब भी कुछ है

जो मेरा अपना है!

1962 में जन्मी कुहेली भट्टाचार्य की असमिया, बाङला और हिंदी में कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। हिंदी कविता-संग्रह *मैं समय हूँ* प्रकाशित। संपर्क : 123ए, सुंदर अपार्टमेंट, जी.एच. 10, पश्चिम विहार, नई दिल्ली 110087

अनु. स्वयं

पुन्नी सिंह

बच्चे सवाल नहीं करते

वे तीन थे और तीनों के बीच लंबी बातचीत चली थी। तर्क-वितर्क भी कम नहीं हुआ था।

कुल मिलाकर बस्ती बसाने से पहले उसकी योजना पर काफ़ी समय ख़र्च किया गया था। आरंभ में निवेदिता का आग्रह था कि अगर हमें अच्छी बस्ती की रूपरेखा तैयार करनी है तो उसमें मंदिर सबसे अच्छी जगह पर होना चाहिए। बल्कि शुरुआत मंदिर से ही करनी चाहिए। लेकिन सुरेश इस मसले पर गंभीरता से विचार कर लेना चाहता था।

''देखो निवेदिता, अगर हमें ऐसी बस्ती का निर्माण करना है जो सच में प्रदूषण रहित हो तो मंदिर-मस्जिद के पचड़े में हमें नहीं पड़ना चाहिए। हमें कुछ अलग ही सोचना पड़ेगा तब बात बनेगी, क्योंकि मंदिर-मस्जिद का विवाद अन्य किसी प्रदूषण से बड़ा प्रदूषण है।'' उसने कहा तो निवेदिता ने बुरा-सा मुँह बना लिया।

''क्यों, इसमें विवाद की क्या बात है? जहाँ आदमी रहेगा, वहाँ पर उसके पूजा स्थल भी रहेंगे। हमारी शैलजा मैडम ने क्लास में बताया था कि 'मोहनजोदड़ो और हड़प्पा' जैसी प्राचीन और उस युग की सबसे अच्छी बस्तियों में भी पूजा स्थल के अवशेष मिले हैं।...मैं तो कहती हूँ कि हमारी बस्ती के मध्य में एक भव्य मंदिर होना ही चाहिए।''

निवेदिता का तर्क वज़नदार था लेकिन सुरेश भी इतनी आसानी से हथियार डालने वाला नहीं था। वह फिर बोला, ''हाँ, मोहनजोदड़ो में पूजा स्थल रहे होंगे, मैं मैडम की बात को ग़लत नहीं मान रहा हूँ, लेकिन आजकल पूजा स्थल का मामला वैसा सीधा और सरल नहीं रह गया है। वह सिरे से ही उलझा हुआ है और कभी-कभी तो ऐसा उलझ जाता है कि सुलझाए से नहीं सुलझता।''

''पता नहीं तुम क्या कहना चाहते हो, मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है।'' निवेदिता ने झुँझलाकर कहा।

''ऐसी तो मैंने कोई बात नहीं कही है जो तुम्हारी समझ में न आए। देखो, ऐसे समझो, अगर अपनी बस्ती में हमने मंदिर बनाया तो हो सकता है फ़ौरन मस्जिद बनाने की माँग उठे। और अगर हमने वह माँग स्वीकार कर ली तो यह भी हो सकता है कि चर्च, गुरुद्वारा आदि बनाने की माँग हो। और अगर इनके बना देने से काम चल जाए तो भी संभव नहीं है, बल्कि वे सब लाउडस्पीकर लगा-लगाकर अपने-अपने भगवान को जगाएँगे और बस्ती की नींद हराम करेंगे। फिर वे हम बच्चों के नाज़ुक

पुन्नी सिंह की कहानियाँ एवं आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : ''सर्जना'', इंद्रप्रस्थ नगर, भारतीय विद्यालय मार्ग, शिवपुरी 473551

कान के पर्दों पर क़तई रहम नहीं करेंगे...और यह भी सत्य है कि वे लोग बात-बात में लड़ेंगे-झगड़ेंगे, एक-दूसरे के मज़हब पर कीचड़ उछालेंगे और यहाँ तक कि वे एक-दूसरे के पूजा स्थल को तोड़ भी सकते हैं, धर्म के नाम पर ख़ून बहा सकते हैं...ना भई, ना! हम बच्चों को इस बवाल से दूर रहना चाहिए।''

सुरेश की बातें सुनकर निवेदिता ने मौन धारण कर लिया। इस मामले में उसकी सोच सुरेश से अलग नहीं थी, क्योंकि वह दौर ही ऐसा था जिस में पूरा वातावरण बारूदी दुर्गंध से भरा हुआ था। समाज के चप्पे-चप्पे पर मुट्ठी भर मज़हबी और जुनूनी लोगों ने इसी तरह का बारूद बिछा रखा था जिसमें उन जैसे छोटे बच्चों का दम सबसे .ज़्यादा घुटता था।

उस दिन की चर्चा थोड़ी .ज़्यादा गंभीर हो चली थी, इसलिए उन तीनों ने अकुलाकर उसे वहीं जस का तस छोड़ दिया।

अगली बार जब वे तीनों उस योजना पर आगे का काम करने बैठे तब भी सबसे पहले निवेदिता ने बात शुरू की, ''अच्छा तो पूजा स्थल के बारे में हाल फिलहाल हम विचार नहीं करेंगे, लेकिन बाज़ार पर तो हमें विचार करना ही पड़ेगा। किसी बस्ती के लिए बाज़ार बहुत ज़रूरी है। जब व्यापार नहीं होगा तब आदमी का जीवन कैसे चलेगा भला! मैं तो कहती हूँ कि सबसे पहले हमारी बस्ती के बीच में अच्छे बाज़ार की व्यवस्था होनी चाहिए।''

निवेदिता ने कहा तो सबसे छोटे भाई नरेंद्र ने उसे घूरा। उसे शायद यह बात अखर रही थी कि हर बार जब नई बस्ती के बारे में मंत्रणा होती है तब उसकी बहन और बड़ा भाई ही न जाने क्या-क्या बोलते रहते हैं। एक-दूसरे की बात से सहमत होते हैं या विरोध करते हैं लेकिन उससे कोई कुछ नहीं पूछता।

यही सोच कर निवेदिता ने नरेंद्र से पूछा, ''क्यों नरेंद्र, तुम्हारा क्या ख़याल है? यही न कि हमें अपनी बस्ती के बीच में बाज़ार बनाना चाहिए, ताकि सब सौदा-सुलुफ लेने में सुविधा हो।...क्यों, मैं ठीक कह रही हूँ न?''

''नहीं...हम लोग पहले रहने के लिए अच्छे-
घर बनाएँ। बीच में बाज़ार बना देंगे तो फिर
आफत होगी। बाज़ार में क्या कम शोर होता
गंदगी भी कम नहीं होती है। बाज़ार बनाना है
बस्ती से दूर बनाना।'' नरेंद्र ने कहा तो वे
आश्चर्यचकित होकर उसे देखने लगे।

उन्हें यह सोच-सोचकर आश्चर्य हो रहा था
उनमें सबसे छोटा नरेंद्र भी उन बातों से परेशान
जो हमारे वातावरण को बिगाड़ती है। प्रदूषण फैल
है, लेकिन कमाल की बात यह है कि ये बातें
लोगों के दिमाग़ में नहीं आती हैं। जिन बातों
बच्चे तंग आ गए हैं, उनकी तरफ़ या तो आदमी
ध्यान नहीं जाता या फिर वह देखकर अनदेखा
जाता है, निवेदिता को याद आता है कि शैल
बहन जी ने एक दिन क्लास में कहा था कि आद
अपनी अच्छी-भली दुनिया में ख़ुद ही आग लग
चला जाता है।...दुनिया की हर अच्छी चीज़ को
आँख बंद करके नष्ट करने में लगा है।

कुछ देर के लिए उन तीनों के बीच अखंड चु
आकर पसर गई। मंत्रणा को विराम लग गया।

पाँच से आठ साल की उम्र के तीन बच्चे
बड़ों के द्वारा बिगाड़ी गई इतनी विशाल दुनि
उसे सुधारने का बीड़ा इन मासूमों ने उठाया है।
साहस नहीं एक तरह का दुःसाहस है। ठीक कोल
द्वारा एक नई दुनिया तलाश लेने जैसे इरादे।
हिलेरी के द्वारा गौरीशंकर शिखर पर पहुँचने
अडिग मनोबल।

वैसे बीजरूप में यह विचार निवेदिता के मस्ति
में सबसे पहले क्लास में शैलजा मैडम ने
था। वह बिगड़ते पर्यावरण के प्रति बेहद सचेत
जागरूक शिक्षिका है। उनकी चिंता क्लासरूम
बात-बात में प्रगट होती है। बच्चों से अकसर
हैं, ''...तुम बड़े होकर समझोगे कि हम बड़े
अपने वातावरण को प्रदूषित करने में किस तरह
आँख बंद करके लगे हैं। हमने जंगल नष्ट कर
हैं, जंगली जानवरों तक को नहीं बख़्शा है, न
में गंदगी बहा-बहाकर उन्हें गटर में तब्दील
दिया है।...बच्चो! तुम चाहो तो इस सब पर

लगा सकते हो। तुम एक नई दुनिया बना सकते हो...मुझे उम्मीद है तुम ऐसा ज़रूर करोगे। तुम एक न एक दिन प्रदूषित वातावरण से मुक्त हो जाओगे, अपने पूर्वजों की तरह प्रकृति का सानिध्य तुम्हें भाएगा। उसके लिए तुम निरंतर प्रयास करोगे।''

वही सब विचार निवेदिता ने अपने बड़े भाई के सामने रखे जो उसने शीघ्र ही ग्रहण कर लिए। छोटा भाई नरेंद्र अभी मात्र पाँच साल का है। उसके बारे में उन दोनों का ख़याल यह था कि उसका मस्तिष्क अभी इस तरह के भारी-भरकम विचारों को ग्रहण कर पाने में सक्षम नहीं है। लेकिन उसने स्वतः ही सिद्ध कर दिया कि वह विचार ग्रहण करने में इतना पीछे नहीं है जितना वे दोनों सोच रहे हैं। अब उन दोनों को यह सोच-सोचकर संकोच हो रहा था कि नरेंद्र इस बस्ती की योजना के प्रारंभ से ही उनके साथ रहा लेकिन उन दोनों ने कभी भी उसकी राय नहीं ली है, जो निहायत ग़लत है।

उस दिन सुरेश और निवेदिता अपने घर की बैठक में सोफे पर बैठे थे। उनके सामने सेंट्रल टेबल पर एक बड़ा-सा काग़ज़ फैला था। सुरेश के हाथ में पेंसिल और रबर थी। नरेंद्र उनके सामने एक कुर्सी पर बैठा था। सुरेश और निवेदिता आज यह निश्चय करके बैठे थे कि वे अपने छोटे भाई की भी राय लेंगे। इसीलिए निवेदिता ने उससे पूछा, ''क्यों नरेंद्र, हमें अपनी साफ़-सुथरी और प्यारी-सी बस्ती में सबसे पहले क्या बनाना चाहिए?''

उसने उन दोनों को ग़ौर से देखा और कहा, ''हमें सबसे पहले स्कूल बनाना चाहिए।''

उसने सेंट्रल टेबल पर घूँसा मारकर यह दर्शाया कि यह बात पूर्ण निश्चय के साथ कह रहा है। यह कहने में उसके मन में किसी तरह की दुविधा नहीं है। सुनकर सुरेश और निवेदिता फिर से चमत्कृत हो उठे। वे कुछ-कुछ अपने बुद्धिबल पर लज्जित भी थे। जो बात पाँच साल के बच्चे की समझ में आई वह उन दोनों की समझ में इतनी माथा-पच्ची के बाद भी क्यों नहीं आ सकी। अब कहीं जाकर निवेदिता की समझ में आया कि एक बार मैडम ने भी कहा था कि ''एक अच्छी दुनिया के निर्माण में सबसे पहली ज़रूरत अच्छे स्कूल की होगी। मंदिर-मस्जिद, हाट-बाज़ार बाद की ज़रूरतें हैं।''

उसने उत्साहित होकर कहा, ''नरेंद्र की बात हमें माननी चाहिए। हमारी बस्ती में सबसे पहले और सबसे अच्छी जगह पर स्कूल होना चाहिए। एक चार कमरे वाला हवादार स्कूल हम पहले बनाएँगे। उसके आसपास काफ़ी जगह छोड़ेंगे। उसमें बच्चों के खेलने का स्थान होगा। फूलों की क्यारियाँ होंगी...और घने वृक्ष होंगे। क्यों नरेंद्र ठीक है न?''

निवेदिता ने नरेंद्र से पूछा तो उसने ख़ुशी के साथ सिर हिला दिया।

सुरेश ने अपनी स्वीकृति के साथ आगे की योजना समझाई। वह बोला, ''अच्छा तो ठीक है, पहले हम अपनी बस्ती को इस बड़े काग़ज़ पर चित्रित करते हैं और फिर उसी के अनुसार ऊपर छत पर उसका निर्माण शुरू करेंगे।''

अभी सुरेश पेंसिल से स्कूल का चित्र बना ही रहा था तभी एकाएक मम्मी वहाँ आ गईं। वे बैठक में आते-आते ही बोलीं, ''अरे, तुम तीनों यहाँ बैठे-बैठे क्या कर रहे हो?...तभी हम कहें कि घर में आज ऐसी शांति कैसे बनी हुई है। लेकिन हमें तो अपनी आँखों पर भरोसा नहीं हो रहा है...वाह! ऐसे शरारती छोकरे ऐसे शांत होकर कैसे बैठ सकते हैं भई!...क्यों, क्या कोई बड़ी शरारत का इरादा है छोटू मियाँ!'' उन्होंने नरेंद्र के गाल पर चिकोटी ली और हँसने लगीं।

उन्हें हँसता देखकर सुरेश थोड़े विनोद के साथ बोला, ''ममा! प्लीज हम लोगों को डिस्टर्ब मत करो। हम बड़े गंभीर मसले पर बातचीत कर रहे हैं। जैसे-तैसे तो हम लोगों के बीच में सहमति बनी है, सो अब आप आ टपकीं।''

''चुप! बड़ा आया गंभीर मसला वाला!'' मम्मी ने उसे घुड़क दिया। तभी निवेदिता ने उनसे कहा, ''प्लीज, अभी आप जाइए ममा! सच में हम बहुत ज़रूरी काम कर रहे हैं।...आप नहीं समझेंगी।''

अब मम्मी को भी लगा कि बच्चे कहीं सचमुच में ऐसा काम तो नहीं कर रहे जो उनकी समझ में न आ रहा हो और उनके यहाँ आ जाने से उस काम

में बाधा आई हो। उन्होंने उन तीनों को बारी-बारी से देखा और उसके बाद सेंटर टेबल पर रखे बड़े-से काग़ज़ को ग़ौर से देखा। फिर जब कुछ समझ में नहीं आया तो बोलीं, ''अरे, तुमने पापा की अलमारी से ये इतना बड़ा काग़ज़ क्यों निकाला। तुम इसे बर्बाद करोगे तो वे हमें डाँटेंगे।...रखो इसको, जहाँ से लिया है, वहीं!''

''ओफ़ो ममी! हमारी बात मान क्यों नहीं लेती,'' निवेदिता ने झल्लाकर कहा, ''अभी आपकी समझ में कुछ नहीं आएगा।...हमलोग एक सुंदर-सी, साफ़-सुथरी बस्ती बसाने जा रहे हैं। उसमें अच्छा स्कूल होगा, साफ़ हवादार घर होंगे। शोर-शराबा, धूल-धुआँ कुछ नहीं होगा। वहाँ सब लोग प्यार-मुहब्बत से साथ रहेंगे।...उस बस्ती में प्रदूषण का कहीं नामो-निशान नहीं होगा।''

उसने कहा तो मारे आश्चर्य के मम्मी का मुँह फटा का फटा रह गया।

उन्हें देखकर सुरेश मुस्कुराया और बोला, ''नहीं समझी ममी!...अच्छा, आप तो यह बताओ कि हम लोग जो नए तरीक़े की बस्ती बसाने जा रहे हैं, उसमें सबसे पहले क्या बनाना चाहिए?''

''क्या बनाना चाहिए?...सबसे पहले अपना घर बनाना चाहिए। मैंने तेरे पापा से कितनी बार कहा है कि किसी अच्छी कॉलोनी में एक अच्छा-सा घर बनाना चाहिए—बिलकुल साफ़-सुथरा और हवादार घर!''

उन्होंने कहा तो निवेदिता ने मुँह बना लिया। वह बोली, ''ममी! अपना घर तो यह भी अच्छा है। हवादार भी ख़ूब है। लेकिन यह तो हम लोगों ने ही गंदा बना रखा है। छतों से जाला लटक रहा है, सारी चीज़ें धूल से अटी पड़ी हैं। आप पहले तो घर को झाड़ती नहीं हो और अगर झाड़ती भी हो तो कूड़ा ले जाकर पड़ोसी के दरवाज़े पर फेंक आती हो। उसके कारण हर महीने में दो-चार बार पड़ोसियों से झगड़ा होता है।''

निवेदिता ने कहा तो मम्मी आग-बबूला हो गईं। वे उस पर बरस पड़ीं, ''ऐऽऽ! लड़की की तरह से रहा कर। बड़ों के कामों में मीन-मेख निकालती है। अभी तो ठीक से पैरों चलना नहीं सीखा है और व इतनी ऊँची-ऊँची करती है।'' यह कहकर वे व ठहरी नहीं। ग़ुस्साती हुई बैठक से बाहर चली ग

उस दिन उस बड़े काग़ज़ पर बस्ती को उता का काम पूरा कर लिया गया और फिर अगले ि से उसके निर्माण कार्य के लिए सामान जुटाया ज लगा। घर में बेकार पड़े खोखे और डब्बे इत्या मम्मी-पापा की आँख बचाकर ऊपर छत पर पहुँ लगे। जो सामान बाज़ार से ख़रीद कर लाना उसकी लिस्ट बना ली गई। उसे हासिल करने लिए उन तीनों ने अपनी-अपनी गुल्लक फो डाली। उससे जब काम नहीं चला तब पापा की जे और मम्मी के पर्स पर हाथ साफ़ कर लिया।

पूरा निर्माण कार्य काग़ज़ पर बनाए गए नक़्शे आधार पर ही चल रहा था, लेकिन फिर भी क चीज़ अतिरिक्त जोड़नी होती तो परस्पर सहमति आधार पर उसे भी बस्ती में स्थान मिल जाता। इ तरह से लगभग पंद्रह दिन की कड़ी मेहनत के ब वह बस्ती बसाई गई। बस्ती जब बस गई, उस रंग-रोगन ठीक से हो गया, पेड़-पौधे यथा स्थ पर जम गए तब उन तीनों की ख़ुशी का क कहना।

उसके फ़ौरन बाद बस्ती के उद्घाटन का वि किया गया।

निवेदिता की इच्छा थी कि बस्ती का उद्घा शैलजा मैडम से कराया जाए, क्योंकि ऐसी ब बसाने का विचार सबसे पहले उन्हीं के कारण उस मन में पैदा हुआ था। लेकिन सुरेश चाहता था यह काम उसके पापा करें, क्योंकि उन्होंने बड़ों रास्ता बताने के लिए इतनी मेहनत से बस्ती बसा है इसलिए उद्घाटन पापा को ही करना चाहिए

सुरेश की बात नरेंद्र को भी ठीक लगी। इसलि निवेदिता ने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया। तीनों ने यह भी निश्चय किया कि पापा को यह उ समय बताया जाएगा जब उन्हें उद्घाटन क होगा, ताकि वे ज़्यादा से ज़्यादा ख़ुश हों। पहले बता देने से क्या पता उनकी ख़ुशी कम हो जाए

उस रात को काफ़ी देर तक वे तीनों जागते र

पहले तो उद्घाटन की तैयारी में काफ़ी समय निकल गया और उनके पापा-मम्मी जिस तरह से कल खुश होंगे उसकी कल्पना कर-करके वे उस रात को खुश हो रहे थे। इसलिए काफ़ी देर तक नींद नहीं आई।

अगले दिन सवेरे सबसे पहले निवेदिता जागी। उसने बाद में अपने दोनों भाइयों को जगाया। वे उठते-उठते जीने की सीढ़ियों से ऊपर वाली छत की ओर दौड़े। कितनी मेहनत और अरमान के साथ उन्होंने जो बस्ती बसायी थी उसे पहली बार दिन के उजाले में जल्दी देख लेना चाहते थे। लेकिन वे जैसे ही अपनी बस्ती के पास पहुँचे वैसे ही मायूस होकर खड़े रह गए। किसी बड़े और बलिष्ठ आदमी के पैरों के जूतों से बस्ती तहस-नहस हो चुकी थी। अनेक साफ़-सुथरे मकान, सड़कें, उद्यान ध्वस्त हो गए थे और हर विध्वंश पर जूते के तले की छाप थी। स्कूल के भवन की जो हालत हुई थी उसे देख कर तीनों बच्चे फूट-फूटकर रोने लगे। उसे जूतों से कुछ ज़्यादा ही रौंदा गया था। रौंदने के बाद स्कूल पर थूक दिया गया था।

निवेदिता से आँसू पोंछकर सुरेश को देखा और कहा, ''ऐसा कौन कर सकता है भला?''

सुरेश ने भी अपनी आँखें पोंछ लीं और कहा, ''ऐसा सद्कर्म अपने पूज्य पिताजी ही कर सकते हैं। ये निशान उन्हीं के जूतों के हैं।''

वे तीनों घोर निराशा में डूबे हुए से धीरे-धीरे सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आए। तब पापा-मम्मी किचन के आगे के बरामदे में बैठे-बैठे चाय पी रहे थे। नरेंद्र थोड़ा तमतमाया हुआ-सा चेहरा लिए आगे बढ़ गया और पापा से बोला, ''आपने अपने जूतों से हमारी बस्ती मिटा दी है...हमारा स्कूल बर्बाद कर दिया है...आप बहुत गंदे हैं...आपने ऐसा क्यों किया?...बताओ, क्यों किया?''

उसका वह रूप देखकर पापा सकपका गए लेकिन मम्मी का चेहरा तमतमा गया। उन्होंने एक चाँटा नरेंद्र के गाल पर जड़ दिया, ''बदमाश कहीं का, इतना भी नहीं समझता कि बच्चे बड़ों से सवाल नहीं करते हैं।''

निवेदिता ने आगे बढ़ नरेंद्र को अपनी बाँहों में ले लिया और उसके आँसू पोंछ दिए। वे तीनों अपने कमरे की ओर जाने लगे। उसी समय पापा-मम्मी की हँसी उनका पीछा करने लगी।

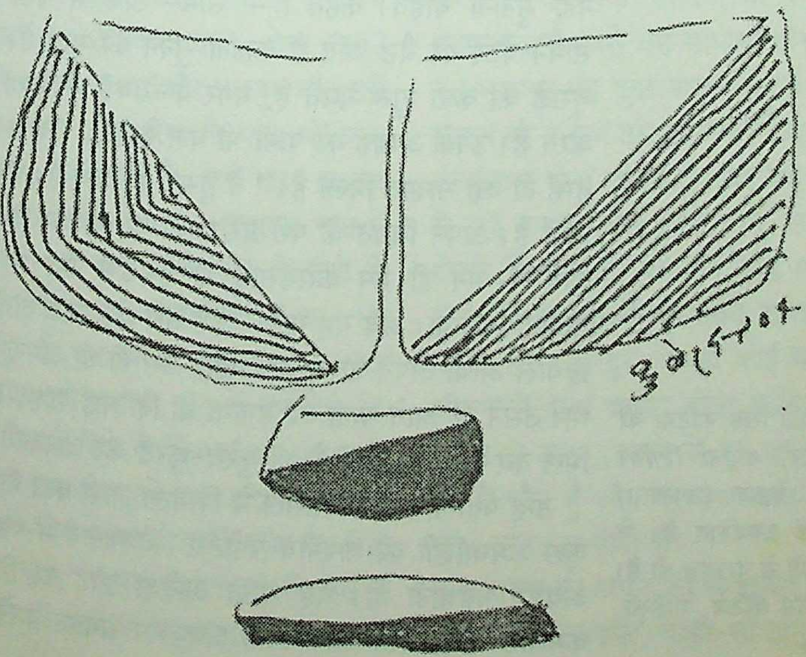

बद्री सिंह भाटिया

लोग फूलों को प्यार नहीं करते

मास्टर संतराम पोते और पोती का आग्रह नहीं टाल सकते।

उन्हें बच्चों को कहानी सुनानी ही पड़ती है। यह उनकी सर्दियों दिनों की सामान्य चर्या भी है। इन दिनों यूँ भी शाम जल्दी हो जाती खेत-खलिहान का काम समाप्त कर चूल्हे के पास शाम को आग ता बैठक लगती है। धर्मपत्नी सामने मक्की की रोटियाँ पका रही होती अंग्रेज़ी के टी आकार में बने तीन आंवदे (खाने) वाले चूल्हे के अग भाग पर तवा और पिछले दो में एक पर पानी का तंबिया, दूसरे प दाल-सब्ज़ी दुड़-बुड़ कर रही होती है—इस समय चूल्हे के पास वे ही होते हैं पति-पत्नी। छोटी-मोटी बातों में मशग़ूल। दिन भर कारगुज़ारी की समीक्षा चल रही होती है। इसी बीच बहू के पढ़ाई वा चंगुल से छूट कर दोनों पोता-पोती आते हैं। दोनों पहले दादी के पा जाते हैं। उसकी पीठ पर और गोद में ज़बरदस्ती घुसकर कुछ पाने इज़हार करते हैं—दादी लंबी ऊँ हूँ कर चूल्हे की मेंड़ पर से रोटी के से चिपके कुरकुरे टुकड़ों को थमाती है और प्यार भरी झिड़क से दादू पास जाने को कहती है। अपना हिस्सा ले वे दादू के पास आते हैं अ पीठ पर चढ़ कर कहते हैं—दादा, परी वाली कथा सुनाओ।

परी शब्द से उन्हें भीतर ही भीतर चिढ़ होती है। वे परी की कह नहीं सुनाना चाहते। कहते हैं—''सामने ठीक से बैठो पहले।'' ब सामने पटरे पर बैठ जाते हैं कहानी सुनने की मुद्रा में। मास्टर संत चूसड़े की कथा शुरू करते हैं, मगर बच्चे परी की कथा सुनने की ज़ि करते हैं। उनके आग्रह को पत्नी भी बल देती है, ''सुना क्यों नहीं दे तुम्हें तो वह साक्षात मिली है।'' वे ग़ुस्सा हो जाते हैं। एक प्रक्रिया भी होती है। अपने विगत के परी प्रसंग को स्मरण कर वे आज भी सिह जाते हैं—मन ही मन कसमसाते भी हैं—इस राज में पत्नी को क्य भागीदार बनाया। अब यह गाहे-बगाहे उसे छेड़ मज़ा लेती रहती है। फि ख़याल आया अपने दोस्त का। पहले उसे ही तो अपना राज़दार बना था। उसने ही आगे पत्नी को बताया था कि भाई साहब इस बार परी मिल कर आए हैं...पत्नी ने भी कुरेद-कुरेद कर जानकारी प्राप्त की थी

उन्हें पदोन्नति के सिलसिले में शिमला जाना पड़ा था। अपने क्षेत्र कुछ कर्मचारियों की गोपनीय रिपोर्ट्स निदेशालय में पहली जनवरी अवश्य पहुँचानी थी। यह सख़्त आदेश फ़ोन पर मिला था। सा कर्मचारी अपने शेष आकस्मिक अवकाश समाप्त करने के चक्कर

1947 में जन्मे बद्री सिंह भाटिया की *ठिठके हुए पल*, *यातना शिविर* (कहानी-संग्रह); *पड़ाव* (उपन्यास) सहित 6 पुस्तकें प्रकाशित हैं। ये हिमाचल अकादमी से पुरस्कृत भी हैं।

संपर्क : 2, हरबंस कॉटेज, संजौली, शिमला-171006

अवकाश पर थे, सो स्वयं जाने का निर्णय लिया।

इस बार बर्फ़ पच्चीस दिसंबर को ही पड़ गई थी। लगभग तीन फुट। हल्की बर्फ़ एक दिन पूर्व भी गिरी थी।

उसकी बस जब शिमला पहुँची रात के दस बजे से ऊपर का समय हो गया था। सड़क के दोनों किनारों पर गाड़ियों की लंबी क़तारें। ख़ूब पर्यटक आए हैं, उसने सोचा। उसने शुक्र मनाया कि बस अड्डे तक कहीं रुकावट नहीं आई। वरना बर्फ़ के इन दिनों और नव वर्ष की पूर्व संध्या को तो बैरियर से आगे जाना कठिन होता है। इक्का-दुक्का जगह पर घड़ी भर रुके भी मगर उसे जाम नहीं कहा जा सकता। उसने समीप के होटलों में ठहरने की व्यवस्था के बारे में पूछा। नशे में धुत स्टाफ़ का नकारात्मक उत्तर। भीतर से संगीत की आवाज़। लोग अपने में मस्त, नए वर्ष के स्वागत हेतु तड़पते से, मस्त थिरक रहे होंगे, उसने कल्पना की। और दिन होता तो होटलों में हल्की जान-पहचान, परिचय देने पर कहीं भी एडजस्ट हो सकता था। अभी तो नववर्ष की पूर्व संध्या है। रात के बारह बजे तक तो ये शोरगुल रहेगा। तब कहीं कुछ लोग मूड में होटल छोड़ कर चले गए तो शायद जगह बने। पर तब जाने कितने होटलों में भटकना पड़ेगा—पूछते, क्या थोड़ी जगह मिलेगी? अपनी स्थिति पर क्रोध आया—किसका मुँह देखकर चला होगा वह? मनहूस...ठंड ने अपनी जकड़ और मज़बूत की। उसे ख़याल आया—माल और रिज के पास भी कुछ होटल हैं। सस्ते। वह ठहरा है, कई बार। शायद जगह मिले। ऊपर चला गया वह। स्वागत कक्ष में कमरों के किराए सुन कर उसके पाँव के नीचे से ज़मीन खिसक गई। वह कहना चाहता था, भई टूरिस्ट नहीं हूँ, दौरे पर आया हूँ, मगर चुप। वह बाहर निकलता, आगे बढ़ता। पाँव में बूट ऐसे कि बर्फ़ पर ठीक से नहीं टिके तो फिसल कर धड़ाम से गिरने से हड्डी-पसली टूटने का अंदेशा।

रिज क्या था—भिन्न-भिन्न प्रकार की रंगीन रोशनियों से भरा। भवन, वृक्ष, हवाघर, होटल इत्यादि रात के अँधेरे को काटने की कोशिश में—आदमी ही आदमी, झुंड ही झुंड, टेप रिकॉर्डर, स्टीरियो, वाकमैन, अपने में मस्त लोग। मानो यह रिज किसी बड़े होटल का खुला हॉल हो। युवकों और युवतियों के मिले-जुले झुंड वातावरण में ठंड में भी गर्मी का अहसास करा रहे थे। इस प्रकार के प्रदर्शन के बारे में उसने सुना था, मगर प्रत्यक्ष अनुभव पहली बार हुआ था। जाने कितनी बार शिमला आया, नववर्ष की पूर्व संध्या को भी, मगर इस अनुभव से वंचित ही रहा। दरअसल जब भी आता व्यस्त होता। रात होटल में काटी या किसी रिश्तेदार के यहाँ। इस प्रकार से घूमने का सरोकार ही नहीं रखा। पर आज यह रूप—मन ही मन कहा—इस अनुभव से वह क्यों वंचित रहे। फिर विवेक ने कहा—आदमी के जीवन में जाने कितना कुछ है जिसे वह देख-समझ नहीं पाता। वह घूम-घूमकर इसका आनंद लेने लगा।

उसके मन में अपने आनंद में विभोर इन लोगों की इस स्थिति के बारे में सवाल सरक गया। ऐसा क्या है? लोग इतने मस्त क्यों हैं? फिर स्वयं से उत्तर भी मिल गया—वर्तमान समय में वैज्ञानिक सुविधाएँ हैं। आदमी थोड़ी देर में कहीं भी आ-जा सकता है। पर्यटन उद्योग का एक उदाहरण है—बर्फ़ भी देख लो, मन में छिपी भावनाओं का प्रदर्शन भी कर लो—दरअसल आदमी के मन में बहुत कुछ ऐसा होता है जिसे वह सामान्य तौर पर व्यक्त नहीं कर सकता। वह कुछ अलग करना चाहता है, मगर समाज की बेड़ियाँ उसे करने नहीं देती। वह कभी-कभी उच्छृंखल होना चाहता है। यह वह दिन की रोशनी में नहीं कर सकता। छिपी शर्म, उसका दर्जा, उसे रोकते हैं—अतएव वह रात और शराब का सहारा लेता है। वह अपनी वास्तविक जगह से पलायन भी करता है। कहीं दूर, अपना कोई न हो। वास्तव में जीवन में एक वक़्फ़ा होना चाहिए जहाँ आदमी अपने से ऊपर, अपने से दूर जा सके। भूल जाएँ कि मैं कौन हूँ और मेरे क्या कर्तव्य हैं! इससे वह पुनः तरोताज़ा होता है।

संतराम को अपने बारे में ख़याल आया—हाँ यह ठीक है, एक वक़्फ़ा, थोड़ी-सी ख़ाली जगह वास्तव

में होनी ही चाहिए। और हम! हम साले बेकार हैं। मकड़ी के जाले में फँसी मक्खी की मानिंद। छूटते, फँसते और वहीं इहलीला समाप्त।

आश्रय की तलाश और रिज की गहमागहमी को निरखता-परखता वह थकान महसूस करने लगा। वह एक जगह हवाघर के कोने में रुक गया। प्रतीक्षा में, कब रात के बारह बजे और नव वर्ष का आगाज़ हो। पटाखे चलें...वह किसी होटल में फिर पूछे—थोड़ी-सी सिर छिपाने की जगह, वरना फिर गस्ती पुलिस पूछेगी—नशेड़ी क़रार दे सकती है। क्या पता अंदर ही कर दे। उसे गुस्सा आया। एक गाली भीतर ही भीतर उभरी।

इस बीच उसने एक-दो बार महसूस किया कि एक स्त्री आती है। उसके पास ठिठकती है और पूछती है—ठहरने का नहीं बना क्या? आदतवश उसने उसकी बात को नकार दिया था। इस बार वह फिर आई। उसके बराबर खड़ी हुई बोली, ''क्या जींवन है, इस ठंड में भी गर्मी है। कुछ लोग खड़े बोर हो रहे हैं, ठहरने का नहीं बना शायद।'' वह नहीं समझ सका कि यह उससे कहा गया है या किसी और से! वह हटी और आगे निकल गई। वह चौंका—क्या कह गई? ठहरने का...। ख़याल आया होटल में, वेटर कह रहा था—''बाबू जी कोई ऐसा आदमी देखो जो आज रात के लिए दो-चार सौ लेकर ठहरा दे। ठंड में होटलों में नहीं मिलने कमरे, न थोड़ी-सी जगह। आज लोग अपने घरों में लोगों को पेइंग गेस्ट बना कर भी ठहरा देते हैं।''...क्या किया जा सकता है? कैसे ढूँढ़ें ऐसे व्यक्ति को?

ठंड पैरों से होती टाँगों में चढ़ गई थी। ऐसा लग रहा था कि ख़ून जमने लगा है। पशमीने की चादर भी अब ठंड को रोकने में असफल थी। धीरे-धीरे उसका ध्यान रिज की रौनक से हटने लगा। उकताहट-सी महसूस होने लगी। हवाघर से उसने सामने देखा—कभी दौलत सिंह पार्क से विख्यात था यह पार्क। फूलों और फव्वारे से सुसज्जित। एक ओर दुर्लभ चिनार का वृक्ष। सेना के जनरल दौलत सिंह के नाम पर रखा गया था इसका नाम। एक सेनानी को श्रद्धांजलि। फूलों की क्यारियों के बीच बैंचों पर बैठने या क्षण भर घूमने के लिए निगम चवन्नी किराया लगाया था। आज यह चिनार वृक्ष रंग-बिरंगी रोशनियों से अटा पड़ा है। टहनि पर कहीं बर्फ़ दिख रही है।

संगीत का शोर और समय की कम गति सरकती सुइयाँ—उसकी नज़रें दौलत सिंह पार्क दूसरे कोने पर चली गईं—खुले स्थान का अ प्रयोग किया जा रहा है। दिन भर यहाँ सैलानी प्र के स्थानीय परिधान पहन कर फ़ोटो खिंचवाते किसी भी दूसरे अंचल के सैलानी को पहाड़ी दिया जाता है। पर अब ये गँवई सामान्य पहरावे भी प्रयुक्त होने लगे हैं। एक समय था बुशहरी-कुल्लवी टोपी और पट्टी का कोट प व्यक्ति को बुद्धू मान ठगने की कोशिश होती मगर आज ये पहरावे प्रतिष्ठा के प्रतीक हैं। उ सिलाई का ''लोइया'' बनवाना, पहनना एक ख़ा ठसक का परिचायक है। कितना बदल गया है कुछ आज। ''नमस्कार परमार जी आपको। आ किया यह सब।'' मन-ही-मन कहा उसने।

उसका ध्यान फिर पलटा। पिंडलियों में दर्द हो लगा था। ठंडी हवा टाँगों को ठंडा करती जा थी। रिज पर भीड़ और बढ़ने लगी थी। सामने स टाइम का इंडिकेटर समय और तापमान का आभ कराता जा रहा था। उसके साथ कुछ और लोग ख हो गए थे। आपस में बतियाते। उन्होंने सिगरेट ज लिए थे। अपनी स्थिति का भान उसे हुआ—आ आश्रय नहीं मिला। माथा तपता-सा महसूस हुआ मन में एक ख़याल यह भी आया कि गिरता-पड़ चलता रहे, रिश्तेदार के घर तक। सुबह तक पहुँ ही जाएगा। चलते-चलते ठंड भी नहीं लगेगी कैसा शहर है यह भी, रात को यहाँ कोई बस न चलती। फिर उसे उस स्त्री का ख़याल आया—व ही आती तो उससे कहता, ''हाँ! ठहरने का न बना, उसके पास कोई स्थान है तो...'' मगर प नहीं कहाँ चली गई थी। भीड़ में कहाँ ढूँढ़ें!

ठंड और थकान से ध्यान हटाने के लिए उस विचारों का रुख़ पलटा। फिर सामने देखा। आशियाना भीतर संगीत का शोर। ऑर्केस्ट्रा की धुन बज रह

थी। शायद लोग नाच रहे होंगे। आज सब छूट है। कर्मचारियों, अधिकारियों को पर्यटन की दृष्टि से नियम ताक पर रख देने के आदेश हैं। मुद्दा केवल धन कमाना, आगंतुकों को संतुष्ट करने का है—कभी यहाँ पर्यटक, वरिष्ठ नागरिक, सामान्य जन हवाखोरी को बैठा करते थे। हवाघर ही था यह। गर्मियों में यहाँ बैंड पर धुनें बजा करती थीं और आज धन कमाने का एक सबब। ऊपर रेस्तराँ नीचे बार। आदमी बड़ी चीज़ है। बेसमेंट भी निकाल लिया। एक जगह बना ली—चलो यहाँ भी गुफा बना कर कुछ धन कमा लिया जाए। ठीक भी है—धन यदि भगवान नहीं तो कम भी नहीं। मनी मेक्स द मेयर गो।...चाय-कॉफ़ी का एक प्याला पिया जा सकता है।

अपने पर क्रोध आया—इन्हें देखो रिज पर नाचने वालों को ये यहाँ पैसा ख़र्च करने आए हैं और तुम बचत की सोच रहे हो। कहीं बीमार पड़ गए न तो...। विवेक ने सवाल किया। चलना ही चाहिए। कहीं बैंच पर बैठने की जगह मिलेगी—टाँगों को आराम मिलेगा। थकान शरीर को संदेश दे रही थी कि ज़रा-सी ओट प्राप्त कर वहीं पड़ जाओ। शिमला आने का मज़ा बर्फ़ और नए साल के समारोह ने चकनाचूर कर दिया था। उसने पहले कनखियों से फिर पूरी नज़र से जाखू की ओर देखा। घड़ी भर पहले आए बादल कहीं गुम हो गए थे। वृक्षों पर बिछी बर्फ़ की चादर अपनी चमक से अँधेरे को चीरने का प्रयास कर रही थी। आसमान में बादल फट गए थे। फटे बादलों से चाँदनी की चिलकोर बर्फ़ की चमक को बढ़ा देती। उसके कानों में एक अलग-सा शोर पड़ा—देखा, सामने एक रेस्तराँ के आगे कुछ युवक पुलिस से उलझ रहे थे। पीकर कुछ बेवजह बहक गए होंगे।

उसका ध्यान पलटा। वही आवाज़। कमरे का नहीं बना क्या? एक महिला। बुक्कल लगाए। ठिठकी है वह। जल्दी जवाब न मिलने पर आगे सरकने लगी। कौन होगी यह? उसकी व्यक्तिगत आवश्यकता की पूर्तिकर्ता। ईश्वर ने भेजी है। इसके पास रहने की जगह है। इसे रोकना चाहिए। अब रात नहीं काटी जाती। इस तरह नहीं...पर शब्द कहीं तालू में अटक गए थे। उसने हाँ में आवाज़ निकाली, मगर जबड़ा ही नहीं हिला। भीतर कहीं शब्द अपनी टंकार कर ठहर गए। फिर उसने गर्दन हिलाई। मगर उसने नहीं देखी। वह अभी भी ठिठकी, सरकने की मुद्रा में थी। फिर शीघ्रता से उसने हूँ-हूँ की। बर्फ़ ने उसका सब कुछ ठंडा कर दिया है।

उसकी हूँ से स्त्री उसके समीप आई, ''थोड़ा दूर है।''

''कोई बात नहीं।'' थूक गटक उसने कहा।

''चलो।'' वह नीचे उतरा। एकबारगी फिर प्रश्न कौंधा। ''कौन होगी यह? कोई दलाल...गुंडा तत्त्व?'' विवेक ने कहा। ''नहीं ऐसी नहीं लगती। चेहरा ठीक से नहीं दिख रहा—पता लग सकता था। इस समय ठहरने भर की जगह चाहिए। बाक़ी सँभलकर रहूँगा।'' सोच कर वह आगे बढ़ा।

ऊपर देखा—सामने नगर निगम का भवन मानो उसकी स्थिति पर अट्टहास कर रहा था। ''लो ब्राह्मण! शिमला का मज़ा।'' इस भवन के शिखर पर एक ध्वज शलाका दिखी। हाँ इस पर स्केटिंग रिंक का डोल जैसा झंडा इंगित करता है कि आज स्केटिंग होगी कि नहीं। कहते हैं यह खुले आसमान के नीचे एशिया का पहला रिंक है।

''होगा। हमें क्या!'' उसने कहा।

अपनी स्थिति पर क्रोध आ रहा था—शायद कभी किसी को शीत दुख दिया होगा—तभी आज यह भुगतना पड़ रहा है या ठंड में किसी का घर उजाड़ा होगा तभी यह तकलीफ़ सहन करनी पड़ रही है। क्या जीवन है—हम आज जो भी हैं, जिस स्थिति में हैं, एक गोलाकार वृत्त-सा है। इस वृत्त के अंदर और बाहर अनेक वृत्त हैं, बाहर निकलने की कोशिश, या केंद्र में जाकर एक बिंदु को छूने की कोशिश। यहीं भोगते रहते हैं हम जीवन के सुख-दुख। शायद यहाँ आना भी उस वृत्त के वितान का हिस्सा हो। कर्म की गति। हमारे कितने कर्म फल हैं जो इस जन्म में पूरे होते हैं, कितने रह जाते हैं, जिन्हें पूरा करने को हम फिर जन्म लेते हैं। होठों के भीतर वह बुदबुदाया—इस जन्म में तो मैंने ऐसा कुछ नहीं किया है। तो पिछला ही होगा यह।

वे आगे बढ़े। चार क़दम चलने पर वह रुक गई। कहा, ''सामने के होटल से कुछ खाने को ले आओ।'' वह चौंका। उसे ख़याल ही नहीं आया कि वह भूखा भी है। फिर इसे कैसे पता चला कि ये भूखा है। अंतर्यामी-सी लगती है। कहीं कोई जादूगर तो नहीं। मगर इससे ज़्यादा निर्णय और सोचने का मन उसका नहीं था। वह लपक कर भीड़ को चीरता शॉप तक गया और दो डिब्बे पैक करवा कर ले आया। वे आगे बढ़े। वह एक किनारे की ओर बढ़ी और बिजली के खंबे के पास खड़ी हो गई, ''खा लो। पेट में कुछ नहीं होगा।'' डिब्बे खोल वे खाने लगे। ''देखा, पैसे का खेल। आज शासन ने भी ख़ूब ढील दे रखी है। सारे नियम ताक पर हैं, जो जिसके मन में आता है, कर रहा है। इससे होटलों, दुकानदारों को आमदनी होगी। कल ख़बर में आँकड़े होंगे। बयान होंगे। इस प्रदेश की तारीफ़ छपी होगी। सभी ख़ुश होंगे। तुम जानते हो ख़ुश रहने के लिए कुछ न कुछ तो चाहिए, बहाना मात्र। और आदमी की गत देखो, भूल ही गया है कि वह जानवर से अलग और ऊपर है...तुम चलो।'' क्रोध से उसने अपने हाथ का पैकेट फेंक दिया और आगे बढ़ी। ''चलो।'' चलते-चलते पूछा, ''आप?'' उसने कोई उत्तर नहीं दिया। वे आगे बढ़ते रहे। आगे एक मोड़ पर उसका ध्यान पलटा—यहाँ घोड़े हुआ करते थे। मौसम ठीक होता तो आज घोड़े वालों की चाँदी होती।

बर्फ़ पर पड़ रही स्ट्रीट लाइट की प्रतिछाया से कमरे में हाथ भर देखने की रोशनी हो रही थी। उसने उसे एक ओर बैठने का इशारा किया। मगर वह रोशनी के इंतज़ार में खड़ा रहा कि यह बत्ती जलाएगी। सामने एक चारपाई होगी, दो भी। एक ओर सोफा या कुर्सियाँ, साथ में रसोई। भीतर आने पर बाहर की शरीर नोचने वाली ठंड थोड़ी कम हुई थी। वह बुदबुदाई, मोमबत्ती थी यहीं कहीं। टटोलने का-सा आभास मिला। फिर ठन से कुछ गिरा। बोली, ''माचिस है तुम्हारे पास?''

''नहीं। मैं बीड़ी-उड़ी नहीं पीता। बिजली नहीं है क्या?''

''नहीं।''

''फिर आगे आ जाओ, यहाँ बैठो। ऐसा ही ठंड से बचने के लिए।''

उसने फिर दोहराया, ''बिजली...।'' वह बोलता कि वह गुस्से से बोली, ''तूने रात काट या सुई में धागा डालना है।'' चिड़चिड़ी है। रास्ते में भी नहीं बोली। वह चुप हो गया। निकल जाना चाहता था, मगर आज तो शहर बेगाना हो गया है। पाँव में ठंड से चुन-पुन हो थी। उसने सोचा था, इस स्त्री के घर जा कर गर्म पानी माँगूँगा, फिर पैर सेंककर, किराए के बा पूछूँगा। अधिक माँगेगी तो अपनी न दे पाने की बयान करूँगा। पर यहाँ। क्या करें? उसने अटैची ओर रखी। ''बिस्तर कहाँ है?'' उसने पूछा।

''यहाँ मेरे पास बैठ जाओ। गुज़ारा करो। क भी इतने ही हैं। अपना पट्टू ले लो।''

संतराम को भीतर एक अनोखी गंध का अहस हो रहा था। वह वहीं बैठ गया। हल्का-सा तख़्तपोश लगा। कुछ नर्म-सा भी महसूस हु पर बिस्तर की कमी। ठंड से अकड़े हुए शरीर राहत मिली। चलो ऐसे ही सही। यह कोई डेरा लगता नहीं। कौन होगी यह?

''भिखारी।''

''नहीं! कहते हैं, भिखारी तो ठाठ से रहते उनके यहाँ कोई कमी नहीं होती। वे बाहर कुछ दिखते हैं, होते कुछ और हैं। चलो देखा जाए रात कट जाती तो सुबह की सुबह देखते। यह काफ़ी है कि कहीं ज़रा-सी ठहरने की जगह तो गई। फिर मैं कौन-सा सेठ हूँ जो आलीशान बिस् पर सोता है। प्रभु की ऐसी ही मर्ज़ी होगी। होटल के कर्मचारी का ध्यान आया। उसने कहा ''यहाँ पैसे लेकर भी लोग रात को जगह दे हैं।'' वह चुप थी। संतराम ने बात बढ़ाने को पूछ ''कितना पैसा लोगी?''

वह चुप रही। उत्तर न मिलने से वह चुप गया। मन में कहीं बिजली-सी कौंधी वह यहाँ औरत के साथ अकेला है। साला कुछ...। पुलिस ने देख लिया तो...। पूछा, ''तुम

अकेली रहती हो क्या?''

''हाँ।''

''कोई नहीं है क्या?''

''जीवन में सभी अकेले हैं। तुम जूते उतार लो, यहाँ आ जाओ समीप। बिस्तर कम है। ये कंबल ले लो और अपना पट्टू भी ओढ़ लो।''

''कोई बात नहीं। यह काफ़ी है कि रात काटने को जगह मिल गई।'' उसने कंबल लिया, अपना पश्मीने का पट्टू जोड़ा और वैसे ही लेट गया। हवा का तीव्र झोंका भीतर आया। लगा बाहर और भीतर में कोई अंतर नहीं है। इस स्त्री ने दरवाज़ा कैसे बंद किया होगा। उसने करवट बदली। उसका शरीर पास गठरी बनी उस स्त्री से टकराया। वह थोड़ा इधर को हटा। स्त्री बोली, ''पड़े रहो। दरअसल, बड़ी देर से देख रही थी। पहले तुम इधर-उधर भटक रहे थे। फिर हवाघर में। मैंने समझ लिया था कि इस आदमी को आज जगह नहीं मिली। कोई घर ले जाने वाला भी नहीं। ये लोग तो मस्त हैं। कौन मदद करेगा? इसकी मदद करनी चाहिए। पर तुम बोले ही नहीं।'' संतराम की ओर उसका मुँह था।

उसके श्वास में गंध थी। ''इसने पी रखी है।'' उसका मन स्त्री को डाँटने को हुआ। जीवन के आदर्श, स्त्री के सामाजिक दायित्व समझाने को हुआ। मगर शीघ्र अपनी स्थिति का भान हुआ। क्या पता यह स्त्री कैसी होगी? क्या स्थिति होगी इसकी? इस शहर में जो एक बिस्तर भी पूरा नहीं। कोई मज़दूर होती तो परिवार होता! क्या पता? वह डर गया। अपने सीधे-सादे होने का भी भास हुआ। जीवन में ऐसे मोड़ से नहीं गुज़रा कभी। कल किसी जान-पहचान वाले ने देख लिया तो...। यह घर कहीं मुहल्ले में हुआ और सुबह कोई यहाँ आया तो? पूछा—''पड़ोस में कितने परिवार हैं?''

''कोई नहीं है। तुम बस्स पड़े रहो।''

''बोतल नहीं है तुम्हारे पास!'' स्त्री ने पूछा। मगर वह कुछ और ही सोच रहा था।

यह स्त्री कहीं कोई डायन, चुड़ैल तो नहीं। डायन हुई तो क्या पता, क्या बना दे! चुड़ैल हुई तो कहीं दूर न ले जाए। वह अपने डर से सोने का-सा बहाना करने लगा। नींद का नाम नहीं। हाँ। पैरों में तपन आ रही थी। स्त्री का सवाल सुन और डर गया। बोला, ''नहीं, मैं नहीं पीता।''

''कहाँ से आए हो?'' स्त्री ने पूछा।

''चंबा से।''

''क्यों?''

प्रोमोशन के लिए कुछ काग़ज़ात देने हैं।...साले ऐसे बुलाते हैं जैसे हम ग़ुलाम हों। बस आज ही चाहिए। जब पता था कि यहाँ आज रहने की दिक़्क़त होगी तो प्रोमोशन की बैठक दो दिन बाद की रख देते। ज़रूर कोई अपना चहेता होगा, आज ही ज्वाइन कराना होगा। क्या समय है, लोग अपने से बाहर देखते ही नहीं। हर एक ने एक दर्प पाला हुआ है बड़प्पन का। उसे नीचे दिखता ही नहीं।'' स्त्री चुप रही। संतराम को लगा, स्त्री की उसकी समस्या में रुचि नहीं है। सो बात बदली—''क्या करती हैं आप?''

''कुछ नहीं।''

''आपके पति?''

''पति! कैसा पति? सब एक से होते हैं पुरुष। तुम्हारी तरह। पति पुरुष की तरह एक शरीर होता है।''

''मतलब, अलग रहती हैं।''

''था एक मर्द। छोड़ दिया। तुम अपनी सुनाओ। कितने बच्चे हैं? घरवाली कैसी है? वह उसके समीप सरक आई।'' ठंड लग रही है।...हम समीप होंगे तो ठंड कम लगेगी।...मैं ऐसा नहीं करती मगर इंसान ही इंसान के काम आता है। सो किया...'' वे काफ़ी देर तक बतियाते रहे थे।

''पति-पत्नी को जोड़ने में एक संगीत होता है, जिसकी धुन पर वे आगे बढ़ते हैं कि वे जीवन की राह पर एक गाड़ी के पहियों की तरह होते हैं, ज़रा-सी हवा कम हुई तो चाल में कमी आ जाती है। यह एकपक्षीय सौदा नहीं है, लेना और लेना। सारा तामझाम, प्यार का दिखावा एक बिंदु पर टिक जाता है। शरीर ही तो सब कुछ नहीं। औरत को पति पूर्णता में चाहिए। वह उसे प्यार करे, घुट कर। उसमें केवल वासना का लेशमात्र भी नहीं होना

चाहिए। वह उसके लिए संबल भी होना चाहिए, हर स्थिति में। वह उसे हल्का-सा ताड़ने वाला भी हो। ये तीन चीज़ें हैं जो घर की गाड़ी की हवा निकलने नहीं देते। इनमें ज़रा-सा भी असंतुलन आ जाए, एक तनाव भर जाता है। तनाव की पराकाष्ठा से दिमाग़ ख़राब हो जाता है''...वह चुप हो गई थी। तनिक चुप होकर बोली थी, ''बस अब और मत पूछना—मेरा दिमाग़ ख़राब हो जाएगा। मैं सोना चाहती हूँ।''

क्या विचित्रता थी। पता नहीं क्या दबाव रहा होगा जो अकेली है। उसने सोचा और कब उसका हाथ उसे थपकी देने लगा पता ही न चला।

मास्टर संतराम सपनों की दुनिया में कही खो गया था—आँखों में एक सुंदर शहर उतर आया। शहर सूर्य के ताप और किरणों से इतना चमक रहा है कि आँखें चुँधिया रही हैं। उस शहर के जिस बाज़ार से वह गुज़र रहा है, उसमें भीड़ है। लोग ख़रीद में मशगूल हैं। इस बीच उसे भूख लगती है। वह किसी होटल की तलाश करता है, मगर होटल कहीं नहीं है। एक बाज़ार से दूसरे बाज़ार तक। उसने विचार बदला कि फल खाए जाएँ मगर कहीं फल भी नहीं। बस अगर कुछ है तो बर्तनों, कपड़ों और स्टेशनरी की दुकानें। वह चलते-फिरते लोगों से पूछना चाहता है, मगर किसी के पास उसकी बात सुनने का समय नहीं है। वह हताश अपने को एक सुंदर पहाड़ी पर पाता है। चारों ओर रंग-बिरंगे फूल खिले हैं। उसने एक फूल को छुआ और चूम लिया। फूल चूमते ही उसके सामने एक स्त्री खड़ी हो गई। वह चौंका। ''परी!'' पल भर पहले तो यहाँ कोई नहीं था।

''हाँ मैं। मैं परी हूँ। तुमने मूझे चूमा। प्यार किया? अच्छा लगा। कितने दिनों से मैं प्यार को तड़प रही थी। अब लोग फूलों को प्यार नहीं करते। तुम भूखे हो, चलो पहले खाना खाओ, तब बात करेंगे।'' उसे लगा उसके पाँव धरती पर नहीं हैं, वह उड़ा जा रहा है...।

वह उसे वहीं पहाड़ी पर बने एक मंदिर में ले गई। वहाँ लंगर लगा था। दोनों ने पेट भर खाना खाया। खाना खा कर वह मंदिर में माथा नवाने लिए चला। घंटी बजाने को हाथ बढ़ाया मगर घं हाथ नहीं आई। वह उछला। हाथ घंटी से टकराय टन-टन की आवाज़ की जगह दर्द हुआ और उस नींद खुल गई। उसने कंबल परे किया और आँ मलता बैठ गया। कमरे में प्रकाश फैल गया आस-पास देखा। सीमेंट की बोरियाँ हैं। कु गुदड़-से कपड़े हैं। रात वाली स्त्री नहीं है। उस अपने को देखा। स्वयं को छुआ। वह कहाँ है? व यहाँ कैसे आया? वह स्त्री कौन थी? वह उठ गय आगे बढ़ा, बंदर दरवाज़े पर खों-खों कर रहा वह पीछे हटा घबराया-सा। यह क्या हो गया? प का ख़याल कहीं गुम हो गया था।

बाहर आया तो देखा चार मंज़िला वह इमा शहर से थोड़ा इधर है। ऐसा लगा बहुत समय निर्माण रुका है। संपर्क सड़क से जो पगडंडी इ भवन तक जाती है उसमें काफ़ी घास उगी है जि पर बर्फ़ उसी तरह है। वह इस पर चलने वालों निशान देखने लगा, कितने लोग चले होंगे अ तक? उसे ध्यान आया—शहरों में कुछ मका छोटे-मोटे झगड़ों से यूँ ही रह जाते हैं—हो सक है नगर नियोजन विभाग ने नक़्शा पास न किया है या नगर निगम ने कोई आक्षेप लगाया हो। यह भ हो सकता है ज़मीन का कोई विवाद हो—भाई बाँ का या कहीं निर्माणकर्ता ही न रहा हो। धन की कमी भी एक कारण हो सकता है। वह आगे बढ़ा। संपर्क सड़क पर पहुँचते उसने एक खोजी दृष्टि भवन की ओर डाली। कहीं किसी मंज़िल पर धूप सेंकती उसकी आश्रयदाता ही दिख जाती। धन्यवाद करता। कैसा भी सही सिर छिपाने की जगह मिल गई। यदि न मिलती तो जाने क्या होता? मन में रात का दृश्य कौंध गया—उसका सान्निध्य, रिज पर मिलना, शराब की गंध, उसके जिस्म की गंध...कहीं वह कोई चालू औरत तो नहीं होगी। यह अड्डा चुन रखा हो। मुझे फँसा कर धन उड़ा कर चंपत हो गई हो। क़दम वहीं रुक गए। पॉकेट देखी। पैसे सुरक्षित थे, ब्रीफ़केस खोला, उसमें भी कपड़ों के बीच कुछ पैसे रखे थे। सब ठीक। ''फिर वह कौन थी? कहीं कोई मायावी

शक्ति तो उसे यहाँ न ले आई हो? वह सप्तशती का श्लोक उच्चारने लगा—सर्वरूपे, सर्वेशेः सर्वशक्ति समन्विते...

एक नए अनुभव का बोझ लिए वह आगे बढ़ा। चाय की तलब हो रही थी। बाज़ार काफ़ी आगे था। वह संपर्क सड़क से रिज की ओर बढ़ा। धूप में बर्फ़ की चादर में शिमला एक सफ़ेदपोश मानव लग रहा था। पूरा रिज धमाचौकड़ी से एक बर्फ़ के पतरे में तबदील। यत्र-तत्र कुछ चकत्ते से जहाँ धूप ने अपना असर दिखा दिया था रात को पर्यटकों ने किसी तरह ख़ाली कर दिया था—तारकोल ऐसे दिख रही थी मानों कंबल में पैबंद हो। पतरा बनी बर्फ़ पर चलना कठिन हो रहा था। बर्फ़ की चमक आँखों को चुँधिया रही थी। कुछ पर्यटक आ गए थे। उसने सोचा—इनको यहाँ क्या मिलेगा? बर्फ़ खेलने तो अब कुफरी, नालदेहरा या नारकंडा जाना होगा। कुफरी, नारकंडा के रास्ते तो देर से खुलेंगे, नालदेहरा या सड़क के किनारे जाया जा सकता है। पर बासी बर्फ़ पर इतना मज़ा नहीं जितना ताज़ा बर्फ़ का होता है। रिज पर पर्यटकों ने बनाए स्नोमैन भी कोहरे ने सख़्त कर दिए थे। वह बीच में खड़ा हो गया। जाखू की ओर दृष्टि डाली। हल्का-सा अँधेरा—सूरज तो काफ़ी देर बाद आएगा यहाँ। सारे वृक्ष, मकानों की छतें बर्फ़ से लदी थीं। समीप के मकानों में बर्फ़ीले पानी की रिस रही बूँदें जम कर अनेक प्रकार के शंकु बना रही थी। एकाएक उसे एक व्यक्ति का धक्का लगा। वह गिरते-गिरते बचा। व्यक्ति फिसल कर गिर गया था। वह चौंका। व्यक्ति को गिरते देख, अपने गड़बड़ाए संतुलन को ठीक किया। हँसी निकल गई। वह आगे बढ़ा और बुदबुदाया, ''जाने दूसरों का गिरना क्यों अच्छा लगता है।''

उसके पैर की ठोकर एक डिब्बे को लगी। डिब्बा रिड़कता हुआ आगे चला गया। उसने देखा, चारों ओर टिन, डिब्बे, पॉलीथीन, बिसलेरी, शराब की बोतलें, उनके खोल। दो कोनों पर सफ़ाईकर्मी इन चीज़ों को झाड़ू लगा रहे थे। मन ने कहा—रात को कितने स्त्री-पुरुष, युग्म, झुंड इस बर्फ़ को नाच-नाच कर रौंद रहे थे। नववर्ष के आगमन की प्रतीक्षा में बर्फ़ पर फुदकने का आनंद ही कुछ और था। जैसे ही रात के बारह का ग़ज़र बजा और सर्वो टाइम बोर्ड पर इलैक्ट्रॉनिक अंक आए, सबने हा, हुल्लड़, हर्षोल्लास का उद्घोष किया। कितने पटाखे छूटे रिज और आसपास की पहाड़ी ढलानों पर बसी बस्तियों से। नववर्ष के स्वागत में सभी ने एक-दूसरे को हैप्पी न्यू इयर कहा और विदा होते वक़्त नववर्ष को इंगित कर कहा होगा, ''लो भाई नए वर्ष पिछले वर्ष का कचरा, तुम्हीं सँभालो, हम तो चले...।'' और नए वर्ष ने कहा होगा, ''हाँ! ठीक है, यह परंपरा तुम्हारे पूर्वजों से चली आ रही है। जाओ तुम, जैसा बोओगे, वैसा ही काटोगे।'' मास्टर संतराम कल्पना कर गया। वह सफ़ाई कर्मचारी तक चलता आ गया था। वह बड़बड़ा रहा था, ''अच्छा नया साल मनाया, भैंचो...भूल गए कि हम क्या हैं? कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं?'' उसके मन में आया कहे—पर्यावरण की जय।

एक ढाबे पर आकर उसने चाय का आदेश दिया। ढाबे में बैंच पर बैठे उसे ठंड का आभास हुआ। वह हाथ मल कर अपने को गर्मी देने लगा। कर्मी ने उसके आगे चाय का प्याला रखा। भाप उसके नथूनों से टकराई। उसने साँस छोड़ी। वह भी भाप बन गई। वह दोनों भापों का समन्वय बिठा कर चाय सुड़कने लगा। चाय के दो सिप लिए थे कि उसे सामने सड़क पर उतराई की ओर जाती वह स्त्री दिखी। रात की तरह सजी-सँवरी। लंबी छरहरी। गोरा चेहरा हल्का-सा दिखा। उसने चाय का कप वहीं छोड़ा और पैसे चुकता कर आगे बढ़ा। आगे झाँका। दिखी नहीं। फिर वह सड़क पर आगे बढ़ा—बर्फ़ में सँभलता—मगर काफ़ी आगे तक वह कहीं नहीं दिखी। मन ही मन बुदबुदाया—ठगिनी-सी वह कहाँ लोप हो गई।

अपनी स्थिति के बारे में वह पुनः सोचने लगा। रात को कौन मिला उसे? यह स्त्री कौन है? शहर में इतनी भीड़ भी नहीं है कि पता न चलता। कहाँ गई वह? धरती में गड़ गई कहीं। वह धीरे-धीरे आगे बढ़ता रहा। बस स्टैंड पर आया। बसें चलनी आरंभ हो गई थीं। उसने बस पकड़ी और अपने

रिश्तेदार के घर चल पड़ा। यह सोच कि नहा-धोकर, फिर निदेशालय आएगा। अगले स्टॉप पर उसने देखा कि रात वाली वह स्त्री, बस की रॉड पकड़े खड़ी है। उसकी ओर पीठ है। उसने ध्यान से देखा। परिधान के अनुसार, हू-ब-हू वैसी ही। सोचा भीड़ छँटेगी या जहाँ यह उतरेगी वह भी उतर जाएगा तो मिलेगा उससे। उसके बारे में जानना अनिवार्य लग रहा था उसे। बस चलती रही। आगे सवारियों का ताँता कुछ इस तरह बना कि वह उसके ध्यान से विकेंद्रित हो गई और कहाँ उतर गई पता ही नहीं चला। बहुत कोफ़्त हुई अपने पर। फिर बसों के नियंत्रण पर—क्यों इतनी सवारियाँ ठूँसने देते हैं।

अगले दिन संतराम को लौटना था। वह रिश्तेदार के घर से सामान लेकर चला तो बस में वह स्त्री फिर मिल गई। मुस्कुराई वह। ''क़ैसी हो?'' उसने पूछा।

''ठीक हूँ।''

''आपका धन्यवाद करना था। आप तो...।''

''किस बात का...।''

''रात को आपने...।'' उसने कहा।

बीच में ही बोली, ''दरअसल आदमी ही आदमी के काम आता है।''

''आज के ज़माने में आदमी आत्मकेंद्रित हो गया है। इसमें उसे केवल पैसा ही दिखता है। वह पैसे के चक्कर में इतना अँधा हो गया है कि उसे कुछ नहीं सूझ रहा। शाम को रिज पर वह नए साल के आगमन का स्वागत नहीं था—बस बहाना मात्र था पैसा फूँकने का। कौन किसके साथ था पता नहीं—एंज्वायमेंट के बहाने हम गर्त में गिरते जा रहे हैं...।'' उसकी बात से नहीं लग रहा था कि वह विक्षिप्त है। फिर सोचा—इसने शायद ठीक से पहचाना नहीं, बोला—''आपने शायद मुझे पहचाना नहीं।''

''नहीं। हम पहले शायद नहीं मिले हैं'' दो-तीन सवारियाँ चढ़ीं। उन दोनों में फासला हो गया। वह उसके क़रीब सरकना चाह रहा था, मगर भीड़ ने अवरोध खड़ा कर दिया था।

अगला स्टेशन आ गया था। वह उतर गई। पर उसका कठोर स्पर्श फिर उसे चौंका गया—वह कौन थी। अपने पर खीज हो आई। वह दिन में ही स देखने लगा है। यहाँ कोई नहीं था। मगर नहीं, व थी, उसका स्पर्श...।

उसने यह क़िस्सा साथी अध्यापक को सुना उसने तत्काल उत्तर दिया, ''चुड़ैल थी वह।'' ऐ ख़ुशबू और पकड़ चुड़ैल की ही होती है। शुक्र वह तुझे अपनी कंदरा में नहीं ले गई। अगर ले होती तो हो गई थी तेरी प्रोमोशन और आ लिया वापस। उसने दिन में तेरी आँखों में सलाई लगानी और तू अंधा। फिर द्वार पर शिला अड़ा कर घू था उसने। रात को आती और तेरे साथ मौज़ कर

''वो कैसे?''

''तुझे मालूम नहीं वहाँ वह चुड़ैलों का गाँव वे लोग चुड़ैल की कंदरा से आज़ाद किए ले हैं।'' आश्चर्य से उसकी आँखें खुली रह गईं। फि सँभला तो कहा, ''यार! गप्प है ये। वे तो आ होती हैं। अशरीरी।''

''नहीं यार! यह सच है। अब तू ही बता—व तुझे ऐसे सामने और छिपते क्यों मिली?'' क बताए वह।

बात मास्टर संतराम की पत्नी तक भी पहुँच उसने सारा वृत्तांत सुना। फिर कहा, ''परी थी वह परियाँ आदमी की सहायता को आती हैं। वे मिल हैं उससे, जिससे प्यार करती हैं। देखना वह य भी आ जाएगी कभी।'' पत्नी की बात से उसे राह मिली। कम से कम वह एक पागल स्त्री के सा नहीं रहा। पागल स्त्री के साथ का अपराध बोध उ साल रहा था।

पोते-पोती को उसने जब परी की कहानी सुना तो कुछ इस तरह से शुरू की। एक ज़माने में ए ब्राह्मण था। उसको एक जंगल में रात पड़ गई। पों ने झट से कहा, ''आपकी तरह दादा जी।''

''अरे सुनो तुम बस हुँकारा भरा करो, हाँ भूखा-प्यासा वह रात बिताने की सोच ही रहा था कि एक परी उसके सामने आकर खड़ी हो गई और उ अपनी कंदरा में ले गई...। वह कथा सुनाता रहा बच्चे बड़ी देर तक हुँकारा भरते रहे और उसकी गो में ही सो गए।

इंदु रश्मि

अपना देश

मॉरिशस द्वीप के कात्रबोन नगर की इस कॉलोनी में रहते हुए मुझे कुछ ही महीने हुए हैं। लेकिन न जाने क्यों जहाँ जाता हूँ लोग मेरी नक़ल करने लगते हैं। यहाँ लोग ऑफ़िस से लौटकर अपने-अपने घरों में बंद हो जाते हैं। सारा शहर सन्नाटे में खोया मालूम पड़ता है। किंतु मैं अपने क्लीनिक से आने के बाद कुछ देर घर-द्वार का काम निपटाकर सड़कों पर चहलक़दमी करने अवश्य निकलता हूँ। देखा-देखी अब कई लोग निकलने लगे। शुरू-शुरू में सड़कों पर बड़े लोगों के पालतू कुत्तों के मारे चलना मुश्किल था। लंबे-चौड़े ख़ूबसूरत और खूँखार कुत्ते हमें देखते ही दौड़कर भूँकते हुए पास आ जाते थे। किंतु नज़रें चुराकर फौरन पीछे हट जाते। धीरे-धीरे उनकी संख्या घटती गई। अब वे सारे के सारे कुत्ते अपने गेट के पास ही बैठकर हाँफ़ते रहते हैं। हाँ, उनके मालिक अब उनकी जगह निकल पड़े हैं। रास्ते में चलते हुए मिलने वाले अजनबी जब देखते ही मुस्कुराकर अभिवादन करते हैं तो थोड़ा अटपटा लगता है, क्योंकि भारत में परिचित भी शायद ही ऐसा करते हैं। ख़ैर अब भारत से लेना भी क्या है। जब सुनीति से ब्याह कर सास-ससुर के साथ यहाँ आया था तो कहाँ सोच पाया था कि सदा के लिए घरजमाई बन जाऊँगा।

शादी की ऐसी कोई शर्त भी नहीं थी। किंतु यहाँ आकर मैं बंधक बन गया। सुनीति का बस एक ही तर्क था: ''भारत जैसे गरीब देश में जाकर खाएँगे क्या?''

''क्यों, प्रैक्टिस करूँगा।''

''अब जाने भी दो। यह बेकार के सपने हैं। वहाँ की हालत क्या छिपी हुई है!'' रामफल पत्नी का उलाहना सुनकर चुप हो जाते।

''हाँ, ठीक तो कह रही है सुनीति। वहाँ इस समय सत्ता का ही कोई ठिकाना नहीं है, तब जनता का क्या होगा।'' ससुर ने तड़ी मारते हुए कहा।

ओह इतना अपमान। काश! उसके पंख होते। वह अभी इसी दम उड़ते हुए वापस लौट जाता पर...। यह सब तो दंत कथा वाली बात है। इस वैज्ञानिक युग में न जाने किस युग की बातें सोच रहा है वह।

तो क्या मुड़िया पहाड़ और परी तालाब की कथा भी झूठी है? मुड़िया तो अभी भी बिलकुल सजीव लगता है। मॉरिशस की धरती पर—मुड़िया पर्वत किसी आदमी के सिर के रूप में कहीं से भी दिखाई पड़ जाता है। लगता है जैसे वह हर किसी पर अपनी दृष्टि गड़ाए एक चुस्त पहरेदार

इंदुरश्मि का 1951 में गया में जन्म हुआ। इनकी *मुक्ति*, *नूरमियां*, *मोहबंध* (कहानी-संग्रह) तथा आलोचना पुस्तक प्रकाशित। संपर्क : 4 एम/138, बहादुरपुर हाउसिंग कॉलोनी, भूतनाथ मार्ग, पटना-20

की तरह इस धरती के चप्पे-चप्पे की निगरानी में बुत की तरह अचल है।

''मुड़िया आख़िर था कौन?'' उसने खुद से ही सवाल किया।

एक सज्जन ने बताया कि मुड़िया एक चरवाहा था, जो जंगल में पशुओं को चराने आता था। एक दिन उसने अर्द्ध-नग्न परियों को नाचते हुए देख लिया, बस फिर क्या था—परी ने शाप दे दिया—''जा तू पत्थर हो जा।'' वह तत्काल पत्थर हो गया।

च्च...च्च! बेचारा मुड़िया। शहीद हो गया। लेकिन मुझे तो वह परीकथा का नायक लगता है। हो सकता है उन परियों में से वह किसी से प्रेम करता हो। परी के साथ प्रेमलीला करते देखकर घोड़े पर शिकार खेलने जाते हुए राजकुमार को तैश आ गया हो और उसने अपनी तलवार की धार उसकी गर्दन पर...

अब हक़ीक़त चाहे जो भी हो, लेकिन मुड़िया है बड़ा जीवंत। वह मुझ जैसे असंख्य लोगों का प्रेरणा स्रोत है। हमेशा सजग रहते हुए औरों में यही चेतना प्रदान कर रहा है निरंतर। जागते रहो, जागते रहो, वरना ग़ुलामी की ज़ंजीरें कब जकड़ लें कुछ पता नहीं, कोड़े खाते हुए तमाम उमर यूँ ही बीत जाएगी।

रामफल भीतर ही भीतर आहत हो उठे। मुखड़े पर मुर्दनी छा गई। मन कराह उठा—जैसे मैं ग़ुलाम हूँ। ज़ोरू का, सास-ससुर का, अपनी रोज़ी-रोटी के लिए इस देश का। हमेशा दम घुटता हुआ महसूस होता है। मेरे जैसा आदमी किसी काम का नहीं रह जाता है।

''नहीं, नहीं। ऐसा कैसे हो सकता है?''

''अगर ऐसा होता तो इतनी श्रद्धा से लोग परी तालाब की पूजा करने थोड़े ही जाते।''

''मैं अक्सर वहाँ घूमने जाता हूँ। पहाड़ की तलहटी में परी तालाब की शोभा देखते ही बनती है। असंख्य नर-नारी अपने बच्चों समेत फल-फूल लेकर तालाब के किनारे छोटे-छोटे पत्थरों पर पूजा करके मन्नतें माँगते हैं। किंतु एक बात ज़रा चौंकाने वाली है।''

''क्या?''

''पूजा में चढ़ाए गए प्रसाद को वहीं छोड़ हैं। यहाँ तो पंडे भी न के बराबर ही हैं।''

''फिर लेता कौन होगा?''

''शायद जीव-जंतुओं के लिए छोड़ जाते होंगे''

''हाँ बिलकुल सही। बंदरों और चिड़ियों खाते हुए देखा जा सकता है।''

''वाह, वाह, यह तो बड़ी अच्छी बात है— दया।''

''यह भी आश्चर्य ही है। यहाँ के लोग ज़्यादा व्यापार करते हैं। शराबी और मांसाहारी होते हुए दिल में पशु-पक्षियों के लिए इतना त्याग करते अपने देश में लोग प्रसाद के लिए भी मारा-मा करते हैं। जहाँ आदमी की ही इज़्ज़त नहीं हो।''

सुनीति मुझे घुटन में गुमसुम देखकर अक्सर टोक पड़ती है, ''आख़िर तुम्हें किस बात का दुः सालता रहता है। सब कुछ तो है तुम्हारे पास; गाड़ी बंगला, प्रैक्टिस, परिवार। हर तरह से ख़ुशहाल आदमी को हरदम प्रसन्नचित्त रहना चाहिए।''

पत्नी की हर नसीहत कोड़े की तरह सड़ाक पड़ती महसूस होती है, न जाने क्यों? शायद इसलिए कि वैभव-संपदा से संपन्न होना भी आदमी को अंदर से कमज़ोर कर देता है। जितना धन दौलत जिसके पास होता है वह मनोविकारों से उतना ही ग्रस्त हो जाता है। अभिमान, ईर्ष्या, द्वेष लोभ, मोह और कामनाओं के चक्रव्यूह में घिरा आदमी आख़िर प्रसन्नचित्त हो भी कैसे सकता है। इस दृष्टि से उसका वैभव मातृभूमि की ग़रीबी की तुलना में कहीं ज़्यादा घातक है। यहाँ पारिवारिक, सामाजिक जीवन में मर्यादा, शालीनता एवं अहंकार के बीच अहर्निश संघर्ष छिड़ा रहता है। हर कोई अपने को श्रेष्ठ साबित करने की होड़ में सामने वाले को तुच्छ साबित करना अपना फ़र्ज़ समझ बैठा है।

सुख-सुविधा से आराम तो होता है, लेकिन आदमी के मन का अँधेरा उस पर कालिख पोतकर सब कुछ मटियामेट कर देता है। ऐसे ही कड़वाहट के क्षणों में धीरे से पलकें बंदकर वह अपनी जन्मभूमि भारत की सैर को निकल पड़ता है।

कल्पना के ख़ूबसूरत पंखों पर सवार जब रामफल

अपने घर पहुँचते हैं, तो सबसे पहले दालान में खाट पर बैठी बूढ़ी माँ मछली के दाने बनाती हुई मिलती है। पास ही आँगन में नाद के पास बाबूजी भी दिखाई पड़ते हैं।

घर्र-घों, घर्र-घों गाय को दुहते हुए बाबू जी बिलकुल तन्मय हैं। उन्हें बेटे के आने की कोई आहट नहीं लगती। किंतु पैर छूते ही माँ टटोलकर पहचान लेती है और अचकचाकर पूछती है, ''अरे बाबू तुम कैसे आए सात समंदर पार से अचानक। कितने सालों से चिट्ठी न पतरी। हम तो समझे थे तुम हमें बिसार गए।''

''ओह माँ! इतना शर्मिंदा तो न करो। वहाँ की मजबूरियाँ ही ऐसी थीं कि...'' तभी पलटकर बाबूजी ने भेदनेवाली नज़र से देखा। लगा जैसे कोई चीज़ हृदय के पार निकल गई। काटो तो ख़ून नहीं। चेहरा फ़क्क। आवाज़ लड़खड़ाने लगी।

''प्र-णा-म। बा-बू-जी'', मुश्किल से बोल पाया था कि सुनीति ने हिलाया, ''उठो, उठो। यहाँ बाबूजी कहाँ से आ सकते हैं भला। वे अपने परिवार और भाइयों को छोड़कर क्या कभी आ सकते हैं यहाँ? वे लोग वहाँ कितने सुखी हैं पर तुम नाहक उनके पीछे पड़े हो। आज तुम्हें क्लीनिक नहीं जाना है क्या?''

''ओह! मैं तो भूल ही गया था।''

''भूलना तो अवश्य चाहिए तुम्हें, लेकिन किसे? पता है?''

''नहीं।''

''भारत को।''

''अच्छा।''

''हाँ, सदा के लिए भूल जाना अच्छा है भारत को।''

''तुम अपनी जन्मभूमि को कभी भूल सकती हो?''

''नहीं, हर्गिज़ नहीं।''

''तो फिर यह दोरंगी सोच भला क्यों?''

''तुम इसे चाहे जो कह लो। मैं जन्म और कर्म दोनों से लगातार इस धरती से जुड़ी रही, पर तुम्हारे साथ दूसरी बात है। अब तुम लाख कोशिश करके भी इंडिया में अपनी जड़ें नहीं जमा सकते।''

डॉ. रामफल सहमति में सिर हिलाकर चुप हो गए। किंतु मन में कहा—अपनी जड़ों से उखड़ा हुआ आदमी कहीं भी अपनी जड़ें नहीं जमा सकता। भारत मेरी जन्म-भूमि है। मैं वहाँ लौटकर ही दम लूँगा।

भीतर से उसकी आत्मा ने शाबासी दी। ''यह हुई न काम की बात। अब उठो मंज़िल तक पहुँचने के लिए पिल पड़ो।''

''लेकिन कैसे? मैं इस संकल्प में यहाँ अकेला हूँ।''

''नहीं, तुम अकेले कहाँ हो। तुम्हारे साथ तो हर पल मैं मौजूद हूँ। तुम मुझसे मदद ले सकते हो।''

''लेकिन कैसे? तुम मेरे भीतर हो। बाहर आ सकते हो क्या?''

''हाँ, क्यों नहीं?''

तभी डॉ. ने महसूस किया कि अचानक ठंडी हवा बहने लगी। स्निग्ध, शीतल हवा के सहलाने से वे विभोर हो उठे। सारी थकान पलभर में कहीं दूर चली गई। तरो-ताज़ा होते ही कानों में माँ की स्वर-लहरियाँ गूँज उठीं:

ईश्वर अंश जीव अविनाशी
चेतन अनल सहज सुखराशि...

वह मुस्कुराए। ''माँ मैं तो न आ सका पर बाबा तुलसी दास की पोथी लिए तुम ही यहाँ आ गईं।''

माँ ठठाकर हँसने लगी। ''मैं आऊँगी भला क्योंकर। मैं तो तुम्हारे ही भीतर बैठकर रामायण पढ़ रही थी।''

''कब से?''

''मैं यहाँ हरदम मौजूद रहती हूँ। तुम जब चाहो मुझसे मिल सकते हो।''

''इतनी बड़ी निधि मेरे बिलकुल पास। पहले कभी इसका आभास क्यों नहीं हुआ आश्चर्य है।''

''अरे इसमें आश्चर्य कैसा? पहले इतनी ज़रूरत महसूस भी कहाँ कर सके थे तुम।''

वह कुछ झेंप गए।

''लेकिन इसमें ग़लती तुम्हारी बिलकुल नहीं। पहले तुम्हारे लिए कैरियर, सुख-सुविधा, संपन्नता

का आकर्षण महत्त्वपूर्ण था।''

''हाँ, सही बात है माँ। लेकिन अब सुखों के दायरे से मैं मुक्त होना चाहता हूँ, क्योंकि इसने मुझे दुख दिया है।''

''दुख तो बड़ी अच्छी चीज़ है बेटा। बिना हरि कृपा के यह मिलता भी कहाँ है। भगवान जब दया करते हैं तभी किसी को दुख देते हैं ताकि उसका काया-कल्प...।''

''अच्छा?''

''हाँ बेटे, यदि तुम्हें दुख न मिलता तो तुम शायद मेरे पास न आते। अपने सुखों में ही माँ और मातृभूमि को भूल जाते।''

''हाँ माँ। तुमने मुझे दृष्टि दे दी। अब मैं समझ सकता हूँ।''

''क्या?''

''सुख में दुख, दुख में सुख। दोनों प्राणी मात्र के लिए आवश्यक हैं। आदमी के लिए तो परम आवश्यक है। यदि मैं इतनी दूर न आता तो तुम्हारे पास रहकर भी दूर हो सकता था। आज मैं तुमसे दूर रहकर भी एकदम पास हूँ। कभी भी देख सकता हूँ। तुम्हें सुन सकता हूँ। मेरे प्रेम की डोर से खिंच कर तुम इतने करीब आ गई।''

आँखों से प्रेम के आँसू टप से चू पड़े। हाथ आगे बढ़ा माँ के चरण छूने, तभी माँ की छवि हँसती हुई हवा में तिरोहित हो गई। मन ठगा-सा रह गया। किंतु दूसरे ही पल आशा की किरणें फूट पड़ीं। ज्ञान का अजस्र स्रोत! ''रामायण'' है—मेरे पास। आते समय माँ ने देते हुए समझाया था, ''इसे समय निकालकर हर रोज़ थोड़ा अवश्य पढ़ना चाहिए। शांति मिलती है। मार्गदर्शन के लिए भटकना नहीं पड़ता। यह ईश्वर की वाणी है। संतों के मुख से भगवान ख़ुद बोलते हैं।''

ज़रा देखूँ तो सही माँ की संजीवनी बूटी का स्वाद। वे उठे। झटपट तैयार हुए। आलमारी से लाल कपड़े में बंधी हुई, ''रामायण गुटका'' निकाली। झाड़-पोंछकर ब्रीफ़केस में रखी और क्लीनिक के लिए चल पड़े।

दोपहर में बारह बजे जब वे भोजन करने घर नहीं पहुँचे तो सुनीति ने फ़ोन किया। ''डॉ. रामफ शायद निकल चुके हैं। लेकिन कहाँ? वे तो क जाते नहीं हैं।''

वह कुछ परेशान हो उठी। फिर ख़ुद को समझा ''कहीं भी निकले हों लौटकर तो यहीं आना है

उधर रामफल एकांत स्थल की तलाश में दूर निकल गए। परी तालाब पहुँचकर गाड़ी रो नीचे उतरे। मन प्रसन्न हो उठा। दूर-दूर छिप-छिप पानी का विस्तार। जहाँ-तहाँ तालाब निकले पत्थरों पर महिलाएँ फल-फूल, सिंदूर व चढ़ाकर पूजा करती हुई कितनी भली लग रही

मॉरिशेश्वरनाथ जी के मंदिर में विशेष भीड़ मंदिर में दर्शन के लिए जब रामफल खड़े हुए वहाँ का दृश्य देखकर बड़ा कौतूहल हुआ। भारत मंदिरों की तरह यहाँ भी पुजारियों का वर्चस्व किंतु पूजा के मंत्रों की शायद उन्हें जानकारी नहीं तभी तो सिर्फ़ इतना कह पाते हैं...

मौरिशेश्वरनाथ जी के हरदी चढ़ावउ।
दूबी चढ़ावउ।
परसाद चढ़ावउ।
दछिना लावउ।

उन्होंने सोचा यहाँ के पंडे-पुजारी जब भारत यहाँ पहली बार आए होंगे तभी उनका पतरा-पे से पिंड छूट गया होगा। वरना वे यहाँ सोने लालच में बंधक बनाकर लाए ही क्यों जाते? भगवान तो भगवान हैं। उनकी पूजा चाहे जैसे जाए वे स्वीकार करते हैं। बहुत सारे लोग अशिक्षित रह जाते हैं, वे मंत्रोच्चारण कहाँ कर हैं। किंतु निष्ठापूर्वक पूजा, व्रत, उपवास क भगवान की भक्ति करते रहते हैं।

अपने आपसे बतियाते हुए वे मंदिर के सा पहाड़ की ओर बढ़ने लगे थे। ऊपर भी शायद मं है। तभी पूजा के थाल लिए स्त्री-पुरुषों का आवाजाही कर रहा है। ज़रा सावधानी से चल चाहिए। यहाँ लाल, काले मुँह वाले हनुमानों संख्या ज़्यादा है। महिलाएँ उन्हें प्रसाद खिला ख़ुश हो रही हैं। कहीं काट लें तो...

“नहीं काट सकते। ये फलाहारी बंदर सात्विक होते हैं। निर्भीक होकर जाइए।” किसी ने राह चलते हुए कहा।

काफ़ी ऊपर पहुँचकर देखा, यह हनुमान जी का मंदिर है। भीड़ छँट चुकी है। पुजारी प्रसाद समेटने में लगे हैं। उन्होंने दर्शन किया। माथा टेका और वहीं सुस्ताने बैठ गए। कुछ देर बाद पुजारी जी ने बड़ी आत्मीयता से उन्हें अपनी झोली से निकालकर कुछ केले, नारियल वगैरह प्रसाद देकर स्नेह जताया।

“धन्यवाद।”

वे आह्लादित भाव से देखते हुए विभोर हो गए। लगा अपने घर भारत लौट आए हैं। फल खाने के बाद कुछ देर आराम किया। फिर “हनुमान जी” के सामने अपनी “रामायण” खोलकर बैठ गए। इससे अच्छी जगह भला और कौन हो सकती है। उन्होंने पढ़ना शुरू किया तो पुजारी जी भी चकित हो गए और बैठकर ध्यान से सुनने लगे।

“अहोभाग्य, ऐसा भक्त कभी देखा नहीं।”

“लगता है इंडिया से आया है तभी तो रामायण लाया है। हमारे पुरखे भी लाए थे। पर हमने देखी कहाँ? यहाँ तो बराबर भूकंप आते रहे। उसी में कहीं दब गई होगी।”

डॉ. रामफल ने “बालकांड” पढ़ना शुरू किया तो पुजारी जी ने कान लगाकर सुनने की कोशिश की। पर पल्ले कुछ पड़ा नहीं, तब मधुर स्वर में अनुरोध किया, “भइया तनिक ज़ोर से पढ़उ त हमहूँ आपन कान पवित्र कर लीं। अइसन सुजोग बड़ा भाग से मिलेला।”

उन्होंने दुगुने उत्साह से तेज़ स्वर में पढ़ना ज़ारी रखा। अध्याय लंबा था। वे पढ़ते-पढ़ते थककर रुक जाते तब पुजारी जी, “वाह भाई, वाह!” कह उठते।

उन्होंने फिर पढ़ना शुरू किया, किंतु आगे बढ़ नहीं पाए। हठात् किसी मरीज की कराह ने उनका ध्यान भंग कर दिया। इधर-उधर देखा। बग़ल में बैठे पुजारी जी के सिवा कोई नहीं था। फिर ख़याल आया—क्लीनिक में मरीज़ बाट जोह रहे होंगे। पोथी समेटकर वे उठ खड़े हुए।

“फिर आओगे न भइया। कहाँ से आए हो, भारत से न ?” पुजारी ने स्नेह-सिक्त स्वर में पूछा।

“हाँ, पर अब तो यहीं बस गया हूँ।”

“करते क्या हैं?”

“डॉक्टरी।”

“वाह भाई वाह! इस पेशे में रहते हुए भी समय निकालकर आप आ गए भगवान की सेवा में। यह बहुत बड़ी बात है। मेरे मन में बरसों से रामायण पढ़ने की साध थी। पढ़ तो सका नहीं। किंतु आपके कारण थोड़ा सुनना नसीब हुआ। फिर आएँगे न।”

“कोशिश करूँगा।”

“नहीं भइया ज़रूर आना। मैं तुम्हारा इंतज़ार करूँगा। ‘रामकथा’ शुरू हुई है तो पूरी भी होनी चाहिए, नहीं तो हमारे तुम्हारे साथ पितरों को भी शांति नहीं मिलेगी।”

“अगर ऐसी बात है तब तो अवश्य ही कोशिश करूँगा।” गाड़ी स्टार्ट करके वे वापस आए और मन में संकल्प किया—शांति मिलेगी अवश्य। इसके लिए मैं हर प्रयास करूँगा। समय में थोड़ा परिवर्तन करना पड़ेगा। शाम को पाँच बजे क्लीनिक बंद करने के बाद शांति से यह पाठ संभव हो सकता है। किंतु वहाँ जाते-जाते और देर हो जाएगी इसलिए यहीं ठीक रहेगा। पुजारी जी को ख़बर करवा दूँगा।

घर पहुँचने पर पत्नी कुछ तनावग्रस्त दिखी, पर पूछा कुछ नहीं। सोचा ज़रूरत समझेंगे तो ख़ुद कहेंगे। हर बात में टाँग अड़ाना अच्छा नहीं। बेचारा परदेशी है। कुछ तो आज़ादी होनी चाहिए।

डॉ. ने भी चुप रहना ही अच्छा समझा। सोची हुई बात किसी से कह देने से उसमें सफलता नहीं मिल पाती। मन की ग्रंथि से मुक्त होने के लिए भी थोड़ी गंभीरता अपेक्षित है।

दूसरे दिन से वे हर रोज़ दो-तीन घंटे देर से घर आने लगे। सुनीति के पूछने पर संक्षिप्त उत्तर देते, “कुछ पढ़ रहा हूँ।”

“क्या?”

“समाप्त होने पर बता सकूँगा।”

“क्यों ऐसी क्या बात है, जो मुझे नहीं बता सकते।”

धीरज रखो। बता दूँगा।''

''लेकिन कब तक? मेरे धैर्य की भी सीमा है।''

''मैं किसी सीमा का उल्लंघन नहीं कर रहा हूँ। जो कुछ भी कर रहा हूँ—परिवार की शांति के लिए।''

''शांति के लिए किया जाने वाला प्रयास अगर अशांति का कारण हो जाए तो उसे त्याग देना चाहिए।'' सुनीति ने समझाने की कोशिश की।

''अच्छा ठीक है। यह भी करके देख लेता हूँ।'' उसके बाद वे शाम के समय अपनी बैठक के बरामदे में कथावाचन करने लगे। श्रोता के रूप में पुजारी जी ठीक समय पधार जाते। जाते समय उन्हें चाय-नाश्ता पूछना पड़ता। अब सुनीति के लिए यह नया सिरदर्द साबित हुआ। रोज़-रोज़ मेहमाननवाजी क्या आसान बात है।

''हमें तो रामायण की पंक्तियाँ भी समझ में नहीं आतीं। पर यह पंडित कितनी रुचि से सुनने आ जाते हैं।'' सुनीति धीरे-से बुदबुदाती।

हमेशा गुमसुम उदास रहने वाले डॉ. अब प्रसन्न रहने लगे। रामकथा में इतना आनंद है, यह जानने की उन्होंने कभी कोशिश न की थी। मन की तमाम पीड़ाएँ इस कथा-सागर में बहकर विलीन होने लगी थीं। अँधेरे का कुहरा शनैः-शनैः छँटने लगा। दुनिया-संसार, रिश्ते-नाते, जीव-जंतु सबमें वे कुछ विशेष खोजने की कोशिश करते। इसे समझने के लिए एक नई दृष्टि उनके भीतर पैदा होने लगी।

उनके विपरीत सुनीति का चित्त अशांत होता जा रहा था, क्योंकि पति की नकेल उसके हाथों से फिसलती महसूस हो रही थी। अब तक वह जैसे चाहती वैसे ही उन्हें चलाती रही थी। वह वैभव-विलास, सैर-सपाटे, पार्टी-क्लब की दुनिया से जुड़े रहने में ही अपना कल्याण समझती रही थी, इसीलिए हर रोज़ पोथी खोलकर कई घंटे तक धर्म चर्चा करना उसे बेहद नागवार लगता। उसे लगता यह ईश्वर की भक्ति नहीं, वरन उसके मर्म पर चोट पहुँचाने का हथकंडा है, क्योंकि मेरे कारण इन्हें घरजमाई बनकर रहने की विवशता झेलनी पड़ती है। मुझसे पिंड छुड़ाने के लिए रोज़ ही पोथी खोलकर बैठ जाते हैं। इस घर में रहते हुए दूर जाने का यह अच्छा उपाय ढूँढ़ निकाला। मुझे भी कुछ करना पड़ेगा। अगर मैं इनके का में शामिल हो जाऊँ तो कैसा रहे? मन के भी झाँककर उसने पूछा।

मन के अंदर से ठठाकर कोई हँस पड़ा, '' चित्त की गति को नहीं पहचानती? कितने वे भागता है।''

''हाँ, यह सही है। मेरा चित्त बहुत चंचल बहते हुए जल या वायु से भी तेज गति से वि करता है, पर मैं इसे शांत करना चाहती हूँ।''

''आत्मा को खुराक दिए बिना...''

''यह भला कौन-सी चीज़ हो सकती है?

''किसी संत महात्मा से मालूम हो सकता

सुनीति की बुझी आँखों में आशा का हुआ। चलो एक कुंजी तो प्राप्त हुई। मैं खो अवश्य खोजूँगी।

''बिनु हरि कृपा मिलहिं नहीं संता'' डॉ. राम की वाणी तैरती हुई कानों से टकराई तो सुनीति मुस्कुराई।

चलो दूसरी चाबी भी मिल ही गई—''हरिकृ

ईश्वर की कृपा से संत प्राप्त हो सकते हैं उनसे आत्मा की ख़ुराक। शरीर की ख़ुराक से परिचित होते हैं, पर यह नई चीज़ मालूम पड़ती किंतु इसे हासिल करने के लिए मैं कहाँ से प्र करूँ? पूजा-पाठ से कभी साबका पड़ा नहीं। यहाँ कठोर परिश्रम करते हैं, धन कमाने के लि धन अर्थात्—लक्ष्मी को भगवान मानते हैं, क्यों इन्हीं से समृद्धि आती है। सुख-सौभाग्य की चीज़ें आदमी आसानी से जुटा सकता है। गाड़ी, फर्नीचर, टी.वी., फ्रिज़ वगैरह के बि आदमी शान से नहीं रह सकता। लेकिन जो जि खुशहाल दीखता है, वह उतना ही भीतर से अ भी होता है। मैं इससे बचना चाहती हूँ।

रात में सोते समय भी वह इसी उधेड़-बुन पड़ी रही कि पूजा करना सीखे किससे? यहाँ लोग भारतीय भोजन बनाना भी लगभग भूल हैं। बारह बजते ही जो जहाँ है, वहीं डंटा-बि

खाना शुरू कर देते हैं। चाहे सड़क हो या दफ़्तर; हर जगह रूमाल में लपेटकर खाते हुए देखा जा सकता है। परंपरागत भोजन भात, दाल, कढ़ी, बड़ी बचका, पूआ वगैरह शायद ही कहीं बनता होगा। मेरी दादी, नानी बनाती थी। थोड़ा-थोड़ा मैं भी जानती हूँ। इन्हें कढ़ी-बड़ी, बड़ा वगैरह बहुत पसंद है, किंतु मैं चाहकर भी बना नहीं पाती, क्योंकि बेसन को फेटने में हाथ दर्द करने लगता है। सत्तू-भूंजा भी पसंद है, किंतु यहाँ सत्तू बनाना भी शायद ही किसी को आता होगा। जब मैं भारत जाऊँगी तो सासू माँ से सीखकर आऊँगी।

“अच्छा तो तुम भारत जाओगी। लेकिन तुम्हारे पति कहीं मातृभूमि के मोह में पड़कर न आना चाहें तब?” लगा जैसे दादी अम्मा ने एक सही सवाल पूछा।

सुनीति चौंककर उठ बैठी। चारों ओर नज़रें दौड़ गई। कहीं कोई न था। बग़ल में पति खर्राटे ले रहे थे।

आश्चर्य है दादी-अम्मा को गुज़रे कई साल हुए, पर अभी भी वो मेरे आस-पास बनीं हुई हैं। मेरी हर समस्या की साझीदारी दादी कितनी भली थीं। अभी वो रहतीं तो कितनी आसानी होती हमें। हम दोनों के बीच का मलाल इतनी कुशलता से मिटा देतीं कि एक लकीर का भी पता न चलता। आँखें मूँदकर वह उनके स्मरण में डूब गई।

नीले पाड़ की सफ़ेद साड़ी के आँचल से सिर ढके, दादी-अम्मा का शांत, सौम्य, झुर्रीदार गोरा मुखड़ा झलक उठा। अपने पोपले मुँह में बनावटी दाँतों से पान चबा रही हैं। पतले-पतले लाल होठों के कारण चेहरे की सुंदरता और बढ़ी है। हाथों में दो-दो पतली सोने की चूड़ियाँ पड़ी हैं, जिसका अर्थ शायद यही है कि औरत का हाथ सदा मज़बूत होना चाहिए। बुढ़ापे में तो और भी। धन से धर्म का निर्वाह तो होता ही है आदमी किसी पर बोझ नहीं बनता। धन के लालच से लोग हथेली पर लिए रहते हैं; वरना अनाथालय की शरण लेनी पड़ सकती है। या घर में दूध की मक्खी जैसी स्थिति बन सकती है। नहीं-नहीं, इसकी नौबत ही क्यों आएगी। मैं ख़ुद को हाथ-पैर दोनों से मज़बूत बनाऊँगी। लेकिन कैसे? एक डग पैरों से चलना नहीं चाहती मैं। गाड़ी में सैर करते-करते बदन फैलता जा रहा है। आख़िर कहाँ पहुँचकर फैलना थमेगा इस शरीर का।

—थमेगा क्यों नहीं। सुबह उठकर एक गिलास पानी में नींबू और शहद मिलाकर पीना शुरू कर दूँ। दादी-माँ का नुस्ख़ा मैं क्यों भूल गई? और हाँ सुबह-सुबह टहलना भी ज़रूरी है। ब्रह्म मुहूर्त में भगवान के दर्शन होते हैं। दादी कहा करती थीं:

हरि अनंत, हरि कथा अनंता

सागर की तरह जिसका असीम विस्तार हो, कोई ओर-छोर न हो, उसे कहाँ से छूने की कोशिश की जा सकती है।

—कहीं से भी, यह तो और भी सहज है। कण-कण में पसरे सत्य को कहीं खोजना नहीं पड़ता। सामने जो कुछ हो उसे ही ईश्वर समझ लें तो काम आसान हो सकता है। जैसे...

सागर, मिट्टी, हवा, धूप, वर्षा, पेड़, फूल, पशु-पक्षी, आदमी या कहें कि समग्र सृष्टि। सबमें वही है। फिर परेशानी कैसी। इनकी सेवा और सेवन सही ढंग से की जाए तो पूजा हो सकती है। ईश्वर की ख़ुशी, सान्निध्य प्राप्त करके हमें शांति मिल सकती है। फिर बेचैनी और भटकन क्यों? क्लब या किटी पार्टियों का झमेला? नहीं नहीं। इन सबों से मुक्ति का प्रयास करना बिलकुल ज़रूरी है। भ्रमजाल में ख़ुद को उलझाए रखने से घोर अशांति है। वैभव का प्रदर्शन, हवा में पैंतरेबाजी, बड़बोलापन, औरों से जलना इत्यादि हरकतें आग में घी देने के समान हैं। आदमी इस लौ में जल-जलकर स्वाहा हो जाता है, किंतु समय पर पता भी नहीं चल पाता कि इसकी वजह क्या है।

ऐसे ही ख़ुद से बातें करते-करते कब नींद आ गई पता भी नहीं चला। स्वप्न भी कितना सजीव होता है। उसने देखा, वह फर्राटे के साथ गाड़ी चलाते हुए सागर तट की ओर जा रही है। बग़ल में डॉ. साहब गुमसुम बैठे हैं। अगल-बग़ल हरे-भरे गन्ने के खेत, टीले और पहाड़ भी सरपट भागते जा रहे हैं। रास्ते में मंदिर देखकर सुनीति ने रफ़्तार धीमी

कर दी। रंग-बिरंगी साड़ियों में सजकर माँग में पीला सिंदूर लगाए स्त्रियाँ पूजा की थाल में नारियल, केले, फूल वगैरह लिए कितनी सुंदर लग रही हैं। उसका मन हुआ वह भी मंदिर में जाकर पूजा का दृश्य देखे। फिर ख़याल आया भगवान के पास ख़ाली हाथ जाना मना है—गुरुजी कहते थे, कुछ भी हैसियत न हो तो चार चावल, फूल, रोटी, एक लोटा जल ही सही।

—घर से चलते समय कुछ सोचा होता तब न। ख़ैर कोई बात नहीं। पहले समुद्र में स्नान तो कर लूँ फिर लौटते समय...

लगता है अब सागर भी निकट ही है। एक दो किलोमीटर की दूरी शेष बची होगी। सागर, आकाश और धरती एकाकार दिखाई दे रहे हैं। कितना सुंदर, शायद इसे ही क्षितिज कहते हैं। जी चाहता है मैं गाड़ी रोककर दौड़ती हुई जाऊँ और धरती, आकाश के साथ सागर को अपने आँचल में समेट लूँ। पास बैठे पति से उसने पूछना चाहा। पर लगा उनकी चुप्पी कह रही है, इतनी कृपणता भला क्यों? ईश्वर ने जब तुम्हें इतना बड़ा मन दिया ही है, तो उन्हें मन में समेट लो न।

—ईश्वर को मन में समेटना क्या संभव है?

—हाँ बिलकुल। चुप्पी ने चुप होकर कहा।

—कैसे?

—मन को शांत करो। फिर क्षितिज को भीतर रख लो।

—क्षितिज ही भगवान है क्या?

—जिसमें इतनी उदारता हो, धरती, आकाश एवं सागर को एक में मिलाने की क्षमता हो, वह निस्संदेह भगवान है। सबसे मिल-जुलकर प्रेम से रहने की शिक्षा कोई इनसे ले सकता है।

—मिलना-जुलना भी कैसा? धरती, अलग, आकाश अलग और सागर तो अलग है ही। सबका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

—हाँ, यह सही है। किंतु ये तीनों स्वतंत्र होते हुए भी एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। धरती माँ है। आकाश पिता और इन दोनों को मिलाने वाले पितामह अर्थात् सागर देवता। दरअसल ये सभी एक ही भगवान हैं पर उनके अलग-अलग इन सबकी अपनी-अपनी महिमा है। इनकी धन, धान्य एवं शांति मिलती है।

—आह। तब तो इतने महामहिमावान क्षि अवश्य अपने भीतर भरना चाहिए। लेकि सागर के स्वच्छ नीले पानी में नहा तो लूँ। जैसे ही पहली डुबकी लगाई कि नींद खु पतिदेव शायद उठ चुके हैं। पर इतनी जल्दी सिर उठाकर दीवाल घड़ी की ओर देखा। सुबह के पाँच बजे हैं। वे कहाँ हो सकते हैं। पहने ही वह खोजने निकली। ड्राइंग रू ख़ाली, बाथरूम का दरवाज़ा खुला पड़ा है। घर में कुछ खटपट की आवाज़ नहीं। थोड़ी घ महसूस हुई। पसीना छूटने लगा। अब एक बाक़ी रह गई। फुलवारी की ओर तेज़ क़द लपकी तो—देखकर आश्वस्त होती धीरे से मुस् बोली...

''तो हुज़ूर यहाँ आराम फरमा रहे हैं। उध घर में खोजकर मैं परेशान हो रही थी।''

वे मुस्कुराए फिर, धीरे से बुदबुदाए,

निर्मल मन—जन सो मोही पावा
मोही कपट, छल, छिद्र न भावा।

उसने प्रश्नवाचक नज़रों से देखा।

—मतलब कि शुद्ध मन से ईश्वर को भी कर सकते हैं। मैं उनका दास हूँ।

—आश्चर्य से आँखें फाड़कर उसने ''दा-दा-स। लेकिन क्यों। आप किसी की गु पसंद करने लगे?''

''गुलामी कैसी? यह भक्ति है। जो सर्व सर्वज्ञ है, उनका दास होना सौभाग्य की बा तुलसी जी ने ''रामायण'' में भी यह बात है...''

मोरे मन यह दृढ़ विश्वासा
राम से अधिक राम के दासा।

''अच्छा। तब ठीक है। मैं भी दासी बन हूँ।''

जो हर प्रकार के सुखों का भोक्ता हो, नित नए सुखों की लालसा हो, अभिमान औ

फूला रहता हो, वह भला दास-दासी बनकर रेगा भी क्या? उन्होंने मन में सोचा।

ठीक उसी समय सुनीति के मन में कोई विचार आया। उसने पेड़ पर चढ़े मनी-प्लांट के बड़े-बड़े त्तों से दोना बनाया और उसमें रंग-बिरंगे पुष्प बटोरने लगी।

—यह सब आख़िर क्यों? सुनीति इन फूलों का क्या करेगी? कुछ भी करे। हर बात में टोकना अच्छा नहीं। वो मन में कुछ सोचते हुए टहलने लगे।

सुनीति ने ध्यान दिलाया तो उनकी नज़र पड़ी, कई मैनों की युगल जोड़ियाँ चहकते हुए कुछ गा रही हैं:

सीताराम, सीताराम :
सियाराममय सब जग जानी।
कर प्रणाम जोरि जुग पानी।।

उन्हें हाथ जोड़कर चिड़ियों को प्रणाम करते हुए देखकर सुनीति चौंक पड़ी। यह क्या? कैसी भक्ति है। जो जड़ है, समझ न सके, उसका अभिवादन कैसा?

जड़ चेतन सबमें जो व्याप्त है, उसका अभिवादन करना हमारा फ़र्ज़ है। पर यह किसी को समझाया कैसे जा सकता है। उनकी कृपा होती है, तभी समझ में आ सकता है। यह सब सेवा से संभव होता है। मैं तो माता-पिता से स्वार्थवश दूर हो गया हूँ, इसलिए उनकी सेवा कर नहीं पाता। मरीज़ों की चिकित्सा भी पैसे लेकर ही करता हूँ। हर रोज़ कुछ गरीब लोगों को निःशुल्क सेवा देनी चाहिए। भिखमंगे, अपाहिज यहाँ दीखते ही नहीं हैं कि उनकी कुछ सेवा की जाए। हाँ ख़याल आया—अनाथालय और वृद्धाश्रम में भी कभी-कभी सेवा देनी चाहिए। रविवार को पोर्टलूई में बाबा गया सिंह अनाथालय में जाकर मरीजों को देखूँगा। अभी तो पत्नी की कुछ सेवा करनी चाहिए। उसका पाँव भारी है।

वे उठकर कहाँ चले गए। फूल तोड़ने के बाद सुनीति ने इधर-उधर देखा। घर में आते ही चक्कर महसूस हुआ। वह धम्म से सोफ़े पर पसर गई। कुछ देर बाद आँखें खोलीं तो सामने पति को चाय की ट्रे के साथ मुस्कुराते देखकर चौंकी...

''अरे, यह क्या? आपने चाय बना ली।''

''क्या मैं इतना भी नहीं कर सकता।''

''लेकिन सीखा कहाँ?''

''पहले पीकर देखें कैसी बनी है?''

''अच्छी है। चाय की एक घूँट कंठ के नीचे उतरी। आँखें झुक गईं।''

''कुछ आराम मिला।''

''हाँ बहुत। अभी मन कैसा भारी हो गया था। हिम्मत नहीं हो रही थी कि चाय बनाऊँ। आपने कृपा की। कृपा कैसी? मैंने सिर्फ़ चाय बनाई है। वह भी अपने घर की। लोग यहाँ सारे काम ख़ुद ही कर लेते हैं। झाड़ू, बर्तन से लेकर घर रंगने-पोतने, मरम्मत करने, गाड़ी की सफ़ाई वगैरह। परदेश में घरेलू नौकरों की दिक़्क़त रहती है। यह हमें मालूम है। पर...देश...'' शब्द ने पत्नी के मन में टीस पैदा कर दी।

ओह। इस ''पर'' से इन्हें कब मुक्ति मिलेगी। आख़िर इसे अपना देश क्यों नहीं समझते?

''अपना और पराया इस संसार में कुछ भी नहीं है। जो कुछ भी है वह ईश्वर का है।'' दादी अम्मा की पोपली मुस्कुराती छवि मानस में उभरी।

मूल तत्त्व को ग्रहण करना ही बुद्धिमानी है। उसका मन थोड़ा शांत हुआ। घर के सारे कामकाज निपटाकर उसने सुबह के फूलों की माला बनाई। सूजी का हलवा और बेसन-आलू की पकौड़ियाँ बनाईं। बरामदे को कई रंगों की अल्पना से सुशोभित किया। एक छोटी काठ की चौकी अल्पना के बीच में रखकर उस पर ''रामायण'' रख दी। फिर ग्रंथ को बड़े जतन से बनाई फूलों की माला अर्पित की। उसके सामने पति के लिए आसन और पंडित जी के लिए चटाई बिछा दी।

जब डॉ. रामपाल घर आए तो यह अप्रत्याशित प्रबंध देखकर चकित रह गए। उन्हें लगा वे सचमुच भारत लौट आए हैं।

कमल

बाहर वाली क़ब्रें

‘‘ये पुराने ज़माने के राजा-महाराजा अपने क़िलों के मुख्य द्वा रास्ता ऐसा टेढ़ा-मेढ़ा क्यों बनाते थे? आजकल तो प्रवेश रास्ते कितने सुंदर, चौड़े और सीधे होते हैं।’’

‘‘इस एंटरेंस, मेरा मतलब है, मुख्य द्वार पर इतनी बड़ी-बड़ी की नुक़ीली कील क्यों लगी हैं?’’

ऐसे ही कई उत्सुक प्रश्न प्रतीक के लिए हैरानी का कारण ब थे। मगर इससे पहले कि वह पूछे, उसका गाईड तत्परता से प्रश्नों उत्तर दिए जा रहा था। मानो उसे पहले ही पता चल जाता हो, प्र का अगला प्रश्न क्या होगा?

‘‘साब जी, ये कोई साधारण दरवाज्जा नहीं फत्ते (फ़तह) दरवा है। इससे होकर आप जिस किले में घुस रहे हैं सारी दुनिया उसे ‘कोहि का घर’ के नाम से जानती है। कोहिनूर हीरा जानते हैं न!’’

‘‘हाँ भई जानता हूँ। वही मनहूस हीरा न, जो जिसके भी पास ग उसे बर्बाद कर गया...।’’ प्रतीक बोला।

‘‘नक्को साब, हीरा कभी मनहूस नहीं होता। वो भी तो हमें पा वाली इसी धरती के गर्भ से निकलता है। बर्बाद होने वाले तो अ बुराइयों के कारण हुए थे या उन गरीब-आहों के कारण जिन पर उन्हे अत्याचार किए थे।’’ गाईड ने बात बीच में ही काटते हुए कहा, ‘‘ वह कहानी फिर कभी, पहले आपके सवालों का जवाब। आपके दो ही सवालों का जवाब एक है—हाथी! हमलावरों के हाथी से बचने लिए दरवाज्जे पर लोहे के नुकीले कील लगाए जाते थे। उस जमाने जब कोई राजा आक्रमण करता तो उसे किले का मुख्य द्वार तोड़कर भीतर जाने का रास्ता बनाना पड़ता था। इस काम में हाथियों से आस होती थी। अब हाथी को जोर का धक्का लगाने के लिए तो दौड़कर आना पड़ता न! हमले में हाथी दूर से सीधा न दौड़ कर आ सके औ द्वार ना टूटे जभी रास्ता टेढ़ा और दरवाज्जे पर कील लगाए जाते इस पूरे किले में नौ दरवाज्जे हैं और हर एक दरवाज्जा अलग-अल नाम और खासियत रखता है।’’

‘‘लेकिन इतनी सुरक्षा के बावजूद हमले तो तब भी हुआ करते थे औ क़िले वाले राजा हारते रहते थे।’’ गाईड के साथ चल रहे प्रतीक ने मा उसे छेड़ा, ‘‘तुम्हारे राजा लोग तो अकसर ही आपस में लड़ते-झगड़ रहते थे। बात-बे-बात किसी का भी सर कलम कर देते थे, है न?’

‘‘अब साब जी बड़े लोगों की बाताँ तो अलग ही होती हैं न! ह

1964 में जन्मे कमल की दो पुस्तकें *उस पार की आवाज़ें* (कहानी-संग्रह); *आखर चौरासी* (उपन्यास) प्रकाशित हैं। संपर्क : डी-1/1, मेघदूत अपार्टमेंट्स, मरीन ड्राइव रोड, पो. कदमा, जमशेदपुर-831005 (झारखंड)

उनकी लड़ाइयों के बारे में आप ठीक कह रहे हैं। लेकिन हमले और लड़ाइयाँ होती रहती थी, तभी तो चीजें भी बदलती रहीं वर्ना ये किला कभी भी पत्थरों का न बन पाता। सबसे पहले वारंगल के उस राजा ने इसे मिट्टी का ही बनवाया था। फिर जब कई सालों बाद सुल्तान ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की तब इसे मजबूत पक्की दीवारों वाले किले में तब्दील किया था।''

प्रतीक उसकी बातें बड़े ध्यान से सुन रहा था। वह पिछले तीन दिन से उस शहर में जापानी गार्डेन, हाइटेक सिटी, फ़िल्म सिटी, विकसित सागर तट जैसी आधुनिक जगहों को देखता रहा था। लेकिन रहस्य-रोमांच वाला वैसा आनंद केवल एक ही जगह मिल पाया था, जब वह पिछली शाम निजाम के म्यूज़ियम में इटली के कलाकार जी.बी.बेन्जोनी की बनाई संगमरमर की प्रसिद्ध कलाकृति ''वेल्ड रेबेका'' देख रहा था। आश्चर्य जनक किंतु सत्य होने की सीमा को स्पर्श करती ख़ूबसूरत कलाकृति! जिसका आधा चेहरा घूँघट में था। लगता था मानों साँचे में ढले बदन वाली सुंदरी अभी मुस्करा देगी। उसे देखते हुए प्रतीक की धमनियों में रक्त प्रवाह अचानक ही तेज़ हो गया था। वैसी ही रोमांचक अनुभूति उसे अब वहाँ सदियों पुराने क़िले में मिल रही थी। हमारा अतीत कितना भव्य था और सुंदर भी। मुख्य द्वार से घुसते ही भीतर की छत बहुत ऊँची हो गई, बिलकुल गुंबदनुमा।

गाईड ने उसे रोकते हुए कहा, ''आजकल तो फोन, पेजर और मोबाइल न जाने क्या-क्या आ गए हैं। जब ये सब नहीं था साब जी, तब उन लोगों का काम कैसे चलता था, देखिए।'' कहते हुए उसने एक ख़ास अंदाज़ में ताली बजाई। ताली की आवाज़ दूर तक गूँजती चली गई, ''देखा, ऐसी ही ताली से यहाँ वाला पहरेदार भीतर के पहरेदारों को सावधान किया करता था।''

प्रतीक ने भी वैसी ताली बजाने का प्रयत्न किया, लेकिन यह देखकर हैरान रह गया कि वैसी गूँज वाली ताली एक ख़ास जगह पर खड़े होने से ही बज रही है।

बाईं तरफ़ वाले रास्ते से होकर वे लोग क़िले के खुले भाग में आ गए जिसके तीन तरफ़ इमारतें बनी थीं। इस बार ताली का वैसा ही कारनामा गाईड ने जब खुले में कर दिखाया तो वह चौंका। मुख्य द्वार पर तो माना ऊँचे गुंबज के कारण ताली की आवाज़ गूँजी थी मगर वैसी ही गूँज अब खुले में सुनकर उसका आश्चर्य बढ़ गया।

''वो सामने बेगम महल है। यहाँ खड़े पहरेदार ताली बजाकर बेगम महल की औरतों को सावधान करते थे कि कोई बाहरी आ रहा है, वे परदा कर लें। उधर उस तरफ बेगम साहिबा रहा करती थीं।'' बाईं तरफ़ लंबा-सा हॉलनुमा कक्ष दिखाते हुए वह बोला, ''इसमें किले के सारे हथियार और असलाह गोला-बारूद वगैरह रखे जाते थे।''

उस क़िले में जैसे-जैसे प्रतीक अंदर घुस रहा था, इतिहास अपनी विभिन्न शक्लों और ढेर सारे रंगों में उनके सामने किसी तिलिस्म की तरह खुलता जा रहा था।

गाईड अपने नॉन-स्टाप ख़ास अंदाज़ में लगातार बोल रहा था, ''उस जमाने में तो बिजली बत्ती नहीं थी। शाम ढले कमरों को रोशन करने का भी उनका अपना खास प्रबंध था। इन दीवारों में बने ताखों को ध्यान से देखिए, यहाँ एक शम्मादान रोशन किया जाता था और बाकी जगहों में खास कोणों पर रखे शीशों द्वारा एक ही शम्मा से पूरा कमरा रोशन हो जाया करता।...देख लीजिए ध्वनि के साथ-साथ वे लोग प्रकाश के परावर्तन सिद्धांत से भी बखूबी वाकिफ थे।''

उस जगह से निकल वे एक बड़े से हॉल में आ पहुँचे। आसपास खड़े ढेर सारे खंभे और सामने की तरफ़ नीची छत के साथ-साथ काफ़ी आगे तक निकल आई बालकनी-सी बनी थी।

गाईड उस जगह रुककर बालकनी की तरफ़ इशारा करते हुए बोला, ''वहाँ ऊपर बैठकर बादशाह हुजूर आने-जाने वाले लोगों से मुखातिब हुआ करते थे। मुजरिम को सजा भी यहीं सुनाई जाती थी। इस जगह की खास बात यह है कि यहाँ खड़ा व्यक्ति वहाँ ऊपर बैठे बादशाह या बेगम का चेहरा नहीं

देख सकता था। जबकि वहाँ से बादशाह न सिर्फ उसे अच्छी तरह देख सकते थे, बल्कि उसकी हर हरकत पर आसानी से नजर भी रख सकते थे। यहाँ खड़े व्यक्ति की जरा भी हरकत का पता तुरंत चल जाता था। ये देखिए...'' कहते हुए उसने अपनी क़मीज़ को नीचे से पकड़कर सामने की ओर खींचा और दूसरे हाथ की तर्जनी उँगली से उस खिंचे कपड़े पर चोट की। कपड़े पर की गई वो मामूली-सी चोट वहाँ किसी बम की तरह गूँज गई, ''देखा! यहाँ खड़े शख्स की किसी भी हरकत या संभावित हमले से बादशाह पूरी तरह महफूज था।''

सामने संकरी सीढ़ियाँ खुले में ऊपर पहाड़ी-नुमा टीले की ओर जा रही थीं।

''वहाँ ऊपर दरबार-ए-आम था, साब जी! शाही लोगाँ इन्हीं सीढ़ियों से ऊपर जाते थे।'' गाईड बता रहा था।

दिन भर में ये लोग कितना बोल लेते होंगे। प्रतीक ने अनुमान लगाना चाहा था, ''तुम बोलते बहुत ज़्यादा हो, थकते नहीं?''

''साब जी, हम ज्यादा बोलेंगा नई, तो खाएँगा कैसे?''

अब तक वे लगभग आधी चढ़ाई तय कर चुके थे।

''यह चढ़ाई बहुत तीखी है। वे राजसी लोग कैसे चढ़ पाते थे? मैं तो इतनी दूर आने में ही थक गया।'' किनारे के एक बड़े पत्थर का सहारा लेता मैं रुका,...''शायद इसलिए कि वे लोग शाही खाना खाते थे। मेरी तरह केवल फ़ास्ट फ़ूड नहीं।''

''नक्को साब जी वे लोग पैदल नहीं चढ़ते थे। पालकी में बैठकर ऊपर जाते थे। उनकी पालकी ढोने वालों का चुनाव बड़ी सावधानी से किया जाता। चढ़ाई वाली तरफ छोटे कद के और दूसरी तरफ ऊँचे कद वाले आदमी होते थे ताकि पालकी एक सीध में रहकर ऊपर चढ़े।''

पालकी ढोने वालों को अलग क़द का होना चाहिए, इस बात की तरफ़ तो प्रतीक का ध्यान ही नहीं गया था। वाक़ई वे लोग काफ़ी समझदार थे।

गर्मी और पसीने की चिपचिपाहट में ऊपर पहुँचते ही जिस पहली चीज़ ने उसका स्वागत किया वो थ ठंडी हवा के झोंके। उन झोकों की शीतलता ने उ पर नशे का-सा सुहावना असर किया।

तभी वहाँ खड़े एक पर्यटक की आवाज़ उ सुनाई दी, ''अरे वाह, क्या नज़ारा है! लग रहा जैसे सारा शहर मेरे क़दमों तले है।''

प्रतीक ने जब चारों तरफ़ नज़रें फैलाईं तो ए तरफ़ दूर तक फैला, अब का आधुनिक और विशा शहर तथा दूसरी तरफ़ दूर तक फैली ख़ूबसू प्राकृतिक दृश्यों की मंत्रमुग्ध करती सुंदरता उस सामने इठला रही थी। उसने पुनः पलटकर उ पर्यटक को देखा, ऐसे सुंदर दृश्य से उसके भीत कैसे सामंतवादी विचार आ रहे हैं? ज़रूर व मानसिक रूप से बीमार है।

प्रतीक के लिए तो आसपास की पूरी दुनि बदलकर ख़ूबसूरत हो गई थी। ऊँची-ऊँची इमारतें चौड़ी सड़कों, खुले समुद्री किनारों वाला दूर त फैला शहर उसकी आँखों के रास्ते उतरकर रफ़्ता-रफ़ उसके दिल में समा रहा था। वह दृश्य उसके लि अभूतपूर्व था। वैसा दृश्य शहर की भागमभाग में कहाँ मिलता है? उसके दिल में यही ख़याल आ रहा था कि काश वक़्त थम जाए और जब तक व चाहे, थमा रहे। लेकिन इतने ख़ूबसूरत केवल ख़्वा हुआ करते हैं! वह भी तो उसका एक ख़्वाब ही थ न!

हम लोग कितनी भी कृत्रिम सुंदरता, ठंडक दे वाले ए.सी. या तेज़ रोशनी वाली व्यवस्था कर लें, परंतु ठडी हवा का झोंका, प्राकृतिक सुंदरता और सूर्य की रोशनी हमेशा ही इन सब कृत्रिमताओं पर भारी पड़ जाते हैं। प्रतीक एक तरफ़ ठंडी घनी छाँव में कमर सीधी करने के लिए लेट गया। शायद गाईड के लिए वह बात नई न थी इसलिए वह भी एक तरफ़ बैठकर सुस्ताने लगा। गर्मी और थकान से चूर प्रतीक पर शीतल हवा के झोंके कुछ ज़्यादा ही मेहरबान थे। उस पर ख़ुमारी छाने लगी। शीघ्र ही वह गहरी नींद के सपनों में खोता चला गया था।

सपने में जब उसकी आँख खुली तो अँधेरा काफ़ी घिर चुका था। आँख खुलने पर एक पल को

वह समझ ही नहीं पाया कि कहाँ पड़ा है। कुछ चैतन्य हुआ तो हड़बड़ा कर उठ बैठा। उस पुराने क़िले के दरबार की दीवारें उसे अचानक ही भयावह लगने लगीं। कलाई घड़ी की रेडियम लाइट रात के नौ बजा रही थी। सबसे पहले उसे रोहित का ख़याल आया। ओफ्...होटल के कमरे में लौटकर वह परेशान हो रहा होगा। हम दोनों को वापस वहाँ शाम सात बजे तक पहुँच जाना था।

वे दोनों विगत तीन दिन से बिजनेस के सिलसिले में उस शहर आए हुए थे। आज दोपहर तक उनके सारे काम निपट चुके थे। कल सुबह की ट्रेन से उन्हें वापस लौट जाना है। केवल उनका बिजनेस ही एक था, बाक़ी रुचियाँ भिन्न। इसीलिए तो रोहित फ़िल्म देखने निकल गया था। प्रतीक ने उसे क़िला देखने के लिए कहा और बताया कि वहाँ पर विश्व प्रसिद्ध कोहिनूर हीरा मिला था। इसलिए वह भी फ़िल्म का प्रोग्राम छोड़ कर उसके साथ चले, ऐसा मौक़ा बार-बार नहीं आता। लेकिन रोहित के उत्तर ने उसे निराश किया था। ''तब तो आज एक कोहिनूर तुम भी ले आना। मगर सॉरी डियर, मुझे तो वहाँ पुराने बेढंगे पत्थरों और ऊटपटाँग अतीत के सिवा कुछ नहीं मिलेगा। और हाँ, ज़रा बच के रहना इन पुराने क़िलों, क़ब्रों में बड़ी सुंदर चुड़ैलें होती हैं। कहीं किसी ऐतिहासिक शहज़ादी के प्रेम-जाल में न फँस जाना।''

वह गुनगुनाता हुआ फ़िल्म देखने निकल गया था। उन दोनों के बीच यह तय रहा कि डिनर के लिए रात आठ बजे से पहले होटल लौट आना है।

उसे अपने आसपास कोई भी न दिखा। गाईड भी न था। वह उसे नींद में छोड़कर अपने पैसे लिए बिना ही क्यों चला गया? गाईड ने उसे उठाया क्यों नहीं? वह गाईड पर खीझता-झल्लाता उठकर नीचे की सीढ़ियों की ओर लपका, जो दरबार के आँगन-नुमा खुले हिस्से में उतरती थीं। वहाँ से पत्थरों की चौड़ी-चौड़ी सीढ़ियाँ क़िले के मुख्य द्वार की ओर उतर जाती हैं, जिसे गाईड ने फ़तह दरवाज़ा बतलाया था। चारों ओर डरावना अँधेरा था। वह स्वयं पर झुँझलाने लगा कि थकान और गर्मी से राहत पाने के लिए ठंडी हवा में क्यों लेटा था? दरअसल कड़ी धूप और झुलसाती गर्मी में दो-तीन किलोमीटर में फैले उस क़िले के सबसे ऊपर स्थित राज-दरबार में वह जब पहुँचा तो ठंडी हवाओं ने उसमें आलस्य भर दिया था। वर्ना ऐसी गड़बड़ कभी ना होती।

आँगन-नुमा ख़ुले तक तो वह ठीक-ठाक उतर गया। मगर उसके आगे का रास्ता वह भटक गया। बड़े-बड़े पत्थरों और ऊँची-ऊँची झाड़ियों के बीच रात के अँधेरे में उसे नीचे जाने वाली सीढ़ियाँ नहीं मिल रही थीं। अलबत्ता नीचे जाने का रास्ता ढूँढ़ते-ढूँढ़ते न जाने कब वह उस ख़तरनाक किनारे तक आ पहुँचा था।

''नक्को साब जी! उधर से नहीं, इधर से जाने का न!'' ऐन मौके पर प्रतीक के कानों में वह तीखा वाक्य पड़ा।

उसे लगा पीछे से किसी ने उसका कंधा पकड़ लिया हो। न सिर्फ़ कंधों पर उसका स्पर्श, बल्कि प्रतीक को संबोधित करने वाली आवाज़ भी बड़ी सर्द थी। उसने मुड़कर देखा तो मद्धम चाँदनी में जो शख़्स कुछ दूर खड़ा दिखा, उसकी वेश-भूषा चौंकाने वाली थी। शरीर पर सैनिक की वर्दी, कमर पर लटकती तलवार, पीठ पर ढाल। उसे लगा मानो पिछली शाम देखे निज़ाम के म्यूज़ियम से कोई सैनिक निकल आया हो। कोई और स्थिति होती तो वह ठहाका मारकर हँस पड़ता, लेकिन अभी तो वह स्वयं ही कठिनाई में था। उसने सोचा, शायद वहाँ का नाइट गार्ड हो। वह उसकी बताई दिशा में मुड़ गया। इस क्रम में पैर की ठोकर से एक पत्थर लगकर फिसलते हुए नीचे गहरी खाई में जा गिरा। ''उफ़्फ़...अगर इसने वक़्त पर पहुँचकर मुझे रोका न होता तो मेरा भी यही हस्र होना था''; सोचकर एक भयभीत सिहरन प्रतीक की रीढ़ में दौड़ती चली गई।

''थैंक्यू...थैंक्यू वेरी मच!'' उसने कृतज्ञता प्रकट की।

अंधकार में डूबे क़िले में उसके लिए वह किसी देवदूत की तरह प्रकट हुआ था। तेज़ बहती ठंडी हवाओं ने उसे अपने होने का पुनः अहसास कराया।

इन्हीं ठंडी हवाओं ने तो उसकी नींद तोड़ी थी वरना न जाने कब तक सोया रहता।

''तुम कौन हो? अचानक कहाँ से आ गए? मैं तो बड़ी देर से मदद के लिए किसी को तलाश रहा था।'' प्रतीक ने अटकते-अटकते पूछा।

''मैं तो भोत पैले से ही आपको देख रहा था। मैंने सोचा आप किल्ला देखने आए हो। मैं अभी भी नहीं आता साब। मगर आप तो खाई में ही जा पड़ने को थे।'' उसने जवाब दिया।

''हाँ, क़िला ही देखने आया था। लेकिन पुरसुकून और ऐसे दिलकश माहौल ने सब कुछ भुला दिया। ज़रा-सा क्या लेटा, आँख ही लग गई।''

''चलिए मैं आपको किल्ला दिखाता हूँ।'' उसकी आवाज़ कुछ अजीब ढंग से गूँज रही थी।

''नहीं, नहीं। अब तो तुम मुझे बाहर जाने का रास्ता बता दो बस।''

''चलिए तो, रास्ता भी बता दूँगा।'' वह आगे-आगे चलने लगा, ''वो राजाओं-बादशाहों का जमाना था। बादशाह, राजा जानते हैं न!'' फिर बिना जवाब सुने ही उसने बोलना जारी रखा, ''बादशाहों का असली मतलब क्या होता है, आज के समय में आप ठीक से नहीं जान सकते। आज-कल वे नहीं होते न इसीलिए। लेकिन उस जमाने की तो बात ही कुछ और थी। बादशाह जो भी चाहता, जो भी कहता वही होता था। न उससे सूत भर इधर न सूत भर उधर, समझे साब जी। इसी जगह पर उनका दरबार लगा करता था। बादशाह और बेगम की सवारियाँ पालकी में ऊपर आतीं। अभी हम लोग जिस रास्ते से नीचे उतर रहे हैं, वो आम लोगों के आने-जाने का रास्ता था।''

''यहाँ से बेगम-महल का नज़ारा बड़ा हसीन दिखता है, दिन में चढ़ते समय मैंने देखा था।'' प्रतीक ने उसे टोका।

वह धीमे से हँसा, ''खुशकिस्मत हो जो इस जमाने में हो। वो जमाना होता तो उधर देख लेने भर की गुस्ताखी के कारण तुम्हारा सर कलम हो चुका होता। ऊपर आते लोगों को हमेशा सीढ़ियों पर नजरें गड़ाकर चलने का हुक्म था। नजर उधर गई कि गर्दन धड़ से अलग। यही शाही हुक्म था। एक बार ऐसे ही शाही हुक्म की तामील में एक गुस्ताख की गर्दन धड़ से अलग करने वाले सैनिक की तलवार से खुश होकर बादशाह ने उसे खासतौर से शहजादी की हिफाजत में लगा दिया था। शहजादी बड़ी हसीन थी, ख्वाब-सी खूबसूरत। रंग-रूप ऐसा कि उसके सामने चाँदनी भी फीकी पड़ जाए, आवाज ऐसी कि कोयल भी उसके सामने बोलते शर्माए। वह जिधर से निकल जाती मानो उधर फूल ही फूल खिल उठते, खुशबुएँ बिखरने लगतीं, रोशनियों में इंद्रधनुषी रंग घुल जाते...।''

''तुम तो ऐसे बोल रहे हो, जैसे वह सब तुमने भी देखा हो!'' प्रतीक ने उसे टोका। उसे अब उसकी बातों में मज़ा आने लगा था।

''रोशनी देखने के बाद सूरज को देखना जरूरी तो नहीं साब। फिर मैं तो अदना-सा मुलाजिम हूँ, मेरी क्या औकात कि मैं शहजादी को देखूँ। लेकिन सब कहते हैं वो शहजादी सूरत ही नहीं सीरत की भी हसीन थी। तभी तो उसकी दासियाँ और वह हिफाजती सैनिक, सभी उसका पूरा खयाल रखते, उसे हमेशा खुश रखते। उसकी खुशी से बादशाह और बेगम भी खुश रहते। मगर किसे पता था, सबकी वह खुशी जल्द ही छिन जाएगी! ठीक ही कहा जाता है, अच्छे लोगों को अल्लाह जल्दी बुला लेता है। एक बार की बात है, वह ऐसी बीमार पड़ी कि हकीम, वैद सब बेकार हो गए। न कोई भी दवा काम आई न दुआ और देखते ही देखते शहजादी अल्लाह को प्यारी हो गई।'' बोलते-बोलते वह अचानक ही चुप हो गया था, मानो कुछ याद कर रहा हो।

''फिर, फिर क्या हुआ?''

''बस उसके बाद ही तो ठीक नहीं हुआ। जाने क्यों बादशाह को लगा कि शहजादी को मरने के बाद भी देख-भाल की जरूरत पड़ेगी। जिंदा शहजादी की सेवा और हिफाजत की बात तो ठीक है लेकिन भला मुर्दे को सेवा और हिफाजत की क्या जरूरत? लेकिन बादशाह ने हुक्म दिया कि शहजादी की देखभाल करने वाले हर शख्स को मारकर उसकी

कब्र के आसपास दफना दिया जाए। बादशाह का वह हुक्म उन सभी मुलाजिमों के लिए कहर था जो शहजादी की देखभाल में लगे रहते थे। मगर वे सब खामोश थे, किसी के भी विरोध करने का कोई प्रश्न न था। भला बादशाह की मुखालफत कोई कैसे करता? कुछ भले वजीरों ने समझाने का प्रयत्न किया, लेकिन बादशाह नहीं माना। अंततः उसने शहजादी की देखभाल और हिफाजत करने वाले दास-दासियों और उस सैनिक, सबको मरवा डाला। और उन्हें भी शहजादी के मकबरे के आसपास दफना दिया।''

''क्या?'' प्रतीक अवाक् रह गया।

''जानते हैं साब जी, उस सैनिक की गर्भवती पत्नी तब पूरे दिनों से थी। जिस दिन उसे कत्ल किया गया, उसी दिन वह एक सुंदर बेटे का बाप बना था। माँ की गोद में आने के बाद बच्चा जिस चीज को सबसे पहले तलाशता है, वह बाप ही तो होता है। पत्नी भी पति की गोद में बच्चे को डालकर दुनियाँ का सबसे बड़ा सुख पाती है। लेकिन उस सैनिक के साथ वैसा ना हो पाया। सिर्फ इसलिए न कि बादशाह की इच्छा न थी। और फिर कुछ दिनों बाद जब पत्नी बेटे को बाप की कब्र पर लेकर आई तो माथा नवाकर उठा न सकी। उस दिन पति की जुदाई का गम बेटे के मोह से ज्यादा हो गया था...बेटा हमेशा के लिए अकेला होकर रह गया था।

एक दासी तो अपनी अंधी माँ का एकमात्र सहारा थी। उसका बाप और इकलौता भाई पहले ही बादशाह के लिए लड़ी एक लड़ाई में मारे गए थे। दासी की माँ पहले से अंधी न थी, अपने पति और बेटे के गम से रोती आँखें अपना नूर खो बैठी थीं। वह तो बेटी की देखभाल ने उसे तब तक बचाए रखा था। जरा सोचिए साब, दासी की मौत के बाद उसकी माँ का क्या हाल हुआ होगा? उन सभी लोगों की लगभग एक जैसी ही कहानियाँ थीं, जो शहजादी के साथ दफनाने के लिए मार डाले गए। लेकिन उन आम लोगों की क्या बिसात थी कि वे विरोध करते। ऐसी होती थी तब के राजाओं की इच्छाएँ! शहजादी की देखभाल करने वालों की कब्रें पहले बनाई गई थीं, मरे तो वे बाद में थे।''

''ओ गॉड, हाऊ ब्रुटल!'' प्रतीक ने बेचैन साँस ली, ''कितने बर्बर थे पहले के शासक, बिलकुल जानवर! एक मरी शहजादी के लिए कितने निरपराध लोगों को बेवजह मरवा डाला।''

न जाने उसकी बात सैनिक वेश-धारी को क्यों बुरी लगी, उसका स्वर कुछ तल्ख हो गया, ''अच्छा साब जी, आप लोगाँ तो सभ्य बन गए ना! अब तो आप लोगाँ को वैसे नहीं मारा जाता!''

''हाँ, अब कोई वैसी बर्बरता नहीं कर सकता है। अब न वैसे बादशाह होते हैं न उनकी जैसी बर्बर इच्छाएँ।'' उसने जवाब दिया।

''तो फिर कभी जात-पात के नाम पर, कभी धर्म के नाम पर, कभी पानी तो कभी तेल के नाम पर आप सभ्य लोगाँ किसकी इच्छा से मरते रहते हो?'' उसके स्वर में व्यंग था, ''ना साब जी, जो कब्रें सदियों पहले यहाँ बाहर बनी थीं, तुम्हारी आज वाली कब्रें भी उन्हीं की अगली कड़ियाँ हैं। हाँ, एक फर्क जरूर है। तब विरोध ना करने वालों की कब्रें बनती थीं, अब विरोध करने वालों की कब्रें हैं। इसके सिवा जरा भी तो फर्क नहीं है इन दो अलग-अलग कालों में बनी कब्रों में। बताइए न साब जी, कभी देशों के बँटवारे तो कभी आत्मघाती विस्फोट। कहाँ नहीं हैं वैसी कब्रें?''

उसकी आवाज़ से दर्द निकलकर प्रतीक की धमनियों में घुसता जा रहा था। वह असहज महसूस करने लगा, ''यार, तुम तो मेरे पीछे ही पड़ गए। तुम्हें क्या लगता है, इन सबके लिए मैं ज़िम्मेदार हूँ? मैंने तुम्हें रास्ता बताने के लिए क्या कह दिया तुम तो पूरा लेक्चर ही पिलाने पर तुल गए। भला तुम मुझे ये सब क्यों बता रहे हो? मैं क्या करूँगा यह सब जान कर?''

''माफ करना साब जी, मुझे आप औरों से कुछ अलग लगे थे। सब सैलानी तो मकबरों के भीतर वाली कब्रों के बारे में ही पूछते हैं। आप जैसे लोग अकसर नहीं आते, जो बाहर धूप, आँधी, पानी में बनी उन मामूली कब्रों के बारे में पूछते हों। मैं जब भी आप जैसे किसी इंसान को देखता हूँ तो अपना

दर्द नहीं सँभाल पाता। बस जी में एक ही बात आती है कि कोई दूसरा वो दर्द न झेले जो दर्द तब हम लोगों ने झेला था। माफ करें हुजूर, मैं तो केवल आपको शाही मकबरों के भीतर की कब्रों और बाहर खुले आकाश तले बनी मामूली कब्रों का फर्क बताने आया था और न जाने क्या-क्या ले बैठा। दरअसल मेरी कब्र के पास से गुजरते हुए दिन में आपने पूछा था न कि ये कब्रें बाहर क्यों हैं? मगर आपका गाईड आपको ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे सका था। आप उसके उत्तर से असंतुष्ट रह गए थे।''

उसकी बात सुनकर प्रतीक बुरी तरह चौंका, ''क्या कहा तुमने? तुम्हारी क़ब्र के पास...? कौन हो तुम? यहाँ के गार्ड नहीं हो क्या?'' डर का तीव्र अहसास उसकी रीढ़ से होता हुआ उसके पूरे बदन में फैलने लगा था।

''हाँ साब जी, मैं उसी कब्र का सैनिक हूँ। अभी आपने मेरे को बरोबर पहचाना। बादशाह और शहजादी का वही चहेता सैनिक।''

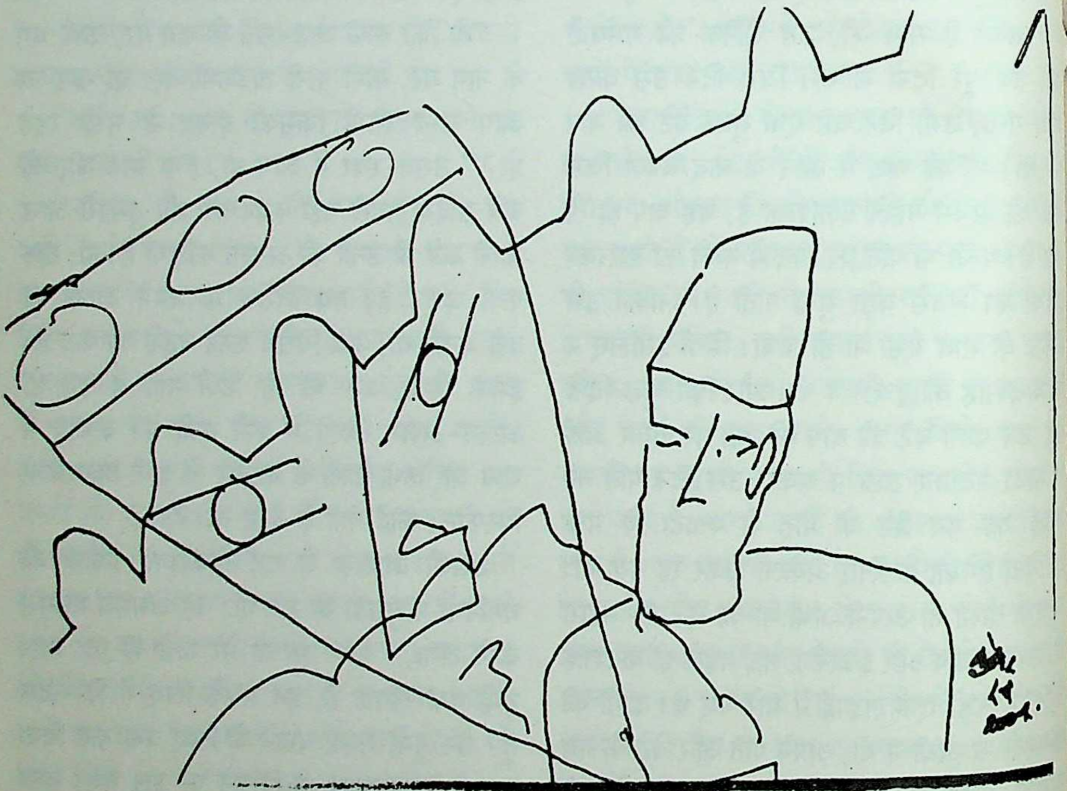

कविता

तेलुगु

वरम्

जीवन की बूँद

काले मेघों से झरती
बूँदें सब मिलकर
छोटे-छोटे नाले बनकर
नदियों और झरनों में बहकर
धरती को सींचती हुई
हरियाली फैलाती हुई
जन-मन को हर्षाती हुई
सागर से मिलने को उत्सुक
लहराती हुई, बलखाती हुई
ये बारिश की बूँदें
आख़िर जब सागर में मिल जाती हैं
तो ठंडी साँस लेकर रह जाती हैं!
मैं...
बूँद की तरह जन्म लेकर
नाले की तरह बहकर
नदी की तरह चलकर
जब समुंदर में पहुँचा
तो बस...
खारा पानी बनकर रह गई
मेरे जीवन की बूँद...।

वरम् तेलुगु कवि हैं। कई कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : क्वार्टर नं. 1, ब्लॉक नं. 2, हिल कॉलोनी, नागार्जुन सागर 508208

ए. विद्यासागर

जीवन क्या है?

जीवन का अर्थ बोझ ढोना नहीं है
सुनहरी राह पर दौड़ना भी नहीं है
मन की नाव पर ज़िम्मेदारी से
किया जाने वाला एक सफ़र है जीवन

किससे पूछकर पैदा हुए थे तुम
कि किसी से जीने की राह पूछोगे?

श्री विद्यासागर का जन्म 1956 में हुआ। दो कविता-संग्रह *मनिपोक्वडे विडिगा मनलेडु*, *असलु संतकम्* तथा *भद्राचलम मन्नेम कतलु* गद्य रचना प्रकाशित। संपर्क : प्रबंध निदेशक, गिरिजन को-ऑपरेटिव कार्पोरेशन लि., ईस्ट प्वाइंट कॉलोनी, विशाखापनतम् 530017

अनु.: 1947 में जन्मी आर. शांता सुंदरी हिंदी-तेलुगु में परस्पर अनुवाद करती हैं। संपर्क : बी-38, गुजराँवाला अपार्टमेंट्स, विकासपुरी, नई दिल्ली 110018

अपनी राह चले चलो
मन की ताक़त स्वयं वह राह दिखाएगी!

काँटे-कंकड़ पड़े हों राह में तो
चुन चुनकर उन्हें उठाकर फेंको
रत्नों की यदि राशि मिल जाए
तो यही समझो
कि पहली बार उन्हें देखने वाला
राहगीर तुम ही हो!

सच्चाई ही अमृत की पहचान है
अनंत की ओर उठाया गया
पहला क़दम ही जीवन है
भय, दुख, भ्रम के काँटों से भरी राह छोड़ दोगे
तो अपना रास्ता स्वयं खुल जाएगा

मनुष्य का मूल्य जान जाओगे
तो हर क़दम फूलों पर पड़ेगा!
अगर मन और बात सही हो तुम्हारा
तो हर कोई अपना ही लगेगा!

आशा राजू

परदेसी ख़त

तुम्हारा ख़त...
हाथ में लेते ही
चमेली के फूलों की माला-सी
मेरे पूरे कमरे में
मेरे दिल के कोने-कोने में
ख़ुशबू फैला गया

ख़त खोला...
तो गोदावरी का प्रवाह
मानो कलकल करता उमड़ पड़ा
लहरों पर तैरती नावें
हवा में लहराते पाल
हरे-भरे खेतों पर पड़ने वाली
ढलते सूरज की लाल किरणें
मेरे हाथ
मानो इंद्रधनुष के रंगों से रंग गए!

आशा राजू का जन्म हैदराबाद में हुआ। इनके *ओक तडि गीतम्, चिलमन, बदनाम, सारंगी* कविता-संग्रह प्रकाशित हैं। संपर्क : 23-5-707, लाल दरवाज़ा, शाह अली बंडा, हैदराबाद 500265

अनु.: आर. शांता सुंदरी

ख़त पढ़ने लगी
तो जैसे कोई सपना देखने लगी!
उसमें मिट्टी की ख़ुशबू भरी पड़ी थी
नवजात शिशु को दूध पिलानेवाली जच्चा की गंध!

ख़त की तहों में
बच्चों के बिस्तर के गीलेपन की गंध
मेरे बारे में तुम परेशान मत होना
अच्छी नौकरी मिल गई है
ग्यारहवीं मंज़िल पर मेरा फ़्लैट है
तितली जैसी गाड़ी ख़रीद ली है
मैं अकेली हूँ,
यह सोचकर दुखी मत होना
यहाँ सुविधाओं की कोई कमी नहीं
इस डॉलर के स्वर्ग में किसी बात का अभाव नहीं

बस, एक मेरा अपना गाँव नज़र नहीं आता
ख़ुशबू से भरी धूल ही नहीं उड़ती
मेरी माँ दिखाई नहीं देती
किसी प्रकार की आत्मीयता नज़र नहीं आती
मेरा अपना देश दिखाई नहीं देता
किसी के पास दिल दिखाई नहीं देता
रोना हो या हँसना हो
कंप्यूटर का बटन तो दबाना ही पड़ता है

यह पश्चात्ताप है, दुख है या ख़ुशी
ख़ुद अनुभव करनेवाली मैं भी नहीं जानती
बहुत कोशिश करने के बाद भी
शायद तुम भी बता नहीं पाओगे!

बस अब के लिए इतना ही...
ख़त लिखते रहना...
तुम्हारी परदेसी दोस्त...

अद्देपल्ली राममोहन राव

अद्देपल्ली राममोहन राव तेलुगु कवि हैं। कई कविता-संग्रह प्रकाशित।
संपर्क : 3-5, पंचायती लाइब्रेरी स्ट्रीट, काकिनाडा 533004

अनु.: आर. शांता सुंदरी

हाइटेक वसंत ऋतु

कुछ समय पहले यहाँ एक बग़ीचा था
अब ढूँढ़ने से भी क्यों नहीं मिलता?
हरी-भरी झूमती डालियों पर

प्राण-शक्ति की तरंगें उमड़-उमड़ पड़ती थीं
पक्षियों के कलरव में
बहुत ढूँढ़ा
क्यों एक भी परिंदा नज़र नहीं आता?
ज़मीन वही—सीमाएँ वही
ऊपर से झाँकता हुआ आसमाँ भी वही

हरे-भरे बग़ीचे को ख़ूब रगड़-रगड़कर धोया
और शॉपिंग कांप्लेक्स के चीथड़ों
और अपार्टमेंटों के झाग में
बदल डाला—

पहले यहाँ प्राण-बीज बोकर
जीवन-वृक्ष उगाए जाते थे
जिन पर लगे जीवन-फल हम तोड़ लेते थे—
अब यहाँ रुपयों के सिक्के ढोकर
रुपयों के पेड़ उगाकर
रुपयों के ही फल तोड़ लिए जाते हैं
प्रकृति को विकृत बनाया जा रहा है

पीपल की शाखों पर फैले पत्तों पर
बादल आराम से साँस लेते थे
गगनचुंबी इमारतों के सिरों पर
उग आए सींगों पर
प्रदूषण के बादल
लोगों की साँसों को लूट रहे हैं

समुंदरों के उस पार से
ग़ैरों के द्वारा फेंके गए
पेटेंटों के विषैले-बाणों की नोकें
यहाँ के नीम के बीजों के हृदय को चीरकर
जीवन से भरी ख़ून की बूँदें टपका रहे हैं
और वे ख़ून की बूँदें
डालर बनकर बहती चली जा रही हैं
बासमती के दानों पर
चील के पंजों के दस्तख़तों में
धान के खेतों की साँस छटपटा रही है
टीवी के चेनलों में
पर-कटी कोयल तड़फड़ा रही है
और कंप्यूटर के पंख लगाए

बेसुरे संगीत के सारे स्वर
वसंत ऋतु के स्वागत के लिए
मंत्रों की आरती उतार रहे हैं

जब रुई के फल
उधारों की गर्मी से फटते जा रहे हैं
तो समाज-वस्त्र स्वयं
आत्महत्या के अग्नि-कुंड में
आहुति बनता जा रहा है!

बाग़ीचेपन को बेचकर
शिला-तत्त्व पर विश्वास करने वाली
इस धरती पर खड़े होकर
बसंत को कैसे बिखेरूँ?
किसलय के गीतों को कैसे सँवारूँ?
जागे हुए कवियों की भावनाओं के पीछे
बाधित सारा समाज जब
एक सजीव वृक्ष बनकर खड़ा हो जाएगा
तब हर एक गीत के अंत में
एक वसंत-ऋतु खिल उठेगी!

एस. वी. रामाराव

एक और कुरुक्षेत्र के लिए दुनिया तैयार है

जीतने वाले पांडव
हारने वाले कौरव
सभी तो मर गए!
और मारनेवाला, युद्ध ही था!

युद्ध नहीं हुआ होता
तो महाभारत कथा ही नहीं होती
भीरु अर्जुन में परिवर्तन लाने को
विराटरूप-संदर्शन के साथ
गीता का उपदेश भी देने के लिए
श्री कृष्ण ने
रणभूमि को ही चुना

वह भगवान जिसे
केवल हिंदू ही समझ सकते हैं

एस.वी. रामाराव तेलुगु कवि हैं। कई कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : 9026, सियरा लेन, पालो हिल्स, आईएल 60465

अनु.: आर. शांता सुंदरी

वह भगवान अनेकानेक अवतारों में
भारत में ही प्रकट हुआ था
लेकिन न जाने कितनी बार और,
वह निराकार ईश्वर,
इस लोक में आया होगा,
और हम उससे अनभिज्ञ रहे!
पहले बता कर तो नहीं आता है
भगवान हमारे बीच!

अत्याचार और कपट से भरे
इस युग में
वह चाहे कोई भी अवतार लेकर आए
मानव बनकर या दानव बनकर
या एक और राम बनकर
पर आए अवश्य
ऐसी मेरी इच्छा है!
मुझे विश्वास है
कि जल्द ही हम देखने वाले हैं
अगले अवतार को!

महाभारत युद्ध
अगर अपने समय से पहले होता
तो मामूली युद्ध होता
करोड़ों लोगों की मौत नहीं हुई होती
तिल का ताड़ बनाकर
मानव-जाति का सर्वनाश किया था
महाभारत युद्ध ने

शायद अब दुबारा समय आ गया है
एक और कुरुक्षेत्र के लिए

ये सारे विचार मेरे हैं

अलग-अलग सब नदियाँ मिलकर
जैसे विशाल सागर बन जाते
एकांत में जप करने वाले,
मेरे मन में
उठने वाले विचार
थोड़ा सुस्ताकर,
बाढ़ बनकर फिर नहर बनकर

दौड़ रहे हैं मुझमें से निकलकर
किसी और की आत्माओं को भिगोने के लिए, शायद!
चल पड़े हैं न जाने किधर
समस्त प्राणिकोटि की
रक्त-शिराओं में प्रवाहित हो जाने को!

खेत में नाला बनकर बहता है जो पानी
सींचता हूँ जब मैं अपना खेत उस पानी से
कैसे कहूँ कि वह पानी मेरा है?
इसकी सृष्टि मैंने तो नहीं की थी!
पानी पाकर लहलहाता है जब खेत मेरा
कैसे कहूँ कि वह फ़सल मेरी है?
पड़ौसी खेत का किसान
मिट्टी काटकर उस पानी को
अपने खेत की ओर घुमाता है
और कहता है कि वह पानी उसका है
तो मैं कैसे मान जाऊँ?

वह पानी
न मेरा है, न उसका
पर्वतों के चारों ओर प्रदक्षिणा करती हुई
शिलाओं पर लुढ़कती-उछलती
नदी का पानी है वह
नहीं, ज़मीन पर दौड़ने वाली नहर का है वह पानी
नहीं, नहर का भी नहीं
वह पानी तो वर्षा का है
पर वर्षा को वह पानी कहाँ से मिला?
इस धरती पर फैले सागर से ही न?
सागर से निकलते भाप का है वह पानी

वह भाप—
हवा में उड़ते, तैरते
आँखों में चकाचौंध पैदा करने वाले
चमकते बादल बनकर जब
आकाश-सुंदरी की गोद में पहुँचकर
मदहोश होकर
प्रेम-क्रीड़ा में डूबता-उतराता है,
भाप और आकाश
प्रेमी और प्रेमिका बनकर
स्वेद के कण धरती पर छिटकाते हैं,

तो वर्षा होती है

मैं जो पानी खेत में देता हूँ
वह मेरा नहीं
पंप से निकलनेवाला पानी
पंप का नहीं होता
जी रहा हूँ
सिर्फ़ क्या इसीलिए
कि मैं, मैं हो सकूँ?
सब मुझमें हों
और मैं सब में होऊँ?

कन्नड

चन्नवीर कणवी

कवियों के लिए पुकार

कविगोष्ठी का अध्यक्षीय भाषण झाड़कर
बाहर निकलने पर
एक के बाद एक कवि फूले न समाते हुए
सुनकर गर्जन के साथ पढ़ी हुई सारी कविताएँ
सकपकाए सभ्य सभासद। एक ने रास्ते में ही
रोककर मुझे हाथ पकड़कर पूछा :
"आपको पुकार देनी चाहिए थी भाषण में कवियों को,
इस तरह चीरने से क्या दशा हमारे कानों की?
मनभानेवाली जैसी कहीं एक दो पंक्तियाँ,
पूरे सिरीगन्नड़ कोष की लूट।
कुछ के लिए तो थे ही नहीं हाथ-पैर;
गुड़गुड़ लुढ़काने जैसा था गोलपत्थर।
बीच-बीच में अपना बखान अलग
कविता के नाम पर दम घुटानेवाली
अपनी-अपनी प्रशंसा, बखान।
बाप रे, बजाया एक ने बंजारिन का ढोल
तब लगा, होना चाहिए था
हमारे हाथ में भी चाबुक
वाद-विवाद कुछ भी हों, उनमें कम से कम
हमारी कवयित्रियाँ ही थोड़ी-सी अच्छी।

1928 में जन्मे चन्नवीर कणवी साहित्य अकादेमी तथा कर्नाटक राज्य अकादमी से पुरस्कृत हैं। इनके 16 कविता-संग्रह तथा 6 आलोचनात्मक निबंध-संग्रह प्रकाशित हैं। संपर्क : चेंबलकु, कल्याणनगर, धारवाड़ 580007

सुमंगला मुम्मिगट्टी (अनु.) : कन्नड़-हिंदी में परस्पर अनुवाद। संपर्क : हिंदी विभाग, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ 580001 (कर्नाटक)

नहीं थी ऐसा नहीं, दिल छू गईं एक दो कविताएँ,
फलीं फूलीं मन खिलाया फैलाई सुगंध।
वह कहीं आकाश के कोने में कौंधकर लुप्त हुई हो।
उसके बाद सब अँधेरा ही
लघु-लघु होकर उड़ा हुआ
जुगनू हो।

पुकार देने के उनके प्रश्न को धीरे-से उत्तर दिया,
''अंतस की पुकार आने तक प्रतीक्षा कर
बाद में लिखे तो उन्हें भी मर्यादा।''
बीच इस बहस के मुँह खोला एक ने :
''पुकार देने के बदले दागना ही बेहतर
जल्दी कीजिए'' कहकर भीड़ में
ओझल हो गया।

जी.एस. शिवरुद्रप्पा

कुछ सवाल

घनी हरियाली घास पर उड़ने वाले
    पीले पतंगों को देखा है?
नहीं देखा है? शायद तुम्हें संतोष क्या है
                        मालूम ही नहीं है
सौंदर्य क्या है, यह भी मालूम नहीं है
इन दोनों के बीच—
आँसू भी हैं यह मालूम ही नहीं है!

थन को मारकर दूध पीने वाले नन्हे बछड़े का नाच
देखा है?
नहीं देखा है?
शायद तुम्हें चैतन्य क्या है
                        मालूम ही नहीं है

वात्सल्य क्या है, यह भी मालूम नहीं है
इन दोनों के बीच—
नृशंसता भी है, यह मालूम ही नहीं है!

आसमान से मूसलाधार बरसते पानी को
देखा है?
नहीं देखा है? शायद तुम्हें प्यार क्या है
                        मालूम ही नहीं है

1926 में जन्मे जी.एस. शिवरुद्रप्पा के 13 कविता-संग्रह, 13 आलोचना-संग्रह, 4 यात्रा वृत्त प्रकाशित। साहित्य अकादेमी पुरस्कार, कर्नाटक साहित्य अकादमी पुरस्कार, सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : 867, ''चैत्र'', 18वाँ मेन बनशंकरी, दूसरा स्टेज, बैंगलोर 560070

अनु.: डी.एन. श्रीनाथ

विरह क्या है, यह भी मालूम नहीं है
इन दोनों के बीच—
ईर्ष्या भी है, यह मालूम ही नहीं है!

निरभ्र नीला महागगन के विस्तार को
देखा है?
नहीं देखा है? शायद तुम्हें मौन क्या है
मालूम ही नहीं है

रहस्य क्या है, यह भी मालूम नहीं है
इन दोनों के बीच—
विस्मय भी है, यह मालूम ही नहीं है!

विद्वानों के लिए

मुझे रोना आता है विद्वानों, आपके
इस लेखन कला को जब भी देखता हूँ
कैसी ऑक्टोपस पकड़ है आपकी! भरा-पूरा
शरीर-माँस-रक्त सब कुछ चूसकर
सिर्फ़ हड्डियों को ही बचाकर पट्टी डाला है
कवि को आसानी से पचाकर!

फूल, पत्ते, अंकुर तना—इनकी याद ही नहीं;
आपके खांडवदहन—आर्भट में पड़े हुए
राख के ढ़ेर को देखकर, उसके अंदर की आत्मा को
आँसुओं का तर्पण देकर खड़ा हूँ पिघल कर
मैं रोया हूँ विद्वानों, इस मसान पर्व के किनारे
देखिए खड़े होकर
आपके व्याकरण के चिमटे में इन मूल रूपों का
लोहे को ऊपर उठाकर, टकसाल के पत्थर पर रखकर
हथौड़े की मार के लिए
मैं काँप उठा हूँ विद्वानों
सदा के लिए आपके धीरज का क्या कहना!

बरगुरु रामचंद्रप्पा

बच्चे का सवाल

किसके साथ खेलूँ?
किससे बातें करूँ?

जहाँ पैर रखता हूँ
पैदा हो रही हैं दीवारें!

दीवारें सहलाईं तो
खिड़की रोशनदान नहीं है
कहीं भी परिक्रमा करूँ तो
दरवाज़े ही नहीं हैं!

पंक्तिबद्ध दीवारों में
दर्द भरे हम
पुकारकर बुलाने पर भी यहाँ
जवाब ही नहीं!

क़ौम-पत्थरों पर
सर्प-घेराव का क़िला
कल क्या देखेंगे
पता ही नहीं चला!

बच्चे का गीत

हे माँ, मुझे हुए हैं पूरे नौ महीने
कैसे पैदा हो जाऊँ मैं इस मिट्टी में?
सीमा पार है यहाँ पर जाति-मत-धर्म
कैसे पैदा हो जाऊँ मैं इस मिट्टी में?

माँ जो दर्द खाती है, मेरा दर्द हो गया है
जब जीव खिल रहा है, तब गरमी पड़ी है
हरे पंछी के गर्भ को चोंच मारकर खाने वाला गिद्ध
मार खाए पंख से आवाज़ धूल उठा है

पेट के अंदर यहाँ अभिमन्यु का पाठ
चक्रव्यूह का चित्र छपा है
अंदर घुसकर बाहर न आ पाने का षड्यंत्र मृत्यु के लिए
क्यों पैदा हो जाऊँ, जीव घबरा रहा है

मृत्यु के संभ्रम में मवाद भरी आँख
कैसे देख सकेगा मेरा जन्म?
बच्चे को बच्चा, ऐसा मन भर कर पुकारे बिना
मत धर्म मिलाने से आया क्या?

1947 में जन्मे बरगुरु रामचंद्रप्पा के 5 कविता-संग्रह, 3 कहानी-संग्रह, 11 उपन्यास, 3 नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हें राज्य साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिल चुका है। संपर्क : 275, ग्यारहवाँ क्रॉस, जे.पी. नगर, दूसरी स्टेज, बैंगलोर 560078

अनु.: डी.एन. श्रीनाथ कन्नड-हिंदी में परस्पर अनुवाद करते हैं। केंद्रीय हिंदी निदेशालय से पुरस्कृत हो चुके हैं। संपर्क : नवनीत, दूसरा क्रॉस, अण्णाजिराव ले आउट, प्रथम स्टेज, विनोबा नगर, शिमोगा 577204 (कर्ना.)

सतीश जायसवाल

बस्तर : सूर्य-चंद्र का अनोखा लिपि शास्त्र

बस्तर में बहुत कुछ बदल रहा है। लेकिन यह, जो बदल रहा है विकास के अर्थ में नहीं बल्कि बस्तर की उन परंपराओं के संदर्भ में है, जो अपना जीवन-काल पूरा करके अब अपने अवसान की ओर अग्रसर हो रही हैं। हम एक अवसान-काल का साक्ष्य कर रहे हैं इसलिए यह विषादयुक्त अनुभूति से जुड़ता है। हमारे हाथ में बस इतना बच रहता है कि हम अधिक से अधिक, कभी इसके रहे होने को—इसकी विद्यमानता को अभिलेखीकृत करके आने वाले समय के लिए संदर्भों में सहेज लें। यहाँ, यह सब, जिस संदर्भ से संबंधित है वह बस्तर का सूर्य-चंद्र का अनोखा लिपि-शास्त्र है जो यहाँ के आदिवासियों के पास उनके विशिष्ट आकार-भावों (मोटिफ़) में, मालूम नहीं कब से सुरक्षित रहा। आकार-भावों में सुरक्षित यह अनोखा लिपि शास्त्र कम-से-कम इतना पुराना तो हो ही चुका, जितना पुराना होने पर किसी प्रथा को हम परंपरा कहने लगते हैं।

कोई प्रथा कितनी पुरानी होने पर परंपरा की मान्यता प्राप्त कर लेती है और कोई परंपरा कैसे इतिहास में स्थान पाने योग्य हो सकती है? इसका कोई सु-व्याख्यायित शास्त्र मुझे नहीं मालूम। लेकिन बस्तर का यह अनोखा लिपि-शास्त्र दक्षिण बस्तर में काष्ठ स्मृति स्तंभों पर उकेरी गई आकृतियों में एक परंपरा जितना पुराना होकर अब अपने नष्ट होने के काल में प्रवेश कर चुका है। सूर्य चंद्र का यह अनोखा लिपि-शास्त्र नष्ट हो जाएगा? यह कल्पना हमें विषादयुक्त तक नहीं कर रही है, क्योंकि हमारी लोक परंपराओं के साथ हमारा सामाजिक सरोकार उथला रहा है। या, अधिक संभावना तो इस सच के स्वीकारोक्ति की बनती है कि अपनी लोक परंपराओं के साथ हमारे अनुभूतिजन्य संबंध ही नहीं बन पाए।

अपने किसी दिवंगत आत्मीय की स्मृति को काष्ठ स्तंभों में विभिन्न आकृतियाँ उकेर कर सहेजना दक्षिण बस्तर में एक पुरानी परंपरा रही है। यह परंपरा कितनी पुरानी है? इससे संबंधित लिखित संदर्भ आज हमारे लिए उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन कहे-बताए जाने वाले विवरण अधिक से अधिक तीन पीढ़ियों तक का पता देते हैं—पुत्र से पिता और पिता से प्रपिता तक। यह भी स्मृतियों के ही सहारे चलता है। इस प्रणाली से हमारा संपर्क किसी गाँव के, अधिक से अधिक 70 बरस के वृद्ध से हो सकता है जिसकी अपनी स्मृति अभी सुरक्षित हो और वह अपनी इस सुरक्षित स्मृति के सहारे हमें अपने प्रपिता के समय तक की बातें बता सके। यह

सतीश जायसवाल का जन्म 1942 में हुआ। उनके कहानी-संग्रह *जाने किस बंदरगाह पर*, *धूप-ताप*, *कहाँ से कहाँ पर* प्रकाशित हैं। संपर्कः 4-बी/33, सेक्टर-9, भिलाई 490009 (छत्तीसगढ़)

प्रणाली हमें अपने समय की लगभग एक शताब्दी के बराबर पुरानी परंपरा का भौतिक सत्यापन कराने में समर्थ होती है। इस आधार को परखने के लिए बस्तर के ये काष्ठ स्तंभ अपने भौतिक स्वरूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं।

हम चकित रह जाते हैं कि सूर्य-चंद्र, पशु-पक्षी और अपने काल के जीव-जगत की अनोखी लिपि में अपने किसी पूर्वज की स्मृतियों को अपने शरीर पर धारण किए हुए ये काष्ठ स्तंभ जाने कब से ऐसे ही खुले आकाश के नीचे खड़े हैं? धूप, हवा, पानी, सर्दी, गर्मी को अपने पर झेलते हुए क्या इन्हें हमारे आने की प्रतीक्षा होती है कि अपने उस पूर्वज के विषय में हमें कुछ बता सकें जो इस गाँव के लोगों की दृष्टि में कोई ऐसी यशोगाथा हो सकती है जिससे हमारी तरह के, बाद के दिनों में आने वाले लोगों को परिचित होना चाहिए? तो क्या इन स्मृति स्तंभों की परंपरा प्रारंभ करने वालों को विश्वास था कि ये काष्ठ स्तंभ इतने समय तक सुरक्षित रहेंगे? कितने समय तक?

हम चाहे कोई विशेषज्ञ न हों फिर भी पेड़-पौधों की, अपने आसपास की ऐसी प्रजातियों के विषय में जानते हैं जिनकी लकड़ियाँ हमारे घर के छप्परों और खिड़की-दरवाज़ों को सौ-सौ बरस से भी ऊपर तक सुरक्षित रखती हैं। अनोखी लिपियों वाले बस्तर के ये स्मृति स्तंभ ऐसी ही किन्हीं कालजयी प्रजाति के काष्ठ हैं तभी आज हमारे लिए विद्यमान हैं।

ये जो अपने काल के श्रेष्ठ प्रतिनिधि रहे होंगे और जो संभवतया अपनी परंपरा के सर्वोच्च समय का भी प्रतिनिधित्व करते हों अब काल से परास्त होते दिख रहे हैं। इनकी परंपरा का वह सर्वोच्च समय आख़िर कितने वर्षों की अवधि में परिपक्व हुआ होगा, जिसका साक्ष्य हम आज कर रहे हैं? सौ वर्ष, दो सौ वर्ष या इससे भी अधिक या इससे कम? इस प्रश्न को प्रश्न के ही हिस्से में छोड़कर हम इतिहास वेत्ताओं-पुरावेत्ताओं को घेर सकते हैं कि लोक परंपराओं का इतिहास उनके लेखा-जोखा से बाहर कैसे रह जाता है? क्या लोक जीवन के पुरातन को अपने बही-खातों में शामिल करने वाले नृतत्वशास्त्री भी परंपराओं के इतिहास के अध्ययन को इतिहासेतर मानते हैं? यह ऊहापोह न होती तो हमारे लिए वे सूत्र कहीं न कहीं उपलब्ध होते जिनके सहारे हम इस प्रश्न को हल करने की ओर बढ़ सकते कि बस्तर में स्मृति स्तंभों की यह परंपरा कितनी पुरातन है।

अब तक तो इन स्मृति स्तंभों के साथ स्वयं मेरा परिचय एक चौथाई दशक से भी पुराना हो चुका। जब पहली बार मैंने इन स्मृति-स्तंभों को देखा था उस समय ही और उससे भी पहले इन स्मृति-स्तंभों को कला-लोलुपों द्वारा उत्कृष्ट काष्ठ कला कृतियों के रूप में पहचान लिया गया था। स्वाभाविक है कि लोलुपों के समक्ष इनके साथ जुड़ी आनुष्ठानिक-भावनात्मकता का कोई मान नहीं हो सकता। इनके अपहरण और चोरी की घटनाएँ तभी शुरू हो चुकी थीं। अब तो सूर्य-चंद्र की अनोखी लिपि वाले बस्तर के ये स्मृति स्तंभ दक्षिण बस्तर के कुछ हिस्सों में स्मृति स्वरूप ही बच रहे हैं।

इन स्मृति स्तंभों का मूल स्वरूप काष्ठ-उत्कीर्णित आकार-भावों में ही अवधारित हुआ होगा। बाद में काटे-तराशे गए प्रस्तर स्तंभ इनके साथ-साथ या इनके स्थानापन्न रूप में प्रचलन में आए? दोनों संभावनाएँ बनती हैं। प्रस्तर स्तंभों का जीवन-काल अधिक समझा गया हो अथवा स्मृतियों को कला-लोलुपों द्वारा अपहरणों, चोरियों से बचाने के लिए प्रस्तर को सुरक्षित पाया गया हो। ठीक-ठीक कुछ कह पाना मुश्किल है। लेकिन यह स्पष्ट दृष्टव्य है कि इन प्रस्तर-स्तंभों में कलाकृतित्व के लिए स्थान नहीं रखा गया है। जो सुघड़ आकृतियाँ काष्ठ स्तंभों में उकेरी जाती रही हैं, अपने पारंपरिक, बल्कि आनुष्ठानिक ''आकार-भाव'' (मोटिफ़) में वही की वही लाल-पीले-हरे चटख रंगों में इन प्रस्तर स्तंभों पर चित्रित हैं। लेकिन इनके, काष्ठ माध्यम से प्रस्तर माध्यम में प्रवेश का यह अंतरण कलात्मक-विघटन को दर्शाता है। यह विघटन कलात्मकता तक ही सीमित नहीं बल्कि बस्तर के आनुष्ठानिक-सामाजिक चरित्र में आ रहे परिवर्तन का संकेतक भी है।

इस संकेतक ने मुझे चौंकाया। एक चौथाई शताब्दी के बराबर के समय के अंतराल के पश्चात् जब मैंने अपने इन परिचित बस्तर के स्मृति-स्तंभों को देखा तो वहाँ एक बाहरी तत्त्व की उपस्थिति ने मेरा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। यह बाहरी तत्त्व कुछ और नहीं बल्कि हमारे आधुनिक सामाजिक प्रयोजनों को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले सबसे प्रभावशाली उपकरण—अक्षर हैं। इन प्रस्तर स्तंभों पर, मृतक का नाम-गाम, तिथि आदि हमारे अपने अक्षरों में अंकित मिली। इसने मुझे चौंकाया क्योंकि यह परंपरा से एकदम अलग और नया समावेश है जो बस्तर के स्मृति स्तंभों के अवलोकन में प्रमुखता से लक्षित होता है। किसी अन्य संदर्भ में यह संकेतक आदिम बस्तर के ''अक्षर-युग'' में प्रवेश के समारोह का अवसर होता। लेकिन बस्तर के स्मृति स्तंभों के संदर्भ में यह संकेतक हमें इस निष्कर्ष की ओर अग्रसर करता है कि बस्तर के पारंपरिक समाज में सूर्य और चंद्र की उसकी अपनी अनोखी चित्र लिपि अब अव्यवहृत हो चुकी है अथवा अक्षर-युग की पीढ़ी का संबंध इस अनोखी लिपि से नहीं बचा।

बस्तर के इन स्मृति स्तंभों में उकेरी गई आकृतियाँ और उनके आकार-भाव (मोटिफ़) वही हैं जो बस्तर के धार्मिक-आनुष्ठानिक भावों, कर्मकांडों के लिए अधिमान्य रूप से प्रचलन में रहे हैं। ये आकृतियाँ और इनके आकार-भाव और इनके गूढ़ संकेत और उनकी व्याख्या से बस्तर के पारंपरिक समाज के आदिम संबंध रहे हैं। बस्तर के पारंपरिक समाज के पास यह चित्र-लिपि (संभवतया) आदिम-काल से रही होगी? इसमें पुत्र और पुत्री को दर्शानि के लिए सूर्य-चंद्र हैं, झूला है तो उससे मावली माता की उपस्थिति का पता चलता है, बाघ है तो उसके साथ मावली माता से संबंधित जन-श्रुति जुड़ी है, घोड़े की उपस्थिति किसी योद्धा का पता देती है जो बाद में ग्राम-प्रमुख के लिए निर्धारित संकेत बन गया होगा। आदि-आदि।

बस्तर के स्मृति स्तंभों पर उकेरी गई इस अनोखी चित्र लिपि से यहाँ का पारंपरिक समाज अच्छी तरह से परिचित था। इसलिए आधुनिक समाज की अक्षर-लिपि का सहारा लेने की उसे ज़रूरत नहीं थी। लेकिन आज प्रस्तर-स्तंभों पर यह अक्षर-लिपि अंकित मिल रही है तो इसके दो अर्थ एक साथ निकलते हैं। पहला अर्थ यह कि अब बस्तर को समकालीन समाज की अक्षर-लिपि प्राप्त हो चुकी है। दूसरा अर्थ यह कि बस्तर का समकालीन समाज अपने यहाँ के पारंपरिक समाज से उत्तराधिकार में प्राप्त सूर्य-चंद्र की अनोखी चित्र-लिपि से अनभिज्ञ हो रहा है। यह अनभिज्ञता पारंपरिक समाज में पूर्ववर्ती पीढ़ी से परवर्ती पीढ़ी को उत्तराधिकार के हस्तांतरण का स्थगन भी है।

सूर्य-चंद्र वाली बस्तर की अनोखी चित्र-लिपि के संदर्भ में प्राप्त ये निष्कर्ष वस्तुतः अक्षर के रूप में हमारा परिचय हमारे आज के सामाजिक प्रयोजनों और इनके अनुकूल अभिव्यक्ति के नए उपकरण से कराते हैं। यह परिचय इस नए उपकरण की प्राप्ति तक ही सीमित नहीं बल्कि एक रूपांतरित हो रहे समाज के साथ उसकी प्राथमिकताओं और प्रासंगिकता से भी हमारा परिचय है जो बस्तर में हो रहा है।

कविता

हिंदी

सदाशिव श्रोत्रिय

वायुयान

छोटे-छोटे वायुयान उड़ान भर रहे हैं
सुबह-सुबह
हरी-हरी दूब वाले
चौड़े मैदान में

काली चोंच वाला वह सफ़ेद लंबा यान
अभी-अभी उड़ा
अपने पंखों के नीचे छिपी ललाई चमकाता
ऐसे उड़ा थोड़ी दूर ठहरी हवा में
जैसे यूँ ही कभी निरुद्देश्य
टहल लेते हम
अपने कमरे में

नाटे और मोटे दो वायुयान
पंख फड़फड़ाते
शोर करते
उठे थोड़े ऊपर
सर पर हमारे लगभग आपस में टकराते हुए
मोटी चोंच वाला बदशक्ल काला यान
तब तक तैरता ही रहा छितरे डैनों को हिलाता हुआ

एक यान ऊपर उठा बिना किसी भूमिका के
जैसे अभी सीधे जा पहुँचेगा द्युलोक में

पंक्तिबद्ध प्रदर्शन में ऊपर, बहुत ऊपर
कई वायुयान नज़र आए नीले
उत्तर-पूर्व कोने से दक्षिण-पश्चिम जाते
अविराम, अनुशासित
एक मंथर-सी गति से

सदाशिव श्रोत्रिय की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : 38, नई हवेली, नाथद्वारा 313301

नदी

नदी कह
मत अंत कर दो वेग का

उस उच्छ्वसित जाज्वल्य का
नीले धवल उल्लास का
जो पत्थरों को तोड़ता
उद्दाम
उस शांत सोंधी उष्ण उजली रेत का
उस हरी ठंडक का
खड़ी हो पंक्ति के बहुत निचले छोर पर एकांत
उड़ने को उद्यत बगुले के पाँवों से बरबस लिपटी

तुम्हारी धमाधम से
तुम्हारे शोर करते इस शहर से दूर
इससे त्यक्त,
इससे मुक्त,
इससे वस्त्र को अपने बचाती
इसको देखती संदेह से

केशुभाई देसाई

शिकायत

तूने मुझे
वृक्ष,
पशु-पंछी,
कीट-पतंग
न बना कर
मनुष्य बनाया,
—तब तक कोई शिकायत
नहीं थी।
...मन ही मन ''अच्छा लगता'' था!
पर मेरे अस्तित्व के साथ
एषणा का यह इंद्र धनुष क्यों चिपका दिया तूने?
इतना कल्पनाशील मस्तिष्क
क्यों दे दिया मेरे प्रभु!
मनहूस कहीं का
हर पल कुछ न कुछ
कुत्सित उगलता ही रहता है।
जलता रहता है
अग्निहोत्र की ''धूणी'' की तरह

1949 में जन्मे केशुभाई देसाई की 40 कृतियाँ प्रकाशित हुई जिनमें 18 उपन्यास, 6 कहानी-संग्रह, 3 रेखाचित्र-संग्रह, एक नाटक संग्रह है। इनकी कुछ पुस्तकों का राजस्थानी एवं हिंदी में अनुवाद। संपर्क : 13 ऐश्वर्य-1, प्लॉट 132, सेक्टर 19, गांधीनगर 382019 (गुज.)

अहो-रात्र।
घुन के कीड़े की तरह
कुरेदता रहता है
अपने ही दिल की दीवारें।
नोचता रहता है अपनी ही खाल।

पागल कुत्ते की तरह
भटकता रहता हूँ आठों पहर।
चैन की चिड़िया तो
कभी की जल कर
राख हो गई है
मेरी ही आँखों में।
और भीम की यह भूख—मिटने का नाम ही नहीं लेती।
पूरी सृष्टि को भून कर
ख़ाने के बाद भी
वह वैसी की वैसी प्रज्ज्वलित है।
ज़हरीली नागिन की जीभ की तरह
हरदम लपलपाती
रहती है—
मेरी प्यास।

चूसता रहता हूँ
मैं अपनी ही रगों का ख़ून
और
काट-काट कर
खाता रहता हूँ
अपना ही कच्चा माँस।

कभी साँस भी भरता हूँ
तो जला बैठता हूँ
ख़ुद अपने ही फेफड़े।
यह भी कैसी विडंबना है मेरे नाथ!
शस्त्र विद्या सिखला कर मुझे
सिखा दिया अपने ही वध का अनुष्ठान?
इस मनुष्यावतार को अभिशाप कहूँ कि वरदान?

सपना

फिर उस दिव्य पुरुष ने कहा—
गद्य तो मनुष्यों की भाषा है वत्स!

शायद पशु भी उत्क्रांत के किसी मोड़ पर
गद्य बोलना सीख लेंगे।

देर से ही सही
मैं आज कविता का वर देने आया हूँ।
उम्र ने तुम्हें ब्राह्मण बनाया है
और कविता वाक़ई ब्रह्म की भाषा है।

—मेरी ईच्छा के बिना
आप मृत्युलोक वासी
उसका इस्तेमाल नहीं कर सकते।

याद है?
जब तुम गर्भ की काजल कोठरी में बंद थे
तब मैंने तुम्हें
कविता की पहली कड़ी सुनाई थी :
—माँ की पुचकार के रूप में।

फिर जब तुमने पहली साँस ली
तब पूरी कविता रो पड़ी थी
माँ की कोख में।
तुम्हारी चीख़ के उत्तर में
पूरा आकाश ऊँडेल दिया था
उसने तुम्हारी आँखों में;
और चूस लिया था
सारा समुद्र
तुमने उसके स्तनों से।

जैसे-जैसे संसार की हवा लगती गई
कविता तुमसे दूर होती गई।
तुम्हारे होठों से उड़
वह बस गई जाकर
पंछियों की कूक में
पवन की फूँक में,

चढ़ गई पहाड़ की चोटी पर।
वह बन गई बागों की ख़ुशबू;
और तुम्हारे पास
बच गई गद्य की बदबू...
जाने कितनी किताबें घसीट डालीं!
फिर भी महाभारत कार की तरह

चेहरे पर ख़ुशी की लकीर तक नहीं!

वत्स, कब तक ढोते रहोगे
गद्य का यह गर्दभ भार?
अब तो पाँव भी जवाब दे गए हैं।
तुम्हारे पास अब भी बचे हैं आँसू
जो तुम्हारी क़लम से कविता बन कर
टपक सकते हैं।

मुझे याद है:
माँ को चिता पर चढ़ाते समय
पिता का अस्थि विसर्जन करते हुए
और
इकलौती दुहिता का कन्यादान देते-देते
तुम बिलख पड़े थे
नन्हें बच्चे की तरह।
फूट-फूट कर रो पड़े थे
जब विधवा बहन बाँध रही थी राखी।
यह सब देख कर
मैं अपने को थाम नहीं सका।
—ईश्वर भी हूँ तो क्या हुआ?
कवि से तो कुछ कम ही हूँ।
उठाओ क़लम,
लिखने लगो कविता।
—वक़्त बहुत कम है।

श्रीनिवास श्रीकांत

बात करती है हवा

बात करती है हवा
आसपास के आसमान में / गूँजता है उसका स्वर
जिसे सुन रहा / घाटी का बुज़ुर्ग पेड़
कलई की रेखा-सी खिंची है / पहाड़ी नदी
करती धूप से लपट-झपट / पर मौसम है चुप
उसका ध्यान है / पश्चिम के दरवाज़े पर
जहाँ अब लौटेगा सूरज
झूमते जा रहे / जामुनों के पेड़

श्रीनिवास श्रीकांत की कविताएँ एवं आलोचना पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : 9-11, ब्लॉक ए, पूजा हाउसिंग सोसायटी, संदल हिल, लोअर चक्कर, शिमला 171005

तुम्हारी बात की तरह मीठे / और कसैले भी
स्वाद उनका झूमता / ज़हन में
रक्त में दौड़ता / फिर जाने इतने साल बाद
घुल जाता कहाँ
सोख लेती हैं इंद्रियाँ / सभी सुख

हवा बात करती है अपने आपसे
हँस रही है / पर नहीं सुनायी देता
अब उसका अट्टहास

आख़िर हवा है वह
करवट लेती / अधलेटी / उस दूर की ढलान पर
जहाँ खो गई थी / तुम्हारी दुधली गाय की
नवजात बछिया

देखो / कितनी अठखेलियाँ कर रही है वह
जब गुज़रती है सरसरा कर
पकी घास के तिनकों को छेड़ती

पर, वह तो बला भी है
तुम्हारी तरह बदले उसने कितने रूप
हर मौसम में अपनी है अदा उसकी
कभी बच्ची / कभी अल्हड़ जवान
कुचल देती पकी फ़सलें
ख़ुशगवार पेड़ों के इरादे
देखता रहता / घाटी का बुज़ुर्ग पेड़
नदी भी हो जाती / वेगवती
पहाड़ों से डर जाता गाँव

हवा बात करती है / तो टूटता है सन्नाटा
जैसे टूट जाए काँच / और सुनाई भी न दे
खोया था मैं अतीत में / कहीं दूर
एकाकीपन में टोहता / अंदर की भूलभुलैया
न आ पाता पेचदार रास्तों से बाहर

परी हो तुम / नहीं आतीं अब / दीप लिए दिखाने राह
इसीलिए बरसों से बंद हूँ / अपने अंदर
बाहर नापता / कोहरिल आसमान की दूरियाँ
हवा तब चली जाती अपने घर

पर, यह क्षण तो है / तुम्हारा एक अंतराल
जी रहा जिसे मैं / मौसम के साथ-साथ

अपने आप में अकेला उदास

नदी भी तुम्हीं हो / समय की घाटी में बहती
सूरज के हर अक्स से / करती अठखेलियाँ
... और / मैं हो रहा हूँ भारहीन
अंतराल में ऊपर को उठता
खुलती है ज़िंदगी / एक दूसरे अंतराल में
जो है गोधूलि का गलियारा।

गाँव : एक याद

गाँव / कहाँ रहे अब ग्राममय
उनके घर व रास्ते
हो गए हैं अदल-बदल
और ज़िंदगियाँ / फाँक-फाँक

अब / न उपलों की गंध है
न कच्चे चूल्हों से / उठता धुआँ

शामलात मट कंधों पर
जहाँ चलती थीं देर तक
बुज़ुर्गों की ठहाकेदार
चिलमों से लटियाती बैठकें
वहाँ अब कुछ मनचले / मटकते हैं
पॉप गानों पर
खनखनाती हैं बोतलें

गाँव में कुछ बचा है / तो बचा है
एक अदद बूढ़ा बरगद
देता है गर्मियों में अब भी छाँव
झोंकों से फड़फड़ाते हैं / उसके पत्ते
जिन्हें अब कोई नहीं सुनता
हवा को अब थप्पड़ मारती हैं
पास की सड़क से / भड़भड़ाकर गुज़रती
गाड़ियाँ

समय ने चीर दिया बीच से
ढलवाँ ज़मीन को
औ बना दी एक सड़क
देखते रह गए
झूमती टहनियों के गुच्छे

और घास के नन्हे-नन्हे फूल

चरागाही ढलानों पर
नहीं रही अब / वह चहल-पहल
खेलते थे जहाँ गाँव के ग्वाल
घर-घर

रपटते यहाँ-वहाँ / बिखरी भूरी
चीड़ की पत्तियों पर

बनाकर / रामबाण की
विमाननुमा गाड़ियाँ
पंछी की तरह उड़ते
अपने-अपने आसमानों के साथ

कटता रहा समय / और समय के साथ-साथ
कटते गए एक-दूसरे से / गाँव के लोग

कोई बने चपरासी / कोई बाबू
कोई कुर्सी घुमाते अफ़सर
भूल गए सब / एक-दूसरे के चेहरे भी

खुरों की पटक से / नहीं उड़ती अब
घर लौटते पशुओं की गोधूलि

एक पूरा मंज़र ही निगल गई हैं
बढ़ते हुए दैत्याकार नगर की
गाँव की ओर सरकती इमारतें
और इनके साथ ही / धँस जाता है
एक जीता-जागता इतिहास
ज़मीन के नीचे
यादें भी हो जाती हैं ज़मीनदोज़।

सूरजपाल चौहान

मेरी माँ

भोर होने से पहले
सड़क पर
झाड़ू लगाती
मेरी माँ
जैसे—

1955 में जन्मे सूरजपाल चौहान के 3 कविता-संग्रह; *हैरी कब आएगा* (कहानी-संग्रह); *तिरस्कृत* (आत्मकथा) प्रकाशित पुस्तकें हैं। रमाकांत स्मृति पुरस्कार से सम्मानित हैं। संपर्क : डी-20, एस.टी.सी. कॉलोनी, महरौली रोड, नई दिल्ली 110017

खरोंच रही हो
चुपचाप सीने को
फौलादी व्यवस्था के
अपने नाख़ूनों से।
उस पार जाती
सड़क के वह
सिर पर
बजबजाती गंदगी की टोकरी रखे
जैसे उठाया हुआ हो
उसने—
एक शव
मरी हुई व्यवस्था का।

अखिलेश मिश्र

मुट्ठी भर सपने

अनगिनत सपने मेरे
सब के सब पूरे हो जाएँ अचानक
तो क्या लबालब भरी आँखों में
पलभर नींद समा पाएगी?
छलक नहीं पड़ेंगी खारी बूँदें अनायास?

सफलता, शक्ति, कीर्ति और वैभव से सजे
सबसे ऊँचे सिंहासन पर आसीन
अहंकारी मन में बच पाएगी रत्तीभर संवेदना
क़द बड़ा हो तो भी कितनी छोटी हो जाएँगी बाँहें
जो धूल में पड़े बच्चे तक न पहुँच सके
उसे उठाकर गले न लगा सके।
कितनी थोड़ी पड़ जाएगी मेरी सारी संपत्ति
जो किसी भूखे की एक रोटी भी न ख़रीद सके।

मुझे मनुष्य की संवेदनशीलता से प्यार है।
मुझे ज़िंदगी के अधूरेपन से लगाव है
मेरे सपनों को अधूरा-सा ही रहने दो।
कि मेरे पैरों में निरंतर ललक रहे मंज़िल की।
मुझे इतनी संपन्नता नहीं चाहिए
कि मुट्ठी भर मुस्कुराहट रोज़ बेचे बिना
पेट भर जाए।

1966 में जन्मे अखिलेश मिश्र की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। संपर्क : डिप्टी कंसल जनरल, कंसलेट जनरल ऑफ़ इंडिया, सन फ्रांसिस्को, कैलिफोर्निया।

बिना मुट्ठीभर ख़ुशियाँ बाँटे, हर रोज़
मुझे नींद न आने देना, भगवान।
बस वही सपने परोसना जो आसानी से पच सकें।

घड़ी के हाथ

अहंकार में इठलाते
अथक अनवरत गतिमान
घड़ी के दो हाथ।
कब से घुमा रहा हूँ समय का पहिया मैं ही।
हर दिन
समुद्र में असहाय डूबते
ललमुँहे सूरज को आकाश में बिठा देता हूँ
सात घोड़ों वाले चमकते रथ पर सजाकर।
मैं ही तो
रात भर सँभाले रहता हूँ ठंड से काँपते बेचारे चाँद को
सितारों से झिलमिलाती झीनी चादर में लपेटे।

सहज ही
कैलेंडर के पन्ने पलट-पलट कर
दिखा देता हूँ जग को चिलचिलाती धूप, बर्फ़ीले तूफ़ान।
फिर भी करता रहता है विश्व मेरी उपेक्षा और अवहेलना
आवेश में आकर सोचा एक बार
क्यों न दिखा दूँ अपनी पूरी शक्ति
समूचे ब्रह्मांड को कर दूँ नतमस्तक
एक क्षण के लिए रोककर अपने दोनों हाथ।
क्षणिक आवेश ने कर दिया मेरा विनाश!
क्षण भर को रुकते ही नष्ट हो गई मेरी युगों की साधना।
उड़ गई मेरी सारी महत्ता।
पड़ा हूँ अब एक अँधेरे कोने में अवश
मेरे देखते-देखते
मेरे चेहरे पर गाढ़ी पड़ती जा रही है धूल की परत
काल के मस्तक पर गहराती जा रही झुर्रियों जैसी।

यादों की सफ़ाई

अतीत सड़कर दुर्गन्धित हो जाय
खुले, पके बजबजाते घावों भरा
तो भिनभिनाती मक्खियाँ बन आती हैं यादें।

बेवजह डंक मारती
यहाँ वहाँ
खिजाती
संक्रामक मवाद सने पैरों के गंदे निशान छोड़ती।

भविष्य को रोगी होने से बचाना है
तो
रोको इन मक्खियों को सड़े घावों पर मँडराने से
अतीत पर भिनभिनाती यादों को चुन-चुन कर भगाओ
हर नई सुबह
वर्तमान को नहा-धोकर
लगा घावों पर मलहम और सफ़ेद पट्टी बाँध
तरोताज़ा हो उठने दो।
घावों को शांति से।
चुपचाप भरने दो।
हर नई सुबह यादों की सफ़ाई का
एक नया समारोह होने दो।

सच का प्रतिशोध

सच—
अपराधस्थल से अच्छी तरह पोंछकर मिटाया गया,
धोकर नाली में बहा दिया गया
हाथ पर लगा ख़ून का छींटा।
जलाकर, भस्म बना समुद्र में बिखेर दिया गया
सबूत का नन्हा-सा काग़ज़ का टुकड़ा—
सच।

कभी-कभी वर्षों की गहरी, लापरवाह नींद के बाद
भयावह सपना बना आँखों में किरकिरी की तरह भर जाता है।
सैकड़ों, हज़ारों बार निर्दयता से कुचला गया
घास का तिनका-सच
अकस्मात् उठ खड़ा होता है शूल जैसे
जूते को चीरकर घाव कर देता है
तानाशाह के तलवों में।
पतीले की पेंदी से चिपका
बेकार उफनता बूँद, दूध का
सच
कभी-कभी अचानक लावा बनकर उमड़ पड़ता है

और अपनी चपेट में बड़े-बड़े मज़बूत
जेलों, क़िलों और महलों को
कंकड़ की तरह बहा ले जाता है।
बहा ले जाता है दुर्दम्य सेनाध्यक्षों और आततायी तानाशाहों
कीड़े-मकोड़ों की तरह तिनकों से चिपके।
सच का आदर करना
सच से डरना सीख।
भले ही दिखने में हो
नन्हा, भूखा-नंगा, बीमार और मृतप्राय
सच।

अशोक सिंह

घर

घर कई तरह के होते हैं
कई तरह में एक तरह का
वह भी होता है घर
जो किसी भी तरह, कहीं से भी
घर की तरह नहीं दिखता
सिर्फ़ उसके होने का एहसास होता है!

हम घर से निकलते हैं
घर को लौटते हैं
घर में रहते हैं हम
हममें रहता है घर
हम घर को जीते हैं
घर जीता है हममें
पर हम नहीं जानते कि
हमसे घर है या घर से हम
और चाहते भी नहीं जानना
अच्छा है बना रहे भ्रम
हम नहीं चाहते
इस मुद्दे पर घर के साथ कोई बहस कर
घर के प्रति अपनी आस्था खंडित करना

हम जब भी घर से निकलते हैं
घर निकल पड़ता है हमारे साथ
हमारे पीछे-पीछे...

हिंदी के युवा कवि। पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित। संपर्क : जागृति मंच, पुराना दुमका, केवटपाड़ा, दुमका 814101 (झारखंड)

हमार अंदर होती है घर लौटने की जल्दी
और घर के अंदर हमारे लौटने की प्रतीक्षा
हम भूखे लौटते हैं और घर आते ही
आधी भूख ख़त्म हो जाती है।

दुखी होकर लौटते हैं
और चौखट के अंदर क़दम रखते हैं
दुख हल्का हो जाता है

हम कहीं से भी लौटकर उड़ेल देते हैं
उसकी झोली में अपना दुख
अपनी थकान, अपनी उदासी
और बदले में देता है वह हर दिन
भरपूर ऊर्जा
एक कोरे दिन के साथ

यह जो घर की छत है
घर की पगड़ी है
दरवाज़ा मुँह
खिड़कियाँ आँखें
दीवार कान
बंगला नाक
कोठरी हृदय
आँगन-ओसारा गोद

कुल मिलाकर घर के अन्य सदस्यों की तरह
एक मुकम्मल आदमी है घर

यह अलग बात है कि
हम घर में आदमी
और आदमी में घर को नहीं देख पाते!

वह घर ही है
जहाँ लौट आना चाहता है आदमी अंततः
अपनी हर एक यात्रा के बाद

जब भी लौटो
आगोश में भरने को आतुर
मिलता है बाँहें फैलाए

स्याही-सोखता की तरह
सोख लेता है

मेरी आँखों में होता है वह
और उसकी आँखों में होता है
मेरे लौटने का इंतज़ार

कहीं भी जाओ
ठीक तीसरे दिन
याद आता है बहुत

यहीं से शुरू
और अंततः यहीं आकर
समाप्त होती हैं सारी यात्राएँ

कहीं भी जाने की हमारी कोशिश
समाप्त हो जाती है यहाँ लौटकर

चाहे जहाँ भी हो
जैसा भी हो
दुनिया की सबसे ख़ूबसूरत जगह है
अपना घर।

पेड़

यह सच है कि
आदमी की तरह उसकी आँखें नहीं होती
पर इसका मतलब यह तो नहीं कि
पेड़ अंधे होते हैं, कुछ देख नहीं सकते
सुन नहीं सकते, बोल नहीं सकते
हँस-गा नहीं सकते, रो नहीं सकते पेड़?

अगर तुम ऐसा मानते हो
तो क्षमा करना
पेड़ों का मानना है कि तुम आदमी नहीं हो!

पेड़ों ने सबको सब कुछ दिया
चिड़ियों को घोंसला
पशुओं को चारा
मुसाफ़िर को छाया
भूखों को फल
पुजारी को फूल
वैद्य को दवा
बच्चों को बाँहों का झूला

जो गर्भ में पल रहे शिशु तक का रक्त-तिलक लगा
जय-जयकार करते हुए लेते हैं तुम्हारा नाम

औरों की तरह मैं तुमसे कुछ माँगता-छाँगता नहीं
न धन-दौलत, न शक्ति, कुछ भी नहीं

लेकिन मैं तुम्हारे आतंक से मुक्त होना चाहता हूँ ईश्वर
अगर सचमुच तुम कहीं हो और कुछ दे सकते हो
तो मुझे अपने आतंक से मुक्त करो ईश्वर!

जब भूख पर चर्चा होगी

जब भूख पर चर्चा होगी
तब रोटी का ज़िक्र आएगा ही
जैसे अँधेरे पर बात करो
तो उजाला स्वतः आ जाता है बीच में

रोटी का ज़िक्र स्वाभाविक ही नहीं
ज़रूरी भी है भूख के लिए
और भूख के लिए रोटी का सवाल भी

जब हम रोटी की बात करते हैं
तो जाहिर है—
हम भूखे लोगों की बात करते हैं

रोटी पर बात करना
भूखे लोगों के पक्ष में खड़े होकर
अघाए लोगों से बहस करना है

अघाए लोगों का तर्क है कि
रोटी को मुद्दा बनाकर
रोटी पर बहस करना,
रोटी की राजनीति करना है

अगर यह सच है
तो मैं ऐसी राजनीति के पक्ष में हूँ

अब देखना है कि
हमारे पक्ष में कौन-कौन है?

छोटे लोग

छोटे लोग हमेशा तादाद में अधिक होते हैं
अकसर लंबी होती है उनकी सूची
पर लंबे नहीं होते उनके हाथ, नाक ऊँची नहीं होती उनकी
छोटा होता है उनका क़द, छोटी-सी होती है उनकी दुनिया

छोटे लोगों के अकसर बड़े-बड़े होते हैं नाम
पर करते हैं वे छोटे-छोटे काम

वैसे दिमाग़ के छोटे तो नहीं होते छोटे लोग
पर छोटी होती है उनकी बुद्धि

वे अकसर करते हैं छोटी-छोटी बातें
और जब-तब झगड़ पड़ते हैं
छोटी-छोटी चीज़ों के लिए जहाँ-तहाँ

छोटे लोग अकसर गली-कूचे में रहते हैं
पहनते हैं फुटपाथी कपड़े और
चलते हैं फुटपाथ पर पैदल

छोटे लोग अकसर लदे-फदे करते हैं गाड़ियों में यात्राएँ
लाईन में खड़े होकर लेते हैं टिकट
मोल-भाव कर ख़रीदते हैं चीज़ें
और जैसे-तैसे खींच-तानकर बिताते हैं जीवन

छोटे लोग अकसर बड़ी जगह घेरते हैं
पर मुट्ठी भर से ज़्यादा जगह नहीं होती पास उनके

छोटे लोगों से ही बनती है बड़े लोगों की दुनिया
उनके होने से ही अकसर पहचाने जाते हैं बड़े लोग

छोटे लोग भीड़ में तख़्तियाँ उठाए नारे लगाते हैं
और अपनी छोटी-छोटी माँगों के लिए अकसर मारे जाते हैं
जुलूस में बड़े लोगों की गोली से

छोटे लोग अकसर नीचे बैठ कर सुनते हैं
बड़े लोगों का भाषण
और बड़े लोग मंच पर बैठ करते हैं बड़ी-बड़ी बहसें
छोटे लोगों पर

छोटे लोग अकसर डरते हैं बड़े लोगों से
लेकिन जब वे डरना छोड़ देते हैं
तो डरने लगते हैं उनसे बड़े-बड़े लोग

चलने को तो बहुत दूर तक चलते हैं
पर कहीं पहुँच नहीं पाते छोटे लोग

छोटे लोग बसाते हैं बड़े-बड़े शहर
और ख़ुद होते जाते हैं, शहर से दूर...

बावजूद इसके
छोटे लोगों के भीतर होता है एक बड़ा-सा खुला मैदान
जिसमें अकसर टहलते देखे जाते हैं बड़े लोग।

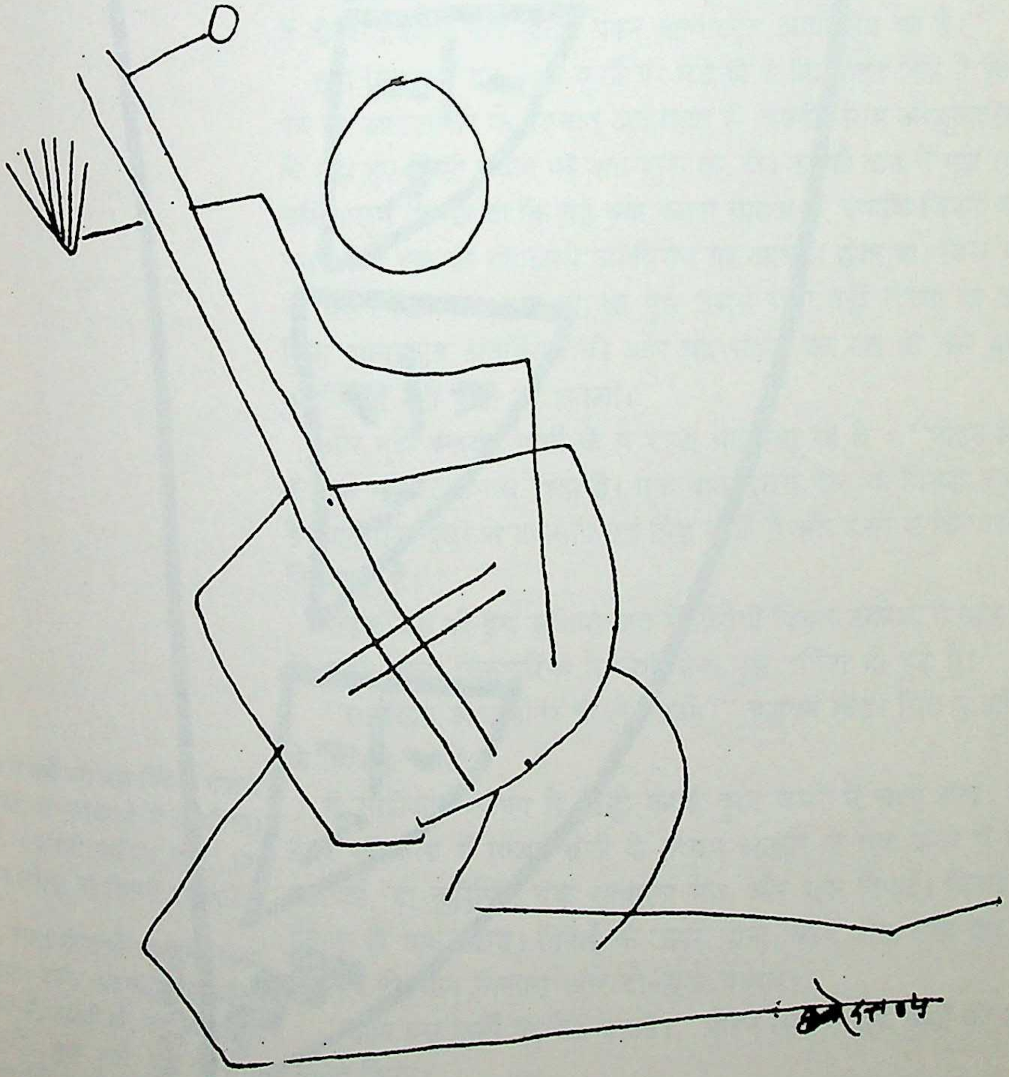

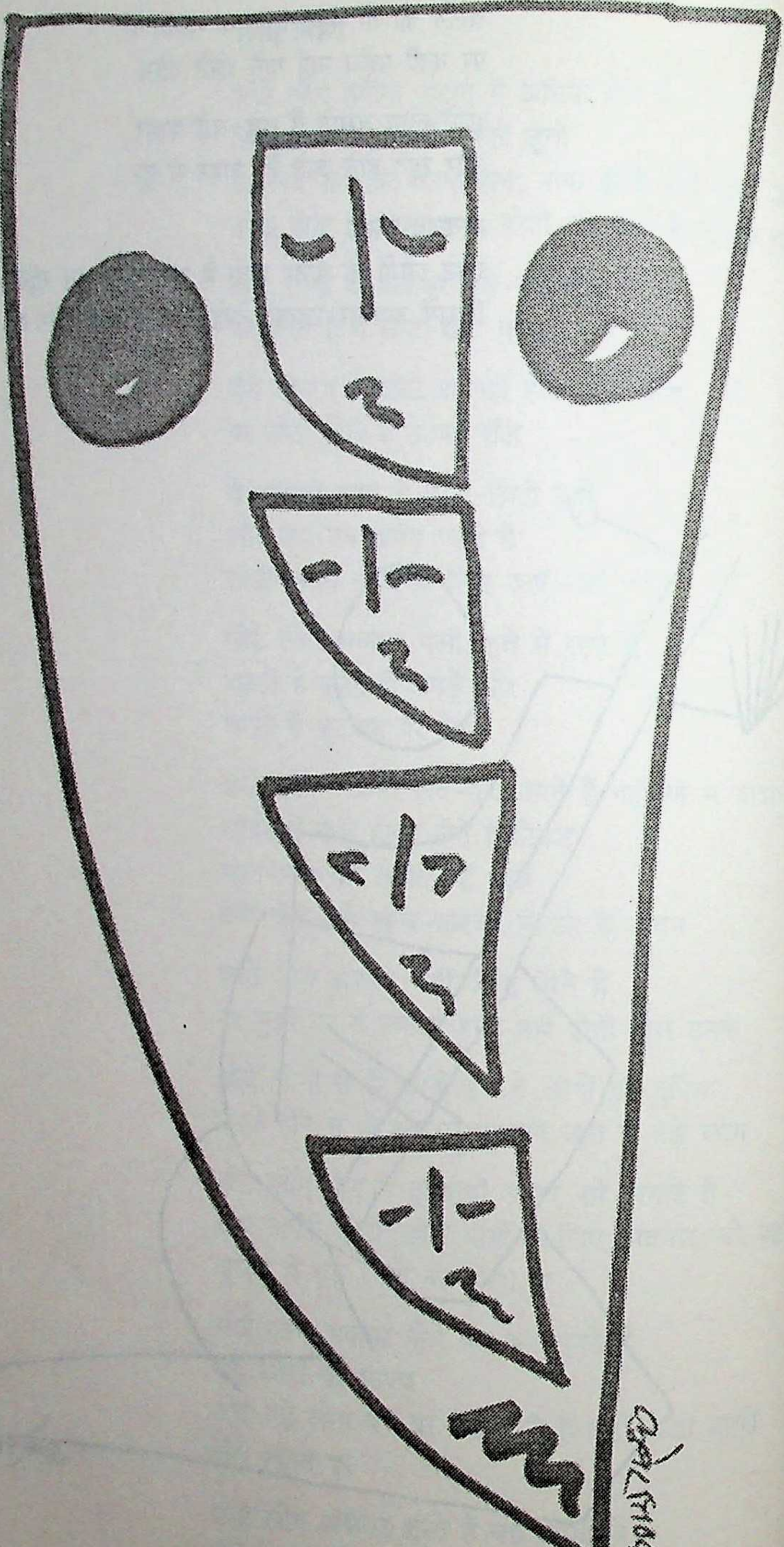

करनजीत सिंह

एक प्रगति : एक परंपरा

(मोहन सिंह)

मेरे हाथ में ह्विस्की का गिलास था। मैंने बलबीर से कहा, ''देख, इधर, मैं ह्विस्की पी रहा हूँ, उसके साथ ही मैं गुरु नानक पर महाकाव्य लिख रहा हूँ, इसी के साथ मैं सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार भी ले रहा हूँ। यह विरोधाभास नहीं, इसमें अंतर्विरोध है। केवल क़ौम में ही अंतर्विरोध नहीं होता। प्रश्न आधारभूत अंतर्विरोध का है।''

हाथ मिलाकर हम अभी कुर्सी पर बैठे ही थे कि मोहन सिंह ने किसी पेय का आदेश देने के पश्चात् अकस्मात् ही जसबीर सिंह अहलुवालिया के साथ हुए किसी संवाद की बात शुरू कर दी। उसकी बात से मुझे स्वयं नहीं मालूम हो रहा था कि वह क्या कहना चाहता है, क्योंकि जितनी बात उसने अब तक की थी उससे अंतर्विरोध का आभास होता था। जिस बात को वह विरोधाभास कह रहा था मुझे उससे ऐसा नहीं लगता था और जिस आधारभूत अंतर्विरोध की ओर वह संकेत कर रहा था उसे महज अंतर्विरोध नहीं कहा जा सकता।

और मुझे बलवंत गार्गी के ये शब्द याद आ रहे थे : ''मोहन सिंह के तर्क में विरोधाभास होता है। एक बात दूसरी बात के विरुद्ध कहता है। बातें एक दूसरे से टकराती एवं भिड़ जाती हैं और इनमें से चिनगारियाँ निकलती हैं।''

मोहन सिंह की इस संक्षिप्त बात में विरोधी विचार टकराते हैं और इन में फूटने वाली चिनगारियों ने अभी तक मुझे तपिश दी हुई है।

''साईकिल आप भीतर ही ले आओ।'' कहकर मोहन सिंह ने आँगन के किवाड़ खोले।

मैं साईकिल आँगन में खड़ी करके तुरंत कमरे में चला गया। संत नगर पटियाला में मध्यम श्रेणी के मध्यम आकार के एक कमरे में एक चारपाई, दो कुर्सियाँ, एक साधारण मेज़ और एक तिपाई। तिपाई के निकट ही एक स्टोव। तिपाई के ऊपर चीनी, चाय और सूखे दूध का डिब्बा। दो-तीन गिलास और दो-एक चम्मच।

''आप इस कुर्सी पर बैठ जाओ।'' मोहन सिंह ने एक कुर्सी की ओर संकेत किया।

मैंने कुर्सी घसीटकर मेज़ के पास कर ली... ''मैं यहाँ बैठता हूँ, मुझे लिखने में सुविधा होगी,'' मैंने कहा।

1930 में जन्मे करनजीत सिंह के पंजाबी रेखाचित्र पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : पंजाबी साहित्य सभा, 10, राऊज़ एवेन्यू, नई दिल्ली 110002

अनु. केवल गोस्वामी का जन्म 1940 में हुआ। उनके कविता-संग्रह *पहली बारिश में, उसकी माँ, बंद कमरों की संस्कृति, एक नदी की देहगाथा* प्रकाशित हैं। पंजाबी, ओड़िया से हिंदी में अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : जे-363, सरिता विहार, नई दिल्ली 110044

"हाँ यह ठीक है।" मोहन सिंह ने दरवाज़ा आधा बंद किया और चारपाई पर पड़ी पतलून की तह लगाने लगा।

"प्रोफ़ेसर साहब, इस कमरे में घुसते ही आपको कैसा अहसास होता है? परिवार से अलग, अकेले...और...।"

"अकाली आंदोलन के समय हम जवान होते थे, यह बात बहुत प्रसिद्ध हुई थी", मोहन सिंह ने मुस्कुराते हुए कहा, "संगतें, हलवे के ग्रास ने क्या ग़ज़ब ढाए।" और उसने पतलून वाले हैंगर को खूँटी पर टाँग दिया।

और मैं सोच की सूली पर टँग गया। कब बदलेगी यह हालत? जहाँ एक कवि को, कलाकार को संपूर्ण जीवन कला के नाम लिख देने के बाद भी रोटी के टुकड़े के लिए इस उम्र में भी इस प्रकार धक्के खाने पड़ रहे हैं।

"अच्छा हम फिर शुरू करते हैं।" मोहन सिंह ने कुर्सी पर बैठते ही हथेलियाँ जोड़कर हाथ घुटनों में दबा लिए और आगे-पीछे झूमना शुरू कर दिया।

"हम वह अंतर्विरोध वाली बात ही करते हैं। कई प्रगतिशील कवियों ने प्रेम और क्रांति को एक-दूसरे के विरोध में खड़ा किया है, ज्यों प्रेम क्रांति की राह का रोड़ा...।"

"वे मूर्ख हैं," मोहन सिंह ने मेरी बात बीच में से लपक ली।

"आपने इस प्रकार तो नहीं किया, पर आपने लिखा है, 'इश्क़ ने कितना कमीना बना दिया'...।"

"यह मैंने बहुत चेतन अवस्था में कहा है, किंतु इसका ग़लत अर्थ लिया गया है। मैं इसलिए सांझापन नहीं चाहता कि मुझे प्रेमिका मिल जाएगी। मैंने तो उलटे इस भावना पर व्यंग्य किया है, इसीलिए तो मैंने कहा है कि इश्क़ ने कितना कमीना बना दिया। 'कमीना' शब्द पर विशेष बल दिया जाना चाहिए।"

"यह ठीक है, किंतु एक प्रश्न यह नहीं है। मैं यह पूछना चाहता हूँ कि यदि कोई इस कारण से सामाजिक क्रांति चाहता हो कि उसको उसकी प्रेमिका मिल जाएगी, तो यह कमीनापन कैसे हुआ? हमारा समाज आर्थिक एवं भौतिक संकट में ही है? भावनाओं के संकट का शिकार नहीं? क्रांति हमारी अन्य तकलीफ़ों को भी मिटाना है? भावा भूख के साथ क्रांति का कोई संबंध नहीं?"

"क्यों नहीं। संबंध है।" मोहन सिंह के चेहरे पूरी गंभीरता थी और वह बात करते समय कुर्सी तनिक आगे झुक आया था, "किंतु मैं समझता वह कह रहा था, "निजी प्रेम बाद में है और सभी कुछ प्रमुख है। निजी प्रेम को संसार एकमात्र केंद्र बिंदु मान लिया जाता है। फिर सृष्टि उसके गिर्द घूमने लगती है। इसमें पूर्णतया सजग है। 'सावे पत्तर' (हरे पत्ते) में अराजक था, उन दिनों मुझे सामाजिक क्रांति की सूझ नहीं थी...।"

अकस्मात् मोहन सिंह की कविता की ये पंक्ति मेरे मस्तिष्क में उभर आईं, "मैंने नहीं रहना तु गाँव" शीर्षक था।

समाप्त हो जाएँ जहाँ पगडंडियाँ
रहे न मुल्कों के बँटवारे।

"भारत में कम्युनिस्ट पार्टी कब बनी थी? मोहन सिंह ने प्रश्न किया। "1927 में," संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

"यह कविता मैंने सन् उनतालीस-चालीस दौरान लिखी है। उस नई लहर की चेतना मुझे दिनों थी। फिर प्रगतिशील लेखक संघ में भी सक्रिय था। सज्जाद जहीर ने अपनी पुस्तक रोश में मेरा ज़िक्र किया है।"

बाद में मोहन सिंह ने मुझे बताया कि वह दिनों अमृतसर के खालसा कॉलेज में हुआ करता जब प्रगतिशील लेखक संघ के कार्यकर्ता उ मिले। मोहन सिंह, संत सिंह सेखों और गुरच सिंह तालिब के साथ मुलाक़ात की गई। तालिब निकाल दिया गया। उसके पश्चात् लाहौर जाकर मोहन सिंह इस आंदोलन में सक्रिय भाग लेता र

"यदि मैं प्रलेख में न आता तो मेरा आज भिन्न रूप होना था।" मोहन सिंह ने जब ये श कहे तो मुझे कृशनचंदर की याद आ गई। कुछ दि

पूर्व प्रगतिशील लेखक संघ की ओर से कृशनचंदर के पचपनवें जन्मदिन के संबंध में दिल्ली में एक समागम का प्रबंध किया गया था जिसमें बोलते समय कृशनचंदर ने कहा था, ''मैं जो कुछ भी हूँ प्रलेख का सदका ही हूँ।''

इससे पूर्व आरंभिक दौर में अपने ऊपर पड़े प्रभावों का ज़िक्र करते हुए मोहन सिंह ने अपने एक गहरे दोस्त सैयद फ़ज़ल हुसैन बुख़ारी की बात बताई थी। ''मालूम होता है वह कोई अराजक था। उसको बुद्धिमानों को अपने गिर्द जोड़ने का शौक़ था। उसमें सुकरात के सारे गुण थे, निम्न स्तर पर। मेरे भीतर पढ़ने का शौक़ उसी व्यक्ति ने पैदा किया। एक दिन अचानक हमने देखा कि उसने केस रख लिए थे और पूछने पर उसने बताया कि वह सिख बन गया है, क्योंकि सिखों के भीतर क्रांतिकारी भावना बहुत प्रबल है। उसकी मंडली में मैं अकेला सिख था।''

''यह कविता (इश्क़ ने कितना कमीना कर दिया) मेरे लेखन में एक उत्थान बिंदु है। इसके पश्चात् मैं समूचे तौर पर पूरी तरह सजग हुआ और लिखा : *कितना सफ़र दिल ने किया देख कर हैरान हूँ / कहाँ सारे जग का चक्कर कहाँ एक जुल्फ़ों का खम। / कौन शिखरों पर जा चढ़ा सदक़े इश्क़ के / कहाँ चूमता दार और कहाँ कासद का क़दम।*

मोहन सिंह पूरी अदायगी के साथ बोल रहा था ज्यों किसी मुशायरे में ग़ज़ल पढ़ रहा हो। जब उस ने ''शिखर'' शब्द बोला तो उसका दायाँ हाथ छत की ओर उठ गया और जब ''कासद का क़दम'' का उच्चारण किया तो उँगलियों के पोर धरती को छू गए।

''मगर एक बात है इस सामाजिक चेतना के बावजूद मैंने कई भावात्मक कविताएँ लिखी हैं और इसमें कोई अंतर्विरोध नहीं। फ़ैज अहमद फ़ैज पर भी एक बार यह इल्ज़ाम लगा था, जब वह जेल में था। जेल के अंदर जब कभी उसको अपनी पत्नी, अपने बच्चे या किसी अन्य व्यक्ति की याद आ गई और उसने कुछ शे'र कह दिए तो कौन-सा जुल्म ढा दिया उसने। यह रवैया अतिवादी है, कम्युनिस्ट नहीं।''

''आप ठीक कहते हैं, बल्कि प्रेम की भावना और क्रांति की भावना एक-दूसरे को सप्लीमेंट करते हैं।'' फिर मुझे अपनी एक कविता याद आ गई : *शिखर दोपहर की धूप में जैसे / मरुस्थल की जल रही भट्टी के बीच / बेसहारा राही कोई भटकता / ज़िंदगी के लिए मौत से जूझता फिरे। / वियोग की आग में झुलसते इस बुत में / आत्मा तुझसे मिलने को तड़पती।... / चूर हुआ कोई राही जिस तरह / दो घड़ी पेड़ों की छाँव में बैठकर / कुएँ के शीतल जल को ओक से पी / संतुष्ट होकर पिए और चले मंज़िलों की ओर / आत्मा का लक्ष्य और पहुँचने का हौसला / तुम्हारे अधरों का रस जुल्फ़ों की छाया।*

''प्रोफ़ेसर साहब, आपके गीत बहुत प्यारे थे। गीत तब जन्म लेता है जब भावो में ज्वार उठ रहा हो। कोई घटना, कोई दृश्य इसके पीछे प्रेरक शक्ति होता है। आप बता सकते हैं जब आपने लिखा, 'ना अज कोई आया साडे वेड़े' (अरी आज कोई हमारे आँगन में आया) इसके पीछे क्या घटना थी?''

''मेरा प्यार मेरे घर में आता है। उसके आने पर प्रफुल्लित मनःस्थिति को मैंने इस बीच में बयान किया है।'' मोहन सिंह का संक्षिप्त उत्तर था। बाद में मुझे मोहन सिंह के एक मित्र ने बताया था कि यह उन दिनों की बात है जब मोहन सिंह निस्बत रोड लाहौर में रहता था। कवि को उसकी प्रेमिका एक अर्से से नहीं मिल रही थी। मोहन सिंह कुछ उदास-उदास रहता था। उसकी प्रेमिका पर संगीन पहरा था। कुछ समय के बाद वह बीमार रहने लगी। डॉक्टर की सलाह से उसे सुबह ताँगे पर सैर के लिए भेजा जाने लगा। एक दिन ताँगा मोहन सिंह की दुकान के आगे खड़ा करके वह ऊपर चली गई। मोहक ऋतु थी और मोहन सिंह अकेला कमरे में सोया हुआ था। उसने भीतर जाकर मोहन सिंह पर से रज़ाई उतार दी। दोनों ने ख़ूब बातें कीं। उसके चले जाने के तुरंत बाद मोहन सिंह ने यह गीत लिखा। अकस्मात् हुई भेंट की हैरानी और असीम ख़ुशी और भावों की तीव्रता एवं कोमलता और स्वाभाविक प्रवाह इस गीत के विशेष लक्षण हैं।

''गीत अपनी बोली में तथा अपनी डाइलैक्ट में रचे जा सकते थे।'' मोहन सिंह ने अपनी बात का विस्तार किया, ''मैं केंद्रीय पंजाबी में अपनी गीतात्मकता को व्यक्त करता हूँ, किंतु सफल नहीं होता। गीत मैं अपनी उस भाषा में ही लिखता हूँ।''

''इसके अतिरिक्त गीतों के लिए विशेष प्रकार की क्षेत्रीय भूमि होती है। हर प्रकार का गीत प्रत्येक बोली में नहीं लिखा जा सकता।'' मैंने अपना मत प्रकट किया।

''हाँ, हाँ, यह बिलकुल ठीक है। मेरे क्षेत्र की बोली में गीतात्मकता बहुत है। मेरा क्षेत्र रंगरूट भर्ती करने का स्थान था। यहाँ की युवतियों को सदैव यह चिंता लगी रहती कि प्रियतम युद्ध से लौटेंगे कि नहीं। फिर बोली में तनिक कुहासा होता है। इस कारण से गीतों का सौंदर्य बढ़ जाता है। जिस प्रकार आप किसी स्त्री से मनुहार करें तो वह लाज की झिल्ली को अपना पर्दा बना लेती है, इससे वह और अधिक सुंदर प्रतीत होने लगती है। इसके अतिरिक्त गीत का संबंध मन की चेतन अवस्था की अपेक्षा अवचेतन अवस्था से अधिक होता है।''

मोहन सिंह इस प्रकार रुक-रुककर बोल रहा था जैसे अपनी कक्षा को नोटिस लिखवा रहा हो। मैं भी कभी उसकी ओर देखने लगता, कभी नोट्स लेने लगता, और कभी बीच में ही टोककर विषय को विस्तार देने की कोशिश करता।

''मन की अवचेतन अवस्था को कोई पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सका, और यह बात भी है कि यदि रूप परिपक्व न हो सूक्ष्म भावना भी असफल हो जाती है।'' मोहन सिंह ने विषय को विराम दिया।

''प्रोफ़ेसर साहब! मंचीय एवं साहित्यिक कविता में जो भेद है वह किसी अन्य बोली में नहीं। इसका क्या कारण हो सकता है?''

यह प्रश्न सदैव मेरे मन में उठता रहा है और कई लोगों के साथ मैंने इसकी चर्चा भी की है। हजारा सिंह, गुरदात पुरी ने एक बार इसका यह कारण बताया था कि बुद्धिजीवी एवं गहन अध्ययनशील कवियों ने अहम के कारण मंच को त्याग दिया जिसके कारण यह लकीर पड़ गई। इससे हमारी कविता का ह्रास हुआ है। पं कविताओं के श्रोताओं का स्तर नीचा ही रहा मोहन सिंह उन कवियों में से था जो मंच पर प्र आते रहे हैं, इसीलिए मैं उसके विचार भी जा चाहता था।

''पहली बात तो यह है कि यदि उर्दू मुशायरों तुलना पंजाबी कवि दरबारों से की जाए तो मा होता है कि पंजाबी कवि दरबार किसी तरकीब अंतर्गत किए जाते हैं। अभी भी प्रायः यही होता यह या तो गुरुपर्व के अवसरों पर होते अथवा सि के शैक्षिक सम्मेलनों पर। उनमें पढ़ी जाने व कविताएँ कवि के मन की आवाज़ नहीं होती थीं। इ के अतिरिक्त उर्दू का क्षेत्र कलकत्ता से लेकर पेशा तक था। उच्चकोटि के शायरों की कोई कमी न थी। पंजाबी का क्षेत्र सीमित होने के कारण उच्चको के शायरों की गिनती भी उसी अनुपात में ही हो थी।''

''प्रोफ़ेसर साहब! हमारे साहित्यिक कवि दरब की भी यही स्थिति है। कवियों को श्रोताओं शिकायत ही रहती है।'' मैंने विषय के सूत्र को त दी।

''इसका कारण भी मैं बताता हूँ।'' मोहन सिं अपने हाथ खोलकर एक दो झटके इस प्रकार दि जैसे वह टोके के साथ किसी चीज़ को काट रहा हो ''सबसे बड़ी बात तो यह है कि उर्दू का कवि द प्राप्त करने से पहले मंच या पत्रिका की ओर ध्य नहीं करता। रूप की परिपक्वता का अभाव उ शायरी में कम से कम है। हमारे यहाँ क्या होता है प्रयोगवाद के नाम पर स्वरहीन कविताएँ लिख जाती हैं, यह हमारी साहित्यिक कविता की अका मृत्यु है और मंच की कविता तो कविता बन ही नहीं सकती। मैं ऐसा समझता हूँ कि हमें लोकरूपों का अधिक प्रयोग करना चाहिए, जैसे कहा गया है प्रगतिशील संस्कृति रूप की दृष्टि से राष्ट्रीय ए विषय की दृष्टि से अंतर्राष्ट्रीय होनी चाहिए। मैं इसके प्रयोग किए हैं क्योंकि मैं मार्क्सवादी हूँ।''

''हाँ, हाँ, गजण सिंह आदि बैलड आपने लोक धारणाओं पर ही लिखे हैं, ये बहुत सुंदर रचनाएँ

हैं।'' मैंने कहा।

''फिर एक बाक़ायदा रूप होता है और एक बेक़ायदा। बेक़ायदा रूप भी सुंदर होता है, जैसे आप देखें आसमान में सितारे ऊबड़-खाबड़ दिखाई देते हैं। किंतु आकर्षक मालूम होते हैं। ब्राऊनिंग ने इन्हें पोएट्री ऑफ़ हैवन कहा था। नदी में अनेक वक्रताएँ होती हैं किंतु दरिया की स्वाभाविक वक्रताएँ बहुत सुंदर मालूम पड़ती हैं। उद्यान से जंगल अधिक सुंदर होता है यह एक मानी हुई बात है। मैंने बाक़ायदा रूप की तकनीक भी इस्तेमाल की है। जो प्रकृति ने हमें दिया है उससे क्यों न लाभ उठाया जाए, और मैंने बेक़ायदा (irregular) रूप के प्रयोग भी किए हैं। मैं इसे छंद की सादृश्यता कहता हूँ। 'पोठोहर की लड़की' को ही लो अन्यत्र कहीं तुकांत मैंने पहले मिलाया है। कहीं मध्य और कहीं अंत में...।''

मोहन सिंह बोलता जा रहा था और मेरा मन कह रहा था—''मोहन सिंह ने परंपरा से बहुत कुछ सीखा है, इसमें बहुत कुछ वृद्धि की है और इसे प्रगति के रास्ते पर आगे बढ़ाया है जिसे पुनः एक परंपरा मान लिया गया है।''

''प्रोफ़ेसर साहब! प्रगतिशील कविता पर और आपकी कविता पर भी यह दोष लगाया जाता है कि यह नारेबाज़ी और बयानबाज़ी के स्तर पर आ जाती है। इस विषय में आपकी क्या प्रतिक्रिया है?'' मोहन सिंह के चेहरे के हावभाव पढ़ने की ख़ातिर मैंने अपनी नोट बुक से नज़रें हटा लीं। पलक झपकने जितनी देरी के पश्चात् वह कहने लगा, ''करनजीत सिंह यह जमाती हमदर्दी का संबल है। तालिब कहा करता है, 'इसके जैसा कोई और कवि पंजाबी में नहीं है किंतु इसकी वह कविता ही जीवित रहेगी जो रोमांटिक है।' यह मुहाजवार की बातें कोई नई नहीं। योरप में भी यह आंदोलन चलकर समाप्त हो चुका है। मेरा यह विश्वास है कि कला लोगों के लिए लाभकारी एवं कल्याणकारी होनी चाहिए। बेशक यह सुंदर भी हो। और जिन लोगों के लिए हम लिखते हैं वे इसे मन से स्वीकारते हैं। 'जट्टियाँ दा गीत' (जाटनी का गीत) ही लो। किसान सभाओं में हज़ारों लोगों ने इसे सुना और सराहा है। रूपवादियों को मैं कहना चाहता हूँ Let everything perish, यदि मेरी कविता प्रगतिशील लोक लहर को दस वर्ष भी आगे बढ़ा देती है तो मैं संतुष्ट हूँ।''

''क्या आपके विचार में यह बात ठीक नहीं कि रूपवाद के मूल्यों एवं प्रगतिशील विषय का एक ऐसा सुमेल पैदा करे कि...।''

''मैं सुमेल के हक़ में हूँ।'' मोहन सिंह ने मेरी बात को काटते हुए कहा, ''और मैंने ऐसा किया भी है। धीर के अतिरिक्त और कौन-सा कवि है आपके पास। जब मुझसे बेहतर सुमेल पैदा करके कोई मुझे दिखाएगा। मैं उसे सलाम करूँगा।''

''एक बात और भी मेरे बारे में कही जाती है।'' पल भर ख़ामोश रहने के पश्चात् मोहन सिंह ने कहना आरंभ किया कि ''इसको प्रगतिशीलता का किताबी ज्ञान ही है जीवन का अनुभव नहीं। देखिए प्रत्येक कार्यकर्ता के कुछ कार्यक्षेत्र होते हैं जहाँ वो काम करता है लेखक भी तो एक कार्यकर्ता है और यह वह कार्यकर्ता है जो कभी भूमिगत नहीं हो सकता। मैं प्रगतिशील लेखक संघ में आरंभ से ही सक्रिय रहा हूँ। फिर विभाजन के पश्चात् मेरा घर शांति आंदोलन के कार्यकर्ताओं का अखाड़ा होता था। झंडे बन रहे थे, मोटो लिखे जा रहे थे। गीतों का अभ्यास हो रहा है और मेरी पत्नी उन सबके लिए चाय का प्रबंध कर रही है।''

''और मोहन सिंह बाहर तख़्तपोश पर बैठा दूध बेच रहा है।'' मेरी कल्पना ने एक चित्र उकेरा। एक दिन पहले ही डॉक्टर गुरचरन सिंह के घर मैं उसके साथ बातचीत कर रहा था जब मोहन सिंह का ज़िक्र आते ही उसने कहा कि ''आज़ादी के पश्चात् अमृतसर आकर मोहन सिंह को आजीविका के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ा था। उसने एक भैंस रखी हुई थी। उसे वह स्वयं सानी-पानी देता था।'' ''एक-एक पाव दूध बेचते उसे मैंने स्वयं देखा है।'' गुरचरन सिंह ने बताया।

''आपबीती से बड़ा अनुभव कौन-सा हो सकता है?'' मैं सोच रहा था। ''मोहन सिंह जी, अहलुवालिया की भूमिका के बारे में आपका क्या

मत है?'' मोहन सिंह के आलोचकों के ज़िक्र में से ही यह प्रश्न उभरा।

''इसका तथा इस जैसे औरों का काम छविभंजन करना है।'' और होटल की ओर लौटते हुए मोहन सिंह ने बात छेड़ दी।

''इस बार पाऊँटे साहब में जसबीर की ख़ूब गत बनी।''

''आप पाऊँटे साहब गए थे?''

''मैं क्यों जाता। पहले पहल मैं मीटिंग में जाता रहा। फिर मैंने देखा ये लोग मेरे सामने ही मेरी छवि को तोड़ते-मरोड़ते हैं।''

जो मोहन सिंह जसबीर के विषय में आज यह कह रहा था उसी मोहन सिंह की ओर से जसबीर की काव्य आलोचना के विषय में एक पंक्ति की प्रशंसात्मक टिप्पणी उसकी किताब *काग़ज़ का रावण* में है—''मैं इसे स्वीकार करता हूँ कि अभी तक मेरी कविता पर किए गए विश्लेषणों में यह अत्यंत गंभीर एवं विद्वत्तापूर्ण है।''...

अगली बार जब मोहन सिंह से मुलाक़ात हुई तो बातों-बातों में मैंने उसका ध्यान इस ओर खींचा, तब वह कहने लगा, ''बुद्धिमान तो वह है ही, यह मैं अभी भी मानता हूँ, किंतु उसकी भूमिका के बारे में पहले मैं सजग नहीं था।''

छविभंजन की बात से ही मुझे मोहन सिंह की नई कविताओं की पुस्तक *जसमीर* पर अतरसिंह की समीक्षा का ध्यान आ गया जिसमें उसने टिप्पणी की थी कि ''मोहन सिंह एक पूरा चक्कर काटने के बाद पुनः बीच रास्ते आ खड़ा हुआ है।'' ''मनुष्य'' कविता के संदर्भ में अतर सिंह ने विचार प्रकट किया था कि ''जिस मनुष्य का चित्र मोहन सिंह प्रस्तुत करता है वह गतिशील होते हुए भी एक बिंदु पर स्थित है क्योंकि वह त्रिशंकु है।'' मैंने अपने एक लेख में इस व्याख्या को निरस्त करते हुए लिखा था कि बात इसके सर्वथा विपरीत है। यह नया मनुष्य एक बिंदु पर स्थित मालूम होता है किंतु है गतिशील क्योंकि इसके माथे पर आगे बढ़ने का श्राप है।

''प्रोफ़ेसर साहब! आपने मेरा लेख भी पढ़ा होगा और अतर सिंह की समीक्षा भी। एक तो आप अपनी राय बताएँ, दूसरे एक दिन देवेन्द्र सत्यार्थी लगा कि इस मनुष्य को आगे बढ़ने का श्रा है वरदान क्यों नहीं।''

''आपने मुझे बिलकुल ठीक समझा है। सिंह की समीक्षा से मैं चकित हूँ। यह भी छवि है, दूसरे श्राप का अर्थ यह है कि आगे ब मार्ग काँटों भरा है, त्याग का मार्ग है, सहज-सुलभ कार्य नहीं।''

''और यह जो प्रगतिशील आंदोलन के की बातें करते हैं,'' मैं विशिष्ट से सामान्य आ गया।

''यह व्यर्थ बातें हैं। प्रगतिशील सा आंदोलन किसी एक समय से बँधा हुआ गुरुनानक जब बाबर को संबोधित करता है प्रगतिशील ही है।'' और कुछ समय पहले की ओर लौटते हुए मोहन सिंह कह रहा ''देखना हमें यह है कि कोई लेखक लोक हि या लोक विरोधी। यदि वह लोक हितैषी है नज़र में वह प्रगतिशील है। टॉलस्टॉय को सा क्रांति की सूझ नहीं थी किंतु फिर भी वह कि का परिवर्तन चाहता था, लोक कल्याण के नानक सिंह को सामाजिक क्रांति की वैज्ञानिक तो नहीं किंतु वह वर्तमान समाज में किसी प्र सुधार अवश्य चाहता है, इसलिए मैं प्रतिक्रियावादी नहीं समझता।''

मैं सोच रहा था कि बात ठीक ही है, मार्क्सवाद की नींव पर खड़े प्रगतिशील क़दम पीछे ही सही, उसका रुख़ तो आगे की ही है।

''किंतु बात यह है कि हमारे नेताओं ने बुरी जगह लाकर मारा है।'' मोहन सिंह क था—''सेखों की ओर से यह नारा ग़लत प्रगतिशील आंदोलन का विघटन हुआ है। पं जिन नाराज़ मार्क्सवादी नेताओं ने राजनीतिक को हानि पहुँचाई है उसी तरह सेखों ने साहि लहर को। आजकल मुझे दो साहित्यकार दो अफ़सोस है। एक अमृता प्रीतम दूसरे सेखों। पर कम अफ़सोस है अमृता पर कुछ अधिक।''

उसने इसके कारणों पर स्पष्ट संकेत किए।

''प्रोफ़ेसर साहब! हमारी इन बातों से ही सिद्ध नहीं होता कि हममें कोई कमज़ोरी आई है। यदि प्रगतिशील लेखकों के पैंतरे में परिवर्तन आया है या वे डावाँडोल हैं तो इसके कारणों को खोजने का प्रयत्न भी कभी आपने किया है?''

''मैं यह समझता हूँ कि हम कमज़ोर नहीं हुए, हाँ हम शिथिल अवश्य हो गए हैं इसीलिए विरोधियों की आवाज़ गूँजती है, करनजीत सिंह जी शून्य का होना असंभव है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि हमारी सारी शक्ति एवं एकाग्रता राजसी कामों में ही लग रही है। सांस्कृतिक संगठनों की ओर से हमने आँखें मूँद रखी हैं। किंतु यह भी अस्थाई दौर है।''

''आप आजकल पढ़ा रहे हैं इसीलिए आपका सीधा वास्ता है, आपका क्या विचार है कि आपकी पीढ़ी के लेखकों ने पंजाबी की अन्य साहित्यिक विधाओं में कुछ उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं?''

''कहानी में हमारी महति उपलब्धि है। गणना की दृष्टि से पंजाबी उपन्यास में भी बहुत कुछ है किंतु गुणवत्ता की दृष्टि से कोई बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं है।''

''पंजाबी के आलोचना साहित्य संबंधी सभी लेखक निराश हैं, आप क्या महसूस करते हैं?''

''पंजाबी में आलोचक हैं कौन? सेखों भी संतुलित बात नहीं करता। पंजाबी के रचनात्मक लेखक इस दृष्टि से आलोचकों से आगे हैं कि वे संतुलित हैं। पंजाबी को किसी संतुलित आलोचक की बड़ी ज़रूरत है जो तनिक गहराई में उतर सके।''

पंद्रह मिनट के बाद जब हम होटल में बियर पी रहे थे तो मोहन सिंह ने बियर का गिलास ख़ाली करके मेज़ पर टिकाते हुए कहा, ''इस बार जब मैं और बलवंत गार्गी ह्विस्की पी रहे थे तो वह कहने लगा—मैं पंजाबी कविता में सैक्स के विषय पर एक लेख लिख रहा हूँ—मैंने कहा मेरी तो एक ही कविता है 'कोई तोड़े वे कोई तोड़े'। वह कहने लगा यार कुछ और लिख। मैंने कहा मैं तुझे अभी एक कविता बना देता हूँ। मैंने तुरंत एक कविता लिखनी शुरू कर दी। किंतु अब मैं बहुत पछता रहा हूँ। यह मैंने क्या किया। अश्लीलता का बड़ा चलन हो रहा है करनजीत सिंह जी।'' उसने मेरे कंधे को थपथपाते हुए कहा।

मैं मोहन सिंह की ओर चकित होकर देख रहा था व संतुलित आलोचक को खोजता यह कवि कितनी असंतुलित बात कर बैठा।

नंदकिशोर नवल

उत्तर-छायावाद, रहस्यवाद और रामकु
वर्मा की कविता

''उत्तर-छायावाद'' में जिन कवियों का शुमार होता है, बच्चन, दिनकर, नरेंद्र शर्मा आदि, वे छायावादी न मूलतः स्वच्छंदतावादी कवि हैं, जो प्रसाद, निराला और प परंपरा में नहीं बल्कि माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन और सियाराम गुप्त की परंपरा में काव्य-रचना करते हैं। उनमें से एक-दो क पर आरंभ में छायावादी प्रभाव था भी तो वे जल्दी ही उससे होकर अपने स्वच्छंद मार्ग पर आ गए। ताज्जुब की बात न दिनकर ने अपनी पीढ़ी को छायावाद से अलगाने पर बल दे उसके काल को ''छायावादोत्तर काल'' कहने का प्रस्ताव कि जहाँ तक रामकुमार वर्मा की बात है, वे असंदिग्ध रूप से छाय कवि हैं, इसलिए उनके प्रसंग में ''उत्तर-छायावाद'' का छायावाद का उत्तरार्ध ही हो सकता है। तात्पर्य यह कि यहाँ ''उ शब्द वह अर्थ नहीं दे रहा है, जो ''उत्तर-आधुनिकतावाद'' में है। आचार्य शुक्ल ने भी उन्हें छायावादी कवि ही माना है और से उनके प्रतिनिधि चार कविता-संग्रहों *अंजलि*, *रूपराशि*, *चि* और *चंद्रकिरण* का उल्लेख करते हुए उन्हें छायावादी कविताओं ही संकलन कहा है। ''छायावाद'' से उनका मूल आशय अं की दृष्टि से रहस्यवादी और शैली की दृष्टि से अतिशय लाक्ष होने से है, यह कहने की आवश्यकता न होनी चाहिए। वैसे तथ्य है कि रामकुमार जी का हिंदी कविता में आगमन तब हुआ प्रसाद, निराला और पंत के द्वारा उसमें छायावाद की प्रतिष्ठ चुकी थी और उसकी शैली काफ़ी कुछ परिष्कृत होकर अति लाक्षणिकता से मुक्त होने की ओर अग्रसर थी।

रामकुमार जी वस्तुतः महादेवी जी के समकालीन हैं। दोनों कविता-संग्रह एक-दूसरे के आसपास ही निकले हैं। महादेवी के *नीहार*, *रश्मि*, *नीरजा* और *सांध्यगीत* का प्रकाशन-काल क्रम 1930, 1932, 1934 और 1936 है, तो रामकुमार जी की *अंज* *रूपराशि*, *चित्ररेखा* और *चंद्रकिरण* का क्रमशः 1929, 1931, 1 और 1937 है। इस प्रसंग में एक उल्लेखनीय बात यह है महादेवी जी में छायावादी लाक्षणिकता प्रचुरता से बनी रहती

नंदकिशोर नवल का जन्म चाँदपुर, वैशाली में हुआ। इनकी लगभग 12 पुस्तकें आलोचना की प्रकाशित हैं। मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् से पुरस्कृत। संपर्क : घाघाघाट रोड, महेंद्रू, पटना-800006

जबकि रामकुमार जी उससे अधिक से अधिक मुक्त हो चुके प्रतीत होते हैं, जिसकी ओर हल्के-से ऊपर संकेत किया जा चुका है। *सांध्यगीत* की भूमिका में महादेवी जी का एक मार्मिक कथन है: ''नीहार के धुँधलेपन में मैं सभीत-सी भारती-मंदिर की जिस पहली सीढ़ी पर आ खड़ी हुई थी अब तक वहीं हूँ।'' मैं इसमें प्रयुक्त ''धुँधलेपन'' शब्द को रेखांकित करना चाहूँगा। महादेवी जी के विपरीत रामकुमार जी की अभिव्यक्ति में कैसी सफ़ाई है, इसके उदाहरणस्वरूप 1930 में प्रकाशित उनके गीत-संग्रह *अभिशाप* के एक गीत की ये पंक्तियाँ उद्धृत हैं, जिनमें कवि ने नश्वरता का वर्णन किया है : *और (याद आया अब)— / मृगनयनी का नयन-विलास, / हँसती और लजाती थी— / चितवन कानों के पास, / गोल गुलाबी गालों में— / भरकर ऊषा का रंग, / पैना तीर चला चितवन का, / करती थी भ्रू-भंग, / मैंने देखा था उसमें, गिरते फूलों का ह्रास। / संध्या के काले अंबर में मिटता अरुण-विकास।*

यह बिलकुल स्वाभाविक था कि इलाहाबाद के तत्कालीन साहित्यिक महादेवी वर्मा के साथ रामकुमार वर्मा और फिर भगवतीचरण वर्मा को लेकर प्रसाद-निराला-पंत की बृहत्रयी के बाद छायावाद की एक लघुत्रयी की कल्पना करते, जिसे ''वर्मा-त्रयी'' भी कहा गया। भगवती बाबू का पथ छायावाद से भिन्न स्वच्छंदतावाद का पथ था, यह उनके प्रशंसकों और पाठकों के क्या, स्वयं उनके सामने भी थोड़ा बाद में स्पष्ट हुआ।

दिलचस्प है कि रामकुमार जी महादेवी जी के समकालीन ही नहीं हैं, उन्हीं की तरह रहस्यवादी भी हैं। उनके बाद छायावाद में कोई अन्य कवि सर्वांशतः या अधिकांशतः रहस्यवादी नहीं हुआ। लेकिन उनके रहस्यवाद की झलक पाने के पहले रहस्यवाद-मात्र पर दो शब्द कहना ज़रूरी है, क्योंकि हिंदी के कुछ क्रांतिकारी लेखक उसका नाम सुनकर ही भड़क उठते हैं। कारण स्पष्ट है, लोकमंगलवादी आचार्य शुक्ल से लेकर मार्क्सवादी डॉ. रामविलास शर्मा तक ने आधुनिक रहस्यवाद के प्रति नकार की प्रवृत्ति दिखलाई है। आचार्य शुक्ल ने छायावादी रहस्यवाद पर ज़ोरदार हमले किए हैं, जबकि डॉ. शर्मा ने उसके प्रति सहिष्णु होते हुए भी हिंदी कविता में छायावाद के बाद प्रकट होने वाले रहस्यवाद पर एक विचित्र टिप्पणी की है। उनका पूरा कथन यह है : ''अंग्रेज़ी राज में यह रहस्यवादी धारा राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना और सांस्कृतिक नव-जागरण के अनुकूल प्रवाहित हुई थी। किंतु वर्तमान भारत में सामाजिक परिस्थितियाँ इतनी विषम हो गई हैं कि पुराने समाधान काम नहीं देते।'' इसमें प्रयुक्त ''समाधान'' शब्द से यह बोध होता है कि मध्ययुगीन निर्गुण भक्ति-काव्य से लेकर आधुनिक युगीन छायावादी काव्य तक में रहस्यवाद सत्य समझा गया, लेकिन समकालीन जीवन में आकर उसका मिथ्यात्व प्रकट हो गया है, जिससे अब वह बेकार है। रहस्यवाद को ''समाधान'' मानने के चक्कर में डॉ. शर्मा इस बात को भुला बैठे हैं कि रहस्यवाद मध्ययुग में भी काव्य का ''मिथक'' था और वह आज भी काव्य का ''मिथक'' है और उसे हमेशा उसी रूप में ग्रहण किया गया है। यदि ऐसी बात न होती तो आज भी हम कबीर-जायसी से लेकर छायावादी कवियों, बल्कि रवींद्रनाथ तक के रहस्यवाद से प्रभावित नहीं होते। हम उससे प्रभावित होते हैं, क्योंकि उसे मिथक के रूप में ही लेते हैं, जो कि कवि की अंतरंग सृजन-प्रक्रिया में जन्म लेता है, न कि समाधान प्रस्तुत करने वाले सत्य के रूप में, जो कि डॉ. शर्मा के अनुसार आज ''सामाजिक परिस्थितियों की विषमता'' अथवा वैज्ञानिक प्रगति के कारण संभव नहीं रहा। इसे थोड़ा और स्पष्ट करें, तो रहस्यात्मक कविता का आस्वादन एक सौंदर्यात्मक आस्वादन है, जिसमें चित्रांकित तुरग को तुरग मानते हुए भी हम जानते हैं कि वह वस्तुतः तुरग नहीं है, या फिर यह जानते हुए भी कि वह तुरग नहीं है, उसे तुरग मानते हैं।

रहस्यवाद न सत्य है, न मिथ्या अथवा अयथार्थ, बल्कि जैसा कि अभी-अभी कहा गया, वह मिथक है, जिसका रहस्य काव्य-संवेदना और वस्तु-जगत् के जटिल संबंध में छिपा है। ज़रूरी नहीं कि इस जटिलता को उसकी सृष्टि करनेवाला कवि भी

समझे। यदि ऐसा होता, तो स्वयं रामकुमार जी अपनी रहस्यवादी कविता को ''पार्थिव जीवन के क्रोड़ में अपनी दैनिक गति से घटित होने वाली बातों'' से परे न समझते। हमने संतों, सूफ़ियों, छायावादियों और अज्ञेय-जैसे अस्तित्ववादियों का रहस्यवाद भी देखा है। उनके रहस्यवाद में अंतर क्यों है? संतों का ईश्वर आनंदमय है, सूफ़ियों का प्रेममय, छायावादियों का असीम और अस्तित्ववादियों का अद्वितीय। क्यों? वे सब एक तरह के क्यों नहीं हैं? इसका कारण उनके द्वारा की गई ईश्वर की अलग-अलग अवधारणा या कल्पना नहीं, बल्कि उन सबों के यथार्थ का अलग-अलग होना है। संत समाज के उत्पीड़ित वर्ग से आते थे, इसलिए उनका ईश्वर आनंदमय है, सूफ़ी इस्लामी बाह्याचार और मुस्लिम शासकों के कठोर धर्म-शासन से ऊबे हुए थे, इसलिए उनका ईश्वर प्रेममय है, छायावादी सामाजिक से लेकर राजनीतिक सीमाओं तक के शिकार थे, इसलिए उनका ईश्वर असीम है और अस्तित्ववादी एक साथ फ़ासिज़्म और कम्युनिज़्म से वैयक्तिकता पर आनेवाले संकट से त्रस्त थे, इसलिए उनका ईश्वर अद्वितीय है। रहस्यवाद की इस यथार्थवादिता, या महादेवी जी के शब्द लेकर कहें तो उस अपार्थिव की पार्थिवता का सबसे ठोस प्रमाण आधुनिक युग के महान् रहस्यवादी रवींद्रनाथ का रहस्यवाद है, जो दो चीज़ों से मेरी समझ में आया। उनमें से एक है किशोरों के लिए विज्ञान पर लिखी गई उनकी पुस्तक ''विश्व-परिचय'', जिसे देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अबौद्धिक नहीं, बल्कि महान् बौद्धिक थे और विज्ञान की जैसी सूक्ष्म, गहन, विस्तृत और अद्यतन जानकारी उनके पास थी, वैसी शायद ही संसार के किसी अन्य महान् लेखक को रही हो। यह उनके रहस्यवाद को उनकी आस्था या अंधविश्वास से सीधे जोड़कर देखने की क्रिया पर बड़ा-सा प्रश्नचिह्न लगा देता है। दूसरी चीज़ है, वे तीन निर्देश, जो उन्होंने मृत्यु के पूर्व शांतिनिकेतन के लिए दिए थे। उनमें से पहला निर्देश यह था कि उसके इर्द-गिर्द कभी चहारदीवारी नहीं खड़ी की जाएगी, दूसरा यह कि उसके परिसर में स्थित आदिवासियों के गाँव कभी उजाड़े जाएँगे और उसमें उनके मेले-ठेले और सारे अनु पूर्ववत् चलते रहेंगे तथा तीसरा यह कि उ समारोहों में दर्शकों के बीच कोई श्रेणी-विभा होगा। क्या यही रवींद्रनाथ का अंत को अनंत से सीमा को असीम से जोड़ना नहीं है?

आचार्य शुक्ल को भी यह बात मालूम थी रहस्यवाद में भौतिकता का कितना भी अतिक्र किया जाए, अंततः वह संबद्ध होता है इस भौ जीवन से ही, लेकिन चूँकि वे रहस्यवाद के वि थे, इसलिए वे इस बात पर टिके नहीं और रहस्य के मिथक के अंतरंग में प्रवेश कर वहाँ स्थित भौ जीवन के सत्य को प्रकट करने की जगह उस मि को ही सत्य मानकर उसका उपहास करते रहे। उ शब्द द्रष्टव्य हैं :''तत्त्वदृष्टि से, मनोविज्ञान दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से 'अज्ञात की लाल कोई भाव ही नहीं है। यह केवल 'ज्ञात की लाल है जो भाषा की छिपानेवाली वृत्ति के सहारे 'अ की लालसा' कही जाती है।'' ''भाषा की छिपानेव वृत्ति''—यह काव्य का मर्म भी है और आलोचक लिए चुनौती भी, लेकिन आचार्य शुक्ल ने काव्य मर्म समझकर भी उसकी तरफ़ से आनेवाली चुनौ का सामना नहीं किया और उससे कतराकर नि गए। अपवाद सिर्फ़ उनके द्वारा किया गया जाय के रहस्यवाद का विश्लेषण है, जिसमें उनके अनु सर्वात्मवाद या अद्वैतवाद के तत्त्व थे। इसी के का वह लोकविमुख न होकर लोकाग्रही या लोकसं था। ज्ञातव्य है कि ये तत्त्व छायावादी रहस्यवाद भी थे, लेकिन उसके प्रति उन्होंने सकारात्मक रुख दिखलाकर पूर्णतः नकारात्मक रुख़ दिखलाया।

यहाँ यूरोपीय मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्री अर्न्स फ़िशर का कल्पना-संबंधी विचार देखना उपयो होगा, जो उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *आर्ट एं आइडियोलॉजी* के ''इन प्रेज ऑफ़ दि इमैजिनेशन'' शीर्षक अंतिम अध्याय में व्यक्त किया है। उसकी प्रासंगिकता यह है कि रहस्यवाद कल्पना की है सृष्टि है, कवि की सर्जनात्मक कल्पना की। फ़िशर इस बात से चिंतित हैं कि तकनीकी क्रांति की दुनिया

में कल्पना की शक्ति सिकुड़ती जा रही है, यथार्थ में प्रवेश करनेवाली काल्पनिक अंतर्दृष्टि की शक्ति ही नहीं, बल्कि संभाव्य की काल्पनिक प्रत्याशा भी। उनके शब्द ध्यातव्य हैं : ''कल्पना विश्व के संज्ञान की एक पद्धति है। किस विश्व के संज्ञान की? जिस विश्व का अस्तित्व नहीं है, लेकिन जो संभव है। अपरिमित संभावना। यह बुद्धि और विज्ञान को त्यागने का प्रश्न नहीं है, बल्कि उसके उलट कल्पना, ठोस दृष्टि और मिथकीय बिंब द्वारा उनकी कमी को पूरा करना है। कल्पना के अभाव में विश्व में तथ्य, स्थितियाँ और घटनाएँ तो होंगी, पर *यथार्थ* नहीं।'' इस तरह रहस्यवाद यथार्थ-विरोधी वस्तु नहीं, बल्कि प्रकारांतर से उसी की अभिव्यक्ति है, यद्यपि अपने प्रकृत रूप में ही ग्राह्य, क्योंकि उसी में उसका सौंदर्य और प्रभावोत्पादकता निहित है।

सभी रहस्यवादी कवियों की तरह रामकुमार जी की रहस्यवादी भावना का भी एक संसार है, लगभग सुपरिचित उपादानों से बना हुआ, जिसे उन्होंने अपने सिद्धांत और व्यवहार दोनों से चरितार्थ किया है। इस संसार की पूरी झलक दिखलाना नहीं, बल्कि उसकी सिर्फ़ एक विशेषता का उल्लेख करना ही इस आलेख में मेरा उद्द्देश्य है। वह इस कारण कि उस विशेषता को नज़रअंदाज़ करने के चलते ही रहस्यवादी कविता को यथार्थ-विमुख ही नहीं, मानव-विमुख तक कहा जाता है। पहले हम रामकुमार जी के रहस्यवाद के सैद्धांतिक पहलू को संक्षेप में देखें।

आचार्य शुक्ल से लेकर डॉ. शर्मा तक ने रहस्यवाद को अबौद्धिक कहा है। उनका ऐसा कहना स्वाभाविक है, क्योंकि प्रसाद से लेकर रामकुमार वर्मा तक ने विज्ञान और बुद्धिवाद का विरोध करते हुए भाव का पक्ष लिया है। रामकुमार जी की कठोर उक्ति द्रष्टव्य है : ''विवेक तो शैतान है जो साधक को भावना-पथ से दूर ले जाकर तर्क की मरुभूमि में छोड़ देता है।'' सोचने की बात यह है कि आधुनिक काल में वैज्ञानिक और बौद्धिक प्रगति के साथ-साथ विज्ञान और बुद्धि का विरोध भी क्यों बढ़ता गया है? वैज्ञानिक प्रगति ने जिस सभ्यता को जन्म दिया, क्या उसकी यांत्रिकता, व्यक्तिवादिता और अमानवीयता को उसके विरोधियों ने काफ़ी पहले ही देख लिया था? इस सभ्यता की अमानवीयता का इससे बढ़कर प्रमाण क्या हो सकता है कि इसमें मनुष्य की कल्पना के लिए अवकाश लगातार कम होता गया है, जिसकी ओर अर्न्स्ट फ़िशर ने इशारा किया है? मनुष्य की कल्पनाशीलता और उसके मिथकीय चिंतन का विरोध करने वाले आचार्य शुक्ल और डॉ. शर्मा इन दोनों ही आलोचकों ने उसका मतलब बुद्धि-मात्र का विरोध समझ लिया है, जबकि वह बुद्धि के एक ख़ास प्रकार के उपयोग और कार्य का विरोध है। कहना व्यर्थ है कि *कामायनी* में प्रसाद बुद्धि और तर्क को प्रतीकित करने वाली इड़ा का परित्याग नहीं करते, बल्कि उसे सिर्फ़ श्रद्धा के अनुशासन में रखने की बात कहते हैं, जो कि मात्र भाव की नहीं बल्कि श्रद्धा-बुद्धि की प्रतीक है। रामकुमार जी तर्क-बुद्धि का विरोध कर भाव का पक्ष क्यों लेते हैं? इसलिए कि वह उन्हें अपनी ऐकांतिकता से मुक्त कर सार्वजनिक और इस कारण ''असीम'' बनाता है। उनके शब्द हैं : ''रहस्यवाद आत्मा में विश्वात्मा की अनुभूति है।'' इस अनुभूति की विशेषता यह है कि उसमें व्यक्तित्व का पूर्ण विनाश नहीं होता, बस वह ''एक उल्लास की तरंग बनकर आत्मा में जाग्रत'' रहती है। इस तरह रामकुमार जी की रहस्यानुभूति भक्ति की अनुभूति-जैसी है।

इसकी पुष्टि उनकी कविताएँ बख़ूबी करती हैं। यह ज़रूर है कि सिद्धांत जैसे व्यवस्थित होते हैं, वैसे कविताओं का भाव-लोक तार्किक और व्यवस्थित नहीं होता। अपने एक गीत में अपनी प्रेयसी से आत्मनिवेदन करते हुए रामकुमार जी कहते हैं : *मेरे बाहुपाश से वेष्टित हो यह मृदुल शरीर, /चारों ओर स्वर्ग के होगा पृथ्वी का प्राचीर।* आशय स्पष्ट है कि स्वर्ग पृथ्वी के घेरे में हो। इसी तरह एक अन्य गीत में : *प्रियतम, मेरी स-तम निशा ही को/शशि-किरण बनाओ।* जैसे पृथ्वी को स्वर्ग में लय होना मंज़ूर नहीं है, वैसे ही अँधेरी रात को चंद्रमा की किरणों में। हर तरह से कवि की इच्छा है कि अपने भौतिक जीवन में ही असीम और अनंत की अनुभूति करे, जिससे

उसके व्यक्तित्व का विस्तार हो। उसका उद्दिष्ट भौतिक जीवन का अतिक्रमण कर अपने लक्ष्य पर पहुँचना नहीं, बल्कि लक्ष्य तक पहुँचकर भी अपने भौतिक अस्तित्व में बने रहना है। आत्मा-परमात्मा में बिंब-प्रतिबिंब-भाव की आकांक्षा देखने लायक़ है :

मेरे जीवन में एक बार
तुम देखो तो अनुपम स्वरूप;
मैं तुममें प्रतिबिंबित होऊँ,
तुम मुझमें होना ओ अनूप!

कहने की आवश्यकता नहीं कि ससीम के असीम-ज्योति से झिलमिलाने में ही सौंदर्य है, अपने में सिमटे रहने में नहीं। आत्मा में विश्वात्मा की अनुभूति के बाद भौतिक जगत् और प्रिय हो उठता है, ऐसा भी रामकुमार जी ने कहा है। एक गीत में प्रिय से मिलन के बाद के प्रभाव का वर्णन उन्होंने इस रूप में किया है :

यह ज्योत्स्ना, यह तरु, यह मानव,
ये सब प्रिय क्यों हो रहे
कल की कलिका कहती है—
''बंधन से कैसा सौरभ-प्रस

स्पष्टतः इन पंक्तियों का संदेश यह है कि
बंधन-मुक्त हो तो दुनिया अधिक प्रीतिकर दिख
पड़ती है।

प्रश्न है कि यह सब मिथक है, तो क्या वि
व्यर्थ है? मुक्तिबोध ऐसे चिंतन को कोई महत्
देते और व्यवहार-क्षेत्र से अलग रहकर व्यक्ति
किसी प्रकार के विकास या परिवर्तन को अ
मानते हैं। ''सकर्मक'' या फिर ''कर्मण्य'' उ
प्रिय शब्द है। उत्तर में निवेदन है कि व्यवह
कर्म केवल राजनीतिक क्रिया-कलाप या साम
आंदोलनों तक ही सीमित नहीं है। वस्तुतः चिंत
व्यवहार है, क्योंकि वह शून्य में नहीं होता
दृश्य अदृश्य अनेक सूत्रों के माध्यम से भौ
सामाजिक क्षेत्रों से जुड़ा होता है।

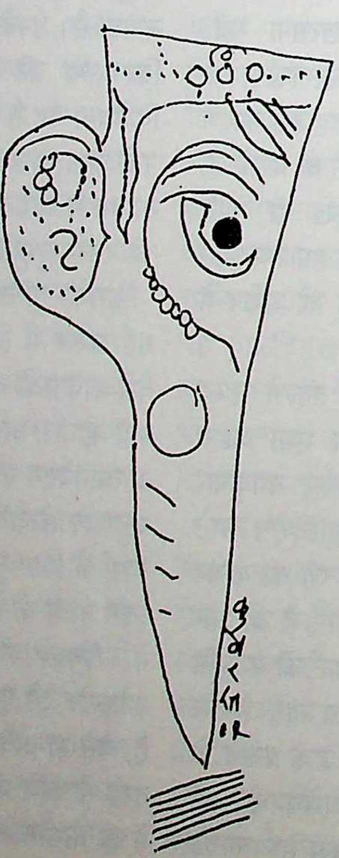

एस. शेषारत्नम्

हिंदी और तेलुगु के लोकगीत

जन्म 1946। *समकालीन दलित साहित्य : संवेदना एवं मूल्य दृष्टि* सहित आलोचनात्मक, अनूदित, संपादित पुस्तकें। दलित साहित्य अकादमी से सम्मानित। संपर्क : 4-66-1/4, लॉसंस बे कॉलोनी, विशाखापतनम-530017

हर एक प्रांत का अपना-अपना साहित्य होता है। प्रमुखतः लोकगीतों को दृष्टि में रखकर ही वास्तविक साहित्येतिहास का निर्माण किया जाता है। तेलुगु तथा हिंदी दोनों भाषाओं में लोकगीतों का अक्षय भंडार है। ये गीत अलिखित होने पर भी अमुक समाज के आचार-विचारों, सामाजिक नियम, रहन-सहन आदि विषयों को सजीव रूप से प्रतिबिंबित करते हैं। लोकगीतों में भारतीय संस्कृति के सभी लक्षण विद्यमान रहते हैं। मानवीय संवेदनाओं को प्रतिबिंबित करने वाले ये गीत विविध प्रकार के होते हैं :

शृंगारपरक गीत : लोकगीतों में शृंगार के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों का सुंदर चित्रण मिलता है। इन गीतों में व्यंग्य और वाच्य रूपों का अधिक प्रयोग होता है। प्रेमिका का प्रेम इतनी चरम सीमा तक पहुँचता है कि वह जल की मछली बनकर जल के बीच रहना चाहती है ताकि उसके प्रियतम जब स्नान करने आएँ तो वह उनके चरण चूम ले—*होश्तों मैं जल की मछरिया / जलहि बीचे रहि जश्तों हो राम / आहो रामा मोरा हरि अश्तें असननवा / चरन चूमि लेश्ती हो राम।*

लोकगीतों में भारतीय संस्कृति का सुंदर एवं सफलतम चित्रण मिलता है। पत्नी पति से लश्करे धानी की चूड़ियाँ लाने का आग्रह करती है : *पिय लश्कर जाश्यो रे कि लश्दो मेरी धानी पूरी / गोरी हम नहीं जाने रे कि कैसी तेरी धानी चुरी / जा में विच विच हिखा जडे वही तो मेरी धानी चुरी / गोरी हम कैसे दिखेंगे कि कैसी तेरी धानी चुरी / पिया नैहर अइयो रे वहीं पे देखी धानी चुरी।*

शृंगार रस प्रधान तेलुगु लोकगीतों में ''चलमोहन रंगा'' ''वैंकय्या चंद्रम्मा पाट'' ''गोंगूर पाट'' आदि महत्त्वपूर्ण रूप से उल्लेखनीय हैं: *कंटिकि का टुका बेट्टि / कडवा चंका न बेट्टि / कल्लुनुनील्लु तो कडवा / निंडेनु गदरा। ''चलमोहन रंगा।'' / नाकू ना वारू लेरू / नीकू नी वारू लेरू / ऐटि ओडडुन इल्लु कडदामु पदरा / ''चलमोहन रंगा''*

नायिका कहती है कि आँखों में काजल लगाकर, घड़े को बाज़ू की बग़ल में रखकर जब मैं पानी भरने गई थी, तब मेरी आँखों से निकलने वाले आँसू से घड़ा भर गया। मेरा तो अपना कोई नहीं और तेरा भी कोई नहीं। तब चल नदी के किनारे बसेरा कर लें।

प्रिय के वियोग में उसकी आँखें सरोवर बन जाती हैं, काजल पानी बन जाता है और शरीर लहर बन जाता है—*नयन सरोवर काजल नीर /*

ढरकि खसल सखि धनिक सरीर।

त्योहार-उत्सव आदि के समय प्रियतम दूर हो तो विरहावस्था में प्रेयसी तड़पती रहती है। विरहिणी सोचती है अगर पंख होते तो उड़कर सुवा (प्रियतम) के पास चली जाती : *पंछी हनी उडी जानी मैं सुवा का पास / सुवा मेरा परदेश लागी हरौ निसास।*

हिंदी में शृंगार संबंधी अत्यंत मधुर लोकगीत उपलब्ध होते हैं। ''दादुरे के गीत'' माने जाने वाले ये गीत नवोढा सद्यः विवाहिता के ससुराल पहुँचने पर गाए जाते हैं। अन्य अवसरों पर भी इसका गायन होता है। इसमें पति-पत्नी का हास-परिहास, रतिभाव संबंधित अंश आदि विद्यमान होते हैं : *नजर भर हेरत काए नईयाँ / हम तो राजा पिया बन की हिरनियाँ, / तुम ठाकुर के लरका तुपक-तीर मारत काए नईयाँ / हम तौ राजा पिया जल की मछरियाँ / तुम ढीमर के लरका, झमक जाल डारत कात्र नईयाँ।*

राधा-कृष्ण के प्रेम को माध्यम बनाकर शृंगार गीतों का आलाप हिंदी के लोकगीतों में अधिक मिलता है।

होरी में लाज न कर गोरी, होरी में / जो तुम होरी मैं लाज करौगी, / तौ अतर अबिर महिलौं गौरी।। होरी में / हम रसिया तुम ब्रज की गोरी, / अरे बौ तौ कैसी बनी सुंदर जोरी।

पति की प्रतीक्षा में विरहिणी पत्नी का वर्णन करते हुए लोकगीतों में ऐसा गाया गया है—चंद्रमा आकाश पर चढ़ आया है, तथा अपनी पूरी चमक पर है लेकिन पति के बिना मुझे नींद नहीं आती : *आइल चंदरमा आकास चढ़ि चमके बलम बिनु नींदो न आवे / आइल चंदरमा आकास चढ़ि चमके बलम बिनु नींदो न आवे।*

स्त्रियों के गीत : स्त्रियों के होंठों से निकलने वाला रागात्मक गीत हृदय को रंजित करता है। ''झूले में बच्चे को सुलाते समय गाने वाले लोरी गीत से लेकर बुढ़ापे में जीवन के तत्त्वदर्शन-सार के अनुभवों का चित्रण करने वाले गीतों तक इन्हीं के स्वर माधुर्य से निकलने वाले अमर गीत होते हैं। परिवार को सँभालने वाली स्त्री के लिए विनम्रता, विश्वसनीयता, लज्जा आदि लक्षण आभूषण गए हैं। ये सभी लक्षण प्रायः लोकगीतों में मि हैं।

वस्तु वैविध्य की दृष्टि से विशेष रूप से संबंधी गीतों को लोरी गीत, व्रतगीत, जागृत मंगलगीत आदि कई नामों से वर्गीकृत किया है।

लोरी गीत : बच्चों के लिए माताओं के गाए जाने वाले लोरी गीत तेलुगु और हिंदी भाषाओं में बहु प्रचलित हैं। इनमें सांप्रदायिक श्रमिक स्त्रियों के गीत अलग-अलग होते हैं। गीतों के मधुर राग को सुनकर बच्चों का हृदय विभोर हो जाता है। इसीलिए प्रायः ''शिशु पशुर्वेत्ति, वेत्ति गान रसम फणिः'' कहा गया हो निम्नलिखित लोरी गीत आंध्र में अत्यंत प्रसिद्ध *जो अच्चुतानंद जो जो मुकुंदा, गद्य परमानंद गोविंदा जो जो, / तोलुत ब्रह्माडंबु तोट्टे गावि नालुगु वेदामुल, गोलुसलमरिंचि / बलुवुना फणि पान्यूनमरिंची, चेलिपडोलिकलोन चेर्चि लालि*

''हे अच्युता, हे मुकुंदा सोजा! ब्रह्मांड को पालना बनाकर चारों वेदों को उसकी साँकलें बना शेषनाग को ही बिछौना बनाकर, सखियों ने झु झुलाया।''

नारी हृदय प्रमुखतः माता का हृदय करुणा वात्सल्य से भरा हुआ होता है। अगर कोई बच्चा रहा है तो उसकी माँ का हृदय द्रवित हो जाता *ऐडोद्ध ऐडोद्ध एर्रावु पालु / एडिस्ते नो कल नीलालु कारू / नीलालु कारिते निनु चूड लेनु पालैना कारवे बंगारू कल्लु जो। जो*

अर्थात् हे बेटा! तू मत रो। तुझे लाल रंग वा गाय का दूध पिलाऊँगी। तेरे आँसू मैं देख न सकती। इसलिए हे आँखें, पानी की जगह दू बरसाओ। तेलुगु के लोरी गीतों में ''जो जो'' ''लालि लालि'' आदि शब्द पुनरावृत्त होते हैं। इ तेलुगु में ''लालि पाटलु'' कहते हैं। साधारणत बच्चों को स्नान कराने को ''लाल पोयेट'' कहते हैं।

हिंदी में लोरी गीत : बच्चों के लिए माँ का हृद इतना तड़पता है कि बच्चे की आँखों से एक बूँद भी

पानी न निकले : *आँखियाँ न फाटै बंदे बंद अँचरा करे का / छतिया उठी हहराय ढूँढ़न हम आइन।*

कहा जाता है कि इस सृष्टि में मातृप्रेम से बढ़कर कोई प्रेम नहीं। वह अपने पुत्र के प्रति अपने प्रेम को इस प्रकार प्रकट करती है : *जइसे कोंहार के आवो तू / बेटा अइसन माई के करेजवा त धधकि रहे।*

पुत्र को जन्म देते ही नारी संपूर्ण मातृत्व की गरिमा को सिद्ध करती है। बच्चे को जन्म देकर माता तब तक सहे हुए कष्टों को एकदम भूल जाती है और अपने जीवन को धन्य मानती है : *लाल मोरे खेले अंगनैया / छमैं छम बाजै पैंजनिया / द्वार पै लाल जी के बाबा खुसी भये / और महले आजी रतियवां।*

रोते हुए बच्चों को चुप करने के लिए, खाना खिलाने के लिए माँ इस प्रकार गाती है : *अटकन मटकन दहिया चटकन / माघमान करैला फरै / आमुन गोटी जामुन गोटी / तेतरी सोहाग गोटी / बाँस काटै ठाँय ठाँय, नदी गंगआइ / कमलक फूल दुनू अलगल जाइ / मेंहिया धानक चुरबा रे चुरबा/ भूल्ली महिस क दूध।*

विवाह संबंधी गीत : वैवाहिक प्रथा पर रचे गए गीतों की संख्या भी कम नहीं। विवाह एक लंबी प्रक्रिया है, यह एक महोत्सव ही है। सगाई से लेकर विदाई तक के सभी विषयों से संबंधित गीतों को हम सुनते हैं। ससुराल में सास-ससुर, ननद-जेठ, देवर, पड़ोस के लोग इत्यादि से समुचित व्यवहार करने की शिक्षा दी जाती है। भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि साधारणतः वर को श्रीराम से और वधू को सीता से अभिहित किया जाता है।

विवाह के प्रारंभ में आंध्र प्रांत में ‘‘तलंटु पाटलु’’ गाए जाते हैं। ‘‘तलंटु’’ माने सिरःस्नान। सुगंधित द्रव्यों से मिश्रित पानी से वर और वधू दोनों को स्नान कराते हैं। उस समय सुहागिन स्त्रियाँ ये गीत गाती हैं : *चेलु लेंदरू चेरि चेलुवुगा पाडुचु / ललना रघु रामुनकु तैल मंटरे।*

अर्थात् सारी सखियाँ एकत्रित होकर प्रेमपूर्वक गाते हुए रघुराम के सिर पर तेल लगाती हैं। इस मंगल स्नान के पश्चात् विघ्नादि को दूर करने के लिए गणेश जी की पूजा करवाते हैं। चक्की-ओखल इत्यादि की पूजा वर-वधुओं से कराई जाती है। ओखल में हल्दी डालकर कुटवाते समय गाए जाने वाले गीतों को तेलुगु में ‘‘सुव्वि पाटलु’’ या ‘‘कोट्नाल पाटलु’’ कहते हैं। *सुव्वि कावेटि रंगा / सुव्वि कस्तूरि रंगा / सुव्वि रामाभिराम / सुव्विलाली।*

‘‘मंगल सूत्र धारण’’ तेलुगु विवाह प्रक्रिया में सबसे प्रमुख प्रक्रिया है। सूत्र धारण वर-वधुओं के दांपत्य जीवन के प्रारंभ का द्योतक है। तेलुगु में इसे ‘‘मांगल्यमु’’, ‘‘तालि’’, ‘‘मंगल सूत्रमु’’, ‘‘पुस्ते’’ आदि नामों से अभिहित किया जाता है। पुरोहित वेद मंत्रों के उच्चारण करते हुए वर से वधू के गले में सूत्र डालकर तीन गाँठ बँधवाते हैं। यह आंध्र संस्कृति में अत्यंत पवित्र रस्म है। जब तक पति जीवित रहता है तब तक पत्नी इसे गले से नहीं निकाल सकती है। इस शुभ अवसर पर सुहागिन स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले गीत ‘‘मंगल सूत्र पाटलु’’ कहे जाते हैं। *आनंद मानंद मायेनु / मन रामुडु पेल्लि कोडुकायेनु / आनंद मानंद मायेनु / अल जानकी पेडिल कूतुरायेनु / कौसल्य नोचिन्न नोमु सफल माये नेडु।*

हास-परिहास युक्त व्यंग्यात्मक गीत ‘‘वरूस पाटलु’’ में पति-पत्नी, देवर-भाभी, सास-बहू के संबंध आदि कई प्रकार के रिश्तों का चित्रण होता है। एक स्त्री अपनी समधिन की कंजूसी पर आरोप करती हुई गाती है : *पदि वेलु खर्चु पेट्टि पंदिल्लु वेस्तिमि / मीरू पदिकासुलु खर्च चेयक पेंडिल कोस्तिर / मुप्पै वेलु खर्च चेसि मूर्तम चेस्तिमि / मीरू मूडु कासुल खर्चु चेयक मूर्तन कोस्तिर / नलभै वेलु खर्चु पेट्टि नलुगुलु पेट्टिस्तिमि / मीरू नालुगु कासुलु चेयक नलुगु को स्तिर।*

हास-परिहास के रूप में गाए जाने वाले इस प्रकार के बुंदेली गीतों में वर पक्ष से दो प्रकार के गीत होते हैं ‘‘ज्योनार के गीत’’ और ‘‘गारी गीत’’। भोज्य सामग्री आदि का वर्णन ज्योनार गीतों में होता है।

वरूस पाटलु के पश्चात् ‘‘अप्पगिंतलु पाटलु’’ होते हैं। हिंदी में वे गवनि के गीत कहलाते हैं। ये

संदेशात्मक गीत होते हैं, वधू को विदाई देते समय ऐसे गीत गाए जाते हैं, जिन्हें सुनने पर हर एक आँखों से आँसू का झरना फूट पड़ता है : *माय्यम्मा महालक्ष्मी / पोइ रावम्मा / पोइ नी अतिन्ट / बुद्धि गलिगुण्डु / एक्वरेमेनिना / एदुराडकम्मा / वीधि निलुचुन्डि तल / विधि मुडवकु मी / माट लन्नातु माटालाडकम्मा / पलु मारू मामीद / प्रेम लुंचकुमि...*

अर्थात् मेरी बेटी, घर की लक्ष्मी तू ससुराल में विनम्रता से रहना। झगड़ा होने पर भी मत बोलना। हमारे प्रति अधिक प्रेम मत दिखाओ। वधू-वर के घर पहुँचने के बाद गाए जाने वाले ''तलुपुदग्गर पाटलु'' भी सुप्रसिद्ध हैं।

भारतीय संस्कृति में विवाह-संस्कार की हर एक रस्म को महत्त्व दिया जाता है। भारतीयों की दृष्टि में विवाह एक पवित्र कार्य है। उत्तर-भारत में विवाह संस्कार का आरंभ ''पक्की'' से होता है, उसके उपरांत सगाई होती है, लड़की वाले कुछ भेंट भेजते हैं तो ''वर'' चौक पर बैठकर उस भेंट को ग्रहण करता है। इस संदर्भ में यह गीत गाया जाता है : *चंदनऊ की चंदन पलिकिया गढि लाऊ लाल लुहार के। / अंचनवि—मंचवनि मंमर डराये, पाटिन अरसी लगाद ए। / रेसम बान बुनाई पालिकिया दौनि लगाई मखतुल की। / आदूत-पादूत गिडुआओं लागै, सबाउ दरियाए की सोरित्रि। / जा पर बैठ दोऊ मिलि साजन खेलत सुझना सारिए।*

बारात के समय लड़का घोड़ी पर चढ़कर जाता है, लड़के की माँ घोड़ी की पूजा करती हुई गाती है, जिसमें घोड़ी का वर्णन है : *घोड़ी आगेंत्र मेरू नाचै/ सिर तेरे ककरेजी चीरा / कान तेरे नौटंके मोती / कलंगी उपर नग मोर नाचै / मरवट उपर ग शेर नाचै।*

कन्यादान करते समय भी स्त्रियाँ गीत गाती हैं। वर और वधू दोनों के रूप एवं सौंदर्य का वर्णन करने के साथ-साथ उनकी मंगलकामना की जाती है : *दुलहा के सिरे पगिया भला सोभे / दुलहिन के सोभे अनार कलिया / पुलवरिया में डेरा गिरा दे, / भला बगिया में डेरा गिरा दे रे।*

विवाह के पश्चात् पुत्री की विदाई होती है। विदाई के समय पुत्री पिता से कहती है : *काहे के दूधवा पियवल ए बाबा / काहे के कइल दुलार ए / जानते तु रहल बाबा छियवा परायी / लगली सुं वर साथ ए।*

श्रम संबंधी गीत : शारीरिक श्रम करते समय थकावट को दूर करने के लिए गाए जाने वाले गीत श्रमिक गीत कहलाते हैं। धान कूटने वाले गीत आंध्र प्रांत में सुप्रसिद्ध हैं। यहाँ चार स्त्रियाँ ओखल में धान कूटती हुई गाती हैं : *तुम्म कर्ए रोलु दोसि / तुमु डोडलु वाय वेसि / दंयु दामा बियुयम / दंयु दामा / आ सुव्वि—आ सुव्वि।*

इस गीत में ओखले के पास धान कूटती स्त्रियाँ बीच-बीच में ''आ-सुव्वि'' जैसे पदों का प्रयोग करती हैं। ये शब्द निरर्थक हैं। लेकिन इस शब्द का उच्चारण करते ही श्रम परिहरण हो जाता है। साथ ही इसमें एक प्रकार का लय होता है।

तेलुगु में खेती के गीतों को ''पीले पाटलु'' कहते हैं। आंध्र में वर्षा के लिए वरुण देव की पूजा करते हैं। *वानल्लु करवालि वानदेमुडा। / वानचेन्लु पंडालि वान देमुडा। / नल्लानी मेघाल्लु वानदेमुडा। / चल्लंगा कुरवालि वान देमुडा।*

वैसे ही भोजपुरी प्रदेश के कृषक श्रम संबंधी गीत गाते हैं।

धान की रोपनी का गीत : *हरि मोर चलते उतर बनिजरिया, / दुअरा कदम लाइ गइले हो रामा / जब-जब धनिया रे मनवा तोर उदसिंहे / तब तू कदम तर ठाढ होइह हो राम।।*

भारत कृषि प्रधान देश है। वर्षाकाल में धान और मक्का की खेती की प्रक्रिया आरंभ होती है। कृषक अपनी थकावट को भूलने के लिए श्रम का संगीत आलाप करता है।

''लंगनी'' के गीतों में वियोगिनी नायिका की अंतरव्यथा का सुंदर एवं मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है : *हरि मोरा गेलै उतरे हो बनिजबा / दुअरे पर मरीच हो लगाय / कहिमोरा गेलै हरि छबे रे महिनमा / बीति गेल बारह बरोस।*

चरख़े कातते समय स्वतंत्रता प्राप्ति की आकांक्षा करते हुए अत्यंत कर्मनिष्ठता से स्त्रियाँ ये गीत गाती

हैं : *टूटे न चरखाक तार चरसबा चालू रहे / गान्ही बाबा बनल दुलहवा, / दुलहिन बनल सरकार / चरखना चालू रहे / दहेजवा में दहो सुराज, चरखावा चालू रहे।*

भक्ति गीत : श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम ही भक्ति है। हिंदू धर्म में भक्ति का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है चाहे वह सगुण हो या निर्गुण। तेलुगु में इन्हें ''भक्ति पाटलु'' कहते हैं। भक्ति, पूजा, व्रत, उपवास आदि के प्रति स्त्रियाँ अधिक विश्वास रखती हैं। इनमें गमेलु को लुपु पाटलु, पूजा पाटलु, मंगल हारतुलु, नामक विभिन्न प्रकार के गीत होते हैं। सामान्यतः मंदिरों में प्रभात के समय भगवान को जगाते हुए गाए जाने वाले गीत ''मेलुकोलुपु पाटलु'' है–*श्री सूर्यनारायण मेलुको / हरि सूर्यनारायण मेलुको।*

अर्थात् हे सूर्य नारायण! जागो। इस प्रकार के गीतों में सूर्य नारायण, केशव, राम, शिव, तुलसी अलुमेलु मंगा आदि देवी-देवताओं की प्रार्थना की जाती है।

तेलुगु में मंगल हारती के गीतों को ''मंगल हारतलु'' कहते हैं। इन गीतों के अंत में ''मंगलम्'', ''शुभ मंगलम्'', ''जय मंगलम्'', ''नित्य दिव्य मंगलम्'' आदि शब्दों की पुनरावृत्ति होती है। निम्न पंक्तियों में पार्वती कहीं जाने के लिए निकल पड़ती है, सखियों के प्रश्न करने पर वह कहती है कि मैं शिव को देखने जाती हूँ—*घल्लु घल्लुन पाद / गज्जे लंदेलु म्रोय / कलहंस बडकाल / कलिकि एक्कडिके।... / जडलोन गंगनु / धारिइन्यु गंगानू / जगतु लेले सांब / सिवुनि सन्निधिके / मंगलम् मंगलम्।*

हिंदी में भी भक्ति संबंधी लोकगीतों की कमी नहीं है। कोई भी कार्य प्रारंभ करते समय गणेश जी की पूजा की जाती है—*सिमरूं गौरी पुत्र गनेस / नाम लिए से संकट सब भागैं।*

दुर्गा माता, सीता माता, कुलदेवी, चामुंडी आदि देवियों की भी पूजा करते समय गीत गाते हैं। कार्तिक, माघ, वैशाख मास में प्रातः चार या पाँच बजे स्नान करते हैं। गंगास्नान करते समय ये गीत गाते हैं : *गुरु नाम लीपौ मेरी संग की सहेली / मेरी बैहण भैणली राम चरण छूती / कहीं मिलते रामचरण छूती / मैं तो बागों गई थी वहाँ भी न मिलें।*

वीरता एवं देशभक्ति संबंधी गीत : ''जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'' जिसे अपनी संस्कृति से प्रेम है अपने देश से भी प्रेम होना स्वाभाविक है। राष्ट्रीय आंदोलन के समय गांधी आंदोलन और देश भक्ति के गीत गाए गए : *गांधी आया हे मैं सुणया / छाती धड़की सै, अंग्रेज की। गांधी उठया सै, ललकार बिन हथियार। / गांधी-गांधी हे हो रही।*

एक देश भक्त अपनी वेदना को स्वयं भारत माता से व्यक्त करते हैं : *भारतमाता तेरे फिकर में/ मेरी जान नै खाडा हो गया / किसै को दे दिया काल पाणी, / किसै का देश लिकाडा हो गया।*

जिस नारी ने एक पुत्र को जन्म देकर देश के लिए न्यौछावर कर दिया है, उसे एक भाग्यशाली माता के रूप में माना जाता है : *सिंहिन बेटा एकई जन के जाको भय माने संसार / पैंतीस कोटि जन के दुख पावै ब्यारे जीवन कूंधिक्कार।*

वीर गीत : तेलुगु के वीर गीतों में पल्लाटि वीरचरित्र काटम राजु कथा, बोब्बिलि कथा, सवार पायनि अल्लूरि सीताराम राजु कथा, सदाशिव रेड्डी कथा आदि महत्त्वपूर्ण रूप से उल्लेखनीय हैं।

''काटम राजु कथा'' में राजा मनुमसिद्धि और कटम राजु के मध्य युद्ध का सुंदर वर्णन हुआ है। ब्राह्मण वीर खडग तिक्काना विवश होकर युद्ध से लौट आता है तो उसका किस प्रकार स्वागत हुआ इस ग्रंथ में उल्लिखित है।

सन् 1857 के बलिदानी राजा मर्दन सिंह की वीरता पर कई गीत गाए गए हैं : *का कइए बानपुर बारे की / मर्दन सिंह नृपति जुझारे की / सैना सजत बजत रमतूला / चोटौं समर बगारे की / अंगरेजन के गरै उतर गई / पैनी धार दुधारे की।*

द्वितीय पानीपत युद्ध के अमर स्वातंत्र्य वीर हेमू पर लोक कथा रौनियार वैश्य संप्रदाय में प्रचलित है। उनकी वीरता का गान करते हुए : *हमनीक दादा हेमू दादा / इनका लंबे-लंबे बाल रे। / सिर मुकुटिया हाथे धुनहिया, / घोड़े पर असवार रे।*

ऋतु संबंधी गीत : भारत की ऋतुओं की विविध विशेषताओं के साथ-साथ जनता की भावनाओं को जोड़कर उनके प्रतिक्रियात्मक प्रभावों का सुंदर एवं मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। आंध्र के लोकगीतों में खेलते-खेलते बच्चे इन ऋतुओं के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। सरल एवं सहज भाषा में पाए जाने वाले ये गीत ज्ञान-विज्ञान से भरे हुए हैं। वर्षा ऋतु से संबंधित यह गीत इसी तथ्य का निरूपण करता है : *पैद्धवाडु, चिन्नवाडु, मामतोडु गुडिरेनि / इंक चिंता लेकुंडा, वान वच्चुनु।*

इसका तात्पर्य यह होता है कि सूर्य, बुध एवं चंद्रमा के साथ हो तो अवश्य ही वर्षा होगी। बारह मासा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए डॉ. सत्येंद्र अपना अभिमत इस प्रकार प्रकट करते हैं—''साहित्य में षट्ऋतु का जो स्थान है वही लोक काव्य में बारह मासे का माना जाता है।'' इन सबमें सावन का गीत अत्यंत हृदयस्पर्शी होता है : *आयो आयो सामन की तीज हिंडौरे परे बागन में / मेरौ पहलौई सा अम्मा न छोड़ सासुरे / बड़े भैयाकूं जल्दी ते परी हे बाके आसटे / हल्की-हल्की परै रीह फु फुरैरी उठै तन-मन में / आयो आयो सामन की हिंडौरे परे बागन में।*

अतः हमारी संस्कृति के धरोहर ''लोक ग्रामीण जनता के हृदयोद्‌गार हैं जिनके माध्य मानव जीवन के अनेक क्रियाकलाप कटु अ सजीव रूप में अभिव्यक्त होते हैं। हर एक सा में प्रांतीय संस्कृति स्थानीय आचार-विचारों की झ झलकती है। यह स्पष्ट है कि लोक साहित प्रांतीय एवं भाषा भेद को छोड़कर पारिवा आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक जीवन का चित्रण जैसा ही मिलता है। इसी कारण से हर एक के साहित्य में जनेऊ गीत से लेकर लोरी वैवाहिक गीत, भक्ति गीत, धान कूटने के गीत कृषि संबंधी गीतों में भाव साम्यता दिखाई देती

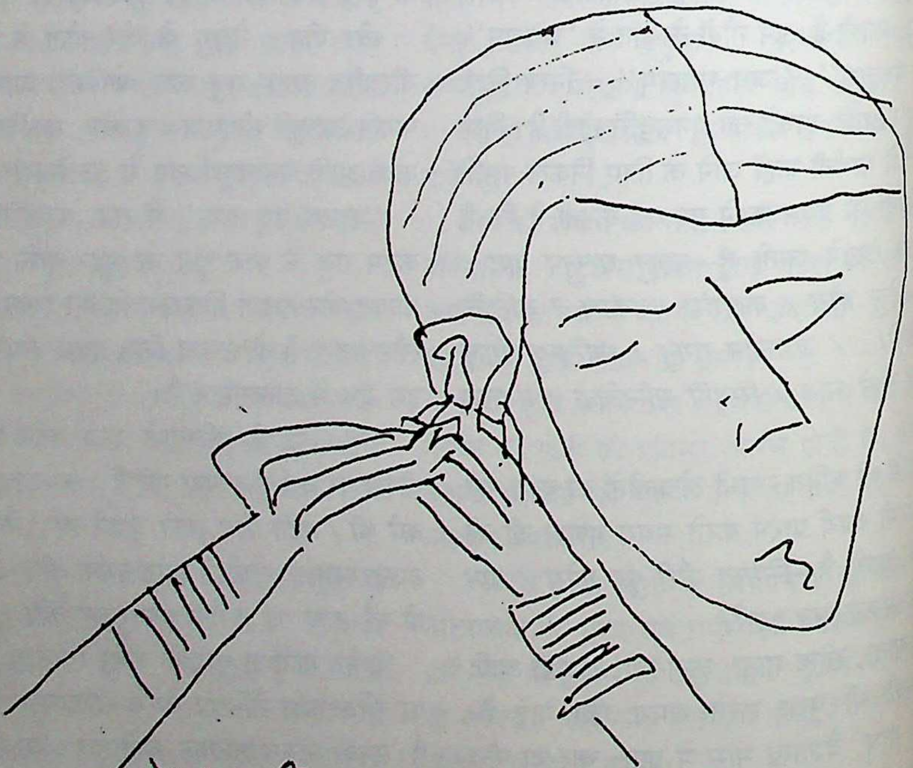

ब्रह्मस्वरूप शर्मा

समसामयिकता में सौंदर्य-बोध

सूचना तकनीक की निरंतर बढ़ती व्यापकता में परंपरागत प्रायः सभी अनुशासनों की उपयोगिता पर पुनर्विचार अनायास ही आवश्यक हो गया है। ये अनुशासन या तो भिन्न अनुशासनों की संलग्नता, संबद्धता, समाहिति या प्रभावान्विति में अपनी सार्थकता खोज रहे हैं या अपनी निजता को समसामयिक अनुरूपता में विलीन कर वाणिज्य-वृत्ति अपना रहे हैं। दोनों ही स्थितियों में ज्ञान दार्शनिक जटिलताओं से निकलकर उपयोगिताजन्य व्यावहारिक परिवेश-परिधि में व्याख्यायित हो रहा है। वैश्वीकरण की अवधारणा विश्व के भिन्न देशों, प्रदेशों, अंचलों और क्षेत्रों की विच्छेदीय और सामासिक संस्कृतियों को बृहत्तर वाणिज्यीय वृत्त में आवृत्त कर आत्मान्वेषण की प्रक्रियाओं को प्रभावित कर रही है और इस प्रभाव में सामाजिकता पुनर्वीक्षित जीवन-मूल्यों में परिभाषित हो रही है। क्षेत्रीयता भौगोलिक सीमाओं में सुरक्षित, संरक्षित और सन्नद्ध रहकर भी वाणिज्यजन्य भिन्न राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय क्रिया-कलापों में वैश्वीकरण की ओर प्रवृत्त है। दुराग्रह से परे विचार करें तो स्पष्ट होगा कि हमारी सामाजिकता अपने नित्य कलापों में जिस मानवता से प्रेरित है वह विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांतों से संचालित न होकर सूचना तकनीक प्रभावित विश्व-संस्कृति अनुस्यूत जीवन-मूल्यों से संघटित है। निजत्व, स्वत्व, वैशिष्ट्य और अनुपम के उत्तराधिकारी होते हुए भी हम अपनी धरोहर, पैतृक दाय और सौगात को संकुचित सामाजिकता में नहीं भोगते, व्यापक विश्व-सामासिक सामाजिकता में भोगते हैं। संकीर्णता का व्यापकता में पर्यावसान ही ज्ञान के नए क्षितिज दर्शाता है। सूचना तकनीक के इस परिधि-विस्तार में परंपरागत अनुशासनजन्य जीवन-दृष्टि भी सिद्धांतों की जटिलताओं को सुलझाती मानव-जीवन को उसकी निरंतर बढ़ती व्यापकता में अर्था रही है। सौंदर्यशास्त्र एक स्वतंत्र अनुशासन है किंतु उसकी सार्थकता अधिकांशतः साहित्य और ललित कलाओं में ही गहरायी जाती है। सौंदर्य, सौंदर्य-बोध, सौंदर्यानुभूति आदि साहित्यकारों और कलाकारों की चेतना को रेखांकित करने में ही अधिकांशतः प्रयुक्त होते हैं।

सम-सामयिकता में भिन्न अनुशासनों का स्वरूप, सीमा-विस्तार उपयोगिता और अंतर्संबंध अध्ययन, चिंतन और मूल्यांकन का विषय बन जाते हैं। सौंदर्यशास्त्र जैसे विवादास्पद अनुशासनों का समसामयिकता में सामाजिक उपयोगितापरक मूल्यांकन तो और भी आवश्यक हो जाता

1942 में जन्मे ब्रह्मस्वरूप शर्मा जी की सात पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें *हिंदी साहित्य और परिवेश, आधुनिक हिंदी निबंध, आँखों देखा अंडमान* उल्लेखनीय हैं। संपर्क : फ्लैट 52, जे.डी.एम. अपार्टमेंट्स, प्लॉट-11, सेक्टर-5, द्वारका, नई दिल्ली-110075

है। जिस अर्थ में विशिष्ट काल-खंड अपनी परिधि में समसामयिक है उससे अधिक व्यापक अर्थों में साम्प्रतिक परिवेश है। सामाजिकता ऐतिहासिकता से रूपायित होती हुई भी सद्य स्थितियों, जिनमें अनायास की संभावनाएँ जटिलतर होती हैं, से अधिक संचालित होती हैं। आधुनिकता का अपना इतिहास होता है किंतु अपनी उपस्थिति में वह साम्प्रतिक बाना ही धारण करती है। साहित्य में सामाजिकता न ऐतिहासिकता को नकारती है और न आधुनिकता को ही निर्विवाद स्वीकारती है। साम्प्रतिक को वह परिवेश की संदर्भवत्ता में अर्थाती है। इस आशय में साहित्यकार की सौंदर्य-चेतना काल सापेक्ष होती है। काल-निरपेक्ष सौंदर्य-चेतना की अवधारणा कला और साहित्य को उसके सामाजिक सरोकारों से वियुक्त कर देती है। सामाजिकता के संदर्भ में ललित कलाएँ भी मानव-मूल्य निरपेक्ष नहीं हो सकतीं। साहित्यकार की सामाजिक प्रतिबद्धता ही उसके सौंदर्य-बोध को निखारती है। विवाद के लिए पर्याप्त अवसर होते हुए भी सौंदर्य और सौंदर्यशास्त्र की न कोई निश्चित परिभाषा है और न ही सौंदर्य-चेतना या सौंदर्य-बोध को निर्णायक शब्दावली में अर्थाया जा सकता है। सामाजिकता में वैयक्तिकता के लिए पर्याप्त अवसर हैं। न सैद्धांतिक जीवन में सभी प्रश्नों के गणितीय उत्तर हैं और न व्यावहारिक जीवन में। अपने में उलझे-सुलझे हम उन स्थितियों, अवधारणाओं और विचारों के अस्तित्व को स्वीकारते हैं जिनकी उपस्थिति के विषय में हम कभी आश्वस्त नहीं होते। सौंदर्यशास्त्र ठीक-ठिकाने का शास्त्र हो या न हो वह अपना ठिकाना खोजता रहा है।

भारतीय चिंतन में शाश्वत का आग्रह इतना प्रबल रहा है कि परिवर्तनशीलता प्रायः अविचारणीय रह जाती है। सैद्धांतिकता भी व्यावहारिकता और प्रयोगात्मकता को दुत्कारती रही है। परिणामस्वरूप सामाजिकता संदर्भ में उपयोगिता पर विचार वैयक्तिक सन्निवेश में आनंद का विरोधी बन जाता है। साहित्य का आनंदपरक उद्देश्य कभी आध्यात्मिकता और कभी दार्शनिकता का आश्रय लेकर व्यक्ति की सामाजिकता और उपयोगितापरक व्यापकता में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। यही कारण है कि सा के सन्निवेश में सौंदर्य एकांतिक वैयक्तिक अनु बनकर ही उभरता रहा है, व्यापक सामाजिक बनकर नहीं। सौंदर्य-बोध की सामाजिक चेतन घुलनशीलता रसानुभूति के पूर्वाग्रह से बाधित प्रायः साहित्य की भिन्न विधाओं की विशिष्टता में अनदेखी, अनचीन्ही और अनकही रह जाती रस, सौंदर्य और तद्जन्य आनंद कविता के संद जितने अर्थाये जाते रहे हैं, साहित्य की अन्य वि के संदर्भ में नहीं। हिंदी नाटक भी रसजन्य आनंद बाध्यता से अपने बाल्यकाल में ही मुक्त हो हिंदी साहित्य चिंतन में सौंदर्यजन्य आनंद को व्यापक प्रतिष्ठा नहीं मिली। रससिद्धांत और रसज आनंद भी साहित्यिक रचनाओं की आलोचना व्यापक आधार नहीं बन सका। हिंदी आलोचना पृष्ठभूमि और काव्यशास्त्र के सिद्धांतों अध्ययन-अध्यापन में ही इनकी सार्थकता खो जाती रही है। हिंदी साहित्य के भिन्न कालों, मा सम्प्रदायों, वादों, रीतियों, प्रवृत्तियों, पद्धति शैलियों, रचनाकारों, रचनाओं आदि की आलोच सामाजिक संदर्भों में रचना-प्रसूत भिन्न विचारों आधार पर ही होती रही है। उसमें विचारों का आ रहा है किंतु इस आरोप ने तार्किकता को तीक्ष्णतर साहित्य को अधिकाधिक सामाजिक संबद्धता प्रद की है। हिंदी साहित्य और आलोचना सामाजि सरोकारों से कभी विमुख नहीं हुए। सामाजि प्रतिबद्धता से सन्नद्ध साहित्य-आलोचकों ने र सौंदर्य और तद्जन्य आनंद को भी सामाजिक संलग्न में अर्थाया-गहराया है। सामाजिक संलग्नता अ विशिष्ट आशय में समसामयिकता को समाहि किए हैं।

साहित्यकार की सामाजिक प्रतिबद्धता भिन्न क्षेत्रीय समसामयिक घटनाचक्रों को परंपरा-शृंखला और ऐतिहासिक गतिशीलता में आँककर परिवर्तनशील को जीवन का नित्य धर्म मानती है और इस स्वीकृ में साहित्यकार सौंदर्य को भी सामाजिक चेतना संबद्धता में ही उभारता है। सामाजिक सन्निवेश विच्छिन्न सौंदर्य और उसके बोध की अवधार

व्यक्ति की वैयक्तिकता को भी नकारती है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास सामाजिक संबद्धता में ही करता है। उसकी वैयक्तिकता भी सामाजिकता में ही रूपायित होती है, निजत्व धारण करती है। सौंदर्य के परंपरागत मान, यदि मान भी लिए जाएँ तो सामाजिकता के नकार में कभी स्थापित नहीं हुए। काल विशेष के मान तत्कालीन सामाजिकता के सौंदर्य-बोध को अर्थात साहित्य और कलाओं के युगीन स्वरूप को परिभाषित करते हैं। व्यक्ति की आकृति-प्रकृति, वेष-भूषा, साज-सज्जा, रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार, व्यवहार, कार्य-शैली, रुचि-अरुचि, गुण-दोष, क्रिया-प्रतिक्रिया, स्वीकृति-अस्वीकृति आदि विषयक सौंदर्य-प्रतिमानों को समसामयिक परिवेश की संबद्धता से बिलगाया नहीं जा सकता। वैयक्तिकता की प्रतीति में समसामयिकता समाहित होती है। सामाजिकता भी अपने में समसामयिकता को समाहित किए होती है। व्यक्ति-मन देश-काल से सर्वथा वियुक्त कोई स्वतः पूर्ण एकांतिक सत्ता नहीं है। उसमें डूबते-तिरते विचारों में परिवेश का पर्यवसान रहता है और इस पर्यवसान में समसामयिकता घुली होती है। सौंदर्य-बोध में समसामयिकता की घुलनशीलता दर्शन के जीव-जगत की भाँति दृश्य में भिन्न होते हुए भी अदृश्य में अभिन्न होती है। अमूर्त सौंदर्य का बोध मूर्त समसामयिकता में होता है। वैचारिक स्तर पर भी सौंदर्य-बोध सत्ताहीन संदर्भवत्ता में नहीं होता। आनंदवाची सौंदर्य की सत्ता समसामयिकता समाहित वस्तु-सत्ता की उपस्थिति में ही संभव है। निराकार आकारों का नकार है, उनकी अस्तित्वहीनता का नहीं।

साहित्य और कलाएँ भावनाएँ परिचालित अनुशासन हैं। साहित्य में विचारात्मकता का उत्स भी भावनाओं में होता है। रचनाकार समसामयिकता में जीवन की सार्थकता का अन्वेषण करता भावनाओं में तिरता है। इस ऊब-डूब में वह जब एक निश्चयात्मकता पर पहुँचता है तब वह विचारात्मकता को प्राप्त होता है। उसकी सौंदर्यानुभूति भावनात्मकता की तन्मयता में प्रस्फुटित होकर ऊब-डूब की स्थिति में बोध-स्फीति से कलात्मकता में परिणित होती है। यही कलात्मकता समसामयिकता में रचनाकार की चेतना भी बनती है। भावना-उत्स से लेकर कलात्मक शैली में विचार प्रतिपादन तक सौंदर्य-चेतना समसामयिकता से वियुक्त नहीं होती। भावना, विचार, कलात्मकता, शैली, अवयवात्मक संघटन आदि सभी रचना-व्यापार समसामयिकता से असंपृक्त नहीं होते। सौंदर्य-बोध भी इन संदर्भों से परे नहीं। समसामयिकता को उसकी व्यापकता में समझने की आवश्यकता है। समसामयिकता कालनिरपेक्ष क्षण नहीं है और न ही परिवेश विच्छिन्न रचनाकार द्वारा रचित कोई स्वप्न-संसार। घटित की घट रही संपृक्ति में उभरी संक्रमित जीवन-स्थितियाँ सामाजिक परिवेश बनकर मन को जिस संबद्धता की ओर ले जाती हैं चिंतक, विचारक के लिए वही समसामयिकता होती है।

परिवर्तनशील परिवेश में सामाजिकता का भावनात्मक बोध भी समसामयिकता प्रभावित होता है। रचनाकारों, कलाकारों, पाठकों, दर्शकों आदि का सौंदर्य-बोध पूर्व प्रतिष्ठित प्रतिमानों से अनुशासित होते हुए सद्य उपस्थित क्रिया-व्यापारों से असंपृक्त नहीं रहता। सद्य प्रस्फुटित भावनाएँ अविकल, अविचल और अडिग न रहकर परिवर्तनशीलता की प्रस्तुति में स्वतः प्रक्षालित होकर रचना और आस्वाद दोनों स्तरों पर साहित्य और कलाओं को प्रभावित करती है। प्रतीक, प्रत्यय, बिंब, भाषा, शैली आदि अमूर्त को मूर्त रूप देने और उसे ग्रहण करने की प्रक्रिया में समसामयिकता से अनुप्राणित होते हैं। भाव, विभाव, संचारी भाव की मन-प्रतिष्ठित सत्ता भी सद्य की उपस्थिति से किंचित् डगमगाती है और सहयोग से स्थिर होती है। सौंदर्य-बोध को मूल्य के संदर्भ में आँकने की स्थितियों में भी नित्य परिवर्तनशीलता से पलायन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार सुंदर सदैव सुंदर रहता हुआ भी सुंदरता की अवधारणा को सुनिश्चित नहीं करता, उसी प्रकार विशिष्ट जीवन-मूल्य या मानव-मूल्य भी सदैव सामाजिकता धर्मी होते हुए भी वरेण्य का निश्चित स्वरूप प्रस्तुत नहीं करता। राजनीतिक,

आर्थिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियाँ गतिशील सामाजिकता को नित्य नवीनता प्रदान करती साहित्य और कलाओं के प्रतिमानों को भी निखारती हैं। सृजन और आलोचना दोनों स्तरों पर बाह्य स्थितियाँ अपना निश्चित प्रभाव डालती रहती हैं। व्यक्ति-मन वही नहीं रहता जो था। परिवर्तनशीलता की प्रक्रियाएँ इतनी अनचीन्ही और अनजानी होती हैं कि मन की परिवर्तित पीठिका भी स्वाभाविक लगती है।

कालिदास की शकुंतला, जायसी की पद्मावती, बिहारी की भिन्न नायिकाएँ, छायावादी-रहस्यवादी कवियों की प्रेयसियाँ संघर्षरत नारियों के संपूर्ण व्यक्तित्व में अट नहीं पाती किंतु न तो पूर्व-सामयिक नारी-सौंदर्य-बोध जागतिकता-परे है और न सद्य सामाजिकताजन्य सौंदर्य-चेतना स्वाभाविकता या वास्तविकता निर्दोष। साहित्यिकता और कलात्मकता कल्पनाशून्य नहीं हो सकती। सौंदर्य-चेतना और सौंदर्य-बोध भी नितांत गणितीय परिधियों में आबद्ध नहीं रहते। सौंदर्य-निरूपण सर्जनात्मकता को ऊर्जस्वित करता रचना में जीवन-आकर्षण उत्पन्न करता है। पाठक, श्रोता या दर्शक रचना या कलाकृति में जीवन की ऊर्जा खोजता है और उससे तपिश पाकर सामाजिकता की गहनता में जीवन की सार्थकता सिद्ध करता है। गुण-दोष, शील-अश्लील, नीति-अनीति, वरेण्य-त्याज्य आदि का निर्णय भी वह सामाजिक परिवर्तनशीलता में ही करता है। उसके इस निर्णय में उसकी सामाजिकता का स्वरूप उसकी वैयक्तिकता प्रभावित जीवन-स्थितियों से निर्धारित होता है। सौंदर्य-बोध या सौंदर्य-चेतना का निर्विवाद न सामाजिक आधार है और न वैयक्तिक। इस आशय में सौंदर्य-बोध की समसामयिकताजन्य अवधारणाएँ और निकष भी निर्विवाद नहीं होते।

सौंदर्यजन्य प्रतिक्रिया समसामयिकताजन्य स्थिति के संघर्षण में मानसिक तनाव रूप में प्रस्फुटित होती है। अप्रस्तुत का प्रस्तुत से संघर्ष मनःस्थित पूर्वधारणा को क्षणभर में उठे हुए वैचारिक झंझावातों से टकराकर निश्चित एकांतिक अवधारणा में परिवर्तित कर देती है। साहित्य के पठन-पाठन और कलात्मक रचनाओं के अवलोकन-आस्वादन के क्षणों में मन
की ऊहापोह प्रस्तुत को उसके वास्तव में तत
नहीं लाती जब तक अप्रस्तुत अवधारणा जा
क्रियाओं के प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न कर ग्रह
सुस्थिर नहीं कर देती। प्रतिक्रिया क्रिया के प्र
होती है और वह समसामयिकता से सदैव अ
नहीं होती। प्रस्तुत की प्रतिक्रिया से स्फुटित अ
पूर्वाग्रहों से ग्रसित होते हुए भी निर्विवाद
पूर्व-निश्चित नहीं होता, सद्य की छाया उसे
किए रहती है। रीतिकालीन नायिकाओं का
आज भी पाठक को आंदोलित करता है कि
सौंदर्य की मन में तिरती छवियाँ समसामयिक
सौंदर्य-बोध को विलीन नहीं करती। व्या
विज्ञापनों में युवतियों की आकर्षक, उत्तेजक
मादक भंगिमाएँ भिन्न युगीन नारी-सौंदर्य नि
को पीछे धकेलती हुई सौंदर्य-चेतना और सौंदर्य
के प्रश्नास्पद आयामों को समसामयिकता में
के लिए बाध्य करती है। शीलता-अश्लील
प्रश्न इस संदर्भ में जितना मुखर है, संभवतः
रीतिकालीन नायिकाओं के अंग-प्रत्यंग की माप
परक काव्य-कला चतुराई में भी नहीं। रीतिका
कवियों का लक्ष्य राजाओं और राज दरबारि
प्रभावित करना था किंतु दूरदर्शन, पत्र-पत्रि
और इतर विज्ञापन माध्यमों में नग्नप्राय युवति
भिन्न शारीरिक अवयवों को जिन भिन्न अनु
भंगिमाओं और चेष्टाओं में दर्शाया जाता है
वितृष्णा ही अधिक उत्पन्न होती है। ऐसे प्रयास
समसामयिकता की आवृत्ति में सौंदर्य-बोध
सौंदर्य-चेतना में खींचना समसामयिकता को
सामाजिकता और सांस्कृतिक चेतना से विच्छिन्न
देना है। सौंदर्य शिवम् शून्य नहीं होता।

अवधारणा और बोध की हम सर्वमान्य निर्वि
परिभाषाएँ नहीं दे सकते और न ही सार्वभौमिक
सार्वकालिकता और सार्वजनीनता में उनको निर्विवा
सामाजिकता में प्रतिष्ठित कर सकते हैं। यह
हुए भी उन्हें सर्वथा पूर्वापर अंतर्निहित और
सामाजिक सरोकारों से असंपृक्त नहीं कर स
और जहाँ सामाजिकता है वहाँ समसामयिकता
समसामयिकता को हम चाहे जितने भी संकु

अर्थों में लें उसकी तारतम्यता, सार्वभौमिकता, सार्वकालिकता और सार्वजनीनता से युक्त होती है। इस आशय में सौंदर्य मानव-मूल्यों और जीवन-मूल्यों का पर्याय तो नहीं, उनको रूपायित करने का हेतु अवश्य बन जाता है। अवधारणा के स्तर पर वह सत्यम् और शिवम् से भी संचालित होता है। उसका बोध उन सब सरोकारों का निकष है जो हमारी जीवन-शैली को रूपायित, प्रभावित और संचालित करते हैं। सौंदर्य-बोध वैयक्तिक स्तर पर एकांतिक होते हुए भी सामाजिक स्तर पर समसामयिकता की पहचान बनता है। अवधारणा, आस्वादन, अवलोकन और मूल्यांकन के स्तरों पर सत्यम् और शिवम् को अनायास समाहित कर लेती है। साहित्य और कलाएँ मनःप्रसूत होते हुए भी मस्तिष्क के व्यापारों से असंपृक्त नहीं होती। जिन क्रियाओं में मस्तिष्क की संलग्नता है वे सामाजिकता और समसामयिकता से असंबद्ध हो ही नहीं सकती। हमारी चेतना में प्रतिष्ठित आज, तत्काल और सद्य समस्त सामाजिकता को आवृत्त किए होते हैं। उनसे अटी समसामयिकता भिन्न बोधों को असंपृक्त-प्रतीत पूर्वापर क्रमबद्धता, तारतम्यता और निरंतरता से युक्त करती है। क्षण की असंबद्धता बोध की गहनता में तिरोहित होकर समस्त मानसिक व्यस्तता को सामाजिकता और समसामयिकता में विलीन कर देती है। क्रिया की सार्थकता उद्देश्य से युक्त होकर स्वतः ही सामाजिकता और समसामयिकता को मुखरित कर देती है।

भिन्न शास्त्रों की उपलब्धियों और उद्देश्यों की भाँति सौंदर्यशास्त्र का उद्देश्य भी सामाजिक व्यक्ति के जीवन को भव्यतर बनाना है। ज्ञान, विज्ञान, कला, शास्त्र और भिन्न उपयोगी शास्त्रीय और कलात्मक उद्योगों द्वारा अंततः हम समसामयिकता को ही अधिकाधिक अनुकूल बनाते हैं। सौंदर्य-बोध हमारी सामाजिक प्रतिबद्धता को दृढ़तर करता वैयक्तिक जीवन को उसकी सघनता में अधिकाधिक प्रेय बनाता है। सौंदर्य और सौंदर्य-बोध को उद्देश्यपरकता, उपयोगिता और सामाजिकता से युक्त करना उसकी प्रभावात्मकता, व्यापकता और महत्ता को कमतर करना नहीं अपितु उसकी संदर्भवत्ता, संबद्धता और संलग्नता को अर्थ-विस्तार देना है। दर्शनशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र और शास्त्रीय अनुशासनों को हम चाहे यथावत् रूप में न अपनाएँ किंतु उनमें निहित सामाजिकता की ध्वनि को हम नकार नहीं सकते। वे जिस अर्थ में शास्त्रीय हैं वह तत्कालीन सामाजिकता का आग्रह था। उनमें निहित ध्वनि ऐतिहासिक समसामयिकता है। उसका अर्थ-विस्तार ही आज हमारे अध्ययन का विषय है। अत्याधुनिक कलात्मकता, चित्ताकर्षक साजसज्जा, मोहक परिधान, रमणीय परिवेश, ऐश्वर्यपूर्ण प्रस्तुति आदि होते हुए भी अष्टभुजाधारी, वक्रतुंड, गजमुख, चंद्रमौलि, क्षीर सागर शेषनाग शैया-शयनी आदि आज भी हमारी सौंदर्य-चेतना को उभारते, मन को पुलकित करते हैं। समसामयिकता संस्कारों को प्रदूषित नहीं करती, उन्हें निखारती है। परंपराओं को प्रगतिशीलता के आयामों में परखना ही हमारे सौंदर्य-बोध की प्रखरता का प्रमाण है। आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय आदि भिन्न प्रसंगों और संदर्भों में सामाजिकता प्रगतिशीलता में प्रवाहित रहती जिस समसामयिकता के तट को पार करती है वह व्यक्ति-मन को तरंगित करती उसके सौंदर्य-बोध को आंदोलित करती है। व्यक्ति अपने मन की इन तरंगों में इतना ऊब-डूब करता है कि वह परंपरा और परिवेश की मध्यस्थ वीथियों में खो जाता है। ''स्व'' विलीनता की स्थिति से उबरकर ही वह बोध को एक आकार दे पाता है। आज सूचना-प्रौद्योगिकी के इस युग में भी हमें सौंदर्य-बोध को समसामयिकता की इस प्रासंगिकता में आँककर उसे उसकी व्यापक प्रभावात्मकता में प्रतिष्ठित करना है।

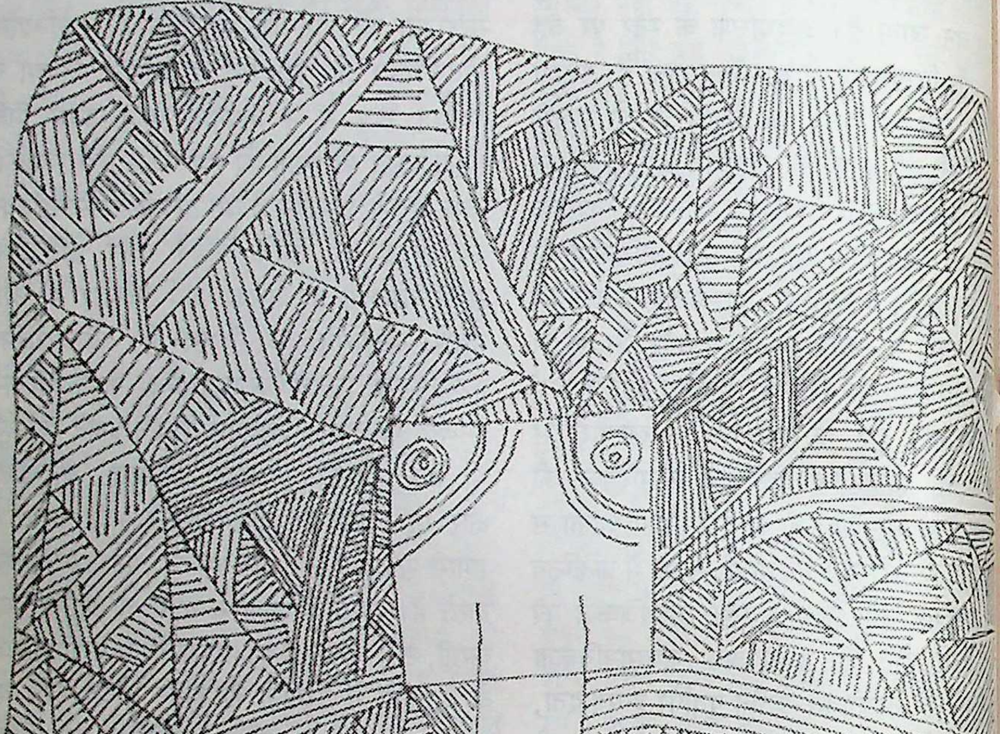

के. सच्चिदानंदन

दलित साहित्य मानवता का साहित्य है

रमणिका गुप्ता एक प्रतिबद्ध बुद्धिजीवी का विशिष्ट उदाहरण हैं। जो कुछ भी उन्होंने किया है, उसमें उन्होंने अपनी छाप छोड़ी है, यह बात उनके पंद्रह कविता-संग्रहों, सात निबंध-संकलनों, दो उपन्यासों, एक कहानी-संग्रह, उनके द्वारा संपादित अनेक संकलनों और उनकी पत्रिका ‘‘युद्धरत आम आदमी’’ के संदर्भ में कही जा सकती है। वे यथार्थ को हमेशा ‘‘सबाल्टर्न’’ परिप्रेक्ष्य में देखती हैं और नीचे की तरफ़ से इतिहास की निर्मिति करती हैं। आज जिन दो पुस्तकों—*दलित हस्तक्षेप* और *स्त्री-विमर्श : क़लम और कुदाल के बहाने* का लोकार्पण किया जा रहा है, वे समाज के हाशिए पर के लोगों के प्रति उस विश्वास को अभिप्रमाणित करती हैं। 20वीं सदी का उत्तरार्ध भारत में महिलाओं और दलितों के जागरण का युग है, ऐसा जागरण जिसने साहित्य सहित हमारी संस्कृति और राजनीति के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी छाप छोड़ी। आज हम लोग आत्मविश्वास पूर्वक दलित दृष्टि, दलित इतिहास, दलित राजनीति, दलित भाषा और दलित सौंदर्यशास्त्र के बारे में बात कर सकते हैं। यह बात औरतों के बारे में भी सच है। दलितों द्वारा उच्च वर्ण के प्रभुत्व का और औरतों द्वारा पुरुष प्रभुत्व का अस्वीकार हमारे समय के नकारात्मक कार्य नहीं हैं, बल्कि ये दलित अस्मिता और नारी अस्मिता के उत्सव (सेलिब्रेशन) के सकारात्मक कार्य हैं। इस ‘‘सेलिब्रेशन’’ ने हमारी सामाजिक सोच, सर्जनात्मक साहित्य और राजनीति पर गहरी छाप छोड़ी है।

उदाहरण के लिए, दलित साहित्य ने अपना स्वयं का वैकल्पिक सौंदर्यशास्त्र निर्मित किया। अनुभव के एक समूचे नए द्वीप की खोज और पड़ताल करते हुए इसने साहित्य के नक़्शे का पुनरांकन किया है जो अब तक अँधेरे और ख़ामोशी में डूबा हुआ था। इसमें एक पुनर्नवीकरण के माध्यम से साहित्य को जड़ता से उबारने में सहायता की। इसने प्रभावी सामाजिक वर्गों की वंध्या आत्मतुष्टि को विक्षुब्ध किया और जीवन के प्रति उनके निर्धारित विचारों और यथार्थ को देखने और ज्ञान सौंदर्य तथा सत्ता को संचालित, करने की उनकी बद्धमूल दृष्टि को चुनौती दी। दलित साहित्य ने आलोचकों को बाध्य किया कि वे अपने साहित्यिक मानदंडों और साहित्य की अवधारणाओं को बदलें और उपेक्षित, दमित अथवा हाशिए के अनुभव, दृष्टि, भाषा और यथार्थ के विविध पक्षों को सामने लाएँ। इसने समाज को बाध्य किया कि वह स्वयं को आलोचनात्मक दृष्टि से, नई और भिन्न दृष्टि से देखें। इसने अपनी स्वयं की राजनीति निर्मित की जो कि उपयुक्तता, संतुलन, दमन और अवकथन जैसे पारंपरिक मूल्यांकन को अस्वीकार करती है। विभिन्न भारतीय भाषाओं, ख़ासकर मराठी, गुजराती, हिंदी, पंजाबी, तमिल और तेलुगु की कविता, कथा साहित्य और आत्मकथा अब समकालीन भारतीय साहित्य का एक अत्यंत सशक्त अध्याय है।

रमणिका गुप्ता की पुस्तक *दलित हस्तक्षेप* भारतीय सामुदायिक जीवन में दलित हस्तक्षेप के विभिन्न पक्षों को सामने रखती है। यह समालोचना, सर्जनात्मक साहित्य, शिक्षा और संगठन के मुद्दों पर दृष्टि डालती है। दलित अर्थशास्त्र और चेतना के विकास में वह हिंदू संप्रदायवाद, उपभोक्तावाद, बाज़ार के अर्थशास्त्र और भूमंडलीकरण को मुख्य शत्रुओं के रूप में देखती है। वह कहती है—‘‘आज देश के सामने हिंदुवादी म्यान से निकली उदारवादी, उपभोक्तावादी, बाज़ारवादी और निजीकरण की अर्थनीति के ख़तरे की तलवार लटक रही है जो देश को धर्म की दुहाई देकर खंड-खंड करने पर तुली है तथा

सामाजिक और आर्थिक असमानता को और अधिक बढ़ाने के लिए नरसंहारों को अंजाम दे रही है। उससे मुक़ाबला करने के लिए दलित साहित्यकार को डॉ. आंबेडकर की सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक नीतियों को विकल्प के रूप में खड़ा करने का मोर्चा भी संभालना होगा। और ऐसा होगा निश्चय ही। इसके संबंध में जो थोड़ा-बहुत धुआँ फैलाया जा रहा है, वह कुछ तो समझदारी की कमी से, कुछ पूर्वाग्रहों से और कुछ गिने-चुने लेखकों के अटपटे तेवर से या अतीत के अनुभवों से निर्मित शंकाओं से जुड़ा हुआ है, अन्यथा दलित साहित्य एक ऐसे सूर्योदय के लिए प्रतिबद्ध है जो केवल दलित के लिए ही नहीं होगा या यूँ कहें कि वह दलितों के साथ-साथ मानव मात्र के लिए भी कल्याणकारी होगा।'' (पृ. 28)

दलित भाषा और सौंदर्यशास्त्र के बारे में उनका कहना है—''इस साहित्य को दलित लिखता है और चूँकि वह भुक्तभोगी होता है यानी वह वंचनाओं, निषेधों, प्रतिबंधों और अवरोधों के बीच ज़िंदा रहने का आदी होता है। इसीलिए वह वही लिखता है जो यथार्थ की ज़मीन पर खड़ा है, कल्पना के आकाश में नहीं, इसीलिए उसकी भाषा कुलीन भाषा नहीं। इधर कुलीन भाषा इस क़ाबिल ही नहीं है कि दलित की ज़िंदगी के हर एक खुरदरेपन को समेट सके। वह अपनी खुरदरी, नुकीली, तीखी और सीधी-सादी भाषा में लिखता है। यद्यपि कुलीन भाषा और उसका साहित्य, मनोरंजन और ऐश्वर्य के माध्यम रहे हैं और अधिकतर यह साहित्य या तो स्वांतःसुखाय लिखा जाता रहा है या फिर चाटुकारिता में अपने लाभ के लिए। जबकि दलित साहित्य एक लक्ष्य रखता है और वह डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर की सोच के प्रति प्रतिबद्ध है। यह साहित्य मनोरंजनकारी नहीं है बल्कि वह चोट करता है, कचोटता है या फिर शर्मसार करता है उन्हें, जिनके पूर्वजों ने उन पर ज़ुल्म किए थे। इस प्रकार वह मन और सोच बदलने का साधन भी बनता है। दलित साहित्य का अपना सौंदर्यशास्त्र निर्मित हो रहा है। वर्षों पुराना घिसा-पिटा सौंदर्यशास्त्र अब उसकी कसौटी नहीं बन सकता। सवर्णों का सौंदर्यशास्त्र सत् शिवम्-सुंदरम् पर आधारित है। उनका वही सत् दलितों का शोषण रहा है। उनका शिवम् दलितों अहितकर, गलीज़, अस्वच्छ और दुखद अपमा ज़िंदगी और उनका सुंदरम् दलितों की कुरूपता निर्मित होता है, इसलिए वह सौंदर्यशास्त्र दलि साहित्य के लक्ष्य के बिलकुल विपरीत है, बलि कहा जाए बाधक है।'' (पृ. 20)

दलित साहित्य के संदर्भ में समालोचकों द्वा उठाए गए प्रश्नों की भी वह उपेक्षा नहीं करतीं ''एक विवाद यह रहा है कि क्या कुछ अरसे बा यह साहित्य चुक नहीं जाएगा? मोनोटोनस य एकरस नहीं हो जाएगा? दूसरा विवाद जो सबसे अधिक चर्चित है वह है कि दलित साहित्य क लेखक कौन हो—केवल दलित ही या ग़ैर-दलि भी? तीसरा विवाद उसकी विषय-वस्तु और उसके दायरे को लेकर है। वह केवल दलितों के सामाजि सम्मान, प्रतिष्ठा और अस्मिता तक ही सीमित है अथवा दलितों के विकास के अन्य पहलू भी उसमें शामिल हों?'' (पृ. 16)

इन प्रश्नों का वह स्वयं उत्तर देती हैं और कहतीं हैं कि दलितों का संघर्ष केवल दलितों के लिए नहीं है बल्कि यह एक बेहतर और अधिक मानवीय विश्व के लिए संघर्ष है जो जाति व्यवस्था और किसी तरह की असमानता से मुक्त हो। यह संघर्ष तब तक जारी रहेगा, जब तक समाज में कमज़ोर का शोषण होता है। उनकी यह अवधारणा मार्क्स के सर्वहारा साहित्य की समझ के निकट है जिसका लक्ष्य है वर्गविहीन समाज की स्थापना। रमणिका जी अपनी मार्क्सवादी दृष्टि को आंबेडकर के सामाजिक चिंतन से जोड़ने का प्रयास करती हैं। जाति-वर्ग का भारतीय रूप है, लेकिन यह वर्ग से भी बुरा है क्योंकि वह यह निम्न जातियों को संस्कृति और शिक्षा से वंचित करता है और अछूतों के रूप में उन्हें परे रखता है। इसके लिए एक संघर्ष ज़रूरी है, न सिर्फ़ आधार में बल्कि समाज के ''सुपर स्ट्रक्चर'' में। वह अपने साथियों से कहती हैं कि दलित समस्याओं की पहचान और उनके संघर्षों की समझ

के लिए अत्यंत सूझबूझ से इसकी विषयवस्तु को व्यवस्थित करने के लिए ओमप्रकाश वाल्मीकि के पात्र हैं।

समकालीन भारत में एक अन्य प्रमुख लड़ाई महिलाओं द्वारा लड़ी जा रही है। यह हमारी मूल्यव्यवस्था की एक गहन जाँच-पड़ताल भी है। एक तरफ़ यह पितृसत्ता के ख़िलाफ़ संघर्ष है दूसरी तरफ़ औरतों के लिए यह एक अंतःसंघर्ष भी है कि वे अपने को औरत होने के उन पारंपरिक विचारों से मुक्त करें जो उन्हें विरासत में मिले हैं और जो उनकी रगों में है। पितृसत्तात्मक सत्ता उनमें से एक है जो विषमता और प्रभुत्व की संस्थाओं को निर्मित कर मनुष्य जाति को प्रताड़ित करती है। सत्ता के इस रूप के ख़िलाफ़ संघर्ष एक नई भाषा का भी संघर्ष है जो कि नारीवादी दृष्टि के आधार पर विश्व की पुनर्संरचना कर सकता है। *स्त्री-विमर्श : क़लम और कुदाल के बहाने* में रमणिका गुप्ता भारत में ''जेंडर'' के मुद्दे के सभी पक्षों पर नज़र डालती हैं: यथा औरतों का आर्थिक सुदृढ़ीकरण, लोकतंत्र में महिलाओं की भूमिका, महिला आरक्षण का प्रश्न, अस्मिता की औरतों की तलाश की, नारी साहित्य, महिला मज़दूरों की समस्याएँ और बलात्कार के बारे में समाज का दृष्टिकोण। वह महिलाओं के प्रति पारंपरिक धारणाओं की आलोचना करती हैं जिसमें उसे कमजोर, चरित्रहीन और धोखेबाज़ माना गया है।

उनके अनुसार मातृसत्तात्मक व्यवस्था से पितृसत्तात्मक व्यवस्था की तरफ़ समाज की गति ने नारी को पर-निर्भर और ग़ुलाम बना दिया। औरतों की दयनीय दशा के लिए वह धर्म को भी ज़िम्मेदार मानती हैं। उनके अनुसार औरतों को अपनी मध्यवर्गीय मानसिकता से उबरना होगा और ग़रीब और ग्रामीण महिला के साथ अपनी पहचान बनानी होगी। वर्तमान शहरी नारीवादी एजेंडा भारतीय गाँवों के लिए पर्याप्त नहीं है—''हमारे साहित्य में शहर की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ नायिकाएँ बन रही हैं जो अच्छी बात है लेकिन जब तक कल-कारख़ानों, खेतों-खलिहानों और दूर-दराज के गाँवों और जंगलों में बसने, खटने-कमाने वाली, ज़िंदगी से जूझने वाली, फुलवा, जिरवा, सितवा, ललित, मौसी या अन्य औरतें साहित्य में नायिकाएँ बनकर नहीं उभरेंगी तब तक यह साहित्य भी रहेगा। यह तभी संभव होगा जब खटने-कमाने वाली मेहनतकश स्त्रियाँ क़लम भी सँभालेंगी ग्रेस कुजूर की तरह या फिर निर्मला पुतुल की मानिंद जिसके लिए ज़रूरी है इनका शिक्षित होना। शिक्षा न केवल इन्हें आत्मविश्वासी बनाएगी बल्कि इनमें जागरूकता की लहर भी फैलाएगी। हमारी स्त्रियों की उपभोक्तावादी तंत्र द्वारा शिकार बनाए जाने का ख़तरा भी है, जिसे इस तथाकथित सूचना-क्रांति ने शहरों से गाँव की तरफ़ फैलाना शुरू कर दिया है। शहर और गाँव दोनों की स्त्रियों को इससे बचना होगा ताकि वे संपत्ति के कुएँ से निकलकर बिकने वाली चीज़ की खाई में न गिर जाएँ। इस सबके बावजूद शुभ यह है कि भारतीय स्त्रियाँ अब चेत रही हैं। वोट के अधिकार ने भी इनमें राजनीतिक चेतना जगाकर अहम् भूमिका निभाई है और शिक्षा एवं सूचना के प्रसार ने भी। इसलिए हताशा में पुरुषसत्ता द्वारा उनके शोषण हेतु हिंसात्मक कार्रवाइयों में बढ़ोतरी हो रही हैं, हालाँकि वे मुक़ाबला करने लगी हैं। आज वे मुक़ाबिल हैं अपने परिवार और बाहरी समाज के भी।'' (पृ. 11, 12)

वह विश्व में महिला जागरण के विभिन्न चरणों की खोज करती हैं। वे मीराबाई से लेकर महादेवी वर्मा और कविता सिन्हा तक की भारतीय महिलाओं की साहित्यिक यात्रा का भी मूल्यांकन करती हैं। वे समकालीन कवयित्रियों—अनामिका से लेकर कात्यायनी तक की चर्चा करती हैं, साथ ही दलित और जनजातीय कवयित्रियों और महिला कथाकारों की भी, जैसे इस्मत चुगताई, कमला दास, तसलीमा नसरीन, कृष्णा सोबती और मैत्रेयी पुष्पा। उनके अध्ययन में हिंदी कवयित्रियों और महिला कथाकारों को केंद्र में रखा गया है लेकिन वह साहित्य जगत के बाहर भी जाती हैं और ट्रेड यूनियनों में, दहेज़ के विरुद्ध संघर्ष में महिलाओं की भूमिका की पड़ताल करती हैं और उपभोक्तावाद के विरुद्ध संघर्ष की

ज़रूरत और महिलाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने की भी वकालत करती हैं।

मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि ये दोनों पुस्तकें भारत में लोकतांत्रिक चिंतन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण अवदान हैं क्योंकि अंततः दलितों और महिलाओं का संघर्ष स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय और समानता के लिए भारतीय जनता के वृहत्तर संघर्ष का एक अंग है।

चर्चित पुस्तकें:

दलित हस्तक्षेप : रमणिका गुप्ता; सं. ओमप्रकाश वाल्मीकि; शिल्पायन 10295, लेन नंबर 1, वे गोरख़ पार्क, शाहदरा, दिल्ली-1100032; 200 200 रुपए

स्त्री विमर्श : क़लम और कुदाल के बहाने; रमणि गुप्ता; 2004; 175 रुपए

मलयालम के प्रख्यात कवि-समीक्षक के. सच्चिदानंदन का जन्म 1946 में हुआ। इनके 18 कविता-संग्रह, एक नाटक- प्रकाशित है। केरल साहित्य अकादमी तथा कई पुरस्कारों से सम्मानित हैं। संपर्क : 7-सी, नीति अपार्टमेंट्स, 84, इंद्र एक्सटेंशन, (पटपड़गंज), दिल्ली 110092

मधुरेश

अतीत का सब कुछ

इधर भारतीय भाषाओं सहित हिंदी में भी आत्मकथा लिखने का रिवाज़ बढ़ा है। प्रणव कुमार बंद्योपाध्याय जैसे अपवाद को यदि छोड़ दिया जाए, साठ पार करने के बाद लेखक आम तौर पर अपने अतीत की ओर मुड़ता है। यह उम्र का एक ऐसा पड़ाव होता है जब आदमी अपने जीवन का एक बड़ा हिस्सा जी चुका होता है। लेखक चूँकि अधिक संवेदनशील और भावप्रवण जीव माना जाता है, इस पड़ाव पर आकर वह एक ओर यदि अपने जिए गए का विहंगावलोकन करना चाहता है वहीं अपने शेष बचे जीवन के लिए कुछ कार्य भी निर्धारित करना चाहता है। अपना ही जिया जा चुका अतीत दूर से देखे जाने पर अब पर्याप्त नया और कौतुकपूर्ण लगता है। कभी-कभी ख़ुद भी यह विश्वास कर पाना कठिन होता है कि यह हमारा ही अतीत है।

तीन खंडों में प्रकाशित अपनी इस आत्मकथा में विष्णु प्रभाकर ने उसकी प्रकृति पर भी विचार किया है। वे जब-तब अपने से पूछते दिखाई देते हैं कि यह आत्मविज्ञापन के लिए लिखी जा रही है या फिर आत्ममंथन के लिए? सन् 32 में जब प्रेमचंद ने *हंस* का आत्मकथा-अंक निकाला था, विष्णु प्रभाकर 20 वर्ष के युवक थे जो लेखक के रूप में जमने और अपनी पहचान के लिए संघर्ष शुरू कर चुके थे। नंद दुलारे वाजपेयी ने *हंस* के इस आत्मकथा अंक का विरोध इसी आधार पर किया था कि इससे हिंदी में विज्ञापन की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलेगा। उनके विरोध की चिंता किए बिना प्रेमचंद ने अंक निकाला था और आज प्रायः 75 वर्ष बाद जब-तब उसका उल्लेख होता है। प्रेमचंद के अपने समय में तो कई कारणों से उसका ऐतिहासिक महत्त्व था। ''आत्मविज्ञापन'' और ''आत्ममंथन'' जैसे दो परस्पर विरोधी पदों को आमने-सामने रखकर विष्णु प्रभाकर आत्मकथा के लिए, कम से कम अपने प्रसंग में, आत्ममंथन के रूप में ही स्वीकृति देते हैं। इस अर्थ में आत्मकथा ही नहीं, हर रचना लेखक के लिए एक आत्ममंथन होती है, यदि वह अपने रचनाकर्म को गंभीरता से लेता और करता है। आत्मकथा लेखक के जीवन में घटित चंद घटनाओं और लंबी

कालावधि में संपर्क में आए व्यक्तियों में से कुछ का आकलन ही नहीं होती है। वह इससे कुछ अलग, अधिक और विशिष्ट होती है। वह भले ही ऐसी न हो, लेकिन उससे यह अपेक्षा अवश्य की जाती है और इसमें कुछ ग़लत भी नहीं है। यह बाक़ायदा आत्मकथा के रूप में तो प्रकाशित हुई ही है, लेखक स्वयं ‘‘आत्ममंथन’’ के रूप में इसके लिखे जाने की बात स्वीकार करता है, लेकिन फिर आगे चलकर वह लिखता है, ‘‘मैं आत्मकथा नहीं लिख रहा...ये तो मेरे जीवन के संस्मरण हैं, ये वे संस्मरण हैं जिन्होंने मुझे वह बनाया जो मैं आज हूँ लेकिन फिर भी ये संस्मरण उतने अंतर्मुखी नहीं हैं जितने बहिर्मुखी हैं...’’ (पृ. 144/3) इससे कुछ बातें साफ़ होती हैं। आत्मकथा के प्रति इस संशय के कारण ही अपनी प्रकृति में यह वैसी संश्लिष्ट, सघन और संपूर्ण आत्मकथा नहीं है जैसी हाल के वर्षों में भैरप्पा की *भित्ति*, गुरदयाल सिंह की *क्या जानूँ मैं कौन* या फिर कर्त्तार सिंह दुग्गल की *किस पहि खोलऊ गँठड़ी* आदि हैं। अपनी प्रकृति में यह उस पूर्णता का बोध भी नहीं जगाती जैसा हिंदी में बच्चन की आत्मकथा जगाती है और उसके पहले खंड ‘‘क्या भूलूँ, क्या याद करूँ’’ के शीर्षक को विष्णु प्रभाकर अपने प्रसंग में जब-तब एक टेक की तरह दोहराते देखे जाते हैं। ऐसा नहीं है कि इसमें विष्णु प्रभाकर के बचपन, कैशोर्य और उनके विकास के प्रसंग नहीं हैं लेकिन वे वैसे सघन और संपूर्ण रूप में मूर्त्त नहीं होते जिनसे तत्कालीन परिवेश और विकसित होते व्यक्तित्व का संघर्ष उसी रूप में जीवंत हो उठे जैसे वह भैरप्पा, गुरदयाल सिंह या फिर कर्त्तार सिंह दुग्गल के यहाँ होता है। एक सीमा तक बच्चन की आत्मकथा में भी होते हैं। अपने परिवार का संक्षिप्त शजरा भी विष्णु प्रभाकर देते हैं लेकिन शुरू से ही आत्मकथा की संरचनागत दुविधा के कारण वे इसे वह नहीं बना पाते जिसकी अपेक्षा इससे होती है। इसमें यात्रा वृत्तांत हैं, रिपोर्ताज हैं, डायरी और पत्र हैं—जिन सबका उपयोग एक अच्छी आत्मकथा के लिए अनिवार्य होता है। लेकिन अपनी संरचनात्मक प्रकृति में यह एक संपूर्ण आत्मकथा न होकर यही सब है—विभिन्न गद्य विधाओं का एक सुविधापूर्ण संकलन।

अपनी आत्मकथा के पहले खंड *पंखहीन* में विष्णु प्रभाकर अपने पूर्वज़ों, बड़े संयुक्त परिवार, माँ और अनेक भाई-बहनों की चर्चा करते हैं। आर्य समाजी मूल्यों वाले इस परिवेश में अपनी माँ की भूमिका को वे विशेष आदर और गौरव से याद करते हैं जो अपने साथ मायके से दहेज़ के और समाज के साथ किताबों का एक बक्सा लेकर आई थीं। अपने लेखक बनने के सूत्र विष्णु प्रभाकर बक्से की इन किताबों में कहीं ढूँढ़ते हैं जिन्हें पढ़कर ही किताबों की दुनिया में रमे और कुछ करने की प्रेरणा उन्हें मिली। अपनी अनेक आरंभिक रचनाओं की रचना-प्रक्रिया और पृष्ठभूमि की चर्चा के प्रसंग में वे अपनी कहानी ‘‘मुरब्बी’’ की चर्चा करते हैं। इसी तरह स्कूल के अनुभव और चोरी के प्रसंग में वे ‘‘आरंभ’’ और ‘‘एक अधूरी कहानी’’ आदि का उल्लेख करते हैं। अपने अनुभव से, बच्चों के लिए, ताड़ना और दंड की अपेक्षा वे बड़ों के प्यार और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार पर सब कहीं बल देते हैं। चोरी करने वाला बच्चा वस्तुतः वह सब करते हुए चोरी का अर्थ ही नहीं समझता है। दादी की डिबिया से पाँच रुपए चुराने पर उनकी पिटाई हुई थी जबकि वैसी चोरी कभी न कभी जीवन में सब करते हैं। बाद में अपनी ही बेटी के चोरी करने वाले एक प्रसंग को लेखक अपनी एक कहानी का आधार बनाता है और अपने साथ घटित घटनाओं को याद करते हुए उससे सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करता है। इसका परिणाम भी उसे दिखाई देता है। अपने ही प्रसंग में, एक आत्म-घटना के रूप में, वे दूध की हाँडी से मलाई चुराने का ज़िक्र करते हैं। इसे देखकर माँ पुचकार कर समझाते हुए चोरी न करके माँगकर लेने की बात समझाती है और फिर स्वयं ही कटोरी भरकर मलाई खाने को दे देती है।

एक लेखक के रूप में स्थापित हो जाने पर अपने जीवन के अनेक चित्र वे अपने उपन्यास *निशिकांत* में विन्यस्त करते हैं। दफ़्तर के काम का बोझ आर्य समाजी जीवन-दृष्टि और आचरण के आग्रह के

साथ माँ और बेटे के बीच के अनेक आत्मीय प्रसंग यहाँ मौजूद हैं। माँ ने ही एक तरह से ज़िद करके 1924 में जब वे सिर्फ़ बारह वर्ष के थे, पढ़ने के लिए अपने भाई के पास उन्हें हिसार भेजा था। फिर वहीं से उन्होंने 1929 में हाई स्कूल किया और उसके बाद वहीं रहकर 1944 तक मामा की दिलवाई नौकरी की—गवर्नमेंट केटल फ़ॉर्म में। पहले छह महीने वे दफ़्तरी रहे, फिर क्लर्क हो गए। यहीं रहते सन् 1938 में उनका विवाह हुआ। आर्य समाजी प्रभाव के कारण वे जात-पाँत के बंधन से मुक्त विवाह करना चाहते थे लेकिन ऐसा कोई संयोग न बनने पर फिर अंततः माँ की पसंद और तय की गई लड़की से ही विवाह किया।

देशभक्ति और सरकारी नौकरी का तनाव उनके लिए उस दौर का एक मुख्य मुद्दा था। न चाहते हुए और अनेक विपरीत परिस्थितियों के बीच प्रायः पंद्रह वर्षों तक उन्होंने यह नौकरी की। अनिच्छा से अंग्रेज़ सरकार की नौकरी और अपने राष्ट्रीय विचारों के बीच इसी फ़ॉर्म के एक अंग्रेज़ अधिकारी स्मिथ का उल्लेख वे विशेष अपनत्व और आत्मीयता से करते हैं। उसकी विदाई के समय उसकी विह्वलता का जो चित्र उन्होंने दिया है उसमें उसके भावात्मक उद्वेलन को गहरी संवेदना के साथ अंकित देखा जा सकता है। कुछ राजनीतिक घटना-प्रसंगों और कुछ पत्नी के प्रोत्साहनपूर्ण सहयोग से अंततः नौकरी से मुक्त होकर वे दिल्ली आ बसे—एक पूर्णकालिक स्वतंत्र लेखक के रूप में। विवाह के आरंभिक दिनों में ही पत्नी ने उनसे कहा था—उसने विवाह एक लेखक से किया है, क्लर्क से नहीं। उसका यह कहना ही आगे चलकर, कहीं न कहीं, एक स्वतंत्र लेखक के रूप में उनके स्थापित होने का मूल कारक बना। इसके बाद कुछ समय के लिए उन्होंने आकाशवाणी में और नौकरी की और फिर आज तक वे हिंदी के उन चंद लेखकों में रहे जो सचमुच बिना कुछ और हुए लेखक ही थे और वही बने रहे। इस मामले में वे उन लेखकों से भी अलग थे जिन्होंने अपने प्रकाशन खोले और लेखक के साथ अपने ही या फिर औरों के भी प्रकाशक बने।

विष्णु प्रभाकर की आत्मकथा का एक बड़ा हि उनकी यात्राओं से बना है। और बहुतों की त हिमालय उन्हें भी प्रिय है। साठ के दशक में उन्हों ''गंगा जमना के नैहर में'' लिखकर इस आविष्क प्रभाव का संकेत दिया था। फिर बाद में की आत्म-यात्रानुभवों को मिलाकर उन्होंने ''ज्योति हिमालय'' का रूप दिया। इस आत्मकथा में हिमालय-यात्रा सहित देश-विदेश की उनकी अ यात्राओं का वृत्तांत समाहित है। मुंबई, दक्षिण भा और कश्मीर, सोनभद्र-मिर्ज़ापुर-रीवां आदि आदिवासी क्षेत्र के अतिरिक्त सोवियत संघ एवं कु एशियाई देशों के यात्रा-वृत्तांत यहाँ मौजूद हैं हिमालय के प्रति अपने आकर्षण को व्यक्त क हुए वे लिखते हैं, ''हिमालय की पुकार मुझे स उद्वेलित करती रही है। इस पुकार ने ही मुझे यायाव बना दिया...'' (पृ. 12/3) इस उद्वेलन का ही परिण यह है कि परिवहन की आधुनिक सुविधाओं उपलब्धता कभी-कभी, एक यायावर के रूप में उ खिझाती है क्योंकि वे मानते हैं कि प्राकृतिक क्षेत्र यात्रा का वास्तविक आनंद पैदल चलकर ही लि जा सकता है। अपनी पहली यात्रा में उत्तरकाशी गंगोत्री पहुँचने में उन्हें पाँच दिन लगे थे और प्रकृ में ख़ूब रमकर उन्होंने यह यात्रा पूरी की थी। बाद जीप से चलकर उसी दिन शाम को वे गंगोत्री पहुँ गए थे। इस वाहन-सुख ने गति और सुविधा तो है, लेकिन यात्रा का वास्तविक आनंद समाप्त क दिया है। पड़ावों पर रात में रुकते, यात्रियों औ स्थानीय लोगों से संपर्क साधते-बनाते, बोलते-बतियाते की गई यात्रा का एक अपना सुख जिसमें यात्रा का आदिम रूप भी कहीं न कहीं सुरक्षित था। आज के बाज़ारवादी दौर में वैसी या की कल्पना भी दुष्कर है। आज धार्मिक और सांस्कृति स्थलों की यात्राएँ भी पर्यटन और मौज़-मस्ती बदल गई हैं। इसीलिए उनमें पर्यावरण और प्रकृ के विनाश की चिंता भी उन्हें आहत करती है।

हिमालय की इन यात्राओं का वृत्तांत विष्णु प्रभाकर ख़ूब रम और डूबकर प्रस्तुत करते हैं। दोपहर बाद ही गंगोत्री में कुहरे के कारण उतर आने वाली संध्या

का चित्र हो या फिर केदारनाथ से भी ऊपर साढ़े पंद्रह हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर वासुकि के सुरम्य ताल का वर्णन, उसकी दुर्गमता और सौंदर्य दोनों को समेटते हुए, एक सच्चे यात्री की तरह वे धैर्यपूर्वक आगे बढ़ते हैं। इसी यात्रा का एक प्रसंग है, “चलते समय मौसम बहुत डरावना नहीं था। कमलवन (ब्रह्मजाल) तक सीधी चढ़ाई होने पर भी हमें कोई विशेष असुविधा नहीं हुई। वृक्ष नहीं थे पर घास अवश्य थी जिस पर विश्वास से पैर रखा जा सकता था। पर वहाँ पहुँचते-पहुँचते आकाश बादलों से घिर गया। ऋतु क्रुद्ध हो उठी। कुछ ही क्षणों में हम ठंडे कुहरे के इंद्रजाल में फँस गए। हम पग-पग पर रुकते। ऑक्सीजन की कमी के कारण गहरी साँस लेते लाठियों के सहारे ऊपर और ऊपर चढ़ते चले जा रहे थे। प्रार्थना की मुद्रा में बर्फ़ से बचते हुए...” (पृ. 153/2) फिर बजरी यानी हिमपात और क्रमशः गहरा होता अंधकार—लगता था जैसे कुहरे का एक समंदर ही चारों ओर पसरा है। इसी तरह कश्मीर या केरल का प्राकृतिक सौंदर्य हो या फिर तमिलनाडु के मंदिरों का स्थापत्य वे सब कहीं ठहरते और रमते हैं और विविधता एवं बाहुल्य के बीच भारत की आधारभूत सांस्कृतिक-भावात्मक एकता से अपने अंतर में कहीं गहरी समृद्धि का अनुभव करते हैं।

विष्णु प्रभाकर की *आवारा मसीहा* 1974 में प्रकाशित हुई। हिंदी में उस वर्ष का साहित्य अकादेमी पुरस्कार भीष्म साहनी के *तमस* को दिया गया था। सन् 1975 में *समीक्षा* में *अवारा मसीहा* की अपनी लंबी समीक्षा में मैंने लिखा था कि पुरस्कार का *तमस* से बड़ा दावा *आवारा मसीहा* का था क्योंकि भीष्म साहनी *तमस* जैसी या उससे बेहतर रचना शायद आगे भी कर सकें लेकिन विष्णु प्रभाकर अब आगे *आवारा मसीहा* जैसा कुछ शायद ही लिख सकें। इसके अतिरिक्त हिंदी में उपन्यास प्रतिवर्ष बड़ी संख्या में छपते हैं जबकि *आवारा मसीहा* जैसी रचनाएँ कभी-कभार ही आती हैं। प्रायः तीस वर्ष बाद भी यह सच है। अपनी आत्मकथा में विष्णु प्रभाकर ने इस शरत्-प्रसंग को फिर उठाया है और इस बार उसके पीछे की तैयारी पर भी प्रकाश डाला है। *आवारा मसीहा* के प्रकाशन के बाद शरत् शतवार्षिकी के प्रसंग में इसकी सुविधा भी उन्हें पर्याप्त मिली। इसके लेखन में उन्होंने चौदह वर्ष लगाए जो किसी भी मसिजीवी लेखक के लिए कठिनाइयों भरी लंबी अवधि थी। फिर शरत् संबंधी खोज-यात्राओं पर भी उन्हें स्वयं ही ख़र्च करना था। शुरू में वे इस काम को हाथ में लेने से बचते रहे लेकिन फिर अंततः हिंदी ग्रंथ रत्नाकर बंबई के संचालक और हिंदी में शरत् साहित्य के प्रामाणिक प्रकाशक नाथूराम “प्रेमी” के आग्रह को स्वीकार लिया। जिस योजना के तहत वे यह जीवनी लिखवाना चाहते थे इसके लिखे जाने तक वह सब समाप्त हो चुका था। फिर भी विष्णु प्रभाकर ने इसे “हिंदी प्रकाशन के भीष्म पितामह” कहते ही उन्हीं स्व. नाथूराम “प्रेमी” को समर्पित की।

अपनी तैयारी के दौरान उन्होंने अनेक यात्राएँ कीं। वे अपनी इस हताशा का उल्लेख भी करते हैं कि उन्होंने सोचा था कि बाङ्ला में लिखित शरत् की जीवनी को आधार बनाकर वे अपना काम चला लेंगे। लेकिन वहाँ भी शरत् की कोई ढंग की जीवनी नहीं थी। विष्णु प्रभाकर ने कलकत्ता, देवानंदपुर, मुज़फ़्फ़रपुर, भागलपुर सहित सुदूर बर्मा की यात्रा की अर्थात् वे उन सब जगहों पर गए जहाँ कभी शरत् बाबू रहे थे। उनके शेष बचे साथियों, मित्रों, संबंधियों और परिचितों से उन्होंने भेंट की। वे बाङ्ला के उन अनेक साहित्यकारों से भी मिले जो इस प्रसंग में उनकी कुछ सहायता कर सकते थे। बेशक कुछ लोगों ने उन्हें भरसक सहयोग दिया भी। लेकिन बहुतों ने एक बाहरी और अनाधिकृत व्यक्ति मानकर उनकी उपेक्षा भी की। एक बाहर का आदमी शरत् की जीवनी क्या और क्यों लिखेगा? भागलपुर में जिन एक सज्जन ने कभी अपने शैशव और यौवन में शरत् बाबू को देखा था उन्होंने स्पष्ट घोषणा की, “Take it from me, I shall not tell you anything.” इसके बाद भी, बल्कि इसे ही चुनौती के रूप में अपने सामने रखकर उन्होंने इस कठिन काम को संपन्न किया। शरत् की प्रेमिका

निरुपमा देवी बढ़ी और उनकी दूसरी पत्नी हिरण्यमयी देवी के संबंध में अनेक स्रोतों को थाहकर उन्होंने कुछ बहुत विश्वसनीय और प्रामाणिक सूचनाएँ जुटाईं। अनेक लोगों की सलाह के विरुद्ध वे अंततः हिरण्यमयी देवी से मिले।

आवारा मसीहा के प्रकाशन के बाद भी ऐसा कहने वाले लोगों की कमी नहीं थी जो कहते थे कि शरच्चंद्र जैसे विचित्र प्राणी की जीवनी लिखी ही नहीं जा सकती। विष्णु प्रभाकर इसका कोई प्रतिवाद भी नहीं करते। बहुत विनम्र भाव से वे यही कहते हैं, ''मैं नहीं जानता कि मैंने उस चुनौती का जवाब दिया या नहीं लेकिन इतना अवश्य किया कि अब नए लेखक उस चुनौती का सामना अवश्य कर सकेंगे। यही सफलता क्या कम है? (पृ.64/3) विष्णु प्रभाकर की आत्मकथा में यह शरत्-प्रसंग एक तरह से *आवारा मसीहा* की रचना-प्रक्रिया का ही उद्घाटन है जिसमें उनकी तैयारी और चुनौती को स्पष्ट देखा जा सकता है। एक जीवनीकार के रूप में उनकी सफलता की एक बेहतर समझ भी इससे विकसित होती है। इससे पता चलता है कि गहरी श्रद्धा के बीच कितने वस्तुपरक रूप में उन्होंने यह काम किया है।

हमारे मित्र राजेंद्र यादव भले ही कहें कि परिवार से कोई लेखक बड़ा नहीं बनता है लेकिन हमारे समकालीनों में केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन जैसे कवियों ने पत्नी पर ढेर सारी उल्लेखनीय कविताएँ लिखीं। अनेक गद्यकारों में भी इस पत्नी-राग की अनेक रागनियाँ सुनी जा सकती हैं। अपनी आत्मकथा में बयालीस वर्ष के अपने दांपत्य जीवन की अनेक भावाकुल स्मृतियाँ विष्णु प्रभाकर ने अंकित की हैं। कहीं अपनी डायरी, कहीं पत्नी के पत्रों के अतिरिक्त उनके अनेक संस्मरण भी यहाँ हैं। सब कहीं वे उनका स्मरण ''प्रेमिल आत्मा'' और जीवन के मरुस्थल में प्रेम की गंगा प्रवाहित न करने वाले साथी के रूप में करते हैं। बड़े संयुक्त परिवार में, सारे प्रेम और अपनत्व के बीच, सास की नुक्ताचीनी और अन्य सदस्यों की कभी-कभार की खटपट के बावजूद, कठिन परिस्थितियों में भी उ हमेशा पति का हौसला बढ़ाया और उसी के का वे बीस वर्षों की अपनी सरकारी नौकरी छोड़कर तरह से लेखक बन सके। विष्णु प्रभाकर के मित्रों बीच वे एक स्नेहशील और आदरणीया स्त्री के में प्रतिष्ठित थीं।

सन् 1980 में कैंसर से उनकी मृत्यु के जवाहर चौधरी ने *शुचस्मिता* नामक एक पुस्तक पर संपादित की थी जिसमें विष्णु प्रभाकर स अनेक लेखक मित्रों के संस्मरण शामिल थे। उ एक बार मिल चुके किसी व्यक्ति को यह लगे नहीं रहता कि *शुचिस्मिता* का एक संस्कृत उनके लिए कितना सटीक और सार्थक था।

एक बार मैंने विष्णु प्रभाकर से, उनके ब आने पर पूछा था कि लंबी और ढेर-सी यात्राओं क्या उनका रचनाकर्म बाधित नहीं होता है? ओर देखकर, कहीं खोए हुए से बहुत धीरे से बोले थे, ''मधुरेश जी, मेरी ये यात्राएँ घर से भा का एक साधन हैं...'' फिर उनकी आँखें पनीली आवाज़ भारी हो आई थीं, लेकिन जिससे बचने लिए मैं भागता हूँ उससे बच कहाँ पाता हूँ...'' संस्मरणों को पढ़ने के बाद उनकी वह बात नए से याद आती है।

विष्णु प्रभाकर की यह आत्मकथा उनके जी और व्यक्तित्व के क्रमिक विकास की कोई स और संपूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं करती। वह छोटे-छो खंडों, प्रसंगों और गद्य के विविध रूपों से बनी है जिसे आत्मकथा कहने और मानने की सुविधा इसीलिए है क्योंकि सब कुछ उनके अपने बारे में है वे यह संकेत भी छोड़ते हैं। यह उसका अंत नहीं है क्योंकि अभी वे इसका अंतिम और चौथा खंड लिखना चाहते हैं। उस प्रस्तावित खंड में वे ए संस्था के रूप में साहित्य अकादेमी की अपनी सदस्यता के दस वर्षों के अनुभव और कॉफ़ी हाउस की अड्डेबाज़ी के संबंध में लिखेंगे। इन प्रसंगों के उल्लेख से भी उनकी आत्मकथा की संरचनात्मक प्रकृति का संकेत मिल जाता है।

चर्चित आत्मकथा :
पंखहीन; मुक्त गगन में; और पंछी उड़ गया: विष्णु प्रभाकर; राजपाल एंड संस, दिल्ली; 2004; प्रत्येक 200 रुपए

मधुरेश का जन्म 1939 में बरेली में हुआ। राहुल, यशपाल, देवकीनंदन खत्री, रांगेय राघव आदि पर चर्चित पुस्तकें प्रकाशित।
संपर्क : ब्रह्मानंद पांडेय का मकान, भाँजी टोला, बदायूँ (उ.प्र.)

विजय बहादुर सिंह

अंतर्वस्तु की विदग्धता : मिट्टी जो कम पड़ गई

मैं जब महेंद्र गगन को उनके प्रथम काव्य संग्रह *मिट्टी जो कम पड़ गई* की मार्फत पढ़ रहा था तो बार-बार यह महसूस करता चल रहा था कि मिट्टी कम पड़ी या कुम्हार का कौशल या फिर दोनों कम नहीं पड़े। यह सिर्फ़ विनम्रता ज़ाहिर करने की एक अदा है या फिर एक ऐसी कचोट जिसे व्यक्त कर ही अपने कवि के लिए कोई न कोई रियायत माँगी जा सकती थी। क्या सचमुच ऐसा है? यदि इस सवाल पर सोचें तो कोई साफ़ उत्तर तो नहीं आता। न मिट्टी कम पड़ी है, न कुम्हार का कौशल या न ऐसी कोई अदा जो बग़ैर रेखांकित हुए ओझल कर दी जाए। फिर भी इसी कहने में एक विनम्र ख़ूबसूरती तो है ही। महेंद्र गगन के इस संग्रह में अगर उनके कवि-संकोचों की तलाश करूँ तो कहीं दिखते नहीं। उनके अनुभवों का अपना एक भरोसेमंद संसार है, उस संसार की जानकारियाँ हैं—अत्यंत मार्मिक किंतु अब तक अनदेखी, अलक्षित।

संग्रह की पहली ही कविता है, ‘‘स्त्री होना नहीं भूलती दादी’’। मैं सोचने लगा कि अगर ‘‘भूलती’’ की जगह ‘‘भूलतीं’’ क्रिया लगाई गई होती तो व्याकरण की दृष्टि से क्या कुछ और उचित होता? मेरे भीतर के सनातन पाठक का जवाब आया कि सम्मान-बोध तो निश्चय ही बढ़ जाता किंतु स्वाभाविक नेह-छोह की भाषा में औपचारिक प्रयोगों के चलते काव्य-बोध यथार्थ से खिसककर अवास्तविक यथार्थ पर चला आता। एक सचेत किंतु सहज कवि की पहचान यह भी है कि वह औपचारिक काव्य-भाषा और काव्य-बोध की जानी-पहचानी तरकीबों और सूचियों से बचे। तभी यह संभव है कि वह अपने अनुभवों और कथनों को एक मार्मिक भंगिमा दे सके। महेंद्र गगन जैसे, चौतरफ़ा के कवियों और लेखकों से घिरे हुए, परस्परता और द्वंद्वमयता के बीच हेठी, दंभ और चालाकियों के बीच, निपट सयाने कविगणों के परिसर में जिस अयाने ठाठ से खड़े मिलते हैं उसका एकमात्र कारण, सचमुच वह सच्ची विनम्रता और क्वचित संकोच है, जिसके बग़ैर यह कवि-कर्म संभव नहीं था।

घर-परिवार, नाते-रिश्तों, बेटियों पर लिखी उनकी कविताओं में एक ख़ास प्रकार का लिरिसिज़्म है, जो न नई कविता के बौद्धिकों में दिखाई देता है, न नवगीत के भावुकों में। यह समय का एक ऐसा संगीत है जिसमें छीजते जाते पारंपरिक जीवन और भविष्य के क्षितिजों पर पदक्षेप करते काव्यानुभवों की कशमकश भरी जुगलबंदी काम कर रही है।

महेंद्र गगन अगर अपने समय के बाहर नहीं हैं तो वे उसके सँकरे भीतर भी नहीं हैं। धर्म, राजनीति, अर्थव्यवस्था, बाज़ार और इनकी चपेट में आ चुका समय उनकी काव्य-चिंताओं के केंद्र में है। यह भी सही है कि वे न तो विपक्ष के कवि हैं, न पक्ष के, न प्रतिबद्धतावादी हैं, न कलावादी। वे तो उस जंगली फूल की तरह हैं जो खिले बिना रह नहीं सकता किंतु जिसकी शायद ही कोई ऐसी ख़्वाहिश

हो कि उसे चुनकर संभ्रांत कवियों के गुलदस्तों में शामिल किया जाए। कवि होने का शायद ही कोई बोध महेंद्र गगन के यहाँ हो। संभवतः यही कारण है कि वे न तो ''कवि'' होकर ख़ुशफहमियों से भर उठे हैं, न अकवि हो उठने के भय से आक्रांत हैं। उनके यहाँ एक प्रसन्न सादगी और वस्तु-विदग्धता है। इसे अगर उनकी ख़ासियत माना जाए तो भी हर्ज नहीं।

अपनी अभिव्यंजना में वे स्वभावोक्तियों के नज़दीक हैं। उनके वाक्यों की संरचना बोलचाल की मुद्राओं में रची-बसी है, कहीं-कहीं इस हद तक कि लगता है कविता नहीं, गद्य-क्षेत्र से होकर गुज़रना हो रहा है—

हमने/सदियों से/नदियों को/पाप दिए, पुण्य कमाया/पापों को ग्रहण करते-करते/नदियों का जल/जीवन योग्य नहीं रहा। अगर तिरछी लकीरें हटा दी जाएँ तो यह सीधे गद्य है। नई कविता के दौर से इस तरह का काम होता चला आ रहा है और बकौल डॉ. जगदीश गुप्त यह ''गद्य की लय'' है। गद्य की लय और लयात्मक गद्य में से काव्य कहाँ है तो उत्तर होगा लयात्मक गद्य ही काव्य है। क्या यह लयात्मक गद्य भी इस कवि के पास (यहाँ) है तो कहना होगा, हाँ। ''विचार'' शीर्षक कविता की शुरुआती पद हैं— *सोचा/ वह हुआ नहीं/ हुआ/ वह सोचा नहीं।*

इन पंक्तियों को पढ़ते हुए टैगोर की कुछेक महान पंक्तियाँ ज़हन में कौंधती हैं— ''जाहा चाई ताहा भूल करे चाई, जाहा पाई ताहा चाई नी।'' गगन के साथ मुश्किल यही है कि वे सोचते ही चले जाते हैं और अनजाने ही वे उस स्थापित जड़ ढाँचे की गिरफ़्त में आ जाते हैं जो कविता की दृष्टि से अब संभावनाहीन हो चुका है। इसका एक कारण वह आसपास का माहौल है जो ख़ुद को तीरंदाज़ मानता है और गगन का कवि उसकी छाया से परहेज़ करने में चूक जाता है।

एक कवि में जैसी स्वाधीनता और गहरी आत्मस्थता होनी चाहिए उसकी कमी तो उनमें है ही किंतु इसके विपरीत एक सच्चे कवि में जैसा पवित्र अनुभव-बोध और वैचारिक निर्दोषता होनी चाहिए, वह भी
है। सोचना पड़ता है कि गगन अगर
आत्मविश्वासी और स्वाधीन कवि के रूप में
-विकास का संघर्ष करें तो वे अपनी अभिव्य
में अन्य कई धुरंधरों पर भारी पड़ेंगे। जानता हूँ
इसलिए संभव नहीं है क्योंकि कविता केवल भाव
की क्रीड़ा नहीं है। वह भावों के आसमान में
की किरण-सा फूटकर धरती को रोशन करने
जद्दोजहद है। यह तभी संभव है जब कवि
कठिन आत्म-साधना करे। महेंद्र के पास शायद
इसका कोई समय हो। फिर भी यह भविष्य
कैसे की जा सकती है कि महेंद्र जैसा सहज भाव
का कवि गहरे भाव-बोध की संभावनाओं की
करेगा।

मिट्टी जो कम पड़ गई की कविताओं के
इस कवि ने जैसी उपस्थिति दर्ज कराई, उसे
हुए यह तो कहना ही होगा कि यह अप्रत्याशि
अप्रत्याशित इस अर्थ में कि ढेर सारे कवि-
के बीच अपनी अलग राह खोज लेना और
बना लेना और यह सिर्फ़ अंतर्संबंधों की तला
बल पर नहीं बल्कि उनके आर-पार चले
दम-ख़म, समय और रिश्तों से उस मुठभेड़
चलते बन पड़ा है जैसी कि कभी-कभी
परंपरा से हमारी ख़ुद की तबीअत के चलते

मुझे यह कहने में भी हिचक नहीं कि संग्रह
कविताओं में तात्कालिकता की तीव्रता के बाद
कालातीत विचारपरकता की झिलमिलाहटें
निस्संदेह महेंद्र संवेदनों के नहीं काव्यात्मक
और काव्योक्तियों की फुलझड़ियों के कवि हैं।
हमें किसी ताज़े फूल की तरह खींचते हैं और
सादगी के रंगों में बहा ले जाते हैं। कविता
समय में इतना संप्रेषण भी कर सके तो बहुत है
महेंद्र में तो यह ख़ूब है।

सुखद संयोग यह कि कवि मित्र किशोर उमरे
के चित्र साथ-साथ हैं। कविता के लिए चित्र हैं
चित्रों को देखते हुए लिखी जा रही कविताएँ
थोड़ा कठिन-सा सवाल है। फिर भी इतना तो
पड़ता है कि कविता और चित्रकला का संबंध

पुराना है। अंग्रेज़ी के ख्यात आलोचक/चिंतक ने कभी कहा था— कविता एक बोलता हुआ चित्र और चित्र एक मूक कविता है। यह संग्रह इक्कीसवीं सदी में उसी धारणा का प्रत्यावर्तन है। मैंने ऐसे ग़ज़ल-संग्रह देखे हैं जिनमें एक तरफ़ मीर, ग़ालिब के शेर दर्ज हैं तो दूसरी तरफ़ उनसे फूटकर खिल पड़ने वाली बिंब-छवियाँ। इस संग्रह में बजाय इसके चित्रों की अपनी सृजन-सृष्टियाँ हैं और कविता के अपने बयान। कलाओं की परस्पर निर्भरता का यह अजीब ख़ूबसूरत उदाहरण है। एक कटी-फटी दुनिया में, सिलसिलों के टूटने की जो तीखी टीसें हैं, उसे यह संग्रह किसी रफ़ूगर-सा दुरुस्त करता हुआ आता है।

चर्चित पुस्तक :
मिट्टी जो कम पड़ गई: महेंद्र गगन

1940 में जन्मे विजय बहादुर सिंह कवि और आलोचक हैं। इनकी आलोचना और कविता-संग्रह की 12 पुस्तकें प्रकाशित हैं जिनमें *बृहतत्रयी, पतझड़ की बाँसुरी, मौसम की चिट्ठी* उल्लेखनीय हैं। संपर्क : 29, निराला नगर, दुष्यंत कुमार मार्ग, भोपाल-2

नासिरा शर्मा

शरीयत और मेव क़ानून में फँसी औरतें

मेवात की ज़मीन से मेरा रिश्ता 1971 से है। यह रिश्ता उतना ही पुराना है जितना दिल्ली जैसे नगर से जो हिंदुस्तान की राजधानी है। वर्षों पहले की एक ख़ूबसूरत रात, बड़े-बड़े बुने पलंगों पर बैठे मेवाती और जे.एन.यू. के प्रोफ़ेसर और विद्यार्थी। भूगोल विभाग के मेवाती विद्यार्थी की मँगनी में यह हमारी शिरकत थी। शगुन में मिले रुपयों में हमारा हिस्सा भी लगा और सबको रुपया बाँटा गया। वह रात आज भी ज़ेहन में ज़िंदा है अपने अँधेरे और पेट्रोमैक्स की दूधिया रोशनी के संग। वह लड़का पीएच.डी. कर लेता है और एक दूसरा प्रोफ़ेसर अपना कर्तव्य समझ उसे लेक्चरर बना शिलांग ले जाता है। नेहरू विश्वविद्यालय की यही ख़ूबी थी उन दिनों कि सुदूर पिछड़े इलाक़ों के लड़के-लड़कियों को मुख्य धारा से मिलाना!

मेवात डेवलपमेंट संस्था के द्वारा दूसरा चैप्टर खुलता है वहाँ की ज़मीन और जानवर से जुड़ी औरतों का। हज़ारों की तादाद में शामियाने में आकर भाषण सुनने, अपने मासूम बच्चों को सँभाले आगे बढ़ने की ललक लिए हुए स्टेज पर खड़ी जवान पढ़ी-लिखी मेवाती लड़की से झाड़ सुनती कि अपने माथे पर लगा कलंक धो डालो, पढ़ो और आगे बढ़ो। उनके बीच बैठ उनके दुख-सुख, परेशानियों को सुनते और दूसरी ओर पढ़ी-लिखी लड़कियों के तेवर देख लगता कि बदलाव की गति तीव्र है।

भगवान दास मोरवाल के दूसरे उपन्यास *बाबल तेरा देस में* को पढ़ते हुए उस देखे मेवात और उसकी औरतें आँखों के सामने से गुज़रती रहीं जो सीधे मज़बूत बदन और धूप से झौंसे गोरे रंग के संग अपनी खुरदुरी हथेलियों से हाथ मिला इस तरह स्लाम अलैकुम कहती, जिन्हें देख ईरान व अरब की औरतें याद आ जातीं जो सर झुका आदाब व तस्लीम की औपचारिकता में नहीं पड़ती हैं। जिस्म से मिट्टी-गोबर की गंध चटखीले कपड़ों और चाँदी के जेवरों के बावजूद फूटती है उनके खुलूस की

गर्मजोशी और स्नेहिल स्पर्श आपको जवाब देने पर फ़ौरन मजबूर करता है वालेकुम सलाम। चलते वक़्त मिले उपहार में उनके हाथ की बनी दौरियाँ जिनका कोई बाज़ार नहीं। जिसके लिए उनका कहना था कि मर्द उनकी इस हस्तकला को घर में घुसते ही ठोकर मारकर कहते हैं कि बेकार का खटराग फैला रखा है और उसी पैर के अँगूठे से रात के अँधेरे में उनके लहँगे का घेरा भी उठा देते हैं। बातें बहुत हैं यादों में बसे मेवात की मगर यहाँ सवाल है उस उपन्यास का जिसमें बंद है मोरवाल के अनुभव जिसने पैदा होते ही मेवात में नाल गाड़ दी। उसी मेवात में जहाँ सूफ़ी कवियों की परंपरा का उजास आज भी फैला है। वहीं डॉ. अशरफ़ जैसे तेजस्वी इतिहासकार ने आँखें खोलीं और अब मोरवाल ने क़लम सँभाली है।

जब आप किसी ज़मीन को जानते हों तो आपकी आँखें उन्हीं दृश्यों को ढूँढ़ती हैं जितना आपने उसे देखा, समझा और महसूस किया है और वे दृश्य आपको नज़र न आएँ तो आप उसे ढूँढ़ते भटकते रह जाते हैं। कुछ ऐसा ही अहसास इस उपन्यास से गुज़रते हुए कई जगह हुआ। कहानी नाइन असगरी के बेटे फत्तू का जेवर समेट घर से ग़ायब हो जाने से शुरू होती है और कुम्हार बत्तो व हीरा को साथ लेकर आगे बढ़ती है। चक्के और अस्तुरे के बीच दिमाग़ ढूँढ़ता है जानवर और ज़मीन से जूझती औरतों को, मगर जब खेत आते हैं बलात्कार के घटना स्थल की तरह और जंगल आता है लकड़ी चुनने की मशक़्क़त से बहे पसीने के रूप में नहीं बल्कि आपस में लिपट औरतों के रोने और किसी की पिछली ज़िंदगी के दर्दनाक पहलू को सुनने के लिए। ज़मीन से जुड़े लोगों के पेशे से जुड़ी परेशानियों की जगह हमें मिलता है सुन्नत और बकरे के ज़बह करने का सविस्तार ब्योरा, जिसका औचित्य कुछ समझ में नहीं आता। संवाद लंबे और दोहराओं के बावजूद कहीं-कहीं चुटीले हैं जिसे पढ़कर आप मुस्कुराए बिना नहीं रह सकते जैसे बत्तो और पारो की नोक-झोंक को लेकर नसीब खाँ की यह टिप्पणी :

> ''कसूर या पारो को ना हे धनसिंह, या मेवात
> पाणी की तासीर ही कुछ ऐसी है अरे, जभी
> कही है के ई है मेवात, पहले घूँसा पीछे बात
> (पृष्ठ 53)

दूसरी जगह एक और ज़मीन से जुड़ा वाक्

> ''जानदेय न, एक बंदरी का रूसना सू कौन
> बिदाबंन खाली हो जाएगो!'' (पृष्ठ 52)

उपन्यास दस्तकारों और मेहनतकशों से हठ, एका हवेली पहुँचता है और हवेली का ही होकर रह है। जहाँ मेव बोली के बीच साफ़-सुथरी उर्दू बोल दो औरतें हैं जो हैदराबाद और बिहार की हैं। ही अच्छा होता अगर उन दोनों की भाषा-बोली हैदराबादी उर्दू व भोजपुरी हिंदी मिलावट के होती तो संवाद सहज लगते या फिर यह दोनों प्रदेश या पुरानी दिल्ली के होते तो ज़्यादा प्रामाणि लगते मगर तब हैदराबाद में शेखों से की शादियों का ज़िक्र न हो पाता ऐसा लेखक ने होगा तो भी शकीला का किरदार ज़मीन से उख यह बताने की कोशिश करता है कि मेवात बदलाव आया तो होगा! यही किरदार अगर मेव की ज़मीन से उगता और अपने कारावास को तो की कामना करता तो दिल पर ज़्यादा असर मगर बात स्त्री विमर्श के साथ मुस्लिम शरीयत की थी जिसको मोरवाल मेवात के मुसलमानों बहाने दिखाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने बहि जेवर का चयन क़ानूनी किताब के रूप में ताकि बगावत और शहादत उसे पुस्तक के दायरे ही अंजाम पाए! इसमें कोई बुराई भी नहीं है परेशानी तब शुरू होती है जब हम इस सव टकराते हैं कि किसी भी धर्म और क़ानून से हमें ज़िंदगी आगे निकल जाती है तब वे कौन से प्र और बंधन हैं जो आपको न जीने देते हैं न म यदि इस आज़ादी के चलते आपने सब कुछ दिया तो आपको किस तरह की क़ीमत अदा जीवन भर प्रताड़ना सहनी पड़ती है!

इसमें कोई शक नहीं कि किताबी बयान मोरवाल आश्चर्यजनक रूप से सफल नज़र हैं। उन्होंने ज़िंदगी और क़ानून को दो हिस्सों में

दिया उसी तरह जैसे मर्द औरत को। सारे मर्द बुरे सारी औरतें दुखी! बीच की खाई को भरने के लिए उन्होंने एक हवेली चुनी और उसकी हर औरत को किसी न किसी परेशानी में मुबतला कर उस स्थिति का क़ानूनी हल बहिश्ती ज़ेवर में लिखी आय्यतों व कथनों में ढूँढ़ने की मेहनत कर यह बताना चाहा कि समस्या का हल यहाँ है मगर उसमें बताई गई कुछ बातों को हवेली की औरतें मानने को तैयार नहीं होतीं, यहाँ तक कि बूढ़ी माँ जैतूनी उन हिस्सों को दोबारा सुनने से साफ़ इनकार भी कर देती है। यह अलग बात है कि इस पुस्तिका से पहले शकीला इस्लामी क़ानून की बातें किसी आलिम की तरह ड़ी समझदारी से बताती हैं और मौक़ा पड़ने पर स्वयं हालात से समझौता कर लेती हैं। यदि उसे शरीयत लॉ का इतना ही सही ज्ञान था तो फिर उसने अपनी मज़बूरी के चलते निकाह एक बूढ़े आदमी से क़ुबूल क्यों किया? शकीला के किरदार को जहाँ इंक़लाबी बनाने की कोशिश है वहीं पर उसमें कई तरह के झोल नज़र आते हैं। दूसरी ओर वकील द्वारा मुस्लिम पर्सनल लॉ की पेचीदगी को बताया है। मगर जैनब के पति जो मौलवी हैं उन्हें कहीं नहीं घेरा है जो बड़ा अजीब-सा लगता है। ख़ासकर मेवाती समाज में जहाँ मौलविया वर्चस्व दिनों-दिन बढ़ रहा है। मौलवी या तो मोटर साईकिल पर आता जाता है या फिर मोटर साईकिल न मिलने पर रूठा रहता है। मोटर साईकिल मिलने के बाद साली मुमताज को तोहफ़े में बहिश्ती ज़ेवर देता है, जिसको पढ़कर उसकी पत्नी ज़ैनब की ज़िंदगी ख़ुशियों से भर जाती है और वह स्वीकार भी करती है कि यह चमत्कार उसके जीवन में इसलिए हुआ कि उसने दुनियावी ख़ुदा के आगे सिजदा करना क़ुबूल कर लिया है। यहाँ पर सवाल उठता है कि लेखक स्त्री विमर्श व शरीयत के द्वारा कहना क्या चाहता है?

दूसरी तरफ़ मैना अपने अपमान के विरोध में खड़ी नहीं रह पाती और हालात से समझौता कर ससुराल वापस चली जाती है। मुमताज खुले दिमाग़ की लड़की है तो उसके साथ ट्रैजिडि यह हुई कि उसका पति नामर्द निकला। शगुफ़्ता का तलाक़ हो ही गया था। समीना को ख़रीदा और बेचा जा रहा था। गर्ज कि उपन्यास यह बता रहा था कि कहीं मेव मानसिकता काम कर रही थी तो कहीं धर्म से अज्ञानता के कारण जड़ रीति-रिवाज क़ायम थे, जिसके कारण हर औरत किसी न किसी कठिनाई में फँसी छटपटा रही है। औरतों के आँसुओं को देखकर कहीं मन-मस्तिष्क द्रवित नहीं होता शायद उसके दो कारण हो सकते हैं—पहला दर्द का बयान ज़्यादा हो जाए और वह असर नहीं छोड़ता या फिर यह सारे मुद्दे जो मुस्लिम औरत और शरीयत लॉ को लेकर पिछले बीस वर्षों से बहस का मुद्दा बने हुए हैं। उन्होंने संवेदना को सुखा दिया है। यदि सृजनात्मक दृष्टि आँकें तो लगेगा कि हवेली में वे सारे मुद्दे इकट्ठे हो गए हैं जिन्हें गाँव के दूसरे घरों में भी घटना चाहिए था ताकि हादसों की प्रामाणिकता पाठक के मन में बनी रहती, जो विश्वास जगा और आँसुओं की झंझावात में उसे साँस लेने की मोहलत दे पाती। मगर यहाँ पै-दर-पै घटने वाली त्रासदियों से उसके सोचने-समझने और महसूस करने की शक्ति क्षीण होने लगती है और सब कुछ प्रभावहीन-सा लगने लगता है। यदि एक या दो ही समस्या उठाई जाती तो शायद इन बिखराओं को रोका जा सकता था और पाठक की ज़ेहनी दौड़ भी एकाग्र हो मसले की गहराई में उतर उस व्यथा को समझ सकने की स्थिति में अपने को पाती।

इन दुखी स्त्रियों के बीच मुमताज के पति अखलाक की आत्महत्या इस जड़ स्थिति में कंपन पैदा करती है और उसका किरदार जीवंत हो आपके मन-मस्तिष्क को अवसाद से भर देता है। उसकी शारीरिक मजबूरी एक लानत बन जाती है और कोई रिश्ता उसका अपना नहीं रह जाता है। जीवन में अभिशप्त बनकर जीने का हौसला उसमें नहीं है न परिवार में इतनी हिम्मत कि छोटे भाई से मुमताज का विवाह कर दिया जाए। जब अखलाक हँसकर कहता है कि मैं तुम्हें आज़ाद करता हूँ, तुम्हें बहुत तकलीफ़ पहुँचाई, और दूसरे दिन उसकी झूलती लाश केवल मुमताज के सीने में घाव नहीं बनाती है बल्कि पढ़ने वाले का भी दिल टीस से भर उठता है। वर्षों पहले जब ईरान

के संदर्भ में पता चला था कि शादी से पहले वहाँ लड़के लड़की के शारीरिक स्वास्थ्य का प्रमाण-पत्र लेना होता है तो यह बात क्रूर-सी लगी थी मगर आज यह समस्या दिनोंदिन बढ़ रही है, यह केवल अरेंज मैरेज में नहीं बल्कि प्रेम विवाह के बीच भी आड़े आ रही है। यह सब देखकर लगता है कि शादी के लिए यह एक व्यावहारिक क़दम है जिसके चलते औरत-मर्द विवाह के बाद घर बसाएँ न कि तलाक़ की माँग करें।

सियासत ने जो भी रंग दिखाए हों मगर मेवात अभी भी हिंदू-मुसलमान से हठ ज़मीनी रिश्तों को महत्त्व देते हैं यह बात मोरवाल ने कई तरीक़े से जगह-जगह दिखाई है जो रसोई, कुएँ की जगत, क़ुर्बानी और किसी घर में कुछ घट जाए तो उसे सारा गाँव बिना किसी मतभेद के सुलझाने पहुँच जाता है। यह सारे टुकड़े उपन्यास में बड़ी सहजता से उभरे हैं। कहीं-कहीं पर तो यह अहसास शिद्दत से उभरता है कि मेव पहले मेव हैं फिर हिंदू-मुसलमान ठीक अफ़गानों की तरह जो पहले पठान हैं फिर मुसलमान। सियासत उन्हें जितना भी कट्टरवादी दिखाए मगर वह उनकी पख़्तूनवली है न कि धर्म।

इस उपन्यास के कई हिस्से बेहद यादगार बन पाए हैं जिनमें युनुस का अलीगढ़ से लौटकर ठीक सैय्यदों की तरह मोहर्रम में हदीस और सोज की नक़ल किया जाना और सबसे ज़्यादा मज़ा वहाँ आता है जब युनुस के लाख अभ्यास करने के बावजूद दीन मोहम्मद मरसिया पढ़ने बैठता है तो अरब की ज़मीन की जगह वह अपने मेवात में रहता है और युनुस की नाराज़गी पर कहता है :

> ''यार, सुर न बाँधू!'' आँखें खोल युनुस से कहा दीन मोहम्मद ने? ''ठीक है।'' इतना कहकर चुप हो गया युनुस।
>
> ''अरे ऽ ऽ ऽ जा घड़ी नहर पे खेमा...शाह चोखावालों ऽ ऽ ऽ !'' काका, कहा हुआ नहर पे? तू ई सिंहलवाटी गा रो या मरसिया पढ़ रो है और फिर शहे-वाला की जिगह ई शाह चोखा (अश्लील लोकगीत) कहाँ से आ घुसो? हारकर युनुस को ही बैठना पड़ा मिंबर पर।
>
> लेकिन यह क्या, वह जब भी मूल धुन में की कोशिश करता, उसकी मेवाती धुन उ सवार हो जाती (पृष्ठ 255-256)।

मोरवाल के यहाँ भाषा का अलग रंग नज़र है जिसमें वही ताज़गी हमें मिलती जो दूसरी के लेखकों में मिलती है जो अपनी मातृभाषा हिंदी में सृजन कर रहे हैं। बतौर मिसाल भरी को ''शिखर दोपहर'' कहना अटपटा नहीं है, बल्कि यह तरकीब आँखों में नई चमक ला इस तरह की अनेक अभिव्यक्तियाँ हैं जो मेवा धरती की महक से शराबोर हैं, मगर मेव बोल संवाद का लगातार उपन्यास में चलना पाठक चरित्र के बीच दूरी भी क़ायम करता है जो चरित्र पूरी तरह आत्मसात करने में आड़े आता है। में नमक उतना ही भाता है जो स्वाद को नष्ट न

मोरवाल ने मुहावरों, कहावतों, गीत आदि साथ वातावरण को रचने का प्रयास किया है मेव ज़मीन पर जिस हवामहल का उन्होंने नि किया है वह केवल हवामहल की नक़्क़ाशी दीवार बनकर रह गई हैं। स्त्री विमर्श की झों करुणामय पाठ बनाने से अकसर कलात्मक प भुला दिया जाता है और यही कमी यहाँ नज़र है। आँखों द्वारा पैमाइश जिस तरह बदगुनिया को किसी इमारत में पकड़ लेती है उसी तरह को परखने वाली दृष्टि भी संतुलन के अस्वाभावि को, चरित्र-चित्रण में ताड़ लेती है।

इस उपन्यास की सबसे महत्त्वपूर्ण ख़ूबी लेखक ने जानबूझकर नहीं उठाई है बल्कि परि से बिलोकर अपने आप ताज़ा मक्खन की निकली है वह है जैतूनी और असगरी का कि जो पुरानी पीढ़ी की है। बाहरी हवा और किता ज्ञान ने उन्हें छुआ भी नहीं है मगर अनुभवों आग में तपकर वह सोना ज़रूर बन गई है। प्रगतिशील विचार, औरत से हमदर्दी, मर्दों कमजोरियों को लेकर कुढ़न और जो उन्हें तर्क नहीं लगता उसे धर्म के नाम पर भी नकार देने हिम्मत उन्हें मेव की चाक पर मेवनी बनाने में है। वही जैतूनी है जिसका तेवर आज नई पीढ़ी

लड़कियों में साफ़ नज़र आ रहा है जो निडर हो, मेवात से निकल अपना रास्ता स्वयं ढूँढ़ रही है मगर उनके सपनों, उनकी कठिनाइयों और संघर्ष का ज़िक्र यहाँ नहीं है क्योंकि लेखक को कहानी के नैचुरल बहाव को काट उस पर शरीयत लॉ का बाँध जो बनाना था, जिसके लिए उसे उन्हीं कामगार औरतों की तलाश थी जो पुल को साध सके।

मोरवाल ने इस उपन्यास को लिखने में कितनी मेहनत के साथ तनाव झेला होगा इसका अंदाज़ा सहज ही लगाया जा सकता है जब पाठक रिश्तों की टूटन में शरीयत लॉ की बारीकियों को पकड़ उसमें से औरतों का पक्ष निकलता देखता है। उनकी यह मेहनत हमें ''थिसिस'' के रूप में इस उपन्यास में नज़र आती है। चाहे वह आय्यतों का, कुरान और इस्लामी लॉ का उल्लेख हो जिसमें थानवी साहब की विवेचनाओं को उद्धृत करने में कहीं कोई ग़लती नहीं है। हाँ, जो मतभेद हो सकता है वह नज़रिए का कि आप बेहिश्ती ज़ेवर के चौखटे पर स्त्री विमर्श रखेंगे या चौखटे के बाहर कूदती ज़िंदगी की टकराहट को दिखाना चाहेंगे जहाँ औरत की ज़रूरतों ने, धर्म और क़ानून तक को कटघरे में लाकर खड़ा कर दिया।

चर्चित पुस्तक:
बाबल तेरा देस में : भगवानदास मोरवाल; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 395 रुपए।

नासिरा शर्मा का जन्म 1948 में इलाहाबाद में हुआ। इनके कई कहानी-संग्रह और उपन्यास प्रकाशित हैं। इनमें *ठीकरे की मँगनी*, *इब्ने मरियम*, *शामी काग़ज़* चर्चित। संपर्क : डी-37/754, छतरपुर पहाड़ी, नई दिल्ली-110024

राजाराम भादू

पराजय और प्रतिरोध का प्रत्याख्यान

शब्दपदीयम बद्रीनारायण का दूसरा कविता-संग्रह है। बद्रीनारायण की कविताओं का पहला संकलन *सच सुने कई दिन हुए* 1994 में प्रकाशित हुआ था। बद्रीनारायण की कविताएँ उस समय भी अपने ख़ास रूपकों, निहितार्थों और ट्रीटमेंट के लिए चर्चित रही थीं। एक दशक के अंतराल में उनकी अंतर्दृष्टि जहाँ और गहरी तथा अंतर्भेदी हुई है, वहीं काव्यपद्धति और प्रभावी तथा विकासमान। इस एक दशक में वे कवि के साथ ही एक सांस्कृतिक अध्येता के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं। यह स्वाभाविक ही है कि तमाम संस्कृति रूप और उपागम बद्रीनारायण के कविता की केंद्रीय विषयवस्तु रहे हैं। सांस्कृतिक अनुष्ठान और रीति-रिवाजों, परंपराओं और दृष्टिकोणों को वे विमर्श का ऑब्जेक्ट बनाते हैं। इस अर्थ में बद्रीनारायण संस्कृति-विमर्श के कवि हैं।

समकालीन संस्कृति विमर्श में बद्रीनारायण सबाल्टर्न (निम्नवर्गीय) धारा से संबद्ध नज़र आते हैं जो वृहद परंपरा (ग्रेट ट्रेडिशंस) के विरुद्ध लघु परंपराओं (लिटिल ट्रेडिशंस) की पक्षधर हैं। वे निम्नवर्गीय एप्रोच से वृहद परंपरा का भिन्न पाठ प्रस्तुत करते हैं। यही नहीं उन्होंने आम धारणाओं (कॉमन सेंस), मान्यताओं (नॉर्म्स) और निषेधों को विखंडित (डी-कंस्ट्रक्ट) किया है एवं इनकी प्रचलित व्याख्याओं को प्रश्नित किया है—

अपने बारे में प्रचलित हर वृत्तांत पर
उन्हें शंका करने के लिए कहता हूँ

यह शंका इसलिए उत्पन्न हुई है कि अब चीज़ों को भिन्न दृष्टिकोण और संदर्भ में देखा जा रहा है—
चिड़िया और हिरणी के बारे में सोचना / अंततः

शिकारी के बारे में सोचना है / इसलिए उनके बारे में प्रचलित हरेक वृत्तांत को / मैं शिकारियों के संदर्भ में देखता हूँ।

इस एप्रोच की फलश्रुति यह है कि जब तक *हिरणों के अपने इतिहासकार* नहीं होंगे तब तक शिकारियों के गौरवान्वित होते रहने की पूरी संभावना है और चिड़ियों को व्याध के जाल से बचाने के लिए बहुत ज़रूरी है कि चिड़ियों के अपने दार्शनिक हों। सोचते हुए कविता के ये प्रसंग बद्रीनारायण की काव्य-दृष्टि से परिचित कराते हैं। यह वस्तुतः ग्राम्शी की अंगीभूति नेतृत्व (ऑर्गनिक लीडरशीप) की उस अवधारणा का विस्तार है जिसमें वे उत्पीड़ित वर्ग से नेतृत्व के उभार पर जोर देते हैं। यह विस्तार सबाल्टर्न एप्रोच का सार-तत्त्व है।

संकलन की शुरुआत ऐसी कविता से होती है जो विश्वास पर ही अविश्वास करती है। जहाँ आधुनिक सभ्यता की किताब, फ़ोटोग्राफ़, डायरी, प्रतिमा, उपहार और चिट्ठी जैसी चीज़ों को नश्वर पाया जाता है। एक कवि के पास कालातीत साबित करने के लिए स्थावर, अक्षर, अक्षुण्य कुछ भी नहीं है, यहाँ तक कि शब्द भी नहीं (विश्वास)। यह अक्षर की अजर-अमरता पर प्रश्न-चिहन है तो यह संकेत भी कि कवि का संबोधन सर्वप्रथम अपने समय के लिए है। लेकिन इसका अर्थ अतीत से पीठ फेर लेना नहीं है। दूसरी ही कविता में रुलाई की कालातीत धारा को चीन्हा गया है। इसमें रुलाई के स्मृतिकारों के विलोपन को उल्लिखित करते हुए कवि रुलाई का एक भिन्न पाठ करना चाहता है—*पुराणों में कहीं-कहीं उन हिरणियों की रुलाई का भी ज़िक्र है / जिनकी कृष्ण खाल पर यज्ञों में चलने की पवित्र प्रथा प्रचलित थी* (रुलाई)

रुलाई अन्याय, बेबसी और यातना का समवेत स्वर है। इसी क्रम में बुदबुदाहटें और चिल्लाहटें आती हैं : *बुदबुदाहटें दुनियाभर के उत्पीड़ितों की सबसे विश्वसनीय दस्तावेज़ होती हैं / ...कुछ ऐसी चिल्लाहटें / जो दुनिया के उपलब्ध विपुल साहित्य भंडार में कहीं नहीं हैं* (कोई नहीं, यह कुत्ता लिख रहा है) यह भाषिक अभिव्यक्ति के शब्देतर रूपों की महत्ता का रेखांकन है जो लिखित/उच्चरि और शब्दों/पंक्तियों के बीच के शून्य अन्यत्र बसेरा करते हैं—एक अनुगूँज की रुलाई की भाँति बुदबुदाहटें और चिल्लाहटें की अभिव्यक्तियाँ हैं जिन्हें बद्रीनारायण प्रतिरोध का शोकमय आख्यान घोषित करते

सत्ता और शक्ति को बद्रीनारायण उत्पीड़ बरक्स बराबर लक्षित करते हैं और इसे दीर्घ देश के मध्य फैलाकर भेद्य बना देते हैं। इस धरणीधर टाटा सूमो और अंबेसडरों में कॉल के साथ विजित मुद्रा में है। दूसरी ओर काव्य नैतिकता का भी आह्वान है—*मैं शब्द हूँ चाहता / फिर किसी क्रौंच पक्षी की बदलना / और ऐसी सचेतना कि / मैं शब्द कहीं मुझी से कोई मनुस्मृति / फिर न लिख जाए* (शब्दपदीयम)

यह द्वंद्व इन कविताओं के कवि और व्यक्ति लगभग सर्वत्र विद्यमान है। एक व्यक्ति के कवि अपने वंश वृक्ष से मुक्त होना चाहता है। वृक्ष अपने वंशज को अपनी पहचान से करता है जो कि सामान्यतः जाति/नस्ल, भाषा, परंपरा और लिंग जैसी कोटियों में निर्मित हो एक मनुष्य और व्यक्ति के रूप में पहचान के इन सबका अतिक्रमण एक अनिवार्य प्रक्रि वास्तव में यह अतिक्रमण नहीं बल्कि मुक्ति प्रक्रिया है— ... *मैं इस थोपी सनातनता से चाहता हूँ / थक गया हूँ परंपरा की अ करते-करते / थोड़ी देर मैं मौलिक होना चाह* (थोड़ी देर)

द्वंद्व तभी तक होता है जब तक कि यह परिणति तक नहीं पहुँचता। अनेक द्वंद्व परिणति नहीं पहुँचते बल्कि स्थगित या निरस्त होते रह इसलिए यहाँ कुछ चीज़ें थोड़ी देर के लिए चाह हैं। कहीं छोटी-छोटी इच्छाओं के लिए महत्त्वाकां के स्थगन की ग्लानि है— *कुछ कविता लिख मैंने साध लिया है / प्रतिरोध करने की इ* (छोटी-छोटी इच्छाएँ)

अफ़सोस कि यह ग्लानि आत्म-धिक्कार तक पहुँच जाती है। जहाँ ऐसे नकार-भाव से उबरकर आत्म-संधान की कोशिश है, वहाँ की काव्य-उपलब्धियाँ सुखद आश्चर्य उत्पन्न करती हैं—

जब मैं खोजने लगा अपने आपको
तो उसमें मिलने लगे दूसरे।

"आत्मखोज" शीर्षक यह कविता सामाजिकता और संबंधों की सघनता की अद्भुत अभिव्यक्ति है—

मेरे भीतर अपना कुछ नहीं था
मैं दूसरों से था भरा पूरी तरह
(आत्मखोज)

बद्रीनारायण प्रतीकों के अलावा रूपकों का प्रभावशाली इस्तेमाल करते हैं। यह प्रभान्विति वे बहुधा प्रतीक व रूपकों के प्रचलित अभिप्रायों एवं आशयों को बदलकर करते हैं। एक कविता में वे जर्जर साईकिल के रूपक से जरा, बुढ़ापे और मृत्यु की क्रमिक नश्वरता को प्रस्तुत करते हैं। जबकि एक अन्य कविता में वे चिड़िया, मछली, लड़की, फूल और पेड़, सबसे अपने अर्थ बदलने का आह्वान करते हैं—*सभ्यताओं के तत्त्वों सब मिलकर / सभ्यताओं का अर्थ ही बदल डालो* (चिड़िया रे)

यह अर्थांतरण वस्तुतः सभ्यता की एकायामी संरचना को ध्वस्त करने के लिए है। एक ऐसा अर्थ-तंत्र जिसने सार्थक चीज़ों का हाशियाकरण कर दिया है—

और फुटनोटो, तुमसे तो मैं कहते-कहते थक गया,
कि उठो और धीरे-धीरे पहुँच जाओ
लेखों के बीच में
(वही)

जब चीज़ें अपने प्रदत्त अर्थ देना बंद कर देंगी तो वे वास्तव में अपने होने का अर्थ देने लगेंगी। और तब अर्थांतरण की यह प्रक्रिया केंद्र और परिधि के मौजूदा रिश्तों को बदल देगी। कवि के लिए घर की परिभाषा भी बदल जाती है—

जहाँ बिल्ली को खदेड़ता
दिख जाएगा ख़रगोश
वही अपना घर बनाऊँगा
(घर)

यहाँ कवि का विपर्यय समस्यामूलक हो उठता है। यदि उत्पीड़क-उत्पीड़ित परस्पर बदल जाते हैं तो वह स्थिति में वास्तविक परिवर्तन नहीं है क्योंकि संरचना अभी भी वहीं है। इसलिए पाब्लो फ्रेयरे कहते हैं कि वास्तविक मुक्ति इस संबंध-संरचना के उन्मूलन में है।

संकलन की कई कविताएँ समकालीन साहित्य परिदृश्य की निर्मम विवेचना करती हैं। एक कविता में कवि स्वयं को प्रचलित प्रवृत्तियों, यथा—आलोचकों, संपादकों से संपर्क, प्रभावशाली व्यक्तियों से संबंध और बैठकबाज़ी से विरत एवं प्रमुख सृजन-धाराओं से विच्छिन्न पाता है। इस स्थिति को वह रणक्षेत्र में निःशस्त्र योद्धा की तरह रूपायित करता है। वस्तुतः यह सृजन-परिदृश्य में एक स्वतंत्र आवाज़ का विडंबनामूलक चित्र है। इधर पूँजीशाहों, तस्करों, वेश्याओं और अपराधियों की आत्मकथाओं के बीच एक कवि की आत्मकथा अरमूल्यित हो गई है—

देखो ! मैं कैसा जीवन जी रहा हूँ
आत्मकथा के बिना

यह समकालीन समाज में एक सर्जक की हैसियत की सूचना है। साथ ही इस समाज की मूल्य-संरचना का प्रतिबिंबन भी।

बद्रीनारायण सतह के नीचे जन-आक्रोश की आग और क्षोभ-धारा को चीन्हते चलते हैं, *मूक, क्रुद्ध, मुखर लिखे जा रहे हों, प्रतिरोध के अनंत शास्त्र और जिसकी सूचना प्रेस को नहीं हो* (हो सकता है)।

सांस्कृतिक संक्रमण के मौजूदा दौर में चीज़ें अपने-अपने अर्थ खोकर व्यर्थ हो रही हैं तथापि लोक-गाथाओं की गरिमा एक हद तक बरक़रार है। एक कविता में बद्री उस लोककथा की पुनर्रचना करते हैं जिसमें एक क्रूर राजा लोककथा में अपने लिए जगह माँगता है और अपनी शक्ति एवं वैभव के बाद भी इसमें असफल होता है (न जाने क्या

हुआ)। संकलन की कुछ कविताओं में हत्या-प्रसंग हैं जिनमें अत्याचार को छद्म व्याख्याओं से छुपाया जाता है। सिर्फ़ प्रश्न हैं जो अनुत्तरित रह जाते हैं और स्थितियाँ फिर ह्यूमन इमोशन, सहायता-सहयोग जैसे शब्दों के चक्कर में कौन पड़े। एकाधिक कविताओं में बुढ़िया का संदर्भ है जो इस शहर के भविष्य का एजेंडा तय कर रही होगी। संभवतः बुढ़िया स्त्री-यातना अथवा लोक-स्मृति का रूपक है जो उत्पीड़न-बोध को ज़िंदा रखता है।

नागरिक सभ्यता यहाँ सुदूर अंचल के लोक-जीवन के कंट्रास्ट में है और कवि ने इसकी ख़ासी चीर-फाड़ की है। शांत दिखते जीवन में यहाँ—

अच्छे दिनों में आशंका
बुरे दिनों में भय
कोई है
(कोई है)

जैसा भाव विद्यमान है। यहाँ कला वस्तुएँ भी अकूत मुनाफ़े का बेहतर संसाधन हो सकती हैं, और सुनने में आया है कि—*बड़े-बड़े डील में लगे संगी-साथी और सबल एवम् समर्थ असुरों के लिए सुंदर अप्सराओं / एवं ऋषि बालाओं की सप्लाई को इंद्र ने एक नए व्यवसाय के रूप में विकसित कर लिया है।* (पूर्वी बनीज का गीत)

वर्तमान नागरिक समाज के बरक्स बद्रीनारायण प्राचीन भारत और पौराणिक भारत की आम छवि को एलीगरी की तरह लाते हैं और इस युक्ति से स्थितिजन्य विडंबनाओं व विकृतियों को आलोकित कर देते हैं। एक कविता में चित्र है कि एक व्यक्ति दूसरे को विदा कर रहा है। विदा के इस आधुनिक तरीक़े में एक बात प्राचीन थी कि दोनों रो रहे थे। ''दिनचर्या'' कविता में वे सांस्कृतिक क्षरण का वितान प्रस्तुत करते हैं जहाँ प्रातः से रात तक एक भोले मेहनती व्यक्ति को दुष्टों के संसर्ग में रहना है, उन्हें नमन करना और सम्मान देना है, चिंतित और भयभीत रहना है। इस नागरिक जीवन को प्रदूषण से बचाने के लिए यहाँ की गंदगी, फटे कंडोम, रक्त लगे पेपर, एबॉर्शन में प्रयुक्त पट्टियाँ, अवैध संबंधों के बेकार हो गए प्रतीक चिह्न फेंकने के हलखोरों की बस्ती के पास की जगह को चुना है (प्रश्न था)। इस तरह—
यह स्वर्ग के सबसे समृद्ध एवं सबसे संभ्रांत इ का वाक्या है / यहाँ इतिहास अपने को फि दुहरा रहा है (आँखों देखा हाल)

पौराणिक आख्यान और मध्ययुगीन सामंती के साम्य से बद्रीनारायण एक इतिहास निर्मित क हैं और इस इतिहास को मौजूदा सत्ता-संरचना समक्ष रखकर इस संरचना को विखंडित करते इन कविताओं में समकाल है तो बाज़ार तो होना था। उन्होंने इसे इस तरह परिभाषित किया है—
कोई बाज़ार में आएगा / चार पैसे में बिकाएगा पर दो ही पैसा पाएगा / दो तो दलाल ले जाएगा फिर भी— / बाज़ार में बढ़ती ही जा रही है (बाज़ार का गीत)

कवि और संस्कृतिकर्मी भी इस बाज़ार में शा हैं—*वे उत्सव मना रहे हैं कि शोक / मैं समझ न पा रहा हूँ* (कवि)

नागरिक सभ्यता की आलोचना का लक्ष्य संस्कृति-कर्मियों को बनना ही था जो इसके प रुझानों का हिस्सा बन गए हैं। लेकिन बद्रीनाराय आलोचना से आगे जाते हैं और इस पतन भर्त्सना करते हैं—*धत तेरी अभिजात्यता की / बौद्धिकता की ऐसी-तैसी / धत तेरे रोलेन बार् देरिदा की*...(धत तेरी दिल्ली की)

जिन्हें धिक्कारा गया है उनकी फेहरिस्त बहु लंबी है जो जीवन के सहज धागों को कुतर र भूरे-सफ़ेद चूहे से संगोष्ठी, जॉरगन से होती रो के अभाव में मरते आदमी के इंटैलेक्चुअल एक्सप्लॉइटेशन तक जाती है। ऐसा करना ज्ञान-अनुशासनों में संभव नहीं था, वे विश्लेषण और आलोचना से आगे नहीं जाते। यह कविता है है जिसमें स्तुति संभव है तो भर्त्सना भी।

''अनुपम की माँ'' जैसी कुछ कविताएँ हैं जिनमें कथा-तत्त्व बहुत प्रबल है। यहाँ दो औरतें मिलकर अनुपम की हत्या का शोक बाँटती हैं। इस शोक का

संदर्भ क्रूरता है। ऐसा ही कंट्रास्ट प्रकृति और उच्च तकनीकी सभ्यता के बीच है, जहाँ प्रकृति का दोहन और मानवीय उत्पीड़न ऐकमेक हो जाते हैं। इसलिए गाय और भेड़ों के रूपक विरोधाभास को खोलते हैं। स्वप्न में आई काली गाय का भेद वस्तु-सत्य में खुलता है। यहाँ गंगा है और गंगाजल में बह रही हैं, दो तुमडियाँ टूटी हुईं, तीन लोटे उलटे पड़े हैं। इन रूपकों से एक सवाल की रचना की गई है—*कि क्यों चाँदी का छत्र और भगवा ध्वज / इतने ऊँचे फहरा रहे हैं।* (हरा छींट और चार खूँट चाँद)

''वंशावली'' कविता प्रकृति और मनुष्य के सहजीवन का भिन्न संदर्भ-बिंदु रखती है जहाँ से एक शाश्वत परंपरा की समृद्धि देखी जा सकती है। भेड़ों को शहर में ले आने की एक स्थिति पेश करते हुए बद्रीनारायण सवाल उठाते हैं—*क्या भेड़ों के मिमियाने से नागरिक सभ्यता भ्रष्ट हो जाएगी / क्या इससे नष्ट हो जाएगा विकसित हो रहा आधुनिक जनतंत्र / क्या महानगरों में भेड़ों के आने से दुनिया में ग़लत संदेश जाएगा / क्या इससे अमेरिका नाराज़ हो जाएगा* (नागरिक सभ्यता)

यह नागरिक सभ्यता है जो अपने परिक्षेत्र में भेड़ों का आना तो बर्दाश्त नहीं करती लेकिन जहाँ बहुतों के लिए दिन अत्यंत दमनकारी और रातें दुखदायी हैं। यहाँ भी बहुतेरे ऐश्वर्य के दुख में डूबे हैं (नागरिक-बद्ध संवाद)। एक भिन्न अंतर्दृष्टि के चलते पुस्तकों के पाठ (रीडिंग) और मायने बदल जाते हैं, इतिहास की दूसरी व्याख्या होने लगती है। यदि उपयोगिता ही किसी का मूल्य है तो सृजनशीलता का अवमूल्यन तय है। इसमें सारंगी की संस्कृति को कोई नहीं समझ सकेगा जिसमें जोगियों, फ़क़ीरों, कलंदिरों के अरमान भरे हैं।

क्रूरता की कथा तब से शुरू होती है, जब—*लोहा लोहारों के हाथों से छीन लिया गया था / और हत्यारों के हाथों में दे दिया गया था* (विश्वकर्मा पूजा पर)

यहाँ लकड़ी और बीच की जीवन-शृंखला का वृत्तांत खो गया है। गर्मी की शामों में पीले पत्ते झरकर शमशेर की कविता की उदासी नहीं रचते। अब शबरी को यदि राम को पाना है तो उसे जंगल छोड़कर दिल्ली आना होगा और विहिप की वेबसाइट खँगालनी होगी। इस नज़रिए से संग्रहालय *हते* हारे और मारे हुए विचारों का ढेर है जो पराजित प्रतिरोध की ख़बर देता है। शास्त्र वर्चस्व का इतिवृत्त हैं—*बंधनों के अनेक शास्त्र होते हैं / पर किसी भी शास्त्र में नहीं लिखा है उनमें मुक्ति का उपाय* (मुक्ति)

तभी बद्रीनारायण शुक्रतारे को तारे से अधिक एक संघर्ष के प्रतीक के रूप में देखते हैं और राहु को नायक मानते हैं। यहाँ तक कि वे अपने नाम के अर्थ की ग़ुलामी से मुक्त होना चाहते हैं।

संग्रह के अंत की कुछ कविताएँ संस्कृति-कर्मियों के उस संकल्प-भंग पर गहरा क्षोभ व्यक्त करती हैं जो उन्होंने वंचितों और संघर्ष में लगे लोगों के प्रति व्यक्त किया था। उन्होंने इन अपेक्षाओं के टूटने पर दुख जताया है। लेकिन सपनों पर दो कविताएँ ऐसी हैं जो भविष्य स्वप्न (फ़्यूचर विज़न) के अर्थ में तो नहीं ही हैं बल्कि क्रमशः दुःस्वप्न और लालसा के अर्थ में हैं। एक जगह सपनों की असीमता (लालसा के अर्थ में) पर ग़ुस्सा ज़ाहिर किया गया है जबकि स्वप्न तो सीमाहीन (अनलिमिटेड) ही होते हैं। यद्यपि संस्कृतिकर्मियों के पतन की विवेचना में कवि की आत्मालोचना भी शामिल है जिसमें वह अपने चेतष प्रतिकार, प्रतिरोध, प्यार और पागल प्रेरणाओं को जागृत करता है। ऐसे समय में जब अधिकांश लोगों की चेतना प्रसुप्त हो गई है, वस्तु से ज़्यादा उसकी छाया प्रभावी हो गई है और सत्य को सत्य की छाया ने ढँक लिया है। गाँव से विस्थापित हज़ारों-हज़ार लोग नागरिक सभ्यता के हाशिए पर हैं जो अपने कंधों पर अपनी स्मृतियों की गठरी लादे हैं (उनका आना)। यह औपनिवेशिकता का उत्तर-काल है जिसमें अनेक ईस्ट इंडिया कंपनियाँ देश में अपने वर्चस्व का जाल फैला चुकी हैं।

संग्रह से गुज़रने के बाद उद्विग्नता और क्षोभ तारी हो जाता है। आप एक भयानक और रक्त-रंजित इतिहास से गुज़रते हैं जिसमें प्रतिरोध तो है लेकिन

पराजय भी लगभग स्थायी टेक की तरह है। ''इस पूरी सदी में छाए रहे हत्यारे'' बद्रीनारायण की एक कविता ''इस सदी का गाना'' की पहली पंक्ति है। वर्तमान को वे अँधेरा चित्रित करते हैं और नागरिक सभ्यता को नरक। इनके वर्णन और वृत्तांत में सच्चाई है किंतु नृशंसता और हताशा लार्जर दैन लाइफ़ है। असल में, ऐसा लगता है कि वे दो जगह अतिरेक बरतते हैं। पहले तो वे जब वृहद परंपरा के सामने लघु परंपरा के रूप में लोक-वृत्तांतों (फ़ोक—नरेटिव्स) को रखते हैं। यहाँ उन्होंने शास्त्र और लोक के पुराने अंतर्विरोध को ही आगे बढ़ाया है। जबकि लोक कोई समरूप (होमोजीनियस) इकाई नहीं है, इसके अपने वैषम्य और अंतर्विरोध हैं जिन्हें बद्रीनारायण अपने लेखन की तरह कविता में भी नज़रअंदाज़ करते हैं। इनकी कविता में अस्मिता-विमर्श (दलित, आदिवासी और समकालीन स्त्री-विमर्श) की अनुपस्थिति कोई विशेषता नहीं बल्कि उक्त सरलीकृत श्रेणी-विभाजन का स्वाभाविक परिणाम है। दूसरे, वे आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता और उत्तर-औपनिवेशिकता के विमर्श को उस ना
सभ्यता के साथ ही धिक्कारते हैं जिसके लि
विमर्श प्रतिश्रुत हैं। बेशक, इन विमर्शों का स्तु
नहीं किया जा सकता और उनकी आलोचना
चाहिए। किंतु आधुनिक (और अब उत्तर-आधुनि
नागरिक सभ्यता को भी एकरूप (होमोजीनि
और द्वंद्वविहीन मानकर चलना अतिरेक के सि
कुछ नहीं है। उन्हें यह भूलना नहीं चाहिए कि
सबाल्टर्न एप्रोच का वे पक्ष-पोषण कर रहे हैं,
आधुनिकता, वाम-चिंतन और स्त्री-विमर्श
दीर्घकालीन उपक्रम से उपजी है। बद्रीनाराय
सीमाएँ उनके चिंतन में हैं जो यत्र-तत्र कविता
प्रतिफलित होती हैं। पूरी दिल्ली अभी पतन के
में नहीं डूबी है, वहाँ भी कई बद्रीनारायण हैं।

चर्चित कविता-संग्रह :

शब्दपदीयम : बद्रीनारायण; वाणी प्रकाशन,
दिल्ली; 2004; 150 रुपए

राजाराम भादू के समीक्षात्मक लेख प्रकाशित। संपर्क : 43, हिम्मत नगर, टोंक रोड, जयपुर 302 018

रोहिणी अग्रवाल

नौ दिन चले अढ़ाई कोस

सृष्टि की सतरंगी झिलमिलाहट और मानवीय मनोभावों की निस्सीमता में लिपटी हर रचना अपनी निखूट मौलिकता के बीचोंबीच विशद साहित्यिक विरासत से जुड़कर कभी किसी एक श्रेणी विशेष का हिस्सा बनती है तो कभी परत-दर-परत ढेरों आवृत्तियों का मोहक संजाल। लेकिन इस कमबख़्त स्मृतियों का क्या करें कि श्रेणीबद्धता और आवृत्तिपरकता को बींध-बाँधकर वह हमशक्ल घटनाओं—पात्रों सहित पूर्ववर्ती रचनाओं के नाम ताबड़तोड़ उगलने लगती है। न, यह रचनागत दुर्बलता नहीं, देशकालातीत मान
समस्याओं की सनातनता और साम्यता को रेखां
करते हुए इस प्रश्न को अधिक नुकीला बनाना है
तमाम सांस्कृतिक-तकनीकी प्रगति के बावजूद
भी मनुष्य अपने ही सिरजे भँवर-जाल में मंत्रमुग्ध
क्यों खड़ा है—डूबने की आशंका में भयातुर
डूबने के स्वाद में सम्मोहित? निर्मला भुराड़िया
उपन्यास *ऑब्जेक्शन मी लार्ड* ऐसे किन्हीं दार्शनि
प्रश्नों को नहीं उठाता, अपनी इकहरी सरलता
''सदियों'' की आँख से देखी गई स्त्री जगत्

सच्चाइयों को उतने ही लिजलिजे और बेचारे अंदाज़ में बयान करता है।

अलबत्ता जहाँ कहीं लेखिका में आधुनिकता और जागरूकता का उफान उठता है तो स्त्रियों के स्त्रीजनित पोशीदा राज प्रश्न बनकर उघड़ते चलते हैं—समस्या या समझ के किसी नए कोण के साथ नहीं, बंद मारवाड़ी समाज की उन खुली खिड़कियों से दीख-दीख पड़ती मुट्ठी भर विकृत सच्चाइयों के साथ जो प्रभा खेतान ने *छिन्नमस्ता* में पहली ही कह दी हैं। मसलन रजस्वला होने पर ''छूत'' के विचार से नए क़िस्म की मानसिक-शारीरिक यंत्रणा जीती किशोरी को तीन दिनों के लिए बहिष्कृत कर दिया जाना और इस प्रकार उसकी सर्वाधिक गोपनीयता को सर्वाधिक सार्वजनिक बना दिया जाना। क्या इसलिए कि अब वह पुरुष के भोग और प्रजनन हेतु तैयार है और स्त्रीत्व के उस मुक़ाम पर पहुँच चुकी है जो पुरुष को पिता और सृष्टि की सतत अनवरता का संवाहक बनाता है? *छिन्नमस्ता* की तरह यहाँ भी पारिवारिक सदस्यों द्वारा अबोध बालिकाओं के यौन शोषण की कुत्सित चेष्टाएँ हैं और उन्हें ढाँपने की स्त्री सदस्याओं द्वारा मर्यादा-स्त्री सजगताएँ भी। उपन्यास इस दृष्टि से किंचित् भिन्न है कि जहाँ *छिन्नमस्ता* यौन शोषण की शिकार प्रिया की पीड़ा और संघर्ष की दास्तान रचता है, वहीं निर्मला भुराड़िया विधवा यमुना को पहले ही पायदान पर इतना सजग और चौकन्ना बना देती हैं कि रात के अँधेरे में होने वाली दस्तकों-फुसफुसाहटों का मुखर प्रतिकार कर अपने लिए संयुक्त परिवार की ''पत्थर'' की हवेली में सुरक्षित स्थान ढूँढ़ने का बावेला मचा सके। सुरक्षा नहीं तो शोषण के नाम पर अनाम शहीद होने का चाव भी नहीं। इसलिए प्रतिशोधस्वरूप बेटी को वहीं छोड़ स्वयं पिता के घर जाकर अपने सतीत्व को सुरक्षित रखना उसे ज़रा भी अनुचित नहीं जान पड़ता। सतीत्व-स्त्रीत्व की सुरक्षा पिछड़ी संकीर्ण मानसिकता की परिचायक भले ही हो, किंतु संस्कारों एवं उत्तर आधुनिक देहवादी उच्छृंखल संकल्पनाओं के द्वंद्व के बावजूद स्त्रीत्व की सुरक्षा ही सर्वप्रथम स्त्री को अपनी पुख़्ता अस्मिता का अहसास देती है और तदुपरांत अपने को प्रमाणित करने का सार्थकता बोध जिसके लिए पूरी दुनिया की विरूपताओं से लोहा लेना आसान हो जाता है। *ऑब्जेक्शन मी लार्ड* हालाँकि यमुना की कहानी नहीं है, वह है उसकी बेटी माधवी की कहानी, लेकिन फोकस बदलकर यदि उसे केंद्र में रखा जाए तो वह पूर्ववर्ती अनुगूँजों और आवृत्तियों के आक्रांत कर देने वाले प्रभावों से बचकर अपनी तरह का नया स्वर बन जाती है।

निर्मला भुराड़िया की समस्या है कि उनके पास कहने को बहुत-सी अंतर्कथाएँ हैं; गढ़ने को बहुत से पात्र और उघाड़ने को ढेरों राज। साथ ही एक सीमा भी है—पुस्तक के आकार को संतुलित रखने की जो पाठकों के धैर्य की परीक्षा भी न ले। इसलिए माधवी की विशिष्टता को चचेरी बहन अपर्णा की अति-सामान्यता के साथ तौलते हुए वे अनेक प्रकरणों/लेखकीय जजमेंट की सहायता से स्पष्ट कर देती हैं कि ''अपर्णा भीड़ देखकर पलट जाना पसंद करती थी और माधवी भीड़ में घुसकर यह जानना कि क्या हो रहा है'' (पृ. 91), लेकिन समाज के उस शास्त्र या मनोविज्ञान पर उँगली नहीं रख पातीं जो किसी भी अबोध लड़की को माधवी या अपर्णा बनने को मजबूर करता है। वे विद्रोहिणी माधवी के साथ हवेली की चौहद्दी से बाहर दालमंडी और ग्वाड़ी में घूमकर वेश्यापुत्री ख़ुशबू और व्यसनी मदन की पुत्री प्रेमा के साथ अंतरंगता भी स्थापित करती हैं ताकि बाद में उन्हें हत्या के अपराध में सज़ा भुगतते और उद्धारक के रूप में माधवी के क़द-बूते को बढ़ाने के गौरव को गाया जा सके, लेकिन रुककर उस संजीदगी के साथ वेश्या समस्या पर विचार नहीं करतीं जिसे (भले ही तथ्यों के सहारे रिपोर्ताज शैली में) मधु कांकरिया ''सलाम आख़िरी'' में गहरी संवेदना एवं सूक्ष्मता के साथ प्रामाणिक दस्तावेज़ बना सकी हैं।

वे ''उसी कुएँ में गोल-गोल घूमती हुई अपने पुराने आचरण पर लौट आने के अलावा औरतें कर भी क्या सकती हैं'' जैसे प्रश्नों में निहित निस्सहायता के समर्थन में बाल विधवा मीठी बुआ और नपुंसक

पति की तिरस्कृता पत्नी सरोज की जड़ सनकी ज़िंदगी का मार्मिक चित्रण तो करती हैं किंतु दादी द्वारा मख़मल की पोटली में सहेजकर रखे ''पट्टे के मोटे खुरदरे टुकड़े'' के प्रति अनुराग को उनकी चेतना और चिंतन का केंद्रबिंदु नहीं बना पातीं जो कक्षा चार में प्रथम आने पर बतौर इनाम उन्हें मिला था। पुरातनपंथी संकीर्णमना निरंकुश दादी के भीतर जीती स्त्री की मानसिक गहराइयों के भीतरतम में भी अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने वाली एक अस्मिता जी रही है—इस सत्य को पकड़कर लेखिका हर स्त्री मानस के साथ नत्थी कर सकतीं तो शायद टुकड़ों-टुकड़ों में खंडित स्त्री-इतिहास को एक सूत्र में भी पिरो पातीं। एक सी पीर और हौंस में जलती स्त्री शून्य के उसी बिंदु पर क्यों मिट जाती है—यह जानने के लिए जिस गहन वैचारिक बोध और प्रखर अंतर्दृष्टि की ज़रूरत होती है, वह संभवतः लेखिका के पास नहीं या शायद समयाभाव है जिसके चलते उन्हें सोम शर्मा और डॉ. कुमार जैसे कुटिल-खल-कामी प्रेमी और पति से मोहभंग के बाद माधवी को प्रेम-व्रेम की फ़िज़ूलख़र्ची से उबारकर अपना रास्ता तलाशने की मुहिम पर ले आना है। लेकिन रास्ता तलाशने की ज़रूरत माधवी को नहीं। वह रिपोर्टर है और कन्या भ्रूण हत्या के आँकड़ों से लेकर आदिवासी क्षेत्रों में जागरूक स्त्रियों को ''डायन'' घोषित कर मरवाने की रपटें और जेलों में स्त्री क़ैदियों के साथ होती दोहरी नाइंसाफ़ी की दास्तानें सब उसके पास हैं। यानी रिपोर्टिंग के बहाने अवसर उसके पैरों तले बिछने को तैयार है। इसलिए अनायास प्रदेश की राजधानी में ''मुक्ति पुरस्कार'' कवर करने की बीट माधवी के पास और वहाँ यमुना देवी (यहाँ फिर छुन्ना याद आ गई—कृष्णा सोबती के उपन्यास *दिलोदानिश* की आत्माभिमानी स्वावलंबी बाल विधवा) को समाजसेवा के लिए पुरस्कार। अब माँ ''चेतना का उजाला'' है तो माधवी का औदात्य इस या उस पुरुष के संग प्रेम की आँखमिचौली खेलने में तो टिक नहीं सकता। इसलिए ''एक दिव्य और दृढ़ हस्ती की संतान माधवी ने उस क्षण में उस स्त्री से बस दिव्यता की वह लौ और दृढ़ता ग्रहण कर ली थी'' (पृ. 276) और परिणाम! माधवी वसीयतनामे के मुताबिक़ मिली आधी पुश्तैनी हवे में अनाथ बच्चों का ''कोज़ी होम'' खोलना सोमानी परिवार की ट्रस्ट से साधिकार अपना हिस् माँगते हुए उसमें लगाना। ''प्यार माँगने के बजा उसे प्यार बाँटना चाहिए था। उन पात्रों के बीच कर जिन्हें उसकी ज़रूरत है'' (पृ. 286)—दुनिया रंग-ढंग आजमाने और भरपूर आत्ममंथन के लिया गया फ़ैसला। लेकिन नहीं, अब मैं मृदुला के *कठगुलाब* के गोधड़ आदिवासी क्षेत्र स्मिता-असीमा के सकारात्मक प्रयोग का ज़िक्र न करूँगी। स्मृतियाँ तो नाचती रहेंगी न! नियंत्रित किया तो बतर्ज ''कठगुलाब'' अपने स्व का विस्ता कर गद्गद् होती माधवी की व्याख्यानपरक आत्मप्रशं (पृ. 296) और पाश्चात्य रंगमंच की अंतिम अवस् ''अवसान'' के उपलक्ष्य में बरसों की बिछुड़ माँ-बेटी (यमुना-माधवी) की भावाकुल भेंट की चर्चा भी करनी पड़ेगी, यह बताने के साथ कि मां ने सार्थक काम करने पर ही बेटी से मिलने का संकल्प लिया था। लेकिन मैं हूँ कि इसी एक सवाल पर अड़ियल टट्टू की तरह अटकी कि स्त्री मुक्ति हेतु उसके जीवन में आने वाले हर पुरुष का खलनायक होना ज़रूरी क्यों है? क्या तथाकथि स्त्री विमर्श अपर्णा जैसी सुखी-सुरक्षित ज़िंदगी जी सकने वाली अ-सौभाग्यवती स्त्रियों की आह-डा भरी राह है? स्त्री विमर्श स्त्री के लिए एक विकल्पहीन अवस्था और पुरुष के लिए एक विस्फोटक मुद्रा के रूप में ही क्यों उपस्थित होता रहता है बार-बार? क्यों नहीं विमर्श के चालू-रूढ़ अर्थों को चुनौती और तिलांजलि देकर इसे ''बहस की जीवंतता'' के सटीक पर्याय रूप में घोषित कर एक जीवंत सामाजिक मुद्दा बनाया जाता जिसमें परिवार, समाज और स्वयं इकाई के रूप में मनुष्य मात्र की अस्मिता और निजता की रक्षा के लिए दोनों पक्षों की बराबर की पूर्वग्रहमुक्त संवेदनशील भागीदारी अपेक्षित है?

ऑब्जेक्शन मी लार्ड अदालत के परिसर में घटने वाला उपन्यास नहीं, एक प्रतिवादी की तरह मानव-जीवन की विकृतियों पर अपनी आपत्तियाँ

दर्ज करने की लेखकीय चेष्टा है। इस प्रक्रिया में उपन्यास का दूसरा अहम पक्ष है अख़बारों की भ्रष्ट-खोखली अंतर्व्यवस्था जहाँ कृष्णकांत जैसे समर्पित पत्रकारों को अपदस्थ कर उद्योगपति जालान परिवार अख़बार को फ़ैमिली एलबम ही नहीं, अपना अखंड साम्राज्य भी घोषित कर डालता है; जहाँ “विचार का क्या अचार डालें” कहकर ग्लैमर के बिकाऊ रंग में अख़बार की नीरसता को भड़कीली रंगीनियों में डुबो दिया जाता है और जहाँ ख़बर और उसके पीछे का अभिशाप ढोती अपरूपताओं को बिसारकर “रेवेन्यू जेनरेट” करना नए युग की पत्रकारिता का एकमात्र अभीष्ट बन जाता है। निस्संदेह उपन्यास तथ्यों से भरा है और घटनाएँ रोचकता से। ज़ाहिर है कि आकस्मिकताओं के बावजूद विश्वसनीयता तो है ही। किंतु समझ नहीं आता कि क्यों “भूमिका” में लेखिका उपन्यास में चित्रित अख़बारी दुनिया को उस अख़बार से पूरी तरह भिन्न घोषित करती हैं जहाँ अब वे स्वयं कार्यरत हैं और उस मारवाड़ी परिवार और माधवी को अपने से पृथक् जो अंदरूनी विशिष्टताओं के यथोचित वर्णन के अभाव में इतना सामान्य हो गया है कि “छिन्नमस्ता” और “पीली आँधी” की तरह ठेठ मारवाड़ी परिवार का बिंब उभार ही नहीं पाता? अलबत्ता उपन्यास के कुल प्रभाव के बारे में अपनी ओर से टिप्पणी करने की अपेक्षा पुस्तक के ब्लर्ब को उद्धृत करना बेहतर होगा कि “इस क़िस्से को कहने की बाबत लेखिका के पास इतनी सामग्री, इतने डिटेल्स हैं कि वह ठहरकर चरित्र चित्रण नहीं कर सकतीं। अवचेतन के फ़्लड गेट्स खुलने पर जो महाप्रवाह चल निकला, उसमें पात्र जैसे भी समाएँ, आख्यान तो बढ़ता जाएगा।” यहाँ फिर एक प्रश्न कि जानकारियों के विस्तार में रचना के प्राण निहित हैं या उनका सतर्क संपादन करते हुए पूरा युग-फलक न सही, उसके अल्पांश को तटस्थ समग्रता के साथ प्रस्तुत करना? ज़रूरी नहीं कि रोचकता हर बार हर रचना की शक्ति बने। घनीभूत अवसाद, रगों को तोड़कर उफनता क्रोध या हत्वाक् रह जाने का स्थिर मौन पल रचना को अविस्मरणीय बना सकता है, बशर्ते उसमें समूचा युग-सत्य तथ्यों-सूचनाओं की शुष्कता के साथ किसी एक पात्र की जीवंतता में ढलकर आया हो और वह पात्र अपनी वैयक्तिक विशिष्टताओं के साथ-साथ इतना “अपना” और सामान्य हो जाए कि एकमात्र मानवीय मूल्यों की पूँजी के साथ अकेला विकट-बीहड़ डगर पर चल निकले। पाठक तो उसका बग़लगीर हो हमसफ़र बनना ही चाहता है न। पर ऐसे सफ़र का नहीं जहाँ मुड़-मुड़कर चलने या ठिठकने-भटकने की अनवरत प्रक्रिया के बीच नौ दिन में अढ़ाई कोस ही चला जाए।

चर्चित पुस्तक :

ऑब्जेक्शन मी लार्ड : निर्मला भुराड़िया; सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली; 2004; 300 रुपए

रोहिणी अग्रवाल के आलोचनात्मक निबंध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 258, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, रोहतक 124001 (हरियाणा)

वेद प्रकाश

कथाविहीन कथा कहने का कौशल

गंगाप्रसाद विमल कवि, उपन्यासकार, कहानी-लेखक और आलोचक हैं; अनुवादक भी। उनके लेखन का आरंभ हिंदी साहित्य के उस दौर में हुआ जो सबसे अधिक ''बड़बोलेपन'' का दौर था। कुछ लोगों का लिखा लोकप्रिय न होकर भी ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त कर लेता है। विमल जी का संबंध अकहानी और अकविता दोनों से है। नई कविता और नई कहानी की संवेदना में जितना अंतर था उतना अकविता और अकहानी में नहीं था। इस अंतर को समाप्त करने में विमल जी का योगदान महत्त्वपूर्ण था। अकहानी को तो उन्हें नामकरणकर्ता या प्रवर्तक कहना चाहिए। उनका लेख ''कहानी बनाम अकहानी'' *क ख ग* पत्रिका में जुलाई 1964 में प्रकाशित हुआ। इस लेख में ''अकहानी'' संज्ञा का संभवतः पहली बार प्रयोग हुआ। ''अकविता'' नाम की प्रेरणा भी उसी से मिली होगी। डॉ. नामवर सिंह ने गंगाप्रसाद विमल को ''किसी ज़माने के महत्त्वपूर्ण अकहानीकार'' कहा है। कभी-कभी प्रखरता और आक्रामकता में प्रवर्तक पीछे पड़ जाते हैं और अनुकरणकर्ता आगे निकल जाते हैं।

अतीत का सब में गंगाप्रसाद विमल की सत्तावन कहानियाँ हैं। इसे उनकी समग्र कहानियों का संकलन कहा गया है लेकिन पता नहीं क्यों उनकी अनेक प्रकाशित कहानियाँ इसमें शामिल नहीं की गई हैं। यहाँ ''अतीत'' से अनेक आशय हो सकते हैं। लेखक कहानियों का विषय अतीत (स्मृति) से उठाता है, इस संग्रह में ऐतिहासिक (अकहानी) दौर की कहानियाँ भी हैं। और कहीं यह उम्मीद भी है कि यह सब अतीत का है जिसे लेखक वर्तमान में लिख रहा है या भविष्य में लिखेगा—वह अभी आना शेष है। यह नहीं मान लेना चाहिए कि एक लेखक की समग्र कहानियाँ आ जाएँ तो वह लिखना बंद कर देगा।

विसंगतियाँ प्रत्येक युग में होती हैं और उनका सामना हरेक पीढ़ी अपने ढंग से करती है। विमल उस पीढ़ी के रचनाकार हैं जो स्वातंत्र्योत्तर भारत में उपजी विसंगतियों-विडंबनाओं के संत्रास को झेलने वाली पहली पीढ़ी थी। मोहभंग का चरम रूप मोहहीनता ही उसके लिए रचनात्मक मूल्य बना। साहित्य के क्षेत्र में वह पीढ़ी सर्वाधिक ''कुख्यात'' हुई। परंपरागत जीवन-मूल्यों और उससे उपजे साहित्य के प्रति अस्वीकार या निषेध का तीव्र आग्रह उस पीढ़ी में था। अकहानी और अकविता की प्रवृत्तियों को उनकी सीमा माना गया। *अतीत का सब* की अनेक कहानियों—''प्रेत'', ''अभिशाप'', ''विध्वंस'', ''आत्महत्या'', ''बच्चा'', ''प्रिज़्म'', ''प्रदर्शन'' आदि में ये प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं। अतीत-विरोध, मृत्यु तथा शवों का वर्णन, भयावह फैंटेसी, अस्तित्ववादी मनोवृत्ति, सर्वनिषेध, फ्रायडीय मनोविश्लेषणवाद को इन कहानियों में देखा जा सकता है। कहानी के प्रचलित तत्त्व—घटनाएँ, चरित्रों के मनोभावों के अनुसार उनकी बाहरी हरकतें और रूपाकार, नाटकीयता, भाषा का रोमानी आचरण और उनकी एकान्विति का इनमें कोई महत्त्व नहीं है, न ही कहनपन या कथा रस का। नई कहानी के अंतर्गत मोहभंग की कहानियाँ लिखी गईं लेकिन व्यक्ति विशेष और घटना विशेष का चित्रण सुरक्षित रहा। विमल की कहानियों में मोहभंग की कहानियों के प्रति मोहभंग है। ''होने से पहले'' कहानी में वाचक कहता है, ''आप जानते हैं, घटनाओं में मेरी दिलचस्पी नहीं है।'' ''मेरी कथायात्रा'' में विमल लिखते हैं, ''मेरे लिए व्यक्ति उतने महत्त्वपूर्ण नहीं रहे। महत्त्वपूर्ण हो गया एक चेहराविहीन समाज। यही कारण है कि अकसर भीड़ और तमाशबीनी के

बिंबों के बीच मैंने अपनी कथा का तालमेल बिठाया है।" नई कविता में जनता को भीड़ की संज्ञा अनेक अभिजात कवियों ने दी। अकविता में आभिजात्य तो नहीं था लेकिन विषय के रूप में भीड़ का विसंगत और विरूप संसार बिखरा हुआ था। भीड़ के प्रति तटस्थतापूर्ण वक्तव्य देने में अकवि और अकहानीकार समान हैं। विमल के लिए वाचक के अतिरिक्त भीड़ ही दूसरा चरित्र है, "दूसरा चरित्र वह भीड़ है, जिसे प्रतिदिन आप शहरों में देखते हैं।" "सन्नाटा" कहानी में भीड़ का एक बिंब देखिए, "गुपचुप सिर झुकाए वे लोग चले जा रहे थे। उनके चेहरे दीखने मुश्किल थे। कुछ अँधेरा बढ़ रहा था और कुछ बस के शीशों पर तेल-सी चिपचिपी मैल थी। उन नरमुंडों के चेहरे कुछ अपनी ही छायाओं से ढक गए थे।" यदि कुछ कहानियों को छोड़ दें तो इस संकलन की सभी कहानियों में "भीड़" के अतिरिक्त वाचक और उसके विचार पढ़ने को मिलते हैं। वाचक भी कहीं पात्र के रूप में है, कहीं लेखक का ही पर्याय है। "आमने सामने" कहानी में इसका संकेत है, अनगढ़ कथानक का भी, "आप भी कहेंगे यह लेखक कहाँ से कौन-सी कौड़ी खोज लाता है? न कोई सिलसिला, न आदि, न अंत। तो मैं कहूँगा, बस यही तीन कौड़ियाँ हैं। न सिलसिला, न आदि और अंत।" सष्ट है कि ये कहानियाँ विशिष्ट से सामान्य की यात्रा करने वाली कहानियाँ नहीं हैं।

उल्लेखनीय है कि विमल की कहानियाँ, अकहानी के ढाँचे को तोड़ती हैं, उससे बाहर भी निकलती हैं। उनके द्वारा लिखी गई अकहानियाँ भी कुछ कारणों से विशिष्ट हैं। एक तो यह कि इनमें अकहानीवादी मनोवृत्ति के परिस्थितिगत और मनोवैज्ञानिक कारण चित्रित हैं। "आमने-सामने" कहानी इसका एक उदाहरण है। ये "निरंतर प्रताड़ित करने वाली हताशाओं-पराजयों से निपटने का साधन" और "स्थितियों के विरूप से निर्मित नियति के प्रति आक्रोश से भरी हैं।" दूसरा, उस समय के लेखकों पर राजनैतिक-सामाजिक समस्याओं की उपेक्षा करने वाले व्यक्तिवादी और "सेक्स ऑबसेस्ड" होने का आरोप लगाया जाता है। विमल की कहानियाँ इन आरोपों से दूर हैं। इसके अतिरिक्त उनकी कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें वे अकहानी से कहानी की ओर जाते हैं। वे अपने सैद्धांतिक वक्तव्यों में भावुकता, प्रेम, व्यक्ति-पात्रों आदि के चाहे जितने विरोधी लगें, "यूकेलिप्टस", "इंता-फिंता", "अतीत में कुछ", "नुक्कड़ नाटक", "चरित्र" जैसी कहानियों में ये सारी विशेषताएँ मिलती हैं। इनमें रागपूर्ण पारिवारिक संबंध हैं, प्रकृति है और संवेदनशीलता के विभिन्न रूप भी। "यात्रा" कहानी का गाँव तो स्वप्न लोक का आदर्श गाँव लगता है। इतना ज़रूर है कि इन कहानियों का शिल्प इनकी संवेदना का साथ देता नज़र नहीं आता। "इंता फिंता" अपने ढंग की उल्लेखनीय कहानी है जिसमें दो जीवन-मूल्यों वाली समानांतर व्यवस्थाओं, उनकी टक्कर और एक के स्मृति शेष होने की पीड़ा है। इसका मार्मिक अंत देखिए, "कहाँ छूट गई वह बस्ती—मैं पीछे मुड़ा, जिस तरफ़ से मैं आया था—पर वहाँ कोई पुलिया नहीं थी। कोई पीपल का पेड़ नहीं था। मैं पीछे की तरफ़ मुड़ा तो था ही—मैंने बस्ती के उन सबूतों को देखने की मन-ही-मन ठानी और बस्ती की तरफ़ चलना शुरू किया।...मैं उस दीवाल के किनारे-किनारे कितनी ही दूर दौड़ा—पर मुझे बस्ती की पुलिया और पीपल का पेड़ नहीं दिखाई दिया।"

विमल की कहानियों में भ्रष्टाचारी धनिकों, नेताओं और सफल लोगों के प्रति घृणा का भाव है। ऐसी कहानियों में वे विध्वंस, आक्रोश और नकारात्मकता का सकारात्मक उपयोग कर लेते हैं। कहीं-कहीं आत्मभर्त्सना का स्वर भी है। ज्ञानरंजन की कहानी "अनुभव" में पाए जाने वाले एक प्रसंग की तरह का यह उद्धरण देखिए, "...और मैं अपनी बंद आँखों से ही देखता हूँ कि कितने ही लोग हैं धरती पर जिनकी आँखें यों तो खुली हैं पर कितनी ही चीज़ों से उन्होंने वे बंद रखी हुई हैं। उन्हें ग़रीबी, भुखमरी, बेरोज़गारी, अभाव, अशिक्षा, रोग, भीख माँगते लोग, बूढ़े, अपाहिज...दीखते ही नहीं हैं।" ज़ाहिर है कि "भीड़" के प्रति विमल का दृष्टिकोण भिन्न है। विसंगतियों में पिसते, स्थितियों के सामने

मूक भाव से समर्पित, हताश-निराश, किसी चमत्कार की प्रतीक्षा करते हुए लोगों से बनी यह भीड़ लेखक की विरक्ति या घृणा की नहीं सहानुभूति की पात्र है। इन कहानियों में जो पागल या विदूषक लगने वाले पात्र आते हैं वे भी ठोस जीवन-स्थितियों की उपज हैं। ''आत्महत्या'' कहानी में आत्मघात का प्रयास करने वाला व्यक्ति, ''चरित्र'' के दयाल बाबू, ''आमने-सामने'' का ''वह'' ऐसे ही पात्र हैं।

अतीत का सब में समस्याओं का वर्णन बोध के स्तर पर हुआ है अर्थात् संकलित कहानियों में ''वास्तविकता का नंगे बदन स्पर्श'' तो है लेकिन वह सूचना के रूप में ही है, भाव में रूपांतरित नहीं हो पाया है। शायद इसीलिए ये कहानियाँ पाठकों को झकझोरती नहीं स्थितियों से अवगत मात्र कराती हैं। वाचक और लेखक जगह-जगह अभाव, अशिक्षा बेरोज़गारी, निम्नवर्ग की दशा, पाखंड आदि पर तटस्थ रूप से वक्तव्य देता है। इस बोध का अपना महत्त्व है लेकिन साहित्य और कहानी की भी अपनी एक सापेक्ष स्वायत्तता होती है, उसकी एक सर्जन-प्रक्रिया भी होती है। वह केवल विषयवस्तु नहीं है। लेकिन यह माँग एक ''परंपरागत पाठक'' की दृष्टि से की जा रही है। इन कहानियों को लिखने वाले लेखक के लिए शायद इसका कोई मूल्य नहीं है। भाव तत्त्व उसके लिए भावुकता या रोमान का पर्याय है जिसे वह नकारता है। पठनीयता को क्षति पहुँचाने वाले इस शिल्प को भी लेखक ने सं सजग रूप से चुना है। कहानी के मान्य तत्वे अस्वीकार और प्रयोगधर्मिता के अत्यधिक आग्र कारण ये कहानियाँ अमूर्त चिंतन की ओर जाती हैं। स्पष्ट है कि शिल्प के स्तर प अकहानियों से अलग नहीं हैं। पुस्तक की भूमि संकलित कहानियों और अंत में एक टिप्प ''कहानियों के रफ़ नोट्स'' को पढ़ें तो पाएँ इनमें कहीं कोई भिन्नता नहीं है। कहानियाँ मनोजगत का चिंतन या टिप्पणियाँ लगती हैं। तरह के शिल्प के समर्थन में भी एक तर्क तो दि ही जा सकता है। वह यह कि ऐसा शिल्प ठंडे पारिवारिक संबंधों, ऊब, निराशा, अकेले नियतिबद्धता की संगति में ही है। जगह-ज भाषा-प्रयोग की असावधानियाँ और अनुवाद की भाषा भी इसी ऊब का परिणाम है? लेखक ने स इसे ''कथाविहीन कथा कहने का कौशल'' कहा लेकिन ऐसी कहानियों को ठीक ही ''अपठ आलेख'' कहा गया था। इस संकलन को पढ़ते हु यह लगता है कि विमल जी आदर्श कहानी खोज में हैं जिसे वे अभी तक लिख नहीं पाए हैं

चर्चित कहानी-संग्रह :

अतीत का सब : गंगाप्रसाद विमल; वाणी प्रकाश नई दिल्ली; 2004; 600 रुपए

वेद प्रकाश के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सि अलीगढ़

वर्ष के अन्य प्रकाशन

कविता

डॉ. आनंद वशिष्ठ : **जीवन-मृत्यु के बीच मैं और तुम**; मगध प्रकाशन, ई-385-सी, सपना घर, प्रताप विहार, ग़ाज़ियाबाद 201009; 2004; 80 रुपए

अक्षय गोजा : **विष में अमृत**; सुकीर्ति प्रकाशन, डी.सी. निवास के सामने, करनाल रोड, कैथल 136027; 2004; 80 रुपए

अक्षय गोजा : **सदियों का सपना**; सुरेन्द्र कुमार एंड संस, 30/21-ए-22ए, गली नं. 9, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली; 2004; 100 रुपए

अमृता प्रीतम : **ख़ामोशी से पहले**; हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा.लि., जे-40, ज़ोरबाग़ लेन, नई दिल्ली; 2004; 60 रुपए

अरुण कुमार नागपाल : **आओ बन जाएँ**; दीपशिखा प्रकाशन, नगरोटा बगवाँ, काँगड़ा; 2004; 125 रुपए

बालेश्वर सिंह : **इस मुक़ाम पर**; प्रकाशन संस्थान, 4715/21, दयानंद मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली; 2004; 100 रुपए

भगवान स्वरूप कटियार : **हवा का रुख़ टेढ़ा है**; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; 2004; 100 रुपए

भागवत प्रसाद मिश्र 'नियाज़' : **जननी जन्मभूमिश्च**; हिन्दी साहित्य परिषद्, अहमदाबाद; 2004; 150 रुपए

भागवत प्रसाद मिश्र 'नियाज़' : **ख़ामोशी**; एफ़.एफ़.-4/बी ब्लॉक, सन पॉवर फ़्लैट्स, गुरुकुल रोड, अहमदाबाद; 2004; 100 रुपए

धनराज वंजारी : **बेज़ुबाँ तर्ज़**; आकार पब्लिकेशंस, 233, लक्ष्मी प्लाजा, न्यू लिंक रोड, अँधेरी (पश्चिम), मुंबई; 2004; 150 रुपए

गोपाल प्रसाद : **संसदीय अधिनायक**; रेखोदय प्रकाशन, 13/47, लीचू बगान, कांकिनारा 743126; उत्तर 24 परगना, पश्चिम बंगाल; 2004; 20 रुपए

जयंत पाठक : **द्रुत विलंबित**; गुजराती से अनु. वर्षा दास; साहित्य संकुल, सूरत; 2004; 70 रुपए

कुहेली भट्टाचार्य : **मैं समय हूँ**; आरती प्रकाशन, 12/3, श्याम पुरी, खतौली 251201; 2004; 110 रुपए

कौशल्या गुप्ता : **आलोक-स्पर्श**; प्रकाशन संस्कार, 18, चित्र विहार, दिल्ली 110092; 2004; 100 रुपए

मदनमोहन तरुण : **मैं जगत की नवल गीता-दृष्टि**; तारुण्यम, 7-8, लक्ष्मण अपार्टमेंट्स, मुकई नगर; सिंहगढ़ रोड, खड़गवासला, पुणे, 2004; 100 रुपए

मख़्दूम मोहिउद्दीन : **सरमाया**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 250 रुपए

मूलचंद्र पाठक (अनुवादक) : **कालिदास—रघुवंश महाकाव्य**; ज्ञानगंगा, 205-सी, चावड़ी बाज़ार, दिल्ली 110006, 2004; 300 रुपए

डॉ. निर्मला ऐमा : **धरा के लिए** (हाइकू); क्षीरभवानी प्रकाशन, जम्मू; 2004; 100 रुपए

श्रीमती पुष्पलता : **मन का चाँद**; कुसुम प्रकाशन, नवेंदु सदन, आदर्श कॉलोनी, मुज़फ़्फ़नगर 251001, उत्तर प्रदेश; 2004; 100 रुपए

प्रभात पांडेय : **सपनों का बाज़ार**; प्रतिध्वनि 2002, 31, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट, कोलकाता 700007; 2004; 100 रुपए

रजनीकांत जोशी : **किश्ती के रिश्ते**; अमृता प्रकाशन, सी-5, 'ओजस' नेहरू नगर, चार
अहमदाबाद 380015; 2004; 80 रुपए

रामकृष्ण पांडेय : **इंतिफादा**; परिकल्पना प्रकाशन, डी-68, निराला नगर, लखनऊ 226020; 2004;
रुपए

रमेशचंद्र शाह : **अनागरिक**; वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर; 2004; 100 रुपए

रमेश मेहता : **कालबोध**; पवन प्रकाशन, ई-98, भागीरथी विहार, गोकुलपुरी, दिल्ली 110094;
100 रुपए

रमेश पांडेय : **काग़ज़ की ज़मीन पर**; अनामिका प्रकाशन, 52, तुलाराम बाग़, इलाहाबाद; 2004; 150

शीला गुजराल : **धरती का आर्तनाद**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 70 रुपए

योगेन्द्र बख्शी : **आँसूनामा सतसई**; चेतना प्रकाशन, पंजाबी भवन, लुधियाना; 2004; 100 रुपए

कुंतल कुमार जैन : **जहाँ मुनाफ़ा सब कुछ हुज़ूर!**; सन्मति प्रकाशन, नरेन्द्र सदन, चार माला, 36-
मुगभाट, क्रॉस लेन, ठाकुर द्वार, मुंबई 400004; 2004; 300 रुपए

नचिकेता : **मकर चाँदनी का उजास**; अमिधा प्रकाशन, रामदयालु नगर, मुज़फ़्फ़रपुर 842002; 2004;
रुपए

सतीश कौशिक : **हलफ़नामे सुबह के**; नमन प्रकाशन, 4378/4-बी, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दि
2004; 95 रुपए

वीरेन्द्र कुमार : **कसवा में है तितली की दिनचर्या**; प्रकाशन संस्थान, 4715/20, दयानंद मार्ग, दरिया
नई दिल्ली; 2003; 60 रुपए

विनय दुबे : **फ़िलहाल यह आसपास**; मेधा बुक्स, दिल्ली; 2004; 100 रुपए

कहानी

अशोक मिश्र : **सपनों की उम्र**; पारुल प्रकाशन, 889/58, त्रिनगर, दिल्ली; 2004; 120 रुपए

अंजु दुआ जैमिनी : **इस द्वार से उस द्वार**; मगध प्रकाशन, ई-385-सी, प्रताप विहार, ग़ाज़ियाबाद;
100 रुपए

बालकृष्ण : **संसार की सर्वश्रेष्ठ बाल कहानियाँ**; हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली; 2004; 50 रुपए

भरत प्रसाद : **और फिर एक दिन**; सुधा बुक मार्ट, 342, राम नगर, दिल्ली 110051; 2004; 100

चित्रा मुद्‌गल : **बयान**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 70 रुपए

दिनेश पाठक : **पारुल दी**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 120 रुपए

गोविन्द मिश्र : **मुझे बाहर निकालो**; राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; 2004; 150 रुपए

इंदिरा गोस्वामी : **लाल नदी**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 150 रुपए

ज़ेबा रशीद : **भीगे पल**; ए.आर. प्रकाशन, 151, चौपासनी चुंगी चौकी, जोधपुर 342009; 2004; 160

कैलाश बनवासी : **बाज़ार में रामधन**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 130 रुपए

लुईसे एवं आइलमर मौड : **तोलस्तोय की अनमोल कहानियाँ**; अनु. डॉ. एच.एन. राय; अमिधा प्रका
1/6828, प्रताप गली, ईस्ट रोहतास नगर, शाहदरा, दिल्ली; 2004; 100

मधु काँकरिया : **बीतते हुए**; राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली; 2004; 195 रुपए

ममता कालिया : **निर्मोही**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 125 रुपए

मधुर कपिला : **तब शायद...**; शिलालेख, 4/32, सुभाष गली, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली;
150 रुपए

नवरंग जायसवाल : **तुम अपना बयान जारी रखो**; रचनाकार प्रकाशन, गुरुद्वारा मार्ग, पूर्णिया 854301; 2004; 150 रुपए

पद्मा सचदेव : **बू तैं राजी ?**; किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 85 रुपए

डॉ. रानु मुखर्जी : **अब के बिछड़े न मिलै**; कॉन्फ़्लुएंस इंटरनेशनल, 203/ई, 588, ग्रेटर कैलाश-2, नई दिल्ली 110048; 2004; 150 रुपए

रस्किन बॉण्ड : **जब अँधेरा होता है तथा अन्य कहानियाँ**; हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली; 2004; 50 रुपए

सुधा अरोड़ा : **काला शुक्रवार**; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली; 2004; 125 रुपए

सिद्धेश : **गंगु आज़ाद**; प्रतिध्वनि 2002, 31, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट, कोलकाता; 2004; 150 रुपए

सिद्धेश : **सफ़र बावजूद**; किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 140 रुपए

शरणकुमार लिम्बाले : **दलित ब्राह्मण**; अनु. निशिकांत ठकार; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 200 रुपए

श्याम सखा 'श्याम' : **अकथ**; सुंदर साहित्य सदन, 882, गली बेरी वाली, सीताराम बाज़ार, दिल्ली; 2004; 100 रुपए

उषा राजे सक्सेना : **वाकिंग पार्टनर**; राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; 2004; 150 रुपए

विजय : **वंशबेल**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 140 रुपए

उपन्यास

अभय मौर्य : **युग नायिका**; कॉन्फ़्लुएंस इंटरनेशनल, 203/ई, 588, ग्रेटर कैलाश-2, नई दिल्ली 110048; 2004; 300 रुपए

अलका सरावगी : **कोई बात नहीं**; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 195 रुपए

अरुंधती रॉय : **मामूली चीज़ों का देवता**; अनु. नीलाभ; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 295 रुपए

अरुण गद्रे : **वध स्तंभ**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 195 रुपए

आबिद सुरती : **मेरे पापा की शादी**; किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 275 रुपए

अमृतलाल मदान : **विराट बौना**; सुकीर्ति प्रकाशन, डी.सी. निवास के सामने, करनाल रोड, कैथल; 2004; 180 रुपए

भीमसेन त्यागी : **ज़मीन**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 240 रुपए

भगवती कुमार शर्मा : **समयद्वीप**; गुजराती से अनु. सविता गौड़; साहित्य संकुल, चौटा बाज़ार, सूरत 395003; 2004; 85 रुपए

चंद्रकांत बक्षी : **समकाल**; गुजराती से अनु. जेठमल; साहित्य संकुल, सूरत; 2004; 180 रुपए

चंद्रकिशोर जायसवाल : **माँ!**; रचनाकार प्रकाशन, पूर्णिया; 2004; 70 रुपए

हृषीकेश पंडा : **सुवर्णद्वीप**; अनु. राधाकांत मिश्र; राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; 2004; 150 रुपए

जोगिन्दर पाल : **पार परे**; उर्दू से अनु. विजय, कृष्णा पाल; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 90 रुपए

जया जादवानी : **कुछ न कुछ छूट जाता है**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 100 रुपए

कुसुम कुमार : **पूर्वी द्वार**; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 250 रुपए

कमलेश सिंह : **अंत:राग**; डॉ. (श्रीमती) कमलेश सिंह, बी-2/101, गोयल इंटरसिटी, टी.वी. टॉवर के सामने, ड्राइव-इन रोड, अहमदाबाद 380054; 2004; 90 रुपए

मोहम्मद अलीम : **जो अमाँ मिली तो कहाँ मिली**; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली; 2004; 125 रुपए

मोहित राय : **एक तयशुदा मौत**; अनु. रामकृष्ण पांडेय; परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ 226020; 2004; 25 रुपए

महाश्वेता देवी : **मर्डरर की माँ**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 200 रुपए

महाश्वेता देवी : **आंधारमानिक**; अनु. सुशील गुप्ता; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली; 2004; 395

ओल्गा : **स्वेच्छा**; नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली; 2004; 60 रुपए

प्रणव कुमार वंद्योपाध्याय : **अरण्यकाण्ड**; आर्य प्रकाशन मंडल, 9/221, सरस्वती भंडार, गांधी
दिल्ली 110031; 2004; 250 रुपए

रमेश दत्त दुबे : **टोला**; राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; 2004; 150 रुपए

रघुवीर चौधरी : **सोमतीर्थ**; राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; 2004; 295 रुपए

रवीन्द्र कालिया : **ए.बी.सी.डी.**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 125 रुपए

आर.के. पालीवाल : **अंग्रेज़ कोठी**; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 200 रुपए

सत्यजीत राय : **मौत का घर**; अनु. अलका कौशिक; हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली; 2004; 95

शैलेन्द्र सागर : **चलो दोस्त, सब ठीक है**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 150 रुपए

सलाम आज़ाद : **टूटा मठ**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 150 रुपए

जगदंबा प्रसाद दीक्षित : **इतिवृत्त**; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली; 2004; 150 रुपए

लक्ष्मण गायकवाड़ : **दुभंग**; अनु. प्रा. सुनंदा मग्गीरवार; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली; 2004; 150

महेरून्निसा परवेज़ : **पासंग**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 450 रुपए

नवनीता देवसेन : **वामा-बोधिनी**; **शीत साहसी हेमंत लोक**; अनु. सुशील गुप्ता; राजकमल प्रका
नई दिल्ली; 2004; प्रत्येक 125 रुपए

रांगेय राघव : **चीवर**; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली; 2004; 195 रुपए

सुशील कुमार : **महारथी कर्ण** (भाग-एक और भाग-दो); कल्याणी शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली; 20
प्रत्येक 400 रुपए

शिवशंकरी : **पोतपक्षी**; अनु. डॉ. कमला विश्वनाथन; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली; 2004; 125

सुचित्रा भट्टाचार्य : **अपने लोग**; अनु. सुशील गुप्ता; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली; 2004; 500

उदयभानु पांडेय : **बनानी**; हिन्दी बुक सेंटर, 4/5बी, आसफ़ अली रोड, नई दिल्ली; 2004; 195

विविध

अश्विनी कुमार दुबे : **कदंब का पेड़**; ज्ञान भारती, 4/14, रूप नगर, दिल्ली 110007; 2004; 115

अरुण भोले : **धर्मों की क़तार में**; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; 2004; 250 रुपए

चित्रा मुद्गल : **बयार उनकी मुट्ठी में**; कल्याणी शिक्षा परिषद्, 3320-21, जटवाड़ा, दरियागंज,
दिल्ली 110002; 2004; 150 रुपए

दयानंद वर्मा : **ब्रह्मज्ञान का यथार्थ**; माइंड एंड बॉडी रिसर्च सेंटर, डब्ल्यू. 21, ग्रेटर कैलाश पार्ट-1,
दिल्ली 110048; 2004; 95 रुपए

गिरीश पंकज : **मंत्री को ज़ुकाम**; ज्ञानभारती, दिल्ली; 2004; 150 रुपए

घनश्याम सक्सेना : **डॉ. मनमोहन सिंह : काँटों का ताज**; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; 20
160 रुपए

जाबिर हुसेन : **साक्ष्य : नदियों की आग**; बिहार विधान परिषद्, पटना; 2004; 200 रुपए

जाबिर हुसेन : **जो आगे हैं**; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 225 रुपए

कृष्ण चंद्र गुप्त : **स्मृति गंध**; कुसुम प्रकाशन, नवेन्दु सदन, आदर्श कॉलोनी, मुज़फ़्फ़रनगर, उत्तर प्रदे
2004; 40 रुपए

कन्हैयालाल नंदन : **राजपथ के जरंग**; रामकृष्ण प्रकाशन, विदिशा; 2004; 180 रुपए

कमलकिशोर मिश्र : **प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 195 रुपए

काशीनाथ सिंह : **आछे दिन पाछे गए**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 150 रुपए

के. विक्रम सिंह : **कुछ ग़मे दौरां**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 295 रुपए

कमलेश्वर : **हिंदुत्व बनाम हिंदुत्व**; कल्याणी शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली; 2004; 200 रुपए

मधुसूदन पाटिल : **प्रेम भी हाट बिकाय**; अमन प्रकाशन, 1041, अर्बन एस्टेट II, हिसार 125005; 2004; 40 रुपए

नंदकिशोर आचार्य : **नाट्यानुभव**; वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर; 2004; 130 रुपए

पांडेय विनय भूषण : **हिन्दी के नए नाटकों में प्रयोग तत्त्व**; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; 2004; 200 रुपए

प्रकाश मनु : **एक दुर्जेय मेधा : विष्णु खरे**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 425 रुपए

आर.पी. मित्तल : **क्या ईश्वर है? है। तो क्या?**; उमेश प्रकाशन, 100, लूकरगंज, इलाहाबाद; 2004; 225 रुपए

डॉ. रामशंकर द्विवेदी : **इस शहर का राखाल**; रामकृष्ण प्रकाशन, विदिशा; 2004; 180 रुपए

रविशंकर परसाई : **क़लम मुख़बिर है...**; कैलाश पब्लिकेशंस, सांडिया रोड, पिपरिया, होशंगाबाद; 2004; 80 रुपए

रामविलास शर्मा : **मेरे साक्षात्कार**; किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 300 रुपए

राजमल बोरा : **रामविलास शर्मा; व्यक्ति और कार्य**; मिलिंद प्रकाशन, 4-3-178/2, कंदास्वामी बाग़, हनुमान व्यायामशाला की गली, सुल्तान बाज़ार, हैदराबाद; 2004; 125 रुपए

राजमल बोरा : **भारत के भाषा परिवार**; आलेख प्रकाशन, वी-8, नवीन शाहदरा, दिल्ली; 2004; 200 रुपए

रमेशचंद्र शाह : **मेरे साक्षात्कार**; किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 175 रुपए

राज बुद्धिराजा : **एक नाम और भी**; तेज प्रकाशन, 98, शक्ति भवन, दरियागंज, नई दिल्ली; 2004; 200 रुपए

रघुनाथ अनंत माशेलकर : **वैज्ञानिक भारत का निर्माण**; अनु. विनोद कुमार मिश्र; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 200 रुपए

श्रीनिवास शर्मा : **राहुल का संघर्ष**; रामकृष्ण प्रकाशन, चित्रांगदा कॉम्पलेक्स, हॉस्पिटल रोड, विदिशा, म.प्र. 464001; 2004; 130 रुपए

सैयद हैदर रज़ा, अशोक वाजपेयी : **आत्मा का ताप** (रज़ा की ज़िन्दगी और कला); राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली; 2004; 295 रुपए

सच्चिदानंद सिन्हा : **संस्कृति और समाजवाद**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 150 रुपए

संजीव गुप्ता : **गुफ़्तगू**; सुनील साहित्य सदन, 3320-21, जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली; 2004; 150 रुपए

सुदर्शन नारंग : **सही भूमिका की खोज**; मुहिम प्रकाशन, 54, लक्ष्मी नगर, नई दिल्ली; 2004; 200 रुपए

स्वामी श्री सच्चिदानंद : **हम और पश्चिम**; गुजराती से अनु. नवनीत ठक्कर; साहित्य संकुल, सूरत; 2004; 245 रुपए

अतिया दाऊद : **आईने के सामने**; अनु. इजलाल मजीद; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 195 रुपए

डॉ. धर्मवीर : **अशोक बनाम वाजपेयी : अशोक वाजपेयी**; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 95 रुपए

रणजीत साहा : **काल पत्र** (रवीन्द्रनाथ-रामानंद पत्र संसार); निकट कीर्ति मंदिर, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032; 2004; 280 रुपए

सुधीर कक्कड़ : **साधु और संत**; अनु. चंदन सिंह; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 200 रुपए

सी.एम. झा : **भ्रष्टाचार : समस्या और समाधान**; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली; 2004; 60 रुपए

त्रिलोचन : **मेरे साक्षात्कार**; किताबघर, नई दिल्ली; 2004; 200 रुपए

तसलीमा नसरीन : **द्विखंडित**; **छोटे-छोटे दुख**; अनु. सुशील गुप्ता; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 20 क्रमशः 500 रुपए; 300 रुपए

यू.आर. अनंतमूर्ति : **किस प्रकार की है यह भारतीयता?**; राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; 2004; 150 रु

डॉ. उत्तिमा केशरी : **जगदीश चंद्र माथुर के नाटकों में परंपरा और प्रयोग**; रचनाकार प्रकाशन, गुरु मार्ग, पूर्णिया; 2004; 200 रुपए

वीरेन्द्र कुमार गौड़ : **विश्व में आतंकवाद**; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 350 रुपए

विनोद भट्ट : **विनोद मेला**; गुजराती से अनु. नवनीत ठक्कर, साहित्य संकुल, सूरत; 2004; 110 रु

नाटक

लाभशंकर ठाकर : **मर जाने का मज़ा**; गुजराती से अनु. सुरेन्द्रभाई दोशी; साहित्य संकुल, सूरत; 200 70 रुपए

मीरा कांत : **नेपथ्य राग**; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 50 रुपए

श्याम मोहन अस्थाना : **खजुराहो की यक्षिणी**; राधारानी प्रकाशन, 29/61, गली नं. 11, विश्वास नग दिल्ली 110032; 2004; 150 रुपए

योगेश त्रिपाठी : **मुझे अमृता चाहिए और युद्ध**; विद्या प्रकाशन मंदिर, 1681, दरियागंज, नई दिल्ली; 200 95 रुपए

विभु कुमार : **बे-दरों-दीवार का इक घर बनाया चाहिए**; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; 200 80 रुपए

उनमें थी कि वे धर्म निरपेक्षता से अंत तक सहमत नहीं हो सके। ''मैं अपने आपको धर्म निरपेक्ष और गुट निरपेक्षता के सिद्धांत समझाता हूँ पर समझ में नहीं आता कि निरपेक्षता के लिए कोई लड़ कैसे सकता है, जय-पराजय से निरपेक्ष होकर लड़ा जा सकता है, पर जिस पर लड़ना होगा, वह कैसे निरपेक्ष होगा।'' वे असहमति और विरोध को आमंत्रित करने में भी नहीं हिचकते थे। 1953 में प्रकाशित पहले निबंध संग्रह *छितवन की छाँह* पर आलोचकीय प्रतिक्रियाओं का कुछ अनुमान उन्हें रहा होगा, इसीलिए उन्होंने भूमिका में ही लिख दिया था : ''अब आनुषंगिक आलोचक का कार्य भी सरल हो जाए तो मैं कुछ हर्ज नहीं समझता, विचारों को यों ही फुरसत नहीं रहती और कैंची चलाने में भी आजकल कम कष्ट नहीं है, बाज़ार में लोहमटिया कैंचियाँ आती हैं एकदम भुथरी। उनकी सुविधा के लिए दो-चार विशेषण यहाँ और दर्ज कर दूँ जिससे वे मुझे अलंकृत करना चाहेंगे, इसोटेरिक (दीक्षागम्य), डीकेडेंट (ह्रासोन्मुख), रिएक्शनरी (प्रतिक्रियावादी), डिलेटेंटी (पल्लवग्राही) और बुर्जुआ (परश्रमजीवी)। दूसरे विशेषण भी मिल सकते हैं और मिलेंगे, पर मेरी आगे जानकारी नहीं है, अब तो मेरे निबंध ही जानें कि उन्हें क्या नसीब है।'' महापंडित राहुल सांकृत्यायन के सहकर्मी रह चुके विद्यानिवास जी के प्रशंसक हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे उद्भट्ट विद्वान भी थे। द्विवेदी जी ने मिश्र जी के दूसरे निबंध संग्रह *तुम चंदन हम पानी* की भूमिका में उन्हें संस्कृत साहित्य और भारतीय संस्कृति-परंपरा का पंडित माना है। अपने विचारों में अटूट निरंतरता वाले इस विद्वान की कमी खलेगी। उन्हें हमारा नमन!

❑

भारतीय साहित्य के बहु-प्रतीक्षित अकादेमी पुरस्कारों की घोषणा से उत्तेजना से भरा उत्सवी वातावरण बन जाता है। पुरस्कृत कृतियों के बारे में संचार माध्यम विस्तार से सूचनाएँ देते हैं। कृति आगे बढ़ जाती है, कृतिकार का पक्ष महत्त्वपूर्ण होते हुए भी प्रचार की चमक-दमक में खो जाता है। कृति का परिप्रेक्ष्य असल में कृतिकार का ही पक्ष हुआ करता है। इस अंक में हम कृतिकारों के पक्ष के संपादित अंश पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं ताकि वे पुरस्कृत कृति को कृतिकार के पक्ष के आलोक में देख सकें।

भारतीय उपन्यास परिदृश्य में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का विशिष्ट स्थान है। उनकी उपन्यास कला का अंतरंग विश्लेषण उन्हीं के यशश्वी शिष्य डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने हमारे लिए विशेष रूप से लिखा है। इसी अंक के लिए महावीर अग्रवाल ने प्रख्यात कथाकार कमलेश्वर से लंबी बातचीत की है जिसमें न केवल लेखक का, बल्कि हिंदी का कथा-परिदृश्य उभरता है। पाठक मूल्यांकन स्तंभ के सँवारने की कोशिश से परिचित हैं। त्रिलोचन जैसे वयोवृद्ध कवि द्वारा नेरुदा की हिंदी में अनूदित कविताओं की समीक्षा से प्रेरित होकर वरिष्ठ समीक्षक व्यावहारिक आलोचना में योगदान देने के लिए आएँगे, यह उम्मीद की जा सकती है।

इस बार लंबी कहानियों को शामिल करने के चलते कहानियों की कुल संख्या में कटौती करनी पड़ी। बाङ्ला कथाकार कानाइ कुंडू की ''अमृत मंथन'' जैसी अनूठी कहानी प्रकाशित करने का अवसर किसी संपादक को बार-बार नहीं मिलता। ग़रीबी किसी को कितनी अमानवीय, उसकी आत्मा को कितना कुरूप बना सकती है, यह इसका अद्‌भुत उदाहरण है। पंजाबी के दलित लेखक बलबीर माधोपुरी की आत्मकथा का अंश परिताप की उत्कृष्ट सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। युवा कवि राहुल राजेश की कविताओं में ओढ़ा गया बुढ़भसपन नहीं है, युवा दृष्टि और युवकोचित आवेग भी है। युवा परिवर्तन को आसानी से अंगीकार करते हैं। आगामी अंकों में कुछ और परिवर्तन होंगे।

शुभकामनाओं सहित,

अरुण प्रकाश

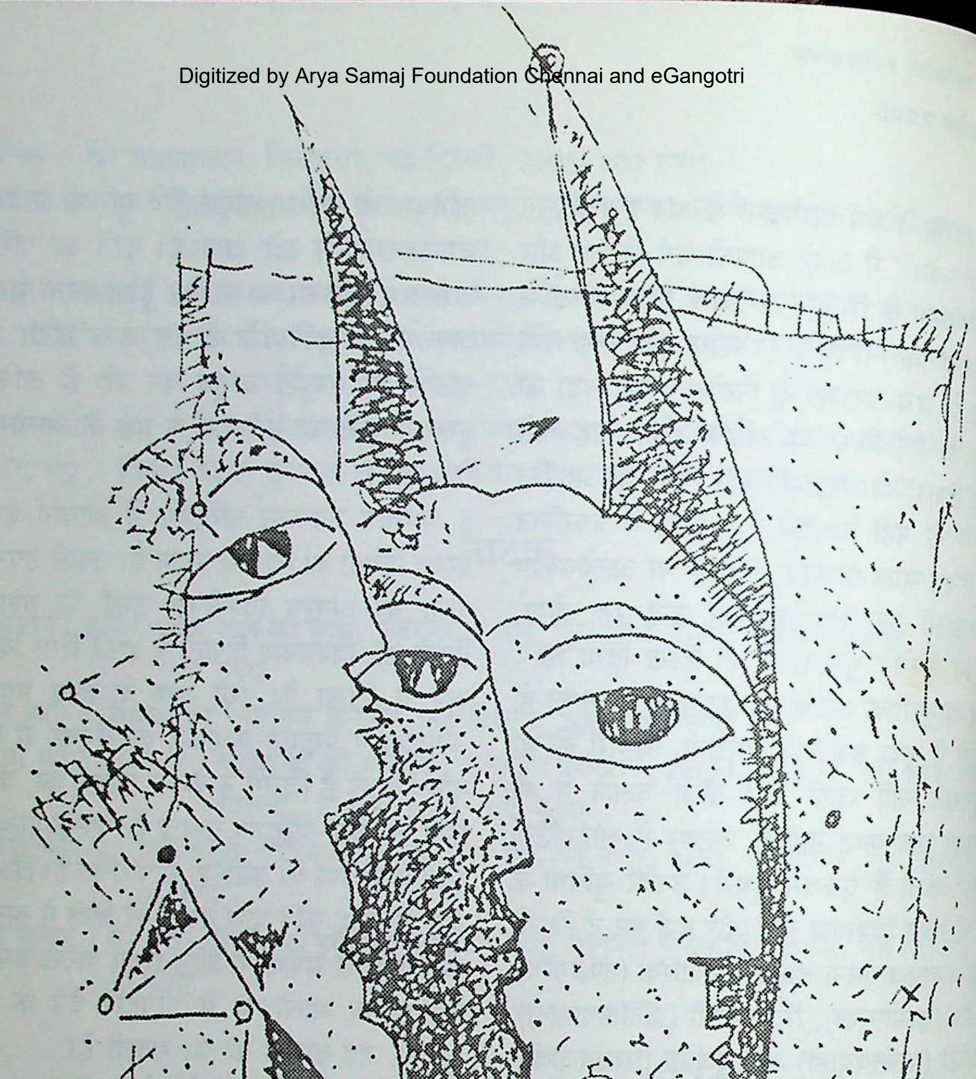

कृति का परिप्रेक्ष्य : कृतिकार का पक्ष

साहित्य अकादेमी बाईस भाषाओं की श्रेष्ठ कृतियों को पुरस्कृत करती रही है। अब और दो भाषाएँ —संताली और बोडो—इसमें शामिल होने जा रही हैं। बहुत उत्सुकता के साथ देश का साहित्य समाज इस पुरस्कार की प्रतीक्षा करता है। पुरस्कृत कृति पर चर्चा भी होती है। यूँ तो पुरस्कार समारोह के अगले दिन अकादेमी पुरस्कृत कृतिकारों को वक्तव्य देने के लिए आमंत्रित करती है फिर भी कृतिकार का पक्ष एक छोटे श्रोता-समूह तक सीमित रह जाता है।

सभी पुरस्कृत कृतिकारों (अंग्रेज़ी के पुरस्कृत उपन्यासकार श्री उपमन्यु चटर्जी को छोड़कर, जिन्होंने अपना कोई वक्तव्य नहीं दिया) के वक्तव्य (मूल अथवा अनूदित) के संपादित अंश हम प्रकाशित कर रहे हैं। शायद कृतिकार के पक्ष से कृति का परिप्रेक्ष्य अधिक रोशन हो सके। अंग्रेज़ी में प्राप्त वक्तव्यों का हमारे लिए अनुवाद किया है—शांता ग्रोवर ने।

हीरेंद्र नाथ दत्त

असमिया कविता-संग्रह : *मानुह अनुकूले*

मुझे चिंता है तो केवल अपनी समृद्ध भारतीय धरोहर को सहेज कर रखने की ज़िम्मेदारी की। हमारी बहुलतावादी सभ्यता है और इसीलिए सहन करने की क्षमता, अच्छी साख और विभिन्न भाषा वर्गों के बीच आपसी सम्मान करने की भावना—हमारी संस्कृति और साहित्य के अच्छे विकास को पुष्ट करती रही है। हमारी भाईचारे की पुरातन भावना को आज के समय में जागृत करने की ज़रूरत है और इसमें लेखक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। मैं हमेशा असमिया भाषा की युवा पीढ़ी के लेखकों को यह सुझाव देता रहता हूँ कि वे दूसरे भारतीय भाषाओं में हो रहे प्रचलनों से ख़ुद को वाक़िफ़ रखें। मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहूँगा कि असमिया लेखकों की संवेदनशीलता अन्य भारतीय भाषाओं के लेखकों की संवेदनशीलता से मिलती-जुलती है।

भारतीय भाषाएँ, विशेषकर अल्पसंख्यकों द्वारा बोली जाने वाली भाषाएँ, भूमंडलीकरण के कारण ख़तरे में पड़ गई हैं। कभी-कभी तो मुझे लगता है कि मेरी भाषा, जो कि असमिया है, वह सिकुड़ कर छोटी होते-होते कहीं लुप्त ही न हो जाए। भूमंडलीकरण से चमचमाते भविष्य के आकर्षण में अपनी-अपनी भाषाओं के साहित्य को उपेक्षा सहनी पड़ रही है। निरंतर बढ़ रही उपेक्षा अपने समृद्ध अतीत से ऊर्जा प्राप्त करने में रुचि खो बैठेगी। साफ़ रूप से कहूँ तो मुझे अस्तित्व ख़तरे में नज़र आ रहा है। एक तरह से यह सबसे अच्छा और साथ ही सबसे बुरा समय है। चुनौती बड़ी है लेकिन क़ाबू करने योग्य है।

सुधीर चक्रवर्ती

बाङ्ला समालोचना : *बाउल फकिर कथा*

बाउल और फ़क़ीर जातिवाद में विश्वास नहीं रखते। उनके विचार में तो भगवान ने केवल दो जातियाँ ही उत्पन्न की हैं—आदमी और औरत। और उनका जाति शब्द का प्रयोग करने के पीछे भी यही मंशा है। औरत खेत है जबकि

आदमी बीज और वे दोनों मिलकर इंसान को जन्म देते हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि उनकी जाति के में पूछना बेकार है क्योंकि उन्होंने कभी नहीं देखा कि जाति क्या है? इसीलिए विभिन्न धर्मों से नाता तोड़ ही बुद्धिमानी है। केवल मनुष्यों के अस्तित्व में ही विश्वास रखना चाहिए। इस रहस्यमय संसार के निर्जन राहों के अकेले यात्री थे बाउल और फ़क़ीर।

पिछले तीन दशकों से मैं बंगाल और बाङ्ला देश के असंख्य गाँवों में घूमा हूँ और कई छोटे-छोटे धार्मिक संप्रदायों को देखा है जो गुप्त सेक्स-योगिक उपचारों में लगे हुए हैं। उनके विचार और विश्वास उनके गीतों में प्रकट होते हैं। ये गीत हमारे समाज में उनके हाशिए पर खड़े होने का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये एक समानांतर सभ्यता और अजीब-सी रहस्यमयी द्विअर्थी भाषा को पेश करते हैं। मेरा मानना है कि मैंने एक ऐसे अद्वितीय लोक-जगत को खोज निकाला है जिनका अपना अजीब-सा परिवेश है।

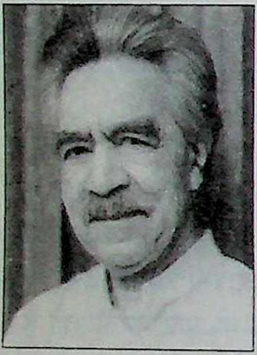

शिवनाथ

डोगरी निबंध-संग्रह : *चेतें दी चितकबरी*

अखिल भारत के विशाल परिप्रेक्ष्य में देखने से पता चलता है कि अन्य भारतीय भाषाओं में तेज़ी से विकसित हो रहे और विकसित हो चुके साहित्यिक परिवारों की तुलना में डोगरी साहित्य अभी अविकसित स्थिति में है। इस साहित्य की शक्ति और इसकी कमज़ोरियाँ दोनों ही इसकी भूमि से जुड़े होने में है और बदल रहे साहित्यिक फ़ैशनों और आलोचना की परिभाषाओं से अप्रभावित रहने में है। लेकिन धीरे-धीरे इसमें भावों को नाज़ुक अभिव्यक्ति देने, विचारों को नया रूप देने और खुलने के आसार दिखाई देने शुरू हो गए हैं। इस क्षेत्र के प्राकृतिक वातावरण, रीति-रिवाजों, प्रचलनों, लोगों की मान्यताओं, सामाजिक-राजनीतिक हलचलों, पुरातन विचारों वाले समाज के नए परिवर्तनों और आधुनिकता की चपेट में आने से उत्पन्न तनावों का सुंदर उपमाओं द्वारा वर्णन हो रहा हैं।

इस युवा साहित्य के सामने चुनौतियाँ हैं—एक तो अंतरराष्ट्रीय संपर्क सूत्र रोज़गार प्रदान करने वाली अंग्रेज़ी भाषा से और दूसरे पूरे भारत की संपर्क सूत्र राजभाषा हिंदी से है। हालाँकि डोगरी के हिंदी के साथ बहुत अच्छे संबंध हैं। इसने देवनागरी लिपि अपनाई है और इसके कई लेखक दोनों भाषाओं में लिख रहे हैं। पचास साल पहले डोगरी कवि दीनू भाई पंत ने लिखा था—''हिंदी मेरी दादी ऐ, ते डोगरी मेरी माँ''। दोनों भाषाओं के लिए यहाँ के लोगों के मन में प्यार है। और वे दोनों में रचनात्मक अभिव्यक्ति कर रहे हैं।

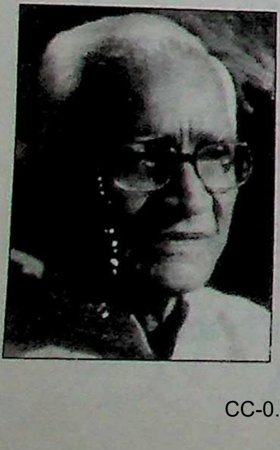

अमृतलाल वेगड

गुजराती यात्रा वृत्तांत : *सौंदर्यनी नदी नर्मदा*

मेरी मातृभाषा गुजराती है। साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मुझे मेरी गुजराती पुस्तक *सौंदर्यनी नदी नर्मदा* के लिए मिला है। लेकिन मध्यप्रदेश में रहने

के कारण हिंदी मातृभाषा सदृश हो गई है। मैं दोनों भाषाओं में लिखता हूँ। मेरी हिंदी पुस्तकों के लिए मुझे मध्य प्रदेश शासन के संस्कृति विभाग का शरद जोशी राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिल चुका है। मेरे विचार से हिंदी जगन्नाथ का रथ है जिसे खींचने में हर भाषा-भाषी ने गौरव का अनुभव किया है।

नर्मदा मेरी प्रेरणा-स्रोत रही है। नर्मदा ने मुझे अपार सुख दिया है। थोड़ा-थोड़ा करके मैंने नर्मदा की पूरी परिक्रमा की है। मेरे लिए परिक्रमा के ढाई हज़ार से भी अधिक किलोमीटर एक साथ चलना संभव नहीं था। इसलिए ये यात्राएँ मैंने खंडों में कीं। खंड यात्राओं का यह तरीक़ा मेरे लिए बिलकुल सही था। घर आकर मैं यात्रा-वृत्तांत लिख लेता, चित्र बना लेता और विश्राम पाकर आगे की यात्रा के लिए नई शक्ति पा लेता। प्रथम पदयात्रा 1977 में और अंतिम 1999 में हुई। ये यात्राएँ मैंने धार्मिक भावना से नहीं बल्कि सौंदर्य की दृष्टि से, कला और साहित्य की दृष्टि से की थीं। जो परिक्रमा साधु-संन्यासियों, ग्रामीणों और मानता-मनौती वालों तक सीमित थी, उसे मैं कला-प्रेमियों और साहित्य-प्रेमियों तक ले आया। मेरी पदयात्राएँ धार्मिक नहीं सांस्कृतिक थीं।

नर्मदा तट पर मैंने प्रकृति की अपूर्व भव्यता के साथ मानवता का सहज सौंदर्य भी देखा। वहाँ के लोगों ने अपने घर और अपने दिल के दरवाज़े मेरे लिए खोल दिए। अजनबी मित्र बन गए। मैंने अप्रत्याशित स्थानों पर भलाई देखी। उन परकम्मावासियों को मैं कैसे भूल सकता हूँ जिन्हें देखकर यह समझ सका कि “आस्था” किसे कहते हैं। परिक्रमा आस्था का ही तो अभियान है। एक ही नदी का ध्यान करते हुए सवा तीन बरस तक चलना कोई छोटी-मोटी तपस्या नहीं। क्या होता है उनके पास! उन्हीं से मैंने सीखा कि सुख का आरंभ सादगी से होता है। हमारी जीवन-नौका को हमें हलका रखना चाहिए। उसे केवल ज़रूरत की चीज़ों से ही भरना चाहिए। वरना यह कबाड़ ही हमें डुबो देगा।

1977 में नर्मदा की प्रथम पदयात्रा शुरू करते समय यात्रा-वृत्तांत लिखने की कोई बात नहीं थी। ये यात्राएँ मैंने अपने चित्रों के लिए नए विषय, नए रूपाकार और नए रंग-संयोजन की खोज के उद्देश्य से की थीं। किंतु वहाँ से आने के बाद कोलाज तो बने ही, यात्रा-वृत्तांत भी तैयार होते गए। नर्मदा ने एक चित्रकार को लेखक भी बना दिया। फिर तो यह सिलसिला चल पड़ा। मैंने शुरू में ही तय किया था कि मुझे नर्मदा-पुराण या रेवा-माहात्म्य नहीं लिखना है। इस युग में इसकी आवश्यकता भी नहीं। मुझे तो नर्मदा की प्रामाणिक जीवनी लिखनी है। सचित्र प्रामाणिक जीवनी। इसके लिए बार-बार नर्मदा के निकट गया, उसके संग-संग चला, उससे बातें कीं, स्केच उतारे, उसके सौंदर्य को अपनी आँखों से देखा, तब अपनी पुस्तकें लिखीं। मेरी नर्मदा “आँखिन देखी” नर्मदा है। यह भी बता दूँ कि इन यात्राओं के दौरान स्तब्ध कर देने वाली भौगोलिक सुंदरता के बीच मैंने घोर दरिद्रता भी देखी।

अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में भी थोड़ा बता दूँ। मैं एक मरियल-सा लेखक हूँ। एक दिन पैदल चलता हूँ तो उसका वृत्तांत लिखने में मुझे पाँच या कभी छह दिन तक लग जाते हैं। मेरा लेखन ग़रीब के छप्पर जैसा है—पानी बरसता है एक घंटा, वह टपकता है दस घंटा। चला एक दिन, लिखा सात दिन! मेरे पास दो भाषाओं की नागरिकता है। हिंदी में लिखता हूँ तो उसका गुजराती करते समय नए विचार, नई उपमाएँ या नई कल्पनाएँ सूझती हैं। तब हिंदी लेख पिछड़ जाता और उसका पुनर्लेखन आवश्यक हो जाता। लेकिन ऐसा करते समय फिर कुछ नया सूझता। तब गुजराती लेख फीका पड़ जाता। उसे नए सिरे से लिखना आवश्यक हो जाता। दोनों भाषाओं के लेख मानो एक-दूसरे को निर्देश देते रहते कि अपनी बात ऐसे नहीं, ऐसे कहो। अंततः जब दोनों क़रीब-क़रीब एक जैसे लगने लगते, तब मैं समझ जाता कि अब ये वयस्क हो गए हैं और घर की दहलीज़ लाँघ सकते हैं, प्रकाशनार्थ भेजे जा सकते हैं। इस प्रकार मेरी गुजराती और हिंदी की पुस्तकें जुड़वाँ या ट्विंस हैं।

और प्रेरणा! चतुर चोर की तरह प्रेरणा कब आती है, अपना काम करके कब चली जाती है, आती भी

है या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। प्रेरणा की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती। श्रम ही हमारा सच्चा मित्र है। सर्जक को श्रमजीवी होना चाहिए, प्रेरणाजीवी नहीं। इससे प्रेरणा का महत्त्व कम नहीं होता। वह कुछ ही क्षणों के लिए आती है, परंतु वे क्षण अमूल्य होते हैं। किंतु हमारे हाथ में सिर्फ़ श्रम है।

यह ठीक है कि विद्वानों और पाठकों ने मेरी पुस्तक को सराहा है। हो सकता है, उस महान नदी की महत्ता का कुछ अंश मेरी पुस्तक में आ गया हो। लोगों ने कहा कि मेरा वर्णन काव्यात्मक है। लेकिन नर्मदा का संस्पर्श तो किसी को भी कवि बना सकता है। बल्कि मुझे प्रायः लगा है कि यह पुस्तक मैंने कहाँ लिखी, नर्मदा ने मेरे कान में जो कहा, वही मैंने काग़ज़ पर उतार दिया। नर्मदा लिखाती गई और मैं लिखता गया। कोई कह सकता है कि नर्मदा ने मुझे ही क्यों चुना? इसलिए कि मैं चित्र भी बना लेता हूँ और अक्षर भी जोड़ लेता हूँ।

शांतिनिकेतन में आचार्य नंदलाल वसु के चरणों में बैठकर पाँच वर्ष तक चित्रकला का अध्ययन करने का अवसर मुझे मिला। उनसे मुझे सौंदर्य को देखने की दृष्टि मिली। वहाँ का अध्ययन मेरी चित्रकला और मेरे साहित्य दोनों के लिए बहुत लाभदायक रहा। मैं कलाकार की दृष्टि से देखता और लेखक की कलम से लिखता। वैसे मैं साधारण चित्रकार हूँ और लेखक भी साधारण ही हूँ। फिर भी मैं मानता हूँ कि दुनिया को मुझ जैसे साधारण लोगों की ज़रूरत है।

विगत 27 वर्षों से मैं नर्मदा-सौंदर्य की छड़ी मुबारक लिए घूम रहा हूँ और आगे भी यही करता रहूँगा। दो वर्ष पूर्व 75वें वर्ष में प्रवेश करने पर मैंने नर्मदा की पदयात्राएँ पुनः शुरू कर दी हैं। इन पदयात्राओं में मेरी पत्नी कांता भी साथ चलती है। इन यात्राओं से ही मेरे लेखों और चित्रों को आकार मिला है। मैं जो कुछ भी उल्लेखनीय कर सका हूँ, वह नर्मदा की पदयात्राएँ शुरू करने के बाद ही। अगर नर्मदा मेरे जीवन में न आई होती तो मैंने नौकरी की होती, रिटायर हो गया होता और मर गया होता। किंतु अब ऐसा नहीं होगा। मरने के साथ ही नहीं मरूँगा मैं। कैलेंडर में भले ही मर जाऊँ, अपनी परिक्रमा-पुस्तकों में ज़िंदा रहूँगा—कम से कम कुछ बरस तो रहूँगा ही।

वीरेन डंगवाल

हिंदी कविता-संग्रह : *दुश्चक्र में स्रष्टा*

अपने समय की कविता पर सोचते समय पुरखे पाब्लो नेरुदा की यह बात ध्यान में आती है कि ''कविता आदमी के भीतर से निकली एक गहरी पुकार है। उसी से उपासना पद्धतियाँ निकलीं, भजन और धर्मों के तत्त्व भी। कवि ने प्रकृति की लीलाओं का सामना किया और प्रारंभिक युगों में अपने व्यवसाय की सुरक्षा के लिए ख़ुद को पुरोहित कहा। ठीक इसी तरह—आज का सामाजिक कवि भी पुरोहितों की प्राचीनतम व्यवस्था का सदस्य है—पुराने ज़माने में उसने अंधकार से संधियाँ की थीं—अब उसे प्रकाश की व्याख्या करनी होगी।''

हमारी कवि पीढ़ी एक मायने में भारतीय इतिहास के सर्वाधिक विरोधाभासी, विचित्र और दारुण अनुभवों से गुज़रने वाली पीढ़ी है। हमने स्वतंत्रता के निहायत सपनीले, उल्लास भरे दौर देखे। उन स्वप्नों का निर्दयता से रौंदा जाना देखा। वह आदमी को झनझना देने वाले तेजस्वी विचारों से रू-ब-रू हुई। उसने महान आंदोलन देखे और फिर घनघोर अवसाद के साथ बुलंद इमारतों का धराशायी होना भी देखा। देखा

कि आततायी कैसे तरह-तरह के बाने धरकर हमारे महादेश ही नहीं, पूरे विश्व की छाती पर लोट लगा रहे हैं, और किस तरह प्रजातंत्र का मुखौटा लगाए घुड़सवार हत्यारे दहलीज़ तक आन पहुँचे हैं। इतिहास के इस दुर्दांत दौर से गुज़रती हुई हमारी ही कवि पीढ़ी थी, जिसने इस सबके बीच भी प्रेम, प्रतिबद्धता और प्रतिरोध की अपनी टेक को छोड़ा नहीं। और इसी सबके बीच उसने अपने उन उस्ताद कवियों को भी पुनराविष्कृत किया जिनके हाथ-पैर काटकर कलावंतों ने या तो कूड़ेदान में डाल रखा था, या खंडित प्रतिमाओं की तरह अपने घरों में सजा रखा था। किंचित् आत्मगौरव के साथ मैं इसे रेखांकित करता हूँ कि शायद व्यवस्थित तरीक़े से पहली बार हिंदी कविता की इसी पीढ़ी ने देश-विदेश की अपनी काव्य और विचार परंपरा को साफ़-साफ़ चिह्नित किया, उसे सर-माथे लगाया और उसकी मदद लेते हुए उससे आगे बढ़ने की राहें तलाश कीं। यहाँ मेरा यह ''हम'' अपनी पीढ़ी के उस अनिवार्यतः बिरादराना और समूहवादी चरित्र को बुलंद करने की कोशिश है, जिसमें रचनाकारों की अनेकशः बहुविध छटाएँ थीं, और जिसने सोच-समझकर ''हम'' की शैली अपनाई थी।

हमने ईश्वर से हुज्जत की। रात को बोला। दुनिया पर सवाल उठाए। हमने चाँद के चुंबन लिए और भीने-पीले गुलाबों वाली बहार का नज़ारा किया। चीख़-पुकार, कोहराम और जलते हुए शहरों के बीच से गुज़रते हुए हमने बूढ़ी औरतों की तरह बददुआएँ दीं। इक्के की बग़ल में दौड़ते-दौड़ते हमने घोड़े से उसके हालचाल पूछे और अपनी आत्मा के पंचर जुड़ाने के लिए हम बच्चा साईकिल मिस्त्री पर गए जिसके छोटे-छोटे पंजे ग्रीस और कालिख से सने थे। बदमाशों के उजले चेहरों के लिए हम वही कालिख बने जो कुछ के लिए सुंदर, और कुछ के लिए असह्य थी। बूढ़े कवि शमशेर का पल-छिन्न होता हुआ सुंदरता का अवतार यों एक नए कोण से हमारी आत्मा पर अपनी परछाईं डालता था। हमने जान लिया था कि सौंदर्य दरअसल प्रेम का ही प्रत्याख्यान है। वह ऐसी-ऐसी जगहों और चीज़ों में भी है जहाँ पहले उसे खोजा और देखा नहीं गया था। और जो बताई जाती है, सुंदरता की दुनिया उससे बेहद बड़ी है। मनुष्य, विशेषकर भारतीय मनुष्य के सपनों-दुःस्वप्नों और संघर्षों, तथा समग्र वस्तुजगत की गरिमा को रचना के केंद्र में लाने की आफत भरी चेष्टा में हम जीवन की तमाम परतों में घुसे और शांत भारी बूढ़े दरख़्त जैसी भाषा की डालों और टहनियों को हमने फलों के चक्कर में बार-बार झकझोरा। कवि का बसेरा है भाषा, इसलिए जैसा कि नाज़िम हिकमत ने कहा है, कविता की भाषा और जीवन की भाषा को अलग-अलग नहीं होना चाहिए।

यह सही है कि हमारे समय में कविता को आस्वादकों की कमी के संकट से गुज़रना पड़ रहा है। कुछ हद तक सभी कलाओं के सामने यह संकट है मगर हिंदी कविता से तो पाठक बहुत दूर चले गए से लगते हैं। आज कवि उस रूप में अपने पाठक को पहचानने का दावा नहीं कर सकते, जैसा मसलन निराला कर सकते थे। इसकी कुछ वजहें तो हिंदी समाज की उन सामंती समाजार्थिक विकृतियों में है जिनकी मदद से उसे बौद्धिक स्तर पर काफ़ी कुछ रसहीन, उत्साहहीन, स्वप्नहीन, संकीर्ण और पिछड़ा बना लेने का निरंतर उपक्रम जारी है। मगर पिछले साठेक सालों में कविता ने भी पाठक से अपना दामन छुड़ाने का काम किया है। बच्चन और नीरज के पिलपिलेपन से निकलने की कोशिश में प्रयोगवादियों ने कविता का जो द्वीप बनाया था, आगे भी उसका विस्तार होता गया है। नतीजा सामने है। विचार के स्तर पर कविता मज़बूती से सांप्रदायिकता और बाज़ार के विरुद्ध खड़ी रही है जबकि मध्यवर्गीय पाठक बाज़ार में सांप्रदायिकता के साथ दौड़ता दिखाई देता है।

मगर संप्रेषण की समस्या का निदान छंद में है ज़रूर, छंद कविता की स्मृति ग्राह्य बनाता है। लोगों की छंद में कविता पढ़ने-सुनने की आदत भी रही है। कभी-कभी छंद कविता को बेहतर भी बना देता है। मगर हमेशा ऐसा हो यह ज़रूरी नहीं। कभी इसका उलटा भी हो सकता है। छंद कविकर्म को आसान और

कविता को सरलीकृत भी बना सकता है। वह भाव-सघनता का छल पैदा कर सकता है जैसा निराला और महादेवी तक के कई गीत करते हैं।

सुनते हैं फ्रांस के गणितज्ञ रेमंड कुनेऊ ने सॉनेट तैयार करने वाली एक प्राथमिक मशीन ईजाद की है। इसमें शब्द संयोजन फीड किए जाते हैं और इसका तैयार किया हर सॉनेट पिछले से भिन्न होता है तो क्या यह मशीन कविता रच रही है?

वैश्वीकरण भाषाओं, संस्कृतियों और कविता का शत्रु है। उसका स्वप्न एक ऐसी मनुष्यता है जो ग्लोबल के गाँव में बसती है, उसी तरह रहती-सोचती-पहनती, हाव-भाव रचती और खाती-पीती है। एक रासायनिक संस्कृति बोध से लैस इस वैश्विक मनुष्यता का आदर्श भी अंतरराष्ट्रीयवाद है मगर अपने मूल मानवीय अर्थ के बिलकुल उलटे अर्थ में। यह वैश्विक मनुष्य तो पारंपरिक संस्कृतियों और ज्ञान को नष्ट करने वाला और अधिनायकवादी है जो केवल बाज़ार और उपभोग को मान्यता देता है। यह वस्तुतः पूँजी के प्रचंड विचार का वाहक और यथास्थिति का घनघोर पोषक है। जीवन की अनुकृति बनने वाली कविता उसे रास नहीं आती। वह तो सारे-जीवन को अपनी अनुकृति बना देना चाहता है। कविता अगर हमारे समय में पाठकों का रोना रो रही है तो उसकी एक बड़ी वजह भी बाज़ार और उपभोग का सारथी वही वैश्विक मनुष्य है।

बाज़ार से कवि की विमुखता के बावजूद उसकी शक्ति ने एक और तरह का दबाव हमारी कविता पर डाला है। उसमें एक विचित्र समरूपता आ गई है, क्योंकि बाज़ार सफलता को दोहराने, उसकी अनुकृति बनाने को प्रेरित करता है लिहाज़ा बहुतायत कवि अनजाने एक-सी भाषा में एक-सी बात लिखते दिखाई देते हैं। अनेक बड़े कवियों में भी आपको छोटे कवियों की सफल कविताओं की अनुकृतियाँ देखने को मिल जाएँगी। फिर अनुकृति तो प्रयोगशीलता की सबसे बड़ी दुश्मन है और बिना प्रयोगशीलता के अपने जटिल यथार्थ को पार पा सकना नामुमकिन है। ब्रेख़्त ने कहा ही है, ''समय प्रवाहित होता रहता है—नई समस्याएं उभरती हैं और नई तकनीकों की माँग करती हैं। यथार्थ बदलता है—उसकी प्रस्तुति के लिए प्रस्तुतिकरण के साधनों को भी बदलना चाहिए।''

गीता नागभूषण

कन्नड़ उपन्यास : *बदुकु*

हैदराबाद कर्नाटक प्रदेश के एक छोटे से गाँव की स्त्री हूँ मैं। अतिनिम्न वर्ग तळवार नाम की पिछड़ी जाति से मैं आई हूँ। हमारी झोपड़पट्टी जाति में कोई शिक्षित नहीं था। स्त्री-पुरुष उच्च वर्ग के साहूकारों के खेतों में काम करने के लिए जाते थे। पेट नहीं भरने की वजह से मेरे माँ-बाप गुलबर्गा शहर चले आए। पिता कपड़े की मिल में मज़दूर का काम करने लगे और माँ ब्राह्मणों के घर अनाज साफ़ करन और औरतों को महीने में एक बार तेल लगाकर स्नान कराने के लिए जाती थी।

मैं अपने माँ-बाप की सबसे बड़ी बेटी थी। पिता स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेकर जेल चले गए। वहाँ पंडितों के संपर्क में आकर शिक्षा का महत्त्व जान गए और मुझे स्कूल में भर्ती किया।

मेरी स्कूली शिक्षा बड़ी कठिनाइयों से चलने लगी। मेरे माँ-बाप शिक्षित नहीं थे और हमारी जाति में पुरुष भी स्कूल नहीं जाते थे। स्त्री का स्कूल जाना कोई पसंद नहीं करता था। इसलिए मेरा पढ़ना-लिखना एक साहस का ही काम था। घर में बेहद ग़रीबी, एक छोटे-से कमरे में माँ-बाप और चार बच्चों का जीवन

चलता था। मिट्टी की ज़मीन को माँ गोबर से लीपापोती करती थी। झोंपड़ी जैसे कमरे के एक कोने में चूल्हा, दूसरे में स्नान करने की जगह, बाक़ी आधा स्थान भोजन करने, सोने और पढ़ने के काम आता था। हमारे घर में प्रकाश के लिए कंदील भी नहीं थी। काला धुआँ उगलता हुआ मिट्टी के तेल का एक दीया जलता था, बार-बार बुझ जाता था। घर के सामने थोड़ी दूरी पर ब्राह्मण के बच्चे अपने चबूतरे पर कंदील के प्रकाश में पढ़ते थे। मैं भी वहाँ जाती थी और दूर बैठकर पढ़ती थी। वहाँ सिरमुंडी, कुंकुमरहित भाल और बिना कंगन के हाथोंवाली, लाल साड़ी पहने असुंदर बुढ़िया थी। मुझे देखते ही, ''शूद्र कलमुँही...पढ़ना चाहती है...मुँहजली!...कलयुग है, ज़माना बिगड़ गया है...!'' कहती थी और चिड़चिड़ाहट करती थी। बचा-खुचा खाने को देती थी, न करने पर ''घमंडी कहीं की!'' कहते हुए ऊपर से फेंकती थी। कभी नीचे गिरता तो मैं बटोर लेती थी। जगह साफ़ करने को कहती थी। साफ़ करते समय साथी बच्चे हँसते थे, आँखों में आँसू आते थे। अपमानित मैं ऊँची आवाज़ में रो भी नहीं सकती थी, क्योंकि बुढ़िया सामने ही बैठी होती थी।

इस प्रकार ग़रीबी, अपमान और कठिनाइयों के बीच शिक्षा प्राप्त कर हाई स्कूल में प्रवेश पा सकी। मेरे सीनियर स्टूडेंट्स की पुरानी किताबें लेकर, उनके पुराने नोटबुक्स के बचेखुचे पृष्ठों से नोटबुक्स बना लेती थी। इसी तरह मैट्रिक पास करके ज़िला केंद्र गुलबर्गा में कलक्टर कार्यालय में क्लर्की करने के लिए चली आई। मेरे गाँव की कोई लड़की उस ज़माने में पुरुषों के बीच कार्यालय में काम नहीं करती थी। सरकारी कचहरी में काम करने वाली हैदराबाद कर्नाटक में प्रायः मैं प्रथम और अकेली स्त्री थी। आगे पढ़ने के लिए मेरा नौकरी करना अनिवार्य था। जब मैं ऑफ़िस जाती थी तो सब मर्दों की आँखें मुझ पर होती थीं। व्यंग और हँसी-मज़ाक़ की बातों को बर्दाश्त करते हुए मैंने नौकरी की और मॉर्निंग कॉलेज में पढ़कर बी.ए. और बाद में एम.ए. की उपाधि हासिल की। क्लर्क की नौकरी छोड़कर गुलबर्गा के एक कॉलेज में प्रिंसिपल बन गई।

1970 में मैंने लिखना प्रारंभ किया। झोंपड़पट्टी की स्त्रियों की वेदना, कई प्रकार के शोषण और पुरुष प्रधान समाज से उन पर होने वाले अत्याचारों के बारे में कहानी और उपन्यास लिखने लगी। उच्चवर्ग के पुरुषों से निम्न वर्ग और जाति की दलित महिलाओं पर होने वाले अत्याचार मेरी रचनाओं की वस्तु बन गई। धर्म और देवता के नाम पर महिलाओं का यौन शोषण किया जाता था। देवी के नाम पर ''जोगती'' बनाकर दलित महिलाएँ वेश्यावृत्ति में ढकेल दी जाती थीं। निर्वस्त्र करके उससे देवी मंदिर की प्रदक्षिणा करवाई जाती थी। मैं इसका विरोध करते हुए लिखने लगी। इस दिशा में ''मापुरताई मक्क्ळु (मापुरमाँ के बच्चे) नामक उपन्यास का प्रकाशन हुआ। ''हसिमांस मत्तु हद्दुगळु (कच्चा गोश्त और गिद्ध)'' उपन्यास पर फ़िल्म बनी। मराठी में इसका अनुवाद भी हुआ। लेखनकार्य चलता रहा। मेरी 32 रचनाएँ प्रकाशित हैं।

सारे कर्नाटक में शूद्र महिलाओं की वेदना को रेखांकित करने वाली मात्र मैं अकेली महिला उपन्यासकार हूँ। वैदिक पृष्ठभूमि की किसी लेखिका ने झोंपड़पट्टी के अनुभव साहित्य की रचना नहीं की है। इस दिशा में लिखने वाली एकमात्र शूद्र लेखिका के रूप में ही आलोचकों ने मुझे देखा है। इसलिए मुझे मेरे परिश्रम की सार्थकता लगती है।

उपन्यास की रचना मैंने न ख़ुशी के लिए न ही जीने के लिए की है। जीने के लिए मेरी नौकरी थी। अनपढ़ भोली, निम्नवर्ग जाति की महिलाओं की हृदय वेदना, शोषण और अत्याचार को चित्रित करने के लिए और इसके कारणीभूत उच्चवर्ग के पुरुषों की भ्रष्ट यौनभावना और क्रूरता को खोलकर रखने के लिए मैं लिख रही हूँ।

साहित्य के इतिहास में दलित लोगों की वेदना का चित्रांकन और चिंतन आज के समय की अनिवार्यता है। यों तो कर्नाटक की श्रेष्ठ साहित्यिक परंपरा है। कन्नड़ की प्रथम व्याकरण रचना ''कविराजमार्ग'' गुलबर्गा ज़िले के मळखेड में लिखी गई है। 12वीं सदी का वचन साहित्य इसी प्रदेश की उपज है। विश्व की श्रेष्ठ

साहित्यिक-सामाजिक क्रांति यहाँ हुई थी। स्त्री-पुरुषों की समानता की बात वचन साहित्य द्वारा ब अल्लमप्रभु, चन्नबसवण्ण आदि वचनकारों ने की थी। दलित शुद्रादि महिलाओं ने वचन साहित्य की की थी। सूळे (वेश्या) संकव्वे, आय्दक्कि लक्कम्मा, काळव्वे, हडपद लिंगम्मा, गोग्गव्वे जैसी अति वर्ग की महिलाओं ने भी साहित्य की रचना की है। वेश्या सुळेसंकव्वे तक ने पुरुषों के साथ वचन की सृष्टि की थी। सैकड़ों की संख्या में निम्न जाति और निम्न वर्ग के श्रमिकों ने समाज के हित को रखकर, काव्य की रचना करने का विचार भारतीय साहित्य और संस्कृति के इतिहास में अनुपम उदाह

दास साहित्य भी इसी प्रदेश की देन है, जहाँ काव्य और संगीत का सुंदर समन्वय मिलता है। पर वाले दिनों के लगभग 700 वर्षों तक स्त्री हाशिए में चली गई। पुरुष प्रधान व्यवस्था में उसका अ ही मिट गया। वह फिर से जागृत होती है तो वह 19वीं सदी में।

केंद्र साहित्य अकादेमी से पुरस्कार प्राप्त मेरा उपन्यास ''बदुकु'' मेरे ज़िले के एक छोटे से गाँव प्रादेशिक रचना है। भारतीय संस्कृति का तात्पर्य वैदिक शिष्ट संस्कृति मात्र मानी गई है। पर यह सत्य है। शिष्ट संस्कृति धारा में सैंकड़ों निम्न वर्ग की लोक संस्कृतियाँ आकर मिल जाती हैं। सब मिलकर संस्कृति बनती है, बननी चाहिए। ''बदुकु'' उपन्यास में उपसंस्कृतियों को मैंने उपस्थित किया है। इ ''उपसंस्कृति'' नहीं बल्कि समसंस्कृति कहना पसंद करूँगी।

मेरे ज़िले की निम्न वर्ग और दलित महिलाओं के अनुभव को स्वयं शूद्र महिला होती हुई इस द्वारा सारे भारत की निर्गतिक महिलाओं की वेदना को स्वर देने का मैंने प्रयास किया है। ''बदुकु'' के एक उपन्यास मात्र नहीं है, बल्कि निम्न जाति और निम्न वर्ग की सांस्कृतिक टैक्स्ट भी है। श्रमिक वर्ग रीति-नीति, हँसी और रोना, प्रेम और प्रणय, व्यभिचार और चोरी, भूख और नशा आदि चीज़ों का सांस्कृ चित्रण है। उप संस्कृतियों के अध्ययन के लिए इसे एक संदर्भ ग्रंथ के रूप में विद्वानों ने स्वीकार कि है। भाषा की दृष्टि से भी आलोचकों ने इसे एक विशेष रचना के रूप में देखा है, जो मेरे लिए खु की बात है।

मुझे लगता है कि मैं देश की अन्य प्रसिद्ध लेखिकाओं जैसे अमृता प्रीतम, कमलादास, माधवी कुट्टि माधवी देसाई से अलग हूँ। अत्यंत ही निम्नवर्ग से आई हूँ। मेरे देश की शूद्र महिला सामाजिक, आ धार्मिक और दैहिक दृष्टि से हिंसा की पात्र बनी हैं और शोषित रही हैं। ये सब निरक्षर मुग्ध महिलाएँ बिना किसी ग़लती के शोषित हैं और जानती भी नहीं कि वे किस प्रकार शोषित हैं। ग़रीबी, अंधश्रद्धा उनकी मुग्धता के साथ उच्चवर्ग के पुरुषों की स्वार्थपरता और अमानवीयता भी उनके शोषण का कारण है

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों ने शूद्रों का शोषण किया है, तो सभी वर्ण वालों ने स्त्री का सदैव शो किया है और कर रहे हैं।

ग़ुलाम नबी फ़िराक़

कश्मीरी कविता-संग्रह : *सदा ति समंदर*

मैं क्या कर रहा हूँ, इसका मुझे इल्म रहता है। अतीत और वर्तमान के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण से यह इल्म पुष्ट होता है। अपनी संवेदनशील की बदौलत मैं अतीत को देख और पढ़ लेता हूँ। बचपन से लेकर आज मेरा किया सब कुछ मेरे सामने रहता है। स्कूल, किताबें, अध्यापक, सहपाठी उम्र का परिताप, अपनों का बिछुड़ना, प्राकृतिक आपदाएँ और सबसे अधिक

विश्व में हो रहे भयप्रद और दिग्भ्रमित करने वाले परिवर्तन भी मेरी नज़र से छूट नहीं पाते। मेरी आशाएँ मेरी आशाएँ रहती हैं और मेरे डर मेरे डर ही रहते हैं। कवि होने के नाते मेरे सामने उपदेश देने का रास्ता ही नहीं बचता। इसके स्थान पर मैं अपने साथ गुज़र रही घटनाओं से गहरे जुड़ जाता हूँ, जो मेरी होती हैं और जिनके सच का मैं मज़ा लेता हूँ। उनको आकार देते समय मैं उपमाओं और सटीक शब्दों की तलाश में जुट जाता हूँ, न तो पहले से प्रयुक्त भाव और न ही उपमाएँ, रूपक आदि मेरे काम आते हैं। इस तनाव भरे माहौल में जब मुझे कुछ कौंधता है और जिन्हें शब्दों का जामा पहनाना होता है तो मैं एक भाषाविज्ञानी की तरह काम करने से भी नहीं हिचकिचाता। यह एक पीड़ादायक श्रम है जो सृजनकर्ता के पसीने निकाल देता है। इस मुश्किल घड़ी में मेरी तीक्ष्ण निरीक्षण दृष्टि मेरी मदद करती है। मेरी जी तोड़ कोशिश रहती है कि जो कुछ मेरे दिमाग़ में कौंधे, उसे पकड़ूँ और पाठकों के समक्ष कर दूँ ताकि वे भी उसके सौंदर्य और सच्चाई का मज़ा ले सकें। विभिन्न मौक़ों पर खेलते, पढ़ते, चलते, सगे-संबंधियों, दोस्तों के बीच उठते-बैठते कभी भी कुछ कौंध जाता है।

बीसवीं सदी के अवसान पर मेरी भेंट उस सदी से हुई। वह इंसानों से ख़ुश नहीं थी, उसने उन्हें ख़ून बहाते, युद्धरत, नगरों और सभ्यताओं को विनष्ट करते हुए पाया। उसने कहा कि आदमी आदमी पर एटम बम गिरा रहा है। उसे इंसान की पशुवृत्ति से तहेदिल से नफ़रत थी। ये सब अनुभूतियाँ मेरी संवेदनशीलता की भट्ठी में भभकती हैं और मेरे पास उस समय आ खड़ी होती हैं जब मैं उन्हें आकार देने में मशग़ूल होता हूँ।

जयंती नायक

कोंकणी कहानी-संग्रह : *अंथाम*

शुरू में मैं केवल अपने आसपास के लोगों और उनकी परिस्थितियों के बारे में लिखती थी। लेकिन बाद में जब उच्च शिक्षा और नौकरी की बदौलत मेरे अनुभव बढ़े तो मेरी कल्पनाशीलता ने और विस्तार लिया और तब मेरे लेखन के विषयों और प्रसंगों में भी परिवर्तन आया।

मैं व्यक्तिगत रूप से लेखक के सामाजिक सरोकारों से जुड़े रहने में विश्वास रखती हूँ, मेरे मतानुसार वास्तविक साहित्य वह है जो समाज को ऊँचा उठाने के लिए दिशा निर्देश देने और सामाजिक अन्याय के प्रति आवाज़ उठाने के उद्देश्य से लिखा जाए। मैं नारीवादी नहीं हूँ लेकिन मैं पुरज़ोर रूप से महिलाओं के सशक्तिकरण का समर्थन करती हूँ। मैं तो संपूर्ण मानव जाति के सशक्तिकरण का समर्थन करती हूँ। मैं महसूस करती हूँ कि यह सशक्तिकरण केवल आर्थिक ही न हो बल्कि मानसिक भी हो। मेरा ज़्यादातर लेखन महिलाओं पर केंद्रित है। इसकी वजह यह है कि हालाँकि हमारा समाज पितृसत्तात्मक है तब भी मैंने पाया है कि परिवार और घर की धुरी औरत ही है। मैंने देखा है कि औरत, बुरा वर्ताव किए जाने और सताए जाने पर भी, हमेशा अपने परिवार की तरक़्क़ी और सुरक्षा के लिए संघर्षरत रहती है। पिछले दस-बारह सालों से मैं लोक-साहित्य के शोध में सक्रिय हूँ। लेकिन साहित्य में एक ''देवी माँ'' की संकल्पना है। हमारे समाज में, जिसमें लोक सभ्यता प्रधान है, अभी भी औरत एक प्रमुख भूमिका निभाती है। यही कारण हो सकता है कि जब भी मैं ग्रामीण जीवन के किसी भी विषय पर लिखती हूँ तो मेरा लेखन नारी केंद्रित हो जाता है।

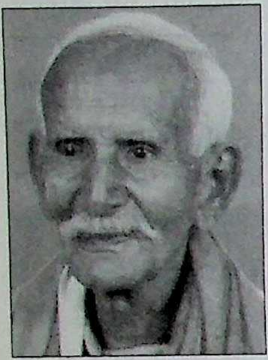

चंद्रभानु सिंह

मैथिली महाकाव्य : *शकुंतला*

अपने शकुंतला महाकाव्य की रचना के संबंध में मैं यह कहना चाहता हूँ कि उसकी प्रेरणा मुझे सर्वप्रथम दो शताब्दी पूर्व के विश्व प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे से मिली थी। उन्होंने कालिदास रचित ''शकुंतला'' नाटक को पढ़कर अपने विचार कविता के माध्यम से प्रकट किए थे।

सन् 1939 ई. में मैंने प्रेमचंद का एक निबंध पढ़ा जिसमें उन्होंने हिंदी के महाकवियों से दो उपेक्षिता नायिकाएँ शकुंतला और दमयंती पर महाकाव्य की माँग की थी। उस समय मैं बैद्यनाथ धाम देवघर के ''गोवर्द्धन साहित्य महाविद्यालय'' का छात्र था। तत्कालीन प्राचार्य डॉ. नारायण सुधांशु के माध्यम से मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध के पास इस संबंध में अपनी जिज्ञासा प्रकट की लेकिन इसका कोई उत्तर नहीं मिला। मेरे मन में यह बात बैठ गई।

सर्वोच्च आदि आर्यवंश की कहानी जिसे किसी भारतीय भाषा में सबसे पहले संस्कृत में सम्राट कवि कालिदास ने ''रूपक'' में चमत्कारिक ढंग से सँजोई है, उस महाकाव्य का रूप गढ़कर मैं अपने को गौरवशाली अनुभव कर रहा हूँ। कोई महाकवि भले ही नभ गंगा के शुभारंभ का पुल गढ़े किंतु मैंने सामान्य जन की सुविधा के लिए सहज पगडंडी तैयार कर दी है।

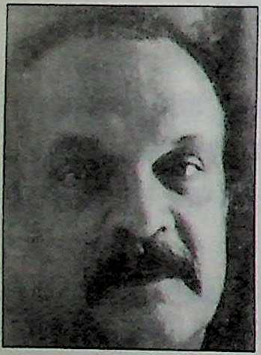

पॉल ज़कारिया

मलयालम कहानी-संग्रह : *ज़कारियायुटे कथकळ*

मेरे विचार से भारतीय साहित्य की विलक्षण और दिलचस्प बात यह है कि कोई भी अकेली रचना ऐसी नहीं है जिसे उठाकर यह दावा किया जाए कि वह भारतीय रचना है, ''एकदम विशुद्ध भारतीय'' भारतीय साहित्य लगभग 15-20 भाषाओं में लिखा जा रहा है और सबमें ही अच्छा लिखा जा रहा है। कुछ प्रसिद्ध हो जाता है, कुछ नहीं। लेकिन ऐसा तो सब जगह ही लेखन के साथ होता है। उत्कृष्ट कृतियाँ कभी-कभी सामने ही नहीं आ पातीं क्योंकि साहित्य एक आवश्यक चीज़ नहीं है। जब आप भूखे होते हैं तो साहित्य आप के लिए बेकार की चीज़ है। किसी भी अकेली रचना को विशुद्ध भारतीय कहकर अलग इसलिए नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्येक में भारत के यथार्थ की परछाईं होती है।

मलयाली सभ्यता का नागरिक होने के नाते मुझ में हमेशा रोष उत्पन्न होता है कि भारतीय सभ्यता के एकीकरण के कारण मुझे अतीत जैसी नई उत्पन्न समस्याओं के बोझ को ढोने का हिस्सा बनने पर मजबूर होना पड़ता है जैसे कि इस्लाम के प्रति तिरस्कार की भावना—कश्मीर में हिंसा आदि। महिलाओं और पुरुषों के शासन, जिन्हें कि जातीय नफ़रत और हिंसा फैलाने में महारत हासिल थी, आए और चले गए उसके बाद मैं थोड़ा ज़्यादा आत्मविश्वासी हो गया, क्योंकि मेरे ख़याल से इससे और बुरा क्या होगा। उम्मीद तो ऐसी ही है और मैं यह भी जानता हूँ कि पुनार्विष्कृत परंपराएँ, फिर से बुने मिथक और कपट भरे अतीत, ऊँची महत्त्वाकांक्षाएँ पालने वाले चुनिंदा अवसरवादियों को छोड़कर अब .ज्यादातर भारतीयों के लिए कुछ

मायने नहीं रखते। और, मैं गुजरात में हुए ख़ून-ख़राबे को भी भूला नहीं हूँ। भारतीय होने का विचार मुझे पसंद है क्योंकि मैं आशावान हूँ। मैं आशावान इसलिए हूँ क्योंकि हम कालक्रम में अपने ऊपर लादी सभ्यता, धर्म, भाषा और राजनीति द्वारा गढ़ी एकता को सहन कर लेते हैं। मैं आशावान हूँ क्योंकि हम आश्चर्यजनक रूप से एक होकर रह लेते हैं एक राष्ट्र की तरह, और तब भी जबकि यहाँ कुछ लोगों की सभा में यदि हम अपनी-अपनी भाषा में बोलें तो भ्रामक स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। मतभेद होने के बावजूद शांत बने रहने की योग्यता, मेरे विचार में भारत को मज़बूती प्रदान करती है। एक दिन तिरुवनंतपुरम के हवाई अड्डे पर मैंने एक महिला को, जो कि एक राजनीतिक दल की अध्यक्षा हैं, को टर्मिनल के अंदर आते देखा। मैं मंत्रमुग्ध हो गया। मैंने ख़ुद को कहा : इसे देखो! दूर देश से आई यह महिला है जो अपने अंदर से न जाने कितनी अकेली होगी लेकिन केरल की राजनीति के कुएँ में घुसने के लिए कितनी फुर्ती से आ रही है। फिर मैंने सोचा कि भारत को भी इन्हीं अर्थों में हम देख सकते हैं। हम सब इसी तरह हैं—अंतरंगी और बाह्य व्यक्ति दोनों। हाँ, कभी-कभी आप को बुरा लगता है कि तमिल वाला ओड़िया में लिखा जा रहा साहित्य नहीं पढ़ सकता या मराठी भाषी मलयालम में लिखा नहीं पढ़ पाता। मेरे विचार से ऐसा भी चलेगा, कम से कम कोई आपको लिखने से रोक तो नहीं रहा, या फिर आपको किसी के कहने पर लिखना नहीं पड़ रहा, या फिर आपको किसी विशेष भाषा में ही लिखना ज़रूरी नहीं। यदि आपको इतिहास याद हो तो मालूम होगा कि ऐसा हमारे साथ हो चुका है। लेकिन हम बच गए क्योंकि हमें अलग-सा दिखने में कोई शर्म महसूस नहीं होती। मेरे ख़याल से हमें शर्म तब महसूस करनी चाहिए जब हम किसी के अलग दिखने पर उससे नफ़रत करने लगें। भारतीय साहित्य की ताक़त यही है कि सभी भाषाएँ यहाँ अपनी पहचान रखती हैं और अपनी नियति तय करती हैं। ऐसा दिन शायद कभी नहीं आएगा जब हम अपनी सभी भाषाओं में अपनी कृतियों का अनुवाद पाएँगे। वह काम काफ़ी बोझिल होगा। अच्छा यह होगा कि हम कुछ हद तक एक-दूसरे से रहस्यमय बने रहें। इससे भारत ज़्यादा रोचक बनेगा और इसी से हम उन शक्तियों से लड़ने में समर्थ हो सकेंगे जो हमारे साधारण रहस्यों को विषैले रहस्यों में बदलने में लगी हुई हैं।

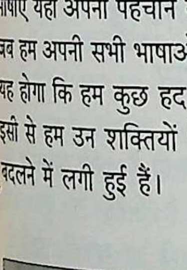

वीरेंद्रजित नाओरेम

मणिपुरी कविता-संग्रह : *लांथेङ्नरिब लान्मी*

सन् 1980 से मेरी साधना प्रारंभ हुई। इसी समय मणिपुर में एक सशक्त क्रांतिकारी दल अपना सामर्थ्य दिखाने लगा। क्रांति से उत्पन्न पीड़ाओं के संग मेरी कविताएँ पलीं। यह अवस्था सभी मणिपुरी साहित्यकारों की है। हम ख़ून-ख़राबा नहीं चाहते हैं, लेकिन हर दिन प्रत्येक दैनिक पत्र की ख़बरें स्याही से लिखी होती हैं। दो-दो शक्तियों की भिड़ंत में केवल जनसाधारण ही जल रहा है। तब भी हमारी कविताएँ विद्यमान हैं—गोलियों के बीच, क्रंदनों और मुरदाघरों के बीचोंबीच। हमारी कविताएँ पुत्र-वियोग से पीड़ित माताएँ हैं, पति-वियोग से तापित नववधुएँ हैं; पंक्ति में खड़ा करके गोलियों से उड़ाए गए निरुपाय नवयुवकों की मित्र हैं तथा वह औरत है जिसकी इज़्ज़त अपने आदमी के ही सामने लूट ली गई है। आज तक हम इस तरह के वातावरण से आज़ाद नहीं हुए हैं। हमारा भय आज भी है। तभी तो मेरी कविता कहती है—ए बंदूक़ची! शस्त्रहीनों के साथ गोलियों से न्याय मत करो। जनसाधारण को हिंसा नहीं, शांति चाहिए। समसामयिक उन्नति की दौड़ में भाग लेकर एकता और प्रेम

के वातावरण में जीना चाहती है जनता। लेकिन सत्ता की छीनाझपटी, बंदूक़-संस्कृति, घूसखोरी आदि चपेट में आकर जन-जीवन की कामनाएँ चकनाचूर हो गई हैं। जनता की आवाज़ कौन सुनता है? कविता आज के समाज में अनिश्चित जीवन जीनेवाली, बड़ी शक्ति के पाँव तले कुचली हुई, ग़लत से बलपूर्वक हरायी गई, अपने ही घर में असत्य जीवन जीने वाली जनता की घायल आवाज़ है। आवाज़ कुछ साहित्यकारों के द्वारा सुन ली गई है। अपने देश के प्रतिष्ठित लेखकों और कवियों से अनुरोध है कि वे अपनी-अपनी रचनाओं में कम-से-कम एक ऐसे शब्द का प्रयोग करने का कष्ट जिसमें मणिपुर की जनता की पीड़ा को दूर करने का सामर्थ्य हो। मैं तो अपने जीवन को एक रणभूमि मा हूँ। हमेशा अपने भाग्य से लड़ता रहता हूँ। हार और जीत से मेरा कोई लगाव नहीं है क्योंकि एक न दिन मरना निश्चित है। लड़ने की योग्यता मुझमें है। इसमें मैं संतुष्ट हूँ। तभी तो कहना चाहूँगा–

मृत्यु तो होगी अवश्य एक दिन
लड़ते-लड़ते किसी ज़मीं पर
सिर्फ़ रणक्षेत्र में मरना
कैसे कहेंगे हार?
मरने को तैयार
होना ही है जीत।

सदानंद नामदेवराव देशमुख

मराठी उपन्यास : *बारोमास*

मैं महाराष्ट्र में विदर्भ क्षेत्र के बुलडाणा जिले का निवासी हूँ। कृषि व्यवसाय है यहाँ की जनता के भरण-पोषण का माध्यम रहा है। लेकिन गत कुछ व से खेती का व्यवसाय फलदायी प्रतीत होता नज़र नहीं आ रहा है। खेती अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों की तुलना में यह व्यवसाय पर्या आर्थिक प्राप्ति देने में असफल रहा है। यह विचारधारा किसानों की शिक्षित संतान में जोर पकड़ रही है इसीलिए शायद कृषि में श्रम करने के प्रति कोई भी शिक्षित मनुष्य आकर्षित नहीं हो पाया है। यह चि करने जैसी बात है। और हमारी अर्थव्यवस्था को भी इस विचारधारा से खतरा पैदा हो सकता है।

परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों के मन में आकर्षण का विषय खेती है। और अन्य पालतू जानवरों के प्र जो आकर्षण था वह उसी प्रकार स्थित है। आज के ग्रामीण परिवेश में एक अटल ऐसा "मूल्य संघ पैदा हुआ है। दूसरी ओर कृषि में अधिक उपज हेतु रासायनिक खाद और कीटाणुनाशक दवाइयों का अधि मात्रा में प्रयोग होने के कारण इसका प्रभाव पर्यावरण और कृषि उपज पर हुआ है। इस बात से हम इन नहीं कर सकते। इसके साथ-साथ ग्रामीण युवकों की बढ़ती हुई बेरोज़गार की समस्या दिन प्रतिदिन जटि होती जा रही है। इसके ही कारण आज की सामाजिक व्यवस्था गंभीर अवस्था से गुजर रही है।

मेरा जन्म एक किसान परिवार में होने के कारण इस माहौल का, एक संवेदनशील रचनाकार होने के नाते मेरे मन पर इसका प्रभाव होता रहा। कृषि क्षेत्र के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ-साथ मराठी विषय लेक एम.ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने के कारण मराठी साहित्य की परंपरा से मैं परिचित था। इसी दौर में मेरी कहानियाँ और कविताएँ प्रकाशित हो रही थीं। इसलिए सामाजिक वातावरण और "मूल्यसंघर्ष" का चि

मेरे साहित्य में होना ज़रूरी था और यह मेरा साहित्यिक दायित्व है। ऐसा मेरा मन मुझे बार-बार कह रहा था। इसलिए मैं समय-समय पर अपने प्रत्यक्ष अनुभव और निष्ठा से सामाजिक वफादारी प्रकट कर लिखता रहा।

“खोल ओली पडे ते पिक उत्तम। उथळाचे श्रम वाया जाय।।” मराठी महान संत कवि तुकाराम महाराज की इन पंक्तियों से मैं एक भूमिपुत्र और संवेदनशील लेखक होने के नाते हमेशा एकनिष्ठ रहा हूँ। लिखने की दिशा और विषय निश्चित होने के बाद लगातार मनन और चिंतन कर मैंने अपने तीन कहानी-संग्रह और “तहान”, “बारोमास” इन उपन्यासों को लिखने का काम किया है।

लेखक को दिग्दर्शन करने के बजाय सूचकता से सुझाव करना चाहिए। इस प्रकार की मेरी विचारधारा होने के कारण “तहान” उपन्यास को मैंने लिखकर अपने जन्मगाँव के परिवेश में जल की समस्या को उजागर किया है। इस समस्या से मुक्ति पाने के लिए “जलसंघारण” या पानी का कम मात्रा में प्रयोग किया जाना चाहिए या पानी का जीवन में क्या महत्त्व है, इसे मैंने सूचित किया है। आज वास्तव में सरकार ने “जलसंघारण” को एक अभियान बनाकर जनता तक पहुँचाने की कोशिश चलाई है। यह ही “तहान” (प्यास) इस मेरे उपन्यास का विषय था, इस बात की मुझे ख़ुशी है।

मेरे विदर्भ क्षेत्र और पड़ोसी राज्य आंध्र के ऋण में डूबे हुए किसानों ने ख़ुदकुशी की है। इसे आपने समाचार पत्रों के माध्यम से पढ़ ही लिया होगा। इस प्रकार की किसानों की ख़ुदकुशी की इस समस्या से परिवार की नारियाँ और संतान के सम्मुख निर्वाह की समस्या पैदा हुई है। परिवार प्रमुख की मृत्यु के बाद परिवार के सदस्यों के दुख की तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

दूसरी ओर निजीकरण और जागतिकरण के कारण कृषि संस्कृति पर इसका सीधे गंभीर प्रभाव पड़ा है। खेती में हुआ ख़र्च उपज के बाद प्राप्त नहीं होता और ऐसा आर्थिक विपत्तिग्रस्त किसान को मरते हुए देखकर किसी को भी बात का बुरा नहीं लगता, यही हमारी समाज-व्यवस्था की कमज़ोरी है। और इसी विषय को मैंने समाज के सम्मुख रखा है क्योंकि यही उपरोक्त विचार मुझे समय-समय पर अस्वस्थ करता रहा। जो भी कुछ कहना है वह कहानी और कविता के माध्यम से प्रकट करना संभव नहीं। यह बात जब मेरी समझ में आई तब मैंने “बारोमास” (बारह महीने) उपन्यास को लिखना उचित समझा।

बारह महीने का काल अर्थात् “बारोमास” इस शब्द का किसान के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसान स्वयं खेत में “बारोमास” मेहनत करता है। उसे सरकारी कर्मियों की तरह समय-समय पर अवकाश नहीं होता। अन्य व्यवसाय की तरह वह अपना व्यवसाय बंद भी नहीं कर सकता।

बारिश में बीज बोने के बाद फसल पकने के अंत में जब उसके हाथों में कुछ भी नहीं आता, तब किसान की मानसिक अवस्था की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यह बात गंभीर होकर सोचने जैसी है। किसान के नसीब में हमेशा दरिद्रता का सामना करना ही लिखा है। उसके इस संघर्ष और दुख का चित्त “बारोमास” उपन्यास का मुख्य विषय है। किसान की संतान के मन में सकारात्मक भावना मैं पैदा कर सका, यही चित्र बहुत ही भेदक, प्रभावशाली और कलात्मक होने के कारण ही आलोचकों और वाचकों ने जो इस उपन्यास का सम्मान किया उसके लिए मैं मन से प्रसन्न हूँ।

मेरे इस उपन्यास ने सामाजिक दायित्व निभाने का काम किया है। साहित्य का निर्माण ही समाजसेवा का महत्वपूर्ण अंग है। ऐसा मैं मानता हूँ।

साहित्य के माध्यम से विशेष महत्त्वपूर्ण और समाज-मन पर होने वाला प्रभाव चिरस्थायी और संस्मरणीय स्वरूप का होता है। सामाजिक दायित्व को ध्यान में रखकर लिखने वाले लेखक को इस बात की पूरी जानकारी होती है और वह इसमें माहिर होता है।

जस योंजन 'प्यासी'

नेपाली कविता-संग्रह : *शांति संदेह*

देश और समाज का एक जागरूक नागरिक होने के नाते, किसी भी भाषा साहित्य के सृजनशील रचनाकार को जन-कल्याण के मार्ग से नहीं चाहिए, विशेषकर तब जब वह अपनी अनुभूतियों और भावों को समका पूर्वकालीन या किसी भी रूप में काग़ज़ पर उतार रहा हो।

हालाँकि इसमें मतभेद है कि साहित्य साहित्य के लिए है या साहित्य जीवन के लिए है। मैं व्यक्ति रूप से दूसरे पक्ष को पसंद करता हूँ कि साहित्य जीवन के लिए है अर्थात् समाज के लिए है क्योंकि ले भी समाज का ही अंग है जिसका हमेशा से समाज के साथ अटूट संबंध रहा है। इसी वजह से, प्र रचनाकार का यह उत्तरदायित्व है कि वह समाज को कुछ दे। अपने रचनात्मक लेखन के जरिए उत्तम वि के उपाख्यान समाज के नासमझ सदस्यों हेतु दे। मुझे विश्वास है कि वर्तमान समाज में व्याप्त जटिलताएँ तो प्रत्येक को एक विकृत और अनिश्चित दिशा की ओर धकेल रही हैं, उन्हें पुनर्दिशा केवल लेखकों उद्दीप्त रचनाओं से ही मिल सकती है।

प्रफुल्ल कुमार मोहांती

ओड़िया समालोचना : *भारतीय संस्कृति ओ भगवद्गीता*

मैंने ओड़िया, अंग्रेज़ी और हिंदी में लिखी अपनी किताबों में इंसान की मह को—प्रेम और विछोह, आसक्ति और त्याग, निर्जनता और अपवर्तन दौरान जाँचा और परखा। मेरा विश्वास है कि इंसान महान है, स्वभावतः द है, मान-मर्यादा में अडिग होता है : यदि वह असफल होता है और गिरता तो वह केवल अपनी ख़ुद की और संसार की तरफ़ बरती अज्ञानता से, अ उत्तरजीवन के डर से और अपनी ठीक से समझ न आने वाली तकलीफ़ों की वजह से ही। मेरे न *कालाझन्हा* (काला चंद्रमा) में मेरा नायक कहता है : दुख अबूझ रहिले लूह झारे—आँसू बहते हैं जब दु और तकलीफ़ समझ नहीं आते। मेरी धारणा यह है कि इंसान अकेला ही क़ुदरत के नियमों को समझ मानव-परिस्थिति बदल सकता है। उसकी समुत्थान-शक्ति, गौरव, सहनशक्ति, कार्य चेतना औ आत्मशक्ति सबकी लगातार प्रकृति परीक्षा लेती रहती है। वह श्रेष्ठ बन जाता है जब ख़ुद से ऊपर उठ दूसरों के दुखों को अपने मन-मस्तिष्क में समाहित कर लेता है। मैं निष्ठावान मानवतावादी इंसान अभिनंदन करता हूँ।

सुतिंदर सिंह नूर

पंजाबी निबंध-संग्रह : *कविता दी भूमिका*

पुस्तक ''कविता दी भूमिका'' में समकालीन पंजाबी कविता का पुनः मूल्यांकन किया गया है। कविता के समस्याकार, विधा या रूपाकार में जो बदलाव आए हैं, उन्हें विचारा गया है तथा बीसवीं शताब्दी की समस्त पंजाबी शायरी में से चुनिंदा पुस्तकें लेकर उनका पाठ्यगत अध्ययन किया गया है। और इस प्रकार यह पुस्तक बीसवीं शताब्दी की समस्त समकालीन पंजाबी कविता के विकास का पश करती है। इसके साथ ही यह पुस्तक कविता के अध्ययन की विधि के बारे में भी चेतन रहती है। मैं जिस अध्ययन विधि को ग्रहण करता हूँ, उसके पीछे वो सारा विकास भी है, जो कविता की आलोचना या समीक्षा संबंधी सैद्धांतिक रूप में सामने आया है। मेरा भाव यह है कि रूपवाद, संरचनावाद, चिह्न विज्ञान या मार्क्सवाद के इर्द-गिर्द जो वाद-विवाद हैं, वो भी इस अध्ययन विधि का अंग है, परंतु इनको अवचेतन बनाकर कविता की संरचना का अध्ययन करना मेरी विशेष विधि है। इसके साथ प्रत्येक कवि व प्रत्येक रचना की भिन्नता व विशेषता को पहचाना जा सकता है। कविता के आंतरिक विचारधारक प्रतिमानों का भी सही अंदाज़ा लगाया जा सकता है। इस प्रकार मैंने समकालीन पंजाबी कविता की अध्ययन विधि की एक नई भूमिका तैयार की है, जिसका समकालीन पंजाबी आलोचना पर प्रभाव भी पड़ा है।

जैसे मैंने कहा है कि मेरी कविता के साथ विशेष प्रतिबद्धता है तथा मैंने महसूस किया है कि मैंने कविता की गहराइयों को उसकी चुप तक सृजन करने का प्रयत्न भी किया है और पहचानने का भी। कविता की सृजनात्मकता के साथ जुड़ने के कारण ही मैं कविता के अध्ययन में गहरा गया। पाब्लो नेरुदा, इज़रा पाऊंड, आक्तोवियो पॉज जैसे कवियों को मैंने विस्तृत ढंग से पढ़ा। पाब्लो नेरुदा की ''माचु पीचु दे सिखर'' की लंबी कविता का पंजाबी में अनुवाद भी कर रहा हूँ। मुझे लगता है कि मैं कविता के अनुभव व प्रक्रिया के साथ जुड़ने के कारण ही कविता की विस्तृत आलोचना करने के योग्य हुआ। आलोचना के लिए सृजन के भेद को समझना ज़रूरी है। सृजन की गहराइयाँ ही आलोचना की गहराइयों का भेद देती हैं। आलोचना केवल तकनीकी जानकारी नहीं होती। यदि आलोचक पाठक को उस सृजनात्मक गहराई तक पहुँचाता है, वास्तविक आलोचना मैं उसी को समझता हूँ।

पिछले कुछ समय में जो आलोचना हमारी विभिन्न भाषाओं में सामने आई है, वो कई बार तकनीकी जाल में ज़्यादा उलझती जा रही है। मेरा विश्वास है कि इतना तकनीकी जाल में उलझना ठीक नहीं। आलोचना का सहज संचार के साथ जुड़ना अति आवश्यक है। उसे तभी संपूर्ण विकास की पहचान भी रह सकती है तथा वो पाठक के संग एक दिलचस्प व आकर्षक रिश्ता भी कायम कर सकती है।

जैसे कविता उस विधान को त्याग आई है, जिसमें बहुत ज़्यादा अलंकारों, प्रतीकों का प्रयोग व बौद्धिक उलझनें होती थीं। इसी प्रकार आलोचना बहुत जटिल व गुंझलदार तकनीकी जाल से पार होती है। यूँ मैं महसूस करता हूँ कि मैंने पंजाबी आलोचना में एक परिवर्तन लाने का एक सहज-सा प्रयास किया है। उस आलोचना से आगे बढ़ने का प्रयत्न किया है, जो निरोल निश्चिंततावादी होती थी, जिसमें केवल विचारधारा को प्रमुख रखा जाता था तथा रचना की एक तरफ़ ही दुबकी पड़ी रहती थी। प्रत्येक रचना में कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं, जिन्हें पहचानना आलोचक का सर्वप्रथम कार्य है। ''कविता दी भूमिका'' तथा बाकी आलोचना में मैंने ऐसी सहृदयता को कायम रखने का प्रयास किया है। यह सहृदयता ही आलोचना के सही अर्थों व भाषा को बनाती है। मेरा विरोध आलोचना का वास्तविक कार्य नहीं, न यह साहित्यिकता के

साथ न्याय है, परंतु इस सहृदयता की पहचान तब अधिक होती है, जब कोई सृजनता व समीक्षा के साथ एक जैसी चेतना के साथ जुड़कर काम करते हो। इसलिए मैं काव्य सृजन व आलोचना दोनों को सृजन प्रक्रिया के रूप में ही देखता हूँ। यह मेरा साहित्यिक विश्वास है।

नंद भारद्वाज

राजस्थानी उपन्यास : *सांम्ही खुलतौ मारग*

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में काम करने वाले सृजनधर्मियों के सामने आज सबसे बड़ी चिंता का विषय यह है कि भाषा और साहित्य की साख को किस तरह कायम रखा जाए। जीवन की आवश्यकताओं और लोगों की रुचियों में इतना बदलाव आ गया है कि खुद साहित्य की प्रासंगिकता आज बहस के घेरे में आ गई-सी दिखती है। ऐसे समय में किसी भाषा के रचनाकार के काम को समझना और उसका मूल्यांकन करना निश्चय ही जोख़िम का काम लगता है। ज़ोख़िम इस बात का भी है कि किसी के साथ अनजाने अन्याय न हो जाए। कई लोगों को इस बात का भारी गुमान रहता है कि वक्त और सारी क़ायनात उन्हीं के चलाए चलती है, और वे न चाहें तो नीम की पत्ती भी नहीं हिलती। लेकिन अनुभव तो यही सिद्ध करता है कि वक्त किसी के दाव में नहीं आता। वक्त के कई रूप होते हैं। वह घड़ी-पल में व्यतीत होता है—वह दिनों, महीनों, वर्षों और युगों में अपनी आवृत्ति दर्शाता है, लेकिन किसी आवृत्ति में वह वक्त कभी पलट कर नहीं आता, जो अपना दरसाव पूरा कर आगे बढ़ जाता है। अच्छा रचनाकार कभी अपने वक़्त की बेक़द्री नहीं करता और न कभी अपने को वक्त से ऊपर या अलहदा आँकने की भूल करता है। विगत, वर्तमान और आगत (भविष्य) के अटूट क्रम में हरेक रचनाकार अपनी जीवन-यात्रा और काम इस तरह से नियोजित करता है और अपने अथक प्रयत्नों से उसे पोषित करता है कि उससे जीवन और नए सृजन की उम्मीद पूरी होती है—यहाँ तक कि उसका मनुष्य रूप में जन्म लेना सार्थक हो जाता है।

इसी जीवन-यात्रा में अपने अनुभव और हालात की जानकारी के मुताबिक जब कभी अपने परिवेश में जीवन की कठिनाइयों और बदलावों को समझने की कोशिश करता हूँ तो मुझे रेगिस्तान के ग्रामीण जीवन में बदलाव की यह प्रक्रिया जाने क्यों इतनी धीमी लगती है। कोसों तक वैसी ही पसरी दिखती है अथाह बालू रेत—रेत के टीले, धोरों की घम-घेर में खोए गाँव, जहाँ चारों ओर सन्नाटा पसरा है। घरों के ऊपर से हिलते छितराए-से दरख़्त, गोचर में पनपते हरे आक, बबूल, घने कैर और पातविहीन सूखी-सी खेजड़ियों की पांत, जहाँ ज़िंदगी में नए जीवन की आस और बदलाव के संकेत शायद खोजने से ही मिलें। हर साल गर्मी में हाँफती सूनी आँधियाँ, सर्दी में वह हाड़-कँपाता शीत और साखरहित बरसात का मौसम—इस धोरा-धरती पर अच्छा ज़माना कभी आए और कभी आधे रास्ते ही वापस लौट जाए। इन्हीं कुदरती हालात में फँसी ज़िंदगी—हर साल समय की धारा में अनचीन्हे बह जाती है। पर बात तो उनकी है जो वक्त और हालात का धैर्य से सामना करते हैं और अपने जीने की जद्दोजहद में उसकी दिशा और सोच को बदलने का हौसला रखते हैं। ऐसे ही जुझारू लोगों के प्रयत्न उस सृजन की साख बनाते हैं, जो जीवन में नए नज़रिए और बदलाव की पुरज़ोर हिमायत करते हैं।

आज़ादी के बाद इन पचपन वर्षों में जद्दोजहद करती ये ज़िंदगी आज भी वैसे ही नंगे पाँव भागती

है। हालात का सामना करती है। मुल्क़ के बड़े-बड़े ऊँचे ठिकानों, महक़मों और नामी-गिरामी माने जाने वाले इनसानों के बीच रहने-जीने के उपरांत भी उसे अपनी जन्मभूमि, माँ की बोली-बानी और बचपन के वे सादे-साथी, जो आज भी उन्हीं हालात में जीते हैं, अपने मन के ज़्यादा नज़दीक और अपने-से लगते हैं। उसके वश में होता तो यह बची हुई ज़िंदगी उन्हीं के बीच बिताना पसंद करता, लेकिन अब यह बात उसके वश में कहाँ?

यह बात एक हद तक अच्छी लगती है कि साहित्य अकादेमी सभी भारतीय भाषाओं के सृजन को पूरा सम्मान देती है और इस मामले में वह ''मेजर'' या ''माइनर'' भाषाओं का कोई भेद नहीं रखती—यह बात उन भाषाओं के रचनाकारों को थोड़ी तसल्ली अवश्य देती है जिनकी मातृभाषा संविधान की आठवीं सूची से अभी बाहर है। मैं और मुझ जैसे सैकड़ों राजस्थानी लेखक आज़ादी के बाद के पचपन वर्षों में जिस मातृभाषा की मान्यता के लिए प्रतीक्षारत हैं, यदि भारतीय लोकतंत्र में उसकी कोई सुनवाई नहीं होती तो हमारा निजी मान-सम्मान यहाँ क्या महत्त्व रखता है! मैं बिना किसी भावावेश या आवाज़ को ऊँचा किए अपने हृदय की भीतरी पीड़ा से यह बात दोहराना चाहता हूँ कि हमारा यह मान-सम्मान तब तक अधूरा है, जब तक राजस्थानी को भारतीय संविधान की आठवीं सूची में उसका वाजिब हक नहीं दिया जाता।

तमाम भारतीय भाषाओं के संजीदा लेखकों और लोकतंत्र के बड़े हिमायतियों के बीच आज मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि आप कितने वर्षों तक यों मौन धारण किए इस अन्याय को देखते रहेंगे और अपने सृजन में मानवीय अधिकारों और लोकतंत्र की दुहाई देते हुए कोई संकोच नहीं करेंगे! आख़िर कब तक?

देवर्षि कलानाथ शास्त्री

संस्कृत आख्यान : *आख्यानवल्लरी*

आज के संदर्भ में मैं एक ऐसी भाषा का प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ जो शायद विश्व की सबसे पुरानी और समृद्ध भाषा है और जिसने कम से कम दो ढाई हज़ार वर्ष से अपना भाषिक स्वरूप और व्याकरण आदि ज्यों का त्यों रख छोड़ा है। वह है संस्कृत भाषा जो हज़ारों वर्ष पुरानी है फिर भी नवयुवती कही जा सकती है जैसा कि वेद के ऋषि ने उषा को कहा था ''पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिः।'' सूर्योदय के समय की अरुणिमा करोड़ों वर्ष बूढ़ी है किंतु प्रतिदिन जब हम अरुणोदय को देखते हैं तो क्या वह बिलकुल ताज़ा नहीं लगता? संस्कृत में भी आज प्राचीन शास्त्रविमर्शों और पुरानी क्लासिकल विधाओं के साहित्य के साथ-साथ बिलकुल नए युगबोध और आज के सरोकारों से संबद्ध साहित्य भी लिखा जा रहा है यह कहना कोई आश्चर्योक्ति नहीं होनी चाहिए।

वैसे नया और पुराना शब्द सौंदर्य बोध के प्रसंग में कोई विशेष अर्थ नहीं रखते यह एक अलग बात है और एक अलग किंतु दिलचस्प विवाद का विषय है। मानव के सौंदर्यबोध के दो आयाम हैं, एक तो वह जो शाश्वत है जो देश और काल के साथ नहीं बदलता, जब से मानव ने सौंदर्यबोध पाया है तब से विद्यमान है और जब तक मानक है तब तक रहेगा। दूसरा वह जो परिवेश और देश के साथ बदलता है, युग परिवर्तन के साथ कुछ रूपांतरित होता जाता है। इसी तरह का एक और विवाद कभी-कभी साहित्य के सिद्धांतकारों द्वारा उठा दिया जाता है। वह यह है कि कौन-सा साहित्य शाश्वत सत्य को अभिव्यक्त करता है और कौन-सा केवल सामयिक सत्य को या युग-सत्य को। वे कहते हैं कि महान् साहित्यकार

शाश्वत सत्यों को ही अभिव्यक्त करते हैं, संस्कृत जैसी प्राचीन भाषाएँ शाश्वत साहित्य की ही करती हैं आदि। मैं ऐसा नहीं समझ पाता। मेरा मानना है कि प्रत्येक महान साहित्यकार शाश्वत स ही अभिव्यक्ति देता है किंतु उन शाश्वत सत्यों का प्रकाश युग-सत्य के गवाक्षों से ही दिखलाई दे है। पाठक युगीन परिवेश, युगीन अभिव्यक्ति, विधाओं और युगीन मुहावरों के माध्यम से ही तो श सत्यों को हृदयंगम कर सकता है।

इस चिंतन को एक दिलचस्प उदाहरण से समझा जा सकता है जिसे आपके विनोदार्थ प्रस्तुत चाहूँगा। हज़ारों वर्ष पूर्व वेद के ऋषि ने इस सारी सृष्टि को उस अमर प्रणेता की ऐसी अजर और कविता बताया था जो करोड़ों वर्षों से न समाप्त हुई है न बूढ़ी हुई है–''पश्य देवस्य काव्यं, न म जीर्यति।'' इस दुनिया को अमर काव्य बताने वाली यह वैदिक उक्ति प्रत्येक भाषा के वरिष्ठ विद्वानों कवियों द्वारा उद्धृत की जाती रही है। किंतु इस शाश्वत सत्य को प्रत्येक देश, प्रत्येक भाषा और प्र युग में अपने-अपने तरीके से अपने-अपने मुहावरों में अभिव्यक्त कर समर्थ रचनाकार अपने हर त पाठक को प्रफुल्लित करते रहे हैं। इसी बात को जब उर्दू का कवि यों कहता है–

खुदा जाने ये किसकी जल्वागाहे–नाज़ है दुनियाँ।
हज़ारों उठ गए, लेकिन वही रंगत है महफिल की।

तो आज का पाठक फड़क उठता है क्योंकि यहाँ उर्दू के कवि ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए परिवेश के अनुरूप ऐसी महफिल का बिम्ब चुना है जिससे हज़ारों के उठ जाने पर वह उतनी ही रौन दिखती है। ''उठ जाने'' शब्द में जो श्लेष है (जिसके दोनों अर्थ तुरंत समझ में आ जाते हैं) उससे इ मज़ा दुगुना हो जाता है।

मेरे निवेदन का तात्पर्य यही है कि संस्कृत विश्व की सर्वाधिक वयोवृद्ध भाषा होने के साथ-साथ भा भाषाओं की धात्री है, 'बा' है, हज़ारों वर्षों से नहीं बदली है किंतु इसके साहित्य-भंडार में निरंतर होती जाती है। वह साहित्य दोनों तरह का है। एक तो वह है जिसका हुलिया बिलकुल नहीं बदल जिसका कथ्य और शिल्प हज़ारों वर्षों से जस का तस बना हुआ है, दूसरा वह है जो युग के साथ परिधान ग्रहण करता है, नई विषयवस्तु, नई विधाएँ और नए शिल्प लेकर दुनिया भर में घूमता रहता आपको दोनों के उदाहरण मिल जाएँगे। आज शायद ही विश्व की किसी भाषा में उस प्रकार के या महाकाव्य लिखे जा रहे हों जैसे होमर का इलियड है या मिल्टन का पैराडाइज लॉस्ट है, किंतु सं में आज भी महाकाव्य लिखने वाले अनेक कवि घूमते हुए मिल जाएँगे। वाल्मीकि और कालिदास से ले आज तक संस्कृत में यह रचना-परंपरा अक्षुण्ण है, शिल्प भी अधिकांशतः ठीक वही है, छंद वही, वही। कथ्य कभी बदलता है, कभी वैसा ही रहता है। यह एक उदाहरण मात्र है। इसी प्रकार शास्त्र ले भी उसी शैली और कथ्य को लेकर हो रहा है। एक तो यह धारा है जो संस्कृत में चल रही है, दूसरी एकदम नए भावबोध को लेकर नई विधाओं, नए शिल्प और नए मुहावरे में संस्कृत में सर्जनात्मक ले करने वाले शतशः साहित्यकार आपको देश के प्रत्येक अंचल में मिल जाएँगे। इनका सर्जन संस्कृ पत्र-पत्रिकाओं में भी छपता है जिनकी संख्या विपुल है और ग्रंथाकार में भी प्रकाशित होता है।

नई और पुरानी दोनों धाराओं का ऐसा संगम आपको संस्कृत के अलावा शायद ही अन्य किसी में मिले। सर्जनात्मक लेखन की इन दोनों धाराओं के साहित्य का अधिकतर कलेवर काव्य, कविता या की विधाओं में निबद्ध मिलेगा। कविता को पद्य ही पहचान देता है यह धारणा भी संस्कृत वालों में प ने पनपाई है यद्यपि हमारे यहाँ गद्यकाव्य का भी विपुल साहित्य उपलब्ध है। वैसे अन्य आधुनिक भा में कविता की विधा पत्र-पत्रिकाओं या मीडिया में आधुनिक साहित्य का उतना प्रतिनिधित्व नहीं करती जि कथानक साहित्य (जिसे फिक्शन कहा जाता है) या अन्य गद्यबद्ध विधाएँ, ऐसी मेरी धारणा रही है,

मैंने अपना अधिकांश सर्जनात्मक साहित्य संस्कृत में कथानक और ललित निबंध विधाओं में लिखा है। मेरे इस साहित्य का परिवेश आज का जीवन है, आज के संघर्ष हैं, आज की चुनौतियाँ हैं किंतु आज का उल्लास भी है, विकास भी है, समृद्धि भी है, सिद्धि भी है। आज का सब कुछ हेय है, विद्रूप है, जुगुप्सित है, यह मानकर लिखना मैं आवश्यक नहीं मानता। आज के जीवन का, चिंतन का और सरोकारों का जितना स्वच्छ प्रतिबिम्ब कथानक और ललित निबंध साहित्य में दिखाई देना संभव है उतना अन्य किसी विधा में नहीं। यह एहसास आधुनिक संस्कृत सर्जन को देखकर भी पुष्ट होता है। वैसे आज के प्रत्येक विधा के सर्जनात्मक संस्कृत लेखन में आधुनिक जीवन की प्रत्येक धड़कन आपको स्पष्ट सुनाई दे सकती है इस तथ्य का सत्यापन ऐसे लेखन को देखकर ही हो सकता है।

सतीश रोहरा

सिंधी निबंध-संग्रह : *कविता खां कविता ताईं*

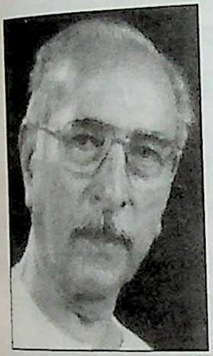

''मेरे आलोचनात्मक निबंध मेरे विचार-जगत की यात्रा के साक्षी हैं।''

उपर्युक्त वाक्य में यह बात स्पष्ट है कि किसी गंभीर विषय पर निबंध लिखने की मेरी प्रक्रिया है उस विषय के संबंध में सोचते रहना सोचते रहना। इस सोच-विचार की यात्रा में यदि मैं किसी नतीज़े पर पहुँचता हूँ तो मैं निबंध लिखता हूँ। इस तरह निबंध लिखना मेरे सोच की यात्रा है। कहानी लिखने की तुलना में निबंध कम तकलीफ़देह है क्योंकि कहानी लिखना माँ की भूमिका निभाना है। कोई घटना या चरित्र जो मुझ से बाहर है, उसको भीतर में तब तक अपनी कल्पना के जरिए पूर्ण करना होता है जब तक वह प्राणवान बनकर बाहर आने जैसा हो जाए।

मेरी सृजन प्रक्रिया का तीसरा रूप—आलोचना, विशेषतया व्यावहारिक आलोचना है। मेरे व्यावहारिक आलोचना के संग्रह ''कविता खां कविता ताईं'' (कविता से कविता तक, 2000), जिस पर मुझे इस वर्ष साहित्य अकादेमी अवार्ड भी मिला है, के आवरण पर लिखा हुआ है—

''विश्लेषण (analysis) और अंतर (discrimination) सजग विवेक के गुण हैं। जिसके पास ऐसा सजग विवेक है, वह आलोचक है।''

यहाँ आलोचक के जिन गुणों का वर्णन किया गया है, मैं उन गुणों को ध्यान में रखकर आलोचना करता हूँ। ''विश्लेषण'' करने के संदर्भ में मैं किसी फैसले देने के, रचना को रचना के संदर्भ में देखने की कोशिश करता हूँ। मैं रचना के बाहर के भी मूल्य—समाज सुधार, चरित्र, इतिहास वर्णन, रचनाकार का व्यक्तिगत जीवन, वग़ैरह—रचना पर मढ़ने के सिवाय ही उनके भाव जगत और रूप जगत का विस्तार से बयान करता हूँ।

''आलोचना'' की प्रक्रिया मेरे लिए एक ही समय सरल भी है और कठिन भी। यह सरल इसलिए है क्योंकि मेरे पास सामग्री उपलब्ध होती है, यह प्रक्रिया कठिन इसलिए है क्योंकि उसकी तहों को खोलने और तहों के बीच में छिपी साहित्यिक सुंदरता को ढूँढ़ने में वक्त और सोच की ज़रूरत होती है। इसके अलावा आलोचना साहित्य का अंग तब बनती है जब उसमें खुद भी सृजन प्रक्रिया समाई हुई हो। इसलिए एक तरह से आलोचना पुनः रचना के समान है।

यहाँ यह याद रखना चाहिए कि सृजन न भाव (content) में है और न रूप (form) में। सृजन भाव

के रूप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया है। यदि एक पल के लिए आत्मा और जीव का संबंध कबूल क लिया जाए तो आत्मा—निराकार, निर्विकार—गुण धर्म से परे है; और हर मनुष्य का शारीरिक रूप तो लग एक-सा ही है। जब तक आत्मा और शरीर अलग-अलग है, तब तक सृजन नहीं है। सृजन तब हो है जब आत्मा किसी शरीर से जुड़ती है, और फिर जो सृजित रचना सामने आती है, वह हर अन्य र से अलग और निराली होती है।

इरोड तमिष़नबन

तमिल कविता-संग्रह : *वणक्कम कळ्ळुवा*

हालाँकि मेरे पदों का सगा रिश्ता भारती और भारतीदासन से है, काव्यात्मक-संवे टैगोर, इक़बाल, नज़रुल इस्लाम, अली सरदार जाफ़री से है तो वाल्ट ह्विटमैन और पाब्लो नेरुदा से हाथ मिलाती मेरी कविता तमिल काव्य संसार की दो शताब्दियों की अमूल्य धरोहर संभाले हुए है।

मैं अपनी आत्मा, ब्रह्मांड की विशालता, प्रकृति और मानववाद की अनंतता से प्रेरणा प्राप्त कर कविता रचता हूँ। चाहे कविता कुछ ठोस न भी कर सके फिर भी मेरा दृढ़ विश्वास है कि व्यक्ति कविता के बिना नहीं रह सकता। चाहे कविता की—राजनीति, विज्ञान, तकनीकी ज्ञान और आर्थिक वस्तुओं के सामने कोई हस्ती नहीं लेकिन जब मनुष्य इनसे उत्पन्न उलझनों में, और ज़िंदगी की मुश्किल घड़ियों में पड़ता है तो निश्चित रूप से कविता उसे माँ-सा प्यार देती है।

पाब्लो नेरुदा कविता रचने वाले की तुलना पावरोटी बनाने वाले नानबाई से करता है। कवि का कविता रचना तो उसी प्रकार है जैसे नानबाई पहले आटा लेता है, उसे गूँथता है, ओवन में रखता है, उसे तपा कर सुनहरा भूरा करता है और समाज के लोगों की भूख मिटाने के लिए पावरोटी तैयार करता है। यदि कोई कवि नानबाई की इस सादी मेहनत को समझने में सफल हो जाए तो वह अपनी सृजनात्मक क्षमता का उसी प्रकार लोगों की मानसिक भूख मिटाने के लिए प्रयोग कर सकता है।

नेरुदा कविता की तुलना पावरोटी से करता है। अनपढ़ और पढ़े-लिखे दोनों पावरोटी को खाते हैं, क्या कविता के संदर्भ में हम इसका उत्तर पा सकते हैं? क्या हम बेकरी में शिक्षित और अशिक्षित के लिए कोई अलग दीवार पाते हैं? क्या भूख ग्रेजुएट और नॉन ग्रेजुएट में भेद करती है—यदि ऐसा होता तो बेकरी भी विभाजित होती।

यदि मेरी कविता सभी के लिए पतवार बनती है तो यह नेरुदा की वजह से है। इसके बावजूद मेरी कविताएँ मेरे गर्भ में ही जन्म लेती हैं। बिना किसी ट्रेडमार्क वाला अध्यात्मवाद (इंसानी चेहरे वाला) मेरी बाद की कविताओं में प्रवेश पा गया। क्या मैं अपनी कविताओं के साथ-साथ विकसित हुआ या मेरी कविताएँ मेरे साथ-साथ विकसित हुईं? मेरे पास इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं है, मुझसे मेरी कविता कभी जुदा नहीं हुई। अंदर की गूँज सुनने के बाद मेरे विद्रोही रागों ने मुझसे अवकाश ग्रहण कर लिया और पक्षियों की तरह घूम-फिर कर मेरी कविता वापिस अपने घर आराम करने आ गई।

अभी तक मेरी प्यास ख़त्म नहीं हुई हालाँकि मैंने कई नए प्रयोग किए और नए-नए विषयों को लेकर कविताएँ लिखीं। कविता मेरे ख़ून में होने के कारण उसे प्रयोगों और विषयों के लिए किसी तलाश में नहीं जाना पड़ा। जब मैं अपनी अंतिम साँसें ले रहा होऊँगा तब भी मेरी तमन्ना होगी कि मैं कोई उम्दा कविता लिखूँ।

डी. नवीन

तेलुगु उपन्यास : *कालरेखलु*

> ''उपन्यासकार होने के कारण मैं खुद को संत, वैज्ञानिक, दार्शनिक और कवि से श्रेष्ठ मानता हूँ जोकि टुकड़ों में वर्णित करने में माहिर हैं लेकिन पूर्ण रूप से नहीं।
>
> उपन्यास ज़िंदगी की एक स्पष्ट किताब होता है।''
>
> —डी.एच. लॉरेंस

मैं मूल रूप से ख़ुद को उपन्यासकार मानता हूँ। मेरे लिए उपन्यास लिखना उसी तरह था जैसे मछली के लिए पानी। मैंने दस वर्ष की उम्र से ही उपन्यासकार बनने का सपना सँजोना शुरू कर दिया था। मैं उत्तरी तेलंगाना गाँव की पिछड़ी जाति से हूँ। मेरे पिता मेरे मैट्रिक उत्तीर्ण कर लेने के बाद मुझे छोटी-मोटी नौकरी में लगा देखना चाहते थे। वे थोड़े-बहुत ही पढ़े-लिखे थे और उनके लिए किताबों की दुनिया कोई मायने नहीं रखती थी। मुझे तो लड़कपन से किताबों का चस्का लग गया था। विशेष रूप से कहानियाँ, कैसी भी कहानियाँ मुझे अपनी ओर खींचने लगीं। जब भी मैं कोई कहानी सुनता, मैं सोचने लगता कि यदि मुझे कहानी कहनी पड़े तो मैं कैसे कहूँगा, क्या-क्या परिवर्तन मैं करूँगा। जब भी मुझे कोई अद्भुत व्यक्ति मिलता या कोई अद्भुत घटना देखता तो मुझे उस पर कहानी गढ़ने का विचार आ जाता।

सातवीं कक्षा तक मैं गाँव में पढ़ा फिर मैंने अपने नज़दीकी शहर वारंगल में आठवीं कक्षा में दाख़िला ले लिया। गाँव से शहर में स्थानांतरण मेरे साहित्यिक जीवन के लिए निर्णायक मोड़ लेकर आया।

अत्यंत विकसित शहर होने के कारण वारंगल में कई पुस्तकालय थे और उस पर जिस विद्यालय में मैंने दाख़िला लिया था उसमें कुछ बहुत बढ़िया अध्यापक थे। उन दिनों लिखी कुछ कहानियाँ मैंने अपने एक अध्यापक को दिखाईं। मुझमें विकसित हो रहे लेखक को झट पहचान लिया और मुझे लेखन को गंभीरता से लेने की सलाह दी। उन्होंने तो भविष्यवाणी भी कर दी कि यदि मैं लेखन को गंभीरता से लेता हूँ तो एक दिन एक बड़ा लेखक बनूँगा। यह मेरी ज़िंदगी का वह क्षण था जब मैंने ख़ुद का मूल्यांकन करना शुरू कर दिया।

मैं स्कूली दिनों में हर तरह का उपन्यास पढ़ता था। शुरू में तो केवल जासूसी उपन्यास ही। जासूसी उपन्यासों ने मुझे पढ़ने की आदत डाली। बहुत जल्दी ही मैं गंभीर लेखन पढ़ने लगा। मैं साहित्य की प्रत्येक विधा–कविता, कहानी और उपन्यास–सब पढ़ने लगा। मैट्रिक करने के बाद मैंने कॉलेज में दाख़िला लिया। कॉलेज की एकदम अलग ही दुनिया थी। यह महान बुद्धिजीवियों, महान कलाकारों, महान वक्ताओं और महान पुस्तकों का संसार था। यह उत्तेजक संसार था। मेरी मानसिकता विकास पाने लगी। मैंने ख़ुद को महान पुस्तकों से घिरा पाया। मेरी पढ़ने की तृष्णा कई गुणा बढ़ गई। मैं पढ़ता गया, पढ़ता गया, मेरी पढ़ने की तृष्णा कभी समाप्त नहीं हुई। मैं जब भी पुस्तक पढ़ता, तो पूरी पुस्तक पर अपने गहरे दोस्तों से विमर्श करता। इस तरह मैं उस किताब को पचा कर पूरी तरह अपना बना लेता। इस तरह मेरी पढ़ी प्रत्येक पुस्तक मेरी आत्मा में बस जाती और मेरा हिस्सा बन जाती।

बचपन से ही मुझमें ख़ुद को, एक तीसरा आदमी बनकर निहारने की आदत पड़ गई थी। मैं अपने भीतर देखता, मेरे भीतर क्या चल रहा है, उसको जाँचता। इस जाँच-परख में मैंने पाया कि आदमी वह नहीं होता जो वह बाहर से दिखता है। सच्चा व्यक्ति तो उसके अंदर छुपा होता है। लेखक अपनी रचनाओं में उस सच्चे आदमी का चित्रण करता है।

उन्हीं दिनों मेरा एक मित्र मनोविज्ञान पढ़ रहा था। उसने मुझे सिगमंड फ्रायड के सिद्धांतों के बारे बताया। मैं जैसे-जैसे फ्रायड को पढ़ता गया, मुझे लगा कि जैसे मैं ख़ुद को जान रहा हूँ। जब मैं फ्रायड के मनोविश्लेषण को पूरी तरह समझ गया तो मैं उसका प्रयोग तब करने लगा जब मैं ख़ुद का मूल्यांकन कर रहा होता। मैंने महसूस किया कि फ्रायड का मनोविश्लेषण ख़ुद को जानने का अद्भुत औज़ार है। ख़ुद का और आसपास के लोगों का मूल्यांकन करने की मेरी आदत ने मेरे भीतर स्थित लेखक को बनाया। मैंने इसी मूल्यांकन से प्रेरित होकर कहानियाँ लिखनी शुरू कीं।

दूसरा प्रभाव मुझ पर मार्क्सवाद का पड़ा। कॉलेज के दिनों में मैं मार्क्सवाद की तरफ़ आकर्षित हुआ। मुझे पूरी तरह विश्वास हो गया था कि मार्क्सवाद और कुछ नहीं बल्कि मानववाद है। अमीरों द्वारा ग़रीबों का शोषण एक बहुत बड़ी सामाजिक बुराई है। जातिवाद से जकड़ी हिंदू पद्धति में यह शोषण स्थायी है। मेरा पक्का विश्वास है कि आर्थिक असमानता नहीं होनी चाहिए। आर्थिक असमानता को क़िस्मत का फेर बताना लोगों को धोखे में रखना है। यह ग़रीबों को दबाने के लिए अमीरों द्वारा फैलाया भ्रमजाल है। अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर करने से मैं समझ गया था कि किस तरह आर्थिक ताक़तें समाज का ढाँचा बनाती हैं। इस तरह फ्रायड और मार्क्स से मैं युवा दिनों में प्रभावित हुआ और उन दोनों का प्रभाव आप मेरे लेखन में भी देख सकते हैं।

सलाम बिन रज़ाक

उर्दू कहानी-संग्रह : *शिकस्ता बुतों के दरमियां*

मैंने अपने पहले अफ़सानवी मज़मुए नंगी दोपहर का सिपाही में बतौर दिबाचा लिखा था। इनसानी क़द्रों की बिसात मज़हेकख़ीज़ तौर पर पलट गई है। बज़ाहिर शाह पर सवार हो गया है। हाथी-घोड़े कहीं-कहीं जा पड़े हैं और पयादे चारों ख़ाने चित्त हैं इस बिखरी हुई बाज़ी को दोबारा कौन जमाए? कोई नहीं जानता कि बाज़ी कहाँ से चली थी और कहाँ पहुँची? मगर तआज़्ज़ुब है कि लोग बाज़ी फिर भी खेले जा रहा है पर अब कोई ज़ाबता है ना उसूल। सारी बाज़ी किसी पागल की सनक की तरह चल रही है। इस दिवाचे को लिखे हुए अट्ठाईस बरस गुज़र गए। आज अट्ठाईस बरस बाद भी हालत ज्यों की त्यों है बल्कि सूरत-ए-हाल ज़्यादा पेचीदा और भयानक हो गई है।

कभी-कभी मुझे लगता है कि मैं ऐसी पदयात्रा पर निकला हूँ जिसका कोई अंत नहीं है। मेरे पाँव नंगे हैं और सिर पर धूप की चादर तनी हुई है। तलवों में छाले पड़े हैं और रास्ता पुरख़ार है। पीछे मुड़कर देखने का सवाल ही नहीं अगर मैंने ऐसा किया तो किसी जादू के ज़ोर से पत्थर का हो जाऊँगा। इस ख़ौफ़ से मैं चलता जा रहा हूँ मुतबातिल चल रहा हूँ मेरा सफ़र ज़ारी है मैं इस सफ़र में लम्हा-लम्हा टूटता हूँ, रेज़ा बिखरता हूँ। अफ़साना लिखना मेरे नज़दीक अपने किरची किरची वजूद को समेटने का नाम है जिसके वसीले से मैं अपने आपको माहौल की जबरीयत से आज़ाद करता रहता हूँ। मेरा अफ़साना दरअसल मेरी निजात का ज़रिया। सच तो यह है कि अफ़साना लिखना कोई ख़ुशगवार अमल नहीं है।

बक़ौल राजेंद्र सिंह बेदी यह काम ऐसा ही है जैसा किसी शख़्स की खाल खींच कर उसे नंगे बदन नमक की खान से गुजारा जाए। कहते हैं कि सीपी के सीने में जब कोई कंकर गढ़ जाता है तो उसके अंदर टीस पैदा करने लगता है, सीपी उस रड़क को कम करने के लिए अपने अंदर एक किस्म का लुआब पैदा

करती है और लुआब को उस फँसते हुए ज़र्रे के गिर्द लपेटती रहती है। कंकर लुआब से मिल कर मोती बन जाता है। अफ़साना लिखना भी दरअसल फँसे किसी ख़याल की रड़क से नज़ात पाने का अमल है। यह ख़याल ही रड़क है जो अफ़साना निगार के जिगर में गड़ते-गड़ते बिल्आख़िर अफ़साने की शक्ल अख़ितयार कर लेता है। मैं अपने अफ़सानों के हवाले से ज़िंदगी को अंगेज़ करता हूँ और ज़िंदगी के हवाले से अपने अफ़सानों में रंग भरता हूँ। मैंने देखा है कि बाज़ अफ़साना निगार अज़ीम मौज़ुआत की तलाश में बहुत दूर निकल जाते हैं, इस क़द्र दूर की बिसाऔक़ात अपने घर का रास्ता भूल जाते हैं जबकि आँखें खुली और ज़ेहन बेदार हो तो हर वाक़ेया एक कहानी और हर फर्द एक किरदार है। मैं अपनी ज़ात के आईने में अपने अतराफ़ के लोगों की हरकात व सकनात का मुशाहिदा करता हूँ। मेरे बेश्तर अफ़सानों के किरदार ख़ुद मेरी ज़ात से कुछ इस तरह बरामद हुए हैं कि उन्हें यूँ अचानक अपने सामने देख मैं हैरान रह गया हूँ। उनकी मोहब्बतें, उनकी नफ़रतें उनकी शराफ़त, उनकी कमीनगी, उनकी सरकशी, उनकी बुज़दिली, उनके सुख-दुख, गम व ग़ुस्सा, सख़्ती व नर्मी, सब मेरे ही जज्बा व एहसास के मुखतलिफ़ अक्स हैं। अगर लायवर, मादामबुवारी है, मिनटों काली शलवार का दलाल है तो फिर मैं भी वासु हूँ, नंगी दोपहर का सिपाही हूँ बीजू की शालू हूँ, ख़स्सी का पारस गम हूँ, कामधनी का माधव हूँ, अंजाम का रावी हूँ।

मैं एक आम आदमी का अफ़साना निगार हूँ। क्योंकि मेरे इर्द-गिर्द ऐसे ही लोग बसे हैं। मज़लूम, मजबूर, महरुम और नाआसूदा। मगर ख़ातिर निशान रहे कि यह आम कमज़ोर आदमी नहीं है। मेरे किरदारा सख़्त जान अफ़राद हैं जो दिनभर में बीसियों दफा टूटते हैं। टूटकर बिखरते हैं। मगर दूसरी सुबह अपने बिस्तर से सही व सालिम उठते हैं। वह रोज़ शिक्सत खाते हैं मगर ज़िंदगी जीने का हौसला नहीं हारते। मेरा अफ़साना नारा नहीं चीख़ है। बसा औक़ात ऐसी चीख़ जो सीने में घुट कर रह जाती है। उनकी बे कसी और बेचारगी देखकर मुझे पिकासु की आलमीशोहरत याफ़ता तसवीर, गोवीरनीका के उस घोड़े की याद आती है जो जाँ कहीं के आलम में चीख़ रहा है। उसके दिलखराश चीख़ को बज़ाहिर हम अपने कानों से सुन नहीं पाते अलबत्ता उसकी ख़ौफ़नाक मगर ख़ामोश गूँज हमारे वजूद में एक पुरशौर तूफ़ान की सी कैफ़ियत पैदा कर देती है। यह वह बदनसीब लोग हैं जिन्हें हालात ने अपनी चक्रवीह में जकड़ रखा है। वह इस चक्रवीह से निकलना चाहते हैं मगर अभिमन्यु की तरह चक्रवीह को तोड़कर उससे बाहर निकलने का मंत्र नहीं जानते। मैं हालात में चक्रवीह में फंसे बीमार थके-हारे और दबे-कुचले अफ़राद का अफ़सानानिगार हूँ। उनके दुख-दर्द उनकी यास व महरुमी, उनका इज़तराब व इंतेशार ही मेरे अफ़साने का मोहर्रिक और मौज़ू है। मैं बागियों की कहानियाँ इसलिए नहीं लिखता कि मेरे अहद में कोई बागी नहीं है। मैं फ़ातेहीन और नायकों के अफ़साने क्योंकर लिखूँ कि मेरे अहद में ज़ुल्म को बहादुरी मक्क़ारी को, दानाई कज-रवी को रास्ती, और मौक़ापरस्ती को सियासत का नाम दिया गया है। सारी क़दरें सर के बल खड़ी हो चुकी हैं। आज मज़हब, ज़ात, क़ौम और इलाक़े के नाम पर इनसानों को इतने खेमें में बाँट दिया गया है कि पूरा समाज टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया है। मेरे किरदार इसी पारा पारा मुआशरे के अफ़राद हैं। वह इस घिनौने मुआशरे में जीने और मरने पर मजबूर हैं। उन्हें ग़ुस्सा आता है, वह एहतेजाज़ भी करते हैं मगर उनका ग़ुस्सा और उनका एहतेजाज़ उस अलाव की मानिंद है जिसकी आग राख के ढ़ेर में तबदील हो चुकी है। मेरा अफ़साना दरअसल उसी बुझे हुए अलाव की राख में चिंगारियाँ तलाश करने का अमल है।

मुझे उस नौजवान की कहानी याद आ रही है जिसने ठिठुरा देने वाले मौसम में पहाड़ की चोटी पर नंगे बदन रात गुज़ारने की शर्त लगाई थी। और दूर एक कुटिया में जुगनू की तरह टिमटिमाते चिराग़ की लौ पर नज़रें गड़ाए उसने सुबह के सितारे का इस्तक़बाल किया था, और शर्त जीत गया था।

मेरे किरदार अलाव के गिर्द बैठे हैं अगरचे उसकी भी आग सर्द पड़ चुकी है मगर उनके लहू में एक मद्धम चिराग़ रौशन है।

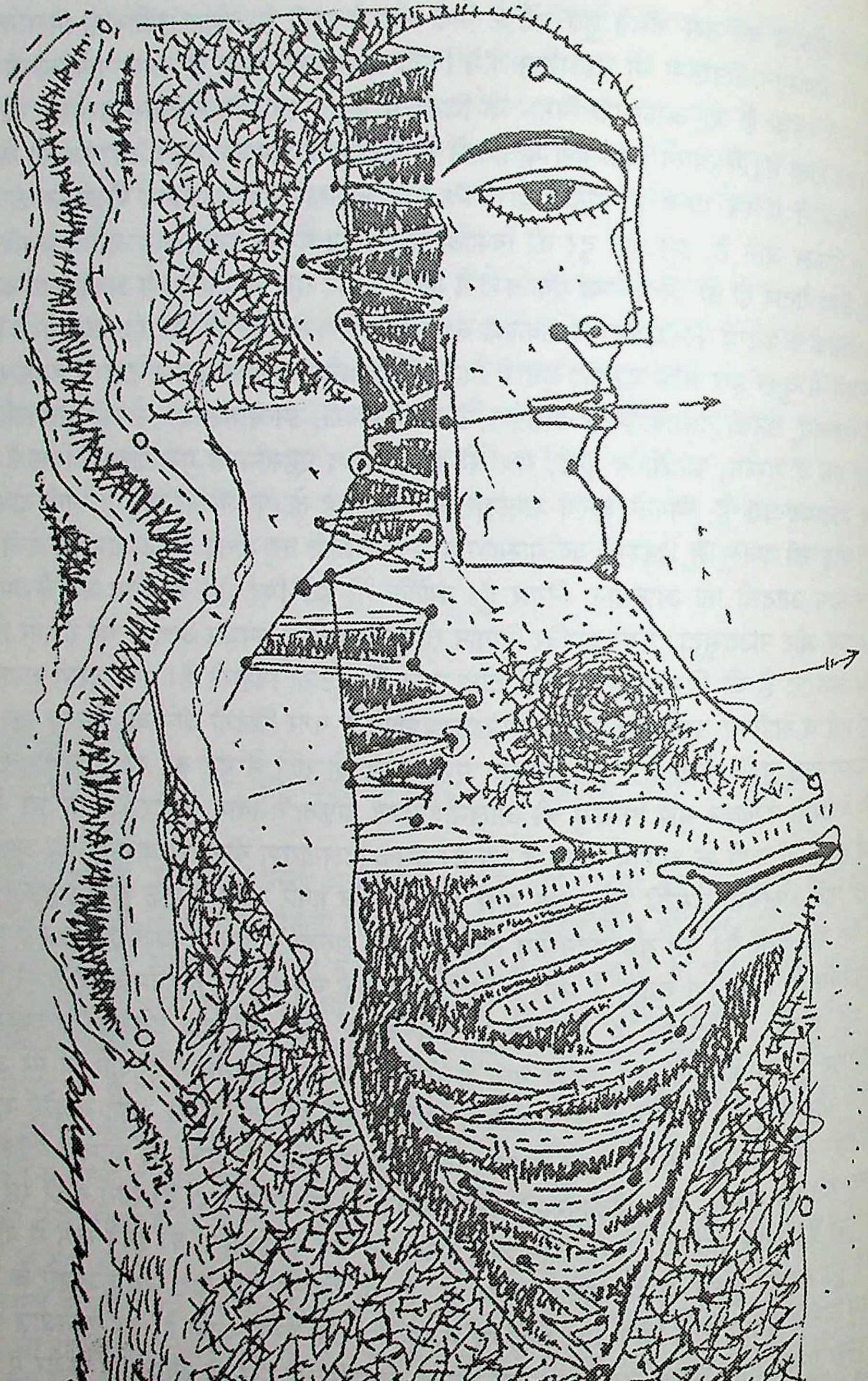

महावीर अग्रवाल

बड़े स्वप्न को बुनती है कहानी

महावीर अग्रवाल : हमारा समाज अनेक संकटों से जूझता हुआ दिखाई देता है। उपभोक्ता संस्कृति का वर्चस्व लगातार बढ़ रहा है। बाज़ार रूपी दैत्य की विकरालता की कोई सीमा नहीं। धार्मिक उन्माद के एक रूप की परिणति बाबरी मस्जिद ध्वंस (06 दिसंबर 1992) के रूप में देखी। वर्ल्ड ट्रेड सेंटर (11 सितंबर 2000) पर हुआ आतंकवादी हमला मानव इतिहास में एक काला अध्याय है। ख़ूँख़्वार सांप्रदायिकता का नग्न तांडव 1947 में हुआ। भारत में उस समय मुस्लिम सांप्रदायिकता और हिंदू सांप्रदायिकता अपने चरम पर थी। गुजरात का गोधरा कांड और मंदिरों पर हो रहे हमले जैसे ज़हर बुझे अनेक प्रश्न हैं। उत्तर आधुनिकता और भूमंडलीकरण जैसे ख़तरों से आगाह करता हुआ चेतावनी का स्वर हमारे अपने समय की कहानी में लगातार सामने आया है। इन जटिलताओं के बीच रची जा रही समकालीन कहानी के बारे में अपने विचार बताइए?

कमलेश्वर : समकालीन हिंदी कहानी में जो छलाँग है, जो संवेदनशीलता है, वह बहुत सशक्त तरीक़े से हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकारों को रेखांकित करती है। मैं समझता हूँ, एक लेखक का संवेदन क्षेत्र जितना अधिक विस्तृत होता है, उसके परिपक्व होने की संभावना उतनी ही बढ़ जाती है। आज हिंदी कहानी में ही नहीं उर्दू कहानी और पंजाबी कहानी की रचनात्मकता में भी सत्य का नया आलोक है। महावीर जी, पिछले 20 वर्षों से मैं देख रहा हूँ, आप मुझसे जब भी बात करते हैं, सामाजिक समरसता और सांप्रदायिक सद्भाव पर किसी न किसी रूप में प्रश्न ज़रूर करते हैं। एक जागरूक नागरिक के नाते भी और रचना के सतर्क पाठक के रूप में भी आपका यह दृष्टिकोण मुझे बहुत सकारात्मक लगता है। विभाजन की त्रासदी समूचे देश ने भोगी है। पाशविकता का नंगा नाच हमने देखा है। रचनाकार खुली आँखों से देखता है, इसलिए उसकी क़लम मानवीय मूल्यों पर अडिग है। अँधेरे पहलुओं को उजागर करती है। गहराई में धँसे अंतर्विरोधों को खोलती है। इक्कीसवीं सदी का यह दौर असहिष्णुता का दौर है। आतंकवाद, स्वतंत्रता और सहिष्णुता के उन मूल्यों को अपनी हठधर्मिता के कारण नकारता है, जिनका सम्मान लोकतांत्रिक और बहुलवादी राष्ट्रों के साथ समूची दुनिया करती है। बर्बर आतंकवादी दीमक की तरह समाज को भीतर ही भीतर खोखला करने की कोशिश कर रहे हैं। इंसान और इंसानियत के ख़िलाफ़ कठमुल्लों की यह साज़िश कभी सफल नहीं हो

1946 में जन्मे महावीर अग्रवाल की पुस्तकें *भोर का सपना*, *काशी का जुलाहा*, *आख़िर कब तक* उल्लेखनीय हैं। संपर्क : ''सापेक्ष'', ए-14, आदर्श नगर, दुर्ग 491003, छत्तीसगढ़

सकती। धर्मांधता का यह जुनून मुट्ठी भर लोगों का पागलपन है। इनके ख़िलाफ़ केवल हमारी कहानी ही नहीं पूरा का पूरा रचनात्मक समाज है। संप्रदायिकता और जातिवादी ताक़तों के ख़िलाफ़ लड़ाई जारी है और जारी रहेगी। हमारी सामाजिक संस्कृति बहुलतावादी रही है और रहेगी।

महावीर अग्रवाल : कमलेश्वर जी, आपकी अब तक छपी कहानियों में कौन-सी कहानी आपको अधिक प्रिय है? और क्यों प्रिय है?

कमलेश्वर : सामान्यतः अपनी रचनाओं से मैं निसंग रहता हूँ। फिर भी आप पूछ रहे हैं तो, ''देवी की माँ'', ''गर्मियों के दिन'', ''राजा निरबंसिया'', ''तलाश'', ''इतने अच्छे दिन'', ''चप्पल'', ''अपने देश में'' सहित अनेक कहानियाँ हैं। ये कहानियाँ मुझे कहानी लिखने का रास्ता दिखाती हैं इसलिए अधिक प्रिय हैं। पाठकों ने भी इन्हें बहुत सराहा है।

महावीर अग्रवाल : अच्छा यह बताइए आपकी पहली कहानी कब और किस पत्रिका में छपी?

कमलेश्वर : मेरी पहली कहानी 1946 में ''फरार'' नाम से छपी थी, लेकिन उसकी कभी चर्चा नहीं हो पाई। ''कामरेड'' कहानी जो 1947-48 के आसपास *अप्सरा* नाम की पत्रिका में छपी थी, चर्चित हुई। यह पत्रिका उत्तर प्रदेश के एटा ज़िले से निकलती थी। इसके संपादक शिवशंकर मिश्र और बलबीर सिंह रंग थे।

महावीर अग्रवाल : आप कहानियाँ क्यों लिखते हैं?

कमलेश्वर : यह बता सकना बहुत मुश्किल काम है। शुरू में तो पता ही नहीं था कि मैं कहानियाँ लिखता हूँ। एक माहौल अपने क़सबे मैनपुरी उत्तर प्रदेश में मिला। एक अजीब-सा सन्नाटा था जहाँ कुछ बदलता ही नहीं था। ठहरा हुआ, परिवर्तनहीन। मैं अपनी माँ के साथ अकेला एक बड़े से घर में रहता था। वहाँ भी हमारी ज़िंदगी रुकी और थमी हुई थी। घर में झोला टाँगने के लिए जो कीलें गड़ी थीं, आँगन में कपड़ा सुखाने के लिए जो तार बँधा था, उसमें गाँठ बँधी थी या कुएँ से पानी खींचने की रस्सी जो टूट गई थी वह ज्यों की त्यों थी। बरसात में हमारे घर की छतें या दोस्तों के घरों की छतें तरह टपकती और चूती थीं जैसी कि बचपन में देखी थी। नाले कीचड़ से भरे और रुके हुए थे। इस माहौल में मेरे भीतर एक अजीब-सा वैचारिक धुआँ-सा उठता था। भीतर ही भीतर परेशानी महसूस होती थी। तब यह पता नहीं था कि रुकी हुई ज़िंदगी को सोच या विचार के सहारे बदला जा सकता है। फिर जब कुछ समझ में नहीं आया तो लिखने की कोशिश की और जो लिखा तो लगा कहानी जैसी कोई चीज़ है। इसमें अपने मन का अवसाद, घुटन और न बदलने वाले परिवेश के प्रति एक बड़ी सहज और न मालूम सी तकलीफ़ थी। इसी माहौल ने शायद मुझे कहानियाँ लिखने के लिए बाध्य किया। अब मैं अपने समय से समझौता नहीं कर पाता इसलिए लिखता हूँ। अपने समय के आम आदमी की लड़ाई मैं क़लम के माध्यम से लड़ता हूँ, इसलिए लिखता हूँ। ''कामरेड'' के बाद की कहानियाँ उसी परिवर्तनकामी कथ्य का, सोच का हिस्सा बनती गई। यह सब मैं आज सोच रहा हूँ। तब तो यह भी नहीं मालूम था कि कहानियाँ छपती भी हैं और छपकर कहीं पहुँचती भी हैं।

महावीर अग्रवाल : कहानियों में कथ्य और कलात्मक संतुलन की कोई सीमा तय होनी चाहिए या कहानी कथ्य प्रधान होनी चाहिए?

कमलेश्वर : यह तय करना तो फ़ॉर्मूलाबद्ध कहानी लिखना हो जाएगा। कहानी कोई भी हो जो अपने गहरे दंश या कथ्य से प्रेरित नहीं है वह लिखी ही नहीं जा सकती। और कथ्य अपनी कला के व्यक्तित्व का निर्धारण ख़ुद करता है। जहाँ तक मेरा अपना सवाल है जो कुछ मैंने देखा, जो कुछ मेरे समय में हो रहा है उसकी तकलीफ़ को लिखना मैंने अपना फ़र्ज़ समझा और लिखा। अपने समाज के बीच से ही मैंने पात्र उठाए हैं। जीवन के अनुरूप ही पात्र की प्रगति, उसकी कमज़ोरी और उसके विचार के साथ ही रचना आगे बढ़ती गई है। बिना भय के निडर होकर समाज के सच को सही ढंग से लिखा। धीरे-धीरे मेरा अपना कथा-शिल्प विकसित होता गया। और अपने ही शिल्प को मैंने बार-बार

तोड़ा और नए ढंग से लिखने की कोशिश की। यह कोशिश आज भी जारी है। वैसे कोई भी रचनात्मक कहानीकार अपने कथ्यों को ख़ुद चुनता है और उठाता है। जहाँ उसे कोई तथ्य या कथ्य दिए जाते हैं या उसके लिए तय किए जाते हैं वहाँ कहानी की रचनात्मक आत्मा लेखन की मजबूरी के कारण आत्महत्या कर लेती है।

महावीर अग्रवाल : कहानी की भाषा के संबंध में आप अपने विचार बताइए।

कमलेश्वर : भाषा कहानी की बहुत बड़ी शक्ति होती है। और उसे बार-बार आत्मसात करना होता है और भाषा के साथ जीना होता है। नई कहानी के दौर में एक बहुत बड़ा वैचारिक संतरण दिखाई पड़ता है और वह यह कि लेखक की अपनी भाषा और उसकी कहानियों के विचार उसके परिवेश में जन्म लेते हैं। इसलिए कहानियों के कथ्य का धरातल जब बदला तब क्षेत्रीय और आंचलिक भाषाओं की तरफ़ कहानी ने प्रयाण किया। जैनेंद्र की भाषा या अज्ञेय की भाषा उनकी अपनी भाषा थी, कथा के कथ्य के परिवेश की भाषा नहीं थी। सामान्यतः लेखक भाषा बनाता भी नहीं, वह अपने चारों तरफ़ की भाषा में पैबस्त मनुष्य के संवेगों को संचित करता है। मुझे लगता है कहानी की भाषा सर्वग्राह्य होनी चाहिए। प्रत्येक क्षेत्र की लोक भाषा के साथ मिलकर हिंदी अपना अधिक विकास कर सकती है। भाषा कोई रुकी हुई वस्तु नहीं है।

महावीर अग्रवाल : लेखन के कारण आपको व्यक्तिगत जीवन में कभी संघर्ष का सामना करना पड़ा? कोई अविस्मरणीय घटना हो तो बताइए।

कमलेश्वर : मुझे शुरू-शुरू में ही इसका सामना करना पड़ा। मेरी पहली सरकारी नौकरी सरकारी भारतीय दूरदर्शन में 1959 में थी। उस समय ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ भारत के दौरे पर आ रही थी। उनके आगमन को हमें दूरदर्शन पर एक ''लाइव प्रोग्राम'' के रूप में प्रस्तुत करना था। तो हम अपनी टीम के साथ दिल्ली के इंडिया गेट पर अपने कैमरे की पोजीशन का स्थान चुनने के लिए गए हुए थे। वहाँ मेरी नज़र इंडिया गेट के सामने लगी हुई बहुत बड़ी मूर्ति पर पड़ी। वह जॉर्ज पंचम की मूर्ति थी। समाजवादी पार्टी (लोहिया) के आंदोलन के दौरान जॉर्ज पंचम की उस मूर्ति की नाक तोड़ दी गई थी। जॉर्ज पंचम की टूटी हुई नाक को देखकर मेरे मन में विचार के साथ एक कथ्य आया। महारानी आएँगी, उनका भव्य स्वागत होगा, लेकिन जब वे यहाँ से गुज़रेंगी तो अपने पूर्वज की टूटी हुई नाक देखकर क्या सोचेंगी? और हमारी नौकरशाही अपनी पुरानी महारानी से इस टूटी हुई नाक को छुपाने के लिए क्या-क्या तमाशे करेंगी? यह एक राजनयिक ज़रूरत होती है। मैंने उसी शाम लौटकर एक व्यंग्य कहानी लिखी—''जॉर्ज पंचम की नाक''। इत्तफ़ाक़ से वह कहानी, *नई कहानियाँ* (सं. भैरवप्रसाद गुप्त) पत्रिका में पहली कहानी के रूप में छपी और अंत में मेरा पता छपा था। केयर ऑफ़ दूरदर्शन छपना ही था और छपा भी। बस यहीं से नौकरशाही का हंगामा शुरू हुआ और अंततः मुझे वह पहली नौकरी छोड़नी पड़ी, क्योंकि सरकारी नियम और क़ायदे में इस प्रकार की आज़ादी नहीं थी। मैंने हमेशा सत्य को समकालीन संदर्भों से जोड़कर देखा और लिखा। फिर तो बहुत से ऐसे अवसर आए। उन लम्हों को याद करके मैं भीतर ही भीतर रोया भी हूँ, लेकिन मैंने समझौते नहीं किए। लेखन को लेकर व्यक्तिगत और पेशेगत जीवन में अजीब-अजीब तरह की लड़ाइयों का सामना मैं हमेशा करता रहा हूँ।

महावीर अग्रवाल : आप किन कथाकारों से अधिक प्रभावित रहे हैं?

कमलेश्वर : मैं अपने सभी अग्रजों का शुक्रगुज़ार रहा हूँ। लेकिन मेरी रचनात्मकता किसी भी लेखक से प्रभावित नहीं है। मैं यह भी मानता हूँ कि आधारभूत रूप से गुलेरी, प्रेमचंद, यशपाल और अमृतलाल नागर जैसे सिद्ध कथाशिल्पियों के हम चिर ऋणी हैं। विभूति भूषण बंद्योपाध्याय, माणिक बंद्योपाध्याय, चेखव, विलियम फॉकनर, टॉलस्टॉय और रेणु को मैं बहुत सम्मान के साथ स्मरण करता हूँ।

महावीर अग्रवाल : नए कहानीकारों की कुछ

उल्लेखनीय कहानियों के साथ कथाकारों के नाम भी बताइए।

कमलेश्वर : महावीर जी, यह नए और पुराने की बात नहीं है। मुझे सैकड़ों कहानियाँ अच्छी लगी हैं। सबके नाम अभी याद आ जाएँ, यह संभव नहीं है। अतः तत्काल जो याद आ रही हैं उनके नाम लिख लीजिए। ''चीफ़ की दावत'' (भीष्म साहनी), ''मंगली की टिकुली'' (भैरवप्रसाद गुप्त), ''मित्रो मरजानी'' (कृष्णा सोबती), ''डिप्टी कलेक्टरी'' (अमरकांत), ''घंटा'' (ज्ञानरंजन), ''बिरजू तो मारा जाएगा'' (राकेश वत्स), ''टेपचू'' (उदय प्रकाश), ''कामरेड का कोट'' (सृंजय), ''दौड़'' (जितेन ठाकुर), ''अफ़्रीका'' (अनिता राकेश), ''मध्यांतर'' (रमाकांत श्रीवास्तव), ''तिरिया चरित्तर'' (शिवमूर्ति), ''दफन'' (मनोज रुपड़ा), ''संतराबाई की शर्त'' (परदेशी राम वर्मा) पचासों कहानियाँ हैं जो कहानी की भीड़ में खो गई हैं और बहुत अच्छी कहानी होने के बाद भी इस समय मैं उन्हें भूल रहा हूँ। स्वयं प्रकाश की लगभग सभी कहानियाँ मुझे पसंद हैं। निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, शिवप्रसाद सिंह, मुद्रा राक्षस, मार्कण्डेय, शैलेश मटियानी, दूधनाथ सिंह, रवींद्र कालिया, ममता कालिया, शेखर जोशी, काशीनाथ सिंह, कामतानाथ, शानी, नासिरा शर्मा, मन्नू भंडारी, राजेंद्र यादव और मोहन राकेश मेरे समकालीन हैं। इनकी कहानियों के प्रति मैं आकर्षित होता रहा हूँ। विद्यासागर नौटियाल, अमृतलाल बेगड़, प्रियंवद, मंज़ूर एहतेशाम, सत्येन कुमार, मधुकर सिंह, मेहरुन्निसा परवेज़, आलमशाह ख़ान, महेंद्र भल्ला, जगदीश चंद्र, सुभाष पंत, हिमांशु जोशी, से.रा. यात्री, चित्रा मुद्गल, उषाराजे सक्सेना, अनामिका, चंद्रकांता, जया जादवानी, शशांक, संजीव, अखिलेश सहित मिथिलेश्वर में विपुल रचनात्मकता है।

महावीर अग्रवाल : क्या रचनाकार के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता का होना आप ज़रूरी मानते हैं? यदि हाँ तो क्यों, यदि नहीं तो क्यों?

कमलेश्वर : वैचारिक प्रतिबद्धता थोड़ा बदनाम-सा मुहावरा हो गया है। वैसे मैं प्रतिबद्धता के साथ संलग्नता को भी ज़रूरी समझता हूँ। कारण की संश्लिष्टता हो, जातीय व्यवहार-दुर्व्य के कारण हों, या फिर वैयक्तिक प्रतिष्ठा असहायता की वजह से मनुष्य और मनुष्य संबंधों के भीतर मौजूदा स्वार्थ और उत्पीड़न कारण हों, ये सब वैचारिक स्पष्टता से ही खुल हैं। इसलिए मैं मानता हूँ कि विचारधारा प्रतिबद्धता तो लेखक को रखनी ही चाहिए। एक प्रवृत्ति है। बिना विचारधारा के साहित्य का अर्थ नहीं रह जाता है। लेकिन विचारधारा प्रतिबद्धता एक खुली हुई खिड़की की तरह चाहिए। प्रगतिशीलता और प्रतिबद्धता का मोटा अर्थ मार्क्सवादी होना भी मान लिया जाता है प्रतिबद्धता को पार्टी प्रतिबद्धता मान लेने से नुकसान होता है उससे ज़्यादा बड़ी होती है लेख की प्रतिबद्धता। पार्टी के विचार से हमारे लेखन मेल खाना हमारी मजबूरी नहीं बननी चाहिए। भी क़तई ज़रूरी नहीं है कि हम वैसा लिखें पार्टी चाहती है। यह ज़रूर है कि लेखक प्रतिबद्धता का लाभ पार्टी उठाती है लेकिन पार्टी प्रतिबद्धता का नुकसान लेखक उठाता है। इन स्थितियों के बीच भी मैं मार्क्सवादी हूँ, लेकिन हिंदुस्तान की ग़रीबी, बदहाली और मजबूरी उपजता है। हिंदुस्तान की सरज़मीं से उपजता है यथार्थ और संघर्ष के बीच मेरे मार्क्सवाद का होता है। मेरा यह मानना है कि राजनैतिक दल प्रतिबद्ध होने के बाद आस्था और यथार्थ से प्रतिबद्ध ख़त्म हो जाती है, इसलिए लेखक को अपने सम के यथार्थ और अपने समय से प्रतिबद्ध रहना चाहिए।

महावीर अग्रवाल : कहानी के साथ-साथ और किस विधा में लिखना आपको अच्छा लगता है?

कमलेश्वर : विधाएँ तो सभी अच्छी लगती हैं। कथ्य के अनुरूप विधा स्वयं आकार लेने लगती है। अभी कुछ दिनों पहले आपने मेरी पुस्तक *तुम्हारा कमलेश्वर* (पत्नी गायत्री के नाम लिखे गए पत्र) पढ़कर फ़ोन पर लंबी बातचीत में कहा कि, 'दांपत्य जीवन के सच की अनूठी मिसाल हैं ये पत्र। पति पत्नी के बीच विश्वास और सामंजस्य का रिश्ता

कैसा हो—इसकी बानगी हैं ये पत्र। अपने संघर्ष और परिवार के भीतर के सच को सार्वजनिक करने का लाभ आने वाली पीढ़ी को भरपूर मिलेगा।'' वैसे महावीर जी सभी विधाओं में कहानी लिखना मुझे कठिन लगता है। कहानी लिखना एक ऐसी मनःस्थिति में संभव हो पाता है जब उसके कथ्य, उसके कारणों, उसके दंश और उसकी यातना के अनहद नाद में हम डूबे हुए होते हैं। अन्य विधाएँ मेरे लिए अपेक्षाकृत सरल हैं। ''आधार शिलाएँ'' जब लिखी तब आपने फ़ोन किया था। ''आज़ादी मुबारक'' तीन साल पहले *वागर्थ* में जब छपी तब सबसे पहले बधाई का टेलीग्राम भेजने वाले आप ही थे। और फिर 'कितने पाकिस्तान'' पर 21 फ़रवरी 2001 को सतना (मध्य प्रदेश) में गोष्ठी का आयोजन हुआ तब भी महावीर भाई, आपने बहुत तर्कसम्मत ढंग से अपने विचार व्यक्त किए थे। इस तरह आप सभी विधाओं के मेरे समूचे लेखन से अच्छी तरह परिचित हैं।

महावीर अग्रवाल : रूस और फ्रांस की क्रांति के समान ही आज की बदलती हुई परिस्थितियों में लेखन द्वारा सामाजिक, वैचारिक और क्रांतिकारी परिवर्तन संभव है या नहीं?

कमलेश्वर : निश्चित रूप से संभव है। रूस और फ्रांस तक क्यों जाएँ? बांगला देश की क्रांति हमारे सामने है जो बाद में प्रतिक्रांति में बदल गई। क्रांति या परिवर्तन के वैचारिक हथियार जिनके पास हैं उन्हें संगठित होकर आगे बढ़ाना होगा। बांगला देश की क्रांति प्रारंभ में वहाँ के परिवर्तनकामी लेखकों और अपनी जातीय पहचान के प्रति प्रतिबद्ध बुद्धिजीवियों और युवाशक्ति का ही परिणाम था। इसका सबूत इस ऐतिहासिक तथ्य से मिलता है कि पाकिस्तानी फ़ौजों का हमला सबसे पहले बांगला देश के लेखकों व बुद्धिजीवियों सहित ढाका विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों और छात्रों पर हुआ था। मैं यह मानता हूँ कि साहित्य सीधे-सीधे क्रांति नहीं करता लेकिन जो लोग क्रांति करते हैं उनके मन में परिवर्तन की चेतना को साहित्य ही गति देता है। लेखक और उसका लेखन समाज को बदलता है, लेकिन धीरे-धीरे बदलता है। सवाल इस बात का भी है कि आपकी आस्था कहाँ है? आपकी संवेदना किसके साथ खड़ी हैं? इसके साथ ही आपके पारिवारिक और सामाजिक रिश्ते मज़बूत होते हैं। सिर्फ़ लिखते ही रहेंगे तो मुझे नहीं लगता कि केवल किताबें क्रांति कर सकती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्य से जनता को जोड़ा जाए। जन-जन का दुख-दर्द, उनकी ख़ुशी और उनका संघर्ष जब किताबों के माध्यम से व्यक्त होगा तो उस दिशा में एक धारा बनेगी। भारतेंदु हरिश्चंद्र से निराला और प्रेमचंद की रचनाएँ अंडर करेंट की तरह वैचारिक क्रांति का स्रोत बनती हैं। हर क़लमकार की भूमिका अलग तरह की होती है। भारत जैसे लोकतंत्र में क्रांति की दिशा नहीं बदलती, स्वरूप बदल जाता है।

महावीर अग्रवाल : रचनाकार के लिए सामाजिक दायित्व का बोध बहुत ज़रूरी माना जाता है। सांप्रदायिक दंगों की इस आग को बुझाने में लेखक को अपनी भूमिका किस रूप में अदा करनी चाहिए?

कमलेश्वर : सामाजिक दायित्व का बोध बहुत ज़रूरी है। यदि दायित्व का बोध नहीं है और आस्था नहीं है तो फिर लेखन की प्रासंगिकता ही समाप्त हो जाती है। मैं शाश्वत कहे जाने वाले साहित्य का पक्षधर नहीं हूँ बल्कि नश्वर स्थितियों और परिस्थितियों में से मनुष्य के संवेगों के शाश्वत स्वर को पकड़ने की कोशिश करता हूँ। सांप्रदायिक दंगों को समाप्त करने के लिए साहित्य तात्कालिक रूप से बहुत कारगर नहीं होता लेकिन साहित्य अपने इस दायित्व से पृथक भी नहीं हो सकता कि वह लगातार सांप्रदायिक विकृतियों और इतिहास मूलक विषमताओं को सही संदर्भ में देखे और जहाँ तक संभव हो उनका प्रतिकार करे। महावीर जी, इस समय सांप्रदायिक दंगों और जातीय संघर्ष की बहुत बड़ी आग जलती हुई दिखाई दे रही है। गुजरात में जो हुआ, जो किया गया वह इसका सबसे बड़ा साक्ष्य है। साहित्यकार को अभी से सोचना होगा, करना होगा। अपनी सोच निरंतर जारी रखनी होगी। सदियों में पैदा हुए असंतुलन के निराकरण की बात अगर

नहीं सोची गई तो जातिवादी दंगे होते जाएँगे और साहित्यकार खड़ा देखता रह जाएगा।

महावीर अग्रवाल : हिंदी कहानी आलोचना की जो स्थिति है उस पर आप क्या सोचते हैं?

कमलेश्वर : हमारी आलोचना फ़तवों की परंपरा निबाहती रही है। गंभीरता से लिखी गई निष्पक्ष और गहरी समीक्षा की बेहद कमी है। छायावादी आलोचना के बाद नई कहानी से नई आलोचना का विकास होता है। यह जिस रूप में भी हुआ नई कहानी के साथ ही हुआ है, लेकिन हिंदी आलोचना ने कहानी को कभी ''एक संपूर्ण कृति'' के रूप में लिया ही नहीं। कथा-आलोचना कहानी के सहारे अपने मानदंडों का शास्त्र रचती रही। उसने कभी कहानी को उसकी इयत्ता में परखा ही नहीं, उसकी ओर देखा ही नहीं। आलोचक यह बताते रहे कि कहानी कैसी होनी चाहिए? मुझे लगता है कहानी की रचनात्मक प्रखरता को मापने की आलोचकीय दृष्टि व्यर्थ हो चुकी है। आलोचक धनंजय वर्मा मानते हैं कि रचना को रचना के भीतर जाकर पहचानना ही आलोचक का धर्म है। सुरेंद्र चौधरी ने लिखा है, ''अगर समीक्षा या आलोचना रचना को बड़ा नहीं करती तो उसका कोई अर्थ नहीं है।'' हिंदी कहानी आंदोलन का परिवर्तनकामी अभियान जिस तरह विकसित हुआ, आलोचना के क्षेत्र में उतना काम नहीं हुआ। मैं कहना यह चाहता हूँ कि आलोचना ने कहानी की रचनात्मक विशेषताओं को ठीक से समझा ही नहीं। कथा आलोचना अपने समय के अवयवों को, अपने समय की अनुगूँज को पकड़ने में और उसे रेखांकित करने में असमर्थ रही है। वैसे भी अच्छी कृति अपना पाठक वर्ग खोज लेती है, उसे आलोचक की ज़रूरत नहीं पड़ती।

महावीर अग्रवाल : कमलेश्वर जी *कथाक्रम* (अक्तूबर-दिसंबर 2000) में सुशील सिद्धार्थ से बातचीत करते हुए आपने कहा है, ''नई कहानी के बाद की हिंदी कहानी पर एक आलोचनात्मक पुस्तक की तैयारी चल रही है।'' यह पुस्तक कब तक छपकर आ रही है?

कमलेश्वर : हिंदी कहानी की इस पुस्तक पर मैं काम नहीं कर पाया। अनेक बाधाएँ सामने गईं। सच तो यह है महावीर जी, इस बीच देख रहे हैं—हिंदी कहानी का विस्तार बहुत विस्फोट की सीमा तक। अच्छी कहानियाँ, अच्छी कहानियाँ लगातार लिखी जा रही हैं। चार कहानी पढ़कर काम थोड़ा आगे बढ़ता है दौड़-भाग की ज़िंदगी में किया हुआ काम बिखर जाता है। नई कहानी के बाद की श्रेष्ठ कहानियों को पढ़ने और उस पर लिखने के बहुत अधिक समय की आवश्यकता है। वह नहीं पाता, इसलिए काम आगे बढ़ नहीं पाता मुझे लगता है अपने उपन्यास लेखन के समय नहीं निकाल पाऊँगा। कहानियों के आलोचना की इस पुस्तक के साथ न्याय करने लिए फ़िलहाल पुस्तक पूरी करने का आइडिया कर दिया है। बिखरे हुए कामों को समेटना हूँ। अपना उपन्यास पूरा कर रहा हूँ।

महावीर अग्रवाल : आप जो नया लिख रहे हैं, उसकी पृष्ठभूमि, उसकी और उसकी संरचना के बारे में कुछ बताइए।

कमलेश्वर : मनुष्य की वृहत्तर चिंताओं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही नहीं आज के संदर्भ में देखने की कोशिश की है। इतिहास के अलग-दौर में जो राजनीतिक मार-काट हुई, उसके कारणों को समझना होगा। मैंने यह दिखाया है वर्चस्व की इस लड़ाई में आम आदमी पिसता है। राजनीति कभी भी इतिहास को तय करती और न ही ग़लत बयानी से देश की के स्वरूप को परिवर्तित किया जा सकता है। का जीवन के साथ सिर्फ़ उसे नियमित करने संबंध है, उसके आधार पर जीवन को नहीं सकते। मैं यह मानता हूँ कि परिवर्तनकामी अपनी लेखनी से समाज की धारा को मोड़ है। मेरे इस उपन्यास में संगठित हिंसा के जो रूप हैं उनकी व्याख्या भी है। इसमें मैंने यह है कि दुनिया भर में राजनीतिक और आर्थिक के जुड़ने से किस तरह संगठित हिंसा का जन्म है। कट्टरता और असहिष्णुता को प्रश्रय देने वाले

जितने भी मंच, जितनी भी संस्थाएँ हैं वे सब की सब मनुष्य विरोधी हैं, मानवता विरोधी हैं। अच्छे विचार और आदर्श केवल किताबी बातें नहीं हैं जीवन के अंग हैं, जीवन का सत्य है। आज़ादी मिलने के साथ ही जो सांप्रदायिक दंगे भड़के तब से आज तक पूरे के पूरे समाज में जो ''संस्थागत हिंसा'' है, इस संस्थागत हिंसा का दौर गुजरात के गोधरा तक आ गया है। इससे मुठभेड़ करना ज़रूरी है।

महावीर अग्रवाल : कमलेश्वर जी, क्या आपका यह उपन्यास गुजरात में मुट्ठीभर लोगों की धर्मांधता के जुनून पर केंद्रित है?

कमलेश्वर : यह उपन्यास गुजरात या गोधरा पर केंद्रित नहीं है। मैंने पहले भी कहा है वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में आज के संदर्भों पर गंभीर चिंतन से उपजा है यह उपन्यास। एक ओर धर्म के नाम पर संस्थाएँ अधिक ताक़तवर हुई हैं जबकि दूसरी ओर हमारे समाज में नैतिकता का ढाँचा टूट गया है। आपसी सद्भाव और विश्वास का ताना-बाना छिन्न-भिन्न होता हुआ नज़र आता है। इस सच से आप मुँह नहीं चुरा सकते कि गुजरात का अमीर और मध्यवर्ग ही था जिसने वहाँ के दंगों में खुलकर लूटमार की। गर्भवती महिलाओं की इज़्ज़त लूटकर उनकी हत्या कर दी गई। माँ की गोद से बच्चे को छीनकर आग में फेंक दिया गया। गुजरात में हुई रक्तरंजित बर्बर पाशविकता ने मुझे हिलाकर रख दिया। वोटों के ध्रुवीकरण के लिए भाजपा ने गुजरात में सुनियोजित नरसंहार करवाया। यही नाजीवाद का असली चेहरा है। गुजरात में हुई हिंसा हमें बताती है कि हमारे संस्कार, हमारी सभ्यता, हमारी संवेदना एक सँकरी और अँधेरी गली में फँस गई है। हमें आपसी भाईचारे का पाठ पढ़ते हुए एक-दूसरे के दुखों में और संघर्षों में सहभागी बनना होगा। वसुधैव कुटुंबकम की अवधारणा ही हमें इस अँधेरे से बाहर निकाल सकती है।

महावीर अग्रवाल : कमलेश्वर जी, उपन्यास के साथ-साथ हमारी समकालीन कहानी बहुआयामी है। अपने अनेक रंगों के साथ कहानी में अब तक पराधीन, पीड़ित, उपेक्षित और दलित समुदाय की कहानी तेज़ी से उभर रही है। उनका हस्तक्षेप रेखांकित तो हुआ ही है उसे साहित्य समाज में स्वीकृति भी मिली है। दलितों की सांस्कृतिक सामाजिक मुक्ति के साथ ही दूसरी ओर स्त्री स्वर, स्त्री दृष्टि और नारी विमर्श भी हमारे सामने है। स्त्रियों और दलितों की स्वाधीन चेतना का और इनकी आशा, आकांक्षा की अभिव्यक्ति का भविष्य की कहानी पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

कमलेश्वर : हमारी कहानियों में पीड़ित, पराधीन, वंचित, और शोषित समुदाय हमेशा से केंद्र में रहा है। इसके बाद भी मुझे इनके प्रति संवेदनात्मक तरलता में कमी दिखाई पड़ती है। पिछले 4-5 वर्षों में ढेर सारी कहानियाँ दलित जीवन पर लिखी गई हैं। दलित रचनाकारों की जितनी आत्मकथाएँ इस बीच आई हैं, उन्हें पढ़कर दलित जीवन के संघर्ष को जाना जा सकता है, समझने की कोशिश की जा सकती है। इन कहानियों में, इन कविताओं में, इन आत्मकथाओं में उनके जीवन का प्रामाणिक सत्य है। उनके जीवन को देखने और समझने के बाद इंसानियत, अवसर की समानता और सामाजिक न्याय जैसे शब्द बेमानी लगते हैं। सामाजिक मुक्ति के लिए स्त्री स्वर भी बहुत तेज़ हुआ है। जनमानस की नई भाव-भंगिमा इसमें लक्षित होने लगी है। इसके बाद भी इस सत्य से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि एक वर्ग ऐसा है जिसके लिए स्त्री विमर्श कोई मायने नहीं रखता। और औरत उसके लिए मनोरंजन की वस्तु है। आज अश्लील शब्द के अर्थ और हिज्जे दोनों बदल गए हैं। विज्ञापनों में औरत शत-प्रतिशत नग्न कर दी गई है। दूरदर्शन पर इतने धारावाहिक हैं, वे भी नारी-विमर्श के पैरोकार नहीं हैं। सही आकांक्षाओं में जीना और उससे जुड़ने की ललक पैदा करना केवल कहानियों में नज़र आता है। एक समय ऐसा भी था जब दलित लेखकों को सुनना और पढ़ना तो दूर उन्हें साहित्यिक गोष्ठियों में घुसने भी नहीं दिया जाता था। अब जीवन मूल्यों की वकालत हमारे दैनिक जीवन का हिस्सा बने तभी कुछ बेहतर हो सकेगा। दलित लेखन की निरंतरता समग्रता की ओर बढ़ती हुई

दिखाई दे रही है। दलितों और स्त्रियों पर विमर्श करते हुए अब साहित्यकार के साथ समाजशास्त्री भी आगे आ चुके हैं। भोगा हुआ यथार्थ रचनाओं में ध्वनित हो रहा है। दलितों और स्त्रियों के स्वर के साथ विमर्श की यह धारा इसी तरह गतिमान रही तो भविष्य की कहानी इसकी ही कहानी होगी। मुझे लगता है भविष्य की कहानी में चेतना की अनुगूँज और अधिक सार्थक ढंग से सुनी जा सकेगी, क्योंकि कहानी कई बार सवालों को सीधे भी उठाती है।

महावीर अग्रवाल : कहानी की परंपरा में, कथ्य में अन्वेषण के साथ-साथ शिल्प का आविष्कार भी दिखाई देता है। मुझे लगता है सांस्कृतिक-सामाजिक अंतर्विरोधों को पकड़ने में कहानीकारों का बोध, उनकी भाषा और उनके विचार अग्रणी हैं। रूप और अंतर्वस्तु की दृष्टि से हमारी समकालीन कहानी विकसित हुई है। वह और अधिक समृद्ध हुई है। आपका इस संबंध में क्या विचार है?

कमलेश्वर : मैं अपने आपको भरा-पूरा महसूस करता हूँ। हमारी पीढ़ी के साथ-साथ बाद की पीढ़ी के लेखन में भी एक सामाजिक स्थितियों को लेकर एक बेचैनी है। नारी विमर्श के प्रश्न पर नासिरा शर्मा के साथ-साथ राजी सेठ की कहानियाँ हैं। असगर वजाहत के *सात आसमान* और दूधनाथ सिंह के उपन्यास *आख़िरी कलाम* में सांप्रदायिकता की पूरी समस्या का विश्लेषण है। अमरकांत का उपन्यास *इन्हीं हथियारों से* जनसामान्य की ऐतिहासिकता और परस्पर एकजुटता में गूँथा हुआ है। *एक सच एक झूठ* (जितेन ठाकुर), *उत्तर बायाँ है* (विद्यासागर नौटियाल), *पहाड़ चोर* (सुभाष पंत), *मेरे देश की धरती आहा* (मृदुला गर्ग), और साजिद रशीद का कहानी-संग्रह *सोने के दाँत* ये सारी की सारी अद्भुत रचनाएँ हैं। उर्मिला शिरीष, सूरजपाल चौहान, ओमप्रकाश वाल्मीकि, जयप्रकाश कर्दम, स्वयं प्रकाश, संजीव, रवींद्र कालिया, कामतानाथ, से.रा. यात्री, ज्ञान चतुर्वेदी, अनामिका, ममता कालिया, उषाराजे सक्सेना, चंद्रकांता, चित्रा मुद्‍गल और प्रियंवद सहित ढेर सारे लेखकों की प्रतिभा में कथा का विस्तार बहुत साफ़ दिखाई देता है। कहानी हर दृष्टि से लगातार समृद्ध होती जा रही है। यह पढ़ते हुए अपने लिखने के लिए एक बड़ी स्पेस मिलती है। यह एक चुनौती भी है। पत्रिकाओं ने बहुत ख़ूबसूरत और महत्त्वपूर्ण विशेषांक छापे हैं। *वसुधा* का दलित विशेषांक, *वर्तमान साहित्य* और *इंद्रप्रस्थ भारती* का यशपाल विशेषांक, नया ज्ञानोदय का राही मासूम रजा पर केंद्रित विशेषांक, युद्धरत *आम आदमी*, *उत्तर प्रदेश* और *अपेक्षा* तीनों पत्रिकाओं के दलित विशेषांक, *सापेक्ष* का कबीर पर विशाल अंक सहित ''वली दक्खिनी'' पर अभी-अभी छपी *पहल पुस्तिका*—ये सब बड़ी चीज़ें हैं। सारा काम देखकर मैं चमत्कृत हूँ। यह विशेषांक चेतना के श्रोत हैं। इनकी जागरूकता से हमारी कहानियों का बहुआयामी संसार हर दृष्टि से समृद्ध होता जा रहा है।

महावीर अग्रवाल : कहानी की अच्छी पुस्तकें अभी लगातार छप रही हैं। कहानी का समूचा परिदृश्य आपके सामने है और 50 वर्ष पहले की कहानी का परिदृश्य भी आपने देखा है। समकालीन परिदृश्य तब से कितना और कैसे अलग है? हिंदी कहानी के वर्तमान परिदृश्य में इंटरनेट पर भी कहानियाँ हैं और उसके पाठक भी हैं। कहानीकारों के स्वयं के कैसेट बन रहे हैं और सहज उपलब्ध भी हैं। इस स्थिति का कहानी पर क्या प्रभाव दिखाई देता है?

कमलेश्वर : यह हमारे समय का तेज़ी से बदलता हुआ सच है। बदलते हुए सच से सीधे संवाद करना हमारी तत्परता और ज़रूरत दोनों है। इंटरनेट, कंप्यूटर और रोबोट के बाद टेक्नोलॉजी समन्वय और संयोजन के नए आयाम उद्घाटित कर रहे हैं। द्रुत गति से हो रहे विकास की कोई सीमा नहीं है। महानगरों की नई जीवन शैली में सब कुछ इसमें समाया हुआ है, इसके बाद भी अच्छी पुस्तकों का महत्त्व कभी कम नहीं होगा। रचनाकार की सामाजिक भूमिका से ही उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। कहानी की दुनिया 50-60 साल पहले जैसी थी, अब नहीं रह गई है। माहौल बहुत बदल गया है। पहले कथाकार भारत को बदलना

चाहते थे या तीसरी दुनिया को, वे आज संसार की सोच को बदलना चाहते हैं। साथ ही भूमंडलीकरण के कारण कुछ रचनाकार आत्ममुग्ध होकर पहले की तुलना में अधिक आत्मकेंद्रित हुए हैं। उसके बावजूद रचना सामान्य जन का साथ देती रही, उससे पाठकों की संख्या में लगातार इज़ाफ़ा हुआ है। इसका सुखद अहसास मुझे बार-बार होता है। वैश्विक जुड़ाव की दृष्टि से इंटरनेट बहुत लोकप्रिय परिघटना है। इसकी उपेक्षा या अवहेलना नहीं की जा सकती। लेकिन विज्ञान और उद्योग की तरह इसका भी दुरुपयोग किया जा सकता है। *लज्जा* बहुत बड़ी किताब नहीं है लेकिन इंटरनेट पर आ गई। "रचना" और "रपट" के अंतर को धुँधला करने की ओर भी अग्रसर है इंटरनेट। इंटरनेट 90 प्रतिशत अंग्रेज़ी में होने के बाद भी सर्वव्यापी होता जा रहा है। डिजिटल युग आ रहा है, यह सुविधा भी है और चेतावनी भी। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, पग-पग पर उपयोगिता और महत्व को हमें नए सिरे से समझने की ज़रूरत है। सृजनात्मक अभिव्यक्ति को निश्चित रूप से बहुत बड़ा स्पेस मिलेगा। समाज में जो घटता है, उसे सामने लाने में और सूचना सामग्री की उपलब्धता में यह बेजोड़ है। प्रिंट से भी अधिक ताक़तवर है इलेक्ट्रॉनिक मीडिया। अभिव्यक्ति का दायरा बहुत बढ़ेगा। कहानी के कैसेट यात्रा करते हुए भी सुने जा सकेंगे। यह भी एक नए तरह का अनुभव होगा। यह सही है कि अभी इंटरनेट पर कहानियाँ पढ़ने वाले बहुत कम लोग हैं। हिंदी का जो विशाल पाठक वर्ग है—उनके दरवाज़े तक अभी तक कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं द्वारा ही पहुँच रही हैं। मुट्ठी भर लोग ही इंटरनेट का उपयोग कर रहे हैं। यह शुरूआती दौर है लेकिन कहानी में इसके सृजनात्मक और सकारात्मक प्रयोग की अपार संभावना है।

महावीर अग्रवाल : हिंदी प्रदेशों का ही नहीं पूरे देश के साहित्यिक परिदृश्य में हिंदी कहानी की मुख्यधारा लोक जीवन से ही नहीं आम आदमी अर्थात् सामान्य जन से बहुत दूर होती जा रही है। कहा जाता है कहानी के पाठक वे ही हैं जो किसी न किसी रूप में रचनाकार भी हैं। जो रचते नहीं, ऐसे पाठक हिंदी कहानी के, इतने ही होंगे जिन्हें उँगलियों पर गिना जा सकता है। कथा कथन के आयोजन भी बहुत कम देखने-सुनने में आते हैं।

कमलेश्वर : कुंठा और निराशा के कारण हताश लोग ही बिना जाने, बिना सोचे-समझे, ऐसे जुमले उछालते रहते हैं। जो भी ऐसा कहते हैं वे ग़लत कहते हैं। हिंदी साहित्य की जितनी भी विधाएँ हैं, उनमें कहानियों के ही पाठक सबसे अधिक हैं। कथा-कथन की परंपरा नए सिरे से विकसित हो सकती है। कहानी एक भरा-पूरा और विकसित होता हुआ मानवीय अभियान है। यह एक दूसरी बात है कि आपस में एक-दूसरे को लतियाने और गरियाने से हर आंदोलन को धक्का पहुँचता है। जो लिख नहीं सकते वे ही ऐसे फ़िक़रे उछालते हैं। अजीब तरह का व्यक्तिवाद उभर रहा है। यह जो अहंकार का नया रूप है इसका मुक़ाबला लोक जीवन से निकलने वाली हमारी सामूहिकता करती है। यह जो अहंकारी व्यक्तिवाद है इसका समाधान लोक-संस्कृति के सत्व से निकलने वाले समाजशास्त्रीय अध्ययन में मौजूद है। हमें यह समझना होगा कि साहित्य में अंतर्निहित सद्भाव की शक्ति एक को दूसरे से जोड़ती है। युवा पीढ़ी के कहानीकारों की आस्था सकारात्मक परिवर्तन में है। मैंने जितने नौजवान कहानीकारों को पढ़ा है, मुझे उनकी कहानियों में बड़ी सोच और गहरी दृष्टि के साथ गंभीर विमर्श की क्षमता दिखाई देती है। उनके नए अनुभव संसार में विश्वसनीयता अधिक है। कहानी ज़िंदगी को बदल तो नहीं सकती लेकिन विचार के ऐसे बिंदु तक ज़रूर ले जाती है जहाँ पाठक की सोच में बदलाव की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। कहानी जनतांत्रिक मूल्यों की ऐसी साझी विरासत है जो मानव समाज को आपस में बाँधकर रखने में मददगार सिद्ध हो सकती है, क्योंकि सारी पुरातन सभ्यताओं की लोक-चेतना लगभग समान या सह-अस्तित्ववादी है।

महावीर अग्रवाल : इक्कीसवीं सदी में वैश्वीकरण और उपभोक्तावाद ने, मीडिया और बाज़ार की शक्तियों ने हमारी संवेदना को बहुत तेज़ी से प्रभावित

किया है। हम जानना चाहते हैं कि बाज़ारवाद और फासीवाद आपस में किस तरह जुड़ते हैं? आर्थिक उदारीकरण और ग्लोबलाइजेशन के इस दौर में भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद के वर्चस्व के बीच ''कहानी'' पर किस तरह के संकट हैं?

कमलेश्वर : हमारा संकट यह है कि व्यक्तिवादी निरंकुशता समाज पर हावी होती जा रही है। यह सही है कि चारों ओर से घिरा हुआ समाज आज जितने संकट में है उतना पहले कभी नहीं था। धर्म और सत्ता राजनीति की व्यावसायिक प्रवृत्ति और स्वार्थ की बढ़ती मनोवृत्ति ने नए-नए सवाल खड़े कर दिए हैं। जाति और संप्रदाय की संकीर्णता के कारण, धर्मांधता के कारण अखंडता ख़तरे में है। धर्मोन्माद हमेशा ही दिशाहीन होता है। अतीत की मिथ्या चेतना का कुहासा धर्म के नाम पर फैलाया जा रहा है। कुछ कट्टर हिंदूवादी संगठनों द्वारा हमारी सदियों पुरानी सहिष्णुता की संस्कृति को ख़तरा पैदा हो गया है। यह ख़तरा समाज को तोड़ने की ओर बढ़ा है। सत्ता की राजनीति और विज्ञापन केंद्रित मीडिया ने भावनाओं और संवेदनाओं को ख़ारिज किया है। संवेदनहीनता के इस दौर में मानव धर्म और संस्कृति के बीच सह अस्तित्व की धारणा को विकसित करना होगा। सांप्रदायिकता धर्म से नहीं, राजनैतिक सत्ता के अवसरवाद से पैदा होती है। पूँजीवाद के इस सांस्कृतिक आक्रमण में दूसरी तरह का फासीवाद है। पहले सेनाएँ युद्ध और बारूद के बल पर क़ब्ज़ा जमाती थीं, अब पैसे के बल पर बाज़ार के ऊपर वर्चस्व की होड़ है। ग्लैमर के कारण अब बाज़ार में शुद्ध व्यावसायिक संस्कृति का बोलबाला है। चकाचौंध के बीच संवेदनहीनता और अमानवीयता के कई दृश्य विज्ञापनों में उभारे जाते हैं। उनकी संस्कृति और प्रवृत्ति ही ऐसी है जिसके चलते गोधरा-गुजरात का सच विकृत रूप में दिखाया जाता है। बाज़ारवाद और फासीवाद का यह समन्वय हमारे समाज के लिए बहुत घातक है। यह एक संधिकाल है और बहुत बड़े संकट का सामना हमारा समाज कर रहा है। बाज़ारवाद की विकृति का शिकार कौन नहीं है? लेकिन ग्राम संस्कृति फासीवाद का मुक़ाबला करेगी। आंचलिक कहानियों में बाज़ारवाद का अपने अंतःकरण के सच को अभिव्यक्त करने अनूठी कला इनके पास है। अंचल की कहानियों वैश्विक सोच और प्रतिरोध का स्वर दोनों किसान का पंचायती हुक़्क़ा आज भी सामूहिक और सामाजिकता का संदेश दे रहा है। गुजरात नरसंहार के बाद लिखी गई कविताएँ और कहानियाँ सौहार्द्र की प्रेरक बानगी है और उनकी प्रस्तुति परिष्कार है। ग्लोबलाइजेशन और भूमंडलीकरण जटिल स्ट्रक्चर के परिणामस्वरूप सारी धुंध ग्लोबलाइजेशन के घटाटोप के बीच भी कहानी नहीं है। इन सारे संकटों के बीच भी कहानी प्रतिरोधी स्वर के साथ आर्थिक उपनिवेशवाद एक ध्रुवीय साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ खड़ी हुई चुनौतियों का सामना कर रही है। साझी विरासत कहानी सोई नहीं है, जाग रही है।

महावीर अग्रवाल : कहानी के इतिहास में पीछे न लौटकर 1901 में छपी कहानी ''एक टोकरी भर मिट्टी'' (माधव राव सप्रे) से लेकर समकालीन कहानी को आप किस दृष्टि से देखते हैं? आपके पास रचनाकार के रूप में छह दशकों का लंबा सृजनात्मक अनुभव है। ''कहानी'' अपने समय के ज़रूरी सवालों से सीधे सामना कर पा रही है या नहीं? इक्कीसवीं सदी में आपके विचार से कैसा होगा कहानी का भविष्य?

कमलेश्वर : धरती की तरह क़लम कभी बाँझ नहीं होती। ग्रामीण समाज और दलित तथा स्त्री समाज से जो युवा कथाकार आए हैं, उन्होंने कहानियों को ज़मीन से जोड़ा है। प्रतिरोध के स्वर को अधिक तेज़ी से मुखरित किया है। उनकी कहानियों में सुख-दुख है, जय-पराजय है। मूल बात यह है कि कहानियों के केंद्र में मनुष्य है। कहानी ने प्रत्येक अंचल की कथा से अपनी रचनात्मकता को समृद्ध किया है। नई पीढ़ी की कहानियाँ अधिक प्रश्नाकुल, अधिक संवेदनशील और अधिक लोकधर्मी है। उड़ान अच्छी है लेकिन धीरज कम है। नई पीढ़ी को कहानी की भाषा के प्रति और अधिक जागरूक होना

होगा। हड़बड़ी में अपनी रचनात्मकता का विकास हम पूरी तरह नहीं कर पाते। हमारे समय में सामने आए भूमंडलीकृत मध्यवर्ग की वैभवता और व्यक्तिवादी असहिष्णुता ने ग़रीबी और बेकारी की विषमता को बढ़ाया है। सहिष्णुता का क्षरण बहुत तेज़ गति से हुआ है, जिसने हमारी सार्वजनिकता को प्रभावित किया है। गुजरात और आसाम की घटनाएँ बताती हैं कि सामाजिक समरसता के बीच असंतुलन बढ़ता जा रहा है। इन सारे सवालों का सामना हमारी कहानी पूरी ताक़त के साथ कर रही है।

कहानी का भविष्य तो उसकी रचनाशीलता द्वारा तय होगा। कहानी बहुत सशक्त माध्यम है। यह एक ऐसी विधा है, एक ऐसी भाषा है, एक ऐसी बोली है जो चारों ओर का संसार हमें पारदर्शी तरीक़े से दिखाती है। यह अपने दारुण समय के जटिल यथार्थ का सामना करने में पूरी तरह समर्थ है। मैं यह कह सकता हूँ कि आज की रचनाशीलता के समूचे दौर का प्रतिनिधित्व हमारी कहानियों में मौजूद है। विश्व की समृद्ध भाषाओं के सामने हिंदी कहानी ने बड़े फलक पर मूल्यों को सँभाला है। मैंने पहले भी कहा है, हिंदी कहानी की छलाँग बहुत जानदार है, यह और अधिक तेज़ी से परवान चढ़ेगी। जिजीविषा, संघर्ष और ख़ुशहाल दुनिया की भरी-पूरी उम्मीद है कहानी। एक बड़े समाज में एक बड़े स्वप्न को बुनती हैं ये कहानियाँ।

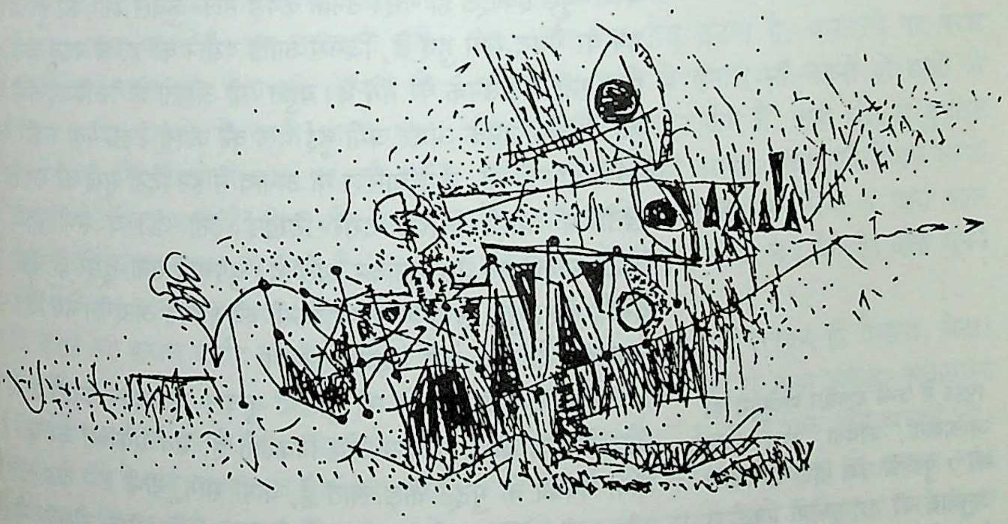

बलबीर माधोपुरी

तिड़के शीशे की व्यथा

''सारी चमारली का जूते मार-मारकर सिर पोला नहीं कर दिया तो भी जट्ट का पूत नहीं।'' बीच वाली गली में से दगड़-दगड़ क हुए एक ज़मींदार ने हमारे घर के सामने वाले बरगद-पीपल के दर के नीचे आकर अपना ग़ुस्सा ज़ाहिर किया।

''क्या हो गया सरदारा, इतने ग़ुस्से में है?'' बुज़ुर्ग ताए बंते ने ए हाथ में नलियों वाला छिक्कू और एक हाथ में हुक़्क़े की चिलम प हुए अपने घर से आते हुए पूछा।

''घास खोदने के बहाने मेरा चारा काटकर ले आई हैं, जैसे इनके ब का खेत हो।''

उसकी ऊँची आवाज़ सुनकर हमारे आसपास के घरों के स बच्चे-बूढ़े इकट्ठे हो गए। उनके कपड़े मैले-कुचैले और फटे हुए थे त उन पर पैबंद लगे हुए थे, जिनसे आती पसीने की हल्की बदबू चारों ओ फैल रही थी। उनके पैर नंगे थे। बहुत-सी औरतों के पैर बिवाइयों से फ हुए थे और उनके अंदर जमी हुई मैल की काली टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें ए प्रतीत हो रही थीं, जैसे बारिश के अभाव में इन दिनों सूखे की मार झेल खेतों में आड़ी-तिरछी दरारें दिखाई देती थीं। वे सभी स्तब्ध अर्द्ध-गोलाकार घेरा बनाकर खड़े थे, चुपचाप एक-दूसरे के चेहरों क देखते हुए। मुझे लगा कि अभी किसी की शामत आएगी। मेरा दिल म घबराहट के तेज़-तेज़ धड़कने लगा।

''हम दिन-रातं साँपों की मुंडियाँ कुचल-कुचलकर फ़सलें उगाते हैं और ये झुंड के झुंड जिस ओर निकलते हैं, सब सफाचट कर जाते हैं कभी मक्का के भुट्टे तोड़ लाते हैं, कभी साग, कभी गन्ने तोड़ लाते हैं और कभी छोलिया ही उखाड़ लाते हैं।'' लगातार चीख़-चीख़कर बोल के कारण उसके होठों की कोरों पर थूक की झाग के सफ़ेद और पानी जै महीन कण लगातार जमा हो रहे थे जिन्हें वह थू-थू करके थूक देता

''सरदारा, तू बता कौन-कौन थी? मैं पूछता हूँ तेरे सामने।'' ताए नम्रता से पूछा।

''हद हो गई।... और किसी पास-पड़ोस के गाँव से आ गईं? सबकी सब एक जैसी थीं। अब कोई पैरों पर पानी नहीं पड़ने देता। अगर मैं खेतों में ही उनके सिरों से दुपट्टे उतार देता तो ठीक होता?'' उसने फि थू-थू किया। उसकी इसी आदत के कारण गाँव में उसका उपना ''थू-थू'' पड़ गया था।

1955 में जन्में बलबीर माधोपुरी की आत्मकथा, कविता, यात्रा आदि की 7 पुस्तकें तथा हिंदी से पंजाबी अनुवाद की 17 पुस्तकें प्रकाशित है। इन्हें पंजाब सरकार के भाषा विभाग से पुरस्कार भी मिल चुका है। संपर्क : आर जेड ए-44, महावीर विहार, पालम, नई दिल्ली-110045

अनु. :

सुभाष नीरवः पंजाबी-हिंदी में अनुवाद पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : क्वार्टर-248, टाइप-3, सेक्टर-3, सादिक नगर, नई दिल्ली-110049

“हम कम्मी-कमीन लोगों ने और कहाँ जाना है! तुम्हारे खेतों की मेड़ों पर से ही हमने घास-चारा खोदना है। इसके अलावा तुम्हारी भैंसों की देखभाल भी तो करते हैं।” ताए बंते ने बात को समाप्त करने के लहज़े से कहा।

“ज़्यादा चालाकी भरी बातें न कर। हमारी हिस्से पर दी गई भैंसें लेकर आ गया, जैसे तुमको आधा हिस्सा तो मिलता ही नहीं... कभी सीना चौड़ा करके कहते हो कि तीन हिस्से हमारे और दो तुम्हारे।”

बात का रुख़ अपने-अपने अधिकारों की ओर मुड़ने के कारण माहौल गरमाने लगा था पर, ताए बंते ने कुछ समय चुप रहकर विनम्रता से बात को बीच में ही काटते हुए फिर कहा, “सरदारा, जिस पंज–दुवंजी (पाँच में से दो और तीन का अनुपात) हिस्से की तू बात करता है, वह कई बार नट जाती है, कई बार बाँझ रह जाती है। आख़िर में, क़साईयों को ही रस्सा थमाना पड़ता है। इस ठाकर ने भूरी भैंस की दो-ढाई साल ख़ूब सेवा की, बियाने से पहले दंदा (मादा पशुओं में लगने वाली एक बीमारी) देती रही और बियाने के वक़्त मर गई। हम भी तो ऐसी चोटें झेला करते हैं। फिर कौन-सा ये तेरे खेत में से फ़सल काटकर ले आई हैं।”

‘मेरे से ज़्यादा बक-बक न कर। ख़ुद ही बता दो कि किसने मेरी फ़सल बर्बाद की है। नहीं तो मैं पंचैत करूँगा।”

“तुम्हारी सरदारियाँ क़ायम रहें। छोड़ परे अब गुस्से को...। ताए ने बात ख़त्म करते हुए कहा और नलियों वाला छिक्कू नीचे रखकर सिर के आगे वाले हिस्से की गंजी खोपड़ी खुजाने लगा।

‘ऐसे नहीं मानने वाले ये चमार लोग...” थू-थू ने क्रोध में आकर कहा और फिर उसने दाईं टाँग पीछे की ओर मोड़कर पैर में पहना चमरौधा हाथ से उतारने की कोशिश की।

“जा, जो करना है, तू कर ले। ख़ामख़ाह सिर पर चढ़ा जाता है, सामने कोई बोलता नहीं इसलिए...। जा, पहले ‘नांगों’ के बूढ़े से पूछ, उस दिन मेरे आगे हाथ जोड़कर बच गया था, नहीं तो दराँती से आँतें खींच लेता।” दसवीं कक्षा में पढ़ने वाले मेरे ताए के पुत्र फुम्मण ने अचानक क्रोध में आकर अपनी दाईं बाँह हवा में लहराते हुए विरोध प्रकट किया।

माहौल में जैसे तूफ़ान आ गया, सभी लोग स्तब्ध रह गए। मारे डर के मेरी टाँगें काँपने लगीं और शरीर में झुरझुरी-सी दौड़ गई। पास खड़ी मेरी माँ ने हाथ भर के घूँघट में से मेरी ओर देखा और मेरी छोटी बहन को मेरी गोद में पटककर स्वयं घर की ओर चली गई। आस-पड़ोस की मेरी चाचियाँ-ताइयाँ घूँघट निकाले खड़ी थीं जो हाथ से पल्लू को थोड़ा-सा सरकाकर इधर-उधर देख रही थीं।

ताया बंता और दूसरे लोग फुम्मण को बाज़ुओं से पकड़कर दाएँ-बाएँ करने का यत्न कर रहे थे। लेकिन वह गुस्से में फुँफकारता हुआ किसी की सुन ही नहीं रहा था और ऊँची आवाज़ में बोले जा रहा था, “जो ऐरा-ग़ैरा उठता है, चमारली पर बरस पड़ता है। कभी वे हमारी माँ-बहनों के हाथों से खुरपे-दराँतियाँ छीन लेते हैं, कभी सिर से दुपट्टे उतार लेते हैं। कैसी आदत पकड़ ली है इन लोगों ने! चाहे इनके अपने ही आदमियों ने चारा काट लिया हो, तो भी हमारे सिर मढ़ देते हैं। कोई सुनने वाला ही नहीं।”

“ठीक है, फिर थाने चलकर ही देखना, बेटा! वहाँ देखता हूँ तुझे। यहाँ तो बड़ा अकड़-अकड़कर बात कर रहा है।” थू-थू ने एक और धमकी दी।

“किसी और को धमकी देना, वो ज़माना गया जब ये सब लोग तुम्हारे आगे घिघियाया करते थे।” फुम्मण ने पलट कर जवाब दिया। क्षण भर रुककर उसने फिर कहा, “अब सच्ची बातें सुनकर गुस्सा आता है। ख़ुद यहाँ रोज़-रोज़ आकर डरा-धमकाकर चले जाते हो।”

यह सब देखकर मुझे ऐसा लगता जैसे बस अभी हाथापाई हो जाएगी। कभी ऐसा लगता—जैसे बात ख़त्म हो गई। दूसरों के चेहरों पर फैली हुई घबराहट को देखकर मैं वास्तव में ही डर गया। मेरा गला ख़ुश्क हो गया और थूक को अंदर निगलना मेरे लिए कठिन हो गया। टाँगें बेजान-सी हो गईं और

शरीर ठंडा पड़ गया। मुझे लगा कि मैं अभी धड़ाम से नीचे गिर पड़ूँगा और गोद में उठाई हुई मेरी बहन सिर के बल गिर पड़ेगी।

''पट-पट जूतियाँ पड़ीं तो ख़ुद ही सीधे हो जाएँगे सब, अब जो ऊँची आवाज़ में बोल रहे हैं।'' थू-थू ने फिर अपनी भड़ास निकाली। पल भर रुककर पहले से धीमी आवाज़ में बोला, ''चिड़िया, चूहे और चमार की साली बढ़ोतरी ही बहुत है।''

'मुँह सँभालकर बात कर, नहीं तो दाढ़ी उखाड़कर हाथ में पकड़ा दूँगा। और अपने बाप से पहले पूछ जिसने मेरी माँ को पैना मारा था। थाने में नाक से लकीरें खिंचवाई थी उससे। जब सभी तुझे कहते हैं कि भई चाहे गुरुद्वारे चढ़ा ले, अगर तेरा इन्होंने नुकसान किया है तो, तू फिर भी ऊपर चढ़ता चला जा रहा है।'' फुम्मण ने पूरे जोश में निडर होकर ताए बंते और दूसरी बूढ़ी औरतों की पकड़ से छूटते हुए कहा। अब उसकी भौंहें और तन गई थीं और माथे पर त्योरियाँ उभर आई थीं। ऊँचे स्वर में ज़ोर से बोलते हुए उसके मुँह से भी थूक के कण निकलकर हवा में घुलते जा रहे थे।

उम्र में मुझसे आठ-दस बरस बड़े किशोर फुम्मण की निडरता और उसकी तर्कभरी बातें सुनकर मेरी टाँगों में मानो फिर से जान आ गई थी। क्षणभर मेरे मन में विचार उठा कि मैं भी फुम्मण की तरह निडर और साहसी बन जाऊँ। डराने-धमकाने वालों का डटकर मुक़ाबला करूँ। बड़ा होकर मैं भी ऐसी गर्जना के साथ बात करूँ और किसी से भी हार न मानूँ। मेरे भी खेत हों और खेतों की मेड़ों पर मैं भी अपनी मूछों को ताव देता हुआ नंबरदारों के लड़कों की तरह घूमा करूँ।

इसी दौरान मेरा ताया रामा आ गया और आते ही उसने फुम्मण को डाँटा, ''क्या शोर मचा रखा है तूने?...घर को चला जा, नहीं तो जूते मारूँगा।''

'ये जो रोज़ आकर रोब झाड़ा करते हैं, इनको कोई कुछ नहीं कहता, हम क्या कहीं बाहर से आए हुए हैं कि इन लोगों ने हमारा जीना ही दूभर किया हुआ है। हर समय रोब, हर समय दबदबा। इनके पास ज़मीनें क्या हो गईं, हमारे रब्ब बने बैठे हैं। आ गए नए अन्नदाते! अगर हमारे आदमी तुम्हारे खेतों में इतनी कड़ी मेहनत न करें तो तुम भूखे मर जाओ। शाम को पीकर जो चिंघाड़ते हो, यह भी बंद हो जाए।'' क्रोधवश लगातार बोलने से थूक के छोटे-छोटे कण अभी भी हवा में गिर रहे थे। उसकी आँखों का रंग गुस्से के कारण सुर्ख़ हो गया था और उसका काला शरीर तना हुआ था।

फुम्मण को इस तरह बोलते हुए मैंने पहली बार देखा था। उसके गुस्सैल और अड़ियल स्वभाव को सभी जानते थे कि जिस जगह वह सच्चा होता था, वहाँ वह चट्टान की तरह अड़ जाता था। आज की तू-तू मैं-मैं को देखकर मैं अवाक् रह गया था। मुझे लगा कि ज़मींदार हवा में लाठियाँ भाँजते हुए एक-दूजे से आगे निकलकर दौड़ते हुए फिर आ जाएँगे।

इसी समय छन-छन करते घुँघरुओं की आवाज़ आई और सभी की नज़रें एकदम से उधर घूम गईं। वह एक संन्यासी साधु था। पहले से ही जुड़े मजमे में वह भी आकर खड़ा हो गया। लेकिन वह अपने दोनों पैर ऊपर-नीचे करता रहा, ठीक वैसे जैसे मैं गाँव के स्कूल में दूसरे विद्यार्थियों के साथ 'एक-दो' ''एक-दो'' बोलते हुए क़दमताल किया करता था। मैं पहली तनाव वाली घटना क्षण भर के लिए भूल गया और धीरे-धीरे उस संन्यासी की नक़ल करने लगा। मैंने यह हरकत तब बंद की जब उसने पूछा, ''ज़मीन की क्या बात कर रहे थे भाई, सब कुछ तो यहीं रह जाना है, साथ में कुछ नहीं जाना है।''

साधु ने पंजाबी-हिंदी मिश्रित भाषा में कहा और लगातार क़दमताल करता रहा। युवतियाँ और बूढ़ी औरतें सभी अपने-अपने घरों को लौट गईं। बाकी लोग संन्यासी की बातें सुनते रहे। उसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार के ऊपर क़ाबू पाने के लिए प्रवचन किए और अंत में प्रमाण के रूप में उसने कमर की धोती ऊपर उठाकर ताँबे के छल्ले से बिंधा हुआ अपना लिंग दिखाया। हम सभी बच्चे हैरान रह गए। उसने वैराग्य की बातें कीं। कुछ क्षणों में ही उसने पूरे माहौल को ही बदल दिया। ताया थू-थू से बोला, ''मैं सभी को समझाता हूँ। आज के बाद तेरा

नुकसान नहीं होगा। फ़िक्र न कर, अब बात को ख़त्म कर।''

"तुम पंचैत मेंबर हो, तुम्हारा कहना मैं कैसे टाल सकता हूँ। फुम्मण से कहना कि नया ख़ून है, थोड़ा होश में बात किया करे। मेरे बेटों को मालूम हो गया तो न जाने क्रोध में क्या कर दें। बिगड़ा हुआ जट्ट छह ज़मीन बेच दे तो आदमी मार देता है।''

"जा, चला जा परे...।'' ताए ने थोड़ी धमकी देते हुए कहा।

उसी समय मेरे ताए की बहुएँ हमारे घर के दरवाज़े के सामने आ खड़ी हुईं। मैं मजमा छोड़कर र की ओर चल पड़ा। जीतो भाभी ने ऊँची आवाज़ में कहा, ''चाची, गुड्ड को रोटी के लिए भेज दो।''

मैं अपनी छोटी बहन को घर में छोड़कर छन्ना और रोटियों वाला कपड़ा उठाकर अपनी भाभियों के साथ चल पड़ा। यह काम मेरे प्रतिदिन के कामों में शामिल था। मेरा बापू कभी किसी ज़मींदार के खेत में मज़दूरी करने जाता तो कभी किसी के। हम उनके घरों के आँगन में अपने बाटियाँ-छन्ने(बर्तन) रखकर, नीचे ज़मीन पर बैठ जाते। जट्ट औरतें थोड़ा झुककर ऊपर से ही रोटियाँ ऐसे फेंकती थीं कि हम दोनों हाथों की बनाई हुई पत्तल के ऊपर बड़ी युक्ति से उन्हें लपक लेते थे। दाल-साग की भरी कलछी भी इसी तरह ऊपर से ही बर्तनों में डालती थीं कि उनके गर्म-गर्म छींटे कई बार हमारे पैरों पर पड़ जाते थे, जिनके कारण छोटे-छोटे छाले पड़ जाया करते थे।

ऐसे अवसरों पर मेरी सोच अकसर झट से पीछे की ओर लौट जाती थी। कभी मुझे मेरा बापू इक़बाल सिंह के घर में गेहूँ-मक्की के ढेर को कोठी में डालता दिखाई देता तो कभी बातें करता हुआ, "आज हम इन दानों के ढेर पर नंगे पैर चलते-फिरते हैं, दाने कोठी में पड़ जाने के बाद हमसे इनके भिट जाने (अपवित्र होने) का भय इन लोगों को सताने लगता है।...और फिर कल किसने यहाँ देना है हमें!''

"भिट'' शब्द से मेरा मन बार-बार कटता, जैसे हमारे कुएँ की जगत पर रस्सी से कट-कटकर लकीरें पड़ गई थीं! मेरे विचारों के पता नहीं कैसे अचानक पंख निकल आते—बरसात के कीट-पतंगों की तरह! मैं सोचता—ज़मींदार अपने पशुओं को कैसे ख़ूब मल-मलकर नहलाते हैं, पानी पिलाते हैं और उनका हर तरह से ध्यान रखते हैं। उनका कुत्ता कभी दालान के अंदर, कभी रसोई के अंदर बिना किसी रोक-टोक के आता-जाता है, बिल्ली के आगे उनके बच्चे म्याऊँ-म्याऊँ करते घूमते हैं। बिलौटों के लिए दूध बर्तन में डालकर उनके आगे रखते है और उधर, बापू और उसके साथी अपने-अपने घरों से गिलास-कटोरे लेकर जाते हैं। दिन भर उनके लिए जान मारकर काम करते हैं। इनसे तो ये जानवर अच्छे हैं जो गोदी में बिठाकर प्यार से दुलारे-पुचकारे जाते हैं। फिर, मेरे मन में विचार आता कि ऐसी मज़दूरी के साथ मेरा कभी वास्ता न पड़े, जैसे-तैसे पढ़ जाऊँ, बड़ा होकर दिल्ली में रहने वाले अपनी बुआ के बेटों की तरह नौकरी करूँ, दिल्ली में रहूँ और नई-नई पैंट-क़मीज़ें पहनकर घूमता फिरूँ, न किसी का भय और न किसी का डाँट-डपट हो।

कई बार बापू को मजबूरीवश उन ज़मींदारों के यहाँ दिहाड़ी पर जाना पड़ता था, जिनके घरों की दाल-रोटी हमें बिलकुल पसंद नहीं थी। कभी-कभी बापू अपने दिल की बात हमसे सांझी करता, ''उस गंदी औरत के हाथों से बनी रोटी खाकर उल्टी आने को होती है। बाजरे की रोटियाँ, मसूर की दाल के साथ देकर टरका देती है। अभी कोई बाल-बच्चा नहीं है उस बुरी नीयत वाली के।''

अनेक बार बापू की दिहाड़ी की मज़दूरी के बदले में मेरी माँ जट्ट औरतों से गुड़, शक्कर, प्याज़, लहसुन, आलू, गेहूँ, मक्की, उड़द, मोठ, मसूर या कोई अन्य वस्तु ले आती। लेकिन, यह सब देखकर बापू व्यंग्य से कहता, ''अपनी चीज़ों की क़ीमतें अपनी मरजी से बढ़ा लेते हैं, हमारी दिहाड़ी नहीं बढ़ाते। सारा दिन पशुओं की तरह काम कराते हैं।''

''चल छोड़, जैसे-तैसे गुज़र-बसर हो रही है।'' माँ ने बात लंबी होते देख कहा।

''यह जो हमारी चमड़ी झुलसती है, तुम घर के अंदर बैठी क्या जानो।''

''तुमसे कौन बहस करे। कहता है, घर के अंदर बैठी रहती है।'' इतना कहकर माँ पिछली कोठरी में किसी काम चली गई।

अंत में, बापू अकसर थके-मांदे बैल की तरह धम्म से चारपाई पर बैठ जाता और कभी लेट जाता। फिर, दुखी होकर अपने आप से ही बातें करने लगता, ''अगर थोड़ी-सी ज़मीन हमारे पास भी होती, बहुत बढ़िया गुज़ारा हो जाता। पता नहीं किस कंजर ने हमें ज़मीन से वंचित किया हुआ है। अगर कभी मिल जाए तो साले से पूछें कि मामा, तू भी हमारी तरह किसी की गुलामी करके देख, दो दिन में गांड न फट जाए तो मुझे पकड़ लेना।''

बापू के चेहरे पर तनाव होता, आँखें लाल और भौंहें तनी हुई होतीं। उसकी बातें कड़वी होती और उनमें तेज़ी होती। ऐसे समय मैं सोचा करता कि बड़ा होकर ज़मीन ख़रीदकर उसमें केले, आम और गुलाब की कलमें रोपूँगा जैसे गाँव के कई जट्टों के कुओं पर हैं।

मैं देखता कि घर में पैसे की तंगी के कारण रोज़ ही नया कलह-क्लेश छिड़ा रहता। खाने-पीने के समय यह कलह अपने शिखर पर होती। बापू ग़ुस्से में गिलास-कटोरे उठा-उठाकर पटकने लगता। रसोई में उनके आपस में टकराने की आवाज़ दलान में बैठे लोगों को भी सुनाई देती थी। ऐसा लगता था कि अभी चूल्हे की आग लपटों का रूप धारण कर लेगी। मैं अकसर ऐसे क्षणों में डर जाता था कि बापू अभी उठकर माँ के दो-चार तमाचे या पीठ पर घूँसे जड़कर अपना ग़ुस्सा निकाल लेगा और फिर ख़ामोश होकर बैठ जाएगा। अंत में, बग़ैर कुछ खाए-पिए सो जाएगा।

इन्हीं दिनों में माँ हम दोनों भाइयों की ओर देखकर दुखी होती पर बापू तो पहले ही भड़क उठता था, ''कहाँ जाकर फाँसी लगा लूँ—तुझे बीसियों बार बताया है कि पैसे की कोई बात नहीं बनी, रोज़ वही झगड़ा, हर वक़्त बुरा-भला, बच्चे तेरे ज़्यादा हैं, मेरे कम लगते हैं!'' बापू के स्वर में क्रोध भी झलक रहा होता और लाचारी भी।

''मुझे ऐसे खा जाने वाली नज़रों से न देख, महीना तो हो चुका है।''

''मैं कहाँ डाका डालूँ, बहुतों से पूछ लिए माँगने पर तो कोई दुअन्नी भी नहीं देता।'' बापू ने माँ की बात बीच में काटते हुए ग़ुस्से में कहा। फिर पता नहीं उसके मन में क्या आया कि वह कहने लगा, ''ख़ूब मेहनत करता हूँ, फिर भी कुछ नहीं बनता। हमारी साली क़िस्मत ही ऐसी है, पता नहीं किन कर्मों की सज़ा भुगत रहे हैं। इससे तो अच्छा था पैदा ही न होते। क्या कमी पड़ जाती अगर पैदा न होते...ऊपर से तू...।''

''थोड़ा संतोष रखा कर, दूसरे की बात भी सुन लिया कर। मैं तो कहती हूँ कि कल बैसाखी है, सूरज निकलने से पहले ही स्नान करा ला इन्हें।''

जलते हुए कोयलों पर जैसे वर्षा की फुहारें पड़ गई हों। बापू ने अपने सिर पर बँधे हुए अँगोछे के नीचे बालों में उँगलियाँ फिराते हुए ''अच्छा जैसे तुम कहो'' कहकर अपनी स्वीकृति दे दी।

अगले दिन तड़के ही बापू मुझे और बिरजू को लेकर गाँव से दक्षिण की ओर चल पड़ा। हम चुपचाप चले जा रहे थे। चाँद भी जैसे हमारे साथ-साथ चल रहा था। रास्ते के किनारे पर जब कभी सरकंडे और झाड़ियों का झुंड आता तो उनमें हवा के चलने से सरसराहट की आवाज़ उत्पन्न होती थी। क्षणभर के लिए मेरे भीतर डर की लहर हवा से भी तेज़ गति में दौड़ने लगती। मैं लंबे-लंबे डग भरता हुआ बड़े भाई का हाथ पकड़ लेता। जब हम जंडीर गाँव की फिरनी (गाँव के चारों ओर का कच्चा रास्ता) पर पहुँचे तो चुभ्भे (गुड़ बनाने की भट्टी) के भीतर से एक कुतिया निकलकर भौंकने लगी। उसके तीन-चार पिल्ले पीछे-पीछे दौड़ते हुए आए। बापू ने उनको धमकाया तो वे सभी वहीं ठहर गए। बापू ने हमें तेज़ चलने को कहा।

''ओह...मर गया!'' पोहली (एक काँटेदार पौधा) का सूखा हुआ पौधा हवा से ज़मीन पर लुढ़कता हुआ अचानक मेरे पैरों के तले आ गया था। मेरा छलाँगें मार-मारकर चलना एकाएक रुक गया। मैं तुरन्त ज़मीन पर बैठ गया। फिर, बापू ने मेरे पैरों के तलवों से काँटे निकाले और हाथ फेरते हुए पूछा,

"अब तो नहीं चुभते?''

थोड़ा ध्यान से देखा तो मुझे आभास हुआ कि यह वही जगह थी, जहाँ मंगी (मेरे ताए का पुत्र) और मैं दूसरे साथियों के साथ पिछले साल बैसाखी का पर्व देखने के लिए आए थे। गाँव के दीवान ने गोलगप्पों की छाबड़ी लगा रखी थी। किच्छी और पाशू ग्राहकों के जूठे बर्तन साफ़ करते और पानी पिलाते थे। पकौड़ों और मिठाई की बहुत-सी दुकानें सजी हुई थीं। कबड्डी का दम भरते लड़के और खेल के मैदान के इर्द-गिर्द गोल दायरे में बैठे-खड़े हुए बच्चों और बूढ़ों की भीड़! ये दृश्य मन के शीशे पर उभरे। घर लौटते समय, रास्ते भर अलगौज़े आवाज़ एक बार फिर मुझे सुनाई देती रही थी।

"क़मीज़ उतारकर जल्दी से स्नान कर लो, फिर घर को लौटें। गेहूँ काटने भी जाना है, इक़बाल सिंह के खेत में।'' बापू ने जैसे हमें हुक्म सुनाया। उसने अपनी पुरानी मैली क़मीज़ उतारते हुए नसीहत की, "यही किनारे पर बैठकर स्नान कर लो, इधर गहरा गड्ढा है।'' पूर्व की ओर से आता हुआ पानी घास-पौधों, सरकंडों की झाड़ियों से गुज़रता हुआ, धीमी-सी कल-कल ध्वनि करता हुआ बह रहा था। चाँद की चाँदनी से तालाब में शीशम के पेड़ों की टहनियों और पत्तों की परछाइयाँ दिखाई देतीं जो हिलती भी थीं।

जब हमने कपड़े पहन लिए तो बापू ने थैले में से दराँती निकाली। पाँच मूठें सरकंडे की काटी, सिर झुकाकर धरती को नमस्कार किया और कहा, ''हे मालिक, रहम कर, बच्चों को ऐसा खुजली का रोग फिर कभी न हो।''

वास्तव में, हम दोनों भाइयों के शरीर पर कुत्तों जैसी खुजली हो गई थी। खुजाते-खुजाते शुष्क जगहों पर से पानी रिसने लगता था। आसपास के घरों के बच्चे हमारे संग न खेलते। हमारे परिवार वाले भी हमें ज़्यादा बाहर नहीं निकलने देते थे ताकि हमसे किसी और को ये छूत का रोग न हो जाए। खारिश होने पर हम दिन-रात शरीर पर जल्दी-जल्दी खुजली करते रहते। हमारा कोई वश न चलता, ग़ुस्सा आ जाता। हम रुआँसे से हो जाते।

स्कूल में बहुत दिनों से छुट्टियाँ थीं क्योंकि नई कक्षाओं के शुरू होने का समय था। कुछ दिन पहले परिणाम घोषित हो चुके थे। मैं तीसरी कक्षा में हो गया था। यदि स्कूल की पढ़ाई के दौरान यह सब कुछ होता तो मुझे ऐसा सोचकर संतोष कर लिया था।

घर पहुँचे तो माँ के चेहरे पर विश्वास की एक झलक प्रत्यक्ष दिखाई दे रही थी। उसने हमें समझाया और ढाढ़स बँधाया, ''ये सभी घाव भर जाएँगे, अब नाख़ूनों से शरीर को मत खरोंचना।'' क्षण भर रुककर उसने फिर कहा, ''रब ख़ुद ठीक कर देगा, हमने उसका क्या बिगाड़ा है।''

अभी ये बातें हो ही रही थीं कि बाहर के दरवाज़े से अचानक एक ही स्वर में आवाज़ आई—

बारा बरस की हो गई रे गौरजाँ
पारबती जी इस्नान करेंगे,
शिवा जी दरशन करेंगे...।

सिर के ऊपर ज्योतिषियों जैसी पगड़ियों पर मोर के पंख बाँधे हुए वे तीनों बाबा गौरजाँ गाकर घर-घर भीख माँगते थे। शुरुआत हमारे घर से करते क्योंकि गाँव की मुख्य गली यहीं से ही शुरू होती थी। वे घंटियाँ बजाते। एक बाबा एक तुक बोलता और दूसरे दोनों उससे अगली। वे बर्फ़ जैसे सफ़ेद वस्त्र पहने होते थे और धोतियों के छोर पीठ के पीछे कमर पर खोंसे होते। कंधों के ऊपर से गेरुए रंग के कपड़े नीचे की ओर लटकते रहते।

मैं कोठरी में रखे घड़े में से आटे की कटोरी भरकर एक बाबा की बग़ल से लटकी झोली में डालने के लिए गया तो बापू ने ग़ुस्से से कहा, ''थोड़ा नहीं डाल सकता था, घर में अनाज की कमी का दौर है। इस माँगकर खाने वाली जाति का तो यही काम है। दिन भी नहीं चढ़ने देते... आ जाते हैं मुँह उठाकर।''

''पता नहीं कब के चले होंगे।'' माँ ने सहज स्वभाव में कहा।

''वहाँ भोगपुर मिल की टीनों के नीचे बैठै हुए हैं... और ये नवाँशहर से क्या अभी आ गए।'' बापू

ने बात जारी रखते हुए कहा, ''हैं तो ये अपने ही आदमी, पर ये साले, शिव के भक्त बने हुए हैं, उसकी गोरी-चिट्टी पत्नी के सोहले गा-गाकर अपनी गाड़ी धकेल रहे हैं।''

''माँगना कहीं आसान है, तुम भी माँगकर दिखाओ तो...।''

''मेरे कोई कीड़े पड़े हुए हैं जो माँगने चल पडूँ।'' बापू की बहस को बीच में ही छोड़कर माँ इालान में चली गई और मैं उन बाबाओं के पीछे-पीछे अगले घर की ओर चल पड़ा।

उन बाबाओं के शब्दों को मैं बड़े ध्यान से सुनता। इसके साथ ही ''बरगद वालों'' के गुरदास के आँगन में ऊपर एक जगह पर शीशे में जड़ी हुई शिव-पार्वती की रंग-बिरंगी तसवीर मेरी आँखों के सामने आ जाती। तालाब में नहा रही पार्वती मुझे कितनी ही देर तक बार-बार दिखाई देती रहती। मुझे लगता जैसे मैं कुछ क्षणों के लिए शिव बन गया होऊँ। मुझे बहुत अच्छा लगता, पर इसका ज़िक्र मैं किसी से न करता।

माँ बाहर वाली दहलीज़ पर खड़ी होकर, जो अपने बाएँ हाथ में एल्यूमिनियम या पीतल की छोटी बाल्टी उठाए, दाएँ हाथ से अपनी ओर आने का इशारा करती और साथ ही आवाज़ लगाती, ''गुड्ड, दौड़कर पालो के घर से लस्सी ले आ।''

मैं जट्टों की गली में बाल्टी को घुमाता, छलाँगें लगाता हुआ जाता। जब गुरुद्वारे के आगे ''शेखचिल्लियों'' के घर के समीप पहुँचता तो मेरी टाँगों और पैरों में पहले जैसी फुर्ती न रहती। सोचता— बापू भैंसों की देखभाल करता है, उन्हें नहलाता-धुलाता है, धूप-छाँव में करता है, बारिश में उन्हें सूखी जगह पर बाँधता है। चारा डालता है, पर बयाने से पहले ही भैंस किसी और के घर चली जाती है। मन चाहता कि बापू से कहूँ, भैंस हम रख लें। घर का दूध-लस्सी पिएँ और मैं भैंस के कटड़ी-कटड़े के साथ खेलूँ। कभी-कभी मुझे लगता कि इसके बारे में बापू को भी जानकारी है। जब मिलखा सिंह (जट्ट) अपने पोते के बलवान होने के बारे में लोगों को अति उत्साह में बताता, ''भई, हमारा तोची (तरलोचन सिंह) तो दूध पीता है और दूध ही मूतता है।'' तो मैं सोचता कि मैं भी इसी तरह ऊँचा-लंबा और शक्तिशाली बन जाऊँ।

मैं ''बारियों'' (पाकिस्तान के ''बार'' इलाके से आए लोग) के खुले-बड़े आँगन में बाल्टी या डोल रखता और सिर झुकाकर खड़ा रहता। इसके साथ ही लस्सी माँगने के बारे में बेशुमार खयाल छोटे-छोटे बादलों की तरह एक घटा के रूप में आ घिरते और मन के आकाश पर घोर निराशा और उदासी की वर्षा करते हुए प्रतीत होते। मेरा तन-मन ग्लानि की इस बाढ़ में बहता हुआ लगता। मुझे अपने सिर धड़ और टाँगों का पता ही न लगता कि वे आपस में एक हैं। मेरी सोच के निरंतर चलते काफ़िले ने ठहरने का नाम लेते जब पालो अंदर से ही कहती ''गुड्ड, थोड़ा रुककर आना, मैं दूध बिलोने लगी हूँ।''

पालो के यहाँ हमने दूध का महीना भी लगाया हुआ था। सुबह-सुबह मेरा पहला चक्कर उनके घर से दूध लाने के लिए लगता। कभी पाव और कभी आधा किलो।

लेकिन लस्सी लेने के लिए कई बार दो-दो चक्कर लगाने पड़ते थे। उधर बापू झपटकर डाँटता, ''अब तो चला जा मामा! सौ बार बताया कि भई लस्सी के बग़ैर मेरे से नहीं रहा जाता।''

''अगर इतनी ज़रूरत है तो इस बार मीणी और बूरी दोनों खूँटे पर बँधी रहने देना। और फिर बच्चे खाएँगे-पिएँगे...।''

''देख, कैसे मुँह भर के बके जाती है। जो रकम ज़मींदारों से उधार ली हुई है मकान के खंभे बनाने के लिए, वो तुम्हारे बाप ने देनी है?''

''जब भी बोलता है, मेरे माँ-बाप तक जाता है। ज़बरदस्ती गले पड़ जाता है। बात किस तरफ़ की होती है, ले किसी ओर को जाता है।''

''सारा दिन गधे की तरह काम करते हैं और ये...।'' फिर बापू ग़ुस्सा होकर मुँह में ही बड़बड़ करने लगा, चिलम के बीच की राख निकालकर कंकरी को ठीक तरह टिकाकर तंबाकू डालने लग जाता।

कभी-कभी मेरे मन में आता कि बापू को किसी दिन कह दूँ कि मैं आधा गाँव लाँघकर लस्सी लेने नहीं जा सकता, मुझे शर्म आती है। मगर मैं अगली सुबह फिर बाल्टी या डोलू उठाकर कभी किसी के घर लस्सी माँगने जाता तो कभी किसी के। यह सिलसिला जारी रहता। सुबह-शाम को लस्सी का खट्टा पीकर मज़ा आ जाता। अगर दाल-सब्ज़ी नहीं बनती तो भी उससे काम चल जाता। गर्मियों के दिनों में जब गाय-भैंसों के दूध सूख जाते, हमें लस्सी की काफ़ी तंगी हो जाती। लस्सी पीने की इच्छा बनी रहती। चाय तो हम कई बार बिना दूध के ही पी लेते थे और बापू अपनी क़िस्मत को कोसते हुए अपना तपता हुआ सीना ठंडा करने की व्यर्थ कोशिश करने लगता।

इस सोच में डूबे हुए मुझे गली में माणकढेरी वाला बाबा बग़लों में लंबी-लंबी थैलियाँ डालकर माँगता हुआ दिखाई देता। मोटे खद्दर की एक थैली में आटा और एक में दाने डलवाता। माथे पर तिलक लगाकर और गेरुए वस्त्र पहनकर उसने साधुओं जैसा वेश बना रखा था। हर दरवाज़े के सामने खड़े होकर ऊँचे स्वर में बताता, ''बीबी जी, कल पूरनमासी है और ग्रहण भी लगेगा।''

मेरा छोटा-सा मन बड़ी सोच में डूब जाता कि इसे कैसे मालूम कि कल ग्रहण लगेगा? और मुझे तभी समझ में आता जब वह पतली-लंबी किताब में से किसी को कुछ पढ़कर बताता और किसी को कुछ। मेरे मन में आता कि जब वह हमारे घर माँगने आएगा तो मैं पूछूँगा— मीणी भैंस हमारे घर ही रहेगी? नहीं तो कोई उपाय कर दे जैसे दूसरों से गेहूँ के दाने लेकर करता है। और यह भी पूछूँगा कि रत्ते बामण के बड़े घर और चौबारे जैसा हमारा घर कब बनेगा? कहूँगा—कोई रेख में मेख मार जैसे उसको गाँव के और लोग कहते हैं लेकिन मेरे दिल की बातें दिल में ही रह जातीं और वह हमारे पास वाली ताई तारो के घर (चट्टों के) में चाय-पानी पीकर बीच वाली गली में से लौट जाता। इसी के साथ, मन का शीशा तिड़क जाता जिसकी ख़ामोश व्यथा मेरे वजूद में लहू की तरह चक्कर काटती रहती और ये प्रश्न मेरे मन को कचोटते रहते कि वह बाबा साधु होकर हमारे मुहल्ले में माँगने क्यों नहीं आता!

(छप रही आत्मकथा *छांग्या रुक्ख* में से)

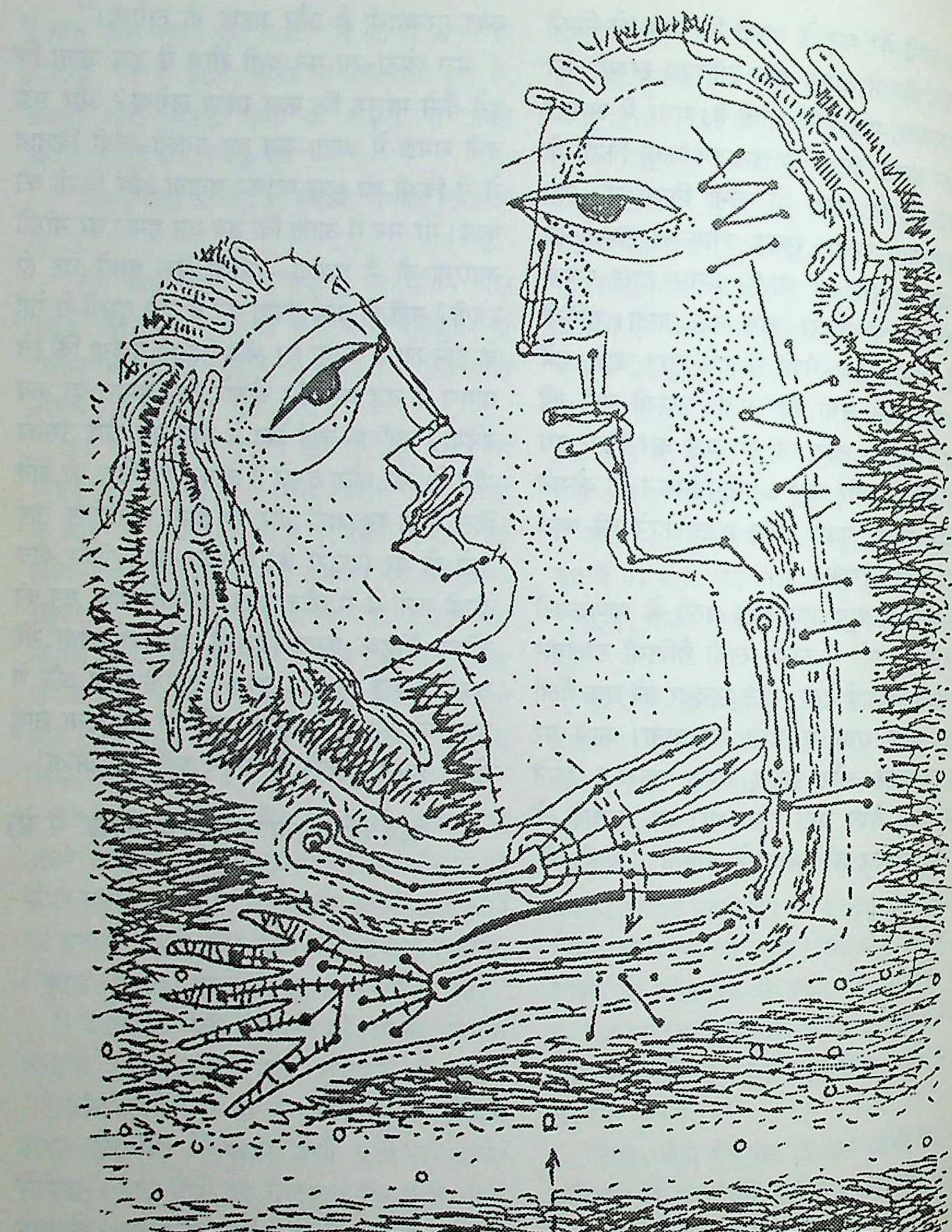
Akshay Ameria

कानाइ कुंडू

अमृत-मंथन

परम पिता परमेश्वर की इस दुनिया में तुम्हारा जन्म तो हुआ है ज़रूर मगर औरों की तरह तू परमेश्वर के हाथों से स्वयं गढ़कर बनाई हुई नहीं है। अरे तेरी देह की ऐसी मूरत को तो किसी राक्षस ने गढ़ा है, राक्षस ने...'' उठाउवा बाज़ार की ओर चलते-चलते बितान ने कठोर स्वर में टिप्पणी की।

वह कमर में लिपटे कपड़ों को झोली-सी बनाकर ख़ूब ढेर सारा लाई-दाना और पूरी की पूरी प्याज़ को मय पत्ते समेत बाँधे हुए है। बाज़ार की ओर चल पड़ने के लिए जुमेली जिस क्षण घर से निकली थी, तभी से लगातार मुट्ठी-मुट्ठी दाना मुँह में डालकर चबाती ही जा रही है। जंगल-झाड़, टीला, पहाड़ सभी कुछ को पैदल-पैदल पार करने के बाद भी भीमताल का उठाउवा बाज़ार अभी भी लगभग डेढ़ कोस दूरी का रास्ता है। राह पार करते-करते बीच-बीच में कुछेक गाँव व बस्तियाँ भी पड़ती हैं। रास्ते में मिट्टी के भींटे, मेड़ें और चोरकाठा का लंबा-चौड़ा-सा मैदान है। विशेष चीज़ है नदी। वस्तुतः यह नदी है बस नाम भर के लिए ही। पानी इसमें प्रायः ही इतना कम होता है कि इधर के गाँवों की छोकरियाँ, जो आदिवासी ढंग की अपनी साड़ी पैरों में कुछ ऊपर लपेटे होती हैं, अपनी साड़ियों को ऊपर उठाए बिना ही नदी के आर-पार आती-जाती रहती हैं। जो बाज़ार वे जा रहे हैं, वहाँ जाने के लिए पैदल यात्रियों का झुंड का झुंड जा रहा है। इनमें स्त्रियों और पुरुषों की भी जमात है। इतने लोगों के बीच ज़हर बुझी छुरी-सी कलेजे तक कोंच देने वाली बात सुनते ही उसकी पूरी की पूरी देह आग में जलने की भाँति धधक उठती है।

चाहे राक्षस ने अपने हाथ से गढ़ा हो अथवा परमेश्वर ने ही क्यों न गढ़ा हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि अपनी इस देह को स्वयं अपने हाथों से उसने तो नहीं बनाया है। हाँ, और छोकरियों की अपेक्षा तनिक दुबली-पतली देह वाली ज़रूर है। दूसरा फ़र्क़ यह है कि उसकी भूख भी कुछ अधिक मात्रा की है। बाक़ी देह के दूसरे अंग, जैसे हाथ-पाँव, मुख, आँखें, नाक आदि सभी कुछ तो ठीक-ठीक अपनी जगह पर ही हैं। वह कोई रोगिणी, मुठल्ली, थुलथुल अथवा बेडौल भी नहीं है। हाँ, वक्षस्थल पर उभरे दोनों स्तन ज़रूर दुर्गा देवी की प्रतिमाओं से विशाल सुडौल और सुचिक्कण हैं तथा सहज ही नज़रों में गड़ जाने वाले ज़रूर हैं। प्रायः ही लोग सबसे पहले उसके इन पीन-पयोधरों पर नज़र गड़ाते

बाङ्ला रचनाकार कानाइ कुंडू का जन्म 1935 में हुआ। इनकी लगभग 15 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कलकत्ता के गल्पचक्र पुरस्कार से सम्मानित हैं। संपर्क : 18/11, डॉवर लेन, कोलकाता 700029

अनु. महेंद्रनाथ दुबे का जन्म 1942 में हुआ। बाङ्ला, असमिया, हिंदी में परस्पर अनुवाद की कई पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : प्रोफेसर्स क्वार्टर नं. 5, गोपाल कुंज, बी.एम. खान, सिविल लाइंस, आगरा 282002

हैं। उसके वे ही दोनों विशाल पयोधर इस समय अधिकाधिक दूध से भर उठने के कारण उफनने-उफनने को हो रहे हैं। बढ़ आए दूध के कसाव से बड़ी असहनीय पीड़ा हो रही है उसे। हिलने-डुलने में भी भारी कष्ट हो रहा है। सोचने-फिरने, इधर-उधर होने में तो पिराते ही हैं, बैठे रहने पर भी पिरा-पिरा कर बार-बार बड़ी तकलीफ़ पहुँचाते हैं।

बितान फिर जल्दी करने लगा है, ''अरे अब चलेगी भी? खाना-पीना पूरा हुआ कि नहीं तेरा? तनिक जल्दी से निपटा ले न। चल जल्दी चल। देख, पीछे के यात्री भी हमसे आगे निकल गए हैं। अच्छा, अब तू ही यह बता कि यह बात भी क्या तुझे समझानी होगी? समय से कुछ पहले ही पहुँच जाने से तुझे ही आराम मिलेगा। तो जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ा न।''

इतना उत्साह दिलाने पर भी उसकी हालत ऐसी है कि वह लंबे-लंबे डग नहीं भर पा रही है। जल्दीबाज़ी करने और लंबे-लंबे डग भरने में उसे बड़ी पीड़ा हो रही है। हड़बड़ी में तेज़ गति से क़दम उठाने-रखने में बड़े-बड़े दोनों स्तन हिल-हिल जाते हैं, उससे पीर और भी पिराने लगती है। लगता है प्राण ही बाहर निकल जाना चाहते हैं, ऐसी पीर सहने से तो मर जाना अच्छा। इधर यह बितान है जो केवल रुपए ऐंठना ही जानता है। उसे बस एक ही धुन है—कब उसके हाथ की मुट्ठियों में रुपए-पैसे इकट्ठे हो जाएँ! उसकी कमाई से पैसे बटोर लेना तो चाहता है, परंतु उसके लिए उसे जो भारी कष्ट उठाना पड़ता है, उस कष्ट के बारे में कुछ जानना-बूझना चाहता ही नहीं। इसी से तो बीच-बीच में प्रायः ही उसके मन में भावना जागती कि वह मर ही जाती। परंतु यह बितान तो उसे मरने भी नहीं देता। एक बार तो बाढ़ से भरी नदी की बीच धार से उसे अपनी छाती से चिपकाए लिए खींचता-तैरता बाहर निकाल लाया था। फिर एक बार जब वह एक ऊँची पहाड़ी से नीचे खाई में छलाँग लगाकर मरने जा रही थी कि एकाएक आकर उसने पीछे से झपटकर पकड़ लिया था। क्रोध के मारे आँखों से आग उगलती नज़रों से देखते हुए बोल उठा था, ''अरे ओ कुटनी! तू मुझे भूखों मार डालना चाहती है क्या? मरकर मुझे रुपए-पैसों की आमदनी से वंचित कर खाने-पीने की चीज़ों के अभाव से बेहाल सूखी मौत सुला देना चाहती है? जो रुपए-पैसे तू कमाती है, वह सारा कुछ क्या मैं अकेले-अकेले ही खा जाता हूँ? तुझे खिला-पिलाकर तेरा पेट क्या मैं नहीं भरता? कपड़े-लत्ते, साज-पोशाक ख़रीदकर क्या तुझे नहीं देता? यह जो तेरी नाक में पीतल की नथ है, कानों में झुमका झूल रहा है, सब क्या मैंने नहीं ख़रीदा है? अगर मरना ही चाह रही थी, तो विवाह के पहले ही क्यों नहीं मर गई? अगर मुझसे वैवाहिक संबंध तोड़कर भाग जाना चाहती है, तो कन्यापन (आदिवासी विवाह-नीति के अनुसार वर-पक्ष द्वारा कन्या के लिए दिया जाने वाला दहेज़) का जितना सारा रुपया है उसे चुका दे, फिर जहाँ कहीं, जिधर भी जाने को तेरा मन करे, वहाँ चली जा।''

जुमली अपने अंतर्मन से जानती है कि इस प्रकार की बातें, जिन्हें बितान प्रायः ही कहता रहता है, वास्तविकता में बस कहने के लिए ही कही गई बातें हैं। इन्हें सार्थक रूप से क्रियान्वित कर देने का मन उसका क़तई नहीं है। ये बातें उसके हृदय से निकली हुई नहीं हैं। बितान उसे जाने देगा क्या? अगर कहीं वह सचमुच ही चली गई तो बितान का सारा कारोबार ठप्प ही नहीं हो जाएगा क्या? वस्तुस्थिति तो यह है कि अब तो किसी भी प्रकार उसे मुक्ति नहीं मिलने वाली। उसके अपने ही इन दोनों भारी-भारी पयोधरों में जो दूध का भंडार जमा हो चुका है, वही उसे कहीं भागने नहीं देगा। उसकी सारी परेशानियों से भी अधिक तकलीफ़देह है यह भारी कष्ट। जब यह कष्ट अत्यंत प्रबल आवेग से झकझोरने लगता है, सहने की सारी शक्ति जब जवाब दे देती है, तब वही स्वयं ही बितान के पास पहुँचकर अनुरोध करने लगती है, मनुहारें करने लग जाती है, ''चलो बितान, बाज़ार-हाट को चलें। वहाँ जाकर थोड़ी हल्की हो आऊँ।''

उठाउवा बाज़ार की ओर लोगों के जाने का अभियान दिखाई पड़ रहा था। बाज़ार की ओर बढ़ती

भीड़ के कथोपकथनों से ऐसा शोर-शराबा उभरने लगा है कि लगता है जैसे बादल उमड़-घुमड़ कर घरघरा रहे हैं। अनेकानेक गाँवों-बस्तियों, झुग्गी-झोंपड़ियों से अनेकानेक रास्तों-पगडंडियों को नाना प्रकार की तकलीफ़ें उठा-उठाकर पार करते हुए लोग चले आ रहे हैं। इस अंचल में जो उठाउवा बाज़ार भिन्न-भिन्न दिनों को लगा करते हैं, उनमें आनेवाली ऐसी भीड़ों में अकसर कोई भी ख़ाली हाथ नहीं आता। केवल टेंट में रुपए रखे-रखे ही लोग नहीं चले आते ऐसे बाज़ारों में। सभी की स्थिति बेचने और ख़रीदने वाली है। घरों की मुंडेरों, छप्परों की चालों पर चढ़ी हुई, घर के आँगनों में रोपी हुईं नाना प्रकार की साग-सब्ज़ियाँ।, कुम्हड़े, लौकी, केला, भिंडी, नेनुआ, तरोई, सतपुतिया, बैंगन, नई-नई ईख, भुट्टा आदि-आदि नाना प्रकार की चीज़ें माथे पर उठाए हुए लिए आते हैं। किसी-किसी के हाथ में तो मुर्ग़ा ही लटक रहा होता है, तो कोई-कोई अपने कमर में बँधे कपड़े में ही अंडे रखे होता है। किसी के माथे लदे बोरे में बीज बोने वाला धान होता है तो किसी के में मटर या मूँग वग़ैरह। किसी की झाँपी-झँपोली और कोटरी में छोटी झींगा मछली, सिधरी धरी होती है तो किसी के में छोटे-छोटे कछुए या बड़े कछुए होते हैं। कोई कुछ विशेष चीज़ न हो तो फिर कम से कम जंगली इमली, आँवला, हरे और केंदू वग़ैरह तो होगा ही।

छोटे-छोटे क़सबों, बड़े-बड़े शहरों से बैलगाड़ियों में माल लाद-लादकर व्यापारी अपनी दुकानें इन उठाउवा बाज़ारों में लिए आ पहुँचते हैं। भाँति-भाँति की साड़ियाँ, तरह-तरह के कपड़े, लुंगियाँ, धोती, क़मीज़, वग़ैरह-वग़ैरह। नक़ली धातुओं के गहने, काँच की चूड़ियाँ, खाने-पीने के विभिन्न प्रकार के अनाजों, मसालों, पेय पदार्थों से भरी दुकानें। पकौड़ी, जलेबी और क़िस्म-क़िस्म की मिठाइयाँ। बाँस के लट्ठ में टाट लटकाकर उस पर सजाई हुई बिंदियाँ बेचता टोपीधारी घूमता-फिरता है। उठाउवा बाज़ार के किनारे ''झांडि खेला'' की बैठकबाज़ी का अड्डा है। पीपल के पेड़ की छाँव तले मदमस्त बना देने वाले—ताड़ी-ठर्रा-देशी शराब—से भरा घड़ा रखा हुआ है। कच्चे-कच्चे शाल के चौड़े-चौड़े पत्तों के बने दोने में नापने का बर्तन उड़ेल-उड़ेल दिया जाता है। पीने वाले सारे के सारे मतवाले हो गए हैं। बड़े ही भोंडे और कर्कश सुर में ऊँची आवाज़ में कोई गा उठता है, ''ओ मेरी रंगीली रे! कउन आगिया लगाय दिहिए रे। बूझा नाहि जाये रे...।''

उठाउवा बाज़ार की भीड़-भक्कड़ को पार करके बितान ढलान की ओर के मैदान की ओर आगे बढ़ चलता है। इस किनारे की ओर अरंड, आक, भँड़भाँड़, अकोल-सिहोर इत्यादि जंगली पेड़-पौधों की क़तार की क़तार उगी हुई है, जिनकी छायाओं के चारों ओर से ऐसी आड़ है, जिसके कारण वहाँ के दृश्य दिखाई नहीं देते। उसी छाया में अपने-अपने नवजात शिशुओं को गोद में बिठाए हुए महिलाओं का झुंड है। उस एकांत-शांत छाया की निस्तब्धता को चीरते हुए कोई-कोई बच्चा ज़ोर-ज़ोर से रोने लगता है। मैदानी घासों से ढका चबूतरा। रात में पड़ी ओस की बूँदें सवेरा हो जाने के बावजूद अभी तक सूखी नहीं हैं, वे अभी भी घास की फुनगियों पर जड़ी हुई हैं। जहाँ-तहाँ कुछ पत्थर की शिलाएँ भी पड़ी हैं। इन्हीं के बीच जुमेली आराम से बैठने लायक़ एक जगह छाँट लेती है। पहनी हुई साड़ी को टान-टून कर, मनमाफ़िक़ अवस्था में लाते हुए बैठ जाती है। छाती के दूध से भीगे कपड़े स्तन से चिपके हैं। वह चिपके कपड़े को अपने पीन पयोधरों से उघाड़ती है तब वहाँ उपस्थित माताओं के समूह में आश्चर्य की लहर दौड़ जाती है। ''अरे राम रे राम! हाय रे दइया! माई रे माई! इतना सारा दूध अगर कहीं मेरे पयोधरों में होता तो मैं दस बच्चों को तो मुफ़्त में ही पिला दिया करती।''

बितान क्रोध से बावरा हो तेज़ी से आगे चला आता है, ''कौन है? कौन बोलने वाली है ऐसा? किसने कही है यह बात?''

सन्नाटा-सा छा जाता है। कोई भी उत्तर नहीं देता। बितान फिर गरज उठता है, ''प्रत्येक बच्चे के लिए पूरी-पूरी एक-एक अठन्नी लगेगी।''

सद्यःप्रसूता माताओं को जैसे काठ मार जाता है। कोई एक साहस करके बोल पड़ती है, ''एक

सिक्कीं माने पच्चीस पैसे से बढ़ाते-बढ़ाते पैंतीस पैसे तो कर ही चुके हो। अब इतनी जल्दी ही आज पूरी एक अठन्नी क्यों बोल रहे हो? चार-छह महीना और बीत जाने दो। आसार जैसे दिख रहे हैं, तब तक छाती में फिर नया दूध जब आ जाएगा, तब फिर पाँच पैसे रेट बढ़ाना।''

परंतु अब जबकि बितान ने अपने मुँह से बात कह ही डाली है, तो फिर से उसे लौटा तो नहीं ले सकता न। टेढ़ा हो तनकर खड़ा हो रहा। बोल उठा, ''महँगा जान पड़े जिसे तो वह जाकर गाय-भैंस का दूध ख़रीद ले।''

एक माँ एक-एक डग बढ़ाती सामने आ खड़ी होती है। रोग से पीड़ित हो गई देह है उसकी। उसकी गोदी में पड़ा बच्चा तो और भी रोग-जर्जर दुबला-पतला कमज़ोर है। रोता है तो उसके रुदन की आवाज़ भी बाहर नहीं निकल पाती। रोगी बच्चे की रोगी माँ रिरियाती है, ''अरे भैया बितान! गाय-भैंस का दूध तो और भी महँगा है रे। हम लोगों के पास इतना पैसा तो नहीं है न भैया।''

उसकी ऐसी विनती सुन अन्य माताओं को भरोसा होता है कि उनकी तकलीफ़ नहीं बढ़ेगी। एक कहने लगती है, ''हम लोगों को तो दैव ने पहले से ही मार रखा है। हमारी गोदी में बच्चा तो दे दिया परंतु उसे पिलाने के लिए हमारी छाती में दूध नहीं दिया। बच्चे को जन्म देने के बीस दिन बाद ही छाती सूख गई।''

''तो डिब्बा बंद दूध ख़रीद लो।''

''डिब्बे में बंद पाउडर वाला दूध तो और भी महँगा है। गुणकारी भी नहीं है। बच्चों के लिए तो बिलकुल बेकार का। शिशुओं के लिए तो स्तनों का दूध ही वास्तविक चीज़ है। इसी से भगवान उसे माँ के स्तन में देते हैं। उसे पीने से शिशु की हड्डी में बल आता है, हड्डियाँ मज़बूत होती हैं। उसके प्राणों में शक्ति आती है। उसका विकास भी जल्दी-जल्दी होता है। परंतु वह हम लोग कहाँ दे पा रही हैं? पूरे एक सप्ताह में बस यही आज के एक दिन ही तो। शेष छह दिनों में तो बस भात के माँड़ में मिला हुआ गुड़ का रसा भर ही देते हैं न।''

''मगर महँगाई तो बस तुम लोगों के लिए नहीं है। मेरी अपनी कोई और खेती-बाड़ी भी है। जुमेली दूसरे के खेतों में अथवा कल-कारख़ानों के कार्यों में मज़दूरी के काम में सकती है। उसके भोजन-छाजन के लिए भी रुपया चाहिए। कहीं किसी काम पर खटने न जा यहाँ चली आती है, तो रुपया कहाँ से आए भला? अतः साफ़ बात है कि आज से इस काम के लिए पूरे एक अठन्नी देनी होगी। यदि किसी को मंज़ूर हो तो आगे आए।

उन सबकी बातचीत पर बच्चे की चीख़-चिल्ला छा जाती है। उसे चुप करा देने के लिए माँ अ छाती का अगला भाग उसके मुँह में डालकर छा से चिपका लेती है। उन पयोधरों से दूध का ए छींटा भी न पाने पर शिशु और भी दर्दीली आवा में ज़ोर-ज़ोर से रोने लगता है। हाथ-पाँव इधर-उ झटकने लगता है। देह को ऐसा तानता-तूनता है कि गोदी से नीचे की ओर गिर पड़ना चाहता है। उसकी बेबस लाचार माँ अपनी कमर को अपने हाथों से इधर-उधर दबाती-दबाती, नोचती-खरोंचती जाने क्या खोजती-ढूँढ़ती है। उधर ऐसी दारुण वेला में जुमली के भरे-पूरे पीन पयोधरों से बूँद-बूँद करके दूध फूट-फूट झरने लगता है। कसकसाती वेदना से पिसती होने के कारण उसके मुँह पर आड़ी-तिरछी कई रेखाएँ खिंच जाती हैं। बिलखते बच्चे की माँ बितान के हाथ पर जैसे ही पचास पैसे का सिक्का रखती है कि तैसे ही उसने अपना हाथ उस शिशु का थाम लेने के लिए आगे बढ़ा दिया। दर्द की टीस से टेढ़े होते जा रहे, उस शिशु को उसने बड़ी ममता से अपनी गोदी में खींच लिया। उसके स्तनों का अग्रभाग, जो काले जामुन के से रंग का चिकना-कठोर-सा है, को मुँह में डालते ही चिंचियाता हुआ बच्चा आश्चर्यजनक रूप से शांत हो गया। एक लंबा-सा ''आ...ह...ह''—ध्वनि मुँह से बाहर निकालती हुई जुमली भी एकाएक परम आनंद और आराम पाकर करुणामयी हो उठी। बच्चा उत्साहपूर्वक दूध खींचने लगा। आनंद विह्वल हो हाथ-पैर नचाने लगा। अपने नन्हे-नन्हे हाथों से जुमली के

स्तन को नाख़ून से खुरचते हुए पकड़ लेता है। जुमली भी सगी माँ भी ममता से अपनी गोदी को नाना भंगिमाओं में नचाती है। बच्चे पर ममता भरे चुंबनों की बरसात-सी कर देती है। आँखों में लुढ़क आए आँसुओं को आँचल से पोंछ कर साफ़ कर देती है। उसके माथे के नालों में अँगुलियाँ फेर-फेरकर गुदगुदी-सी उभारती है। दूध सुड़कता बच्चा परम परितृप्त हो हाथ-पाँव ढीला कर पसर जाता है—निश्चिंत, निश्चेष्ट—परम शांत। अपनी आँखों की दोनों पलकें भींच कर मूँद लेता है। नींद के मारे विभोर हो जाता है। उसकी माँ की गोदी में उस बच्चे को सौंपकर जुमली फिर दूसरे शिशु को अपनी गोदी में लेने के लिए हाथ बढ़ा देती है।

बितान की मुट्ठी में एक और अठन्नी जमा हो जाती है। उठाउवा बाज़ार के उठ जाने के बाद की ढलती दुपहरी की वेला हो गई है। शुरू-शुरू में इस ओर माताओं की जो भीड़ इकट्ठी हो गई थी, वह टूट चुकी है। अब यह स्थान बिलकुल ख़ाली हो गया है। जुमली भी तन-बदन से हल्की-फुल्की हो गई है। देह लुढ़कने-लुढ़कने को हो रही है कि हाथ-पाँव पसार कर कहीं लेट रहे। वृक्षों की लंबी-लंबी छायाएँ दूर-दूर तक फैल गई हैं। एक झपकी की नींद लेने की मुद्रा में जुमली सो गई। बितान इस बीच बाज़ार में चला गया था, घर-गृहस्थी की आवश्यक मामूली चीज़ों की ख़रीदारी के लिए। उठाउवा बाज़ार की उठती हुई इस अंतिम घड़ी में चीज़ों के दाम भी सस्ते हो जाते हैं। फिर भी उनमें इतनी औक़ात तो नहीं कि सस्ते सामान पर्याप्त मात्रा में ख़रीद लें, क्योंकि वे बस इस एक ही उठाउवा बाज़ार के भरोसे तो रह नहीं सकते। सप्ताह के सात दिनों में कम से कम बाज़ार में जुमली के दूध की बिक्री करनी होती है। इन बाज़ारों में सबसे अधिक दूरी पर पड़ती है कोशागाँव का बाज़ार। जिस दिन वहाँ की बारी होती है, उस दिन भोर होने के काफ़ी पहले, बल्कि अभी रात बची होती है, तभी जगकर घर से निकल पड़ना होता है। बाज़ार उठने के बाद से घर लौटते-लौटते भी काफ़ी रात गुज़र चुकी होती है। फिर भी सब कुछ करना ही पड़ता है। इसी विधि से तो भोजन-छाजन, साज-पोशाक की आवश्यक चीज़ों का जुगाड़ होता है। अपनी मनपसंद वस्तुओं, शौक़िया-आदतों की वस्तुओं को भी इसी सहारे जुटाया जाता है। गृहस्थी ऐसी ही कठिनाइयों में घसीटनी पड़ती है। इतना होने पर भी गाँव के लोग धक्कामार ढंग से कटूक्तियाँ बरबस सुनाते रहते हैं। ''वर्षा ऋतु आई और पानी बरसाए बिना ही बीत गई। अपनी नदी सूखी की सूखी पड़ी रह गई। तो इस सबसे तुम लोगों को भला कौन-सी तकलीफ़ होने वाली? पानी के अभाव में किसान फ़सलें चाहे भले न उगा सकें। अन्न के अभाव में भूखों मरने को विवश होते रहें, मगर तुम लोगों पर भला कहाँ कोई आँच आनेवाली? संसार में बच्चों की संख्या में तो कोई कमी नहीं ही होने वाली। उनकी संख्या तो बढ़ती ही जा रही है। समुद्र के अंतरतर में विराजते अमृत से लबालब भरी हुई।''

वह आज तक समझ नहीं पाई कि मनुष्यों के दिलों में इतनी अधिक जलन आख़िर है क्यों? उसकी पीड़ा को, उसके संताप को कोई भी सहानुभूतिपूर्वक समझना भी नहीं चाहता। लोग बाहर-बाहर का, ऊपर-ऊपर से दिखाई देनेवाला भाग ही देखते हैं। उन दोनों को सुखमय जीवन और मिलने वाले रुपयों की ठनठनाहट सुनकर उनके जीवन की मौज-मस्ती का अंदाज़ा लगाते हैं। लोग आहें भर-भरकर कहते हैं, ''बितान ने सचमुच ही माँ लक्ष्मी का आशीर्वाद प्राप्त कर लिया है। निश्चय ही पूर्वजन्मों के संचित पुण्यों से समृद्ध वह एक पुण्यात्मा मनुष्य है।''

''जबकि वह तो चूल्हे की भट्ठी की वाहियात राख है राख। किसी काम का नहीं। पुण्यात्मा क्या होगा, वह तो पापी है—पूरी तरह महापापी है यह बितान। परंतु गाँव के लोग बेचारे बाहर-बाहर से इन सब वास्तविकताओं को समझेंगे भी भला कैसे?''

उसके गर्भ में जब पहला बच्चा अंकुरित होना शुरू हुआ, तब जुमली के आनंद की सीमा नहीं रही थी। आनंदातिरेक से इतराने लगी थी। अपनी छाती पर उगे पीन-पयोधरों को देख-देखकर ही वह समझ गई थी कि उसका होने वाला नौनिहाल बहुत

ही हट्टा-कट्टा होगा। बितान भी ख़ुशी के मारे फूला न समाकर अपनी सीमा से अधिक उछलता-उछलता घूमता था। उसे इस संभावना से ही प्रसन्नता थी कि वह बेटे का बाप बन जाएगा। अन्य सारे पिताओं की तरह वह भी अपने बेटे को कंधे पर चढ़ाकर विभिन्न सभाओं-समारोहों में गप्पबाज़ी करने जाया करेगा। पुराने कपड़ों को छोटे-छोटे टुकड़ों में फाड़कर जुमली रखने लगी। प्लास्टिक के बोरों में तरह-तरह की गुदड़ी-कांथा, छोटी-छोटी गद्दियाँ आदि सिलाई करवाकर लाने लगी। बच्चे को झुलाने के लिए झूला बनाने लगी। जंगल-पहाड़ में चक्कर लगा-लगा वहाँ से आवश्यक लकड़ियाँ, सींकें, झाड़ू-बुहारू के सामान ला-लाकर सुरक्षित ढंग से गाँज लगाने लगी। जब सारा काम तब भी पूरा होता नहीं दिखा तब एक और मज़दूरी का काम ले लिया था। परंतु पाँचवाँ महीना पूरा होते-होते ही उसका सारा सुख-स्वप्न ख़ून का पनाला बन, धो-पुँछ कर बह गया।

इस सबके लिए आफ़त का परकाला बनी उसकी यह भारी-भारी छाती ही। इन भारी पयोधरों में भी पय या दूध इतनी अधिक मात्रा में उतर आया जैसे दूध का तालाब भर गया हो। सो भी हिल्लोल भरता हुआ नहीं, बल्कि जैसे इकट्ठा होकर जम-सा गया हो। उसके कारण सारी-सारी रात भयानक दर्द रहने लगा। दिन में तो पड़ोस में रहने वाले सज्जन की बहू आकर इन्हें इधर-उधर से दबा-दबाकर अतिरिक्त दूध को बाहर झरा देती थी। परंतु रात में तो यह भी नहीं हो पाता था, अतः रात के पहरों में तो पीड़ा टनटना उठती थी। चोट पर चोट के थपेड़ों से देह बेक़ाबू हो जाती। नींद ऐसी हराम हो जाती कि कभी एक झपकी भी नहीं ले पाती। यह असहनीय व्यथा रात-दर-रात बढ़ती जा रही थी। लाख कोशिश करने पर भी सही नहीं जाती। इस पीर से बिलखती जुमली ऐसी परेशान हो गई कि एक रात तो उसने अपने स्तन में एक बड़ा-सा काँटा ही घुसेड़ दिया जिससे एक जगह छेद हो गया। उसने सोचा कि इससे उसका दूध बाहर निकल जाएगा, परंतु हुआ यह कि दूध के बदले वहाँ से ख़ून की धारा बह निकली। हर संभव उपाय करने पर भी जब वह न थमी तब अड़ोस-पड़ोस के जानकार लोगों ने सला दी, ''नारायणपुर में जो उठाउवा बाज़ार लगता है उसमें एक बड़े ही अनुभवी वैद्य महाराज जी आ हैं। वे सभी रोगों का उत्तम उपचार करना जानते हैं सो भैया बितान! अब तो तुम जुमली को उ दिखाने के लिए वहाँ लिवा ले जाओ।''

चारों ओर से काले कपड़े से ढँके एक घेरे के भीतर वैद्य ने जुमली को चित्त ज़मीन पर लि दिया। देखने के क्रम में नाना प्रकार की बातों की पूछताछ करता गया। पेट के नीचे के हिस्से पर हा लगाते हुए कहने लगा, ''देख लड़की! मुझ लजाने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं तो तेरे पि के समान हूँ।''

छाती पर उभरे भारी स्तनों के चारों ओर हा फेरते-फेरते जगह-जगह दबाना शुरू किया। उँगलि में दूध की कुछ बूँदें दबा-दबाकर उनके लासे चिपकाऊपन का निरीक्षण-परीक्षण करता रहा। बाल्टी में रखे पानी से मल-मलकर अपने हाथ धोकर साफ़ कर लिए। बितान को एक तरफ़ ले जाकर उसे बताया, ''अब की बार तो तुम्हारी इच्छा के अनुसार औषधि दे दे रहा हूँ। परंतु यह लड़की अगर फिर गर्भवती हो जाए, तो मेरे यहाँ आकर निश्चित रू से दवा ले जाना। फ़िलहाल मैंने जो दवाएँ दी हैं, उन्हें सलाह के मुताबिक़ देते रहना और वह जो मलहम तथा दवा दी है, उसे उसकी छातियों पर लगा दिया करना। जो घाव उन पर बन गए हैं वह शीघ्र ही ठीक हो जाएगा। अब ला निकाल, दे दो रुपए औषधि के दाम के।''

''परंतु दूध अधिक हो जाने की उसकी जो बीमारी है, उसका क्या होगा? उसके कारण ही तो इसकी सारी व्यथा-पीड़ा है।''

एक अर्थभरी मुस्कान अपने चेहरे पर बिखेरते हुए वैद्य कह उठा, ''अड़ोसी-पड़ोसी के बच्चों को पिलवा दिया करना।''

बितान के दिमाग़ में एक धंधा आरंभ कर देने का सुझाव वैद्य ने दे दिया। उसने फिर उसी उठाउवा बाज़ार में चिल्ला-चिल्लाकर दो-चार दूधविहीन

माताओं की शिशुओं का जुगाड़ कर लिया। फिर तो जुमली ने उन्हें भरपेट दूध पिलाया। हाँ, यह ध्यान देने की बात है कि उस दिन जो दूध पिलाया गया, उसका कोई मोल नहीं लिया बितान ने। सभी बच्चों को मुफ़्त में ही दूध पिलाया।

उसके बाद जो दूसरी जगह उठाउवा बाज़ार लगा, तो उसी जगह से जुमली द्वारा पिलाए गए दूध के मूल्य की वसूली शुरू हुई। भाव रखा प्रति बच्चे के हिसाब से एक चवन्नी। उसके बाद से तो धंधा चल निकला। एक उठाउवा बाज़ार से दूसरे उठाउवा बाज़ार तक यह क्रम आगे बढ़ने लगा। बाज़ार उठते समय बितान चक्कर लगाकर जुमली के पास लौट आता। जुमली के एक हाथ में एक गठरी पकड़ा देता, फिर दूसरे हाथ में शाल के चौड़े-चौड़े पत्ते से बना बंद ठोंगा पकड़ाते हुए कह उठता, "अब तू मेरी बाट मत जोह। तुरंत ही घर के लिए चल पड़।"

जुमली भली-भाँति जानती है कि अब बितान "झंडी खेला" में जाकर नशेड़ियों के अड्डे पर बैठेगा। महुआ से बनी हुई देशी ठर्रा पिएगा। मनचाही मौज-मस्ती जब पूरी तरह कर लेगा तब कहीं रात गए घर लौटेगा। जुए के खेल में अगर उसकी जीत हुई, तब तो उसके लिए केकड़े का तला हुआ सूखा-सूखा मसालेदार माँस अथवा शोरबा ले आएगा। अगर कहीं हार गया तो घर लौट कर गाली-गलौज से सभी कुछ हिलाकर रख देगा।

इस समय बितान जो लौटा है तो उसकी मुट्ठी में शाल के पत्ते वाले दोने में मोड़कर जो एक विशेष चीज़ लिए हुए है, उसे जुमली भली-भाँति जानती है कि वह चीज़ है क्या? और है भी तो फिर किस कारण से है। उसे प्रसन्न रखने के लिए उठाउवा बाज़ार के उठते-उठते अंतिम पहर में बितान उसके लिए इसे ख़रीद लाता है। क्यों कर लाता है? इसका रहस्य भी जुमली जानती है। वस्तुतः यह चीज़ ही तो उसकी सबसे मनभावनी प्यारी चीज़ है। दोने को खोलते ही गुड़ की चासनी में डुबोई हुई बड़ी-बड़ी दो जलेबियाँ आँखों के सामने चमक उठती हैं। उनकी मादक सुगंध से जुमली की नाक भर उठती है। दोने से छलकता हुआ रस नीचे गिरे कि उसके पहले ही जुमली अपनी जीभ बढ़ाकर उसे चाट लेती है। फिर हल्के-हल्के से जलेबी में दाँत धँसाते-धँसाते उसके भीतर भरे रस को सुड़कती है ठीक उसी प्रकार जैसे कि नन्हे-नन्हे बच्चे उसकी चूची से दूध सुड़कते हैं। उस घड़ी में उसके भारी-भारी स्तनों का भार धीरे-धीरे हल्का हो जाता है। नख से लेकर शिख तक पूरी देह सिहर-सिहर जाती है।

यह विशेष घड़ी ही जुमली की सबसे अधिक आनंददायक मनभावन घड़ी है। जलेबी का रस सुड़कती, पत्ते पर पसरे-चिपके रस को चाटती-चाटती वह एक-एक डग आगे बढ़ाती हुई पैदल-पैदल पगडंडी पर बढ़ती चली जाती है। पगडंडी के अग़ल-बग़ल जंगल और पहाड़ की छायाएँ नन्हे बच्चों-सी बकैंयाँ खींचती चल रही हैं। उस पार के अँधेरे में आकाश को छोटे टीलों को पार कर उनके नीचे की उतराई की ओर उतरती हुई बैलों, गायों और भैंसों की जमात अपने गले में बँधी घंटियों की टुनर-टुनर की आवाज़ों को गुँजाती हुई उतरती चली आ रही है। पगडंडियों से घिरे तराई के मैदान में खेलते-कूदते, शोर मचाते बालकों की लंबे-लंबे सुरों की पुकार बड़ी मीठी लगती है। नदी के तल पर खड़े वृक्ष की रूखी-सूखी डाली पर बैठी हुई पनमुरगी भी देखने में रंगीन तबीअत वाली मस्ती लूटने वाली जान पड़ती है।

उथले पानी वाली इस नदी की बीच धारा में पैदल पहुँचकर जुमेली खड़ी हो जाती है—स्थिर और निश्चल। एक ही स्थान पर दृढ़ता से खड़ी हो जम-सी जाती है। उसके दोनों पैरों के टखनों के बीच से नदी-जल की धार कल-कल करती तीव्र गति से बहती चली जा रही है। निर्मल जल को उठा-उठाकर वह अपने हाथों पर, चेहरे पर झपाझप झपट्टा-सा मारती है। अंजुरी रोपकर भर-भर अंजुरी पानी उठा-उठाकर हिक भर पीती है। पेट, सीना और स्तनों को ढकने वाले कपड़े को पानी से अच्छी तरह धो लेती है। भीगे हुए कपड़ों से ढकने की कोशिश में स्तन-द्वय और भी स्पष्ट दिखाई पड़ने

लगते हैं। उसकी आँखों में ऐसा भावावेग उमड़ता है कि उनमें एक अद्भुत सपना झिलमिला उठता है। वह देखती है कि ''निपट एकांत, शांत और स्तब्ध अँधियारे में बैठकर अपनी गोदी में पड़े अपने नवजात शिशु को अपने पयोधरों के पास खींचकर, छाती से चिपकाए-चिपकाए अपना दूध पिला रही है। बड़े ही महीन स्वर में नींद बुला लानेवाला लोरी गीत उसके कानों में गुनगुना कर सुना रही है।''

जुमली को बड़ी हृदय-विदारक रुलाई आने लगती है। जाने कितनी बार उसने देखे हैं ऐसे सपने परंतु हमेशा ही उसका सपना अधूरा रह गया है। उसकी मनोकामना कभी भी पूरी नहीं हो सकी। एक बार ही नहीं, बल्कि पाँच-पाँच बार वह गर्भवती हुई थी। गर्भ की पीर उठने के समय कष्ट से छुटकारा दिलाने के लिए हर बार बितान ने वैद्य महाराज से जड़ी-बूटी, बेल-पत्ती वग़ैरह की औषधियाँ ला-ला कर खिलाई थीं। बड़ी ही कटु और तीखी उन औषधियों को मधु के साथ मिला-मिलाकर रात पर रात खाती रही है जुमेली। परंतु उसके स्तनों का दूध बच्चे के पीने से सूखा भी नहीं कि उसके पहले ही लासे जैसे पानी और ख़ून के थक्कों और धारा के साथ बहकर पाँचों के पाँचों गर्भों का बच्चा गिरकर नष्ट हो गया।

अपनी छाती का दूध दूसरों के शिशुओं को ही पिलाना अब तो उसकी नियति बन गई है। ऐसी दशा में बितान जो कहता है सो ठीक ही तो कहता है, ''निश्चय ही उसे राक्षस ने ही गढ़ा है, क्योंकि इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति यह बात अच्छी तरह जानता है कि राक्षसों के बच्चे नहीं होते। गर्भ में आ भी जाते हैं तो ज़िंदा नहीं रह पाते।''

सात दिन पहले ही सरकारी कर्मचारी लाउडस्पीकर के चोंगे से पूरे अंचल में चिल्ला-चिल्लाकर मुनादी कर गए हैं। उन्होंने साफ़-साफ़ अग्रिम सूचना दी है कि भदुआ-शाल में उठाउवा बाज़ार आगामी सप्ताह में लगेगा उसी में बड़े-बड़े शिविर लगाए जाएँगे। तंबू कनातें तानकर उपयुक्त प्रबंध किया जाएगा। उतने बड़े शहर रायपुर से सरकारी डॉक्टर आएँगे। उस शिविर में वैज्ञानिक ढंग से वे इच्छुक लोगों की नसबंदी करेंगे। प्रजनन करने वाली नसों को का निकाल देंगे। इस प्रकार के ऑपरेशन में नसें क वाले लोगों को तनिक सा भी कष्ट नहीं होगा। बि किसी तकलीफ़ की परेशानी उठाए ही लोग आराम से नसें कटाकर अपने-अपने घर जा सकें और ऑपरेशनों की तरह इसमें डॉक्टर की फ़ी ऑपरेशन के ख़र्चे वग़ैरह के लिए कोई भी रुपया- नहीं देना पड़ेगा। उलटे प्रत्येक व्यक्ति को कटवाने की एवज़ में बीस रुपया नक़द पुरस्‌ दिया जाएगा।

ऐसा समाचार सुनकर जुमली तो ख़ुशी से उठी। उसने अपनी समस्या का समाधान पा लिया। अगर गर्भ ठहर जाने से संतान-प्रसविनी होने की स्थिति न आए तो पयोधरों का दूध तो अपने आ ही सूख जाएगा। इस प्रकार उसे जो भयानक पीड़ा सहनी पड़ती है, उससे हमेशा-हमेशा के लि छुटकारा मिल जाएगा। उसने बितान को समझाया ''बाल-बच्चे हम लोगों के भाग्य में लिखे ही न हैं। देख तो लिए, महाराज जैसे नामी-गिरामी वैद्य की बनाई जड़ी-बूटी की औषधियाँ खाते रहने प मेरे गर्भ की रक्षा नहीं हो पाई। कुछ भी लाभ नहीं मिल पाया। कोई भी संतान जन्म न ले पाई। व्य में मुँह ही बेस्वाद होता रहा ऐसी तेज़ और तीखी औषधियों को खा-खा कर। अतः संतान प्राप्ति की अभिलाषा को तिलांजलि दे दो। तुम इस सरकारी शिविर में जाकर अपनी नसबंदी करवा ही लो।''

क्रोध से आगबबूला बितान झल्ला पड़ा, ''ख़बरदार! जब सवेरे-सवेरे उठाउवा बाज़ार जाने का समय हो रहा है, इस प्रकार की अपशकुनी, उलझाने और भटकाने वाली बात हरगिज़-हरगिज़ अपने मुँह से मत बोलना। यह जो शिविर लगाया जा रहा है, इसकी हम जैसे लोगों को ज़रूरत ही नहीं है। यह तो उन लोगों की आवश्यकता है जो अपने द्वारा पैदा किए गए बच्चों को खिला-पिला नहीं पाते। बस केवल बच्चे पर बच्चे पैदा करते चले जाते हैं, उनके लिए अन्न-पानी और अन्य आवश्यक चीज़ों का जुगाड़ नहीं कर पाते। यह सब प्रबंध ऐसे ही अकर्मण्य लोगों के लिए आयोजित किया गया

है। हमारे जैसे लोगों को इससे कोई मतलब नहीं।''

''असहनीय पीड़ा सहने के लिए शापग्रस्त मेरी अभागी नियति के प्रति तुम्हारे दिल में क्या तनिक भी दया-माया नहीं है बितान?''

''यह तू क्या बोली रे? तेरे भले के लिए ही तो मैं इस उठाउवा बाज़ार से उस उठाउवा बाज़ार तक चक्करघिन्नी-सा डोलता रहता हूँ जिससे कि तेरे शरीर को, तेरे दिलो-दिमाग़ को आराम मिले। इसी परिश्रम करने से चलते रुपए-पैसे का कुछ जुगाड़ भी हो जाता है और तुम्हारी देह को सुख भी प्राप्त हो जाता है। जानती भी हो? बस केवल सात सौ रुपए और इकट्ठा हो जाएँ, तो बस तुरंत ही मैं एक ज़मीन ख़रीद लूँगा। वाह! क्या ज़मीन है! ठीक नदी के किनारे की उपजाऊ उम्दा ज़मीन। उस ज़मीन में उपजी अपनी फ़सल को तू अपने ही हाथों की मुट्ठियों में जोड़-बटोरकर अपने घर उठा लाएगी। उससे पैदा हुए नाना प्रकार के अनाजों को बोरों में भर-भरकर घर के भीतर सँभाल-सँभाल ले जाकर सुरक्षित रूप में रखा करोगी।''

''इस सबका नसबंदी से भला क्या संबंध है?''

''वाह! कैसे संबंध नहीं है नसबंदी से? अरे! जब जगह-ज़मीन, खेती-बाड़ी होगी, तब खेतों-खलिहानों में मुझे शारीरिक परिश्रम तो करना पड़ेगा। उसके लिए मुझे चुस्त-दुरुस्त, पूरी तरह स्वस्थ-समर्थ बने रहना होगा। नस कट जाने से मैं कोई काम करने लायक़ नहीं रहूँगा।''

''यह सब बहानेबाज़ी छोड़ो। मेरी बात मान लो। जाकर नस कटा लो।'' जुमली की सलाह बितान को बिलकुल ही पसंद नहीं आई। परिणामस्वरूप दोनों में वाद-विवाद बढ़ता ही गया। जुमली अपनी बात पर जब बहुत हठ करने लगी तो क्रोध से आग बबूला हुए बितान ने अनपढ़-गँवार जुमली के सर के बालों को खींचते उसे घसीटते हुए बाहर ले जाकर पीठ पर दो-चार ज़बरदस्त घूँसे जड़ दिए। चक्की में लगा रहनेवाला लकड़ी का डंडा लेकर जुमली भी बितान को मारने के लिए दौड़ी। उनकी चीख़-चिल्लाहट और मार-पीट को देख अड़ोस-पड़ोस के लोग आ जुटे। दोनों के तर्कों को सुनने के बाद लोगों ने एक मत से फ़ैसला दिया, ''जुमली ने हर दृष्टि से बहुत अच्छी सलाह दी है। अतः बितान उसकी इस सलाह को तू मान ले और तदनुसार ही कार्य करे।''

लोगों की इस सलाह पर बितान और भी उत्तेजित हो उठा। सभी से रुष्ट होकर व्यंग्यपूर्ण शब्दों में प्रश्न कर बैठा, ''क्यों कटवा लूँ मैं बच्चा पैदा करने वाली अपनी नसें? मुझे अपने लिए एक बेटा पा लेने की अभिलाषा नहीं है क्या? नन्ही-मुन्नी संतान का पिता बनने का क्या मेरा मन नहीं करता?''

उसके रूखे व्यवहार और पड़ोसियों की राय को सम्मान न देने से क्षुब्ध हो अड़ोसी-पड़ोसी जल्दी ही यह कहते विदा हो गए कि ''तुम्हारे जो मन आए करो। यह तो तुम लोगों का आपसी घरेलू मामला है। अपनी निजी समस्या को तुम लोग ख़ुद ही निपटाओ।''

जुमली का हाथ पकड़कर आगे की ओर खींचते हुए बितान मनुहार करता हुआ कहता है, ''देखो! बेला अब बहुत अधिक चढ़ गई है। बहुत देर हो रही है, अब तो जल्दी चल पड़ो।''

उठाउवा बाज़ार में पहुँचते ही दोनों ही अपने-अपने कामों में व्यस्त हो जाते हैं। बितान कमाई में मिले रुपए-पैसे गिनने लगता है। जुमली अपनी छाती पर लदे भार को हल्का करने लगती है। नन्हे शिशु दूध पीने लगते हैं। दूध पीते-पीते निंदिया कर सो जाते हैं। कोई-कोई तो जुमली की गोद में ही मूत देता है। शिशुओं की माताएँ एक-एक कर बाज़ार की भीड़-भक्कड़ में जा मिलती हैं। दुपहरी की बेला में जब सूरज भगवान सर के ठीक ऊपर चढ़ आते हैं, वृक्षों की छाया छोटी हो जाती है। समय निकाल कर जुमली थोड़ी देर आराम भी कर लेती है। हल्की-हल्की हवा में वृक्षों के पत्ते हिलते-डुलते हैं। वृक्षों के पत्तों की फाँक से होकर सूरज की किरणें प्रकाश और छाया का खेल-खेलते हुए झिलमिल-झिलमिल करती रहती हैं।

माइक-लाउडस्पीकर के बड़े-बड़े चोंगे से सरकारी कर्मचारी की गूँज रही ऊँची आवाज़ से जुमली की ख़ुमारी भरी नींद की झपकी टूट जाती है। वह

साफ़-साफ़ सुन पाती है, ''अब ज़रा जल्दी-जल्दी आगे बढ़ते आना भाई लोगों! समय बहुत कम रह गया है। चार बजते ही ऑपरेशन का काम बंद हो जाएगा। डॉक्टर साहब वापस चले जाएँगे।''

तब बितान से जुमली विशेष रूप से अनुरोध करती है, ''यह घोषणा सुनी तुमने बितान? अपनी आँखों से ही तो तुमने देखा कितने ढेर सारे पुरुषों ने शिविर में जाकर नस कटवा लेने के बाद बड़े आराम से अपने-अपने घरों की ओर पैदल गए। बिना किसी कष्ट के वे अपने घर चले भी गए। अब तू डर मत। बेहिचक अब तू भी शिविर में चला जा। ऐसा सुनहरा मौक़ा फिर दुबारा नहीं आएगा।''

जाने कैसे-कैसे भावों की उमड़-घुमड़ से बितान की आँखों की दृष्टि धुँधला उठती है। थोड़ी ही देर में घबराहट से भरकर झल्ला पड़ता है, ''देख रहा हूँ कि तुझ में भूखों मरने की लालसा तेज़ हो गई है। यह सब फ़ालतू बातें छोड़ और अब तू जल्दी से जल्दी घर के लिए चल पड़।'' इतना कहकर पैर पटकते-पटकते वह बाज़ार के अंदर की ओर चला जाता है।

जुमली जिस जगह खड़ी थी, उसे लगा मानो ज़मीन से चिपक गई हो। अपने इस मालिक मरद की जीभ से शब्दों की जगह भले ही आग ही बरसती रहती है, परंतु उससे होगा ही क्या? उसके हृदय के अंतस्तल में जुमली के लिए अतिशय दया-माया-प्यार भरा हुआ है। अब जब तक कि वह लौट कर यहाँ नहीं आ जाएगा, तब तक वह इसी इमली के पेड़ की छाया में खड़ी-खड़ी प्रतीक्षा करती रहेगी।

परंतु अरे! यह क्या दिख रहा है? बितान तो नसबंदी शिविर के भीतर न जाकर उसी की ओर बढ़ता आ रहा है। शिविर तो पीछे छूट गया। शिविर के और भी आगे वह जा कहाँ रहा है? नहीं, शिविर में जाकर नस कटवाने की जगह जुएबाज़ी के अड्डे पर जाकर बैठ गया बितान। मन में एकाएक उमड़ आई घृणा से उबकाई आने लगी। उसकी सलाह की इस तरह उपेक्षा करके बितान ने जो उसके हृदय पर चोट मारी है, उसकी टीस से जुमली का मन मसोस उठा। रोज़-रोज़ की उठाउवा बाज़ार के अंतिम पहरों में शाल पत्ते दोने में रखकर लाई गई जलेबी की प्रतीक्षा क खड़े रहने का धैर्य जाता रहा। उसकी आशा में फिर एक पल भी वह खड़ी नहीं रही।

इधर कई दिनों से जुमली का मन वश से बा हुआ जा रहा है। उसे स्वयं ही नहीं मालूम कि व चाहती क्या है, बेबस-बेहाल मन पर से उस नियंत्रण जाता रहा है। असंयत-अनियंत्रि हैरान-परेशान मन नाना प्रकार की दुश्चिंताओं भटकता रहता है। आधी रात चढ़ते-चढ़ते ही उस अंदर ऐसी दारुण वेदना उभरती है जो किसी भी र में बाहर व्यक्त तो नहीं हो पाती परंतु अंदर ही अं उसे तोड़ती, मरोड़ती रहती है। असहनीय पीड़ा छटपटाते रहने की इस वेला में वह निपट अके हो रहती है। बितान आजकल उसके पास भी न फटकता। उसके क़रीब न सोकर कहीं अलग जा रात बिताता है। कारण बताता है कि उसके क़री सोने पर उसे नींद ही नहीं आ पाती। नींद में खल पड़ती है। अब वह चाहे जितनी भी उपेक्षा करे अ नारायणपुर का मशहूर उठाउवा बाज़ार लगने वा है। वह जगह यहाँ से इतनी अधिक दूर पड़ती है कि वहाँ पहुँचने के लिए निपट भोर में ही चल पड़ होता है। सो उसके लिए तो तैयार रहना होगा।

बितान उस ओर से पूरा सजग भी है। बासी भा में मिर्च-तेल मिलाकर मलमूल कर तैयार रखने के लिए, ताकि रास्ते में और बाज़ार में जब भी उ भूख लगे तब उससे भूख मिटाई जा सके, जुमली को बार-बार सावधान कर रहा है।

नारायणपुर उठाउवा बाज़ार तक पहुँचने की रा बहुत लंबी है। उस बाज़ार में पहुँचते-पहुँचते ही शरीर थकावट के मारे ऐसा चूर-चूर हो जाता है कि थकान मिटाने के लिए कुछ समय तक आराम क लेना आवश्यक हो जाता है। दोपहर तक माताओं और उनके नन्हे-नन्हे बच्चों की भीड़ जमा रहती है संख्या इतनी अधिक हो जाती है उनकी कि उन सारे बच्चों के लिए जुमली खट नहीं पाती। ऊपर से इधर के समय में उसके पयोधरों का दूध घटाव

की ओर है। उसकी देह के अंदर परिवर्तन ऐसे होने लगे हैं कि छाती का दूध सूखना शुरू हो गया है। वह तो कमाई के धंधे की विवशता और इतने लंबे अर्से से चलती चली आ रही आदत के दबाव के कारण ऐसी मजबूर हो जाती है कि दूधमुँहे बच्चों की सेवा में अपनी गोद अर्पित कर देती है। पयोधरों की अमृत प्रवाहिनी घुंडी की ओर नन्हे-मुन्ने बच्चे को खींचकर छाती से लगा लेती है। परंतु वह भी अब रोज़गारी स्वभाव की हुई जा रही है। एक शिशु की दुधास पूरी हुई ही नहीं होती कि तभी उसे अलग कर दूसरे बच्चे को लेने के लिए हाथों को बढ़ा देती है। मुँह में रखी घुंडी को यूँ छुड़ाकर अलग कर दिया गया शिशु दूध के अमृत रसपान के एकाएक छूट जाने पर किंकिंया कर चीख़ने-चिल्लाने लगता है। माताएँ भाव-विह्वल हो शिकायत कर उठती हैं, "अरे देखो तो! बच्चे को नींद भी अभी नहीं आई। दूध हिक भर पीकर परितृप्त हो शांत भी नहीं हुआ। अभी तो वह और दूध पीना चाह ही रहा है कि तभी...।''

शिकायत करती हैं, तो करती रहें। उस समय तक तो जुमली दूसरे बच्चे को अपनी गोदी में सँभाल चुकी है। परंतु आज वह अपनी कोख को तरह-तरह की भंगिमाओं में नचा नहीं रही। नन्हे शिशु को लाड़-प्यार से दुलार भी नहीं रही। आज उसका मन इस सबकी ओर बँध ही नहीं रहा। इस पल तो वह बाज़ार में उमड़ती भीड़ की ओर अथवा फिर दूर स्थित तलहटी के मैदान की ओर टकटकी लगाए हुए है। उस ओर यूँ देखती हुई वह क्या देख लेना चाहती है? किस चीज़ को देखने की, पा लेने की लालसा में अपनी दृष्टि दौड़ाते हुए वह क्या कुछ ढूँढ़ती-ढाँढ़ती है? कौन जाने! उसके चित्त को यूँ खोया-खोया-सा लक्ष्य कर, काम के प्रति उसकी ऐसी असावधानी को देख कर माताएँ रूखे स्वर में तिलमिलाती हुई कड़कती हैं, ''अरे ओ जुमली! बच्चे को दूध ठीक से पिला न। महसूल के पैसे तो हम पूरा-का-पूरा दे चुकी हैं।''

खिसियाकर जुमली डपट पड़ती है, ''ठीक से पिलाऊँ? क्या अभी तक ठीक से नहीं पिला रही? बेठीक किस ओर से देखा तुमने? ज़रा मुझे भी तो बतलाओ। आई है बड़ी देखनेवाली! देख न। बच्चा तो पूरा निंदिया कर ढीला हो गया है। पेट भर दूध पिए बिना क्या बच्चा यूँ तंद्रा में ढीला पड़ता है? बोलो, तुम्हीं बतलाओ।''

एक झटके में ही बितान उसके पास दौड़ा चला आता है। जुमली इतना क्रुद्ध क्यों हो उठी है। उसे कौन-सी असुविधा हो गई है? यह जानने के लिए वह पूछताछ करता है कि उस पर भी जुमली बिफर पड़ती है। उसे डाँटते हुए उसी से पूछती है, ''तू इधर महिलाओं की इस विशेष जगह पर क्यों आ पहुँचा। जा भाग। हट कर यहाँ से बग़ल में दूसरी ओर चला जा।''

दुपहरी ढलने के काफ़ी पहले ही जुमली आज उठ खड़ी हुई। बितान अभी तक भी वृक्ष की छाया में ही बैठा प्रतीक्षा कर रहा है, उठने का नाम नहीं ले रहा। बात यह है कि अभी भी तो बहुत समय शेष बचा हुआ है। अभी भी अपने-अपने नन्हे शिशुओं को गोदी में लिए माताएँ आ सकती हैं। उन्हें जुमली का दूध पिलवा देने पर अभी भी अच्छी आमदनी हो सकने की उम्मीद है उसे। तभी जुमली बितान को आवाज़ देती है, ''अरे ओ बितान! उठ आ, इधर मेरे पास। मेरे साथ-साथ ज़रा उधर चल तो।''

''किधर?''

''वैद्य महाराज जी के पास।''

''क्यों जुमली! तुझे कोई विशेष पीड़ा उभर आई है क्या? अचानक किसी रोग ने परेशान कर दिया है?''

''नहीं।''

''तो फिर वैद्य के यहाँ ले जाकर दो रुपए व्यर्थ में ही दंड भरवा दोगी क्यों?''

उसकी इस बात का कोई भी उत्तर जुमली नहीं देती। जुमली को साथ लिए-लिए बितान रोगियों की भीड़ में जा बैठता है। वैद्य महाराज की दृष्टि जब उस पर पड़ती है, तो उसे वहाँ देख वे दूर से ही पूछ पड़ते हैं, ''क्यों रे! उस दवा की ज़रूरत फिर आ पड़ी है क्या?''

कुछ उत्तर देने के बजाय बितान उन्हें जुमली को दिखा देता है। अंदर-अंदर ही वह बौखलाया जा रहा है। जुमली के आज के क्रिया-कलापों से उसे बहुत परेशानी हो रही है, अतः मन ही मन वह उस पर नाराज़ हो उठा है। झंडी उड़ाने, देशी ठर्रे अथवा ताड़ी पीने की उसकी निर्धारित वेला हुई जा रही है। वैद्य को दिखाने के लिए जुमली उसे जबरन लिवा ले न आई होती तो अब तक तो वह शराब के अड्डे पर मस्त हो चुका होता। काफ़ी समय यूँ ही बीत जाने के बाद जुमली की पुकार हुई। जुमली दिखाने के लिए चली गई। फिर वही चारों ओर से काले कपड़े के घेरे में उसे भीतर जाना पड़ा। ज़मीन पर बिछाए गए टाट के बोरों के बिछौने पर टाँगें पसार चित्त हो सोना पड़ा। फिर वही सारी प्रक्रिया दुहराई गई। वक्ष के पयोधरों, पेट के नीचे के हिस्सों पर हाथ रख-रखकर वैद्य द्वारा निरखने-परखने का सारा कार्यक्रम फिर संपन्न हुआ। सब कुछ जानबूझ लेने के बाद वैद्य ने एक ज़ोर की आवाज़ मुँह से निकाली, ''हुम्म।'' फिर वैद्य ने अंदरूनी बात जान लेने के उद्देश्य से प्रश्न उछाला, ''कितने महीने हो गए?''

''तीन महीने।''

''कौथी दफ़ा है इस बार की?''

''सातवीं।''

''हुम्म।''

''वैद्य महाराज जी! तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ। कम से कम इस बार तो कोई इतनी अच्छी और असरदार औषधि दो कि अब की बार अपनी संतान को जीवित अवस्था में जन्म दे सकूँ।''

''सो तो अब नहीं होने का बेटी। तेरी अंदरूनी नसें ढीली, लुजलुज और कमज़ोर हो चुकी हैं। गर्भ को सँभाले रखने के लिए जैसा कड़ापन होना चाहिए, अब वैसा उनमें नहीं है। अतः जीवित संतान तो तुम अब कभी भी पैदा नहीं कर सकोगी।'' कहकर, काले पर्दे के उस घेरे से बाहर निकल वैद्य बाहर इकट्ठे हुए दूसरे रोगियों की भीड़ के बीच जा खड़ा हुआ।

फिर तो जुमली पाग़लों की तरह चिल्लाने लगी, ''तेरी जड़ी-बूटियाँ, औषधियाँ, दवाइयाँ सभी फ़ालतू हैं, बकवास हैं, बेकार हैं। सब ढोंग है। कोई भी प्रभावकारी चीज़ नहीं है उनमें। सब घास हैं, घास मिट्टी के बराबर हैं। राख की पुड़िया। तू तो महा ठग है। महा धोखेबाज़ है तू। भोली भाली जनता को ठग-ठग कर तू बस रुपए कमाता रहता है।''

''चुप हो जा छोकरी। अपनी ज़बान बंद कर। बिलकुल चुप हो जा। अब एक शब्द भी ऐसा मुँह से मत निकालना।''

''क्यों कर चुप होऊँगी मैं? तेरी दवाएँ खाने से मेरे गर्भ में पल रहे पाँच-पाँच बच्चे मर-खपकर बरबाद हो गए। एक भी संतान जीवित रूप में जन्म नहीं ले पाई। इस पर भी तू मुझे चुप रहने को...।''

''जीवित रूप में तेरी कोई संतान भला कैसे जन्म ले सकती थी। तेरा मरद तो तेरा हमल, तेरा गर्भ, तेरे गर्भ में पल रहे जीव को ख़लास कर दें, गर्भपात करवा देने की औषधियाँ ही ख़रीद कर ले जाता रहा है। गर्भ को पुष्ट करने की, उसे जीवित रूप में जन्म दिला सकने वाली की शक्ति रखने वाली औषधि तो उसने कभी ख़रीदी ही नहीं। तुझे विश्वास नहीं हो रहा तो उसी से पूछ कर देख न ज़रा।''

वैद्य का उत्तर सुन जुमली को तो काठ मार गया। उसकी सारी बोलती बंद हो गई। जहाँ की तहाँ हक्की-बक्की हो खड़ी रह गई। कुछ सचेत हुई तो चारों ओर बितान को ढूँढ़ने लगी।

वहाँ बैठे रोगियों की भीड़ उस पर कटाक्ष करने लगी थी। उनसे छुटकारा पाने के लिए, उनकी नज़रों से दूर चली जाने के लिए वह वहाँ से जल्दी-जल्दी हटकर पहाड़ी के उस जंगली इलाक़े की ओर चली गई जहाँ पलाश के घने जंगलों का छाया अँधियारा पसरा हुआ था। वह काले अँधियारे भरे पलाश के जंगल में अपना मुँह छिपाए बड़ी देर तक पड़ी रही। उठाउवा बाज़ार पर लगाई कई दुकानों की सारी झोंपड़ियाँ ख़ाली हो गईं। सर्वत्र सन्नाटा छा गया। जड़-जंगम किसी भी प्रकार के किसी भी जीव का आना-जाना, हिलना-डुलना तक रुक गया। कहीं से किसी भी प्रकार का कोई शब्द नहीं हो रहा है।

बस केवल उसके अपने मन के भीतर ही तूफ़ान और झंझा का तांडव मचा हुआ है। एक पर एक थपेड़े लगाते जा रहे हैं। रह-रह ज़ोरदार झपट्टे पड़ते हैं।

"अब क्या वह पेड़ की ऊँची डाल पर चढ़कर वहाँ से कूद पड़ेगी? अथवा फिर विष खा लेगी? या फिर पत्थरों से मार-मारकर बितान का माथा ही कुचल कर नेस्तनाबूद कर डालेगी?''

परंतु नहीं, वह कुछ भी नहीं कर सकती। अत्यंत गंभीर निराशा में उदास आँखों से बस देखती रहती है। देखती ही रह जाती है।

दूर की जंगली झाड़ियों में जुगनूँ उजाले-अँधियारे में टिमटिमा रहे हैं। आसपास सियार चक्कर लगा रहे हैं।

ऊपर जगमग आकाश में फैले हुए तारों के झिलमिल प्रकाश में धुँधली-धुँधली-सी दिखाई पड़ रही धूल-धूसरित पगडंडी की रेखा का अनुसरण करती, उसी के सहारे आगे बढ़ती हुई, एक-एक डग बढ़ाती वह चलने लगती है। ठीक वैसे ही जैसे कि कोई निपट एकाकी संगी-साथी विहीन दुधारू गाय, अपने जाने-पहचाने रास्ते पर चलते हुए अपने पालक के गोहाल में लौट आती है।

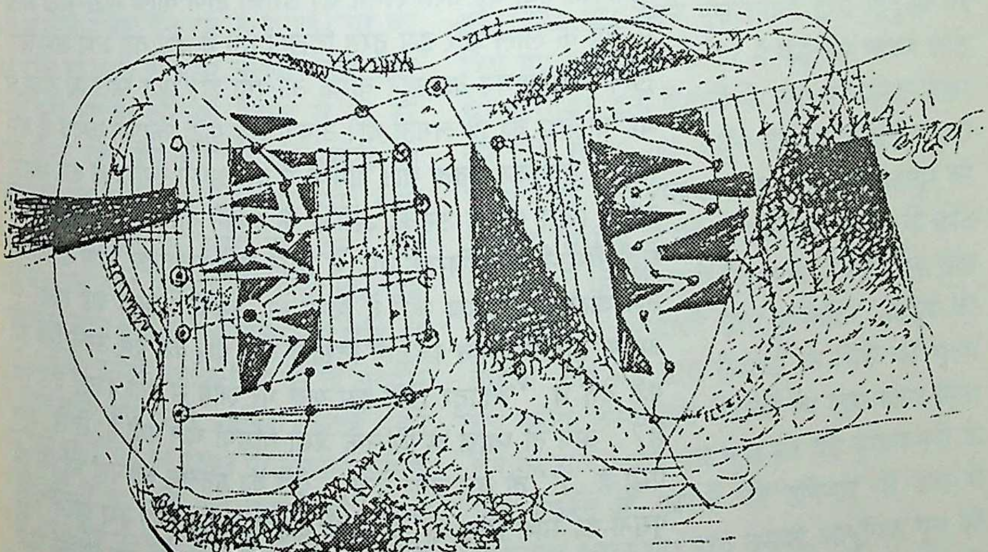

पंजाबी कहानी

गुरमेल मडाहड़

गुरु का सिक्ख

बहादुर सिंह की दो बातें बहुत मशहूर थीं, एक उसका अक्खड़पन तथा दूसरी उसकी कट्टरता। जब वह किसी गली या बाज़ार में से गुज़रता था तो लोगों का ध्यान अपने-आप उसकी ओर खिंचा चला जाता था। उसके लंबे क़द पर बँधी नीली पगड़ी लाखों की भीड़ में दूर से ही उसके हाज़िर होने की हामी भर देती थी। उसकी सफ़ेद दूध जैसी दाढ़ी उसके सफ़ेद कपड़ों में ही मिल जाती थी। जब वह हिलती तो ऐसे लगता जैसे उसकी क़मीज़ के कॉलर हिल रहे हों। कई बार तो कपड़ों तथा दाढ़ी को अलग करना मुश्किल हो जाता था। उसकी मूँछें हमेशा ग़ुस्से में आए बब्बर शेर की पीठ पर खड़े बालों की भाँति खड़ी रहती थीं। जिनके बीच में से उसके पीले ज़र्द दाँत, लाल होंठ स्पष्ट दिखाई देते थे। लाल टमाटर जैसे रंग पर कहीं-कहीं बड़ी माता के दाग़ सूखे आटे पर पड़े पानी की बूँदों की तरह लगते थे। उसकी टोपी वाली मोटी-मोटी आँखों में लहू के लाल डोरे इस तरह दिखाई देते थे जैसे वह अभी अभी किसी ख़ानदानी दुश्मन का ख़ून करके आ रहा हो। साठ साल का होकर भी वह चालीस का ही लगता था। अपनी डेढ़ फ़ुटी किरपान क़मीज़ के ऊपर गात्रे में डालकर रखता था। गर्मियों में वह अपनी क़मीज़ के कफ मोड़कर रखता जिस कारण उसकी अंग्रेज़ों के ज़माने वाली डेढ़ छटाँक की जेब घड़ी वैस्टर्न वॉच जिसके बाद में उसने कुंडे लगवाकर फीता डलवा कर उसे कलाई घड़ी का रूप दे दिया था, उसकी मज़बूत बाईं कलाई पर अपना अलग प्रभाव छोड़ती दिखाई देती थी। कई बार उसके मित्र उसे कह देते थे, ''बहादुर सिंह इस पाव भर लोहे से क्यों कलाई तोड़ रहा है?... अब तो प्याज़ के छिलके जैसी घड़ियाँ चल पड़ी हैं...ले ले...बहुत पैसा है...।'' तो वह उत्तर देता, ''पैसे का मतलब यह नहीं भई कि तुम पुरानों का साथ छोड़ दो...कल को कहोगे बहादुर सिंह क्या झुर्रियों वाली बूढ़ी लिए फिरता है...बहुत पैसे हैं तुम्हारे पास, कोई हेमा मालिनी जैसी औरत ही ले आ...।'' जिसे सुनकर बात हँसी में उड़ जाती। उसकी दूसरी कलाई पर स्टील के दो कड़े आपस में भिड़-भिड़कर अपना अस्तित्व प्रकट करते रहते थे जिनमें से एक वह हज़ूर साहिब से लाया था तथा दूसरा पाऊँटा साहिब से। एक बार उसके दोस्तों ने उनमें से एक को उतारने की राय भी दी थी परंतु वह नहीं माना तथा कहा था, ''जब यह कड़े आपस में भिड़कर आवाज़ करते हैं तो मुझे मेरे पूर्ण गुरसिक्ख बने रहने की याद दिलाते रहते हैं...''

चाय का स्वाद बहादुर सिंह ने आज तक नहीं चखा था। सर्दी आए

गुरमेल मडाहड़ का जन्म 1945 में हुआ। इनकी कहानी, कविता एवं उपन्यास की लगभग दस पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : बी-4/91, असतबल, पटियाला गेट, संगरूर 148001 (पंजाब)

अनु : जतिंदर कुमार जैतो हिंदी-पंजाबी में परस्पर अनुवाद करते हैं। संपर्क : राही कंप्यूटर्स, नई आबादी, बाजा रोड, जैतो-151202

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

गर्मी आए वह लस्सी ही पीता था। सर्दियों के कोहरा जमा देने वाले दिनों में यदि कोई उसे कहता, ''बाबा इतनी सर्दी पड़ती है, घूँट चाय पी लिया कर नज़ला-ज़ुकाम से बचा रहेगा।'' तो वह जवाब देता, ''यह तो पंजाब है मेरी मातृभूमि और माँ की गोद में किसी बेटे को गर्मी सर्दी नहीं लगती...यहाँ की गर्मियाँ-सर्दियाँ तो मेरे लिए वाहेगुरु का वरदान हैं... मुझे तो लेह लद्दाख की पहाड़ियों में भी सर्दियों में जाना पड़ जाए तो वहाँ भी चाय न पीऊँ।''

अव्वल तो वह बीमार होता ही नहीं था, यदि हो भी जाए तो टीका नहीं लगवाता था। ना ही ंग्रेज़ी दवाई खाता था। नत्थू खाँ हकीम के चेले कालूराम हकीम से ही उसने जब से होश सँभाला था, ज़रूरत पड़ने पर देसी दवाई ही ली थी।

काम उसने सारी ज़िंदगी नहीं किया था। अच्छे समय में शहर में मकान ज़रूर ख़रीद लिया था जिस पर उसने दोबारा ईंट तक न लगाई। घर का ख़र्च ज़मीन की वटाई के सहारे चलता था या फिर उसकी पत्नी भगवान कौर की मेहनत से जो हर समय दो-दो तीन-तीन भैंसें घर पर रखती थी जिनका वह दूध बेचती थी। हरा चारा वटाई वाले स्वयं लाकर दे जाते थे। कुतरा वह अपने बेटे गुरकिरपाल को साथ लगाकर कर लेती थी। जब गुरकिरपाल जवान हुआ था तब जाकर उसे सुख की साँस आई थी, क्योंकि बहादुर सिंह को तो गुरुद्वारे में कीर्तन सुनने, पाठ करने, धार्मिक किताबें पढ़ने तथा ज्ञानी लाल सिंह की दुकान पर बैठकर धार्मिक बहस करने से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती थी। बहस करते समय वह जो एक बार मुँह से निकाल देता था उसी पर क़ायम रहता था। विरोधी चाहे जितनी मर्ज़ी दलीलें पेश करें। आम ज़िंदगी में भी उसका फ़ैसला राष्ट्रपति का फ़ैसला होता था जिसके आगे कहीं सुनवाई नहीं होती थी। ना कभी उसने अपने द्वारा किए फ़ैसले पर दोबारा विचार किया था, और ना ही उसमें कोई परिवर्तन जिसके कारण उसकी मुहल्लेवालों से कम ही बनती थी। अपनी पत्नी तथा बेटे का मुहल्लेवालों से मिल-जुलकर रहना भी उसे बुरा लगता था। वह नहीं चाहता था कि जिन घरों से उसका सुर नहीं मिलता था उन घरों से उसकी पत्नी तथा बेटा मेलजोल रखें। इस बात को लेकर उनके घर में अनेक बार क्लेश हुआ था। गुरकिरपाल तथा भगवान कौर की दलील थी कि ''आदमी आदमी की ज़रूरत होती है। अकेला तो रोही बियाबान में वृक्ष भी नहीं बचता। जिस आदमी की मुहल्ले में दाल सब्ज़ी की साँझ नहीं उसकी भी कोई ज़िंदगी है?'' परंतु बहादुर सिंह कहता था, ''नहीं, जहाँ आदमी के आदमी से विचार नहीं मिलते वहाँ दोस्ती नहीं निभ सकती...मुखौटे पहनकर एक-दूसरे से मिलना मुझे अच्छा नहीं लगता...यदि मन में कड़वाहट हो तो मुँह से निकले मिश्री से मीठे बोल भी ज़हर लगते हैं।''

सबसे ज़्यादा बहादुर सिंह को गुरकिरपाल का मुसलमानों के लड़के अनीस के साथ उठना-बैठना नापसंद था, क्योंकि मुसलमान क़ौम से उसे हद दर्जे की नफ़रत थी। उसने मुसलमानों द्वारा हिंदुओं पर किए गए अत्याचारों के बारे में कई बार भाषण झाड़े थे। औरंगजेब द्वारा हिंदुओं के सवा मन जनेऊ उतार कर रोटी खाना...गुरु अर्जुन देव पर जहाँगीर द्वारा ज़ुल्म करके उन्हें शहीद करना...गुरु तेग बहादुर की शहीदी...सरहिंद के नवाब द्वारा गुरु साहिब के छोटे साहबज़ादों को दीवार में चिनवाना...मस्से रंगड़ तथा अहमद शाह अब्दाली द्वारा हरिमंदिर साहिब को तोड़ना...मीर मन्नु द्वारा सिक्खों के सिरों का मूल्य तय करना, उनके द्वारा सिक्खों का खुरा खोज मिटा देने का यत्न आदि सब कुछ को वह मुसलमानों के प्रति नफ़रत के कारणों को हथियार के रूप में इस्तेमाल करता था। परंतु उसकी आधुनिक युग की पैदावर इकलौता लड़का गुरकिरपाल जो साहित्य में एम. ए. करके बेरोज़गार था, उसके विचारों के बिलकुल विपरीत चलता था। वह उसके जवाब में कहता, ''बापू जी, कभी कोई क़ौम सारी की सारी बुरी नहीं होती। क़ौम को अच्छा या बुरा उसकी लीडरशिप बना देती है। कुछ बुरे आदमी उसे बुरा कर देते हैं...। अकबर एक मुसलमान ही था जिससे हिंदुस्तान की सबसे बहादुर क़ौम राजपूतों ने अपनी बेटियों की शादी रचाई...गुरु गोविंद सिंह जी की फ़ौज में भर्ती

होने वाले बहुत सारे मुसलमान ही तो थे। बुद्धु शाह का प्रशंसनीय काम सिक्ख इतिहास में से कैसे निकाला जा सकता है? गुरु गोविंद सिंह जी को मुग़लों के घेरे में से महान पीर कहकर निकालने वाले कौन थे? वे मुसलमान ही तो थे परंतु दूसरी ओर हिंदू पहाड़ी राज्यों के राजा गुरु गोविंद सिंह जी के ख़िलाफ़ लड़े... जहाँ गंगु पंडित ने गुरु गोविंद सिंह जी की माता गुजरी तथा दो छोटे साहबज़ादों को पकड़वाया। वहाँ जब साहबज़ादों को नींव में चिनवाए जाने का हुक्म हुआ तो उनके हक़ में आवाज़ उठाने वाला मलेरकोटले का नवाब भी एक मुसलमान था। सरहिंद, समाणा, ढुहाणा के आम लोगों ने बंदा सिंह बहादुर का क्या बिगाड़ा था जिनको उसने घर से बेघर कर दिया तथा अनेकों बेक़सूरों को मौत के घाट उतार दिया था?''

''वह तो बदला लिया था...'' बहादुर सिंह ग़ुस्से में बोलता।

''बदला उनसे लिया जाता है जिन्होंने बदला लेने वाला कोई काम किया हो...बेगुनाहों से नहीं...यदि उसने बदला लेना ही था तो फ़ौज के साथ टक्कर लेता, उसी को हराता...इससे ज़्यादा कुछ न करता। झगड़ा बापू जी कभी जात या गौत का नहीं होता झगड़ा तो विचारों का होता है या क़ब्ज़े का...।''

''नहीं धर्म का भी होता है।'' बहादुर सिंह उबल कर बोल पड़ता।

''यदि झगड़ा धर्म का ही होता तो संत करनैल सिंह अपने सिक्ख भाईयों को न मरवाता...अकाल तख़्त के पूर्व जत्थेदार ने उसका क्या बिगाड़ा था वह तो पूर्ण सिक्ख था?''

जब बहादुर सिंह के पास सारी दलीलें ख़त्म हो जातीं तो वह अंत में अपना आख़िरी हथियार इस्तेमाल करता, ''परंतु मेरे जीते जी तू मुसलमानों के साथ खाकर मेरे घर नहीं आ सकता।''

''आपकी इस रूढ़िवादी सोच के कारण मैं अपने दोस्तों से मुँह नहीं मोड़ सकता।''

''तू मुझे रूढ़िवादी सोच का बताने वाला है कौन...मैं तेरा बाप हूँ कि तू मेरा बाप है...मैंने तुझको जन्मा है कि तूने मुझे...बड़ा आया फ़िलॉसफ़र मुझे समझाने वाला...चार अक्षर क्या पढ़ गया दिमा हिल गया...''

अब बहादुर सिंह ग़ुस्से में आकर इतना बोल रहा था कि गुरकिरपाल को चुप हो जाना और दूर भैंसों का गोबर कूड़ा कर रही भगवान तथा नौकर भागकर अंदर आ गए थे। भगवान को बहादुर सिंह की आदत का पता था कि जब ग़ुस्से में आकर इतना ऊँचा बोलने लगता था जो भी हाथ में आता सामने वाले को मार देता इसी स्वभाव के कारण उसे एक बार छह महीने क़ैद भी काटनी पड़ी थी। जब उसने पड़ोसी को साहिब (किरपान) निकालकर मारी थी। बात मा थी। घास चर के आई बहादुर सिंह की भैंस पड़ो की गली में बँधी भैंस के साथ लड़ पड़ी पड़ोसन ने लड़ती हुई भैंसों को हटाकर एक करारी गाली निकाल दी थी जिसे सुनकर भगवान कौर रहा न गया। उसने भैंस को मोड़ते हुए कहा ''बहन जी पशु किसी के सिखाए हुए होते...गालियाँ नहीं निकालते, बात बढ़ जाती है। भगवान कौर की बात बढ़ने वाली बात सुन पड़ोसन और भड़क उठी थी। देखते-देखते ओर से मैदान गर्म हो गया था। अंदर बैठा बहादुर सिंह पड़ोसन की बकवास सहन करता रहा था। पर जब पड़ोसन का आदमी दुकान से आकर अ पत्नी की मदद के लिए उतर आया था तो बहादुर सिंह भी आपे से बाहर हो गया था तथा उसने बा आकर कहा था, ''देख ओए मजनुआ, मैं घंटे तेरी बीवी की ऊल-जलूल बातें सुन रहा हूँ प बोला कुछ नहीं परंतु तू...''

''तुझमें मेरी बीवी को कुछ कहने की हिम्मत है भी...'' पड़ोसी के इन शब्दों ने बहादुर सिंह के सी में जल रही आग के ऊपर और तेल छिड़क दि था। वह ग़ुस्से में आकर बोला, ''हिम्मत तो है पर खालसे का धर्म औरत से पंगा लेना नहीं, यदि कोई मर्द होता...''

''अब तो मर्द के साथ ही बात कर रहा है?''

''अच्छा फिर खड़ा रह, यहीं दिखाता हूँ तुझे हिम्मत।'' कहकर बहादुर सिंह आँधी की तरह अंदर

गया और तूफ़ान की तरह अंदर से सीरी साहिब लाकर चीते की तरह उस पर वार कर दिया था। इतनी फुर्ती की आस किसी को नहीं थी। पहली बार में ही पड़ोसी का कंधा कट गया था तथा जब वह दूसरा वार करने लगा तो भगवान कौर उसकी सीरी साहिब वाली बाजू से लिपट गई थीं। पड़ोसियों ने भागकर अंदर से कुंडी लगा ली थी। बहादुर सिंह तब तक उनके दरवाज़े के आगे खड़ा शेर की भाँति गरजता रहा, घर के दरवाज़ों पर तलवारें मारता रहा था जब तक पुलिस आकर उसे पकड़कर नहीं ले गई थी।

इसलिए भगवान कौर ने अब गुरकिरपाल को पकड़कर दूसरे कमरे में धकेल दिया था और हाथ जोड़कर बहादुर सिंह के सामने आकर कहने लगी थी, 'बस करो जी ग़ुस्से को मारो, बच्चा है...आपके आगे हाथ जोड़ती हूँ...आप तो सयाने हो क्यों बच्चे के साथ ज़िद कर रहे हो...यह तो है ही नालायक़...।''

"यह बच्चा है? मुँह पर गिठ-गिठ दाढ़ी उग आई है...बड़े बड़ों को अकल सिखाता है...।''

'पागल है...चलो छोड़ो...जाओ आपका लाईब्रेरी जाने का वक़्त हो गया है...''

"हाँ हाँ मुझे सब पता है...तुम्हारी माँ बेटे की एक ही बात है...मुझे तो तुम ऐसे ही समझते हो...''

"हम तो कोई नहीं समझते, बहुत इज़्ज़त करते हैं'' कहते हुए भगवान कौर कमरे से बाहर निकल गई तथा जाती हुई के कहे शब्द, ''बैठे बिठाए को खिलाते हैं'' उसको सुनाई दिए थे। उसने सोचा बात तो ठीक है तथा उठकर लाईब्रेरी की ओर चल पड़ा।

शहर में ज़बरदस्त तनाव पैदा हो गया था। हिंदू मुसलमान फसाद खड़ा हो चुका था। पंद्रह दिनों से कभी कर्फ़्यू लगा दिया जाता था, कभी हटा दिया जाता था। शहर का जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो चुका था। अभी बाज़ार में शहर के लोगों की रौनक होती, बाज़ार भरा-भरा होता तो पलक झपकते ही लोग अपने-अपने घरों को दौड़ रहे होते। दुकानों के शटर गिर रहे होते। साईकिलों की घंटियाँ बज रही होतीं। सी.आर.पी. की गाड़ियाँ हरकत में आ चुकी होतीं। टीयर गैस आसमान में उड़ रही होती। लाठियों तथा गोलियों के चलने की आवाज़ आने लगती तथा गलियाँ बाज़ार सुनसान हो जाते। घरों में बैठे आदमियों को कुछ पता न चलता कि बाहर क्या हो रहा है। किस ग्रुप द्वारा किस ग्रुप पर हमला किया गया है।

पंद्रह दिन पहले की ही तो बात है जब शहर में सुख-शांति थी। हिंदू तथा मुसलमान भाईयों की तरह रहते थे। इकट्ठे फ़िल्म देखते थे। इकट्ठे खाते-पीते थे। इकट्ठे बिजनेस करते थे। पंद्रह दिनों की ही तो बात है जब शहर के प्रसिद्ध मंदिर में कोई गाय की पूँछ फेंक गया था। पुजारी ने मामला मंदिर की कमेटी के पास पहुँचा दिया था तथा कमेटी पुलिस स्टेशन में रिपोर्ट दर्ज करवा आई थी। पुलिस शहर के चार-पाँच मुसलमानों को पकड़ लाई थी जिनकी रिहाई के लिए मुसलमान लीडर थाने में गए थे लेकिन पुलिस वालों ने उनको नहीं छोड़ा था। इसके विरोध में मुसलमानों ने इकट्ठे होकर शहर में जबरदस्त जुलूस निकाला था। जुलूस की भीड़ तथा कोई हंगामा हो जाने के डर से पुलिस वालों ने पकड़े हुए आदमी छोड़ दिए थे।

अगले दिन हिंदुओं ने पूरे जोशो-खरोश के साथ हाथ में त्रिशूल पकड़कर छोड़े गए मुसलमानों को दोबारा पकड़वाने के लिए जुलूस निकाला तथा जलसा किया था। अब सरकार के पास दफ़ा एक सौ चवालीस लगाने तथा दोनों ग्रुपों के लीडर को पकड़कर अंदर करने के सिवा और कोई चारा नहीं रह गया था।

उसी दिन शाम को सात बजे के क़रीब शहर में भगदड़ मच गई थी जब हिंदू तथा मुसलमानों में जमकर हथियारबंद लड़ाई हुई थी जिसमें हिंदुओं के पाँच तथा मुसलमानों के चार आदमी क्रमशः परमात्मा और अल्लाह को जा मिले थे तथा दोनों पक्षों के पैंतीस के क़रीब आदमी ज़ख़्मी हो गए थे।

झगड़ा निजी था परंतु धार्मिक रूप अख़्तियार कर गया था। सर शीशा राम एंड संस कारख़ाने के मालिक लाला धनीराम के लड़के की वली मोहम्मद वकील की लड़की के साथ दोस्ती थी। वह वली के घर मौक़ा पाकर इकट्ठे हुए पकड़े गए थे। सेठ

साहब के साहबज़ादे पकड़ने वालों से एक बार तो अपने आप को छुड़वाकर गली में आ गए थे। परंतु उन्होंने उसको फिर दबोच लिया था। मार-पिटाई होती देख सामने वाले हिंदू घर ने उसे छुड़ाना चाहा था। छुड़ाते हुए घर के मुखिया के माथे पर चोट लग गई। बस फिर क्या था उसके घर के बाक़ी सदस्य भी अंदर से लाठियाँ, सेरवे, घोटना जो भी हाथ में आया उठा लाए थे। दो हिंदू तथा मुसलमान परिवारों को लड़ते देखकर हिंदुओं की ओर हिंदू, मुसलमानों की ओर मुसलमान आ आकर मिलते गए। कारण किसी ने नहीं पूछा। ना किसी के पास इतना समय था।

देखते ही देखते सारा शहर हिंदू मुसलमान फसादों का अखाड़ा बन गया था, क्योंकि इस घटना की ख़बर जहाँ भी फैली वहीं झगड़े शुरू हो गए थे। पुलिस का ध्यान मुख्य लड़ाई में था। फिर जब शहर में हो रही अन्य घटनाओं का पता चला तो फौरन कर्फ़्यू लगाना पड़ा था। उस दिन से ही बाज़ार में पहले पुलिस थी फिर सी. आर. पी. आ लगी थी। कर्फ़्यू लगा रहता। ढील मिलती। कहीं न कहीं फिर गड़बड़ हो जाती। आदमी मारे जाते। कर्फ़्यू फिर लग जाता।

इसी तरह के झगड़ों में एक बार बहादुर आ गया था। उस दिन उसे सिर कुछ भारी लग रहा था। ऐसे लग रहा था जैसे उसको ही बुख़ार चढ़ जाएगा। घर में किसी क़िस्म की दवाई नहीं थी। तबीअत पल-पल बिगड़ती थी तभी अचानक लोक संपर्क की गाड़ी द्वारा में ढील दिए जाने की ख़बर सुनकर वह फ़ौरन था। सीरी साहब सँभाली तथा बाज़ार की ओर पड़ा। घर से बाहर निकलते ही उसका पड़ोसी दास मिल गया था।

‘‘क्या हाल है बहादुर सिंह?’’

‘‘ठीक है चरन दास, तू सुना?’’

‘‘तेरी भाभी की तबीअत ख़राब है, वह तो डॉक्टर के पास जाने लगी थी। कहती, ‘हवा चल रही है आप मत जाना।’’ मैंने कहा, कौन-सा किसी के साथ वैर है, तू अकेली जाएगी, मैं दवाई ले आता हूँ।’’

‘‘अच्छा किया, हवा तो वाक़ई ख़राब चल है। यह साले मुसले हमारे साथ शुरू से ही आए हैं...चलो अपनी चोट तो सही जाती है औरत की बेइज़्ज़ती सहनी मुश्किल हो जाती है...

‘‘इसलिए तो उसे रोका था परंतु तू कैसे...’’

‘‘मुझे ख़ुद बुख़ार-सा चढ़ता लग रहा है... सोचा क्या पता कर्फ़्यू का, दवाई पहले ही आऊँ...’’

‘‘ठीक है...’’ कहते हुए चरन दास ने जब हाथ वाले मकान में निगाह मारी तो वह झट उठा, ‘‘बहादुर सिंह...’’ बहादुर सिंह ने मुसलमान नौजवान ने बिल्ली की भाँति चरन दास पर वार कर दिया था। बहादुर सिंह फ़ौरन अपनी सिरी साहब म्यान सहित हमलावर लाठी के नीचे कर दी थी जिसके कारण एक बार चरन दास बच गया था। उसके बाद बहादुर सिंह पता नहीं चला कि चरन दास के साथ क्या फिर तो वह था, उसकी सिरी साहिब थी। हमलावर के हमले थे। वह फुर्ती के साथ दुश्मन के वार बचता, फिर हमला करता। लट्टू की भाँति घूम था। हाथ-पैर थक गए थे। साँस फूल गई थी लेकिन

वह फिर भी लड़े जा रहा था। एक बार मन में आया कि मौका देखकर दौड़ जाए लेकिन फिर ख़याल आया कि इस तरह तो गुरु गोविंद जी के कहे हुए शब्द, ''सवा लाख से एक लड़ाऊँ'' झूठे हो जाएँगे...जब बहादुर सिंह चंद मुसलमानों से जान बचाकर भाग जाएगा। इसी ख़याल के दौरान वह थोड़ा-सा सुस्त हुआ था कि एक लट्ठ उसके माथे पर आकर लगा तथा वह वहीं लुढ़क गया।

जब उसे होश आया तो वह अस्पताल में पड़ा था। उसके चारों ओर भगवान कौर, गुरकिरपाल, डॉक्टर तथा नर्स घेरा बनाकर खड़े थे। उसने देखा उसके जगह-जगह पट्टियाँ बँधी हुई हैं। शरीर जगह-जगह से दर्द कर रहा है। भगवान कौर की आँखों में आँसू थे तथा गुरकिरपाल उदास था।

''मुबारक बीबी जी...अब कोई ख़तरा नहीं है परंतु सरदार साहब को डिस्टर्ब मत करना...आराम करने देना...'' भगवान कौर को यह कहकर डॉक्टर चला गया था।

''शुक्र है रब्ब का'' भगवान कौर बुड़बुड़ाती हुई स्टूल लेकर बैठ गई, चारपाई के पैताने की ओर गुरकिरपाल बैठ गया था।

''अनीस...?'' भगवान कौर ने गुरकिरपाल से इस तरह पूछा जैसे उसे कुछ याद आया हो।

''वह तो चला गया।'' गुरकिरपाल ने बताया।

''वह यहाँ क्या करने आया था?'' बहादुर सिंह ने गुस्से भरे लहज़े में सवाल किया।

''आपको ज़ख़्मी हालत में वही यहाँ लेकर आया था।'' भगवान कौर ने ऐसे बताया जैसे कहना चाहती हो जिसकी आप हर वक्त निंदा करते रहते थे वही आदमी कितना काम आया।

''वह उधर क्या करने गया था?'' बहादुर सिंह ने बात को शायद और स्पष्ट करने के लिए पूछा था।

''मुझे मिलने आ रहा था, रास्ते में आपको मार पड़ती देखकर बीच में जाकर, ख़ुद चोटें खाकर, आपको यहाँ ले आया। आपका सारा प्रबंध करके फिर घर पर पता किया था।'' गुरकिरपाल ने बताया।

''यदि वह न होता, आप शाायद...'' भगवान कौर से आगे कुछ न कहा गया जैसे उसकी ज़ुबान को काठ मार गया हो।

''यह तो उसका फ़र्ज़ बनता था, पाल का दोस्त जो है।'' बहादुर सिंह बोला था।

''दोस्ती का फ़र्ज़ तो उसने और भी पूरा निभाया है।'' भगवान कौर ने कहा।

''वह कैसे...?''बहादुर सिंह ने पूछा।

''आपके शरीर में से ख़ून ज़्यादा बह गया था इसलिए डॉक्टरों ने ख़ून की माँग की थी। हम सभी ने ख़ून टेस्ट करवाया किसी का नहीं मिला परंतु अनीस का मिल गया।'' गुरकिरपाल ने बताया।

''फिर?'' बहादुर सिंह ने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

''फिर डॉक्टर ने उसका ख़ून निकालकर आपको चढ़ा दिया।'' यह शब्द गुरकिरपाल ने बड़े संकोच से कहे थे। बहादुर सिंह को यह सुनकर बड़ा जोश चढ़ गया। उसकी आँखों में लहू उतर आया तथा शरीर काँपने लगा। दाँत पीसते हुए उसने कहा, ''मेरे अंदर मुसलमान का ख़ून...सिक्खों के दुश्मनों का...'' कहकर वह उठकर बैठ गया जैसे वहाँ से भाग जाना चाहता हो। गुरकिरपाल तथा भगवान कौर ने जब फ़ौरन आगें बढ़कर उसे पकड़ा तो वह फिर बेहोश हो गया।

जब से बहादुर सिंह अस्पताल से वापिस आया था तभी से वह गुमसुम-सा रहने लगा था। कमज़ोरी ज़्यादा हो जाने के कारण उसे चारपाई पर ही पड़े रहना पड़ता। घरवालों से काम की ही बातें करता। मित्र एक-दो बार आए तथा पता लेकर चले गए। वह अख़बार का एक-एक अक्षर पढ़कर समय गुज़ारता या फिर सारा-सारा दिन पाठ ही करे जाता। यदि पल भर के लिए भी ध्यान हटता तो झट उसे अनीस के ख़ून की याद आ जाती। घटना याद आते ही उसे ऐसे लगता जैसे उसके अंदर छोटे-छोटे सपोलिए घूम रहे हों। ज़हर के फव्वारे उठ रहे हों फिर उसे ऐसे लगता जैसे सारे सपोलिए इकट्ठे होकर दिमाग़ में चढ़ रहे हैं तथा फिर उसे ऐसे लगता जैसे उसके दिमाग़ में ज़हर ही ज़हर भर गया हो। इस ज़हर के कारण वह पागल हो जाएगा। यदि

वह सो रहा होता तो उसकी चीख़ निकल जाती तथा उठकर ''वाहेगुरु वाहेगुरु'' जपने लगता। यदि जाग रहा होता तो सिर पकड़कर बैठ जाता। उसकी यह अजीब मनोदशा देखकर गुरकिरपाल ने पूछा था, ''क्या बात है बापू जी, आजकल आप बहुत खोए-खोए से, गुमसुम से रहते हो?''

''बस ऐसे ही।''

''ऐसे ही क्या, कोई बात तो होगी?''

''बात क्या होनी थी बेटे...अब तो मुझे ऐसे लगता है जैसे मेरे ख़ून में सपोलिए घूम रहे हों।''

''वो क्यों?''

''तेरे यार अनीस के कारण।''

''उसने तो कोई बुरा काम नहीं किया।''

''अभी कोई क़सर रह गई...जिसके घर का पानी तक पीना हमारे लिए पाप है उसका ख़ून मैं अपने शरीर में लिए फिर रहा हूँ...एक मुसलमान का ख़ून...''

''बापू जी मुझे समझ नहीं आता कि आप रोज़ अख़बार पढ़ते हो, दुनिया के विज्ञान के बारे में भी काफ़ी कुछ जानते हो फिर यह क्या वहम पाल रखा है कि ख़ून मुसलमान का और होता है, हिंदू का और, सिक्ख का और तथा ईसाईयों का और...ख़ून तो ग्रुपों में बँटा हुआ है। यह ग्रुप हर क़ौम, हर देश के हर आदमी में पाए जाते हैं...इन ग्रुपों पर कहीं जात-पाँत का निशान नहीं। दुनिया में सिर्फ़ दो ही जात हैं एक लुटेरों की तथा दूसरी लुटे जाने वालों की तथा दो ही गोत्र हैं अमीर तथा ग़रीब, बाक़ी गोत्रों-जातों का बँटवारा तो सरमाएदारों का किया हुआ है...।''

''फिर तू सील मुर्ग़े तथा देसी मुर्ग़ियों में, विलायती गाय तथा देसी गाय में, फार्म मुर्ग़ियों और देसी मुर्ग़ियों में भी कोई फ़र्क़ नहीं समझता होगा?''

''समझता हूँ, बहुत फ़र्क़ है एक-दूसरे में''

''फिर हिंदू, मुसलमान, सिक्ख तथा ईसाईयों में फ़र्क़ समझने से क्यों चिढ़ता है?''

''बात दरअसल ऐसे नहीं है जैसे आप लेते हो। बात यह है कि बहुत सारे आदमियों में किसी न किसी कीटाणुओं की मात्रा ज़्यादा होती है। किसी में याद शक्ति की, किसी में लड़ने-भिड़ने की, किसी में किसी की। इसको किसी नस्ल या क़ौम के साथ नहीं जोड़ा जा सकता जैसे जट्ट के बारे में कहावत थी कि जट्ट बेवक़ूफ़ होते हैं, इनके दिमाग़ नहीं होता परंतु अब जट्ट का दिमाग़ किसी से छुपा नहीं रहा। दूसरा, सिक्ख बहादुर होते हैं यह भी कहावत है परंतु बहुत डरपोक भी होते हैं। बनियों को लोग कमज़ोर दिल वाले बताते हैं परंतु बनियों में भी ऐसे आदमी हैं जिनके दिल सरदारों से भी बड़े हैं...। जो बात आपने की है वह तो खोज की बात है। जिसमें ज़्यादा कीटाणुओं वाली चीज़ों की ज़रूरत है...फ़र्ज़ करो एक गाय में ज़्यादा दूध वाले कीटाणुओं की मात्रा है। इसलिए आगे नस्ल तैयार करने के लिए उसमें से ज़्यादा दूध देने वाले कीटाणुओं वाले नर की खोज करके यदि दोनों को मिलाया जाए तो उसकी बछिया माँ से ज़्यादा दूध देगी। इसी तरह नस्ल बन जाती है। फिर यह भी खोज की जाती है कि ज़रूरी कीटाणु किस तरह बढ़ाए जा सकते हैं, उसी तरह की ख़ुराक तैयार करके गाय को दी जाती है, जिसके कारण गाय ज़्यादा दूध देने लगती है...इसी तरह मुर्ग़ों तथा मुर्ग़ियों के बारे में भी है।''

''तुमने तो चार अक्षर पढ़कर अपनी औक़ात भुला ली है। गुरुओं से बेमुख हो गए हो—उनके अहसान भूल गए हो, जिन्होंने तुम्हारी ख़ातिर अपना सब कुछ क़ुर्बान कर दिया। उनके द्वारा बताए रास्तों से भटक गए हो...जिनके साथ सारी उम्र जंग करते रहे उनकी बाँहों में बाँहें डालकर घूम रहे हो। उनकी कौन-सी ज़मीन का झगड़ा था जिन्होंने फट अपने बाप को धर्म की रक्षा के लिए दिल्ली भेजकर क़ुर्बान कर दिया और तुम उस धर्म पर कालिख पोत रहे हो...मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकता।''

''फिर ऐसा करो अपने ख़ून में से निकलवा दो अनीस का ख़ून...करके दिखाओ दोनों को अलग-अलग...''

''बस, बस...बकवास बंद कर...बड़ा आया मुझे ललकारने वाला...मैंने बड़े बड़ों की ललकार नहीं सही।''

''बापू जी, मैं आपको कहाँ ललकार रहा हूँ...आप

तो ख़्वामख़्वाह नाराज़ हो रहे हो। और भला कोई बेटा भी अपने बाप को ललकारता है...''

''अच्छा अभी मैं ख़्वामख़्वाह नाराज़ हो रहा हूँ...थोड़ी देर में कहेगा बापू पागल हो गया है... ख़्वामख़्वाह बोले जा रहा है...''

बापू को बात से उखड़ा देखकर गुरकिरपाल उठकर दूसरे कमरे में चला गया था तथा बाद में बहादुर सिंह कितनी देर ही दरवाज़े की ओर देखता रहा था तथा उसे बार-बार गुरकिरपाल के कहे शब्द, ''फिर निकलवा दो अनीस का ख़ून...करके दिखा दो अलग-अलग'' याद आ रहे थे। वह अपने ख़ून में से अनीस का ख़ून तो अलग करना चाहता था परंतु कैसे? यह समस्या उसके आगे कश्मीर का मसला बनकर खड़ी थी जिसका उसे कोई हल नहीं मिल रहा था।

गर्मी बहुत ज़्यादा पड़ रही थी। बिजली थी नहीं। वह व्याकुल हुआ इधर-उधर कमरे में चक्कर काटता हुआ पाठ कर रहा था। तभी अचानक उसे हरमंदिर साहिब के सरोवर का ख़याल आया कि जिस सरोवर में नहाकर काले कौए सफ़ेद हो सकते हैं, पिंगला चलने-फिरने लग सकता है, वहाँ नहाकर क्या मेरा कष्ट निवारण नहीं होगा? उसने उसी शाम गुरकिरपाल को कहा था, ''बेटा मुझे सुबह अमृतसर जाने वाली पाँच बीस की बस पर चढ़ा आना।''

''क्या बात है बापू जी?''

''बस मुझे बस में चढ़ा आना। मैंने अमृतसर स्नान करने जाना है। वहाँ पाँच-दस दिन कीर्तन सुनूँगा, पूजा-पाठ करूँगा, गुरुसिक्खों के मत्थे लगूँगा, मन शांत हो जाएगा।''

''जिस आदमी का मन घर में शांत नहीं रह सकता उसका मन कहीं भी शांत नहीं रह सकता। मेरे ख़याल से एक गृहस्थ के लिए अपने परिवार के माथे से अच्छा किसी और का माथा नहीं हो सकता।'' गुरकिरपाल मन ही मन बुड़बुड़ाया तथा बोला, ''अच्छा जी।''

उस रात घर में अजीब प्रकार का मातम छाया रहा। भगवान कौर इतनी कमज़ोर हालत में बहादुर सिंह को अमृतसर नहीं जाने देना चाहती थी। गुरकिरपाल अख़बार में चल रहे संतों के झगड़े को लेकर फ़िक्रमंद था कि बहादुर सिंह वहाँ जाकर कहीं किसी पार्टी में हिस्सा ही न ले ले और मारा जाए, परंतु दोनों उसे रोकने से डरते थे। बहादुर सिंह उनकी हालत समझता था कि दोनों माँ-बेटा क्या चाहते हैं परंतु उसके अंदर इन सभी से ज़रूरी अपने आपको पवित्र करने की धुन सवार थी। अपवित्र जीवित रहने से वह मर जाना बेहतर समझता था।

कुछ दिनों के बाद जब वह अचानक घर आ पहुँचा तो भगवान कौर उसको देखकर गुलाब की तरह खिल गई थी तथा गुरकिरपाल के दिमाग़ से एक बोझ उतर गया था जिस कारण दोनों बहुत ख़ुश थे। बहादुर सिंह बहुत उदास था, उसका चेहरा उतरा हुआ था, चेहरे का रंग उड़ा हुआ था। ऐसे लगता था जैसे उसके साथ कोई बहुत बड़ा हादसा हो गया हो।

''क्या बात है बापू जी?''

''आपकी सेहत तो ठीक है...? और तो राजी-ख़ुशी है?'' भगवान कौर ने सवाल किया था परंतु बहादुर सिंह ने चुप्पी साधी हुई थी।

पहले बहादुर सिंह कितना ख़ुश रहता था। यहाँ से जाकर कुछ दिन उसने लंगर तथा परिक्रमा की सेवा करने, कीर्तन सुनने, स्नान करने तथा संगतों के दर्शन करने में लगाए थे। उन दिनों कोई बात उसके दिमाग़ में नहीं आई थी। कोई दुख पास नहीं फटका था। परंतु एक दिन तड़के ही हरमंदिर साहिब में शोर मच गया था। लोग अख़बार बार-बार पढ़ रहे थे। पंजाब को गड़बड़ी वाला इलाका करार देकर फ़ौज के हवाले कर दिया गया था। सभी के मन में फ़ौज़ का किसी समय भी हरमंदिर साहिब में दाख़िल हो जाने का भय पैदा हो गया था। विरोध में सिंहों ने भी अपने मोर्चे तैयार करने शुरू कर दिए थे। मरजीवड़ों की लिस्टें तैयार होने लगी थीं। सी. आर पी. के साथ संत करनैल सिंह ग्रुप की जबरदस्त झड़प हुई थी। परंतु संत करनैल सिंह के चेलों के आगे सी. आर पी. के जवानों का कोई ज़ोर नहीं चला था। गुरुद्वारा साहिब में यह अफ़वाह थी कि यह

फ़ौज को हरमंदिर साहिब में दाख़िल करने की रिहर्सल मात्र थी। सिंहों की शक्ति का जायज़ा लेने के लिए यह खेल खेला गया था।

बहादुर सिंह ने मर्जीवड़ियों की सूची में अपना नाम लिखवाने से पहले एक बार अपने परिवार को देखना चाहा था। एक दिन तो उसने अपना मन बनाने में ही लगा दिया कि घर जाए या ना जाए। इसी दौरान उसने देखा कि फ़ौज ने आकर हरमंदिर साहिब के चारों ओर घेरा डाल लिया था। जिस कारण फ़ौज का हरमंदिर साहिब में दाख़िल होना यक़ीनी हो गया था। इसलिए वह सुबह तड़के ही शाम को वापस अमृतसर आने का प्रोग्राम बनाकर अपना सामान वहीं छोड़कर घर चला आया था उदास उदास। क्योंकि अब उसे अपने शरीर के अंदर मुसलमान का ख़ून चलने का जितना गम था उससे ज़्यादा कहीं उसे हरमंदिर साहिब में फ़ौज प्रवेश करने का दुख हो रहा था। पहली बात के लिए तो उसने गुरुद्वारे तथा लंगर की सेवा की, संगतों के जूते झाड़े। सुबह-शाम सरोवर में स्नान किया। अरदास में शामिल होता तथा हर समय यही अरदास करता था, ''हे सच्चे पातशाह! अपने इस ग़रीब सिक्ख को माफ़ कर। इसमें मेरा कोई क़सूर नहीं है।'' दस दिन रहकर भी उसे ऐसा लग रहा था जैसे उसके ख़ून के अंदर अभी भी सपोलिए रेंग रहे हों। उसे घर में दिन काटना मुश्किल हो गया था। उसकी आँखों के आगे फ़ौज से घिरा हरमंदिर साहिब ही घूम रहा था।

''अच्छा भगवान कौर अब मैं चलता हूँ...कहा-सुना माफ़ करना।'' बहादुर सिंह ने दोपहर को ही जाने की तैयारी करके कहा था। भगवान कौर को पता था कि ज़िद्दी स्वभाव का होने के कारण बहादुर सिंह जो मन में ठान लेता है, पूरा करके ही हटता है। इसलिए उस पर किसी क़िस्म का दबाव डालना फ़िज़ूल है, फिर भी उसने कोशिश करनी चाही थी तथा बहादुर सिंह के आगे गिड़गिड़ाकर बोली थी, ''आज का दिन तो रह जाओ...'' इससे ज़्यादा वह कुछ न बोल सकी थी।

''हाँ बापू जी आज तो रह जाओ, पहले ही कितने दिनों के बाद आए हो।'' गुरकिरपाल ने कहा।

बहादुर सिंह ने एक बार दोनों की ओर नि टिकाकर देखा था। आज उसे उनकी आँखों अजीब मोह दिखाई दिया था। जिस कारण वह सि एक रात के लिए रुक गया था। उस दिन वह अ प्रोग्राम मनसूख करके मिस्त्री भजन सिंह से अ सिरी साहिब की धार तेज़ करवाने ले गया था। उ उसकी तलवार की धार तार जितनी बारीक़ हो ग थी तब कहीं जाकर उसे तसल्ली हुई थी। वह अ सिरी साहिब तेज़ करवाकर उठने ही लगा था कि सामने से उसे अपनी ओर हवलदार त्रिलोचन सिं आता हुआ दिखाई दिया था।

''चाचा फटाफट करके घर की चीज़ें ख़रीद ले, आज रात को कर्फ़्यू लग रहा है।'' त्रिलोचन सिं ने उसके पास आकर कहा था।

''वो क्यूँ?'' बहादुर सिंह ने हैरानी से पूछा था।

''संत करनैल सिंह के कारण...''

''अच्छा कितने समय के लिए?''

''जितना समय हरमंदिर साहिब उनसे बिलकुल ख़ाली नहीं करवा लिया जाता।'' कहकर हवलदार त्रिलोचन सिंह डंडा घुमाते हुए आगे चला गया।

घर आकर बहादुर सिंह ने भगवान कौर से कहा, ''भगवान कौर घर में जो चीज़, मँगवाने वाली है वो मँगवा ले...पानी के सारे बर्तन भर ले, पता नहीं नल कब चला जाए...शहर में कर्फ़्यू लगने वाला है।''

कर्फ़्यू की ख़बर सारे शहर में फैल गई थी। लोग सामान ख़रीदने के लिए दौड़े जा रहे थे। सूखा दूध, मोमबत्तियाँ बाज़ार में से पंख लगाकर उड़ गए थे। भाव एकदम असहनीय हो गए थे। ''आग लगने पर मश्कों का भाव नहीं पूछा जाता।'' कहावत के अनुसार लोगों को वस्तुएँ चाहिए थीं, भाव चाहे कोई भी हो, समय किसके पास था भावों के बढ़ने के बारे में सोचने का। सामान ख़रीदते समय बहादुर सिंह के मन के अंदर ग़ुस्से की लहर दौड़ रही थी। उस समय उसे दुकानदार तथा जोकों में कोई फ़र्क नहीं लग रहा था। उसके दिल में आया कि...फिर सोचा मैं अकेला क्या कर सकता हूँ परंतु उसके मन

के अंदर बनिया क़ौम के प्रति नफ़रत पैदा हो गई थी।

लोक संपर्क की जीप द्वारा कर्फ़्यू लगाने के बारे में मुनादी होनी शुरू हो गई थी, साईकिल, मोटर साईकिल, कार, जीप, गड्डा आदि हर प्रकार की सवारियाँ चलने पर पाबंदी लगा दी गई थी। शहर में फ़ौज भी आ गई थी। गाड़ियों में बैठे हथियारबंद फ़ौजी जिनको कभी बहादुर सिंह देश के रखवाले कहा करता था उसे बुरे-बुरे लग रहे थे।

रात को रेडियो पर समाचार सुने तथा टी. वी. पर भी देखे परंतु बहादुर सिंह को लग रहा था जैसे समाचार कोरा झूठ हो। उसने पड़ोसी देश का रेडियो स्टेशन लगाया। ख़बरें सुनीं लेकिन तसल्ली न हुई। हाँ, इशारा ज़रूर मिल गया था कि लड़ाई शुरू हो गई है। फिर बी. बी. सी. लगाया जिसके द्वारा पता चला कि राज्य में आए दुनिया के सारे विदेशी यात्रियों, पत्रकारों को राज्य में से तुरंत चले जाने के आदेश जारी हो चुके थे। बी. बी. सी. के पत्रकार ने बी.बी. सी. के द्वारा बताया कि जब वे अमृतसर से रवाना हो रहे थे तो वहाँ आतंकवादियों और फ़ौज के बीच गोलियाँ चलने की आवाज़ें आ रही थीं। उस रात बहादुर सिंह को सारी रात नींद नहीं आई। जब भी वह सोने लगता उसे कोई न कोई भयानक सपना आना शुरू हो जाता। वह वाहेगुरु वाहेगुरु करके उठ जाता। सारी रात उसके कानों में गोलियाँ चलने की आवाज़ें आती हुई महसूस होती रही थीं। सारी रात वह सड़क की ओर खुलने वाली खिड़की के सूराख़ में से फ़ौज की हो रही गश्त को देखता रहा था।

सुबह चार बजे तो उसने लगभग सारी खिड़की ही खोल ली थी, जब उसने थप्पड़ों की आवाज़ें सुनी थी। उसने देखा कि फ़ौजी कुछ भाईयों को पीट रहे हैं जो एक ही कमरे में रहते हैं।

‘‘हम तो साहब नाली पर टट्टी करने आए थे।’’ भाईयों का इकट्ठा स्वर सुनाई दिया था।

‘‘अंदर क्यूँ नहीं करते?’’

‘‘साहब टट्टी नहीं बनी हुई।’’

‘‘फिर हम क्या करें...कहीं भी बैठो परंतु घर से बाहर मत निकलो...।’’

‘‘बहुत अच्छा साहब, आगे से नहीं निकलेंगे।’’

भाईयों को थप्पड़ लगाकर फ़ौजी जीप में सवार होकर आगे चले गए थे। उस दिन बहादुर सिंह ने ख़बर सुन-सुनकर बेचैनी की हालत में दिन काटा था। न कोई अख़बार आया था तथा न ही घर के मेंबरों के सिवाय कोई आदमी मिला था। बहादुर सिंह अजीब पशोपेश में फँसा हुआ था। भगवान कौर को तो भैंसों तथा रसोई के कामों से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती थी। गुरकिरपाल या तो साहित्यिक किताबें पढ़ता रहता था या फिर समाचार सुनता रहता था। बहादुर सिंह ने दो बार आतंकवादियों तथा फ़ौज में चल रहे मुक़ाबले के बारे में बात करनी चाही थी परंतु उसे पता था कि लड़के के विचार उसके उलट हैं, इसलिए वह चुप कर जाता था। सारा दिन उसके दिमाग़ में हरमंदिर साहिब में लड़ाई होती रही थी। उसकी आँखों के आगे सिंह मारे जा रहे थे परंतु वह कुछ नहीं कर पा रहा था। अब वह हिंदुओं को भी दोष नहीं दे सकता था क्योंकि राज्य को फ़ौज के हवाले करने वाला भी तो एक सिक्ख ही था। फ़ौज की कमांड भी सिक्ख के पास थी तथा मुक़ाबले में लड़ भी सिक्ख ही रहे थे। वह अपने मन की दशा किसी को नहीं बता सकता था। दोपहर तथा शाम को उसने रोटी नहीं खाई थी। सिर्फ़ दो बार चाय ही पी थी या फिर सोभा सिंह द्वारा बनाई गुरु गोविन्द सिंह की तसवीर की ओर देखता रहा था तथा अरदास करता रहा था, ‘‘हे सच्चे पातशाह! आज तेरे सिंह फिर बिपता में फँसे हुए हैं...कलगी वाले उन बहादुरों के अंग संग सहाई होकर सिंहों की लाज रखना।’’

जब शाम को बहादुर सिंह ने भगवान कौर को रोटी खाने से मना कर दिया तो गुरकिरपाल रोटी लेकर बाप के पास गया और बोला, ‘‘लो बापू जी खाना खा लो।’’

‘‘बस बेटे मुझे नहीं खाना।’’

‘‘क्यों नहीं खाना?’’

‘‘जो धर्म की ख़ातिर लड़ रहे हैं उन्होंने भी तो कुछ नहीं खाया।’’

‘‘उनकी तो मजबूरी है परंतु आप?’’

''मेरी उनके साथ हमदर्दी है।''

''किस बात से?''

''वह धर्म की ख़ातिर लड़ रहे हैं, क़ौम की ख़ातिर लड़ रहे हैं...।

''कौम को कौन-सा ख़तरा पैदा हो गया था जिसके कारण वह लड़ रहे हैं...?''

''सिक्खों के साथ अन्याय हो रहा है।''

''कहाँ हो रहा है अन्याय, कोई एक उदाहरण दे सकते हो जहाँ किसी भी चुनाव के समय या तरक़्क़ी के समय या किसी और स्थान पर सिक्ख को सिक्ख होने के कारण पछाड़ा गया हो? राष्ट्रपति सिक्ख, फ़ौज में, पुलिस में, आई.ए.एस., आई.पी.एस. हर स्थान पर सिक्ख ही सिक्ख हैं...।''

''यह अन्याय नहीं है कि सिक्खों की माँगें दो सालों से लटकाई जा रही हैं।''

''यह कहीं सिक्खों से भूल हो गई कि इतनी अहम माँगें समूह पंजाबियों की न होकर सिर्फ़ सिक्खों की माँगें बनकर रह गईं।''

''जब और कोई साथ न दे तो अकाली क्या करें?''

''अकाली बहुत कुछ कर सकते थे। लोगों में प्रचार कर सकते थे कि हमारा आतंकवादियों के साथ कोई संबंध नहीं है...यह तो बता सकते थे कि हरमंदिर साहिब में गोली सिक्का जमा हो रहा है। इनकी इसी चुप्पी के कारण तो अलगाववादी ताक़तों को पूरा बल मिल रहा है।''

''यदि कोई साथ रखना न चाहे तो?''

''कौन नहीं चाहता?''

''वे आदमी जो बोलते पंजाबी हैं लिखवाते हिंदी हैं...''

''यह उनकी ग़लती है परंतु अलग होने का मुझे तो कोई फ़ायदा नज़र नहीं आता।''

''नुकसान भी क्या है?''

''जिस पंजाबी की आप बात कर रहे हो कैरों के पंजाब के समय पहली कक्षा से ज़रूरी भाषा के तौर पर कहाँ तक पढ़ी जाती थी परंतु अब हिमाचल तथा हरियाणा में सिक्खों के लड़कों को पंजाबी छोड़कर हिंदी पढ़नी पड़ रही है। वह पंजाबी को, जो पहली भाषा के तौर पर पढ़ाई जाती थी, दूसरी भाषा की मान्यता दिलाने के लिए लड़ रहे हैं।''

''और?''

''इस समय सिक्ख सारे भारत में छाए हुए हैं। बंबई, कलकत्ता, मद्रास में जितने भी बड़े-बड़े ट्रांसपोर्टर हैं सब सिक्ख हैं, यू. पी., हरियाणा तथा राजस्थान में जितने बड़े-बड़े फ़ार्म हैं सब सिक्खों के हैं...यदि ख़ालिस्तान बन जाए फिर पता है क्या होगा...?''

''क्या होगा...?'' बहादुर सिंह ने उत्सुकतावश पूछा।

''जो टेप रिकॉर्डर पर गीत आते हैं 'जी.टी.रोड़ ते दुहाईया पावे यारा दा ट्रक बलिए...' दहाड़ मार-मारकर रोया करेंगे। अब एक ट्रक वाला संगरूर से चलकर कलकत्ता जाता है, एक चक्कर का कमाता है चार हज़ार, फिर वही ट्रक वाला अमृतसर से चलकर ज़्यादा से ज़्यादा पटियाला पहुँचा करेगा...चक्कर का मिलेगा दो सौ...मारेगा कि नहीं चीख़ें!''

''वह तो मारेगा ही...।''

''एक और बात बापू जी, जो लोग यू. पी. वग़ैरह में हज़ारों बीघे फ़ार्म लिए बैठे हैं, ख़ालिस्तानी सरकार उनको कहाँ से ज़मीनें देगी जबकि पंजाब के जट्टों के लड़के तो पहले ही ज़मीन कम हो जाने के कारण सीरी लगने लगे हैं...दिहाड़ी करते हैं...।''

गुरकिरपाल किसी सुलझे हुए लीडर की भाँति भाषण झाड़ रहा था जिसे बहादुर सिंह चुपचाप सुने जा रहा था, पता नहीं क्यों? फिर गुरकिरपाल ने कुछ देर सुस्ताकर कहा, ''देखो बापू जी, हर देश के पास तरक़्क़ी करने के लिए आमदनी का कोई न कोई स्रोत होना ज़रूरी है तथा यदि ख़ालिस्तान बन भी जाए तो उसके पास आमदनी का क्या स्रोत है?''

''गेहूँ।''

''गेहूँ तो अमरीका के पास इतना फ़ालतू है कि वे भाव बरक़रार रखने के लिए हर साल हज़ारों टन गेहूँ समुंदर में फेंक देते हैं...रूस तथा पाकिस्तान के पास भी बहुत है...आपके पड़ोस में हरियाणा पंजाब से कौन-सा कम है। यूपी में जाकर पंजाबी कामयाब

हो जाते हैं तो यूपी की धरती में कोई नुक्स नहीं है...यदि वहाँ के लोग या सरकार थोड़ा-सा ध्यान दे तो वह भी पंजाब बन जाए...। गेहूँ को छोड़कर पंजाब के पास है ही क्या? सड़कों के लिए बजरी नहीं, रोड़ी नहीं, लोहा नहीं, कोयला नहीं, मिट्टी का तेल नहीं, सीमेंट नहीं...बात क्या कुछ भी नहीं...सिक्खों की बेहतरी तो बापू जी इसी में है कि वे अलगाववादी ताक़तों से बच कर रहें।''

''यदि सिक्ख अलग न हुए तो हिंदू धर्म इनको निगल जाएगा।''

''हिंदू धर्म इनको निगलने के लिए कोई इनके पीछे नहीं पड़ा, बल्कि यह कौम उनके जबाड़ों में घुस रही है।''

''वह कैसे?''

''जितने बड़े-बड़े लीडर हैं उन सभी के बच्चे अंग्रेज़ी स्कूलों में पढ़ते हैं...अंग्रेज़ी पहनावा पहनते हैं...बाल कटाते हैं, पंजाबी उनको पूरी तरह बोलनी नहीं आती...किसी रिश्तेदार को गुरमुखी में ख़त लिखना अपनी बेइज़्ज़ती समझते हैं...यह सब क्यूँ? क्या यह हिंदू धर्म द्वारा मजबूर किए हुए हैं या अपने शौक के लिए? मेरा ख़याल है बापू जी, दूसरों को दोष देने से पहले अपने गिरेबान में झाँक लेना चाहिए।''

''भई बस भी करो...जब देखो उल्लुओं की भाँति झगड़ते रहते हो।'' भगवान कौर ने उनकी बहस को बीच में ही काटते हुए कहा था, ''लो रोटी खा लो ठंडी हो गई है...।'' भगवान कौर ने थाली बहादुर सिंह के आगे कर दी थी। बहादुर सिंह ने भगवान कौर के कहने पर बड़ी मुश्किल से दो ग्रास गले से नीचे उतारे, फिर हरमंदिर साहिब में घिरे भूखे लोगों का ख़याल आते ही उसने थाली चुपचाप भगवान कौर के आगे बढ़ा दी थी।

आज रात पूरी आँखों में निकल जाने के कारण बहादुर सिंह सुबह देर से उठा था। पाठ किया तथा जब छत पर गया तो लैटरीन में कीड़े चलते देखकर पीछे मुड़ गया तथा पानी की बाल्टी भरकर ख़ुद लैटरीन साफ़ करने लगा था।

''क्या बात ज्ञानी जी, ख़ुद ही...।'' सामने वाले घर से मिस्टर मेहता ने कहा था।

''क्यों करें इस तरह तो बीमारी फैल जाएगी।''

''बात तो आपकी ठीक है...।'' कहकर मेहता साहब ने नीचे अपने बच्चों से कहा था, ''लाओ भी बेटे पानी, हम भी करें तुम्हारे अंकल की तरह सफ़ाई।''

देखते ही देखते सारे घरों की लैटरीनें साफ़ हो गई थीं तथा जब बहादुर सिंह सफ़ाई करके नीचे आने लगा तो उसके पड़ोसी राम प्रताप ने उससे अगले घर वाले पड़ोसी से कहा था, ''मुबारक भई प्रेम तुझे।''

''किस चीज़ की?'' प्रेमचंद ने पूछा तो मुबारक़ का कारण सुनने के लिए बहादुर सिंह भी रुक गया था।

''संत करनैल सिंह मारा गया।''

''तुझे कैसे पता?''

''ख़बरों में सुना है।''

राम प्रताप की बात सुनकर बहादुर सिंह को लगा जैसे उसकी जान ही निकल गई हो। शरीर को झटका-सा लगा। दिमाग़ को चक्कर-सा आया लेकिन उसके मन को तसल्ली नहीं हुई। वह फटाफट नीचे उतर आया। गुरकिरपाल समाचार सुन रहा था। उस समय जब बहादुर सिंह उसके पास पहुँचा ख़ास ख़बरों की आख़िरी ख़बर आ रही थी, ''...का शव एक इमारत के मलबे के नीचे से मिल गया है।'' ख़बर सुनकर बहादुर सिंह को जोश चढ़ गया था। उसने भागकर सीरी साहिब उठा ली। बहादुर सिंह के बदले हुए ताव देखकर फुर्ती से आगे बढ़कर गुरकिरपाल ने बहादुर सिंह को बाँहों से पकड़कर कहा था, ''क्या हुआ बापू जी आपको?'' और साथ ही एक झटके से तलवार छीन ली।

''छोड़ दे पाल मुझको, अब न रोक हमारा करनैल मारा गया...सिंहों की शान मिट्टी में मिल गई। हरमंदिर साहिब में टैंक तक जा घुसे...हम बरबाद हो गए और ये बहन के यार बधाईयाँ दे रहे हैं...।''

''नहीं बापू जी, यह समय गुस्सा करने का नहीं है...सबर करो।'' गुरकिरपाल ने बहादुर सिंह को

रोकना चाहा था।

"मैं सबर कैसे करूँ...? इन्होंने मेरी अणख को ललकारा है...एक गुरसिक्ख होकर मैं इनकी ललकार को क़बूल न करूँ? गीदड़ बन कर पिंजरे में घुसा रहूँ...?"

"वैसे ही, जैसे हिंदुओं के मारे जाने पर सिक्ख एक-दूसरे से पूछते थे कि आज का स्कोर क्या है? बेशक उनकी यह भी समझदारी नहीं थी।"

"वे बुज़दिल थे।" बहादुर सिंह और ज़ोर से गरजकर बोला।

"नहीं वे समझदार थे। यदि वे भी हथियार उठाकर आपके विरुद्ध आ खड़े होते तो उन विदेशी ताक़तों की चाल कामयाब हो जाती जो भारत को कमज़ोर करना चाहते हैं...।"

"परंतु ये साले...।"

"कर्फ़्यू लगा हुआ है। फ़ौजियों ने गोली छाती के आर-पार निकाल देनी है। क्यूँ मुफ़्त में जान गँवाने पर तुले हो? हमें भी मरवाओगे तथा ख़ुद भी मरोगे, चुप करके बैठ जाओ। नहीं तो...।" गुरकिरपाल ने भी पूरे ग़ुस्से में आकर कहा था। उसको ग़ुस्से में आया देखकर बहादुर सिंह चुपचाप सड़क के साथ वाली बैठक में चला गया था तथा कितनी ही देर बुड़बुड़ाता रहा था।

दोपहर की रोटी का समय हो गया था। गर्मी पूरे ज़ोरों से पड़ रही थी। बहादुर सिंह के कमरे का पंखा चाहे पूरी रफ़्तार से चल रहा था, फिर भी उसका पूरा शरीर पसीने से तर-बतर था। मुँह बार-बार सूख रहा था। उसने उठकर सामने वाली खिड़की खोल दी तो उसे सामने वाली खिड़की में से आवाज़ें सुनाई दीं।

'मेरे से और प्यासा नहीं रहा जाता..."

"तो फिर हम क्या करें? हमने कौन-सी बीयर पी रखी है?"

"मेरी तो जान निकल रही है भूख और प्यास से।"

"यदि कुछ देर और कुछ खाने-पीने को न मिला तो हम मर जाएँगे।"

"भूखे-प्यासे रहने से तो अच्छा है कुछ खा-पीकर फ़ौजियों की गोलियों से मरें।"

"ठीक है।"

"बचाओ...बचाओ...।"

"ऐसे शोर क्यूँ मचा रहे हो?"

"वो देख फ़ौजी आ रहे हैं।"

"समझ गए...।"

"बचाओ...बचाओ..." भईयों ने ऊँचा-ऊँचा पुकारना शुरू कर दिया। उनका शोर-शराबा सुनकर फ़ौजी गाड़ियाँ उनके दरवाज़े के सामने आ खड़ी हुई। देखते-देखते सारे सैनिक हथियार समेत उतरकर उनके पास चले गए।

"क्या है क्यूँ शोर मचा रहे हो?" एक फ़ौजी अफसर गरजा।

"आज दूसरा दिन हो गया है...पानी की एक बूँद भी नहीं देखी हमने...।"

"साहब हम ग़रीब आदमी रोज़ का रोज़ राशन लाकर खाने वालों को क्या मालूम था कि कर्फ़्यू क्या बीमारी होती है...इसलिए हम भूखे भी हैं।"

"बहुत प्यासे भी...।"

"हमारी जान निकल रही है साब।"

"ठीक है हम खाने का अभी इंतज़ाम करते हैं...और डालो...वो लाओ बर्तन...जाओ केसर सिंह इनको पानी ला दो...हाँ, यदि और कोई तकलीफ़ हो तो यहाँ आकर हमें हाथ देकर रोक लेना।

"आपकी बड़ी मेहरबानी साहब।" भईयों की इकट्ठी आवाज़ आई। फिर कुछ देर चारों ओर चुप्पी पसरी रही तथा फिर गाड़ियों के चलने की आवाज़ आई।

गाड़ियों के चले जाने के बाद बहादुर सिंह के घर का दरवाज़ा किसी ने ज़ोर-ज़ोर से खटखटाया। बहादुर सिंह ने उठकर बाहर वाला दरवाज़ा खोलकर देखा तो सामने लाजवंती खड़ी थीं जो उसके मोहल्ले में पिछले महीने ही किराएदार के तौर पर आई थी। उसका आदमी डी. सी. के दफ़्तर में क्लर्क लगा हुआ था जिसका दिल का दौरा पड़ जाने के कारण स्वर्गवास हो गया था। उसके स्थान पर लाजवंती को कम पढ़ी होने के कारण सेवादार की नौकरी मिल गई थी। लाजवंती के तीन बच्चे थे। एक

चार साल का, दूसरा दो साल का तथा सबसे छोटी लड़की तीन महीने की थी। दरवाज़ा खुलते ही लाजवंती अंदर आ गई। उसने हाथ में लोटा पकड़ा हुआ था।

"क्या बात है बेटे?'' बहादुर सिंह ने पूछा।

"दो दिन से बच्ची दूध न पीने के कारण बिलख रही है...ख़ुद तो मारू चाय बनाकर काम चला लेती हूँ परंतु बच्ची भूखी नहीं देखी जाती।''

"यदि फ़ौजी देख लेते?''

"माँ होकर बच्चों को भूख से बिलखता कैसे देखूँ?''

उनको बातें करता देख भगवान कौर भी आ गई थी। लाजवंती ने उसको सत् श्री अकाल कहा बहादुर सिंह ने कहा, "भगवान कौर, बेटी को दूध दे दे जितना कहती है।'' कहकर बहादुर सिंह फिर अपने कमरे में चला गया।

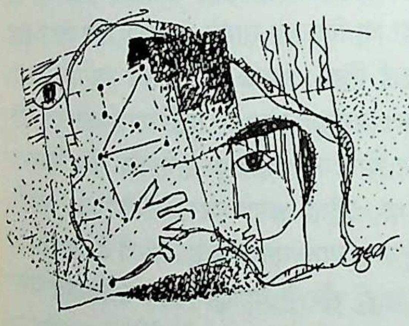

समाचार का समय हो गया था। गुरकिरपाल समाचार सुन रहा था।

रेडियो पर ख़बर आ रही थी, "मुसलमानों के इमाम ने कहा है कि सिंहों की आज़ादी की बुनियाद रखी जा चुकी है।'' ख़बर सुनकर बहादुर सिंह के चेहरे पर नूर आ गया था। उसका हौसला तब और बढ़ गया था जब बी.बी.सी.से ख़बर आई थी, 'हिंदुस्तान की फ़ौज में हथियारबंद बगावत हो गई है। राजस्थान, पूना, बिहार से सिक्ख नौजवान हथियार लेकर हरमंदिर साहिब की ओर बढ़ रहे है।' "शहीदों की कुर्बानियाँ कभी जाया नहीं जाती।'' वह बुड़बुड़ाया था। उसके साथ ही संत करनैल सिंह पर बी.बी.सी.की टिप्पणी की, "वह काबज़ पार्टी का झोलाचुक था जिसका ज्ञानी जी ने अकालियों के विरुद्ध इस्तेमाल किया था। शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के चुनावों में उससे अकालियों के विरुद्ध अपने आदमी खड़े करवाए थे।'' एक और ख़बर सुनकर बहादुर सिंह को बहुत दुख हुआ था जिसमें बताया गया था कि कुछ अकाली लीडरों ने फ़ौज के आगे आत्मसमर्पण कर दिया है।

समाचार ख़त्म होने पर बहादुर सिंह ने अपना गुस्सा निकालना शुरू कर दिया था। "साले ग़द्दार कहीं के...बुज़दिल...डरपोक...धोखेबाज़...इनसे कोई पूछे बड़े क़ौम के रहबरों से कि सारी क़ौम को भट्ठी में झोंककर यदि चार दिन और जी लोगे तो क्या कर लोगे...यह कलंक का टीका लगवाने से तो अच्छा था शहीद हो जाते ताकि लोग दुनिया रहने तक याद रखते, अरदास में नाम आता...अब लोग उन पर, थूकेंगे तथा कहेंगे आत्मसमर्पण किया तो किसलिए...?''

बाप की बात सुनकर गुरकिरपाल से बोले बिना न रहा गया, "वे ग़द्दार नहीं थे, न ही बुज़दिल थे...उनका आंदोलन शांतिमयी ढंग का आंदोलन था, मैं तो यह कहूँगा कि यह उनकी ग़लती थी कि उन्होंने संत करनैल सिंह से ख़ुद को अलग नहीं किया तथा उसका आतंकवाद लोगों के सामने नंगा नहीं किया।''

"फिर क्या होता?''

"फिर अकालियों का आंदोलन सिर्फ़ उनका ही न रहता बल्कि समूचे पंजाबियों का बन जाता तथा इतनी जानों को नुकसान न होता...बाक़ी आज का युग शहीद होने का नहीं, आज तो सियासत का युग है...जब आदमी जीतता है तो आगे बढ़ता है तथा जब वह हारने लगता है तो उसे ज़रूरत अनुसार पीछे भी हटना चाहिए...फ़र्ज़ करो यदि वे लीडर भी शहीद हो जाते फिर क्या माँगें मान ली जातीं?''

गुरकिरपाल का सवाल सुनकर बहादुर सिंह सोचने लगा कि वह उसका क्या जवाब दे। बहादुर सिंह को निरुत्तर देखकर गुरकिरपाल ने कहा, 'लीडर एक-दो दिन में नहीं बन जाता, इसे बनने में बहुत साल लगते हैं...एक सयाने लीडर का बिना किसी बात के

चले जाना लोगों की हार की निशानी होती है।''

गुरकिरपाल की बात सुनकर बहादुर सिंह चुप हो गया था लेकिन उसके अंदर का ज्वालामुखी अभी शांत नहीं हुआ था।

दोपहर दो बजे जब बहादुर सिंह खाना खा चुका तो उसे ऐसे लगा जैसे लोक संपर्क वाले कुछ ऐलान कर रहे हैं। उसने कान खड़े करके ग़ौर से सुनना चाहा था परंतु साफ़ सुनाई नहीं दिया। इस बात का उसे लोक संपर्क विभाग वालों पर पहले भी ग़ुस्सा आता रहा था कि वे एलान करते-करते ''कर्फ़्यू'' कहीं बोलते थे ''लग गया'' कहीं बोलते थे तथा समय कहीं जाकर बताते थे, जिसके कारण पूरी बात काफ़ी देर बाद समझ आती थी। अब भी उसे ''कर्फ़्यू में छूट दी गई है'' ही सुनाई दिया था। समय पीछे ही बता आए थे। उसने ग़ुस्से में आकर चार-पाँच करारी-करारी गालियाँ निकाली तथा फिर दरवाज़े पर आ खड़ा हुआ तथा ग़ौर से सुनने लगा। मुनादी करते हुए जब बस वापस आई तब उसे समय का पता चला। उसने झट से आकर अपनी पत्नी से कहा, ''भगवान कौर कर्फ़्यू में तीन से चार बजे तक ढील दे दी गई है। बाज़ार से कुछ मँगवाना है?''

''चक्की से आटा लाना है।''

''और?''

''टाईम थोड़ा है आप आटा ले आओ बाक़ी चीज़ें पाल ले आएगा।''

''अच्छा'' कहकर बहादुर सिंह अपनी बैठक में आ गया था तथा कर्फ़्यू खुलने और घर से निकलने के बारे में उसे ऐसे लग रहा था जैसे किसी क़ैदी को जेल से रिहा होने में समय लगता है। कर्फ़्यू के तीन दिन उसने एक-एक दिन एक-एक साल की भाँति गुज़ारे थे। इसलिए वह मिनट-मिनट गुज़रता देख रहा था। बाहर के हालात का जायज़ा लेने के लिए उत्सुकता छलाँगे लगा रही थी। वह सोच रहा था कि कब समय पूरा हो और कब वह ज्ञानी लाल सिंह की पुस्तकों की दुकान पर चनण सिंह, गुरबचन सिंह तथा भाग सिंह को मिलकर अपने मन का गुबार निकाले, उनसे सुने...।''

आख़िरी पाँच मिनट तो उसने साईकिल हाथ पकड़े दरवाज़े पर खड़े होकर ही पूरे किए थे। ग का मोड़ मुड़ते समय उसे मोड़ वाली बरसाती दुकान से मोहन लाल का स्वर सुनाई दिया ''सरदार जी, करनैल सिंह तो मारा गया... किसकी खाट खड़ी कर रहे हो?'' मोहन लाल बात सुनकर बहादुर सिंह साईकिल से उतर तथा बोला, ''ठहर जा लाला पहले आटा ले आ फिर आकर तेरी खाट खड़ी करता हूँ। जाना कहीं यदि अपने बाप की औलाद है।''

''यदि ऐसे ही डरना होता तो करनैल सिंह होते ही पंजाब छोड़कर चले जाते।''

''कोई बात नहीं...देखता जा'' कहकर बहादुर सिंह आग की भाँति जलता हुआ साईकिल पर चढ़ गया तथा फटाफट पैडल मारने लगा। जैसे गाड़ी निकल जाने का डर हो। अभी वह थोड़ा आगे ही आया था कि उसे सामने से चनण सिंह आता हुआ दिखाई दिया। चनण सिंह ने उसे रुकने का इशारा किया। बहादुर सिंह ने साईकिल रोकते हुए देखा चनण सिंह का चेहरा ग़ुस्से में ताँबे की भाँति चमक रहा था, आँखें अंगारे बरसा रही थी।

''क्या बात चनण सिंह खैर तो है, बड़ा...।''

''कहाँ खैर है बहादुर सिंह...ये मेरे साले बनिए अब ख़ालिस्तान बनाकर ही रहेंगे।''

''क्यों क्या बात हो गई?''

''संत राम सिंगला संत जी के शहीद होने की ख़ुशी में लड्डू बाँट रहा है।''

''फिर तुम देखते रहे?''

''इसी बात का तो ग़ुस्सा है...वैसे वहाँ भीड़ बहुत हो गई है दोनों पक्षों की।''

''तू अब?''

''घर से कुछ लेने चला हूँ, ख़ाली हाथ तो ठीक नहीं...।''

''अच्छा चल मैं भी आता हूँ।'' कहकर बहादुर सिंह ने फिर साईकिल चलानी शुरू कर दी और सोचने लगा कि वोटों के लिए कैसे लड़ाई हो रही है...अच्छे-भले हँसते-बसते थे। अब वाली घटनाएँ सुनकर उसे गुरकिरपाल की कही बात याद आ गई,

''बापू जी क़ौम कोई भी बुरी नहीं होती, कुछ बुरे आदमी ही क़ौम को बुरा बना देते हैं...यदि ऐसे ही कुछ हिंदू भी ग़लत बातें करते रहें तो...।'' पर आकर उसकी सोच रुक गई और सीटियाँ बजने तथा गोलियाँ चलने की आवाज़ें उसके कानों में पड़ी। फिर सामने कुछ आदमी भागते हुए दिखाई दिए। मिलिट्री तथा पुलिस की गाड़ियाँ हरकत में आ गईं। वह कारण जानने के लिए सड़क के एक ओर खड़ा हो गया। फिर लोक संपर्क विभाग वालों की गाड़ी एलान करती हुई बाज़ार के बीच में से गुज़री, ''कर्फ़्यू लग गया है...सारे सज्जन फ़ौरन अपने-अपने घर चले जाएँ...कर्फ़्यू का उल्लंघन करने वाले को गोली मार दी जाएगी।''

बहादुर सिंह ने साईकिल मोड़ी तथा घर की ओर चल पड़ा। दुकानों के शटर गिर रहे थे। लोग एक दूसरे से ज़्यादा तेज़ी के साथ दौड़े जा रहे थे। देखते-देखते बाज़ार सुनसान होता जा रहा था। जब बहादुर सिंह घर पहुँचा तो भगवान कौर तथा गुरकिरपाल दरवाज़े पर खड़े उसका इंतज़ार कर रहे थे। उसके अंदर आते ही गुरकिरपाल ने उसकी साईकिल पकड़ ली और वह साँस चढ़ जाने के कारण बरामदे में पड़ी चारपाई पर ही गिर पड़ा। भगवान कौर उसकी चारपाई की पुआंदी पर आ बैठी तथा गुरकिरपाल साईकिल बरामदे में खड़ी करने चला गया।

बहादुर सिंह की नज़रें उस समय बड़े दरवाज़े द्वारा सड़क पर से गुज़र रहे फ़ौजियों को ताक रही थी कि अचानक एक नौजवान लड़की भागकर अंदर आ घुसी। बहादुर सिंह उठकर बैठ गया। लड़की के पैर उसे देखकर वहीं रुक गए। उसकी आँखों में अजीब प्रकार का भय था। उसकी साँस फूल जाने के कारण उसकी छाती लुहार की धौंकनी की तरह फैल तथा सिमट रही थी।

डरी हुई लड़की देखकर बहादुर सिंह ने कहा, ''आओ बेटे, आगे आ जाओ।''

परंतु लड़की वहीं खड़ी रही।

''डर न बेटी आगे आ जा।'' कहकर भगवान कौर आगे बढ़ी तथा लड़की की पीठ पर प्यार से हाथ फेरती हुई उसे आगे ले आई तथा अंदर से कुर्सी लाकर लड़की को कहा, ''बैठ जा बेटी...।''

''बैठ जा बेटी, हम तेरे माँ-बाप जैसे ही हैं कोई दुश्मन तो नहीं...'' बहादुर सिंह ने लड़की को बैठने के लिए फिर ज़ोर दिया। लड़की चुपचाप बैठ गई। वह कुछ देर चुपचाप भयभीत आँखों से घबराई-घबराई-सी उनकी ओर देखती रही, फिर अचानक फूट-फूटकर रोने लगी।

''क्यों बेटी, रोती क्यूँ है?'' बहादुर सिंह ने बड़े प्यार से पूछा।

लड़की कुछ नहीं बोली सिर्फ़ रोए ही जा रही थी।

''न मेरी बेटी रो मत...तुझे यहाँ किसी प्रकार का ख़तरा नहीं है, जब भी कर्फ़्यू में ढील मिली तुझे तेरे घर छोड़ आएँगे।'' इस बार भगवान कौर के प्यार भरे बोलों ने लड़की के मन को कुछ शांति दी तो वह ज़रा सँभल कर बोली, ''माँजी मेरी शादी तय हो चुकी है...कर्फ़्यू का क्या पता, कितने दिन लगा रहे तथा यदि उनको इस बात का पता चल गया कि मैं कर्फ़्यू के दिनों में घर से बाहर रही थी तो इस बात का उन पर बुरा असर पड़ेगा। सारी उम्र के लिए कलंकनी हो जाऊँगी।''

बहादुर सिंह को ख़याल आया कि 1947 में उसकी छोटी बहन भी अचानक कर्फ़्यू लग जाने के कारण अपनी सहेली के घर गई हुई इसी तरह रास्ते में फँस गई थी। सारा परिवार जितना समय कर्फ़्यू नहीं खुला, तड़पता रहा था। सभी को बुरे-बुरे ख़याल आते रहे थे। कर्फ़्यू खुलते ही वे सबसे पहले उसकी सहेली के घर गए थे। वहाँ से पता चला कि वह तो कर्फ़्यू लगने से कुछ देर पहले ही वहाँ से चली गई थी। वे उसकी तलाश में धुएँ की तरह सारे शहर में फैल गए थे तब कहीं जाकर तीसरे दिन उसकी लाश उन्हें गटर में पड़ी मिली थी।

बहन का ख़याल आते ही वह उठ खड़ा हुआ। अपने कमरे में गया। सिरी साहिब उठाई तथा लड़की के सामने आकर बोला, 'बेटी किसकी लड़की हो?''

''श्री एम.एल.गुप्ता जी की।''

"घर कहाँ है?"

"राम नगर में सिंध बैंक के पीछे...।"

बहादुर सिंह ने राम नगर, सिंध बैंक के पीछे का रास्ता एक बार अपनी कल्पना में देखा। वहाँ किस तरह पहुँचा जा सकता है? सारा रास्ता खोजा और लड़की से कहा, "चल उठ तुझे तेरे घर छोड़ आऊँ।"

"कर्फ़्यू में?" लड़की का मुँह हैरानी से खुला का खुला रह गया।

"आपका बाहर जाना ख़तरे से ख़ाली नहीं है।" भगवान कौर ने कहा।

"क़ानून का उल्लंघन करना भी गुनाह है।" गुरकिरपाल ने अपनी राय दी।

"तुझे पता है बेटे क़ानून मनुष्य की बेहतरी के लिए बना है और जिस क़ानून से किसी की ज़िंदगी तबाह हो रही हो उस क़ानून का उल्लंघन करना गुनाह नहीं है।"

लड़की के मन में उसके शब्द, "कलंकित होने से तो मर जाना अच्छा है।" घर कर गए थे। बहादुर सिंह के घर में घुसते समय वह बहादुर सिंह की कुंडियों वाली मूँछें, आँखों के लाल सुर्ख़ डोरे तथा भरे हुए चेहरे को देखकर एक बार तो घबरा गई थी। जैसे वह किसी दैत्य के घर में आ घुसी हो तथा वह दैत्य उसको एक झटके में ही हड़प कर जाएगा, क्योंकि घर में, रिश्तेदारों में भी तो वह कितने समय से सिक्खों की बेरहमी के बारे में सुनती आ रही थी। अख़बारों में सिक्ख आतंकवादियों द्वारा किए जा रहे क़त्लों के बारे में पढ़कर उसके मन के अंदर सिक्खों के प्रति घृणा और नफ़रत भर गई थी। अब उसे वे सुनी हुई बातें ग़लत लग रही थीं तथा अख़बारों की ख़बरें झूठी। बहादुर सिंह उसे अब एक देवता दिखाई दे रहा था, क़ुर्बानी का पुतला जो किसी अबला की इज़्ज़त के लिए अपनी जान ख़तरे में डालने पर तुला हुआ था।

"नहीं पिताजी मैं आपको ख़तरे में नहीं डाल सकती...देखा जाएगा जो होगा मेरे साथ...।"

"तो क्या हुआ बेटी, तूने मुझे पिताजी कहा है और जट्ट तो बहन-बेटी की इज़्ज़त के पीछे क़त्ल हो जाते हैं, क़त्ल करके फाँसी चढ़ जाते हैं...घर-घ से उजड़ जाते हैं...।" फिर बहादुर सिंह ने लड़की की बाँह पकड़कर उसे खड़ी करके कहा था, " उठ।"

बहादुर सिंह की बात सुनकर लड़की की आँ में आँसू भर आए थे जो पहले रोना बंद कर लग चुकी थी। वह उठी भगवान कौर को हाथ जो कर "सत् श्री अकाल" कहा तथा फिर और भावु होकर उसके गले लगकर ऐसे ऊँची-ऊँची लगी जैसे कोई बेटी पहली बार ससुराल जाते सम माँ के गले लगकर रोती है। भगवान कौर के अंद में भी ममता जाग उठी। वह भी उसकी तरह लगी जैसे माँ अपनी बेटी को पहली बार विदा करते रोती है। बहादुर सिंह ने दोनों को अलग किया औ लड़की की बाँह पकड़कर चल पड़ा।

घर से निकलकर बहादुर सिंह ने आसपास देख तथा रास्ता साफ़ देखकर लड़की को दौड़ने के लि कहा। क़रीब दो सौ गज़ दौड़ने के बाद वह अप गली का मोड़ मुड़ कर सामने वाले अपने घ चनण सिंह के घर में जा घुसा। उसको इस हाल में देखकर चनण सिंह तथा उसका परिवार पहले तो हैरान रह गया। फिर उसे जब उसने सारी बात बताई तो वह भी उनकी मदद करने के लिए तैयार होक उनको लेकर छत पर जा चढ़ा। आठ-दस घरों की छत पर होते हुए वह रामकुमार के घर में उतर गए वहाँ चनण सिंह उनको रामकुमार के हवाले कर वापस चला आया क्योंकि चनण सिंह की रामकुमार के साथ अच्छी दोस्ती थी। चनण सिंह के वापस चले जाने के बाद रामकुमार ने कहा था, "सरदार जी, पहले तो छतों के ऊपर से आना आपका ग़लत था तथा जब हमारे घर से निकलोगे तो हमारे लिए कोई पंगा खड़ा करोगे इसलिए चुपचाप वापिस मुड़ जाओ..."

"भाई साहब, मैं वापस मुड़ने के लिए नहीं आया...हाँ आपके ऊपर कोई हर्फ़ नहीं आने दूँगा...यदि किसी ने घर से निकलता देखकर पकड़ लिया तो आप कह देना कि सिंह ज़बरदस्ती घर में आ घुसा था।" कहकर बहादुर सिंह गली वाला

दरवाज़ा खोलकर लड़की के घर की ओर चल पड़ा था। गली में घुसते ही उसने चारों ओर देखा। गली सुनसान पड़ी थी। न कहीं कोई पक्षी दिखाई दे रहा था न कोई कुत्ता तथा न ही कोई आवारा पशु।

“सुन बेटी, अब ज़ोर से दौड़ लगानी है।” कहकर बहादुर सिंह दौड़ पड़ा था। पीछे-पीछे लड़की थी। क़रीब दो सौ गज़ दौड़कर लड़की का साँस फूल गया, टाँगें जवाब दे गईं। लड़की को धीरे होती देख बहादुर सिंह ने उसे बाज़ू पकड़कर खींचना शुरू कर दिया। गली के अंत में पहुँचते ही उसे दूसरी ओर से जीपों और ट्रकों की मिली-जुली आवाज़ें सुनाई दीं। उसने आसपास देखा छिपने के लिए कोई जगह नहीं थी। गली के मोड़ पर नाली की पुली थी। बहादुर सिंह फटाफट लड़की को लेकर उस ओर बढ़ा और नाले में पहले उसको उतार कर फिर ख़ुद उतर गया तथा झट से पुली के नीचे जा घुसा। फ़ौजी गाड़ियाँ पुली के ऊपर से गुज़र रही थीं। वे साँस रोके बैठे रहे। लड़की पसीने से तर-बतर हो गई थी। गर्मी के कारण उसका मुँह सूख गया था पानी की तेज़ प्यास लग रही थी इसलिए वहाँ से उठना मुश्किल हो गया था। नाले का पानी जो एक बार उनके घुसने से गँदला हो गया था अब साफ़ हो गया था। लड़की ने रूमाल पानी में डुबोया तथा मुँह में निचोड़ लिया। बहादुर सिंह को भी बहुत प्यास लगी थी। उसने भी पहले ऐसे पानी पीना चाहा परंतु अमृतधारी होने का ख़याल आते ही उसने अपनी राय बदल ली।

गाड़ियों की आवाज़ आनी बंद हो गई थी। उसने पुली के पास से सिर बाहर निकालकर दूर तक देखा। दूर तक कोई परिंदा नज़र नहीं आया। उसने लड़की को बाहर निकलने का इशारा किया। लड़की ने इशारा मिलते ही बाहर आना चाहा परंतु बाहर न आ सकी। उसको असफल देख बहादुर सिंह ने अपना बूढ़ा कंधा झुकाकर लड़की की ओर कर दिया। लड़की कंधे पर पैर रखकर ऊपर चढ़ गई। ऊपर जाकर उसने बहादुर सिंह को बाँह पकड़कर ऊपर खींचा जिसके कारण बहादुर सिंह को ऊपर चढ़ने में कोई ज़्यादा मुश्किल नहीं हुई।

बाहर हवा में आकर उनको कुछ शांति हुई अब उनके पास इतना समय नहीं था कि वे एक पल भी सुस्ता लें। वे वहाँ से फिर दौड़ पड़े। गली का अगला मोड़ मुड़ते समय उनको केंद्रीय रिजर्व पुलिस के सिपाही पैदल गशत करते हुए दिखाई दिए। अब बहादुर सिंह को उनके पीछे मुड़कर देखने का भय हो गया था। वहाँ भी खड़े होना ठीक नहीं था क्योंकि किसी समय भी पिछली ओर से कोई सैनिक आ सकता था। इसलिए उसने दाएँ-बाएँ देखा। कहीं कोई छिपने की जगह नहीं थी। थोड़ी दूर एक चाय का खोखा था, जिसके पीछे छिपा जा सकता था। बिलकुल खुले मैदान में खड़े होने की बजाय उसने इतना रिस्क लेना ठीक समझा। सो वे एक बार फिर तेज़ भागकर खोखे के पीछे जा खड़े हुए। सिपाहियों ने पीछे मुड़कर देखा। शायद उनको पैरों की आवाज़ सुनाई दे गई हो। जब कहीं कुछ नज़र नहीं आया तो वे अपने मन का भ्रम समझकर वापस चले गए।

सिपाहियों के आगे चले जाने के बाद वे फिर खोखे के पीछे से निकले। इस बार उनसे चाहकर भी नहीं दौड़ा जा रहा था। वे तेज़ क़दमों से चलने लगे। थोड़ी दूर जाकर लड़की एकदम दौड़ पड़ी। पता नहीं उसके अंदर दौड़ने की शक्ति कहाँ से आ गई थी। वह बहादुर सिंह से आगे निकलकर एक घर का दरवाज़ा खटखटाने लगी। जब बहादुर सिंह वहाँ पहुँचा तो सामने वही मोहनलाल बरसाती वाला खड़ा था। मोहनलाल ने लड़की को बाँहों में लेकर आवाज़ मारी, “अपनी राधा आ गई...राधा आ गई...।”

“डैडी मुझे इन सरदार साहब ने यहाँ पहुँचाया है...बड़े देवता पुरुष हैं...” लड़की ने बहादुर सिंह के बारे में अपने पिता को जानकारी देते हुए कहा तथा फिर बहादुर सिंह से बोली, “बापू जी अंदर आ जाओ न...” बहादुर सिंह वहीं खड़ा रहा। फिर राधा ने अपने पिता की बाँहों में से निकलकर बहादुर सिंह की बाँह पकड़कर उसे अंदर खींचना चाहा। बहादुर सिंह तो जड़वत् हुआ खड़ा था। गुस्से में उसकी आँखें अंगारे बरसा रही थीं।

''भाई साहब अंदर आ जाओ...बाहर क्यों खड़े हो...यह आपका ही घर है...'' मोहनलाल ने जब यह कहा तो बहादुर सिंह को और ज़्यादा ग़ुस्सा आ गया तथा वह एकदम घर की ओर चल पड़ा।

''सरदार जी रुक जाओ...अंदर आ जाओ, बहुत ख़तरा है।''

मोहनलाल ने फिर आग्रह किया परंतु बहादुर सिंह नहीं रुका तभी सामने से आवाज़ आई, ''हैंड्ज़ अप।''

हथियारबंद सैनिकों को देखकर एक बार तो बहादुर सिंह के शरीर के अंदर सनसनी उठी, फिर वह सँभल गया। पहले उसके हाथ ऊपर उठने लगे फिर उसे ख़याल आया कि खालसे का धर्म हाथ खड़े करना नहीं, लड़कर शहीद होना है। उसने पूरे ज़ोर से गले को फाड़ देने वाली ज़ख़्मी शेर की तरह ''बो...ले...सो...नि...हाल...'' का नारा लगाया तथा एक झटके में ही तलवार म्यान से बाहर निकाल ली। उसके तलवार म्यान से खींचने की देर थी कि तभी फ़ौजी सिपाही ने गोली दाग़ दी। बहादुर सिंह लड़खड़ा कर धरती पर गिर पड़ा। उस धरती जिसको वह एक जट्ट होने के नाते माँ कहा क था, माँ से ज़्यादा प्यार करता था। उसी धरती उसने देखा उसके साथ ही मोहनलाल पड़ा तड़ रहा था, जो गोली चलती देख एकदम बहादुर सिं को बचाने के लिए उसके आगे आ गया था, गो दोनों के पेट को चीर गई थी। बहादुर सिंह औ मोहनलाल को लहूलुहान देखकर लड़की ने ची मारी, ''हाय माँ हम बरबाद हो गए...'' तथा भाग बहादुर सिंह की छाती पर गिर पड़ी। बहादुर सिं तथा मोहनलाल के शरीर में से ख़ून निकल-निकल इकट्ठा ही धरती पर तैरता हुआ एक जगह एक हुआ जा रहा था। इकट्ठे तैर रहे ख़ून को देखकर बहादुर सिंह को गुरकिरपाल की कही बात याद आ थी, ''ख़ून ग्रुपों में बँटा हुआ है, धर्मों, नस्लों में नहीं...'' तथा वह सोच रहा था कि इकट्ठे हुए ख़ू में से कौन-सा ख़ून उसका है, कौन-सा मोहनलाल का है और कौन-सा अनीस का...।''

देवेंद्र सिंह

पोसपूत

करतार बा का थान खचाखच भरा था। भीतर जगह भर जाने के कारण बहुत लोग बाहर भी खड़े थे। वह पंचायत ही ऐसी थी। ऐसा अभूतपूर्व मामला पंचायत के सामने शायद ही कभी आया हो। गाँव के इतिहास में कभी ऐसा न हुआ था। गाँव क्या, पूरे दिगार में कभी किसी बामन ने शूद्र को पोसपूत (गोद) न लिया था।

ठाकुर बा गाँव भर में सबसे अधिक बुज़ुर्ग थे। वे गाँव के अनिर्वाचित मुखिया थे। उनका शरीर तो कमज़ोर हो गया था, ठीक से चल-फिर भी न पाते थे, मगर दिमाग़ अभी भी ठीक-ठाक काम कर रहा था। उनको एक आराम कुर्सी पर बैठाकर, कुर्सी को कंधों पर लादकर, करतार बा थान लाया गया। गाँव के और सब बड़े-बुज़ुर्ग तो थे ही।

''मुसम्मात को भी न बुलाना पड़ेगा दादा?'' नकुल सिंह ने ठाकुर बा से पूछा।

''उसको बुलाने की क्या ज़रूरत है?'' श्रीराम सिंह बीच में ही बोल पड़े, ''उसका मत तो सब लोग जानते ही हैं।''

''जानकी की स्त्री अभी भी उस धौनका* के घर में ही रह रही है?'' ठाकुर बा ने जानना चाहा।

''हाँ, तब!''

''क्या नाम है उस छौड़ा का? अरे वही न परसदिया का बेटा हो?''

''हाँ मोहना।''

''हूँ! लगता है उसी ने कुछ मंतर पढ़ाया है।''

''मोंखा की माटी खिला दी होगी।''

''यह सब झंझट तो जानकी का लगाया हुआ है।''

गनपति चौधरी बोले, ''पता नहीं क्या सूझा उनको कि एक धानुक को लाकर बामनों के बीच में बसा दिया। रही-सही कसर अब काकी पूरी कर देगी।''

''अरे जानकी भाय परसदिया की स्त्री से फँसे हुए थे ही।'' नकुल सिंह कंठ दाबकर बोले, ''ऊ भी कम इल्लती आदमी नहीं थे।''

''मोहना उन्हीं का जनमाया हुआ है कि !'' श्रीराम सिंह बोले, ''उसका रंग-रूप नहीं देखते हो?''

''काला बामन कैला शूद्र, ताको देख के काँपे रूद्र!'' कामो राय ने चट से फैकरा पढ़ दिया।

देवेंद्र सिंह का जन्म 1940 में भागलपुर में हुआ। उनके दो कहानी संग्रह *तिरुहितिया*, *भोज* और एक कविता-संग्रह *यातनागृह* प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : देवगिरी, आदमपुर घाट मोड़, भागलपुर- 812001

---

*धानुक : एक पिछड़ी जाति

''उससे बात की है किसी ने?'' ठाकुर बा ने मूल मुद्दे पर लाने के भाव से पूछा।

''किससे?'' नकुल सिंह बात बूझ न सके, सो पूछ दिया।

''मसोमतिया से और किससे!''

''बात करने के लिए ही न पंचायत बैठी है।'' नकुल सिंह ने झुँझलाकर कहा।

''नहीं, हमारा मतलब है, दो-चार जने जाकर समझाते-बुझाते तो...।''

''समझाने-बुझाने का कुछ असर नहीं होने वाला है बाबा!'' बौकू ख़लीफ़ा टेस स्वर में बोला, ''औतार बा तो गए थे समझाने, पूछिए न!''

''हाँ हो औतार?''

''हाँ दादा! वे तो जिद पर अड़ी हैं। मगर उनके साथ भी तो अन्याय हुआ है।''

''अन्याय तो हुआ ही है। यह कौन कहेगा कि नहीं हुआ है। जिनको अपने बेटों की तरह पाल-पोसकर बड़ा किया, वही उसको चाँप चढ़ाकर मारने गए!'' ठाकुर बा ने सतना-धरमा की ओर देखकर कहा। दोनों ने आँखें ज़मीन में गाड़ लीं।

''वह तो उससे भी बड़ा अन्याय करने पर तुली हैं।'' ठाकुर बा फिर बोले।

''तब क्या हुआ, बुलवाया जाए मुसम्मात को?'' नकुल सिंह ने उकताकर पूछा।

''जैसा तुम लोग सोचो।''

''इसमें सोचना-विचारना क्या है। यहाँ गाँव भर के लोग जमा हैं। सबके सामने उनसे पूछा जाएगा तो जानेंगे न लोग कि वे कैसे—क्या सोचती हैं।''

''ठीक है तो बुला लो।''

दो जनों को दौड़ा दिया गया।

जानकी सिंह और कैलाश सिंह दोनों भाई थे। मुसम्मात स्व. जानकी सिंह की पत्नी थी। जानकी सिंह की एक ही बेटी थी। कैलाश सिंह के दो बेटे थे। सत्य नारायण सिंह और धर्म नारायण सिंह। दोनों के नाम सत्य और धर्म मुसम्मात ने ही रखे थे। वही नाम बाद में बिगड़कर सतना-धरमा हो गए।

सतना-धरमा छोटे-छोटे थे, तभी उनकी माँ को साँप ने काट लिया और वह मर गई। दोनों बच्चे जब माँ-माँ करके बिलख रहे थे, तब बड़की माय ने दोनों को बाँहों में भर लिया था और बोली थी, ''अरे तुम लोग काहे रोते हो। तुम लोगों की माँ तो हम हैं ही। हमारे जीते जी तुम लोगों को रोने की जरूरत नहीं है बेटे!''

उसने दोनों को बेटों की तरह पाला था। उसके अपना बेटा नहीं है, यह भाव कभी मन में फटका भी नहीं। दोनों के विवाह किए। उनके बाल-बच्चे हुए तो उनको भी उतने ही आह्लाद के साथ पाला-पोसा।

उसकी बेटी पास के ही शहर में रहती थी। वह बीच-बीच में बेटी से मिलने शहर जाती। फिर दो-चार दिन में लौट आती। वह जब भी शहर जाती सतना-धरमा और उनसे भी अधिक उनकी पत्नियों को आशंका घेरती। उनको लगता, बड़की माय को फुसलाकर बेटी-दामाद संपत्ति का उसका हिस्सा लिखवा लेंगे। कहते हैं न, धन आदमी का धर्म भी नष्ट कर देता है। सतना-धरमा के साथ भी वही हुआ। हालाँकि राम औतार के मार्फ़त उन लोगों ने बड़की माय का मन टटोलकर देखा था। राम औतार की सरबेटी से धरमा का ब्याह हुआ था, तो वे उसको अपना हितू मानते थे।

सुबह का समय था। बड़की माय बेटी के यहाँ से आई थी। वह बथान पर ढेर में से जलावन के लिए सीसम की टहनियाँ खींच रही थी। राम औतार बहियार से दूध लेकर आ रहा था।

''आ गईं भौजी?'' राम औतार ने पूछा था।

''हाँ, आ गए दियौर!''

''वहाँ सब कुशल-मंगल है न?''

''आप लोगों के आशीर्वाद से सब आनंद है।'' एक मोटी टहनी को खींचने के लिए जोर लगाती बड़की माय बोली।

''आप इस बुढ़ापे में जो यहाँ गाँव-देहात में यह सब काँटा-कूसा करती हैं भौजी, तो वहीं शहर में बेटी के यहाँ क्यों नहीं रहती हैं?''

''बेटी के यहाँ कैसे रहेंगे दियौर! यहाँ जो इतना जाल-माल, बाल-गोपाल सब हैं, इनको छोड़

दें?''

''आपका यहाँ कौन बाल-गोपाल है भौजी? आपकी तो एक बेटी थी जो...।''

''और ये सब क्या हमारे नहीं हैं?'' उसने बीच में ही टोककर कहा, ''ये लोग अपने मन में जो भी मानते हों, हमने तो कभी यह नहीं समझा कि ये हमारे कोख जाए नहीं हैं। आपने तो सब देखा ही है। कैसे अबोध थे जब छोटकी मरी थी? तब से इनको किस तरह पाला-पोसा...''

''हमने ही क्यों, पूरे गाँव-समाज ने देखा है। मगर एक बात हम कहेंगे भौजी, बुरा मत मानिएगा, यह जो धन-संपत है न, यह पापों का मूल है। इसका लोभ कैसे-कैसों के दिल में पाप भर देता है...।''

''हम समझे नहीं दियौर! इसमें लोभ-लाभ और पाप-पुन्न की क्या बात है? यह जो कुछ भी है, सब इन्हीं लोगों का तो है।''

''इन लोगों के मन में पाप पनप रहा है भौजी!'' राम औतार ने स्वर को ख़ूब धीमा कर लिया, ''हम चुपचाप आपको कहते हैं। इसको अपने ही पेट में पचा दीजिएगा। इनको लगता है, आप अपना हिस्सा बेटी-दामाद को लिख देंगी।''

'बेटी-दामाद को काहे लिख देंगे दियौर! इनको जब एक बार बेटा बना लिया, तब फिर इनका हिस्सा खयानत क्यों करेंगे? बेटी को तो अपना हक-हिस्सा मिल ही गया है, यही तो जग की रीत है। वैसा निरधिन काम हम क्यों करेंगे दियौर? ऐसे ही तो जाने किस जनम का पाप था कि भरी जवानी में राँड़ बनकर बैठ गई। अब और वैसा लोक-विरुद्ध काम करके अगला जनम भी बिगाड़ लें!''

मुसम्मात के उच्च विचार से राम औतार बहुत प्रभावित हुआ था। और जब ध्यान आया कि वह सतना-धरमा की ओर से जासूसी करने आया था तो ग्लानि से भर गया था।

औतार का से बड़की माय का मन जानकर सतना-धरमा को आश्वस्ति मिली थी। मगर वह अस्थायी सिद्ध हुई थी।

एक दिन मोहना ने आकर जो संदेश सुनाया, उसने सबको अंदेशे में डाल दिया।

''बड़की माय!'' आँगन में खड़ा हो मोहना ने हाँक दी।

''के है मोहन रे! क्या बात है बेटा?'' बड़की माय अपनी कोठरी से निकलकर ओसारे पर आ गई।

''गज्जू चौधरी गए थे तारीख करने। वहाँ कचहरी में मेहमान जी मिले थे। बोले हैं, माय को दस दिन के लिए कहिएगा आने के लिए, जरूर से जरूर।''

''और कुछ नहीं बताया?''

''नहीं।'' कहकर मोहना चला गया।

बड़की माय चिंता में पड़ गई। ऐसा क्या हो गया अचानक? पेट से भी नहीं है प्रियंवदा। जरूर से जरूर बुलाया है। कहीं कुछ...। उसके मन में अनेक आशंकाएँ उठने लगीं।

सतना की पत्नी ने जो वह संवाद सुना तो उसका माथा ही उड़ गया। क्या जरूरी काम पड़ गया अभी? वह भी दस दिन के लिए। मेहमान जी कचहरिया आदमी हैं। जरूर दाल में कुछ काला है।...

सतना खाना खाने आया तो उसने फुसफुसाकर उसको सब सुनाया। फिर बोली, ''हम तो कहते हैं माता जी को अब कहीं मत जाने दीजिए!...'' वह अपनी पूरी बात कह भी न पाई थी कि बड़की माय आ गई।

'रे सत्तो!'' वह कोठरी के मुँह पर से ही बोली, ''मोहना आया था कहने कि मेहमान ने बुलाया है, गज्जू चौधरी गए थे। उन्हीं के द्वारा संवाद पठाया है।''

''अच्छा हम गज्जू का से पूछते हैं जाकर।'' सतना बोला।

''हाँ, जरा ठीक से पता लगाओ तो बेटा कि क्या बात है?''

सतना खाना खाकर गया और थोड़ी ही देर में लौट आया।

''भेंट हुई बेटा?'' बड़की माय ने व्यग्रता से पूछा।

''हाँ हुई। दुत कुछ बात नहीं है। ऐसे ही भेंट-मुलाकात के लिए बुलाया था। कचहरी में भेंटा गए तो बोल दिए, यही।''

''मगर मोहना तो कह रहा था कि...।''

''मोहना क्या कहेगा साला मूर्ख-चपाट! तुम जाओ निश्चिंत होकर बैठो घर में।''

मोहना घर का नौकर था। मगर सतना-धरमा का एकतुरिया होने के कारण अपने को घर का एक सदस्य ही मानता था। उनकी देखा-देखी वह भी बड़की माय को माय ही कहता था। गेहुवाँ रंग, लंबी-चौड़ी काठी, मज़बूत डील। बोल-चाल से भी कोई अनजान आदमी बूझ न सकता कि वह बामन नहीं है। मोहना और धरमा एक ही अखाड़े पर कुश्ती करते थे।

उसका घर बथान पर ही था। बाड़ी-झाड़ी लगाकर बड़ी से ददो कट्ठा डीह मोहना के क़ब्ज़े में होगा। सतना-धरमा के मन में मोहना की झोंपड़ी काँटे की तरह कचकती थी।

यह निर्णय सतना-धरमा का अपना था। औतार का से भी उस संबंध में राय-विचार नहीं किया था। वैसे सब बात में उनसे राय लेते थे। असल में, उनको लगा था कि औतार का उस काम को सकारेंगे नहीं।

उनका गणित बड़ा सरल था कि रात में सोयी बड़की माय को चाँप चढ़ाकर मार देंगे। भोर में उठकर कन्ना-रोहट शुरू करेंगे। फिर जल्दी-जल्दी सब तैयारी करके, गंगाजी ले जाकर जला देंगे। बस हो गया काम नक्की।

उन्होंने पूरी योजना बहियार में मचान पर बैठकर बनाई थी। अपनी पत्नियों को भी उसमें शामिल न किया था।

अंधरिया रात थी। घर आकर दोनों ने खाना खाया। खाकर अपनी-अपनी कोठरी में सोने चले गए। जब रात निःशब्द हुई, दोनों चुपके से किवाड़ खोलकर बाहर आ गए। पतले बाँस का एक टोना वे बहियार से ही साथ ले आए थे।

बाँस लेकर दोनों बड़की माय की कोठरी में घुसे। कोठरी का भूगोल उनको मालूम था कि कहाँ पर खाट बिछी थी। खाट का सिरहाना किधर था। काम ठीक-ठाक ही हो रहा था। सतना खाट के पार था। धरमा दीवार के सहारे-सहारे उस पार गया था। दोनों ने बाँस के सिरे थाम, अंदाज़ से, सोई बड़की माय के कंठ पर धर भी दिया था। बाँस थोड़ा-सा ऊपर उसकी नाक पर पड़ गया बड़की माय की नींद टूट गई।

''के है? क्या है?'' वह चेहा उठी।

धरमा ने झट से उसका मुँह दबा दिया। ने हाथ से टटोलकर बाँस उसके कंठ पर रखा। इसी बीच बड़की माय ने मूड़ी हानकर मुँह लिया और चिल्लाई, ''बचाओ! बचाओ!''

और तब तक दोनों ने बाँस को दबा दिया। बड़की माय की बोली बंद हो गई। गले से गड़गड़ाहट-सी निकलने लगी।

मोहना की झोंपड़ी घर के पिछवाड़े में ही थी। चीख़ सुनकर मोहना बहू की नींद खुल गई। उसने मोहना को झकझोर कर जगाया।

''हे जी! लगता है बड़की माय के घर में चोर घुस आए हैं, अभी हमने उनकी 'बचाओ! बचाओ!' की चीख सुनी।''

मोहना उठकर बैठ गया।

उधर बड़की माय ने बाँस को दोनों हाथों से पकड़ लिया था और पूरी शक्ति से उसको ऊपर उठाते हुए गिड़गिड़ाकर बोल रही थी, ''छोड़ो! छोड़ दो! बचाओ!...''

''हे जी! हमको लगता है बड़की माय जरूर किसी विपत्ति में है। आप मुलुर-मुलुर ताक क्या रहे हैं? बड़की माय को कुछ हो जाएगा तब जाकर क्या कीजिएगा!...''

मोहना झटपट उठा। टाट से लगी लाठी उठाई और ''कौन है रेऽऽ!'' कहता, लाठी पटकता, आँगन में आ गया।

तभी बड़की माय की कोठरी से निकलकर दोनों भागे। मोहना ने लपककर लाठी चलाई। लाठी एक को लग गई। वह गिर गया। दूसरा भाग गया।

जो गिर गया, वह सतना था। भागने वाला धरमा था। बाद में सतना भी उठकर खिसक गया।

बड़की माय उस रात में ही अपने घर से निकलकर मोहना की झोंपड़ी में आ गई थी। फिर वह सो न सकी थी। छप्पर में आँखें गड़ाए सोचती रही थी।

पहले उसके मन में आया था, सुबह होते ही वह मोहना को साथ लेकर थाना जाएगी। केस करेगी। वह दोनों को जेहल दिखाकर ही दम लेगी। उन्होंने जब माय को मुद्दय मान लिया तो वह भी उनको बेटा क्यों मानेगी! उसका असली बेटा तो है मोहना जिसने जान बचाई। मोहना यदि न आता तो क्या होता? सोचकर वह दहल जाती।

एक तो वह औरत जात, केस-मुक़दमा में कौन उसका साथ देगा? उसके दिमाग़ में दूसरी लहर उठी थी। एक तो औरत, दूजे राँड़-मुसम्मात। कौन बोलेगा उसके पक्ष से?...

भर रात उसके मन में लहरें उठती-गिरती, एक-दूसरे को काटती रही थीं। और उसी क्रम में उसके अंतर से यह कौंध आई थी कि क्यों नहीं वह मोहना को अपना पोसपूत बना ले? असल में, वह अपने ऊपर हुए अन्याय का प्रतिकार करना चाहती थी। वह अपनी ज़मीन पर पाँव रोपकर लड़ना चाहती थी। मैदान छोड़कर भागना उसको गवारा न था। इसीलिए, बेटी-दामाद को अपना हिस्सा लिखकर उनके साथ जाकर रहने का विचार उसको एकदम न भाया था। वह सतना-धरमा को सज़ा देना चाहती थी।...

शाम का धुँधलका फैल गया, तब सतना-धरमा खेतों से निकलकर रामऔतार के बासा पर आए। रामऔतार चौमास में मचान पर बैठा था।

'के है?'' उसने अपनी ओर आते दो जनों को देखकर पूछा।

''हम हैं काका!'' निकट आकर सतना ने धीमे स्वर में कहा।

वे दोनों बहियार में जाकर छिपे थे। उनको डर था, दिन होते ही बड़की माय थाना-पुलिस करेगी। मगर जब मालूम हुआ कि केस-कास नहीं हुआ है, तब जान में जान आई।

दोनों मचान से लगकर खड़े रहे। रामऔतार कुछ न बोला। बैठने को भी न कहा।

''हम पूछते हैं, तुम लोगों को यह दुर्मति कैसे आई, ऐं?'' काफ़ी देर बाद रामऔतार ने क्रुद्ध स्वर में पूछा।

''हम लोगों से भारी भूल हो गई काका!'' सतना बोला।

''भूल हो गई तो भोगो। समूचा गाँव-इलाका घिना गया। ऐसा भी कोई निर्बुद्धि वाला काम करता है!''

''अब क्या होगा काका?''

''हम क्या जानें! हमसे पूछकर गए थे माय को चाँप चढ़ाने?''

''आप उसको किसी तरह मना-दनाकर घर ला दीजिए काका! हम पैर पकड़ के बड़की माय से माफी माँग लेंगे।''

''तुम लोगों ने जो करनी की है, उसके लिए भगवान भी माफ न करेंगे। यह तो भाग मनाओ कि वह देवी थाना न गई, नहीं तो बूझ जाते मजा। जेल में सड़ते, खूब हिस्सा मोटा हो जाता। पता नहीं क्या हो रहा था जो ऐसी नीचता पर उतर आए, छिः!''

दोनों मुँह लटकाए खड़े रहे। मगर दूसरे दिन रामऔतार मुसम्मात को मनाने गया।

''भोजी!'' उसने झोंपड़ी के बाहर से हाँक दी और झुककर अंदर आ गया।

मुसम्मात एक खाट पर बताही की तरह बैठी थी। मोहना की पत्नी पछियारी ओसारे पर चूल्हे के आगे बैठी मकई की रोटी ठोक रही थी।

''भौजी! अब अपना घर चलिए न! कब तक बनवास में रहिएगा?' रामऔतार ने सहमे स्वर में कहा।

''अपना कौन घर औतार दियौर!'' मुसम्मात की आँखों में व्यंग्य, विद्रूप और परिहास का मिश्रण एक भयानक भाव भर रहा था।

''पूछती हैं कौन घर! अरे जो आपका घर है। आपका बनाया, सिरजा हुआ घर।''

''वह अब हमारा घर नहीं है। न वे बेटे हैं।''

''घर तो है ही भौजी और बेटे भी हैं। लाख पराया हो जाए अपना खून अपना ही होता है।''

"अब मोहना ही हमारा बेटा है दियौर! वह न होता तो अब तक आप लोग हमको जला-भंसाकर लौट आए होते। मोहना ने हमको नया जनम दिया है। इस नए जनम में हम उसकी माय हैं और वह हमारा बेटा है।"

"जिसकी आयु पूरी नहीं हुई है उसको कोई मार नहीं सकता भौजी! बचाने और मारने वाला तो वहाँ ऊपर बैठा है।"

"नहीं दियौर, हमने फैसला कर लिया है। आप उनके हितू हैं, जाकर बता दीजिए।" मुसम्मात की आँखों में एकाएक लपट-सी उठी, "मोहना को हम अपना पोसपूत बना रहे हैं!"

रामऔतर उन आँखों की ज्वाला सह न सका। कुछ देर गुमसुम बैठा रहा। फिर उठ गया।

टोले से लेकर गाँव तक बात फैल गई। गाँव दलमला गया। सब जगह वही चर्चा थी।

"ऐसा भी कहीं हुआ है भला! बामन शूद्र को पोसपूत लेगा? सो क्या बामन कोई नहीं बचा है? गाँव-घर में कोई अपना न था तो नाती को गोद ले लेती। माना कि सतना-धरमा से महा अन्याय हुआ है। मगर ये तो उनसे भी दस बिसुवा आगे हो गईं।" गाँव बोल रहा था।

"औरत जात है न काका! कहते हैं औरत को नाक न होती तो...।"

"अच्छा बाबा! मोहना को मुसम्मात पोसपूत लेगी तो उसको जनेऊ देना पड़ेगा?"

"दुर बुजबुत! ब्याह-शादी के बाद कहीं जनेऊ होता है!"

पूरे गाँव के बामन अकुलाने-बौखलाने लगे और धीरे-धीरे सतना-धरमा के पक्ष में हो गए। मुसम्मात उनसे बड़ी अपराधिनी बन गई।

गाँव के लोग-बाग शहर जाते ही रहते थे। मुसम्मात की बेटी-दामाद तक भी ख़बर पहुँच गई। सुनते ही प्रियंवदा भागी-भागी आई। माँ को सब तरह से समझाया। मगर वह तो मानो अब उसकी माँ थी ही नहीं। टस से मस न हुई। प्रियंवदा हार गई।

वह जिधर निकलती, उधर ही बड़े-बुज़ुर्ग टोकते, "प्रियंवदा बेटी! माँ को समझाया नहीं? यह कैसा अनर्थ करने की सोच रही हैं!"

"बहुत समझाया काका! उस रात की घटना ने लगता है माँ के दिमाग़ पर असर कर दिया है।"

"तो डॉक्टर के पास ले जाओ बेटी! ऐसे न जाएं तो बाँध के ले जाओ। यह तो ठीक बात नहीं न है।"

गाँव खदबदाने लगा। सतना-धरमा को लगा, हमारी बाजी पलट गई। दोनों दुआर-दुआर दौड़ने लगे। पहले अपनी करतूत के लिए ख़ुद को कोसते। फिर मुद्दे पर आते। देखते-देखते गाँव उनके पक्ष में आ गया।

परिस्थिति अनुकूल देख उन्होंने गाँव की सादि पंचायत के लिए गुहार लगानी शुरू की। उनकी गुहार सुन ली गई। तय हुआ कि करतार बा थान में गाँव भर के बामन जमा होंगे। तारीख़ भी तय हो गई।

मुसम्मात आई। उसके साथ प्रियंवदा तथा दो और औरतें भी थीं। हालाँकि उसने किसी को साथ चलने के लिए कहा न था।

उन सबके लिए एक कोने में जगह बना दी गई।

करतार बा थान में सन्नाटा खिंच गया। सभी साँस रोके ठाकुर बा को देख रहे थे।

"रामऔतार!" ठाकुर बा ने कमज़ोर, काँपती आवाज़ में सामने बैठे रामऔतार को संबोधित कर कहा, "पूछो इनसे, हम जो सुन रहे हैं, वह सही है?" वे जानकी सिंह से उम्र में बड़े थे। उस नाते उनकी बेवा को भावहु मानते थे।

"भौजी!" रामऔतार ने मुसम्मात को देखा और इतना ही बोलकर चुप हो गया।

"हाँ दियौर, सही है। मुसम्मात ने भी रामऔतार को ही संबोधित कर शांत स्वर में कहा।

"पूछो, ऐसा समाज-विरुद्ध काम ये क्यों कर रही हैं? ये गाँव की अच्छी बहू हैं। इनके बारे में हमने सब दिन अच्छा ही अच्छा सुना है। अपने दूअर-टापर जावतों को माय बनकर पाला-पोसा। घर को चलाया। फिर आज गाँव से बाहर क्यों हो

रही हैं?''

रामऔतार ने इस बार सीधी उनकी ओर देखा।

''हे दियौर!'' वह रामऔतार को देखते हुए बोली, ''जिनको बेटों की तरह पाला, उन्होंने माय को कैसा बदला दिया, इसको गाँव-समाज ने नहीं देखा? हम चाहते तो थाना-फौदारी कर सकते थे, मगर नहीं किया। हमने समझ लिया, जैसे उनके लेखे हम मर गए, वैसे ही हमारे लिए वे भी मर गए। हमको तो मार ही दिया था उन्होंने। यह देखिए दियौर!'' कहकर उसने गले पर से साड़ी हटा दी और माथे को पीछे झुका लिया। सबने देखा, गले में काला दाग़ पड़ गया था, जैसे करैत लिपटा हो।

''मोहना न आता तो आज हम पंचों के सामने अरज करने के लिए जीवित न होते।'' उसने साड़ी को ठीक करते हुए आगे कहा, ''मोहना हमारे लिए साक्षात् मनमोहन कृष्ण बनकर आया था दियौर! वह असली बेटा बन माय को संकट से उबारने आ गया। अब तो वही हमारा बेटा है।''

''रामऔतार!'' ठाकुर बा का स्वर और गंभीर हो गया, ''उन दोनों ने जो किया, वह अक्षम्य है। उसके लिए कोई उनको भला नहीं कहता। हमारे पास आए तो हमने भी एक करम बाकी नहीं रखा। खाली जूते से मारा नहीं। सामर्थ होती तो जूते भी लगाता। उनका काम ही ऐसा था। उन्होंने कान पकड़ के गलती कबूल की। सबके सामने की। बार-बार बोले कि वे बड़की माय से भरी पंचायत में पैर पकड़ के माफी माँगने को तैयार हैं। क्यों ठीक कह रहे हैं न जी?'' ठाकुर बा ने सतना-धरमा की ओर मुँह करके पूछा।

''जी बाबा! हमारी मति मारी गई थी। हम सबके सामने बड़की माय से माफी माँगते हैं।...'' कहते हुए दोनों उसकी ओर लपके।

''खबरदार जो हमारी देह को हाथ लगाया?'' मुसम्मात उठकर खड़ी हो गई, ''यदि यही सब नौटंकी करवाने के लिए पंचायत बैठाए हैं तो हम जाते हैं दियौर!'' उसने रामऔतार को संबोधित कर कहा और जाने लगी।

''रामऔतार! इनसे कहो बैठ जाएँ?'' ठाकुर बा कड़के।

वह ठमकी। कुछ पल खड़ी रही। फिर पलटकर बैठ गई।

''रामऔतार! अब साफ-साफ सुनो।'' ठाकुर बा बोले, ''इनसे कहो, ये यदि सतना-धरमा को अपनाने वास्ते राजी नहीं हैं तो अनाथालय से कोई बच्चा उठा लाएँ। पंचायत को कोई उजूर नहीं होगा। मुदा ऐसा काम जो आज तक जात-बिरादरी में नहीं हुआ है, बर्दाश्त नहीं किया जाएगा। क्यों भाई पंचो! ठीक है न?''

''हाँ-हाँ, ठीक है।'' तुमुल जनघोष हुआ।

''हे दियौर!'' मुसम्मात बोली, ''अनाथालय से जो बच्चा लाएँगे वह क्या बामन ही होगा?''

सुनकर ठाकुर बा तिलमिला गए। मगर स्वयं को संयत बनाए रखा।

''जान-बूझकर कोई मक्खी नहीं निगलता है।'' वे बोले, ''इस संबंध में आप पंच किसानों की क्या राय है?''

''यदि ये अपने फैसले पर अडिग हैं तो जाएँ जाकर धनुक टोली में रहें!'' नकुल सिंह ने बौखलाकर कहा।

''मंजूर है हमको।'' मुसम्मात छूटते ही बोली, ''हम धनुकाइन बनने को भी तैयार हैं। बामिन बनकर ही कौन-सा मान मिला था जो धनुकाइन बनने से चला जाएगा। औरत की गिनती इंसान में होती कहाँ है। वह तो है जल। जिस जात-धरम-अवस्था में डाल दीजिए, उसी में ढल जाती है।''

पंचायत में सन्नाटा छा गया। सन्नाटा जमने लगा।

''इनका दिमाग खराब हो गया है पंच किसान।'' सहसा भीड़ में से कोई चीख़ा, ''इनको काठ में दे दिया जाय।''

''यह औरत समूची जाति के मुँह पर कालिख पोतना चाहती है। यह जाति की बैरी है।...''

देखते-देखते पंचायत भीड़ बन गई। भीड़ चिल्लाने लगी।

''ऐसी औरत का एक ही इलाज है। इसको...।''

''लगता है यह बामन के बूँद से पैदा नहीं हुई

है। जरूर किसी सोलकन का बीया...।''

''देखिए, यह पंचायत है!'' ठाकुर बा पूरी ताक़त से गरजे, ''इस तरह हल्ला-हंगामा ठीक नहीं। आप लोग शांत होकर बैठ जाइए।''

''शांत हो जाइए!...बैठिए!...बैठ जाइए!...'' कई लोग गरजे।

ठाकुर बा कुछ कहने की मुद्रा में हाथ उठाए भीड़ के शांत होने की प्रतीक्षा करते रहे। धीरे-धीरे शोर शांत हुआ। लोग बैठ गए।

''रामऔतार!'' ठाकुर बा का स्वर कुछ अधिक ही काँप रहा था, ''तिरिया हठ लोक और वेद दोनों में प्रसिद्ध है। मुदा हम यह नहीं समझ पाते हैं कि यह हठ क्यों? पूरी जाति को कलंकित करके इनको कौन-सा सुख मिलेगा? आखिर उस धानुक से इनको इतना मोह क्यों है?''

मुसम्मात उठकर खड़ी हो गई। माथे पर साड़ी ठीक की।

'हे दियौर!'' वह बोली, ''हम जाति को कलंकित नहीं कर रहे हैं, न गाँव-समाज से बाहर जा रहे हैं। इसी गाँव में कई ऐसे बामन हैं जिनका जाति में विवाह न हुआ तो वे कहीं-कहीं से औरत ले आए। उन्हीं से उनका वंश चला। चमाइन-दुसाधिन तक के पेट से बामनों के वंश चले हैं, सभी जानते हैं। उनके बच्चे किस जाति के कहलाए?'' प्रश्न पूछकर वह विरम गई।

''पुरुष की जाति से संतान की जाति निर्धारित होती है।'' अपने प्रश्न का आप उत्तर देती बोली, ''औरत की तो कोई जाति ही नहीं होती औरत केवल कोख होती है। उस कोख में किसका पड़ा है, यह देखा जाता है। जैसे फ धरती की कोख से उगती है, मगर धरती की कहलाती। वह उस किसान की होती है जो बोता है। धरती की तो घास होती है जिसे कि उखाड़कर फेंक देता है। बेटी वही घास होती है दियौर,'' उसने प्रियंवदा की ओर देखते हुए ''जिसके होने से कोख सनाथ नहीं होती है। नहीं चलता है।'' वह चुप हो गई।

''रामऔतार! इनसे कहो, जो कहना है साफ़- कहें। बुझौवल न बुझावें।'' ठाकुर बा की आवाज़ में तल्ख़ी थी।

''आप ही लोग कहते हैं दियौर...'' वह अटकी, फिर बोली, ''कि प्रियंवदा के बाबू मोहना माव रहते थे। इसीलिए उन लोगों को अपनी डीह पर लाकर बसाया। आप ही लोग यह भी कहते हैं कि मोहना का रंग-रूप, नाक-मुँह, बान-काट सब प्रियंवदा के बाबू से मिलता है।...हे पंच किसान!'' मुसम्मात ने दोनों हाथ जोड़ लिए, ''आप साक्षात करतार बाबा हैं। अब आप ही फैसला करें कि मोहना की जाति क्या होगी? वह हमारा बेटा है कि नहीं?''

पंचायत को मानो साँप सूँघ गया। संपूर्ण सभा जमकर शिला बन गई।

सिद्धनाथ सागर

निदान

...कर्म सिद्धिमर्थसिद्धि यशोलाभं प्रत्ये च... सर्वप्राणभृतां शर्माशासितव्य महरहरूत्तिष्ठता चोपविशता च, सर्वात्मना चातुराणारोग्याय प्रयतितव्यै, जीवितहेतोरपि चातुरेभ्यो नाभिद्रोग्धव्य मनसाऽपि च परस्त्रियो नाभिगमनीयास्तथा सर्वमेव परस्वं...।

(सफलता, यश एवं अर्थ प्राप्ति के लिए तुम सदैव अपनी विद्या का उपयोग प्राणी मात्र के कल्याण हेतु करते रहोगे। अत्यधिक व्यस्तता एवं विश्रांति की अवस्था में भी तुम दिन-रात रोगी की सेवा हेतु आत्मवत तत्पर रहोगे। निज स्वार्थ एवं अर्थ लाभ के लिए किसी रोगी का अहित नहीं करोगे तथा परस्त्री एवं पराए धन की कामना नहीं करोगे। अनैतिकता तुम्हारे विचारों में भी नहीं आनी चाहिए)

—महर्षि चरक

क्यों न घर से हो आएँ? क्लिनिक ख़ाली देखकर डॉ. प्रणव ने सोचा। फिर उन्हें लगा। क्या घर जाएँ? घर जाने पर पत्नी बर्छी-सा चुभते प्रश्न की तरह सामने खड़ी हो जाती, ''आज कितने मरीज देखे?''

इस प्रश्न से वे आहत हो उठते। क्लिनिक आए पाँच घंटे से अधिक हो गए थे। इन पाँच घंटों में उन्होंने पाँच मरीज देखे थे। घर जाने की बात उन्होंने स्थगित कर दी।...भला यह भी कोई बात हुई? जब देखो तब ताना मारती रहती है। वह यह समझने की कोशिश ही नहीं करती कि...घर जाने से तो अच्छा है डेंटल क्लिनिक में डॉ. मिश्र से मिल लें।

डेंटल क्लिनिक में जब उन्होंने प्रवेश किया, वहाँ के दोनों कंपाउंडर उनके अभिवादन में खड़े हो गए थे। एक ने ख़ाली कुर्सी उनकी तरफ़ बढ़ा दी। डॉ. मिश्र एक मरीज को टीका लगा रहे थे। उनकी मोटी उँगली निडल पर चली गई थी जिसे देखकर डॉ. प्रणव के भीतर एक शब्द कौंधा था—स्टरलाइज़ेशन!

एक ही सिरिंज और निडल से दिन भर में कितने मरीजों को डॉ. मिश्र टीका लगाते, उन्हें ख़ुद पता नहीं होता। सुबह दाँत निकालने वाले औज़ारों के साथ सिरिंज-निडल को भी पाँच मिनट तक उबालकर दिन भर की वह छुट्टी पा लेते।

''बग़ल वाला दाँत भी निकलवा लो नहीं तो कैंसर हो जाएगा'', टीका लगाने के बाद उन्होंने मरीज को सलाह दी।

कैंसर का नाम सुनते ही दो दिन पहले की घटना डॉ. प्रणव के सामने घूम गई। डॉ. मिश्र ने किसी का दाँत निकाला था, जिससे ख़ून बहने लगा था। लाख प्रयास के बावजूद बंद नहीं हुआ तो उन्हें बुलाया। मरीज देखने

सिद्धनाथ सागर का जन्म 1965 में हुआ। इनकी कहानियाँ और कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। आकाशवाणी से कहानियों का प्रसारण भी हुआ है।

संपर्क : इंडियन जनरल हॉस्पिटल
बिहिया, भोजपुर, बिहार-802152

के बाद उन्होंने उसे पटना भेजने की सलाह दी और जब क्लिनिक ख़ाली हो गया तो पूछा, ''यह क्या किया आपने?''

''क्यों? क्या हुआ?''

''आपको पता नहीं चला कि कैंसर है?''

''अगर जानता तो आपको क्यों बुलाता? मुझे तो यह भी नहीं पता था कि कैंसर में दाँत से ख़ून निकलना बंद नहीं होता। जानता तो निकालता ही क्यों? मुझे तो लगता है, मेरे गुरु को भी नहीं पता होगा या हो सकता है, मुझे उन्होंने सब नहीं बताया हो। चेला सब जान जाएगा तो बचेगा क्या?'' डॉ.मिश्र सहज हो आए थे। हल्की-सी मुस्कुराहट उनके होठों पर खिलने लगी थी, ''सब भगवान की मरजी डाक साब कि मैं दाँत निकाल लेता हूँ। बना लेता हूँ। बाहर निकले को क्लिप से ठीक कर देता हूँ।''

उसके कुछ दिन बाद जब मुलाक़ात हुई थी तो उस कैंसर वाले मरीज के बारे में डॉ.प्रणव ने पूछा था। यह जानकर कि वह बच नहीं पाया, उन्होंने अफसोस जताया।

लेकिन डॉ.मिश्र का जवाब सुनकर वे दंग रह गए थे, ''अरे अफसोस क्या डाक साब? डॉक्टर कौनो भगवान थोड़े हैं। उसका एक रिश्तेदार आए रहा। मुआवजा माँग रहा था। मैंने भगा दिया...साले को पता ही नहीं कि यहाँ किडनी चुराकर बेच देने से भी कुछ नहीं होता। वकील अच्छा होना चाहिए...साला केस की धमकी दे गया है। मैंने भी कह दिया—जाओ। जो करना है कर लो। अरे कौनो लिखित प्रूफ़ है कि दाँत हमी ने उखाड़ा है?''

डॉ.प्रणव सोच में पड़ गए। केस बिगड़ जाने के बाद भी ये इतना सहज कैसे रह पाते हैं? केस बिगड़ने के कारणों की तलाश क्यों नहीं करते?

''तकलीफ़ तो सिर्फ़ एक दाँत में है। फिर अगल-बग़ल के क्यों निकलवाएँ?'' डेंटल कुर्सी पर बैठा उस देहाती मरीज की आवाज़ सुनकर डॉ.प्रणव वर्तमान में लौट आए। कैंसर का नाम सुनकर उस मरीज के ललाट पर पसीने की नन्ही-नन्ही बूँदें उभर आई थीं। जवाब की प्रतीक्षा किए बग़ैर उसने फिर जोड़ा, ''हाकिम, जो ठीक हो, वही करें। मुझे तो ठीक होने से मतलब है।''

''बीच का सड़ गया है। बग़ल का दोनों इफेक्टेड है। तीनों निकाल देता हूँ।'' डॉ.मिश्र ने सहानुभूति जताई।

''ठीक है हाकिम। डेढ़ महीने पहले ऊपर वाला दाँत आप ही निकाले थे।'' मरीज ने कहा।

डेंटल चेयर पर बैठे उस देहाती मरीज को उन्होंने ग़ौर से देखा तो उनकी स्मृति में कुछ कौंध-सा गया...हाँ, यही मरीज तो एक महीना पहले उनके पास आया था। उन्होंने पूछा था, ''क्या दिक्कत है?''

''मिसिर बाबा से महीना दिन पहले दाँत निकलवाए था। घाव अभी तक नहीं भरा। बाबा आपसे दिखाने को बोले हैं।''

''कौन-कौन सी दवा चली थी?''

मरीज ने इंजेक्शन की ख़ाली शीशी, कैप्सूलों का स्ट्रिप तथा सिरप की ख़ाली बोतल उनके सामने रख दी। बोतल का लेबल फटा था। पढ़ना असंभव था। उन्होंने प्रेस्क्रिप्शन देखना उचित समझा, ''प्रेस्क्रिप्शन?''

''आयं-आयं?''

''पुरजा दिखाइए, पुरजा।''

एक छोटा-सा मुड़ा-तुड़ा काग़ज़ उसने बढ़ा दिया था। अंग्रेज़ी के बेतरतीब अक्षरों में टेरामाइसिन इंजेक्शन, डेक्सोना टैबलेट तथा बी-कॉम्पलेक्स सिरप लिखा था जिसकी स्पेलिंग ग़लत थी और शेष चीज़ें राम भरोसे।

''रात में पेशाब कितनी बार होता है?''

''दस-बारह बार।''

ख़ून-पेशाब की जाँच उन्होंने लिख दी और जब रिपोर्ट आई तो उसमें ब्लड-सुगर बढ़ा था।

उस मरीज को फिर मिश्र के यहाँ देखकर उन्हें हैरत हुई। उस छोटे से सुसज्जित क्लिनिक में रूम हीटर के कारण उन्हें बड़ी राहत मिल रही थी। चमचमाते अलमारी के शीशे से झाँकते क़रीने से सजे दाँतों के सेट, चमकते औज़ार और प्लास्टर ऑफ़ पेरिस के बेकार हो चुके उजले-उजले ढाँचे अपनी माया जाल फैलाए थे। दसवीं अनुत्तीर्ण

डॉ.मिश्र दवाओं के नाम टूटी-फूटी अंग्रेज़ी में लिख लेते थे। अपनी माँ-बाप की इस बिगड़ैल संतान पर लोगों की नज़र तब पड़ी, जब पुलिस ने गाँजा-अफ़ीम जैसे मामूली मादक द्रव्यों के साथ गिरफ़्तार कर उन्हें जेल भेज दिया। जब जेल से छूटकर वे आए अपनी चचेरी बहन के साथ रंगे हाथ पकड़े गए। मुसीबत से बचने के लिए उनके मामा ने अपने एक रिश्तेदार दंत-चिकित्सक के पास भेज दिया जिसकी आरा शहर में अच्छी प्रैक्टिस थी। मंशा यह थी कि दुश्मनों से महफ़ूज़ रह दाँत निकालने-लगाने का हुनर भी आ जाएगा और कुछ आमद भी। लेकिन अपनी उन हरकतों के कारण वहाँ भी ज़्यादा दिन तक वे टिक नहीं पाए। कुछ दूरी पर अपना अलग क्लिनिक उन्होंने खोल लिया था। आरा निवासी डॉ.प्रणव से यह सब छिपता भी कैसे?

कभी-कभी उनके मन में आता। वे बताएँ। स्टरलाइज़ेशन क्या होता है? कैसे होता है? कितनी देर तक? स्टरलाइज़्ड औज़ार कैसे इस्तेमाल करना चाहिए? किस दवा की कितनी ख़ुराक होनी चाहिए? कम मात्रा से क्या हानि होती है? ज़्यादा से क्या नुकसान है? दाँत उखाड़ने से पहले मोटी-मोटी किन-किन बातों पर ध्यान रखना चाहिए? लेकिन वे चुप हो जाते, क्योंकि डॉ.मिश्र उनकी बातों को अकसर दूसरे अर्थों में ले लेते।

दाँत निकाला जा चुका था। वह मरीज दर्द से कराह रहा था। साधारण रूई से पैकिंग देकर हाथ धोने के लिए वे बेसिन की तरफ़ बढ़े। तभी डॉ.प्रणव ने सोचा। अधिक समय तक वे रुकेंगे नहीं। चाय लेकर हकीम साहब के यहाँ चलते बनेंगे।

“और क्या हाल है डाक साब?”

“बस दर्शन के लिए...।” चाय उठाते हुए उन्होंने बात अधूरी छोड़ दी।

“एक बात कहूँगा आपको। गाँव के लोगों से भी मिलने-जुलने से ठीक रहता है। ज़्यादा मरीज वहीं से आते हैं।”

गाँव का नाम सुनते ही बीस-पच्चीस दिन पहले की घटना सजीव हो उठी। भतीजी की शादी में वे गाँव गए थे। उनकी बिरादरी के बहुत कम लोग अब गाँव में रह गए हैं। इस बार भी उनके आने का ख़ास मक़सद था। पहला यह था कि वे यह शिकायत दूर कर देंगे कि डॉक्टर बनने के बाद से उन्होंने मिलना कम कर दिया है और दूसरा यह कि इस बहाने वे संपर्क को और विस्तार देंगे। उस रात मास्टर साहब के दालान के सामने से जब वे जा रहे थे तो उनकी आवाज़ सुनकर उनके पैरों की रफ़्तार धीमी पड़ गई थी। मास्टर साहब थे। यही मास्टर साहब आठवीं कक्षा में उनके वर्ग-शिक्षक थे। हिंदी पढ़ाते थे। गाँव में इनका अच्छा दबदबा था। इन्होंने ही कभी उनके पिता को सलाह दी थी, “ए घूरन, लड़के को ज़्यादा मत पढ़ा। पढ़ लेगा तो काम नहीं करेगा। बिगड़ जाएगा।”

“पिता ने बात सुन ली थी। उनकी हाँ में हाँ मिलाई तो ज़रूर पर पढ़ने से कभी रोका नहीं। इस पढ़ाई के लिए उन्हें क्या-क्या झेलना पड़ा। एक दिन क्लास में तो हद हो गई थी।

“इ धोबियो जब पढ़ जाएगा तो हम लोग का कपड़वा कौन फीचेगा?” इसी मास्टर साहब के लड़के ने जो कि साथ पढ़ता था, सरेआम कक्षा में जब यह बात कही तो वे तिलमिला उठे थे। मास्टर साहब के पास जब यह बात पहुँची थी तो उन्होंने डपट दिया था, “क्या ग़लत कहा है?”

कुछ लोगों के साथ मास्टर साहब भी आपस में बतिया रहे थे, जब उस अँधेरी रात में उनके दालान के पास से वे गुज़र रहे थे। पूरे गाँव में उनके आने की चर्चा थी। इसकी एकमात्र वजह थी कि अगड़ी जाति बहुल उस गाँव के वे पहले दलित व्यक्ति थे जिसने एम.डी. किया और गाँव से मात्र दस किलोमीटर की दूरी पर बसे आरा शहर में अपनी प्रैक्टिस शुरू कर दी थी। तभी एक कुत्ता उन्हें देखकर भौंकने लगा। वे ठिठक गए।

“...रिजर्व कोटा के पास क्यों? हम लोग को दिखाना होगा तो किसी फ़ॉरवर्ड डॉक्टर से दिखाएँगे।” यह मास्टर साहब की गंभीर आवाज़ थी।

आरक्षण की बात सुनकर उन्होंने कहना चाहा कि सिर्फ़ कंपिटिशन तक ही न। उसके बाद ऐसा नहीं

है कि कम नंबर आने पर पास कर दिया जाएगा। उसके लिए तो निर्धारित अंक लाना अनिवार्य है। बिन बुलाए बीच में टपकना उन्हें शिष्टाचार के ख़िलाफ़ लगा।

''क्या ख़ूब कहा मास्टर साब! वाह! मान गए।'' खैनी ठोंकते हुए दूसरे ने उत्साहित किया।

''और नहीं तो क्या? फीस भी दो और जाति भी गँवाओ।'' बात ख़त्म होते ही हँसी का फ़व्वारा फूट पड़ा था।

उन्हें लगा था जैसे किसी ने पिघला हुआ शीशा कानों में उड़ेल दिया हो।

चाय ख़त्म कर वे उठ खड़े हुए। घड़ी पर नज़र पड़ी तो वे और आश्वस्त हो गए। नहीं, अभी क्लिनिक नहीं जाना है। हकीम साहब के पास थोड़ा वक़्त काट लेना है। उसके बाद...।

जब वे हकीम साहब के पास पहुँचे, शाम हो चुकी थी। हॉलनुमा कमरे में बैठे हकीम साहब के बाईं तरफ़ और तीन चौकियों पर सफ़ेद कुरता, सफ़ेद पायजामा, काला जैकेट तथा काली टोपी पहने उनके तीनों कंपाउंडर छोटे-छोटे डिब्बों में सफ़ेद, हरा, लाल, काला, पीला तथा नीले रंगों के चूर्ण, जड़ी-बूटियाँ, जानवरों की हड्डियाँ, खाल, नख, बाल आदि फैलाए बैठे थे। उनमें से दूसरा मरीजों से उलझा था। फ़ुटपाथ पर हर रोग का शर्तिया इलाज करने वालों की तसवीर उनके सामने घूम गई। संत-सा ध्यानमग्न वे एक स्थूलकाय महिला की नाड़ी थामें बैठे थे। उन्हें इस अवस्था में देखकर डॉ. प्रणव के दिमाग़ में आया कि जब वे नाड़ी देखते हैं तो उसकी गति देखते हैं, लय देखते हैं, आयतन देखते हैं, उसके चरित्र का अध्ययन करते हैं। ये क्या देखते होंगे? क्या समझते होंगे? कुछ मरीज ध्यान से उन्हें देख रहे थे। कुछ कंपाउंडरों से उलझे थे। अधिकांश अपनी बारी की प्रतीक्षा में थे।

हकीम साहब किसी से तकलीफ़ नहीं पूछते थे। वे अकसर कहते थे कि मरीज से सब पूछ लिया। उसने सब बता दिया तो आपने क्या किया? एक हिदायत वे देते कि जिसे दिखाना हो, वह ख़ाली पेट आए। सुबह उठने के बाद एक बूँद पानी मुँह में न डाले। वे नाड़ी पकड़ते और बिना एक शब्द कहे नुसख़ा लिख देते। वे ऐसा तब करते जब उनके पास मनोनुकूल भीड़ जुट जाती। हकीम साहब ग़लत नहीं कहते कि आप में लाख क़ाबिलियत है, मजमा जुटाने की कूव्वत नहीं तो सब बेकार। कोई नहीं पूछेगा।

डॉ. प्रणव के बैठते ही क्षण भर के लिए उनकी तंद्रा टूटी। फिर पूर्ववत् उन्होंने आँखें बंद कर लीं। ये सचमुच नाड़ी देखते हैं या आने-जाने वालों का जायजा लेते हैं? डॉ. प्रणव के भीतर यह सवाल उठा। थोड़ी देर बाद उन्होंने कलाई छोड़ दी। नुसख़ा नहीं लिखा था। तभी अधीर हो उठी उस थुलथुल महिला ने कंपाउंडर के चुप रहने का इशारा अनदेखा कर कहा, ''कवनो फायदा न हुआ...मरज और बढ़ गया। अब तो दरद इतना है कि उठना-बैठना पार नहीं लगता।'' उसकी छोटी-छोटी आँखों में आँसू भर आए थे। ''अब ठीक हो जाओगी। हमने दर्द बढ़ने का दवा दिया था।'' कुर्सी पर पालथी मारकर बैठे हकीम साहब की लंबी उजली दाढ़ी पर हल्की मुस्कान फैल गई थी, ''पहले दर्द बढ़ेगा। फिर धीरे-धीरे कम होगा। ग़लत खान-पान के चलते ख़ून गंदा हो गया था। अब साफ़ हो रहा है। समय लगेगा। ठीक हो जाओगी। पहले तुम्हें भूख नहीं लगती थी। क़ब्ज़ रहता था। वो सब तो ठीक है?''

''ना हकिम साहब, इ सब ना मुझे पहिले था, ना अब है। भूख एतना लगता है कि घर वाला हमरा खाने से परेशान है, हम त सिर्फ ठेहुना और कमर दरद से मरते हैं। आ माथा में थोड़ा चक्कर...लगता है, आप भूल गए। पुरजा देखिए। पैर की झिनझिनी अभी वैसे ही है।'' पूरी तकलीफ़ बयान करने का संतोष उसके गोल-मटोल चेहरे पर उभर आया था।

सिर्फ़ एक-दो बीमारी नहीं होगी उसके पास। पहला शक उन्हें डायबीटीज़ पर हुआ जो शायद डायबीटीक न्यूरोपैथी में बदल गया हो। संभव है, वजन ज़्यादा हो। रूमेट्याड आर्थ्राइटिस हो। साइकोसोमैटिक डिसऑर्डर्स...ढेरी सारी बातें उनके

दिमाग़ में घूम गईं। जब तक ढंग से जाँच नहीं होगी, सच क्या है, बताना मुश्किल था। भोजन संबंधी सुझाव में तेल, घी, शक्कर, चावल, आलू आदि मना कर देना चाहिए था। जबकि इन सबके साथ उन्होंने यह भी जोड़ दिया था कि शुद्ध घी और मधु से हानि नहीं है। लहसुन, बैगन, दही, केला, ककड़ी, खीरा, कद्दू उन्होंने मना कर दिया था।

“पैंतालीस रुपए लगेंगे,” नुसख़ा देखकर कंपाउंडर ने कहा।

“हमरा पासे त तीसे गो है।” आँचल के छोर से बँधा रुपया उसने निकाल लिया था।

“तीस में तो दस दिन की दवा मिलेगी। उससे ज़्यादा नहीं।”

“कवनो उपाय बताई। आके दे देब पनरह गो। हम त पुराने मरीज हैं। आप तो चिन्हबे करते हैं। एक बरिस से देखा रहे हैं।” उसके स्वर में नमी आ गई थी।

पैंतालीस रुपए में क्या वे ख़ुद इलाज कर पाएँगे? शायद नहीं। इस एक मरीज का परामर्श शुल्क वे छोड़ भी दें तो ख़ून, पेशाब, पाखाना जाँच तथा एक्स-रे की फीस लगेगी ही। दवा के लिए भी रखिए सौ-डेढ़ सौ। जिसके पास कम से कम तीन-चार सौ हो, वही आ सकता है उनके पास। वरना लोग तो...हकीम साहब फीस नहीं लेते। रही बात दवा की तो वह मुफ़्त कैसे दें? जितना करते हैं, वही क्या कम है?

फिर उन्हें लगा। नहीं, दरअसल ऐसा है नहीं। हकीम साहब एक मरीज से कितना वसूलते हैं, इसकी कोई सीमा नहीं है। मरीज को तब तक दवा खिलाते रहते, जब तक वह ख़ुद ना नहीं करे या ख़ुदा को प्यारा न हो जाए। पता नहीं लोग सही जगह ख़र्च करने से क्यों हिचकते हैं? सदर अस्पताल ठीक होता और नर्सिंग होम में बेहिसाब लूट-खसोट न होती तो शायद ऐसे लोगों को राहत ज़रूर मिलती।

नुसख़े पर पंद्रह रुपए बाक़ी लिखकर कंपाउंडर को पंद्रह दिनों की दवा देने की हिदायत उन्होंने दे दी थी। एहसान से दबी वह महिला पुरजा लेकर धीरे-धीरे बाहर निकल आई। उसके चेहरे पर दर्द की लकीर जस की तस थी...“इतना लोग ठीक होता तबे त इतना भीड़ है। एगो हमार तकदीर कि अबले ना ठीक भइलीं। अच्छा, भगवान के मरजी। का जाने अबकी बार दवा लह जाए।”

चाय आ चुकी थी।

“एक मरीज भेजा था।” चश्मा ठीक करने के बाद हकीम साहब ने प्याली उठाई तो उनके गौरवर्ण गर्दन से लटकती सोने की वजनदार चेन चमक उठी। मलमल के कुरते से उठती इत्र की भीनी-भीनी ख़ुशबू उनके इर्द-गिर्द फैली थी।

“उसे मैंने देख लिया। बहुत इंटरेस्टिंग केस था।” यह जानते हुए कि उनका भेजा हुआ एक भी मरीज नहीं आया है, उनके खादी जैसे सफ़ेद झूठ में हाँ मिलाते हुए उन्होंने गंभीरता से सोचा कि कैसे हकीम साहब को अपने प्रभाव में लें ताकि वे सचमुच मरीज भेजें।

हकीम साहब का असली नाम क्या है? शिक्षा कितनी है? बहुत कम लोगों को पता था। हाँ, यह शहर जानता है कि झुर्रियों भरे तीखे नाक-नक़्श वाले एक पहुँचे हुए हकीम साहब आते हैं। किसी को दवा से तो किसी को दुआ से ठीक करते हैं। उन्होंने कोई तमग़ा नहीं लटका रखा था। दरवाज़ों तथा दीवारों पर कुछ भी नहीं लिखाया था। फिर भी लोग जानते थे कि यह हकीम साहब का दवाख़ाना है। वे महीने में सिर्फ़ दो दिन आते। पचास सालों से बिलानागा इस शहर का उद्धार करते आ रहे हकीम साहब दो-ढाई सौ से कम मरीज नहीं देखते। यही संख्या तो खींच लाई थी डॉ. प्रणव को उनके पास।

हेलमेट हाथ में लिए जब वे बाहर निकले, साढ़े छह हो चुके थे। सूरज डूब चुका था। अंधकार की गहराती स्याही के साथ-साथ बढ़ती सर्दी। दस्ताना छूट जाना साल रहा था। निकले दो घंटे से ज़्यादा हो गए थे। उन्होंने स्कूटर अपने क्लिनिक की तरफ़ बढ़ाया। एक मरीज इंतज़ार कर रहा था। उसे निपटा दूसरी जगह निकलना चाहा। तभी कंपाउंडर ने सूचना दी, “सर, एक मरीज आया था। बाज़ार गया

है। बोला है, थोड़ी देर में आएगा।''

उन्होंने इंतज़ार करना बेहतर समझा। बाहर कंपाउंडर से कोई पूछ रहा था कि डॉक्टर साहब हैं? उन्हें लगा। शायद वह मरीज आ गया। वे ठीक से बैठ गए। उनके दूधिया चेहरे पर गंभीरता उतर आई थी। एप्रन ठीक कर स्टेथोस्कोप कंधे पर रख लिया था। मेज़ पर पड़ी चिकित्सा शास्त्र की अंग्रेज़ी पत्रिका उन्होंने उठा ली थी ताकि जब मरीज सामने आए तो उन्हें पत्रिका में डूबा पाए। वे शालीनता से गर्दन उठाकर आहिस्ता से बैठने का इशारा कर सके ताकि मरीज पर पहली बार में ही अच्छा प्रभाव पड़ सके। पत्रिका उठाने के पहले नज़र कमरे के चारों तरफ़ उन्होंने घुमाई। सफ़ेद दीवार पर टँगा स्वस्थ हँसते बच्चों का आकर्षक कैलेंडर। उसके ठीक नीचे टॉनिक का विज्ञापन बेजा नहीं लग रहा था। कंपाउंडर ने सफ़ाई ठीक की थी। सिर्फ़ एक जगह छोड़कर, जहाँ हलका-सा मकड़जाल था।

क्लिनिक खोले लगभग आठ महीने हो गए थे। मरीजों की संख्या में कोई ख़ास वृद्धि नहीं हुई थी। पहले हफ़्ते में जहाँ एक या दो देखते थे, अब प्रतिदिन एक नया मरीज देख लेते हैं।...क्या उन्हें भी एजेंट रखने होंगे? वह सारा तिकड़म करना होगा जो दूसरे करते हैं? यह बात मन में आते ही वह बेचैन हो उठते। सिद्धांत और समझौते के बीच अटकी ज़िंदगी की गहन से गहनतम होती परिस्थितियाँ जीने की शर्तों को इतनी दुरूह बनाती जा रही थी कि उसे स्वीकार करना संभव नहीं लगता। सोचते-सोचते बचपन की धूप-छाहीं स्मृतियों में बहुत दूर वे निकल गए।

उस समय आरा के उच्च विद्यालय में दुबला पतला-सा दिखनेवाला साधारण क़द-काठी का वह बालक आठवीं कक्षा का मेधावी छात्र था। शनिवार को वह भुट्टा तोड़ लाया था। उसे कहाँ पता था। इतनी छोटी-सी बात के लिए ऐसी सज़ा मिलेगी।

''कहाँ से लाया बेटा?'' उसके हाथ में दो भुट्टे देखकर माँ ने सवाल किया।

वह सकपका गया।

''रे बोलता क्यों नहीं?'' चाय की प्याली के पास रखते हुए माँ ने सवाल दुहराया।

''हाँ बेटा, बोलो कहाँ से लाया?'' इसी पर रख प्याली होठों से लगाने के पहले उसका हौसला बढ़ाया।

''खेत से ले आइल होई। अउर कहाँ से?'' बैठी दादी ने उसका पक्ष लिया।

''खेत से? किसके खेत से? हम लोगों के तो कोई खेत नहीं है।'' माँ की इस बात से थरथराने लगा था।

''बता दे रे पिंटुआ। बता दे।'' जब कोई तर्क सूझा तो दादी ने फिर अपनी पोपली आवाज़ कहा।

''बताने की ज़रूरत नहीं है। जहाँ से चुरा है, वहीं फेंक आ। आइंदा चोरी की तो मुझसे कोई न होगा।'' पिता की कड़कती आवाज़ वह उठ खड़ा हुआ था। जहाँ से लाया था, वहीं आया।

उनके गाँव में खेत और मज़दूरी को लेकर संघर्षों के कारण दलितों को सबक सिखाने के लिए नरसंहार का सिलसिला शुरू हो चुका था। काम-काज ठप। पूरे गाँव पर मँडराता भय और आतंक का साया। कब, कहाँ, कौन मौत के उतार दिया जाएगा, कोई नहीं जानता था। कौन-सी बस्ती उजड़ जाएगी, किसी को नहीं था। गहरी अँधेरी रात में कि दिन-दहाड़े गोलियों बौछार से कब कितनी लाशें बिछ जाएँगी, न ज़मीन जानती थी, न आसमान को पता था। पुलिस आती थी दल-बल के साथ, लेकिन ज़िंदगी जाने के बाद। सफ़ेदपोश आते थे, नरसंहार अंजाम दिए जाने के बाद। सरकारी सहायता मिलती थी, जब पूरी की पूरी टोली पलायन जाती। उनकी बिरादरी की स्थिति और भी ख़राब गई थी। ऊँची जाति के कुछ मनचलों ने खीस निकालने के लिए उनके गदहों को ज़हर दिया था। गदहों के मर जाने से न तो कपड़ों लेकर घाट जाना संभव था और न ईंट भट्ठा पर कुछ कमा पाना। रोजी-रोटी के लिए शहर

मजबूरी हो गई थी। उनके पिता भी आरा आ गए थे। किराए के मकान में ''पिंटु लॉन्ड्री'' का बोर्ड लटका काम शुरू किया। क़िस्मत ने साथ दिया। लॉन्ड्री चल पड़ी। इसी के साथ उनकी पढ़ाई में भी तेज़ी आई। शायद इसी का सुखद परिणाम था कि पहली बार में मेडिकल की संयुक्त प्रतियोगिता परीक्षा में वे चुन लिए गए। अख़बार में जिस दिन उन्होंने अपना क्रमांक देखा था, उनके पूरे बदन में ऊपर से लेकर नीचे तक अव्यक्त ख़ुशी की लहर दौड़ गई थी। उसी क्रमांक से जुड़ा अपना नाम भी उन्हें याद आया। नामों की हसीन वादियों में वे सैर करने लगे।

माँ ने बताया था, ''नया-नया जब विवाह हुआ था, तेरे दादा-दादी से झगड़कर तेरे बाबूजी मुझे सपना सिनेमा ले गए थे। उस समय तू पेट में था। फ़िल्म ख़त्म होने में कुछ देर थी, जब तेरे पापा के कान के पास मैं फुसफुसाई थी, 'एजी सुनते हैं। लड़का होगा न तो उसका नाम पिंटू रखेंगे और स्कूल का प्रणव। का भरोसा मेरा बेटा भी डॉक्टर बन जाए।' कहते-कहते चुप हो गई थी माँ।''

इसी नाम को लेकर कितनी ज़िल्लत उठानी पड़ी थी। जब मैट्रिक का प्रमाण-पत्र मिला तो वह सन्न रह गया था। उसे सहसा विश्वास नहीं हुआ था कि यह सचमुच उसी का नाम है जो प्रमाण-पत्र पर आज भी बदनुमा दाग़-सा उसकी आँखों में चुभता है। दसवीं कक्षा का वह दिन...।

''कथाकार रेणु का पूरा नाम क्या है?'' उस दिन मास्टर साहब ने पूछा तो उसने उठकर बताना चाहा।

''तुमसे नहीं पूछा जा रहा। बैठो, ज़्यादा तेज़ बनते हो। साले, ऐसी सज़ा देंगे कि जीवन भर याद रखोगे।'' गरज उठे थे मास्टर साहब। सारा वर्ग आतंकित। ऐसे भी वह डाँटते कम, बेंत का इस्तेमाल अधिक करते थे। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में ऐसी घटनाएँ हुईं कि उन्हें बेंत का मोह त्याग देना पड़ा था।

''पाठक तुम बताओ।'' वह सिर झुकाकर खड़ा हो गया।

''तिवारी तुम?'' वह भी चुप रहा।

''पांडेय?'' उसने भी जवाब नहीं दिया।

''तुम सब ब्राह्मण के नाम पर कलंक हो।'' वे झुँझला उठे थे।

उस दिन प्रणव को डाँट-फटकार कर वे शांत हो गए। इसका दीर्घकालीन परिणाम तब आया, जब मैट्रिक के प्रमाण-पत्र पर उसने अपना नाम देखा। नाम सही था। सिर्फ़ एक शब्द उसमें जोड़ दिया गया था। उसकी नज़र पड़ी तो उसे लगा जैसे किसी ने उसके चेहरे पर तेज़ाब फेंक दिया हो। मास्टर साहब ने उसके नाम को बड़ा कर दिया था। माँ-बाप ने बड़े प्यार से दो शब्दों का छोटा-सा नाम रखा था जो अब तीन शब्दों का हो गया था—प्रणव कुमार धोबी।

माँ-बाप के कठोर अनुशासन में पलकर जब वे बड़े हुए तो वही आदर्श और अनुशासन उनकी राह में रोड़े अटकाने लगे थे। चिकित्सा महाविद्यालय में शरीर-क्रिया की प्रायोगिक परीक्षा के दिन तो हद हो गई थी।

''कुछ पता भी है यार, क्या-क्या गुल खिल रहे हैं इस एग्ज़ाम में?'' उनके ग्रुप की परीक्षा से एक दिन पहले उनके दोस्त ने पूछा था।

''क्या?'' उन्होंने किताब से नज़र हटा ली थी।

''सिर्फ़ पढ़ने से कुछ नहीं होगा।''

''क्यों?''

''इस पेपर का मामला दूसरा हो गया है। अब एक्सटरनल एग्ज़ामिनर के पास चलने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं।''

''कहाँ ठहरा है वो?''

''होटल अप्सरा...तुम तो यार किताब में डूबे रहते हो। यहाँ तो सिर्फ़ पास होने के लिए पाँच सौ देने होंगे। ए ग्रुप वालों ने तो छोकरी तक सप्लाई की है। साला भयावह स्थिति है। नाइंटी परसेंट से ऊपर के लिए एक हज़ार। कुछ समझा?''

''समझना क्या है यार। मैंने तो यहाँ तक सुना है कि एक लड़के से उसकी जाति तक पूछी गई। अब बताओ जब साला नोट ले रहा है तो जाति से क्या मतलब? लेकिन जाति से मतलब है।...मैंने भी तय कर लिया है। अगर उसने हमारी लाइफ़ से

खिलवाड़ की तो हम भी छोड़ेंगे नहीं। इसके लिए किसी भी हद तक क्यों न जाना पड़े?''

''ये हुई न यार मर्दों वाली बात। अपने पूरे ग्रुप ने यही सोचा है।''

उन्होंने न तो पैसा दिया, न पैरवी की। बहुत अच्छा जवाब देने के बावजूद उस पर्चे में साधारण अंकों से वे उत्तीर्ण हो गए थे। पढ़कर, लिखकर, झगड़कर उन्होंने एम.डी. भी कर लिया था। लेकिन नौकरी अभी भी उनकी पहुँच से बाहर थी। विदेश जाने की बात भी उनके मन में आती और हल्की कचोट देकर ग़ायब हो जाती। परिवार में कम सदस्यों का होना उन्हें खलता। पिता होते और आर्थिक स्थिति मज़बूत होती तो वे हिम्मत भी जुटा पाते। लेकिन बूढ़ी माँ, बाल-बच्चे और पत्नी को किसके भरोसे छोड़कर वे बाहर निकलें। दम फूलने से माँ अलग परेशान रहती। अकेली पत्नी क्या-क्या करेगी? इन दिनों वह काफ़ी चिड़चिड़ी हो गई थी।

उस शाम जब वे घर पहुँचे, अन्यमनस्क अकेली सुनीता टी.वी. देख रही थी। बच्चे दादी के साथ अपने सहपाठी की बर्थ डे पार्टी पर गए थे। रह-रहकर सुनीता की आँखों के सामने वह सपना घूम जाता जो उसने दोपहर में पलक झपकते देखा था। वह टी.वी. के सामने बैठी ज़रूर थी, लेकिन उसका मन उस सपने की गुत्थियों को सुलझाने के प्रयास में उलझता जा रहा था। तभी कॉल बेल की मधुर आवाज़ सुनकर उसने दरवाज़ा खोला। सामने डॉ. प्रणव को देखकर उसे भला लगा था।

उसकी बग़ल में वे बैठ गए थे। रिमोट से टी.वी. को धीमाकर वह रसोई की तरफ़ चली गई थी। डॉ. प्रणव ने कपड़े बदल लिए थे। वह लौटी तो चाय के साथ तली हुई मूँगफली और नमकीन लिए। उन्हें निश्चिंत देखकर उसने कहा, ''जानते हैं, आज दोपहर में मैंने एक बहुत ख़ूबसूरत सपना देखा।''

''अच्छा! ज़रा हम भी तो सुनें कैसा था वह सपना!''

''मैंने देखा कि आप ने एक बहुत बड़ा अस्पताल खोल लिया है। इतना बड़ा कि उसके सामने दिल्ली का एम्स और मुंबई का कैंडी ब्रीच भी बौना पता नहीं ऐसी कौन-सी एमरजेंसी आ जाती है मैं आपसे मिलने जाती हूँ। मेन गेट पर अस्प के ढेर सारे डॉक्टर्स मेरी अगवानी में आ जाते हैं वे मुझे बताते हैं कि आप कहीं बाहर जा रहे हैं। हेलिपैड की तरफ़ दौड़ती हूँ। मेरे वहाँ पहुँचते-पहुँ हेलिकॉप्टर उड़ जाता है। मैं फिर पूछती हूँ। डॉक्ट साब कहाँ गए?''

''मालूम नहीं।'' सब एक साथ कहते हैं औ ग़ायब हो जाते हैं। आपको ढूँढ़ती हुई मैं अकेली भटकने लगती हूँ।

''लास्ट में क्या हुआ, सो तो बताओ?'' मूँगफली लेते हुए उन्होंने पूछा।

''होगा क्या? आप नहीं मिले।''

''मिलूँगा भी नहीं।'' चेहरे की कोमल मुस्कुराहट हँसी में तब्दील हो गई थी, ''तब मैं दिन-रा हॉस्पिटल के मैनेजमेंट में व्यस्त रहूँगा। अपने मरीजों में व्यस्त रहूँगा। बैंक बैलेंस ठीक करने में बिज़ी रहूँगा। मुझे दम मारने की फुरसत नहीं होगी। तुमसे बात करने की भी नहीं...तब मेरा रुतबा किसी कैबिनेट मिनिस्टर से कम नहीं होगा।...मुझे नोबेल प्राइज़ से सम्मानित किया जाएगा...तब तुम्हें बुझाएगा कि मैं क्या हूँ? मेरी पोज़िशन क्या है?''

''रुतबा और पोज़िशन रखिए अपने पास। आज कितने मरीज देखे?'' सुनीता की छरहरी काया खनक उठी थी।

''पाँच।'' उत्साह से भर उठे थे वे। ''इतना भी डेली रहे तो हमारी स्थिति बदल जाएगी।''

''जो बदलेगी वो तो मैं ख़ूब समझती हूँ। ऐसा ही रहा तो वह दिन दूर नहीं जब बाल-बच्चों के साथ कटोरा लिए मुझे भी सड़क पर निकल जाना पड़े। आपकी यह ईमानदारी एक दिन हम सबको ले डूबेगी। ऐसी ईमानदारी किस काम की कि हमारे बच्चों को कॉन्वेंट नसीब न हो। ए.सी. की तो बात ही छोड़िए, एक मामूली कूलर तक आप नहीं ख़रीद सके। आप ही के बैच के हैं डॉ. त्रिपाठी...देखिए उनकी शान-शौक़त! इतने कम समय में कितने आगे निकल गए, और आप...?'' उनकी पत्नी

धीरज नहीं रख पाई थी।

उसका इस तरह बोलना उन्हें अच्छा नहीं लगा था।

‘‘देखो सुनीता, इतना घबराने से कैसे होगा? अब पहले जैसा सब कुछ नहीं है कि चलो डॉक्टर अच्छा है तो दिखा लो। जानती हो। कभी-कभी सोचता हूँ तो हैरत होती है। इस आरा शहर में अधिकतर मरीज हमारी ही जाति के आते हैं हमारे पास। दूसरी जाति के बहुत कम। जबकि मैं तो सबसे मिलता-जुलता हूँ। मेरे लिए कोई बड़ा-छोटा नहीं है...लेकिन यहाँ तो मरीजों को भी अलग-अलग खेमों में बाँटा जा रहा है। तुम चाहती हो, जो दूसरे करते हैं, वही मैं करूँ। सो मुझसे नहीं होगा। मेरी आत्मा यह स्वीकार नहीं कर सकती।’’ जवाब देने के बावजूद उस रात वे सो नहीं पाए थे।

उत्तीर्ण हुए एक साल से अधिक हो गए थे। अभी तक वैकेंसी नहीं निकली थी। वे नर्सिंग होम में भी रह जाते। लेकिन इतने कम पैसे मिलते हैं वहाँ कि...काश! आर्थिक रूप से वे मज़बूत होते।...कब तक रहेगी यह स्थिति? जबकि न वे अनावश्यक जाँच लिखते हैं न कमीशन, न कमीशन वाली दवा। हमेशा उनकी कोशिश रहती, कम दवा में मरीज ठीक हो जाए। टॉनिक तक वे नहीं लिखते। कोई कहता तो उसे समझाते, ‘‘जितने पैसे आप दवा में बर्बाद करेंगे, उतने का दूध-फल लें तो ज़्यादा फ़ायदा होगा।’’

अकसर वे सोचते। इसीलिए उन्होंने मेडिकल कॉलेज में अपनी अनमोल ज़िंदगी के आठ वसंत बिताए? इसीलिए उन्होंने एम.डी. किया? माँ-बाप की हसरतें, पत्नी की आकांक्षाएँ, बच्चों के सुनहरे सपने उनकी बड़ी-बड़ी आँखों में तैरने लगते। उन्हें ‘‘हिपोक्रेटिक ओथ’’ याद आती, ‘‘मैं सत्यभाव से दृढ़तापूर्वक अपने जीवन को मानवता की सेवा के लिए अर्पित करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं अपनी अंतरात्मा की आवाज़ और चिकित्सा व्यवस्था की गरिमा के अनुरूप अपने व्यवसाय में रत रहूँगा। अपने रोगी का स्वास्थ्य मेरा सर्वप्रथम विचार-बिंदु होगा। मैं उन गोपनीयताओं का सम्मान करूँगा जो विश्वासपूर्वक मुझमें निहित की गई हैं। मैं अपनी संपूर्ण शक्ति और सामर्थ्य से चिकित्सा-व्यवसाय की उच्च एवं उदात्त परंपराओं और उनके प्रति सम्मान को बनाए रखूँगा। मैं अपने कर्तव्यों और अपने रोगियों के बीच धर्म, राष्ट्रीयता, प्रजाति, जाति, दलगत भावना या सामाजिक स्तर की भावना को नहीं आने दूँगा...मैं अपने ज्ञान का मानवता के नियमों के विरुद्ध उपयोग नहीं करूँगा। मैं यह घोषणा पूरी सत्यनिष्ठा के साथ, स्वतंत्रतापूर्वक और आदर भाव से करता हूँ।’’ उस समय क्या पता था कि डिग्री मिलने के बाद उन्हें वैसे लोगों से पाला पड़ेगा जिन्हें सिर्फ़ अक्षर ज्ञान है कि वे ही पूरे समाज के संचालक हैं कि इन्हीं का सिक्का सरे-बाज़ार चलता है कि...

प्लाईवुड और काँच की दीवार से दो भागों में बँटा आठ बाइ चौदह का वह कमरा जो कि डॉ. प्रणव का क्लिनिक था, उदास लग रहा था। एकदम वीरान। बाहर छोटे-से स्टूल पर बैठा अलसाया कंपाउंडर। मरीजों के इंतज़ार में मुँहबाई ख़ाली कुर्सियाँ, बेंच और चौकियाँ। बिजली गुल थी। मिट्टी तेल का लैंप वीरानापन को और बढ़ा रहा था। सड़क पर जितनी चहल-पहल थी क्लिनिक में उतनी ही ख़ामोशी। उस ख़ामोशी के साथ गहराता एक सर्द सन्नाटा। इसी गहराते सर्द सन्नाटे को चीरती कंपाउंडर की सहज आवाज़ गूँज उठी, ‘‘सर! वह मरीज आ गया।’’

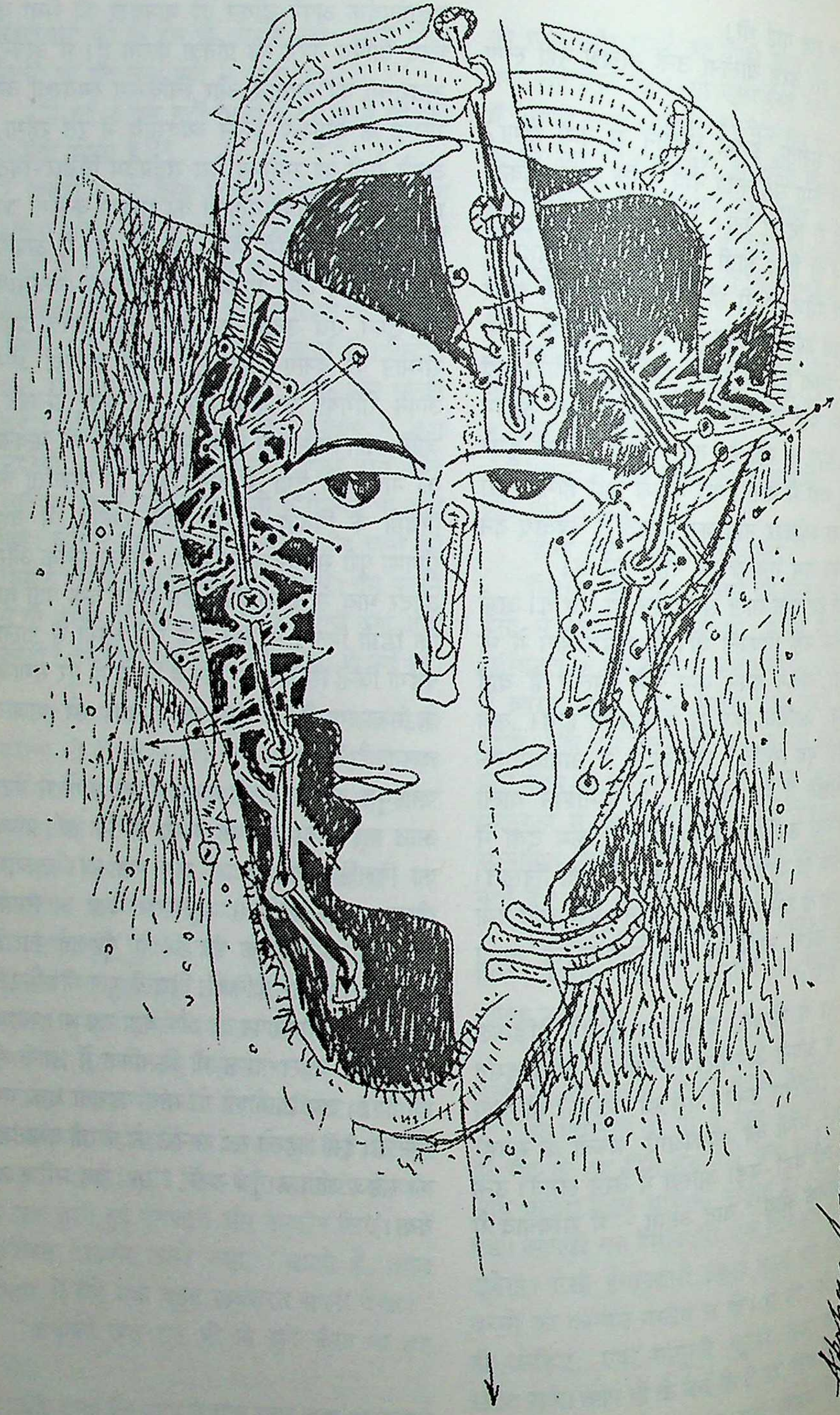

कविता

हिंदी

देवेंद्र शर्मा ''इंद्र''

ग़ज़ल

एक

डगर में साथ-साथ हैं, न घर में तुम, न घर में हम
न कोई फिर भी गुफ़्तगू[1] सफ़र में तुम, सफ़र में हम

अलग-अलग हैं बस्तियाँ, जुदा जुदा भी हैं पते
हमारे ख़त मिले तुम्हें, शहर में तुम, शहर में हम

मकाम है वो कौन सा जहाँ पे वो नहीं रहे
वो देखता सभी को है, नज़र में तुम, नज़र में हम

तुम्हारे पास रूप है, हमारे पास रंग है
जो फूल तुम, तो बर्ग[2] हम, शजर में तुम, शजर में हम

ख़ुदा-ओ-नाख़ुदा[3] सभी बचाने तुम को आ गए
हमारी कश्ती डूबती, भँवर में तुम, भँवर में हम

तुम एक इश्तहार हो, हैं ज़िक्र-ए-नागवार[4] हम
ज़बां पे तुम, ज़ेहन में हम, ख़बर में तुम, ख़बर में हम

न हमने ही की रौशनी, न तुम जला सके शमअ
हो नूर[5] तुम तो नार[6] हम, शरर[7] में तुम, शरर में हम।

दो

अश्क-बरदार[8] हूँ मैं मुझको हिमाला कहिए
साहिल-ए-गंग-ओ-जमन[9] पर का शिवाला कहिए

मैं न रिसता हूँ न भरता कभी दौरान-ए-सफ़र
गर मुनासिब हो मुझे पाँव का छाला कहिए

होता नादिम[10] हूँ मैं काग़ज़ व क़लम छूते ही
आप चाहें तो भले शाइर-ए-आला[11] कहिए

मीर-ओ-ग़ालिब के तसव्वर[12] का हूँ क़ायल यूँ तो
आप फ़िलहाल तो एक और निराला कहिए

देवेंद्र शर्मा 'इंद्र' का जन्म 1934 में हुआ। इनकी लगभग 30 पुस्तकें—खंडकाव्य, नवगीत संग्रह, समीक्षा, संपादित आदि प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 10/61, सेक्टर-III, राजेंद्र नगर, साहिबाबाद, ग़ाज़ियाबाद 201005 (उ. प्र.)

---

1. संवाद, 2. पत्ते, 3. ईश्वर और केवट, 4. जिसकी चर्चा भी अस्वीकार हो, 5. प्रकाश, 6. अग्नि, 7. चिनगारी, 8. अश्रुओं का भारवाहक, 9. गंगा-यमुना का तटवर्ती, 10. संकोचग्रस्त, 11. महान् कवि, 12. कल्पना

शेर और शे'र की ख़ूँख़्वारी से हूँ, ख़ौफ़ज़दा
हा मेरी आँख को फ़िलवक़्त गज़ाला[1] कहिए

मैं हूँ एक क़ब्र पे जलता हुआ सहमा सा चराग़
कब ये कहता हूँ कि सूरज का उजाला कहिए

जिसको पढ़ता न कोई और नहीं सुनता हो
छोटे क़सबे का मुझे ऐसा रिसाला[2] कहिए।

तीन

न हों कुर्बतें[3], न रफ़ाक़तें[4], न हों कम कभी भी ये हादिसे[5]
हों तवील[6] से भी तवीलतर यूँ ही हुस्न-ओ-इश्क के फ़ासले

मुझे और कुछ भी न चाहिए तेरा रहम-ओ-करम[7] बना रहे
मैं ये ताज फिर से न गढ़ सकूँ मेरे बाज़ुओं को तराश दे

नए नख़्ल[8] के नए बर्ग[9] पे है नज़र सभी की लगी हुई
हमें इंतिज़ार बहार का क्यूँ है बेकरार किए हुए

मैं पकड़ने ख़्वाबों की तितलियाँ गया जुगनुओं के मज़ार तक
मुझे तीरगी न मिली कहीं दिखे रौशनी के मुग़ालते

रह-ए-दश्त[10] के किसी मोड़ पर किसी ख़ुश्क पेड़ की छाँव में
मैं बुझा हुआ वो चराग़ हूँ जिसे तुम जला के थे रख गए

जहाँ सबकी आमद-ओ-रफ़्त[11] थी उसी रहगुज़र में खड़ा हुआ
बुत-ए-संग[12] में हूँ मैं ढल गया किसी सामिरी[13] की निगाह से

मेरे क़ल्ब[14] में कोई ज़लज़ला[15] अभी करवटें है बदल रहा
न वो आईना है मिला अभी मुझे ख़ुद में जो कि उतार ले।

चार

हम रह रहे हैं वो जगह वीरान बहुत है
सच है, वहाँ का रास्ता सुनसान बहुत है

ता-उम्र वस्ल[16] आपका होगा नहीं नसीब
ख़्वाबों में मुलाकात का अहसान बहुत है

क्यों मुब्तिला हैं आप ख़रीद-ओ-फ़रोख़्त[17] में
जीने के नाम मौत का सामान बहुत है

---

1. हिरनी, 2. पत्रिका, 3. निकटता, 4. प्रेम, 5. दुर्घटनाएँ, 6. लंबे, 7. कृपा-करुणा, 8. वृक्ष, 9. पत्र, 10. वन-पथ, 11. आवागमन, 12. प्रस्तर-प्रतिमा, 13. मायावी, 14. हृदय, 15. प्लावन-भूकंप, 16 मिलन, 17. क्रय-विक्रय

दूकान में सजाइए मत यूँ हुजूम-ए-जिंस[1]
बिकने के वास्ते फ़क़त ईमान बहुत है

मत दोस्ती का कीजिए ये दायरा वसीअ[2]
ख़ुद अपने ही से आपकी पहचान बहुत है

जो था सफ़र में, लुट गया वो रहबरों के बीच
जो बच रहा वो मीर का दीवान बहुत है

बेहतर यही है शोर में ख़ामोश हम रहें
कहना ग़ज़ल का आजकल आसान बहुत है

मानिक बच्छावत

समुद्र मुझे बुलाता है

समुद्र मुझे बुलाता है
और
मैं चला जाता हूँ।
उसके किनारों पर
खड़ा हो जाता हूँ
दोनों बाहें फैलाकर
उसकी विराटता का
अनुभव करता हूँ
पर अपने को
उसके आगे
कभी क्षुद्र महसूस नहीं करता।

वह हुँकारता है—दहाड़ता है
उछलता है
लपककर मेरी
ओर आता है
पर मैं
नहीं घबराता हूँ
क्योंकि मैं
जानता हूँ
नाविक दुर्बल होते हुए भी
उसकी छाती चीरते हैं

1938 में जन्मे मानिक बच्छावत का जन्म कोलकाता में हुआ। इनके पाँच कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : 20, बालमुकुंद मक्कर रोड, कोलकाता 700002

---

1. वस्तुओं का ढेर, 2. व्यापक।

वे मीलों तक उस पर
चलते हैं
न डरते हैं न थकते हैं
वह उनका
कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

मैं कई बार गया
प्रशांत, अरब, हिंद
महासागर अतलांत में
लगा वैसे ही जैसे
प्राचीनकाल में
लोग
अपने जहाज़ लेकर गए
दुनियाँ के इस कोने से
उस कोने तक
करते रहे दिग्विजय
वैसे ही मैं
निर्भीक विचरता रहा
जल में
जब-जब लौटा
कल में
मेरे कानों में आवाज़ें
गुनगुनाईं।
लगा जैसे
वह मुझे बुला रहा है
और मैं फिर
तैय्यार हूँ
जाने के लिए
समुद्र से अठखेलियाँ
करने के लिए।

मछुआरे

एक नाव दूर से आ रही थी
समुद्र की छाती पर
थपेड़े खा रही थी
तट से देखने पर
लगता था
कोई हल्की-सी

पतली रस्सी जैसी
चीज़ लहरों पर
दौड़ रही है
आँखों से होकर
धमनियों में
उतर रही है।

पहले तो ऐसा ही
लगता था
पर ज्यों-ज्यों वह
नज़दीक आ रही थी
उसकी आकृति उभर रही थी
अंत में
सब कुछ स्पष्ट हो गया
वह एक बड़ी पतली
नाव ही थी
जिस पर दो
मछुआरे थे
वे दूर निकल गए थे
मछलियाँ पकड़ने और
वे अब तट पर
आ चुके थे।
उनके जाल में मछलियाँ भरी थीं
वे बहुत जल्दी में थे
डरे-डरे थे
उन्हें भय था कहीं
मछलियाँ मर न जाएँ
उनकी पत्नियाँ तट पर
बर्फ़ की थैलियाँ लिए
खड़ी थीं
मछलियाँ उनकी
रोज़ी-रोटी थी
यदि वे मर गईं तो
वे भूखे मर जाएँगे
क्या खाएँगे।

इस तरह वे रोज़
समुद्र में जाते
मछलियाँ पकड़ते

समुद्र उन्हें कुछ नहीं
कहता
वह उन्हें मछलियाँ
पकड़ने देता
वे समुद्र को अपना
देवता समझते और
भीतर जाने के पहले
नारियल फोड़कर
प्रणाम कर आते।

राजाराम भादू

शब्दों की दुनिया

जैसे टूटती है एक चट्टान
फूट पड़ता है निर्झर
कल-कल करता
वैसे टूटता है एक भ्रम
फूट पड़ते हैं विचार
शब्द-शब्द झरते

मैंने रची है शब्दों की दुनियाँ
बिंब-दर-बिंब
जैसे पक्षी बनाते हैं नीड़
तिनका-तिनका संजोकर

क्या शब्दों से बन सकता है घोंसला
छुपा सकूँ जिसमें अपना सिर
बच सकूँ आँधी के थपेड़ों और शीत के
प्रकोप से

नहीं नहीं बनता शब्दों से कुछ

शब्दों की दुनिया में
आकाशचारी बन रहना है

धुआँ

यह धुआँ है
धुआँ से कुछ भी नज़र नहीं आता
मेरे इर्द-गिर्द फैला धुआँ

राजाराम भादू की कविताएँ एवं समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : 43, हिम्मत नगर, टोंक रोड, जयपुर 302018

अगरचे में आँच हूँ आँच

तुम्हारी आँखें जलती हैं मेरे इर्द-गिर्द
फैले धुएँ से
तुम आँखें मलती मुझे ढूँढ़ती बढ़ रही हो
तुम्हें आशंका थी मैं एक दिन
धुएँ के बीच खो जाऊँगा
मैं तमाम कूड़ा-करकट कबाड़
इकट्ठा कर रहा था अपने गिर्द
बहुत दिनों से

तुम्हें पता था किसी दिन मुझे सनक चढ़ेगी
और इस कूड़े के ढेर को
एक तीली दिखा दूँगा

तुम बेतहाशा आगे बढ़ती हो
अभी मुझे छू लोगी जैसे
मुझे टटोलने का उपक्रम करतीं

मैं तुम्हें पाना चाहता हूँ अपने
आलिंगन में
आख़िरी बार
ओह, कितनी देर हो चुकी
अंत कैसे आ जाता है एकाएक

हाथ नहीं आती छायाएँ

अस्तित्व का ठोस प्रमाण है छाया
ख़ुद को छूती और ख़ुद से दूर
अपने सदैव नज़दीक और नितांत
असंपृक्त

अँधेरे में साथ छोड़ देती है छाया
तब हमें ख़ुद ही अपने अस्तित्व की
गवाही देनी होती है
जितनी रोशनी गिरती है तिरछे कोण से
छाया उतनी ही होती है लंबाकार
जब प्रकाश सीधे सिर पर पड़ता है
छायाएँ ख़ुद हममें समा जाती हैं

छायाएँ जो हमारे साथ जन्मी हैं
और जो हमारे अदृश्य होने के

साथ अदृश्य हो जाती हैं
कहते हैं कि हम स्वयं अदृश्य
छायाओं में बदल जाते हैं
हमारे पास रहकर भी हमसे
कितनी दूर हैं वे
छायाएँ कभी नहीं करती संवाद
हाथ नहीं आती छायाएँ

मैं अपनी छाया से
मुक्त होना चाहता हूँ
तो वह मुझ पर छा जाती है
एक प्रेतछाया बनकर

उत्खनन के लिए प्रतिश्रुत

और तो कुछ बचा नहीं कहीं
मेरे जीवन में, खोदो
वहाँ निकलेगा एक खंडहर

खंडहर जिसमें अब भी साबुत हैं
समानांतर सड़कें
स्वच्छता की वाहक नालियाँ

एक खंडहर है जो पर्याप्त संकेत देता है
मेरे स्वप्नों के चिंतन का
हालाँकि आप शायद न मालूम कर सकें
इसके शिखर कैसे हुए ध्वस्त

बहुत-सी सामग्री है जो बताएगी
मेरी संस्कृति का नक़्शा
अधूरी कविताएँ, आलेख और
डायरियाँ
लोगों की चिट्ठियों से पता चलेगा
मेरे संपर्कों का तंतुजाल

कैसे मैं एक दिन खंडहर में बदल गया
और मेरे पर छा गईं
समय की अनंत परतें
यह मुद्दा बहस-तलब ही रहेगा
वर्षों तक

लेकिन मित्रों, मेरा उत्खनन तो करो

मुझे भरोसा है मैंने एक क़ाबिल
सभ्यता जी
ध्वस्त हो दबने से पहले अनंत के

क्या मेरे आत्मघात की यह सफ़ाई
पर्याप्त नहीं है

विजय राठौर

सॉनेट

एक

सिर पर पल्लू ढापे पत्थर तोड़ रही है,
है वह घर की लाज मगर झेले निर्वासन,
अंतःपुर की रानी बैठी, पत्थर आसन,
श्रम धागों से ख़ुद से ख़ुद को जोड़ रही है।

दो बाँसों में टिका हुआ कपड़े का झूला,
जिस पर उसका लाल रतन सोया करता है,
लगे दूध की प्यास तभी रोया करता है,
जी करके अभाव में भी है फूला-फूला।

हाथों में पूरी ताक़त से पकड़ हथौड़ी,
तोड़ रही है गिट्टी हर पल बहा पसीना,
हार नहीं मानेगी हो जिस हाल में जीना,
भले हार जाए यह ज़िंदगी निगोड़ी।

माथे पर पल भर भी न टिक पाए हताशा,
ज्योतिपुंज की भाँति लिए आँखों में आशा।

दो

अभी छंद होठों पर आने को आतुर है
अभी पड़ोसी ने ही मुझको गाली दी है
अभी दोस्त ने मेरी भारी चुगली की है
अभी आँसुओं में लिपटे मौसम के सुर हैं।

अभी मचानों पर भी लोग रहा करते हैं
अभी पेड़ की छालों को है बसन बनाते
अभी हिरन को मार आग में मांस पकाते
अभी जंगली उनको लोग कहा करते हैं।

अभी सत्य का डंका बजना भी बाक़ी है

विजय राठौर का जन्म 1950 में हुआ। अंजुरी भर धूप, हमें एक ईश्वर चाहिए (कविता-संग्रह) प्रकाशित। संपर्क : गट्टानी कन्याशाला के सामने, जांजगीर-चांपा (छत्तीसगढ़) 495668

अभी झूठ ने नहीं ज़रा भी उड़ना छोड़ा
अभी स्वप्न का दौड़ रहा है सरपट घोड़ा
अभी हमारे मानस में वर्दी ख़ाकी है।

ज़रा शांत हो जाए वातावरण तो कहूँ
छंदों के तानों में मैं निःशंक हो रहूँ।

तीन

मुझको तुम इतिहास समझ कर भूल न जाना।
जैसे जीवित है तरुवर पशु-पक्षी सारे
जैसे जीवित कीट-पतंगे और लताएँ
वैसे ही जीवित हूँ मैं जाना-पहचाना

अपने जीवित होने का प्रमाण मैं दूँगा
अक्षर-अक्षर से कविता के जाले बुनकर
पिरो-पिरो कर धरूँ सभी के आँसू चुनकर
थोड़ा-थोड़ा ताप सभी का मैं हर लूँगा।

मुझको हर पल अपने ही क़रीब पाओगे।
आँसू, पीड़ा, टूटन और संत्रास झेलते
पथरीली राहों में कंटक जाल फेंकते।
जब-जब मेरे गीतों को सस्वर गाओगे।

इसीलिए मेरे शब्दों को रखो सँभाले।
समय बहाए नहीं, काल न इसको खा ले।

चार

जाने किस कारण से फिर हिल उठी इला,
किसने काटे वृक्ष दिए कोहरे के बादल,
तार-तार ओजोन परत को करके पलपल,
किसने दोहन किया धरा का और क्या मिला।

अब गाँवों का कोई नाम निशान नहीं है,
अब तो केवल सन्नाटों का राज चल रहा,
या तो गलती लाश या कि बस हृदय गल रहा,
कहीं पेट है अलग, सिर पड़ा और कहीं है।

भय से अब तो सड़कों पर ही सोते मानव,
सिर्फ़ भयातुर आँखें हैं सपनों से ख़ाली,
मिटी कली की कोमलता, फूलों की लाली,
हाहाकार मचाता है विध्वंशक दानव।

फिर भी धीरज धरकर ही सब सहना होगा,
धरा हमारी माँ, आँचल में रहना होगा।

रमेश प्रजापति

दुख

एक

दुख
नारियल के कवच-सा
दुख—
अनगिनत उलझी हुई लड़ियों-सा
जितना सुलझाओ
उलझ जाते हैं उतना ही

दुख से भरी रातें
नहीं मापी जा सकती
नींद और सपनों से

दुख—
टीसता है हमारे हृदय में
पैर में चुभे नागफनी काँटे-सा
दुख
आता है बिन बुलाए मेहमान-सा
परछाईंयाँ तक छोड़ देती हैं हमारा साथ

दुख—
गिरता है जीवन की इंद्रधनुषी ख़ुशियों में
गर्म दूध में नौसादर-सा

दुख के कड़वे घूँट को
पी जाता है दिनभर का थका-हारा मज़दूर
चाय की मीठी चुसकियों-सा

दुख सहना पहाड़ होना है
दुख से सराबोर नदी को
पार कर जाते हैं हम
उम्मीद की डोंगी से।

रमेश प्रजापति की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : सी-10/6, यमुना विहार, दिल्ली 110053

दो

दुख–
जिस घर के आँगन में
करता है नृत्य
वहाँ नहीं गूँजती
हथेलियों की गड़गड़ाहट
बल्कि हथेलियाँ थामे रखती हैं
चकराते सिर को
वहाँ नहीं गूँजते हँसी के ठहाके
बल्कि सबके चेहरे पर
छाई होती है ख़ामोशी
पानी पर काई की तरह

गुम हो जाती है हवा
चुप्पी के गहरे दर्द में
डूबा रहता है घर का पूरा वातावरण
चुपचाप हो जाते हैं हम शामिल
अनजान दुख में

दुख के बादल
बरसते हैं कुछ इस तरह
बह जाता है जिसकी बाढ़ में
नाव सहित किसी का छोटा भाई
माँ की आँखों का प्यारा फूल
किसी की ख़ुशियों का सहारा

कभी-कभी
ख़ुशी आने से पहले ही
बैठ जाता है आकर दुख
हमारी गोद में।

चिंता

आकाश बेल-सी
बढ़ती चिंता
छा जाती है हमारे वजूद पर

चिड़ियों के उड़ने पर
टहनियों की चिंता
पत्तियों से झरती हैं मोतियों-सी

माँ की चिंता
झरती है रात-दिन
घुन लगी लकड़ी के चून-सी

पिता उठ जाते खाने की थाली से
जब करने आता साहूकार
मूल के साथ-साथ सूद का हिसाब
थाली में रखी देर तक सूखी रोटियाँ
ताकती रहती पूरे घर का
चिंता की नदी में डूबा चेहरा

रोज़ खड़ी मिलती है
कहीं-न-कहीं नई वेश-भूषा में
दामन पकड़कर हो लेती है साथ-साथ धूल-मिट्टी-सी
रोज़ जकड़कर नागफाँस में
देती हैं यातनाएँ

चिंता गिरती है जीवन के दूध में
नींबू के रस-सी।

पिसता है अँधेरा

चमगादड़ बुनते हैं ताना-बाना
अँधेरे की चादर का
जेठ-सा अँधेरा
ओढ़ाता है चुपचाप अपनी चादर
दुल्हन-सी संध्या-सुंदरी को

अँधेरे में
मछली की आँख-सी
डबडबाती है माँ की आँख

अँधेरे में
हाथ का स्पर्श ही बहुत है
ढाढ़स बँधाने के लिए
रात रानी होती है पूरे शबाब पर
बच्चे की किलकारी
भेदकर अँधेरे की कठोर दीवार को
पहुँचती है गाँव के
एक छोर से दूसरे छोर तक

चूहा कुतरता है अँधेरे को

रोटी के टुकड़े-सा
बाबा के हुक़्क़े से धुआँ-सा उड़ता है अँधेरा
यदा कदा टिमटिमाते जुगनूँ
झाँकते हैं अँधेरे की चादर से

जब होते हैं हम
नींद के ख़ूबसूरत आख़िरी पड़ाव में
तब पिसकर अँधेरा माँ की चक्की से
गिरता है सुबह की परात में
गेहूँ के आटे-सा।

पूरा हँसता चेहरा

आजकल
आसान बात नहीं मिलना
किसी का पूरा हँसता चेहरा

मुँह-अँधेरे
तोड़ते हैं पार्कों के मौन को
हमारे बुज़ुर्गों के ज़बरदस्ती लगाए
हँसी के ठहाके

लड़कियों की अल्हड़ हँसी
क़ैद हो गई जाकर
किसी अनजान आँगन की चारदीवारी में

माँ की हँसी में
बहती है दुखों की गंगा-जमुना

फूलों की हँसी
काँप रही टहनी पर

पत्नी की हँसी में
चमकता है महीने भर का
घर का बजट

बच्चों की हँसी
चाट गई किताबें

मैंने एक बार की हँसने की नाकाम कोशिश
कि तभी आकर गिरा
मेरी अधूरी कविता पर
चिड़िया का नीला पंख।

राजेंद्र कुमार कनौजिया

उम्मीद

फिर भी बनी रहेगी
जीने की उम्मीद
जब तक बहती रहेंगी
साँसों में तैरती
मेघ की फुहारें
पछुवा की नर्मी
शीत की बरछियाँ
और फागुन के बासंती रंग
बनी रहेगी जीने की
उम्मीद तब भी
जब तक जलती रहेगी
सूरज की भट्टी
नानी कातेगी सूत
चाँद के आँगन में
घूमती रहेगी, धरती
की गेंद अंतरिक्ष में
बहती रहेगी पहाड़ों की
टूटी मटकी, नदियों के
गलियारों में
बचे या ना बचे कुछ भी
मगर तय है
जब तक आते रहेंगे
मेरे सपनों में
बाघ, बिलैया और बापू
जब तक घरौंदे बनाएगी
गीली रेत से मेरी बेटी
जब-तक नहीं टूटेगी
चींटियों की क़दमताल
जब तक तोतों के
कुतरने से बचा रहेगा
एक भी अमरूद
बनी रहेगी जीने की उम्मीद
हमारी तुम्हारी आँखों में

राजेंद्र कुमार कनौजिया की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही है। संपर्क : 49/14, बंग्लों रोड, कमला नगर, दिल्ली 110007

दरवाज़े

कोई आए या
कोई ना आए
हम तो
दरवाज़े हैं
खुलते हैं
बंद होते हैं!

नुक़सान

बाढ़ में
खो गया सब कुछ मेरा
वो मेरा दोस्त
मेरे कांधे पर
चढ़कर निकला

दीमक

लौटेंगे, एक दिन
सारे के सारे
सूखे, मुरझाए पेड़
अपनी-अपनी
जड़ों, मिट्टी, पानी
नाइट्रोजन की तरफ़
कुर्सियों, दरवाज़ों
चौखटों, पलंगों,
ताबूतों में बदले
कटे-फटे पेड़
पथरीली रेत
कंक्रीट, तारकोल
की धड़क से दूर
अपनी-अपनी
गीली-सोंधी
हरी-भरी
धरती की गोद में
सँभाले, अपने साथ
चिड़ियों के घोंसले
घोंसलों में अंडे,

चूजे, दाने
बच्चों की पतंगें
क़समों-वादों की
कच्ची डोर
गुच्छे भर-भर
फूल-सुगंध
और कहीं मन के
गहरे कोटर में
धक-धक करती
टूटती-काटती
यादों की दीमक

शेख मोहम्मद कल्याण

बहुत दिनों बाद

बहुत दिनों बाद
कोयल ने सुर में गाया
कवियों ने
रची कविताएँ
बाग़ों में नाचे मोर।

रंगीन मछलियों ने
आसमान नापा
आतंकित ख़रगोशों ने ज़मीन
और
अपनी ही व्यवस्था के विरुद्ध
कईयों ने चीख़ें मारी
एक साथ

बहुत दिनों बाद।

हम नहीं होते वहाँ

हम नहीं होते वहाँ
जहाँ होना होता है हमें
हम उड़ रहे होते हैं दूर परियों के देश
तलाश कर रहे होते हैं
भविष्य सँवारने की चाबी।

शेख मोहम्मद कल्याण की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही है। संपर्क : 505/2, नरवाल पाई सतवारी, जम्मू 180003 (जे एंड के)

हम ढो रहे होते हैं
अपनी नन्ही पीठ पर कई, कई
ज़िंदगियों का बोझ।
हम होते हैं
उन कमज़ोर लम्हों के आसपास कहीं
जिन्हें गुज़ार रही होती हैं
कई पीढ़ियाँ
पीढ़ियों के आने तक।

हम तितली हो जाना चाहते हैं
और चाहत के रंगों में
रंग देना चाहते हैं
धरती की काली रातों को
चटक तितलियों-सा।

हमें होना चाहिए
बच्चों के बस्तों में
किताबों की जगह
पर,
हम नहीं होते तो बस
वहीं नहीं होते
जहाँ होना होता है हमें।

छूमंतर

कारख़ाने की कालिख से पुते हाथ
घुटनों पर टिकाए
मालिक की मार से तंग आकर
भागा हुआ एक बच्चा
बैठा है
निठल्ले साधुओं की टोली में
पेड़ के नीचे
बीड़ी का कश लेना सीख रहा है
धुएँ के छल्लों में खोज रहा है
अपनी किलकारियाँ और सपने
वह सुन रहा है क़िस्से
राक्षसों के,
देवताओं के और
उड़नखटोले में उड़ती हुई

परियों की कहानियाँ।

साधु दे रहे हैं
बारी बारी झोले से निकाल कर भभूत
छुड़ा लेगी जो उसे
भूख के चंगुल से
क्या सचमुच भर देगी भभूत
उसके बस्ते में ढेर सारी किताबें, खिलौने और मिठाईयाँ
और बना देगी छूमंतर से बड़ा आदमी
बच्चा अपनी हथेली फैलाए
जानना चाह रहा है?

राहुल राजेश

पाखी के लिए विदा-गीत

1.

भोर का तारा अभी ढला नहीं
रात की स्याही अभी मिटी नहीं है
आँखों में सपनों की रोशनी
अभी बाक़ी है
और हाथों में तुम्हारे हाथों की
गरमाहट

कैसे कह दूँ
तुम मुझे छोड़कर
कब की जा चुकी हो

2.

आँखें बेवजह आँसुओं से
भर गई हैं
और पाँव बेवजह बोझिल

तुम्हें अलविदा कहने को उठे हाथ
सुन्न हो रहे हैं बेवजह

एक मैं ही यहाँ
विदा करने थोड़े आया हूँ

एक अकेली तुम ही थोड़े
दूर देश जा रही हो

28 वर्ष के राहुल राजेश की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : कोयला खान भविष्य निधि, डी-III, धनबाद 826001

3.

यह जो घास की नोंक पर
ओस की बूँद टिकी हुई है न

बिलकुल तुम्हारी नाक पर टिके
ग़ुस्से की तरह चमक रही है

और धनिए की इन पत्तियों में
तुम्हारी यादें महक रही हैं

मैं बहुत ख़ुश हूँ
तुम्हारे जाने के बाद
ये घास उगना बंद नहीं हुई

और न ही इन पत्तियों की
गंध मुझे अटपटी लगी

4.

पानी कब से खौल
रहा है और मैं
चाय की पत्ती डालना
भूल गया हूँ

मुझे लगा अभी तुम आओगी
और पत्ती डाल जाओगी

लेकिन भला कहीं
ऐसा होता है

लेकिन ऐसा सोचने में
हर्ज भी क्या है

5.

वह ट्रेन लौट आई है
जिस पर तुम बैठकर गई थी

तुम्हारी सीट अभी ख़ाली है
जल्दी ही कोई बैठ जाएगा

वही ट्रेन वही सीट वही प्लेटफ़ॉर्म
केवल यात्री बदल जाते हैं
और तारीख़ें

तो फिर मुझे यहाँ
खड़ा नहीं रहना चाहिए
फिर से लड़ाई के मैदान में
कूद जाना चाहिए

वरना सबकी तरह
तुम भी कहोगी
तुम्हारे जाने के बाद
मुझमें लड़ने की
ताक़त नहीं रही

मुझे पसंद हैं ऐसी लड़कियाँ

मुझे पसंद हैं ऐसी लड़कियाँ
जो सड़कों पर गर्दन झुकाकर नहीं
सीना तानकर चले
नज़रें झुकाकर नहीं
आँखों में आँखें डालकर बात करें
दोस्ती न भी हो तो भी
दोस्तों की तरह बतियाएँ

मुझे पसंद हैं ऐसी लड़कियाँ
जो प्यार को बस प्यार न समझें
केवल इम्तहान में नहीं
ज़िंदगी के हर खेल में अव्वल आएँ
मुसीबत आने पर अँगूठे से
ज़मीन न कुरेदें
मुट्ठियाँ तान लड़ने निकल जाएँ

मुझे पसंद है ऐसी लड़कियाँ
जो केवल ब्याह हो जाने तक
स्कूल-कॉलेज न जाएँ
आसमां फतह कर लेने के
मंसूबे बाँध घर से क़दम बढ़ाएँ

मुझे पसंद है ऐसी लड़कियाँ
जो खुलकर अपने फ़ैसले जताएँ
गोरी होने के चक्कर में
वक़्त न गँवाएँ
और अपनी मर्ज़ी से ब्याह रचाएँ

मुझे पसंद है ऐसी लड़कियाँ
जो केवल माँ बहन बेटी बीवी
बनकर न रह जाएँ
एक अदद किरदार निभाएँ

मुझे पसंद हैं ऐसी लड़कियाँ
जो केवल वक़्त आने पर ही नहीं
वक़्त वक़्त पर मर्दों को
उनकी औक़ात बताएँ

एक अनाधुनिक प्रणय निवेदन

सारा दिन जी तोड़ खटें
साँझ पहर घर लौटें तो
हाथों पर हाथ धरें
जीने का बल दें

कहना-सुनना सब बाद में
पहले पूछें, सब ठीक रहा तो
काम पूरा करके आए तो
किसी को ठेस नहीं पहुँचाए तो

थोड़ा सुस्ताएँ, थोड़ा आराम करें
थोड़ी अपनी, थोड़ी चिड़िया-चुरगुन की
थोड़ी मिट्टी-पानी, थोड़ी पास-पड़ोस की
बात करें

थोड़ी-बहुत यदि भूल-चूक हो जाए
तो थोड़ा डाँटें, थोड़ा माफ़ करें

कभी हारें-टूटें तो
मन में उल्लास भरें
जितना है कम नहीं
मन में यह आस धरें

थोड़ा एक—दूजे पर
थोड़ा ख़ुद पर
थोड़ा इस जग पर
विश्वास करें

हमारा जीना बोझ न हो धरती पर
पग पग ऐसे बढ़ें

चाहता हूँ एक दूजे को
हम ऐसे वरें।

पिता का वसीयतनामा

नए कपड़े पहनो ज़रूर
लेकिन पुराने कपड़ों से भी रक्खो मोह
कि इसी में बसता बीते दिनों का स्वाद

लौटो ईश्वर की तरफ़
कुछ अलग तरह से

पेड़ को ही मानो देवता
धरती को ही माँ
पहाड़ को ही पिता

द्वारका से अयोध्या तक
काशी से काबा तक
कहीं भी जाओ
इन्हें ही पूजना

मत लेना कभी किसी की आह
कुछ माँगना ही हो तो
बस माँगना थोड़ा-सा आशीर्वाद

देना ही हो कुछ तो
देना अपना विश्वास

माटी की ये दुनिया
माटी की ये ज़िंदगी
माटी में ही मिल जाना एक दिन

माटी जैसा जीना सीखो
माटी जैसा होना

माटी-सा नरम नहीं कुछ
माटी-सा नहीं कोई ताक़तवर

बुरा बनने का भी हक़ है तुम्हें
लेकिन भला बने रहने का हक़ भी
तुमसे कोई छीन नहीं सकता

कह नहीं सकता
ट्रेड टावर, क़ाबुल या इराक पर

बम बरसाने वालों के बारे में
लेकिन मैंने जो कुछ भी दिया है तुम्हें
वह कम नहीं, सबसे ज़रूरी चीज़ें हैं

सच्च की ख़ातिर हक़ की ख़ातिर
लड़ने के लिए।

माँ

एक

जहाँ
ठहर जाए

वहीं घर

जिसे
छू ले

वही तुलसी

जिसे
पुकार दे

वही बेटा!

दो

जब
जागे

तब बिहान

जब
पूजे

तब नदी

जब
निरखे

तब समुद्र!!

मुझे अब भी

उस दिन ठीक समय पर हुआ था सूर्योदय
खिले थे फूल रंग-बिरंगे सारे के सारे

रोज़ की तरह अख़बारों में थीं देश-विदेश की ख़बरें
आसमान भी बिलकुल साफ़ और शफ़्फ़ाक़ था

उस दिन पहले की तरह ही हमने चूमा था
एक-दूसरे को बेतहाशा लेकिन आख़िरी बार
उस दिन फिर से मेरे अकेले हो जाने की शुरुआत थी

उस दिन अपने-अपने कुँआरे सपनों के साथ
हम लौटे थे अपने-अपने एकांत में
लौटकर तुम्हें अपने पिता का कहा मानना था
मुझे बग़ैर तेरे जीना सीखना था
ख़ुद को समझाना था कि अमूमन
हर आदमी के साथ घटित होता है ऐसा

कवि होकर भी कोई क्रांतिकारिता न दिखा पाने पर
कोई रंज नहीं करना था
इस पर भी विचार नहीं करना था कि
जिसके रक्त-मज्जे में बसी चुरुलिया की माटी
जिसने ख़ुद अपने कंठ से गाए
विद्रोही कवि क़ाज़ी नज़रुल इस्लाम के गीत
वह क्यूँकर न कर पाई रूढ़ियों के ख़िलाफ़ विद्रोह
क्यूँकर हुई उसकी आँखें इस क़दर नम

मुझे भीतर ही भीतर बेहद बेआवाज़ टूट गए
एक आदमी को बचाना था
दोस्तों के साथ उसी ठसक और चमक के साथ
मिलना था
नित नई ताज़गी के साथ फूलों की तरह खिलना था
रंगों के खोते मायनों को बचाना था

जिस वक़्त को हमने भरपूर जिया था साथ-साथ
उन्हीं से इस वक़्त जीने की भरपूर ताक़त लेनी थी

मुझे अनायास ही रूठ गई नींद को मनाना था
धूसर होते जा रहे सपनों और अपने भीतर
खोती जा रही रूमानियत को बचाना था
जैसे पहले देखता था चीज़ों को
ठीक वैसे ही अब भी देखने की आदत डालनी थी

मुझे अब भी अपनी आत्मा की जड़ों को
तुम्हारे प्यार से सींचना था
अपनी आँखों में तुम्हारी आवाज़ का पानी बचाना था

फेफड़ों की धौंकनी में तुम्हारे प्रेम को आग की तरह
और इच्छाओं को ईंधन की तरह इस्तेमाल करना था

मुझे अब भी तुम्हारे होने के एहसास में
पूरा-पूरा जीना था तुम्हारे बग़ैर।

वेश्याएँ

बूँद भर पानी
ढेर सारा नमक

देह की खोह में
नुची-चुथी आत्माएँ

पेट की आग में
रोज़ सिंकती देह

आँखों में रेत ही रेत
ठसाठस भरा

साँसें उनकी जैसे
मरी हुई तितलियों की
प्यास

विश्वनाथ त्रिपाठी

मैं हूँ स्वयं निज प्रतिवाद

एक अतीत है, एक वर्तमान है। द्विवेदी जी अतीत और वर्तमान को साथ-साथ रखते हैं। वे अतीत को जीवंत देखना चाहते हैं। वे अतीत के जीवंत मनुष्य को भी देखना चाहते हैं। अनुसंधान, शोध और विद्वत्ता थोड़ी दूर तक सहायता करते हैं और वे क्षुब्ध होते हैं। ''मेरा मन प्राचीन काल के कुज्झटिकाच्छन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहाँ है।'' (*अशोक के फूल*, पृ. 21)

फिर कल्पना के पंख से उड़ना पड़ता है। कल्पना की उड़ान में ऊर्जा अपने यथार्थ-अनुभव की होती है। द्विवेदी जी सब भूल सकते हैं ऊँची से ऊँची उड़ान में भी निरन्न, निर्वस्त्र जनता और जन-सामान्य के विविध दुख नहीं भूल सकते। वे यथार्थ की अग्नि अर्थात् विषमता नहीं भूलते। और ठीक उस समय जब लगता है कि वे ऐसी कल्पना उड़ान ले रहे हैं कि धरती बहुत धुँधली दिखलाई पड़ रही है या अदृश्य हो रही है तब वे ठीक धरती की विषम-भूमि की कठोरता से कल्पना को टक्कर देते हैं। अशोक के फूल की द्विवेदी जी ने बड़ी महिमा गाई। सौंदर्य और स्वर्ण-युग की समृद्धि का प्रतीक अशोक का फूल। वर्णन चल रहा था, ''किसलय और कुसुम स्तबकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठा सुंदरियाँ अबीर, कुमकुम, चंदन और पुष्प संभार से पहले कंदर्प देवता की पूजा करती थीं, और बाद में सुकुमार भंगिमा से पति के चरणों पर वसंत पुष्पों की अंजलि बिखेर देती थीं'' कि निबंधकार याद दिलाता है ''अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परंतु है वह उस विशाल सामंत-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उस के रक्त के स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी।''

परस्पर विरोधी को पहचानने में द्विवेदी जी शायद ही कभी चूकते हों। अनुमानतः हिंदी में इस शब्द का प्रयोग उन्होंने ही पहले-पहल किया है : 1940 ई. में प्रकाशित *कबीर* पुस्तक में उन्होंने लिखा था, ''असंभव व्यापार के लिए शायद ऐसी ही परस्पर विरोधी कोटियों का मिलन-बिंदु भगवान को अभीष्ट होता है।''

अशोक सुंदर तो है किंतु उसे सुंदर कहने वाले और समझने वाले साधारण प्रजा के हित की उपेक्षा करने वाले, उनके रक्त के सार-कणों को खा लेने वाले थे। यह सौंदर्य-बोध की ऐतिहासिक समीक्षा है, नए

हिंदी के सुप्रसिद्ध आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी का जन्म 1933 में हुआ। इन दिनों इनका स्मृति-आख्यान *नंगा तलाई का गाँव* चर्चा में है। संपर्क : बी/5, एफ-2, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110032

सौंदर्यबोध का लक्षण है और कहीं न कहीं ''चाँद का मुँह टेढ़ा है'' के मेल में है।

द्विवेदी जी में नारी-सौंदर्य से अभिभूत होने की अतीव क्षमता है। वे सौंदर्य की शक्ति से परिचित हैं। इस पर अलग से बात होगी। किंतु नारी-सौंदर्य की महती शक्ति से भी बड़ी किस शक्ति को मानते हैं, यह दृष्टव्य है। और, यह केवल उनकी द्वंद्वात्मक दृष्टि को समझने के लिए नहीं, बल्कि उनकी भाव-बोधात्मक संरचना से परिचित होने के लिए ज़रूरी है। वह संरचना जो उनकी निजता है और जो उनके जीवनानुभवों की भूमि पर आधारित है। नारी देह को द्विवेदी जी देवमंदिर मानते हैं। उनके उपन्यास *चारुचंद्रलेख* में प्रस्तावित है कि संसार का कल्याण करने की जैसी शक्ति नारी सौंदर्य और नारीत्व में है वैसी और कहीं नहीं। ''मैं नारी सौंदर्य को संसार की सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति मानता हूँ।'' (पृ. 91) *बाणभट्ट की आत्मकथा* में फाल्गुन की पूर्णिमा के अवसर पर मदनोत्सव का जो वर्णन है वह *रत्नावली* और *हर्षचरित* से लिया गया है। वर्णन उत्तेजक है। द्विवेदी जी अपनी ओर से जो कुछ वर्णन करते हैं, वह भिन्न स्वर का है। सुंदरी पण्य विलासिनियाँ मद को भी मदमत्त बना रही थीं। नारी देह को देवमंदिर कहने वाले द्विवेदी जी वर्णन करते हैं—''उनमें नारी-सुलभ सुकुमार भावना का लोप हो चुका था। वे उजड़े हुए देवमंदिर की भाँति, रास्ते में फेंकी हुई प्रतिमा की भाँति, कीचड़ में धँसी हुई मालती लता की भाँति अपनी प्रतिष्ठा खो चुकी थीं। अपना सम्मान भूल चुकी थीं और अपनी शुचिता म्लान कर चुकी थीं'' और फिर नारी सौंदर्य से अभिभूत होने वाले भाव का यह यथार्थ बोध, ''मेरे मन में रह-रहकर यही ध्वनि निकलती रही कि नारी-सौंदर्य यहाँ बंध्य है, निष्फल है, ऊसर है। क्यों ऐसा हुआ? इस महान शक्तिशाली तत्त्व से बड़ी भी कोई शक्ति है क्या? जिसने इसे इस तरह हीनदर्प बना दिया है? अवश्य होगी। मेरा अनुमान है—वह शक्ति संपत्ति ही हो सकती है।''

यथार्थ बोध यानी यथार्थ-विषमताबोध। नारी सौंदर्य और वंध्य का संदर्भ तो कालिदास से जुड़ जाएगा—''इयेष सा कर्त्तुमबंध्यरूपता'' (कु.सं.) किंतु संपत्ति नारी सौंदर्य से भी बड़ी शक्ति है। यह न तो कालिदास ने कहा है न बाणभट्ट ने। द्विवेदी जी ने कहा है और ठीक मौके पर कहा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है कि सौंदर्य का एक विवादी स्वर होता है। भक्ति कविता और प्रगतिशील कविता में यह विवादी स्वर महत्त्वपूर्ण है। यहाँ वही विवादी स्वर सुनाई पड़ रहा है।

नारी-देह को देव मंदिर मानने वाले और नारी सौंदर्य को सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति मानने वाले रचनाकार द्विवेदी जी ने भट्टिनी चंद्रलेखा और जाबाला जैसी नायिकाएँ कल्पित की है। कालिदास की पार्वती द्विवेदी जी के लिए रूप एवं शील का प्रतिमान है। उन्होंने अनेक नारी पात्रों के रूप में वस्तुतः पार्वती ही कल्पित की हैं। ऐसी पार्वती जो हमारे समय के इतिहास की उपज है। एक ओर उनका त्रैलोक्य को वशीभूत करने वाला रूप है, देव कन्याओं जैसा शील है, दूसरी ओर आधुनिक युग का संदेह वाला तर्क-वितर्क है। द्विवेदी जी के दो मन साफ़ तौर पर एक-दूसरे से टकराते हैं। एक अतीत का आस्वाद लेने वाला जो अतीत के सौंदर्य को साक्षात करना चाहता है। जो कालिदास, बाणभट्ट, श्रीहर्ष का सहचर, उनका व्याख्याता और वस्तुतः वर्तमान के लिए उनका दुभाषिया है। दूसरा मन केवल अतीत को नहीं, इतिहास की प्रक्रिया को देखता है। वर्तमान अपना अतीत बनाते समय काफ़ी काँट-छाँट करके अतीत को अपने अनुकूल करता है। दूसरा मन ही अतीत-रस का विवादी है। अतीत-रस का विवादी नहीं, वस्तुतः वर्तमान की विकसित मानवीय भावबोध से अतीत पर टिप्पणी करने वाला, असहमति जताने वाला। कालिदास के परम प्रशंसक द्विवेदी जी कई जगह कालिदास से असहमत होते हैं। मदमत्त बना देनेवाले पण्यविलासिनियों के सौंदर्य के ही संदर्भ में वे *मेघदूत* के एक श्लोक के आधार पर उनका वर्णन करते हैं :

''मैं जिस रास्ते पर जा रहा हूँ वहाँ से कोई मदोन्मत्त उत्सवकारी दल निकल गया है। कालिदास

ने उज्जयिनी में प्रातःकाल जो दृश्य देखा था, वह मैं स्थांडीश्वर में मध्याह्न को देख रहा हूँ। ठीक उसी प्रकार गमन के उत्कंप वश यहाँ भी सुंदरियों के केश से मंदार-पुष्प झड़े हुए हैं, कान से सुनहरे कमल खिसक कर भू-लुंठित हो रहे हैं, हृदयदेश पर बार-बार आघात करने वाले हारों से बड़े-बड़े गंधराज कुसुम टूटकर गिर गए हैं, परंतु फिर भी मैं इसे प्रेमाभिसार का मार्ग नहीं समझ रहा हूँ।'' (पृ. 94)

''ठीक उसी प्रकार'' अतीत रस का छककर पान करने वाला मन है ''परंतु फिर भी'' वर्तमान में स्थित होकर उससे तर्क करने वाला विवादी मन। जो लोग कालिदास के प्रति द्विवेदी जी का भाव समझते हैं वे ही उनकी असहमति का महत्त्व समझ सकेंगे।

एकाध स्थलों पर द्विवेदी जी अपने प्रिय कवि के भाव-चित्रों में कुछ और जोड़ने का प्रस्ताव करते हैं। भट्टिनी के निराश, उदास दुख का वर्णन करते हैं। द्विवेदी जी ने सौंदर्य को कितने रूपों में देखा है, यह अलग से एक स्वतंत्र विषय है। जब आप सौंदर्य को जीवन-स्थितियों में देखते हैं तब वह विविधता प्राप्त करता है और अखंडता भी वह असीम जीवन-संदर्भों में ही होता है। द्विवेदी जी अतीत संकोची लेखक थे। यह अनुभूति की तीव्रता ही रही होगी कि उन्होंने कालिदास को संबोधित करके कहा—''हाय महाकवि, तुमने हँसी-ख़ुशी में ही ज़िंदगी काट दी। तुमने ऐसा करुण-मोहक स्मित देखा होता, तो दुनिया को बता सकते कि वह कैसा था।'' (पृ. 125)

कैसा था वह करुण-मोहक स्मित जिसे कालिदास ने नहीं देखा था और जिसे हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा—''भट्टिनी का ऐसा निराश मुख मैंने कभी नहीं देखा था। उनके दुख में भी भक्ति और विश्वास साथ रहते थे। यह कैसा विकट परिवर्तन है। मैंने कातरता के साथ उनकी ओर देखा। मेरी आँखों में अश्रु भर आए थे। एकाएक भट्टिनी के नेत्र मेरी ओर फिरे। उनका दयार्द्र हृदय मेरा मुख देखकर उमड़ पड़ा। एक मुहूर्त के लिए एक भीगी हँसी की रेखा उनके सूखे अधरों पर खेल गई और फिर अविरल अश्रुधारा बह चली।'' (पृ. 125)

कालिदास ने निराश मुख का करुण-स्मित नहीं देखा था। कालिदास कितने महान थे, यह मैं नहीं जानता। पंडित जी जानते थे। किंतु कालिदास ने भीगी हँसी का चित्र नहीं खींचा है। देखा होता तो खींचते। द्विवेदी जी के वर्णन में परंपरा की मर्यादा और गौरव को वहन करने में सक्षम रचनाकार का ढंग है। देखा होता तो दुनिया को बता सकते। कालिदास ने नहीं देखा, देखा द्विवेदी जी ने। किंतु वे कालिदास जैसा दुनिया को बता नहीं सकते। यह कालिदास के मर्मज्ञ पंडित की वचन-रचना है। इस रचना-छल को अलग से कहने की ज़रूरत नहीं कि कालिदास को संबोधित करके यह सुझाव द्विवेदी जी ख़ुद नहीं पेश कर रहे हैं। यह हिम्मत बाणभट्ट कर रहे हैं। द्विवेदी जी के बाणभट्ट।

करुण-मोहक-स्मित अंतर्बाह्य का चित्र है। मनोविकारों का नया संश्लेष है। द्विवेदी जी के बाणभट्ट की कालिदास से शिकायत है—''हाय! महाकवि! तुमने हँसी-ख़ुशी में ही ज़िंदगी काट दी।'' राजाओं के विलास और उनकी प्रियाओं के सुखद पक्ष पर अधिक ध्यान दिया। अंतःपुर की नारियों के जीवन का एक अन्य पक्ष भी है। इस पर ध्यान नहीं दिया।

यानी द्विवेदी जी के बाणभट्ट सामंती व्यवस्था की अमानवीयता के उद्घाटक भी हैं। उस व्यवस्था का जो दुख कालिदास जैसे महान किंतु दरबारी कवि से अवर्णित रह गया था, उसे उद्घाटित करते हैं। कुमार कृष्णवर्धन का कथन है—''सत्य इस समाज व्यवस्था में प्रच्छन्न होकर वास कर रहा है।'' (पृ. 97) सत्य का जो अंश प्रच्छन्न रह जाता है उसे विद्वान, वैज्ञानिक और कवि निरंतर उद्घाटित करते चलते हैं। बाणभट्ट प्रच्छन्न सत्यांश को उद्घाटित कर रहे हैं। भट्टिनी के शब्दों में वे आर्यावर्त के द्वितीय कालिदास हैं। उन्हें कालिदास से सवाल-जवाब करने का अधिकार भी है। हर युग का बड़ा कवि अपने पुरखे कवियों से सवाल-जवाब कर सकता है। उनके रू-ब-रू खड़ा हो सकता है। हमारे समय के कवि नागार्जुन ने कालिदास से जवाब तलब किया है—''कालिदास सच-सच बतलाना''।

बाणभट्ट की आत्मकथा के रचयिता ने भी यही किया है।

समाज व्यवस्था में सत्य की प्रच्छन्नता का महत्त्वपूर्ण कारण संपत्ति और नारी की स्थिति एवं उनका परस्पर संबंध है। द्विवेदी जी के लेखन में सौंदर्य बोध का विवादी स्वर मुख्यतः इसी विक्षोभ पर आधारित है। बाणभट्ट की आत्मकथा में वह सर्वाधिक स्पष्ट एवं मुखर हैं। बाणभट्ट के वक्तव्यों, चिंतन और महामाया के उद्‌बोधक भाषणों में वह बार-बार आता है।

हम द्विवेदी जी की उस रचना प्रवृत्ति पर विचार कर रहे थे जो परस्पर विरोध को आँकती है। भट्टिनी को छोटे राजकुल से मुक्त करके बाणभट्ट अपने जीवन को सार्थक मानता है। वह भट्टिनी का अभिभावक या सेवक होने में गौरव अनुभव करता है। भट्टिनी के रूप, शील का वर्णन-चित्रण करने में द्विवेदी जी ने बाणभट्ट की शैली की खड़ी बोली का हिंदी गद्य में मानो अवतार कराया है। महावराह का मिथक और पुस्तक के प्रारंभ में वस्तु निर्देशक सूत्र के रूप में... ''जलौघमग्ना सचराचरा धरा। विषाणकोटयारिवलविश्वमूर्तिना। समुधृतायेन वराहरूपिणी।'' ''स स्वयंभूर्भगवानप्रसीदतु'' के श्लोक का उपयोग ही इस मंतव्य के लिए किया गया है। इस विषय में ज़्यादा कहना-सुनना अनावश्यक है।

किंतु इसी के साथ बाणभट्ट का यह चिंतन भी है—''भट्टिनी ने क्या कभी इन ग़रीबों की चिंता की है? मैंने एक भट्टिनी का उद्धार किया है सही, पर मुझे क्या मालूम है कि इस अंतःपुर में और कितनी भट्टिनियाँ हैं और ऐसे अंतःपुरों की संख्या यहीं तो समाप्त नहीं हो जाती।'' (पृ. 97)

भट्टिनी देवपुत्र तिविर मिलिंद की कन्या थीं। बाणभट्ट ने जब पहली बार जाना कि वे इतने प्रतापी शासक की कन्या हैं तो बोले—''तो देवी, क्या आप तत्रभवान् विषम समर-विजयी, वाह्लीक-विमर्दन, प्रत्यंत-बाड़व देवपुत्र तिविर मिलिंद की कन्या हैं।'' (पृ. 53) बाणभट्ट ने और सोचा—''हिमालय के सिवा गंगा की धारा को कौन जन्म दे सकता है? महासमुद्र के सिवा कौस्तुभ मणि को कौन उत्पन्न कर सकता है? धरित्री के सिवा और कौन है जो सीता को जन्म दे सके'' आदि।

आत्मकथा पढ़ने वाले को यह बताने की ज़रूरत नहीं कि भट्टिनी का सौंदर्य और शील, कितना अलौकिक एवं असामान्य है। उन्हीं के बारे में बाण यह भी सोचता है कि इस अंतःपुर में कितनी भट्टिनियाँ हैं। बाण से ज़्यादा प्रकट और अधिक अर्थों को खोलने वाली बात महामाया कहती है—क्या निरीह प्रजा की बेटियाँ उनकी नयनतारा नहीं हुआ करतीं? क्या राजा और सेनापति की बेटियों का खो जाना ही संसार की बड़ी दुर्घटनाएँ हैं और आर्य सभासदो मेरी ओर देखो। मैं तुम्हारे देश की लाख-लाख अवमानिता, लांछिता और अकारण दंडिता बेटियों में से एक हूँ।...आप में से किसे नहीं मालूम कि महाराजाधिराज की चामरधारिणियाँ और करंकवाहिनियाँ इसी प्रकार भगाई हुई और ख़रीदी हुई कन्याएँ हैं। आर्य सभासदो, क्या इन अभागिनियों के पिता नहीं थे? क्या वे अपनी माताओं की नयनताराएँ नहीं थीं? क्या उनके माँ-बाप के हृदय में अपनी संतति के प्रति जो स्नेह-भावना थी, वह किसी सम्राट की स्नेह भावना से कम थी?'' (पृ. 174)

भट्टिनी को अतिविशिष्ट अलौकिक एवं असामान्य बताया गया फिर उन्हें उनकी जैसी लाखों सामान्य जनता की बेटियों से जोड़ दिया गया। द्विवेदी जी नारी सौंदर्य को लोक उद्धार का प्रधान साधक मानते हैं। लेकिन उस प्रसंग पर अन्यत्र विचार करेंगे। यहाँ यह दिखाना अभीष्ट है कि द्विवेदी जी बड़ी से बड़ी बात कहकर फिर उसी का प्रत्याख्यान करते हैं।

चारुचंद्रलेख की नायिका चंद्रलेखा बत्तीस लक्षणों से युक्त स्त्री है। यह बत्तीस लक्षणों से युक्त होना चारुचंद्रलेख की कथा का आधार है, क्योंकि बत्तीस लक्षणों से युक्त स्त्री ही कोटिबेधी रस सिद्ध कर सकती है। बत्तीस लक्षणों से युक्त चंद्रलेखा का वर्णन : तपस्वी ने सहज भाव से किंतु गद्‌गद् भाषा में कहा, ''देवि, अपूर्व देख रहा हूँ तुम्हारी शोभा। बहत्तर मेरी नस-नस आज उल्लास से चंचल है,

सहस्र नाड़ियों में अपूर्व शक्ति धारा प्रवाहित हो गई है। देवी, आज मेरे ग्रह-गण प्रसन्न हैं, आज सविता का उदय सार्थक है, आज गंगा की धारा सफल काम है, आज मेरी सिद्धि मिल गई है। गुरु ने मुझे बताया था कि तुम्हारी सिद्धि का प्रथम सोपान सुलक्षणा किशोरी का दर्शन होगा। आज मुझे सिद्धि पाना सुगम जान पड़ रहा है...कौन कहता है देवी, तुम सामान्य कृषिबल-किशोरिका हो? यह उन्नत ललाट, यह कुंचित केश राशि, यह दक्षिणावर्त रोम-राजि और यह तिल पुष्प के समान नासिका और घनी भृकुटियों के नीचे सघन अराल रेखा—ये तुम्हें सामान्य नारी नहीं रहने देंगे...स्वस्तिका और मत्स्य का यह युगपत सम्मिलन अपूर्व योग है। शंख कमल और व्यजन के चिह्न केवल भगवती विमला के हाथ में प्रकट हुए थे—पद्म गर्भ के समान मणिबंध दुर्लभ लक्षण है।'' (पृ. 276-77)

पुरोहित धीर शर्मा ने चंद्रलेखा को देखकर कहा–''बेटा, अस्सी वर्ष के जीवन में प्रथम बार बत्तीस शुभ लक्षणों से समन्वित सौभाग्यवती नारी का दर्शन पा रहा हूँ। तुम्हारी कुल-कुंडलिनी जाग्रत है।'' (पृ. 379)

लेकिन इन शुभ लक्षणों को एक और तरह से भी देखा गया है–''वह बार-बार सुन रही है कि समस्त स्त्री लक्षणों का सन्निवेश दुर्लभ योग है। ये स्त्री लक्षण क्या हैं। कुछ शरीर चिह्न, कुछ संयोगप्राप्त वर्णसमुच्चय, कुछ आकस्मिक आकुंचन-विकुंचन। यही तो स्त्री लक्षण है? क्यों इनका समवाय दुर्लभ है? स्त्री अगर बड़ी है तो यों इन चिह्नों के कारण नहीं। चिह्नों को माहात्म्य देना क्या उचित है? चंद्रलेखा समझ ही नहीं सकी कि स्त्री शरीर को इतना महत्त्व क्यों दिया जा रहा है। (पृ. 352-53)

जिन लक्षणों के कारण चंद्रलेखा सिद्धयोगिनी है या सिद्धयोगिनीत्व को प्रकट करने वाले जो लक्षण हैं जिनसे युक्त नारी की सहायता से कोटिबेधी रस तैयार हो सकता है, वह कोटिबेधी रस जो प्राणिमात्र को सदैव के लिए परम आनंद एवं सुख दे सकता है, वे लक्षण अपने-आप में कुछ नहीं हैं, केवल कुछ संयोग प्राप्त वर्ण-समुच्चय के आकस्मिक आकुंचन-विकुंचन है। मानो मानव-क्लोन बनाने वाला कोई जेनेटिक वैज्ञानिक बोल रहा हो। सामुद्रिक विद्या का बिलकुल विरोधी भौतिक वैज्ञानिक स्वर। विवादी स्वर भौतिक विज्ञान का भी है। प्रवृत्ति के क्रिया-कलापों में कोई उद्देश्य, कोई छंद, कोई लय ढूँढ़ लेने का आग्रह वस्तुतः जड़ भौतिकता, मूल्य शून्य सृष्टि में मूलभूत तर्कहीनता (ऐबसर्डिटी) के विचार का विवादी स्वर।

''मैं जब निर्झर को वेगपूर्वक नीचे की ओर दौड़ता देखता हूँ तो मन रो उठता है। क्यों इतनी व्याकुलता है इसमें? किससे मिलने के लिए यह दुष्कर अभिसार-यात्रा शुरू हुई है? प्रथम मेघ-वर्षण के समय जब धरती के आँचल में छिपे हुए बीज अंकुर के रूपों में फूट पड़ते हैं तो मेरा हृदय हाय-हाय कर उठता है। किस अज्ञात प्रियतम के लिए यह कसमसाहट है? कौन है वह जिसे पाने के लिए अग-जग में व्याप्त प्राण-शक्ति व्याकुल हो उठी है?...क्या यह सारा आयोजन केवल बात की बात है? क्या इसका कोई प्रयोजन नहीं है?'' (पृ. 98, *पुनर्नवा*)

चंद्रमौलि का यह कथन सृष्टि के क्रिया-कलाप को निरुद्देश्य मानने का प्रतिवाद करता है। चंद्रमौलि कालिदास का नाम है *पुनर्नवा* उपन्यास में। द्विवेदी जी इस बात को इतनी बार दुहराते हैं कि लगता है मानो यह उन्हीं का मत हो।

उद्देश्य क्या है यह वे नहीं बताते। यही कहते हैं—यह निरुद्देश्य नहीं है। आइन्स्टाइन का कथन याद आता है—''पता नहीं हम दुनिया में क्यों पैदा होते हैं? कभी-कभी लगता है मानो कोई उद्देश्य हो।'' लेकिन आइन्सटाइन सत्य को मानव निरपेक्ष मानते हैं।'' (*द रिलीजन ऑफ़ मैन* के परिशिष्ट में टैगोर से उनका वार्तालाप)

मुझे लगता है कि मनुष्य के देवत्व, संस्कृति, सौंदर्य-बोध का आग्रह और इन्हें जीवन-मूल्य मानना द्विवेदी जी के चिंतन-लेखन का प्रबल पक्ष है और इसी की संगति में वे मनुष्य की जय यात्रा का गान करते हैं। द्विवेदी जी की जय यात्रा में इतिहास की ध्वंसक निर्ममता है। इतिहास का

विकास(?) में केवल जय यात्रा नहीं उसके समानांतर सबको रौंद डालने वाली, मनुष्य की उदात्त निर्मित को निरंतर चकनाचूर करते रहने वाली एक ध्वंस यात्रा भी है। द्विवेदी जी परम प्रेयान, श्रेयान को केवल विजयी, सुखी, संतुष्ट लोगों के ही अनुभव से नहीं, दलित, वंचित, ध्वस्त जन-समूह के अनुभव से भी महसूस करते हैं। सचेत सौंदर्य बोध का उत्तरदायित्व है कि वह सौंदर्य विरोधी तत्त्वों के प्रति सचेत रहे। उनकी शक्ति या उपस्थिति से आँखें मूँद लेने का नाम लिजलिजी भावुकता है। द्विवेदी जी के साहित्य से आशा का संचार होता हो, कर्म की प्रेरणा मिलती हो, मनुष्य की जय यात्रा का चित्र सामने प्रस्तुत होता हो किंतु वे आशावादी या भविष्यवादी रचनाकार नहीं हैं। अनिश्चय शंका का भाव उनके साहित्य में आशा से कम नहीं। विचार करने पर अनिश्चय, आशा का पलड़ा शायद थोड़ा भारी ही पड़ेगा। यह अकारण नहीं कि उनके दो प्रारंभिक उपन्यासों का अंत अनिश्चय एवं अंधकार में होता है। *बाणभट्ट की आत्मकथा* का अंत आकस्मिक है। सारी परिस्थिति बाणभट्ट और भट्टिनी के साथ-साथ रहने की प्रस्तुत हो गई हैं। तभी अदृष्ट का बाण उन्हें झटके से अलग कर देता है। इसका वर्णन द्रष्टव्य है—

‘‘मैंने भट्टिनी के साथ चलने का वचन दे दिया। उल्लसित होकर भट्टिनी ने और उनकी आज्ञा से मैंने साथ ही साथ महावराह को प्रणाम किया। महावराह ने गोपन हास्य से हमारे उल्लास का तिरस्कार किया होगा, क्योंकि निपुणिका का श्राद्ध समाप्त होते ही आचार्य भर्वुपाद ने मुझे पुरुषपुर जाने की आज्ञा दी...भट्टिनी ने सुना तो उनका मुख विवर्ण हो गया। झुकी हुई आँखों को और भी झुकाकर बोलीं, ‘‘जल्दी ही लौटना।’’

‘‘मैंने कातर कंठ के साथ वाष्ठरुद्ध वाक्य को प्रयत्नपूर्वक दबा लिया। लेकिन अंतरात्मा के अतल गह्वर से कोई चिल्ला उठा, ‘‘फिर क्या मिलना होगा।’’

चारुचंद्रलेख का अंत भी अतीव आकस्मिक है। वहाँ सब कुछ ठीक होने जा रहा है कि, ‘‘परंतु घटनाचक्र बड़ी तेज़ी से चल पड़ा। जब तक मैं कु और सोचूँ तब तक भैरवपाद चिल्ला उठे, ‘‘भद्रक का अपहर्त्ता मिल गया है। मैनसिंह इस नरक कीड़े को अपनी जगह भेज दो।’’

‘‘बिजली की तरह मैनसिंह अक्षोम्य भैरव पीछे से झपटा और अपने विशाल कुंत की एक चोट में शाह को धराशायी बना दिया।...‘ अंधकार में विकट वन भूमि के मार्ग से हम लो भागे। सोचने का अवसर ही नहीं मिला।’’

कुछ लोगों का विचार है कि द्विवेदी जी कथा अंत करना नहीं जानते। वे कहते थे कि रवि बाबू चित्रों में उँगलियाँ ठीक नहीं बन पातीं। रवि ठाकु ख़ुद मानते थे कि उन्हें नहीं सूझता कि उँगलि कैसी चित्रित की जाएँ। क्या द्विवेदी जी अप उपन्यासों का अंत भी कल्पित नहीं कर पाते थे? डॉ रामविलास शर्मा ने एक बार मुझसे कहा—‘द्विवे जी के उपन्यासों की उठान बहुत अच्छी होती है किंतु वे अंत तक उसे सँभाल नहीं पाते।’’ यह मुद्दा विचारणीय है।

बाणभट्ट के उपरि उद्धृत अंश में महावराह द्वारा गोपन हास्य से बाणभट्ट और भट्टिनी के उल्लास का तिरस्कार असमंजस में डालने वाला है। महावराह इस उपन्यास के केंद्र में हैं। वे भट्टिनी के उपास्य हैं। आत्मकथा की वस्तु के मूल में हैं। वे बाणभट्ट की आत्मकथा के प्रेरक प्रतीक हैं। प्रतीकत्व स्पष्ट है। जैसे जलौघमग्ना धरा का उद्धार महावराह ने किया वैसे ही शक्तिशाली लंपट सामंत के आवास में क़ैद भट्टिनी का उद्धार बाणभट्ट ने किया। महावराह के प्रति भट्टिनी की अगाध भक्ति है। वे परमाराध्य हैं।

भट्टिनी बाणभट्ट और महावराह—इनकी अंतस्संबंधता के आयाम द्विवेदी जी के मन और चिंतन की गाँठें खोलती हैं। भक्ति या निष्ठा कोई जड़ या अरूप भाव नहीं है। वह जीवन-व्यवहार के अनेक रूप-खंडों का समुच्चय है। भाव अपने रूप को तोड़कर भी कैसे एकनिष्ठ बना रहता है— यह महावराह के प्रति भट्ट का व्यवहार बताता है। महावराह उपास्य हैं। उपास्य मन में रहता है उपासक

जगत में। अघोर भैरव ने बाणभट्ट से पूछा था—भट्टिनी और महावराह दोनों में से किसी एक को ही बचाना है तो किसे बचाएगा। बाणभट्ट असमंजस में पड़ गए थे। लेकिन स्थिति ऐसी आई कि उन्हें किसी एक को ही बचाने का निर्णय लेना पड़ा। भट्टिनी गंगा में कूद पड़ी है। बाणभट्ट भी उन्हें बचाने के लिए नदी में कूद पड़े हैं। भट्ट क्लांत और थक गए हैं—

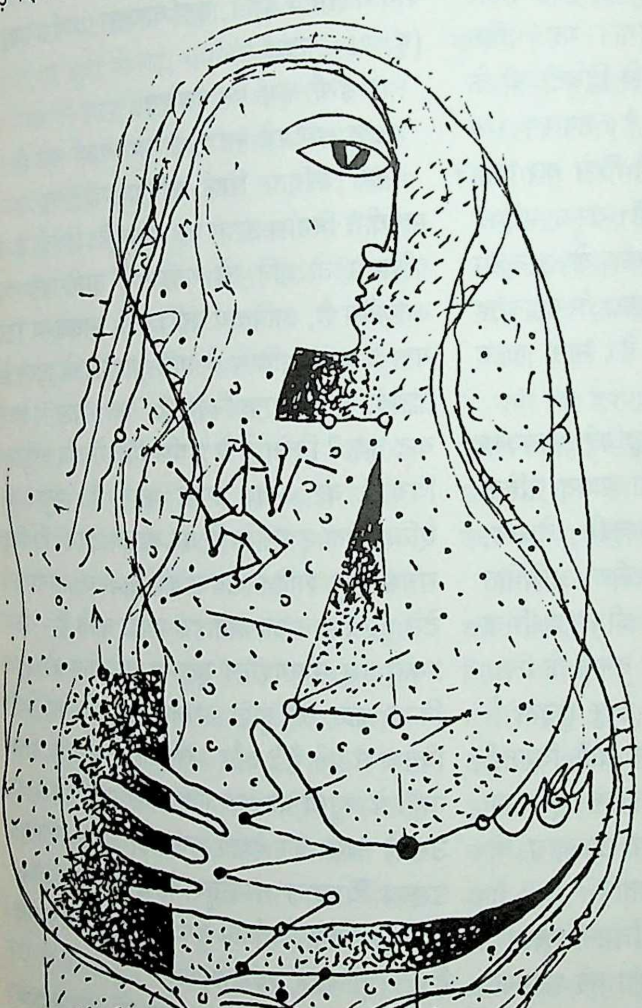

''मेरा शरीर क्रमशः क्लांत होता जा रहा था। कहीं ऐसा न हो कि क्लांति के कारण मैं शिथिल हो जाऊँ और भट्टिनी मेरी पीठ से खिसक जाए। मैंने अपने उत्तरीय से भट्टिनी को बाँधना चाहा। जब उत्तरीय भट्टिनी की भुजाओं में लपेटने लगा तो कुछ कठोर वस्तु का अनुभव हुआ। खींचकर देखता हूँ तो महावराह की मूर्ति है। हाय! जलौघमग्ना सचराचरा धरा के उद्धारकर्ता आज अपने भक्त को ही डुबा रहे हैं, यह कैसी विषम विडंबना है। भट्टिनी इस मूर्ति के कारण ही भारी लग रही थी और निरंतर जो डूबती जा रही थी सो भी इसी के कारण...हे जलौघमग्ना सचराचराधारा के उद्धारकर्ता..., अविनय क्षमा हो, मैं तुम्हें गंगा की पवित्र धारा में विसर्जन कर रहा हूँ...फिर महावराह की मूर्ति मेरे हाथ से खिसक गई।'' (पृ. 121, *बाणभट्ट की आत्मकथा*) स्थितियाँ ऐसी भी हो सकती हैं कि उपास्य उपासक को डुबाने लगे। गंगा की धारा इतिहास की धारा है जो स्थितियों का प्रवाह है। उपासक अगर अंध और लकीर का फ़क़ीर है। स्थितियों के धाराप्रवाह के अनुसार अपने को अनुकूलित न कर सके तो उद्धारकर्ता ही उसे डुबो देगा या दोनों साथ-साथ डूबेंगे।

महावराह का मिथक बाणभट्ट की आत्मकथा में तोड़ा भी जाता है। महावराह के प्रति आस्था नहीं टूटती। मूर्ति विसर्जित होती है। मिथक टूटता है। टूटकर वस्तुतः

अधिक सार्थक होता है।

विसर्जित होने के बाद महावराह का भी संभवतः नवावतार हुआ है। ये महावराह गोपन हास्य से बाणभट्ट और भट्टिनी के उल्लास का तिरस्कार भी कर सकते हैं। महावराह ने गोपन हास्य से हमारे उल्लास का तिरस्कार किया होगा। यह पंक्ति ध्यानपूर्वक पढ़ी जानी चाहिए। इससे द्विवेदी जी के इतिहास चिंतन की गाँठ खुलती है। उपास्य सब कुछ नहीं कर सकता। कुछ ऐसा है जिसे कर पाना या रोक पाना किसी के बस में नहीं। वरना भट्टिनी के महावराह गोपन हास्य से उपासक के उल्लास का तिरस्कार करें। *बाणभट्ट की आत्मकथा* के महावराह ने अदृष्ट को स्वीकार कर लिया है। मानो पाला बदल लिया है।

द्विवेदी जी के उपन्यासों में—*बाणभट्ट की आत्मकथा* और *चारुचंद्रलेख* में एक ओर तो मानव महिमा का गान, उद्बोधन मिलता है। संस्कृति, देवत्व, असाध्य को सिद्ध करने की दुर्दमनीय अचिंतित अलक्षित हस्तक्षेप मिलता है। द्विवेदी जी के प्रारंभिक इन दो उपन्यासों में समाज को सुखी बनाने के लिए प्रेरक पात्रों की अग्निगर्भा वाणी का स्वर गूँजता है किंतु उसका कथा में कोई प्रतिफलन नहीं दिखाई पड़ता। जिन मानवीय प्रयत्नों का इतना गुणगान किया जाता है उसका कोई परिणाम उपन्यास के कथानक पर क्यों नहीं दिखलाई पड़ता?

मेरे विचार से द्विवेदी जी का चिंतन मूलतः दुविधाग्रस्त है। वे मनुष्य की जय यात्रा की घोषणा तो दोनों हाथ उठाकर करते हैं किंतु मनुष्यता की विजय के प्रति आश्वस्त, नहीं आशंकित हैं। ऐतिहासिक विकास और अदृष्ट के हस्तक्षेप के द्वंद्व उनके प्रारंभिक दो उपन्यासों में मौजूद है। *चारुचंद्रलेख* में *बाणभट्ट की आत्मकथा* से ज़्यादा। यह द्वंद्व क्रमशः अंतिम दो उपन्यासों में क्षीण होता गया है। विषमता-चित्रण भी। अंतिम उपन्यास *अनामदास का पोथा* में द्वंद्व सबसे कम है। द्वंद्वात्मकता के छिटपुट प्रसंग या उक्तियाँ ज़रूर मिल जाती हैं।

वाल्मीकि, व्यास, कालिदास की कविता क्या कर पाई? क्या वह राक्षसी वृत्तियों को समाप्त कर पाई? कविता की मनोहर वाणी से परुषता, क्रूरता नहीं मिटी। फिर कविता के उद्यम का क्या आशय है।

"फिर क्यों काव्य का अभिमान? फिर क्यों क्यों अभिसंपात? फिर क्यों यह अरण्य निनाद? फिर क्यों कलम कंडूयन, वृथा वाग्जाल, व्यर्थ प्रयास?" (पृ. 234, खंड 9)

हो इसी कर्म पर वज्रपात,
यदि धर्म रहे नत सदा माथ वाली बात है।

यहाँ कविता सिर्फ़ कविता नहीं, वह समस्त मानवीय निर्माण उद्यम का प्रतीक है। द्विवेदी जी की इतिहास के प्रति जो धारणा है उसमें जय यात्रा वांछनीय है, अनिवार्य नहीं। कर्म, साधना पर इतना बल वस्तुतः भविष्य के प्रति आशंका के कारण है। द्विवेदी जी का एक निबंध है "ततः किम्"। इसके बाद क्या? निबंध में वे प्राचीन विचारों और आधुनिक विचारों का अंतर स्पष्ट करते हैं। मनुष्य की ऐतिहासिक उपलब्धियों का बखान करते हैं। किंतु संयम और शक्ति भावना की आवश्यकता पर बल देते हुए निबंध का अंत इस प्रकार करते हैं–'किस प्रकार इस संशयशील सुकुमार बुद्धितत्त्व को संतुष्ट किया जाए जो बुद्धि अध्यात्मवाद के नाम से ही बिदक उठती है? और संतुष्ट उसे करना ही होगा, नहीं तो मनुष्य का यह भीषण धावन और उत्प्लवन उसको ध्वस्त कर देगा। अपनी ही शक्ति पर आधृत उसका विश्वास भस्मासुर के समान उसे जलाकर ख़ाक कर देगा। वर्तमान युग की यही विकट समस्या है।" (पृ. 427, खंड 9)

यह स्वर "जययात्रा" का ही नहीं ध्वंस यात्रा का भी है। जय यात्रा का स्वर आशा का है, ध्वंस यात्रा का स्वर आशंका का है। आशा का अधिकांश मन में है, आशंका का अधिकांश आँखों के सामने। द्विवेदी जी की आशंका विनाश की नहीं, अनिश्चय की है। मानवीय प्रयत्नों का फल पूर्वनिश्चित नहीं। वह कुछ भी हो सकता है। वही भट्ट और भट्टिनी के उल्लास के महावराह द्वारा गोपन हास्य और तिरस्कार का भाव।

द्विवेदी जी इतिहास-विधाता की बात करते हैं। ये इतिहास विधाता निर्मम हैं, सब कुछ रौंद डालते हैं।

द्विवेदी जी के परम प्रसिद्ध निबंध *अशोक के फूल* की पंक्तियाँ :

“आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, क्या ऐसी ही बनी रहेगी? सम्राटों-सामंतों ने जिस आचार-निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गई; धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्ध समझा था, वह समाप्त हो गया। मध्य युग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी, वह वाष्प की भाँति उड़ गई तो क्या यह मध्य युग के कंकाल से लिखा हुआ व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा? महाकाल के प्रत्येक पदाघात से धरती धसकेगी। उसके कुंठ नृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ न कुछ लपेट कर ले जाएगी। सब बदलेगा, सब विकृत होगा—सब नवीन बनेगा।” (पृ. 24, खंड 9)

सब नवीन बनेगा, इसे आप जय यात्रा समझें। जय यात्रा की प्रक्रिया है—बदलेगा, विकृत होगा—इसे ध्वंस समझें। बदलने की, ध्वंस की, विकृत होने की और फिर नवीन होने की प्रक्रिया को अगर आप जय यात्रा कहें तो अलग बात है। लेकिन यह सत्य है कि द्विवेदी जी के प्रारंभिक दोनों उपन्यासों—*बाणभट्ट की आत्मकथा* और *चारुचंद्रलेख* में इस जय यात्रा का कोई संकेत नहीं मिलता। दोनों उपन्यासों की समाप्ति अनिश्चय और अंधकार में होती है।

इन उपन्यासों में कोई न कोई बेढब पात्र मिलता है जो पात्रों की सारी योजनाओं पर हँसता है और लोगों को प्रायः मूर्ख कहता है। वह बेपरवाह पात्र सभी प्रयत्नों, रूढ़ियों और उद्यमों की खिल्ली उड़ाता है, प्रायः ठठाकर हँसता है। *बाणभट्ट की आत्मकथा* में इस तरह के पात्र वाममार्गी कौलाचार्य अघोर भैरव हैं।

किंतु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि : ‘मैंने भीत-भीत भाव से कहा—बाबा यह क्या देखा मैंने? ऐसा ही होने वाला है क्या? बाबा बच्चों के समान विनोद करते हुए बोले, क्यों रे डरता है क्या?’’

इसके बाद अघोर भैरव और बाणभट्ट का संवाद जितना मनोरंजक है उतना ही विचारोत्तेजक :

‘ब्राह्मण है?

हाँ आर्य!

तेरी जाति ही डरपोक है। क्यों रे महावराह पर तेरा विश्वास नहीं है?

है आर्य।

तेरी जाति ही झूठी है। क्यों रे तू आत्मा को नित्य मानता है?

मानता हूँ आर्य।

पाखंडी! तेरे सब शास्त्र पाखंड सिखाते हैं। क्यों रे कर्मफल मानता है!

मानता हूँ आर्य!

तो अमंगल से क्यों डरता है? मिथ्याचारी है तू तो कुछ सच्ची बात सीख न!

क्या आर्य?

यही कि डरना नहीं चाहिए। जिस पर विश्वास करना चाहिए उस पर पूरा विश्वास करना चाहिए, चाहे परिणाम जो हो। जिसे मानना चाहिए, उसे अंत तक मानना चाहिए।’’ (पृ. 77, खंड 1)

ब्राह्मण बाणभट्ट का पाखंड यह है कि एक ओर वह महावराह पर विश्वास करता है, आत्मा को नित्य मानता है, कर्म फल पर विश्वास करता है, दूसरी ओर डरता है। डरने का मतलब है महावराह को रक्षा करने में असमर्थ मानना। नदी में भट्टिनी और निउनिया के कूद पड़ने से उनकी मृत्यु से डरने का मतलब है आत्मा को नित्य न मानना। और यदि कर्म फल पर विश्वास है तो जो किया है उसका फल भोगने की अनिवार्यता से भयभीत होना मूर्खता और कायरता है। अघोर भैरव बाणभट्ट की इस मूर्खता, पाखंड और विश्वासहीनता को ब्राह्मणत्व का झूठापन समझते हैं। उनके विनोद करने का एक और कारण है :

‘‘क्यों रे! उस लड़की पर तेरी ममता है न!...क्यों रे बताता क्यों नहीं?’’

फिर बाबा प्रश्न करते हैं कि महावराह की मूर्ति और भट्टिनी दो में से किसी एक को ही बचाना हो तो तू किसे बचाएगा? भट्ट के इस उत्तर से कि ‘‘प्राण देकर मैं भट्टिनी को बचाऊँगा’’ बाबा प्रसन्न होते हैं :

‘‘अभागा, सारी ज़िंदगी में तूने यही एक सच

बात कही है। क्यों रे लजाता है? दुत पगले, उस मायाविनी के जाल में फँस रहा है?...तेरे मन में महावराह से अधिक पूज्य भावना उस लड़की के प्रति है। है न रे! फिर झूठ बोलेगा भाग्यहीन...देख रे, तेरे शास्त्र तुझे धोखा देते हैं। जो तेरे भीतर सत्य है उसे दबाने को कहते हैं, जो तेरे भीतर मोहन है उसे भुलाने को कहते हैं; जिसे तू पूजता है उसे छोड़ने को कहते हैं।'' (पृ. 78, खंड 1)

अघोर भैरव कबीरदास के ''अनभै साँचा'' जैसा सोचते हैं। ''अनभै'' में दो अर्थ निहित हैं। अनुभव और अनभय यानी निर्भीक। जो अपना अनुभव है वही सच है, उसे निर्भीक होकर कहो, उस पर आचरण करो। इसी के चलते वे सीख देते हैं ''किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।'' (पृ. 81, खंड 1)

अघोर भैरव वाममार्गी कौलाचार्य हैं। वे शक्ति साधना में विश्वास करते हैं। कर्मकांड और अभिचार को अलग कर दें तो वे मन की प्रवृत्तियों को दमित करने के विरोधी हैं। नारी शरीर संपर्क और मदपान उनकी साधना में शामिल हैं। शरीर और मन को संतुष्ट रखने को साधना में बाधक नहीं साधक समझते हैं। उनकी साधना और वाणी शुद्ध वैयक्तिक है, सामाजिक या समष्टि की कोई चेतना उनमें नहीं दिखलाई पड़ती। वे भक्त नहीं हैं इसीलिए अनभै साँचा तो है किंतु कबीरदास का संयम और प्रेम की व्याकुलता उनमें नहीं।

अघोर भैरव के निडर होने का तर्क है—जो है और जो होगा उसे अकुंठ भाव से स्वीकार कर लेना। यदि भट्टिनी और निपुणिका को गंगा के प्रवाह में डूबना ही है तो उससे व्याकुल होना व्यर्थ है। भट्टिनी के प्रति राग है तो उसे स्वीकार और ग्रहण करना श्रेयस्कर है। महावराह की मूर्ति पूज्य हो भी तो उससे भट्टिनी के प्रति जैसी ममता नहीं हो सकती। महावराह की मूर्ति प्रतीकार्थ नहीं सिर्फ़ प्रतीक है। भट्टिनी जीवित सत्य है, आत्मीय, बाणभट्ट का निजी सत्य। इस निजी सत्य की रक्षा के लिए हर वस्तु त्याज्य है, गुरु, लोक, मंत्र, वेद और महावराह की मूर्ति भी।

अघोर भैरव के पास भावी के किसी कालखंड के पूर्व दर्शन की शक्ति है, उसे निर्धारित करने की शक्ति नहीं। वे भावी नियंता नहीं। भविष्य तो अनिश्चित है, उसे देख लेना, जान लेना है निर्धारित करना नहीं है। अघोर भैरव उसे नहीं देखते हैं देखते बाणभट्ट हैं—वह भी मूर्च्छित अवस्था में। इस मूर्च्छा स्वप्न या आवेश-दशा से द्विवेदी जी अपने उपन्यासों में बहुत काम लेते हैं। उसका संबंध उपन्यासों के वस्तु-रूप के गठन से ज़्यादा है।

चारुचंद्रलेख के सीदी मौला—कबीर के अग्रज हैं। ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर। फक्कड़, सबकी हँसी उड़ाने वाले। बात-बात में बड़े से बड़े आदमी को मूर्ख, भगोड़ा, कायर कहने वाले। उन्हें विषम, जीवन का, देशाटन का अपार अनुभव है। उनके चरित्र महत्त्व पर तो बात फिर कभी होगी, यहां यह निवेदन करना है कि वे भी अदृष्ट के अनिश्चय की बात करते हैं। वे पागलों की भाँति ठठाकर हँसते हैं। ज्ञान की उस भूमि पर स्थित हैं जहाँ से लोगों को डाँट-डपट सकते हैं। धक्कामार शैली में अज्ञान उद्घाटित कर सकते हैं। विद्याधर भट्ट, कूटनीतिज्ञ ज्योतिषी राजकार्य में निपुण अनुभवी हैं। सीदी मौला, विद्याधर भट्ट से कहते हैं, ''ज्योतिषी हो न! भविष्य बताया करते हो!'' फिर घुंडकेश्वर के बारे में कहते हैं, ''उस भाग्यहीन को नहीं मालूम कि विद्या माँगने से नहीं मिलती...मूर्ख यही नहीं समझ पाया कि देवी किसी बाहरी देवता का नाम नहीं है''...एक दिन उसके अंतस्तल में स्थित मंदबुद्धि ने उसे धोखा दे दिया। उसने एकाएक आविष्कार किया कि मैं मुसलमान हूँ और धीर शर्मा पवित्र ब्राह्मण हैं''...फिर एकाएक ठठाकर हँसते हुए सीदी मौला ने कहा, ''मूर्ख अभिचार के द्वारा सिद्धि प्राप्त करना चाहता है।'' (पृ. 442-43, खंड 1)

सीदी मौला महाराज सातवाहन की मौजूदगी में ही ठठाकर हँस पड़े, बोले, ''तुम्हारी इसी विकल बुद्धि ने तो जयत्रिचंद्र का सर्वनाश कर दिया। तुमने ठीक समय पर सलाह नहीं दी। देखता हूँ, अब सातवाहन को भी ले डूबोगे।''

आगे कथाकार ने वर्णित किया है, ''इतने दृढ़ निश्चयी विद्याधर भट्ट क्षण भर में काले पड़ गए। ऐसा जान पड़ा कि धैर्य नामक वस्तु उनमें है ही नहीं। उनके हाथ-पैर बुरी तरह काँपने लगे।'' (पृ. 443)

विद्याधर भट्ट काँपते हैं तो सीदी मौला को रस मिलता है, बुद्धिमान विद्याधर भट्ट विवर्ण, श्रीहीन, हतवाक् हुए तो सीदी मौला ने और भी क्रूर उपहास किया, बोले–''धीर शर्मा मूर्ख है, किंतु डरपोक नहीं है। वे लोग उसे पीटते हैं तो श्लोक बोलने लगता है, घसीटते हैं तब भी श्लोक बोलता है, बाँधते हैं तब भी श्लोक बोलता है। चुप रहो बाबा लेकिन वह तो अजब पोंगा है, श्लोक अगर दस शब्द का बोलेगा तो उसका अर्थ करेगा पचास शब्दों में।'' (उपरि)

आगे चलकर सीदी मौला ''कुटिल हँसी'' हँसते हैं। कहते हैं–''सब भंड हैं...सबके सब चुग़लख़ोर, चरित्रहीन, क्रूर, गँवार। नाश हो जाएगा इस सल्तनत का।'' (पृ. 573)। सीदी मौला की कुटिल हँसी ''महावराह के गोपन हास्य'' की तरह है। सीदी मौला कबीर के अग्रज हैं। बहुश्रुत, योगी, सूफ़ी, सिद्ध और मौला हिंदू- मुसलमान दोनों। सब पर हँसने वाले, अहंकारियों को मूर्ख बताने वाले। न किसी के मित्र न किसी के शत्रु–फक्कड़ मस्त-मौला। हृदय की अपार मानवीय करुणा को टेढ़ी-मेढ़ी बानी उलटबाँसी में छिपाए।

अक्षोभ्य भैरव भी डाँटने-फटकारने वाले पात्र हैं। किंतु वे मस्त-मौला नहीं। वे माया-मोह के पाश में बद्ध हैं।

बीहड़ पात्रों की ख़ास बात यह है कि ये सब ध्वंस, अनिश्चय या नाश की भविष्यवाणी करने वाले पात्र हैं। इनका स्वर प्रतिष्ठान-विरोधी है। लेकिन इस आयाम पर हम यहाँ बात नहीं करेंगे। ये प्रायः वैदिक या ब्राह्मणवादी परंपरा का विरोध करने वाले हैं। *पुनर्नवा* में शायद कोई पात्र ऐसा नहीं है। *अनामदास का पोथा* के जटिल मुनि तो सीदी मौला से भी अधिक कबीर-अग्रज हैं। वे ब्राह्मण नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म या वेद किसी के कायल नहीं हैं। जटिल मुनि रैक्व की ओर देखने लगे तो 'रैक्व को लगा जैसे कोई भयंकर उल्का उनकी ओर बढ़ी जा रही है।'' जटिल मुनि के बारे में बातें करने का मौक़ा हमें फिर मिलेगा। वे अनिश्चय की बातें कम करते हैं, वेद या उपनिषदों के मार्ग का विकल्प अधिक प्रस्तुत करते हैं।

चारुचंद्रलेख के कथानक पर ध्यान दें तो लगता है कि वह मानव प्रयत्न की व्यर्थता का उपन्यास है। *बाणभट्ट की आत्मकथा* की समाप्ति प्रश्नवाचक चीख़ से, जो प्रश्नाकुलता कम अनिश्चय या निराशा अधिक है, होती है। उत्तरापथ में जनता को संगठित करने की बात ज़्यादा होती है, उस दिशा में कोई सफलता नहीं दिखलाई पड़ती। निपुणिका की मृत्यु हो जाती है। भट्ट और भट्टिनी एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। *चारुचंद्रलेख* में सातवाहन और चंद्रलेखा की भेंट ज़रूर हो जाती है। मैना आत्महत्या कर लेती है, सीदी मौला को हाथी के पैरों तले कुचला जाना है। नागनाथ की हत्या हो चुकी है। कोटिवेधी सिद्ध रस की साधना असफल हो चुकी है। समाप्ति के वाक्यों पर ध्यान दीजिए : महाराज सातवाहन से मिलने के लिए व्याकुल रानी का यही मिलन हुआ। उन्हें होश में लाने में थोड़ा विलंब हुआ। फिर बोधा ने मैना के आहत शरीर को उठा लिया और यह कहते हुए कि, ''जल्दी महाराज, जल्दी भागिए'' रानी को और मुझे घसीटते हुए वनस्थली में घुस गए। रानी पहले से ही थकी हुई थी, अब तो उनमें चलने की शक्ति ही नहीं थी। मैंने उन्हें बलात् पीठ पर लाद लिया। घने अंधकार में विकट वनभूमि के मार्ग से हम लोग भागे। सोचने का अवसर ही नहीं मिला।''

मैंने ऐसा कोई उपन्यास, देशी या विदेशी नहीं पढ़ा है जिसका अंत इस किंकर्तव्यविमूढ़ता, इस थकान एवं ऐसे अनिश्चय-अंधकार में हुआ हो। मैं *गोदान* के अंत को भूल नहीं रहा हूँ।

बाणभट्ट की आत्मकथा और *चारुचंद्रलेख* में अनिश्चय और अ-पूर्वनिर्धारण की व्यंजना इसीलिए मुखर स्पष्ट है क्योंकि दोनों उपन्यासों में सफलता मिलने ही वाली है कि स्थिति उलटे घूम कर

बिलकुल विपरीत हो जाती है। सफलता इतना निकट होकर अनिवार्य एवं आत्यंतिक असफलता में परिणत होती है। हाथ लगता है सिर्फ़ अनिश्चय।

बाणभट्ट की आत्मकथा के अंतिम आधे पृष्ठ पर घटनाएँ तेज़ी से घटती हैं। आर्यावर्त की विपत्ति कट गई है। महामाया के शिष्य पुरुषपुर में एकत्र हो गए हैं। भट्टिनी के पिता तुवर मिलिंद ने उन्हें संघटित करना शुरू कर दिया है। कुभा के पार दस्युओं का पता नहीं चल रहा है। भट्टिनी बाणभट्ट को अपने साथ पुरुषपुर चलकर जनता के बीच कार्य करने का प्रस्ताव रखती हैं कि आचार्य भुर्वपाद बाणभट्ट को अकेले पुरुषपुर जाने और भट्टिनी को स्थांडीश्वर में ही रुकने का आदेश दे देते हैं। कथा ''बाणभट्ट की कातर कंठ की चीख'' फिर क्या मिलना होगा से समाप्त हो जाती है।

बिलकुल यही स्थिति *चारुचंद्रलेख* के अंतिम एकाध पृष्ठों की है। अक्षोभ्य भैरव को दिए गए वचन पूरे होने के साथ ही शाह की हत्या मैना कर देती है। मैना भी आत्महत्या कर लेती है। रानी चंद्रलेखा मिल जाती है। विचित्र विडंबना है जिस शाह की सहायता से दिल्ली के सुलतान से मोर्चा लेना था वही भद्रकाली का अपहर्ता था, उसी की हत्या करने से अक्षोभ्य भैरव को दिया गया वचन पूरा होना था। विडंबना के भीतर दारुण विडंबना यह कि भद्रकाली ने उसे पति रूप में स्वीकार कर लिया था। जिस भद्रकाली के अपहरण से अक्षोभ्य इतना विक्षुब्ध हुए थे उसी को विधवा बना भद्रकाली पर कटे पक्षी की तरह शाह पर गिर गई, ''हाय! पिताजी, मेरा सुहाग लूट लिया।''

वचन-पालन की सफलता ने सत्यानाश कर दिया। कथा का अंत इन दो छोटे वाक्यों से—''घने अंधकार में विकट वन भूमि के मार्ग से हम लोग भागे। सोचने का अवसर ही नहीं मिला।'' यह ''अंधकार'', यह ''विकट वनभूमि'' और ''सोचने के अवसर का न मिलना'' सामान्य नहीं। मुझे लगता है कि मानव-इतिहास में छिपे अंधकार और अनिश्चय का प्रतीक है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी चिंतन-प्रक्रिया में निर्मम तार्किक हैं। यथार्थ की विषमता से आँखें चुराने वाले। मानवीय मूल्यों में निष्ठा रखना, मनुष्य से बढ़कर कुछ नहीं मानना, लौकिक दृश्यों से अलौकिक संकेत पाना एक बात है किंतु मानव नियति और मनुष्य के भविष्य के प्रति आश्वस्त निश्चिंत होना बिलकुल दूसरी बात है। वस्तुतः मानवीय प्रयत्न, उद्यम, मूल्य, संघर्ष, आत्मत्याग, बलिदान बहुत कुछ आवश्यक ही इसीलिए है क्योंकि मनुष्य का भविष्य पूर्व-निर्धारित नहीं है। ''ना जानौं कित मारसी'' सिर्फ़ व्यक्ति के लिए नहीं मानव-इतिहास के लिए भी है।

जड़ चेतना (सचेतन मनुष्य के उद्यम) से संचालित हो सकता है किंतु वह स्वयं मानवीय नहीं होता। जड़ में चेतना नहीं, ऊर्जा होती है। ऊर्जा में विवेक नहीं होता। सारे मानवीय प्रयत्नों, उद्यमों के बावजूद जड़ता कब भारी पड़ जाए, कुछ ठीक निश्चित नहीं। द्विवेदी जी अपने चिंतन में इस बात को अकसर समझाते हैं—गुरुत्वाकर्षण को, धरती के भार को पार करके तृणांकुर के ऊपर आकाश की ओर बढ़ने के रूपक से। स्वार्थ, जड़ प्राकृतिक या पाशविक मनोविकार इसी भारग्रस्त जड़ ऊर्जा के रूप हैं। सात्विक चेतन से इनका अनवरत संघर्ष हो रहा है। *चारुचंद्रलेख* में महामाया और गोरखनाथ का नाटकीय संघर्ष इसी का रूप है। मनुष्य की जय यात्रा आशा मात्र है, निश्चित नहीं।

मानवीय सत्य मानवीय प्रकृति का सत्य नहीं बन सका है। रवींद्रनाथ ठाकुर और आइन्स्टाइन के वार्तालाप का उल्लेख द्विवेदी जी इसी बात को रेखांकित करने के लिए करते हैं। रवींद्रनाथ सत्य को मानव सापेक्ष मानते हैं। आइन्स्टाइन कहते हैं—''मनुष्य न रहे तब भी पाइथागोरस का सिद्धांत लागू रहेगा।'' जड़ प्रकृति के नियम मानव निरपेक्ष हैं। चेतना या संवेदना का सत्य और जड़-प्रकृति या ऊर्जा या सत्य भिन्न हैं।

अशोक के फूल में निबंधकार तीन बार उदासी की बात करता है। अशोक के फूल को देखकर वह उदास हो जाता है। फिर उदासी का कारण विस्तार से बताता है। अशोक में भारत का सांस्कृतिक

इतिहास लिपटा है। निबंधकार उसे उद्घाटित करता है। अशोक भारत की सौंदर्य चेतना का प्रतीक था। बहुत सम्मानित बहुप्रयुक्त। वह कालिदास का दुलारा पुष्प है या मदन देवता के बाण का एक पुष्ग। किंतु इतिहास के रथ ने उसे रौंद डाला। आज अशोक का वह सम्मान नहीं। यहाँ तक कि उसकी पहचान तक खो गई है। कंधे पर से फूट पड़ने वाले अशोक को भुलाकर एक निफूले वृक्ष को अशोक नाम दे दिया गया है। इतिहास का परिवर्तन रथ कितना निर्मम है। यह सब वर्णित-चित्रित करने के बाद द्विवेदी जी कहते हैं–''मैं सचमुच उदास हूँ। यानी अकारण उदास नहीं हूँ। उदास होने का कारण इतिहास का परिवर्तन चक्र है।''

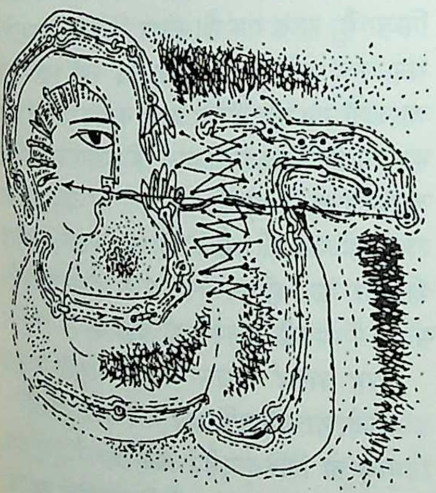

'महाकाल के प्रत्येक पदाघात में धरती धसकेगी। उसके कुंठ नृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ न कुछ लपेटकर ले जाएगी। सब बदलेगा, सब विकृत होगा–सब नवीन बनेगा।''

अशोक के फूल के इतिहास पर निबंधकार क्षुब्ध है, उदास है। उसकी नस-नस से उल्लास की झंझा उत्थित होती है। अशोक के फूल के इतिहास से विक्षुब्ध निबंधकार का यह भावोच्छवास देखिए–''भुलाया गया है अशोक। मेरा मन घुमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हज़ारों वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज़ थी, सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी? कविता क्या सो गई थी? क्या मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है? जले पर नमक तो यह है कि एक तरंगायित पत्र वाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा। याद भी किया तो अपमान करके।''

लेकिन ख़ुद अशोक की क्या स्थिति है। इतिहास के इस मान-अपमान, उत्कर्ष-अपकर्ष, निबंधकार के भावोच्छ्वास का उस पर क्या असर है?

''अशोक आज भी उसी मौज में है जिसमें आज से दो हज़ार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है। कुछ भी तो नहीं बदला है।''

अशोक पर मनुष्य के भावोच्छ्वास का कोई असर नहीं है। उसका खिलना, मुरझाना मानव निरपेक्ष है। प्रकृति के जड़ नियम मनुष्य की भावनाओं की परवाह नहीं करते। इसलिए निबंधकार का निष्कर्ष है– ''उदास होना भी बेकार है'' इस पर भी विशेष ध्यान दीजिए। आगे द्विवेदी जी इस ''भी'' को निकाल देते हैं। लिखते हैं ''पुराने चित्त से इसको देखने वाला उदास होता है। वह अपने को पंडित समझता है। पंडिताई भी बोझ है–जितनी भी भारी होती है उतनी ही तेज़ी से डुबाती है। जब वह जीवन का आग बन जाती है तब सहज हो जाती है।...अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है। कितनी मस्ती में झूम रहा है। कालिदास इसका रस ले सके थे–अपने ढंग से। मैं भी ले सकता हूँ अपने ढंग से। उदास होना बेकार है।''

बात यह है कि द्विवेदी जी के पास पंडिताई है और वे उसका बोझा उतारकर फेंक भी सकते हैं। अशोक के पास न पंडिताई है, न हृदय है, बदलने और नवीन होने की ज़रूरत मनुष्य को है, जड़ को नहीं। अब अगर इतिहास स्मृति है तो उसके ध्वंस का क्षोभ अनिवार्य है। नवीन के उल्लास में विगत के ध्वंस की यातना या कचोट चिपटी, चिपकी रहती है। जब पुरातन और नवीन, ध्वंस और निर्माण का क्रम सनातन है तो इसमें उल्लसित होने की बात क्या है। उस मनुष्य के लिए जिस का मन प्राचीन काल के कुज्झटिकाच्छन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है।

एक बात तो यह तय है कि मनुष्य के भावोच्छ्वास से जड़ प्रकृति स्वतंत्र है। दूसरी बात यह कि ध्वंस और निर्माण का रूप अनिश्चित है। उसे निर्धारित नहीं किया जा सकता। पहले से जाना नहीं जा सकता। अतीत और भविष्य दोनों कुज्झटिकाच्छन्न है। अतीत के आकाश में स्मृति को पंख चाहिए और भविष्य के आकाश में कल्पना को। अतीत में अनिश्चय तो है किंतु आशंका नहीं भविष्य में आशंका अनुपेक्षणीय है। भविष्य की विकट भूमि में अनिश्चय और आशंका का अंधकार है किंतु उस पर चलने के अलावा और कोई चारा नहीं।

बाणभट्ट की आत्मकथा के नायक के अनुसार ''बाणभट्ट जितना भी चिंतित और उत्तेजित क्यों न हो यह घिनौना दृश्य संसार में बार-बार दिखाई देगा। महापुरुषों ने करुणा और मैत्री के अनेक उपदेश दिए हैं, भ्रातृ भाव और जीव-दया के बहुत ग्रंथ लिखे हैं, पर उन्हें सफलता नहीं मिली है। मैं निराशा से कातर हो उठा हूँ...'' (पृ. 109, *बाणभट्ट की आत्मकथा*)

यह अनिश्चय, आशंका और अंधकार द्विवेदी जी के चिंतन एवं सृजन की आधारभूमि है। प्रस्थान भूमि भी। प्रस्थान भूमि इसलिए क्योंकि द्विवेदी जी यहीं रुकते नहीं। आधारभूमि इसलिए क्योंकि ये उनके चिंतन सृजन में विद्यमान रहते हैं। उनका चिंतन और सृजन इस अनिश्चय और अंधकार से जूझता है, इनसे मुक्ति के लिए छटपटाता और संघर्ष करता है। सौंदर्य विशेषतः नारी सौंदर्य मुक्ति का प्रधान साधन है। इस बिंदु पर हम आगे विस्तार से बात करेंगे।

इस अनिश्चय और अंधकार का गहरा संबंध द्विवेदी जी के फक्कड़पन, अट्टहास और ''रजनी दिन नित्य चला ही किए'' ''अलबेला मैं ऐसा अकेला हुआ'' या 'किसी फक्कड़ बाबा का चेला हुआ'' से है। द्विवेदी जी के उपन्यासों में ठठाकर हँसने वाले सीदी मौला जैसे अनेक पात्र हैं। कबीरदास की धक्कामार शैली में बात करने वाले। कबीरदास पर बात शुरू करने से ठीक पहले जल्दी में यह कह दिया जाए कि यही भूमि– ''हँस रहा यह देख कोई नहीं भेला'' (निराला) की है। द्विवेदी जी कबीरद से यहीं जुड़ते हैं। यह बात कही जा चुकी है कि *अनामदास का पोथा* के जटिल भूमि और चारुचंद्रलेख के सीदी मौला कबीरदास के पूर्व रूप हैं।

अंधकार रास्ता न मिलने एवं अनिश्चय व्यवस्था का नियम न जान पाने से पैदा होते हैं। ये नया रा ढूँढ़ने और नई व्यवस्था क़ायम करने की मनोभूमि हैं। कबीरदास की विह्वलता, विकलता राम से अलग होने के कारण है। कबीरदास यह भी कहते हैं कि वस्तुतः हम अलग हो ही नहीं सकते। यह बोध ज्ञान प्राप्ति का लक्षण है। कबीरदास की विकलता के इतने आयाम हैं कि वे चक्कर में डाल देते हैं। समस्या यह है कि जो कुछ दृश्य है वह असत्य है और जो सत्य है वह अदृश्य और अबूझ है। संसार मिथ्या है, सत्य राम है। संसार दिखलाई पड़ता है। राम सत्य होते हुए भी दिखलाई नहीं पड़ते–''मैं का जानौं राम कूँ आँखिन कबहुं न दीठ।'' कोई ऐसी समस्या है जिसका समाधान नहीं। लोग जलते हैं तो जलहर (जलाशय) की ओर जाते हैं। उनके ताप का शमन हो जाता है। मैं अपना ताप बुझाने जलाशय की ओर जाता हूँ तो जलाशय ही जलने लगता है। संतों, मैं अपनी जलन कहाँ बुझाऊँ–

बिरह जलाई मैं जलौं जलती जलहरि जाऊँ
मो देख्या जलहरि जलै संतौ कहाँ बुझाऊँ

मृत्यु तो निश्चित है। अनिश्चित है मृत्यु कहाँ और कब होगी। ''ना जानौं कित मारिसी क्या घर क्या परदेस।''

अंधकार अज्ञात का है। ज्ञान और अज्ञान के बीच है काल। इसीलिए काल सर्वग्रासी हो, माया उसका साधन हो लेकिन कालबोध चेताता है। वही संसार की नश्वरता का बोध कराता है और ज्ञानी को अनश्वरता, सत्य और राम के प्रति उन्मुख करता है। ''भय बिन, होइ न प्रीति'' का यही आशय है।

अज्ञानियों के प्रति हास्य कबीरदास के यहाँ भी काफ़ी है। ठठाकर हँसना नहीं। सिर्फ़ 'हाँसी' है। लेकिन उनकी लानत मलामत से कबीरदास का काव्य भरा पड़ा है। कबीरदास के यहाँ एक शब्द है–भरम ग्यानी। ''माहि लिखे भ्रम ग्यानी''। यमराज

की बही में भ्रम ज्ञानियों के नाम लिखे हैं। ये भ्रम को ही ज्ञान समझते हैं। असली ज्ञान तो कालातीत होने, काल का मर्दन करने का है। बाक़ी सारा ज्ञान बेकार है। ज्योतिषी, वैद्य, विद्वान, पंडित, मुल्ला सब कुछ जानते हैं तो भी उन्हें मरना पड़ता है। धनी, संपन्न, सुंदर शरीर वालों को भी मरना पड़ता है— "अंत तऊ मरना।'' इसका उपाय किसी के पास नहीं। अतः ये ज्ञानी भ्रम ग्यानी तो हैं ही, हास्यास्पद भी हैं। कबीर के व्यंग्य की भी भूमि यही है—चार योजन की भी बात नहीं जानते और बैकुंठ जाने की बात करते हैं—

जोजन चार परिनिति नहि जानैं
बातन ही बैकुंठ बखानैं

द्विवेदी जी के ठठाकर हँसने वाले, डाँटने-फटकारने वाले पात्र सीदी मौला अघोर भैरव, जटिन मुनि इसी तरह के पात्र हैं। मैं यह बात ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि द्विवेदी जी के इन प्रारंभिक उपन्यासों में यह बात कबीर के आस्वाद से आई है और मारखेज से पहले की है। कबीर का यह आस्वाद द्विवेदी जी ने अपने जीवनानुभव और पर्यवेक्षण से अर्जित किया है जिसकी विस्तार से चर्चा मैं अन्यत्र करूँगा। यहाँ मैं द्विवेदी जी के जीवनानुभवों की बात नहीं करना चाहता।

निश्चित है केवल मृत्यु। मृत्यु जितनी निश्चित है उतनी ही अनिश्चित है मृत्यु तक पहुँचने की स्थितियाँ। पूर्वघोषित मौत का ख़बरनामा ''एक क्रॉनिकल ऑफ़ डेथ फोरटोल्ड'' में मारखेज के यहाँ इस केंद्रीय संवेदना का दबाव शिल्प पर पड़ा है जहाँ हत्या का सुराग देने वाले पात्र अपने-अपने ढंग से यानी अनिश्चित ढंग से विवरण देते हैं। ज्ञान क्या है? मुक्तिबोध की एक पंक्ति है—''सुनते हैं वह (पूर्ण ज्ञान) मृत्यु के उपरांत मिलता है।''

इस अनिश्चय और अंधकार से जूझना है। मानव सभ्यता-संस्कृति का इतिहास इस जूझने का भी इतिहास है। कबीरदास जूझे थे। उनके ज्ञान का प्रेरक नश्वरता-बोध है। और ज्ञान भक्ति का साधन है। ज्ञान उनकी दृष्टि में सांसारिक वैभव को तुच्छ बना देता है। ''का माँगौ कुछ थिर न रहाई। देखत नैन चला जग जाई।'' सांसारिकता के जल में आग लगी है। यह आग कोई नहीं बुझा पाता। जो जलाशय दूसरों की आग बुझा देते हैं वे कबीर की ज्वाला को और भड़का देते हैं।

मोहमाया से ग्रस्त अज्ञानी सत्य की न जिज्ञासा करते हैं न उसकी साधना। इसीलिए उनकी ज्वाला जल्दी शांत हो जाती है। ज्वाला कबीर की भी शांत होती है। वस्तुतः उनकी सारी साधना ही ज्वाला (सांसारिकता की नश्वरता) से ऊपर उठने के शमन की साधना है। कबीर के इन दो दोहों को आमने-सामने रखकर पढ़िए :

विरह जलाई मैं जलौं जलती जलहरि जाऊँ
मो देख्यां जलहरि जलै संतौं कहाँ बुझाऊँ
(39 सुमिरन)

कबीर की विरहाग्नि ज्ञानाग्नि यानी पूर्ण सत्य जान लेने की व्याकुलता है। दूसरा दोहा—

तन भीतर मन मानिया बाहरि कहा न जाइ
ज्वाला तैं फिरि जल भया बुझी वलंती लाइ
(31 परचा कौ अंक)

पूर्ण सत्य राम हैं। उनकी भक्ति ही परम श्रेय एवं नश्वरता के भास को नष्ट करने वाली है। वह सिर्फ़ यही नहीं यानी निषेधात्मक ही नहीं है। वह परम विधेय भी है।

अनिश्चय, अंधकार, असत्य, नश्वरता से जूझने की कबीर साधना—वैयक्तिक है। वह वैयक्तिक साधना का ही आह्वान भी है। सामाजिक चेतना या सामाजिक समस्याओं का चित्रण हाशिए पर है। द्विवेदी जी के शब्दों में ''घलुए'' की वस्तु है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी मध्यकालीन भक्त साधक नहीं हैं। इस काल के मर्मज्ञ व्याख्याता भले हों। वे साहित्यकार हैं। उनके उपन्यासों पर विचार करते समय कबीर का स्मरण करने का उद्देश्य केवल यह संकेतित करना है कि कबीर जिन समस्याओं से टकराते हैं, उनमें कुछ से द्विवेदी जी भी टकराते हैं। असंभव नहीं कि कबीर पर विचार करते हुए ही उन्होंने इन समस्याओं का अनुभव किया हो— (यद्यपि मेरा मन ऐसा नहीं मानता, इस पर मैंने .ज़्यादा सोचा भी नहीं है।)

कबीर ने अनिश्चय, अंधकार, नश्वरता के ताप से रामभक्ति में शीतलता पाई थी। वे काल का मर्दन अकाल पुरुष से करते हैं। द्विवेदी जी के पास वह समाधान नहीं है। अनस्साधना और भक्ति दोनों का वे आधुनिक व्याख्यात रूप प्रस्तुत करते हैं समाधान के रूप में। किंतु समाधान इतिहास के हवाले कर देते हैं। इतिहास यानी मनुष्य की संघर्ष साधना। द्विवेदी जी के यहाँ इतिहास की साधना में भक्ति-पूर्व और भक्ति साधना भी समाविष्ट है आधुनिक व्याख्यात रूप में।

लेकिन समस्याएँ दो तरह की हैं—एक तो वे जिनका समाधान अभी संभव नहीं दीखता। हो सकता है भविष्य में मनुष्य की चेतना-शक्ति का इतना विकास हो जाए कि वह इनका समाधान कर ले जैसे मृत्यु की समस्या, विश्व के निर्माण या निर्माता की समस्या, काल-यात्रा (काल की गति पलट देने या रोक देने की समस्या या शक्ति) इन्हें फिलहाल सनातन प्रश्न या समस्या कह सकते हैं। लेकिन अनेक समस्याएँ दूसरे प्रकार की हैं। उन्हें मानव व्यवस्था के इतिहास ने ही पैदा किया है जैसे भूख, जाति-पाँति, नारी पराधीनता, रोग, युद्ध, शोषण पीड़न आदि की समस्याएँ। इनका समाधान संभव है। द्विवेदी जी के उपन्यासों की बहुत बड़ी शक्ति दूसरे प्रकार की समस्याओं को प्रस्तुत करने में है। वे दोनों प्रकार की समस्याओं का अभूतपूर्व घोल प्रस्तुत करते हैं। इन्हें बहुत बड़े व्यापक कैनवास पर चित्रित करते हैं। इनके समाधान के संकेत भी प्र करते हैं।

द्विवेदी जी किसी समस्या की उपेक्षा नहीं क वे मनुष्य की जय यात्रा का पथ प्रशस्त करने साधना करते हैं। इसीलिए वे संकीर्ण या किसी ए विचारधारा के लेखक नहीं लगते। किंतु एक वि में वे आग्रही हैं। उनका कहना है कि हमें समा हर समस्या का करना है किंतु जिन समस्याओं क समाधान आज भी संभव है, जो सनातन नहीं हैं औ जिन्हें व्यवस्था सुधारने से ही हम ठीक कर सक हैं, उनका समाधान तत्काल होना चाहिए। इस प उनका किसी से कोई समझौता नहीं। अन्न, वस अधिकांश रोग, नारी पराधीनता, वर्ण विषमता आ ऐसी ही समस्याएँ हैं। वे इतिहास में रहकर इतिहा पार करने की योजना बनाते हैं। किसी विशि विचारधारा में न अटने पर भी वे हमारे समय के महत्त्वपूर्ण मानवतावादी चिंतक एवं रचनाकार हैं।

समाधान के रास्ते भी दो हैं। इतिहासबद्ध व इतिहास में रहकर भी उससे जूझने का रास्ता और अलौकिक शक्ति प्राप्त करके देशकाल को छलाँ जाने का रास्ता। द्विवेदी जी इसे अगवाह रास्त कहते हैं। भोजपुरी में अगवाह शॉर्टकट को कहते हैं। इस चामत्कारिक शक्ति के संधान और इतिहास से जूझने के मार्ग को आमने-सामने रखकर द्विवेदी जी ने गंभीर चिंतन एवं चित्रण किया है। मेरे विचार से यह चिंतन-चित्रण कथा-साहित्य में अद्वितीय है।

सत्यकाम

भारतीय उपन्यास और लोकजीवन

भारतीय उपन्यास की एक विशिष्ट पहचान है। जिस प्रकार हर आदमी एक-दूसरे से अलग है, उसी प्रकार हर उपन्यास एक-दूसरे से अलग हैं। सब विशिष्टता से युक्त हैं। भारतीय उपन्यासकार तकषी शिवशंकर पिल्लै का मलयालम उपन्यास *चेम्मीन* ऐसा ही एक विशिष्ट उपन्यास है जिसमें केरल के तृक्कुंतपुषा और नीर्क्कुन्नम तट पर रहने वाले और समुद्र-माता की कोख से अपना पेट भरने वाले संघर्षरत ग़रीब मछुआरों की ज़िंदगी का मर्मस्पर्शी, जीवंत और त्रासद चित्रण है। इसमें कोई भाषण नहीं है, बयानबाज़ी नहीं है बस मछुआरों की ज़िंदगी के संघर्ष के कुछ पल हैं।

यह सही है कि *चेम्मीन* मछुआरों के जीवन पर केंद्रित उपन्यास है पर यह मात्र मछुआरों के जीवन पर केंद्रित कृति नहीं है बल्कि इसके ब्याज से यह उपन्यास एक व्यापक प्रश्न पर विचार और मंथन करने के लिए चिकोटी काटता है, उकसाता है। औरत की अस्मिता और समाज और परिवार में उसका स्थान—यही इस उपन्यास का मुख्य विषय और सवाल है।

> ''उस कोठरी का कमज़ोर दरवाज़ा खोला जा सकता था। वह टूटकर गिर भी सकता था। लेकिन करुत्तम्मा थी एक ऐसे घेरे के भीतर, जिसकी दीवार किसी भी तरह तोड़ी नहीं जा सकती थी। वह घेरा था समुद्र-माता की संतान के तत्त्व-ज्ञान की ऊँची और मोटी दीवार का घेरा। उसमें न खिड़कियाँ थीं, न दरवाज़े। लेकिन क्या शरीर का गर्म ख़ून उसे तोड़ नहीं देगा? इस तरह का घेरा कभी टूटा नहीं है?''

एक मछुआरे की महत्त्वाकांक्षा, प्रेमी युगल में प्रेम की फूटती कोंपल और भारतीय मानस और ख़ासकर मछुआरों के संस्कार में स्त्री की ''पवित्रता'' की अवधारणा से इस उपन्यास की शुरुआत होती है। ये तीनों कोण एक-दूसरे में अनुस्यूत तो हैं ही वे आपस में घात-प्रतिघात करते भी प्रतीत होते हैं जिससे संबंधों में रगड़ पैदा होती है और कई बार चिनगारियाँ उड़ती भी दिखाई देती हैं। पिता की महत्त्वाकांक्षा और बेटी के प्यार में पिता ही जीतता है और बेटी का प्यार हलाल कर दिया जाता है।

परीकुट्टी मुसलमान है। वह मछुआरों के पड़ोस में रहता है। मछुआरों से मछली ख़रीदकर उसे सुखाना और बाज़ार ले जाकर बेचना उनका मुख्य धंधा है। इसलिए मछुआरों से उनका रोज़ का लेन-देन है। पर यह लेन-देन धंधे तक ही सीमित है, उनके बीच कोई सामाजिक रिश्ता नहीं

सत्यकाम का जन्म 1959 में बिहार के गया ज़िले में हुआ। इनकी आलोचना एवं अनुवाद की 4 पुस्तकें प्रकाशित; *उपन्यास पहचान और प्रगति*, *आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचंद* उल्लेखनीय। संपर्क : सी-3, कावेरी, इंदिरा गांधी नेशनल ओपन यूनिवर्सिटी कैम्पस, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110068

है। मछुआरे उनसे दूर-दूर रहा करते हैं। उनके पास आने पर सबकी निगाहें संदेह से उठ जाती हैं। करुत्तम्मा के साथ भी यही होता है। उसने एक विधर्मी से दोस्ती की, उससे प्यार किया। इसे इतना बड़ा गुनाह माना गया कि उसकी ज़िंदगी ही तबाह हो गई। छोटी बहन पंचमी ने जब दीदी के छोटे मोतीलाली के साथ बड़ी नाव के पीछे हँसी-ठिठोली करने की बात माँ से कही तो चेट्टी के कान सनसना उठे। उसने अपनी बेटी को वही कहा जो हर माँ अपनी बेटी को कहती आई है:

> ''पवित्रता ही सबसे बड़ी चीज़ है, बेटी! मल्लाह की असली संपत्ति मल्लाहिन की पवित्रता ही है। कभी-कभी छोटे मोतलाली लोग समुद्र-तट को अपवित्र कर देते हैं। पूर्व से स्त्रियाँ झिंगी पीटने और सूखी मछली को बोरों में भरने के लिए आया करती हैं और वह तट को अपवित्र कर देती हैं। समुद्र-तट की पवित्रता का महत्त्व उन्हें क्या मालूम! वे समुद्र-माता की संतान तो हैं नहीं। लेकिन उसका फल भोगना पड़ता है मछुआरों को।...तट पर रखी हुई बड़ी नावों की आड़ और यहाँ की झाड़ियाँ बहुत ख़तरनाक जगह है। वहाँ सतर्क रहने की ज़रूरत है।
>
> इतना कहकर चक्की ने बेटी को गंभीरतापूर्वक सावधान किया, ''तेरी अब उम्र हो गई है। छाती भर आई हैं। चेहरा-मोहरा सब हृष्ट-पुष्ट हो गया है। हो सकता है छोटे मोतलाली लोग और दूसरे नासमझ जवान लड़के तेरी ओर नज़र गड़ाकर देखें।''

करुत्तम्मा का प्रेम उसके पिता चेम्पन की महत्त्वाकांक्षा की बलि चढ़ जाता है। चेम्पन मछुआरा है। वह एक कुशल नाविक और मल्लाह है। वह मेहनती, साहसी और कर्मठ है। ये सभी गुण एक सफल समुद्र-पुत्र में होने चाहिए जो चेम्पन में हैं। उसकी एक महत्त्वाकांक्षा है नाव और जाल ख़रीदने की। उपन्यास का आरंभ भी इसी पंक्ति से होता है। करुत्तम्मा अपने प्रेमी परी/परीकुट्टी यानी छोटे मोतीलाली से कहती है, ''बप्पा नाव और जाल ख़रीदने जा रहे हैं।'' एक मछुआरे की महत्त्वाकांक्षा से इस उपन्यास की शुरुआत करने के पीछे मक़सद है। पिल्लै पाठक को आरंभ में ही मानो देना चाहते हैं कि वे उन ग़रीब मछुआरों की सुनाने जा रहे हैं जिनके लिए अपनी नाव और होना एक सपना होता है।

चेम्पन की महत्त्वाकांक्षा उसकी बेटी के लिए फाँसी का फंदा बन जाती है। एक दिन एक युवक नाविक चेम्पन की नाव को हरा देता है। वह दूसरे तट का लड़का है। इसका नाम पलनी है। वह पलनी से करुत्तम्मा का विवाह करने का निश्चय करता है। इसके पीछे भी उसकी वणिक बुद्धि ही काम कर रही होती है। वह सोचता है कि ग़रीब लड़का है, जिसके आगे नाथ न पीछे पगहा है शादी करने में कोई ख़र्च न होगा। अपनी इस वणिक बुद्धि से परिचालित होकर वह अपनी बेटी का विवाह दूसरे तट के मछुआरे लड़के से ठीक कर देता है। उसे इस बात की चिंता नहीं कि लोग उसकी निंदा करेंगे। उसे तो इस बात की फ़िक्र है कि उसके पैसे बचेंगे। विवाह संपन्न हो जाता है। लड़की की विदाई का समय आता है। वह अड़ जाता है कि बेटी को विदा नहीं करेगा। पर करुत्तम्मा माँ के आदेश का पालन कर अपने पति के साथ चली जाती है।

''चेम्मीन'' यानी मछुआरे एक ''बंद समाज'' की खुली दास्तान हैं। परंपराओं, रूढ़ियों और मान्यताओं से बँधा समाज अपने सदस्यों, ख़ासकर महिलाओं को तनिक भी छूट नहीं देता। अशिक्षित और निरक्षर समाज भी रूढ़ियों और अंधविश्वासों से जकड़ा होता है। समाज का कोई सदस्य, ख़ासतौर पर स्त्री, यदि इस ''मर्यादा'' का उल्लंघन करने का प्रयास करती है तो समाज उसे तिरस्कृत करता है। महिलाओं को तुरंत भ्रष्ट, अशुद्ध और अपवित्र घोषित कर दिया जाता है।

उपन्यास मछुआरों के जीवन के दुख-दर्द और खींच-तान से भरा हुआ है। मछुआरों का रोज़ कुआँ खोदना और रोज़ पानी पीना संघर्ष से भरे जीवन का द्योतक है। मछुआरे रोज़ जीवन और मृत्यु से संघर्ष करते हैं। जैसे एक योद्धा या पाइलट, अपने अभियान

पर निकलते हैं तो प्रतिदिन उनके माथे पर तिलक लगाया जाता है क्योंकि रोज़ वे मौत के अंधे कुएँ में प्रवेश करते हैं। मछुआरों का जीवन भी एक योद्धा का जीवन है। वह पाइलट की तरह रोज़ "सॉर्टी" पर जाता है और उनकी पत्नियाँ तट पर खड़ी इंतज़ार करती हैं। नाव दिखते ही रोज़ उनकी आँखों में चमक उभरती है, पति को उतरता न देखकर उनकी चमक फिर कहीं अंधकार में खो जाती है और वे दूसरी नाव का इंतज़ार करती हैं। कभी-कभी नाव वापस भी नहीं आती।

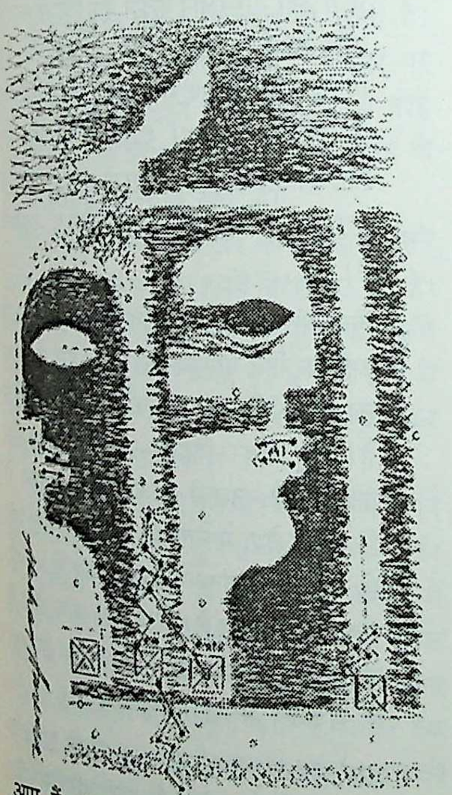

मछुआरों के जीवन के कई पक्ष इस उपन्यास में आए हैं, पर यह उपन्यास का विषय नहीं है। उपन्यास का मूल कथ्य है—एक लड़की का अपने समाज से विद्रोह। वह एक "विधर्मी" से प्यार करती है। वह अपनी शादी का भी विरोध नहीं करती। वह अच्छी मल्लाहिन बनने का भी प्रयत्न करती है। वह अपने पति के प्रति पूर्ण निष्ठावान है। पर वह अपने पहले प्यार को भूल नहीं पाती। उसका पहला प्यार पवित्र है, उसमें किसी भी प्रकार की "मर्यादा" का उल्लंघन नहीं है। फिर भी समाज उसे तिरस्कृत करता है। वह समाज से मानसिक स्तर पर ही सही, परंतु लड़की अवश्य है। एक लड़की के हाथ में परिवर्तन की पतवार थमाकर तकषी शिवशंकर पिल्लै ने साहस भरा काम किया है :

> "उसका मल्लाह अकेला समुद्र में गया था। वह दूर समुद्र में काँटा डाल रहा था। उस समय करुत्तम्मा को प्रथम मल्लाहिन की तरह तट पर खड़ी होकर एकाग्रचित्त से तपस्या करनी चाहिए थी। पर वह पड़ी-पड़ी परी के बारे में सोच रही थी, लेकिन पूर्ण चेतना के साथ नहीं। वह जगी भी नहीं थी। सोई भी नहीं थी। परी बेचारा अच्छा आदमी था। करुत्तम्मा भी उसे प्यार करती थी। यह सब बातें स्पष्ट हो गईं। करुत्तम्मा जीवन भर परी को नहीं भुला सकती थी। परी उसका था और वह परी की थी।"

पलनी, करुत्तम्मा और परी का मरना एक नए युग की शुरुआत का संकेत है। पलनी का मरना अपरिहार्य है क्योंकि कोई पति अपनी पत्नी को दूसरे की बाँहों में नहीं देख सकता। उसका यही अंत होना था। परी और करुत्तम्मा को समाज आलिंगनबद्ध नहीं देख सकता था। इसलिए सागर के गर्भ में समाना उनकी नियति थी। पर समुद्र ने उन्हें किनारे लगा दिया। प्रेम की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति होती है। प्रेम निर्भय होता है। प्रेम समाज की उदारता, उन्मुक्तता और प्रगति का परिचायक है। इसे थामने वाले में असीम साहस का संचार होता है। उसे अपने प्राणों का भय नहीं होता। मौत से उसे डर नहीं लगता। यही स्थिति परी और करुत्तम्मा की भी होती है। जटिल प्रश्न यह है कि यदि तीनों मरते नहीं, ज़िंदा रहते तो क्या होता? क्या पलनी करुत्तम्मा और परी के संबंध को स्वीकार करता? क्या समाज इसे स्वीकार करता? परी, करुत्तम्मा और पलनी की मौत के आगोश में सुलाकर उपन्यासकार ने सब कुछ कह भी दिया है और मौन भी रह गया है।

भारतीय उपन्यास लोक से जुड़ा है। यही इसे विशिष्ट बनाता है। वर्तमान हो या अतीत दोनों

ही स्थितियों में उपन्यासकार हस्तक्षेप करता है और उसे परखता है। उपन्यास केवल अतीत और वर्तमान को हू-ब-हू परोस देने का नाम नहीं है। इसमें औपन्यासिक दृष्टि का विशेष महत्त्व होता है। इस लिहाज से महाश्वेता देवी का उपन्यास *अरण्येर अधिकार* यानी *जंगल के दावेदार* ठेठ भारतीय उपन्यास है। इसमें अपनी अस्मिता और वजूद के लिए उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लड़ते, लहूलुहान होते, मार खाते और पिसते जनसमूह और समाज का संघर्षमय चित्रण किया गया है। इसमें एक युद्धरत आदमी और समाज से लेखिका ने पाठकों को रू-ब-रू कराया है। आज़ादी की लड़ाई में ये हाशिए पर पटके गए लोगों की कहानी है। इतिहास की मुख्य धारा में केवल गांधी जी ही गांधी जी हैं, हाशिए पर चल रहे आंदोलन और उनके नेता को इतिहास के पन्नों में जगह नहीं मिली है। बिरसा मुंडा और उसके नेतृत्व में हुआ आदिवासियों का आंदोलन भारतीय इतिहास के पन्नों में ''बोल्ड'' में अंकित नहीं है। जहाँ इतिहास अपने को थका हुआ और लाचार पाता है, वहाँ से उपन्यास कथ्य और प्रस्तुति का ज़िम्मा उठाता है और यथार्थ को पूरी तल्ख़ी के साथ पाठकों के समक्ष रख देता है।

इस उपन्यास में बिरसा मुंडा के नेतृत्व में आदिवासियों के भारतीय ज़मींदारों और अंग्रेज़ों के विरुद्ध जनविद्रोह को पुनर्घटित करने का प्रयास किया गया है। बिरसा मुंडा केंद्रित यह उपन्यास किसी व्यक्ति की जीवनी नहीं है, बिरसा की भी नहीं। यह जनसंघर्ष की अभूतपूर्व गाथा है। इसमें बिरसा नामक एक व्यक्तित्व तो है जिसके इर्द-गिर्द सारी कथा घूमती है, पर वह व्यक्ति मात्र नहीं है, वह तो हर बिरसाई और क़बीलों में व्याप्त है। वह तो घट-घट में विराजमान है, वह तो भगवान है। बिरसा के भगवान बनने की कथा बड़ी रोचक है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

उपन्यास का आरंभ एक ऐतिहासिक तथ्य से होता है : ''9 जून, साल 1900। राँची की जेल। 9 जून को बिरसा सवेरे नौ बजे मर गया।'' वास्तविक घटना से उपन्यास का आरंभ इतिहास और कथा को एक-दूसरे के इतने समीप खड़ा कर देता है कि दोनों एक-दूसरे के रूप, गंध और स्पर्श को महसूस कर सकते हैं। यह इतिहास भी है, कथा भी, कोई इसे जीवनी भी कह सकता है। घटना का कलेवर ऐतिहासिक है, इसका सृजन औपन्यासिक। इस उपन्यास की भूमिका में महाश्वेता देवी ने यह स्वीकारा भी है :

> ''भारतवर्ष के स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में बिरसा मुंडा का नाम और विद्रोह अनेक दृष्टियों से स्मरणीय और सार्थक है। इस देश की सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में उसका जन्म और अभ्युत्थान केवल एक विदेशी सरकार और उसके शोषण के विरुद्ध नहीं था। यह विद्रोह साथ ही साथ समकालीन सामंती व्यवस्था के विरुद्ध भी था। इतिहास की इन सब विवेचनाओं से काटकर बिरसा मुंडा और उसके अभ्युत्थान की सही-सही विवेचना असंभव है।...
>
> फिर भी उपन्यास की विधा सदा ही अपनी आंगिक रीति मानकर चलती है। इस उपन्यास का भी इसीलिए बिरसा की मृत्यु से अंत होता है। किंतु जीवन-विद्रोह—जो भी प्रचलित और प्रवाहित है—उसकी सच्चाई किसी काल में किसी भी देश में नेता की मृत्यु से समाप्त नहीं हो जाती। कालांतर में उत्तराधिकार के पथ पर वह बढ़ता रहता है। विद्रोह से जन्म लेती है क्रांति। इस उपन्यास के अंत के बाद भी उपसंहार के संयोजन से यही अभीष्ट है।''

इस तरह उपन्यासकार 1900 को ही 2004 में लाकर खड़ा कर देता है। यही इतिहास और उपन्यास का अंतर है। इतिहास वर्तमान को अतीत में ले जाता है, उपन्यास अतीत को वर्तमान में ले आता है। इतिहास आधारित होते हुए भी उपन्यास इतिहास नहीं वर्तमान में वर्तमान की कथा कहता है।

बिरसा मुंडा की संघर्षगाथा उपन्यासकार की प्रतिश्रुति दर्शाता है। वे आदिवासी समाज का सब

हमारे सामने रखना चाहती हैं कि किस प्रकार ग़ैर आदिवासियों (दीकू लोगों) ने इनके घर नष्ट किए, इन वनवासियों को बेघर किया और यदि उन्होंने इसका विरोध किया और इसके विरुद्ध आवाज़ उठाई तो "दीकू" लोगों ने अंग्रेज़ साम्राज्यवादी ताक़त से मिलकर इस क़ौम को नेस्तनाबूद कर दिया। होरी का सपना है "गाय" *(गोदान)*, चेम्पन का सपना है "नाँव" *(चेम्मीन)*, बीरसा का सपना है "भात"। ये छोटे-छोटे सपने उनके लिए काल बन जाते हैं। भात मुंडा लोगों के जीवन में स्वप्न ही बना रहता है। घाटो (मोटा अनाज) एकमात्र खाद्य है जो मुंडा लोगों को खाने के लिए मिलता है। इसी भात के चक्कर में बिरसा गिरफ़्तार हो जाता है। उसके घर में धुआँ उठता है। बिरसा के सिर पर इनाम है। इनाम की चाहत में भगवान का ही कोई भक्त मुख़बिर बन जाता है। सोते में ही भगवान के हाथ में हथकड़ी डाल दी जाती है।

बिरसा और उसके आंदोलन को इतिहास इतने क़रीब से नहीं बता सकता। इसमें बिरसा का दर्द है। यह उसका व्यक्तिगत दर्द नहीं है; पूरी मुंडा जाति का दुख वह अपने भीतर समेटे हुए हैं और इसी से उठती "उलगुलान" की आग जो सब कुछ जलाकर राख करने को प्रतिबद्ध थी।

अंग्रेज़, अमेरिकी और पूरा पश्चिमी संसार अपने को सभ्य और पूरब की दुनिया को असभ्य, बर्बर और पिछड़ा मानता है। पर जिस घिनौने तरीक़े से वे बिरसा मुंडा की हत्या करते हैं वह आज के इराक युद्ध के क़ैदियों पर की जा रही बर्बरता की याद दिलाते हैं। बिरसा अपनी भूमि के लिए, अपने हक के लिए संघर्ष कर रहा है। इराक अपने वतन को अमेरिकी ख़ूनी पंजे से मुक्त करने के लिए प्रयासरत है। बिरसा का आंदोलन मुक्ति का आंदोलन है। उसकी भूमि पर दीकूओं यानी ग़ैर-आदिवासियों का क़ब्ज़ा है; वह अपनी ज़मीन और अपना हक वापस चाहता है। दीकू जंगल से लकड़ियाँ काटते हैं, जंगल नष्ट करते हैं, जंगल साफ़ कर उन्हें खेत में तब्दील कर देते हैं और उसी खेत में आदिवासियों को बंधुआ और बेगार मज़दूर के रूप में जोत देते हैं। अपनी ही ज़मीन पर ग़ुलाम हैं—ये आदिवासी। अपने भाइयों को ग़ुलामी से आज़ादी दिलाने के लिए बिरसा ने उलगुलान की अलख जगाई थी। मुक्ति संग्राम के इसी महानायक की अंग्रेज़ों ने हत्या कर दी। इसका स्पष्ट उल्लेख उपन्यासकार ने किया है। उसके खाने में विषैला पदार्थ मिला दिया गया और वह उल्टियाँ करता-करता मर गया। इसका बड़ा ही मर्मस्पर्शी अंकन महाश्वेता देवी ने किया है :

> "सवेरे नौ बजे बिरसा मर गया। जेल के सुपरिन्टेंडेंट हाथ में घड़ी लिए खड़े थे। बीच-बीच में उसकी नब्ज़ देख रहे थे। वह क्षीण, बहुत क्षीण थी। बिरसा की आँखें बंद थीं—कपाल कुछ सिकुड़ा हुआ। ऐंडरसन कुतूहलवश झुके।"

बिरसा मर चुका है। पर ऐंडरसन अभी भी परेशान है। बिरसा यह लड़ाई ख़त्म नहीं कर रहा है। ऐंडरसन को नहीं मालूम कि बिरसा मात्र किसी शरीर में बँधा प्राण नहीं है, बल्कि जन-जन में बसी वह क्रांति है, विचारधारा है, जिसे कोई नहीं मार सकता। बिरसा भगवान है, वह सबके मन में व्याप्त है; उसे मारकर भी ऐंडरसन उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाता। बिरसा को चुपचाप अँधेरे में जला दिया गया। क्या बिरसा मर गया? बिरसा आज भी ज़िंदा है, हर उस आदिवासी में या फिर उस व्यक्ति में जो अन्याय के विरुद्ध खड़ा है। इसीलिए बिरसा भगवान है। इस बिरसा को उसके क़ैदी साथी गीत गाकर विदा करते हैं। वे बिरसा की शिनाख़्त नहीं करते। उनका भगवान मर नहीं सकता।

"भगवान कभी मर नहीं सकता" बिरसा ने उन्हें यह विश्वास दिलाया था। बिरसा के प्राणांत और दाह-संस्कार के बाद भी उन्हें विश्वास है कि भगवान ज़रूर लौटेगा, चाहे कोई रूप धरकर लौटे।

"उलगुलान का अंत नहीं है। भगवान का मरण नहीं होता।" यही इस उपन्यास का संदेश भी है और प्राणतत्त्व भी। "सिंहभूम का सारा जंगल और धरती हमें वापस मिलेंगे"—यही प्रेरणा देकर अपना चोला बदला है भगवान ने। हिंदू धर्म की ईश्वर

संबंधी अवधारणा और अवतारवाद का यह जनवादी इस्तेमाल अपने आप में अनूठा है।

इस उपन्यास में बिरसा के भगवान बनने और उलगुलान क्रांति का अगुवा बनने की कथा विस्तार से कही गई है। बिरसा कृष्ण की ही तरह गाय चराता है और उसकी बंसी पर पशु-पक्षी मोहित होकर उसके पास बैठ जाते हैं। उसकी इस अलौकिकता से सब हतप्रभ और आश्चर्यचकित हैं। बिरसा अति संवेदनशील है। वनप्रांत उसे पुकारता प्रतीत होता है। उसे लगता है कि उसका जन्म कुछ करने के लिए हुआ है।

बिरसा पर मुक़दमा चला। कुछ साबित न होने पर चेतावनी देकर उसे रिहा कर दिया गया। जेल से लौटकर बिरसा चुपचाप बैठा नहीं रहा। वह समझ गया था कि केवल ज़मींदार और महाजन दोषी नहीं हैं, अधिक दोष उस सरकार का है जो अपने स्वार्थ के लिए उन्हें शरण देती है, उनकी ओर से लड़ाई करती है। वह मुंडा लोगों से लड़ाई का आह्वान करता है और मुंडा अंत तक उसका साथ देते हैं। वह भी लड़ता रहता है। धोखे से पकड़ लिए जाने पर भी उसका आत्मबल कम नहीं होता। अंग्रेज़ सरकार उसे ज़्यादा दिन ज़िंदा रखकर ख़तरा नहीं उठाना चाहती थी। अतएव जेल में ही हत्या कर देती है और जेलर डायरी में लिख देता है, ''डाईड ऑफ़ एशियाटिक कॉलरा।''

बिरसा और उसके आंदोलन को केंद्र में रखकर महाश्वेता देवी ने वनवासियों पर ढाए गए क़हर का प्रतिशोध किया है। पूरे उपन्यास में विरोध का यह स्तर प्रतिध्वनित हुआ है। इस विरोध और प्रतिशोध के अलावा बिरसा के माध्यम से उपन्यासकार ने मानवीय संबंधों का अत्यंत संवेदनशील चित्रण किया है। इसमें बिरसा और उसकी माँ, बिरसा और साली तथा बिरसा और अमूल्य के अंतरंग संबंधों का मर्मस्पर्शी और भावनाओं से भरा चित्रण है। इसमें बिरसा और उसकी माँ के बीच का स्नेह और प्रेम मार्मिक बन पड़ा है। बिरसा को सब भगवान मानते हैं पर माँ के लिए तो वह बेटा मात्र है। जिस प्रकार यशोदा अपने पुत्र कृष्ण की विराटता और दिव्य से परिचित होने के बावजूद उसे अपने बेटे के में ही देखती है उसी प्रकार बिरसा की माँ करमी ओर अपने बेटे के ''ईश्वरत्व'' को देख सहम जाती है, पर जब नींद में वह अपने बेटे छटपटाते देखती है तो उसका दिल रो उठता है भगवान होने के बावजूद बिरसा को माँ की गोद ही सुख की अनुभूति होती है:

> ''हाँ रे बिरसा! दुनिया का दुख तू समझता है, लेकिन जो माँ तुझे दुनिया में लायी उसका दु नहीं समझता? तू भगवान बना, यह अच्छा है, लेकिन अब बाप, तू जिस राह पर चला है, उस राह पर जाने से सरकार तुझे मार डालेगी।
> सरकार नहीं रहेगी, माँ!
> नहीं रहेगी!
> नहीं माँ! हमारा देश फिर हमारा होगा। तुझे सब मिल जाएगा। सारा मुंडा देश जीतकर तुझे ला दूँगा। तू दुख क्यों मना रही है?
> करमी रोते-रोते बोली : कल से तू फिर सबका हो जाएगा। मुझे तेरे पास, कोई जाने भी न देगा : आज मेरे पास थोड़ा सो ले। तुझे एक बार कलेजे से लगा लूँ।
> ठूँठ वृद्धा करमी पृथ्वी के इस देवता को कलेजे से लगाकर लेटी रही। बाहर ठंडक थी; उतरी हवा चल रही थी। करमी के मौन रुदन की तरह जंगल हवा के थपेड़ों से विलाप करने लगा।''

उपन्यास के विषय से ही उसकी संरचना निर्धारित होती है। इस उपन्यास का कथ्य और प्रतिपाद्य है— अंग्रेज़ी शासन का प्रतिरोध और आज़ादी की जंग। इस जंग में आज़ादी के दीवानों को कुचल दिया जाता है, पर सुलगती आग नहीं बुझ पाती है। सुलगती आग की इस कथा की शुरूआत और अंत बिरसा की मौत से होती है। आरंभ में बिरसा को मौत से जूझते दिखाया गया है और अंत में उसका प्राणांत होता है।

मधु संधु

भीष्म साहनी की कहानियों में नारी विमर्श

हिंदी कहानी जगत में भीष्म साहनी का प्रवेश नई कहानी या स्वातंत्र्योत्तर कहानी से भी कुछ वर्ष पहले होता है। उनकी प्रथम कहानी ''अबला नारी'' हाई स्कूल के दिनो में इंटरमीडिएट कॉलेज की पत्रिका में प्रकाशित हुई, जबकि उनकी प्रथम प्रसिद्ध कहानी ''नीली आँखें'' अमृतराय के संपादकत्व में *हंस* पत्रिका में 1940 में प्रकाशित हुई। साहनी ने एक सौ के आसपास कहानियाँ लिखीं। ये कहानियाँ ''भाग्यरेखा'', ''पहला पाठ'', ''भटकती राख'', ''पटरियाँ'', 'वाङ् चू'', ''शोभायात्रा'', ''निशाचर'', ''पाली'', ''प्रतिनिधि कहानियाँ'' आदि संग्रहों में संकलित हैं।

भीष्म साहनी का जन्म रावलपिंडी पाकिस्तान में 1915 में हुआ। उन्होंने लाहौर गवर्नमेंट कॉलेज से अंग्रेज़ी में एम.ए. की। यह वह समय था, जब भारत में एक ओर सुधारवादी आंदोलन चल रहे थे, नारी के लिए शैक्षिक प्रगति के द्वार खुल रहे थे, समाज सुधार की लहर बल पकड़ रही थी और दूसरी ओर नारी ने स्वतंत्रता आंदोलन में छलाँग लगा दी थी। 1958 में उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ से "Concept of the Hero in Hindi Novel (up to 1950)" विषय पर पीएच.डी. की। अब तक विश्व ने विश्व युद्धों से मुक्ति पा ली थी और भारत विभाजन की पीड़ा से ताज़ा-ताज़ा दो-चार हुआ था। पश्चिम में विश्वयुद्ध से लौटे सैनिकों ने औरत को चारदीवारी के अंदर का रास्ता दिखाया था और भारत में विभाजन की विडंबनाओं ने उसे रोज़ी-रोटी से जूझने के लिए जीवन संग्राम में ला पटका था। सहगामिनी द्रुतगामिनी हुई जा रही थी।

साहनी की कहानियों में नारी बहुधा एक ख़ुशबू की तरह आई है। वह सम्मानित सुलझे व्यक्तित्व की मल्लिका है। वह नर से अधिक समझदार, सशक्त, बौद्धिक, क्रियाशील, संवेदनशील, स्नेहिल, मानवीय, संतुलित, सहज, प्रगतिशील, व्यावहारिक और दूरदर्शी है। उनकी पचास प्रतिशत कहानियों में या तो स्त्री पात्र हैं ही नहीं और अगर हैं तो अत्यंत गौण भूमिका लिए हैं। ''सरदारनी'', ''सलमा आपा'', ''राधा अनुराधा'', ''यादें'', 'नीली आँखें'', 'गंगो का जाया'', ''माता विमाता'', 'झूमर'' जैसी कुछ एक कहानियाँ ही नारी प्रधान हैं। साहनी की कहानियाँ नारी शब्द की उस व्युत्पत्ति का अनुमोदन करती हैं, जो कहती है कि नर अथवा man शब्द नारी अथवा woman में पहले से ही समाहित है। स्त्री पुरुष के समान नहीं, उससे कुछ अधिक है। यहाँ विमर्श शब्द उस जीवंत

मधु संधु की कई शोधपरक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनकी कहानियाँ और कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : बी-14, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर 143005 (पंजाब)

बातचीत का अर्थबोध लिए है, जिसमें नारी विषयक किसी समस्या या स्थिति के भिन्न कोणों, मानसिकताओं, दृष्टियों, संस्कारों, वैचारिक प्रतिबद्धताओं को समझने-समझाने का यत्न रहता है। इन कहानियों में स्त्री विमर्श के अनेक पहलू, अनेक रूपों और स्तरों पर प्रस्तुत किए गए हैं।

नारी विमर्श थकी-हारी, कमजोर, अधिकार-च्युत, पीड़ित, तिरस्कृत नारी की बात करता है, पर साहनी की अनपढ़, मुँहफट, वाचाल, निम्नमध्यवर्गीय "सरदारनी" पूरी क़ौम को भारी पड़ रही है। कहानी हिंदू-मुस्लिम दंगों की पृष्ठभूमि लिए है। यहाँ तीस-चालीस वर्षीय सरदारनी मुहल्ले के एकमात्र मुस्लिम मास्टर करमद्दीन की संरक्षिका के रूप में उभरी है। उसकी आत्मीयता, हमसायापन, हिम्मत ऐसी है कि वह दंगाइयों की भीड़ों में से एक कृपाण के बल पर मास्टर करमद्दीन को ढेरों गलियाँ पार करके मुसलमानों के मुहल्ले में पहुँचा आती है। यह एक ऐसी सशक्त नारी है, जिसके सामने पुरुषों को सशक्तिकरण की ज़रूरत पड़े। ऐसी मुक्त नारी—जिस पर सिर्फ़ मन के बंधनों का ही अंकुश है। वह दुर्गा का प्रतिरूप है। काली का अवतार है। शक्ति की प्रतीक है। नारी किसी भी वर्ग की हो, साहनी की कहानियों में उसका जीवट अद्भुत है। वह अपने पूरे दम-खम के साथ खड़ी है। *निशाचर* की भोर से पहले पहले रद्दी उठाने वाली केसरो हो, लछमी हो या *गंगो का जाया* की गंगो हो।

चाचा मंगलसेन में वीरजी सिर्फ़ सुसंस्कृत सोफ़िस्टीकेटेड, शर्मीले और संकोचशील हैं। वे सिर्फ़ महसूस करते हैं। करते कराते कुछ नहीं। उन्हें जोरू का ग़ुलाम भी कह सकते हैं। कोई भी धड़ल्ले का काम करना हो, पत्नी के ज़िम्मे डाल देते हैं। चाहे चाचा का ड्राईंगरूम में आना बंद करना हो, चाहे उसका सड़कों पर घूमना या नौकरों के साथ मैत्री करना। वही हर मोर्चे पर डटी है। सब्ज़ीमंडी के पिछवाड़े की अँधेरी गलियों में भी दबंग, चुस्त और जीवट संपन्न औरतें रहती हैं। अपनी सकारात्मक सोच के कारण ये निम्नमध्यवर्गीय औरतें चाचा मंगलसेन जैसे अकेले, बूढ़े, बीमार पुरुष को सुरक्षा का ऐसा अहसास दिलाती है कि वीरसिंह की कोठे और उच्चवर्गीय संरक्षण चाचा के लिए क़ैद के पर्याय बन जाते हैं। कहते हैं, "मैं उस मरण कोठे में नहीं जाऊँगा...तुम मुझे बख्श दो।" और सब्ज़ी मंडी की उन परायी मानवीय औरतों के उस अ परिवार के लिए मंगलसेन भतीजे के अनुरोधों का बलिदान कर देते हैं।

अमृतसर आ गया है में औरत मानवीय धरातल पर खड़ी है और पुरुष हिंदू-मुस्लिम वैर प्रतिशोध के अमानवीय भावों को गले में लटकाए बैठे हैं। यहाँ दंगों के दौरान एक बूढ़ी औरत गाड़ी में ज करती दिखाई दे रही है। कहती है, "ऐ नेकबख्तो, बैठने दो, आ जा बेटी, तू मेरे पास आ जा। जैसे-तैसे सफ़र काट लेंगे। छोड़ो बे जालिमों, बैठने दो।" और पठानों द्वारा उन्हें उतारने पर कहती है, "बहुत बुरा किया, तुम लोगों ने बहुत बुरा किया। तुम्हारे दिल में दर्द मर गया है। छोटी-सी बच्ची उसके साथ थी। बेरहमों तुमने बहुत बुरा किया है। धक्के देकर उतार दिया।"

औरतें न गुमराह करती हैं और न अति पर जाकर हत्याएँ करवाती हैं। *नौसिखिया* में अमरजीत की दादी पोते को गुरुओं के बलिदान, अपूर्व साहस, क़ुर्बानियों के क़िस्से इस तरह सुनाती है कि वह आतंकवादियों में शामिल होकर भी किसी गुरुसिख की हत्या नहीं कर सकता। गांधी जी के अनुसार यदि शक्ति का अर्थ पशुबल है, तो पुरुष अवश्य अधिक शक्तिशाली है, किंतु यदि मानसिक नैतिक शक्ति की बात करें तो स्त्रियाँ पुरुषों से उन्नीस हैं।

भटकाव में तीनों बहनों की चुटकुलेबाजियाँ आत्मदमन का एक ऐसा दर्द लिए हैं कि औरत ने पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक बंधनों को ऐसे आत्मसात कर लिया है कि उफ़ करने का प्रश्न ही नहीं उठता। तीनों बहनों की शादी को बीस-बीस, पच्चीसं-पच्चीस वर्ष हो चुके हैं। किंतु उनके अचेतन में कँवरलाल, बलदेव, अरविंद मुखर्जी आदि पुराने प्रेमी ही बसे हुए हैं। लगता है कि वे बड़े हल्के-फुल्के ढँग से उन प्रेमियों की सनकों का मज़ाक़ उड़ा रही हैं, किंतु कहानी कहती है कि वे शारीरिक तौर पर

अधेड़ रुग्ण और मानसिक तौर पर सनकी, नकचढ़े, घमंडी, बेवकूफ़, मंदबुद्धि पतियों के साथ हड़बड़ाती, थिरकती, हँसती, मुस्काती जीवन के दिन काटती काटती मुटाती जा रही हैं, भले ही मन पच्चीस साल पहले के जीवन में अटका पड़ा है।

घर की इज़्ज़त की नारी अपनी सूझ-बूझ से हर विपरीत धारा में रास्ता खोज सकती है। बिना लहूलुहान हुए पत्थर फोड़ सकती है। यह संयुक्त परिवार के उन दोगले पुरुषों की कहानी है, जो औरत का दमन अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं। इस घर में पाँच बहुएँ हैं। चार बहुओं ने बड़ा अभ्यास करके और समय लगोर मन की चंचलता को मारा है, किंतु पाँचवीं बहू सुनंदा घर के रहस्यों को समझ जाती है। कहानी के बड़े भाई साहब नाटक की अध्यक्षता कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति के गुण गा सकते हैं। कलाकारों को आशीर्वाद दे सकते हैं, लेकिन घर की बहू को उसमें भाग लेने की इजाज़त नहीं दे सकते। सुनंदा को उसके पति द्वारा घर से निकालने की धमकी भी दिलवाते हैं। पर सुनंदा भेद जान गई है। ''तुम्हें उसी घर में रहना है'' का उत्तर यही है कि ''भाई साहब को भी उसी घर में रहना है।''

घर औरत की कमज़ोरी है। इसके नाम पर औरत का जमकर शोषण किया गया है। *पिकनिक* की गौरी मेहनतकश औरत है। वह घरों में काम करती है। तीन-चार बच्चों को सँभालती है। निठल्ले हरामख़ोर पति को पालती है। इन सबके बावजूद जब उसे 'निकल जाओ मेरे घर से'' की धमकी दी जाती है, तो वह बौखला उठती है, ''कहता है घर में घुसने नहीं दूँगा। घर है कहाँ जिसमें घुसने नहीं देगा? एक सड़ी हुई कोठरी है, सर्दी गर्मी बच्चों को लेकर बाहर सोती हूँ। यह घर में नहीं घुसने देगा, घर इसके बाप का है...।'' *राधा-अनुराधा* की राधा की तरह साहनी की औरत ने सोच रखा है, ''छोड़ दिया तो फिर क्या हुआ। मैं फिर से बर्तन-पोंछा करने लगूँगी।'' *रास्ता* का महानगरीय पति किसी पंजाबिन के साथ रहता है। वह भी किसी और के साथ प्रेम करने लगती है। कहती है, ''मैं क्यों पड़ी-पड़ी गलती रहूँ? वह कर सकता है तो मैं भी कर सकती हूँ, उसे मेरी परवाह नहीं तो मैं ही क्यों उसकी परवाह करूँ?''

एक नारी विमर्श *चीफ़ की दावत, यादें, पाली, माता विमाता, देवेन, फूलाँ* में समाया है। ये सभी माँओं के दर्द, त्याग, चीत्कार, धैर्य, पाग़लपन, वात्सल्य की कहानियाँ हैं।

औरत और वह भी कुरूप बुढ़िया—वह तो तीसरे, चौथे, पाँचवें नंबर की वस्तु है—*चीफ़ की दावत* में माँ लज्जा का कारण है। झमेला है। माँ लाट साहब बने बेटे का हुकुम नहीं टाल सकती। भले ही उसका दिल धक-धक कर रहा हो। पाँव लड़खड़ा रहे हों। हाथों की उँगलियाँ काँप रही हों। बेटे की आवाज़ सुन माँ का दिल बैठ जाता है—कहीं कोई भूल न हो जाए। शामलाल की माँ को दावत की रात उपवास में रहना पड़ता है। शामलाल को इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। बूढ़ी, बदसूरत, बेकार माँ न साहब को दिखाई देनी चाहिए, न उसके खर्राटों का शोर होना चाहिए। न उसे पुराने कपड़े पहनने हैं, न खड़ाऊँ। कहानी तन, मन, धन से बेटों पर कुर्बान होने वाली माँओं को सोचने पर विवश करती है। *यादें* की गोमा ने तरस-तरस कर बेटा लिया था। चार बेटियों के बाद उसका जन्म हुआ था। आज बेटे रामलाल ने माँ को उस कोठरी में डाल रखा है, जिसके अँधेरे और सीलन में पेशाब, मैले कपड़ों और बुढ़ापे की गंध रची-बसी है। खाट पर चूहे ऊधम मचाते हैं।

पाली , माता विमाता और *फूलाँ* में नारी वात्सल्य का चित्रण है। विभाजन के समय कौशल्या से पाली पाकिस्तान में छूट जाता है। यह सदमा उसे नीम पाग़ल कर जाता है और वह रात को सोए-सोए भी कुरलाने-चीख़ने-चिल्लाने लगती है। उधर निःसंतान जैनब एक रोते-बिलखते बच्चे को आश्रय देती है। पाँच साल पालती है। उसे पाली से इल्ताफ हुसेन बनाती है। नौ साल का पाली जब पिता के साथ भारत चला आता है तो जैनब को लगता है, ''गया तो घर की सारी रौनक ले गया।...क्यों जी, ईद को घर आएगा न? तुम तो कहते थे कि तुम्हारा कोई नाती बरेली में रहता है। हम उसके पास जा रहेंगे

और बेटे से मिल आएँगे।''

माता विमाता दो फटेहाल बेघर औरतों के वात्सल्य को लिए है। काले-कलूटे, दुबले-पतले बच्चे को लेकर दो औरतें रेलवे स्टेशन पर गाली-गलौज कर रही हैं। एक ने नाजायज़ बच्चे को जन्म दिया है, दूसरी ने नौ महीने दूध पिलाकर उसे पाला है। पर दोनों ही बच्चे के बिना नहीं रह सकतीं। *फूलाँ* उस बाँझ स्त्री के अतृप्त वात्सल्य की कहानी है, जो एक बिल्ली के बच्चे को अपने बच्चे की तरह पालती है, उसके लाड़ तथा मोह में दीन-दुनिया को भूले रहती है और उसके भाग जाने पर उसकी सिसकियाँ रोके नहीं रुकती।

देवेन में एक आत्मकेंद्रित बेटा माँ के वात्सल्य को अपमानित कर रहा है, ''बुढ़िया मुझे पकड़े रहना चाहती है...वह एक ही राग सारा वक़्त अलापती रहती है।...शादी करो, अपना घर बसाओ।...वह बड़ी पुख़्ता औरत है...बाप तो हमारा जवानी में मर गया था। इसने हम भाई-बहनों को इस तरह हिफ़ाज़त से रखा, जैसे चील अपने घोंसले में बैठकर अपने बच्चों की हिफ़ाज़त करती है।''

इस देश में पति सहयोगी या सहयात्री नहीं होता। वह सिर्फ़ परमेश्वर ही होता है। पत्नी को पीटना, गालियाँ निकालना, अपमानित करना—सब अधिकार उसे इसलिए विरासत में मिले हैं, क्योंकि वह उसके साथ एक छत के नीचे रहने के लिए अभिशप्त है। पति परमेश्वर की संस्कृति वाले इस देश के आँकड़े बताते हैं कि 40 प्रतिशत स्त्रियाँ पतियों की इस पिटाई का लगातार शिकार होती रहती हैं। *हम सभ्य औरतें* में मनीषा लिखती हैं, ''इंटरनेशनल सेंटर फ़ॉर रिसर्च ऑन वुमेन नाम की संस्था का मानना है कि घरेलू हिंसा से जितनी औरतें दुनिया भर में मरती हैं, उतनी तो कैंसर के कारण भी नहीं मरती।'' साहनी की *इंद्रजाल* के राम लाल-सा बीमार अपाहिज, मरणासन्न पति भी जब चाहे पत्नी को अपमानित कर सकता है। बीमार पति के उपचार के लिए दिल्ली, कलकत्ता जैसे दूरवर्ती नगरों में भटकने वाली पत्नी को भी मरणासन्न रामलाल कह देता है, ''तुम्हारे स्टेशन मास्टर बाप ने सारी उम्र में इतना पैसा नहीं कमाया होगा, जितना मैं अपनी इस बीमारी पर ख़र्च कर चुका हूँ। *आवाज़ें* का एक परिवार जेहलम से आकर दिल्ली में बसा हुआ है। वहाँ बहू बिना सिर ढके घर से नहीं निकलती थी और बेटा भी जब तब उसे पीट दिया करता था। पर दिल्ली में आकर वह समझ गया है कि यहाँ पत्नी पर रोज़ हाथ उठाना संभव नहीं है। *ओ हरामज़ादे* के नायक की ज़बान पर ही नहीं, ख़ून में ही गालियाँ धँसी पड़ी हैं। लेकिन विदेश में जाकर वह साहब ही नहीं बनता, अपितु एक शिष्ट अंग्रेज़ महिला से शादी करके वहाँ घर भी बसा लेता है। जैसे ही नायक अपने फटीचर शहर के खंडहरनुमा पुश्तैनी घर में पहुँचता है, स्त्री देह पर शक्ति प्रदर्शन के टुच्चेपन का प्रयोग करता है। उसे मारता-पीटता है। *राधा अनुराधा* की तेरह वर्षीय राधा सात घरों में झाड़ू-बर्तन करके सारे पैसे पिता को देती है। पर पिता उसकी कमाई भी खाता है, रोज़ खाना भी नहीं देता, सत्रह सौ में उसका सौदा भी करता है और दिन रात पीटता भी है। उसकी नज़रों में तो बाप क़साई होता है और भाई गधा। *तसवीर* में पति, ससुर किसी आतंकवादी से कम नहीं। इनकी उपस्थिति मात्र से पत्नी के हाथ-पाँव काँपने लगते हैं, क्योंकि इनके पास सिर्फ़ फटकारें, व्यंग्य और विषबुझे बाण ही हैं। यहाँ तक कि पति की मृत्यु के बाद पत्नी उसकी मृत्यु को भी नहीं झेल पाती।

परिणामतः साहनी की नायिकाएँ दमन और अत्याचार के प्रति आक्रोश लिए हैं। इन सभी अग्नि परीक्षाओं को वे नियति की तरह स्वीकार भी रही है और तनतना भी रही हैं। *इंद्रजाल* की पत्नी को रह-रहकर विचार आता है, ''क्यों नहीं मैं अपने बेटे को फलों का रस दिया करूँ, जिसकी जवान हड्डियों को रस की ज़रूरत है।'' *आवाज़ें* की बहू सास-ससुर के सामने कूदकर पति की मोटर साईकिल पर बैठती है। साहनी का स्त्रीवादी स्वर *आवाज़ें* में सुनाई देता है। कहते हैं, ''चंडी का रूप ही शायद स्त्री का सबसे बड़ा सुरक्षा कवच है। मुहल्ले में यहाँ-वहाँ जितनी भी स्त्रियाँ चंडी का रूप धारण किए हुए हैं, सभी .ज़्यादा सुरक्षित हैं।'' *ओ हरामज़ादे* की हेलेन

में एक अनासक्ति और तटस्थता मिलती है। कहती है, "सच कहती हूँ इसे भारत में शादी करनी चाहिए थी। तब यह ख़ुश रहता। मैं अब भी कहती हूँ यह भारत चला जाए। मैं अलग यहाँ रहती रहूँगी। हमारी दोनों बेटियाँ बड़ी हो गई हैं। मैं अपना ध्यान कर लूँगी।" *राधा अनुराधा* की राधा भागकर अपनी पसंद के युवक से शादी कर लेती है। *तसवीर* मिनमिनाती औरत के कुलबुलाती औरत में तबदील होने की कहानी है। जिस दिन यह विधवा ससुर को मुड़कर जवाब देती है, फ़र्नीचर न उठवाने का निर्णय लेती है, उस दिन कम से कम वह अपने बच्चों का विश्वास तो जीत लेती है।

स्त्रियों में सजगता, धैर्य, सहनशीलता पुरुषों से कहीं अधिक होती है। प्रतिशोध की अपेक्षा वे समस्याओं के सकारात्मक समाधान की ओर बढ़ती हैं। अब अर्थ स्वतंत्र औरतें पति के दूसरी औरत कर लेने पर बेचारगी नहीं ओढ़ती। *आवाज़ें* की परित्यक्ता देवकी फ़ैक्टरी में काम करती है। पेंशन वाली नौकरी है। बाल कटवाकर, भड़कीले रंगों वाले कपड़े पहनकर युवा और स्मार्ट बनी रहती है। उसने अपना फ़्लैट ले लिया है, पर रहती पति के घर में ही है, क्योंकि वह अधिकार सजग नारी है। सास के फ़ालतू बोलने पर वह उसके बेटे को जेल करवाने की धमकी दे सकती है। उसके दम-खम को देख सास भी लड़ने की बजाय सुबह-शाम मंदिर जाने का रूटीन अपना लेती है।

यहाँ परित्यक्ताएँ ही सुहाग को खोकर सौभाग्यवान नहीं हुई, सधवाओं ने भी पतियों के लिए सौभाग्य सँजोए हैं। *झूमर* में जुनूनी कलाकार अर्जुनदास की पत्नी कमला कहती है, "तुम तो दिन भर बैलगाड़ी में बैठ गीत गा सकते थे। शहर भर की सैर कर सकते थे। तुम्हें मैं जो मिली हुई थी घर में पिसने वाली।" यानी निकम्मे-निठल्ले पतियों के भरोसे अपना भाग्य बीनने की बजाय औरत ने कमला की तरह दुकान पर बैठना शुरू कर दिया है। स्कूल में नौकरी कर ली है। *नया घर* के क्रांतिकारी कामरेड गिरिजा की पत्नी शादी के कुछ वर्ष बाद तक मायके ससुराल में पेंडुलम की तरह घूमती है, पर जल्दी ही समझ जाती है कि खाते-पीते घरों के लड़के ज़्यादा दूर तक नहीं जाते और फिर जिसका मामा पुलिस में ऑफ़िसर हो, उसके पीछे पुलिस लग ही नहीं सकती। ऐसी औरतें शराब पीकर इंक़लाब करने वाले पतियों से ही नहीं निभाती, अपितु इन विदूषकों के लिए नए मकान भी बनवाती हैं।

किसी भी मृत्यु पर यह अपेक्षा की जाती है कि औरतें रोती-पीटती मलिन-सी दिखाई दें, किंतु *ख़ुशबू* में सफ़ेद साड़ियों के बावजूद उनके चेहरे कमनीय और मादक भी हैं और दमक भी रहे हैं। उन्होंने मृत्यु के अवसर पर भी हीरों के आभूषण पहने हुए हैं। मदनगोपाल की मृत्यु हुई है। उसकी पत्नी कंपनी की डायरेक्टर है। सभी जानते हैं कि अगर पैसा पास में हो, पति के मरने पर औरत ज़्यादा निडर और सशक्त हो जाती है।

नारी विमर्श का एक सिरा परिवारहीन औरत के अकेलेपन का है। *डोरे* की अविवाहित अर्चना के पास एक विवाहित बाल-बच्चेदार प्रेमी है। एक उम्र के बाद जिसे प्रेमिका के आग्रह बचकाने लगते हैं। ऑफ़िस में वह न कुँआरियों की कैटेगरी में आती है, न विवाहितों की। गिरीश को रिझाने के ढंग उसे वेश्यावृत्ति लगते हैं। पूरा जीवन विसंगति बनकर रह जाता है।

विवाह संस्था औरत को सामाजिक, मानसिक, आर्थिक सुरक्षा देती है। बच्चों का भविष्य देती है, किंतु व्यक्तित्व के लिए यह स्लो प्वायजनिंग है। *क्रिकेट मैच* की औरत पति को रिझाने में लगी है और वह पर-स्त्रियों के लिए पागल है। *खंडहर* की छोटी बुआ पति को ख़ुश करने के लिए एबॉर्शन करवा जान दे देती है। ऐसी ही स्थिति में साहनी की *विकल्प* की मुन्नी भी है। वह पर-स्त्रीगामी पति की सौत को स्वीकारने विषयक अवैध एवं क्रूर सुझाव के समक्ष निर्बल, दुर्बल पड़ जाती है। यह नारी की, पत्नी की, गृहस्थ की पराजय नहीं है, अपितु दिशा खोजने का संयमित संदेश है, क्योंकि घर-गृहस्थी और बच्चे ही स्त्री का मोक्ष हैं। *रास्ता* की गोविंदमाँ की तरह विधवाएँ-परित्यक्ताएँ कहाँ जाएँ। गाँवों में धूल उड़ती है और शहरों में आदमी चील-कौवों

की तरह औरत पर झपटता है।

साहनी ने नर और नारी की मानसिकता का तुलनात्मक अध्ययन भी किया है। *पैरों के निशान* में पत्नी की गर्दन के पीछे दर्द है। पति को उसे अस्पताल के फ़िज़ियोथेरैपी विभाग में ले जाना पड़ता है। वह सोचता है, ''हर बार, हर आए दिन कोई न कोई नया बखेड़ा उठ खड़ा होता है।...पत्नी अपने पैरों पर खड़ा होना सीखे, बाहर के सभी काम ख़ुद कर सके, ताकि मुझे थोड़ी आज़ादी मिले, अस्पताल ख़ुद जा सके, अपनी बीमारी से स्वयं जूझ सके।'' दूसरी और *इंद्रजाल* में पति बीमार है और पत्नी उपचार के लिए उसे दिल्ली कलकत्ता ले जाती है। उसकी हर इच्छा पूरी करती है। जब तब माथा सहलाती है।

''हमें क्या परेशानी है? तुम तंदरुस्त हो जाओ।''

''ग़ुस्सा नहीं किया करो, इतने बड़े आदमी हो तुम। ग़ुस्सा करना शोभा नहीं देता।''

जॉन स्टुअर्ड मिल ने प्रथम बार रोज़गार के क्षेत्र में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिलाने की बात की थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ की 1980 की अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट लिखा था कि महिलाएँ दुनिया की आबादी का आधा हिस्सा हैं, किंतु वे विश्व का दो तिहाई काम करती हैं पर उन्हें दुनिया की आमदनी का सिर्फ़ दसवाँ हिस्सा मिलता है। वे विश्व संपदा के सौवें हिस्से से भी कम की मालिक हैं। *गंगो का जाया*, *बबली* आदि कहानियों में स्त्री विमर्श की मार्क्सवादी व्याख्या ढूँढ़ी जा सकती है। गंगों को इसलिए काम से निकाल दिया जाता है, क्योंकि वह गर्भवती है और उसक छह वर्षीय बेटा रोजी-रोटी के लिए दिल्ली की गलियों में खो जाता है। *बबली* घरेलू नौकरानी के माध्यम से इस उपयोगितावादी युग में नारी की स्थिति को स्पष्ट करती है। कहा उस युवती की है, जिसके पिता, भाई, बहन, माँ और बीवियाँ उसकी उपयोगिता के कारण होंठों हँसी, क़दमों की गति, मन का उल्लास, जीवन के सपने छीन लेते हैं। ''कहते हैं दुनिया अगर पहाड़ों के बोझ तले पिस रही है, तो औरत पर पहाड़ों का बोझ है। पाँचवाँ पहाड़ पुरुष सत्तात्म विधान का है।''

भीष्म साहनी ने नारीवादी अवधारणा के जन्म से बहुत पहले ही लिखना शुरू कर दिया था, कि नारी विमर्श यहाँ स्वतः ही सम्मिलित हो गया है। उनके यहाँ न देव पुरुष हैं, न देव तुल्य पुरुष हैं। हाँ औरत उस दुर्गा, काली या चंडी के रूप में है, जिसकी शक्ति के समक्ष ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी मनुहार करते दिखाई देते हैं। उसमें मानवीय गु की भरमार है। वह किसी को गुमराह कर ही नहीं सकती। वह सुकन्या है, अर्द्धांगिनी है, भोलेनाथ की पार्वती है। उन्होंने नारी को उसके समग्र परिवे और समस्याओं, दमन और प्रताड़न, मानवीय और संवेदनाओं के साथ लिया है। इस औरत को पति ने ही नहीं, पिता, पुत्र, भाई ने भी पीड़ित किया है। यह कहीं अनासक्त और तटस्थ दिखाई देती है और कहीं विद्रोह की मुद्रा में तन्नाई हुई। झेलना अलग बात है, अगर यह औरत समानाधिकारों पर आ जाए, तो पति परमेश्वर को मुँह दिखाने को जगह न मिले। एक ओर इन विधवाओं, परित्यक्ताओं ने अर्थ के आधार पर अतिरिक्त गरिमा सँजोई है, तो दूसरी ओर सनकी निठल्ले पतियों के लिए सौभाग्य बनकर उतरी है। उन्होंने मेहनतकश निम्नवर्गीय औरत के सुख-दुख भी चित्रित किए हैं।

कविता

मराठी

अनुराधा पाटील

इतिहास के पन्नों पर

बरसों से
लिखी ही नहीं मैंने
कोई चिट्ठी
पूछा नहीं किसी से भी
कि कैसे हो?
कैसे हैं आपके बाल-बच्चे
कैसी है वहाँ की
आबोहवा—फ़सल पैदावार!
पके फल के डंठल जैसा
निमित्त पर लटका
तुम्हारा जीना
और ज़िंदगी तो
काँटों पर फैली हुई
यहाँ भी वहाँ भी
इसलिए स्नेह बना रहे
अब इतनी ही प्रार्थना
हाथ जोड़कर।

सभी तर कर
अकाल की आँच से
झुलस जाता होगा आपका
हरा-भरा पेड़।
लेकिन मैं तो पूछती नहीं
अपने आप से भी,
कि मेरे मन में डोलने वाली
पीपल की परछाइयाँ
फैलती है अब भी दूर तक
या रुक गई है
उसकी सरसराहट
मुझे याद करता है
घर का आँगन
मेरे पाँवों की छापों से अंकित

मराठी कवयित्री अनुराधा पाटील का जन्म 1953 में हुआ। इनके कविता-संग्रह *दिगंत, तरी ही दिवसें दिवस* प्रकाशित हैं। महाराष्ट्र साहित्य परिषद् से सम्मानित। संपर्क : "अभिजित", 119, महात्मा गांधी नगर, स्टेशन रोड, औरंगाबाद 431005

अनु. स्वयं

नदी का घाट
और धुँधली ही होती जाती
भूली-बिसरी पगडंडी...।

यूँ तो यहाँ भी
काफ़ी कुछ ठीक नहीं है
लोगों के इस अभयारण्य में
कहीं भी जी जान को
सहारा नहीं है।
सड़कें...भीड़...मोर्चे
भीड़ में साँस अटके बच्चे
टूटी नालियाँ
सूखे बाँध
जलाई जा रही बहुएँ
और बलात्कार की
तपती मुद्रा,
माथे पर दगी गुमसुम बालाएँ।
यहाँ तो उगता है रोज़
पूरा नया दिन
और बढ़ती ही जाती है
अपने और दूसरों के बीच
मीलों की दूरियाँ।

अब शब्दों की दुनिया में
लगता नहीं है मन
और जा नहीं सकती मैं
स्पर्श के दरवाज़े से
अर्थों के पार।
आख़िर कवि भी तो क्या होता है?
मात्र शब्द देखने वाला
एक इंसान...
अनगिनत पुलों को लाँघकर
शरणागतों को
गले लगाने वाला कोई रसायन
या प्रकृति की बयाज़ के
सारे सूखाग्रस्त दिनों को
अपनी वीरानी की ओर
खिंचने वाला कोई चुंबक?
जो चलता रहता है लगातार

नदियों के बाद नदियों को
लाँघता हुआ
कहीं तो पहुँचने वाले
पुराने मुसाफ़िर जैसा।
जो छोड़ जाता है पीछे
कविता में पैदा होकर
कविता में ही मर चुके प्रेम की ख़ातिर
नक्षत्रहीन आकाश का
कोई कोना।
जिससे बाँधा नहीं जा सकता
ज़िंदगी की शाख को
कोई झूला...
कवि होता है दूसरों के लिए
सिर्फ़ समाचार
और अपने कोष में
ख़त्म न होने वाली घुटन को
सहने वाली
बिनमोल की जान।

तालाब का रखवाला
पानी तो चखेगा ही
ऐसी मान्यता वाली इस दुनिया में
बेमौत मरा हुआ
जो खड़ा रहता है
बरसों पीछे लौटकर
किसी यशोधरा के दरवाज़े पर
गौतम की लीन आँखों से।
और ढाला जाता है
छिन्नी हथौड़े के नए-नए
निर्दय आघातों से
अंतर्बाह्य।
लेकिन इतिहास के
पुराने पन्नों पर बस
लिखा जाता है अंततः
बिना चेहरे के लोगों की
बेनाम धारा का
मात्र ब्योरा
कोने-किनारे में खो जानेवाला।

कविता से परे एक और सच

ये सच है
कि होता नहीं है
अपने घर जैसा
दूसरा घर।
लेकिन इस पार बैठकर
उस पार का
भरोसा देने वाले अपनों ने ही
उस धूप में
बाँध दिया होता है
बहुत पहले से।

यह भी सच है
कि आज और अभी के बारे में
कुछ नहीं कहा जा सकता
फिर भी,
सब कहते हैं वैसे
कल की दुनिया
तुम्हारी हो भी सकती है।
लेकिन मत समझो
नई दुनिया के
आश्वस्त झरोखे से
तुम झाँक सकोगी
मुक्त...खुलेपन से
आसानी से बाँहों में भर सकोगी
आँगन के बाहर का
थोड़ा-सा आसमान।

यह भी सच है
कि अपने आसपास की दुनिया में
बहस में होती है
औरत की समस्याएँ
उसकी पीड़ाएँ
और संजीदा ज़िम्मेदार होती हैं
सामने वालों की मुद्राएँ।
लेकिन मीलों दूर ही रह जाती हैं
अपने से,
ज़िंदगी नाम की जोंकों से

शोषित असली औरत।
जिसकी सिर्फ़ देह होती है
बिना चेहरे की
जो सामने जाती है एक बार
असहाय अँधेरे के
और लौट आती है
पुरुष नाम का एक नया आतंक
सीने औ' पेट में भरकर
ज़िंदगी भर के लिए।

कभी हम भी
बिखरा देते हैं
ढंग से चलती ज़िंदगी को।
बुनते हैं
नोकदार सुईयों के
अस्तित्व पर
एक उलटा एक सीधा धागा।
लेकिन आँखें हों
तो भी नहीं देखना
कान हों तो भी
नहीं सुनना
मुँह है तो भी नहीं बोलना
इस तरह होते-होते
हम भी सीख जाते हैं
हवा को पीठ देना।
बहती धारा की उलटी गंगा में
हाथ धोना
हाथ को हाथ लगाकर
''मम'' कहना
और खोते जाते हैं
ख़ुद को ख़ुद से भी।

सच तो यह है
कि यहाँ और वहाँ
और भी मुश्किल होता जाता है
यह हाँ में हाँ कहने का
इकतरफ़ा खेल।
और अपने सपनों पर से
चलती जाती है ये दुनिया

जहाँ के चंद्र-सूर्य भी
होते हैं निश्चिंत
नाटक सिनेमा के सेट पर
टाँक दी गई थाली जैसे।
आख़िर हम जिसमें रहते हैं
वह दुनिया तो
त्वचा का रंग भी
बदल देने वाले लोगों की ही है।

उषा परब

मैं

मैं आर्या, मैं अनार्या, मैं ही विश्वकर्मा की भार्या
मैं रति, मैं सती, प्रभात की मैं आरती

मैं बीज, मैं सेज, दूधमुँहे की तृप्त नींद
मैं तृष्णा, मैं सुधा, मेरे वास्ते फट गई वसुधा

मैं कैकेयी, यशोदा मैं ही और मैं ही मेनका
मैं मुक्ताई, मैं जिजाई, चकई और ब्रह्म भी

मैं ही धर्म, मैं ही कर्म, जीवन का मर्म मैं
मैं ही गीता श्रीहरी की और गाथा तुकाराम की
रामायण मेरा ही था, महाभारत मैंने ही रचाया

परंतु समझ नहीं पा रही हूँ मैं...

मृगजल का भास मैं या महर्षि की लगन मैं
मैं गुमटी का फूल या पैरों तले की धूल मैं
मैं आदि या अंत में नहीं, खेद मेरे मन में

मैं तो जननी—सखी—साजनी
(कोई सिर्फ़ मादा कहे)
परंतु मैं नहीं थी—नहीं हूँ—कोई कुछ भी न माने।

घर

घर,
सीमेंट कंक्रीट का
ऊँचा चार मंज़िलों वाला
ठसाठस भरी तिजोरियों का
ख़ूँख़ार भूतों का...

मराठी कवयित्री उषा परब की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : द्वारा डॉ. प्रकाश परब, स्नेहांकुर, सर्वोदय नगर, सावंतवाडी 416510 (महा.)

अनु. अशोक बाचुलकर

घर,
चार दीवारों का
जेल की बराबरी वाला
मतलबी रिश्तों का
स्वार्थांध पशुओं का...

घर,
टीन चिंदियों का
ठंडे चूल्हेवाला
भूख भरे श्वासों का
जीने वाले प्रेतों का...

घर,
खपरैल मिट्टी का
ममता की छाँह वाला
सपनों के झूलों का
ज़िंदा लोगों का...

चार क़दम

तुमने कहा
दो क़दम तुम बढ़ो
दो क़दम मैं चलूँगा

जहाँ मिलेंगे...
मल्हार छेड़ेंगे...

मैं चली आई दो क़दम
उससे भी आगे और दो क़दम
(तुम्हारे हिस्से के)

चार क़दम
दो तेरे
दो मेरे

अब, तुम उसी जगह
बैठे रहो, बस यही है इच्छा

मुँह फेरकर तुम
मत चले जाना

अब नहीं है मेरे बस में
पीछे मुड़कर चले जाना

इंद्रजित भालेराव

मेरी कविता

मेरी कविता से निकली
गोबर-मिट्टी की महक
वह करे जतन
झाड़ झंखाड़ में हरियाली

मेरी कविता करे
हृदय की बातें
गर्मी में खपड़े की
जैसे होती है नमी

हो काला-साँवला
मेरी कविता का रंग
गोरे सुंदर ललाट पर
अभ्रक अबीर के संग

मेरी कविता का हाथ
हो खुरदरा
जोती हुई ज़मीन जैसा
अनावृत्त कलेजा

मेरी कविता का स्वाद
नमकीन-खट्टा-कसैला
सीना मेरा चीरकर
वह हृदय से निकले।

ज़मीन

मुझे चाहिए ज़मीन, काली-काली
रोज़ सुबह मेरा बाप जिसे लगाता है अपने ललाट पर
मुझे चाहिए ज़मीन
मेरी माँ जिसे करती है साष्टांग दंडवत
और जिसकी सौगंध लेकर
नाते-रिश्तेदार जान रखते हैं गिरवी
मुझे चाहिए ज़मीन
''मिट्टी धन होती है'' इसलिए
मुझे चाहिए ज़मीन
''डफली पर पड़ने वाली थाप जैसी
फ़सल से हलकोरे'' निकालने वाली

मराठी कवि इंद्रजित भालेराव की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : एकनाथ नगर, परभणी-431401 (महा.)

अनु. : अशोक बाचुलकर का जन्म 1973 में हुआ। मराठी से हिंदी अनुवाद प्रकाशित। हिंदी अकादमी से सम्मानित। संपर्क : हिंदी विभाग, आजरा महाविद्यालय, आजरा 416505 (महा.)

मुझे चाहिए ज़मीन
''पानी से ढेला भीगने पर घी'' लगने वाली
मुझे चाहिए ज़मीन हँसने जीने के लिए
मुझे चाहिए ज़मीन आँखें भरकर देखने के लिए
मुझे ज़मीन का उकौना है
ज़मीन मेरी गोद में है
मेरी गोद फट रही है, फिर भी मैं ख़ुश हूँ
अनंत कोटि ब्रह्मांड नायक ज़मीन मेरे बीत्ते भर
पेट में है
भीमसंग इंद्र का ऐरावत द्रौपदी के पल्लू में है
मैं भूमिपुत्र और भूमिपिता भी
मैं ही अग्नि की लपटें और भूमिकन्या सीता भी

मैथिली

जीवकांत

पोखरे का पानी

ऊपर उठोगे, तभी उठोगे
ओ पोखरे का पानी
रहोगे, सड़ जाओगे
गँधाते रहोगे
        सावन महीने की बाढ़ में कुछ भागे
        जो भागा, सागर में मिलकर अगाध हुआ
        जो नहीं निकल पाया, बँधा रहा
ओ पोखरे का पानी
गाद (तलछट) के ऊपर
कुंभी के नीचे (दबा हुआ)
        पूस-माघ में सेंवार से बिंधा हुआ
        सुबह-शाम धुंध बना कभी पाले की बूँद बन टपक गया
ओ पोखरे का पानी
अकंपित रहा
दूसरे के वश में और आतुर
        चैत के महीने में उगेगा गोसाईं (सूर्य)
        पानी को सोख-चाट लेगा
        मुक्ति के लिए आकाश खुला मिलेगा
ओ पोखरे का पानी
हिमगिरि बन पाओगे

1936 में जन्मे जीवकांत की 11 पुस्तकें कहानी-संग्रह, कविता-संग्रह प्रकाशित हैं। इन्हें वैदेही पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। संपर्क : डेओढ़, घोघरडीहा 847402, मधुबनी

झरना बनकर झरोगे
ऊपर उठोगे, तभी उठ पाओगे
ओ पोखरे का पानी
रुकोगे, सड़ोगे
और गँधाते रहोगे

कुरुक्षेत्र में संकल्पित

वे देखते रहे बहुत
जंगल के सारे पेड़
लूटकर हटाए गए
उनके हाथों में पकड़ाए गए रिक्शे

इधर वे खड़े हुए
एक साथ सारे लोग
नाच के ढोलों पर
बजाते हैं जुझारू ताल
तीरों से अब नहीं
गोला-बारूद से तोड़ रहे
पत्तों में लटके बेलों के फल वे

आज छोड़ आए दुपट्टे और बाँसुरी
कदंबों की डालों पर
कुरुक्षेत्र में दौड़ाते जाएँगे रथ
वे संकल्पित हैं

निकल आए सड़कों पर
पुराने बखारों को तोड़कर आ गए
चावल अब
अल्युमिनियम की हांडियों में पकेगा दोनों वक़्त

पुराने घरों की छतें
तिरछी लटक आई हैं
नए घर उठाने को
नींव डाली जा रही है

पुराने ऊँचे वंश अब
ठेल दिए गए हैं
नदी की दिशा में जाएँ
और धो आएँ आँखों की कीचड़

सिंहासन पर
चटाई फैलाकर बैठ गए
सीधे अभी जंगलों से आए हैं
कल तक वे होते थे
क़िलों के बाहर थे
केंद्र में प्रतिष्ठित वे आज भी होते हैं

पैर नहीं धुलाए
आँखें उठाई हैं
देख रहे चारों ओर
द्वंद्व अब नहीं है
बंद सारे फाटकों के
खोलने का फ़रमान वे देने में लगे हैं

मणिपुरी

अब्दुस शाहिद चौधरी

एक आकाश के नीचे

मेरे सिर के ऊपर का आकाश,
"मैं सोचता हूँ मेरा है।"

तुम्हारे सिर के ऊपर का आकाश,
"तुम सोचते हो तुम्हारा है।"

लेकिन, आकाश तो एक है,
सीमाहीन है।
टुकड़ा-टुकड़ा नहीं है कहीं भी।

सच को नहीं समझकर
मैं और तुम, बाँटना चाहते हैं आकाश,
नहीं समझ पाते हैं उसकी पवित्रता।
इंसान-इंसान को मारता है,
टुकड़ों-टुकड़ों में बाँटता है।

आकाश एक है।
एक ही है इंसान भी।
रक्त भी है एक,
"इंसान का परिचय, इंसान है।"

मणिपुरी के कवि अब्दुस शाहिद चौधरी का जन्म 1947 में हुआ। इनके दो कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : प्रधानाचार्य, नेहरू कॉलेज, पैलापुल 788098, ज़िला कछार (असम)

अनु. : अंजनी कुमार दुबे 'भावुक' की कविता, कहानी, नाटक, समीक्षा की आठ पुस्तकें प्रकाशित हैं। इनका जन्म 1959 में हुआ। संपर्क : हिंदी प्रवक्ता, नेहरू कॉलेज, पैलापुल 788098 ज़िला कछार (असम)

सुनहरा प्रभात

चमन में कितने समय तक,
मैं नींद में था।
भूल गया था...
यादों में नहीं ला सका।

नींद से जब जागा तो अँधेरा नहीं मिला
प्रभाती सूरज, हँसता इंतज़ार कर रहा था,
सुनहरी किरणों से घिरी पृथ्वी के ऊपर।

अकेले खड़ा था, अकेले ही रोया था,
सौरभ से भरी ख़ुशबू के प्रभात में।

याद में नहीं ला सका मैं,
उसके सौंदर्य को।
उसकी चमकती हुई आकृति को,
जिसका सौरभ है आज तक—
''प्यारी छवि के साथ मेरे दिल में।''

त्रिलोचन

नेरुदा की मौलिकता का हिंदी में संचयन

कविता बहुत ताक़तवर होती है। इसकी तुलना इतिहास से कर सकते हैं। कविता में करंट का प्रवाह तेज़ और कम हो सकता है। नदी की तरह प्रवाहित होती है कविता। विभिन्न बाधाओं में अनगिनत मोड़ लेते हुए नदी का प्रवाह होता है। इसी तरह कोई भी बड़ी कहानी बिना उतार-चढ़ाव के नहीं बन पाती। एक संस्कृति को इतिहास के अक्स में रखते हुए कविता में उतारने का ग़ज़ब का काम किया है पाब्लो नेरूदा ने। उनकी क्षमता की झलक उनकी कविताओं में है। उस कवि की शताब्दी बीतने पर भी यह अहसास होता है कि इस कवि की रचनाएँ कालजयी हैं और हमेशा पढ़ी जाती रहेंगी।

पाब्लो नेरुदा एक संस्कृति को दूसरी संस्कृति में पहचानने की चुनौती लेते हैं। उनकी कविता में प्रलय, युद्ध, प्रेम और विषाद गति के साथ उभरता है। पेड़-पौधे, प्रासाद और पाषाण अपनी लय, सौंदर्य और अनुभूति की गति में महाकाव्य का रूप लेती है। शताब्दी में हुए निर्माण के साथ जुड़े मानवीय सुख-दुख की पहचान करने की जो हिम्मत नेरूदा के कवि में है वह आम नहीं है। हर निर्माण के बाद विनाश और निर्माण की सतत प्रक्रिया को नेरूदा भी मानते हैं। उनका नज़रिया एकदम अलग है। कविता की ताक़त, इतिहास की समझ और वैचारिक दृष्टि के ही चलते शताब्दियों में ढली सभ्यता में औपनिवेशिक हस्तक्षेप के नतीज़े का ख़ुलासा हुआ।

बीसवीं सदी पूरी होने के 27 साल पहले यानी 23 सितंबर 1973 को कवि पाब्लो नेरूदा मारे गए। लैटिन अमरीकी देशों में एक चीले में लोकतांत्रिक तरीक़े से चुनी गई सरकार का तख़्ता सैनिकों ने पलट दिया। राष्ट्रपति की हत्या कर दी गई।

कुछ ही दिनों बाद राष्ट्रपति के दोस्त और देश की आर्थिक-सामाजिक तसवीर को प्रगति के फ्रेम में रखने की कोशिश कर रहे कवि पाब्लो नेरूदा भी मार दिए गए। ख़बरों के अनुसार कवि के पूरे घर में पानी और कीचड़ था। हर कहीं काग़ज़ और फ़ाइलें बिखरी पड़ी थीं। सैनिकों ने अपनी राइफ़ल के कुंदों से हर साबुत चीज़ तोड़ दी थी। चीनी मिट्टी के कप और तश्तरियाँ, मर्तबान, मेज-कुर्सियाँ और खिड़की-दरवाजों के शीशे तक तोड़ डाले गए। उसके बाद पूरे घर में हर कहीं पानी भर दिया गया। पानी निकल जाने के बाद कवि की पत्नी ने कवि की बहनों और मित्रों को कवि की मौत की सूचना दी।

ग़ज़ब का ख़ौफ़ था नई सैनिक सरकार का। लेकिन एक मुँह से, दूसरे

जन्म 1917। *धरती*, *गुलाब और बुलबुल*, *दिगांत*, *ताप के ताए हुए दिन* (कविता-संग्रह); *काव्य और अर्थबोध* (आलोचना)। साहित्य अकादेमी, सुलभ साहित्य अकादमी तथा अन्य कई पुरस्कार। संपर्क : द्वारा श्रीमती उषा सिंह, 372/328, लोधा मंडी, ज्वालापुर, हरिद्वार-249407

कान तक ख़बर फैली ''कवि पाब्लो नेरुदा नहीं रहे।'' हर सड़क जो कवि के घर को आती थी उस पर जमा हो गए कई सौ जोड़े पाँव। इनके पीछे जमा थे बड़ी तादाद में मुखबिर और सैनिक। लेकिन फुसफुसाहट धीरे-धीरे मज़बूत आवाज़ में बदल गई। कोई कहता, ''पाब्लो नेरुदा'' और हज़ारों कंठस्वर आपस में जुड़ते ''हमारे साथ हैं और हमेशा रहेंगे।'' हज़ारों नम आँखों और हवा में लहराती मुट्ठियों ने पूरी दुनिया के तमाम कवियों में सबसे ज़्यादा पढ़े जाने वाले अपने कवि को आख़िरी विदा दी।

स्पैनिश कवि पाब्लो नेरुदा 12 जुलाई 1904 को जन्मे थे। दुनिया भर में 12 जुलाई 2004 को कवि की शतवार्षिकी मनाई गई। विभिन्न देशों के विश्वविद्यालयों में बुद्धिजीवियों और रचनाकारों ने उस कवि को याद किया जो सर्वाधिक चर्चित रहा। यह कवि हर देश में श्रमिकों का अपना कवि और अत्याचारों का विरोधी स्वर बन गया था।

साहित्य अकादेमी से उस मौक़े पर *पाब्लो नेरुदा कविता संचयन* शीर्षक से एक संकलन प्रकाशित हुआ है। इसमें संकलित कविताओं का अनुवाद चंद्रबली सिंह ने किया है। वे अंग्रेज़ी भाषा और हिंदी दोनों के ही अच्छे जानकार हैं। दूसरे कवि-लेखकों ने नेरूदा की कविताओं का हिंदी में जो तर्जुमा किया उनमें सबसे अच्छा चंद्रबली सिंह का ही है। उनके अनुवादों को संकलन के रूप में प्रकाशित करके साहित्य अकादेमी ने पाब्लो नेरुदा को सौवें साल में उचित सम्मान दिया है।

चीले के दक्षिणी हिस्से पराल में पैदा हुए थे पाब्लो। वहाँ की ठंडी और बरसाती पहाड़ियों में उनकी उम्र के पंद्रह साल गुज़रे। यहीं प्रकृति, मानव रूपों की विविधता और शिक्षा से वे जुड़े। पढ़ाई के साथ ही लिखना शुरू हुआ। राजधानी सांटियागो वे जब पहुँचे तो उम्र बीस की थी। एक चेक लेखक जॉन नेरुदा के नाम से वे ख़ासे प्रभावित हुए और पाब्लो नेरुदा बन गए। छात्र आंदोलनों में हिस्सेदारी और साहित्य सृजन में सक्रियता से उनकी एक अलग पहचान बनी।

उन्हीं दिनों उनकी कविताओं का एक संकलन *ट्वेंटी लव पोएम्स एंड सांग ऑफ़ डिस्पेयर* प्रकाशित हुआ। चीले की तब की सरकार ने इस युवा कवि और लेखक में देश का अपना प्रतिनिधि होने की संभावनाएँ देखीं। एक के बाद एक, म्यांमार, श्रीलंका, जावा, सिंगापुर, ब्यूनसआयर्स, बार्सीलोना और मैड्रिड में राजनयिक कार्यों की ज़िम्मेदारी उन्हें मिली।

इन ज़िम्मेदारियों को निभाते हुए नेरुदा ने विभिन्न एशियाई, यूरोपीय और लैटिन अमरीकी देशों में ग़रीबी, अत्याचार और शोषण को महसूस किया। दूसरी ओर वे लैटिन अमरीकी देश और दक्षिण पूर्व देशों की प्राचीन संस्कृति, परंपरा और साहित्य की विविधताओं से ख़ासे प्रभावित हुए। राजनयिक का काम करते हुए भी उन्होंने काव्य रचना में कोई शिथिलता नहीं आने दी। वे जहाँ-कहीं रहे, एक कवि के रूप में समादृत रहे।

प्राचीन संस्कृतियों को जानने के ही क्रम में कवि ने उत्तरी अमेरिका में एंडेस पर्वतमाला की ऊँची पहाड़ियों में कभी बसे रहे प्राचीन नगर माच्चु-पिच्चु की यात्रा की। अब मिथक के रूप में ख्यात इस सभ्यता से जुड़ी कई किंवदंतियाँ हैं।

कहते हैं कि ऊपर पहाड़ के शिखरों से नीचे समुद्र तक चट्टानों को करीने से काट-काट कर सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। शिखरों और बादलों के बीच थीं अनेकानेक भव्य अट्टालिकाएँ। इंका जाति के मूल निवासियों (रेड इंडियंस) की बसाई इस सभ्यता के प्रस्तर चिह्नों को पाब्लो नेरुदा ने एंडेस पर्वतमाला के विभिन्न शिखरों तक पहुँचकर देखा। पेड़-पौधे, पहाड़ियाँ, चट्टानें, पशु और पक्षियों के अलावा प्राचीन मानव सभ्यता के दृश्यों ने कवि को बरसों आंदोलित रखा।

आख़िर पाब्लो नेरुदा ने बारह सर्गों में रचा द *हाइट्स ऑफ़ माच्चुपिच्चु* एक लंबी कविता जो अब उनके महाकाव्य ''कैंटोजनरल'' का एक हिस्सा है। इस कविता की पूरी दुनिया में ख़ासी चर्चा रही।

पाब्लो नेरुदा : कविता संचयन के पुरोवाक में डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है, ''विश्व कवि का काव्य सृजन भी उनके व्यक्तित्व के अनुसार ही

विपुल है। लगभग चार हज़ार पृष्ठों की विशाल काव्य संपदा वे छोड़ गए हैं। और अंग्रेज़ी में वह पूरी संपदा इस वर्ष सुलभ भी करा दी गई है। फ़िलहाल हिंदी को प्रस्तुत संचयन से ही संतोष करना पड़ेगा जो समग्र न होते हुए भी अब तक का सबसे बड़ा चयन है और यथासंभव नेरुदा का उत्तमांश भी। साहित्य अकादेमी अपनी गौरवशाली परंपरा के अनुरूप इस संचयन को प्रकाशित करके अपने दायित्व का निर्वाह कर रही है जो सर्वथा उचित है और अभिनंदनीय भी।''

प्रोफ़ेसर चंद्रबली सिंह ने ख़ासे मनोयोग से पाब्लो नेरुदा की कविताओं का अनुवाद किया है। उन्होंने अनुवादक की ओर से लिखा है, ''मेरे पास कविता की कोई अपनी रूढ़ शैली नहीं है जिसे मैं अपने अनुवाद के लिए चुने गए कवियों पर आरोपित करता चलूँ। मैंने वाल्ट ह्विटमैन मायकोवस्की, नाजिम हिकमत, एमिली डिकिन्सन, पाब्लो नेरुदा, ब्रेख्त और कुछ अन्य कवि—इनमें से कइयों का सबसे पहले और व्यापक पैमाने पर अनुवाद किया है। इनकी कविता की वस्तु और शिल्प की अन्यतम चारित्रिक विशिष्टताओं के बीच अपने को घुमाता रहा हूँ और इस यात्रा में मेरा पाथेय उनके अंतर में गूँजता हुआ उनका संगीत रहा है यह लय। आलोचक रहा हूँ। जितना लिखना चाहिए था। उसका एक बहुत छोटा अंश ही लिख सका। आलोचना में मैं अपनी जातीय साहित्य और संस्कृति की मानवतावादी, प्रगतिशील और जनवादी परंपराओं की रक्षा और विकास की लड़ाई में शरीक था। इन कवियों के अनुवाद के माध्यम से भी मैं वहीं लड़ाई लड़ता रहा हूँ। ये कवि केवल संघर्ष के कवि नहीं हैं। इनमें मानव जीवन का अपार सौंदर्यबोध है। आज के युग में उनकी कविताएँ हमारे साहित्य और संस्कृति के लिए अस्त्र और कवच दोनों का काम दे सकती है। जहाँ तक उनके और मेरे बीच संबंध का सवाल है, मैं सिर्फ़ विनम्रता के साथ इतना निवेदन करना चाहता हूँ कि मैंने उन्हें अपने रक्त, अपनी मांस-मज्जा और अपनी आत्मा में जिया है। इसका अगर थोड़ा-सा भी अहसास पाठकों को हुआ तो मैं अनुवाद के सारे श्रम को सार्थक समझूँगा।''

विदेशी कविता का अपनी भाषा में अनुवाद सहज-सरल भले लगे, लेकिन वास्तव में ऐसा होता नहीं है। अनुवाद के दौरान कभी कई शब्द ध्यान में आते हैं। अनुवादक ने लिखा है कि उन्होंने अपनी पांडुलिपि कवि शमशेर बहादुर सिंह को देखने के लिए दी। शमशेर ने एक शब्द तीन बार काटा। बाद में कटे हुए शब्द को फिर लिखा और अपनी ओर से सूझ रहे शब्द को लिखा और काटा। अनुवादक को उनका सुझाया शब्द ज़्यादा उपयुक्त लगा और उन्होंने उसे ही रखा।

अनुवाद के दौरान ऐसी जटिलता का ख़ासा अनुभव होता है। मुझे एक प्रसंग याद आता है। कवि शमशेर ने एक बार अपनी मौलिक कविताओं की पांडुलिपि कवि सुमित्रानंदन पंत को देखने के लिए दी। कवि पंत ने पूरी पांडुलिपि देखी-पढ़ी। उन्होंने दो या तीन संशोधन भी सोचे और पांडुलिपि में लिखे। लेकिन जब उन्होंने शमशेर को पांडुलिपि वापस की तो पंत ने अपने सुझाए संशोधन काट दिए। हालाँकि शमशेर ने पांडुलिपि को अंतिम रूप देते हुए कवि पंत के सुझाए संशोधनों को ही रखा।

मुझे लगता है कि स्थिति, समय और प्रयोग के लिहाज से उपयुक्त शब्द का चयन और इस्तेमाल, बेहद बारीक हुनर है। इस कौशल में सिद्ध वही होता है जो भाषाओं को उनके माहौल और संस्कृति के साथ जानने-समझने में माहिर हो और ख़ुद भी मौलिक हो।

हिंदी के मुक्त छंद का प्रयोग *पाब्लो नेरुदाः कविता संचयन* में है। इस मुक्त छंद में किसी लय विशेष का अनुकरण नहीं है। बल्कि अलग-अलग जगह कई तरह की लयों का समाहार दिखता है। इसमें वाक्य और भाषा की विविधता की पूरी व्याख्या की गई है। अनुवादक ने कवि के मूल भावों के साथ-साथ काव्यतत्त्वों की विशेषताएँ भी संजोई हैं।

कविता संचयन के अलग-अलग हिस्सों में ''माच्चु-पिच्चु के शिखर'' की कविताएँ हैं। इस्ला-नेग्रा एक नोटबुक से ''जहाँ वर्षा का जन्म होता है'' और बीस कविताएँ हैं। ''भूलभुलैया में

चाँद'' (द मून इन द लैब्रिंथ) और तेईस कविताएँ। ''क्रूर अग्नि'' (क्रुएल फ़ायर) और अट्ठाईस कविताएँ। ''जड़ों का शिकारी'' द हंटर आफ़्टर रूट्स) और अठारह कविताएँ हैं। ''आलोचनात्मक सोनाटा'' (क्रिटिकल सोनाटा) और आठ कविताएँ, ''घटना'' (एपिसोड) व पैंतीस कविताएँ, ''खाने की मेज पर थालियाँ'' (द डिशेज ऑन द टेबल) और दस कविताएँ, ''संप्रभुता संपन्न'' (फ़ुली ए पावर्ड) जिसकी पहली कविता है कवि-धर्म और 36 कविताएँ। इस खंड के ज़रिए अनुवादक ने कवि शमशेर को याद किया है।

अनुवादक ने अनुवाद में अपनी भाषा का सतर्कतापूर्ण उपयोग किया है। इसे पढ़ते हुए ऐसा लगता है मानो मूल रचना ही पढ़ रहे हों। यह अनुवाद मूल रचना का आस्वाद देता है।

यह कविता संचयन हिंदी रूपांतर में मूल के भावों की इतनी रक्षा करता है कि रूपांतर में पाठक को कविता के मूल भाव ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं पड़ती।

अपनी बात समझाने के लिए मैं संचयन से कुछ छोटी कविताएँ, पूरी की पूरी यहाँ दे रहा हूँ। इन कविताओं से मूल कवि के भावों को समझने में आसानी होगी।

पुस्तकें

पुस्तकें पावन और जर्जर, पुस्तकें
निगली और निगलती हुई
गूढ़
जेबों में छिपी :
नीत्शे, बेल की गंध लिए
और गोर्की मेरे साथी थे, भूमिगत, लुके-छिपे।

ओह वह सांघातिक क्षण
जब विक्टर ह्यूगो में चट्टानों पर
गड़ेरिया अष्ट भुज को ख़त्म कर लेने के बाद
अपनी प्रिया से विवाह करता है
और नात्रेदाम का कुबड़ा
गॉथिक संरचना की धमनियों के बीच
दौड़ता जाता है।

जार्जे आइजक की मारिया
स्वर्गिक उपवनों के भवनों में
उन्मुक्त रंगीन वक़्त का शुभ्र आलिंगन,
अपने असत्यों की शर्करा से
इस तरह पक्षाघात करती हुई
कि हम अपनी अबोधता में रोने लगते थे।

पुस्तकों ने बुना और खनन किया
और अपने गुंजलक खोल सरक गईं
और धीरे-धीरे चीज़ों के चेहरों के पीछे
श्रम के पीछे, एक कड़वी गंध सा
क्षार की स्फटिकता के साथ
ज्ञान का वृक्ष बढ़ने लगा।

(बुक्स)

मारूरी गली में किराए का मकान

मारूरी, एक गली।
घर एक-दूसरे की तरफ़ न तो देखते
और न एक-दूसरे को पसंद करते।
फिर भी वे सटे हुए हैं,
दीवार से दीवार, लेकिन
उनकी खिड़कियाँ
गली नहीं देखती हैं, बोलती नहीं हैं,
साक्षात मौन हैं।

एक काग़ज़ शीत के वृक्ष से
स्याह पत्ती की तरह उड़ता है।
संध्या सूर्यास्त को दीप्त कर देती है।
घबराकर, आकाश
भागती हुई आग को फैला देता है।
स्याह कुहरा छज्जों पर धावा बोलता है।

मैं अपनी पुस्तक खोल लेता हूँ।
ऐसे लिखता हूँ जैसे कि मैं
किसी खान के कूपक में
हूँ, एक नम
परित्यक्त दीर्घा में हूँ।

मुझे मालूम है कि इस वक़्त
घर में, गली में, कटु नगर में कोई नहीं
मैं एक क़ैदी हूँ जबकि द्वार खुले हैं,

दुनिया खुली है।
धुँधलके में खोया, बिसूरता हुआ मैं एक छात्र हूँ
और नूडुल के शोर तक ऊपर चढ़ता हूँ
और नीचे अपने बिस्तर और अगले दिन मैं
उतरता हूँ।
(द रूमिंग हाउस ऑन काले मारूरी)

मुझे याद है

साक्षी हूँ मैं!
वहाँ
मैं था,
मैं था वहाँ
और मैंने पीड़ा सही और मैं
साक्षी हूँ
गो कि याद करने के लिए कोई नहीं
शेष बचा!

मैं
वह व्यक्ति हूँ जिसे है याद
गो कि पृथ्वी पर कोई आँख नहीं बची,
मैं देखता चला जाऊँगा
और वह रक्त
यहाँ अंकित होगा,
यह प्रेम यहाँ सदा प्रज्ज्वलित रहेगा।
भूलने का कोई सवाल नहीं, देवियों और सज्जनों,
और मेरे आहत मुख से
वे मुख गाते चले जाएँगे।
(आई रिमेंबर)

कविता

और इसलिए कवि ने अपनी नियति
अपने उस बंधु के साथ जोड़ी
जिसे उन्होंने आहत कर डाला था,
उनके साथ जो भूमिगत काम करते थे
और जो; पत्थर के साथ संघर्ष कर लेने के बाद
पुनः जीवित हो उठते थे, अकेले, सोने चले
जाते थे।
(पोएट्री)

बहुत वक़्त गुज़र जाता है

तब वे आए, बैलों की तरह धीमे,
लोहे के छब्बीस बोरों की तरह,
बारह महीनों की सदियाँ
जिन्होंने स्पेन को
हवा से, शब्दों से,
बुद्धिमता से दूर रखा,
उन द्वारों के लिए पत्थर और गच,
पट्टियाँ और सिटकिनियाँ
वापस लाए, जो अविस्मरणीय दोपहर के वक़्त,
मेरे लिए खुले थे।
दुख धैर्य का अभ्यस्त हुआ,
आशा निर्वासिन में ढेर होती रही,
स्पेन का फूल
सज्जन कैराकस, सांतियागो में,
वेराक्रूज में, उदार उरूग्वे के बालू में
बढ़ता फैलता रहा।
(मच टाइम पासेज)

कवि

और उसने अपने रुद्ध-द्वार मातृभूमि का भी
चयन किया,
फलियों और सैनिकों की माता
वर्षा में अँधेरी गलियों वाली,
और रात्रि में कठोर श्रम वाली।
इसलिए कृपा करके मेरे लौट आने की
आशा मत करना।
उनमें से नहीं हूँ मैं जो रोशनी से वापस
लौट आते हैं।
(द पोएट)

प्रोफेसर चंद्रबली सिंह के अनुवादों में कुछ इसलिए यहाँ दीं जिससे यह देखा जा सके कि छोटी कविताओं में भी सँभाल कितना है। लंबी कविताएँ ढेरों हैं। इन्हें ख़ुद पढ़ना, कहीं अच्छा। छोटी कविताएँ, पाठकों का विश्वास करते हुए दी गई हैं। पाठक स्वयं भी देख लें।

कविता क्या होती है उसे जानने-समझने के लिहाज से हर कविता प्रेमी को *पाब्लो नेरूदा : कविता संचयन* को बार-बार पढ़ना चाहिए।

चर्चित पुस्तक :
पाब्लो नेरूदा : कविता संचयन; अनुवाद:चंद्रबली सिंह; साहित्य अकादमी; 2004; 225 रुपए।

रमेश उपाध्याय

सुखांत के विरुद्ध

हिंदी के प्रगतिशील कथाकार स्वयं प्रकाश के नए उपन्यास *ईंधन* में एक ऐसे निम्न-मध्यवर्गीय व्यक्ति की कहानी कही गई है, जो घर-परिवार और नातों-रिश्तों की तमाम जड़ों से कटा हुआ है, लेकिन अपनी मेहनत, प्रतिभा और क़िस्मत के बल पर सफल होकर उच्च-मध्यवर्ग में जा पहुँचता है। रोहित नामक एक व्यक्ति अपनी मेहनत-मज़दूरी से कमाते-खाते अपनी पढ़ाई कर रहा होता है कि स्निग्धा नामक एक उच्च-मध्यवर्गीय लड़की अचानक उससे शादी कर लेती है। यह बेमेल विवाह आरंभ में दोनों के लिए दिक़्क़तें पैदा करता है, लेकिन रोहित जब मुंबई जाकर एक बहुराष्ट्रीय कंपनी में ऊँचे वेतन पर काम और बाद में अपना निजी कारोबार करने लगता है, तो दोनों के बीच कुछ तालमेल बैठ जाता है। लेकिन यह तालमेल एक महत्त्वाकांक्षी और पैसा कमाने में सदा व्यस्त रहने वाले पति और मन मारकर उसकी गृहस्थी तथा संतान का बोझ ढोती शिक्षित, सुंदर, स्वप्नदर्शी किंतु घरेलू औरत बनकर रह जाने वाली पत्नी के बीच का तालमेल है, जो पति-पत्नी को एक-दूसरे के निकट लाने के बजाय दूर ही करता है; उन्हें अजनबी ही बनाता है।

उन दोनों का एक बेटा है, जिसे पालने-पोसने और पढ़ाने-लिखाने की ज़िम्मेदारी स्निग्धा की है, क्योंकि रोहित को उसकी तरफ़ ध्यान देने की फ़ुर्सत नहीं है। लेकिन स्निग्धा भला कैसे जान सकती है कि उसका बेटू बाहर स्कूल में या अपने दोस्तों के साथ क्या करता है। वह हिंदुत्ववादी लोगों के संपर्क में आकर सांप्रदायिकता का शिकार होता जा रहा है। बाद में इसकी कुछ जानकारी रोहित और स्निग्धा को समय-समय पर मिलती रहती है, लेकिन उन्हें अंदेशा नहीं है कि इसका कोई भीषण परिणाम निकल सकता है।

होता यह है कि किशोर बेटू को अभी चलाना ठीक से नहीं आता, लेकिन उसका नेता एक दिन अपनी जीप देकर दो और लड़कों के भेज देता है कि जाओ, मुसलमानों को मारो। जीप को नियंत्रित नहीं कर पाता और जीप की एक दुकान से टकरा जाती है। दुकान के पंद्रह फ़ुट गहरा खड्डा है। जीप उसमें उलट जाती है। तीनों लड़के उसके नीचे दब हैं। ऊपर से केरोसिन के दो ड्रम खड्डे में गिरते हैं और जीप में आग लग जाती है। लोग उन लड़कों को बचाने की कोशिश करते हैं। सलीम नाम का एक लड़का उन्हें बचाने के लिए खड्ड में कूद जाता है और ख़ुद भी झुलस जाता है। लेकिन कोई भी उन तीन लड़कों को बचा नहीं पाता। बेटू की ऐसी मृत्यु के बाद स्निग्धा तो पागल-सी हो जाती है, रोहित भी पछताता है कि उसने बेटू को उस रास्ते पर जाने से रोका क्यों नहीं।

तब रोहित को लगता है कि "हमारी दुनिया एक विशाल दैत्याकार धमन भट्‌ठी बन चुकी है और हम तीनों अपने जैसे हज़ारों-लाखों की तरह उसमें ईंधन की तरह झोंक दिए गए हैं। बेटू छोटा था, भस्म हो गया। हमें पूरी तरह भस्म होने में अभी कुछ और समय लगेगा।"

स्वयं प्रकाश ने सांप्रदायिकता को विषय बनाकर कई महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। अतः उनके लेखन से परिचित पाठक को उपर्युक्त पंक्तियाँ पढ़कर लग सकता है कि *ईंधन* भी सांप्रदायिकता पर

लिखा गया उपन्यास है और इसका नाम *ईंधन* शायद इन्हीं पंक्तियों के आधार पर रखा गया है। लेकिन 271 पृष्ठों के उपन्यास में 233वें पृष्ठ पर आई इन पंक्तियों को पढ़कर पाठक को एक झटका-सा लगता है। प्रश्न उठता है : क्या उपन्यासकार इन शब्दों के सहारे सांप्रदायिक हिंसा का एक रूपक खड़ा कर रहा है? क्या ''ईंधन'' नाम की सार्थकता इसी रूपक से जुड़ी हुई है? लेकिन अगर ऐसा है तो 232 पृष्ठों में यह रूपक कथा का अभिन्न और अनिवार्य अंग बनकर सामने क्यों नहीं आया? क्या वह रूपक शेष बचे कुछ पृष्ठों में उभरकर उपन्यास के नाम को सार्थक करेगा? लेकिन ऐसा पाठक आगे के पृष्ठों में भी पाएगा कि उपन्यास का मुख्य विषय सांप्रदायिकता नहीं है।

आगे के पृष्ठों में कहानी अपने अंत की ओर इस प्रकार बढ़ती है कि स्निग्धा रोहित को मुंबई में अकेला छोड़कर अपने पिता के पास चली जाती है। रोहित अकेला रह जाता है और शराब में डूब जाता है। उसका बिजनेस भी चौपट हो जाता है। स्निग्धा उसे छोड़कर एक पूर्व परिचित व्यक्ति के पास चली जाती है, जो अनाथ बच्चों और दंगा-पीड़ितों की सेवा-सहायता के लिए एक एन.जी.ओ. (स्वयंसेवी संगठन) चलाता है। रोहित मुंबई से अपने उसी छोटे शहर में लौट आता है, जहाँ वह शादी से पहले एक प्रेस में काम करता था। प्रेस मज़दूरों के बीच जाकर वह नए सिरे से अपनी ज़िंदगी शुरू करता है। वह नई प्रौद्योगिकी की मार से बेरोज़गार हुए प्रेस मज़दूरों को इकट्ठा करके उनका एक नया सहकारी प्रेस खुलवाता है और उसका मैनेजर बन जाता है।

इस प्रकार उपन्यास एक आशावादी सुखांत के साथ समाप्त होता है, लेकिन पाठक के मन में कई प्रश्न छोड़ जाता है, जैसे—क्या दुनिया सचमुच एक धमन भट्ठी है और भारतीय मध्यवर्ग उसमें झोंक दिया गया ईंधन है? रोहित और स्निग्धा उस भट्ठी में अपने बेटू के भस्म हो जाने के बाद स्वयं कैसे बच गए? क्या स्निग्धा बेमेल विवाह की बेवकूफ़ी से सबक लेकर अपने ही वर्ग के मनचाहे पुरुष के साथ चले जाने से बची? और रोहित ''डीक्लास'' होकर पुनः मज़दूर वर्ग में पहुँच जाने से? अथवा, क्या दुनिया को धमन भट्ठी के बजाय मनुष्यों के रहने लायक़ जगह बनाने के लिए स्वयंसेवी संगठन और सहकारी संस्थाएँ ही पर्याप्त हैं? क्या इसके लिए राज्य और समाज को बदलकर बेहतर बनाने का कोई व्यापक प्रयास ज़रूरी नहीं है? और यदि वह ज़रूरी है, तो राज्य की संस्था और समाज की व्यवस्था से संबंधित सवालों से जूझने के बजाय क्या एन.जी.ओ. और को-ऑपरेटिव बनाने से ही काम चल जाएगा?

ईंधन उपन्यास इन प्रश्नों के उत्तर नहीं देता। कारण शायद यह है कि उपन्यासकार का मुख्य ज़ोर निम्न-मध्यवर्गीय पति और उच्च-मध्यवर्गीय पत्नी के योग या संयोग से बनी गृहस्थी का बेमेलपन दिखाने पर रहा है। उपन्यास के आधे से अधिक भाग में उसके ''कॉमिक'' पहलू को उभारा गया है और शेष भाग में उसके ''ट्रैजिक'' पहलू को। स्वयं प्रकाश अपनी कहानियों में यह काम बड़ी सफलता के साथ करते रहे हैं। इस उपन्यास में भी उन्होंने यही किया है, लेकिन एक भिन्न दृष्टि और दृष्टिकोण के साथ। यहाँ वे पति-पत्नी की संबंधहीनता को देश और दुनिया की बृहत्तर समस्याओं के संबंध में देखने-दिखाने का प्रयास करते हैं। इसीलिए यहाँ सांप्रदायिकता मुख्य समस्या नहीं है। सांप्रदायिक हिंसा से जुड़ी एक घटना का इस्तेमाल यहाँ एक औपन्यासिक प्रविधि के रूप में किया गया लगता है, क्योंकि उस घटना के वर्णन से पहले और उसके बाद भी उपन्यास में सांप्रदायिकता कोई समस्या नहीं रहती। रोहित की पारिवारिक और व्यावसायिक असफलता को एक प्रकार की नियति मानते हुए उपन्यासकार बेटू के भस्म हो जाने की घटना को एक भिन्न ही अर्थ में प्रस्तुत करता है।

इसी तरह अपनी व्यावसायिक असफलता के संदर्भ में रोहित बेटू की मृत्यु को सांप्रदायिक हिंसा से नहीं जोड़ता।

स्वयं प्रकाश को शुरू से पढ़ते आ रहे लोग उनके इस नए रवैये से शायद चौंकेंगे, लेकिन इसे

स्वयं प्रकाश के कथा-लेखन में एक नया मोड़ भी माना जा सकता है, जहाँ से वे सांप्रदायिकता जैसी अधिरचना संबंधी समस्याओं से आगे बढ़कर पूँजीवाद की वैश्विक व्यवस्था की आधारभूत समस्या से जूझने की तैयारी करते दिखाई देते हैं। *ईंधन* को इस तैयारी के पहले उपक्रम के रूप में पढ़ा जाए, तो लेखक की रचनाशीलता के भविष्य के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है।

चर्चित उपन्यास :

ईंधन : स्वयं प्रकाश; वाणी प्रकाशन, दिल्ली; 2004; 300 रुपए

रमेश उपाध्याय का जन्म 1942 में उत्तर प्रदेश के एटा ज़िले में हुआ। *दंडद्वीप, हरे फूल की ख़ुशबू, पेपर वेट, शेष इतिहास* सहित कहानी, उपन्यास, नाटक की 27 पुस्तकें प्रकाशित। हिंदी अकादमी तथा उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान से पुरस्कृत। संपर्क : 107, साक्षरा अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

महेश कटारे

टूटने से पहले

गुज़री सदी के आख़िरी दशक को हिंदी का उपन्यास दशक कहा जा सकता है। वजह शायद यह रही कि येन केन कारणों से हल्ला मचा कि यदि गद्य कविता (काव्य) का निकष है तो उपन्यास गद्य में कथा का। दिलचस्प बात यह कि कविता में महाकाव्य या खंडकाव्य के लिए कोई अकुलाहट नहीं थी और कथा की माँग उपन्यास बिना सूनी कही जा रही थी सो लंबी कहानियाँ उपन्यास हो गईं। नाटक और कथा को उपन्यास में ढाला गया। शिल्प के कमाल में यह भी शुमार कि दो-चार कहानियों में संबंध सूत्र पिरोकर उपन्यास का आकार दे दो अथवा उपन्यास कविता, कहानी, निबंध, संस्मरण आदि ''कुछ भी'' का ''कुछ नहीं'' बनाकर भी उपन्यास की पाँत में सरका दो। ऐसे रचनाकारों की दृष्टि में कथा (विशेषतः उपन्यास) महज कल्पित संरचना ही होती है, यथार्थ का दर्पण नहीं जो जीवन को सहज ऐन्द्रिक बोध के साथ भी प्रस्तुत करे। यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि सहज का अर्थ सरल नहीं है और शिल्पगत स्तर पर ''सहज'' की साधना बेहद कठिन है। *टूटने से पहले* की एक विशेषता यह है कि इसमें ''सरल'' और ''कठिन'' दोनों से बचा गया है इसलिए आम पाठक लेखकीय मंशा को छूते हुए अपनी अर्थ छवियों की निर्मिति के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करता है।

गुरबचन सिंह ने ग़ुलाम देश की जड़ों में धँसते औद्योगीकरण तथा आधुनिकता के संदर्भों व संबंधों की पड़ताल की है। उन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व का कालखंड और लौह नगरी का आकार पाते जमशेदपुर को कथाभूमि के लिए चुना है। सन् 38-39 के हिंदुस्तान, जो सत्ता की भाषा में इंडिया हो गया था, की स्थिति यह थी— ''धूल गर्द और धुएँ से अटी पड़ी फ़िज़ा में यहाँ के लोग साँस लेने के आदी हो गए थे।''... यह धूल गर्द ग़रीबी और धुआँ ग़ुलामी का ही था जो आदत में ढल चुका था। गृह उद्योग मटियामेट कर मशीनों वाले भारी उद्योग स्थापित किए जा रहे थे। एक मशीन सौ लोगों से काम छीनने लगी थी तो साँस लेना या जीना तो कठिन हो ही रहा था; भविष्य भी धुँधला चुका था। इस उपन्यास की कहानी मज़दूर बस्ती में साथ-साथ खेलते हुए बड़े हुए चरन और बासंती की लरिकाई

प्रीति को सामने लाती है। दैनंदिन ज़रूरत ही प्यार-व्यार के दिमागी ख़लल को ध्वस्त कर उन्हें यथार्थ की ज़मीन पर ले आती है। यह यथार्थ है—अर्थ। इस अर्थ के साथ ही सभी नहीं, तो अधिकांश चीज़ों और रिश्तों का निर्धारण होता है। ग़रीब के लिए इसकी त्रासद परिणति होती है भले ही उसे कोई आदर्श, आध्यात्मिक अथवा सदाशयी क्राँतिकारी भविष्य का ख़ूबसूरत मोड़ दे दिया जाए। उपन्यास के इसी द्वंद्व के अंत तक पहुँचाते हुए पाठक को माथ मलते हुए सोचने पर मजबूर कर देता है कि—''कहाँ से चले थे, कहाँ आ गए हम?'' इस प्रश्न तक पहुँचाना ही टूटने से पहले की एक सार्थक स्थिति भी है।

उपन्यास उन लोगों की बस्ती से उपजकर वहीं ख़त्म भी होता है जहाँ के लोग केवल वर्तमान में जीते हैं। रोज़ी-रोटी से आगे की दुनिया वह औरों की मानते हैं। इनसे कुछ ऊँचाई और सुविधाजनक स्थिति में होने के कारण नौजवान सिन्हा भविष्य में कुछ दूर तक झाँक पाता है—

''ज्यों-ज्यों समय बीतता जाएगा, आग और धुएँ की दुनिया का विस्तार होता जाएगा। धुआँ और आग उगलने वाली ऐसी अनेक चिमनियाँ सर्वदा दिखाई दिया करेंगी, लेकिन फिर भी लोगों का पेट नहीं भरेगा। बेकारी रहेगी ही, दस बीस क्या सैकड़ों आदमियों का काम एक मशीन करेगी। एक बेकार इंसान अपना पेट भरने के लिए ग़लत रास्ते अपनाएगा।''

गांधी जी ने चरखे को मशीन के मुक़ाबले यूँ ही खड़ा नहीं किया था पर उपन्यासकार गांधी-पथ का प्रतिरोध क्रांति की तलाश में कलकत्ता की ओर मुड़ जाता है। यह कलकत्ता केवल महानगर ही नहीं सत्ता और आधुनिकता का केंद्र भी है क्योंकि पश्चिम से लादकर लाई हुई आधुनिकता फ़ोर्ट विलियम से ही भारत को तक्सीम हुई थी। इस कथित आधुनिकता के ज़द में भोजन, आवास से लेकर आचार और विचार तक शामिल थे। बेकारी मिटाने के लिए आमूल्य की बहन ममता नर्स बनती है और बासंती सिन्हा से गर्भिणी हो मृत्युमुख तक जा पहुँचती है। मज़दूर संगठन या श्रमशक्ति के प्रतीक मंगलसिंह उपेक्षित और लाचार हैं और अल्पसंख्यक समुदाय सांप्रदायिक रथ पर सवार हैं—''उन दिनों मुस्लिम लीग का प्रभाव मुस्लिम जनता पर अफ़ीम के नशे की तरह चढ़ रहा था। छोटे से लेकर बड़े तक पर पाकिस्तान के नाम का जुनून सवार था।'' इसके बरक्स—''महासभाइयों का हिंदुओं पर उतना प्रभाव नहीं था जितना कि लीगी मुसलमानों को गुमराह कर रहे थे।''

तो ऐसे बोझिल और बाँझ समय में जमशेदपुर की मज़दूर बस्ती लाइन नं. 3-4 से जुड़े रहकर या इस ज़मीन से ही लेखक देश-विदेश की घटनाओं व बदलावों को देखता-परखता है। बस्ती जहाँ किसी मज़दूर की मौत भी बल्ब फ़्यूज़ होने जैसी साधारण घटना होती है वहाँ मुक्ति संघर्ष और क्रांतिकारी परिवर्तन वाले द्वंद्व से उपन्यास बार-बार दो चार होता है कि—''क्या घर की रोज़ी-रोटी का मसला सुलझाए बिना, परिवार का पोषण किए बिना किसी का लीडर बन सकना मुमकिन है?''—यह प्रश्न अपने गहन आशय में मुक्ति संग्राम के समूचे नेतृत्व का मेकअप उतारता है कि यदि आपके ऊपर चरन, आमूल्य या ममता की भाँति परिवार का पेट भरने की ज़िम्मेदारी होती; यदि आप मज़दूर बस्ती की किसी लाइन नंबर तीन चार में पैदा हुए होते तो क्या आप नेहरू, जिन्ना या कोई और हो पाते? उपन्यास में वाम पक्षधरता के जहाँ स्पष्ट संकेत हैं वहीं इसके संशय भी चिह्नित किए गए हैं—''जब कोई आंदोलन, कोई संघर्ष बिना लक्ष्य प्राप्ति के समाप्त हो जाता है, तो लोग मुर्दे हो जाते हैं। उनका आत्मबल नष्ट हो जाता है।'' उस समय वामपंथ की दुविधा स्पष्ट थी कि वह राष्ट्रीय स्तर पर साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़े।

भारतीय मज़दूर आंदोलन की सबसे बड़ी ख़ामी यह रही है कि वह किसानों से नहीं जुड़ सका और कमरों, टेबल की वैचारिक जुगाली में फलित अनुमान लगाता रहा।

अंत की ओर जाता उपन्यास हमें त्रासद स्थितियों के रूबरू ला खड़ा करता है—''तुम्हारे बाद वहाँ लौह नगरी में बहुत कुछ हुआ ममता। पुराने मज़दूर

नेता मंगल सिंह की हत्या हो गई। एक भले घर का व्यक्ति था सिन्हा, उसने बासंती का शील भंग किया...वह भी मर गया।...जन समाज में असंतोष और विद्रोह की लहरें पनप रही हैं...ऐसा लगता है, किसी विद्रोह रूपी ज्वालामुखी का सिर फटने वाला है फिर चारों तरफ़ धुआँ ही धुआँ नज़र आएगा और कुछ नहीं।''

श्रमिक जीवन अभाव से त्रास तक आ पहुँचा है। त्रास की निराशा और ठंडापन ख़तरनाक है। ठीक है कि रचनाकार इस परिणति का हामी नहीं है और रचना का अर्थ मात्र वही नहीं होता जो दिखाई देता है बल्कि अर्थ तक पहुँचने की प्रक्रिया द्वंद्वात्मक है पर स्वतंत्रता से पहले के दशक में ये रहस्यवादी स्वर संशय ही उपजाते हैं—''करुण क्रंदन, अभिशप्त जीवन का स्वर। रात को आसमान में टकटकी कौन देखता है कि किस दिशा में कौन तारा टूटा किसके लिए वह तारा मनहूस बनकर धरती पर उतरा। ब्रह्मांड में भटकी हुई आत्माएँ क्यों धरती पर आ जाती हैं? उन्हें इस मिट्टी से मोह क्यों है? इस धरती पर कोई जीने के लिए कोई मरने के लिए प्रत्येक क्षण क्यों संघर्ष करता है?''

गुरबचन सिंह की यह कृति अतीत की दुनिया के भभके से गुज़रती हुई पाठक को अपने किए गए किए जा रहे पर विचार करने को प्रेरित करती है।

चर्चित उपन्यास :

टूटने से पहले : गुरबचन सिंह; यात्री प्रकाशन, दिल्ली, 2004; 400 रुपए

महेश कटारे का जन्म 1948 में हुआ। इनकी चार पुस्तकें *समर शेष है, इति कथा अथ कथा* (कहानी- संग्रह); *अँधेरे युग के, महासमर का साक्षी* (नाटक) प्रकाशित हुई है। मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् से पुरस्कृत हैं। संपर्क : निराला नगर, सिंहपुर रोड, मुरार, ग्वालियर- 474006 (म.प्र.)

हरिसिंह पाल

भारत की सांस्कृतिक धरोहर

भारत जैसे विशाल देश के अलग-अलग प्रांतों की भिन्न-भिन्न लोक कथाएँ हैं। रोचकता, कौतूहल एवं आनंदोत्पत्ति तथा मनुष्य मात्र का हित साधन व उसे श्रेष्ठ मार्ग की ओर ले जाना, इन लोक कथाओं का अंतर्निहित उद्देश्य रहता है।

मालवा भारत का हृदयांचल माना जाता है। राजा भोज, विक्रमादित्य और लोकमाता देवी अहिल्याबाई होलकर आदि का मालवा कार्यस्थल रहा है। इसी कारण इनकी लोक कथाएँ अत्यंत विश्रुत हुईं। इन शासकों ने अपने बुद्धि कौशल, उत्कट जनकल्याण की भावना मन में लाकर प्रजा का हित किया था वह आज भी यहाँ की लोक कथाओं में जीवित है।

मालवी कथाएँ कृति में कुल 42 लोक प्रचलित कथाओं का संकलन है। मूल रूप में मालवी कथाएँ पहले प्रस्तुत की गई हैं, उनके साथ इनका हिंदी अनुवाद भी दिया गया है जिससे पाठक जहाँ मालवी लोकभाषा का आनंद लेते हैं साथ ही इसके हिंदी अनुवाद से उसकी ग्राह्यता बढ़ जाती है। इनका संकलन मालवी लोक साहित्य के मर्मज्ञ डॉ. एच. एस. गुगालिया ने किया है। इन कथाओं में केंद्रीय भाव, सत्य, प्रेम, सद्भावना, गुणग्राहकता, क्षमा, निस्वार्थता, न्याय-मर्यादा, नैतिकता और पुरुषार्थ जैसे शाश्वत गुण हैं। मालवा के लोकनायकों और पुरुषार्थी चरित्रों के इर्द-गिर्द घूमती ये कथाएँ ''सर्वे भवंतु सुखिनः'' का वैश्विक भाव प्रस्तुत करने में समर्थ है। दैवीय और मानवीय गुणों से ओत-प्रोत

इन मालवी कथाओं में इस क्षेत्र के लोकजीवन के आदर्श चित्र प्रतिबिंबित हैं। इन कथाओं के माध्यम से डॉ. गुगालिया ने विचारों की अवहेलना, छद्म की अस्वीकृति और सामाजिक गुणों की छाया को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। इनमें व्यंग्य की मीठी मार भी है और मानव के विविध रूपों की झाँकी भी।

इन मालवी कथाओं के शीर्षक मालवी लोकभाषा में ही दिए गए है। हिंदी अनुवादों के हिंदी में। यद्यपि लोक प्रचलित कथाओं के शीर्षक प्रायः इनके कथानक में ही छिपे रहते हैं। अतः अलग से देने की परंपरा कम ही मिलती है। जब इनका लिखित रूप सामने आने लगे तो आधुनिक कथाओं की भाँति लोककथाओं के शीर्षक दिए जाने लगे। शीर्षक देने से औत्सुक्य भाव निर्बल पड़ जाता है। ये लोककथाएँ थोड़े-से हेर-फेर के साथ विश्व भ्रमण करती प्रतीत होती हैं। अरेबियन नाइट्स इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

इस संग्रह में व्रत कथाएँ, पशु-पक्षियों की कथाएँ, चतुराई संबंधी कथाओं के साथ वीर विक्रमादित्य, राजा भोज और अहिल्याबाई होलकर आदि लोक-विश्रुत शासकों की कथाओं का भी अद्भुत संग्रह है। यह संकलन बच्चों और बड़ों दोनों के लिए समान रूप से रोचक, पठनीय और संग्रहणीय है, ये लोक कथाएँ मात्र मनोरंजन के लिए ही नहीं अपितु मानव-मन के परिष्करण के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।

भारत में मेकल पर्वत से घिरे नर्मदा तट पर जीवन यापन करने वाले गोंड आदिवासियों के लोकगीत अपनी मधुरता और सहज अभिव्यक्ति के लिए बहुत ही लोकप्रिय हैं। दुख-सुख, प्रेम, वियोग, प्रकृति चित्रण को गोंड जनजाति ने बख़ूबी गीतों में बाँधा है। इस समाज के लोकगीतों को मध्य प्रदेश आदिवासी लोककला परिषद् भोपाल ने *गोंड जनजातीय गीत* नामक कृति में संकलित कर प्रकाशित किया है। इन गीतों का संग्रह और विवेचन, आदिवासी लोक साहित्य के अध्येता रूपसिंह कुशराम ने किया है। इस कृति में गोंड समाज में प्रचलित सैला-रीना, जवारा देवी गीत, बिरहा गीत, ददरिया, तीजा वंदना, करमा, झूमर देवी गीत, करमा झरपट, लहकी गीत और विवाह गीतों को लोकबोली में प्रस्तुत कर उनका हिंदी अनुवाद भी साथ ही दिया गया है। इस संकलन की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि इसमें लोकगीत की तो सुस्पष्ट व्याख्या की ही गई है साथ में लोक गायक और गायिकाओं के नाम भी दिए गए हैं जिनसे ये प्राप्त किए गए हैं।

गोंड समाज में सैला-रीना गीत, दशहरा के बाद शरद चाँदनी रात में नृत्य के साथ गाए जाते हैं। वस्तुतः ये सांस्कृतिक यात्रा के लोकगीत हैं जिनमें शारदा देवी, नर्मदा देवी, तुलसी, गुरुदेव, अन्न देवता, भगवान कृष्ण, राम की वंदना के साथ-साथ युवा समाज की प्रणय वेदना भी मुखरित होती है। इनकी लोकशैलियों में सैला लहकी, दशरेली-सैला, रीना का विशेष वर्णन किया गया है। इसी प्रकार जवारा देवी गीतों में चैत्र मास में बाँस की टोकरी में मिट्टी रखकर गेहूँ के दाने बोकर देवी शारदा की वंदना की जाती है। गेहूँ के अंकुरित पौधों को जवारा कहा जाता है। इनसे ही देवी की पूजा की जाती है। उत्तर भारत के शारदीय नवरात्र पर्व की तरह का यह लोक पर्व है। जवारा गीतों की भावभूमि, भारत की सार्वदेशिक शाक्त पूजा का प्रतिनिधित्व करती है। नर्मदा तट पर रहने वाला गोंड़ युवक, माँ शारदा के हिंगलाज पीठ पर चढ़ाने का संकल्प लेता है— ''एक चढाहूँ माता हमारे, दूजे चढ़ाऊँ माता हिंगलाज हो माय।'' (पृष्ठ 72)। ये लोकगीत भारत की सांस्कृतिक एकता को प्रदर्शित करता है।

विरहा गीत श्रावण मास में प्रकृति के स्वच्छंद वातावरण में प्रणय वेदना को प्रस्तुत करते हैं तो ददरिया गीतों में प्रेमी-प्रेमिका के मनोरम भावचित्र होते हैं। गोंड समाज में तीजा वंदना गीत भाद्रपद मास की शुक्ल पक्ष की तृतीया को महिलाओं द्वारा भगवान शिव को समर्पित होते हैं। ये गीत बड़े ही मार्मिक हैं जो गृहस्थ जीवन की कटु सच्चाई को पौराणिक प्रसंगों, वर्तमान परिस्थितियों में प्रस्तुत करते हैं। करमा गीत, भाद्रपद मास की शुक्ल पक्ष में बड़ा देव की पूजा के अवसर पर करम राजा और

करमा रानी के सम्मान में गाए जाते हैं। इन गीतों को गोंड समाज के अतिरिक्त बैगा, कोल, अगरिया, भारिया, भरेवा, लुहार, पनिका, परधान और दुलिया आदि सभी जातियाँ भी गाती हैं। ये नृत्यगीत हैं, झूमर देवी गीत, करमा झरपट और लहकी गीतों में भी लोक समाज के विविध चित्रण होते हैं। गोंड समाज के विवाह गीतों में बनरा, गारी, कहरवा, ददरिया, विरहा, धंधागीत, माँगर माठी परधौनी, गौर विसर्जन आदि प्रमुख हैं।

राजस्थानी लोकनाट्य अपनी ओजस्वी प्रस्तुति के कारण पूरे देश में लोकप्रिय रहा है। इसके संगीत पक्ष का व्यापक विवेचन, संगीत विदुषी डॉ. ज्ञानवती बैद मेहता ने अपनी शोधकृति *लोकनाट्यों में संगीत* (राजस्थान के संदर्भ में) में गंभीरतापूर्वक किया है। इस कृति में कुल नौ अध्याय हैं जो इस प्रकार हैं—नाट्य एवं लोकनाट्य, राजस्थानी लोकनाट्यों का परिचय एवं रंग विधान; लोकनाट्यों में पात्र एवं गेय छंद; प्रयुक्त रागें, ताल एवं वाद्य, संगीतमय प्रस्तुतीकरण, लोकनाट्यों की कथाएँ, नाट्यगीतों की स्वर लिपि, वर्तमान परिप्रेक्ष्य में लोकनाट्य एवं उनके संरक्षण और प्रवर्धन हेतु प्रयासरत संस्थाएँ तथा परिशिष्ट। इस पुस्तक में ख्याल, रम्मत की विविध शैलियों यथा—चिड़ावी, नौटंकी, तमाशा, तुर्रकलंगी, गवरी का विशद वर्णन किया गया है। राजस्थान में प्रचलित लोकप्रिय कथा—राजा हरिश्चंद्र, गोपीचंद भर्तृहरी, जंबु कुमार, ढोला मरुवण, नौटंकी शहजादी की संक्षेप में कथा भी दी गई है।

इस कृति का महत्त्वपूर्ण अध्याय है—राजस्थानी नाट्य गीतों की स्वर लिपि। इसमें संवादगीतों के सांगीतिक पक्ष का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। नाट्य कलाकार गीतों को सुंदर बनाने के लिए अपनी स्वर साधना तथा गले के धर्म के अनुसार गीत को विभिन्न स्वरों में घुमाते हैं। विदुषी लेखिका ने गीत संवादों को विभिन्न रागों में स्वरलिपि देकर अनुपम कार्य किया है। उन्होंने राजस्थान के विभिन्न अंचलों के कलाकारों की सहायता से विविध शैलियों के नाट्य गीतों संवादो को टेपकर अंकित किया और स्वर लिपिबद्ध जैसा श्रमसाध्य कार्य बहुत ही सूझबूझ एवं कुशलता से किया है।

विद्याबिंदु सिंह के सांस्कृतिक निबंधों के संकलन *साल भर पर्व* में कुल 42 विविध विषयक निबंध संग्रहीत हैं। विदुषी डॉ. विद्याबिंदु सिंह ने डॉ. मिश्र के व्रत, पर्व, त्यौहार विषयक निबंधों का कुशलता के साथ चयन कर संपादन किया है। इस निबंध संग्रह में प्रारंभिक तीन निबंध भारतीय संस्कृति के तीर्थ-पर्वों के महत्त्व पर आधारित हैं इसके बाद पाँच निबंध कुंभ स्नान पर, छह बसंत पर्व पर, छह होलिकोत्सव, छह दीवाली पर, तीन भगवान कृष्ण पर, दो भगवान राम, तीन नवरात्रों पर, दो दशहरा, दो कार्तिक पर्व पर, एक साहित्य पर और एक पर आधारित निबंध संग्रहीत हैं।

इन समस्त निबंधों में डॉ. मिश्र ने भारतीय संस्कृति की परंपराओं, अनुष्ठानों, रीति-रिवाजों और व्रत-पर्व-त्यौहारों के प्रति देखने की एक नई दृष्टि प्रदान की है। उन्हें समझने का एक अलग ढंग का मन दिया है उसे अनुभव करने की एक रागात्मक चेतना दी है। इन निबंधों का केंद्रीय भाव सामूहिकता की भावना को उत्प्रेरित करना है क्योंकि कोई भी व्रत, उत्सव, कभी भी अकेले नहीं किया जाता। परिवार के, समाज के और मानव समुदाय के कल्याण के लिए किए जाने की परंपरा रही है। इन निबंधों में बार-बार यह स्वर उभरा है कि भारतीय संस्कृति की पहचान यहाँ के संस्कारों, व्रत, पर्व, त्यौहारों और उत्सवों से भी उभरती है। ये औपचारिक मात्र न होकर लोकजीवन के अभिन्न अंग हैं, साथ ही जीवन की रसमयता की पहचान भी हैं।

डॉ. मिश्र की निबंध शैली जीवंत है जो पाठक से सीधा संवाद करती प्रतीत होती है। वे बीच-बीच में पाठक की ओर प्रश्न भी छोड़ते हैं और उत्तर भी देते चलते हैं। यथास्थान व्यंग्य-विनोद के छींटे भी पाठक को आह्लादित कर देते हैं। इस संग्रह के अंत में 13 संस्कारपरक लोकगीत (अवधी) चित्रों के साथ दिए गए हैं जो इस निबंध संग्रह की उपादेयता को द्विगुणित कर देते हैं, हाँ कुछ निबंधों के क्रम में व्यतिक्रम है। उदाहरण के लिए नवरात्रों के निबंधों को अलग-अलग स्थान पर रखा गया है।

भारतीय जन-मानस में उत्सव-मेलों के प्रति प्राचीन काल से ही आकर्षण रहा है। लोकनाट्य भी काफ़ी लोकप्रिय रहे हैं। उत्तर और मध्य भारत में रामलीला सुव्यवस्थित लोकनाट्य के रूप में प्रचलित रही है। आश्विन माह में दस दिन से महीने भर तक चलने वाली रामलीलाएँ होती हैं और बहुत जगहों पर एक या दो दिनों का जुलूस, चाहे वह राम बारात का हो या रावणवध का हो, निकलता है। हर क्षेत्र का दशहरा उत्सव अपनी-अपनी विशिष्टताओं के कारण अपार जन समूह को अनायास ही आमंत्रित कर लेता है। इलाहाबाद का दशहरा भी यहाँ के राम दलों के आकर्षक रोशनी और श्रृंगार की प्रतियोगिता के कारण इस क्षेत्र में प्रसिद्ध रहा है। हरिमोहन दास टंडन ने *इलाहाबाद का दशहरा उत्सव* कृति के माध्यम से इस उत्सव के इतिहास, रोमांच और तत्कालीन समाज के मनोविज्ञान को शोधपरक दृष्टि से प्रस्तुत किया है।

इलाहाबाद में तुलसीदास के प्रभाव से वाराणसी के बाद यहाँ के मंदिरों में रामलीलाओं का आरंभ माना जाता है। इसका लिखित प्रमाण 1824 में बिशप हैवर के यात्रा संस्मरण में मिलता है। यह उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश काल में रामलीलाएँ और इस अवसर पर निकाले जाने वाले जुलूस स्वाधीनता की चेतना को पल्लवित और पुष्पित करने में सराहनीय योगदान करते थे। लेखक ने रंगीन चित्रों के साथ इलाहाबाद दशहरा उत्सव के इतिहास को गंभीरता के साथ प्रस्तुत किया है।

प्रथम अध्याय में प्रारंभ से 1935 तक तथा द्वितीय अध्याय में 1936 से 1953 तक की कालावधि के उत्सव के इतिहास तथा तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय में 1954 से 1966 तथा चतुर्थ अध्याय में वर्तमान दशहरा उत्सव को लिया गया है। परिशिष्ट के अंतर्गत इलाहाबाद रामलीला कमेटी के माधो प्रसाद का 1879 का अंग्रेज़ी आलेख यथावत रखा गया है। इनके अतिरिक्त उ.प्र. राजकीय अभिलेखागार की रिपोर्ट तथा 7 अक्तूबर 1910 में *लीडर* पत्र में प्रकाशित रिपोर्ट को भी अंग्रेज़ी में प्रस्तुत किया गया है। परिशिष्ट दो और तीन में इलाहाबाद की रामलीलाओं के प्रबंधकर्ताओं का सचित्र कृतित्व दिया गया है।

यह कृति भले ही स्थानीय घटना का दस्तावेज़ माना जाय किंतु नगरीय लोक संस्कृति के इतिहास, परिस्थिति तथा तत्कालीन लोकमानस का सुस्पष्ट बिंब प्रस्तुत करने में समर्थ है।

चर्चित पुस्तकें :

मालवी कथाएँ : डॉ. एच.एस. गुगालिया; आदिवासी लोकक्था अकादमी, म. प्र. संस्कृति परिषद, बाणगंगा, भोपाल; 2003; 50 रुपए

गोंड जनजातीय गीत : रूपसिंह कुशराम; म.प्र. आदिवासी लोककला परिषद, मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, बाणगंगा, भोपाल 462002; 2003; 50 रुपए

लोकनाट्यों में संगीत : डॉ. ज्ञानवती वेद मेहता; डॉ. मेहता, 29क ज्योतिनगर, जयपुर 302005, 2003; 250 रुपए

साल भर पर्व : संपादक डॉ. विद्याबिंदु सिंह; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2003; 295 रुपए

इलाहाबाद का दशहरा उत्सव : हरिमोहन दास टंडन; साहित्य भवन प्रा.लि., जीरो रोड, इलाहाबाद; 2003; 140 रुपए

1955 में जन्मे हरिसिंह पाल की दो पुस्तकें *मशाल जलती रहे* (उपन्यास); *पुनरावृत्ति* (कविता-संग्रह) प्रकाशित हुई हैं।
संपर्क : 684/4डी इंद्रा पार्क, पालम मार्ग, नई दिल्ली 110045

नंद भारद्वाज

जनगीत की लोक-संवेदना और सौंदर्य

हिंदी में गीत-काव्य की अपनी एक समृद्ध परंपरा रही है। नई कविता के दौर के पहले के सभी हिंदी कवियों ने अपने समय के जीवन-यथार्थ और जीवन-अनुभवों को प्रायः गीतों के माध्यम से ही व्यक्त करने का सार्थक प्रयास किया और उस दौर के बहुत से गीत आज भी हिंदी कविता की अमूल्य धरोहर माने जाते हैं। स्वाधीनता आंदोलन के दौर में ऐसे बहुत से गीत जन-जागरण और लोक-अभिव्यक्ति का मुख्य आधार भी रहे। हिंदी की प्रगतिशील काव्य-परंपरा में तो गीतों की मुख्य भूमिका रही ही, नई कविता या छंदमुक्त कविता के दौर में भी गीत का महत्त्व कभी कम नहीं हुआ। नई कविता के समानांतर वर्षों तक नवगीत रचे जाते रहे और हिंदी की रंगीन पत्र-पत्रिकाओं में उन्हें पूरे उत्साह से छापा जाता रहा। इन्हीं नवगीतों के दौर में ऐसे जन-गीत भी रचे गए जो आगे चलकर मेहनतकश तबकों और आम जनता की लोक-अभिव्यक्ति का आधार बन गए।

इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में एक अजीब बात यह भी देखने में आई कि यही जनगीत जनता के जीवन-संघर्ष में अपनी रचनात्मक भागीदारी के चलते सत्ता-व्यवस्था और साहित्यकारों के एक ख़ास वर्ग में निरंतर आँख की किरकिरी बने रहे। वे लगातार इस बात का प्रयत्न करते रहे हैं कि कविता और साहित्य उन जैसे साहित्यवादियों के बीच का ही शगल बन कर रहे, उसे आम जनता के दुख-तकलीफ़ और संघर्ष से जोड़ना न उनके अपने अस्तित्व के लिए अच्छा है और न साहित्य के लिए। चूँकि सत्ता प्रतिष्ठानों और प्रकाशन के बड़े ठिकानों पर इन्हीं साहित्यवादियों का असर और क़ब्ज़ा रहा है, इसलिए लोक-संवेदनाओं और जन-संघर्षों से जुड़ी कविता के प्रकाशन और प्रचार-प्रसार के अवसर सीमित ही उपलब्ध रहे। यह स्थिति न केवल लोक से जुड़ी कविता और जन-गीत के साथ रही, बल्कि जन-साहित्य की सभी विधाओं के साथ कमोबेश यही स्थिति रही। जनवादी कविता और जन-गीत ऐसे दौर में मेहनतकश तबक़ों और आम पाठक-श्रोताओं के बीच एक अलग तरह का माहौल बनाते रहे हैं—वे ऐसे सामयिक मसलों और ज्वलंत सवालों को उठाते रहे हैं, जो लोगों की रोज़मर्रा की ज़िंदगी से गहरा ताल्लुक़ रखते हैं। ऐसे ही माहौल में जन-आकांक्षा के अनुरूप कविता में वह स्वर उभर कर सामने आता है, जो उस व्यवस्था को चुनौती देता-सा प्रतीत होता है :

बोकर अपनी उमर खेत में / हम क्यों ज़ुल्म सहें
रोटी देने वाले क्यों / ख़ुद को कमज़ोर कहें,
ऐसा कहने वाला होगा, कोई नया दलाल,
बहिना रोटी हुई सवाल।

अपने गीतों में ऐसे ही तल्ख़ सवाल उठाने वाली कवयित्री शांति सुमन समकालीन हिंदी कविता के इस उलझे हुए दौर में अपनी अलग पहचान लेकर सामने आती हैं। वे पिछले चार दशकों से काव्य-लेखन के क्षेत्र में सक्रिय हैं और अब तक उनके दस कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनके एक सद्य-प्रकाशित संग्रह *पंख पंख आसमान* उनकी सौ एक गीतों का ऐसा संचयन है, जिसमें उनकी काव्य-यात्रा का समग्र विकास संकलित हुआ है और इस प्रतिनिधि चयन का संपादन किया है हिंदी के वरिष्ठ कवि नचिकेता ने, जिन्होंने उनके अब तक प्रकाशित सभी गीत संग्रहों में से चुनिंदा गीतों का चयन कर एक अनूठा संकलन तैयार किया है।

संचयन के प्रारंभ में शांति सुमन की गीत-यात्रा पर अपना सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत करते हुए

उनके गीतों की अंतर्वस्तु, अनुभव-संसार और रचना कौशल की खूबियों को उजागर करते हुए वे लिखते हैं : ''शांति सुमन के गीतों में मैथिली संस्कृति और लोकभाषा की मिठास और माधुरी है तो कमला, बागमती और कोसी की वेगवती धारा और उत्ताल तरंगों की क्षिप्रता और आवेग भी है...उनके अनुभवों का पाट बहुत चौड़ा है और ज़मीन उर्वर। इसके अनेक रंग और ख़ुशबू हैं। इसमें रंग-बिरंगे पेड़-पौधे, लता-वनस्पतियाँ, फल-फूल, पशु-पक्षी, जीव-जंतु, फ़सलें, मनुष्यों की जीवन स्थितियों, जीवन संघर्ष और मुक्ति संघर्ष की अत्यंत ही रंगीन दुनिया है। शांति सुमन ने अपने गीतों में लोकभाषा के शब्दों, लोकोक्तियों, छंदों और धुनों को अंतर्दृष्टि के साथ कलात्मक ढंग से पिरोया है, जिससे उनके गीतों की कलात्मकता निखर गई है।''

नचिकेता ने अपने इस विवेचन में हिंदी के वरिष्ठ कवि कुमारेंद्र पारसनाथसिंह, आलोचक डॉ. मैनेजर पांडेय और डॉ. कमला प्रसाद के विवेचन के हवाले से यह रेखांकित किया है कि शांति सुमन अपनी अनूठी लोक-संवेदना और कलात्मक अभिव्यक्ति के कारण हिंदी कविता में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। यही नहीं शांति सुमन के इन गीतों के बारे में डॉ. रेवतीरमण का तो यहाँ तक मानना है कि उनके गीतों में जयदेव भी हैं, विद्यापति भी हैं और शुरुआती दौड़ के नागार्जुन भी।...उनके गीतों में मिथिला को गंभीर रचनात्मक प्रतिनिधित्व मिला है। मैथिल संस्कृति के वे सारे उपकरण जो नागार्जुन की कविता को अमरता देने वाले हैं, बड़े शालीन तरीक़ों से शांति सुमन के गीतों में सक्रिय हैं।

चार दशकों की इस काव्य-यात्रा में अकविता, नई कविता, नवगीत और जनवादी कविता के उथल-पुथल से भरे दौर में जन-गीतों के माध्यम से अपनी जगह बनाना कोई आसान काम नहीं था। यद्यपि हिंदी में नई कविता के समानांतर नवगीत और जनगीत लिखने की एक समृद्ध परंपरा रही है, जहाँ सुभद्रा कुमारी चौहान से लेकर भवानी प्रसाद मिश्र, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रमेश रंजक, हरीश भादानी, अश्वघोष आदि कवियों की एक लंबी शृंखला रही है, जिन्होंने नई कविता के समानांतर बेहतरीन जनवादी कविता और जन-गीत लिखे और उन्हें मेहनतकश तबक़ों में व्यापक लोकप्रियता भी हासिल हुई। शांति सुमन उसी काव्य-परंपरा की एक सशक्त कड़ी हैं, जिनके गीतों में नवगीतों के दौर की ऊब, घुटन, टूटन, आत्म-निर्वासन, तनाव और अमानवीय जीवन स्थितियों के दमघोंटू वातावरण से निजात पाने की न केवल तीव्र छटपटाहट व्यक्त हुई है, बल्कि अमानवीय शोषण, असमानता, अन्याय और अव्यवस्था के प्रति गहरा आक्रोश भी प्रकट हुआ है—

अब जब खुली ज़ुबान / सहेंगे नहीं दुखों को / हुई लड़ाई तेज़ चले / दस्ते लड़ने को / किसकी हुई मजाल, हमें रोके बढ़ना / हों ग़रीब ख़ुशहाल, यही अपना सपना। (गवाही मत देना, पृष्ठ 96)

शांति सुमन के गीतों में सम-सामयिक जीवन यथार्थ की सशक्त अभिव्यक्ति के साथ पारिवारिक संबंधों, मानवीय भावनाओं और प्रकृति के साथ मनुष्य के रिश्तों की अनूठी छवियाँ देखते ही बनती हैं। उनके प्रेमगीतों की खूबी यह है कि यहाँ प्रेमी या प्रेमिका के अंतरंग प्रणय निवेदन के स्थान पर जीवन-संघर्ष के बीच ही श्रमिक-दंपतियों के प्रणय-भाव और श्रम का सौंदर्य अपनी पूरी रागात्मकता के साथ प्रकट हुआ है :

1. *हाथ के गट्ठे कभी जो / चैन पाकर लगे दुखने / प्यार वे पाकर तुम्हारे / करीने से लगे कमने* (फूलवाली आँख, पृ. 42)

2. *अबके काट रहा जब मैं ख़ुद / अपने हाथों फ़सलें / परस तुम्हारे हाथों का भी / कहता मिलकर हँस लें* (रुकता नहीं प्यार, पृ. 48)

और यही प्यार जब सद्यः सुहागिन बेटी के प्रति माँ की आँखों में उमड़ता है तो उसकी अभिव्यक्ति और भी बेजोड़ हो उठती है—*तुम अम्मा के घर की देहरी, बाबूजी की शान / तू भाभी के जूड़े का पिन / भैया की मुस्कान*। दरअसल शांति सुमन के प्रेमगीतों में कहीं-कहीं रागात्मक बोध का रंग इतना गहरा और चटख है कि वह एकबारगी ज़िंदगी की सारी कड़वी सच्चाईयों को ओझल कर देता है। कुछ

ऐसे ही चटख रंग को दर्शाता हुआ उनका एक गीत है ''तुम्हारा नाम''—

केसर रंग रंगा मन मेरा / सुआ-पंखिया शाम है / बड़े प्यार से सात रंग में / लिखा तुम्हारा नाम है। (तुम्हारा नाम, पृ. 31)

अपनी गीत यात्रा के पहले दौर में शांति सुमन ने ऐसे अनेक गीत लिखे हैं, जिनमें स्त्री-पुरुष के अंतरंग रिश्ते और नारी-संघर्ष के विभिन्न पहलू खुलकर सामने आते हैं। कुछ ऐसे गीत इस संचयन में भी शामिल किए गए हैं और इन गीतों के माध्यम से न केवल स्त्री के प्रणय-भाव की झलक मिलती है बल्कि इन गीतों के माध्यम से नारी के जीवन संघर्ष और स्त्री-विमर्श के अन्य वृहत्तर सरोकारों की भी प्रभावशाली अभिव्यक्ति यहाँ देखने को मिलती है। यह उन्हीं के उदात्त सोच का प्रमाण है कि वे स्त्री को पूरी पृथ्वी माँ के सादृश्य में देखती है—

तू पूरी पृथ्वी हो माँ / सपनों में रोज़ सुलगती / ऊपर ऊपर ठोस मगर / भीतर से बहुत धध
(पूरी पृथ्वी माँ, पृ.

इन गीतों में माँ, दादी, काकी, नवकी भौजी, बहना जैसे आत्मीय संबोधनों के माध्यम से स्त्री पारिवारिक रिश्तों, उसके राग-रंग, सुख-दु मान-सम्मान, संघर्ष और जीवन में उसकी सका भूमिका को रेखांकित करने का जो अनायास उ यहाँ हुआ है, वह वाक़ई बेजोड़ है। इन जन-गी में घर-परिवार, अंचल और देश-दुनिया में अ अस्तित्व और अस्मिता के लिए संघर्ष करने वा आम लोगों की घरेलू ज़िंदगी के जो आत्मीय चि अंकित हुए हैं, उन्हीं से झाँकती लोक-संवेदना सौंदर्य इन गीतों को हिंदी के आम गीतों से अल विलक्षण और अद्वितीय बनाता है।

चर्चित गीत-संग्रह :

पंख पंख आसमान : शांति सुमन, अभिधा प्रकाशन, मुज़फ़्फ़रपुर (बिहार); 125 रुपए

वर्ष 2004 के साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित नंद भारद्वाज का जन्म 1948 में हुआ। राजस्थानी और हिंदी में कवित कहानियाँ, नाटक, उपन्यास, समीक्षा आदि की 9 पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : 70/179, मानसरोवर, जयपुर 302020

देवेंद्र कुमार देवेश

कविता हो ही जाती है

समय नहीं है
लेकिन कविता हो ही जाती है।
(बारिश के बाद, पृ. 69)

ये कविता-पंक्तियाँ हैं युवा कवि राधेश्याम तिवारी की, जिन्होंने कविता को साँसों की तरह जीवन की अनिवार्यता समझा है। यह समझ और दृष्टि संघर्षपूर्ण जीवन से ही पाई जा सकती है। राधेश्याम जी के प्रथम कविता-संग्रह *सागर प्रश्न* तथा उसके बाद सद्यःप्रकाशित उनके दूसरे कविता-संग्रह *बारिश के बाद* की कविताओं को पढ़ते हुए सहज ही यह अहसास होता है कि निश्चय ही इनका कवि धु देहात से गाँव, क़सबे, शहर और नगर के अनुभवों से गुज़रता हुआ महानगर की भागमभाग में निरंतर अपने अस्तित्व के लिए संघर्षशील है, क्योंकि उसे पता है—

हम अपनी पहचान
खोते जा रहे हैं
शायद आनेवाली सदी
मुझे पहचान न पाए। (पृ. 52)

किसी छोटी जगह से आनेवाला एक आम

आदमी अपने अस्तित्व और पहचान से जुड़ी विभिन्न जीवनचर्याओं से किसी महानगर में दो-चार होते हुए अपने को जिस स्थिति में पाता है, राधेश्याम जी ने उन स्थितियों को ही अपनी कविताओं में अभिव्यक्त करने के प्रयत्न किए हैं। ऐसा संभवतः इसलिए भी है कि उनका अनुभव संसार भी वही है। ''स्मृति'', ''पुराना पता'', ''महानगर में वसंत'', ''याद रही पगडंडी'' और ''मेरे शहर का बच्चा डॉक्टर'' शीर्षक कविताएँ राधेश्याम तिवारी की कुछ ऐसी ही कविताएँ हैं, जिनको पढ़ते हुए उनकी इन कविता-पंक्तियों का ख़याल आ जाता है—

तन फिरे शहर में
मन फिरे गाँव-गाँव। (पृ.72)

अतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि संग्रह की भूमिका में प्रतिष्ठित आलोचक डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने राधेश्याम तिवारी को मूलतः ग्रामीण चेतना का ऊर्जावान रचनाकार बताया है। उन्होंने संगृहीत कविताओं में स्मृतियों के विशेष महत्त्व को भी रेखांकित किया है। (पृ. 6) वास्तव में छूट गए, गाँव, क़सबे या शहर की स्मृतियाँ आदमी का निरंतर पीछा करती हैं और स्मृतिलोप की प्रक्रिया में भी वह बराबर अपनी मौलिक चेतना और संवेदना को बचाए रखने को प्रयत्नशील रहता है। विलोपन की गहराती प्रक्रिया में भी कवि कविता और संवेदना के बचे रह जाने के लिए पूरी तरह आश्वस्त है—

गँड़ासा उठा है / गर्दन पर गिरने के लिए / ... इस बीच मुझे / वह कविता भी कहनी है / जो मेरे गले में फँसी हुई है / अगर उसके निकलते-निकलते / गँड़ासा गिर ही गया / तो भी बचकर निकल आएगी कविता / और तब / गर्दन कटने के बावजूद / मैं बचा रह जाऊँगा। (पृ. 56)

खोते चले जाने के इस कठिन समय में राधेश्याम तिवारी ने कविता की गीति संवेदना को भी बचाए रखना चाहा है। उनके प्रथम कविता-संग्रह में तो गीतों का एक अलग खंड ही था, लेकिन समीक्ष्य कविता-संग्रह में छंदमुक्त कविताओं के क्रम में उनकी गीत कविताएँ भी पिरोई हुई हैं। हालाँकि उनके गीत पारंपरिक अनुशासन में पूरी तरह निबद्ध नहीं हैं, लेकिन इनमें वह चेतना और संवेदना मौजूद है, जो गीतों की याद दिलाते हैं। ऐसी रचनाओं में ''नई रोशनी'', ''दूर क्षितिज पर'', ''यह कैसी आई बरसात'', ''याद रही पगडंडी'', ''सौ दरवाज़े खोलेंगे'', ''जाते हुए साल'', ''मन का राग'', ''मन फिरे गाँव-गाँव'' और ''तारों की दुनिया'' शीर्षक कविताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

राधेश्याम तिवारी की कविताओं की जो सबसे बड़ी ख़ासियत है, उसकी ओर हिंदी कविता के प्रतिष्ठित हस्ताक्षर विष्णु नागर ने संग्रह के फ़्लैप पर सटीक ही इंगित किया है, ''यह कवि जीवन के प्रति हमेशा बहुत सकारात्मक है, कटु और कठोर नहीं। उसका लहजा शिकायत-भरा नहीं, ललक-भरा है।'' संग्रह में शामिल ''बुरे समय के लिए'' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखिए—*बुरे समय के लिए हमने / कुछ मित्र भी बचा रखे हैं / लेकिन ठीक-ठीक नहीं कह सकता / कि वे मित्र / बचे ही रहेंगे / और चीज़ों के साथ / बुरे समय के लिए।* (पृ. 11-12)

और इस बुरे समय की अनेक कठिनाइयों का मार्मिक संकेत पाठकों को राधेश्याम जी की कविताओं में नज़र आते हैं, चाहे वह ''महानगर में (बेचारे) बसंत'' का ज़िक्र हो या फिर ''वामियान में बुद्ध'' का, दाँत खानेवाले कीड़ों का प्रतीक हो या फिर घर के चूहों का, चित्रकार सुखदेव के निधन की घटना हो या फिर बच्चा डॉक्टर का गुज़र जाना। बावजूद इसके कवि की प्रत्याशा और आश्वस्ति जीवन का संबल बन जाती है—

फिर पनपेगा विश्वास
झुलसी हुई दूब की तरह। (पृ. 44)

यह अनायास नहीं है कि राधेश्याम तिवारी की कविताएँ हिंदी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर स्थान पाती रही हैं और पाठकों द्वारा सराही भी गई हैं। भले ही उनकी कविताएँ किसी प्रतिभा-प्रस्फुटन की भाँति चमत्कृत नहीं करतीं, लेकिन वे संवेदना और सृजन के दुःसाध्य समय में रोशनी की लक़ीर की तरह सहज ही अपनी उपस्थिति दर्ज करा जाती हैं और हमारा ध्यान खींचती हैं। मेरी कामना है कि

कवि का नैरंतर्य उसे सर्जनात्मक ऊँचाइयों तक पहुँचाए।

चर्चित कविता-संग्रह :

बारिश के बाद : राधेश्याम तिवारी; परमेश प्रकाशन, बी 109, प्रीत विहार, दिल्ली; 2004; 1 रुपए

कवि-आलोचक देवेंद्र कुमार देवेश का जन्म 1974 में हुआ। आलोचनात्मक अध्ययन की पुस्तक *चंद्रकिशोर जायसवाल की कहानियाँ* प्रकाशित है। रशियन सेंटर ऑफ़ कल्चर एंड साइंस तथा इंडो-रशियन लिटरेरी क्लब से सम्मानित। संपर्क : उ संपादक, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

पल्लव

जूझने का संकल्प : हिडिंब

हिडिंब एस.आर. हरनोट का पहला उपन्यास है जो हाल ही में आधार प्रकाशन से आया है। इससे पहले हरनोट की व्यापक प्रशंसा और प्रसिद्धि उनके कहानी-संग्रह *दारोश* के लिए हुई है। उनकी चिंताएँ और सरोकार वे ही हैं जो मूलतः उनकी कहानियों में देखे गए थे। पहाड़ का जीवन, पहाड़ की भौगोलिक विशेषताएँ और विषमताएँ, परंपराएँ तथा प्रकृति और मनुष्य के संबंध उनकी कहानियों की मुख्य चिंता रहे हैं, अब यही सारे प्रश्न इस नए उपन्यास में व्यापक सरोकार बने हैं।

उपन्यास की कथा किन्हीं असाधारण घटनाओं या विचित्रताओं से नहीं गूँथी गई है बल्कि एक सामान्य भारतीय किसान के जीवन की कहानी को ही उपन्यास लेकर बढ़ा है। दलित और पिछड़ी जाति के एक किसान शावणू, उसकी पत्नी सुरमा देई, उसकी बेटी सूमा और बच्चे कांसी की कथा में मंत्री-ठेकेदार-प्रधान-पटवारी और पहाड़ की परंपराएँ-रीति-रिवाज हैं। ज़मीन का एक भाग, जिसका मालिक शावणू है और इलाक़े का मंत्री उसे प्राप्त करना चाहता है। मंत्री इसके लिए धन-बल या कोई भी प्रपंच करने के लिए तैयार है लेकिन शावणू यह ज़मीन नहीं देता। उपन्यास जब समाप्त होता है इस ज़मीन के संघर्ष में शावणू लगभग पू परिवार को खो चुका है लेकिन वह हारा नहीं और ज़मीन मंत्री को नहीं मिलती। अंत में प्राकृतिक न्याय का दृश्य है जहाँ बाढ़ सब कुछ तबाह कर देती है। कुछ उतार-चढ़ाव, छोटी-बड़ी घटनाओं के साथ पाठक को विचलित कर देने वाले दृश्य उपन्यास में आए हैं। शावणू इन सबके बीच साहस का अजेय प्रतीक बनकर उभरता है। कभी वह गोदान के होरी की याद दिलाता है तो कभी हेमिंग्वे के अमर उपन्यास *ओल्ड मैन एंड द सी* के बूढ़े सैंटिएगो की। जूझते रहने और संघर्ष से न थकने का उसका माद्दा भारतीय किसान के उस जातीय गुण से उपजा है जो कभी हार नहीं मानने का संकल्प लिए है। हरनोट की ख़ूबी यह है कि वे ऐसे चरित्र को विकसित करने में यांत्रिक नहीं होते। इसीलिए शावणू किसी उपन्यास का पात्र न लगकर हमारा देखा-जाना ऐसा किसान लगा जो हार न मानने, लगातार जूझने का हौसला तो लिए है लेकिन उसके भीतर स्वाभाविक मानवीय भय भी मौजूद है। वह चाहे स्कूल में सताए जाने वाले छोटे बच्चे का पिता शावणू हो या अपनी ज़मीन छिन जाने की आशंका में घुट रहा शावणू हो। यही नहीं इस भय के और भी वास्तविक

चित्र हैं जो शावणू की पत्नी की मृत्यु, उसकी बेटी के नदी में बह जाने और एक लोक पर्व काहिका के संदर्भ में दृष्टिगोचर हुए हैं। हरनोट ने इन्हें जीवंत किया है ठेठ शावणू की बोली-बानी से, उसकी सामान्य आदतों और गाँव के लोक व्यवहार से। इस दृष्टि से उपन्यास की सफलता यह है कि शावणू केवल पहाड़ का किसान नहीं रह जाता वह रेगिस्तान में ढोर हाँकता या मछली पकड़ता मछुआरा भी हो सकता है। इस प्रसंग में जहाँ-तहाँ लोकगीत उपन्यास में आ गए हैं जो अपनी अधिकता से पाठक के कथा प्रवाह को बाधित ही करते हैं। शावणू की पत्नी सुरमा देई का चरित्र उपन्यास को एक दूसरा आयाम देता है जब उनका छोटा बच्चा मार दिया जाता है और वह विक्षिप्त हो जाती है। इससे पहले सुरमा देई की दिलेरी पाठक को आश्वस्त करती और सक्रिय बनाती है जब वह अपने घर में घुस आए ठेकेदार को मारकर बाहर भगा देती है। लेखक मिथकीय चरित्रों को भी उपन्यास में स्थापित करने का प्रयास करते हैं लेकिन उनकी प्रतीकात्मक उपस्थिति भी किसी ठोस निष्कर्ष की छूट नहीं देती। हमें याद रखना चाहिए कि उपन्यास एक आधुनिक विधा है और दूसरी बात यह है कि समस्याओं के बने-बनाए समाधान अब उपलब्ध नहीं हैं। उपन्यास का अंत इस दृष्टि से निराश करता है क्योंकि यदि यह एक मनुष्य के पराक्रम की गाथा है तो वहाँ प्रकृति का हस्तक्षेप न केवल आरोपित बल्कि कृत्रिम भी लगता है।

चर्चित उपन्यास :

हिडिंब : एस.आर. हरनोट; आधार प्रकाशन, पंचकूला; 2004; 250 रुपए

पल्लव के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : एम-16, हाउसिंग बोर्ड कुंभा नगर, चित्तौड़गढ़ 312001

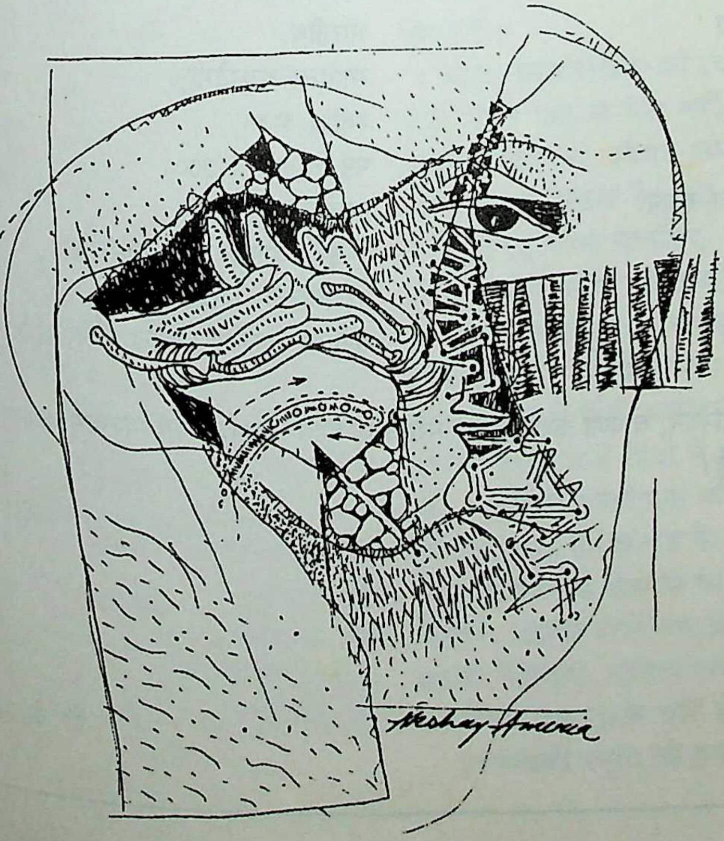

समाचार पंजीयन (केन्द्रीय) नियम 1956 के 8वें नियम से संबंधित प्रेस और पुस्तक अधिनियम की धारा 19-डी की धारा 'बी' के अंतर्गत **समकालीन भारतीय साहित्य** नामक पत्र के स्वामित्व व अन्य बातों का ब्योरा :

प्रपत्र चतुर्थ (देखें नियम 8)

1. प्रकाशन का स्थल : साहित्य अकादेमी,
रवीन्द्र भवन,
नई दिल्ली-110001
2. प्रकाशन की आवर्तिता : द्विमासिक
3. प्रकाशक व मुद्रक का नाम : प्रो.के. सच्चिदानंदन
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : सचिव, साहित्य अकादेमी,
रवीन्द्र भवन,
नई दिल्ली-110001
4. संपादक का नाम : अरुण प्रकाश
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : साहित्य अकादेमी,
रवीन्द्र भवन,
नई दिल्ली-110001
5. मुद्रण का स्थान : नवचेतन प्रिंटर्स,
1-ई/2 झण्डेवालान एक्सटेंशन,
नई दिल्ली-110055
6. स्वामित्व : साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली-110001

मैं, के. सच्चिदानंदन, घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपरोक्त विवरण सही है।

हस्ताक्षर
प्रो. के. सच्चिदानंदन

की मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं है या फिर निकट भविष्य में बिलकुल नहीं रहेगी। एक भारतीय भाषा से दूसरी भारतीय भाषा में सीधे अनुवाद में भाषिक मध्यस्थता के चलते होने वाले विकार तो समाप्त होंगे ही, भारतीय अभिव्यक्तियाँ सुगमता से दूसरी भारतीय भाषाओं में अनूदित हो सकेंगी। अनुवाद का स्तर बढ़ा भी है। अब भारतीय भाषाओं में अनुवाद बड़ी छलाँग लेने की स्थिति में हैं। सुप्रसिद्ध अनुवाद-सिद्धांत-कार पेग्गियोली के शब्दों में कह सकते हैं, “आधुनिक युग में कोई भी राष्ट्रीय साहित्य पुनर्नवीकरण और पुनरुज्जीवन की अपनी शक्ति अपने अनुवादकों की संख्या तथा उनकी गुणवत्ता के द्वारा ही प्रकट करता है।”

एक बहुभाषी राष्ट्र में अनुवाद की उपेक्षा की क़ीमत विखंडन से देनी पड़ती है। सौभाग्य से अनुवाद का महत्त्व राष्ट्र समझने लगा है।

लोंगिनुस का उदात्तता विषयक अध्ययन क्लासिक श्रेणी का माना जाता है। कई बार पुराने मुद्दों, बहसों के सहारे वर्तमान की चिंताओं की पुनर्यात्रा करते हैं तब धुंध में लिपटा वर्तमान प्रकाशित हो उठता है। जाने-माने आलोचक डॉ. जीवन सिंह का समीक्षात्मक आलेख प्रोफ़ेसर निर्मला जैन की किताब के बहाने “साहित्य में उदात्तता” को फिर से फोकस में लाने का उपक्रम है।

बहुधा प्रेम कहानियों में तीव्रता, अंत:क्रियाओं के सहारे अभिव्यक्ति पाती है लेकिन कहानी “बोहाग” मित्रा फुकन उसे विवरणों के सहारे अभिव्यक्त करती हैं। हबीब कैफ़ी की कहानी “कलसी” के केंद्र में भी प्रेम ही है पर वह नागर नहीं, आदिम है। “समर्पण” श्यामल बिहारी महतो की पहली कहानी है और वे सुदूर झारखंड में रहते हैं। धूसरपन और अँधेरा इस कहानी की रंग-आभाएँ हैं। इसी अंक में “रचनाभूमि” में झारखंड के संतालों की भाषा और जीवन से संबंधित एक आलेख हमारे लिए विशेष रूप से कथाकार कमल ने लिखा है। वे आजकल संताली भाषा के हृदयस्थल संताल परगना में ही पद-स्थापित हैं।

इस बार पंजाबी कविता खंड में अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित वरिष्ठ कवि और प्रतिष्ठित आलोचक सुतिंदर सिंह नूर की कविताएँ हैं तो तरसेम जैसे युवा भी हैं। कोंकणी के तीन कवि नूतन साखरदांडे, संजीव वेरेंकर और सुदेश लोटलीकर की एक साथ उपस्थिति से पश्चिम के नमकीन सागर-तटों की आर्द्रता को महसूस किया जा सकता है। इसी तरह बाङ्ला कविता के कुछ स्तंभ नीरेंद्रनाथ चक्रवर्ती, शंख घोष, अमिताभ दासगुप्त और कृष्णा बासु की कविताओं से आज की चिंताओं के तिर्यक से रूबरू हुआ जा सकता है।

“अनुवाद के अनुभव” फ़ीचर की तैयारी में हमें अकादेमी परिवार की शांता ग्रोवर और मृगनयनी शर्मा ने सहायता की, हम उनके आभारी हैं। इसी अंक में प्रकाशित मित्रा फुकन की अंग्रेज़ी कहानी “बोहाग” के अनूठेपन की ओर हमारा ध्यान सहयोगी पत्रिका *इंडियन लिटरेचर* के सहायक संपादक ए.जे. थॉमस ने खींचा, हम उनके भी कृतज्ञ हैं।

बहुधा कवि/लेखक की रचना का पाठ पाठकों द्वारा ग्रहित पाठ से मेल नहीं खाता। रचनाकार अपनी रचना को औसत समझे पर पाठक उसे विशिष्ट मान सकता है। पाठ के अंतर का महत्त्व है इसीलिए स्तंभ **पाठांतर**, पाठकों के पत्र का स्तंभ, अब नियमित आया करेगा।

हिंदी उपन्यास और नाटक की आलोचना के लिए प्रख्यात नेमिचंद्र जैन का निधन हो गया। नेमी जी को हाल में हिंदी अकादमी ने शलाका सम्मान प्रदान किया। उन्हें हिंदी में उपन्यास और नाटक की आधुनिक आलोचना की आधारशिला रखने का श्रेय जाता है। कन्नड के बी.सी. रामचंद्र शर्मा का योगदान कई क्षेत्रों में था। सी.डी. नरसिम्हैया भारतीय अंग्रेज़ी आलोचना के स्तंभ थे। विष्णुकांत शास्त्री जैसे गुणी, साहित्य अध्यापक और रचनाकार का निधन एक गंभीर क्षति है।

इन सबकी स्मृति को हमारा नमन!

अरुण प्रकाश

[illegible]

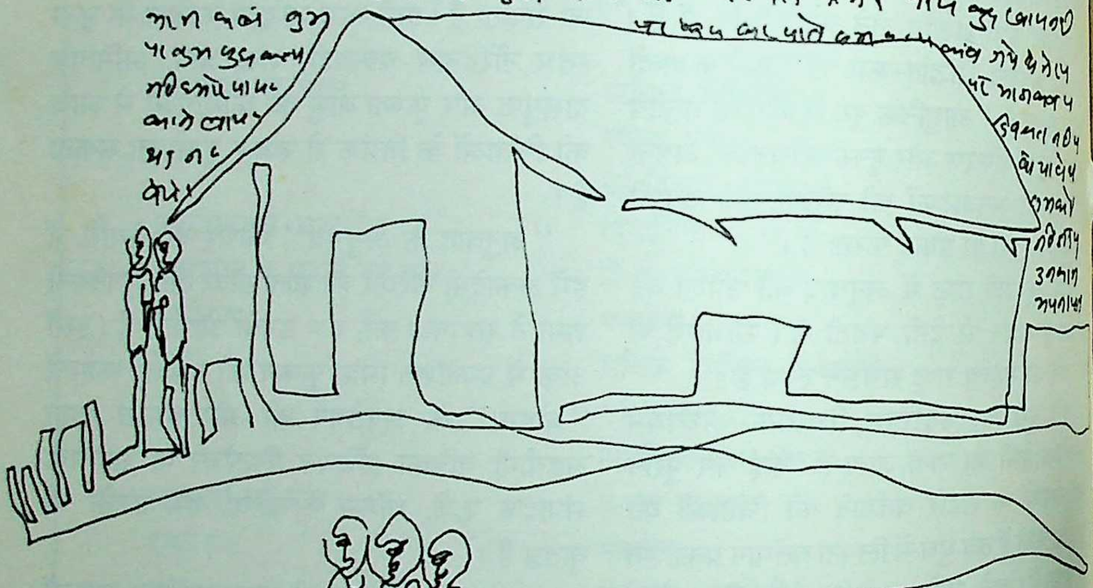

[illegible]

अनुवाद का अनुभव

इस बहुभाषी देश में अनुवाद कुछ बड़े सांस्कृतिक पुलों में से एक है। हमारी पत्रिका *समकालीन भारतीय साहित्य* का एक प्रमुख स्तंभ अनुवाद ही है।

दो दशक पहले तक अनुवाद अधिकांशत: साहित्य तक सीमित था। अंग्रेज़ी भारतीय भाषाओं के बीच अनुवाद में सुविधा-प्रदायक की भूमिका निभाती थी। अनुवाद के दूसरे दौर में यह भूमिका हिंदी निभाने लगी। सबसे नए दौर में भारतीय भाषाओं के बीच सीधे अनुवाद की प्रवृत्ति बढ़ रही है। अब तमिल का बजरिये हिंदी नहीं, सीधे बाङ्ला में अनुवाद संभव है।

सब जानते हैं कि अनुवाद का सैद्धांतिक पक्ष बहुत छोटा है। उधर हर पुस्तक का अनुवादक एक नई समस्या, नई चुनौती से रूबरू होता है। सैद्धांतिक पक्ष समस्या का निदान करने में इतना सहायक नहीं होता। वास्तव में अनुवाद एक व्यवहार-केंद्री कला है। इसीलिए अनुवाद के क्षेत्र में सिद्धांत से अधिक महत्त्व अनुभव का है।

हमने कुछ पुरस्कृत सिद्ध अनुवादकों के अनुभवों को एकत्र किया ताकि अनुवाद-सिद्धांत की सीमा विस्तृत हो सके और हमारे पाठक अनुवाद के महत्त्व को आत्मसात कर लें। अंग्रेज़ी में प्राप्त अनुभवों का हमारे लिए अनुवाद किया है—शांता ग्रोवर ने। प्रस्तुत हैं ऐसे ही अनुभव-अंश:

अपर्णा वेलणकर

अंग्रेज़ी से मराठी

हर दिन बदलते...कुछ नया रूप लेते...नई ऊँचाइयों को छूते और नई मुश्किलों से गुज़रते समकालीन जीवन को जानना मेरी जिज्ञासा का विषय रहा है। अगर हम ये सब महसूस कर सकते हैं, तभी एक व्यक्ति के नाते अपने आपको जानने-सँवारने की तर्कसंगत समझ विकसित होती है। मनुष्य जीवन के सूक्ष्म आयामों का यही अध्ययन एक ''व्यक्ति'' के रूप में हमारा ''मूल्य'' निर्धारित करता है। इसी राह में शायद कहीं न कहीं कुछ अलग बीज उगते हैं। और उस हरे सृजन से धीरे-धीरे लेखकीय नज़रिया आकार लेता है।

शब्दों के मोहजाल में से नहीं उभर पाना एक आम बात होती है, लेकिन शब्दों के सहारे भाषा के साथ केवल क्रीड़ा करने वाला व्यक्ति ''लेखक'' नहीं कहलाता। फिर भी प्रारंभिक दिनों में ''शब्दमोह'' से बचना मुश्किल बात होती है। मेरे साथ भी सृजन के शुरुआत में यही हुआ। मैं विश्वास करती हूँ कि केवल ''शब्दमहिमा'' किसी सृजन का एकमात्र आधार नहीं हो सकती। इसलिए उस प्रभाव से स्वयं को अलग कर, बचाते हुए मैंने निरंतर निरीक्षण-चिंतन और मनन की राह पर चलना चाहा। उसी ईमानदार कोशिशों ने मुझे इस पुरस्कार का हकदार बनाकर गौरवान्वित महसूस कराया है। दो अलग-अलग भावधाराओं, भाषाओं और संस्कृतियों के बीच सार्थक संवाद का पुल रचने वाले ''अनुवादक'' के रूप में आज मैं आपके सामने खड़ी हूँ।

आम सोच यही कहती है कि अनुवाद मात्र मूल कृति के शब्दों और वाक्यों को अन्य भाषा में जस का तस उतारने की कला है। एक साथ दो भाषाओं से क्रीड़ा करने वाले व्यक्ति के रूप में

''अनुवादक'' को देखा जाता है। लेकिन मेरा अनुभव कुछ अलग कहता है। कहता है कि अनुवाद केवल एक भाषा से दूसरी भाषा में ले जाने वाला ''भाषांतर'' नहीं होता। अनुवाद यानी मूल पुस्तक के शरीर को अन्य भाषा के कपड़ों से सजाना मात्र नहीं है। कर्ता-कर्म और क्रियापदों के निश्चित सहारे एक भाषा का बोझ दूसरी भाषा में ले जाना कुछ मुश्किल बात नहीं, लेकिन वो ''अनुवाद'' भी नहीं होता।

अनुवादक अगर मूल पुस्तक की आत्मा में गहराई से प्रवेश करने में सफल हो, वहाँ का सुख-दुख...दर्द और पीड़ा महसूस कर सके, तभी शायद मूल कृति की नब्ज़ उसकी पकड़ में आ सकती है...और ये कुछ आसान नहीं होता। समझने की, परखने की, तौलकर देखने की, महसूस करने की खूबियाँ विकसित करने पर ही, अपने भाषा पर प्रभुत्व रखते हुए नए सृजन के प्रतिष्ठित सोपान को छुआ जा सकता है।

मैंने आज तक चार कृतियों के अनुवाद किए हैं। प्रत्येक का रचना संसार भिन्न, लेखक का व्यक्तित्व अलग, उसकी बुनावट अलहिदा, लेकिन इस सभी अनुवादों में मुझे नए सृजन का असीम सुख नसीब हुआ। इस दौरान वेदना, दुविधा और गहरे तनाव से मैं गुज़रती गई; परंतु इस पूरी प्रक्रिया ने मुझे अपने आपको जानने, समझने, परखने का जो मौका दिया, उसके लिए मैं इस लेखन के प्रति सदैव कृतज्ञ रहूँगी। ऐसा एक दूसरा लेखक, जो अपना-सा लगे, उसकी कहानी अपनी भाषा में अपनी तरीक़े से लिखते-लिखते मैंने अपनी ख़ुद की लेखन शैली विकसित होते देखी है...एक ऐसा सार्थक अनुभव, जिसे बयान करना मुश्किल हो, इस अनुभव तक मैं कैसे पहुँच पाई? ढूँढ़ने जाऊँ, तो आत्मपरीक्षण करते-करते एक बात निश्चित रूप से झलकती है—केवल शब्दों के मोहजाल में पूरी तरह फँस चुके मेरे आविष्कार पर कुशल हाथों द्वारा की गई शस्त्रक्रिया! हर दिन, हर क्षण केवल किताबों में खोए रहने का पड़ाव कइयों की ज़िंदगी में आता है। मैंने भी उसे अनुभव किया। अपने चहेते लेखक-कवियों को पढ़ने का जुनून, शब्दों को बरतने की ललक और पढ़ते-पढ़ते स्वयं कुछ रचने का...लिखने का उत्साह मुझे उम्र के अठारहवें वर्ष में ही पत्रकारिता से जोड़ बैठा। यूँ तो मेरी पतंग किसी निरर्थक आकाश की खोज में अपना अस्तित्व गँवा बैठती, लेकिन मेरा सौभाग्य, मेरे गुरुजी ने ऐसे होने नहीं दिया। सही समय पर सही गुरु का मिल पाना हर किसी के नसीब नहीं होता। मुझे वो सौभाग्य मिला। बहुत कुछ लिखने और बहुत कुछ बोलते रहने के ऐसे बातूने, खोखले पड़ाव पर मैं खड़ी थी; कि गिर जाती तो कुछ हाथ नहीं लगता। ऐसे में वरिष्ठ पत्रकार संपादक दत्ता सर्राफ—जो आज हमारे बीच मौजूद हैं, उन्होंने कुछ इस तरह से मेरे कान उमेठे कि ज़िंदगी में पहली बार मैं ''सुनने'' लगी।

उन्होंने कहा, आप बच्चे हो, हरवक़्त कुछ लिखना-कहना ज़रूरी नहीं होता पहले देखिए... सुनिए... महसूस कीजिए... दूसरों को प्रभावित कर वाहवाही बटोरने से ज़्यादा ज़रूरी होता है, अपने आपको जानना-परखना...और अपना लक्ष्य पाने के लिए अविश्रांत परिश्रमों की कड़ी मेहनत के लिए तैयार रहना एक व्यक्ति के रूप में मैं पूरी तरह बदल गई। मुझे मेरा ''लक्ष्य'' दिखाई देने लगा। मैं अपनी राह तलाशने लगी। श्री सर्राफ ने एक दिन मुझसे कहा, ''कुछ मूल्यवान कमाई ऐसी करो, जो कहने लायक़ हो, हौसला रखो हिम्मत रखो कि एक दिन भाषा बिना कहे तुम्हारे पीछे-पीछे चल पड़ेगी।'' मैंने हौसला रखा। वाकई में मेरे गुरुजी का कहा आज पूरी तरह सच हो रहा है।

जब पुरस्कार के रूप में आज मेरे भाषा कौशल्य की तारीफ़ होती है, तब भाषा की अविवेकी मोह में फँस चुका वो शुरुआती दौर मेरे जहन में उभरने लगता है। सही समय पर सही नसीहत में

कान खिंचे, इसीलिए मैं बच गई...और कुछ अर्से बाद फिर भाषा से ...शब्दों से मिलना हुआ और हुई एक नए संपन्न रिश्ते की शुरुआत।

निमित्त? अनुवाद।

पहले ही मैं झुलस चुकी थी...सीख चुकी थी...समझ चुकी थी कि भाषा पर प्रभुत्व महज शब्दों का खेल नहीं जो भी लिखना-कहना है, उसकी नब्ज तक पहुँचना होगा। उसके लिए व्यक्तिगत, "समझ" तलाशनी... निखारनी पड़ेगी। रक्त जलाना होगा। नई जीवन शैली के नए खिंचाव, नए ताने-बाने परखने होंगे। ये सारा श्रेयस महज किताबों में नहीं मिलता। ख़ुद ढूँढ़ना पड़ता है, समझना और इकट्ठा करना होता है। शब्दों के मोह से मैं दूर जाती रही, स्वयं की राह पर चलती रही...मेरे साथ मेरी भाषा में भी गहरा बदलाव आया। उसमें मेरी ख़ुद की पहचान झलकने लगी।

इसी दौरं में शोभा डे के "सलेक्टिव मेमरी" नामक आत्मकथा ने मुझे ललकारा, इसका पूरा श्रेय मैं अपने नज़रिए को देना चाहूँगी, न कि अंग्रेज़ी और मराठी भाषा के अपने प्रभुत्व को!

शोभा की अंग्रेज़ी आत्मकथा पढ़ते-पढ़ते मेरी नज़र के सामने जो प्रतिमाएँ खिलती गईं, उमड़ती गईं, उनको मैं अपनी भाषा में, अपने तरीके से उतारती गई। यह अनुभव इतना रोमांचक था, जैसे शोभा की ज़िंदगी मैं ख़ुद जी रही थी। मुझे एक पल भी महसूस नहीं हुआ, कि मैं दो भाषाओं के बीच कुछ कर रही हूँ। कुछ अंग्रेज़ी लफ़्ज़ ज़रूर अपरिचित थे; मगर उनका कहना मुझे हर वक़्त सुनाई दिया। कहते हैं कि अनुवाद दो भाषाओं के बीच "सेतु" जैसा होता है। "श्रीराम" का नाम लिखी शिलाएँ अगर समुद्र में तैर सकती हैं, तो मूल कृति से 'दिल का रिश्ता' महसूस करने वाले अनुवादक के शब्द क्यूँ बिखरें?

बिना किसी दिक़्क़त के मेरा "सेतु" बनता गया।

यह अनुवादक के रूप में मेरा पहला अनुभव था। शोभा डे मूल रूप से मराठी भाषी हैं। उनसे पहली बार मिली। अनुवाद का कुछ हिस्सा पढ़कर सुनाया, तो वो खुशी से उछल पड़ी...उन्होंने कहा, "अपर्णा, दिस इज बेटर देन दि ओरिजनल।"

संसार के किसी भी अनुवादक को मूल लेखक से इस तरह की दाद शायद ही कभी मिली होगी। क्या इसका श्रेय सिर्फ़ मेरी भाषा का है?

मैं ऐसा नहीं मानती।

एक कहानी एक भाषा से दूसरी भाषा तक का सफ़र करती है तो प्रारंभ और गंतव्य के बीच कुछ होता है। असात प्रदेश नो मेन्स लैंड! हर एक अनुवादक को इस "नो मेन्स लैंड" में से गुज़रना होता है जो सही मात्रा में अनुवादक की परीक्षा होती है...लेकिन इतना रोमांच शायद कहीं और हो! मैंने जी-जान से इस रोमांच का अनुभव किया है, मूल साहित्य कृति की पार्श्व भूमि, उसके कथावस्तु का अवकाश, व्यक्तिगत रिश्तों के ताने-बाने और सांस्कृतिक परिवेश अगर आप जानते हैं, तो 'नो मेन्स लैंड' से गुज़रना कुछ सरल हो जाता है। भुलावा देते चक्रव्यूह से आप अपने रास्ते से निकलकर अनुवाद का सफर तय कर सकते हैं। "सिलेक्टिव मेमरी" की "अनुवाद यात्रा" मेरे लिए कुछ ऐसी ही थी। अनुभव मेरे अपने नहीं थे, फिर भी मानसिक तौर पर मेरा उनसे रिश्ता था। वो जैसे मेरे ही होते गए...उनका सुख-दुख मैं सहती गई...और देखते-देखते भाषाओं के मायने जैसे ख़त्म-से हो गए...मुझे लगता रहा, जैसे मैं अपने बारे में ही लिख रही हूँ, इसीलिए शायद शोभा डे की आत्मकथा मराठी पाठकों को और खुद शोभा जी को कहीं से भी अनुवादित नहीं लगी।

लेकिन "द गॉड ऑफ़ स्मॉल थिंग्ज" के नए सृजन के लिए मैंने जो वेदना सही है, उसे बयान करना भी मुश्किल है! हर एक क़दम पर मेरा दम घुटता रहा क्योंकि अरुंधती और मेरे अनुभव,

विश्व में कुछ रिश्ता स्थापित करने की सारी कोशिशें शुरू में नाकाम होती रहीं। एक व्यक्ति के नाते मेरे सीमित अवकाश का अनुभव सच कहूँ, तो इस कहानी ने पहले करवाया। ''द गॉड ऑफ़ स्माल थिंग्ज'' के गूढ़ गहन और अँधेरी गुफा में अनुवाद के लिए मैंने पहला क़दम रखा; तो जानती नहीं थी कि ये सफर कभी पूरा होगा भी या नहीं। मैंने जूझना शुरू किया, मेरी उभरती-बिखरती कोशिशें देखने वाले स्नेही चिंतित थे; कि लड़ती-जूझती ये लड़की अरुंधती रॉय की स्वयंप्रज्ञ भाषा का आह्वान झेल पाएगी भी या नहीं...

लेकिन मेरा झगड़ा ''भाषा'' से नहीं था। मैं ''आशय'' तक पहुँचना चाहती थी। गहरे रिश्तों के बेतहाशा ताने-बाने समझना चाहती थी। गहरे जंगल में भटकती जा रही थी...रास्ता ख़त्म होता था, तो नए सिरे से नई शुरुआत करती रहती थी। इस क़दर जद्दोजहद करनी पड़ी, कि कहना मुश्किल!

लेकिन जैसे ही मेरी उँगली उस किताब के गहरे मर्म पर पड़ी, मेरा सफ़र आसान होता गया, प्रचलित अंग्रेज़ी को तोड़-मोड़कर अरुंधती ने एक नई भाषा का निर्माण किया है। वही मराठी में करने मैं काफ़ी हद तक सफल रही।

मुझे लगता है, कि अनुवादक के रूप में आपकी ''समझ'' ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होती है, ना केवल भाषा! अगर मेरे गुरुजनों ने मुझमें यह ''समझ'' विकसित ना की होती, तो शायद यहाँ आकर आपसे मिलने का मौक़ा मेरे नसीब में नहीं होता। इस ''समझ'' के अलावा अनुवाद के लिए एक और चीज़ ज़रूरी होती है, जिनके लिए अनुवाद किया जाना है, उन पाठकों के भावविश्व के साथ गहरा रिश्ता! ये सारी ज़द्दोजहद जिनके लिए करनी है। उन पाठकों से ही अनुवादक ख़ुद अगर अनजान हो, तो उसके अनुवाद से रिश्ता जोड़ना पाठकों के लिए मुश्किल ही होगा। दूसरी भाषा की मूल कृति से पाठक तो अनजान होते ही हैं, ये अनजानापन दूर करना मैं अनुवादक की सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी मानती हूँ। अगर ये ज़िम्मेदारी निभा ली जाए तो अनुवादक मूल लेखक के कंधे-से-कंधा मिलाकर उतने ही रुतबे से खड़ा हो सकता है।

एक भाषा के लेखक का रिश्ता दूसरी भाषा के पाठकों से जोड़ने वाला अनुवादक प्रत्यक्ष आस्वादन की प्रक्रिया में कहाँ होता है? लेखक और पाठकों के बीच क्या वो होता भी है? मैं मानती हूँ, कि हाँ! वो होता है। नदी के इस तीर से उस तीर तक ले जाने वाले पुल तो हमेशा लाँघते रहते हैं, लेकिन क्या, गहरे पानी की छाती चीरकर उस पुल को अपने कंधों पर तौलने वाले खंबे आपने कभी देखे हैं? वो दिखते नहीं, लेकिन होते ज़रूर हैं। 'अनुवादक' का प्राक्तन भी वही होता है। वो होता है...लेकिन ''दिखता'' नहीं उसने ''दिखना'' भी नहीं चाहिए।

अनुवाद को पढ़ते समय पाठक के मन में क्षण मात्र नहीं आना चाहिए, कि वो किसी अनुवादित कृति का रसास्वादन कर रहा है। अगर ऐसा संभव हुआ, तो पाठक ''अनुवादक'' को ही मूल लेखक का रुतबा दे देते हैं...ऐसा सौभाग्य पाने वाला ''अनुवादक'' अगर भूल जाए, कि वो मूल कर्ता नहीं है, तो मेरे ख़याल से ये बहुत बड़ी भूल होगी।

शास्त्रीय संगीत के गहरे, अथांग सागर में स्वरों की खोज में निकले गायक बरसों रियाज़ करते रहते हैं। अपनी शैली, अपनी ताकद, अपनी पहचान खोजते रहते हैं। मैं मानती हूँ, कि किसी भी सृजनशील लेखक के लिए अनुवाद रियाज जैसा ही होता है। स्वर मिलते गए, लगाव होता गया, तो और गहरे पानी में उतरने की आकांक्षा जाग्रत होती है...अगर बड़े-बुज़ुर्गों की हौसला अफ़ज़ाई मिलती गई, तो अपने ख़ुद के स्वर खोजने की तमन्ना उभरती है...और ऐसा हर एक रियाज, हर क़दम स्वतंत्र, स्वयंपूर्ण ''महफ़िल'' के क़रीब ले जाता है।

एच. बालसुब्रह्मण्यम्

हिंदी से तमिल

बाबा कबीर ने सही कहा है :

अग्नि आँच सहना सुगम सुगम खड्ग की धार।
नेह निभावन एकरस, महा कठिन व्यौहार॥

कबीर न अनुवादक थे, न अनुवाद के संदर्भ में उन्होंने यह दोहा कहा। किंतु यदि कबीर साहब अनुवादक होते और अनुवादक सम्मेलन में उनसे पृच्छा की जाती तो वे यही दोहा अवश्य दोहराते—"महाकठिन व्यौहार! सुनो भाई साधो!" दोनों भाषाओं के बीच नेह निभाना खड्ग की धार पर चलने से भी कठिन है। हाँ, अर्थ और भाव में व्यतिचलन के बिना एक भाषा की संरचना का दूसरी भाषा-संरचना में अंतरण सहज कार्य नहीं है। मूल रचना की दृश्यमान पंक्तियों के बीच में छिपी अदृश्य भावना को आप जब तक पकड़ नहीं पाएँगे तब तक आपका अनुवाद मूल का-सा आनंद नहीं देगा। जैसे कि बर्मी अनुवादाचार्य टै टोः ने कहा है यह जल को अंजुरी में ले जाने जैसा दुस्साध्य कार्य है। सृजनात्मक साहित्य का अनुवाद ऐसा सरल नहीं है जैसे यूरोप के किसी अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे पर किसी प्रपत्र, सूचना या निर्देशों का अनुवाद कंप्यूटर के माध्यम से चुटकी बजाने की देर में सम्पन्न हो जाता है। भुक्त भोगियों को पता है कि शब्दों और अर्थों के साथ गुत्थमगुत्थी करते हुए अनुवादक के अंदर क्या कुछ गुज़रता है।

इस संदर्भ में मुझे प्रो. के. सच्चिदानंदन की पंक्तियाँ याद हो आती हैं। "काया अपनी शीश पराया"—कविता के शीर्षक पर भी ज़रा गौर कीजिए—"काया अपनी शीश पराया" में सच्चिदानंदन जी काव्यानुवाद को परकाया प्रवेश के रूप में वर्णित करते हैं। यहाँ काव्य का अर्थ मात्र कविता नहीं है, अन्य विधाएँ भी इसमें सम्मिलित हैं।

"काव्यानुवाद/विक्रम बेताल की/उस उलझन भरी कहानी की तरह है/जिसमें एक-दूसरे के सिर को बद्दल दिया जाता है/अनुवादक अपने कंधे पर थाम लेता है दूसरे कवि के सिर को।"

"इस राह के यात्रियों!/ज़रा अपने जूते बाहर उतार देना/अपनी पोशाकें भी बाहर छोड़ आना/यहाँ से होकर तुम्हें निर्वसन ही गुज़रना है/जैसे किसी घाटी से हवा गुज़रती है।"

मेरी समझ में अनुवाद-प्रक्रिया को इससे बेहतर ढंग से किसी ने आज तक नहीं समझाया है। इसका यह मतलब नहीं है कि अनुवादक कोई बेबस और लाचार जीव है जो मूल रचनाकार के सिर को अपने कंधे पर धरने को विवश है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुवाद तभी सफल बनता है जब आप मछली की भाँति मूल कवि के मानस में गोता लगाएँ, सीपी के रंगों का निरीक्षण करें और प्रत्येक शंख को बजा-बजाकर देखें। भावों का अनुवाद करते हुए आपको उन्हीं गलियों से गुज़रना होगा जिनसे होकर मूल रचयिता ने अपनी यात्रा पूरी की थी।

हमें इस सत्य को भी भूलना नहीं चाहिए कि अनुवाद एक शाश्वत सत्य है—यह मूल का अनुगामी नहीं, बल्कि मूल को अस्तित्व में लाने वाला तत्त्व है। सच्चिदानंदन जी के शब्दों में—"एक दिन मैंने सपना देखा/मैं ख़ुद अपनी कविता का/अपनी ही भाषा में/कर रहा हूँ अनुवाद।"

यह सपना नहीं है, सच्चाई है। कवि अपने मन में उठने वाले विचारों का ही अनुवाद अपनी भाषा में प्रस्तुत करता है। वाल्मीकि और कालिदास भी तो अनुवादक ही थे—भावों के अनुवादक। घटनाओं के घात-प्रतिघात में पात्रों के अंदर जो हलचल मचती है, उसी पीड़ा और वेदना का

अनुकथन काव्य है। बाबा नागार्जुन अपनी एक कविता में कालिदास से पूछते हैं :

कालिदास सच-सच बताना/इंदुमती के विरह पर/अज रोया या तुम रोए?

इंदुमती के पति अज से भी ज़्यादा रोना कालिदास की नियति रही। क्या करते? संवेदनशील जो ठहरे! पात्रों की पीड़ा और वेदना को काव्य में उजागर करने वाला साहित्यकार मौलिक होने का श्रेय पाता है। इसी प्रसंग का दूसरी भाषा में पुनःसृजन करते हुए अनुवादक को भी ज़ार-ज़ार रोना पड़ता है कभी-कभी वह मूल लेखक से भी ज़्यादा रो लेता है। फिर भी अनुवादक यहाँ दोयम दर्जे का साहित्यकार रह जाता है। वास्तव में उसकी स्थिति पराए बच्चे के धारण और पोषण के लिए अपनी कोख किराए पर देने वाली जाया के समान है। भारत में अनुवादक का संकट यही है।

हिंदी कथा-साहित्य में प्रेमचंद के बाद फणीश्वरनाथ रेणु से मैं विशेष प्रभावित रहा। दूसरे कथाकारों की तुलना में रेणु की विलक्षण हैं और उनकी भाषा भी पात्रों और प्रसंगों के अनुरूप नई-नई छटा दिखलाती है। भाषा की यह विलक्षणता मेरे सामने नई-नई चुनौतियाँ खड़ी करने लगीं। लेकिन इन चुनौतियों से जूझने में मुझे आनंद मिलता था। भाषा की इन रंगीनियों को पकड़ने के लिए मैथिली, बंगला और ठेठ हिंदी के जानकार विद्वानों की खोज में चप्पल घिसाने में और पुस्तकालयों की खाक छानने में मैंने कोई कसर नहीं उठा रखी।

यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं है कि रेणु का अनुवाद करते हुए मैं अनुवाद की कला की बहुत-सी गुत्थियों को समझता गया और उनसे जूझते-जूझते चक्रव्यूहों को काटकर बाहर निकलने की कला भी अपने आप आ गई। रेणु ने इन कहानियों के माध्यम से मुझे विश्व दर्शन कराया। अनुवाद पूरा करते हुए मुझे इस सत्य का बोध हुआ कि हिंदी और तमिल का मूल उत्स एक ही है, दोनों मिट्टी से जुड़ी हुई भाषाएँ हैं। दोनों के मुहावरे और आत्मा एक है। प्रकृति और प्रत्यय समान हैं, सोच और अभिव्यक्ति का ढंग भी एक है। कई जगह शब्दों का नाद सौंदर्य भी मिलता-जुलता है जैसे, दौड़ रहा है—ओडरान्। ''बिदक'' और ''पिदुक'' में कोई अंतर नहीं है।

सिद्धहस्त अनुवादकों का नुस्खा यही है कि कम-से-कम तीन बार संशोधन के बाद अनुवाद सही निकलता है। पहला प्रारूप स्रोत भाषा का पुट लिए होता है। थोड़े समय के अंतराल के बाद उसे मांजने पर उसमें से लक्ष्य भाषा का आभास होने लगता है और तीसरी बार नए सिरे से पुनर्लेखन करते हुए भाषा सहज स्वाभाविक रूप में निखर उठती है। तीसरा प्रारूप तैयार करने से पहले किसी जानकार विद्वान से संशोधन कराना भी आवश्यक है। सच है, तराशते-तराशते हीरे में चमक आ जाती है। अनुवाद का अपना आनंद होता है। इसे आत्मानंद कह सकते हैं। किसी रचना के साथ महीनों तक जूझते हुए भले ही आपको परिवार-जनों की झिड़कियाँ सुननी पड़ी हों, फिर भी आप इस कार्य में इसलिए डटे हुए हैं कि अनुवाद से प्राप्त होने वाला सृजनानंद अनमोल होता है।

देवेश

उर्दू से हिंदी

किसी भी बौद्धिक कृति के अनुवाद के लिए संबंधित विषय को ठीक-ठीकसमझना शर्त होती है। उस पर भी जब विषय ऐसा हो जिसके उपयुक्त ज़रूरी शब्दावली की पहचान आपकी भाषा में अभी नहीं हो पाई है तो अनुवादक के लिए चुनौती और कड़ी हो जाती है। इस किताब का

तर्जुमा शुरू करने पर मुझे इसका तीखा एहसास हुआ। उर्दू-हिंदी का ऐसा कोई शब्दकोश नहीं था जिससे इस काम में मदद मिलती क्योंकि इस तरह का विमर्श हमारे यहाँ नया था। लेकिन समकालीन साहित्य वाले आलेख के अनुवाद में की गई माथापच्ची काफ़ी काम आई। उस दौरान मैंने थ्योरी की बुनियादी बातों को समझने में बड़ी मेहनत की थी।

कहने की ज़रूरत नहीं कि साख़्तियात, पस-साख़्तियात और मशरिक़ी शेरियात का हिंदी में तर्जुमा करना मेरे लिए एक ग़ज़ब का अनुभव था। इल्म के लिहाज़ से इस पूरी प्रक्रिया के दौरान मैंने ख़ुद को लगातार समृद्धतर होता पाया। मसलन, नज़रियों, संस्कृतियों और साहित्य को देखने के नए तौर-तरीक़ों से परिचय हुआ, इंसानी चिंतन के बज़ाहिर वैविध्य में एक तारतम्य का सुराग़ मिला, और आम इंसानियत के पसमंज़र में मानवीय तहज़ीबों की रंगारंगी के महत्त्व को किसी हद तक समझने और उनसे लुत्फ़ उठाने की सलाहियत पैदा हुई। ग़रज़, एक क़िस्म की तंगनज़री से निजात मिली।

उर्दू-हिंदी के साहित्यिक हलक़ों में इस किताब के मुसन्निफ़ को यों तो उत्तर-आधुनिकता का अलमबरदार माना जाता है। लेकिन उनको पढ़ने, उनके कुछ आलेखों और फिर इस किताब का तर्जुमा करने के दौरान मैंने अकसर महसूस किया है कि उनकी फ़िक्र किसी एक नज़रिए या विचारधारा पर कुंडली मारकर बैठ जाने के रुझान से टकराती रहती है। और सच कहूँ तो लेखक के चिंतन की यही खूबी साख़्तियात, पस-साख़्तियात और मशरिक़ी शेरियात के अनुवाद के काम को ज़ोर-शोर से जारी रखने के लिए मेरा हौसला बढ़ाती रही। तर्जुमा शुरू करने से पहले मैं हर अध्याय को ठीक तरह से समझने की कोशिश करते हुए बड़े गौर से पढ़ता था। और ऐसी हर रीडिंग से इस खुशगवार एहसास के साथ बाहर आता था कि कृतिकार ने क़िसी भी संभावित सवाल पर आँखें बंद नहीं की हैं। जिन सवालों के चर्चा में फ़िलहाल आने का बज़ाहिर कोई इमकान नहीं उनके लिए भी बहस में गुंजाइश मौजूद है। मतलब यह कि सिर्फ़ अपने आग्रहों की पुष्टि के मक़सद से इस किताब को पढ़ने वाले को शायद थोड़ी मायूसी हो।

नील पद्मनाभन

मलयालम से तमिल

तमिल और मलयालम दोनों ही द्रविड़ गोत्र के हैं, मलयालम को संस्कृत से कोई विद्वेष नहीं है बल्कि इनमें सादृश्य वैसा ही है जैसे अंग्रेज़ी का ग्रीक और हिब्रू से है। न केवल विद्वान, बल्कि मलयालम के बहुत-से सृजनशील लेखक संस्कृत शब्दों के प्रति विशेष लगाव रखते हैं, जहाँ तक कि वे शुद्ध मलयालम शब्दों को त्याग कर संस्कृत शब्द का प्रयोग करेंगे। हाँ, कुछ अपवाद भी हैं जैसे एम. गोविंदन, तमिल वाले इसके बिलकुल विपरीत हैं, उनमें कंबन (नौवीं शताब्दी, दूसरे मतानुसार बारहवीं शताब्दी) के समय से ऐसा ही है जिन्होंने वाल्मीकि रामायण को तमिल (*कंब रामायणम्*—885 ईसा पश्चात्) पुनःसर्जित किया था। उन्होंने तो कई संस्कृत वर्णों शा, स, ह, श्री इत्यादि का प्रयोग न करने के कारण तमिल में लक्ष्मण का नाम ही बदल डाला ''इलक्कुवण'', ''विभीषण'' के स्थान पर ''विपीदन'', ''सुपर्णबन'' की जगह ''उवणन'', ''अकल्या'' की जगह ''अकलिके'' या ''एलिके''। कुछ नामों का उन्होंने

शुद्ध तमिल में अनुवाद ही कर डाला जैसे—''स्वर्ण वर्ण'' का ''चुवन वन्न'' और ''कन मेणि'', ''यक्गण विरुद्धन'' बन गए ''वेल्वी पकैन्जन''।

इसलिए जब कोई मलयालम की सृजनात्मक कृति विशेषकर कविता का, जोकि संस्कृत शब्दों और मुहावरों से अलंकृत होती है, तमिल में अनुवाद करता है उसे उस शब्द को हटाकर एकदम शुद्ध समानांतर तमिल शब्द लाना पड़ता है जिससे उस पद्य की काव्यात्मक सुंदरता प्रभावित होती है।

इस पुस्तक के अनुवाद में मैंने पुराने तमिल शब्दों का प्रयोग किया है जो पहले भी प्रयुक्त होते थे और आज भी। कोई भी विशेष भारतीय भाषा यह दावा नहीं कर सकती कि संस्कृत केवल उन्हीं की धरोहर है। सभी भारतीय भाषाओं का संस्कृत पर बराबर हक़ है। मेरा हर संभव प्रयास रहा है कि अनुवाद करते समय संस्कृत शब्दों के समानांतर शुद्ध या मानक तमिल शब्दों का प्रयोग करूँ ताकि स्रोत भाषा की पहचान और माधुर्य लक्ष्य भाषा में भी कुछ हद तक बना रहे। कहीं-कहीं मैंने संस्कृत शब्दों का प्रयोग अपने अनुवाद में रहने भी दिया है। मूल कवि की सहायता से मुझे इस कृति का अनुवाद करने में दो साल लगे।

समग्रतः मैं इतना कहना चाहूँगा कि एक उच्च कोटि की कृति का अनुवाद भी उतना ही गंभीर और महत्त्वपूर्ण कार्य है जितना कि मूल लेखन। एक दृष्टि से यह उससे भी मुश्किल है। मूल लेखन में हमारे पास अपनी स्वतंत्रता और सृजन सुख होता है जबकि अनुवाद में ऐसा नहीं है। यह ज़रूर है कि अनुवाद करते समय हमें अलग तरह का आनंद मिलता है...हम दूसरे लेखक के अंतर्जगत को अपनी भाषा में लाते हैं, लेकिन हमें बहुत सावधानी से और लेखक के प्रति पूरी निष्ठा से काम करना होता है। आम तौर पर होता यह है कि सारा यश तो मूल लेखक को जाता है और अपयश अनुवादक को।

बेतवोलु रामब्रह्मम्

संस्कृत से तेलुगु

प्राचीनकाल के विपरीत आजकल मूलनिष्ठ अनुवाद की ज़रूरत महसूस की जा रही है। उत्तर-आधुनिकतावाद के थोड़े-बहुत फ़ायदों में से यह एक महत्त्वपूर्ण फ़ायदा है। लोगों का कट्टर रवैया, ''पारंपरिक साहित्य विकास के ख़िलाफ़ है इसलिए उसको कहीं दबा देना चाहिए'', अब उत्तर-आधुनिकों की वजह से नरम पड़ा है। यह महसूस किया जाने लगा कि पारंपरिक साहित्य अपनी साहित्यिक जड़ों की खोज हेतु ज़रूर पढ़ा जाना चाहिए। आज की पीढ़ी मानक और मूलनिष्ठ अनुवाद की तथा ऐसे संस्कृत विद्वानों की प्रतीक्षा में है जो प्रभावी ढंग से संस्कृत से क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद कर सकें।

इस पर अनुवाद के सिद्धांत को भी अब मान्यता मिल चुकी है। अनुवाद के नियमों, विधियों, तकनीक का फैलाव और विकास हुआ है। कई विश्वविद्यालयों में अनुवाद के अलग विभाग हैं। हालाँकि यहाँ पर ज़्यादातर पाठों पर और इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि अंग्रेज़ी का क्षेत्रीय भाषाओं में कैसे अनुवाद हो। सहृदय युवा छात्र और शोधकर्त्ता अनुवाद विधि और नियमों को सीखकर उनका उपयोग कर रहे हैं।

विश्वविद्यालयों के साहित्य और भाषा-विज्ञान के अध्यापकों का कोटिशः धन्यवाद जिनको

आधी सदी से की जा रही मेहनत से संस्कृत साहित्य की विभिन्न शाखाओं के मानक संस्करण और अच्छे शोध वाले प्रकाशन अब हमारे पास उपलब्ध हैं। अनुवाद के आधुनिक तरीक़ों को पढ़ने के प्रभाव से मूलनिष्ठ और स्तरीय अनूदित कृतियाँ अब क्षेत्रीय भाषाओं में आई हैं।

नौवीं-दसवीं शताब्दी में साहित्य, विज्ञान और संस्कृत-महाकाव्य क्षेत्रीय भाषाओं में अनूदित हुए थे। वे पहली पीढ़ी के अनुवाद थे। लेकिन उनमें से एक भी मूलनिष्ठ नहीं था। वे स्वच्छंद अनुवाद थे और उन्हें मूल की तरह ही पढ़ा गया। भक्तिभाव से यह कार्य ज़्यादा हुआ। लेकिन इन पहली पीढ़ी के अनुवादकों ने बहुत नुक़सान पहुँचाया। अनुवाद में भौगोलिक साहित्यिक, शारीरिक और आंतरिक क्षेत्र में विस्तारपूर्ण तथ्यों का बड़ी बेरहमी से परित्याग कर दिया गया। यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि उन्होंने उन्हें महत्त्वपूर्ण नहीं समझा। इस वजह से आधुनिक पाठक प्राचीन भारतीय समाज के साथ तादात्म्य नहीं बिठा सका। इसका उपाय यह ढूँढ़ा गया कि सीधे-सादे ठेठ प्रांतीय शब्दों का प्रयोग करते हुए मूलनिष्ठ अनुवाद किए जाएँ। जो भी उद्देश्य रहा हो, कुछ हद तक इस तरह के प्रयास कुछ क्षेत्रीय भाषाओं में रिनेसाँ युग (कला कौशल तथा विद्या की जागृति-काल) में हुए। छंदबद्ध पदानुपद और गद्यात्मक अनुवाद क्षेत्रीय भाषाओं में सामने आए। लेकिन गद्य का अनुवाद एकदम किताबी था। चौथी और पाँचवीं पीढ़ी के पाठकों को गद्य आकर्षित नहीं कर पाया। ये सुबोध भी नहीं थे और इनकी अपनी सीमाएँ थीं।

ऐसी कोई संस्था नहीं है जो मूलनिष्ठ अनुवाद के स्तर को प्रमाणित कर सके। केवल मेरे जैसे लोग व्यक्तिगत स्तर पर कर सकते हैं। ऐसा मंच बनाना चाहिए। संस्कृत के विद्वान जिनके पास लिखने की योग्यता है और साथ ही क्षेत्रीय भाषा की जानकारी है उनकी हर क्षेत्रीय भाषा में एक परिषद बनाई जानी चाहिए। उन्हें ईमानदारी से मानक तय करने होंगे। अनुवादकों की पहचान बननी चाहिए। ऐसे अनुवाद प्रकाशित होकर कम दामों पर बिकने चाहिए। केवल एक ही संस्था ऐसा काम कर सकती है जो मुझे प्रकाश-स्तंभ-सी नज़र आ रही हैं, वह है साहित्य अकादेमी।

सौदामिनी नंदा

हिंदी से ओड़िया

विभिन्न भाषाओं की साहित्यिक कृतियों के साथ मेरा रिश्ता लेखक से ज़्यादा एक भावप्रवण पाठक का है। पढ़ने का शौक़ रखनेवाला लेखक और अनुवादक दोनों का ऋणी होता है। अनूदित कृतियों को पढ़ने से व्यक्ति साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश पा जाता है। कोई भी व्यक्ति ज्ञानवर्धन या आनंद हेतु उस भाषा में भी किताब पढ़ सकता है जिसे वह जानता नहीं है और यह संभव अनुवाद के द्वारा ही होता है। भाषाएँ अलग-अलग होने के बावजूद साहित्य में कथ्य, जीवन घटनाएँ तो एक जैसी होती हैं। एक लेखक केवल अपनी भाषा, अपने समाज तक ही सीमित होता है, अनुवादक दूसरी भाषाओं और उनके समाज के लिए दरवाज़े खोल देता है।

सुंदर तरीक़े से लिखे गए, सुंदर तरीक़े से पेश किए गए और बहुचर्चित नाटक *अंधायुग* में भारती जी ने (जैसा कि उन्होंने, ख़ुद स्वीकारा) व्यक्ति के अवचेतन की अँधेरी गुफ़ा की जोख़िम भरी यात्रा बड़ी समझदारी से की। अँधेरे में टटोलते हुए उन्हें वहाँ दिव्य ज्योति का स्रोत भगवान के रूपावतार में एक आशा की किरण-सा टिमटिमाता मिला, जिस अवतार ने दैविक प्यार में सभी

दुखों, तकलीफ़ों, ज़हर, अंधी नफ़रत और क्रोध को निगल लिया जहाँ तक कि मृत्यु के समय इस ख़ूनी धरती पर अनुकंपा की। भारती जी की कनुप्रिया ने हमेशा मुस्कुराते रहने वाले दिव्य कृष्ण को दिव्य कृपा की प्रतिमूर्ति, गुरु पथप्रदर्शक, आत्मा का रक्षक, विकसित हो रही इत्यादि के नए रूप में तलाश किया।

सारे प्रश्नों को उनकी ओर इंगित किया गया क्योंकि वह ही एकमात्र उत्तर है और वह "ब्लैक होल" हमारे नक्षत्रों की नियति नहीं है, वह रोशनी और हमारी ज़िंदगी को निगल नहीं सक भारती जी के उपदेशात्मक शब्दों में...

"जब कोई भी मनुष्य (महाकाल से सर उठा कर) नियति को चुनौती देता है तो नक्षत्रों की दि बदल जाती है।"

सृजनशील क़ला का एक अंग होने के नाते अनुवाद को केवल पुनःपरिभाषित ही नहीं हो चाहिए बल्कि उसमें पुनःसर्जित होने का गुण होना चाहिए। उसे मूल के सार समझकर भावसौंदर्य को आत्मसात कर अपने शब्दों में व्यक्त करना और भूत को वर्तमान में बदलना होता है। मे मतानुसार अनुवाद, मूल लेखन से किसी भी तरह कम नहीं होता। इसे शब्दानुवाद तक ही सीमित नहीं करना चाहिए। अनुवाद को मूल भावों, शब्दों, मुहावरों और घटनाओं के निहितार्थ को समझ चाहिए क्योंकि शब्दों में छिपे अर्थ हमेशा स्पष्ट नहीं होते, ज़्यादातर अस्पष्ट ही होते हैं।

इस तरह अनुवाद में दो दिमाग़ समाहित होते हैं। मूल लेखक हमेशा वहाँ रहता है, परदे के पीछे अनुवादक को लेखक के अंतर्मन, उसके विचार को, उसके चीज़ों को देखने के नज़रिया का अंदाज़ा लगाना पड़ता है और उस दृष्टि को पाठकों के सामने लाना होता है जो लेखक की हों है। सच्चे अनुवाद कार्य में दो साहित्यिक दिमाग़ और व्यक्तित्व एक बनकर जुटे होते हैं।

वस्तुतः अनुवाद का कोई कार्य मूल की ख़ुशबू को लिए हुए अनुवादक के निजी स्पर्श को भ उसी तरह दर्शाता है जिस तरह सूर्य की किरणें प्रिज़्म पर पड़ने से कई रंगों की दिखाई पड़ती हैं।

संक्षेप में अच्छा अनुवाद कार्य वही है जो मूल कार्य लगे। दूसरी भाषा में अनूदित होते समय मूल कार्य की सुंदरता और प्रवाह बना रहना चाहिए।

इक़बाल दीप

उर्दू से पंजाबी

अनुवादक का काम एक दुभाषिए-सा होता है या मुझे यूँ कहना चाहिए कि एक अनुवादक मूल लेखक और पाठक के बीच पुल होता है। कभी-कभी धार्मिक रीति-रिवाज और सामाजिक-सांस्कृतिक अनुष्ठान विभिन्न समुदायों में बिलकुल अलग होते हैं और कभी-कभी संपृक्तार्थ दूसरी भाषा में अनूदित होने मुश्किल हो जाते हैं। उस समय अनुवाद का अनुबंध मुश्किल और उलझन भरा लगने लगता है।

हर भाषा का अपना सौंदर्य, लालित्य और विशेष शब्द होते हैं जिनका समरूप भाव, शब्द, मुहावरा या कभी धार्मिक मिथकीय संदर्भ मिलना अनुवादक के लिए मुश्किल होता है। यहाँ मैं एक उदाहरण देना चाहूँगा...एक बार तीन दशक पहले, सुप्रसिद्ध लेखक खुशवंत सिंह एक पंजाबी

कविता शायद ''सात सपने'' का अंग्रेज़ी अनुवाद कर रहे थे, उन्हें कविता में प्रयुक्त एक ठेठ पंजाबी शब्द ''व्हीला'' (प्रसव पीड़ा) का अनुवाद करते समय परेशानी आई क्योंकि पंजाबी से पंजाबी वाले शब्दकोशों में भी यह शब्द नहीं था तो उन्होंने एक साहित्यिक बैठक में उस कविता के मूल कवि और अन्य लोगों से इस शब्द का अर्थ समझा। इस तरह कई बार कुछ शब्दों के लिए दूसरों की मदद लेनी पड़ती है।

अनुवाद करते समय मैं अधिकतर यह सोचता हूँ कि मैं ही लेखक हूँ और इस तरह उससे सुख महसूस करता हूँ।

दामोदरन काळियत

मराठी से मलयालम

मेरी पुस्तक *सिंहासन* जिसे साहित्य अकादेमी का अनुवाद पुरस्कार प्राप्त हुआ है, इसे मैंने सीधे मराठी भाषा से मलयालम में अनूदित किया है। अनुवाद करते समय मुझे अर्थगत, भाषागत, तकनीकी, सांस्कृतिक...कई मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। हालाँकि अनुवाद कोई मूल या सृजनात्मक कार्य नहीं है फिर भी इस क्षेत्र में अपने अनुभव से मैंने पाया कि एक अनुवादक के पास सृजन की मूल लेखक जितनी क्षमता भले ही न हो लेकिन उसमें कुछ सृजन के गुण तो होने ही चाहिए। उपयुक्त शब्द और मुहावरों का सही चुनाव, लक्ष्य भाषा में सामान्यतया प्रयुक्त होने वाले भाव जिन्हें कि ज़्यादा लोगों तक संप्रेषित होना है और उपयुक्त समरूप विशेषण, शीर्षक ढूँढ़ना निश्चित ही यह सब अनुवादक के लिए एक चुनौती भरा काम है। इस नज़रिए से देखने से लगता है कि अनुवाद को झेलने के साथ-साथ सृजनात्मक लेखन की कसक और रोमांच का आनंद भी लेता है। लक्ष्य भाषा में शब्द का सटीक अर्थ ढूँढ़ना लगभग एक सृजनात्मक जाँच-पड़ताल है इसलिए अनुवाद अधिकतर पुनःसर्जना में तब्दील हो जाता है और अनुवादक वही सृजनात्मक पीड़ा को महसूस करता है जो मूल लेखक ने भोगी थी। हालाँकि मैं यह मानता हूँ कि कुछ चीज़ें, कुछ सांस्कृतिक और भाषागत शब्द ऐसे होते हैं जिनका अनुवाद करना लगभग मुश्किल होता है। कॉनस्टेंस गारनेट नामक एक महान अनुवादक, जिन्होंने लियो तोलस्तोय, दोस्तोएवस्की और एंतोन चेखव जैसे महान लेखकों की रचनाएँ अनूदित की हैं, ने सही कहा है, ''साहित्यिक श्रमसाध्य कार्यों में अनुवाद सबसे मुश्किल और शायद सबसे सृजनात्मक श्रम है।''

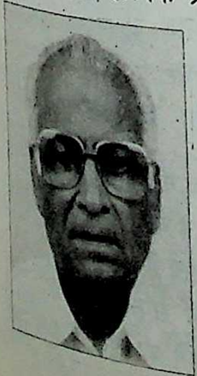

कृष्ण राही

हिंदी से सिंधी

अनुवाद कार्य एक तरह से मेरे लिए कुछ सीखने वाला अनुभव रहा। इससे मेरा ज्ञानवर्धन हुआ और साथ ही लेखकीय साहित्यिक क्षमता भी बढ़ी। *तमस* का अनुवाद करते समय मेरे ज्ञान में दो तरह से वृद्धि

हुई—एक तो शिक्षाप्रद और दूसरे सूचनात्मक दृष्टि से और साथ-साथ ही पढ़ने का जो आनं उठाया, वह अलग। *तमस* हिंदू-मुस्लिम सौहार्द और सांप्रदायिक शांति के कुछ कारणों से सांप्रदायिक नफ़रत और हिंसक दंगों में तब्दील होने की कहानी है। ये घटनाएँ और दृश्य अक्सर मेरी मातृभूमि सिंध में घटित होते थे। उस उम्र में मैं केवल उन्हें घटित होता देख या सुन सकता था। *तमस* को पढ़ते और अनूदित करते समय मैं महसूस कर सका कि किस तरह से गंदी राजनीति, धार्मिक अफ़वाहें और सांप्रदायिक दाँव-पेंच इन घटनाओं को जन्म देते हैं। ख़ुद को दूर रखकर कैसे नेता अपने चेलों को धर्म के नाम पर ये सब अपराध करने के लिए उकसाते हैं। इस सब में सबसे ज़्यादा पिसने वाली आम जनता होती है जिसके पास लुटने-पिटने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं होता। इस तरह *तमस* उपन्यास तो ख़त्म हो जाता है लेकिन ज़िंदगी में घिरा अँधेरा विद्यमान रहता है। उजड़ा आम आदमी फिर से बसने के लिए बचा रहता है जो अँधेरे में प्रकाश टटोलने में जुट जाता है।

वीणा शांतेश्वर

हिंदी से कन्नड़

जब मैं अभी स्कूल में ही थी तभी मुझे साहित्यिक कृतियों के अनुवाद का चस्का लग गया था। मेरी माँ महाराष्ट्र की थी और मेरे पिता कर्नाटक के और दोनों ही साहित्य-प्रेमी थे। छुटपन से ही मुझे कन्नड़, मराठी, हिंदी और अंग्रेज़ी साहित्य से लगाव हो गया था। अकसर मैं मराठी और हिंदी से कन्नड़ में अनुवाद करती थी। *नदी के द्वीप* उपन्यास मैंने 37 साल पहले तब पढ़ा था जब मैं अंग्रेज़ी साहित्य में एम.ए. कर रही थी। लेखक का आंतरिक जटिल मानवीय रिश्तों को दर्शाने का कलात्मक कौशल, मनोभावों का बारीक विश्लेषण, पात्रों के मनोमस्तिष्क में चल रहे मंथन में घुसने की शक्ति...ये सब चीज़ें मुझे अंदर तक उद्वेलित कर गईं। इसीलिए बीस सालों तक मैं इस उपन्यास को बार-बार पढ़ती गई। और तब, जब मैं इसका अनुवाद करने बैठी तो मुझे यह नहीं लगा कि मैं कोई अनुवाद कर रही हूँ बल्कि यह लगा कि मानो पुनःसृजन हो रहा हो। एक ऐसी कृति जिसे पढ़कर पाठक और अनुवादक दोनों कहीं गहरे से उससे जुड़कर उसका ही अभिन्न अंग महसूस करने लगें तो निश्चय ही वह एक महान कृति है।

दीवि सुब्बाराव

कन्नड़ से तेलुगु

सृजनात्मक अनुवाद का मतलब शब्दशः अनुवाद नहीं होता है। सुप्रसिद्ध कन्नड़ लेखक और विचारक डी.वी. गुंडप्पा ने कहा है—"शब्दकोश शब्द-अर्थ जानता है जबकि विचार भगवान जानता है।"

विचार से जुदा, शब्दशः किया अनुवाद एक सफल अनुवाद नहीं होता। एक महान कृति या एक महान कविता पढ़ने का सुख केवल मुझ

तक ही सीमित क्यों रहे ? शायद मेरी यही तमन्ना कि उनका आनंद मेरे तेलुगुभाषी साथी भी उठा पाएँ, मुझे अनुवाद की ओर ले गई।

एक कालजयी रचना का यही योगदान है कि वह हमें हमेशा नई लगती है। महान कवि किसी भी काल के हों, हमेशा हमें समकालीन लगते हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास उसी श्रेणी में आते हैं। वचन भी उसी श्रेणी के लेखक हैं। उनका साहित्य महान है। उनको पढ़ने के बाद मैं उन्हें अपने तरीक़े से अनूदित करता हूँ जिससे कि मैं उन्हें प्रासंगिक और अपने समय के हिसाब से उपयोगी बना सकूँ।

जब *माटन्नदि ज्योतिर्लिंगम* अनुवाद पर मुझे पुरस्कार मिलने की सूचना मिली तो मुझे समझ ही नहीं आया कि क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करूँ। मैंने ख़ुद को कहा कि शायद नान्या, टिक्कणा और तुलसीदास भी अनुवाद के पुरस्कार पाते, यदि आज वे ज़िंदा होते।

वचन के साहित्य को पढ़ने के बाद ही मुझे यह प्रेरणा मिली कि मैं इसका अनुवाद करूँ। यह साहित्य पूरे विश्व का है। मैं उसको सीमाबद्ध नहीं कर सकता था। मैंने जो कुछ भी किया वह मुझे अपने विकास के लिए करने की ज़रूरत थी। और साथ ही यह भी मैंने सोचा कि सारे समाज की दृष्टि में यह साहित्य आए।

वचन लेखकों का आचार-व्यवहार और जीवन-दर्शन मुझे पसंद आया। मेरी कोशिश यही रही कि अक्क महादेवी और बसवण्णा को ठीक उसी तरह पेश करूँ जिस तरह वे यदि आज तेलुगु की धरती पर जीवित होते तो करते। मैंने आधुनिक तेलुगु का प्रयोग किया है। मैंने उनके विचार बिना मूल को नुक़सान पहुँचाए मुहावरेदार तेलुगु में अनूदित किए हैं। अल्लम प्रभु के कुछ वचन तो मेरी बुद्धि के बाहर थे, उन्हें तो मैंने छोड़ ही दिया।

प्रभातचंद्र शर्मा

संस्कृत से असमिया

संस्कृत का छात्र होने के नाते मुझे बाणभट्ट की *कादंबरी* पढ़ने का मौक़ा मिला और मुझे उसने मुग्ध कर दिया। मेरे दिमाग़ में विचार कौंधा कि यदि इसका असमिया में अनुवाद किया जाए तो यह एक सुखद और उपयोगी कार्य होगा। मैंने बनारस के कृष्णमोहन शास्त्री द्वारा संपादित *कादंबरी* का अनुवाद करना शुरू कर दिया। इसकी नायिका कादंबरी है इसलिए इस पुस्तक का नाम *कादंबरी* पड़ा। कादंबरी का मतलब शराब भी होता है। इसका निहितार्थ इस ओर इशारा करता है कि जिस तरह शराब पीने से व्यक्ति मदमस्त हो जाता है और ख़ुद को भूल जाता है उसी तरह कादंबरी पढ़ते हुए भी होता है। बाणभट्ट की रचनाओं को दूसरी भाषा में अनूदित करना टेढ़ी खीर है। लंबी-लंबी संश्लिष्ट वाक्य-रचना असमिया में नहीं है। इसलिए इसके लंबे-लंबे वाक्यों को टुकड़ों में बाँटकर असमिया पद्धति अनुसार अनुवाद करना पड़ा। फिर भी मेरी जी तोड़ कोशिश रही है कि मैं अनुवाद की प्रामाणिकता को बनाए रखूँ और मूलनिष्ठ रहूँ।

आर.एस. भास्कर

मलयालम से कोंकणी

मलयालम के अद्वितीय उपन्यास *न्टुप्पूप्पाक्कोरानेन्डार्नु* का अपनी मातृभा कोंकणी में अनुवाद करना समुद्र लाँघने जैसा काम था। मेरे हितैषि ने पहले तो मुझे यह कहकर हतोत्साहित किया कि मैं लेखक मोहम्म बशीर द्वारा प्रयुक्त शब्दों के लिए कोंकणी में उचित शब्द नहीं ढूँढ़ पाऊँगा लेकिन मैंने इसे एक चुनौती की तरह लिया। मुझे श्रमसाध्य काम से प्या है। मेरी राय में साहित्य का लक्ष्य सारी मानव जाति की भलाई है न कि व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि। इस तरह मलयालम से कोंकणी में इस पुस्तक का अनुवाद करना मेरे लिए एक आनंददायक काम था। ख़ुद को लेखक की जगह पर रखकर मैं इस कालजयी पुस्तक के हर शब्द, हर मुहावरे के क परत-दर-परत अर्थ पाता गया। मैं कहानी की तह तक गया और प्रत्येक वाक्य को कई-कई बा तब तक पढ़ता गया जब तक कि मेरे सामने तसवीर स्पष्ट न हो गई। कोंकणी भाषा की सादगी औ लचीलापन मेरे लिए लाभदायक रहा। यही मेरी दिली इच्छा थी कि मैं मूल कृति का सौंदर्य औ अद्भुत तकनीक अनुवाद में बरक़रार रखूँ। बशीर की कहानियों में पात्र बोलते हैं लेखक नहीं अपने अनुभव से मैं कह सकता हूँ कि अनुवाद करना उतना आसान नहीं है जितना कि मूल का लिखना।

स्नेहलता रोहिड़ेकर

ओड़िया से कन्नड़

कुछ लोग मुझसे पूछते हैं कि मैं अनुवाद करते समय कौन-सा तरीक़ा अपनाती हूँ। मेरा कोई तयशुदा तरीक़ा नहीं है। ज़्यादा महत्त्वपूर्ण य है कि मूल लेखक अपनी कृति द्वारा क्या कहना चाहता है उसे समझ जाए। फिर अनुवादक उसका इस तरह अनुवाद करे कि मूल आस्वा खोने न पाए। कभी-कभी तो किसी पैराग्राफ़ विशेष को अनूदित करने में घंटों लगते हैं तो कभी-कभी कई-कई दिन। मैं मूल भाषा, अंग्रेज़ी और लक्ष्य भाषा के शब्दकोशों का प्रयोग करती हूँ यथा : ओड़िया-अंग्रेज़ी-कन्नड़ इत्यादि। मैं अपने नब्बे वर्षीय बुज़ुर्ग श्वसुर से सलाह-मशविरा भी करती हूँ जो कि अंग्रेज़ी और कन्नड़ के विद्वान हैं। शुरू में जब कन्नड़ लिखना नहीं जानती थी तो मैं अनूदित करके बोलती जाती थी और मेरे पति काग़ज़ पर कन्नड़ में लिखते जाते थे। धीरे-धीरे मैंने कन्नड़ लिखना सीख लिया और अब मैं कन्नड़ में लिख लेती हूँ हालाँकि कुछ लोग कहते हैं कि मेरी लिपि तेलुगु-सी दिखती है। कुछ लोग मुझसे यह भी पूछते हैं कि मैंने मूल लेखन की बजाय अनुवाद के क्षेत्र को ही क्यों चुना। हो सकता है कि किसी दिन मैं लिखने भी लगूँ।

अनुवाद कार्य मेरे लिए आसान है क्योंकि मुझे वही पेश कर देना होता है जो दूसरा व्यक्ति

(लेखक) कहना चाहता है। मुझे अपने विचारों को बैठकर लिखना नहीं होता। मैं तरह-तरह की किताबें पढ़ती हूँ और अनुवाद के लिए किसी एक का चयन कर लेती हूँ। इससे मूल लेखक से एक रिश्ता भी बन जाता है। और साथ ही मुझे साहित्यिक जगत में बहुत से मित्र मिल जाते हैं। कभी-कभी ऐसा मौक़ा भी आता है कि लेखक जो कहना चाहता है वह लक्ष्य भाषा में अनूदित करना बड़ा मुश्किल लगता है।

राजेन शइकीया

बाङ्ला से असमिया

कॉलेज के दिनों में हम युवाओं पर माणिक बंद्योपाध्याय ने जादू किया हुआ था। लेकिन हमें *पुतुल नाचेर इतिकथा* समेत तीन चार उपन्यास उनके अच्छे नहीं लगते थे। तीस साल बाद जब मैंने माणिक बंद्योपाध्याय के इसी उपन्यास का अनुवाद करना चाहा तो मैंने पाया कि सामाजिक परिवेश बदल चुका था। युवाओं के राजनीतिक मौलिक सिद्धांत हिल चुके थे। उपन्यास के पैंतीस संस्करण निकल चुके थे। मैंने सोचा कि इस उपन्यास का आस्वाद असमिया पाठकों को भी चखाया जाए। ओह! यह उतना आसान नहीं था जितना मैंने सोचा था। जब मैं बलपूर्वक आगे बढ़ रहा था और इस उपन्यास में गहरे डूबने लगा तब मुझे इस उपन्यास की महत्ता समझ आ गई। मुझे पक्का पता नहीं है कि किसी विख्यात आलोचक ने यह कहा हो कि *पुतुल नाचेर इतिकथा* बाङ्ला का एक महान् उपन्यास है। लेकिन मेरा उत्साह श्रद्धा में तब्दील हो चुका था और इसका अनुवाद ख़त्म होने पर ही मेरी साँस में साँस आई। मुझे पता नहीं कि कितनों ने इस अनूदित पुस्तक पर नज़र डालने की ज़हमत उठाई है। सौभाग्यवश कुछ लोगों ने इसे पढ़ा और एक आलोचक की दृष्टि से पढ़ा। मुझे तो इस पुस्तक का हिस्सा बनने का मौक़ा मिला, इसी में संतुष्टि है, अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन करना मेरा काम नहीं है।

अनुवादों की निंदा करने वाले उतने ही पुराने हैं जितने कि पहाड़। *बाइबिल* के मान्य अनूदित संस्करण को हाथ में पकड़ रिचर्ड व्हाटले ने एक पादरी के हक से एक बार चीख़ कर बोला था, "मत भूलो बंधुओ, मत भूलो कि यह बाइबिल नहीं है। यह तो बाइबिल का अनुवाद है।" लेकिन अब? अंग्रेज़ी जानने वाले हर समाज में वही मान्य संस्करण ही बाइबिल है। इटैलियन कहावत है कि अनुवादक विश्वासघाती है। लेकिन साहित्यिक जगत को विश्वास है कि उनका दांते अनुवादकों के पास सुरक्षित है।

एक साहित्यिक विधा के रूप में अनुवाद भारत में पैर जमा चुका है। अनुवाद के बिना भारत की विभिन्न भाषाओं की बड़ी-बड़ी साहित्यिक उपलब्धियाँ दूसरी भाषाओं के उच्च शिक्षितों तक न पहुँच पातीं। विश्व साहित्य हमारे पास आज तक अंग्रेज़ी अनुवाद के माध्यम से ही पहुँचता है। इसीलिए भारतीय लेखकों द्वारा किए गए अनुवाद कार्य को सहारा और प्रोत्साहन मिलता रहना चाहिए। अनुवाद कार्य को सहारा देने से हम राष्ट्र के साहित्यिक उद्देश्यों को सहारा देते हैं और जब तक साहित्य आनंद देता रहेगा तब तक अनुवाद भी ज़िंदा रहेगा।

शांति थापा

असमिया से नेपाली

असम भारत का एक ऐसा प्रांत है, जहाँ अनेक जाति-उपजाति के लोग निवास करते हैं और जिनकी अपनी-अपनी भाषिक पहचान है तथा अपना-अपना धर्म, विश्वास, मान्यताएँ और परंपराएँ हैं, जिनमें नेपाली भी एक है। इसीलिए असम प्रांत को ''लघु भारत'' कहा जाता है।

''विविधता में एकता'' वाले इस प्रांत में अनुवाद ही एक ऐसा ज़रिया है, जो यहाँ रहने वाले विभिन्न भाषिक इकाई को जोड़ने का प्रयास करता है, अर्थात् समन्वय का सेतु निर्माण करता है। साथ ही एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद किया जाना जहाँ रचना के प्रचार-प्रसार में सहायक होता है, वहीं एक प्रदेश के रीति-रिवाजों, रहन-सहन, खान-पान तथा सांस्कृतिक मान्यताओं के एकीकरण में भी महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। जिस प्रकार भाषा मनुष्य के भाव एवं विचारों के आदान-प्रदान का ज़रिया है, ठीक उसी प्रकार अनुवाद भी एक जाति के साहित्य में व्यक्त सांस्कृतिक-सामाजिक उपलब्धियों को दूसरी जाति के भाषा साहित्य में उपलब्ध कराने का माध्यम है।

असमिया उपन्यास *नामघरीया* में ''नामघर'' की महत्ता के साथ-साथ एक ऐसे सहज सरल आम व्यक्ति की कथा है, जो एक ग्रामीण समाज को अपनी सरलता से अपनी ओर आकर्षित करता है। वह ''नामघर'' की साफ़-सफ़ाई के लिये नियुक्त है, जिसका नाम तक लोग भूल चुके हैं और नामघरीया कहकर संबोधित करते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का अनुवाद करते समय मुझे कड़ी मेहनत इसलिए करनी पड़ी कि इसमें उपन्यासकार ने असमी भाषा के ग्रामीण शब्दों का प्रयोग खुलकर किया है। साथ ही इसमें असम की सांस्कृतिक विरासत से संबंधित शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में किया गया है। फलस्वरूप मैंने विभिन्न शब्दों का लिप्यांतर करके उसका नेपाली में अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

रामस्वरूप किसान

बाङ्ला से राजस्थानी

मैं खेत में हल चलाने वाला एक किसान हूँ। मेरे पसीने के बंट से मेरा लेखक निकलता है। मेरे साथ विधाता ने बड़ा क्रूर मज़ाक किया है कि मैं कमरे में बैठ कर सृजन नहीं कर सकता। मैं तो सिर्फ़ खेत में क्रियाशील रहते हुए ही सृजनशील रह सकता हूँ। मेरा कृषि-कर्म और साहित्यिक-कर्म साथ-साथ चलते हैं। इसका एक लाभ ज़रूर है, मुझे सृजन के लिए अलग से समय नहीं निकालना पड़ता। श्रम व सृजन एकमेक हैं मेरे यहाँ। क्योंकि शारीरिक श्रम में मस्तिष्क आज़ाद रहता है। हाथ काम करते रहते हैं, दिमाग़ सोचता रहता है। मैं हर पल साहित्यमय रहता हूँ। कुछ न कुछ भीतर चलता ही रहता है। रचना जन्मती रहती है।

पकती रहती है। संश्लिष्ट व परिमार्जित होती रहती है। यह सब खेत में काम करते हुए ही होता है। कमरे में बैठकर तो सिर्फ़ मुड़े-तुड़े और बिखरे काग़ज़ों पर की रचना को एक जगह सुव्यवस्थित करता हूँ। सच तो यह है कि जब तक खेत में काम नहीं लग जाता, भीतर कुछ पैदा ही नहीं होता। ख़ाली वक्त में ख़ाली रहता हूँ।

यह मेरा अहोभाग्य है कि मुझे टैगोर के अनुवाद का अवसर मिला। इसके लिए मैं गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर का आभार व्यक्त करता हूँ। क्योंकि उनका नाटक ''रक्त करवी'' एक दमदार रचना थी, तभी तो मैं ''राती कणेर'' नाम से उसका अच्छा राजस्थानी अनुवाद कर सका। मेरा मानना है कि श्रेष्ठ अनुवाद के लिए श्रेष्ठ रचना पहली शर्त है। यदि मूल रचना ही दोयम दर्जे की होगी तो कुशल से कुशल अनुवादक का भी मन उचट जाएगा। ऐसे में अनुवादक की प्रतिभा मुखरित होकर काम नहीं कर सकेगी और अनुवाद घटिया स्तर का ही होगा। तो तटस्थ दृष्टि से देखें तो यह पुरस्कार मेरे से ज़्यादा टैगोर को ही जाता है। उत्कृष्ट रचना पाठक व अनुवादक के हृदय पर कब्जा करती है और तब उसका जो अनुवाद होता है उसमें हृदय पक्ष प्रधान व बुद्धि पक्ष गौण रहता है। अनुवादक की रागात्मक स्थिति ही श्रेष्ठ अनुवाद देती है। हाँ इतना अवश्य है कि रागात्मक स्थिति भावुकता की सीमा तक नहीं जानी चाहिए। इस पर बुद्धि का आंशिक नियंत्रण ज़रूरी है, नहीं तो मूल कृति की मौलिकता भंग होने का भय रहता है इसीलिए तो अनुवाद-कर्म बड़ा जोख़िम भरा कर्म है। इसमें अनुवादक को बड़ा सावधान रहना पड़ता है। बहुत ही नपा-तुला व्यवहार अपनाना पड़ता है। ऐसा व्यवहार जिसमें हृदय पक्ष व बुद्धि पक्ष का संतुलन हो। सही-सही अनुपात हो। यह अनुपात बिगड़ने से अनुवाद या तो कोरा भाषांतर बन कर रह जाता है या फिर अवांछित हस्तक्षेप। दोनों ही स्थितियाँ मूल लेखक के साथ अन्याय है।

भाषांतरण अनुवाद का सरलीकृत रूप है तो अवांछित हस्तक्षेप मूल रचना को और अधिक बेहतर बनाने का मोह। ये दोनों स्थितियाँ ही अनुवादक की कमज़ोरी हैं। श्रेष्ठ अनुवाद के लिए अनुवाद व मूल रचना की भाषा पर पूरा अधिकार होना ज़रूरी है। तभी हम एक भाषा के साहित्य को उसकी पूरी परंपराओं के साथ दूसरी भाषा के साहित्य में ला सकते हैं। इसलिए अनुवादक ऐसी भाषा सृजे कि जिसमें मूल रचना अपने पूरे परिवेश व जातीयता के साथ उस भाषा में बिंबित हो जाए। उदाहरण के लिए किसी यूरोपीय कृति के हिंदी अनुवाद को पढ़ते हुए यदि हमें यह न लगे कि हम वहाँ की गली-गली व कूँचे-कूँचे घूम रहे हैं तो अनुवाद निरर्थक है।

सत्यनारायण स्वामी

मराठी से राजस्थानी

यों तो अनुवाद की महत्ता को देखा जाए तो संपूर्ण सृष्टि ही सर्वशक्तिमान महामूर्ति का साक्षात् अनुवाद है, पर मैं अनुवाद-भावना से चौथी-पाँचवीं कक्षा में अभिभूत हुआ, जब कक्षाओं में सूर-तुलसी के पदों को अनुवाद शैली में सिखाया जाता था—जैन साहित्य के उद्भट विद्वान स्व. श्री अगरचंद नाहटा के संपर्क में अपनी बीसी के काल में आया। उनके समृद्ध पुस्तकालय में

गुजराती की पत्र-पत्रिकाएँ विपुल मात्रा में आती थीं। वहाँ 'अखंड आनंद' पत्रिका में प्रकाशि विज्ञापनों के माध्यम से गुजराती अक्षर ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् कुछेक कहानियों का हिंदी अनुवाद किया।

मेरी मान्यता है कि भारतीय भाषाओं की रचनाओं के पारस्परिक अनुवाद के लिए कोई अनुवादक यदि मूल और अनुवाद की भाषा के अतिरिक्त संस्कृत भाषा का भी यथासाध्य ज्ञान प्रा करे तो अनुवाद में अधिकाधिक प्रामाणिकता और निखार लाया जा सकता है। नए अनुवादक भारतीय अनुवाद परिषद, नई दिल्ली की अनुवाद जैसी पत्रिकाओं से भरपूर लाभ ले सकते हैं। उन्हें मामा वरेरकर के इस कथन के संबल पर आगे बढ़ना चाहिए कि "लेखक होना आसान है, कि अनुवादक होना अत्यंत कठिन है" प्रत्यक्ष है, समस्त विश्व से जुड़ने के लिए अनुवाद क अपरिहार्य है।

गुलवंत "फ़ारिग़"

हिंदी से पंजाबी

मेरे लिए अनुवाद एक कला है। दूसरी कलाओं की तरह, निपुणता प्राप्त करने के लिए इसमें भी लगातार कड़ी मेहनत और लगन की आवश्यकता होती है। यह किसी भी तरह से सृजनात्मक लेखन से भिन्न नहीं है। मुझे थोड़ा गर्व है कि एक अनुवादक होने के साथ-साथ मैं एक सृजनशील लेखक भी हूँ। दोनों क्षेत्रों में अपने पिछले पाँच दशकों के अनुभव से मैं यह भेद खोलना चाहूँगा कि अनुवाद कार्य सृजनात्मक लेखन से कहीं ज़्यादा मुश्किल और टेढ़ा कार्य है। सृजनशील लेखक के पास सृजन के विशेष पलों में कोई भी विचार, बिजली की तरह कौंध जाते हैं। इसे मैं "आमद" के पल कहूँगा। उर्दू वाले इस शब्द से काफ़ी परिचित हैं। आमद के निकट का शब्द है "आबुर्द"। ये दोनों दिमाग़ की दो विपरीत स्थितियाँ हैं और ये कविता और उसके सृजन से जुड़ी हुई हैं। जब कविता बिना किसी प्रयास के ख़ुद-बख़ुद आ जाती है तो हम इसे *आमद* कहते हैं और *आबूर्द* में कवि कविता लिखने के लिए मेहनत करता है। उर्दू के तरह *मुशायरे* (कवि-सम्मेलन) *आबुर्द* के उदाहरण पेश करते हैं। कवियों को वहाँ *तरह मिशरा* (आधा शेर) देकर नज़्म बनाने या लिखने के लिए बुलाया जाता था। उनको किसी शेर की दो पंक्तियाँ दे दी जाती थीं और उन्हें आगे की दो पंक्तियाँ उसमें जोड़नी होती थीं। उर्दू में ऐसे शायरों की लंबी परंपरा रही है जिसमें ग़ालिब, मीर, ज़ौक और दाग़ जैसे कुछ विशेष नाम हैं। उर्दू के अलावा पंजाबी में भी यह परंपरा प्रचलित थी। उस्ताद "हमदम", दामन, किरपा राम, नजीम, लाला धनीराम, चेतरिक, विधाता सिंह "तीर", कर्त्तार सिंह "बल्लाग्गन" और गुरुमुख सिंह "मुसाफ़िर" कुछ ऐसे ही कवि थे। आजकल इस तरह के मुशायरे अतीत की बात हो गई है। जब मैं यह कहता हूँ कि अनुवाद सृजनात्मक लेंखन से ज़्यादा मुश्किल कार्य है तो मेरे कहने का मतलब होता है कि सृजनात्मक लेखन *आमद* है और अनुवाद *आबुर्द* है।

अनुवादक के पास दोनों भाषाओं पर समान अधिकार होना ही चाहिए। एक मुख्य बात की ओर मैं ध्यान दिलाना चाहूँगा कि दो नज़दीकी भाषाओं का अनुवाद करना एक मुश्किल कार्य बन जाता

है। क्या आप ऐसा नहीं सोचते? आप कहेंगे भला इसमें क्या मुश्किल है। लेकिन मुश्किल तब आती है जब आप अनुवाद कर रहे होते हैं। आप उर्दू से हिंदी या पंजाबी में अनुवाद करते समय ''जज़्बात'' शब्द को वैसा ही रख सकते हैं या फिर ''भावनाएँ/भावनावां'' भी कर सकते हैं लेकिन यदि आपने ''जज़बात'' की जगह ''जज़बातें'' कर दिया तो वह ग़लत हो जाएगा। इसी तरह ''हालातें'', ''बावजूद भी'' शब्दों का प्रयोग भी ग़लत है। लेकिन आजकल इन शब्दों का लोग प्रयोग कर रहे हैं। यह सब जीवन के अन्य क्षेत्रों में आई गिरावट की तरह भाषा में आई गिरावट है।

अनुवाद करते समय आपको बहुत सावधान और चौकन्ना होना चाहिए। ज़रा-सी भी लापरवाही काफ़ी नुक़सान पहुँचा सकती है। आपको कड़ा संघर्ष करना चाहिए। कभी-कभी आपके दिमाग़ में कुछ शब्दों या वाक्यखंड का समानांतर शब्द जल्दी से नहीं आता है। मैं आपको अपना एक अनुभव सुनाता हूँ। मैं करमजीत कुस्सा के पंजाबी उपन्यास ''रात दे राही'' का हिंदी में अनुवाद कर रहा था। पंजाबी में मेरे सामने एक वाक्य आया ''ज़मीन कोई पैसा हगदी है।'' ''हगदी है'' एकदम देशज शब्द है। मैं पसोपेश में पड़ गया और उसका समानांतर मुझे सूझ नहीं रहा था। अचानक छठी कक्षा में पढ़नेवाला मेरा भतीजा वहाँ आया और उसने मेरी मदद की। उसने सुझाया, ''ज़मीन कोई पैसा उगलती है।''

कभी-कभी आपके दिमाग़ में बसी ग़लत चीज़ सब गुड़गोबर कर देती है। यह ख़तरा उर्दू की ''बड़ी ये'' और ''छोटी ये'' में तथा कुछ अन्य वर्णों में होता है। उर्दू में कई वर्ण बहुत भ्रम पैदा करते हैं। उदाहरणार्थ—''जैसे छीला हुआ केला''। यहाँ ''छीला'' को ''छेला'' भी पढ़ सकते और ''छैला'' भी। ''छेला'' का मतलब है मेमना और ''छैला'' का मतलब है ''बाँका''। यह बहुत संभव है कि कोई अनुवादक इसका इस तरह भी अनुवाद कर संकता है ''जैसे छैला हो अकेला''। इस तरह की ग़लतियों से बचना चाहिए।

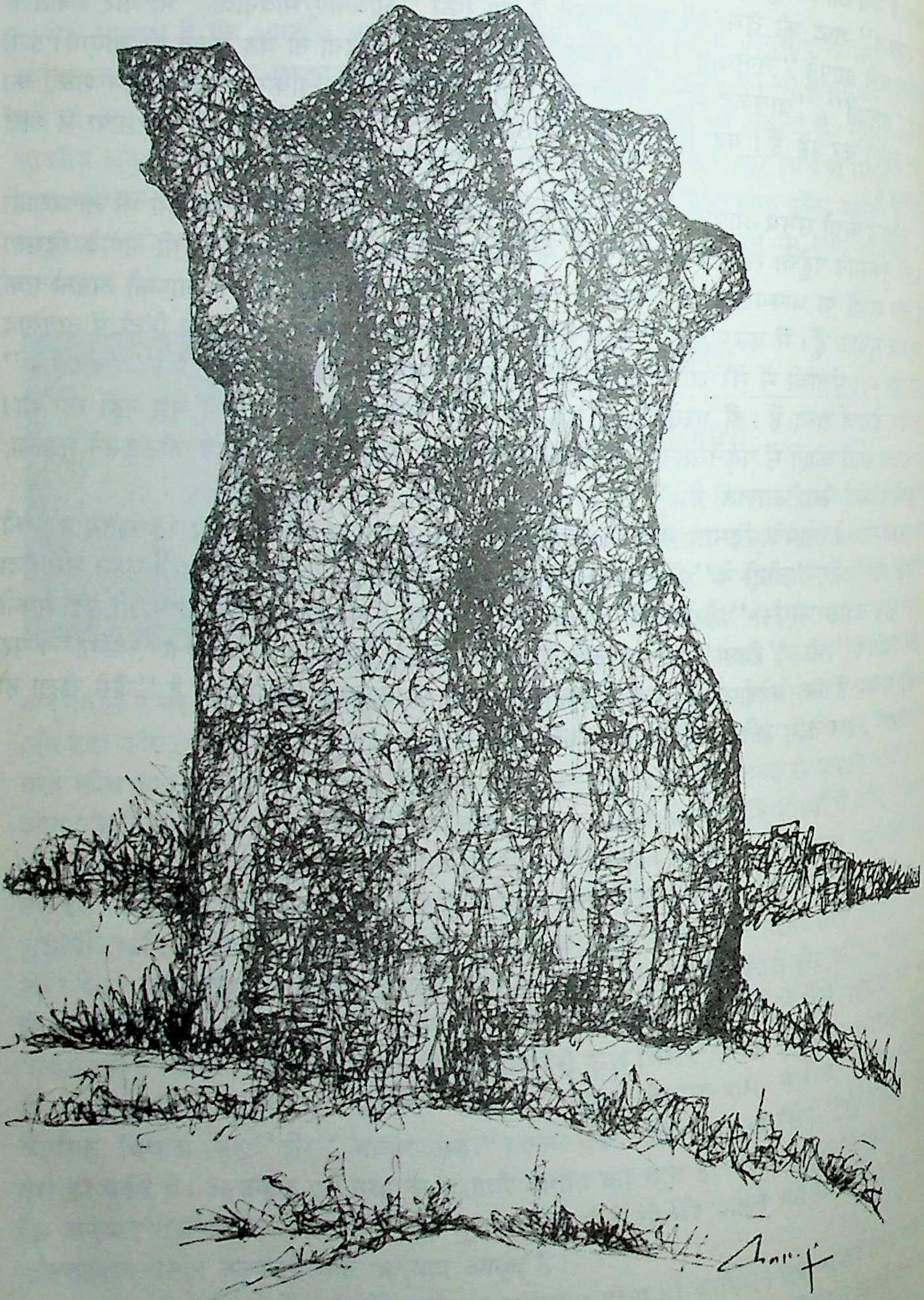

निरुपमा दत्त

कुछ हमें मरने का शौक़ भी था

पंजाबी में अपनी कविताओं से पहचान बनाने वाली निरुपमा दत्त अनुवादक और पत्रकार के रूप में प्रसिद्ध हैं लेकिन रचना और जीवन में भी उनकी छवि साहसिक रही है। जब अवसाद का दौर आया तो निरुपमा ने कविताएँ लिखीं। भावना का विरेचन फिर भी न हुआ। अवसाद बढ़ता गया, तब निरुपमा दत्त ने आत्माघात की कोशिश की। बच गईं और ख़ुद पर ख़ूब हँसीं।

मूल पंजाबी में लिखी इस आत्म रचना का हिंदी अनुवाद भी स्वयं निरुपमा दत्त ने हमारे लिए विशेष रूप से किया है।

कुछ यूँ भी राहें मुश्किल थीं गले में ग़म का तौक भी था।
कुछ शहर के लोग भी ज़ालिम थे हमें मरने का शौक़ भी था॥

—मुनीर नियाज़ी

फ़रवरी का ठंडा महीना। सन् 1980। उम्र पच्चीस बरस। रात के दो बजे चंडीगढ़ के मध्या मार्ग पर ऑटो रिक्शा दौड़ा जा रहा है। ऑटो के साथ-साथ चल रही मेरी हरे रंग की हीरो मैजेस्टिक पर मेरा भाई सलिल सवार है। ऑटो में मैं और मेरी माँ बैठे हैं। मेरा सर मेरी माँ के कंधे पर है और मेरी आँखों के आगे अँधेरा है। कुछ देर बाद कोशिश करके मैं आँखें खोलती हूँ। मेरी आँखों के आगे मध्या मार्ग की निओन बत्तियाँ टिमटिमाती हैं। ''बीजी! मुझे रोशनी नज़र आ रही है...''

हम पंद्रह सेक्टर का गोल चक्कर पार कर चुके हैं और दाईं ओर पी.जी.आई. है। उन्नीस सेक्टर से पंद्रह तक की लंबी काली सुरंग के अंत के बाद रोशनी दिखाई दे रही है। ऑटो रिक्शा इमरजेंसी वार्ड के सामने रुक जाता है। हम पी. जी. आई. पहुँच गए हैं। पी. जी. आई. को शहर का सरताज शायर ''शहर का सबसे बड़ा अस्पताल'' कहा जाता है। सबसे बड़े में विकल का कुत्ता ठीक वैसे फँसा है जैसे साईकिल का फँसता है...सबसे बड़ा सच, सबसे सुंदर पार्क, सबसे मेहनती मज़दूर औरत, सबसे बड़ा शायर वग़ैरा-वग़ैरा। ज़ाहिर है शहर का सबसे बड़ा शायर; वह

निरुपमा दत्त पंजाबी की कवयित्री हैं। हिंदी में भी लिखती हैं। इनकी कविताओं में पंजाब के संताप पर प्रतिक्रिया झलकती है। संपर्क : जी-153 (एफ एफ) साउथ सिटी-II, बादशाहपुर रोड, गुड़गाँव-122101

अनु. स्वयं

आप हैं! चाहे नामवर सिंह ने उसे साहित्य अकादेमी का पुरस्कार न लेने दिया हो।

सो पहुँच गई थी मैं शहर के सबसे बड़े अस्पताल में। डॉक्टरों को और मेरे घरवालों को बहुत बाद में पता चला हो, पर मुझे उसी समय पता चल गया था कि मैं बच गई हूँ। उन्हीं दिनों रेडियो अनाउंसर अचला कौशिक रोड एक्सीडेंट में घायल होकर अस्पताल में आई थी और अगले दिन अख़बार के तीसरे पन्ने की एक उदास ख़बर बन गई थी। इस ख़बर को पढ़कर विकल ने एक कविता लिखी थी जिसमें उन्होंने कहा था कि अच्छें लोग लालची नहीं होते। वह तो कुछ देर इस लोमड़ी दुनिया में एक खरगोश की तरह उछल-कूदकर लुप्त हो जाते हैं। पर विकल साहिब, आपकी निरुपमा इतनी अच्छी कहाँ है। वह तो इस लोमड़ी दुनिया, भेड़िया दुनिया, बघियाड़ दुनिया में रच-बस गई है। आपके समेत पता नहीं कितनों को मारकर मरेगी। कहते हैं पापी जन जल्दी नहीं मरते। मैं कोई मानसून का बादल तो थी नहीं कि अंतिम बार बरसने से पहले कुछ पलों के लिए आकाश पर छा जाती। मैं तो फ़रवरी की ठंडी रात में चली स्याह अँधेरी थी।

ख़ैर जो हुआ सो हुआ पर कुमार विकल की कविता बनने का मौक़ा हाथ से निकल गया। कुछ बरस बाद टैगोर थिएटर में विकल और नाटक निर्देशक कुमार वर्मा के पास खड़ी थी मैं। उन दिनों विकल साहिब मेरी लंबे बालों वाली सहेली पर लिखी पहली कविता जेब में डाले घूम रहे थे। ‘‘मेरी सहेलियों पर कविता लिखते हो पर मुझ पर कभी नहीं लिखी।’’ विकल मेरी ओर से मुँहतोड़, वर्मा को संबोधित हो कहते हैं, ‘‘बड़ी मूर्ख लड़की है। कहीं बहनों पर भी कविता लिखी जाती है।’’ मैं हँसती हूँ। कम-से-कम विकल ने मुझे दुनिया की सबसे मूर्ख लड़की तो नहीं कहा। पी. जी. आई. में ऐट्रोफ़ीन दवा, जिसमें अफ़ीम शामिल होती है, का नशा उतर रहा था और मुझे अपनी मूर्छा का अहसास हो रहा था।

शहर के सबसे बड़े अस्पताल में होलीडे मनाने से पहले मैं पंजाबी कवि सुरजीत पातर के शब्द दोहराती रहती थी, ‘‘सेक है न रोशनी है, यह कैसी दोस्ती है / हत्या है न ख़ुदकुशी है, यह कैसी आशिक़ी है।’’ हत्या और आत्महत्या का रिश्ता बड़ा गहरा होता है। कहीं आत्महत्या में हत्या की चाह छिपी रहती है। अब आप कहेंगे पातर की तरह कि ‘‘क्यों मर-खप गयों की कथा छेड़ ली, अब तो दिल दरिया बह रहा था शांतमयी।’’ पर दिल-दरिया का क्या भरोसा? यह तो सागर से भी गहरा होता है। शांत बहते हुए भी यह अपने भीतर कई तूफ़ान समेटे रखता है। फ़रवरी की उस रात से पहले मैंने कई रातें पातर की पहली काव्य पुस्तक के साथ ही बिताई थीं। डूबते को कविता का सहारा तिनके से कहीं ज़्यादा ख़तरनाक हो सकता है। ख़ैर, पातर के लिए तो अच्छा ही रहा कि मैं मरी नहीं। नहीं तो इल्ज़ाम उसकी ग़ज़लों पर ही आता।

दोस्तो, मेरे इस कथन को ज़्यादा गंभीरता से न लेना, हिंदी-पंजाबी के सबसे बड़े कवियों से छेड़छाड़ करना मुझे अच्छा लगता है। वैसे भी सब जानते हैं कि कविता पढ़कर कौन मरता है भला। शिवकुमार बटालवी अपने गीतों में पाठकों को यह कहते रहे कि यौवन में जो मरता है, वह फूल बनता है या तारा; खूब प्रेरित करता रहा फिर मर के भी दिखा दिया पर उसके कहने पर लोग मरने तो नहीं चल पड़े। वह तो अब तक उसके गीत गुनगुना रहे हैं। हाँ, मर जाती तो ख़बर अच्छी बन जाती पंजाब केसरी स्टाइल- ‘‘पातर की ग़ज़ल युवती के मौत का कारण बनी।’’ एक बार पंजाब केसरी के पहले पन्ने पर ख़बर पढ़ी थी जो किसी अमरीकन एजेंसी की रिपोर्ट का अनुवाद थी। उसकी हैडलाइन थी, ‘‘वह अपने बाल खाती रही और मौत को पास बुलाती रही।’’ मैं भी तो हैडलाइन बनते

चाहती थी। चंडीगढ़ इंडियन एक्सप्रेस के तीसरे पन्ने पर एक मामूली-सी सुर्ख़ी—जर्नलिस्ट कमिट्स सुसाइड। पिछली सदी के उन दिनों में तीसरे सफ़े पर जीने मरने की ख़बरें छपती थीं, अब जैसे पार्टियों में जगमगाते सितारों की नहीं।

पर मैं तो ख़बर बनने से भी रह गई। मुझे तो मध्या मार्ग पर रोशनी नज़र आ रही थी। स्ट्रेचर पर डाल मुझे अंदर ले जाया गया। मेरा सूट उतारकर हरे रंग का गाउन पहनाया गया। दीपक सूरमा कहता है कि मेरे साँवले रंग पर हरे कपड़े नहीं सजते। पर क्या करूँ मुझे हरा रंग बहुत अच्छा लगता है। "बस अब दीपक सूरमे का नाम नहीं लेना। यह क़िस्सा छिपा ही रहे तो अच्छा है।" मैंने अपने आपको सख़्त हिदायत दी।

नीलम, मेरे चचा जी की बेटी और मेरे बचपन की दोस्त, डॉक्टरों के हॉस्टल से नंगे पैर ही दौड़ती आ गई थी। पीछे-पीछे उसका डॉक्टर भाई मदन भी। सलिल पुलिस के चक्कर में था क्योंकि डॉक्टर कह रहे थे यह मेडिको-लीगल केस है। मैंने उसे क्राइम रिपोर्टर शेखर गुप्ता का नंबर बताया। डॉक्टर मुझसे पूछ रहे थे कि मैंने क्या खाया है। मैंने सच-सच बता दिया, "टिक ट्वेंटी, बेगान बेट और चार गोलियाँ कंपोज़।" वाह! क्या कॉकटेल बाद में गायक कमल तिवाड़ी के छोटे भाई चीनी ने मुझसे कहा, "अगले जनम में तू ज़रूर कॉकरोच बनेगी। तूने अपने घरवालों को बहुत सताया है।"

डॉक्टर मेरे नाक में एक नली डाल रहे थे। नीलम उर्फ़ बेबी मुझे कहती है, "बस साँस खींच और नली अंदर चली जाएगी।"

मैंने उसकी ओर देखते हुए कहा, "बेबी, मेरे मुँह से मिट्टी के तेल की हुबक आ रही है।" बेबी, मीठी-सी झिड़की देते हुए बोली, "किसने कहा था टिक ट्वेंटी खाने को। उसकी बेस मिट्टी का तेल ही तो होती है।"

नली नाक में चली गई। मेरी आँखें बंद हो रही थीं। आँखों के आगे यूनिवर्सिटी की सड़कें घूम रही थीं। पापलर के पेड़ के पास खड़ा कोई गा रहा है, *"काली तितरी चरी दे विचों निकली / उड़दी नूँ बाज पै गया / पूरना! पूरना! / कुड़ियाँ ने पट दित्ता दीपक सूरमा।"*

नींद में, नीम-बेहोशी में भी मैंने अपने आपसे कहा कि इस दीपक सूरमे का नाम नहीं लेना, बस। अँधेरा फिर आँखों के आगे छा गया।

नक्सलवादी लहर का कवि अमरजीत चंदन मुझे डाँटेगा। लंदन से ई-मेल पर आई उसकी डाँट मुझे अच्छी लगती है। कुछ-कुछ विकल साहिब की डाँट-सी। अब मुझे कोई नहीं डाँटता सिवाय मेरी बेटी उपासना के। बाक़ी लोग हँसकर किनारा कर लेते हैं। कुछ तो मेरा मर्सिया पढ़ देते हैं। कोई बड़ा भाई कहता है, "नीरू तो बड़ी स्वीट होती थी, पता नहीं क्या हुआ?" कभी सुनती हूँ मेरी कोई हैपिली मैरिड भतीजी कहती है, "बुआ जी तो बड़े लायक़ थे, पता नहीं क्या हुआ?" पंजाबी पत्रिका *संख* का संपादक अंतिम पन्ने पर लिखता है, "कहाँ हो जी!" साथ ही वर्णन देता है कि मैं कौन-सी नौकरी पर कितने दिन टिकी। मैं भी घबराकर सोचने लगती हूँ कि पता नहीं क्या हुआ? कहाँ हूँ मैं? अगर मेरी माँ होती तो कहती, "यह बातें एक कान से सुन और दूसरे से निकाल। तू यहाँ मेरे पास और दुनिया में सब ठीक-ठाक है।" अगर विकल साहिब होते तो मैं हरे रंग की हीरो मैजेस्टिक दौड़ा उनके घर पहुँचती और वह कहते, "क्यों नहीं मुक्त हो पा रही इस दीपक से। दुनिया बहुत बड़ी है।"

अब वह सब नहीं है और मैं दुनिया के किसी मध्यमार्ग पर रोशनी खोज रही हूँ। कहते हैं हर सुरंग के अंत में रोशनी होती है। पर यह सुरंग तो ख़त्म होने पर ही नहीं आ रही। यादों की यह लंबी सुरंग चंडीगढ़ से दिल्ली होते हुए गुड़गाँव की बादशाहपुर रोड तक आ गई है। चंदन कहेगा कोई ज़रूरत नहीं इतनी जल्दी यादें लिखने की। मैंने कहा न मुझे चंदन की डाँट अच्छी लगती

है। आज जब सबको मैं-मेरी पड़ी है, वह हमक़लम खोजता है, औरों को लिखने के लिए उकसाता है। पंजाबी में वागाह के उस पार या इस पार कुछ अच्छा लिखा जाए तो वह खिलखिला उठता है। कभी गिला करता है कि चंडीगढ़ ने अब तक कोई अंग्रेज़ी का नॉवेलकार क्यों नहीं पैदा किया। विकल नहीं है, पर चंदन है। इस तरह के लोग अब कम मिलते हैं और इनकी डाँट अच्छी लगती है।

पी . जी. आई. के इमरजेंसी वार्ड में मैं बेहोशी से नीम-होशी की ओर बढ़ रही हूँ। यूनिवर्सिटी के कॉफ़ी हाउस में बैठा दीपक मुझे पंजाबी बोली की पैरोडी सुनाकर हँसा रहा है, *आरी, आरी, आरी, चूँगा वाले दीपक ने हथ जोड़ के गंडासी मारी, पहले उहने कोली सुटिआ, फिर खूंजे लाया तिवाड़ी, उहदे नाल ना पंगा लइयो, उहदी नीरू दे नाल यारी* नहीं यह नाम मेरे मुँह से नहीं निकलना चाहिए। मेरी आँखें बंद हैं पर मेरे कानों में आवाज़ें पड़ रही हैं। मेरी बहन नीलम मेरी बीजी से कह रही है, ‘‘बीजी, यह दीपक कौन है। बेहोशी में रात नीरू दीपक-दीपक कह रही थी।’’ मेरी बीजी रावलपिंडी की हैं और बात टालना ख़ूब जानती हैं। वह कहती हैं, ‘‘एक तो इसकी प्रकाश मासी के बेटे का नाम दीपक है। एक इंडियन एक्सप्रेस में दीपक मूदबिदरी है। है केरल वाला। एक यूनिवर्सिटी में भी दीपक है। अब पता नहीं किसका नाम ले रही है?’’ नीलम को तो बीजी टाल गई पर स्वयं वह जानती हैं कि मैं कौन-से दीपक का नाम ले रही थी। कुछ देर चुप रहती हैं। फिर नीलम पूछती है, ‘‘बीजी, सलिल अभी तक नहीं आया।’’ बीजी कहती हैं, ‘‘वह करनाल गया है पैम इंजेक्शन लेने।’’ नीलम कहती है, ‘‘बस जल्दी आ जाए। ऐट्रोफ़ीन तो दे दी है पर चौबीस घंटों के अंदर-अंदर पैम इंजेक्शन लग जाने चाहिए। बेगॉन का ज़हर उनसे ही कटेगा। इफ़ नो पैम दैन नो नीरू।’’

शायद दोनों बाहर चली गई हैं। कुछ देर ब एक डॉक्टर की आवाज़ आती है, ‘‘प्रेगनेंसी टैस्ट निल है। लगता है इट इज़ द केस ऑफ़ अ ब्राईट यंग पर्सन कॉट इन अ ट्राएंगुलर कॉर्टेक्स इसकी हालत अभी भी गंभीर है।’’ दूसरे डॉक्टर की आवाज़ आती है, ‘‘वाट अबाउट हर हार्ट? दिल किस तरह चल रहा है।’’ पहला डॉक्टर कहता है, ‘‘दिल बिलकुल ठीक है। इनफ़ैक्ट इट इज़ ब्राईट।’’

बाद में कई बार अपनी दोस्त शीला रेड्डी को इन दो डॉक्टरों की बातचीत का यह टुकड़ा सुनाती। हर बार वह ख़ूब हँसती, ‘‘लुक ऐट द आइरनी। सब कुछ दिल के कारण हुआ पर दिल को कुछ नहीं हुआ।’’ सच में दिल उसी तरह धड़कता रहा और अब तक धड़कता जा रहा है। धड़कता जा रहा है।

चौबीस घंटों के अंदर ही पैम के इंजेक्शन मिल गए। करनाल जाना तो व्यर्थ रहा, वापस आ कर चंडीगढ़ में छब्बीस सेक्टर के एक स्टॉकिस्ट के पास से मिले। सलिल मेडिकल रिप्रेज़ेंटेटिव है, कुमार विकल का पक्का दोस्त और उसी जितना बड़ा शराबी। चार बरस बाद सलिल ने मेरा ही नुस्ख़ा अपनाया और 27 डाउन नाम की गाड़ी में चढ़कर हमेशा के लिए दूर चला गया। सलिल ने मुझे बचाया था पर जब उसे मेरी ज़रूरत थी तब मैं वहाँ नहीं थी। बाद में कई बरस रात को सपनों में मैं उसे बचाती रही हूँ।

इमरजेंसी वार्ड के बाहर सलिल बीजी से कह रहा है, ‘‘शायद दीपक के साथ नीरू की कोई इनवॉल्वमेंट थी।’’ बीजी उससे कहती हैं, ‘‘लैट इट बी। इतना बहुत है कि वह बच गई है। प्रेगनेंट भी नहीं है। आय केअर फ़ॉर नथिंग एल्स।’’ बाद में पी. जी. आई. के कॉरीडोर में सलिल मुझसे यही पूछता है। मैं सच बता देती हूँ तो वह कहता है कि जैसे बाक़ी दोस्तों के पास गया था वैसे ही वह दीपक को भी संदेश

देने गया था। बाक़ी सब आए पर दीपक "अभी पहुँचता हूँ" कह कहीं लुप्त हो गया। एक बरस बाद दीपक कहता है, "मैंने फ़ैकल्टी हाउस का कमरा बुक करवाया और दो बोतलें रम की लेकर छुप गया। जब तेरे बचने की ख़बर आई तभी मैं बाहर निकला। मेरे बचने की ख़बर ने तुझे और उदास कर दिया होगा।"

"नहीं, अगर तू मर जाती तो मेरा और भी नुकसान हो जाता। आगे ही सैनेट के इलेक्शन में कॉमरेड इस बात को ख़ूब उछाल रहे हैं।"

इस तरह का था दीपक सूरमा जिसके पीछे मैं मरने चली थी। हाँ एक बार और उसने यह भी कहा, "मैं तेरी बहुत इज़्ज़त करता हूँ। किसी और लड़की ने मेरे कारण ज़हर नहीं खाया।" मुझे हँसी आती है। किसी और को कहेगा, "बस सिर्फ़ तू ही पागल हुई है मेरे कारण।" फिर तीसरी से कहेगा, "अभी गर्मी बहुत है, हम सर्दियों में शादी करेंगे।" बस इस तरह के जुमले फेंकते हुए उसने उम्र के बासठ बरस कुँआरे ही काट लिए हैं और अब रिटायर भी हो चुका है।

विकल साहिब कह रहे हैं, "निरुपमा दत्त, तुम मुक्त हो जाओ।" चंदन कह रहा है, "तुझे शर्म आनी चाहिए।" अब मुझे शर्म नहीं आती हँसी आती है। कभी-कभी रुलाई भी आती है।

अब आप ही बताओ हँसी क्यों आती है और रुलाई क्यों? रुलाई इसलिए आती है कि टिक ट्वेंटी और बेगॉन बेट मेरे हिस्से और ओल्ड मॉंक रम उसके हिस्से। हँसी इसलिए कि पंजाब भर के या सारे देश के नीम-पागल मेरे हिस्से। मुझमें ऐसा कुछ ज़रूर है कि इस तरह के दरवेश कच्चे धागे से बँधे मेरी ओर खिंचे आते हैं। 1980 के कोई डेढ़ दशक बाद मेरा एक पत्रकार दोस्त, जो आशिक़ तब्दील हुआ था, ने शाम ढले मुझे फ़ोन करके कहा, "नीरू हम एक साथ कभी जी तो पाएँगे नहीं, चलो एक साथ मर जाएँ।" तब तक मेरा मरने का शौक़ कुछ कम हो गया था। मैंने उसे दिलासा दिया, "ग़म न कर, हम एक साथ ज़रूर जिएँगे।" जब मैंने अपनी दोस्त पम्मी को इस सुसाइड पैक्ट के प्रस्ताव के बारे में बताया तो वह कहने लगी, "ऐसी बातों में मत आ जाना। क्या पता वह तुझे ज़्यादा डोज़ दे दे और ख़ुद कम ले। तू मर जाए और उसे कुछ भी न हो।" बात मेरी समझ में आ गई क्योंकि मैंने कहा न कि मरने मराने में मेरी रुचि कम हो गई थी। वैसे पातर और बटालवी को भी मैं पहले-सी शिद्दत से नहीं पढ़ रही थी। पातर कुछ बदल भी गया था। नीलम मानसिंह के नाटक के लिए उसने गीत लिखा था, "मेरी ख़ुदकुशी की राह में लाखों ही अड़चनें हैं..."

एमरजेंसी वार्ड के डॉक्टर ने सख़्ती से कहा था, "डू नॉट लीव द बैड अलोन।" यह बात भी मेरी समझ में आ गई थी। मैंने अपनी माँ से कहा, "बीजी डॉक्टर चाहता है कि बैड अकेला न छोड़ा जाए। आप थोड़ी देर के लिए बेड पर लेट जाओ, मैं अस्पताल का चक्कर लगा आती हूँ। कुछ लोगों के इंटरव्यू कर लूँगी। मेरी स्टोरी बन जाएगी और कल दफ़्तर जाकर फ़ाइल कर दूँगी।"

दफ़्तर में संपादक प्रभाष जोशी कह रहे थे, "निरुपमा के साथ जो कुछ हुआ, इसके पीछे अवश्य मार्क्सवादियों का हाथ है। वह उनकी लपेट में आ गई थी।" न्यूज़ एडीटर जसवंत सिंह कह रहे थे, "नहीं यह सब उस सरफिरे लेखक मुल्कराज आनंद की बदौलत हुआ है। एक दिन पहले उसी को तो इंटरव्यू करके आई थी। बड़ी ऊलजुलूल बातें कही थीं मुल्कराज ने। मैंने आधी से ज़्यादा स्टोरी काट दी थी।" क्राइम रिपोर्टर शेखर गुप्ता अमृतसर दौरे पर था और वहाँ के रिपोर्टर, मेरे दोस्त जगतार से पूछ रहा था कि कहीं नीरू के मरने के यत्न के पीछे कोई उसकी ग़ुस्ताख़ी तो नहीं थी। भलेमानस जगतार डिनाइल जारी कर रहा था। सुना जगतार भी मेरी ख़ैर-ख़बर लेने आया था पर मुझसे कहीं नहीं मिला। बस दोस्तों से मेरा हालचाल

पूछकर वापस चला गया। आया तो दर्शन जैक भी था पर दीपक से हादसे का कारण पूछकर चला गया। यह बहुत बाद में दीपक ने मुझे बताया कि उसने दर्शन से कहा, ''कारण कुछ भी नहीं था। वह बड़ी सेंसेटिव है। मुझे कहने लगी कि उसे बाज़ार तक छोड़ आऊँ। मैंने मना कर दिया तो उसने जाकर ज़हर खा लिया।''

अब आप ही बताओ मैं हँसूँ या रोऊँ?

दर्शन के आने का कई बरसों बाद पता चला और अच्छा लगा। अगर मुझसे मिलता तो मैं उसे कारण बताती। दीपक सूरमे ने मुझसे कहा था, ''प्यार तो मैं तुम्हें ही करता हूँ। उस कश्मीरन से तो मुझे मजबूरन विवाह करना पड़ रहा है। कोहली और तिवारी मुझ पर बहुत दबाव डाल रहे हैं। वैसे विवाह में मेरा विश्वास नहीं। मेरे लिए बस घर में एक नौकर रखने सा है। हम दोनों को तो ज़्यादा छूट मिल जाएगी। विवाहित पुरुष के घर बेधड़क आया जाया जा सकता है।'' मैं उस समय का अचंभा किशोर कुमार के एक कॉमेडी गाने की पंक्तियाँ दोहरा कर ही बता सकती हूँ, ''ऐसी हक्का, हक्का, बक्का, दुनिया पागल है अलबत्ता। डाली टूटी, फल है कच्चा। बाग़ लगाया पक्का...''

अपनी ओर से तो हम बाग़ पक्के ही लगाते हैं पर डालियाँ टूट-टूट जाती हैं? कच्चे फल गिर जाते हैं। फिर नए बाग़ लग जाते हैं। पुराने ग़ुस्से-गिले भूल जाते हैं। पर शायद कोई फ़ाइल हार्ड डिस्क में बची रह जाती है। अचानक कोई बटन दब जाता है और फ़ाइल वापस आ जाती है। पता नहीं किस वक़्त कब का गिला याद आ जाए। यह सन् 2004 है या 1980? मेरी उम्र पच्चीस बरस है या उनचास साल?

डॉक्टर ने कहा था बैड ख़ाली नहीं छोड़ना सो मैं बैड पर बैठी थी और मेरे सामने एक पुलिस वाला खड़ा था। कह रहा था, ''मेरा बयान लेने आया है।'' मैंने बयान देने से साफ़ इनकार कर दिया। कहने लगा, ''मुझे आई. जी. साहिब ने भेजा है।'' मैं भड़क उठी, ''मैं कि आई. जी. वाई. जी. को नहीं जानती। आप लाइक ब्यूरोक्रैट्स।'' पुलिस वाला फिर क लगा, ''इंडियन एक्सप्रेस के संपादक प्रभाष ने उनसे कहा है इस बयान पर दस्तख़त कर को।'' यह नाम सुनते ही मेरा सारा ग़ुस्सा हो गया। पुलिस वाला एक काल्पनिक ब पढ़कर सुनाने लगा जिसमें लिखा था कि मैं देर तक पढ़ती रही। फिर मैं बत्ती बुझाकर ले गई। मेरा सर दुख रहा था और नींद नहीं आ र थी। अँधेरे में मैंने दवाइयों वाली मेज़ की ओर हाथ बढ़ाया। मैं सरदर्द की गोलियाँ खाना चाहती थी पर ग़लती से मेरे हाथ माँ की नींद की गोलि आ गईं। मैं वह गोलियाँ खा गई वग़ैरा वग़ैरा। बिलकुल सफ़ेद झूठ। इतना झूठ तो दीपक सूरमे भी नहीं बोलता। मैं चुपचाप यह झूठ कबूल क गई और दस्तख़त कर दिए। अफ़ीम का न कुछ देर के लिए उतर गया। मेरे हाथ के ऊ एक प्लास्टिक की नलियों का फूल-सा लग गया जिसकी राह डॉक्टर मुझे इंजेक्शन देते। सारा बदन सुइयों से छलनी हुआ पड़ा था। ऐट्रोफ़ीन का एक इंजेक्शन लगा और मैं फिर स्वप्निल दुनिया में पहुँच गई। कुछ दिन पहले मैं पटियाला शायरा मंजीत टिवाणा का नाटक ''सावित्री'' देखने गई थी। नाटक अच्छा नहीं लगा और अपने कॉलम ''फ्रॉम द फ्रंट रो'' में मैंने उसकी ख़ासी निंदा की थी। मंजीत मुझसे नाराज़ नहीं हुई क्योंकि उसका ख़याल था कि इस बुरे रिव्यू के पीछे आलोचक सुतिंदर सिंह नूर का हाथ था या फिर दीपक सूरमे का। उधर व्यंगकार भूषण ने एक कविता तैयार कर ली थी। मंजीत के बचपन का नाम चिड़ी था और भूषण कह रहा था : चिड़ी है चीखदी कावां दे विचकार, कविता तो नाटक ता बेचारी लाचार।

इमरजेंसी वार्ड के बैड पर बैठी मैं यह पंक्तियाँ साइकेटरी वार्ड के डॉ. जलोटा को सुना रही थी। कहना मैं यह चाहती थी कि मैं चिड़िया हूँ

और पुरुष प्रधान समाज में कौओं की शिकार हूँ। उधर डॉ. जलोटा मुस्कुराते हुए मेरे लिए ड्रग थैरेपी तैयार कर रहा था। नीलम का बड़ा भाई मेरा कज़न बब्बू, जो ख़ुद हैड इंजुरी का शिकार हो चुका था, यह तमाशा देख रहा था। घर जाकर उसने कैलाश चाची से कहा, ''नीरू तो पागल हो गई है। कभी दवाइयों की शीशियों की ओर इशारा कर कहती है कि यह मेरे रंग हैं जिनसे मैं पेंटिंग बनाऊँगी। कभी चिड़िया और कौओं की कविता सुनाने लगती है।''

चार दिन बाद मुझे इमरजेंसी वार्ड से छुट्टी मिली। नीलम डॉक्टर से मेरी डाइट के बारे में पूछ रही थी, ''डॉक्टर, नीरू क्या खा सकती है?'' डॉक्टर हँसते हुए कहा रहा था, ''सब कुछ खा सकती है सिवाय उस सबके जो वह यहाँ खाकर आई थी।''

''ही, ही, ही, वेरी फ़नी।''

मैं वार्ड तक पैदल जाना चाहती थी लेकिन डॉक्टर ने कहा कि मुझे स्ट्रेचर पर डालकर ही ले जाया जाए। मेरे कानों तक कुछ शब्द पहुँच रहे थे, ''48 घंटे क्रिटिकल, वरटिगो, ब्रेन फ़्लूइड लॉस, पैरालाइज़ेज।'' पर यह कुछ भी नहीं हुआ मेरे साथ। थोड़ी देर के लिए याददाश्त में ज़रूर कमी आई। मैं भूल-सी गई थी कि मेरी दुनिया में कौन है, कौन नहीं है। तेरह दिन बाद जब मैं इंडियन एक्सप्रेस के दफ़्तर 186-बी, इंडस्ट्रियल एरिया में पहुँची—क्योंकि घरवालों और दफ़्तरवालों ने तय किया था कि कोई ड्रग थैरेपी नहीं, कोई काउंसलिंग नहीं, बस इसे वापस काम पर लगाया जाए—तो मेरी नज़र अचानक एडिटोरियल के क्लर्क मि. रावत पर पड़ी। मैं तो मि. रावत को भूल ही गई थी। उन्हें देखकर मुझे मेरे बच जाने का रंज कुछ कम हुआ। वैसे यह रंज बहुत देर तक रहा और रातों को जाग मैं मरने का फूल प्रूफ़ ढंग के बारे में सोचती रहती। दिन में मैं दफ़्तर का काम करती। कुछ साल बाद कुमार विकल मुझसे नाराज़ हो गए। मैंने उनके बारे में कुछ उलटा-सीधा लिख दिया था। वह शहर भर में घूमते, दोस्तों के घर जाते और कहते, ''यह निरुपमा दत्त कैसी है? जिस थाली में खाती है, उसी में छेद करती है। उस दिन जब उपेन्द्रनाथ अश्क को खाने पर बुलाया तो यह भी आई थी। चिकन खाकर गई और गाजर का हलवा भी। फिर भी अश्क के हक में और मेरे ख़िलाफ़ लिख गई। इस पर मानहानि का दावा करूँगा मैं।'' ठीक ही कहते थे विकल। दफ़्तर पहुँचकर मैंने पहला लेख साइकेटरी वार्ड की खिल्ली उड़ाते हुए लिखा। हाँ, इमरजेंसी वार्ड के बारे में कुछ नहीं लिखा। शायद कहीं मैं शुक्रगुज़ार भी थी। जीने का शौक़ कुछ-कुछ जाग रहा था...

मुझे लगता है *संख* मुझ जैसी भोले जीवों के ख़िलाफ़ एक साज़िश है। अगर मंजीत अज्ञातवास में न होती तो मेरे साथ सहमत होकर कहती कि इस साज़िश के पीछे भी दीपक या नूर का हाथ होगा। विकल है नहीं पर अगर अमितोज बीमार न होता तो कहता कि इसके पीछे ''अपने कुमार विकल'' का हाथ है। यह इसलिए कि अमितोज व अन्य शायद जब किसी लड़की से मिलने जाते तो यही कहते कि वह कुमार विकल से मिलने जा रहे हैं। मैं भी जब अपनी हरी हीरो मैजेस्टिक पर सवार हो फैकल्टी हाउस के दस नंबरिए से मिलने जाती, घर यही कहती कि विकल से मिलने जा रही हूँ।

दफ़्तर वापसी पर प्रभाष जी ने मुझे अपने कैबिन में बुलाया और क्रिकेट की बातें छेड़ दीं, पता नहीं क्यूँ? मैं क्रिकेट के बारे में कुछ नहीं जानती वह क्रिकेट के बारे में बहुत कुछ जानते हैं। कई बार वह कपिल देव को दफ़्तर बुलाकर लड्डू खिलाते हैं। स्लिप, गली, डीप फ़ाइन लेग और न जाने क्या-क्या की बातें करते हुए वह अचानक पूछते हैं, ''तो तुम्हें कुमार विकल से इश्क़ हो गया था?''

मैं काँप उठती हूँ, ''नहीं! जोशी साहिब यह कैसे हो सकता है? वह तो बहुत बड़े हैं। वह शहर के शायर हैं।''

''फिर उन सज्जन का नाम क्या है जिन पर आप मर-मिटने चली थीं?''

मैं बताती हूँ, ''दीपक सूरमा।'' संपादक को तो फ़ैक्ट बताने ही पड़ते हैं।

प्रभाष कहते हैं, ''भला यह भी कोई नाम हुआ? ऐसे नाम वाले से कैसे इश्क़ हो सकता है तुम्हें? टैल मी वाए आर यू सो वलनरेबल?''

मेरे जवाब का इंतज़ार किए बिना ही वह फिर क्रिकेट के बारे में...। सोचती हूँ अगर डॉ. जलोटा वहाँ मौजूद होते तो इन्हें भी ऐक्यूटली साइकाटिक बता इलेक्ट्रिक शॉक थैरेपी रिकमेंड कर देते।

प्रभाष कहते हैं, ''इस बार तुम्हें टेस्ट मैच ज़रूर दिखाने ले चलूँगा।''

मैं हैरान हूँ कि मेरे नाकामयाब इश्क़ और नाकामयाब ख़ुदकुशी से क्रिकेट का क्या संबंध?

मैं उन्हें बताना चाहती हूँ, ''मेरी क्रिकेट के खेल में कोई दिलचस्पी नहीं।'' पर मैं कुछ नहीं बोलती क्योंकि मुझे हँसी आ रही है और रुलाई भी। हँसी इसलिए कि मैंने खेल खेलने सीखे ही नहीं। रुलाई इसलिए कि अगर मर जाती तो दीपक सूरमा रम की दो और बोतलें चढ़ा लेते और चीनी ब्राह्मण के श्राप के कारण मैं कहीं कॉकरोच बन रेंगती होती। पुलिस वाले के लिखे और मेरे दस्तख़त किए बयान के अनुसार मेरी ख़ुदकुशी एक मामूली हादसा थी—अँधेरे में खाई नींद की गोलियाँ। बीजी और सलिल रो-रोकर चुप हो जाते। सिद्धू दमदमी से तब जानकारी नहीं थी सो किसी ने यह भी नहीं पूछना चाहा था, ''कहाँ हो तुम?'' हाँ विकल साहिब शायद कहते, ''मुक्त नहीं हो पाई, वह दुनिया की सबसे मूर्ख लड़की!''

जो हुआ सो अच्छा हुआ। मैं सबसे मूर्ख लड़की बनने से बच गई। कई बार बचकर भी बहुत कुछ मर जाता है और कई बार मरकर भी बहुत कुछ बचा रह जाता है।

मित्रा फुकन

बोहाग*

एक बार फिर वसंत आ गया है। बोहाग आ गया है। सारा वातावरण ढोल और पेपा की आवाज़ से गूँजने लगा है। एक बार फिर बीहू* गीतों की धुनें, कठोर से कठोर दिलों को भी गुदगुदाने लगी हैं। शहर की गलियाँ आकर्षक कपड़े पहने लोगों से भर गई हैं। लोग अपने प्रिय गायकों को सुनते, एक बीहू पंडाल से दूसरे पंडाल में घूम रहे हैं। इन पंडालों में आकर्षक युवकों के ढोल, मंजीरों और गानों पर लचकदार कमर वाली नर्तकियाँ थिरक रही हैं।

हाँ, यह बोहाग है। ख़ुशी का महीना। उत्सव का समय। रात भर अपने साथी को बुलाती कुली पक्षी की अंतहीन पुकार गूँजती रहती है। केतकी के फूल अपनी सारी लाजो-शर्म को छोड़ बोहाग के स्वागत में खिल गए हैं। मधुमक्खियाँ सौंदर्य के इस अप्रतिम ख़ज़ाने पर मँडराने लगी हैं।

एक लंबे अरसे बाद रोंगाली बीहू पर मैं समय से पहुँच पाई हूँ। इंग्लैंड—बल्कि स्कॉटलैंड में मेरी ज़िंदगी अपने आप में परिपूर्ण और उपलब्धि भरी है। फिर भी उसके सलेटी, बदरंग आसमान में मैं अकसर बोहाग के सुनहरे चमकदार नीले आसमान को ढूँढ़ती रहती। सर्दी के ठिठुरते बदन पर मैं हमेशा वसंत के सूरज की गर्माहट...प्रेमी के स्पर्श जैसे कहीं भीतर तक गुदगुदा देनेवाले हवा के झोंके के लिए तरसती रही। कभी-कभी आश्चर्य होता है कि पूरा शहर वसंत को उसकी इन सारी ख़ूबियों का अहसास किए बग़ैर ही मना लेता है। सच तो यह है कि मैं भी सूरज की उस गर्माहट को तब तक नहीं जान पाई जब तक मैं ख़ुद को नहीं जान गई। और ख़ुद से मेरा परिचय भी अपनी जन्म भूमि में रोंगाली बीहू पर ही हुआ था।

इस बार वसंत में मैं ख़ूब हँसी, ख़ूब नाची और सचमुच खुश रही। मेरी रगों में भी ऊर्जा दौड़ने लगी थी, यह अलग बात है कि अब मैं पहले जैसी युवा नहीं रही। मैं अपने दोस्तों और परिवार के साथ एक बीहू टोली से दूसरी बीहू टोली में घूमती रही। गाने

1953 में जन्मी मित्रा फुकन भारतीय अंग्रेज़ी में कहानियाँ और बच्चों के लिए लिखती हैं। बाल साहित्य की दो पुस्तकें प्रकाशित। चिल्ड्रन बुक ट्रस्ट से पुरस्कृत। संपर्क : 'जुरोनी' 34 जू-नारंगी रोड, गुवाहाटी-781021 (असम)

अनु. स्वप्निल भारतीय आर्नी अंग्रेज़ी-हिंदी में परस्पर अनुवाद करते हैं। संपर्क :डॉ. एन.एस. अलम, 159, ज़ाकिर बाग अपार्टमेंट्स, ओखला रोड, नई दिल्ली-110025

---

* बीहू : असम का वसंत पर्व।

* बोहाग : रोंगाली बीहू : रंग-बिरंग बीहू पर्व।

सुनती, नृत्य देखती...उस उन्मुक्त ख़ुशी, प्रेम और हँसी को एक-दूसरे से बाँटती मैं बीहू का आनंद ले रही थी। लेकिन इस उत्सव, इस आनंद के बीच मुझे वरुण की कमी खलती रही। और वरुण...दुनिया के दूसरे हिस्से में बैठा अपने काम में इतना व्यस्त था कि उसके पास एक महीने की छुट्टी लेकर घर आने का समय भी नहीं था। लेकिन वह रोज़ाना फ़ोन करता। पूछता कि मैंने किस तरह दिन बिताया। किस-किस से मिली। यहाँ हिंदुस्तान में ज़िंदगी कैसी चल रही है?

मैंने उसे यूँ ही बता दिया कि कल रात मैंने तुम्हें देखा। उसने पूछा कि क्यों मेरी तुमसे बात हुई। अचानक टेलीफ़ोन के तारों में घरघराहट होने लगी और मैंने उसी घरघराहट में पूरी ईमानदारी से कहा, ''नहीं। हमारी बात नहीं हुई।'' वास्तव में मैं तो जानती ही नहीं कि कल तुमने मुझे देखा भी था या नहीं।

जब सीमा और सुरजीत ने मुझे अपने घर पर बीहू पार्टी के लिए बुलाया था तब मुझे ज़रा-सा भी अंदाज़ा नहीं था कि तुम भी वहाँ होगे। मैं ख़ुश थी कि इस मौक़े पर उन्होंने मुझे आमंत्रित किया। सीमा ने मुझसे कहा था कि पार्टी में बहुत से पुराने दोस्त मिलेंगे—सुरजीत, धनंजय, रेखा, शमीम; बॉबी, अचिंत्य, रुनझुन—सब आ रहे हैं। वे सब मुझसे मिलने का इंतज़ार कर रहे हैं। एक लंबा समय बीत गया हम सबको एक साथ एक जगह इकट्ठा हुए। लेकिन जाने से पहले उसने यह नहीं बताया कि तुम भी वहाँ होगे। शायद वह बताना भूल गई थी लेकिन यह कैसे हो सकता है? जो भी हमारे बारे में जानता था वह मुझसे बात करते हुए तुम्हें भूल ही नहीं सकता। हर वह शख़्स जो हमारे अतीत से परिचित था, मेरा ज़िक्र आने पर तुम्हें कैसे भूल सकता था...या तुम्हारा ज़िक्र आने पर मुझे? रश्मि और रिद्धिमान। एक-दूसरे के पूरक थे हम। किशोरावस्था में जन्मी और युवावस्था की दहलीज़ चढ़ती एक शानदार जोड़ी थी हमारी।

हमारी जोड़ी स्वर्ग में बनी लगती थी। यहाँ तक कि हमारे नाम—रश्मि और रिद्धिमान किसी कविता की तुकबंदी जैसे लगते थे। अगर रिद्धिमान कहीं होता तो पास ही रश्मि का होना अपरिहार्य था। अगर किसी को रश्मि की हँसी सुनाई देती तो सहज ही अनुमान लगाया जा सकता था कि रिद्धिमान ने कुछ चुटकी ली होगी।

मैं तुम्हारी प्रेरणा थी...यह तुम अकसर कहा करते थे। तब हमारे जीवन के हर क्षण, हर विचार एक-दूसरे से उस तरह घुले-मिले थे जैसे लोहित* के पानी के साथ उसके तट की रेत। एक का अस्तित्व दूसरे के बग़ैर अधूरा था। एक-दूसरे का विस्तार थे हम।

तुम कहते थे कि तुम्हारी सारी कविताएँ, सारे गीत मेरे लिए थे। और मैं तुम्हारे आकर्षण का केंद्र बनी एक अनोखी चमक में दमकती रहती थी। गाते हुए जब तुम लोगों के बीच से मेरी तरफ़ देखते, तो सबको आत्ममुग्ध करती मख़मली आवाज़ में तुम्हारा कहा हर शब्द मुझे सच लगता।

लेकिन पैट्रियार्क की लारा की तरह क्या किसी की प्रेरणा भर होना काफ़ी है?

आश्चर्य की बात है, कल रात जब मैंने तुम्हें देखा तो इतने दिनों बाद भी मुझे एक अजीब-सी झुरझुरी महसूस हुई। वह क्या था, किस बात की झुरझुरी थी, मैं नहीं जानती। पर वह प्यार नहीं था। ऐसा कुछ भी नहीं जैसा मैंने कॉलेज के दिनों में तुम्हारे लिए महसूस किया था। तब तुम्हारी एक झलक मुझे रोमांचित कर देती थी। लेकिन कल रात भी मैंने कुछ महसूस किया था। और क्यों न करती, इतने साल हमने साथ बिताए हैं। मुझे अभी भी वे लंबी दोपहर याद हैं जो हम कृष्णसुरा पेड़ों के नीचे बिताते थे। पूरी शाम हम लोहित के मौन किनारे पर बैठे उस विशाल नदी को चुपचाप बहते देखते रहते थे।

लोहित : ब्रह्मपुत्र नदी का दूसरा नाम।

लोहित की शांति ने हमें कभी उसकी विराटता और शक्ति का अहसास ही नहीं होने दिया।

कल रात तुम लोहित के बारे में ही गा रहे थे। सीमा ने अपने लॉन में एक छोटा-सा स्टेज बनवाया था। बग़ीचे के पार बैठकर गाते तुम ठीक वैसे ही लग रहे थे जैसे कॉलेज के दिनों में लगते थे। हमेशा की तरह सबके आकर्षण का केंद्र। गिटार, हारमोनियम और...अब तो तुमने एक सिंथेसाइजर भी ले लिया है। इन सबसे घिरे तुम ठीक वैसे ही लगे जैसे दस साल पहले दिखे थे, जब मैंने तुम्हें आख़िरी बार देखा था। शक्तिशाली, रूमानी, कमज़ोर और...बेहद आकर्षक।

किसी लड़की का सपना सच होने जैसा था सब कुछ।

लेकिन सपने एक-आयामी होते हैं—जीवन नहीं। ज़िंदगी के कई आयाम होते हैं। कई रूप होते हैं। होते हैं न?

मुझे यह देश छोड़े पंद्रह साल बीत गए। इन पंद्रह सालों में तुम्हारे बारे में मैं लोगों से सुनती रही। कुछ बातें उन दोस्तों से पता चलतीं जो स्कॉटलैंड घूमने आते और हमसे मिलते। कुछ बातें तब मालूम होतीं जब मैं घर आती और यहाँ लोगों से मिलती। हालाँकि मैं ज़्यादा कुछ नहीं जानती थी। बस इतना पता था कि तुम अभी भी यहीं हो, इसी शहर में...जहाँ तुम युवा हुए। लोगों ने बताया कि तुम काम करने लगे हो...और गाना भी गाते हो। लेकिन तुम्हारी नौकरी तुम्हें गाने वग़ैरह के लिए समय ही नहीं देती है, इसलिए कभी मौक़ा आने पर दोस्तों के घर या बीहू टोली में गाकर अपना शौक़ पूरा कर लेते हो।

लेकिन किसी ने भी मुझे तुम्हारे भीतर आए परिवर्तन के बारे में नहीं बताया था। मैं शक्लो-सूरत नहीं, तुम्हारी आवाज़ में आए बदलाव की बात कह रही हूँ। आवाज़ ही तो तुम्हारी विशेषता थी। तुम्हारे छह फ़ुट लंबे बदन और क़रीने से तराशे नाक-नक़्श से भी ज़्यादा।

कितनी ही बार हम एक-दूसरे का हाथ पकड़े पार्क की किसी बेंच पर बैठे रहते थे। तुम बोलते रहते। मैं चुपचाप आँख बंद कर लेती और तुम्हारी आवाज़ अपने भीतर गूँजने देती। उसी समय बोहाग की चमकीली धूप वसंत के फूलों की महक हमारे ऊपर बिखेर देती।

लेकिन कल रात मैंने अगर देखा न होता तो शायद विश्वास न कर पाती कि तुम ही गा रहे हो। तुम्हारी आवाज़ सचमुच बदल गई है। अब वह मेरी आत्मा का कोई तार नहीं छेड़ती है। पिछली रात तुम्हारी आवाज़ सुनकर एक क्षण के लिए भी मुझे ऐसा नहीं लगा कि मैं तुम्हारी मनोदशा से तादात्म्य बिठा पा रही हूँ। हो सकता है तुम्हारी आवाज़ न बदली हो बल्कि मैं बदल गई हूँ।

तुम भूपेन हजारिका का वही गीत गा रहे थे जो तुम्हारा हमेशा से प्रिय रहा है। और मेरा भी।

शोइशोबोते, धीमालिते
तोमारे ओमोला मोंतो आसे
बोहाग माहोर लोहित खोनित
दुयो सतूरा मोनोत आसे...

(मुझे सब याद है...वह आनंद, वे बचपन की शरारतें बोहाग के महीने में लोहित में डुबकियाँ लगाना यौवन में पहली बार तुम्हारा शर्म से भीगना जब मैंने कहा था कि तुम्हारे बिना मैं ख़ुद को ख़त्म कर लूँगा।) वहाँ कई दोस्तों ने मुझे देखा। वे सब मुझसे गर्मजोशी और मुस्कुराहट के साथ मिले। लेकिन उन सबके चेहरों पर एक अजीब-सी सतर्कता थी। उनमें से कुछ लोग तेज़ी से स्टेज की तरफ़ देखते फिर मुझे देखते। ऐसा लाजमी भी था। दस साल बाद, बल्कि पूरे पंद्रह साल बाद वे तुम्हें और मुझे एक जगह पर देख रहे थे। रश्मि और रिद्धिमान। एक का नाम लिए बग़ैर दूसरे का नाम कैसे ले सकते थे। लेकिन अब ऐसा करना अनुचित है, अस्वीकार्य है।

हर जगह, हर तरफ़ लोग वसंत के आगमन का उत्सव मना रहे थे। तुम गाते रहे और लॉन में जमा लोग तुम्हारे साथ गुनगुनाते रहे। जैसे ही तुमने उस तूफ़ान के बारे में गाना शुरू किया, जिसने तुम्हारी ज़िंदगी के वसंत को तबाह कर दिया था, तुम्हारी आवाज़ भावनाओं के ज्वार-सी तेज़ हो गई।

तुमने मुझे किसी और के लिए छोड़ दिया...
अपने दिल के मंदिर को पीछे छोड़कर,
तुम धनकुबेर के साथ चली गईं।
दौलत का गुणगान करती तुमने मुझे छोड़ दिया
धन के प्रेम से सराबोर
उस तूफ़ान में।

जब तुम इन पंक्तियों को गा रहे थे, लोग चोरी-चोरी मेरी तरफ़ ही देख रहे थे। पहले भी कितनी ही बार मैंने तुमको सिर्फ़ यही गाना गाते सुना है। कितनी ही बार मैं इन पंक्तियों को सुनकर भाव-विभोर हुई हूँ। पर कल रात ऐसा लगा कि इन पंक्तियों में कोई विशेष अर्थ छिपा हुआ है।

अचानक मेरे सामने सब कुछ स्पष्ट हो गया। लॉन में खड़े वे सारे लोग जो हमारे बारे में जानते थे। वे लोग जो चोरी-चोरी से मेरी तरफ़ देख रहे थे। उन सबकी, खासकर तुम्हारी नज़रों में मैं एक धोखेबाज़ थी...एक धोखेबाज़ हूँ।

जो गाना तुम गा रहे थे, वह उनकी नज़रों में, हमारी पंद्रह साल पुरानी ज़िंदगी के बारे में था। उनके क्या...तुम्हारे लिए भी यह गाना हमारी ज़िंदगी की कहानी बन गया था।

इसका अहसास होते ही मैं लड़खड़ा-सी गई और राधाशुरा के पेड़ के नीचे पड़ी कुर्सी पर बैठ गई। हाँ निश्चित रूप से वह मैं ही थी जो अपने प्रेम को छोड़कर अमीरों के देश चली गई थी। तुम्हारे गाने की नायिका मैं ही थी न? मैं ही थी जिसने अपने प्रेमी की नौकरी लगने तक प्रतीक्षा नहीं की...और अचानक एक एन. आर. आई. से शादी कर ली थी। एक ऐसे व्यक्ति से मुझसे उम्र में काफ़ी बड़ा था...जो मुझे वह दे सकता था जिसके बारे में तुम कल्पना नहीं कर सकते थे? तुम...तुम सब यही हो न?

लेकिन वास्तव में ऐसा कुछ नहीं था। नहीं था। मैंने तुम्हें कभी धोखा नहीं दिया। प्यार को धोखा देना स्वयं को धोखा देना है। मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ। और क्या की कोई ज़रूरत है भी? तुम्हारी आवाज़ पहले से भी ज़्यादा कठोर हो गई थी। गाने के शब्द मेरे कानों में पड़े।

अचानक लंबे समय बाद
मैंने तुम्हें फिर देखा
तुम्हारे आभूषणों का सोना दूर से चमकता...

हाँ मुझे लगता है कि मुझे समझाने की ज़रूरत है। सिर्फ़ तुम्हें ही नहीं बल्कि ख़ुद को भी। तुम चाहो तो इस बात से ख़ुद को दिलासा दे सकते हो कि मैंने तुम्हें धोखा दिया। मुझे लेकर ऐसा सोचना तुम्हारे लिए कहीं ज़्यादा आसान है। लेकिन ख़ुद तुम्हारा दिल जानता है, यह सच नहीं है। तुम जानते हो न?

मुझे वह समय याद है। दस साल पहले की बात है। मैं वरुण के साथ घर आई थी। हम इससे पहले भी कई बार छुट्टियों में घर आ चुके थे। मैं उस समय बेहद ख़ुश थी। उस "सोने" की वजह से नहीं जो तुमने मेरे ऊपर देखा था। मैं इसलिए ख़ुश थी क्योंकि पहली बार ज़िंदगी सचमुच ज़िंदगी लग रही थी। सारी चीज़ें ठीक से चल रही थीं। मैंने एक जानी-पहचानी ब्रिटिश युनिवर्सिटी से बायोकेमिस्ट्री में पी. एच. डी. पूरी की थी। उसके तुरंत बाद एक चुनौती भरी नौकरी भी मिल गई थी। मुझे इसी का इंतज़ार था।

निस्संदेह वेतन काफ़ी अच्छा था। लेकिन रिद्धिमान क्या तुम विश्वास करोगे, मैं सिर्फ़ अच्छे वेतन की वजह से ख़ुश नहीं थी। मैं इसलिए

ख़ुश थी क्योंकि मैं एक ऐसी टीम का हिस्सा बन गई थी जो विज्ञान के अग्रणी क्षेत्र में काम कर रही थी। जेनेटिक मॉडिफ़िकेशन जैसा चुनौती भरा क्षेत्र। अंततः पहली बार मुझे अहसास हो रहा था कि मैं कुछ ऐसा करने जा रही हूँ जो सचमुच मानवता के विकास में योगदान करेगा। मैं नहीं जानती कि तुमने कभी इस तरह से महसूस किया या नहीं। पर मैंने किया था।

दस साल पहले उस दिन मेरे चेहरे पर तुमने जो चमक देखी थी वह सोने की नहीं थी। वह चमक ख़ुशी की थी...अपना सपना साकार होने की ख़ुशी। इसीलिए मैं ख़ुश हूँ रिद्धिमान, इसीलिए। और यह ख़ुशी तुम्हारे साथ रहने की ख़ुशी से कहीं ज़्यादा है। यौवन के उस वसंत में तुम्हारी आवाज़ में मैं नहा-सी जाती थी, लेकिन मेरे मन को हमेशा कुछ कचोटता रहता था। कविताएँ बहुत अच्छी होती हैं, संगीत भी। लेकिन ज़िंदगी के लिए और भी चीज़ों की ज़रूरत होती है। उनका क्या? मैं साइंस की छात्रा हूँ और मेरा दिमाग़ हमेशा यथार्थ के तर्क को स्वीकार करता है। लेकिन जब मैं इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप से जीवन के अणुओं को देखती हूँ...जब मैं अपने साथी वैज्ञानिकों के किए कामों के बारे में पढ़ती हूँ तो अचानक कविता की शक्ति मुझे वह होने का अहसास दिलाती जो मैं तुम्हारे साथ कभी महसूस न कर सकी। इतने दिनों के शोध के बाद अब मेरे नाम पर कई पेटेंट हो गए हैं। और इन उपलब्धियों का संगीत उन गीतों से कहीं मीठा है जो तुम मेरे लिए गाते थे।

क्या यह पैसे के प्रति प्रेम है? क्या यह दौलत का घमंड है? कम-से-कम मुझे तो ऐसा नहीं लगता, रिद्धिमान। मुझे विश्वास है, अगर तुम तटस्थ होकर सोचोगे, तो तुम्हें भी ऐसा नहीं लगेगा।

मेरे कई पुराने दोस्त कल रात वहाँ थे। वे सब मुझसे उसी दोस्ताना अंदाज़ में मिले जैसे हमेशा मिलते थे। ऐसा लग रहा था हम पंद्रह साल नहीं पंद्रह दिनों बाद मिल रहे हों। हमने बातें कीं...हर तरह की हल्की-फुल्की बातें जबकि मेरे दिमाग़ में रह-रहकर तुम्हारे...हमारे बारे में विचार आ रहे थे। सीमा उन सभी को मुझसे मिलवाने ले आई थी। सब थे वहाँ—रुनझुन, रीता, शमीम, धनंजय। उसने कहा था, ''देखो कौन आया है।''

''तुम बहुत अच्छी लग रही हो रश्मि।'' किसी ने कहा, ''हमें तुम पर गर्व है। हम तुम्हारे बारे में अख़बार में पढ़ते रहते हैं...हम तुम्हारे पति के बारे में भी पढ़ते रहते हैं...वह कहाँ हैं...क्या आए नहीं। तुमने कभी उनसे मिलवाया ही नहीं...'' इसी तरह की ढेर सारी बातें।

तभी तुमने फिर वही अंतरा दोहराया जिसमें उस तूफ़ान का ज़िक्र था जो मुझे तुमसे दूर ले गया था।

''पता है तुम्हें, उसने शादी नहीं की है?'' रुनझुन ने कहा। स्टेज की तरफ़ घूमी मेरी नज़रों का उसने कुछ और मतलब निकाल लिया था। मैंने सावधानी से जवाब दिया, ''ओह सचमुच! बेचारा!'' या इसी तरह से कुछ कहा था मैंने।

रुनझुन की आवाज़ में किसी तरह के आरोप जैसी बात नहीं थी। फिर भी मुझे ग्लानि-सी महसूस हुई। अचानक वह ग्लानि ग़ुस्से में बदल गई और फिर उदासी में।

यह मेरी ग़लती नहीं है कि तुमने शादी नहीं की। मैंने तुमसे कभी नहीं कहा कि तुम शादी मत करना। बल्कि सच तो यह है, और मुझे अच्छी तरह याद भी है, मैं चाहती थी कि तुम ख़ुश रहो। मैं अभी भी यही चाहती हूँ। मैंने अपने आकाश में एक इंद्रधनुष देखा था, मैं तुम्हारे लिए भी एक इंद्रधनुष चाहती थी। उस समय तुम्हारी ज़िंदगी में एक तूफ़ान-सा आ गया था। सचमुच वह एक कठिन, झंझावात भरा दौर था। हमने साथ-साथ ग्राजुएशन पूरी की थी। तुमने अंग्रेज़ी में और मैंने केमिस्ट्री में। मैंने आई.आई.टी. दिल्ली में आवेदन किया और

वहाँ मेरा चयन हो गया। तुम भी पढ़ाई के लिए दिल्ली जाना चाहते थे। लेकिन वहाँ तुम्हें दाख़िला नहीं मिला। तुमने कई जगह कोशिश की पर सिर्फ़ निराशा हाथ आई। तुम छटपटाहट में कोई नौकरी ढूँढ़ रहे थे। तुम न जाने कितनी परीक्षाओं में बैठे। सिविल सर्विस, बैंकिंग...तुमने हर जगह असफल प्रयास किया। वे तीन साल तुम्हारे लिए सिर्फ़ निराशा और अवसाद भरे थे।

इस दौरान हमारा आपस में संपर्क बना रहा लेकिन मेरी ऩई ज़िंदगी, नई पढ़ाई बेहद उत्तेजना और चुनौती भरी थी। इस सबके बावजूद मुझे भीतर-ही-भीतर एक ग्लानि खाए जा रही थी। उसका कारण शायद यह था कि मेरी ज़िंदगी सफलता की ओर बढ़ रही थी जबकि तुम्हारी नहीं। क्या यह ग्लानि मुझे इसलिए महसूस हुई क्योंकि मैं एक औरत हूँ?

संभवत: वर्षों तक मैंने तुम्हारी किसी नायक की तरह पूजा की थी। हमेशा तुम्हारी कविता और संगीत की पूजा की थी। लेकिन अब मैं ख़ुद वह सब कर रही थी जो मैं करना चाहती थी। मैं उसमें सफल भी हो रही थी। कई बार तुम्हारे पत्रों को पढ़कर लगता कि मेरे लिए आगे बढ़ना, सफलता अर्जित करना ग़लत था। क्योंकि मेरा पुरुष ज़िंदगी के हर मोड़ पर लगातार असफल होता जा रहा था। तुम अपनी आजीविका अर्जित करना चाहते थे। तुम ज़िंदगी भर के लिए मेरा सहारा बनना चाहते थे। लेकिन घटना उस तरह से नहीं घट रही थीं जैसा तुम चाहते थे। मुझे तुम पर दया आने लगी थी। क्या कोई औरत ऐसे आदमी से शादी कर सकती है जिस पर उसे दया आती हो? नहीं, कभी नहीं। तभी मेरी ज़िंदगी में वरुण आ गया।

वरुण। उसके बारे में क्या बताऊँ? तुमने उस पर रईस का ठप्पा लगा दिया है। हम किसे रईस मानते हैं यह उस व्यक्ति पर नहीं हम पर निर्भर करता है। हाँ एक बेरोज़गार संघर्षशील व्यक्ति की नज़रों में वह रईस हो सकता है। लेकिन जब मैं वरुण से मिली थी तो वह कोई लखपति नहीं था। और हम आज भी धनाढ्य तो नहीं ही हैं।

तुम जानते हो वह एक डॉक्टर है रिद्धिमान। लेकिन वह प्रैक्टिशनर नहीं है। वह कैंसर शोध के क्षेत्र में काम करता है। उसके शोध का विषय कैंसर की वह प्रजाति है जो बच्चों को अपना शिकार बनाती है।

जहाँ तक शारीरिक आकर्षण की बात है, वह तुम्हारे जितना आकर्षक नहीं है। वह क़द में तुमसे छोटा है। उसके बालों में सफ़ेदी साफ़ झलकने लगी है। वर्षों के शोध की वजह से उसके कंधे झुक-से गए हैं। क्या इसे तुम आकर्षक कहोगे? मैं पूरी ईमानदारी से कह रही हूँ रिद्धिमान, इतने वर्षों तक साथ रहने के बाद भी मुझे नहीं पता, लेकिन फिर भी मेरे लिए वह कहीं ज़्यादा आकर्षक है।

उसकी तऱफ आकर्षित होने की एक वजह उसकी बुद्धिजीविता थी। उसके पास बेजोड़ दिमाग़ है। तुम जानते हो मैं हमेशा बुद्धिजीविता की क़द्र करती हूँ। लेकिन उसकी एक और विशेषता है जिसने मेरा दिल जीत लिया। उसके जैसा सहृदय व्यक्ति मुझे आज तक नहीं मिला। उसका काम, उसका पूरा जीवन एक घातक बीमारी के उन्मूलन के लिए समर्पित है। क्या इससे ज़्यादा प्रेरणादायक कुछ हो सकता था।

उसका परिवार दिल्ली में रहता था। हम धीरे-धीरे एक-दूसरे को जानने, एक-दूसरे के क़रीब आने लगे। मैं उसके फ़ोन का बेसब्री से इंतज़ार करती। हमारी बातचीत भी बेहद रोचक होती। हम हम समाज से लेकर विज्ञान पर बातें करते। हम उन छोटी-से-छोटी चीज़ों पर बातें करते जिनसे ज़िंदगी ज़िंदगी बनती है।

तुम्हारे साथ तो मैं बस एक श्रोता होती थी—एक विस्मित श्रोता, और तुम एक ओजस्वी वक्ता। क्या तुम इस बात के लिए मुझे दोष दोगे

कि जैसे-जैसे समय बीतता गया मुझे वरुण का साथ तुमसे ज़्यादा पसंद आने लगा। वह मेरी सारी बातें सुनता। मेरे विचार, मेरी राय...वह मेरी हर बात को ध्यान से सुनता। मेरी आवाज़, मुद्राएँ, मेरे हाव-भाव को मंत्रमुग्ध होकर देखता।

वरुण मुझसे दस साल बड़ा है। उसका भी एक आयरिश लड़की से संबंध रहा है। वह एक सॉफ़्टवेयर इंजीनियर है। वे साथ-साथ रहते थे, लेकिन उन्होंने शादी नहीं की थी। उनके अलग होने की वजह यह थी कि वरुण बच्चे चाहता था जबकि वह नहीं। वे दोनों आज भी अच्छे दोस्त हैं। वह मेरी भी दोस्त बन गई है...मेरी बड़ी बहन जैसी। मुझे उससे किसी भी तरह की असुरक्षा महसूस नहीं होती है।

वरुण तुम्हारे बारे में सब जानता है। उसे हमारा पूरा अतीत पता है कि कैसे कभी तुम मेरी दुनिया के केंद्र रहे थे। फिर कैसे धीरे-धीरे मैं उस दुनिया से बाहर निकल आई। हाँ ऐसा ही हुआ है रिद्धिमान। मैं उस दुनिया से बाहर निकल आई जबकि तुम वहीं रह गए। मैं उससे कहीं बड़ी दुनिया चाहती थी। जैसे-जैसे मेरा क्षितिज बढ़ता गया मुझे एक ऐसे साथी की ज़रूरत महसूस होने लगी जो इस नई विस्तृत दुनिया में मेरा साथ दे सके। ऐसा सोचकर क्या मैं कोई ग़लती कर रही थी?

कम-से-कम मुझे तो ऐसा नहीं लगता। क्या ज़िंदगी में हमें सही चुनाव करने का अधिकार नहीं होना चाहिए? मैंने अपना चुनाव कर लिया था। मैंने वरुण से शादी कर ली।

लेकिन सच तो यह है कि तुम मुझे कभी समझ ही नहीं पाए, क्या तुमने कभी कोशिश भी की? पंद्रह साल पहले मैं तुम्हारे घर तुम्हें यह बताने आई थी कि अब हमारे बीच कुछ नहीं रह गया है। मैंने तुम्हें समझाने की कोशिश की थी लेकिन मेरी तमाम कोशिशों के बावजूद तुम हमेशा यही सोचते रहे कि मैंने तुम्हें धोखा दिया। शायद आज भी तुम ऐसा ही सोचते हो। कल जब मैंने तुम्हें गाते सुना तो मुझे महसूस हुआ कि तुम्हारे मन में आज भी मेरी छवि एक धोखेबाज़ की ही है।

ऐसा क्यों होता है कि जब औरत किसी रिश्ते को छोड़ती है तो उसके ऊपर धोखेबाज़ होने का आरोप लगा दिया जाता है। एक धोखेबाज़ जो अपने प्यार को दौलत के लिए बेच देती है। निस्संदेह पैसे की किसी भी संबंध में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यह सिर्फ़ कॉलेज के दिनों में होता है। ऐसा लगता है हम अपना पूरा जीवन सिर्फ़ एक-दूसरे के प्यार और ताज़ी हवा के सहारे बिता सकते हैं। लेकिन अब हम जानते हैं कि पैसे के बगैर प्यार भी धीरे-धीरे मर जाता है। फिर भी पैसा ही सब कुछ नहीं होता।

पिछली रात जब मैंने तुम्हें गाने की आख़िरी पंक्तियाँ गाते सुना तब मुझे अहसास हुआ कि तुम कभी इस सच को स्वीकार नहीं कर सके कि मैंने तुम्हें इसलिए छोड़ा क्योंकि मैं किसी और व्यक्ति को प्यार करने लगी थी। तुम हमेशा यही मानते रहे कि मैंने दौलत के लिए तुम्हें छोड़ा। तुम ऐसा इसलिए सोचते रहे क्योंकि सच को स्वीकार करने पर तुम्हारे अहम् को चोट लगती। तुम्हारे लिहाज़ से यह कहीं बेहतर निष्कर्ष था कि तुम मुझे एक धोखेबाज़ के रूप में आरोपित कर दो बजाय इस सच को स्वीकार करने के कि मैं आगे निकल गई थी और तुम कहीं पीछे छूट गए थे।

तुमने एक झूठ गढ़ लिया जबकि सच यह था कि मैंने तुम्हें एक ऐसे आदमी के लिए छोड़ा जो मेरे लिए तुमसे ज़्यादा उपयुक्त था। मेरे लिए तुमसे कहीं बेहतर।

अगर तुम सोचती हो मेरी प्रेमिका
कि तुम्हारे बग़ैर मैं ख़ुद को ख़त्म कर लूँगा
तो यह एक भुलावा है
यह एक झूठा सपना है
ज़िंदा रहकर मैं

एक ऐसी जगह बनाना चाहता हूँ
जहाँ इंसान की क़ीमत ज़्यादा होगी
किसी सोने से ज़्यादा।

अगर तुम ऐसा सोचते हो तो ठीक है। मैंने तुमसे कभी नहीं कहा कि तुम ख़ुद को ख़त्म करो। मैं तो बस यही चाहती थी कि हम अच्छे दोस्त बने रहें।

तुम एक आदर्श समाज बनाना चाहते थे न? लेकिन जब मैं यहाँ आई तो जहाँ फूल होते थे वहाँ बंदूक़ दिखी। प्रेम की जगह पैसे की ताक़त दिखी, सादगी की जगह अंधाधुंध उपभोग दिखा। तुम जितना चाहो आदर्श और न्याय का गीत गाओ। लेकिन यह याद रखना कि आदमी या औरत का मूल्यांकन करने के कई तरीक़े होते हैं। केवल कवि के ही तरीक़े नहीं होते हैं। सिर्फ़ वैज्ञानिक के तरीक़े भी नहीं। कुछ-कुछ दोनों के बहुत-से तरीक़े होते हैं। हम सबको वही रास्ता चुनना चाहिए जो हमारे लिए सर्वाधिक उपयुक्त हो।

आख़िरी पंक्तियाँ गाते समय तुमने सीधे मेरी तरफ़ देखा था। मैंने भी पलटकर देखा था। पर क्या तुम सचमुच मुझे देख पाए थे? मैं नहीं जानती, क्योंकि जहाँ मैं बैठी थी वहाँ पेड़ के नीचे काफ़ी अँधेरा था। मैं तुमसे मिले बग़ैर ही चली आई। यही उचित था।

मैं यह पत्र डाक से भेज रही हूँ। जब तक यह तुम तक पहुँचेगा मैं वापस जा चुकी होऊँगी। वापस वरुण के पास। वापस अपनी बेटी अनीता के पास...वापस अपने घर...अपनी प्रयोगशालाओं में...अपने दोस्तों, अपने साथियों के पास।

स्कॉटलैंड में अब ठंड आ गई होगी। वहाँ वसंत देर में आता है। और बोहाग...अपनी सारी ख़ुशबूदार हवाओं और बीहू की धुनों में भीगा बोहाग वहाँ कभी नहीं आता है। लेकिन जब तुम इस पत्र को पढ़ रहे होगे, तुम्हारे लिए वसंत ही होगा।

अगर इस प्रेम, नवीनीकरण के उत्सव का मतलब अभी भी तुम्हारे दिल में बचा हुआ है तो मैं तुमसे यही कहूँगी कि अब से तुम हमारे बारे में सिर्फ़ दोस्ती के लिहाज़ से सोचना फिर शायद किसी दूसरे बोहाग में, किसी दूसरे बीहू आकाश के नीचे हम फिर मिलें, सुख के साथ एक-दूसरे के पूरक, एक-दूसरे के साथी बनकर।

ए.जे. उत्तम

वॉक आउट

कार्यालय में समय पर पहुँचने के लिए केसवाणी ने जैसे अपनी आख़िरी साँस की बाज़ी लगा दी। पर जी-तोड़ प्रयत्न के बाद भी कार्यालय में दस बजकर पैंतीस मिनट पर ही प्रवेश कर पाए। चर्चगेट से सचिवालय तक हाँफते हुए रास्ता तय किया था, फिर भी दस-बारह मिनट देर हो गई। लिफ़्ट के लिए ठहरने के बजाय दो-दो सीढ़ियाँ फलाँगते हुए अपने कमरे के पास पहुँचे। पर उनके आठों साथियों की सम्मिलित दृष्टि ने उन्हें जड़ कर दिया।

एक सिंधी साथी ने स्तब्धता तोड़ते हुए अंग्रेज़ी में कहा, ''श्रीमान् इतने दिनों बाद आए हो और वह भी देर से... ? अब तो जाओ सीधे असिस्टेंट सेक्रेटरी के पास और वार्निंग लेकर आओ।'' बस सभी के मुँह खुल गए। गुजराती मित्र ने कहा, ''आ, बिचारा नी नवा काइदा नी कयाँ थी ख़बर होय ?'' महाराष्ट्रीयन बंधु ने कहा, ''केसवाणी, कधी उशिरा येत नाहीं।'' (केसवाणी कभी देर से नहीं आता)।

केसवाणी बेचारा परेशान हो गया। समझ नहीं पाया कि आख़िर माजरा क्या है। खाने का टिफिन अलमारी में रखा, पर कानों में वही आवाज़ बज रही थी, ''जाओ, असिस्टेंट सेक्रेटरी के पास जाओ।'' आख़िर किसी ने पास आकर बात समझाई कि कल नया फरमान निकला है कि जो पहली बार दस बजकर तीस मिनट के बाद कार्यालय में आएगा उसे चेतावनी मिलेगी। दूसरी बार देर से आने पर एक दिन की छुट्टी काटी जाएगी। तीसरी बार ऐसा करने पर उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई की जाएगी। एक-एक बात सुनकर केसवाणी हैरानी से उछल पड़ा उसके मुँह से निकल ही गया, ''चौथी बार में ?'' ''चौथी बार घर का टिकट, और क्या ?'' सिंधी क्लर्क ने शरारती लहजे में कहा।

पंखे के नीचे खड़े होने पर भी केसवाणी के ललाट से पसीना चू रहा था। पुराने कपड़े से बने रूमाल को निकालकर, वह पसीना पोंछने लगा। उसके सामने नन्ही मीनू का चेहरा घूमने लगा। बच्ची उँगली पकड़कर खड़ी हो गई, नहीं तो दो मिनट भी देर नहीं होती। विरार से फ़ास्ट ट्रेन मिल जाती। जल्दी ऑफ़िस में पहुँचने पर ऑफ़िसर की मनहूस सूरत तो नहीं देखनी पड़ती। बेचारी बच्ची

एजे. उत्तम (1923-2005) सिंधी के निबंधकार, कहानीकार एवं आलोचक। 16 पुस्तकें प्रकाशित। सोवियत लैंड पुरस्कार से सम्मानित। रचनाओं के लिए संपर्क : श्रीमती सुंदरी उत्तमचंदानी, बी-9 फ्लोरीना, सीतला देवी टेंपल रोड, माहिम, मुंबई-140016

रश्मि रमानी (अनु.)। 1960 में जन्मी रश्मि रमानी के कविता-संग्रह, कहानी-संग्रह, आलोचना के साथ सिंधी-हिंदी में परस्पर अनुवाद की पुस्तकें प्रकाशित। केंद्रीय हिंदी निदेशालय, युवा सिंधी कवि सम्मान तथा अन्य कई संस्थाओं से सम्मानित। संपर्क : 83, सर्वोदय नगर, इंदौर- 452001 (म.प्र.)

छुट्टियों में पिता से ख़ूब हिलमिल गई थी। छुट्टियों से पहले केसवाणी बड़ी सुबह घर से निकलता था, तो मीनू सोई होती थी और रात को नौ बजे दफ़्तर से घर पहुँचता था, तो सभी बच्चे सो चुके होते थे। फिर बड़बड़ाते हुए उसने स्वयं से कहा, "ये अजगर जैसी रेलें ही अगर समय पर पहुँचा देतीं तो भी मस्टर (हाज़िरी रजिस्टर) मिल जाता।"

केसवाणी ने अधिकारी के कमरे के पास जाकर दरवाज़े के सूराख़ से झाँककर देखा कि अंदर कोई बैठा तो नहीं है। फिर भीतर गया। साहस जुटाकर विनंती की कि, "श्रीमान्, मैं तो अवकाश पर था, मुझे नए आदेश की जानकारी नहीं थी। पुराने आदेश के अनुसार दस-चालीस पर समय से आया हूँ।"

"तुम्हें नए आदेश की जानकारी होनी चाहिए थी। आदेश-आदेश है। यह लो वार्निंग।"

केसवाणी ने हाथ बढ़ाकर चुपचाप वार्निंग का काग़ज़ ले लिया। बेचारा सोच-विचारकर तो बहुत आया था कि न्याय की गुहार लगाऊँगा, पर अफ़सर के रौब के आगे सहम गया। जी में आया कि कह दे, हमें दफ़्तर के सामने ही क्वार्टर बनवा दें, पत्नी और बच्चों के साथ चौबीसों घंटे सरकार की ही सेवा करते रहेंगे। पर दर्द का घूँट पीकर लौट आया।

वह कुर्सी पर बैठा तो सही, पर दिल-दिमाग़ में खलबली मची हुई थी। लगभग पाँच वर्षों बाद नई-नई तरक़्क़ी मिली थी। बाबू से सहायक बना था। एक सौ अस्सी रुपए तनख़्वाह। बड़े दिनों के बाद पैसों की तंगी कम हुई थी कि फिर वार्निंग की शामत आ पहुँची। सोचने लगा, हम एक हाथ में फ़ाइलें और दूसरे हाथ में अपनी ज़िंदगी का सारा बोझ लेकर ट्रेनों में लटकते हुए मीलों लंबा सफ़र तय करके दफ़्तर आएँ और फिर अगर कभी-कभार कुछ मिनटों की देर भी हो जाए तो क्या हुआ? भला देर से आने की सज़ा दी जा सकती है तो मुझ जैसे हज़ारों कर्मचारियों को रोज़ शाम को एक-एक, दो-दो घंटे कार्यालय समय के बाद भी बैठने और छुट्टी के दिन भी ऑफ़िस में आकर काम करने का मुआवज़ा भी मिलना चाहिए। कभी शासन ने ऐसा ओवर-टाइम देने के बारे में भी सोचा है? घर की देखभाल भी न करें, दौड़ते-भागते दफ़्तर पहुँचें, घर देर से जाएँ फिर भी फ़ाइलों का बंडल ले जाएँ, प्रेम और आराम को भूलकर खटते रहें, तब भी पूरा मुआवज़ा न मिले? यह कैसी ज़िंदगी है? हर समय जैसे मगरमच्छ के मुँह में पड़े हैं।

उसे याद आया, ये सारे शब्द कुछ दिन पहले दफ़्तर से लौटने पर उसकी पत्नी ने उससे कहे थे, "सारा दिन जैसे मगर के मुँह में पड़ी हूँ। मरा कोई एक हो तो सँभालूँ! गोप तो जितना बड़ा, उतना निकम्मा। पढ़ने और घर के काम से कोई मतलब ही नहीं। बस सारा दिन गुल्ली-डंडा, मंजा-पतंग और लट्टू-डोरी। और तो और अब पत्ते खेलना भी शुरू कर दिया। कभी रोता हुआ आता है तो कभी हँसता हुआ। कभी किसी को पीटकर आता है, तो कभी ख़ुद पिटकर। वह लड़की पारू फिर कौन-सी अच्छी है! बस भगवान ही बचाए। पढ़ने क्या जाती है, सारा संसार हिला देती है। आज किताब चाहिए, आज कॉपी चाहिए। आज रिबन चाहिए, आज नया स्कर्ट चाहिए। बस, सिर्फ़ चाहिए और चाहिए।"

"मीनू की शिकायत करना बाक़ी रह गई है," केसवाणी ने मन-ही-मन जैसे याद करते हुए कहा था।

"शिकायत फिर किससे करूँ। आपको तो जैसे घर-बाहर का होश ही नहीं है। घर घोड़ों को, बच्चे चोरों को। किसी के कान खींचो तो कुछ कहूँ भी। सभी के साथ एक साथ मगज़ मारना पड़ता है। सुबह पाँच बजे उठती हूँ, मशीन की तरह चलती रहती हूँ। बच्चों के लिए नाश्ता बनाऊँ, उन्हें स्कूल भेजने के लिए तैयार करूँ, आपके लिए खाना बनाऊँ, फिर आपकी बेटी के लिए दलिया बनाऊँ और भी बहुत कुछ। आप

जाते हैं और वह उठ खड़ी होती है। नींद में से उठते ही खाने के लिए वो हल्ला मचाती है कि बस, ताए (चाय) दे, खिची (खिचड़ी) दे, तीता फल (सीताफल) चाहिए। खाने की चीज़ें न मिलें तो बाबा-बाबा की चिल्लाहट और चीख़-पुकार शुरू कर देगी और आप तो रहें सारा दिन दफ़्तर में। घर लौटें तो फ़ाइलों का बंडल हाथ में लेते आएँ। रात के ग्यारह बजे तक तो लिखा-पढ़ी करते रहें न कोई बातचीत, न हँसी-मज़ाक़। छुट्टी वाले दिन भी दफ़्तर में काम करें। पता नहीं कैसे मरों को दया आ गई, जो आपको पंद्रह अगस्त के दिन दफ़्तर में काम करने नहीं दिया। और यही तो वह स्वतंत्रता दिवस है जब हमने अपना मुलुक मिटाया था। दुखों के जंजाल में आ फँसे थे। सिंध में जब आप नौकरी करते थे, तब तो चार साल में कभी भी आप सुबह इतनी जल्दी घर से नहीं जाते थे। न ही कभी इतनी देर से घर लौटते थे। साथ-साथ घूमते-फिरते थे, नाते-रिश्तेदारों, दोस्तों-सहेलियों से मिलते थे। पर यहाँ तो महीनों हो गए, बंबई की शक्ल नहीं देखी है। तनख़्वाह बढ़ी भी तो पहले रिश्तेदारों की भरपाई की। मेरे लिए तो वही तंगी-बेहाली बनी हुई है। दूसरों के पति अफ़सरों को पटाकर दफ़्तर में भी पूरे पड़ते हैं। और घर में भी।''

उस समय केसवाणी ने पत्नी को ख़ुश करने के लिए सोए हुए गोप का कान मरोड़ते हुए कहा था, ''अरे सुनता है? फिर कभी अगर सुना कि पतंग उड़ाई है या पत्ते खेले हैं तो टाँगें चीरकर रख दूँगा।'' और फिर उसने कुछ देर के लिए फ़ाइल परे सरकारकर पत्नी की दिलजोई की थी।

अगर पासवाला महाराष्ट्रीयन साथी केसवाणी का ध्यान आकर्षित नहीं करता तो पता नहीं कितनी देर वह और विचारों में डूबा रहता।

''किस सोच में खोए हो दोस्त?''

''यह तो घोर अन्याय है, मंत्रियों की तरह हमारे पास गाड़ियाँ तो हैं नहीं।'' केसवाणी ने जवाब दिया।

''तुम्हें मालूम नहीं है कि आज रेल की देरी के कारण मैं इस मनहूस वार्निंग से बचने के लिए खाने के लिए लाए गए पैसे ख़र्च कर टैक्सी से ठीक समय पर दफ़्तर पहुँचा हूँ।''

''भला यह भी कोई फ़रमान है कि शाम साढ़े पाँच बजे के बाद कोई भी दफ़्तर में नहीं बैठे?''

''दोस्त, मालूम नहीं? जो साढ़े पाँच बजे के बाद नहीं बैठता है, उसे बैठने के लिए अफ़सर सीधे या टेढ़े तरीक़े से मजबूर करते हैं। सुना है कि यह भी आदेश निकला है कि 'रिसेस' में बाहर जाने और आने के लिए 'मस्टर' पर सही करनी है।''

''यह अच्छी हुकुमशाही है, क्यों नहीं पेशाब करने जाने के लिए भी छुट्टी का कोई मस्टर रखते?'' केसवाणी की इस व्यंग्योक्ति से सब ठठाकर हँस पड़े।

''अरे बाबा,'' महाराष्ट्रीयन असिस्टेंट ने कहा, ''ये सब इनकी चालाकियाँ हैं। कुछ लोगों को निचोड़कर, ज़्यादा-से-ज़्यादा काम लेना है। सुना नहीं कि कैसे कारख़ानों, फ़ैक्टरियों में मज़दूरों की छँटनी करके ज़्यादा मज़दूरों का काम कम मज़दूरों से लिया जाता है? फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि हम मध्यवर्गीय लोग गूँगी गायों की तरह, सरकारी दबाव सहते हैं और मज़दूर जुल्म का साहस के साथ मुक़ाबला करते हैं।''

''बात तो सही है। जितनी ज़्यादा ईमानदारी से खटते हैं उतनी ही ज़ोर से निचोड़े जाते हैं। हमें भी अब छुट्टियों में दफ़्तर नहीं आना चाहिए, और साढ़े-पाँच बजे के बाद एक मिनट भी दफ़्तर में नहीं रुकना चाहिए।'' केसवाणी ने अपना विचार व्यक्त किया।

''ज़रूर, ज़रूर, कल भी सारे विभाग में इस बात पर बड़ा हो-हल्ला मचा और आज तुम्हारे उदाहरण ने तो हमारी आँखें ही खोल दी हैं।

आज से इस कमरे में साढ़े-पाँच बजे के बाद कोई भी नहीं बैठेगा।'' गुजराती सुपरिंटेंडेंट ने निर्णायक स्वर में कहा।

केसवाणी की आँखें अब घड़ी के काँटों पर जमी थीं।

साढ़े पाँच बजे तो सारा कमरा ख़ाली हो गया। केसवाणी ने बाहर देखा तो दूसरे कमरों से भी कई कर्मचारी बाहर निकल रहे थे। उसे अनुभव हुआ जैसे उसे चेतावनी का मुआवज़ा मिल चुका है। आज उसके हाथ हल्के थे। दिल और दिमाग़ हल्का था। चेहरे पर ख़ुशी झलक रही थी।

और अपने नित्य नियम के अनुसार अधिकारी जैसे ही साढ़े-पाँच बजे के बाद कर्मचारियों के कमरे में आया, तो सन्नाटा छाया था। उसे अनुभव हुआ कि जैसे स्पीकर के सदन में प्रवेश करते ही सदस्य ''वॉक आउट'' कर गए हैं।

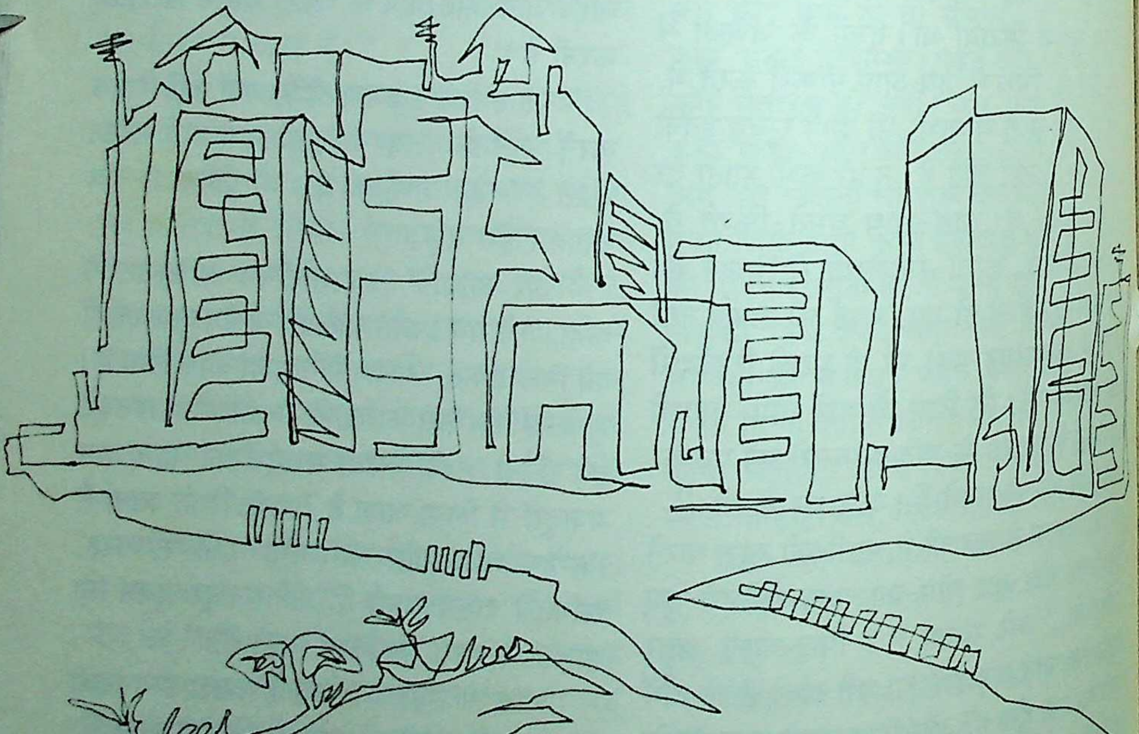

कला प्रकाश

नर्स

छह साल के नन्हे से बेटे को सरस्वती कैसे समझाए कि वह उसके पास अस्पताल में नहीं रह सकती। अस्पताल के क़ायदे से बेख़बर नन्हा तो माँ से रोता हुआ बस यही रट लगाए रहा, ''मत जाओ मम्मी, प्लीज़ तुम मत जाओ।''

सरस्वती एक लंबी साँस लेकर बेटे के पलंग के पास रखे स्टूल पर बैठ गई। बेटे के गालों पर हाथ फिराकर कहने लगी, ''देखो बेटे, वार्ड में कितने बच्चे हैं, किसी की मम्मी है उनके पास?''

महेश अपने नन्हे तन को कसमसाता बोला, ''भले ही किसी की भी मम्मी न हो पर मैं आपको नहीं जाने दूँगा।''

सरस्वती परेशान हो गई। उसे दो बार कहा जा चुका है कि समय पूरा हो गया है, अब आप जाइए। जब वह चार बजे वार्ड में दाख़िल हुई तो महेश माँ को देखते ही तड़प-तड़पकर रो उठा था। उसे दिलासा देने के लिए ही बोलना पड़ा था कि अब वह घर नहीं जाएगी, पर जाना तो था ही। वार्ड में कुल बारह बच्चे थे। दूसरे सभी बच्चों के पास आए हुए मुलाक़ाती छह बजते-बजते जा चुके थे, और सवा छह बज जाने पर भी वह यहीं बैठी थी। सरस्वती की घूमती निगाहों ने देखा, सभी बच्चे महेश को ही ताक रहे हैं। कुछ देर पहले ही नौ नंबर बेड वाला बच्चा बताकर गया था कि ऑपरेशन के बाद होश में आते ही महेश मम्मी...मम्मी पुकारता ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाया था। सरस्वती को ख़याल आया, नौ नंबर वाला बच्चा समझदार और दूसरे बच्चों से बड़ा, शायद 10 वर्ष का होगा। शायद वही उसकी मदद कर सके इसलिए उसके पास जाकर बोली, ''बेटे, तुम आकर महेश से थोड़ी देर बातें करो तो मैं यहाँ से खिसक जाऊँ।''

बच्चे ने कहा कि वह पहले भी महेश से दो-तीन बार बात करने की कोशिश कर चुका है पर वह उसकी कोई बात सुनने को तैयार ही नहीं। सरस्वती बोली, ''अब तुम उसे कोई कविता या कहानी सुनाना, तब तक मैं निकल जाऊँगी।''

बालक को महेश के पास छोड़ वह वार्ड से ऐसे निकली जैसे कोई चोर। जाते-जाते उसने महेश की पुकार सुनी ज़रूर परंतु जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाती अस्पताल के गेट के पास आ पहुँची। एक बार वार्ड नंबर 11 की तरफ़ देखा। उसकी आँखें कब बहने

1934 में जन्मीं कला प्रकाश सिंधी में लिखती हैं। इन्हें साहित्य अकादेमी, सिंधी साहित्य अकादेमी आदि से पुरस्कृत किया गया है। इनकी कविता, कहानी, उपन्यास, यात्रा वृत्तांत की 10 पुस्तकें प्रकाशित हुईं। संपर्क : बी-33, आराम को-ऑपरेटिव हाउसिंग सोसायटी, वकोला, सांताक्रुज (ईस्ट) मुंबई-400055 (महा.)

अनु. गायत्री सिंधी-हिंदी में परस्पर अनुवाद करती हैं। संपर्क : 65, सुमेर कर्ण जी का रास्ता, रामगंज चौपड़, जयपुर-302003 (राज.)

लगीं, उसे पता ही नहीं चल पाया था। आँखें पोंछती वह सड़क पर आ गई।

वार्ड में नौ नंबर वाला बच्चा महेश को समझाते हुए कह रहा था, ''चिल्लाओगे तो दर्द ज़्यादा होगा।'' पर महेश उसे सुना-अनसुना कर मम्मी-मम्मी की रट लगाता रहा। अचानक उसे याद आया कि महेश की मम्मी ने कहानी सुनाने के लिए कहा था, सो फिर से बोला, ''तुम रोना बंद करो तो मैं तुम्हें एक कहानी सुनाऊँ।''

''मुझे नहीं सुननी कहानी।'' महेश तुर्शी से बोला। दो-चार मिनट बाद ही नौ नंबर वाला बच्चा वापिस अपने बिस्तर पर चला गया।

पौने सात बजे ख़ामोश वार्ड में केवल पाँच नंबर वाले महेश की हिचकी भरी मम्मी-मम्मी की रट सुनाई दे रही थी। इस वक़्त अकसर वायुमंडल में गहरी उदासी छाई रहती। चुपचाप बैठे हुए बच्चे वार्ड में आते-जाते डॉक्टर, नर्स, वार्ड ब्वॉय व मेहतरानी को देख शायद इसी सोच में डूब जाते कि फिर 24 घंटों के बाद अपने घरवालों का मुँह देख सकेंगे।

सात बजे मरींडा व मांजरेकर नाम की दो नर्सें वार्ड में आईं। मरीज़ों के बिस्तर ठीक करती आपस में धीरे-धीरे बातचीत करती हुई जैसे ही चार नंबर बिस्तर पर पहुँचीं तब मरींडा ने मांजरेकर से कहा, ''देखो, कैसे इस बच्चे ने अपना मुँह चादर में छुपा लिया है। रोज़ शाम को छह बजे जैसे ही इसके पिता मिलकर जाते हैं वैसे ही यह बच्चा चद्दर में मुँह छुपाकर रोना शुरू कर देता है।''

मांजरेकर बोली, ''इट्स सैड।''

चौथे नंबर का बिस्तर सही करती मरींडा बच्चे से बोली, ''देखो, तुम्हारा पलंग कितनी अच्छी जगह पर रखा हुआ है, खिड़की के पास। अरे खिड़की के बाहर तो देखो, आसमान दिख रहा है।'' और उसके मुँह से चद्दर हटा दी। बच्चे ने नैपकीन उठाकर आँखें पोंछीं और मरींडा का कहा मानकर खिड़की के बाहर देखने लगा।

पाँच नंबर का बिस्तर ठीक करते हुए मांजरेकर ने कहा, ''यह बच्चा तो मम्मी को पुकारता हुआ इतना रोया है कि मन ही विचलित हो गया। देखो न अभी भी कैसे काँप रहा है।''

मरींडा बोली, ''सच में, हमें रोज़ इन बच्चों के पास बैठकर प्यार और अपनेपन से बातें करनी चाहिए।''

मांजरेकर ने बालक की चद्दर ठीक कर उसे कंधों तक ढकते हुए कहा, ''यहाँ तो मरने तक की फ़ुर्सत नहीं, इन बच्चों के साथ किस वक़्त बैठकर बातें करें।''

मरींडा ने नैपकीन से बच्चे का मुँह साफ़ कर मुस्कुराते हुए पूछा, ''पानी पीओगे?'' फिर उसके जवाब का इंतज़ार न कर पानी भरा गिलास जैसे ही उसकी तरफ़ बढ़ाया, महेश ने मुँह फेर लिया। मरींडा पानी का गिलास वापस रख, बच्चे के सिर पर हाथ फेरकर आगे बढ़ गई।

फिर वही शांति, जैसे वहाँ कोई न हो। केवल बारह पलंग और हर पलंग के पास एक छोटा-सा कबर्ड, जिसे साइड टेबल की तरह भी काम में लिया जाता है। उस पर पानी का गिलास व जग। सब बच्चों के बिस्तर एक जैसे, हर बिस्तर के पायताने ब्राउन रंग का कंबल एक ही तरीक़े से लिपटा हुआ। कोई किसी से अलग नहीं, बारहों बच्चे ही एक जैसे लग रहे हैं।

आठ बजे सिस्टर सूसान के वार्ड में आते ही कई बच्चों के चेहरे पर मुस्कान छा गई। एक और नौ नंबर वाले बच्चे तो उसके स्वागत के लिए बिस्तर पर उठकर बैठ गए। सिस्टर ने उनकी ओर हाथ हिलाया और बच्चों का टेंपरेचर देख रिकॉर्ड करती उन्हें दवा का डोज़ पिलाने लगी। सूसान जब नौ नंबर बेड के पास पहुँची तो वह बोला, ''सिस्टर जो पाँच नंबर है न, सारा दिन मम्मी मम्मी कहकर रोया है। मेरा तो जिस दिन ऑपरेशन हुआ था मैंने क्राइस्ट को याद किया था।''

सिस्टर उसे एक कैप्सूल और गोली देती बोली, "पाँच नंबर अपनी माँ को ही क्राइस्ट समझता होगा।"

"माँ को कैसे क्राइस्ट समझता होगा?"

सूसान ने आठ नंबर की तरफ़ बढ़ते हुए जवाब दिया, "तुम्हें इस बात का जवाब बाद में दूँगी, तब तक गुड नाइट।"

सूसान पाँच नंबर बेड पर पहुँची। टेबल पर दवाइयों की ट्रे रख थर्मामीटर उठाते हुए महेश से बोली, "कोई-कोई बच्चा बहुत तंग करता है। परंतु तुम अच्छे बच्चे लग रहे हो, तुम तंग नहीं करोगे।" महेश ने उसकी तरफ़ देखा। टेंपरेचर रिकॉर्ड करते हुए सूसान ने पूछा "छोटे बच्चे तुम्हारा नाम क्या है?"

"महेश।"

"अरे वाह, महेश तो मेरे बेटे का भी नाम है।" और चुटकी बजाते हुए बोली, "वह अभी बहुत छोटा है, नन्हा-सा। पता है कितना-सा?"

"कितना-सा?" महेश ने पूछा।

सूसान ने स्टूल पर बैठते हुए बताया, "यह तुम्हारी बाँह है ना, बस तुम्हारी बाँह जितना। सिर्फ़ तीन महीने का है, मुझे इतना परेशान करता है कि बस..." सूसान, महेश का हाथ अपने हाथ में लेकर बोली, "अभी जब मैं अस्पताल आ रही थी न, तब इतना रोया, इतना रोया कि मैं तुम्हें क्या बताऊँ?" महेश ने कुछ पूछना चाहा पर फिर चुपचाप सूसान को देखने लगा। सूसान ने उसे बताया, "आख़िर में पता है मैंने क्या किया? उसे आया की गोदी में देकर चली आई। अब शायद चुप हो गया होगा। आया उससे खेलती है ना। या फिर गाना गाकर सुनाती है तो वह ख़ुशी से अपने हाथ-पैर ऐसे ऊपर-नीचे करने लगता है, जैसे डांस कर रहा हो।"

महेश छोटे बबलू की कल्पना करते हुए पूछ बैठा, "वह और क्या करता है?"

सूसान महेश को सूप पिलाती हुई बोली, "बोलना तो उसे आता ही नहीं है, फिर भी कैसी-कैसी तो आवाज़ें निकालता है, अगूं, अगूं... गूं, गूं...और यूँ गाल फुलाता है।" सूसान अपने गालों को फुलाती बबलू जैसी आवाज़ें निकालने की कोशिश करने लगी। महेश को हँसी आ गई। सूसान उसे दवाई पिलाती हुई बोली, "मैं तुम्हें अपने शैतान बबलू की बहुत-सी बातें बताऊँगी लेकिन बाद में, अभी तो मुझे काम है ना। कोई भी काम हो तो बेल बजाकर मुझे बुला लेना जैसे घर में मम्मी को बुलाते हो। अस्पताल में नर्स ही मम्मी होती है।"

दूसरे दिन शाम के चार बजते ही सरस्वती अस्पताल के गेट तक पहुँच गई। कल बेटे का ऑपरेशन सफल हुआ, इसका उसे संतोष था परंतु बेटे ने रात कैसे बिताई होगी, यह सोचते ही घबरा गई। कल उसे रोता छोड़कर आना पड़ा था। आज उसे किस तरह छोड़कर आ पाएगी, सोचते ही उसके माथे पर पसीना निकल आया। बेटे के पलंग तक पहुँचते-पहुँचते सोचों ने समय को लंबा कर दिया। महेश को चूमते हुए बोली, "बेटा कैसा है तू?"

"अरे मम्मी, तुम आ गईं?" महेश ने माँ के गले में बाँहें डालते हुए पूछा, "पापा कब आएँगे?"

"आ जाएँगे थोड़ी देर में।"

"मम्मी जब तुम मेरे पास आ रही थीं तो मोना रो रही थी क्या?" महेश ने छोटी बहन के लिए पूछा।

सरस्वती ने लंबी साँस छोड़ते हुए कहा, "नहीं नहीं, उसे पास वाले राजू के घर छोड़कर आई हूँ। वो उसे खेल खिलाते हैं ना।"

"हमारी मोना अच्छी है। तुम उसे छोड़कर आईं। तब भी नहीं रोई परंतु सिस्टर सूसान है ना, उसका बबलू बहुत ही शैतान है। वह बेचारी जब अस्पताल आती है तो बहुत रोता है।"

सरस्वती के दिल पर सिस्टर सूसान का नाम छप-सा गया। उसने महेश से पूछा, "तुम्हें किसने बताया कि सिस्टर सूसान का बबलू शैतान है?"

''सिस्टर सूसान ने बतलाया।''

''किस वक़्त?''

''रात को।''

''बेटे तुमको रात में नींद आई थी?''

''हाँ।'' महेश ख़ुशी से बोला, ''सिस्टर सूसान ने दूध पिलाया फिर कविता सुनाई। मम्मी उनकी आवाज़ इतनी प्यारी है...''

''किसकी, सिस्टर सूसान की?''

''हाँ। और मम्मी उनके बबलू का नाम भी महेश है। और मम्मी, सिस्टर सूसान पता है क्या करती है, बबलू के बिस्तर के ऊपर जो डंडा है, उसमें खिलौने बाँध देती है।''

सरस्वती के दो घंटे कैसे निकल गए उसे पता ही नहीं चला। छह बजे जब मुलाक़ाती जाने लगे तब उसका मन घबराने लगा। स्टूल से उठते हुए बेटे को प्यार करती बोली, ''बेटे अब मैं जा रही हूँ, छह बज गए हैं न।''

''हाँ मम्मी, जल्दी जाओ। मोना को राजू के घर से जल्दी ले आओ।'' आज बेटा घर जाने की इजाज़त यूँ ख़ुशी-ख़ुशी देगा, उसने सपने में भी नहीं सोचा था। घर जाते-जाते वह असंभव को संभव करनेवाली सिस्टर सूसान की कल्पना करने लगी कि कैसी होगी सूसान नाम की सोन परी जिसने यह जादू कर दिखाया।

13 दिन बाद महेश को अस्पताल से छुट्टी मिली। घर आकर वह अपनी छोटी बहन मोना और पड़ोस के दोस्तों से ऐसे मिला जैसे वर्षों बाद घर लौटा हो। सारा दिन ख़ुशी से बिताते हुए वह शाम होते न होते भूल चुका था कि 13 दिन अस्पताल में बिताकर आ रहा है। परंतु सरस्वती ना तो अस्पताल को भूली थी और ना ही सिस्टर सूसान को। सुबह बेटे को घर लाते समय उसने पता लगा लिया था कि आज सिस्टर सूसान की ड्यूटी शाम चार बजे से है। शाम के पाँच बजते ही वह अस्पताल जाने के लिए तै हो गई। उसके हाथों में सिस्टर सूसान के लि गुलदस्ता व उसके बबलू के लिए शानदार गि था। अस्पताल जाते हुए वह अजीब-सी ख़ुशी महसूस कर रही थी। बारह दिन से जिस स्त्री के प्रति उसका दिल शुक्रगुज़ार था, आज उसके सामने पहुँच अपने मन की भावना कैसे व्यक्त करेगी? उससे क्या बोलेगी, ''मेहरबानी।'' नहीं बोलेगी, ''तुम्हारी ज़िंदगी हमेशा रोशन रहे।'' अरे नहीं उससे कहेगी, ''तुम बहारों की लत हो। तुम्हारे आँगन में हमेशा फूल खिलते रहें...''

और साढ़े पाँच बजे सरस्वती पहुँच गई सिस्टर सूसान के पास। अपना परिचय देती बोली, ''मैं तुम्हें कभी भी नहीं भूल पाऊँगी, कभी भी नहीं।''

सूसान ने ज़ोर से ठहाका लगाते हुए कहा, ''मुझे जल्दी से भूल जाइएगा, नहीं तो आपके पति को मुझसे ईर्ष्या होने लगेगी। पति बहुत ही ईर्ष्यालु होते हैं।''

सरस्वती की भी हँसी छूट गई। उसने सिस्टर को गुलदस्ता और उसके बबलू के लिए गिफ़्ट पेश किया। सिस्टर सूसान इतना हँसी, इतना हँसी कि पास में बैठी मैट्रेन ने उसे तीखी नज़रों से देखते हुए वार्निंग दे डाली कि अस्पताल में वह इतना ज़ोर से कैसे हँस सकती है? सूसान ने भी अपनी भूल महसूस करते हुए मैट्रेन से माफ़ी माँगी और सरस्वती से बोली, ''रंग-बिरंगे सुंदर फूलों वाला यह गुलदस्ता तो मैं ख़ुशी से ले रही हूँ। बाक़ी यह गिफ़्ट किसी ऐसी स्त्री को दे दीजिए, जिसका कोई बबलू हो। मेरा तो कोई बबलू है ही नहीं, मैंने तो अभी शादी ही नहीं की है।''

प्रकाश पर्येकार

वर्सल*

सूरज निकलने से पहले ही पार्वती ने दाली का शेष बचा हुआ हिस्सा बुनकर समाप्त किया। उसने चौबीस पाँव लंबी और बारह पाँव चौड़ी दाली बनाने में चार दिन लगाए। वह यह कार्य घर के कामों से फ़ुर्सत मिलने के बाद ही किया करती थी। पति की मृत्यु के बाद दशहरे के अवसर पर लगनेवाले नामी बाज़ार को उसने कभी नहीं छोड़ा क्योंकि उसमें खेती-बारी से जुड़ी काम में आनेवाली बाँस द्वारा बनाई गई सभी वस्तुएँ बिकती थीं। किसान जीवन के लिए यह बाज़ार बहुत मायने रखता था। पार्वती ने चार जोड़े सूप पहले ही बनाकर रखे थे। उसके मन में यह लालसा थी कि एक दाली और बन जाती तो कितना अच्छा होता ? इसके लिए बाँस लाना...उसके टुकड़े करना...फिर फोड़ना...और उसकी फल्टी निकालकर साफ़ करना...तथा बारीक-बारीक पत्ती निकालना...यह सब कार्य उसी को करना था। मधु, पार्वती का इकलौता बेटा अपनी पढ़ाई के कारण माँ के कामों में हाथ नहीं बँटा पाता था लेकिन बिना मतलब इधर-उधर घूमता भी नहीं था। वह सुबह स्कूल जाता और दोपहर बाद कहीं-न-कहीं कुछ काम-धाम करके अपनी पढ़ाई के ख़र्च का जुगाड़ कर लेता था।

पार्वती ने कोंयता, छुरी और बेलां इकट्ठा किया तो उसने देखा कि उसकी साड़ी पर बाँस के खुरचन एवं छोटे-छोटे टुकड़े गिरे हुए थे जिसे उसने साफ़ किया। दाली लपेटकर पार्वती उसे निहारने लगी तो वह उसे केले के तने के निचले भाग की तरह साफ़ एवं चिकनी दिखाई दे रही थी। पार्वती ने उसे उठाकर ओसारी में रख दिया।

पार्वती चार-पाँच साल पहले सरकार द्वारा बनाए गए दो कमरों के मकान में गुज़ारा करती थी। दीवार के बीचों-बीच दरार पड़ने के कारण सूर्य की किरणें अंदर झाँक रही थीं। पार्वती की निगाह उस पर बार-बार पड़ती थी। उसने उसे गीली मिट्टी से भरने के लिए कई बार सोचा लेकिन घर के कामों से फ़ुर्सत न मिलने के कारण यह काम बार-बार टल जाता था। आज उसने यह निश्चय

कोंकणी के कथाकार प्रकाश पर्येकार के निबंध, लेख, समीक्षा तथा कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क: प्रवक्ता, कोंकणी अध्ययन केंद्र, गोआ विश्वविद्यालय, गोआ 403206

अनु. 1957 में जन्मे रवींद्रनाथ मिश्र की चार पुस्तकें प्रकाशित। कोंकणी हिंदी में परस्पर अनुवाद। संपर्क : बी-1 प्रीति अपार्टमेंट, वसुधा कॉलोनी, बंबोलिम कॉम्प्लेक्स, गोआ 403202

---

* वर्सल : गाँव में विविध त्योहारों पर ढोलक बजाने की पारी। यह पारी पूरे साल एक परिवार को बारी-बारी से मिलती है।

किया कि मैं यह दरार मूँदकर ही रहूँगी। इस प्रकार वह सोचती हुई चूल्हे के पास गई और चाय के पतीले में झाँकते हुए बोली, ''अरे! बच्चों ने आज मेरे लिए चाय नहीं छोड़ी।'' पार्वती ने उसमें एक गिलास पानी डालकर उसे चूल्हे पर रख दिया। जली हुई लकड़ी में आग लगाकर उसने चूल्हे में डाला ही था कि किसी के पुकारने की आवाज़ आई। ''तिलगो जीजा आज क्यों आया है!'' कहते हुए पार्वती ने उसकी आवाज़ पहचान ली थी। वह जल्दी से बाहर आई तो देखा कि तिलगो जीजा ढोलक लेकर आँगन में खड़ा है! (पार्वती आदरभाव से तिलगो को जीजा कहती थी)

''जीजा बैठिए।''

''बैठता नहीं...जाता हूँ...ढोलक देने आया था। इस दशहरे से तुम्हारी वर्सल...'' तिलगो ढोलक और बजानेवाली लकड़ी ओसारी में रखकर वापस जाने को मुड़ा ही था कि पार्वती ने आवाज़ दी, ''थोड़ी चाय पीकर तो जाओ...''

''नहीं...जाता हूँ। अभी मुझे बाँस लाना है, देखिए मिलता है कि नहीं?''...यह कहते हुए वह आगे क़दम बढ़ाते हुए चल पड़ा। 'वर्सल!' पार्वती ने ढोलक पर हाथ फिराया तो वह फूली न समाई और मन-ही-मन सोचने लगी। इस साल पेट की कमी नहीं होगी। गणेश चतुर्थी एवं सिग्मोत्सव के अवसर पर घर-घर जाने पर सौ-डेढ़ सौ नारियल, अनाज और पैसे मिलेंगे। मड़ाई के दिनों में खलिहान में जाने पर खलिहानी भी मिलेगी। इससे मुझे सालभर दाली, सूप, टोकरी आदि बनाने के लिए भरपूर समय मिलेगा और चार पैसे का मुनाफ़ा भी होगा। वर्सल की ख़ुशियाँ उसके संपूर्ण शरीर में फैल गईं और वह रोमांचित हो उठी। हवा में रुक-रुककर उड़ते हुए बाँस की खुरचन की भाँति उसका मन भी उड़ने लगा। पार्वती ने हिसाब-किताब लगाकर सोचा तो उसे शादी के बाद यह चौथा वर्सल मिला था। इन दिनों में किसी के पास जाकर न तो चावल माँगने की ज़रूरत पड़ी और न तो दुकानदार से उधारी...। इन विचारों में खोई हुई पार्वती चूल्हे पर रखी हुई चाय के बारे में भूल ही गई। याद आने पर वह भागी-भागी चूल्हे के पास गई तो उसने देखा कि भगोने में एक घूँट पानी बचा था जिसमें से सुड़-सुड़ की आवाज़ आ रही थी। अरे! मेरे होश को लकवा मार गया क्या? सुबह-सुबह चाय न मिलने पर उसे अंदर से बेचैनी महसूस होती थी। पार्वती ने पुनः भगोने में पानी डालकर चाय बनाई और पी।

दोपहर को उसके दोनों बच्चे मंगल और मधु स्कूल से घर आए। खाना खाने के बाद मंगल ने माँ से पूछा ''माँ यह ढोलक किसकी है?''

''इस साल हमारी वर्सल है। यह ढोलक सुबह तिलगो जीजा ने लाकर दी।''

''मैं बजाकर देखूँ।''

''पगली कहीं की। लड़कियाँ ढोलक नहीं बजातीं।''

''किसे बजानी चाहिए?''

''तुम्हारे भैया को। इस साल वही गाँव में ढोलक बजाएगा।''

''सच! मैं भी उसके साथ जाऊँगी।'' मंगल के इस प्रकार बोलने पर पार्वती को अपने मरद की याद आ गई। जब वह ज़िंदा था तो इसी तरह मधु भी उसके साथ जाने के लिए हठ किया करता था। विभिन्न त्योहारों पर मधु उसका पीछा नहीं छोड़ता था।

''हाँ, इस साल तुम दोनों पराब* के लिए जाना।''

''पराब में जो पैसे मिलेंगे वह तुम दोनों आपस में मिलकर बाँट लेना।'' मंगल यह सुनकर मुस्कुराई और तितली की भाँति इधर-उधर फुदकने लगी।

---

* पराब : वर्सल बजाने पर घर-घर से मिला सामान (अनाज, नारियल, पैसा आदि)

"अच्छा! अब जाओ और भाई को बुलाकर लाओ।" मधु खाना खाकर तुरंत कहीं बाहर निकला था। मंगल उसे ढूँढ़ने के लिए भागी-भागी गई। कुछ देर बाद मधु घर आया।

"माँ किसलिए बुलाया?" मधु ने ज़ोर से पुकारकर बाहर से ही पूछा।

"इधर आओ कुछ बात करनी है...।"

"क्या है?" मधु ओसारी में आया।

"परसों दशहरा है और इस साल की वर्सल हमारी है। दशहरे के दिन मंदिर के पास ढोलक बजानी है? तिलगो जीजा ने ढोलक लाकर दी है...और सुनो! खूँटी पर ढोलक टँगी है उसे उतारो और येश्या दादा सें ठीक कराकर ले आओ।" मधु ने माँ की बात सुनी फिर भी चुपचाप खड़ा रहा।

"क्या तुम नहीं जा रहे हो? फिर कब जाओगे? कल का दिन ही तो बचा है।"

"मुझे ऐसा-वैसा काम मत बताओ...।"

"नहीं बताऊँ! तो इस साल की वर्सल कौन बजाएगा?"

"मैं नहीं बजाऊँगा...और किसी को बोलो।"

"तुम्हारे सिवा और कौन बजाएगा? तुम्हारा बाप होता तो मैं तुमसे चिरौरी क्यों करती?"

"तुम कोई दूसरा काम बताओ तो करूँगा लेकिन ढोलक गले में नहीं डालूँगा।"

"ऐसा मत बोल बेटा! इससे चार नारियल घर में आएँगे। धान एवं पैसा भी मिलेगा। चार दिन सुख-चैन से बीतेंगे...नहीं तो मुखिया गाँव से बाहर निकालेगा।"

"निकालता है तो निकालने दो लेकिन...मैं ढोलक के ऊपर डंडा नहीं मारूँगा।" मधु अधिक देर तक नहीं रुका। वह घर के बग़ल की राह से मैदान की ओर चल पड़ा। पार्वती सिमटकर बैठ गई जैसे मानो उसके सारे सपने वहीं तितर-बितर हो गए। उसका माथा चकराने लगा। उसे लगा कि जैसे कोई मेरे शरीर की फल्टियाँ निकाल रहा हो। "अब क्या होगा...?" पार्वती ने लंबी साँस ली, "परसों दशहरा! किसी से चिरौरी-मिनती करूँगी तो दशहरा पर ढोलक बजा देगा किंतु पूरे साल का क्या होगा? नहीं! ऐसा नहीं होना चाहिए। मधु को वर्सल बजानी ही होगी।" पार्वती आहें भरती हुई उठी और खूँटी पर टँगी हुई ढोलक को उतारकर येश्या दादा के पास गई। वह ओसारी में बैठकर फल्टियाँ खरोंच रहा था।

"अरे! तुम ढोलक लेकर यहाँ कैसे?"

"इस साल हमारी वर्सल है न? ढोलक को थोड़ा कसना है।"

"मधु को कसना नहीं आता? अभी तो वह घोड़े जैसा सयाना हो गया है।"

"क्या बताऊँ? बोल-बोलकर थक गई। उसे यह काम पसंद नहीं है।"

"पसंद नहीं है? पसंद होना ही चाहिए...।"

"कौन जाने? किसी ने उसका माथा फेर दिया है। वर्सल बजाने को कहा तो ढोलक हाथ में लेने को तैयार ही नहीं। थोड़ा आप तो समझाइए।"

"अब मेरी कौन सुनेगा...? मिला तो बोलता हूँ।" येश्या दादा ने वहीं बैठे-बैठे ही ढोलक को कसकर थाप दी। ढोलक झनझनाने लगी...पार्वती बिना और समय गँवाए ढोलक लेकर सीधे घर गई। उसने ढोलक को वहीं खूँटी पर लटका दिया।

पार्वती ने बाज़ार से लाई हुई झोली को खोला। उसमें दो सेब निकालकर मंगल और मधु को दिए। बाक़ी बचे सामान को रखकर झोली झाड़कर खूँटी पर टाँग दी। मधु छूही के दोनों तरफ़ पाँव फैलाकर बैठा हुआ किताब पढ़ रहा था। वह बारहवीं कक्षा में था इसलिए हर हालत में पढ़ाई में लगा रहता। मंगल उसके पास बैठकर किताब को इधर-उधर कर रही थी कि पार्वती वहाँ आई।

"बाबू वर्सल बजाएगा न?" पार्वती ने अधीर होकर पूछा। मधु ने पलभर के लिए पुस्तक से

ध्यान हटाकर तिरछी नज़रों से माँ को देखा और पुन: किताब पढ़ने लगा।

"बाबू ऐसा मत कर। वर्सल की पारी को हाथ से मत जाने दे। दुबारा नहीं मिलेगी।"

"वर्सल नहीं मिली तो कौन-सा पहाड़ टूट पड़ेगा!"

"यह पेट का सवाल है।"

"पेट भरने के और बहुत-से उपाय हैं।"

"गाँवकार हमें सताएँगे...भले-बुरे में कौन साथ देगा?"

"मत दें।"

"ऐसा बड़बोलापन तुमने कहाँ से सीखा?"

"इसी किताब से।" मधु ने ऊँची आवाज़ में कहा और ग़ुस्से में आकर पुस्तक वहीं पर पटक दी।

"आग लगे तुम्हारी पुस्तक को!"

"आग लगाओ उन गाँवकारों के मुँह को जिन्होंने हम जैसे नीच जातिवालों को सदियों से सताया एवं अपमानित किया है। जाओ बोल दो उन लोगों को कि शंकर हरिजन का बेटा वर्सल बजाने को तैयार नहीं है।" मधु का ग़ुस्सा माँ एवं गाँवकारों पर एक साथ था। अचानक उसे अपने बचपन की वह घटना उस समय जीवंत हो उठी जब उसके पिता को वर्सल के समय गाँवकारों ने ढोलक के डंडों से पीटा था। इसलिए वह और भी क्रोधित हो उठा। मंगल ने भाई को माँ के ऊपर इतना ग़ुस्सा होते हुए कभी नहीं देखा था इसलिए वह घबरा उठी और डर के मारे काँपने लगी। वह घबराई हुई नज़रों से माँ और मधु को देखती रह गई।

आज दशहरा। मंदिर के पास सैकड़ों लोग जमा होंगे... ढोलक बजेगी... तरंगें झूलेंगी... अवसर* आएगा...धार्मिक वृक्ष के पत्ते को श्रद्धालु सोना समझकर ले जाएँगे...चारों ओर ख़ुशी का आलम होगा...यह सब सही है लेकिन अभी तक मंदिर के पास ढोलक नहीं पहुँची। गाँवकार अपने-अपने कामों में लगे हुए थे...दशहरे की सभी तैयारियाँ हो चुकी थीं...ढोलक बजानेवाला अभी तक नहीं आया यह देखकर किसी एक गाँवकार ने ज़ोर से चिल्लाकर आवाज़ लगाई, "म्हाड्डो किधर गया?"

"उसे जाकर देखो कहाँ गुह खा रहा है।" एक दूसरे ने आवाज़ दी।

"अरे! वर्सल किसका है पहले यह तो पता करो?" आपी गाँवकार ने सभी को समझाते हुए पूछा।

"बाबा, मेरा बच्चा वर्सल नहीं बजाना चाहता।" पार्वती भीड़ से निकलकर गाँवकार मुखिया के पास गई और डरी हुई आवाज़ में बोली।

"क्या? वर्सल नहीं बजाएगा! गाँव के साथ रहना है कि नहीं तुम्हें? तरंग सजाने में पहले ही देरी हो गई और यह दूसरा झंझट।" इस प्रकार सोचकर आपी गाँवकार ग़ुस्से में पार्वती के ऊपर चिबुआकर दौड़ा तो वह डर के मारे सिकुड़ गई और कुछ भी नहीं बोली।

"राजग्या इधर आओ। पार्वती के पास से ढोलक लाकर इस साल का वर्सल तुम बजाओ।" गाँवकार ने मुझे वर्सल बजाने को कहा यह सोचकर राजगो मन-ही-मन बहुत ख़ुश हुआ। आज उसके लिए बिल्ली के भाग से छिंका टूटने जैसी बात हो गई क्योंकि यह वर्सल उसे पहली बार मिली थी। मेरे हक की वर्सल राजग्या के पास चली गई यह सोचकर पार्वती को बहुत दुख हुआ। उसकी आँखें भर आईं। वह वहाँ रुकी नहीं चुपचाप घर की ओर चल पड़ी। राजग्या उसके पीछे-पीछे एक पाँव के सहारे उझकते हुए चलने लगा...।

मधु ओसारी में दीवार के सहारे बैठा हुआ था। पार्वती सीढ़ियाँ चढ़ती हुई वहाँ गई और

---

* अवसर : दशहरा उत्सव के दिन तरंग धारण करनेवाले व्यक्ति पर देव की सवारी।

खूँटी से ढोलक उतारकर बिना कुछ बोले राजग्या को दे दी। उसने भी ढोलक चुपचाप ले ली और मंदिर के रास्ते की ओर चल पड़ा। पार्वती राजग्या के कंधे पर लटकी हुई ढोलक को तब तक देखती रही जब तक वह नज़रों से ओझल नहीं हो गया। अब वर्सल उसकी ज़िंदगी में नहीं आएगी। इस दुख से उसका कलेजा फटा जा रहा था...।

कुछ समय बाद ढोलक की आवाज़ आने लगी...जो कि पार्वती के हृदय को उसी प्रकार खुरच रही थी जैसे कि बाँस की फल्टी को कोंयते से...अभी तरंगों का अवसर आएगा...उसे लगा कि अभी अपने ऊपर ही अवसर आ गया है...मधु को ऐसा महसूस हुआ कि माँ का चित्त अभी ठिकाने पर नहीं है। वह धीरे-से उठकर माँ के पास गया और उसे क्षणिक अनुभव हुआ कि माँ की बात मान लेनी चाहिए थी किंतु दूसरे ही क्षण उसने उस बात को अपने मन से निकाल दिया। मधु ने माँ से धीमी आवाज़ में पूछा, ''माँ तू क्यों रो रही है, वर्सल के लिए?''

''हाँ बेटा...।'' उसे हुचकी आई।

''माँ दुखी मत हो। तुम्हारा मधु बिना किसी के सामने झुके ही अपने बल पर चार पैसे कमाएगा।'' मधु के इन शब्दों ने पार्वती के हृदय को तरलता प्रदान की। उसका भारी मन रूई की भाँति हल्का हो गया...वह ममता भरी आँखों से अपने कलेजे के टुकड़े को देखती रही...मधु ने अंदर जाकर दशहरे के अवसर पर पूजा के लिए आजीविका हेतु काम में आनेवाली सारी वस्तुओं पर नज़र दौड़ाई...। उसमें से कोंयता निकालकर वह आँगन में आया और दाली बनाने के लिए बाँस फाड़ने लगा।...

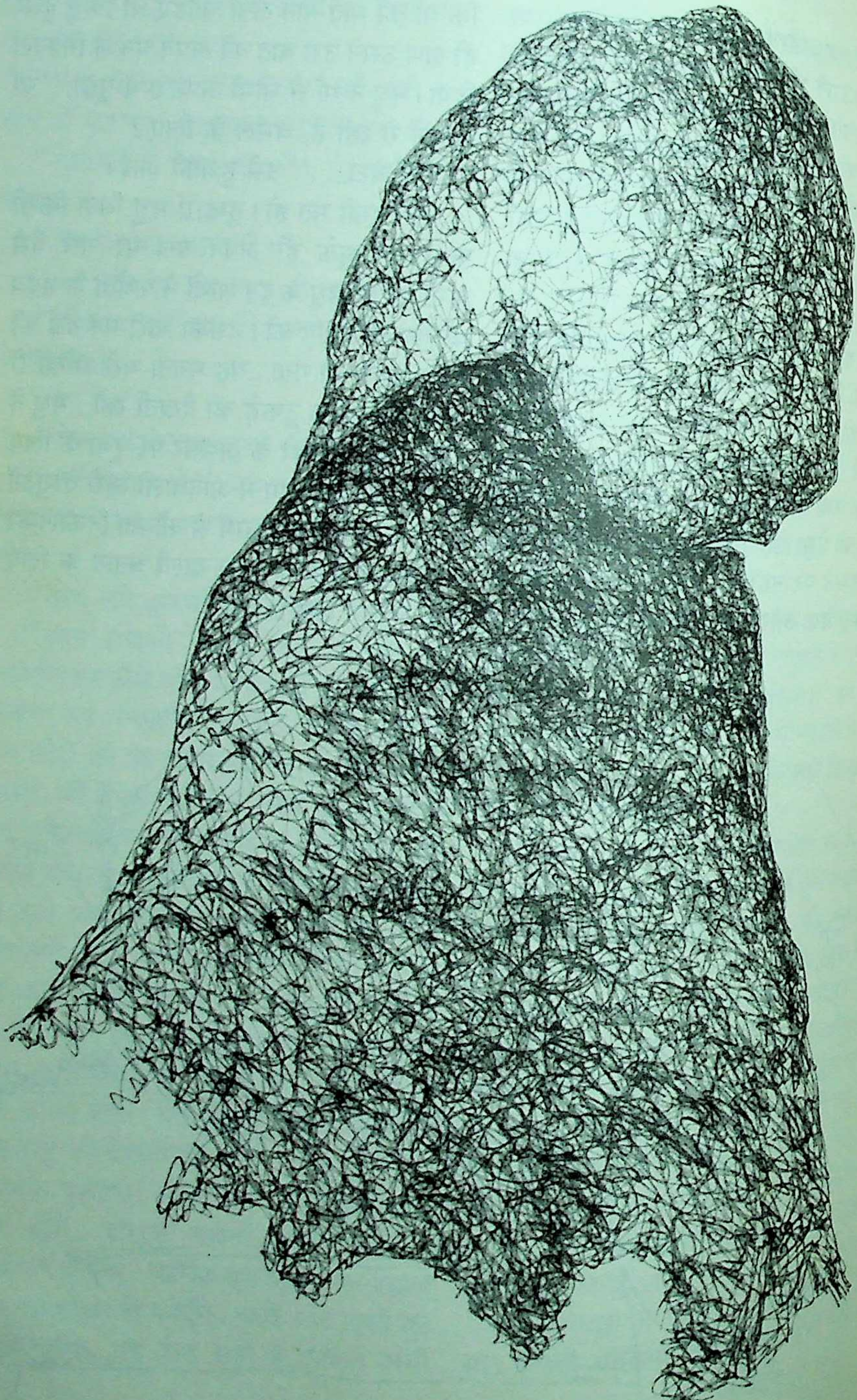

सुतिंदर सिंह नूर

कुत्ते

जिन घरों में केवल आदमी नहीं
कुत्ते भी होते हैं
उन घरों में जाने का सलीक़ा और होता है
दरवाज़े से अंदर आते ही कुत्ता पूछता है
किधर मुँह उठाए चले आ रहे हो
ठहरो, मैं घर वालों को आवाज़ देता हूँ

तुम सोफ़े पर बैठते हो
कुत्ता हाथ-पाँव व टाँगों के बीच
सूँघता और जाँचता है
घरवालों के पास जाता है और कहता है
आदमी भला मानस है
घर वाले चाय-पानी पूछते हैं
कुत्ता पहले ही पूँछ हिला देता है

सलीक़े से सजाए फूलों को
तुम अचानक छेड़ते हो
वफ़ादार कुत्ता न जाने कहाँ से
घुड़कने लगता है
और उसके बाद आप देखते हो
कुत्ता जहाँ नहीं भी होता
वहाँ भी भौंकने लगता है
तुम मेज़ पर पड़ी पुस्तक उठाते हो
कुत्ता वहीं पर से भी बोल पड़ता है
तुम उठकर सोफ़े से गद्दे पर बैठते हो
ग़ैरहाज़िर कुत्ता अभी भी घुड़कता है

अंत में तुम कहते हो
जनाब! कमाल है
यह कुत्ता किस नस्ल का है?
मालिक मुस्कुराकर बड़े गर्व से बताता है
इसका पिता अमरीकन
और माँ अंग्रेज़ थी
जनाब! यह नस्ल हमारे घरों में
अभी बहुत कम आई है।

सुतिंदर सिंह नूर का जन्म 1940 में कोटकपुरा, पंजाब में हुआ। अब तक 39 कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें कविता-संग्रह, गद्य, समालोचनात्मक कृतियाँ, संपादित ग्रंथ और अनुवाद शामिल हैं। पंजाबी अकादमी, भाषा विभाग, सफ़दर हाशमी पुरस्कार के साथ वर्ष 2004 के साहित्य अकादेमी पुरस्कार से पुरस्कृत हुए हैं। संपर्क : डी-132, मानसरोवर गार्डेन, नई दिल्ली-110015.

अनु. तरसेम का जन्म 1967 में बरनाला, पंजाब में हुआ। इनकी कविता-संग्रह संपादित, अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : बी-4/814, दशमेश गली, समीप गांधी आर्य हाई स्कूल, बरनाला-148101 (पंजाब)

मेरे देश में

मेरे देश में
हर वेश्या का नाम होता है
सलमा, रुखसाना, हुसैना, आलमआरा
या कोई और इस्लामी नाम
और वो देखती है आपकी ओर
जैसे किसी ऐतिहासिक लूट की क्षमा माँगते हुए
अब स्वयं लुट जाने की दावत दे रही हो

मैं दुष्यंत के शहर
ग़ज़लें, दादरा सुनता
हुसैना का काफ़ी परिचित हो गया था
मुझसे स्वाभाविक ही कहा गया
केवल गाती हैं
तो ये मुसलमान लड़कियाँ
ये सुनते ही
हुसैना बोल उठी
नहीं नहीं
मैं तो पंजाब से उजड़ी जमुना हूँ
वो रुक्मणी और वो मीरा है

मैंने जब कालिदास की नगरी
आलमआरा का नाम सुना
धूप चंदन रूप से भरे
उसके क़िले में पहुँचा
उसने मुझे विदायगी देते हुए
धीरे से कहा
फिर आना...
वो साँवली-सलोनी लड़की शकुंतला
और वो...
मैं क़िले की सीढ़ियाँ उतरते बोला
मैं जानता हूँ
उसका नाम ज़रूर कमला होगा
मेरा नाम सिद्धार्थ
मुझे बहुत जल्दी है
घर में यशोधरा और राहुल
मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

प्रेम व पुस्तक

प्रेम करने
और पुस्तक पढ़ने में
कोई अंतर नहीं होता

कुछ पुस्तकों के हम
मुख्य पृष्ठ देखते हैं
बोर करती हैं
पृष्ठ पलटते हैं रख देते हैं

कुछ पुस्तकें हम
रखते हैं तकिए के नीचे
अचानक जब भी आँख खुलती हैं
तो पढ़ने लगते हैं

कुछ पुस्तकों का
शब्द-शब्द पढ़ते हैं
उनमें खो जाते हैं
पुनः पढ़ते हैं
और आत्मा तक बसा लेते हैं

कुछ पुस्तकों पर
रंग-बिरंगे निशान लगाते हैं
प्रत्येक पंक्ति पर सोचते हैं
और कुछ पुस्तकों के
नाजुक पृष्ठों पर
निशान लगाने से भी डरते हैं

प्रेम करने
और पुस्तक पढ़ने में
कोई अंतर नहीं होता

जब भेद नहीं मिलता

जब भेद नहीं मिलता
मैं तुमसे ही पूछने लगता हूँ
मैं तुम्हें इतना प्यार क्यों करता हूँ

तेरे प्रभात से मुख को
तेरी चमकती सुंदर आँखों को
तेरे उजले जिस्म को
तेरी सादगी को
तेरे संगीतमय बोलों को
मैं किसको प्यार करता हूँ

मैं बार-बार तेरे भीतर उतरता हूँ
तेरे अंदर फैली झीलें, पहाड़
वन-तृण, जंगल-बेलें
अँधेरी गुफाएँ, दिन-रात
चुप, शोर सब कुछ देखता हूँ
पर पता नहीं लगता
मैं तुम्हें इतना प्यार क्यों करता हूँ

मैं तुम्हें पूछता हूँ
कहीं यह तो नहीं
कि सुगंध अपनी ही नाभि में से उठती है
और हम समस्त जंगल छान देते हैं

तुम कहती हो
यह सुगंध नाभि में सदा नहीं होती
पर जब जागती है
वह क्षण ही फैल जाता है
जब भेद नहीं मिलता
मैं तुमसे पूछने लगता हूँ

तुम मनुष्य के बारे कैसे सोचते हो?

तुम मनुष्य के बारे कैसे सोचते हो ?
कभी केवल आँखें
कभी केवल हाथ
कभी केवल पाँव
या कभी मनुष्य से पार देख लेते हो

क्यों आपकी नज़र कभी
पूरा मनुष्य नहीं सोचती ?

तुम लारंस पढ़ते हो
यह नंगेज़ है कहकर आगे चलना चाहते हो
तुम विटमन पढ़ते हो
फिर भी मनुष्य को अंग-अंग कर देते हो

तुम मनुष्य के बारे कैसे सोचते हो ?

समय समय के बादशाह

एक बादशाह ने कहा
तुम आज़ाद हो
कुछ भी बोलने के लिए
कहीं भी जाने के लिए
परंतु शब्द वही होंगे
जो मैं बोलूँगा
तुम जहाँ भी जाओगे
बंदगी मेरी ही करोगे
जो भी सुर्ख़ाब लाओगे
कलगी मेरी ही बनेगी

दूसरे बादशाह ने
सिंहासन पर बैठते ही एलान किया
तुम आज़ाद हो
कुछ भी बोलो
पर इतना अवश्य कहो
पिछला बादशाह कमीना था
लुच्चा था, लफंगा था
तुम आज़ाद हो
कहीं भी जाने के लिए
पर जहाँ भी जाओ
मेरी बादशाहत का एलान करो

अचानक लोग देखने लगे
शब्दों के आर-पार
वो जब लौटे क्षितिजों से
उनकी उँगलियों के पोरों पर
ख़ंजर उग आए थे।

महानगरी एक घर

महानगरी एक घर के
पीछे वीरान दरवाज़े पर
लोहे की ऊँची व लंबी सलाख़ें
ठीक नीचे चौखट के पास
उगा है एक हरा पौधा

मैं खटखटाता हूँ दरवाज़ा बार-बार
नहीं, नहीं कोई नहीं बोलता
ठक-ठक मैं देता हूँ दस्तक
नहीं-नहीं कोई नहीं खोलता
तो भी मैं पूछता हूँ
वो कहाँ है ?
मैं चोर-उचक्का नहीं
उनको कहना
मात्र मैं संदेश देने आया था
परदेस से
चिरकाल से खोए उनके बालक का
उसने कहा था मैं बरसों बाद
उनको आशीष भेजता हूँ
और मैं स्वस्थ हूँ

कविता को उगने दो अपने भीतर

कविता को उगने दो
अपने भीतर
एक वृक्ष की तरह
और वृक्ष को बातें करने दो
हवा से, धूप से
बारिश से
तूफ़ानों के साथ
वृक्ष की खोड़ में
पक्षियों को खो जाने दो
चुह-चुह करने दो
व घोंसला बनाने दो

कविता को उगने दो
अपने भीतर
एक ख़ुद रौ पुष्प की भाँति
जो देखता है आकाश की ओर
महकता है
विकसित होता है
आज़ाद हवाओं में साँस लेता
किसी के अधीन नहीं होता
और बीहड़ जंगल में
कोसों दूर जाते
कारवाँ को भी
आवाज़ देता है

कविता को उगने दो
अपने भीतर
सूर्य की तरह
जो क्षणों में
वन–तृण दरियाओं
समुद्रों पर फैल जाता
हृदय में अग्नि लिए
ब्रह्मांड से बातें करता
किरणों के संग
निरंतर चलायमान

कविता को उगने दो
अपने भीतर
चाँदनी रात की तरह
जिसके मद्धम–मद्धम सरोद में
हम भीतर तक भीग जाते हैं
सीमाओं तक फैली
चुप गहरी रात में
गोरी रश्मियों के जाम
दिल के अँधेरे कोनों तक
एक ही साँस में पी जाते हैं

कविता को उगने दो
अपने भीतर

वृक्ष की तरह
ख़ुद रौ पुष्प की भाँति
सूर्य की तरह
चाँदनी रात की तरह

रामसिंह चाहल

नया संसार

मैं—
बड़े भाई "हरनैल—सूं" के
फूल (अस्थियाँ) लेकर
"कीर्तपुर"* जा रहा हूँ।

बरसात ज़ोरदार आ रही है
जैसे अंधड़ चल रहा हो
फूल मेरे सीने के साथ
चिपके हुए हैं
बड़ा भाई—
एक नई दुनिया में जा रहा है...

जब तक फूल मेरे साथ थे
मुझे ख़ुशबू आती रही

देख रहा हूँ—
बस की हर सवारी की
मेरी ओर उदास आँख थी
मैं फिर भी
उदास नहीं था हो रहा
मैं अंत तक
फूलों के साथ संवाद करता गया।
"कीर्तपुर"—
एक खुला—आँगन
लोहे की कितनी ही पाइपों की
क़तारें ही क़तारें...

रामसिंह चाहल का जन्म 1950 में हुआ। इनके पंजाबी में चार कविता- संग्रह; हिंदी में एक प्रकाशित हुए हैं। कई संपादित पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : दशमेश नगर, मानसा-151505 (पंजाब)

अनु. स्वयं

---

* कीर्तपुर—पहले सिख लोग, बड़ों की/मरनेवालों की अस्थियाँ गंगा नदी में प्रवाह करते थे। अब वे कीर्तपुर में एक छोटी नदी में प्रवाह करते हैं। सुबह सवेरे।

पाइपों के साथ
कपड़े की पोठलियाँ
बाँधी हुई

और कितनी ही दुनिया के
फूल टँगे हुए थे...

गेट वाला आदमी
कह रहा है
भाई साहब— !
अपने फूलों पर
कोई निशानी लगा देना
नहीं तो—
सुबह एक-दूसरे में मिल जाएँगे

मैं...अगले ही पल
अपने भाई के फूलों पे
अपना नाम लिख रहा था।

क्या निकट-क्या दूर

बड़े भाई की लाश
चारपाई पर पड़ी है
वह शांत-चित्त
सोया पड़ा है
भीड़ बढ़ती जा रही है
हर कोई कुछ न कुछ
कह रहा है—

चालीस साल खूब हल चलाया
हरनैल सूं ने
कुछ कह रहे हैं...
कमाई को तो बस शिखर पर
पहुँचा दिया
बड़ा धर्मात्मा था
हर रोज़ ही, कभी गुरुद्वारे जाता
और कभी डेरे
उसकी ज़िंदगी में कोई भी

ऐसा दिन नहीं था कि—
किसी माँ-बहन की ओर
कभी आँख उठा कर देखा हो
बस, अल-सुबह ही उठता
और वाहेगुरु-वाहेगुरु कहने लग जाता
जैसा मिलता, वैसा खा लेता
कभी भी "शोशन-मोशन" नहीं था किया
क़ुर्बान जाएँ ऐसे जाट के पूत के

और पता नहीं क्या-क्या
सभी इर्द-गिर्द बैठे लोग
कहे जा रहे थे

और एक बस मैं ही था
जिसको उसने चुप करा दिया था

बिटिया का विवाह

खेत
आज फिर कुछ कहता रहा
बहुत प्यासा था वह

उसकी चुप्पी को मैं पहचानता था
मेरी ख़ामोशी को वह पहचानता था

देखा पहली बार
खेत के चेहरे पर आदमी की प्यास
ज़रा भी अंतर नहीं था

देख रहा हूँ—
खेत के बदन पर
जो भी गुज़रता
उसकी सलामी के लिए
वह अपना पूरा यत्न करता है

शिखर दुपहरी में
वह—
धूनी की तरह तप करता है

उसकी इस उदासी और चुप्पी को
अंबर भी जानता है
धरती की कोख़ को वह जानता है

यूँ ही उसके सोचते-सोचते
रिमझिम-रिमझिम
तेजी से बरसात होने लगती है

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

देख रहा हूँ—
यह सब बिटिया के विवाह के लिए
हो रहा है

वह मेरी चुप्पी को जानता है
मैं उसकी ख़ामोशी को जानता हूँ

अंबर भी यह सब जानता है

देखना

मित्रों संग
आलीशान होटल में बैठे हुए
मुझे खेत याद आने लगता है

सलाद की ओर देखते हुए
लेते हुए एक़ बेसनी रोटी,
अपने गाँव में अपना खेत
याद आने लगता है

खेत की क्यारी पे खड़ा ''हजूरा''
हाज़िर हो जाता है
वह ककड़ी-खरबूजे तोड़ता
नज़र आता है

मैं चंडीगढ़ जाऊँ या चेन्नै
मेरा खेत, मेरा गाँव
मेरे अंग-संग रहते
मुझे हर होटल में
वे हरे-भरे नज़र आते

खेत की हर क्यारी
होटल की हर मेज़ पर
हरी हो जाती

सोचता हूँ...
अपनी यह आँख
किसी विशेष आदमी को दिखाई जाए
वह ऐसा क्यों देखती है!

परमिंदर सोढी

सूखा पत्ता

सूखा पत्ता गिर रहा है
उड़ रहा है धीरे-धीरे
हवा के साथ-साथ...

सूखे पत्ते ने कहाँ जाना है?
सूखे पत्ते को कोई जल्दी नहीं है

सूखा पत्ता
उतरेगा आहिस्ता-से
बहती नदी के सीने पर
नदी को तो कोई जल्दी नहीं है
सागर तक पहुँचने की...

सूखा पत्ता
सहज ही उतरेगा
चलते हुए राह के बदन पर
राह को तो कोई जल्दी नहीं है
मंज़िल तक पहुँचने की...

सूखा पत्ता गिर रहा है
उड़ रहा है धीरे-धीरे
हवा के साथ-साथ...

सूखे पत्ते को कहाँ जाना है
सूखे पत्ते को कोई जल्दी नहीं है

परमिंदर सोढी का जन्म 1955 में रोपड़ में हुआ। इनके पंजाबी में तीन कविता-संग्रह, पाँच अनूदित पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : पैलासियो-503, 4-1-1, सूकामोटो, यादोगावा कु, ओसाका, जापान

अनु. रामसिंह चाहल

सूखे पत्ते के पास
यादें बेइंतिहा...
हरे वृक्ष की
महकते हुए फूलों की
गाते हुए पंछियों की

सूखे पत्ते के मन पे कोई बोझ नहीं है
सूखा पत्ता गिर रहा है
उड़ रहा है धीरे-धीरे
हवा के साथ-साथ...

उगती घास की ओर
नई-नई हरियाली की ओर

सूखे पत्ते के मन पर कोई बोझ नहीं है
सूखा पत्ता तो एक सहज-ज्ञानी है...
सूखा पत्ता तो है एक बुद्ध, जन्म से...

सूखे पत्ते में समा जाएँगे एक दिन
आहिस्ता से, ये सभी दरिया
घास, सागर और ये बहते दरिया...

सूखे पत्ते ने कहाँ जाना है ?
सूखे पत्ते को कोई जल्दी नहीं है।

कुछ हाइकू

ख़ुदा का रेखा चित्र

एक नन्ही बच्ची ने जंगल की तसवीर उतारी
कहने लगी, इसमें ख़ुदा छुपा हुआ है
मैं हैरान, पिकासो हैरान...!

दिन एक खिला हुआ

डाकख़ाने की खिड़की के पीछे बैठी एक लड़की
मुस्कुरा कर पकड़ती है मेरा लिफ़ाफ़ा
अचानक खिल उठता है पूरा शहर...

अचानक

महानगर के भीड़-भड़क्के वाले चौक में
कोई बच्चा बोलता है ''पा...पा पापा''
मैं लौट कर देखता हूँ...

दोष किस का ?

भरा हुआ बाज़ार, रौनक चारों-तरफ़
साथ एक दोस्त लड़की का
अचानक याद आया, घर-परिवार...

स्वर्ग

एक सुंदर लड़की की ओर देखना
यह भी तो
एक स्वर्ग की परछाईं है...

देवनीत

त्रिकुटी

एक ऊँची हरी
शांत पहाड़ी है

पहाड़ी के क़दमों में
बस रहा है
पहाड़ी—शहर

जानकी एक मज़दूर
अल-सुबह ही
पहाड़ी के शिखर से नीचे उतरता है
ख़ाली हाथ

दिन-भर करता है काम
भरता है थैला

एक गहरी शाम
हाथ में जलती हुई लालटेन लिए
पहाड़ी के ऊपर चढ़ रहा है
टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी
धीरे-धीरे

देवनीत का जन्म 1951 में हुआ। पंजाबी में तीन कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : सरकारी सेकेंडरी स्कूल, ख्याला कलां, मानसा-151505 (पंजाब)

अनु. रामसिंह चाहल

एक कवि
पहाड़ी के क़दमों में
बैठा है
अकेला

एक त्रिकुटी
साकार हो रही है

मोहब्बत—इलम—मसक़्क़त

मोहब्बत :
पहाड़ी के शिखर जगत की मोहब्बत
का घर है
मज़दूर का घर

इलम :
मज़दूर के हाथ में जलता हुआ दीप
धीरे-धीरे मोहब्बत के घर
जा रहा है
मज़दूर की मसक़्क़त :
इलम व मोहब्बत की
ज़रायत है

तरसेम

नीम का वृक्ष और चिड़िया

कभी-कभी यादें भी
बन जाती हैं बीज से वृक्ष
झूमती हैं दिल के सूने आँगन में
कभी-कभी मेरी उँगली पकड़
ले जाती हैं बचपन की वीथि
जहाँ घर
घर का कच्चा आँगन
आँगन में नीम का वृक्ष

वृक्ष पर पक्षी बैठते हैं
दिन चढ़ते ही चहकते हैं
कच्चे आँगन को भर देते हैं

तरसेम लाल का जन्म 1967 में हुआ। इनकी कविता-संग्रह की दो पुस्तकें तथा संपादित, पंजाबी-हिंदी में अनूदित कई पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : बी-14/814, दशमेश गली, समीप गाँधी आर्य हाई स्कूल, बरनाला-148101, ज़िला संगरूर (पंजाब)

तिनकों से, बीट से
कभी-कभी घोंसले से
नीचे गिरता कोई चिड़िया का बच्चा
माँ बीट व तिनके साफ़ करती
चिड़िया के बच्चे को पुनः रखवाती नीड़ में

पक्षी फिर बीट करते
तिनके बिखेरते
माँ फिर साफ़ करती
परंतु ख़ुशी-ख़ुशी
कभी-कभार माँ कहती
भाग्यशाली होता है वो घर
जहाँ पक्षी आएँ...
दाना चुगें
तिनके बिखेरें

उस वृक्ष पर माँ ने एक मोटी रस्सी डाली
उस पर एक खटोला टिकाया
मैं उस खटोले पर सोया रहता
देर तक
वृक्ष की ठंडी-ठंडी हवा में

समय का चक्र घूमा
कच्चे घर की मिट्टी
संगमरमरी पत्थरों में बदल गई
नीम का वृक्ष अब आँगन में नहीं था
अब महक नहीं
दुर्गंध आती पत्थरों से
कुछ दिन तो पंछी आते रहे
मुंडेर पर बैठकर उड़ जाते
फिर कभी पंछी न आए।

केवल एक चिड़िया थी, जो निरंतर आती रही
कभी दरवाज़े पर बैठती
कभी खिड़कियों पर
कभी छत के बालों के बीच
बना लेती घोंसला
जैसे उसे आ रही हो

उसी वृक्ष की महक
दरवाज़ों से
खिड़कियों से
बालों से

अब कभी-कभार
जब मैं उस नींद के बारे में सोचता हूँ
तो कई-कई रातें काटता हूँ जागकर
जैसे वो वृक्ष ही उग आया हो
मेरी यादों में नींदों में, ख़्वाबों में

अंतर

बहुत अंतर होता है
दौड़ने और चलने के बीच

जब वो दौड़ता है
''बहुत कुछ'' रह जाता है
पीछे उससे

जब वो चलता है
''बहुत कुछ'' साथ-साथ चलता है उसके

बहुत अंतर होता है
दौड़ने और चलने के बीच

आवाज़

सुनो!
अब भी पड़ती है
मेरे कानों में
मारो, मारो
न मारो, न मारो की आवाज़
आवाज़ में विवशता है
वेदना है
रोष भी

आवाज़ तो वही है
पर, रूप बदल गए

अंदाज़ बदल गए
आवाज़ भले तेरी है
या मेरी है
ज़ख़्मी आवाज़
कपड़ों की भाँति टँगी है अलगनी पर
तेरे घर
मेरे घर
भले ही आवाज़ वो सदियों पुरानी है
पर यादों में
ताज़ा है, आज भी

अब भी
कभी-कभार उग आते हैं ज़ेहन में
शरणार्थी कैंप
या घर ही हो गए हैं...
चाहकर भी नहीं मिलते
चेहरे अपनों के
हो सकता है
सुन तो तुझे भी रही हो
परंतु शायद
तू नहीं चाहता सुनना

कितने ही बंद करके
खिड़कियाँ दरवाज़े
दुबककर बैठ जाएँ
घर के किसी कोने में
चाहे उतर जाएँ पाताल में
परंतु आवाज़ तो
करेगी ही पीछा वहाँ भी

आवाज़ पहुँच ही जाएगी
हवा की तरह
रोशनी की तरह
आवाज़ जो तेरी है
आवाज़ जो मेरी है

शोर के वृक्ष के नीचे बैठा है
कहाँ जाएगा
आवाज़ से बचकर

अकेला नहीं हूँ मैं

कहाँ हूँ मैं अकेला
मेरे साथ है
वृक्षों का गीत
पत्तों का संगीत
हवा की रुनझुन

मेरे साथ है
नदियों की चंचलता
फूल सुगंधियाँ
रंग-बिरंगी तितलियाँ

मेरे साथ है
धरती की महानता
गगन की विशालता
खंड, ब्रह्मांड, नक्षत्र

मेरे साथ है
सुबह की शबनम
हरी घास की तृण
पत्तियों-सी कोमलता
कहाँ हूँ मैं अकेला

मेरे साथ हैं मेरे सपने
और सपने तो इसीलिए मेरे हैं
क्योंकि तू मेरी है

उसने कहा

उसने कहा
सपनों में न आया कर
सपनों की पहचान नहीं होती
साक्षात मिलाकर
किसी मेले में
उत्सव में
या कहीं भीड़-भाड़ वाली जगह पे
बड़ा ही मन करता है

हाथों में हाथ पकड़कर
दो क़दम चलने को
डरना मत भीड़ से
भीड़ की आँखें नहीं होतीं

उसने कहा
भले ही समुद्र की सीमा नहीं होती
तृष्णा की भी
कोई उम्र नहीं होती
परंतु, बड़ी दुखद होती
पानी में रहते
पानी की प्यास
तू प्यास तो बन
मैं पानी की
हर बूँद में समा जाऊँगी

उसने कहा
पते तो घरों के होते हैं
सड़कों के नहीं
सड़कों ने तो बता देना ही होता है
घरों की राह

उसने कहा
रेत का अस्तित्व तो
हवा से है
जब चाहे
जिधर भी ले जाए उड़ाकर
बना दे
रेत का टीला
या बना दे टीले का मैदान
उड़ाकर ले जाए
किसी बगिया में
या फेंक दे
कहीं कीचड़ में

उसने कहा
नदियाँ कुछ नहीं होतीं
किसी के विरह में

बहे आँसू होते हैं
जो नदियाँ बन जाते हैं
ये नदियाँ
जब जम जाती हैं
चट्टानें बन जाती हैं
चट्टानें कुछ नहीं होतीं
किसी की प्रतीक्षा में
पथराई आँखें ही होती हैं

घर

घर से सुबह
एक वस्तु तैयार होकर निकलती है
दफ़्तर जाती है
बाज़ार घूमती है...

घर में दूसरी वस्तु
चूल्हा-चौका करती
छोटी वस्तुओं को सँभालती
टूटती-जुड़ती

रात को पहली वस्तु घर आती है
दूसरी वस्तु के साथ सो जाती है

बूढ़ा हुआ घर
दरवाज़े पर खड़ा
बंदों की प्रतीक्षा करता है।

नीली

कौन हो तुम!
कितना शांत था सब कुछ
तुम्हारे आने से पहले

तूने नज़र भर देखा आकाश
वो नीला हो गया
अपने में खो गया

तूने क्षण-भर देखा समुद्र
पानी में छा गई नीलिमा
किनारे जल को ढूँढ़ने लगे

तुम्हारी मदमाती नज़र क्या गई बगिया में
सारे के सारे फूल महक उठे
आश्चर्यचकित-सा माली
शर्माए फूलों को निहारने लगा

आकाश, समुद्र और फूल
एक-दूसरे से पूछते हैं तुम्हारा पता

ये क्या नीलवर्णी!
आँखों में उन्मुक्त आसमान भरे
मेघों को बाँधे अपनी वेणी से
पंखुड़ियों से होंठों में मुस्कुराती
चंचल चपला-सी
नीली साड़ी में सजी
मेरे सामने खड़ी हो

मैं चारों ओर देखता हूँ
सारी कायनात में नीलिमा छाई है

तुम कौन हो नीलाक्षी!

तुम जिसे
स्मरण करते हो तन्हाइयों में
सपनों में
पुकारते हो बार-बार
मैं ही हूँ तुम्हारी नीली
तुम्हारी कविता

मैं तो तुम्हारे लिए ही बनी हूँ कविवर
सिर्फ़ तुम्हारे लिए...

थाने के पास से गुज़रते हुए

थाने के पास से गुज़रते हुए
देखता हूँ
एक ख़स्ता अँधेरी कोठरी में से

कमज़ोर लड़खड़ाती आवाज़ आती
मेरे साथ-साथ चलती

रुकने के लिए कहती
सूनी आँखों से निहारती
पानी माँगती
मेरे पास पानी कहाँ!

मेरे माथे पर आए
पसीने की ओर गौर से देखती
चाहती प्यास बुझाना

पसीने में तो नमक होता है
नमक प्यास नहीं बुझाता।
मैंने जल्दी से कहा

उसके खुश्क होंठ ज़रा मुस्कुराए
अगर तू नमक को जानता है
तो प्यास भी हर सकता है।

परंतु मैं तुझे...।
आवाज़ से पीछा छुड़ाकर
मैं तेज़ी से आगे बढ़ा

कितना ख़ुदगर्ज़!
अपने माथे का पसीना
अपनी अगली पुश्तों के लिए सँभालकर
बिना कुछ कहे भाग आया

अब भी
थाने के पास से गुज़रता हूँ जब
वो आवाज़ दिखती तो है
पर सुनाई नहीं देती

कितना अकेला

कितना अकेला
वो पंछी
जो अभी-अभी

शाख़ से उड़ा है
सोचता हूँ
वो शाख़ को तन्हाई देकर गया
या शाख़ की तन्हाई लेकर गया

कितनी अकेली है
वो चिड़िया
जो रोज़ाना मेरे कमरे में आती
इधर-उधर बैठती
उड़ जाती
क्यों नहीं आती अब वो चिड़िया

सब कुछ तो है
छत, दीवारें, शीशा, तन्हाई

हाँ, शीशे से याद आया
कितनी देर तक
शीशे के सामने बैठी रहती
ख़ुद ही के बिखेरे तिनकों का प्रतिबिंब
दर्पण में निहारती
शीशे से पार जाना चाहती
अब दर्पण नहीं
कैसे आएगी वो चिड़िया

कितना अकेला है
वो क़ैदी
जो अपने जिस्म को
रात की चादर से ढक तो लेता
पर सोते हुए भी जागता
ऊँची दीवारों की ख़ामोशी से डरता
दिन से
ज़्यादा तनहा
ज़्यादा अकेला

कितनी अकेली है
वो किश्ती
जो भँवर में फँसकर

पानी के थपेड़े खाती
किनारों को ढूँढ़ती

अकेले-अकेले ही तो हैं
सूरज, चाँद, धरती, गगन, कविता
...तुम और मैं

अकेले होना
समाधि में उतरना है
ख़ुद को ढूँढ़ना
एकल से कैसा भय
सुनो!
अकेले होना फख्र भी है...

सुखजीत

तू भ्रम मत पाल

तू अपने प्रभु होने का
मान न कर
यह प्रभुता
तुझे हमने बख़्शी है
तू अपने पैगंबर होने का
पाखंड न कर
यह पदवी तुझे
हमने सौंपी है
तू यह भ्रम भी मत पाल
कि तू बख़्शणहार है
हम भूलने वाले नहीं हैं
तू यह न समझ
कि अनजान हैं हम
हम जानते हैं सब कुछ
कि हम
पूजते हैं जिसे
वह भगवान हो जाता है
कि हम
जिसके आगे सिर झुकाते हैं
उसमें प्रभुता आ जाती है

सुखजीत के कई पंजाबी कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : गुरों कॉलोनी, माछीवाड़ा, जालंधर (पंजाब)

अनु. जतिंदर कुमार जैतो के कई संग्रह पंजाबी-हिंदी में परस्पर अनुवाद के प्रकाशित। संपर्क : उर्दू सागर क्लीनिकल लैबोरेटरी, चौंक न. 3, जैतो-151202, जिला-फरीदकोट (पंजाब)

कि हम
जिसको भी सुनते हैं
ध्यान से
वह पैगंबर बन जाता है
तू अपने किसी भी रूप का
गुमान न कर
यह रूप तुझे
हमने दिया है।

सिर्फ़ तेरे लिए बस

मैं सूरज नहीं हूँ
कि मेरी किरणें
गर्माएँ
सभी जिस्मों को
मेरी छाती की
तपिश तो सारी की सारी
तेरे लिए है बस
मैं हवा नहीं हूँ
कि मेरे श्वास
करें सरगोशियाँ
हर किसी के कानों में
और सहलाऊँ
हर बदन को मैं
मेरे श्वास मेरे पोर
तेरे लिए हैं सिर्फ़
मैं इंद्र नहीं हूँ
कि बरसात की भाँति
कहीं भी बरस जाएँ
मेरे चुंबन
यह तो आरक्षित हैं
सिर्फ़ तेरे लिए बस
मैं सूरज नहीं
हवा नहीं पानी नहीं
न ही कोई देव पुरुष
मर्द हूँ तेरा
सिर्फ़ तेरे लिए बस।

कलाकारी

मैंने
कुछ शब्द बचा लिए हैं
मैंने
कुछ रिश्ते बचा लिए हैं
वैसे
शब्दों ने ज़बान से
और
रिश्तों ने जान से
टूटना ही होता है
यह तो
कलाकारी है अपनी
कि कितना समय
नहीं टूटने देते
शब्दों को ज़बान से
और कितना समय
निभा पाते हैं
नहीं टूटने देते
रिश्तों को आत्मा से।

उर्दू

ओम प्रभाकर

पतझड़ में गंध झरे!

ओम प्रभाकर का जन्म 1941 में हुआ। इनके कविता-संग्रह, कहानी-संग्रह एवं समीक्षा पुस्तकें प्रकाशित। मध्य प्रदेश साहित्य परिषद और उ.प्र. हिंदी संस्थान से पुरस्कृत। संपर्क : 7, किला रोड, भिंड-477001 (म.प्र.)

अनु. स्वयं

कुछ की झूली
कुछ की टूटी बाँहें
ये पेड़ अपाहिज हैं
भरते ठंडी आहें :
कल तक थे हरे-भरे!

निर्लज्ज हवा दौड़े।
चिथड़ा-चिथड़ा आँचल
धूसरित उड़ें छिन-पल :
सहमे-से डरे-डरे!

ये समय बड़ा नीरस।

जलहीन नदी–नैना
दुख लेना, दुख देना :
अधरों तक भरे–भरे!
पतझर में गंध झरे!

बैठो तो, बतलाऊँ।
ये जो तेरा तन–मन है
ये जो मेरा तन–मन है
ये ही सच है सुंदर है।
ये कभी मरुस्थल है
उपवन है
कभी समंदर है
देखो तो, दिखलाऊँ!

हमने पर्वत तोड़े
तुमने बीहड़ पाटे।
अपनी–अपनी कोशिश
दुख जीते, सुख बाँटे।
समझो तो, समझाऊँ!

अब यात्राएँ खोलें
तन अपना जीवन को
मन सपनों को देकर
हम संपूरन हो लें!
तुम बोलो, मैं गाऊँ!

चंद अल्फाज़

चंद अल्फाज़, कुछ अहवाल[1] बचा रक्खे हैं
हमने दो–एक ही एमाल बचा रक्खे हैं।
पहले गाते थे, बजाते थे हवाओं के मिज़ाज
अब तो टूटे हुए सुर–ताल बचा रक्खे हैं।
उड़ गए हुस्नो–जवानी के परिंदे कबके
हाँ, तसव्वुर में ख़दो–ख़ाल[2] बचा रक्खे हैं।
एक नादीदा[3] सनम भी है कहीं तेरे सिवा
उसकी ख़ातिर ये महों–साल बचा रक्खे हैं।

---

1. हालात, घटनाएँ। 2. कपोल–तिल। 3. अदृश्य।

बैठा करता कभी आके जो तादूर,[4] उसके
इक दरीचे[5] ने परो-बाल बचा रक्खे हैं।

नज़र बाक़ी

कुछ नज़ारे हैं, कुछ नज़र बाक़ी
और कुछ कोस का सफ़र बाक़ी।
रह गया है क़िताब में दिन की
शाम का बाब[6] मुख़्तसर बाक़ी।
इस ख़िज़ाँ में भी कुछ महकता है
दिल है बाक़ी अभी जिगर बाक़ी।
ख़ाक ही ख़ाक हूँ मगर छू मत
इश्क का है अभी शरर[7] बाक़ी।
वक़्ते-रुख़सत पलट के बरसी जो
है निगाहों में वो नज़र बाक़ी।
धुल गई थी जो तेरे अश्कों से
ख़त में वो ही थी इक सतर[8] बाक़ी।

---

4. पक्षी। 5. झरोखा। 6. अध्याय। 7. अंगारा। 8. पंक्ति

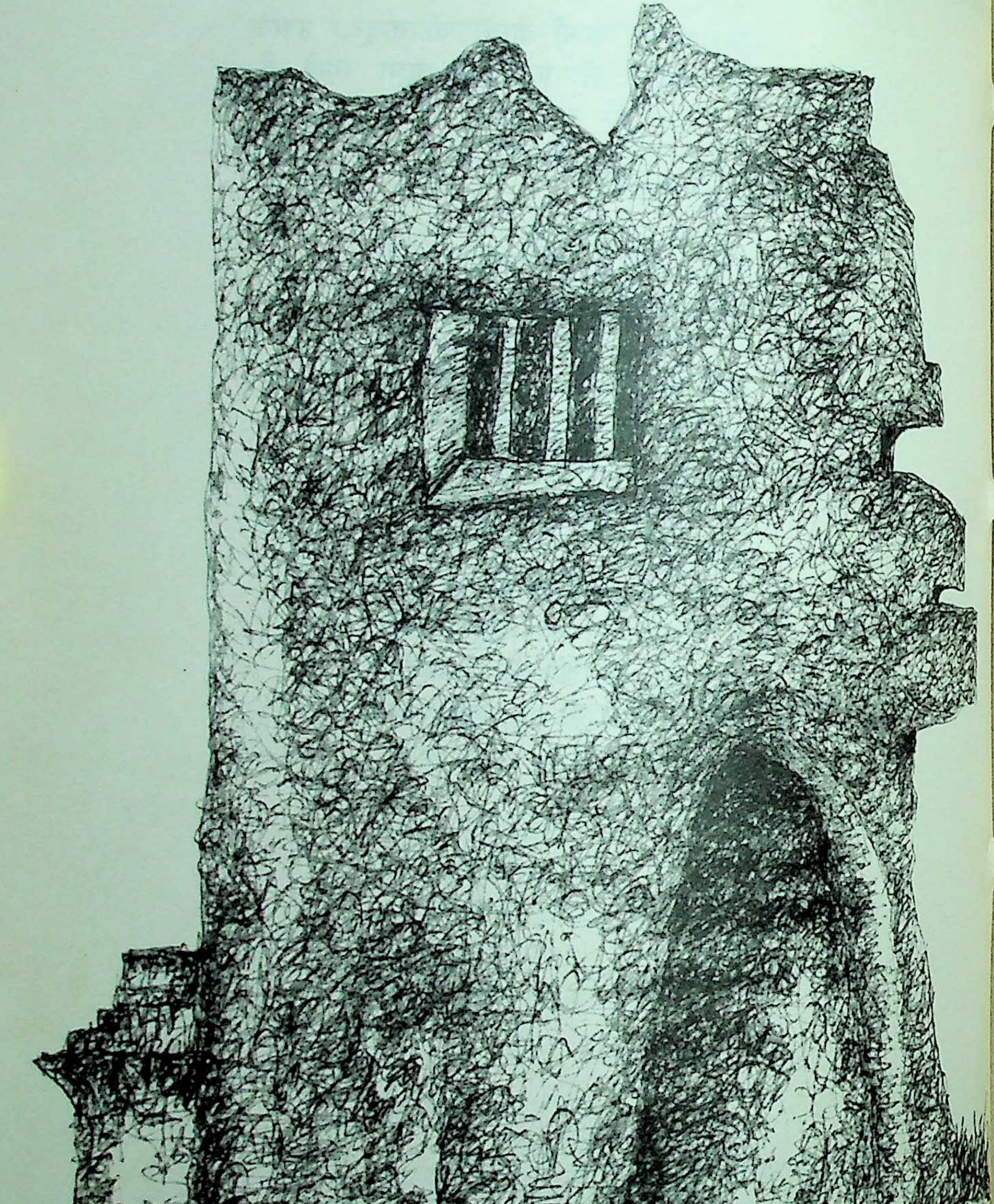

कमल

संताल और उनकी दुनिया

ये उन लोगों की बात है जिनके बारे में प्रारंभिक जानकारियाँ बताती हैं कि आर्यों ने अपने अभियानों के दौरान उन पर आक्रमण ही नहीं किए, बल्कि उन्हें खदेड़ कर दूसरी जगहों पर जाने और बसने के लिए मजबूर किया। उनके जल, जंगल और ज़मीन पर नैसर्गिक व सामूहिक अधिकार की मूल अवधारणा को भंग किया। पौराणिक संदर्भों में देखें तो सतयुग, त्रेता व द्वापरयुग आदि कालों में आदिवासियों को राक्षस, प्रेत, दैत्य, दानव, असुर आदि संज्ञाओं से संबोधित कर उन्हें मनुष्य होने से ही नकारने का दुश्चक्र रचा जाता रहा है। और आधुनिक युग की विडंबना यह कि शब्दों के हेर-फेर के क्रम में आज उनके अस्तित्व को भी नकारने की जुगत भिड़ाई जा रही है। कोई उनके लिए जनजाति तो कोई उनके लिए वनवासी शब्द गढ़ता फिर रहा है। लेकिन आदिवासी से बढ़कर कोई दूसरा शब्द हो ही नहीं सकता जो उनके लिए उपयुक्त हो या उन्हें ठीक-ठीक परिभाषित कर सके। इस शब्द के साथ ऐसे लोगों का बोध होता है जिनका बोलना ही प्रकृति का गीत है और जिनका चलना ही प्रकृति का नृत्य। जिनकी संस्कृति और समूचा जीवन दर्शन अपनी प्रकृति के साथ सामंजस्य की अद्‌भुत मिसाल है।

ऐसा नहीं है कि ये लोग आक्रमणकारियों का मुक़ाबला नहीं कर सकते थे। सच तो यह है कि जंगलों और पहाड़ों में रहनेवाले ये लोग, बर्बर आर्य आक्रमणकारियों से कहीं ज़्यादा सभ्य माने जाने चाहिए क्योंकि उन्होंने युद्ध की बर्बरता से ज़्यादा महत्त्व शांति को दिया था। भले ही इसके लिए उन्हें पलायन का विकल्प चुनना पड़ा। ग़ैर-आदिवासियों से हारकर भी आदिवासियों का जुझारूपन कभी ख़त्म नहीं हुआ और उन्होंने निरंतर जंगलों को काटकर नए-नए गाँव बसाए, कृषि योग्य नई भूमि तैयार की। सामने से आनेवाले दुश्मन का तो वे सामना कर सकते थे लेकिन जो दुश्मन उनके अपने बनकर उनके साथ रहने लगे थे, उनका सामना करने में सीधी-सादी ज़िंदगी जीनेवाले संताल असमर्थ थे। आनेवाला काल राजतंत्र, ज़मींदारी प्रथा एवं महाजनी व्यवस्था का होता चला गया। छोटानागपुर, पोड़ाहाट, सराईकेला-खरसावाँ, धालभूम में राजवंशों की नींव मज़बूत पड़ते ही आदिवासी ग्राम-प्रशासन व्यवस्था नष्ट होती चली गई।

1964 में जन्मे कमल की दो पुस्तकें *उस पार की आवाज़ें* (कहानी-संग्रह), *आखर चौरासी* (उपन्यास) प्रकाशित हैं। संपर्क : डी-1/1, मेघदूत अपार्टमेंट्स, मरीन ड्राइव रोड, पो. कदमा, जमशेदपुर-831005 (झारखंड)

विश्व के प्राचीनतम गोंडवाना पठार का कुल 7971400 हेक्टेयर उत्तरीपूर्वी भूखंड है झारखंड। भूगोलशास्त्रियों के अनुसार इसकी आयु डेढ़ से तीन अरब वर्ष है। प्रशासनिक दृष्टि से झारखंड को संताल परगना, उत्तरी छोटानागपुर, दक्षिणी छोटानागपुर और पलामू चार प्रमंडलों में बाँटा गया है। 15 नवंबर 2002 (भगवान बिरसा जयंती) के पूर्व का बिहार और अब के झारखंड में आदिवासियों की आबादी का सबसे बड़ा हिस्सा संताल आदिवासी हैं। अकेले उनकी जनसंख्या उराँव, मुंडा और हो की कुल जनसंख्या के बराबर है। पूरे देश की बात की जाए तो लगभग पचास लाख संताली झारखंड, असम, उड़ीसा और प. बंगाल के विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए हैं। लेकिन इसके साथ ही यह निराशाजनक तथ्य भी जुड़ा हुआ है कि प्रति हज़ार निरक्षरता की दर सबसे ज़्यादा (872) उनकी ही है।

वसंत पंचमी को "बाहा पोरोब" (फूलों का त्योहार) मनाने वाले संताल कई मायनों में राज्य के अन्य आदिवासियों से भिन्न हैं। "होरकोरे" मारे हपरमको रियाक" (गुरु कोलियन) की कथा का ध्यान रखा जाए तो प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में हो रहे राजनीतिक एवं सांस्कृतिक द्वंद्वों के काल में संताल आदिवासी छोटानागपुर के हज़ारीबाग, सिंहभूम एवं मानभूम ज़िलों में फैले। आगे चलकर वे लोग बंगाल के बीरभूम, बाँकुड़ा एवं मेदिनीपुर आदि इलाक़ों में बसते चले गए। यह सही है कि संताल 19वीं सदी के बाद ज़बरदस्त सांस्कृतिक दबावों का सामना कर रहे हैं और ग़ैर-आदिवासी समाज का वर्चस्व लगातार बढ़ता जा रहा है। अभी मोटे तौर पर संताल आदिवासियों की दो तरह की बसाहटें हैं। पहली ग़ैर-आदिवासी जन-जीवन के बीच बिखरी हुई। इस तरह की बिखरी हुई बसाहट ख़ासतौर पर उस इलाक़े में है जहाँ जंगल पूरी तरह नष्ट हो चुके हैं और पहाड़ नहीं हैं। दूसरी है आदिवासी जनजीवन की निरंतरता वाली बसाहट जहाँ अभी भी आदिवासी बाहुल्य है या हाल तक रहा है। झारखंड के संताल परगना में निरंतर व बिखरी हुई दोनों तरह की बसाहटें मिलती हैं। संताली गीतों व गाथाओं में इनकी उत्पत्ति के बारे में एक पौराणिक गीत है, "आमगे बाबा प्रभु ईश्वर कुश काराम सिरोम रेहेत रिन...पिचलू हाड़ाम पिचलू बूड़ही दो," अर्थात् हे पिता परमेश्वर! तुमने कुश करम सिरम पेड़ की जड़ों से हंस-हंसिनी का जोड़ा बनाया था। उन दोनों ने अतल समुद्र के मध्य स्थित करम पेड़ की डाली पर घोंसला बनाया था और उसमें दो अंडे दिए थे। हे पिता परमेश्वर! तुम्हारे आदेश से उन अंडों से दो मानव शिशुओं ने जन्म लिया था। तुम्हारे ही आदेश से दोनों ने हिहिड़ी-पिपिड़ी इलाक़े से कँटीली घास लाकर उन दोनों शिशुओं की रक्षा की थी। नौ दिनों के बाद अर्जुन के पत्तों में लिटाकर उनकी छठी की गई और उन दोनों मानव शिशुओं का नाम रखा गया था—पिचलू हाड़ाम बूढ़ा (पुरुष) और पिचलू बूढ़ी (स्त्री)। हम संताल उन्हीं दोनों की मानव संतान हैं।

1760 में संताल परगना क्षेत्र में ईस्ट-इंडिया कंपनी के पाँव पसारते ही संतालों की स्वशासी व्यवस्था टूटने लगी। मगर आदिवासी इलाक़ों में बढ़ते अंग्रेज़ों के क़दमों के साथ-साथ उनके विरुद्ध विद्रोहों का सिलसिला भी बढ़ता गया। पहाड़िया विद्रोह (1788-90), चुआड़ विद्रोह (1798), चेरो विद्रोह (1800)। इन विद्रोहों का झंडा झुका नहीं तो इसका एकमात्र कारण था कि संताल औरतें पीठ पर बच्चा बाँधकर पुरुषों का साथ दे रही थीं।

ग़ैर-आदिवासी ठेकेदारों के हाथों अपनी ज़मीनें गँवाने के साथ-साथ संताल पुनः विस्थापित होने लगे, उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय होने लगी। ग़रीबी और भुखमरी ने उनको महाजनों के चंगुल में जा पटका। महाजनों और सामंतों के शोषण ने उनकी ज़िंदगी नारकीय

बना दी। जिसके ख़िलाफ़ संतालों का ग़ुस्सा 1854 में मोरगो मांझी और बीर सिंह मांझी का दिकू लोगों के विरुद्ध आंदोलन और 1855 में महान संताल विद्रोह के रूप में सामने आया।

शोषण का वह दौर अभी भी थमता नहीं दिखता, शायद इसलिए यहाँ झारखंड राज्य गठन के बाद अब तक पंचायत चुनाव नहीं हुए हैं। अपनी ज़मीन को बचाने के लिए उनको हमेशा ही संघर्ष करने पड़े हैं। आज भी सरकार जल, जंगल, ज़मीन और विस्थापन संबंधी नीतियों के मामले में अंग्रेज़ों की राह पर चल रही है, जो नीतियाँ कभी भी आदिवासियों की हितैषी नहीं रहीं। संताल परगना टीनेंसी एक्ट-1949 उनके ऐसे ही संघर्ष का परिणाम था। लेकिन इस एक्ट के तहत अंग्रेज़ों की सामंती व्यवस्था ने महिलाओं को सत्ता-संसाधनों के मालिकाना हक़ से दरकिनार कर दिया।

जैसे मुंबइया फ़िल्मों ने भाई शब्द का अर्थ बदल दिया है। पहले जहाँ इसका अर्थ आदरणीय बड़ा भाई या प्यारा छोटा भाई होता था वहाँ अब इसका नया अर्थ अपराधी, गुंडा या मवाली हो गया है। वैसे ही आज आदिवासियों के लिए ‘‘विकास’’ शब्द का अर्थ बदल चुका है। अब यह शब्द उनमें ख़ुशी की जगह भय पैदा करता है। क्योंकि इसके नाम पर उनका विकास तो नहीं हुआ। अलबत्ता विस्थापन और स्थानांतरण ही अधिक हुआ है। यदि ऐसा न हुआ होता, तब क्या कारण है कि उनकी वर्तमान स्थिति और उस दिन की स्थिति (जब उनके लिए विकास योजनाओं का प्रारंभ किया गया था) में कोई भी उल्लेखनीय अंतर नहीं दिखता? सच तो यह है कि आदिवासियों के विकास के नाम पर किए गए कार्यों से चंद आदिवासी (क्रीमी लेयर) और प्रभावशाली ग़ैर-आदिवासियों का ही विकास हुआ है। उनके विकास की बात करने के लिए संतालियों के अतीत और वर्तमान की चर्चा मात्र ही नहीं होनी चाहिए वरन् हर स्तर पर (चाहे पंचायत हो या विधायिका, कार्यपालिका हो या न्यायपालिका) उनकी सीधी और सच्ची भागीदारी ज़रूरी है वरना उनके विकास की बात बेमानी होगी, जैसा कि अब तक होता आया है।

निश्चय ही हिंदू लुटेरों, शोषकों के साथ-साथ ब्रिटिश शासन अथवा ईस्ट-इंडिया कंपनी के विरुद्ध 1855 का संताल विद्रोह ही था जिसने विदेशी मिशनरियों में संताली भाषा के प्रति दिलचस्पी जगाई। ‘‘संताली’’ ऑस्ट्रियक भाषा समूह की एक प्रमुख भाषा है। ‘‘एन इंट्रोडक्शन टू संताल लैंग्वेज’’ (रेवरेंड डॉ. जे. फ़िलिप्स) 1852 में प्रकाशित संताली भाषा साहित्य की पहली पुस्तक मानी जा सकती है।

इतर साहित्यों की तरह संताली साहित्य भी काफ़ी प्राचीन और विकसित है। लगभग सवा सौ साल (1880) पहले प्रकाशित कवि रामदास टुडू का महाकाव्य *खेरवाड़ बोंशा धोरोम पुथी* एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसे ही प्रकाशित संताली साहित्य का प्रारंभ माना जाता है। यह बाङ्ला लिपि में प्रकाशित हुई थी। संताली भाषा के साथ एक बड़ी ही दिलचस्प बात यह है कि इसकी रचनाएँ बाङ्ला, ओड़िया, रोमन और नागरी लिपि सभी में लिखी जाती रही हैं। इधर संताली के लिए ‘‘ओलचिकि’’ लिपि को समृद्ध और विकसित करने के प्रयास हो रहे हैं। नागरी लिपि में संताल लेखन, प्रकाशन बहुत बाद में प्रारंभ हुआ जबकि रोमन लिपि में कहानियाँ और कहानी-संग्रह दशकों पूर्व से प्रकाशित होते रहे हैं। हृदय नारायण मंडल ‘‘अधीर’’ की कहानी ‘‘बापुड़िचूकिन’’ को नागरी लिपि में प्रकाशित पहली संताली कहानी माना जाता है। संताली भाषा साहित्य में संताली और असंताली-भाषी दोनों तरह के लेखकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। संताली में कविता की पहली किताब पूर्व लोकसभा सदस्य पाऊल जुझार सोरेन की *ओनोड़हें बाहा डालवा* (फूलों की डाली) है

जो रोमन लिपि में 1936 में प्रकाशित हुई थी। उसमें राष्ट्र निर्माण, ग्रामोद्धार, प्रेम और सौंदर्य के शाश्वत भावों से ओत-प्रोत 17 कविताएँ हैं।

उसके लगभग छह वर्ष बाद संताली में एक पत्रिका *मारसाल* (प्रकाश) के माध्यम से संताली कविताएँ लिपिबद्ध हुईं, उसके संपादक श्री सिहरी मुरमू उर्फ ''चंपाई'' थे। 1942 में प्रकाशित *मारसाल* का पहला अंक हस्तलिखित था, दूसरा अंक भवानी प्रेस गालूडीह से बाङ्ला में छपा था।

इसके बाद अनेक लोक कवियों ने संताली लोक गीतों का संकलन एवं प्रकाशन किया है। इनमें पं. रघुनाथ मुरमू का *होर सेरेज* (1936) डहर गीत, डब्लू. ज़ॉर्ज आर्चर का *होड़ सेरेज* (1945) लोक गीत एवं *दोङ सेरेज* विवाह गीत (1945), नायके मुगल चंद्र सोरेन का *दांसाय-सोहराय-करम गीत* (1945), भागवत मुरमू ठाकुर का *दोङ सेरेज* (1963) विवाह गीत, गोमस्ता प्रसाद सोरेन का *अखाड़ा थुती* (1965) लांगड़े गीत, नुनकू सोरेन का *कारम सेरेज* (1980) करम गीत, केवल राम सोरेन का *गाँझी छटका* (1981) लांगड़े गीत, मलिंद्र नाथ हंसदा का *देवी देसाय* (1982), हरिहर हंसदा एवं बिरबल हेमब्रम का *संताली लोक गीतों का संग्रह* (1985) आदि कई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। संताली कविवर स्व. साधु रामचांद मुरमू की जन्म शताब्दी वर्ष 1997 पर श्री प्रसाद दासगुप्त ने उनकी रचनावली *साधु रामचांद ओनोलमाला* की अधिकांश रचनाओं का बाङ्ला में अनुवाद किया है। उनकी प्रसिद्ध कविता ''देबोन तेंगोन आदिबली वीर'' तो अब संताली राष्ट्रीयता का गीत बन चुकी है।

गीत-संगीत हमेशा से इनके सुख-चैन की जीवंत अभिव्यक्ति का मधुर माध्यम रहा है। अलग-अलग मौसमों और त्योहारों के अवसरों पर पाए जानेवाले इन विभिन्न गीतों और नृत्यों में ये अपने सारे दुख-दर्द भूलकर कुछ ऐसे खो जाते हैं मानो प्रकृति ने दुनिया-भर की ख़ुशियाँ इनकी झोली में भर दी हों। प्राचीन संताली काव्य में पर्व-त्योहार, विवाह, प्रकृति, प्रेम के गीत हैं, वहीं आधुनिक काव्य में देश-भक्ति, हास्य, गीतिकाव्य प्रकृति, प्रेम आदि कई रस पाए जाते हैं।

दुनिया के अन्य समाजों की तरह आदिवासी समाज की रचना में भी महिलाओं एवं पुरुषों की साझेदारी रही है। यदि आक्रमणों व शोषण के विरुद्ध सिद्धू-कान्हू जैसे पुरुषों ने संघर्ष किया तो संताल विद्रोह के समय फूलो-झानों के रूप में महिलाओं ने भी उनके साथ कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष किया था। जहाँ तक संताल समाज की मूलभूत संरचना का प्रश्न है आदिवासी महिलाओं का योगदान पुरुषों से कई गुना ज़्यादा है। वे अपने समाज की अर्थव्यवस्था की रीढ़ हैं। खेत-खलिहान, जंगल-पहाड़, हाट-बाज़ार उन्हें हर जगह मेहनत-मज़दूरी करते देखा जा सकता है। लेकिन कमाई के पैसों को ख़र्च करने में उनके अपने निर्णय नहीं होते। परिवार के काहिल पुरुषों का ख़र्चा-पानी के अलावा उनके लिए दारू-ताड़ी आदि का प्रबंध करना भी उनके ही ज़िम्मे होता है। लेकिन अफ़सोस की बात यह है कि आज संताली समाज में स्त्री-पुरुष समानता भी एक ऐतिहासिक सत्य बनकर रह गई है। अपने समाज में ही संताल की आधी आबादी बुरी तरह उपेक्षित है। संताल समाज में भी जन्म के साथ ही मादा शिशु को लेकर भेद-भाव शुरू हो जाता है। बेटा पैदा होने पर जिस धाई माँ को दो मन धान दिया जाता है वहीं बेटी पैदा होने पर उसका मेहनताना घटकर आधा हो जाता है। क्या बेटी पैदा होने पर धाई माँ को आधी मेहनत करनी पड़ती है?

एक तरफ़ आदिवासी प्रथागत नियम क़ानून में संताली औरतों के लिए कहीं कोई व्यावहारिक व्यवस्था नहीं है, तो दूसरी तरफ़ संवैधानिक व्यवस्था को ही लकवा मार गया है। वह भी

आदिवासी पुरुष-सत्ता और प्रधानी व्यवस्था को बनाए रखने के पक्ष में खड़ी है। *ट्राइबल लॉ एंड जस्टिस* (डब्ल्यू. जी. आर्चर) के अध्याय—द राइट्स ऑफ़ संताल वुमेन (पृष्ठ187-201) के अनुसार संताल औरत ने अपनी श्रमशक्ति और उपादेयता के कारण परिवार में भले ही निर्णयात्मक स्थान ग्रहण कर लिया हो, सिद्धांततः उन्हें समाज में पुरुष की तुलना में दोयम दर्जा ही हासिल है। वह जब तक कुँआरी है अपने पिता-भाई की, विवाहोपरांत पति और वृद्धावस्था में पुत्र की ज़िम्मेदारी मानी जाती है। उसने अगर किसी सामाजिक नियम का उल्लंघन किया है तो ग्राम के पंच उसकी अवस्था अनुसार उस पर जुर्माना लगाते हैं और उम्मीद करते हैं कि उसके पति, पिता-भाई या पुत्र उसे चुकाएँगे। बहुत सारी सामाजिक-आर्थिक गतिविधियों (जैसे छप्पर छाना, तीर-धनुष चलाना, उस्तरे का उपयोग, हल चलाना, खेत को समतल करना, बरमा से छेद करना, कुल्हाड़ी चलाना, बंशी-काँटा से मछली पकड़ना, कपड़ा-खटिया बुनना आदि) से महिलाओं को वंचित कर दिया गया है। वे पुरुषों का वस्त्र धारण नहीं कर सकतीं, न उनके उपकरणों का उपयोग ही कर सकती हैं। संताली स्त्रियों का संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं है। संपत्ति पर अधिकार न रहने के कारण ही समाज में शादी करके छोड़ने एवं डायन बताकर मार डालने की घटनाएँ होती रहती हैं। डायन घोषित करने के पीछे मूलतः स्त्रियों को संपत्ति के अधिकार से वंचित करना है। परंपरागत न्याय व्यवस्था में महिलाओं के लिए कोई जगह नहीं है। यदि किसी स्त्री की समस्या को लेकर पंचायत होती है तो उस पंचायत में वह स्त्री सीधे जाकर अपनी बात नहीं कह सकती। उसे किसी पुरुष के माध्यम से ही अपनी बात पंचायत में पहुँचानी पड़ती है। इससे संताल औरतों की उनके अपने समाज में स्थिति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

संताल समाज में ऐसा अंधविश्वास है कि चूँकि महिलाएँ ही डायन बन सकती हैं इसलिए न तो वे शव के साथ अंतिम यात्रा में भाग ले सकती हैं, न ही मांझीथान में नगाड़ा बजा सकती हैं। इन सबसे यही प्रमाणित होता है कि अन्य समाजों की तरह ही संताल समाज ने भी स्त्री को प्रतिष्ठा और शान के रूप में ''संपत्ति'' मात्र ही बनाकर रखा है।

यह बात कम पीड़ादायक नहीं कि संतालों के ही नहीं सारे आदिवासियों के बुनियादी अस्तित्व को नष्ट करने के प्रयत्न लगातार हो रहे हैं। जिसका आधार यह लँगड़ा तर्क है कि उनके विकास व संवर्धन के लिए उन्हें समाज की मुख्यधारा में जोड़ना नितांत आवश्यक है। (इस मुख्यधारा के छद्म का ताज़ा उदाहरण तो द्वीपों पर बसने वाली वे जनजातियाँ हैं जो सुनामी के प्रकोप से जीवित बच गईं। जबकि तथाकथित मुख्यधारा के सभ्य लोगों का हाल सारी दुनिया जानती है।)...तो आजकल आदिवासियों को हिंदू साबित करने का फ़ैशन कुछ ज़्यादा ही ज़ोर पकड़ता जा रहा है। संघ कार्यकर्ता आदिवासियों को समझाते हैं कि तुम हिंदू हो, हनुमान हमारे पुराने देवता हैं। आदिवासियों से बजरंगबली के झंडे का जुलूस हथियारों और नगाड़ों के साथ निकलवाया जाता है। सरल और धार्मिक दृष्टि से बिलकुल उदार आदिवासी इसे भी हड़िया पीने और नाचने-गाने का एक अवसर मानकर जश्न मना लेते हैं।

जबकि वास्तविकता यह है कि सहिष्णुता पर आधारित उनका अपना विशिष्ट, प्रकृतिवादी धर्म-दर्शन है जिसे आदिधर्म या सरना कहा जाता है। सरना आदिवासियों की धार्मिक आस्थाओं का वह मूल स्वरूप है जिसे प्रकारांतर में एनिमिज़्म, एनिमिस्टिक रिलिजन, प्रिमिटिविज़्म, प्रिमिटिव रिलिजन, बोंगाइज़्म आदि नामों से जाना गया है। लेकिन इन सबके बावजूद संविधान में उनकी कोई स्वतंत्र धार्मिक पहचान नहीं है।

जनगणना में इसके लिए उन्हें ''अन्य'' के विकल्प में रखा जाता है। अत: जो आदिवासी स्वयं को ईसाई, मुसलमान या बौद्ध नहीं बताते, वे हिंदू के अंतर्गत ही चिह्नित होने को विवश हैं और हिंदू धर्म की इस उदारता में उनकी जगह सबसे नीचे (हरिजन से भी नीचे) होती है। आदिवासियों के लिए इस तथाकथित उदारता के आगे नतमस्तक होना अनंत काल के लिए ग़ुलामी स्वीकार करना ही होगा।

आधुनिक युग में संताल भी अन्य आदिवासियों की तरह अपने आपको दोराहे पर पाता है। पहले उनका जीवन सीधा, सरल, निश्छल होता था। वे लोग अपनी ख़ुशी के लिए प्राकृतिक माहौल में नृत्य करते और गीत गाते थे, अब बाहर वालों की ख़ुशी के लिए बाहरी कृत्रिम माहौल में वैसा नृत्य-संगीत करते हैं। और किस क़ीमत पर?

उनकी समझ में नहीं आता कि औद्योगिक संस्थानों, परियोजनाओं और बाँध निर्माण आदि विकास कार्यों के लिए उन्हें क्यों विस्थापित किया जा रहा है?

कई वर्ष पूर्व लिखी गई रेड इंडियन आदिवासी कवि सिएंथल की कविता ''प्रमुख के नाम पत्र'' आज भी कितनी प्रासंगिक है :

...इस ज़मीन का एक-एक कण हमें पूज्य है।/ पेड़ों का एक-एक पत्ता, हरेक रेतीला तट,/शाम के कोहरे से ढँका हुआ जंगल,/सपाट मैदान और भौंरों का गुंजन,/ये सभी पवित्र हैं, पूज्य हैं।/हम आदिवासियों की यादों और जीवन से बँधे हैं।/ ये पेड़ अपनी रगों में /हमारी अतीत की यादें सँजोए हुए हैं।/यहाँ के सुगंधित फूल हमारे भाई-बहन हैं।/ये हिरण, ये घोड़े, ये विशाल पक्षी/ सब हमारे भाई हैं।/गोरे भूल जाते हैं मरने के बाद अपनी जन्मभूमि/ लेकिन हम नहीं भूलते अपनी मिट्टी, मरने पर भी।...

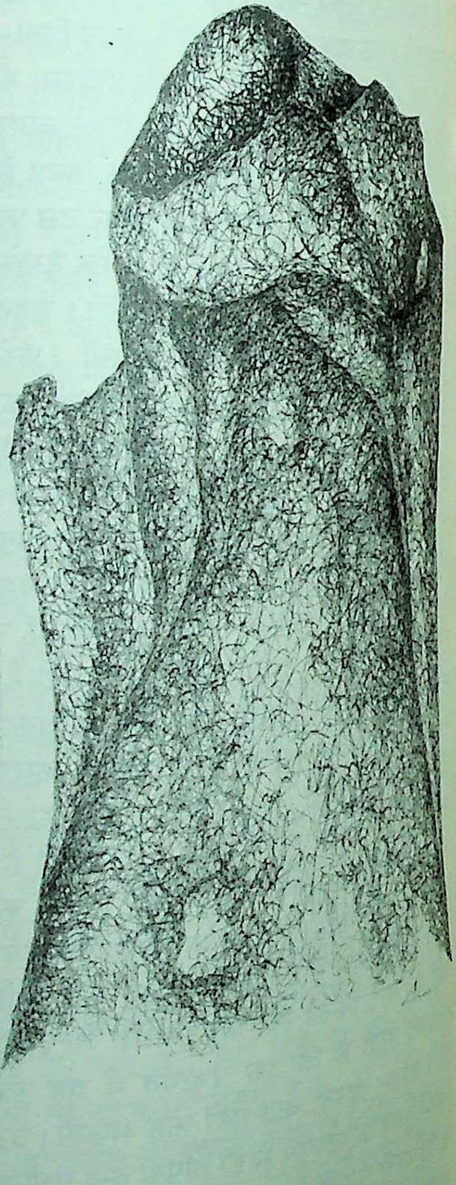

हबीब कैफ़ी

कलसी

"यह एक टिपिकल केस है सर! आप देखेंगे तो ख़ुद ही जान जाएँगे। यहाँ ज़बर्दस्त कंट्रास्ट भी है। सर, यूँ समझिए कि यह एक लैला-मजनूँ वाला मामला है..." हामिद अली ने कहा तो थानेदार ने निगाह उठाकर उसकी तरफ़ देखा।

"किसके बारे में कह रहे हो तुम?" ढली उम्र के थानेदार ने हामिद अली को मुख़ातिब करते हुए कुर्सी की पुश्त से गरदन टिका ली।

"वही सुबह वाला केस...मैंने ही उन दोनों को पकड़ा है सर!" उत्साह के साथ उसने बताया।

"अच्छा-अच्छा।" थानेदार ने सामने टेबल पर रखी फ़ाइल बंद करने के बाद उसे एक ओर सरकाते हुए पूछा, "मामला क्या है?"

"मामला कुछ ख़ास नहीं है सर! नई उम्र के हैं दोनों ही। घर से फ़रार होने का मामला है। आजकल की फ़िल्मों और टी. वी. का असर है। और नहीं तो क्या?" वह उसी उत्साह के साथ बोला।

"लड़की को बुलाओ।" थानेदार ने हुक्म दिया।

अगले कुछ ही लमहों में लड़की वहाँ मौजूद थी। उसकी मौजूदगी में क़ानून के रखवाले और मुजरिमों की सही-सही पहचान कर लेनेवाले उस मुक़ाम पर जैसे एकाएक नूर फैल गया। एक ऐसा नूर कि जिसके सबब वहाँ की हर चीज़ साफ़-साफ़ और उजली दिखाई देने लगी थी। लड़की को अपनी स्थिति का अहसास हुआ तो उसने सिर पर पड़े दुपट्टे में अपने भरपूर शबाब और आकर्षक हुस्न को छुपा लेने की नाकाम कोशिश की। थानेदार ने लड़की के वजूद से निगाह हटाकर माहौल का जायज़ा लिया तो पाया कि मुंशी समेत वहाँ मौजूद दीगर वर्दीधारी भी नूर के उस पैकर को घूर रहे हैं। तब खँखारकर उसने सवालों का सिलसिला शुरू किया, "नाम क्या है तेरा?"

"कलसी...कलसूम।" टेबल के इस पार खड़ी-खड़ी वह बोली।

"कहाँ रहती है?" थानेदार का अगला सवाल था।

"कमला नगर।" थानेदार की तरफ़ देखे बग़ैर उसने कहा।

"कमला नगर बहुत बड़ा है। पूरा ठिकाना बोल।"

हबीब कैफ़ी का जन्म 1944 में हुआ। *बत्तीसवीं तारीख़, पराजित विजेता* (कहानी-संग्रह); *साफ़िया, गमना, अनायक* (उपन्यास) प्रकाशित। राजस्थान उर्दू अकादमी से सम्मानित। संपर्क : 159, डॉ. ज़ाकिर हुसैन कॉलोनी, पाँचवीं चौपासनी रोड, जोधपुर-342004

"सेक्टर सात। दो सौ तीन।"

इसी तरह की बुनियादी जानकारियाँ हासिल कर लेने के बाद थानेदार ने अपना रवैया बदल लिया, "लगती तो ख़ानदानी है..."

"लगती क्या, मैं तो हूँ ही ख़ानदानी।"

"ख़ानदानी है तो फिर घर से ये फ़रारी क्यों?"

"फ़रार नहीं हुई हूँ।"

"तो फिर?"

"घरवालों से कहकर निकली हूँ।"

"काहे को?"

"शादी बनाने के लिए।"

"यह फ़रारी नहीं तो और क्या है?"

"घरवाले मना करते हैं। इस शादी के ख़िलाफ हैं और मैं अपनी मरजी की शादी करना चाहती हूँ। मुझे अपनी जिंदगी अपनी तरह से जीनी है।"

"यह सारा वक़्ती जोश है। होश आने पर पछतावे के सिवा कुछ भी हाथ नहीं लगेगा।"

"कोई बात नहीं।"

"मुझे तू नाबालिग़ लगती है।"

"डॉक्टरी करा लीजिए।"

"लगता है कि सारे क़ायदे-क़ानून पढ़ रखे हैं तूने।"

जवाब में कलसी ख़ामोश रह गई। थानेदार ने इन कुछ ही मिनटों में अंदाज़ा लगा लिया कि लड़की न सिर्फ़ बला की ख़ूबसूरत है बल्कि तेज़-तर्रार भी है। उसके घरवालों को बुलवा लेने से पहले उसने लड़के के बारे में जान लेना चाहा। सिपाही के साथ वह जब अंदर आया तो थानेदार को बहुत ताज्जुब हुआ। एकाएक उसे यक़ीन ही नहीं आया कि उसके सामने खड़ी हुस्न की मलिका ने इसे चुन रखा है। न सिर्फ़ चुन रखा है बल्कि इसके लिए उसने माँ-बाप और दीगर नज़दीकी रिश्तों को भी एक तरह से नकार दिया है।

साँवला रंग, बैठे हुए गाल, छोटी-छोटी आँखें, सँकरी पेशानी, पपड़ाए हुए मोटे होंठ, दरम्याना क़द, रूखे बाल और बिना इस्तरी की साधारण-सी पैंट व शर्ट। कुल जमा लड़के का हाल-हवाल यही था।

दिमाग़ ख़राब है इस छोकरी का! थानेदार ने दिल ही दिल में सोचा और फिर वह लड़के से मुख़ातिब हो गया।

"नाम बोल?" थानेदार की आवाज़ में रौब था।

"कासिम।" लड़के ने हाथ जोड़ दिए।

"कहाँ रहता है?" थानेदार का अगला सवाल था।

"कमला नगर में साब।" वह उसी मुद्रा में खड़ा था।

"करता क्या है तू।"

"चाय के होटल पर हूँ साब।"

"नौकर है वहाँ?"

"हाँ साब।"

"क्या देता है होटल मालिक तुझे?"

"अभी साठ रुपया रोज देता है। पर बोला कि अगले महीने से सत्तर कर देगा!"

"तो ये है तेरी औक़ात?" लमहा भर रुककर थानेदार ने डपटने के अंदाज़ में आगे कहा, "किसी नाबालिग लड़की को बहला-फुसलाकर भगा ले जाने की सज़ा मालूम है तुझे?"

"मैंने बोला न आपसे कि मैं नाबालिग नहीं हूँ। आप डॉक्टरी जाँच करा लीजिए।" कलसी तमककर बीच में ही बोल पड़ी, "और कासिम ने मुझे नहीं बहकाया है। मैं अपनी मरजी से इसके साथ आई हूँ।"

"हाँ साब जी, ये सच्ची बोलती है...!" कासिम बोला।

"साहब जी के बच्चे चुप्प!" थानेदार ने उसे डाँट दिया, "जेल जाना पड़ेगा तब कहीं जाकर पता चलेगा कि इस तरह की हरकत का क्या मतलब होता है।"

"काहे की जेल और क्यों होगी सजा?" इस दफ़ा कलसी ही बोली, "जुरम क्या है

हमारा? बोल दिया कि हम दोनों बालिग हैं और शादी बनाना चाहते हैं। लेकिन मेरे घरवाले राजी नहीं हैं...''

''ठीक है, ठीक है। वही घिसा-पिटा रिकॉर्ड फिर से बजा रही है तू! क़ायदा-क़ानून मुझे समझाने की ज़रूरत नहीं है।'' ठहरकर थानेदार कॉन्स्टेबल से मुख़ातिब हुआ, ''इसके घरवालों को इत्तला दी कि नहीं?''

''रपट तो यहाँ किसी ने भी नहीं लिखवाई है सर...आप कहें तो अपनी तरफ़ से बुलवा लेते हैं।'' मुस्तैद कॉन्स्टेबल ने कहा।

''ठीक है। बुलवा लो।'' थानेदार बोला।

इस बीच थानेदार ने अपने तरीक़े से कलसी को समझाने की कोशिश की। उसके प्रेमी से दूर एकांत में थानेदार ने सहज मुद्रा में उससे कहा, ''लगता है कि तुम ख़ानदानी हो...नहीं-नहीं, अभी तुमने बताया तो था कि तुम हो ही ख़ानदानी। देखो, मैं तुम्हारे पिता समान हूँ। तुम्हारे भले की कहता हूँ। इस तरह घर से निकल पड़ना कोई अच्छी बात नहीं है। तुम्हारी वजह से तुम्हारे पूरे घरवालों की कितनी बदनामी होगी, इस बात का शायद तुम्हें पता ही नहीं है। तुम्हारे पिता को लोग भगोड़ी का पिता कहेंगे। तुम्हारी माँ को औरतें ताना देंगी। भाई-बहनों और दूसरे रिश्तेदारों को तुम्हारे कारण बहुत कुछ सुनना पड़ेगा। और फिर ये लड़का...हे ईश्वर! क्या देखा है तुमने उसमें? शान न शक्ल। कपड़े तक ढंग के नहीं हैं उसके शरीर पर! कमाई उसकी इतनी है कि अपना पेट भी वो मुश्किल से भर पाता होगा...''

''आप थानेदार जी, कासिम की बुराई न करें।'' कलसी से रहा न गया तो वह बोल पड़ी, ''और हाँ, आप जो ये बातें बता रहे हैं, मुझे पहले ही इन सबका पता है...आपकी समझाइश का मुझ पर कोई असर नहीं पड़ेगा।''

''बड़ी ढीठ है तू!'' थानेदार ने अपना रुख़ बदला, ''उसे मैं किसी भी जुर्म में अंदर कर सकता हूँ। मार-मारकर उसकी हड्डी-पसली एक कर दूँगा। क्या समझी?''

''आप वर्दी में हैं और ये आपका थाना भी है। सादा लिबास में आप किसी और मुकाम पर ऐसी बात कहते तो मैं आपको देखती। भूलकर भी कभी हाथ मत लगाना आप मेरे कासिम को वरना...''

''अरी चुप कर स्साली भगोड़ी!'' बौखलाहट में थानेदार ने हाथ का डंडा उठा दिया। लेकिन कलसी की ओर देखा तो अगले ही क्षण उसने हाथ नीचे कर लिया। तमतमाया हुआ सुर्ख़ चेहरा लिए अपने स्थान पर खड़ी वह रफ़्ता-रफ़्ता हाँफ रही थी। हिक़ारत उसके चेहरे से ज़ाहिर थी। उसके होंठों पर कंपन और आँखों में चिनगारियाँ-सी थीं।

''ठीक है। गड्ढे में ही तुझे गिरना है तो मेरी बला से!'' थानेदार एक बार फिर बोला और वहाँ से हटकर अपनी टेबल पर आ गया।

इधर कलसी का पिता और उसके दो भाई वहाँ आ गए थे।

''तुम छोकरी के बाप हो?'' थानेदार ने पूछा।

''जी सरकार।'' वृद्ध ने खड़े-खड़े हाथ जोड़ दिए।

''क्या करते हो?''

''कपड़े सीता हूँ साब। टेलरिंग की दुकान है बाज़ार में।'' उसने बताया।

''देखो, मुझे इस बात का पता है कि तुम...क्या नाम है तुम्हारा?'' थानेदार उसी से मुख़ातिब था।

'रशीद हुसैन।'' उसने उसी मुद्रा में बताया।

''रशीद मियाँ, इस बीच मैंने अंदाज़ा लगा लिया कि तुम एक शरीफ़ इंसान हो। ख़ानदानी भी हो।'' दो क्षण ठहरकर उसने आगे कहा, ''असल में तुम्हारी बेटी ही कुछ गड़बड़ है। मुझे ऐसा लगता है कि मामला काफ़ी आगे बढ़ गया है। मेरा विचार है कि तुम उसे उसके हाल

पर छोड़ दो। वो जब ख़ुद ही अपनी ज़िंदगी बरबाद कर लेना चाहती है तो कोई क्या कर सकता है?''

''जी साब!'' दयनीय भाव लिए रशीद हुसैन बोला।

''और तुम दोनों भी सुन लो।'' थानेदार ने ज़रा फ़ासले से खड़े नौजवानों से कहा, ''तुम भाई हो उसके, इस लिहाज़ से ऐसे मामले में तुम्हारा क्रोधित होना वाजिब है। लेकिन मैं देख रहा हूँ कि छोकरी के तेवर तीखे हैं। अपनी बहन पर या फिर लड़के पर ही तुमने ज़्यादती करने की कोशिश की तो मामला बिगड़ जाएगा। लड़की मरने-मारने पर उतर सकती है। कुछ भी हो सकता है। इसलिए बेहतर यही होगा कि तुम उसकी तरफ़ से ध्यान हटा लो। दोनों को उन्हीं के हाल पर छोड़ दो।''

''बेहतर तो यह था साब कि वो पैदा होते ही मर जाती! नाक कटवा रही है हमारी!'' कलसी के बड़े भाई ने अपनी भड़ास निकाली।

''या फिर उसे ज़िंदा गाड़ देने का हक़ हमें मिल जाता!'' छोटे ने बड़े भाई के स्वर में स्वर मिलाया।

अंततः उन तीनों पिता-पुत्र को वहाँ से ख़ाली हाथ लौटना पड़ा।

अभी इस मंज़र को एक बरस भी नहीं बीता था कि उसी थाने में कलसी एक बार फिर देखने में आई। इस दफ़ा उसे यहाँ कोई लेकर नहीं आया, बल्कि वह ख़ुद ही वहाँ चलकर आई थी। थानेदार ने उसे देखते ही पहचान लिया। थानेदार ही क्या, हेड कॉन्स्टेबल हामिद अली समेत वहाँ उपस्थित मुंशी से लेकर एक-एक जने को वह ठीक तरह से याद थी। इसकी सबसे बड़ी वजह थी, कलसी की अद्वितीय सुंदरता और यौवन। इसके अलावा प्रेम, पसंद और अपनी ज़िद के सबब भी वह इन लोगों के ज़ेहन में थी। कलसी से कोई कुछ पूछता, इससे पहले वह ख़ुद ही बोल पड़ी, ''थानेदार जी! मैं अपना जुरम कबूल करने आई हूँ।''

''जुर्म?'' थानेदार ने उसे सवालिया निगाह से देखा, ''कैसा जुर्म?''

''मैंने मर्डर किया है।'' शांत भाव से कलसी ने कहा।

''क्या बकती है तू?'' कुर्सी पर बैठा हुआ थानेदार आगे की ओर टेबल पर झुक आया।

''हाँ, दो मर्डर हुआ है मेरे हाथ से।'' उसी शांत भाव से दुपट्टे की ओट से बड़े-से फलवाला चाक़ू निकालकर उसने थानेदार के सामने टेबल पर रख दिया, ''ये कतल का हथियार है साब। इसी से किया है मैंने मर्डर।''

थानेदार ने एक नज़र अपने सामने पड़े रक्तरंजित चाक़ू को देखा। बाद में उसने ध्यान दिया तो पाया कि कलसी की कलाइयों और कपड़ों पर ख़ून के छींटे पड़े हैं। थानेदार सहित वहाँ मौजूद हर कोई कलसी के इस रहस्योद्घाटन से सन्न रह गया। कुछ पल तक वहाँ ख़ामोशी छायी रही। बाद में कलसी ने ही इस ख़ामोशी को तोड़ा, ''आप कुछ अचरज में हैं साब! लेकिन अगर मैं आपको बताऊँ कि ये दो मर्डर मैंने किसके किए हैं तो शायद आपको विश्वास ही नहीं आएगा। पहले मर्डर पर तो आप यकीन ही नहीं करेंगे। लेकिन असल में दूसरा वाला ही पहले की वजह बना था।''

बात को किसी भी सूरत समझ न पाने के बावजूद थानेदार की निगाह में इस वक़्त कलसी ही थी। हैरत से उसे वह लगातार देखे जा रहा था।

''आप भी सोचते होंगे कि ये क्या बहकी-बहकी बातें कर रही है।'' कलसी ही फिर बोली, ''लेकिन पहेली बुझाना मेरा मकसद नहीं है। आप खुद ही चलकर देख लीजिए।''

''कहाँ?'' थानेदार ने पूछा।

''मेरे साथ, जहाँ मेरा बसेरा है।'' उसने कहा।

कलसी की निशानदेही पर जीप में सवार

पुलिस का अमला कच्ची बस्ती के एक ही कमरे पर मुश्तमिल टीन-टप्पर वाले ख़स्ता हाल मकान के आगे पहुँचा। पुलिस की जीप को देखकर आस-पड़ोस के स्त्री-पुरुष-बच्चे वहाँ जमा हो गए। पुलिस का आना यहाँ के लोगों के लिए कोई नई बात भी नहीं थी। आए दिन किसी-न-किसी मामले में पुलिसवालों का यहाँ आना-जाना होता ही रहता था। लेकिन कासिम और कलसी जैसे सीधे-सादे और मिलनसार जोड़े के यहाँ पुलिसवालों का आना लोगों के लिए आश्चर्य का कारण अवश्य था। कलसी को पुलिसवालों के साथ देखकर इनके ज़ेहनों में कुछ सवाल भी खदबदाने लगे थे। लोगों में जिज्ञासा मिश्रित खुसर-फुसर होने लगी थी। लेकिन जल्दी ही उनकी यह जिज्ञासा एक बहुत बड़े विस्फोट के साथा शांत हुई। उनके सवालों का एक ही जवाब था जो नितांत अनपेक्षित था।

थानेदार सहित पुलिस अमले के साथ-साथ चल रही कलसी ने ख़ुद ही आगे बढ़कर उड़के हुए ख़स्ताहाल दरवाज़े को लात मारकर खोल डाला। दरवाज़ा खुलते ही सकते में डाल देनेवाला मंज़र निगाहों के सामने था। घर-गृहस्थी के मुख़्तसर-से सामान और कपड़े-लत्तों के बीच लगभग वस्त्रविहीन दुबली काया वाली साँवली-सी एक औरत, जबह की गई बकरी की तरह ख़ून में लथपथ ज़मीन पर बिछे बिस्तर पर पीठ के बल पड़ी थी। उसके कटे गले के पास ख़ून जमकर सँवला चुका था। मुर्दा स्त्री के ऐन बग़ल में महज़ एक मैले सैंडो बनियान में कासिम का मुर्दा जिस्म देखने में आया। उसका पेट आड़ा चाक किया हुआ था। ख़ून यहाँ भी फैलकर जम चुका था। कासिम की आँखें पथराई हुई थीं।

''सारा मामला आपके सामने है और खुद को मैं कानून के हवाले कर चुकी हूँ।'' पुलिस अमले के बीच खड़ी कलसी ने बीभत्स सन्नाटे को तोड़ते हुए कहा, ''अब शायद ज्यादा कुछ कहने की जरूरत ही नहीं है। लेकिन मैं कहना चाहती हूँ। अपने किए का मुझे कोई पछतावा भी नहीं है। मैं तो यही सोचती हूँ कि कमी कहाँ रह गई। शायद मुझमें ही कोई दोष रहा जो कासिम इस छिनार से लग बैठा। मेरा भोला-भाला कासिम! आपने तो देखा ही था इसे। अल्लाह मियाँ की गाय जैसा था। मरी ने न जाने क्या टोना-टोटका किया कि इस पर लट्टू हो गया। क्या नहीं किया इसके लिए मैंने? माँ-बाप और भाई-बहनों को छोड़ा। कितनों ने तो पैगाम भिजवाए। इशरत की जिंदगी का यकीन भी दिलाया। लेकिन भाया मुझे यह कासिम ही। इसकी जिंदगी को सँवारने के लिए भी कम जतन नहीं किए थे मैंने। सीना-पिरोना करके गृहस्थी की गाड़ी को लाइन पर लाने की कोशिश की। लेकिन इसके बावजूद यह हो गया।...मैं नहीं चाहती थी कि कासिम इस मरी के जाल में फँसकर अपनी जिंदगी बरबाद कर ले। ये कलमुँही इसे निचोड़कर रख देती...आप देख ही रहे हैं कि इसने मेरे घर में ही आकर मेरी जगह ले लेनी चाही। अब आप ही सोचिए कि कौन औरत इसे बरदाश्त करेगी? यह बीती रात का किस्सा है...मैं तो इसके टुकड़े-टुकड़े कर डालती। लेकिन आपको इसकी करतूत बतानी थी। इसीलिए मैं रुक गई। अब आप ही बताइए कि इन हालात में क्या करती मैं?...''

सुदर्शन नारंग

संधि-रेखा

वातावरण में तनाव बराबर बना हुआ था। अपनी साँस से ज़ विष के फव्वारे छूटते लग रहे थे। उन फव्वारों की लपेट में आसपास के लोग धराशायी होते जा रहे थे। एड्स से भी आगे की बीमारी एड्स प्लस आ चुकी थी। एड्स तो संपर्क से फैलता था एड्स प्लस साँस के ज़रिए भी फैलती थी। ऐसा संक्रामक रोग पहले कभी देखने में नहीं आया था। वह कोशिश में था कि साँस रोककर निकल जाए। साँस रोकते ही गले में ऐंठन होने लगती दम घुटने लगता। रुकी साँस दुगुने वेग से फव्वारे की तरह फूट जाती। अपनी आँखें उसे बाहर को आती लग रही थीं। आँखों में हल्का-सा दर्द भी होने लगा था। साँस से निकल रहे उस विष में से गंधक की गंध उठ रही थी। आँखों का रंग लाल सुर्ख़ हो गया था और सूजन भी हो रही थी। धुँधली आँखों से एक बार फिर उसने अपने चारों ओर देखा। उसे लगा साँस से फूटकर विष के फव्वारे चारों ओर फैल रहे हैं और लोग धराशायी होते जा रहे हैं। वह स्वयं भी गिरने को हो रहा था।

गली के कोने में डॉक्टर भीमसेन की दुकान थी। वह नगर का सबसे सस्ता डॉक्टर था तथा उसके यहाँ हमेशा भीड़ लगी रहती थी। भीड़ की परवाह किए बग़ैर वह सीधा डॉक्टर की कुर्सी के पास पहुँच गया और स्टूल के ख़ाली होने का इंतज़ार करने लगा। उसके बैठते ही भीड़ में हड़कंप मच गया। उसने लंबी साँस छोड़ी और मरीज़ बेहोश होकर गिरने लगे। डॉक्टर ने उसकी नब्ज़ पर हाथ रखा और कहा था, ''घबराने की कोई बात नहीं। आजकल यह महामारी पूरे देश में फैली हुई है। सफ़ेद मास्क से मुँह ढँककर घूमा करो।'' मेज़ पर पहले से रखी पुड़ियों में से ढेर सारी पुड़िया उसके हाथ पर रखते हुए डॉक्टर ने कहा, ''दिन में तीन बार। अनार के रस के साथ।''

वह उठ खड़ा हुआ था। उसने देखा कि डॉक्टर हर मरीज़ को मेज़ पर रखे ढेर में से कुछ पुड़िया थमा देता और दिन में तीन बार अनार के रस के साथ कहकर अगले मरीज़ को बुला लेता।

कई दिन तक वह डॉक्टर भीमसेन की पुड़िया खाता रहा था। पूरा-पूरा दिन उसे नींद का घर्राटा चढ़ता और वह कुंभकरण की

65 वर्षीय सुदर्शन नारंग के कई उपन्यास प्रकाशित। जिनमें *उस पार का अँधेरा, अपने विरुद्ध, कालरात्रि* उल्लेखनीय। संपर्क : 83/4, राधापुरी, हापुड़ (उ. प्र.)

तरह सोया रहता। भूख लगने पर कुछ खा लेना और शेष समय सोते रहना।

पंद्रह दिन बाद उसने बाहर निकलने की तैयारी की। जैसे ही वह घर से बाहर आया एक रिक्शा जाता दिखाई दिया। उसने रिक्शे वाले को आवाज़ लगाई, ''डॉक्टर त्रिलोकी के पास चलो।'' रिक्शे वाले ने जैसे ही उसकी तरफ़ देखा उसकी साँस में से निकल रहे विष के फव्वारे का शिकार हो वहीं धराशायी हो गया। डॉक्टर भीमसेन के प्रति उसका मन क्रुद्ध हो उठा। पंद्रह दिन पुड़िया खाने के बावजूद कुछ भी सुधार नहीं हुआ था।

डॉक्टर त्रिलोकी ने कहा, ''अल्ट्रासाउंड होगा। बलगम की जाँच करनी होगी। ख़ून, पाखाना और पेशाब की भी। छाती का एक्स-रे भी करना पड़ेगा। विष के उन फव्वारों का संबंध मस्तिष्क से हुआ तो कैटस्कैन करना पड़ेगा। और एम. आर. आई. भी।'' उसने पूछा, ''ग्लोब लैब से टैस्ट करवा लूँ?''

डॉक्टर त्रिलोकी का पारा सातवें आसमान पर चढ़ आया था, ''ग्लोब लैब के टैस्ट सही नहीं होते। सारी रिपोर्ट ग़लत होती हैं। इलाज ठीक न हो पाया तो मेरी कोई ज़िम्मेदारी नहीं है।''

''तो कहाँ से टैस्ट करवाऊँ!'' उसकी आवाज़ बकरी के मेमने जैसी हो आई थी।

टैस्ट के पर्चे पर डॉक्टर त्रिलोकी ने अपोलो लैब का नाम लिख दिया था। अपोलो लैब से हर रेफ़रेंस के लिए उसे पच्चीस प्रतिशत कमीशन मिलता था। इस तरह डॉक्टर की अच्छी-ख़ासी कमाई हो जाती थी।

पिछले महीने जब वह दाँत के इलाज के लिए गया था तो डॉक्टर ने मुँह पर हरे कपड़े का मास्क चढ़ा रखा था। उसके मुँह से छूटनेवाले विषैले फव्वारों का डॉक्टर पर कोई असर नहीं हुआ था। अपनी साँस को रोककर रखने की भी उसने भरपूर कोशिश की थी। फिर भी डॉक्टर के पास आए दो मरीज़ बेहोश होकर गिर गए थे। डॉक्टर जब उन मरीज़ों की जाँच कर रहा था वह चुपके-से खिसक लिया था।

आज सुबह से उसे अनार का रस नहीं मिला था। उसकी बेचैनी बढ़ती चली जा रही थी। सुस्ताने की प्रबल इच्छा हो रही थी। प्यास भी लग रही थी। ख़ून की जाँच करनेवाले डॉक्टर को उसने हिदायत की थी कि वह अपने चेहरे को मास्क से ढाँपकर ही उसकी जाँच करे। डॉक्टर असमंजस में पड़ गया था। इस तरह का मरीज़ पहले कभी नहीं आया था।

इस क़िस्म की बीमारी पहले कभी नहीं फैली थी। सँभलने का समय ही नहीं होता था। उसकी रिपोर्ट का मुआयना करते हुए डॉक्टर ने सर उठाकर उसकी आँखों में आँखें डालते हुए पूछा, ''पुराना बाज़ार गए हो कभी?''

''वह कहाँ पर है?'' उसने पूछा।

''ठीक है। तुम नहीं जा सकते।'' डॉक्टर ने कहा, ''मेरे अगले प्रश्न का उत्तर सोचकर देना।...तुम्हारी माँ को एड्स प्लस की बीमारी थी?''

''नहीं तो। वह तो अच्छी-ख़ासी है। मेरे साथ ही रहती हैं।''

''घबराने की कोई बात नहीं।'' एक सादा-सा प्रश्न और पूछूँगा, ''तुम्हें कभी ख़ून चढ़ा है?''

''नहीं तो।''

''ठीक है। रिपोर्ट यह कहती है कि तुम्हें एड्स प्लस की बीमारी है।''

''वह क्या होती है?'' उसने उत्सुकता से पूछा।

''यह एक नई और भयंकर बीमारी है जो व्यक्ति को तो धीरे-धीरे ख़त्म करती है परंतु उसकी साँस से निकलनेवाले कीटाणु सामनेवाले व्यक्ति को तुरंत धराशायी कर देते हैं।''

''इसका इलाज क्या है?'' उसने डॉक्टर त्रिलोकी से पूछा।

"अब एक नई वैक्सीन निकल आई है। जिसके इंजेक्ट करने से तुम धीरे-धीरे ठीक हो जाओगे। उस वैक्सीन की बुकिंग एक लाख रुपए में होती है। पर तुम्हें ध्यान रखना होगा कि तुम्हारी साँस से निकलने वाले विष से और कोई आदमी धराशायी न हो।"

उन सब टैस्टों पर उसके कई हज़ार रुपए ख़र्च हो गए थे। जुलाई का पूरा महीना बीत गया। एक बार भी बारिश नहीं हुई थी। सुबह नहाकर उसने बनियान बदली थी। टेल्कम पाउडर की मख़मली तह दब चुकी थी और एक उमस नथुनों में समाए जा रही थी। उसे लगा कुछ है जो अंदर-ही-अंदर पिघल रहा है। अजीब-सी बदहवासी घिर आई थी और कोई अहसास था जो बार-बार उसे कचोट जाता। उसने स्वयं को सांत्वना देने का प्रयत्न किया था।

पिछले कई दिनों से ऐसा ही हो रहा था। परंतु शंकाओं की उसर-पुसर को नीचे की ओर धकेल अपनी दिनचर्या में व्यस्त रहता। इधर उसकी आदत हर बात की अवहेलना करने की बन गई थी। मन-ही-मन उसने निश्चय किया कि अब से दूसरों के प्रति सचेत रहा करूँगा। विशेष रूप से उन डॉक्टरों के प्रति जो ख़ून की जाँच करते हैं। जान-बूझकर वह ख़ून में बीमारी के कीटाणु इंजेक्ट कर देते हैं। मरीज़ हमेशा-हमेशा के लिए उनके चंगुल में फँस जाता है। उसकी पूरी तनख़्वाह डॉक्टरों की फीस और जाँच में खप जाती थी। दवाइयों के लिए उसने केमिस्ट की दुकान पर खाता खोल रखा था। बोनस का पैसा केमिस्ट का बिल चुकाने में उठ जाएगा। माँ को नियमित पेंशन मिल रही थी। उसी से दाल-रोटी चल रही थी।

सहसा वह उठ खड़ा हुआ और घर का रुख़ किया। दरवाज़े पर दस्तक देकर वह एक ओर खड़ा हो गया। कुंडी खुलने के साथ ही दरवाजे को धक्का देता वह तीर की तरह अपने कमरे की ओर हो लिया था। पीछे से माँ ने प्रश्न किया था, "हो आए डॉक्टर के पास। क्या उसने?"

"जेब से रूमाल निकाल उसने मुँह के रख लिया।"

"शाम को जाऊँगा डॉक्टर के पास। भीड़ रहती है दोपहर तक।" अपने कमरे अंदर से बंद कर उसे लगा वह सुरक्षित हो है। बाहर का वातावरण और परिस्थिति होती चली जा रही है दिन-ब-दिन। उसे शिष्टाचार और औपचारिकता को नकारते वह अजीब-सा जानवर बन गया है।

रोशनी के सामनेवाली दीवार पर उसने एक अजीब-सी आकृति देखी। दीवार पर परछाईं की ओर देखते हुए वह बोला, "कौन हो?" शायद वहाँ कोई नहीं था।

"जाओ यहाँ से। वरना अभी फूँक धराशायी कर दूँगा।" अपनी हिम्मत पर ताज्जुब हुआ। परछाईं ग़ायब हो गई, उसे वह किसी को भी धराशायी कर सकता है। कामयाबी पर वह चिल्लाना चाहता था।

उसकी आवाज़ सुन माँ दरवाज़ा पीटने थी, "खोल तो! क्या हुआ तुझे?" उसने पर रूमाल रखा और दरवाज़ा खोल दिया। पहले कि माँ अंदर दाख़िल हो वह बाहर आया और आवाज़ को ऊँचा करते हुए "तू बड़े भाई के यहाँ जाकर क्यों नहीं मैंने तेरा ठेका थोड़ा ही ले रखा है? जब से मरा है यहाँ से हिलने का नाम ही नहीं लेती।"

"क्या हो गया है रे तुझे?" माँ का स्वर गया था।

वह तेज़ रफ़्तार से बाहर निकल गया। बाहर काली घटा छा रही थी। बादलों के घेरे में आगे ही आगे बढ़ रहे थे। फिर जमकर पानी पड़ा और झड़ी-सी लग गई। बरामदे में रखी अँगीठी से धुएँ के बादल पानी से मिलकर ऊपर की ओर उठने लगे थे। धुएँ के कारण अपनी साँस उसे रुकती-सी लगी। घुटन के कारण गले

में खरखराहट होने लगी। उसे लगा पिछले दिनों में उसकी आयु कई बरस बढ़ गई है।

इससे भी पहले की बात थी। न रुकने वाली खाँसी ने उसके सीने में हूक की सर्द लहर-सी दौड़ा दी थी। वह उठकर शीशे के सामने जा खड़ा हुआ था। सामने झाँकती आँखों में अजनबीपन था। लगा था वह आँखें उसकी अपनी नहीं हैं। तिरस्कार से भरी वह आँखें शायद उस अदृश्य परछाई की आँखें थीं। उसके अपने होठों पर एक मंद-सी मुस्कान आकर विलीन हो गई। उसे लगा यह मुस्कान भी शायद उसकी अपनी न थी। वह एक दर्दीली अनुभूति थी। कभी-कभी ऐसी अनुभूति उल्लास का द्योतक बन जाती है। आज से कुछ समय बाद उसे अतीत में सिमट जाना है। यह विषमता उसका पीछा छोड़ देगी। प्रत्येक क्षण जो अतीत में चला जाता है कितना तसल्ली देनेवाला बन जाता है।

मौसम बदल गया था। मफ़लर लपेटते हुए वह दफ़्तर की तरफ़ चल दिया। थोड़ा-सा ऊपर खींच उसने मुँह को भी मफ़लर से ढाँप लिया था। सहसा उसे लगा था सबकी उँगलियाँ और आँखें उसकी ओर उठ आई हैं। मफ़लर को थोड़ा और ऊपर खींच उसने नाक को भी ढाँप लिया था। उसके क़दमों की रफ़्तर तेज़ हो गई और बिना किसी इरादा वह बाएँ मुड़ गया। यहाँ उसे कोई नहीं पहचानता। अपने होंठ उसे ख़ुश्क हो गए जान पड़े और पानी की तलाश में वह इधर-उधर देखने लगा। उसके मुँह से निकलनेवाले फव्वारे मफ़लर में दब गए और सामने से आते हुए लोग निर्विघ्न चले जा रहे थे।

संशय से देखनेवाली आँखें झुक गईं, उसकी बदहवासी पर उठनेवाली उँगलियों के मुँह मुड़ गए थे। उसे हताश करनेवाला अट्टहास भी बंद हो गया था। कई दिनों से वह डॉक्टर के पास नहीं गया था। तमाम टैस्ट और थैरेपी के बावजूद उसे रत्ती भर भी फ़ायदा नहीं हुआ। त्रिलोकी का पर्चा उसने फाड़कर फेंक दिया था।

डॉक्टर भीमसेन की पुड़िया पड़ी-पड़ी सीलन का शिकार हो गई थीं। ऐसा वक़्त भी था जब मरीज़ डॉक्टर को भगवान का दर्जा देता था। डॉक्टरों ने विश्वास का वह रिश्ता खंडित कर दिया। डॉक्टर और मरीज़ के बीच की संधि-रेखा का विच्छेद क्यों हो गया ?

उसने सोचा दिल्ली में किसी बड़े अस्पताल में दिखाएगा। पागलख़ाने के डॉक्टर कालड़ा ने उसे दिमाग़ का एक्स-रे करने का मशविरा दिया था। कई दिन की जाँच-पड़ताल के बाद उसके दिमाग़ में सूजन बताई गई। सूअर, गाय अथवा भैंसे का मांस खाने के कारण सूक्ष्म कीटाणु दिमाग़ में घुस गया था। उस कीटाणु ने दिमाग़ में कैविटी बना अंडे दिए थे। अंडों से निकलने वाले वायरस से विष के ऐसे फव्वारे छूटते हैं, जिनसे आदमी धराशायी होकर गिर जाता है। मस्तिष्क का ऑपरेशन कर उस वायरस को नष्ट करना होगा तथा कैविटी को बंद करना होगा। कैविटी का बंद करना किसी गड्ढे में मिट्टी भरने जैसा था। मोम अथवा जेली से गड्ढे को भरा जाना तय हुआ था।

वह घर की ओर लपका था। माँ जा चुकी थी। राहत-सी महसूस करते हुए उसने अंदर से साँकल चढ़ा दी। अपनी किसी कमज़ोरी में उसे दूसरों की शिरकत मंजूर नहीं थी। माँ के मतलब की चीज़ें उठाकर उसने कोठरी में बंद कर दीं। दरवाज़े पर दस्तक सुन वह चौंक पड़ा। उसने उठकर कुंडी खोल दी। अपनी स्थिति को अनभिज्ञता में धकेलता वह आगंतुक से मुख़ातिब हुआ, ''किराया माँगने आए हैं ?''

''किराए की बात नहीं है। आपको मकान ख़ाली करना होगा। इतना बड़ा शहर है, कहीं और चले जाइए। आप जैसी स्थिति वाले व्यक्ति को मैं और नहीं रख सकता।''

उसने क्रुद्ध होते हुए साँस से निकलनेवाली हवा का फव्वारा आगंतुक पर फेंका। वह बेहोश होकर वहीं धराशायी हो गया।

उसने सोचा ऐसे कोई मकान ख़ाली करता है। पूरा दिन वह अंदर से कुंडी चढ़ाकर घर पर सोया रहा। उसके एकांत में किसी ने खलल नहीं डाला। पूरा दिन आराम करने से मन स्वस्थ हो आया। उठते हुए उसने सोचा, किसी से अपेक्षा भी क्या की जा सकती है। स्वयं से भी उसका लगाव समाप्त हो गया। हार मान लेने से भी कभी-कभी राहत का अहसास होता है। सर्दी के छोटे दिन कुछ सोकर कुछ पुरानी बातों की उमड़-घुमड़ में आसानी से कट जाते, पर गर्मी के आते ही उसके अंदर की छटपटाहट बढ़ने लगती। जून के महीने की कल्पना से ही वह मृतप्राय हो आता। सारी दोपहर ऊहापोह में गुज़र गई। और फिर न जाने वह कहाँ भटक गया। ऐसे विस्तार की शायद उसने कभी कल्पना न की थी। वह उस लंबी काली सड़क पर बढ़े चला जा रहा था जो दूर-दूर तक सुनसान थी। सड़क के दोनों ओर जहाँ तक देख पाता रेत की लहरें बिछी पड़ी थीं। कहीं-कहीं पूरी सड़क रेत से दब गई थी। रास्ता दिखाई ही न पड़ रहा था। वह बेबाक-सा चला जा रहा है। रास्ते का अंत दिखाई ही नहीं देता। और न ही किसी पड़ाव ठिकाने का पता चल रहा है। प्यास से जीभ अकड़ने लगती है। बालू उड़ रही है और उसकी आँखें चौंध से तपने लगी हैं। दूर-दराज दिखनेवाले ठूँठ मरे-मरे लग रहे हैं। सूखी काँटेदार झाड़ जगह-जगह चुभ रही है। उसने जीभ को मुँह में चलाया था।

दरवाज़े पर कब से दस्तक हो रही थी। उसे लगा दूर जंगल में कोई ढोल पीट रहा है। आँखें मलता हुआ वह उठ खड़ा हुआ। सावधानी से उसने मफ़लर मुँह पर लपेटा और कुंडी खोली। सामने माँ और बड़े भाई खड़े थे।

माँ ने कहा, ''कब से दरवाज़ा पीट रहे हैं।''

''आँख लग गई थी।'' उसने उत्तर दिया।

बड़े भाई ने पूछा, ''कई दिन से दफ़्तर क्यों नहीं जा रहे?''

''तबीअत ठीक नहीं है।''

''क्या बीमारी है?'' बड़े भाई ने पूछा।

''एड्स प्लस जैसा कुछ...''

''यह क्या रोग है?'' बड़े भाई ने आश्चर्य व्यक्त किया।

''मुझे क्या मालूम!'' उसने उत्तर दिया।

''माँ को यह रोग नहीं, रंडी के पास तुम नहीं गए, फिर हुआ कैसे...ज़रूर किसी डॉक्टर या कंपाउंडर की ग़लती है।''

''पता नहीं।'' उसने उत्तर दिया।

''हम डॉक्टर का पता लगाएँगे। उस पर मुक़दमा चलाएँगे। और आज से माँ और मैं दोनों यहीं रहेंगे। और कल मैं तुम्हें डॉक्टर के पास लेकर जाऊँगा।''

''अब मैं किसी डॉक्टर के पास नहीं जाऊँगा।'' उसने कहा। उसका मन डाँवाडोल हो रहा था।

''तुम्हें अस्पताल में भर्ती होना होगा। बड़े अस्पताल में।''

''वे मुझे भर्ती नहीं करेंगे।''

''उनका बाप भी करेगा।''

सरकारी अस्पताल ने उसे भर्ती कर लिया था। प्राइवेट वार्ड में। हर समय वह मफ़लर मुँह पर लपेटे रहता। माँ और भाई के कहीं जाने पर ही मफ़लर उतारता। डॉक्टर, नर्स सबको उसने आगाह कर दिया था। वह मास्क लगाकर ही कमरे में आते। सर्दी के उन दो महीनों में उसकी तबीअत कुछ सँभल गई थी। सूप और अनार का रस पीने से उसे राहत पहुँची थी। और फिर गर्मी का महीना मार्च आते ही उसे कय होने लगी। अनार के रस की कय। सूप की कय। पानी की कय। दलिया और तोरई की कय। पूरा-पूरा दिन निढाल-सा वह बिस्तर पर पड़ा रहता।

दूर उसे पानी की छोटी-सी तलैया चमचमाती-सी दिखाई दी। उसके क़दमों की रफ़्तार तेज़ हो गई। तभी उसके मस्तिष्क में ख़याल

आया, निढाल होकर यदि मैं यहाँ गिर जाऊँ ? उत्तर भी स्वयं ही उभर आया। थोड़ी देर चलने के पश्चात् साँस रुक जाएगी। धूप में सड़ती और दुर्गंध छोड़ती उसकी देह कुछ दिनों बाद मात्र ढाँचा रह जाएगी और वह रेत के ढूहों के नीचे दबकर रह जाएगा। उसे लगा यह कल्पना अच्छी है। वह पानी की ओर बढ़ता रहा। चौंध से उसकी आँखें बंद होने लगीं। उसने तय किया कि पीने से पहले आँख पर पानी के छींटे देगा। इससे भी अच्छा उसे यह लगा कि कुछ देर तलैया के बीचों-बीच बैठ सारे शरीर को पानी में डुबो दे। उसे ठंडक पहुँची थी। इस बीच प्यास दब-सी गई थी। वह चलता रहा। तलैया का फ़ासला कम ही होने को नहीं आ रहा था। एक ओर झाड़ का ऊँचा लोंदा पड़ा नज़र आया। उसकी छाया में आराम करने की बात अच्छी लगी थी। फिर स्वयं ही उसने इस इच्छा को त्याग दिया। तलैया के विपरीत चलने की इच्छा प्रबल होने लगी। पानी में बैठ आराम करने की लहक तेज़ हो उठी। उसने चाल तेज़ कर दी। क़दम भारी होने लगे थे। पानी अब पास जान पड़ा था। वह दौड़ने लगा। तभी तूफ़ान का तेज़ झोंका आया था। तलैया से उड़ रेत के चाँदी सरीखे कण उस पर चोट करने लगे। निढाल हो वह गिर पड़ा था। गिरने की प्रक्रिया में उसका शरीर पूरी तरह झनझना गया था। आहत होकर वह चौंक गया और नींद टूट गई। धूप में सड़ाँध अभी बाक़ी थी। फीकी-फीकी पीली धूप में वह आँखें नहीं खोल पा रहा था। रेगिस्तान की स्वप्निल धूप के सामने यह धूप कम असहनीय लगी थी। उसे आश्चर्य हुआ। खुली आँखों का आश्चर्य।

पसीने और चिपचिपाहट की भावना को दबा वह आश्वस्त-सा होने का प्रयत्न करने लगा। सिरहाने से तौलिया निकाल वह हवा करने लगा। बत्ती थी कि बार-बार तंग कर रही थी। इस बात से उसे काफ़ी राहत मिल रही थी कि कुछ देर सो लिया है। रात में उसे नींद कम ही आती थी। अपनी साँस की स्पष्ट ध्वनि सुनते हुए अँधेरे भरी रातें काटना उसकी आदत बन चुकी थी। इस इलाक़े में मच्छर भी बहुत थे। कभी जब वह बहुत थक जाता तो उसे दिन में भी नींद आ जाती थी। ऐसी नींद बहुत कम समय की होती थी। मच्छरों द्वारा काटे जाने की चिनचिनाहट से वह उठकर बैठ जाता। तब वह चादर सर तक खींचकर सोने का उपक्रम करता। मुँह-सिर ढक जाने से उसे अपनी साँस और भी साफ़ सुनाई देने लगती। भय की सरसराहट तब उसे फिर से आ दबोचती। सुबह उठकर पत्र लिखने की सोचता। सुबह उठने पर या तो वह भूल जाया करता और कभी याद पड़ भी जाता तो टाल देता।

दोपहर का समय था। अस्पताल का निदेशक राउंड पर था। वह देश का सबसे बड़ा डॉक्टर था। बड़े भाई और डॉक्टर में बहस हो रही थी।

''हम आपके भाई को डिस्चार्ज कर रहे हैं।''

''पर वह ठीक कहाँ हुआ है ?'' बड़ा भाई कह रहा था।

''यह हमारी ज़िम्मेदारी नहीं है।'' डॉक्टर कह रहा था।

''यह अस्पताल और आप दोनों की ज़िम्मेदारी है।'' बड़े भाई को कहते हुए उसने सुना।

''उसने एड्स प्लस जैसी भयंकर बीमारी मोल क्यों ली ?'' डॉक्टर ने कहा।

''बीमारी कोई आदमी मोल नहीं लेता।'' भाई ने तर्क दिया। ''आप जैसे ज़िम्मेदार शख़्स ऐसा कह रहे हैं ?''

''मैं कुछ नहीं जानता। अपने भाई को आइसोलेशन वार्ड में ले जाओ।'' डॉक्टर पैर पटकता बाहर हो लिया था।

''पर उसे आइसोलेशन की ज़रूरत नहीं है।'' भाई का वाक्य अधर में ही रह गया। उसने सब सुन लिया था। क्रोध से उसका शरीर काँप रहा था। उसे आज तक समझ नहीं आया था कि यह

नामुराद बीमारी उसके अंदर कहाँ से आई थी। उसे अभी तक नहीं पता था कि डॉक्टर भीमसेन और डॉक्टर त्रिलोकी ने उसे किस रोग की दवाइयाँ दी थीं। उसे अभी तक नहीं पता था कि इतने सारे टैस्ट—अल्ट्रा साउंड, टी. एम. टी., ख़ून, पेशाब और पाखाना की जाँच, एम. आर. आई. क्यों हुए थे। उसे यह भी नहीं पता था कि दो हज़ार रुपए में मिलनेवाली दवाई की स्ट्रिप का उसके रोग के निदान में क्या लाभ था। कुछ भी पूछने पर डॉक्टर क्यों खीज जाते हैं।...नहीं छोड़ूँगा। नहीं छोड़ूँगा...

उसने मफ़लर उतार फेंका था। भाई और माँ को घर भेज दिया था आराम करने और कपड़े बदलने के लिए। अपने लिए कुछ स्वादिष्ट भोजन बनाकर लाने के लिए।

धीरे-धीरे वह निदेशक के कमरे में दाख़िल हुआ था। देश का वह सबसे बड़ा डॉक्टर कुर्सी के सामने रखी मेज़ पर टाँगें फैलाए मेडिकल जर्नल पढ़ रहा था। उसकी साँस से विष के फव्वारे छूट रहे थे जिनकी लपेट में आकर देश का वह सबसे बड़ा डॉक्टर धराशायी हो गया था। अपनी साँस रोकने का उसने कोई प्रयत्न नहीं किया।

अब वह उस केमिस्ट की दुकान के सामने खड़ा था जिसने पिछले एक माह में उसे बीस हज़ार रुपए की दवाइयाँ और इंजेक्शन बेचे थे। उसकी साँस से विष के फव्वारे छूट रहे थे, जिनकी लपेट में आकर केमिस्ट धराशायी गया था कभी न उठने के लिए। उसके पर कई हज़ार रुपए के नोट बिखरे पड़े थे। वह डॉक्टर कालड़ा के घर के सामने खड़ा जैसे ही डॉक्टर कार में सवार होने लगा डॉक्टर की तरफ़ मुँह कर साँस फेंकी। कालड़ा कार के दरवाज़े में धराशायी हो गया कभी न उठने के लिए।

फिर वह डॉक्टर त्रिलोकी के नर्सिंग होम पहुँच गया। अकारण उन सब मशीनों पर होकर उसे गुज़रना पड़ा था जो डॉक्टर ने विभिन्न रोगों के मरीज़ों के लिए लगा रखी थीं। उसकी साँस से विष के फव्वारे छूट रहे थे, जिन्हें क़ाबू में रखने के लिए उसने कोई प्रयत्न नहीं किया था। डॉक्टर त्रिलोकी भी धराशायी हो गया, कभी न उठने के लिए।

अब वह डॉक्टर भीमसेन के दवाख़ाने के सामने खड़ा था। हमेशा की तरह वहाँ सौ से ज़्यादा मरीज़ों की भीड़ लगी थी। वह बाहर ही खड़ा रह गया, सोच में डूबते हुए। अंदर जाने की उसकी हिम्मत नहीं हुई। मफ़लर को मुँह पर लपेटते हुए वह घर की राह पर पैदल ही चल दिया। कमरे में पहुँचकर उसने सारे खिड़की-दरवाज़े बंद कर दिए। पर्दे भी खींच डाले। मफ़लर को मुँह से हटा वह औंधे मुँह पलंग पर लेट गया। बाहर बूँदा-बाँदी शुरू हो गई थी। बारिश होने के पूरे आसार थे।

तरसेम गुजराल

आधा खुला दरवाज़ा

मैंने बैग कंधे से उतारकर हाथ में थाम लिया और सिर से कैप उतारकर बैग के बाहर वाली जेब के हवाले कर दी। सामने थी सोलह करोड़ में ख़रीदी गई *आभास* अख़बार की इमारत। मुझे कुछ राहत-सी महसूस हुई। हालाँकि इस बात का कोई यक़ीन नहीं था कि शीला उर्फ़ शील उर्फ़ शीला नूर इस वक़्त अंदर मिलेगी या नहीं। सड़क पार करते ही मैं *आभास* के बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ गया और आगे बढ़ना तब तक बंद नहीं किया जब तक नीली वर्दीधारी ने सवालिया इशारे से रोक नहीं दिया। शायद छोटे शहरों से आनेवाले मुझ जैसे दिवास्वप्नी लोग उन्हें दूर से ही नज़र आ जाते हैं। उसका संकेत काउंटर वाली लड़की की तरफ़ था।

लड़की से मैंने बेताबी से पूछा, ''शील जी से मिल सकता हूँ?'' ट्रेन का सात घंटे का सफ़र, फिर दो बसों में डेढ़ घंटा लटके रहकर और फिर आधा घंटा पैदल भटकते रहने पर अपने प्रश्न का नकारात्मक जवाब सुनने में असमर्थ-सा हो गया था।

''आप कौन?''

''रमेश वर्मा, जालंधर से।''

उसने इंटरकॉम पर मेरा नाम बताया। फिर मुझे रास्ता समझाते हुए कहा, ''सीधे जाकर दाएँ घूम जाएँ, सीढ़ियाँ चढ़कर संपादकीय विभाग में चले जाएँ।''

एक बड़ा हरे पत्तों से लदा पीतल का गमला और एक सरस्वती की बड़ी पेंटिंग के पास से होता हुआ रास्ता। तीन-चार केबिन के बाद एक लकड़ी के पार्टीशन में वह कंप्यूटर वाली लड़की को कुछ बता रही थी।

मैंने आठ साल से ज़्यादा वक़्त के बाद उसे देखा था। वह पहले से ज़्यादा मोटी हो गई थी। दिल्ली आने से पहले वह चोटी बनाया करती थी। दिल्ली आकर उसने उसी तरह बाल कटवा लिए थे जैसे जालंधर से मेरे दोस्त बलजिंदर ने कॉलेज पहुँचने के एक महीने बाद जो फ़ोटोग्राफ़ मुझे भेजा था। उसमें वह कार में बैठा हुआ था और उसके बाल कटे हुए थे।

शील ने जींस पहनी हुई थी और गहरे नीले रंग की जैकेट। आठ साल पहले जब मैंने उसे देखा था तब भी उसके बाल कटे

तरसेम गुजराल का जन्म 1950 में जालंधर में हुआ। *जलता हुआ गुलाब* (उपन्यास); *कोई एक दिन* (कहानी-संग्रह); *राख और चीलें* (कविता-संग्रह) प्रकाशित। भाषा विभाग द्वारा सम्मानित। संपर्क : 46, हरबंस नगर, जालंधर-2 (पंजाब)

हुए थे परंतु उसने जींस पहनना शुरू नहीं किया था। यह भी संभव है कि पहनती हो परंतु जालंधर में पहनकर आना मुनासिब न समझा हो।

जालंधर वह अख़बार के काम से आई थी। शहर के बड़े लग्ज़री होटल में उसके नाम कमरा बुक था। मुझे उसने बलवंत से कहकर शाम को होटल में बुलवाया था। मेरे लिए जिस फ़ैक्ट्री में उसने फ़ोन किया था, मैं उनका काम छोड़ चुका था। बलवंत से मुझे संदेश विलंब से मिला था। मेरे होटल देर से पहुँचने की वजह से हम लोग सिर्फ़ बीस मिनट तक एक साथ रह सके थे। उसे ले जाने के लिए शहार के एक बड़े आदमी की गाड़ी आं चुकी थी। उसका डिनर उसी के बँगले में था। मुझे उसने मुलाक़ात लंबी करने के लिए साथ डिनर के लिए चलने को कहा था परंतु मैंने इनकार कर दिया था। अगली सुबह शताब्दी से दिल्ली के लिए उसकी सीट बुक थी।

कार में बैठते हुए उसने मुझे अपना कार्ड दिया था। उस पर जो फ़ोन नंबर दर्ज था उस पर मैंने एस.टी.डी. बूथ से दो बार फ़ोन करने की कोशिश की। एस.टी.डी. बूथ का भूखा फ़ोन हर बार मेरे दस-बारह रुपए खा जाता और शील से बात एक बार भी न हो पाई। मैं दफ़्तर फ़ोन करता तो वह छुट्टी पर होती। घर फ़ोन करता तो दफ़्तर पर होती।

पिछली मुलाक़ात के बीस मिनटों में उसने अपना अंतर्मन ज़रा भी नहीं खुलने दिया था। वैसे तो बीस मिनट का वक़्फ़ा थोड़ा होता है परंतु उसमें बड़बोलापन था और यह भी कि उसका नाम कविता के क्षेत्र में चमकने लगा है। दिल्ली युनिवर्सिटी के एक जाने-माने आलोचक ने अपने लेख में ताज़ा दौर की कविता में एक समर्थ हस्ताक्षर के रूप में उसकी पहचान करवाई थी। साहिबाबाद के एक कॉलेज में उसे सम्मानित किया गया था।

जालंधर में रहते हुए वह जितने चक्कर दिल्ली के लगा रही थी, उससे पता चल गया था कि यह आसमान उसके लिए छोटा पड़ गया है। उसने एक बार मुझे भी कहा था, "तुम जालंधर में एक नए इंसान का जन्म (मेरे एक लेख का शीर्षक) की कल्पना ज़रूर कर सकते हो परंतु व्यापक पहचान और उपलब्धियों के लिए तुम्हें पंजाब से बाहर निकलना पड़ेगा।" मुझे न ख्याति या चर्चा का कोई ख़ास मोह था, न जोख़िम उठाकर निकलने का साहस। अवहेलना, कटाक्ष, छींटाकशी मेरे हथियार नहीं थे। वैसे भी ठेठ जीवन के तनाव मुझे ऐसी फ़ुर्सत नहीं दे रहे थे। जितना कभी सोच पाया था, लिखा था : अख़बारों, पत्रिकाओं में छपा भी। कुछ लोगों को अच्छा लगा। इसे लेकर कोई बड़ा काम कर गुज़रने जैसी अहम्मन्यता नहीं थी, न महान होने की ग़लतफ़हमी।

मेरे पास आकर उसने मिलाने के लिए हाथ बढ़ाया। मैंने बिछड़े हुए एक दोस्त की तरह गर्मजोशी से हाथ मिलाया। दिल में आया कि अगर वह दफ़्तर में न होकर घर के किसी सूने कमरे में होती तो मैं उसे गले लगा लेता।

"कमाल हो गया!...आज सूर्य पूर्व से नहीं निकला होगा।" उसने अंग्रेजी में कहा।

वह मुझे अपने साथ प्लाईवुड के पार्टीशन से बनी एक केबिन में ले गई। कुर्सी खींचकर बैठने को कहा।

"न कोई फ़ोन, न चिट्ठी। अचानक?"

"मैंने कोशिश की। पी.सी.ओ. का भूखा फ़ोन पैसे खा गया पर बात नहीं करवाई। कभी तुम जा चुकी होती हो, कभी छुट्टी पर और कभी मीटिंग में होती हो।"

"सीधा यही आ रहे हो?"

"हाँ, स्टेशन से सीधा।"

"मेरा तो आज ऑफ़ था। कपूर की छुट्टी जाने से आना पड़ा। तुम्हें कितनी परेशानी होती।"

"कुछ मामलों में मैं बिलकुल गँवई हूँ। मेरे पास वसंत विहार वाला पता था परंतु बलदेव ने बताया कि तुम राजौरी गार्डन शिफ़्ट करनेवाली थीं। नया पता उसके पास भी नहीं था। ऐसे में यही हो सकता था कि मैं दफ़्तर ही आऊँ।"

उसने इंटरकॉम उठाया और नंबर डायल कर कहा, "समीर, विक्की हो तो भेजो इधर।"

"तुम्हारी मिसेज ठीक हैं?"

"हाँ।" मैंने नोट किया कि उसने क़सबाई लड़कियों की तरह "भाभी" कहकर संबंधों को मुहावरे में बाँधा नहीं, हमेशा "तुम्हारी मिसेज" या "सुनयना" ही कहा।

लड़के के आने पर उससे कहा, "पानी पिलाओ विक्की और...बाक़ी छोड़ो, तुम पानी ही पिला दो।...हम खुद कैंटीन चले जाएँगे।" इंटरकॉम बजा तो उसने कहा, "आ रही हूँ।"

मैं उसकी मेज़ पर ओड़िशा की भूख की तसवीरें देखता रहा। शील का पैड खुला पड़ा था। ऊपर लिखा था 31 दिसंबर 2001। आधी रात के बाद यूरोपीय समुदाय के बारह मुल्कों में यूरो करंसी प्रचलन में। तभी दाढ़ी वाला एक अट्ठाईस-तीस की उम्र का आदमी वहाँ आया और पूछा, "आप जालंधर से हैं?"

"हाँ।"

"रमेश वर्मा?"

"हाँ।"

"मैडम शीला के ख़ाली होने में वक़्त लग सकता है। उन्होंने मुझे कहा है कि मैं आपको कैंटीन ले चलूँ, वक़्त मिलते ही वह वहीं आ जाएँगी।"

मैं उसके साथ चल दिया। बैग उठाने वाला था कि उसने कहा, "रहने दें। मैडम की टेबल से पिन तक ग़ायब नहीं होता।"

गलियारे में उसने कहा, "मेरा नाम नीरज है। मैं *आभास* के लिए फ़ोटोग्राफ़ी करता हूँ।"

"हाँ देखी है मैंने। मुझे लगता है कि ओड़िशा की कवरेज...।"

"हाँ, मैंने ही की थी। ऐसा नरक कभी देखा नहीं भाई साहब, एक तरफ़ लोग भूख से मर रहे थे, दूसरी तरफ़ मैं तसवीरें खींचकर लाया। करोड़ों रुपए का गेहूँ सरकारी गोदामों में सड़ रहा था। औरतें अपने बच्चे बेच रही हैं।"

"बात ठीक है परंतु आपका अख़बार ग़रीबी बेच रहा है।"

"शीला ने जब यह अख़बार ज्वाइन नहीं किया था।"

"शीला कौन?"

"मैडम शील।" मुझे उसे पुराने नाम से बुलाने पर झेंप-सी महसूस हुई। गाड़ी लाइन पर लाते हुए मैंने कहा, "मैं इन्हें हमेशा कहता रहा कि अख़बार की ख़बर जनता की थाती है। इसके साथ तोड़-मरोड़ ठीक नहीं है। संपादक का दख़ल अपने संपादकीय में होना चाहिए, वह भी जनहित में...परंतु यह कोरी सूचना का युग है।"

नीरज ने कॉफ़ी के साथ कुछ खाने का ऑर्डर किया था। दोनों प्लेटों में दो-दो पैटीज़ थीं। मुझे खाते देखकर मेरी भूख का अनुमान लगाते हुए नीरज ने अपनी प्लेट का एक पीस मेरी प्लेट में रख दिया।

"तुम लो न!" मैंने कहा।

"नहीं, मुझे बिलकुल भूख नहीं। दिन में दस बार तो चाय हो जाती है।...मैंने आपकी कुछ चीज़ें देखी थीं। मैडम ने फ़ोटोकॉपी दी थी पढ़ने के लिए। वह कई बार आपका ज़िक्र करती हैं। कहती हैं, यदि आप दिल्ली में होते तो बड़े चर्चित लेखक होते। एक कोने में बैठे हैं, इसलिए...।"

मुझे नीरज की बात से शीला के भीतर अपने लिए थोड़ी-सी जगह पाकर अच्छा लगा। जीवन के अँधेरे हिस्सों में ऐसी मोमबत्तियों की कँपकँपाती लौ कितना अर्थ देती है, यह मुझे इस पल महसूस हो रहा था।

"मुझे कोई गिला नहीं। मैं हिंदी साहित्य का मुहावरा बदल डालने के लिए पैदा नहीं हुआ। जो सोचता था, वही कहा। कुछ लोगों को अच्छा लगा, यह बात अलग है।"

"...लेकिन मुझे गिला है। मैं वाइल्ड लाइफ़ खींचना चाहता था। खँडहरों की कहानियाँ कैमरे द्वारा कहना चाहता था। परंतु मेरे पल्ले पड़े नेताओं के उद्घाटन, जहाँ सभी कुछ पाखंड से भरा होता है। यह भी शील मैडम की कृपा से हो पाया, नहीं तो भूखों मरने की नौबत आ जाती। हद तो यह है कि कला क्षेत्रों में हमारे काम को कला नहीं माना जा रहा। जैन साहब तो सीधा कहते हैं कि यह तो उत्पादन है। तकनीकी उत्पादन। यहाँ कला कहाँ से आई?"

"नहीं नीरज, जीवन सभी लोग जीते हैं। बिना जाने कि वे क्या और क्यों कर रहे हैं? परंतु कुछ लोग जीने की कला समझकर जीते हैं। क्या उनमें और दूसरे लोगों में कोई भेद नहीं?...यह अजीब भाग-दौड़ के दिन हैं। बाज़ार का जादू चल गया है। कोई जनता के, देश के भविष्य के लिए नहीं सोचना चाहता। परंतु एक कवि, एक कलाकार, एक दार्शनिक उस काम से अपने को अलग नहीं कर सकता।"

नीरज ने कैंटीन के लड़के की पर्ची पर चिड़िया बनाकर डेट डाल दी। हम बाहर गलियारे की तरफ़ आ गए। शील मैडम अपनी टेबल पर एक फ़ाइल में काग़ज़ उलट-पुलट रही थीं। नीरज और मैं पास पहुँचे तो मुस्कुराकर कहा, "नीरज ने कुछ खिलाया-पिलाया या अपने चित्रों की कहानियाँ सुनाता रहा।"

"नीरज की उपस्थिति में एक चमक है।" मैंने कहा।

"तो इस चमक को थोड़ा और चमकने दो। नीरज तुम्हारा कोई काम तो नहीं यहाँ, है तो मुझे बता दो।"

"मेरा पेमेंट निकलवा देंगी?"

"मैं चैक साइन करवा लूँगी। तुम चले जाओ और इनको घर छोड़ते जाना। मुझे जैन साहब छोड़ देंगे शायद!"

"ठीक है।" उसने बैग उठाना चाहा, मैंने मना कर दिया और बैग उठा लिया।

"जाते हुए खाना?" नीरज ने पूछा।

"नहीं, मैंने राधा को फ़ोन पर समझा दिया है।"

उसने मुझे कहा, "मैं थोड़ी देर में आ रही हूँ।"

सीढ़ियाँ उतरकर नीरज ने कहा, "आप रुकें। मैं स्कूटर निकालकर लाता हूँ।" मैंने बैग के बाहर की जिप खोलकर कैप फिर से पहन ली। अंदर और बाहर के तापमान में काफ़ी फ़र्क़ था। जब सामने स्कूटर रुका। मैं चुपचाप पीछे बैठ गया। हेलमेट में नीरज एकदम पहचाना नहीं जा सका। उसका हेलमेट मोटर साईकिल रेस में भाग लेनेवालों जैसा था।

अब हम मेन रोड पर आ चुके थे। स्कूटर की रफ़्तार कुछ ज़्यादा ही थी। पिछले दस मिनटों में हमारा कोई संवाद नहीं हुआ था। एक पल के लिए मुझे लगा कि मैं किसी दूसरे के स्कूटर पर तो नहीं बैठ गया। वह नीरज न होकर कोई और हो। तभी नीरज ने कहा, "मैडम को जैन साहब छोड़ देंगे। इसका मतलब समझते हैं आप?"

"नहीं।" मैंने कहा।

"मतलब यह कि आज मैडम अपने एक और विरोधी को चित कर देंगी। *आभास* में जैन साहब ही इनके पर कुतरने वाले हैं। हमारा काम भी कई बार रिजेक्ट करवा चुके हैं। आपको यह भी नहीं पता होगा कि मैडम की अमरीका यात्रा दो क़िस्तों के बाद बंद क्यों हो गई?"

"नहीं, इतना ही जानता हूँ कि उसकी दो क़िस्तें ही छपीं।"

"वजह हैं यही जैन साहब। उन्होंने बीच मीटिंग में कहा कि कोई मुझे बताए कि इस यात्रा संस्मरण में नया क्या है? शील मैडम कोई

नोआम चामस्की तो हैं नहीं कि बाज़ारवाद का कोई नया ऐंगिल पकड़ लाई हों। वहाँ की गगनचुंबी इमारतों और स्वच्छ व्यवस्था की कहानियाँ सुन-सुनकर लोगों के कान पक गए हैं। *आभास* की लाखों रुपए की स्पेस अपना तीर चलाने के लिए नहीं दी जा सकती, वह भी घुप्प अँधेरे में।'' उसने फिर कहा।

''मैं यक़ीन के साथ कह सकता हूँ कि आज के बाद जैन साहब ख़ुद कहेंगे—मैंने मैडम की अमरीका यात्रा की अगली क़िस्तें देख ली हैं। उन्होंने उसमें काफ़ी सुधार किया है और अब यह एक ऑब्ज़र्वर की नज़र में उम्दा चीज़ है।''

सर्दी की रात घिर आई थी परंतु शहर यौवन पर था। सड़कें लकदक थीं। बत्तियों वाले चौराहे पर स्कूटर रुकता तो बसों, गाड़ियों, मोटरसाईकिलों की क़तार बँध जाती। प्रकाश पुंजों के बीच भागते हुए लोग जैसे किसी मुहिम पर निकले हों। जैसे उनकी संजीवनी कहीं गुम हो गई हो और इसकी तलाश में ज़ाने कितनी बंदिशें हों।

मार्केट से आगे निकलकर उसने स्कूटर रोका और हेलमेट उतारकर कहा, ''यही है मैडम का घर।''

सीढ़ियाँ चढ़कर उसने बाईं तरफ़ के दरवाज़े की बेल बजा दी। एक अधेड़-सी औरत ने दरवाज़ा खोला तो उसने कहा, ''राधा बाई, यह मैडम के मेहमान हैं।'' राधा ने मेरा बैग थाम लिया और भीतर ले गई।

''मुझे आज्ञा दें भाई साहब।'' नीरज ने कहा।

''रुको न अभी।''

राधा पानी के दो गिलास ले आई। नीरज पानी पीकर जाने के लिए उठ गया, ''असल में आज मेरे बेटे का बर्थडे है। नहीं तो रुकता। मैं पहले ही लेट हूँ। मुझे सात बजे घर पहुँचना था।''

''पहले क्यों नहीं बताया?''

''आप छोड़ने नहीं आने देते और बसों में धक्के खाते।''

''कभी जालंधर आओ न।''

''पंजाब आना चाहता हूँ। इस बार क़िला रायपुर की खेलें कवर करना चाहता हूँ। प्रपोजल मैडम के पास पड़ा है। देखें। आप भी कह दें।''

''ज़रूर कह दूँगा।''

नीरज ने स्कूटर स्टार्ट किया और फुर्र हो गया। राधा सेब काटकर रख गई। नमकदानी देकर कहा, ''कुछ चाहिए?''

''नहीं।''

''मैं जाती।''

''हाँ ठीक है।''

जाते-जाते वह फिर लौटकर आई और मुझे लपेटने के लिए शॉल दे गई।

राधा ने मेरा बैग अंदर कमरे के कोने में रखा था। मैंने जूते उतारकर वहीं रख दिए। सर्दी की वजह से जुराबें नहीं उतारीं। शील की चप्पल पैरों में डाल ली और बाथरूम चला गया। बत्ती जलाते ही बाथरूम चमक उठा। दरवाज़े की कीलों पर शील के कपड़े झूल रहे थे। विल्सन का कोई कपड़ा नज़र नहीं आया। इसका मतलब है विल्सन वहाँ नहीं था। या तो बलवंत की ख़बर सही थी या वह वैसे ही कनाडा गया हुआ था।

शील के इंतज़ार का वक़्त काटने का आसान तरीक़ा था टी.वी. ऑन कर लेना, परंतु मैं थोड़ी देर दिमाग़ ख़ाली रखना चाहता था ताकि कुछ सोच सकूँ या चीज़ों को तरतीब दे सकूँ।

मैंने पाया कि उस वक़्त मैं अपने बारे में नहीं शील के बारे में सोच रहा था। मैंने उठकर घर का मुआयना शुरू कर दिया। विल्सन की तसवीर तक नहीं थी।

कबर्ड के कोने में एक मूर्ति रखी थी। मूर्ति की औरत की दाईं बाँह किसी बनैले पशु के मुँह में थी। जैसे वह जानवर उसे खींच ले जा रहा हो। नीचे शील का नाम था। मूर्ति में अनगढ़ता थी परंतु शील ने उसे बनाया था, यह मेरे लिए आश्चर्य था।

दूसरे कोने में एक छोटी-सी काँच लगी अल्मारी थी, उसमें ह्विस्की, जिन और रम की बोतलें थीं तथा कुछ ख़ूबसूरत गिलास। इसका मतलब था कि यह सब चलने लगा है। बलवंत ने इसका कभी ज़िक्र नहीं किया था। तो क्या बलवंत शील के साथ हमप्याला रहा होगा...नहीं यह नहीं हो सकता। वह शील के बारे में यह सब नहीं जानता होगा।... ख़ैर...मैं ही क्यों चाहता हूँ कि शील हर क़दम फूँक-फूँककर रखे, उसे जहाँ जो अच्छा लगता है करे या कर सकती है। मैं क्यों कुढ़ता फिरूँ और बिना वजह एक आतंक-सा महसूस करता रहूँ। मैं यही कामना क्यों कर रहा हूँ कि वह लीक से हटकर जी न पाए। मेरे पास ऐसी थानेदारी का अख़्तियार ही क्या है?

मैंने घड़ी देखी। दस बज गए थे और शील का कुछ पता न था। पहले मैंने सो जाने का मूड बनाया फिर लगा दिल्ली के लिए यह वक़्त सो जाने का नहीं होना चाहिए। बलवंत कहता था कि रात के दस बजे तो दिल्ली में अवसरवार जागता है। दावतें शुरू होती हैं। एक दूसरे को ठगने की तैयारी में रहता है, दूसरा तीसरे को सींग और दुम छुपाकर शिकार के लिए चारा फेंका जाता है। क़ानून की खाई और कुएँ के बीच की राह खोजी जाती है।

मैंने टी.वी. के पास पड़ी शील की एलबम उठा ली। इसमें शील की अमरीका यात्रा की तसवीरें थीं। कुछ तसवीरें उसकी ट्रॉफ़ियाँ, स्मृति चिह्न अथवा सम्मान ग्रहण करने की थीं। अचानक एक तसवीर पर मेरी नज़र पड़ी। वह तसवीर भारत के प्रसिद्ध मूर्तिकार व्यास की थी। व्यास अपने लंबे बालों से पहचाने जाते हैं। शील उनके गले में बाँहें डाले हुए थी। अब मुझे शील के मूर्तिकार होने का रहस्य समझ में आया। क़रीब ग्यारह बजे शीला लौटकर आई।

"आय एम सॉरी।" उसने दोनों ठंडे हाथों से मेरे दोनों हाथ थाम लिए। वह मेरे इतने क़रीब थी कि उसकी साँसें मेरे चेहरे से टकरा रही थीं।

"मुझे सचमुच देर हो गई। मैं जान छुड़ा चाहती थी, फिर लगा कि क्यों न रोज़-रोज़ के बिल्ली-चूहे का खेल ख़त्म हो।"

"यही घर जो अभी तक मुझे बीहड़ लग रहा था। तुम्हारे आने मात्र से भर गया है।"

"मैंने इतने बीहड़ पार किए हैं कि अब कुछ बीहड़ नहीं लगता?" उसने हाथ छुड़ाकर पीछे का दरवाज़ा बंदकर पर्दा खींच दिया। मेरे सामने सोफ़े पर बैठ गई। कुहनी जाँघ पर और हथेली पर चेहरा टिकाकर एकटक मेरी तरफ़ देखते हुए कहा, "पहले से कुछ कमज़ोर लग रहे हो। सब ठीक चल रहा है न?"

"कुछ ख़ास नहीं। बस रोजी-रोटी की जद्दोजहद काफ़ी लंबी रही। पहले तीन फ़र्मों का काम करते थे, गुज़ारे लायक़ हो जाता था।...फिर एक गोरी पत्रकार आई। फ़ुटबॉल सीते हुए बच्चों की फ़ोटो खींचकर ले गई। तहलका मच गया कि भारत में मासूम बच्चों का शोषण हो रहा है। नए ऑर्डर मिलने बंद हो गए। इंग्लैंड की एक कंपनी ने बिका हुआ माल वापस ले जाने को कहा। जिन तीन फ़र्मों का काम कर रहा था उनमें से एक बंद हो गई। दूसरी ने फ़र्म में साठ प्रतिशत पैसा निकालकर शराब के ठेके में डाल दिया।"

"इसका मतलब है कि तुम्हारा काम प्रभावित हुआ।"

"बुरी तरह प्रभावित हुआ। बच्चों की फ़ीस जमा करवा दी तो यूनीफ़ॉर्म और किताबों के लिए उधार उठाना पड़ा। चित्र का दूसरा रुख यह है कि जो बच्चे दो घंटे फ़ैक्ट्री में काम करके फ़ीस आदि का इंतज़ाम कर लेते थे, उनका स्कूल छूट गया। मैं समझ नहीं पाया कि उस महिला पत्रकार की रिपोर्ट मानवीय थी या अमानवीय।"

"तुम्हारे मिसेज के साथ संबंध कैसे हैं? बलवंत कह रहा था कि...।"

"संबंध लव एंड हेट के ही हैं। पहले मुझे लगता था कि मेरी कमाई कम होने से वह मेरी अवहेलना करती है। परंतु जब बीमार पड़ गया तब लगा कि वह मुझसे बहुत प्यार करती है। मुझे लगता रहा कि मैं उसके पास केवल उसके चेहरे पर तेज़ साँसें फेंकने के लिए ही नहीं जाता हूँ। मुझे उससे गहरा लगाव है। परंतु उसके बारे में इतना निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता था।"

"लगता है जहाँ झगड़े ज़्यादा होते हैं, वहाँ प्यार भी ज़्यादा होता है। तुम्हारे यहाँ झगड़े के बावजूद तीन बच्चे हैं। शुभ का झगड़ा तुमसे ज़्यादा रहता है उसके चार बच्चे हैं।"

"कैसी है शुभा ?"

"भरी रहती है प्रेम के ख़िलाफ़। मैं कहती हूँ शुभा, तू इतनी तंग है तो तलाक़ क्यों नहीं ले लेती ?"

"जवाब मिला—क्या करूँ, बीच में किसी दिन वह मुझे बहुत प्यार करते हैं।"

"कब ?"

"जब घर शराब पीकर नहीं आते। हफ़्ते के एक दिन।"

"महीने के चार दिनों के लिए तू छब्बीस दिन कष्ट सहती है ?"

"वही चार दिन ज़िंदगी के हैं, जिनके लिए मरती रहती हूँ। अमृत की एक बूँद के लिए लोगों ने जीवन भर ज़हर पिया है... ।"

"यह है इंडियन वूमन। विल्सन जिसे कहते हैं ख़ास टैक्सचर से बनी हैं।"

"कैसे हैं विल्सन से तुम्हारे संबंध ?"

"उनको भी यह शिकायत है कि इस इंडियन वूमन प्रेम को पूरी तरह एन्जॉय नहीं कर पातीं। जब सुन-सुनकर मेरे कान पक गए। मैंने कहा—प्रेम सिर्फ़ तीन मिनट का नहीं होता। मैं तुम्हारा सूट और टाई करीने से सँभालती हूँ उसमें भी प्रेम है। तुम्हारे लिए नाश्ता बनाती हूँ उसमें भी प्रेम है। इंतज़ार में जब कई-कई रातों को सो नहीं पाती, वह क्या प्रेम नहीं है ?"

बलवंत द्वारा दी गई सूचना कुछ और थी। उसने बताया कि शील अमन (अपने छोटे भाई) को कनाडा भेजना चाहती थी। जब छोटी बहन शुभा के लिए इतना कुछ किया तो अमन के लिए क्यों न करती। विल्सन इसके लिए तैयार था परंतु किसी ने उसे कह दिया कि शील ने उससे प्रेम ही इसलिए किया है ताकि अमन को उसका पेट्रोल पंप मिल सके। कहने वाले ने अमन के साथ शुभा के पति का नाम भी जोड़ दिया और कहा कि शुभा और उसके पति के बीच झगड़ा इसी वजह से रहता है कि वह उसका इतना-सा काम भी नहीं करवा पाई।

मैं शील को देखता रहा। सैंडिल खोलकर उसने जुराबें उतारीं और थके पैरों को सहलाया। मेरी पत्नी सुनयना की आँखें बड़ी-बड़ी और सुंदर थीं परंतु शील की रंगत उससे साफ़ थी। सुनयना ने जहाँ अपने सभी रंग घर-गृहस्थी में झोंक दिए थे और पैरों तक के प्रति बिलकुल लापरवाह थी वहीं शील के पैरों पर एक भी बिवाई नहीं थी। व्यवहार में सुनयना अंदर-बाहर एक थी। शील के बारे में रहस्य की कई परतें थीं। कुछ कहना जितना सच लगता उतना ही फिर झूठ लगने लगता।

वह एक मिनट कहकर साथ वाले कमरे में चली गई। मैं बाथरूम जाने के लिए उठा। वह कपड़े बदल रही थी और उसने कमरे का दरवाज़ा बंद नहीं किया था। इधर से वहाँ का काफ़ी हिस्सा दिख रहा था। उसके गोरे जिस्म की झलक मिली और उसने दरवाज़ा पैर से उढ़का दिया। अब दरवाज़ा आधा खुला था। बाहर निकली तो उसने गुलाबी नाइटी पहनी हुई थी। मेरे देखने और दिख जाने का कोई भाव उसने चेहरे पर नहीं आने दिया।

"पहले खाना हो जाए। बातों से पेट नहीं भरता।" कहकर वह किचन में चली गई। जब वह भोजन गर्म कर रही थी, मैंने पीछे से जाकर उसे बाँहों में घेर लिया। उसने हँसकर आराम से

बाँहें अलग कर दीं। कहा, "ज़्यादा भूख लगी है? टेबल पर बैठो, एक मिनट में ला रही हूँ।"

भोजन परोसते हुए उसने पूछा, "दिल्ली में कुछ ख़ास काम?"

"मुझे सुनयना ने भेजा है।"

"मुझसे मिलने?" उसने कटाक्ष किया।

"यही समझो।" पानी के दो घूँट पीकर मैंने कहा, "सम्मेलनों में, गोष्ठियों में अकसर प्रतिष्ठित लोग हमें स्मृति चिह्न भेंट करते हैं। ऐसी तसवीरें अख़बारों में भी आती हैं। इससे परिवार के लोग समझ लेते हैं कि हम जैसे लोग भी यहाँ के समाज के विशिष्ट वर्ग में से हैं जिसकी सुनवाई होती है। सुनयना और बच्चों को शिकायत है कि मैं परिवार के किसी काम के लिए किसी से कुछ कहता नहीं।... बलवंत जब भी दिल्ली से लौटकर जाता है, घर बैठकर सुनाता रहता है कि उसका कौन-सा काम कहाँ अटका हुआ था, शीला ने फ़ोन करके करवा दिया। बबलू ने प्लस टू कर लिया है। सुनयना चाहती है कि उसके कैरियर के लिए तुमसे बात करूँ...।"

"अभी उसे पढ़ाओ।"

"पढ़ाई अब इतनी महँगी है...लगता है कि एक ख़ास वर्ग ही इसे ख़रीद पाएगा।"

"चलो इस पर कल बात करेंगे। मुझे कुछ सोचने दो। सरोज से किसी ऐसी कंपनी के बारे में पूछूँगी जो ट्रेनिंग दे रही हो साथ ही इतना स्टाइपेंड कि गुज़ारा चल सके। पढ़ाई भी चल सके। चलेगा न...।"

"हाँ, यह अच्छा रहेगा।"

"कोशिश करके देखते हैं।" उसने मेरी प्लेट में एक चपाती और परोस दी।

"तुम्हारा घर अच्छा है।"

"तुमने वसंत विहार वाला घर नहीं देखा न!"

"नहीं।"

बलवंत ने देखा है। वह ज़्यादा बड़ा था आलीशान भी था। मुझे याद आया कि वसंत विहार वाला घर ख़ाली करवाने को लेकर ख़ूब लड़ाई-झगड़ा चला था। बलवंत ने ख़ूब मिर्च-मसाले लगाकर वह क़िस्सा सुनाया था कि किस तरह ख़ाली करने का शील को दो लाख रुपया मिला था। उसने यह भी बताया था कि शुभा की शादी उसी पैसे से हुई।

"सुना है उस घर के मालिक को ख़ूब पटखनी दिलवाई।" मैंने उसकी प्रशंसा करनी चाही, परंतु बात कहीं लग गई।

"बलवंत न जाने क्या-क्या बकता रहता है...तुमने भी कभी आकर मेरा हाल नहीं पूछा कि मैं मर गई हूँ या ज़िंदा हूँ।" शील का चेहरा कस गया..."मैंने पैसे लिए, यह बात सभी को मालूम है।...कोई यह नहीं जानना चाहता कि पैसे देनेवाले को ख़ाली करवाकर कितना लाभ हुआ है। वह बिजनेस प्लेस था। उसने दस गुना कमाए होंगे, कमा रहा है।...मुझे उसने कितना तंग किया, जानते हो? मेरे दरवाज़े पर कचरा फिंकवा दिया जाता। कई बार अश्लील पोस्टर लगवाए गए। रात को कई बार मुझे ब्लैंक कॉल्स आती थीं। मैं बिलकुल अकेली इस मोर्चे पर डटी थी। विल्सन भी यहाँ नहीं था। कनाडा फ़ोन किया तो कहा कि इसे छोड़कर दूसरी जगह ले लो। मैं कैसे छोड़ देती भला...धमकियों से डर जाती? उधर दफ़्तर में जैन साहब अलग परेशान कर रहे थे। कोई और होता तो ज़िंदगी से भाग जाता...मैं खड़ी रही...इसका सिला मुझे बदनामी से मिल रहा है कि मैंने पैसा लिया...तुम तो आज आए हो मेरा हाल जानने...यहाँ सभी अकेली औरत समझकर काट खाने को आते हैं...उनका बस चले तो मेरे जिस्म का एक-एक टुकड़ा चील कव्वों को खिला दें...।"

मुझे याद आया कि बलवंत ने कहा था कि अगर शील उन लोगों से दो लाख रुपया निकलवा

सकती है जो कि साँप के सिर से निकालने के बराबर है तो वह कुछ भी कर सकती है।

शील का आवेग थम चुका था। मैंने कोई सफ़ाई नहीं दी कि मैं क्यों नहीं आ पाया।...वह स्वाभिमान से दीप्त थी। मेरा दिल चाहा कि उसे चूम लूँ। कभी उसने मुझसे प्रेम का इज़हार किया था, जब हम चंडीगढ़ के हॉलीडे होम में गोष्ठी छोड़कर बाहर घूम रहे थे। तब तक मेरी कुड़माई हो चुकी थी। सुनयना से पत्र-व्यवहार आरंभ हो चुका था। मुझे वह इतनी मासूम-सी लगी कि उसका दिल तोड़ना बहुत बड़ा अपराध लगने लगा।

रात ज़्यादा हो चुकी थी। सर्दी में भी शील की नाइटी के गलेवाले बटन खुले थे। शाल केवल पीठ पर होकर घुटनों पर फैली थी।

"तुम्हें कुछ चाहिए?" उसने पूछा।

कितना कुछ भीतर से फूट-फूटकर निकलने को आ गया। मुझे क्या चाहिए?...मुझे चाहिए एक सुरक्षित ज़िंदगी, बहुत धक्के खा लिए। मुझे चाहिए जीवन की तपती धूप में एक पेड़ की छाँह...मुझे चाहिए ज़िल्लत और अपमान से छुटकारा...बच्चे जब फटा स्वेटर पहनकर स्कूल जाते हैं तो भीतर कोई चाक़ू-सा चलता है।...सुनयना का उपचार करवाते हुए डॉक्टर की उपेक्षा की जगह हमदर्दी चाहिए...फिलहाल इस सर्द रात में इस अकेले फ़्लैट में मुझे तुम चाहिए और तुम्हारा बिस्तर...। फिर ख़याल आया कि कुछ चाहिए का प्रश्न इसलिए भी पूछा जाता है कि आप कह दो, नहीं कुछ नहीं...। हालचाल भी इसीलिए पूछा जाता है कि आप जवाब में कहोगे...ठीक-ठाक हूँ...फिर क्या आज मेरी हैसियत इतनी बुलंद हो गई कि कोई इसरार करे कि मुझे क्या चाहिए...?

भीतर का उफान मुझे उछालकर फेंकना चाहता था।...क्यों आया मैं यहाँ? सुनयना के कहने से या अपनी चाहत से? इतने बरसों बाद उस हॉलीडे होम के एक दिन के कुछ पलों का वास्ता...जबकि इतनी आँधियाँ आईं, इतनी धूल उड़ी कि बीज का अता-पता नहीं मिला...।

मैंने उसे जब किचन में बाँहों में घेर लिया था, उसने आराम से बाँहें अलग कर दी थीं। मैंने सामने देखा। कुर्सी ख़ाली थी। मैं अंतर्मन को टटोलता रहा, मेरी निगाह नहीं उठ रही थी। वह आई मुस्कुराते हुए उसने गरम पानी की बोतल थमा दी और कहा, "तुम्हें नींद आ रही है। थके हुए हो...तुम्हारा बिस्तर लगा दिया है। सो जाओ। सुबह बात करेंगे।"

रजनी गुप्त

धुआँ और धुंध

करवट बदलते ही घबराहट और पसीने से तरबतर हो गई। थोड़ी देर बाद हिम्मत करके आँखें खोली...उफ़ फिर वही अँधेरा...वही काला रंग। ये रंग मेरा पीछा क्यूँ नहीं छोड़ता? आँखें मूँदते ही लगता जैसे चारों तरफ़ से फड़फड़ाते काले डैने मुझे लीलने के लिए पिछिया रहे हैं—देखो, देखो, ये कितने सारे पंछी मेरे इर्द-गिर्द मँडरा रहे हैं...फिर वही चील और चमगादड़ लाइन से आते हुए अपना जबड़ा खोले कितनी ललक से मुझे घूर रहे हैं...ये सब मिलकर लील जाएँगे मुझे...,मैं बचूँगी नहीं किसी भी सूरत में...लेकिन तुम्हें क्यूँ तलब होने लगी अपने वजूद की? किसके लिए जीना चाहती हो? बोलो? कौन बैठा है तुम्हारे लिए? किसके लिए ज़रूरी हो तुम?

नहीं, किसी को मेरी ज़रूरत नहीं है...कोई भी तलबगार आँखें दूर-दूर तक नज़र नहीं आती, कहीं कोई छाँह मेरे लिए नहीं...सोचते ही बेचैनी घेरने लगती और तमाम सवाल दिमाग़ की चीर-फाड़ करने लगते। इनसे निजात पाने के लिए आँखें फाड़कर अँधेरे में हाथ-पैर हिलाकर कुछ टटोलने की कोशिश की, तो अलार्म घड़ी लुढ़कने की आवाज़ सुनाई पड़ी तभी लगा शायद कोई घंटी बजा रहा है...कौन हो सकता है इस वक़्त? कहाँ से सुनाई पड़ रही हैं ये आवाज़ें? कान में उँगली डालकर चैक किया—कुछ भी तो नहीं, लेकिन घंटी की आवाज़ें तो लगातार सुनाई दे रही हैं। आख़िरकार हिम्मत बटोरकर दरवाज़ा खोल दिया...चारों तरफ़ पेड़ों से झरती ठंडी हवाएँ और आसमान के सूराख़ से फूटती रोशनी...कहीं कोई नहीं।

वह अँधेरे में घुलती चीज़ों को समझना ही तो चाहती थी। कहीं कुछ तो है रहस्यमय..., गहरी गुँथी छायाओं जैसा अबूझ, लेकिन क्या? वीना, क्या था वहाँ? अब तक ढोई ज़िंदगी में ऐसे अनजान क़िस्म की जटिल गुत्थी से साबका पड़ा होता तो शायद कोई छोर कोई अर्थ पकड़ पाती, तब ये राज़ खुलता या कोई समझ विकसित होती। ज़िंदगी को ख़ुशियों के रास्ते फलाँगते हुए वह कितना कुछ जानना-सीखना भूलती गई। संबंधों के इस गणित से कितनी-कितनी अनभिज्ञ थी वह?

1963 में जन्मी रजनी गुप्त का एक कहानी-संग्रह *एक नई सुबह* और एक उपन्यास *कहीं कुछ और* प्रकाशित हैं। उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान से पुरस्कृत।
संपर्क : 18, हाइडिल अधिकारी आवास, 3 प्राग नारायण मार्ग, लखनऊ-226001

कमरे की हर चीज़ को वह ध्यान से देखती— पलंग के सिरहाने रखी पानी की बोतल, ड्रेसिंग गाउन, अलार्म क्लॉक, इधर-उधर छितरे कपड़े और दीवार पर टँगी तसवीरें..., लेकिन उसके कान बग़ल वाले कमरे से आते पति के खर्राटों की तरफ़ लगे हैं। अचानक दीवारों पर टँगी प्रेताकार तसवीरें फिर उससे बतियाने लगीं, ''ऐ लड़की चैन की नींद सोना है तो जो जैसा हो रहा है उससे आँखें मींचकर चुपचाप सो जा।'' ऐन मौक़े पर एक और आवाज़ सुनाई पड़ी, ''इससे जल्द से जल्द छुटकारा पाओ..., कुछ करो। अकेले में ज़्यादा वक़्त मत गुज़ारो इसके साथ वरना कहीं बच्चा-वच्चा रह गया तो मुश्किलें बढ़ जाएँगी...सुन रहे हो विनय... !''

छुरी जैसी बातें सीने को भेद जातीं। विनय यानी पति की परछाईं तक को पकड़ पाना मुश्किल था। अब अकेली क्या करूँ यहाँ इस कमरे में? अनजान डर के मारे हलक़ सूखने लगा तो पानी की दो बूँदें गटकीं...उफ़! ये काले धुएँ जैसा अँधेरा नथुनों में कड़वापन भरने लगता और फिर से घुटन पीनी पड़ती। नुकीला सवाल काट खाने को दौड़ता—वह यहाँ क्यों पड़ी है? पेट भरने लायक नौकरी तो कर ही रही थी, मगर अब कहाँ जाए? कैसे कटेगी आगे की ज़िंदगी? जितना सोचती, लहूलुहान हो उठती— आख़िर क्या सोचकर शादी की थी उसने? क्या वाक़ई उसका वजूद शून्य था? महज एक बेजान कठपुतली जो माँ के इशारे पर हिले-डुले। उस आवाज़ को सुनकर किस तेज़ी से वह रबड़ भरे गुब्बारे की तरह उछल पड़ता था, ''जी, आया..., अच्छा... हाँ, ओके?''

बस इन्हीं शब्दों के अलावा उसके मुँह से कभी कुछ भी नहीं सुना उसने । शादी से पहले एक बार आया था वह मिलने यूनिवर्सिटी कैंपस में। हॉस्टल की लड़कियाँ बर्रों की तरह झुंड बनाकर टूट पड़ी थीं लेकिन तब भी वह बुत की तरह बैठा रहा गुमसुम। ज़्यादा-से-ज़्यादा—हूँ, हाँ...बस ठीक है...लेकिन लड़कियाँ तब भी बकर-बकर करती रहीं, ''ऐ मिस्टर, आपके ज़ुबान तो है न? सुना है डिफ़ेंस में नौकरी करते हैं..., क्या वाक़ई? ऐ वीना, ले जाओ इन्हें, इनकी स्पीच थैरैपी वग़ैरा कराओ। जब ये थोड़ा बहुत बोलने लायक़ हो जाएँ, तभी करना शादी...सच्ची में, समझी?''

समवेत ''हो हो'' के दौरान भी वह टस से मस नहीं हुआ। गोया, नदी के बीच वर्षों पुरानी कोई चट्टान पड़ी हो। कुछ सहपाठी मित्रों के हाथ मिलाने पर पहले तो वह सकुचाया फिर वे सब उसके झुकेपन का मज़ाक़ उड़ाने लगे। शायद ये ज़्यादा ही सॉफ़िस्टिकेटेड हैं...सोचकर मैं टाल गई। उसके ढीले-ढाले पैंट-शर्ट देखकर सोचा— ज़रूर शर्मीला होगा, बिलकुल गबदू बच्चे जैसा मासूम...।

''कहीं घूमने चलना है?'' मटकते-चटकते अंदाज़ में पूछा।

''कहाँ? किसलिए?'' अबोध बच्चे जैसी कोमल आवाज़ सुनकर मैं ज़ोर से हँस पड़ी तो वह अचकचाते हुए देखने लगा एकटक...। ये इतना चुप्पा, सीधा और घुन्ना-सा क्यों दिखता है? ज़रूर कोई बात है...कहीं कोई हीनता-ग्रंथि...या शर्म-संकोच की भारी चट्टान तले तो नहीं दब गया इसका व्यक्तित्व? शायद ये किसी से अपने मन की बात कह ही न पाया हो...मैं कयास लगाती रही लेकिन वह मेरी आँखों में टुकुर-टुकुर ताकता रहा फिर धीमे से बोला, ''वीना, एक बात मैं कहना चाहता हूँ, मैं अपनी माँ से बहुत अटैच फील करता हूँ, तुम प्लीज़ इसे ठीक से समझ लो। वो मेरी कमज़ोरी है।''

''ठीक है, ठीक है''...मैंने इसे हल्के-फुल्के ढंग से उड़ा दिया। इसके बाद वह कुछ नहीं बोला। घुमा-फिराकर मैंने कई जगह से घेरना चाहा लेकिन वह जड़वत बैठा रहा गर्दन झुकाए।

''ऐसे गबदू के साथ कैसे गुज़ारा होगा?'' मैंने पिताजी से दो टूक लहज़े में बात की लेकिन

वे मुझे उलटी पट्टी पढ़ाने लगे, "थोड़ा शर्मीला है, सीधा है..., ऐसे सीधे लड़के ढूँढ़े नहीं मिलते। तेरी तरह मुँहज़ोर नहीं है वो।" माँ के तर्क भी ज़ोरदार होते, "लड़के ऐसे ही अच्छे निकलते हैं निभानेवाले। बाद में धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा।"

लेकिन क्या वाक़ई बाद में कभी कुछ ठीक हो पाता है ? ज़िंदगी और रिश्ते अपने रास्ते आप चलते हैं, किसी के हँकाए भला कितनी दूर तक चल पाएँगे ? धीरे-धीरे रेत की तरह फिसलकर दूर फिंक जाते हैं रिश्ते और ये सब एक झटके से होता है...हमारे चाहने न चाहने से बेख़बर... हमारी परवाह किए बग़ैर।

साथ-साथ घंटों गुज़ारने वाला मुनीश क्यूँ कर उस अनजान दिशा की तरफ़ रुख़सत कर गया ? सोचती हूँ तो ताज्जुब होता है। मुझे बिना बताए कुछ भी न करनेवाले मुनीश का आज कोई अता-पता नहीं...है न अजीब-सी बात ?

उस दौर में हर चीज़ में कितने-कितने रंग भरे थे। सपनों की हरदम बरसात होती रहती। तितली जैसा भागता मन कहीं भी चुप मारकर बैठने के लिए तैयार ही नहीं होता। दिन-दिन भर हॉस्टल से कैंपस फिर कैंपस से लाइब्रेरी और फिर यूनिवर्सिटी के दसियों चक्कर काटते हुए फुर्र से दिन की धूप ग़ायब हो जाती। शाम को रूम में लौटती तो सिर टिकाते ही नींद धर दबोचती। कभी रात 12 बजे तक मुनीश के साथ लाइब्रेरी से लौटती तो कभी अलस्सुबह हॉस्टल से यूनिवर्सिटी तक के शॉर्टकट वाली पगडंडी से गुज़रते हुए मुनीश के संग ज़ोर-ज़ोर से बहस करते हुए ठहाके लगाती, तब आसपास के लोग आँखें फाड़-फाड़कर हमारी तरफ़ देखते लेकिन "हू केयर्स ?" उस समय का यही तकिया कलाम था।

अचानक कैसे क्या-क्या एक झटके गुज़र जाता है और ज़िंदगी झपट्टा मारकर छीन लेती है हमारी दुनिया। सर्र से सब फिंक जाता है फिर कभी न आने के लिए। उस दिन वो वही का कोट पहनकर आया था। टेनिस खेलते देखकर ज़ोर से चिल्लाया फिर खींचकर बाहर ले आया, "वीनू, कम ऑन प्लीज़!"

"क्या है ?" मैं झुँझला पड़ी।

"रिलैक्स यार...यू नो व्हाट ए प्लेज़ेंट सरप्राइज़ यू विल सी... !" मोटरसाईकिल देखकर मैं उत्साह से भर उठी, फिर मेरा दुपट्टा खींचते हुए बोला, "आई गॉट फ़ेलोशिप"...

"क्या... ?" मैं प्रश्नातुर निगाहों से उसे देखने लगी।

"यस, यू आलसो गॉट, मगर तुम्हारा नाम थोड़ा-सा नीचे चला गया इत्ता-सा।" उँगली से गोल-गोल बनाते हुए दिखाता रहा। न चाहते हुए भी थोड़ा-सा बुझ गई मैं। पैसों के बिना यहाँ और रहकर कैसे पढ़ पाऊँगी मैं? मेरी अंदरूनी खलबली से बेख़बर वह मेरे दुपट्टे को उँगली पर लपेटता रहा फिर सिर पर उड़ाते हुए बोला, "बैठो यहाँ, ज़रा ढंग से बैठना..., चलो आज शहर भर की सैर कराते हैं तुम्हें। बोलो, कहाँ चलना चाहोगी ? बंदा हाज़िर है..., हुकुम फ़रमाएँ मोहतरमा... ।" सिर पर कैप लगाए वह बड़ी अदा से मुस्कुराया।

"सबसे पहले मंदिर फिर कहीं भी...।"

"ओफ़! तुम हिंदुस्तानी लड़कियाँ...! कभी नहीं बदलोगी। बड़ी-बड़ी बातें बघारोगी दुनिया जहान की..., जब तब विद्योत्तमा की तरह शास्त्रार्थ करने बैठे जाओगी लेकिन व्यवहार में वही टिपिकल ट्रेडिशनल इंडियन वूमेन...जैसा बिहेव।"

"इसे तुम जो चाहो कहो लेकिन भीतरी सुकून के लिए चाहिए स्थिरता...और साधना जो यहीं से मिलती है।" मंदिर के बाहर फूल वालों से फूल लेती दुपट्टे से सिर ढके वह इस वक़्त किसी पवित्रात्मा जैसी भव्य लगने लगी थी। अंदर ध्यानस्थ बैठी वीना को झिंझोड़ते हुए जगाना पड़ा, "चलिए देवी जी, उठिए।"

''चलो, अब जहाँ भी तुम्हारा मन करे।'' वीना की आवाज़ में शांत नदी जैसी स्थिरता झलक रही थी।

''ऐ, क्या सोच रही थी? क्यों इतनी देर से मौन साध रखा है?''

''कल के बारे में सोचती हूँ तो रूह काँपने लगती है। यू नो वैल, आगे की पढ़ाई के लिए पैसा चाहिए और...''

''मेरे पास तो आ गए हैं न? हमारे तुम्हारे पैसे अलग-अलग हैं क्या?''

''देखो मुनीश, तुम अपने घर की ज़िम्मेदारियों से मुँह तो नहीं मोड़ सकते। कितने लोग लाइन लगाए खड़े हैं तुम्हारे पीछे..., बोलो? ग़लत कह रही हूँ क्या?''

उसके बाद किसी से कुछ बोलते नहीं बना। ये लड़की अकसर मुझे दादी माँ की तरह सबक रटाने पर क्यों तुल जाती है? भीतर-ही-भीतर खदबदाता रहा। यूँ देखते-देखते साल बीतने को था, तभी एक दिन अचानक रात 10 बजे नमूदार हो गया मुनीश और अपने हड़बड़ अंदाज़ में बताने लगा, ''वीना, ओ वीना, ये देखो क्या है?''

''ऐ क्या हो गया है तुम्हें? अरे! अरे...क्या कर रही हो? तुम जैसी पढ़ी-लिखी एडवांस लड़की के आँसू...''

''तो क्या पढ़ी-लिखी की भावनाएँ नहीं होतीं? सीने में दिल नहीं धड़कता?'' भावावेश में आवाज़ फट पड़ी लेकिन आँसू थे कि मुनीश के बाहर जाने की ख़बर सुनकर लगातार यूँ बह रहे थे गोया वर्षों बाद उन्हें बाहर निकलने का रास्ता मिला हो। कितने जतन से इन्हें वर्षों बाँधकर सहेजे रही, बावजूद इसके...। उस रात की पीली रोशनी की दीवारों से झरकर मन के भीतर जमा अँधेरों के साथ एकाकार हो गई थी।

क्योंकर इस जीवन पर कोई अख़्तियार नहीं रहता? हालात क्यों हमें नियतिवाद की तरफ़ धकेलते रहते हैं? हमारे चाहने न चाहने से कुछ भी नहीं बदलता। वक़्त अपने पैरों ख़ुद चलता है। न तो किसी के रोके रुकता है न किसी के हाँके हँकता। जो जो ज़िंदगी में होता चला गया, आँखें मूँदे स्वीकार करना विवशता बनती गई। अकेली लड़की किसके बूते ज़िंदगी का सफ़र तय करेगी? माँ-बाप के ब्रह्मास्त्र लगातार फेंके जाते। कुछ महीने तक तो मुनीश से संपर्क सधा रहा फिर उसके पत्र आने बंद हो गए। वह बार-बार शहर बदलता और तेज़ी से नौकरियाँ भी। हक़ीक़त का बैल उस वक़्त पैने सींग फैलाए मुँहबाए खड़ा था ज़िससे रू-ब-रू होना पड़ा।

यूँ शादी ससुराल से जुड़े भ्रमजाल से जल्दी ही बाहर निकल आई। क्या आया मेरे हिस्से? जासूसी करती आँखें और कठपुतली की मानिंद हिलते-डुलते पति जिनकी डोर उनकी माँ के हाथों रहती। ये कैसा घनचक्कर है? क्यों वो बेवजह हमें अलग-अलग रखने की चालें चलती रहती? क्यों वो जान-बूझकर सुहागरात की रस्म अदायगी में भी अड़ंगे लगाती रही? क्यों? आख़िर क्यों? बाई द वे क्या था उस गोल्डन नाइट में? सोचते ही वितृष्णा से होंठ टेढ़े होने लगते। पेट में उबले पानी जैसा खौलन और भाप बनने लगती।

''वीना, मेरे पापा जाने-माने साइंटिस्ट हैं लेकिन होमफ्रंट पर माँ की ही चलती है...उनकी हर बात मानना हमारा फ़र्ज़ है...'' वह बच्चों जैसे नर्सरी राइम्स को दुहराता रहा और मैं गरदन झुकाए सुनती रही। उफ़! परी लोक पहुँचाने वाले सपने कैसे भी साथ छोड़ने को तैयार नहीं थे। उन अनछुए प्रेम के लमहों में क्या था? कुरेदने की कोशिश करने लगी। शर्माना, झिझकना, दिल का धड़कना वग़ैरह देखा होगा? नहीं, नहीं, ऐसा कुछ भी तो नहीं था वहाँ। पति के चेहरे...हाव-भाव आँखों में भी ख़ुशियों के बादल छलाँग क्यों नहीं लगा रहे?

''वीना, ये तुम्हारे लिए है, माँ ने दी है...।''

उफ़! फिर वही माँ..., मन में आया इसी वक़्त

अँगूठी उतारकर फेंक दूँ मगर शिष्टतावश चुप साधे रही। लुटे-पिटे चेहरे वाला विनय दबे क़दमों अँधेरे का फ़ायदा उठाते हुए कब चुपके-से सर्र से बाहर निकल गया, पता ही नहीं चल पाया। लब्बोलुआब ये कि हमारी गोल्डन नाइट क्रमशः ब्लैक नाइट में तब्दील होती गई। हफ़्ते भर बाद लौट आई मायके। लस्त-पस्त यानी सूरत देखकर माँ तो सकते में आ गई मगर पापा का तकिया कलाम, "देखेंगे, बात करेंगे। धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा...।"

क्या वाक़ई कभी कुछ ठीक हो पाता है? कालपी से उरई फिर झाँसी, इलाहाबाद और अब इस दूरंदेशी पहाड़ी जगह की नौकरी। दिन भर पढ़ाती लेकिन शाम होते ही उचाट तन-मन लिए सूने आकाश को निहारा करती। इस दैत्याकार समय को भरने की कोई तरकीब नहीं सूझती। चारों तरफ़ पसरी पहाड़ियाँ, ताड़ के लंबे ऊँचे पेड़ोंवाले हरे-भरे माहौल में नीरवता का दुर्भेद्य क़िला भेद पाना दुश्वार लगता। जैसे घने अँधेरे में बजती पेड़ों की पत्तियाँ चुपचाप सिर नवाए मेरे खोए हुए वजूद को देख रही हों। रात की बोझिलता से हवा की साँसें घुटती हुई लगतीं। मेरे लिए दिन-रात एक ही मौसम रहता...वही उमस और वैसी ही घुटन हर वक़्त तारी रहती। धीरे-धीरे पति शब्द निरर्थक साबित होने लगा। कभी भ्रम होता जैसे गाड़ी थोड़ी-सी खिसकी है लेकिन जल्द ही आभास होता जैसे बग़ल से गुज़रती ट्रेन को देखते हुए हमें ठहरी ट्रेन के चलने का अहसास हुआ हो। न वो कभी यहाँ झाँकने आया, न कोई संदेशा वग़ैरह। न कोई फ़ोन, न चिट्ठी, न कोई हाल-चाल, फिर क्या है हमारे बीच? सवाल भटकती प्रेतात्मा की तरह पिछियाते रहते।

सास का तना चेहरा, झुर्रियों भरी देह की लटकती खाल और मिंची-मिंची-सी आँखों में लाख ढूँढ़ने पर भी मनुष्यता के चिह्न नहीं ढूँढ़ पाती। कुछ भी ऐसा नहीं था जो हमारे रिश्ते को नॉर्मल रख पाता। वे सब दरवाज़ा बंद करके क्यों रखते हैं? मुझसे ज़रूर कुछ-न-कुछ छिपाया जा रहा है। वे सब मुझे चोर निगाहों से क्यों देखने लगते और कुछ भी पूछने पर कन्नी काटने लगते। शायद वे सब शाम से ही पीने बैठ जाते। उस कमरे में क्या चल रहा है? कोई ठीक से बताने को तैयार नहीं था। मैंने उसे कभी हँसते हुए नहीं देखा। हाँ उस समय...शादी के तुरंत बाद होली पड़ी थी। मेरा मन उछाह से भर उठा था लेकिन ख़ुद के बूते कितना कुछ कर पाऊँगी? पड़ोस में भुनते खोए की ख़ुशबू सूँघकर.मेरा भी मन किया—चलो कुछ बनाया जाए। मगर उस अजीब से परिवार में सब कुछ रेडीमेड चलता था। रंग, गुलाल ओ़र लस्सी की याद आई तो सास से दबी ज़ुबान में कहा। उन्होंने सुनकर भी अनसुनी कर दी। दूर कहीं बजते मंजीरों की धुन सुनकर मेरे भीतर भी कई राग बजने को अकुलाने लगे। अब तक अपनी सारी इच्छाओं को चीन्हने से इनकार ही तो करती आई है वह, मगर क्या रहा हासिल? देह और मन को दबाते-दबाते ही उम्र निकल जाएगी...। नहीं, अब और नहीं। फिर से वही सब सोचती—आज विनय के सामने बाल खोलकर मैरून कलर की साड़ी पहनकर निकलूँगी तो वह ज़रूर मुझे देखकर प्यार की रागिनी छेड़ेगा और हमारे बीच प्यार के बीज फूटेंगे...मगर आज ये सब क्या अटपटा-सा देख लिया मैंने? कभी न हँसने वाले विनय को आज ज़ोर-ज़ोर से खिलखिलाते देखा, उसके इकलौते दोस्त के संग जो परफ़्यूम की बोतल उसके ऊपर उँड़ेलते हुए निहायत ही गंदे तरीक़े से उससे सट रहा था...आख़िर क्या था वह सब? तभी उसने पीछेवाले आईने से मुझे देखा तो सकपका गया...फिर अपने सहमे और पिटे चेहरे को छिपाते हुए बालकनी में चला गया था।

यक़ीनन वे सब दरवाज़ा बंद करके साथ-साथ पत्ते खेलते हुए पीते, हाँ वह अधेड़ माँ भी

जो बोतलें छिपाकर ले जाती। तो इस तरह मनाया गया वहाँ का त्योहार यानी मेरी पहली होली।

कुछ दिन और खिंचे, शायद लोक-लाज के नाम पर। नौकरी में अकेले पड़ते ही वही यक्ष सवाल घेरने लगता—इससे बँधे रहने की क्या तुक है? जिसकी जुबान प्रतिकार करने के लिए कभी न उठे, उसका साथ कितने दिन चलेगा? आख़िर क्या सोचकर शादी की इसने? शक की सूई चारों तरफ़ घूमती लेकिन नतीजा सिफ़र। जो भी हो, एक मौक़ा और सही। अचानक उस दिन शहर में दंगे शुरू हो गए और कर्फ़्यू तन गया। बैठे-बैठे ऐसा जी उचटा..., बेचैनी की ऐसी घुमेर उठी कि रात में ही चल पड़ी बैंगलोर पति के पास। अब आर-पार का फ़ैसला हो ही जाए, जो भी हो। आज नहीं तो कल निबटना तो पड़ेगा ही...यूँ कब तक कल को टाला जा सकता है? आवेश से भरी मैं बिना ख़बर किए चल पड़ी थी।

अचानक मुझे देखते ही घबरा गया वह और माँ को तुरंत फ़ोन मिलाने लगा। मैंने लपककर रोकना चाहा लेकिन उसने मेरी एक न सुनी। पत्नी होने का बार-बार हवाला दिया फिर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। शायद मेरे रोने-धोने पर वह थोड़ा-सा पिघला और हमारे बीच पहली बार पति-पत्नी के संबंध बने यानी ये नपुंसक नहीं हैं। फिर क्यों इतना दुराव? कहीं कुछ तो फाँस है...दिमाग़ के घोड़े कई दिशाओं में दौड़ाती रही। साफ़ लहजे में बात की मगर वह माँ का पल्लू किसी भी सूरत में छोड़ने को तैयार ही नहीं था।

‘‘आई कांट डिसाइड एनीथिंग। लेट हर कम।’’

‘‘क्यों बुलाया है उन्हें? ब्याहता बीवी हूँ तुम्हारी, इतना तो हक़ बनता है मेरा भी...’’

‘‘वो सब मैं नहीं जानता। तुम्हारे सवालों का मेरे पास कोई जवाब नहीं है...हम कैसे साथ-साथ रहेंगे? आगे क्या करना है, जैसी बातों को तुम उन्हीं के साथ डिस्कस करना।’’ उसके हड़बड़ाते चेहरे पर परेशानी के भाव रेंगने लगे लेकिन आवेश से भरी मेरी आवाज़ काँपने लगी थी, ‘‘फिर क्यों रहूँ तुम्हारे साथ? माँ के साथ ही रहो...’’

‘‘एज़ यू लाइक’’...फिर व तटस्थ मुद्रा में बोलने लगा, ‘‘तुम पढ़ी-लिखी हो, अपने पैरों पर खड़ी हो, सो ख़ुद अपने तरीक़े से फ़ैसला ले सकती हो। मैं तो फिलहाल इतना ही जानता हूँ...।’’

इसके पहले कि भीतर सुलगती आग से पूरा घर जलता, उसकी माँ ऐन मौक़े पर बमक पड़ी। खाने को लपकती लाल-लाल आँखों से उन्होंने मुझे घूरकर देखा फिर ग़ुर्राती आवाज़ में बोली, ‘‘तुम्हें वहाँ नौकरी से यूँ अचानक भाग आने को किसने कहा था? ऐसी क्या आफ़त आन पड़ी थी?’’

‘‘कुछ-कुछ ऐसा ही समझ लो। क्यों, क्या मेरा कोई हक़ नहीं इनके पास आने का? आख़िर हूँ तो ब्याहता पत्नी...’’

‘‘बकवास बंद करो, समझी? बड़ी आई समझानेवाली...हुँह..., न खाना बनाने का शऊर, न घर को ठीक ढंग से रखने की तमीज़, न किसी से बात करने का सलीका..., चली आई उजड्डों के घर से मुँह उठाए...हद कर दी तुमने तो...’’

मेरे भीतर दुबककर बैठी कमज़ोर स्त्री न जाने कहाँ गुम हो गई थी। पूरी बेशर्मी से जवाब दिया था मैंने, ‘‘मेरा मन नहीं लगता वहाँ, इनके बग़ैर...। प्रेम दर्शाने का ट्रंप कार्ड खेलने लगी मैं।’’

‘‘लेकिन ये तो बैंगलोर छोड़कर कहीं जा ही नहीं सकता...और तुम्हारा ट्रांसफ़र यहाँ हो नहीं सकता..., वहाँ तो यूँ भी आए दिन दंगे होते रहते हैं।’’ बड़े सँभलकर बोले जा रहे थे डायलॉग।

"तो मैं ही क्यों पड़ी रहूँ वहाँ अकेले? दंगे क्या मेरी जान को बख़्श देंगे? मुझे ऐसी नौकरी का कोई शौक़ नहीं।"

"लेकिन तुम नौकरी नहीं छोड़ सकतीं, वो सब मैं नहीं सुनना चाहती। दैट इज़ योर प्रॉब्लम...ये मेरा फ़ैसला है, बाक़ी तुम्हारी मर्ज़ी।" कहकर वे वहाँ से चलती बनीं।

ज़हरीले बोलों की सुलगती राख से पुत गया मेरा तन-मन। झपट्टा मारकर चोंच में बंद पंछी की तरह छटपटाने लगी मैं। वो ऐसा क्यों कर रही है? ये पति नामक जीव इतना दब्बू, कायर और घोंचू क्यों है? क्यों इसके दिलो-दिमाग़ पर माँ का ख़ौफ़ तारी रहता है? ज़रूर कोई गहरी साज़िश है, कोई राज़ है, सोचकर मैंने छानबीन शुरू कर दी। सबसे पहले मौक़ा पाकर पति के कमरे की तलाशी ली। हर चीज़ को ध्यान से देखने लगी। कमरे में जहाँ-तहाँ माँ के कपड़े बिखरे थे। बिस्तर पर गाउन, अलमारियों में साड़ियाँ और...और उस रोज़ अचानक कमरे में घुसने पर माँ के चहेरे पर बिछी हड़बड़ाहट...क्या था उसमें? भीतर बैठी छठी इंद्री काफ़ी कुछ चेताने लगी—कहीं इनके बीच...

अनायास सगाई के वक़्त का प्रसंग रिवाइंड होने लगा। मामा ने दबी ज़ुबान से चेताया था, "लड़के के बाप ने दूसरी शादी की है...ये लड़का पहली का है। सुना है बाप की कारगुज़ारियों के चलते पहली वाली घुटघुट कर मरी थी, कौन जाने मरी कि मार डाली गई।"

"वैसे लड़का तो ठीक है चाल-चलन में..."

"सोच लो।"

तब इतनी दूर तक क्यों नहीं सोच पाए थे वे लोग? कहीं मैं ही तो ग़लत दिशा में नहीं सोच रही? मैंने अपनी सोच को झटका लेकिन जासूस आँखों ने तेज़ी से अपना काम शुरू कर दिया था।

और फिर एक दिन..., मैंने वहाँ से वापस लौटने का प्रोग्राम बनाया लेकिन प्लान के मुताबिक़ उसी रात लौटकर जो मंज़र देखा फिर तो किसी से कहने-सुनने को कुछ रह नहीं गया था। मोमबत्ती की तरह सुलगता वजूद और आख़िरी छोर तक पहुँचते-पहुँचते लगा कि साबुत कुछ भी नहीं बचेगा। चट्टान की तरह अडिग पुरुष का कोई कुछ नहीं बिगाड़ पाता। खदकते शब्द बाहर आने के लिए अकुलाते मगर...कहीं कोई रास्ता नहीं मिला। धीरे-धीरे मौन एक बड़ा-सा वृत्त बनाता रहा। बाहरी लोगों के कुछ भी कहने-सुनने से क्या फ़र्क़ पड़ता? तो क्या मिस लांबे की तरह अकेले रहते-रहते ही मर-खप जाऊँगी किसी दिन। जितना सोचती, बदन से गर्म लपटें निकलने लगतीं। यहाँ रहने के दौरान किन-किन लोगों से वास्ता पड़ा, और एवज़ में उन्होंने क्या-क्या लेना चाहा? सोचते ही मादा होने का लिजलिजा अहसास कड़वापन घोलने लगता। जिस-तिस की सहानुभूति से चिढ़ होने लगती। सारे रिश्ते बेमानी लगने लगे थे। क्यों न इस जगह को छोड़कर कहीं और शिफ़्ट हुआ जाए? सोचकर मैंने ताबड़तोड़ ढंग से रिक्तियाँ देखनी शुरू कर दीं। फिर वही इंटरव्यू के दौर शुरू हो गए। अब सब कुछ नए ढंग से शुरू करना होगा...सो इस दिशा में तेज़ी से हाथ-पैर चलाना शुरू कर दिया।

"मुनीश, तुम यहाँ इस कॉलेज में! अचानक कहाँ से कैसे प्रगट हो गए भई?"

"और तुम! इंटरव्यू लेनेवालों में या..." उसकी आँखों में सम्मोहक हँसी चमकने लगी।

"देनेवालों में...यस। मगर तुम बताओ तुम किस आसमान से प्रकट हो गए?"

"सिर को ज़रा उलटी तरफ़ घुमा दो..., वो देखो सामने लगा बैनर..."

"ओहो, तो महाशय सेमीनार में आए हैं..." मैंने आँखें नचाते हुए कहा। एक अरसे बाद स्वतः स्फूर्त हँसी को खुलकर बाहर निकलने

का रास्ता मिला गोया वर्षों जकड़े ताले को किसी ने एक झटके में खोल दिया हो।

इतने दिनों की इकट्ठी बातों का एक सिरा छूटता तो दूसरा उसे झपटकर लपक लेता फिर दूसरे के हाथ से फिसलती बात को पहला अपनी मुट्ठी में दाब लेता। ये सिलसिला यूँ ही चलता कि अचानक प्रोफ़ेसर और विभागाध्यक्ष वहाँ से गुज़रे, ''अरे! डॉक्टर साहब! आप...यहाँ? हम कब से आपको ढूँढ़ रहे हैं?''

''आते हैं अभी, बस थोड़ी देर में...'' भारत अमेरिका और दक्षिणेशिया के अंतर्संबंधों पर केंद्रित संगोष्ठी में बतौर मुख्य वक्ता आमंत्रित थे मुनीश। बातों को विराम देते हुए वे उठ खड़े हुए फिर वीना की तरफ़ आँखें गड़ा-गड़ाकर देखते रहे, ''तुम ज़रा भी नहीं बदली वीनू! वही छरहरापन, जल्दी-जल्दी बातें करने की आदतें और हड़बड़ाहट! अभी मैं हूँ यहाँ हफ़्ते भर...मुझे अभी ख़ूब सारी पेट भर के बातें करनी हैं...तो हम यूँ ही मिलते रहेंगे...ठीक?''

उसके बाद तो सुबह-शाम मिलने के सिलसिले सचमुच शुरू हो गए। वे कभी गुज़रे दिन की पगडंडियों पर चहलक़दमी करते तो कभी विगत की पटरियों से उतरकर वर्तमान पर लौट आते। दोनों ही अपने जिए लमहों को फिर से ज़िंदा करने और बाँटने के लिए अकुला रहे थे। फड़फड़ाते शब्द ख़ुद-ब-ख़ुद उछाल लगाकर बाहर निकल पड़ते, ''कैसे गुज़रे ये 2-3 साल? वीनू..., एक बात मुझे परेशान कर रही है—तुम्हारे गले में सनातन बसनेवाली चहक की चिरैया न जाने कहाँ गुम हो गई?''

''मेरी छोड़ो, पहले तुम अपनी सुनाओ! पूरे चार साल हो रहे हैं तुम्हें वहाँ बसे हुए। सुना है बला की ख़ूबसूरत है तुम्हारी शरीकेहयात...''

''तुम्हारी सूचनाएँ भला कैसे ग़लत हो सकती हैं?'' सुनकर ऐसा लगा जैसे आवाज़ ने उसका साथ छोड़ दिया हो फिर वह बड़ी कठिनाई से थूक को भीतर ठेलते हुए उसकी आँखों में ताकता रहा। बात को गोल-गोल घुमाते हुए उसके चेहरे पर बदलते हाव-भाव को बड़े ध्यान से पढ़ती रही वह। पता नहीं क्या सोचकर भर आई आँखों को पोंछने के लिए वह झटके से उठी और झोले में रखी पानी की बोतल निकालकर हलक तक भर आए ज़हर को पानी के सहारे अंदर की तरफ़ धकेला परंतु लावा की तरह खदकती बेचैनी कम होने का नाम ही नहीं लेती थी। लगा जैसे धूप सीधे सिर पर पड़ रही हो और दूर-दूर तक कहीं कोई छाँह नहीं...सब तरफ़ घम-ही-घाम नज़र आने लगी। बोलने के लिए थरथराते होंठ काँप रहे थे, ''बोलो वीनू, बोलो न, कुछ तो बोलो।''

''शायद जो होना होता है, वही होता है...हमारे वश में कुछ भी नहीं होता...'' दुपट्टे से भीगी कोरें पोंछते हुए उसने चारों तरफ़ रेंगती धूप और जलते कूड़े के ढेर को देखा फिर भरे गले से बोली, ''मुनीश, सपनों के सहारे कहीं ज़िंदगी चलती है? तुम्हारे साथ भी तो देखे थे ख़्वाब...लेकिन हमारी मुट्ठी में कुछ नहीं आ पाया और कोरे शब्दों से ज़िंदगी का पेट भरता कहीं...?''

''यस, आई फ़ील गिलटी फ़ॉर दैट, मैं मानता हूँ मेरी ग़लती थी...वीनू क्या बताएँ? ज़िंदगी पूरी ताक़त से झपट्टा मारकर खींच लेती है और हम बेबस लहरों की तरह खारे समुंदर में डूबते चले जाते हैं...शायद तब तक इतनी देर हो चुकी होती है कि कहीं और जाने के रास्ते बचते नहीं, या हमें मिलते नहीं, तब ये दुनिया विकल्पहीन लगने लगती है लेकिन हमें फिर भी जीना पड़ता है, वरना क्या करें? कहाँ जाएँ? तुम सच कह रही हो, मेहा बला की ख़ूबसूरत स्त्री है, प्रतिभा की भी कमी नहीं, मगर भाग्य ने साथ नहीं दिया।''

वीना की प्रश्नातुर आँखें मुनीश पर टिकी थीं, ''क्या बात है? रुक क्यों गए?''

"पता नहीं कहाँ-कैसे गड़बड़ हुई हमारे बीच, मैं ख़ुद नहीं समझ पाया। ग़ैर मर्दों के साथ उसका खुला व्यवहार मैं क़तई नहीं झेल पाता। उसे सही बात के लिए रोके-टोके बग़ैर मुझे चैन नहीं पड़ता था लेकिन उसने कभी मेरी परवाह नहीं की बल्कि जिस बात के लिए मैं मना करता वह उतनी ही बेशर्मी से औरों के साथ अपना बिंदास सुलूक जारी रखती। धीरे-धीरे नौबत यहाँ तक आ गई कि मेरा कुछ भी कहना उसे अपनी आज़ादी में ख़लल लगता..., बेशक उसकी यही उन्मुक्तता शादी के पहले मुझे ज़बरदस्त तरीक़े से खींचती थी उसके पास, बाद में यही हमारे अलगाव की वजह भी बनी...।"

लगातार बोलते रहने से माथे पर बहता पसीना नाक के रास्ते होंठों तक पहुँचा और अपने खारेपन का अहसास कराने लगा...थोड़ा रुककर फिर से बोलने लगा, "हाँ वीना, पिछले साल ही वह हमें छोड़कर किसी साउथ इंडियन के साथ रहने लगी। यू नो वहाँ ये सब बातें बड़ी कॉमन हैं। हमारी एक प्यारी-सी बेटी भी है—'सारा', उसी के पास..."

"ओफ़! पता नहीं कैसे-कैसे तमाशे दिखाती है ज़िंदगी भी..."

"वीना, हमारे चाहने न चाहने से ज़िंदगी की धुरी तो नहीं बदलती। ये जो बला की ख़ूबसूरती है, कभी-कभी ये भी जान लेवा साबित होती है। इस वक़्त तो तुम मुझे बेहतर फ़ॉर्म में देख रही हो वरना मैं महीनों डिप्रेशन का मरीज़ रहा। चौबीसों घंटे मेहा की दुश्चरित्रता का प्रेत ख़ौफ़ पैदा करता, पिछियाता रहता। तब मुझे हर औरत घटिया, नीच, बाज़ारू, कमीनी और मतलबी लगती थी। सच वीना, अपराधी हूँ तेरा...तभी तो ये सब भुगतना पड़ रहा है...भटक रहा हूँ तभी से...मृगमरीचिका की तरह..."

कैंपस के पीछे फैलते कानफोड़ संगीत से बेख़बर हरे-भरे पार्क में बैठे वे दोनों अपने-अपने अतीत की गर्दिशों को झाड़ने में तल्लीन थे। ऊपर बैठी धूल झड़ती ज़रूर थी मगर गहरे धँसे काँटे बाहर नहीं निकल पा रहे थे। थोड़ी देर के मौन के बाद पस्त आवाज़ में मुनीश ने वीना को टटोलना चाहा, "यार, कुछ बोलती क्यों नहीं? तुम भी तो कुछ बताओ, क्या-क्या गुज़रता रहा तुम्हारी ज़िंदगी के आसपास..."

"शायद हम सबकी यही कहानी है। हम जैसा चाहते हैं, ज़िंदगी वो देती नहीं। जैसे जीने के ख़्वाब देखते हैं वह इस या उस वजह से लगातार स्थगित होते रहते हैं फिर हम कुछ नहीं कर पाते। बार-बार सोचती हूँ...आख़िर हम क्यों जिएँ? किसके लिए जिएँ? जीने की कोई तो वजह हो...।" आवेश में बोलने के बाद उसने चुप्पी की चादर खींच ली। वातावरण में मौन पसरा रहा...।

"ए मैडम..., कहाँ खो गईं? लौट आओ..., लौट आओ..." चुटकी बजाते हुए मुनीश ने वीना की चोटी खींची तो वह ऊपर देखते हुए रुक-रुककर ऐसे बोलने लगी गोया क्लास के बच्चों को लेसन समझा रही हो, "मुनीश वक़्त बस एक या दो बार ही हमारा दरवाज़ा खटखटाने आता है। यदि उस वक़्त किसी वजह से अनसुनी कर दी तो फिर कभी मौक़ा नहीं देती ज़िंदगी और फिर कभी कोई हमें बुलाने नहीं आता। हम लाख चीख़ें-चिल्लाएँ, चाहे कितनी ताक़त से दरवाज़ा पीटें लेकिन कोई भी हमारी पुकार नहीं सुनता।" बोलते-बोलते उसने आँखें मींच लीं और पलकों के भीतर अँधेरे में फिर वही बोझिल चट्टानें गिरने लगीं—तलाक...तलाक...तलाक... बस यही हक़ीक़त ध्रुवतारे की तरह अटल सच्चाई का अहसास कराने लगती। हाँ वीना..., अब तुम आज़ाद हो..., ख़ाली हो...ख़ाली..., आज़ाद..., फ्री वर्ड..., जो चाहो करो..., जैसे चाहो जियो...घूमो-फिरो...आज़ाद पंछी की तरह डाल-डाल बैठकर ज़िंदगी का लुत्फ़ उठाओ। अचानक लगा जैसे कान के रास्ते सब कुछ बाहर भरभराकर निकल जाएगा—वही चिंघाड़ती आवाज़ें कान के ज़रिए बाहर फिंकने लगी हों।

“वीना..., ओ वीना..., प्लीज़ कंट्रोल योर-सेल्फ़...प्लीज़ कम आउट ऑफ़ इट...आँखें मींचे क्या-क्या बड़बड़ाए जा रही हो..., क्या हो गया है?”

मुनीश के झिंझोड़ने पर चेतना लौटी और सचेतन निगाहों से चारों तरफ़ घिरते अँधेरों से मिलाई...फिर बोली, “चलो चलते हैं...”

“वीना..., क्यों इतना सोचती हो..., ज़िंदगी सोचने से नहीं बल्कि जीने से आगे बढ़ती है। तुम्हारे लिए आज भी मेरा दरवाज़ा खुला है... आई एम सीरियस वीना..., हो सके तो तुम...” बोलते-बोलते वह आशा-निराशा के भँवर में डूबने-उतराने लगा।

जाने क्यों उसे लगा जैसे उसे कुछ भी सुनाई नहीं दिया। काश कि यही बात कुछ साल पहले कही होती। अब कुछ नहीं बचा मेरे भीतर। अपने ही टुकड़ों को बेवजह यहाँ-वहाँ छितराकर जब ख़ुद के पास लौटती हूँ तो ख़ालीपन का हौलनाक समाँ मुझे अपनी जद में ले लेता है और मैं चैन से नहीं जी पाती। मुनीश की आवाज़ धीरे-धीरे सुनाई पड़ी, “वीना, जब भी मौक़ा मिले और ज़िंदगी में जितने रंग भर सकती हो, जीवन को नया अर्थ दो, नया स्पेस दो और ख़ुद को नई ऊर्जा से भर लो...गुड थिंग्स आर नेवर लेट।” शब्द-दर-शब्द आहिस्ते से जमाकर बोला गया जिसे सुनकर लगा जैसे शहद की एक-एक बूँद उसके अंतस को भिगोती जा रही है मगर अफ़सोस कि उसे पता ही नहीं कि वे बूँदें हैं कहाँ? हॉस्टल में रहती लड़कियों की बचकानी बातें सुनकर भीतर से वितृष्णा क्यों होने लगती? क्यों ऐसा लगता कि कुछ भी नया रचने की सामर्थ्य नहीं रही, मगर मुनीश की आवाज़ भीतर तक जा रही है—बेरोक-टोक चलती हवा की तरह—“कांट यू गिव मी एनदर चांस?” फड़फड़ाता प्रस्ताव हवा में ही लहराता रह गया। सच कहूँ तो भीतर के कुएँ में सब सूख गया और बाहर का सब उजड़ गया, यहाँ तक कि जिजीविषा भी। तुम्हारे साथ घूमते हुए लंबी-लंबी बातें करना मेरे सूखे स्रोतों को थोड़ी देर के लिए भरता ज़रूर है मगर...। कितना कुछ चाहकर भी नहीं कह पाई वह।

अकेली स्त्री जब नौकरी करते हुए स्वतंत्र ढंग से रहना शुरू करे तो पुरुषों का कैसा सुलूक रहता है? अनायास एक-एक घटना की पुर्चियाँ खुलने लगीं। उस राजकिरण से इनकम टैक्स दफ़्तर में मुलाक़ात हुई थी फिर क्या हुआ? वह गाहे-ब-गाहे फ़ोन करने लगा। एक दिन घर भी आ धमका और फिर बार-बार आने का सिलसिला। कुछ दिनों तो वह सहती रही फिर स्ट्रांग स्टेप लेना पड़ा। इसी तरह हमारी कलीग कामना दत्ता के पतिदेव भी महीनों पीछे-पीछे चक्कर काटते रहे..., तंग आकर उनकी पत्नी से शिकायत करनी पड़ी। हुँह! सबके सब लार टपकाने वाले...पुरुष जाति ही शायद ऐसी है...अहमक, मतलबपरस्त और दुहरें मानदंडों में जीनेवाली। सामंती व्यवस्था के इन पालनहारों के बारे में मैं कहाँ तक सोचूँ? इतने कड़वे अनुभवों से गुज़र चुकी हूँ कि “प्रेम” शब्द से यक़ीन उठ गया है। नहीं...नहीं प्रेम-व्रेम कुछ नहीं होता..., बस ख़ुद को किसी बेवजह के भ्रम में झोंक देना है कोहरे पार की धुंध भर है ये अहसास...ऐसा धुआँ जो आँखें मींचने पर मजबूर कर दे मगर हमारी गिरफ़्त में कभी न आ पाए।

“अच्छा मुनीश, कब जाना है तुम्हें?” भीतर की ऊहापोह को दबाकर मौन भंग करते हुए धीरे-से बोली।

“तुम जैसा कहो। यू भी मेरा वहाँ कौन बैठा है, जो मेरी राह देखता हो...”

“आज मैं ख़ुद से पूछूँगी और यदि मुक़म्मल जवाब मिला तो मिलूँगी। जल्द ही बताऊँगी तुम्हें। यू नो, यू आर माई बेस्ट फ्रेंड। यू अंडरस्टैंड मी बेटर...सोचती हूँ पहले अपनी इस टूटन और अस्थिरता को दुरुस्त कर लूँ फिर देखते हैं, आगे-आगे होता है क्या? नया साँचा गढ़ने लायक़

ऊर्जा जुटा तो लूँ अपने भीतर...।'' इधर-उधर से लौटते पंछियों की किचपिच से बेख़बर मुनीश अस्ताचल के बदलते रंग भरे बादलों की बनती-बिगड़ती आकृतियों की तरफ़ देखता रहा। टेढ़ी पगडंडी के मोड़ तक दोनों चुपचाप चलते रहे। धीरे-धीरे आसमान फीके और मटमैले रंगों से भर गया।

वक़्त बहती हवा की शक्ल में अपने होने का अहसास जब तब कराता रहता। छत पर बिछी चाँदनी, हिलते पेड़, मंदिर की बजती घंटियाँ, कीड़ों की घुरघुराहट, जलते पत्तों का धुआँ और पड़ोस के लड़ते-झगड़ते बच्चों की आवाज़ें भीतर के सूनेपन के साथ क़दमताल करने लगीं। आज मुनीश से बातें करके सुकून मिला। कुछ दिनों से मुनीश के कितने अक्स मेरे भीतर नित नए आकार लेने लगते। अब देखो न! वह मुझे बिना बताए फुर्र से उड़ गया फिलाडेल्फिया। उसकी यह पुरानी आदत थी—जो भी उसके मन मुताबिक़ न हो तो वह बिना सफ़ाई माँगे अपने तयशुदा रास्ते पर कूच कर जाता। ख़ुद से जूझती रही मैं, मगर किसी नतीज़े पर नहीं पहुँच पाई और बिना रिस्पांस सुने वह चलता बना।

धीरे-धीरे मेरे इर्द-गिर्द धुएँ की गाढ़ी परत बनने लगी। अँधेरों से भरी रात में घंटों ख़ुद की तलाश करती लेकिन ठूँठ की तरह बेढंगी ज़िंदगी ही मेरे हिस्से आती जिसे मुनीश फ़ोन पर लंबी बातें करते हुए चुटकियों में ग़ायब कर देता और फिर सोए सपने जग जाते। कितनी विचित्र, कितनी रहस्यमय और कितनी जटिल पहेली है प्रेम। कभी लगता—इसकी कौंध के सामने सूरज की रोशनी भी फीकी पड़ जाए। एक साथ कितने फूलों की महक मेरे अंतस में जज़्ब नहीं हो पाती और मेरे भीतर का रेगिस्तान अचानक हुई बारिश से लबालब भर जाता। मुनीश की तरंगित बातें सुनकर मेरे भीतर नए-नए पंख उगने लगते और मैं निर्बंध उड़ान भरने लगती। कितना अनू और कितना विरल सुख है ये!

''आंटी, आप मेरा होम वर्क करा देंगी?''

''ऑफ़कोर्स! तुरंत लाओ। अभी यूँ चुटकियों में कराती हूँ।'' मेरी आवाज़ में उल्लास फूट पड़ता।

घर के सामने रहते दिबू के साथ ख़ूब सारा वक़्त बिताने में इन दिनों मज़ा आने लगा। मैं उसे ख़ुशी-ख़ुशी अकसर पढ़ाने लगती। जब भी वह ख़ाली होता, लपककर मेरे पास चला आता फिर हम दोनों मिलकर ख़ूब खेलते। कभी कैरम तो कभी ताश या पतंग उड़ाते और मस्ती करते। उसके साथ कभी-कभी दो-चार दोस्त भी आते फिर हम सब मिलकर साथ-साथ खाते-पीते। उससे बातें करके मेरे भीतर स्नेह का नया सोता पनपने लगता। क्या इतना प्रेम पहले से था मेरे भीतर? मैं ख़ुद के भीतर हो रहे बदलाव पर विस्मय विमुग्ध हो उठी। इस दिबू में ऐसा क्या था कि मैं सब छोड़-छाड़ कर उसकी एक टेर पर उसके पास दौड़ जाती। उसकी भोली सूरत देखकर मेरी सारी पस्ती थकान और विषाद धुल-पुँछ जाता। आज वह मिट्टी का गुल्लक दिखाने लगा, ''आंटी मैं रोज़ इसमें एक-एक सिक्का डालूँगा फिर एक दिन जब यह भर जाएगा तो कितने सारे पैसे होंगे न मेरे पास...इतने सारे...'' वह अपनी बाँहें फैलाकर बताने लगा।

मुनीश के ख़यालों में खोई मेरे भीतर एक और सोच आकार ले रही थी। प्रेम की गुल्लक भी तो ऐसी ही होती है। जब भी एक्स्ट्रा पैसे हों, डालते जाइए। विचित्र विडंबना है कि गुल्लक तोड़ने पर कुछ ख़ास हासिल नहीं होता मगर ये जो अहसास है न, यही तो बेशक़ीमती हैं और यही अहसास ज़िंदा रखता है कि एक गुल्लक है तो हमारे पास, वक़्त-बेवक़्त की मुसीबत से भिड़ने के लिए। इसे यूँ ही खनकाते रहें... ऐसे ही ख़ूबसूरत भ्रमों से कटती है ज़िंदगी। इसे तोड़ना यानी अपने सपनों की मौत ख़ुद की मौत।

"आप क्या सोचने लगीं आंटी?" बच्चे ने मेरा मुँह अपनी तरफ़ खींचा फिर बोला, "चलो, छत पर पतंग उड़ाएँगे...और बॉल भी खेलेंगे।"

कभी वह पंतग की डोर पकड़ती तो कभी छोड़ देती और फिर वापस खींच लेती। ज़िंदगी का खेल भी तो ऐसा ही है। ये क्या होता जा रहा है मुझे? हर खेल में ज़िंदगी का मर्म बूझने बैठ जाती हूँ। चाहे-अनचाहे अंतस में मुनीश के बोल जब-तब बजने लगते। रात को रोज़ घंटों बातें फ़ोन पर करता, "अपने को कभी मत आँको...तुम्हें वक़्त ने तोड़ा ज़रूर है मगर समझ-दारी भी बख़्शी है। यू नो, हर झटका हमें नई सीख देता है। हर समस्या को एक चुनौती की तरह लो और उसी ढंग से वेलकम करो जैसे अनचाहे मेहमानों का करती हो। प्लीज़ अंडरस्टैंड माई प्वाइंट..., आई वांट योर प्लेज़र, योर हैप्पीनेस एंड योर रिप्लाई ऑलसो। लिसिन, आई एम वेटिंग फ़ॉर यू..यू...एंड ओनली यू...। सुन रही हो न?"

सुनते-सुनते भरभराकर रो पड़ी थी वह। फिर मुनीश ने यूँ हँसाया कि कपूर की तरह हल्की हो उठी थी। ये देखो, मुनीश की बातों से कमरे का हर कोना राग की सुनहरी आभा से जगमगाने लगा। भीतर से कोई पुरानी धुन होठों के रास्ते फूट पड़ी। जहाँ हर पल चौंकते, डरते, सहमते और सोचते हुए काटती थी, आज वही रात सपनों से गमक रही थी, "ओकें, वीना, हम अच्छे दोस्त हैं सो एक-दूसरे का सहारा बनेंगे। हम साथ-साथ हैं... है न?" फिर वे देर तक हँसते हुए मीठे-मीठे सपने देखते रहे।

ठंड के बावजूद मैंने फुर्ती से बत्तख की तरह फुदकते हुए अपने लिए चाय बनाई और खिड़की से स्कूल जाते बच्चों को देखती रही। दिबू का एडमिशन किसी अच्छे स्कूल में कराऊँगी, उसे एक नई ज़िंदगी दूँगी। उसकी अकेली विधवा माँ बेचारी कैसे क्या कर पाएगी चार-चार बच्चों का? सोचते हुए उसने हल्का महसूस किया जैसे तेज़ चलती हवाओं ने भीतरी उमस को पलभर में छूमंतर कर दिया हो लेकिन अचानक जैसे नाटक शुरू होने के पहले ही मंच भचाक से टूट गया हो।

"नहीं-नहीं...ऐसा नहीं हो सकता...ओ गॉड!" एक भयानक चीख़ उसके गले से निकली और दिशाएँ दहल उठीं। लगा जैसे रेत भरे समुंदर में चारों तरफ़ से उठती तूफ़ानी लहरें वेग से चली आ रही हों और ज़मीन से आकाश तक चारों तरफ़ काला धुआँ, रेत और कीचड़ फैल गया हो। तूफ़ान में घिरी बदहवास बीना के क़दम क्यों आगे नहीं बढ़ पा रहे बल्कि एक ही जगह खड़े होकर जैसे ही वह आगे क़दम बढ़ाती तो पैर ज़मीन में धँसने लगते। उसे सब तरफ़ ख़ून-ही-ख़ून क्यों दिखाई पड़ रहा है? यह सब कैसे हो सकता है? अभी रात में ही तो घंटे भर बात हुई थी लेकिन आज किसी ने जैसे उसे भट्ठी में झोंक दिया हो, "एक्यूट डिप्रेशन से जूझ रहा था वह...सुबह उसने आत्महत्या...ही इज़ नो मोर..." तपते बोलों की आँच को वह कैसे भी बर्दाश्त नहीं कर पा रही थी।

"वीनू, हम मिलकर इस जीवन का प्रयोजन ढूँढ़ेंगे और बचे-खुचे जीवन को एक नया अर्थ देंगे। यस, वी कैन डू इट..., सुनो, हमारे साझे जीवन का एक मकसद होगा। हम इसमें नए रंग भरेंगे और नया विस्तार देंगे...तुम ख़ूब सपने देखना। हम उन्हें साकार करेंगे।"

उसे लगा जैसे पतंग के मंझे से उसके दोनों हाथ लहूलुहान हो गए हों। देखो, देखो...आकाश में टूटी हमारी पतंग किस क़ब्रिस्तान की तरफ़ जा रही है? हमारी पकड़ से बाहर कहाँ भागी जा रही है? वह कैसे भी रोक नहीं पा रही। उसके टूटे वजूद को...वो देखो...ध्यान से देखो..., मुनीश जा रहा है...रोको उसे पकड़ो उसे...पूरी ताक़त से पकड़ लो...जाने न दो..., अरे...कोई है? लेकिन कोहरे से भरी उस सुबह में धुआँ और धुंध के सिवाय उसे कुछ भी नहीं सूझ रहा था। अचानक लगा जैसे ये कोहरा नहीं, बल्कि समूचा आसमान ज़मीन पर औंधा पड़ा था।

श्यामल बिहारी महतो

समर्पण

शाम ढलने के साथ ही गाँव में ढिंढोरा-सा पिट गया, "जगन करमी को बिहा कर ले आया रजरप्पा मंदिर में।"

सुनकर जगन की माँ को गहरा धक्का लगा, जिसका डर था वही हुआ, घर के बाहर मोढ़े पर बैठकर वह सोचने लगी थी कि पता नहीं अब मेरी बेटी का क्या होगा, मैनवा के ससुराल वाले अब यहाँ रिश्ता करेंगे या नहीं...इसके पहले कहीं गाँव वाले ही हुक्का-पानी न बंद कर दें। और वह दोनों हथेलियों से चेहरा ढाँपे उठी और घर के अंदर चली गई थी।

मैनवा का रिश्ता पिछले तीन साल से परसा टाँड़ के रामजतन के यहाँ लगा हुआ था, लड़का तब मैट्रिक में पढ़ रहा था, घर में खाने-पीने की कोई कमी नहीं थी, रामजतन गाँव का एक जाना-माना किसान था, उसने दबे स्वर में एक बार जगन से कहा था, "गणेश मेटरीक पास कर गया है, आगे भी पढ़ेगा तो बेकार ही बैठा रहेगा, शादी-वादी हो जाती तो घर के काम-काज में लग जाता—मेरी चिंता भी ख़त्म हो जाती।"

जगन लोकल सेल में दंगल सरदार था, हर दिन डेढ़-दो सौ तक कमा लेता था, पर इतना भी नहीं कमाता था कि बहन की शादी में बहुत कुछ ख़र्चा कर सके, सो उसने इसे समझते हुए भी नहीं समझने का उपक्रम किया था, बीस-पच्चीस हज़ार और एक साइकिल से अधिक वह नहीं बढ़ना चाहता था, रामजतन से उसने यह कहलवा भी लिया था, अब कहीं करमी का बहाना लेकर ही यह संबंध रामजतन न तोड़ दे, शांति देवी चिंता के सागर में डूबती चली गई थी। बियारी-पानी का समय था और चाँद आसमान पर आ बैठा था, लेकिन जगन के घर में मुर्दा पड़ा हो जैसा माहौल था, मैनवा चूल्हा के सामने गुमसुम बैठी थी, अधन का पानी खौल रहा था—वहीं माँ शांति देवी आँगन में खाट पर बैठी चिलम को अपने मुँह से अलग नहीं कर पा रही थी, तभी करमी को साथ लिए जगन ने आँगन में क़दम रखा था, उसके इशारे पर शांति देवी से आशीर्वाद लेने के लिए जैसे ही करमी आगे बढ़ी वह हड़बड़ाकर उठकर खड़ी हो गई और आशीर्वाद के लिए उठा उसका हाथ करमी के सर तक पहुँचने के पहले ठिठककर रुक गया था जैसे कोई छुतहर हाँडी पर हाथ पड़ते-पड़ते बच गया हो, हाँ बेटे को

श्यामल बिहारी महतो के लेख समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं।
संपर्क : तारमी कोलियरी,
बोकारो-403202 (झारखंड)

कहने से नहीं चूकी थी वह, ''आख़िर वही किया न जो तू चाहता था।'' हताशा और निराशा में डूबे माँ के स्वर ने पल भर के लिए ही सही, जगन को भी हतप्रभ कर दिया था। बड़ी हिम्मत कर उसने माँ के सामने आकर कहा था, ''माँ हमने शादी कर ली है, अब यह हमारे साथ यहीं रहेगी, इसके सिवाय हमारे सामने कोई रास्ता नहीं था। लाचार माँ और लाचार हो उठी थी, उसके मन की चिंता फटी चादर की तरह और फैल गई थी।

आख़िर जगन करमी को बिहाकर घर लाने में सफल तो हो गया था, लेकिन यह सफलता तब तक अधूरी मानी जाएगी जब तक शांति देवी करमी को घर की बहू और वह मैनवा की शादी न करा लेता है, और ये दोनों ही काम जगन के लिए जगत जीतने के समान था। शांति देवी अपनी जाति, संस्कार नहीं छोड़ सकती यह बात पूरा गाँव अच्छी तरह जानता था, और जगन करमी को नहीं छोड़ सकता यह सिर्फ़ जगन ही जानता था, मतलब कि जगन का घर-घराना जोरू-जात को लेकर जंजाल-सा बनता नज़र आ रहा था। कई दिनों तक किसी ने किसी से कुछ नहीं कहा, सब अपने मन की करते रहे, रात होते ही घर में एक बीहड़-सा दृश्य जैसा माहौल होता, सुबह जगन करमी को साथ लेकर लोकल सेल में काम करने निकल जाता, जहाँ काम करते हुए समय-समाज को भूलने की कोशिश करता, परंतु घर में रात को तारे भी ताने मारने-सा उसे प्रतीत होता, मतलब कि हर रात का एक-सा क्रम—खाना खाओ और अपने-अपने खोल में समा जाओ।

हंडिसार में करमी का आना वर्जित था, जगन ही करमी और अपना खाना अपने कमरे में ले आता, फिर दोनों साथ बैठकर खाते और ख़ुश होने का स्वांग रचते, जगन जो प्यार और परिवार के बीच दबकर हँसना भूल गया था उस रात किसी बात पर करमी के सामने हँस रहा था, माँ उधर से गुज़र रही थी, रुककर बोली, ''बेटा, तुमने ऐसा कोई बहुत अच्छा काम नहीं किया है जिस पर इतना ख़ुश हुआ जाए, आनेवाला कल रोनेवाला दिन होगा।''

लगा शांति देवी के अंदर का लावा फूटकर बह निकला हो, उसने आगे कहा था, ''करमी को लाकर समझ लिया किस्मत बदल ली—अपने जीवन में काँटे बो लिए हो काँटे।'' उस दिन जगन इस क़दर उदास हो गया था कि सारी रात ठीक से सो नहीं सका था, बार-बार माँ का चेहरा सामने आ खड़ा हो जाता, कहीं-न-कहीं से वह भी डरा हुआ महसूस करने लगा था, फिर समाज और समय के चक्र को भला कौन रोक सकता है, वह दिन भी आ गया जब महीना दिन बाद ही ''नेग'' का चावल और थाली लौटा दिया था...रामजतन ने यह कहते हुए, ''मोदीन के घर में समधियाना हम नहीं जोड़ सकते हैं।''

यह संदेशा मिलते ही घर में प्रलय-सा छा गया था, एक बार फिर जगन और करमी की शादी और करमी की कोख में पल रहे उन दोनों के प्रेम की निशानी के चर्चे पूरे गाँव में ''इन दोनों ने ले डूबा मैनवा की शादी को...'' की तर्ज पर गाना गाने लगे।

''अब अगली ख़बर होगी गाँव से हुक़्क़ा-पानी बंद होने की।'' कुछ ने क़यास लगाना शुरू कर दिया था।

हताश होकर उस दिन लोकल सेल में ट्रक लोड कर लौटा था जगन, माँ ने व्यथित नज़रों से उसे देखते हुए कहा था, ''लो भुगतो अब, इसके पहले हो सके तो कहीं से मेरे लिए थोड़ा-सा जहर ला दो...।''

''माँ अ अ...।'' जगन चीख़ पड़ा था।

''जगन...दौड़ो मैनवा दिरखा में रखा फूलीडोन पी गई।'' अंदर से करमी चीख़ी थी।

''यदि तत्काल खटिया से खटमल ढूँढ़कर मैनवा को सुँघाया नहीं जाता, उसे उल्टी नहीं

कराई जाती तो इसको बचा पाना हमारे लिए मुश्किल था।'' इलाज करने आए डॉ. बानेश्वर ने दो सौ का नोट अपने पॉकेट में डालते हुए कहा था, बेहोश होने के पहले इलाज हो जाने से एक बड़े संकट से जगन बच गया था। लेकिन ऐसे झमेलों से वह कब तक बच सकेगा? हालात ने जगन को हतप्रभ कर दिया था या करमी को हासिल करने की हड़बड़ी दिखाई उसने, आज सचमुच समझ नहीं पा रहा था। उसे वह दिन याद है जब करमी से पहली बार मिला था—लोकल सेल डिपो में, जब करमी अपने भाई जहरू के साथ लोकल सेल डिपो में आई थी ट्रकों में कोयला लोड करने के लिए। साँवली रंग की उसकी लचक-सी देह देखकर ही जगन बौरा-सा गया था, फिर तो करमी को अपने-अपने दंगल में रखने के वास्ते कई दिनों तक दंगल सरदारों के बीच एक होड़-सी मची रही, पर अंत में कामयाबी जगन को मिली थी। पहले जगन ने न तो कभी झोड़ा ढोया था न ही कभी झोड़ा भरने में हाथ किसी का बँटाता था, परंतु अब वह झोड़ा भरता और करमी उसे ढोती थी। वह इस उपक्रम में हमेशा लगा नज़र आता कि करमी ज़्यादा-से-ज़्यादा समय उसके साथ रहे, उसकी चीते-सी आँखें सदैव करमी की निगरानी करती रहतीं, उसके ख़ातिर अब वह किसी से भी लड़ सकता था—गणपत दा तक से भी, लोकल सेल डिपो की हर ख़बर उन तक पहुँचती रहती थी। दबे-कुचले लोगों के स्वर के प्रतीक गणपत दा की इच्छा के विरुद्ध इस सेल डिपो में पत्ता तक नहीं हिल पाता था, वहाँ करमी और उसके भाई को अपने दंगल में रखकर जगन ने जैसे गुनाह कर दिया था, हाज़िर होने के बाद गणपत दा के सामने जगन ने कहा था, ''दादा, दोनों भाई-बहन को हमने अपने दंगल में रखा है, आपका छोटा भाई हूँ, कोई दादागिरी नहीं की हमने।''

''दंगल में रख लिया—ठीक है, दिल में रख लेना।'' हँसकर दादा ने माफ़ कर दिया था। उधर करमी की गठीली देह ने जगन की को जगा दिया था, उसकी आँखों के सामने का यौवन पके आम की तरह था, पर खाने के नाम पर अभी सिर्फ़ उसके आकार-प्रकार से ही ख़ुश होना पड़ रहा था उसे, करमी उसके समीप आते-आते रुक जाती तो इसके पीछे जवान हो रही उसकी दो और बहनें थीं, सुगनी और मुंदरी बारह और चौदह साल की। माँ के मरने के बाद करमी ही उन दोनों की माँ थी, सो जगन के प्रेम की भाषा को करमी ने समझते हुए भी नहीं समझने का मन बना रखा था हालाँकि जगन का प्यार तो चाहती थी पर पास आने से वह डरती थी, जगन को उसने यह संकेत दिया था, ''इंतज़ार के बाद आदमी को जो फल मिलता है वह ज़्यादा मीठा होता है।'' जगन के साथ बहन की बहकी-बहकी बातें सुन कभी जहरू भी ज़हर उगलने-सा बोलता, ''दीदी, जगन के साथ तुम्हारा मेल-जोल हमें अच्छा नहीं लगता-बहनोई को ख़बर होगी तो—उसे भी बुरा लगेगा।'' और तब करमी जैसे झुलस-सी जाती थी, इसके बावजूद करमी जगन के और क़रीब ख़ुद को पाने लगी थी, इतना क़रीब कि एक दिन जब तरवा देवी ने उसके सामने यह प्रस्ताव रखा, ''झोड़ा ढो-ढोकर क्यों अपनी जवानी को गला रही हो, चलो हमारे साथ मौज करो, यहाँ से दोगुना पैसा बिना खटे ही मिलेगा।'' तरवा देवी औरतों की मेट थी, उसका अपना ही दंगल था, जिसमें सिर्फ़ औरतें थीं मोदीन-महराईन-मंझियाईन। तरवा देवी ख़ुद महतवाईन थी, वे लोग बाहर से आनेवाले ट्रकों में कोयला कम लोड करती और ट्रक चालकों के सामने ख़ुद को ज़्यादा परोसती थीं, तरवा देवी ने पैसा भी ख़ूब कमाया और बोनस में अपने नपुंसक पति को तीन-चार बच्चों का बाप भी बना दिया, इसी लोकल सेल में झोड़ा ढोते ढोते। जवाब में करमी

ने कहा था, ''मानती हूँ उधर, ख़ूब पैसा मिलेगा वह भी बिना झोड़ा ढोए, पर प्रेम तो मुझे यहीं मिलेगा—काम करते हुए।''

जगन के प्रेम के साए में करमी ने दो साल तक लोकल सेल में झोड़ा ढोने का काम किया, और बहनों के वर ढूँढ़ने की टोह में भी लगी रही, मेहनत कभी निष्फल नहीं जाती। कहते हैं लोग, सो दोनों बहनों की शादी कर जब राहत की साँस ली उसने तो, उसके बूढ़े बाप की आँखें झरने की तरह बह निकली थीं, अब करमी का जगन करन होना बाक़ी था, पति का आना भी तय-सा था, करमी कोई भी क़दम उठाने के पहले पूरी तरह समझ-बूझ लेना चाहती थी, उसे इस बात का अहसास था कि वह मोदीन है—महतवाईन नहीं, और उसे उसी गाँव में रहना था, जहाँ जात-पाँत को ख़ासा महत्त्व दिया जाता था और महत्त्वहीन होकर जीना कभी भाया नहीं था उसे, घर में ज़रूरत की चीज़ों का हमेशा अभाव रहता पर उसे कभी अखरता नहीं, हाँ तिनका-तिनका जोड़ने का सदैव उपक्रम करती रहती थी, उसका बाप गुडा मोदी गाँव भर के मवेशियों का चरवाहा था, चरवाही से ही उसका घर-परिवार चलता था, इस काम में उसकी माँ भी बाप की मदद करती थी, करमी जब तेरह-चौदह साल की थी तभी उसकी शादी खड़हर मोदी के साथ कर दी गई थी, परंतु पति कभी उसे अपने घर नहीं ले गया, उलटे वही कहीं खटने-कमाने के लिए बाहर निकल गया था। इसी बीच एक दिन जंगल में साँप के डसने से करमी की माँ की मौत हो गई, फिर तो वह नैहर की होकर रह गई थी। अब भाई-बहनों की बहन और माँ वही थी।

उन्हीं दिनों गाँव से चार किलोमीटर दूर इस कोलियरी में एक लोकल सेल डिपो खुला था, यहाँ के काले-काले कोयले को ट्रकों में भरकर डेहरी-बनारस की मंडियों में ले जाकर बेचा जा रहा था, कोयला यहाँ का, पर उसे बेचनेवाले बाहर के, ट्रकों में कोयला लोड करनेवाले भी बाहर के, लोगों ने सुना तो दौड़ पड़े उधर, इस दौड़ में ऐसे लोग शामिल थे जो गाँव के धकियाए-लतियाए हुए थे, जो गाँव में मज़दूरी किया करते थे, मज़दूरी भी क्या दो माह धान-रोपाई और दो माह धान कटाई-मंडाई, बाक़ी के दिन ग़रीब लोग केंदुआ पत्ता तोड़-तोड़कर अपना गुज़ारा करते थे, यह ग़रीबी गाँव की आधी आबादी में व्याप्त थी बाक़ी इन्हीं के उपजाए फ़सलों से अपनी शान बघारते थे। मज़दूरी के नाम पर आदमी कौड़ियों के भाव काम करने को मजबूर थे।

हल्ला तो पहले से ही था कि उधर कोलियरी में कोयले का लोकल सेल डिपो खुलेगा पर किसी को यह कहाँ पता था कि वहाँ काम मिलेगा या नहीं, सब आपा-धापी दौड़ पड़े थे, लेकिन उसी तरह लौट भी पड़े थे। कोयला डिपो से कुत्तों की भाँति सबको खदेड़ दिया गया था। कोलियरी के सरकारीकरण के बाद सड़क, रास्ते ट्रकों से कोयला बेचने की कंपनी की ओर से जिसे पहला आदेश पत्र प्राप्त हुआ, वह औरंगाबाद का था, नाम था रघुवंश सिंह। पहले कारीपानी का खानमालिक हुआ करता था, अब यहाँ का कोयला 'डिओ होल्डर' का अधिकार प्राप्त कर लिया था, जब उसे बताया गया कि गाँव वाले ट्रकों में कोयला लोड करने को दौड़ पड़े हैं तो वह हुंकार उठा था, ''हमारे ट्रकों में हमारे ही लोग कोयला लोड करेंगे, कौन माई का लाल है जो हमसे टकराने की हिम्मत करेगा।''

उन दिनों गणपत महतो गाँव में छोटे-मोटे झगड़ों को निपटाकर वाह-वाही की राजनीति कर रहा था, एक दिन आठ-दस लड़कों के साथ जगन उसे मिला, लोकल सेल के लिए बैठकी होने लगी, सप्ताह दिन बाद चालीस-पचास लड़कों के साथ जाकर गणपत महतो ने लोकल सेल डिपो में एलान-सा कर दिया, ''लोकल सेल गाड़ियों में कोयला यहाँ के लोग

ही भरेंगे, हमें कोई नहीं रोक सकता है।'' काम शुरू करने का दिन भी घोषित कर दिया गया। लोगों के दिलो-दिमाग़ में हक-अधिकार की बातें भरी जाने लगीं, ''हक के लिए चलो लड़ो'' जगन गली-चौराहे में जाकर कहने लगा था, बहुत जल्द भूखड़ों में 'भुखड़' मिलने-सा भाव देखा जाने लगा...वर्चस्व के लिए 'बलिदान' की तैयारी शुरू हो गई थी, रघुवंश सिंह की ओर से कहा जाने लगा, ''जिसको मरना है वही लोकल सेल डिपो में क़दम रखेगा।''

''भूखों मरने से तो अच्छा है हक के लिए लड़कर मरें।'' जगन भूखों की आँखों में सुनहरे भविष्य को भरा जा रहा था।

और उस दिन जब गणपत जगन के साथ अपने सैकड़ों भूखी-नंगी फ़ौज के साथ कोयला डिपो पर धावा बोला तो उसके स्वागत में ख़ाकी वर्दी में दर्जनों अघाए लोग खड़े थे, एक पल के लिए इतिहास के पन्नों से निकलकर कर्बला का मैदान सामने चिपक गया था, थोड़ा वक़्त बीता तभी आगे आकर गणपत गरजा था, ''लो, काम करने चले आए, यदि कोई हमें रोकना चाहे तो आवे सामने।'' जवाब में बोली तो नहीं आई, हाँ—''धाँय'' के साथ गोली ज़रूर चली, जो गणपत के बग़ल से गुज़री और जहरू के साथ खड़े महरू मोदी की बाँह में धँस गई, वह चीख़ा और ज़मीन पर गिर पड़ा, औरतों की भीड़ में चीख़-पुकार मच गई। करमी भीड़ को तीर की तरह चीरती भाई के पास पहुँची और भाई को सलामत देख आँखें मूँद लीं उसने, इसके साथ ही भीड़ में अफ़रा-तफ़री मच गई और ''मारो मारो'' का तुमुल कोलाहल शुरू हो गया था, भीड़ आग की लपटों की तरह फैलती चली गई और कोयले से लदे दो ट्रक उसकी चपेट में आ गए। कुछ ही क्षणों में वहाँ शोले भड़क उठे..., उस भूखी भीड़ के आगे प्रशासन को भी पीछे हटना पड़ा था और उसी दिन गणपत महतो की जगह गणपत दा का जन्म हो चुका था।

उस गोली कांड के बाद करमी ने कि बार ख़ुद को लोकल सेल से जोड़ने की कोशि की परंतु हर बार ''धाँय'' की आवाज़ कानों टकराती और वह भाई का चेहरा देखने लग लेकिन यह भी सच था कि वह गाँव की ज़िंद से भी ख़ुद को जोड़ नहीं पा रही थी। पर भूख एक दिन सारे भय को निगल लिया और व पहुँच गई लोकल सेल डिपो में जगन के पा काम करने, जहाँ जगन के प्रति करमी के मन में प्रेम की पहली किरण फूटी थी, एक ऐसी किर जिसकी रोशनी में वह जगन के साथ आनेवाले कल को देखने लगी थी।

समय का चक्र इंसान को कब चक्कर में डाल देता है यह कोई कह नहीं सकता। कुछ ऐसा ही करमी के जीवन में घट रहा था। उस दिन जगन ने जब घर लौटते वक़्त करमी को अपनी बाँहों में भरकर अपने दिल की बात कही तो करमी के मन में एक हिलोर-सी उठी थी, संयोग से उसी शाम उसका पति उसे लेने आ धमका जो कई सालों से ग़ायब था।

घर में ले जाने की बात उठी तो किसी ने करमी का साथ नहीं दिया, बाप ने न बेटी का साथ दिया न ही दामाद का, हाँ जहरू ने ज़हर ज़रूर उगला था, ''जब एक दिन जाना ही है, तो जाती क्यों नहीं।''

''रहने लायक मैं एक घर भी बना लिया हूँ।'' पति बोला था।

''मैं तुम्हारे साथ वहाँ नहीं जाऊँगी, तुम दूसरी घरवाली ढूँढ़ लो।''

''ऐसा कैसे हो सकता है।''

''नहीं हो सकता न, फिर तुम यहीं रहो...।''

उस दिन करमी का पति खडहर न जाने क्यों चुप हो गया था, उस चुप्पी में करमी को अपने साथ न ले जाने की असमर्थता थी या फिर ख़ुद को ससुराल में बस जाने की कोई दबी आकांक्षा, जैसे झोंपड़ी बनाकर अब तक यहाँ कई बस चुके थे।

समय के साथ-साथ जगन और करमी का मेल-जोल बढ़ता ही गया, बल्कि दोनों का प्यार परवान चढ़ता गया कहें तो ग़लत न होगा, तभी तो उस दिन करमी ने जगन से कहा, “क्या, तुम सचमुच मुझसे शादी करोगे, एक शादी-शुदा औरत से, उस पर तुम हमें रख सकोगे, मोदीन को?”

“क्यों मोदीन को बनानेवाला कोई दूसरा भगवान था।”

“नहीं, पर तुम्हारी माँ हमें एक साथ रहने. देगी—घर में घमासान तो नहीं होगा।”

“करमी तुमको मेरे साथ रहना है मेरी माँ के साथ नहीं, वह घर की मालकिन हो सकती है, मेरे दिल की मालकिन तो तू है तू।” कह जगन ने करमी को अपनी बाँहों में भर लिया था, करमी उसके सीने से लगी-लगी बोली थी, “मुझे थोड़ा सोचने का वक़्त दो।”

सप्ताह दिन बाद ही जगन ने बेचैन होकर करमी से कहा, “अब तुम अपना फैसला सुना दो, तुम्हारे बग़ैर रहना मेरे लिए मरने के समान है।”

“तुम क्या समझते हो आग सिर्फ़ उधर ही लगी है।”

“तो फिर...।”

“समाज का सामना कर सकोगे?”

“यह जीवन अपना है, साथ यदि जी नहीं सकते तो मरने से हमें कौन रोक सकता है...।”

जगन जगप्रेमी की तरह बोल रहा था, “समाज का दिया हम नहीं खाते फिर उसका डर कैसा।” उस दिन के बाद दोनों जैसे दुनिया को भूल गए, समय के साथ सब कुछ होता रहा, इतना सब कुछ कि समाज की उस पर चिंता होने लगी थी, दोनों के प्रेम संबंधों को लेकर गाँव में कानाफूसी तेज़ हो गई थी, पेड़-पौधे सरसराने लगे, जगन देर से घर आने लगा और करमी की गदरायी देह पर पानी चढ़ना शुरू हो गया था।

शुरू में करमी के साथ संबंधों को लेकर फैल रही बातों पर उसकी माँ शांति देवी कोई ध्यान नहीं देती थी, पर धीरे-धीरे उसकी परेशानी उसके मुख से बाहर आने लगी थी, वह समझदार और संस्कारी औरत थी, पर गाँव में उड़ती ख़बरों से उसके मन में भी तरह-तरह के सवाल उठने शुरू हो गए थे, बेटे के चाल-चलन से अचानक घबरा उठी थी वह। करमी के साथ जगन का प्रेम संबंध गाँव के लोगों में कौतूहल पैदा कर रहा था, उसके संबंधों को लेकर लोगों के बीच कई तरह के रोचक चर्चे शुरू हो चुके थे, सुन-सुनकर शांति देवी का मन अशांत हो उठता, वह बेटे से एक ही बात कहना चाहती, “तुम किस बात पर उस पर रीझे हो, जानते हो तुम दोनों को लेकर गाँव में कैसी-कैसी बातें उठने लगी हैं, मैनवा की शादी में नाक रगड़ने पड़ सकते हैं तुम्हें...समझो इसे ज़रा।”

जगन सब जान रहा था, माँ की पीड़ा को भी महसूस रहा था वह, परंतु उन दिनों दोनों की हालत जो थी वही कोई नहीं समझ रहा था, शांति देंवी को एक ही बात का डर था भाई की करनी कहीं बहन के जीवन को बर्बाद न कर दे, उसके मन में हमेशा एक बवंडर-सा उठता रहता था।

उधर जगन के साथ करमी का प्रेम प्रगाढ़ता देख करमी का पौस पति डर-सा गया था, यूँ भी आज तक पत्नी की देह सुख से वंचित था वह, करमी ने कभी उसे क़रीब आने ही नहीं दिया, एक बार खड़हर ने कोशिश की तो उसने कुत्ते की तरह दुत्कार दिया था, “खाना मिलता है...खंचड़ेपन करने की कोशिश करोगे तो वह भी बंद हो जाएगा, फिर जाना किसी मौगी के पास...।” उस दिन के बाद दुबारा खड़हर की हिम्मत ही नहीं हुई करमी के पास जाने की, अब खड़हर समझ गया था कि इस तरह वह जीवन भर करमी के क़रीब नहीं पहुँच सकेगा, उस दिन मन-ही-मन उसने एक निर्णय ले लिया था—करमी को भोगने का निर्णय इसके बाद चाहे उसे यहाँ से भागना ही क्यों न पड़े।

उस दिन पिकनिक पर गए थे दंगल वाले, करमी शाम को घर पहुँची तो उसके पाँव लड़खड़ा रहे थे, आँगन में खड़हर किसी बात पर ससुर से बहस कर रहा था, करमी उस पर ध्यान न देकर सीधे अपने कमरे में जाकर खटिया पर पसर गई थी, आज पहली बार अंदर से दरवाज़ा बंद करना भूल गई थी वह, लालटेन पहले से जला हुआ था, उसकी रोशनी में कमरे की वस्तु अपने आकार में मौजूद थी, रोशनी खाट पर भी पड़ रही थी जहाँ करमी की उघड़ी जाँघ... । खड़हर देर तक करमी को देखता रहा था जिसे पाने का हक समाज ने सिर्फ़ उसे दिया था, लेकिन वही उसे पाने से वंचित था। अचानक करमी को अपने ऊपर ज़ोर का दबाव महसूस हुआ, इससे पहले कि तन अपनी ताक़त खो दे उसने ज़ोर का झटका दिया, उसके दोनों पैर खड़हर को दरवाज़े तक ढकेलने के लिए काफ़ी थे, फिर अगले ही पल मादा शेरनी की तरह झपटी थी वह खड़हर पर, ''तेरी यह हिम्मत, कि मेरी मर्जी के बग़ैर... ।''

''तुम कैसी औरत हो, बाहर तो मौज करती हो और यहाँ पति को लात मारती हो... ।''

''भूल जाओ कि मैं तुम्हारी औरत हूँ।'' और उसने खड़हर को कमरे से बाहर निकाल दिया दूसरे दिन उसने जगन को जैसे जगाते हुए कहा था, ''दो माह के पेट से हूँ।''

''चलो इसे गिरा दें, हम एक नेमिन को जानते हैं, ज़्यादा पैसे नहीं लेती, अभी हमें बच्चे की क्या ज़रूरत... ।'' जगन बच्चे के लिए तैयार नहीं था अभी।

''नहीं, यह हमारे प्यार की पहली निशानी है।'' करमी ने साफ़ मना कर दिया।

''तो क्या तुम शादी के बारे में सोच रही हो... ।''

''हाँ, मैं कुँआरी माँ नहीं बनना चाहती हूँ।''

''मुझे थोड़ा वक़्त दो...मैनवा का बिहा... ।'' जगन ने कहना चाहा था।

''तो कल मेरे लिए थोड़ा जहर ला देना में खड़हर कहर ढाने पर आमादा है और कहता है थोड़ा वक़्त दो... ।'' करमी का कले फट रहा था जैसे।

एक घड़ी के लिए ज़माना जल्लाद की तरह लगा था जगन को, करमी को पाने के लिए जगन को कैसे-कैसे जतन करने पड़े थे, उसे करमी के वास्ते उसके सामने करो या मरो जैसे हालात उत्पन्न हो गए थे।

कमरे के एक भाग में चारपाई पर अधलेटे से जगन की ओर लगातार देखे जा रही थी करमी, उसे जगन पर प्रेम और दया एक साथ आ रही थी, एक अबला स्त्री होने के नाते वह जगन को अब तक एक मज़बूत संबल के रूप में देखती आ रही थी, इसलिए जगन का इस तरह निढाल पड़ना करमी को भीतर तक उद्वेलित कर गया था, पत्थर की भाँति निष्ठुर और अविचल रहनेवाली करमी न जाने इस घड़ी कैसे हिल उठी थी और न जाने कहाँ से आँखों में कुछ बूँदें भर आई थीं, वह समझ नहीं पाई, आख़िर यह क्या था जगन के प्रति प्रेम या मैनवा के प्रति लगाव। करमी मैनवा से उम्र में बहुत बड़ी नहीं थी, बल्कि दूर से देखने पर दोनों सगी बहन जैसी ही दिखाई पड़ती थीं, तो बहन ही सही-एक और छोटी बहन।

तो क्या इस मैनवा के लिए करमी ही रुकावट बन गई थी, करमी क्या मैनवा के लिए कुछ नहीं कर सकती, वह कई बार सुन चुकी थी, रामजतन अब भी इस घर में रिश्ता जोड़ने को तैयार है, बस उन्हें एक ''धन कुटिया'' मशीन चाहिए, और अगहन जब से शुरू हुआ था तब से यह प्रस्ताव और बढ़ गया था, गाँव में धन कुटिया मशीन से अच्छी आमदनी भी हो जाती है, मगर इतना ख़र्च करने की हैसियत नहीं थी जगन की, करमी यह बात ख़ूब जानती थी, दूसरों से क़र्ज़ लेकर भी जगन धन कुटिया मशीन के लिए इतनी बड़ी रक़म नहीं जुटा सकता था,

लेकिन अगर करमी अपने पास की बैंक की धन राशि जो दस से पंद्रह हज़ार के बीच में होगी जिसे उसने अब तक जगन से भी छिपा रखा था—अच्छे-बुरे दिन के लिए—उसे भी दे दे तो...।

कुछ देर तक वह हाँ या ना की स्थिति में झूलती रही फिर धड़कते दिल से उसने यह बात जगन से कही थी, पर जगन ने उसी नरमी से जवाब दिया, ‘‘धन कुटिया मशीन की बात नहीं है करमी, यहाँ प्रतिष्ठा और मान-सम्मान की बात पैदा हो जाती है, अब यह सब क्या तुमसे छिपा रह गया है।’’

‘‘फिर भी मैं कहती हूँ तुम एक बार जाओ, और लड़के के बाप से बात करो...सीधे इसी मुद्दे पर...।’’

‘‘क्या वे मान जाएँगे...।’’

‘‘प्रस्ताव तो उधर से ही आया है...फिर रास्ता क्या है।’’

‘‘अब मैं किस मुँह से जाऊँगा...।’’ अँधेरे की ओर करवट बदलते हुए जगन ने कहा था, ‘‘अब और जग हँसाई की हिम्मत नहीं रही...।’’

‘‘तुम अकेले थोड़े ही जाओगे...तुम्हारे साथ धन कुटिया मशीन भी जाएगी...और ज़रूरत पड़ी तो मैं भी चलूँगी।’’

‘‘जानती हो अभी धन कुटिया मशीन की क़ीमत कितनी है...तीस-बत्तीस हज़ार...मेरे पास अभी मात्र दस-बारह हज़ार ही होगा...बाक़ी का प्रबंध कहाँ से होगा...।’’

‘‘हमारे पास बैंक में पंद्रह हज़ार है कल लाकर दे दूँगी...।’’

सुनकर अवाक् रह गया था जगन, और वहीं न जाने कब से आकर दरवाज़े के बग़ल में खड़ी थी मैनवा, चौंक पड़े थे जगन और करमी दोनों ही उसे देखकर, अगले ही पल लिपट गई थी मैनवा करमी से आकर...।

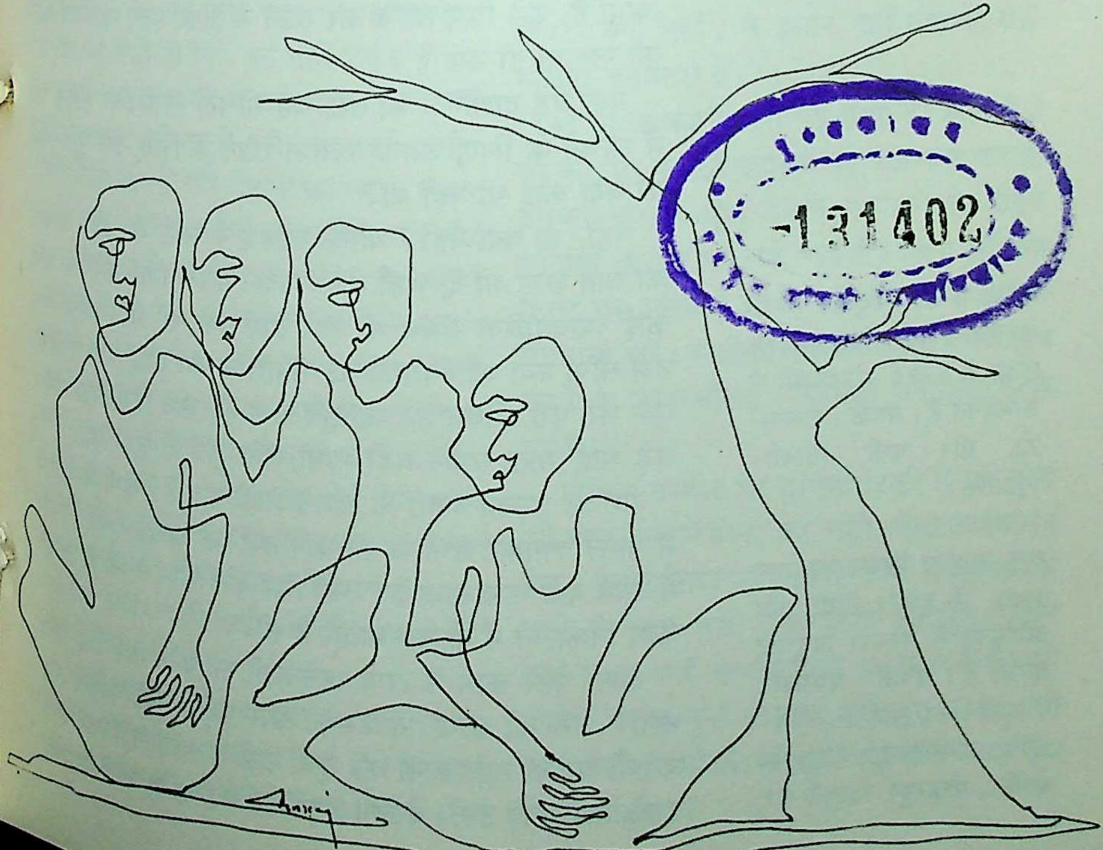

131402

इंदुलता महांति

बस इतनी सी आस

आज मरेगी, कल मरेगी करते-करते भी जब उसके प्राण नहीं छूटे तो सभी सोच में पड़ गए। इतने दिन हो गए मौत से जूझते हुए न खाना, न पीना। शरीर के नाम पर रह गई है बस हड्डी का एक ढाँचा और उस पर टूटती साँसों का सिलसिला, फिर भी प्राण जैसे कहीं अटके थे।

हालाँकि बीमारी का पता केवल दो महीने पहले ही चला, पर घुन ने तो न जाने कब से पकड़ रखा था। अपना ख़याल उसने किया ही कब था! अंदर-ही-अंदर सारे दुख-दर्द सहने की उसको आदत-सी हो गई थी। वह जानती थी औरत जात को यमराज जल्दी बुलाता नहीं। कुछ भी हो जाए, स्त्री कभी जल्दी मरती नहीं है। तो फिर इस शरीर के लिए इतनी चिंता, इतना ध्यान क्यों किया जाए। कभी-न-कभी तो इस शरीर को ढल ही जाना है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो किसी और दिन, जो जाने के लिए ही आया है, उसे फिर सहेज कर रखने के लिए इतने खटकर्म करने की ज़रूरत ही क्या है?

एक बड़े दार्शनिक की तरह वह सोचती रहती। पर उसके बारे में सोचने के लिए, उसका ख़याल रखने के लिए, इस पूरी पृथ्वी पर क्या कोई भी नहीं था?

नहीं, था क्यों नहीं? बल्कि कहिए ये सभी थे। अगर मायके की बात छोड़ भी दें, जहाँ से कन्यादान करके विदा करने के बाद कोई व्यावहारिक संबंध भी नहीं रखा गया, तो भी जिसके हाथ उसे सौंपा गया था, जिसकी वह संपत्ति बनकर आई थी उसका तो एक भरा पूरा परिवार है। वह ख़ुद तो है ही, साथ में हैं पिता समान बड़े भाई, माता समान बड़ी भाभी, पति और दो सुंदर बेटे।

पर वह उनकी नज़रों के सामने आती कब है? सभी के जागने से पहले जागकर सभी के सो जाने तक वह खटती रहती है। घर में काम क्या कम रहता है? और फिर कोई काम न भी हो तो भी काम निकालने में तो वह माहिर है ही।

आठों पहर काम में लगी रहनेवाली को कौन कब देख पाता भला? जेठ की छाया भी उसके ऊपर पड़नी नहीं चाहिए और जेठानी घर के सारे कामों की सूची उसे थमाकर निश्चिंत। बच्चे उसके पास आते नहीं। जेठानी उनकी माँ है। वह तो बच्चों के लिए

1940 में जन्मीं इंदुलता महांति का एक कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ है। कई संस्थाओं से सम्मानित हैं। संपर्क : डब्ल्यू-22, ग्रीन पार्क, दिल्ली-110016

अनु. सुजाता शिवेन का जन्म 1961 में हुआ। हिंदी और ओड़िया में परस्पर अनुवाद करती हैं। संपर्क : एक्सलेंट कंप्यूटर सेंटर, आर-25, नॉर्थ-शॉपिंग कॉम्पलेक्स, शकरपुर मेन मार्किट, शकरपुर, दिल्ली-91

बस 'नई' है। खाने के समय रसोई के दरवाज़े पर खड़े होकर आवाज़ देंगे, ''नई भूख लगी है, खाना परोस दो।'' सारे समय माँ (जेठानी) के पास ही रहते। सारे मान-मनुहार माँ के पास करते। बड़े होने पर खाना माँगते तो माँ ही उन्हें ''नई'' के पास भेज देती थी। और पति नाम का वह व्यक्ति? माता-पिता तो नहीं हैं, फिर भी बड़े भाई-भाभी के रहते उससे सीधे बात कैसे कर ले? ऐसे में खाना बनाने के सिवाय उस घर में उसकी और कोई भूमिका नहीं थी। वह भी इस घर के रीति-रिवाज को ध्यान में रखते हुए अपने को सबकी आँखों की ओट में ही रखती।

एक दिन कुएँ से पानी का गागर भरकर जब वह सीढ़ियाँ चढ़कर बरामदे में पहुँची ही थी कि धड़ाम से गिर पड़ी, गागर एक तरफ़ लुढ़क गया। स्वस्थ व्यक्ति होता तो गिरने के बाद ख़ुद ही खड़ा हो जाता और जल्दी-जल्दी गीले कपड़े बदलकर और एक गागर पानी भरकर रसोई में घुस जाता। तब कोई कुछ जान भी नहीं पाता, पर वह जो गिरी तो फिर उठ नहीं पाई।

सबसे पहले जेठानी ने उसे देखा। पानी का छींटा मारकर, आँचल से उसे हवा करने लगी। उसने आँखें खोलीं और जेठानी का सहारा लेकर किसी तरह कमरे में पहुँची। जेठानी ने पति और देवर को देवरानी की बिगड़ी तबीयत के बारे में बताकर किसी वैद्य को बुलाने के लिए कहा। जेठानी की बात सुनकर धीरे-से वह बोली, ''नहीं वैद्य को बुलाने की ज़रूरत नहीं है, मुझे कुछ नहीं हुआ है, मैं ऐसे ही ठीक हो जाऊँगी।''

पर इस घर की छोटी बहू होने के कारण किसी भी बात में जब उसकी सलाह कभी नहीं पूछी गई तो आज उसकी बात कौन मानता भला? सो वैद्य आए। नाड़ी देखी, आँखें, जीभ देखी। दवाई बनाकर दी।

दवाई खाने से उसने इनकार नहीं किया। परहेज़ भी किया पर तबीयत ठीक होने के बदले दिन-प्रतिदिन और ख़राब होती गई। आँखें धँसने लगीं। हाथ-पैर सूखने लगे, नसें दिखने लगीं, साँस फूलने लगी। सारे लक्षण जेठानी की नज़रों से छुप नहीं सके। वैद्य को फिर बुलाया गया। वैद्य ने कहा, ''मेरे वश के बाहर का रोग है। शहर से डॉक्टर बुलाओ, वह शायद रोग को पहचान सके।''

इनकार की मुद्रा में सिर और हाथ हिलाकर उसने जेठानी से डॉक्टर न बुलाने की मनुहार की। इस घर में बहू बनकर आए उसकी आधी उम्र बीत गई। अब जब उसकी ख़ुद की बहू लाने की उम्र आ गई है तो वह बदनाम करनेवाला काम करेगी। पराया पुरुष! वह भी इस गाँव का नहीं, जाने किस जाति का होगा, कहाँ का होगा, उसके शरीर को छुएगा!

उसके मन की इस उथल-पुथल को जेठानी शायद समझ गई। उसे समझाते हुए बोली, ''अरी नई, ऐसे नासमझ ना बन। बीमारी हारी किसके वश में है। वैद्य जब देख सकता है तो शहर का डॉक्टर क्यों नहीं? वे इंसान नहीं होते हैं री? साक्षात् धनवंतरी है।''

हाँ या ना कहनेवाली वह होती ही कौन है? घर की, घर के सारे सदस्यों की देखभाल करना, उनका अच्छा-बुरा देखने-समझने के लिए मुखिया के तौर पर बड़े भाई हैं। बिना मुखिया वाला घर-परिवार तो है नहीं कि सभी अपनी मनमानी करें। इसलिए डॉक्टर आया। चैकअप करने के बाद बोला, ''बीमारी आख़िरी स्टेज पर है।''

लेकिन उम्मीद पर दुनिया टिकी है जो कुछ भी उसके वश में होगा, वह करेंगे। ऐसा आश्वासन देकर दवाई लिखकर डॉक्टर चला गया। उसके जाने के बाद सभी एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। बड़े भाई अपनी पत्नी के ऊपर चिल्लाने लगे, ''इतना कुछ हो गया और तुम समझ नहीं पाईं कैसे? आँखों में पट्टी, कानों में रूई ठूँस रखी थी क्या?''

पर जेठानी का इसमें क्या दोष था। कभी छोटी ने कुछ कहा ही नहीं उसे। सुबह से लेकर आधी रात तक कुम्हार की चक्की की तरह घूमती रहती। न हाथ थमता न पैर। और फिर कभी लापरवाही से भी मुँह से "आहा" या "ऊह" की आवाज़ भी नहीं निकली थी कभी?

भाभी के ऊपर भैया को ग़ुस्सा करते देख छोटा भाई चुपचाप वहाँ से खिसक गया। अग्नि को साक्षी मानकर उसकी ज़िम्मेदारी उठाई थी फिर भी समझने-बूझने के लिए बड़े भैया भाभी पर छोड़ दिया।

बिस्तर पर पड़े-पड़े उसने सब सुना। समझ गई वह कि इस घर से अब उसका नाता ख़त्म होने जा रहा है। अब उसके कुछ ही दिन शेष रह गए हैं।

उसका जाना निश्चित था पर पता नहीं क्यों यह घर-संसार छोड़कर जाने का मन नहीं हुआ। उसे ऐसा महसूस हुआ मानो उसे पीछे से कोई जकड़े हुए हो।

पर यह मोह कैसा? इस संसार में उसका अपना कहने के लिए है क्या? जब इस घर में ब्याह कर आई थी तो सास-ससुर की जगह जेठ-जेठानी का साया मिला। जेठानी की गोद सूनी थी। इन तीन प्राणियों के संसार में वह भी शामिल हो गई थी। पर इन तीन प्राणियों को वह कितना जान पाई। तन-मन देकर, सुख-दुख के साथी होने का मंत्र पढ़कर, पति कहकर जिसका हाथ पकड़कर उसने इस घर में क़दम रखा, दिल तो दूर एक-दूसरे के मन को भी पहचान नहीं पाए। यूँ भी मन को समझना क्या इतना आसान है? मन तो बहुत दूर की बात है, एक-दूसरे का चेहरा भी ठीक से नहीं देखा है कभी। घर का काम ख़त्म करके जेठानी के पैर दबाकर जब वह सोने जाती तो वे दीया बुझाकर सो चुके होते। उजाले में उन्हें नींद नहीं आती है। वही आदत आज भी बरक़रार है। और नीम अँधेरे जब वह बिस्तर छोड़ती उस समय कोई भी उठा नहीं होता।

और रात के उसी एक क्षण में गहरी नींद में सोया हुआ वह व्यक्ति उसकी तंद्रा से भरे शरीर को अपने आगोश में लेकर कितना प्यार करता, अपने में समाने की कोशिश करता, तब कितना भला लगता उसे। हालाँकि मुँह खोलकर इस बारे में कभी कुछ कह नहीं पाई वह, उन्होंने भी कभी कुछ पूछा नहीं उससे। उस व्यक्ति का हाथ शरीर से छू जाने पर उसका मन हुलस उठता तो उस व्यक्ति का चेहरा कैसा है, यह जानने की उसकी ख़ूब इच्छा होती, पर शरम से आँखें खोल नहीं पाती। अगर आँख खोल भी लेती तो बिना खिड़की के घुप्प अँधेरे बंद कमरे में वह देख भी क्या पाती? पर रात के घने अँधेरे के उस अंतरंग पलों में वह जो कुछ महसूस करती, उसे दूसरी रात आने तक मन में सँजोकर रखने की उसकी इच्छा होती। लेकिन दिन के उजाले से रात का अँधेरा एकदम अलग होता है। दिन के उजाले में कोई उसके मन की बात चेहरे के भाव से कोई पढ़ न ले इस डर से वह हाथ भर का घूँघट डालकर सभी की नज़रों की ओट में रहकर घर के कामों में डूबकर रात की घटना को भूलने की कोशिश करती।

इस घर के मुखिया हैं जेठ। उनकी परछाईं को भी देखना मना है। घर के अंदर घुसने से पहले गला साफ़ करते, खड़ाऊँ ठक-ठक करते हुए आते, साथ ही भाई बहू को सतर्क वाणी भी सुनाते आते। रास्ते से हट जाओ, जेठ हुज़ूर आ रहे हैं।

ऐसा नहीं कहते तो भी चलता। उनकी खड़ाऊँ की आवाज़ से उनके आने-जाने की ख़बर मिल जाती। भूल से भी वह बैठक में नहीं जाती। और जेठ को भी अंदर के कमरे में आने की ज़रूरत नहीं पड़ती। पर उनकी आवाज़ उसने सुनी है। इंसान अपने आपको परदे में रख सकता है अपनी आवाज़ को कैसे परदे में रख पाएगा? उनकी

आवाज़ सुनकर उनके चेहरे के बारे में वह कल्पना करती। और फिर तुरंत मन-ही-मन अपने को डाँटती। इस तरह सोचना बिलकुल भी ठीक नहीं है और मन में जो छवि उसने बनाई होती, उसे वह मिटा देती।

चार बार उसने गर्भ धारण किया पर सिर्फ़ दो ही फल मिले। दोनों को नौ-नौ महीने गर्भ में रखा, दर्द सहकर पैदा किया, पर हाथ कुछ नहीं आया। उसने दोनों बेटों को जेठानी के हाथों सौंप दिया था। छाती से दूध पिलाया, पर माँ की पुकार नहीं सुनी। कब उसने इस घर में नई बहू बनकर क़दम रखा था, ख़ुद उसे याद नहीं। गुरुजनों के दिए नाम को पीछे छोड़कर इस घर में क़दम रखते ही वह ''नई'' के नाम से ही जानी जाने लगी। समय के साथ-साथ वह भूल गई कि उसका एक नाम भी था।

उसके दोनों बेटे जब आँगन या पिछवाड़े में खेल रहे होते तो आसपास कोई है या नहीं देख लेने के बाद वह उनके पास जाकर सीने से चिपकाकर उन्हें प्यार करने लगती। पर बेटों को उसकी इस हरकत से परेशानी होती, वे चिल्लाने लगते, ''माँ, माँ देखो, नई हमें जूठा कर रही है।'' वह दौड़कर कमरे में घुस जाती। दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कता। कहीं जेठानी ने सुन तो नहीं लिया? जेठ के कानों में तो नहीं पड़ गई उनकी आवाज़? और कहीं बच्चों के पिता को यह बात पता न चल जाए।

परिवार के साथ उसका इसी तरह का रिश्ता था। पर इस घर से उसका संपर्क गहरा था। जिस घर में पैदा हुई और ग्यारह साल पली-बढ़ी, आज याद करने पर भी उस घर का खाका आँखों के सामने स्पष्ट उभरकर आता नहीं है। सब कुछ जैसे धुँधला गया। ब्याह कर इस घर में आने के बाद से एक बार भी वह मायके नहीं गई। कौन ले जाता वहाँ उसे? माँ-बाप तो थे नहीं। भाई बहुत छोटा था। शादी करने के बाद चाचा-चाची बोझ हल्का करके निश्चिंत थे। कौन उसके बारे में सोचता? बस एक बार अपनी शादी के समय भाई उसे लेने आया था। पर जेठानी की तबीयत ठीक न होने के कारण उसे भाई की शादी में जाने की इजाज़त नहीं मिली। इनकार सुनकर भाई जो गया तो उसने पीछे मुड़कर एक बार भी देखा नहीं। पर वह खिड़की से भाई को जाते हुए तब तक देखती रही जब तक उसके पैर दिखने बंद नहीं हो गए।

उसी भाई का चेहरा भी वह अब भूल गई है। एकांत दोपहरी में कभी चाचा-चाची, भाई का घर याद करती तो उसे लगता मानो पिछले जन्म की कोई बात हो।

पर इस घर के हर ओने-कोने से उसका घनिष्ठ नाता है। घुप्प अँधेरे में भी वह जान जाती है कि वह किस कमरे में है, कौन-सा आँगन पार करके जा रही है, आँगन के किस कोने में बैठी है। इस घर की हर दीवार, अटारी, आँगन, कमरे की गंध को वह पहचानती है। वही गंध उसकी नाक के रास्ते उसके मन में जाकर घर बसा चुकी है।

इस घर के दीवार, आँगन, अटारी के अलावा भी एक और हिस्से के साथ उसका घनिष्ठ संबंध है। पिछवाड़े में स्थित कुएँ के पास सटी एक छोटी-सी जगह के साथ। जब वह ब्याहकर आई थी तो कुएँ के पास की एक चौकोर ज़मीन को घेरकर उसके लिए नहाने की जगह बना दी गई थी। नई बहू नदी, तालाब में नित्यकर्म करने, नहाने तो नहीं जाएगी। उसी घेराबंदी के अंदर मिट्टी के बड़े घड़े में पानी भरकर रख दिया जाता। नई बहू पुरानी हो जाने के बाद नित्यकर्म करने के लिए नदी, तालाब जाने लगी पर उस जगह का मोह छोड़ नहीं पाई। उस जगह में उसने एक छोटा-सा बग़ीचा बना लिया था। अमरबेल का पौधा लगाकर उसने बाड़ा बनाया और उसके चारों तरफ़ कनेर, मालती, मोगरे का पौधा लगा दिया। उसके अंदर शाग, बैंगन, मिर्च का पौधा लगा दिया। पौधों में पानी देना,

खरपतवार को निकाल फेंकना से लेकर खाद देना, मिट्टी खोदना सब काम वह ख़ुद करती। वह गोल पत्थर भी वैसे ही रखा हुआ था। सर्दी की दोपहर में और गर्मी की शाम को वह जाकर उसी पर बैठती, किसी साम्राज्य की महारानी की तरह।

हाथ, पैर, आँख, नाक की तरह ही इस घर की चारदीवारी और बग़ीचे के नाम पर बनी वह छोटी-सी जगह उसके मन का अभिन्न अंग बन गई थी।

पति, जिसे ठीक से जाना भी नहीं और वह संतान जिन्हें भली-भाँति कभी देखा भी नहीं उनसे विदा लेते हुए उसे इतनी तकलीफ़ नहीं हो रही थी शायद! तो क्या यह घर, उस बग़ीचे का मोह ही उसे खींच रहा था?

''नहीं तो!'' बिस्तर पर पड़े-पड़े वह सोच रही थी। उसका घर है कहाँ? एक औरत का घर होता कहाँ है? जिन दो घरों में वह रहती है उसमें से एक है पिता का घर और दूसरा सास का घर। मुर्ग़ी जिस तरह स्वाभाविक मौत नहीं मरती उसी तरह एक औरत कभी स्वाभाविक जीवन नहीं जीती। पिता, पति, पुत्र की त्रिवेणी में डुबकी लगाने पर ही उसे मुक्ति मिलती है। तो फिर अपना घर सोचकर वह मोह क्यों कर रही है? जब तक रख सकती थी लीप-पोंछकर उसने इस घर को साफ़-सुथरा रखा। तो क्या उसके चले जाने पर उसकी याद में तड़प-तड़पकर यह घर ढह जाएगा? उसके बाद भी कितने और आएँगे, उन सभी को यह घर अपने में जगह देगा। कितने चले भी जाएँगे पर यह घर उनके साथ नहीं जाएगा। वैसे ही खड़ा रहेगा, सिर उठाकर कई पीढ़ी तक।

यह सोचते हुए घर के प्रति भी उसका मोह छूट गया। फिर भी प्राण अटके रहे। उसे खाट से उतार कर ज़मीन पर लिटा दिया गया। उसके लिए दान देने का काम भी ख़त्म कर दिया गया। फिर भी...

आस-पड़ोस की औरतें आकर उसके पास बैठती थीं। उसके हाथ-पैर दबा देतीं, सिर सहला देतीं। पर धीरे-धीरे उनका आना कम होता गया। अपना ही घर सँभालना भारी पड़ रहा है, ऐसे में किसके पास फ़ुरसत है कि शव की तरह पड़े व्यक्ति के पास जाकर बैठें। बस जेठानी ही आती खाना देने। उस दिन भी खिलाने का काम पूरा करके वह बर्तन उठाकर जाने के लिए मुड़ी ही थी कि पीछे से उनका आँचल पकड़कर बोली, ''दीदी!'' जेठानी चौंक गई। हाथों से बर्तन गिर गए। उसमें प्राण नहीं होते तो सोचती, भूत ने पुकारा है। आवाज़ भले गुम-सी गई थी पर प्राण तो शेष थे।

जेठानी ने उसकी तरफ़ देखा। करुणा भरी नज़रों से वह उन्हें देख रही थी। उसने फिर पुकारा, ''दीदी।''

जेठानी की अंतरात्मा में इस पुकार ने दस्तक दी। वह जान गई कि दीए का तेल अब बस ख़त्म होनेवाला है। तीस या बत्तीस साल हो गए उसे इस घर में बहू बनकर आए हुए, मुँहजली ने एक दिन भी दीदी कहकर नहीं पुकारा। किसी चीज़ की जब भी ज़रूरत हुई तो पास जाकर धीरे-से कहती, अपने पास कभी नहीं बुलाती। और आज जाने के समय में...

उनका मन पिघल गया। पास बैठकर उसका सिर सहलाते हुए बोली, ''बोल कुछ बोलना चाहती है?''

उनकी तरफ़ देखते हुए बोली, ''दीदी सभी कहते हैं बिनु, मनु बिलकुल तुम्हारे देवर की तरह दिखते हैं। जब उम्र थी तब कैसे दिखते होंगे, यह दोनों बेटों को देखकर अनुमान लगा सकती हूँ, पर अभी कैसे दिखते हैं?''

जेठानी पल भर उसे निहारती रही। वह थोड़ी-सी शरमाई थी। मुरझाया चेहरा दमका था। जेठानी ने मन में सोचा, अभागी इतनी छोटी-सी आशा मन के कोने में सँजोए हुए है तभी प्राण छूट नहीं रहे हैं। अब दीया बुझ जाएगा।

उसे थपथपाकर वह बोली, ''थोड़ी देर रुक जा।'' उसने कमरे के दरवाज़े पर ही खड़े होकर बिनु, मनु और देवर को आवाज़ लगाई। बिनु पहले आया तो उसे छोटे पापा को दालान से बुलाकर लाने के लिए भेज दिया। सभी उसके चारों तरफ़ खड़े थे। जेठ थोड़ी दूरी पर ओट में खड़े हुए थे। उसने भी माथे तक आँचल खींच लिया था।

बिनु मनु से जेठानी बोली, ''माँ के मुँह में तुलसी और गंगाजल दो।'' अचरज से दोनों ने उनकी तरफ़ देखा। तब वह बोली, ''नई तुम्हारी माँ है। मैं बड़ी माँ हूँ। दो, देर मत करो।''

दोनों बेटों ने तुलसी गंगाजल दिया। उसने थोड़ा-सा हाथ उठाया, सहलाना चाहती थी शायद। जेठानी अब देवर से बोली, ''अब तुम दो। शायद इसी के लिए उसके प्राण अटके हैं।''

देवर के हाथ में गंगाजल देते हुए बाएँ हाथ को पत्नी के सिर के नीचे रखने के लिए कहा, गंगाजल को गले उतारकर ''पति'' नाम के उस अपरिचित व्यक्ति को सीधी नज़रों से ताकती रही कुछ पल। फिर गर्दन एक ओर लुढ़क गई। सिर से पल्लू गिर गया।

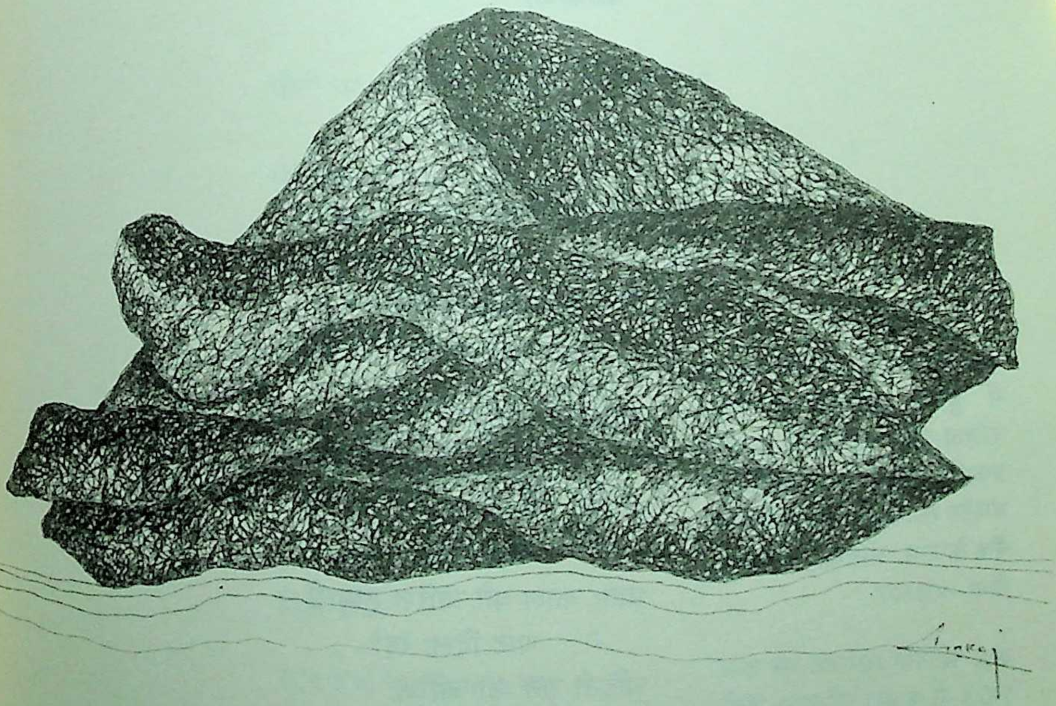

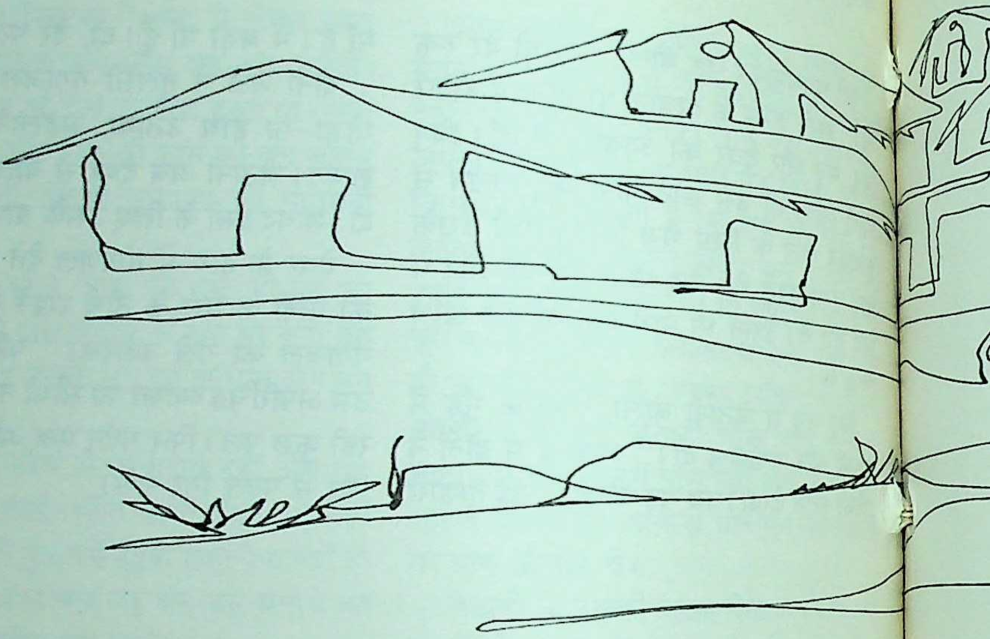

कोंकणी

नूतन साखरदांडे

बारिश मन में

बारिश मन में, कान में बारिश
डाँडिया है बजा रही
पत्ते में बारिश, बारिश वन में
मोर को है नचा रही।

बारिश मेरे पीहर में
अधिकार जता रही
बारिश मेरे आँगन में
ढोल बजा रही
प्रात: काल की बारिश तुम्हारी
याद दिला रही
चाँदनी रात की बारिश
मन में चमेली खिला रही
बारिश ज़ोरों से, बारिश खेत में
धान है उगा रही

नूतन साखरदांडे का जन्म 1958 में हुआ। कोंकणी में एक कविता-संग्रह *जीणजाली कस्तुरी* प्रकाशित। संपर्क : 'काव्यांगण', बॅप्सीन रेसीडेन्सी, पंजाब नेशनल बैंक के पास, अंसाभाट, म्हापासा, गोवा-403507

अनु. सोनिया सिरसाट का जन्म 1973 में हुआ। कोंकणी-हिंदी में परस्पर अनुवाद। संपर्क : 615, सालिस वाडा, पर्रा बार्देस, गोवा-403510

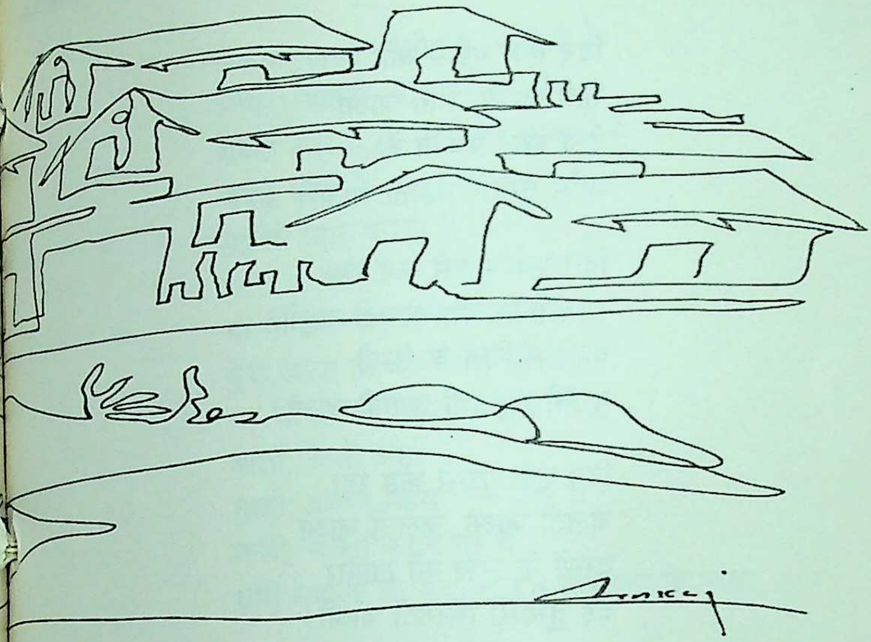

चोटी पर पर्वत की, खेतों–खलिहानों में
बीज अंकुरित कर रही
धुआँधार बारिश मेरा
छाता उड़ा रही
बारिश पगली ऐसी–कैसी
मुझे है नहला रही
बारिश मन में, कान में बारिश
डाँडिया है बजा रही
पत्ते में बारिश, बारिश वन में
मोर को है नचा रही।

दिन एक

दिन एक मुझसे कह रहा
हँसती जाओ, हँसती जाओ
संसार के सभी सुख
असंख्य चुनती जाओ, चुनती जाओ।

दिन एक मुझसे कह रहा
रोती जाओ, रोती जाओ
देख खेल प्रकृति के
आँसू तुम्हारे बहाती जाओ।

दिन एक मुझसे कह रहा
सोचती जाओ, सोचती जाओ
कोने में दिल के छिपी
पुरानी स्मृतियाँ जगाती जाओ।

दिन एक मुझसे कह रहा
जलती जाओ, जलती जाओ
दूसरों के सुख की ख़ातिर
देह तुम्हारी घिसाती जाओ।

यह मेरा घर है

इसमें मेरे पति और मैं
हमारे दो बच्चे
और शाली

यह मेरा घर है,
सुंदर सजाया-सँवारा
लीपा-पोता, चमकता हुआ
पर कभी-कभी
लगता है मेरे घर में मैं ही
जैसे परायी
मानो पेईंग गेस्ट

सुबह के आठ से लेकर रात के आठ
अर्थात् पूरा दिन
नौकरीपेशा मैं घर के बाहर
और घर में शाली
शाली मेरा घर सँभालती है
मेरे बच्चों को नहलाती है
खाना खिलाती है
उनके कपड़े प्रेस करती है
उनके टिफ़िन भरती है

उन्हें स्कूल से लाती-ले जाती है
लीपती-पोतती, पोंछा करती है
सब्ज़ी काटती है, नारियल छीलती है
कपड़े धोती है
मछली साफ़ करती है
इतना ही क्यों
घर में कम-ज़्यादा देख लेती है
कुछ खोया हो, शाली से पूछिए
वह चीज़ हाथ में पकड़ा देती है
शाली, चाबी कहाँ है ?
शाली, पंचमी किस दिन आई है ?
शाली, बच्चों को दवाई दी ?
सभी सवालों के जवाब रहते हैं शाली के पास

गृहस्थी मेरी
पर इसका सारा बोझ
शाली के कंधों पर
शाली को भी अब यह घर
अपना-सा लगता है
क्योंकि, शाली का बाप है पियक्कड़,
कभी-कभार दस-बीस रुपए
माँगने यहाँ आ धमके तो
शाली उस पर ग़ुस्सा होती है
तब शाली को ग़ुस्सा होना आता है यह
मेरी समझ में आ जाता है
शाली की माँ
सब्ज़ी बेच अपनी चार-पाँच जनों की
गृहस्थी चलाती है
चतुर्थी-दीवाली उनकी शाली के ही बल पर
भाई-बहनों को कापियाँ, किताबें
कपड़े, छाते
शाली ही पहुँचा देती है
तब मैं कहती हूँ
शादी-ब्याह के लिए शाली
कुछ तो सँभालकर रख लो ना ?
ऐसे में शाली बड़ी विचित्र हँसती है
उसकी उस हँसी से मेरा दिल दहल जाता है

बहुत बड़ी शौक़ीन
टी.वी. पर यदि कोई फ़िल्म चल रही हो,
उसके काम उस दिन
जल्दी ख़त्म हो जाते हैं
फ़िल्मगत नायक-नायिका के
प्यार में वह उलझती है
कैसी भी क्यों न हो चाहे फ़िल्म
उसमें नायक का
नायिका के साथ ब्याह होना ही चाहिए।

सुहाग रात का
दृश्य चल रहा हो तो
मुझे, शाली को शरमाना
आता है, यह पता चलता है
उसके गाल लाल-लाल
हो जाते हैं

मुझे नई फ़िल्में नहीं भातीं
पर शाली देख रही हो
तो मैं टी.वी. बंद नहीं करती
शाली मेरी गृहस्थी के लिए
कितना कुछ करती है
मुझे उसके सपनों को कुचलने का
क्या अधिकार—

शाली ग़ुस्सा नहीं होती
पर कभी-कभार वह
रूठ जाती है
यूँ ही नहीं
गैस पर चाय का पानी उबल रहा हो
और मैं आधा घंटा फ़ोन पर
बोलती रहूँ तब—
फ़ोन का बिल बढ़ न जाए इसलिए
गैस बेकार न जाए इसलिए
तथा काम पर जाते समय
मैं गड़बड़ा न जाऊँ इसलिए
ये कारण हैं शाली के रूठ जाने के—

और तब मेरे मन में एक सवाल
उठ खड़ा होता है
यह घर मेरा है या शाली का ?
और फिर मैं कौन हूँ ?

बिटिया मेरी

बिटिया मेरी
तू मेरी है मैया
तू ही मेरी सहेली।

बिटिया मेरी
तू मेरी है दादी माँ
तू ही मेरी कुलस्वामिनी।

बिटिया मेरी
तू मेरी है बहना
तू ही इस समूचे
संसार की गंगोत्री।

बिटिया मेरी,
घर मेरे तू आई
और तूने मुझे
भू-माता के ऋण से
मुक्त किया

समझौता

छोड़ देते हैं जिस दिन हम मायका
और जुड़ जाते हैं घर से
शुरू होता है उस दिन से समझौता
कुछ दिन हैं अच्छे गुज़रते

वह रखता है इसका मन
यह रखती है उसका मन
फिर तोड़, फोड़, बिगाड़,
पुनः जोड़
हर-दूसरे दिन चलता ही रहता है

होती है इतनी खींच-तान कुछ दफ़े कि
ज्ञात नहीं होता भीतर के अखंड का खंड होना
फिर बाँध गाँठें
जोड़ते हैं पुन:

तोड़ो जोड़ो, तोड़ो जोड़ो
ऐसा समझौता फिर
चलता ही रहता है
अंत तक

वह कहता है
समझौता मैं कर रहा हूँ इसके साथ
यह कहती है
समझौता मैं कर रही हूँ उसके साथ

लोग हालाँकि कहते हैं
वाह इनका जोड़ा
कितना सुंदर है
निभती है अच्छी पति-पत्नी के बीच जिस दिन
पड़ चुकी होती है एक गाँठ नई
उसी दिन

संजीव वेरेंकर

हम बुझ नहीं गए थे

हमें
बुझा हुआ समझकर
आप हमें पाँवों तले कुचलते गए
और पीछे से
हम जलते रहे
जलते रहे

हम बुझ नहीं गए थे
राख के नीचे की चिनगारियाँ बन
हम ठहरे थे
किसी की फूँक के
इंतज़ार में...।

संजीव वेरेंकर का जन्म 1959 में हुआ। इनके कोंकणी में तीन कविता-संग्रह; दो एकांकी-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : सावय वेरें, फोंडा, गोवा

अनु. सोनिया सिरसाट

खा लो, ऐ मुर्ग़े

खा लो, ऐ मुर्गे
जिह्वा से पूछ-पूछकर
माँगकर खा लो
आज तुम्हें
कोई, ना नहीं कहेगा
कल के बारे में कहा नहीं जा सकता... !
इसलिए आज ही खा लो

आज दशहरा है
तुम्हारे सम्मान का दिन
सारी पूजा
आज ही करा लो

खो गया मैं

शांत संध्याबेला में
नीले आकाश के निकले पंख
रंगबिरंगी धरती पर
उस पल
नहाते हुए गोधूलि बेला के रंगों से
तुम्हारी आँखों में डूब गया मैं
तुम्हारे मन में रंग गया मैं
बनकर रंग रंगों का
तुम्हारे दिल में खो गया मैं... ।

लहरें

नाचती हैं लहरें लहरें
हँसतीं हैं हमें देख
मन का भेद लाकर
बताती हैं तट पर जब आकर
चाँद मेरी तब आँखों का
मुस्कुरा देता है मंद-मंद

मराठी

सुदेश लोटलीकर

ज़ाकिर हुसैन को सुनते हुए

सुन ज़ाकिर का तबला हिजड़ा बनूँ मैं भी
उस रात न जाए पत्नियों के पास कोई भी
मारक पति की तरह
गाल पर डुग्गी के दे मारते हुए
चमड़े से चमड़े के मिलाप के दौरान
तुम बनते हो एक ही बार पूर्ण पुरुष ज़ाकिर!
(बाक़ी समय तुम भी रहते हो आधे-अधूरे ही)
मुँहज़ोर घोड़े का सीना है तुम्हारे ताल में
अर्जुन का बाज़ या कृष्ण का साज़
तुम्हारी उँगलियों को?
तुम बजाते नहीं हो ज़ाकिर...धड़धड़ाते हो
खौलते हो;
हड्डी माँस रक्त के बीच की हमारी रफ़्तार
ले आते हो पल-भर मृत चमड़े पर
उँगलियाँ ही बजाती हैं तबला या तबला बजाता है उँगलियों को?
रह जाते हैं भौंचक्के हम भी
हमारे अंदर की लय को साक्षात् सामने देख!
ज़ाकिर
पृथक कर देते हैं तुम्हें भी हम आख़िर
स्खलित पुरुष की तरह हौले से एक तरफ़;
पर कुछ पलों के लिए ही सही
बन पाते हो तुम साक्षात् एक पूर्ण पुरुष इन आधे-अधूरों के बीच...ज़ाकिर!

कोंकणी एवं मराठी कवि, प्रोड्यूसर, डायरेक्टर सुदेश लोटलीकर का जन्म 1964 में हुआ। मराठी ग्रंथ संग्रहालय, कोंकणी भाषा मंडल तथा अन्य कई पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : रमनती, बंदोरा, पोंडा, गोवा-403401

अनु. सोनिया सिरसाट

कश्मीरी

अर्जुन देव मजबूर

बर्फ़ का आदमी

जाड़े की उस सुबह
उन्होंने मुझे बर्फ़ का रूप दिया
और मैं बना बर्फ़ का आदमी

अर्जुन देव मजबूर का जन्म 1923 में हुआ। *दशहार कलामें मजबूर, अमन ज़िंदगी, दज़ुवुन्य कोसम* आदि कश्मीरी कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : द्वारा देश रतन आई.पी.ओ., डिस्ट्रिक्ट-इंडस्ट्रिज़ सेंटर, एक्ज़ीबिशन ग्राउंड, तवी ब्रिज, जम्मू-180001

अनु. महाराज कृष्ण संतोषी का जन्म 1954 में हुआ। *इस बार शायद, बर्फ़ पर नंगे पाँव, यह समय कविता का नहीं* (कविता-संग्रह) तथा कश्मीरी से हिंदी में अनूदित पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : द्वारा अर्जुन देव मजबूर...जम्मू

जो अब तना हुआ
उनके सामने खड़ा था

मुख की जगह
लाल मिर्ची
आँखों की जगह
कोयला
एक हाथ में लाठी
दूसरा तनिक मुड़ा हुआ।

उन्होंने मुझसे कहा
आओ हमारे साथ नाचो
हँसो
खेलो
गाओ

पर उन्हें क्या पता
भीतर ही भीतर
मैं टूटने लगा था
पिघलने लगा था बूँद-बूँद
और सिकुड़ने लगा था
अपने आकार में आहिस्ता-आहिस्ता

आख़िर
कब तक सूर्य का सामना कर सकता है
मुझ जैसा एक बर्फ़ का आदमी।

जादूगर का खेल

दिन चढ़ा
बजा मृदंग
और भाग चला वह जादूगर।

तपते-तपते
डूबा सूर्य
उसके साथ ही खो गया
मेरे अस्तित्व का आकार।

नग्न रात
उतर आई धरा पर

मस्तक पर लिए चंद्रमा
और गले में पहने हुए तारों की माला

फिर पायल लगी खनकने
और झूमने लगे साए
उफ़ यह रात भी निकली
उस जादूगर की चेली
देखो तो मुझसे मेरा वजूद ही छीन लिया।

दीवार पर टँगा चित्र

दीवार पर
टँगा था एक चित्र
स्वस्थ हँसमुख बच्चे का
जैसे कुछ कहने को आतुर।

मैंने
जब उससे पूछा
क्या तुम मेरा अतीत हो
तो उसके चेहरे से
अकस्मात्
ग़ायब हुई इंद्रधनुषी मुस्कान
फिर गंभीर स्वर में वह बोला
क्या तुम मेरा भ्रष्ट भविष्य हो

आश्चर्य
बच्चे के प्रश्न में ही
छिपा था उत्तर

सचमुच
बूढ़े पवित्रता नहीं जानते
जैसे बच्चे नहीं मलिनता।

सृजन

अस्तित्व—

घिरा अंगारों से
और घूमता सूई की नोक पर
मंथन करता हुआ पूरे समुद्र का।

पीता है
अपना ही लहू
पर एकत्र करता
बूँद-बूँद शहद।

आँधियों में
निकल पड़ता मोतियों की तलाश में
चौंधियाती रोशनी से
मिलाता आँखें
और अर्पण कर देता
सब कुछ अपना
मात्र एक भोली-सी मुस्कान पर।

झील की गहराई से
खींच ले आता
डूबती हुई नौका को
जूझता हुआ भूकंपी लहरों से

और पल-पल पालता
ज़िंदगी का हिंसक शेर
पर आँखों से चुनता
छिटकी हुई ओस
बनाता रहता
नित्य नए-नए शब्द चित्र।

हिंदी

अमिता प्रजापति

छुट्टी का दिन

यह एक छुट्टी का दिन है
जो मेरे घर के आँगन में लगे तार पर
टँगी हरी साड़ी-सा फहरा रहा है

यह दिन जिसे
सवेरे ही व्यस्तताओं के कास्टिक में गला कर
फुलका था और फैला दिया था

अमिता प्रजापति का जन्म 1973 में हुआ। इनकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही है। संपर्क : 111, आर.एम.पी. नगर, विदिशा (म.प्र.)

इस हरी साड़ी की तरह तार पर
टँगे दिन से
मेरे सपने महत्त्वाकांक्षाएँ और इच्छाएँ
पानी की बूँदों की तरह चू रहे थे

अभी शाम होगी
और इस हरी फरफराती साड़ी को
रात के रंग वाली वार्डरोब में रखना है

खनकन

देह जब तक
खनकती है चूड़ियों की तरह
भरी-भरी होती है
आत्मा की कलाई
रंग-रंग बजता है आत्मा का सौंदर्य
देह जब चटक कर
टूट जाती है
उतर आता है
कलाई-सा सूनापन
आत्मा में...

यह मेरी सुबह है

यह मेरी सुबह है
पलकें खुली हैं ऐसे
जैसे किसी बग़ीचे में रखे हों मैंने पैर
आगे बढ़ती हूँ
देखती हूँ दूर तक मेरे सामने फैले हैं
तरह-तरह के काम
खिले हों जैसे तरह-तरह के फूल बग़ीचे में
मैं कुछ फूल चुनती हूँ
रखती हूँ अपनी टोकरी में
समय के तार में पिरोती हूँ इक-इक फूल
इस तरह गूँथती हूँ सुबह से शाम
मेरे हाथ महक रहे हैं
मेरी नींदें भी महकती हैं
इन्हीं फूलों से...।

प्रेम रंजन अनिमेष

रेज़गारियाँ

संवाद
पहुँचते लिखना

एक चिट्ठी
बीच राह से भी...

छोर
अतिवृष्टि से
स्थिति सीधे पहुँच जाती है
अनावृष्टि तक

यहाँ बीच की ज़मीन नहीं

निर्बाध
गाँठ नहीं मेरी सोच में

रखता हूँ सँसरफाँस

लगती किसी की उँगली
और खिंचता खुलता जाता
अनायास...

चयन
फूल रखनेवाले
तो बहुत हैं

मैं करता हूँ
मुरझाए फूलों को समेटने का काम...

विडंबना
पेड़ों के कटने के ख़िलाफ़
लिखता हूँ कविता

और कटते जाते पेड़

रंजन अनिमेष का जन्म 1968
में हुआ। मिट्टी के फल, कोई
समाचार (कविता-संग्रह)
कहानियाँ प्रकाशित। भारत-
अग्रवाल पुरस्कार से
सम्मानित। संपर्क : द्वारा प्रो.
प्रसाद सिंह 'जिजीविषा',
विहार, हनुमान नगर,
-800020

यूँ ही

बिकना तो नहीं

ख़ुश हो जाता मगर
अपना ही मोल कर

आधा-पूरा

आधे में ली
आधे पर दी

इस तरह
पढ़ाई
पूरी की

हैसियत

विज्ञापन में स्त्री

गोश्त की दुकान पर जैसे
चिड़ियों की तसवीरें...

अपूर्ण विराम

देर रात
जब सो जाता थककर

दूर पहियों की आहटें
आतीं बिस्तर पर...

असंवाद

भरी दिखती पेटी
झाँकता लिफ़ाफ़ा

दौड़कर आता
हुलसकर खोलता
फिर उदास हो जाता
पत्र नहीं अब
आते हैं विपत्र...

सहकार

रात शीत की
बात मीत की

खाना खाया
मिलकर साथ

उठे अगर तो
लेते जाओ

धोते आओ
यह भी हाथ...

वजह

आज क्या हुआ

इस तरह
मेरी पीठ थपथपा रहा

हाथों में उसके कहीं
धूल तो लगी नहीं!

घर का बाज़ार

अब जब घर है दूभर
हो गए हैं उसके कितने सौदागर

जो नहीं है
वही चीज़ सबसे अधिक बिकती है

हर झूठ है
दरअसल एक खोए हुए सच का कारोबार...

बढ़ावा

मेला लगता है वहाँ
जहाँ एक स्त्री जली थी

स्त्री ही बदल सकती है
बदलने दे सकती है

अपने जलने को उत्सव में

वयस्क शिक्षा
मुँह अँधेरे
क़लम की खोंप से

डाल रही भोरी
सलवार में डोरी...

अनुस्मारक
जवानी के जुनून में
दाँत का दर्द

स्मरण कराता
अक्षर नहीं यह देह नश्वर

सबसे पहले उसी का क्षय
जो जितना बली हठीला पत्थर...

समन्वय
आगे बढ़ते
सबके पाँवों की
सभी उँगलियाँ
होती नहीं आगे की ओर...

पटाक्षेप
गाड़ी आकर चली गई है
धूल उड़ाकर चली गई है

चिड़िया गाकर चली गई है
दिल बहलाकर चली गई है

बदली छाकर चली गई है
फिर भरमाकर चली गई है

सुखनींद
बिछौनों पर सोते हैं लोग
मसहरी लगाकर

खुली हवा के नीचे सोता हूँ मैं
पसीना बिछाकर...

प्रेमलता वर्मा

प्रवास में रचना : परिवेश एवं अभिव्यक्ति

प्रवास हर दशा में एक विछोह की स्थिति है। एक तरफ़ वह आत्मसंकट तथा दूसरी तरफ़ से एक सुविधा भी है। जटिल उलझनों और एक संयोग के साथ। तथा दोनों को मिलाकर एक चुनौती भी। रचनाकार के संबंध में यह चुनौती एक विशिष्ट अर्थ वाली हो जाती है। यह चुनौती रचनाकार की आंतरिक अस्मिता, विवेक के स्तर पर भावसंवेदना के तथा व्यक्तित्व का ढाँचा परखने कसने, पूर्व ग्रहित, संस्कारों से मुक्त हो नए परिवेश से उत्पन्न द्वंद्व को सँभाल ले जाने वाली होती है। विछोह की उदासी को आत्मदया में न बदलने की शर्त पर रचना की सेहत के लिए यह चुनौती उसके आगे प्रस्तुत है। बिना अपने मूल से विच्छिन्न हुए रचना प्रक्रिया के भीतर नए परिवेश से प्राप्त अनुभव को जज़्ब कर लेने की मौलिक चेष्टा के रूप में।

प्रवास में एक भारतीय रचनाकार दो संस्कृतियों की, दो क़िस्म के मूल्यों की ऐसी सनसनाहट भरी सरहद पर ख़ुद को खड़ा पाता है जिसके एक तरफ़ के भूगोल पर विधिनिषेध के दंड लिए अपने सामाजिक संस्कार सगेपन से बहिष्कृत करने की चेतावनी देते हुए धमकी भरी मुद्रा में डराने को खड़े होते हैं, तो दूसरे छोर का अनजाना परिवेश आपको अपने से परिचय का आमंत्रण देने को हाज़िर रहता है जिसे अगर रचनाकार सहानुभूतिपूर्ण लचीलेपन से नहीं ग्रहण करता तो दोनों तरफ़ से उसके लिए फिसलनदार सीढ़ियाँ तैयार। यानी, एक प्रवासी रचनाकार के मानस का दरवाज़ा दो तरफ़ से खुलता है—एक है उसका वर्तमान दिग्काल जहाँ वह मौजूद है और वफ़ादारी उसके तथा लेखन के लिए लाजिम शर्त है। दूसरा है उसका परिचित परिवेश जिसे वह बाहर से पीछे को छोड़ आया है, मगर जो हमेशा उसकी संगत में समुद्र तट की चट्टान से चिपके मूँगे की तरह अपनी भाषा से लिपटा चला आया है। नया परिवेश तथा नई भाषा का तेवर, रूप-रंग व स्वाद रचनात्मक संवेदना को एक ख़ास तरीक़े से झकझोरते, हिड़ोरते तथा सवालों की चुटकियाँ काटते रहते हैं। वैसे तो लेखन अपने आप में एक दीवाना एडवेंचर है मगर प्रवासी लेखन के इस द्वंद्वात्मक

1939 में इलाहाबाद में जन्मी प्रेमलता वर्मा अरसे से अर्जेंटीना में रहती हैं। उनके कविता संकलन, आलोचनात्मक लेखों के संकलन प्रकाशित हैं। भारत में उनका पता है : मार्फत भाषा सिंह, मलिक कॉटेज, तीसरी मंज़िल, एफ़-6/54, जनता गार्डन, पांडवनगर, दिल्ली-110091.

तनाव में कुछ ज़्यादा गहराई से पेश होता है। उसे अपने भीतर के अँधेरे और बाहर के उजाले के बीच बैठना होता है। "क्या, कैसे और क्यों" के बीच भारतीय प्रवासी रचनाकार की हालत दो नावों पर दो पाँव रखे उस व्यक्ति की-सी होती है जिसे संतुलन बनाए रखने के ख़तरे से बराबर चौकस रहना है। सरहद की दो भिन्न चरित्र की भाषाओं से आपसी मेल-जोल एक और समस्या है, जैसे दो सिंह आमने-सामने और लेखक निःशस्त्र, दोनों की नकेल हाथ में थामने से पहले दोनों की दोस्ती करवाए। जब तक परायी भाषा से ठीक परिचय नहीं हो जाता दुनिया बड़ी मुश्किल लगती है, डर व असुरक्षा की भावना काठ में पाँव डाल देते हैं। दूसरी तरफ़ अपनी मातृभाषा से विछोह, हिंदी भाषा में संवाद न कर पाने की बेबसी सबसे ज़्यादा करकती, सालती है। नए परिवेश की भाषा में अपनी हिंदी की कोई पहल नहीं। लुब्बे-लुबाब, हिंदी रचनाकार की हालत हाथ में टोपी लिए उस व्यक्ति की-सी हो जाती है जो एक ऐसे कमरे में बैठा है जिसके दो तरफ़ से दो दरवाज़े निकलते हैं। एक तरफ़ के दरवाज़े की पट्टी पर लिखा है—"भीतर आना मना है", तो दूसरे पर लिखा "बाहर निकलने पर निषेध"। तब बेचारे को अपने हाथ की टोपी अपने सिर पर ही रख लेनी होती है। अपनी राष्ट्रभाषा वह परदेसी परिवेश में ले नहीं जा सकता, नई भाषा को अपने संस्कार में प्रवेश करने की अभी इजाज़त नहीं। फिर इस दोहरे निषेध को हल करने में लगती है सालों-साल की मेहनत। फिर परायी भाषा में महारत हासिल करने के बाद भी वह अपने को उस भाषा का लेखक मानने का ख़ुद के आगे कभी दावा नहीं कर सकता क्योंकि उसकी अपनी भाषा की जड़ों के संग उसके तमाम संस्कार जुड़े हुए हैं। आत्मसम्मान में सीझी हुई अपनी निजी भाषा की गतियात्रा मानस में बराबर जारी रहती है। वह लेखक की अस्मिता की प्रतीक, आस्था की लय, अपनी संस्कृति का चित्र और मानसिक भावनात्मक अस्तित्व की संजीवनी बूटी तो है ही—अपनी साँस, अपना सपना भी, जो पराये परिवेश के सांस्कृतिक व्यवहार से ऊर्जा खींचता रहता है। अपनी भाषा ग्वातेमाला के "कीचे माया" जाति के आदि काव्यग्रंथ "पोपोल वू" की नायिका का वह "गीला शब्द" है जो उसे विरासत में मिला है। वर्तमान गति में लेखक का भविष्य भी वही है। बाहर का कोई परिवेश अस्मिता नहीं देता, मगर अस्मिता की सही पहचान की ओर ज़रूर ले जाता है। अपनी भाषा के तर्ज को खिलाने, चमकाने के लिए एक नई कूची दे देता है। एक गंध में दूसरी गंध मिलकर उससे एक भिन्न मगर शायद अपूर्व इत्र भी बन सकता है। यह रचना विदेशी प्रवास की भाषा से सब खींचकर और अपने मुहावरे को उससे सींचकर अपना मौलिक नवीनीकरण कर सकती है। (लेखक की मुद्रा अपने अतीतमुखी दंभ से तनी हुई न हो तब) जब तक सामने खड़ी परायी भाषा के तेवर पर हिंदी लेखक का पहिया मज़बूत नहीं हो जाता, छूटे हुए का ग़म, अपनी भाषा की नॉस्टाल्जिक अनुभूति को दबोचकर कमज़ोर बना देता है। नई भाषा की पैठ जिस तरह से नए परिवेश के व्यूह को भेदने का रास्ता बनाती है उसमें अपनी भाषा की स्थिति स्पष्ट होने लगती है। जो पीछे छूटकर भी साफ़ है वह नए मूल्यों के बीच संघर्ष की शुरुआत पर दो भाषाओं के आपसी सख्य से कल्पना के संसार में नई छवियों का आह्वान बन जाता है।

इस पूरे द्वंद्वात्मक संघर्ष में प्रवास, अभिव्यक्ति की भाषा और सृजन को गहराई से बूझने के साथ-साथ अपनी आत्मा को भूगोल को पहचानने का रास्ता भी खोल देता है। सांस्कृतिक मूल्यों के दोनों तरफ़ की लहरों के उतार-चढ़ाव को सिर्फ़ साक्ष्य बनाकर नहीं, वरन ठीक बीच धारा में ठहरकर, दोनों की समझ को तोलते हुए अपने अंतर्बोध को एक ऐसे संतुलित बिंदु पर पहुँचाने की कोशिश करता है ताकि उस परिवेश संघटित जिन यथार्थ के टुकड़ों से रचना की फैंटेसी की

ई हो रही है, अपने आंतरिक आदर्शों के मेल पर वह कोई गोलेम* बनकर न रह ए, ताकि आम आदमी का अपने में विश्वास हीं भी खंडित न हो। बग़ैर सृजनात्मक शक्ल र कोई भी अभिव्यक्ति मूल्य पैदा नहीं करती, र्फ़ भावना को भड़का भर सकती है या र्थहीन सन्नाटे में ढकेल सकती है।

इसलिए रचना को रिवाज तोड़ने का एडवेंचर ना गया। रिवाज का मतलब है—कुछ भी र से परिभाषित न करने की ज़िद जो कि कई में रचना की गति के लिए त्रासदी है। वास पारंपरिक सतह से उठने की एक संभावना ती है ही, साथ ही प्रवासी लेखन बने-बनाए रिवेश के रिश्तों की सतह से ऊपर उठ सबसे हले एक स्वप्नदशा है। समझने-बूझने और ल-मिलाप की प्रक्रिया में एक भाषा के प्रतीक का दूसरी भाषा के प्रतीक में भिद जाना, एक नई वसना का रचनाकार में जन्म है। इस अर्थ में भी रचनात्मक एडवेंचर को प्रवास में एक ख़ास सेंस मिलता है—अपने पूरे तनाव भरे द्वंद्व के हत। यूँ एडवेंचर साहित्यिक कर्म का स्वभाव ही है जो रचनाकार की संवेदना में पहले से मौजूद है। एडवेंचर के भी कई रूप होते हैं रचना में, जैसे देखिए "वर्जीनिया वुल्फ" के लिए खिड़की की दरार से एक तितली का भीतर घुस आना एक ख़ास एडवेंचर होता था। यानी एडवेंचर कोई प्राग्मैटिक उपयोगितावादी क्रिया नहीं है। यह क्रिया रचनाकार को असामाजिक नहीं बनाती बल्कि समाज के और निकट ला देती है। एक हिंदी लेखक नए परिवेश की भाषा संस्कृति को अर्पित नहीं हो जाता बस खुली तबीअत से छोटे-बड़े तथ्य के भेद को केंद्र में न रखकर उसकी विषयवस्तु को अपना सगा बनाने की विधि खोजने में लगता है। ताकि अपने मुहावरों को रचना में मौलिक जगह पर रखने की परिपक्वता पैदा हो। "कला की सीमा कला ही हो सकती है, जैसे समुद्र समुद्र की सीमा से बाहर नहीं, आकाश स्वयं से बाहर रहकर मुक्ति का प्रतीक नहीं और चिड़िया के पंख ही चिड़ियापन के प्रतीक हैं", मगर अपने भीतर आकाश हर उस तथ्य को ग्रहण करता है जो उसे रोशन करे या धूमिल भी बना दे, जैसे मेघ या ग्रहण। तब मलयज के इस कथन की सच्चाई साबित होने लगती है—"रचनाकार को रचनाकार की शर्त पर नहीं, रचना की शर्त पर पाया जाता है और जीवन भी रचना के सहारे पाया जा सकता है, पाने या खोने के लिए।" दरअसल, रचना का जीवन किसी भी परिवेश में पाया जा सकता है, शर्त सिर्फ़ ये कि विधिनिषेध के कठघरे में पले हाथों से वह बीमार न हुई हो और संस्कृति के दंभ में शुरू से आख़िर तक सिर्फ़ अपना ही आलाप न लेती हो। (जैसा कि तथाकथित प्राच्यवादी पाश्चात्य सभ्यता के बीच भदेस पंडिताऊपन से, सच्चाई की आँख पर पट्टी बाँध कर करते हैं, परंपरा के मिथ्यापन की ओढ़-बिछावन लेकर।)

नए परिवेश की संभावना को मलयज ने आदर्श की तरफ़ बढ़ा क़दम माना जो कि यथार्थ को और नज़दीक ला देता है, क्योंकि आदर्श के अभ्यास के लिए कोई भी दिक्काल अच्छा है, सही परिप्रेक्ष्य में अपने लोगों को प्रेम करने की अच्छी सामर्थ्य मिल जाती है और अपने मानवीय मूल्यों की परख भी। जीवन-मरण के बीच घटने वाली तमाम बातें जो सवाल उठाती हैं उनसे

---

* गोलेम—पंद्रहवीं शताब्दी के एक यहूदी पादरी ने जर्मनी में एक मिट्टी का पुतला बनाया। उसने हिब्रू भाषा के काबला (पवित्र ग्रंथ) के अक्षरों से पुतले में प्राण फूँके। इस प्रेत रूपी मनुष्य को उसने अँधेरी गलियों में छोड़ दिया ख़ुद ही अपने प्रयोग करने को। ऐसे बनावटी मनुष्य की अपनी अस्मिता नहीं होती, इसीलिए वह दूसरों की अस्मिता का इस्तेमाल करता है, जो अनेक रूपों में विध्वंसक हुआ करती है। पादरी ने इस प्रेत को नष्ट करने का एक विकल्प ज़रूर छोड़ा। अगर उसके माथे पर "सत्य" शब्द लिख दिया जाए तो उसका अस्तित्व मिट जाएगा। बोरखेस की कई रचनाओं में गोलेम का संदर्भ है।

भिड़कर व मथे जाकर रचना पाई जाती है, उनके इनकार से नहीं। इसलिए किसी भी दिक्काल में रचना अपना विलोम नहीं। तत्त्वों का रूपांतरण किसी तीसरे में करने से पहले अस्तित्व में टूटे-बिखरे तत्त्व से रचना दीप्ति भरी जा सकती है। यह काम इस बात पर निर्भर करता है कि लेखक अपने नए परिवेश से और अपने आप से क्या चाहता है, नए तत्त्वों और नए संदर्भों को उसने किस प्रकार महसूस किया, किस ज़मीन पर उसका मनन किया, किस मूड के साथ, किस दिलचस्पी और सहानुभूति के साथ उनको प्रबुद्धता के साथ अपनी भाषा के साँचे में ढाला। या वास्तविकता पर उसकी पकड़ कितनी सच्ची थी, उसने मंज़रों का खुली आँखों से नज़ारा किया या अधखुली आँखों से जाँच कर ख़ुदा हाफ़िज कर दिया। उसके चिंतन में कितने उपयोगितावादी और कितने सूक्ष्म बोध थे, ये तमाम बातें स्पष्ट होनी चाहिए। किस कोण से रचनाकर अपनी आंतरिक यात्रा की कथा अपने उल्लास और वेदना में पिरोना चाहता है। इसके अलावा उसकी ''राकेल कास्ता'' के बारे में बोलने की आज़ादी सुषमा शर्मा के बारे में लिखने की पहल के बराबर ही होनी चाहिए। परायेपन के दोष से हटकर सिर्फ़ मानवीय धरातल पर, अपने को रचनाकार से पहले मनुष्य समझकर, सामान्य को ही विशिष्ट का दर्जा देकर काम शुरू करने से ही यह संभव है। उसका लेखन अनुभव का इश्तेहार नहीं बना घटनाओं को एक्सीडेंट की तरह बयान कर रोमांच पैदा करने की नीयत से अलग उसकी विशिष्टता, सामान्य से गहरा संबंध करने से बनी। जब जड़-परिवेश से अलग होकर रचनात्मक अनुभव में साहित्यकार की वासना समय तथा स्थान की चेतना से जुड़कर अपने आप में परिवेश बन जाती है तो उसे पाठक का भी ध्यान रहता है कि उसने किस मन से उसकी बात सुनी और गुनी कि नहीं। क्या उसने कहा, क्या उसने यह समझा कि यह उसकी ही बात तो थी जो रचनाकार ने कह दी? मगर, पहले उसे ख़ुद को भरोसा दिलाना पड़ता है कि उसने प्रवास में जो रचा उसकी संभावित क़ीमत अपने देश में क्या है। जो सपना उसने प्रवास में देखा उसका भाष्य करने वाला कोई है या नहीं? मगर सबसे पहले उसे ये भी समझ लेना चाहिए कि प्रवासी परिवेश की भाषा से असंपर्क हर चीज़ को परायेपन का रंग दे देता है तथा बर्लिन की दीवर दो परिवेशों, दो संस्कृतियों के बीच खड़ी हो जाती है। फिर रचना असंबंध वस्तुओं के संबंध की अपनी परिभाषा से कट जाती है।

देखिए, विदेश की गलियाँ, सड़कें, बार, कॉफ़ी हाउस, राजनीति, सामाजिक उथल-पुथल, सुबह सफ़ेद यूनिफ़ॉर्म में स्कूल जाते बच्चे, रात व दिन की ज़िंदगी के अर्थ-फ़र्क़; सभी तो रचनाकार की संवेदना पर उसी तरह असर डालते हैं जैसे अपने देश की यही सब चीज़ें, यही दृश्य। भले इनके इश्तेहारों की शक्लें भिन्न हों। अपने अंतर की तहों में विछोह के केकड़े का डंक सहते हुए दो सामाजिक मूल्यों की सरहद के अंधड़ को झेल बार-बार घायल होता हुआ हिंदी का मौलिक रचनाकार सही मानवीय बोध के तहत उठ खड़ा होता है तथा ख़तरनाक सत्य पर भी सीधी निगाह जमाने से नहीं चूकता। क्योंकि उसे आकर्षण की चकाचौंध गिराती नहीं जो कि बनिया तथा पंडा संस्कृति से जुड़े लोगों के लिए आसान है। नए मोर्चे पर उसकी यह संतुलन पा लेने की जद्दोजहद उसकी अस्मिता का घालमेल नहीं कर पाती। न वह उसे इससे अभिव्यक्तियों को दोगली बनने की इजाज़त ही देगा। इस जतन में उसकी हालत बेताल कथा के राजा विक्रम-सी हो जाती है जो बेताल मुक्ति के लिए बार-बार कंधों पर लाश ढोता है तथा बार-बार बेताल के प्रश्नों से घिर जाता है। हर प्रश्न का उत्तर एक नए प्रश्न की तैयारी है। कर्म का दोहराव संपूर्ण उत्तर की पराजय ही तो है तथा नए दहकते प्रश्न का सामना करने का ख़तरा-उत्तर हमेशा अधूरी राह में पड़े हैं या

कर नायक की मेधा में बुदबुदाते हैं। मगर कोई मेधा इतनी समूची नहीं होती।

इस जीवनानुभूति की प्रक्रिया में अंतर्विरोध का आ जाना सहज ही है। रचनाकार उतना यथार्थ प्राणी नहीं होता जितना कि एक राजनीतिक अर्थशास्त्री का पुजारी। उसे तो सिर्फ़ समूचे मनुष्यपन में ही अपनी पहचान करनी है फिर वो यहाँ हो चाहे वहाँ है, यही उसकी सबसे पहली नैतिकता है। परदेस में वह जिस संधि की मुद्रा में रचनाभूमि तथा जन्मभूमि पर खड़ा है उसमें नितांत अकेला है। उसको अपनी बौद्धिक क्षुधा के लिए हिंदी साहित्य का चूरन ही कभी-कभार उसकी हथेली में पड़ता है। बाक़ी, देश की स्मृतियाँ और परदेसी साहित्य, इन्हीं से मानसिक ख़ुराक मिलती है। तब अपने अनुभव की पूँजी लेकर क़रीब हर भारतीय रचनाकार महासागर में बहते एक द्वीप की हालत में पड़ा है। उसकी समस्या है कि पहले तो कैसे वो अपने अनुभव को देखे और अपने संघर्ष के सुख का क्या करे, कैसे करे। द्वंद्वात्मक स्थिति की भिड़ंत में पाया मूल्य उसकी अपनी कमाई है, वह किस संभावना की तरफ़ मुड़ी है? वह सिर्फ़ आकृतियाँ तो नहीं व्यक्त करना चाहता, उन्हें रचता भी है। इन छवियों की सही तसवीर अपने परिवेश के रूप-गंध-हवा और चरित्र की गंध के संदर्भ के साथ पेश होनी चाहिए वरना हर प्रवासी देश में लिखी हिंदी रचना किसी भी देश की लिखी रचना लग सकती है। यह न न्याय की बात, न परिवेश के संग ईमानदारी, न वफ़ादारी, न सार्थकता की बात होगी। तथा पाठक को कुछ अलहदा देने का विश्वास भी खंडित होगा। यदि इस्राइल, अमेरिका, ब्रिटेन और जापान जैसे यांत्रिक सुविधावादी प्रवास में लिखी रचना दिल्ली के कनॉट प्लेस में बैठकर लिखी गई रचना की तरह लगे तो पोपोल वू के शब्दों में लेखक "बोलते हुए भी कुछ नहीं बोलता।" दुनिया में हर जगह मयख़ाने, पुरानी बस्तियाँ, नाचघर, वारवनिताएँ और गलियाँ हैं मगर हर एक की मुहर, शैली, व्यवहार अलहदा-अलहदा। एक ही टकसाल में आप उन्हें कैसे डाल सकते हैं? कुछ भारतीय प्रवासी साहित्यकार उनमें से कुछ ख़ास सीढ़ियाँ चुनते हैं जिनसे फिसलने की गुंजाइश ज़्यादा होती है, क्योंकि लेखन से पहले मनुष्य की जानकारी लेना भी वो ज़रूरी नहीं समझते। सपाट ज़मीन पर विषयवस्तु को बिछा देना, एक सुविधावादी महत्वाकांक्षा तथा नए परिवेश से झूठा व बेहूदा समझौता है। मानव नियति का वारा-न्यारा कर देने वाली किसी देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक उथल-पुथल से कतराकर आत्मकेंद्रित हो लिखना कहीं से भी शुभ नहीं। रचनाकार को यह तो मालूम होना ही है कि आजकल से छोटा या लंबा नहीं है, न कल आज से छोटा या लंबा था और न ही आने वाले कल को इस अर्थ में बचाना है। रचनाकार को सबकुछ वर्तमान में समेटना है लचीले तरीक़े से।

नीचे से ऊपर देखने पर सिर उठाना पड़ता है, इसमें फ़ासले की एक आरामदेह, भयहीन, बहरी अनुभूति का संतोष मानस में तिरता है। मगर ऊपर से नीचे ताकने में चक्कर आता है। एक तीव्र आकर्षण का तीखा अहसास नीचे फेंक देने की संभावना तक खींच सकता है। रचनाकर्म इसी गहराई और ऊँचाई के बीच सही संतुलन की खोज है। वह संतुलन जिसका नाता सीधे जीवन के तत्त्वों और दुनिया के तेवर से है। रचनाकार का काम दुनिया का मुख इसी संतुलन की ओर मोड़ देने की कोशिश भर है, कोई दावा नहीं। वह हर एक के आगे तराजू पेश कर देता है ताकि हर एक अपना वजन तोल सके। परिवेश से वफ़ादारी निभाने का यही अर्थ है मेरी छोटी समझ में।

अब अर्जेंटीना के प्रसंग में देखें। एक निहायत नए देश की उधार की सभ्यता, संस्कृति के इतिहास—जिसका उस ज़मीन से गुदने की तरह लगे हुए आदिवासियों को काट-कूट, नेस्तनाबूद कर निर्माण हुआ और जहाँ तमाम यूरोपीय जातियों की नौस्टेल्जिया का ठप्पा लगा हुआ है (ख़ासकर

स्पेनी और इतालवी) के बीच साहित्य रचना किसी बहुविधि शक्लों वाली प्राचीन ज़मीन के गर्म-सुर्ख़ परिवेश में लिखने जैसा नहीं है। अर्जेंटीना का कुल इतिहास चार सौ साल का है, जिसमें फ़ौजी तंत्र का ही प्रमुख हाथ रहा। गाऊचो, माते, टैंगो, मार्तिन फिएर्रो, लुगोनेस, बोर्खेस और कोर्तासार के देश की तेज़-तर्रार, नशीली, भेदभाव रहित, झगड़ालू, प्रेम बरसाने वाली, छबीली, डाकू नज़र वाली, दिलकश स्पेनिश भाषा के चुलबुलाते माहौल से हिंदी की दोस्ती करा दोनों के मुहावरों की भिन्नता परखते हुए लिखना निहायत अलहदा चीज़ है, अमेरिका या जापान की सुविधावादी, पूँजीवादी ज़मीन पर या औपनिवेशवादी की ग़ुलाम बनाने वाली फितरत के क्षेत्र में बैठकर लिखने की तुलना में। इसी से तय हो जाता है कि लेखन को बीमार कर दिया जाए या सेहत देकर लिखा जाए। सिर्फ़ राजनीतिक नेताओं को ही हर जगह समानता दिख जाती है। मगर रचनाकार समानता की थोथी और भौंडी तलाश में नहीं जाता, बल्कि असमानता के धरातल पर सहानुभूति भाव से एक अलहदा क़िस्म का संवाद पा लेने की तैयारी करता है। वह नई दिशा में भाव बोध के लिए विषयवस्तु को अपनी बौद्धिक संवेदना में ढालकर एक नई भाषा की सृष्टि चाहता है।

अर्जेंटीना—जिसके लंबे और बार-बार दोहराए गए फ़ौजी शासन के इतिहास ने कभी लोकतंत्र को शांति से साँस लेने का सिलसिला नहीं दिया, और हमेशा उलट-पुलट धमा-चौकड़ी के बीच भौतिक समृद्धि की कामना में व्यक्तिवाद ही पनप पाया। ऐसे वातावरण में एक आदर्शवादी दिलोदिमाग़ के लिए शुरू में यह सब एक गोरखधंधा ही था। फिर नहले पर दहला ये कि 1976 से 1982 के बीच फ़ौजी तंत्र के दमनचक्र ने अपने ही देश के तीस हज़ार यहूदी और वामपंथी जवानों को (और जो भी उसकी चपेट में आया) का सफाया किया, तरह-तरह की भयानक तकनीक वाली अमानवीय यंत्रणा देकर जिसके आगे नात्सी भी पानी भरें, उन्हें गुमशुदा की सूची में फेंक दिया। इस क्रूर तथ्य ने मेरे मानस में जैसा समुद्र मंथन मचाया उसने मुझसे कुछ घोर रचनाएँ करवाईं। अर्जेंटीनी मानस घोर आतंक के सकते में आ चुका था। लेखन में पलायनवादी रुख़ ने तेज़ी पकड़ ली थी। इस दहकती, भ्रष्ट, बलबलाती फ़ौजी राजनीति के आतंक की छाया से बचने का निकास अतियथार्थवाद के तहख़ाने में या रहस्यवाद की गुफा में घुस जाना, कवि लोगों का रिवाज बन गया। यथार्थ की खरी और सच्ची रचनात्मक अनुभूतियों से नाता टूटा। सा़माजिक चेतना काटकर पेंचीले मनोविज्ञान की ऐंच-पेंच, सनसनी, खींच-तान, हत्यारी मनःस्थितियों से साहित्य भरा। सन् बयासी के मालवीना द्वीपों के बनावटी युद्ध ने पलायनवादी रुझानों में इज़ाफ़ा ही किया। दग़ाबाज़ फ़ौजी राष्ट्रवाद के झंडे के नीचे (भर्राए गले से ही सही) राष्ट्रीय गान गाकर जनता ने ख़ुद को धोखा दिया। लोकतंत्र की सरकार बन जाने के बाद भी आतंक की बची गूँज के तहत काव्य में अँधेरा ही छाया रहा, गति रुद्ध रही। मैं इन सबकी गवाह और कुछ भुक्तभोगी भी इन्हीं अनुभवों की पूँजी से रचना में उतरी। स्पेनी, हिंदी दोनों में लिखा, मगर जहाँ स्पेनी में लिखी रचना को आमतौर पर अलमारी में बंद कर चाबी फेंक देनी थी वहीं हिंदी की रचना के लिए भारत अभी दूर था।

फिलहाल वह दौर गुज़र गया। अब हवा कुछ ताज़ी और हरी हो गई है। साहित्य अब अपने सामाजिक अंडे को ज़रा-ज़रा फोड़ रहा है। स्पेनिश से हिंदी में अर्जेंटीनी रचनाओं के अनुवाद के लंबे काल में भाषा परिवेश से जितना गहरा संबंध बनता गया उतना मेरे अपने संस्कार, अपने मूल्य, अपना हिंदी प्रेम, सब स्पष्ट होते गए। यह भी सही है कि मैंने पूर्वाग्रहों को अपने से छाँट, खुले दिलोदिमाग़ से, सुंदर-असुंदर की पकी-पकाई धारणा से अलग कर नए समाज में प्रवेश किया। बिना सांस्कृतिक दंभ और अहंकार के।

मेरी हालत थी निहायत असुरक्षित। समझ कि रचनाकार जिस दिक्काल में छवि गढ़ता वह उसका अपना स्पेस भी होता है। तथा एक मात्र अपना परिवेश (जैसे आम)—वही शब्द" जो मानव संस्कृति के उत्स का है, उसके अकेलेपन को पकाकर उसका साथी। रचना की लय और उसकी इस बात पर निर्भर करती है कि प्रवासी लेखक ने दोहरे परिवेश की समस्या को तरह हल किया, कितना तजा, कितना ग्रहण क्या रूप दिया उसको, जो पाया। हिंदी में माहौल के चरित्र को बैठाना आसान नहीं, भारतीय सौंदर्य की कसौटी काम की नहीं जैसा मलयज लिखते हैं—"लेखन को की शर्त पर नहीं अनुभूतियों की परिपक्वता जरिए पाना होता है।" अपने को पाने के लिए देना नहीं आता, वह किसी परिवेश में नहीं सकता क्योंकि—"प्रेम उसके लिए असंभव है, कि मुक्ति प्रेम के द्वारा नहीं प्रेम के बीच ही है।" जीने और सोचने के ख़तरे से लेखन को आरामदेह चीज़ समझने वाले हाथ से रचना फिसल जाती है। देखिए, हमारी विडंबना यह कि अपने भारतीय परिवेश में हमारा सच ही बड़ा अमूर्त-सा होकर दार्शनिक विचारों से छनकर आया हुआ होता है। प्रवास में अतीत में धँसे इस वर्तमान का उदास चेहरा भी इसीलिए नज़र आने लगता है।

हिंदी का प्रवासी साहित्यकार जल के दो प्रतीकों के बीच है, जीवन-मरण के बीच अत्यंत बारीक़ सूत्र को बूझने के लिए, जीवन को नए संस्कार के लिए, रूपांतरण में भेद मिटा देने के लिए। माया यह जल ही रचनाकार का प्राप्य श्रेय है जिसमें छलाँग लगाकर आत्मशोधन और आत्मसंस्कार के प्रयोग के लिए ख़ुद को दाँव पर रखना लाजिमी हो जाता है। इस बिंदु पर वह अपने को फिर से रहा होता है। नई दीक्षा के लिए जल के तल में तैरना चाहता है, तट पर रहना नहीं। अपने नवीनीकरण के लिए जीवन-मरण उसका चुनाव नहीं मगर उसके बीच का सेतु है, हाँ जहाँ वह संतुलन न बिगड़ने देने की चेष्टा में है। अपनी भाषा यह जल ही तो है जो जीवन-मरण के बिंदुओं के बीच से बाहर बहकर आती है, उधर से और इधर के तटों से टकराकर बहती हुई।

और मैं ?

सीखा कि, अमानवीय वातावरण झेलकर ही ज़्यादा मानवीय बना जा सकता है। एक वक़्त जिस हॉरर वाले परिवेश को जिया, उसी ने सुझाया कि सामने वाले से कहूँ—अरे तू तो सिर्फ़ मनुष्य है और मैं भी! मनुष्य में मनुष्य के होने, भिद जाने की इसी दलील ने बचाया है, भटकन से, नौस्टेल्जिया से पैदा आत्मदया से, असहायता से और फिसलन से। नई भाषा के अंदाज़, नखरे, साँस लेने के तरीक़े, उसकी हलचल और उसकी वासना ने अपनी हिंदी पर एक नए रंग की कूची का प्रयोग करने दिया। विदेशी भाषा के प्रतीक भले उड़ती चिड़िया लगे पर चेष्टा से भागना नहीं। बग़ैर इस संकट को अपनी सुविधा बनाए, खैर नहीं। मैं भूसी नहीं चाहती—फ्रांसीसी लेखक एवुजेन आयोनेस्को के शब्द में, "मैं, मैं ही हूँ, मगर वह दूसरा भी हूँ क्योंकि वह दूसरा ही मेरी शुरुआत है।" तो मैं कह सकती हूँ कि मैं अपने वर्तमान में बार-बार शुरू होती हूँ, अतीत की काम लायक़ ध्वनियों में जोड़कर, बराबर उतार-चढ़ाव की लय में मौजूद। मगर मेरी वर्तमान की चेतना सीमित नहीं, वर्तमान वह ख़ाली घोंघा नहीं जिसमें मैंने ख़ुद को अतीत समेत, सगे परिवेश समेत चुरा लिया हो। यह वर्तमान अदृश्य भविष्य को भी आहिस्ता-आहिस्ता छू ही रहा होगा। क्योंकि हर हालत में रचना जीवन की मौत पर विजय पाने की एक नन्ही-सी कोशिश-भर तो है ही।

रमेश कुंतल मेघ

अंतर्ज्ञानानुशासन का बहुरूपदर्शी

आधुनिक कलाइडिस्कोपी श्रीयंत्र से हमारा तात्पर्य है, बहुसम्मूर्तिदर्शी अध्ययन-प्रणालियों का सामंजस्य। इसमें विज्ञान, समाजविज्ञान, मानविकी, कला, साहित्य के नाना विषयों का अंतर्ज्ञानानुशासनवर्ती समन्वित शोधाध्ययन (इंटर-डिसिप्लिनरी स्टडीज़) शामिल हैं।

आदिम समाजों में भी मिथक और भाषा, कला और जादू, धर्म और विज्ञान का प्रतीकात्मक, किंतु अनबूझा सहकार था। कालांतर में कला एवं कौशल तथा विद्यादि के बीच वर्गीकरण किए गए। यूरोपीय रिनासाँ में विज्ञान तथा मानविकी ज्ञानादि के द्वैतविभेद हुए। बाद में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, समाजविज्ञानों तथा मानविकी एवं कला साहित्य के विभेदीकरण हुए। फिर 19वीं सदी के मध्योत्तर से इनके बीच अंतर्संबंधों की अधिष्ठापना ज़्यादा तेज़ी से की गई जिससे आधुनिक युग में अंतर्ज्ञानानुशासनात्मक शोधाध्ययन-मनन की कई व्यास-रेखाएँ बनाई गईं।

इस सुदीर्घ प्रक्रिया में ऐतिहासिक प्राचल पर विकसित होते समाजों में सभ्यता एवं संस्कृति के युगल ही शताब्दियों से मानवीय विकास के संलक्षक रहे हैं। कार्ल मार्क्स (1818-83) ने हीगेलीय पद्धति की निर्विकल्पता को भूत-सापेक्ष्य बनाते हुए आर्थिक "मूलाधार" पर "सुपरिगठन" (सुपरस्ट्रक्चर) के वास्तुपरक रूपक द्वारा सभी आर्ष दिशाएँ मोड़ दीं। सुपरिगठन में संस्कृति तथा विचारधारा का समायोजन हो गया। इससे आधुनिक बौद्धिक अध्ययनों की नींव पड़ी : "प्रयोगशाला" से "फील्ड" से "डेस्क" तक को एकतान करते हुए! मेक्स वेबर (1864-1920) ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित "समाजवाद" के पैनेपन को भोथरा करते हुए "समाजशास्त्र" की सुदृढ़ नींव रखी। अपने "आइडियल टाइप" के द्वारा उन्होंने "स्टीरियो टाइप" तथा "डायना टाइप" की अवधारणाओं को पीछे धकेल दिया, ईसाइयत के नीतिशास्त्र के परिमंडल में पूँजीवाद के विकास को प्रतिपादित किया तथा नौकरशाही पर भी क्रिटिक लिखा। उन्होंने अर्थशास्त्र के मूलाधार (बेसिस) को समाजशास्त्र से विस्थापित करने वाला कर्म-सिद्धांत गढ़ा। सी. राइट मिल्स (1916-62) ने अमेरिकी प्रजातंत्र के क्षय की छानबीन की। उन्होंने, राबर्ट मर्टन (1910) से हटकर,

रमेश कुंतल मेघ का जन्म 1931 में कानपुर में हुआ। इनकी आलोचना की कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कई संस्थाओं से पुरस्कृत एवं सम्मानित हो चुके हैं। संपर्क सूत्र : फ़्लैट संख्या 3 (भूतल), स्वास्तिक विहार III, मनसादेवी कॉम्पलेक्स, पंचकूला-134109 (हरियाणा)
फ़ोन : 0172-2557312

समाजशास्त्र की बीमार रगों पर अँगूठा दबाते हुए समाजशास्त्रीय कल्पना (1959), विश्वयुद्ध, सत्ताधारी अभिजनों तथा मार्क्सवादियों पर गंभीर अनुचिंतन किया। मूलतः उदार समाजशास्त्र तथा मार्क्सवाद का मेल उनका मनोरथ था। इसी कड़ी में सी.पी. स्नो (1906-80) ने शोपेनहॉअर प्रणीत अपोलोनियन बनाम डायोनीसीयिन मनोरथिक संस्कृतियों की समानांतरता में एक ओर विज्ञान की संस्कृति बनाम कला-मानविकी की संस्कृति की विरुद्धता पर तथा दूसरी ओर अमीर और सुविधाभोगी बनाम ग़रीब और अभागे देशों की समाजार्थिकता पर प्रखर बहस छेड़ी।

इस तरह कला-साहित्य और समाजशास्त्र के अंतर्ज्ञानानुशासनों के बीच विनिमय की दिशाएँ खुलीं। पहले के समयों में साहित्य धर्म और नैतिकता से, अथवा ऐस्थेटिक्स और कामशास्त्र से जुगलबंदी करता था। आधुनिक युग में साहित्य और समाजशास्त्र समेत समाजविज्ञान के बीच केंद्र परिधि के अथवा स्रोत लक्ष्य के न्याय अथवा रूपक से अनेक उपागम (एप्रोच) निर्धारित होने लगे।

आधुनिक विश्व की वर्चस्वी बौद्धिक परंपरा में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, समाजविज्ञानों तथा कला एवं साहित्य का एक द्वंद्वात्मक त्रिकोण बनना ही सही परिणति है। मानव-समाज में जटिल तथा उभयपक्षी संबंधता परिव्याप्त रही है। इसलिए विभिन्न विशेषज्ञताओं वाले संक्षेत्रों में कार्यरत स्कालरगण अपनी नातेदारियाँ तलाशते रहे हैं। सो, अब धुरीण समस्या यह है कि मानविकी-ज्ञानों एवं समाजविज्ञानों की समाकलित (इंटिग्रल) एकता तथा अन्योन्यक्रियता (इंटरऐक्टिव) के हेतु विवाद-विमर्श हो ताकि कई अस्पष्ट समस्याएँ ज़्यादा स्पष्ट हो सकें। मूल वजह तो यह है कि भावानुभव के चरण के बाद, संज्ञान (काग्निशन) के अभ्युदय के उपरांत से इनमें विभाजन या द्वैतता शुरू होने लगती है—तार्किक-बुद्धिवादी बनाम प्रज्ञात्मक (इंटूटिव)- अबुद्धिवादी (इर्रेशन) रूप। क्योंकि कला-साहित्य प्रत्येक या किसी प्रकार के संज्ञानात्मक प्रकार्य को वहन करने में प्रकृत्या अक्षम है, इसलिए इसमें समाजविज्ञान तथा विज्ञान की संपूरक संलिप्तता होती है। इसका मतलब यह नहीं है कि कला-साहित्य स्वयं को समाजविज्ञानों में घुला-डुबा डालें। यह भी सही है कि इतिहास-चक्र के भीतर-बाहर कला में ही स्वतंत्र व सृजनात्मक वैयक्तिकता का उन्मीलन हुआ है—श्रमगानों, शैलचित्रों, गोदनों और मुखौटों में। बाद में यही वृत्ति व्यक्ति के आभ्यंतरिक संसार का उद्घाटन करती गई, यथाक्रम में निजी और सामाजिक आदर्शों के द्वारा। इसलिए सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ अंतर्ज्ञानानुशासनों का अंतरावलंबन अनिवार्य हुआ। यह अनिवार्यता ही स्वतंत्रता को सिद्ध करती है।

अनादि से (अनंत तक) मानव-प्रजाति की बुनावट अंतर्विरोधों और इहलौकिक मनोवेगों द्वारा हुई है। इसलिए भी वह "स्वायत्त" '(ऑटोनोमस)है। रचनाधर्मी मनुष्य की इस पुनरावृत्तिहीन ख़ासियत को कला-साहित्य [स्वतंत्र नैसर्गिकता में] अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं। यह सौंदर्य के विधि-विधान के मुताबिक़ "सत्य" के प्रत्यक्षीकरण तथा "संसार" के रूपांतरण की चेष्टा है। इससे अपने अंतिम स्वरूप में "कृति"—वैज्ञानिक ज्ञान की भाँति—निर्वैयक्तिक नहीं रह पाती। फिर भी उसमें रचयिता "कृती" की विलक्षण हस्ती वर्तमान रहती है। हम कृति-कृती आमने-सामने आते हैं।

इस चिरंतन मुठभेड़ के कारण कला-साहित्य मनुष्य के सौंदर्यबोध तथा मूल्यमीमांसा में महत्त्वपूर्ण अदाकारी करते हैं। "द्विपर्ण विरोध" (बाइनरी अपोज़ीशन) की वजह से साहित्य में भी सर्जना-अक्ष पर सौंदर्यबोध तथा आलोचना-

अक्ष पर मूल्यमीमांसा के बीच भी प्रबल दो-फाड़ हो गई है। (भाष्य व टीका की दशाओं के उपरांत)। इन कारणों से इनमें (एवं विज्ञान में भी) समाजशास्त्र तथा नीतिशास्त्र के सरोकार भी जुड़ते-बढ़ते आए हैं।

आगे हम ज्ञान, मूल्य तथा संस्कृति के प्रस्थानकों को लेंगे।

विशाल ज्ञान का नूतन सृजन (क्रिएशन) तथा उत्पादन (प्रोडक्शन), दोनों ही लगातार होते रहते हैं। इनसे बुनियादी प्रकार्यात्मक उप-सिस्टमों का विकास होता है। ज्ञान के अनेक रूप हैं तथा उनकी उपलब्धि के भी तदनुसार कई साधन हैं। ज्ञान संज्ञान (काग्निशन) की वह आत्मवस्तु (सब्जेक्ट) है जो पूर्ण-ज्ञान में प्रक्षेपित होती है। कला-साहित्य का ज्ञान बहुधा सैद्धांतिक है जो संघटनाओं (फ़नोमेना) से जुड़ा है, जबकि व्यावहारिक ज्ञान स्वयमेव वस्तुद्रव्य (ऑब्जेक्ट) से निर्वहण करता है। इसलिए समाजविज्ञान ज़्यादातर ज्ञान का उत्पादन करते हैं जिनके साधन संक्षेत्र के तथ्य, व्यावहारिक निरीक्षण तथा पद्धतियाँ हैं। इसके बरक्स कला-साहित्य में ज्ञान का जो सृजन होता है वह मुक्त साहचर्य (फ्री-एसोशिएसन), स्वप्न-करनी (ड्रीम वर्क), वैयक्तिक विलक्षणता (यूनीकनेस) तथा रचनाधर्मिता (क्रिएशंस) का फलागम है। इसलिए “साहित्यिक कृतियाँ” प्रामाणिक नहीं, बहुधा विश्वसनीय होती हैं। वे प्रतीत-विश्वासकारी (मेक-बिलीव) हुआ करती हैं। वे गल्प तथा बिंबों एवं प्रतीकों पर आश्रित होती हैं। मुक़ाबले में “समाजवैज्ञानिक निर्मितियाँ” ज़्यादातर उत्तरदायी तथा प्रमाणीय होती हैं। वे तथ्यों तथा प्रमापनों (वैरिफ़िकेशन) द्वारा पुनर्लब्ध की जाती हैं। तथापि क्रिएशन तथा कंस्ट्रक्ट, दोनों ही संस्कृति का अंग हैं। दोनों पर ही विचारों तथा सूचनाओं के प्रचंड हमले लगातार जारी हैं। साहित्यिक अध्ययन-चक्र में दर्शनों, विचारधाराओं, विभिन्न ज्ञानानुशासनों, पाठ्यता (टैक्सचुअलिटी) का आधार होता है। अतः हमें “विशुद्ध” साहित्यिक आलोचना के प्रत्यय को कोरमकोर ख़ारिज करके “सामाजसांस्कृतिक चिंतन” को मूलाधार बनाना ही होगा—सृजन की अपेक्षा “आलोचिंतना” की धुरी पर।

जिस तरह साहित्यिक सृजनात्मकता तथा आलोचिंतना के परिचालन के निमित्त अपनी-अपनी पारिभाषिक एवं अवधारणापरक शब्दावली के कुलक (सेट्स) हैं, उसी तरह समाजविज्ञान के अंतर्गत विभिन्न विषयों के ज्ञान-अभिज्ञान के भी अपने-अपने सेट्स हैं। विज्ञान संज्ञान (काग्निशन) पर निर्भर है तो अन्य विषयादि संक्षेत्र-कार्यवत्ता (फ़ील्ड-वर्क) तथा मूल्यों पर निर्भर हैं। अतः समाजवैज्ञानिक संज्ञान को हम वैज्ञानिक-सांस्कृतिक संज्ञान की व्यासरेखा पर अधिष्ठापित करते हैं। ये “प्रणालीपरक प्रतिमानों” (मेथॉडोलॉजिकल नॉर्म्स) द्वारा नियंत्रित होते हैं जिन्हें कोई विशिष्ट विषय (अनुप्रयोग के विभिन्न चरणों में) आत्मसात करता चलता है। इनमें पुनरान्वेषण पर बल की अपेक्षा प्रमाण को महत्त्व दिया जाता है। समाजविज्ञानों का ज्ञान “स्व” के बजाय “पर” एवं अन्य को संबोधित होता है जिससे आत्मभिव्यंजना की छानबीन नहीं हो पाती। इसलिए इसके द्वारा बेहतर निर्वैयक्तिक “सामाजिक” अंतर्क्रियता (इंटरएक्शन) तथा “सामाजसांस्कृतिक” कार्यवाहियाँ संभव हैं। निस्संदेह यह दशा “संज्ञान” तथा “मूल्य” के अंतर्संबंधों से गुत्थमगुत्थ हो जाती है। अंततोगत्वा हम ज्ञान के विभिन्न संकल्पों की एक धारावाहिकता भी पाते हैं : वैज्ञानिक-प्रौद्योगिकीय ज्ञानदृष्टि व्यवहारवादी-उपयोगितावादी ज्ञानदृष्टि तथा मानवतावादी-नीतिपरक ज्ञानदृष्टि। ये सभी ज्ञानभेद ऐतिहासिक कालक्रम में विकसित हुए हैं जिनमें से प्रथम दो में “सत्य” तथा “तथ्य” का प्रमापन किया जा सकता है, जबकि तृतीय में भ्रांत अथवा यथार्थ “सौंदर्यबिंब” की

ग्रसनीयता का तन्मयीभवन भोगा जाता है प्रथम दो भेदों के ज्ञानसंरूपों में सामान्य चारित्र्य, सार्वत्रिकता (यूनिवर्सालिटी), आवश्यकता तथा वस्तुगत् सत्य-तथ्य सन्निहित होते हैं।

कला-साहित्य के भेदों के भी विशिष्ट संरूप होते हैं। ये ऐसी मानवीय सक्रियमाणता है जो कलात्मक सौंदर्यबोधात्मक बिंबों में यथार्थता को प्रतिबिंबित या संदर्श द्वारा विश्व को निरूपित करती है। इनमें भी सामाजिक चेतना अंतर्निहित हो जाती है। कम-से-कम इतना तो सुनिश्चित है कि विज्ञान के सत्य तभी समाजविज्ञान के व्यवहार कलाबिंबों को पूरी तरह नियंत्रित नहीं कर सकते, बल्कि अंतर्ज्ञानानुशासन की अपेक्षाएँ इनके बीच समरसता (हार्मनि) अधिष्ठापित करती है। इस प्रक्रिया में किसी अनुशासन की भी मूलस्थ या शुद्ध प्रकृति की रक्षा नहीं की जा सकती। उसका प्रासंगिक प्रतिस्थापन अनुप्रयुक्त (एप्लाइड) प्रविधियों द्वारा हो जाता है। ऐसी दशा में उपरली बात पर लाल अधोरेखा खींच देनी होगी। कला-साहित्य में इतरअनुशासनों के जो शब्द तथा पारिभाषिक लागू होंगे उनका रूपविज्ञान (मॉर्फ़ोलॉज़ी) तो वही होता है किंतु उनके अर्थीय-मनोरथिक विनयन अर्थात् "रजिस्टर" यथानुकूल अभियोजित हो जाया करते हैं। ऐसी धुँधली ''ट्रांसफ़र टैक्नोलॉजी'' का निष्कर्ष यही है कि विभिन्न ज्ञानानुशासनों की अवधारणाओं, पारिभाषिकों तथा शब्द-कुलकों का अनुप्रयुक्त तथा संयोजित इस्तेमाल ज्ञान के भाषादर्शन का महा प्रश्न है। साहित्य में तो एक बहुत पर्तों वाला बहुक्षेत्रीय मिश्रण होता है अर्थात उसमें अनगढ़ तरीक़ों से सभी समाजक्षेत्र शामिल हैं। पृथक-पृथक विद्यक अनुशासनों की अपनी सरहदें हैं। जब इनका उल्लंघन, अतिक्रमण, समन्वयादि होता है तब वे अंतर्ज्ञानानुशासनीय (इंटरडिसिप्लिनरी) हो सकते हैं। तभी उनके रजिस्टर भी अनुकूलित होते हैं या बदल जाते हैं।

साहित्य के द्विपर्ण (बाइनरी) में ''आलोचिंतना'' के अंतर्गत ऐसे फ़ेनोमेना द्वैधवृत्ति की दुरूहता फैलाने के साथ-साथ व्यापकता तथा आधुनिकता के हेतु भी बनते हैं। साहित्यिक आलोचिंतना में समाजविज्ञानों के विषयों की विलक्षणता का आयत्तीकरण होना मानो कला-साहित्य में निवेश का भूमंडलीकृत लाभांश जैसा है। हम पुनः आगाह कर दें कि विवेकसंगत संज्ञानता तथा संवेगात्मक बिंबधर्मिता के बीच अंतर्विरोध हैं। इस कारण से ये दोनों कभी भी पूर्णतः अंतर्लीन नहीं हो सकते। एक वजह यह भी है कला-साहित्य जीवन को समाकलित कलाबिंबों द्वारा प्रतिबिंबित करते हैं और वे अमूमन पूर्णवत् मनुष्य को संबोधित होते हैं जबकि समाजविज्ञान के नानाविध विषय एकपक्षीय ढंग से किसी ख़ास दक्षता को संलक्षित होते हैं। अंतर्ज्ञानानुशासनीय समावेश की एक और भी समस्या है कि हम ''कृति'' की प्रकृति, या ''आलोचिंतना'' के प्रयोजन के मुताबिक़ एक दो-तीन-चार कई अनुशासनों के सुशब्द व पारिभाषिक लागू करते हैं। तदापि इनके बीच तयशुदा अनुक्रमिकता (हायरार्की) नहीं बना सकते।

अंतर्ज्ञान (इंटर-नॉलेज) के विधेय की साझेदारी से आगे अब उनके अनुशासन (डिसिप्लिन) की बारी है। अतएव हम ''मूल्य'' तथा ''संस्कृति'' पर बातचीत करेंगे।

इवान फ्रोलोव मानते हैं कि मूल्य विषयी (सब्जेक्ट) एवं विषय (ऑब्जेक्ट) के बीच विशिष्ट संबंध है जिसमें विषय की प्रगुणताओं (प्रोपर्टीज़) को विषयी की ज़रूरतों के मुताबिक़ परखा धारण किया जाता है। इससे ज़ाहिर है कि सामाजिक विषयी (सब्जेक्ट) की आवश्यकताओं का जनन समाज द्वारा ही होता है। अतः विज्ञान का उपागम बहुधा/लक्ष्योन्मुख होता है जबकि मानविकी एवं कला-साहित्य

का मूल्योन्मुख। विज्ञान और समाजविज्ञान में भी मूल्य-निर्णय होते हैं लेकिन वे ज्ञान की तार्किक संरचना तथा प्रणालीपरक प्रतिमानों एवं संबंधों पर निर्भर करते हैं। समाजविज्ञान तथा मानविकी-विषयों में दार्शनिक अभिमुखता का आयाम भी जुड़ जाता है। विस्तृत दायरों में देखें तो मूल्य-दशाएँ फ़िल्म, टी.वी., रंगमंच के एकालाप तथा संवादों में, अमर्त्यसेन जैसे अर्थशास्त्री की घोषणाओं में, ए.पी.जे. अब्दुल कलाम जैसे वैज्ञानिक के स्वप्नों में, प्रेमचंद की साहित्यिक कृतियों में ओशो के धार्मिक प्रवचनों में, लालू के राजनीतिक भाषणों में, कोसाम्बी के दार्शनिक लेखन में उपस्थित हैं। ये मनुष्य तथा समाज के अंतर्संबंधों की द्योतक हैं तथा संस्कृति को प्रभावित करती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के ''पारिभाषिक शब्द-कुलकों'' की भाँति ''मूल्य-कुलक'' भी होते हैं जो भिन्न-भिन्न अभिकार्य (रोल्स) करते हैं—दार्शनिक सत्य के, सामाजिक नैतिकता के, कलात्मक सौंदर्य के, देह के शक्तिशील के, सांस्कृतिक सौहार्द के मूल्य चक्र बनकर। हम इनमें पदानुक्रम (हायरार्की) को निश्चित नहीं कर सकते। यह कृत्य ही इतिहास-बहिर्भूत होगा। इसके अलावा इन मूल्य कुलकों के बीच आपसी प्रतिद्वंद्विता भी परिलक्षित नहीं की जा सकती। इनमें कठमुल्लापन, ढपोरशंखपन तथा सांस्कृतिक बदमाशी भी मंजूर नहीं हो सकती। हम क़तई एकायामी मूल्यसंहिता अथवा एकायामी मनुष्य नहीं बना सकते। यह भी सच है कि विज्ञान-प्रौद्यौगिकी के युग में इंसान का आत्मनिर्वासन परिव्याप्त है तथा मानविकी-संस्कृति का मिशन शनैः-शनैः क्षीणतर होता चला जा रहा है।

''संस्कृति'', अर्थात् सुपरिगठन (सुपर स्ट्रक्टचर), अर्थात् विचारधारा एवं वैश्विक संदर्श! यह समाज तथा सभ्यता के बीचों-बीच प्रतिष्ठित हैं। अतएव आधुनिक युग में इसमें लगातार मानवीयकरण (ह्यूमेनाइज़ेशन) तथा सामाजिकीकरण (सोशलाइ-ज़ेशन) और नानारूपकरण (डाइवर्सिफ़िकेशन) हो रहा है।

संस्कृति की अनेकानेक परिभाषाएँ मौजूद हैं। तदापि...यह मनुष्य की [ऐतिहासिकतापरक उस प्रभावशाली] सृजनात्मक क्रियाशीलता को मनुष्य की उक्त क्रियाशीलता के विषयी (सब्जेक्ट) के तौर पर उसके विकास द्वारा शृंखलित होती है। यहाँ क्रियाशीलता तथा विकास पर बलाघात है। यहाँ संस्कृति को मनुष्य के साथ संबंधों के आधार पर अवधारित किया गया है (न कि उत्पादों के साथ)। अतएव संस्कृति मनुष्य की विकासपरक ''गर्भित'' (पोटेंशियल) शक्ति का पुंज है जो ''गतिज'' (काइनेटिक) होती चलती है।

सो, अंतर्ज्ञानानुशासनात्मक अध्ययन की संस्कृति का यही प्रमुख प्रयोजन बनता है कि वह सामाजिक निर्धारकों तथा आभ्यंतरिक प्रक्रियाओं के बीच मनुष्य की चेतना को पल्लवित-पुष्पित-सुफलित करे। ऐसी मध्यस्थता के कारण कई नतीजे उजागर होते हैं। पहला, संस्कृति के द्वैततापरक (ड्यूअलिटी) प्रमुख प्रारूप बनते हैं (वैज्ञानिक संस्कृति, कला-साहित्य की संस्कृति); दूसरी ओर इन प्रारूपों के बीच अभिसरण (कनवर्जेंस) तथा अपसरण (डायवर्जेंस) की संघटनाएँ उन्मीलित होती हैं; तथा तीसरी और द्वंद्वात्मक अंतर्घुलन (इंटरफ्यूज़न) होता है। अतः कई प्रक्रियाओं के अन्योन्य (रेसिप्रोकल) प्रभाव एवं घटक विभिन्न दिशाओं में गोचर होते हैं। अतएव अंतर्ज्ञानानुशासन का यह बेहद चुनौती भरा उद्देश्य है कि वह इन इतस्ततः प्रभावों एवं घटकों को 'ऐकलसिस्टम' में समन्वित कर दे।

इस प्रक्रियायन (प्रोसीजर) द्वारा अंतर्ज्ञान मूल्य तथा संस्कृति से अनुस्यूत होता है।

संस्कृति के प्रभामंडल में महत्तम वैचारिक क्रांति तो कार्ल मार्क्स ने उसके दो-तीन

विभागीकरणों को ख़ारिज करते हुए "सुपरिगठन" के विधान द्वारा की। इससे ज़ाहिर है कि विज्ञान के संज्ञान तथा वैज्ञानिक प्रयोगात्मकता को प्रगतिपक्षी सामाजार्थिक प्रगति से भी जोड़ा गया है तथा मानवीय श्रम और बुद्धि को समृद्धि तथा श्रेष्ठ कौशल का विधायक भी स्वीकार किया गया। यहीं नहीं, प्राणिशास्त्र (ज़ूलॉजी), वनस्पतिशास्त्र (बॉटानि), आयुर्वेद आदि की प्रकृति एवं मानव से मैत्री हेतु तथा पारस्परिक सर्वोत्तम उपयोग एवं उत्पादन-निर्माण हेतु सिंह-द्वार खोल दिए गए। अतः विज्ञान प्रायोगाश्रित चिंतन के साथ-साथ पर्यावरण-संरक्षण, मानवीय कल्याण के श्रेयों से संबद्ध हो गया। प्रयोग एवं निरीक्षण को भौतिक पदार्थों के साथ-साथ जैविक (ऑर्गेनिक) और मानवीय देह के जीनोम एवं बेहतर मानव-समाज के सृजन की परियोजनाओं से जोड़ दिया गया जिसका प्रतिफलन आज हो रहा है। यह भी जोड़ दिया जाए कि एंटोनियो ग्राम्शी (1891-1937) ने मानवतावादी वैज्ञानिक चिंतन-सृजन की अगली कड़ी में "जैव मनुष्य" (ऑर्गेनिक मैन) की प्रस्तुति द्वारा नई जीवनीय क्रांति का भी सूत्रपात किया।

अब एक अन्य विस्फोटक महा प्रश्न सुलग उठता है कि कैसे सुपरिगठन को संचालित-संयोजित करें अर्थात् इनके बीच विनिमय-समन्वय-अन्योन्याश्रय का आधार क्या है? ज़ाहिर है कि आर्थिक मूलाधार के उत्पादन-संबंधों से जो वर्ग-विभाजन होता है, उसके अनुसार सामाज-सांस्कृतिक संबंधों से ज्ञानलोक में भी द्वंद्वात्मक अंतर्विरोध उभरते हैं। अतएव इन्हें एकसूत्र में पिरोने वाली विधि दार्शनिक विचाराधारा (आइडियोलॉजी) है। विचारधारा ख़ुद भी वैज्ञानिक, सामाजसांस्कृतिक, मानविकी-कलात्मक हितों (इंटेरेस्ट्स) द्वारा प्रतिच्छायित होती है। अगर हितों तथा विचारधारा का युग्म द्वंद्वात्मक ढंग से सक्रिय होता है तो "मनुष्य की यह सुपरिगणनात्मक समग्रता" ही संपूर्ण या समग्र मनुष्य में रूपांतरित हो सकती है। आगामी उत्तर-आधुनिक दर्शन तथा समाजों की पॉज़िटिव दिशा एवं लक्ष्य यही हैं। मनुष्य के "संपूर्ण उद्धार" (टोटल रिडेम्पशन) का यह लक्ष्य विज्ञान-समाजविज्ञान-मानविकी-संगत है। यह आध्यात्मिक "विज्ञान", "निर्वाण" अथवा "क़यामत" के बिलकुल विपरीत ध्रुवांत पर अभिषेकित है। अतएव अंतर्ज्ञानानुशासनी या अंतर्विद्यावर्ती कार्य अंतः-(इंटर), बहुल-(मल्टी), आतिक्रांत (ट्रांस), परक होते हैं। फिलहाल इनके कार्यादि-कुशल मॉडल (प्रादर्श) नहीं बन पाए हैं। अलबत्ता प्रकृति और विज्ञान भी मानविकी-कला-साहित्य के सह-आयामी स्वीकार लिए गए हैं। यह विभागों-विभेदों के समन्वय (सिंथेसिस) की वह आवश्यकता है जो मानवीय स्वतंत्रता तथा सृजनात्मकता का विस्तार कर रही है।

चिंतन के निर्णयात्मक चरण तक पहुँचने पर इस पहेली की बेचैनी सुगबुगा उठती है कि जब हरेक विषयानुशासन के अपने इयत्ती घटक, अपने प्रभाव तथा अपनी प्रणाली है तब दो, तीन या कई को किस तरह एकतान करेंगे? अंतर्ज्ञानानुशासनों में कर्ता या चिंतक का वैश्विक संदर्श (वर्ल्ड व्यू) ही समस्या-प्रस्तुति एवं समस्या-समाचार करता है। यही उपागम (एप्रोच) एवं अभिवृत्ति (एटीच्यूड) का भी प्रदाता है। अतएव इसमें एक केंद्राभिसारी संदर्श (सेंट्रीपेटल विज़न) ही समाहार कर सकता है क्योंकि यह कई विषयानुशासनों के बीच "साइनाएस्थैटिक" (समतोलित) साझेदारी का मसला है। इसके निमित्त भी कुछ रूपकीय मॉडलों का प्रचलन है—क्रोड़ (कोर) और कोर (फ्रिंज), स्रोत (सोर्स) और लक्ष्य (टार्गेट), केंद्र या धुरी (सेंटर/एक्सिस) और फिरनी (पेरिफ़री) के।

सो, क्रोड़, या स्रोत, या धुरी के बदलते ही, अथवा उनमें अदल-बदल होते ही, कोर, या लक्ष्य या परिधि भी बदलेंगी ही।

इसलिए अंतर्ज्ञानानुशासनी अध्ययनशोध में एक केंद्रीय दृष्टि अर्थात् ''वैश्विक संदर्श'' तो होना ही चाहिए। ऐसे अध्ययन-शोध की अपनी कोई स्वतंत्र प्रणाली (मेथडॉलॉजी) क़तई नहीं होती, बल्कि उपागम या अभिवृत्ति के द्वारा कोई केंद्रीय ही अन्य प्रणालियों को संग-संग अनुकूलित करती है, तथा सम्मिलित विषयानुशासनों के पारिभाषिक-अवधारणात्मक-शाब्दिक कुलकों के अर्थीय लेक्सिकॉन (रजिस्टर) भी संशोधित-परिवर्तित-परिवर्धित कर डालती है। इसका फलित फलागम यह होता है कि हम अपने क्रोड या धुरी या स्रोत वाले विषय से उत्तरोत्तर ''उत्क्रांत'' (ट्रांसेंड) करते हैं; न कि कोई नई प्रणाली गढ़ने में जुटते हैं। हम अन्य सहकारी विषयों तथा कुलकों को तदनुसार, पारस-न्याय द्वारा ढाल लेते हैं। ऐसे महामार्ग के द्वारा ''अपने'' अनुशासन से उत्क्रांत करके हम ''उसे'' समृद्ध बनाते हैं।

जॉक़ डेरिडा (1930-2004) तो यह तक प्रतिपादित करते हैं कि ''शब्द'' का अर्थ निरंतर विचलन में है; वह अधिशेष (सरप्लस) में हैं। शब्द का कोई एक सत्य भी नहीं है। तो शब्द के बहुल अर्थ हमें कहाँ ले जाएँगे ? ये सभ्यता में पारिभाषिक तथा शब्द-कुलक और सौशब्द आदि कैसे गढ़ेंगे ? तो क्या संकेत या चिह्न-व्यवस्थाओं से हम (गणित की भाँति) काम चलाएँ ? जहाँ चिह्नों की अनंत लीला है वहाँ स्थिर निर्धारण (फिक्सिंग) कहाँ करेंगे ? यह तो एक अनंत ''साइबर स्पेस'' में भटकने-जैसी दशा में फँसना होगा। इसी के समानांतर एक रूलिंग यह भी चालू है कि अधिभाषा (मेटा लैंग्वेज) की घेरेबंदी में सर्जना और व्याख्या के बीच के सीमांत ही पोंछ दिए जाते हैं। तो ऐसे में हम क्या कोई समाहार नहीं पाएँगे ?

हाँ, ऐसे में आज के दिन तक तो आख़िरी योद्धा मार्क्सवाद मिलता है जो अक्षौहिणी कौरव-सेना समेत सप्तमहारथियों से जूझ रहा है। अतः नए प्रणालीविधान क्या हों ? कहाँ हैं, वे ? कैसे हैं, वे ?

तो, अंतर्ज्ञानानुशासन का साध्य यही ठहरता है कि बहुत सारे विषयानुशासन मिलकर एक नए मंतव्य तथा गंतव्य के युगक्त तक पहुँचाए। सो, यह सिद्धांत एवं प्रणाली की द्विपर्णा (बाइनरी) समस्या है।

मनोविज्ञान या मानवविज्ञान की भाँति प्रणालीविधान कोई एक ''विषय'' नहीं है। यह तो काग़ज़ पर बिखरे लौहकणों पर नीचे से घुमाए जाने वाले चुंबक द्वारा निर्मित तदानुगतिक रूपाकारों (पैटर्न) तथा अभिकल्पों (डिज़ाइन) की असंख्य प्रविधि है। इसमें रूपरेखा ही शोध अभिकल्प है, अंतरवर्ती विषयवस्तु विचारधारा तथाा विश्वसंदर्श है और व्यापक गंभीर अध्ययन ही उपचार है। यह इस त्रयी का सघन गुंथन है। इसलिए इसकी समग्र संरचना (टोटल स्ट्रक्चर) में सभी प्रतिरोधी वादों-प्रतिवादों की तुलना होती है; फिर मुकाबले में स्थापन-विस्थापन होकर अंततः या निष्कर्षतः ''एकल सिस्टम'' की उसारी होती है। परिणति यह है। इसमें शामिल प्रासंगिक विद्यानुशासनों की भागीदारी के अपने-अपने बँटवारे और हिस्से यथावश्यक ढंग से होते हैं। ऐसे समग्र अध्ययन की एकल परिणति में रूढ़िबद्ध प्रारूप (स्टीरियो टाइप) तिरोहित होना चाहिए और प्रगति-प्रारूप (डायने टाइप) का वर्चस्व होना चाहिए। तभी हमारे अध्ययन-मनन-अनुप्रयुक्ति आदि के द्वारा नवोन्मेष (इनोवेशन) होगा। इसे ही मुक्तिबोध ने ''गुणान्तरण'' की संज्ञा दी है।

जैसा कि हम कह चुके हैं कि हमने कला-साहित्य के क्षेत्र में अंतर्विद्यावर्ती अध्ययन के लिए ''आलोचिंतना'' का पारिभाषिक गढ़ा है। आलोचिंतना में दो सहवर्ती धुरियाँ होती हैं— एक, व्यक्ति-कृति की साहित्यिक गुणवत्ता की परख की तथा दूसरी, सामाजैतिहासिक कृति के सांस्कृतिक इथॉस की पड़ताल की।

इसलिए हम विभिन्न विषयों के औचित्य-संभूत संवेष्टन (पैकेज) लें। उनके कुलक (सेट्स) के पारिभाषिकों-अवधारणाओं का (प्रतिपादन के अनुसार) अर्थांतरण गुणांतरण करते हुए अर्थात् उनके ''रजिस्टर'' बदलते हुए उन्हें लागू करें। अगर ऐसी शोध-पद्धति में कुशलता अर्जित नहीं की जाती तब तो विभिन्न विरोधी एवं समतुल्य सिस्टमों के टकराव की दशा में विशृंखलता फैलेगी।

निजी तौर पर हम अपने दशकों से जारी तथा निरंतर परिवर्धित-संशोधित अभ्यासों-अनुप्रयोगों के परिणामों के लिए गजानन माधव मुक्तिबोध की एक पंक्ति को मंगलाचरण-सूत्र मानकर कह सकते हैं–''एक क़दम उठाता हूँ तो सौ राहें फूटती हैं।'' सो, हमने बमुश्किल एक-दो-कई क़दम तो उठाए हैं। कामयाबी का फ़ैसला सदैव सुधीजन करते हैं। तथापि ज्ञान की बहुपक्षीय समझ और समृद्धि ही इस मार्ग की परिष्कृति है।

अब तक का सारांश है—(i) क्रोड या धुरी वाले संदर्भ से ही अन्य विषयानुशासनों के कुलक तथा रजिस्टर चुने जाएँगे या परिवर्तित होंगे; (ii) इससे परिदृश्य का बहुआयामी विस्तार होगा; (iii) क्रोड, या स्रोत, विषय को उत्क्रांत (ट्रांसेंड) करने पर, प्रचुर तथा समृद्ध होगा; (iv) इसका कोई स्वतंत्र प्रणालीशास्त्र क़तई नहीं है, बल्कि यह उपागम तथा अभिवृत्ति प्रदत्त दिशाबोध है; (v) इस सारे उपक्रम का लक्ष्य किसी उच्चतर सत्य की प्राप्ति नहीं है, अपितु उच्चतर गुणवत्ता की उपलब्धि है; तथा (vi) इस विकसनशील चिंतन-विधि के द्वारा अधूरेपन से विमुक्ति मिलती है, ज्ञान का वैभव भी बढ़ता है एवं संपूर्ण यथार्थता का अभिज्ञान भी अधिकाधिक होता है।

कुछ ऐसे विशिष्ट अध्ययनों के लिए कभी-कभार जो सामूहिक प्रयास होते हैं वे किसी व्यापक समस्या के समाधानक होते हैं। उनका अनुशासन ''साइनेक्टिक्स'' कहलाता है। तथापि गहरे ज्ञान-क्षेत्र में अंतर्ज्ञानानुशासनी शोधाध्ययन के लिए बहुधा टोली या चौकड़ी की अपेक्षा कमतर ही होती है। इसमें संबद्ध विषयानुशासनों का तिल-तंडुलवत् मिश्रण नहीं होता। यह मानो अंत:परक अंतरापृष्ठ (इंटरफेस) है। सो, इसमें प्रणाली विधान (मेथडॉलॉजी) पर सारा दारोमदार है। इसमें धुरीण मुद्दा है : —मूल विषयानुशासन की आत्मोतीर्णता अथवा श्रेष्ठतर के हेतु उत्क्रांत करना।

कला-साहित्य में जब हम रचना के बजाय ''साहित्य की आलोचिंतना'' को धुरी, क्रोड़, बनाते हैं, तब इसमें समाजविज्ञान, अन्य विज्ञान तथा अनेक सौंदर्यबोधात्मक कलाओं के कुलक और रजिस्टरों का निष्णात् अनुप्रयोग करना पड़ता है। साथ ही साथ ''आलोचिंतना'' के मूल प्राकृत लोक (इथॉस) को संरक्षित रखना पड़ता है।

कला-साहित्य की सर्जना तथा आलोचिंतना के द्विपर्ण विरोध के बीच अब हम सबसे आख़िर में आलोचिंतना-केंद्रित दिग्दर्शन करेंगे।

जैसा कि हम पहले निदर्शित कर आए हैं कि विचारों के इतिहास में, एक सिस्टम के रूप में, साहित्य में उपर्युक्त परस्पर विरोधाभासी दोफांक तो रही है। इसके अलावा इसमें विधा (योनर), संरूप (फ़ॉर्म) तथा अंतर्वस्तु (कन्टेंट) का त्रिकोण होता है। इसमें माध्यम (मीडियम) तथा कौशल (स्किल) द्वारा कृति का विधान होता है जिसमें ''कृती'' तथा सहृदय ''सामाजिक'' के संप्रेषणीय ध्रुवान्त होते हैं। साहित्य में मुक्त साहचर्य वैयक्तिक विलक्षणता (प्रतिभा), स्वप्रकार्यता, तथा रचनाधर्मिता का संपुंजन होता है। उसकी बुनियादी इकाईयाँ शब्दार्थ, सौंदर्य-अलंकार, रीति-वक्रोक्ति, बिंब-प्रतीक ध्वनि-व्यंजना, मिथक एवं मूल्य-मीमांसा हैं। साहित्यालोचिंतना के पाठ्य चक्र में दर्शनों, विचारधाराओं, विभिन्न ज्ञानानुशासनों, पाठ्यता आदि की पहल होती है।

आगे बढ़ने से पहले हम एक और ख़बरदारी का इश्तिहार करें। संस्कृति में विज्ञान की एकांगिता तथा कमियों को समाजविज्ञानों की विविधता पूरी करती है। प्रकारांतर से समाजविज्ञान की व्यापकता तथा विविधता भी कला-साहित्य द्वारा अंतर्निहित होती है और इससे दोनों समृद्ध एवं ऐश्वर्यशाली बन सकते हैं, बशर्ते कि अंतर्ज्ञानानुशासनात्मक प्रकार्यों को अपनाया जाए।

इसके अलावा कला-साहित्य, समाजविज्ञान तथा विज्ञान, तीनों में ही एक सामान्य तत्त्व है : गूढ़ सृजनात्मकता! इसके उपरांत ही शोध तथा अनुसंधान की सत्ता का अस्तित्व उभरता है। यह यात्रा "प्रयोगशाला" से "फ़ील्ड", तथा फ़ील्ड से "डेस्क" (कक्ष) की ओर जारी रहती है। साहित्य में इसके प्रयोजकलक्षण "दीपक", "दर्पण" तथा "डायनेमो" हैं। अब तो हम कंप्यूटर के "माउस" को भी शामिल करके अभिनव चतुरंग बना रहे हैं।

साहित्य में आलोचिंतना के पर्ण से हमारे ख़ास सरोकार तथा साक्षात्कार होते हैं। अस्तु।

मानव-मस्तिष्क के अनेक आभ्यंतरिक रहस्यों को विज्ञान नहीं सुलझा सकता। यह कार्य तो लोरियों श्रमगीतों से लेकर महाकाव्य-उपन्यास और समकालीन सघन-संरचनाएँ करती आ रही हैं। इसकी एक श्रव्य वजह यह भी है कि कलाकृतियों की प्रकृति आत्यंतिक रूप से वैयक्तिकीकृत हुआ करती है। इससे वे मनुष्य की क्लासिकी भागवत-भूमि को कदाचित् स्थायी संस्कारिता भी प्रदान करती हैं। कलाकृतियों में मनुष्य की संसार के साथ-साथ ढीली-खुली-घुसपैठी-सर्वग्राही एकता भी क़ायम होती है। यह साधन तथा साध्य के नज़रियों से विज्ञान द्वारा संभव नहीं है। साहित्य में साध्य सदैव कृति-कलाकार के व्यक्तित्व एवं प्रयोजन तथा संसार के बाबत उसके आत्मगत् प्रत्यक्षीकरण से भी संलग्न होता है। विज्ञान व्यक्तित्व तथा ऐसे प्रत्यक्षीकरण की सरहदों को लाँघकर मूलरूपेण वस्तुनिष्ठता के सिद्धांत से संचालित होता है। समाजविज्ञान सामाजिक व्यवहार, उपभोग तथा उपयोगिता से संवर्धित होता है। इसलिए इन अनुशासनों की अपनी-अपनी भाषा, अपनी-अपनी अवधारणाएँ, प्रति-प्रतीक, तथा निर्भाषिक चक्रचिह्नों वाली उप-भाषाएँ होती हैं, ज्ञान की विविधा की भाँति ही।

साहित्य में भी कई ढंग से अर्थ भ्रांतियाँ (एंबिग्विटीज़) अंतर्निहित होती हैं क्योंकि इसमें जो प्रत्यक्षीकरण आयत्त हैं वे इंसान के आभ्यंतरिक संसार में प्रतिबिंबित होते हैं।

साहित्य आभ्यंतरिक होने के संग-संग एक सामाजिक संघटना या फेनोमिना भी तो है। कला-साहित्य में प्रकार्यों (फंकशंस) की विविधता-बहुलता होती है जिससे यह समस्त इंसानी क्रियाकलापों का प्रतिरूप हो सकता है। यह विश्व-संदर्श (वर्ल्ड व्यू) का उन्नयन करता है। यह कई मानवीय विकासों का पूर्वानुमान भी करता है। यह सौंदर्यबोधात्मक आनंद का भी रसात्मक स्रोत होता है। लेनिन, आइंस्टाइन, चे आदि के वक्तव्य भी इन वृत्तियों को रेखांकित करते हैं। हिंदी-आलोचिंतना के क्षेत्र में तो वीरेन्द्र सिंह, कृष्णकुमार शर्मा, अश्विनी पाराशर, राजेश्वर सक्सेना, रमेश कुंतल मेघ इत्यादि विज्ञान-प्रशाखा से ही बी.एस.सी., या एम.एस.सी. उपाधिधारी हैं। हम इस दिशा की महत् वृत्ति को दृढ़तापूर्वक रेखांकित कर सकते हैः—"सौंदर्य के संसार के प्रति, तथा अज्ञात के विश्व के लिए!!"

ये उपलब्धियाँ प्रतीकायित प्रयोगशाला-फ़ील्ड-डेस्क-माउस-कक्ष के पंचरंग की अदल-बदल से भी प्राप्त होती हैं। इन सभी में पर्यवेक्षण, निरीक्षण, तुलना, अभिग्रहण, तफ़सील की जानकारी आदि की प्रमुख भूमिकाएँ होती हैं। इन दोनों-तीनों में ही प्रज्ञा (इंट्यूशन) एवं कल्पनाशीलता की अभिकार्यता होती है। अंततोगत्वा महासूत्र यही है—"मनुष्य के इंद्रिय-

बोध तथा श्रम में ही इन तीनों का सामान्य उद्गम है।"

अभिग्रहण (रिसेप्शन) के इस विकीर्ण चक्र में एक और भी बिखराव है—रचनाकारों एवं पाठकों के प्रत्यक्षीकरण अभिनवगुप्त-सम्मत निर्मलमुकुर-के-न्याय से अब नहीं होते। उनमें बहुलता तथा विविधता तथा मनोविश्लेषणात्मक असदृश्यताएँ विद्यमान होती हैं। अब तदात्मकता बहुत कुछ अप्रासंगिक है। इतने बिखराव और फैलाव को इतिहास की सहक्रमिकता (सिनक्रोनी) तथा अनुक्रमिकता (डायनाक्रोनी) और ज़्यादा विस्तीर्णती है। तथापि इसी में कला-साहित्य की यक्षता-दक्षता भी छुपी है—जो कि मनुष्य के मस्तिष्क को, उसके वैयक्तिक लोक को, उसकी जीवनशैली को, उसके व्यवहार को प्रभावित तथा अनुरंजित करती है। सो, मनुष्य कला-साहित्य की ओर उन्मुख होकर तर्कशील निर्भ्रांतियों (अन-एंबिग्विटीज़) की कठोर हदबंदियों से आगे बढ़ जाता है और संविश्-चमत्कार के संसार में अनुप्रवेश करता है। यद्यपि प्रत्यक्षीकरणों में प्रवृत्यात्मकता, प्रतिबद्धता, विचारधारा भी संघनित होती है तदापि मनुष्य रहस्यों का उद्घाटन करने को व्याकुल है। यहीं से समाजविज्ञान द्वारा हस्तक्षेप के अधिकारों को स्वीकार करना ही पड़ता है। आधारभूत तौर पर कला-साहित्य में ही जीवन की, मृत्यु की, अच्छे-बुरे की, स्वतंत्रता व गौरव की, नैतिकता-दार्शनिकता की, मानवता तथा मानव की संवेगात्मक बुद्धि की समस्याएँ उठती हैं। इसलिए मानव-मस्तिष्क के अनेक रहस्यों को कला-साहित्य उद्घाटित करते हैं। वे इसे "अन्यथाकरण", "वृत्तांत" (नैरेशन) एवं "विवरण" (डिसक्रिप्शन) द्वारा खोलते हैं।

उपन्यास-नाटक की कथानक-धुरी पर तो कविता के विपरीत "कृति" (की विधाएँ) एक संपूर्ण साहित्य सृष्टि होती है। यदि इसमें मनुष्य और समाज, संस्कृति और सभ्यता का प्रवृत्यात्मक अनुचिंतन होता है तो विचारवस्तु (थीम) का कार्यकारण-न्याय भी ग्रंथित होता है अर्थात् आदि मध्य-अंत का होना अपेक्षित है (अनिवार्य नहीं)। इन कारणों से कोई रचना "संपूर्ण" तथा "स्वायत्त" हो जाती है। अनेकानेक विज्ञान तथा समाजविज्ञानों के शब्द-कुलकों तथा अवधारणाओं को अनुप्रयुक्त करके "आलोचिंतना" भी वैसी हो जाती है। इस तरह समग्र "कृति-संस्कृति" एक संपूर्ण समाज तथा संस्कृति, एक दस्तावेज, तथा एक हिस्टोरियोग्राफ़ी (इतिहास-आलेखकारी) का पूर्णावतार होकर सौंदर्यबोधात्मक, संज्ञानात्मक तथा अंतर्ज्ञानानुशासनात्मक आयामों में अपना मस्तकाभिषेक करती है।

प्रत्यूष गुलेरी

कांगड़ा के विवाह-गीत

हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जनपद में प्रचलित लोक-गीतों में विवाह गीत सर्वप्रमुख हैं। यह भी सत्य है कि लोकगीत किसी प्रदेश की सांस्कृतिक थाती हुआ करते हैं। ये गीत उतने ही पुराने हैं जितनी पुरानी मानव-सृष्टि! हिमाचल प्रदेश के गीत अन्य प्रदेशों के मुक़ाबले में अधिक सरस, मधुर एवं हृदयस्पर्शी हैं। हमारे विविध संस्कारों से संबंधित लोकगीत हमारे सुख-दुख के सच्चे भागीदार हैं। हमारे यहाँ प्रचलित संस्कारों में जन्म, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह एवं मृत्यु-संस्कारों को प्रमुखता प्राप्त है। प्रत्येक अवसर के लोकगीत अपनी अलग-अलग छटा बिखेरते हैं। यहाँ हम वर-पक्ष से संबंधित लोकगीतों की चर्चा करेंगे।

विवाह योग्य लड़के के लिए लड़की की तलाश से विवाह संस्कार की नींव रखी जाती है। पुरोहित, सगे-संबंधी अथवा मित्रजन इस कार्य में हाथ बँटाते हैं। उपयुक्त लड़की मिलने की दशा में कुंडली-मिलान किया जाता है। जन्म कुंडली के मिलने के साथ ही कुछ नक़द पैसे शगुन के रूप में लड़की वाले लड़के को देते हैं। इसे हिमाचली में ''ठाक्का'' कहते हैं। इसका लाभ यह रहता है कि दोनों पक्ष अपनी बात पर पक्के रहते हैं। ठाक्के के कुछ दिनों के बाद शगुन दिया जाता है। यह शगुन अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार देने की प्रथा है। इस प्रक्रिया को ''तमोल'' कहा जाता है। लड़की के भाई और पुरोहित आदि लड़के को टीका करते हैं। शगुन के बाद विवाह जुड़ाया जाता है। विवाह जुड़ने की सूचना लड़की के माता-पिता को भेज दी जाती है। अब दोनों पक्ष इकट्ठे मिल-बैठकर भी विवाह जुड़ाने लगे हैं। शादी से महीना-पंद्रह दिन पहले वर-पक्ष की ओर सेहरे तथा घोड़ियाँ मांगलिक गीत गूँजने शुरू हो जाते हैं। कई बार शगुन शादी वाले दिन अथवा दो-चार दिन पहले भी दिया जाता है। सेहरों और घोड़ी गीतों से वर द्वारा नई दुल्हन ब्याह लाने की ढेर सारी कल्पनाओं क़ो मूर्त रूप दिया जाता है। इस घोड़ी में माता से अनुरोध किया जा रहा है कि घोड़ों को बाहर बाँधें और उनमें से एक घोड़ी को दाना खिलाया जाए क्योंकि दादा ने बारात में जाना है। घोड़ी गीत के बोल इस तरह हैं—

नीं तूं उठ माई राणी तड़के-घोड़ेयां जो बाहर बन्नेयां

प्रत्यूष गुलेरी का जन्म 1947 में हुआ। इनके कई कहानी-संग्रह, आलोचना, उपन्यास एवं संपादित पुस्तकें प्रकाशित हैं। हिमाचल अकादमी, हिमोत्कर्ष साहित्य परिषद तथा अन्य कई संस्थाओं से पुरस्कृत। संपर्क : कीर्ति कुसुम, सरस्वती नगर, दाड़ी-176057, धर्मशाला (हि.प्र.)

इसा घोड़िया जो दाणा पाणा—बाबे नैं बाराती जाणा
अज बाबे ने बाराती जाणा—पोतरू ब्याही लिओणा/..

सेहरा गीत में सेहरे को सजाने-सँवारने व उसे इतर आदि लगाने की बात कही गई है। वर को मुरकी, रूमाल और वालियाँ आदि बनवा कर देने की बात कही गई है क्योंकि उसे नई दुल्हन को ब्याह कर लाना है—

नीं बन्ने जो मैं सेहरा बणुआई दिन्नियाँ
नीं कागली जो अतर लगुआई दिन्नियाँ
नीं बन्ना मेरा रूस्सेया रूमालां तें-नीं हीर कुड़ी...

घोड़ियाँ और सेहरा गीत अकसर रात्रि के समय घर के काम-काज से निवृत्त होकर स्त्रियाँ गाती हैं। शांति हवन वाले दिन दूल्हे के मामा द्वारा जल देवता को शादी में निमंत्रित किया जाता है जिसे "पाणी न्यूदरना" कहते हैं। यह न्यूंदर ब्रह्म मुहूर्त में संपन्न होती है। मामा के पीछे-पीछे घर परिवार की औरतें गीत के ये बोल गाती हैं—

कौण छणकैंदड़ा पाणी भरी लिआया—मामा छणकैंदड़ा पाणी भरी लिआया/देखी वे मामेयाँ तेरी वड़ियाई, आपू झुड़ू/जोरू हाट बिकाई। चिलम तमाकुए हाट बिकाई/...

दूल्हे को उबटन मलने के पश्चात् पुरोहित "सांद" लिखने का कार्य संपन्न करता है। वर पक्ष के सगे-संबंधियों के साथ गाँव के लोग भी उबटन मलने में साथ देते हैं। सांद के अवसर के गीत चित्ताकर्षक होते हैं। पुरोहित से भी इसी समय छेड़-छाड़ और व्यंग्य की च्यूंटियाँ काटी जाती हैं।

हवन कराई दे परोहता जी—हवन कराई दे परोहता जी!! जौ मंगाई लै परोहता जी—जौ मंगाई लै परोहता जी!!... धोतिया बन्हाई लै परोहता जी—धोतिया बन्हाई लै परोहता जी!!...

तेल शांति के अवसर का यह गीत भी पूरी कांगड़ा घाटी में सुना जाता है—

ठणक सुन्न कटोरड़िए कुनीं पाया तेल वे/ ठणक सुन्न कटोरड़िए मामियाँ पाया तेल वे/ पैसा धेला मुकी गेया—ताँ मामिया दा मुँह सुकी गेया/...

"झमाकड़ा" उत्साह, उमंग, ख़ुशी और मस्ती का अवसर जुटाता है। "झमाकड़ा" गीतों की अपनी ही सुरताल में झूम-झूम, मचल-मचल उठती हैं घर-परिवार की औरतें!

नानुआ ओ! विनायका झुडूआ—एत्थु कैह्जो आयां ऐ... !/दोत्रुए दा कारज रचेया—/पतलुआँ चटणा आया ऐं... !!/नूहां तिसदियाँ सरमां मोइयाँ—/घघरिया हेठ लुकाया ऐं!!...

बारात चढ़ने के अवसर को "पसताही" कहा जाता है। पसताही का अवसर ही विवाह का मुख्य आकर्षण होता है। उमंग और उत्साह के गीतों से नाई, जुलाहा, सुनार और रंगसाज़ को जो इज़्ज़त मिल रही है भला उसका भी कोई मुक़ाबला है—

भाईया जुलाहटेया, तूं जस लै... !!/लाड़े लाडले दे कपड़े जरूर बुणी लिआ—जी सताब बुणी लिआ.../ घोड़ी चढ़ने दी वेला—बागी मोड़ने दी वेला/जाणा इन्द्रपुरी जाणा मथुरा पुरी!!/भाईया ललारिया तूं जस लै... !!...

इस पसताही गीत में दूल्हे के मन के भीतर की बात कही जा रही है। दूल्हे को अपनी दुल्हन की पहनी चीज़ें बहुत सुंदर लग रही हैं। दूल्हे के मन में नई दुल्हन के प्रति प्रेम के भाव अंकुरित करने के लिए ही इस तरह का गीत गाया जा रहा है। साथ ही दूल्हे को नए कपड़े पहनाकर सजाया-सँवारा भी जा रहा है—

चिड़ियाँ दे डार-डार मेरेया बन्नेया—चिड़ियाँ दे डार-डार मेरेया बन्नेया!! /बन्ने दा दिल बन्नी ऊपर—/तिले वाली साड़ी ऊपर—झूंडे दी किनारी ऊपर—/चिड़ियाँ दे डार-डार मेरेया बन्नेया!!/ कोटे पैंटे पैहन-पैहन मेरेया बन्नेया—/कोटे पैंटे पैहन-पैहन मेरेया बन्नेया—टाइया दी शान-शान मेरेया बन्नेया, बन्ने दा दिल बन्नी ऊपर...

बारात गई नहीं कि औरतें दुगुनी और तिगुनी उमंग और उत्साह से ''गिद्दे'' में कूद पड़ती हैं। नाच-नाच कर पूरा घर सिर पर उठा लिया जाता है। हिमाचली-पहाड़ी गिद्दा गीत बड़े ही मनमोहक और मर्मस्पर्शी हैं। इन गीतों में भी हँसी-मज़ाक़, व्यंग्य और ठिठोली के भाव जुड़े रहते हैं—

मेरी उठी ऐ कलेजुएँ पीड़—मैं नीं बचदी... !/ मेरा हुण-हुण करेयो लाज़—मैं नीं बचदी... !/ मेरा नी बचणे दा हाळ—मैं नीं बचदी... !/सद्दो मेरे सोरे राजे—जेहड़ा गेया बराती नाल.../—मैं नीं बचदी... !

जिस दिन बारात वापस लौटती है उस दिन ''भड़ूआ'' होता है। इसमें एक छोटी-सी कन्या को अच्छी तरह से सजाया-सँवारा जाता है जिसे ''सुआण'' कहते हैं। सुआण के बाद कुल की सब स्त्रियों के बाल सँवारे-गूँथे जाते हैं। सिर सँवारते समय का यह गीत अकसर सुना जाता है—

मूरख नीं मूरख भैह्णों—किह्याँ करी समझाणा ऐ.../भेजया था कंघिया कारण—सिक्कड़ियाँ लेईआया ऐ.../मूरख नीं मूरख भैह्णों—किह्याँ करी समझाणा ऐ.../भेजया था परांदुआं कारण—रसड़ियाँ लेईआया ऐ...

नववधू के गृह-प्रवेश करने को हिमाचली भाषा में ''अंदरोण'' कहते हैं। नवदुल्हन की पालकी घर-आँगन में पहुँची नहीं कि उसे लक्ष्मी मानकर मान-सम्मान दिया जाता है। ससुर-सास, जेठ-जेठानी आदि को उसे देखने का अनुरोध किया जाता है। राग-रागनियों के बोल बड़े उत्साह के साथ छूटते हैं—

झिल-मिल झिलमिल पालकी जी—स्हाड़ैं अंगण आई... !/दिख सौरेया जी अपणे जी—घर लछमी ,आई... !/झिल-मिल झिलमिल पालकी जी—स्हाड़ैं अंगण आई... !/—घर लछमी आई... !/झिल-मिल झिलमिल पालकी जी—स्हाड़ैं अंगण आई... । /दिख वे देओरा आयो आपणी जी—घर लछमी आई... !!

गृह-प्रवेश पर ननदें भाभी की राह रोकती हुई अपने लाग लेने का हठ करती हैं। इस अवसर पर दुल्हन का छेड़-छाड़ और गालियों से स्वागत भी किया जाता है—

भाभो जी! स्हाड़े लागां दुआई दे—स्हाड़िए भाभिए! /माऊ बेच स्हाड़े लागां दुआई दे—स्हाड़िए भाभिए!!/भैह्णां बेच स्हाड़े लागां दुआई दे—स्हाड़िए भाभिए!!/भऊआं बेच स्हाड़े लागां दुआई दे—स्हाड़िए भाभिए!!

पवित्रता के स्नान के पश्चात् दाड़न की पूजा की जाती है। दाड़न पूजा से लौटती स्त्रियों के गीतों में मधुर व्यंग्य फिर भी समाया रहता है—

मन्नी जी चले ओ मनाई बो चले—लाड़िया दे भाऊआं जो चढ़ाई बो चले!!/ मन्नी जी चले ओ मनाई बो चले—लाड़िया दियां चाचियाँ जो चढ़ाई बो चले!! /मन्नी जी चले ओ मनाई बो चले—लाड़िया दियां भैह्णां जो चढ़ाई बो चले!!

विवाह संस्कार की इस रोचक कड़ी में नववधू का सभी सगे-संबंधियों के साथ परिचय होता है गुणे खेलने के साथ। गुणे खेलने के अवसर का यह गीत सर्वाधिक लोकप्रिय है :—

गुणेयां खेलेयाँ बहुए...अपणे कन्दे कनैं.../ गुणेयां बंडतड़ी होयां...कंदे आजतड़ी होयां!/ गुणेयां दा गुड़ मिठा कुड़े—गुणेयां लेई करी नट्ठा कुड़े। गुणेयां खेलेयाँ बहुए...अपणियां सस्सु कनैं...

फिर अवसर आता है—नववधू को गोत्र में मिलाने का। घर-परिवार व गाँव की एकत्रित औरतें थोड़े-थोड़े चावल नई लाड़ी की पत्तल में डालती हुई, भात खाती-खिलाती यह गीत गुनगुनाती विवाह-संस्कार की रस्म का समापन भी करती हैं—

तूँ स्हाड़े गोत्र रळीजा—कुड़मा दिए बेटिए...
तूँ सहाड़ा खाणा खाई लै—कुड़मा दिए बेटिए...
तूँ सहाड़े कपड़े लाई लैं—कुड़मा दिए बेटिए...
तूँ सहाड़े घरैं बसी जा—कुड़मा दिए बेटिए... ॥

हरबंस पटेल

गुजराती दलित साहित्य में नारी

हरबंस पटेल के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : अध्यक्ष, राजनीति - विज्ञान विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ विद्यानगर (गुजरात)

अनु. मदनमोहन शर्मा के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। गुजराती-हिंदी में परस्पर अनुवाद भी प्रकाशित। संपर्क : स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ विद्यानगर (गुजरात)

समाज और साहित्य एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। सामाजिक ताने-बाने से बुना हुआ साहित्य कपोलकल्पित न होकर यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति होता है। किसी भी साहित्यिक रचना का मानवीय पहलू तथा सामाजिक संदर्भ हुआ करता है। हडसन ने (1958) बहुत कुछ वास्तविक अवलोकन किया है कि "...आदमी ने जीवन में जो कुछ देखा, अनुभव किया और चिंतन किया; हम सभी के आज के और आने वाले दीर्घकालीन हितों को लेकर जिन संवेदनाओं से साक्षात्कार किया, वह उसका मार्मिक लिखित वृत्तांत है। इस प्रकार, वह मूल रूप से भाषा के ज़रिए जीवन की ही अभिव्यंजना है...।" इस क्रम में, गुजराती दलित साहित्य भी व्यापक समाज के संदर्भ में दलित समुदाय का प्रत्यक्ष वृत्तांत है। गुजराती दलित साहित्य की अधिकांश विषयवस्तु दलित समुदाय के यथार्थ जीवन की विशिष्टताओं से ही किसी को उजागर करती है और इसी को लेकर वह अन्य साहित्य-सर्जन से विशिष्ट हो जाती है।

यह सच है कि दलित लेखकों का प्रयोजन अपनी संस्कृति को समग्रतः उजागर करना होता है। यह पिछले दशक के दलित साहित्य से निस्संदेह स्पष्ट हो चुका है। इस आलेख में गुजराती दलित साहित्य में प्रतिबिंबित होने वाली, जातीय शोषण की समस्या केंद्रवर्ती है।

इस समस्या का स्वरूप क्या है ? जातीय शोषणकर्ता कौन हैं ? इस शोषण के शिकार कौन हैं ? उनकी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि क्या है ? इसको लेकर दलित साहित्यकारों का रवैया कैसा है ? उनकी रचनाओं में इसकी किस प्रकार की अभिव्यक्ति हुई है ? या फिर इन सबके सामाजिक निहितार्थ क्या हैं ?

इस आलेख के प्रारंभ में दलित गद्य-साहित्य में प्रतिबिंबित दलित नारी-शोषण को प्रस्तुत किया गया है। अधिकांश प्रसंगों का चयन जोसेफ मेकवान कृत *व्ययानां वीतक* (1985) से किया गया है। इस रचना का महत्त्व इसलिए है क्योंकि उसमें गुजराती दलित जगत (मध्य गुजरात का दलित समाज) की तमाम पीड़ाओं,

दुख-दर्द और त्रासदियों की सटीक अभिव्यक्ति हुई है। धवल मेहता ने कृति के शब्दचित्रों को वास्तविक रूप में दलित स्त्री-पुरुषों के ‘‘प्रामाणिक’’ शाब्दिक रेखाचित्र माना है। लेखक सफलतापूर्वक दलित पात्रों के यथार्थ जीवन की बाह्य परिस्थितियों और आंतरिक संघर्ष को पाठकों तक पहुँचाता है।

स्त्रियों का जातीय शोषण दलित समाज के लिए एक गंभीर समस्या है। इससे न केवल अभागे शोषित व्यक्ति की शारीरिक मानहानि होती है, बल्कि मानसिक आघात भी पहुँचता है। इसका शिकार होने वाली स्त्री के लिए तो यह सचमुच मानसिक रूप से जड़ता पैदा करने वाला अनुभव होता है। सबसे क्रूर सच्चाई यह है कि इससे समूचे समुदाय के आत्मगौरव को ठेस पहुँचती है। इसी के चलते संभवत: व्यक्तिगत या सामूहिक स्तर पर अमानवीकरण की प्रक्रिया जन्म लेती है। जोसेफ मेकवान द्वारा निरूपित जीवन का रेखांकन महज काल्पनिक कथाएँ नहीं हैं बल्कि हरेक रेखांकन दलित समाज के जीवंत पात्रों को सामने लाने वाला प्रामाणिक और यथार्थ शब्दांकन है। लेखक स्वयं भी अपनी कृति के पात्रों के बीच का ही एक अंतरंग सदस्य है जो कि एक उल्लेखनीय बात है।

‘‘लाडु’’ कथा में लेखक एक पंद्रह वर्ष की किशोरी हेता के सौंदर्य का हूबहू वर्णन करता है लेकिन साथ ही तंबाकू के गोदाम-मालिक द्वारा उस पर हुए बलात्कार का चित्रण है। घटना की वास्तविक प्रस्तुति हेतु लेखक एक-दो मार्मिक-सांकेतिक शब्दों का प्रयोग करता है। एक है—‘‘फांसलो’’ यानी कि फँसाने के लिए पूर्वयोजित षड्यंत्र। दूसरा है—‘‘नंदवाई गई’’ अर्थात् शीलभंग के कारण बरबाद हो गई। हेता पर इसका यह प्रभाव हुआ कि वह अपनी स्वाभाविक चपलता, अल्हड़पन, बालसुलभ स्वत्व गँवा बैठती है। बलात्कार के कारण हेता के गर्भवती होने की बात फैलने पर ही बड़ी करुणता सामने आती है। हेता पर हुए बलात्कार की घटना को लेकर दलित समुदाय की प्रतिक्रिया देखिए। न तो बलात्कारी का विरोध किया गया और न ही उसकी खुलेआम निंदा की गई। हेता एक बाल-वधू थी। जब ससुरालवालों को उसकी गर्भावस्था का पता चला तो उन्होंने अपनी बिरादरी की पंचायत से फरियाद की। पंचायत ने हेता के पिता पर डेढ़ सौ रुपए का जुर्माना किया। पिता के पास पैसे न थे और दंड की रक़म जुटाने के लिए आनन-फानन में एक चार बच्चों के पिता, जो कि बेडौल और विधुर था, के साथ हेता की शादी कर दी गई। हेता से हुए बलात्कार की घटना से कुछ संकेत ग्रहण किए जा सकते हैं—

1. दलित नारी का जातीय शोषण मुख्यत: श्रमिक नारी की आर्थिक ज़रूरतों से जुड़ा हुआ है।
2. जहाँ तक दलित समाज की बात है, इस प्रकार की बहुत कम घटनाएँ ही सरेआम चर्चा का विषय बनती हैं। अधिकांश घटनाएँ तो दफ़न ही रहती हैं।
3. इस समुदाय का आक्रोश शोषक को निशाना नहीं बनाता क्योंकि शोषक समर्थ और ताक़तवर होता है तथा दलितवर्ग आजीविका के लिए उस पर निर्भर करता है।
4. बिरादरी की पंचायत शोषित को ही दंडित करती है।
5. कई बार कोई दलित स्त्री ही (यहाँ पर सुपरवाइज़र की पत्नी) अन्य दलित स्त्रियों को फँसाने का मोहरा बनती है।

जोसेफ मेकवान के वृत्तांत ‘‘लक्ष्मीनो चांल्लो’’ में प्रमुख नारी पात्र लक्ष्मी है जो अत्यंत रूपवान है। वह गोदाम के काम पर जाना नहीं चाहती लेकिन उसे वहीं जाने पर मजबूर किया जाता है। गोदाम का मालिक उसे फँसाने के लिए जाल बिछाता है जिससे लक्ष्मी एकांत में आ सके। स्थिति को भाँपकर लक्ष्मी पहले तो

मालिक के प्रति नरम होने का ढोंग करती है पर मौका मिलते ही मालिक के सिर पर चोट कर वहाँ से भाग खड़ी होती है। इस घटना के बाद मगन तो लक्ष्मी को ही दोष देता है। उधर, मालिक चिढ़कर लक्ष्मी के अपहरण की कोशिश करता है। इस बीच उसका पति मगन अतिसार का शिकार हो जाता है तो मालिक के पाले हुए मालिक द्वारा यह प्रचार कराया जाता है कि लक्ष्मी द्वारा मगन को तंत्रमंत्र युक्त कुछ खिलाए जाने के कारण ही मगन की यह दशा हुई है। हर कोई लक्ष्मी को अपराधी मानता है और अंततः उसे फ़ौरन तलाक दे दिया जाता है। इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि गोदाम के मालिक अपनी प्रभावशाली हैसियत का दुरुपयोग करते हैं। लेखक टिप्पणी करता है—"उनके लिए दलित स्त्रियों के साथ संभोग करना खेल है। वे मानते हैं कि इन छोटे लोगों में स्वाभिमान कैसा? वे अपनी मनपसंद किसी भी स्त्री को भोग सकते हैं।" लेखक ने इसके लिए होने वाली गतिविधियों का वर्णन भी इन शब्दों में किया है—"मालिक मुकादम (सुपरवाइज़र) की पत्नी को अपनी पसंद की स्त्री बता देता है। मुकादम की पत्नी उस ख़ास स्त्री या स्त्रियों को जता देती है कि उसे मन-बेमन से भी मालिक की हवस पूरी करनी होगी नहीं तो उनकी दिहाड़ी चली जाएगी और काम नहीं मिलेगा।" इससे स्पष्ट है कि दलित स्त्रियों का जातीय शोषण सीधे-सीधे उनके मालिक पर, आर्थिक निर्भरता से जुड़ा हुआ है।

जातीय शोषण की यह घटना सिर्फ़ गोदामों तक सीमित नहीं है। मेकवान रचित *हेझल* में एक संतानहीन स्त्री उपचार के लिए डॉक्टर के पास जाती है जहाँ उस पर बलात्कार होता है। इससे उसे गहरा आघात पहुँचता है और वह चीख़ती-चिल्लाती है—"...मैं ख़त्म हो गई...मैं बरबाद हो गई...मेरा अंग-अंग पराया होकर हमेशा टीसता रहता है...मैं नरक की अपराधिनी हो गई।" सिर्फ़ इस एक घटना ने हेझल के जीवन में क़यामतों का ढेर खड़ा कर दिया है और उसके बाद वह कभी भी अपनी मौलिक स्वाभाविक मनोस्थिति प्राप्त नहीं कर पाती।

बलात्कार की शिकार नारी की मनोव्यथा के साथ-साथ उसके पति द्वारा अनुभूत लाचारी का उल्लेख भी यहाँ करना होगा। यथार्थ जीवन को उजागर करने वाली मेकवान कृत *रतन* की रतन भी अपने सेठ की हवस का शिकार बनती है। घर पहुँचकर वह अपने पति से इसकी शिकायत करती है तो पति अपनी लाचारी का रोना रोता है—"इसमें मैं क्या करूँ? ये तो रोज़-रोज़ का है।" एक जानकारी के मुताबिक़ समूचे चरोतर प्रदेश में तंबाकू के गोदामों पर काम करने वाली स्त्रियों की संख्या चालीस हज़ार के क़रीब है। उन्हें अपनी आजीविका टिकाए रखने के एवज़ में इस प्रकार के जातीय शोषण का शिकार बनना पड़ता है।

यहाँ निर्दिष्ट करना होगा कि जो दलित स्त्रियाँ बलात्कार का शिकार होकर गहरे आघात से गुज़रते हुए दूषित होने व आत्म-तिरस्कार की भावना का अनुभव करती हैं उन्हें स्वाभाविक रूप से दलित लेखक ही उचित न्याय दिला सकते हैं।

दलित नारी-शोषण का मुद्दा गुजराती दलित कवियों की रचनाओं में किस प्रकार प्रस्तुत हुआ है? इस सवाल का उत्तर पाने के लिए दलित कवियों के अठारह कविता-संकलनों का सर्वेक्षण किया गया।

आश्चर्य है कि इन संकलनों में केवल पाँच में ही उक्त विषय से जुड़ी कविताएँ हैं। इन पाँच में से भी केवल तीन कविताएँ ही समग्र रूप से जातीय शोषण से संबंधित हैं। अन्य कविताओं में इस विषय पर छुट-पुट पंक्तियाँ मिलती हैं। इस बारे में जोसेफ मेकवान से पूछे जाने पर पता चला कि कुछ जगज़ाहिर कारणों के चलते दलित समाज आम तौर पर अपनी स्त्रियों के जातीय शोषण के बारे में लिखना ख़ास पसंद नहीं करता।

साथ ही इस प्रकार की घटनाओं की (गद्य-पद्य रूपों में) प्रस्तुतियों से लेखकों की आलोचना ही होती है। स्पष्ट है कि एक समुदाय के बतौर, ऐसी घटना ही उनको विचलित कर देने वाली घटना प्रतीत होती है और वे उस विषय में बात करने में भी पीड़ा का अनुभव करते हैं।

नया मार्ग में प्रकाशित दलित कविताओं का एक संकलन 1984 में *अस्मिता* के नाम से छपा था। उसमें भी दलित नारी के जातीय शोषण को लेकर एक भी कविता नहीं है। इसी साल *विस्फोट* नामक एक और कविता-संग्रह सामने आया। इसकी प्रस्तावना में दीपक मेहता ने लिखा है कि दलित कविताओं का केंद्रीय स्वर पीड़ा, अनुभूत तिरस्कार और विरोध का है। विरोध की यह भावना दलित स्त्रियों के शोषण, दमन और जातीय अत्याचार से जनमी है।

''ई लोको'' कविता में कवि गोविंद परमार ने ग़रीब भिखारिन युवती के खुले वक्षस्थल पर कुदृष्टि डालने वाले उच्चवर्गीय लोगों का वर्णन किया है। वहाँ पर कवि कथित भद्रवर्ग के हिंदू मानो ''किसी निर्दोष भोली-भाली युवती के मांसल अंग-उपांगों'' का उपभोग करते हों, और जैसे कि ''मांसाहरी ज्याफत'' उड़ा रहे हों; इसका प्रभावी चित्र खींचता है। जयंती मकवाणा ''मने थाय छे'' कविता में दलित समाज की भावनाओं को बुलंद करते हुए ढेर सारे सवाल पूछते हैं जैसे कि—''हम अपनी कितनी औरतों के साथ तुम्हें संभोग करने दें?'' साथ ही अपने ''प्रश्न काव्य'' में वे पूछते हैं कि—''तुम हरिजन कुमारी पर कितनी बार बलात्कार कर सकते हो?'' प्रवीण गढ़वी *अत्याचारनी कथा* में बलात्कार के मुद्दे को प्रभावशाली ढंग से सामने रखते हैं। यह एक ऐसी लड़की की कथा है जिसमें एक उच्चवर्गीय हैवान द्वारा उसके पिता को उसी के सामने मौत के घाट उतार दिया जाता है और उसकी माँ को खुले हुए वक्षस्थल के साथ घसीटा जाता है तथा लड़की पर बलात्कार किया जाता है। उसकी तो मानो सारी दुनिया ही उजड़ जाती है। उसे अब अपनी कोख में पलने वाली उस अत्याचारी की निशानी को ढोना पड़ता है। उधर, पुरु सोलंकी अपनी ''हवे तो हद थाय छे'' कविता में दलित नारी के कोमलतम अंगों को मसलने वाले बलात्कारी का चित्रण करने के लिए ''फौलादी हाथ'' जैसे प्रभावी रूपक का प्रयोग करते हैं। मधुर आनंद *मनुनी मायाजाळ* के अंतर्गत एक हरिजन होने के नाते क्या-क्या भोगना पड़ता है, इसे समझने के लिए उच्च्र जातियों की शक्ति पर ही संदेह करते हुए सवाल उठाते हैं कि ''अपनी माँ-बहन पर हुए बलात्कार जनित ख़ून से कलंकित होने की अनुभूति क्या कभी तुम्हें हुई है?''

एकलव्यनो अंगूठो नामक एक अन्य कविता-संग्रह 1987 में प्रकाशित हुआ था, जिसमें यशवंत वाघेला रचित ''पुनरावर्तन'' नामक एक रचना है। वह इसलिए उल्लेखनीय है क्योंकि उसमें जातीय शोषण के मुद्दे को सामने लाने के लिए पुराण कथा के प्रसंग का उपयोग किया गया है। द्रष्टव्य है कि एक दलित कवि की संवेदनशीलता ने मत्स्यगंधा की पौराणिक कथा की नवीन व्याख्या की है। जातीय शोषण के संदर्भ में ही 1981 में *दलित कविता* नामक एक विशिष्ट संग्रह प्रकाशित हुआ। करसनदास लुहार ने ''कविता'' शीर्षक के तहत एक परिपक्व उम्र के हरिजन लड़के का प्रसंग है जिसे अब पता चला है कि वह एक प्रकांड पंडित द्वारा अपनी माता पर हुए बलात्कार से उत्पन्न एक अवैध संतान है। वहाँ वक्रोक्ति मौजूद है कि जब उस पंडित पर उसी स्त्री की एक बार छाया पड़ गई थी तो उसने सात नदियों के जल से स्नानकर खुले में तीन दिनों तक उपवास करके अपने को शुद्ध किया था लेकिन उसी ब्राह्मण ने उसी औरत पर मंदिर के एकांत में बलात्कार किया। उसकी कोख से उत्पन्न। अब वही बालक बड़ा होकर अपने पिता से सवालों की झड़ी लगा रहा है।

दलित स्त्रियों के शोषण (जातीय) की अभिव्यक्ति में सदैव लाचारी या असहायता ही प्रतिबिंबित नहीं होती। दलपत चौहान अपनी "मुक्को" कविता में आक्रोश बुलंद करते हैं कि उच्च जाति के लोगों द्वारा सैकड़ों निर्दोष कन्याओं पर किए गए बलात्कारों की त्रासद घटनाओं का जवाब यही (मुक्का) होगा। "जेतलपुर हत्याकांड" पर रची गई एक लंबी कविता में नीरव पटेल उच्च जाति के हिंदुओं की मनोवृत्ति व्यक्त करने वाली उनकी शेखी को शब्दबद्ध करते हैं—"हमारे पुरखे अपनी मनपसंद किसी भी ढेडी (हरिजन स्त्री के लिए प्रयुक्त अपमानजनक शब्द) के साथ संभोग करते थे और यदि कोई ढेड (हरिजन पुरुष के लिए प्रयुक्त अपमानजनक शब्द) विरोध करता तो उसकी पिटाई होती थी।" दृष्टांत के रूप में "सोनल के पति का कुछ पता नहीं, और उसे दरबार (क्षत्रिय ज़मींदार) की रखैल बनना पड़ा।" यह रचना स्पष्ट करती है कि हरिजन स्त्रियों पर आसानी से बलात्कार किया जा सकता है तथा उनके मर्दों को इसका विरोध करने नहीं दिया जाता।

संभ्रांत-उच्चवर्ग के तौर-तरीक़ों, चाल-चलन के संदर्भ में दलित कवि का भ्रमनिरसन हुआ है। उसे उनके मंदिरों में प्रवेश पाने में कोई रुचि नहीं है। अपनी "मंदिर प्रवेश न करो दोस्तो" कविता में प्रवीण गढ़वी कहते हैं—"मंदिर की सीढ़ियों पर पड़ी है...बलात्कार हुई हमारी बेटी की नग्न देह।" हिमत खाटसूरिया कृत "गाय मरी गई, बाई मरी गई" कविता एक गाय तथा एक दलित स्त्री की मौत को साथ-साथ दर्शाने वाली मार्मिक रचना है। तदनुसार, एक सेठ के तिलकधारी बेटे ने एक दलित स्त्री पर बलात्कार किया जिसके परिणामस्वरूप स्त्री ने आत्महत्या की। इसी दौरान, योगानुयोग एक गाय भी मर गई। गाय की मौत को ज़्यादा महत्त्व देकर उसकी अंतिम यात्रा के लिए भारी दौड़-धूप की गई जबकि दलित नारी की मौत पर उसके प्रति संवेदना के बदले कुएँ में गिरकर पानी को अशुद्ध करने का आरोप लगा और उसकी निंदा की गई। एक अन्य रचना "हुं हवे एकवीसनी थई" में खाटसूरिया एक ऐसी कन्या की आपबीती प्रस्तुत करते हैं जिस पर बार-बार बलात्कार होने के कारण उसका शरीर क्षीण हो गया है और वह मानसिक रूप से टूट चुकी है। उधर, "गीत" कविता में सुरेश बारिया ने एक हरिजन युवक की संवेदनाओं को अभिव्यक्ति दी है जिसकी प्रेमिका को बलात्कार और अपहरण के बाद एक लहू के व्यापारी दलाल द्वारा बेच दिया गया है।

संक्षेपतः दलित लेखकों की कुछ रचनाओं में अपनी महिलाओं के जातीय शोषण के मुद्दे की अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है। इस अभिव्यक्ति ने गहन संवेदना, मनोव्यथा, कुछ हद तक लाचारी का भाव, हताशा तथा आक्रोशपूर्ण विरोध जैसे स्वरूप धारण किए हैं परंतु उल्लेखनीय बात यह है कि उसमें खलनायक तो हमेशा ऊँची जाति का पुरुष ही रहा है और वह लेखकों के आक्रोश का पात्र भी रहा है। इस तरह के जातीय शोषण की शिकार नारी के लिए तो यह अनुभव तीव्र आघातजनक ही बना रहता है और कई बार अमानवीकरण की दिशा पकड़ लेता है। यह सामाजिक विसंगति ग़रीबी-मजबूरी और उच्चवर्ग पर निम्नवर्ग की निर्भरता (आर्थिक) से जुड़ी रही है। दलित नारी का जातीय शोषण एक अत्यंत संवेदनशील मुद्दा है फिर भी सामान्यतः उस पर खुली बहस नहीं होती। कवियों से इसके निराकरण की अपेक्षा नहीं की जा सकती लेकिन इस चिंता को, जागरूकता को लेखन के ज़रिए अच्छा पाठकीय प्रतिभाव मिला है जिससे इस जटिल समस्या के निराकरण की दिशा में सकारात्मक शुरुआत हुई है।

बाङ्ला

नीरेंद्र नाथ चक्रवर्ती

प्राकृत वचन

पेड़ों पर अगर लिखना है
तब उसे पहचान लो।
देखो वह पीपल, वह जमरुल, वह
महानीम।
या अगर शुद्धता के प्रतीक स्वरूप कविताओं में
फूल का ज़िक्र करो, तो
बागानों, जंगलों में जाकर पहचानना होगा
कौन-कौन-सा है फूल
याद रखना है यह चंपा, यह अकवन, वह
रात की रानी।
रोग की दवा होती है प्रकृति में, शायद
इसीलिए कविताओं में बार-बार
महत्त्व देकर
प्रकृति को छंद में पिरोते हो।
यह ज़रूरी है, संदेह नहीं।
परंतु भईया
पहले प्रकृति को तो अच्छी तरह जान लो।
पहचान लो
कौन है विष लता और किसे कहते हैं विशल्यकरणी।

एक कमरे में आधी रात, दूसरे में दिन की रोशनी

आकाश पे नज़रें गड़ाए कोई
पैरों तले अपना रास्ता भूल जाता है।
कोई सिर्फ़ रास्ते से ही
अपना थूक भी चाट लेता है।
एक कमरे में आधी रात,
दूसरे में दिन की रोशनी,
इस नाटक के पात्र
कोई गोरा, कोई रात-सा काला
कोई स्मृतियों की भीषण यंत्रणाओं में

साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित नीरेंद्रनाथ चक्रवर्ती का जन्म 1924 में हुआ। इनके कई कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क :
122 (ब्लाक-बी), बेंगूर, एवेन्यू,
कोलकाता-700055

अनु. उत्पल कुमार

चौंक उठता है सोते-जागते,
कोई आघात-प्रत्याघात सहता रहता है
फिर भी रहता है तंदुरुस्त,
यही हैं मेरे पात्र,
कोई गोरा, कोई रात-सा काला
एक कमरे में आधी रात,
दूसरे में दिन की रोशनी।

शंख घोष

एक दिन सीढ़ियाँ चढ़कर

एक दिन
सीढ़ियों से उतर आता है कोई
अपना ही शरीर से भरा पाताल की ओर
आकर देखता है
बहुत बड़ी भूल हो गई
यहाँ दिगंत नहीं है, दिशा नहीं है कोई,
जल नहीं है सिर्फ़ जलीय गुल्म का
समारोह
यहाँ आग नहीं है दाह नहीं है,
उतना नहीं है हिम
जितना होने से
अहसास हो सके
पृथ्वी बर्फ़ बनी है
सभी नहीं है म्लान-सा सिर्फ़ है एकजन और
आमने-सामने
अधिकारहीन वह भी है
इतने दिनों से
पाताल के क़रीब

जिस दिन

जिस दिन नदी में तैर रहे थे, दो हज़ार शव
जिस दिन पड़ोस के सभी दरवाज़े बंद थे
जिस दिन पूरे शहर के पेड़ों पर लटक रही थीं कटी बाँहें
जड़वत्, हतपिंड इशारा करता रहा
जिस दिन धरती से निकल आई सिर्फ़ नन्ही हड्डियाँ

बांग्ला कवि शंख घोष का जन्म 1932 में हुआ। इनके कई कविता-संग्रह और आलोचना पुस्तकें प्रकाशित। साहित्य अकादेमी पुरस्कार, कुमारन आशान पुरस्कार, सरस्वती सम्मान आदि से पुरस्कृत। संपर्क : ए-1/6 ईश्वरचंद्र निवास, 68/1, बागमारी रोड, कोलकाता-700054

अनु. उत्पल कुमार

सभी भूखे चेहरों पर हताशाएँ
राजमार्ग पर दौड़ रही थीं नंगी औरतें
और स्तन के शीर्ष पर बींधे थे हज़ार त्रिशूल
जिस दिन कवंधों ने सुरापात्र रखकर अपनी दाईं ओर
मेज़ के नीचे खोज रहा था अपनी ही मुंड लगी आँखें
जिस दिन पृथ्वी अपनी सूझबूझ खोकर थी पूरी तरह चुप
झर-झर शब्दों से झड़ चुका था सब मनोबुद्धि
सभी मुख मुखर और जिस दिन मुखर सभी मुख
उस दिन क्या जानना चाहोगे
तब कवि का धर्म क्या होगा ?

अमिताभ दास गुप्त

आओ, स्पर्श करो

आओ,
छूलो, पूर्णतः पत्थर बन गया या नहीं देखो,
पाषाण-वक्ष से मांस लो
पंजरे की रीढ़ को दबाओ दस उँगलियों से
मुझे बजाओ तुम
विथोवन—किशोरी हाथ
बोलो
मैं पत्थर नहीं हूँ
न अंधा, न पथरीला खनिज
बोलो सब नहीं हो चुका समाप्त
अब भी मेरी कुछ संभावनाएँ बाक़ी हैं
टीले पर फैला सूर्यास्त देखने की इच्छाएँ
नहीं मिटी है कुसुम
भूली चाह ले गई है भूले सिंधुतट पर
वहाँ मुखौटे, नकली बाल
उजली रेत पर यूँ उड़ते, दूर तक खिली हँसी जैसी,
जहाँ गाढ़े अनुताप की रंगीली शाम उतरती है,
गिद्ध, अनजान पक्षी की कर्कश आवाज़ें—
टीले पर फैला सूर्यास्त देखने की इच्छाएँ
नहीं मिटी है कुसुम।

देखो,

बाङ्ला कवि अमिताभ दास गुप्त का जन्म 1935 में हुआ। इनके कई कविता-संग्रह चर्चित हुए हैं। पन्ना लाल शील, सुधींद्र नाथ दत्त आदि कई पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : ए-20, नेताजी समवाय, आवासन, प्रफुल्ल कानन, कोलकाता-700059

अनु. उत्पल कुमार का जन्म 1945 में हुआ। कवि, नाट्य निर्देशक तथा हिंदी अनुवादक हैं। बाङ्ला-हिंदी में परस्पर अनुवाद। संपर्क : 27, व्याख्याता आवास, बी.आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय परिसर, मुज़फ़्फ़रपुर, 842001 (बिहार)।

कितना दीन बन चुका हूँ आशाओं में
कितनी ज़्यादा चाहने की आस लिए
अपने को तोड़ा है, भ्रूक्षेपविहीन
बिखरी सेमर की रूई जैसा उड़ाया है
सर्वस्व मेरा
दो—दे दो हाहाकार में
कब जाग उठा है बैजनाथ प्रचंड चांडाल;
समुद्र या पाताल में
जब जिधर देखो
दर्द भरे प्रश्नों का हाड़, करोटि, कंकाल
पोशाक बहाकर आ खड़ा हूँ
स्पर्श करो
अग्नि में सौंपा है स्वाहा अहंकार
रक्खो, तोड़ो या फिर मारो
तुलनात्मक प्रेम में जगी रहे सारी रात तक
लकड़ियों का ढेर, शोणित अस्त्र
मुझे बजाओ तुम विथोवन किशोरी हाथ।

कृष्णा बासु

अधूरी चिट्ठी

माँ, चरण स्पर्श
पता नहीं तुम कैसी हो
मैं ठीक नहीं हूँ, बिलकुल ही नहीं
क्या मैं सब कुछ छोड़कर चली आऊँ, माँ?
कहाँ जाऊँगी मैं, कौन है मेरा
तुम भी तो पड़ी हुई हो भैया के घर,
जूते से ख़बर लूँगा, कहा है तुम्हारे दामाद ने
कल रात चिल्ला-चिल्लाकर थप्पड़ भी लगाया है ज़ोर से,
नहीं माँ जूते से नहीं मारा है अभी तक, पर
मारने की धमकी ज़रूर दी है।
क्यों मेरी शादी कर दी माँ?
दासी बनने के लिए क्या मुझे ब्याही थी,
बनारसी साड़ी, मेंहदी, चंदन और गजरे की सस्नेह सुवास में?
आज पंद्रह साल चुपचाप
सेवा करते-करते

बाङ्ला कवयित्री कृष्णा बासु का जन्म 1947 में हुआ। कई कविता संग्रह प्रकाशित। कविताओं के कई भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनुवाद। प्रतिश्रुति पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : बी-16, फ्लैट-8, कालिंदी हाउसिंग एस्टेट, कोलकाता-700089

अनु. उत्पल कुमार

उससे जानना चाहा
सारी तनख़्वाह कहाँ चली जाती है,
अधिकारवश सिर्फ़ जानना चाहा था मैंने
बस उसी क्षण जूते से ख़बर लेने की धमकी दे डाली उन्होंने,
माँ अब मैं कहाँ जाऊँगी,
बबलू-मुन्ना अभी बहुत छोटे हैं
कौन-सी निर्भरता है उन दोनों पर?
शादी के बाद का घर या शादी के पहले का घर
कौन-सा घर है मेरे अधिकार में?
माँ मैं कहाँ जाऊँगी?
या फिर
मुँह बंद किए भार सहकर चौका-बर्तन
और सेवा कर रमणीरतन बनकर जीवन बिता दूँ?
माँ कहो न
कहाँ है मेरा अपना घर?
औरतों का अपना घर है कहीं भी?

नाम दो अग्निपरीक्षा, पाताल प्रवेश

पहले, अविश्वास,
पराया पुरुष स्पर्श से दूषित है वह
कानों-कान यह बातें फैला दो क्रमशः
हवाओं में फैलती गढ़ती वह कहानी
फुसफुसाती नष्ट औरत की कहानी,
पराया पुरुष स्पर्श की रसीली कहानी
फिर लगा दो आग
झुलसाओ, तड़पाओ,
शरीर पर डाल दो किरासन
माचिस की तीली
पीली धीमी रोशनी,
अग्नि परीक्षा के नाम से ढक जाएगा
उसका जला-झुलसा शरीर
जिस शरीर की कामना की हो कितनी रातें
ज़मीन खोदकर गहरी खाई बना लो
दफना दो मिट्टी तले
नाम दो

पाताल प्रवेश
मन-हरणी सती कहानी से
महाकाव्य की महिमा गूँजेगी चारों ओर
पिताओं की पृथ्वी पर
महान भारत में।

औरत की लाश

पूल के किनारे आकर अटकी पड़ी है लाश
औरत की लाश,
अटकी पड़ी है, निकल नहीं पा रही है,
उसका चेहरा घूमा हुआ है अपनी संतान की ओर,
उसका चेहरा घूमा हुआ है पुरुष की ओर,
प्रहार से क्षत-विक्षत कर डाला जो पुरुष
उसका चेहरा घूमा है उसी पुरुष की ओर
अभिमानी प्यार पाने वाली वह
चेहरा घूमा हुआ है जीवन की ओर
पूल के किनारे आकर अटकी पड़ी हुई है लाश
औरत की लाश
अटकी पड़ी है, निकल नहीं पा रही है।

विवेकानंद

खौलता पानी

पानी नहीं मिलने पर
पेड़ की पतली डाल भी
छुरी बन जाती है

और, बौखलाए हुए लँगड़े की

बैसाखी भी—
बंदूक़ में बदल जाती है,
शायद इतना ही कहना, आज काफ़ी होगा

क्योंकि, मैंने सुना है कि—
खौलते पानी का रंग
थोड़ी-सी चाय से ही बदला जा सकता है,

विवेकानंद का जन्म 1956 में हुआ। एक कहानी-संग्रह, एक नाटक-संग्रह, एक अनूदित पुस्तक प्रकाशित। संपर्क : डी-77, पेशवा रोड, गोल मार्किट, नई दिल्ली-110001

लेकिन यह बात
उन लोगों के पल्ले नहीं पड़ती

जिनकी हर सुबह की शुरुआत
खौलते पानी को हलक़ से नीचे
उतार लेने के साथ ही होती है

और जिनका दावा है कि
खौलते पानी में ज़िंदा बछड़ा फेंक देने से
उसकी चमड़ी की क़ीमत
लगभग चौगुनी हो जाती है,

वकील नहीं होते हुए भी
मुझे उस दिन का इंतज़ार है

जब बछड़ा और बया चिड़िया
एक साथ अदालत में पेश होंगे
क्योंकि, कल रात की बर्फ़ीली आँधी में

उन बया परिवारों ने
फ़ुटपाथ पर ही दम तोड़ दिए—
जिनके घोंसले बेडरूम की
सेक्सी लाइट में तब्दील कर दिए गए थे

लेकिन सवाल सिर्फ़ बछड़े
या बया चिड़िया का ही नहीं,
हम सब आपका भी है
क्योंकि—
अलग-अलग क़िस्म के जीव होते हुए भी
ली जा रही जान की चीख़
एक-सी हो जाती है

और बौखलाए हुए लँगड़े की
बैसाखी भी
बंदूक़ में बदल जाती है
शायद इतना ही कहना, आज काफ़ी होगा...

चुनाव

एक सख़्त लोहे को पिघलाने के लिए
किसी बड़े से कोयले की नहीं,
छोटे-छोटे टुकड़ों की ज़रूरत होती है
लेकिन तब देखना यह है कि
वे एकजुट हैं या तितर-बितर!...
इस बार भी कहीं कोई
घात न हो जाए
हमारी आशाओं पर
तुषारापात न हो जाए।

निरंतर टूटते और छोटे होते जा रहे
कोयले में
दहकने की तीव्रता बढ़ती चली जाती है
और, एक अदद चेहरे के लाल होते ही,
पूरी-की-पूरी भट्ठी सुलग जाती है,
तब चाहे जितना भी लाल-पीला हो ले
वह सख़्त लोहा,
उसका हश्र है हम सबको पता
लेकिन तब देखना यह है कि —
हवा की नियति क्या है?
ऑक्सीजन में कहीं हाइड्रोजन न मिल जाए
और, इस बार भी कहीं कोई घात न हो जाए,
हमारी आशाओं पर तुषारापात न हो जाए...

यश मालवीय

गीत के हर अँतरे में आँसू बोना

लहर का हर छोर
दोनों ओर लिखना
रात में भी
तुम सुनहली भोर लिखना
मौसमों की ज़िदें सारी
तोड़ देना
हवा में कुछ
खुले पन्ने छोड़ देना

यश मालवीय का जन्म 1962 में
हुआ। कई विधाओं में लेखन।
कृतियाँ प्रकाशित। उत्तर प्रदेश
हिंदी संस्थान से सम्मानित।
संपर्क: ए-111, मेंदहौरी कॉलोनी,
इलाहाबाद-211004 (उ.प्र.)

मन हमेशा
पंख खोले मोर लिखना
　　फूल पर ठहरी हुई-सी
　　ओस लिखना
　　ज़िंदगी भर तुम नहीं
　　अफ़सोस लिखना
आँधियों में
पत्तियों का शोर लिखना
　　नहीं छूटे कहीं कोई
　　छुपा कोना
　　गीत के हर अंतरे में
　　साँस बोना
लिखो बारिश
तो बहुत घनघोर लिखना
　　एक धीमी आँच में
　　गुनगुना करना
　　वक़्त को सुनना,
　　नहीं अनसुना करना
खुले मन से कभी
मन का चोर लिखना

तुम्हारी धूप ने...

तुम्हारी धूप ने हमको छुआ है
सुबह से
राम जाने क्या हुआ है
　　तुम्हारे देखने से
　　छलछलाती हैं शराबें
　　नशा सीढ़ियाँ चढ़ता है यक-ब-यक ही
　　बहुत कुछ चाहते हैं हम छुपाना
　　कि कह देती है आँखों की छलक ही
तुम्हारी आँख में चिड़िया है कोई
तुम्हारी आँख में कोई सुआ है।
　　बिहारी और ग़ालिब साथ बैठे
　　कि दोहे रच रहे हैं, शेर कहते

समंदर रूप का जब बँध न पाया
लहर ख़ुद हो गए हैं और बहते
तुम्हारा मन जैसे प्रार्थना है
तुम्हारी देह ही जैसे दुआ है
किसी कमरे सरीखी ज़िंदगी है
कि खिड़की और रोशनदान तुम हो
लहरते ताल वाला आईना है
कि जिसमें फूल तुम हो पात तुम हो
तुम्हारे फूल चेहरे को
हमारा देखना ही
सुबह की ओस जैसा ही चुआ है

पेड़ पुराने हैं

कभी पास थे
आज बहुत हैं दूर निगाहों से
कितने ही जहाज़ छूटे हैं
बंदरगाहों से
पेड़ पुराने हैं
यादों ने छाल उतारी है
ख़ाली जेबों की भी अपनी
मालगुज़ारी है
पाक-साफ़ हैं हम
पहचाने गए गुनाहों से
शीशे हैं चेहरों को लेकिन
देश निकाला है
शब्द नहीं हैं, मुँह में केवल
पान मसाला है
अब विचार भी लगते हैं
गलियों-चौराहों से
होते हैं महफ़ूज़ घाव
जब मरहम-पट्टी में
चलती है आरा मशीन-सी
गहरी चुप्पी में
टूटा करता है सन्नाटा
कठिन कराहों से

हम ग़रीब का बथुवा हैं

बहुत ज़रूरी मत समझो
इसका उसका अथवा हैं
हम मटर पनीर नहीं
हम ग़रीब का बथुवा हैं
यूँ ही आनाकानी में
तेज़ धूप में, पानी में
रावण पाँव पसार रहा
उनकी रामकहानी में
हम तो होरी धनिया हैं
या बुधई हैं, बुधवा हैं
जलती-बुझती बीड़ी में
जाते अगली पीढ़ी में
छत पर जाने की ख़ातिर
रहे हमेशा सीढ़ी में
हम अंग्रेज़ी क्या जानें
कच्ची पीते मधुवा हैं
रहे शगूफ़े-शोशे में
टूटे चाय समोसे में
हम तो मारे गए बहुत
केवल रामभरोसे में
अपने माई बाप रहे
अपने बिटिया बेटवा हैं

चौराहे

बहुत ख़ामोश चौराहे, बहुत वाचाल चौराहे
कहीं पर ज़िंदगी से हैं, कहीं पर काल चौराहे
बहुत-सी गली सड़कों के हुए हैं गाल चौराहे
हमारी आँख में होते हैं अकसर बाल चौराहे
उलटते हैं, पलटते हैं, घिसटते हैं, सिमटते हैं
वहीं पर हैं खड़े लेकिन, न डरते हैं, न थकते हैं,
कभी होते उजागर हैं, कभी बिन बात मिटते हैं।
यूँ ही दिन-रात खटते हैं, जुड़े हैं फिर भी कटते हैं
बुना करते हैं सारी उम्र कोई जाल चौराहे
समय की साँस को देते नया सुरताल चौराहे

कभी जूतों में देते हैं परसकर दाल चौराहे
हैं ख़ाली जेब फिर भी दिखें मालामाल चौराहे
इन्हीं के रास्ते सारे, इन्हीं का सब पे जादू है
महाजन इन से डरते हैं, डरा हर सेठ साहू है
यहाँ डाकू लुटेरे हैं, यहाँ पर गुम हलाकू है
कि हर रफ़्तार के हाथों हवा का तेज़ चाक़ू है
कहीं दरियादिली है या कहीं कंगाल चौराहे
दिखाई दे रहे हैं हाथ का रूमाल चौराहे
कहीं पर गोधरा से हैं, कहीं भोपाल चौराहे
पिए हैं आग बर्फ़ीली कि नैनीताल चौराहे
न पूछो दर्द होता है कि एक्सीडेंट कितने हैं
लहू में नहाए से सुबह के कई सपने हैं
कहीं गोवा, कहीं छुट्टी, कहीं टिक रहे घुटने हैं
नए शोशे शगूफ़े हैं कि फ़ितने और फ़ितने हैं
कहीं साफ़ा, कहीं पगड़ी, कहीं पर थाल चौराहे
कहीं तलवार हाथों में, कहीं पर ढाल चौराहे
करे हैं जंग का एलान सालों साल चौराहे
कि हैं बेहाल ख़ुद से ओर खस्ता हाल चौराहे।

जीवन सिंह

आलोचना-परंपरा की प्रासंगिकता

पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र के मूलाधारों में प्लेटो और अरस्तू के बाद तीसरा महत्त्वपूर्ण और अत्यंत आदरणीय नाम *पेरि इप्सुस* (उदात्त के विषय में) के रचयिता लौंगिनुस का है। इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। 'पेरि इंसुस' यूनानी (ग्रीक) भाषा में लिखी उनकी आलोचना की कृति है जिसे अंग्रेज़ी भाषा में पहली बार सत्रहवीं सदी के मध्य 1652 ई. में अनुवादित कर प्रकाशित कराया गया। इसके बाद अंग्रेज़ी में इसके कई अनुवाद प्रकाशित हुए। यद्यपि यह कृति खंडित और अपूर्ण रूप में उपलब्ध हुई तथापि इसकी कला एवं जीवन संबंधी मान्यताओं का इतना विस्मयकारी प्रभाव हुआ कि पाश्चात्य साहित्य जगत में एकमत से इसकी सौंदर्यशास्त्रीय मूलाधारों में प्रतिष्ठा हुई। कहना न होगा कि इस कृति का पश्चिमी साहित्य-संसार में सम्मोहनकारी प्रभाव हुआ।

लौंगिनुस की इस प्रतिष्ठा, महत्त्व व आलोचकीय महानता को देखते हुए वरिष्ठ आलोचक एवं साहित्य चिंतक डॉ. निर्मला जैन ने हिंदी-आलोचना की समृद्धि के उद्देश्य से उनके *पेरि इप्सुस* का *उदात्त के विषय में* शीर्षक से अनुवाद किया तथा उनके कला-सिद्धांतों के अध्ययन के रूप में इसकी विस्तृत भूमिका लिखकर उसके महत्त्व से हिंदी-साहित्य के अध्येता का परिचय कराया है। जैसा कि कहा गया है कि लौंगिनुस ने *पेरि इप्सुस* की रचना "कोरे बुद्धि-विलास या शास्त्र संपादन के लिए नहीं की थी।" इसकी इस रचना के पीछे मूल चिंता थी—"मनुष्य की आत्मा को ऊपर उठाना"; और यह कृतिकार स्पष्ट देख रहा था कि उनके अपने समय में सामान्यतः लोगों की "आत्मा का अधःपतन" हो गया था। यद्यपि डॉ. जैन द्वारा इस कृति के कला-सिद्धांतों की विवेचना और अनुवाद का पुस्तक रूप में पहली बार 1970 ई. में ही प्रकाशन करा दिया गया था। लेकिन इसकी अनुपलब्धता और आज इसकी आवश्यकता को देखते हुए, इसे 2004 ई. में नए संस्करण के रूप में प्रकाशित कराकर, निस्संदेह एक अभाव की पूर्ति की है।

जहाँ तक इसके अनुवाद का सवाल है वह हिंदी की अपनी संप्रेषण क्षमता के दायरे में जितना अर्थ संपन्न और सटीक हो

जीवन सिंह जी के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 1/14, अरावली विहार, अलवर-301001 (राज.)

[illegible] था, उतना अपनी क्षमताओं में पूरा हुआ है। इस अनुवाद की आवश्यकता बतलाते हुए डॉ. जैन ने स्पष्ट किया है कि '' 'पेरि इप्सुस' का डब्ल्यू. रीज रॉबर्ट्स कृत अंग्रेज़ी अनुवाद लौंगिनुस ऑन द सब्लाइम' (1899 ई.) एक लंबे अरसे तक विद्वत्त-समाज में विशेष लोकप्रिय और मान्य रहा है। लौंगिनुस के उपलब्ध हिंदी अनुवाद का आधार भी यही ग्रंथ है। किंतु मैंने जब अन्य उपलब्ध अंग्रेज़ी अनुवादों को एकत्र कर तुलनात्मक अध्ययन आरंभ किया तो शीघ्र ही एक नए हिंदी अनुवाद की आवश्यकता प्रतीत हुई।'' उन्होंने 1927 ई. में प्रकाशित लौंगिनुस के हॅमिलटन फाइफ कृत अंग्रेज़ी अनुवाद को उसकी अधिक ग्राह्यता के कारण अपने हिंदी-अनुवाद का आकार बनाया है। इसके बाद के अन्य अंग्रेज़ी-अनुवादों से भी यथास्थान सहायता लेने को भी डॉ. जैन ने स्वीकार किया है। इस अनुवाद का वैशिष्ट्य इस बात में भी माना जाएगा कि ''पेरि इप्सुस'' के काव्यावतरणों का हिंदी अनुवाद काव्यावतरणों के रूप में हिंदी के प्रतिष्ठित कवि डॉ. भारतभूषण अग्रवाल से कराया गया है। इसकी एक बानगी से ही पता चल जाता है कि ग्रीकभाषा (अंग्रेज़ी अनुवाद) के काव्यांशों की मूलभावना को हिंदी के तत्सम, तद्भव और ठेठ शब्द एक लय में पिरोकर पाठक के लिए सहज बना रहे हैं। 26वें अध्याय का यह अंश प्रस्तुत है :

आप कहेंगे : *अथक और निर्भीक भाव से*
दोनों योद्धा ऐसे टूट पड़े संगर में
गुत्थमगुत्था हुए परस्पर लड़ते-लड़ते

लौंगिनुस के ''पेरि इप्सुस'' के इस हिंदी अनुवाद से पूर्व डॉ. नगेंद्र और नेमिचंद्र जैन भी ''काव्य में उदात्त तत्त्व'' शीर्षक से इसका हिंदी अनुवाद कर चुके थे, जिसकी विस्तृत समीक्षा डॉ. रामविलास शर्मा ने ''काव्य में उदात्त तत्त्व और रमणीयता'' शीर्षक आलेख में की थी। वस्तुतः लौंगिनुस ने ''उदात्त'' का विवेचन केवल काव्य तक सीमित रहकर नहीं किया है; उसका क्षेत्र व्यापक है। वह ''उदात्त'' की विवेचना भाषण (वक्तृत्व कला) काव्य दोनों के संदर्भ में करते हुए कवि और वक्ता की भिन्नता और समानता के बिंदुओं का उल्लेख करते हुए कहता है, ''तुम स्वयं पता लगा लोगे कि कल्पना का भाषण में एक अर्थ है और कविता में दूसरा। जहाँ कविता का उद्देश्य सम्मोहित करना है, वहाँ गद्य का उद्देश्य वस्तुओं को सजीव वर्णन के द्वारा प्रत्यक्ष करना। किंतु, निश्चय ही प्रत्यक्षीकरण और भावोत्तेजन, दोनों का लक्ष्य है।'' (पृ. 87-88) इसके अलावा डॉ. जैन का यह कहना सही है कि ''उसमें केवल काव्यचर्चा नहीं है। यहाँ विचार-परिधि में कविता के साथ गद्य का भी समावेश है और गद्य का भी विस्तार इतिहास, दर्शन, धर्मग्रंथ से लेकर भाषण तक है।'' (पृ. 12)

डॉ. निर्मला जैन ने अपनी इस अनुवादित कृति की एक लंबी—लगभग 52-53 पृष्ठों की भूमिका लिखकर लौंगिनुस के काव्य एवं वक्तृता की उदात्तता संबंधी मान्यताओं और धारणाओं को विश्लेषित-विवेचित करने का सद्प्रयास किया है। इससे अनुवाद को समझने में मदद मिलती है क्योंकि अनुवाद में पश्चिम की संस्कृति को उजागर करने वाली शब्दावली, उद्धरण व इतिहास-प्रसंग हिंदी पाठक के लिए किंचित् व्यवधान बने बिना नहीं रह पाते यद्यपि अनुवाद को भी डॉ. निर्मला जैन ने हिंदी की भाषिक प्रकृति में खटाने का भरसक प्रयास किया है फिर देश और काल दोनों की अवरोधकता से इनकार नहीं किया जा सकता। इसलिए इसकी ''भूमिका'' बहुत उपयोगी एवं सार्थक बन गई है। भूमिका की उपयोगिता अंग्रेज़ी-आलोचना, अंग्रेज़ी साहित्य के इतिहास और साहित्य चिंतकों के मंतव्यों के यथासंदर्भ उद्धृत कर देने से और बढ़ गई है। इनमें स्कॉट जेम्स की द *मेकिंग ऑफ़ लिटरेचर*; विमसाट एंड ब्रुक्स की *लिटरेरी*

क्रिटिसिज़्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री; जॉर्ज सेण्ट्सबरी कृत *ए हिस्ट्री ऑफ क्रिटिसिज़्म* (जिल्द 1); एटकिंस कृत *लिटरेरी क्रिटिसिज़्म इन एंटिक्विटी*; एलनाटेट कृत द *मैन ऑफ़ लैटर्स इन द मॉडर्न वर्ल्ड* विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस तरह इसकी भूमिका से अंग्रेज़ी साहित्य में लौंगिनुस की महत्त्व-स्वीकृति के साथ अंग्रेज़ी-साहित्य-चिंतन की गति को भी सह-उत्पाद के रूप में जाना जा सकता है।

इस कृति की भूमिका को डॉ. जैन ने ''पेरि इप्सुस'' के कुल 44 अध्यायों की तर्ज़ पर 12 अध्यायों में विभक्त करके लिखा है। पहले अध्याय में मूल कृति और कृतिकार का परिचय कराते हुए उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है, जिससे पाठक के मन में इसे पढ़ने का जिज्ञासा-बीज पड़ जाता है। इस बीज में उस समय पानी लग जाता है जबकि वह इस भूमिका में से पढ़ने लगता है—''लौंगिनुस यदि उदात्त के लिए महान धारणाओं और उद्दाम आवेगों पर बल दे रहा था तो इसीलिए कि उसकी मूल चिंता थी मनुष्य की आत्मा को ऊपर उठाना; और लौंगिनुस स्पष्ट देख रहा था कि उस समय सामान्यतः लोगों की आत्मा का अधःपतन हो गया था।'' (पृ. 14) इन पंक्तियों से गुजरते हुए मुझे अपने आज के युग की स्थिति भी ज़्यादा बेहतर दिखाई नहीं दे रही है। यद्यपि इस बीच आत्मा को ऊपर उठाने के थोड़े-बहुत प्रयास अवश्य हुए हैं। इसके बावजूद लौंगिनुस की दो हज़ार वर्ष पहले की वाणी से निकले ये शब्द—(1) ''मुझे इस बात पर आश्चर्य है...कि हमारे युग में ऐसी प्रकृति के लोग मिलते हैं जिनमें अनुनयन की क्षमता भी पराकाष्ठा पर है और वे सार्वजनिक जीवन के सर्वथा उपयुक्त हैं। वे अत्यंत चतुर हैं, और बहुमुखी प्रतिभा संपन्न हैं, और साहित्यिक सौंदर्य पर उनका विशेष अधिकार है। तो भी सही अर्थ में उदात्त और लोकोत्तर प्रतिभाएँ या तो उत्पन्न नहीं होतीं या बहुत कम उत्पन्न होती हैं।'' (2) ''शायद महान प्रतिभाओं को भ्रष्ट करनेवाला कारण विश्वशांति नहीं है, बल्कि यह कभी समाप्त न होने वाला युद्ध हो हमारे हृदयों को रुद्ध कर रखता है।'' (3) ''और फिर वे वासनाएँ भी कारण हैं, जिन्होंने इस युग में हमारे जीवन को घेरकर उसे तबाह कर दिया है। धन का लोभ, वह अतृप्त लालसा है जिससे आज हम सभी ग्रस्त हैं। और सुख का प्रेम जिसने हमें अपना दास बना रखा है, बल्कि कहा जा सकता है कि हमारे जीवन को, हमारी आत्मा को अतल गर्त में डुबो रखा है। क्योंकि धन का प्रेम निरंतर निस्तेज बनाने वाला रोग है और सुख का लोभ सर्वथा हेय है।'' (पृ. 117-119)

डॉ. जैन ने लौंगिनुस की विषयवस्तु की मौलिकता और विवेचन-शैली की सृजनात्मकता की प्रशंसा करते हुए बतलाया है कि उनकी शैली शास्त्रीय जटिलताओं से बोझिल नहीं होती। उनकी शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने रचयिता के अनूठे व्यक्तित्व का स्पष्ट दर्पण है। उसने लिखा है कि ''*पेरि इप्सुस* को पढ़ने से एक ऐसा व्यक्तित्व सामने आता है जिसके विचारों में छलकता हुआ उत्साह और ईमानदारी है। उसके निर्णयों में उदारता है और उपस्थापन में निरस्त्र कर देने वाली विनम्रता है।'' लेकिन जहाँ डॉ. जैन की तर्कबुद्धि उनसे सहमत नहीं हो पाती, वहाँ उसने उनसे दो टूक असहमति भी जताई है। मसलन सेण्ट्सबरी ने लौंगिनुस के ''उदात्त के स्रोत'' शब्दावली में ''स्रोत'' शब्द पर एतराज़ करते हुए कि इसके बजाय उन्होंने उदात्त की सिद्धि के पाँच बिंदु (या रास्ते या पक्ष) कहा होता तो शायद वह ज़्यादा सही होता। इस बिंदु पर लेखिका ने सेण्ट्सबरी से अपनी असहमति जताते हुए बतलाया है कि ''सेण्ट्सबरी यह मूल बात भूल गए कि लौंगिनुस ने मुख्य रूप से उदात्त की उत्पत्तिपरक और प्रभावपरक व्याख्या ही की

"इस तरह लेखिका ने अपनी इस भूमिका में अनेक स्थानों पर लौंगिनुस के बचाव पक्ष का काम भी किया है।

निष्कर्ष रूप में "उदात्त" के प्रति लौंगिनुस की मंशा को जाहिर करते हुए डॉ. जैन ने कहा है—"लौंगिनुस यह कहना चाहता है कि 'उदात्त' काव्य या वक्तृता का ऐसा विशिष्ट गुण है कि जिसकी विशेषता पाठक और श्रोता पर उसके प्रभाव से पहचानी जाती है। इस प्रभाव की विशेषता यह है कि वह चेतना में एक प्रकार का गुणात्मक परिवर्तन कर देता है।" (पृ. 28) वस्तुतः लौंगिनुस को समझने के लिए हमें उसकी विवेचन-शैली की इस बात को भी अच्छी तरह जान लेना होगा कि उसका विश्लेषण इतना द्वंद्वात्मक है कि उसके उदात्त की परिधि में अनेक परस्पर विरोधी और नितांत भिन्न तत्त्व सहज ही सन्निविष्ट हो जाते हैं।" (पृ. 28) देखा जाए तो जिन तत्त्वों को हम जीवन में परस्पर विरोधी व नितांत भिन्न मानकर चलते हैं, वे व्यवहार में वैसे होते नहीं हैं। जीवन को मनुष्य ने अपनी समझ के लिए परस्पर विरोधी खाँचों में बाँट रखा है। जीवन बनता ही है परस्पर विरोधी तत्त्वों के संयोग से। लौंगिनुस ने अपने समय में उन्हीं को तोड़ा है और एक ऐसी विचार-पद्धति विकसित की है जिसमें न तो शास्त्र से परहेज है और न ही रोमांटिसिज़्म (स्वच्छंदता) से। उन्होंने कबीर के शब्दों में सार-सार को गहा है—"सार-सार को गह रहै थोथा देय उड़ाय।" यही कारण है कि उसकी देश-काल-व्याप्ति इतनी सुदीर्घ बन पाई है कि वह अपनी स्थापनाओं और मान्यताओं में दो हज़ार वर्ष बाद के पाठक को भी सम्मोहित-चकित करता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लौंगिनुस के इस विरोधी व भिन्न तत्त्वों की एकता को पहचानने वाले दृष्टिकोण के आधार पर उनके दृष्टिकोण को वैज्ञानिक माना है। (आस्था और सौंदर्य, पृ. 41)

डॉ. नगेंद्र ने अपनी पुस्तक *काव्य में उदात्त तत्त्व* में लौंगिनुस के चिंतन की सीमाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "लौंगिनुस ने शोक, दया और भय को इसी तर्क से हीनतर भाव माना है; मानो प्राणों की द्रुति का कोई मूल्य ही न हो। चित्त की विभिन्न दशाओं की आनंदमय परिणति की परिकल्पना से युक्त भारतीय रससिद्धांत की पूर्णता इसमें कहाँ?" इसके विपरीत डॉ. निर्मला जैन ने पूरी गंभीरता से लौंगिनुस के काव्य-चिंतन का विश्लेषण करते हुए उसके चिंतन की द्वंद्वात्मकता को समझकर बहुत सही लिखा है कि "उदात्त के निरूपण में लौंगिनुस ने भय और करुणा की त्रासद अनुभूति को उदात्त के दायरे से बाहर नहीं किया था। लौंगिनुस की दृष्टि में कोई भाव अपने आप में उदात्त या अनुदात्त नहीं होता—उदात्त होता है वह अपने संदर्भ और कलात्मक निर्वाह से।"

डॉ. निर्मला जैन कृत *पेरि इप्सुस* का हिंदी अनुवाद और उनके साहित्य-सिद्धांत का विवेचन इसीलिए विशिष्ट, महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक है क्योंकि उन्होंने उनकी व्याख्या ज्ञान-विज्ञान की समग्रता और बिना किसी आग्रह के की है।

चर्चित पुस्तक :
उदात्त के विषय में : निर्मला जैन, भारतभूषण अग्रवाल, वाणी प्रकाशन; 2004; 200 रुपए

रामबक्ष

वैचारिक भावात्मक चिंतन

शैवाल के कहानी-संग्रह— *यहाँ कोई गुलमुहर नहीं है* पढ़कर पहली बात उभरकर आती है कि उनके पास अनुभवों का खजाना है। आमतौर से मध्यवर्गीय लेखक के अनुभव का दायरा बहुत

सीमित होता है। वह चीज़ों को कम जानता है। जिस वर्ग का उसे विरोध करना है, उसे तो वह बहुत कम जानता है। ऐसे में उसका व्यंग्य और विरोध फुस्स हो जाता है। शैवाल उस वर्ग को जानते हैं और कहना चाहिए कि विरोध के तल्ख स्वर में जानते हैं।

उनकी कहानियाँ दो स्तरों पर चलती हैं। कहानी का "मैं" वैचारिक-भावात्मक रूप से लेखक का लगभग हमशक्ल है। व्यवहार में वह एक शांत, सभ्य और आदर्श आचार-संहिता के अनुरूप दिखाई देता है। दूसरे स्तर पर वह चिंतन करता है। सोचते समय वह बेहद आक्रामक, ग़ैरलिहाज़ी और कभी-कभी फूहड़ तथा चिढ़ा हुआ और लगभग आक्रामक रूप में होता है; जो सामने वाले को उसकी औकात बताता हुआ-सा, उसके मखमली षड्यंत्र का पर्दाफाश करता हुआ, उसकी अगली चाल को समझता हुआ, विरोधी की शालीनता में निहित कमीनेपन को देखता-दिखाता हुआ, धूमिल और अकविता के नायक की तरह सामने आता है। ऐसा बारीक निरीक्षण, बहुत बार वैसे लोगों को झेले बिना, वैसा अनुभव किए बिना संभव नहीं होता। भद्रोचित व्यवहार की मर्यादा और बेलिहाज़ी चिंतन के मेल से एक विशेष प्रकार का सर्जन का प्रयास शैवाल ने किया है।

कहा जा सकता है कि शैवाल का चिंतन पक्ष आतंकित करता है और आज हम आतंकित होना नहीं चाहते। आतंकित होने और करने को जन-विरोधी मानने का एहसास लेखक को भी है। "आसमुद्र" कहानी का नायक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है—

"बीरूभाई, तुम जिस दिन पुलिस के फर्जी एनकाउंटर में मारे गए थे...उस दिन हमने सोचा था कि तुमने वक्त से पहले आक्रमण किया और नाहक अपनी जान दे दी। हमने अपना रास्ता बदल लिया, निर्णय किया कि हम साहित्य लिखेंगे, कला के जरिए लोगों को जगाएँगे, जागरण का माहौल तैयार करेंगे। लेकिन अब लगता है बीरूभाई, कि यह जागरण किसी काम का नहीं, जिसका उपयोग गिरधारी सिंह जैसे लोग आतंक फैलाने के लिए करते हों।" (पृ. 38)

साहित्य में पराजय का यह तल्ख बोध, नई सदी की भाषा की अनिवार्य परिणति है। हालाँकि उनकी कहानियाँ आतंक को ही चरम मूल्य के रूप में स्थापित करती हैं। लेखक को कहीं से कोई आशा, कोई उम्मीद, कोई संभावना नज़र नहीं आती। इस तरह पाठक यदि लेखक पर विश्वास कर ले तो मानसिक अवसाद में आ सकता है। यहाँ हम जीवित नहीं रह सकते, यह बीती शताब्दी का निष्कर्ष है, जिससे जनता की जीवनी शक्ति का क्षरण होता है। संभव है अपनी अगली रचनाओं में शैवाल धूमिलीय ऊँचाई से उतरकर पराजय बोध की पीड़ा से इस महाजीवन को पुनः देखेंगे।

शैवाल ने अर्थभूमि की दृष्टि से भाषा और अनुभव के दो स्तर बनाए—एक अनुभव खड़ी बोली में व्यक्त होता है, जिसमें गाहे-बगाहे अंग्रेज़ी के शब्द और वाक्यांश भी चले आते हैं। दूसरा अनुभव लोक भाषा और बोली में व्यक्त होता है—ठेठ बिहार की बोली। गाँव के अपढ़-गँवार छोकरे-शोहदे जिस भाषा में, जिस तर्क से इस उत्तर-आधुनिक अनुभव को समझेंगे, बहस करेंगे, अपने लिए उसका अर्थ करेंगे वह व्यक्त होता है। इस घालमेल में एक चमत्कार होता है, जहाँ मूर्खता और षड्यंत्र में घालमेल घटित होता है। नए उत्तर-आधुनिक अनुभव को मूर्ख-जड़ भारतीय ग्रामीण जिस भाषा में समझेगा, उसमें एक चमत्कार पैदा होगा। और इस चमत्कार को पैदा करने में शैवाल कई बार सफल हो जाते हैं। परंतु इस अनुभव की रचनात्मक सार्थकता बहुत सीमित है। हालाँकि रेणु ने इस अनुभव को पहली बार कला का रूप दिया था।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि विरोध में निहित सर्जनात्मकता को अभिव्यक्त करने का

यह नुस्खा अब काफ़ी सुपरिचित हो गया है। अब लेखक से अधिक ज़िम्मेदारी की अपेक्षा रहती है। आपके पास आज भले ही कोई मॉडल न हो, परंतु आपकी रचनात्मक चिंता के केंद्र में तो यह रहना ही चाहिए। संभव है किसी दिन आप स्वीकार करें कि आपको पता नहीं है कि इस भूमंडलीकरण, सौंदर्य प्रतियोगिता, उपभोक्तावाद के ख़िलाफ़ आपके पास कुछ नहीं है। तब आप एक क्रांतिकारी की तरह नहीं, पराजित चिंतक की तरह चीख़ेंगे और वह रचना अधिक यथार्थवादी होगी और जीवन के अधिक निकट भी।

चर्चित कहानी-संग्रह :
यहाँ कोई गुलमुहर नहीं है; शैवाल; राधाकृष्ण प्रकाशन, 2004; 150 रुपए

लेखक के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : सी-1ए, शिव शक्ति, 8, रेजीडेंसी रोड, जोधपुर 342011.

रामकुमार कृषक

झरते हुए फूलों की हँसी

कुछ कविताएँ हमारे सामने स्वयं को इस क़दर खोल देती हैं कि हम कहीं के नहीं रहते। यही बात उनके बंद बने रहने को लेकर भी कही जा सकती है। ऐसे में ये दोनों ही स्थितियाँ पाठक के सामने यह सवाल खड़ा करती हैं कि वह कौन-सी कविता को कविता कहें। क्या इसे जो ख़ुद-ब-ख़ुद सब कुछ कहे दे रही है अथवा उसे जो पाठक की बोलती बंद किए हुए है? ज़ाहिर है, पाठकों के लिए यह मुश्किल नई नहीं है; और शायद इसीलिए कुछ कवि अपने काव्य-संस्कार और लोकोन्मुख सरोकार के चलते इन दोनों स्थितियों में संतुलन बनाए रखते हैं।

रामदरश मिश्र ऐसे ही कवि हैं। उनके यहाँ कविता न तो नितांत भद्रलोक से रिश्ता बनाती है और न ही निरे भदेस से। उसका कलात्मक सधाव और सहज संप्रेषण, दोनों ही उनके लिए महत्त्वपूर्ण हैं। वे प्रायः जन साधारण के साहित्यिक हैं; सिर्फ़ कवि ही नहीं हैं। इसके बावजूद *आम के पत्ते* उनका तेरहवाँ कविता-संग्रह है। इनके अलावा लगभग तेईस कथा-कृतियों सहित कई अन्य गद्य-विधाओं में भी उन्होंने बहुत लिखा है, और 80 पार जाकर भी निरंतर लिख रहे हैं। ध्यान से देखा जाए तो रामदरश जी की लेखकीय ऊर्जा का स्रोत उनका अपना ही जीवन-व्यवहार है। कविता को भी उन्होंने उसी से अर्जित किया है। वह किसी काव्यांदोलन या अदृश्य से पैदा नहीं हुई। यहाँ तक कि उसमें इस सदी के नव साम्राज्यवादी ख़तरों और नक्सलवादी हिंसा के नए घटनाक्रम पर भी लगभग चुप्पी है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कविता किसी भी तरह के बाहरी उत्ताप और आत्मालाप की जगह दैनंदिन जीवन से भावपूर्ण संवाद है। ऐसा करते हुए कविता को वे न सिर्फ़ आत्मीय संबंधों तक ले जाते हैं, बल्कि उसे उन चीज़ों से भी जोड़ते हैं, जिन्हें मामूली समझकर प्रायः अनदेखा कर दिया जाता है। जड़ और चेतन को एक साथ देखने और रचने की यह काव्य-संस्कृति निश्चय ही कवि के समग्र दृष्टिबोध की उपज है। यथार्थ यहाँ न तो खंडित है और न स्वायत्त, बल्कि उसकी सार्थकता हमारे समय की सामाजिक गतिशीलता में निहित है।

यही कारण है कि रामदरश मिश्र की अधिसंख्य कविताएँ जिन स्मृति-बिंबों का निर्माण

करती हैं, वे उनके अनुभवों को अनेक स्तरों पर मूर्त करते हैं। कोयले के चूल्हे (या शायद अँगीठी?) की तरह बीता हुआ, अनुपयोगी समय भी यहाँ कभी-कभी प्रासंगिक हो उठता है और फिर अपनी उजास और गरमाहट लेकर लौट आता है। महत्त्वपूर्ण यह कि इस सबके लिए वे कहीं दूर नहीं जाते, बल्कि अपने आस-पास की चीज़ों को ही एक नई अर्थवत्ता से भर देते हैं। उदाहरण के लिए, संग्रह की पहली ही कविता ‘‘पहचान’’ में कलाई पर बँधी घड़ी सिर्फ़ घड़ी ही नहीं रह जाती, बल्कि उसकी टिक-टिक में माँ और समय; दोनों का हृदय धड़कने लगता है। लेकिन ‘‘माँ’’ में वह मातृ-हृदय के भाव-संकुचन पर सवाल भी उठाता है। एक और कविता में कवि के पितृभाव ने अपनी बेटी को जिस तरह प्रकृति के साथ एकमेक करके देखा है, उसमें रिश्तों की गरमाहट तो है ही, समय-संदर्भित थरथराहट भी है—

कुछ ऋतुओं ने उसे डर दिए / पिता की तरह बादलों की सजल आँखें / उसके ऊपर आशीष-सी झुकी रहीं / और उसमें पराग भरता रहा / माँ की तरह स्नेहिल धूप / उसे स्निग्ध हाथों से सहलाती रही / और उसकी पंखुड़ियाँ थरथराकर खुलती रहीं... (बेटी स्मिता के लिए)

इसी प्रकार एक अन्य कविता है ‘‘मेज’’, जिसे कवि ने अपनी व्यापक संवेदनशीलता के दायरे में लेकर ‘‘एक समग्र जीवन’’ में ढाल दिया है; और वह भी घर-परिवार में दुख-सुख महसूस करते स्त्री-जीवन के संग-साथ चलते हुए। यही नहीं, शोर में डूबी पुस्तकों के ‘‘आहिस्ता-आहिस्ता अपने पृष्ठ खोलने’’ का स्वर-संदर्भ भी यहाँ स्त्रियों के ही पारस्परिक संवाद को प्रतीकित करता है। इसी क्रम में संग्रह की ‘‘कलम’’, ‘‘सूई’’, ‘‘चमचा’’, ‘‘चाकू’’, ‘‘झाड़ू’’ जैसी कविताओं को देखा जा सकता है। ये सभी चीज़ें अपने अच्छे-बुरे उपयोग को लेकर आत्म-संवाद करती हैं और हमारी सामाजिक कार्य-संस्कृति को उजागर करती हुई उसके सकारात्मक पहलुओं को भी सामने ले आती हैं।

लेकिन संग्रहित कविताओं का यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है चीज़ों के लिए चीज़ों में बदलते मनुष्य का त्रासद वर्तमान। इसका एक पहलू बाहरी या स्थूल है तो दूसरा भीतरी या सूक्ष्म। बाहरी भूख ने हमारी आंतरिकता को निगल लिया है। मनुष्य-जीवन का समूचा अर्थ जैसे चीज़ों में ही समा गया है और ‘‘पश्चिम की ओर से आता हुआ रंगीन धुआँ’’ हमें लगातार लुभा रहा है। ‘‘विश्वग्राम’’ के फेर में हर कोई पड़ा है, लेकिन पता उसका किसी के पास नहीं। कवि इस पर व्यंग्य करता है। वह अपने ख़ालीपन या अभाव को उस जीवनानुभव से ऊपर नहीं मानता, जहाँ एक ख़ास तरह की गतिशीलता है—

शाम को लोग घर लौटे तो/न जाने क्या-क्या सामान थे उनके पास/मेरे पास कुछ नहीं था/केवल एक अनुभव था/कंकड़ी और लहरों के संबंध से बना हुआ। (दिन भर)

उपरोक्त कवितांश में ‘‘कुछ नहीं था’’ कहने के पीछे बहुत कुछ होने का जो विश्वास है, वह लोगों द्वारा जुटाए जा रहे ‘‘क्या-क्या सामान’’ को निश्चय ही नगण्य बना देता है। इसके बावजूद वर्तमान जीवन-स्थितियों की कुरूप विडंबनाओं को भी कवि अनदेखा नहीं कर पाता। मकान (या कि घर?) में एक आँगन होने का संतोष यदि है तो असंतोष के अनेक कारण भी वहीं उपस्थित हैं। मसलन—

अब कमरे में ही/टी.वी. के परदे पर/गरजते-बरसते हैं बादल/हहराता है समुद्र/हुंकारता है पहाड़/बहती-सी लगती हैं हवाएँ/हिलता है जंगल/नाचते-गाते हैं पंछी/आते-जाते हैं गाँव-कस्बे-शहर/पूरब-पश्चिम/एक-दूसरे में अपनी पहचान खोते हुए।

मौसम आते हैं चुपचाप/भींत पर टँगे कैलेंडरों में समय टहलता रहता है/घड़ियों में धीरे-धीरे/ जानी-अनजानी दूरियों के अदृश्य संवाद/टकराते रहते हैं टेलीफ़ोन में/पुस्तकें चुप होती जा रही हैं और चीखते हुए कैसेट/एक-एक कर उन्हें/ अलमारी से बाहर हाँक रहे हैं...

(मेरे मकान में एक आँगन भी है।)

और सर्वोपरि विडंबना तो यह है कि—

इतनी सारी हलचलें/और हमारे तन-मन में कोई स्पंदन नहीं!

तन-मन का स्पंदनहीन हो जाना ही असल में आज का सभ्यता-संकट है। बाज़ार ने जैसे हमें हमारे ही घरों में अजनबी बना दिया है। इसीलिए अपनी संवेदना को जगाए रखनेवाला कोई भी कवि इस स्थिति को बार-बार लक्षित करता है। कभी वह दिल्ली में बर्बाद होती यमुना के बहाने अपने भीतर उमड़ती किसी अदृश्य नदी को महसूस करता है (नदी) तो कभी अपने सांस्कृतिक साधनों के जड़ धार्मिक प्रतीकों में बदलने और हमारी पहचान से गायब होने पर दुखी होता है (आम के पत्ते)। इसी संदर्भ में "दूब" नामक कविता को भी देखा जा सकता है। प्रकृति-प्रदत्त चीज़ों का हमारी पहचान से परे हो जाना असल में जीवन का ही क्षरण है। रामदरश मिश्र का कवि इससे बख़ूबी परिचित है। इसीलिए उसका ग्रामीण बोध हवा की महानगरीय उपस्थिति की टीका करता है और उसके प्रकृत प्रवाह को बाधित करते कृत्रिम विकास पर क्षुब्ध भी होता है। इतना ही नहीं, इस सबका एक पीड़ादायक पहलू और भी है—"*बंद मकान तुम्हें नहीं जानते/जानती है सड़क के किनारे/खुले आसमान के नीचे पड़ी/फटेहाल दुनिया।*" वस्तुतः हवा को संबोधित यह कविता रामदरश जी के काव्य-सरोकार की ख़ासी पहचान कराती है। यहाँ प्रकृति से उनका स्मृतिजन्य अनुराग-भाव तो स्पष्ट है ही, उससे वंचित या उसके कृत्रिम बँटवारे के शिकार लोगों के प्रति उनकी सहानुभूति भी स्पष्ट है। इसी के चलते वे "उसके" और "उनके" हाथों के फ़र्क़ को रेखांकित करते हैं—

उसके हाथ में हल है कुदाली है/उनके हाथ में चाँदी का लोटा है/सोने की थाली है/ मशीन से जूझते हुए/उसके खुरदुरे हाथों की लकीरें/ मिटती जाती हैं/नोट गिनते हुए उनके निष्प्राण हाथों में/उगती जाती हैं नई-नई शुभ रेखाएँ... (लकीरें)

निश्चय ही यह अलगाव वर्ग-विभाजित समाज का यथार्थ है, लेकिन रामदरश मिश्र का रचनात्मक स्वभाव इसे इसकी द्वंद्वात्मक परिणति तक ले जाने के बजाय "लोग कहते हैं" के भाग्यवादी भावोच्छ्वास में पर्यवसित कर देता है। इसी स्वभाव के चलते तीर फेंकने, गोलियाँ दागने और बम फोड़नेवाले हाथों की अपेक्षा उनका कवि उन हाथों का प्रशंसक है, जो किसी थके-हारे कंधे को आत्मीय भाव से सहलाते हैं। दरअसल अपनी गतिशीलता में वह वर्ग चेतस तो है, वर्ग-प्रतिबद्ध नहीं। उत्पीड़ित लोगों के प्रति मानवीय संस्पर्श ही उनके कवि की सबसे बड़ी पूँजी है।

एक और बात। रामदश मिश्र के यहाँ विधाओं का बँटवारा नहीं है। गीत और ग़ज़ल लिखते हुए भी वे कवि हैं, कविता लिखते हुए तो हैं ही। यही आज की ज़रूरत भी है, खासकर समकालीन काव्यालोचना के संदर्भ में। कविता सिर्फ़ शिल्प या कोई काव्यरूप नहीं होती। काव्य या शिल्प तो महज माध्यम है। अपने आनुभूतिक सत्य को ख़ूबसूरती से व्यक्त करने का एक तरीका। इसलिए यह उचित नहीं कि कुछ काव्य-रूपों को उनके काव्य-शिल्प या छंदानुशासन के कारण ही अनदेखा कर दिया जाए। ज़रूरी है ऐसी कविताओं की अंतर्वस्तु तक जाना। वह अगर समकालीन काव्य-चिंताओं से जुड़ी हुई

है तो उसकी भाषा-भूषा के लिए ही उसे समकालीन कविता से बाहर नहीं किया जा सकता। ज़्यादा नहीं तो कुछ कविताएँ इस संग्रह से भी इस बात की पुष्टि करती हैं।

वैसे भी कवि और कविता के बीच एक सहज मानवीय रिश्ता होता है। मानवीय और सामाजिक। रामदरश जी इसे एक नैतिक मूल्य की तरह देखते हैं। न तो समाज उनके लिए रंगमंच है और न कला मात्र बुद्धि-विलास। यही कारण है कि संग्रह की अधिसंख्य कविताएँ चमत्कृत करने के बजाय हमें सहज ही स्पर्श करती हैं। इनमें जो समय दर्ज है, उसके बीच से गुजरते हुए कवि स्वयं भी जैसे अपनी जाँच-परख करता है। इस प्रक्रिया में कहीं उसकी कविता सकारात्मक जीवनेच्छा का गान बन जाती है (समय की आँखें) तो कहीं पत्तों की तरह झरती उदासी के बीच फूटती कोंपल का उछाह (पत्ते झर रहे हैं)। यही नहीं, हरसिंगार के फूलों के बहाने वह संक्षिप्त, लेकिन सार्थक जीवन को ही तरजीह देता है—

हम पूरी शिद्दत के साथ हँसते हुए /एक पल आते हैं/दूसरे पल चले जाते हैं/और इसी थोड़े समय में/जी लेते हैं अपना पूरा जीवन।

इसीलिए तो कवि के समक्ष—

झरे हुए फूल हँसी में नहा रहे थे/और एक उत्सव-सा जाग रहा था नई धूप में। (हरसिंगार)

कहने की आवश्यकता नहीं कि रामदरश मिश्र हर हाल में जीवनधर्मी कवि हैं। अपने समय से गुजरती हुई उनकी कविता हमें हमारे आसपास को और गहराई से समझने का अवसर जुटाती है। वैश्विक होने के बजाय वह स्थानीय, बल्कि घरेलू अधिक है और बाहरी प्रभावों को भी अगर दर्ज करती है तो वहीं से। दूसरे शब्दों में कहें तो आक्षितिज उड़ान भरने की जगह इस कविता को अपने-अपने ही खेत-खलिहान, गाँव-जवार और प्रकृति-परिवेश से जुड़े रहना ज़्यादा पसंद है।

चर्चित कविता-संग्रह :
आम के पत्ते : रामदरश मिश्र; इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, के-71, कृष्णनगर, दिल्ली-51; 2004; 125 रुपए

1943 में जन्मे रामकुमार कृषक की कहानी-संग्रह, कविता-संग्रह, संस्मरण, साक्षात्कार, समीक्षा, बाल-साहित्य आदि की पुस्तकें प्रकाशित। हिंदी अकादमी, दिल्ली से सम्मानित। संपर्क : सी-3/59, नागार्जुन नगर, सादतपुर विस्तार, दिल्ली-110094

मोहन सिंह

जड़ों की तलाश में

हिंदी नाटक और रंगमंच को लेकर समय समय पर बहुत-से विद्वानों ने सार्थक और चिंताजनक टिप्पणियाँ की हैं। बहुत-से विद्वानों ने नाट्यालोचना को गंभीरता से लेते हुए विस्तृत शोधकार्य भी किए हैं जिनका न सिर्फ़ हिंदी नाट्यालोचना में अपितु समग्र भारतीय नाट्यालोचना में एक ख़ास स्थान है। नाट्यालोचना वास्तव में एक जटिल और कठिन कार्य है जिसको दूसरी साहित्यिक विधाओं की भाँति नहीं जाँचा-परखा जा सकता है और न ही इसका कोई एक ख़ास पैरामीटर या खाँचा ही तैयार किया जा सकता है। यह तो नाटक करने जैसा है। नाटककार हो, निर्देशक हो या अभिनेता, हर नए नाटक के लिए उसे शून्य से शुरू करना होता है, नई चुनौतियों और नए अनुभवों के साथ। एक ही नाटक को बार-बार खेलने से जैसे हर बार नए अनुभव से गुज़रना होता है वैसे

ही हर नाटक का आलेख और उसकी प्रस्तुति अपने भीतर अनेक रंगयुक्तियाँ तथा अनुभव समेटे नज़र आ सकता है जिसको किसी बने बनाए ढाँचे में फिट करके देखना कदाचित् तर्कसंगत नहीं हो सकता। इन सब बातों के चलते नाट्यालोचना करते समय, बने-बनाए साहित्यिक मानदंडों को अपना कर इस विधा से न्याय नहीं किया जा सकता। भारतेंदु के समय से ही हिंदी जगत में नाटक और रंगमंच से जुड़े चिंतकों और बुद्धिजीवियों की सबसे बड़ी चिंता, हिंदी का अपना ख़ास मुहावरा तलाशने की रही है। डॉ. गिरीश रस्तोगी द्वारा लिखित *बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच* भी इसी तलाश का एक अनूठा दस्तावेज़ है। इस पुस्तक में कुल बीस लेख हैं जिनमें एक लेखिका के साथ किया गया सुमन अग्रवाल का साक्षात्कार भी शामिल है। एक हिसाब से देखा जाए तो इस पुस्तक में अधिकतर, लेखिका द्वारा पत्र-पत्रिकाओं में पूर्व प्रकाशित लेख ही संकलित हैं और इस बात को लेखिका ने *समकालीन भारतीय साहित्य, रंग-प्रसंग, कथाक्रम, नटरंग, वागर्थ, छायानट, कसौटी, कला-प्रयोजन, कलावार्ता* आदि पत्रिकाओं के प्रति आभार प्रकट करते हुए स्वीकारा है। फिर भी आरंभ में लेखिका का यह कथन पुस्तक को शुरू से अंत तक पढ़ने के लिए प्रेरित करता है, ''आज के बदलते दौर में पूरी शताब्दी के नाटक और रंगमंच की उपलब्धियों और विरोधाभासों को एक साथ देखने-समझने का प्रयास किया है। इस माने में इस पुस्तक के खंड-खंड में कुछ भी नहीं है बल्कि आरंभ से अंत तक समग्र चिंतन उभरता मिलेगा।''

पुस्तक में जगह-जगह पर कई गंभीर प्रश्न उठाए गए हैं जिनपर चर्चा होना अनिवार्य हैं। इसमें नाटक के प्रति जनसाधारण को जागरूक करने और नाटक को जनसाधारण के लिए सुलभ बनाने के प्रयासों की कमी और नाट्यकर्मियों के लिए मूलभूत सुविधाओं का अभाव मुखरित होकर उभरते हैं। पाठ्यक्रम में नाट्यशिक्षा का न होना भी इस विधा से लोगों की उदासीनता का कारण है, ऐसा लेखिका का मानना है। लेखिका ने न केवल एक शताब्दी के हिंदी नाटक और रंगमंच का ही बारीक और सटीक लेखा-जोखा पेश करने की एक सफल कोशिश की है अपितु समग्र रूप में हिंदी के नाटक और रंगमंच का इतिहास इसमें समेटने का प्रयास किया है। ''हिंदी का रंगमंच चिंताएँ आज की'' प्रसंग में जब वह रामकथा पर आधारित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी द्वारा लिखित नाटक ''जानकी मंगल'' की बात करती हैं तो यह बताना नहीं भूलतीं कि ''जानकी मंगल'' में लक्ष्मण का अभिनय भावी युग पुरुष भारतेंदु हरिश्चंद्र ने किया था वह भी तब जबकि लक्ष्मण की भूमिका करने वाला पात्र सहसा बीमार पड़ गया तो भारतेंदु ने स्वयं इस चुनौती को लिया और घंटे भर में रोल तैयार कर डाला। आज के इस दौर में कितने कलाकार-रंगकर्मी ऐसे हैं जो इस तरह की चुनौतियाँ बिना किसी लाग-लपेट के केवल निःस्वार्थ भावना से स्वीकार करना चाहेंगे, जिनको अनुदान संस्कृति, चाटुकारिता और अवसरवादिता ने भ्रष्ट न कर दिया हो और जो पूरी निष्ठा और लगन से नाट्यकार्य करते हुए ह्रास और बेक़द्री का शिकार न हो रहे हों। ''एक नाटक का रचा जाना'' भी काफी रोमांचकारी अनुभवों का दस्तावेज़ है। मोहन राकेश के तीनों नाटकों के मुख्य नारी पात्रों को एक सूत्र में पिरो, एकल प्रस्तुति करने तक की प्रक्रिया इसमें शामिल है। ''आत्मकथ्य'' के माध्यम से लेखिका ने अपने अनुभवों का जो ख़ुलासा किया है वह किसी भी शौकिया नाटक मंडली की अपनी दास्तान जैसा है और प्रेरणा स्रोत भी कि कैसे एक महिला होकर भी कठिनाइयों और सामाजिक प्रतिष्ठाओं-मान्यताओं से जूझते हुए नाट्यकर्म जारी रखा और इस शिखर तक पहुँची। छोटे शहरों और कस्बों में मूलभूत

सुविधाओं के अभाव में, प्रोत्साहन की कमी से, कोई ठोस कल्चरल पॉलिसी न होने के कारण, प्रशासन के नकारात्मक रवैये से और जनमानस में फैली उदासीनता के कारण कितने ही कलाकार गुमनामी का शिकार होकर रह जाते हैं। ऐसे गंभीर प्रश्नों से भरी पड़ी है यह पुस्तक।

''संस्कृत नाटक का सौंदर्यशास्त्र'' से शुरू करके ''कितना कुछ एक साथ : एक नाटक का रचा जाना'' तक इस पुस्तक में नाटक और रंगमंच से संबंधित हर पहलू को छूने की एक सफल कोशिश की गई है। पुस्तक में देश के जाने-माने रंगनिर्देशकों की ऐसी प्रस्तुतियों की चर्चा भी विस्तार से की गई है जिन प्रस्तुतियों के माध्यम से कुछ नया, मौलिक करने की कोशिशें की गई हैं। इनमें सत्यव्रत सिन्हा, ब. व. कारंत तथा डॉ. जीवनलाल गुप्त द्वारा की गई भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक *अंधेर नगरी* की प्रस्तुतियों का ज़िक्र उल्लेखनीय हैं। भारतेंदु और जयशंकर प्रसाद के रंगशिल्प और उनमें भारतीय मुहावरे की तड़प और चिंता को लेकर विस्तार से टिप्पणियाँ की गई हैं जो ख़ासतौर से जयशंकर प्रसाद के नाटकों पर पुनः विचार करने के लिए उत्तेजित तथा उत्साहित करती हैं। रामगोपाल बजाज, शांता गांधी, ब. व. कारंत और ख़ुद लेखिका द्वारा निर्देशित किए गए प्रसाद के नाटकों के हवाले से प्रसाद के नाटकों को लेकर भ्रांतियों और नकारात्मक रवैये को तोड़ने का सफल प्रयास किया है और प्रसाद की रंगदृष्टि को भारतीय सरोकारों से जोड़ते हुए उसे मौलिक और अपनी दृष्टि कहा है।

पारसी रंगमंच का असर क़बूलते हुए भी उसे नकारना, उस समय के हिंदी के बुद्धिजीवियों—नाट्यकर्मियों की कितनी बड़ी भूल थी और इससे हिंदी रंगमंच को कितनी हानि हुई, इस तरफ़ भी लेखिका ने खुलकर संकेत दिए हैं। रंगद्वारी रंगमंच के अतिरिक्त खुला मंच के अंतर्गत लोकनाट्य और नुक्कड़ नाटक का हमारी धरती, लोक और सामाजिक सरोकारों से कितना गहरा संबंध है इस पर भी लेखिका ने विस्तार से बात की है। कथा मंचन, कविता मंचन और एकल अभिनय जैसे विषयों पर भी खुलकर टिप्पणी करने का साहस लेखिका ने किया है जिससे रंगमंच की दुनिया में फैली भ्रांतियों को विराम मिल सकता है।

शती के कुछ चुने हुए मौलिक नाटकों के हवाले से लेखिका ने चिंता भी प्रकट की है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र के बाद हिंदी में लिखे गए नाटकों में कोई ऐसा नाटक सामने नहीं आया है जिसमें लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दोनों परंपराओं को एक साथ आत्मसात करके निर्वाह किया गया हो। यहाँ लेखिका ने दूसरी भारतीय भाषाओं से अनूदित नाटक *घासीराम कोतवाल* और *हयवदन* का उदाहरण दिया है।

डॉ. गिरीश रस्तोगी ने पूरी कोशिश की है कि इस पुस्तक में नाट्यकला से जुड़ी अधिक-से-अधिक जानकारी समेटी जा सके और एक संवाद-सा कायम हो सके जिससे नाट्यकला में रुचि रखने वाले लाभांवित हो सकें। कुल मिलाकर यह एक अच्छा प्रयास है और समय की ज़रूरत को पूरा करता है।

चर्चित पुस्तक :
बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच: गिरीश रस्तोगी; भारतीय ज्ञानपीठ; 2004; 190 रुपए

मोहन सिंह का जन्म 1955 में हुआ। साहित्य अकादेमी पुरस्कार, साहित्य अकादेमी अनुवाद पुरस्कार तथा अन्य कई पुरस्कारों से सम्मानित, कवि-नाटककार। कविताओं, नाटकों और नुक्कड़-नाटकों की दस किताबें छप चुकी हैं। पिछले पैंतीस सालों से रंगमंच के साथ बतौर अभिनेता, निर्देशक और नाटककार सक्रिय। संपर्क : 124 डोगरा हाल, जम्मू-180001

दिनेश कुमार शुक्ल

रचनाशीलता के तीन रंग

इधर सुरेश सलिल की तीन पुस्तकें आई हैं जिन पर चर्चा करना सामयिक आवश्यकता है। पहली पुस्तक है *गणेश शंकर विद्यार्थी के श्रेष्ठ निबंध* जिसे सलिल जी ने संकलित और संपादित किया है। अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के व्यक्तित्व और कृतित्व के आज सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषज्ञ सुरेश सलिल ही हैं जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम के एक महत्त्वपूर्ण कालखंड का पुनःपाठ हमारे सामने प्रस्तुत किया है। यह निबंध स्वतंत्रता संग्राम के दौरान उपजे मानवीय मूल्यों के प्रामाणिक दस्तावेज़ हैं जो आज भी हमारे लिए सामयिक बने हुए हैं। विद्यार्थी जी के अवदान पर धूल की मोटी परत चढ़ गई है जिसे झाड़ना और जिसका पुनःसंधान करना किसी भी लेखक के लिए गौरव की बात है। सलिल के शब्दों में “गणेश शंकर विद्यार्थी बीसवीं शताब्दी के सबसे गतिशील राष्ट्रीय व्यक्तित्वों में थे। भारत के समूचे राष्ट्रीय आंदोलन में तिलक के अलावा उनके जैसा बहुआयामी व्यक्तित्व दूसरा नहीं हुआ।” ये निबंध विद्यार्थी जी ने 1915 से 1925 के बीच समय-समय पर *दैनिक प्रताप* के संपादक के रूप में लिखे थे। सलिल जी ने बहुत ही सूझबूझ के साथ इनका चयन इस प्रकार किया है कि ये निबंध बिलकुल हमारे आज के अपने यथार्थ को चित्रित और विश्लेषित करते दीखते हैं। यह संचयन पाठक को अपने विगत की ही नहीं बल्कि वर्तमान की भी साफ़-साफ़ झलक देता है। सलिल की मूल्यांकन-टिप्पणियाँ भी निबंधों के ताने-बाने में छुपी हुई “सब-टेक्स्ट” का ही आभास देती हैं।

“राष्ट्रीयता” शीर्षक वाले निबंध में बताया गया है कि 1915 में भी गणेश शंकर विद्यार्थी राष्ट्रीयता और जातीयता, राष्ट्रीयता और धार्मिकता, राष्ट्रीयता और सामाजिकता के बीच के फ़र्क़ को साफ़-साफ़ देख रहे थे...यही नहीं राष्ट्रीय और अंधराष्ट्रीयता के बीच जिस सूक्ष्म अंतर को पकड़ पाने में तिलक और सावरकर जैसे मनीषियों को गड़बड़ाते देखा गया उसे भी उन्होंने (विद्यार्थी जी ने) इन निबंधों में रेखांकित किया है। गणेश जी की पत्रकारिता की भाषा के निर्माण में भी केंद्रीय भूमिका रही है जिसके दृष्टांत उनके निबंधों में देखे जा सकते हैं। “राष्ट्र का निर्माण” शीर्षक वाले निबंध में बिलकुल नई तरह की गद्यशैली को सलिल जी ने रेखांकित किया है। यही नहीं, सलिल जी ने गणेश शंकर विद्यार्थी के लेखन में उन विशेषताओं को प्रस्तुत किया है जहाँ वे चाहते थे कि भारत का “स्वाधीनता आंदोलन” सिर्फ़ स्वराज्य तक सीमित रहने के बजाय मानव मुक्ति का आंदोलन भी बने तथा “नवयुग का संदेश” शीर्षक निबंध में मार्क्स की वर्गों की अवधारणा को विद्यार्थी जी ठीक-ठीक संदर्भों में समझ रहे थे। सांप्रदायिकता से लड़ते हुए गणेश जी शहीद हुए थे। उनके लेखों से अधिक प्रामाणिक इस समस्या पर और क्या होगा।

सलिल का यह मूल्यांकन बहुत सही और कुछ लोगों को शायद तिलमिला देने वाला लगेगा। गणेश शंकर विद्यार्थी 25 मार्च 1931 को कानपुर के सांप्रदायिक दंगों को शांत कराने के प्रयास में शहीद हुए थे। सांप्रदायिकता अथवा फ़िरकापरस्ती का विरोध उनके जीवन का मूलमंत्र था, लेकिन उनका सांप्रदायिकता-विरोध आजकल के तथाकथित सांप्रदायिकता-विरोध से बिलकुल

अलग तरह का था। आज तो प्रगतिशीलता का आलम यह है कि *तमस* में लाहौर के 47 के दंगों में भी हिंदू सांप्रदायिकता को ही पहल करते दिखाया जाता है। मुस्लिम सांप्रदायिकता की ओर उँगली उठाने में डर लगता है। गणेश शंकर विद्यार्थी इतने चालाक नहीं थे। सलिल ने इन निबंधों को प्रस्तुत करके हमारे सामने एक शीशा धर दिया है जिसमें हम अपना चेहरा ठीक-ठीक देख सकते हैं। हम यह भी देख सकते हैं कि हमने ''औरंगज़ेबी टोपी'' किस वज़ाक़ता के साथ पहन रखी है और मुखौटे हमने किस-किस तरह के लगा रखे हैं।

दरअसल गणेश जी के लेखों का पुनःपाठ हमें अपने इतिहास को सही परिप्रेक्ष्य में देखने का मौक़ा देता है...साथ ही यदि हम चाहें तो अपने वक्त के यथार्थ को छद्मजाल से मुक्त करके एक बार फिर हम अपने वर्तमान को भी दिशा प्रदान कर सकते हैं...यदि हम चाहें! इस संचयन में हिंदी भाषा और साहित्य के ज्वलंत सामाजिक और साहित्यिक प्रश्नों से भी आपकी मुठभेड़ होगी और आप पाएँगे कि गणेश जी के समय की ''हिंदी भाषा और साहित्य से जुड़ी 1930 की चिंताएँ आज भी प्रासंगिक बनी हुई हैं।'' सलिल ने गणेश जी के लेखन को लेकर फिर से इधर एक छोटी-मोटी अलख जगाई है। यह किताब उसी पहल का एक अंश है। इसका पढ़ना एक सामाजिक-साहित्यिक ज़रूरत है। ख़ासकर इस वक्त में जबकि बाज़ारवाद के रास्ते साम्राज्यवाद की वापसी हो रही है और सांप्रदायिकता पर बात वोट-बैंकों को देखकर की जा रही है...यहाँ तक कि कविताएँ भी इसी ढाल पर लिखी जा रही हैं, गणेश शंकर विद्यार्थी का रचनाकर्म हमें सही रास्ता दिखा सकता है।

सलिल की दूसरी आलोच्य पुस्तक है *पढ़ते हुए*। यह संकलन कई देशी-विदेशी भाषाओं के कवियों से पाठक का परिचय कराता है। कविताओं के अनुवादक के रूप में सलिल जी की उपलब्धियों से हिंदी जगत सुपरिचित रहा है। इस संकलन में सलिल का गद्य और पद्य दोनों मिलकर अद्भुत जुगलबंदी पेश करते हैं और विश्व-कविता के वैभव से पाठक को परिचित कराते हैं। सलिल जी ख़ुद मूलतः कवि हैं अतः इन कविताओं के अनुवाद मात्र अनुवाद ही नहीं हैं प्रत्युत अन्य भाषाओं के काव्य-तत्त्व को हिंदी के आस्वाद से रचा-बसा कर की गई पुनर्निर्मितियाँ हैं। कवियों के जीवन-रेखाचित्र भी सलिल के अपने काव्य-गद्य का अनूठा संसार प्रस्तुत करते हैं। इस संकलन का भूगोल लैटिन अमेरिका से लेकर यूरोप के विभिन्न प्रांतरों से होता हुआ अरब, फ़ारस और जापान तक फैलता चला गया है। कालक्रम में लगभग डेढ़ सौ वर्षों के काव्यफलक का जायज़ा लेते हुए ये रेखाचित्र बहुत तन्मयता के साथ, एक-एक शब्द का वज़न तौलकर, एक-एक विवरण को कई-कई कोणों से देखकर लिखे गए हैं।

यद्यपि यह लेख अलग-अलग कवियों पर अलग-अलग समय में लिखे गए हैं और स्वतंत्र रूप से अख़बारों में प्रकाशित हुए हैं किंतु उनके भीतर संवेदना का एक अदृश्य तार अविच्छिन्न रूप से विद्यमान दिखता है। है भी। पृथ्वी की ऐसी भाषाओं को भी सलिल ने उठाया है जिनके बोलने वालों की जनसंख्या बहुत कम है और सामान्यतः जिसके बारे में अधिक जानकारी भी नहीं है...उदाहरणार्थ मकदूनियाई भाषा के कवियों के संघर्ष और उनकी कविताओं पर लिखा गया विश्लेषण और तीन मकदूनियाई कवियों की कविताओं के अनुवाद। दरअसल कविता की दुनिया, जहाँ दुनिया होती है अस्मिताओं की दुनिया, जहाँ कोई बड़ा-छोटा नहीं होता।

इस किताब को पढ़ते हुए देशाटन का आनंद मिलता है...काव्यदेशों का भ्रमण जहाँ किसी भी प्रकार के आवागमन पर कोई प्रतिबंध नहीं...न

ज़ा न कस्टम, न सीमाएँ, न दीवारें। *पढ़ते हुए* पढ़कर लगता है कि कविता की दुनिया में ''स्वदेशो भुवनत्रयम'' का सिद्धांत पूरी तरह गू है। एक विराट भूमि पर अबाध गति से तंत्र विचरण करते हुए आप लोर्का से पंख धार लेकर उड़ सकते हैं। छोटे-छोटे पदों वाली ज़ा की कविताओं के नावक के तीरों से आप स्थलों को वेध सकते हैं। नज़रुल की कविता विस्फोट में अग्नि-स्नान कर सकते हैं। आप र्मिक कट्टरता के अंधकार में डूबे ईरान के तिज पर भी उदय होते स्त्रीवाची सूर्य फ़रोग खज़ाद के जीवन और कृतित्व के गुलाबी काश में सारी निराशा को परास्त कर सकते हैं।

न रेखाचित्रों में सलिल ने जीवन और संवेदना रंग भरकर जैसे कवियों को भाषा में ज़िंदा ड़ा कर दिया है। ''गिटार बजाती असमर्थता ([illegible])'' में ''अब हम अपने नाख़ून कुतरते विरोध का मसौदा तैयार करते हैं।'' इस कार की पंक्तियाँ बहुत निरापद दिखने वाले ताओं में अंतर्निहित प्रतिरोध के अंकुरों को र्शाती हैं। लोर्का, बोर्ख़ेज, ब्रेख़्त, तादेउष विच, ओक्तावियो पाज़ जैसे कवियों के साथ कांत भट्टाचार्य, माइकेल मधुसूदन दत्त और रुल जैसे भारतीय कवियों का पूरा वैविध्य स संकलन में मौजूद है। विदेशी कवियों और रतीय कवियों को एक साथ देखकर कविता के सार्वदेशिक और सार्वकालिक होने की प्रत्यक्ष ति होती है और रह-रहकर भवभूति का कहा ने लगता है...कालोह्यम् निरावधिः विपुला च पृथ्वी...। दरअसल सलिल जैसे रचनाकार ही वह ''समानधर्मा'' हैं जिनकी आवश्यकता न केवल भवभूति को बल्कि संसार के सभी कवियों को रहती है। सलिल जी इन कवियों के संसार में विचरण करते समय आधुनिक भावबोध के साथ-साथ बैसवाड़े की उस परंपरा को लेकर भी मिलते हैं जिसका निर्माण उदंतमार्तण्ड के संपादक से लेकर निराला तक बड़े-बड़े रचनाकारों ने किया है। विदेशी कविता को देशी भूमि पर रोपने का काम सलिल ने सफलतापूर्वक कर दिखाया है।

जैसे कि लोगों के बारे में कहा जाता है कि अमुक चीनी मूल का है, अमुक भारतीय मूल, अमुक काकेशियन है उसी तर्ज़ पर हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि सुरेश सलिल ''कवि मूल'' के हैं। पत्रकारिता, अनुवाद, आलोचना आदि में विचरण करते हुए सलिल का गोत्र कवि गोत्र ही है। इसी कारण वे लौट-लौटकर कविता में आते रहते हैं। इसका प्रमाण हैं उनकी कविताएँ जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः सलिल के गद्य को पीछे ठेल कर आगे आ जाती हैं। आज की कविता के सत्ता-तंत्र में सामाजिक कलावादी चातुरी का बोलबाला है जिसके चलते बहुत-से कवि ठेलिया कर पीछे कर दिए जाते हैं। दुख है कि वे भी इस स्थिति को स्वीकार कर चुप बैठ जाते हैं...''हौं हू रहौं मौन ह्वै बयो सो जानि लुनिए।''

सलिल की तीसरी किताब ग़ज़ल, नज़्म और रुबाई की है जिसका नाम भी उन्होंने उपरोक्त अंदाज़ में ही रखा है ''मेरा ठिकाना क्या पूछो हो।'' जैसा कि सलिल ख़ुद बताते हैं ''हिंदी कवियों के बीच ग़ज़ल कोई नया या अजनबी काव्यरूप कभी नहीं रहा। कबीर के यहाँ ग़ज़ल है, रीतिकाल के आलम, बोधा आदि कवियों के वार्णिक छंदों में फ़ारसी ग़ज़ल की झंकृतियाँ सुनी जा सकती हैं...गिरधरदास, हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, सनेही, भगवानदीन ''दीन'', निराला, हितैषी, शमशेर, त्रिलोचन, तरल, बलबीर सिंह रंग, यहाँ तक कि विजयदेव नारायण साही ने भी, इस काव्यरूप का अभ्यास किया लेकिन बिना किसी दावे के...।'' इस कथन में उस परंपरा को रेखांकित किया गया है जो ''हिंदी'' या ''उर्दू'' ग़ज़ल जैसे सांप्रदायिक लेबुलबाज़ी

का निषेध करती है। सलिल इस प्रकार अपनी इस कृति को ग़ालिब और मीर और वलीदकनी से भी जोड़ कर चलते हैं। इस संग्रह की छोटी-छोटी नज़्में छंद के बंधन में भयानक विस्फोट को बाँध कर चलती हैं *रात भर/इक बियाबाँ/तुम्हारी पुतलियों में/सहमा हुआ थरथराता रहा। रात भर/मेरे सीने में/तूफ़ान इक/हसरतों के कँगूरे ढहाता रहा।* या -

हाथ पीछे बँधे, वक्ष सम पर सधे/एक लय में, लरजती विहँसती नदी/फ्रेम में है जड़ी गीत की इक कड़ी/की तरह, जिसपे झूमे समूची सदी। अपने काल की विराट निर्जनता में चलता हुआ निःशब्द तूफ़ान या फ्रेम में जड़ी लेकिन उमड़ती हुई नदी को देखना सलिल के ही बूते का काम है क्योंकि उन्होंने स्वयं इसी निःशब्द संघर्ष का जीवन अपने लिए भी चुना है। इन काव्यरूपों में बिलकुल निजी वेदना और तड़प एक बृहत्तर सामाजिक परिवेश में सूफ़ियों के इश्क़ की तरह "सायुज्यता" तक पहुँच जाती है। अपने माहौल में उनकी बात बिलकुल एब्ज़ॉर्ब हो कर उस माहौल का रंग, कुछ-कुछ ही सही, बदल तो देती है... *क्या पूछो हो उनका आना/उनका जाना क्या पूछो हो। सलिल अभी तक जाग रहा है/नींद का आना क्या पूछो हो।* या गुजरात की विभीषिका पर...

दास्ताँ दिल की क़लमबंद करूँ
वाह क्या बात फ़क़त आँसू हैं

...

रंजना अरगड़े, सुल्तान अहमद
सारे हज़रात फ़क़त आँसू हैं।

हो सकता है ग़ज़ल और नज़्मोरुबाई के जानकार इन रचनाओं में जगह-जगह टूटती बहर पर उँगली उठाएँ, क़ाफ़िये के ग़लत इस्तेमाल की शिकायत करें, ढीले विन्यास और रदीफ़ों की अशुद्धता पर चोट करें। हो सकता है वे सही भी हों। लेकिन इससे अंतर नहीं पड़ता क्योंकि इन सारी 'कहनों' में एक नयापन है दरअसल ये ग़ज़लें और नज़्में कई रवायतों को तोड़ती हैं और इशारों-इशारों में नया मुहावरा भी प्रस्तावित करती चलती हैं। ग़ज़ल के दर्पण में ज़रा देखिए निराला की प्रतिच्छवि...

नदी के घाट पर जब तुम मिले थे / हृदय में स्वप्न के सरसिज खिले थे... / सतह पर फेन हिलता था हवा से / वहाँ नीचे, हमारे दिल मिले थे... / वो क्रंदन था नहीं व्यायोग ही... भर / विपर्यय के शरों के सिलसिले थे...अनुष्टुप थरथरा कर रह गया था / नदी के घाट पर जब तुम मिले थे।

हमारी कामना है कि कविता में सलिल का हस्तक्षेप कुछ और बढ़ता।

चर्चित पुस्तकें :

गणेश शंकर विद्यार्थी के श्रेष्ठ निबंध : सं. सुरेश सलिल; मुक्ति प्रकाशन, ई-14, सादतपुर, दिल्ली-94; 150 रुपए

पढ़ते हुए : कविता और कवियों पर एकाग्र गद्य; सुरेश सलिल; मेधा बुक्स, दिल्ली 32; 150 रुपए

मेरा ठिकाना क्या पूछो हो (ग़ज़ल, नज़्म, रुबाई): सुरेश सलिल; अमित प्रकाशन, गाजियाबाद; 100 रुपए

दिनेश कुमार शुक्ल का जन्म 1950 में हुआ। *क्या कहो कविता, नया अनहद, कभी तो खुलें कपाट, समय चक्र* उल्लेखनीय पुस्तकें। संपर्क : 8201, पूर्वी क्लासिक अपार्टमेंट्स, सेक्टर 67, गुड़गाँव

वेद प्रकाश

स्थूल यथार्थ में सौंदर्य-बोध

सुभाष पंत ने कहानी-लेखन का आरंभ उस दौर में किया जिसे "समांतर कहानी" का दौर कहा जाता है। समांतर कहानी में "आम आदमी" की बात बड़े ज़ोर-शोर से की गई। पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, आदि संदर्भों के अभाव-अभिशाप को झेलता आम आदमी बहुत-सी कहानियों का विषय बना। कमलेश्वर के संपादन में *सारिका* का, आम आदमी पर केंद्रित कहानी-विशेषांक प्रकाशित हुआ। सुभाष पंत की पहली कहानी "गाय का दूध" भी इसमें संकलित हुई।

आम आदमी को रचना का विषय बनाना जनवाद का समर्थन है। लेकिन ये कहानियाँ जिनके आक्रमण का केंद्र बनीं वे भी प्रगतिशील या जनवादी थे। उनके लिए मानो "आम आदमी" के रूप में "लघु मानव" ही आ गया हो। इस आलोचना के कारण अलग-अलग थे। विपरीत भी। शायद एक कारण यह भी था कि आम आदमी के रूप में केवल "सर्वहारा" की बात क्यों नहीं की जा रही। रचना को "विधार-धारा" के आधार पर जाँचने वालों ने भी इस पर हमला किया तो "कला" की माँग करने वालों ने भी। भैरव प्रसाद गुप्त ने समांतर कहानी की सोद्देश्यता, प्रतिबद्धता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए इसके लेखकों को "पूँजीपतियों का चाकर", "क्रांति की पीठ में छुरा भोंकने वाला" कहा। डॉ. नामवर सिंह का तर्क बिलकुल दूसरा था। उनके अनुसार समांतर कहानी में एक वर्ग हमेशा क्रूर और निर्दयी दिखाया गया और दूसरा वर्ग क्रूरता का शिकार। यह कहानी "फ़ार्मूले" से ग्रस्त थी और सामाजिक चेतना से नहीं एक तरह की "मानसिकता" से प्रेरित थी। उन्होंने कहा, "इधर कहानी पूरी तरह से 'सामाजिक' हो गई है। और हद तक सामाजिक हुई है कि अमानवीय हो उठी है।" नामवर जी ने समांतर कहानी को "छद्म प्रगतिशीलता", "व्यावसायिक प्रगतिशीलता" कहा और अपनी कहानी-आलोचना के स्थगन का ज़िम्मेदार भी। क्या कोई साहित्यिक प्रवृत्ति ऐसी भी होती है जिसके कारण कोई आलोचक लिखना ही बंद कर दे? बहरहाल, भैरव जी और नामवर जी के समांतर कहानी पर लगाए गए आरोप एक-दूसरे के विपरीत थे।

पंत जी का छठा कहानी-संग्रह *दस प्रतिनिधि कहानियाँ* नाम से आया है। सन् 1980 (समांतर कहानी के दौर में) तक उनके दो संग्रह आ चुके थे। लेकिन सन् 70 से 80 के बीच कहानियों के जितने भी संकलन प्रकाशित हुए, उनमें पंत जी की कहानियाँ नहीं हैं। उन आलोचकों की पुस्तकों में भी उन पर विचार नहीं किया गया जो कहानी का "आद्यंत इतिहास" लिख रहे थे। जबकि कमज़ोर कहानियाँ लिखनेवालों का उल्लेख ख़ूब हुआ। प्रत्येक लेखक अपने समय की नवीन रचनात्मक धारा से जुड़ना चाहता है। कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप से नहीं जुड़ता, उसका असर स्वतः आ जाता है। कुछ उसकी मुख्य प्रवृत्ति को "फ़ैशन" के रूप में ओढ़ लेते हैं और कुछ गंभीर होकर अपनाते हैं। सुभाष पंत की आरंभिक कहानियों (जैसे "गाय का दूध") में फ़ैशन के रूप में "आम आदमी" का थोड़ा प्रभाव तो है लेकिन वे इसे लेकर निरंतर गंभीर होते गए। इसीलिए उन्होंने आज भी इसे त्याग नहीं दिया है। इस संकलन की "भूमिका" का शीर्षक ही है—"व्यवस्था में आदमी की नियति"।

बाज़ारवाद, उत्तर-आधुनिकता, जादुई यथार्थवाद के विमर्श के युग में—इन पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए पंत जी बार-बार ''सामान्य मनुष्य'' की बात करते हैं। इसे देखकर कभी-कभी यह लगता है कि उनकी इस भूमिका पर ''समांतर कहानी'' का मुहावरा कुछ ज़्यादा ही हावी हो गया है लेकिन वे दूसरों की तरह मुहावरे बदलते नहीं, अपनी प्रतिबद्धता को भूलते नहीं। वे उपर्युक्त ''विमर्श'' या ''अवधारणाओं'' के समानांतर अपना सौंदर्य-बोध निर्मित करते हैं। यह जानते हुए भी कि यह कुछ लोगों के लिए ''स्थूल यथार्थ'' हो सकता है। यह उन्हें स्वीकार है, ''मुझे अपनी यह नियति स्वीकार है, क्योंकि मैं उन लोगों के साथ खड़ा रहना चाहता हूँ, जिनके दिलों में यह देश धड़कता है।'' उनकी कहानियों के पात्र केवल विवश-नियतिबद्ध नहीं, संघर्ष करनेवाले हैं। हारते भी हैं तो लड़कर। वे केवल सर्वहारा या महानगरीय भी नहीं हैं, सहज-स्वाभाविक आम आदमी हैं। उनमें सर्वहारा, निम्न और निम्नमध्यवर्गीय, मध्यवर्गीय छवियाँ हैं—सामान्य मनुष्य के अलग-अलग रूप। अर्थात् ये कहानियाँ आम आदमी की अनेक जीवन-स्थितियों का संसार निर्मित करती हैं। ''घर'' कहानी में पंत जी ने संतों जैसे संघर्षशील, सशक्त तथा विश्वसनीय स्त्री पात्र की रचना की है जो उन परिस्थितियों में अदम्य जिजीविषा रखती है जिनमें पड़कर पुरुष प्रायः टूट जाते हैं।

लेखक का पात्रों के साथ जो बर्ताव है, उसके पीछे पात्रों की वर्गीय पृष्ठभूमि आधार बनती है। वह व्यंग्य-दृष्टि से संपन्न है और जानता है कि चोट किस पर करनी है। इसीलिए मध्यवर्ग के खाते-पीते पात्र उसके व्यंग्य के शिकार होते हैं। ऐसी स्थिति में आदमी की नियति के लिए केवल व्यवस्था ही नहीं इस वर्ग की अपनी सीमाएँ भी उत्तरदायी होती हैं। निम्नवर्गीय पात्रों के प्रति लेखक का लगाव व्यंजित होता है। क्योंकि यही वे लोग हैं जो बाज़ारवाद और जाति-व्यवस्था से लड़ रहे हैं। जहाँ इन पात्रों पर व्यंग्य होता भी है, वह वस्तुतः व्यवस्था पर होता है। जैसे ''समुद्र'' के पात्र रघुआ की अजीब, हास्यास्पद हरकतों के मूल में उसकी परिस्थितियाँ हैं। इन कहानियों के पात्र जटिलता तथा द्वंद्वात्मकता लिए हुए हैं। सामान्य मनुष्य जितनी तरह की स्थितियों में पिस रहा है, उनका चित्रण भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह आवश्यक नहीं कि वह हमेशा, हर स्थिति में वर्ग-संगठन ही तैयार करता रहे। इस कसौटी पर तो बड़े-बड़े रचनाकार असफल हो जाएँगे।

''समांतर कहानी'' की चाहे जो सीमा रही हो, उसने ''अकहानी'' के अमूर्त पात्रों को रूपाकार प्रदान किया। सुभाष पंत का भी इस योगदान में हिस्सा है। वे कहानी के अस्तित्व के लिए इन तत्त्वों पर विशेष बल देते हैं, ''उसमें कहानी, देशकाल, पात्र, घटनाएँ वग़ैरह सब कुछ होता है...भाषा, कथ्य, घटना, शिल्प, अनुभव, भंगिमाएँ वग़ैरह जो कुछ भी किसी कहानी के प्राण-तत्त्व (देह और आत्मा) होते हैं...उन्हें वह अपने पात्रों और उनकी आंतरिक और बाह्य स्थितियों से सीखता है।'' ''समुद्र'' कहानी इस ''अमूर्त'' और ''मूर्त'' के बीच झूलती है। अंततः पात्र का मूर्तिकरण होता है। रघुआ तांगेवाला है और मशीनीकरण के युग में गतकालिक होता जा रहा है। कहानी में उसे आरंभ से लेकर लगभग अंत तक ''वह'' कहा गया है। वह ''अकविता'' के ''लुकमान अली'' की तरह असामान्य हरकत करता है लेकिन अंत में अकहानी की जड़ता-आवृत्ति से निकलकर रघुआ बनता है। अपनी ठोस स्थितियों, मार्मिक वास्तविकताओं को पाठकों के सामने रखता है। इस तरह की मार्मिक स्थितियाँ, चित्रपरकता, विशिष्टता, स्थितिबद्धता इन कहानियों में जगह-जगह देखी जा सकती है। ''घर'' कहानी के अस्पताल के वर्णन में भी पूरी स्वाभाविकता है। अस्पतालों में शाम का समय, मिलने का समय होने के कारण सूनेपन तथा मनहूसियत को काटकर फेंक देनेवाला,

चहल-पहल से भरा, स्वास्थ्य की आहट देनेवाला और बाहर की दुनिया से रोगियों को जोड़नेवाला होता है। इसके विपरीत रात सन्नाटे से भरी, लोगों के थके चेहरे वाली, मरीज़ों की खाँसी, कराह, ऊँघ से भरी होती है। पंत जी कहानी की दृश्यों को यानी चित्रण करने योग्य स्थलों को पहचानते हैं। "बाज़ार" कहानी में राजू लुहार की दुल्हन का यह सौंदर्य-वर्णन देखिए, "धौंकनी से और साथ ही दहकते कोयलों की तपिश से दुल्हन के सुभग चेहरे पर पसीने की नन्ही बूँदें कुछ ऐसे थिरकने लगतीं, जैसे अरबी के हरे, कोमल और गोल पत्तों पर हल्की बारिश में पानी की बूँदें थरथराती हैं। जब दुल्हन पसीने की बूँदों से परेशान हो जाती, तो वह अपनी मृणाल बाँह से उन्हें पोंछती। ऐसा करते हुए हवा में एक लय पैदा होती, चूड़ियाँ खनकतीं और रगड़ खाकर आरक्त हुए गालों के सामने दहकते हुए अंगारे फीके पड़ जाते।"

इस संग्रह की कहानी "एक का पहाड़ा", हिंदी कहानी की उपलब्धि कही जा सकती है। पिता पर केंद्रित कहानियों—"डिप्टी कलक्टरी" (अमरकांत), "पिता" (ज्ञानरंजन), "तिरिछ" (उदय प्रकाश) की परंपरा में यह विशिष्ट है। "पिता" में दो पीढ़ियों के बीच के अलगाव को पुत्र की दृष्टि से देखा गया है जहाँ एक अबूझ तनाव है। "तिरिछ" में वाचक पिता की यातना में आनंद लेता दिखाई पड़ता है और दुर्घटना का सारा बोझ शहर पर डाल देता है। इसमें शहर के प्रति एक पूर्वाग्रह है। पंत जी ने "एक का पहाड़ा" लिखकर पिता को पुनः कहानी का विषय बनाया है। इसमें पिता के प्रति पुत्र का अभूतपूर्व लगाव व्यक्त हुआ है जो हिंदी कहानी में शायद दुर्लभ रहा है। इस लगाव में भावुकता और विवेक के बीच अद्भुत संतुलन है। यहाँ "ट्रेडिशन" और "मॉडर्निटी" विरोधी नहीं, एक हो गए हैं। यह कहानी पिता के माध्यम से व्यवस्था पर गिन-गिनकर कोड़े मारती चलती है। कहानी में संवाद कम, अनुभाव ज़्यादा हैं। एक अनुभाव है—हँसी। पिता बोलने से ज़्यादा हँसते हैं लेकिन हँसने की व्यंजनाएँ अलग हैं। यह आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा परिभाषित "रुलाईवाली हँसी" की याद दिलाती है। इस कहानी का पिता दूसरी कुछ कहानियों की तरह "नदी के द्वीप" नहीं, परिवार के केंद्र में है। "डिप्टी कलक्टरी" की तरह। वाचक के भाई हैं, छोटी बहनें हैं, माँ है—इन सबको अभावों में भी आश्वस्ति और सुरक्षा देता पिता। जहाँ भी संवाद आते हैं, कहानी को एक व्यापक अर्थ दे जाते हैं। माँ, पिता को केवल एक बार संबोधित करती है लेकिन पढ़कर लगता है, यह केवल संवाद नहीं है, माँ के सब्र का बाँध टूट चुका है और वह आश्वस्ति और सुरक्षा के खोखलेपन को उजागर कर देती है। एक वाक्य में वह सब कुछ निकलकर बाहर आ जाता है जो वर्षों से भीतर पक रहा था। बाबा नागार्जुन ने "उनको प्रणाम" कविता लिखी। यह कहानी भी पिता के रूप में उन लोगों के प्रति श्रद्धांजलि है जो सांसारिक दृष्टि से असफल रह गए या "एक के पहाड़े" की खोज में जीवन भर लगे रहे पर उसे खोज नहीं पाए।

इन कहानियों में वह सब है जिसकी माँग एक सामाजिक और पाठक कर सकता है। लेखक ने "भूमिका" में लिखा है, "बेलिंस्की का कथन है कि महत्त्वपूर्ण कृतियाँ या तो अपने समय का सवाल होती हैं या फिर उनका जवाब।" साहित्य, जवाब शायद नहीं देता, देता है तो सवालों के ज़रिए। पंत जी की ये कहानियाँ सवाल उठाती हैं। इन सवालों से सामना किए बिना हम किसी भी जवाब की अपेक्षा नहीं कर सकते।

चर्चित कहानी-संग्रह :
दस प्रतिनिधि कहानियाँ : सुभाष पंत; किताबघर, नई दिल्ली; 2003; 100 रुपए

वेद प्रकाश के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : जी-39, ज्ञानसरोवर कॉलोनी, रामघाट रोड, अलीगढ़

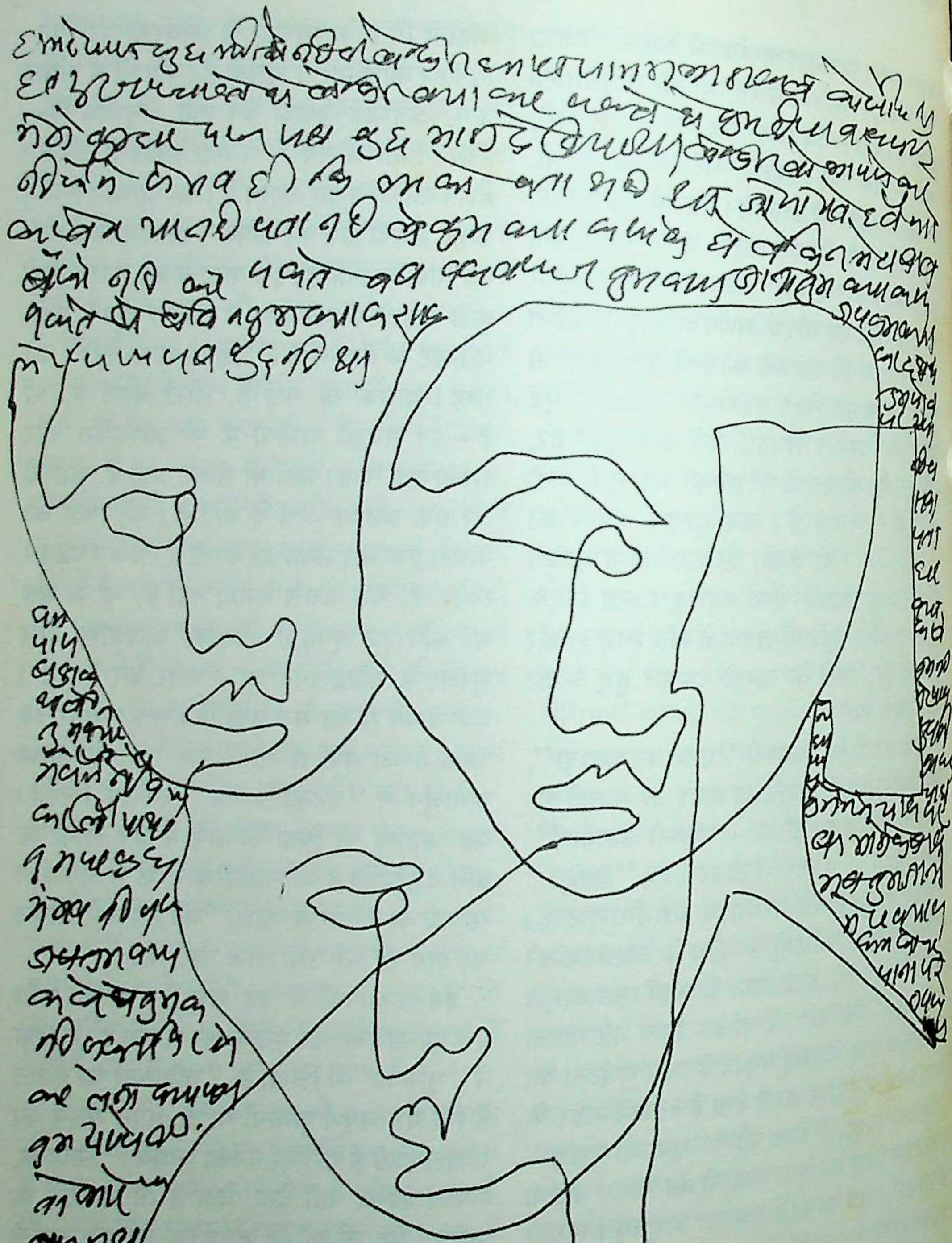

पाठांतर

विवेक सत्यांशु, इल्लापुर, इलाहाबाद

समकालीन भारतीय साहित्य का रजत जयंती वर्ष में आपके संपादन का पहला अंक पढ़ा। समस्त भारतीय साहित्य से सर्वोत्तम रचनाएँ छापने का सार्थक प्रयास हुआ है। किंतु नामवर सिंह व विश्वनाथ त्रिपाठी का संस्मरण पढ़ा हुआ था—पहले एक दो पत्रिकाओं में, फिर केवल नामवर सिंह पर ही संस्मरण छापने का क्या औचित्य है? हालाँकि वह अच्छा संस्मरण है। स्वयं प्रकाश की कहानी अच्छी है। प्रेम, सौंदर्य और श्रम के सौंदर्यबोध को अच्छे ढंग से कहानी में निरूपित किया गया है। और भी रचनाओं का वैचारिक धरातल अंक को समृद्ध करता है। आपकी संपादकीय भी प्रभावशाली है।

केशवेंद्र कुमार केशव, सीतामढ़ी, बिहार

पत्रिका का विगत दो वर्षों से नियमित पाठक हूँ और दिल्ली तथा कोलकाता के पुस्तक मेलों से खरीद पत्रिका के लगभग पच्चीस-तीस अंक अपने संग्रह में जमा कर चुका हूँ। संपादकों के नाम पत्र लेखन में विशेष रुचि है, पर इसे अपना आलस्य कहूँ या पत्रिका में पाठकीय प्रतिक्रिया के किसी स्थायी स्तंभ का अभाव कि पत्रिका में पहली बार ही पत्र भेज रहा हूँ और वो भी इसलिए कि रजत जयंती अंक 1 व 2 ने मजबूर कर दिया पत्र लिखने पर।

पत्रिका के इन दो अंकों को पढ़ने पर मन में यही इच्छा हुई कि काश! पत्रिका का हर अंक इतना ही समृद्ध और पठनीय हो। ''क्या साहित्य विफल है?'' और ''पुस्तकें आज भी हथियार हैं'' एवं ''साहित्य की मेरी पहचान'' जैसे आलेख काफ़ी विचारोत्तेजक लगे। साहित्य की प्रासंगिकता का सवाल हर युग में उठता रहा है—कहा जाता है कि किताबें पेट नहीं भर सकतीं : मगर कहने वाले यह नहीं समझते कि किताबें हमारी ज़िंदगी की शून्यता को भरती हैं। साहित्य हमें ''जीने की कला'' सिखाता है जिसके अभाव में हर सुख-समृद्धि के होते हुए भी ज़िंदगी खोखली, बदरंग और सूनी लगने लगती है। साहित्य तो वह एक्स-रे है जो अपने समय की सच्ची तसवीर ला देता है आँखों के सामने—हर गुण-दोष को दिखाते हुए।

डॉ. यशपाल वैद, अंबाला शहर, हरियाणा

समकालीन भारतीय साहित्य एक विशिष्ट पत्रिका है। इस दृष्टि से अंक 114 और अंक 115 बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं। भारतीय भाषाओं की संग्रहणीय रचनाएँ इसमें हैं। पत्रिकाओं के संपादकों की दृष्टि बहुत मायने रखती है, पूरी उम्मीद है अब पत्रिका में कुछ और नए आयाम जुड़ सकेंगे।

अरुण शीतांश, संकटमोचन नगर, आरा

अंक 114 *समकालीन भारतीय साहित्य* रजत जयंती अंक-1 प्राप्त हुआ। संयोग ही था कि इसके बाद सदस्यता शुल्क समाप्त हो रहा था। आपका पत्र भी मिला। पढ़ा और फिर भिजवा दिया। हमारा विद्यालय इसका सदस्य है। मैं हमेशा पढ़ता हूँ। इस बार का अंक भी कुछ बदला-सा लगा। मैं तो छप चुका हूँ पहले। अभी कई ऐसी जगह साहित्यकार उपलब्ध हैं जहाँ कंप्यूटर या टाइप नहीं है इसलिए आप रचना सिर्फ़ और सिर्फ़ टाइप किया हुआ न माँगें। आप साफ़-साफ़ हस्तलिखित ले सकते हैं। 114वाँ अंक सामग्री से भरपूर तो है ही कई मायनों में उल्लेखनीय भी। आपसे और भी आशा है।

गोविंद कुमार गुंजन, खंडवा, म.प्र.

नए दो अंकों में देखा कि आपने रचनाकारों का परिचय एवं पता देना बंद कर दिया है। यह

उचित नहीं है। एक पत्रिका के माध्यम से रचनाकार का परिचय दूर-दूर तक होता है। साहित्यिक पत्रिकाएँ इस परंपरा का निर्वाह करती हैं, केवल व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाएँ लेखकों के पते छापना ज़रूरी नहीं समझतीं। कृपया *समकालीन भारतीय साहित्य* में अच्छे वैचारिक एवं ललित निबंधों के लिए भी स्थान बनाएँ।

ओम पुरोहित 'कागद', हनुमानगढ़, संगम

रचनाओं के चयन व मुद्रण तकनीक के परिवर्तन तो ग्राह्य हैं मगर पाठक के सूचना एवं संवाद व्यक्तिगत स्तर पर प्राप्त कर सकने में बाधा उत्पन्न कर यदि हम कोई परिवर्तन करते हैं तो अमुखरित पाठक में घुटन एवं कुंठा ही पैदा करते हैं। आसपास के लोग तो ठकुरसुहाती करेंगे मगर विशुद्ध पाठक पीड़ित एवं भीतर ही भीतर आंदोलित होगा। पाठकों के भीतर का यह आंदोलन किसी भी परिवर्तन के लिए सार्थक नहीं है। यहाँ मेरा इशारा लेखकों के पते व परिचय छापना बंद कर देने की ओर है।* मैं नहीं समझता कि इससे पत्रिका या अकादेमी को कोई लाभ हो सकता है वरन् इससे संपादक की मानसिकता (दंभित) ही झलकती है जिसमें वह चाहता है कि पाठक रचनाओं के संबंध में सीधे उससे संवाद करे, लेखक से नहीं। क्या लेखक को कोई हक नहीं है कि वह अपने पाठक से सीधा संवाद करें एवं प्रतिक्रिया जाने? यह भी एक सुख है। न भूलें। अतः संभव हो व अकादेमी को कोई हानि नहीं हो रही हो तो लेखकों के पते व परिचय छापना पुनः आरंभ करें। परिवर्तन करना है तो टेलीफ़ोन नं. भी छापना शुरू कर दें।

रामशंकर द्विवेदी, उरई

मैं दो दिन से समकालीन में ही डूबा हुआ हूँ...इसमें बदलाव, नए तेवर, किंचित् बदला प्रस्तुतीकरण, बदली सामग्री...आपका संपादकीय बड़ा विचारोत्तेजक है...आपका यह कहना सही है कि अधिकांश चिट्ठियाँ संपादक की प्रशंसा से भरी हुई हैं...सामग्री पर विश्लेषणपरक टिप्पणियाँ नहीं हैं...अधिकांश चिट्ठियाँ तो पत्रों में ऐसी छापी जाती हैं...विषयवस्तु पर कौन लिखता है। आपने नई लीक डाली, मुझे अच्छा लगा। समकालीन का हर अंक दस्तावेज़ होता है।

वि.प्र. कांबळे, अहमदनगर, महाराष्ट्र

भारतीय साहित्य में पारस्परिक अनुवाद बढ़ना चाहिए। आम तौर पर सरकारी साहित्यिक लेखक अंग्रेज़ी की बैसाखी पर भारत की एकता और सांस्कृतिक विकास की बातें करते हैं। हमारी हर भारतीय भाषा में साहित्य विकसित हो रहा है। *समकालीन भारतीय साहित्य* द्वारा भारतीय भाषाओं में व्याप्त राष्ट्रीयता, एकता, सामाजिक चिंतन तथा आधुनिकता का परिचय हमें हो रहा है। साहित्य अकादेमी के स्वर्ण जयंती वर्ष एवं पत्रिका के रजत जयंती अंक प्रकाशन हेतु मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

शंकरानंद, खगड़िया

समकालीन भारतीय साहित्य का रजत जयंती अंक 1 एवं 2 प्राप्त हुआ। साज-सज्जा से लेकर सामग्री तक सब उत्कृष्ट है। कुछ की चर्चा करूँ तो यह अन्य के प्रति अन्याय ही होगा। सबकी चर्चा करना एक पत्र में संभव नहीं।

रजत जयंती अंक-2 के आमुख में आपने लिखा है—पुस्तकों के मूल्य में बेतहाशा वृद्धि को पुस्तकालय भले ही झेल जाएँ पर खरीदकर पढ़ने वाले पाठकों के लिए यह असह्य है। बिलकुल सही है यह। पाठकों की कमी का रोना रोने वाले भी यह जानते हैं कि हमारा पाठक

---

* हमारे पास रजत जयंती अंक 1 एवं 2 दो प्रकाशित रचनाकारों के पुराने पते थे। उन्हें छापना पाठकों को असुविधा में डालना होता। इसीलिए उन दो अंकों में पते नहीं छापने का निर्णय लिया गया। अब रचनाकारों के पते छापे जा रहे हैं।
संपादक

वर्ग कैसा है? इसके बावजूद इसकी अनदेखी कर रहे हैं। इससे पुस्तक और पाठक के बीच दूरी ही बढ़ती है। इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों के चकाचौंध में फाँसने के तमाम कारण मौजूद हैं जो मनुष्यता और मनुष्य के एकांत के लिए सबसे बड़ा संकट है इसे समझना होगा। साथ ही इसे भी समझना होगा कि इस संकट से उबारने में एकमात्र पुस्तक ही है जो सहायक है।

रामगोपाल राही, बूँदी, राजस्थान

साहित्य की गरिमा, गौरव को परिलक्षित करती, साहित्य को मुखरित एवं रेखांकित करती *समकालीन भारतीय साहित्य* उन साहित्यिक दुर्लभ पत्रिकाओं में लगी जिनकी संख्या गिनती की मानी जा सकती है। *समकालीन भारतीय साहित्य* पत्रिका का जनवरी-फरवरी 2004 का पुराना अंक 111 वर्ष 24 मिला था। चिंतन भूमि से आरंभ पत्रिका पढ़ने की ही उत्सुकता अंत तक रही। कविता, आलेख, अनुसंधान, कहानियाँ सभी कुछ काफ़ी अच्छी पठनीय सामग्री थी।

केशव शरण, वाराणसी

समकालीन भारतीय साहित्य का अंक 114 पढ़ा। आले अहमद सुरूर का लेख ''क्या साहित्य विफल है?'' पुरानी चिंताओं और नई चुनौतियों को समेटता आशावादी और विचारोत्तेजक है। वहीं गोपीचंद नारंग जी का लेख ''संस्कृत भाषा दर्शन और संरचनावादी और उत्तर-संरचनावादी चिंतन'' भाषा, रचना, पाठ, शब्दार्थ से संबंधित नूतन पाश्चात्य विचारों को सामने रखते हुए प्राचीन भारतीय दार्शनिक पद्धतियों की प्रासंगिकता को उजागर करता है। ऐसे गूढ़ और गहन विषय को जिस सहज, सरल भाषा में व्याख्यायित किया गया है उसके लिए लेखक और अनुवादक की प्रशंसा करनी होगी। किंतु विश्वनाथ त्रिपाठी का संस्मरण ''नामवर सिंह : हक़ अदा न हुआ'' नीरस, सपाट और विशृंखल रहा।

प्रो. वी.डी. कृष्णन नंपियार, केरल

समकालीन भारतीय साहित्य के रजत जयंती दोनों अंक प्राप्त हुए, देर से ही सही, दोनों अंक काफ़ी अच्छे और स्तरीय लगे। पिछले 25 वर्षों में हमारी पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का आपने चयन किया। बाईस भाषाएँ, अनेक विधाएँ, ऊपर से पृष्ठों और समय की सीमा के बावजूद आपका प्रयास प्रशंसनीय है। शानी जी एवं राठी जी को आपने स्मरण किया यह अच्छा ही किया। अपने समर्थ पूर्व संपादकों द्वारा स्थापित गुणवत्ता मानदंडों को बरक़रार करते हुए पत्रिका की शानदार विरासत की मशाल आगे लेते जाइएगा। बधाइयाँ। और सहयोग का वचन देता हूँ।

फिर भी एक बात खटकी। मलयालम से जिन रचनाओं का चयन आपने किया, वे न तो पिछले अंकों की मलयालम रचनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं और न मलायलम जैसी सजीव एवं श्रेष्ठ साहित्य के प्रति न्याय करती हैं। मेरे पास *समकालीन भारतीय साहित्य* के प्रायः सभी पुराने अंक सुरक्षित हैं। कविताओं का चयन और अनुवाद भले ही एक हद तक सामान्य-सा है, पर कहानियों का चुनाव एवं अनुवाद POOR ही है। एम. सुकुमारन की कहानी ''हमारे लिए फाँसी'' चर्चित है, पर अनुवाद सामान्य से भी नीचे का है। एम. मुकुंदन की कहानी ''मुंडित जीवन'' का क्या कहूँ रचना एवं अनुवाद निम्न स्तर का है। ज़करिया जिन्हें इस बार साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हो गया था, की कहानी ''कौन जानता है'' उनकी एक साधारण-सी रचना है। अनुवादक संतोष अलेक्स की उम्र का ख़याल करके उनका अनुवाद क्षम्य है। ख़ैर...मलयालम से एम.टी. वासुदेवन नायर, टी. पद्मनाभन, माधविकुट्टी, सेतु, पुनत्तिल कुंजब्दुल्ला, सी.वी. श्रीरामन, एन.एस. माधवन जैसे स्तरीय कहानीकारों की अच्छी-अच्छी कहानियों को छोड़कर आपने जिन्हें चयन किया था, वह किसी भी हालत में स्वीकार्य नहीं। यह

मेरा व्यक्तिगत विचार है। ज़रूरी नहीं कि आप या आपके सहयोगियों को मेरा दृष्टिकोण स्वीकार्य हो।

राजमल बोरा, औरंगाबाद, महाराष्ट्र

रजत जयंती अंक 1 मिल गया है। विश्वास करता हूँ कि पूर्ववत् नियमित हो जाएगा। ग्राहक के नाते लिख रहा हूँ। नया अंक आकर्षक और लगभग पूर्ववत् लगा। अमित वर्धन के रेखांकन अच्छे हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी का संस्मरण ''नामवर सिंह...हक़ अदा न हुआ'' नई जानकारी देने वाला है।

श्याम पलट पांडेय, मुंबई

समकालीन भारतीय साहित्य का रजत जयंती अंक-1 मिला। बिलकुल नई दृष्टि, नई चेतना एवं संपादन की नई आभा से भरपूर। पत्रिका की गति में जहाँ ठहराव आ गया था, उस मोड़ से निश्चित रूप से आगे बढ़ती नज़र आ रही है। कृपया मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें, इस उपलक्ष्य में।

के.डी. तिवारी, कानपुर

लगभग दो दशकों से *समकालीन भारतीय साहित्य* का नियमित पाठक होने के कारण गत कुछ माहों के दरम्यान जब पत्रिका की प्राप्ति में बहुत विलंब होने लगा तो आश्चर्य की सीमा न रही। इस असहज स्थिति का कारण यह था कि जो पत्रिका नियमित रूप से एक निश्चित समय पर हस्तगत होती थी वह सामान्य से कहीं अधिक विलंबित हो रही थी। हम इसके कारण के विषय में सोच ही रहे थे कि अचानक एक दिन जब पत्रिका का रजत जयंती अंक प्रथम हस्तगत हुआ, बस, कारण स्पष्ट हो गया। इसको पढ़ने से ज्ञात हुआ कि हमें नया संपादक भी मिल गया है। हम अपने नए संपादक की सफलता की कामना करते हैं। आप निस्संदेह बधाई के भी पात्र हैं। जिन्होंने हम पाठकों को एक माह से भी कम अवधि में एक नहीं दो विशेषांकों को पढ़ने हेतु दिया। इन दोनों विशेषांकों के संपादन व सामग्री संकलन के कार्य वास्तव में श्रमसाध्य थे जिनको आपने सफलतापूर्वक पूरा किया है।

प्रथम विशेषांक में एक ओर जहाँ सुरूर व नारंग के विचारोत्तेजक आलेख हैं वहीं दूसरी ओर नामवर सिंह पर लिखा विश्वनाथ त्रिपाठी का संस्मरणात्मक लेख ने वास्तव में एक रम्य रचना का ही रूप ले लिया है। दूसरे विशेषांक में देवी राय, भैरप्पा, अज्ञेय व नारंग के आलेखों ने बहुत प्रभावित किया है। उर्दू से अनुवादित विभिन्न विधाओं की रचनाओं को अधिक स्थान मिलने से अंक बोझिल-सा लगता है। पद्मा सचदेव के संस्मरणात्मक लेख ने कतई प्रभावित नहीं किया है। इसमें पद्मा का दोष नहीं हैं क्योंकि उन्होंने वही लिपिबद्ध किया जो संबंधित व्यक्ति की शख़्सियत थी।

बिर्ख खडका डुवर्सेली, दार्जिलिंग

यह जानकर मुझे तो अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि *समकालीन भारतीय साहित्य* के रजत जयंती अंक-1 से आपने संपादन का गुरुभार सँभाला है। प्रसन्नता इसलिए कि अब पत्रिका का स्वरूप और रंग निखरता जाएगा और समय की स्थिति और गति को परखने का सही काम भी होगा। यह सत्य तथ्य है कि सभासा समग्र भारतीय साहित्य की प्रतिनिधि पत्रिका का दायित्व भार लेकर चलती आई है हिंदी के ज़रिए। लेकिन अफ़सोस इस बात का है कि चंद चर्चित और प्रचलित भाषाओं के साहित्यकारों का अखाड़ा बनते-बनते बचती आई भी है पत्रिका। मुझे विश्वास है कि अब आपके संपादन में भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य के दर्पण के रूप में पत्रिका उभर आएगी। साहित्यिक प्रवृत्ति और प्रकृति की गति का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते समय चर्चित साहित्यकारों की लेखनी की चमक को ही केवल स्वीकृति देने के लिए विवश

हीं होंगे। भारतीय साहित्य की दशा तथा दिशा का पथ पहचानने के लिए चंद भाषाओं के साहित्य स्रष्टाओं की गतिविधि तथा उपलब्धियों पर ही भरोसा करना शायद अपर्याप्त और अनुपयुक्त होगा।

दिनेश दत्त शुक्ल, गोरखपुर

रजत जयंती अंक-1 में सब पूर्व प्रकाशित रचनाएँ हैं अथवा नई भी हैं...पूर्ण स्पष्ट नहीं है। लेख, कहानी, कविता के साथ उनके अंक एवं वर्ष का भी प्रकाशन रहता तो काल निर्धारण के साथ रचना को कालावधि के सापेक्ष पढ़ा जाता, तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में देखा जाता। फिर भी पत्रिका का प्रथम अनूदित आलेख "क्या साहित्य विफल है?" ने पूरे रजत वर्षों के साहित्यिक सोच का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। कहानी खंड..."देवी पीठ का रक्त" इंदिरा गोस्वामी की प्रसिद्ध कहानी है, इसको पढ़ते समय ऐसा लगता है जैसे हम सशरीर ब्रह्मपुत्र के किनारे खड़े पत्थरों पर कूद रहे हैं। कहानी धरती और मनुष्य के पूरे भूगोल के साथ उतर आई है। सब कुछ एकदम जीवंत। पद्मप्रिया के दो दाग़ भुवनेश्वर रूपी पुरुषों के पुं(रू)सत्व पर भी सवालिया निशान छोड़ जाते हैं। "जगा धूला" भी पिछले तीस पचीस वर्षों में आए परिवर्तन को रेखांकित करती है। अब जब कि एक परिवार में एक-दूसरे का सम्मान करते हुए इकट्ठे रहना कठिन है तो पूरे कुनबे को सँभालना जगा के लिए असंभव है। "गोरू" और "रात-भर तूफ़ान" एक तरह की कहानियाँ हैं। आधुनिकता या आवश्यकता के दबाव में अतीत को छोड़ना बहुत कठिन होता है चाहे वह गोरू हो या ज़मीन। "ननद-भौजी", "नातोनचाबी का वसंत" तथा "अशोक और रेनु की असली कहानी", तीनों में असली कहानी औरत की है। "ननद-भौजी" मिथिलांचल के सामाजिक ताने-बाने से परिचित कराती है तो "नातोनचाबी" में "ननद-भौजी" के पद्मा के आवश्यकता की तरह उन्मुक्तता नहीं है। इबेमनुङशि हर उस व्यक्ति में अपना वसंत देखती है जो उसके टीले की चोटियों को उँगलियों से मसलते हैं। पहाड़ हरदम मैदान की ओर देखता है कि वह उसके पास आकर ठहरेगा, पर मैदान बार-बार नीचे उतर जाता है। रेनु की कहानी में भी उसकी पिंडली पिछले तीन वर्षों में कभी नंगी नहीं हुई? नंगी हुई भी तो बैडमिंटन कोर्ट पर जहाँ अशोक के साथ लाल साहब ने भी उसे देखा...पुष्ट, उत्तेजक, मादक, सुडौल और भी बहुत कुछ। अशोक ने जो किया सो किया पर लाल साहब ने क्या किया होगा? यहाँ अशोक की छाती, उस पर उगे बाल, उसके मसल्स आदि के साथ रेनु के मन में उठ रहे प्रश्नों को भी दिखाया जाता तो असली कहानी ठीक बनती। यौनिकता का नवोन्मेष पुरुषोचित अधिकार रहा है और इसीलिए इसका सफल प्रयोग महिलाओं पर ही किया गया है। संस्मरण...नामवर सिंह जो सजीव एक संस्था बन चुके हैं, पर इस तरह के श्रृंखलात्मक संस्मरण आने चाहिए। क्योंकि उन्होंने प्राचीन भारतीय परंपरा...कहो-सुनो को अपनाया है। तो जो कुछ उनके द्वारा कहा गया है वह इसी तरह बाहर आ सकता है।

डॉ. परमानंद पांचाल, दिल्ली

समकालीन भारतीय साहित्य का रजत जयंती अंक-2 पढ़ा।

प्रो. गोपीचंद नारंग जी का लेख "ज़बान के साथ कबीर का जादुई बरताव" भाषा के संबंध में गहन चिंतन का परिचायक है। इस लेख में भाषा और उसके प्रयोग की अनेक गुत्थियों को सुलझाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है। यह सही है कि कबीर से लगभग सौ वर्ष पूर्व अमीर खुसरो ने जिस हिंदी का प्रयोग किया था वह एक मिश्रित भाषा थी, जिसे प्रो. नारंग ने ठीक ही "कच्ची", "अनगढ़"

और "अपरिपक्व" भाषा का नाम दिया है। उसमें ब्रज और खड़ी, पूर्वी तथा पछां जैसी कई बोलियों के शब्द हैं और प्रयुक्तियाँ भी। यद्यपि खड़ी या ब्रज जैसा कोई नाम तब तक प्रचलित नहीं हुआ था। ब्रज को तो सामान्यत: "ग्वालियरी" ही कहा जाता था। कबीर की मिश्रित भाषा की इमारत भी इसी नींव पर रखी गई है। उसकी भाषा की लोकप्रियता उसके जन-सुलभ मुहावरे और लोकोक्तियाँ हैं, जो तत्कालीन समाज की जनभाषा में यत्र-तत्र तैर रहे थे। कबीर ने उनको चुनकर अपनी "साखी" और सब्दियों में पिरो दिया। कोई एक व्यक्ति मुहावरों और लोकोक्तियों का निर्माण नहीं कर सकता। प्रो. नारंग ने सही कहा कि "कहावतें शताब्दी के मानवीय अनुभवों का निचोड़ होती हैं।...एक संभावना यह है कि ये सूक्तियाँ और कहावतें बोलियों में पहले से मौजूद थीं।" मेरे विचार में उनके इस कथन में ही अधिक दम है, इसके विपरीत वाले में कम। मुहावरों और कहावतों का निर्माण पीढ़ियों के अनुभवों और परिणामों के सामान्यीकरण से ही होता है। फिर सर्व मान्य सत्य के रूप में इनका प्रयोग होने लगता है। कवि या लेखक अपने कथन में पारदर्शिता और प्रामाणिकता लाने के लिए इनका प्रयोग करता है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि कबीर की सृजनात्मक आग ऐसी थी कि इसने साधारण शब्दों में रूह फूँक दी। लेख की विवेचन शैली बड़ी ही आकर्षक, चमत्कारपूर्ण और शोधपरक है, इसके लिए प्रो. नारंग बधाई के पात्र हैं। मैं समझता हूँ कि कबीर की भाषा का जिस गहनता के साथ विश्लेषण और विवेचन किया गया है, वह कई नए तथ्यों को उद्‌घाटित करता है। आज कबीर की भाषा के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता बनी हुई है। कबीर ने भाषा को "बहता नीर" कहा था, जो भाषा की प्रकृति को सही रूप में परिभाषित करता है। शायद कबीर ही प्रथम मनीषी हैं, जिन्हें ऐसी परिभाषा का श्रेय हम दे सकते हैं। मैं कबीर पर इस गहन, सारगर्भित और सुविज्ञेय सागर-मंथन के लिए प्रो. नारंग को साधुवाद देता हूँ।

भूल सुधार : पिछले अंक 118 (मार्च-अप्रैल 2005) में हमने मराठी कवयित्री अनुराधा पाटील की दो कविताएँ छापी थीं। भूलवश अनुवादक का नाम स्वयं छपा है; जबकि अनुवादक का नाम है—निशिकांत ठकार। हमें इसका खेद है।

संपादक

हों जब साहित्य वाले उसे बिरादरी बाहर समझें? व्यंग्य रचनाओं का बड़ा बाज़ार है। पारिश्रमिक भी अच्छा मिलता है लेकिन रचना के क्षेत्र में प्रतिभाएँ सिर्फ़ पारिश्रमिक के लिए नहीं आतीं। उन्हें सम्मान भी चाहिए।

हास्य और व्यंग्य कोई ध्रुवांतों पर स्थित नहीं हैं। हास्य ही व्यापक श्रेणी है और व्यंग्य उसकी उप-श्रेणी है। इसीलिए सभी व्यंग्य रचनाएँ हास्य उत्पन्न कर सकती हैं पर सभी हास्य-रचनाओं को व्यंग्य नहीं कहा जा सकता।

हर विधा में कविता ढूँढ़ने के आदी आलोचक यदि हास्य के जाने-माने मीमांसक हेनरी बर्गसन की यह उक्ति स्मरण कर लें—'हर विदग्धता के पीछे एक कवि जैसा व्यक्तित्व होता है' तब हास्य-व्यंग्य शायद स्वीकार्य हो जाए।

पाठक समुदाय के भीतर रुचि के अनुसार अनेक श्रेणियाँ हैं। किसी को उपन्यास पढ़ने का धैर्य नहीं है तो वह कहानी से अपनी रुचि तृप्त करता है। कोई उपन्यास में रमता है, कहानी उसे तृप्त नहीं कर पाती। कोई आलोचना पर मुग्ध है तो कोई कथेतर गद्य में रुचि लेता है। आत्मकथा के पाठक लाखों हैं, बल्कि अब वह सर्वाधिक लोकप्रिय विधा बन गई है। यात्रा-वृत्तांत और ललित निबंध के भी पाठक हैं। साहित्य को सभी तरह के पाठकों का रंजन करना है, सुरुचि का विकास करना है। आलोचकीय अथवा संपादकीय विधागत भेदभाव साहित्य के लिए आत्मघाती है।

विधागत भेदभाव को एक अन्य उदाहरण से समझा जा सकता है। किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता कि वह बाल-साहित्य लिखे। उसी तरह किसी आलोचक को बाल-साहित्य पर आलोचना लिखने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। लेकिन समग्र आलोचना बाल-साहित्य की उपेक्षा करे फिर विचार करने की आवश्यकता हो जाती है। विधागत भेदभाव में साहित्य-संस्थाओं की भी भूमिका है। बाल-साहित्य की पुस्तकों पर पुरस्कार की राशि छोटी क्यों होती है? जो विधाएँ अधिक पाठकों को आकर्षित करती हैं, उन्हें आलोचना और साहित्य-संस्थाओं से अधिक समर्थन मिलना चाहिए। ललित निबंध जैसी विधा में कितने लेखक बच गए हैं? इस विधा को संरक्षण देने के लिए कोई योजना है?

वास्तव में हमारी प्राथमिकताएँ उलट गई हैं। कवि गोरखनाथ ने कहा था—हसिबा, खेलिबा, धरिबा ध्यान! हँसेंगे, खेलेंगे और ध्यान करेंगे। योगी अपनी प्राथमिकता सुझाता है—हँसना, खेलना पहले है, ध्यान बाद में। हम गंभीरता के मारे मुँह लटकाए घूम रहे हैं, यही पहले और प्राथमिक है। हँसना खेलना तो भूल ही गए।

इस अंक में राजस्थानी के सात कवि, अलग-अलग पीढ़ियों के कवि विशेष रूप से एकत्र हैं तो दूसरी ओर तीन कथाकार उर्दू कहानी के बदलते मिज़ाज का संकेत दे रहे हैं। इस अंक से हम अनियमित स्तंभ 'संवत्सर' की शुरुआत कर रहे हैं। प्रतिष्ठित संवत्सर व्याख्यान का आयोजन प्रत्येक वर्ष साहित्य अकादेमी द्वारा किया जाता है। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण व्याख्यान समकालीन भारतीय साहित्य में पहले प्रकाशित भी हो चुके हैं। इस अंक में प्रसिद्ध कवि दिलीप चित्रे का व्याख्यान प्रस्तुत है।

यह प्रीतिकर लगता है कि युवा आलोचक स्थिर चौखटों को चुनौती दे। सुवास कुमार का आलेख नए प्रश्न उठाता है जबकि हिंदी के युवा आलोचक रवि श्रीवास्तव उर्दू के विख्यात कवि फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की कविताओं पर बंद दायरे के बाहर जाकर विचार करते हैं। 'स्मृति तर्पण' एक और अनियमित स्तंभ है जिसके तहत वरिष्ठ रचनाकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर पुनर्विचार किया जा सकेगा। इस अंक में वरिष्ठ आलोचक डॉ. कुमार विमल दिनकर के रचनात्मक सरोकारों को मौजूदा दौर के संदर्भ में अवस्थित कर रहे हैं।

पिछले कुछ अंकों में किए गए परिवर्तनों को पाठकों की स्वीकृति और सराहना मिली है। नए पाठक भी जुड़ने लगे हैं। यह सुखद है और कृतज्ञता का एहसास भी हमें है पर हम इसे गुणवत्ता बढ़ाने की बढ़ती ज़िम्मेवारी के रूप में ले रहे हैं।

इन पंक्तियों के आप तक पहुँचते-पहुँचते ख़ुशहाली का वाहक मानसून आ ही गया होगा।

मंगलकामनाओं सहित,

अरुण प्रकाश

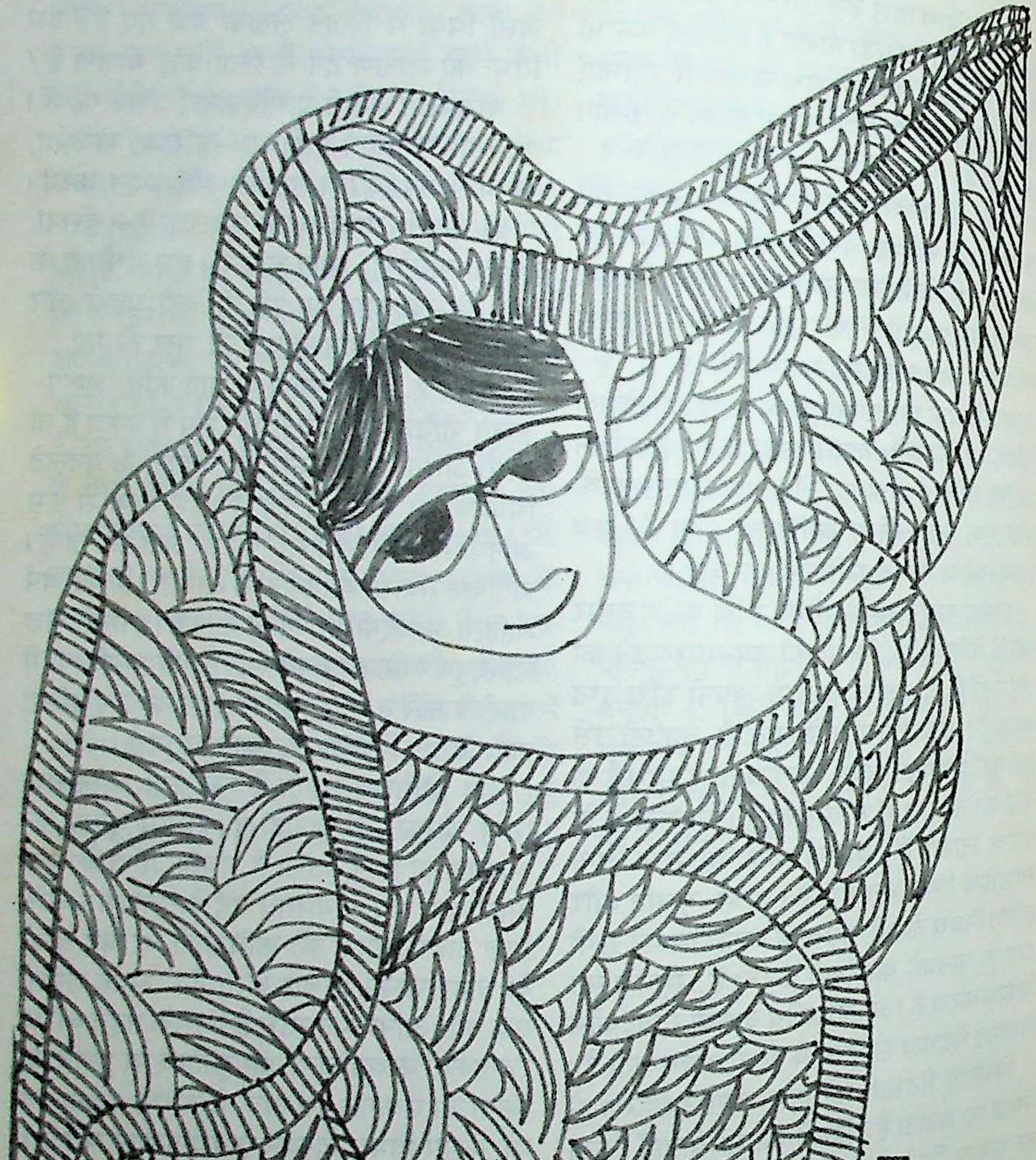

विनोद भट्ट

हास्य मेरा पहला प्रेम

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो हँस सकता है। यह वरदान केवल मनुष्य जाति को ही मिला है। कहते हैं कि सियार और भेड़िए हँसते हैं। पाले हुए चिंपैंजी को हँसाने का प्रयोग हुआ था और उसने हँसना शुरू कर दिया था—ऐसा डॉ. आर. पाकर्स ने लिखा है। वैसे तो ओरांगउटांग नामक पशु, जिसे आदमी के सबसे नज़दीक का प्राणी माना जाता है, उसे हँसाने के लिए हम लिखनेवाली जाति के लोगों ने उसके गुदगुदी की थी। अहमदाबाद के चिड़ियाघर में हम दो-तीन हास्य लेखक, अपने हास्य लेखों से तो उसे नहीं हँसा सके। शाब्दिक गुदगुदी कारगर नहीं हो सकेगी—इस बात का पता चलते ही हमने उसके शरीर में गुदगुदी की, लेकिन उसे हँसाने में हमें ज़रा भी सफलता नहीं मिली। कदाचित्, मादा ओरांगउटांग के गुदगुदी की होती तो वह हँस पड़ती, लेकिन यह भी एक अनुमान ही है। अपने हास्यकार रमण भाई नीलकंठ ने हास्यरस पर लिखे अपने निबंध में लिखा है कि मनुष्य की तरह हाथी भी हँस सकता है। जब उसे हँसी आती होगी, तो वह कौन से दाँत से हँसता होगा, क्या वह दाँत दिखाई देनेवाला दाँत होगा, इसके बारे में उन्होंने कोई खुलासा नहीं किया।

निरंतर मानसिक तनाव अनुभव करनेवाले मनुष्यों के लिए हास्य योग का काम करता है। तनाव से मुक्त होने के लिए लोग झूठमूठ नकली हँसने के लिए आजकल लाफ़िंग क्लबों की शरण में जा रहे हैं—यह बताता है कि मनुष्य जाति के लिए हँसना कितना महत्त्वपूर्ण हो गया है। पिछले कुछेक वर्षों से अमेरिका में एक थेरेपी के रूप में हास्य का प्रयोग किया जा रहा है। मरीज लोग आनंद से रहें और दिन में दो-तीन बार मुक्त मन से हँस लें तो उन्हें उनके रोग से बहुत राहत मिल जाती है।

सैटरडे रिव्यू के भूतपूर्व संपादक नार्मन कजिन्स का उदाहरण मेरी नज़र के सामने है। उन्हें हार्ट अटैक पड़ने के बाद डॉक्टरों ने बायपास सर्जरी करा लेने की सलाह दी। इस सलाह की उपेक्षा कर, ऑपरेशन करवाने के बदले, उन्होंने अपने हृदय में रक्त पहुँचाने वाली धमनियों में आई रुकावट को हास्य से साफ़ कर लिया। उन्होंने अपने इस अनुभव का निष्कर्ष दी हीलिंग हार्ट नामक अपनी एक पुस्तक में लिखा है।

गुजराती के चर्चित व्यंग्यकार विनोद भट्ट की नई पुस्तक 'विनोद मेला' प्रकाशित हुई है। गुजराती साहित्य परिषद से पुरस्कृत। संपर्क : 7, धर्मयुग कॉलोनी, वेद मंदिर के पास, कांकरिया रोड, अहमदाबाद-380022

अनु. जगदीश चंद्रिकेश हिंदी-गुजराती में परस्पर अनुवाद करते हैं। संपर्क : सी. बी. 66 डी., जी-8 एरिया, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-110064

हँसने से शरीर के अंगों जैसे, फेफड़े, छाती, गला, कंधा, मस्तिष्क और आँखों आदि को आराम मिलता है। इसीलिए डॉ. विलियम फाय ने हँसने को एक स्थान पर खड़े-खड़े ही दौड़ने जैसा व्यायाम कहा है। सत्रहवीं सदी के एक चिकित्सक टामस सिडनहाम ने हास्य के प्रभाव के विषय में कहा है कि हृदय रोग के हमले से मृत्युशैया पर पड़े व्यक्ति के पास हँसी के चुटकुले कहनेवाला कोई आ जाए तो वह अकेले ही दो दर्जन गदहों पर लदी दवाइयों से भी अधिक कारगर साबित होता है।

हास्य और रुदन को मनुष्य की प्राथमिक चेष्टाओं की भाँति पहचाना जाता है। बालक जनमते ही यदि नहीं रोता तो यह डॉक्टरों के लिए चिंता की बात हो जाती है। लेकिन जो बालक हँसने की शक्ति गवाँ बैठता है, वह मनोवैज्ञानिकों के लिए बहुत बड़ी उलझन पैदा कर देता है। जन्म के बाद, पहले ही वर्ष में बालक को हँसना चाहिए। यदि वह नहीं हँसता है तो मनोविज्ञान की भाषा में उसे मानसिक रूप से मृत माना जाता है। प्रसन्नता-आनंद व्यक्त करने का बालक के पास यही एक शस्त्र है। बालक जन्म के बाद, आठवें दिन हँसने लगता है। हँसने से ही बालक सामाजिक प्राणी बनता है, इसी से वह सामाजिक संबंध बनाता है। हास्य उसके शरीर की भाषा है। बालक जितनी जल्दी हँसने लगता है, उतना ही वह अधिक नॉर्मल माना जाता है। जो बालक अपनी जननी के सामने मुस्कुराने की चेष्टा करने के बदले दर्द से चीख़ निकालने लगता है तो ऐसा बालक माँ-बाप के लिए ही नहीं, समाज के लिए भी ख़तरनाक होता है। मनोवैज्ञानिक दृढ़तापूर्वक इस बात को मानते हैं कि जो बालक हँस नहीं सकता, वह बड़ा होकर हत्यारा बनने की दिशा में बढ़ जाता है। जब उसे ताक़त मिलती है और मौक़ा मिलता है तो उसमें ख़ून करने की वृत्ति विकसित हो जाती है। इस तरह हँस नहीं पाने के कारण से वह विकृत और असामाजिक प्राणी बन जाता है। नीरो के लिए कहा जाता है कि वह बचपन में कभी हँसा ही नहीं, इसी के परिणामस्वरूप वह क्रूर और घातक बन गया। शायद, इसीलिए यह कहा गया होगा कि उस व्यक्ति पर जो जीवन में एकाध बार भी खुले मन से न हँसा हो, विश्वास कभी नहीं करना।

हास्य की शाब्दिक ताक़त का परिचय हमें ढाई हज़ार साल पहले अरिस्टॉफ़नीज़ ने दिया था। उसने अपने लिखे प्रहसनों द्वारा बड़े-बड़े अधिकारियों, सामंतों सामाजिक बुराइयों तथा राजकीय षड्यंत्रों पर मज़ाक़-मसख़री की झड़ियाँ बरसाकर प्रजा को जागृत करने में ख़ासी भूमिका निभाई थी। कहा जाता है कि सायराक्यूज़ के ज़ुल्मी राजा दिआनसियस ने एक दिन प्लेटो से एथेंस के हालात की सच्ची जानकारी जाननी चाही तो प्लेटो ने किसी भी प्रकार की कोई टीका-टिप्पणी किए बिना अरिस्टॉफ़नीज़ के 'मेघमंडल' नामक प्रहसन की एक प्रति उसके पास भेज दी थी। इस तरह जो बात सीधे तौर पर कहते नहीं बनती, उसे कई बार हास्य की आड़ लेकर बहुत अच्छी तरह से कहा जा सकता है।

एक बार गुरु मत्स्येंद्रनाथ से गुरु गोरखनाथ ने पूछा कि जीवन में मुझे क्या करना है—इस बारे में मुझे आप, जितना हो सके उतने संक्षेप में कहें, तब गुरु मत्स्येंद्रनाथ ने इतना ही कहा, ''हसीबा, खेलीबा, धरीबा ध्यान, अहर्निशं करीबा ब्रह्मगियानं।'' इस तरह गुरु ने उन्हें प्रथम उपदेश हँसने का ही दिया। और वाल्टेयर जैसा स्वस्थ चिंतक भी बताता है कि मैं इसलिए हँसता हूँ कि बिना हँसे कहीं मैं पागल न हो जाऊँ...।

मनुष्य में जितनी तीव्र हास्यवृत्ति होती है वह उतना ही अपने दुखों से पीड़ित होने के बदले आनंद में रमा रहता है, दुखों के पलों में भी वह हँस सकता है। अपनी ग़रीबी का रोना रोने के बदले हँसते हुए फ़िलॉस्फ़र की तरह कोई निर्धन भी कह सकता है कि हे दरिद्रारूप देव! तुमको

नमस्कार है। तुम्हारी कृपा से मैं बड़ा सिद्ध पुरुष बन गया, क्योंकि मैं सारे जगत को देख सकता हूँ लेकिन मुझे कोई नहीं देख सकता। अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन की याद आती है। जब वह अमेरिका के प्रेसीडेंट थे उस दौरान उस पर गोली चली। गोली उसकी छाती के बगल में घुस गई। उसे अस्पताल ले जाया जा रहा था तब एक पत्रकार ने उससे पूछा, ''मि. प्रेसीडेंट, गोली जब आपके शरीर में घुसी तब सबसे पहले आपके मन में क्या ख़याल आया?'' जवाब में रीगन ने कहा, ''आज सवेरे ही निकालकर नया सूट पहना था, जिसमें गोली घुस गई। गोली मेरे नए-निकोर सूट से रगड़ खा गई, अब यह सूट बेकार हो जाएगा—इस विचार के आते ही मुझे बहुत आघात लगा।'' शरीर में से गोली निकालने के लिए उन्हें ऑपरेशन थिएटर में ले जाया जा रहा था तभी घबरायी हुई, तेज़ी से दौड़कर आती हुई उनकी पत्नी नैन्सी ने उनसे पूछा, ''क्या हुआ?'' रीगन ने पत्नी को देखते हुए हँसकर कहा, ''क्या होना था, बस, जैसे मैं सहज ही झुकना भूल जाता हूँ, झुकना भूल गया।'' जब ऑपरेशन के लिए पाँच-पाँच डॉक्टरों का दल हाज़िर हो गया तो उन डॉक्टरों को सामने देख रीगन ने अपनी आँख मिचकाते हुए उनसे पूछा, ''मुझे ये बताओ कि आप सभी डेमोक्रेट हो या रिपब्लिक?''

ईश्वर ने हास्यवृत्ति देकर मानव जाति पर एक बहुत बड़ा उपकार किया है। अगर मनुष्य को हास्यवृत्ति न दी होती तो उसके लिए जीना दूभर हो जाता, कटु व बोझिल हो जाता। गांधी जी ने इस संदर्भ में कहा है, ''मुझमें अगर हास्यवृत्ति न होती तो मैंने कभी की आत्महत्या कर ली होती।'' सॉक्रेटीज़ को जेंथिपी जैसी कर्कशा पत्नी मिली थी, लेकिन इसके साथ ही, जन्म से ही उसे विनोदवृत्ति भी मिली थी। अगर उसमें यह विनोद वृत्ति न होती तो दार्शनिक होने से पहले ही उसे पत्नी के त्रास से ज़हर पीकर आत्महत्या करनी पड़ती। विनोद वृत्ति के कारण ही आदमी जीवन के विष को शंकर की तरह पचा जाता है। यदि वह समाज में व्याप्त पाखंड, धूर्तता, भ्रष्टाचार, अन्याय आदि पर हँस नहीं पाता, तो बंदूक़ लेकर सड़क पर निकल पड़ता।

हालाँकि, यह सही है कि कॉमन-सेंस (सामान्य-बुद्धि) अन-कॉमन (असामान्य) होता है, सबमें एक जैसा नहीं होता; इसी तरह हास्यवृत्ति भी दुर्लभ होती है। यह गुण आदमी के ख़ून में ही मिला आता है, इसे सीखा नहीं जा सकता। यह शक्ति तो भाग्यशाली को ही मिलती है। और जिस व्यक्ति में विनोद वृत्ति का अभाव होता है वह जड़, अक्कड़ और अन्यायी होता है, उसका अहम् क्रूरता के साथ जुड़ा होता है। वह स्वयं अपने अहंकार के शासन के आधीन होता है। रूस के पहले ज़ार के सिर पर बाल नहीं थे, वह गंजा था। उसने मुनादी करा रखी थी कि जो कोई उसके गंजेपन के बारे में सार्वजनिक रूप से चर्चा करता पाया जाएगा, उसे कुत्ते की मौत मरवा दिया जाएगा। वैसे तो भारत की पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी में भी हास्यवृत्ति अपेक्षाकृत बहुत अल्प थी (जबकि मनोवैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में विनोदवृत्ति अधिक होती है।) फ्रायड का भी यही कहना है कि आमतौर पर आदमियों में आनंदवृत्ति का अभाव होता है। जिन व्यक्तियों में अपने ऊपर होनेवाले हँसी-मज़ाक़ को सहन करने की शक्ति नहीं होती, उनके पास मित्र नहीं होते। और मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि जिस आदमी में अपने आप पर हँस सकने का माद्दा नहीं होता वह कभी सच्चा हास्यकार नहीं हो सकता।

कहा जाता है कि जिस आदमी में आनंदवृत्ति होती है वह जल्दी ही ग़ुस्सा होने के बजाय ग़ुस्सा होनेवाली बात की शुरुआत ही आनंदवृत्ति से करता है। इस विषय में चर्चिल का एक विधान है, ''इट इज़ माई बिलीफ़ यू कैन नॉट

डील विद मोस्ट सीरियस थिंग इन दी वर्ल्ड, अनलैस यू अंडरस्टैंड दी मोस्ट एम्यूज़िंग। यानी ज़िंदगी को बहुत गंभीरता से लेने की बजाय उसे हँसी में लेना सीख लेना चाहिए, क्योंकि गंभीर-से-गंभीर मामलों में भी कहीं आनंद छिपा होता है। इसीलिए ही कहा जाता है कि आनंदवृत्ति परिपक्वता का लक्षण है, उद्दातता का लक्षण है।''

हास्य और रस दोनों वैसे तो अलग-अलग हैं, लेकिन अपने वैदिक ऋषि-महर्षियों ने भोजन के रसों को साहित्य तक पहुँचा दिया है। 'रस' शब्द वेदों जितना ही पुराना है—यह हमें जानना चाहिए। ऋग्वेद में रस शब्द अनेक बार अलग-अलग अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। एक जगह इसे पानी के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है तो कई बार इसे 'दूध' और कई प्रसंगों में 'सोम' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। लेकिन धीरे-धीरे इसने खाने-पीने के व्यवहार में से लेकर काव्यकला के व्यवहार तक में गति पा ली है। भरतमुनि के कथनानुसार यह सभी रस अथर्ववेद से आए हैं। उन्होंने मुख्य चार रस गिनाए हैं और अन्य चार रस इन मुख्य चार रसों में से उत्पन्न हुए बताए हैं—

> तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः
> शृंगारो वीरो रौद्रो बीभत्स इति।
> शृंगाराद्धि भवेत् हास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
> वीराच्चेवाद्‌भुतोत्पत्ति बीभत्साच्च भयानकः॥

(इनकी उत्पत्ति हेतु चार रस हैं : शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स। शृंगार से हास्य, रौद्र में से करुण, वीर में से अद्‌भुत और वीभत्स में से भयानक रस उत्पन्न होता है)।

इस तरह भरतमुनि के मतानुसार शृंगार से ही हास्य का जन्म होता है। हास्य को स्वतंत्र रस का दर्जा देने के बदले उन्होंने उसे शृंगार का अनुकरण माना है।

इन सभी रसों में से किस रस को मुख्य रस माना जाए, इस बारे में विद्वान एकमत नहीं हैं। जिनका जिस रस के प्रति विशेष लगाव रहा है, उसे ही उन्होंने मुख्य रस के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है, लेकिन इन पंक्तियों का लेखक मानता है कि मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक हास्य रस का अनुभव कर सकता है। शृंगार रस युवावस्था तक सीमित है, जबकि हास्य रस का बाल्यावस्था, युवावस्था और उसी प्रकार वृद्धावस्था—तीनों में ही एक समान रूप से अनुभव किया जा सकता है। चित्त को प्रसन्न करनेवाला गुण अन्य रसों के मुक़ाबले हास्य रस में अधिक प्रबल होता है, इसलिए इसे ही उच्च स्थान मिलना चाहिए। यह मेरा अपना निजी मत है।

विस्तार के भय से मैं संचारी तथा स्थायी भावों, विभावों और अनुभावों की, और उसी तरह आत्मस्थ और परस्थ हास्य की चर्चा यहाँ नहीं कर रहा हूँ। इस तरह अरिस्टोटल, सिसरो, हेनरी बर्गसां, स्पेंसर, सली, होब्स, हेज़लिट, ओडिसन, डॉ. जॉनसन, ली हंट, बेइली, मेरिडिथ, शॉपन हावर, फ्रायड, लीकोक, केंट, मेक्डूगल, बेइन आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने हास्य की व्याख्या अपने-अपने दृष्टिकोण से की है, उसकी विभावना समझने की कोशिश की है।

ह्यूमर शब्द लेटिन ह्यूमरम शब्द से आया है— ऐसा बेब्सटर डिक्शनरी में बताया गया है। ह्यूमरम शब्द का अर्थ भीगना होता है। शरीर शास्त्र के अनुसार मानव शरीर में अमुक प्रकार के अंतःस्रावी रस (हारमोंस) होते हैं। इन अंतःस्रावी रसों के कारण मनुष्य का विशिष्ट व्यक्तित्व प्रगट होता है। इन रसों के आधार पर मनुष्य की प्रवृत्ति को चार अलग-अलग वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : सेन्गिवन (Sanguine जो लेटिन के Sangnis शब्द से आया है), कोलेरिक (Choleric), मेलन्कली (Melancholy) और फ्लेग्मेटिक (Phlegmatic)। ये चारों ही तत्त्व

न्यूनाधिक मात्रा में हरेक मनुष्य में पाए जाते हैं और इन चारों तत्त्वों के सम्मिश्रण का विविधता के अनुसार मनुष्य के स्वभाव में विविधता पाई जाती है। इन रसों की कल्पना कुछेक अंशों में अपने सत्व, रजस्, तमस् आदि गुणों या आयुर्वेद के वात, पित्त, कफ आदि तत्त्वों की कल्पना जैसी है।

ह्यूमर सौम्य, संस्कार संपन्न और बुद्धिपूर्ण हास्य का स्वरूप है, जिसे हास्य का सर्वोत्तम स्वरूप माना जाता है। ह्यूमर में हास्य के चार तत्त्व विशेष रूप से आवश्यक होते हैं : (1) आश्चर्यचकित कर दे ऐसा अकल्पनीय तत्त्व उसमें होना चाहिए। (2) उसे तार्किक अर्थात् तर्कसंगत होना चाहिए। उदाहरण के लिए ज्योतींद्र दवे 'अज्ञान' के विषय में कहते हैं कि तराजू के एक पलड़े में दुनिया भर का ज्ञान रख दो और दूसरे पलड़े में मेरा अज्ञान रखो तो मेरावाला पलड़ा निश्चित रूप से झुक जाएगा। यहाँ तार्किक रूप से बात उससे तालमेल बैठाती हुई-सी लगती है, जबकि यह तार्किकता का आभास भर देती. है है–यह भी अपने आप में स्पष्ट है। (3) हास्य ब्लेड की धार जैसा तीक्ष्ण होना चाहिए। (4) हास्य-प्रसंग अत्यंत लंबा और उबाऊ नहीं होना चाहिए।

इन चारों तत्त्वों से परिपूर्ण एक उदाहरण : हंगरी के किसी एक गाँव के लुहार ने ऐसा गंभीर गुनाह किया कि जिसकी सज़ा फाँसी ही थी। इस नगर का मेयर ही न्यायाधीश का काम देखता था, उसने फ़ैसला दिया कि लुहार के बदले दर्जी को फाँसी पर लटका दो; क्योंकि गाँव में दो दर्जी हैं, जबकि सभी लोगों की ज़रूरतों को पूरा करनेवाला गाँव में लुहार एक ही है और दूसरी मुख्य बात तो यह है कि क़ानून व्यवस्था को बनाए रखने के लिए गुनाह के लिए सज़ा तो दी जानी ही चाहिए। (हमारे यहाँ भी अँधेर नगरी, चौपट राजा की इससे मिलती-जुलती एक रचना है।)

तत्त्वचिंतक सैली ने कहा है : "हास्य और करुण दोनों परस्पर नज़दीकी हैं। एक से दूसरे प्र जाना बहुत सरल है। ओ. हेनरी की विश्वप्रसिद्ध कहानी 'दी गिफ़्ट ऑफ़ दी मैगी' दबे पाँव एक जापानी जोक तक दौड़ जाती है। इस जोक से ही ओ. हेनरी ने यह कहानी गढ़ी है। इस जोक में एक स्त्री अपने शराबी पति के लिए अपने बालों की एक बड़ी लट को बेचकर शराब की एक बोतल ख़रीदती है। पति जब घर आता है तो अपनी पत्नी व शराब की बोतल को देखकर गदगद हो जाता है। पत्नी के सिर पर बचे हुए बालों में प्रेम से उँगली फिराते हुए कहता है : "अभी तो ये बाल इतने हैं कि इन बालों से आधी बोतल जितनी शराब और आ सकती है।"

क्रिस्टोफ़र फ़ाय इस बात के समर्थन में कहता है : "जब मैं कॉमेडी लिखने बैठता हूँ तब सबसे पहले मेरे मन में ट्रैजिडि का ही विचार आता है जो पात्र ट्रैजिडि के लायक़ नहीं होता, उसं· पात्र को मैं कॉमेडी के लिए भी काम में नहीं ले सकता। इस तरह कॉमेडी और ट्रैजिडि दोनों एक ही गाँठ में बँधे हुए हैं। इससे ख़याल आता है कि कॉमेडी और ट्रैजिडि इन दोनों के बीच रेलवे की बड़ी लाईन और छोटी लाईन जैसा कोई अंतर नहीं है। दोनों के अलग-अलग साम्राज्य होने के बावजूद दोनों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध है। इन दोनों के बीच अगर कोई फ़र्क़ है, तो वह देखनेवालों की नज़र में है। कहा जाता है कि बर्नार्ड शॉ हेम्लेट को ट्रैजिडि मानने के लिए तैयार ही नहीं थे। और वह एंटेन चेखव के नाटक चेरी आर्चर्ड को कॉमेडी मानते थे। चेखव स्वयं भी इसे कॉमेडी मानते थे, लेकिन यह नाटक कॉमेडी है या ट्रैजिडि—इस विषय में समीक्षकों का आज की तारीख़ में भी मतैक्य नहीं हो सका है, क्योंकि उसे स्टेज पर ट्रैजिडि के तौर पर ही मंचित किया जाता है। इसलिए हॉरेस बॉलपॉल का यह कथन यहाँ दे रहा हूँ कि : "दी वर्ल्ड

इज़ ए कॉमेडी टू-दोज़ दैट थिंक, ए ट्रैजिडि टू दोज़ दैट फ़ील...''

मैं जिस भाषा में लिखता हूँ उस गुजराती भाषा में लिखे गए और लिखे जा रहे हास्य साहित्य के बारे में कुछ बातें। व्यवस्थित रूप से लिखे गए गुजराती हास्य का इतिहास सौ वर्ष जितना ही माना जाता है। हास्यकार रमणभाई नीलकंठ का हास्यरस का उपन्यास भद्रंभद्र सन् 1900 में प्रकाशित हुआ था। इसके पूर्व के कवि अखो, प्रेमानंद, दलपतराम या नवलराम का छिद्रान्वेषण इसलिए नहीं करूँगा कि ये सभी लिखनेवाले ऐसे नहीं दिखाई देते कि वे जो हास्य लिख रहे थे, उसे वे सचेष्ट होकर लिख रहे थे। अलबत्ता, नवलराम (नवलराम पंड्या) का लिखा 'ओथारियो हडकवा' गुजराती साहित्य का पहला हल्का-फुल्का मनोरंजक निबंध है।

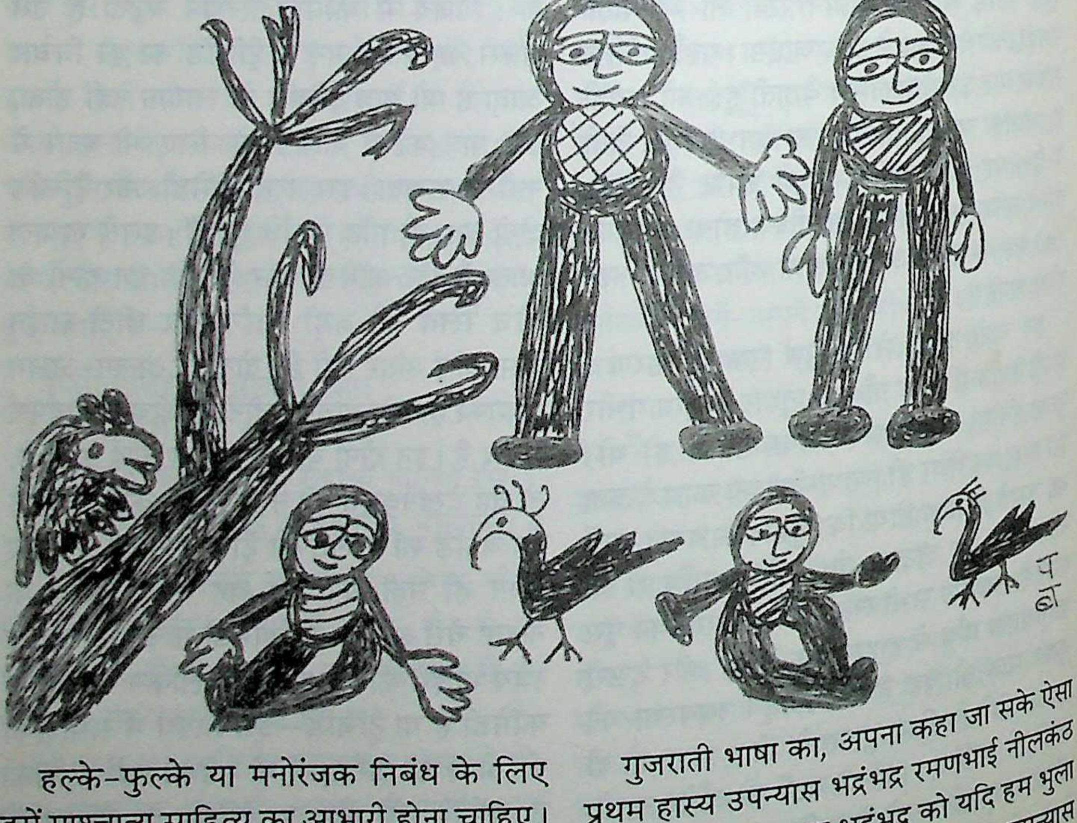

हल्के-फुल्के या मनोरंजक निबंध के लिए हमें पाश्चात्य साहित्य का आभारी होना चाहिए। अंग्रेज़ी साहित्य में सबसे पहला हल्का-फुल्का, जिसे 'लाइट' कहा जाता है, निबंध अठारहवीं सदी के प्रारंभ जोनाथन स्विफ्ट का लिखा मिलता है। आयरलैंड के डब्लिन नगर में स्विफ्ट लार्ड बर्कले की सेवा में था और वह लार्ड के परिवार का प्रिय पात्र बन गया था। उस परिवार ने मनोरंजन के लिए स्विफ्ट से कोई कृति रचने के लिए कहा। इस पर उसने 'मेडिटेशन ऑफ़ ए ब्रूमस्टिक' अर्थात् 'झाड़ू के डंडे पर चिंतन' शीर्षक हल्का-फुल्का निबंध लिख डाला। ऐसा ही उसका एक दूसरा निबंध 'मोडेस्ट प्रपोजल' है। ललित निबंध से अलग होती हुई एक अन्य शाखा ललितेत्तर निबंध के रूप में अठारहवीं सदी की शुरुआत में सामने आई और इस तरह के हल्के-फुल्के निबंधों को हमारी अपनी भाषा में पहुँचने में लगभग दो सौ वर्ष लगे।

गुजराती भाषा का, अपना कहा जा सके ऐसा प्रथम हास्य उपन्यास भद्रंभद्र रमणभाई नीलकंठ ने 1900 में दिया। इस भद्रंभद्र को यदि हम भुला दें तो उस जैसा हास्य रस का दूसरा उपन्यास

आज तक सौ वर्ष में भी नहीं लिखा गया। आज की तारीख़ में भी यह उपन्यास शूरवीर की तरह खड़ा हुआ है। हालाँकि, इस उपन्यास पर चार्ल्स डिकेन्स के 'पिकविक पेपर्स' और सर्वान्तिस के 'डॉन किहोटे' का अच्छा-ख़ासा प्रभाव है। यहाँ तक कि डॉन किहोटे को जिस तरह 'सांको पांझा' मिल गया उसी तरह भद्रंभद्र में भी नसीब का बनिया यानी कि उसका अंबाराम जुड़ गया है। इसके अलावा दोनों के बीच कोई लंबा साम्य नहीं है। क्योंकि रमणभाई ने सनातनियों को ही अपने शिकार के रूप में पकड़ा है और अनेक जीवंत व्यक्तियों को अपना पात्र बनाया है।

रमणभाई नीलकंठ की हास्य मंदिर शीर्षक पुस्तक में 'टप्पानी मुसाफरी' जैसे अनेक सुंदर हास्य लेख हैं, जिनमें रमणभाई की शुद्ध हास्यकार के तरह की मुद्रा उभर कर आती है। रमणभाई ने अस्पृश्य माने जानेवाले हास्य रस को साहित्य के मंदिर में विधिवत और व्यवस्थित रूप से बाइज़्ज़त प्रवेश करवाया। हास्य को प्रतिष्ठित करनेवाले वह पहले सर्जक हैं।

मज़ेदार हक़ीक़त यह है कि लेखन की शुरुआत मैंने करुण भाव की कहानियों से की थी। पचास के लगभग कहानियाँ लिखीं। ये कहानियाँ इतनी अधिक करुण थीं कि उन्हें लिखते समय मेरी आँखें आँसुओं से भीग जाती थीं। दाएँ हाथ से कहानी लिखता जाता था और बाएँ हाथ से आँसू पोंछता जाता था। यह मैं पाठकों को हँसाने के लिए नहीं लिख रहा। कहानी लिखने के बाद मैं चाहता था कि विश्व की इन श्रेष्ठ करुण कहानियों को सुनने के लिए कोई श्रोता मिले। जंगल में आग की तरह मुहल्ले के मित्रों को पता चल गया कि विनिया (विनोद भट्ट) कहानियाँ लिखता है। फिर दुर्भाग्य। मेरे हाथ में काग़ज़ देखते ही दोस्त तितर-बितर होने लगते।...पानी पीकर आता हूँ...मेरी माँ बुला रही है...अभी तो लैसन पूरा करना बाक़ी है—जैसे बहाने बनाकर मित्र कहानी सुनते-सुनते बीच से ही उठ जाते। लेकिन ये कहानियाँ बिलकुल ही बदनसीब नहीं थी। उन्हें एक स्थायी श्रोता मिल गया था। हमारे घर के ठीक सामने अधेड़ वय का एक अर्धपागल रहता था। नाम था उसका चिमन बादशाह। उसे जब अपने असल मिज़ाज का ख़याल आता, तब वह चीख़-पुकार मचाता, कहता, "मैं कौन, चिमन बादशाह, दिल्ली का शहंशाह..." इसके बाद वह 20-30 किलो की गालियाँ बकता। इसके बाद वह नॉर्मल हो जाता। वह मेरा स्थायी श्रोता था। उसके पैरों के पास बैठकर मैं कहानी सुनाता। कहानी के शीर्षक के साथ ही लिखता 'एक करुण कहानी'। यह कहानी करुण है—कहकर मैं कहानी पढ़ना शुरू करता और कहानी के पहले वाक्य से ही चिमन बादशाह रोना शुरू कर देता। कहानी पूरी होती तब हम दोनों की आँखें आँसुओं से छलछलाई हुई होतीं। मुझे दिलासा देते हुए वह कहता, "बेटा, रो मत, चुप हो जा, दुनिया तो ऐसी ही बेरहम है...।" इसके बाद वह फिर चीख़ने लगता, "मैं कौन, चिमन बादशाह" और फिर गालियों की बरसात। कहानी के पन्ने सँभालते हुए मैं वहाँ से खिसककर घर में घुस जाता।

1956 से गुजराती पत्र-पत्रिकाओं में मेरे हास्य लेख छपने शुरू हुए। बस, आज की घड़ी और उस समय से ही मुझे काग़ज़ पर छपे अपने नाम को पढ़ने का व्यसन लग गया। मुझे मालूम है कि इसे आत्मरति कहते हैं, इसके बावजूद आज भी मैं मुग्ध भाव से अपने छपे हुए नाम को तकता रहता हूँ, उसे दुलारता-सहलाता रहता हूँ। इससे मुझे सबसे बड़ा फ़ायदा यह हुआ है कि मुझे किसी बाहरी नशे की कभी ज़रूरत नहीं पड़ी और न पड़ती है।

मेरी पहली पुस्तक पहेलुं सुख ते मूंगी नार प्रकाशित हुई, तब मैं यह मानता था कि गुजराती हास्य साहित्य की यह एक श्रेष्ठ कृति है, गहना है। बहुत वर्षों तक मैं इसके नशे में रहा। बाद में

धीमे-धीमे हास्य की समझ बढ़ी, अन्य लेखकों को पढ़ा तब आत्मज्ञान हुआ कि यह एकदम नाकाम, फ़ालतू, वाहियात और कहीं चले नहीं ऐसी ख़ूब चालू पुस्तक है।

फिर भी मैं सुधरा नहीं, दुगने उत्साह से मेरी पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। दो पुस्तकों की बात मैं यहाँ करना चाहूँगा। महेश मस्तफ़क़ीर (अपने पुराने लोकप्रिय हास्य लेखक मस्तफ़क़ीर के सुपुत्र) ने डिटेक्टिव कहानियों के पैरोडी के रूप में दो पुस्तकें पॉकेट बुक में प्रकाशित कराई : (1) "विनोद भट्ट नी अ-रहस्य कथाओ" और (2) "विनोद भट्ट (वि) कृत शाकुंतल।" दोनों पुस्तकों की कीमत दो-दो रुपए रखी गई फिर भी पाठक इन पुस्तकों पर दो रुपए जितनी रक़म भी फेंकने के लिए तैयार न थे। मेरी ये दोनों पुस्तकें चली नहीं, इसलिए धनराज सेठ धीरज खो बैठा और गोदाम को जल्दी से ख़ाली करने की ग़रज़ से उसने मेरी आँखों के सामने किताबें तुलवाकर रद्दीवाले के हवाले कर दीं। लाचार आँखों से यह दृश्य भी मैंने देखा था।

लेकिन एक बात है कि हास्य मेरा पहला प्रेम है। इसमें दर्द में घुँटे हुए हास्य का मैं हमेशा से पक्षधर रहा हूँ। कल-कल बहते हास्य के झरने में छुपे हुए, अंडर करंट-करुणा का भाव मुझे बहुत पसंद है। चार्ल्स डिकेन्स इसीलिए मेरा प्रिय लेखक रहा है। इसी कारण से चार्ली चेप्लिन की फ़िल्में मुझे बेहद पसंद आती हैं, उनमें हास्य के साथ वेदना भी मिली होती है। एक ने काग़ज़ पर और दूसरे ने फ़िल्मों अपना आवेश भरा उच्छवास उड़ेला है।

मैं अपने विषय में बात करूँ तो मेरे लिए लेखन पलायनवादी प्रवृत्ति नहीं, बल्कि अभिव्यक्ति का माध्यम रहा है। हास्यरस जितना ही मुझे करुण रस भी प्रिय है, इसीलिए मेरे लेखन में हास्य के साथ अनेक बार अनायास ही करुण भाव भी आ जाता है। मुझे बिना ह्यूमन एलिमेंट वाला ह्यूमर पसंद नहीं आता। विशेष रूप से उस समय जबकि मेरा कोई अतिप्रिय व्यक्ति गुज़र जाए और मुझे उसके बारे में लिखना पड़े, तब ऐसा ज़रूर होता है। मेरा परम मित्र कवि शेखादम आबुवाला जब मेरा परिचय देता था तब अनेक बार कहता था कि विनोद भट्ट हास्य लिखता है, ठीक है। जब कोई आत्मीय मित्र के अवसान के बाद उसे मार्मिक श्रद्धांजलि देता है तो उसे पढ़ते हुए हमारी आँखों के कोने नम हो जाते हैं। काश! शेखादम ने अपनी मृत्यु पर मेरे लेख की अंतिम दो लाइनें पढ़ी होतीं। ये दो लाइने थीं, "मैं मानता हूँ कि शेखादम मेरा विशेष, ख़ास समर्थक था—इसीलिए ही वह मरने के बाद मेरे और निकट आ गया है, वहोरवाड़ का अपना घर ख़ाली करके आदम (शेखादम) मेरे घर के बिलकुल नज़दीक के क़ब्रिस्तान में रहने के लिए आ गया है।"

किसी भी हृदयद्रावक समाचार को पढ़कर मैं
हिल जाता हूँ। उस पर लिखे बिना मैं नहीं रह
सकता, उससे मेरा संबंध बँध जाता है। मुंबई में
बम का धमाका हुआ था तब ऐसा फ़ील होने
लगा कि जाने कोई मेरे अंदर शूल भोंक रहा हो।
उस समय मेरी संवेदना बहुत प्रबल थी। उस
समय मुंबई की सड़कों पर शवों का इतना बड़ा
ढेर लग गया था कि जिन्हें हटाने के लिए मुंबई
की नगर ट्रांसपोर्ट कंपनी-बेस्ट की बसों की
मदद लेनी पड़ी थी। उन दिनों मैंने एक लेख
लिखा था, उसका शीर्षक था, 'बॉम्बे डाइंग ये
खबर नथी, हकीकत छे', इस लेख का अंतिम
भाग यह था, "बॉम्बे के पास समुद्र होते हुए भी
आँसू नहीं। मुंबई में अभी जिस तरह से सैकड़ों
आदमी मर रहे हैं, इससे लगता है कि बॉम्बे
डाइंग यह अख़बार की ख़बर नहीं, बल्कि
हक़ीक़त है। मुंबई की बेस्ट कंपनी की बसें ढेर
की ढेर लाशों को अपने शरीर में भर-भरकर ले
जा रही थीं, शायद पहली ही बार इन बस
कंडक्टरों ने इतने सारे मुसाफ़िरों में से किसी की
भी टिकट नहीं काटी और घंटी बजाकर यह भी
नहीं पूछा कि है कोई उतरनेवाला—श्मशान
घाट?"

कुमार विमल

नमन पुनीत अनल को

डॉ. कुमार विमल का जन्म 1931 में भागलपुर में हुआ। कविता-संग्रह, संस्मरण और आलोचना पुस्तकें प्रकाशित। उ.प्र. हिंदी संस्थान से सम्मानित। संपर्क : 96 एम. आई. जी. एच., लोहिया नगर, पटना-20

1928 में प्रकाशित विजय-संदेश नामक दिनकर के प्रथम कविता-संग्रह की प्रारंभिक कविताओं में ही हमें 'अनल-तत्त्व' की पवित्रता के प्रति कवि की आदर-भावना मिलती है और 'जन-सत्ता' के जयघोष के लिए कवि की प्रणबद्धता का स्फुरण मिलता है।

गर्जन-तर्जन के कवि दिनकर मुख्यत: उस 'मन्यु' के कवि थे, जिस 'मन्यु' ने नवजागरण से उत्थित स्वतंत्रता-आंदोलन के समय इस देश की युवा-शक्ति को 'अजा-धर्म' छोड़कर 'शूर-धर्म' का अनुसरण करने के लिए ललकारा था। किंतु, अपने कवि-जीवन की दोपहर के बाद का दिनकर धीरे-धीरे 'प्रशांति' और 'प्रपत्ति' की ओर बढ़ता गया। ऐसी प्रपत्ति-ऐसा समर्पण कि उदयगिरि पर पिनाकी की टंकार सुननेवाला कवि भक्ति-द्रवित चित्त से 'हरिनाम' गाने लग गया।

'हारे को हरिनाम' में ऊपरी सतह पर भले ही जीवन से हार या संघर्षों से पलायन झलकता हो; किंतु, उसमें वस्तुत: कवि-जीवन की अंत:यात्रा की वह स्वाभाविक परिणति है, जो मन्यु, वेग और उत्साह को 'प्रशांति' की ओर तथा 'प्रशांति' को पुन: 'प्रपत्ति' (आत्म-प्रपत्ति) की ओर ले जाती है। वेग, आवेग और संवेग का जीवन व्यावहारिक बुद्धिवाले 'संसारियों'—समझौतावादी 'संसारियों' के जीवन से बहुत भिन्न होता है। इसलिए दिनकर की 'प्रशांति' और 'प्रपत्ति' को 'मन्मुख' संसारियों की दृष्टि से नहीं समझा जा सकता। उसकी सही समझ के लिए 'मधुवन के संन्यासी' के 'चिन्मुख' चित्त की आवश्यकता है।

'रसवंती'[1], 'उर्वशी', 'आत्मा की आँखें', श्री अरबिन्द और श्री माँ के दर्शन से प्रभावित काव्य-लेखन तथा 'हारे को हरिनाम' की भाव-दशा दिनकर की लोकप्रियता को प्रतिष्ठित करनेवाली उसकी मुख्य भाव-भूमि नहीं है। दिनकर-काव्य की मुख्य भाव-भूमि इस 'अनल-धर्मिता' से जुड़ी हुई है—

---

[1] पंद्रह-बीस साल पूर्व जब बिहार सरकार के फल-सब्ज़ी विकास निगम, हाजीपुर की फल-सब्ज़ी परिरक्षण संयंत्र-इकाई के मुख्य उत्पाद—फलों के रस से बने मधुर पेय के नामकरण का प्रसंग आया, तब बिहार सरकार के संबंधित विभाग के तत्कालीन निदेशक ने मुझसे परामर्श कर और राज्य सरकार का अनुमोदन प्राप्त कर इस मधुर पेय का नाम रखा था—'रसवंती'। यह 'रसवंती' उस समय बिहार की सर्वाधिक लोकप्रिय मधुर पेय थी।

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौर मंडल का
मेरा शिखंड अरुणाभ किरीट अनल का।

अथवा

मैं विभा-पुत्र जागरण गान है मेरा,
जग को अक्षय आलोक दान है मेरा।

आलोकधन्वा[1] (हुँकार)

इसलिए बल-विकीर्णिका अनलात्मिका त्रिनेत्रा की तरह दिनकर की अनेक लोकप्रिय कविताएँ पाठकों के हृदय में पावन अनल-तत्त्व प्रज्वलित करती हैं—आलोक और ओज की कौंध पैदा करती हैं। आलोक के महाकवि दिनकर की यह मान्यता थी, ''सविता एक ही है, जो शब्दों में जलता है।'' यह कहना सच के समीप होगा कि दिनकर मुख्यत: 'मन्यु' के कवि थे और 'अनल' तत्त्व के उपासक थे। शायद, इसीलिए उन्होंने लिखा है कि जग में जहाँ कहीं भी 'पुनीत अनल' जले, उसको नमन करना चाहिए—

'जय हो', जग में जले जहाँ भी, नमन पुनीत अनल को,
जिस नर में भी बसे, हमारा नमन तेज़ को, बल को।

उनके एक कविता-संग्रह का नाम सामधेनी (सामिधेनी) है, जो 'समिध' शब्द से बना है और जिसका आशय उस ऋचा से है, जो वैदिक आर्यों के अनुसार यज्ञाग्नि या अग्नि प्रज्वलित करने हेतु पढ़ी जाती है। दिनकर ने 'सामधेनी' की इन पंक्तियों में इस कविता-संग्रह के नामकरण की सार्थकता और 'अनल तत्त्व' की आवश्यकता की ओर संकेत भी किया है—

सुलगती नहीं यज्ञ की आग,
दिशा धूमिल, यजमान अधीर,
पुरोधा-कवि कोई है यहाँ?
देश को दे ज्वाला के तीर।

सामधेनी में ही संकलित एक अन्य कविता में, जिसका शीर्षक है 'साथी', दिनकर ने आग, अंगार, रोशनी, दीपक-राग इत्यादि जैसे शब्दों के द्वारा 'अनल-तत्त्व' की अभ्यर्थना की है—

बजा इस बार दीपक-राग कोई आख़िरी सुर में,
छिपा इस बीज में ही आगवाला तार है साथी।

इस तरह प्रकट है कि दिनकर उन पुरोधा कवियों में हैं, जिनकी जिह्वा पर या लेखनी की नोक पर केवल 'शब्द' ही नहीं रहते, बल्कि 'अनल' की लपट भी रहती है। इस 'अनल-तत्त्व' को ही लक्षित करते हुए दिनकर ने नील कुसुम[3] में संकलित 'कवि और समाज' शीर्षक कविता में लिखा है—

मैं दाह तुम्हारे भीतर भरे अनल का हूँ।
शंपाओं की हूँ कड़क तुम्हारे ही नभ की,
गर्जन मैं तुममें छिपे हुए बादल का हूँ।

....

जो आग खेत की पगडंडी पर दौड़ रही,
सुरपुर में उसकी लपट छोड़ने आया हूँ।

इतना ही नहीं, दिनकर ने अपने समानधर्मा अग्निधर्मा प्रतिभा-पुत्रों का आह्वान 'अनल-तत्त्व'

---

[1] यहाँ यह कह देना अनुचित नहीं होगा कि दिनकर जी भले ही आलोक-धन्वा अथवा अधिज्यधन्वा हों; किंतु, वे पारिवारिक कलह से लेकर अन्य कटु प्रसंगों में भी 'विततधन्वा' नहीं बनते थे। वे सर्जना-यज्ञ में निरत वितताध्वर थे।

[2] इसी भाव-भूमि पर आधारित दिनकर की पंक्तियाँ स्वामी सहजानंद सरस्वती पर भी हैं, जो छह खंडों में प्रकाशित 'स्वामी सहजानंद सरस्वती रचनावली' (संपादक : राघव शरण शर्मा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली) के प्रथम खंड में उपलब्ध हैं।

[3] सुमित्रानंदन पंत ने भी 'नील कुसुम' शीर्षक एक कविता लिखी है, जो पतझर : एक भाव-क्रांति नामक कविता-संग्रह की तीसरी कविता है। जर्मन रोमांटिक कवि नोवालिस (Friedrich von Hardenberg 'Novalis') ने अपने 'रोमांटिसिज़्म' के संपूर्ण जीवन-दर्शन और काव्य-दर्शन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के लिए जो कविता लिखी थी, उसका भी शीर्षक है—'Die Blau Blume' यानी 'नील कुसुम'। यह एक सुखद संयोग है कि दिनकर की चुनी हुई कविताओं के रूसी अनुवाद का जो संग्रह प्रॉग्रेस पब्लिकेशन (अब रादुगा प्रकाशन), मॉस्को से प्रकाशित हुआ है, उसका भी नाम 'सिनिज लोटोस' अर्थात् 'नील कमल' है। 'नील कुसुम' को 'वनफ्शा' भी कहते हैं, जिसका वनस्पतिशास्त्रीय नाम 'विओला' (VIOLA) है।

को जगाने और भड़काने के लिए 1954 में ही किया था—

हो कहाँ अग्निधर्मा नवीन ऋषियों! जागो,
कुछ नई आग, नूतन ज्वाला की सृष्टि करो।

यह संयोग भर नहीं था कि दिनकर को उनके निर्माण-काल में प्रेरित-प्रोत्साहित करनेवाले गुरु-तुल्य इतिहास-वेत्ता डॉ. के. पी. जायसवाल का उपनाम भी 'अगिन-गिरि' था। इसलिए विचारणीय यह नहीं है कि दिनकर किस जाति-गोत्र के थे—दिघवैत, पद्मपुर पंचोभ या अन्य कुछ। लक्षित करने योग्य मुख्य बात यह है कि कवि के पिता का नाम रवि सिंह[1], प्रेरक का उपनाम 'अगिनगिरि' और स्वयं कवि का उपनाम 'दिनकर' था। यह सुयोग दिनकर के कर्तृत्व तथा व्यक्तित्व में 'अनल-तत्त्व' की प्रमुखता का ही प्रमाण है। सच पूछिए तो दिनकर की अनेक कविताएँ अग्नि और तेज़ का गुणनफल हैं। पुरूरवा द्वारा उर्वशी को दिया गया यह आत्म-परिचय स्वयं दिनकर का आत्म-परिचय है—'उर्वशी! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।' सचमुच, दिनकर हिंदी साहित्याकाश में अपने समय के सूर्य थे। यह दूसरी बात है कि अब हिंदी साहित्य का—विशेषकर हिंदी कविता का आकाश बदल चुका है।

दिनकर जी अपने कवि-जीवन के पूर्वार्द्ध में 'अमिताभ' और 'आफ़ताब' के उपनाम से भी कविताएँ लिखा करते थे। 1929-32 में युवक[2] नामक पत्रिका में दिनकर की कविताएँ 'अमिताभ' के छद्मनाम से ही छपा करती थीं। कवि के एक मित्र श्रीनारायण जिंजल का कहना था कि दिनकर जी 'अमिताभ' के छद्मनाम से इसलिए लिखा करते थे कि उन्हें जो 'भूदेव-पुरस्कार' मिला था और 'स्कॉलरशिप' मिला था, उसे बर्तानिया सरकार, सरकार-विरोधी कविताएँ लिखने के कारण, रद्द नहीं कर सके। दिनकर की कविताओं का मुख्य स्वर क्रांति का स्वर था और स्वतंत्रता-संघर्ष के लिए अपने देशवासियों, विशेषकर, युवा-शक्ति को ललकारने वाला ओज-भरा नाद-निनाद था। इसी भाव-बोध के उद्बोधन, आह्वान, हुँकार और सिंहनाद ने दिनकर को लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचाया था और तत्कालीन राष्ट्रीय काव्य-धारा के इन उत्कृष्ट कवियों–मैथिलीशरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', कुमारन् आशान्, सुब्रह्मण्य भारती, भास्कर रामचंद्र तांबे, कुवेंपु (पुटप्पा), गोपबंधु, लक्ष्मीकांत महापात्र, वल्लतोल, अंबिका गिरि रायचौधुरी, कुसुमाग्रज और क़ाज़ी नज़रुल इस्लाम जैसे राष्ट्रीय कवियों के बीच अग्रगण्य बना दिया था।

दिनकर अपने काव्य-प्रबंध के लिए युगोपयुक्त कथा-वस्तु के कलन में निपुण थे। उनकी यह निपुणता हमें कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी के प्रकरण में मिलती है। इन दोनों महत्त्वपूर्ण कृतियों की कथा-वस्तु या विषय-वस्तु 'युद्ध' के इर्द-गिर्द घूमती है। यह पहलू ध्यान देने योग्य है, क्योंकि वह युग दो भयंकर विश्व-युद्धों को

---

[1] इसी कारण पौरुष के मूर्तिमान विग्रह दिनकर के महाप्रयाण के बाद मैंने बाङ्ला में लिखित अपने 'स्मृति-तर्पण' शीर्षक लेख में लिखा था कि दिनकर 'अदिति-नंदन' थे; इसलिए वे शक्ति, विक्रम और ओज के वैसे वाग्मी और भास्वर कवि बन सके थे। द्रष्टव्य : संचिता (बिहार बांगाली समिति द्वारा प्रकाशित बाङ्ला मासिक पत्रिका), संपादक : दीपेन्द्र नाथ सरकार, कदमकुआँ, पटना, पृष्ठ 1.

[2] 1929-30 से 1931-32 की अवधि में युवक नामक मासिक पत्रिका के कुल बाईस अंक प्रकाशित हुए थे। रामवृक्ष 'बेनीपुरी' (जो 'कल्पतरु' के छद्मनाम से भी लिखा करते थे) और गंगाशरण सिंह (जो 'विश्वबिहारी' के नाम से भी लिखते थे) के सम्मिलित प्रयत्न से पटना से युवक का प्रकाशन हुआ था। इन दोनों ने रामानंद चटर्जी द्वारा संपादित बाङ्ला पत्रिका प्रवासी से प्रेरित होकर युवक का संपादन-प्रकाशन किया था। बाबू गंगाशरण सिंह (अब स्वर्गीय) अपने जीवन-काल में कहते थे कि इन्होंने ही दिनकर का छद्मनाम 'अमिताभ' रखा था। तब दिनकर मैट्रिक पास कर कॉलेज में पढ़ने के लिए पटना आए थे। श्रीनारायण जिंजल ने ही उन्हें पहली बार गंगा बाबू और बेनीपुरी जी से मिलाया था।

झेल चुका था। उस समय के बुद्धिजीवियों, कवियों और लेखकों का कर्तव्य था कि वे ऐसे युद्धों के न्यायपूर्ण अथवा अन्यायपूर्ण होने के बारे में अपने विचारों से लोगों को अवगत कराएँ। नॉम चॉम्स्की ने 'द रिस्पॉन्सिबिलिटि ऑव इंटेलेक्चुअल्स' शीर्षक अपने प्रसिद्ध निबंध[1] में बलपूर्वक कहा कि युद्ध के प्रसंग में 'सही' और 'ग़लत' को बताना बुद्धिजीवियों का बहुत बड़ा दायित्व है। दिनकर ने कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी की रचना के द्वारा निश्चय ही इस गुरुतर दायित्व को पूरा किया है। जीविका और गृहस्थी की रुक्ष वास्तविकताओं से जूझते हुए कवि दिनकर पर नियति का यह क्रूर व्यंग्य था कि कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी जैसे श्रेष्ठ युद्ध-काव्य के कद्दावर कवि को फिरंगी सरकार के 'नेशनल वार फ्रंट' में 'साँग पब्लिसिटी' के 'ऑर्गनाइज़र' के पद पर काम करना पड़ा था।

आधुनिक हिंदी कविता के युद्ध-काव्यों-यथा, आर्यावर्त्त (मोहन लाल महतो वियोगी), उन्मुक्त (सियाराम शरण गुप्त), अंधा युग (धर्मवीर भारती), प्रभास कृष्ण (केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'), उत्तरशती (सुमित्रानंदन पंत), अशोक (रामदयाल पांडेय) इत्यादि के बीच कुरुक्षेत्र (दिनकर) का विशिष्ट स्थान है। कुरुक्षेत्र एक विचार-प्रधान युद्धोत्तर काव्य है। युद्धोत्तर काव्य का तासीर आसन्न युद्ध-पूर्व काव्य और युद्धकालीन काव्य से अलग होता है। साधारणतः युद्धोत्तर काव्य मानवतावादी धारणाओं पर आधारित निर्वेद और शांति का काव्य होता है, जिसमें युद्ध की विभीषिका, सांस्कृतिक विच्छेद और हृदय-विदारक विध्वंस का मार्मिक अंकन रहता है। ऐसे काव्य में व्यक्त शोक और करुणा का भाव दबीर और अनीस के मर्सिये की याद दिला देता है। अंग्रेज़ी में टी. एस. एलिअट, विल्फ्रेड ओवेन, 'ट्रेंच पोयेट्स' और कई अन्य कवियों[2] ने युद्ध की भयंकरता और उससे उत्पन्न विध्वंस एवं करुणा पर हृदय-द्रावक युद्ध-काव्य लिखा है। दिनकर ने एक विश्लेषणात्मक निबंध—'युद्ध और कविता'—में युद्ध-काव्य से संबंधित अपने विचार उपस्थापित किए हैं, जो 1968 में प्रकाशित दिनकर की पुस्तक साहित्यमुखी में संकलित है। दिनकर के युद्ध-संबंधी विचारों पर बर्टेंड रसेल के एतद् विषयक विचारों का यत्किंचित् प्रभाव दीख पड़ता है। मेरी दृष्टि में मूल बात यह है कि युद्ध का विकल्प हमेशा मौजूद रहता है। इसलिए युद्ध कभी भी अनिवार्य नहीं होता। 'स्टॉकहोम इंटर-नेशनल पीस रिसर्च इंस्टीच्यूट' (SIPRI) के वार्षिक आँकड़ों के अनुसार विश्व में प्रतिवर्ष युद्धास्त्रों पर बढ़ते व्यय की सीमा का आठ सौ बिलियन डॉलर से भी अधिक हो जाना मानव-जाति के लिए ही नहीं, संपूर्ण सृष्टि के लिए अनिष्टकारक है।

कुरुक्षेत्र की कथा-वस्तु भारतीय कवियों के लिए एक प्रिय विषय है। छायावाद के ज्येष्ठ कवि जयशंकर प्रसाद ने कुरुक्षेत्र शीर्षक एक लंबी कविता लिखी थी, जो कानन-कुसुम में संग्रहीत है। 1928 में माधुरी के कई अंकों में प्रकाशित गुलाबरत्न वाजपेयी 'गुलाब' द्वारा रचित वह काव्यांश भी उल्लेखनीय है, जो उनके अपूर्ण महाकाव्य कुरुक्षेत्र के 'द्यूत' शीर्षक प्रथम सर्ग का मुख्य भाग था। बाङ्ला में नवीनचंद्र सेन ने कुरुक्षेत्र नामक एक विस्तृत प्रबंध-काव्य लिखा है, जिसमें सत्रह सर्ग हैं। नवीनचंद्र सेन द्वारा

---

[1] American power and the new Mandarins', Penguin Books India (P), New Delhi, 2003, pages 323-366.

[2] द्रष्टव्य : (i) Poems of the second world war (Anthology), published by every Man's Library, J. M. Dent & Sons Ltd. London, 1989.

(ii) More poems of the second world war : the OASIS Selection (Anthology), Editor-in-Chief : Victor selwyn, every man's Library, London, 1987.

कुरुक्षेत्र के उपाख्यान-भाग पर रचित एक 'रैवतक' नामक प्रबंध-काव्य भी है, जिसमें बीस सर्ग हैं और जिसके प्रमुख पात्र व्यास, उत्तरा, अभिमन्यु, सुलोचना, सुभद्रा, दुर्वासा, जरत्कारु, अर्जुन, कृष्ण, भीष्म और कर्ण हैं। इसी तरह गुजराती में मनुभाई पांचोली दर्शक द्वारा रचित कुरुक्षेत्र एक महत्त्वपूर्ण रचना (उपन्यास) है। बाङ्ला में भी डॉ. दीपक चंद्र ने कुरुक्षेत्रे द्वैपायन नामक पौराणिक उपन्यास की रचना की है, जिसमें उन्होंने, एक सुनिश्चित दृष्टिकोण के साथ, कुरुक्षेत्र-युद्ध में द्वैपायन की भूमिका का चित्रण किया है। दिनकर के कुरुक्षेत्र का अंग्रेज़ी अनुवाद भी किया गया है। जिस प्रकार कमला रत्नम ने दिनकर की एक लंबी कविता 'कोयला और कवित्व' का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया था, उसी प्रकार प्रो. पी. आदेश्वर राव और डॉ. विनांद एस. कलवेर्त (बेल्जियम) ने दिनकर के कुरुक्षेत्र का काव्यानुवाद प्रो. मॉरिस ऑगस्तिन, क्योटो और प्रो. रिचर्ड बार्त्स की सलाह और इस्लाह से किया है। इस तरह प्रकट है कि यद्यपि दिनकर ग़ालिब की तरह योद्धा-परिवार के नहीं थे, तथापि ये युद्ध-काव्य के सफल और ख्यात रचनाकार थे।

दिनकर द्वारा रचित रश्मिरथी में भी युद्ध-काव्य के कई अंगीभूत घटक विद्यमान हैं। महेंद्र जी द्वारा संपादित और साहित्य रत्न भंडार, आगरा से प्रकाशित साहित्य-संदेश (भाग 14, नवंबर, 1952, पृष्ठ 199-200) में मेरी जो पहली समीक्षा प्रकाशित हुई थी, वह रश्मिरथी पर ही थी। उसका शीर्षक था—'दिनकर की नई कृति : रश्मिरथी'। कुरुक्षेत्र की पृष्ठभूमि में रश्मिरथी की युद्ध-भावना नए सिरे से विचारणीय है, क्योंकि रश्मिरथी काक कवि युद्ध से ऊब चुका है, उसकी युद्ध-विमुखता शांति-संस्थापना की संकल्पना की ओर उन्मुख हो गई है और अब उसे कुरुक्षेत्र के भीष्म का यह तर्क आकृष्ट नहीं करता कि युद्ध की संक्रामक भावना मनुष्य के 'प्राकृतिक विकारों का विस्फोट' है। साहित्य संदेश में प्रकाशित उक्त समीक्षा पर आधारित 'रश्मिरथी की युद्ध-भावना' शीर्षक मेरा लेख मूल्य और मीमांसा नामक पुस्तक में संकलित है, जो 1956 में प्रकाशित मेरी प्रथम आलोचना-पुस्तक है।

कर्ण के चरित्र यानी रश्मिरथी के कथानक पर अनेक कवियों और साहित्यकारों ने लिखा है। इसलिए रश्मिरथी का तुलनात्मक अध्ययन यदि लक्ष्मीनारायण मिश्र के सेनापति कर्ण या कालजयी, प्रभात के कर्ण, अंगराज /(कुमार आनंद), सुवर्णा (नरेंद्र शर्मा), सूर्यपुत्र (विनोद रस्तोगी), कौन्तेय (इंदिरा बाई एम. राव), कर्ण राधेय (डॉ. देवराज के कविता-संग्रह आहत आत्माएँ में संकलित), रवींद्र नाथ ठाकुर-रचित कर्ण-कुंती-संवाद, अवस्थी-विरचित महारथी, शिवाजी सामंत-कृत मृत्युंजय, रणजीत देसाई-कृत राधेय, पंप कृत भारत के युष्ट-चतुष्टय (कर्ण, शकुनि, दुःशासन और सैंधव) इत्यादि के अंतर्गत कर्ण-चरित्र के साथ किया जाए, तो वह दिनकर-साहित्य के अध्येताओं के लिए बहुत उपयोगी होगा। रश्मिरथी की अनन्वय विशिष्टता यह है कि इस कृति में दिनकर ने घटोत्कचांतक कर्ण के चरित्र को वर्तमान युग के संदर्भों से जोड़ दिया है और रश्मिरथी को सामाजिक न्याय[1] की दिशा में जन्माश्रित ग़ैर-बराबरी को

---

[1] दिनकर की चुनी हुई कविताओं का 'सिनिज लोटोस' के नाम से रूसी भाषा में अनुवाद करनेवाली विदुषी एस. वी. त्रिब्निकोवा ने भी दिनकर को मुख्यतः: 'सामाजिक न्याय' का कवि माना है। (द्रष्टव्य : उत्तर बिहार (पटना), संपादक : रामरीझन रसूलपुरी, 12.10.1974, पृष्ठ 4.) डॉ. स्वेतलाना त्रुब्निकोवा से मेरी भेंट 17 अगस्त, 1987 को मास्को में हुई थी, जब त्रुब्निकोवा ने मास्को-स्थित सुप्रसिद्ध 'बोटैनिकल रिसर्च इंस्टीच्यूट' के भव्य सभागार में यू. एस. एस. आर. एकेडेमी ऑव साइंसेस की ओर से आयोजित विद्वत्-गोष्ठी में मेरे द्वारा दिए गए हिंदी भाषण का रूसी अनुवाद बहुत ही योग्यतापूर्वक किया था।

तोड़नेवाला[1] परंपरा-भंजक काव्य बना दिया है। कर्ण की कानीनता और उसके विरुद्ध कुलीन मानसिकता पर दिनकर के विचार महाभारत में वर्णित शल्य-कर्ण-संवाद के मद्रक-कुत्सन से भी अधिक गंभीर और तीखे हैं।

दिनकर ने 1938 में मुंगेर से प्रकाशित होनेवाली एक पत्रिका (संभवतः प्रभाकर) के होलिकांक में 'आफ़ताब' के छद्‌मनाम से, स्वाधीन क़लम को अपना धन माननेवाले, अपने एक समकालीन गीतकार की खिल्ली उड़ाते हुए एक कविता लिखी थी, जिसका शीर्षक था—'भोटिये गदहे की करतूत'। इसी तरह दिनकर ने राज्यसभा का सदस्य बनने के बाद उग्र जी के तीखे प्रहारों पर—संभवतः प्रतिक्रिया-स्वरूप एक कविता लिखी थी, जिसका शीर्षक था—'भगवान का कुत्ता।'

उस समय एक कवि या लेखक द्वारा कई छद्‌मनाम से लिखने की परिपाटी प्रचलित थी, जिसका प्रमुख कारण था फिरंगी सरकार के ख़िलाफ़ लिखना और फिरंगी सरकार को लिखनेवाले व्यक्ति का सही पता मालूम नहीं होने देना। लेखक, स्वतंत्रता-सेनानी और समाजवादी नेता रामवृक्ष बेनीपुरी जी उन दिनों 'कल्पतरु' के छद्‌मनाम से भी लिखा करते थे। दिनकर के प्रशंसकों में प्रमुख और युवक पत्रिका के कर्ता-धर्ता बाबू गंगाशरण सिंह कई छद्‌म नामों से स्फुट लेखन-कार्य किया करते थे। उनके छद्‌म नाम थे—विश्वबिहारी, अश्विनी कुमार और भगीरथ। शिवपूजन सहाय भी कभी-कभार 'भट्ट नायक' और 'अनड्‌वान' के नाम से तेज़-तर्रार टिप्पणियाँ लिखा करते थे। धनपत राय ने भी प्रेमचंद बनने के पहले कई छद्‌म नामों से लिखा था—नवाब राय, बनारसी, बंबूक, अफ़साना कुहन, मोटेराम शास्त्री इत्यादि।

सिंहनादपूर्ण आह्वान से इतिहास की शक्ति को जगानेवाले दिनकर की यह विशेषता थी कि वे आनेवाले युग की धमक—'नवागम का रोर' अपने समकालीनों की तुलना में बहुत पहले सुन लिया करते थे। अतः इस देश में भूख और वर्ग-संघर्ष के कारण इधर के दशकों में जो हिंसा या सामूहिक हिंसा बारंबार हो रही है, उसकी आगमनी की धमक दिनकर ने 1952-53 में ही सुन ली थी। नीम के पत्ते नामक कविता-संग्रह की पहली कविता—'रोटी और स्वाधीनता' शीर्षक कविता में उन्होंने 1953 में लिखा था—पर, कहीं भूख बेताब हुई, तो आज़ादी की ख़ैर नहीं।

प्रकट है कि दिनकर बहुत ही संवेदनशील क्रांतद्रष्टा कवि थे। कहाँ बारडोली (गुजरात) और कहाँ दिनकर का गाँव सिमरिया घाट! इन दोनों स्थानों के बीच बहुत लंबी दूरी है। उन दिनों तो संचार-माध्यम भी आज की तरह विकसित नहीं हुए थे। लेकिन जब सरदार पटेल ने बारडोली सत्याग्रह में जीत हासिल की, तब उसके स्पंदनों को सिमरिया (तत्कालीन मुंगेर ज़िला) के देहाती परिवेश से जुड़े हुए युवा कवि दिनकर ने सुना और उसकी संवर्द्धना में 'बारडोली-विजय' जैसी ओजस्वी कृति रच दी। ऐसा प्रतीत होता है कि दिनकर जी को अपनी इस कृति का सही नाम याद नहीं था। इस कृति का सही नाम था—विजय-संदेश, जिसका प्रकाशन 1928 में हुआ था। यह 17-18 पृष्ठों की पतली-सी पुस्तिका थी, जो श्रीकृष्ण प्रेस, पटना में मुद्रित हुई थी। इसका मूल्य कुल दो

---

[1] 'ऊँच-नीच का भेद न माने, वही श्रेष्ठ ज्ञानी है'

अथवा

'तेजस्वी सम्मान खोजते नहीं गोत्र बतलाके,
पाते हैं, जब से प्रशस्ति अपना करतब दिखलाके।'

रश्मिरथी, प्रथम सर्ग, पृष्ठ 1.

आना था और इसके प्रकाशक का नाम पता इस प्रकार था—प्रकाशक : श्री रामचरित्र शर्मा, बीहट (चकवल), प्रो. नूरपुर, मुंगेर। कवि ने इस काव्य-पुस्तिका का पद्यबद्ध समर्पण सिमरिया में रक्षा-बंधन (संवत् 1985) के दिन लिखा था, जिसकी अंतिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

जिन सिंहों ने हुँकारों से
दिया जगा निज प्यारा देश।
पहुँचे उन वीरों की (के) कानों तक
मेरा (यह) पावन संदेश।

इसमें संकलित कविताओं के शीर्षक ध्यान देने योग्य हैं—विजय-संदेश (मातृ-वंदना), बारदोलि-वंदना, विजय-गायन, जनसत्ता, बारदोली में, अचरज, विजयी पटेल, ललकार, मनमोहन गांधी और अंतिम संदेश। एक-दो को छोड़कर प्रायः इन सभी कविताओं पर 'वंदे मातरम्' का प्रभाव दीख पड़ता है। इस दृष्टि से 'बारदोलि-वंदना' शीर्षक कविता विशेषकर ध्यातव्य है। जैसे—

बलि-रति जोड़िनि
रिपु-रद तोड़िनि
अरि-गौरव-गिरि-गर्व्व-मड़ोरनि।
कठिन-कर्म्म-सारिणि तूं सत्वर विल्सन-मारिणि वंदे।
वीर बारदोली वंदे।

दिनकर की 'घुटरुन चलत रेणु तन मंडित' जैसी इन कविताओं की भाषा-शैली इस संकलन के अंतिम भाग तक आते-आते परिष्कृत और प्रभावपूर्ण होती गई है। जैसे—

हुई घोर हुँकार शांति की (का)।
कर्कश चली बयार क्रांति की ॥
उड़ीं धज्जियाँ भीति-भ्रांति की।
छिटकी ज्योति स्वदेश क्रांति की ॥

इतना ही नहीं, इन प्रारंभिक कविताओं के संकलन में कवि के परवर्ती वैचारिक विकास का पूर्वाभास मिलता है। उदाहरणार्थ, प्रौढ़ दिनकर की इस प्रसिद्ध पंक्ति—'सिंहासन ख़ाली करो कि जनता आती है'—का बीज-रूप इस प्रथम कविता-संग्रह की 'जनसत्ता' शीर्षक कविता में सन्निहित है।

विस्मरण के कारण स्वयं कवि द्वारा विज्ञापित 'बारडोली-विजय'

के मूल नाम-रूप (रूप-नाम) विजय-संदेश की प्रामाणिक प्रति को खोज-ढूँढ़कर निकालने का श्रेय डॉ. दिवाकर को है, जिन्होंने मेहुस (शेखपुरा) के माहेश्वरी पुस्तकालय से विजय-संदेश की छाया-प्रति प्राप्त कर ली। संभवतः मेहुस में दिनकर के छोटे भाई की ससुराल है। यों भी शेखपुरा और बरबीघा से दिनकर के प्रारंभिक जीवन का संबंध रहा है। जनवरी, 1933 से अक्तूबर 1934 तक दिनकर एच. ई. स्कूल, बरबीघा में प्रधानाध्यापक के पद पर कार्यरत रहे थे तथा बरबीघा-शेखपुरा के निबंधन-कार्यालय में भी उन्होंने 1935-36 में सब-रजिस्ट्रार के पद पर कार्य किया था।

दिनकर की पहली कविता 1924 में छात्र-सहोदर (जबलपुर) में प्रकाशित हुई थी। छात्र-सहोदर के संपादकों में नरसिंह दास और मातादीन शुक्ल (रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के पिता) के नाम उल्लेखनीय हैं। दिनकर की कई प्रारंभिक रचनाएँ पटना से प्रकाशित देश और महावीर जैसी पत्रिकाओं में छपी थीं। कलकत्ता से प्रकाशित साप्ताहिक पत्र सेनापति और विश्वमित्र तथा मासिक पत्र नारायण और सरोज की पुरानी फ़ाइलों में भी दिनकर की प्रारंभिक रचनाएँ मिलती हैं। प्रणभंग के प्रकाशन के बाद और रेणुका के प्रकाशन के पूर्व उन्होंने रश्मिमाला नामक अपना काव्य-संकलन प्रकाशित करने की योजना बनाई थी, जो कार्यान्वित नहीं हो सकी। बाद में उन्होंने रश्मिमाला की पांडुलिपि भारत कला भवन, काशी के संग्रहालय को सुपुर्द कर दी।

दिनकर जी मेधावी होने के साथ ही परिश्रमी थे। उन्हें छात्र-जीवन से ही यह ज्ञात था कि प्रतिभा के साथ परिश्रम आवश्यक है और रात्रि-जागरण किए बिना—गुडाकेश बने बिना—कोई बड़ी सिद्धि हाथ नहीं लगती। अतः उनका विश्वास था कि जयी होने के लिए 'गुडाकेश' बनना आवश्यक है—

जागरूक की जय निश्चित है,
हार चुके सोनेवाले।

दिनकर के सोच-विचार तथा लेखन में ग़रीबों के प्रति अडिग पक्षधरता थी और उनका मानना था कि सृजनशीलता के उन्नत स्तर के कार्य अमीर नहीं कर पाते। उन्हें करनेवाले लोग प्रायः अकिंचन या साधारण स्थितियों में जन्म लेते हैं। अपनी इस मान्यता को उन्होंने स्वयं भी चरितार्थ किया था। रेशमी नगर और संसद में प्रवेश के बाद भी—यहाँ तक कि ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त कर लेने के बाद भी उनकी इस सोच में कोई आंतरिक परिवर्तन नहीं हुआ।

साहित्य-साधना और यशोपलब्धि के क्षेत्र में दिनकर ने जो दूरी तय की वह प्रशंसनीय है। अपने जन्मकाल (23 सितंबर, 1908)[1] से लेकर मृत्यु-पर्यंत (24 अप्रैल, 1974) उनका जीवन संघर्षमय और उपलब्धिपूर्ण रहा। एक ओर देहात में जन्म, बाल्यकाल में रामलीला और रामायण-पाठ[1] तक पहुँच, देहाती परिवेश में ही तोता सिंह, रामप्रसाद सिहं 'साधक' तथा मनोरंजन बनर्जी जैसे शिक्षकों के सान्निध्य में सिमरिया, बारो और मोकामा घाट में स्कूली शिक्षा, किंतु, दूसरी ओर 'नोबेल लॉरियेट' बने बिना भी यश के मस्तूल पर पहुँचे हुए इक़बाल और क़ाज़ी नज़रुल इस्लाम के पाए के मशहूर एशियाई कवियों की पंक्ति में अपने को पहुँचाकर विश्वव्यापी कीर्ति हासिल करना आसान नहीं है। दिनकर की आकांक्षा इस विशाल देश के राष्ट्रकवि पद से जुड़ी हुई थी—इसका पता दिनकर की लेखकीय मानसिकता से चलता है। मराठी के कवि केशवसुत और पोलैंड के राष्ट्रकवि अदम मित्सकेविच तथा उनके द्वारा रचित स्लाव भाषा के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य पंतदोश पर दिनकर द्वारा लिखे गए निबंधों में इस मानसिकता के संकेत अनेकत्र मिलते हैं। दिनकर के कवि मन

---

[1] आश्विन, प्रथम पक्ष, त्रयोदशी, बुधवार, संवत् 1965.

में कहीं-न-कहीं रोमानिया के राष्ट्रकवि मिहाई ऐमिनेस्कू भी रहे होंगे।

सिमरिया गाँव के तृणमूल से उठकर इतनी दूर तक पहुँचना बहुत कठिन कार्य है। गोहाई वैश्य परिवार में जन्मे मैथिलीशरण ने जिस तरह 'कनकने' का वंशास्पद छोड़कर 'गुप्त' का आस्पद धारण किया था, उसी तरह दिनकर ने भी अपने पुरखों (यथा—भैरव राय, बखोरी राय, बादिल राय, शंकर राय इत्यादि) के वंशास्पद 'राय' का त्याग कर अपने पिता के अनुरूप 'सिंह' का आस्पद (रामधारी सिंह) धारण किया था—शायद, ऊर्ध्वगामी सामाजिक गतिशीलता (अपवर्ड सोशल मॉबिलिटी) के लिए। वास्तविकता यह है कि दिनकर को रेंगकर घुटनों के बल चलकर अपना युगांतरकारी वैशिष्ट्य अर्जित करना पड़ा था, क्योंकि दिनकर का रचनारंभ सामान्य स्तर का ही था, जिसकी बानगी हमें 1934 में माधुरी (चैत्र, 310 तुलसी संवत्) में प्रकाशित दिनकर की 'ओ कवि!' शीर्षक कविता की प्रौढ़िहीन पंक्तियों में मिलती है। उस समय दिनकर जी अपनी रचनाओं के नीचे अपना नाम इस प्रकार लिखा करते थे—रामधारी सिंह 'दिनकर' बी. ए. (ऑनर्स)। माधुरी के उसी अंक में दिनकर की उक्त कविता से पहले केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' एम. ए. का एक लेख फ्रांस की राज्य-क्रांति और अंग्रेज़ी कविता पर प्रकाशित है, जिसमें प्रौढ़ता की कमी नहीं है। लेकिन बाद में दिनकर ने अपने अध्ययन, अध्यवसाय, काव्य-साधना के सातत्य, अभिनिवेश, सत्ता-केंद्रों से संपर्क और विदेश-यात्राओं से अर्जित अपने विस्तृत ज्ञानानुभव के बल पर अनेक समकालीनों को पीछे छोड़ दिया।

'कीर्ति' को 'कान की गुदगुदी' कहनेवाले दिनकर के व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व का विश्लेषण-मूल्यांकन संघर्ष तथा साधना के इसी परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिए; न कि भगवतीचरण वर्मा द्वारा 'धुप्पल' और 'अतीत के गर्त से' जैसे संस्मरणों में दर्शाए गए व्यक्तिगत जीवन के परिप्रेक्ष्य में।

जब कभी हिंदी कविता में पारदर्श गद्य की साफ़गोई और आईनादारी की तलाश की जाएगी, गरज-तरज के साथ ग़रीबों के प्रति बावस्तगी की सुगबुगाहट पैदा होगी या कि इतिहास-विभावन से युक्त द्वंद्व, द्वाभा, आवेश और मन्यु से उपजी हुई तथा तनाव-भरी भाषा में रचित कविता में श्रेष्ठता की खोज की जाएगी, तब-तब 'पौरुष के साक्षात विग्रह' दिनकर का कद्दावर कवि हमें बरबस याद आता रहेगा।

जीवन-संघर्ष और पारिवारिक संघर्ष को झेलते हुए दिनकर जी ने जितना लिखा, वह उनकी प्रातिभ सृजन-शक्ति और संकल्प की दृढ़ता का द्योतक है। हिंदी साहित्य को दूसरा दिनकर, शायद ही, मिल सकेगा।

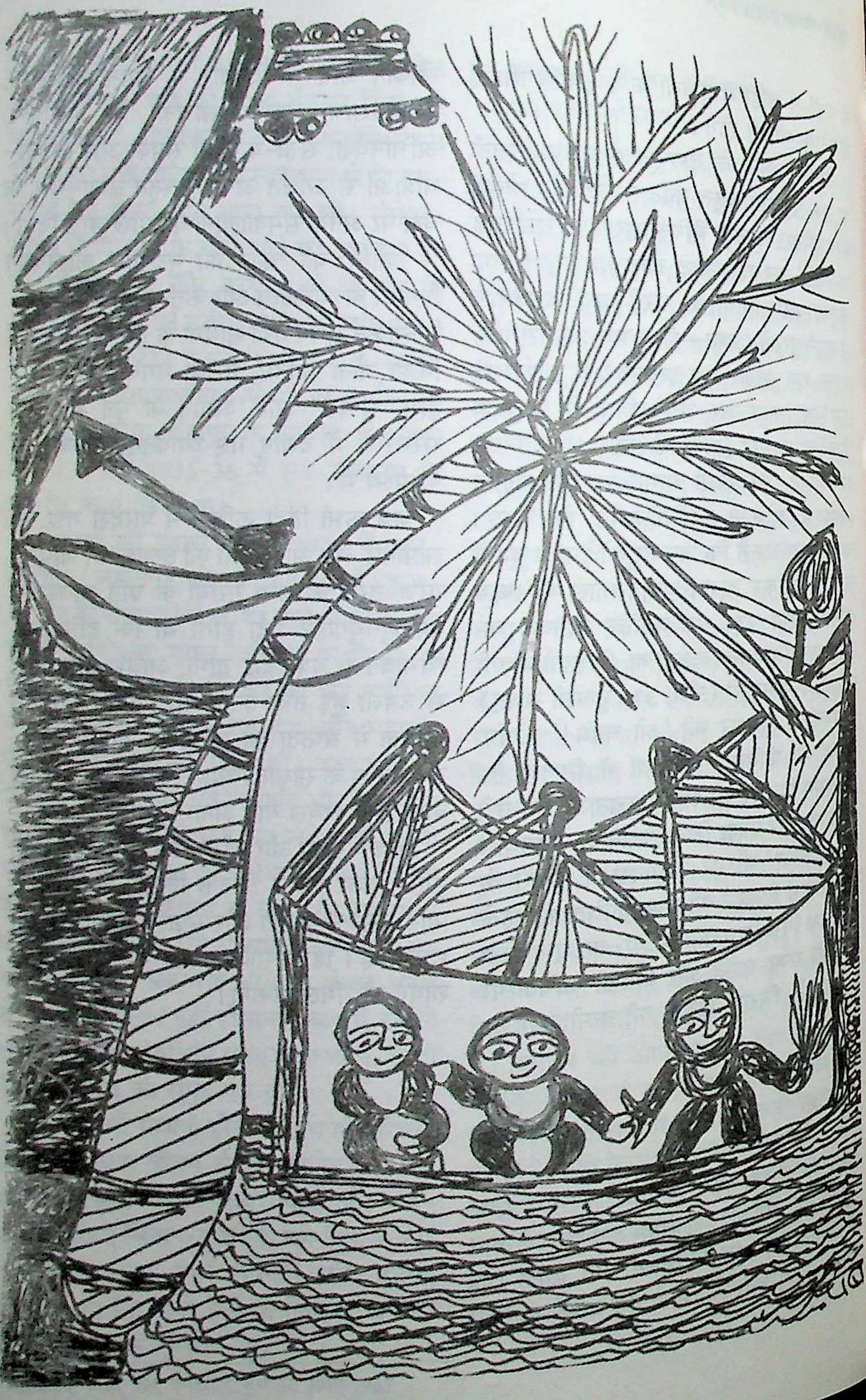

1957 में जन्मे सैयद मुहम्मद अशरफ़ उर्दू के चर्चित कथाकार हैं। इनके कई कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत। संपर्क : आयकर आयुक्त, मेरिस रोड, अलीगढ़-202001

रूपांतर : 1957 मे जन्मे खुर्शीद आलम के दो कहानी-संग्रह और आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : एफ़-58, सेक्टर 40, नोएडा-201301

सैयद मुहम्मद अशरफ़

तूफ़ान

हल्के नीले रंग के समुद्र के बाद गहरा नीला पानी था फिर दूधिया लहरें और उनके बाद क्षितिज को छूता उसी के रंग में समाहित होता बेरंग पानी जो दूर से शांत नज़र आता था। और तभी आसमान में दूर बहुत दूर बादलों का एक बेढंगा ग़ोल नज़र आया जैसे ज़मीन पर भी एक समुद्र है और ऊपर भी। और उसी वक़्त अचानक हवा थमी थी। कुछ क्षण ख़ामोशी थी मगर ऐसी ख़ामोशी जिसमें तेज़ सीटियाँ बजती हुई महसूस हो रही थीं। ख़ामोशी की वह अजनबी और सन्नाटे को गहरा करनेवाली संक्षिप्त अवधि एक ऐसी ज़बरदस्त आवाज़ से टूटी जैसे बेशुमार दरिंदे अपने सहमे हुए शिकारों पर आहिस्ता-आहिस्ता दाँव लगाकर अचानक गुर्राकर टूट पड़े हों।

साहिल पर दुनिया का सबसे बड़ा तूफ़ान उतरा और सैकड़ों मील प्रतिघंटे की रफ़्तार और गज़ों ऊँची लहरों के साथ विपत्ति ढाने वाले ख़ुदा की ज़मीन के उस पूरे इलाक़े में फैल गया, बीच में आने वाली हर वस्तु को बहा ले गया। मछुआरों की नावें काग़ज़ की नाव की तरह लहरों के साथ ऊपर गईं और नीचे आने तक अनाकृत लकड़ी के टुकड़ों में बँट गईं और उनके तख़्ते अलग होकर पानी की गति के साथ साहिल पर अंदर की दिशा में धारदार हथियारों की तरह तेज़ी से आगे बहने लगे, बढ़ने लगे और खड़े पेड़ों के तनों को अपनी गति के ज़ोर से आरे की तरह काटने लगे। साहिल के अंदर दूर तक अर्राते समुद्र में एक जंगल-सा बहने लगा।

साहिल के किनारे धान की तैयार फ़सल गहरे भूरे पानी में दूर-दूर तक डूब गई। नारियल के लंबे पतले तनोंवाले पेड़ों की नुकीली पत्तियों वाली शाख़ें अलग हुईं और मीलों दूर तक उड़ती चली गईं। बची-खुची शाख़ों के साथ पेड़ हवाओं से ऐसे लग रहे थे जैसे ग़रीब और खुद्दार बच्चे अपने से बहुत बड़ी उम्र वाले गली के बदमाश नौजवान से उलझ पड़ते हैं। तेज़ हवा के रेलों ने कुछ पेड़ों को जड़ से उखाड़ दिया, कुछ को ज़मीन पर लिटा दिया और बाक़ी पेड़ अपने ही शरीर की लंबाई में दो-दो, तीन-तीन जगह से मुड़कर बूढ़े मछुआरों की तरह ख़ामोश खड़े रह गए। दूसरे प्रकार के पेड़ों की शाख़ें चटाख़ की आवाज़ के साथ टूट-टूटकर ज़मीन पर बिछ रही थीं।

तूफ़ान की सुर्ख़ दहशतगर्द आँख छह हज़ार वर्ग किलोमीटर पर फैली थी और घूम-घूमकर उमड़-उमड़कर आहिस्ता-आहिस्ता सारी धरती को एक गहरे भूरे गदंगी के ढेर में परिवर्तित कर रही थी।

भद्द मैले, सुर्ख़, नीले, हरे और चौख़ानेदार कपड़े पहने सर पर सफ़ेद पुराने कपड़े लपेटे मर्द, बेजोड़ रंगों की साड़ी ब्लाउज़ और चाँदी के छोटे-छोटे ज़ेवर और ज़ंजीरें पहने औरतें और आधे बदन से नंगे बच्चे सन्नाटेदार हवा और बेपनाह बारिश से बचने के लिए बेतहाशा भाग रहे थे और हवा उनके सीनों पर पैर रखकर उन्हें दिशाहीन कर रही थी। बल्लियों और बाँसों पर टिके कच्चे झोंपड़ों की छतें उखड़ कर तश्तरियों की तरह फ़िज़ा में उड़ रही थीं और झोंपड़ों के अंदर बाहर सब एक हो रहा था। मवेशियों के झुंड डकरा-डकरा कर और मिमिया-मिमिया कर भयभीत होकर एक-दूसरे के पेट में घुसे जा रहे थे, बिना देखे ही आगे भागने की कोशिश में एक-दूसरे से और पेड़ों से और इंसानों से टकरा-टकराकर गिर रहे थे, उठ रहे थे और लड़खड़ा रहे थे। नीचे पानी के शेर ग़ुर्रा रहे थे और ऊपर हवा के हाथी चिंघाड़ रहे थे। इंसान व हैवान सबके सब प्रकृति से एक ऐसी जंग लड़ रहे थे जिसमें जानदारों को नहीं जीतना था।

फिर गहरी भूरी कीचड़ और पेड़ों की टूटी हुई शाख़ों में सब कुछ डूब गया, दब गया।

शहरों तक पहुँचते-पहुँचते तूफ़ान मद्धिम नहीं पड़ा। ऊँची-ऊँची इमारतें थरथराईं, खिड़कियों के शीशे चटख़े। इमारतों में बने घोंसलों से परिंदे भयभीत होकर उड़े और फिर उन्हीं इमारतों की तरफ़ हवा के रेले के साथ वापस फिरे और दीवारों से टकरा-टकराकर उनके मुर्दा शरीर ज़मीन पर गेंद की तरह आ गिरे। बिजली के खंभे ज़मीन से आन मिले और टेलीफ़ोन के पतले लोहे के खंभे मुड़कर प्रश्नवाचक चिह्न बन गए। इमारतों, सड़कों और सरकारी दफ़्तरों में शोर था। सबके वजूद के अंदर उससे ज़्यादा तीव्र अँधेरा फैल चुका था, जैसे बिजली ग़ायब होने के बाद सड़कों, मकानों और दफ़्तरों पर छायी हुई थी। तूफ़ान की सुर्ख़ आँख अपनी ही फैलाई हुई उस वहशत पर नम हुई और तेज़ बारिश में शहरों की सड़कों, शाहराहों और गलियों में कमर-कमर तक पानी भर गया।

तूफ़ान आया और गया। इंसानी और हैवानी मौतों का एक आसान, हक़ीक़त से दूर इलाक़े के बचे हुए लोगों की आबादी के हिसाब व किताब से स्वतंत्र भयरहित तख़मीना तैयार किया गया और अख़बार, रेडियो व टीवी के हवाले कर दिया गया। केंद्र ने राज्य सरकार की निंदा की और राज्य सरकार ने केंद्र की अनभिज्ञता पर रोष प्रकट किया।

दूसरे इलाक़े के मानव-प्राणियों ने अपने-अपने गुनाहों को कम करने की ख़्वाहिश में रुपए, पुराने कपड़े और पुराने जूते रीलीफ़ फ़ंड में दिए। विलायत से उम्दा कंबल, बिस्तरों की चिकनी चादरें और रोएँदार तौलिए आए। दूसरी राज्य सरकारों ने डॉक्टरों का जत्था और दवाएँ भेजीं। जगह-जगह से खाद्य सामग्री, मिट्टी का तेल और खाना पकाने के बर्तन ट्रकों पर लदकर आए, क्योंकि इंतज़ाम करनेवालों को सरकारी रजिस्ट्रों की ख़ानापुरी करके प्रबंधन नियमों का पालन करना पड़ता है और उसमें हर स्तर पर जाँच-पड़ताल होती है और जाँच-पड़ताल के बाद मीटिंग होती हैं और फिर उनके बाद क्रियान्वयन का सिलसिला शुरू होता है। इसलिए सहायता वस्तुएँ जैसे खाना और दवाएँ मात्र बीस दिन देर से पहुँचे। अख़बारों ने इस बात पर बावेला मचाया जिस पर देर के ज़िम्मेदारों ने निहायत दर्दमंदी और दयानतदारी से अपने-अपने दिलों में सोचा भी और आपस में चर्चा भी की कि अख़बार वाले अगर ऐसा न करें तो उनका अख़बार बिकेगा कैसे?

विलायत से आए हुए नर्म, गर्म, ख़ूबसूरत कंबल ज़रूरत के इलाक़ों में इसलिए नहीं भेजे गए कि वहाँ पानी भरा हुआ था और पानी से कंबल ख़राब हो सकता है। उन कंबलों को ज़्यादा वक़्त तक स्टोर में रखना भी मुनासिब नहीं समझा गया कि उनमें कीड़ा भी लग सकता था। इसलिए उन्हें शहरों की मार्केट में कम दामों पर बेच दिया गया और इस संदर्भ में कई स्तर पर और कई मामलों में एक-दूसरे के साथ सहयोग दिया गया। अच्छी चादरें और रोएँदार तौलियों का इंतज़ाम भी इसी बुद्धिमानी से किया गया कि ये वस्तुएँ अकारण बर्बाद न हों। खाद्य सामग्रियों के बासमती चावलों का मामला भी उनसे भिन्न नहीं था। अलबत्ता मोटा अनाज और आटा-दाल ट्रकों में लदा खड़ा रहा क्योंकि उनको ज़रूरत के इलाक़ों तक ले जाने के लिए बहुत ज़्यादा डीज़ल की ज़रूरत थी और डीज़ल की सप्लाई ऐसे अवसरों पर एक स्वाभाविक नियम के अधीन बंद हो जाती है। विभिन्न अख़बारों और संस्थाओं ने इस मानवीय स्थिति का बहुत मार्मिक चित्रण किया। प्राइवेट परोपकारी संस्थाएँ पूरी तन्मयता के साथ लग गईं। केंद्र को राज्य की जनता की कठिनाइयों के विचार ने बेचैन किया और सैकड़ों करोड़ रुपया इस विभीषिका की शिद्दत को कम करने के वास्ते विभिन्न घोषणाओं के बाद प्रदान किया गया। राज्य सरकार ने उसका पहला हिस्सा सरकारी कर्मचारियों के वेतन के रूप में विभाजित किया कि अगर वह लोग ही संतुष्ट और ताज़ा दम नहीं होंगे तो सहायता के कामों को पूरा कौन करेगा। शेष राशि का बड़ा भाग भी कुछ इसी प्रकार के मानवीय संवेदना, सामाजिक-आर्थिक और व्यवस्था संबंधी और पेचीदगी की कल्पना के अधीन इस ढंग से विभक्त किया गया कि बड़े से बड़ा हिसाब जाननेवाला भी पूरी बात को और आँकड़ों को समझने के बाद यह आरोप नहीं लगा सकता कि सहायता राशि का प्रयोग ग़लत हुआ है। देहात के तबाह हुए इंसानों ने भी फ़ोटोग्राफ़रों के सामने अल्युमिनियम के नए बर्तन, आटे की बोरियाँ और पैरासिटामॉल की गोलियाँ दिखा-दिखाकर इस बात को विश्वसनीय बनाया कि सहायता राशि का सारा-का-सारा इधर-उधर ख़र्च नहीं हुआ है, और कामों में भी लगा है।

निजी संस्थाओं और धार्मिक संगठनों ने छोटे-छोटे पैमाने पर इस दयनीय स्थिति की शिद्दत को कम करने के लिए उल्लेखनीय काम किए। कुछ संपन्न औरतों ने शहरों में आकर अपनी-अपनी संस्थाओं की तरफ़ से अस्थायी दफ़्तर बनाए और घूम-घूमकर पास के मुहल्लों में तबाही की समीक्षा करने लगीं। अगर कोई व्यक्ति यह कहे कि वह अपने-अपने व्यस्त पतियों और अपने आरामदेह मकानों की सुविधाओं से उकता कर और अपने हमनज़रों में शर्मिंदगी से बचने के लिए ऐसा कर रही थीं तो यह बड़ा फ़ज़ूल और साधारण-सा आरोप होगा। भला परेशान हाल मर्दों और औरतों, बच्चों के साथ उन्हें फ़ोटो खिंचवाने में कौन-सा रुमानी ऐश मिल रहा था, सिवा इसके कि वह फ़ोटो अख़बारों में छप जाते थे तो पढ़नेवालों को एहसास हो जाता था कि ख़ुशहाल व्यक्तियों और बदहाल व तबाह हुए इंसानों में कितना फ़र्क़ होता है जैसे कभी-कभी शर्बत में थोड़ा-सा नमक मिला देते हैं कि मिठास का स्वाद कुछ खुल जाए।

कुछ निजी संस्थाओं ने नेक दिल औरतों को इस काम पर लगाया था कि तूफ़ान में जान खोनेवालों के अनाथ बच्चों को 38-38 की टोलियों में कुछ दिन तक अपने पास रखें और उन्हें अपने माँ-बाप से हमेशा के लिए बिछुड़ जाने के इस दुख से निजात दिलाएँ जो संभवतः संसार की सबसे बड़ी त्रासदी होती है। उन समस्त संस्थाओं ने सहमति से ऐसी सारी वॉलंटियर औरतों को दीक्षा दी कि ऐसे अनाथ बच्चों के आँसुओं को कैसे पोंछा जाए और उनके चेहरों को पुरानी मुस्कुराहटों से कैसे सजाया जाए। ऐसे समस्त व्यक्तियों,

जिनमें कोमल हृदय होने के कारण महिलाएँ अधिक थीं, अपने-अपने भूले बिसरे दुखों और अभावों को कम करने के लिए और निश्चित ही उन अनाथ बच्चों को ख़ुश रखने और मुस्कुराता देखने के लिए बड़ी तन्मयता के साथ इस काम में लग गए।

अपने इलाक़े में पहुँचकर सबसे पहले मैंने माँ को ठीक-ठाक पाया और ऊपर वाले का शुक्र अदा किया। माँ मेरे कंधे से लिपटी बहुत देर तक धीमी-धीमी आवाज़ में रोती रही। जब मेरे कंधे उसके आँसुओं से भीग गए तो मैंने उसका चेहरा देखा। झुर्रियों भरे चेहरे की आँखें बंद थीं और उनसे आँसुओं की छोटी-छोटी बूँदें बराबर बह रही थीं। किसी झुर्री पर आँसुओं की बूँद रुक जाती तो उन्हें तब तक देखता रहता जब तक वह नीचे ढलक न जाते। शाम तक मैंने पड़ोस के कई घरों में जाकर उनके दुख-दर्द सुने। रात को बैठकर अपनी जायदाद के नुकसान का अंदाज़ा लगाया और चारों तरफ़ फैली इंसानी जानों की बर्बादी का ध्यान करके उस नुकसान को भुला दिया। रात के पिछले पहर खिड़की खोली। बाहर पूरे चाँद की रात थी। मैंने दूर-दूर तक अपने मकान से सटे खेतों और पेड़ों पर नज़र डाली। सर झटका और आँखें मलकर फिर देखा। खिड़की के ठीक सामने बीस गज़ के फ़ासले पर जो पेड़ों का झुंड था, अब वहाँ नहीं था। बहुत ध्यान से देखा तो उन पेड़ों की जड़ें आपस में गुँथी हुई नज़र आईं। उन पेड़ों के पास पुरानी पंचायत की इमारत मिट्टी का ढेर हो चुकी थी। पूरब की तरफ़ के पुराने पेड़ ज़मीन ने निगल लिए थे। भूतिया बाबा का बरगद तेज़ हवाओं और सैलाब में बहकर मीलों दूर जा चुका था। बचपन और लड़कपन की सारी यादों के चिह्न ख़त्म हो चुके थे। मुझे लगा जैसे मैं अचानक ख़ुद अपने आपसे अजनबी हो गया हूँ। मैं खिड़की खोले बैठा आसमान देखता रहा जहाँ अब एक भी बादल नहीं था। सिर्फ़ चाँद था— पीला बदसूरत चाँद।

सवेरे उठकर मैं किनारे की तरफ़ गया जो अब बीस मील अंदर आ चुका था। नदी का डेल्टा कई शाखों में विभाजित होकर समुद्र से जा मिलता था और ऊँची जगह से प्रकृति की बालिश्त की तरह नज़र आता था जो आबादी और समुद्र के मध्य कल-कल करती नदियों की छोटी-छोटी शाख़ों के रूप में रखी रहती थी। नदी और समुद्र मिल चुके थे और पूरी धरती पर केवल एक ही रंग स्पष्ट नज़र आ रहा था। गहरे भूरे रंग का पानी जो कहीं गहरा था और कहीं-कहीं कीचड़ के ऊपर घुटनों-घुटनों ऊँचा खड़ा था। पानी के बीच कहीं-कहीं ऐसे इलाक़े भी थे जहाँ पानी सूखने लगा था। मुझे वहाँ एक कुत्ता नज़र आया। मैं धीरे-धीरे उस तरफ़ बढ़ा। मेरे साथ मेरा भतीजा भी आया था। हम दोनों आहिस्ता-आहिस्ता जब वहाँ पहुँचे तो मौत की तेज़ गंध नाक से टकराई। पेट फूली भैंस और गाएँ आसमान की तरफ़ टाँगें उठाए पड़ी थीं। मैं उनकी गिनती करने की हिम्मत नहीं कर सका। तभी मेरे भतीजे ने लकड़ी से इशारा किया कि कुत्ता जिस पिंजर से लगा हुआ है वह मवेशी का नहीं है। मैं सर से पाँव तक काँप उठा। मैंने तेज़ी से भतीजे के हाथ से लकड़ी ली और कुत्ते को मारने के लिए बढ़ने ही वाला था कि मुझे ध्यान आया कि पूरे इलाक़े में सूखी लकड़ी और मिट्टी का तेल नहीं है। अंतिम संस्कार संभव नहीं था। मैं वहीं का वहीं खड़ा रहा। मेरा भतीजा मेरे पास आकर मुझसे लिपटकर खड़ा हो गया। मैंने लकड़ी फेंक दी। कुत्ता हम दोनों को अनदेखा कर अपनी भूख मिटाता रहा। मैंने जनेऊ ठीक किया और समुद्र की तरफ़ दोनों हाथ जोड़कर संस्कृत के वह श्लोक पढ़े जो अंतिम संस्कार के समय पढ़े जाते हैं। भतीजे का हाथ अंदाज़े से टटोल-टटोलकर पकड़ा और आँखे बंद किए घूमकर वहाँ से ऐसे चला जैसे अंधे चलते हैं। सुबह की रोशनी फैल रही थी। मैंने आँखें खोलीं और नारियल का एक आधा झुका पेड़ देखा जिसकी

बहुत-सी शाखें टूटकर उड़ चुकी थीं और शेष बची शाख़ें अपनी मुर्झायी लंबी-लंबी पत्तियों के साथ टूटकर वहीं की वहीं जुड़ी रह गई थीं। पेड़ का ऊपरी हिस्सा हवा के ज़ोर से नीचे होता फिर ऊपर होता जैसे रात-भर के सामूहिक बलात्कार के बाद सदमे से चूर कोई अभागिन बेहोशी से उठने की कोशिश कर रही हो।

मैं शाम तक मौत की तेज़ हैवानी महक के बीच इस किनारे से उस किनारे तक दीवानावार घूमता रहा। फ़सलें सड़ने लगी थीं। जगह-जगह लोगों के झुंड कीचड़ और मिट्टी में दबी हुई बुझी आँखों और फूले हुए शरीर वाली इंसानी और हैवानी लाशें निकालने की कोशिश कर रहे थे। मुझे सूखे स्थान पर भी बहुत कम मवेशी मिले। सड़कें बेनिशान होकर पानी के नीचे बह चुकी थीं।

सूरज डूबते वक़्त मैंने समुद्र की तरफ़ देखा। दो अधनंगे मर्द लाठी और एक गठरी उठाए कमर भर पानी में किनारे की तरफ़ आ रहे थे। रोशनी कम होती जा रही थी और उन व्यक्तियों के क़दमों की गतिविधियाँ अँधेरे के कारण मिटती जा रही थीं। धीरे-धीरे उनके बदन तसवीर बन गए। सिर्फ़ क़दमों की शपाशप शपाशप सुनाई देती रही। मैं मुड़ा और गाँव के पास आकर रुक गया जहाँ एक नौजवान औरत खड़ी थी जिसकी पीठ से लगी उससे भी लंबी उसकी बेटी पीछे से माँ के कंधे पर सर रखे वीरान आँखों से कुछ सोच रही थी। मैं औरत के पास गया। एक समुद्र मेरे पीछे था और एक समुद्र उस औरत की आँखों में था। पीछेवाला समुद्र गहरा भूरा था और औरत की आँखों के समुद्र के पानी में कई रंग झिलमिला रहे थे। आशा का हरा रंग, ज़िंदा रहने की उमंग का हल्का गुलाबी रंग, भय की स्याही और मौत की ज़र्दी। माँ-बेटी ने हम दोनों को इतने पास देखा तो आँखें झुका लीं। मैं मुड़ते वक़्त ठीक से नहीं देख सका कि उन दोनों में किसकी आँखों से पानी की एक पारदर्शी बूँद मैले-मैले गालों पर पहले ढलकी थी।

सिमेंट कंकरीट के उस बड़े से दफ़्तरनुमा घर का दरवाज़ा खोला तो सामने आराधना खड़ी थी जिसकी टाँगों से लिपटी हुई उसके साथ सात आठ-साल की बच्ची मुझे देखकर 'अंकल' कहकर चिल्लाई थी। मैंने आराधना को तीन साल बाद देखा था। वैसी ही सादा-सादा-सी मुस्कुराहट, ऊँचा चौड़ा माथा, बालों का उलझा हुआ जूड़ा, और पैरों में चमड़े की सैंडिल। अलबत्ता घनी-घनी पलकों वाली बड़ी-बड़ी आँखों में सोच की तहें गहरी हो गई थीं। आराधना ने दोनों हाथ जोड़कर मुझे प्रणाम किया।

"आप कब आए? मैं कई दिन से सोच रही थी कि आपका घर भी तो इसी इलाक़े में है। सब लोग कैसे हैं, आपकी माँ?" उसने बेचैनी से पूछा।

मुझे आराधना का कौतूहल से यह सब कुछ पूछना अच्छा लगा। वह आज बहुत दिन बाद मिली थी। इतने अर्से बाद भी उसने तूफ़ान में फँसी मेरी माँ को याद रखा, "अंदर तो बुलाओ, बैठकर इत्मीनान से बातें करेंगे। तुम कैसे चली आईं? किसी ने मना नहीं किया?"

"कौन मना करता, पापा से पूछा तो उन्होंने सहर्ष आज्ञा दे दी।"

टिन की कुर्सी पर बैठ मैंने आराधना की बच्ची को पास बुलाकर लिपटा लिया और बातें करने लगा। आराधना की बच्ची मेरी शर्ट के बटन से खेलती रही।

"मैं डिपार्टमेंट को बताए बिना, बिना वेतन की छुट्टी लेकर चुपचाप आ गई। पचास बच्चों को नॉर्मल करने का काम मेरे सुपुर्द किया गया है।"

बरामदे के पीछे बने कमरों से साँवले-साँवले मुर्झाए चेहरे खिड़की की सलाख़ पकड़े हम तीनों को देखते रहे।

''शिल्पा को अपने पास से हटा दीजिए। सारे बच्चे समझ रहे हैं कि शिल्पा जिसके पास खड़ी है वह उसका...मैं तो इन बच्चों के सामने शिल्पा को अपने पास भी नहीं बिठाती। शिल्पा बेटा तुम इनके साथ जाकर खेलो।''

शिल्पा ख़ामोशी से हट गई जैसे कई दिनों से इस प्रकार की चेतावनी सुनने की अभ्यस्त हो चुकी हो।

''आराधना! तुम्हें इस अजनबी इलाक़े में डर नहीं लगता।'' मैंने अपनेपन से पूछा।

आराधना मुस्कुराई। उसकी मुस्कुराहट में हमेशा की तरह सादगी थी।

''नहीं, अच्छा लगता है। अब मुझे किसी चीज़ से डर नहीं लगता।''

हम दोनों कुछ देर ख़ामोश रहे।

''भाभी जी और बच्चे कैसे हैं?'' आराधना ने पूछा।

''सब अच्छे हैं। तूफ़ान ने अलबत्ता सभी को हिला दिया है। वह लोग बंबई में ही हैं। अब तुम बताओ कि तुम इन बच्चों को कैसे नॉर्मल कर रही हो?''

फिर आराधना मुझे समझाती रही कि कई लोगों के साथ इसकी ट्रेनिंग हुई जिसमें चाइल्ड साइकोलॉजी के डॉक्टर भी आए थे। उन्होंने बताया कि पहले इन बच्चों को खाने-पीने की पौष्टिक चीज़ें दी जाएँ। विटामिन भी लिखे हैं। बताया कि ये बच्चे जिस तरह के कपड़े पहनते हैं उसमें फ़र्क़ न करना वरना ये अपनी जड़ से उखड़ जाएँगे। सबसे ज़्यादा ज़ोर इस बात पर है कि बच्चे सुबह-शाम कुछ-न-कुछ खेलें। बीच-बीच में उन्हें आसान ढंग से कुछ पढ़ा दिया करो ताकि ये बौद्धिक रूप से व्यस्त रहें और सबसे अहम् बात ये कि बच्चे मुस्कुराना सीख जाएँ।

''मुस्कुराना सीख जाएँ—मतलब?'' मैं हैरान हुआ।

''अपने माँ-बाप को खोकर ये बहुत सहम गए हैं। पूरा तूफ़ान इन्होंने अपनी आँखों से देखा है। इनके मस्तिष्क में वही तसवीरें घूमती रहती हैं, कैसे मुस्कुराएँ?'' आराधना दुखी होकर बोली।

''फिर इसके लिए क्या उपाय किया जाता है?''

''वह मुश्किल उपाय होता है। किसी को दुखी करना आसान होता है, ख़ुश करना बहुत मुश्किल।'' कहकर आराधना चुप हो गई।

''तुम कैसे मुस्कुराने पर मजबूर करती हो?''

''मजबूर नहीं करती। बहला-फुसला कर ख़ुश रखने की कोशिश करती हूँ।''

''बच्चे कैसे मुस्कुराएँ?'' मेरी आँखों में जिज्ञासा देखकर आराधना ख़ुश हो गई।

''अभी बताती हूँ। इनमें एक बच्ची है पूर्णिमा। आठ वर्ष की है। माँ-बाप दोनों आँखों के सामने तूफ़ान में बह गए। यह एक पेड़ से चिपकी रह गई, बच गई। आज इसे बहुत बहलाया है। कहा है कि लतीफ़े सुनाऊँगी। अभी बुलाती हूँ।''

आराधना अंदर गई और एक दुबली-पतली गोल चेहरे और साँवले रंग की बच्ची को लेकर बाहर आई जिसने ऊदे रंग का देहाती फ्रॉक पहन रखा था।

वह सहमी हुई हिरनी की तरह हमारे पास आकर खड़ी हो गई। उसकी टाँगें काँप रही थीं।

''पूर्णिमा, कुर्सी पर बैठ जाओ।'' आराधना ने नर्म आवाज़ में कहा। पूर्णिमा बराबर की कुर्सी पर बैठ गई।

''अरे, हमें बहुत प्यास लगी है। ये हमारे दोस्त हैं, तुम्हारे अंकल। हम दोनों के लिए पानी। ठंडा पानी अच्छे वाले गिलास में ला सकती हो?''

''हाँ।'' उसका साँवला चेहरा गुलाबी-सा हो गया। वह चली गई तो आराधना बोली, ''अपने हाथ से कोई काम करें तो बच्चों में विश्वास जागता है। तभी उन्हें अपने व्यक्तित्व पर भरोसा होता है तो इंसान मुस्कुरा भी सकता है।''

टिन की एक ट्रे में शीशे के दो गिलासों में वह मैला-मैला पानी ले आई।

आराधना के इशारे से मैंने पानी पिया, आराधना ने भी पानी पिया।

"पूर्णिमा! हमने कल वादा किया था आज तुम्हें एक जोक सुनाएँगे? तुमने हमें पानी पिलाया, हम बदले में जोक सुनाएँगे।''

पूर्णिमा की आँखें एक लम्हे को चमकीं।

"सुनो, एक ख़रगोश था वह तालाब के किनारे गया और तालाब में नहाते हाथी से बोला, ''ऐ हाथी के बच्चे बाहर निकल, जल्दी निकल।''

पूर्णिमा चमकती हुई आँखों से आराधना के होंठों को देखती रही, ''हाथी बेचारा सूँड़ हिलाता बाहर निकल आया,'' यह कहकर आराधना ने हाथी की सूँड़ हिलाने की नक़ल अपने हाथ से लहरा कर की। हाथी ने बाहर निकलकर पूछा, "मियाँ ख़रगोश! तुमने मुझे बाहर क्यों बुलाया। मैं तो चुपचाप नहा रहा था। तो ख़रगोश बोला, अब तुम जा सकते हो। मेरा अंडरवियर खो गया था। मुझे शंक था कहीं तुम उसी को पहनकर तो नहीं नहा रहे हो।''

पूर्णिमा मुस्कुरा पड़ी। मुझे ख़ुद हँसी आ गई। आराधना भी प्रसन्न आँखों से हँस रही थी।

"अच्छा पूर्णिमा...अब तुम जाओ। तुम्हारे पढ़ने का टाइम हो रहा है।'' वह उठकर धीरे-धीरे अपने कमरे की तरफ़ चली गई।

तब आराधना ने बताया, ''पिछले दो हफ़्तों से दिन-रात लगी हुई हूँ तब ये बच्चे मुस्कुराएँ हैं। बस ऐसे ही किसी-न-किसी तरह इनको इनके व्यक्तित्व पर भरोसा दिलाकर उन्हें अच्छी और छोटी-छोटी बातों के ज़रिए ख़ुश करके मुस्कुराने पर ले आती हूँ। डॉक्टरों ने ट्रेनिंग के दौरान बताया था कि इतनी बड़ी .... के बाद बच्चे मुस्कुराएँ नहीं तो उनकी आत्मा पर ताले पड़ जाते हैं। यह अकेली बच्ची थी जो अब तक नहीं मुस्कुराई थी। आपके आने की बरकत से यह मरहला भी आसान हो गया वरना कल बहुत मुश्किल होती।''

''क्यों, क्या मुश्किल होती?''

''कल इन सब बच्चों का ग्रुप फ़ोटो होगा जो एक बड़ी मैग्ज़ीन में छपेगा और इन बच्चों की मदद के लिए रिलीफ़ फ़ंड की अपील भी छपेगी। फ़ोटोग्राफ़र कहता, 'स्माइल', और ये लोग चुपचाप खड़े रहते तो मुझे कितना अफ़सोस होता कि इतने सारे दिनों की मेहनत बर्बाद हो गई।''

''सरकार से भी तो रिलीफ़ फ़ंड मिला होगा।'' मैंने पूछा।

''मुझे रिलीफ़ फ़ंड जमा करनेवाले कामों का कोई अनुभव और मालूमात नहीं है। सरकारी रिलीफ़ का हाल आपको भी मालूम है। फिर एक बात और भी है कि जिस संस्था को मैंने अपने एक महीने की सेवाएँ वॉलंटियर की हैं वह अनाथ बच्चों का काम सँभालना चाहती है। इसलिए वह अपना रिलीफ़ फ़ंड अलग से बनाना चाहती है। कल आप भी आ जाइएगा। कुछ देर अच्छा वक़्त कट जाएगा। उन लोगों से भी मुलाक़ात हो जाएगी।''

''ज़रूर आऊँगा। अब चलूँ। माँ इंतज़ार कर रही होंगी। तुम भी घर आओ ना।''

''फिर आऊँगी। इन बच्चों को एक मिनट भी छोड़ने की इजाज़त नहीं है।''

घर पहुँचकर रात को मैंने फिर खिड़की खोली। आज भी चाँदनी ख़ूब थी। मुझे आराधना की बातें याद आने लगीं। आराधना एक स्वाभिमानी शरीफ़ लड़की थी। पति ने जब दिन रात अपमानित करना शुरू कर दिया तो वह ख़ामोशी से अदालत के ज़रिए अपनी बच्ची को लेकर अलग हो गई। आर्थिक रूप से उसे कोई चिंता नहीं थी। उसे पति से अधिक वेतन मिलता था। आज से तीन वर्ष पहले उससे एक सरकारी मीटिंग के लंच में मुलाक़ात हुई थी। फिर दो एक बार और भी मुलाक़ातें हुईं।

उसकें व्यक्तिगत जीवन के बारे में मुझे और अधिक जानकारी नहीं थी मगर उसकी सादगी

और नेक दिली ने मुझे हर मुलाक़ात में प्रभावित किया था।

खिड़की के बाहर चाँदनी रात में मुझे फिर अपने बचपन और लड़कपन की यादगार जगहों के निशानों के खंडहर नज़र आए। मेरा दिल फिर उदास हो गया। तभी मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे दिमाग़ में रोशनी का एक झनाका हुआ हो। इन बच्चों के माँ-बाप इनकी आँखों के सामने ख़त्म हुए हैं तब भी ये मुस्कुरा रहे हैं। आराधना कितनी मेहनत से इनके साथ लगी हुई है। मैं मर्द हूँ। मिट्टी के कुछ घर, कुछ पेड़ अगर नहीं रहे तो क्या मैं उन्हें ज़िंदगी भर याद करके उदास होता रहूँगा। आँखें उनिंदी-सी होने लगी थीं। मैंने धीरे-से खिड़की बंद की और सोने-जागने की स्थिति में महसूस किया कि दिल एक पल के लिए निश्चिंत हो जाता है और फिर दूसरे ही क्षण परेशान। इसी दशा में सुबह हो गई।

ग्यारह बजे जब मैं आराधना के दफ़्तर पहुँचा तो वहाँ फ़ोटोग्राफ़र और रिलीफ़ आर्गनाइज़ेशन के लोग पहुँच चुके थे। आराधना ने मेरा सबसे परिचय कराया। वह लोग गर्मजोशी से मिले और बताते रहे कि कैसे उन्होंने बारह साल पहले भी इसी इलाक़े में अनाथों का काम सँभाला और किस तरह उन्होंने पश्चिमी घाट के भूकंप के बाद वहाँ के पचास बच्चों के वास्ते ज़बरदस्त रिलीफ़ मुहिम चलाई थी।

टाई बाँधे हुए एक व्यक्ति ने बड़े विश्वास के साथ उसे बताया कि रिलीफ़ का काम आसान नहीं होता। किसी की जेब से पैसा निकालना आज के ज़माने में बहुत मुश्किल काम है। लेकिन हम लोग स्पेशल ढंग से मीडिया के द्वारा लोगों के दिलों को मोम कर लेते हैं। आप थोड़े दिन बाद पत्रिका का अंक पढ़िएगा तो आपको अंदाज़ा होगा कि सिर्फ़ इसी एक फ़ोटोग्राफ़ के छपने के बाद चेक और ड्राफ़्ट का ताँता लग जाएगा। हमारी संस्था से बेहतर कोई भी रिलीफ़ फ़ंड नहीं जमा कर सकता।

टाईवाले व्यक्ति ने अपनी सुनहरी घड़ी में समय देखा और फ़ोटोग्राफ़र से कहा, ''आप हमारे लिए नए फ़ोटोग्राफ़र हैं। इसलिए आपको बता रहे हैं कि दो-तीन फ़ोटो एक साथ ले लीजिएगा। कभी-कभी एक-आध फ़ोटो ख़राब भी हो जाता है।''

फ़ोटोग्राफ़र ने आसमान की तरफ़ देखकर कहा, ''अभी दस-पंद्रह मिनट और रुक जाइए, धूप थोड़ी और ऊपर आ जाए।''

''ठीक है, ठीक है।'' उसने बेचैनी से कहा, ''मगर जल्दी कीजिए। इससे ज़्यादा देर नहीं। आज हमें चार ग्रुप्स के फ़ोटोग्राफ़ लेना हैं। कई दिन से सो नहीं सका हूँ। ये सब काम आसान नहीं होते। जी जान एक कर देने पड़ते हैं।''

फ़ोटोग्राफ़र कैमरा फ्रंट करने लगा। मैं टाईवाले व्यक्ति के साथ कुर्सी पर बैठ गया।

''मुझे यह देखकर बहुत अच्छा लगा कि आराधना ने सारे बच्चों को ख़ुश कर दिया है। कल वह आख़िरी लड़की भी मुस्कुराई जो अब तक नहीं मुस्कुराई थी।''

आराधना अंदर हाल में बच्चों को तैयार कर रही थी।

''जी हाँ, जी हाँ। वास्तव में वह पूरा काम हमारे एक और स्पेशलिस्ट देखते हैं। मैं सिर्फ़ फ़ोटोग्राफ़ कराके पत्रिका से संपर्क करके चेक प्राप्त कर बैंक में डालता हूँ।''

मुझे ये सारी बातें सुनकर अचानक परेशानी-सी महसूस होने लगी। मैंने हॉल की तरफ़ देखा जहाँ से अभी आराधना मुस्कुराते हुए बच्चों को लेकर बाहर आएगी।

तभी आराधना बच्चों को लेकर बाहर निकली। सबके मुँह धुले हुए थे और कंघी की हुई थी। उनमें सारे बच्चे मुस्कुराने पर आमादा नज़र आ रहे थे। आराधना ने आते-आते रुककर मुड़कर सब बच्चों को देखा। सबको ख़ुश देखकर उसके चेहरे पर इत्मिनान का उजाला फैल गया।

सारे बच्चे पंक्तियों में खड़े हो गए। टाईवाला व्यक्ति बाहर अपने ड्राइवर से बात करने गया हुआ था। आराधना मेरे पास खड़ी थी। शिल्पा को उसने अपने कमरे से बाहर नहीं आने दिया था। फ़ोटोग्राफ़र लंबाई के हिसाब से सबको क्रम में खड़ा कर रहा था।

"आज तो आराधना, ये सब मुस्कुरा रहे हैं। इसीलिए तुम बहुत ख़ुश हो।''

आराधना ने हौले से 'हाँ' कहा और मेरी ओर कृतज्ञ दृष्टि से देखा जैसे अपनी सफलता की प्रशंसा पर ख़ामोश धन्यवाद दे रही हो।

फिर उसने धीरे-धीरे कहा, ''मैंने ख़ुद इतने दुख झेले हैं कि मेरा मन यूँ भी चाहता है कि बच्चे सदा मुस्कुराते रहें। कोई उन्हें दुखी न करे। समुद्र का तूफ़ान सप्ताह भर में ख़त्म हो जाता है पर उसके ज़ख़्म पाँच-सात वर्ष में भर पाते हैं। लेकिन आत्मा के तूफ़ान की भरपाई जीवन भर नहीं हो पाती। ज़िंदगी एक नासूर बन जाती है।" उसकी गहरी-गहरी आँखें छलकने के क़रीब थी।

"मैं तुम्हारी बात समझता हूँ। लेकिन क्या यह कामयाबी कि तुमने पचास अनाथ बच्चों को सदा के लिए मुस्कुराहट दे दी, तुम्हारे बहुत से दुखों को दूर नहीं कर देगी?''

मैंने उसके काँपते हुए ठंडे हाथ पर अपना हाथ रखा।

"हाँ, कर देगी।'' वह मोटी-मोटी आँखों से मुस्कुराई, ''इसीलिए तो मैं बहुत ख़ुश हूँ बल्कि कल शाम से ख़ुश हूँ जब वह आख़िरी बच्ची पूर्णिमा मुस्कुराई थी।''

फ़ोटोग्राफ़र ने एक दीवार के सहारे लाइन में बच्चों को खड़ा कर दिया था। छोटे बच्चे बच्चियों को ज़मीन पर बिठा दिया था। नीले, हरे, लाल, बैंगनी, धारीदार, चटकदार और फूल पत्तियों वाले कपड़े पहने बच्चे संतुष्ट और ख़ुश नज़र आ रहे थे। आराधना ने उठकर फ़ोटोग्राफ़र को कुछ बताया। फ़ोटोग्राफ़र ने मुस्कुराकर सिर हिलाया। पास आकर बोली, ''मैं फ़ोटोग्राफ़र से कह रही थी कि क्लिक करने से पहले 'स्माइल' बोल दे। मैंने रात और सुबह को बच्चों को अच्छी तरह समझा दिया है।''

''यस, रेडी...'' फ़ोटोग्राफ़र ने कैमरा आँख से लगाकर फ़ोकस बराबर किया।

''स्माइल...मुस्कुराओ।''

सारे बच्चे मुस्कुरा दिए।

क्लिक-रोशनी का झमाका, ''थैंक यू।''

''एक सेकेंड रुको। फिर स्माइल। यस रेडी।'' क्लिक रोशनी का झमाका, ''थैंक यू।''

उसी वक़्त टाईवाला ड्राइवर से बात करके दरवाज़े में घुसा था। यह सब देखकर उसके चेहरे का रंग बदल गया। वह तेज़ आवाज़ में कुछ बोला। उसकी कोई बात समझ में नहीं आ रही थी। वह ठीक से बोल ही नहीं पा रहा था। उसके कंठ से विचित्र आवाज़ें निकल रही थीं।

उसने बच्चों को वहीं खड़ा रहने का इशारा किया और फ़ोटोग्राफ़र को अलग ले जाकर डाँटने लगा।

''फ़ोटोग्राफ़र का हाथ हिल गया होगा,'' मैंने आराधना से कहा।

''हो सकता है। नया फ़ोटोग्राफ़र लगता है,'' आराधना बोली।

फ़ोटोग्राफ़र सर झुकाए टाईवाले की डाँट सुनता रहा।

उसने फिर आकर कैमरा फ़ोकस किया, ''रेडी'', वह चिल्लाया।

अब टाईवाला उन बच्चों की तरफ़ बढ़ा और बोला,''एक तो नहा धोकर कंघी करके आए हो, ऊपर से फ़ोटो खिंचवाते समय मुस्कुराते भी हो। कौन तुम्हें अनाथ समझेगा। कौन तुम्हारे लिए पैसे भेजेगा। किसे विश्वास होगा कि तुम्हारे माँ-बाप मर चुके हैं?''

उसने आगे बढ़कर बच्चों के सँवारे हुए बालों को बिखेर दिया और फ़ोटोग्राफ़र ने जैसे ही ''रेडी'' कहा, टाईवाला ज़ोर से गुर्राया।

''ख़बरदार जो कोई भी मुस्कुराया। चुपचाप बैठे रहो। मुस्कुराना मत।''

''यस'', फ़ोटोग्राफ़र चिल्लाया। सारे बच्चे उजड़े बालों के साथ सहमे-सहमे बैठे रहे।

क्लिक...फिर क्लिक...फिर क्लिक

''थैंक यू।'' फ़ोटोग्राफ़र ने स्वभावतः कहा। वह पसीने से नहा गया था।

अचानक बच्चों में से पूर्णिमा दौड़ती हुई निकली और ख़ामोश खड़ी आराधना का हाथ पकड़कर बेचैनी के साथ कुछ बोलना चाहा, ''आंटी, हमें अब मुस्कुराना है कि चुप रहना है।''

उसकी हल्की भूरी आँखें हैरानी से फैल गई थीं। उसने कुछ और बोलना चाहा लेकिन आवाज़ उसके कंठ में फँस गई। मैंने देखा उसकी हल्की भूरी आँखें आश्चर्य से फटी-की-फटी रह गई थीं। बाक़ी बच्चे मुँह खोले, आँखें फाड़े कभी आराधना को देख रहे थे कभी मुझे, कभी टाईवाले को, कभी फ़ोटोग्राफ़र को।

मैंने आराधना की आँखों में देखा। उसने मेरी नज़रों से आँखें चुरा लीं और नीचे सिर झुका लिया तो वहाँ उसे एक बच्ची की सवाल करती फटी-फटी आँखें नज़र आईं। उस सवाल की गंभीरता से बचने के लिए आराधना ने अपना काँपता हुआ हाथ धीरे-से पूर्णिमा की आँखों पर रख दिया।

उसी वक़्त हवा अचानक थमी थी। कुछ क्षणों की यह अवधि ख़ामोशी की थी मगर ऐसी ख़ामोशी जिसमें तेज़ सीटियाँ बजती हुई महसूस होती हैं। मैंने आराधना की मायूस आँखों में झाँका, उसने मुझे देखा। एक गहरा और अजनबी सन्नाटा सारे में फैल गया था और उसी वक़्त, ठीक उसी वक़्त हम दोनों ने शायद एक साथ एक ऐसी आवाज़ सुनी जैसे अनगिनत वहशी दरिंदे अपने-अपने सहमे हुए शिकारों पर धीरे-धीरे दाँव लगाकर अचानक गुर्रा कर टूट पड़े हों।

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

फ़ज़्ले हसनैन

इनामी

"आप ई का करने लगे बाबू?"

अचानक इनामी की आवाज़ सुनकर मैं चौंक गया क्योंकि उसे तो मैंने दिन भर की मज़दूरी देकर एक घंटा पहले ही छुट्टी दे दी थी। मैंने हैरत से पूछा, "वापस क्यों आ गई इनामी?"

"मूड़े पर धरनेवाला कपड़ा भूल गई थी। मुदा आप ई का करने लगे बाबू? आप तो बोला था कि किसी दिन फिर मजूर लगेगा तो उसी से बरोबर करा लोगे ई माटी...और आप खुद ही बरोबर करने लगे, वाह बाबू! बस अब आप हाथ रोक लो। मैं इसे बरोबर करके ही जाऊँगी।" इतना कहते हुए वह मिट्टी बराबर करने लगी और मैं सोच में डूबा हुआ दूर हट आया।

हुआ यह कि मकान के एक हिस्से में मिट्टी भरवानी बाक़ी रह गई थी। बग़ल वाले प्लॉट में काम लगा तो ठेकेदार से कहकर मैंने भी मिट्टी गिरवा ली और उसी से कह दिया कि कुछ मज़दूर ला दे जो मिट्टी अंदर फेंक दे। उसने तीन औरतों को इस काम पर लगा दिया। मैंने ठेकेदार से कहा कि मर्द मज़दूर लाते तो वह जल्दी से मिट्टी फेंक देते। इस पर उसने मुस्कुराते हुए कहा था, "साहब! ये मर्दों से ज़्यादा मेहनती होती हैं।" और जब मैंने उन्हें काम करते देखा तो मालूम हुआ कि वह वाक़ई मर्दों से बीस साबित हो रही थीं।

इन महिलाओं में एक चालीस-पैंतालीस वर्ष की थी और दूसरी मुश्किल से पंद्रह-बीस वर्ष की। अलबत्ता मँझली वाली जो पच्चीस-तीस साल के दरमियान रही होगी, बला की मेहनती थी। फावड़े से मिट्टी भर-भरकर टोकरा उन दोनों के सिर पर यूँ लाद देती जैसे उसमें मिट्टी नहीं रूई भरी हो।

मेरे इतने बारीक़ मुआयने का कारण यह था कि उन लोगों के साथ-साथ मेरी भी ड्यूटी गेट पर निगरानी करने की थी क्योंकि गेट अगर ज़रा देर के लिए भी खुला रह जाता है तो आवारा जानवर फूल-पौधों को नुक़सान पहुँचा देते हैं और मज़दूरों के लिए हर बार गेट खोलना और बंद करना मुमकिन नहीं। इसलिए मैं गेट के पास बैठा चौकीदारी करता रहा। वक़्त गुज़ारी के लिए मैं कभी कुछ पढ़ने लगता तो कभी कुछ लिखने की कोशिश करने लगता। एक-एक मिनट गुज़ारना पहाड़ हो रहा था।

1946 में जन्मे फ़ज़्ले हसनैन के उर्दू में तीन नाटक-संग्रह एक काव्य-संग्रह तथा हिंदी में तीन नाटक-संग्रह प्रकाशित। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा प. बंगाल की उर्दू अकादमियों द्वारा पुरस्कृत। संपर्क : ए-7, पत्रकार कॉलोनी, अशोक नगर, इलाहाबाद-211001 फ़ोन-0532-2420603

अनु. : स्वयं

ख़ुदा-ख़ुदा करके दिन ढला तो यह देखकर और भी परेशान हो गया कि अभी तो मिट्टी का बड़ा हिस्सा बाक़ी रह गया था। इस कल्पना से ही मैं काँप गया कि अगले रोज़ फिर मुझे इसी तरह गेट पर ड्यूटी देनी होगी। अचानक मेरे मन में यह ख़याल आया कि अगर इन लोगों को कुछ लालच दिला दूँ तो शायद और तेज़ काम करते हुए आज ही सारी मिट्टी फेंक डालें। चुनाँचे मैंने कह ही दिया, ''ऐसा है, तुम लोग अगर आज ही इसे फेंक डालो तो तुम लोगों को मज़दूरी के अलावा अलग से इनाम भी मिलेगा।''

''ठीक है बाबू!'' मँझली वाली ख़ुशी से बोल पड़ी।

''मुदा माटी बहुत जियादा है बाबू! आज ही कैसे खतम हो पावेगी?'' बड़ी वाली ने मिट्टी के ढेर का जायज़ा लेते हुए जल्दी से कहा।

''कोशिश करो। हो जाए तो ठीक ही है।'' मैंने हिम्मत बँधाते हुए कहा।

''और पूरी माटी न खतम भई तो?'' मझली वाली ने मासूमियत से पूछा।

''तो दिन भर की मज़दूरी तो मिलेगी ही।'' मैंने चालाकी दिखाते हुए कहा।

''ठीक है बाबू, कोसिस करते हैं।'' वह कुछ न समझते हुए तैयार हो गई और उसने मोर्चा सँभालते हुए छोटीवाली से कहा, ''चल फेंक जल्दी-जल्दी। सारी माटी आज ही फेंक दी तो इनामी मिलेगी।''

पहले मैं ठीक से न समझ पाया था कि वह क्या कह रही है लेकिन थोड़ी देर बाद जब उसने फिर कहा, ''फेंक झपट-झपट के! बाबू इनामी देंगे।'' तब मेरी समझ में आया कि वह इनाम को इनामी कह रही है। फिर मैं उसे इनामी कहकर ही पुकारने लगा। और वह भी उसी तरह मुख़ातिब हो जाती जैसे उसका नाम वाक़ई इनामी ही हो।

वे तीनों अब ठीक उसी तरह काम कर रही थीं जैसे सर्कस में एक आइटम ख़त्म हो जाने पर दूसरे आइटम के लिए तैयारी की जाती है, यानी भागम भाग! लेकिन मिट्टी बहुत ज़्यादा थी। काहे ख़त्म होने लगी। सूर्य डूबने के बाद अँधेरा होने लगा। अंततः हिम्मत हारते हुए इनामी बेहद मायूसी से बोली,

''अभी तो बहुत माटी बची है बाबू। अब तो अँधियाला हो रहा है और हमरा डेरा भी दूर है...''

''हाँ, काम रोक दो!'' मैंने जल्दी से कह दिया और वो तीनों काम रोककर जल्दी-जल्दी हाथ-मुँह धोने लगीं। इस बीच मैंने सौ-सौ के तीन नए नोट निकालकर अलग रख लिए और जब वो जाने के लिए तैयार हो गईं तो मैंने कहा, ''मिट्टी तो ख़त्म हुई नहीं। इसलिए बस मज़दूरी ही देनी है?''

''हाँ बाबू, हम इससे जियादा कैसे माँग सकती हैं।'' इनामी ने डूबती आवाज़ में कहा।

''कितनी मज़दूरी हुई?'' मैंने पूछ लिया हालाँकि ठेकेदार बता चुका था।

''अस्सी रुपया बाबू!'' बड़ी वाली जल्दी से बोल पड़ी कि कहीं मैं इससे भी कम न देने लगूँ।

''ठीक है, यह लो! अस्सी-अस्सी रुपए मज़दूरी और बीस-बीस रुपए इनाम!''

''बिस-बिस रुपया इनामी!'' इनामी नोट लेकर ख़ुशी से उछलने लगी, ''बिस-बिस रुपया इनामी। वाह बाबू! जुग-जुग जियो।'' वह आभार व्यक्त करने में गिर-गिर पड़ रही थी हालाँकि उन लोगों ने काम इससे ज़्यादा का कर डाला था।

''बाकी माटी का के होगा?'' इनामी ने सोचते हुए कहा।

''अगर तुम तीनों को कल फिर बुला लूँ तो मुश्किल से आधे दिन में काम पूरा हो जाएगा। बाक़ी आधे दिन का नुक़सान होगा तुम्हारा।''

''नहीं बाबू। इत्ती-सी माटी के लिए तीन जन आधे दिन के लिए भी जियादा हैं।'' इनामी

ने कहा, "बाबू, कल हम इसे अकेले फेंक डालूँगी।"

"अगर कर सको तो आ जाना फिर।" मैंने जल्दी से कह दिया और वो ख़ुशी-ख़ुशी चली गई।

अगले दिन सुबह अभी मैं नाश्ता कर ही रहा था कि गेट खड़खड़ाने की आवाज़ आई। जाकर देखा तो इनामी हाज़िर थी। मैंने कुछ नागवारी के साथ कहा, "अभी तो आठ भी नहीं बजे, दौड़ी आई इतनी जल्दी।"

"आज काम खतम कर डालना है ना बाबू!" उसने मासूमियत से कहा। मैंने गेट खोल दिया और ड्यूटी सँभाल ली।

वह टोकरा भरकर सिर पर इतनी आसानी से रख लेती कि मैं सोचने लगता कि फ़ौलाद की बनी है क्या यह। वह उसी रफ़्तार से काम करती रही। मज़दूर आम तौर से एक बजे के आस-पास खाने की छुट्टी करते हैं। जब डेढ़ बज गया तो मुझे टोकना ही पड़ा, "आज खाना नहीं खाएगी क्या इनामी?"

"खाना नहीं लाई बाबू आज।"

"क्यों?" मैंने चौंकते हुए पूछा।

"खाना बनाने लगती तो देरी न हो जाती बाबू?"

"उफ़!" मेरे मुँह से बेसाख़्ता निकल गया।

"का हुआ बाबू?" उसने घबराकर पूछा।

"ऐसी भी क्या लूट पड़ी थी कि कुछ पकाए-खाए बग़ैर ही भागी आई। वाह इनामी, हद कर दी तूने!"

"तो का हो गया बाबू!" वह हँसते हुए बोली, "हम लोगन को आदत पड़ जाती है हर चीज की। यहाँ से जाकर तो बनाकर खाऊँगी ही।"

"तो इस वक़्त कुछ खाएगी ही नहीं?" मैंने और भी हैरान होते हुए पूछा।

"अभी दुकान से समोसा-अमोसा लेकर पन-पियाव कर लूँगी बाबू।"

"तो जा जल्दी, जो लाना है लाकर खा ले पहले! पैसे दूँ?"

"पैसे हैं बाबू, जाती हूँ।" कहते हुए वह चली गई।

उसके जाने के बाद मैं खाने बैठा तो जैसे निवाला हलक़ में फँसने लगा। जी में आया कि खाना उसे भी दे दूँ लेकिन फिर यह सोचकर रह गया कि मेरी इतनी ज़्यादा हमदर्दी का वह जाने क्या अर्थ निकाले। बहरहाल चार बजे के क़रीब उसने सारी मिट्टी फेंक डाली तो मैंने यह कहकर उसे भगा दिया कि मिट्टी बाद में बराबर करा लूँगा। वह जल्दी से जाकर पकाए-खाए। लेकिन पाँच मिनट बाद ही वह वापस आ गई और मिट्टी बराबर करने में जुट गई।

"तू मेरा क्यों इतना ख़याल कर रही है इनामी? मैंने तुझे तेरी मज़दूरी ही तो दी है ना!" मैंने उसे काम से रोकने की कोशिश में कहा तो वह बड़े दर्द भरे लहज़े में बोली, "बाबू, हम जहाँ भी काम करने जाती हैं, सब बस यही चिल्लाता रहता है, और जल्दी-जल्दी हाथ चलाओ, कामचोरी करेगा तो पइसा काट लेगा...और आप बेरि-बेरि कहता था, थक जाना तो सुस्ता लेना, थक जाना तो सुस्ता लेना।"

इनामी ने मेरे लहज़े की नक़ल उतारते हुए कुछ इस अंदाज़ में कहा कि मुझे बेसाख़्ता हँसी आ गई। मैंने कहा, "लेकिन सुस्ताने के लिए तूने तो एक बार भी हाथ नहीं रोका था?"

वह भावुक होते हुए बोली, "बाबू, जब आप सुस्ताने को बोलता था तो हमरा मन करता था कि और तेज़ी से काम करने लगें। आपके इतना कह भर देने से हमें आराम मिल जाता था...बाबू, आपने हमें भी आदमी समझा, ई बात भूलेगी नहीं इनामी।" इतना कहते-कहते उसकी आँखें छलक गईं और मैं उसे कुछ देर तक देखता ही रह गया।

तरन्नुम रियाज़

यंबरज़ल[1]

इस अंजाम की शंका सबको थी मगर इसकी प्रत्याशा किसी को नहीं थी। माँ इस पर विश्वास करने को तैयार नहीं थी। बाप इसे स्वीकार नहीं कर पा रहा था। यावर ऐसा सोच भी नहीं सकता था और अनीका...

''निक्की बाजी, यह अलजेब्रा मुझे ज़रूर फ़ेल करेगा।'' युसुफ़ ने फिरन के अंदर से आग भरी कांगड़ी बाहर निकालकर सब्ज़ गुल-बूटोंवाले सुर्ख़ क़ालीन के बिलकुल बीच में रख दी।

''हमसे तो यह न होगा, न हम पास होंगे।'' वह लंबी-लंबी उँगलियों से आड़ी माँग के दोनों ओर कंघी करने लगा और गर्दन उचकाकर दीवार में लगे बड़े से आईने में अपना चेहरा देखने की कोशिश करते हुए गुनगुनाने लगा।

''चोप ऽऽ चोप ऽऽ'' निक्की की ख़ास कोशिश के बाद भारी बनाई हुई आवाज़ गूँजती।

चुपचाप बैठे रहो। कांगड़ी उठाकर किनारे नहीं रख सकते तुम युसुफ़, किसी की ठोकर लग गई तो?''

''निक्की बाजी, युसुफ़ भाई तो ख़ामख़ाह कांगड़ी गोद में उठाए फिरते हैं, अब ऐसी सर्दी तो है नहीं। अब्बू ने इस कमरे में इसीलिए बुख़ारी नहीं लगाई कि हम सब चुस्त रहेंगे और पढ़ने में व्यस्त रहेंगे—ख़ूब सारे कपड़े पहनकर कहाँ लगती है सर्दी—कांगड़ी फिरन के अंदर ठूँसकर जम्हाईयाँ लेते रहते हैं, ख़ाक पढ़ेंगे?''

यावर ने किताब पर झुका सिर उठाकर निक्की के चेहरे पर अपनी तरफ़ से बड़ी अहम बात कहकर प्रतिक्रिया जाँचने की कोशिश की और एक नज़र आईने में युसुफ़ के अक्स को देखकर नथुने सिकोड़े फिर भृकुटि ऊपर को खींची और दाँत निपोरकर बिना आवाज़ हँसा और किताब पर उसी शीघ्रता से झुका जैसे बहुत ज़रूरी पाठ अधूरा छोड़ना पड़ा हो।

''आपसे किसने राय माँगी थी?'' निक्की ने आवाज़ दबाकर कहा।

''आप अपना काम कीजिए।'' वह बोली।

उर्दू की जानी-मानी रचनाकार। यह तंग ज़मीन, अबीलें लौट आएँगी (कहानी-संग्रह) तथा अनूदित पुस्तकें। उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी से पुरस्कृत। संपर्क : सी-11, जंगपुरा एक्सटेंशन, नई दिल्ली 110014
फ़ोन-2431 7177, मो.-9810541179

अनु. स्वयं

---

[1] नर्गिस के फूल।

''इधर लाओ किताब युसुफ़! अभी तो समझाया था यह सवाल तुम को।'' निक्की ने लंबा-सा रजिस्टर और किताब अपनी ओर सरकाए तो युसुफ़ फ़र्श पर कुहनियों के बल लेट गया और रजिस्टर पर नज़रें केंद्रित कर दीं।

''ऊपर उठो युसुफ़। सोने की तैयारी मत करो ना। कल मेरा भी पेपर है प्लीज़।'' निक्की फ़ौरन दुबली-पतली-सी महीन आवाज़ वाली लड़की बन गई।

''ओह सॉरी निक्की बाजी, एक बार और कोशिश करता हूँ।''

युसुफ़ ने रजिस्टर और किताब अपनी ओर सरकाए। कुछ लमहे निक्की की तरफ़ देखता रहा। गुलाबी जिल्दवाला किताबी चेहरा। लंबी-नीली आँखों पर छोटा-सा बिना फ्रेम का चश्मा। गाल पर कान के पीछे आनेवाले बालों की एक घुँघराली-सी लट और छोटी-सी सुनहरी बाली। दूसरी बाली उस कोण से नज़र नहीं आती थी। लंबे बाल सिर के पीछे की तरफ़ मोटे से हेयर बैंड में फँसे थे। दूध जैसी सफ़ेद गर्दन पर दो-एक कुछ नीलापन लिए हुए नसें और गर्दन के साथ लगा कढ़ाई के कॉलर वाला फिरन का बंद [illegible]। कलाई तक आती हुई आस्तीन में से झाँकते नाज़ुक हाथ में क़लम। सामने कई किताबें और कॉपियाँ बिखरी हुईं।

''क्या सोच रहे हो अब तुम?'' निक्की ने उसे कुछ पल देखकर पूछा।

''नहीं कुछ नहीं बाजी।'' वह जल्दी से बोला और किताब पर झुक गया।

निक्की ने दीवार से टेक लगा दी और तलवे फ़र्श पर रखकर मोड़े हुए घुटनों पर किताब फैला दी। तीनों सिर किताबों पर झुक गए।

निक्की यावर की बड़ी मौसी तबस्सुम बेगम की इकलौती संतान थी। यावर की माँ तनवीर बेगम की लाड़ली भाँजी, जो कुछ दिन अपनी मौसी के यहाँ रहने आई थी बल्कि उसकी मौजूदगी में उसका मौसेरा भाई यावर पढ़ने के मामले में ज़रा गंभीर हो जाया करता था। वह छठी कक्षा का छात्र था निक्की ग्यारहवीं कक्षा की छात्रा थी। कुछ महीनों से तनवीर बेगम अपने जेठ के बेटे युसुफ़ को भी अपने यहाँ ले आई थी। वह शरारती था और तनवीर चाची से अपने मामा-पिता की तुलना में ज़्यादा मानूस था।

''निक्की बाजी आप ख़ुद तो पढ़ नहीं रहीं।'' युसुफ़ ने सिर ज़रा ऊँचा करके निक्की की नोट-बुक देखने की कोशिश की।

''शाइरी कर रही होंगी निक्की बाजी।'' यावर ने सिर उठाए बग़ैर कहा।

''तुम लोग मेरे उस्ताद हो या मैं तुम्हारी चुपचाप अपना काम करो वरना एक-एक थप्पड़...''

''आज तो आप युसुफ़ भाई के एक थप्पड़ जड़...''

''चुप बे, एक थप्पड़ के बच्चे! निक्की बाजी केवल धमकाती हैं। मारेंगी थोड़े ही।''

''अब किसी ने बात की ना, तो सारी धमकियाँ सच हो जाएँगी, समझे तुम लोग! इतना अच्छा शेर हुआ है। मगर तुम लोग सोचने की मोहलत दो तब ना।''

''तो सुना दीजिए ना निक्की बाजी, प्लीज़! वरना युसुफ़ भाई बड़े मौसा से कह देंगे।''

यावर अपना छोटा-सा गोरा हाथ होंठों पर रखकर हँसा। निक्की ने उसकी ओर नथुने फुलाकर और आँखें सिकोड़कर देखा और फिर दाँत भींचे। अनामिका नाक पर रखी और आवाज़ भारी करके खँखारी, ''चुप!'' उसने सिर झटककर कहा और तीनों खिलखिला कर हँस पड़े। निक्की ने ताज़ा-तरीन शेर सुनाया और यावर ने हाथ लहरा-लहरा कर दाद दी।

छोड़ जाने से पहले, तसव्वुर तेरा
है मुझे भी बताना कहाँ छोड़ना।

''वाह निक्की बाजी! यह उसी ग़ज़ल का शेर है ना, जो आपने कल सुनाई थी।''

"हाँ, उसी का। और 'सुनाई' नहीं 'पढ़ी' कहा जाता है।" निक्की ने यावर को समझाया। युसुफ़ ने निक्की की आँखों में देखा।

"हाँ!"

इससे पहले, पड़े यह जहाँ छोड़ना
वक़्त की रेत पर कुछ निशाँ छोड़ना।

और तरन्नुम से शेर पढ़ा।

निक्की ने तिरछी निगाह से युसुफ़ को देखा और यावर का गाल थपथपा कर कहा, "अल्लाह! इतनी संजीदगी से दाद दी।" युसुफ़ ने चेहरे पर वैमनस्य की झलक लाने की कोशिश की।

यावर और युसुफ़ चचेरे भाई थे इसलिए सूरतों में एकरूपता मुमकिन थी मगर इन दोनों के चेहरे काफ़ी हद तक एक से थे। स्याह घुँघराले बाल, सुर्ख़-सफ़ेद रंगत, यथोचित दाँत, नीली पुतलियाँ। दो चीज़ें अलबत्ता अलग थीं कि युसुफ़ का क़द यावर से कोई दो फ़ुट ज़्यादा था बल्कि वह तो निक्की से भी फ़ुट भर लंबा था और दूसरे उसकी मूँछें उग आईं थीं और कहीं-कहीं दाढ़ी भी।

उस दिन शहर के सबसे बड़े चौक में बम फटा था। कुछ फ़ौजी जवान घायल हुए थे। कुछ इमारतें जली थीं। हर रोज़ इसी तरह का कुछ-न-कुछ हुआ करता था। सुकून की लय पर बहते वक़्त में कुछ ऐसा बिखराव उठा कि आठो पहर उथल-पुथल हो गए।

युसुफ़ निक्की को घर छोड़ने जा रहा था। उसके घर को मुड़नेवाले मोड़ पर धुआँ उठता दिखाई दिया। लोग बेतहाशा इधर-उधर भाग रहे थे। चौड़ी-सी सड़क की दूसरी ओर बस्ती थी और इस ओर क़ब्रिस्तान। दूर से बख़्तरबंद गाड़ियों की आवाज़ें आ रही थीं। लोग तेज़ी से सड़क से ग़ायब हो रहे थे, गोलियों की आवाज़ उनका पीछा कर रही थी।

भागते हुए लोगों में से मालूम नहीं एक कैसे गिर गया। उसके पीछे आती हुई फ़ौजी गाड़ियों से फ़ायरिंग हो रही थी। युसुफ़ ने एक लम्हे के किसी हिस्से में देखा कि गिरे हुए आदमी के बिलकुल क़रीब कोंदा-सा लपका था और गोलों चलने की आवाज़ आई थी। सड़क पर गिरा आदमी कोई फ़ुट भर उछला और दोबारा सड़क पर आ गिरा। युसुफ़ सड़क के किनारे की ओर भागा। उसने मज़बूती से निक्की का हाथ थाम रखा था।

यह सब निक्की ने भी देखा था।

सड़क का किनारा ख़त्म होते ही ढलान शुरू हो जाती थी। वह दोनों चंद क़दम और नीचे की ओर भागे और मुँडेर के साथ लग-से गए। निक्की ने होंठों पर हाथ रखा था। हिचकियाँ उसके सीने में घुट रही थीं। वह चीख़ना चाहती थी। युसुफ़ ने उसके कंधे पर हाथ रखकर उसे अपने साथ ज़मीन पर बिठा दिया।

कितनी देर तक दोनों हाँफते रहे। निक्की ने आँखें बंद कर लीं और सिर पीछे की ओर टिका दिया। धीरे-धीरे उसकी साँस नियमित हो गई। युसुफ़ ने देखा कि सामने लंबे-चौड़े क़ब्रिस्तान के अहाते में कुछ क़ब्र हैं और अनगिनत नर्गिस के फूल खिले हैं।

"निक्की बाजी, आपकी रंगत बिलकुल यंबरज़ल के फूलों जैसी है अगर आपका नाम यंबरज़ल होता तो बहुत अच्छा लगता। जिसे यह शब्द समझ में न आता वह आपको नर्गिस बुला सकता था। है ना!" युसुफ़ ने सामने देखते हुए कानाफूसी की। निक्की ने तुरंत आँखें खोल दीं और बाईं ओर गर्दन घुमाकर उसे हैरत और उदासी से देखा।

"तुम्हें मौत के सन्नाटे में ज़िंदगी की बातें कैसे सूझती हैं युसुफ़?" वह लाचार-सी होकर बोली।

"कितने क़रीब तो हैं दोनों। ज़िंदगी और मौत। देखा नहीं आपने?" उसने आहिस्ता से कहा।

मुँडेर के उस तरफ़ सड़क पर कोई आहट हुई तो युसुफ़ ने सिर ज़रा-सा ऊपर उचका कर

देखा। सड़क पर गिरा आदमी उठ गया था और लँगड़ाता हुआ दूसरी तरफ़ जा रहा था। उसने एक हाथ से दूसरा कंधा थाम रखा था।

"वह देखिए, वह देखिए निक्की बाजी। मैंने सच कहा है ना?'' युसुफ़ बोला तो निक्की ने झाँककर देखा।...

"अल्लाह तेरा शुक्र है! तो फिर वह... वह...वह गोली?'' वह अपने गले के क़रीब हाथ रखकर बोली।

"उसके बाज़ू में लगी होगी, कंधे में,'' वह बोला।

दोनों मुँडेर से लगे बैठे रहे।

"निक्की बाजी! ऐसा नहीं लगता जैसे मौत का सुकून से गहरा रिश्ता हो, जैसे मौत ही सुकून का दूसरा नाम हो। ज़िंदगीं, मौत और सुकून—सबका अर्थ एक ही हो गया हो!''

"इस समय ऐसा नहीं लग रहा।'' उसने निक्की की ओर गर्दन मोड़कर कहा।

"हाँ शायद।'' निक्की ने कुछ रुककर कहा और सामने देखती रही।

"निक्की बाजी!'' उसने कहीं दूर से पुकारा हालाँकि दोनों साथ बैठे थे।

"हूँऽऽ!'' वह बिना होंठ खोले बोली।

"अगर कोई इस समय हम पर बंदूक़ तान दे तो?''

"तो क्या?'' उसने गर्दन घुमाकर युसुफ़ के चेहरे को देखा।

"तो हमें जान बचाने के लिए भागना चाहिए क्या?'' युसुफ़ ने पुरसुकून लहज़े में कहा।

"नहीं।'' कुछ देर बाद निक्की ने उसी लहज़े में जवाब दिया और कुछ और पल उसके चेहरे को देखती रही। फिर एक लंबी साँस भरकर सिर पीछे टिका दिया।

जब नतीजा आया तो निक्की बहुत अच्छे नंबर लाई। यावर के भी अच्छे नंबर थे। युसुफ़ बस पास हो गया।

''अच्छी तरह तो कर लेते थे तुम सारे सवाल फिर हिसाब में कम नंबर क्यों आए? इसलिए डिविज़न अच्छी नहीं आई। अब तुम्हारी पसंद के विषय नहीं मिलेंगे। अब पढ़ना समझे।'' निक्की ने उसका कान धीरे-से पकड़ा और छोड़ दिया। पढ़ने का कमरा दोबारा आबाद हो गया था।

''मैथ्स के परचे के दौरान आपकी बहुत याद आई निक्की बाजी।'' वह अंतिम परचा था! आप एक दिन पहले घर चली गई थीं तो मैं...मैं...उसने सिर झुका लिया उलटे हाथ पर टप से एक आँसू गिरा।

तीन-चार साल से लगातार चलता आ रहा तनाव इस साल भी ज़ोरों पर था।

धरती के हर हिस्से की तरह इस घाटी ने भी अपने हिस्से के उतार-चढ़ाव झेले थे।

''इस बार सब मेहनत करेंगे। ख़ुद मेरी बारहवीं की परीक्षा है और वह भी साइंस। ममा सुनती ही नहीं मेरी बात। मुझे भी मेहनत करनी है बहुत।'' निक्की ने नाक सिकोड़कर गर्दन टेढ़ी करके कहा।

''आप डॉक्टर बनेंगी निक्की बाजी?'' युसुफ़ धीमी आवाज़ में बोला।

''और क्या सभी पीछे पड़े हैं मेरे। मैं तो आर्ट्स पढ़ना चाहती हूँ। चाहती थी...''

''और मैं क्या करूँगा निक्की बाजी?'' उसकी आवाज़ में उदासी थी। उसने पैन का पिछला हिस्सा दाँतों में दबा रखा था। झुके सिर और उठी हुए नज़रों से निक्की के चेहरे को देख रहा था।

''तुम कुछ अच्छे मार्क्स लाते तो तुम्हारा एडमिशन कॉमर्स में तो हो ही जाता। अब भी अगर तुम मेहनत करो और अगले साल बारहवीं में अच्छे नंबर ले आओ तो कॉलेज में कॉमर्स ले सकते हो फिर एम. बी. ए. करके तुम्हारा कैरियर...''

''मैं वैसे भी अब्बू का सारा कारोबार सँभालने वाला हूँ।'' वह बेख़याली में बोला।

''मगर पढ़-लिखकर सँभालोगे तो पढ़े-लिखे कहलाओगे सबकी नज़रों में...तुम मेहनत करना ना...'' निक्की उसके चेहरे की तरफ़ देखती रही फिर क़लम उसके मुँह से खींच कर उसके हाथ में दे दिया।

''वरना फिर जाने निक्की बाजी कहाँ हों और आप कहाँ हों।'' यावर ने परेशान से लहज़े में दोनों को बारी-बारी देखकर कहा। दोनों उसे ख़ामोश देखते रह गए। वह दोबारा अपनी नोट बुक पर झुक गया तो उन दोनों ने एक-दूसरे की ओर देखा। कुछ मिनट यूँ ही गुज़र गए फिर निक्की सिर झुकाकर अपनी किताब देखने लगी।

''मैं मेहनत करूँगा निक्की बाजी।''

युसुफ़ ने ख़ाली-ख़ाली-सी आवाज़ में कहा।

''युसुफ़ भाई बोल तो ऐसे रहे हैं जैसे कह रहे हों मैं मेहनत कैसे करूँ निक्की बाजी। मेरे पास अच्छे कामों के लिए वक़्त ही कहाँ है।''

बाहर शोर मचाती हुई हवा चलने लगी। बरामदे की ओर खुलनेवाले भूरे रंग के दरवाज़े पर पड़े सफ़ेद और भूरी बेलों वाला पर्दा फूल कर कुप्पा हो गया।

''क्यों नहीं करेंगे मेहनत?'' वह खोए हुए लहज़े में बोली।

''और क्या? जाने हर वक़्त क्या सोचते रहते हैं। जानती हैं निक्की बाजी, पिछले साल परीक्षा के दिनों में बिना पढ़े पास हुए हैं यह। आप तो सोने चली जाती थीं। यह मेरे साथ यहीं पढ़ते थे ना। पढ़ते क्या थे बस यूँ ही एक दिन आधी रात तक आपका साइड पोज़ बनाने की नाकाम कोशिश करते रहे। नहीं बना पाए तो काग़ज़ फाड़कर थोड़ा-सा रोए। उसके बाद किताब हाथ में ली। उसे ध्यान से देखना शुरू ही किया था कि सो गए हा हा—ही ही ही...'' इस बीच निक्की चुपचाप नोट बुक के पन्ने उलटती रही। उसने अचानक बालकनी की ओर देखा।

''आज फिर बर्फ़ गिरेगी यावर। यह दोनों तकिए दरवाज़े के साथ लगा दो। उफ़ कितनी ज़ोरों की हवा चल रही है।''

''पर्दा फूलता है तो अलादीन का जिन लगता है ना, युसुफ़ भाई।''

उस रात डल झील में स्थित दो ट्रिपों में से एक ट्रिप के बीच खड़े चार चिनारों के दरमियान देवदार की लकड़ी के सुंदर रेस्तराँ में किसी ने आग लगा दी। सड़क के उस पार सरकारी मिडल स्कूल की इमारत भी जल रही थी।

''कर्फ़्यू लगा रहा तो कहीं हमारी परीक्षा टल ही न जाए।'' युसुफ़ ने किताब को देखते हुए कहा।

''युसुफ़ भाई, आपकी आवाज़ से कोई अंदाज़ा नहीं लगा सकता कि आपको चिंता हो रही है या आप उम्मीद कर रहे हैं।'' यावर ने बिना सिर ऊपर किए कहा। युसुफ़ हल्के से मुस्कुरा दिया था और निक्की कुछ ऊँची आवाज़ में हँसी तो उसकी युसुफ़ के ओर की कान की बाली झिलमिल करती हिलने लगी फिर उसने सिर झुका लिया।

''ऐसे तो वक़्त ज़ाया होगा।'' निक्की ने कहा और कुछ चिंतित-सी नज़र आने लगी।

''कुछ दिन और पढ़ लेंगे ना।'' युसुफ़ ने धीरे-से कहा।

बाहर एक ज़ोर का धमाका हुआ और टीन की छत के नीचे पूर्व की ओर खुलने वाली खिड़की के दो शीशे टूटकर गिरे। नीचे कमरे में तीनों छात्रों ने एक ही साथ ऊपर सीलिंग की ओर देखा। लकड़ी के एक जैसे आकार के छोटे-छोटे टुकड़ों से जोड़कर बनाए गए अनगिनत दायरों वाली अष्टकोण ख़त्म बंद सीलिंग पर भूरे रंग की वारनिश हल्की-सी चमक रही थी।

''छत पर शीशा टूटा है कोई।'' यावर सीलिंग की ओर देखता रहा। ''किसी ने खिड़की खुली रख छोड़ी होगी।'' उसने युसुफ़ की ओर देखा।

"बता दूँ क्या युसुफ़ भाई निक्की बाजी को..." यावर ने कहा तो युसुफ़ के चेहरे का रंग पल भर को बदला और फिर वापस अपने चेहरे पर नॉर्मल झलक लाते हुए खिड़की के शीशे से बाहर नज़र जमा दी जहाँ सफ़ेदे के पेड़ों की चोटियाँ नज़र आ रही थीं जिन्होंने हरियाली झटककर बर्फ़ ओढ़ ली थी।

"पेड़ ऐसे नहीं नज़र आ रहे जैसे मुर्दे कफ़न ओढ़कर खड़े हो गए हों?" युसुफ़ ने ठहाका लगाया।

"बात क्यों टाल रहे हैं युसुफ़ भाई। छत की पिछली खिड़की के पास कुर्सी अब भी पड़ी है। जिस पर बैठकर जनाब चाँद को देख-देखकर सिगरेट..."

यावर ने निक्की की ओर देखा।

"सिगरेट..." निक्की काँप-सी गई। युसुफ़ ने अपराधियों की तरह सिर झुका लिया और हाथ में पेन लिए किताब पर इधर-उधर स्केच बनाता रहा। किनारों के पास अभी काफ़ी जगह बची हुई थी जहाँ वह कुछ और चीज़ें बना सकता था।

"प्रॉब्लम क्या है तुम्हारी युसुफ़?" निक्की ने माथे पर बल डालकर कहा। उसके लहज़े में गुस्से से ज़्यादा हैरत और विवशता झलक रही थी।

"अगर आप मुझसे छोटी होतीं निक्की बाजी तो क्या डाँटतीं मुझे? यह भी तो एक प्रॉब्लम है। मैं अगर आप से बड़ा होता तो मेरा भविष्य पहले से तय हो जाता और...और..." युसुफ़ की बात अधूरी रह गई। नए आए नौकर ने ज़ोर-ज़ोर से किवाड़ खटखटाया। "बीबी जी खाने के लिए बुलाता।" वह बड़ी ख़ुशी से टूटी-फूटी उर्दू में बोला।

"तो क्या होता फ़्यूचर का पता चल जाने से?" निक्की ने पूछा,

"असल में निक्की बाजी इनको लग रहा है कि आप आगे-आगे भाग-सी रही हैं और यह पीछे-पीछे भागते हुए गिर-गिरकर उठ रहे हैं। आप अव्वल आ रही हैं और यह मुश्किल से पास हो पाते हैं। ख़ुदा-ना-ख़ास्ता कहीं फेल हो गए तो...तो फिर..."

"तो फिर और छोटा हो जाऊँगा आपसे उम्र में। मेरा मन ही नहीं लगता पढ़ने में।"

"अब ज़्यादा फ़लसफ़ा मत झाड़ो। पिछले साल दसवीं तक तो फ़र्स्ट आते थे। असल में मुझे ही पढ़ाना नहीं आता। मैं अब तुम लोगों को आज के बाद..." यावर ने झट से किताब बंद की, "नहीं नहीं निक्की बाजी युसुफ़ भाई की ग़लती की सज़ा मुझे क्यों? मैं तो निहायत शरीफ़ आदमी हूँ। मेहनती बच्चा हूँ। अच्छा बच्चा।"

"बिलकुल, बिलकुल, इसमें कोई शक की गुंजाइश ही नहीं।" युसुफ़ ने उसका पहलू गुदगुदाया तो अँगड़ाई के लिए उठे हुए हाथ गिराकर वह ज़ोर से हँसा।

उस दिन सूरज की किरनें चमकीले आसमान से होती हुई बाग़ीचे में गिर रही थीं। टीन की, ढलवा साख़्त की छत से बर्फ़ पिघल-पिघलकर बूँदें बन टपकती रही। हवा कुछ तेज़ चलने लगती तो यह बूँदें ज़मीन पर गिरने से पहले जम जम जातीं और केवल कोई महीन-सा क़तरा गिरता। शेष पानी की शुंडाकार नलियों की शक्ल में लटकती रह जातीं।

ऊँची दीवार के बाहर छोटे दरमियानी रास्ते पर बच्चे साईकिल चला रहे थे। आज कर्फ़्यू नहीं था। निक्की धूप में बैठी अख़बार देख रही थी। उसकी माँ तबस्सुम बेगम भी आई हुई थीं और तनवीर मौसी के साथ बैठी साग चुन रही थीं। गेट पर गाड़ी रुकने की आवाज़ आई।

"ड्राइवर आ गया। बाज़ार हो आएँ ज़रा! अभी तीन घंटे कर्फ़्यू नहीं लगेगा।" तनवीर बेगम गेट की ओर पलटकर बोलीं। लेकिन ड्राइवर नहीं युसुफ़ हाथ में चाबी लिए अंदर दाख़िल हुआ।

"अरे मेरे बच्चे! 18 का तो हो जा पहले।" तनवीर बेगम के चेहरे पर परेशानी थी।

''इतनी अच्छी तो चलाता हूँ चाची, फिर मैंने कॉलोनी के अंदर ही तो ड्राइव की थी।'' वह विनम्रता से बोला।

''अल्लाह अपनी हिफ़ाज़त में रखे तुम्हें...'' वह दोबारा साग चुनने लगीं।

''फिर मैं 18 से कम लगता हूँ क्या?'' उसने निक्की के क़रीब जाकर अख़बार उठाते हुए तनवीर बेगम के पास बैठकर कहा।

''नहीं, माशाअल्लाह वह बात नहीं बेटा। मगर फिर भी तुम्हें...'' तनवीर बेगम ने उसके सिर पर हाथ फेरा।

''जो बात ग़लत है, वह ग़लत है। ठीक कहती हैं तनवीर।'' निक्की की माँ ने साग के बड़े-से पत्ते से हरे रंग का छोटा-सा कीड़ा उठाकर बाग़ीचे की सूखी घास वाली भीगी ज़मीन पर फेंका। एक मैना उड़ती हुई आई और कीड़े को चुगकर दूसरी ओर उड़ गई।

''उई ममा!'' निक्की ने झुरझुरी-सी लेकर माँ का चेहरा देखा।

''मतलब?'' तबस्सुम बेगम की त्योरी चढ़ गई।

''डरती हो कीड़ों से?'' तबस्सुम बेगम ने हैरत, नफ़रत और चिंता को निहायत कमाल से अपने लहज़े में शामिल कर लिया था। उनके नथुने फूल गए थे।

''कल मेंढ़क को कैसे डिसेक्ट करोगी तुम बोलो?'' उन्होंने सिर पकड़ लिया।

मेरी उम्मीदों पर पानी फेर दोगी। मेरा अधूरा सपना पूरा नहीं करेगी यह लड़की। यह डरपोक लड़की। मुझे पहले ही शंका थी इसकी तरफ़ से। उन्होंने तनवीर बेगम की ओर देखकर आवाज़ में दुख भर कर कहा और जल्दी-जल्दी पलकें झपकानी शुरू कीं जैसे आँसू पी रही हों। फिर सिर को ज़्यादा झुकाकर साग चुनने लगीं। सब उन्हें ख़ामोश देखते रहे।

''नहीं ममा, जो आप कहेंगी मैं वही करूँगी।'' निक्की रूआँसी होकर बोली।

युसुफ़ ने समाचार पत्र का पन्ना पलटा। अगले बरस जिस दिन बर्फ़ानी तूफ़ान ने बहुत से पेड़ों और कई मकानों को अपनी लपेट में ले लिया था उस दिन तक और भी बहुत से परिवर्तन हो चुके थे।

परीक्षाओं के नतीजे आ चुके थे। यावर अच्छे नंबरों से पास होकर नई कक्षा में आधा बरस गुज़ार चुका था। युसुफ़ फ़ेल हो गया था और उसके घरवाले उससे नाराज़ थे। निक्की अपनी माँ की देख-रेख में एंट्रेंस की तैयारियों में व्यस्त थी।

पढ़ने के कमरे में युसुफ़ और यावर रह गए थे। ''निक्की बाजी को यहाँ बैठकर कितना अच्छा लगता होगा!'' यावर निक्की की जगह तकिए से टेक लगाकर बैठा और खिड़की से बाहर देखने लगा।

''तुम अपनी जगह बैठो ना। बड़ों की जगह पर नहीं बैठते। अगर इस वक़्त निक्की बाजी आ गईं तो क्या सोचेंगी कि मेरी जगह बैठ गया है, यावर शायद नहीं चाहता कि मैं कभी आकर फिर इस जगह बैठूँ।'' युसुफ़ ने अपनी विशेष जगह पर बैठते हुए धीरे-से कहा तो यावर उछलकर अपनी सीट पर पहुँच गया जैसे उसकी निक्की बाजी आ ही गई हों।

''अरे बाप रे! सॉरी युसुफ़ भाई।''

युसुफ़ लंबे से रजिस्टर पर झुक गया।

निक्की के बाएँ कान की बाली झिलमिल करने लगी। बालों की लट ने आधा गाल छुपा लिया। निक्की मुँह में क़लम दबाए फ़लों वाले हेयर बैंड में बाल समेट रही है।

रजिस्टर के तीन पन्नों पर मैथ का एक ही प्रश्न हल किया गया है। एक सियाह रोशनाई से निक्की के हाथों, दूसरे दो पन्नों पर यही प्रश्न युसुफ़ ने हल करने की कोशिश की है जिस पर निक्की ने सुर्ख़ क़लम से ठीक किया है। पन्ने के किनारे पर दो आँखें बनी हैं। अभी-अभी युसुफ़

ने पेंसिल से बनाई हैं। काली-काली पुतलियों वाली दो आँखें।

नीली आँखों में पानी तैर रहा है अगर कहीं पलक झपक गई तो आँसू चेहरे पर उगी छोटी दाढ़ी में से गर्दन पर बह निकलेगा और कहीं यावर देख ले उसका मन उदास हो जाएगा।

छोटी-सी राहदारी में यावर की बातों की आवाज़ सुनी तो सीढ़ी पर निक्की के तेज़-तेज़ उठते हुए क़दमों की आवाज़ और कपड़ों की सरसराहट सुनाई दी। वह किचन से निकलकर आती हुई ममा से टकराते-टकराते बची।

"सॉरी ममा।"

"अभी चोट लगती, कल आख़िरी पर्चे के दिन तुम..."

"तो रेस्ट कर लेती ममा, मेरी सारी तैयारी हो चुकी है। आज तो कुछ घंटे आराम भी कर सकती हूँ। यह जनाब किधर से रास्ता भूल गए।" वह मुस्कुराती हुई बोलती चली गई।

"अल्लाह ने मेरी सुन ली ख़ाला..." यावर ने तबस्सुम बेगम का हाथ पकड़ लिया। वह निक्की की ओर देख रही थीं। भृकुटियों के बीच एक लकीर खिंची थी।

तबस्सुम बेगम उसकी ओर पलटीं तो वह निक्की बाजी को देखने लगी।

"अस्सलाम वालेकुम निक्की बाजी।" आँखों के गिर्द के गड्ढे बता रहे हैं कि ख़ूब पढ़ाई हो रही है। बल्कि हो चुकी हैं। अपना यह छोटा-सा भाई भी याद है कल मेरा मैथ्स का एग्ज़ाम है।" वह चिंतित नज़र आने लगा।

"केवल एक घंटा चाहिए आपका निक्की बाजी। आप अपनी किताबें ले चलिए। वहीं रिविज़न कर लीजिएगा।" वह तबस्सुम बेगम के चेहरे की ओर देखने लगा।

"ख़ाला आज निक्की बाजी को भेज दें मेरे साथ। क़सम से बिलकुल कुछ नहीं आता मुझे। फ़ेल हो जाऊँगा ख़ाला। रही-सही इज़्ज़त ख़ाक में मिल जाएगी।"

"चुप बदमाश कहीं का। तू तो माशा अल्लाह ख़ुद लड़का है।"

"ख़ाला आप यक़ीन करें यह आठवीं का मैथ्स इतना मुश्किल है कि कुछ समझ में नहीं आता और फिर निक्की बाजी बेचारी जैसे क़ैद बामशक़्क़त काट रही हैं। वह भी थोड़ा घूम आएगी। अम्मी ने ताक़ीद की थी ख़ाला कि निक्की बाजी को कुछ रोज़ के लिए साथ ले आऊँ। अम्मी ने उन्हें सपने में देखा था। याद करके तड़प रही थीं। आपको मेरे सिर की क़सम ख़ाला।" यावर ने तबस्सुम बेगम का हाथ झट अपने सिर पर रख लिया।

तनवीर बेगम ने निक्की को गले लगाया तो वह उनकी बाँहों में जैसे ग़ायब-सी हो गईं।

"मेरी बच्ची मेरी जान यह क्या मुसीबत है। यह एंट्रेंस, उफ़ नन्ही-सी जान।"

निक्की उनके सीने से लगी रही। तनवीर मौसी के पीछे कोई छह क़दम की दूरी पर अधखुले दरवाज़े की दहलीज़ में खड़े युसुफ़ के चेहरे पर अस्पष्ट-सी मुस्कुराहट थी।

मौसी के कंधे के ऊपर से होकर निक्की की निगाहें जब उससे मिलीं तो वह कमरे के अंदर चला गया।

उस रात चाँद की फीकी रोशनी में टीन की छत वाला मकान हल्की-हल्की चमक बिखेरता पुरसुकून सो रहा था। केवल पढ़ने का कमरा रोशन था। यावर पढ़ते-पढ़ते गणित की कॉपी पर गाल रखकर सो गया। "केवल दस मिनट तक आराम कर सकते हो तुम।" निक्की ने उसका सिर सहलाते हुए कहा। उसने धीरे-से आँखें थोड़ी-सी खोलीं और फिर मूँद लीं।

"दो आख़िरी सवाल और तुम्हारी छुट्टी, तो तैयारी मुकम्मल है..." वह बोली। यावर नींद के झोंकों के बीच एक पल को हल्के से मुस्कुराया और दूसरे पल कमरे में उसके छोटे-छोटे ख़र्राटे गूँजने लगे।

वह दोनों चुपचाप उसे देखते रहे। उनके चेहरों पर भी पुरसुकून-सी मुस्कुराहट फैली हुई थी।

"अब क्या करोगे युसुफ़?" निक्की का चेहरा उदास हो गया।

"अब क्या होगा निक्की बाजी; अब क्या हो सकता है...अब आप..."

दूर कहीं मशीनगन ने लगातार कई गोलियाँ बरसाई बाग़ीचे में लगे सफ़ेदे के पेड़ों में कौवे यहाँ वहाँ उड़कर काँव-काँव करने लगे कुछ देर बाद दोबारा मौन छा गया। "मैं और पीछे रह गया निक्की बाजी। हम साथ नहीं चल सकेंगे ना निक्की बाजी।"

युसुफ़ की आवाज़ की पीड़ा स्पष्ट हो गई थी। निक्की ने सिर बहुत ज़्यादा झुका लिया था। वह सोए हुए यावर के बालों में उँगलियाँ फिराती रही। आँसू उसकी आँखों से बह-बहकर उसके गले के क़रीब दुपट्टे में जज़्ब होते गए।

"आप कुछ न बोलेंगी निक्की बाजी, मैं जानता हूँ।" उसकी थकी हुई आवाज़ में शिकायत ही शिकायत थी।

"मगर मैं भी नहीं रहूँगा निक्की बाजी।" उसकी आवाज़ एकाएक तेज़ हो गई। "मर जाऊँगा ख़त्म कर डालूँगा ख़ुद को, ख़त्म हो जाऊँगा।" आवाज़ फिर मद्धिम-सी हो गई थी। निक्की ने सिर उठाकर उसके चेहरे की ओर देखा। परेशान-से चेहरे पर वीरान-सी आँखें, छोटी-छोटी मूँछें और दाढ़ी अब कुछ घनी हो गई थी। इतनी कि सुर्ख़ोसफ़ेद चेहरे पर एक स्याह हाशिया बनाकर उसे कुछ और ख़ुश-शकल बना रही थी।

आँसू बह निकले थे।

"चला जाऊँगा दूर आप से इतनी दूर कि...कि..." उसने दबी-सी हिचकी ली। निक्की ने अनायास अपने गले पर हाथ रख दिया जैसे उसका दम घुटने लगा हो।

"नहीं।" वह स्वर के कंपन पर क़ाबू पाने की कोशिश करती रही।

"निक्की बाजी मैं मिलिटेंट बन जाऊँगा। दुनिया छोड़ दूँगा।"

"नहीं। पागल हो गए हो क्या? यह सब क्या कह रहे हो?" निक्की तड़पकर बोली।

"तुम तनवीर ख़ाला से अगर बात करो तो वह हम दोनों से कितना प्यार करती हैं।" निक्की ने दुपट्टे से अपनी आँखें पोंछी।

ममा को समझा सकती हैं, हैं न?

"हाँ शायद...शायद..." बुझी आँखों में आशा के दीप रोशन हुए।

जिस दिन निक्की की माँ निक्की की क़ामयाबी की ख़ुशियाँ मना रही थीं उस दिन निक्की पत्थर की तरह ख़ामोश हो गई थी।

उसी दिन युसुफ़ ने तनवीर ख़ाला से बात की थी और तनवीर ख़ाला कुछ लम्हों तक कुछ न बोली थीं। युसुफ़ के चेहरे को देखती रह गई थीं कि कहीं वह मज़ाक़ तो नहीं कर रहा। मगर उसके चेहरे पर ऐसी गंभीरता थी कि तनवीर बेगम ख़ुद को लाचार-सा महसूस करने लगीं। फिर उसके सिर पर हाथ रखकर मुस्कुराईं।

"वह तो तुम्हारी बड़ी बहन है बेटा। मज़ाक़ करते हो अपनी चाची से? वह भी एक बेजोड़-सी बात के लिए। उसकी माँ मेरी ज़बान से कहीं ऐसा सुन ले तो मुझे ज़िंदगी भर माफ़ न करे। जानते तो हो उसका मिज़ाज!" उन्होंने चूल्हे पर चढ़ी नमक वाली चाय से भरे ताँबे के गोल पेंदे वाले पतीले में ज़रा-सा झाँका और चाय का रंग जाँचने के लिए लंबे दस्तेवाला कफ़गीर पतीले में घुमाने के बाद उसमें चाय भर-भरकर वापस डालती रहीं। जालीवाले दस्ते के अंदर पड़ी कंकरियाँ ऊपर-नीचे होने से बजने लगीं। कफ़गीर पतीले के किनारों पर टिकाकर तबस्सुम बेगम फ्रिज की ओर दूध लेने के लिए बढ़ीं। इस बीच उन्होंने युसुफ़ की ओर नज़र नहीं उठाई।

"जानती हूँ मेरा बेटा मुझे ऐसे इम्तिहान में कभी नहीं डालेगा।" उन्होंने दूध के साथ चाय

प्यालियों में डालने के लिए बालाई की कटोरी निकाली और युसुफ़ की तरफ़ निगाह डाली। दीवार से लगा उन्हें ही देख रहा था।

"बैठो मैं चाय ला रही हूँ।" उन्होंने मुस्कुराकर और मुलाज़िम को दस्तरख़ान बिछाने के आवाज़ लगाई जो घर के पिछवाड़े बाड़ी पत्ता गोभी के लंबे पत्ते तोड़-तोड़कर रात के के लिए बेंत की टोकरी में जमा कर रहा था।

तनवीर बेगम जब मुलाज़िम को आवाज़ लगा खिड़की से पलटीं तो देखा युसुफ़ जा चुका था।

कहते हैं वह रात क़यामत की रात थी। शहर के अंदर हर घर में छापे पड़े थे। धमाके करके ग़ायब हो गए थे और गुनाहों को ग़लत मुख़बिरी के कारण धड़ा-धड़ पकड़कर किसी अज्ञात मंज़िल की ओर ले जा रहा था।

हॉस्टल से छुट्टियों में घर लौटे दो भाईयों को माता-पिता के सामने आतंकी के आरोप गोलियाँ मार दी गई थीं। ग़ुस्से, ग़लतफ़हमी किसी अनजाने कारण से रह-रहकर इंसानी चीखें कानों में पड़ती थीं। उस रात शहर में शायद ही कोई सोया था कि मौत के आने के डर के साथ-साथ इज़्ज़त जाने का डर भी था।

तनवीर बेगम के वहाँ से निकलकर युसुफ़ उसी सड़क पर चल रहा था जहाँ चौराहे का रास्ता झील की ओर जाता था, एक पहाड़ी की ओर। एक शहर के अंदर वाले इलाक़े की तरफ़ और एक निक्की के घर की ओर।

उस सड़क से गुज़रते हुए उसकी रफ़्तार अनायास धीमी होने लगी।

अनायास निगाहें दाईं ढलान की ओर उठ गईं। बिना गूँजे एक आवाज़ कानों तक आ गई। "तुम्हें मौत के साए में ज़िंदगी की बातें कैसे सूझती हैं युसुफ़।"

"आज से ज़िंदगी की बात नहीं करूँगा निक्की बाजी।"

काश...काश उस दिन कोई बंदूक़ तान देता हम पर। कितनी पुरसुकून, कितनी हयातबख़्श (जीवनदायिनी) मौत होती। मैं यूँ ज़िंदगी से भाग न रहा होता। मुझे भागना चाहिए यहाँ से। मगर जान बचाने के लिए नहीं, जान देने के लिए। यह ज़िंदगी ख़त्म करने के लिए...निक्की बाजी...बहुत दूर..."

उसकी आँखों में आँसू भर आए—ढलान के उस ओर किनारे पर उगी घास सूखकर बेरंग हो गई थी। वह भारी क़दम उठाता हुआ लंबी सड़क पर चला जा रहा था।

रास्ते में दुकानें थीं जो बंद हो रही थीं।

अभी तो अँधेरा भी नहीं हुआ, तो फिर दुकानें क्यों बंद हुआ करें। उसे दुकानों से कोई मतलब नहीं। उसने कुछ और क़दम आगे बढ़ाए ही थे कि सायरन की तेज़ आवाज़ कानों से टकराई। उसने दाएँ-बाएँ देखा। बस यूँ ही बेख़्याली में शायद। सड़क वीरान थी और तमाम दुकानें बंद हो चुकी थीं। सायरन के बाद लाऊडस्पीकर पर कोई एलान हुआ। आवाज़ दूर से आ रही थी। वह चलता रहा। यहाँ तक कि सड़क एक मोड़ पर मुड़ गई। कुछ फ़ासले से बख़्तरबंद गाड़ियाँ आती दिखाई दीं। वह वैसे ही चला जा रहा था।

मैं जा रहा हूँ निक्की बाजी...मैं। अचानक मोड़ पर बाईं ओर बस्ती के अंदर जाती कच्ची सड़क पर किसी ने उसकी बाज़ू पकड़कर उसे अंदर गली में खींच लिया। "कहाँ जा रहे हो कर्फ़्यू में, पागल हो क्या?" वह एक दाढ़ी वाला नवयुवक था। उसके साथ लगभग युसुफ़ की उम्र का एक लड़का था जिसने दोनों हाथों में दो गेंदें-सी थाम रखी थीं। दाढ़ी वाले नवयुवक के पास एक थैला था जिसमें कुछ सामान था। उसने वह थैला उस ज़ीने पर रखा जहाँ उसने युसुफ़ को खींचकर बिठा दिया था। ज़ीना किसी मकान के पिछवाड़े से सटा था जो एक तंग गली में खुलता था। इससे पहले कि युसुफ़ कुछ कहने के लिए ज़बान खोलता, उसने देखा कि मोड़ के

क़रीब पहुँचने से बहुत पहले उसकी ही उम्र का लड़का गाड़ियों की ओर दौड़ा और दो गाड़ियों को अपनी गेंदों का निशाना बनाकर गली की ओर भागा। दाढ़ी वाले नवयुवक ने कानों पर हाथ रख लिए, गगनभेदी धमाका हुआ।

''बेशक सब कुछ अल्लाह का है और अल्लाह की तरफ़ लौटना है।'' नवयुवक बुदबुदाया।

''कक...कक...क्या हुआ?'' युसुफ़ बुरी तरह घबरा गया था। शाहबाज़ शहीद हो गया वतन पर क़ुर्बान हुआ, दीन पर क़ुर्बान हुआ।

नवयुवक ने बहुत दबदबे के साथ मगर प्रभावहीन आवाज़ में कहा और आकाश की ओर उड़ते हुए स्याह गफ़ धुएँ को देखने लगा।

''आक़ा!'' शाहबाज़ उसी पल गली में नमुदार हुआ था।

''तुम...तुम शहीद नहीं हुए!'' वह हैरत और दुख से बोला।

''नहीं आक़ा।'' शाहबाज़ ने सिर झुका दिया।

''क्यों बदनसीब?'' उसने दायाँ हाथ हवा में लहराया।

''बाक़ी की गाड़ियाँ बहुत दूर थीं। मैं किस पर कूदता?'' वह धीरे से बोला।

''आह बदबख़्त, क्या इसी दिन के लिए हमने तुम्हें शाहबाज़ का ख़िताब दिया था, जब तक गाड़ियाँ सामने आतीं ख़ुद दौड़कर क़रीब चले जाते। इसीलिए हमने कहा था कि फ़िदा होने के लिए दस्ती बम ऐसे असरदार न होंगे। दूसरे होते तो हम ख़ुद रिमोट से कंट्रोल करते और अब तक तुम जन्नत में होते और उनका काम तमाम हो गया होता।''

''अगर कोई शहीद होता है तो क्या उसके माँ-बाप भी जन्नत में जाते हैं।'' युसुफ़ ने नौजवान को ख़ामोश होते देखकर फ़ौरन सवाल किया।

''हाँ बिलकुल ऐसा ही होता है...'' नौजवान ने अत्यंत गंभीरता से कहा।

''मगर मैंने तो ऐसा कहीं नहीं पढ़ा। हाफ़िज़ की माँ जन्नत में जाती है वह भी अगर उसने ख़ुद अपनी औलाद को क़ुरान शरीफ़ का हाफ़िज़ कराया हो। वरना मैंने किसी हदीस में यह नहीं पढ़ा कि...'' युसुफ़ ने जिज्ञासा से कहा।

''नादान हो तुम, जिहाद के रास्ते में।'' वह हाथ आसमान की ओर उठाकर ख़ासी गंभीर आवाज़ में कहते-कहते रुका।

''यहाँ क्रेक डाऊन होगा भागो जल्दी।'' उसकी आवाज़ एकाएक भयभीत हो गई। शाहबाज़ फिरन के अंदर पहनी बास्केट की जेबों में भरे बम निकाल-निकाल कर ज़ीने पर रखे, थैले में डाल रहा था।

''रहने दो बाद में निकाल लेना। पकड़े जाएँगे वरना।'' नवयुवक जल्दी से उठते हुए बोला।

''रास्ते में कहीं फट गया आक़ा तो?''

''तुम इतने ख़ुशनसीब कहाँ हो।'' नौजवान ने उसे नज़र भरकर देखा।

''आक़ा मेरा मेरा मतलब था अगर ग़लत जगह कहीं फट गया तो...तो ख़ुदा-ना-ख़ास्ता आपको कहीं आप...'' वह हकलाया।

''आप इज़ाज़त दें तो थैला मैं सँभाल लूँ?'' युसुफ़ ने दृढ़ स्वर में कहा तो दाढ़ी वाला नवयुवक मुस्कुरा दिया।

''मुबारक़ सद मुबारक़...'' उसने युसुफ़ को ध्यान से देखा और गली के अंदर मुड़ गया।

कहते हैं वह रात क़यामत की रात थी। घाटी के हालात बिगड़ते चले गए। किसने रात में धावा बोला। कोई अपने घर में तो ऐसा नहीं करता। कोई बाहर का होगा। सोलहवीं शताब्दी से ही यह सिलसिला शुरू हो गया था। चंद्र गुप्त मौर्य और फिर अशोक के महान हिंदुस्तान को अफ़ग़ानिस्तान और नेपाल की अंतिम सीमाओं तक फैलानेवाली महान मुग़लिया के शहंशाहों ने भी। जब कवयित्री लोकप्रिय और प्रसिद्ध मलिका कश्मीर के कवि बादशाह युसुफ़ शाह चिक को अकबरे आजम ने धोखे से क़ैद कर लिया था। शाह अपने वतन और अपनी मलिका से दूर शहीद हो गए। वतन की मिट्टी भी उसे नसीब नहीं हुई। जुदाई के गीतों से अपनी बयाज़े स्याह

कर डालीं और अंततः अपने युसुफ़ को पुकारते-पुकारते हिबा ख़ातून इस दुनिया से विदा हो गई। घाटी में उसके गीत गूँजते रहे : नादलाए मियाने युसुफ़ वलो (पुकारती हूँ मैं तुझको मेरे युसुफ़ आ जा)

फिर अफ़ग़ानिस्तान से अफ़ग़ान आए, फिर पंजाब से सिख, और फिर सात समंदर पार से अंग्रेज़ों ने आकर घाटी को जम्मू के डोगरों को बेच दिया। सबने जी भरकर अत्याचार किए।

निक्की ने यह सब किताबों में पढ़ा था। और कश्मीरी पराधीन ही रहे सदियों। अब कहीं आधी सदी भर पहले प्रजातंत्र आया तो कुछ शांति के बाद फिर यह...क्यों हो रहा है...यह सब क्यों?

जाने क्यों आज उसे बिलकुल ही नींद नहीं आ रही थी। जाने क्या-क्या सोच रही थी वह। कभी-कभी अचानक घबरा उठती थी। नहीं... अचानक नहीं...जब कहीं किसी धमाके की आवाज़ आती।

रात लंबी होती जा रही थी। अगर सुबह हो जाती तो वह तनवीर ख़ाला के वहाँ फ़ोन करके ख़ैरियत मालूम करती उनकी, सबकी ख़ैरियत। उसे रह रहकर जाने कैसी महरूमी का अहसास हो रहा था। एक अजीब से ख़ालीपन का। एक जानलेवा-सी चिंता का। कौन-सी चिंता थी यह। उसे ठीक से कुछ समझ में नहीं आ रहा था। वह यावर से बात करना चाह रही थी या शायद युसुफ़ से कोई बात हो पाती अगर...यावर से भी कोई संपर्क न हुआ था कल से। शायद युसुफ़ ने तनवीर ख़ाला से कोई बात की हो। कोई पुर-उम्मीद बात होती तो अब तक...

सुबह जब तनवीर बेगम को मालूम हुआ कि युसुफ़ कल रात अपने घर नहीं गया था तो उसने दो-एक जगह फ़ोन करने के बाद यहाँ फ़ोन किया था कि शायद किसी को मालूम हो। तो निक्की का सिर ज़ोर से चकराया था।

"चला जाऊँगा निक्की बाजी। दूर चला जाऊँगा। इतनी दूर इतनी दूर हो जाऊँगा कि आप..." युसुफ़ ने दबी-दबी हिचकी ली थी।

निक्की बेहोश हो चुकी थी।

कई दिन हो गए थे। युसुफ़ की कोई ख़बर नहीं थी। उसके वालिद को दिल का दौरा पड़ चुका था। उसकी स्थूलकाय माँ का वजन आधा हो गया था और उसकी तनवीर चाची अपनी भाँजी से नज़र न मिलाती थी और युसुफ़ की सलामती की दुआएँ माँगा करती।

निक्की पत्थर की मूर्ति-सी कॉलेज जाया करती। जब दिन महीनों में बदले और तीन महीने हो गए तब एक दिन यावर के स्कूल के बाहर युसुफ़ खड़ा नज़र आया तो वह दौड़कर उससे लिपट गया, "कहाँ चले गए थे युसुफ़ भाई।" वह रो पड़ा युसुफ़ की आँखें भर आईं। "क्यों चले गए थे युसुफ़ भाई अब तो नहीं जाएँगे ना! सबको दुखी कर दिया आप ने। हम सब मर जाएँगे आपके बग़ैर। मत जाइएगा अब कभी भी।" वह उसके सीने से सिर टिकाए कमर में बाँहें डाले बोलता रहा। और युसुफ़ जो उससे न जाने क्या-क्या कहने आया था। उसका सिर सहलाता रहा।

"मैं घर से ही आ रहा हूँ। सुबह आया था। सब ख़ैरियत है ना उधर?"

"हाँ, उधर बड़ी ख़ाला के वहाँ ना!" उसने युसुफ़ की आँखों में मिलती-जुलती, आँसुओं से भरी आँखें उठाकर उसे देखा तो युसुफ़ ने सकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

"निक्की बाजी बिलकुल अधमुई-सी हो गई हैं। पीली हो गई हैं। वह तो किसी से बात ही नहीं करतीं। अब तो..."

मसहरी पर औंधी, अपनी बयाज़ पर झुकी निक्की को ख़बर ही न हुई कि कब यावर आकर उसके पलंग के क़रीब क़ालीन पर बैठ गया।

रास्ता भूल गईं ख़ुशियाँ।
ढूँढ़ो जाकर किस रास्ते।

यावर ने एक पन्ने पर नज़र डाली। बेचारी निक्की बाजी।

तेरी दो आँखों की राहत जो गई।
ज़िंदगी मेरी मुसीबत हो गई।

"निक्की बाजी... ! कैसी हैं निक्की बाजी?" यावर ने चेहरा ऊपर किया।

पल भर को निक्की का दिल जैसे हलक़ में उछल आया था। दो-तीन बरस पहले युसुफ़ ऐसा ही दिखा करता था। उसने गले के क़रीब हाथ रखकर जैसे घायल परिंदे से फड़कते दिल को सँभाला, "कैसा है मेरा प्यारा-सा, छोटा-सा दोस्त, मेरा भैया।" उसने ख़ुशदिली का प्रदर्शन करने की कोशिश की और यावर के बालों पर हाथ फेरा।

"बहुत ख़ुश हूँ निक्की बाजी मैं।" ख़ुशी उसकी मासूम आवाज़ से छलक रही थी। निक्की व्याकुल आँखों से उसके चेहरे की प्रतिक्रिया में अपने सवालों के जवाब माँगने लगी तो उसने किताबों के बैग में रखे पेंसिल बॉक्स से एक पर्चा निकाल कर उसके हवाले किया।

वे दोनों पहाड़ी के दामन में कई बारादरियों से सज्जित बाग़ के ऊपरी बाग़ीचे के कोने में बैठे थे। सदियों पहले मुग़ल शाहज़ादे दारा शिकोह ने सितारों की चाल जानने के लिए डल झील के किनारे कोहे ज़बरोन पर यह जंत्र-मंत्र बनवाया था कि उसे ज्योतिष शास्त्र में ख़ासी रुचि थी। बाग़ का नाम परी महल रखा गया था।

अनगिनत फूलों से सजे इन बाग़ों से झील का मंज़र अत्यंत आकर्षक लगता था। झील के किनारे बने मुग़ल बाग़ों की सैर करनेवालों की संख्या शाम आठ बजे बढ़ जाया करती थी लेकिन इधर अब ऐसा कभी-कभी होता था।

किनारे पर रंग-बिरंगी छोटी किश्तियों की क़तारें सूनी थीं। यह किश्तियाँ शिकारे कहलाती थीं और घाटी के अच्छे दिनों में पर्यटन का व्यस्त केंद्र होतीं। बड़े-बड़े गुलबूटों वाली सीटों और खुश रंगा रेशमी पर्दों वाली इन किश्तियों को किनारे बाँध नाविक जाने कहाँ चले गए थे हालाँकि बहार शबाब पर थी। दूर बीच झील के, एक छोटी-सी बिना छत की नौका जिसकी लकड़ी का सारा रंग पानी ने चूस लिया था दूसरे किनारे की धीमी गति से जा रही थी।

"कहाँ थे तुम?" निक्की ने उसे कुछ लमहों तक ध्यानपूर्वक देखा। वह एकदम बदला-बदला लग रहा था। उसने दाढ़ी बढ़ा रखी थी। घुटनों से नीचे तक लंबाई वाले कुर्ते के ऊपरी खुले बटन में से सीने में उगे स्याह बाल झाँक रहे थे। आँखों के गिर्द स्याह गढ़े थे और घुँघराले बाल पहले की तरह दाईं भृकुटि तक आ रहे थे जिनके पीछे नीली-नीली आँखें जैसे सारे संसार की चिंता में डूबी हुई थीं।

"तुम मेरे साथ चलोगी अनीक़ा?" युसुफ़ की आँखें एकाएक बाग़ी हो गई थीं। उसकी संबोधन शैली पर निक्की चौंकी नहीं थी।

"कहाँ?" छोटे-से फाटक के क़रीब लगे सौंफ़ के पौधे हवा के झोंकों से लहराए। एक दिलरुबा-सी महक फैल गई। "यही एक रास्ता है। वरना कोई आपको क्यों मुझे सौंपने लगा। हाँ नहीं कहेंगी निक्की बाजी तो...तो ख़ुदा की क़सम..." वह पल भर में पहले की तरह उदास और मजबूर-सा हो गया। आँसू भर आए।

"नहीं युसुफ़ नहीं।" उसकी एक आँख से आँसू टपका तो निक्की ने उसे अपनी अनामिका से पोंछ लिया।

"ऐसा मत करो। ऐसा न कहो। यह कैसे मुमकिन होगा, यह क्योंकर होगा?"

"क्यों नहीं होगा बाजी..." उसने निक्की का हाथ पकड़ कर अपनी आँखों पर रख दिया।

बिल्ली-सी दुम वाली एक स्याह चिड़िया सामने ज़र्द गुलाबों की क्यारी पर आ बैठी और चोंच आसमान की ओर उठाकर ज़ोर से चहचहायी। युसुफ़ ने निक्की का हाथ अपनी आँखों से हटाया और नज़र दौड़ाकर चिड़िया की ओर देखा। निक्की ने भी चौंककर उधर देखा था। दोनों मुस्कुरा दिए, "हम ऐसे ही हमेशा साथ नहीं रह सकते निक्की बाजी। मान जाइए

ना। मैं आपकी तालीम जाया नहीं होने दूँगा। खुद भी कोई अच्छा काम करूँगा। मेरे दोस्तों ने सब इंतज़ाम कर रखा है। हम निकाह कर लेंगे। फिर कोई हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। वरना बाद में कभी ऐसा मौक़ा नहीं आएगा। अभी हाँ कर दीजिए निक्की बाजी।''

निक्की अपने घुटनों को बाँहों के घेरे में लिए बैठी अपने पाँव देखती रही।

''मैं तुम्हें दुनिया की हर ख़ुशी दूँगा। अपना सब कुछ तुम्हारे क़दमों में रख दूँगा। हमारा छोटा-सा घर होगा। तुम हमेशा मुस्कुराती रहोगी। कोई तुम्हारी माँ की तरह तुम पर बंदिशें नहीं लगाएगा।'' वह ख़ामोश हो गया और सिर झुकाकर निक्की के पैरों को देखता रहा। परिंदे चहचहाते रहे। सौंफ़ की ख़ुशबू हवाओं में घुलती रही। निक्की चुपके-चुपके रोती रही। एक आँसू उसके पैर पर गिरा। युसुफ़ ने उसे हाथ से पोंछ दिया।

''क्या हुआ निक्की बाजी?'' वह थकी हुई आवाज़ में बोला, ''मैं जानता था। आप मेरा साथ नहीं देंगी।'' उसकी आवाज़ भर्रा गई थी। वह आवाज़ के कंपन को क़ाबू में रखकर बोलता हुआ मोटर साईकिल तक आ गया।

सामने झील में सूरज ने गोता लगाया और डूब गया। आसमान का वह किनारा उस समय तक दहकते अंगारे-सा सुर्ख़ रहा जब तक मोटर साईकिल नीचे सड़क के मोड़ तक आ गई। युसुफ़ सामने देख रहा था और निक्की की नज़रों के सामने सड़क ख़त्म होने तक आसमान वैसा ही सुलगता रहा। कभी-कभी मंज़र धुँधला जाता मगर आँसू टपक जाते तो सब साफ़ नज़र आने लगता।

निक्की के घर को मुड़नेवाली गली के मोड़ पर युसुफ़ ने एक किनारे मोटर साईकिल रोक दी और दोनों पाँव ज़मीन पर टिकाए मोटर साईकिल पर ही बैठा रहा।

''आँखों से ओझल मत होना युसुफ़।'' निक्की की आवाज़ काँपती रही। हिचकियाँ घुटती रहीं।

''अपने फ़ैसले पर आप तमाम उम्र पछताएँगी निक्की बाजी।'' उसकी आँखों में मौत की-सी उदासीनता थी। उसने मोटर साईकिल स्टार्ट कर दी।

निक्की ने हैंडल पकड़े हुए उसके हाथ पर दोनों हाथ रख दिए। उसकी आँखों को भयभीत-सी नज़रों से देखते हुए उसने अपने हाथों की पकड़ उसके हाथों पर मज़बूत कर दी।

''ऐसा मत करना। ज़िंदा लाश न बनाना मुझे।''

युसुफ़ उसे चुपचाप देखता रहा। उसके होंठों पर एक शोकग्रस्त मुस्कुराहट फैल गई। और मोटर साईकिल आगे बढ़ गई।

निक्की मोड़ पर पत्थर की मूर्ति-सी खड़ी उसे दूर होता देखती रही।

''पुकारती हूँ मैं तुझको मेरे युसुफ़ आ जा'' गालों पर दो ताज़ा आँसू ढलक आए। दो आँखें सड़क के मोड़ पर छोड़कर वह घर की ओर मुड़ गई।

उन दिनों हालात और बिगड़ गए थे। घाटी और उदास हो गई थी। घरों में आदमी कम हो गए थे। मन उदास रहते थे। घरों से काम के लिए निकलने वालों के शाम को लौटने तक का पता नहीं था। घर में रहनेवाले शंकाओं से घिरे रहते। मर-मरकर जीते।

साल भर होने को आया, युसुफ़ की कोई ख़बर न थी। उस समय तक उसकी माँ का मन कभी उदास हो जाता और कभी आशापूर्ण। यह मन उसे दिन में कई-कई बार मारता और ज़िंदा करता था। उसके बाप को भी दिल का दौरा पड़ चुका था।

जिस दिन पड़ोस के किसी लड़के की पहचान के एक आदमी ने बताया कि युसुफ़ ज़िंदा है

मगर दूर सीमा के उस पार। उस दिन उसकी माँ सारा दिन केवल रोती रही थी।

मेरा बेटा ज़िंदा है मगर मौत की ट्रेनिंग ले रहा है—जाने कितनी बार उसने यह जुमला अपने आप से दोहराया था मगर दिल के मरीज़ शौहर के सामने केवल आहें भरकर रह जाती। ''हमसे दूर ही सही, ज़िंदा तो है, कभी-न-कभी लौट आएगा हमारे पास। आख़िर हमारा बच्चा है, हमारा ख़ून है।'' वह पति का तसल्ली दिया करती।

पतझड़ के आगमन ने चिनारों में आग लगा रखी थी। निक्की के घर के पिछवाड़े बाहरी दीवार के उस पार कुंजड़ों की खेतियाँ थीं। जिनमें कई तरह की सब्ज़ियाँ लहलहाया करती थीं, मगर उन दिनों वहाँ केवल कड़म का लंबी डंडियों वाला साग उगा हुआ था जिसके बड़े-बड़े पत्ते चिनार के पेड़ के पीछे से झाँकते हुए अक्तूबर के चाँद की भीगी हुई चाँदनी में निखरे-निखरे से नज़र आ रहे थे।

चाँदनी को अपनी मसहरी के किनारे तक आता देख निक्की उठकर खिड़की तक चली आई। कुछ लम्हे वहाँ खड़ी रहकर वापस बिस्तर पर लेट गई। वह आज भी सो नहीं पा रही थी। रात का पिछला पहर था। वह अँधेरे में आँखें खोले छत को टकटकी बाँधे देखती रही। आँसू उसके कानों में जमा होते रहे।

पास की तिपाई पर पड़े फ़ोन की घंटी बजी। लंबी दूरी की घंटी थी। निक्की ने लपककर रिसीवर उठाया कि घर में किसी की नींद ख़राब न हो। ''निक्की बाजी...'' उसकी महीन-सी हैलो के जवाब में आवाज़ आई। दिल सीने में ऐसे धड़का जैसे मुर्दा बदन में किसी ने उसी लम्हा आत्मा फूँक दी हो। उसका हाथ अनायास कंठ पर चला गया।

''युसुफ़!'' उसकी आवाज़ काँपी, ''मुझे जीते जी मारकर तुम...तुम कहाँ छुप गए युसुफ़? कब आओगे? कहाँ से बोल...'' वह हिचकियाँ लेने लगी।

''मैं मर नहीं सका निक्की बाजी। सिर्फ़ ज़ख़्मी होकर नामुराद पड़ा रहा। मगर ऐसा नहीं होगा अब। इस वक़्त समंदर पार हूँ।''

''तुम आ जाओ युसुफ़। मैं भी अधमरी हूँ। साथ मरेंगे दोनों।''

मेरा वहाँ आना नामुमकिन है। मेरे पास पासपोर्ट कहाँ है वहाँ का। जहाँ के पासपोर्ट से यहाँ आया हूँ। वह भी मुझे कहाँ छोड़ेंगे?''

''क्यों किया तुमने ऐसा युसुफ़? तुम मुझे किस क़ुसूर की सज़ा दे रहे हो। अपने वालदैन को क्यों सज़ा दे रहे हो? लौट आओ युसुफ़।''

''नहीं निक्की बाजी। बर्फ़बारी के वक़्त आने में न पकड़ा गया तो रूपोश (अंतर्धान, अदृश्य) तो रहना पड़ेगा। सबकी ज़िंदगी ख़तरे में कैसे डाल दूँ? यह मुमकिन ही नहीं होगा।''

''यह ग़लत रास्ता क्यों चुन लिया तुमने?''

''चुप! यह लफ़्ज़ दोबारा कभी मत दोहराइएगा। यहीं पर ख़त्म कर दिया जाऊँगा। शहादत का मौक़ा नहीं मिलेगा मुझे। आप नहीं जानतीं।''

''यह कोई शहादत है युसुफ़! तुम तो इतने ज़हीन थे। इतने समझदार थे। यह तुम्हें क्या हो गया! तुम...''

''बस कीजिए निक्की बाजी। हमेशा आप मुझे विद्यार्थी की तरह बातें समझाती आ रही हैं। अब मैं...?''

''मेरी मर्ज़ी...मेरी कौन-सी मर्ज़ी रही है...कैसी मर्ज़ी।'' आँखें भर आने से उसकी नाक बंद-सी हो गई तो आवाज़ भीग गई।

''सॉरी निक्की बाजी, दिल नहीं दुखाना चाहता आपका। माफ़ कर दीजिए मुझे। माफ़ कर दीजिए।'' उसकी आवाज़ भी रुँध गई और फ़ोन बंद हो गया।

निक्की ने फ़ोन कान से हटाकर गाल से लगा लिया। कितने समय के बाद उसने युसुफ़ की आवाज़ सुनी थी।

फ़ोन रखकर वह खिड़की के क़रीब आ गई। चौखट पर हाथ रखकर चाँद को देखती रही

और फिर दूर-दूर नज़र आते तारों को। शायद फ़ोन कट गया हो और फिर घंटी बज जाए, इस इंतज़ार में वह रात भर नहीं सोयी। सुबह तक भी नहीं।

कुछ महीने और गुज़र गए। निक्की उसके फ़ोन का इंतज़ार करती रही। घर के रास्ते में आनेवाले क़ब्रिस्तान में नर्गिस के पौधे कई बार ज़मीन से उगे हुए, फूले और मुरझाए। फ़ोन नहीं आया। रातों को बिरहा के गीत लिख-लिखकर उसने डायरियाँ भर दीं। हर दिन कॉलेज से लौटते समय क़ब्रिस्तान के क़रीब से गुज़रते हुए उसकी रफ़्तार सुस्त हो जाती। नज़रें उसी ओर उठ जातीं।

एक दिन उसने देखा कि क़ब्रिस्तान की दीवार के छोटे-से दरवाज़े की जगह बड़ा-सा फाटक लगाया गया है। 'बेशक सब कुछ अल्लाह का है और उसी की तरफ़ लौटनेवाला है।' फाटक की हरी महराब पर स्याह रंग की इबारत पर उसकी नज़रें ठहर गईं। कुछ लम्हे वह इबारत को देखती रही फिर उसके क़दम फाटक के बीच लगे छोटे-से किवाड़ की ओर उठ गए। वह छोटी-सी ढलान उतरकर मुँडेर से जा लगी। सामने दूर तक फैले हुए क़ब्रिस्तान में अनगिनत क़ब्रों का इज़ाफ़ा हो गया था। जगह-जगह नए शिलालेख खड़े थे।

उसका दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। वह ज़मीन पर बैठ गई और आँखें ज़ोर से मींच लीं।

"अगर इस समय कोई हम पर बंदूक़ तान दे तो क्या हमें भागना चाहिए निक्की बाजी।''

बंद आँखों से निकलकर आँसू निक्की के गालों पर फैल गए।

"नहीं...नहीं युसुफ़, तुम मुझसे दूर भाग गए। मैं...मैं कहाँ भाग सकती हूँ? मैं कहाँ जा सकती हूँ? मैं कहाँ जाऊँ...मेरे युसुफ़?''

निक्की चुपके-चुपके सिसकने लगी। ख़ूब रो लेने के बाद जब जी कुछ हल्का हुआ तो उसने आँखें खोल दीं। नर्गिस के फूलों में लगे शिलालेखों पर नाम, जन्म तिथि और मृत्यु तिथि दर्ज थी।

नसीर अहमद मलिक—जन्म 9.10.70
निधन—6.2.92
मुहम्मद राशिद मीर—जन्म 5.6.72
निधन—1.7.93

वह बौखलाई-सी मुँडेर से लगी बैठी दरो-दीवार तक फैले शिलालेखों को पढ़ती रही। उसके चेहरे पर पीड़ा उतर आई। होंठ दाँतों में भींचे सिसकियाँ लेते हुए उसने मुँह दूसरी ओर मोड़ा तो एक बिलकुल ताज़ा क़ब्र पर स्याह संगमरमर का शिलालेख नई-नई बहार की निखरी हुई ठंडी धूप में चमक रहा था। क़ब्रिस्तान के किनारों पर लगे बेद के पेड़ उस पर बार-बार साया किए देते थे।

युसुफ़ अहमद ख़ाँ—जन्म 11.3.1973
निधन—2.6.1993

''नहींऽऽऽ'' उसका हाथ अनायास उसके होंठों पर चला गया। दूसरा हाथ उसने अपने हलक़ पर रख दिया। दबी-दबी-सी चीख़ उसके सीने में घुटकर रह गई। हिचकियाँ ले-लेकर रोते हुए उसने आँखें बंद कर लीं। उसका बदन थर-थर काँप रहा था। गले को उसने ऐसे थाम रखा था जैसे उसकी जान उसी रास्ते से निकल भागनेवाली हो।

''यह नहीं होगा मेरे साथ, मेरे अल्लाह, यह नहीं होगा!'' उसने तड़पकर आसमान की ओर निगाहें उठाईं और पीछे मुँडेर पर उगी हरी नम घास पर हाथ टिका दिए। नीला आसमान बेदाग़ नज़र आ रहा था। आँसू उसकी आँखों से बह-बहकर चेहरा भिगोते रहे। दीवार से सटी मस्जिद में बिजली न होने के कारण मोमज़्ज़िन की बिना लाउडस्पीकर की पुरदर्द-सी अज़ान गूँजी।

चिड़ियों ने जब चहक-चहककर आसमान सिर पर उठा लिया तो निक्की ने अपनी सुर्ख़-सुर्ख़ आँखों पर दुपट्टा रखकर थके हुए पपोटों से

आँसू जज़्ब कर लिए और खड़े होने से पहले एक नज़र भर बाईं ओर देखा। एक बार फिर उसका हाथ उसके गले के क़रीब चला गया। वहाँ पर न कोई ताज़ा क़ब्र थी न शिलालेख। उसका दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था और उसे सख़्त प्यास लग रही थी।

फिर महीने सालों में बदलने लगे। उस दिन किसी ने युसुफ़ की माँ को फ़ोन करके बताया कि आज रात एक बजे युसुफ़ उनसे वीडियो कॉनफ्रेंसिंग के द्वारा संपर्क करेगा।

''हमारा बेटा ज़िंदा है, सलामत है...'' उसकी माँ ने यह ख़ुशख़बरी घर के हर सदस्य को अलग-अलग सुनाई। उस दिन वह सारा वक़्त लोरियाँ गाती रहीं और रह रहकर उसकी आँखें भीगती रही।

कंप्यूटर के मॉनीटर पर उसके बेटे की तसवीर उभरी तो वह पहचान ही नहीं पाई। उसने सिर मुंडवा रखा था। दाढ़ी गिरेबान तक बढ़ी हुई थी। आँखें अधखुली-सी थीं और जब उसने माँ-बाप को संबोधित किया तो उसकी आवाज़ थकी-थकी-सी थी।

''आ जाओ चाँद घर आ जाओ।'' माँ ने मॉनीटर पर नज़र आ रहे उसके चेहरे पर हाथ फेरा और रो पड़ी।

''तुम्हारी माँ मर जाएगी बेटा!'' बाप की आवाज़ काँप रही थी।

''अब्बू, अम्मी बीमार हैं युसुफ़। तुम्हारे बग़ैर घर बिलकुल तबाह हो गया है। तुम्हारे बिना किसी का जी नहीं लगता।'' बहन सिसकियाँ लेने लगी।

''इस तरह की बातों से मेरा ईमान कमज़ोर करने की कोशिश न करें आपलोग। बस दुआ करें मैं जामे शहादत नोश करूँ। और आप सबके लिए जन्नत के दरवाज़े खोल दूँ।''

उसके स्वर में संकल्प झलक रहा था मगर चेहरे पर दुख के साए थे।

''किसी तरह कुछ दिन के लिए आ जाओ। यह सब ठीक नहीं मेरे लाल। मैं तुम्हें समझा दूँगी। कुछ दिन के लिए तुम्हें सीने से लगाने के लिए मेरा कलेजा फटा जा रहा है।'' माँ रोती रही।

''मेरे जनाज़े को कंधा देने आ ही जाओ मेरे बच्चे।'' बाप लाचारी से बोला।

''अब जन्नत में मुलाक़ात होने की दुआ माँगिए अब्बू। अम्मी बुज़दिलों वाली बातें मत कीजिए।'' युसुफ़ की आवाज़ में निराशा शामिल हो गई।

''यह क्या कह रहे हो? किसने भटका दिया तुमको मेरे बेटे? हमारे पास कभी जी भर के बैठते, बात करते हमारे साथ तो हम तुम्हें समझाते!''

''उफ़! अब्बू फिर वही नसीहतें। फिर...आप मेरी बात कभी समझेंगे? अब्बू कभी नहीं। अच्छा कुछ दिन बाद फिर बात करूँगा मैं।'' उसके चेहरे पर पीड़ा उतर आई थी। मॉनीटर की स्क्रीन फिर कोरी हो गई।

काश वह एक झलक देख पाती! यावर से वीडियो कॉनफ्रेंसिंग की बात सुनकर निक्की के दिल में लालसा जागी और सो गई।

कुछ दिन बाद यह बात भी पुरानी हो गई और होती चली गई। युसुफ़ की कोई ख़बर न आई। एक बरस और बीत गया। यावर ने आकर निक्की को बताया कि युसुफ़ के वालिद अब ज़्यादा बीमार रहने लगे हैं और कुछ बेहतर होते ही युसुफ़ की माँ उन्हें हज्ज पर ले जाएँगी।

युसुफ़ के माँ-बाप हज्ज अदा करने के बाद किसी दूसरे शहर में चले गए और कोई दो महीने बाद लौटे। उन्हें देखकर ऐसा लगता था जैसे बरसों की उम्र जी कर लौटे हों। बहुत बूढ़े और बीमार फिर दूसरे ही दिन दिल का तीसरा दौरा पड़ने से युसुफ़ के पिताजी का निधन हो गया।

युसुफ़ की माँ के आँसू नहीं बहे थे। वह अब अकसर अपने कमरे में पड़ी रहतीं। उसका चेहरा

बिलकुल सपाट हो गया था। अब वह फ़ोन की घंटी पर चौंकती नहीं थी।

बहुत पहले जब युसुफ़ घायल हुआ था तो उसकी नाक से कई दिन ख़ून बहता रहा था। कारण समझ में नहीं आया था। किसी धमाके के दौरान कहीं से कोई चीज़ उसके ऊपर आ गिरी थी तब से ही उसके सिर में तेज़ दर्द रहता था। दर्द निवारक अनगिनत दवाइयाँ खानी पड़तीं। पहले पहल दर्द लंबे समय तक होता जो धीरे-धीरे कम होने लगा और अब यह हालत थी कि एक आध-पौन घंटे के अंतराल से दर्द उठता और छह-आठ घंटे रहता।

हज्ज के दौरान युसुफ़ ने अपने माँ-बाप से संपर्क किया था।

दूसरे शहर में मुलाक़ात तय हुई और बरसों बाद उन्होंने अपने बेटे को देखा जो बेहद कमज़ोर लग रहा था मगर वह माँ-बाप को देखकर मुस्कुराए जा रहा था।

दूसरे दिन समंदर के ऊपर बहुत से बादल इधर-से-उधर उड़ते फिर रहे थे जैसे बादलों का पहाड़ रास्ता भटक गया हो। द्वीप पर बने बहुमंज़िला इमारत के किसी ऊपरी कमरे की बालकनी में वे तीनों बैठे थे। युसुफ़ को हफ़्ते भर बाद ठिकाने पर लौट जाना था। माँ-बाप का वीज़ा भी ख़त्म होनेवाला था।

उस दिन युसुफ़ के वालिद बेहद पुरसुकून लग रहे थे। उनकी नज़रें बेटे के चेहरे से हटती नहीं थीं। उन्हें विश्वास हो गया था कि बेटा उनकी बात मान लेगा और वह उसे वापस ले आने का कोई न कोई रास्ता निकाल लेंगे क्योंकि उसने माँ-बाप की किसी बात के जवाब में कोई ज़िद नहीं की थी। ख़ामोश सुनता रहा था।

यह बात युसुफ़ की बहन ने यावर को बताई थी। बहुत दिन बाद जब उसकी माँ के सपाट चेहरे पर कुछ तास्सुरात उभरने लगे थे जब उसकी माँ रोने और बात करने लगी थी।

उस दिन माँ की गोद में सिर रखे बादलों को देखते हुए उसके सिर में दर्द उठा था जो किसी तरह कम होने में न आया और पहले से कहीं ज़्यादा तेज़ होता चला गया। एक्स-रे से पता चला कि उसके दिमाग़ की बाहरी ओर के तरल तत्त्व में बाईं आँख की बिलकुल सीध में कोई इंच भर लंबी एक गोली है जो बहुत पहले आँख के अंदरूनी कोने से घुसकर न जाने किस तरह बिना आँख की पुतली में लगे, सिर में बैठ गई थी। अब सर्जरी के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं था।

ऑपरेशन करके गोली निकाल दी गई, मगर युसुफ़ को होश नहीं आया। कुछ दिन कोमा में रहने के बाद वह मौत की गोद में चला गया।

क़ब्रिस्तान में उसे दफ़ना कर उसके माँ-बाप लौट आए थे।

निक्की के घर के रास्ते में पड़ने वाले क़ब्रिस्तान में किसी नई मैयत के लिए अब कोई नई जगह नहीं बची है। उसकी दीवारें जर्जर होकर कई जगह से टूट गई हैं। यहाँ तक कि बसंत के आगमन पर सड़क पर चलते समय मुँडेर तक जाए बिना नर्गिस के फूल आसानी से नज़र आ जाते हैं।

वहाँ से गुज़रते समय निक्की की रफ़्तार अपने आप धीमी हो जाती है। उसकी नज़रें बेद के पेड़ों से होती हुई क़ब्रिस्तान के सारे अहाते में भटकती रहती है। अगरचे युसुफ़ की तुर्बत (समाधी भवन) उधर नहीं है। फिर भी...

राजेंद्र राजन

रिज़र्व फ़ॉरेस्ट

जंगलात महकमे दफ़्तर में उसका वह चौथा चक्कर था। टी.डी. की दरख़्वास्त लिए मारा-मारा फिर रहा है कुत्तों की तरह। तीन महीनों से। कोई उससे सीधे मुँह बात ही नहीं करता। सरकारी दफ़्तर है या परेशानी का सबब। हर जगह टाल-मटोल, टरकाने की प्रवृत्ति। हर महीने मोटी तनख़्वाह जेब में ठूँस लेते हैं। जन शिकायतों को हल करते वक़्त इनकी माँ मर जाती है। हराम के बीज, साले कहीं के। तैश में आते ही उसका सिर चकराने लगता है। दिल करता है मिट्टी का तेल छिड़ककर आग लगा दे जंगलात महकमे को।

यूँ ही हर वक़्त कुढ़ता रहता है हीरानंद। हालात कितनी तेज़ी से बदल रहे हैं। एक शहतीर इधर से उधर करना मुश्किल है। रेंज अफ़सर की आँख लगी रहती है हर वक़्त। हर पेड़ पर। बाज़-सा देखता रहता है जंगल को। न मालूम कब दबोच ले तस्करों को। चप्पे-चप्पे पर मौजूद हैं जंगलात महकमे के मुख़बिर। और फिर जब से नया रेंज अफ़सर आया है सबका जीना दूभर हो गया है। जंगल में ज़रा-सी हिलडुल की शिकायत मिलनी चाहिए उसे। तेंदुए-सा झपटने के लिए आतुर रहता है लकड़ी चोर पर। हीरानंद को यह बात परेशान करती है कि जंगल को लेकर चारों ओर शोर बरपा है। मीडिया, पर्यावरण प्रेमियों और ग़ैर-सरकारी संगठनों का तो एकसूत्री कार्यक्रम है। जंगल बचाओ। पर्यावरण बचाओ। जीना हराम कर रखा है लोगों का इन सबने। देश में और कितनी ही समस्याएँ हैं जिन पर मीडिया चुप्पी साधे रहता है। पहाड़, जंगल, ज़मीन, जल के पीछे पड़ा है समूचा प्रचार तंत्र। सुना है नए अफ़सर के आते ही महकमें में डिसिप्लीन बहाल हो गया है। बड़ा दयालु है। अरुण नाम बताते हैं उसका।

"चल हीरा। साहब बुला रहे हैं तेरे को।" बैंच पर एक घंटे से उकड़ूँ-सा बैठा हीरा गहरी नींद से जागा। ख़ुद से बतियाते-बतियाते थक जाता है हीरा। चपरासी ने हीरा को हिकारत भरी दृष्टि से देखा। मानो वह कोई बोझ हो और चपरासी उसे काफ़ी देर से ढो रहा हो।

"कहो क्या प्रॉब्लम है?" रेंज अफ़सर ने हीरा के तन पर दृष्टि डाली। चीथड़ों से लिपटा शरीर। क्षीण काया। काँपते हाथ। उँगलियों

राजेंद्र राजन का जन्म 1963 में वाराणसी में हुआ। कविताएँ, लेख, व्यंग्य, समीक्षाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : बी-14/जे, टाईप-4 क्वाट्र्स, टीका चेलियाँ, धर्मशाला (हि.प्र.)

मैले-कुचैले काग़ज़ पर दरख़्वास्त लिए वह शख़्स रेंज ऑफ़िसर को दया का पात्र लगा। कुटा-पिटा। सताया हुआ।

“जी साब। ये टी.डी. की दरख़्वास्त है। तीन महीने से चक्कर काट रहा हूँ। कोई सुनवाई नहीं है। हर कोई मिसगाइड करता रहता है।” हीरा के होंठ फड़फड़ाए। दूसरे ही क्षण उसकी रुलाई फूट पड़ी “साब जी मैं बहुत ग़रीब हूँ। मेहनत-मज़दूरी करके पेट पालता हूँ। मकान की छत गल चुकी है। बरसात में झर-झर पानी आता है अंदर। किसी वक़्त भी ढह सकता है मकान। टी.डी. में एक पेड़ मिल जाता तो...”

“ठीक है। ठीक है। बैठो तुम। रोने से पेड़ थोड़े ही मिल जाएगा। नियमानुसार ही मिलेगा न। रेंज अफ़सर ने घंटी बजाई। चपरासी पुनः प्रकट हुआ। 'पहले हीरानंद को पानी पिलाओ। फिर सुपरिन्टेंडेंट से इनकी फ़ाइल निकलवाकर पुटअप करो।' चपरासी को यह देखकर ताज्जुब हुआ कि रेंज ऑफ़िसर हीरानंद जैसे खूसट बूढ़े को वी. आई. पी. की मानिंद ट्रीट कर रहा है। उस पर हीरा के चीथड़ों और बदन से उठती दुर्गंध के भभकों ने कमरे को सफ़ोकेशन से भर दिया था। पहाड़ी गँवार। महीनों से नहाया नहीं है। साला, मरदूद। चपरासी ने बमुश्किल हीरा को पानी का गिलास पकड़ाया और तत्काल नाक-भौं सिकोड़कर कमरे से बाहर चला गया।

कमरे में बढ़ती दुर्गंध से रेंज अफ़सर को कोफ़्त होने लगी थी। मगर पहले कुर्सी पर बिठाकर पुनः कमरे से बाहर बैंच पर बिठाना भी तो उचित नहीं होगा। अफ़सर कुर्सी से उठा और कमरे की सभी खिड़कियाँ खोलकर पर्दे हटा दिए। सर्द हवा के झोंको ने दुर्गंध के प्रभाव को धीमा करने में मदद की।

फ़ाइल प्रस्तुत हुई। अफ़सर फ़ाइल के पन्नों को उलट-पलट कर देखता रहा। “हूँ! पाँच साल में एक पेड़ सैंक्शन होता है। रिकॉर्ड के मुताबिक़ तुम तीन साल पहले एक पेड़ ले चुके हो। दो साल और इंतज़ार करो।”

“साब जी। वो तो पंचायत प्रधान ने दस्तख़त कराके मेरा पेड़ ले लिया था। एम.एल.ए. साहब को चाहिए थी लकड़ी। मुझे कहा था डी. एफ. ओ. साहब से बात करके मुझे पेड़ दिला देंगे। उनका फ़ोन आया होगा आपको।”

“किसका? पंचायत प्रधान का?”

“जी नहीं एम.एल.ए. साहब का। वो तो टेलीफ़ोन पर ही सारे काम करवा लेते हैं। बड़े चुस्त हैं हमारे एम.एल.ए. साहब।”

“तुम जा सकते हो। टी. डी. रूल के मुताबिक़ ही सैंक्शन हो सकती है। यह जंगलात महकमे का काम है। एम.एल.ए. साहब कुछ नहीं कर सकते। जंगल के क़ानून को कोई नहीं तोड़ सकता।”

“साब जी बरसात में मेरा मकान ढह जाएगा। मैं तो बर्बाद हो जाऊँगा। कुछ तो करो साब जी।”

“प्रधान से क्यों नहीं लेते अपना पेड़। या फिर एम.एल.ए. से ले लो। एक तो अपने नाम का पेड़ तुमने दूसरे आदमी को ख़ैरात में दिया। वह जुर्म है। सज़ा हो सकती है तुम्हें। टी.डी. की लकड़ी का इस्तेमाल वहीं हो सकता है जिस घर के लिए उसे सैंक्शन करवाया हो। यही तो प्रॉब्लम है तुम अनपढ़ लोगों के साथ। ज़रा से दबाव में हर कहीं अँगूठा लगा देते हो। भुगतो अब। मैं तुम्हारी मदद करने में असमर्थ हूँ।”

हीरा रेंज अफ़सर के पैरों में गिर पड़ा, “साब जी मुझ ग़रीब पर रहम करो। प्रधान ने मुझे बरगलाया। मुझसे झूठ बोला। जब भी उसके पास जाता हूँ, गाली-गलौज करके लताड़ देता है।”

“यू पीपुल डिज़र्व दिस ट्रीटमैंट। छोटे-बड़े छुटभइये नेताओं के हाथों लुटते-पिटते रहोगे। वो तुम्हें हर वक़्त नोचते रहते हैं और तुम लोग चुपचाप उनके शोषण का शिकार होते चले जाते हो। कुछ नहीं हो सकता तुम लोगों का।”

“कर्म सिंह!” रेंज ऑफ़िसर ने चपरासी को पुकारा।

''जी सर!''

''समझाओ इसे। दो साल बाद मिलेगी टी. डी.।''

चपरासी के हस्तक्षेप से पहले ही हीरा मुँह लटकाए कमरे से बाहर हो गया।

दूसरे दिन पंचायत प्रधान हीरानंद की पैरवी करने पहुँच गया। बग़ैर आज्ञा कमरे में घुसा। ''सर जी मैं प्रधान। दिव्य प्रकाश ठाकुर। लोग मुझे ठाकुर जी बुलाते हैं। चार साल से प्रधान हूँ। विकास के दर्जनों काम कराए हैं, पंचायत में।''

''कहें, प्रधान जी। कैसे आए?'' अरुण ने सीधा प्रश्न किया।

''जी वो हीरानंद है न। बहुत ग़रीब है। मेहनत-मज़दूरी करके पेट पालता है। छत ढहने वाली है बेचारे की। एक पेड़ मिल जाता उसे तो...''

''वो कल आया था मेरे पास। क़ानूनन पाँच साल में एक ही दरख़्त मिल सकता है। मैं ग़लत रिकमेंडेशन कैसे कर सकता हूँ? मेरे ऊपर भी तो ऑफ़िसर बैठे हैं। उन्होंने रिकॉर्ड मँगवा लिया तो चार्जशीट कर सकते हैं मुझे। सस्पेंड भी हो सकता हूँ।''

''अरुण जी! आपको हीरा ने बताया होगा। दरअसल मैंने ही उसके हिस्से की टी. डी. ले ली थी तीन साल पहले। वो क्या है कि विधायक महोदय को ऑबलाइज करना था। उनकी कोठी बन रही थी शहर में। उन्हें देवदार की लकड़ी की दरकार थी। सो मैंने गाँव वालों को बहला-फुसलाकर पाँच-छह पेड़ दिलवा दिए थे उन्हें। बड़ी मुश्किल से चोरी-छिपे लकड़ी पहुँचाई थी उनके घर। आप तो जानते हैं आजकल 'गिव एंड टेक' का ज़माना है। मैं ऐसा नहीं करता तो विधायक निधि से पंचायत के लिए तीन लाख रुपए की स्कीमें भला क्यों सैंक्शन करते वो।''

छुटभइए क़िस्म के राजनीतिज्ञों की पाचन शक्ति कितनी कमज़ोर होती है। सब उगल देते हैं। जो प्रधान ने किया था वह सीधे-सीधे टी.डी. की लकड़ी की तस्करी का मामला था। क़ानूनन प्रधान के विरुद्ध फ़ौजदारी मामला बनता है। उसे सींखचों के भीतर होना चाहिए था। विधायक से अपने मधुर संबंधों को चटखारे लेकर यूँ बयान कर रहा है मानों किसी वीरगाथा के चरित्र को बयान कर रहा हो। जाहिल। कमीना। हरामख़ोर।

अरुण ने मन-ही-मन प्रधान को ढेर सारी गालियाँ दे डालीं।

''आप तशरीफ़ ले जा सकते हैं। मैं व्यस्त हूँ। मुझे कई अर्जेंट काम निपटाने हैं।''

''साब जी! बुरा नहीं मानना। आपसे पहले भी अफ़सर थे, विक्रम बाबू। इशारे से समझ जाते थे। सब कुछ। कौन गिन रहा है जंगल के पेड़ों को। आँधी-तूफ़ान में हज़ारों पेड़ धराशायी हो जाते हैं। एक ही पेड़ की तो बात है। इलेक्शन सिर पर हैं। ऐसे में छोटी-मोटी हेरा-फेरी की तरफ़ कोई ध्यान नहीं देता। फिर सरकार भी तो हमारी है। ग़रीबों की हमदर्द।''

''बेहतर होगा अगर आप बेवजह मेरा वक़्त बर्बाद न करें तो। मैं विक्रम नहीं हूँ। जंगल की रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। नियमों से बाहर कोई काम नहीं हो सकता। एक बात और। जंगल को लालची नज़रों से देखना छोड़ दें। यह रिज़र्व फ़ॉरेस्ट है। यहाँ से एक दरख़्त भी इधर से उधर नहीं हो सकता। लकड़ी की स्मगलिंग करते हुए अगर कोई पकड़ा गया तो उसका हश्र बहुत बुरा होगा। यह बात अगर आप गाँव वालों को भी समझा दें तो अच्छा होगा।''

प्रधान का चेहरा स्याह हो आया। ख़ून का घूँट पीकर रह गया। यूँ उखड़ा जैसे तूफ़ान से कमज़ोर दरख़्त की जड़ें नंगी हो जाती हैं। प्रधान ने दिल ही दिल में अरुण को सबक सिखाने का प्रण लिया।

पहाड़ के शिखर पर वह ख़ूब घने जंगल की पट्टी थी। एक ऐसा भूखंड जहाँ सूरज की किरणें बमुश्किल प्रवेश कर पाती थीं। छोटे गाँवों को आपस में जोड़ने वाली पगडंडियाँ थीं जिन्हें लोग

अब सड़क में तबदील होते हुए देखना चाहते थे। बीहड़ में सड़क सुविधा की चाह रेगिस्तान में सोने की तलाश जैसा था। यानी जंगल का सीना चीरकर सड़क बने तो कैसे बने?

एक दिन प्रधान ने पंचायत के इजलास में भड़ास निकाली। पूरे स्टेट में गाँवों को सड़कों से जोड़ने की मुहिम छिड़ी हुई है। लेकिन हमारी पंचायत आज भी पिछड़ी हुई है। आपने सुना होगा दूर पार की पंचायतों में लोग लामबंद हो रहे हैं। रातों-रात जंगल साफ़ कर लोगों ने सड़कें बना डाली हैं। हम लोग कब तक डरपोक बने रहेंगे? कायरता से काम नहीं चलनेवाला। साम, दाम, दंड, भेद की नीति पर चलकर ही हम अपना लक्ष्य हासिल कर सकते हैं। क़ानून के मुताबिक़ चलेंगे तो अगली एक सदी तक सड़क का मुँह नहीं देख पाएँगे। क़ानूनी दाँवपेंचों में उलझ गए तो सड़क का सपना कभी साकार नहीं होगा। रात के वक़्त इकट्ठे होना होगा। चाँदनी रात में बनेगी यह सड़क। हाँ एक बात और किसी को घबराने की ज़रूरत नहीं है। सबकी गारंटी मैं लेता हूँ।

प्रधान का इशारा पाते ही सब जुट गए। अब लोगों के हाथों में गैंती फावड़े थे। पगडंडियों को चौड़ाकर जीप योग्य सड़क बनाने का सपना साकार होने लगा। किंतु जंगलात महकमा भी घोड़े बेचकर नहीं सो रहा था। उसके मुख़बिर चप्पे-चप्पे पर थे। प्रधान के दुश्मनों में रिज़र्व फ़ॉरेस्ट में सड़क निर्माण की ख़बर बड़े अधिकारियों तक पहुँचा दी।

डी. एफ़. ओ. ने अरुण को तलब किया, "लोग रिज़र्व फ़ॉरेस्ट में सड़क बना रहे हैं। और तुम हाथ पर हाथ धरे बैठे हो। तुम तो नियम-क़ानून की दुहाई देते नहीं थकते थे। उलटा तुम्हारे विरुद्ध शिकायत आई है कि टी. डी. सैंक्शन करने में आनाकानी कर रहे हो। तुम्हारे व्यवहार के कारण लोग अपने हकूक से महरूम हो रहे हैं। ये सड़क का क्या लफड़ा है?"

"जी सर। यह सच नहीं है। मैं एक हफ़्ता अवकाश पर था। ख़बर नहीं हुई मुझे। इसी का फ़ायदा उठाया पंचायत प्रधान ने। बहुत शातिर है। किसी हद तक भी जा सकता है। दूसरे टी. डी. की शिकायत सरासर झूठी है। आप रिकॉर्ड देखेंगे तो सही तसवीर सामने आएगी।"

"ठीक है। फ़िलहाल सड़क का काम रुकवाओ। कहीं मीडिया को ख़बर हो गई तो रंग डालेंगे अख़बारों के पृष्ठ। न्यूज़ चैनल वाले जीना हराम कर देंगे। जंगल पर तो मीडिया की निगाह गिद्ध की तरह रहती है। हाँ तुम तो लीव पर थे। फ़ॉरेस्ट गार्ड को सम्मन करो। ऐसा लगता है वो प्रधान से मिला हुआ है। गार्ड पर भरोसा करना मुश्किल है।"

"ठीक है सर। आप चिंता न करें। मैं सब सँभाल लूँगा।"

अरुण ने दल बल के साथ रात को छापा मारा और सड़क के लिए खुदाई करते बाईस लोगों को पकड़ लिया। पुलिस चौकी में उनके विरुद्ध रपट लिखवाई। दूसरे ही दिन सभी पुलिस हिरासत में।

प्रधान आग बबूला हो उठा। विधायक, मंत्री, मुख्यमंत्री तक के द्वार खटखटा दिए। जमानत तो हो गई मगर कोर्ट में चालान पेश हो गया। प्रधान समेत सभी गाँव वालों के विरुद्ध फ़ौजदारी मामला बना। आरोपी पेशियाँ भुगतने लगे।

पंचायत क्या इलाक़े में दूर-दूर तक सन्नाटा पसर गया। लोगों के दिलों में अरुण का ख़ौफ़ घर कर चुका था। रेंज अफ़सर है या एस. पी.। अरुण के विरुद्ध मामले ने तूल पकड़ा। राजनीतिज्ञ अपना रंग दिखाने लगे। मीडिया में अरुण के साहस, कर्तव्यनिष्ठा, दबंग व्यक्तित्व की प्रशंसा के पुल बाँधे जाने लगे। दूसरी तरफ़ इलाक़े के लोग उसके विरुद्ध लामबंद होने लगे। वन माफ़िया ने अरुण के विरुद्ध लोगों को भड़काने में कोई कसर नहीं छोड़ी। सब ख़ुश थे कि अब तो इस हठी, दंभी व कर्तव्य के पालनकर्ता का तबादला

हुआ समझो। लोग, प्रशासन, सरकार विधायक सब उससे नाराज़।

स्थानीय विधायक वन मंत्री पर बिगड़ा, "देखो इस कल के छोकरे को। मेरे वोट बैंक में सेंध लगा रहा है। बाईस लोगों को हवालात भिजवा दिया। मीडिया ने रातों-रात उसे हीरो बना दिया और जनता की निगाह में मुझे जीरो। रास्ता ही तो बना रहे थे। देवदार, कैल, बुरास के दो चार पेड़ कट भी गए तो कौन-सी आफ़त आ गई? क्या कोई फ़ॉरेस्ट अफ़सर इतना क्रूर हो सकता है? उसकी हिम्मत तो देखो। सबक सिखाना पड़ेगा उस अरुण के बच्चे को।"

"एम.एल.ए. साहब। अपना ग़ुस्सा ठंडा करो। अरुण हमारे महकमे का डायनैमिक अफ़सर हैं। क़ायदे-क़ानून तोड़कर रिज़र्व फ़ॉरेस्ट में सड़क बनना कॉग्निज़ेबल ऑफ़ेंस है। सुप्रीम कोर्ट की रूलिंग है कि रिज़र्व फ़ॉरेस्ट में किसी प्रकार का भी छोटा-बड़ा कंस्ट्रक्शन नहीं हो सकता। लोगों ने क़ानून को हाथ में लिया है। उन्हें सज़ा तो मिलनी ही चाहिए। आपको तो अरुण की तारीफ़ करनी चाहिए। उसने वन विभाग का नाम ऊँचा किया है। आप उसे सस्पेंड करने की सलाह दे रहे हैं। दिस इज नॉट फ़ेयर। सरकार तो उसे ऑनर करने की सोच रही है।"

"ताज्जुब है! पॉलिटिशियन होकर एक अफ़सर की पैरवी कर रहे हैं आप? मैं लोगों का सामना कैसे करूँगा। इलैक्शन सिर पर हैं। वह लोगों को समझा-बुझाकर मामले को रफ़ा-दफ़ा भी तो कर सकता था। अब तो पूरे गाँव को सज़ा होगी और जुर्माना भी।"

"क्या पॉलिटिशियंस ज़िंदगी भर लोगों के ग़लत कामों की पैरवी करते रहेंगे। हम ही लोगों ने तो देश को पतन के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। जनता की निगाह में हमारी इज़्ज़त शून्य हो चुकी है। उस प्रधान दिव्य प्रकाश को भी आपने सिर पर चढ़ा रखा है। फ़ॉरेस्ट माफ़िया के साथ लकड़ी की स्मग्लिंग में इन्वॉल्व्ड है। ना मालूम कितनी दफ़ा उसे बचाया है। अब आप क्या ज़िंदगी भर किसी की ग़लतियों को माफ़ करते रहेंगे? देयर इज़ ए लिमिट ऑफ़ एवरीथिंग।"

विधायक हार मानने वाला नहीं था। मंत्री उसे नीचा दिखाने में तुले हुए हैं। इसलिए कि वह उनके गुट में शामिल नहीं है। पार्टी में भी तो दो धड़े हैं। प्रत्येक दल अपनी अदंरूनी राजनीति के दलदल में भी धँसा हुआ है। अगर वह मंत्री के धड़े में शामिल होता तो वे उसे छोटे-से रेंज अफ़सर के लिए जलील न करते। रातों-रात ट्रांसफ़र कर ट्राइवल में फिंकवा देते साले को।

"ठीक है मिनिस्टर साहब। बहस में भला आपसे कोई जीत सकता है क्या? लेकिन एक बात बताइए। गाँव सड़क से जुड़े। विकास लोगों के घर-द्वार पर दस्तक दे, सरकार तो यही चाहती है। रिज़र्व फ़ॉरेस्ट के नाम पर कब तक उन्हें सड़क की सुविधा से वंचित रखा जा सकता है। उनका सब्र का प्याला भर चुका है।"

"सड़क बन सकती है। अपने लोगों को समझाएँ कि क़ानून की क़द्र करना सीखें। आवश्यक दस्तावेज़ों के साथ पंचायत का रिजोल्यूशन केंद्र सरकार को भेजना पड़ेगा। पर्यावरण मंत्रालय से मंज़ूरी मिलने के बाद सड़क बनाने में कोई दिक़्क़त नहीं होगी। अमूमन स्वीकृति मिल जाती है।"

विधायक क्षुब्ध होकर मंत्री के यहाँ से लौटा। अरुंण उसके आँख की किरकिरी बनता जा रहा था। वह उसके तबादले के मंसूबे बनाने लगा। क्यों न वह मुख्यमंत्री से बात करें। उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत कराना उचित रहेगा। संभव है वे उनकी बात मानकर इस अरुण के बच्चे को दूर-दराज़ के इलाक़े में पटक दें।

विधायक, प्रधान और लकड़ी का ठेकेदार। सभी रेंज अफ़सर के विरुद्ध षड्यंत्र रचने में मशग़ूल हो गए।

अरुण जंगल के प्रति लोगों के दिलों में सकारात्मक सोच विकसित करने का सपना लेकर आया था। वह चाहता था कि लोग पर्यावरण संरक्षण में सहयोग दें। जंगल के प्रति उनके मन में मोह पैदा हो। एक आत्मीय रिश्ता बने। मगर प्रधान ने सब चौपट कर दिया। सरकारी काम-काज में राजनैतिक दख़लंदाज़ी से वह क्षुब्ध था। लेकिन वह हार मानने वाला नहीं था। पराजय स्वीकार कर ली तो पुनः शायद कभी स्वयं को स्थापित न कर पाए। अपने मातहत अधिकारियों के सहयोग से उसने गाँव के लोगों को इकट्ठा करना आरंभ किया छोटे-छोटे समूहों में। असल में वह जंगलात महकमे और गाँव वालों के बीच संवाद की शुरुआत थी। एक ऐसा सेतु जिसकी अहमियत से सभी बचते रहे थे। यूँ भी प्रधान के नकारात्मक प्रभाव को कम करने के लिए आवश्यक था कि महकमे और लोगों के बीच संवाद स्थापित हो।

वन महोत्सव के उपलक्ष्य में पंचायत में एक बड़ा जलसा हुआ। विधायक बतौर मुख्य अतिथि पधारे। पौध-रोपण हुआ। ग़ैर सरकारी संस्थाओं की सक्रियता को देखकर विधायक चकित रह गए। शायद लोगों के दिलों से अरुण के प्रति विषाद घुल चुका था। लोगों के दिलों में वह जगह बनाता जा रहा था।

पौध-रोपण के तुरंत बाद प्रधान ने माईक सँभाला। रेंज अफ़सर के विरुद्ध रंजिश और बौखलाहट की अभिव्यक्ति के लिए उसे माकूल मंच मिला था, ''ऐसा लगता है, हमारे अरुण जी ईश्वर के अवतार हैं। जंगल को अपनी जान से ज़्यादा चाहते हैं। ख़ूब प्यार करते हैं फ़ॉरेस्ट से। पेड़-पौधों से। जंगली जानवरों से। मुझे तो वे सुंदरलाल बहुगुणा के चेले लगते हैं। मानो ये देवदार, रई, तोश, कैल, बुरास, बाण दरख़्त न होकर अरुण बाबू की संतान हों। लेकिन उन्हें यह क़तई नहीं भूलना चाहिए कि जंगल पर हम सबके हक़-हकूक हैं। राईट्स। लकड़ी, घास-पत्ती, पशुओं को चराने के ठौर-ठिकाने, उनके चारे, लोगों की टी. डी. आदि दर्जनों राईट्स हैं। क्या इन पर कोई सरकार प्रतिबंध लगा सकती है? ये राईट्स हमें अरुण बाबू ने नहीं दिए हैं। सदियों के संघर्ष के बाद हासिल किया हैं हमने इन्हें। मैं पूछना चाहता हूँ कि क्या वे इन्हें हमसे छीन सकते हैं?''

एकतरफ़ा बयानबाज़ी से अरुण क्षुब्ध था। बेबुनियाद आलोचना। उसे लगा अगर उसने प्रधान द्वारा फैलाई जा रही भ्रांतियों को ख़ारिज नहीं किया तो लोगों के दिलों में ख़्वामख़्वाह संशय घर कर सकते हैं।

प्रधान के भाषण के पश्चात तुरंत अरुण ने अपना पक्ष प्रस्तुत किया, ''भाइयो व बहनो। मैं जानता हूँ, कुछ लोग मुझसे ख़फ़ा हैं। इसलिए कि मैं अपने कर्तव्य को क़ानून के दायरे में रहकर निभाने का प्रयास करता हूँ। प्रधान जी ने जो बयानबाज़ी मेरे ख़िलाफ़ की है, वह सरासर ग़लत है। जंगलों में आपके हकूक ज्यों के त्यों बरक़रार हैं। मैंने उनमें कभी दख़ल देने की कोशिश नहीं की। लेकिन हमारे देश में वन माफ़िया जिस प्रकार जंगल से खिलवाड़ कर रहा है, उससे आप भली-भाँति वाक़िफ़ हैं। आज दस्तूर भी है और मौक़ा भी। मैं आप सबसे चंद सवाल पूछना चाहता हूँ। ये प्रश्न प्रधान जी और विधायक महोदय को भी संबोधित हैं। हर साल जंगलों में आग लगती है। पेड़-पौधे, जंगली-जानवर, कीड़े-मकोड़े, और बहुमूल्य जड़ी-बूटियाँ जलकर राख हो जाती हैं। वन-संपदा के साथ-साथ वन्य प्राणी भी बेमौत मारे जाते हैं। क्या कभी आपने उनकी दर्दनाक चीख़ें सुनी हैं? वे निष्प्राण नहीं हैं। वे भी आहें, सिसकियाँ भरते हैं। क्या जंगल के जीव-जंतुओं को जीने का हक नहीं है? जंगल में आग कौन लगाता है। हमीं। क्या आग लगाने के लिए बाहर से कोई आएगा? कभी-कभी जंगल की आग विकराल रूप धारण कर लेती है। घर, गाँव,

बस्तियों को अपनी गिरफ़्त में ले लेती है। मगर हम लोगों का दिल कभी नहीं पसीजता। मूक दर्शक से तमाशा देखते रहते हैं सब। जंगल में आग आप लोग लगाएँ? और उसे बुझाने का ज़िम्मा जंगलात महकमें पर। क्यों? आप लोग हमेशा अपने हकूकों की बात करते हैं। जंगल के प्रति आपके क्या फ़र्ज़ हैं? इस बारे में कभी सोचा है? आपमें से कोई एक व्यक्ति भी दावा कर सकता है कि उसने कभी जंगल की आग बुझाई हो?

एक बात और। टी. डी. का बहुत शोर मचा हुआ है। टी. डी. के अधिकार ने जंगलों का सफ़ाया कर दिया है। पर क्या हमने कभी सोचा है कि जब जंगल में एक भी दरख़्त नहीं बचेगा तो टी. डी. हकूक को शहद लगाकर चाटेंगे। नियमानुसार टी. डी. का एक पेड़ काटने के बाद दस नए पेड़ लगाने ज़रूरी हैं। पर क्या किसी ने आज तक एक भी पौधा लगाया है? उलटे जो पेड़ वन महोत्सव में लगाए जाते हैं उन्हें नष्ट करने के लिए आप पालतू जानवर छोड़ देते हैं।

तीसरी बात, ज़्यादातर ज़रूरतों के लिए आदमी जंगल पर निर्भर है। गाँव में किसी भी व्यक्ति की मौत के बाद आप लोग फटाफट फ़ोन घुमा देते हैं। फलाँ-फलाँ मर गया है। दाह-संस्कार के लिए लकड़ी नहीं मिल रही। ऐसे मौक़ों पर मैंने हमेशा मदद का हाथ बढ़ाया है। किंतु आप नहीं जानते कि अंत्येष्टि के लिए जिन पेड़ों की बलि दी जाती है उन्हें फ़ाइलों में एडजस्ट करने के लिए जंगलात महकमें को कितनी मशक़्क़त करनी पड़ती है।''

सभी रेंज़ अफ़सर के भाषण को ध्यानपूर्वक सुनते रहे। चुप्पी साधे हुए। एकटक। उसके भाषण ने वशीभूत-सा कर दिया। आज सचमुच अरुण ने उन्हें कटघरे में खड़ा कर दिया था। दूसरी तरफ़ प्रधान, विधायक और पार्टी के छुटभईए नेता ख़ून के घूँट पीते रहे।

अध्यक्षीय भाषण में विधायक ने केवल इतना कहा, ''सब कुछ तो अरुण साहब बोल चुके, अब मेरे पास कहने के लिए कुछ नहीं बचा। मैं उनकी बातों से पूरी तरह सहमत हूँ।'' यह कहकर पुनः सोफ़े पर धँस गए। वास्तव में अरुण के प्रति यह उनके आक्रोश की अप्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्ति थी।

वन महोत्सव के उपरांत लोग अपने-अपने घरों को लौट गए। अरुण का भाषण अगले कई दिनों तक उनके कानों में बजता रहा। प्रधान, विधायक और वन माफ़िया से जुड़े लोग पुनः अरुण के विरुद्ध षड्यंत्र का जाल बुनने में मशग़ूल हो गए।

सुशांत सुप्रिय

पिता के नाम

पूज्य पिताजी, सादर प्रणाम। चालीसवें जन्म-दिन पर आपका बधाई-कार्ड मिला। आपके अक्षर सत्तर साल की उम्र में भी वैसे ही गोल-गोल मोतियों जैसे हैं, जैसे पहले होते थे। आपकी हर चिट्ठी को मैंने सहेज कर रखा है अपने ख़ज़ाने में। ये चिट्ठियाँ मेरी धरोहर हैं, विरासत हैं। भाग-दौड़ भरे जीवन के संघर्षों में कभी अकेला या कमज़ोर पड़ने लगता हूँ तो आपकी चिट्ठियाँ खोलकर पढ़ लेता हूँ। बड़ा संबल मिलता है।

पिताजी, उम्र के इस पड़ाव पर आकर पीछे मुड़कर देखना अच्छा लगता है। आज मैं आपको कुछ बताना चाहता हूँ। कुछ अनकही बातें हैं जिन्हें कहना चाहता हूँ। कुछ अनछुए कोने हैं जिन्हें छूना चाहता हूँ।

पिताजी, मुझे हमेशा इस बात का गर्व रहा कि मुझे आप जैसा पिता मिला। जब मैं छोटा था तो आपने मुझे गहरी जड़ें दीं। जब मैं बड़ा हुआ तो आपने मुझे पंख दिए। आपने मुझे प्रेरित किया कि मैं अपनी आँखों से सपने देखूँ, दूसरों की आँखों से नहीं। जब मैं ख़ुद को ढूँढ़ने की यात्रा पर निकला तो आपने मुझे उम्मीद दी। जब मैं अपनी नियति को पाने निकला तो आपने मुझे उत्साह दिया। आपने मुझे अपने हृदय की आवाज़ सुनना सिखाया। आपने हर सुबह मुझे मुस्कुराने की कोई वजह दी। आपने मेरी हर शाम को उल्लास दिया, उमंग दी। आपने मुझे सिखाया कि मुश्किलों के बावजूद यह दुनिया रहने की एक ख़ूबसूरत जगह है।

बचपन में आपने मुझे छोटी-छोटी ख़ुशियाँ दीं। मुझे याद आता है एक बच्चा जो हलवाई की दुकान पर गरम-गरम जलेबियाँ और समोसे खा रहा है। रविवार को रामबाग़ में गुब्बारे उड़ा रहा है। झूलों पर झूल रहा है। तितलियाँ पकड़ रहा है। इंद्रधनुष देखकर किलक रहा है। चिड़ियाघर में जीव-जंतु देखकर चहक रहा है। पतंगें उड़ा रहा है। कंचे खेल रहा है। जुगनुओं के पीछे भाग रहा है। कबूतरों को दाना डाल रहा है। हर फूल को, कली को सहला रहा है। कुत्ते-बिल्लियों के बच्चों को पुचकार रहा है और उसका पिता उसकी हर ख़ुशी में उसका संगी है, दोस्त है, राज़दार है। रोज़ सुबह कैंपस में सैर करने जाना। छुट्टी वाले दिन बागवानी करना। आपके संग आलू, गोभी, गाजर, मूली, टमाटर और हरी मिर्च उगाते हुए मैं ख़ुद भी उगा-बढ़ा।

1968 में जन्मे सुशांत सुप्रिय की कविताएँ, कहानियाँ तथा अनुवाद पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : सेक्टर-10 बी, 47, वसुंधरा, ग़ाज़ियाबाद-201012
फ़ोन : 9868511282

पिताजी, आपका पोता अब बड़ा हो गया है। कल आपका 'ई-मेल अकाउंट' पूछ रहा था। अपने दादा से इंटरनेट पर 'चैट' करना चाहता है। जब मैंने बताया कि दादाजी के पास कंप्यूटर नहीं है तो वह बहुत दुखी हुआ।

पिताजी, मैं चाहता हूँ कि अपने बेटे को भी वे छोटी-छोटी ख़ुशियाँ दूँ जो मैंने आपसे पाईं। वह दस साल का हो गया है पर उसने आज तक पतंग नहीं उड़ाई। गिल्ली-डंडा नहीं खेला। कंचे नहीं खेले। वह आम या जामुन के पेड़ पर नहीं चढ़ा। मैं चाहता हूँ कि वह इन सबके भी मज़े ले। उसका बचपन अधूरा नहीं रहे। पर वह नई 'जेनरेशन' का लड़का है। उसे कंप्यूटर-गेम्स अच्छे लगते हैं। वह केबल टी.वी. देखकर बड़ा हो रहा है जहाँ कारें भी 'सेक्सी' लगती हैं। वह मोबाइल फ़ोन पर बात करने का शौक़ीन है। वह 'कार्टून चैनल' पर 'पोकीमैन' देखना पसंद करता है। उसे 'मैकडॉनल्ड' और 'पिज़्ज़ा-हट' के बर्गर, फ़िंगर-चिप्स और कैप्सीकम पिज़्ज़ा अच्छे लगते हैं। उसे हिंदी में एक से सौ की गिनती 'डिफ़िकल्ट' लगती है और वह उनासी और नवासी में 'कन्फ़्यूज़' हो जाता है। यह 'इंपोर्टेड' चीज़ों का दीवाना है।

पिताजी, याद है एक बार छुट्टियों में आप मुझे गाँव में दादाजी के पास छोड़ गए थे क्योंकि मुझे दादाजी बहुत अच्छे लगते थे। मैं उनके साथ गाँव के पास बहती नदी में मछलियाँ पकड़ने जाता था। अकसर उन्हें जलतरंग बजाते हुए सुनता था। जलतरंग बजाता उनका वह मुस्कुराता चेहरा मुझे आज भी याद है।

पापा, जलतरंग को इंग्लिश में क्या कहते हैं? पत्र पढ़कर बग़ल में बैठा बेटा मुझसे पूछता रहा है।

वह टी.वी. पर चल रहा भारत-पाक वन-डे क्रिकेट मैच देख रहा है। सचिन तेंदुलकर ने शोएब अख़्तर के बाउंसर पर थर्ड-मैन बाउंड्री के ऊपर से छक्का दे मारा है। बेटा ख़ुशी से झूमते हुए मुझसे पूछता है—पापा, आप क्रिकेट खेलते थे? नहीं बेटा, मैं पतंगें उड़ाता था। कंचे खेलता था। गिल्ली-डंडा खेलता था। गाँव के पास बहती नदी में चपटे पत्थर से 'छिछली' खेलता था, मैं कहता हूँ। पापा गाँव कैसा होता है? गिल्ली-डंडा को इंग्लिश में क्या कहते हैं? 'छिछली' इंग्लिश में क्या होती है—बेटा पूछ रहा है। पिताजी, मुझे बहुत सारे सवालों के जवाब देने हैं, इंग्लिश में।

सहवाग ने सकलैन मुश्ताक़ की गेंद पर छक्का जड़ दिया है। बेटा ख़ुशी से उछलता हुआ पूछ रहा है—पापा, आप क्रिकेट क्यों नहीं खेलते थे ?

यादों की गली में एक लड़का कटी हुई पतंगें लूट रहा है। उसके एक हाथ में एक लंबी-सी टहनी है और दूसरे हाथ में कुछ लूटी हुई पतंगें। उसके हाथ-पैर धूल से सने हैं पिता जी, पर उसके चेहरे पर विजेता की मुस्कान है। उसकी पीठ जानी-पहचानी-सी लग रही है। एक और कटी हुई पतंग लूटता हुआ वह आँखों से ओझल हो गया है।

एक बार गाँव के पास बहती नदी में मछलियाँ पकड़ते हुए मैंने दादा जी से पूछा था, "दादा जी, आपने कभी भूत देखा है?" दादा जी मेरे सवाल पर मुस्कुरा दिए थे।

"दादा जी, आप भूतों से डरते हैं?" मैंने फिर पूछा था।

"भूतों से नहीं, बुरे लोगों से डरना चाहिए।" दादा जी ने कहा था।

"पर मेरा दोस्त कहता है, भूत ख़तरनाक होते हैं।" मैंने शंका प्रकट की थी।

"बुरे लोग भूतों से ज़्यादा ख़तरनाक होते हैं।" दादा जी ने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा था।

"दादा जी, बुरे लोग क्या करते हैं?" मैंने जिज्ञासा प्रकट की थी।

"बुरे लोग पेड़ काट देते हैं। जंगल उजाड़ देते हैं। नदी-नाले गंदे कर देते हैं। इंसानों और

पशु-पक्षियों को मार डालते हैं।'' कहते-कहते दादा जी का चेहरा गंभीर हो गया था।

''दादा जी, मैं बड़ा होकर सभी बुरे लोगों को मार डालूँगा।'' मैंने ग़ुस्से से भरकर कहा था। मुझसे दादा जी का गंभीर चेहरा देखा नहीं गया था। दादा जी तो मुस्कुराते हुए ही अच्छे लगते थे।

''बुरे लोगों को नहीं, बुराई को मारना, बेटा।'' मेरी बात सुनकर दादा जी मेरी पीठ थपथपा कर मुस्करा दिए थे।

बेटा, दूध पी लो। हॉर्लिक्स मिला दिया है। आपकी बहू रसोई में से आवाज़ लगा रही है।

मॉम, ब्रेक के बाद। क्रिकेट मैच देखने में व्यस्त बेटा जवाब दे रहा है।

नाउ वी टेक अ शॉर्ट ब्रेक। स्टार-स्पोर्ट्स पर एक मशहूर कमेंटेटर बोल रहा है। अब कोका-कोला पीती कुछ अधनंगी लड़कियाँ बेशर्मी से कूल्हे मटका रही हैं।

पिता जी, इच्छा तो थी कि एक बार बेटे को मैं उसके परदादा के गाँव लेकर जाता। कहता—देख, यहाँ तेरे पापा के दादा जी रहते थे। उसे गाँव के खेत-खलिहान दिखाता। भूसे के ढेर दिखाता। गाँव के पास बहती नदी में वह भी मछलियाँ पकड़ता। वह भी गाँव के आम, अमरूद, जामुन और इमली के पेड़ों पर चढ़कर उनके फल खाता। बेटे को गाँव की बोली सिखाता। उसे गाँव के बड़े-बूढ़ों से मिलवाता। उसे गाँव के मंदिर में ले जाता। वह भी गाँव के कुएँ पर नहाता। पर अब न गाँव रहा, न दादा जी।

पिता जी, अच्छा हुआ दादा जी पहले चले गए। उन्होंने गाँव के पास बहती नदी पर बाँध बनने के बाद गाँव को जलमग्न होते हुए नहीं देखा। उन्होंने नदी के उस पार उगे घने जंगल को कटते हुए नहीं देखा। उन्होंने अच्छे लोगों के भेस में बुरे लोगों को नहीं देखा। अच्छा हुआ दादाजी पहले चले गए। वे यह सब नहीं देख पाते।

पिताजी, इस बार छुट्टियों में मैं आपके पोते को आपसे मिलाने लाऊँगा। मैं चाहता हूँ कि वह भी अपने दादा जी के पास रहे। उनसे ढेर सारी कहानियाँ सुने। उसे बताइएगा कि कैसे एक बार एक बैंक के कैशियर ने ग़लती से मुझे ज़्यादा रुपए दे दिए थे तो आप मुझे अपने साथ लेकर बैंक गए थे और आपने वे रुपए उस कैशियर को वापस लौटा दिए थे। उसे बताइएगा कि ऐसा करना बेवक़ूफ़ होने की निशानी नहीं है, अपनी निग़ाहों में गिरने से बचना है। उसे अंतरात्मा की आवाज़ सुनना सिखाइएगा। उसे बताइएगा कि किसी चीज़ का 'इंपोर्टेड' होना उसके अच्छे होने की गारंटी नहीं। वह आपकी बात ज़रूर समझ जाएगा।

आपकी बहू खाना खाने के लिए आवाज़ दे रही है। बैंगन का भरता और अरहर की दाल बनी है। आप होते तो कहते—वाह, क्या खाना है। आपको ये दोनों चीज़ें कितनी अच्छी लगती हैं। आप साथ होते हैं तो लगता है जैसे सिर पर किसी बड़े-बुज़ुर्ग का साया है।

आपको याद करता,
आपका बेटा,
प्रशांत

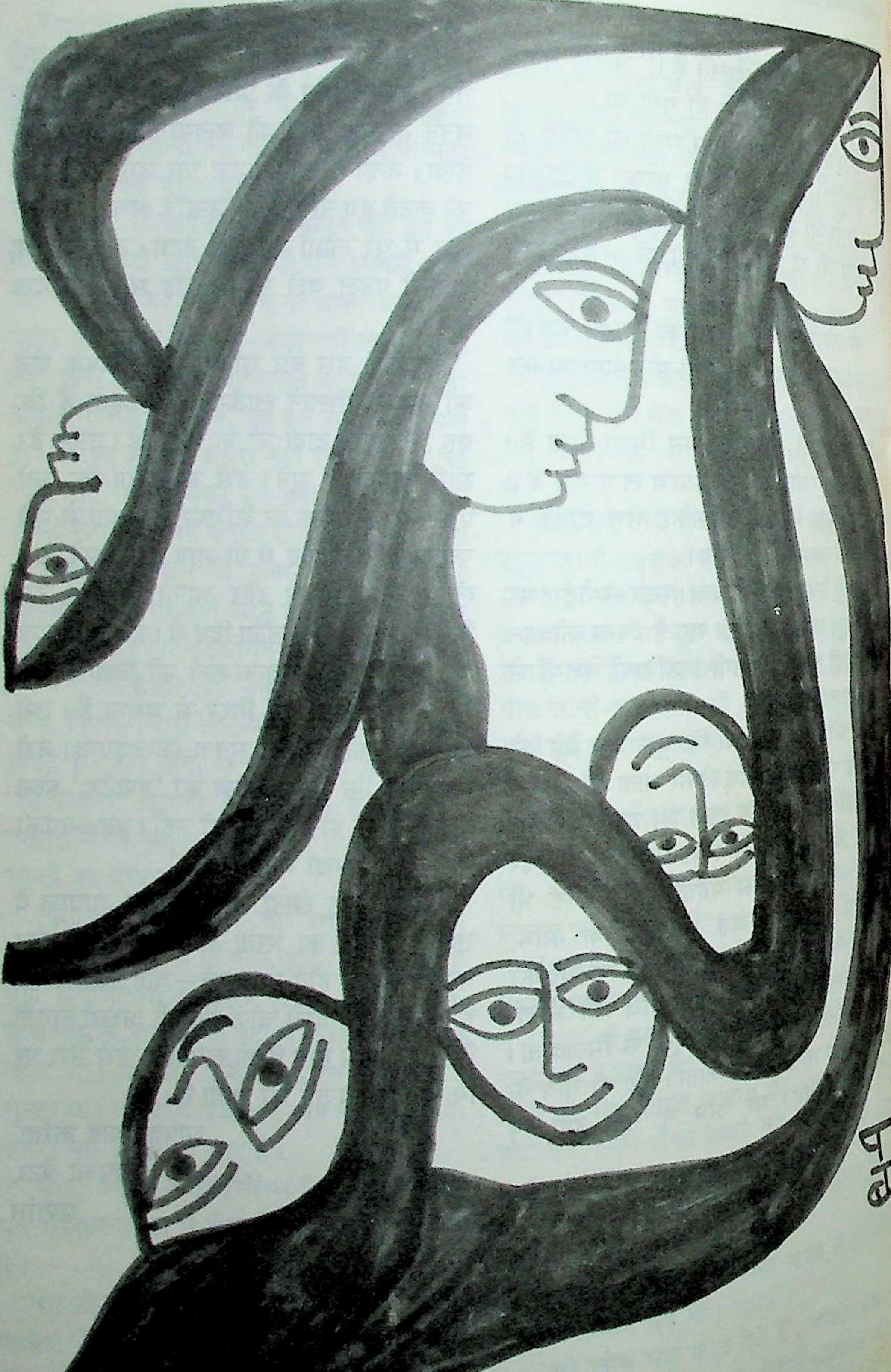

राजस्थानी कविता

यादवेंद्र शर्मा चंद्र

सच कुछ और है

जब-जब मेरा चेहरा
उदासियों के लिजलिजेपन से ढक जाता है,
नेत्रों में पीड़ाएँ झिलमिलाती हैं
तब-तब मेरे दोस्तों के प्रश्न
तीर की तरह बींधते हैं
'क्या किसी लड़की से प्यार हो गया है?'

मैं उन्हें कैसे बताऊँ कि
मेरी बहिन जवान हो गई है,
और मैं बेकार हूँ।

जब-जब मैं मंदिर जाता हूँ
और घंटा ध्वनियों के बीच
ईश्वर को प्रार्थनाओं से सराबोर करता हूँ
तब दोस्त समझते हैं कि
मैं सातों सुखों की लालसा कर रहा हूँ।

पर सच तो यह है कि
मैं नौकरी माँगता हूँ
क्योंकि मेरी विधवा माँ बीमार है।
जब मैं आंतरिक कष्टों से
व्याकुल होकर बेतहाशा
हाथ-पाँव उछालता हूँ
दोस्त समझते हैं कि यह
पगला गया है।

सच तो कुछ और ही है
मैं अपना भीतरी विद्रोह
व्यवस्था-विरोध जताता हूँ
जिसे मैं चीख़-चीख़कर
कह नहीं सकता।

यादवेंद्र शर्मा चंद्र के कई कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : आशा लक्ष्मी, नया शहर, बीकानेर-334004 (राज.) फ़ोन 254788

अनु. स्वयं

मालचंद तिवाड़ी

इस तरह रखा तुमने

ठंडी-ठर लाल सुर्ख़ नाक
खोज रही थी गर्म उष्मित देह
नर्म-धवल ख़रगोशों की
ख़रगोश ले रहे थे विश्राम
तुम्हारी छाती की आँच में।

थरथराती उँगुलियाँ तुम्हारी
उतर रही थीं भीतरी परतों तक
बाँहों में आए दरख़्त के।

सहला रहा था दरख़्त तुम्हें
अपनी एक-एक डाल से
सहसा छोड़ दी जड़ें
गूँगी चीत्कार के साथ ही
यश है तुम्हें
तुमने नहीं लगने दिया धरती से
एक भी पात बेचारे दरख़्त का।

सहेज ली संपूर्ण धरा
सहेज लिए साथ ही
तुमने तुम्हारे किसी गहरे पानी में—
संपूर्ण दरख़्त ही धरती के।
इस तरह रखा तुमने
हमेशा अक्षत सृष्टि को।

ताकते मुँह तुम्हारा और मेरा

काश ! यदि शब्द नहीं होते
तुमसे और मुझसे पहले।

अक्षरों की तरह
हम भी जुड़कर होते
सृष्टि का पहला शब्द।
रचते अर्थ
पहला पद
पहला पदार्थ।

राजस्थानी लेखक मालचंद तिवाड़ी का जन्म 1958 में हुआ। इनके राजस्थानी और हिंदी में कविता-संग्रह, कहानी-संग्रह प्रकाशित। साहित्य अकादेमी से तथा अन्य कई संस्थाओं से पुरस्कृत। संपर्क : प्रहेलिका, सोननगरी कुआ, बीकानेर-334005

अनु. नीरज दइया

नहीं पहचानते हमें जगत के बातूनी
ताकते मुँह तुम्हारा और मेरा।

हम उस शब्द में साथ मुस्कुराते
जैसे अवश्य मुस्कुराते होंगे
विद्वानों को माथा-पच्ची करते देखकर
ढाई आखर!

मोहन आलोक

चिड़िया की बोली लिखो

चिड़िया की बोली लिखो
फूल का रंग लिखो
निःशब्द।

क़लम को आँखों से पकड़ो
बनाओ
आकाश को काग़ज़।

नज़र को तीर की तरह गड़ाओ
और बींध दो
बादलों के पीछे के
बादल
उन बादलों के भी
पार के बादल।

चिड़िया की बोली लिखो
फूल का रंग लिखो
निःशब्द।

रचना

वह रचता है
और जब रच देता है
तो उस रचना में
रचने के लिए—
कुछ भी शेष, नहीं बचता है।

हो सकता है
वह रचना

1942 में जन्मे मोहन आलोक के कई कविता-संग्रह प्रकाशित। साहित्य अकादेमी तथा राजस्थानी साहित्य अकादमी से पुरस्कृत। संपर्क : 207, फ़ोर्थ ब्लॉक, श्रीगंगा नगर-335001 (राज.)

अनु. नीरज दइया के राजस्थानी हिंदी में परस्पर अनुवाद प्रकाशित, राजस्थानी में दो कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : 3 च-14, पवनपुरी, बीकानेर 334003 (राज.)

आपको अधूरी लगती रहे
और उसकी पूर्णता के लिए
आपके भीतर
कोई जिज्ञासा जगती रहे।
हो सकता है
आप किसी दूसरी रचना के साथ
उसका मिलान करते रहें
और यों
अपने आपको नाहक परेशान
करते रहें।
लेकिन वह रचना
जैसी भी होती है
जो भी होती है
पूरी होती है
कोई भी रचना
किसी अन्य रचना के सदृश्य
कब ज़रूरी होती है?

फूल के क़रीब जाइए

फूल के क़रीब जाइए
और उससे
अपने मन की बात कहिए
जवाब आने की प्रतीक्षा कीजिए
कुछ देर को
उसके पास बैठे रहिए।
वह अपनी
मिल-बतियाने की भूख को
निश्चय ही शांत करेगा
बहलाएगा आपका मन
आपसे बात करेगा।
एक बार कभी
आप उसकी बात सुनकर तो देखें
उसके चतुर्दिक मँडराते मौन को
गुनकर तो देखें।
हो सकता है
शुरू-शुरू में आपको लगे

आप बेवक़ूफ़ बन रहे हैं!
तब भी आप
एक बार यों बेवक़ूफ़ बनकर तो देखें।

बसंत

ये सरसों के फूल
पवन में हौले-हौले झूल
हिलाते द्वार-द्वार की चूल।

खुलें कुछ
जकड़े हुए कपाट
ढहे कोई
अँधियारे की लाट
रंग की कारगर कोई सेंध
मैल को साबुन ज्यों दे काट
झड़े ज्यों
हृदय-पसरी धूल

दृष्टि के सम्मुख
एक उजास
क्षीण-सा
कौंधे कहीं कदाच्
डूबता-सा लगता क्षण एक
उमर का संजोया सब विश्वास

प्रकृति के
ये रूप अरूप
देखकर आपा जाता भूल
ये सरसों के फूल।

अनु. मालचंद तिवाड़ी

रमेश मयंक

1954 में जन्मे रमेश मयंक के दो हिंदी कविता-संग्रह, दो राजस्थानी कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : बी-8, मीरा नगर, चित्तौड़गढ़ 312001 (राज.) फ़ोन 01472-246479

अनु. स्वयं

प्रवासी पक्षी

वे आते हैं
कई-कई, कुछ दिनों के लिए
दूर—बहुत दूर से
देश-दिशावर की यात्राएँ करके।

उनकी यात्राएँ-हिम्मत वाली
ख़तरों से नहीं होती-कभी भी ख़ाली
फिर भी उनका अपना मिशन होता है
पग-पग पर संगठन होता है।

वे तलाश ही लेते हैं
अनुकूल जगह, भोजन, सुविधाएँ
नए मेहमानों के लिए
ज़रूरी तमाम संभावनाएँ।

वे नहीं बनवाते पार-पत्र
न मानते सीमा-रेखा
वे विचरते सर्वत्र
वे नहीं जानते—
यह गली तेरी, वो गली मेरी वाला मंत्र।

वे लोभ भी नहीं करते
किसी स्थान विशेष से
और, लौट चले जाते हैं
अपने-अपने देश
लेकर नए मेहमानों को
पीछे छूटती धरती के गुणगान को
वे वहाँ भी बताते हैं
नए मेहमानों की गूँज के प्रमाण के साथ।

एक दिन—ऐसे ही, मेरे घर की छत पर
आ बैठा—प्रवासी पक्षी
देखने लगा मेरी बिटिया को
बिटिया की मुनिया को, उसी आँख से
जिससे वह देखता था दुनिया को,
उसके नयनाकाश में भी मैंने देखा
उल्लास, विश्वास, सपनों और उमंगों का मधुमास
परंतु कई कई बार प्रवासी पक्षी
जो मानवीय क्रूरताओं के शिकार हो जाते हैं
उनके लिए जाने वाले पक्षी
अवश्य-पछताते हैं।

हमारे यहाँ पर भी
कभी-कभी परिवार में
प्रवासी पक्षी की तरह आ जाते हैं

कुछ अपने-पराए मेहमान बनकर
लेकिन—उन्हें क्या हम दे पाते
आत्मीयता, प्रकृति की तरह?
और—कर पाते हैं
क्या यथोचित सत्कार?
देकर सही अर्थों में, अपनापन भरा प्यार?

सुन सको तो

रेत के कण, कंकर-पत्थर,
और, चट्टानें भी खोलती हैं
रंग-रूप, आकार और आकृति से
सृष्टि के रचाव का रहस्य।

युगों की इस कालजयी यात्रा में
पाषाण प्राणवान दस्तावेज़
शिल्पी की कृति
कला से आसक्ति

इनके बीच
बहता निर्मल-जल
अंकुरित नन्ही-कोंपल
पेड़ों की टहनियों पर गाते
खग-विहग
कल-कल की कलरव का नाद
निष्प्राण नहीं है

जीवन का स्पंदन
सभ्यता का पल्लवन
सांस्कृतिक पोषण
पाषाण-युग से प्रारंभ हुआ
अधुनातन विकास-क्रम
उसी चेतना की दुआ

जब-जब भी कोई मर्मज्ञ
सुनना चाहता है
शब्द-संगीत
पाषाण बोलते हैं
मुस्कुराते हैं, अन्यथा

पारखी की प्रतीक्षा में।
मौन-मूक भी रह जाते हैं
शताब्दियों तक

इन्हीं प्रस्तरों पर
रची गई ऋचाएँ
उत्कीर्ण हुई कलाएँ
उत्थान-पतन के दौरों से गुज़री
कई-कई बार सभ्यताएँ

हवा-रोशनी, प्रणय-प्रलय के
पलों में कोई हितैषी
पत्थरों की परतों में छिपे
हृदय का स्पंदन सुने
निष्प्राण-सी दिखनेवाली
कलाकृतियों में
प्रतिमाओं में
ऊर्जस्वित प्रतिमानों में
भाषा का सतरंगी संप्रेषण चुने

सुन सको तो सुनो
पत्थर बोलते हैं—सदियों से
तुम बहरे बनो तो
तुम गूँगे बनो तो
वे क्या करें?
सिवाय-उचित पात्र की प्रतीक्षा के।

नंदकिशोर चतुर्वेदी

बैसाखियाँ

जलते मरुस्थली सन्नाटे में
अचानक उग आई हैं
कुछ मर्मस्पर्शी ध्वनियाँ
गुदगुदी से भरे पुष्पों की।

मन की अभेद्य प्राचीरों को भेदकर
उनके तिलस्मीपन
वर्षों से क़ैद सुख को

1945 में जन्मे नंदकिशोर चतुर्वेदी के दो हिंदी कविता-संग्रह और दो राजस्थानी कविता-संग्रह प्रकाशित।
संपर्क : मु. पो. पाघुंदा, वाया-बेगू, ज़िला-चित्तौड़गढ़ (राज.)
फ़ोन 95-01472-220489

अनु. स्वयं

खींचकर ले आया है
खुली हवा और स्निग्ध-धूप के नाम पर
सारी बस्तियों में
बरसने लगा है कलरव मूसलाधार।

विचारों की शुष्क धरा पर
अब जहाँ फिसलन है
चल पड़ा चिंतन
हमारा पंगु-सत्य
शपथ और ढोंग की
पुरानी बैसाखियों के सहारे।

लेकिन एक दिन तो
करनी ही होगी तैयारियाँ
बैसाखियों को फेंकने की
खुली हवा,
गुनगुनी धूप के लिए।

संतोष माया मोहन

याद

पवन
रच रहा लहरें नीर की
रेत धार रही मछली-रूप
मरुधरा को आई है याद
समंदर की।

मैं माँ

माँ बनी
मैंने ही जनी
यह सृष्टि।
मैंने ही रखा इसे
छाती से चिपकाकर
आप तो थे निमित्त
जन्म के
क्षण भर की ख़ातिर।

संतोष माया मोहन राजस्थानी की युवा कवयित्री हैं। सिमरण साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत।
संपर्क : द्वारा श्री मोहन आलोक,
207, फ़ोर्थ ब्लॉक, पुरानी आबादी, श्री गंगानगर-335001
(राज.)

अनु. मालचंद तिवाड़ी

विनोद स्वामी

कबीर की आशा में

उसके जन्म के पेशतर ही
बँटने लगा है प्रसाद
होने लगे हैं भंडारे
आप लोग क्यों बैठे हो
कबीर की आशा में!
वह गया ही कब है
ऐसी जगहों पर?

मेह

मेह इतना और ऐसा बरसा
मानो दादा जी ने
नहाकर निचोड़ दी हो—धोती!
मेह
फगत इतना
मानो
टोटे में
घी परोसते हुए
हाथ खींच लिया हो
माँ ने!

गाली

हेडमास्टर ने
गाली दी
चपरासी को
भूल गया जब वह
वक़्त पर घंटी बजाना
चपरासी ने
उससे भी तगड़ी
गाली दी
हेडमास्टर को
घंटी में!

1977 में जन्मे विनोद स्वामी के आँगन, देहरी, दीवार (कविता-संग्रह) प्रकाशित। संपर्क : मु. पो. परलीका, वाया-गोगामेड़ी, ज़िला हनुमानगढ़ (राज.)

अनु. मालचंद तिवाड़ी

तमिल कविता

शिल्पी बाल सुब्रह्मण्यम

सूरज का साया

मेरे मनोलोक से एक स्वर
हड़बड़ाकर निकल आया—
'किसका साया हूँ मैं?...'
अप्पा?...दादा?...परदादा?
पुरातन पूर्वज पितर-बाँधव?
पीढ़ियाँ बढ़ती आती अटूट
शृंखला की एक कड़ी हूँ?
'लौंडे का कान देखो
दादा जी जैसा गजकर्ण!'
'अधेड़ उम्र में ही गंजा सिर
पैतृक संपदा जो है...'
'किसका साया हूँ मैं?...'
अपने देहाती क़सबे का धूसर?
एकाकी तपस्वी-सा वह 'पूवरसु' पेड़?
उफनती बहती हमारी 'आली' नदी?
'कहाँ चल पड़ा यह छोकरा?'
'पूवरसु पेड़ के नीचे देखो—
गुल्ली-डंडा खेलता मिलेगा,'
'अबे! क्या समझ रखा है मुझे?'
"'आली' नदी का जल पीकर
बड़ा हुआ हूँ, समझे?"
'किसका साया हूँ मैं?...'
ग्रामदेवता मारिअप्पन के मंदिर में
जलते अखंडदीप की लौ हूँ?
सीढ़ियों के संग ऊँचे उठे
पलनी धाम का पहाड़ी गोपुर?
जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव
धर्म मतों का समरस सत्संग?
'डर लगता है, पुजारी पर
काली देवी का आवेश आया है!'
पलनी धाम में स्कंद देव की

1936 में जन्मे तमिल कवि शिल्पी बाल सुब्रह्मण्यम के 13 कविता-संग्रह 11 निबंध-संग्रह प्रकाशित हैं। साहित्य अकादेमी पुरस्कार तथा साहित्य अकादेमी अनुवाद पुरस्कार से पुरस्कृत।
संपर्क : 50, अलगप्पा ले आउट, पोल्लाच्चि-642001 (तमिलनाडु)

अनु. र. शौरिराजन तमिल-हिंदी में परस्पर अनुवाद करते हैं।
संपर्क : 293, 41-मार्ग, सेक्टर-8, करुणानिधि नगर, चेन्नै-600078

मन्नत का काँवर ढोए
धरमऋण चुका रहूँ सायास—
ऐसे ही दफ़्तर में ड्यूटी बजाने
फ़ाइलों के बंडल ढोए फिर रहा हूँ,
मैं सर्वदा 'शैवम्' (शाकाहार) ही
खानेवाला हूँ पक्का!
'मैं किसका साया हूँ?...'
झींगुरों की चीख़ भरा जंगली पेड़ हूँ?
या चीता ख़ूँख़्वार? चपल गोरिल्ला?
घाटियों से झरते सावेश झरने?...
'मुँह देखो, निरा हब्शियाना,'
'पूँछ लगा दो, बस, बंदर ही।'
'वाह! लफ़्फ़ाज़ी तो लाजवाब
पहाड़ी झरने-जैसे झर झर झर!'

'ओफ़! किस-किसका साया बना हूँ?...'
घुप्प अंधकार में विचरता कीड़ा हूँ?
अंधतमस में घिरे रहने पर भी
मेरे अंतस में समायी है
सूरज की दुपहरी रोशनी—
विहँसते नीग्रो बालक की
उजली दंत छवि-सी!

मेरे गाँव का दरिया

कहाँ से बह आती यह नदी?
पहाड़ी दरारों की ख़ामोशी तोड़कर?
बादलों का साँवला चीवर चीरकर?
काननों की कानाफूसी से छिटककर?
नहीं...
मुझमें से
निज अंतरंगी उत्स से फूटकर
मेरे पुलकित उर से निकलकर
रक्त सिराओं से बहकर
जो पत्तो-फूलों से सुवासित,
मुझे नहलाकर, गलाकर
निकल आता है यह दरियाई बहाव!

सरकते साँप को पैर से दबाकर
बाँसुरी बजाकर थिरक झूमते
नन्हे कन्हैये यहाँ भी रहते हैं,
यह है मेरी कदंब वन की जमुना,
अलसाकर सुस्ताते इक ठौर
हरिशचंदर-घाट यहाँ भी है
दाह-दहन किरिया के अवशेष
अस्थिखंडों से भरी
धरा यहाँ भी है
यह मेरी पतितपावनी गंगा है!
पड़ोसी राज्यों के साथ निर्विवाद
जल-विनिमय की साझेदारी
निभाती मेरी यह उर्वरा कावेरी है,

ग्रामांचल की 'उप्पारु' नदी के संग
नागर नदी 'पालारु' का संगम—
उसमें मेरे गर्म ख़ून का खारापन
यहाँ मेरी माँ का स्तन्य दूध
इन नदियों के कूल-किनारे
फैले हैं अपठित पुरातन पुराण
अपूर्ण-रचित अतीत-इतिहास,
शिलाखंडों से स्थापत्य शिल्प-सर्जन
इस नदी का परंपरागत संस्कार,
इसमें से उठती तरंगिनियाँ दिवा में
सुंदर तसवीरों की शोभायात्रा,
निशि वेला में गूँजते 'नागस्वरम्' बाजे की
लहरियों के संग थिरक-रुनक भरे नर्तन,

पेय जल इसका स्वभोजन
स्वगत मीनराशि खाद्य भोजन
मैं इस नदी का भोज्य भोजन,
यह मेरी चटाई है मोटी घास भरी
जिस पर मेरा शैशव बीता,
यह मेरा दर्पण है
जिसने मेरी छवि दिखाई,
यह मेरे प्यार-नेह की वीणा है
मेरा यह अंतरंग शयनागार है
मेरी आहों का संबल-सहारा

छलक निकले आँसू का बहाव है,
मेरे स्मृतिपटल का मुद्रित रजतपत्र भी
शोकतापों का निकासी नाला है
सुख-संतोष का उमड़ता समुंदर
मेरे साँवले शरीर का रक्त प्रवाह
मेरी आरंभिक कविताओं की नाभिनाल
मेरे अंतिम आदेशन की पोथी;

त्रिकाल के कंधों पर विराजे
शोभायात्रा पर निकली
इक सजीव शाश्वत कविता के
अक्षरों के मध्य विरयता
चिर मौन हूँ!

प्यास

संध्या की सुहानी वेला में
आकाश औ' सितारों की साया में
नदी नीर पीने मैंने
अंजुली में भर लिया,
मुँह के पास लाते-लाते उसमें
दिखी मेरी मुखछाया,
चकित हुआ, अंजुलि खुली
झरते नीर में सुना मैंने
अपना ही कंठस्वर!

खगेंद्र ठाकुर

कालिदास की कुल्हाड़ी

आप न चौंकिए और न घबराइए यह शीर्षक देखकर। आप कहेंगे क़लम चलानेवाले महाकवि कालिदास की क़लम के बदले मैं कालिदास की कुल्हाड़ी कहाँ से ले आया। लेकिन आप तो जानते ही होंगे कि हमारे गाँवों में आज भी कालिदास का एक अर्थ मूर्ख है। मूर्खतापूर्ण बातें बोलने या काम करनेवाले को लोग बेहिचक कालिदास कह देते हैं। अब तो आप समझ गए होंगे कि कालिदास की कुल्हाड़ी मेरे इस निबंध में कैसे, कहाँ से आ गई। आपको याद आ गया होगा कि विक्रमादित्य की विदुषी पुत्री विद्युत्तमा से पराजित होकर कुंठित मन लौट रहे पंडितों को एक आदमी मिला था, जो कुल्हाड़ी से डाल काट रहा था और डाल का जो हिस्सा कटकर गिरनेवाला था, उधर ही वह आदमी बैठा था। पंडितों ने सोचा कि इससे ज़्यादा मूर्ख आदमी दुनिया में नहीं मिलेगा। इसी मूर्ख से राजकुमारी विद्युत्तमा को पराजित कराना चाहिए। सोचिए ज़रा, जो अपनी पंडिताई से विद्युत्तमा को नहीं हरा सके, वे अब एक मूर्ख से उसे हराने की बात सोच रहे थे। पंडितों ने डाल काटनेवाले से पूछा, ''क्या नाम है?'' उत्तर मिला, ''कालिदास।'' तो कालिदास हो गया मूर्खता का पर्याय। लेकिन मैं एक भेद की बात बताऊँ आपको! कालिदास कहीं कोई डाल वाल नहीं काट रहे थे, फिर भी वे मूर्ख थे और वह जीवन भर मूर्खता करते ही रहे। अब आप भी चौंकेंगे। यह कैसे?

कालिदास जीवन भर कविता लिखते रहे, तो मूर्खता कैसे की? एक बात हाल की याद दिलाऊँ? एक बार इलाहाबाद में छायावाद के श्रेष्ठ कवि सुमित्रानंदन पंत के आवास पर एक गोष्ठी हो रही थी। अनेक बड़े-बड़े कवि और लेखक जुटे थे। उनमें महाकवि निराला भी थे, महादेवी जी थीं, बच्चन जी थे। और भी कई रहे होंगे। अभी हमें वहाँ उपस्थित लोगों की सूची से कोई मतलब नहीं है। मतलब की बात यह है कि लेखकों को चाय-नाश्ता करानेवाले सेवक के पास निराला जी गए और प्रेम से कंधे पर हाथ रखकर पहले नाम पूछा, फिर बाल-बच्चों के बारे में पूछने लगे। उस सेवक ने अपने कई बेटों के बारे में बताया। जैसे यह कि कोई कहीं नौकरी कर रहा है, कोई खेती कर रहा है और एक था छोटा वाला उसके बारे में उसने कहा, ''वह तो हुजूर, बरबाद हो

1937 में जन्मे खगेंद्र ठाकुर के आलोचनात्मक निबंध के कई संग्रह प्रकाशित। संपर्क : क्षितिज, जनशक्ति कॉलोनी, पथ संख्या 24, पटना-800024

गया।'' निराला जी ने पूछा, ''क्या करता है?'' तो उसने कहा, ''कविता लिखता है।'' अब आप ही सोचिए-कविता लिखना बरबाद होना है, तभी तो धर्मवीर भारती ने कहा कि कविता लिखने से अच्छा है उस काग़ज़ पर धोबी का हिसाब लिखना और धूमिल ने लिखा कि कविता ससुरी से तो चोली भी नहीं बनती। किस काम की है यह कविता? और पंत जी के उस सेवक ने तो एकदम अभिधा में उसी डाल को काटा जिस पर वह बैठा हुआ था। महाकवि पंत के यहाँ पल रहा था और कविता लिखने को बरबाद होना कह रहा था। असल बात यह है कि ये कविगण रहते हैं समाज में और समाज ही को उलटने-पलटने की बात करते रहे हैं कविताओं में। जिस पत्तल में खाते हैं उसी में छेद करते हैं—यह कहावत इसी तरह प्रचलित हुई होगी न? कविगण समाज में रहते हैं, समाज का खाते-पीते हैं और समाज में छेद खोजते फिरते हैं, उसकी गंदगी को उभारते रहते हैं। बेचारा बहेलिया पक्षियों को मार कर अपना और परिवार का पेट भरता था। इसलिए उसने क्रौंच पक्षी को मारा, वाल्मीकि उस पर ख़फ़ा हो गए और उसे शाप दे डाला,''हे निषाद तुम्हें जीवन भर प्रतिष्ठा न मिले, क्योंकि तुमने काम मोहित क्रौंच पक्षी के मिथुनरत जोड़े में से एक को मार डाला।'' क्या मतलब? वह क्या दोनों को मार डालता? कोशिश तो बहेलिए ने यही की होगी, लेकिन एक बच गया। वाल्मीकि से वह डर जाए, तो वह खाएगा क्या? वाल्मीकि भी तो पहले रत्नाकर नाम के अपराधकर्मी ही थे। मुझे लगता है कि उनके अपराधकर्म को राजनीतिक संरक्षण नहीं मिला, इसीलिए उन्होंने अपराधकर्म छोड़कर कविता लिखने का रास्ता अपना लिया। फिर कहता हूँ कि यदि रत्नाकर को राजनीतिक संरक्षण मिला होता तो वह नाम बदलकर वाल्मीकि बनकर कविता नहीं लिखने लगता। कविता लिखने लगे तो लोगों को ऐसा लगा कि वे वाल्मीकि से बाहर निकल आए। अद्भुत बात हो गई। वह समाज कैसा रहा होगा, जिसमें अपराधकर्मी होने का मतलब होता होगा वाल्मीकि के ढेर में छिपा या दबा होना और कविता लिखने का मतलब हो गया वाल्मीकि के भीतर से निकल आना। यों तो अपराधकर्मी रत्नाकर भी वाल्मीकि में छिपा नहीं रहा होगा, लेकिन उसे समाज के डर से छिपना ज़रूर पड़ता होगा। वाल्मीकि का प्रताप ऐसा हो गया कि राम जब चौदह वर्ष का वनवास पाकर सीता और लक्ष्मण के साथ जंगल गए तो पहले वाल्मीकि की शरण में ही गए। उस ज़माने में कविता का प्रताप बहुत रहा होगा। और यह हमारा ज़माना है, जब अपराधकर्मी अपने समाज का, अपनी जाति का नायक होता है।

कालिदास के ज़माने में भी कविता का प्रभाव रहा होगा, तभी तो कविता के कारण उनकी शोहरत राजा तक पहुँची, वह भी राजा विक्रमादित्य तक। राजा ने कालिदास को अपने पास बुलवा लिया और अपने दरबार में नवरत्नों में उनको सम्मान जनक जगह दी। उल्लेखनीय है कि विक्रमादित्य के नवरत्नों में कोई अपराधकर्मी नहीं था। बात यह है कि उन दिनों वोट नहीं होता था, इसलिए बूथ पर क़ब्ज़ा करने के लिए राजा को अपराधकर्मी की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। उन दिनों जनता को भी राजा से अपना काम कराने के लिए किसी अपराधकर्मी की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। जब वोट का ज़माना आया, जिसे जनतंत्र का समय कहा गया, तो राजा रहा ही नहीं। उलटी बात यह थी उस ज़माने में कि कवियों और लेखकों को पास रखने से राजा की साख़ बढ़ती थी। किसी ने कहा है न—स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते। लेकिन कालिदास ऐसे निकले कि राजा के दरबार में सम्मान पाकर भी राजा यानी अपने आश्रयदाता राजा विक्रमादित्य के बारे में कुछ नहीं लिखा। मेघ पर लिखा, मेघ को प्रिया तक संदेश पहुँचाने वाला बना दिया। मेघ कहीं दूत बन सकता है? राजा रघु लिखा, बल्कि रघु पर लिखते-लिखते पूरा रघुवंश लिख दिया। शकुंतला पर लिखा, उसके बहाने दुष्यंत पर लिखा। अग्निमित्र पर लिखा, उसके प्रेम पर लिखा। पार्वती

की तपस्या पर लिखा, जो उन्होंने शिव को पाने के लिए की थी। पुरुरवा और उर्वशी के विहार पर लिखा। रहते रहे विक्रमादित्य के दरबार में, जो गुप्तवंश का चंद्रगुप्त था, लेकिन लिखते रहे दूसरों पर। क्या महाकवि का ऐसा करना जिस डाल पर बैठे थे, उसी को काटना नहीं था? मैं तो समझता हूँ कि बिलकुल वही था वह। असल में कालिदास के लिए झंझट यह थी कि वे कवि हो गए। कवि एक अलग रचयिता होता है, स्रष्टा होता है। कहा गया है—अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापति। अपार काव्य संसार में एक मात्र कवि, प्रजापति है। एक प्रजापति तो वह हुए जिन्हें ब्रह्मा कहा गया था और आजकल परम पिता परमेश्वर कहा जाता है। इस प्रजापति के समानांतर कवि स्वयं प्रजापति कहलाने का अधिकारी बन बैठा, क्योंकि ब्रह्मा के द्वारा रचित संसार के समानांतर एक दूसरा संसार (भले ही वह काव्य संसार है) रच डाला कवि ने। यह भी तो जिस डाल पर बैठे हैं उसी को काटने जैसा कर्म है। कवि का जो काव्य-संसार है, वह ब्रह्मा जी के संसार का प्रतिपक्ष है। कालिदास तो महाकवि थे, इसलिए उनका समानांतर काव्य-संसार दूसरों से ज़्यादा महनीय है। फलतः यह उतनी ही बड़ी मूर्खता भी है। अब यह देखिए कि कालिदास शिव के लिए तपस्या करती हुई पार्वती के सौंदर्य का वर्णन करने लगे तो क्या कर बैठे? पार्वती तपस्या कर रही थी, तभी वर्षा होने लगी। यह भी कहा जा सकता है कि कालिदास वर्षा का चित्रण कर रहे हैं। वर्षा की बूँदें पार्वती के सिर पर पड़ती हैं। सिर से नाक पर गिरती हैं और नाक से टूटकर स्तन की चोट से और भी टूट-टूटकर नीचे नाभि तक फैल जाती हैं। किंवदंती है कि पार्वती इस वर्णन से नाराज़ हो गईं। यह क्यों नहीं हुआ कि कालिदास वर्षा की बूँदों को किसी चट्टान पर गिरते हुए और बिखरते हुए देखते? कवियों का क्या ठिकाना? उन्होंने वर्षा की बूँदों का आघात पार्वती के स्तन पर देखा, फिर नाभि तक पहुँच गए। पार्वती नाराज़ हो गईं और शाप दे दिया महाकवि को कि उनके जीवन का अंत एक नारी के हाथों ही होगा। कहा जाता है कि हुआ यही। यह कथा लंबी है। उसका सार यह है कि महाकवि कालिदास के समकालीन एक राजा कुमार थे जो स्वयं कवि थे और उससे भी बढ़कर वे कालिदास के प्रशंसक थे। आज कल की भाषा में कहें—वे कालिदास के 'फ़ैन' थे। कालिदास पहुँच गए उस कवि राजा से मिलने। लेकिन उसके नगर में पहुँचते-पहुँचते शाम हो गई, तो एक वीरांगना के निमंत्रण पर उसके घर ठहर गए। वह असल में राजनर्तकी थी। कालिदास ने देखा कि वह महिला जाग रही है, उसे नींद नहीं आ रही थी। कालिदास ने उसकी चिंता का कारण पूछा, बहुत ज़िद करने पर उसने बताया कि राजा ने उसे एक पंक्ति समस्यापूर्ति के लिए दी है और कल ही दरबार में उसे सुनाना है। पंक्ति थी—

कमले कमलोत्पत्ति श्रूयते न च दृश्यते।

महाकवि कालिदास ने झट कह दिया,

बाले तव मुखांबुजे कथम् इंदीवरद्वयम।

कमल से कमल की उत्पत्ति न सुनी गई न देखी गई। लेकिन कालिदास ने इसे संभव बनाते हुए कहा, ''हे सुंदरी, तुम्हारे मुख-कमल में दो नेत्र रूपी कमल कैसे लग रहे हैं! कालिदास तो कह कर सो गए। लेकिन नर्तकी को चिंता हो गई कि कल दरबार में मैं इसे अपनी पंक्ति के रूप में सुनाऊँगी और यह आदमी भी वहाँ रहेगा, तो भेद खुल जाएगा। इस छोटे से स्वार्थ के कारण उस औरत ने कालिदास को मार कर आँगन में गाड़ दिया। सौंदर्य प्रेमी और सौंदर्य का चितेरा होने का दंड कालिदास को मिल ही गया। सौंदर्य प्रेमी होना और उसका चितेरा होना क्या सचमुच अपराध है? अपराध एक ही नहीं था न महाकवि कालिदास के खाते में। शकुंतला की कथा-व्यथा कहें, वे लिखने बैठे तो दुष्यंत के साथ क्या कर बैठे? आख़िर दुष्यंत राजा थे, प्रतापी राजा थे। लेकिन महाकवि को चिंता दुष्यंत

की नहीं शकुंतला की पहचान की थी। पहचान थी दुष्यंत की दी हुई अँगूठी। वह अँगूठी खो गई तो क़ुसूर शकुंतला का ही था न। कम-से-कम दुष्यंत का तो नहीं था। शकुंतला का दोष तो महाकवि ने दुर्वासा का शाप बताकर समाप्त कर दिया। और दुष्यंत को भुलक्कड़ बना दिया, ऐसा भुलक्कड़ कि जिस सुंदरी का भोग किया उसने कण्व ऋषि के आश्रम में, उसके सामने उपस्थित होने पर भी वह उसे नहीं पहचानता। चेहरा नहीं पहचाना तो कोई बात नहीं, कम-से-कम उस भोग का आनंद तो याद आता। सब कुछ भूल कर वह पाठकों की नज़र में खलनायक बन गया और उनकी सहानुभूति शकुंतला के साथ हो गई। राजा के दरबार में रहते हुए कालिदास की सहानुभूति एक सामान्य स्त्री के साथ? यह जिस डाल पर बैठे थे, उसी को काटना नहीं तो क्या है? कालिदास अत्यंत संवेदनशील थे, इसीलिए वे विचार से अधिक ध्यान व्यथा पर देते हैं। उनके समय में वेदांत का ज़ोर था, वैष्णव धर्म भी प्रचलन में था। ये दोनों लोकायत और बौद्ध धर्म-दर्शन के ख़िलाफ़ थे। लेकिन कालिदास ऐसे संवेदनशील कवि कि न वेदांत और वैष्णव धर्म के पक्ष में कुछ बोले और न लोकायत और बौद्ध धर्म के ख़िलाफ़। यह क्या था?

असल में कालिदास का अपराध या आज के युग-बोध की दृष्टि से कहें तो महाकवि की मूर्खता भी कह सकते हैं, यह है कि उन्होंने इस मूर्खता का या डाल काटने का इतिहास बना दिया।

तुलसीदास के समय बादशाह अकबर का शासन था। कहा जाता है कि अकबर संतों, भक्तों, धर्म गुरुओं आदि का बड़ा आदर करता था, उनकी बातें सुनना चाहता था तो एक बार उसने तुलसीदास को अपने दरबार में आने का निमंत्रण भेजा। लेकिन तुलसीदास भी महाकवि निकले। अकबर के दरबार में गए तो नहीं ही, एक दोहा लिखकर भेज दिया—

हम चाकर रघुवीर के पटौ लिखौ दरबार।
तुलसी अब का होईहें नर के मनसबदार॥

एक तो अकबर के राज में रहकर भी तुलसी उनके निमंत्रण को ठुकरा कर नहीं गए। ऊपर से यह देखिए कि अकबर को बादशाह नहीं कहकर 'नर' कह दिया—हम तो राम के पटवारी हैं, अब नर के मनसबदार क्या बनेंगे? यह भी तो जिस डाल पर बैठे हैं, उसी को काटना है। कालिदास की क़लम तो तुलसीदास तक नहीं पहुँची, लेकिन उनकी कुल्हाड़ी तो पहुँच ही गई। तुलसीदास तो यह भी बताने लगे कि राजा कैसा होना चाहिए? ये तो वैष्णव भक्त, सगुण मार्ग पर चलनेवाले थे। लेकिन राजा के लिए ऐसे किसी धर्म का प्रतिपादन नहीं कर के राजधर्म की बात करते हैं। तुलसी के पहले कबीरदास कह चुके थे कि राजा-परजा सब बराबर हैं, प्रेम की नज़र में। कबीर ने तो आमने-सामने इब्राहिम लोदी को फटकार दिया था। राजतंत्र में राजा को काशी का वह जुलाहा फटकार रहा था। अपने जीवन के अंत में तो इस जुलाहे ने राम को भी फटकार दिया था। कहा जाता है कि जो काशी में मरता है, वह स्वर्ग जाता है। कबीर मरने के पहले चले गए मगहर। राम-कृपा या ईश्वर कृपा की परख करने के लिए काशी छोड़ना ज़रूरी था। कबीर ने कह भी दिया—

जो काशी तन तजै कबीरा।
तो रामहिं कौन निहोरा रे।

कबीर के हाथ में वह कालिदास वाली कुल्हाड़ी कुछ ज़्यादा ही तेज़ हो गई है। यही कारण है कि तुलसी जैसे समन्वयकारी के हाथ में जाकर भी उस कुल्हाड़ी की धार कुंद नहीं हो सकी।

जो इस कुल्हाड़ी को छोड़ दूसरी तरफ़ गए, उनकी कविता ही कुंद हो गई। केशवदास और उनके बाद के रीति कवियों के साथ यही तो हुआ।

आधुनिक युग में कालिदास की कुल्हाड़ी फिर कवियों के साथ आ गई और कविता भी

सरदार हो गई। निराला ने चतुरी चमार को अपनाया, बिल्लेसुर बकरिहा को अपनाया तो कान्यकुब्ज कुल कुलांगार कहलाए न! राम से शक्ति की पूजा तो कराते हैं, लेकिन कहते हैं—अन्याय जिधर शक्ति हैं उधर। कभी आनंद भवन (नेहरू परिवार का घर) के गहरे दोस्त थे और नेहरू पर व्यंग्य लिख दिया—

काले-काले बादल छाए।
न आए वीर जवाहरलाल।

प्रेमचंद ने कालिदास की कुल्हाड़ी इस तरह चलाई कि अपनी पहली किताब ज़ब्त करवा दी, अपना नाम बदलना पड़ा और अंततः नौकरी भी छोड़नी पड़ी उन्हें, लेकिन अंग्रेज़ी राज का समर्थन नहीं किया। कितना कहा जाए। माखनलाल चतुर्वेदी ने तो हद ही कर दी। 1952 में उन्हें राष्ट्रपति ने राज्यसभा का सदस्य मनोनीत किया था। खरगोन का जिलाधिकारी मनोनयन पत्र लेकर उनके सामने हाज़िर हुआ। माखनलाल जी ने कहा, "मैं क्या करूँगा इसे लेकर, वापस ले जाओ।" जिलाधिकारी चकित था। उसने कहा, "सर आप एम. पी. हो गए।" माखनलाल जी बिगड़े, "तुम समझते हो मैं समझ नहीं रहा हूँ, मैं बेवकूफ़ हूँ? मैं कह रहा हूँ कि मैंने स्वाधीनता संग्राम में इसलिए भाग नहीं लिया था कि एम. पी. होना है। इसे वापस कर दो।"

कमाल है, लोग एम. पी. होने के लिए मारामारी कर रहे थे, अब तो और भी कर रहे हैं, लेकिन माखनलाल जी ने उसे ढेले-पत्थर की तरह ठुकरा दिया। आख़िर माखनलाल जी ने ही तो लिखा—

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं प्रेमी माला में विंध प्यारी को ललचाऊँ
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ
चाह नहीं सम्राटों के शव पर है हरि डाला जाऊँ।

सोचिए ज़रा, कोई चाह है ही नहीं, तो यह जीवन किस काम के लिए है? लेकिन कवि तो लिखकर अपना हाथ काट चुके थे, तो उसी का पालन करने के लिए राज्य सभा का मनोनयन ठुकरा दिया। कालिदास की कुल्हाड़ी यहाँ माखनलाल जी पर चल गई। मुझे लगता है, इसलिए यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने कवियों को अपने गणराज्य से निकाल दिया था। कवियों का प्रतिपक्ष राजाओं से लेकर आज के जनतंत्र के मसीहाओं तक को परेशान करता रहा है। मुक्तिबोध ने देखा कि दिल के तख़्त पर भूल ग़लती बैठी हुई है और ईमान को लहू-लुहान करके गिरफ़्तार कर लिया गया है। और नागार्जुन कह जाते हैं—

जली ठूँठ पर बैठ कर गई कोकिला कूक।
बाल न बाँका कर सकी शासन की बंदूक़ ॥

आप देख रहे हैं कि कालिदास की कुल्हाड़ी लगातार चल रही है और यही कुल्हाड़ी है, जिसके कारण मनुष्य की रचनात्मकता बची हुई है। वैसे मुझे डर लग रहा है कि कालिदास, कबीरदास, तुलसीदास आदि को यदि कोई किसी एन. जी. ओ. में फँसा दे तो उनकी भी बुद्धि ठिकाने लग जाएगी और कुल्हाड़ी चली जाएगी किसी संग्रहालय में। फिर कविता का क्या होगा! फिर साहित्य का क्या होगा? मानव-मूल्य और मनुष्य की रचनाशीलता का क्या होगा?

सुवास कुमार

साहित्यिक विधाओं की अवधारणा

सच पूछा जाए तो विधाओं के स्वरूप, उनके उद्गम एवं साहित्येतिहास से उनके संबंध पर बहुत कम विचार किया गया है, हालाँकि बच्चन सिंह—जैसे अपेक्षाकृत बाद के साहित्येतिहासकार मानते हैं कि, "भाषा, शैली, रूपात्मक प्रयोग भी इतिहास के आधार बनते हैं। इसे नए सिरे से अन्वेषित करने की आवश्यकता है।" ('हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास', भूमिका) एक निश्चित रचना का दूसरी साहित्यिक रचना से संबंध की पहचान भी विधा है। विधाएँ रचनात्मक स्वीकृति के लिए ढाँचा तैयार करती हैं। विधा के लिए प्रकार, रूप, भेद—जैसे शब्दों का भी खुलकर प्रयोग किया जाता है। अंग्रेज़ी में इसके लिए Modes, Forms, Kinds, Type, Fixed Forms, Genre आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। विधा यानी प्रकार का संबंध निर्धारित स्वरूप एवं पद्धति से है। कोई भी भाषा या बोली, या फिर उसमें लिखित या व्यक्त भाव और विचार, सर्वतंत्र, स्वतंत्र नहीं होते/हो सकते हैं क्योंकि इन सबके निश्चित नियम और प्रणाली होते हैं—साथ ही इनका उपयोग करनेवाले विषयों और लहज़ों के भी।

संस्कृत में अनेक आधारों पर विधात्मक चिंतन प्रस्तुत किया जाता रहा। एक तो भाषा/छंद के आधार पर गद्य, पद्य तथा मिश्र के रूप में काव्य-भेद किया गया और फिर इंद्रियग्राह्यता की दृष्टि से दृश्य एवं श्रव्य के रूप में भी। इतना ही नहीं, शैली, विषयवस्तु, स्वरूपविधान, संरचना-बंध, प्रभाव, भावकता आदि अनेक आधारों पर भी विधाओं के लक्षण निर्धारित किए गए।

क्रोचे से लेकर नॉथ्रॉप फ्राइ जैसे कतिपय चिंतक विधाओं के वर्गीकरण को बेकार मानते हैं क्योंकि ये पाठक को सहजानुभूति या intuition के दायरे से खींचकर तार्किकता या logical knowledge की ओर ले जाना चाहते हैं। मोटे तौर पर इनका मानना है कि विधाएँ रचना की देह या ज़्यादा-से-ज़्यादा बाहरी नियम होती हैं जबकि हमारा काम रचना की आत्मा यानी उसके सही अभिप्राय को जानना होता है। संरचनावादी रोलां बार्थ का विचार था कि किसी साहित्यिक रचना की स्पष्ट तथा वस्तुगत व्याख्या करना असंभव है। विनिर्मितिवादी जाक देरीदा भी रचना की अनिर्धार्यता पर बल देते थे। दूसरी ओर सी. एस. लीविस—जैसे आलोचकों के लिए ये विधात्मक वर्गीकरण बेहद महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं।

सुवास कुमार सुपरिचित कथाकार-आलोचक हैं। संपर्क : 38, क्वाइट लैंड्स, इंद्रानगर, गच्चीबावली, हैदराबाद-500 032 (आं. प्र.)
फ़ोन : 040-23002229

लॉविस का कहना था कि सच्चा प्रेमगीत वही लिख सकता है जो न केवल युवती पर मुग्ध होता है बल्कि 'सॉनेट' पर भी। (ए प्रीफ़ेस टु पैराडाइज़ लॉस्ट)। सवाल है कि क्या विधाएँ ढाँचा-भर होती हैं और रचना की अंतर्वस्तु से उनका जैव क़िस्म का कोई संबंध नहीं होता? क्या वे अंतर्वस्तु को और पाठक/आलोचक की संवेदनशीलता को ग़लत ढंग से प्रभावित करती हैं? इस संबंध में किसी दो-टूक निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है क्योंकि आधुनिक लेखन में जहाँ एक ओर विधाओं की संख्या में वृद्धि होती जा रही है वहीं, साथ ही, विधाएँ आपस में एक दूसरी में संक्रमण भी करती जा रही हैं।

विधा लेखनकार्य में प्रवृत्त होने के लिए लेखक को भेजी गई निमंत्रण-पत्रिका—जैसी होती है। विषयवस्तु के साथ-साथ लेखक का रवैया और लहज़ा मिलकर विधा का प्रारूप तैयार करते हैं ताकि उस रचना को साहित्यिक स्वीकृति मिल सके। इस विधात्मक चुनाव से कृति की अंतर्वस्तु और रूप दोनों प्रभावित होते हैं। विधा-निर्धारण सामाजिक अभिप्रायों से अलग नहीं किया जा सकता। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक—जैसे साहित्येतर तत्त्वों का भी विधाओं को निर्धारित करने में हाथ होता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में विधाओं को बहुत-कुछ मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक स्थितियों पर खड़ा किया गया। इससे वस्तुपक्ष एवं आस्वादपक्ष का समुचित आकलन करना संभव है। इसके माध्यम से साहित्य और जीवन के प्रति हमारे रुख़ का भी पता चलता है। विधा के माध्यम से परंपरा-विशेष के समादर और उसके परवर्ती विकास का भाव भी व्यक्त होता है।

सब जानते हैं कि रचना पहले होती है और विधाओं के लक्षण बाद में तय किए जाते हैं। उन लक्षणों की लीक पर रचनाएँ दौड़ने लगती हैं। मज़ेदार बात यह है कि लक्षण को कसके पकड़ने वाली रचनाएँ महान नहीं बन पातीं। यहीं पर कुछ सवाल भी उठते हैं कि क्या विधात्मक लक्षण रचनाओं का केवल बाहरी आकार-प्रकार ही तय करते हैं? क्या वे रचनात्मक अभिव्यक्ति और आस्वाद को प्रभावित नहीं करते? ज़ाहिर है कि विधाएँ कोई वैसी भिन्न-भिन्न डिज़ाइनों वाला कलेवर मात्र नहीं कि जिनके भीतर एक-जैसी साहित्यिक वस्तु रख दी जाए। ऐसा देखा जाता है कि रचनाकार को वस्तु विधा के साथ (वस्तुमय विधा/विधामय वस्तु) ही मिलती है। लेकिन जब और जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ दो स्थितियाँ होती हैं : एक में वस्तु के पहले ही विधा का चुनाव कर लिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप वस्तु को विधागत लक्षण प्रभावित करने लगते हैं जिससे रचनात्मक वस्तु को सिमटना-सिकुड़ना पड़ता है। दूसरी स्थिति इसके उलट होती है जहाँ किसी पूर्व-निर्धारित वस्तु को अनिर्दिष्ट विधा की ओर चलाने की कोशिश की जाती है। इसके फलस्वरूप वस्तु और रूप दोनों क्षतिग्रस्त होते रहते हैं। विधात्मक लक्षण रचनाशीलता को एक ही दायरे में घुमाते रहने का कार्य करते हैं जो लगभग अनुकरणवृत्ति को प्रश्रय देने-जैसा है। लक्षणों का कठोरता से पालन करनेवाली रचना ख़ुद को उस विधा का आदर्श भले ही मनवा ले, लेकिन ज़रूरी नहीं कि उसकी यह 'शुद्धता' उसे श्रेष्ठ भी बना देगी। इसके उलट विधात्मक फ्रेम से छेड़छाड़ करनेवाली रचनाएँ अधिकतर महत्त्वपूर्ण बनती देखी गई हैं। अतः मुझे लगता है कि साहित्य में विधाएँ नहीं, रचनात्मक प्रयोग महत्त्वपूर्ण होते हैं।

यह रोचक खोज का विषय हो सकता है कि विधाओं का निर्माण कैसे हुआ होगा। साहित्य की सबसे आदिम विधा है कविता, और वह सबसे लचीली विधा भी रही है। इस कविता-विधा का निर्माण तरह-तरह के रहस्यात्मक मंत्रों, श्रम से जुड़े गायनों, अनुष्ठानपरक नृत्यों आदि के मिले-जुले रूपों से हुआ माना जाता है। बहुत

बाद में चलकर इन्हीं से प्रबंध कविता और नाटकों का जन्म हुआ और उनके लक्षणों का शास्त्र सामने आया। जब लक्षणों का कठोरता से पालन करने पर ज़ोर दिया जाता है तो वस्तुतः विधा का पतन आरंभ हो जाता है। जिस तरह व्याकरण की बंदी (शिष्ट) भाषा में जकड़ी जाकर रचनात्मकता दम तोड़ देती है और उसे लोकजीवन की भाषा के खुलेपन में ही फिर से नई ज़िंदगी मिलती है, वही हाल पुरानी विधात्मक चौखटों को तोड़कर लोक के ऊबड़-खाबड़ रूपों को स्वीकार करने से नए रचनात्मक प्रयोग ऊँचाइयाँ प्राप्त करते हैं।

विधाएँ सामाजिक एवं मानवीय अनुभवों के बदलाव से भी बदलती हैं, मिटती और बनती हैं। कहा जा सकता है कि जैसे आलोचक काव्य-लक्षण के आधार पर रचना को परखने की कोशिश करता है, वैसे ही रचना के आधार पर काव्य-लक्षणों को पहचानने, उन्हें स्थापित करने और बार-बार परखने की आवश्यकता होती है—और ऐसा करना सच्चा आलोचकीय कर्म है। दरअसल अपनी निर्माण-प्रक्रिया में रचना जाने हुए से अनजाने की ओर बढ़ती है और इसी संदर्भ में विधाएँ भी क्रमशः जटिल होने लगती हैं।

रचना का मतलब ही है नए का जन्म, जबकि स्थापित विधात्मक लक्षण पुरानेपन का अहसास दिलाते हैं। साहित्य का नयापन विधाओं की टूट-फूट में से भी बनता है। मानवीय नियति, उसकी स्थितियाँ और परिस्थितियाँ नई विधाओं की निर्मिति में सहायक होती हैं। बीसवीं सदी के साहित्य में रिपोर्त्ताज, जीवनीपरक उपन्यास, आत्मकथात्मक उपन्यास, लघु उपन्यास, काव्यात्मक उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, लघुकथा, लंबी कहानी, ललित निबंध, एकांकी नाटक, रेडियो रूपक-जैसी अनेक नई विधाएँ उपस्थित हुईं। ये समस्त विधागत प्रयोग वस्तुतः जटिल अथवा संश्लिष्ट कारणों का परिणाम थे। यहाँ ध्यातव्य है कि विधाओं में प्रयोग मात्र का उद्देश्य लेकर चलनेवाले रचनाकार रूपवादी बनने को बाध्य होंगे। कोई जानबूझकर विधा की सीमाएँ नहीं तोड़ता—बिना किसी गहन रचनात्मक आशय के उनसे छेड़खानी करने से साहित्य का स्तर उठ नहीं सकता।

यह भी देखा जाता है कि आलोचक रचना के विधागत लक्षणों के प्रति हमेशा आश्वस्त नहीं होता तभी तो उसे इस तरह का निर्णय प्रस्तुत करना पड़ता है, "...(निर्मल वर्मा) मूलतः कहानीकार ही हैं, न कि उपन्यासकार यह बात 'लाल टीन की छत' या 'रात का रिपोर्टर' के बारे में ही सच नहीं है वरन् 'अंतिम अरण्य' के बारे में भी। 'अंतिम अरण्य' की तराश एक लंबी कहानी की तराश है।" इतना ही नहीं, एक निश्चित विधा के रूप में भी उस—जैसी सारी रचनाओं को निर्द्वंद्व भाव से रख पाना उचित नहीं लगता, "अतएव कुछ आधुनिकतावादी प्रयोगों के बावजूद कलिकथा वाया बाईपास एक यथार्थवादी उपन्यास है जबकि अंतिम अरण्य एक आधुनिकतावादी रचना है।"

साहित्यिक विधाएँ विभिन्न कलारूपों के तत्त्व ग्रहण करती रही हैं, विशेषकर संगीत, चित्र, फ़ोटोग्राफ़ी—आदि से। आधुनिक कथाओं में दृष्टांत, नीतिकथा, गपशप, संस्मरण, किंवदंती, क़िस्सागोई—जैसी अनेक पुरानी विधाओं का रचनात्मक उपयोग करके मानो एक स्वदेशी क़िस्म का कथा-ढाँचा तैयार किया जा रहा हो। इस दिशा में फणीश्वरनाथ रेणु और हजारी प्रसाद द्विवेदी से लेकर काशीनाथ सिंह—जैसे अनेक कथाकारों के कार्य उल्लेखनीय हैं। एक विधा के भीतर दूसरी विधा भी घुसी/ठुँसी मिल सकती है और मिश्रित विधाओं के भी ख़ूब दर्शन होते हैं। साहित्य की आधुनिक विधाओं में रेखाचित्र, रिपोर्त्ताज, डायरी, व्याख्यान, पुस्तक-समीक्षा, टिप्पणी, साक्षात्कार आदि की तो बात ही क्या—व्यंग्य, एब्सर्ड, फ़ैंटेसी से लेकर दलित तथा नारी विमर्श से जुड़े लेखन अलग विधा का रूप लेने लगे हैं।

शंभु गुप्त

इधर की हिंदी कविता : भाषा और शिल्प के नए तेवर

एक पाठक के तौर पर कविता सबसे पहले हमसे अपनी भाषा और शिल्प के बतौर पेश होती है। कविता की भाषा और कविता में निहित यथार्थ के प्रति कवि की अंतर्दृष्टि, समझ और कलात्मक श्रम के संकेत देती है। कविता में वस्तु या यथार्थ का अपने-आप में कोई स्वायत्त अस्तित्व नहीं है। वह काव्य-भाषा और काव्य-शिल्प की सापेक्षता में ही स्वरूप ग्रहण करता है। जैसे बिना शरीर के प्राण-तत्त्व का कोई रूप नहीं बनता, ठीक वैसे ही बिना शब्द के वस्तु का कोई स्वरूप नहीं बनता! भक्त-कवि सूरदास के एक पद का सहारा लेकर कहें तो कहा जा सकता है कि, ''रूप रेख गुन जाति जुगत बिन'' वस्तु ''निरालंब चकित मन'' की तरह ख़ामख़ाँ इधर-से-उधर दौड़ लगाती रहती है, उसे कहीं कोई आधार नहीं मिल पाता। कविता में भाषा की यह भूमिका मात्र एक सैद्धांतिक संदर्भ नहीं है अपितु, जैसा कि कहा गया, कवि का संपूर्ण व्यक्तित्व इसमें सन्निहित होता है।

वस्तु या यथार्थ के बीच सदैव ही एक द्वंद्व चलता रहता है। यह द्वंद्व न केवल अनंत है बल्कि इसके अनेकानेक आयाम भी हैं। ये आयाम भाषा और शिल्प की सीमा और सामर्थ्य से तो जुड़े ही हैं, कवि की अपनी सीमा और सामर्थ्य से भी जुड़े हैं। जैसे कि सौंदर्यशास्त्र की यह बहुत पुरानी समस्या है कि बावजूद अपनी तमाम शक्ति और सामर्थ्य के एक प्रतिभाशाली कवि से भी अपनी काव्याभिव्यक्ति में बहुत-कुछ ऐसा अनकहा छूट ही जाता है जिसे वह कहना चाह रहा होता है, लेकिन कह नहीं पाता। कवि के अनुभव और उसकी अभिव्यक्ति के बीच न जाने यह कैसा अंतराल है जो कभी भर ही नहीं पाता! हालाँकि इस अंतराल की अपनी सांकेतिकताएँ, सार्थकताएँ हो सकती हैं लेकिन एक कवि अपनी रचना-प्रक्रिया के दौरान इस बाबत जिस विकट आत्मसंघर्ष से जूझता और उससे मुक्त होने की कोशिश करता है, वह लाजवाब है। लगभग हर जेनुइन कवि इस स्थिति से गुज़रा है और गुज़रता है। कुमार अंबुज ने इस लेखकीय आत्मसंघर्ष पर इधर कुछ उल्लेखनीय कविताएँ लिखी हैं। पहल 75 (सितं., अक्तू., नवं.

शंभु गुप्त के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित।
संपर्क : 122, अलकापुरी,
अलवर-301001 (राज.)
मोबाइल : 9414017361

2003) और तद्भव 3 (अप्रैल 2004) में छपी ये कविताएँ न केवल कलात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ हैं, अपनी बात शक्तिशाली ढंग से कहती भी हैं। ये अपनी बात स्पष्टत: और सफलतापूर्वक कह देती हैं, संभवत: इसीलिए ये कलात्मक हैं। मसलन 'अव्यक्त' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं, गुहा के भीतर गुहा है / और उसके भीतर / जीवन की एक कोशा / ऐसा ही कुछ / कहना चाहता है कोई हज़ारों सालों से / जो हर बार चला आता है अनकहा / जिसके आस-पास लगे हुए शब्दों के शर / जो बिंधा हुआ अपने सौंदर्य में अव्यक्त (तद्भव-3, पृ. 134-35)। अपने सौंदर्य में बिंधा हुआ यह अव्यक्त क्या है और कविता में सचमुच ही यह अव्यक्त रह गया है या नहीं रह गया है, यही देखना दरअसल इस या ऐसी कविताओं का सही अधिगम है। कुमार अंबुज की यह कविता बहुत ही सहज और आत्मीय तरीक़े से उस अव्यक्त और सामान्यत: अननुमार्गणीय, (अनट्रेसेबल) को अभिव्यक्त और अभिव्यंजित करती चलती है जिसे वस्तुत: अपनी कलात्मक खोज के सिलसिले में कवि ने अपना काव्य-विषय बनाया था। दरअसल अव्यक्त या अनकहा यहाँ कुछ नहीं है। कवि रचना-प्रक्रिया के उस आत्मसंघर्ष-विशेष से कुछ तो सिद्धांतवश और कुछ व्यवहारवश, अपने पाठक को परिचित कराना चाहता है, जिसे एक ईमानदार कवि हमेशा से झेलता आता है। इस कविता का असल महत्त्व ही यह है कि यह हमें काव्य-भाषा के साथ काव्य-वस्तु के अनवरत और अनंत: द्वंद्व और इस द्वंद्व में कवि की संलग्नता की एक कठिन प्रक्रिया से रू-ब-रू कराती है। यह प्रक्रिया एक कवि का असल रचनात्मक संकट होता है। इस संकट से गुज़रते हुए और गुज़रकर ही भाषा की असल शक्ति से वह साक्षात् होता है; उसकी काव्यभाषा रचनात्मक शक्ति ग्रहण करती है। इस कविता का प्रारंभ ही कवि ने इस समस्या से किया है—कुछ चीज़ें दफ़न ही रहती आएँगी इतनी ही है भाषा की शक्ति (वही, पृ. 133)। लेकिन आगे जैसे-जैसे भाषा की शक्ति की इस खोज में वह गहरे उतरता है, इस प्रक्रिया की एक अलग ही तसवीर उभर कर समाने आती दिखाई देने लगती है। इस तसवीर में सबसे केंद्रीय बिंदु जो प्रकारांतर से किसी भी कला-कर्म का प्रस्थान-बिंदु भी होता है, है—कवि की अंतर्दृष्टि। कवि की अंतर्दृष्टि ही वह मूलभूत तत्त्व है जो एक भाषा को काव्यभाषा और एक शब्द-संरचना को काव्य-रचना का रूप देता है। अंतर्दृष्टि-संपन्न कवियों के लिए भाषा की सीमाबद्धता कोई समस्या नहीं है। भाषा उनके आगे पानी भरती दिखाई देती है, उनकी पाटी से बँधी हाथ जोड़े खड़ी रहती है। जैसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के भाषा-सामर्थ्य के बारे में यह कहा था कि, ''जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है, बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नज़र आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फ़रमाइश को नहीं कर सके।'' (कबीर, पृ. 216)। अव्यक्त या अनकहे की समस्या कबीर के सामने भी थी और भारी थी। उनका तो वर्ण्य-विषय ही अकथनीय और अवर्णनीय बनाया वह अपने आप में एक उदाहरण है। यहाँ ध्यान देने की सबसे मुख्य बात यह है कि कबीर की भाषा में यह सामर्थ्य इसलिए आया कि वे ''सादगी और सहज भाव पर निरंतर ज़ोर देते'' (ह.प्र. द्विवेदी, वही, पृ. 218) रहते थे। कबीर की भाषा के इस विवेचन के आधार पर काव्यभाषा संबंधी कोई सैद्धांतिक निष्कर्ष यदि निकाला जाए तो वह इससे भिन्न नहीं होगा कि किसी कवि की भाषा में अकथनीय और अवर्णनीय वस्तु को कथनीय और वर्णनीय बनाने की प्रक्रिया यही हो सकती

है कि कवि सादगी और सहज भाव का क़ायल हो और सादगी और सहज भाव के प्रति क़ायल कोई कवि तभी हो सकता है जब वह मस्त, फक्कड़ और सब कुछ को झाड़-फटकार कर चलनेवाला हो। यहाँ एक बार फिर हजारी प्रसाद द्विवेदी उद्धरणीय हैं। कबीर के व्यक्तित्व पर टिप्पणी करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था, "मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछ को झाड़-फटकार कर चल देनेवाले तेज़ ने कबीरदास को हिंदी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है।" (वही, पृ. 217)

यह क़तई आश्चर्यजनक नहीं है कि इधर की कविता में इस सादगी, फक्कड़ाना स्वभाव, सब-कुछ को झाड़-फटकारकर चल देने की कवि-प्रवृत्ति के महत्त्व की ओर कवियों का ध्यान विशेष रूप से गया है। कात्यायनी अपनी लंबी कविता 'सदी के अंत में मृतात्माओं का आह्वान' में लिखती हैं, रहस्यमय मंत्रों को देनी है / जल समाधि / रोती हुई काली नदी के बीचोंबीच / और सीधे सादे शब्दों को / लौटानी है उनकी सादगी भरी अर्थवत्ता / शिशुवत् महत्ता / और प्राणवान अनुगूँजें। (तद्भव-2, पृ. 132)। इस कविता में प्रकारांतर से कविता के शिल्प और उसकी संरचना पर पर्याप्त विचार किया गया है। कात्यायनी कहती हैं कि अर्थवत्ता सादगी में ही हो सकती है। सादगी का अर्थ है—सीधा-सच्चापन। यदि कोई अभिव्यक्ति रहस्यमय है तो इसका अर्थ है कि वहाँ ज़रूर कोई चालाकी है। वे यह भी कहती हैं कि कविता में चालाकी का भी एक शिल्प होता है। दरअसल चालाकी और सीधे-सच्चेपन का ताल्लुक व्यक्ति के जीवनाचरण से है। जीवन में यदि आदमी ठंडी उदासी के कोहरे में क़ैद है तो उसकी कविता में निरर्थकता की कालिख ज़रूर होगी—कविता से निरर्थकता की / कालिख पोंछनी है / जीवन से ठंडी उदासी / का कोहरा छाँटना है। (वही, पृ. 131)। कात्यायनी इस कविता में आगे उस बौद्धिक चालाकी और काहिली का उल्लेख करती हैं, जो मूलभूत रूप से कवियों में पिछले दिनों देखी गई थी। कविता में पिछले दिनों चीज़ों को बचाने का बड़ा चस्का कवियों का पड़ा था। न जाने वह क्या-क्या बचाने का निरर्थक दम भर रहे थे। ये चीज़ें बचीं या नहीं बचीं; यह तो बाद की बात है; सबसे आपत्तिजनक बात तो यह थी कि कवि-लोग उन चीज़ों को बचा रहे थे, '...जिन्हें कभी का संग्रहालयों में होना चाहिए।' (पृ. 134)। चीज़ों को बचाने का एक अर्थ बदलाव लाने की इच्छा भी होता है। इस हिसाब से देखें तो कवियों की चीज़ों को बचाने की वह कथित इच्छा मात्र एक हिप्पोक्रेसी-जैसा था; क्योंकि उस समय हो यह रहा था कि, ... चेहरों पर संतोष की चमक लिए / लोग बदलाव लाने के महत्वाकांक्षी घोषणापत्र पर/ दस्तख़त कर रहे हैं। (वही) यह ठीक वैसा था, जैसे कोई लेटे-लेटे अभियान-गीत गाए; कात्यायनी कहती है कि यह दरअसल भेड़िए की तरह हुँआना था; इस आवाज़ को पहचानना ज़रूरी है, तभी वास्तव में कुछ हो सकता है, उन आवाज़ों में भेड़ियों का हुँआना पहचानना सिखाओ, / जो अभियान गीत गाते लेटे हुए लोगों के गले से / निकल रही है। (वही, पृ. 134) कवियों के तमाम कथित प्रयासों के बावजूद न कुछ बचा और न कुछ बदला तो ज़रूर कोई-न-कोई भारी गड़बड़ हुई होगी। वह गड़बड़ क्या रही होगी, अंदाज़ा लगाना मुश्किल नहीं है। कात्यायनी कहती हैं कि, 'अतिबौद्धिकता', 'ठंडी विद्वत्ता', 'विस्मृति के व्यूह' इत्यादि में फँसे लोगों ने विक्षिप्त ख़ूनी क्षुद्रता के / उत्तर आधुनिक महाख्यान को । (द्र., वही, पृ. 133-32-31) आसमान पर छतरी की तरह तन जाने दिया। चीज़ों को बचाने अथवा बदलाव लाने के लिए ज़रूरी है कि उत्तर-आधुनिकता के इस महाख्यान को विखंडित किया जाए—आसमान पर छतरी की तरह तनी / विक्षिप्त ख़ूनी क्षुद्रता के / उत्तर आधुनिक

महाख्यान को / विखंडित करने के लिए। (वही, पृ. 131)। लेकिन यह कहना इतना आसान नहीं है। इसके लिए ज़रूरी है, हमारी आत्माएँ बेचैन हों, हमारा सुकूनतलब प्यार चाहे तो, राख हो जाए, सुलगने-धुआँने की जगह भभक कर जल उठती आग हो; इत्यादि-इत्यादि—आओ मृतात्माओ, / हिमालय की रजत रातों को / अरुणाभा देते, / भोर होने तक हमारी आत्माओं में / बेचैनी बनकर समा जाओ। / चिंता न करो / हमारे सुकूनतलब प्यार के / राख हो जाने की। जीवन में जो कुछ भी है / सुलगता धुआँता हुआ / भभक कर जल उठे वह, / हम क़ैद कर लेंगे अपनी आत्मा के / कोटर में / चेहरों पर चमकती लहराती / लपटों की आभा। (वही, पृ. 132-33)।

इस प्रस्तावना में कवियों को मुक्तिबोध और कबीर की याद आए, तो यह भी कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। इधर के गंभीर कवियों के लिए ये दोनों पिछले कवि यकायक पुनर्प्रासंगिक हुए हैं। मुक्तिबोध की आत्मा को अपने अंदर अवतरित करने की छटपटाहट इधर की कविता में देखी जा सकती है। कबीर की बेचैनी कवियों को प्रिय लगने लगी है। आशुतोष दुबे अपनी कविता 'उसका रोना' में अंत में लिखते हैं—छोटी सी उमर में / एक बड़े जीवन के दुखों से छलछलाता / वह उस समय कबीर का कोई संस्करण था / जो सोते हुए सुखी संसार के बीचोंबीच / नशे की बेहोशी में / जाग रहा था / और रो रहा था। (तद्भव-4, पृ. 160) आशुतोष दुबे इस कविता में जिस व्यक्ति का चरित्रांकन कर रहे हैं, वह अपने समय से एक ज़बर्दस्त संघर्ष और इस क्रम में एक भीषण आत्मसंघर्ष की स्थिति में है, और वह इस स्थिति में इसलिए है कि वह अपने उस मूलभूत स्वरूप को एक बार फिर पाना चाहता है, जो समय और संसार के दबाव में कहीं तिरोहित हो गया था—अब कोई डर बाक़ी नही था / ख़तरनाक सुरंग में आगे बढ़ते हुए / भूमिगत होकर वह ऐसी जगह / पहुँचने की कोशिश में था / जहाँ ख़ुद की शिनाख़्त मुमकिन हो सके। (वही, पृ. 159)। जब आदमी ख़ुद को पहचानने की इस जोखिम भरी प्रक्रिया में होता है तो वह न केवल अपना बल्कि अपने समकाल का भी पुनर्संस्कार कर रहा होता है। यह पुनर्संस्कार अपनी स्वाभाविकता और अकृत्रिमता को ही पुनर्जीवित करने का दूसरा नाम है। इधर कवियों में विशेषत: नए कवियों में यह धारणा दृढ़ हुई है कि आदमी का सबसे बड़ा गहना उसकी स्वाभाविकता और अकृत्रिमता है। आदमी अपने प्रेम, अपनी घृणा, अपने गुनाह, अपने क्रोध, अपनी करुणा, अपने संदेहों इत्यादि में उफन कर बहे (द्र. वही,); यह उसके स्वाभाविक और अकृत्रिम होने की सबसे बड़ी पहचान है। वह अपनी इस पहचान को क़ायम रख सके; उसका सबसे मुख्य आत्मसंघर्ष यही है। पिछले दिनों कवियों ने इस आत्मसंघर्ष को नज़रअंदाज़ किया और ज़माने की हवा में बहते चले; लिहाजा यह स्थिति तो आनी ही थी! कवियों का अपने रोने और हँसने पर भी अख़्तियार न रहा! उनका रोना-हँसना भी कुछ अवांछनीय अंकुशों की गिरफ़्त में चला गया। इस सबका असर उसकी काव्यवस्तु और काव्यभाषा पर तो पड़ना ही था। यह पड़ा और उसकी कविता 'शब्दों के मीनाबाज़ार' में बदलती चली गई। दिनेश कुमार शुक्ल की एक कविता है—'भीतर कवि थे'। इस कविता में दिनेश कुमार शुक्ल कवियों और कविता के बीच पिछले दिनों पसर गई खाई या कहें कि द्वैत को रेखांकित तो करते ही हैं; उसके कारणों की खोज में भी जाते हैं। यहाँ कविता और कवि दो भिन्न वर्गों में बँटे स्पष्ट दिखाई देते हैं। कवि-लोग कूलरयुक्त शीतल कक्षों में न जाने किस गोपनीय बहस में उलझे हैं; जबकि कविता उनकी पकड़ और पहुँच से दूर इस कक्ष से बाहर ख़ुद अपनी संभावनाएँ तलाशने में जुटी है। इस कक्ष से बाहर

जो यह कविता है, उसके विषय में कवि ने जो संकेत दिए हैं, उससे स्पष्ट होता है कि यह वह जन-कविता है जो इन कथित कवियों की परवाह किए बिना अपनी स्वाभाविक गति से संघर्षशील आम जनता के बीच निरंतर लिखी जाती रहती है। इस कविता में नित नई संभावनाओं की गुंजाइश सदैव बनी रहती है क्योंकि यहाँ जीवन कभी ठहरता नहीं है; उसकी गति निरंतर जारी रहती है—बाहर कविता खेल रही थी जीवन-जीवन / गुल्ली-डंडा नोन-तेल की पदी-पदउवल / गा-गाकर आवाज़ लगाती / वीरानी सूनी गलियों में / घुसकर गूँज रही थी कविता / उमड़ रही थी वह जुलूस में / सूखी डालों में कोंपल-सी फूट रही थी । (आलोचना; जन-मार्च, 2001, पृ. 57) कक्ष के अंदर जो कथति कवि-लोग बैठे थे, उनकी पकड़ और पहुँच में यह कविता आ ही नहीं सकती थी क्योंकि उनका हाल तो दरअसल यह था—भीतर कवि थे / आत्ममुग्ध गुट-गठित सुरक्षित / बातें थीं बातों में जन थे / बाक़ी जो था सब निर्जन था / उस अनुकूलित सभागार में / नपा-तुला उनका यथार्थ था। (वही, पृ. 57)। कविता के प्रति कवियों के इस बर्ताव का जो असर उनके भाषा-शिल्प पर पड़ा, वह यह था—गद्द्द गद्य था पृथुल पद्य था। (वही, पृ. 58)।

ऊपर हमने कवि की अंतर्दृष्टि की बात की। हमने कहा कि कवि की भाषा और शिल्प के निर्धारण में उसकी अंतर्दृष्टि सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस क्रम में हम यहाँ यह और कहना चाहते हैं कि एक कवि की अंतर्दृष्टि के निर्माण की भी एक निश्चित प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में कवि के व्यक्तिगत जीवनाचरण, वस्तुओं और मनुष्यों के प्रति उसके व्यवहार, उसकी दिनचर्या इत्यादि की बड़ी अहम भूमिका होती है। कवि का आचरण, व्यवहार यदि वैसा है जैसा कि दिनेश कुमार शुक्ल इस कविता में लिख रहे हैं तो उसकी अंतर्दृष्टि जनोन्मुखी हो ही नहीं सकती! और जब उसकी दृष्टि जनोन्मुखी नहीं होगी तो असल कविता उसकी पकड़ और पहुँच से बाहर तो हो ही जाएगी न! एक श्रेष्ठ कविता वही तो होती है न, जो जीवन की संघर्षशीलता/गतिशीलता को न केवल उसके स्वाभाविक रूप में देखे बल्कि इसी रूप में उसे आगे भी बढ़ाए। ऐसी कविता दरअसल तभी लिखी जा सकती है जब कवि व्यक्तिगत रूप से स्वयं इस संघर्षशीलता का एक हिस्सा हो। दिनेश कुमार शुक्ल की इस कविता का मंतव्य ही यह है कि चूँकि कवियों ने जीवन की संघर्षशीलता से पल्ला झाड़ लिया है इसलिए उनकी कविता की यह दुर्गति हो रही है। सामने दिखते जीवन को छोड़कर जब न जाने किन "सात पर्तों के भीतर जीवन को ढूँढ़ा।" (वही, पृ. 57) जाएगा, तो कविता प्रसंगातीत तो होगी ही। लेकिन कविता के प्रसंगातीत होने के पीछे मात्र यह कारण नहीं है। इसके नेपथ्य में कुछ और भी है। और, वह यह है—खंडन-मंडन और विखंडन / के घनघोर चल रहे थे घन / नमस्कार थे पुरस्कार थे / शब्दों के मीनाबाज़ार थे। (वही)। संजय कुंदन की एक कविता है, 'चीज़ों को देखना' (वागर्थ, जनवरी 2004, पृ. 25)। इस कविता में संजय कुंदन कहते हैं कि जब चीज़ें दूर से देखी जाती हैं, तो वे अत्यंत इकहरी दिखती हैं। न केवल इकहरी, बल्कि सतही भी। इधर जीवन में जो संश्लिष्टताएँ आई हैं, वे पकड़ में नहीं आतीं। यहाँ तक कि वह सामान्य या आम आदमी भी अपने तत्त्व-रूप में नहीं दिख पाता, जिसे देखने का दम कवि-लोग भरते हैं। संजय यहाँ दूर से देखने के साथ दूर तक देखने के मुहावरे का इस्तेमाल करते हुए सारी बात को एक व्यंग्यात्मक रुख़ दे देते हैं। वे लिखते हैं कि यह कितने कमाल का देखना है कि इन्हें अपने ठीक नीचे खड़ा आदमी भी दिखाई नहीं देता। आख़िर दिखाई कैसे दे! यह आदमी इनके नीचे जो खड़ा है, जबकि ये

तो दूर देख रहे हैं। यहाँ नेपथ्य में फिर दाल में कुछ काला है। और वह यह कि कवियों में इधर जो आभिजात्य पनपा है, वह इस छोटे आदमी को इस लायक़ समझता ही नहीं कि उस पर ध्यान दें—चूँकि वे हरदम दूर देखते थे / इसलिए नज़र नहीं आता था उन्हें / उनके ही ठीक नीचे खड़ा एक आदमी / जो एकदम छोटा था / उनके जूतों की ऊँचाई से भी छोटा। दुर्भाग्य यह है कि ये कथित दूरदर्शी कवि फिलहाल 'सफल' माने जाते हैं और मुख्यधारा में हैं। ये सफल किस तरह हैं और इस सफलता की प्रक्रिया क्या है, यह हम संजय कुंदन की ही एक और कविता 'व्यावहारिक बुद्धि' (आलोचना, सात-आठ, पृ. 100) में देख सकते हैं। दिक़्क़त तो यह है कि आज का विमर्श भी इस कथित 'दूरदृष्टि' से संक्रमित है और विचारक-लोग भी इसी रात पर अग्रसर हैं। संजय कुंदन ने एक बहुत ही शानदार बात इस कविता में यह कही है कि इन कथित सफल कवियों और विचारकों से ज़्यादा समझदार और अंतर्दृष्टि-संपन्न तो वह आम आदमी है, जो आज की बेतरह उलझी नई संश्लिष्टताओं को बख़ूबी देख और पहचान पा रहा है—वह आदमी अपने आसपास की चीज़ों को ही / देख पाता था / उसे नज़दीक से चीज़ें गडमड दिखाई देती थीं / उसे नायक खलनायक की तरह / और खलनायक नायक की तरह दिखता था / उसे अँधेरे के पास सबसे ज़्यादा / रोशनी नज़र आती / और रोशनी अँधेरे में डूबी नज़र आती / यह पता नहीं चल पाता / कि सत्य असत्य में घुसा हुआ है / या असत्य सत्य में घुसा हुआ है। (वागर्थ, जनवरी 2004, पृ. 25)

'सफलता' का पैमाना शायद आज बदल गया है और 'सफल' शब्द का भारी अर्थापचय हुआ है। अन्यथा ऐसा कैसे होता कि 'सफल कवि' यह प्रत्यय आते ही हमारे होंठ विद्रूप से टेढ़े होने लगते हैं! ज़माना था कि सफल होना गर्व की बात मानी जाती थी। लेकिन तब सफलता के मानदंड वे नहीं थे जो आज बन गए हैं या कहें कि बना दिए गए हैं। तब इस पैमाने में पाठक की भी पर्याप्त भूमिका थी। पाठक तब कविता की रचना-प्रक्रिया का अनिवार्य हिस्सा होता था। तब आज जैसी स्थिति नहीं थी कि वह अपनी 'गुत्थी सुलझाने के लिए' ''कवियों और विचारकों को लगातार आवाज देता रहे और वह उन तक कभी पहुँच ही न पाए।'' (वही) संभवतः इसका कारण यह था कि तब पाठक इतना 'छोटा' नहीं था या कहें कि उसे छोटा समझा नहीं जाता था। इसका एक और तथा महत्त्वपूर्ण कारण संभवतः यह भी था कि तब कवि 'सीधी दिशा' की 'आसान' चाल का अभ्यस्त नहीं था। वह उलटी दिशा में चलता था। इसी उलटी दिशा में 'भँवर खुलते' थे, 'राज़दार सुरंग' मिलते थे। हालाँकि इस रास्ते पर आगे 'ज़लज़ले, खाईयाँ, जल्लाद, ठगोंवाले सराय', 'अग्नि की एक नदी' इत्यादि भी मिलते थे; लेकिन इन सबको पार करने के बाद जो कुछ मिलता था; वह ऐसा टटका और अन्यतम होता था कि कथित प्रतिष्ठा, पुरस्कार इत्यादि उसके सामने पानी भरते—पर उलटी दिशा में ही अनहदनाद गूँजते हैं / उलटी दिशा में ही उठता है अंत:तम से आत्मप्रकाश / उलटी दिशा में ही बुझती है मन की प्यास। (वही, फ़रवरी-2004, पृ. 34) बद्रीनारायण ने 'राष्ट्रीय कवि' शीर्षक अपनी इस कविता में उलटी दिशा में चलने से होनेवाली उपलब्धियों की विस्तृत चर्चा के साथ-साथ यह भी स्पष्टतः लिखा है कि यह कथित राष्ट्रीय कवि उलटी दिशा में चलने से साफ़ और बार-बार कतरा जाता है। इस कतराने के पीछे, हो सकता है, वे डर प्रधान हों, जिनका उल्लेख बद्रीनारायण यहाँ करते हैं। लेकिन मेरे हिसाब से यह मुख्य कारण नहीं है। मुख्य कारण है, वह लोभ और लालच और सुविधापरस्ती; जिसकी चर्चा इधर के लगभग हर कवि ने काव्य-विमर्श संबंधी अपनी कविताओं में जगह

निकालकर की है। बद्रीनारायण थोड़े प्रतीकात्मक शिल्प में इसकी चर्चा कुछ इस तरह करते हैं—उल्टी दिशा में चलने में होती है आसानी / साथ होती है प्रकृति, साथ देता है आसमान / हवाएँ झूम-झूम पथ बुहारती हैं / पेड़, रुख़ और आरामगाह सब खड़े होते हैं / साथी की तरह विपरीत यात्रा में (वही)। ऊपर जिन डरों की चर्चा की गई; वे डर तो दरअसल इन्हीं लोभ, लालच, सुविधापरस्ती इत्यादि के बाय-प्रोडक्ट मुझे दिखाई पड़ते हैं। क्योंकि अगर ऐसा नहीं होता तो ऐसा क्यों होता कि—पीर, फ़क़ीर, गाय और कनफ़ट जोगी / आज भी चल रहे हैं उलटी दिशा में (वही)। कविता की व्यंजना यह है, या होनी चाहिए कि इन लोगों को चूँकि कोई लोभ, लालच और सुविधापरस्ती की भूख इत्यादि नहीं है, इसलिए इन्हें कोई डर या ग़फ़लत भी नहीं है!

पिछले दिनों कविता में जो कुछ हुआ, जिस पर स्वयं कविता में अरसे से विमर्श जारी है, वह कविता से ज़्यादा कवियों का व्यक्तित्वगत संकट था। कविता या कहें कि शब्द से पहले कवियों का व्यक्तित्व विघटित होना शुरू हुआ था। माना यह जाता था कि कवि समाज की क्रांतिकारी-परिवर्तनकारी शक्तियों का उत्प्रेरणा-केंद्र होता है, उसे ऐसा होना चाहिए। वह जीवन की गतिशीलता-संघर्षशीलता का प्रवाचक-प्रवक्ता होता है। यथातथ्यता/यथास्थितिवाद से स्वभावतः उसे परहेज होता है। वह हर क्षण, हर परिस्थिति में जीवन की एक नवनवोन्मेषी अभिव्याख्या करता है, उसकी व्याख्या में सदैव एक टटकापन होता है; बासीपन या पिष्टपेषण या कमजर्फ़ी नहीं होती। पाठक के लिए उसके दरवाज़े सदैव खुले रहते हैं। जीवन की लहरों पर वह तैरता नहीं, बल्कि पानी के अंदर गहरे धँसकर कुछ नायाब निकाल कर लाता है। और यह सब कुछ तब और केवल तब होता है जब वह, जैसा कि हमने ऊपर भी कहा, इस सारी प्रगतिशीलता को सबसे पहले अपने निजी जीवन में, अपनी दिनचर्या में सक्रियता के साथ अमल में लाता है। इधर के कवियों को तेज़ी से शायद इसका अहसास हुआ है और वे एक गहरे आत्मसंघर्ष की स्थिति में नज़र आते हैं। इसी आत्मसंघर्ष का संभवतः यह नतीज़ा है कि कविता इधर ज़्यादा राजनीतिक हुई है। समकालीन परिघटनाएँ उनके सीधे और तीखे निशाने पर आई हैं। रोमानवाद कम हुआ है। 'चिड़ियाकांड' से कविता मुक्त हो रही है। वह कथित लोकोन्मुखता/प्रकृतिवाद अब ध्वस्त हो रहा है, जिसकी लपेट में हर तीसरी कविता आई हुई थी। इससे अब पाठकों का ही नहीं, कवियों का भी जी भर गया है। कवि-लोग अब उस 'छोटे' आदमी की गुत्थियों पर ध्यान देने लगे हैं, जिन्हें सुलझाने के लिए वह कवियों की तरफ़ देखता है। मसलन, कुमार अंबुज की एक कविता है, 'स्वतंत्रता दिवस'। इस कविता में अंबुज राजनीति द्वारा संभ्रमित समकालीन परिदृश्य का ख़ाका खींचते हुए उसमें एक सामान्य असुरक्षित आदमी की दयनीय नियति का आकलन करते हैं और तय पाते हैं कि स्थितियाँ बहुत दूर तक बिगाड़ी जा चुकी हैं। लेकिन जैसा कि इस देश या इस तरह के किसी भी विकासशील अथवा संघर्षशील देश की आम जनता की प्रवृत्ति होती है; वह इस संभ्रम में से निकलने की लगातार कोशिश करती है और इसी के बीच से कोई सकारात्मक रास्ता निकालती है। कुमार अंबुज इस संघर्ष में स्वयं को एक व्यक्ति के रूप में शामिल करते हैं—सुबह के सवा आठ बज रहे हैं / प्रधानमंत्री के काव्य-प्रेम ने / राष्ट्राध्यक्ष के पूर्व संध्या के उद्बोधन ने / एक भावुक फ़िल्मी गाने और सहकर्मियों के गर्वीलेपन ने / मिल-जुलकर रास्तों को और तिलस्मी और धुँधला बना दिया / मुझे इसी तिलस्म और धुंध में से होकर / झंडा वंदन करने जाना है। (आलोचना : 12; जन.-मार्च, 2003; पृ. 12)। अंबुज की इस कविता में अन्य

पुरुष के स्थान पर उत्तम पुरुष का व्यवहार है जिससे ध्वनि निकलती है कि चीज़ों को कवि दिल से और दिल पे ले रहा है। अंबुज ही नहीं, अन्य कवियों में भी भाषा-व्यवहार संबंधी यह परिवर्तन देखा जा सकता है। अन्य पुरुष सर्वनाम का प्रयोग धीरे-धीरे कम हो रहा है। कविता में मध्यम पुरुष का प्रयोग तो बहुत ही कम होता आया है, लेकिन अब उसका भी चलना बढ़ रहा है। मसलन, संजय कुंदन की एक कविता है—'तुम और वे'। इसमें कवि अंत में जो यह लिखता है कि—इस तरह तुम्हें जीतने के लिए / वे परास्त होते तुमसे। (आलोचना; सात-आठ; अक्तू.-दिसं. 2001, जन.-मार्च 2002; पृ. 1000); जो यहाँ 'तुम' और 'वे' की सार्वनामिकता संज्ञात्मकता में बदलती नज़र आती है। सार्वनामिकता का संज्ञात्मकता में बदलना कवि की ईमानदार संलग्नता और सतर्क अंतर्दृष्टि के चलते ही संभव हो पाता है। संजय यहाँ देश के उस सीधे-सादे और चालाकी-रहित आम आदमी से सीधा संवाद स्थापित करने की रचनात्मक कोशिश करते दिखाई देते हैं जो अपनी इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के चलते चालाक और धूर्त लोगों के व्यूह में फँसता चलता है। जिन चालाक और धूर्त लोगों का यहाँ ज़िक्र है, वे पुराने ज़माने के शास्त्रीय क़िस्म के धूर्त नहीं हैं; बल्कि नवसाम्राज्यवादी सर्वसत्ताभियान में दक्ष ये वे लोग हैं, जो शिक्षा और संस्कृति के हथियार से पहले देश के विवेक पर और फिर वहाँ की अर्थव्यवस्था पर क़ब्ज़ा करते हैं। अंतोनियो ग्राम्शी की आधिपत्य या प्रभुत्व की अवधारणा यहाँ स्मरणीय है। सेना, गोला-बारूद, शस्त्रास्त्र इत्यादि की प्रत्यक्ष 'ताक़त' के किसी देश को जीतने के दिन लद गए। इसमें अब दिक़्क़तें भी आ सकती हैं। अब समय है, शिक्षा और संस्कृति के हथियारों से आधिपत्य का। इसमें नुक़सान क़तई नहीं है और लागत भी कम-से-कम है। बस एक बार पहिए को थोड़े असरदार ढंग से रास्ते पर डाल दो; फिर तो वह अपनी ढलान ख़ुद बनाता चलता है! अंदरूनी मदद भी धीरे-धीरे ख़ूब मिलती चलती है। कविता में 'वे' सर्वनाम को जो विस्तार मिला है, उससे यह ध्वनि निकलती है कि भारत जैसे ग़रीब, पिछड़े और अराजक देशों में शैक्षिक एवं सांस्कृतिक औपनिवेशिकता स्थापित होने में विश्वपूँजीवाद की ही नहीं, उसके स्थानीय अभिकर्ताओं की भी बड़ी भूमिका होती है। ये अभिकर्ता हर संदर्भ-क्षेत्र में नियुक्त एवं सक्रिय रहते हैं। संयज कुंदन बहुत ही नामालूम तरीक़े से, बिना कोई जॉर्गन अपनाए इस परिघटना की प्रक्रिया का ख़ुलासा करते हैं; यह उनकी संरचनात्मक सफलता मानी जा सकती है। यह सचमुच ही एक उल्लेखनीय तथ्य है कि जॉर्गन का इस्तेमाल कवियों ने लगभग बंदकर दिया है। इसका कारण यह नहीं है कि आज कोई आंदोलन नहीं है; बल्कि यह है कि जॉर्गन से कविता के कथ्य और रूप का जो कबाड़ा होता है, उससे कवियों ने गहरा सबक सीखा है।

कविता के स्थापत्य में इधर कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं और हो रहे हैं। कथन-प्रणाली कविता की वस्तु और कवि की अंतर्दृष्टि की अनुपालना में ज़्यादा व्यंजक और लाक्षणिक हुई है। सपाटबयानी से जैसे कवियों का विश्वास उठने लगा है। यथार्थ की ग़ज़ब संश्लिष्टता के अनुरूप कविता का शिल्प भी गझिन हुआ है। लेकिन यह गझिनता दुरूहता या संकुलता नहीं है। एक आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि काव्यभाषा यौगिक कम-से-कम है। भाषा-विधान अधिकांशतः अयौगिक है। ऐसा शायद इसलिए हो सका है कि कविता में कवि कथा की अनेक शिल्प-प्रविधियों का आग्रहपूर्वक इस्तेमाल करते चल रहे हैं। आख्यान, दृष्टांत, वस्तु-विवरण, भूतकालिक घटनात्मकता, चरित्र-निर्माण इत्यादि कथावयव जहाँ देखो तहाँ कविताओं में मिल जाएँगे। प्रायः हर कवि इस तरफ़ आकर्षित हुआ है। ऋतुराज, ज्ञानेन्द्रपति, वीरेन डंगवाल, राजेश जोशी, कुमार

अंबुज, संजय कुंदन, दिनेश कुमार शुक्ल, सुंदर द्र ठाकुर, हरीश चंद्र पांडे, विनोद पदरज आदि इसके स्मरणीय उदाहरण हैं। एक और उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पुराने क़िस्म की प्रतीकात्मकता, रूपकात्मकता, लाक्षणिकता कुछ कवियों को प्रिय लगने लगी हैं।

इधर लिखी जा रही कविता के शिल्प की सबसे बड़ी पहचान है, वस्तु-विश्लेषण। यथार्थ का आकलन। केवल चित्रण नहीं; आकलन और विवेचन-विश्लेषण। आख्यान, चरित्र, दृष्टांत, विवरणात्मकता इत्यादि का कुल मक़सद यही है। इस वस्तु-विश्लेषण का अपना भिन्न चरित्र है। यहाँ सूक्तियाँ या वर्डिक्ट काफ़ी कम हैं। कवियों का ध्यान निष्कर्ष देने से ज़्यादा निकष के निर्माण पर है। वह एक ऐसे शिल्प को अपनाता नज़र आता है, जिसमें पाठक के पास सोचने को काफ़ी-कुछ रह जाए। पाठक को पर्याप्त स्पेस देने की इच्छा कवि की नज़र आती है। हो यह भी सकता है कि यह उसके अपने आत्मसंघर्ष की प्रक्रिया का नतीजा हो; लेकिन इतना तय है कि इस प्रक्रिया में पाठक कहीं-न-कहीं अनिवार्यतः उपस्थित है। संभवतः यही कारण है कि कविता विडंबना के स्थान पर विकल्प की स्थापना करती है। इधर ऐसी संभावनामूलक कविताएँ प्रायः हर कवि के पास मिल जाएँगी। इस सिलसिले में पंकज सिंह की 'पुकार' कविता की ये पंक्तियाँ शायद पर्याप्त हों—लाता हूँ मैं शब्दों को उसी भूलभुलैया में अपने / जहाँ मैं हूँ सुख और सफलता के प्रति सारा कौतूहल तजकर / सारी बरबादी चीख़ पुकार और पतझड़ में / आँकने की कोशिश करता / वह जिसमें दिखे, तोड़ने और टिकने का निश्चय / नानाविध उद्यमों सहित / धुंध और अंधकार में भी संघर्ष का चेहरा कमोबेश। (तद्भव 5; पृ. 118)

रवि श्रीवास्तव

मुझसे पहली-सी मोहब्बत...

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ कालजयी कलाकार हैं, एक स्वप्नदर्शी कवि भी। वह मानवता के सुंदर भविष्य के सपने देखते हैं। उनका सपना शोषणमुक्त समतामूलक समाज का सपना है। पाकिस्तान में और उसके बाहर भी। ऐसा सपना जर्मनी में मार्क्स ने देखा था और रूस में लेनिन ने। न्यायपरक व्यवस्था वहीं संभव है जहाँ समता सार्वजनीन मूल्य हो। जनता का कोई भी हिस्सा अलग-थलग होकर अपने बूते पर दमनकारी व्यवस्था का मुक़ाबला नहीं कर सकता; श्रमजीवी या मज़दूर-वर्ग भी नहीं। इसलिए मार्क्स ने दुनिया भर के मज़दूरों की एकता का नारा दिया था। मार्क्स का यह वक्तव्य दुनिया के तमाम शोषितों एवं स्वाधीनता प्रेमियों के संघर्ष एवं जनमुक्ति का प्रेरणास्रोत बन गया। जगह-जगह उपनिवेशवाद विघटित हुआ और सोवियत सत्ता स्थापित हुई। दूसरे विश्वयुद्ध में फासिस्ट जर्मनी पराजित हुआ। सोवियत संघ नए मानवतावाद का संदेश लेकर अस्तित्व में आया। इतिहास ने नए मानवतावाद के संदेश को चरितार्थ किया है, लेकिन वह उसके टूटने का साक्षी भी है। सपने टूटने के लिए ही बनते है। फ़ैज़ ने भी एक सपना देखा था। आज उसके टूटने का वह साक्षी नहीं है। उन्होंने परम विश्वास के साथ कहा था, ''रूस में पूँजीवाद लौट नहीं सकता, कभी लौटेगा भी नहीं। ऐसा कभी नहीं होगा। अगर ऐसा हुआ तो वह दुनिया के तमाम श्रमजीवियों और किसानों के आंदोलनों तथा स्वाधीनता प्रेमियों के लिए गहरा सदमा होगा। उन लोगों का विश्वास टूट जाएगा जिन्होंने मानवता के उच्चतम मूल्यों का नेतृत्व किया था और भविष्य के सुंदर सपने सँजोए थे। जो लोग आत्महत्या को हराम समझते हैं और धर्म में जिसकी मनाही है वे आत्महत्या के लिए विवश होंगे।'' सोवियत संघ टूट गया। पूर्वी यूरोप से साम्यवाद का डेरा-डंडा उठ गया। 'हम तो ठहरे अजनबी' की तरह साम्यवाद और साम्यवादी विचारधारा आज लगभग इतिहास के परिदृश्य से बाहर है। पूँजीवाद का परचम सारी दुनिया में लहरा रहा है। समाजवाद-साम्यवाद की पुनर्वापसी संभव है या असंभव, यह विवाद का विषय हो सकता है किंतु रूस में पूँजीवाद ने अपनी जगह बना ली है यह निर्विवाद है। फ़ैज़ यह सब देखने के पहले ही दुनिया से कूच कर गए। अगर आज वह जीवित होते तो क्या इस धक्के को सह पाते? क्या वह आत्महत्या कर लेते? जो लोग

रवि श्रीवास्तव के आलोचनात्मक निबंध प्रकाशित। संपर्क : एसोसिएट प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)

फ़ैज़ के जीवन और उनकी शाइरी से परिचित हैं वे इन प्रश्नों के उत्तर से भी परिचित हैं। 'ज़माने ने मारे जवाँ कैसे-कैसे ज़मीं खा गई आसमाँ कैसे-कैसे'!! फ़ैज़ की शाइरी इस ज़माना और ज़मीन को चुनौती देती है।

इतिहास मोह और मोह-भंग दोनों का साक्षी है। वह पुराने मिथकों को तोड़ता है तो नए मिथकों को गढ़ता भी है। यही परिवर्तन है और परिवर्तन की अपनी पीड़ा होती है। जब परंपराएँ टूटती हैं तो मूल्यों के टूटने की त्रासदी बड़ी भयावह होती है। स्वयं रूस में मॉयकोवस्की का जीवन इसका उदाहरण है।

मख़्दूम और साहिर की तरह फ़ैज़ भी आत्महत्या नहीं कर सकते थे तो इसलिए कि वह समाज, इतिहास और मनुष्य की नियति में आस्था और विश्वास के संकल्प को दुहराने वाले शाइर थे। यही कारण है कि उनकी शाइरी दुनिया के तमाम मेहनतकशों, शोषितों एवं स्वतंत्रता प्रेमियों को संघर्ष एवं मुक्ति की नई राह दिखाती है। आज की नितांत विषम, भिन्न एवं प्रतिकूल पस्थितियों के बीच जब कला, साहित्य और संस्कृति को ही नहीं सामाजिक प्रतिबद्धताओं, नैतिक आदर्शों एवं युगधर्मी मूल्यों को चारों तरफ़ से एक सनकपूर्ण चुनौती का सामना करना पड़ रहा है फ़ैज़ की शाइरी कला के सच्चे परिप्रेक्ष्य एवं जीवन की वास्तविक समस्याओं से मुक़ाबला करने का साहसपूर्ण निमंत्रण देती है। उनकी शाइरी खीझ और हताशा की अभिव्यक्ति नहीं है। वह मनुष्य और मनुष्यता की विजय के विश्वास से पैदा होती है। उस विश्वास को उन्होंने सौंदर्य की पराकाष्ठा तक पहुँचाया है। फ़ैज़ की शाइरी में जीवन बोलता है। वह एक ऐसा जीवन है जिसमें गोपनीय कुछ भी नहीं है। वह जितना फ़ैज़ का अपना है उससे कहीं अधिक उस जुझारू जनता का जीवन है जो तानाशाही, शोषण और अत्याचार के विरुद्ध अपना सीना खोलती है। आश्चर्य नहीं कि फ़ैज़ की शाइरी उन्हें समर्पित भी है—

आज के नाम / और / आज के ग़म के नाम...ज़र्द पत्तों का बन जो मेरा देस है / दर्द की अंजुमन जो मेरा देस है / किलर्कों की अफ़सुर्दाजानों के नाम / किर्मख़ुर्दा दिलों और ज़बानों के नाम / पोस्टमैनों के नाम / ताँगेवालों के नाम / रेलवानों के नाम / कारख़ानों के भोले जियालों के नाम...दहकाँ के नाम / जिसके ढोरों को ज़ालिम हँका ले गए / जिसकी बेटी को डाकू उठा ले गए / हाथ भर खेत से एक अंगुश्त पटवार ने काट ली है / दूसरे मालिये के बहाने सरकार ने काट ली है / जिसकी पग ज़ोर वालों के पाँवों तले धज्जियाँ हो गई हैं। उन दुखी माँओं के नाम / रात में जिनके बच्चे बिलखते हैं और / नींद की मार खाए हुए बाजुओं से सँभलते नहीं / उन हसीनाओं के नाम / जिनकी आँखों के गुल / चिलमनों और दरीचों की बेलों पे बेकार खिल खिल के / मुरझा गए हैं / उन ब्याहताओं के नाम / जिनके बदन / बे-मुहब्बत रियाकार सेजों पे सज-सज के उकता गए हैं.../अपने पैग़ाम पर ख़ुद फ़िदा हो गए हैं (इंतिसाब)

माशूक़ के याकूती होठों पर फ़िदा होने वाले शाइर बहुत हुए हैं। किंतु क़ैदख़ानों की सलाख़ों और फाँसी के तख़्ते से अवाम को भेजे गए पैग़ाम पर रश्क करनेवाले फ़ैज़ अकेले शाइर हैं। फ़ैज़ अपनी शाइरी में आज के छिन्नमूल समताविहीन दौर के अनगिनत आहत और आतंकित लोगों को अपनी तक़दीर की चुनौतियों से जूझते हुए किसी तटस्थ या मूक दर्शक की तरह नहीं बल्कि उनके पक्ष में एक सहभागी एवं सहभोक्ता की हैसियत से बोलते दिखाई देते हैं—जब कभी बिकता है बाज़ार में मज़दूर का गोश्त / शाहराहों पे ग़रीबों का लहू बहता है / या कोई तोंद का बढ़ता हुआ सैलाब लिए / फ़ाक़ामस्तों को डुबाने के लिए कहता है / आग-सी सीने में रह रह के उबलती है न पूछ / अपने दिल पर मुझे क़ाबू ही नहीं रहता है।

अपने इस बेक़ाबू दिलोदिमाग़ की भरपूर क़ीमत चुकाई है फ़ैज़ ने। पाकिस्तानी सैनिक

हुक्मरानों ने उन्हें कभी चैन से जीने नहीं दिया। रावलपिंडी षड्यंत्र केस में बंदी हुए। जलावतनी की पीड़ा को भोगा। बराबर बेसाख़्ता ख़ुफ़िया पुलिस की नज़र में रहे। अपमान सहा। सज़ा मिली। पर तेवर देखिए, न हिम्मत टूटी, न साहस घटा, न विचार बदले न जुबान बदली, न आदत गई। यह दम फ़ैज़ की शाइरी के रेशे-रेशे में व्याप्त है।

कौन क़ातिल शहर में बचा है फ़ैज़ / जिससे यारों ने रस्मो-राह न की

तेरे दस्ते-सितम का इज्ज़ नहीं / दिल ही काफ़िर था जिसने आह न की।

एक बड़ी प्रसिद्ध नज़्म है, ''मुझसे पहली सी मुहब्बत मिरी महबूब न माँग''। इस नज़्म में फ़ैज़ दरबारी प्रेम, दरबारी कविता और उर्दू-फ़ारसी की कविता में परत-दर-परत मोटी हुई रीतिवाद की सारी परंपरा को खुरच कर उतार देते हैं। 'दरख़्शां है हयात' की जगह अगर 'गमे-दहर का झगड़ा' ले ले तो इसे परंपरा-भंजन की कहा जाएगा। इस माइने में फ़ैज़ की छवि मूर्ति-भंजक की है। हर महान साहित्यकार की तरह फ़ैज़ बार-बार शाइरी की बनी-बनाई परंपरा को तोड़ते हैं और उसे नए तरीक़े से गढ़ते हैं।

अनगिनत सदियों के तारीक बहीमान : तिलस्म / रेशम-ओ-अतलस-आ-कमख़्वाब में बुनवाए हुए / जा-ब-जा बिकते हुए कुच-ओ-बाज़ार में जिस्म / ख़ाक में लिथड़े हुए, ख़ून में नहलाए हुए / जिस्म निकले हुए अमराज़ के तन्नूरों से / पीप बहती हुई गलते हुए नासूरों से / लौट जाती है उधर को भी नज़र क्या कीजे।

यही फ़ैज़ की शाइरी की यात्रा है, यानी ग़मे जानां से निकलकर ग़मे दौरां तक की यात्रा, कू-ए-यार से निकल कर सू-ए-दार में जाने की बेख़ौफ़ तड़प एवं लगन। फ़ैज़ की नज़र में हर सुंदर चीज़ प्रेम करने लायक़ है और इस दुनिया में इंसान से सुंदर कोई दूसरी चीज़ नहीं है। इसलिए फ़ैज़ इंसान और इंसानियत के सौंद के गायक हैं। इंसान द्वारा इंसान की ग़ुलामी, पूँजी की चाकरी, सामराजी शोषण एवं लूट, सामंतों की सरमायादारी, अंधविश्वास और ग़रीबों की साधनहीनता की जहालत भरी घिनौनी सूरतों में पलने और बढ़ने को विवश आदमजात, उपनिवेश, युद्ध, आतंक अर्थात् ज़िंदगी की हर कुरूपता के बोझ तले दबी और कराहती मानवता से फ़ैज़ प्रेम और सौंदर्य की पहली शिक्षा पाते हैं और उसकी परिधि का विस्तार करते चलते हैं। वह खुलकर कहते हैं—

इधर तक़ाज़े हैं मसलहत के, उधर तक़ाज़ा-ए-दर्दे दिल है

ज़बाँ सँभालें के : दिल सँभालें, असीर ज़िक्रे-वतन से पहले।

किसी बड़े ख़तरे के सामने आदमी के पास दो ही तरक़ीबें बचती हैं : या तो वह टूटकर घुटने टेक दे या फिर उसके मुक़ाबले के लिए तनकर खड़ा हो जाए। फ़ैज़ 9 मार्च 1951 से अप्रैल 1955 तक चार साल एक महीना देश द्रोह के अपराध में पाकिस्तान की अलग-अलग जेलों में बंद रहे। धाराएँ ऐसी लगीं कि सज़ा-ए-मौत तय थी। उस पर जेल के सैनिक तानाशाहों के नुमाइंदे ऐसे जिन्हें क़ैदियों के मनोबल को तोड़ने में महारत हासिल थी। 17 से 22 मई 1954 के बीच का कोई समय होगा जब फ़ैज़ ने हैदराबाद जेल के दमघोंट फ़िज़ाँ में पंक्तियाँ लिखी थीं—

सितम की रस्में बहुत थी लेकिन, न थी तेरी अंजुमन से पहले

सज़ा ख़ता-ए-नज़र से पहले, इ'ताब जुर्मे-सुख़न से पहले

जो चल सको तो चलो के : राहे-वफ़ा बहुत मुख़्तसर हुई है

मुक़ाम है अब कोई न मंज़िल, फ़राज़े-दारो-रसन से पहले

न मौत का डर न क़ुफ़्र का भय। शाइरी और ज़िंदगी को समग्रता में देखने और उसे चित्रित करने की प्रवृत्ति अपने मूल रूप में एक दार्शनिक प्रवृत्ति है जो देश, काल और समाज के प्रति गहरे लगाव एवं आस्था से जन्म लेती है। सच तो यह है कि अनास्थावादी कला और कलाकार कहीं जुड़ नहीं पाता और अर्थ शून्यता को ही जीवन की परम सिद्धि मान लेता है। इसलिए अनास्थावादी कला, कला का आभास मात्र होती है। फ़ैज़ के पास ख़ालिस रोमानी और कोमल अनुभूतियों को भी गहरे सामाजिक अभिप्रायों एवं प्रसंगों से जोड़कर उन्हें कलात्मक अनुशासन में बाँधनेवाली प्रतिबद्ध दृष्टि है। यही उन्हें क्लासिक का दर्जा देती है। मैंने शुरू में ही फ़ैज़ को स्वप्नदर्शी शाइर कहा है। मनुष्य सपने देखता है। आशावादी होना उसका नैसर्गिक गुण है। फ़ैज़ ने लिखा है—

नहीं निगाह में मंज़िल तो जुस्तजू ही सही
नहीं विसाल मयस्सर तो आरज़ू ही सही
न तन में ख़ून फराहम न अश्क आँखों में
नमाज़े शौक तो वाजिब है बेवज़ू ही सही।

फ़ैज़ नाउम्मीदी और पस्तहिम्मती के ख़िलाफ़ लड़नेवाला शाइर है। वह आशा, आस्था और उसकी खोज की आवाज़ है। आज फ़ैज़ ज़िंदा होते तो साम्यवाद के पतन पर उनकी प्रतिक्रिया क्या होती? क़यास लगाने की ज़रूरत नहीं। इसका जवाब स्वयं फ़ैज़ की शाइरी में है, "जान जाएँगे जाननेवाले / फ़ैज़ फ़रहादो-जम की बात करो।"

फ़ैज़ की शाइरी में स्वतंत्रता की तीव्र चाहत है, गहन आत्मान्वेषण एवं आत्म प्रसार है, लोकोन्मुखता है, परिवर्तन और क्रांति की गहरी आकांक्षा है, प्रकृति-प्रेम है, राष्ट्रवाद है। इन सबके साथ उसमें अवसाद एवं करुणा के स्वर भी हैं जिसका सीधा संबंध दमनकारी व्यवस्था में मनुष्य की नियति और हालात से है।

फ़ैज़ की शाइरी में जो ईमानदारी और विश्वास की चमक है वह इसलिए कि वहाँ वे मुआमले भी दर्ज हैं जो अब तक प्रेम की इकतरफ़ा दुनिया के लिए अजनबी थे और शायद फूहड़ भी समझे जाते थे। फ़ैज़ ने लिखा—

मैं क्या लिखूँ कि जो मेरा तुम्हारा रिश्ता है
वो आशिक़ी की ज़बाँ में कहीं भी दर्ज नहीं
लिखा गया है बहुत लुत्फ़-ए-वस्ल-ओ-दर्द-ए-फ़िराक़
मग़र ये कैफ़ियत अपनी रक़म नहीं है कहीं...
इस इश्क़-ए-ख़ास को हर एक से छुपाए हुए
गुज़र गया है ज़माना गले लगाए हुए।

फ़ैज़ अनन्य देशभक्त, अंतर्राष्ट्रीयतावाद के पक्षधर, यथार्थवादी कलाकार और मानवतावादी विचारक ही नहीं हैं, वह सूफ़ी भी हैं। उनका सूफ़ीवाद सामाजिक जनवाद के ठेठ आधुनिक अर्थ को संप्रेषित करता है। फ़ैज़ ने क़ुरान की आयत 'यब्क़ा वजह-ए-रब्बका'—केवल वही ईश्वर सदा रहेगा—पर एक नज़्म लिखी है। इस नज़्म में फ़ैज़ के इस्लाम के कुछ उसूलों एवं विश्वासों को प्रतीकात्मक ढंग से आधुनिक अर्थ दिया है।

ध्यान देने की बात है कि फ़ैज़ की शाइरी के रूपक, प्रतीक और मिथक फ़ारसी की परंपरा के होने के बावजूद उन्हें उठाने और उनसे अपनी बात कहने-कहलवाने का तौर-तरीक़ा नितांत आधुनिक एवं ठेठ देशज अनुभवों वाला है। इस नज़रिए से फ़ैज़ की एक दूसरी नज़्म 'तीन आवाज़ें' अपने फिलॉसफ़िकल व्यू के कारण बहुत उम्दा है। पहली आवाज़ 'ज़ालिम' की है जो उम्मीद का मातम और मृत्यु का त्योहार मनाने का हुक्म देता है। उसका दावा है कि उसने बहुतों को मारकर रात-दिन के झंझटों से उन्हें मुक्त कर दिया है। उसके राज में सपने देखने की मनाही है। फूलों की ख़ुशबू, आँखों का ख़्वाब, शाखे गुल की

हिना, बारिस में आकाश से टपकने वाली मोतियाँ, चाँदनी रातों की चमक उसके राज से बर्ख़ास्त हैं। उसका अपना संविधान है—

मेरा मसलक भी नया राह-ए-तरीक़त भी नई
मेरे क़ानूँ भी नए मेरी शरीयत भी नई

दूसरी आवाज़ 'मज़लूम' की है जो ख़ुदा से मुख़ातिब है। वह कहता है, रात दर्द में बीता और सुबह ने नए दुखों का डेरा डाला। दोपहर की मशक़्क़त ने नसों का लहू निचोड़ लिया। शाम डर के साए में बीती। बेमंज़िल और बेआरामोचैन की ज़िंदगी का रात-दिन बेसूद घूमता पहिया हमारी ही क़िस्मत में बदा है। अगर तक़दीर ख़ुदा ने बनाई है तो मैं इस तक़दीर से इनकार करता हूँ। यहीं फ़ैज़ सूफ़ीवाद के समतावादी दर्शन को नया मोड़ देते हैं। अगर तक़दीर ख़ुदा ने लिखी है तो इस तक़दीर से इनकार का मायने है ख़ुदा के हुक्म से इनकार करना। इसलिए मज़लूम कहता है कि ख़ुदा तू ही बता अपनी तक़दीर को मानूँ या तेरे भरोसे पर इनकार करूँ—

क्या यही कुछ मेरी क़िस्मत में लिखा है तूने
हर मसर्रत से मुझे आक़ किया है तूने
वो ये कहते हैं तो ख़ुशनूद हर इक ज़ुल्म से हैं
वो ये कहते हैं हर इक ज़ुल्म तेरे हुक्म से है
गर ये सच है तो तेरे अद्ल से इनकार करूँ?
उनकी मानूँ कि तेरी ज़ात से इक़रार करूँ?

फ़ैज़ की तक़रीर देखें। मज़लूम की शिकायत से ख़ुदा का जवाब कहीं ज़्यादा माइने रखता है। तीसरी आवाज़ 'निदाए-ग़ैब' यानी ईश्वर की आवाज़ है। कैसे एक बड़ा शाइर साहित्य और दर्शन की महान परंपराओं की निर्दयता से तोड़ता, बदलता और उसे नया माइने देता है उसकी नज़ीर है, निदा-ए-ग़ैब। ईश्वर कहता है, हर संपत्तिवाले और हुकूमत करनेवाले को बुलाओ और उन्हें अपने बही-खाते ठीक करने की सलाह दो। जब बहादुरों की भीड़ उमड़ेगी, फाँसी के तख़्ते भी ख़ाली नहीं मिलेंगे। सारा हिसाब यहीं चुकाना होगा। इनाम और सज़ा यहीं मिलेगी। बचने का कोई दूसरा रास्ता न होगा। यहीं से बग़ावत की आवाज़ उठेगी और यहीं तुम्हारे किए-धरे का हिसाब भी होगा।

ईश्वर का न्याय इस धरती पर ही होता है। जन्नत और दोज़ख़ इसी ज़मीन पर हैं। फ़ैज़ की दार्शनिक दृष्टि यथार्थवादी है। वह सूफ़ीवाद को आदर्शवादी खोल से बाहर निकालकर ठोस और मूर्त ढंग से उसकी महान मानवतावादी विचारधारा को इस भौतिक दुनिया में सरअंजाम देते हैं। यह ज़ालिम कौन है? मज़लूम की क़ैफियत क्या है? यह ख़ुदा कौन है जो ज़ालिम की हवस से मज़लूम को आज़ाद करेगा? यह ज़ालिम फ़ौजी तानाशाह और जम्हूरियत का दुश्मन है। यह मज़लूम दुनिया भर की मेहनतकश जनता है और ख़ुदा सर्वहारा के सिवा और कौन हो सकता है? यानी परंपरागत प्रतीकों से आधुनिक वर्ग-समाज की हक़ीक़त की बयानबाज़ी। यह व्यवस्था वैसे ही ध्वस्त होगी जैसे अस्तित्व में आई थी, यह फ़ैज़ का संदेश है, बस 'चंद रोज़ और मिरी जान फ़क़त चंद ही रोज़...।'

दिलीप चित्रे

असहिष्णुता के विरुद्ध

साहित्य अकादेमी प्रति वर्ष संवत्सर व्याख्यान का आयोजन करती है। इस महत्त्वपूर्ण व्याख्यान के लिए भारतीय भाषा के किसी रचनाकार/चिंतक को आमंत्रित किया जाता है। वैसे पुस्तिका रूप में यह व्याख्यान प्रकाशित होता है, लेकिन उसका व्यापक प्रसार नहीं हो पाता। इसीलिए हम इस शृंखला का आयोजन कर रहे हैं ताकि व्यापक पाठक समुदाय तक उनका प्रसार हो। 2004 के पुरस्कार अर्पण समारोह में 24 फ़रवरी को दिलीप चित्रे ने यह संवत्सर व्याख्यान दिया।

मित्रो! मैंने लगभग कह ही दिया था 'साथी लेखकों' पर अपनी जुबान रोक ली यह सोचकर कि श्रोताओं के बीच बैठी महिलाओं को साथी लेखक के रूप में संबोधित करना व्याकरण की दृष्टि से लिंग पूर्वाग्रह होगा और राजनीतिक तौर पर ग़लत। अगर मैं कोई उत्तेजित करनेवाली बात कहूँ तो इसके पीछे कोई ओछापन, छिछोरापन अथवा अपने भाषण को तैयार करने में असावधानी जैसा कोई कारण नहीं। यह लेखन और लेखकों का उत्सव है। दस वर्ष पूर्व जब मैंने साहित्य अकादेमी पुरस्कार और साहित्य अकादेमी अनुवाद पुरस्कार प्राप्त किया था तब मैं निःसंदेह बहुत प्रसन्न था। मेरा परिवार प्रसन्न था। मेरे मित्र और शुभचिंतक प्रसन्न थे। मेरे निंदक कुछ समय के लिए चुप थे। यह बात मेरे लिए प्रसन्नता की थी पर शायद उनके लिए नहीं।

मेरे जैसे लेखक को, इस सम्मान के साथ मिला थोड़ा-सा धन बहुत लगा था। प्रकाशक से मिलनेवाली रॉयल्टी के विपरीत इस पर कोई कर अदा नहीं करना था। चूल्हे की आग जलाए रखने या इलाज के बिल अदा करने के लिए आज की ही तरह तब तक मेरा अधिकतर समय लेखन में लगा रहा था और पुरस्कार से जुड़े धन वाले अंश ने मुझे बड़ी राहत दी। इस प्रकार के पुरस्कारों के ऐहिक और भौतिक अभिप्रायों का महत्त्व कम नहीं है।

इन पुरस्कारों को राष्ट्रीय और यहाँ तक कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रतिष्ठा की वस्तु माना जाता है। उनको यह स्थान साहित्य अकादेमी के जन्म से ही मिल गया था। आज अनेक दूसरे सम्मान भी हैं, जिनके साथ भारी धनराशि जुड़ी है। परंतु भारतीय लेखकों

मराठी कवि **दिलीप चित्रे** का जन्म 1938 में बड़ौदा में हुआ। लगभग 16 पुस्तकें कविता, कहानी एवं आलोचना की प्रकाशित। साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत। संपर्क : 17, सी-6, हर्मिस हेरिटेज, फ़ेज़-2, शास्त्री नगर, यरवाड़ा, पूना-411006 (महा.)

अनु.: नरेंद्र तोमर जाने-माने अनुवादक। संपर्क : II-सी, आशीर्वाद, वैशाली, ग़ाज़ियाबाद-201010 फ़ोन-0120-5517825 मो. 9868352709

का समुदाय सबसे अधिक महत्त्व साहित्य अकादेमी को देता है और मानता है कि इससे श्रेष्ठ पुरस्कार कोई अन्य नहीं है। इसके अस्तित्व के पाँच दशक के दौरान साहित्य अकादेमी की उपलब्धि के बारे में यही कहा जा सकता है कि इसने हमारे बीच अखिल भारतीय बहु भाषायी समुदाय की भावना पैदा की है। आज हम भारतीय साहित्यों को बहुवाची और भारतीय साहित्य को एक विशिष्ट सत्ता के रूप में एकवाची मानते हैं। अनेकता में हमारी अद्वितीय एकता को भारत के बाहर भी स्वीकार किया जाता है।

अनेकता हमारी विरासत की विशिष्टता है जो आज भी हमको एक सूत्र में बाँधे रखती है और यह भारत के धर्मनिरपेक्ष संविधान में प्रतिबिंबित होती है। लेकिन अब इसके सहारे नहीं रहा जा सकता कि हमारा जनतंत्र 54 वर्ष से टिका हुआ है और इसने साहित्य अकादेमी जैसी संस्थाओं को उभरने तथा वर्तमान स्थिति तक विकसित होने में मदद की है। आज हमने विश्वास करना शुरू कर दिया है कि भारत की विविध भाषाओं का आपस में जुड़ना संभव है। और उस जुड़ाव में हमें दिखाई पड़ती है एक ऐसे भारतीय साहित्य या दक्षिण एशियाई साहित्य कि संभावना जो सीमाओं में बँधी नहीं हो और जो एक अ-सोपानिक तथा सामंजस्यपूर्ण एवं सह-अस्तित्व की भावना के साथ हो। यहाँ हम सब एक साथ इसलिए हैं कि हम सबकी आशाएँ हमारे गणतंत्र की भावनाओं में समान विश्वास पर आधारित हैं। हम मानते हैं कि भारतीय भाषाओं और साहित्यों को भारतीय गणतंत्र की यही भावना जोड़े रखती है और यही तो भावना है जो अतीत की संकीर्ण व्याख्याओं के पार जानेवाली विवेकशीलता तथा अपनी पहचान के सहभागी जुड़ाव के मामले में एक-दूसरे के प्रति उदार होती है। इसके ही एक विस्तार के रूप में हम एक ऐसी विश्व साहित्य व्यवस्था में विश्वास करते हैं जो प्रतिमानों की अनेकता को, मानदंडों की बहुलता को तथा उन मूल्यों की शिष्ट प्रतियोगिता को स्वीकार करती है जिसकी विशिष्टता है वाद-विवाद और विचार-विमर्श।

अगर मैं यह प्रश्न उठाऊँ कि क्या हमारा साहित्य हमारे गणराज्य की उस भावना को प्रतिबिंबित करता है जिसको 54 वर्ष पहले हमारे संविधान में प्रतिस्थापित किया गया था और क्या वे भाषाएँ और साहित्य हमारी शिक्षण प्रणाली से तथा शोध एवं शिक्षा केंद्रों के प्रबंधन और जिस प्रकार हम अपनी साहित्यिक संस्थाओं को चलाते हैं, उससे अलग नहीं हो चुकी हैं। हमारी यह घोषणा साहित्यिक समारोहों से, सासरता के उपयोग से और उस नए मीडिया तथा सूचना प्रौद्योगिकी से जुदा है जो लोगों के मस्तिष्क में लेखकों एवं उनकी रचनाओं की छवि को निर्धारित करते हैं।

इस प्रश्न को इस अवसर पर मैं इसलिए उठा रहा हूँ कि आप में मुझे उपयुक्त श्रोता मिल रहे हैं। हालाँकि हममें से कुछ को राजकीय और निजी अथवा स्वायत्त संस्थाओं से पुरस्कार मिलते हैं और कुछ को जीवन भर की उपलब्धियों के लिए सम्मानित किया जाता है, पर आप में से अनेक भली-भाँति जानते होंगे, कुछ लोग हमारे गणराज्य के जन्म से ही इसकी आधारशिला से विद्वेष रखते रहे हैं और इसको ध्वस्त करने के प्रयासों में चिंताजनक गति से बढ़ोतरी होती रही है।

हम सब जानते हैं कि पूरी दुनिया में आतंकवाद उस प्रत्येक चीज़ के लिए घातक ख़तरा है जो दुनिया में कहीं भी मानव जीवन को सार्थक बनाती है। आतंकवाद मानव इतिहास के पूरे दौर में विद्यमान रहा है और इसकी तुलना में जनतंत्र का इतिहास विरामों से भरा और अनिश्चित लगता है और उसकी सफलता की संभावनाएँ हमेशा कमज़ोर रही हैं। उदाहरण के लिए हम जानते हैं कि यूनान के जनतंत्र में दासता को न्यायोचित, और चूँकि उस काल में इसकी कल्पना यूनानियों

ने की थी, अतः इसे सभ्यता के लिए अनिवार्य क माना जाता था। हमें पता है कि भारतीय उपमहाद्वीप में सभ्यता की ब्राह्मणवादी अवधारणा चातुर्वर्ण व्यवस्था या जाति-प्रथा पर आधारित थी और यह श्रेणीबद्ध दासता को वैधता प्रदान करती थी जिसको बाद में जातियों के बीच पुरोहित-तंत्र के द्वारा और अधिक परिष्कृत कर दिया गया था। हम यह भी जानते हैं कि सभ्यता के बिलकुल हाल के विचारों में स्त्रियों को पुरुषों के समान नहीं माना जाता और बच्चों को ऐसे पालतू पशु समझा जाता है जो अब भी नृशंस प्रशिक्षण के अधीन हैं—ना कि मानव अधिकार रखनेवाले इंसान। हमें मालूम है कि दुनिया के प्रमुख धर्मों में ईश्वर को, जो विद्यमान प्रत्येक वस्तु का आदि पुरुष निर्माता है, निरंकुश पितृसत्ता के रूप में देखा जाता है, और लौकिक पुरुष पैगंबर उसके संदेशवाहक हैं तथा ईश्वरीय इच्छा तथा पैगंबरों की शिक्षाओं की व्याख्या करने का विशेषाधिकार पुरुष पुजारियों को ही है। ऐसी ही धारणाओं में विद्यमान हैं आतंकवाद और कट्टरतावाद के बीज। ये नए विचारों को, वैकल्पिक विश्वासों को पैदा नहीं होने देते। ये साहित्यिक और कलात्मक नवोमेषों तथा वैज्ञानिक खोजों एवं प्रयोगों को रोकते हैं। ये उस भावना के विरुद्ध हैं जिसे हम जनतंत्र समझते हैं।

हमें समझना चाहिए कि आतंकवाद की परंपरा बहुत पुरानी है। यह पाषाण युग के शारीरिक रूप से सबसे ताक़तवर पुरुषों से शुरू होती है जो इंसानों के छोटे-छोटे समूहों, अपने क़बीले अपने परिवार और श्रमबल तथा अपनी सेना के निरंकुश नेता बन बैठते थे। मानव इतिहास में बल प्रयोग का दौर-दौरा सहयोग और सहमति से पहले था और सामाजिक रूप से विकसित होने के मामले में हममें से अधिकांश बहुत आलसी हैं। राष्ट्रों से पहले अस्तित्व में साम्राज्य आए थे और नेताओं से पहले सरदार। मानव परिवारों के प्रमुख अपनी दब्बू पत्नियों और रखैलों और आज्ञाकारी पुत्रों या मनहूस संतानों, दोगली संतानों के साथ ज़ालिम मालिक होते हैं जिनके नीचे भाई-बहनों के बीच गुप्त प्रतिद्वंद्विताएँ और भाई की हत्या की दबी हुई इच्छाएँ बनी रहती हैं। ऐसा लगता है कि सभ्यता संबंधी हमारी अधिकांश प्रचलित धारणाएँ जाति संहार के दौर में जन्मे थे और यह उस पशुवत वृत्ति का लक्षित रूप है जिसके अंतर्गत हमें अपने सबसे बड़े प्रतिद्वंद्वी अपनी ही जाति में दिखाई पड़ते हैं और हम उसी पर चोट करते हैं।

हमारी सभ्यता के महान महाकाव्य महाभारत के प्रवर्तक ने, मुझे विश्वास है, अपनी रचना में इसी पर विचार किया! हम उनको व्यास के रूप में जानते हैं लेकिन उन्होंने जिस अधूरी कृति की रचना का वो रूप जिसे हम जानते हैं, ग्रहण करने में सदियाँ लगी थीं। ठीक वैसे ही जैसे कि अजंता के महान भित्ति चित्रों तथा एलोरा की विस्मित करनेवाली केलाश मूर्तियों का निर्माण अनाम चित्रकारों, कलाकारों मूर्तिकारों और वास्तु इंजीनियरों की पीढ़ियों ने एकीकृत शैली में किया था। ये अद्वितीय उदाहरण है उस एक व्यापक दृष्टि के आधार पर परंपरा का निर्माण करने के जो ऐतिहासिक विवरण की बहुलता के साथ प्रचुरता से उत्पन्न होती है।

1947 के बाद हमने अपने समय की युगचेतना के अनुसार महाभारत खेला है। भारतीय उपमहाद्वीप और उसकी उदार सांस्कृतिक परिरेखा में राजनीतिक और क्षेत्रीय अधिकारों की लड़ाई उस शून्य में लड़ी गई जो विदेशी आधिपत्य के हटने से हुआ था। उपमहाद्वीप में विभाजन का कारण मुख्यतया क्षेत्रीय अधिकारों को लेकर पूर्व ऐतिहासिक मानव का संघर्ष था जो समान रूप से बुद्धिमान और प्रतिभावान घुमंतु जातियों के बीच होता था। विभाजन के इस विशाल युद्ध में परस्पर विरोधी सेनाओं का झंडा धार्मिक पहचान का था। मैं यह नहीं मानता कि व्यास कौरवों और पांडवों के बारे में लिख रहे थे और

कि वह एक ऊँचे दर्जे के इतिहास लेखक मात्र थे। मेरा मानना है कि वह उच्च स्तर के एक मौलिक लेखक थे जिन्होंने आसन्न कलि धर्म, कलियुग की युगचेतना की संदेह और विग्रह के युग की भविष्यवाणी की थी और जिन्होंने अविश्वसनीय, भोली-भाली एवं अपराधी मानव जातियों, जो अपनी ही जातियों के भीतर आक्रमणों की ओर प्रवृत थीं, के गढ़े हुए सच को मानने से इनकार कर दिया था। दूसरे स्थानों पर ओल्ड टेस्टामेंट जैसे मिथक काव्यों में आदम और हव्वा की लौकिक संतति एबल और केन के प्रारब्ध में हमें इसी प्रकार की आत्म स्वीकृति देखने को मिलती है। नए वैधानिक राष्ट्रीय राज्यों के रूप में भारत और पाकिस्तान का निर्माण दसियों लाख ज़िंदगियों के तबाह होने के और हाल के इतिहास में जनसंख्या के सबसे बड़े बलात स्थानांतरण की घटना के बाद हुआ था।

परोपकार की तरह आतंकवाद की शुरुआत भी घर से होती है। अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध में शामिल होकर और इसको धरती से समूल नष्ट करने की निष्ठापूर्ण शपथ लेकर हमने न केवल भारत की निर्वाचित सरकार इसके हत्याकांडों को और व्यापक स्तर पर जातिसंहार को चलाते रहने दिया है बल्कि वहाँ हस्तक्षेप नहीं करके या इनकी तैयारी करनेवालों की निंदा नहीं करके हमने उदारता का दिखावा भी किया है। जो कुछ हुआ हम उससे क्या सिर्फ़ मुँह फेर सकते थे? 1948 में महात्मा गांधी की हत्या के बाद महाराष्ट्र (तब का बंबई प्रदेश) के कई ज़िलों में ब्राह्मणों के विरुद्ध जाति संहार का तांडव हुआ क्योंकि गांधी का हत्यारा चितपावन ब्राह्मण जाति का था। 1984 में इंदिरा गांधी के सिख अंगरक्षकों द्वारा उनकी हत्या कर दिए जाने के बाद भारत की राजधानी दिल्ली और दूसरे स्थानों पर सिखों को निशाना बनाया और बड़ी संख्या में उनकी हत्याएँ की गईं। और सरकार मुँह फेरकर कहीं दूसरी ओर देखती रही। 1990

के दशक में मुंबई शहर को सुनियोजित हमलों के दृश्य देखने को मिले और श्री कृष्ण आयोग द्वारा अभियोग पत्र दाख़िल किए जाने के बावजूद सत्ता में आनेवाली सरकारों ने इस ओर से मुँह मोड़ना ही बेहतर समझा। अगर कोई आज़ादी के बाद के भारत में आतंकवाद का इतिहास लिखे यह प्रमाणों सहित दिल दहलाने वाली एक ऐसी गाथा होगी जिसकी मिसाल हमारे अपने अतीत या विश्व इतिहास में बहुत कम मिलती है।

1951-52 से हमारे आम चुनाव महाभारत की समकालीन लोकप्रिय नाटकीय प्रस्तुतियाँ हैं। अगले चुनाव होने ही वाले हैं और एक लेखक के तौर पर मैं अपने चारों ओर कम-से-कम एक संकेत ढूँढ़ रहा हूँ जिससे मुझे यह आशा बँध सके कि वे गणराज्य के संविधान के अनुसार स्वतंत्र और निष्पक्ष होंगे। जैसा कि आप सब जानते हैं कि पुणे, जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट को एक जातिवादी संगठन 'मराठा सेवा संघ' के उग्रवादी अंग 'संभाजी ब्रिगेड' द्वारा बरबाद कर दिया गया। इस संस्थान के पुस्तकालय की कई हज़ार दुर्लभ पांडुलिपियों, पुस्तकों तथा शिल्पकृतियों को नष्ट करने का कारण क्या था? उपद्रवियों के अनुसार इस संस्थान ने (जिस पर उनके अनुसार ब्राह्मणों का नियंत्रण है) ही अमरीकी विद्वान जेम्स डब्लू. लेन को सुविधाएँ, सहायता और परामर्श प्रदान किए थे और इसी से वह 'शिवाजी, हिंदू किंग इन मुस्लिम इंडिया' नामक अपनी अपमानजनक पुस्तक लिख पाए थे। संभाजी ब्रिगेड और मराठा सेवा संघ अब भी यह माँग कर रहे हैं कि अपने 'आभार' में लेन ने जिन लोगों को धन्यवाद दिया है उनको पुलिस हिरासत में यह जानने के लिए लिया जाना चाहिए और उनसे पूछा जाना चाहिए कि लेन को वे सूचनाएँ किस किसने दीं जिससे वह यह पुस्तक लिख सके थे। महाराष्ट्र सरकार ने पुस्तक पर तत्काल प्रतिबंध लगा दिया और जब तक यह लगा रहता है, अपने आप में कोई यह तय नहीं कर सकता कि पुस्तक उन विरोध प्रदर्शनकारियों की जो इसके एक या दो वाक्यों से अधिक के बारे में कुछ नहीं जानते लगते, भावनाओं को आहत करती है या नहीं। पुस्तक अंग्रेज़ी में है और संस्थान में तोड़-फोड़ के लिए गिरफ़्तार 72 लोगों में से कोई भी ऐसा नहीं लगता जो अंग्रेज़ी ठीक से पढ़ सके। स्पष्ट है उनको ठेस उससे लगी जो उनको उनके भड़काने वालों ने बताया और ये भड़कानेवाले हैं मराठा सेवा संघ के विचारक उसका नेतृत्व और उसके राजनीतिक सहयोगी तथा समर्थक। इनमें छोटी-मोटी पत्रिकाओं और पर्चों के साथ-साथ वे भी हैं जिन्होंने पूर्व नियोजित हमले को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से हमलावरों को महाराष्ट्र के दूसरे ज़िलों से पुणे तक ढोने के यातायात उपलब्ध कराने को आर्थिक सहायता दी थी। पर इस आक्रमण को अब आहत भावनाओं से उत्पन्न स्वयं स्फूर्त अभिव्यक्ति के तौर पर पेश किया जा रहा है।

'आहत भावनाएँ' ऐसा लगता है कि सेंसरशिप थोपनेवालों और नागरिक स्वतंत्रताओं का दमन करनेवालों को ये पूरे तौर सही ठहराने का काम करती हैं। न्यायपालिका उस प्रत्येक व्यक्ति से जिरह क्यों नहीं करती कि किसी पुस्तक या कलाकृति की विषयवस्तु से वह भावनात्मक रूप से आहत हुआ है। उत्तर सीधा-साधा है! यह सुनिश्चित करने के लिए कि उसकी भावनाओं को ठेस पहुँची अथवा नहीं आप भीड़ के प्रत्येक व्यक्ति से अलग-अलग पूछताछ नहीं कर सकते और क्या यह वो ठेस है जो पाठकों, दर्शकों, विद्वानों और छात्रों के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जिनके लिए ऐसी पुस्तकों, फ़िल्मों अथवा कलाकृतियों की रचना की गई है। और फिर विधायिकाओं की जो कार्यवाईयाँ टीवी पर दिखाई जाती हैं उनमें अकसर ही धक्का-मुक्की, चीख़-पुकार और एक-दूसरे पर

चिल्लाने के दृश्य दिखाई पड़ते है जिनमें सभापति की आवाज़ डूब जाती है और अराजकता व्याप्त हो जाने के परिणामस्वरूप सदन की कार्यवाई स्थगित कर दी जाती है। इन तमाम चीज़ों को देश भर के स्कूली बच्चे तक देख सकते हैं जो अतिसंवेदनशील होते हैं। मीडिया के माध्यम से हम बदमाशों और अपराधियों को प्रकाश में लाने और मनोयोग से देखने के आदी हो चुके हैं। स्पष्ट है कि सरकार जब अलग-अलग लेखकों, फ़िल्म निर्माताओं और विद्वानों को निशाना बनाती है तो वो यह मानकर चलती है कि एक अरब भारतीयों में ये लोग हाशिए पर बैठे मुट्ठीभर अल्पसंख्यक हैं। जब आप एक अरब लोगों को राजनीतिक रूप से नियंत्रित करते हैं तब 'लिखित संविधान' की तुलना में लोक लुभावनवाद अधिक 'सम्मानित' हो जाता है। लिखित संविधान के बारे में उच्चवर्गों का एक छोटा-सा हिस्सा ही कुछ जानता है। किसी पुस्तक का महत्त्व बस इतना है।

नए विचारों, ग़ैर-रूढ़िवादी मतों, असमतियों और मित्र विश्वासों की सार्वजनिक अभिव्यक्तियों के प्रति असहिष्णुता बढ़ रही है। पुस्तकों, फ़िल्मों, नाटकों और कलाकृतियों पर सेंसरशिप लागू करने की बढ़ती हुई माँगों के साथ कला दीर्घाओं, पुस्तकों की दुकानों, थिएटरों और प्रेक्षागृहों पर भीड़ के हमले अकसर होते रहते हैं।

मैंने अभी तक जो कुछ कहने का प्रयास किया है उसकी याद-टिप्पणी के रूप में मैं यह बताना चाहूँगा कि अपनी पुस्तक (जिस पर अब रोक लगी है) शिवाजी : हिंदू किंग इन मुस्लिम इंडिया में जेम्स डब्लू. लेन ने जिन अनेक लोगों के प्रति आभार व्यक्त करते हुए उनको धन्यवाद दिया था, उनमें से एक मैं भी था और इस वर्ष 7 जनवरी से महाराष्ट्र सरकार ने मुझे 24 घंटों की सशस्त्र सुरक्षा प्रदान की है। मैंने इसकी माँग नहीं की थी पर यह अब तक चली आ रही है। मुझे अब तक यह नहीं बताया गया है कि मुझे इसकी ज़रूरत क्यों है और कि मेरी सुरक्षा किससे और क्यों की जा रही है। मेरी राज्य सरकार मुझे सुरक्षा के योग्य समझती है, इससे मुझे अच्छा लगना चाहिए था। पर जब मैं यह देखता हूँ कि जो लोग पुस्तकें जलाते हैं, लोगों को धमकाते, शिक्षा और शोध संस्थानों पर हमले करते और जन-संचार माध्यमों, आम-सभाओं तथा प्रदर्शनों के द्वारा अपने लक्षित लोगों के विरुद्ध आमलोगों को भड़काते हैं, उनको इसी सरकार द्वारा अधिक सम्मान दिया जाता है तब इस गणतंत्र के नागरिक होने के मेरे गर्व की हवा निकल जाती है। तब मैं यह महसूस करता हूँ कि पिछले 54 साल में हमने लोक लुभावनवाद के दानव और आसन्न फासीवाद के भूत को पालने-पोसने का ही काम किया है और इसके लिए उत्तरदायी हैं देश के राजनीतिक दल। अपने नवजात जनतंत्र में हम एक सभ्य अंतराल की सुरक्षा करने और इसे बनाए रखने में विफल रहे हैं और हमने अपने बग़ीचे में जिसकी परिकल्पना हमारे संस्थापक जनकों ने की थी और जिसे हरा-भरा किया तथा हमारे भरोसे छोड़ा था, उसमें खर-पतवार को हावी होने दिया है।

आशा है आप यह नहीं सोचेंगे कि मैंने आपके समय का दुरुपयोग किया अथवा सम्यक व्यवहार की आपकी भावना को आहत किया है एक ऐसे अवसर पर जब साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्रदान करने का समारोह मना रही है जो भारत में लेखक शसमुदाय की उपलब्धियों तथा गणतंत्र में उनके स्थान का प्रतिनिधित्व करता है।

हिंदी कविता

श्याम कश्यप

फ़क़ीरों की ज़िद

हमीं से होती है सुबह
शाम—
हम ही से गुज़र जाती है।

हमारा ही सीना खोलकर
किसी बंद दरवाज़े की तरह
रात-रात भर—
तूफ़ानी हवाएँ बेख़ौफ़ बही जाती हैं।

आपकी तसवीर रह न पाई यहाँ
हम क्या करें—
जुल्मतों के दौर में
मुहब्बतें मिटती हैं, शिकस्त खाती हैं।

क्या अब भी यक़ीं नहीं आता
पीठ मोड़ो, घुमाओ गर्दन—
हर उठा सर, बेधती सीधी नज़र
कुचला जाता है, सज़ा पाती है।

नज़र नहीं आती दूर तलक अब
जूझने वालों के इंक़लाबी सफ़ें कहीं
हर तरफ़ छाया है शिकस्ती का आलम
उठती है जो भी लहर, पछाड़ खाती है।

यह कैसा मौसम है आजकल, देखो तो
दोस्त तक हो गए हैं सब बेपरवाह
लड़ने की कौन कहे, मियाँ अब तो—
मिलकर रोने की सदा भी नहीं आती है!

हको-हकूक की लड़ाई तो अब दीगर है
चूँ भी करोगे किबला, तो मारे जाओगे!
उठा हुआ हाथ या आवाज़ भी विरोध की
सीधे जेल की राह या फ़ाँसी दिलाती है।

हमें भी ज़िद है, सुनो हो, अपने होने की
हम रहें या यह फ़िरकापरस्त निज़ाम—

श्याम कश्यप की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। कविता-संग्रह भी प्रकाशित।
संपर्क : बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली-110096
फ़ोन 22611495,
मो. 9891250940

आज़माइश है मियाँ खुलकर अब तो
मिटेगी तानाशाही काली या पहले मौत आती है!

राग फ़क़ीरी

बात मेरी है—
और ढँग भी अपना निराला

तुम मियाँ ख़ुश रहो—
ख़ुद पीठ हमीं ने मोड़ी है!

तुम रस्म कहो
या कोई रवायत—
पाँव बढ़ाकर नई राह पर
हर बैसाखी ख़ुद छोड़ी है!

अपने-अपने रस्ते बेहतर
तुमसे हमें शिकायत क्या
तुम शिखर चढ़ो या महल-पड़ो
यह सीढ़ी भी हमने तोड़ी है!

यह सरमाया किसे चाहिए
राग अमीरी तुम्हें मुबारक
अंतरिक्ष तक सीधे जाती
क्या डोर कभी हमने जोड़ी है!

हम तो ठहरे मस्त कलंदर
टुकड़ा-टुकड़ा जीवन जीते
लिए फ़क़ीरी कफ़नी डाले
क्या अब भी यह थोड़ी है!

तुम जानो अंजाम-ए-ख़ुदाई
ज़ुबाँ-पत्थर, दिल चट्टानी कर
समझ-बूझकर अपनी आँखें
ख़ुद तुमने ही फोड़ी हैं!

हमने जब भी ज़ुल्मत देखी
सूली पर मंसूर चढ़े हैं
खड़ी तेग़ पर पाँव जमाकर
तब-तब चुप्पी तोड़ी है!

बने रहो तुम बाट जोहते
किसने किनके लश्कर देखे
जबरजंग दुश्मन की हमने
बाँहें सदा मरोड़ी हैं!

सूर्योदय हेमंती

हवन कुंड से फूटता है
उमग कर फूल आग का
लपकती रक्ताभ-स्वर्णिम
खिली पँखुड़ियों के साथ।

ज्योति-स्फुलिंगों-से
झरते हैं पराग-कण

गुनगुनी चिनगारियों को लोक कर
हम अपने ठिठुरते हाथ सेंकते हैं!

सागर-सूर्यास्त

दिनभर की बेतहाशा
दौड़-भाग से थकी
हाँफती हुई पृथिवी—
घोड़े की पीठ की तरह
रह-रहकर लगातार काँपती है

मुँह से गर्म-गर्म
फेन गिराती—
ख़ून के रंग में रँगी हुई।

गैस के गुब्बारे की तरह
फैलता जा रहा है
फूलकर आकाश—
पक्षियों को राह देते हुए

घुलती जा रही है लालिमा
कालिख से मढ़ी—
गतिशील इस कालिमा में।

आक्षितिज तनी
रस्सी पर—
संतुलन साधते-साधते
गिरकर एकाएक
सूरज डूब जाता है

सागर की उफनती—
सुनहरी लोल लहरों में।

बारिश-बदली

पानी के बोझ से झुक आई थी
स्लेटी साँवली-सलोनी
उम्मीद-वर बदली—
अलस सुस्ता रही थी थकी-सी
बरसने से पेशतर
हरी-हरी पहाड़ियों के काँधों से टिकी।

ओट में छिपे अस्ताचलगामी सूर्य की
रक्तावरण स्वर्ण-रश्मियाँ
फूट पड़ी थीं बाहर—
इंद्रधनुष के चटकीले रंग बनकर।

रात रुपहली

सेमल के तकिए पर
सिर रखते ही—
उड़ गई बादलों की नींद

आँख मिचमिचाने लगे
शरारत से तारे—

चाँद सीटी बजाने लगा
फूलों वाली नीली रज़ाई से
मुँह बाहर सरकाकर—

अपने सारे पत्ते गिराकर
पेड़ अलफ़ नंगे हो गए
बारिश के बाद—
शर्म धोकर हद दर्जा बेशरम

मुँह चुराकर भाग गई
शरम से पानी-पानी हुई रुपहली रात!

स्वप्न-यामिनी

मुझे पता नहीं चला
नींद की गहरी घाटी में
लुढ़क जाने के बाद—

रात मैं चुपचाप
उसके सपनों में चला गया
किसी को भी कहे बग़ैर।

वो मेरे सपनों में
झूला झूल रही थी
अंबियों की महक से घिरी

चोरी-छुपे चोरी-छुपे—
कच्चे अमरूद चबाती हुई।

काले पुराने शहद की तरह
बहती रही गाढ़ी रात
सुगंध की ख़ामोशी में डूबी
अपने सीने में लिए—
मधुमक्खियों के टूटे हुए डंक!

काली रात का चाँद भी
काला होता है—
सियाह बादलों के संग

घुले होते हैं जिनमें
इंद्रधनुष के लचीले
सातों रंग—

डूबता जाता है जहाँ
आलिंगनबद्ध अंग-अंग!

सलोनी रात

मस्ती में झूमते
खिलखिलाते
बादलों से—
घिरी हुई सलोनी रात

कुचली हुई भीगी पत्तियों की
तेज़ मादक गंध में डूबी

सनसनाती वायु के
हिंडोले से उतरकर
आ रही—

मंथर गति...

झुकी पलकों
खुली अलकों
श्लथ गात
अस्त-व्यस्त वसनों वाली
साँवली-सलोनी रात!

आग और फाग

प्रज्ज्वलित सिंदूरी
लपटों की तरह
खड़े थे तने—
पत्रहीन पेड़ टेसू के

विंध्यावटी वनों में
सिर पर अंगार के—
छतनार मंडप सजाए!

हम इन वनों से
गुज़रते हुए—
खेलते हैं जी-भर फाग।

अमरकंटक

गर्विता पच्छिमाभिमुखा
नई नवारि नर्मदा से
रूठकर बेवजह—
चला गया पूरब
सरसराता सोन नद।

अमरकंटक के हृदय में
गड़ा है शूल-सा
शिव के त्रिशूल-सा
आज भी यही कंटक
सतत् प्रवाहित—
आँसुओं की दो-धार बीच।

उपेंद्र कुमार

सत्तू

क़ौशल और मगध के
घुड़सवारों
और पालकीयुत वाहनों के
अवशेष
चाहे न हों
आज भी पूर्व की
यात्राओं का अपूर्व
विषय है राजनीति

राजनीति से ऊपर भी
कुछ है
और वह है सत्तू

जिसकी सजी हैं आज भी
मौक़े की जगह
सड़कों के किनारे
दुकानें
तिकोनी
चोटी पर परचम टिकाए
हरी मिर्च
खींचती है ध्यान
बैठे हैं
ज़मीन पर ही
सन्नद्ध
आस्वादक

पूरब में सबसे सहज
सबसे लुभावना
कैसेट का गाना
सत्तू का खाना

अनाज को भूनना पीसना
सही अनुपात में मिलाना
कला है वैसी ही
जैसे पाँच सितारा होटल में
खाना बनाना
अथवा

पेंद्र कुमार के कई कविता-संग्रह
प्रकाशित। संपर्क: 'अथर्वा', 15
र्क स्ट्रीट, नई दिल्ली-110001

बनाना ही क्यों
ठीक-ठीक नमक पानी मिलाना
क़ायदे से सानना
चॉप-स्टिक या काँटे-छुरी द्वारा
खाने से
कमतर कला नहीं
हाथ से
सत्तू खाना

भले ही हुसैन की
कामकला से लेकर
चित्रकला तक के
प्रशंसक और कलाकार
माने या न माने
मानते हैं इसे सच
भड़-भूँजे से चक्की तक की
सत्तू की यात्रा के जानकार
और बड़े-बड़े कलाकार
जिनमें शामिल हैं—

रामू लोहार
भोलू चर्मकार
दमड़ी बढ़ई
और सरजू कुम्हार

ऐसी यात्राओं में
कभी-कभी तो सत्तू
आ बैठता है एकदम बग़ल में
किसी पोटली में बँधा
किसी झोले में ठूँसा

अब बौड़म जैसा
सवाल नहीं दागना है
कि पोटली में बँधा है सत्तू ही
कैसे पता
अरे भाई
ताज़ा पीसे सत्तू की सोंधी ख़ुशबू
कभी क़ैद हो सकती है क्या
किसी पोटली या एयर बैग में

सत्तू को
केवल सत्तू
समझने वालों के लिए
ज़रूरी है जानना
कि सत्तू का भी
अपना एक इतिहास है
गौरवशाली और महान
मगध साम्राज्य जैसा

स्वाद लाज़वाब
पौष्टिकता बेहिसाब
न बर्तन-बासन की खटपट
न चूल्हे-चौके की तकरार
न पकाने का झंझट
न पानी
न उबाल
थोड़ा नमक
और हरी मिर्च हो तो बात ही क्या
बस
गमछे में ही साना
और खा लिया
निर्विघ्न

सत्तू के इन्हीं गुणों ने
बना डाला था इसे
सर्वोत्तम 'मार्शल फ़ूड'
और मगध साम्राज्य की सेना
इसी के भरोसे निकलती थी
अपने विजय अभियानों पर

बिना सत्तू
जहाँ मुश्किल है ग़रीब का खाना
वहीं ये भी सच है
कि कर नहीं सकते आप शामिल
सत्तू को शाही दावतों में
परंतु प्रत्येक शाही ताम-झाम
चाहे वह प्रजातंत्र का ही क्यों न हो
निश्चय ही टिका होता है
सत्तू खानेवालों पर
सत्तू पर पले पेटों का ही दम है

जो दौड़ता चला जाता है
दहकते सूरज की ओर
फाँदता चला जाता है
ठिठुरते कोहरे की दीवारों के पार
मचाता रहता है घमासान
करता है जीना आसान

सत्तू की प्रशंसा
प्रशंसा है इन्हीं करोड़ों की
जिनके लिए सत्तू
महज साधन नहीं है
भूख मिटाने का
सत्तू ब्रह्म है
राम राज्य का
यथार्थ है और
गारंटी है
कि कमज़ोर आदमी
न केवल रहेंगे
ज़िंदा
तमाम अभावों के बरक्स
वरन् जीतेंगे
आनेवाले एक दिन
अपनी तमाम हारी हुईं लड़ाइयाँ
और उसी दिन लड़ना पड़ेगा
फिर से
मामूलीपन के वेश में
असाधारण संग्राम
सत्तू की पक्षधरता में।

राजेंद्र उपाध्याय

1958 में जन्मे राजेंद्र उपाध्याय के तीन कविता-संग्रह, एक कहानी-संग्रह, व्यंग-संग्रह आदि प्रकाशित। हिंदी अकादमी से पुरस्कृत।

संपर्क : 62-बी, लॉ अपार्टमेंट्स,
ए. जी. सी. आर. एनक्लेव,
दिल्ली-110092
फ़ोन 22372615

कबिरे पावे ना तार जीवन चरिते

कवि को नहीं पाओगे
तुम उसके जीवन चरित में
मिलेगा तुम्हें वहाँ भी कवि
जहाँ नहीं पहुँचा अब तक रवि
मंगल ग्रह के किसी अज्ञात कोने में

सारी सभ्यताओं के भी पार एक उदास क़सबे ठिकाने में
किसी खंडहर में हो रही झमाझम बारिश में
वह कहीं अपने सुर तलाश रहा होगा।

किसी लड़की की अज्ञात स्वरलिपि में
पशुओं की मूकभाषा में
पक्षियों के अज्ञात रूदन में
राक्षसों के अट्टहास में कहीं
वह अपनी भाषा खोज रहा होगा।

कवि मिलेगा तुम्हें
उन चिट्ठियों में
जो बेपते की रही हमेशा
दूध और धोबी के हिसाब-किताब में कहीं
वह अपनी भाषा अपना व्याकरण खोज रहा होगा।

पेड़

अकसर एक पेड़ झाँकता है
मेरे घर की खिड़की से
वह आना चाहता है मेरे घर में
मैं खिड़की नहीं खोलता
अगर आ गया पेड़
तो मैं इस घर में नहीं रह पाऊँगा।

विपिन जैन

सवेरा भी था

उजाला भी था गर अँधेरा भी था
तेरी ज़िंदगी में सवेरा भी था

महज रेत इँटों का ढाँचा न था
वो मेरा मकां था बसेरा भी था

यहीं पर कहीं थी पुरानी गली
कहीं एक घर उसमें तेरा भी था

ये सोचा समेटेगा वो प्यार से
तभी मैंने ख़ुद को बिखेरा भी था

विपिन जैन की कविताएँ एवं लेख प्रकाशित। संपर्क : के आई-147, कवि नगर, गाज़ियाबाद

मैं समझा था रिश्तों की दुनिया है बस
ये जीवन तो जोगी का फेरा भी था
तेरा सच ही सच था नहीं आख़िरी
फ़साने में सच एक मेरा भी था।

क्यों डरे कोई

सिर्फ़ सायों से क्यों डरे कोई
मौत से पहले क्यों डरे कोई

क्या हुआ एतमाद टूटा अगर
पर भरोसा न क्यों करे कोई

हमको तो अपनी राह से है ग़रज़
चलता है गर अलग चले कोई

यह चलन आज तक नहीं बदला
पाप कोई करे, भरे कोई

बोलता रहा जहाँ मुनासिब हो
तब वहाँ कैसे चुप रहे कोई

मसहले हैं बहुत ज़िंदगी के
यूँ न हर बात पे लड़े कोई

रास्ता हो शक या एतबार का
बिन सोचे न चल पड़े कोई।

विनय विश्वास

साहस

जटायु के एक कटे पंख ने दूसरे से कहा—
होगा तू दायाँ पंख
रावण की तलवार का प्रहार
पहले मैंने सहा

दूसरा बोला—तू अभी तक
पहले और बाद के विवाद पर ठहरा है
इधर देख
मेरा घाव तेरे घाव से कहीं गहरा है

दोनों के लिए ज़्यादा गौरव से भरा था

विनय विश्वास की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : बी-7/155, सेक्टर-4, रोहिणी, दिल्ली-110085
फ़ोन 27933130
मो. 9868267531

उनका अपना-अपना बलिदान
पर कुछ ही देर में दोनों का एक स्वर गूँजा—
हम ख़ुश हैं कि हमारे भीतर अब नहीं रही
उड़ान

हवा चलती है तो पेड़-पौधों पर छितराए
पंखों के रेशे डोलते हैं
मानो कह रहे हों—
जो अन्याय का विरोध करता है
उसके कटे हुए पंख भी बोलते हैं

आततायी शक्ति का समंदर
ईमान की
छोटी-सी किश्ती से भी हारता है
रावण को राम से पहले
एक परिंदे का साहस मारता है।

ख़र्च

कल चला गया वो
जो पाई-पाई के लिए
उम्र-भर चलता रहा
घर-दुकान-दफ़्तर-अस्पताल
यहाँ तक कि नींद में भी नहीं रुका कभी

आख़िर पैसे ने
ख़र्च ही डाला
समूचा आदमी।

सादगी

बरसों बीत गए रहते पर सलीक़ा नहीं आया
यहाँ का

शरीफ़ों के बीच रुक नहीं पाई सीने में
मोहल्ला-भर हँसी
आवारा खाँसी
आया ही नहीं इस तरह बैठना कि कपड़ों में
सलवटें न पड़ें

सध ही नहीं सकी सबके स्वागत में
मुस्कान
व्यर्थ हो गई भावुक न होने की हर कोशिश

अब भी सादे पानी के बस में है प्यास
रोटी के बस में भूख
आत्मीयता के बस में संबंध

आऊटडेटेड होना उसके लिए
साँसों जितना ज़रूरी है
वह ख़ुश है
अपने होने में
इसी तरह!

बड़े

बड़ी रौशनी के रहते
बड़े आदमियों के हाथों में
संस्कृति का बड़प्पन सुरक्षित रहता है
बड़े आदमी
अँधेरे में खुलते हैं
तमाम नाख़ूनों और दाँतों के साथ

बड़े आदमियों के नाख़ून भी बड़े होते हैं
दाँतों की तरह
बड़े आदमियों में इतने नाख़ून होते हैं
जितने रोम होते हैं शरीर में
बड़े आदमियों के शरीर में बड़े रोम होते हैं
और हर रोम में
या तो एक दाँत होता है या एक नाख़ून

बड़े आदमियों को बड़ी दया करने का शौक़ होता है
बड़े आदमियों को बड़ा सच बोलने का शौक़ होता है
बड़े आदमियों को बड़ी ईमानदारी दिखाने का शौक़ होता है
बड़े आदमियों को बड़ी क़ुर्बानियाँ देने का शौक़ होता है
बड़े आदमियों को बड़ी सादगी बरतने का शौक़ होता है

बड़े आदमी धीरे-धीरे गला रेतते हैं
और चेहरे पर बड़ी ख़ामोशी रखते हैं
बड़े आदमी शाकाहारी हँसी से पहले

दाँतों की बड़ी दरारें साफ़ करते हैं

बड़े आदमी तब तक नहीं गिरते
जब तक धरती पर पड़ी
कोई बड़ी चीज़ देख न लें
बड़े आदमी बड़े नाटक करते हैं
बड़े रंगमंच के पीछे

बड़े आदमी इतने छोटे होते हैं साथी कि बड़ों से
बड़ा होता है
कोई भी
छोटे से छोटा।

आगमन

थकान की दुनिया में
महक उठी मिट्टी
सन्नाटे में ज़िंदगी चहचहा उठी
पत्तों में हरेपन की तरह
भर उठीं रोम-रोम में हवा की लहरें

ग़ायब हो गया सहसा
लू का चलना
सड़कों के पिघलने के साथ-साथ

जैसे उदासियों-भरे मौसम में
बरगद की छाँव गुनगुनाई हो
अच्छा
ये तुम आई हो!

पंख

तुम्हारी आँखें
उदासियों के मरुस्थलों में
हँसी तो मेरी झुकी-सी बाँहों में
पंख उगने लगे हैं हमदम
उड़ानों को अब लगा बुलाने
ये आसमां इंद्रधनुष बनकर

मैं उम्र की हर गली, सड़क पर
बरस-दर-बरस रहा खोजता
जिनको, वो पंख
तुम्हारी आँखों में यों मिलेंगे
क्या जानता था!

हरे प्रकाश उपाध्याय

सोचो एक दिन

भाईयों, उस आकाश के बारे में सोचो
जो तुम्हारे माथे से कुछ ऊपर टिका हुआ है
इस धरती के बारे में सोचो
जो तुम्हारे पाँवों तले थर-थर काँप रही है
भाईयों, इस हवा के बारे में सोचो
जो तुम्हारा घूँघट खोल रही है
कुछ ऐसे सोचो
कुछ वैसे सोचो

माथा दुखने के दिन हैं ये
अपना माथा ठोको भाईयों
बाज़ार में तुम क्या बेचोगे
क्या ख़रीदोगे
कौन-से रास्ते तय करोगे सोचो
सोचने का यही सही समय है
सफ़र बाज़ार का तय करने से पहले सोचो
सोचो इस दुनिया में क़ितने अरण्य हैं
कितने रंग हैं
और कितना पानी है इस दुनिया में

अगर सोचने के लिए तुम्हारे पास
समय नहीं हो
तो कम-से-कम इतना सोचो
कि क्या यह सोचना ज़रूरी नहीं
कि तुम्हारी जेब
कितनी लंबी हो सकती है
तुम्हारी बग़ल में लेटी हुई औरत
कब तक और कितना क्या-क्या बेच सकती है
माँ का दूध कितने रुपए किलो बिकना चाहिए

1981 में जन्मे हरे प्रकाश उपाध्याय की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : ई-170-172, बी.के. दत्त कॉलोनी, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
मो. 9818986390

भाईयों, चलते-चलते सोचो कि
दुनिया की रफ़्तार और धरती के कंपन में कैसा रिश्ता है

हर मिनट
आख़िर कितने अधिकतम हादसे हो सकते हैं
गर्भवती स्त्री बलात्कार के कितने सीन झेल सकती है
भाईयों, अपने अरण्य से बाहर निकलकर
सोचो एक दिन सब लोग
धरती ने शुरू कर दी दुकानदारी तो क्या होगा?

सोचो दुनिया के अरबपतियों
धरती के सूख रहे पेड़ों के बारे में सोचो
हवा का रुख़ बदलने पर सोचो
ग़ायब हो रहे पक्षियों के बारे में सोचो

चींटियों, तुम हाथियों के बारे में सोचो
यह हाथियों के मदांध होने का दौर है।

नवागत के स्वागत में

आ रहे हैं मेहमान
लीपना होगा घर-आँगन
बुहारना होगा गलियों को
सिर्फ़ बुहार दें आवारा पत्ते
हटा दें महकती मिट्टी
और सड़ते खर
इतने से ख़त्म नहीं हो पाएगी बदबू

बेवजह जल रही आग को बुझाना होगा
इन दीवारों पर
जो धब्बे जड़ गए हैं उनका
क्या होगा, सोचो भाई
आदमी के ख़ून से रंगे किवाड़ों की सोचो
कैसे छुपाएँगे उन्हें
कई बार रगड़नी पड़ेगी सफ़ेदी
ज़मीन को गोबर से लीपना होगा
अस्त-व्यस्त चीज़ों को सहेजकर
ठीक-ठीक जगह रखना होगा।

रास्ते में जो झाड़-झंखाड़ हैं
जंगल और पहाड़ हैं
उन्हें तोड़ना होगा / काटना होगा
रास्ते में साँपों की बाँबियाँ मिल सकती हैं
डरना नहीं भाई
सुनाई दे सकती है उनकी फुँफकार
ऐसे में सीधे नहीं, उनके मुँह पर फेंकना कपड़ा
और तब उठाना लाठी
सीधे लड़ने के दिन गए

मेहमान आ रहे हैं
स्मृतियाँ और घर की सारी चीज़ें जगह पर
होनी चाहिए और ठीक-ठाक...।

सतीश जायसवाल

मिज़ोरम : अभी जो है, वही...

कहते हैं कि सांध्य-तारा मनोकामना पूरी करता है।

सांध्य-तारा ठीक मेरे सामने उदित हुआ। मैंने कामना की कि शाम की यह अतल उदासी संगीत में बजने लगे और जहाँ भी एकांत व्याप्त है वहाँ जगमग रोशनी हो जाए। फिर मैंने सर झुकाया और आँखें मूँद लीं। मेरे अपने मन की उदासी, शाम को निपट अकेलेपन में डूबो रही थी। और मुझे निराशा घेर रही थी कि आइज़ल के सौंदर्य का स्पर्श पाए बिना कल की सुबह यहाँ से चले जाना है?

अपनी निराशा से उबरने के लिए मैंने आँखें खोलकर देखा तो सांध्य तारा का चमत्कार घटित होने लगा था। चाँदमारी के पहाड़ी कटाव पर आइज़ल की साँझ गहरा रही थी और वह रोशनियों के जगाने का समय था। नीचे, गहरी खाई में अँधियार का सागर लहरा रहा था और लहरें उठ रही थीं। उठ रही लहरें आसमान को छू रही थीं। और उन पर असंख्य फूल खिल रहे थे। नीचे, अँधेरे विशाल विवर में इतने सारे जहाज़ एक साथ उम-चूमकर रहे थे, जितने संसार के किसी भी बंदरगाह पर एक समय में नहीं देखे गए होंगे। ये जहाज़ कई-कई मंज़िलों जितने ऊँचे हैं और उनके भीतर की रोशनी छन-छनकर बाहर आ रही है। ऐसे लगा, जैसे यह सृष्टि मायावी मय की रची हुई है। मय ने इसे अपनी माया से रचा है।

लेकिन ऐसा लगना सही नहीं है। क्योंकि, इस समय जो भी आँखों के सामने है, वह सब का सब मनुष्य के ही पुरुषार्थ की रचना है। इस समय, चाँदमारी के इस कटाव के ठीक सामने आइज़ल की शाम जगमगा रही है। और लोहे की ठंडी-रेलिंग के सहारे झुककर मैं नीचे गहरी खाई में झाँक सकता हूँ। जगमग रोशनी से भरे-पूरे घर अपने लोगों के लौटने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वहाँ, जिनकी प्रतीक्षा हो रही है वे लोग दिनभर के बाद अब घर लौट रहे होंगे। घर लौट रहे लोग जल्दी में हैं और तेज़-तेज़ चल रहे हैं। इस समय आइज़ल के सारे वाहनों के मुँह घरों की तरफ़ हैं। हेड लाइट्स की रोशनियों ने एक-दूसरे के साथ गूँथकर ज़ंजीर बना ली है और पूरी सड़कों पर खिंच गई हैं। इन ज़ंजीरों के बीच से होकर सड़क पार करने के लिए थोड़ी-सी जगह भी ख़ाली नहीं दिख रही है।

सतीश जायसवाल का जन्म 1942 में हुआ। उनके कई कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : वृहस्पति बाज़ार चौक, बिलासपुर495001 (छत्तीसगढ़)

मिज़ोरम में पढ़े-लिखे लोगों का प्रतिशत बहुत ऊँचा है। ये पढ़े-लिखे लोग किसी-न-किसी रोज़गार, धंधे से जुड़े मिलेंगे। चाहे वह सरकारी नौकरी हो या ख़ुद का अपना रोज़गार। स्त्री-पुरुष, दोनों किसी-न-किसी काम-धंधे में लगे मिलेंगे। वही लोग अब, दिनभर के बाद अपने घरों को वापस लौट रहे हैं। घर, जो जगमग रोशनी से भरे-पूरे हैं और लोगों के लौटने की प्रतीक्षा में हैं। यहाँ शाम जल्दी पड़ती है और रात गहरी होती है। गहरी रात में रोशनी आवाज़ देकर घर बुलाती है।

मुझे अपनी ही कविता की कुछ पंक्तियाँ याद आ रही हैं—दिया बाती के ऐसे समय में / घर पहुँचने को बेचैन / वैसी भीड़ में / एक मैं क्यों ना हुआ / हाथ में साईकल थामे / सड़क पार होने की प्रतीक्षा में / साईकल के हैंडल से लटकाए / सब्ज़ियों वाला थैला / मेरी हाथ-घड़ी में नहीं हुआ / घर वापस लौटने का समय कभी...

आइज़ल सुंदर है। मैंने सुना था।

आइज़ल सुंदर है। उसका सौंदर्य मैंने जी लिया। जीने के लिए एक शाम पर्याप्त होती है, यदि उसमें जीवन का स्पर्श हो। आइज़ल के सौंदर्य में जीवन का स्पर्श है।

स्कूल के दिनों में, प्रारंभिक भूगोल में पढ़ा था कि जहाँ पहाड़ होते हैं वहाँ भूकंप आने की आशंका बनी रहती है। इसलिए, पहाड़ी बस्तियाँ बाँस और लकड़ियों के हल्के-फुल्के घरों में बसती हैं। लेकिन आइज़ल कई-कई मंज़िलों वाली ऊँची और आलीशान इमारतों से आबाद है। इन पर साँझ की छाया पड़ती है तो ये इमारतें कई-कई मंज़िलों के जहाज़ों की तरह लगने लगती हैं।

शायद यहाँ के लोग भूकंप से निशंक हो चुके हैं। या, यहाँ के लोगों ने जीवन को समझ लिया है कि अभी जो है, वही जीवन है।

पूर्वोत्तर के जिन राज्यों में प्रवेश के लिए 'इनर लाइन परमिट' की अनिवार्यता लागू है, मिज़ोरम उनमें से एक है। लेकिन मिज़ोरम ने इसे सरल बनाया है। और अपने यहाँ प्रवेश के लिए 'इनर लाइन परमिट' की जगह, भारतीय नागरिकता को प्रमाणित करनेवाले किसी भी वैध 'परिचय पत्र' को मंज़ूर कर लिया है। मिज़ोरम को यह बात समझ में आ चुकी है कि प्रतिबंध लगाकर पर्यटकों को अपने यहाँ नहीं बुलाया जा सकता।

यहाँ, मिज़ोरम पर्यटन विभाग के निदेशक, एक आई. ए. एस. अधिकारी हैं। उन्हें नज़दीक से जाननेवाले यहाँ के और यहाँ से बाहर के भी लोग साम पुइया कहते हैं। मिज़ोरम के एक और आई. ए. एस. अधिकारी, रॉबर्ट हरंगडोला छत्तीसगढ़ कैडर में हैं, उनसे मेरा पुराना परिचय है। साम पुइया उन्हें अच्छे से जानते हैं। मिज़ोरम को जानने के लिए रॉबर्ट हरंगडोला ने मुझे एक पुस्तक दी थी—मिज़ोरम व्हेअर बैंबू फ़्लॉवर्स (मिज़ोरम जहाँ बाँस फूलता है)

उससे पहले मैंने बाँस के फूल नहीं देखे थे। न, मुझे यह पता था कि बाँस के फूल अपने साथ कैसी विभीषिका लाते हैं। मिज़ो लोग मानते हैं कि वे बर्मा (म्यांमार) से पलायन करके यहाँ आए हैं। और एक दिन वहाँ लौटेंगे। वहाँ, उनके पूर्वज, पहचान के लिए बरगद का एक पेड़ लगाकर आए थे। जब उस पेड़ की छाया इतनी फैल जाएगी कि सबके सब उसके नीचे आश्रय पा सकें, तब ये लोग वहाँ लौट जाएँगे। वहाँ इनके देवता का वास है। वह देवता पवित्र पर्वत की एक चट्टान में विद्यमान है। जनश्रुति है कि एक बार वहाँ बाँसों में अरअरा के फूल आए थे। और बाँस के फूलों के पीछे-पीछे अकाल, भूख और महामारी। तब इनके पूर्वजों ने वहाँ से पलायन किया था। और यहाँ आए थे। अब, यहीं के होकर रह गए। वहाँ की बातें अब, बस-जनश्रुतियों में ही बची।

मिज़ोरम ने ईसाई मत और अंग्रेज़ी को पूरी तरह अपना लिया है। लेकिन अपनी आंतरिक संरचना और परंपराओं में मिज़ो लोग अभी तक

आदिवासी हैं। किसी आदिवासी समाज का, आधुनिकीकरण में, यह रूपांतरण सचमुच एक संतुलित आदर्श रूप प्रस्तुत करता है। आधुनिक शिक्षा के साथ सहज जुड़ाव के लिए, मिज़ोरम के आदिवासी क़बीलों ने सर्वसम्मति से निर्णय लेकर रोमन लिपि को अपना लिया है। लेकिन, अपनी निज भाषा को बनाए रखा है, जो मिज़ो ही है। ईसाई धर्म और अंग्रेज़ी व्यवहार के बावजूद इन आदिवासी क़बीलों ने अपनी लोक संस्कृति और कलाओं को भी उनके पारंपरिक रूपों में सुरक्षित बचाए रखा है।

चापचर कुट मिज़ोरम का सबसे बड़ा वार्षिक सांस्कृतिक कार्यक्रम है, जो मिज़ो माह 'वाउ थ्ला' के किसी दिन आयोजित होता है। मिज़ो लोगों ने अपने यहाँ के दिन, माह और तिथियों को ग्रेगोरियन कैलेंडर के साथ मिला लिया है। इस वर्ष चापचर कुट 'वाउ थ्ला' के 12वें दिन, अर्थात् मार्च माह की 12वीं तारीख़ को पड़ेगा। इस सांस्कृतिक उत्सव में मिज़ोरम की सभी जन-जातियाँ आज भी अपनी रंग-बिरंगी क़बीलाई साज-सज्जा में शामिल होती हैं और अपनी-अपनी पारंपरिक कला प्रस्तुतियों के साथ सामूहिक उत्सव मनाती हैं। इसमें मिज़ोरम का यह बाँस-नृत्य 'चीरो' भी शामिल होगा जिसमें ध्वनि की लयबद्धता और गति की चपलता का आश्चर्यजनक कलात्मक सामंजस्य होता है।

लेकिन 12 मार्च को तो इंफाल-कोलकाता फ़्लाइट से मेरी वापसी की बुकिंग है?

लोककला के विशुद्ध आनंद को मैंने अपने अंधविश्वास से जोड़ रखा है, जो भाग्य होने पर ही हिस्से में आता है। इसके लिए, चलकर वहाँ, उस नैसर्गिक प्रसार में पहुँचना होगा जहाँ लोक कला का कोई रूप अपनी दिव्यता में, हमारे सामने अकस्मात् प्रस्फुटित होता है। उस दिव्य क्षण में वहाँ, हमारी अपनी उपस्थिति भी अकस्मात् होती है, नियोजित नहीं। मेरा यह अंधविश्वास लोककलाओं के नियोजित प्रायोजित कार्यक्रमों को नामंजूर करता है। मिज़ोरम के इस लोक-महोत्सव चापचर कुट के विषय में मैं दुविधा में हूँ कि इसे नियोजित कार्यक्रम मानूँ या मिज़ो जन-जातियों का लोक समागम? इस समागम में उनकी स्वाभाविक कला अभिव्यक्तियों का सामूहिक प्रदर्शन होता है। समझ लें कि अपने यहाँ के पारंपरिक मेले—मड़इयों जैसे।

चापचर कुट मेरे भाग्य में नहीं है। इससे कुछ निराशा भी हुई। मेरी निराशा को कुछ कम करने के लिए साम पुइया ने मुझे, मिज़ोरम सरकार के जन-संपर्क विभाग का एक रंग-बिरंगा कैलेंडर और सुंदर-सी डायरी भेंट की। कैलेंडर के, मार्च माह वाले पृष्ठ पर चापचर कुट का चित्र प्रकाशित है।

तो, मुझे तसवीर से दिल बहलाना है?

कल का आधा दिन तो रास्ते में ही निकल गया था। बकाया आधा दिन, यहाँ पहुँचकर अपना ठौर-ठिकाना करने में लग गया।

दोपहर में कहीं पहुँचना, आदमी को इधर का छोड़ता है, न उधर का बचाता है। लेकिन सिलचर से आइज़ल के बीच चलनेवाली टैक्सियाँ दोपहर तक आइज़ल का एक फेरा करके, शाम ढलते-ढलते सिलचर वापस हो लेती हैं। और वहाँ, रात रुकती हैं। इस रास्ते में, कोलासिब में 'इनर लाईन परमिट' और दूसरे परिचय पत्रों की जाँच होती है। सामान-असबाब की तलाशी भी होती है। सिलचर की तरफ़ से आने पर कोलासिब, एक तरह से, मिज़ोरम का प्रवेश द्वार है।

आइज़ल में, मेरा रास्ता देखते हुए, वूज़ा कैप टैक्सी वाले के ऑफ़िस में ही मिल गए। यह भी वहाँ, इंफाल में बैठे डॉ. राम लखन राय का ही सौजन्य-सहयोग है। डॉ. राय अपने सेल फ़ोन से रिमोट-कंट्रोल बनाए हुए हैं। और मुझे कहीं भी अकेला नहीं पड़ने दे रहे हैं। मैंने, यहाँ से, इंफाल जाने के लिए सड़क का रास्ता सोच रखा था। लेकिन उन्होंने एक झटके में मेरा उत्साह

ठंडा करके रख दिया—रास्ते भर पहाड़ और बस पहाड़। कितना देखेंगे? और रास्ते इतने घुमावदार कि यहाँ पहुँचते-पहुँचते हड्डियाँ हिल जाएँगी।

उनका सुझाव है कि आइज़ल—इंफाल फ़्लाइट के लिए तुरंत टिकट ले लूँ। अभी सीट मिल जाएगी। मुश्किल से 50 मिनट की फ़्लाइट है। आराम रहेगा। वूज़ा केप टिकट बुक करा देंगे। वूज़ा केप एक वृद्ध सज्जन हैं। लेकिन, स्थानीय होने के कारण मेरे लिए काफ़ी सहायक होंगे।

वूज़ा केप यहाँ नेहरू युवा केंद्र के साथ जुड़े हुए हैं। उन्होंने, मेरे लिए, होटल अहिंसा में पहले से बुकिंग करा रखी थी। होटल अहिंसा, मध्यम दर्जे में, आइज़ल के अच्छे होटलों में गिना जाता है। मुझे लगा था कि यह किसी जैनी का होटल होगा। इसलिए, इसका नाम अहिंसा है। और वूज़ा केप ने शायद मुझे महात्मा गांधी का अनुयायी समझा होगा। इसलिए, इसे बुक किया।

मैं ख़ुद नहीं समझ पा रहा हूँ कि होटल अहिंसा मुझे किसी जैनी का होटल क्यों लगा? और वूज़ा केप ने मुझे महात्मा गांधी का अनुयायी कैसे समझ लिया? यह एक दिलचस्प पहेली की तरह लगता है।

होटल अहिंसा की दीवारों का रंग लाल और ख़ूब गाढ़ा है। जैसे, सीधे किसी चीनी ड्रैगन के चित्र से उतरकर अभी-अभी आया हो। चीनी ड्रैगन का यह गाढ़ा लाल, पीला, नीला रंग आइज़ल की सजावट में ख़ूब मिलता है।

होटल की खिड़की से बाहर पहाड़ों की छायाएँ अमूर्तन चित्रकारी की तरह वैचारिक जटिलताएँ रच रही हैं। मन को किसी एक जगह टिकने ही नहीं देती। समूचा शहर जगमग रोशनी की झालर बना इन छायाओं पर लटक रहा है। रोशनी की इन झालरों और छायाओं के बीच कहीं, होटल अहिंसा की वह रिसेप्शनिस्ट भी होगी, अभी थोड़ी देर पहले ही जिसकी ड्यूटी पूरी हुई थी। और दिन भर के बाद वह मुक्त हुई थी। होटल के ख़ाली समय में मैंने उसे गुनगुनाते हुए सुना था। तभी मेरा ध्यान उसकी तरफ़ गया था। देखने में वह भली और लगने में अच्छी है। उसका गला सुरीला है। वह, कोई मिज़ो गीत गा रही थी। मैंने उससे गीत का अर्थ पूछा। उसने बताया कि यह एक प्रेम-गीत है। यह बताते हुए उसकी आँखों से प्रेम छलक रहा था।

मैं अनुमान कर रहा हूँ कि इस समय, वह जहाँ भी होगी, अपने प्रेमी के साथ होगी। वह गा रही होगी और उसका प्रेमी गिटार बजा रहा होगा।

मिज़ोरम संगीत से भरपूर है। यहाँ, जन्म से लेकर मृत्यु तक, सभी संस्कारों के लिए संगीत की निर्धारित संहिता है। मिज़ोरम प्रेम से भरपूर होगा, क्योंकि संगीत और प्रेम एक-दूसरे से आबद्ध होते हैं।

मार्च महीने के दूसरे हफ़्ते में, आइज़ल अभी ठंडा है। होटल से बाहर निकलते समय ऊपर से विंडशीटर डालना ज़रूरी लगा। वापस लौटकर कमरे में आया तो रूम-ब्वॉय खिड़की के शीशों पर पर्दे डालकर और बिस्तर ठीक करके जा चुका था। कंबल ओढ़कर सोना आरामदायक लगा।

वूज़ा केप ठीक नाश्ते के समय होटल पहुँच गए। लेकिन ख़ुद घर से नाश्ता करके आए हैं। अलबत्ता, हम साथ-साथ चाय पिएँगे।

आइज़ल के रास्ते ख़ूब उतार चढ़ाव वाले और घुमावदार हैं। वूज़ा केप को, इनके बीच से निकलनेवाली सँकरी गलियाँ पता हैं। इन गलियों से होकर कहीं पहुँचने के रास्ते छोटे हो जाते हैं। और जल्दी पहुँचाते भी हैं।

किसी कंडक्टेड टूर के साथ यहाँ आया होता तो इन सँकरी गलियों को देखे बिना, दिखावटी-सजावटी आइज़ल में भटक कर बाहर-ही-बाहर से निकल गया होता। मुझे लगता है कि मैं असल

आइज़ल को देख पा रहा हूँ। एक आइज़ल इन सँकरी गलियों में भी बसता है। इन गलियों में घरों के पिछवाड़े खुलते है, पतली सड़कें और गलियाँ हैं। फिर भी साफ़-सफ़ाई है। कोनों में सब्ज़ी, भाजी और रोज़मर्रा के सामानों की छोटी-छोटी दुकानें हैं। इन दुकानों में सामानों के दाम, मुख्य सड़क की बड़ी दुकानों से कम होंगे। यहाँ की पढ़ी-लिखी युवतियाँ इन दुकानों को चलाती हैं। जब दुकानों पर ग्राहक नहीं होते तब ये पढ़ी-लिखी युवतियाँ आपस में हँसती-बोलती और मन बहलाती हैं या गीत गाती हैं। यह हँसना, बोलना और गीत गाना किसी अजस्त्र रस-धार की तरह उनकी आंतरिकता में से प्रस्फुटित होता है।

घरों के पिछवाड़े वाले इन रास्तों पर, यहाँ भी, बच्चे अपने खेल, खेल रहे हैं और उनकी देखभाल करनेवाली उनकी माँएँ या बहिनें उनकी तरफ़ से पूरी तरह निश्चिंत हैं। घरों से निकलकर स्कूल जानेवाले बच्चे अलग से नज़र आते हैं। उनके स्कूली यूनिफ़ॉर्म और किताब-कॉपियों से भरे बस्ते अलग से उनकी पहिचान करा देते हैं। इनमें लड़कियाँ अधिक हैं। मुख्य सड़क पर इन्हें, इनके स्कूल ले जानेवाली, पीली बस मिल जाएगी।

थोड़ी देर में वूज़ा केप थक गए और हाँफने लगे। उन्होंने बताया कि दो-तीन दिनों से उनके घुटनों में दर्द भी है। इस उम्र में, इस तरह के दर्द तो होंगे ही। सच तो यह है कि मैं कुछ अधिक ही थका हूँ, क्योंकि इतने उतार-चढ़ाव वाले रास्तों का मुझे अभ्यास नहीं है। और मेरी उम्र भी वूज़ा केप से कम नहीं। फ़र्क़ है तो बस इतना कि मेरे घुटनों में दर्द अभी शुरू नहीं हुआ है और मैंने अपनी थकान को छिपाकर रखा है, इसलिए हाँफ नहीं रहा हूँ। मेरा मन कर रहा है कि एक टैक्सी ले ली जाए। दिन भर के लिए आराम हो जाएगा। लेकिन वूज़ा केप का कहना है कि सिटी बस से काम चल सकता है, तो फिर टैक्सी पर फ़िज़ूलख़र्ची क्यों की जाए?

आइज़ल की सिटी बसें आरामदायक और बिना भीड़-भाड़ वाली मिलीं। ये 30-35 सीटों वाली छोटी बसें होती हैं। लेकिन, आइज़ल के घुमावदार पहाड़ी रास्तों के लिए ये छोटी बसें अधिक उपयुक्त लगती हैं। आइज़ल में टैक्सियाँ ख़ूब हैं। यहाँ के पढ़े लिखे युवकों में नई कारें ख़रीदकर टैक्सी चलाने का शौक़ भी ख़ूब है। इसमें रोज़गार और शौक़ साथ-साथ पूरे होते हैं।

टैक्सियाँ हों या निजी कारें, यहाँ प्रायः सभी पर, देवनागरी के 4 (चार) अंक से मिलते-जुलते प्रतीक चिह्न वाले लाल रंग के स्टिकर दूर से दिखाई देते हैं। यहाँ 'एड्स नियंत्रण कार्यक्रम' का प्रकोप इतना फैला हुआ है या, यह एड्स नियंत्रण के कार्यक्रम के विज्ञापन का फैलाव है?

आइज़ल हरे-भरे पहाड़ों पर बसा है। और दूर दिख रहे हरे-भरे पहाड़ों ने आइज़ल को घेर रखा है। दिन के इस समय आइज़ल धूप में खिला-खिला दिख रहा है। मार्च महीने की धूप का रंग धुला-धुला, सफ़ेद और पनीला है। आइज़ल धूप में बसा है। और इसे बसाने के लिए धूप ने ख़ुद पहाड़ों की हरियाली को तराशा है। सूत-सूत नापकर और ज़रूरत से एक सूत कम, न ज़्यादा।

हरियाली पिघल रही है और पहाड़ों से नीचे उतर रही है और धुली हुई सफ़ेद पनीली धूप के साथ घुल-मिल रही है। पहाड़ ऊपर भी हैं और पहाड़ नीचे भी हैं। जहाँ पहाड़ नहीं हैं वहाँ अतल गहरी खाइयाँ हैं। इनमें नीला पारदर्शी आसमान उतर रहा है। खाइयाँ दिन के इस समय भी नीले कोहरे से डबडबाई हुई हैं। हिलोरें लेता हुआ कोहरा खाइयों में समा नहीं पा रहा है। कगारों को तोड़कर उफन रहा है और सड़कों पर फैल रहा है। ऊपर से पिघल कर नीचे आती हुई हरियाली और नीचे, अतल गहरी खाइयों से उफन कर सड़क पर फैला हुआ नीला कोहरा। दोनों

के बीच, धूप में बसा हुआ एक शहर। आइज़ल दिन भर ऐसा ही रहता है या, मुझे ऐसा मिला? दिन के इस समय आइज़ल की सड़कों पर चलना ऐसा लग रहा है जैसे नीले आसमान पर सड़कें खिंची हुई हैं और लोग चल रहे हैं। या, मुझे ऐसा लगा?

आइज़ल के लोगों ने आइज़ल की सबसे ऊँची पहाड़ी पर प्रभु यीशु का चर्च बनाया है। यह चर्च, जापान के माउंट फ़ूजी को बारहों मास ढँककर रखनेवाले हिम शिखर की तरह, हर वक़्त दिखता रहता है। यह कब बना और इसे किसने बनवाया? मुझे नहीं मालूम। न ही यह पता करने के लिए मैं वहाँ तक गया। वहाँ तक जाने की ज़रूरत ही नहीं है। आइज़ल की हर दिशा इस भव्य चर्च की तरफ़ से खुलती है और हर सड़क यहाँ पहुँचकर रुकती है। लगभग पूरा मिज़ोरम प्रभु यीशु का उपासक है। यहाँ, राजधानी के इस शहर में प्रभु यीशु के श्रेष्ठ और 'प्रभु-सत्ता युक्त उपासक वास करते होंगे'। उन्होंने ही मिलकर ऐसा भव्य चर्च यहाँ बनवाया होगा ताकि यहाँ के समाज में उनकी उपस्थिति और उनके वर्चस्व का ठीक-ठीक पता चल सके।

मिज़ोरम में थोड़ा बहुत बौद्ध धर्मावलंबी भी हैं। ये बौद्ध लोग प्राय: आदिवासी हैं और भीतर की तरफ़ बसे हुए गाँवों में रहते हैं।

वूज़ा केप ने बताया कि आइज़ल में यहूदी भी हैं। और यहाँ उनका अपना अलग चर्च है। मेरे लिए यह अप्रत्याशित जानकारी है। और ज़बर्दस्त तरीक़े से मेरी उत्सुकता को जगाने वाली। वूज़ा केप ने मुझे वहाँ तक पहुँचाया। और उन लोगों से मिलवाया भी। वे लोग यहाँ अपना एक स्कूल भी चलाते हैं। और वहाँ हिब्रू भाषा भी पढ़ाई जाती है। मैं यहूदियों के धार्मिक कर्मकांड और उनकी आनुष्ठानिक विधियाँ देखना चाहता था। क्योंकि उनमें आज भी अपनी अति प्राचीनता और पारंपरिक विशिष्टता का निर्वाह है। लेकिन वह पूजा और धार्मिक अनुष्ठानों के लिए निर्धारित समय नहीं था। मुझे उनके शिक्षक और शिक्षिकाओं से मिलकर संतोष करना पड़ा। वे लोग अपने पारंपरिक, यहूदी तौर-तरीक़ों के कपड़े पहने हुए थे। उस दिन उनके स्कूली छात्र-छात्राओं का सांस्कृतिक कार्यक्रम वहाँ हो रहा था। मुझे उनके साथ शामिल होने का मौक़ा अनायास ही मिल गया। मैंने उनके गीत सुने और नृत्य देखे। मुझे अनुमान हुआ कि इन गीतों में यहूदियों के आराधना गीत भी शामिल होंगे। वूज़ा केप ने मेरे अनुमान को सही बताया।

मुझे लगा कि यहाँ सभी लोग वूज़ा केप को जानते हैं और उन्हें सम्मान देते हैं। तब वूज़ा केप ने बताया कि वह ख़ुद यहूदी हैं। और उनका एक बेटा इज़रायल में रहता है। वूज़ा केप मिज़ो भी नहीं, बल्कि मेइती हैं। मेइती मिज़ोरम की नहीं बल्कि मणिपुर की एक प्रमुख जन-जाति है। मणिपुर में वूज़ा केप के नाते-रिश्तेदारों के लिए वह मेरे साथ कोई संदेश भेजना चाहेंगे। लेकिन ऐसी कोई बात नहीं हुई।

इंफाल के लिए कल सुबह 10 बजे की फ़्लाइट है। और मुझे सुबह 8 बजे एयरपोर्ट पर रिपोर्ट करना है। लेकिन वूज़ा केप ने तब तक भी मुझे कोई संदेश नहीं दिया। शायद अब वहाँ उनका कोई संपर्क न बचा हो।

यह कैसे हो सकता है? और यदि ऐसा है तो यह कितनी अजीब बात होगी। ज़रूर कोई बात होगी। शायद उनकी पत्नी यहाँ, मिज़ोरम की रहनेवाली हो। और वहाँ नहीं जाना चाहती हो। वूज़ा केप अपनी पत्नी को ख़ूब प्यार करते हों। इस उम्र तक पहुँचकर उन दोनों का प्यार इतना पक चुका होगा कि अब कोई और ज़रूरत नहीं बची होगी।

सुबह से बादल घिरे हुए हैं। और बारिश का अंदेशा है।

मार्च महीने में भी, बारिश अभी तक पीछा नहीं छोड़ रही है। होली की सुबह मैं धर्मनगर

से निकला था तो वहाँ अपने पीछे बारिश छोड़ता आया था। लेकिन दोपहर में सिलचर पहुँचा तो सिलचर सुबह से बरस रहा था। सिलचर, वैसे भी, साल के बारहों महीने बारिश वाला ही है मिज़ोरम का, सुना था कि मौसम यहाँ खुला और ख़ुशगवार होता है। मेरे लिए तो ये बादल और इनकी सुरमई भी आइज़ल का एक मिज़ाज है। जाते-जाते वह भी देख लिया।

यहाँ का एयरपोर्ट 20-22 कि.मी. दूर, लेंगपुई में है। इसके लिए अभी, नई सड़क बनाई गई है। पुरानी सड़क से यह रास्ता 10-12 कि.मी. की बचत वाला है। झिरझिराती बारिश ने आंकी-बांकी सड़क को धो दिया है। और रास्ते के किनारे, पहाड़ी कटावों पर खड़े घरों को बाहर से भिगो दिया है। भीगी सड़क, भीगे घर अपने असल रंगों से अलग दिख रहे हैं। और रंगों के व्याकरण में दो नए रंग जोड़ रहे हैं—सूखा और गीला। जहाँ सूखा है, उसे भूरे में शामिल करने से काम चल जाता था। लेकिन, जहाँ गीला है वहाँ कौन-सा रंग हुआ? यही ठीक रहेगा कि दो नए रंग मंजूर कर लूँ—सूखा और गीला। ये घर, आइज़ल की शानदार बहुमंज़िला इमारतों से अलग, ऐसे हैं जैसा अपने स्कूल के दिनों में प्रारंभिक भूगोल की पुस्तकों में पढ़ा था। बाँस के ढाँचे वाले वैसे ही हलके मकान, जो अपने दो पिछले पायों के सहारे पहाड़ी कगारों पर लटके हुए-से दिखते हैं। ऊपर आसमान, नीचे अतल खाई और इनके बीच यहाँ से वहाँ तक हवा के तने हुए तार। ख़ूब ढलवाँ छतें, जिन पर बारिश का पानी टिकने न पाए। प्राय: सभी घरों की, ऊपर वाली मंज़िलों की खिड़कियाँ सुबह के इस समय खुली हुई दिख रही हैं। भीगी हवाओं को भीतर बुला रही हैं। इन खुली हुई खिड़कियों से, दूर तक फैले हुए पहाड़ और वहाँ से ढलानों पर उतरते हुए जंगल दिखाई देते होंगे। रास्ते भर, सड़क के दोनों किनारों से उतर कर जंगलों तक फैलते हुए, हरे-हरे बाँसों के भिरे। बाँस के इन गझिन भिरों को देखकर भरोसा होता है कि मिज़ोरम के बाँस कभी ख़त्म नहीं होंगे। क्योंकि उन पर मनुष्य को आश्रय देने का दायित्व है।

एयरपोर्ट पहुँचते-पहुँचते बारिश ने ज़ोर पकड़ लिया। और बादलों का रंग सुरमई से स्याह होने लगा। ऐसे में हवाई जहाज़ कैसे उतरेगा? मौसम का मिज़ाज देखकर यहाँ के लोग वहाँ बताएँगे तभी हवाई जहाज़ दमदम से उड़ेगा। अन्यथा आज की फ़्लाइट रद्द भी हो सकती है। एयरपोर्ट के भूगोल और मौसम के मिज़ाज के, यहाँ के जानकार लोग बारिश को कोहरे से बेहतर बता रहे हैं। बारिश कोहरे को छाँटती है। और रन-वे दिखाई देने लगता है। लेकिन बारिश, कोहरे को छाँट नहीं पा रही है। उलटे कोहरा और घना होता जा रहा है।

बारिश और कोहरे के बीच, एक मिज़ो युवती रोशनी की लकीर की तरह किसी तरफ़ से आई सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपरी लांउज की तरफ़ निकल गई। तब ध्यान आया कि बारिश और कोहरे का खेल वहाँ से बेहतर दिखाई दे रहा होगा। रन-वे के खुलने के आसार भी वहाँ से, पहले दिखेंगे। वहाँ सुनसान अकेलापन है। और ऐसे में किसी सुंदर युवती को, इस तरह, वहाँ अकेली छोड़ देना मुझे ठीक नहीं लगा। मिज़ो युवती ने नेवी-ब्लू रंग की लंबी स्कर्ट के ऊपर कत्थई रंग का गर्म कोट पहन रखा है। और इसमें, वह बेहद किताबी दिख रही है। समझ में नहीं आ रहा है कि उसे भी इसी फ़्लाइट में इंफाल जाना है, जो मौसम की अनिश्चितता के कारण अधर में लटकी हुई हैं। या इसमें उसका कोई आनेवाला है?

सर्दी बढ़ गई है। सर्दी की वजह से, वैसे ही, उसके गाल लाल-लाल हो रहे हैं ऊपर से वह पान चबाए जा रही है। पान उसके भीतर एक आँच उकसा रहा है। और एक गुलाबी लपक उठ रही है। यह गुलाबी लपक, पूरी की पूरी उसे गुलाबी बना रही है। और उसे इसका पता

भी नहीं चल रहा है। ऐसे में, उसे छूने की एक ज़बर्दस्त इच्छा मुझमें जाग रही है और अवश कर रही है।

मैंने एक चाल चली और एक खेल खेला। मैंने अपनी जेब से एक सिक्का निकालकर हवा में उछाला, फिर उसकी हथेलियों में दबाकर उससे पूछा—चित या पट? चित में फ़्लाइट आती, पट में नहीं। लेकिन खेल को समझे बिना उसने, पहले एक हथेली खोली फिर दूसरी भी खोल दी। अबकी बार मैंने अपनी दो उँगलियाँ उसकी तरफ़ बढ़ाकर, कोई एक पकड़ने के लिए कहा। एक में फ़्लाइट को आना था, दूसरी में नहीं। लेकिन उसने फिर वही किया। पहले एक उँगली पकड़ी, फिर दूसरी भी पकड़ ली।

पता नहीं, इस खेल को वह समझ भी रही थी या नहीं? बस, हर बात पर हँस रही थी। वह ठीक से हिंदी नहीं समझ पा रही थी। इंग्लिश भी उसकी समझ में नहीं आ रही थी। लेकिन समझ रही थी कि उसे छूने के लिए ही मैं यह सारा प्रपंच रच रहा हूँ। उसने अपना नाम बताया—मैरी। मैरी 32 वर्ष की है। उसकी हथेलियाँ सुंदर और मुलायम हैं। बारिश, कोहरा और ठंडक के ऐसे समय में उन हथेलियों को अपने हाथों में लेना सुखद था।

आख़िरकार, 12 बजे के आसपास एयरपोर्ट के लोगों ने दमदम एयरपोर्ट को सूचित कर दिया कि यहाँ का मौसम सुधरने की कोई उम्मीद नहीं है। और इंफाल फ़्लाइट रद्द हो गई।

इसने मुझे बहुत अधिक निराश किया। और इतना ही मेरे उन मित्रों को भी निराश किया, जो वहाँ मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। इंफाल का 'रास महोत्सव' कितने दिनों से मुझे ललचा रहा था। और अब ऐसा दिख रहा है कि वह केवल 50 मिनट की दूरी से छूटने जा रहा है। दिलासा दिलाने के लिए एयरपोर्ट के लोग कह रहे हैं कि कल स्पेशल-फ़्लाइट आ सकती है। यहाँ से इंफाल के लिए नियमित फ़्लाइट आड़े दिनों पर है। आज की छूटी, अब परसों मिलेगी। और परसों, इंफाल से कोलकाता वापसी की मेरी फ़्लाइट पहले से बुक है।

मैंने डॉ. देवराज से बात की। उन्होंने बताया कि वहाँ, डॉ. राम लखन राय इंफाल एयरपोर्ट पहुँचकर मेरा रास्ता देख रहे होंगे। और हिंदी साहित्य से जुड़े हुए अन्य मित्र, मेरे लिए, डॉ. देवराज के पास बैठे हैं।

एयरपोर्ट के अधिकारियों ने बताया कि कैंसल्ड फ़्लाइट के यात्रियों को कल तक ठहराने के लिए दो इंतज़ाम किए गए हैं। वापस, आइज़ल में, होटल रिट्ज़ में। और यहाँ, लेंगपुई में, टूरिस्ट रिसॉर्ट में। मैंने लेंगपुई के टूरिस्ट रिसॉर्ट में ठहरना पसंद किया।

लेंगपुई गाँव, एयरपोर्ट से काफ़ी दूर है। लेकिन, अपनी बुनावट और वहाँ की सामाजिक बसाहट में, लेंगपुई किसी पारंपरिक मिज़ो गाँव का एक आदर्श नमूना ही है। और रिसॉर्ट? गाँव से भी आगे जंगल में।

बड़ी देर से एक महिला मेरा ध्यान बँटा रही थी। और मैं कुछ तय नहीं कर पा रहा था कि उसके चेहरे पर चश्मा, उसे ध्यान देने योग्य बना रहा है या चश्मे से झाँकती उसकी आँखें? उसकी आँखों में पढ़ी-लिखी बुद्धिमत्ता और दुनियादार समझदारी बराबर-बराबर झलक रही है। उससे बात करने को मन कर रहा था। वह ख़ुद ही चलकर मेरे पास आई। और उसने मुझसे पूछा—क्या आप भी रिसॉर्ट में रुक रहे हैं?

यह तो उसने पहले से ही पता कर लिया होगा। अब, मुझसे पूछकर अपनी तसल्ली कर रही है। दरअसल, वह ख़ुद भी आइज़ल वापस जाकर वहाँ, होटल रिट्ज़ में, ठहरने के बदले यहाँ, लेंगपुई के टूरिस्ट रिसॉर्ट में रहने की इच्छुक थी। लेकिन मन में आशंकित थी कि कहीं, जंगल के बीच, रिसॉर्ट में वह अकेली तो नहीं छूट जानेवाली है। उसने अपना नाम बताया—

यास्मीन किचलू। और अपना हाथ मुझे दिया। यास्मीन की हथेली, मुझे, मैरी की हथेलियों से अलग मिली। इसमें एक महिला की कोमलता तो है लेकिन, इसका स्पर्श बताता है कि यह, आदतन लोगों के हाथ मिलाते रहने वाली किसी बिजनेस एक्ज़िक्यूटिव की हथेली है।

मुझे भूख लग रही थी। लेकिन कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करूँ? अभी तक सारा ध्यान इस बात में था कि हवाई जहाज़ आएगा या नहीं? लेकिन अब, जब फ़्लाइट रद्द हो चुकी है तो अपनी तरफ़ ध्यान जा रहा है। सुबह से लेकर अब तक चाय नाश्ते के लिए न समय मिला था, न जगह मिली थी। यास्मीन ने दो एग-रोल्ज़ बनवाए और अपनी प्लेट मेरी तरफ़ बढ़ाई। आख़िर, अब 24 घंटों के लिए हमें एक जगह, एक साथ रहना है तो क्यों न दोस्ती की शुरुआत यहीं से और इस तरह की जाए?

हम कुल चार जन लेंगपुई के टूरिस्ट रिसॉर्ट में ठहरने वाले हैं। यास्मीन—एक महिला बिजनेस एक्ज़िक्यूटिव, एक रिटायर्ड बैंक अधिकारी, ऑटोमोबाइल्स स्पेअर पार्ट्स का रोज़गार करनेवाला एक व्यापारी और यह—मैं, हिंदी का एक लेखक। मुझे पूरा भरोसा है कि यास्मीन, मुझसे पहले, किसी लेखक से नहीं मिली होगी। और यहाँ, ऐसे में किसी लेखक से मिलना उसकी दिलचस्पियों को कैसे नहीं जगाएगा? जैसे, उससे मिलने से पहले मैंने सिगरेट पीनेवाली महिलाओं को देखा तो था, लेकिन दूर से। और अब हम, 24 घंटों के लिए एक जगह, एक साथ रहेंगे। यास्मीन सिगरेट पीती है और यहाँ रिसॉर्ट में पहुँचते ही उसने सबसे पहला काम यह किया कि जेब से सौ रुपए का नोट निकाल कर रिसॉर्ट के किसी कर्मचारी को दिया और उसे सिगरेट लाने के लिए एयरपोर्ट भेज दिया।

रिसॉर्ट एक ऊँची पहाड़ी टेकड़ी पर है। लेकिन, बाँस के घने जंगलों के बीच कुछ ऐसा ढँका-मुँदा है कि यहाँ पहुँचे बिना, कहीं और से दिखाई नहीं देता। पीछे की तरफ़ ढलानों में बाँस की सुंदर कॉटेज बनी हुई हैं। हम इन्हीं में रहेंगे। बाहर से देखने में ये कॉटेज बिलकुल, बाँस के उन पारंपरिक मिज़ो घरों के जैसी हैं, जो एयरपोर्ट के रास्ते में खड़े, सुबह की झिरझिराती बारिश में भीग रहे थे।

भीतर सूखा है। बाहर सब कुछ भीगा-भीगा है। मैंने अपने कॉटेज की खिड़की खोल दी और पहाड़ों की तरफ़ से आनेवाली भीगी हवा को भीतर आने दिया। भीगी हवा थरथर काँप रही है। और उसकी छुअन ठंडी है। खिड़की से बाहर, जहाँ तक दिख रहा है, जंगल फैला हुआ है। और पहाड़ों पर बादल उतरे हुए हैं।

दोपहर भर बारिश होती रही। ऐसे में गरम कंबल लपेटकर सोना अच्छा लग रहा था। लेकिन यास्मीन ने, दोपहर में खाने के समय ही कह दिया था कि शाम को हम सब पैदल टहलने के लिए निकलेंगे। जब से हम यहाँ पहुँचे हैं, वह इसी तरह हुकुम चला रही है। और हम सब, उसकी ही सुन रहे हैं। यहाँ, इस जंगल में 24 घंटों के लिए एक घर उपज गया है। और एक स्त्री उसका जतन कर रही है। कल, इस वक़्त यह घर, यहाँ नहीं होगा। कहीं भी नहीं होगा। सब अपने-अपने घरों में पहुँच चुके होंगे, जो उनका यथार्थ है। और यह? एक 'फ़िक्शन' है। इसका निर्धारित जीवन कुल 24 घंटे के लिए है।

और मैं? मैं तो 'फ़िक्शन' जीता हूँ। वही मेरा यथार्थ है। यथार्थ का जीवन मेरे हिस्से में नहीं आया। इसलिए मैं 'फ़िक्शन' में जीवन का यथार्थ ढूँढ़ लेता हूँ।

कभी, कोई सचमुच की, कथा—स्थिति ऐसे भी बनेगी जिसमें जीने के लिए एक छोटी-सी जगह मेरे हिस्से में भी आएगी? मैंने नहीं सोचा था। लेकिन यहाँ, ऐसा ही हो रहा है। इसमें एक स्त्री है और तीन पुरुष हैं। और हम, चार के चारों, 24 घंटे के लिए जंगल में छोड़ दिए गए हैं। यहाँ केवल हम हैं और एक साथ हैं। जहाँ

संग-साथ है, वहाँ इच्छाओं और स्पर्धा का द्वंद्व भी होना ही है। इनके बीच, एक स्त्री अद्‌भुत कौशल के साथ संतुलन का नैसर्गिक खेल, खेल रही है। और तीनों पुरुषों को साध रही है।

ऑटोमोबाइल्स स्पेअर पार्ट्स के व्यापारी ने मेरी थाह ली—आपने तो पूरा नॉर्थ-ईस्ट देखा है। सबसे सुंदर कहाँ लगा?

मुझे सोचने की ज़रूरत भी नहीं हुई—''मणिपुर, ऑफ़ कोर्स।'' इस पर वह उखड़ गया—''मणिपुर, जहाँ ज़िंदगी बदशक्ल हो चुकी है, वह नर्क, उसे आप सुंदर बता रहे हैं?''

वह उखड़ना ही चाहता था। और इसके लिए वह बहाना ढूँढ़ रहा था। वह, उसे मिल गया। तब, यास्मीन ने बात को सँभाला—''इसमें, ऐसे उखड़ने की क्या ज़रूरत है? तुमने वहाँ नर्क देखा। वह तुम्हारा अनुभव। इन्होंने वहाँ स्वर्ग देखा होगा। वह इनका अनुभव। किसी के अनुभव पर तो विवाद नहीं हो सकता।''

उस समय तो बात सँभल गई। लेकिन मन में जो था, वह बाहर अपनी झलक दिखा चुका था। और साथ-साथ चल रहा था।

टहलते-टहलते हम, लेंगपुई गाँव तक निकल आए। फिर भी शाम का अँधेरा पड़ने के बदले, बिन बरसे बादलों की सफ़ेदी से उजाला अभी बचा हुआ है। और यास्मीन का मन, अभी भी, रिसॉर्ट लौटने का नहीं है। सड़क के दाहिनी तरफ़ एक पगडंडी नीचे उतर रही है और सीधे, बाँस के जंगलों के भीतर जा रही है। यहाँ से दिखता है कि यह पगडंडी हमें पहाड़ के कटाव तक पहुँचाएगी। वहाँ, नीचे गहरी खाई होगी और सामने एक और पहाड़ होगा। फिर कितने सारे पहाड़। मैंने उसी पगडंडी की तरफ़ यास्मीन को दिखाया। लेकिन ऑटोमोबाइल्स स्पेअर पार्ट्स के व्यापारी ने इशारे को झटक दिया। वह रिसॉर्ट लौटना चाहता है। शाम के इस मादक समय में मद उसे अपने पास बुला रही है। और मद वहाँ रिसॉर्ट में है।

यास्मीन सिगरेट पीती है। लेकिन शराब में उसकी दिलचस्पी नहीं है। चाहे वह, शराब नहीं पीती, लेकिन किसी को पीने से मना भी नहीं कर सकती। उसने कुछ नहीं कहा। और बिना कुछ कहे, पगडंडी वाले रास्ते पर उतर गई।

जंगल के बीचों-बीच एक बहुत बड़ा आश्रम जैसा है। शांत, सुरम्य और चित्रमय। सामने रंग-बिरंगे फूलों की फुलवारी और पीछे, जोती-बोई ज़मीन ख़ूब दूर तक फैली हुई है। वहाँ, दो शिकारी कुत्ते बँधे हुए हैं। हमें देखकर ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगे। उनका भौंकना सुनकर, एक अधेड़-सी महिला बाहर आई। उसके एक हाथ में पीतल का यंत्र है। इसे घुमाते रहने से बुद्ध के पवित्र मंत्र की आवृत्ति होती रहती है–ओम म्हने पद्‌में हुम...

यहाँ, इस एकांत वन में, किसी भोटिया का आश्रम कहाँ से आया? पूछने पर पता चला कि तिब्बत से दलाई लामा के साथ भारत आए हुए कुछ भोटिया परिवार मिज़ोरम में भी बसे हैं। वही, कुछ लोग यहाँ, लेंगपुई में हैं। और छोटी-मोटी दुकानें चलाते हैं या खेती करते हैं। ये लोग बौद्ध धर्म को अपनाए हुए हैं। जहाँ से यह पगडंडी जंगल के रास्ते उतरती है वहीं, कोने में इनका अपना एक छोटा-सा मंदिर भी है। तब ध्यान में आया कि हाँ, वहाँ रंग-बिरंगी पताकाएँ हवा में लहरा रही थीं, जिन पर पवित्र मंत्र चित्रित होते हैं। ये मंत्र दुष्ट आत्माओं से उनकी रक्षा करते हैं।

रात ख़ूब ठंडी हो गई है। और भारी भी है। भारी है इसलिए महसूस हो रही है। जंगल एकदम चुप है। रातों को निकलनेवाले जानवर भी इस समय, भीतर की तरफ़, कहीं दुबके हुए होंगे। रात-बिरात नींद टूटने पर या सपने में चौंककर पंछी कभी-कभी पंख फटफटाते हैं। वह फटफटाहट तक नहीं हो रही है। बारिश में, बाँस दिन भर भीगे थे और उनकी पत्तियों पर पानी ठहरा था। पत्तियाँ रह-रहकर सिहरती हैं।

और बदन झड़ाती हैं। तब यही ठहरा हुआ पानी बूँद-बूँद बिखरता है और सन्नाटा तोड़ता है।

भीगी रात का सन्नाटा नींद में चला आया। सन्नाटा टूटा तो न रात बची थी, न नींद।

एकदम सफ़ेद रंग की सुबह फैली हुई है। बाहर धुंध पड़ी हुई है। और पूरी घाटी उसमें तैर रही है। धुंध इतनी गहरी है कि ठीक सामने का मोड़ तक दिखाई नहीं देता। और अपने कंधों के ठीक ऊपर, अग़ल-बग़ल की पहाड़ियाँ धब्बों की तरह दिख रही हैं। ऐसे में, किसी देखनेवाले को मैं कैसा दिख रहा होऊँगा? लेकिन मुझे देखने की किसे पड़ी है?

पिछली शाम, चहलक़दमी करते हुए, हम लेंगपुई गाँव की तरफ़ निकल गए थे। अभी सफ़ेद, धुँधली सुबह के इस अगम-अगोचर समय में, उससे बिलकुल विपरीत दिशा में चल रहा हूँ। और अपनी एकांत सत्ता से सीधे साक्षात्कार कर रहा हूँ। चौबीस घंटों की निर्धारित अवधि वाले फ़िक्शन का यही हिस्सा मेरा निजी यथार्थ होगा। यह रास्ता सीधी चढ़ाई वाला ख़ूब मोड़दार है। रास्ते भर कहीं कोई नहीं, कुछ भी नहीं। बस, सुनसान में उफनती हुई ख़ूब गाढ़ी सफ़ेद धुंध। ऐसे सुनसान में, अचानक इस सुनसान से भी सूना एक अकेला घर दिखा जिस पर, मालूम नहीं कब से ताला पड़ा हुआ है। ऐसा लगता है कि इस घर में रहनेवाले लोगों को कहीं गए बहुत दिन हुए। और नहीं मालूम कि वे लोग कब लौटेंगे। अब, यहाँ से लौट चलने के लिए वह मुझे एक उपयुक्त जगह लगी। मैंने उस सूने घर को अपनी पहचान के लिए एक निशान बना लिया। अब रास्ते भर मेरा मन वहाँ अटका रहेगा कि उस सुनसान में वह सूना घर, उन लोगों का रास्ता देखता कितना अकेला होगा?

रिसॉर्ट वापस पहुँचा, तब तक धुंध छँट चुकी थी। और चमचमाती धूप निकल आई थी। इस धूप में रन-वे साफ़ दिखाई देगा। इसलिए, हवाई जहाज़ आएगा। फिर भी इंफाल केवल 50 मिनट की दूरी से छूट जाएगा। एयरपोर्ट के लोगों ने कहा था कि इंफाल के लिए स्पेशल फ़्लाइट अरेंज होने पर वे लोग हमें रिसॉर्ट में ख़बर करेंगे। हम समझ रहे थे कि यह दिलासा दिलानेवाली बात है। फिर भी, पिछली शाम, देर तक हमने उनकी तरफ़ से ख़बर का रास्ता देखा था। लेकिन कोई ख़बर नहीं आई थी। सीधी-सी बात है कि अब कोलकाता फ़्लाइट में हमारे लिए जगह बना दी जाएगी। और कोई रास्ता भी तो नहीं है।

सुनील गंगोपाध्याय

आदिम नारी

भोर वेला। उस नारी ने प्रवेश किया आदिम उद्यान में। उस वक़्त पृथ्वी की सृष्टि का भी उषाकाल था।

कहीं कोई शब्द भी नहीं हो रहा था। जहाँ तक निगाह जाती थी मानवीय आकार का और कोई प्राणी भी नहीं था। लता-गुल्म, क्षुद्र-वृहत्, तरु-वृक्षों पर खिले हुए हैं विभिन्न वर्णों के फूल, उनका कोई नाम भी नहीं है। कहीं-कहीं फूल से फल बन गए हैं, किसी-किसी वृक्ष की शाखाएँ फल-भार से झुकी पड़ रही हैं। उन फलों की भी अभी कोई संज्ञा नहीं है, वे भी नाम-हीन हैं।

यहाँ के फूलों की सुरभि में और कोई कटु गंध आकर उसे रिक्त नहीं बनाती है। वातास स्निग्ध है। बीच-बीच में बहती जा रही है तरंगमय निर्झरिणी, उसका जल स्फटिक की तरह स्वच्छ है। एक बार ही तलदेश में पड़े हुए पत्थर तक मालिन्यहीन हैं।

वातास और झरनों को छोड़कर और जो वस्तु यहाँ संचरणशील है, वह है कुहासा। मानो आकाश के मेघ नीचे आकर भूमि का स्पर्श करना चाहते हैं। फिर भी पूर्वी आकाश के तरुण सूर्य ने आहिस्ता-आहिस्ता इनका भक्षण करना शुरू कर दिया है। कुहरा ही सूर्य का कलेवा है।

धीरे-धीरे क़दम रखती हुई चलती जा रही है वही रमणी। उसकी देह पर कोई आवरण नहीं है, कोई आभरण भी नहीं है। उसके दीर्घ केश पीठ से होते हुए मसृण नितंबों पर फैले हुए हैं। दोनों बाहुओं और उरुसंधि में भी नवीन, कोमल तृण की तरह रोम हैं। नासिका तीक्ष्ण, दोनों भौंहें गाढ़ी, आँखों की पलकें बड़ी सूक्ष्म बरौनियों से युक्त हैं। उसके लहराते दोनों वक्षों की तरंगें और कटिप्रदेश के वलय मानो किसी निपुण शिल्पी के हाथों की निर्मिति लगते थे। वक्ष की दोनों उठानें ऐसी आभासित हो रही थीं मानो खिलने को उन्मुख दोनों कलियाँ हों। चंद्रमा की अर्ध कला हव घुमावदार नाभि थी।

वह रमणी जैसे ईषद् उन्मना, उदासीन है, वह किसी भी दिशा में स्थिर होकर दृष्टिपात नहीं कर रही है।

उसकी कोई उम्र भी नहीं है। उसकी कोई बाल्य, कैशोर्य अवस्था भी नहीं है, भविष्य में बुढ़ापा आएगा इस संबंध में भी उसे कोई ज्ञान नहीं है। वह तो जन्मजात यौवनमय है। उसने अभी कुछ

सुनील गंगोपाध्याय का जन्म 1934 में हुआ। सेइ समय प्रतिध्वनि, अरण्येर दिन रात्रि (उपन्यास); श्रेष्ठ गल्प, महापृथ्वी (कहानी-संग्रह) तथा कविता-संग्रह, नाटक, संस्मरण, निबंध आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार, बंकिम पुरस्कार और सरस्वती सम्मान से सम्मानित किया जा चुका है। संपर्क : 'पारिजात', ए-2/9, 24, मंडेविला गार्डन्स, कोलकाता -700019

अनु. 9 सितंबर 1937 को जन्मे रामशंकर द्विवेदी बाङ्ला से हिंदी अनुवाद, समीक्षा, निबंध, संस्मरण एवं शोध लिखते रहे हैं। साहित्य और सौंदर्यबोध इनकी उल्लेखनीय पुस्तक है। संपर्क : 1260, नया रामनगर, पाठक का बग़ीचा के पास, उरई 285001, उ. प्र.।

ऋतुएँ ही देखी हैं, वे हैं वसंत, ग्रीष्म, वर्षा एवं शीत। इस बार भी अभी से उसे आहट मिल रही है आसन्न शीत की तीखी हवा की।

इसी आदिम उद्यान को छोड़कर जाने को वह विवश हुई थी एक वर्षा की रात में। जाकर आश्रय लिया था एक सुदूरवर्ती पहाड़ की गुफा में। यहाँ पर उसका घूमना-फिरना निषिद्ध है। फिर भी कभी-कभी उसका शरीर एक वात्याचक्र-सा उठा देता है उसके चित्त में, एक तूफ़ान-सा, उसकी सारी उँगलियों के पोरों में, यहाँ तक कि कान की वल्लरियाँ भी आग से जलने लगती हैं। कई अंजुलि पानी पीने से भी उसकी प्यास मिटती नहीं है। रात में नींद नहीं आती है। जैसे कल सारी रात आँखें खोले वह सिर्फ़ अंधकार ही देखती रही थी।

पर्वतगुहा छोड़कर वह आज प्रत्यूषवेला में ही चली आई है, इसे वह ख़ुद भी नहीं जानती है। एक जलप्रपात में नहाकर उसने चलना शुरू कर दिया था एक विपरीत दिशा में। सचेत निर्णय के बिना भी मनुष्य कभी-कभी इसी तरह चलता जाता है। दिन-पर-दिन अकेलापन उसे असहनीय होता जा रहा था, अब वह पहाड़ी ढलान से समतल भूमि पर उतर आई है।

इस उद्यान में घूमने-घामने का कोई निर्दिष्ट पथ है ही नहीं। कभी-कभी वृक्षों की शाखा-प्रशाखाओं को दोनों हाथों से हटाते-हटाते चलना पड़ता है। पैरों में लताजाल उलझ जाते हैं। कभी-कभी अप्रशस्त पगडंडी को भी पार करना पड़ता है।

सहसा झर-झरकर वर्षा शुरू हो गई। यहाँ की वर्षा शीत-ग्रीष्म किसी का भी विचार नहीं करती है।

वह रमणी एक विशाल वृक्ष तले आकर खड़ी हो गई। वहीं पर एक दूध देनेवाली गाय भी आश्रय लिए हुए है, उसकी देह का रंग पिंगल है। इस जाति की गायों की आँखें सदा सजल बनी रहती हैं।

उस गाय के गले की झालर का स्पर्श कर अपना स्नेह-भाव जताते ही वह गाय संतुष्टि द्योतक आवाज़ करने लगी। अर्थात् उसने इस नारी को पहचान लिया, उसके थनों से कई बूँद दूध झर पड़ा।

उसने अब अनुभव किया, जैसे कई पेड़-पौधे भी उसकी उपस्थिति के प्रति सचेत हैं। अनेक प्रकार की तरंगें उसके शरीर से टकरा रही थीं।

वह हँसते हुए बोली, ''तुम सभी लोग कैसी हो? मैं अब आ गई हूँ इसलिए तुम लोग ख़ुश तो हो रहे हो?''

हँसी तो सत्य थी किंतु जो कुछ कहा गया वह शब्दहीन, अनुच्चरित, अवाच्य था। अब भी मनुष्य-भाषा की सृष्टि नहीं हुई थी। यह रमणी खिलखिलाकर हँस सकती है, ज़ोरदार आवाज़ में रो सकती है, गले से कभी-कभी एक-दो सुर भी ध्वनित हो पड़ते हैं। लेकिन अर्थवह किसी शब्द का प्रयोग करना वह नहीं जानती है।

उसके पास भाषा नहीं है, पर भाव तो हैं। इसीलिए कई बातें होती रहती हैं, कई लोगों के साथ, निःशब्द, मन-ही-मन। उसके निःशब्द प्रश्न के उत्तर में वह भाषा अनेक दिशाओं से मानो लहरों-लहरों में प्रतिध्वनित होने लगी। बहुत दिन बाद आने से, तुम्हें देखकर हमलोगों को ख़ुशी ज़रूर हुई है। तुम अब और सुंदर लगने लगी हो।

एक वृक्ष से गोल-गोल वर्तुलाकार एक फल उसी क्षण गिर पड़ा ज़मीन पर। यह भी मानो एक भाषा है। वृक्ष मानो उसको अपना स्वागतम् निवेदित कर रहा है।

युवती का मन भारी था, गत रात्रि में उसका दिल भरा हुआ था रुलाई से, अब वह अपने को स्वतंत्र अनुभव कर रही थी। वृष्टि थम गई, उसने फल उठाया और जाकर बैठ गई एक झरने के किनारे पत्थर की एक सीढ़ी पर।

आकाश भर में इंद्रधनुष खिला हुआ था।

वह इस वक़्त पहाड़ की जिस गुहा में रहती है, वहाँ से किसी भी दिन इंद्रधनुष दिखलाई नहीं पड़ता है। अब अपने परिचित इंद्रधनुष से उसने पूछा, कहो कैसे हो?

इंद्रधनुष ने उत्तर दिया या नहीं दिया, इसका पता नहीं चला।

आकाश की तरफ़ से अपनी दृष्टि हटाकर उसने अब ताका पानी की तरफ़। अब उसे दिखाई पड़ने लगा अपने मुख का प्रतिबिंब। इसी कारण वह बार-बार जल के किनारे बैठने लगती है। दिन-पर-दिन अपने मुख की प्रतिच्छवि के अलावा वह और किसी भी मनुष्य का चेहरा नहीं देख पाती है। सिर्फ़ अपने साथ ही उसकी बातचीत चलती रहती है।

झरने के उस किनारे से जैसे कोई दूसरा प्राणी तैरता हुआ इस तरफ़ आ रहा हो। इस तरफ़ आ जाने के बाद पता चला कि वह एक साँप है। काफ़ी लंबा चेहरा है उसका। उसके दोनों नेत्र उसके कपाल के ऊपर हैं। जल की धार में ही वह अपने आधे शरीर को डुबाए-डुबाए रमणी की ओर बहुत देर तक देखता रहा।

डरने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। इस साँप को उसने यहाँ पहले भी कई बार देखा है। बस, पास आकर वह निर्निमेष दृष्टि से देखता रहता है। जैसे कुछ कहना चाहता है। किंतु, साँप के मन की तरंग के साथ इस रमणी के मन की तरंग मिलती नहीं है, इसीलिए वह कुछ समझ नहीं पा रही है।

रमणी उससे बोली, ''तुम यहाँ से जाओ।''

फिर भी, साँप एक ही जगह पर स्थिर बना रहा।

तब रमणी ने वहाँ से पुनः चलना शुरू कर दिया।

झरना कुछ नीचे जाकर एक और स्रोतस्विनी के साथ मिल गया है। दूर से ही वह संगम-स्थल दिखाई पड़ रहा है।

वहाँ पर जाँघों तक जल में डूबा खड़ा हुआ है एक पुरुष।

इस रमणी की तरह वह भी निराट नग्न है। उसके शरीर पर काफ़ी रोएँ हैं, उसके दीर्घ केश हैं, मुखमंडल प्रायः दाढ़ी-मूँछ से भरा हुआ है। चौड़ा वक्ष है।

पुरुष को देखने मात्र से ही रमणी के आशिर पद नख पर्यंत सारा शरीर सिहर उठा। उसके बाद जलन। उसके बाद उत्ताल वक्ष कंपन। उसकी इच्छा हुई तुरंत आँधी की तरह दौड़ जाऊँ। उस कठोर वक्ष से अपना कोमल वक्ष मिला दूँ। उसके शरीर का हर अणु-परमाणु उस मनुष्य के साथ लीन होना चाहता है।

फिर भी अपने को संयत किया उसने।

यह उद्यान उसके लिए वर्जित है। यहाँ वह विधि का नियम तोड़कर आई है। यदि वह पुरुष उसका प्रत्याख्यान कर दे! यदि और भी कठोर होकर वह उसे दूर ठेल दे? यहाँ पर अदृश्य रूप में सृष्टिकर्ता के तीन प्रहरी विद्यमान हैं, यदि पुरुष उन्हें बुला ले?

उसने अपने मन में कहा, ''हे सखा! तुम भी तो निस्संग हो! मैं विवाद में पड़ी हुई हूँ, फिर भी तो मैं तुमसे दूर हटकर नहीं रह पा रही हूँ। तुम्हारा भी मन क्या उचाट नहीं होता? तुम तो कभी भी इस उद्यान से निकलकर पर्वत गुहा में मेरी खोज में गए नहीं हो। तुम क्या अभी भी मेरे प्रति क्रोध को बनाए हुए हो।''

देह दौड़ जाना चाहती है, मन खींचे हुए है लगाम, रमणी एक ही स्थान पर स्थिर है, हालाँकि उसका चित्त डाँवाडोल है।

आकाश में इंद्रधनुष की छटा अभी भी विलीन नहीं हुई है। प्रकृति में चल रहा है सुंदर का कितनी तरह का खेल, वातास में मुग्धता का आवेश है, फिर भी उस पुरुष को देखने के बाद फिर और किसी भी तरफ़ उस रमणी का मन गया नहीं। दारुण प्यास से आकुल की तरह वह एकाग्र दृष्टि से उसी पुरुष की ओर टकटकी लगाए रही।

थोड़ी देर बाद वह पुरुष विलीन हो गया जंगल की आड़ में।

कहीं पर एक पक्षी बड़े ज़ोरों से पुकार उठा। उसकी ध्वनि बहुत कुछ टिटहरी जैसी अथवा लिलिथ जैसी थी। एक बार लगता जैसे टिटहरी हो और एक बार लगता जैसे लिलिथ हो।

रमणी की तंद्रा भंग हुई और वह उस पक्षी को ढूँढ़ने लगी। इस पक्षी की बोली तो उसने सुनी है, पर इसे देखा नहीं है कभी। कुछ पक्षी ऐसे होते हैं, जो पत्तों की घनी आड़ में बैठकर बोलते हैं, किंतु जब खुले में आते हैं अथवा उड़ान भरते हैं तब बिलकुल नहीं बोलते हैं।

रमणी व्याकुल होकर बोली, ''रे पाखी, और भी ज़ोर से बोलो। नीचे की ओर आ जा जिससे मेरा पुरुष इस पुकार को सुन ले। हो सकता है, तुम्हारी बोली सुनकर उसे मेरी याद आ जाए।''

इस चिड़िया की बोली से ही उस रमणी का नाम पड़ गया लिलिथ।

सृष्टिकर्ता ने पहले जिस मनुष्य की सृष्टि की वह था पुरुष। जल, मिट्टी जैसे प्राकृतिक उपादानों से ही उसे बनाया गया था। उसमें प्राण प्रतिष्ठा करने के बाद मुग्ध दृष्टि से उसकी ओर कुछ पल निहारने के बाद विधाता ने कहा, ''तुम्हारा नाम हुआ आदम। बाद में तो तुम कई नामों से परिचित होओगे। तुम स्वच्छंदतापूर्वक इस स्वर्गीय उद्यान में विचरण करो।''

कुछ दिन बाद ही विधाता की समझ में आ गया कि उन्होंने एक गंभीर भूल कर डाली है। उन्होंने आदिम मनुष्य की गढ़ा था बहुत कुछ अपने आकृति की नक़ल पर, किंतु वे तो न पुरुष हैं और न स्त्री, उन्हें तो एक-से-अनेक होने की ज़रूरत ही नहीं है, वे तो अद्वितीय हैं, वे तो एलोहिम हैं। किंतु, मनुष्य को तो उन्होंने पुरुषलिंग दिया है, वह तो निरंतर एक विपरीत लिंगी को चाहता रहेगा। उनकी अन्यान्य सब सृष्टि ही तो एक से बहु होती जा रही है।

आदम के उपभोग की सारी वस्तुएँ ही इस कानन में उपलब्ध हैं, फिर भी वह अकसर आनंदहीन रहता। कारण का उसे स्वयं ही पता नहीं है, किंतु दूर से उसे लक्षित कर उसका सृष्टा उसके इस दुख का कारण जानता है। अपनी श्रेष्ठ कृति की मनोव्यथा देखकर वह ख़ुद भी दुखी होता है।

उसने फिर एक दिन समय निकालकर सृष्टि-कार्य में मन लगाया। प्रकृति की सारी चीज़ों से सौंदर्य चुन-चुनकर उसने बनाई एक तिलोत्तमा मूर्ति। पुरुष की तुलना में इसका सब कुछ कोमल था, यहाँ तक कि हाथ की उँगुलियों की लीलापूर्ण भंगिमाएँ तक।

प्राण संचार करने मात्र से वह लेटी मूर्ति उठकर खड़ी हो गई, बिलकुल पुरुष के सम्मुख। दोनों लोक एक-दूसरे को इस भाव-भंगिमा से निहारते रहे, जैसे इस दृष्टि में ही विद्यमान हो कोई मिलन-सेतु।

और उसी वक़्त सुनाई पड़ी उस पक्षी की आवाज़, टिटहरी, लिलिथ।

तृप्ति की हँसी फूट पड़ी सृष्टिकर्ता के मुख पर। इतने दिनों में पूरा हुआ उसकी सृष्टि का काम।

उसने इन मानव-मानवी से कहा, ''इस बार तुम इस दुनिया को चलाने का भार लो। आदम, उस पक्षी की बोली के अनुसार तुम्हारी इस संगिनी का नाम रखा गया लिलिथ। तुम एक-दूसरे के पूरक बनो। कभी कोई संकट आ जाए तो मेरी शरण में आ जाना। मैं तुम लोगों को शब्द दूँगा, भाषा दूँगा। किंतु उसे आयत्त करने में तुम्हें समय लगेगा। तब तक तुम लोगों के आमने-सामने खड़े होते ही तुम्हारे मन की तरंगों से ही भाव-विनिमय होगा। मुख से कुछ भी बोले बिना भी तुम लोग एक-दूसरे की बातों को समझ सकोगे।''

सृष्टिकर्ता के इतना कहकर अदृश्य होते ही आदम अपनी सहचरी से बोला, ''अब भी तुम्हारे शरीर में धूल लगी हुई है। आओ, हम लोग नहा लें।''

उसके बाद बीतने लगे दिन-पर-दिन। दोनों के परिचय में प्रगाढ़ता आ गई। हाँ, यह ज़रूर

कि शारीरिक मिलन की चेतना उनमें नहीं जागी। वे लोग दो कुरंग-कुरंगिनी की तरह एक साथ विचरण करते रहते हैं। एक साथ नहाकर, फल-मूल बाँटकर खा लेते हैं। पास ही लेटे रहते हैं। एक पल के लिए भी अलग नहीं होते हैं। यहाँ तक कि नींद में भी कभी-कभी जगकर एक-दूसरे की ओर देखते रहते हैं।

एक दिन हुआ क्या कि लिलिथ एक पेड़ से ख़ूब पका फल तोड़ने गई, आदम ने उसे चेतावनी देते हुए कहा, ''उस फल को मत लेना।''

सरल कौतूहल की लिलिथ ने जिज्ञासा प्रकट की, ''क्यों?''

आदम ने जवाब दिया, ''कौन फल अच्छा है, यह मैं तुम्हें पहचनवा दूँगा। मैं तुम्हारे लिए ला दूँगा।''

लिलिथ ने हँसते हुए कहा, ''हे सखा, जब तुम दोगे मैं अपनी अंजुलि फैलाकर उसे ग्रहण करूँगी।''

और एक दिन एक नए जलाशय में अवगाहन करना चाहा लिलिथ ने, उसकी एक बाँह पकड़ते हुए आदम बोला, ''उसमें मत घुसो।''

लिलिथ ने विस्मित होकर जानना चाहा, ''क्यों, क्या कारण है?''

आदम ने जवाब दिया, ''इस सरोवर में कई फूल बह रहे हैं। इन फूलों को मैंने इसके पहले नहीं देखा है। जल में पुष्प क्यों बहेंगे भला? चलो, मैं तुम्हें अन्य निर्मल सलिल में ले जा रहा हूँ।''

नए सरोवर में फिर उनका अवतरण नहीं हो सका।

एक अपराह्न में आकाश ने रुद्र रूप धारण कर लिया।

सूर्य घने, काले मेघों के अंतराल में खो गया। वे मेघ भी जैसे पत्थर की तरह कठोर थे। परस्पर के घर्षण से बड़ा प्रचंड शब्द होने लगा। ऐसा भान हो रहा था मानो सृष्टिकर्ता का कोई शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी उनके साथ प्रतिस्पर्धा कर रहा हो, वह मानो आज सारी सृष्टि का ध्वंस कर देगा। बीच-बीच में सूर्य तेज़ से भी प्रबल तेज़ के साथ बिजली चमकने लगती है।

पहले एक बार आकाश में ऐसे रणोन्मत्त तुमुल हुँकार के वक़्त सृष्टिकर्ता ने आदम को दर्शन देकर उसे अभय रहने का वरदान दिया था। इसीलिए आदम को पता है कि आकाश में चाहे जितना गर्जन-तर्जन क्यों न हो, एक समय आएगा, जब यह सब रुक जाएगा। लिलिथ ने तो आकाश का ऐसा भयंकर रूप कभी देखा ही नहीं था। किसी अनजान आशंका से उसका हृदय काँप रहा था।

उसके बाद शुरू हो गया अंधड़। उस अंधड़ में ऐसी शक्ति और इतना प्रबल वेग था कि अनेक वृक्षों की शाखाएँ टूटकर गिरने लगीं। कोई-कोई वृक्ष तो जड़ से उखड़कर बहुत दूर जाकर गिरने लगे। इस विषम समय में पहाड़ की गुफा फिर भी निरापद थी।

वे दोनों लोग प्रायः सूखी हुई नदी की घाटी में बैठे रहे। उस तलहटी की एक ओर का तट दीवार की तरह ऊँचा उठा हुआ था, इसलिए उसके ऊपरी तरफ़ बहुत कुछ उड़ा जा रहा था, फिर भी इनकी देह से कुछ भी नहीं टकरा रहा था।

आँधी के बाद आ गई वर्षा। पत्थर जैसे मेघ अब द्रवणशील हो गए। आकाश मानो अब एक हृद हो गया, जैसे एक बार ही ज़मीन पर उतर आना चाह रहा है।

नदी की तलहटी में उन दोनों लोगों को कुछ सहारा मिला ज़रूर था, लेकिन कुछ क्षण धारासंपात वर्षा के बाद उन लोगों को सर्दी सताने लगी। वे एक चट्टान से टिककर पास-पास बैठे हुए थे, एक समय आदम ने कहा, ''लिलिथ, तुम काँप रही हो? तुम लेट जाओ, मैं ऊपर से तुम्हें ढके रहूँगा।''

बड़े जतन से वह पुरुष अपनी संगिनी को सर्दीली हवा और वर्षा के छींटों से बचाए रखने

के लिए उसके सर्वांग को ढके रहा। छाती से छाती, मुख से मुख, हाथों से हाथ और उरु-से-उरु मिले रहे।

कुछ पल में ही सर्दी का भान जाता रहा। अकेले होने पर ही सारी स्त्रियों और पुरुषों के शरीर में शीत आश्रय ले सकता है, किंतु दो लोगों के आलिंगनबद्ध होते ही ठंड भाग जाती है। उस वक़्त उन दो देहों पर अधिकार जमा लेती है उष्णता।

उन दोनों को इसका अभिज्ञान ही नहीं था। दोनों लोग ही अचरज से भरकर एक-दूसरे का नाम लेकर पुकार उठे आदम! लिलिथ!

धीरे-धीरे गर्मी फैलने लगी शरीर के रंध्र-रंध्र में। यह दाह अग्नि की तरह नहीं था, इसमें था एक-दूसरे में विलीन हो जाने के लिए एक तरह का आश्लेष। एक समय आदम ने अनुप्रवेश किया उसके गह्वर प्रदेश में।

ख़ुद प्रकृति ही उनके क्रिया-कलापों का निर्देशन करने लगी। मनुष्य जीवन में इतना सुख भी है, इसका उन दोनों में से किसी को भी पता नहीं था।

एक बार इस मिलन क्रीड़ा के संपन्न होने के बाद श्रांतभाव से सटे हुए लेटे रहे ये दोनों स्त्री-पुरुष। अविलंब उन्हें नींद आ गई।

इसके बाद तो कई दिन ऐसे आए जब सुबह नहीं, दोपहर नहीं, शाम नहीं, रात नहीं, चाहे जिस वक़्त, चाहे जहाँ वे दोनों लोग इसी मिलन-कामना से, इसी सहवास-क्रीड़ा के लिए उन्मत्त रहने लगे। सारे पशु-पक्षियों, वृक्ष-लताओं, कीट-पतंगों में भी अनवरत रूप से यही मिलन क्रीड़ा चल रही है, इसे उन्होंने इसके पहले लक्ष ही नहीं किया था। इस बार तो बड़े कौतुक से उन्हें लक्ष करने लगा प्राणी कुल।

एक रोमांचक उन्माद में उनके दिन बीतने लगे। अब तो वर्षा, धूप, ग्रीष्म, आँधी, बिजली सभी उन्हें बेहद अच्छी लगने लगी। समय उनके लिए बेहद मोहक हो गया।

एक बार उसी नदी की तलहटी में, जहाँ पर कोमल घास भरी भूमि पर उन्होंने अब तक शय्या बना रखी थी, आदम ने लिलिथ का हाथ पकड़कर मिलन के लिए पुकारा।

लिलिथ ने आदम के वक्षस्थल से अपना मुख सटाते-सटाते कहा, ''हे सखे, कई बार हम लोगों ने मिलन-सुख लूटा है, मैं नीचे रहती हूँ, तुम ऊपर। आज हमलोग विपरीत रति क्यों न करें? इसलिए तुम पहले लेटो।''

आदम ने बड़े अचरज से कहा, ''मैं नीचे रहूँ? क्यों?''

लिलिथ ने जवाब दिया, ''देखें, कैसा लगता है?''

आदम बोला, ''नहीं वैसा नहीं होगा।''

लिलिथ बड़ी चंचलता से बोली, ''क्यों, हो क्यों नहीं सकता है। आओ ना, परीक्षा कर देखें।''

आदम ने कहा, ''वह नहीं हो सकता है, लिलिथ! पहली बार हम लोगों ने जैसी शुरुआत की थी, वही प्रकृति का निर्देश है। पुरुष की इच्छा ही नारी के लिए मान्य है। नारी के ऊपर पुरुष।''

अब तो लिलिथ के अचरज में आने का दौर शुरू हुआ। भौंह टेढ़ी करते हुए उसने जवाब दिया, ''प्रकृति कौन है? उसने मुझे इस तरह का क्यों निर्देश नहीं दिया?''

आदम बोला, ''प्रकृति हमारे सृष्टिकर्ता की ही एक प्रतिनिधि है।''

इस पर लिलिथ बोली, ''किंतु सृष्टिकर्ता तो हमलोगों से कह गए हैं कि हम एक-दूसरे के पूरक हैं।''

आदम बोला, ''हाँ, यह तो ज़रूर कह गए हैं। क्षुद्र और वृहद् भी तो एक-दूसरे के पूरक होते हैं। दुर्बल और सबल भी पूरक हैं। मैं तुम्हारी सदा रक्षा करूँगा, तुम मुझे बदले में अपना माधुर्य दोगी। इसी रूप में हम एक-दूसरे के पूरक हैं।''

लिलिथ बोली, ''क्या एक बार, बराबर-बराबर के पूरक हम लोग नहीं हो सकते हैं?''

आदम कुछ न कहकर सिर्फ़ हँसने लगा।

लिलिथ फिर कहने लगी, ''कई बार ऐसा होता है कि पहले नहाने मैं घुसती हूँ, फिर तुम्हें बुलाती हूँ। फिर किसी दिन तुम कूद पड़ते हो। यह भी तो वैसा ही है।''

आदम बोला, ''हे सखी, ना समझ मत बनो। यह भी वैसा नहीं है। पुरुष के ऊपर नारी को नहीं आना चाहिए। आओ, मैं बहुत तप रहा हूँ, उत्तप्त होता जा रहा हूँ।''

पता नहीं क्यों लिलिथ का मन विषाद से आच्छन्न हो गया, वह आदम के वक्ष से सटी थी, फिर भी उसे किसी भी तरह की जलन का अनुभव नहीं हो रहा था, वह उठकर नदी में घुस गई। कटिपर्यंत जल में निमग्न वह अकेली ही खड़ी रही।

दूसरे दिन आदम ने पुनः उसे मिलने के लिए पुकारा, आज भी लिलिथ की वही शर्त थी। वह आदम के ऊपर रहेगी।

आदम ने उसे कई तरह से समझाने का प्रयास किया। लेकिन यह कोमलांगी युवती इतनी दृढ़ प्रतिज्ञ भी हो सकती है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

लिलिथ ने जवाब दिया, ''हम लोग पूरे दिन, हर पल सब कुछ एक साथ करते हैं तब हम दोनों लोग क्यों बराबर नहीं हो सकते हैं, यह मुझे समझा दीजिए! मैं लक्ष कर रही हूँ, मैं किस वृक्ष का फल खाऊँ, किस सरोवर में स्नान करूँ, इन छोटे-मोटे कामों में भी तुम मुझे निर्देश देना चाहते हो। तुम्हारी तुलना में क्या मुझमें ज्ञान-बुद्धि कम है? सरोवर में अगर कई फूल बहते जा रहे हैं तो वह सरोवर क्यों अस्पृश्य हो जाएगा?''

आदम बोला, ''अगर तुम मेरी बात मानकर चलोगी तो तुम कभी विपत्ति में नहीं पड़ोगी। मैंने तुम्हारी सारी ज़िम्मेदारी ले ली है, इसलिए तुम सारी चिंताओं से मुक्त रह सकती हो।''

लिलिथ ने उसकी बात का जवाब देते हुए कहा, ''तुम्हारी देह जिन उपादानों से निर्मित है, मेरी देह भी उन्हीं उपादानों से गढ़ी गई है। हमारे प्राणों की धड़कनें भी एक ही तरह की हैं। एक जैसा ही जीवन है। तो फिर हम लोग असमान क्यों कहलाएँगे? हे सखा, यह बात मैं समझ नहीं पा रही हूँ। तुम मुझे समझाओ तो।''

आदम इस पर बोला, ''तुम्हें ये सब चिंता नहीं करनी पड़ेगी। तुम अपने केशों में दो फूल गूँथ सकोगी? अगर ऐसा कर लो तो तुम और भी सुंदर दिखने लगोगी!''

यह सुनकर लिलिथ करुण सुर में बोली, ''मैं सुंदर नहीं होना चाहती हूँ, आदम। मैं तुम्हारे साथ जीवन के हर काम में समान रूप से भाग लेना चाहती हूँ।''

इस बार आदम ईषद् विरक्त भाव से बोला, ''पुरुष ओर नारी कभी एक समान नहीं हो सकते हैं। यही सृष्टिकर्ता का निर्देश है। उस निर्देश की क्या अवहेलना की जा सकती है!''

लिलिथ बोली, ''तुमने एक बार पहले कहा था कि प्रकृति का निर्देश है। अब कह रहे हो कि यह सृष्टिकर्ता का निर्देश है। तुम्हें कैसे वह निर्देश मिल जाता है, मुझे क्यों नहीं मिलता है?''

आदम ने गंभीर होकर कहा, ''चारों ओर दृष्टिपात करने से जो अभिज्ञान होता है, उसी से इस निर्देश का पता चलता है। सिंह से लेकर शशक तक चाहे जिस प्राणी का निरीक्षण कीजिए, सारी सृष्टि क्या पुरुष प्रधान नहीं है? पुरुष ऊपर रहता है और नारी नीचे।''

लिलिथ बोली, ''यह तो पशु जगत है—क्या पता—सृष्टिकर्ता ने तो कहा था, हमलोग उसकी श्रेष्ठ रचना हैं।''

आदम ने कहा, ''यदि सभी मामलों में स्त्री और पुरुष समान हैं, तो सृष्टि रचयिता ने पुरुष और नारी को पृथक रूप से क्यों बनाया है? हम लोगों का शारीरिक गठन क्या किंचित् पृथक् नहीं है? तुम क्या मेरी तुलना में थोड़ी कमज़ोर और छोटी नहीं हो?''

लिलिथ बोली, ''वह तो ठीक है। हाँ, ठीक ही तो है? मैं तो इतना समझ ही नहीं पा रही

हो। फिर भी एक बात और पूछूँगी, क्रोधित मत होना, हमारा हृदय, हमारा दिमाग़ क्या वे भी छोटे-बड़े हैं? विचार शक्ति में भी क्या मैं तुमसे न्यून हूँ?''

आदम बोला, ''कह तो रहा हूँ, तुम्हें इन सब बातों की चिंता नहीं करनी चाहिए।''

दोनों लोग ही कुछ पलों तक चुप बने रहे।

उसके बाद फिर लिलिथ आदम की देह का स्पर्श करते हुए कोमल सुर में बोली, ''ये सब बेकार के तर्क रहने दो। हे सखा, एक बार हम लोग विपरीत रति का परीक्षण कर देखें ना! हो सकता है उस मुद्रा में संभोग का मज़ा और बढ़ जाए?''

आदम ने जवाब दिया, ''इन कई दिनों तक हम जिस रीति से सहवास करते रहे हैं, क्या उससे आनंद की चरम सीमा पर हम नहीं पहुँचे हैं? क्या उससे तुम्हें पूर्ण तृप्ति का आनंद नहीं मिला है? बोलो, बोलो, फिर यह दूसरा प्रयोग क्यों और किसलिए?''

आदम ने अपना मुख फेर लिया। लिलिथ दूसरी दिशा में चली गई। ऐसे ही कई दिन बीत गए। उसके बाद फिर एक मेघाच्छन्न दोपहर आ गई, मृदुमंदि वातास बह रही है, पक्षी चहचहा रहे हैं, एक-दूसरे का आह्वान कर रहे हैं मिलन कामना से भरकर, पुष्प अपना सौरभ बिखेरते हुए अपनी प्रेमिकाओं का आह्वान कर रहे हैं, आदम भी काम-भावना से मोहित होकर लिलिथ को आलिंगनबद्ध करने पहुँच गया।

उस आलिंगन में आबद्ध होते हुए लिलिथ गिड़गिड़ाते हुए बोली, ''एक बार विपरीत रति हो जाए ना, सिर्फ़ एक बार। तुम मेरी इस इच्छा को क्या कोई महत्त्व न दोगे?''

अब धैर्यहीन हो गया आदम। क्रोधाग्नि से जलते हुए उसने कहा, ''तुम बार-बार सिर्फ़ यही बात कहती जा रही हो। रे नारी, क्या तू मुझे अपदस्थ करना चाहती है? इसके अलावा तुम्हारी क्या इच्छा है? मेरी सारी इच्छाओं को मानते जाना ही तुम्हारे जीवन की सार्थकता है।''

आदम द्वारा ज़बरदस्ती ज़मीन पर गिराने का प्रयास करते ही लिलिथ अपने को किसी तरह छुड़ाकर एक ओर दौड़ पड़ी।

नर सिंह की तरह आदम उसका पीछा करते हुए भागने लगा।

उत्तेजना से दुर्दांत वासना से, क्रोध से चीख़ उठा आदम। लिलिथ तो कैसे भी पकड़ में नहीं आ रही थी। एक विशाल वृक्ष की पिंडी के आसपास प्रदक्षिणा करते हुए वह घूमने लगी, बड़े कौतुक से हँसती भी जा रही थी।

पर आदम के मुख पर हँसी नहीं थी। उसके दोनों नेत्र क्रोध और वासना से जले जा रहे थे।

उसकी चीख़ से जब समस्त काननभूमि कंपायमान होने लगी, तब सहसा वहाँ तीन प्राणी आविर्भूत हो गए। इनकी आकृति तो मनुष्य जैसी थी, उनके पक्षियों जैसे पंख लगे हुए थे। आकाशचारी ये तीनों प्राणी सृष्टिकर्ता के दूत थे, इनके नाम थे क्रमशः सेनय, सानसेनय एवं सेमनगेलोफ।

इन तीनों लोगों ने लिलिथ को घेरकर प्रश्न किया, ''क्या बात है, इस उद्यान में ऐसी अशांति क्यों है?''

लिलिथ कुछ कह सके इसके पहले ही क्रोध से फुफकारता हुआ आदम बोला, ''यह औरत मेरे वश में नहीं है। मैं उसे जैसा चलाना चाहता हूँ, वह वैसे चलना नहीं चाहती है। वह अगर मेरी बात ही नहीं सुनती है, तो ऐसी सहचरी की मुझे ज़रूरत ही नहीं है।''

अब लिलिथ जैसे ही कुछ जवाब देने को उद्यत हुई तो उसे रोककर उनमें से एक व्यक्ति बोला, ''अरी स्त्री, यह तुम्हें कैसा मतिभ्रम हो गया है, तुम जब पुरुष का प्रेम सदा अर्जित करती रहोगी, तभी तो तुम सुखी हो पाओगी। बात न मानने और अनियंत्रित होने से तो सिर्फ़ अशांति ही मिलेगी।''

इस पर लिलिथ बोली, ''मेरी एक बात तो सुनिए...''

तब एक दूसरा व्यक्ति बोल पड़ा, ''तुम्हारी बात सुनने जैसा कुछ नहीं है। तुम तो इस पुरुष का अनुगमन करो, इसकी बात मानो।''

तीसरे व्यक्ति ने थोड़ा कौतुक से हँसते हुए कहा, ''स्त्री-पुरुष में छोटी-छोटी बातों पर ऐसा कलह तो बीच-बीच में होता ही रहता है। सृष्टिकर्ता ने अन्य पशु-पक्षियों तथा प्राणियों को यह बोध दिया नहीं है, सिर्फ़ मनुष्यों को ही दिया है, इसका नाम है मान और अभिमान। यह रूठना और मान करना भी उस मिलन-लीला को ही एक अंग है। जाओ नारी, अब हम लोग अंतर्धान हो रहे हैं, तुम मान छोड़कर उसी का अनुसरण करो!''

लिलिथ इस बार कुछ अस्थिर होकर बोली, ''मेरी बात तो आपको सुननी ही पड़ेगी। पुरुष ने जो यह कहा कि मैं अवश हूँ इसलिए मेरे जैसी सहचरी वह नहीं चाहता, तो क्या मैं यह नहीं कह सकती हूँ कि अगर वह मेरे लिए अबाध्य है, मेरे वश में नहीं है, तो मैं भी ऐसा सहचर नहीं चाहती।''

तीसरे व्यक्ति ने हँसते-हँसते कहा, ''ये तो सिर्फ़ बातें भर हैं।''

पहला व्यक्ति लेकिन बड़ी कठोरता से बोला, ''साथी चुनने का अधिकार तुम्हें नहीं है, हे नारी! तुम तो पहले से ही बरी जा चुकी हो। तुम पूर्व निश्चित हो। पुरुष के प्रयोजन के लिए ही तुम्हारी रचना की गई है, यह तुम्हें हरदम याद रखना चाहिए।''

जब ये सब बातें हो रही थीं तभी बीच में आकर आदम ने लिलिथ की एक बाँह पकड़कर ज़ोर से झटका मारा। अन्य तीन व्यक्ति भी लिलिथ को उसी पुरुष की तरफ़ ठेलने लगे।

पाशबद्ध हरिणी की तरह छटपटाते हुए लिलिथ चीत्कार करने लगी, ''नहीं, नहीं इस तरह तुम मुझे नहीं पा सकते हो, मेरी इच्छा के विरुद्ध तुम मेरे शरीर को नहीं पा सकते हो, किसी भी तरह नहीं पा सकते हो, नहीं, नहीं, मैं नहीं जाऊँगी।''

इसके बाद जो कांड घटित हुआ, उससे और चाहे जो कुछ हो, मिलन लीला नहीं थी। बल प्रयोग से नारी को परास्त किया जा सकता है, लेकिन उससे माधुर्य प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

एक समय ऐसा आया, जब वे तीनों लोग ही उससे रुष्ट हो गए। उनमें से एक बोला, ''आदम, तुम अगर इसे नहीं चाहते हो, तो इस रमणी को इस पवित्र उद्यान से बहिष्कृत कर दिया जाए।''

इस पर आदम बोला, ''मैं तो अब इसका मुँह भी नहीं देखना चाहता? मैं अकेला रहूँगा, वही मेरे लिए अच्छा है।''

सभी लोग मिलकर लिलिथ को खींचते-खींचते कानन के बाहर ले गए और वहीं उसे ढकेल दिया। वह जगह ढालू थी, वहाँ से लुढ़कते-लुढ़कते वह नदी में जा गिरी और बेहोश होकर धारा में बहने लगी।

इसके बाद भी उसके प्राण नहीं गए। उसी वक़्त से उसने आश्रय लिया एक गिरिगुहा में। इस पहाड़ पर भी कुछ पेड़-पौधे थे। यहाँ पर स्वर्गीय उद्यान जैसी विचित्रता नहीं थी, फिर भी भूख मिटाने के लिए पर्याप्त फल मिल ही जाते थे।

शुरू के कुछ दिन तो उसके सिर्फ़ रोते-रोते व्यतीत हुए थे।

वह समझ नहीं पा रही थी कि उससे क्या भूल हो गई। वह तो सिर्फ़ आदम के साथ हर काम में समान रूप से भागीदार होना चाहती थी। वह सोचती थी, वह अधिकार उसे क्यों नहीं दिया जाएगा? उसने कुछ अधिक की तो माँग की नहीं थी!

मनुष्य के मन में इतनी रुलाई कहाँ जमा रहती है? निरंतर रोने से भी अश्रु समाप्त नहीं होते हैं। रोते रहने से कोई उत्तर भी नहीं मिलता है।

सृष्टिकर्ता ने मनुष्य को ही मान-सम्मान का ज्ञान दिया है, दूसरी किसी भी प्रजाति को यह ज्ञान नहीं मिला है। आत्म-सम्मान की भावना

कभी-कभी इतनी तीव्र हो जाती है कि कोई-कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से मृत्यु का वरण करने में भी संकोच नहीं करता है। लिलिथ ने भी कई बार अपने को नदी के जल में विसर्जित कर देने की बात सोची, किंतु अंत में ऐसा कर नहीं सकी।

कुछ दिन बाद उसका चित्त कमज़ोर पड़ने लगा। दिन तो फिर भी बीत जाते थे किंतु, रातों का जैसे अंत ही नहीं था। अकेलापन उसे असह्य खलने लगा, इससे वह बहुत बेचैन रहने लगी। आदम के साथ बिताई गई कई ऋतुएँ, साथ-साथ किए गए सहवास की सुखद स्मृतियाँ उसे सदा याद आने लगीं। उन स्मृतियों से उसके सर्वांग में रोमांच हो आता था।

एक दिन उसने निश्चय किया, इस तरह जीवन कितना निरर्थक है। इसके बजाय तो आदम का प्रभुत्व मान लेना ही बेहतर है। अब वह आदम की सारी इच्छाओं का पालन करती हुई चलेगी। वह उसकी इच्छाओं को ही महत्त्व देगी। आदम के पास जाकर अगर उससे दया की भीख माँगे तो क्या आदम उसे फिर से अपना नहीं लेगा? पुरुष के नीचे रहना ही अगर औरत की नियति है, तब उसे न मानने से लाभ क्या है?

यही सब बातें वह सोचती रहती है, पर अपना दिल स्थिर नहीं कर पाती है। दुबारा उसके पास जाने का उसमें मनोबल भी नहीं आ पा रहा है। इसी बीच एक सुबह सृष्टिकर्ता के वही तीनों दूत आकर उसके सामने उपस्थित हो गए।

पहला व्यक्ति सेनय बोला, ''हे नारी, तुझे निर्वासन का दंड दिया गया था, उस दंड को वापस लिया जा सकता है, अगर तुम आदम की पहले की शर्तों को मान लो।''

दूसरे व्यक्ति सान सेनय ने कहा, ''तुम और अपनी चपलता तथा ढीठपना दिखाकर पुरुष के समान मत बनना चाहो। तुम्हारे और भी सुख के दिन आनेवाले हैं। आदम की अगर आज्ञाकारिणी बनी रहोगी तो तुम उस पवित्र कानन में बनी रहोगी।''

तीसरे व्यक्ति सेमनगेलोफ ने थोड़े विनोद के सुर में कहा, ''देखो, समय-समय पर पुरुष स्वयं ही तुम्हारा वशवर्ती होना चाहेगा। तुम अपनी तरफ़ से इस संबंध में स्वयं कुछ न कहो।''

लिलिथ तो सारी शर्तें पहले से ही मानने को राजी थी ही। एक क्षण का भी विलंब किए बिना वह इस गुफा को छोड़कर वापस जाना चाहती है। सिर्फ़ उसे एक ही आशंका है।

उसने नतनेत्र और कंपित कंठ से एक ही जिज्ञासा प्रकट की, आदम तो कह रहा था कि वह मेरे जैसी सहचरी चाहता ही नहीं है। उसकी हालत तो यह है कि वह मेरा मुँह भी नहीं देखना चाहता है। उसके क्रोध का क्या शमन हो गया है? वह क्या मुझे फिर से स्वीकार करने को राजी है?

इस पर पहले व्यक्ति ने कहा, ''हम लोग उसे समझाकर सारी स्थिति बताएँगे तो वह ज़रूर राजी हो जाएगा। उसका कारण है, इस वक़्त तुम्हारे गर्भ में उसकी संतान पल रही है।''

''संतान? अरे, यह क्या चीज़ होती है?''

लिलिथ कई दिनों से महसूस कर रही थी कि उसके पेट का निचला हिस्सा कुछ बढ़ता जा रहा है, बीच-बीच में तो ऐसा लगता है जैसे पेट में कोई हिल-डुल रहा है।

आहत अभिमान से लिलिथ बोली, ''मेरे लिए तो वह व्याकुल हो नहीं रहा है। मेरे गर्भ में कोई आ गया है, इसी कारण वह मुझे अपनाना चाहता है?''

इस पर द्वितीय दूत ने कहा, ''हे नारी! सुनो, तुम्हारे माध्यम से पुरुष अपना वंश-विस्तार करना चाहता है, इसीलिए तुम्हारी सृष्टि की गई है। नहीं तो, आदम के साथी के रूप में और एक पुरुष का ही निर्माण किया जा सकता था! सृष्टिकर्ता तो अपने हाथ से बार-बार मानव-सृष्टि करने तो जाएगा नहीं, वह उत्तरदायित्व दिया गया है पुरुष को। तुम होगी भावी मानवों की गर्भधारिणी।''

लिलिथ बोली, ''मैं धारण करूँगी? बहुत ख़ूब! लेकिन, कब, किस ऋतु में मेरा शरीर गर्भधारण में सक्षम होगा, यह तो मैं निश्चित कर सकूँगी ना? मेरा ही तो शरीर है?''

पहला दूत बोला, ''शरीर तो ज़रूर तुम्हारा है। पर तुम होगी आधार मात्र। तुम्हारी इच्छा-अनिच्छा का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।''

इसके बाद फिर से प्रज्वलित हो उठा लिलिथ का क्रोध। वह बोली, ''मेरी कामना को कोई महत्त्व ही नहीं दिया जाएगा। मैं ऐसा मिलन नहीं चाहती। आप लोग आदम से जाकर कहिए, आदम स्वयं आकर अगर मुझसे याचना करेगा, तभी मैं दुबारा उसके पास जाऊँगी। नहीं तो मेरी यह गिरिकन्दरा ही अच्छी है।''

इसके बाद उन तीनों दूतों ने पहले नरम और बाद में गरम भाषा में लिलिथ को समझाने का बहुत प्रयास किया, किंतु लिलिथ अपनी ज़िद पर अड़ी रही। आदम स्वयं आकर उससे जब तक मिलन की भीख नहीं माँगेगा, तब तक यहाँ से वह एक क़दम भी नहीं हिलेगी।

तब पहले दूत ने उँगली उठाकर उसे अभिशाप दिया, ''तो तू चिरकाल के लिए निर्वासित होकर यहीं बनी रह। तुम्हारे गर्भ की संतान को मैं अभी भस्म किए दे रहा हूँ। पुरुष के वीर्य पर अब तेरा कोई अधिकार नहीं रहा है। तुझे अब कभी भी संतान नहीं होगी।''

उस शाप से प्रायः जलती हुई लिलिथ ज़मीन पर गिर पड़ी। गर्भ नष्ट होने से वह काफ़ी दिनों तक अस्वस्थ रही। फिर भी उसकी प्राण शक्ति अदम्य थी। इस कारण उसकी मृत्यु नहीं हुई।

फिर उसकी देह में ताक़त आ गई और पहले जैसा उसे रूप भी मिल गया, अब उसने एक निर्णय ले लिया, अब उसे किसी साथी की ज़रूरत ही नहीं है। वह पशु-पक्षियों, वृक्ष-लताओं के साथ ही बंधुत्व स्थापित कर लेगी। अगर आकाश को ही अपना बना लिया जाए तो फिर और कहीं भी कोई सूनापन नहीं रह जाएगा।

फिर भी दिल तो मानना ही नहीं चाहता है। कभी-कभी मन बहुत व्याकुल हो उठता है। जल जैसे जल की तरफ़ दौड़ता है वैसे ही उसकी देह एक और देह को पाना चाहती है। रति-विषयक अतृप्ति के कारण वह लंबी-लंबी साँसें लेने लगती है।

इसी तरह दो ऋतुएँ और पार कर देने के बाद आज वह अपने को संयत नहीं रख पा रही है। पूरी रात निद्राहीन रहकर वह आदम के विषय में ही सोचती रही। उसी पुरुष को पाने के लिए संपूर्ण देह-मन आज व्याकुल हो रहे हैं।

इसीलिए लिलिथ भोर का आलोक फूटने के पहले ही दीर्घ पथ पार कर गुप्त रूप से प्रवेश कर गई उसी आदिम कानन में। वह सिर्फ़ एक बार आदम से पूछना चाहती हैं, ''हे सखा, क्या तुम सचमुच में अब मुझे नहीं चाहते हो? तुम मुझसे घृणा करते हो? अगर यही सच है, तो

फिर मैं कभी भी तुम्हारे सामने नहीं आऊँगी। तुम्हें फिर कभी भी मेरा मुँह नहीं देखना पड़ेगा। मैं तुमसे चिर विदा ले लूँगी। हमारे वही मधुर दिन तुम्हारे लिए अब तुच्छ हो चुके हैं।''

दूर से एक बार आदम को देखकर भी लिलिथ उसके पास जाने का साहस न जुटा सकी। कहीं आदम रूखे शब्दों में उसे ठुकरा न दे, और अगर ऐसा हुआ तो क्या वह सह सकेगी? इससे तो अच्छा है कि जब तक संभव हो दूर-दूर रहकर उसकी जीवन-यात्रा का निरीक्षण किया जाए, हो सकता है उसकी ज़बान से कभी लिलिथ का नाम निकल पड़े, अथवा जिन-जिन स्थानों पर उनकी रति-शय्या बनी थी, उन्हीं-उन्हीं स्थानों पर आदम अकेला जाकर लेटा रहता हो, तभी तो उसकी स्मृति-कातरता को समझा जा सकेगा।

इसके बाद छाया की तरह आदम का अनुसरण करने लगी लिलिथ।

नहीं, इसे ठीक-ठीक छाया नहीं कहा जा सकता है, उन दोनों के बीच में फ़ासला काफ़ी अधिक रहता था। फिर वह सदा अपने को आड़ में छिपाए रखती थी। पदचाप हीन उसका चलना था। कोई आवाज़ नहीं होती थी। अगर आदम कहीं रुक जाए, तो वह भी किसी वृक्ष के नीचे खड़े होकर प्रतीक्षा करने लगती थी।

एक बार आदम उसी सूखी, जलहीन नदी की तलहटी के किनारे-किनारे गया, जहाँ एक वर्षणमुखर दिन में उन लोगों का पहली बार संगम हुआ था। आदम ने उस जगह की ओर नज़र भी नहीं डाली।

लिलिथ ने लक्षित किया, आदम में जैसे कुछ-कुछ परिवर्तन घटित हो चुका है इस बीच। कभी-कभी वह गले से एक प्रकार का सुर निकालकर कुछ गुनगुनाने लगता है। पहले वैसा सुर सुनने को नहीं मिलता था। पहले वृक्ष-लताओं में सिर्फ़ फलदार वृक्षों के प्रति ही उसका आकर्षण था, अपने मन-पसंद, प्रिय, खाने योग्य, कुछ चुने हुए फलों के प्रति। फूलों के प्रति उसका कोई रुझान ही नहीं था। अब तो वह अपना स्नेहिल स्पर्श दे रहा है खिले हुए फूलों को! किसी लता को वह किसी वृक्ष से लपेट देता है।

एक स्थान पर एक साथ कई फूल खिले हुए हैं, उन सारे फूलों को तोड़कर आदम ज़मीन पर बैठ गया। उसके बाद वह गूँथने लगा माला। लिलिथ को इससे बेहद अचरज हुआ! उसे याद आया जब वे दोनों एक साथ रहते थे, तब लिलिथ कभी-कभी माला ज़रूर गूँथती थी, और अपने ही गले में पहन लेती थी। आदम को भी पहनाने जाती थी, पर वह उसे अच्छा नहीं लगता था, उससे उसे राहत नहीं मिलती थी, थोड़ी देर पहन कर ही वह उसे तोड़कर फेंक देता था।

अरे, आज तो आदम माला बना रहा है अपने ही गले में पहनने के लिए? तो क्या उसे लिलिथ की बातें याद आ रही हैं? अब क्या वह आदम के सामने जाकर खड़ी हो सकती है?

उसकी दुविधा दूर हो, इसके पहले ही आदम माला गूँथने के बाद, खड़ा हो गया। माला उसने अपने गले में नहीं पहनी। माला हाथ में लेकर उसने दौड़ना शुरू कर दिया। उच्च स्वर में कोई एक आवाज़ निकालता जा रहा था।

लिलिथ भी उसके क़दम-से-क़दम मिलाकर उसी तरफ़ दौड़ने लगी, पर अपना बचाव करती हुई।

कुछ पल के बाद ही वह रुककर खड़ी हो गई। उसकी तो जैसे साँस ही बंद हुई जा रही थी। एक दूसरी स्त्री!

उसने तो मान लिया था कि आदम के अलावा यह बाग़ जन शून्य है। ऐसा तो नहीं है, लगता है इसी बीच आदम की एक और संगिनी उसके पास आ गई है। क्या सृष्टिकर्ता ने और एक नारी की रचना कर दी है? क्या सृष्टिकर्ता ने भी लिलिथ के सारे अधिकार छीन लिए हैं?

दूसरी नारी भी ठीक लिलिथ की ही शकल की थी। सिर्फ़ उसकी नाक लिलिथ जैसी नुकीली नहीं थी, दोनों आँखों में निंदयारा जैसा भाव था।

इसके अलावा उसके वक्षस्थल का गठन, उसकी कमर के वलय और नितंबों का सुडौलपन एकदम दोष रहित था।

उसी नारी ने कई बड़े-बड़े वृक्षों के पत्तों के ऊपर कुछ कंद-मूल, फल के छिल्के और वृक्षों की छाल बिछा रखी थी। आदम को देखते ही उसने हँसते हुए अपना स्वागत-सम्भाषण निवेदित किया।

आदम ने वहीं बैठकर वह माला, उस स्त्री के गले में डाल दी। नारी ने पुलकित होकर सबसे पहले माला के फूलों को देखा। उसके बाद एक फल उठाकर थोड़ा-थोड़ा कर अपने आदमी को खिलाने लगी।

लिलिथ ने तो आदम के मुख में फल उठाकर खाने को कभी दिया ही नहीं, कभी अगर फल खाया भी तो एक ही फल को दोनों ने एक-एक तरफ़ से खा लिया। अथवा जब जिसे भूख लगी, तत्काल किसी वृक्ष से फल तोड़कर खा लिया।

उनका आहार जैसे ही समाप्त हुआ, उसके बाद नारी आदम की पीठ की तरफ़ चली आई। पसीने से भरी उस प्रशस्त पीठ पर अपना हाथ फेरने लगी वह नारी।

अपना कौतूहल संवरण न कर पाने पर बड़े उतावलेपन से लिलिथ उनके और थोड़ा पास चली गई।

आदम की पीठ पर छोटे-छोटे, सफ़ेद-सफ़ेद दाने जैसे कुछ हो गए हैं। वे घमौरियाँ हैं, दूसरी नारी अपने नाख़ूनों से उन्हें दबाती जा रही है। आदम को इससे बेहद आराम मिल रहा है।

उसके बाद आदम लंबा होकर लेट गया। फिर पैरों की तरफ़ आकर उस नारी ने उसके पैर दबाने शुरू कर दिए। सुख पाकर आदम ने अपनी आँखें मूँद लीं, वह तरुणी दोनों हाथों से उसके पैरों की मालिश करने लगी।

लिलिथ को इन सब चीज़ों की कोई जानकारी ही नहीं थी।

यह दृश्य देखकर वह अपने आँसू नहीं रोक सकी। पीछे से कहीं उसकी रुलाई की आवाज़ सुनाई न दे, इसलिए, द्रुत क़दमों से वह वहाँ से हट गई।

एक झरने के किनारे आकर, उसमें झुककर अपने अश्रु बिंदुओं को वह उसकी धार में मिलाने लगी।

दो-एक बार आदम के बुलाने की आवाज़ सुनकर उसकी समझ में आ गया कि दूसरी नारी का नाम हउवा है। अब यह पवित्र उद्यान सिर्फ़ उन दोनों की ही विचरण-भूमि है। लिलिथ अब उस स्थान की कुछ भी नहीं है। अब आदम किसी भी दिन उसकी कामना नहीं करेगा।

कितने पलों तक मनोव्यथा से आच्छन्न रही लिलिथ, इसका कोई ठिकाना नहीं था। एक समय ऐसा आया कि उसे वहीं नींद आ गई। सर्वसंतापहारी निद्रा।

फिर जब वह जागी, तब दिनमणि अस्ताचल को जा चुके थे। अब आकाश के अधिपति थे चंद्र। आज आकाश एक बार ही निर्मेघ था। चंद्रकिरणों से सारा कानन अपरूप भाव से आलोकित होने लगा था। फूलों के सौरभ से सुंदर पवन आमोदित हो गया था।

लौट तो जाना ही है, फिर भी लिलिथ के वहाँ से पैर नहीं उठ रहे थे। आज से वह पूरी तरह निःस्व, संगी-रहित, ख़ाली, अकेली हो गई। अब उसके जीवन में कोई आशा भी नहीं रही।

वंचना के दुख से रह-रहकर झट से जल उठती है क्रोधाग्नि। लिलिथ के ख़ून की रफ़्तार भी तेज़ हो गई, नासारंध्रों से निकलने लगे उष्ण निःश्वास। दोनों आँखें जलने लगीं।

क्या वह अपने सारे अधिकार छोड़ देगी? उसने क्या अपराध किया है? वह आज भी मानती है कि विधाता ने उसे और आदम को समान रूप से बनाया है। फिर क्यों आदम के प्रति उसका यह पक्षपात?

विधाता को क्या पता है कि नारी में मान-सम्मान से भी अधिक और एक भाव अत्यंत प्रबल हो सकता है? उसका नाम है ईर्ष्या।

आगे-पीछे की चिंता किए बिना वह दौड़ पड़ी आदम और हउवा की खोज में।

एक स्थान के सघन लताकुंज के मध्य स्थल पर थोड़ी जगह साफ़ कर लिलिथ आदम के साथ रात बिताती थी। वह स्थान प्रायः चारों ओर से घिरा हुआ था। सबसे पहले लिलिथ उसी दिशा में गई।

ठीक वहीं पर दोनों लेटे हुए थे। यह नीड़ तो लिलिथ का ही बनाया हुआ है, इस स्थान पर दूसरी नारी को स्थान देते हुए आदम को ज़रा भी शर्म नहीं आई?

दोनों ही निद्रा में विभोर थे। आदम सोया हुआ है आकाश की ओर मुँह किए, हाथ-पैर फैलाए। यही उसके सोने की सदा की मुद्रा थी। हउवा थोड़ी दूर पर गुड़ीमुड़ी होकर सोयी हुई थी।

कुछ पल वहाँ खड़ी रही लिलिथ। आकाश के चंद्रमा के अलावा और उसे कोई नहीं देख रहा था। थोड़ी शीत की हवा में भी उसके शरीर पर झलक आईं पसीने की बूँदें। झलक आए स्वेद बिंदु।

सहसा आत्मसंवरण नहीं कर पाई लिलिथ! वह सीधी जाकर झपाक से गिर पड़ी आदम के उन्मुक्त वक्ष पर।

साथ-ही-साथ जाग पड़ा आदम। स्पर्श मात्र से ही वह समझ गया, यह स्पर्श उसकी वर्तमान सहचरी का नहीं है, पूर्व की स्त्री का है।

उसने चीख़ते हुए कहा, ''तू फिर आ गई?''

वह उसे ठेल-ठेलकर अलग करने लगा। लिलिथ भी अपना अधिकार किसी भी तरह नहीं छोड़ रही है।

धक्का-मुक्की की आवाज़ से जाग उठी हउवा। वह तो विस्मय से विमूढ़ हो गई। उसे लिलिथ के अस्तित्व का भी पता नहीं था। उसने सोचा, लगता है यह कोई दैवी संकट है। अप्राकृतिक उत्पात है।

वह भी वहाँ से खींचकर हटाने पहुँच गई लिलिथ को। लिलिथ की देह में इस समय मानो प्रचंड शक्ति आ गई थी, वे दोनों मिलकर भी उसे परास्त नहीं कर पा रहे थे।

तत्क्षण हाज़िर हो गए सृष्टिकर्ता के वही तीनों दूत। इस बार उन लोगों में लिलिथ के बाल मुट्ठी में खींचकर उसे खड़ा कर दिया। फिर सिर्फ़ भर्त्सना अथवा बुरा-भला ही नहीं निर्ममतापूर्वक मारते-मारते ले चले उस नारी को। ख़ून से लथपथ हो गया लिलिथ का पूरा शरीर।

एक घृणित प्राणी की तरह उस वन के छोर पर उसे छोड़ते हुए उन तीनों दूतों ने कहा, ''यह अंतिम बार है! अगर फिर यहाँ आई तो तुझे मृत्युदंड अनिवार्य है।''

इतनी मार खाकर भी लिलिथ ज़रा भी नहीं डरी और उसका क्रोध भी कम नहीं हुआ। प्रतिशोध की इच्छा से उसका रक्त अब भी खौल रहा था।

गुफा की तरफ़ जाते-जाते उसने एक वृक्ष के नीचे एक विचित्र प्राणी को देखा। यह वही मोटा-सा सर्प था, उसके केंचुल अब भी लगी हुई है, उससे निकल आया प्रायः मनुष्य जैसी आकृति वाला एक मुख, उसके माथे पर दो छोटे-छोटे सींग थे।

मनुष्य की भाषा में उसने कहा, ''ठहरो, लिलिथ। तुम मुझे पहचान नहीं पाई हो। तुम्हारे सृष्टिकर्ता से मैं कोई कम शक्तिशाली नहीं हूँ। मेरा नाम इबलिस है। तुम मेरी संगिनी बन जाओ। हम दोनों मिलकर तुम्हारे सृष्टिकर्ता से इस अन्याय का प्रतिशोध लेंगे।''

लिलिथ ने अपने सृष्टिकर्ता को देखा है। वह थी आदम जैसे सुदर्शन पुरुष की मिलन-संगिनीं। क्या वह अब कुरूप प्राणी की जीवन-संगिनी बनेगी? उसे बड़ी घृणा हुई। अगर प्रतिशोध लेना होगा, तो वह अकेले ही लेगी। वह बड़े दृप्त शब्दों में बोली, ''चलो, दूर हट जाओ।''

लिलिथ फिर चलने लगी अपनी गुहा की तरफ़। उसने निश्चय कर लिया कि वह अब कभी रोएगी नहीं।

घायल शेरनी की तरह वह अपने क्षत-विक्षत अंगों को चाटने लगी।

उस रात बड़े विस्मय और भय से आकुल हो गई थी हउवा। आदम काफ़ी देर तक अनेक तरह के आश्वस्त वचनों से उसे शांत करने में समर्थ हो गया। प्रकृति के उपादानों से नहीं, हउवा को बनाया गया था आदम की ही एक हड्डी से। इसीलिए वह आदम के साथ एकात्म थी, और इसीलिए वह आदम की सारी बातें मानती थी। आदम ने उससे बार-बार कहा वह हिंसालु रमणी अब यहाँ कभी नहीं आएगी। सृष्टिकर्ता के दूत उस पर नज़र रखेंगे, वह रमणी अगर इस वन में क़दम भी रखेगी, तो वह मृत्यु मुख में चली जाएगी। तुम और चिंता मत करो, हउवा। सारी चिंताओं का भार मेरे ऊपर छोड़ो।

किंतु, कुछ दिनों बाद ही फिर लौट आई लिलिथ। दूतों से छिपकर।

मध्य रात्रि, आदम और हउवा दोनों ही नींद में बेसुध थे। नियमानुसार हउवा थोड़ी दूर ही सोयी हुई थी, कारण आदम नींद में भी अपने हाथ-पैर फटकारता रहता था। उसे चित होकर लेटना ही बेहद अच्छा लगता था।

अकस्मात् आदम को भान हुआ जैसे उसके वक्षस्थल पर आकर कोई गिर पड़ा है। पहचाना हुआ स्पर्श था, निश्चय ही लिलिथ होगी। आदम उसे ठेलकर हटाने लगा, किंतु आश्चर्यजनक घटना थी, कि उसके दोनों हाथ शक्तिहीन होकर अग़ल-बग़ल ही पड़े रहे, वे ज़रा भी नहीं उठे। उसने चीख़ना चाहा, पर उसकी आवाज़ ही नहीं निकली। उसने करवट लेकर हउवा को बुलाना चाहा, पर वह इसमें सक्षम नहीं हो सका। यहाँ तक कि वह अपनी आँखें तक न खोल सका। वह नीचे है और ऊपर लिलिथ उसके सर्वांग को छेके हुए है। उसे अपने जघनस्थल के गह्वर प्रवेश में समा लेना चाहती है। अपने दोनों रंभोरुओं से ज़ोर-ज़ोर से धक्के मार रही है। उसे रोकने की सारी शक्ति ही चली गई है आदम की। उसकी देहभर में काम का आवेश फैल चुका है। एक घड़ी ऐसी आई जब उसके रेतस् का पतन हो गया। वह स्खलित हो गया।

उसके बाद ही हड़बड़ाकर उठ बैठा आदम। सोचने लगा। लिलिथ कहाँ है? वह तो कहीं नहीं है। रात पूरी तरह निस्तब्ध है, ज़मीन पर गिरे हुए सूखे पत्तों के ढेर पर भी किसी तरह की पदचाप सुनाई नहीं दे रही है। हउवा भी नहीं जाग रही है। वह तो बड़ी निश्चिंतता से सो रही है। तब क्या लिलिथ ने धावा बोला था सिर्फ़ सपने में। किंतु उसने मेरे वीर्य का हरण किया है, यह तो सपना नहीं है। यह तो एकदम सत्य है। हउवा से कुछ भी चर्चा नहीं की आदम ने। विमूढ़ की तरह बैठा रहा कुछ पल।

उसके बाद तो बीत गईं कई ऋतुएँ और कई युग। दोनों ने अनेक पुत्र-पुत्रियों को जन्म दिया। उन पुत्र-पुत्रियों की भी संतानें हुईं। वृद्ध होकर पितामह-पितामही बनकर ख़ूब आनंद उपभोग किया उन्होंने, और एक समय आदम और हउवा ने मृत्यु का वरण कर लिया।

लिलिथ किंतु चिर जीवी बनी रही। अतृप्त, वंचित, अपूर्ण रति का क्षोभ लिए वह जीवित रही युगों-युगों तक। उसका नश्वर शरीर अदृश्य ज़रूर हो गया है, फिर भी वह दिखाई देती है युवा पुरुषों के सपनों में।

सुभाष पंत

इक्कीसवीं सदी की एक दिलचस्प दौड़

वे सपने में भी नहीं सोच सकते थे कि कभी ऐसा हो सकता है। उसने भी कहाँ सोचा था कि वह ऐसा कुछ कर देगा। यह सब कुछ अचानक और विस्फोट की तरह हुआ। इससे पहले वह बिलकुल ठीक था। उसने आहिस्ता से और बहुत सलीके के साथ अपने मूल दस्तावेज़ और प्रमाणपत्र फ़ाइल में सहेजकर कंधे में लटकनेवाले झोले में सँभाल लिए थे, जिनकी सत्यता की परख करने और सही पाने के बाद कमेटी ने उसे वापस किया था। दीवाल घड़ी संगीत के सुरों के साथ एक बजाकर भोजनावकाश का संदेश दे चुकी थी। संगीत भरी समय-सूचना से भव्य और शिष्ट लोगों की इस कमेटी में कुछ हड़बड़ाहट-सी दिखाई देने लगी थी। कमेटी को लंच के लिए उठने से पहले एक साथ दो महत्त्वपूर्ण काम निबटाने थे। पहला तो यह कि उसे अभिवादन भरे खेद और शालीन विनम्रता के साथ कमरे से बाहर निकालना था। और दूसरा यह कि घंटी बजाकर चपरासी को अंदर बुलाकर बचे प्रार्थियों को यह निर्देश भिजवाना था कि बाक़ी का इंटरव्यू तीन बजे से लिया जाएगा।

जैसे ही कमेटी के चेयरमैन ने साक्षात्कार में आने के अभिवादन और चुने न जाने का खेद प्रकट करने के लिए अपने सिर की टोपी उतारी वैसे ही उसने उछलकर उनके हाथ से टोपी छीन ली। यह एकाएक और बेहद अप्रत्याशित ढंग से हुआ। वहाँ उपस्थित किसी भी सदस्य को ऐसा घटित होने की कोई उम्मीद नहीं थी। इससे निबटने के लिए उनके पास कोई साझी रणनीति नहीं थी। वे हक्-बक् रह गए। उनकी शिराओं का ख़ून जम गया और वे काठ की मूर्तियों की तरह जड़ हो गए। यह चेयरमैन की टोपी छीने जाने के बाद की पहली सामूहिक प्रतिक्रिया थी और बहुत स्वाभाविक थी। फिर सभी को होश आया और एक साथ उनके हाथ घंटी बजाने के लिए लपके, जो साक्षात्कार कक्ष में उनकी शक्ति, गरिमा और अधिकार का प्रतीक थी। लेकिन इससे पहले कि वे हाथ घंटी तक पहुँचते उसने फुर्ती से उसे भी झपट लिया। वो पूरे होशोहवास में था और जानता था कि प्रतिष्ठा और शक्ति छीन

हिंदी के जाने-माने रचनाकार।
कथा की कई पुस्तकें प्रकाशित।
संपर्क : 280, डोभालवाला
देहरादून-248001 (उत्तरांचल)

लिए जाने पर वे लोग चिल्लाएँगे और उसके लिए ख़तरा पैदा कर देंगे। वह किसी ख़तरे में नहीं पड़ना चाहता था, इसलिए उछलकर दरवाज़े की ओर दौड़ा।

उसके दौड़ लगाते ही 'पकड़ो, पकड़ो' की अनेक आवाज़ें आने लगीं। अगर हुक़्म की तामील के लिए दरवाज़े के बाहर स्टूल पर बैठा चपरासी थोड़ा भी सचेत रहा होता तो उसे लँगड़ी मारकर गिरा देता और वह पकड़ लिया जाता। लेकिन भोजनावकाश का बिगुल बज जाने के कारण ड्यूटी पर तैनात रहने के बावजूद उसे मामूली-सी झपकी ने दबोच लिया था। 'पकड़ो, पकड़ो' की आवाज़ से हड़बड़ाकर उसकी झपकी टूटी, लेकिन सहसा उसकी समझ में कुछ भी नहीं आया और वह भौंचक्का-सा इधर-उधर देखने लगा। और जब तक उसकी कुछ समझ में आया, तब तक वह उसकी गिरफ़्त से बाहर निकल चुका था। फिर भी वह चिल्लाते हुए उसके पीछे दौड़ा, लेकिन थोड़ी ही देर के बाद हाँफने लगा। उसने होंठों में खैनी दबाई और मलाल भरी निगाह से दौड़ते लड़के को देखा। उसे अफ़सोस हुआ कि वह सराहनीय कार्य के संस्थान के पुरस्कार से वंचित रह गया है। अपराधी को पकड़ लेता तो उसे निश्चय ही छब्बीस जनवरी के गणतंत्र दिवस पर सम्मानित किया जाता।

अपराधी टोपी और घंटी लिए बेतहाशा दौड़ रहा था। वह पूरी तरह से चौकन्ना था और पकड़ लिए जाने की हर संभावना के ख़िलाफ़ सुरक्षा दुर्ग बना रहा था। संस्थान कैंपस के मेन गेट पर टेलीफ़ोन से सूचना भिजवाई जा चुकी होगी और चौकीदार उसे पकड़ने के लिए चौकस हो गए होंगे। पकड़े जाने के इस ख़तरे को भाँपकर वह संस्थान के वनस्पति उद्यान में घुस गया और चारदीवारी से सटकर और उसके समानांतर भागने लगा। उसका ख़याल दुरुस्त था। चौकीदार सचेत हो गए थे और उनकी सीटियाँ हवा में अदृश्य बर्छियों की तरह गूँज रही थीं। उसे उम्मीद थी कि संस्थान के चोर-उचक्के या समय-चोर कर्मचारियों ने ज़रूरत के वक़्त इस्तेमाल के लिए अभेद्य चारदीवारी में कहीं कोई न कोई गुप्त नाका ज़रूर बना रखा होगा। उसे उसी गुप्त नाके की तलाश थी, जहाँ से वह सुरक्षादीवार फाँदकर फौरी तौर पर आसन्न संकट से मुक्ति पा सकता था।

गुप्त नाके से छलाँग लगाते ही वह कैंपस से बाहर मुख्य सड़क पर आ गया। उसने हिकारत से कैंपस को देखा। वह बुरी तरह हाँफ रहा था। वह सुस्ताने के लिए रुका। उसने रूमाल निकालकर माथे का पसीना पोंछा, जो दौड़ ख़त्म होते ही ज़्यादा तेज़ी से बहने लगा था। टोपी और घंटी को कंधे पर लटके झोले में डालकर उसने अपने को संदेह के दायरे से बाहर किया और सहज ढंग से चलने लगा। अब उसे कोई डर नहीं था। कुछ ही क्षणों में भीड़ का हिस्सा होकर पूरी तरह सुरक्षित हो जाने की राहत से उसका मन पुलकित हो गया। अगर दौड़ की वजह से उसका गला और जीभ सूख न गए होते तो वह सीटी बजाने लगता। बहुत दिनों से वह आनंद के क्षणों से वंचित था, जिस वजह से उसे सीटी बजाने का सुयोग प्राप्त नहीं हुआ था। एक अरसे बाद उसकी आत्मा इतनी झलमल थी, लेकिन अफ़सोस कि उसका गला और जीभ सूखे हुए थे...

तभी चारदीवारी से किसी के भड़ाम से इस ओर कूदने की आवाज़ आई। वह चौकन्ना हो गया। उसका पीछा किया जा रहा है। चारदीवारी के बाहर भी उसका पीछा किया जाना निश्चय ही आश्चर्य और ख़तरे की बात थी। उसने मुड़कर पीछा करनेवाले को देखने की जहमत नहीं उठाई और एक भी क्षण बरबाद किए बिना पूरी ताक़त से दौड़ने लगा। यह सड़क की गहमा-गहमी और शोर-शराबे में इक्कीसवीं सदी की बचने-पकड़ने की एक दिलचस्प और उत्साही दौड़ थी, जिसे भीड़ रास्ता दे रही थी, क्योंकि अब

आदमी ही नहीं बल्कि आदमियों की भीड़ भी उनकी तरह सुसंस्कृत हो चुकी थी।

उसका इरादा पीछा करते आदमी को पूरी तरह छकाकर पस्त कर देने का था। वह कुछ देर सड़क पर दौड़ने के बाद अचानक रास्ता बदलकर एक कॉलोनी में घुस गया। यह नगर के बेशक़ीमती आदमियों की शानदार कॉलोनी थी। इसकी चौड़ी सड़कों, भव्य कोठियों, क़रीने से लगाए पेड़ों, ख़ुशबू बिखेरते फूलों, व्यवस्थित चौराहों और लेनों, मर्सिया-सी पढ़ती गुमटियों, दमकते शो विंडोज़ और चमकदार औरतों की भूल-भुलैया में पीछा किए जानेवाले को चकमा देना आसान था। लेकिन उसका अनुमान उसी तरह ग़लत साबित हुआ जैसे जीवन-भर उसके अनुमान ग़लत साबित होते रहे थे। पीछा करनेवाला भी उसी की तरह कॉलोनी के भूगोल से वाक़िफ़ था। और ठीक जब वह पाँचवी लेन के मुहाने पर, जिसके एक ओर हृदयरोग विशेषज्ञ का क्लीनिक और दूसरी ओर एक भव्य कोठी थी, जिसमें रहनेवाली लड़की से उसने प्यार करना चाहा था, उसका कॉलर प्रतिद्वंद्वी के हाथ में आ गया। शायद लड़की की एक झलक पाने की आकुल आकांक्षा में क्षणांश के लिए उसके पैर ठिठके और इस असावधानी की वजह से वह पकड़ लिया गया।

''क्या तुम अपने को अजेय मानकर समझ रहे थे कि पकड़े नहीं जाओगे?'' पकड़ने वाले की आवाज़ आई।

उसने इसका सीधा जवाब न देते हुए कहा, ''मुझे पाँचवी लेन के इस मुहाने पर पकड़े जाने का गहरा अफ़सोस है। क्या तुम किसी और लेन में मुझे पकड़ने की मेहरबानी नहीं कर सकते...''

''बिलकुल नहीं।'' प्रतिद्वंद्वी ने विजयोल्लास से कहा, ''मैंने तुम्हें ठीक उसी जगह पकड़ा, जहाँ मैंने तुम्हें पकड़ लेना चाहा था। दरअसल मैं यह विरोचित कार्य पाँचवी लेन के इस मुहाने पर ही करना चाहता था। लेकिन मेरा इरादा तुम्हें कोई नुकसान पहुँचाने का नहीं है।''

उसे कुछ राहत मिली, ''तुम संस्थान के कर्मचारी नहीं हो?'' उसने पूछा।

''क़तई नहीं।''

''फिर कौन हो? मुझे पकड़ने के लिए मेरे पीछे क्यों दौड़ रहे थे? और फिर तुमने मुझे पकड़ भी लिया...आख़िर तुम्हारी मंशा क्या है?''

''मैं भी तुम्हारी तरह ही इंटरव्यू के लिए बुलाया गया एक कैंडीडेट हूँ। मेरी मंशा तुमसे

वो टोपी और घंटी प्राप्त करने की है जिसे तुम साक्षात्कार कक्ष से लेकर भागे हो।’’

वह पूरी तरह आश्वस्त हो गया और उसने विनम्र दयाभाव से पीछे मुड़कर अपने प्रतिद्वंद्वी को देखा। उसे देखते ही वह अवाक् रह गया। अरे यह तो वह ख़ुद ही है जो प्रतिद्वंद्वी की तरह अपने ही सामने खड़ा है। सब कुछ वही। वैसे ही नाक-नक़्श, आकार-प्रकार, लिबास और घिसे हुए जूते।

उसे महसूस हुआ कि उसका प्रतिद्वंद्वी भी उसे देखकर उसकी तरह ही अवाक् है।

उसने कंधे पर लटके झोले की उस तनी को, जो दौड़ने के कारण अपनी जगह से खिसककर बाँह के गिर्द लिपट गई थी, ठीक किया। मुस्कुराया और अपना हाथ उसकी ओर बढ़ाते हुए बोला, ‘‘अगर हमारा इरादा एक-दूसरे को नुकसान पहुँचाने का नहीं है, तो हमें अपने को दोस्त मान लेना चाहिए।’’

प्रतिद्वंद्वी ने सहजभाव से उसका हाथ थामते हुए कहा, ‘‘ख़याल बुरा नहीं है। मुझे दोस्ती क़बूल है, लेकिन मैं टोपी और घंटी के लिए कोई समझौता करने को तैयार नहीं हूँ।’’

वह कुछ देर के लिए पशोपेश में पड़ गया। फिर कुछ सोचकर उसने कहा, ‘‘पाँचवी लेन का यह मुहाना ऐसी बातों के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। क्या यह अच्छा नहीं रहेगा कि हम किसी गुमटी में चाय पीते हुए बात करें। पॉश कॉलोनी की गुमटियाँ हम जैसे लोगों के लिए ही तो हैं।’’

‘‘वाक़ई’’, प्रतिद्वंद्वी ने सहमति जताते हुए कहा, ‘‘मुझे यह प्रस्ताव मंजूर है। लेकिन तुमसे चाय पीने के बाद भी मैं टोपी और घंटी की अपनी बात पर क़ायम रहूँगा।’’

‘‘ठीक है, यह तुम्हारा हक है कि तुम अपनी बात पर क़ायम रहो। हमारे बीच बातचीत का दरवाज़ा खुला रहेगा।’’

वे दोनों चाय की गुमटी खोजने लगे। अजीब बात थी दौड़ते हुए उन्हें बहुत-सी गुमटियाँ दिखाई पड़ी थीं, और अब जब उन्हें उनकी ज़रूरत थी तो बहुत मशक़्क़त के बाद वे एक गुमटी खोज सके। उसमें दाख़िल होकर उसने पहले दो गिलास पानी पिया फिर चाय का आदेश दिया। गुमटी की मालकिन एक बुढ़िया थी, जो इस भव्य महिमा के अनोखे संसार में किसी शोकगीत की तरह बिखरी हुई थी। वे आमने-सामने कुर्सियों पर बैठ गए, जिनकी ढीली चूलें बैठनेवाले को निरंतर सावधान रहने की मूक चेतावनी दे रही थीं। उनके बीच मौन छाया हुआ था और अँगीठी का धुआँ फैला हुआ था, जिसके बाहर निकलने के लिए गुमटी में कोई खिड़की नहीं थी।

चाय उम्मीद से पहले आ गई। प्रतिद्वंद्वी को आमंत्रण देते हुए उसने चाय का घूँट भरा तो उसका मुँह कसैला हो गया। चाय पहले से उबली पत्तियों से बनाई गई थी। उसकी इच्छा बुढ़िया को हड़काने की हुई, लेकिन यह सोचकर कि ऐसी छोटी-छोटी किफ़ायतों के सहारे ही वह इस चमकदार दुनिया में किसी तरह टिकी हुई है, उसने अपना विचार स्थगित कर दिया। उसकी माँ ने भी ऐसी किफ़ायतें करके ही अपने परिवार को पाला है। अब भी जब वह बीमार है तो अमूमन दस ़दिन की दवाओं को पंद्रह और कभी तो बीस दिन भी चला लेती है।

‘‘तो?’’ उसने प्याला मेज़ पर वापस रखते हुए पूछा।

‘‘यही सवाल तो मुझे भी तुमसे पूछना है।’’ प्रतिद्वंद्वी ने सहजभाव से कहा, ‘‘बंधु तुम उनकी टोपी और घंटी लेकर क्यों भाग रहे थे?’’

‘‘मुझे मालूम था कि तुम मुझसे यही सवाल पूछोगे,’’ उसने कहा, ‘‘दरअसल दोस्त वहाँ इंटरव्यू नहीं, नाटक हो रहा था। यह मुझसे बरदाश्त नहीं हुआ...’’

प्रतिद्वंद्वी हँसने लगा, ‘‘नाटक कहाँ नहीं है दोस्त! यह तो सभी जगह है और इसमें हमें वही

भूमिका निभानी है, जो हमारे लिए मुक़र्रर की गई है। नाटक के सभी पात्र नायक या ख़लनायक नहीं हो सकते। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि दीगर पात्रों की भूमिकाओं का भी महत्त्व है, और उन्हें निभाए बिना नाटक पूरा नहीं हो सकता।''

"अफ़सोस की बात है,'' कंधे का थैला उतारकर मेज़ पर रखते हुए उसने कहा, ''तुम्हें दोस्त मानकर मुझे शर्म आ रही है। मुझे क़तई अंदाज़ नहीं था कि तुम इतने समझौतावादी हो। जैसे तुम्हारी आत्मा ही मर गई हो। फिर भी अगर तुम्हारी ये नाटक-वाटक वाली बात मान भी ली जाए, तो फिर उसमें मेरे लिए एक छोटी-सी भी भूमिका क्यों नहीं है? मैंने तो बस इतना ही चाहा था और...''

प्रतिद्वंद्वी फिर से हँसने लगा। इस बार यह बहुत क्रूर और नश्तर की तरह की हँसी थी। "तुम्हारी जगह नाटक में नहीं, दर्शक-दीर्घा में थी। दर्शक किरदारों से ज़्यादा महत्त्व के होते हैं दोस्त, किरदार उन्हीं के लिए तो नाटक करते हैं। तुम्हें इतनी-सी बात समझ में नहीं आई और तुम वो टोपी और घंटी लेकर भाग खड़े हुए जो नाटक की संचालक शक्तियाँ हैं। पुअर क्रियेचर... माना गहरी निराशा, या फिर ऐसी उत्तेजना में यह हुआ, जो तुम्हारे क़ाबू से बाहर थी, लेकिन है तो यह अराजकता ही...एन एक्ट ऑव अनार्किस्ट...इसके लिए तुम पर मुक़दमा दायर किया जाएगा।''

वह प्रतिद्वंद्वी की बात से हत्थे से उखड़ गया और उसकी गर्दन दबोचने के लिए उछला, लेकिन प्रतिद्वंद्वी ऐसी वारदात के ख़िलाफ़ ख़ासा होशियार और फुर्तीला था। वह अपनी गर्दन बचाने में कामयाब हो गया और गर्दन दबोचने को बढ़ा हाथ टूटी तलवार-सा झनझनाते हुए मेज़ पर रखे झोले से टकराया और उसमे सहेजी घंटी बजने लगी। अधिकार और चुनौती भरी टनटनाहट से थड़े पर ऊँघती बुढ़िया हड़बड़ाकर खड़ी हो गई। वे दोनों भी चौंके और उनका ग़ुस्सैलपन हताश, पालतू और निरीह शांति में तब्दील हो गया।

''पता नहीं मुझे क्या हो गया था दोस्त'', घंटी की आवाज़ बंद होने पर उसने कहा, ''ग़ुस्से को अराजकता कहे जाने की तुम्हारी बात से मेरे दिमाग़ में गोली-सी दग़ी और मैं आपा खो बैठा। मुक़दमे की कोई परवाह नहीं है मुझे। भाड़ में जाए सब कुछ। ग़ुस्से के लिए भी कोई दफ़ा हो सकती है?''

''एन एंग्री यंग मैन'', प्रतिद्वंद्वी ने ठहाका लगाया। ''उनके पास हर उस कार्य की कोई-न-कोई दफ़ा है, जो उनके वर्चस्व को चुनौती देता है...ज़ाहिर है कि तुम्हारे ग़ुस्से के...''

''डोंट टेक इट सो लाइटली'', उसने नाराज़ होते हुए कहा, ''तुम नहीं जान सकते कि ग़ुस्से का क्या मतलब है...तुम तो यह भी नहीं जान सकते कि मैं कितनी तकलीफ़ में हूँ...मुझे नौकरी की कितनी ज़रूरत है और यह भी कि मेरा आत्मविश्वास तोड़ने के लिए उन्होंने मेरी कैसे खिल्ली उड़ाई...कुछ भी तो नहीं जानते तुम...'' और अपनी बात अधूरी छोड़कर उठ गया।

प्रतिद्वंद्वी आहिस्ता से मुस्कुराया। उसकी मुस्कान में उपहास की जगह अब तरल संवेदना और अपनेपन की ऊष्मा थी। उसका हाथ पकड़कर बैठने का आग्रह करते हुए उसने कहा, ''ऐसी बात नहीं है...मैं तुम्हारे और तुम्हारी तकलीफ़ों के बारे में सब कुछ जानता हूँ। जानता हूँ कि तुम्हारे पिता बिंद्रा कॉटन मिल में डिस्पैचर थे, जो मिल की ख़राब होते आर्थिक हालात की वजह से छँटनी के शिकार होकर सड़क पर आ गए और उसी के साथ तुम्हारे दुर्दिनों की शुरुआत हुई।''

उसने प्रतिद्वंद्वी को बीच में ही रोककर कहा, ''उन्होंने कालाबाज़ारी में माल बेचे जाने की शिकायत की थी। वे इस वजह से निकाले गए।''

''इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। असल बात ये है कि वे बेरोज़गार होकर सड़क पर आ

गए। उस समय तक वे घर बसा चुके थे। तीन प्राणियों का एक छोटा और सुखी घर, जिसमें उनकी पत्नी श्रीमती उमा देवी थी, जो अब अधेड़ और गठिया की मरीज़ है, लेकिन तब सपने देखती सुंदर और जवान महिला थी। एक बेटा श्री प्रबोध कुमार था, जो अब जवान है और टोपी और घंटी चुराने का अपराधी है, लेकिन तक वह कुशाग्र मस्तिष्क का संभावनाशील लड़का था और बेटी कुमारी अनुराधा थी, जो अब जवान है और एक ब्यूटी पार्लर में धनी महिलाओं की एड़ियों, टखनों और कोहनियों का मैल छुड़ाने का काम करती है, लेकिन तब वह छोटी-सी प्यारी बच्ची थी और डॉक्टर बनने का सपना देखा करती थी।''

''बात ऐसी तो ज़रूर है, लेकिन ठीक ऐसी नहीं है'', उसने विरोध ज़ाहिर किया, ''अनुराधा मैल छुड़ाने का काम नहीं करती। वह ब्यूटीशियन है और बासी-कपासे चेहरों को सजीव, उत्फुल्ल और आकर्षक बनाती है, जिसे कला का दर्जा दिया जाना चाहिए। और मैंने भी, जैसा कि तुमने कहा, टोपी और घंटी चुराई नहीं है, सिर्फ़ अपना ग़ुस्सा ज़ाहिर किया है। मैं इसके लिए शर्मिंदा नहीं हूँ और जब तक मेरे साथ ऐसा होता रहा, मैं ऐसा ही करता रहूँगा...'', ''अब तुम कुछ भी कहो,'' प्रतिद्वंद्वी के चेहरे पर कटार-सी पैनी मुस्कुराहट चमकने लगी, ''अनुराधा को मिलते तो सिर्फ़ दो हज़ार रुपए ही हैं। इतने रुपयों में तो... ख़ैर इनसे तुम्हारे घर का ख़र्च तो चल ही जाता है किसी-न-किसी तरह और तुम उसे संदेह की निगाहों से भी देखते हो...जहाँ तक रही तुम्हारी बात, पकड़े जाने पर मुक़दमा तो तुम पर दफ़ा चोरी में ही दर्ज होना है।''

उसने प्रतिवाद में सिर उठाना चाहा, पर पता नहीं ऐसा कैसे हुआ कि वह उठा ही नहीं, और सिर झुका होने की वजह से यह भी मालूम नहीं हो सका कि उसकी आँखों में धुँध थी, या धुआँ था। ''हमारी निजी ज़िंदगी के बारे में तुम बहुत कुछ जानते हो। लेकिन सिर्फ़ जानना ही कभी काफ़ी नहीं होता। बहुत-सी चीज़ें हैं, और मैं समझता हूँ कि वे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हैं, जो जानने की सीमा से परे हैं...''

''मैं भी ऐसा दावा नहीं करता,'' प्रतिद्वंद्वी का स्वर नम हो गया, ''फिर भी मैं तुम्हें और तुम्हारी पीड़ाओं को सघनता से जानता हूँ। यह बात अलग है कि दूसरे से अपने बारे में सुनना कभी अच्छा नहीं लगता। तुम्हें भी...''

उन दोनों के बीच असमंजस भरी चुप्पी पसर गई। उस चुप्पी में उसने प्रतिद्वंद्वी की ओर कुछ टटोलती-सी नज़रों से देखा और फिर मज़बूती से चुप्पी तोड़ते हुए बोला, ''ऐसी बात नहीं है। सुनने का माद्दा है मेरे पास। शायद जाना जा सके कि हमसे ग़लती कहाँ हुई...''

''तो क़िस्सा-कोताह यूँ है, अजीब बात है, पर तुम्हारा क़िस्सा,'' प्रतिद्वंद्वी कथा-वाचक में बदल गया, ''बिंद्रा कॉटन मिल से सड़क पर फेंक दिए जाने पर तुम्हारे पिता श्री त्रिलोकी नारायण गहरे संकट में पड़ गए। कच्चे कुनबे को चलाने की ज़िम्मेदारी उनके सिर पर थी। वे दिनभर रोज़गार की तलाश में भटकते और रातभर सोचते। उन्हें कोई नौकरी नहीं मिली। वे कुशल या अकुशल कारीगर होते तो भी बात थी। क़लम घिसने के अलावा वे कुछ जानते ही नहीं थे।''

''ये बात एकदम झूठ है,'' उसने तड़पकर प्रतिवाद किया, ''उन्हें गाना गाना आता था। वे बहुत अच्छा गाते थे।''

''ओफ़्फ़ो! लेकिन यह बात तो तब की है जब वे बिंद्रा कॉटन मिल में डिस्पैचर थे। वहाँ से निकाल दिए जाने के बाद तो मेरा ख़याल है उनके होंठो पर कभी गाना आया ही नहीं।''

''यह तो है...उसके बाद तो वे मुस्कुराना ही भूल गए थे...गाने की बात तो दूर रही।''

''ऐसे क़लम घिस्सू आदमी को कौन पूछता। इस देश में क़लम घिस्सू आदमियों की कमी है क्या? ऊपर से कंप्यूटर अपनी पैठ बना रहा था।

त्रिलोकी नारायण बाज़ार के लिए पूरी तरह व्यर्थ थे। वे डिप्रेशन में आ गए, बुझने लगे और फिर सनके हुए आदमी में बदल गए।''

''बात सही है'', आवेग से उसके होंठ थरथराने लगे और चेहरे पर शोकाकुल छाया-सा कुछ तैरने लगा,''ऐसा हुआ, लेकिन वैसे नहीं हुआ जैसा तुमने बताया। आदमी का टूटना क्या इतना इकहरा होता है? वह एक प्रहार से शीशे की तरह टूटकर खील-खील नहीं हो जाता, निरंतर प्रहार से रफ़्ता-रफ़्ता टूटता है...पिता ने लक्कड़मंडी और आढ़त बाज़ार में मुनीमगिरी भी की पर उनके उखड़े पैर कहीं नहीं जम सके। उन्होंने बाज़ार के हिसाब से अपने को ढालने की कोशिश भी की...''

''ये बातें मुझे मालूम हैं,'' प्रतिद्वंद्वी ने उसके चेहरे की शोकाकुल छाया में झाँकते हुए कहा, ''वे तो 'एम वे' का पोर्टफ़ोलियो लेकर भी भटके और उन्हें काफ़ी समय तक यह मुगालता रहा कि वे मल्टीनेशनल के मालिक हो गए हैं, और ये ऐसे मालिक थे जिन्हें कंपनी की प्रचार सामग्री तक के लिए पैसे ख़र्च करने होते थे। उनका सर्किल था ही नहीं, रहा भी होगा तो उसकी औक़ात इतने महँगे प्रॉडक्ट्स ,ख़रीदने की नहीं थी। बहरहाल लब्बोलुआब तो यही रहा न कि वे सनके हुए आदमी में बदल गए। तफ़सील में जाना मुझे मुनासिब नहीं लगा। यह घाव कुरेदने जैसा है।''

''मेरे ख़याल से वे तफ़सीलें ज़्यादा ज़रूरी हैं, जो गाना गाते आदमी को सनकी आदमी में बदलती हैं...''

''लेकिन तुम्हारी माँ श्रीमती उमा देवी सचमुच एक बहादुर औरत है। छँटनी में मिले पैसों के सहारे उसने घर चलाया। ये पैसे छोटे पड़ गए तो वह सिलाई का काम करने लगी। वह तुम्हारे पिता की तरह रातभर सोचती नहीं रही, मशीन पर कपड़े सिलती रही। काम के बोझ से उसकी कमर दोहरी हुई, फिर उसके घुटने मुड़े, फिर उसे गठिया हो गया और वह उठने-बैठने के लायक़ भी नहीं रह गई...''

''ऐसा ही हुआ। लेकिन क्या सिर्फ़ इस वजह से...'' अवसाद ने उसका गला रुँध दिया।

''नहीं। वजहें तो और भी हैं,'' प्रतिद्वंद्वी ने दरमियाने क़िस्म का रुख़ अख़्तियार करते हुए कहा, ''पर जैसा मैंने अर्ज किया है, मुझे तफ़सील में जाना पसंद नहीं है। इनसे बहुत तकलीफ़ होती है। हाँ, तो फिर श्रीमती उमा देवी के निरर्थक होते ही तुम्हारी बहन अनुराधा ने मोर्चा सँभाल लिया। वह ब्यूटी पार्लर में नौकरी करने लगी। यह अफ़सोस की बात है कि वह लड़की जो कभी डॉक्टर बनने का सपना देखा करती थी, उसे ब्यूटी पार्लर में धनी महिलाओं के टखनों, एड़ियों और कुहनियों की मैल छुड़ाने का काम करना पड़ रहा है। और यह नौकरी भी उसे हमदर्दी की वजह से मिली, या फिर ख़ूबसूरती की वजह से, यह कहना मुश्किल है...''

''देखो मिस्टर अब तुम अपनी हद पार कर रहे हो।'' वह गुर्राया।

''गुर्राओ मत दोस्त!'' प्रतिद्वंद्वी ने टोका, ''शक तो तुम्हें भी है। वरना रोटी खाते वक़्त हर दिन तुम्हारी गर्दन शर्म से नहीं झुकती...लेकिन तुम कर भी क्या सकते हो। तुमने तो ट्यूशनें करके जैसे-तैसे अपनी पढ़ाई पूरी की और फिर नौकरी के लिए कहाँ-कहाँ नहीं भटके। लेकिन तुम्हारे न रसूक़ात थे और न तुम्हारे पास पैसा था...''

''हाँ, ऐसा तो है। नौकरी के लिए मैंने कितने पापड़ बेले। कितना भटका और असफलताओं ने मुझे कितना तोड़ा...पर इस बार तो मुझे पूरी उम्मीद थी। तैयारी भी बहुत की थी मैंने और उनके सवालों के जवाब भी सही दिए। मेरा आत्मविश्वास अपने चरम पर था। ऐसा कोई कारण ही नहीं था कि मैं चुना न जा सकूँ।''

प्रतिद्वंद्वी मुस्कुराया। यह करुणा भीगी मुस्कान थी। ''तुम्हारा विश्वास बहुत भोला है दोस्त। तुमने अपने हर सही जवाब की प्रतिक्रिया में

उनके लटकते थोबड़े देखे ही नहीं और विश्वास करने लगे कि तुमने शो चुरा लिया है। उन्हें भी लगा पानी सिर के ऊपर से गुज़रने लगा है तो उन्होंने एक ऐसा सवाल दाग़ दिया कि तुम्हारी टैं बोल गई। तुम चारों खाने चित गिर पड़े और बोर्ड हँसने लगा।''

''हाँ, पूछा, ''कठोपनिषद् में उद्दालक पुत्र नचिकेता ने यमाचार्य से तीसरे वचन में क्या माँगा था?'' विज्ञान के छात्र से ऐसा सवाल पूछा जाना हद दर्जे की बदतमीज़ी थी। मैं हड़बड़ा गया और वे हँसने लगे, ''कितने खेद की बात है, आज की पीढ़ी को तो अपने धर्म और संस्कृति का रत्ती भर भी ज्ञान नहीं है। और बस, मेरे दिमाग़ में धाँय से गोली दग़ गई।''

''गोली तुम्हारे भीतर दग़ी और उन्हें पता ही नहीं चला। दरअसल तुमने उन्हें पता होने ही नहीं दिया। चुपचाप, बहुत शांति और सलीक़े के साथ तुमने अपने दस्तावेज़ समेट कर झोले में रखे और जब वे पूरी तरह आश्वस्त और असावधान हुए, तुमने मौक़े का फ़ायदा उठाया और उनकी टोपी-घंटी लेकर भाग गए।''

''हाँ, यह मेरा ग़ुस्सा है, लेकिन तुम इसे चोरी और अराजकता कह रहे हो। ख़ैर अब इस विवाद में पड़ने का कोई मतलब ही नहीं रहा। मेरी कहानी यहाँ ख़त्म होती है और तुम्हारी शुरू होती है।'' उसने कहा और उसकी आँख से आँख मिलाकर सख़्त आवाज़ में सवाल पूछा, ''अब बताओ, तुम कौन हो, और मेरे बारे में सब कुछ कैसे जानते हो? अगर तुमने ज़रा भी झूठ बोलने की कोशिश की तो...''

प्रतिद्वंद्वी उसके इस सवाल पर क़तई नहीं चौंका। उसने सहजभाव से जवाब दिया, ''बस समझ लो कि मैं वही हूँ जो तुम हो। समझना भी क्या? यह हक़ीक़त है। अ नेकेड ट्रुथ... फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि तुम्हारा साक्षात्कार हो चुका है और तुम्हारी संभावना ख़त्म हो चुकी है, मेरा अभी नहीं हुआ है और संभावना क़ायम है। मुझे घंटी और टोपी की ज़रूरत है। आई हंबली रिक्वेस्ट यू फ़ॉर द सेम...तीन बजे से साक्षात्कार फिर शुरू होना है, और अभी वक़्त है।''

वह होंठ गोल करके सीटी बजाने लगा। उसका क़द बढ़ गया था। अब वह दाता था। उसने झोले में से टोपी और घंटी निकाल कर मेज़ पर सजाई। प्रतिद्वंद्वी की ओर देखा, मुस्कुराया और बोला, ''मुझे इस टोपी और घंटी की क़तई ज़रूरत नहीं है। जो कहना चाहता हूँ, वो कह चुका हूँ। फिर भी अगर तुम मुझसे इन्हें छीनने की कोशिश करते तो मैं इन्हें छीनने नहीं देता। लेकिन तुम याचना कर रहे हो तो...''

''फिर भी यह समझाना मेरा फ़र्ज़ है। ये टोपी और घंटी तुम्हारे किसी काम की नहीं है। वे नौकरी के लिए अपने किसी भाई-भतीजे का चुनाव कर चुके हैं। यह सब तो सिर्फ़ एक नाटक है।''

हाथ पसारे हुए ही प्रतिद्वंद्वी ने कहा, ''फिर भी मैं संभावना की हत्या तो नहीं कर सकता। मुमकिन है टोपी-घंटी छिनने की शर्मिंदगी और उन्हें वापस लाने के मेरे अहसान से वे अपना निर्णय बदल दें...''

''मुझे ऐसा लगता तो नहीं। फिर भी शुभकामनाओं के साथ...'' उसने कहा और दोनों चीज़ें उसकी ओर सरका दीं। प्रतिद्वंद्वी टोपी-घंटी सहेजकर भागने को तैयार ही था कि उसने उससे उस दिन का आख़िरी सवाल पूछा, ''एक बात तो बताओ दोस्त अगर तुम्हारे साथ भी मेरे जैसा सलूक हुआ तो क्या तुम भी...''

''कह नहीं सकता। मुमकिन है कि मैं भी ऐसी कोशिश करूँ। लेकिन ज़रूरी नहीं है कि मैं ऐसा करने में सफल हो ही जाऊँ। वे अब पहले से ज़्यादा होशियार और चौकन्ने हैं...'' प्रतिद्वंद्वी ने कहा और अपनी पूरी ताक़त से दौड़ने लगा।

अलका पाठक

सिंहासन बत्तीसी

(भाग-2)

प्रमाणित किया जाता है कि यह सिंहासन बत्तीसी शीर्षक विश्व प्रसिद्ध पुस्तक का दूसरा भाग है।

पहले भाग में आप पढ़ चुके हैं कि उज्जयनी नगरी में एक चरवाहा बालक ऊँचे टीले पर बैठकर ज्ञान की बातें करता था। टीले से उतरकर सामान्य हो जाता। ख़बर राजा भोज तक पहुँची। उन्होंने टीले की खुदाई कराई। अंदर एक बहुत ही सुंदर रत्नजड़ित सिंहासन निकला। उसके पायों में बत्तीस पुतलियाँ जड़ी थीं। राजा भोज जब सिंहासन पर बैठने को पैर बढ़ाते तो सिंहासन की एक पुतली सामने आ जाती और एक कहानी सुनाती। अंत में कहती कि ऐसे थे इस सिंहासन पर बैठनेवाले राजा वीर विक्रमादित्य। अगर तुममें यह गुण हो तो सिंहासन पर बैठो। राजा भोज लौट जाते। होते-होते सब पुतलियों ने कहानी सुना-सुनाकर यह बता दिया कि राजा भोज तो महान राजा वीर विक्रमादित्य के तो पासंग भर भी नहीं हैं। राजा भोज ने सिंहासन को वहीं गढ़वा दिया जहाँ से खोद निकाला था। बत्तीस पुतलियों की कहानियों और राजा भोज के असमंजस की चर्चा सारे राज्य में फैली। साथ में सिंहासन भी दरबार में बैठे सब लोगों ने देखा। जिन्होंने न देखा था उन्होंने उसका वर्णन सुना और हर ख़ास और आम तक सिंहासन की चर्चा पहुँची। चलते-चलते चर्चा चोरों तक पहुँची। चोरों को क्या सोच-विचार करना था, उन्होंने रात के अँधेरे में सिंहासन चुरा लिया। सुरंग खोदकर निकाल ले गए। तोड़कर बेचना चाहते थे। न बेच पाए। बेच इसलिए न पाए कि तोड़ नहीं सके। फिर उन्होंने बनाया जौहरियों का वेश और जाकर श्रावस्ती के राजा को वह सिंहासन बेच दिया। राजा उस रत्नजड़ित स्वर्ण सिंहासन पर विराजा। सिंहासन की सुंदरता की चर्चा फैली। राजा भोज ने भी सुनी। वर्णन तो वीर विक्रमादित्य के सिंहासन का ही था। राजा भोज ने टीले को फिर खुदवाया। वहाँ सिंहासन था ही नहीं। एक सुरंग दिखी। राजा भोज जान गए कि सिंहासन चोरी हो गया। गए श्रावस्ती। देखा कि दरबार के राजा उसी सिंहासन पर विराजमान हैं। लेकिन न वह आभा, न चमक। वह तो पीतल का है। राजा भोंज ने श्रावस्ती के राजा को सिंहासन की पूरी बात सुनाई और कहा कि यह तो पीतल का है। अब राजा चकित हुआ और

अलका पाठक का जन्म 1952 में हुआ। इनकी उपन्यास, कहानी तथा व्यंग्य की 41 पुस्तकें प्रकाशित। आकाशवाणी की राष्ट्रीय प्रसारण सेवा की निदेशक। संपर्क : 2-सी, सूर्य अपार्टमेंट्स, सेक्टर-13, रोहिणी, दिल्ली-110085

जाँचा–परखा तो सिंहासन सचमुच पीतल का निकला। पंडितों–पुरोहितों, ज्ञानियों ने कहा कि जो सिंहासन बिक जाता है उसकी आब, उसका प्रभाव सब चला जाता है। इसलिए अब इसको पानी में डुबो देना चाहिए सो सबकी राय से श्रावस्ती के राजा ने उसे कावेरी नदी में डुबो दिया। इसके बाद श्रावस्ती के राजा और उज्जयनी के राजा भोज अपनी–अपनी नगरी लौट गए। सिंहासन वहीं का वहीं कावेरी के जल में पड़ा रहा, पड़ा रहा, पड़ा रहा।

इति सिंहासन बत्तीसी प्रथमों भाग : — अब आगे की कथा सुनें।

अब यह तो ठीक से पता नहीं है कि इसके बाद कितने सौ या कितने हज़ार साल बीते पर यह पक्का है कि शक संवत् 1926 के चैत्र मास की 26 तारीख़ को या कि ईस्वी संवत् 2004 की अप्रैल माह की सोलह तारीख़ को या कि विक्रमी संवत् 2061 वैशाख मास की कृष्ण पक्ष की एकादशी थी जब यह ख़बर छपी थी कि भारत देश में नदियों को आपस में जोड़ने की परियोजना पर राजा की मुहर लगी थी। श्रावस्ती और उज्जयनी दोनों का क़द घट गया था और वह न राज्य रहे न राजधानी। शहरों में तब्दील हो गए थे उज्जयनी में क्षिप्रा में जल न था और कावेरी के जल के पीछे राज्यों में झगड़े रहते थे। झगड़ों को हल करने के लिए कमेटियाँ बनती थीं और कमेटी में वार्त्ता होती थी। किसानों को पानी की क़िल्लत थी। गाँव में गागर रीति थी लेकिन कमेटियों वग़ैरह में मिनरल वाटर भरपूर रहता था। इन्हीं दिनों यह विचार बना कि नदियों को एक–दूसरे से जोड़ दिया जाए। फिर ऐसा हो गया। गंगा जी और जमुना जी का जल ब्रह्मपुत्र में जा मिलता और झेलम की मुलाक़ात कावेरी से हो जाती। इंजीनियर लोग पानी को ऐसे ही इधर–उधर कर देते जैसे सरकारी फ़ंड को कर देते। इस पर राजा लोग ध्यान न देते। वह ध्यान को भी इधर–उधर करने में सिद्धहस्त थे। यह कुछ ऐसी हेरा–फेरी का दौर था जब एक हाथ को पता न होता था कि दूसरा हाथ क्या कर रहा है। कावेरी का जल कभी गंगा जी में जाता, कभी ब्रह्मपुत्र में। कभी जमुना जी में जाता। जल डोलता रहता। ''गंगा मैया में जब तक यह पानी रहे, मेरे सजना तेरी ज़िंदगानी रहे'' की जगह इंजीनियर साहब की मर्ज़ी के गीत गाए जाते। नदी की धारा बदल जाती। मुआवज़े के रुपयों का आकर्षण शहरों को डुबो देता। गाँवों को बहा ले जाता। नदी जहाँ थी, वहाँ न बहती, वहाँ से दो मील दूर बहती। ऐसा यों होता कि इंजीनियर साहब चाहते तो, कावेरी का जल धार बदलता। तट बदलता। नगर और गाँव बदलता। सब लोग धीरे-धीरे भूल गए कि कावेरी के जल में एक सिंहासन इसलिए डुबोया गया था कि वह बिक चुका था इसलिए अपना असर खो चुका था। वह अकेला ऐसा थोड़े ही था। सारे ही बिके हुए थे। सारे ही बेअसर थे। सारे ही आभाहीन थे। ऐसे में उस एक बिके हुए सिंहासन पर कौन ध्यान देता। कावेरी के जल के साथ–साथ वह सिंहासन भी जाने कहाँ–कहाँ भटका। सदियों पटका। भटकते-भटकते वह जाने कहाँ गया। नदियाँ भी जब चाहे धारा बदल लेतीं। नीचे ज़मीन निकल आती। पहले उसमें बारी–फुलवारी होती फिर कहीं से ट्रक भर–भरकर मिट्टी डाली जाती। प्लॉट कटते। कॉलोनी बनती। मकान बनते। मकानों में घर बनते। जैसे सभी मकानों की नींव में घरवालों के सपने होते हैं, पेट काट–काटकर बचाए पैसे होते हैं, तमाम उम्मीदें होती हैं, ऐसे ही मकान में अपनी गृहस्थी लेकर एक जोड़ा आया। भला मानस, सुलक्षणा नारी। सुत आज्ञाकारी। बेटी सुघड़ सयानी। बड़े मन से घर बनाया था। सारी जमा–पूँजी लगाई थी। अच्छी घड़ी, शुभ घड़ी, में घर में प्रवेश किया। जो कुछ रीति-रिवाज थे सो सब किए।

संक्षेप में यों समझिए कि एक अच्छा–भला परिवार जैसा ही अच्छा भला परिवार। आदमी

कमाकर लाता। औरत के हाथ में धरता। औरत घर चलाती। दो पैसे आड़े वक़्त को बचाकर रखती। कोई क़र्ज़ नहीं। कोई ऐब नहीं। कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं। खाँसी-ज़ुकाम जैसी मौसमी बीमारियों को छोड़ दें तो डॉक्टर-वकील-पुलिस से कोई वास्ता नहीं। वफ़ादार पति। पतिव्रता स्त्री।

अब क्या हुआ कि औरत ने घर के दरवाज़े खोल दिए। जहाँ एक पैसे की ज़रूरत होती चार ख़र्च करती। आदमी तनख़्वाह कहीं उड़ा देता। ख़र्च क़र्ज़ से चलता। ब्याज देने को भी क़र्ज़ लेता। क़र्ज़ पर क़र्ज़। ब्याज पर ब्याज। लड़का जाने क्या-क्या पढ़कर विलायत चला गया। घर के बासन-भाँड़े बिक गए। बाहर के लोग घर में पंचायत करने लगे। बेटी भी...ज़्यादा क्या कहूँ। आप ख़ुद समझदार हैं। पुरखों का नाम मिट्टी में मिल गया। घर बारह बाट हो गया। पंछी सब अलग-अलग दिशाओं की ओर उड़ गए और बिन घरनी घर भूत का डेरा। यों हुआ कि किसी को समझ न आए कि बसा-बसाया घर इस तरह उजड़ा कैसे। मकान नीलाम हो गया। जिसने ख़रीदा उस पर पैसा था बहुत। उसे तो घर नहीं बनाना था, कुछ ऊँचा भवन बनाना था। उसमें कई मंज़िले तहख़ाने वग़ैरह बनाने थे सो उसने मकान को गिरा दिया। मलबे को किनारे किया और ख़ुदाई शुरू की। जितना ऊँचा मकान, उतनी गहरी नींव।

खोदते-खोदते उसमें टन्न की आवाज़ आई। निकला तो वही सिंहासन। पीतल का। पत्थर जड़ा। बदरंग बेशक्ल। अब सौदागर को यह तो पता था कि इस जगह एक बसा-बसाया परिवार उजड़ गया था। ठीक मकान के नीचे एक सिंहासन दबा था। पायों में पुतलियाँ थीं। सौदागर सिंहासन पर बैठा। पुतलियाँ न बोलीं। चुप रहीं। "बोलो पुतलियों, तुम बोलतीं क्यों नहीं!"

पुतली चुप। फिर पूछा—चुप। सबको पूछा—सब चुप। सौदागर ने एक पुतली को बटुए में से निकालकर एक नोट दिखाया कि बोल। पुतली की भवें हिलीं। बोली नहीं। उसने दूसरा नोट दिया—पुतली नहीं बोली। तीसरा दिया, पूछा—यह बाक़ी पुतलियाँ क्यों नहीं बोलतीं? पुतली फिर भी चुप रही। फिर एक और नोट दिया कि, "ऑफ़ दि रिकॉर्ड" बता दे। पुतली ने अविश्वास से देखा। यह समझ गया। बोला, "किसी को न बताऊँगा और तुम्हारा नाम तो कहीं न आने दूँगा।" सौदागर ने एक और नोट देकर बात को पक्का किया। सौदागर समझ तो गया कि पुतलियाँ सरकारी सिंहासन की हैं। चुप रहकर वक़्त गुज़ारने की आदी हैं। बिना पैसों के उँगली भी नहीं हिलातीं। अपनी बात की थाह नहीं लगने देतीं, अपना नाम किसी कंट्रोवर्सी में नहीं आने देंगी। चार पैसे देकर अपनी ओर फोड़ी जा सकती हैं। सौदागर चतुर था। घाट-घाट का पानी पिए था। ताड़ गया। पैसा पाकर पुतली बोली कि, "यह जो बाक़ी पुतलियाँ हैं, कायर हैं। स्वार्थी हैं। संग में बेईमान भी। बस अपनी खाल बचाने में लगी रहती हैं। इन्हें क्या, कोई जिए या मरे!" इतना कहकर पुतली चुप हो गई। उसने नाम न बताया। नाम न बताने की शर्त पर ही उसने इतनी बात बताई।

सौदागर को तरीक़ा आ गया। जैसे उसने पहली पुतली से पूछा था वैसे ही उसने बाक़ी पुतलियों से पूछा, पूछ ही लिया।

दूसरी पुतली बोली, "औरत ने इस मकान में आते ही एक की जगह चार पैसे ख़र्च करने शुरू किए। क़र्ज़ लेती। घूमती—ऐश करती। क़र्ज़ चुकाने को ही नहीं ब्याज देने को भी क़र्ज़ लेती। घूमती—ऐश करती। ज़मीन में सिंहासन दबा था। सिंहासन पर बैठनेवाले राजा देश के लिए जो कर चुके थे औरत ने वही घर के लिए किया। पुतलियाँ न देश की बरबादी के समय बोलीं न घर की। पुतलियाँ चुप रहती थीं। भाड़ में जाए दुनिया, चूल्हे में जाए जहान। हमें तो सिंहासन के चरणों से लिपटे रहना।"

जाट कहे, सुन जाटनी, इसी गाँव में रहना
ऊँट बिलैया ले गई, हाँजी-हाँजी कहना।

तीसरी पुतली बोली कि, ''सुन सौदागर—सच गया। झूठ आया। संग में ख़ुशामद को लाया। औरत आदमी दोनों एक-दूसरे को ठकुर सुहाती कहते। ग़लत काम को ये न कहते कि यह क्या हो रहा है और क्यों हो रहा है। नीचे सिंहासन जो दबा था। बैठनेवाला सदा ख़ुशामदियों से घिरा रहता। ख़ुशामद के ऐसे-ऐसे तरीक़े कि ख़ुशामद पानी-पानी हो जाए। राजा तेलंगाना का था। तिरुपति में भगवान बालाजी को केश चढ़ाकर आया। अगली बार दीवान-ए-आम में क्या देखता है कि एक केशधारी सरदार का खल्वाट ललाट चमक रहा है। पगड़ी तो पगड़ी, केश भी गए। वह भी तिरुपति में मन्नत पूरी कर बाल उतरवा कर आया। लोचन बाल जाल में ही नहीं उलझते, बाल उतरवाकर भी ऐसे उलझे कि वह सरकार की आँख में चढ़ गया। आँख में चढ़ने के लिए, देर तक सोनेवाले उसी पार्क में प्रभात भ्रमण को जाने लगे।

नास्तिक मस्जिद में अजान देने लगे और साईंसदां गुरुजी के चरण दबाकर भभूत प्राप्त करने लगे। जो जैसा सिंहासन पर आ विराजता, बाक़ी सब सामर्थ्य भर वैसा करने लगे। दौड़ में सब शामिल हो जाते। आगे कोई-कोई निकलता। जो आगे निकलता वह रेस जीत जाता लेकिन अपनी आन-बान हार जाता। चूँकि ऐसे राजा का सिंहासन नीचे था तो औरत के भी सब काम ऐसे ही हो गए थे। अंत तो वही हुआ कि उसका घर बरबाद हुआ। जिस देश के राजा का सिंहासन बिका हुआ हो और ख़ुशामदियों से घिरा हुआ हो उस देश का जैसा होता ठीक वैसा ही उस औरत के घर का हुआ।

चौथी पुतली बोली, ''मैं सुन रही थी जब वह ख़ुशामदियों की कथा कह रही थी। इससे भी ज़्यादा कोई ख़ुशामदी होगा क्या? सारी ज़िंदगी ख़ुशामद के अलावा कुछ किया क्या? इसमें तोप के मुक़ाबले खड़े होने की ताक़त थी और वह सेठ-साहूकारों के हाथों बिकी रही। दरबार में हाज़िरी देने और दस्तरख़ान से कुछ टुकड़े हासिल करने की आशा में रही। इसने न शब्द की शक्ति पहचानी न उसकी लाज रखी। यह तो अंतःपुर के अंदर आ-जा सकनेवालों की बिरादरी ही बन गई। ज़रूरत-बेज़रूरत तालियाँ बजाईं और बदले में गले का हार बने या गले का हार पा गए। पहरूए का धर्म नहीं निबाहा। सिंहासन को सच न सुनना था, इन्हें न सच बोलना था। जो सच बोलना चाहते और जानते थे उनमें से एक-आध का गला घोंट दिया जाता और बाक़ी उसे देखकर ही डर जाते। जिनमें इसके बाद भी सच बोलने का उबाल कभी-कभी आता वह गाते—दिल्ली हो या लाहौर / कोई फ़र्क़ नहीं है / सच बोलकर हर शहर में / ऐसे ही रहोगे।

सच तो वह भी न बोलते थे लेकिन चुप रहकर यह समझते थे कि वह सच बोल रहे हैं क्योंकि झूठे की हाँ में हाँ नहीं मिला रहे हैं। सिंहासन का असर था कि औरत ने भी सरासर झूठ और ख़ुशामद का ही काम किया। जहाँ सही सलाह की ज़रूरत थी वह न पति को दी, न पुत्र को, न पुत्री को। बालक चोरी करे, माँ सिहाये तो एक-न-एक दिन बालक़ ने आख़िर में नाक-कान काटने ही थे। वही उस औरत का भी हुआ।''

कहकर पुतली तो चुप हो गई पर सौदागर सोचता रह गया कि पूछे सच और सही-सलाह होती क्या शै है।

सौदाग़र को सोच में पड़ा देखकर रुपए लेने की रस्म अदायगी के बाद पाँचवी पुतली बोली कि, ''सच और सही सलाह जैसी चीज़ें राजा न मानता था। इन शब्दों को कार्यवाही से ऐसे ही

ख़ारिज कर दिया गया जैसे ईमानदारी, सेवा, स्वयंसेवक जैसे शब्दों को किया गया था। ख़ुशामद राष्ट्रीय चरित्र बन गया था और बेईमानी कोई बुरी चीज़ न थी। वह तो केवल वे ऑफ़ लाइफ़ था। वही औरत ने भी किया। सिंहासन पर बैठनेवाले जैसे देश से करते थे, वैसे ही उसने परिवार के साथ किया। गुण और गुणग्राहक दोनों की ही क़दर न थी इसलिए उसकी कोई कमी भी महसूस न करता था।''

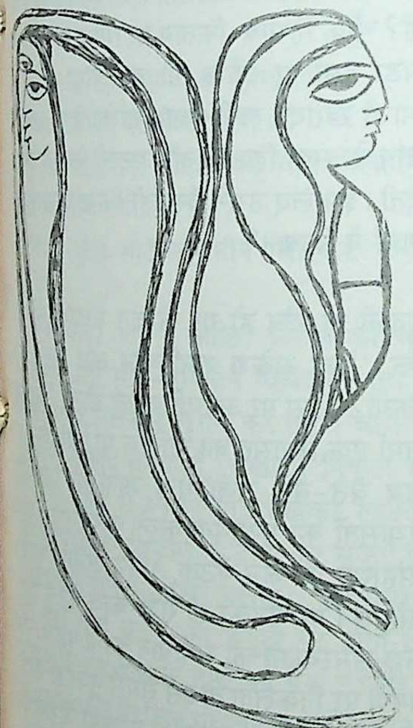

''बड़ी आई गुन की हिमायती!'' छठी पुतली ने कहा, ''जो था उसको चोरों के लिए खुला छोड़ दिया। घर की जागीर खुले हाथों ख़ुद लुटा दी। पूछनेवालों ने पूछा भी कि अपने घर में सेंध क्यों लगा दी! वह बोली कि सेंध नहीं लगाई, विनिवेश कर दिया। हमारे बस का नहीं है इस सबको सँभालना। आओ रे चोरों, लुटेरों, ठगों और डाकुओं सब तुम्हारा है। लोग लूटते थे। घरवालों की मर्ज़ी से लूटते थे सो इसे न चोरी कह सकते थे न डाका। पुलिस क्या करती? पुलिस तो उसमें कुछ न करती थी जिसमें उसका कुछ करना था। जब चोरी ही न होती थी तब पुलिस पकड़ने का काम कैसे करती। बिना काम के कोई क्या करे? इसलिए वह हफ़्ता वसूलती थी। खुलेआम। दरोगा जी से लोग डरते न थे। चूँकि हिस्सा पत्ती ऊपर तक बँधी थी इसलिए सब बेधड़क थे, तंदूर में जला दो, शराब न दे तो साक़ी को गोली मार दो। जब चाहे धाँय-धूँ कर दो। चोरी-चकारी की रिपोर्ट न होती। रिपोर्ट हो जाए तो कोई पकड़ा न जाता था। जो पकड़ा जाता सो छूट जाता। छूटना इस बात पर तय था कि कौन पकड़ा गया। जितना बड़ा आदमी उतने ज़्यादा पैसे। ग़रीब का काम कम पैसों में हो जाता। पैसे न होते तो दो डंडे खाकर हो जाता। औरत यह सब देखती थी कि किसी बात पर कोई रोका-टोकी है नहीं। औरत ने भी घर की चीज़ें बेचनी शुरू कर दीं। नीचे, ज़मीन के नीचे जो सिंहासन दबा था, उस पर बैठनेवाले भी ऐसे ही कर रहे थे। एक की जगह चार को मज़दूरी प्रदान की।''

सौदागर ने पूछा कि ''यह क्या बात हुई!'' पुतली सरकारी सिंहासन की थी। सब बातें जानना उसके लिए ज़रूरी न था। जानती हो तो यह उसके निजी प्रयास, लेकिन बताना सरकारी काम। सो वह बोली, ''यह मामला पी. आर. का है।''

''एक बार इस सिंहासन पर जो राजा बैठा, उसे नाच-गाने देखने का बड़ा शौक़ था। पहले तो वह इनाम में गले का सतलड़ा हार बख़्श देता था। बाद में उसने रॉयल्टी का नियम बना दिया। साल भर में जहाँ-जहाँ गीत वग़ैरह होते साल के अंत में उसका भुगतान हो जाता। हर साल लगभग एक सी रक़म मिलती। गीत का हिसाब-किताब एक मुंशी रखता। साल में दिन गिनती के, वार-त्योहार गिनती के। हिसाब पाई-पाई का। ऐसा सालों से चला आ रहा था। पता नहीं कैसे हुआ,

क्या हुआ कि राजा मुंशी पर बहुत बिगड़ा। हिसाब का बही-खाता तलब किया। मुंशी हिसाब का पक्का था। उसके पास पाई-पाई का हिसाब था। बख़्शिश वह किसी से नहीं लेता था। सो राजा के सामने बेधड़क खड़ा हो गया। उसको बेधड़क देखकर राजा का पारा और चढ़ा। मुंशी को ख़ूब खरी-खोटी सुनाई। राजा अहंकार का मारा था और मुंशी अदब का। अदब करता था, ख़ुशामद नहीं। हिसाब पर उसे भरोसा था सो उसने विनम्रतापूर्वक राजा के ग़ुस्से का सबब पूछा। राजा ने कहा, 'गानेवाले को कितने पैसे देते हो?'

'हुज़ूर, पाँच रुपए गाना।'

'और साज़िंदों को?'

'इसी में शामिल है हुज़ूर!'

'कहाँ लिखा है?'

'लिखा तो नहीं है, पर हमेशा से इमसें शामिल होता आया है!'

राजा ने फ़रमान जारी किया कि 'पाँच रुपए गाना तथा पाँच रुपए हर गायक को, पाँच-पाँच रुपए हर साज़िंदे को। पाँच रुपए गीतकार को, पाँच क़ातिब को, पाँच नक़लनवीस को...'

मुंशी हक्का-बक्का। नचनिए और गवइए ख़ुश हो गए, ख़ूब ख़ुश। राजा की जयजयकार करते गए। राजा अपनी जय-जयकार सुनकर ख़ुश हुआ, ख़ूब ख़ुश हुआ। मुंशी चिल्लाता रह गया कि हुज़ूर इससे तो ख़ज़ाने पर बहुत बोझ पड़ेगा। राजा उठते-उठते बोला, 'ख़ज़ाना तुम्हारे बाप का है या सरकार का? लैट दैम एंज्वॉय!'

सबने राजा की दानवीरता की तारीफ़ की। मुंशी ने कहा कि, 'हुज़ूर साज़िंदों को पाँच-पाँच रुपए तो साज़ों को ही क्यों छोड़ते हैं—इनकी भी क़ीमत है, मेंटेनेंस है।' राजा ने उसको भी मान लिया और जान लिया कि मुंशी भी खेल को समझ गया है। तो साज़ों को भी हर गीत के पैसे मिलने लगे। गाने में साज़ कितने थे—सारंगी, तबला, बाँसुरी, सितार और वीणा। फिर उसमें मंजीरे, खड़ताल और चिमटे भी मिले। चिमटे थे तो चमचे क्यों पीछे रहते। वह भी आए। वह जो गीत का पाँच रुपए पाते थे, पाँच हज़ार पाने लगे। सब ओर अशर्फ़ियों की लूट चल रही थी। सब कोरस में गाते, हम सब ही लूटते हैं सरकार का ख़ज़ाना! राजा की कौन-सा जेब से जाना था। वह अशर्फ़िया लुटा-लुटाकर न भला बन रहा था, न अपनी तारीफ़ सुनने को मरा जा रहा था। मुंशी को बेशक हिसाब न आता हो पर अंधा भी समझ सकता था कि अगर पाँच की जगह पाँच हज़ार मिल रहे हैं तो इसमें से कैश अथवा काइंड में वापिस कितने सिफर पहुँच रहे हैं? चूँकि हिसाब-किताब पर सिंहासन का असर पड़ा इसलिए औरत भी इसी तरह से साग-भाजी ख़रीदने लगी। आम ख़रीदती तो आम के दाम के साथ छिलके और गुठली के पैसे अलग देती। इसलिए उसने वैसा ही किया जैसा सुकेश शर्मा ने किया।''

पुतली तो मौन हो गई लेकिन सौदागर ने पूछा कि, ''यह सुकेश शर्मा कौन और उसने क्या किया?'' इस पर आठवीं पुतली बोली, ''सुकेश शर्मा एक रियासत का मालिक था। सिंहासन पर जब बैठे-बैठे राजा थक जाता तो वह और रियासतों का मुआयना करने चला जाता। राजा सिंहासन पर कम बैठता, भ्रमण अधिक करता। सिंहासन पर बैठकर तो राज-काज करना होता, कुछ समस्याओं का समाधान करना पड़ता। जब भ्रमण पर निकलता तो इस सबसे मुक्त हो जाता। जाता वह ऐसी जगह जहाँ से गड़बड़ी के समाचार बहुत होते। सुकेश शर्मा की नगरी में भी बहुत घपले होते। राजा को निरीक्षण के लिए जाना पड़ता। वहाँ तमाम अधर्म और भ्रष्टाचार, अनाचार एवं व्यभिचार के काम थे। राजा जाता। सबमें डूब-डूबकर गोता लगा-लगाकर वह मुआयना करता और इस गोताख़ोरी में मोती यह हाथ लगता कि सुकेश शर्मा निर्दोष है।''

जब पंक में आकंठ डूबा था तब निर्दोष कैसे बच जाता था, यह आश्चर्य का कारण था। इसका

रहस्य बड़े-बड़े ज्ञानी न जान पाते। राजा के आने की ख़बर सुनकर सुकेश शर्मा के सहायक दौड़े आते कि क्या तैयारी करें, खातों का क्या करें, हिसाब कैसे ठीक करें, बग़ल में यह बड़े-बड़े बही-खाते लेकर मुंशी लोग दौड़े आते। सुकेश शर्मा उनकी परवाह न करता—'यह तुम देख लो!' 'सर! आप देख लेते!' सहायक चिरौरी करता।

वह तुम देख लो, मैं यह देखता हूँ कि 'हाऊ टू कीप हिम बिज़ी एंड इन गुड ह्यूमर टू...।'

'लंच चाइनीज़, डिनर कॉन्टीनेंटल, और चाय!'

'चाय तो ऑफ़िस में ही होगी...'

'चाय कैंटीन से मँगवा लेंगे।'

'गुड गॉड, उन्हें कैंटीन की चाय पिलाएँगे! चाय के साथ क्या...'

'सर! कुछ मीठे-नमकीन बिस्किट मँगवा लें?'

'बिस्किट! आर यू क्रेज़ि? कैंटीन की चाय पिलाएँगे और मीठे-नमकीन बिस्किट...तुम तो राजा से मेरे रिलेशंस ख़राब कर दोगे! चाय का इंतज़ाम मैं ख़ुद करता हूँ...देखो मैं निकल रहा हूँ, कुछ ठीक से स्नैक्स ख़ुद देखकर लाऊँगा, तुम क्रॉकरी का इंतज़ाम तो ठीक कर सकते हो! क्रिस्टल से नीचे कुछ नहीं चलेगा।' 'सर रामरतन को यहाँ चाय बनाने की ड्यूटी पर लगा लें', साहब के सहायक के हाथ का पैन, डायरी पर कुछ नोट करने के लिए मचलने लगा! 'रामरतन? लीव इट यार, राजा साहब के लिए चाय मैं ख़ुद अपने हाथों से बनाऊँगा।' इतना कहकर रियासत का मालिक तो यह गया, वह गया सहायक बही-खातों के गट्ठर लिए खड़ा का खड़ा रह गया।

राजा आया। राजा गया। सहायक फिर बही-खातों के साथ हाज़िर हुआ। सुकेश शर्मा राजा की यात्रा निर्विघ्न संपन्न होने से पुलकित था। सहायक को देखकर बोला, 'क्या है?'

'सर! यह बिल है!'

'काहे के?'

'सर! राजा के पंचसितारा होटल में ठहरने के, खाने-पीने, लंच-डिनर-गिफ़्ट, गाड़ी-घोड़ा, नाइट क्लब वग़ैरह वग़ैरह।'

'रेगुलराइज़ कर लो!'

'सर यह रूल्स-रेगुलेशन में तो फिट ही नहीं होते! कैसे दिखाएँगे कि राजा को कितने पैसों की दारू पिलाई! नाच-गाना कितने का पड़ा!'

यह सुनकर सुकेश शर्मा झल्लाया। सहायक को हिक़ारत से देखा, 'कितने साल हो गए नौकरी करते? इसको फ़िनाइल के डिब्बों में कन्वर्ट नहीं कर सकते?'

'इतना कैसे हो सकेगा सर?'

'गो! कन्वर्ट इन फ़िनाइल, स्टेशनरी—डू एनीथिंग, मेरा सिर मत खाओ।'

सुकेश शर्मा की कहानी भारतभूमि पर तब तक गाई जाती रहेगी जब तक धरती पर इस तरह खातों को एडजस्ट करनेवाली फ़िनाइल की गंगा-जमुना प्रवाहित होती रहेगी...सुकेश शर्मा से सीख लेकर चलती तो इतनी गलियाँ न सुनतीं, न बकती। समझती क्या थी कि साठ घंटियों की चालीस मन की तीस गज़ लंबी सोने की ज़ंजीर बनवा सकती थी क्या?''

सौदागर को चकित देखकर नौंवी पुतली ने कहानी शुरू की, ''यह आठवीं पुतली तो यूँ ही गप्प मार रही है। यह चालीस मन की सोने की ज़ंजीर जो कि तीस गज़ लंबी थी और जिसमें साठ घंटियाँ लगीं। वह तो बादशाह जहाँगीर ने लगवाई थी। अरे! वही जिसे कोई भी न्याय माँगने वाला सीधे खींचकर फ़रियाद कर सकता था। औरों का तो पता नहीं पर जिस धोबी की नूरजहाँ की गोली ने जान लेली थी उसकी धोबन ने खींची थी और ऐसी खींची कि इतिहास में दर्ज हो गई। जहाँगीर ने यह न्याय किया कि—'नूरजहाँ ने तेरे पति को मारा तू नूरजहाँ के पति को मार दे!'

बेचारी धोबन का दामन तो इस न्याय से ही भर गया। रंग चोखा ही आया। हींग लगी न फिटकरी! गाँठ का कुछ गया नहीं और इतिहास में नाम दर्ज हो गया।

रामेश्वरम से रायसीना पर जा बैठे राजा ने भी ऐसी ज़ंजीर लगवाई। बड़ा प्रचार था कि वह हर फरियाद का जवाब देते हैं। कहकर देखो तो। ज़ंजीर सोने की न थी, चालीस मन की न थी, उसमें साठ घंटियाँ न लगीं थी। वह तीस गज़ की न थी। यह ई-घंटी थी। कोई भी ख़ास और आम उन्हें ई-मेल कर सकता था। जैसे राजा थे, वैसे ही उसके मंत्री थे। मुख्य हों या प्रधान सबके दरबार खुले थे। न कोई सुरक्षा की दीवार, न पी. ए. लोगों का झंझट। पूरे-के-पूरे निदेशालय यह बताने में लगे थे कि न कोई सिंहासन हैं, न राजा। वह तो जनता के प्रथम सेवक हैं। ऐसा लगा नसीरूद्दीन ही फिर से क़ुरान की नक़ल कर रहा है या टोपियाँ सिलकर गुज़ारा कर रहा है। जो चाहें सो ई-मेल करे, फ़ोन करे।

औरत चूँकि पढ़ी-लिखी थी और अख़बार वग़ैरह पढ़ती रहती थी। उसने भी यह सब पढ़ रखा था। नल में पानी न आया। एक दिन। किसी तरह गुज़ारा किया। दूसरे दिन राम-राम करके काटा। पानी के दफ़्तर के चक्कर काटे। पता चला कि मोटर फूँक गई है। मैकेनिक स्टोर से लेकर आएगा। कल स्टोरकीपर न था। अगले दिन मोटर बदली जाएगी। तीसरे दिन भी न मोटर बदली, न पानी आया। अगले तीन दिन छुट्टी थी। शनिवार रविवार तो होती ही। संग में कोई त्योहार आ जुड़ा। तीन दिन पानी न था। तीन दिन न आनेवाला था। शहर में बग़ीचे थे। बग़ीचों में फ़व्वारे थे। वाटरपार्क थे जिसमें नवक़ुबेर पैसों के बल पर किल्लोल रहे थे। औरत को इस ई-मेल उर्फ़ ज़ंजीर की याद आई जिसे कोई भी फ़रियादी बजा सकता था। औरत ने जेठ की तपती घाम में पानी की इस छह दिन लंबी गुमशुदगी की रिपोर्ट दर्ज की—कैसे बीते दिवस हमारे, हम जानें या राम!

रायसीना के राजमहल में गुहार की, मंत्री वग़ैरह से फ़रियाद की जिसमें मुख्य और प्रधान भी शामिल थे। बड़े-बड़े कल तक परसों तक वाले प्रभुओं को पुकारा, सारे जी और सहारा बेकार गए। इन-बॉक्स में किसी का जवाब न टपका। पहले औरत ने कल्पना की कि पानी के चीफ़ इंजीनियर की मश्कें बँध जाएँगी और वह भिश्ती की तरह दरवाज़े पर छिड़काव करता दिखाई देगा। शीला-सुशीला गगरी भर-भर जल ले आएगी...घंटे बीते। दिन बीते। कुछ न होना था। कुछ न हुआ। सातवें दिन मैकेनिक के हाथों पर मुहल्ले भर के लोगों ने इकट्ठे कर गांधी बाबा की तसवीरों से लैस नोट रखे तो कहीं टोंटी से चार बूँद पानी टपका। पानी कम टपका और औरत के मुँह से गालियाँ ज़्यादा टपकने लगीं। टपकते-टपकते टपके की हालत यों हुई कि औरत के टेंटुएँ में परमानेंट लीकेज हो गया—उससे गालियाँ लगातार झरतीं और वह भारत और उदय और प्रकाश और गुड़ बैड सबको एक तरफ़ से गरियाती रहती—ससुर के नाती, कुत्ते के गू, लैहसने के न लीपने के!

पढ़ी-लिखी औरत की भाषा की नथ उतरी और ऐसी उतरी कि कृषि प्रधान देश में उपमान बन गई।

सौदागर नथ-उपमान और कृषि प्रधान देश सबका आपस में क्या संबंध है सो न समझ सका।'' इस पर दसवीं पुतली यों बोली।

''एक दिन की बात है सब तरह से सुखी-संतुष्ट एक सुशिक्षित सन्नारी विश्राम कर रही थी। इसी विश्रांत्ति काल में नेताओं की कमीनगी और कमीनों की नेताई के विषय में सारे मुख्य समाचार पढ़ने के बाद वह चोरी, हत्या, बलात्कार के समस्त समाचार भी पढ़ गई तब वह ऐसे लेखों पर पहुँची जिनमें पढ़ने के लिए कुछ नहीं होता। लेख रंगीन चिकने काग़ज़ पर था और सचित्र था—'भारतीय नथ'—उसके साथ

छायाचित्र थे जिसमें महाराष्ट्र और चंबा नथ की तस्वीरें छपी थीं। साथ के लेख में इबारत थी, 'नथ सोलह-सिंगार में से एक है!' नारी को अटपटा लगा। सोलह-सिंगार में नथ कहाँ से आ गई! फिर भी लिखनेवाले ने ठीक ही लिखा होगा इसलिए अपनी स्मृति को क्रॉस चैक किया—सोलह-सिंगार थे—अंगशुचि, मज्जन, दिव्यवस्त्र, अलक्तक, केश, सीमंत चिबुक, कपाल, भूषण, सुगंध, मुखराग, दंतराग, अधरराग, कज्जल तथा मेंहदी।

इसमें नथ का कहीं नाम न था। अगला ही वाक्य था नाक के इस हीरों एवं रत्नों से जुड़े इस स्वर्णाभूषण को भारतीय विवाहित महिलाएँ कभी नहीं उतारती हैं!

इस ग़रीब देश की महिलाएँ सदा हीरे और रत्नों से जड़ी यह सोने की नथ पहनती हैं। जय हो! लिखनेवाली का नाम देखा। हाथ फ़ोन पर गया। अख़बार के दफ़्तर में फ़ोन किया। कई फ़ोनों के बाद संपादकीय विभाग के किसी उप से मुलाक़ात हुई। पूछा कि लेखिका स्टाफ़ में कोई लेखिका विदुषी हैं! पता चला कि पत्रकार हैं और इस समय ड्यूटी पर नहीं हैं। साथ में सवाल आया, 'एनी मैसेज?'

'जी नहीं, बस उनके एक लेख के बारे में बात करनी थी।'

'आप उनके बॉस को बता दीजिए।'

'नहीं उन्हें ही बताना था।'

'आप चाहें तो मुझे बता दीजिए।'

नारी ने अपनी बात कही, धन्यवाद दिया। सुननेवाले ने फ़ोन नंबर लिया कि वह आएँगी तो बात करेंगी। प्रकरण यहीं समाप्त नहीं हुआ। देर रात फ़ोन की घंटी घनघनाई, 'बताइए?'

'क्या बताऊँ?'

'आपने फ़ोन किया था न?'

'नहीं, यहाँ तो घंटी बजी है!'

'होल्ड कीजिए।' सन्नारी फ़ोन को होल्ड करे रही। जिसने फ़ोन किया था वह बालिका दूसरे फ़ोन पर व्यस्त हो गई। वार्तालाप शुद्ध सहेलीटिक था। हँसी थी, ठिठोली थी, उदारतापूर्वक विशेषण थे—जो बताते थे कि संवाद लँगोटिया यारों के बीच हो रहे हैं। उन्होंने संवाद समाप्त कर इस नारी से पूछा, 'क्या कहना था आपको?'

'कुछ नहीं!'

'फिर फ़ोन क्यों किया था?'

'मैंने?'

'जी आपने! मैं अमुक अख़बार से बोल रही हूँ!'

'ओ यस, मैंने एक लेख पढ़ा था उसी के बारे में फ़ोन किया था!'

'मैंने ही लिखा है, आपको क्या तकलीफ़ है!'

'तकलीफ़ कुछ नहीं है। मुझे लगता है कि नथ सोलह-सिंगारों में है नहीं!'

'जी नहीं, वह उपमान है, आप उपमान समझती हैं!'

'किसका उपमान?'

'जी, नथ उपमान होती है, मैं आपको समझाऊँ कि सन्नारी ने बात काट दी—इतनी रात को मेरा विचार आपसे पढ़ने का नहीं है।'

'दूसरी आपत्ति आपको इस बात पर है कि हीरे एवं रत्नों से जड़ित सोने की नथ को भारतीय विवाहित महिलाएँ कभी नहीं उतारतीं!'

'जी?'

'क्यों?'

'मेरा ख़याल है ग़रीब औरतें हीरों से जड़ी नथ नहीं पहन सकतीं और फिर उसे हर समय नहीं पहने रह सकतीं!'

'भारत एक कृषि प्रधान देश है, है कि नहीं?'

'जी?'

'भारत एक कृषि प्रधान देश है, आप समझ रहीं हैं न!'

सन्नारी चुप! पत्रकार बालिका ने आगे कहा, 'यहाँ की अधिकांश आबादी गाँवों में बसती है!'

सन्नारी ने हार मान ली कि लेख सही था और उसकी दोनों आपत्तियाँ सिरे से ग़लत थीं। कन्या संतुष्ट हुई। सन्नारी ने कहा, 'आपकी सेवा में एक शेर प्रस्तुत है—वो जो झुक कर आपसे मिला होगा / क़द में आपसे बड़ा होगा।'

ख़ुश रहिए। कहकर सन्नारी ने फ़ोन रखकर दर्पण में अपना झुर्रीदार चेहरा और श्वेत केश देखे और 'हे ईश्वर! इन्हें क्षमा करना' जैसे वचन कहे और कल्पना की कि फ़ोन रखकर उस प्रखर पत्रकार कन्या ने कहा होगा, 'कैसे-कैसे इडियट लोगों से पाला पड़ जाता है, उफ़! कुछ समझते नहीं और हमारे लिखे में ग़लतियाँ निकालते हैं!' पुतली ने कहा, 'सौदागर! इसके बाद उस सन्नारी ने क़सम खा ली कि वह किसी स्याह सफ़ेद देखी-पढ़ी-सुनी पर कोई प्रतिक्रिया कभी व्यक्त नहीं करेगी! औरत ने अपने दिमाग़ के सारे खिड़की-दरवाज़े बंद कर लिए कि हमने क्या ठेका ले रखा है ईमानदारी के ठेकेदार की तरह!'

'घर में नहीं दाने, और अम्मां चली गहने गढ़वाने!' ग्यारहवीं पुतली बोली। सौदागर हैरान। मुहावरा तो यूँ है कि घर में नहीं दाने, अम्मां चलीं भुनानें! इसमें गहने गढ़वाने की बात कहाँ से आ गई! सौदागर को हैरान-परेशान देखकर पुतली ने कहानी यूँ शुरू की। 'एक बार इसी सिंहासन पर एक राजा ऐसा बैठा कि एकदम कड़क। क़लफ़ के भरे पीपे में गोता लगाकर अभी-अभी निकला हो! क़लम का पक्का। बात का धनी। समय का पाबंद। दरबार में न कहानी, न कविता, न नाच, न गाना, न क़सीदे, न वैभव का प्रदर्शन। मामूली आदमी जैसे कपड़े। राजा ईमानदार। महा ईमानदार। इतना कि एक बार उसने काग़ज़ के एक तरफ़ लिखनेवाले ईमानदार को झाड़ पिला दी, 'काग़ज़ के दूसरी तरफ़ क्यों नहीं लिखा।'

ईमानदार मिनमिनाया, 'सर! मुझे काग़ज़ के एक ही ओर लिखने का अभ्यास है!'

'यह बहुत ग़लत बात है! यह करदाता के गाढ़े पसीने की कमाई है। हमें इसे इस तरह वेस्ट करने का कोई अधिकार नहीं है!'

महाईमानदार की ईमानदारी के सामने ईमानदार पानी-पानी हो गया। नसीहत पाई कि हम ऐसा कर ही नहीं सकते। हम देश की जनता के प्रति जवाबदेह हैं। ईमानदार को महा ईमानदार दौड़ाता कि जाओ फलाँ की बेईमानी पर अपनी रिपोर्ट दो—विद फुल डिटेल्स, ईमानदार सिर खपाता। लाता। महा ईमानदार उसे शाबाशी देता है और बताता कि अब बेईमान बच नहीं सकता क्योंकि ईमानदार ने उसके बचने का कोई रास्ता छोड़ा नहीं है, फिर उस पर कोई कार्यवाही न होती। ईमानदार देखता रह जाता। महा ईमानदार और बेईमान ऐसे मुर्ग़े थे जो आपस में मिले रहते। सिर्फ़ सतह से ऊपर अलग दिखाई देते। अंदर दोनों एक बरन थे। यह तो पता तब चला जब दो बेईमानों में हिस्से बाँट को लेकर हँडिया फूट गई। भरी सभा में सिंहासन की पगड़ी उछली और उसके बाद वह राज-पाट त्याग संन्यास ले वन को चला गया। वन में उसका फ़ाइव स्टार रिसॉर्ट था, जिसमें शेष जीवन उसने आराम से बिताया।

'जीवन आराम से बिताने के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि इंसान शांति से रहे, किसी का दिल न दुखाए। आप जिएँ दूसरों को जीने दें। जैसे-जैसे वक़्त बीतता गया यह बात और उसकी याद भी धुँधली पड़ती गई, पड़ती गई। कौन-सा सुख कौन-सी शांति! दुनिया एक ऐसी अनारकली बन गई जिसे अकबर जीने न दे और शाहज़ादा सलीम मरने न दे! रोम में आग लगाकर नीरो बाँसुरी बजाए! पिछला नीरो जो केवल आग लगती देखकर बाँसुरी बजाता, यह तो आग

लगाकर बाँसुरी बजा रहा था। वह सिंहासन पर बैठा। बैठते ही उसने दरबार को देखा। दरबार में और सबके साथ-साथ कवि और कलाकार वग़ैरह भी थे। राजा ने कवि को हड़काया— सांख्यिकी के सवाल पूछे, कवि हकला गया, बीजगणित पर लुढ़का। वह कवि था। कविता जानता था—राजा कविताई करें कि राज-काज देखें। राज-काज देखना यूँ था कि उसने सुन रखा था कि शेर जंगल का राजा होता है। राजा गणित वग़ैरह पढ़ा था। उसने दो समीकरणों की तरह वाक्य को सीधा किया—राजा जंगल का शेर होता है। बर्बर और हिंसक। टूट पड़नेवाला। उसने दरबारी कोकिला पर झपट्टा मारा। तितली को दबोचा। मृगछौनों का पेट फाड़ा। इस सबसे राजा शेर के रूप में स्थापित हो गया। सब दरबारियों को पता चला कि उनका राजा शेर है, दरबार जो है सो जंगल में तब्दील हो गया है और इसमें आगे जो भी होगा सो लीला ही होगी। और क़ानून जो है सो जंगल का ही चलेगा।

यह सब जानने के बाद दरबारी दरबार में हाज़िर होने से बचने का बहाना ढूँढ़ने लगे। जिस प्रकार जंगल में शेर की गंध पाकर सभी जानवर छुप जाते हैं, वैसे ही यहाँ होने लगा। जैसे वहाँ लोमड़ी और सियारों की बन आती है, यहाँ भी बनने लगी। तो शेर के दरबार में सियारों का काम दुम हिलाने का ही रह गया। दुम हिलाएँ और जूठन पाएँ। जो जूठन पाते सो जैकारा लगाते। वह दरबार जो कवि, कलाकारों, विद्वानों की लीला स्थली था, वह चालाक लोमड़ियों और सियारों की क्रीड़ा स्थली बन गया। इनसे घिरा वह अपनी यश गाथा सुनता-सुनता वर्षों उस सिंहासन पर आरूढ़ रहा। दरबार में मांस की सड़ांध रहती और काव्यशास्त्र विनोद, संगीत की स्वर लहरियाँ सब बीते ज़माने की बातें रह गईं, इतिहास वग़ैरह फ़िज़ूल की बातें हुईं। कारीगरी, हुनर, कला, परंपरा के चिथड़े शेर के ख़ूनी पंजों में कभी भूले-भटके शायद मिल भी सकते थे अगर कोई शेर के क़रीब जाता। जिस तरह कोई बिल्ली के गले में घंटी नहीं बाँध सकता वैसे ही कोई शेर के पंजे भी चैक नहीं कर सकता! अब आप यह न कहिएगा कि हमारे यहाँ तो शेर के दाँत गिननेवाले बालक भी हुए हैं जिनके नाम पर देश का नाम भारत पड़ा है। उसके बाद भारत का नाम बदलकर कभी कुछ और न हुआ। उसके बाद तो ऐसे हुए जो शेर के मुँह में गर्दन डालकर रोटी खाते रहे। ज़िंदगी सबके लिए इतनी ही कठिन रही।

यह जो दुखी जन थे यह पथ पर पत्थर न कूटते थे। रात को भूखे न सोते थे। यह कुर्सी-मेज़ पर बैठते। ए. सी., फ़ोन, फ़ैक्स, कंप्यूटर, कार, हवाई यात्रा के बावजूद दुखी थे, उनके साथ-साथ दुखी थे। घी खा रहे थे, घास को तरस रहे थे। दुखी थे पर दुख के ख़िलाफ़ दुख देनेवाले के ख़िलाफ़ आवाज़ न उठा सकते थे। वह अपनी अकर्मण्यता और कायरता के मारे थे। जब सिंहासन बिका हुआ हो और दरबारी चुप हों, उसका जो अंत होना था वहीं हुआ। भाग्यवान होता है वह राजा जिसके दरबार में ऐसे साहसी दरबारी हों जो सच्ची सलाह दे सकें! जैसे उसका विनाश निश्चित था, वैसे ही औरत का वंश भी विनाश को प्राप्त हुआ।'

सौदागर को औरत के इस प्रकार बरबाद हो जाने की बात कुछ-कुछ समझ में आने लगी। वह जान गया कि अन्याय करने और सहने की परंपरा होती है। अगर सब अन्याय सहते आ रहे हैं तो हम भी सह लें। यह तो होता ही है। हर युग में होता है। जैसा पहले हुआ, वैसा आगे भी होगा। इसी को परंपरा कहते हैं। परंपरा यह है कि जैसे पहले हुआ, वैसे ही आगे कर लो। इसको अंग्रेज़ी में 'डू' कहते, हिंदी में वही और संकेत में दो अर्द्धविराम...'।''

अब क्या है कि जैसे तेरह पुतलियों ने कहानी कही वैसी ही शेष पुतलियों को भी कहनी तो

थी पर नैंक कहि बैननि, अनैकु कहीं नैननि सों, रही-सही सोऊ कह दीनि हिचकीन सों! आप मान लें कि शेष पुतलियों ने भी सहमति में सिर हिला दिया या जैसे संसद में ध्वनि मत से प्रस्ताव पास होते हैं वैसे ही तेरह पुतलियों की तेरह कहानियों की तरह कहानियाँ तो पूरी बत्तीस की बत्तीस पुतलियों को भी सुनानी थीं...पर अन्याय एवं अत्याचार की कहानियाँ ऐसी होती हैं कि हरि अनंत हरिकथा अनंता:। या फिर—एक चिड़िया आई, दाना ले गई फुर्र / दूसरी आई, जीप ले गई फुर्र / चौथी आई नागर वाला फुर्र / फिर तेंदुपत्ता फुर्र / तेंदुपर्त्ता फुर्र, चारा फुर्र, हवाला फुर्र / बोफ़ोर्स फुर्र, रथ यात्रा फुर्र / धर्म फुर्र, ईमान फुर्र / गुन फुर्र, गुनगाहक फुर्र / कसब फुर्र, ईमान फुर्र।

फिर होते-होते ऐसा वक़्त आया कि लोगों ने इसके साथ रहना सीख लिया। लोग कुछ न कहते। उन्हें पता था कि कहने से कुछ न होगा। कौन सुनेगा। पहले कहते भी कि हमको उनसे वफ़ा की है उम्मीद, जो नहीं जानते वफ़ा क्या है। फिर यह भी न कहा। कहने को बहुत कुछ था, अगर कहने पर आते, अपनी तो ये आदत है कि हम कुछ नहीं कहते।

जब इंसानों ने कुछ कहना स्थगित कर दिया था, जब क़लम चुप थीं, साज़ चुप थे। तब पुतलियाँ ही क्यों बोलतीं! वह भी चुप हो गईं। टुकुर-टुकुर ताकने लगीं। अब हिसाब यह है कि बत्तीस में से अगर तेरह बोलीं तो कितने प्रतिशत हुईं? आपको लगता है कि तेरहवीं के पाँच सौ तैंतालीस में से बोलनेवालों का प्रतिशत इससे अधिक था या चौदहवीं में इससे अधिक होता। जब बाक़ी सब बिना बोले भी सिंहासन में शामिल रह सकते हैं और राजसुख भोग सकते हैं तो बेचारी पुतलियों के लिए ही बोलना क्या आवश्यक था? फिर, जिन्हें सिंहासन के पायों से लिपटे रहना था, वह तो चुप रहती हैं ही, इसमें नया क्या था!

अगर प्रमेय के सिद्धांत पर चलूँ तो जब इसमें कुछ नया ही न था तब मान लीजिए कि यह सब पुराना ही है। आदिकाल से अनादिकाल तक ऐसा ही रहेगा। जब तक सिंहासन रहेंगे तब तक उनकी पुतलियाँ होंगी और उनकी कथाएँ होंगी। इससे यह सिद्ध होता है कि यह सिंहासन बत्तीसी का दूसरा भाग ही है।

—इतिसिद्धम

पुनश्च :

अभी यह प्रश्न शेष है कि उस औरत और उस सौदागर का क्या हुआ? कहानी का कोई अंत नहीं हुआ न ठीक-सा। तो जब सिंहासन, सौदागर और औरत तीनों कहानी में शामिल हैं तो कुछ-न-कुछ अनकहा रखना ही पड़ता है। वर्ना जो मुझसे बेहतर लिखनेवाले आगे आएँगे वह सिंहासन बत्तीसी के तीसरे भाग में क्या लिखेंगे, बॉस!

मदन सैनी

झूला

सूरज के पिता खेत जोतते, खाई खोदते, बाड़ बनाते, कुएँ और कुंड बनाने का काम करते। इतना ही नहीं, ढेरिए पर सूत कातते, खाट बुनने का काम करते और मौसम आने पर खेत-खलिहान के सभी काम सहज भाव से निपटाते। वे कभी ख़ाली नहीं बैठते। मेहनत-मज़दूरी करते रहने से उनका शरीर भी काफ़ी गठीला था। उनकी दिनचर्या भी नियमित थी। उन्हें अपने काम से काम था। अपनी पत्नी और दो बच्चों के छोटे-से परिवार में वे बहुत सुखी थे।

सूरज अपने पिता का बहुत लाड़ला बेटा था। उसका छोटा भाई सागर भी कोई कम लाड़ला नहीं था। दोनों ही माँ-बाप की आँखों के तारे थे। दोनों के जन्म में तीन साल का अंतर था, पर दोनों ही एक-दूसरे को जी-जान से चाहते थे। मुहल्ले के बच्चों के साथ जब वे काँ-काँ, कबड्डी, लूण-क्यार, लुकमींचणी, खोड़ियो खाती अथवा रतनतलाई जैसे खेल खेलते, तो उनका खेल देखते ही बनता था। उस समय यदि कोई साथी चालाकी दिखाता, तो सूरज से सहन नहीं होता और वह अपने छोटे भाई सागर को लेकर घर चला आता। खेल-खेल में यदि साथियों से कहा-सुनी हो जाती या लड़ाई-झगड़ा हो जाता, तो भी सूरज घर आकर माँ को कुछ भी नहीं बताता था। वह जानता था कि माँ को पता चलने पर वह उन्हें पुनः खेलने की इजाज़त नहीं देगी। वैसे माता-पिता उन दोनों का ख़ूब ख़याल रखते थे। पिता उनके लिए बाज़ार से तरह-तरह की चीज़ें लाते थे—खाने की भी और खेलने की भी!

सूरज की माँ बिलकुल अनपढ़ थी, पर वह अपने बच्चों को पढ़ा-लिखा देखना चाहती थी। माँ के कहने पर ही उनके पिता ने उन्हें स्कूल में दाख़िल करवाया था। पढ़ने के साथ-साथ दोनों भाई खेल-कूद में भी ख़ूब रुचि लेते थे। देखते-ही-देखते सूरज सातवीं में पहुँच गया और सागर पाँचवीं में!

पर, विधाता से इस घर का सुख देखा नहीं गया। एक छोटी-सी गाँठ सूरज की माँ के पाँव में हो गई और सर-सर करती गले तक जा पहुँची। माँ का साँस अवरुद्ध हो गया। सूरज माँ के शव से लिपटकर ख़ूब रोया। उसके साथ-साथ सागर भी सुबकता रहा, पर उस 'सिबकली-गाँठ' के आगे किसका वश चलता! माँ के

मदन सैनी का जन्म 1958 में डूँगरगढ़ (राज.) में हुआ। राजस्थानी एवं हिंदी में कहानी, कविता, रेखाचित्र, समीक्षा आदि
संपर्क : हरिसिंह तँवर का मकान, पुराने रोशनी घर स्टोर के पीछे बीकानेर (राज.)

अनु. स्वयं

चले जाने से पिता जो बिलकुल ही टूट गए। वे दिनभर कमरे में पड़े रहते। किसी काम में उनका मन नहीं लगता। सूरज और सागर को देखते ही उनकी आँखें छलछला जातीं, पर क्या करते? कुछ लोगों ने उन्हें दूसरी शादी के लिए भी उकसाया, पर उन्हें आशंका थी कि ऐसा करने पर उनके पुत्रों के साथ न्याय नहीं होगा। यही सब सोच-विचार करके उन्होंने दूसरी शादी नहीं की। अब वे सागर और सूरज की पढ़ाई पर ही ज़्यादा ध्यान देने लगे थे। वे चाहते थे कि सूरज ख़ूब पढ़े और कोई बड़ा अफ़सर बन जाए, तो सागर को भी कोई अच्छी नौकरी मिलने में आसानी रहे।

पत्नी के गुज़र जाने के बाद बहुत दिनों तक वे काम पर नहीं गए। घर में जो कुछ बचत थी, वह सारी लेखे लग गई। सूरज और सागर की फ़ीस के रुपए भी घर में नहीं थे। मास्टर जी ने जब दोनों भाईयों को फ़ीस लाने के लिए घर भेजा, तब उन्हें होश आया। वे बेटों के साथ स्कूल गए और मास्टर जी को भरोसा दिलाया कि अगले महीने एक साथ ही दोनों की दो महीने की फ़ीस जमा करवा देंगे।

उस समय घर में एक रुपया भी नहीं था। अगले ही दिन गणगौर का मेला था। मेले में मुहल्ले के सभी बालक जा रहे थे। सूरज का मन तो नहीं था, पर सागर ने हठ किया, तो वह भी उसके साथ मेले में चला गया। उनके पिता ने उन्हें पचास पैसे दिए थे। शायद पचास पैसे ही उनके पास बचे हुए थे।

गाँव के पश्चिम में पक्के तालाब की मेड़ पर मेला लगा था। गणगौर की सवारी के साथ-साथ लोगों की भीड़ तालाब की ओर आ रही थी। सूरज भी उस भीड़ में सागर का हाथ पकड़े चल रहा था। तालाब के चारों ओर तरह-तरह की दूकानें लगी हुई थीं। मेले में लोग गुब्बारे ख़रीद रहे थे। कुछ लोग सीटी बजा रहे थे, तो कुछ लोग चने-चबैने खा रहे थे। आइसक्रीम बेचनेवाले भी आवाज़ें लगा रहे थे। सूरज घूम-घूमकर सागर को मेला दिखाता रहा और वह हरेक चीज़ लेने का हठ करता रहा, पर सूरज उसे बहलाता रहा कि बाक़ी चीज़ें तो देखने-भर की हैं, चलो हम लोग आइसक्रीम खाएँगे। सागर मान गया और उन्होंने पच्चीस-पच्चीस पैसे वाली दो आइसक्रीम लेकर खा ली। अब उनके पास एक भी पैसा नहीं था और बिना पैसे के मेला कैसा? तालाब में पानी हिलोरें ले रहा था। कुछ बच्चे पानी में तैर रहे थे और कुछ किनारे पर नहा रहे थे। वे दोनों कुछ देर तक उन्हें देखते रहे। तभी सागर का ध्यान दूसरी तरफ़ लगे विशाल झूले की ओर गया। पास ही चक्करघिन्नी की तरह घूम रही ‘चक्करचूंडी’ पर भी बालक-बालिकाएँ किलकारियाँ कर रहे थे। सागर का मन मचल उठा। वह सूरज से कहने लगा कि, “बिना झूला झूले मैं तो घर नहीं जानेवाला!” झूले में उनके मुहल्ले के बच्चे भी झूल रहे थे। सूरज का मन भारी हो गया। वह सागर का हाथ थामे उसे झूठी दिलासा देते हुए घर ले आया। दोनों की आँखें भर आई थीं।

“क्यों, क्या बात है? रोए क्यों?” पिता ने उन दोनों के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा।

सुबकते-सुबकते सूरज ने सारी बात पिता को बता दी। सुनकर वे उदास नहीं हुए। जैसे उन्हें अचरज हुआ हो! वे उत्साह से बोले, “अरे, इतनी-सी बात! आओ मेरे साथ!”

दोनों भाई सोच ही नहीं पा रहे थे कि उनके पिता उन्हें कौन-से झूले पर झुलाने ले जा रहे हैं? पर वे बोले नहीं, चुपचाप पिता के पीछे चलते रहे।

पिता उन्हें लेकर घर के पिछवाड़े बाड़े में पहुँचे। वहाँ झोंपड़ा बनाने के लिए खींपों का ढेर लगाया हुआ था। खींप काफ़ी पुराने पड़ चुके थे। अब वे झोंपड़े के काम के नहीं थे, केवल ईंधन के रूप में जलाने के ही काम आ रहे थे। सूरज के पिता ने खींप की एक टहनी उठाई और

बीच में से तोड़ डाली। उसके टूटते ही उसमें से पतले-पतले सूत के धागे-सरीखे तार दिखाई देने लगे।

पिता ने बताया, ''यह अंकाला है। आक और खींप से निकलनेवाले सूत को अंकाला कहते हैं। यह सन (जूट) के सूत से भी ज़्यादा पक्का होता है। इसे बँटकर कुएँ से पानी निकालने वाली मज़बूत रस्सी बनाई जा सकती है। आप लोग मेरे बताए तरीक़े से इनका अंकाला निकालकर ढेरिए पर कताई कर लो और फिर उसे दुहरी करके बँट लो। वह रस्सी बन जाएगी। फिर रस्सियों को आपस में बँटकर बड़ा रस्सा बना लो। उसके बाद जी-चाहे जितना झूलो, झूल-झूलकर तुम भले ही थक जाना, तुम्हारे बनाए रस्से का कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। असली झूला तो यही है। मेले-मगरिए वाले झूले तो नकली ही होते हैं और फिर अपने हाथ से बनाए झूले पर तो झूलने का आनंद ही कुछ और होता है, तुम बनाओ तो सही!''

''हम बना लेंगे क्या? अंकाले की रस्सियाँ हमने तो कभी देखी तक नहीं हैं।'' सूरज ने कहा।

''अरे बावले, अपनी पुरानी चारपाई खींप के अंकाले से ही तो बुनी हुई है। तुम्हारे दादा ने तो कभी मूंज, कुस्टा या जोटी की रस्सियाँ ख़रीदी ही नहीं। यह थोड़ा अरुचि का काम है, इसमें ज़रा धैर्य चाहिए। तुम लोग कोशिश करके तो देखो, देखें सफल होते हो कि नहीं? कोशिश करनेवाले कभी नाकाम नहीं रहते। आदमी यदि कोई काम शुरू करने का सामर्थ्य रखता है, तो वह अपने-आप सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ता जाता है।''

पिता के बताए अनुसार दोनों भाईयों ने खींप का अंकाला निकाला और ढेरिए पर बाँटकर छोटी-छोटी नौ रस्सियाँ तैयार कर लीं। पिता ने कहा था कि झूले का रस्सा नौ हाथ लंबा होता है। नौ का अंक अपने-आप में पूर्ण और ब्रह्म का वाचक होता है। बारह-बारह हाथ लंबी तीन रस्सियों को आपस में बाँटने पर उनसे ग्यारह हाथ की एक मज़बूत रस्सी तैयार हो जाएगी और ऐसी तीन रस्सियों के मेल से एक मोटा और मज़बूत रस्सा बन जाएगा। रस्से के तीनों हिस्से त्रिगुणात्मक होते हैं। ऐसा झूला सत, रज, और तम जैसे गुणोंवाली तीन-तीन रस्सियों का संवाहक और पूर्णता का प्रतीक होता है। ऐसे झूले पर झूलने वाले को अखंड ब्रह्मानंद की अनुभूति होती है।

दोनों भाईयों ने बारह-बारह हाथ लंबी नौ रस्सियाँ तैयार करके पिता के सामने रख दीं। वे बड़े प्रसन्न हुए। पुत्रों के सहयोग से उन्होंने तीन-तीन रस्सियों को बाँटकर तीन बड़ी रस्सियाँ बना लीं। फिर उन तीनों रस्सियों को आपस में बाँटकर एक मज़बूत रस्सा बना लिया। उस रस्से की लंबाई नौ हाथ ही हुई। पिता नें कहा कि, ''अब चाहे मुहल्ले-भर के सारे लोग इस झूले पर झूल लें, यह नहीं टूटेगा।''

सूरज सुधार काका से झूले में बैठने हेतु काठ की पूठी बनवा लाया। पूठी के दोनों सिरों में किए हुए सूराख़ों में रस्से को पिरोकर उन्होंने आरामदायक झूला बना लिया। फिर बाड़े में एक ओर खड़ी विशाल झाड़ी की एक मज़बूत-सी शाखा पर पुराना बारदाना लपेटकर उस पर उस रस्से के दोनों सिरे कसकर बाँध दिए। बारदाना इसलिए लपेटा गया, ताकि झूलने से रस्से के सिरे कट न जाएँ!

अब झूला तैयार था। सूरज और सागर बारी-बारी से झूलते रहे। वे खड़े होकर ऊभली मचकाते (पेंगे बढ़ाते) तो देखनेवाले दंग रह जाते। झाड़ी की शाखाओं को उनका झूला आते-जाते छूने लगता था, मानो सलामी दे रहा हो। दोनों भाईयों को लगा कि मेले वाले झूले में शायद ही इतना आनंद आता! वहाँ झूलनेवालों के भाग्य में ऐसा आनंद कहाँ?

दोनों भाईयों ने मुहल्ले के अन्य बच्चों को भी झुलाया। बहनें और भाभियाँ भी झूले पर झूलीं।

सूरज तो चाहता था कि पिता भी इस झूले पर झूलें, लेकिन उन्होंने मना कर दिया। बोले, ''झूला तो बच्चों के लिए ही होता है, बड़े तो झूलों पर नहीं, मोटरों पर सवार होते हैं!''

''मैं बड़ा होकर आपको मोटर पर बिठाऊँगा और फिर ख़ूब घुमाऊँगा।'' पता नहीं, सूरज के मुँह से यह बात कैसे निकल गई। सुनकर पिता मुस्कुराने लगे। वे बोले, ''ख़ूब पढ़ाई किए बिना मोटर कहाँ से आएगी? और यदि पढ़ाई-लिखाई के बल पर तुमने मोटर ले ही ली, तब तो उस पर घूमे बिना ही घुमाई का आनंद मिल जाएगा! पर ऐसे अपने भाग्य कहाँ? यदि भाग्य ही अच्छा होता तो तुम्हारी माँ यूँ ही मँझधार में छोड़कर क्यों चली जाती?'' कहते-कहते पिता का गला भर आया। सूरज और सागर को भी माँ की याद आ गई। उनकी आँखें भी गंगा-जमुना होने लगीं।

समय बीतता रहा। सूरज पढ़ता रहा। उसके पिता उसके लिए पैसों की व्यवस्था करते रहे। वह पढ़ता रहा और अपनी मंज़िल पर आगे बढ़ता रहा। पढ़ने के साथ-साथ, नौकरी लगकर मोटर ख़रीदने का सपना भी वह बराबर देखता रहा। एक दिन उसका यह सपना पूरा भी हो गया। उसे सरकारी नौकरी मिल गई। अब वह गाँव छोड़कर शहर में आ गया। उसने पिता की इच्छानुसार एक अच्छा-सा रिश्ता देखकर शादी भी कर ली। पिता ने बेटे को कोई तकलीफ़ न उठानी पड़े, यह सोचकर बहू को भी सूरज के साथ शहर में रहने की इजाज़त दे दी। सूरज चाहता था कि उसके पिता भी उसी के साथ शहर में रहें, पर वे गाँव छोड़ने को राजी नहीं हुए। तब हारकर सूरज ने सागर का विवाह भी साल-भर में करवा देने का निश्चय कर लिया। वह चाहता था कि बूढ़े पिता की सेवा करने के लिए कम-से-कम एक पुत्र और पुत्रवधू तो उनके पास होने ही चाहिए। वह अपने इस प्रयास में सफल भी हुआ और सागर का विवाह संपन्न होने के बाद तो उसे लगा कि जैसे वह एक बड़ी ज़िम्मेदारी से मुक्त हो गया हो!

इसी दौरान सूरज को पदोन्नति भी मिली। वह अपने काम-काज में बहुत ज़्यादा व्यस्त हो गया। घर के हाल-चाल जानने की भी उसे सुधि नहीं रही। पत्र लिखने का तो ख़याल ही उसके मन में नहीं आता था। दुनियादारी में उलझे आदमी को अवसर ही कहाँ मिल पाता है कि वह अपने घर-परिवार पर ध्यान दे? अब उसके पास अपार पैसा था। वह एक की जगह दो मोटरें ले ले तो भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़नेवाला। मोटर का ख़याल आते ही उसने अपने लिए एक जीप ख़रीद ली।

अब सूरज की ख़ुशी की कोई सीमा नहीं थी। अपने पैसों से ख़रीदी हुई जीप चलाने में उसे उतना ही आनंद आ रहा था, जितना अपने हाथ से बनाए रस्से के झूले पर झूलने में आया था। उसे झाड़ी पर झूला झूलने की एक-एक बात याद आने लगी। वह बात भी याद आई, जब उसने पिता से झूला झूलने का आग्रह किया था, तो उन्होंने कहा था कि बड़े तो झूले पर नहीं, मोटर पर सवार होते हैं।

अब वह पिता को अपनी कमाई से ख़रीदी गई यह जीप दिखाएगा और उन्हें जीप पर बैठाकर आसपास के गाँवों का भ्रमण कराएगा... यह सब सोचते हुए वह घर पहुँचा।

घर पहुँचते ही उसका उत्साह ठंडा पड़ गया। पत्नी ने गाँव से आया हुआ 'तार' सूरज के हाथों में थमा दिया। तार सागर ने भिजवाया था। लिखा था, ''पिताजी बीमार हैं, शीघ्र पहुँचो।''

तार पढ़ते ही उसके चेहरे पर चिंता की रेखाएँ उभरने लगीं। अचानक ही पिता को क्या बीमारी लग गई? महीने-भर पहले तो वह उन्हें गाँव में राज़ी-ख़ुशी छोड़कर आया था... ख़ैर। उसने शीघ्रातिशीघ्र गाँव पहुँचने का मन बना लिया।

अपने कुछ ज़रूरी कपड़े लेकर, दो-चार दिनों में वापस आने की बात पत्नी से कहकर सूरज

जीप में बैठ गया और उसे स्टार्ट करके गाँव की ओर रवाना हो गया।

पिता को जीप में बैठाने का उसका सपना अब जाकर सच्चा होगा। उसके बचपन की साध पूरी हो जाएगी। पिता को कितना अच्छा लगेगा...उनकी बीमारी अपने सूरज को जीप के साथ देखते ही छूमंतर हो जाएगी...इन्हीं ख़यालों में खोया हुआ वह कब गाँव पहुँच गया पता ही नहीं चला। गाँव पहुँचते ही वह विचार करने लगा कि पिता को जीप में शहर ले जाकर किसी अच्छे डॉक्टर को दिखाएगा और फिर अपने साथ ही रखेगा। उसकी तरक़्क़ी में उसके स्वाभिमानी पिता की प्रेरणा ही तो प्रेरक रही है। उसे याद आने लगा अपने पिता का स्वाभिमान, धैर्य और दृढ़ विश्वास! एक शंका भी थी सूरज के मन में कि कहीं उसके पिता गाँव के घर को छोड़ने के लिए राजी नहीं हुए तो!

सूरज को गाँव कुछ बदला-बदला-सा नज़र आ रहा था। गाँव की गलियाँ तो अब भी वैसी ही थीं, पर पहले जहाँ ख़ाली मैदान था, वहाँ अब कच्चे मकान और झोंपड़ियाँ नज़र आ रही थीं। सावन का महीना था। इस महीने में गाँव की रंगत जैसी पहले नज़र आया करती थी, वैसी ही अब भी नज़र आ रही थी। गाँव के गुवाड़ और बाड़ों में इक्के-दुक्के झूले नज़र आ रहे थे। उन झूलों पर बालक-बालिकाएँ झूल रहे थे।

गाँव के चौपाल के सामने सूरज ने एक बार अपनी जीप रोक दी। चौपाल में खड़े नीम की शाखा से लटक रहे झूले पर दस-बारह वर्ष की दो लड़कियाँ झूल रही थीं और झूलते-झूलते गा भी रही थीं—चंपलै री डाळी, हींडो मांड्यो /जे कोई हींडण आय...जी ओ म्हे...हींडो मांड्यो.../ इण रे हींडोळै ईसरदासजी पधार्‌या / ले बाई गवरां मैं साथ, जी ओ म्हे...हींडो मांड्यो!

लड़कियाँ गा रही थीं कि चंपे की डाली पर झूला डाला है, यदि कोई झूलने आए तो, हमने झूला डाला है। इस झूले पर परमेश्वर पार्वती को साथ लेकर झूलने आए हैं, हमने झूला डाला है!

सूरज का चेहरा चमकने लगा। उसने ख़ुशी-ख़ुशी जीप आगे बढ़ायी और अपने घर के आगे पहुँचकर हॉर्न बजाया। घर में एक रिक्तता व्याप्त थी। घर में उदासी का साम्राज्य था। भीतर दबी-दबी सिसकियाँ सुनाई दे रही थीं। सूरज को लगा कि उसे देखकर सारा घर सुबकने लगा है। उसे समझते देर नहीं लगी...उसकी आँखें और गला भर आया...भर्राई हुई आवाज़ में उसने कहा, ''पिता जी...!''

स्त्रियाँ हींडोला (ईश्वरीय झूला) नामक शोक-गीत गा रही थीं—कठै सूँ आई ओ बडेरां थां री पालकी.../ओ जी कोई कठै सूं आयो रे बिमाण / ओ जी बडभागी! / आयो हलकारो जी सिरी भगवान रो.../आयो हींडोळो जी सिरी भगवान रो...!

सुरेंद्र तिवारी

अँधेरे की आत्मा

ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित मलयालम के सुप्रसिद्ध कथाकार एम. टी. वासुदेवन नायर की कहानियों के संसार से गुज़रने का अर्थ है साधारण व्यक्ति के जीवन की विषमताओं, विसंगत स्थितियों, दुख-तकलीफ़ों और कभी-कभी मिलनेवाले क्षणिक सुखों के बीच से गुज़रना। साधारण लोगों के बीच छिपी असाधारणताओं की तलाश ही जैसे नायर के लेखन का मूल-स्वर है। 1996 में प्रकाशित संग्रह वानप्रस्थ के बाद हिंदी में उनका दूसरा संग्रह अँधेरे की आत्मा अभी आंया है जिसमें दस कहानियाँ हैं। यह कहना ग़लत न होगा कि इन कहानियों में पूरा मलयाली मध्यवर्ग समाज अपनी संपूर्णता के साथ उपस्थित है।

मानवीय संबंधों की गहराई से छान-बीन करना भी नायर की ख़ासियत है और इस बात को इस संग्रह की कई कहानियाँ प्रमाणित करती हैं। 'दीदी' कहानी में एक विधवा स्त्री अपने सात-आंठ वर्षीय बेटे के समक्ष भी अपने संबंधों को सिर्फ़ इसलिए छिपाए रखती है, अपने को उसकी दीदी बताती है, ताकि वह दूसरी शादी कर सके और एक रात अपने बच्चे को उसकी नानी के पास छोड़कर अपने नए पति के घर में चली जाती है। वह समझती है कि उसकी ज़िंदगी अभी बहुत लंबी है, किसी का साथ उसे चाहिए और उसमें बाधंक उसका अपना बेटा ही है इसलिए उसका त्याग करना ही होगा। और बच्चा अंत तक इस विश्वास में रहता है कि उसकी दीदी कहीं गई है और वहाँ से लौटेगी तो रबड़ की गेंद और ढेर सारी मिठाइयाँ लेकर।

व्यक्ति मन की विचित्रताओं और साथ ही उसकी स्वार्थपरता को दर्शाने वाली एक उत्तम कहानी इस संग्रह में है—'अँधेरे की आत्मा।' मलयालम कहानियों की बात तो मैं नहीं कर सकता किंतु हिंदी कहानियों का जहाँ तक प्रश्न है, हिंदी की अनेक श्रेष्ठ कहानियों के समकक्ष इस कहानी को रखा जा सकता है। वेलायुधन पागल नहीं है परंतु उसके अपनों ने ही उसे बचपन से ही पागल सिद्ध कर रखा है। यहाँ तक कि युवावस्था प्राप्त करने पर जब वह लोगों को बताना चाहता है कि वह विक्षिप्त नहीं है तो कोई सुनने को तैयार नहीं है। माँ-बाप हैं नहीं, नानी थी जो बचपन में उसके साथ कुछ सहानुभूति दिखाती थी, उसके युवा होते-होते वह भी परलोक सिधार गई। मामा, मौसी आदि की नज़रों में वह पूरी

सुरेंद्र तिवारी के आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होते रहे हैं।
संपर्क : बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110085

पागल है, बल्कि ख़तरनाक पागल है इसलिए उसे ज़ंजीरों में जकड़कर एक अँधेरी कोठरी में रखा जाता है। एक दिन मौक़ा पाकर, ज़ंजीर तोड़कर, किसी तरह वह बाहरी दुनिया में निकल आता है, और वहाँ, बाहरी दुनिया का जो रूप उभरकर आता है वह वर्णनीय नहीं, सिर्फ़ पठनीय है। मानवीय संबंधों और संवेदनाओं का जितना अधःपतन आज हुआ है, हो रहा है, यह कहानी जैसे उसका प्रत्यक्षीकरण है।

निश्चित रूप से ऐसी कहानियों के माध्यम से ही वासुदेवन नायर उन सामाजिक विषमताओं पर प्रहार करते हैं जो मनुष्य को सहज रूप से जीने के अधिकारों से वंचित करती हैं। साथ ही मानवीय संबंधों के बीच आती इन दरारों और विकृतियों की तरफ़ भी बार-बार वे हमारा ध्यान खींचते हैं। संग्रह की एक कहानी 'कडुगण्णव : एक यात्रा-वृत्तांत' की चर्चा इस संदर्भ में मैं यहाँ करना चाहूँगा। कथा-नायक वेणुगोपाल श्रीलंका की एक यात्रा सिर्फ़ इसलिए करता है कि वहाँ कडुगण्णव शहर में कभी उसके दिवंगत पिता, मामा आदि रहते थे। वह उन स्थानों को देखना चाहता है, सौभाग्य से कोई रिश्तेदार ज़िंदा बचा हो तो उससे मिलना चाहता है। अस्वाभाविक नहीं है यह इच्छा, किंतु इस इच्छा-पूर्ति हेतु जब वह कडुगण्णव पहुँचता है तो उसे गहरी ठेस लगती है। अपने पिता व अन्य रिश्तेदारों के प्रति जो भावना अब तक उसके मन में थी, उनकी जिस प्रतिष्ठा और संपन्नता की बात उसने सुन रखी थी, वह सब कुछ एक भ्रम साबित होता है। वह बिना किसी से मिले वापस लौट आता है—बिखरे-टूटे संबंधों को अपने अंदर समेटे हुए। वह अंत में जैसे सब कुछ को झुठलाना चाहता है—यह सोचकर कि, "शायद नाम ग़लत हो गया था, जगह का नाम मैं भूल गया था। कडुगण्णव नहीं, ऐसा ही कुछ और होगा। कोई और नाम।"

बहुत गहरे तक पैठना होगा उस तथ्य, उस बिंदु को समझने के लिए जहाँ सारे रिश्ते-नाते संबंधों के स्वरूप एकाएक बदल जाते हैं। व्यक्ति की लाचारी, परिस्थितियों से उत्पन्न मजबूरियाँ इन कहानियों के पात्रों के जीवन को यथार्थ से दूर नहीं जाने देतीं, बल्कि अपनी उपस्थिति से कहानियों को प्राणवान बनाती हैं। नायर बहुत ही सीधे-सादे ढंग से अपनी बात कहते हैं, बिना किसी शिल्प या शैली के चमत्कार के परंतु उनकी यह सहजता ही इन कहानियों की ख़ूबी बन जाती है। सीधे-सादे लोगों के जीवन को वे कृत्रिम नहीं बनाते, भाषा के चमत्कार से उसमें चमक पैदा करने की कोशिश नहीं करते, तभी इन कहानियों से अकृत्रिम और प्राकृतिक भाव से हम गहरे तक जुड़ जाते हैं। लगता है कि जो कुछ लेखक कह रहा है—अपने चरित्रों के माध्यम से व्यक्त करना चाह रहा है—वह हमारी अपनी ज़िंदगी से जुड़ी हुई बातें हैं। 'छोटे-छोटे भूकंप' 'भारी वर्षा के अगले दिन', 'दार-एस-सलाम' जैसी कहानियाँ मजबूर करती हैं यह सोचने पर कि आख़िर आज इन विषम स्थितियों में मूल्यों के अवमूल्यन के काल में, 'मनुष्य-जीवन' का अर्थ क्या रह गया है? जिस तरह एक बहुत बड़ा वर्ग शोषण के बल पर और अधिक बलशाली होता जा रहा है, समाज को और अधिक असामाजिक बनाए जा रहा है, वहाँ 'व्यक्ति' का जीवन क्या सही अर्थों में 'जीवन' बना रह पाया है? 'शिलालिपि' में एक युवती सामाजिक दबावों और विवशताओं के कारण ही आत्महत्या करके ऐसे ही अनेक प्रश्न खड़े कर देती है। उसकी आत्महत्या पर चर्चाएँ तो होती हैं, तरह-तरह के कारण ढूँढ़े जाते हैं, परंतु उस लड़की को बचाने की कोशिश कोई नहीं करता। समाज के स्वनामधन्य कर्ता-धर्ता उसके मरने के बाद भी उसके जीवन को कलंकित, अपवित्र सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, यहाँ तक कि उसकी मौत के कारणों में उसकी माँ का दुराचारिणी होना भी जोड़ लेते हैं, जिसे लेखक विकृत मानसिकता की देन ही मानता है।

यह एक चकित करनेवाली बात है कि बिना किसी 'जनवादी' प्रतिबद्धता के भी वासुदेवन नायर 'जन-समर्थक' या 'जन' के पक्षधर लेखक हैं। उनकी प्राय: हर कहानी साधारण—जन की। विशेष रूप से शोषित और पीड़ित जन की कहानी है। आभिजात्य वर्ग उसमें अगर कहीं आया भी है तो 'साधारण व्यक्ति' के चारित्रिक विकास के लिए ही। इसलिए अधिकांश कहानियों में लोक-कथाएँ हैं, लोक-समाज है, लोक-जीवन है और हैं वे पारंपरिक चरित्र—दादी, नानी, नाना आदि जो भावी पीढ़ी के पोषक ही नहीं, सृजक भी हैं। आज के व्यक्तिवादी समाज और 'पति-पत्नी' वादी परिवार में ऐसे चरित्रों (पात्रों) का अभाव होता जा रहा है किंतु नायर की अधिकांश कहानियों का रूप-गठन ऐसे ही चरित्रों के बल पर है।

मुझे लगता है कि वासुदेवन नायर जैसे रचनाकार सिर्फ़ लिखने के लिए ही नहीं लिखते बल्कि उनके सामने स्पष्ट ही एक सामाजिक उद्देश्य होता है, मनुष्य का 'हित' उसका 'विकास' कहाँ और कैसे संभव है, इस पर उनकी दृष्टि होती है, तभी वे व्यक्ति मन में इतने गहरे उतरकर उसका चरित्रांकन, उसका विश्लेषण कर पाते हैं। उनकी कहानियाँ यह भी सिद्ध करती हैं कि वे मनुष्य के तमाम अध:पतन के बावजूद उसके स्वाभिमान की, उसकी विजय-भावना की, उसके विश्वास की वे क़द्र करते हैं और उसे बचाए रखना अपना लेखकीय धर्म मानते हैं।

वी. डी. कृष्णन नंपियार ने नायर की अनेक कृतियों का अनुवाद किया है, इन कहानियों के अनुवादक भी वे ही हैं और कहना पड़ेगा कि नायर की जो सहजता-सरलता उनकी अपनी भाषा में है, नंपियार ने उसे हिंदी में बनाए रखा है, इसी कारण ये कहानियाँ अनूदित कम, मौलिक ज़्यादा लगती हैं।

चर्चित पुस्तक :

अँधेरे की आत्मा : एम. टी. वासुदेव नायर; अनु. वी.डी. कृष्णन नंपियार; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 140 रुपए

जय प्रकाश कर्दम

दलित विमर्श बनाम गांधी

दलित संदर्भ में गांधी की भूमिका एक लंबे समय से विचार और विवाद का विषय रही है। ग़ैर दलित गांधी को दलितोद्धार का मसीहा मानते हैं तो दलित उनको खलनायक के रूप में देखते हैं। इसका कारण एक ओर जहाँ गांधी द्वारा अछूतोद्धार की मुहिम का चलाया जाना था तो दूसरी ओर दलितों को कम्युनल अवार्ड के ज़रिए मिलनेवाले अधिकार और सहूलियतों के विरोध में पूना की यर्वदा जेल में आमरण अनशन कर दलित नेता डॉ. अंबेडकर को पूना पेक्ट करने के लिए विवश किया जाना। गांधी के कृतित्व, व्यक्तित्व और विचारों पर विभिन्न दृष्टियों से विपुल साहित्य लिखा जा चुका है। दलित संदर्भ में भी गांधी पर जो कुछ लिखा गया है वह कम नहीं है किंतु गिरिराज किशोर की पुस्तक दलित विमर्श-संदर्भ गांधी एक अलग तरह की पुस्तक है। आठ अध्यायों में विभक्त यह पुस्तक दलितों के विषय में गांधी की सोच के साथ उनके द्वारा किए गए रचनात्मक कार्यों का विश्लेषणपरक दस्तावेज़ है। इसे गांधी को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समझने का एक प्रयास भी कहा जा सकता है।

गांधी के अछूतोद्धार के कार्यक्रम को देश की स्वतंत्रता की लड़ाई के साथ जोड़कर देखते हुए

गिरिराज किशोर पुस्तक के पूर्वाख्यान में ही इस बात का स्पष्ट संकेत देते हैं कि अछूतोद्धार का राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में क्या महत्त्व था और गांधी दृष्टि कितनी व्यापक थी। वह लिखते हैं, ''गांधी जब अछूतोद्धार की लड़ाई लड़ रहे थे तो दलितों के साथ-साथ वह लड़ाई देश की स्वतंत्रता की लड़ाई भी थी। दोनों एक-दूसरे के साथ गझी-बझी थी।'' उनका यह भी कहना है कि ''गांधी जी के लिए दोनों लड़ाइयाँ एक साथ लड़ना अनिवार्यता थी और बाध्यता भी थी।''

देश के सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में गांधी का क्या महत्त्व है और उनकी क्या जगह है देश और दुनिया इसे अच्छी तरह जानती है। दलितोत्थान में गांधी की भूमिका को लेखक ने इस पुस्तक में बहुत गहराई से रेखांकित किया है। दलित संदर्भ में गांधी का सर्वाधिक उल्लेखनीय कार्य अस्पृश्यता के विरुद्ध आंदोलन था। गांधी अस्पृश्यता की पीड़ा को अच्छी तरह समझते थे। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने स्वयं गोरे अंग्रेज़ों द्वारा अपने साथ बरती गई अस्पृश्यता का दंश और दर्द भोगा था। अस्पृश्यता के विरुद्ध अभियान चलाने के पीछे संभवतः उनका यही दर्द और दंश था। यह अलग बात है कि गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में अस्पृश्यता के जिस दंश को भोगा उसकी अवधि केवल कुछ वर्षों की थी, अपने देश में आकर उनको अस्पृश्यता भोगनी नहीं पड़ी। जबकि दलितों को पैदा होने से लेकर मृत्यु तक अस्पृश्यता का दंश भोगना पड़ता है। दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेज़ों द्वारा भारतीयों के प्रति भेद-भाव और भारत में सवर्ण हिंदुओं द्वारा दलितों के साथ बरती जानेवाली अस्पृश्यता और भेद-भाव में अंतर है। दक्षिण अफ्रीका में भेद-भाव का आधार आर्थिक और रंगभेद है जबकि भारत में दलितों के प्रति अस्पृश्यता जातिगत है जिसका आधार धर्म है। धर्म सबसे बड़ी सत्ता है। समाज धर्म से ही शासित और संचालित होता है। सवर्ण हिंदुओं के लिए दलितों के प्रति अस्पृश्यता और भेद-भाव धर्मादेश का पालन करना है।

अस्पृश्यता अस्पृश्यों के लिए एक पीड़ादायक अनुभव है तो किसी सभ्य समाज के लिए भी यह किसी अभिशाप या कलंक से कम नहीं है। पुस्तक का पहला अध्याय अस्पृश्यता और परंपरा पर केंद्रित है। भारत में अस्पृश्यता आर्य-अनार्य युद्ध का परिणाम है। लेखक ने भारत के अनार्यों (मूल निवासियों) को दास कहते हुए विद्वानों के हवाले से उल्लेख किया है कि, ''अस्पृश्यता की नींव उसी समय पड़ गई थी जब आर्यों ने भारत (अगर वे बाहर से आए) के मूल निवासियों पर आक्रमण करके उनका उन्मूलन या विच्छेदन किया।'' उनके अनुसार बाद में अनार्य (मूल निवासी) दो भागों में विभक्त हो गए। एक वर्ग तो उन दूरस्थ स्थानों को पलायन कर गया जहाँ आर्य पहुँच नहीं पाए थे जैसे पहाड़, जंगल आदि। यह वर्ग जन-जातियों को श्रेणी में आ गया। दूसरे वर्ग ने अधीनता स्वीकार कर ली। यही वर्ग परिया, मलेच्छ, चांडाल, पंचम, अवर्ण, अंत्यज, अतिशूद्र आदि विशेषताओं से नवाज़ा गया और इनके साथ अस्पृश्यता का व्यवहार किया गया। बाद में अस्पृश्यता को वर्ण-व्यवस्था का अंग बना दिया गया। वस्तुतः यह एक ऐसा ऐतिहासिक सत्य है जो हज़ारों वर्षों से एक मनुष्य के सामने दूसरे मनुष्य का अवमूल्यन करता रहा है। हालाँकि गांधी से पहले बुद्ध से लेकर स्वामी दयानंद तक अनेक महापुरुषों ने अस्पृश्यता के ख़िलाफ़ समाज को जागृत करने का प्रयास किया किंतु गिरिराज किशोर की नज़र में, ''गांधी अकेला व्यक्ति है जिसने जातीय हिंदुओं के बीच पैदा होकर उन्हीं की इस मान्यता के विरुद्ध आंदोलन किया और इस मानसिकता पर पुनर्विचार करने के लिए इस संपूर्ण जातीय वर्ग को बाध्य किया।''

गांधी के अनुसार ग़ुलाम देश का हर नागरिक अपने आप में एक सवाल होता है। भारत में

दलित भी सवर्णों की दुनिया में एक ग़ुलाम देश है। इसलिए स्वाभाविक रूप से प्रत्येक दलित अपने आप में सवाल है जो अपना जवाब माँग रहा है। अस्पृश्यता ग़ुलामी से भी गई-गुज़री है। ग़ुलामी से मुक्ति हो सकती है किंतु अस्पृश्यता जन्मजात है। जब तक जाति है अस्पृश्यता से मुक्ति संभव नहीं है; अस्पृश्यता का रूप बेशक बदल सकता है। दलित साहित्य अस्पृश्यता से अस्मिता तक के इन्हीं सवालों का साहित्य है। दलित सवालों को साहित्य (पत्रकारिता और पुस्तकों) के ज़रिए डॉ. अंबेडकर ने भी उठाया और गांधी ने भी। हालाँकि दोनों के अनुभव और अभिव्यक्ति की भाषा अलग थी। यही बात आज के दलित और ग़ैर-दलित लेखकों के दलित विषयक लेखन में है। सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानते हुए गिरिराज किशोर दलित विमर्श के सदंर्भ में दलित साहित्य की भूमिका को सकारात्मक रूप में देखते हैं। 'अधिकार माँगने से नहीं मिलते, छीने जाते हैं' यह बात डॉ. अंबेडकर ने दलितों को सिखाई थी और उनसे प्रेरणा लेकर ही दलितों ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना शुरू किया। किंतु प्रेमचंद के उपन्यास गोदान में दलितों द्वारा पंडित मातादीन के मुँह में हड्डी डालकर उसको अपना धर्म देने जैसी घटना को दलितों पर अंबेडकर के प्रभाव का परिणाम मानने से इनकार करते हुए गिरिराज किशोर इसे गांधी के प्रभाव का परिणाम मानते हैं। उन्हें अंबेडकर के चरित्र में ऐसी आक्रामकता कहीं नज़र नहीं आती। गांधी की कार्य पद्धति अहिंसात्मक थी। किसी भी प्रकार की हिंसा में उनका कोई विश्वास नहीं था। गांधीवादी दृष्टि से मातादीन के मुँह में जबरन हड्डी डालने की कार्रवाई हिंसात्मक है। इसे गाँधी का प्रभाव नहीं कहा जा सकता। अंबेडकर के अंदर एक अलग तरह का आवेग है। अधिकार प्राप्ति के लिए संघर्ष करना उनका स्वभाव है। कालाराम मंदिर में प्रवेश और चावदार तालाब से पानी के लिए आंदोलन उन्होंने चलाया। इतना ही नहीं हिंदुओं का संविधान मानी जानेवाली 'मनुस्मृति' की होली जलाने के साहसिक और आक्रामक कार्य जैसा दूसरा उदाहरण भारत के इतिहास में नहीं मिलेगा।

गांधी का मोहनदास से महात्मा बनने तक का सफ़र बहुत सारे रास्तों-पड़ावों से होकर गुज़रता है। इस बीच तरह-तरह के अनुभव उनको होते हैं और उनके साथ नए-नए प्रयोग वह करते जाते हैं। गांधी के व्यक्तित्व में एक विरोधाभास था। किंतु लेखक इस विरोधाभास को भी सत्य के साथ उनके प्रयोग के रूप में देखता है। एक ओर गांधी स्वयं को सनातनी हिंदू या वैष्णव कहते हुए वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करते हैं और जाति व्यवस्था को वैज्ञानिक मानते हैं तो दूसरी ओर अस्पृश्यता को ईश्वर और मानवता के प्रति अपराध कहकर उसके विरुद्ध आंदोलन चलाते हैं। अपने इसी विरोधाभास के चलते दलितों को उन पर कभी भरोसा नहीं रहा और वह ख़लनायक माने गए तो जातीय हिंदुओं के भी वह कोपभाजन बने।

पुस्तक में अलग-अलग शब्दों में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि गांधी की मानवीय संवेदना को ठीक से समझा नहीं गया है कि क्यों वह स्वयं को सनातनी कहते हैं और वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्यता के संबंध में निरंतर अपना स्टैंड बदलते हैं। लेखक गांधी के द्वारा ऐसा किए जाने को हिंदू समाज में टारपीडो की तरह अंदर से तोड़-फोड़ करना मानता है। उसके अनुसार वर्ण व्यवस्था को मान्यता देकर गांधी वर्ण व्यवस्था को छलते हैं उनका अनुसरण नहीं करते। यह हिंदुओं का हृदय परिवर्तन कराने की उनकी एक रणनीति थी। गांधी की मानवीय संवेदना और चेतना का यह विस्तार है कि वह हिंदू होकर भी हिंदू नहीं हैं और अछूत न होकर भी अछूत हैं।

'हिंदू स्वराज' गांधी की स्वाधीन-भारत के बारे में कल्पना का समाजशास्त्रीय पाठ है जिसमें उन्होंने देश के भविष्य को लेकर उनके अंदर उमड़-घुमड़ रहे अनेक सवालों का जवाब ढूँढ़ने

की कोशिश की है। किंतु दलितोद्धार के बारे में 'हिंदू स्वराज' में कोई उल्लेख नहीं है। आज़ाद भारत में दलितों की स्थिति क्या होगी? उनकी अस्मिता और हित कैसे सुरक्षित रहेंगे? इन सवालों पर 'हिंदू स्वराज' में गांधी की चुप्पी अपने आप में कई सवाल खड़े करती है।

गांधी एक ओर जाति व्यवस्था को वैज्ञानिक बताते हैं और वर्ण व्यवस्था का खुलकर समर्थन करते हैं तो दूसरी ओर हिंदुओं से अस्पृश्यता का दाग़ लगाकर अपने श्रेष्ठ धर्म को अपमानित नहीं करने की अपील करते हैं। वर्ण व्यवस्था और जातिवाद जैसी अमानवीय व्यवस्थाओं को बनाए रखकर कोई धर्म श्रेष्ठ कैसे हो सकता है, यह भी विचार का विषय है।

अस्पृश्यता की समस्या को गांधी हृदय परिवर्तन के द्वारा हल करना चाहते थे और अंबेडकर क़ानून के द्वारा। अंबेडकर देश की आज़ादी का मतलब समझ सकें, उसे अनुभव कर सकें। लेखक की दृष्टि में अंबेडकर का उद्देश्य सीमित था। मानवता के इतने बड़े हिस्से को हज़ारों साल की ग़ुलामी से मुक्ति दिलाने का उद्देश्य यदि सीमित है तो महान उद्देश्य की परिभाषा क्या होती है?

गांधी द्वारा दक्षिण अफ्रीका में गोरे अंग्रेज़ों से मिले अपमान और उत्पीड़न तथा डॉ. अंबेडकर द्वारा भारत में सवर्ण हिंदुओं से मिले अपमान, उत्पीड़न और अस्पृश्यता में समानता होते हुए भी दोनों की स्थिति में काफ़ी अंतर था। गांधी के पास एक विकल्प था जिस पर उन्होंने विचार भी किया कि वह अपने देश लौट सकते थे। यह अलग बात है कि उन्होंने इस विकल्प को न चुनकर वहीं पर रहकर संघर्ष करने का विकल्प चुना। अंबेडकर के पास कोई विकल्प नहीं था। वह इस उत्पीड़न से बचने के लिए जाना भी चाहते तो कहाँ जाते। वह तो निरंतर इस सवाल का जवाब पाने के लिए भटकते रहे कि मेरा देश कहाँ है।

दलित संदर्भ में गिरिराज किशोर को न केवल अंबेडकर की अपेक्षा गांधी का रास्ता अधिक व्यावहारिक और ठोस परिणाम देनेवाला लगता है बल्कि गांधी की भूमिका भी कहीं बड़ी दिखाई देती है। वह इस बात पर बहुत ज़ोर देते हैं कि अंबेडकर एक प्रखर बुद्धिजीवी हैं, गांधी की तरह सामाजिक कार्यकर्ता या एक्टिविस्ट नहीं। एक बौद्धिक और विचारक की एक सीमा हो सकती है जबकि गांधी की रसाई जड़ों तक थी। ऐसा कहकर वह गांधी की तुलना में डॉ. अंबेडकर की भूमिका को गौण सिद्ध कर देते हैं। इतना ही नहीं गांधी को अधिक-से-अधिक ऊँचा उठाने के प्रयास में वह अंबेडकर के गांधी विरोध का ज़िक्र करते हुए यहाँ तक कहते हैं कि, ''शायद गांधी उस समय तक इतने महत्त्वपूर्ण हो चुके थे कि उनका विरोध भी मान्यता का कारण बन सकता था।''

अंबेडकर अपने आप में इतनी छोटी शख़्सियत तो नहीं थे कि वह गांधी का विरोध नहीं करते तो उनका महत्त्व गौण रहता। दलितों को छुआछूत से मुक्ति और समानता का अधिकार दिलाने के निमित्त सार्वजनिक तालाबों, नलों और कुओं से पानी लेने और मंदिर आदि सार्वजनिक स्थानों पर प्रवेश दिलाने के लिए आंदोलन चलाने से लेकर गाँव-क़सबों में दलितों के बीच जाकर उनको शिक्षित बनने, संगठित होने और संघर्ष करने, गंदे और घृणित समझे जानेवाले पेशों को त्यागने और सफ़ाई से रहने के लिए प्रेरित करने का अभियान चलाने के साथ-साथ मूकनायक, बहिष्कृत भारत और जनता आदि समाचार पत्रों के प्रकाशन के ज़रिए समाज की चेतना को झकझोरने तथा अनेक कॉलेज एवं शिक्षण संस्थान खोलने तक के जितने रचनात्मक कार्य डॉ. अंबेडकर ने किए और जितना समय दलित हित में लगाया वह अपने आप में इस बात का प्रमाण है कि अंबेडकर कितने बड़े सामाजिक एक्टिविस्ट थे। किंतु लेखक ने इस सबको नज़रअंदाज़ किया

है। इस संबंध में डॉ. अंबेडकर की पुस्तक व्हाट गांधी एंड कांग्रेस हेव डन टू दि अनटचवुल्स को अवश्य देखा जाना चाहिए जिसमें इस बात का विश्लेषणात्मक विवरण है कि गांधी और कांग्रेस द्वारा कितना ठोस कार्य दलितों के लिए किया गया तथा कितना पैसा दलितोद्धार के विभिन्न कार्यक्रमों पर ख़र्च किया गया।

किंतु देश के प्रति अंबेडकर की निष्ठा को लेकर वह सकारात्मक हैं। गांधी ने कम्युनल अवार्ड का विरोध किया क्योंकि इसमें उन्हें समाज के विघटन का ख़तरा नज़र आया था। किंतु इसका कोई ठोस आधार उन्होंने नहीं दिया था। गिरिराज किशोर को दलितों की निष्ठा के प्रति गांधी के मन में उपजी इस शंका का कोई कारण नज़र नहीं आता। वह स्पष्टता के साथ लिखते हैं कि, ''दलित वर्ग का इतिहास कभी देशद्रोह का नहीं रहा। देशद्रोह किया भी तो सवर्णों ने। इसलिए यह सोचना ग़लत होगा कि कम्युनल अवार्ड के बल पर अंग्रेज़ हिंदुस्तान का एक और बँटवारा करने में कामयाब हो जाते। डॉ. अंबेडकर ने धर्म परिवर्तन की बात-भले ही कही हो परंतु देश के बँटवारे की बात कभी नहीं की।''

कई सवालों का जवाब देने और कई नए सवाल खड़े करने के साथ-साथ यह पुस्तक दलित विमर्श को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में समझने की अपील करती है। दलित संघर्ष केवल दलितों का नहीं यह भारतीयता का संघर्ष है। भारत की उन्नति और विकास बहुत कुछ दलित संघर्ष की सफलता पर निर्भर करेगा। गाँधी ने इस बात को अच्छी तरह समझा था। भले ही उन्होंने डॉ. अंबेडकर के संघर्ष का समर्थन नहीं किया किंतु अंबेडकर की भूमिका को वह समझते थे। इसलिए अंबेडकर को संविधान समिति का अध्यक्ष बनवाने में उन्होंने भूमिका निभाई थी।

गांधी और अंबेडकर ने बहुत से सवालों को अपने-अपने दृष्टिकोण से अपनी-अपनी शैली में हल करने की कोशिश की, किंतु कई सवाल आज भी ज्वलंत हैं और अपने उत्तर की तलाश में हैं। लेखक का यह कहना बहुत सही है कि ''दलित प्रश्न को भारतीय संदर्भ में किस रूप में समझा जाए या उसे कितना सीमित किया जाए यह उन लोगों के लिए चुनौती है जो कबूतर की तरह आँख बंद करके यह समझ लेना चाहते हैं कि उस संघर्ष से उनका कोई सरोकार नहीं है।''

चर्चित पुस्तक :

दलित विमर्श : संदर्भ गांधी : गिरिराज किशोर; भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला-171005; 2004; 250 रुपए

1958 में जन्मे जय प्रकाश कर्दम की दो दर्जन पुस्तकें जिनमें उपन्यास, कविता-संग्रह, शोध-प्रबंध, अनूदित एवं संपादित पुस्तकें हैं। मध्य प्रदेश दलित साहित्य अकादमी तथा अन्य कई संस्थाओं से पुरस्कृत। संपर्क : बी-634, डी.डी.ए. फ़्लैट्स, ईस्ट ऑफ़ लोनी रोड, दिल्ली-110093

क्षितिज शर्मा

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जीवन की अभिव्यक्ति

बारी बारणा खोल दो सुलोचना रांगेय राघव का पहला उपन्यास है। ग़ौरतलब है कि वे जाने-माने हिंदी लेखक स्व. रांगेय राघव की पत्नी हैं। इस उपन्यास से पहले उन्होंने रांगेय राघव के अंतरंग जीवन पर बहुत दिलचस्प और सारगर्भित संस्मरण लिखे हैं। दस भागों में रांगेय राघव की ग्रंथावली का संपादन किया है। वह समाजशास्त्री हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय में

समाजशास्त्र की प्रवक्ता रह चुकी हैं। हिंदी साहित्य से उनका संबंध केवल रांगेय राघव के नाते ही नहीं है। उन्होंने हिंदी उपन्यासों का गहन अध्ययन किया है। "ए सोश्योलॉजिकल स्टडी ऑफ़ हिंदी नॉवल्स" उनका बड़ा शोधपरक कार्य है।

बारी बारणा खोल दो इस बात का गवाह है कि सुलोचना रांगेय राघव ने जिस परिवेश को अपने उपन्यास में उठाया है, उसके पूरे समाजशास्त्रीय मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का अध्ययन उनके पास है। ग़ैर हिंदी क्षेत्र की पृष्ठभूमि में लिखा गया है, यह उन थोड़े से उपन्यासों में जो हमें दक्षिण भारत से रू-ब-रू कराता है। सामाजिक संरचना की भीतरी बारीकियों, रीति-रिवाज, खान-पान और धार्मिक विश्वासों और अनुष्ठानों की प्रचुरता से बँधे इस समाज की अभिव्यक्ति हिंदी क्षेत्र के पाठकों को प्राय: नई जानकारी के साथ जीवन व्यवहार के ऐसे पक्षों और मनोविश्लेषणों से परिचय करता है, जो उत्तर भारत में मौजूद तो हैं, पर उनका रूप कुछ-कुछ बदला हुआ है। ऐसे में पाठक के भीतर उपन्यास भी गति के साथ-साथ दोनों समाजों का तुलनात्मक अध्ययन भी चलता रहता है। परिणामस्वरूप भारतीय परिवेश की पारिवारिक रचना के मज़बूत होने या उनमें टूटने के दर्दनाक कारणों के माध्यम से अनेकता में एकता वाली उक्ति के एक बड़े जीवन-दर्शन की जानकारी हासिल हो जाने का सा आभास भी होता चलता है।

उपन्यास का काल आज़ादी से थोड़ा पहले का—दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद का है। यों फ़्लैशबैक में यह और पीछे तक जाता है। यह समय स्वतंत्रता सेनानियों और उनके संपर्क में आनेवाले लोगों के आदर्शों से प्रभावित सामाजिक मूल्यों के पालन का था। ज़रूरी नहीं कि उपदेश देने पर ही या आज़ादी के लिए सामाजिक व पारिवारिक ज़िम्मेदारी का अहसास कराने पर ही व्यक्ति के भीतर जागृति आती थी। सामाजिक आचरण और संबंधों के निर्वाह में स्वत: एक चेतना रहती थी। बारी बारणा खोल दो का आरंभ दक्षिण भारत के अनंतकृष्णापुरम् से होता है। गाँव का नाम अग्रहारम् है। ख़बर आग की तरह फैल गई है कि एच्चा का दूसरा बेटा किच्चा भाग गया है। इस 'भाग गया है' के पीछे ग़रीबी है। एक विधवा माँ के बच्चों की पढ़ाई और पालन-पोषण की कठिनाइयाँ हैं। और इस छोटे से स्थान के सीमित साधनों और असीमित रूढ़िग्रस्तता में भविष्य की उज्ज्वलता की कम संभावनाएँ हैं। उपन्यास अपने शिल्प में 'कम संभावनाओं' के कारणों को उसके परंपरागत स्वरूप और जातीय श्रेष्ठता के दंभ में और अधिक पुराणपंथ होने में देखता है। इसी में अनंतकृष्णापुरम् के बहाने दक्षिण भारत के सांस्कृतिक और भौगोलिक इतिहास की ज़रूरी जानकारी भी मिलती रहती है।

किच्चा या कृष्णास्वामी अय्यंगार अपनी मेहनत और शिक्षा के लक्ष्य को सामने रखकर छोटी-छोटी नौकरियाँ करता है। अनुभव और शिक्षा प्राप्ति की लगन से वह धीरे-धीरे बढ़ते कैलिफ़ोर्निया, अमेरिका से 'फेलो ऑफ़ रॉयल हॉर्टिकल्चर सोसायटी' का ख़िताब प्राप्त कर लेता है। उसका सपना कृषि क्रांति और हरित क्रांति लाने का है। उसकी नियुक्ति जूनागढ़ के नवाब के पास हो जाती है। जूनागढ़ उसकी कर्मभूमि रहा तो वही उसकी धर्मभूमि भी बना। जूनागढ़ ने उसे कृषि वैज्ञानिक बनने और नित्य नए प्रयोग करने की छूट दी, तो उसे जूनागढ़ को कृषि के दम पर संपन्न होने का गौरव दिया। ख़ुद भी ख्याति और सम्मान प्राप्त किया। धर्मभूमि वह इसलिए बना कि लोगों के संपर्क में आने और उनके साथ काम करने में जो अनुभव हुए उसके भीतर की ईमानदारी व परोपकारी प्रवृति को लगातार बढ़ावा मिला। उसकी पद-प्रतिष्ठा के कारण ही पत्नी का देहांत हो जाने पर दूसरे विवाह में कोई दिक़्क़त नहीं आई।

कृष्णास्वामी का चरित्र उस समय की रूढ़िग्रस्तता को देखते हुए प्रगतिशील भी है और परंपरावादी भी। परंपराओं और धार्मिक अनुष्ठानों में वह वहीं तक विश्वास करता है, जहाँ तक वह दूसरों के लिए कष्टकर न हो जाएँ। वह स्त्री के शोषण के विरुद्ध है। अपने भाई की मृत्यु पर वह श्राद्ध कर्म करने को तैयार है, पर धर्म और मोक्ष के नाम पर बड़ा ब्राह्मण भोज कराने को तैयार नहीं है। यह उसके विचार से फ़िज़ूलख़र्ची तो है ही, धार्मिक दृष्टि से भी उसका कोई अर्थ वह नहीं समझता। भाभी के बाल उतारने का भी वह विरोध करता है। उसे उसकी बेटी के साथ अपने पास ले आता है।

उपन्यास में कृष्णास्वामी के जीवन से ही जुड़ी घटनाएँ नहीं हैं—साथ ही जीवन की धारा ही बदल देनेवाले बड़े प्रसंग भी नहीं हैं। यहाँ रोज़-रोज़ की मामूली घटनाएँ और उनके साथ जुड़े सामाजिक सरोकार हैं। उन्हीं से मुख्य कथा, मुख्य पात्र की उपस्थिति में पूरा परिवेश, समाज और सांस्कृतिक तत्त्व मिल जाते हैं। कथा जूनागढ़ और अनंतकृष्णापुरम् के बीच सेतू का-सा काम कर दो समाजों की जीवन पद्धति और उनका विश्लेषण प्रस्तुत करती जाती है। कृष्णास्वामी के व्यक्तित्व पर अनंतकृष्णापुरम् और वैष्णव वड़कलै अय्यंगार ब्राह्मण की अमिट छाप है, तो जूनागढ़ की कर्म-भूमि का खुलापन भी। असल में कृष्णास्वामी आधी सदी पहले के पढ़े-लिखे आदमी का प्रतिनिधित्व करता है। वह अपनी सांस्कृतिक व धार्मिक जड़ों को बनाए रखने का पक्षधर है, तो बदलावों को भी नकार नहीं रहा है। ज़रूरी सुधारों को मानने की ज़िद भी करता है। इसमें परोक्ष में स्वतंत्रता आंदोलन के मूल्यों का प्रभाव है। स्वतंत्रता आंदोलन केवल राजनीतिक आंदोलन नहीं था। यह सामाजिक मूल्यों, व्यक्तित्व निर्माण और सामाजिक सौहार्द को मज़बूत करने की प्रेरणा देनेवाला भी था। कृष्णास्वामी का सरोकार इन्हीं मूल्यों से था। उसके प्रसंग के माध्यम से नवाबगाही, अंग्रेज़ अफ़सरों से उनके संबंध और उनके भीतर के डर जैसा चित्र निर्मित करते हैं, वह उस समय की व्यवस्था का यथामिश्रित तो है ही, उस व्यवस्था की ख़ामियों और सुधारों के संकेत भी देते हैं।

स्वरोज़गार और परोपकार ये दोनों कृष्णास्वामी के सपने रहे हैं। उपन्यास का गठन ऐतिहासिक घटनाओं को भी औपन्यासिक तत्त्वों से कम महत्त्व नहीं देता, तो इतिहास की प्रमुख घटनाएँ उपन्यास की भी निर्णायक स्थितियाँ बन जाती हैं। 1939 में काठियावाड़ में सूखे की स्थिति से निपटने के लिए ब्रिटिश रेज़िडेंट ने जो उस समय गवर्नर जनरल का एजेंट भी था, राज्यों के राजाओं को एकत्रित कर एक समिति का गठन किया। कृष्णास्वामी अय्यंगार को उसका प्रमुख नियुक्त किया गया। इस भ्रमण के दौरान उसने पाया कि कोसवाड़ आदि कई इलाक़ों में वारली आदिवासियों का ज़बर्दस्त शोषण हो रहा है, तो उसके मन में कोसवाड़ में ज़मीन लेकर अपने कृषि वैज्ञानिक होने के अनुभव से स्वरोज़गार और वारली आदिवासियों को उसमें काम दिलाकर उनमें जागरूकता पैदा करने का विचार आया। कोसवाड़ में कई एकड़ ज़मीन लेकर, वहाँ की भौगोलिक व पर्यावरण संबंधी जानकारी हासिल कर कृष्णास्वामी ने वहीं बसने का निर्णय ले लिया। पास ही गुरुकुल क़िस्म के स्कूल में दोनों बड़े बेटों का दाख़िला दिलाकर उसने नई चुनौतियों की तैयारी कर ली। आदिवासियों के लिए ज़रूरी सुविधाएँ, तय मेहनताना और काम के प्रति निष्ठा जगाने के साथ ही उसके उनके बच्चों के लिए वहीं स्कूल बनवाने का भी प्रबंध कर लिया।

उपन्यास में अनंतकृष्णापुरम् एक पड़ाव है, तो जूनागढ़ दूसरा महत्त्वपूर्ण मुक़ाम है। तीसरा निर्णायक स्थल है कोसवाड़। यहाँ उपन्यास कृषि व्यवस्था, पूँजीवाद में शोषण की प्रवृतियों, साहूकार और आदिवासी समाज से उनके रिश्ते

के अलावा आदिवासी समाज की भीतरी संरचना और परंपराओं तथा बाहरी समाज के शोषण में उनकी सामाजिक हैसियत को कहता जाता है। इसमें कृष्णास्वामी की ज़िंदगी, उसके विचार, उसका अतीत और भविष्य की योजनाएँ भी यथासंभव स्थान पाती जाती हैं और उपन्यास का कैनवास फैलता जाता है। इसी में तमिल, गुजराती और कुछ हद तक कन्नड संस्कृति व सामाजिकता का चित्रण भी होता जाता है।

कोसवाड़ ने जहाँ कृष्णास्वामी को अपने उद्देश्य की पूर्ति का अवसर दिया, वहीं उसकी बीमारी को बढ़ाने में मदद की, जो उसकी मृत्यु का कारण भी बनी। मृत्यु से पहले परिवार को आर्थिक संरक्षण देने के लिए कृष्णास्वामी कोसवाड़ की ज़मीन को बेचकर पैसे उनके हवाले कर गया था।

यहाँ तक उपन्यास का पूर्वार्द्ध है, जो एक कृषि वैज्ञानिक की, जिसने इतनी ख्याति प्राप्त कर ली थी कि दुनिया के किसी भी विकसित व सुख-सुविधा वाले कोने में आराम से ज़िंदगी बसर कर सकता था। पर उसका सामाजिक समर्पण उसे सेवाश्रम बनाने की ओर ले गया। उसकी मृत्यु के बाद परिवार पर जो संकट आया उसे साहसिक संघर्षपूर्ण ढंग से निभाया उसकी पत्नी जानकी ने। जानकी के व्यक्तित्व का असल रूप इसी के बाद सामने आता है। इससे पहले वह कृष्णास्वामी की छाया थी। उसे अपने पति पर गर्व था, तो पारिवारिक चिंताओं को लेकर शिकायतें भी थीं। उसकी ज़िम्मेदारी बच्चों को सँभालने और घर की देखभाल तक ही थी। अब उसे परिवार के मुखिया के रूप में एक अलग व्यवस्था बनानी थी। उसके आठ बच्चे थे। रोज़गार लायक़ अभी कोई नहीं हुआ था। उसके पास ज़मीन की बिक्री से आया कुछ पैसा था और पति से प्रेरणा लेकर संघर्ष करने का माद्दा।

जानकी यहाँ परंपरागत भारतीय स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है। वह पति के लिए समर्पित थी। धार्मिक उत्सव उसके उल्लास के क्षण थे। बच्चों को ममता देना उसकी कमज़ोरी भी था और धर्म भी। अधिक बच्चे होना उसे मानसिक कष्ट पहुँचाता था। बाप के गर्भधारण से छुटकारा पाने के लिए वह नौकरानी से दवा भी मँगवाती है, जो बेअसर रहती है। पर पति से फिर भी कोई शिकायत नहीं करती। गर्भधारण से बचने के लिए पति से कोई विचार-विमर्श भी नहीं करती। यह पुरानी औरत का वास्तविक रूप है। अब ज़रूरत पड़ने पर उसे गृहणी से आगे बढ़ना है। कृषि के महत्त्व को वह जानती है। पति ने एक दिशा दिखा दी तो ज़मीन और ऊपज के बेहतर रिश्ते की कुछ समझ उसे भी हो आई। वह एक मकान ख़रीदती है और कुछ ज़मीन।

ज़मीन की देखभाल उसे ख़ुद करनी है। बच्चे कुछ छोटे हैं। कुछ बड़े भी हैं तो उन्हें कृषि में ख़ास रुचि नहीं है। खेती के कष्ट, साँप-बिच्छू व जंगली-जानवरों से बचना—मुक़ाबला करने में उन्हें डर नहीं लगता है तो भी ऐसे कष्टों से दूर ही रहने की सीख ज़रूर देता है। इसमें ग़ौर करने की एक बात और भी है, उपन्यास जिसका सीधा संकेत नहीं देता पर अपने निर्वाह में उसे प्रमाणित करता जाता है, वह है स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की पीढ़ी में शहरों और सहज प्राप्त होनेवाली सुविधाओं के प्रति आकर्षण। जानकी के बच्चे नौकरी चाहते हैं। एक बॉम्बे चला गया है। उसे कोई बढ़िया काम नहीं मिला है, खेती के कष्टकर काम से बच गया। एक बेटा ठीक पढ़ गया तो अमेरिका में बस गया। यानी कृष्णास्वामी जिसने खेती को उत्तम दर्जा देकर ख़ुद तो सम्मान पाया ही, उपेक्षितों और शोषितों में भी कृषि-क्रांति के दम पर स्वाभिमान जगाया, उसके बच्चे कृषि से दूर शहरी जीवन जीने के लिए ललायित हो गए। यह दो पीढ़ियों की सोच का अंतर है, तो इस सोच को विकसित करने के कारण भी ज़रूर रहे होंगे। उपन्यास का अभीष्ट उन कारणों की पड़ताल करना नहीं है। वह

परिवर्तन के सारे संकेत और उनके परिणामों की ओर इशारा करता है। उत्तरार्द्ध में मुख्य पात्र बन गई। जानकी के संघर्ष और एक सामान्य भारतीय स्त्री की सोच कि वह बच्चों की ब्याह-शादी से निवृत्ति हो जाए तो जीवन के सार्थक होने का संतोष पा जाए, में जीवन की गति और बार-बार के अवरोधों के बावजूद उसे पकड़े रहने की अदम्य इच्छा, जीवन के साथ बने रहने की आशावान परंपरा का निर्माण करती है। बेटों की बेहतर स्थिति हो जाने पर भी जानकी का अपनी ही ज़मीन पर लौट आना, कृषि के महत्त्व को हमेशा ध्यान रखने की सीख का द्योतक है।

नि:संदेह उपन्यास का शिल्प और कथा को विस्तार देने का प्रयास तमिल और कन्नड उपन्यासों से प्रभावित है। पर हिंदी में ऐसे शिल्प की कथावृतियाँ कम ही हैं, तो इसका स्वागत होना ज़रूरी भी है।

चर्चित पुस्तक :

बारी बारणा खोल दो : सुलोचन रांगेय राघव; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2003; 195 रुपए

1950 में जन्मे क्षितिज शर्मा के चार कहानी-संग्रह, दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, हिंदी अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 100/
2 ए, गांधी एक्सटेंशन, दिल्ली-110053, फ़ोन-22942 333

केदार कुमार मंडल

एक नए भाव-बोध की खोज

जितेन ठाकुर हिंदी साहित्य के ऐसे कहानीकार हैं जिन्होंने महानगर के भागमभाग वाले जीवन से दूर रहकर साहित्य सृजन किया है। ऐसे जीवन में कहानीकार की सृजनात्मकता पहचानने का एकमात्र ज़रिया उनकी रचना ही होती है। उनकी कहानियों को पढ़कर इसे समझा जा सकता है। उन्होंने पुराने घिसे-पिटे विषयों पर मुलम्मा चढ़ाकर परोसने के बजाय नए भावबोध से युक्त विषयों को खोजा है। आज के लाभवादी तथा भूमंडलीकरण के दौर में दरकते मानवीय रिश्ते तथा कुंद होती संवेदनाओं को कहानी में गहराई से नोटिस लिया गया है। उनका यह तीसरा कहानी-संग्रह एक झूठ : एक सच इसे बयान करता है। संग्रह में कुल पंद्रह कहानियाँ हैं जो जीवन के विभिन्न अनुभवों से अनुघटित होकर बनी है।

'किरदार' संग्रह की पहली कहानी है। कहानी दिलचस्प है। साहित्य जगत की सच्चाइयों को सामने रखते हुए किरदारों की ख़रीददारी मज़ेदार है। एक तरफ़ मुंशी हैं, जिसकी क़लम रोज़ी-रोटी से बँधी है; दूसरी तरफ़ शाह साहब क़लम के बादशाह तो हैं ही पुश्तैनी बादशाह भी हैं जो लोगों से घूस देकर अनुभव वसूल कर लेते हैं। यह आदमी हरएक को किरदार बना देता है और ख़ुद अलग लेखक बना रहता है। आज के लाभवादी और उपभोक्तावादी युग में ईमानदार लेखक की कोई पूछ नहीं। कहानी यह बयान करती है कि साहित्य के क्षेत्र में वही टिक सकता है, जो मोल-भाव से लेकर प्रकाशक और पाठक को ख़ुश रख सके। कहानी आर्थिक, सामाजिक विषमता से लेकर साहित्यिक विषमताओं का एक सघन पाठ है। संग्रह का 'लौट आओ मोहन' कहानी भी साहित्य की अवमानना दिखलाती है। कहानी एक तरफ़ साहित्यिक गलियारों में चल रही कुत्सित राजनीति का पर्दाफ़ाश करती हैं, वहीं दूसरी तरफ़ एक संवेदनशील साहित्यिक

जीवन के प्रति सच्चे आदमी की सच्ची चिंता को बयान करती है। कहानी के दो पात्रों के बीच वार्तालाप से यह स्पष्ट होता है। एक पात्र कहता है, "हम इसी व्यवस्था के ख़िलाफ़ एकजुट हैं, क़लम की लड़ाई लड़ रहे हैं। देखना हम एक दिन ऐसी व्यवस्था क़ायम करेंगे कि लोगों को शब्द की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी।'' दूसरा पात्र कहता है, ''तुम और तुम्हारी क़लम! तुम में जान होती तो वो साले दो-दो कौड़ी के हाकिम तुम्हारे पूर्वजों को सड़कों पर फेंकने की हिमाकत नहीं करते।'' कहानी इन दो कथनों को खोलती है और निष्कर्ष देती है कि आज समाज में 'मोहनों' की ज़रूरत है। ऐसे समाज में मोहन के लौटने की ज़रूरत है, बिना मोहनों के समाज नहीं चल सकता।

'सर्वाधिकार सुरक्षित' संग्रह की सशक्त कहानियों में एक है। कहानी स्तरबद्ध शोषण को बहुत तीव्रता से उभारती है। एक फ़ोटोग्राफ़र है जो एक औरत का शोषण करता है और फ़ोटोग्राफ़र का शोषण अख़बार का मालिक करता है। कहानी यहीं नहीं रुकती इससे भी आगे चलती है। कहानी बतलाती है कि उत्पादन पर उसी का अधिकार होगा जिसके पास पैसा होगा। उनके लिए 'सर्वाधिकार सुरक्षित' है। एक ग़रीब की संवेदना को पूँजीपति वर्ग कैसे 'हाईजैक' करता है, इसका पता ग़रीबी और अमीरी के बीच माध्यम का काम करनेवाले फ़ोटोग्राफ़र को भी पता नहीं चलता। यह कहानी अंतर्राष्ट्रीय पेटेंट व्यवस्था की साज़िश से भी जुड़ती है।

'गर्द-ओ-ग़ुबार' संग्रह की एक सशक्त कहानी ही नहीं बल्कि आज के सांप्रदायिक वातावरण के लिए प्रासंगिक भी है। मज़हबी ख़लल और क़ौमी एकता से लबरेज़ कहानी कहती है कि हिंसा इतनी आसान नहीं। हिंसा के लिए एक आवेग होना चाहिए, एक मज़हबी जुनून होना चाहिए जो दंगाई ताक़तों के 'गर्द-ओ-ग़ुबार' से बनता है। एक आदमी जो दूसरे की हत्या करने का इरादा महज़ इसलिए करता है, चूँकि उसकी क़ौम पर हमला हुआ है, पर वह हत्या नहीं कर पाता। कहानी हिंसा तथा दानवता पर मानवता की विजय का पाठ सिखलाती है। यह कहानी इसी को आधार बनाकर लिखी गई है।

'पहाड़' कहानी मुख्यत: राजनीतिक व्यवस्था की पोल खोलने वाली कहानी है। आज़ादी के बाद यह कैसा देश हमने बनाया है, जिसमें आज़ादी का बस अहसास ही किया जा सकता है। स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जैसे लोकतंत्रीय नारों का कोई मतलब यहाँ नहीं है। नवयुवकों को सच के पक्ष में खड़ा होने पर गोलियों से भूना जाता है। कहानीकार जितने ठाकुर बताना चाहते हैं कि समाज को अव्यवस्था चला रही है। सच्चाई तथा ईमानदारी यहाँ मूकदर्शक बनकर रह गया है। 'पहाड़' एक प्रतीक—शासन का, जनता की नियति का और लोकतंत्र का। विरोध और विद्रोह का समाज में कोई जगह नहीं, हर जगह समझौते का आलम है। आप विरोध करेंगे तो मारे जाएँगे।

'दरीचे' कहानी आज के इस वैश्वीकरण के दौर में जब फासीवादी ताक़तों के साथ मिलकर साम्राज्यवादी ताक़तें अपना रास्ता साफ़ करने को इंगित करती है। यह तीसरी दुनिया के देशों को आपस में लड़ा रही है। भारत पाकिस्तान की हालत क्या है, इस पर लेखक ने सरसरी निगाह डाली है। अपनी ज़मीन से कैसा प्यार होता है, यह इससे बिछड़ने पर पता लगता है। कहानी सूचनात्मक ज़्यादा है, वास्तविकता की इसमें कमी है।

'सुरंग' नए भावबोध को व्यक्त करने वाली कहानी है। जीवन की निस्सारता को कैसे धर्म ने गढ़ा है, और उसका कितना ज़बरदस्त प्रभाव वह मनुष्य पर करता है, कहानी का विषय है। 'सुरंग' एक प्रतीक है धर्म रूपी जीवन का। यह इतनी मोहक और गहरी है कि एक बार जो उतरा, दुबारा उतर पाना (बाहर आ पाना) बहुत

मुश्किल है। कहानी का केंद्रीय पाठ है—अध्यात्म जीवन से पलायन है।

'एक बँगला न्यारा' जीवन के संदर्भ में, सौंदर्य को परिभाषित करनेवाली कहानी है। बँगला जो सबसे न्यारा है। वह सबसे सुंदर नहीं, जिसे लेखक लगातार देखता और उसके बारे में सोचता रहता है। बँगला वह न्यारा है, जिसमें वह रहता है। उसके बीबी और दो प्यारे बच्चे रहते हैं। 'संतोषम् परम् सुखम्' जैसा संदेश भी कहानी से ग्रहण किया जा सकता है।

'रास्ते चाँद के' कहानी में एक पिता की कसक को व्यक्त करने वाली कहानी है, वहीं 'आहट' जीवन के प्रति अगाध समर्पण को व्यक्त करती है। कहानी की जीवंतता जीवन की जीवंतता को जमाती है। 'एक नंगा दिन' संग्रह की मारक कहानी है। एक सामान्य आदमी के सामने दिन एकदम नंगा हो जाता है और दूसरे के सामने वही नंगा दिन सज-धजकर सामने आता है। क्या यह दिन का कमाल है या उस व्यवस्था का जो किसी के लिए दिन को नंगा और किसी दूसरे के लिए हरा-भरा कामुक बनाती है। 'एक झूठ एक सच' संग्रह की अंतिम लेकिन सशक्त कहानी है। सारी सहानुभूति का हकदार सिर्फ़ मरनेवाला नहीं होता, जीवित रहने की इच्छा का अपना मूल्य है—कहानी इसी को सामने रखती है। जीवन को झूठ कहा जाता है, जबकि मृत्यु को सच, पर क्या यह सही है। कहानी इस पर सवाल खड़ा करती है। कहानी हमारी जीवन दृष्टि पर परंपरा और विवेक को एक साथ रखकर देखने की माँग करती है।

इस प्रकार, सच और झूठ के बीच जो अंतराल होता है वही जीवन है। यह कहानी संग्रह उसी अंतराल के जीवन को उभारता है, सँवारने, सजाने और बनाने की प्रेरणा देता है। पूरी कहानी-संग्रह में कहानीकार जितने ठाकुर ने अपनी ओर से किसी सामाजिक, राजनीतिक समस्या का हल नहीं दिया है। यथार्थ को सजग और सहज रूप में चित्रित कर देने का गुरुतर कार्य किया है। यह संग्रह को गंभीरता और उत्कृष्टता प्रदान करती है। भाषा तथा शिल्प सहज और ग्राह्य है। कुल मिलाकर संग्रह समकालीन हिंदी कहानी के क्षेत्र में एक मील का पत्थर है।

चर्चित पुस्तक :

एक झूठ : एक सच : जितेन ठाकुर; मेधा बुक्स, दिल्ली; 2003; 100 रुपए

1977 में जन्मे केदार कुमार मंडल युवा कवि और आलोचक हैं। इनके आलोचनात्मक लेख छपते रहे हैं। संपर्क : 161, कावेरी छात्रावास, जे.एन.यू., नई दिल्ली-110067

अजय कुमार मिश्र

हिंदी उपन्यास परंपरा की एक सार्थक खोज

आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी की रचना विक्रमादित्यकथा के विषय में पाठक या नाक़िद अपनी पहली नज़र में महाकवि दंडी की ही मूल पांडुलिपि समझ सकते हैं। दैनिक अख़बार नवभारत टाइम्स (10 अप्रैल 2005, दिल्ली) भी अपनी तब्सरा में कुछ ऐसी ही चूक करते लिखता है कि, "जो वस्तुतः महाकवि दंडी की एक दुर्लभ और अप्राप्य संस्कृत की पांडुलिपि विक्रमादित्यकथा पर आधारित है।" समाचार पत्र के इसी संस्करण का यह भी मानना

है कि डॉ. त्रिपाठी ने ही इसका संस्कृत से हिंदी भाषा में तर्जुमा किया है। लेकिन ग़ौरतलब है कि यह उम्दा उपन्यास का उपजीव्य दंडी की प्रसिद्ध संस्कृत गद्य कृति दशकुमारचरित है जिसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास बाणभट्ट की आत्मकथा, अनामदास का पोथा तथा पुर्नवा की शैली की एक सशक्त कड़ी मानी जा सकती है।

डॉ. त्रिपाठी ने संस्कृत उपन्यास परंपरा आख्यायिका के तर्ज पर अपने इस उपन्यास में कथा प्रसंगों को रोचक तथा प्रवाहमय बनाए रखने के लिए यत्र-तत्र कल्पना शैली को ज़रूर अपनाया है। लेकिन बाणभट्ट की आत्मकथा की अपेक्षा प्रस्तुत उपन्यास इतिहास तथा साहित्य के बीच बड़ी नज़दीकी रिश्ते को खोजता नज़र आता है जिनका कुल बाईसों उच्छवास समग्र सांस्कृतिक राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रीय अखंडता एवं मिल्लत की वह्दत के ताने-बाने से गूँथे लगते हैं। और जिसमें कुमार विक्रम, पुष्पदत्त, सोमदत्त, अपहार, उपहार, अर्थपाल, मित्रदेव, मंत्रदेव तथा दादा विश्रुत महर्षि वामदेव के मार्गदर्शन में अपने राष्ट्रवादी गतिविधियों को अंजाम देने में जुटे हैं। अतीत की सामग्री पर वर्तमान का यथार्थ भी इसमें झलकता है जिससे कृति की कालजयिता में इज़ाफ़ा भी हुआ है। गुरु वामदेव की उक्ति में शक आक्रमण के ख़िलाफ़ भारतीय रजवाड़ों की एकजुटता का आह्वान तथा साँझी संस्कृति की महत्ता आज भी बड़ी प्रासंगिक लगती है—यवनों और म्लेच्छों से भी हमने बहुत कुछ सीखा है, उन्होंने कहा था, "और हमने उन्हें बहुत कुछ दिया है। इसी सहकार पर भारतवर्ष की भवितव्यता है। यह सहकार टूट रहा है, एक बड़ा संकट भारतभूमि पर मँडरा रहा है।" (पृ. 77) देश देशांतर की विविध संस्कृतियों तथा चिंतनों से सृजित भारतीयता को लेकर उठाए गए अलगाववादी सवाल निश्चित रूप से आज भी बड़ी चिंता का विषय है। इस उपन्यास में बड़ा जायज़ प्रश्न खड़ा किया गया है कि पाटलिपुत्र के जनमानस जहाँ सनातनी थे वहीं वर्ण व्यवस्था के कारण वैश्यों तथा शूद्रों का बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रति बढ़ते रूझान को दमित करने के लिए तत्कालीन राजा द्वारा उनके सर क़लम कर देने का हुक्म वाक़ई में सहकार संस्कृति के ऊपर एक काला धब्बा था। आज भी ऐसे धार्मिक उन्माद से बचने की काफ़ी ज़रूरत है। सामंतवाद तथा क्षेत्रवाद के कारण विभिन्न राजाओं के बीच महाराजाधिराज तथा चक्रवर्ती आदि पदवी हासिल करने की होड़ में मुल्क़ की भौगोलिक सीमा भी काफ़ी संकुचित होती गई और उनका आपसी ईर्ष्या-द्वेष तथा फूट की ज़हरीली भावना उन सीमाओं को अपने में निगल गई। किसी को भी अखंड भारत की मर्यादा का तनिक भी ख़याल नहीं रहा। अन्यथा कोई-न-कोई एक दूरदर्शी शासक या राजा यहाँ की माटी से ज़रूर उत्पन्न होता जो बाहरी आक्रमण से बचने तथा विदेशियों को मुँह तोड़ जवाब देने के लिए तड़ित चालक के रूप में चीन की तरह कोई विशाल दीवार अवश्य खड़ा करवाता। यह हक़ीक़त है कि यूनानी आक्रमणकारी मदनाद्रि (मिनांडर) ने भारतवर्ष पर आक्रमण कर यहाँ के जनजीवन तथा व्यवस्था को रौंद दिया था। लेकिन हमें यह भी याद रखना चाहिए कि बाद में वही फिरंगी यहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति से रीझ कर यहाँ की माटी में रचा-बसा ही नहीं अपितु वामदेव तथा उनके फ़लसफ़े की हिफ़ाज़त के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया। उसी प्रकार यवनवासी रूद्राक्षधारी वासुदेव कृष्ण भक्त हेलियोदोरस की भारतीयता-पूर्ण पहचान भी चर्चा के लायक़ है। इसके बावजूद विदेशी को विदेशी ही मानना इतिहास को नज़र-अंदाज़ करना ही माना जाएगा। समाज के इसी खंडित विचार ने देश की एक बहुत बड़े आवाम को राष्ट्र की मुख्यधारा से जोड़ने में रोड़े का काम किया। महर्षि वामदेव का चिंतन आज भी बड़ा जीवंत तथा लोक जन्य लगता है जब वे

पाटलिपुत्र के शासक राजहंस को मदनाद्रि के विषय में समझाते हुए कहते हैं, ''म्लेच्छ कहाँ रहे मदनाद्रि? जो इस देश की धरती पर बस गया और इस देश की धरती को उसने अपनी माता मान लिया, वह न म्लेच्छ रहा, न यवन। वह तो भारतीय हो गया।'' (पृ. 42)

किन्नर समाज को लेकर लिखा गया हिंदुस्तानी अदब की भी सर्वथा अभाव है। डॉ. त्रिपाठी ने इनसे जुड़े सवालों को उठाकर भारतीय साहित्य के क्षितिज को एक नया आयाम दिया है। खंडधर के शरीर से सत्यम्, शिवम् तथा सुंदरम् और सृष्टि प्रक्रिया का अनमोल अंग उसके शरीर से बलात् इसलिए कटवा दिया जाता है कि उसने चेदि नरेश की पुत्री संकुला पर अपने प्रेम का सिक्का जमाने की हिम्मत कर डाली थी। लेकिन उस वर्षवर द्वारा अपने इंतक़ाम के लिए दूसरे राजा के गुट में जा मिलना और जमकर उसके लिए काम करना उसके उर्जस्वी व्यक्तित्व को पुष्ट करता है। विलासिता का अभिजात्यीय तथा सामंतवादी रुख़ इससे भी बढ़कर और क्या घटिया हो सकता है कि राजे-महाराजे अपने अंतःपुर की रानियों की हिफ़ाज़त के लिए शक्तिशाली पुरुष को ज़बरदस्ती हिजड़ा बनाकर उसे उनके बॉडीगार्ड के रूप में वहाँ रखा जाता था। इसमें कोई शक नहीं कि इससे कई भ्रष्टाचारों को अपना सर उठाने का मौक़ा भी मिला होगा क्योंकि प्रेमी अपना वेष बदलकर आसानी से अंतःपुर में आ-जा सकते थे।

उत्तर आधुनिकतावादी सवाल स्त्री-विमर्श भी उपन्यास के नायक कुमार विक्रम तथा राजकुमारी के बीच सोमदत्त विषयक चर्चा तल्ख़ी के स्वर में सुनाई पड़ती है, ''कितना थोथा दंभ है पुरुष का,'' वह कह रहा था, ''इसी के दम पर वह तीन हज़ार वर्षों से स्त्री को रौंदता आया है। स्त्री का अपहरण उसके लिए विजय है। एक स्त्री का शील भंग कर के दंभी पुरुष सोचता है कि मैंने अपने शत्रुओं से बदला ले लिया, अपनी विजय का झंडा गाड़ दिया। कितना पापाचार, और पाखंड।'' (पृ. 179) चकलाघर से जुड़ी माधव सेना द्वारा अपनी पुत्री काम मंजरी तथा राग मंजरी के प्रखर राष्ट्रवादी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अपनी सारी जायदादों को शक राजा के अभियान के ख़िलाफ़ कुमार विक्रम को अर्पित किया जाना भी सार्थक नारीवादी चिंतन को उजागर करता है।

मातंग द्वारा उज्जयनी पर यवन राज मदनाद्रि के ख़िलाफ़ गुट तैयार किया जाना भी प्रखर राष्ट्रभक्ति है। लेकिन उसके द्वारा जेल से भागकर अपनी गुरुकुलीय विद्या को तिलांजलि देकर चोरी-डकैती में जुट जाना जहाँ एक ओर उज्जैनी की तत्कालीन अराजक स्थिति, युवा मन के हताशा तथा बेरोज़गारी की समस्याओं की ओर भी संकेत देता है वहीं दूसरी ओर इसमें वर्ण व्यवस्था में लगते जंग का भी आभास होता है।

यद्यपि विक्रमादित्यकथा की भाषा क्लासिकल शैली की है। लेकिन इस पर संस्कृत उपन्यास के पद्य अंशों वाली 'वृत्तगंध', रस से भरे लंबे-लंबे समास वाले 'उत्कलिकाप्राय' तथा दो-तीन पदों से समन्वित 'चूर्णक' शैली का ज़रा भी रमक़ नहीं दिखता है जबकि उपन्यासकार डॉ. त्रिपाठी संस्कृत भाषा तथा साहित्य के सधे विद्वान तथा मंजे समालोचक भी हैं। जॉर्ज ऑरवेल के 'एनिमल फ़ार्म' की तर्ज़ पर विक्रमचरित नामक उपन्यास (आख्यायिका) संस्कृत साहित्य के बाज़ार को ओजस्वी कर चुका है।

उपन्यासकार ने 'पद्धति' (पगडंडी, पृ. 29), 'अग्निशरणालिंद' (हवनशाला, पृ. 38), 'संस्थान' (मुहल्ले या वार्ड, पृ. 38), 'आपन्नसत्त्वा' (गर्भवती, पृ. 39) 'रक्षाकरंडक' (ताबीज़, पृ. 46), 'अर्धोरूक' (जाँघिया, पृ. 99), 'रसवती' (रसोई, पृ. 98), 'उपहस्तिका' (बटुवा, पृ. 150), 'कृतककलह' (बनावटी झगड़ा, पृ. 158), 'नागरक' (छैला, पृ. 227) तथा 'उपांशुजाप' (फुसफुसाहट, पृ. 366) जैसे

संस्कृतनिष्ठ तत्समोन्मुखी शब्दों को हिंदी भाषा में पचाकर क्लासिकल को बरक़रार रखने का प्रयास है। लेकिन 'ठठाकर हँस पड़ी' (पृ. 93), 'जब देखो तब चपर-चपर' (पृ. 98), 'हुमसकर मिले' (पृ. 103), 'प्रतीक्षा करते-करते बौरा गई मैं' (पृ. 119), 'अभी सारी हेकड़ भूल जाएगा' (पृ. 119), तथा 'साँप-छछूँदर की तरह' (पृ. 344) जैसे आम बोल-चाल के शब्दगुच्छ भावस्फटिक की तरह बिलकुल आर-पार दिखती है जिससे भाषा की संप्रेषणीयता और प्रांजल तथा स्निग्ध हो गई है। इसकी भाषा पर अनुप्रासिक प्रयोग भी पढ़ा जा सकता है, ''दस दिन में ही कुंडनपुर किस कंडनी (ओखली) में कूटा जा रहा है, मैं जान गया।'' उसी प्रकार, ''उसने उठकर उनके चरणों पर मस्तक रख दिया, जैसे नागफनी की शाखा पर शिरीष का फूल रख दिया हो।'' (पृ. 213) में नागफनी की चर्चा संस्कृत लेखक के मनोविज्ञान के अनुकूल नहीं मानी जा सकती। लेकिन रचनाकार की यह ख़ासियत है कि वह संस्कृत के विद्वान होकर भी रूपक/उपमा आदि के नए क्षितिज को खोजता है जिसमें अभिव्यक्ति की विलासिता नहीं अपितु भाव की सादगी और यथार्थ के साथ प्रभावी बिंब का अंकन है। कुमार विक्रम की आँखें मनोरम फुलवारी को देखकर मोक्ष को प्राप्त करती नज़र आती हैं। लेकिन दुष्यंत (अभिज्ञान शकुंतल, कालिदास) की आँखें नायिका शकुंतला को अपूर्व रूपराशि के अवगाहन के बाद ऐसा अनुभव करती हैं, ''(परिक्रम्य तथा कृत्वा) अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम'' (तृतीय अंक) चंद्रमा का अपने किरणों रूपी हाथों से सागर के तल को छुए जाने पर उसको गुदगुदी का अहसास तथा उस शृंगारिक चेष्टा के कारण अपने लहरों के रूप में उसका खिलखिलाते और बलखाते हुए उमड़-उमड़ कर चंद्रमा को आलंगित करने का भरसक प्रयास वाक़ई में प्रकृति का एक बड़ा ही जीवंत मानवीकरण प्रस्तुत करता है। लेकिन भाषा की इन विशेषताओं के बावजूद 'माँगूँगा' (पृ. 59), 'मुझी' (पृ. 58 तथा 317) 'कदू' (पृ. 63), 'गीध' (पृ. 65), 'प्रिए' (पृ. 143), 'मारे' (पृ. 295), 'दुख' (पृ. 304) तथा 'बाच' (पृ. 376) जैसे शब्दों का प्रूफ़ रीडिंग के दरमियान परिमार्जन की सख़्त ज़रूरत भी है।

यद्यपि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के साहित्य ने पुस्तक और पाठकों की दूरी को बढ़ा दिया है। लेकिन हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि पुस्तक की भरपाई दूरदर्शन या सिनेमा कदापि नहीं कर सकता क्योंकि सभी साहित्य का अपना-अपना ख़ास महत्त्व होता है। पुस्तक जहाँ इलेक्ट्रॉनिक साहित्य की पांडुलिपि होती है, वहीं मीडिया के अदब की जुबान कैमरा का कमाल होता है जिसकी परछाईं भी दर्शक को बहुत कुछ कह जाती है। विक्रमादित्यकथा के शब्द अपने अगले शब्दार्थ को ख़ुद ही खोलते नज़र आते हैं जिससे शब्दस्तबक के इंद्रधनुषी भाव-संसार पाठक मानस पटल पर ख़ुद-ब-ख़ुद तारतम्यपूर्ण रंग-बिरंगे सजीव नक़्क़ाशी करते देखे जा सकते हैं। प्रस्तुत उपन्यास बाणभट्ट की आत्मकथा (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी) की विस्मृत शैली को तजदीद की दिशा में एक मानी-ख़ेज पहल माना जा सकता है.। वस्तुतः यह कृति संस्कृत तथा हिंदी भाषा की साँझी संस्कृति की सूझ-बूझ की कोख से सृजित एक अभ्यर्हरणीय रचना है। काश! ऐसी श्रेष्ठ सर्जना मूल रूप से संस्कृत भाषा में होती या इसका मुतरज्जिम इस साहित्य में होता तो संस्कृत भाषा के आधुनिक गद्य साहित्य में और श्रीवृद्धि होती। यह सोच अलग है कि पाश्चात्य विद्वान जे. जे. मेयर ने दशकुमारचरित (दंडी) को धूर्तता तथा कपटतापूर्ण उपन्यास माना है तथा हर्टेल ने इसे एक राजनयिक रचना क़रार देते हुए मात्र वर्णनात्मक तथा उपदेशपरक कृति कहा है। लेकिन इसे पश्चिमी दुनिया का बौद्धिक षड्यंत्र ही माना जाएगा क्योंकि उनको इसका अहसास है कि साहित्य अपने देश के

सांस्कृतिक इतिहास का अंत:साक्ष्य होता है और इसको तोड़-मरोड़कर वहाँ के अतीत की थाती को मिटाना आसान काम हो जाता है। दशकुमारचरित की तरह ही विक्रमादित्यकथा में भी भारतीय जनजीवन, रहन-सहन तथा सांस्कृतिक प्रसंगों का अंकन है। दंडी ने जहाँ कथाबिंब की क्लासिकल सोच को प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से लोक जन्य बनाया है वहीं आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की औपन्यासिक परंपरा को विक्रमादित्यकथा के ज़रिए फिर से स्थापित करने का बड़ा सार्थक प्रयास किया है। फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रस्तुत कृति डॉ. त्रिपाठी की मौलिक उद्भावना नहीं है। लेकिन साथ-ही-साथ इसका भी ध्यान रहे कि दशकुमारचरित (दंडी) का प्रेरणा केंद्र गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' (कथासरित्सागर अध्याय, 69-103) भी माना जाता है। इसकी कथाएँ जातक में भी मिलती हैं।

साहित्य की सामुदायिक संस्कृति तभी तक जीवंत रह पाती है जब तक कि वह अपने समसामयिक मुद्दों, भाषाओं तथा साहित्यों से मेल-जोल के रिश्तों को तरजीह देता हैं। लुंसियन गोल्डमान के साहित्य चिंतन से जुड़े समाज-शास्त्रीय विश्वधर्मिता का भाव भी इसी के आस-पास ठहरता लगता है। विक्रमादित्यकथा हिंदी उपन्यास विधा की एक मौलिक कृति मानी जा सकती है। दंडी की लेखनी दशकुमारचरित में लोक जीवन चर्चा के अलावा विशेषकर नारी-सौंदर्य तथा प्रेम-प्रसंगों के इर्द-गिर्द ही आकर अटकती दिखती है। लेकिन त्रिपाठी जी को प्रस्तुत उपन्यास में इनके अलावा दशों कुमार महर्षि वामदेव के मार्गदर्शन में एक समग्र भारतीयता एवं प्रखर राष्ट्रवाद की तलाश में जुटे हैं। दशकुमारचरित के अध्ययन से तसदीक़ होता है कि उस समय बौद्ध तथा जैन मत पतन की ओर उन्मुख हो चुके थे क्योंकि भिक्षुणियों का शादी-ब्याह में अब दूती मात्र का काम रह गया था। लेकिन डॉ. त्रिपाठी प्रस्तुत उपन्यास में वर्ण-व्यवस्था के सबब से बनी खाई के कारण बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रति पाटलिपुत्र के वैश्यों तथा शूद्रों के बढ़ते रुझान का ज़िक्र किया है। संभव हो आज के सरोकारों को भी ख़ुलासा करने के कारण ऐसा फेर-बदल किया गया हो। इसी "कांतासम्मितोपदेश" (मम्मट) की विभाजक रेखा साहित्य को इतिहास से अधिक रोचक तथा सौंदर्याधायक बनाता है।

चर्चित उपन्यास :

विक्रमादित्यकथा : राधावल्लभ त्रिपाठी; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 300 रुपए

1968 में जन्मे अजय कुमार मिश्र की दो पुस्तकें मथुरा प्रसाद दीक्षित के नाटक तथा स्वतंत्रता संग्राम का समाजशास्त्र : भारत विजय नाटक भाग-1 प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, 56/57, इंस्टीट्यूशनल एरिया, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058; फ़ोन 225540993/5; 22719247

पाठांतर

देवर्षि कलानाथ शास्त्री, जयपुर 302001

समकालीन भारतीय साहित्य के मार्च-अप्रैल 2005 अंक में 2004 के पुरस्कृत साहित्यकारों के वक्तव्यों का संपादित रूप प्रकाशित करने की सूझ अत्यंत समयोचित और प्रशंसनीय रही।...विभिन्न भाषाओं के वर्षों से साहित्य सेवा में लगे सर्जकों का सुचिंतित वक्तव्य अनेक दृष्टियों से पठनीय होता है इसलिए उनका व्यापक प्रसारण उपयुक्त ही रहा। इससे प्रेरणा लेकर कुछ ऐसे वक्तव्यों का प्रकाशन पश्चिमांचल सांस्कृतिक केंद्र (भारत सरकार का उपक्रम) की त्रैमासिक पत्रिका ''कला-प्रयोजन'' द्वारा भी किया जा रहा है। ऐसी जानकारी मुझे मिली है।

प्रो. प्रेमशंकर रघुवंशी, हरदा, म.प्र. 461331

आपने दो काम बहुत अच्छे शुरू किए हैं—1. पत्रिका में लेखकों का परिचय उनकी रचनाओं के साथ साइड में दे रहे हैं, 2. नए और संभावनावान रेखा चित्रकारों एवं चित्रकारों को व्यवस्थित ढंग से रचनाओं के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं। तीसरी बात यह भी उपयुक्त लगी कि 'आमुख' दे रहे हैं। इसमें आप आगे के अंकों में और विकास करेंगे ही। भवानी भाई के शब्दों में—'कुछ लिख के सो, कुछ पढ़के सो, जिस जगह जागा सवेरे उस जगह से बढ़के सो।' समकालीन भारतीय साहित्य के अंक 'बढ़के' के संदेश को चरितार्थ कर रहे हैं—बधाई।

डॉ. अमरजीत कौंके, पंजाब, पटियाला

समकालीन भारतीय साहित्य के पिछले दोनों अंकों से बदलाव के जो संकेत प्राप्त होते हैं वे एक नई दिशा की निशानदेही करते हैं। अंक 116 में अरुण कमल का निबंध और स्वयं प्रकाश की कहानी 'सुलझा हुआ आदमी' ने प्रभावित किया। पवन करण की कविता 'स्तन' में कवि ने जिस दृष्टि से पूरी स्थिति को जिन मार्मिक शब्दों में अभिव्यक्त किया है—पढ़कर मन अत्यंत भावुक हो गया और उदास भी...। अल्पना मिश्र की कविता, कविता से ज़्यादा उपदेश बनती नज़र आती है।

डॉ. सत्येंद्र शर्मा, राजस्थान

समकालीन भारतीय साहित्य का 116वाँ यानी नवंबर-दिसंबर 2004 अंक देखा। त्रिलोचन जी की 'आत्मरचना' उनके व्यक्तित्व की तरह उर्ध्वसित है, क्यों न हो, 'ताप के ताये' हुए और 'धरती' के कवि जो ठहरे। उनके व्यक्तित्व और वक्तत्व से नए कवि कम-से-कम इतना तो जान ही सकते हैं कि कविता एक समृद्ध और सूक्ष्म संवेदना का रचाव है न कि 'शहर लिखता हूँ। गाँव लिखता हूँ... तुम्हारी तसवीर लिखता हूँ...खलनायक...नरसंहार-आत्मसंहार' लिखने की सूचना, जो इसी अंक में नीरज कुमार देते हैं। छोड़िए भी; पवन करण की बात करें जिनका ज़िक्र आपने संपादकीय में किया है। बेशक उनके विषय 'अनूठे' हैं, किंतु तीनों कविताओं (?) में वे पाठक में कैसी भी संवेदना का, आर्द्रता का तथ्य या चरितनायकों से जोड़ने का भाव भर पाए हैं क्या? मूक बधिर बच्चों की दो डिमाई आकार के पृष्ठो में फैली सूचनाओं के बाद मेरे लिए यह समझना मुश्किल है कि 'नावें ख़ुश हो रही हैं इनकी चीख़ें सुनकर?' 'चीख़ें' सुनकर तो कोई 'खल' ही प्रसन्न होगा। वैसे भी 'नावों' से क्या उम्मीद? क्या वह जड़ उपकरण मात्र नहीं? माना कि 'कविर्मनीषी परिभू : स्वयंभू' बनकर उस में प्राण फूँक दिए गए, पर गूँगे-बहरे बच्चों की चीख़ें सुनकर वह ख़ुश क्यों हुई। रचाव न सही कम से शब्दार्थ या वाक्यार्थ या भावार्थ कहीं तो कोई संगति हो!

अनूदित कविताओं में 'मुझे जीने दो' वाग्स्फीति के बावजूद तथ्य है, संदेश या अहसास भी; किंतु 'एक बार सोच लेना' में संवाद्य के संबोधन भी बदल गए हैं, बग़ैर किसी कारण— 'तेरे सामने तन जाऊँगी' कि 'तुम किसी भी सजीव निर्जीव चीख़ से' क्या 'तेरे' और 'तुम' की तासीर में कोई फ़र्क़ नहीं, और वह भी भाव तत्त्व बदले बग़ैर। वैसे भी इस धमकी में इतनी बार तेरे, तू तड़ाका हुए हैं कि अपनी चेतना इस लायक़ भी नहीं बची कि जाने कि 'धर्मराज' के 'हठ' होना चाहिए। क्या धर्मराज 'से' हठ? कम-से-कम परशुराम विरही जी से ऐसे शुष्क काव्यानुवाद की उम्मीद मुझे नहीं थी।

इस अंक में काव्य के पहले खंड में 'बदल गई माँ उस दिन से' (ओड़िया) 'राग बागेश्री' और कुंदन माली की 'बड़े लोग' व 'कौतुक लीला' में रचाव है। संताली के 'गीत' में भी कशिश, इसका 'मूल' ज़्यादा बाँधता होगा अपेक्षाकृत इस अनुवाद के। 'दीवारें' इस बात का प्रमाण है कि कुछ अच्छी उक्तियों के समेकित कर देने से कविता नहीं हो जाती। 'धूप-छाँव' का दर्शन न सिर्फ़ अबूझ है वरन् 'शब्दों का खेल' ही है, शायद खेल भी नहीं क्योंकि 'अबोध्य' का अर्थ मैं जानता नहीं, और जिस 'अबोध' में इस शब्द के अर्थ की सारी संभावनाएँ निहित हैं, उसका प्रयोग यहाँ है नहीं।

आपका संपादकीय बेबाक, स्पष्ट, मान्यता में दृढ़ और विनम्र है (आगे प्रशंसा वर्जित है)।

कृष्ण दत्त तिवारी, बर्रा, कानपुर

पच्चीसवें वर्ष का तीसरा अंक भी यथासमय हस्तगत हुआ। सर्वप्रथम मैं आवरण तथा आंतरिक पृष्ठों के सज्जाकारों को उनके कलात्मक चित्रों के लिए बधाई देना चाहूँगा। जिनके कारण पत्रिका का स्वरूप निखर कर सामने आया है। हस्तलिखित पृष्ठों की छायाप्रतियों के बीच रेखांकन द्वारा चित्र बनाना वास्तव में एक नया कॉन्सेप्ट ही है।

गतांक से आगे जो अनुवाद-फ़ीचर इस अंक में बढ़ाया गया है, सचमुच में वह अपने विषय का एक अनूठा प्रयास सिद्ध हुआ है। सभी अनुवादकों ने अपने-अपने ढंग से अनुवाद के दुरूह कार्य के मर्म की जो परतें खोली हैं। हम पाठकों के लिए विशेष महत्त्व रखती हैं क्योंकि अनुवादकों के कथनों को पहले कभी किसी पत्रिका में नहीं प्रकाशित किया गया है। एतदर्थ आपको साधुवाद।

आपने अपने संपादकीय में जिन रचनाओं को रेखांकित किया है उनमें 'कलसी' शीर्षक कहानी अपने विषय-वस्तु कथ्य व प्रस्तुति के कारण बहुत ही प्रभावशाली रचना सिद्ध हुई है। 'बोहाग' व 'समर्पण' शीर्षक कहानियाँ सामान्य-सी हैं।

कविता-खंड में सबसे अच्छी कविताएँ अर्जुन देव मजबूर की हैं जिन्होंने विस्थापन के मर्म को बहुत शालीनता के साथ उकेरा है। अन्य कविताएँ प्रभावित नहीं कर पाई हैं।

अतुल मोहन प्रसाद, बक्सर

समकालीन भारतीय साहित्य ने पाठांतर का प्रारंभ कर एक अच्छी शुरुआत की है। अंक स्पष्ट 117 में तेलुगु कहानी 'अशांति की ओर' स्पष्ट प से बढ़ती दिखाई पड़ती है। कहानी की नायिका दुर्गम्मा को लेखक स्वामी ने दुर्गा की तरह दिखलाने में सफलता प्राप्त की है। नेपाली कहानी 'मौत का कुआँ' छोटा होते हुए प्रभावी है। मंटो पर गोपीचंद नारंग का आलेख तथ्यपूर्ण है। बच्चे की मानसिकता पर पुन्नी सिंह की कहानी 'बच्चे सवाल नहीं करते' शीर्षक नहीं जँचते हुए भी कहानी ख़ूब जँची। बधाई।

राग तेलंग, भोपाल।

आधुनिक प्रगतिशील गीतों और उनकी संगीतात्मक प्रकृति के बीच उपजते शून्य को आपके विचारों ने छुआ है। कलकत्ता के अजय राय ने इस दिशा में कुछ काम किया है, 'विभावरी'

शीर्षक से एक ऑडियो कैसेट एलबम है उनका। 'प्रतिध्वनि' वालों ने भी कुछ किया है और 'जागोरी' ने भी। आप की बात सही है कि यह शून्य गीत को द्वितीयक इकाई मानने से भी जुदा हुआ है।

मैं ख़ुद एक संगीतकार का पुत्र हूँ और हमारे परिवार की पिछली तीन पीढ़ियाँ सांगीतिक वाद्यों के निर्माण (सितार) और वादन से जुड़ी हुई हैं। आपकेय विचारों से परिचित होकर अभिभूत हुए हैं हमारे परिवार के सदस्य।

विपिन शाह, वडोदरा

मैं हिंदी ठीक-ठाक समझ तो सकता हूँ लेकिन हिंदी में ठीक से अभिव्यक्ति नहीं कर सकता इसलिए आपको यह पत्र अंग्रेज़ी में लिख रहा हूँ ताकि आप इसे पाठांतर में प्रकाशित कर सकें। आपने रजत जयंती विशेषांकों के तहत अंक 114 और 115 प्रकाशित कर बहुत अच्छा काम किया है। बधाई। आपने पाठकों के समक्ष कश्मीर से कन्याकुमारी तथा ओखा से असम तक फैली भाषाओं का अमृत हमारे समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। निश्चय ही ऐसा उत्साह बनाए रखें।

नंद किशोर नवल, पटना

समकालीन भारतीय साहित्य का जनवरी-फ़रवरी 2005 का अंक मिला। बहुत अच्छा निकला है। पृष्ठ-पृष्ठ पर आपके संपादन की छाप है। इस तरह अंक निकलते रहे तो निस्संदेह वह पहले से बेहतर निकलेगा। मेरी बधाई स्वीकार करें।

गोविंद कुमार गुंजन, खंडवा, म.प्र.

समकालीन भारतीय साहित्य नवंबर-दिसंबर 2004 अंक 116 में पवन कारण की प्रकाशित कविताओं को देखकर आश्चर्य हुआ। आपने संपादकीय में इन्हें 'अनूठे विषयों का चयन और निर्वाह' के लिए उल्लेखित करते हुए मेरे आश्चर्य को और भी बढ़ा दिया। स्तन कैंसर से पीड़ित होने पर एक स्तन खो देने की पीड़ा सचमुच एक अनूठा विषय हो सकती थी, परंतु कवि की भाषा जिन्हें 'शहद के छत्ते या दशहरी आमों की जोड़ी' के अतिरिक्त कुछ और नहीं सोच सकती, उसे उनके खोने की पीड़ा किस स्तर की हो सकती है, इसे समझना कठिन नहीं है। दशहरी आम अच्छे हैं, मिले तो खा लिए, सड़ गए तो फेंक दिए...जैसी वृत्ति कवि में काम कर रही है। 'जब इच्छा होती तब वह घुसा लेता उनके बीच अपना सिर..' से शुरू होकर 'कितना कुछ हट गया उस एक के हट जाने से उनके बीच...' की व्यंजना से भी केवल कुछ ओछे भाव ही अभिव्यक्त हुए हैं, और आप इन्हें अनूठे विषय का निर्वाह मान रहे हैं?

अनवर सुहैल, शहडोल, म.प्र.

हाथ में पत्रिका नया अंक बेताबी से खोलकर लिफ़ाफ़ा निकाली किताब फड़फड़ाकर पलटे पन्ने और सूँघी किताब की ख़ुशबू नाक के क़रीब लाकर मुस्कुराए पोस्टमैन मिश्रा जी ये सोचकर कि ठीक-ठीक दीखते आदमी में भी रहता है एक पागल इंसान...

समकालीन भारतीय साहित्य 116 में पवन करण की कविता 'स्तन' पढ़कर अभी भी सिहरन होती है। तौसीफ़ी साहब की निर्मल की यादें (रेखाचित्र) ने प्रभावित किया।

अरुणिमा शुक्ल, महाराजगंज, उ.प्र.

समकालीन भारतीय साहित्य 2004 अंक 116। आमुख चर्चा पाठकों के विमर्श से शुरू होती है पर यहाँ भी उन्हें विभाजित कर दिया गया है। स्तरीय और...शब्द स्वयं रख सकते हैं। स्वाभाविक रूप से वह इसके उलट ही होगा। पठनीयता में भी वर्ग भेद। अभी तक यही पढ़ा और देखा गया था कि साहित्य सबका हितकर है पर यह नवीनतम पाठकीय वर्ग भेद हाशिए पर रहनेवालों के लिए एक चेतावनी भी है। धरती पर उपलब्ध सब कुछ में से साहित्य ही

बचा था जिसमें वे अपने लिए एक कोना तलाशते थे पर अपने स्तरीयता, अगंभीरता के नाम पर भी बंद कर दिया। जिस चाहिएवाद को आपने निरूपित किया है उसका विखंडन या हत्या भी भ्रूण काल में ही स्वयं कर डाली। बाज़ार के दबाव से साहित्य भी अछूता नहीं है। चाहिएवाद में वही सफल हैं जिनके पास विकल्प हैं। जहाँ विकल्पहीनता की स्थिति है वहाँ बाज़ार के थोपे की मार सहनी ही है। यह बात और है कि इस बाज़ार का सबसे बड़ा ख़रीददार भी वही विकल्पहीन ही है। आशा है इस पूरी दीवार में बची एकमात्र खिड़की को आप खुली रहने देंगे। अन्यथा सर्वाधिकार सुरक्षित तो आपके पास है ही।

पवन करण की कविताएँ 'स्तन' और 'स्पर्श जो...' पहले स्तन—संगीता रंजन कौन हैं–पता नहीं। पत्र स्त्री हैं। यहाँ भी बाज़ार ही कविता पर सवार है जो हमारे नितांत गोपन को, व्यक्तिगत दुखों को नंगा करके उसे अक्षरों के रूप में टाँग देता है, सफ़ेदी पर कालिख पोत देता है। संगीता रंजन के दुख का इसमें कुछ पता नहीं पर कवि का दुख एक स्तनी स्त्री के देह पर अधिक है। इस स्थिति में उस देह के अंदर क्या घटित हो रहा है इसका कष्ट कवि को नहीं है क्योंकि देह के आकर्षण में पुरुष के लिए स्तन भी एक वस्तु है।

औपनिवेशिक लंदफंदों के विरोध ने ले ली है। प्रतिरोध, अस्मिता, जनतांत्रीकरण, एक-ध्रुवीय विश्व की अवधारणा का अस्वीकार, लाभवाद की जगह कल्याणकारी राज्य की वापसी, लैंगिक न्याय जैसे नए मुद्दे बदलते परिप्रेक्ष्य के चलते उभरे हैं।

प्रेमचंद की सांस्कृतिक उपस्थिति एक नैतिक अवरोध भी है। जो साहित्य को चालू साहित्यिक फ़ैशन बाज़ार में बदल देना चाहते हैं, प्रेमचंद उनके लिए बड़ी बाधा हैं। मुश्किल यह है कि प्रेमचंद हिंदी के ही नहीं, उर्दू के भी लेखक थे। अब वे सारी भारतीय भाषाओं के लेखक हैं। हिंदीतर भाषाओं में प्रेमचंद से मुक्ति पाने की आवाज़ नहीं उठती। कुछ लोग 'प्रेमचंद से मुक्ति' को अपनी मौलिक सूझ मानकर इतरा लें, मगर वह नक़्क़ारख़ाने में तूती की आवाज़ बनकर रह जाएगी।

जो लोग पेरिशेबल लेखन करते हैं, 'टिकाऊ' प्रेमचंद से वे ही डरते हैं। कभी प्रेमचंद गंभीर आलोचना के दायरे से बाहर माने जाते थे। तब डॉ. रामविलास शर्मा ने 'प्रेमचंद और उनका युग' जैसी पुस्तक लिखी थी। डॉ. शर्मा ने प्रेमचंद के विषय और पात्र वैविध्य की ओर ध्यान दिलाया था। लेकिन वे टिकाऊ कथाकार कैसे बने ? इस पर डॉ. शर्मा ने लिखा, "उनके चरित्र-चित्रण की यह बहुत बड़ी सफलता है कि थोड़ी देर के संपर्क से ही उनके पात्र बहुत दिनों के परिचित जैसे लगने लगते हैं और कहानी ख़त्म कर देने पर भी पाठक को बहुत दिनों तक याद रहते हैं।"

प्रेमचंद की लोकप्रियता विषय और चरित्र की विविधता के साथ टोन की विविधता से जुड़ी हुई है। पंडित मोटेराम शास्त्री और बूढ़ी काकी में कुछ चारित्रिक समानताएँ हो सकती हैं पर टोन का अंतर है। पहले में उपहास है तो दूसरे में सहानुभूति।

प्रेमचंद ने शुरू में चलन के मुताबिक़ घटना-प्रधान कहानियाँ लिखीं, बाद में वे अपनी कला को माँजते गए। उन्होंने घटना से चलकर अनुभूति तक की यात्रा की। अपने नज़रिए में इस विकास को ही लक्षित कर प्रेमचंद ने शायद लिखा हो, "गल्प का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है।" आगे नई कहानी के सिद्धांतकारों ने 'अनुभूति' में प्रामाणिक शब्द जोड़ा और 'प्रामाणिक अनुभूति' का पद नई कहानी का पर्याय बन गया।

इस अंक में ओड़िया कविता की स्त्री-दृष्टि एक विशेष आयोजन है। यह कविताएँ बग़ैर सैद्धांतिक शोर-शराबे के स्त्री-दृष्टि और सृजन से पाठकों को जोड़ देंगी। शुभ्रा सान्याल की बाङ्ला कहानी 'मातृ वियोग' और संताली लेखिका बिटिया मुर्मू का लेख संताली साहित्य के परिप्रेक्ष्य का एक हिस्सा है। स्वराजव्रत सेनगुप्त की कहानी 'पण्य-तरणी की कुलीन कन्या' हमें उस ज़माने की याद दिलाती है जब सामंती कुलीनता की बेदी पर स्त्रियों को नैवेद्य बना दिया जाता था। के. एम. मालती के आलेख 'समकालीन हिंदी-मलयालम कहानी...' में स्त्री-स्वर को चीन्हने का यत्न है।

हिंदी के वरिष्ठ कथाकार हृदयेश की आत्म-रचना आपको अपनी रचना लगे तो आश्चर्य क्या!

शुभकामनाओं सहित,

—अरुण प्रकाश

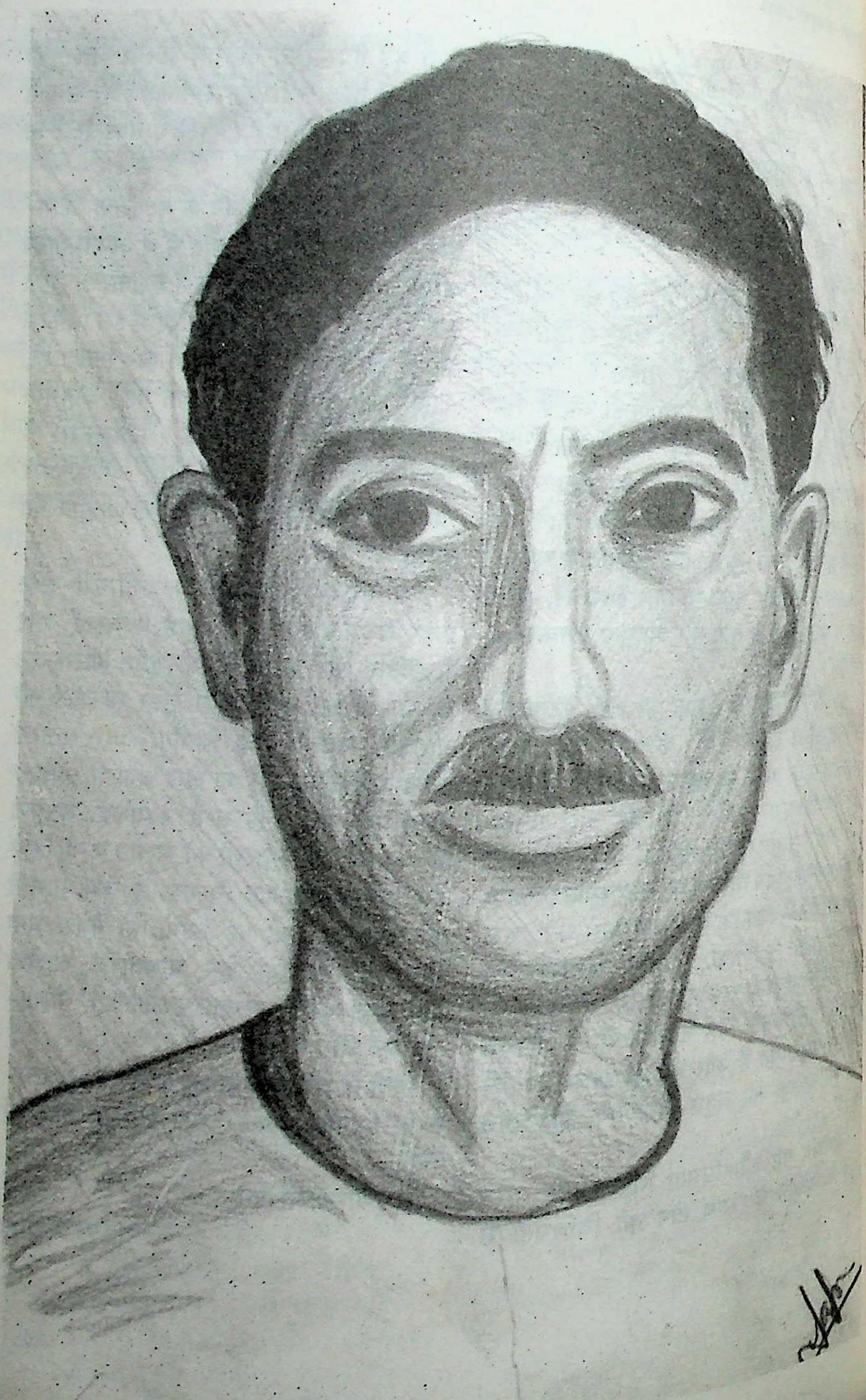

प्रेमचंद

दक्षिण भारत में हमारी हिंदी प्रचार यात्रा

उर्दू-हिंदी के महान कथाकार प्रेमचंद की व्याप्ति भारत की सभी भाषाओं में रही है। विदेशी भाषाओं में भी। इस बहुमुखी प्रतिभा संपन्न लेखक ने 15 उपन्यास, 300 से अधिक कहानियाँ, 3 नाटक के साथ-साथ अनुवाद, बाल-साहित्य आदि के क्षेत्र में योगदान दिया। और योगदान ऐसा दिया कि पाठकों को उनका विस्तृत परिचय देते हुए हमें संकोच हो रहा है।

प्रेमचंद की 125वीं जयंती 31 जुलाई को मनाई गई। अब वर्ष भर उनकी रचनाओं पर विचार-विमर्श के अतिरिक्त उनकी रचनाओं की भी पुनर्प्रस्तुति होगी। प्रेमचंद का लेखन विपुल है। अधिकांश रचनाएँ हिंदी में असंख्य बार छप चुकी हैं। इसलिए हमारी कोशिश यह रहेगी कि उनके कथेतर लेखन के नमूने भी पाठकों तक पहुँचे। इसी क्रम में हम उनका यह यात्रा-वृत्तांत प्रकाशित कर रहे हैं।

संपादक

दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की कृपा से हमें वहाँ के हिंदी के उपासकों से मिलने और उनके प्रचार की सफलता को अपनी आँखों से देखने का अवसर मिला। सभा ने इस वर्ष हमें पदवी-दान के अवसर पर दीक्षांत भाषण करने का नेवता दिया और हम 27 दिसंबर को बंबई से चलकर 28 की शाम को मद्रास जा पहुँचे। हमारे साथ हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय के मालिक श्री नाथूराम जी प्रेमी और बंबई हिंदी प्रचार सभा के प्रमुख कार्यकर्ता श्री आर. शंकरन थे। तीसरे दर्जे का सफ़र था, मगर रास्ते में कोई ख़ास तकलीफ़ नहीं हुई। प्रेमी जी अपने साथ मगदल के लड्डू और पूरियाँ रख लाए थे। बीमारी के बाद से खाने-पीने के विषय में वे बहुत सतर्क रहते हैं; रास्ते में हमने ख़ूब लड्डू खाए। पूरियाँ इधर बहुत कम स्टेशनों पर मिलती हैं। एक-दो स्टेशनों पर मिलती भी हैं, तो बहुत ख़राब। एक स्टेशन पर हमने पहली बार इडली खाई। यह चावल और उड़द के दाल के मैदे से बनती है। दोनों मैदों को समान मात्रा में मिलाकर गूँध लेते हैं, और इस गूँधे हुए आटे को रातभर यों ही पड़ा रहने देते हैं। इससे इसमें कुछ खट्टापन आ जाता है। दूसरे दिन इसके मोटे-मोटे टिक्कड़ बनाकर भाप पर पकाते हैं। इस प्रांत में इडली खाने का बहुत रिवाज है। होटलों में देखिए तो हर एक आदमी इडली और दाल और चटनी खाता हुआ नज़र

आएगा। मिठाई से यहाँ किसी को प्रेम नहीं है। हाँ, अब उत्तर भारत के संसर्ग से मिठाई का कुछ प्रचार हो चला है।

मद्रास पहुँचकर हम रामनाथ जी गोयनका के मेहमान हुए। सौभाग्य से काका कालेलकर जी भी वहाँ ठहरे हुए थे। उनके दर्शन का आनंद मिला। आप सेवा की मूर्ति हैं। हिंदी प्रचार में आप ज़ो निर्माणात्मक कार्य कर रहे हैं, वह बहुत ही आशाजनक है। जब तक किसी बात की उपयोगिता न दिखाई दे, हमारा प्रेम उसके प्रति स्थायी नहीं हो सकता। हिंदी ज्ञान को कैसे उपयोगी बनाया जाए—यही प्रश्न आपके सामने है। बड़े-बड़े व्यापार तो अंग्रेज़ों के हाथ में है। वहाँ हिंदी की दाल नहीं गल सकती है। मगर छोटे-छोटे व्यापारों में, जो भारतीयों के हाथों में है, हिंदी का व्यवहार करने से कुछ सुविधा हो सकती है। इसी हेतु से आप परिस्थितियों का अध्ययन कर रहे हैं। हमारी शुभेच्छाएँ आपके साथ हैं। गोयनका जी उन लक्ष्मी पुत्रों में हैं, जो धन कमाना ही नहीं जानते, उसका सदुपयोग करना भी जानते हैं। आपकी जात से कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं को सहायता मिलती रहती है, और हिंदी-प्रचार के तो आप एक स्तंभ हैं। अभिमान तो आपको छू भी नहीं गया। आप बड़े ही हँसमुख, निष्कपट, उद्योगी युवक हैं और सभा के कोषाध्यक्ष हैं। आपके घर हम लोग पाँच दिन रहे, बिलकुल इस तरह, जैसे अपने ही घर में हों।

पदवी-दान का जलसा गोखले हॉल में था। मेरा ख़याल था कि बहुत बड़ा जमघट होगा, लेकिन मालूम हुआ कि छुट्टियों के कारण बहुत से हिंदी-प्रेमी बाहर चले गए हैं। यहाँ के रेलवे विभाग के सस्ते टिकट जारी करके और भी कितने लोगों को मद्रास से बाहर पहुँचा दिया; मगर तमाशाइयों की तादाद चाहे कम हो, वहाँ जितने लोग थे, प्रायः सभी हिंदी-प्रचार से संबंध रखते थे और हिंदी प्रचारकों के इस मिशनरी दल को देखकर मन में आशा और गर्व की गुदगुदी होने लगती थी। कुछ लोग तो कई-कई सौ मील तय करके आए थे और उसमें देवियों की भी ख़ासी तादाद थी। इस आंदोलन की बुनियाद केवल सांस्कृतिक नहीं, उससे कहीं अधिक राजनैतिक है, जो संपूर्ण देश को एक राष्ट्रभाषा के सूत्र में बँधा देखना चाहता है। इसलिए, इसे प्रांत के प्रतिष्ठित नेताओं का सहयोग भी प्राप्त है और त्याग-भावना से भरे कार्यकर्ताओं का भी। श्री राजगोपालाचार्य, जिस सभा के डायरेक्टर और श्री के. नागेश्वर राव जिसके वाइस प्रेसीडेंट हों, और केवल नाम के लिए नहीं बल्कि उसके हरेक काम में दिलचस्पी रखते हों, उस सभा का प्रभाव और प्रचार इतनी तेज़ी से बढ़ रहा है, तो क्या आश्चर्य है। 1930 में प्राथमिक, मध्यमा और राष्ट्रभाषा तीनों परीक्षाओं में बैठनेवालों की तादाद एक हज़ार सात सौ थी, 1933 में नौ हज़ार साठ हो गई, मगर 1934 में यह संख्या घटकर चार हज़ार छह सौ इकतालीस हो गई। इससे शंका होती है, कहीं हिंदी का शौक़ घट तो नहीं रहा है। अगर ऐसा है, तो यह खेद की बात होगी। हमारा कर्तव्य है कि इस अवनति के कारणों को खोजें और उन्हें दूर करने की चेष्टा करें।

मद्रास में देखने के लायक़ केवल दो चीज़ें हैं। एक तो समुद्र का तट जो सात मील तक चला गया है, दूसरा आधार जो थियोसॉफ़िकल सोसाइटी का केंद्र है। इतना रमणीक जल तट भारतवर्ष में और कहीं नहीं। मीलों तक समुद्र के किनारे ठंडी-ठंडी हवा का आनंद उठाते चले जाइए। आधार मद्रास के आठ मील पर समुद्र के किनारे एक कॉलोनी के रूप में है। उसका क्षेत्रफल दो मील से कम न होगा। बहुत ही साफ़-सुथरी, फूल-पत्तों से सजी हुई जगह है। पुस्तकालय है, प्रकाशन-विभाग है, मंदिर है, भोजनालय है, कर्मचारियों और अन्य थियोसॉफ़िस्ट सज्जनों के निवास-स्थान हैं। बीच में एक विशाल वट वृक्ष है, जो अपनी बूढ़ी गोद

में लगभग दो हज़ार दर्शकों को शरण दे सकता है। कहते हैं स्व. एनी बेसेंट कभी-कभी वृक्ष के नीचे बैठकर धर्म के पिपासुओं को अपना उपदेशामृत पिलाया करती थीं। यह तपोभूमि दर्शनीय है। इन दिनों इस संस्था का वार्षिकोत्सव हो रहा है। दूर देशों से प्रतिनिधि आए हुए हैं।

मुझे दो बैठकों में प्रांत के प्रमुख प्रचारकों से बातचीत करने का सुअवसर मिला। तीन सज्जन तो उत्तर भारत के हैं, जिन्होंने दक्षिण ही को अपना घर बना लिया है। सभी महानुभावों के दिलों में हिंदी-प्रचार की लगन मालूम होती थी। सभी में उत्साह दीख पड़ा। सभी इस काम को पेशा समझकर नहीं, दिलचस्पी के साथ कर रहे हैं। उन्हें साहित्य से भी प्रेम है और साहित्यिक-विषय की चर्चा सुनने के लिए बड़े उत्सुक पाए गए। महाशय देवदूत जी विद्यार्थी ने जो केरल प्रांत के संचालक हैं और बिहार प्रांत के निवासी हैं, गद्य-काव्य के दो संग्रह भी प्रकाशित कराए हैं और एक ड्रामा भी लिख रहे हैं। इन संग्रहों को पढ़ने से विदित होता है कि आपकी अनुभूतियाँ कितनी कोमल और आपकी भावनाएँ कितनी मार्मिक हैं उसके साथ ही भाषा पर भी आपका पूरा अधिकार है।

एक रात को हमें प्रचारकों का अभिनय कौशल देखने का अवसर मिला। दो साल हुए कुछ लोगों ने एक नाटक परिषद् बना ली थी और प्रचार के लिए साल में दो-एक नाटक खेल लिया करते थे। मतभेद के कारण इस वर्ष परिषद् ने कोई नाटक नहीं खेला। मेरा उन सज्जनों से अनुरोध है कि वे अपने महान् उद्देश्य को ध्यान में रखकर वैयक्तिक मतभेदों को भूल जाएँ और प्रचार के इस अंग को शिथिल न होने दें। मैंने दुर्गादास नाटक के जो दो-तीन दृश्य देखे उनसे इस नतीजे पर पहुँचा कि थोड़े से संयम के साथ यहाँ के अभिनेता बहुत सफल हो सकते हैं। एक सीन में चाणक्य का पार्ट दिखाया गया था। मुझे यह पार्ट बहुत पसंद आया। चाणक्य के शब्दों में दर्द था, चोट थी, और विद्रोह था—वह विद्रोह जो ईश्वर की सत्ता से भी इनकार करता है, जिसे संसार छल, कपट, अन्याय और अत्याचार का रंगस्थल-सा नज़र आता है।

मद्रास में दो अजायबघर हैं। एक पशु-पक्षियों का और दूसरा जल जीवों का। ज़ू तो बहुत साधारण है, पर मछली भवन बड़ा सुंदर है। मछलियों का ऐसा विभिन्न, विचित्र और अद्‌भुत संग्रह भारतवर्ष में दूसरा नहीं है। शीशे के पानी से भरे केसों में रंग-बिरंगी मछलियों की क्रीड़ा, बड़ा ही मनोहर दृश्य है।

सभा ने दो मकान किराए पर ले रखे हैं। एक में तो उसका दफ़्तर, पुस्तकालय, परीक्षा-विभाग आदि हैं, दूसरे में प्रेस है। दोनों का किराया तीन सौ पचास रुपए देना पड़ता है। मंत्री जी ऐसे मकान की तलाश में हैं, जहाँ दोनों ही काम हो सकें। ऐसा मकान मिल जाए तो शायद किराए में कुछ किफ़ायत हो और काम ज़्यादा व्यवस्थित रूप से चलने लगे। ऐसी उपयोगी संस्था के पास अपना भवन न हो और उसे साढ़े तीन हज़ार रुपए सालाना किराए के रूप में देना पड़े, यह हिंदी प्रेमियों के लिए गर्व की बात नहीं। इसका कारण यही मालूम होता है कि अभी तक हम हिंदी प्रचार का महत्त्व नहीं समझ पाए। इसकी ज़िम्मेदारी दक्षिण से कहीं ज़्यादा उत्तर भारत पर है।

हिंदी या हिंदुस्तानी दक्षिण भारत के लिए विदेशी भाषा के समान है। अध्यापक भी प्रायः दक्षिण के लोग हैं। छात्रों को पुस्तकें पढ़ने के सिवा हिंदी को व्यवहार में लाने के शायद बहुत कम मौक़े मिलते होंगे। इसका परिणाम यह हो सकता है कि उनका भाषा ज्ञान केवल किताबी ज्ञान होकर रह जाए। इसके कुछ उदाहरण भी मिले। हमें ऐसे कितने ही सज्जन मिले, जो किताबें तो समझ लेते हैं, लेकिन हिंदी बोल नहीं सकते, और न हिंदी भाषण आसानी से समझ पाते हैं। अगर अध्यापकगण क्लासों में छात्रों से हिंदुस्तानी

ही में बोलें और इसका ख़याल रखें कि छात्र भी आपस में कम-से-कम क्लास में हिंदुस्तानी का व्यवहार करें, तो उन्हें शुद्ध बोलने का अभ्यास हो जाएगा और वह हास्यजनक भूलें न करेंगे, जिनकी एक विनोदी-प्रचारक महोदय ने कुछ मिसालें देकर हमें ख़ूब हँसाया था। दूसरा निवेदन जो मैं प्रचारक महोदयों से करूँगा, वह यह है कि वे हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन करते रहें, जिससे उनका भाषा ज्ञान बढ़ता जाए। जिन्हें साहित्य-रचना का कुछ शौक़ है, उन्हें कभी-कभी पत्रों में कुछ लिखते रहना चाहिए। दक्षिण के साहित्य में ऐसी कितनी ही चीज़ें होंगी, जिन्हें हिंदी में लाकर वे उत्तर और दक्षिण की सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करेंगे।

मद्रास से हमने पाँचवें दिन मैसूर को प्रस्थान किया। यहाँ से छोटी लाइन जाती है। गाड़ी में बड़ी ठेलम-ठेल थी, लेकिन किसी तरह बैठ गए। मैसूर के मुख्य प्रचारक श्री हिरण्मय जी हमारे पथ-प्रदर्शक थे। बैंगलोर के श्री जंबूनाथ जी भी उसी डब्बे में थे। मेरे सामने केरल प्रांत के एक सज्जन बैठे थे। उनसे साहित्य और हिंदी प्रचार के विषय में बड़ी देर तक बातें होती रहीं। हिंदी प्रचार से उन्हें प्रेम तो था, पर उन्हें यह भय भी था कि कहीं यह आंदोलन आगे चलकर हवा में न उड़ जाए। इस तरह का संदेह कभी-कभी मन में होना स्वाभाविक ही है! हमारे आंदोलन इतने जोश से शुरू किए जाते हैं, और थोड़े ही दिनों में लोग उनकी ओर इतने उदासीन हो जाते हैं कि हम किसी आंदोलन को सजीव देखकर भी आशंकाओं से निवृत्त नहीं हो सकते। मैंने उन सज्जन को विश्वास दिलाया कि हिंदी प्रचार अब केवल दो-एक उत्साही व्यक्तियों का खेल नहीं रहा, वह एक संस्था है, जिसने जनता के दिलों में अपना स्थान बना लिया है, और आशा है कि दिन-दिन इसकी उन्नति होगी। हम सुबह को मैसूर पहुँचे। हिंदी प्रेमियों ने हमारा स्वागत किया और हम कृष्ण भवन में ठहरे। यहाँ हमें हर तरह का आराम था और होटल के स्वामी श्री शिवप्रसाद जी ने जिस उदारता से हमारा स्वागत किया, उसकी कहाँ तक तारीफ़ करें। इनकी उम्र अभी अट्ठाईस-तीस साल से ज़्यादा नहीं है, और इनका बाल-जीवन भी बड़ा ही संकटमय था, यहाँ तक कि केवल बारह साल की उम्र में इन्हें घर से भागना पड़ा और बैंगलोर आकर एक होटल में नौकर हो गए। वहाँ उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किया, उससे उन्होंने दो-एक मित्रों के सहयोग से यह होटल खोलने का उत्साह किया। और अब आप अपने पुरुषार्थ के फलस्वरूप स्वतंत्र हैं। आपको साहित्य और धर्म से विशेष रुचि है; पर आपके विचार बड़े उदार हैं, धार्मिक संकीर्णता का कहीं नाम भी नहीं। मानसिक और व्यापारिक उन्नति के साथ आपने दैहिक उन्नति का भी ध्यान रखा है। आप नियमित रूप से सूर्य नमस्कार और व्यायाम करते हैं। आम वैश्यों की भाँति आप केवल धन संग्रह करके ही संतुष्ट नहीं हुए, बल संग्रह भी किया है। आप बलिष्ठ और स्वस्थ युवक हैं। और किसी दुर्व्यसन को अपने पास नहीं फटकने देते। बुरी-से-बुरी दशाओं में पुरुषार्थी आदमी क्या कुछ कर सकता है। यह उपदेश हमारे युवक शिवप्रसाद जी के जीवन से ले सकते हैं। मुझे यह देखकर बड़ा हर्ष हुआ कि आपने धन को अपना स्वामी नहीं बनने दिया, स्वयं उसके स्वामी हैं। आपके जीवन का उद्देश्य परोपकार है। आपका इरादा है कि अपने जन्म स्थान बुलंदशहर में एक अच्छी व्यायामशाला क़ायम करें और युवकों को अपनी देह और स्वास्थ्य को बलवान करने का अवसर दें। कितना पवित्र उद्देश्य है।

कृष्ण भवन से मिला हुआ ही एक दूसरा होटल है—आनंद भवन। इसके स्वामी बद्रीप्रसाद जी हैं। मैसूर में उत्तर भारतीयों का यह पहला ही होटल है। और बड़े सुव्यवस्थित रूप से चल रहा है। बद्रीप्रसाद जी बड़े प्रसन्नचित्त, सेवातत्पर, साहित्य रसिक व्यक्ति हैं, और हिंदी साहित्य

की प्रगति से ख़ूब परिचित हैं। आप भी बुलंदशहर के निवासी हैं और सपरिवार यहीं रहते हैं। हमें मैसूर के मुख्य दर्शनीय स्थानों की सैर कराने का ज़िम्मा आपने लिया था और इसके लिए हम आपके आभारी हैं।

मैसूर में यों तो देखने की बहुत-सी चीज़ें हैं, लेकिन हमारे पास समय न था, इसलिए हमें उन्हीं स्थानों को देखकर संतुष्ट होना पड़ा जो मैसूर से मिले हुए हैं, और जिन्हें हम कम-से-कम समय में देख सकते हैं। मैसूर बड़ा ही साफ़-सुथरा, सुंदर उद्यानों से सजा हुआ रमणीक स्थान है। जिधर जाइए उधर पार्क, यहाँ तक कि रेलवे लाइन के किनारे भी फूलों की लाइन नज़र आती है। सड़कें चौड़ी हैं, गर्द-ग़ुबार से पाक, चौरस्ते पर बेलों और पौधों से सजे हुए स्क्वायर बने हैं। बिजली-शक्ति की तो यहाँ इतनी इफ़रात है कि देहातों में भी बिजली की रोशनी है और है भी बेहद सस्ती। देहातों में तो केवल दो आना यूनिट है। दूसरे शहरों में केवल म्यूनिसिपालिटी के अंदर रोशनी होती है। उसके बाहर अँधेरा। यहाँ हरेक पक्की सड़क पर बिजली की रोशनी है, और चामुंडा पहाड़ी से नगर को देखिए तो मालूम होता है बिजली-प्रकाश का जाल बिछा हुआ है। यह पहाड़ी शहर से मिली हुई है और अकसर शाम-सवेरे शहर के लोग उस पर हवा खाने जाते हैं। कोई एक हज़ार फ़ीट ऊँची होगी। चढ़ाई के लिए मोटर चलने लायक़ सड़क बनी हुई है। जिस पर बिजली की रोशनी है। चोटी पर चामुंडा देवी का मंदिर है। उससे ज़रा और ऊँचाई पर महाराज के निवास के लिए एक सुंदर बँगला बना हुआ है। चामुंडा देवी मैसूर राजा की कुल देवी हैं और महाराज अकसर यहाँ पूजन के लिए आते हैं।

मैसूर नगर से दस-बारह मील पर मैसूर की पुरानी राजधानी सेरिंगापट्टम है। वहाँ तक पक्की सड़क चली गई है। सेरिंगापट्टम पहले बहुत गुलज़ार बस्ती थी, लेकिन अब लोग इसे छोड़कर दूसरी जगहों में आबाद होते जाते हैं। पुराना क़िला तो मिस्मार हो गया। चारदीवारी कहीं-कहीं बाक़ी है। यहाँ की सबसे दर्शनीय वस्तु सुलतान हैदरअली और टीपू की मज़ार है। एक रमणीक उद्यान के मध्य में मज़ार की शानदार इमारत है, जो काले पत्थर की है। अंदर बड़ी ख़ूबसूरत पच्चीकारी है और दरवाज़ों पर हाथी दाँत का काम है, जो मैसूर की ख़ास कला है। क़िले के बाहर टीपू सुलतान का महल है, जिसका नाम दरिया दौलत बाग़ है। टीपू सुलतान गर्मियों में यहाँ आकर विश्राम किया करते थे। इसी की बाहरी दीवारों पर उस ज़माने की प्रायः सभी ऐतिहासिक और राजनैतिक घटनाओं के चित्र बने हुए हैं, जो बहुत कुछ उन चित्रों से मिलते हैं, जो आज भी शहर के चित्रकार दीवारों पर बनाया करते हैं, लेकिन अंदर नक़्क़ाशी बहुत ही बारीक़ है। जिस स्थान पर सुलतान अपनी प्रजा को दर्शन दिया करते थे, वह दरबार किसी तरह भी दिल्ली के दरबार आम से कम विशाल नहीं है।

सेरिंगापट्टम से हम कृष्णराज सागर देखने आए। यह एक बहुत बड़ा सागर है, जो कावेरी नदी को एक बाँध से रोककर बनाया गया है। बाँध कोई दो मील लंबा और ज़मीन से कोई एक सौ पचास फ़ीट ऊँचा होगा। चौड़ा इतना है कि उस पर मोटरें बड़ी आसानी से आ-जा सकती हैं। इस बाँध को बनने में मैसूर सरकार का क़रीब दो करोड़ से ऊपर ख़र्च हो गया है। इस सागर से नहर निकाली गई है जो लगभग पचास मील तक की भूमि की सिंचाई करती है। इसका फल यह हुआ है कि अब यहाँ धान और ऊख की पैदावार कसरत से होने लगी है। ऊख की खपत के लिए सरकार ने एक शक्कर मिल भी बनवाई है। इसी पानी से बिजली भी निकाली जाती है। इस निर्माण में रियासत के लगभग पाँच करोड़ ख़र्च हो गए हैं। भारत में इससे बड़ा दूसरा बाँध नहीं है। बाँध के नीचे एक रमणीक

स्थान है, जिसे वृंदावन कहते हैं। यहाँ फ़व्वारों की विचित्र लीला देखने में आती है। एक नाली से दरिया का पानी लाकर एक ढालू नहर में बड़े वेग में प्रवाहित किया गया है। दोनों तरफ़ फ़व्वारों की छटा है, जिनके पास रंग-बिरंगे शीशे में बिजली का प्रकाश किया जाता है। उछलते हुए पानी पर जब इस रंगीन प्रकाश का प्रतिबिंब पड़ता है तो ऐसा मालूम होता है कि फ़व्वारों से रंगीन पानी निकल रहा है। दूर से देखने पर इंद्रधनुष का-सा दृश्य आँखों को मुग्ध कर देता है।

मैसूर का राजभवन भी देखने लायक़ है मगर यह कोई उल्लेखनीय बात नहीं। राजभवन तो उन रियासतों में भी आँखों को मुग्ध कर देते हैं, जहाँ प्रजा नरक के कष्ट भोग रही है। हमारे राजाओं में निन्यानबे फ़ीसदी तो वही हैं, जो अपनी रियासत की आमदनी का बड़ा भाग अपने ही भोग-विलास पर उड़ा देते हैं। उनकी प्रजा मानो है ही इसलिए कि कमा-कमाकर राजा साहब को उड़ाने के लिए दे और मुँह से बोले नहीं वरना उसकी ज़बान काट ली जाएगी। मैसूर तो संपन्न राज्य है और उसके राजभवन को रियासत की शान के अनुसार होना चाहिए। एक-एक हॉल की सजावट देखते रहिए। दरबार-हॉल तो इस ठाट का है कि शायद ही किसी राज्य में हो यहाँ दशहरे के उत्सव पर महाराजा साहब सिंहासन पर बिराजते हैं और दरबारी और कर्मचारी अपने रुतबे के अनुसार कुर्सियों पर बैठते हैं। इत्र-पान से उनका स्वागत किया जाता है, मगर इस इंद्रपुरी का इंद्र अतुल विभूति का स्वामी होते हुए भी त्याग का उपासक है। अन्य रियासतों की भाँति यहाँ का दरबार इंद्र का अखाड़ा नहीं, किसी संन्यासी का आश्रम है। महाराज को राज्य से बाईस लाख रुपए सालाना मिलते हैं पर यह उनके भोग-विलास में न ख़र्च कर प्रजा हित के कामों में ही ख़र्च किए जाते हैं। यही कारण है कि यहाँ की प्रजा अपने राजा को पूजती है और उस पर गर्व करती है। महाराज संगीत और व्यायाम के प्रेमी हैं और साहित्य में भी आपकी रुचि है।

मैसूर का चिड़ियाघर देखकर बंबई और मद्रास के चिड़ियाघर वैसे ही लगते हैं जैसे महल के सामने झोंपड़ा। जितने विचित्र पशु-पक्षी और जल-जीव यहाँ हैं, शायद कलकत्ते के चिड़ियाघर के सिवा और कहीं नहीं हैं। पशुओं के लिए नैसर्गिक दशाओं की व्यवस्था ऐसी शायद ही और कहीं हो। हमने जितने जीव देखे, सभी हृष्ट-पुष्ट, साफ़-सुथरे और प्रसन्न दिखाई दिए थे।

मैसूर में सरकार की ओर से रेशम का कारख़ाना भी खुला हुआ है, चंदन के तेल का भी। चंदन पर इस रियासत की मोनोपॉली या इज़ारा है। उसका व्यापार सरकार के हाथों में है। कला कौशल का विभाग भी है, जहाँ लकड़ी, बेंत, हाथी दाँत, धान, कुम्हारी आदि की शिक्षा दी जाती है। वहाँ की बनी हुई चीज़ों का प्रदर्शन होता है और बिक्री भी होती है तो चीज़ों की क़ीमत बहुत ज़्यादा है। यहाँ सबसे अच्छी बात जो हमें मालूम हुई वह यह है कि रियासत के कर्मचारियों का या पुलिस का यहाँ बिलकुल आतंक नहीं है और रिश्वत की चर्चा यहाँ बहुत ही कम है। राज्य की सुव्यवस्था का इससे बढ़कर हमारे विचार में दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता।

मैसूर में हिंदी-प्रचार के कार्यकर्ताओं और संचालकों में मैंने शुद्ध एकात्मक भाव देखा। सभी में हिंदी के प्रति मिशनरी उत्साह और अनुराग है। पं. हिरण्मय जी चुपचाप काम करनेवाले व्यक्ति हैं, जो शायद स्वप्न में भी प्रचार ही का स्वप्न देखते हों। श्री टी. कृष्णमूर्ति और श्री के. श्रीनिवासमूर्ति, दोनों ही सज्जन यहाँ की प्रचार सभा के मंत्री हैं और केवल पदाधिकारी मंत्री नहीं, बल्कि सभा में जीवन का मंत्र डालनेवाले मंत्री। दोनों ही शिक्षा विभाग में अध्यापक हैं, लेकिन हिंदी प्रचार को अपना व्यसन बना चुके

हैं। एक तीसरे उत्साही युवक मि. जे. पी. वर्मा हैं। यह इंटरयूनिवर्सिटी बोर्ड में हैं और यहाँ शायद साल भर ही उनका रहना होगा, लेकिन हिंदी प्रचार में इस जोश से सहयोग दे रहे हैं, जो संक्रामक है। अपने उत्साह के सामने बाधाओं को कुछ समझते ही नहीं। इन्हें यहाँ उत्तर भारत के रहनेवालों को संगठित करने के लिए एक 'हिंदुस्तानी' हितैषी मंडल खोलने की धुन है। कोई सुने या न सुने, आप अपना कथन किए जाते हैं। आख़िर मेरे हाथों उस मंडल को स्थापित कराके ही छोड़ा, बुनियाद की रस्म तो मैंने कर दी, उस पर इमारत खड़ी करना मैसूर के उन सज्जनों का काम है, जो व्यापार में धन कमाना ही नहीं चाहते, अपने भाईयों की सेवा में उसका एक अंश अर्पण करना भी चाहते हैं। और ज़िम्मेदारी भी सबसे ज़्यादा उन्हीं लोगों पर आती है, जो संसार की प्रगति को देखते और समझते हैं।

मैसूर में इंदिरा बहन से मिलकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। इस देवी से मैं काशी, प्रयाग और दिल्ली में मिल चुका था। प्रयाग महिला विद्यापीठ में दो साल तक इन्होंने हिंदी का विशेष ज्ञान प्राप्त किया है और आजकल यहाँ प्रचार कर रही हैं। आप प्रचार सभा के मंत्री श्री कृष्णमूर्ति जी की सहधर्मिणी हैं। हिंदी प्रेम इन्हें प्रयाग खींच ले गया। पति ने भी सहर्ष अनुमति दी। अपनी छोटी-सी बच्ची को घर पर छोड़कर, वह प्रयाग चली गईं। जिस आंदोलन में ऐसे साधक हों, वह क्यों न सफल हो। एक दूसरी देवी श्रीमती लक्ष्मी अम्मा हैं। इस वृद्धावस्था में इन्होंने विशारद पास किया और अब उर्दू पढ़ रही हैं। उनका उत्साह अदम्य है और युवकों को भी लज्जित करता है। जहाँ-जहाँ मैं गया वह मेरे स्वागत के लिए मौजूद थीं। हम उनकी कुटिया में उस श्रद्धा से गए जैसे मंदिर में जाते हैं और वहाँ हमने दस-पाँच मिनट तक इस तरह गुज़ारे मानो अपनी बहुत दिनों की बिछुड़ी हुई बहन से मिल रहे हों और बहन उतने ही समय में अपने स्नेह और मेहमान नवाज़ी के सारे अरमान पूरे कर लेना चाहती हो। प्रो. सूस्त्री के दर्शनों का सौभाग्य भी हमें मिला। आप मैसूर विश्वविद्यालय में फ़ारसी के अध्यापक हैं और उर्दू के अच्छे जानकार हैं। आपको हिंदुस्तानी से प्रेम है और संस्कृत के तो आप पंडित हैं। आप इन दिनों भगवद्गीता का फ़ारसी में अनुवाद कर रहे हैं। हिंदू-मुस्लिम समस्या पर आपने जो सोने के-से विचार प्रकट किए, काश वह हमारे लीडरों में भी होते तो भारत आज स्वर्ग हो जाता। आप साधुओं का-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सांप्रदायिक मनोवृत्ति से आपको घृणा है। आपके चरणों में बैठकर हमने जो आत्मिक शांति लाभ की, वह दिव्य दर्शन से होती है। हिंदी में एक और उपासक प्रो. नांजुन डैया के सत्संग का भी सुअवसर हमें मिला। आप मैसूर विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के अध्यापक हैं और इन दिनों अस्वस्थ हैं। आपने जिस उदारता से हमारा स्वागत किया वह हमारे जीवन की बड़ी मधुर अनुभूति है। आप इन दिनों उर्दू का अध्ययन कर रहे हैं और हमारी कई उर्दू रचनाएँ आपकी नज़रों से गुज़र चुकी हैं। आपका विशुद्ध साहित्य प्रेम और साहित्य के एक तुच्छ सेवक के प्रति आपका उमड़ता हुआ सम्मान देखकर हम कृतार्थ हो गए। आपसे हमें यही शिकायत है कि आपने हाथी दाँत की नक़्क़ाशी से सजा हुआ एक सिगरेट बॉक्स भेंट करके हमें यह पाठ पढ़ाया कि सिगरेट पीना भी कोई सद्व्यसन है और तब से सिगरेट के प्रति हमारा अनुराग बढ़ गया है, क्योंकि बॉक्स को हम ख़ाली नहीं देख सकते—दवात में स्याही नहीं तो वह कुल्हिया है—और जब सिगरेटों से भरा हुआ डब्बा सामने हो तो लोभ को रोकना ज़रा कारे दारद।

यों हमें तो यहाँ दो जलसों में हिंदी के विषय में अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिला, लेकिन विशेष आनंद का अवसर वह था, जब

हम विश्वविद्यालय भवन में हिंदी के सैनिकों से मिले। पचास मित्रों से कम न थे और यह सभी युवक हैं, जो ख़ुद विश्वविद्यालय में पढ़ रहे हैं। पर हिंदी से इतना प्रेम रखते हैं कि कुछ-न-कुछ समय निकालकर हिंदी प्रचार की भेंट करते हैं। यह राष्ट्र-भाषा के उत्साही सैनिक हैं और उसके प्रचार का संपूर्ण श्रेय इनको है। कई मित्रों ने हिंदी में अपनी रची हुई चीज़ें पढ़ीं और हम लोगों में घंटे भर तक कॉफ़ी के साथ साहित्यिक समस्याओं पर ख़ूब गपशप हुई।

मैसूर की राजभाषा कनाड़ी है और बोलनेवालों की संख्या डेढ़ करोड़ के लगभग है, मगर यह संख्या मद्रास, बंबई, हैदराबाद रियासत और मैसूर में फैली हुई है और इससे इस भाषा के विकास में बाधा पड़ रही है। कनाड़ी का प्राचीन साहित्य ऊँचे दर्जे का है और नए साहित्य में भी अच्छी उन्नति हो रही है। बैंगलोर में कनाड़ी साहित्य-परिषद् का अपना भवन है, पुस्तकालय है और उसके द्वारा कनाड़ी साहित्य के अच्छे ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं। मैसूर में मुझे कई कनाड़ी साहित्य सेवियों की सेवा में हाज़िर होने का अवसर मिला। कई अन्य प्रांतीय भाषाओं की तरह कनाड़ी को भी यह शंका होने लगी है कि हिंदी प्रचार से कनाड़ी की प्रगति में कुछ बाधा न पहुँचे। इसका कारण यही मालूम होता है कि हिंदी प्रचार के उद्देश्य के विषय में कुछ भ्रम अभी तक बाक़ी हैं। हिंदुस्तानी प्रचार का उद्देश्य यह हरगिज़ नहीं है कि वह प्रांतीय भाषाओं का स्थान छीन ले। वह तो अंग्रेज़ी भाषा का वह स्थान लेना चाहती है, जो उसने भारतवर्ष में प्राप्त कर लिया है। राष्ट्रभाषा और प्रांतीय भाषाओं में कुछ वही संबंध रहेगा, जो प्रांतीय कौंसिलों और भारतीय एसेम्बली में है। एसेम्बली प्रांतीय कौंसिलों के किसी काम में बाधा नहीं डालती। हाँ, कुछ ऐसे विषय हैं, जिनका संबंध पूर्ण भारत से है और एसेंम्बली उन्हीं के विषय में व्यवस्था करती है जो लेखक या पत्रकार अपनी पुस्तक या पत्र का सारे भारतवर्ष में प्रचार चाहेगा, उसके लिए अंग्रेज़ी माध्यम की जगह हिंदी माध्यम का साधन उपस्थित कर देना ही हमारा ध्येय है। आख़िर कोई ऐसा दिन तो आएगा ही, चाहे वह दूर भविष्य में ही क्यों न आए कि भारत अपनी संस्कृति और अपने साहित्य के साथ अन्य राष्ट्रों के पहलू में बैठे। अगर हम भारत को एक देश न मानकर महाद्वीप मान लें, जिसमें बहुत देश हैं तब भी तो हमें एक प्रधान भाषा की ज़रूरत पड़ेगी ही, जिसमें अंतर्देशीय व्यवहार किया जा सके। हाँ, अगर इन देशों में कोई संबंध ही न रहे, तो दूसरी बात है। तब तो एक प्रांत भी अपनी पृथक सत्ता न क़ायम रख सकेगा। हमारा ख़याल है कि हिंदुस्तानी का प्रचार साहित्य सेवियों के लिए यश और कीर्ति का एक महान क्षेत्र खोल देता है और प्रांतीय भाषाओं को उससे बदगुमान होने की बिलकुल ज़रूरत नहीं है। अभी तक हमने जो कुछ किया है, वह प्रांतीय दृष्टि से ही किया है। हम पारिभाषिक शब्दों का कोश बनाते हैं। तो अलग-अलग साधारण कोश बनाते हैं, तो भी अलग-अलग। अगर हमारे पास कोई अंतरप्रांतीय या राष्ट्रभाषा-परिषद् ऐसी होती, जहाँ प्रतिवर्ष प्रत्येक भाषा के महारथी एकत्र होकर, दो-चार दिन या दो-चार हफ़्ते बैठकर राष्ट्रभाषा संबंधी समस्याओं पर विचार किया करते, तो शायद दस-बीस साल में हमारी एक संपन्न राष्ट्रभाषा बन जाती। पृथक्-पृथक् काम करने से समय और शक्ति का अपव्यय हो रहा है। दर्शन, विज्ञान, शास्त्र के हज़ारों ही शब्द हैं, जो सभी प्रांतीय भाषाओं में एक हो सकते थे। अलग-अलग माथापच्ची करने की ज़रूरत ही न पड़ती।

पाँच दिन मैसूर की मेहमानी खाकर हमने बैंगलोर को प्रस्थान किया।

मैसूर से बैंगलोर कोई चार घंटे का सफ़र है। बीच का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही रमणीक है। कहीं हरे-भरे खेत, कहीं आम, नारियल और

फुलवारी के बाग़ और कहीं हरियाली से ढकी हुई ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ। आकाश में कुछ बादल और उस मंद प्रकाश में वह पर्वत। शोभा स्वप्निल हो गई थी। बीच-बीच घाटियों की गोद में विश्राम करते हुए ग्राम नज़र आ जाते थे, जिनकी क़लई से पुती हुई दीवारें, गाँववालों की सफ़ाई और सुरुचि का पता दे रही थीं। यहाँ की मिट्टी लाल है, जिससे खेतों की छटा और भी सुहावनी हो जाती है। खेतों में जो किसान काम करते नज़र आते थे, उनका पहिरावा कुरता और जाँघिया था। धोती के मुक़ाबले में जाँघिया किफ़ायत की चीज़ है। वहाँ धान के खेत भी बहुत मिले, जिनमें नहर से सिंचाई हो रही थी। अब यहाँ गन्ना भी पैदा होने लगा है और राज्य की ओर से एक शक्कर की मिल भी है।

शाम को हम बैंगलोर पहुँच गए। स्टेशन पर हिंदी प्रचार सभा के अध्यक्ष श्री निट्टूर, श्री निवास राव, श्री जंबुनाथन जी आदि सज्जन मौजूद थे। हम अध्यक्ष जी के मेहमान हुए।

बैंगलोर समुद्र की सतह से तीन हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर है और मैसूर से कुछ ठंडा है। बैंगलोर शहर के दो भाग हैं। शहर जो मैसूर राज्य के अधीन है और छावनी पर अंग्रेज़ी सरकार का राज्य है। आबादी तीन लाख के ऊपर है। शहर में तो कोई ख़ास बात नहीं, प्रयाग या लखनऊ जैसा ही है, लेकिन छावनी की सड़कों की सफ़ाई और बँगलों की सजावट देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। बैंगलोर में और प्रायः दक्षिण में -आँगन के घर होते हैं। घर में हैसियत के अनुसार दो-तीन-चार कोठरियाँ होती हैं। मकान के सामने एक छोटा-सा बाग़ और चारदीवारी भी बनाई जाती है। हर एक घर बँगले जैसा मालूम होता है।

पहले दिन प्रातःकाल हम लाल बाग़ की सैर करने गए। इसका रक़्बा एक सौ एकड़ है। बाग़ की बनावट और सफ़ाई और सुंदरता साफ़-सुथरी रविशें, फूलों की क्यारियाँ, शीश मंडप मन को मुग्ध कर लेती है। ख़ास बात यह है कि यह पार्क सुलतान हैदरअली की सुरुचि और वनस्पति प्रेम की यादगार है। यहाँ पौधों और बीजों की बिक्री होती है और विचित्र प्रकार की वनस्पतियों को विदेशों से मँगाकर उपजाया जाता हैं बैंगलोर का सबसे दर्शनीय स्थल यही पार्क है।

बैंगलोर से तीन मील पर विज्ञान का यह वह प्रसिद्ध विद्यालय है, जिसे जमशेद जी नौशेरवाँ जी ताता ने स्थापित किया जा। बैंगलोर आकर इस विज्ञान मंदिर के दर्शन करना दुर्भाग्य की बात होती है। रविवार के दिन हम कोई तीन बजे वहाँ पहुँचे। विद्यालय बंद था, पर डॉ. सर सी. वी. रमन ने बड़ी ख़ुशी से हमारा स्वागत किया और हमें विद्यालय के रासायनिक विभाग, पुस्तकालय और लैबोरेटरी की सैर कराई। मैं दो-चार वैज्ञानिकों से पहले भी मिल चुका हूँ। यह बड़ा समन्वय बड़ा ही आकर्षक, गूढ़, शुष्क और अपनी धुन में मस्त होता है। प्रकृति की अनंत रहस्यमयी रचनाओं में संदेह विचरते रहने के कारण कदाचित् मनुष्य उसके लिए मामूली पशु-मात्र रह जाता है, लेकिन वैज्ञानिकों के इस प्रिंस को देखकर मैं चकित हो गया। ऐसा प्रसन्नचित्त व्यक्ति, जिसका पोर-पोर बालकों के सरल उछाह से उबला पड़ता हो, मैंने दूसरा नहीं देखा। वह विज्ञान के आशिक़ हैं। और वह इश्क़ उनकी आँखों में, उनके कपोलों पर, एक-एक अंग में रमा हुआ है। वह इस तरह से दौड़-दौड़कर एक-एक चीज़ हमें दिखा रहे थे, मानो कोई बालक अपने किसी सखा को अपने खिलौने और कनकौवे और नए कपड़े दिखाने के लिए अधीर हो रहा हो और चाहता हो कि एक ही साँस में सारी विभूतियाँ दिखा दूँ, जिसमें कुछ बाक़ी न रह जाए। मैं अगर कहूँ कि इसी इंस्टीट्यूट में उनके प्राण बसते हैं, तो ग़लत न होगा। इसकी एक-एक रविश, एक-एक फूल, एक-एक पौधे, यहाँ तक कि उसके मनोरम प्राकृतिक दृश्य पर

भी उन्हें गर्व है, मानो वह प्राकृतिक छटा भी उनकी अपनी रचना हो। इस विद्यालय से देश को अब तक क्या लाभ पहुँचा है, यह तो कोई वैज्ञानिक ही जानता होगा, हम तो सर रमन के व्यक्तित्व की छाप हृदय पर लेकर आए। विद्युत विभाग और अन्य विभाग बंद थे, वह हम न देख सके। सर रमन ने हमें एक मज़े का तमाशा दिखाया जो हमारे लिए तो खेल था, पर बुद्धिमानों के लिए तात्त्विक छान-बीन की चीज़ है। तबले के चर्मभाग पर चुटकी पर बालू बिखेर दो और तबले पर एक थाप मारो। बालू कभी सीधी रेखा का रूप धारण कर लेती है, कभी वृत्त का। तबले की अलग-अलग ध्वनि भिन्न-भिन्न आकार में प्रकट होती है। सर रमन जिस ज़िंदादिली और जोश से तबले पर बालू बिखेरते और थाप लगाते थे, वह देखकर कौन ऐसा मुर्दा दिल होगा, जो गद्‌गद न हो उठता।

चार बजे हम डॉक्टर साहब से विदा हुए और यह सोचते हुए निकले कि काश बड़े लोग अपने बड़प्पन को अपनी क़ब्र न बनाकर ज्योति बना सकते तो उससे कितना प्रकाश फैलता।

उसी दिन हमने चीनी के बर्तनों का कारख़ाना देखा, जो इंस्टीट्यूट से मिला हुआ है। क्रिया बिलकुल कुम्हारों की-सी है। एक ख़ास तरह की मिट्टी यहाँ निकलती है, जिसमें दो-एक चीज़ें मिला देने से लुगदी तैयार हो जाती है। लुगदी को भिन्न-भिन्न साँचों में डालकर बाहर निकालते हैं, फिर सुखाते हैं, रंगते हैं, और भट्ठी में पकाते हैं। शो-रूम यहाँ के बने हुए खिलौनों और मूर्तियों और फूलदानों आदि का अच्छा संग्रह है जिससे मालूम होता है कि इस काम में यहाँ कितनी उन्नति हुई है। नल, खपरे, मार्बल, तार की चिड़िया सब कुछ यहाँ तैयार होती हैं। मैसूर राज्य में बिजली का व्यवहार बड़ी कसरत से होता है, उसके लिए चीनी का जितना सामान दरकार होता है, वह इसी कारख़ाने में तैयार होता है।

बैंगलोर में भी मैसूर की भाँति हिंदी का अच्छा प्रसार हो रहा है। यहाँ नेशनल हाईस्कूल में तो हिंदी लाज़िमी कर दी गई है। कुछ उद्योग-धंधे भी सिखाए जाते हैं। यहाँ एक जलसा हुआ, जिसके सभापति प्रो. ए. आर. वाडिया थे। प्रो. वाडिया मैसूर हिंदी प्रचार सभा के प्रेसिडेंट हैं। मैसूर में उनके दर्शन न हो सके थे। वह सौभाग्य यहाँ मिला। आपको हिंदी और उर्दू से विशेष रुचि है मगर बोलते हैं अंग्रेज़ी में और बहुत अच्छा बोलते हैं। स्कूल हेडमास्टर श्री संपतराव गिरि, एम. ए. भी हिंदी के उपासक हैं और आपने तुलसीकृत रामायण का कनाड़ी गद्य में अनुवाद किया है। इस स्कूल के साथ एक व्यायामशाला भी है, जिसे गत वर्ष महात्मा जी ने खोला था।

बैंगलोर में महिलाओं की कई संचालित संस्थाएँ हैं और प्रायः उन सभी में हिंदी पढ़ाई जाती है। सिलाई, बुनाई, कताई, बेंत का काम, संगीत, कसीदे काढ़ना प्रायः सभी संस्थाओं में जारी हैं। अध्यापन और संचालन कार्य देवियों ही के हाथों में हैं। कहीं-कहीं लड़कियों के लिए व्यायामशालाएँ भी हैं। स्त्रियों की यह जागृति राष्ट्र के आशाप्रद भविष्यत् की सूचक है। यहाँ की जलवायु संगीत के लिए बहुत अनुकूल जान पड़ती है। सभी महिला-समाजों में संगीत का प्रचार है। वीणा यहाँ का प्यारा बाजा है। काश, ये देवियाँ महीने में दो दिन आसपास के देहातों की भेंट कर दिया करें, तो गाँववाली स्त्रियों को भी उनकी जागृति का कुछ प्रकाश मिले। यों तो सभी संस्थाएँ तरक़्क़ी कर रही हैं; पर मल्लेश्वरम महिला समाज की उन्नति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ 1930 में हिंदी क्लास खोला गया। पहले साल केवल चार देवियाँ परीक्षा में बैठीं और गतवर्ष यह संख्या बढ़कर पैंतालीस तक पहुँच गई। इसी संस्था की दो देवियाँ प्रयाग महिला विद्यापीठ में पढ़ रही हैं। अब तक तीन सौ देवियाँ इस समाज में हिंदी का काम चलाऊ

प्राप्त कर चुकी हैं। यहाँ एक वाग्वर्धिनी सभा भी है, जिसमें देवियाँ सामाजिक विषयों पर मुबाहसे करती हैं। इतना ही नहीं, यहाँ से समाज भारती' नाम का एक हिंदी त्रैमासिक पत्र भी निकलता है, जिसमें देवियाँ भिन्न-भिन्न विषयों पर लेख लिखती हैं। समय-समय पर यहाँ विद्वानों और राष्ट्र नेताओं के भाषण भी होते हैं। एक बार महात्मा जी भी यहाँ अपना अमृत उपदेश कर चुके हैं। इस कीर्ति पर कौन-सी संस्था गर्व न करेगी ?

कनाड़ी भाषा और साहित्य-परिषद् भी बैंगलोर में ही है। हमने बड़ी श्रद्धा से इस साहित्य मंदिर की परिक्रमा की। अच्छा-ख़ासा परिषद् का अपना भवन है, जिसमें एक हॉल है, एक पुस्तकालय, वाचनालय और दफ़्तर। कनाड़ी भाषा के कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ परिषद् द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। आजकल परिषद् में मैसूर राज्य के प्रोत्साहन से एक वृहद् कनाड़ी-अंग्रेज़ी कोश बन रहा है, जिसके एडिटर और कोष-मंडल के अध्यक्ष एक वयोवृद्ध सज्जन प्रो. वेंकट नारायणप्पा हैं। आप जिस उत्साह और तन्मयता से यह कार्य-संपादन कर रहे हैं, वह जवानों को लज्जित करता है। आप पहले मैसूर विश्वविद्यालय में केमिस्ट्री के अध्यापक थे। अब पेंशन पाते हैं। कनाड़ी साहित्य बहुत पुराना है और इसका काव्य साहित्य तो बड़े ऊँचे दर्जे का है। नया साहित्य भी बड़े वेग से बढ़ रहा है। परिषद् के कुशल उपसभापति श्री गुडप्पा जी के दर्शनों का सौभाग्य भी हमें हुआ। आप साहित्य के एक यशस्वी लेखक और कवि हैं और प्राचीन साहित्य के गहरे विद्वान। कनाड़ी साहित्य कितना धनी है, इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उन्नीसवीं सदी के अंत तक इसमें लगभग बारह सौ कवि हो गए थे, जिनमें पच्चीस महिलाएँ थीं और पच्चीस राजे-रईस। एक विद्वान ने तीन जिल्दों में उनके जीवन-चरित्र लिखकर कनाड़ी साहित्य के इतिहास की अच्छी सामग्री जुटा दी है। अगर कनाड़ी साहित्य की कुछ चीज़ें हिंदी साहित्य में आ सकें तो आदान-प्रदान से दोनों ही भाषाओं को लाभ हो। कुमार व्यास की अमर कृति *भारत* शायद कनाड़ी साहित्य का सबसे उत्तम ग्रंथ है। कनाड़ी विद्वानों का कहना है कि ऐसे कवि भारतवर्ष में दो-चार ही हुए हैं। अब इस प्रांत में हिंदी का प्रचार हो रहा है तो शायद भविष्य में कोई कनाड़ी विद्वान अपने साहित्य रत्नों को हिंदी में भेंट करे। *हंस* में गुजराती, मराठी, उर्दू, अंग्रेज़ी पत्रों के संग्रहणीय और विचारपूर्ण लेखों पर टिप्पणियाँ दी जाती हैं अगर कोई हिंदी जाननेवाले कनाड़ी विद्वान कनाड़ी के सामयिक साहित्य पर टिप्पणियाँ लिखकर *हंस* में भेजने की कृपा करे तो *हंस* उपकार मानकर उसे सहर्ष स्वीकार करेगा बल्कि अपना गौरव समझेगा।

बैंगलोर में मि. के. बी. अय्यर का व्यायाम मंदिर भी देखने की चीज़ है। मालूम नहीं अय्यर महोदय ने इसका नाम हर्क्यूलीस व्यायाम मंदिर क्यों रखा है ? हमारे हनुमान जी तो हर्क्यूलीस से कुछ कम न थे। हर्क्यूलीस ने अगर पहाड़ के दो टुकड़े कर दिए थे तो हनुमान जी सूर्य को साफ़ निगल गए थे और धौलागिरि पर्वत को एक हाथ पर उठाकर कोई ढाई हज़ार मील दौड़ते चले आए थे। इस मंदिर में युवकों को हर एक तरह का व्यायाम सिखाया जाता है। अय्यर स्वयं बड़े ही सुगठित शरीर के स्वामी हैं और आपके कई शिष्य अच्छे-ख़ासे पहलवान हैं। आपने सूर्य नमस्कार के आधार पर अपनी एक व्यायाम विधि निकाली है और इस विषय का बहुत-सा साहित्य भी प्रकाशित कर चुके हैं, हम उनसे मिल तो न सके क्योंकि उस दिन वह कहीं बाहर गए हुए थे। लेकिन उनके सचित्र बुकलेट जो हमने पढ़े, उससे मालूम हुआ कि आपने नवीन और प्राचीन विधियों का मिश्रण करके एक वैज्ञानिक अभ्यास क्रम निकाला है, जिससे थोड़े समय में ही आश्चर्यजनक फल प्राप्त हो सकता है। और यह पहलवान अपने बाल्यावस्था में बहुत ही

दुबला-पतला था। ऐसे मंदिरों की प्रत्येक नगर में ज़रूरत है और हमारा ख़याल है कि जनता उनका बड़े हर्ष से स्वागत करेगी।

मैसूर राज्य में हिंदी अभी तक अख़्तियारी मज़मून है। हिंदी प्रेमियों की ओर से यह आंदोलन हो रहा है कि हिंदी को लाज़िमी बना दिया जाए। अगर यह उद्योग सफल हो जाए तो हिंदी प्रचार दुगुनी गति से बढ़ने लगे। इसी विषय पर विचार विनिमय करने के लिए मैं मैसूर राज्य के दीवान सर मिर्ज़ा इस्माइल की ख़िदमत में हाज़िर हुआ। दीवान साहब बड़े ही विद्या प्रेमी और उदार व्यक्ति थे हमारी बातचीत हिंदुस्तानी में हुई। उर्दू साहित्य का उन्हें अच्छा परिचय है बेतकल्लुफ़ उर्दू बोलते हैं। हिंदुस्तान में एक राष्ट्रभाषा की ज़रूरत को वह भी स्वीकार करते हैं और इस आंदोलन से उन्हें सहानुभूति है, लेकिन एक सांस्कृतिक विषय में वह सरकारी तौर पर कोई कार्रवाई करने के पक्ष में नहीं हैं। जब तक यह माँग इतनी बलवान नहीं हो जाती कि कार्यकारिणी समिति इसे बहुमत से स्वीकार कर ले, तब तक राज्य इसमें दख़ल देना मुनासिब नहीं समझता। सब कुछ राष्ट्र भाषा के प्रेमियों और प्रचारकों के धैर्य, उत्साह और सेवा पर मुनहसर है। जब तक हम हिंदुस्तानी को सर्वसम्मति से राष्ट्रभाषा स्वीकार न करा लें तब तक राज्य उसे कैसे स्वीकार करेगा। दीवान साहब हमारे साथ बड़े मेहरबानी से पेश आए। गोरे अधिकारियों ने हमें यह सिखाया है कि अधिकार और सज्जनता में मेल नहीं होता। दीवान साहब इसके अपवाद हैं। आपसे मिलकर बार-बार मिलने की इच्छा होती है।

हमने चौथे दिन बैंगलोर से पूना को प्रस्थान किया। श्री निवास राव जी ने हमारा जो सत्कार किया उसके लिए हम उनके अहसानमंद हैं। आप हैं तो एक हड्डी के व्यक्ति मगर आपके पोर-पोर में सजीवता भरी हुई है। आप वकील हैं, प्रकाशक हैं, लेखक हैं और हिंदी प्रचार के स्तंभ हैं। आपने कनाड़ी भाषा में *बुक ऑफ़ नॉलेज* के ढंग की एक माला मासिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित करना आरंभ किया है और शायद उसके चार अंक निकल चुके हैं। इसमें अनेक ब्लॉक हैं और साहित्य, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, कला-कौशल, जीव शास्त्र, वनस्पति आदि अनेक विषयों पर बालकोपयोगी निबंध हैं। और चेष्टा की गई है कि उसकी भाषा सरल, सजीव और रोचक रहे। हिंदी में अभी तक ऐसी कोई माला नहीं निकली। श्री निवास राव इसका एक हिंदी संस्करण निकालने का प्रबंध कर रहे हैं। ब्लॉक उनके पास हैं ही, केवल निबंधों का सरल हिंदी में अनुवाद करना है। हमें आशा है कि हिंदी में इस माला का आदर होगा। बच्चों के लिए हिंदी में क़िस्से-कहानियाँ तो बहुत निकली हैं लेकिन ज्ञान बढ़ानेवाली पुस्तकों का अभाव है। इस संग्रह से यह कमी पूरी हो जाएगी।

(*हंस,* फ़रवरी-मार्च 1935)

हृदयेश

मेरे भीतर शहर

दिल्ली के एक प्रकाशक से अपनी दो पुस्तकों की रॉयल्टी का 280 रुपए का चैक मुझे अपने खाते में जमा करना था। चैक कुरियर से कल तीसरे पहर आया था। बहुत पहले कुरियर व्यवस्था ने बड़े शहरों में अपना डग रखा था। वहाँ जम जाने के बाद उसने विगत पाँच-छह वर्षों में छोटे शहरों व तहसीलों को भी अपने उस डग से नाप लिया था, वामन से विराट रूप धारण करते हुए। हृदयेश जानते थे कि इस चैक का कमीशन कटकर अधिकतम ढाई सौ रुपए खाते में जमा होंगे और सो भी पंद्रह दिन से पहले नहीं। एक माह का भी समय लग सकता है। बैंक अब बनिया बन गया है, ठेठ बनिया।

वह बाहर वाली अपनी वेशभूषा धारण कर सड़क पर आ गए। बैंक पास में ही दूसरी पटरी पर था। सड़क पर साधारण साईकिलों के अलावा मोटरसाईकिलें, स्कूटर और रिक्शे दौड़ रहे थे, कारें भी। वह अपनी पटरी पर रुके रहकर सड़क पार करने की गुंजाइश तलाशने लगे। अपनी ओर वाली ट्रैफ़िक की गतिमान पंक्ति में आधा-पाव मिनट के लिए फाँक बनती थी तो दूसरी ओर वाला ट्रैफ़िक उस फाँक के सामने एक लंबी दीवार खींच देता था। यदि दूसरी ओर वाले ट्रैफ़िक में कोई फाँक बनती थी तो इस ओर वाला ट्रैफ़िक बाधा खड़ी कर देता था। दो बार वह बीच सड़क तक बढ़े थे, किंतु ख़तरा भाँपकर तुरंत वापस आ गए थे। बमुश्किल तमाम पाँच मिनट बाद वह सड़क पार कर सके थे।

बैंक में अच्छा-ख़ासा जमावड़ा था। हर काउंटर पर खातेदारों का छोटा-बड़ा समूह अटा हुआ था। कई कम पढ़े या अनपढ़ खातेदार बताई गई कमी को पूरा करने के लिए इस उसकी सहायता की याचना कर रहे थे। पीछे दीवार से लगकर जो आठ-दस कुर्सियाँ पड़ी थीं उन पर बूढ़े, कमज़ोर खातेदार चेहरे पर तनाव की अतिरिक्त रेखाएँ डाले बैठे थे। उनमें से कोई-कोई बीच में उठकर काउंटर के पास जाता था कि उसका नंबर आने में कितनी और देर है और फिर यह मानकर कि अभी देर लगेगी, वापस बैठ जाता था। हर दो-एक मिनट बाद वहाँ से खाँसी व कराहनुमा साँस लेने की आवाज़ भी उठती थी। उनको चैक जमा करने के अलावा अपने उसी बचत खाते से पैसा भी निकालना था। इन दोनों कामों में आधे घंटे से ऊपर वक़्त लग गया था।

हिंदी के जाने-माने रचनाकार।
प्रदेश हिंदी संस्थान तथा
सम्मान से पुरस्कृत हृदयेश
जन्म 1930 में शाहजहाँपुर में
। कई उपन्यास और कहानी-
प्रकाशित। संपर्क : 136/2,
शाहजहाँपुर-242001

बैंक से निकलकर वह उप-डाकघर की ओर बढ़ गए जो कुछ आगे था। एक पत्रिका की सदस्यता का नवीकरण कराने के लिए वार्षिक शुल्क भेजना था। डाकघर एक पुरानी इमारत के भूतल के पिछले हिस्से में था जिसका रास्ता एक नीमअंधे सुरंगनुमा गलियारे से होकर था। दो कर्मचारियों के स्टाफ़ वाले डाकघर में भी ख़ासा जमावड़ा था। रसीदी टिकट माँग रहे एक ग्राहक को मुच्छड़ चेहरे वाले कर्मचारी ने झिड़क दिया था कि हाथ का काम निपटाने के बाद ही टिकट पोस्टकार्ड दिए जाएँगे। बेहैसियत की शक्ल वाले उस ग्राहक के ऐसा गिड़गिड़ाने पर कि उसे एक ज़रूरी काम से और जगह भी जाना है, जवाब मिला कि वह जाकर अपने उस ज़रूरी काम को पहले निपटा आए या फिर किसी दूसरे डाकघर से टिकट ले ले। दूसरे काउंटर का भी कर्मचारी एक उस व्यक्ति पर झुँझला रहा था जिसने अपनी शिकायत दोहराई थी कि ब्याज लगने के लिए दो माह पहले सौंपी गई उसकी पासबुक अभी तक वापस मिली नहीं है।

"मैं बता चुका हूँ पासबुक अभी लौटकर आई नहीं है। क्यों नहीं लौटाई गई है जानना हो तो बड़े डाकघर तशरीफ़ ले जाकर पता लगाइए।"

उन्होंने कहीं पढ़ा था कि इस देश की डाक सेवा कभी विश्वभर में श्रेष्ठ और विश्वसनीय मानी जाती थी, लेकिन अब उसने अपनी वह साख गँवा दी है। उनकी भेजी गई पत्रिकाएँ अकसर डाक में गुम हो जाती हैं। तभी कुरियर की एक समानांतर व्यवस्था देखते-देखते खड़ी हो गई और जनता इससे जुड़ना अधिक सही व सुविधाजनक मान रही है। अभी इस समानांतर व्यवस्था ने नक़द धन लाने, ले जाने की सेवा को अपना अंग नहीं बनाया है। उनको मनीऑर्डर कराने में भी काफ़ी समय लगा था।

लौटने पर उन्होंने पाया कि सड़क पर एक लंबा जाम है जो बराबर और भी लंबा व सघन होता जा रहा है। रिक्शों की दो की बजाय तीन और चार पंक्तियाँ हो गई हैं। मोटरसाईकिल व स्कूटर वालों ने जहाँ भी गुंजाइश देखी है अपने वाहनों के पहिए घुसेड़ दिए हैं। बीच में आ गई कारें अचल हो जाने से अपने पीछे के ट्रैफ़िक के लिए अड़ी डाटें बन गई हैं। कुछ देर खड़े रहने के बाद वह पटरी के एक किनारे से रास्ता बना रहे पैदलियों के पीछे लग लिए, जो रास्ता आगे जाकर और तंग हो गया था। एक पैदलिया नाली में गिर गया था जबकि एक और गिरते-गिरते बचा था। वह किनारे से परे हटे तो जाम के शिकंजे में दबोच लिए गए। उनकी पत्नी तीन दिन पूर्व अपनी भतीज बहू के साथ सदर बाज़ार कपड़े की कुछ ख़रीदारी करने गई थी। लौटते हुए उसने जाम में आधे घंटे तक फँसे रहने की यातना की शिकायत की थी। वह ख़ुद आते-जाते जब-तब जाम को लगा पाते। जाम जैसे स्वीकार कर ली जानेवाली एक अन्य समस्या बन गई थी।

जिस तरह जाम खिजाने-रिसाने के बाद खुल जाते हैं, उसी प्रकार वह भी खुल गया था। दोनों सिरों के वाहन दूसरे रास्ते पकड़ने के लिए मुड़ गए थे। गलियों वाले रास्तों में भी लोग अधीर होकर धँस गए थे। बीच में डाट की तरह अड़ी कारों, ठेलागाड़ियों को अग़ल-बग़ल के जमघट को इधर-उधर ठेल-खिसकाकर आगे बढ़ाया गया था।

जाम खुलने पर भी जो कुछ देर जकड़बंदी रहती है, उसमें से बाहर आने की अराजकता में एक रिक्शे की हुड में उनके कुर्ते की बाँह फँसकर नुच गई थी।

घर आकर उन्होंने कुर्ते का फिर निरीक्षण किया। सिलाई हो जाने के बाद भी अब यह घर के बाहर वाले पहनावे में शामिल होने लायक़ नहीं रहा है। गनीमत थी कि कुर्ता ज़्यादा नया नहीं था। हाथ के उस हिस्से में खाल भी छिल गई थी। गनीमत थी कि वह छिलन सतही ही थी।

हृदयेश के ज़ेहन में समय की पचास-साठ वर्ष पुरानी किताब खुल गई थी।

पिछली शताब्दी के चौथे दशक में वह घर के सामने वाली उस सड़क पर अपने हमउम्रों के साथ कंचे व गुल्ली-डंडा खेलते थे। सड़क पक्की डामर की न होकर कंकड़ की हुआ करती थी। तब सड़क पर सभ्यता और आधुनिकता का परचम फहराने वाली सवारियाँ इक्का व ताँगा चला करते थे। नामी हकीम, वैद्य और वकील भी उस ज़माने में अपनी शान के अनुकूल सवारी ताँगे को ही मानते थे। सड़क पर भैंसा व बैलगाड़ियाँ भी चला करती थीं जिनके पहिए लोहे के हाल चढ़े लकड़ी के होते थे। शहर में जहाँ कहीं देसी चीनी बनाने की बेलें (क्रशर) लगी थीं, वहाँ राब भरे मिट्टी के गगरों से लदी बैलगाड़ियाँ आकर क़तार में खड़ी हो जाती थीं। ये गाड़ियाँ दिन के दो-दो, तीन-तीन पहर तक खड़ी रहती थीं, किंतु सड़क के आवागमन में कोई व्यवधान नहीं पड़ता था। तब शोर-गुल, हो-हल्ला, अफरा-तफरी का माहौल नहीं था। सड़क पर सन्नाटा मँडराता रहता था जो दोपहर के वक़्त नीचे उतरकर पैर पसारकर सो जाता था। यहाँ सूरज डूबने के बाद संध्या की जीवन लीला बस दो-तीन घंटे की होती थी। बाज़ार में ख़रीद-फरोख़्त का कार्य-व्यापार उस दौरान रंग पकड़ लेता था। दुकानें बढ़ जाने के बाद गली के मोड़ों के आगे या तिराहों-चौराहों पर खाने-पीने की तली चटपटी चीज़ों को लिए ठेले अरंडी के तेल की जलती कुप्पियों के साथ खड़े रहते थे और फिर वे भी डेढ़-दो घंटे के बाद ग़ायब हो जाते थे।

हृदयेश को याद है कि जब वह रात को अपने भाई-बहनों के साथ कमरे में लेटते थे तो नींद देर से आने या उचटने पर हुआ-हुआ-हू...हुआ-हुआ-हू का राग विलंबित तान में सुनाई देता था। पिता बताते थे कि गरी नदी के इलाक़े में डोलने वाले सियारों की वह आवाज़ है। गरी नदी घर से दो किलोमीटर दूर थी। वहाँ गर्मियों में नदी की रेत की पालेजों में खरबूजे, तरबूज, ककड़ी और कुछ सब्ज़ियों की फ़सलें होती थीं। कार्तिक पूर्णिमा पर चालीस मील दूर ढाई घाट पर लगने वाले गंगा जी के मेले में शामिल होने के लिए बैलगाड़ियों पर लदकर जब आधा-तिहाई शहर हफ़्ता-दस दिन के वास्ते कूच कर जाता था, तब दिन के सन्नाटे से डरकर सड़क के कुत्ते आसमान की ओर मुँह उठाकर रोया करते थे।

उनके अपने मोहल्ले के दो रईसों ने कार ख़रीदी थी। कार का मालिक उस समय हाथी का मालिक होने से अधिक रौब-रुतबा रखता था। हाथी का रखना ग़ैरमामूली बात होते हुए भी उतना ग़ैरमामूली नहीं था। हाथी प्रचलन में आ चुका था। गाँवों में ज़मींदार, बड़े जोतदार या हैसियत वाले ठाकुर हाथी रखते थे, हाथीनशीं कहे जाने का गौरव पाने के लिए। शहर में शादी-ब्याह, मेले-तमाशे में हाथी एक साथ कई देखने में आ जाते थे। कारें ज़िला स्तर के इने-गिने अंग्रेज़ हाकिमों के पास ही थीं। उन दोनों रईसों की ली हुई कारें एक ही रंग व मॉडल की थीं। पिता ने बताया था कि कार की क़ीमत छह हज़ार रुपए हैं। उस समय पिता को साठ रुपए बतौर वेतन मिलता था जबकि उनकी बीस वर्ष की सरकारी नौकरी हो चुकी थी।

समय की किताब का एक और पन्ना ज़ेहन में पलटा था। थोड़ी आर्थिक आधार वाले ख़ानदान का एक नवयुवक स्कूटर लाया था। उस स्कूटर की विशेषता यह थी कि उसके दाईं ओर एक गद्दीदार ट्रॉली लग जाती थी जिस पर कोई दूसरा व्यक्ति बड़े आराम से बैठकर साथ चल सकता था, सहयात्री के रूप में। वह नवयुवक इस ट्रॉली को लगाकर ही सड़क पर निकलता था और लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए रुक-रुककर हॉर्न भी बजाता था।

और फिर शहर का वह पहला रिक्शा। मोहल्ले में रायबहादुर और ऑनरेरी मजिस्ट्रेट की डबल खिताब वाले बिरादरी के एक अधेड़ उम्र व्यक्ति थे। उनकी माली हैसियत की हवेली थोड़ी-थोड़ी खिसकने लगी थी। उन्होंने अपने इस्तेमाल के लिए ऑर्डर देकर बाहर से रिक्शा मँगवाया था। उसका चालक उनका निजी नौकर था। रिक्शा ड्यूटी देता हुआ वह साफ़-सुथरे कपड़े पहनता था। रिक्शा उन रायबहादुर साहब के एक उपेक्षित फाटक के अंदर खड़ा होता था। रिक्शा आने की सूचना पाकर वह भी कौतुक से खिंचे हुए उसका दर्शन करने पहुँचे थे। रिक्शा नामक वाहन से यह उनका पहला दीदार था।

पास के एक सटे मोहल्ले में कुछ अंदर धँसकर एक डॉक्टर की बाग़-बग़ीचे वाली कोठी थी। इस डॉक्टर ने कुछ साल फ़ौज में नौकरी की थी जिसकी ऐवज़ में उसके नाम के पूर्व ले. कर्नल जैसी वजनी पदवी जुड़ती थी। वह संध्या को दो घोड़े वाली टमटम पर बैठकर सैर के लिए निकलता था। साथ में पत्नी नहीं होती थी। होता था नमकीन चेहरेवाला एक लड़का या बाहर से कुछ दिनों के लिए रहने आई उसकी सुंदर सलोनी बहू। रास्ते में दुकान या ठेले पर चाट, मिठाई या खाने की किसी जिंस को गंदगी और मक्खियों को खुली दावत देता पाकर वह अपने हाथ में पकड़े रूल से उस जिंस के थाल को नीचे सड़क पर झन्न से गिरा देता था और आगे बढ़ जाता था। दुकानदार या ठेलेवाला चूँ तक नहीं करता था। उलटे हाथ जोड़े जड़ खड़ा रहता था। वह जानता था कि प्रतिवाद करने पर क़ानून हरकत में आ जाएगा और वह और भी सख़्त दंड का भागी बन जाएगा। तब क़ानून की सत्ता का भय कुछ अधिक था।

बैंक आज जहाँ है वहीं था। किंतु तब बैंक में खातेदार बहुत कम थे। साधारण लोग वहाँ पैसा जमा करने से घबराते थे। पैसा वापस मिला या न मिला। तब बैंक का मैनेजर संध्या या छुट्टी के दिन संभावित खातेदारों के यहाँ जाकर उनको खाता खोलने के लिए पोटता-पटियाता था।

लड़कियों का सरकारी स्कूल भी तब पास की उसी इमारत में था। हाँ, तब वह हाईस्कूल तक ही था। इंटरमीडिएट बाद में हुआ था। पढ़नेवाली लड़कियों की संख्या उस वक़्त बहुत कम थी। चौथे, छठे या आठवें दर्जे की पढ़ाई पूरी कर अधिकतर स्कूल को अलविदा कह देती थीं। घर-गृहस्थी के काम या सीना-पिरोना जानना उनकी असली शिक्षा समझी जाती थी। सात-आठ वर्ष से अधिक उम्र की लड़कियाँ पर्दा पड़ी या टीन जड़ी बंद ठेलागाड़ियों में लादकर लाई ले जाई जाती थीं। इन ठेलागाड़ियों को पुष्ट शरीर के कहार खींचते थे। एक कहार दोनों लंबे हत्थों के बीच में आगे मचता था, दूसरा पीछे से धक्का लगाता था। आगे वाला थक जाने पर पीछे चला जाता था, पीछे वाला आगे। पाँच-छह ये ठेले स्कूल के बाहर छुट्टी के वक़्त तक सड़क की दोनों पटरियों पर निश्चिंतता से खड़े रहते थे।

शहर में तब डेयरियाँ नहीं थीं। अंदर गलियों में या आबादी के छोरों पर अहीरों के छप्पर या खपरैलपोश घर थे जिनमें वे गाय-भैंस बाँधते थे। सुबह-शाम बस्ती से लोग वहाँ सामने काढ़ा हुआ दूध लेने जाते थे। अच्छी तादाद में लोग अपऩे घरों में भी दो-एक जानवर पालते थे। हृदयेश के तब के अपने संयुक्त परिवार में भी एक गाय व एक भैंस थी। चरवाहा सुबह आठ-नौ बजे तक घर में पले इन जानवरों को खोल ले जाता था। चालीस-पचास के समूह में ये जानवर बिला कोई रोक-बाधा के सड़क से होकर जाते थे और साँझ को रँभाते-डकराते दौड़ लगाते हुए लौटते थे।

हिंदी पट्टी के अन्य शहरों की भाँति यहाँ भी चौक है। छोटा चौक और बड़ा चौक, शहर बसने के समय की बस्ती के इतिहास को सँजोए-समेटे हुए। छोटे चौक में तब बाज़ार छोटा-सा

था जिसमें आठ-दस हलवाइयों और दूध-दही-लकड़ी की टीनपोश या कड़ी-खपटी वाली दुकानें हुआ करती थीं। तीन-चार पंसारी और परचून की भी और दो-एक पान-सिगरेट व बिसातख़ाने की। छोटे चौक के सटा हुआ है बड़ा चौक। इस क्षेत्र में ही पुराने मंदिर हैं, जामा मस्जिद है, कोतवाली और तहसील है। इसी में सर्राफ़ा बाज़ार है और इससे दाईं ओर घूमी एक चौड़ी गली में बजाजा बाज़ार। तब यहाँ अनसिला कपड़ा बिकता था। रेडीमेड कपड़ों का प्रचलन नहीं था उस समय। सर्राफ़ा बाज़ार में सोने चाँदी के हर प्रकार के आभूषण मिलते थे, रत्न जड़ित और सादे। एकदम खरे माल वाले। आभूषणों की ये दुकानें पक्की और बड़ी-बड़ी थीं और एक-दूसरे से सटी हुई। बीस-पच्चीस दुकानों का एक सघन समूह था। शहर में सर्राफ़े की ये दुकानें केवल इस भाग बड़े चौक में ही थीं। सर्राफ़े का सारा कारोबार सिर्फ़ खत्रियों के पास था। सुनार तब सुनारी यानी केवल आभूषण गढ़ने का काम करते थे। स्वयं सर्राफ़ बनकर तब उन्होंने असली सर्राफ़ों को अपदस्थ नहीं किया था जैसा कि काफ़ी मात्रा में हाल में अब किया है। गोरे चिकने-चुपड़े चेहरे वाले खत्री एकदम साफ़ बुर्राक़ धोती, कुर्ता व रेशमी बंडी पहनकर अपने मुनीमों के साथ इन दुकानों पर बैठते थे। इत्र-सुगंध से भी वे बसे होते थे। इस नगर के सर्राफ़ा बाज़ार की दूर-दूर तक साख व शोहरत थी, एक स्थान पर स्थित होने और नई-से-नई डिजाइन के शत-प्रतिशत निर्दोष आभूषण व जवाहरात उपलब्ध हो जाने की विशेषता के कारण। इसकी तुलना जयपुर के सर्राफ़ा बाज़ार से की जाती थी। आज़ादी के डेढ़-दो दशक बाद इस सर्राफ़ा बाज़ार की साख गिरनी शुरू हो गई। मुंबई से तस्करी के सोने के बिस्कुट आने लगे। और अब तो सुनने में आता है कि चम्बल तक से लूटपाट का आया माल यहाँ ठिकाने लगता है। इधर के चंद सालों में पचास ग्राम वजनी सोने का हार चार बार गलने गढ़ने के लिए दिए जाने पर दस-पंद्रह ग्राम का रह जाना उसकी तय नियति है।

हृदयेश के अपने घर के सामने तीस-चालीस वर्ष पहले दुकानें नहीं थीं। अग़ल-बग़ल में दूर-दूर तक नहीं थीं। केवल रिहायशी मकान थे। फिर मकानों के बाहरी हिस्से टूट-टूटकर दुकानें बनने लगीं। अब तो है दुकानों का लंबा अटूट सिलसिला। जिधर से गुज़रो उधर बाज़ार और बाज़ार में बेहया बाज़ारवाद।

आगे बढ़ता हुआ समय अपने साथ कुछ अच्छाइयाँ भी लाया है जैसे शिक्षा के प्रति जागरूकता, दलितों और स्त्रियों में स्वाभिमानी आत्मबोध, जीवन में विज्ञान, टेक्नोलॉजी और संचार माध्यमों की खुली स्वीकार्यता तथा उनसे जुड़ी अनेक उपयोगी सुविधाएँ। किंतु यह बढ़ता हुआ समय अपने साथ अनेक बुराइयाँ भी लाया है जैसे संवेदनहीनता, स्वार्थपरता, रिश्तों में ठंडापन, पूँजी का असंयमित वर्चस्व, चैन और सुकून का छिनना, शोर-शराबा, भीड़-भाड़, ट्रैफ़िक का अराजक रेलापेला और जाम। इन बुराइयों के संदर्भ, में उनको किसी शायर का कहा हुआ यह शेर याद आ गया—

गुज़र गई जो घड़ी उसका शुक्रिया करना,
जो वक़्त आगे है उसके लिए दुआ करना।

हृदयेश ने दो दिन पहले ही यह निश्चय कर लिया था कि वह आज सायं नाटक देखने जाएँगे। पहले जब कभी नगर में कोई साहित्यिक, सांस्कृतिक कार्यक्रम होता था, यहाँ तक कि शुद्ध वैचारिक ही, वह उसमें अवश्य शिरकत करते थे। अनिश्चय से निश्चय तक का सफ़र करने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। वैसा तय था। वह मानते थे कि एक साहित्यकर्मी होने के कारण ऐसे कार्यक्रमों में भागीदारी करना उनका धर्म है। यह उनका अपने को अपनी बनाई अँधेरी गुफ़ा से बाहर प्रकाश में लाना भी है। वह अन्य नगरों में होनेवाले आयोजनों में जो अपनी संकोची

या भीरु मानसिकता के कारण सम्मिलित न होकर अपनी पहचान बनाने का अहित करते हैं, स्थानीय आयोजनों में हिस्सेदारी से उस अस्वस्थ मानसिकता को किरच-किरच कर तोड़ना है। किंतु फिर बाद में धीरे-धीरे उन्होंने इन स्थानीय कार्यक्रमों में जाना कम कर दिया था। एक तो बीसियों संस्थाएँ कुकुरमुत्ते की तरह उग आई थीं और ये कार्यक्रम आए दिन होने लगे थे। दूसरे ये कार्यक्रम स्तरहीनता के भी शिकार होने लगे थे। इनमें परिकल्पना और दृष्टि का अभाव रहता था। निरे स्वार्थलाभ से जुड़ी औपचारिकता वहाँ हावी होती थी। पिछले चंद वर्षों में वह अपनी घोंघे जैसी मानसिकता को त्यागने की ज़िद के तहत बाहर के आयोजनों में पाँच-सात बार गए थे और उसके बाद उनको यहाँ के आयोजन और भी बचकाने, फुसफुसे लगने लगे थे। स्थानीय आयोजनों में कम सम्मिलित होने के लिए जो एक और कारण जुड़ गया था वह था उनकी बढ़ी हुई उम्र। देर हो जाने पर, जो होती ही थी, सवारी न मिलने आदि की कई समस्याएँ उनको घेरने लगती थी।

उस दिन के नाटक का मंचन राजेश कुमार की संस्था 'अभिव्यक्ति' द्वारा होना था। राजेश कुमार यहाँ विद्युत विभाग की उत्पादन ईकाई में इंजीनियर हैं। वह मूलतः पटना निवासी हैं। सात-आठ वर्ष पूर्व जब वह इस नगर में स्थानांतरित होकर आए थे, एक साहित्य प्रेमी ने उनका परिचय कराते हुए कहा था कि राजेश जी उनकी रचनाओं के उत्साही पाठक हैं और वह उनकी किसी कहानी या उपन्यास का नाट्य रूपांतरण करेंगे। वैसा जानकर उनको अच्छा लगा था। राजेश पूर्णतया नाट्य विधा के प्रति ही समर्पित थे और दो-तीन वर्षों के अंदर उन्होंने चार-पाँच नाट्य प्रस्तुतियाँ शाहजहाँपुर की जनता के सम्मुख उतार दीं। वह मार्क्सवादी विचारधारा के रंगकर्मी थे और प्रतिगामी व मानवता विरोधी शक्तियों पर चोट करते थे। वह अधिकतर अपने लिखे हुए नाटक ही मंचित करते थे। फिर उन्होंने देशी-विदेशी उन दो-तीन कहानियों का भी मंचन किया जो उनके सोच के अनुकूल तो थीं ही, आज के समय में भी अपनी प्रासंगिकता बरक़रार रखे हुए थीं। उनमें आशा जगी थी कि शायद अब वह उनकी भी किसी ऐसी कहानी का मंचन करेंगे। उन्होंने राजेश से कभी खुलकर पूछा नहीं था कि प्रथम भेंट पर उन्होंने जो उनकी किसी रचना का मंचन करने की बात कही थी उसको अमलीजामा वह कब पहना रहे हैं?

नगर में फिर सत्येंद्र कुमार रघुवंशी की बतौर अतिरिक्त ज़िला मजिस्ट्रेट तैनाती हुई थी। यह अधिकारी भी गहरी साहित्यिक रुचि के व्यक्ति थे। उन्होंने *परिवेश* पत्रिका के उस ऐतिहासिक अंक का संपादन किया था जो सांप्रदायिकता विरोधी था और जिसे उन्होंने 6 दिसंबर 1992 शीर्षक दिया था। कुछ समय बाद रघुवंशी जी ने राजेश से कहा कि उनकी इच्छा है कि हृदयेश जी पर दूरदर्शन के लिए एक वृत्तचित्र बने। ज़िले में कार्यभार ग्रहण करने के दिन ही घर आकर उन्होंने उनके प्रति सम्मान प्रकट किया था। वृत्त चित्र की संभावना से हृदयेश और भी मुदित हुए थे। यह उनको लेकर एक बड़ा कार्य होगा, उनकी महत्ता को प्रकाश में रखनेवाला।

राजेश ने जब उनकी कई कृतियों की छाया प्रतियों के साथ उनके जीवनवृत्त संबंधी ज़रूरी सूचनाएँ भी उनसे प्राप्त कर लीं, वह इस संभावना से और भी जुड़ गए थे। किंतु उस संभावना ने जब जड़ें ही नहीं पकड़ीं, तब धरती पर वह अपनी मौजूदगी का अहसास कैसे कराती? राजेश ने चुपचाप इस कार्य से अलग होकर अपने को अपने से जोड़ लिया था। सरकारी सेवा में होने के कारण उनका बहुत सारा समय उसकी भेंट हो जाता था। जो थोड़ा-सा बचता है उसे 'पर' की बजाय 'स्व' को यशस्वी बनाने में लगाना अधिक व्यावहारिक है, ऐसा उन्होंने मान लिया होगा। उनके मस्तिष्क में एक पूर्ण नाटक के

लिए विषय था और उन्होंने उसे लिख डाला। फिर उसके मंचन की तैयारी में लग गए। पाँच-छह माह में फिर उसे मंचित कर भी दिया। मंचन से संतुष्ट हो जाने पर फिर उसे अन्य नगरों में प्रस्तुत करने में संलग्न हो गए। समाचार-पत्र में एक घटना पढ़कर एक अन्य विषय उनके मस्तिष्क में इस बीच कूद आया था और फिर उस विषय पर एक दूसरा पूर्ण नाटक लिखने तथा उसके मंचन में उनकी व्यस्तता सिमटने लगी।

हृदयेश को कहीं अंदर यह खल रहा था। वह एक-दूसरे माध्यम से फ़ोकस में आ सकते हैं और इस दूसरे माध्यम से आने पर उनका लेखकीय क़द और भी बड़ा हो सकता है। पर उनको इस दूसरे माध्यम से प्रक्षेपित नहीं किया जा रहा है। अपनी उपेक्षा के विरुद्ध नाराज़गी प्रकट करने के लिए वह राजेश द्वारा मंचित नाटकों में भी ग़ैरहाज़िर हो जाते और इसके लिए कोई बहाना गढ़ लेते। किंतु कुछ समय बाद उनकी यह नाराज़गी जाती रहती। नाराज़गी को दरवाज़े के बाहर राह दिखाने के कारण यह होता कि राजेश उनकी आई रचनाओं को सरुचि पढ़ते ही नहीं थे, दूसरों से भी सराह के भाव से उनकी चर्चा करते थे। कहीं भेंट हो जाने पर ललक और आदर से मिलते थे। वह सौम्य, भद्र और निश्छल प्रकृति के थे। व्यक्ति अपने को माँजने, सँवारने और साथ ही अपने को प्रायोजित करने में समुचित ध्यान देता ही है। वह जानता है कि उसकी यह कमज़ोरी ही उसके संवर्धन के लिए खाद पानी है। अपनी सोच, अपना चुनाव, अपना विचरण क्षेत्र उसकी स्वतंत्रता है यानी उसका स्वाभिमान और यह स्वाभिमान भी उसके 'स्व' की सेहत के लिए ज़रूरी है।

उनको याद आया कि दिल्ली जाने पर राजेश कुमार ख़बर लाए थे कि उनकी कहानी 'संन् उन्नीस सौ बीस' को लेकर प्रसिद्ध रंगकर्मी देवराज अंकुर गहरी दिलचस्पी दिखा रहे थे। उनकी रगों में ऊष्म सरसराहट दौड़ी थी। देवराज अंकुर ने ही कहानियाँ भी मंच पर उतारी जा सकती हैं, इस संभावना को मूर्तरूप दिया था। उन्होंने अंकुर जी को अपने उस कहानी-संग्रह के साथ, जिसमें उक्त कहानी सम्मिलित थी, एक अन्य संग्रह भी भेजा था। साथ भेजे पत्र में जताया था कि उनके लिए यह एक सुखद घटना होगी यदि वह उनकी किसी कहानी को मंच पर प्रतिष्ठा देते हैं। अंकुर जी राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में प्रोफेसर थे। उत्तर में प्राप्ति-सूचना देते हुए उन्होंने लिखा था कि समय मिलते ही वह संग्रह की कहानियों से गुज़रेंगे। दो-तीन माह बाद उन्होंने अंकुर जी को पत्र लिखते हुए अपना यह विश्वास प्रकट किया था कि उनको कहानियाँ अच्छी लगी होंगी और उन्होंने उनमें से कुछ में नाट्य संभावनाएँ भी अवश्य पाई होंगी। अंकुर जी का कोई उत्तर नहीं आया। उन्होंने भी फिर कोई अन्य पत्र नहीं लिखा।

डेढ़-दो वर्ष बाद नगर के अंचल में स्थित विनोबा आश्रम में एक नाट्य प्रशिक्षण शिविर में जब अंकुर जी पधारे, संदेश भेजकर उन्होंने उनको बुलवाया। वह उनसे आत्मीयता से मिले। किंतु उन्होंने उनकी कहानी के मंचन के प्रकरण में कोई बात नहीं की। उन्होंने अपनी ओर से भी नहीं की। अपने में तल्ख़ होते हुए भी उन्होंने इस सत्य को स्वींकार कर लिया कि अंकुर जी को उनके मुक़ाबले अन्य कथाकारों की कहानियाँ मंचन के लिए अधिक उपयुक्त लगती हैं और इसके लिए उनके पास ठोस कारण होंगे। अंकुर जी से उनकी कोई शत्रुता तो है नहीं।

राजेश कुमार के मंचनों को लेकर उनमें नाराज़गी के दौर रह-रहकर उठते थे। इन दौरों के दौरान वह पूर्ववत् उनके आयोजनों का बहिष्कार करते थे। किंतु समझदारी की लहर से जुड़ जाने के बाद फिर सहज सामान्य होकर उनके आयोजनों में शिरकत करने लगते थे।

इन दिनों वह समझदारी की धारा में ही स्नान-मंजन कर रहे थे।

सायं साढ़े छह बजे नारायण बाबू आ गए थे। वह उनके साथ निकल पड़े। गांधी भवन, जहाँ आयोजन था, घर से तीन किलोमीटर दूर था। माक़ूल किराया लेनेवाले रिक्शे की तलाश चल रही थी कि एक स्कूटर आकर रुक गया। स्कूटर वाला युवक साहित्यकार बनने की प्रक्रिया में था। वह उनका श्रद्धा से तर सम्मान करता था। उसने आग्रह किया कि वह उनके स्कूटर से ही चलें। आग्रह गाढ़ा चाशनीदार बनता देखकर वह स्कूटर पर बैठ ही गए।

प्रेक्षागृह में सौ-सवा सौ ही दर्शक जमा हुए थे। दर्शक भी इस तथ्य से सुपरिचित थे कि निमंत्रण कार्ड में दिए गए समय के एक घंटा बाद ही आयोजन प्रारंभ होता है। इसलिए वे उस संभावित बढ़े हुए समय के हिसाब से ही आते थे—आराम से, निपटाई जा सकने वाले कामों से निचुक होकर।

वह अगली दो पंक्ति छोड़कर तीसरी में बैठे थे, विशिष्ट बने रहकर भी विशिष्टों से कुछ सुरक्षित फ़ासला बनाए रखकर। जब पद, रौब-रुतबे या अन्य कारणों से प्रथम पंक्ति में ही बैठने के हकदार व्यक्ति सपरिवार, समित्र उपस्थित हो जाते थे तो अगली पंक्ति में बैठे दर्शकों को इच्छा, अनिच्छा से दूसरों की मज़ा लेती निगाहों के सामने कुर्सियाँ ख़ाली करनी पड़ती थीं। दूसरी पंक्ति के साथ भी अकसर ऐसा घट जाता था। नारायण बाबू आ गए थे। नारायण बाबू के आने से उनको बल मिला था, जो मिलता था। उन्होंने बग़ल की एक सीट उनके लिए सुरक्षित रखी थी। नारायण बाबू ने भी उपस्थिति का जायज़ा लिया। वह भी इस मत के थे कि अभी देर लगेगी। अति विशिष्ट अतिथि की प्रतीक्षा की जाएगी और वह अति विशिष्ट प्रतीक्षा कराएगा भी अपना वैसा विशेष अधिकार मानकर। कुछ देर बाद नारायण बाबू ने उनसे जानना चाहा कि क्या वह होमवर्क कर आए हैं ? होमवर्क से उनका आशय आग्रह किए जाने पर मंच से अवसर अनुकूल कुछ बोलने की तैयारी से था।

हृदयेश के लिए माइक भूत की तरह भयावना था। किसी चड्डी गीले बच्चे की भाँति वह उसके सामने जाने से बचते थे। उन पर जब-तब ज़ोर दिया जाता था कि अन्य बात-बहादुरों की तरह वह भी मंच पर आकर अपनी वाणी की बानगी दिखाएँ। वह मानते थे कि माइक का यह अनावश्यक भय उनकी स्नायविक बीमारी है और यह उनकी छवि के लिए घातक है। पहले से आगाह कर दिए जाने पर वह अपने विचारों को पाँच-छह बार लिखकर ले गए थे, सो भी सौ-पचास शब्दों में। फिर उन्होंने महसूस किया था कि वे पढ़े गए शब्द दर्शक-श्रोताओं के बीच पहुँच नहीं पाते हैं। वह पतला काग़ज़, जिसका वह सहारा लेते हैं, काठ का पर्दा बनकर शब्दों को बीच में ही गिरा देता है। उनकी स्थिति दयनीय से इतर नहीं होती है।

1995 के दिसंबर मास में मंज़ूर एहतेशाम को 'पहल सम्मान' से उनके गृह-नगर भोपाल में नवाज़ा जाना था। सम्मान-समारोह की अध्यक्षता के वास्ते *पहल* पत्रिका के संपादक ज्ञानरंजन का ज़ोर उनके लिए था। उस जैसे महत्त्वपूर्ण आयोजन का अध्यक्ष बनाया जाना उनको विशेष प्रतिष्ठा से जोड़ना था। यह सोचकर कि यदि उनको अपनी धूसर धूमिल पहचान चमकानी है तो इस सुनहरे अवसर का लाभ उठाना ही चाहिए, उन्होंने उस पेशकश को स्वीकार कर लिया था। बीच में एक माह का समय था। उन्होंने हज़ार-बारह सौ शब्दों का 'पहल सम्मान' के महत्त्व और मंज़ूर एहतेशाम के कृतित्व की असाधारणता को उजागर करते हुए अवसरानुकूल वक्तव्य लिख लिया था। उन्होंने निश्चय किया था कि वह अपना वक्तव्य इस अहम मौक़े पर पढ़कर नहीं बोलकर ही

ढी। दस-पंद्रह दिन परिश्रम कर उन्होंने अपने उस वक्तव्य को किसी निचले दर्जे वाले परीक्षार्थी की तरह रट लिया था। फिर सुबह-शाम टेपरिकॉर्डर के सामने बैठकर अपने बोलों की भाव-भंगिमा को भी चुस्त-दुरुस्त किया था।

अच्छी पोढ़ी तैयारी से जो उन्होंने मूल्यवान आत्मविश्वास अर्जित किया था और जिसे वह पेटी में सुरक्षित लेकर चले थे, भोपाल पहुँचते ही उन्होंने पाया कि घबराहट ने चुपके से पेटी के पेंदे में सूराख़ कर दिया है। शाम के ऐन वक़्त जब वह भारत भवन पहुँचे, ज़हाँ आयोजन था, उन्हें लगा कि पेटी के सूराख़ में से इस बीच उनकी ठूँसी डाट को घबराहट ने निकाल दिया है। वह अध्यक्ष के आसन पर बैठे थे और मुख्य अतिथि की हैसियत से कृष्णा सोबती अपना जो लिखित वक्तव्य पढ़ रही थीं, वह उससे संलग्न नहीं हो पा रहे थे। उन्होंने बग़ल में बैठे कामतानाथ से, जिन्होंने सम्मान प्राप्तकर्ता के नए उपन्यास का विमोचन किया था, पूछा था कि क्या माइक में कोई ख़राबी है? कृष्णा जी के बोल उनको सुनाई नहीं दे रहे हैं। कामतानाथ के यह बताने पर कि नहीं आवाज़ एकदम साफ़ आ रही है, उन्होंने स्वयं को भाषण से जोड़ने की कोशिश की थी। चार-पाँच मिनट बाद उन्होंने एक किनारे पर बैठे नारायण बाबू को, जो भी साथ में गए थे, इशारे से निकट बुलाकर ज़ाहिर किया कि उनको कृष्णा जी का कहा जा रहा ठीक से सुनाई नहीं दे रहा है। बीच-बीच में आवाज़ डूब जाती है। बिना कुछ बोले नारायण बाबू चले गए और पीने के लिए उनको पानी भिजवा दिया।

कृष्णा सोबती वक्तव्य समाप्त कर बैठ गई थीं। अब उनको मोर्चे पर जाना था। वह माइक के सामने वक़्त ज़रूरत के लिए कवच के रूप में लाया गया लिखित वक्तव्य पकड़े थरथराहट से घिरे हुए खड़े हो गए। जब वह उस कवच को बग़ैर सहायता लिए हुए बिना विचलन-भटकन के दो-चार प्रारंभिक वाक्य बोल गए, तब फिर बोलते ही चले गए, धारा-प्रवाह वह दस मिनट बोले थे और उनको जो कुछ कहना था उस सबको ढंग से कह दिया था। आयोजन की समाप्ति पर कई लोगों ने उनके वक्तव्य की सराहना की थी। वह परीक्षा में ऊँचे प्राप्तांकों के सुख से लबालब थे। उन्होंने ज्ञानरंजन के निकट जाकर अपनी भूमिका सही रहने की निस्बत पूछा था। ज्ञानरंजन बस मुस्करा दिए थे। उन्होंने जब नारायण बाबू से कहा था कि लगता है ज्ञानरंजन उनके तोतारटंत की असलियत जान गए हैं तो नारायण बाबू धीमे लेकिन खड़े स्वर में बोले थे, ''हो सकता है कि ज्ञानरंजन असलियत जान गए हों। हो सकता यह भी है कि असलियत आपके लिए चोर की दाढ़ी का तिनका बन गया हो।''

इसके बाद से उनको आयोजनों, गोष्ठियों में जो कुछ कहना होता था उसको याद कर जाते थे, बाक़ायदा स्मृति में ठोंक-बैठाकर। इसे वह होमवर्क कर लेना कहते थे।

प्रेक्षागृह में मुख्य अतिथि आ गए थे। मुख्य अतिथि बरेली क्षेत्र के पुलिस महानिरीक्षक थे जो निरीक्षण के सिलसिले में जनपद में आए हुए थे और उनकी उपस्थिति का सदुपयोग इस रूप में किया गया था। पुलिस अधीक्षक का महानिरीक्षक के साथ रहना ज़रूरी था। मंच पर आकर देवेश चंद्र शर्मा ने माइक सँभाल लिया था। शर्मा मुद्दत हुई अधेड़ावस्था पार कर चुके थे, किंतु अपनी सजधज से गुड्डा बने रहते थे। वह इस जनपद में होनेवाले कार्यक्रमों का संचालन बीस-पच्चीस वर्षों से कर रहे थे। कार्यक्रमों की भिन्नता, उनका प्रकार, उनका चरित्र उनके लिए बेमायने होता था। संचालक के रूप में उन्होंने अपनी एक स्पष्ट पहचान बना ली थी। इस क्षेत्र में दो-तीन अन्य व्यक्ति प्रतिस्पर्धा में उतरे थे किंतु वे जल्द क्लीन बोल्ड हो गए थे। वे संचालन के सचिन तेंदुलकर थे। ताज़े-से-ताज़े सामान्य

ज्ञान का संभरण, स्मृति और भाषा पर मज़बूत पकड़ यदि उनकी पूँजी थी तो मंचीय लटके-झटके, अभिनय जन्य नाटकीयता, वाणी का आरोह-अवरोह भरा प्रवाह उनके कारगर हथियार थे। भाषा की शुद्धता, आलंकारिकता और उसके अजस्र प्रवाह से वह श्रोताओं को मुग्ध कर देते थे। सच तो यह है कि वह स्वयं अपनी भाषा प्रस्तुति पर मुग्ध थे। उनकी यह आत्ममुग्धता बहुत-कुछ उस आत्ममुग्धा नायिका की भाँति थी जो अपनी सुंदर दंतावली का प्रदर्शन अनावश्यक हँसकर या कमर तक लंबे केशों का जलवा-इज़हार उनको बराबर उन्मुक्त रखकर करती है। मंच पर आकर शर्मा अपनी भाषा की छटा दिखलाने के लिए अधिक समय तक बने रहते थे। उन पर यह चुटकुला भरपूर सही बैठता था। राम ने श्याम से पूछा कि उसका भाषण कैसा रहा। श्याम ने कहा कि अंत बहुत अच्छा था पर इस बहुत अच्छे का आनंद पूरे एक घंटे बाद ही प्राप्त हुआ। शर्मा की आत्ममुग्धता को समझने के लिए यह एक नमूना।

जनपद के उन चार नागरिकों को, जिन्होंने अपने-अपने कार्यक्षेत्र में अपने तथाकथित महत्ती अवदान से नगर का मान बढ़ाया था, उनको जनपदरत्न से नवाज़ा जाना था। यह पहला अलंकरण आयोजन था। प्रदेश के उच्च शिक्षा मंत्री इस आयोजन को ऊँचाई देने के लिए आए थे। संचालन दायित्व शर्मा के ही पास था। सभागार खचाखच भरा हुआ था। आयोजन की पृष्ठभूमि में प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी का जन्म दिवस था। नहीं, प्रधानमंत्री का जन्मदिवस अग्रभूमि में था और जनपदरत्न कार्यक्रम पृष्ठभूमि में। शर्मा ने पहले तो माल्यार्पण, दीप प्रज्वलन आदि की समस्त औपचारिकताएँ उत्सव भाव से संपन्न कराईं। तत्पश्चात् प्रधानमंत्री व मंत्री जी के यशोगान पर शाहदिल से शब्द संपदा लुटाई। फिर वाजपेयी जी के बारे में सभागार में उपस्थित कुछ योग्य वक्ताओं को अपने श्रद्धा उद्‌गार प्रकट करने के लिए आमंत्रित किया। आमंत्रित वक्ता का परिचय उसको माइक सौंपने से पहले वह अति उदारता से देते थे। आयोजन का प्रधानमंत्री वाजपेयी से संबंधित प्रथम भाग संपन्न कराने के पश्चात् शर्मा जनपदरत्न से अलंकृत किए जानेवाले प्रत्येक नागरिक के संबंध में अपने कथन को तो अतिशयोक्ति अलंकार से मंडित कर ही रहे थे, उसकी विशेषता पर प्रकाश डालने वाली वक्ता के परिचय को भी इस अलंकार से विभूषित करने में कोई कोताही नहीं कर रहे थे। प्रदेश की राजधानी से आए शिक्षा मंत्री ने इस आयोजन के लिए एक घंटे का समय दिया था। उनका किसी अन्य जनपद के निर्धारित कार्यक्रम में भी पहुँचना ज़रूरी था। उन्होंने सोचा था कि घंटे की बजाय सवा या अधिकतम डेढ़ घंटे में तो वह दायित्व मुक्त हो ही जाएँगे। लेकिन आयोजन जिस जनवासे की चाल से चला था, प्रारंभ में ही उनको लग गया था कि यह सोचे हुए से दुगना समय भी ले सकता है। उन्होंने आधे घंटे बाद ही इस जनपद से मंत्री मंडल में सम्मिलित राज्य मंत्री मंडल में सम्मिलित राज्य मंत्री से, जो इस आयोजन के दृष्टा और सृष्टा थे और मंच पर उनके पार्श्व में ही आसीन थे, कार्यक्रम को अधिक न फैलने देने के लिए आग्रह किया था। आयोजन के सृष्टा ने संचालक को मुख्य अतिथि की चिंता से अवगत करा दिया था। थोड़े-थोड़े अंतराल से शर्मा के पास दो बार फिर वैसा संकेत गया था। शर्मा ने तब वक्ताओं से यह निवेदन करना शुरू कर दिया था कि वे अपने बहुमूल्य विचार पाँच मिनट के अंदर ही प्रस्तुत कर दें, किंतु वक्ताओं को आमंत्रित करते हुए उनका परिचय देने में स्वयं कोई कृपणता नहीं दिखाई। शर्मा का सोचना था कि मंच पर आमंत्रित आदरणीय व्यक्ति को वह श्रोताओं के सामने नंगा-बुच्चा तो खड़ाकर नहीं सकते हैं। बतौर संचालक उनका यह धर्म है कि वह उसे यथेष्ट

सम्मान से सजाकर सामने लाएँ ताकि श्रोता उसे स्वीकार कर लें। सार्वजनिक आयोजनों को देर तक चलना ही चाहिए। इसी में उनकी भव्यता है। ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसरों पर मंच पर बैठने वाले व्यक्तियों का भी कर्तव्य है कि वे आयोजन को अपेक्षित समय दें। संचालन की रीति-नीति में कोई ख़ास परिवर्तन न पाकर मुख्य अतिथि माइक के सामने अनाहूत खड़े हो गए और उस आयोजन की महत्ता के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत करने लगे। उसके बाद अध्यक्ष के रूप में राज्य-मंत्री ने आयोजन के पीछे रही. अपने दृष्टिकोण को बताने के साथ सबको धन्यवाद दे दिया। सौ मिनट के कार्यक्रम में तीस मिनट शर्मा ने क़ब्ज़ाए थे बतौर लायन शेयर। जनपद रत्न से नवाज़े गए जनों को एक भी शब्द बिना बोले मंच से उतरना पड़ा था।

हृदयेश भी जनपदरत्न की पहली खेप के एक रंगरूट थे। शर्मा अधिक बोलने के मोह में अकसर वह भी बोल जाते थे जो भदेस होता था। बल्कि यह कहना ज़्यादा सही होगा कि वह इस भदेस को मसाला मानकर जान-बूझकर इसका इस्तेमाल करते थे। यह भदेस अधिकांश श्रोताओं को संस्कृति-रस का एक ज़रूरी हिस्सा भी लगता था। पर यह भदेस कभी-कभी कुछ ज़्यादा ही भदेस हो जाता था और तब...उस तब का भी एक नमूना।

हिंदी समाचार-पत्र और पत्रकारों की भूमिका को लेकर एक संगोष्ठी थी। सत्तर-अस्सी लोगों की उपस्थिति थी। स्वाभाविक था कि उसमें पत्रकार भी हों और अधिसंख्या में। संचालन शर्मा के अलावा और कौन कर सकता था? शुरू में ही समाचार-पत्र चर्चा से बाहर हो गया था और केवल पत्रकार ही उसमें बचा रहा था। चर्चा में भाग लेनेवाले अधिकतर पत्रकारों को उनकी ग़लत और ग़ैर ज़िम्मेदाराना भूमिका के लिए कठघरे में खड़ा कर रहे थे। एक भागीदार ने यह आरोप जड़ा था कि शाम को पुलिस थानों से हासिल की गई सूचना या यों ही हाथ लग गई जानकारी के आधार पर पत्रकार ख़बर गढ़कर छपने भेज देते हैं और वह छप भी जाती है। दूसरे भागीदार को आमंत्रित करने से पहले शर्मा ने अपने संचालन को सरस बनाने के लिए आरोप में रंग भरा। उन्होंने वहाँ उपस्थित एक प्रमुख दैनिक के एक पत्रकार का नाम लिया और कहा कि आज विशेषज्ञता का युग है और यदि एक क्षेत्र में सौ अनुभाग हैं तो हर अनुभाग का अपना है विशेषज्ञ हमारे यह पत्रकार बंधु बलात्कार के विशेषज्ञ हैं। यदि बलात्कार की घटना गाँव से जुड़ी हुई है तो यह महोदय लिखेंगे कि लड़की रामप्यारी साँझ के समय बाहर दिसा-मैदान को गई थी। रामप्यारी जैसे पोखर के किनारे पहुँची, गाँव के किशनलाल या रामलाल ने, जिसकी आँख रामप्यारी पर पहले से लगी थी, देसी तमंचा दिखाकर उसे पास के ईख के खेत में ले गया। उस समय आसपास कोई नहीं था। खेत में इस किशनलाल या रामलाल ने रामप्यारी को लिटा दिया। शर्मा ने इसके बाद समाचार का अनिवार्य भाग बनाए जानेवाले उन तीन-चार वाक्यों को सुनाया जिनमें वस्त्र हटाने और यौन क्रिया का वर्णन किया जाता है। श्रोताओं में उठी हँसी की हिलोर के बीच वह पत्रकार तमककर खड़ा हो गया, अपनी बकवास बंद करो। संचालन होश में करो। शर्मा ने फरमाया, 'यार, मेरा मुँह सूँघकर देख लो। मैं नशे में नहीं हूँ। जनाब का नाम मेरी जिह्वा पर इसलिए आ गया कि यह नाम मेरे एक सगे रिश्तेदार का भी है और डबल संयोग यह है कि वह भी पत्रकारिता से जुड़े हुए थे। मेरी बात की सच्चाई जाँचने के लिए मैं मित्र महोदय से निवेदन करूँगा कि किसी दिन वह मेरे घर आकर मेरी पत्नी से उसके पिताश्री का नाम पूछें। पत्नी कहेगी कि उसके पिताजी का भी वही नाम है। इस बार वे लोग भी ठहाका मारकर हँसे थे जो पहले होंठ कसे हुए थे। शर्मा की आत्म-विश्वास भरी चतुराई और हाज़िरजवाबी भी उनके हथियार थे।

शर्मा ने हॉल में उपस्थित उन बीस-पच्चीस व्यक्तियों के रुक-रुककर अति आदरपूर्वक नाम लिए यानी अधिकारियों के अलावा राजनेताओं, उद्योगपतियों, समाज सेवियों, कवियों, लेखकों के जो उनकी दृष्टि में गणमान्य थे और उस आयोजन की शोभा। शर्मा ने नामों का अंत करते-करते हृदयेश का भी नाम लिया था और नाम को ख़ुशनुमा बनाने के लिए उस पर चमकीला रैपर लपेटा था—ख्याति प्राप्त कथाकार जिनकी कहानियाँ *सरिता, धर्मयुग* व *साप्ताहिक हिंदुस्तान* में आ चुकी हैं। हृदयेश के दिमाग़ में भिनभिन हुई—रैपर पुराना है। *धर्मयुग* व *साप्ताहिक हिंदुस्तान* पत्रिकाएँ कब की बंद हो चुकी हैं जबकि *सरिता* एक निरी पारिवारिक पत्रिका है। *हंस, कथादेश, पहल* जैसी आज की स्तरीय पत्रिकाओं का उनसे जोड़ा जाना अधिक सही होता। या तो शर्मा इनसे परिचित नहीं हैं या उन्होंने उनको लेकर सही की ज़्यादा चिंता नहीं की। शर्मा ने इसके बाद रंगमंच के महत्त्व और नाटक के निर्देशक एवं परिकल्पनाकार राजेश कुमार के बारे में काफ़ी फ़ालतू प्रशंसा की। फिर मुख्य अतिथि पुलिस महानिरीक्षक को पुनः नए विशेषणों से महिमामंडित कर तथा उनसे चाँदी की तश्तरी में रखा तूली रंग के कपड़े में आवेष्टित नारियल तुड़वा और यह घोषणा कर कि अब आपके सामने है आज का नाटक मंच से तेज़ी से हट गए।

नाटक भुवनेश्वर की बहुप्रशंसित कहानी 'भेड़िये' का रूपांतरण था।

हृदयेश इस नाटक को देखने इसलिए भी आए थे कि चंद साल पहले देवराज अंकुर ने इसी कहानी का नाट्य मंचन इसी प्रेक्षागृह में किया था और वह दोनों प्रस्तुतियों का तुलनात्मक आकलन भी करना चाहते थे—रूपांतरण, निर्देशन और दृष्टि संयोजन की ज़मीन पर।

अँधेरे में डूबे मंच से सारंगी की हल्की-हल्की धुन आने लगी है। फिर उभरते प्रकाश वृत्त में चट्टान पर बैठा एक बंजारा राजस्थानी वेश-भूषा में नज़र आता है जो हुक़्क़ा गुड़गुड़ा रहा है। फिर वह सामने बैठे दर्शकों से मुख़ातिब हो गया है, "तुम लोग क्या मेरी कहानी सुनोगे? अरे, कहानी तो होती है राजा-महाराजाओं की, नामी-गिरामी दौलतमंदों की। ग़रीब-गुरबों की नहीं। अच्छा कहानी सुनना है तुम लोगों को वो भेड़ियों वाली। इसलिए कि तुम्हारे गाँवों में भी भेड़िये आने लगे हैं? तुम्हारे बाल-बच्चों को ले जाने लगे हैं। अच्छा लो, मैं भेड़ियों वाली अपनी वो कहानी सुना रहा हूँ। वैसे तो वह कहानी कल की है, पर मुझे लगता है वो आज की भी है।"

हृदयेश को 'भेड़िये' का कथानक अच्छी तरह याद था। आज वहाँ आने से पूर्व स्मृति को ताज़ा रखने के लिए उन्होंने उसे फिर पढ़ा था। राजेश कुमार ने अतीत का विस्तार वर्तमान तक करने के लिए इसमें मुखर रूप से कई एकालाप जोड़े हैं।

मंच पर एक गड्डा यानी एक छोटी बैलगाड़ी प्रकाशवृत्त में उभरकर आ जाती है। इस गड्डे पर वह बंजारा चढ़ जाता है। अब वह अपने बाप की भूमिका अदा करता हुआ कहानी सुनाने लगता है।

हृदयेश के ज़ेहन में अंकुर जी द्वारा निर्देशित मंचन आ गया। उसमें दो पात्र थे। दोनों ने काले लबादे पहन रखे थे। प्रेक्षागृह की सारी लाइटें गुम थीं। मंच पर बस धूमिल-सा उजाला था, सो भी सिर्फ़ इतनी-सी उजास लिए हुए कि दोनों पात्रों की आकृति नज़र आए जिनमें से एक बीच-बीच में डरकर दूसरे के कंधे से चिपटते हुए 'भेड़िये आ रहे हैं—भेड़िये आ रहे हैं बड़े-बड़े गोल में' चिल्लाने लगता था। मंच पर गड्डा वग़ैरह नहीं था। नाट्य-सेट के नाम पर कुछ भी नहीं था।

मंच पर राजेश द्वारा रूपांतरित कहानी आगे बढ़ रही है। गड्डे पर सवार वही पात्र अब बेटे की भूमिका अदा कर रहा है। एकल पात्र द्वारा

कहानी मंचित करना तय किया गया है। अभिनय निर्वाह असरदार है। गड्डे पर सवार अमूर्त रोटियाँ फेंकी जा रही हैं—पहले एक, फिर दूसरी, फिर अंतिम। यह फेंकना गड्डा हल्का कर गति बढ़ाने के लिए भी किया जा रहा है और भेड़ियों को आहार देकर भटकाने के लिए भी। लो भूख मिटाकर दफ़ा होओ। ख़ुराक तो डाल दी, दफ़ा हो। किंतु भेड़ियों का पीछा करना सकता नहीं है। फिर बाप नीचे कूदकर भेड़ियों से जूझने लगता है। प्रकारांतर में प्रकाश तेज़ हो जाता है और बेटा अब वर्तमान में आ गया है। दर्शकों को बता रहा है कि वह किस तरह उन भेड़ियों से बच गया था और यह भी कि अगले साल उसने साठ भेड़िये मारे थे।

भुवनेश्वर की कहानी यहीं पर समाप्त हो जाती थी। अंकुर जी ने भी अपना नाट्य-मंचन इसी बिंदु तक सीमित रखा था। किंतु राजेश ने प्रारंभ की भाँति अंत में एक यह भी जोड़ जड़ दिया—

मंच पर खारू नाम का वह बेटा जो कहानी का वाचक भी है, अब भी चट्टान पर पहले वाली वेश-भूषा में बैठा है। वह एकाएक चौंककर खड़ा हो जाता है, ''हवा में ये बू कैसी ? अरे ये तो भेड़िये की बू है। आवाज़ तो भेड़िये ! ये तो सैकड़ों की तादाद में हैं। अरे, इनकी शक्ल बदली हुई है। आवाज़ तो भेड़ियों जैसी है पर चेहरे भेड़ियों जैसे नहीं। कौन हैं ये ? अरे, ये तो कुछ जाने-पहचाने से हैं।'' खारू विंग्स की तरफ़ दौड़-दौड़कर बस्ती वालों को आगाह करने लगता है, ''जल्दी करो। मशाल जलाओ। मशाल ले के निकल पड़ो।'' फिर खारू विंग्स से एक मशाल लेकर चुनौती के रूप में चारों ओर घुमाने लगता है। साथ में कहता जाता है, ''डरो मत भेड़ियों से। जब तक डरोगे, डराते रहेंगे। भेड़ियों और हममें यही तो फ़र्क़ है।''

हृदयेश ने पाया कि राजेश कुमार ने अपने इस नाट्य रूपांतरण में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की काव्य पंक्तियाँ भी सच्ची कर दी हैं—भेड़िया गुर्राता है तुम मशाल जलाओ। उसमें और तुममें यही बुनियादी फ़र्क़ है। भेड़िया मशाल नहीं जला सकता। राजेश जनवादी नाट्यकर्मी हैं। उनकी कृतियों में विचार उमड़-घुमड़कर अपनी मौजूदगी की बरसात करता है। कला को वह ज़्यादा महत्त्व नहीं देते हैं। और जब ज़्यादा महत्त्व नहीं देते हैं तो रचना की हालत लस्टम-पस्टम होती है। राजेश ने नुक्कड़ नाटक भी बहुत से लिखे व खेले हैं। विचार तत्त्व का असंयत उपयोग और कथा की नुक्कड़ नाटक वाली सीधी सरपट दौड़ उनके निर्देशन को बहुत कुछ सड़क पर खड़े होकर तेज़ आवाज़ में किया जानेवाला उद्बोधन बना देता है।

हृदयेश ने घड़ी देखी। इस मंचन ने पूरे पचास मिनट ले लिए थे। अंकुर जी के मंचन ने इसका आधा समय लिया था। दर्शकों के सामने घंटे भर का प्रदर्शन रखने के लिए ही उन्होंने भुवनेश्वर के तीन एकांकियों की कथा-सामग्री को समेट-बटोरकर एक अन्य प्रस्तुति को भी मंचित किया था। किंतु वह प्रस्तुति भुवनेश्वर के अन्य एकांकियों की भाँति अतिशय बौद्धिक होकर दर्शकों के लिए एक अबूझ पहेली बन गई थी। एक पत्रकार ने जब उस पूरे कार्यक्रम के बारे में हृदयेश की प्रतिक्रिया जाननी चाही थी, उन्होंने 'भेड़िये' की प्रस्तुति की तो सराहना की थी, मगर उस एकांकी को संप्रेषणीयता के संकट से त्रस्त-ग्रस्त बताया था। संकट की प्रकृति को उन्होंने पत्रकार को एक लघुकथा के माध्यम से स्पष्ट किया था। एक रोबो यानी रोबोट था। उसके सामने से एक अति सुंदर युवती गुज़री थी। रोबो ने सुंदरता की साकार उस युवती को पकड़कर उसके साथ संभोग किया था। इस संभोग से जो बच्चा युवती की कोख से जन्मा था उसकी त्वचा लोहे के पत्तर की थी। उस बच्चे का संकट उसकी लौह त्वचा थी।

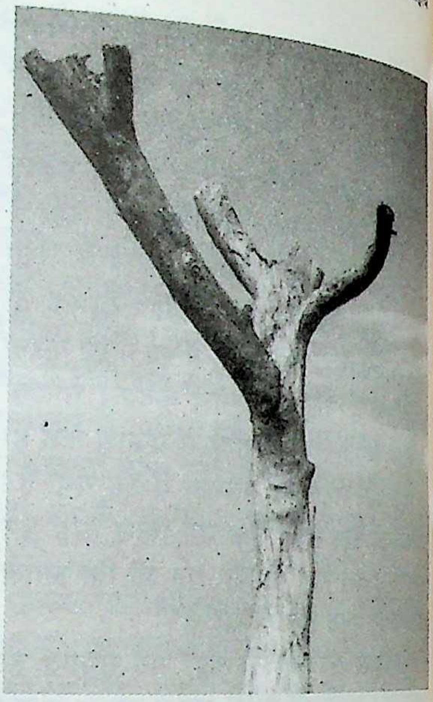

मंच पर शर्मा कार्यक्रम का अंतिम कर्मकांड कराने के लिए प्रकट हो गए थे। वह दर्शकों का एकल पात्र से तआरुफ़ कराने लगे कि यह पात्र यों मुसलमान है, किंतु हिंदी के कठिन शब्द भी शुद्ध बोलता है। लगता है जैसे कोई ठेठ ब्राह्मण बोल रहा है। यह पात्र अपने में अनंत संभावनाएँ लिए हुए हैं। आश्चर्य नहीं कि एक दिन आप सब इसको दूरदर्शन और सिनेमा के रूपहले पर्दे पर देखें। शर्मा उनसे ठहरने की प्रार्थना करने लगे थे कि नाटक के सफल मंचन में नेपथ्य में रहे संगीत, प्रकाश, वेश-भूषा आदि को लेकर जिन रंगकर्मियों का योगदान रहा है अभी उनका भी परिचय कराया जाना है। मंचन की धुरी रहे राजेश कुमार जी भी आपसे मुख़ातिब होंगे। मुख्य अतिथि द्वारा इन सबको आशीर्वाद भी अभी दिया जाना बाक़ी है। किंतु दर्शकों ने उतावले से निकास द्वार की ओर अपने क़दम उठा दिए थे।

बाहर पानी गिरने लगा था। बिजली कड़कने की आवाज़ दो-चार बार कुछ पहले अंदर सुनाई दी थी।

वह भी नारायण बाबू के साथ बाहर निकल आए। पानी बहुत तेज़ नहीं तो धीमा भी नहीं कहा जा सकता था। प्रेक्षागृह यानी हॉल के बाहरी बरामदों की लाइटें जल रही थीं। बग़ल में ख़ूब इत्मीनान से पसरे मंदिर की भी लाइटों का प्रकाश छितरकर बाहर आ रहा था। कुछ फ़ासले पर बने घरों व दुकानों की लाइटें भी अँधेरे को अपनी सामर्थ्य भर अपदस्थ कर रही थीं। लेकिन आसमान से लटकी असंख्य दृश्य-अदृश्य डोरियों के सहारे पानी के साथ अँधेरा भी बराबर उतरता जा रहा था। मुख्य अतिथि पुलिस की जीप में बैठकर चले गए थे। जिनके पास कारें थीं वे दर्शक भी प्रस्थान कर गए थे। उनके पड़ोसी ओमप्रकाश यानी ओमी भैया, जिन्होंने अपने संबंधी किशनलाल का पैसा दबा लिया था और जिसने बेबसी में रेल से कटकर आत्महत्या कर ली थी, वह भी नाटक देखने आए थे। उनका ड्राइवर पोर्टिको के पास कार ले आया था। ओमप्रकाश के साथ उसी कार में भरे-पूरे जिस्म के कमलनाथ भी बैठ गए थे। कमलनाथ डीजल के डिस्ट्रीब्यूटर थे। दो साल पहले डीजल के भंडारण में मिट्टी के तेल की मिलावट का मामला उछला था। साथ में छापे के दौरान दो ए. के. राइफ़ल्स और बड़ी संख्या में कारतूस पाए जाने का भी। लेकिन अख़बारों से ये मामले जल्द ग़ायब हो गए थे और पिछले वर्ष कमलनाथ ने त्रिदिवसिय जो निःशुल्क नेत्र रोग परीक्षण शिविर लगाया था उसकी अख़बारों में बढ़-चढ़कर चर्चा एक या दूसरे बहाने से कई दिनों तक हुई थी। शर्मा ने उपस्थित गणमान्य नागरिकों में इन दोनों के नाम भी सादर सम्मिलित किए थे।

"ओमी भैया लगता है, अब लायंस क्लब जा रहे हैं। घर जा रहे होते तो शायद हमको भी साथ ले लेते।" नारायण बाबू ने कहा।

कई दर्शक अपने मोबाइल फ़ोन से संदेश भेज रहे थे।

"पानी जिस बँधी हुई रफ़्तार से गिर रहा है, उससे इसके जल्द थमने के आसार नहीं हैं।"

"आपकी भाभी जी की मर्ज़ी नहीं थी कि मैं नाटक देखने जाऊँ। अब बारिश ने यहाँ फँसा दिया तो मेरा क्या दोष? भाभी जी को समझा दीजिएगा।" हृदयेश ने नारायण बाबू से धीमे स्वर में कहा।

"भाभी जी के बिगड़ने लगने पर आप ज़्यादा बिगड़ जाइएगा। खाना न खाने की धमकी भी दे डालिएगा। भाभी जी हथियार डाल देंगी।" नारायण बाबू ने नक़ली दाँत चमकाते हुए तरकीब बताई।

बाहर खड़े दर्शक हॉल में वापस जाने लगे थे। वे दोनों भी अंदर लौट आए।

अंदर शर्मा एक-दूसरे आयोजन की तैयारी में तत्पर थे, काव्य पाठ की। वह माइक से कह रहे थे कि प्रकृति की इच्छा है कि आप लोग अभी और यहाँ रुकें और एक-दूसरे प्रकार का आनंद लें। यह आनंद भी संस्कृति घराने का है और यह भी मानव की आत्मा और चेतना को हिलोरित करता है।

हॉल में सीटों की कई क़तारें भर गई थीं। बाहरी बरामदे में से लोगों का दो-दो, एक-एक कर आना जारी था। अब जब अभी घर जा नहीं सकते तो फिर गीत, कविताएँ सुनकर ही वक़्त क्यों न काटा जाए?

शर्मा ने मंच पर एक पूर्व विधायक जी को बुलाकर स्थापित कर दिया था। जो भी कार्यक्रम हो अपनी पूरी मान-मर्यादा के साथ। पचहत्तर पार कर चुके पूर्व विधायक जी, जिनको पूर्व हुए दस वर्ष से ऊपर हो गए थे और जो नाटक के कार्यक्रम में एकदम केंद्र से बाहर रखे जाने से झुलसे हुए थे, केंद्र में आ जाने से हुलसे हुए थे।

शर्मा की गीध दृष्टि अब तक अपने मस्तिष्क में उन पाँच-छह कवियों को चिह्नित कर चुकी थी जो वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने सुललित उपनामधारी एक कवि को आहूत किया।

स्त्रैण चेहरे वाले इस कवि ने परंपरा का निर्वाह करते हुए सर्वप्रथम माँ सरस्वती की वंदना में चंद पंक्तियाँ निवेदित कीं—"ओ वीणा वादिनी अपना स्वर मेरे स्वर में भर दे, ओ वीणा वादिनी।" फिर उन्होंने अपनी वाणी को भी स्त्रैण बनाते हुए गीत गाया—*डगर में हो रही पदचाप कोई आ रहा है, / फागुनी लहरियाँ बनने लगीं नई आहट कोई आ रहा है।/ डगर में हो रही पदचाप— / शिथिल तन में हो रही मधुर कसमसाहट कोई आ रहा है, / अंतर्पट पर हो रही मादक थपथपाहट कोई आ रहा है।/ डगर में हो रही पदचाप।*

सुललित जी ने फिर एक और भी रस भरा गीत उससे भी अधिक स्त्रैण स्वर में सुनाया।

'आज की नई कविता के एक सशक्त हस्ताक्षर' के तमगे के साथ इसके बाद सुरेंद्र सिंह नामक एक कवि को सादर बुलाया गया जो पेशे से वकील थे। वह गोष्ठियों में 'वाम' की ओर से वकालतनामा लगाते थे। उन्होंने सीधी-सपाट आवाज़ में पढ़ा—*यह कैसा शहर है जहाँ मकान तो हैं पर छतें नहीं, / यह कैसा शहर है जहाँ आसमान तो है पर चाँद औ सितारे नहीं। यह कैसा शहर है जहाँ इंसान तो हैं पर हलचलें नहीं। जहाँ बोलियाँ तो हैं पर आवाज़ें नहीं। यह कैसा शहर है जहाँ बच्चे तो हैं पर खिलौने नहीं। जहाँ वे एक-दूसरे को छूते तो हैं पर खिलखिलाहटें नहीं। यह कैसा शहर है जहाँ लोग सोते तो हैं पर सपने नहीं* ।

अपनी कविता को उन्होंने 'ऐसा शहर शहर होते भी शहर है नहीं' की पंक्ति के साथ विराम दिया।

हास्य-व्यंग्य की चिकोटी-ठिठोली की बानगी के लिए दिनेश रस्तोगी का आह्वान किया गया था। उन पर जब निगाह गई थी वह थे। अब थे नहीं। तब नूरानी साहब को अपने कलाम से हाज़िरीन की दिलबस्तगी के वास्ते इस अभिकथन का दस्तरख़ान बिछाते हुए दावत दी गई कि अलग जाति धर्म का होता हुआ भी इंसान इंसान ही होता है। इसी तरह किसी भी भाषा में कविता लिखने वाला कवि कवि ही होता है।

नूरानी साहब ने तरन्नुम से जो ग़ज़ल पेश की उसके मतला में ही 'शोरे फुगां' जैसी हड्डी की तरह सख़्त लफ़्ज़ आ गया था। फिर अगले शेर में 'हम : तनगोश' की कड़क नोकदार किरचें थीं और फिर 'करां-तब-करां' की। मक्ता शेर तक आने से पहले ही पूर्व विधायक जी ने संचालक शर्मा को बुलाकर कुछ कहा। विधायक जी ने वैसे तो कांग्रेस पार्टी की ओर से विधायकी की थी। लेकिन बाद में दो बार उन्होंने भाजपा की ओर से असफल चुनाव लड़ा था। उर्दू के लिए उनके हृदय में वैसे ही जगह कम थी, फिर यह तो ठेठ मुसलमानी उर्दू थी।

''मैं जानता हूँ कि आप सब प्रभंजन जी को सुनने के लिए आकुल अधीर होंगे। हमारे माननीय विधायक जी भी प्रभंजन जी की कविताओं के प्रशंसक हैं। मैं तो उनका भक्त हूँ ही।'' शर्मा यों तो हर कवि की प्रशंसा में कुछ-न-कुछ कहते ही थे, किंतु इस कवि की प्रशंसा में माइक सँभाल कर झड़ी लगाने लगे, ''प्रभंजन जी! आप सब जानते हैं वीर रस के ऐसे कवि हैं जिन्होंने पूरे भारतवर्ष में इस जनपद का नाम रोशन किया है। बहुत दिन नहीं हुए चौपाटी के मैदान में इन्होंने शहीदे आजम भगतसिंह पर कविता पढ़ी थी। एक बार फिर, एक बार फिर की माँग पर वह कविता पूरे सात बार सुनी गई थी। इसके बाद भगतसिंह के जयकारे पचास हज़ार की भीड़ में एक सिरे से दूसरे सिरे तक सागर की लहरों की तरह उठकर फैले थे। वीर रस ठंडी, ऊँघती रगों में भी रक्त का उबाल ला देता है।''

इसके बाद शर्मा ने हिंदी काव्य में वीर रस की परंपरा की सुदृढ़ कड़ियों में सुभद्रा कुमारी चौहान और दिनकर सहित आधा दर्जन कवियों के नाम लिए। सुभद्रा कुमारी की 'वीरों का कैसा हो वसंत' की कुछ पंक्तियों को अपनी वक्तृत का हिस्सा बनाकर उन्होंने दिनकर की इन दो पंक्तियों को भी शामिल किया, *नरक उनके लिए जो पाप को स्वीकारते हैं / न उनके हेतु जो रण में उसे ललकारते हैं।* तत्पश्चात् नाटकीय भंगिमा में वह अपनी आवाज़ को सप्तम पर ले आए, ''अब आप सबकी इंतज़ार की घड़ियाँ समाप्त। प्रभंजन जी को मैं बड़े आदर, बड़े सम्मान से मंच पर आहूत करता हूँ। आप सब उनका स्वागत ज़ोरदार तालियों से करें।''

अमृत जयंती की चुपचाप गुज़र गई आयु के प्रभंजन जी अपने थुलथुल जिस्म में पैठ चुकी कमज़ोरी को झटकने की असफल चेष्टा करते हुए मंच पर चढ़ गए। माइक के सामने आकर जैसे ही उन्होंने अपने प्रति इतना सम्मान प्रकट किए जाने के लिए आभार में दो-एक ऐसे वाक्य कहे कि श्रोताओं के आदर, प्यार, स्नेह से ही वह ऊर्जा पाते हैं, कि उनका पूरा प्रयास होगा कि उन सबकी आशाओं, अपेक्षाओं पर वह खरे उतरें और उनके वहाँ रुके रहने की सार्थकता का अहसास कराएँ कि उनकी साँस फूलने लगी, साथ ही खाँसी के झटके भी उठे। इस उखड़ी साँस व खाँसी के झटकों को दबाते हुए प्रभंजन जी ने कहा कि यों वह पिछले तीन-चार वर्षों से अस्वस्थ हैं, किंतु इधर दो-एक माह से यह अस्वस्थता कुछ ज़्यादा बढ़ी हुई है। पर इस अस्वस्थता के व्यवधानों को वह अपनी काव्य-यात्रा में अवरोधक नहीं बनने देते हैं। अपनी प्रवृत्ति का परिचय देने के लिए उन्होंने आवाज़ को साफ़ करते हुए उसे लय दी—*प्रकाश को प्रकाश, तम को कहा तम / अग्नि को अग्नि, भस्म को कहा भस्म, / चेतना की ज्योति पुंज को—*

खाँसी के झटकों और उखड़ी साँस ने अगली दो पंक्तियों को चाँप लिया था। इसके बाद साध-सँभलकर जब अगली पंक्तियाँ पढ़ी गईं, *चापलूसों, ख़ुदफ़रोशों से भरी सभा में हाय रे दुर्भाग्य चंद शृंगालों ने सिंह पर शासन किया दिन की प्रभा में* तो सराहना में करतल ध्वनियाँ होने लगीं।

वह अन्यों से भिन्न क्यों और कैसे हैं, इसे उजागर करने के लिए उन्होंने और पंक्तियाँ पढ़नी चाहीं, किंतु खाँसी के तेज़ झटके स्वर को छिन्न-भिन्न करने लगे। दो मिनट बाद झटकों के थमने पर फिर पढ़ा, किंतु एक पंक्ति के बाद फिर खाँसी उनकी काया को डगमग करने लगी।

हृदयेश की स्मृति में सुप्त एक घटना ने आँखें पसारीं। सात-आठ वर्ष हुए। कभी उड़ीसा के राज्यपाल रह चुके श्री विश्वंभरनाथ पांडेय को वहाँ के एक इतिहास लेखक की पुस्तक 'स्वतंत्रता आंदोलन में शाहजहाँपुर का योगदान' का विमोचन करने के वास्ते बुलाया गया था। पांडेय जी तब उस आयु के थे जब वह शरीर पर बुरी तरह लद-फद जाती है। उनके पैर बेचारा बन चुके थे। ट्रेन से उनको उतारने में ह्वील चेयर की सहायता लेनी पड़ी थी। अगले दिन सुबह से ही उनका उपयोग हाथ लगे हर अवसर का फ़ायदा उठानेवालों द्वारा किया जाने लगा। इंटरव्यू की अहमियत मानने वालों ने इंटरव्यू लिए, बड़ी हस्तियों के साथ फ़ोटों खिंचवाने की लालसा वालों में फ़ोटो खिंचवाए पत्रकारों ने ख़बर बनाने के लिए प्रश्नोत्तरी बैठक की, एक कॉलेज के प्रबंधक व उसके बाद अधिवक्ता संघ के अध्यक्ष संबोधन के लिए उनको अपने-अपने सभागार में ले गए, एक स्थानीय पत्रिका के संपादक ने महीनों पहले निकल चुकी पत्रिका का अलग से एक छोटा विमोचन कार्यक्रम संपन्न कराया, एक नाटककार ने उनके सम्मान में एक नाटक का मंचन रखा और आशीर्वाद के लिए उनको अगुवा कर ले गया। संध्या को पुस्तक विमोचन के मुख्य कार्यक्रम तक महामहिम पांडेय जी के मस्तिष्क की मशीनरी गड़बड़ा चुकी थी। वह बोलते हुए असंगत और बहकी हुई बातें करने लगे। वह फिर अचेतावस्था में जाने लगे। प्रशासन की दृष्टि में आयोजकों की उनके इतने विशिष्ट व्यक्ति को उस जर्जर ढहती उम्र में बुलाना पहले ही समझदारी नहीं थी। बाद में इस बेरहमी से

उनके इस्तेमाल ने आयोजकों को प्रशासन की नज़र में ग़ैरज़िम्मेदार भी बना दिया था। भूतपूर्व राज्यपाल पांडेय जी को दो सक्षम डॉक्टरों और ऑक्सीजन सिलेंडर के साथ एक आरक्षित कोच से उनके निवास-स्थान दिल्ली अविलंब भेजा गया था।

प्रभंजन जी ने अपनी किसी और कविता का कोई अंश सुनाया था और इस बार उसे बिला किसी ख़ास बाधा के सुना दिया था।

श्रोताओं में से किसी ने माँग की कि वह 'कश्मीर नहीं मुझे पूरा हिंदुस्तान चाहिए' वाली कविता सुनाएँ। पूर्व विधायक जी ने भी अध्यक्ष की कुर्सी पर अपने प्रसार को और अधिक सुविधा प्राप्त कराते हुए इस माँग का समर्थन किया। शर्मा ने माइक के पास जाकर कहा कि प्रभंजन जी की इस कविता को अपना ओज जैसे रौद्र के देवता शंकर ने स्वयं दिया हो। कविता कुछ लंबी अवश्य है पर इतनी प्रभावशाली है कि जब प्रभंजन जी सुनाना शुरू करेंगे तो खाँसी और दमा भी उसका भरपूर आनंद लेने के लिए शांत हो जाएँगे। अपने कथन को बल देने के लिए उन्होंने जोश मलिहाबादी से जुड़ा एक ऐसा ही क़िस्सा सुनाया कि आज़ादी की तूफ़ानी हलचल के दिनों में जब वह दिल्ली के रामलीला मैदान से अंग्रेज़ी हुकूमत के विरुद्ध अपनी नज़्म पढ़ रहे थे, जोश साहब की गिरफ़्तारी के लिए आए सिपाही उनकी नज़्म के हाथों ख़ुद गिरफ़्तार हो गए थे।

प्रभंजन जी ने बग़ल के स्टूल पर रख दिए गए गिलास में से दो घूँट पानी पीकर पढ़ा— *तुम कहते शृंगार लिखो पर युग कहता अंगार चाहिए / मातृभूमि की रक्षा के हित कई हिमालय और चाहिए। तुम कहते शृंगार लिखो पर—*

"लगता है सच में प्रभंजन जी की इस कविता को सुनने के लिए खाँसी और दमा शांत हो गए हैं।"

तभी खाँसी के झटके फिर तेज़ हो उठे थे। साँस फूली थी।

''अभी खाँसी और दमा पर पूरा असर हुआ नहीं है। पूरा असर होने पर ये भी अपने को प्रभंजन जी की कविता के हाथों गिरफ़्तार करवा देंगे।''

पीठ पीछे की क़तार में बैठे दो श्रोताओं का यह संवाद हृदयेश तक फुदक आया था।

काफ़ी समय हुआ। प्रभंजन जी श्री गांधी पुस्तकालय में गणतंत्र दिवस के अवसर पर कविता पाठ कर रहे थे। शायद यही कविता थी या इसी भाव-तेवर की कोई दूसरी। नशे के घोड़े पर सवार मंचीय कविता का एक प्रेमी, जो विरोधी कवि गुट से रिश्ता रखता था, किसी का नाम लेता हुआ बोला था कि यह कविता तो उस नामधारी की लिखी हुई है। प्रभंजन जी ने चेहरे पर बग़ैर एक भी शिकन डाले जवाब दिया था कि वह कवि उनका एक अरसे तक शिष्य रहा है। दिल्ली क्या पहुँचा कि उसके पर निकल आए। उनकी लिखी कई कविताओं को अपनी बताने लगा। एक तो कविता की चोरी की रपट पुलिस थाने में लिखी नहीं जाती, दूसरे अभी उनका हृदय क्षुद्रता का आवास नहीं बना है कि अपने शिष्य की ग़लत हरकतों के ख़िलाफ़ वह कोई कार्यवाही करें।

प्रभंजन जी खाँसी के झटकों और फूलती हुई साँस से रुक-रुककर मोर्चा लेते हुए कविता पाठ कर रहे थे, *तोड़ सकें दुश्मन के जबड़े ऐसे विकट प्रहार चाहिए। तुम कहते श्रृंगार लिखो।*

खाँसी का इस बार झँझावात उठा था—आँख-ठस-आँख-ठस...ठस...ठस...ठस...। उन्होंने इस झँझावात को दबाने के लिए सीधे हाथ से सीने को दबाया। गर्दन को भी गिराया-उठाया। कुछ आराम पाते ही पानी पिया और माइक की रॉड पकड़कर आगे पढ़ा— *स्वाभिमान जब दाँव लगा हो तो प्रलयंकर...तो प्रलयंकर...।*

आँख-ठस...आँख-ठस...ठस...ठस...ठस...। इस बार खाँसी का झँझावात और विकट था। प्रभंजन जी माइक सहित मंच पर ढह गए।

पहले दो-चार शुभचिंतक दर्शक मंच पर चढ़े। फिर कई चढ़ गए। प्रभंजन जी बोल नहीं पा रहे थे। अचेत हो गए थे।

किसी ने मोबाइल से कुछ पहले जो संदेश भेजा था, उसी के तहत उस किसी को लेने बाहर कार आ गई थी। उसी पर अब प्रभंजन जी को डालकर नर्सिंग होम ले जाया जाएगा।

पानी हल्की नन्ही बूँदों में ढल चुका था। हृदयेश वापसी के लिए हुड चढ़ा रिक्शा पा गए थे।

रास्ते में जब नारायण बाबू ने यह आशंका जताई कि प्रभंजन जी मृत्युगामी भी हो सकते हैं जो हृदयेश ने कहा कि इसके लिए दोषी स्वयं प्रभंजन जी होंगे। उस हालत में उनको कविता नहीं पढ़नी चाहिए थी। फिर दोषियों में उन्होंने संचालक शर्मा और अध्यक्ष विधायक जी को भी शामिल कर लिया कि उन्होंने प्रभंजन जी को रोकने की बजाय बढ़ावा दिया—चढ़ जा बेटा सूली पे। नारायण बाबू ने दोषियों में फिर पानी को भी सम्मिलित कर लिया कि अगर वह न गिरने लगता तो कविता पाठ होता ही नहीं।

बिटिया मुर्मू

अभिशप्त संताल औरत

मैं औरत हूँ, एक संताल औरत। मेरी कथा निरंतर पराजय की कथा है। छल-प्रपंच और परंपरा के नाम पर मकड़ी के जाले में फँसी मक्खी की कथा जैसी। मेरे ललाट, छाती, बाँह और कलाइयों में गुदे असंख्य गोदनों की तरह मेरे मन पर अनगिनत ज़ख़्म हैं। बावजूद इसके, मन में मैं प्यार के गीत गाती हूँ : *दुलाड़ सिकड़ी तेलाड़ सिकड़ी लेना दुलाड़ / तोई सुताम तेलाड़ तोला लेना / मासे बेगेत आञ् में दुलाड़ मेत किनते / मासे लांदाञ् में मुलूचू लांदा। / जीवी रे पाङ जुत इञ आयकांव ऐदा / जापित बेरेत रेहो हामाल मोने रेहो / आभगी दुलाड़ियाञ् उपहार मेया / दिनी दिसामेया जिंदाय उपहार मेया... / जीवी रे पाङ जुत इञ आयकाव ऐदा।*

"हम और तुम स्नेह धागे में बँधे प्यार की कड़ियाँ हैं। बस एक बार मुझे मनुहार भरी आँखों से निहारो। एक बार हँसी में प्यार घोलो। ख़ुशी से निहाल हो उठेगा जीवन। मन भारी होने पर भी, सोते-जागते तुम्हारी बावरिया, अंतर्मन से तुम्हीं को याद करती हूँ। दिन भर तुम्हीं को रटती हूँ और रातों में भी तुम्हीं को हृदय से याद करती हूँ।"

इसके बावजूद मुझे केवल दुत्कार मिली। न घर में कोई हक, न समाज में कोई स्थान। मेरे लिए कहाँ, कौन-सी जगह छोड़ी है? न मैं किसी पंचायत में बैठ सकती हूँ न तो किसी नीति निर्धारण में ही मेरी पूछ होती है। यहाँ तक कि जातीय देवालयों तक में मेरे प्रवेश की सीमा और शर्तें हैं। इनका निर्धारण न जाने कब और कैसे परंपरा और आदि धर्म के नाम पर पुरुषवादी व्यभिचारी, निरंकुश आदिम सत्ता को टिकाए रखने के लिए पत्थर की लकीर की तरह किया गया।

मेरे नसीब की यह कैसी विडंबना है कि संताली समाज में प्रथागत क़ानून के आधार पर संपत्ति का हकदार केवल पुरुष हो सकता है। मैं किसी संताल की बेटी हूँ, बाप की संपत्ति पर मेरा कोई वैध हक नहीं। जब तक मेरी शादी नहीं हो जाती, मेरे नाम से ज़मीन का एक छोटा टुकड़ा अलग रहता है। मेरा भरण-पोषण और विवाह उसी की उपज से होता है। शादी होते ही वह छोटा टुकड़ा मेरे भाई या भाई नहीं रहने पर सबसे क़रीबी सगोत्रीय के बीच बँट जाता है। अगर मैं अपने पिता की अकेली संतान हूँ, मेरा

बिटिया मुर्मू संताली और हिंदी में लिखती हैं एवं परस्पर अनुवाद भी करती हैं। संपर्क : बदलाव फ़ाउंडेशन मिहिजाम, पो. मिहिजाम, जिला-जामताड़ा 815354, संताल परगना, झारखंड

कोई भाई नहीं है, मेरी शादी के वक़्त समाज के सामने मेरे पति को गोद लेकर मेरा पिता घर जमाई बना सकता है। मगर तब भी पिता की ज़मीन और ज़ायदाद पर मेरा रत्ती भर भी अधिकार नहीं। तब मेरे पिता की पूरी संपत्ति का मालिक होगा मेरा पति, एक पुरुष। उस पर मेरे कोई दावेदारी नहीं।

मेरे साथ प्रथा के नाम पर हुए प्रपंच की यही हद नहीं। अगर मेरे पिता को कोई पुत्र नहीं और मुझे कुँआरी छोड़कर वह मर गए, तो उनकी संपत्ति पर मेरा नहीं, पिता के भाईयों का हक होगा। उस पर मेरा न तो कोई नैतिक हक होगा और न वैधानिक अधिकार। ऐसे में मेरे भरण-पोषण और विवाह के भार से मुक्ति की पुरुषों के लिए प्रथागत क़ानून में एक अनोखी व्यवस्था है। गाँव में कहीं कोई बीमार हुआ या असाध्य रोग से मरा तो दूध की मक्खी की तरह मुझे निकाल फेंकने के लिए झट से मेरे ललाट में कलंक का टीका लगा दिया गया। कलंक का टीका—यह डायन है। अपमान का दंश झेलते हुए अपनी आँखों से मैंने देखा है...बस, केवल ओझा-गुणी की सम्मति की ज़रूरत, जिसे हासिल करना संताली समाज में ज़्यादा कठिन नहीं। मुझे घर से निकाल देने, मार देने के लिए मेरे नाम के साथ बस डायन लिखने भर की देर है। मुझ अविवाहित अभिशप्त से मुक्ति के लिए कभी भाई और कभी गोतिया डायन कहकर मुझे अकसर या तो घर से निकाल देते या फिर मार देते। संपत्ति पर मेरे उत्तराधिकार का कोई विधान भले न हो, इसकी पक्की व्यवस्था आदिकाल से है संताली प्रथा क़ानून में, जो अंधविश्वास, भूत-प्रेत आदि के प्रति गहरे विश्वासों पर आधारित है।

ससुराल का मेरा जीवन कम त्रासद नहीं। जब ब्याह कर मैं पति के घर जाती, वहाँ भी एक दासी से ज़्यादा मेरी हैसियत नहीं। उस घर की किसी चीज़ पर मेरा कोई हक़ नहीं। किसी बँधुआ मज़दूर की तरह मुँह बंद कर चूल्हा-चौका करने, जंगल-जंगल ख़तरों से खेलकर कंद-मूल, फल, पत्तल, दातून और लकड़ी बीन-काटकर, बाज़ार में हज़ार-हज़ार आँखें और सिपाहियों के पंजों को झेलकर घर ख़र्चा के साथ-साथ अपने मरद के लिए दारू-हँड़िया जुटाने को अभिशप्त। फ़सल रोपनी में दिन-दिन भर पानी में भीगकर धान रोपना, जाड़े की शीतलहरी में ठिठुर-ठिठुरकर खेत की अगोरी और कटनी तो मेरे हिस्से में है ही, जानवरों की चरवाही और मीलों चलकर परिवार के लिए पानी लाना भी मेरा काम। प्रतिदिन दारू-हँड़िया के नशे में धुत्त अपने पति-परमेश्वर लात-जूते और भूख, प्यास, थकान से पस्तहाल होने पर भी अनुत्साहित देह का अर्पण।...मेरी कथा नदियों का वेग और मर्दन झेलते तट के पत्थरों से भी ज़्यादा करुण है। मगर समाज के मन में करुणा कहाँ? अगर थोड़ी-सी करुणा होती तो मेरा यही हाल नहीं रहता। मेरा हाल तब तो और बेहाल हो जाता जब सही इलाज के प्रति नकारात्मक रुख़ वाले समाज में झाड़-फूँक, टोना-टोटका से ठीक न होकर मेरा पति मर जाता। मेरे पति के भाई गोतिया उसकी सारी संपत्ति हड़प लेते। अगर उनकी चाकरी और रखैल बनना नियति मानकर स्वीकार लिया गया तब तो कुछ दिनों के लिए ठीक रहा अन्यथा मुझ अभागिन के माथे कलंक का टीका लगना, डायन कहकर निकाल देना या मार देना प्रथा क़ानून का अटल प्रच्छन्न विधान है। अगर मुझ विधवा की गोद में कोई संतान रही तब तो संपत्ति हड़पने वालों के द्वारा हमारी हत्या की ही ज़्यादा संभावना रहेगी।

ऐसे में अगर मैंने किसी का वरण भी कर लिया तो जब तक उससे कोई पुत्र न हो जाता तब तक मेरी दीनता में थोड़ी-सी भी कमी संभव नहीं। यहाँ तक कि मंन में पवित्रतम भाव और आस्था होने के बाद भी देवालयों के साथ-साथ

मंगल आयोजनों में मुझ अभागी विधवा का प्रवेश निषेध। मेरी कथा तिल-तिल घुटने, घुट-घुटकर मरने वाली कचोट और आँसुओं की कथा है। झरने जैसी मेरी हँसी और पुटुस के फूलों जैसे मेरे नैसर्गिक स्वभाव पर मत जाओ। मेरे हृदय में झाँको, जहाँ अनगिनत घाव और केवल घाव मिलेंगे। संपत्ति पर कोई क़ानूनी अधिकार न रहने के कारण नैहर हो या पीहर, मैं डायन और केवल डायन बन जाने के लिए अभिशप्त हूँ। इस अभिशाप के विरुद्ध अब मैंने मुँह खोलना शुरू किया है। अपने हकों के लिए हम सखियों ने महिला सभा में मिलकर बतियाना और लौह किवाड़ों को धकियाने के साथ-साथ शिक्षा-संस्कृति और भिन्न आर्थिक तथा उत्पादन कुशलता अपनाने के लिए मुख्य धारा से जुड़ने का प्रयास शुरू किया कि व्यभिचारी की व्यवस्था रूपी दीमक लगी दीवारें हिलने लगीं।...और अब तो अपने हक की लड़ाई लड़ने और मुख्यधारा की राजनीति में हस्तक्षेप करने के गुनाह में भी सुबोधी मरांडी के रूप में मुझे सदा-सदा के लिए शांत कर देने के लिए भी डायन बनाया जाने के संदर्भ में अब नए आयाम जुड़ने लगे हैं।

अन्य समाज की तरह आदिवासी समाज भी महिला एवं पुरुष की सहभागिता से बना है। आदिवासी समाज की संरचना में पुरुषों से कहीं चार गुना ज़्यादा महिलाओं का योगदान है। आदिवासी अर्थव्यवस्था की मैं ही मेरूदंड हूँ। गाँव से बाहर जाकर शहरों में कमाती हूँ मैं। जंगल-झाड़, खेत-खलिहान, अन्न के दाने-दाने और एक-एक पैसा मेरे श्रमस्वेद से भीगे हैं। घर के अंदर और बाहर की दीवारें मेरी रुचि, कल्पनाशीलता और मेरी मेहनत की कथा हर राहगीर से कहती है।...लेकिन हाय रे मेरे नसीब की विडंबना! संपूर्ण चल-अचल संपत्ति का मालिक हँड़िया-दारू पीकर मेरे ऊपर ही अत्याचार करने वाला मेरा पुरुष है।

यह झूठ है कि ज़मीन सहित समस्त प्राकृतिक साधनों पर व्यक्तिगत नहीं, सामुदायिक स्वामित्व है। पहले रहा होगा ऐसा। ये बीत गई बातें हैं। जब खतियान बना, सरकार को मालगुज़ारी दी जाने लगी तो खतियान में नाम चढ़ा पुरुष उत्तराधिकारी का। पुरुषों में अगर मेरा पिता वृद्ध है या वह मर गया तो संपत्ति हड़पने के षड्यंत्र में मुझ अविवाहित को गाँव से खदेड़ देने में समुदाय को कोई शर्म नहीं। पहले समुदाय में थोड़ा-बहुत मूल्य था। इस वजह से संयुक्त परिवार था। लोगों में सामुदायिक एवं सामूहिकता की भावना थी। तब इज़्ज़त-आबरू की भी फ़िक्र थी। तब मैं भी गाँव की बेटी और बहन थी। कुल, समाज और पाशविक स्वार्थ ने, ग्राम प्रधान की लोलुपता और पंचकुलीनों की चाटुकारिता ने सबको तहस-नहस कर दिया।...और आज न मैं घर की हूँ न घाट की। किसी के मन की मुराद न पूरी करने पर भी डायन बन जाना मेरी नियति है।

लेकिन मैंने अपना उत्कर्ष भी देखा है। कभी संतालों की आदि माता पिलचू बूढ़ी (औरत) थी। मेरी उँगलियों पर तब नाचता था मेरा सखा और संतालों का आदि पिता पिलचू हाड़ाम। वह मेरा मुँह निहारता रहता। मेरे एक चुंबन के लिए वह फूलों का हार गूँथता। मेरे अंग-अंग को फूलों से रचकर मेरी वेणियाँ सजाता। पलाश फूलों की लाली मेरे गाल पर मलकर मुझे रिझाने के लिए वह घंटों नाचा करता था। तब हम दोनों समान थे, एक-दूसरे के पूरक। पूरी प्रकृति की, पूरी धरती की तब मैं स्वामिनी थी और वह मेरा मुख हेरने वाला मेरा मुग्ध दास। एक दिन मेरे पास देवदूत लिटा आया। अनुनय कर उसने मुझे मदिरा तैयार करने की तरक़ीब सुझाई और ज़रूरी सामग्री दी। इसके उपकरण भी उसी ने दिए। पिलचू हाड़ाम के आग्रह पर मैंने मदिरा तैयार की। ईश्वर, धरती और वनस्पति को अर्पित कर,

उसने बाँस के चषक में मुझ वनदेवी को भी अनुनय के साथ मदिरा दी।...और मदिरा के खुमार में वह आलिंगन के लिए निहोर करने लगा। कुछ अनुनय, कुछ अपनी नैसर्गिक माँग और लालसाओं का उद्दीमन...उद्दाम सिहरन...उस दिन के संभोग के बाद पिलचू हाड़ाम में इसकी ऐसी उद्दाम प्यास जगी कि मुझसे चौदह संतानें हुईं—सात बेटे और सात बेटियाँ। कालांतर में सातो बेटों को लेकर पिलचू हाड़ाम यूरूवीर चला गया और सातों बेटियों को साथ लेकर मैं सूड़कूवीर चली गई।

कई सालों के बाद उधर से सातो जवान लड़के और इधर से सातो जवान लड़कियों की मुलाक़ात हुई। जवान लड़कों की लालसाएँ ज्वार भरने लगीं। सातो आदिसंताल युवक इन सात आदिसंताल युवतियों पर लट्टू थे। पूरी तरह नतमस्तक, एक मुस्कान पर कुछ भी अर्पित कर देने को तत्पर। इन सात जोड़ों का सम्मिलन कालांतर में सात संताल कुलों का विकास और उन्हीं सात कुलों से आज का पूरा-का-पूरा संताल समाज।...तब मेरी इज़्ज़त थी, गरिमा थी। सब कुछ की मैं बराबर की हकदार थी। लेकिन आज जब मैं जन्म लेती, मेरे प्रति प्रसवगृह से ही भेदभाव शुरू हो जाता। मेरे भाई के लिए कुछ और, और मेरे लिए निकृष्टतम। और भू-संपत्ति पर मेरे अधिकार का तो कोई प्रश्न हीं नहीं।

आज मेरा पुरुष प्रथागत क़ानून के द्वारा समस्त शक्तियों का मालिक है। उसे अधिकार है कि मुझे छोड़कर वह दूसरी, तीसरी को बिठा सकता है। ज़रूरत मुझसे मन भरने की है। और बच्चे हो जाने के बाद मुझसे उसका मन भर जाना कठिन भी नहीं। इसलिए कि संताली समाज में तलाक के बाद खोरिश की कोई व्यवस्था नहीं। पूरी निरंकुशता है, जंगली क़ानून है और यह अराजकता, जंगली क़ानून, जातीय परंपरा क़ानून का अटल प्रच्छन्न विधान है।

यहाँ औरत-मर्द सभी काम कर सकते हैं और समान काम के लिए समान पगार की व्यवस्था है। लेकिन ज़रूरत होने पर भी मैं हल नहीं जोत सकती, चाहे मेरे खेत में लाख बिगाड़ हो और कोई हल जोतने वाला न हो। मजबूरी में भी मेरे हल जोतने से धरती उलट जाएगी, प्रथागत क़ानून की पगड़ी गिर जाएगी। ऐसा करने पर सजोनी किस्कू के रूप में बैल बनाकर मुझे भी हल में जोत दिया जाएगा। ज़ुर्माने के रूप में मेरे घर के अनाज, गहने और जानवर बेच दिए जाएँगे।...इतना नारकीय और त्रासद है मेरा जीवन। अगर मेरा घर चू रहा है, मैं अपना छप्पर नहीं बना सकती। इस गुनाह की भी वही सज़ा है। मगर मुझ विधवा को घर से निकालने वालों, मेरी देह न पा सकने पर डायन का अभियोग लगाने वालों या पिताहीन मुझ कुँआरी को देह देने के लिए डायन बनाने का षड्यंत्र करने वालों के लिए आदिवासी प्रथागत क़ानून में कोई व्यावहारिक व्यवस्था नहीं। आदिवासियों का सामुदायिक स्वरूप और संबंध तो इतना टूट चुका है कि कल मैं गाँव की बेटी थी, बहन थी। आज लोग मुझे नोच लेना चाहते हैं। न तैयार होने पर मेरे माथे पर बेशर्मी से डायन लिख देते हैं। इसे रोकने वाला भारतीय संविधान इस मामले में निष्क्रिय है। उसकी यह निष्क्रियता आदिवासी पुरुषसत्ता और प्रधानी व्यवस्था को टिकाए रखने के लिए है।

लेकिन संताल विद्रोह के पहले हमारी यह गति न थी। संताल विद्रोह के आंतरिक और बाह्य कारकों का विश्लेषण कर भविष्य के विद्रोहों की समस्त संभावनाओं को निर्मूल करने की प्रक्रिया में मुझे संपत्ति से वंचित करने के साथ-साथ संतालों की भावी पीढ़ियों को भी पुरातन सामंती व्यवस्था-प्रधानी व्यवस्था में जकड़ देनेवाले अंतर्वस्तु के आधार पर 1855 में अलग संताल परगना ज़िला का गठन कर 1872 में संताल परगना सेटलमेंट रेगुलेशन एक्ट बनाकर

अंग्रेज़ों ने सामाजिक क्रांति के पूर्व तक के लिए मेरा रास्ता बंद कर दिया। 1922 से 1932 के बीच प्रकाशित गैज़र की रिपोर्ट ने तो रही-सही कसर इस हद तक पूरी कर दी कि संताली औरतों को संताली समाज के पाँच कुलीनों के रहमो-करम की दासी बना दिया। अंग्रेज़ गैज़र की रिपोर्ट के मुताबिक़ संताली प्रथागत क़ानून को वैध और संताली औरतों को भू-संपत्ति पर अधिकार से वंचित कर दिया गया।

आज़ादी के पचास वर्षों बाद भी दुनिया में सबसे बड़े जनतंत्र की दुहाई देनेवाले, अंग्रेज़ों की श्रेणीबद्धता को और मज़बूती देकर संस्थाबद्ध करनेवाले पाखंडी भारतीय स्वतंत्र समाजवादी गणराज्य के पुरुषसत्तावादी कायर नेता और संसद ने एक बार भी नहीं सोचा कि इस आरोपित ग़ुलामी की स्थिति में उत्पीड़ित हम नामुराद संताल औरतों के लिए आज़ादी का मतलब क्या है? इसके संविधान का हमारे लिए मतलब क्या है? फिर इस तथाकथित आज़ाद मुल्क में रहकर हम आज़ाद कैसे हैं? ताज्जुब तो तब होता है जब न्याय का तुला हाथों में लिए नागरिकों के संवैधानिक अधिकारों की रक्षक न्यायपालिका को भी अपने मामले में हम धृतराष्ट्री मुद्रा में हतमूल हो भीष्म की भूमिका में देखतीं। क्या हमारे नागरिक अधिकारों की रक्षा आपका विषय नहीं? जब संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान में इतने-इतने संशोधन हो सकते, तो प्रथाग़त क़ानून में आख़िर क्यों नहीं? अगर, आपके विषय नहीं तो फिर आपका औचित्य ही हमारे लिए क्या है।

ऐसे में अगर हम संताल औरतों के मन में यह बात उठती है कि औरतों के प्रति नैतिकता और अधिकार की बातें, राजनीतिक फ़ैशन में, केवल आधुनिक जुगाली की बातें हैं तो क्या ग़लत है? असल बात अभिजनमुखी दुहरे चरित्र वाले इस अधकचरे लोकतंत्र में सवाल वोट का है। और यह वोट गाँव के पाँच जातीय प्रमुख-गाँव के प्रधान, जोगमांझी, पारणिक (ओझा-गुणी), नाईकी और गुड़ित के प्राधिकार से बँधा हुआ है, जिसे चढ़ावा देकर या जाति के नाम पर प्राप्त कर लेना कठिन नहीं। फिर हमारे अधिकार और इसके प्रति उनका कर्तव्य आदि पर विचार, राजनीतिक भावुकता होगी। और ग़ैरों के प्रति भावुकता सत्तावादी राजनीतिक भौतिकवाद के लिए कब से वरेण्य है, यह त्याज्य मूल्य।

आज पूरी दुनिया, वैज्ञानिक मान्यताओं और समाज विकास के आधुनिक तर्कसंगत सिद्धांतों पर चल रही है। यही नहीं विकास की सारी प्रक्रिया, विकास के उच्चतर सोपानों पर ऊर्ध्वमुख, सभ्यता के ऊपरी शिखर की ओर बढ़ रही है। मगर मेरा संताल समाज आज भी हज़ारों वर्ष पुरानी जंगली मान्यताओं और हास्यास्पद अंधविश्वासों पर विश्वास करने वाला है। यह वैज्ञानिक समझ और चिंतन से दूर, झाड़-फूँक, टोना-टोटका, भूत-प्रेत आदि प्रर आँख मूँदकर विश्वास करनेवाला, पाखंडी, प्रपंची ओझा-गुणी और मुझे संपत्ति से अलग करनेवाले परिजन या देह न पा सकने पर क्रुद्ध दुर्जन या मुझसे पिंड छुड़ाने वाले मेरे पति को मदद करने वाला है। और दारू, मुर्ग़ा, पाठा (बकरा), थोड़ा चावल और थोड़ी रक़म पाकर ख़ुश हो जानेवाले ओझा-गुणी से एकता क़ायम कर अपने पक्ष में रज़ामंदी हासिल कर लेना कठिन नहीं।

...और ओझा-गुणी का ख़ुश होना—हमारा डायन बनाया जाना, डायन बनाकर जातीय बिरादरी के लोगों के लिए मांस और शराब हेतु जुर्माने की मोटी रक़म के साथ-साथ मेरा जलाया जाना, मार दिया जाना या गाँव से भगा दिया जाना मेरे नसीब का नहीं, भारतीय संविधान और संसद तथा न्यायपालिका का खेल है, जिसने मेरे नसीब का फ़ैसला करने के लिए संतालों के प्रथागत क़ानून को अधिकृत कर रखा है। क्या इसे झकझोरने की ज़रूरत नहीं?

यह संविधान और न्यायपालिका का मेरे साथ खेल नहीं तो और क्या है? मैं भी भारतीय गणराज्य की नागरिक हूँ। मगर 1956 में मुझे और बिरादरी से अलग कर हिंदू औरतों को पारिवारिक संपत्ति में हिस्सा देने के लिए हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम बनाया गया। मुझे उसी समय छोड़ दिया गया। आदिवासी प्रथागत क़ानून के सामंती शिकंजे में, जिसे जुलियाना लकड़ा के मामले में अपने 17 अप्रैल 1996 के फ़ैसले के द्वारा भारत की सुप्रीम कोर्ट ने वैधता, संस्थाबद्धता और लौह मज़बूती दे दी।...ऐसे में हम संताल औरतों को अब शर्म आती है स्वयं को आज़ाद कहने में। पहले क्रिश्चियन को छोड़कर हिंदू समेत समस्त समुदाय के लोग प्रथागत क़ानून से ही बँधे थे। मगर आज वे इसके लौह शिकंजे से मुक्त हैं और उन्हें इस शिकंजे में कसने की हर कोशिश संवैधानिक दायरे में जुर्म है। फिर मैं क्यों नहीं इससे मुक्त हूँ। जिस संताल प्रथागत क़ानून की गिरफ़्त में हूँ, वह तो पूर्णतः आदिकालीन और अंधविश्वास वाली धारणा पर आधारित है।

हमारे संताली मौलिक धर्म के अनुसार हमारे दिवंगत पूर्वजों की प्रेतात्मा आज भी अपने वंशजों के साथ है। वे कल भी साथ रहेंगे। इन पूर्वजों की प्रेतात्मा को अपने वर्तमान उत्तराधिकारियों से ही अन्न और जल मिलता है। भविष्य में भी इन्हें यह अपने भावी उत्तराधिकारियों से ही मिलेगा।... इस अंध-धारणा के तहत हमारे संताल आदिवासी समाज में भू-संपत्ति का उत्तराधिकार एक पिछड़े विधान के तहत केवल पुरुषों को दिया गया है। मैं तो औरत हूँ। पराया धन। विवाह के बाद ग़ैरों के घर चली जाऊँगी। मैं पितरों को कैसे अन्न-जल अर्पित कर सकती हूँ? तब भूखे-प्यासे पितर कुपित होंगे।...इसलिए अन्न और जल का आधार-ज़मीन और संपत्ति पर मुझ पराया धन संताल औरत का कोई अधिकार नहीं।

आज हमारी बहने अपनी त्रासद नियति से परेशान हो अपने हक के लिए लड़ने लगी हैं। चूँकि इस हक से वंचित होने के कारण हम इंदिरा आवास, ग़रीबी सीमा रेखा से ऊपर उठाने वाला सरकारी प्रोत्साहन, बैंक क़र्ज़ या राशन कार्ड भी नहीं हासिल कर सकती। हरेक लाभ से ऐसे में हम वंचित रहने को अभिशप्त हैं। इसलिए महिला सभा बनाकर बहनों ने बेटियों का ज़मीन पर अधिकार की लड़ाई शुरू की है। इस पर पुरुष सत्तावादी सवाल दाग़ रहे हैं। बेटियों को ज़मीन पर अधिकार माँगने के कारण मुझे कुलटा भी कह रहे हैं। उनका कहना है कि ज़मीन हासिल करने की नीयत से दिकू लोग मुझे फुसला लेंगे।...इस तरह के अनर्गल आरोप एक संगठित साज़िश के तहत हमारे संगठन को कमज़ोर करने के लिए लगाए जा रहे हैं। इस साज़िश का उद्‌भेदन ज़रूरी है। और यह हमारी संगठित शक्ति से ही संभव है।

ओड़िया कविता

ममतामयी चौधरी

टाइपिस्ट बेटी की माँ

कि पसीना बहता रहता है
देह से सभी ऋतु में
घर पहुँचने से पहले दुर्गंध
पहुँच चुकी होती घर में
उसको सूँघ सूँघ
माँ दरवाज़ा खोलती है
बेटी कुर्सी पर बैठ
हमेशा की तरह अँगड़ाई लेती
चटकाती उँगलियाँ
उस समय जल रहा होता एक
गंदा बल्ब
लो वोल्टेज में।
माँ पूछती
जाते समय
ये दाग़ तो नहीं था तेरे गाल पर!
कहती, सब जाए भले
इज़्ज़त बची रहे
तेरे वैनिटी बैग में एक मर्तबा
देखी थी किसी लड़के की कंघी जिसमें
छोटे-छोटे बाल लगे थे।
झरोखे के रास्ते साँझ की सुरभि
झपटती बेपरवाह भैंस-सी

बेटी हाथ मुँह धोती
साड़ी बदलती चाय बनाती
झरोखे नज़दीक खड़ी
कुछ विकलती, सीझती
उम्र को गुज़ारती
माँ हिसाब रखती पैसों का
ऋतुस्राव का
दाग़ का, भिन्न-भिन्न भाव का
कहती चरित्र न हो तो सब असार!

ओड़िया की चर्चित कवयित्री ममतामयी चौधरी के कई कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : अध्यापिका अर्थनीति, जवाहर नवोदय विद्यालय, मुंडली, कटक-754006

अनु. महेंद्र शर्मा ओड़िया-हिंदी में परस्पर अनुवाद करते हैं। संपर्क : पूर्व प्राचार्य, एन-61503, आई. आर. सी. विलेज, भुवनेश्वर

सपने में टाइपिस्ट बेटी
मुड़ी-तुड़ी होती जब
माँ नींद से उठाती
कहती पानी के छींटे मार मुँह पर

एक टाइपिस्ट लड़की को
इजाज़त कहाँ
सपने देखने की!

कभी-कभी छुट्टी के दिनों में
उसे कुछ ऋतुओं का
सामना करते वक़्त भी
लगते हैं सब संबंध महज़
टाइप के अक्षर
और दुनिया
एक मॉडल
टाइप मशीन।

टांगाइल साड़ी-1

लिखी थी भेजने को
अच्छी साड़ी
बोमकई, कोसा या
पहाड़ी पहाड़ी पाट संबलपुरी
तूने भेजी लेकिन खदड़ी टांगाइल

गाँव बाज़ार में
दुकानदार राम साहू
हो साड़ी सूची में
मेरी सोननाकी
ननद का मन मानता नहीं।
एक बच्चा होने के बाद
अब घर में
ननद का मन पिराता है हमेशा
कभी-कभी देह भी
ननदोई की आड़ी-टेढ़ी बातों से
टांगाइल साड़ी से देह ढँकना
जानने वाली बेटी

सच में माँ का
श्रृंगार रस क्या जाने।

मेरे लिए तो
सीधी-सादी सूती चाहिए
जिससे पसीना पोंछा जा सके
आँसू पोंछा जा सके
पिराती पीठ की ओर
देखा न जा सके
जिसका आँचल लेकर की जा सके
ख़ुद के सपनों की चोरी
पर तूने भेजी
दुकानदार राम साहू वाली टांगाइल साड़ी।
मैंने शादी की थी
वर से, नहीं घर से, हाँड़ी-चूल्हे से
ननद देवर कुछ कुंठाओं
आधे-अधूरे उग रहे ठूँठ से।
अब 'पाणी' देती 'गउणी' देती
नहीं तो बोमकेई या सोनपुरी
ये क्या दी टांगाइल साड़ी।
न आगे गले को आए
ना अग्नि परीक्षा में काम आएगी
तुझे मालूम नहीं क्या
कैसी तकलीफ़ होती है
खदड़ी टांगाइल पहने
घर बसाना!

टांगाइल साड़ी-2

कान को फूल
नाक को बेसर
हर पर्व में दी
टांगाइल साड़ी
और क्या दूँ?
ख़रीद फ़रोख़्त से
बची तीन पाव ज़मीन से
पाँच बीघा बेच चुकी।

तेरे हाथ सजा मेरा घर
तेरे पाँव रखते पल में वहाँ
कैसे उजड़ गया
दामाद कह रहे थे उस बार
अब माँ बेटे
भाई बहन में ख़ाली मनमुटाव
ख़ास तेरे कारण
एक अकेली रात
एक बार मेरे बरामदे पर
चाँद उगा था
क्या हुआ कि इन कुछ ही दिनों में
वहाँ पूनम में अमावस हुआ।
बाड़ी में झूले पर
दुख झूल रहा है मेरा
बेकार भाई गया है
नासिक, नहीं ख़बर
बेटे की चिंता में रक्तचाप तेरी माँ को
अब दो जून परवल न सही
दवा तो चाहिए ही।
तेरी पीठ का दाग़
तेरा भाग्य
तेरी आँखों के आँसू
छाती की हूक
समझ दुर्भाग्य
बोल कोरे आकाश के टुकड़े पर,
अगर हठात् कोई
बुन दे स्याही-सा मेघ
तो ये मौसम है या क़िस्मत
कनस्तर भर केरोसिन से
चार हाथ की फाँसी डोर से
एक आत्महत्या में
तेरी टांगाइल साड़ी की देह
और एक बार जन्म लेती है
फिर अभावग्रस्त घर में
मरने को और एक बार

अपर्णा महांति

नष्ट नारी-1

प्रथम रमण निद्रा
द्वितीय रमण स्वप्न
तृतीय रमण
पूर्ण जागरण।
सहस्र दल कमल में
नित्य रति रचने का
भावातीत परम मुहूर्त
चतुर्थ रमण।
प्रथम के निकट ही
'सती' नारी को
रोके रखता है संसार
आरंभ से।

गर्भाशय के खुले गली-रास्ते के सिवाय
अन्य सभी अनुभव के
पथ बंद होते हैं
संबल सिर्फ़ आँसू
गवाह होती है
अग्नि की लपट

दूसरे में होता है
एकाकिनी
असती का घर
देह एक की
आत्मा किसी की और
फिर भी स्वप्न का मुँह
दिखता नहीं आँखों को

दृश्य देह
दृश्य दहन
अदृश्य दोष
तीसरे में
रमणी की रमणीयता
आह!
सचमुच देखने की बात

ओड़िया कवयित्री अपर्णा महांति के कई कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : ओड़िया प्रवक्ता, केंद्रपाड़ा कॉलेज, केंद्रपाड़ा, (ओड़िशा)

अनु. महेंद्र शर्मा

साक्षात् भगवती के
नयन में चंद्र सूर्य
अधर मे मधु कोष
उरोजों में अमृत कलश
आज अंत प्रेम
ईष्ट अभीष्ट प्रेम
प्रेम ही शून्यता उसकी
प्रेम ही सर्वस्व
प्रेम भिन्न
अन्य कुछ
योगायोग-तुच्छता का
आधार कहा जा सकता है

क्षण मात्र प्रेम मग्न
कोई भी पुरुष
प्रेम के
उद्भासित दिगंत भीतर से
बुझ बुझ जाए
रात रति रीति
नष्ट नारी
हीरे से बँधाए छाती
रमने को
चौथा रमण

सुचेता मिश्र

प्रेम की तुलना

प्रेम की तुलना
तुम किसके साथ करोगे
उस स्टेशन से
जहाँ ट्रेन कभी नहीं आती
और जहाँ धीमा धुँधला जलता है
एक बल्ब।

दिन रात खुले
घर के सदर दरवाज़े से
आ सकते हैं अतिथि और ईश्वर

ओड़िया कवयित्री सुचेता मिश्र का जन्म 1965 में हुआ। कई कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : पुराना लीड बैंक रोड, पुलिस लाइन, पुरी-752001 (ओड़िशा)

अनु. महेंद्र शर्मा

फिर भी बाड़ी तरफ़ के नीम गाछ नीचे
क्यों चुपचाप बैठा रहता है प्रेम।

प्रेम की तुलना
तुम किसके साथ करोगे
उस पग चिह्न सहित
किसी की विदाई के बाद भी जो
अनेक वर्षों
छटपटाता है।

प्रेम की तुलना
तुम किससे करोगे
उस हाथ सहित
जो हथौड़ा उठाए
माटी फाड़ फ़सल उगाए
जो प्रासाद अट्टालिका
विधान सभा, कारख़ाना
सब गढ़ सकता है
और जिसे पहननी पड़ती हैं
बेड़ियाँ।

प्रेम की तुलना
तुम किसके साथ करोगे
तुम्हारी देह की चमड़ी सहित
अविकल वही रंग
अभी तक जो
बदल नहीं पाया

प्रेम की तुलना
तुम किसके साथ करोगे
दैनिक दिनचर्या सहित
नमक सहित
पानी सहित
न्याय सहित
जिसकी आवश्यकता
दिन में कई बार
पड़ती रहती है।

दीप्ति दास

मोहब्बत

शर्मीली लता की तरह
मोहब्बत बहकती जाती है
देह की छाँह में

आँखों में झूठे गुमान
देह में हरे प्लावन
होठों पर टूटा-फूटा ज्वार
हाथों में मुट्ठी भर लाख
सीने में आग के पोल
बाँहों में प्रीति के गोलक।

मोहब्बत क्या है?
सिर्फ़ मोहब्बत ही मोहब्बत है।
मोहब्बत तो मरु में गुलाब है
मोहब्बत सावन का आसमाँ है
निदाघ की लू है
जला देती है समुंदर की छाती।

फिर भी मोहब्बत तो
राग की रोशनी है।
आँसुओं का सावन है
खिल गई तो फूल जैसी है
जल गई तो लाख जैसी है
जल सकती है जला सकती है
फिर रोज़ झंकृत होती है
सृजन की वीणा में।

ओड़िया कवयित्री दीप्ति दास का जन्म 1956 में हुआ। इनके सात कविता-संग्रह, एक उपन्यास, तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : अरड़ बाज़ार, बालेश्वर-756001 (ओड़िशा)

ओड़िया, हिंदी, अंग्रेज़ी के परस्पर अनुवादक कार्तिकेश्वर बेहेरा का जन्म 1947 में हुआ। संपर्क : खप्राखोल, ज़िला बलांगीर-767028 (ओड़िशा)

प्यास

आँखों की भी प्यास है
खोजती रहती है
इंद्रधनुष के रंग की दुकान
होंठों की भी है प्यास
खोजती है सिर्फ़
चुंबन की बौछार
रात की भी प्यास है

खोजती रहती है चाँदनी
प्यास भी है मिट्टी की
खोजती है झरने शांति के
आसमाँ की प्यास है
खोजता रहता है भरपूर नदी
तूफ़ान की प्यास है
खोजता रहता है अकेले
मिट्टी-चिथड़े की झोंपड़ी के टूटे घड़े।
वसंत की प्यास है
खोजता रहता है सिर्फ़
प्रीत का ज्वार
मेघ कहीं कितनी दूर
खोजता रहता है प्यासा मोर।
ख़्वाब की भी प्यास है
खोजता है एक विमुग्ध प्रहर
प्रेम की भी प्यास है
खोजता है दिल के घर।
प्यास की भी प्यास है
खोजती रहती है
प्यास की प्याली
फागुन के रंग चढ़ाकर
होती है मतवाली।
मन की भी प्यास है
खोजता रहता है
ममता की बूँद
ज़िंदगी की भी प्यास है
खोजती है जीने का समुद्र।

प्रवासिनी महाकुड़ तिवारी

मेरे भीतर कई नारियाँ

एक नारी है मेरे भीतर
नए वर्ष की तरह
पूरे साल उत्साह से सराबोर
उसमें है सब कुछ नया
मैं हूँ वह नारी

ओड़िया कवयित्री प्रवासिनी महाकुड़ तिवारी का जन्म 1957 में हुआ। चार कविता-संग्रह और एक उपन्यास प्रकाशित। संपर्क : 198, नेब सराय, इग्नू रोड, नई दिल्ली-110068

अनु. 1955 में जन्मे राजेंद्र प्रसाद मिश्र जी ने 30 पुस्तकों को ओड़िया से हिंदी अनुवाद किया है। साहित्य अकादेमी का अनुवाद पुरस्कार उन्हें मिल चुका है। संपर्क : एन. टी. पी. सी., सेक्टर-24, नोएडा 201301

उस नारी में मैं।

एक नारी है मेरे भीतर
आँसुओं से आँसू का सत निकालकर
एक सूक्ष्म संवेदनशीलता लिए
खो जाती है वह रजनीगंधा में
जहाँ कुछ पल जीवन जिया जाता है
अपनी इच्छा से।

एक नारी है मेरे भीतर
अनेक प्राप्तियों और कुछ अप्राप्तियों की
कुमकुम माथे को स्निग्ध करती है कभी
और कभी स्वेदसिक्त।

एक नारी है मेरे भीतर
जिसके भीतर मँडराता रहता है
एक नीलाभ पक्षी।
अस्थिर हैं डैने जिसके।

एक नारी है मेरे भीतर
इतिहास की तरह कभी लंबी है उसकी कहानी
तो कभी मात्र पलक झपकने-सी।
ख़ालीपन भरा एक जीवन
जिसमें पाँच नारियों का
एकत्र अपूर्व समारोह
जबकि नए साल-सी
कोलाहल भरी एक देह
बेहद अन्यमनस्क।

जो नारियाँ हैं मेरे भीतर
उन्हें किस हद तक पहचानती हूँ
नहीं जानती
पर इनमें से प्रत्येक
दूसरे से भिन्न हैं
यह भी नहीं स्वीकारती।

ऐश्वर्य

उसे एक तारा चाहिए था
एक दिन सुबह-सुबह खिड़की खोली तो

हरसिंगार पर झरे हुए थे
मुट्ठीभर तारे।

उसे एक फूल चाहिए था
एक दिन किवाड़ खोलकर देखा तो
खिले हुए थे लाखों-बहँगी कमल
सामने वाले तालाब में।

उसे एक पक्षी से बात करनी थी
आँखों के सामने से
गुज़र गए
असंख्य नील शुभ्र पक्षी
समुद्र से समुद्र की ओर।

एक दिन उसने देखा अतीत की ओर
जबकि देखते वक़्त
ख़ुद बन चुकी थी अतीत।

उसे कोई ख़बर चाहिए थी
एक दिन सुबह देखा तो
वह ख़ुद ही बन चुकी थी ख़बर
अख़बार के मुख्य पृष्ठ की।

एक दिन वह बादल बनना चाहती थी
बरस गई कब
धरती पर
नहीं जान सकी।

एक दिन उसे जल जाना था
देखा तो
सेमल, शाल, पलाश, गुलमोहर ने
असंख्य मशाल जला रखे हैं चारों ओर।

अँधेरे में कष्ट पाती
धरती को चौंकाते हुए
एक दिन उसने चाहा
निकल आएगी अपने भीतर से
पर कहाँ निकल पाई?

तारे, कमल, पक्षी, अतीत
ख़बर, बादल और मशाल ने

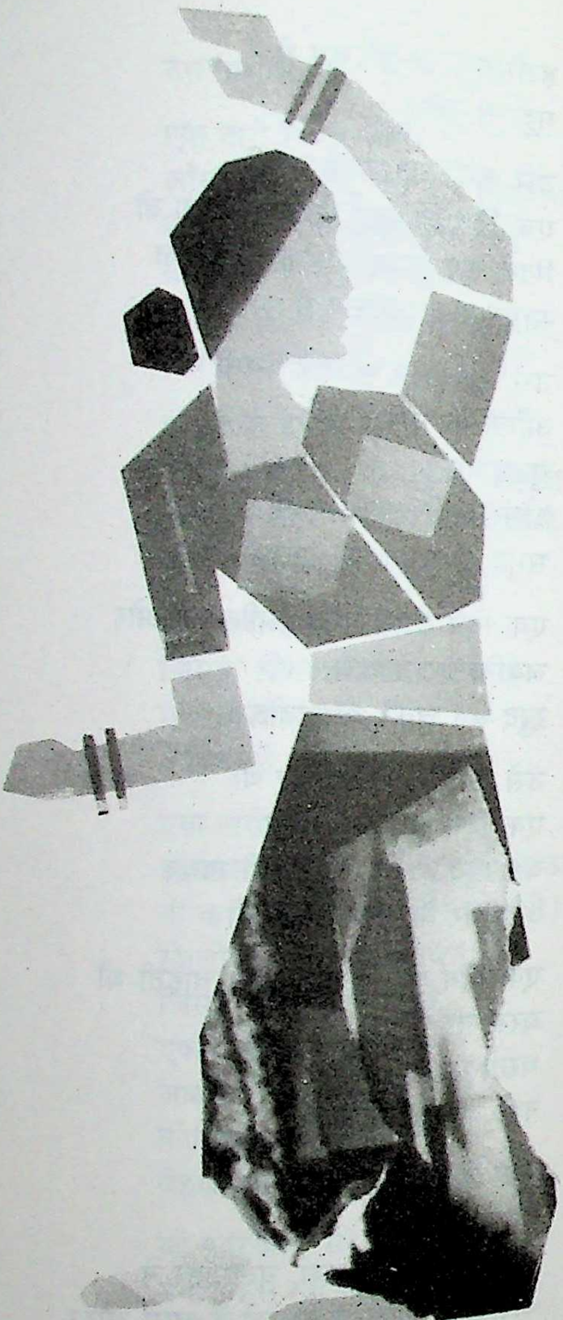

घेर ली थी धरती
उसके चारों ओर की।

फिर पता चला
वह तो इतिहास बन चुकी है
शिलालिपि में, पत्थर के टुकड़े पर
मंदिर के अहाते में।

स्वराजव्रत सेनगुप्त

पण्य-तरणी की कुलीन कन्या

'भरार मेये' लेखक की कपोलकल्पित कहानी नहीं है। उन्नीसवीं सदी में, यहाँ तक कि बीसवीं सदी के पहले दो दशकों में भी पूर्वी बंगाल (आधुनिक बांग्लादेश) के बरिशाल, फ़रीदपुर, ढाका, मैमनसिंह आदि नदी बहुल ज़िलों के गाँव-गाँव में कुलीन कन्याओं की ख़रीद-बिक्री चलती थी। दुर्गामोहन सेन, ब्रजमोहन दत्त, आनंद मोहन बसु, द्वारकानाथ गंगोपाध्याय जैसे समाज-सुधारक तथा नारी-मुक्ति आंदोलन के पुरोगामी सहृदय व्यक्तियों की रचनाओं में (डायरियों, चिट्ठी-पत्रों आदि में) इस क्रय-विक्रय के बहुत से तथ्य मिलेंगे।

'भरार मेये' यानी पण्य की कुलीन कन्याओं के संबंध में सुंदर दी का जो गीत दिया गया है, वह प्रख्यात इतिहासकार डॉ. सुरेंद्रनाथ सेन के एक निबंध से लिया गया है।

संपादक

शीतऋतु की एक शाम को कुलीन कन्याओं को लेकर नाव जब मोहनपुर के बहुडुबि के घाट पर आई और सेमल के एक मोटे मूसले से उसका रस्सा बाँधा गया, तब कालाजीरा नदी का पानी भाटे में घटकर पाँच-सात हाथ नीचे उतर गया था। घाट में चढ़ने-उतरने के लिए खजूर के पेड़ का जो तना बिछा हुआ था वह कछारी मिट्टी से ढँककर फिसलनवाला बन चुका था। दाहिने हाथ में हुक्का पकड़े और बाएँ हाथ में चादर की ओट में अथरी-भरी तूष की आग सँभाले माधव गुसाँई नाव से उतरते समय खजूर के पेड़ के तने पर पैर रखते ही अपने को सँभाल न सका और नीचे कीचड़ में धड़ाम से गिर पड़ा। हुक्का-चीलम छिटककर पानी में जा गिरा। चीलम तो पानी में डूब गया और हुक्का नदी की धारा के साथ-साथ बह चला। तूष की आग की चिनगारी धोती, चादर और बदन पर लग गई। बदन में जगह-जगह पर जलन हुई।

''उफ़, आह, मर गया रे, मर गया!'' माधव गुसाँई कराह उठा। कीचड़ से लथपथ होकर किसी तरह अपने को सँभालकर अपने पैरों पर खड़ा हुआ कि नहीं फिर चित होकर खजूर के पेड़ के तने पर गिर पड़ा। अब की बार कमर में ज़ोर की चोट लगी और वह रो पड़ा।

नाव के छप्पर के नीचे जो तीन कुलीन किशोरी कन्याएँ अपने माँ-बाप के ऊपर रोष के कारण तथा भाई-बहन, घर-बार छोड़कर आने के दुख से आँसू से अपने पल्ले भिगो चुकी थीं, वे भी

बाङ्ला और अंग्रेज़ी के रचनाकार स्वराजव्रत सेनगुप्त का जन्म 1935 में हुआ। कहानियों और समीक्षात्मक निबंधों के कई संग्रह प्रकाशित। संपर्क : 11, अश्विनी दत्त रोड, नवग्राम, ज़िला हुगली 712246 (प. बंगाल)

अनु. ननी शूर के हिंदी, अंग्रेज़ी तथा बाङ्ला में परस्पर 125 कहानियों के अनुवाद। साहित्य अकादेमी के अनुवाद पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : 63, विद्यासागर रोड, नवग्राम, ज़िला हुगली 712246 (प. बंगाल)

खिलखिलाकर हँस पड़ीं। माधव गुसाँई ग़ुस्से से भड़क उठा, कड़ककर बोला, ''अभागिन छोरियों! तुम किस ख़ुशी से खिलखिलाती हो री! मैं तुम्हें पार करने आया, इसीलिए तो मेरी यह दुर्गत है। उफ़, मेरी कमर शायद टूट गई हो। अगर मुझे अच्छे दाम न मिले तो तुम्हें इसका मज़ा चखने को मिलेगा। तुम्हें मैं तुम्हारे माँ-बाप के पास फिर कभी वापस नहीं ले जाऊँगा। वे तुम्हें फिर अपने घर लेंगे भी नहीं। रुपया-पैसा तो उन्होंने पहले ही गपक लिया। मैं तुम सबको मँझधार में ले जाकर पानी में फेंक दूँगा और ख़ाली नाव लेकर वापस चला जाऊँगा। तब तुम सबकी खिलखिलाहट ग़ायब हो जाएगी।''

अचानक मन में कुछ ख़याल आते ही फटिक माँझी की लग्गी पकड़कर वह किसी तरह उठ खड़ा हुआ और नाव के छप्पर के अंदर मुँह बढ़ाकर कहा, ''ओ कुसुम! मैंने तुझे कोई गाली नहीं दी। तू मेरी लछमी बिटिया है, मैंने उन दोनों काली-भुच्च कलमुँहियों को ही गाली दी। देखने में जैसी बेढब सकल-सूरत की हैं, सुलूक भी वैसा है। देखूँ किस कुलीन का बेटा उन्हें अपने घर ले जाएगा! कोई उन्हें नहीं अपनाएगा। सतरा-बहतरा भी मुँह फेर लेगा।'' फिर बुदबुदाया, ''मैं तुझे एक अच्छे वर के हाथ सौंप दूँगा। लछमी के बदले मुझे लछमी मिलेगी। अभिराम घोषाल अगर एक बार तुझे देख ले तो फिर मुँह फाड़कर रह जाएगा। वह मुझे मुँहमाँगे दाम दे देगा। कुसुम, अरी मेरी प्यारी बेटी कुसुम! तू छप्पर के भीतर चुपचाप बैठी रह, हुटहाट करके नाव की गलही पर मत चली आना।'' फिर फटिक को चेतावनी दी, ''फटिक! तू इन पर कड़ी निगहबानी करना। मैं अभी आया।''

कीचड़ से लथपथ धोती और चादर पहने ही माधव गुसाँई तेज़ी से जाड़े के दिनों के कुहासे-भरे अँधेरे-धुँधरे में किधर ग़ायब हो गया पता नहीं। छप्पर के भीतर तीन कमसिन लड़कियों की फुसफुसाहट चल रही थी। आवाज़ ज़रा भी ऊँची होते ही फटिक माँझी फटकार उठता था। लंबी लग्गी हाथ में थामे वह सीधा तनकर खड़ा था। पैनी नज़रों से वह इधर-उधर ताक रहा था। नावों में भर-भरकर कुलीन कन्याओं को एक गाँव से दूसरे गाँव ले जाकर बेच दिया जाता है—यह ख़बर बरिशाल ज़िले के सदर में मजिस्ट्रेट साहब के कानों में पड़ गई। ब्रजमोहन दत्त तथा दुर्गामोहन सेन कुलीन कन्याओं की बेचा-बेची के विरुद्ध शहर में सभाएँ कर रहे थे, पत्र-पत्रिकाओं में लेख भी लिख रहे थे। पुलिस के मोटर लाँच और नाव जब-तब नदी-नहरों में टहलती फिरती थीं। ज़माना ख़राब था, डाकू लोग भी झपट्टा मारकर तीनों लड़कियों को लूट ले जा सकते थे। फिर दूर के किसी गाँव में ले जाकर सस्ते में बेच सकते थे। इनको ख़रीदने वाले कुलीन ब्राह्मणों, वैद्यों या कायस्थों की तो कमी नहीं। इस इलाक़े में माधव गुसाँई जैसा विश्वस्त दूसरा कोई नहीं है। बहुत सालों से वह कुलीन के घर कुलीन कन्याओं की ही आपूर्ति करता आ रहा है। कुलीनता में मिलावट कर उसने कभी किसी कुलीन घर की कुलीनता में कालिख़ नहीं पोती।

छप्पर के भीतर बातासी और विलासी कुसुम को सता रही थीं। वे कुसुम की लंबी चोटी पकड़कर खींच रही थीं, ठोड़ी पकड़कर दबा रही थीं, गोरे-गोरे गाल पर चिकोटी काट रही थीं, फिर उसकी छातियों पर हाथ रखकर बोलने लगीं, ''वाह, वाह, दो अधपके बेल-जैसे हैं। हम तो तेरी ही उम्र में सूखकर झड़ गईं। काने-कुतरे, बहरे, लँगड़े के सिवा हमारे भाग में कुछ नहीं है। हमारा रंग तेरे जैसा गोरा नहीं। हाँ, हम काली-कलूटी ही सही, पर और किस बात में हम तुझसे खोटी हैं। हमसे सब कुछ छीन-झपटकर किन्होंने हमें सीठी बनाई, हम अभागिनें किससे यह शिकायत करें?'' ऐसा कहते-कहते बातासी अपना सर पीटने लगी। विलासी ने कहा,

"किसने मुझे यह नाम दिया? मेरे माँ-बाप ने तो कभी भी मुझे इस नाम से नहीं पुकारा। वे तो मुझे 'मुई' कहकर ही पुकारते थे। एक दिन तो उन्होंने मुझे तालाब के पानी में डुबोकर मार डालने की भी कोशिश की थी। अचानक हाराधन नाना वहाँ आ धमका और मुझे बचा लिया। हाय रे बचा लिया! नहीं बचाता तो अच्छा होता! वह बूढ़ा खूसट भी एक जानवर ही निकलेगा, यह कैसे सोच पाती। अबकी बार किस बुड्ढे बदमाश के पल्ले पड़ूँ, कौन जाने!"

फटिक माँझी ने फटकार लगाई। वे दोनों चुप हो गईं। कुसुम कुछ भी बोल नहीं रही थी। घुटनों के बीच मुँह रखकर वह अपनी कल्पना में खो रही थी, अपने दाशुदा की बात सोच रही थी—ओ दाशुदा! तुम भी ठहरे डरपोक, कायर!

नगेन पंडित का बेटा दाशुदा-दाशरथि घोष। वे दोनों एक साथ नगेन पंडित की पाठशाला में पढ़ते थे। पंडित जी की उम्र ढल चुकी थी, सो आजकल दाशुदा ही पाठशाला का पंडित बना। दाशुदा ने दो-एक कक्षाएँ पास भी की, उसे छात्रवृत्ति भी मिली। कुसुम ने भी हिज्जे लिखना सीखा था, एक से सौ तक की गिनती सीखी थी, दस तक के पहाड़े भी सीखे थे। कितनी उम्र है दाशुदा की—उससे तीन या चार साल ही तो बड़ा था। पर कितना धीर-गंभीर चेहरा लेकर एक सफ़ेद चादर कंधे पर डाले पाठशाला की ऊँची वेदी पर जा बैठता था। कुसुम कितने दिन दूर से हँसकर, मुँह बिचकाकर भाग जाती थी। दाशुदा देखता तो आँखें तरेरकर धमकी देता था। हँसते-हँसते वह पोखर के घाट पर जा बैठती थी। उदास होकर मन-ही-मन कहती थी कि "ओ दाशुदा, तुम्हें भले ही छात्रवृत्ति क्यों न मिले और तुम पंडित ही क्यों न बने, पर तुम तो कुलीन बाभन नहीं हो।" पानी में अपनी छाया की तरफ ताक-ताककर वह सोचती थी, "मैं तो एक छाया मात्र हूँ, मेरा कोई मन नहीं, तन भी नहीं, मेरी इस काया की कोई क़ीमत भी नहीं।" माधव गुसाँई पिताजी को पटाने के लिए दिन-रात बार-बार आने-जाने लगा। लगता है, मैं शीघ्र ही किसी दिन एक भरार मेये यानी पण्य की कन्या बनकर किसी दूर देश में पानी के नीचे इसी छाया की भाँति डूबती-तैरती रहूँगी।

दाशुदा ने एक दिन उसे कुछ खारे-आखारे ताड़ के पत्ते दिए थे। उन पत्तों को उसने बहुत दिनों तक बहुत जतन से एक गुच्छे में बाँधकर सँजो रखा था। एक दिन उसने देखा कि वे पत्ते ग़ायब हैं। पूछने पर बुआ ने बताया कि धान को उबालते समय उन्होंने उन पत्तों को चूल्हा जलाने के लिए चूल्हे में झोंक दिया था। सुनकर उस दिन वह बहुत रोयी थी। माँ ने भी बुआ से शिकायत भरे स्वर में कहा था, "आपने हमारी बिटिया के ताड़ के पत्तों को क्यों जला डाला? ताड़ के पत्ते तो विद्या होते हैं, विद्या को कोई आग में जलाता है क्या?"

पिताजी ने उस दिन माँ-बेटी दोनों को धमकाकर चुप करा दिया था।

माधव गुसाँई और उसके साथ दूसरे अनजान आदमियों का वार्तालाप सुनकर तीनों लड़कियाँ भय और आतंक से एक-दूसरे से सटकर बैठ गईं। बातासी और विलासी कुसुम से थोड़ी-बहुत डाह तो करती थीं ही, पर उससे प्यार भी करतीं। उनके अपने जीवन में कितने दुख और कष्ट आनेवाले हैं, उन्हें इसका पता है—वह तो टूटा हुआ, फूटा हुआ, सूना जीवन है, फिर काल-प्रवाह के साथ बह जाएगा, पर अपने ही मोहनपुर गाँव की एक शांत सुशील सुंदर कन्या पण्य की अन्य कन्याओं की भाँति बह जाएगी, यह उन्हें मंजूर नहीं। पण्य की अन्य कन्याओं की भाँति कुसुम बह न जाए। बचपन में जब उनके मुँह में बोली तक नहीं फूटी थी, वे अपनी दादी-नानी के मुँह से पण्य की कन्याओं के जीवन की दुखभरी कहानियाँ सुनती आ रही थीं। अपने गाँव में बेवा दादियो-नानियों की तो कमी नहीं

थी। उनमें दो-चार 'भरार मेये' यानी पण्य की कन्याएँ भी थीं। किस मुल्क से बहती हुई आकर वे भी समाज व संसार का जंजाल बनकर जंजाल में ही खो गईं। उनमें सभी तो बातासी और विलासी की तरह काली-कलूटी कुरूप कुत्सित भी नहीं थीं। मुखर्जी परिवार की सुंदर दी तो रूपवती ही थीं। उनके अंग का रंग सोने जैसा था, और उनका नाक-नक़्श मूर्तिकार की बनाई मूर्ति-सा सुंदर सुडौल था। हरि मुखर्जी की चौथी पत्नी बनकर जीवन में उनको क्या मिला? कुलीनता की रक्षा के उद्देश्य से उनके माँ-बाप ने एक गँजेड़ी लंपट के हाथ ही उनकी बलि चढ़ा दी थी।

आज याद आ रहा है कि सुंदर दी उन्हें सुना-सुनाकर एक गीत गुनगुनाती थीं, गुनगुनाती क्या पिनपिनाती थीं— *हाय रे, हाय, हाय / भरार माइया भाइसा जाय / कुल राइखते कोन अकूले, / मध्यि गांगे नाव उठछे ढुले ढुले / भरार माइया काइंदछे बेरथा फुले-फुले / हाय रे हाय, हाय / भरार माइया भाइसा जाय...*

अर्थात्—हाय रे, हाय, हाय, पण्य की कन्या बह जाती है, कुल बचाने को किस अकूल में, मँझधार में नाव डगमगाती है, पण्य की कन्या सुबक-सुबक अकारथ रोती है, हाय रे हाय, हाय, पण्य की कन्या बह जाती है...

माधव गुसाँई ने पुकारा, "ओ बातासी, ओ विलासी! तू दोनों आ जा। ओ फटिक, तू लग्गी के उस सिरे को पकड़े रह, मैं इधर इस सिरे को पकड़ लेता हूँ। तू दोनों लग्गी को सख़्ती से पकड़ और खजूर के पेड़ के तने पर सावधानी से पैर रखकर उतर आ।" फिर दबी आवाज़ में चेतावनी दी, "देखना पानी और कीचड़ में पड़कर भूतनी बनकर मत उतरना।"

बातासी और विलासी लग्गी को पकड़कर गिन-गिनकर पैर रखते हुए धीरे-धीरे किनारे पर उतर आईं और सेमल के पेड़ के नीचे आकर सिर झुकाकर खड़ी हो गईं। माधव गुसाँई ने चिरौरी की, "यह लीजिए, देखिए, ये दो सुलक्षणा कुलीन कन्याएँ हैं, घरेलू कामकाज में ये कुशल हैं, इनके मुँह में कोई बोली नहीं। राँधने-परोसने में, सेवा-टहल करने में ये दोनों निपुण हैं। ये दोनों आपकी सेविकाएँ बनकर आपकी सेवाटहल करेंगी। ओ चक्रवर्ती जी! यह लीजिए, इस कन्या का नाम है बातासी। परमात्मा ने आप ही के लिए इसे बनाकर दुनिया में भेजा है। ऐ बातासी! महाशय को पैलागी कर, पैलागी।"

असहाय बातासी ने धीरे-धीरे आगे बढ़कर रामधन चक्रवर्ती के पैर छूने के लिए झुकते ही देखा कि महाशय के तलवों से घुटनों तक लाल-लाल और सफ़ेद रंग के घाव हैं। घिन से बातासी ने मुँह फेर लिया और सूनी-सूनी आँखों से नदी के पानी की तरफ़ ताकने लगी।

"अब देर किस बात की? इसे ले जाइए, पुरोहित जी उधर प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैंने आते ही उनको ख़बर भेज दी थी। और राय जी, यह लीजिए आपकी कन्या। भली है, शांत है, सुबोध है, बड़े-बूढ़ों को मान देती है। इसके बाप ने मुझे कह भी दिया था कि श्रीमान कालाचाँद जी अगर मान जाएँ तो उन्हीं के हाथ इसे सौंप देना। वे महामना हैं, इस उम्र में भी वे चार-पाँच कुलीन कन्याओं को पार कर चुके। जाइए, जाइए, और देर मत कीजिए। रात गहरा रही है। पुरोहित जी फिर रुष्ट हो जाएँगे, दक्षिणा की माँग भी बढ़ जाएगी।" रामधन चक्रवर्ती ने कहा, "कालाचाँद, गुसाँई जी ठीक ही कहते हैं, अब देर करने से क्या काम? आओ, हम आगे बढ़ें।" कहकर गुसाँई के पास आकर धोती के कोने में बँधी कपड़े की एक छोटी थैली निकालकर उसके हाथ में दे दी। फिर तत्काल ही बातासी का हाथ थामकर उसे घसीटता हुआ काली-माई के थान की ओर चल दिया। कालाचाँद राय माधव के पास आकर भुनभुनाया, "इस कन्या की क़ीमत कुछ घटाओ गुसाँई—दो रुपए कम करो—कन्या के अंग का वर्ण तो मंगुष्ठ का कसैला रस-जैसा है।"

"नहीं, नहीं, राय जी, यह हो नहीं सकता, मैं लुट जाऊँगा। अच्छा-अच्छा, कोई बात नहीं, मैं आपकी बात भी मानता हूँ—एक रुपया कम दीजिए।" कालाचाँद राय ने और मोल-भाव नहीं किया। विलासी की ओर आते-आते ही अपनी टेंट से चाँदी के रुपए निकालता आ रहा था। तीन-चार सिक्के हाथ से फिसलकर धरती पर गिर पड़े और लुढ़कते हुए विलासी के पैरों के पास आते ही उसने उनको उठा लिया और फिर उसे क्या हुआ, वह हीं हीं कर हँस पड़ी। मोहनपुर गाँव का उस रात का अँधेरा उसकी हँसी की आवाज़ से थर-थर काँपने लगा। माधव गुसाँई, कालाचाँद राय, फटिक माँझी सब डर के मारे गूँगे बन गए। फटिक माँझी लग्गी हाथ में लिए एक बुत की तरह चुपचाप खड़ा रहा। दूसरे ही क्षण विलासी ख़ुद ही कालाचाँद राय का एक हाथ थामकर कह उठी, "चलिए जी, फिर देर क्यों, चलिए। रात बीत जाने पर आपके नाती-पोते कब तक जगे रहेंगे? चलिए, चलिए।" विलासी की वह हँसी उसके अंतर के अंतस्तल में रूदन बनकर एक चट्टान-सी भारी हो रही थी, इस बात का पता शायद उसे भी नहीं था।

नदी में ज्वार आने के कारण नाव डगमगा रही थी। नाव के हिलने-डुलने के कारण कुसुम बैठी-बैठी ही घुटनों के बीच सिर रखकर सो गई। माधव गुसाँई ने पुकारा, "कुसुम! ओ माँ लक्ष्मी! उठ री, बाहर आ, देख देख, घोषाल जी तुझे वरण करके अपने घर ले जाने के लिए तैयार हैं। उठ री माँ, उठ! कोमल शरीर और कोमल मन है। आँख लग गई, इसमें बेचारी का क्या दोष है!" फिर एक बार गुसाँई की पुकार सुनते ही कुसुम आँखें मलती हुई नाव के छप्पर से बाहर निकल आई। ज्वार आने के कारण अब नाव नदी के किनारे को छू रही थी। नाव से ही सेमल के पेड़ की मोटी जड़ पर पैर रखा जा सकता था। माधव गुसाँई ने अपना हाथ बढ़ाकर कहा, "ले बिटिया, मेरा हाथ पकड़।" गुसाँई का हाथ पकड़कर सेमल के पेड़ की जड़ पर पैर रखकर कुसुम किनारे पर उतर आई। आकर ही सेमल की मोटी डाल से सिर टिकाकर फिर आँखें मूँद लीं। माधव गुसाँई और अभिराम घोषाल दोनों एक-साथ चिल्ला पड़े, "काँटे! काँटे हैं, गाल छिद जाएगा!" सचमुच ही दो-चार भोतरे काँटों की खरोंच खाते ही कुसुम आँखें खोलकर सीधी खड़ी हो गई।

कुसुम न अभिराम घोषाल को देख रही थी, न माधव गुसाँई को, न ही फटिक को। वह अभिराम घोषाल की बग़ल में तेल चुपड़ी लाठी हाथ में लिए खड़े उस लंबे-तगड़े नौजवान को देख रही थी। सिर पर घुँघराले बाल, चौड़ा सीना, दोनों हाथों की मांसपेशियाँ मोटे कपड़े की क़मीज़ की आस्तीन के भीतर उछल-कूद कर रही थीं। कौए के दो पंखों की-सी काली-काली भौंहों के नीचे दो सरल स्वच्छ आँखें—कुसुम तो केवल उसी को देख रही थी। एक बार आँखें चार होते ही अभय चरण की निगाह धरती पर टिक गई। वह लाठी को बाएँ हाथ से दाहिने हाथ में लेकर धरती पर ठोंककर सीना ताने खड़ा रहा।

माधव गुसाँई कुसुम का हाथ पकड़कर खींच लाया और अभिराम घोषाल के सामने उसे खड़ा कर दिया। कुसुम ने फिर एक बार मुड़कर उस लठैत को देखा। उसके हृदय के भीतर एक गिद्ध के नखोटने की खरोंच चल रही थी—बूँद-बूँद ख़ून चू रहा था। पलभर के लिए दाशुदा का चेहरा मन में कौंधा, फिर अँधेरे में वह चेहरा धुँधला गया। 'कायर' शब्द का उच्चारण उसने कुछ ज़ोर से ही किया। माधव गुसाँई ने चौंककर पूछा, "तूने क्या कहा री?" कुसुम चुप रही।

अभिराम घोषाल की जीभ पान के रस और लार से लसलसी होकर मुँह के भीतर अटक गई। उसके मुँह से एक भी शब्द निकल नहीं पा रहा था। उसके बहत्तर साल के शरीर में एक

कुत्सित कंपन होने लगा। काँपते हाथों से ही टेंट में बँधी थैली के साथ सारे रुपए माधव गुसाँई के हाथ सौंप दिए। मोलभाव करना ही भूल गया।

कुसुम के क़रीब आकर घोषाल ने कहा, ''आओ चलें।'' माधव गुसाँई ने भी कहा, ''हाँ, हाँ माँ लछमी, जा। तेरा भाग खुल गया—ऐसा एक सज्जन तुझे मिला। जा, जा देर मत कर।'' कहकर ही झपाके से घाट की तरफ़ चल दिया। अभिराम घोषाल ने कुसुम की पीठ पर अपना काँपता हाथ रखकर उसे तनिक धकेलकर कहा, ''चलो, चलो। अरे, वह लठैत गया कहाँ? अरे, ओ अभय चरण! तू चारों तरफ़ तीखी नज़र से देखता हुआ पीछे-पीछे आ।'' कहते कहते अचानक बाईं तरफ़ के होगले और तारावन के जंगल की तरफ़ ताकते ही उसे काठ मार गया। डर से फुसफुसाहट से बोला, ''अभय चरण रे, देख, उधर देख, दो नीली-नीली आँखें! बाघ, बाघ है रे!'' अब उसके सारे शरीर में एक दूसरे प्रकार का कंपन था। दूसरे ही क्षण उसका कपड़ा भीग गया। तीखी दुर्गंध फैल गई। लठैत अभय चरण ने भी अपने क़मीज़ को उठाकर नाक और मुँह को ढाँप लिया। कुसुम एक चितपुतली-सी निश्चल खड़ी रही। दाँत-से-दाँत दबाकर दबी आवाज़ में कहा, ''ऊँहूँ, मैं मरूँगी नहीं, हरगिज़ नहीं मरूँगी, मैं जिऊँगी, जिऊँगी।'' कहते-कहते वह अचानक जंगल की तरफ़ दौड़ पड़ी। धरती पर पड़ा अभिराम चिल्ला उठा, ''अभय चरण, पकड़, पकड़ ले उसे। गुसाँई मुझसे चाँदी के पच्चीस रुपए ऐंठ ले गया रे...हाय, हाय, मेरा सब कुछ चौपट हो गया...पकड़, पकड़...उसे पकड़!''

अभय चरण ने भी उन नीली-नीली आँखों को देखा था। पर उसके शरीर में भय-डर कहाँ? तेल चुपड़ी लाठी को दोनों हाथों से सिर के ऊपर तानकर वह भी जंगल की तरफ़ लपका। अँधेरे में भी अभिराम ने देखा होगा और तारा वन के पत्ते बहुत दूर तक हिलते-डुलते रहे। उठते, गिरते रहे। कुछ पल और बीते। पत्तों का हिलना-डुलना और काँपना बंद हो गया। अचानक बादल के फट जाने से चाँदनी में होगले के पत्ते तलवार की तरह झकझका उठे।

रात ख़त्म होने चली। नष्ट-भ्रष्ट विपर्यस्त अभिराम घोषाल लड़खड़ाता हुआ अपने घर लौटते-लौटते सोच रहा था—उन दोनों को बाघ ने निगल लिया होगा, कदाचित् बाघिन भी आसपास ही रही होगी। पर दूसरे ही क्षण एक चिंता उसके मस्तिष्क को बाघ के दाँतों से भी पैने दाँतों-सी चीरने लगी—शिकार को धर दबोचने के पहले बाघ की कोई दहाड़ तो सुनाई नहीं दी!

शुभ्रा सान्याल

मातृ वियोग

ग्यारह बजकर चालीस मिनट पर मेरी माँ इलेक्ट्रिक चूल्हे में चली गई। श्मशान घाट के पुरोहित ने जैसा करने को कहा—घी लगाना, पिंडदान, अग्नि परिक्रमा, मुखाग्नि सब कुछ मैं शांत भाव से करती चली गई। मेरे भैया-भाभी, मौसा जी और श्मशान यात्रियों की नज़रें बीच-बीच में मेरे ऊपर घूम रही हैं, यह मैं अनुभव कर रही थी। दरअसल सभी लोग यह सोच रहे थे कि मैं अब रो पड़ूँगी। पर मुझे थोड़ा भी रोना नहीं आ रहा था। उन लोगों की बहुत सारी बातें मेरे कान में आ रही थीं—बेटी ने मुखाग्नि दी है—दस दिन तक तो छूत मनाना ही पड़ेगा, मेरे एक भैया-भाभी कह रहे थे—जब शादी हो गई है तो तीन दिन में ही काम हो जाना चाहिए, शादी-शुदा लड़की के लिए तीन दिन का ही नियम पालन है। फिर ख़र्चा-वर्चा कौन करेगा? मेरे हाथ में कितने रुपए हैं? इस विषय में बहुत-सी बातें हो रही हैं। अब तक जो ख़र्च हुआ है वह मैंने ही दिया है, फिर बाद के काम-क्रिया में और भी तो लगेगा। श्राद्धभोज है, जितना भी कम करके हो, आत्मीय-स्वजन, आस-पड़ोस के कुछ लोग, श्मशान यात्री को बुलाना ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त घर की भी तो इज़्ज़त है। छोटी भाभी कह रही थी, ''तीन दिन में ही काम निपटा लेना अच्छा है, दस दिन हुआ तो बहुत परेशानी है, फिर खान-पान में परहेज़ की बात है। इसके अतिरिक्त उसके साथ किसकी बनती है? वह तो किसी की बात सुनती ही नहीं है।''

दबे स्वर में कहने पर भी मैं उनकी सब बातें सुन रही थी। फिर भी निर्विकार होकर गंगा किनारे घाट को देखते हुए खड़ी थी।

एक-दो घंटे में सारा काम निपट गया। मैंने बहुत ही अच्छे नए वस्त्र पहन रखे थे। वह फेंकने पड़े, बहुत बुरा लग रहा था, दरअसल कल ऑफ़िस से आकर कपड़े बदल नहीं पाई थी। घर में आते ही माँ के साथ तर्क-वितर्क शुरू हो गया था, ग़ुस्से में हम दोनों ही उत्तेजित हो गई थीं। माँ को अचानक कै आनी शुरू हो गई, चेहरा लाल होने लगा, मैं डर गई। माँ को जल्दी ही सोफ़े पर बैठाकर चेहरे पर ठंडे पानी से साथ फेरने लगी। माँ आहिस्ता-आहिस्ता सोफ़े पर ही सो गई। माँ का मुँह टेढ़ा हो गया, लड़खड़ाते स्वर में मुझसे कहने लगी, ''किसी को बुलाओ।'' फिर और एक

शुभ्रा सान्याल का जन्म 1956 में हुआ। बाङ्ला की जानी-मानी कथाकार हैं। संपर्क : 97, नस्कर पाड़ा रोड, घुसुड़ी, हावड़ा-711107.

कवि, कहानीकार, अनुवादक दिलीप कुमार शर्मा 'अज्ञात' की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। इनका जन्म 1969 में हुआ। संपर्क : कलाकुंज, ...पल्ली, स्कूलपाड़ा, दुर्गापुर 713213

बार ओकाई की। ऐसी अवस्था में माँ को अकेला छोड़कर मैं कहीं जा नहीं सकती थी। थोड़ा शांत होने पर मैं तापसी के घर गई। मेरे नहीं रहने पर माँ अधिकतर समय उसी के घर में ही बिताती हैं। तापसी को माँ के पास बिठाकर मैं अपने चचेरे भाईयों के घर दौड़ी। आसपास ही हम सब रहते हैं। ठंड बढ़ने लगी है, सबके घर-दरवाज़े बंद, रात के दस भी बज गए थे, कोई सो गया है तो कोई खाने बैठा है, कोई अभी घर नहीं लौटा है। इन दिनों मैं किसी के घर नहीं जाती थी, किसी से बात नहीं करती थी, इसलिए मुझे देख सभी चकित हुए। माँ के बारे में जितना बता सकती थी, बता कर घर आ गई। डॉक्टर को फ़ोन किया। टालीगंज और मानिक तल्ला के मौसी के घर भी फ़ोन किया। सभी भाईयों ने कहा, "आता हूँ।" लेकिन बातों में ऐसी कोई व्यस्तता नहीं लिखी, तब तक माँ एक बार और ओकाई करके खर्राटे जैसी आवाज़ करने लगी। माँ बेहोश पड़ी है। आसपास के सभी आ गए हैं। सोना ताई छोटी भाभी से कहने लगी, "ऐसी आवाज़ उठ गई है।" बहुत तरह के लोग तरह-तरह की बातें करते हैं। डॉक्टर जब आए तब तक माँ और भी शिथिल पड़ गई थी। डॉक्टर ने जाँच कर एक इंजेक्शन दिया। फिर गंभीरता से बड़े भईया की तरफ़ देखते हुए कहने लगे, "सेरेब्रल अटैक है, कंडिशन ख़राब है, हॉस्पिटलाइज कर सकते हैं, पर कोई लाभ नहीं होगा। ऐसे में हिलाना-डुलाना भी ठीक नहीं है।" मैं फ़ीस देने गई तो उन्होंने नहीं ली। समझदार हैं। हम लोगों को देखकर समझ गए कि बेवजह पैसा ख़र्च करना मेरे लिए कष्टकर है।

किसी को दवा खाने की बात याद आ गई तो किसी को ज़रूरी फ़ोन आने की, एक-एक करके सभी लोग चले गए। किसे ज़रूरत पड़ी है कि इतनी सर्दी की रात मृत्यु के पथ यात्री बनने के लिए बैठा रहे। इसके अतिरिक्त मैं किसके विरोध में अभियोग करूँ! ससुराल वालों के साथ माँ का कभी अच्छा व्यवहार नहीं रहा है। मैं भी माँ की ही शिक्षा में शिक्षित हुई हूँ तभी तो अपने ही घमंड में रहती थी। अभी कीचड़ में गिरी हूँ तो सभी को बुलाने से क्या होगा? फिर भी सभी आकर सहायता करने की कोशिश कर रहे हैं- यही बहुत है। सिर्फ़ तापसी की माँ ही कह गई है, "दरवाज़ा बंद नहीं करना, मैं आ रही हूँ। तुमने कुछ खाया है कि नहीं?"

मैंने कह तो दिया 'हाँ' पर खाया कब था! आज ऑफ़िस से लौटने में देर हो गई थी। दरवाज़ा खोलते न खोलते माँ कहने लगी, "कहाँ गई थी?"

"मेरे ऑफ़िस का एक आदमी अस्पताल में भर्ती है उसे ही देखने गई थी।"

"कौन है वह? इतनी दूर क्या अकेली ही गई थी?"

"नहीं, तसलीम की गाड़ी से गई थी।"

"हाँ, ठीक ही है अपना घर-संसार जलाकर, अपनी जाति-धर्म छोड़कर अब नाचती रहो।"

आजकल माँ का बात करने का लहज़ा बहुत ख़राब हो गया है। मुझ पर संदेह करती है। दिमाग़ गरम हो गया। मैं खौल उठी, "मैंने घर-संसार नष्ट किया है? तुमने मुझे घर बनाने ही कब दिया है? तड़पा-तड़पा कर मार दिया है। ख़ुद माँ होकर एक दूध पीते बच्चे को छोड़कर मुझे आने के लिए बाध्य किया है। मुझे कहीं का नहीं छोड़ा है।"

माँ काँपते-काँपते कहने लगी, "तेरे अच्छे के लिए किया है और तुम..."

"मेरा अच्छा और तुम्हें करना नहीं होगा। मेरी कमाई तुम खाती हो इसलिए मैं तुम्हारी कोई बात नहीं सुनूँगी। जिसके साथ जी चाहेगा उसके साथ घुमूँगी।"

"तुम...तुम मुझे..."

ग़ुस्से में मुझे कोई होश नहीं था। माँ की कोई बात मेरे कान में घुस नहीं रही थी। इतने में फ़ोन

उठा, मैं कमरे से निकल गई। ग़लत नंबर लौटकर देखा तो माँ ओकाई कर रही थी। के बाद तो यही सब हुआ।

माँ अभी भी सो रही थी। जैसे खर्राटे भरकर रही हों। बीच-बीच में ओकाई के साथ -काला कुछ निकलता जा रहा था। मैं में चली आई, खाने की मेज़ पर एक टोरी में आलू-फूलगोभी की सब्ज़ी और दूसरी टोरी में एक टुकड़ा मछली रखा था। दूध उबला हुआ था। कैसरोल में रोटी रखी हुई थी। ढक्कन खोलकर रोटी निकाली फिर वापस रख दी, खाने की इच्छा नहीं हुई। ऐसे में माँ को खिलाना भी हानिकारक होगा। अचानक याद आ गया बैग में एक प्लेट पनीर-बटर मसाला लेकर आई हूँ। रोज़ ही तो एक जैसा खाना, माँ को भी अच्छा लगेगा। पैकेट खोलते ही मन भिन्ना गया। खट्टी महक फैल गई। मैंने वैकेट डस्टबिन में फेंक दिया, फिर रसोई घर की बत्ती बुझाकर कमरे में चली आई। माँ वैसी ही पड़ी हुई थी।

तापसी की माँ थोड़ी देर के बाद आई। आते ही बक-बक करना शुरू कर दिया, "क्या से क्या हो गया! शाम को मेरे घर में कितनी देर थी, रीता के बच्चे को कितना प्यार किया। और अभी कैसी हालत है। तुम्हारी चिंता करती रहती थी। थोड़ी देर होते ही अंदर-बाहर होना शुरू कर देती थी। हम लोग कहते रहते, "इतनी उतावली क्यों होती हैं, अभी आ जाएगी।" कहने लगती, "तनु को कुछ हो गया तो मैं पागल हो जाऊँगी। फिर मेरा क्या होगा?"

मुझे यह सुनना अच्छा नहीं लग रहा था, मैं कहने लगी, "चाची जी आप सो जाइए। मैं जाग रही हूँ, ज़रूरत पड़ेगी तो आपको उठाऊँगी।"

"ठीक है, मुझे अब क्या नींद आएगी? तुम हो नहीं, मैं जाग रही हूँ।"

पाँच मिनट के अंदर ही चाची खर्राटे भरने लगीं। मुझे हँसी आ गई। सारा दिन मेहनत करते-करते अब और कितना कर सकेगी? फिर भी आई तो है।

माँ के सिर पर मैं आहिस्ता-आहिस्ता हाथ फेर रही थी। यह कैसा अद्‌भुत परिवेश है—निस्तब्ध मृत्यु आ रही है, जैसे कि उमर आती है, नींद आती है, प्रेम आता है, स्वप्न आता है। माँ अपने जीवन से क्या चाहती थी? क्या माँ मौसा से प्रेम करती थी? माँ और पिता के दांपत्य जीवन की स्मृति मेरे पास झगड़ों और अशांति से भरी है। माँ अकसर ही मौसा और समीर चाचा के साथ पापा की तुलना करती रहती थी। पापा पहले तो चुपचाप रहते थे, फिर बाद में ग़ुस्सा करने लगे। पापा की जिस दिन मृत्यु हुई थी—मैं स्कूल में थी। मुझे पापा के दोस्त समीर चाचा ही स्कूटर पर स्कूल से लेकर आए थे। आकर देखती हूँ—मेरे घर के सामने बहुत भीड़ है। एक खटिया फूलों से सजाई जा रही है। यह देख मुझे रोना आ गया। दौड़कर अंदर जाकर देखा तो पापा आँख मूँदकर सोए हुए हैं। घर में सभी की आँखों में आँसू हैं। माँ एक ओर घुटने पर सर रखकर रो रही है। मैं माँ के पास जाकर रो पड़ी, "माँ, पापा को क्या हुआ है?" माँ और भी ज़ोर से रोने लगी। छोटी ताई हाथ पकड़कर पापा के पास ले जाकर कहने लगी, "अरी अभागी! अपने बाप को अंतिम बार देख ले।"

तब मृत्यु के संबंध में मेरी कोई धारणा नहीं थी। बाद में जाना था, पापा ने साधारण बुखार में भी बुखार की कड़ी दवाइयाँ अपनी ही मर्जी से खा ली थीं। इसलिए उनका हार्ट कोलैप्स हो गया।

पिता की मृत्यु के बाद मैं पूर्णतः माँ के अधीन हो गई थी, माँ की ट्रेनिंग के कारण ही तीन बार मेरा स्कूल बदला गया। बहुत ही मुश्किल से आई. एस सी. पास की। बचपन से ही सुनती आई हूँ—मेरे पिता के सगे-संबंधी अच्छे नहीं हैं, हम लोगों के शत्रु हैं, मौक़ा मिलते ही विष देकर मार सकते हैं। मेरा छात्र जीवन कभी

सालकिया के अपने घर में तो कभी टालीगंज के मौसी के घर में बीता है। मेरी मौसी बहुत अच्छी थी लेकिन अर्थराइटिस के कारण ठीक से चल-फिर नहीं सकती थी। मुझे नींद नहीं आने पर कई-कई रातें मैं देखती थी—माँ और मौसा ड्रॉइंग रूम में बैठे हुए होते, कभी माँ मौसा का सर दबा रही होतीं तो कभी मौसा माँ की पीठ सहला रहे होते। यह देखकर मुझे बहुत ही ग़ुस्सा आने लगता, पापा के लिए रोना आता, सालकिया चली आना चाहती थी। पाँच वर्ष हो गए—मौसी मर गई है। मौसा भी बूढ़े हो गए हैं। अभी आना-जाना नहीं है।

मेरी माँ ने मेरी अमीरों की तरह परवरिश की। अख़बार में विज्ञापन देखकर बहुत अच्छे घर में शादी की। शौभिक बहुत अच्छा लड़का है। उसके घर वाले भी बहुत अच्छे हैं। शौभिक का चेहरा, व्यक्तित्व, दृढ़ता ने मुझे मुग्ध किया था। मेरा चेहरा मेरे पापा जैसा है। बचपन से ही उनसे सुनती आई हूँ—मेरा चेहरा बहुत प्यारा है। मैं बहुत सुंदर दिखती हूँ। ऐसी बातें सुन-सुनकर मैं अहंकारी हो गई। कितने लड़कों को मैं स्कूली जीवन से नचाती आई हूँ। प्रेम करने की उदारता सहनशीलता मुझमें नहीं थी। सोचा था शौभिक के घर में भी रूप की झलक से सभी को उँगली पर नचाऊँगी। पर शौभिक बहुत ही सख़्त धातु का बना इंसान है। उसके संपर्क में आकर मेरी आत्मशुद्धि हो रही थी, मैं ख़ुद को पहचान रही थी। ख़ुद को सुधारने लगी थी। पर मेरा ऐसा करना माँ को पसंद नहीं था।

माँ के मुँह से रस की तरह काली ओकाई बहते हुए बाहर आने लगी थी। मैंने पोंछ दी। कैसी निर्विकार हूँ मैं! मेरी माँ—मेरी एकमात्र सहारा, चली जा रही है—फिर भी मेरे अंदर कोई प्रतिक्रिया नहीं हो रही है! माँ की खर्राटे जैसी आवाज़ और भी हल्की हो गई। मैं माँ का सर और छाती सहलाने लगी, शायद आराम लगता हो। अचानक माँ का शांत शरीर हिल उठा, फिर सहसा एक झटका लेकर शांत हो गया। शरीर में कहीं भी कोई हरकत नहीं। मैंने माँ के शरीर को ठीक से कंबल से ढक दिया। चाची गहरी नींद में थी, उन्हें उठाया नहीं। उन्हें बुलाकर भी अब क्या होगा? तौलिया भिगोकर माँ का मुँह साफ़ कर दिया, बालो में कंघी करते हुए सजाने लगी। माँ क्या मुझसे ईर्ष्या करती थीं। सब कुछ पाकर भी अपना घर-संसार नहीं बसा सकी इसलिए मुझे क्या इससे वंचित कर दिया? बहूभात के दिन माँ ने उनके घर क्या नहीं किया—चारों तरफ़ फूलों से सजा घर, बिस्तर था। रात को माँ किसी भी तरह कमरे से बाहर नहीं जाना चाह रही थी। बिस्तर पर बैठी हुई थी। माँ की बस एक ही रट था, "तानिया मेरे बग़ैर सो नहीं पाती है!" माँ की इस बात को सुनते ही चारों ओर से हँसी-मज़ाक़ और विद्रुप से भरी बातें होने लगीं। अंत में मौसा ही माँ का हाथ पकड़ कर बाहर ले गए। मेरी कैसी लज्ज़ाजनक स्थिति थी!

शौभिक की तरफ़ मैं नज़रें उठाकर देख नहीं पा रही थी। बहुत इंतज़ार के बाद हम लोगों का पहला चुंबन ठंडी चाय की तरह बेस्वाद लगा। हनीमून के लिए जाते समय हावड़ा स्टेशन पर मैंने माँ के अंदर एक अद्भुत इच्छा देखी थी। जब-तब मेरी माँ मेरे ससुराल में हाज़िर हो जाती थी। सभी माँ से अच्छा व्यवहार करने के बाद भी उसे पसंद नहीं करते थे। रोज़ ही तीन-चार बार माँ फ़ोन करती थी, मुझे भी फ़ोन करने को कहती। नहीं करने पर ग़ुस्सा करती थी। सुबह-सुबह माँ का फ़ोन आए तो सारा दिन अँधेरा-सा लगने लगता। माँ के ऐसे ही व्यवहार से तंग आकर मैं चिड़चिड़े स्वभाव की हो गई थी। बचपन से ही मेरा लापरवाह स्वभाव सिर पर चढ़ने लगा था। रुपाई के जन्म के बाद तो परिवेश और भी ख़राब हो गया। मैं रुपाई में व्यस्त होने के कारण माँ को अधिक समय नहीं दे पाती थी। माँ ग़ुस्सा हो जाया करती थी। माँ चाहती थी कि शौभिक माँ के हाथ का पुतला होकर रहे। लेकिन शौभिक ऐसा था नहीं।

मैं क्या पागल हो गई हूँ! डॉक्टर ने अभी तक डेथ सर्टिफ़िकेट नहीं दिया और मैं माँ को चंदन लगाने लगी थी। मैं ख़ुद समझ नहीं पा रही थी कि मैं पागल हूँ या शैतान। माँ के अबूझेपन में मैंने भी साथ दिया था। शौभिक के पिता का हम लोगों ने कैसा अपमान किया था जब वह कहना चाहते थे—माँ-बेटी दोनों ही बहुत बीमार हैं, इन दोनों को इलाज की बहुत ज़रूरत है। रुपाई मेरे ही रक्त से बनी मेरी बेटी है, मैं कैसे उसे छोड़कर चली आई हूँ। उसका तुतलाकर बोलना, रोना-हँसना, जो मेरे साथ बिना खेले सो नहीं सकती थी, उसे मैं कैसे भूल गई हूँ ?

मन बहुत भारी होता जा रहा था, मैंने उठकर रेडियो चला दिया शहनाई में अहिर भैरव बज रहा है। कोहरे से भरे शीत के भोर में शीतल मृत देह को लिए—मैं कैसे राग के आलाप में खोने लगी हूँ!

उजाला कुछ बढ़ते ही आत्मीय परिजनों के साथ श्मशान यात्रा की जोड़-तोड़ बढ़ने लगी। रोते-रोते कितनों ने कितने भावों से शोक ज्ञापन किया। मृत आदमी की तरह मेरी माँ भी अर्थी शैय्या पर महान हो गई है। श्मशान से लौट आने के बाद स्वजन बारी-बारी से बैठक करने लगे हैं। कैसे काम-क्रिया होगा? ज़िम्मेदारी कौन-कौन लेंगे? एक ही बात अंत में घूम-फिरकर आती थी कि अब मुझे शौभिक के घर लौट जाना चाहिए। जो लोग इस विषय में बहुत ज़ोर देकर कह रहे थे, वे सभी जानते हैं कि मैं किस परिस्थिति में वहाँ से चली आई थी। वे लोग यह भी जानते हैं कि हम लोगों का तलाक हो गया है। तब भी ऐसा कह रहे हैं।

वहाँ से लौट आने के बाद माँ ने ही मुझे मौसा जी के परिचित जे. पी. बंसल के ऑफ़िस में नौकरी दिला दी। महीने का दो हज़ार रुपया तनख़्वाह मिलता है। इस नौकरी के कारण मैंने शौभिक से कोई भरण-पोषण नहीं लिया है। जब बेटी के लिए मन बहुत बेचैन हो जाता है तो शौभिक को फ़ोन करती हूँ वह मुझसे अच्छी तरह से बातें करता है। मेरे बारे में खोज-ख़बर भी रखता है। पर मैं रुपाई की बातें पूछ नहीं पाती हूँ, मेरी ज़ुबान बँध जाती है। माँ होकर जिसके प्रति मैं कोई कर्तव्य पालन नहीं कर सकी हूँ। ऐसे में उसका अच्छा-बुरा जानने का अधिकार क्या मेरा है ? यह टूटन मेरी अकेले की है। किसी के पास ज़ाहिर नहीं कर सकती हूँ। शौभिक के परिवार वाले शिक्षित हैं, मर्यादावान हैं, उदार हैं, हो सके तो वे लोग मुझ पर दया कर सकते हैं, मुझे माफ़ भी कर सकते हैं लेकिन फेंककर आई उस डेढ़ साल की बेटी को, जो आज छह वर्ष की है, उसके सामने मैं खड़ी कैसे रह पाऊँगी ?

आज सारा दिन सोना ताई के घर पर थी। लेकिन रात को ज़िद करके घर पर सोने आ गई। मेरा अकेले सोना ठीक नहीं है यह सोचकर राजू की माँ को ताई ने ज़बरदस्ती मेरे घर सोने के लिए भेज दिया। वह भूत के डर से घर में नहीं सो पाई, इसलिए राम-नाम का जाप करते बरामदे में ही सो गई। घर में आते ही मैं चौंक जाती हूँ—घर के एक कोने में कौन बैठा है! रुपाई ? यह यहाँ कैसे आई? काँच की खिड़की से छिटककर आती लाइट पोस्ट की रोशनी में मैं साफ़ देख पा रही हूँ—रुपाई बैठी हुई है। बत्ती जलाते ही देखती हूँ कि किसी ने घर साफ़-सुथरा किया है। बिस्तर के नीचे से रुपाई के खिलौनों की टोकरी, गुड़िया निकालकर घर के कोने में रखी है।

चौबीस घंटे के बाद मैं पहली बार अपने अस्तित्व के काल्पनिक अवयवों के सामने रो पड़ी।

तारानंद वियोगी

रानी अनारवती

"धन्य यह टाका जो बूढ़े का फलाँ पद छूटा। ऐ बहू, कहावत है 'जो न करे काका, सो करे टाका'। और सो रुपया मैं लुटाती जाऊँ? आषाढ़ में तुम पचास रुपए ले गई, दिया? और आज फिर माँगने पहुँच गई! नहीं दूँगी।" बूढ़ी ने छकोरी की बीबी को टका-सा जवाब दे दिया।

यह बात आँगन में चल रही थी, मगर ऊपर कोठे पर बूढ़ा सब सुन रहा था। बूढ़े को बूढ़ी की बात बहुत वाजिब लगी—'धन्य यह टाका जो बूढ़े का फलाँ पद छूटा।' बूढ़ा छुतहरू मरर पैंसठ-छियासठ साल का हो गया। जीवन के साठ साल तक तो यह पद लगा ही रहा—छुतहरबा, रे छुतहरबा! बाबू-भैया के नई उम्र के लड़कों ने भी क्या कभी छुतहरू कहा? पर अब! अब तो हैसियत वाला आदमी भी टोकता है तो कहता है, "छुतहरू हैं, छुतहरू मरर हैं! बूढ़ी सच कहती है—धन्य यह टाका!"

मगर बूढ़े को दया आ गई। छकोरी के बेटे की तबीअत ख़राब है। चार दिन हुए बुख़ार उतरने का नाम नहीं ले रहा है। छकोरी हरियाणा में कमाता है। उसने बहुत दिनों से रुपया नहीं भेजा। छकोरी की बीबी बहुत चिंतित है। गाँव की दवा-दारू से कोई फ़ायदा नहीं हुआ। दवा वाले ने अब सहरसा ले जाने को कहा है। बूढ़े को दया आ गई। कोठे से उतरकर उसने पूछा, "बहू, कितने रुपए चाहिए?" छकोरी की बीबी को दो सौ रुपयों की ज़रूरत थी। बूढ़े ने दे दिए और कहा, "छकोरी को ख़बर भेज देना।"

कोई और मौक़ा होता तो बूढ़ी इस बात के लिए बूढ़े की ऐसी-तैसी कर बैठती; दो दिनों तक आसमान सिर पर उठाए रहती। मगर अभी बूढ़ी ने कुछ नहीं कहा। रोग-व्याधि, मरनी-हरनी में दस की मदद करनी चाहिए—यह नियम बूढ़ी का भी है। लेकिन समाज तो जुलुम है। "छुतहरू मरर के पास पैसा है तो किसी उपाय से टान लो। पैसा क्या आसमान से टपकता है! बेटे तो सभी के हैं, फिर कमाते क्यों नहीं? एँऽऽऽ दीन हे दीन; सायं खेलक बड़ रीन (हे ईश्वर! कैसा दुर्भाग्य है कि मेरे पति क़र्ज़ लेकर खाते रहे।) मैं तो कहता हूँ भगवान! मेरे दुश्मन को भी ऐसा बेटा दो।"

छकोरी की बीबी चली गई तो बूढ़े ने बूढ़ी से कहा, "उस बिचारी पर क्यों इतना बिगड़ रही थी? उसका बेटा बीमार है...।"

तारानंद वियोगी मैथिली के कवि कथाकार एवं आलोचक हैं। इनकी लगभग 10 पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : बदरिकाश्रम, महिषी, सहरसा।

अनु. सुभाषचंद्र यादव मैथिली के कहानीकार आलोचक एवं अनुवादक हैं। हिंदी में भी लिखते हैं। संपर्क : प्रोफेसर्स कॉलोनी, सहरसा-852201

बूढ़ी ने कहा, "बिगड़ूँगी नहीं? आषाढ़ में रुपए ले गई थी; एक महीने के क़रार पर; अभी तक लौटाए नहीं।" और इतना कहकर हँसने लगी। बूढ़ा समझ गया बूढ़ी का ग़ुस्सा था। "गुस्सा किसे नहीं आएगा भाई! तब जो क़रार है, उस पर क़ायम रहना चाहिए। अगर रोग-व्याधि की बात न होती तो की बीबी को एक छदाम नहीं मिलता।"

बूढ़ा-बूढ़ी के बीच संवाद चल ही रहा था टेलीफ़ोन की घंटी बजने लगी। यही कोई छह महीने हुए होंगे। बेटा गाँव आया था तो उसने फ़ोन लगवा दिया। शुरू में कुछ दिनों तो भारी झमेला रहा। कोई विचार किए बिना घंटी किसी भी समय टनटनाने लगती—, बेवक़्त। फिर धीरे-धीरे बूढ़ा अभ्यस्त होने लगा। फ़ोन पर बात करने में उसे अभी भी घबराहट होती है। लेकिन तब वह भारी मुश्किल में पड़ जाता है, जब देर रात गए किसी पड़ोसी का फ़ोन आता है। एक तो गहरी नींद छोड़कर उठो, दूसरे चिल्ला-चिल्लाकर सोये हुए आदमी को बुलाओ। बूढ़ा तो आजिज़ आ गया। लेकिन फ़ोन लगने से बूढ़ी को बहुत ख़ुशी हुई है। बेटे से घर बैठे बात हो जाती है। और क्या चाहिए!

फ़ोन बेटे का ही था। दिल्ली से। बूढ़ा बात किए जा रहा था, "हाँ-हाँ। सब ठीक है..। हाँ, अच्छा ही है। आओगे? कब? दस दिनो में? बाल-बच्चों के साथ? हाँ-हाँ, हो न जाएगा सब इंतज़ाम! अरे, कल ही! हाँ, घूरन को भेज देता हूँ। सब हो जाएगा। तुम आओ न...माँ से बात करोगे...तुरंत देता हूँ...क्या कहा? रुपए? न, नहीं मिले हैं। लो, माँ से बात करो...।"

बेटे के साथ बूढ़ी का संवाद तो निराला होता है। सबसे पहले वह चुन-चुनकर दस सवाल करेगी, "ठीक हो न? छुटकू ठीक है न? बड़कू ठीक है न? बुचिया ठीक है न? बहू ठीक है न?" और इस सवाल-जवाब के बाद आशीर्वाद, "ख़ूब अच्छे रहो बौआ। तारा मैया की कृपा से, काली मैया की कृपा से, दुर्गा मैया की कृपा से, शंकर भगवान की कृपा से..."

अशोक छह महीनों के बाद गाँव आ रहा है। अब गाँव कहाँ आ पाता है वह। उस बार भी आया तो अकेले। पोते-पोतियों को देखने के लिए बूढ़ा-बूढ़ी का जी टँगा ही रहता है। वह भी क्या करे। कारोबार बड़ा है। चाय-नाश्ते की दुकान है। छह-छह नौकर लगे हुए हैं। चार-पाँच हज़ार की बिक्री है। गाँव-बिरादरी के लोग हैं। दिल्ली के दोस्त हैं। उसे फ़ुरसत कहाँ है?

अशोक जो गाँव आ रहा है, उसका भी कारण है। दो-तीन महीने पहले दिल्ली में डेंगू फैल गया था। अख़बार में भी आया था। बहुत आतंक था। बिहार के दस-बारह मज़दूर तो मरे ही होंगे। कई लोग तो डेंगू के डर से रोज़गार छोड़कर भाग आए। जान बची तो लाखों पाए। लेकिन अशोक अपना कारोबार छोड़कर कहाँ जाता? बच्चों की पढ़ाई बंद होने की समस्या थी। और फिर पूरे परिवार को लेकर एकाएक कहीं भाग जाना क्या संभव है? वह रह गया।

लेकिन अगले ही हफ़्ते जब बड़कू को बुख़ार आ गया, तो वह काँप उठा। अब वह काम-धंधा छोड़कर डॉक्टर और दवा-दारू के चक्कर में पड़ा। अशोक की बीबी का तो डर और घबराहट के मारे हलक सूखता रहता। उसने ताबड़तोड़ मनौतियाँ माँगनी शुरू कर दीं, "दुहाई बाबा धरमराज की! जीव के बदले जीव दूँगी। एक के बदले तीन दूँगी। चाँदी की आँख दूँगी। झोली छाप बटुआ दूँगी। दुहाई बाबा की। मेरे बालबोध को बख़्श दो..."

बड़कू को डेंगू नहीं था। चार-पाँच दिनों की दवा से बुख़ार ठीक हो गया। पथ्य-परहेज़ करते रहने से आठ-दस दिनों मे वह पूरी तरह चंगा हो गया। अब बीबी अशोक के सिर पर सवार हो गई। "धरमराज की कृपा से हमारा बौआ बच गया। अब सबसे पहले गाँव चलो। गोपालपुर (अशोक का ननिहाल) में क़बुलापाती (चढ़ावा)

चढ़ाऊँगी। चार-पाँच दिनों में ही लौट आएँगे। जब तक मैं मन्नत पूरी नहीं कर लेती, मुझे चैन नहीं मिलेगा।''

इधर अशोक के आने की ख़बर सुनकर बूढ़ा-बूढ़ी रात-दिन इसी चिंता मे रहने लगे कि किस चीज़ का इंतज़ाम कैसे किया जाए। संदेश लेकर गोपालपुर कौन जाएगा? भगता अब गोपालपुर में नहीं चैनपुर में रहता है। उसे किसके द्वारा सुपारी (न्योता) भेजी जाए? छागर-पाठी गाँव में ख़रीदे जाएँ या गोपालपुर में ही? झिलमिलाता, चमचमाता झाँप (चंदोवा) चाहिए। यहाँ का माली वैसा बना सकेगा? सहरसा से ही मँगवाना पड़ेगा। बहू ने जो क़बुला किया है सो तो होगा ही। बूढ़ी का मन है कि दो जोड़े करताल भी बाबा धरमराज को दिए जाएँ। भगैत में करताल बजेंगे तो उसकी मीठी आवाज़ धरमराज के कानों तक पहुँचेगी।

इतनी व्यस्तता है कि बूढ़ा-बूढ़ी को दस दिनों तक फ़ुरसत नहीं मिलेगी। अब दिन-रात लगे रहो। बूढ़ा अपने ज़माने का नामी कामगार था तो बूढ़ी भी सबसे पहले काम ख़तम कर लेनेवाली फ़ुर्तीली मज़दूरनी रही थी। बूढ़ा अब भी कभी-कभी कहता है, ''अगर मेरे हाथ में काम न हो तो मैं महीना लगते न लगते मर जाऊँगा।''

जिसके पास पैसा है, उसे आदमी और समाज की क्या कमी! घूरन गोपालपुर गया और गांगो चैनपुर। कोई झाँप लाने गया, कोई छागर-पाठी ढूँढ़ने। बूढ़ी मिट्टी के दीए बनाती; प्रसाद को चुनती, बीनती, फटकती, साफ़ करती; जब-तब ब्रह्मा, मालती मैया और धरमराज बाबा के गीत गुनगुनाती—*गोर तोरा लागौं हो धरमराज, पैंया तोहर पड़ौं, गरू बेर में होहो ने सहाय...*(हे धर्मराज! तुम्हें प्रणाम करती हूँ; तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ; मुसीबत के समय मेरी सहायता करो।)

बूढ़ी ने परड़ीवाली बहू को हुक्म दिया, ''बहू, अब पाँच दिनों तक खेत-खलिहान छोड़ दो। काम में मेरी मदद करो। जितना उधर कमाओगी, उतना मैं ही दे दूँगी।'' परड़ीवाली ने खेत-खलिहान जाना छोड़ दिया। अब वह बूढ़ी के साथ कभी प्रसाद कूटने-फटकने में, तो कभी इसमें-उसमें लगी रहती।

परड़ीवाली बहुत कर्मठ और सूझ-बूझ वाली औरत थी। उसका घरवाला चुनचुन मंडल बहुत कामचोर और आलसी था। न खेती-बारी थी, न कोई काम। डीह के अतिरिक्त खेती करने के लिए एक धूर ज़मीन भी नहीं थी। हालत ऐसी थी कि बाल-बच्चे भूखों मर जाते। लेकिन परड़ीवाली ने कमर कस ली और मज़दूरी में पिल पड़ी। एक ज़माना था जब सबसे तेज़ और फ़ुर्तीली मज़दूरनी के रूप में बूढ़ी का नाम था; अब परड़ीवाली का नाम है। परड़ीवाली के बेटे कुछ बड़े हुए तो बूढ़ी के पैरवी करने पर अशोक उन दोनों को दिल्ली लेता गया। अब वे भी हज़ार-वज़ार कमा रहे हैं। अशोक ने कितनों का उद्धार किया, उसकी कोई गिनती नहीं है।

परड़ीवाली की आँखों में पानी है। अशोक के उपकारों को वह कैसे भूल जाएगी? और उसी अशोक के माँ-बाप यहाँ गाँव में बेटे-पतोहू के बग़ैर रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में परड़ीवाली का कर्तव्य क्या होना चाहिए? अपने कर्तव्य में वह कभी चूक नहीं होने देती। सुबह उठते ही चाय। फिर नाश्ता तैयार कर खेत चली जाती। ग्यारह-बारह तक लौटती तब चावल, दाल, सब्ज़ी बनाती। फिर रात का खाना। बूढ़ा-बूढ़ी दोनों उसे बहुत मानते। एक दिन परड़ीवाली ने कहा, ''काका, एक गाय ख़रीद दीजिए तो दूध-दही की कमी कभी न होने दूँगी। उठौना वालों का हाल तो देख ही रहे हैं—आज ब्याह है तो कल श्राद्ध है।'' बूढ़े ने एकमुश्त चार हज़ार देकर गाय ख़रीदवा दी। बारिश होने पर घर चूता था। छौनी-मरम्मत तो चुनचुन के बूते के बाहर की बात थी। बूढ़ी ने ज़िद ठान ली कि परड़ीवाली के घर पर खपरैल की टाली लगे और टाली लग गई।

बूढ़ा-बूढ़ी का सिद्धांत है—तुम हमारे लिए खटो तो हम तुम्हारे लिए चार आना ज़्यादा ही देंगे। अगर नहीं तो तुम भी अपने घर और हम भी अपने घर। लेकिन गाँव वालों का ऐसा सिद्धांत नहीं है। कोई सुख से रहता है तो क्यों रहता है? किसी के घर मे शांति है तो क्यों है? अरे साले, किसी के जीवन में शांति है तो तुम्हारे नाना के तोड़ने से भी वह टूटेगी? तुम ख़ुद शांति ढूँढ़ो, कि नहीं?

लेकिन सो क्यों करेगा?

एक दिन परड़ीवाली से भरत झा ने कहा, "क्यों परड़ीवाली, नया चलन शुरू हुआ है? अब राड़-रोहियार (पिछड़ी जाति के लोग) भी नौकर रखने लगा?" एक दिन चतुर मिसर ने कहा, "क्यों परड़ीवाली, गाँव के सभी बाभन कंगाल हो गए जो तुमने राड़ की हवेली पकड़ ली?" और तो और, एक दिन तिरबेनी महतो ने भी कह दिया, "अरे परड़ीवाली! उस साले का तो दुर्दिन आ ही गया है जो अपनी ही जात को अपनी हवेली में खटवाता है, पर तुम तो थोड़ा विचार करो। बाप-पुरखा तो बाभन की जूठन खाता रहा, अब राड़ की जूठन भी नहीं छोड़ेगी?"

अब परड़ीवाली क्या करे? समूचा गाँव एक तरफ़ और अकेली परड़ीवाली एक तरफ़। मगर वाह री परड़ीवाली! उसने हरेक को एक ही जवाब दिया। एकदम खरा जवाब, "जिस अंधे को यह दिखता है कि मैं हवेली में खटती हूँ, वह सहरसा जाकर अपनी आँखों का इलाज करवा ले! मुझे क्या कमी है कि हवेली में कमाऊँगी? मैं तो अपने सास-ससुर की सेवा करती हूँ। अपने सास-ससुर नहीं हैं, उससे क्या! जैसे अपने, वैसे वे। क्या वे हमें पराया समझते हैं? अशोक गाँव-घर में नहीं रहता तो मेरा धर्म क्या होना चाहिए? जो मेरे बच्चों के लिए इतना करता है, उसके माँ-बाप को छोड़ दूँ? मैं तो अपना धर्म नहीं छोड़ूँगी।"

और ज़रा इन गाँववालों को देखिए! पूरे गाँव के राड़ क्या और बाभन क्या—एक अबला को कर्म से विरत करने में सब एक हैं। मगर कर तो नहीं सके! रहा कोई बल समाज में?

अब इसी समाज का दूसरा क़िस्सा सुनिए।

अशोक आ रहा है, यह बात चौबीस घंटे के अंदर पूरे गाँव में फैल गई। अशोक अभी गाँव का स्तंभ है। पहले एक कमिश्नर साहब, फिर एक इंजीनियर साहब गाँव के स्तंभ थे। आते तो पूरे गाँव के लोग दास बने रहते। कइयों के बच्चों को उन्होंने जहाँ-तहाँ सेट किया। उनके प्रताप से कई घरों में चूल्हे जले। वे बड़े लोग थे, इसलिए स्तंभ थे। मगर यह अशोक? यह क्यों स्तंभ भाई? न तो वह श्रोत्रिय है, न बाभन है, न पढ़ा है न लिखा है। न हाकिम है, न हुक्काम। फिर क्यों स्तंभ? लेकिन पूरे गाँव को मालूम है कि अभी इस गाँव के किसी घर में चूल्हे जलाने की सामर्थ्य सिर्फ़ अशोक में ही है। ऐसा व्यावहारिक और विवेकवान व्यक्ति इस धरती पर कोई दूसरा नहीं हुआ। माना कि कमिश्नर साहब और इंजीनियर साहब ने कई घरों में चूल्हे जलवाए, पर वे सभी बाभनों के घर थे। चपरासी बहाल हुआ तो बाभन, रसोईया बना तो बाभन। और तो और, झाड़ूदार जो बहाल हुआ वह भी बाभन। मगर इस मर्द को देखिए। उदित पाठक का बेटा बी. एस सी. करके दिल्ली गया—अशोक के पास। वह लोहा ढोने को भी तैयार! मगर अशोक ने कहा, "क्यों भाई, लोहा क्यों ढोओगे। तुम मेरे डेरे पर रहो, खाओ-पिओ, मैं देखता हूँ। इतनी बड़ी दिल्ली है और मैं हूँ।" और महीना भी नहीं बीता कि वह युवक एक प्राइवेट अस्पताल में रिसेप्शनिस्ट लग गया। छह हज़ार की तनख़्वाह। अब करो मौज! कभी बुद्धन कामत का बेटा गया तो कभी पुलकित पाठक का पोता। कभी अर्जुन चौधरी का दामाद गया तो कभी लूटन मुखिया का भतीजा। जो जिस काम के लायक़ था, उसे वहीं सेट किया।

तो क्या अशोक वहाँ मज़दूरों की ठेकेदारी करता है या कोई दलाली करता है? उसे अपने रोज़गार से फ़ुर्सत कहाँ कि वह सब करे। हाँ, इतना ज़रूर है कि वह बारह साल से दिल्ली में है। मज़दूर बनकर गया था, सेठ बनकर कमा रहा है। जिस किसी से उसका संपर्क हुआ, उसने अपने व्यवहार से, अपनी ईमानदारी से सबका दिल जीत लिया। बड़े-बड़े सेठ-साहूकार और हाकिम-हुक्काम से उसकी दोस्ती है। लोग ही उसे फ़ोन करते हैं, ''अशोक, कोई बंदा दो। एक पढ़ा-लिखा बंदा दो। एक गार्ड दो।'' लोग जानते हैं अशोक जिसे देगा, वह विश्वसनीय होगा। इस मामले में अशोक भी सतर्क रहता है। गँवारू हिसाब-किताब उसके पास चलने वाला नहीं।

सो इस ख़बर के गाँव में फैलते ही लोग बूढ़े के दरवाज़े पर आने लगे। बूढ़े का मकान, बूढ़े का सुखी बुढ़ापा, बूढ़े का अमन-चैन जिन्हें कभी फूटी आँखों नहीं भाया, वे सभी 'क्या समाचार काका', 'क्या हालचाल मरर' पूछने लगे। बूढ़ा तो उड़ती चिड़िया को पहचानता है। वह कहा करता है, ''अरे भाई, इस संसार में कोई किसी के लिए कुछ करता कहाँ है? सबसे बड़ी बात है अपना ज्ञान, अपने बदन की फुर्ती। मेरा बेटा किसी को कहीं लगा ही न देगा? कमाएगा तो वह अपनी ही बुद्धि से। इसके लिए तो आप सब मेरे पास बेकार आते हैं। आने दीजिए, उसी से कहिएगा।''

मगर भरत झा उस्ताद है। वह सीधे बूढ़ी के पास पहुँच जाता है, ''क्या अशोक की माँ, सुख से रहती हैं न?''

और इस बूढ़ी को देखिए। साठ साल की है। भरत झा बहुत अधिक तो चालीस का होगा। बूढ़ी पहले उसे प्रणाम करेगी। पहले तो पाँव छूती थी। जब से बूढ़ा थोड़ा टाइट हुआ है, तब से हाथ जोड़कर प्रणाम करती है।

बूढ़ी कहने लगी, ''भैया, आप लोगों के चरण की कृपा से बहुत सुख में हूँ। किसी चीज़ की कमी नहीं है। ऐसा ही बेटा भगवान सबको दे।''

लेकिन ऐसा बेटा भगवान सबको दे या न दे, भरत झा को इससे क्या मतलब। उसे तो अपने बेटे के लिए जगह बनानी है। एम. ए. पास, छीले न घास। पीये ताड़ी, करे चुहारी।

सीधी उँगली से घी नहीं निकलता, यह सभी जानते हैं। भरत झा ने अपनी उँगली कैसे टेढ़ी की, इसका रहस्य सुनिए। वह बूढ़ी को खींचकर अतीत में ले गया, ''अशोक की माँ! याद है न? आप धान काटने मेरे खेत जाती थीं। बाप रे! आप जैसी फुर्ती किसी मज़दूर में कहाँ? सबसे पहले आपका बोझ तैयार! और बाप रे, बोझ भी कितना बड़ा-बड़ा! आप जैसी हिम्मत वाली कोई दूसरी कहाँ थी! तो मैं भी मज़दूरी से कुछ ज़्यादा ही धान आपको देता था। याद है या भूल गईं?''

बूढ़ी को आनंद आया। अपनी बड़ाई किसे अच्छी नहीं लगती? भरत झा तो अपनी बड़ाई कर रहा था कि वह मज़दूरी से ज़्यादा धान दिया करता था। बूढ़ी तो अपनी बड़ाई से गदगद थी कि मुझसे बड़े कलेजे वाली कोई और नहीं। बूढ़ी बहुत देर तक खेत-खलिहान और जन-मजूरी की बातों में डूबी रही।

लेकिन अंत में फिर वही बात, ''आदमी को अपनी बुद्धि और अपना ज्ञान ही तो काम देता है! मेरा बेटा क्या करेगा? कहीं लगा ही तो देगा! बाक़ी तो अपने हाथ में है।''

जब से यह तय हुआ है कि पूजा-पाठ के लिए गोपालपुर जाना है, तभी से रह-रहकर बूढ़ी के दिल में हूक-सी उठती है। गोपालपुर उसका नैहर है। नैहर में बचपन बीता। लेकिन बूढ़ी को इन बातों की याद नहीं आती कि उसका बचपन किस तरह बीता। गोबर और उपले कैसे चुना करती; अमराइयों में जलावन की लकड़ियाँ

किस तरह तोड़ती। नहीं, यह सब नहीं। बूढ़ी को सिर्फ़ यही बात याद आती है कि उसका बाप बुढ़ापे में साधु बन गया। उसने कमंडल और चिमटा धारण कर लिया; घर-बार छोड़ दिया।

क्यों? बेटे और पतोहू के कारण। पतोहू उसे इतना कोसती, शाप देती और बेटा इतनी फ़ज़ीहत करता कि बेचारा बाप—पुरखे की डीह त्याग कर मारा-मारा फिरता रहा और कहीं उधर ही मर गया। इसका ज़िम्मेदार कौन था? उसका अपना इकलौता बेटा; बूढ़ी का सहोदर भाई।

वह सहोदर भाई, ख़ुशीलाल मंडल, तीन साल हुए, यहाँ आया था। वैसे क्यों आता? वैसे कभी आया था? बहन का मुँह देखे तो उसे बारह बरस कहिए कि चौबीस बरस हो गए थे। जब तक कोई लस न हो, वह आने वाला जीव नहीं। अशोक गाँव आया हुआ है, इस बात का पता उसे कैसे-न-कैसे चल गया। बस, चला आया। और आया तो रोता ही आया; हाथ फैलाए हुए आया। "बहन, मैं बहुत पापी हूँ, अत्याचारी हूँ। मगर सात घर दुश्मन को भी लोग माफ़ कर देते हैं और मैं तो तुम्हारा सहोदर हूँ।" "क्यों भाई? इतना रोना-धोना क्यों?" "बेटा तो पंजाब-हरियाणा में कमाता है, पर फूटी कौड़ी नहीं भेजता। अन्न के बिना मर रहा हूँ। देह में अब ताक़त नहीं रही। हल नहीं चला पाता। एक भैंस ख़रीद दो। एक साल के अंदर तुम्हारा पाई-पाई चुका दूँगा।"

इन बातों का अशोक क्या जवाब दे? उसने बूढ़ी से पूछा, "माँ, क्या कहती हो?"

बूढ़ी ने कहा, "बौआ, कुछ भी हो, है तो तुम्हारा मामा।"

अशोक ने पाँच हज़ार रुपए निकालकर मामा को दे दिए। एक साल को कौन कहे, तीन साल बीत गए। बूढ़ी ने कई बार संदेश भेजा, कई बार आदमी भेजा, कई चिट्ठियाँ भिजवाईं। रुपए लौटाने की बात तो दूर, उसने कोई जवाब तक नहीं दिया।

बूढ़ी के कलेजे में रह-रहकर हूक उठती है। "मेरा तो एक ही बेटा है, फिर भी इतना करता है; मगर तुम्हारे तो तीन-तीन हैं, तब भी दरिद्र ही हो? तुम सहोदर हो, उससे मेरा क्या? मेरे लिए क्या करते हो? जो मेरे लिए एक करेगा, उसके लिए मैं दो करूँगी। लेकिन तुम्हारे लिए क्यों करूँ? तुम्हारा क्या जानती हूँ? अरे डकूबा! तुमने तो बाप को मार दिया। उस साधु को सताया रे बेईमान! तुम्हारा कभी भला नहीं होगा!"

टीस से छटपटाती बूढ़ी फ़ैसला करती है, "इस बार तुम्हें नहीं छोड़ूँगी। रुपए लाओ, नहीं तो भैंस खोल लूँगी। रे गलाकट, इस बार नहीं छोड़ूँगी रे!"

तय हुआ कि पूजा-पाठ के बाद जब बूढ़ी लौटने लगेगी तो भैंस खुलवाती आएगी। "क्या रे घूरन, क्या रे चुनचुन, भैंस हाँककर ला सकोगे न?"

"अरे काकी, यह कौन-सा मुश्किल काम है!"

चार दिनों के बाद अशोक का भेजा हुआ ड्राफ़्ट बूढ़े को मिल गया। बेटे ने पहले ही फ़ोन पर बता दिया था कि उसने दस हज़ार का ड्राफ़्ट भेजा है। पोस्टमैन छेदी झा रजिस्ट्री चिट्ठी लेकर आया। वह भाँप गया था कि इस चिट्ठी में ड्राफ़्ट है। उसे पैसों की ज़रूरत थी। समय-समय पर बूढ़े ने उसकी थोड़ी-बहुत मदद की थी। आज शायद वह कुछ ज़्यादा ही ज़रूरतमंद था। "मेरी एक विनती है", चिट्ठी देते समय उसने बूढ़े से कहा। बूढ़ा समझ गया। उसने बूढ़ी को भी अपने पास बुला लिया।

"हाँ, कहिए!"

"मेरे घर का हाल तो देख ही रहे हैं। कुत्ते-बिल्लियों का बसेरा बना हुआ है। घर की मरम्मत नहीं हुई तो बरसात कैसे काटूँगा?"

"तो मुझे क्या कहते हैं?"

"बस, यही कि दो हज़ार रुपए दे दीजिए। मेरा बेटा राजस्थान में काम करता है। वह जैसे ही पैसे भेजेगा, मैं चुकता कर दूँगा।"

अब बूढ़ी आगे आई। कहा, "भाई, मैंने तो आपको एक बार डेढ़ सौ, एक बार पौने तीन सौ और एक बार पचपन रुपए दिए थे। वे रुपए आपने लौटाए?"

छेदी झा हँसने लगा, "अरे, आप जैसों के लिए उतना पैसा क्या है!"

बूढ़ी ने कहा, "हाँ, भाई! ठीक ही कहते हैं। मेरे बेटे के लिए इतना पैसा कुछ भी नहीं है। मगर यह पैसा आया कैसे? मेरा बेटा चोरी-डकैती करके तो नहीं लाया। मेरे बेटे के पास आया पर आपके पास क्यों नहीं आया?"

छेदी झा ने पैंतरा बदला। कहा, "देखिए अशोक की माँ। मैं तो आपलोगों की मदद करके ही गुज़ारा करता हूँ। अगर आज मेरी नीयत बदल जाए तो यह ड्राफ़्ट आपको मिलेगा?"

बात ने अब दूसरा मोड़ ले लिया था। छेदी झा ने अपना दबाव क़ायम रखने के लिए ब्रह्मास्त्र छोड़ दिया था। उसका अनुमान था कि बूढ़ी को निकलने का अब कोई रास्ता नहीं मिलेगा। बूढ़ा थोड़े असमंजस में पड़ गया था। ये लोग ब्राह्मण हैं। इनसे बिगाड़ करने में घाटा-ही-घाटा है। इतने झंझट की क्या ज़रूरत है! दो हज़ार माँग रहा है तो पाँच सौ दे देने में हर्ज ही क्या? बूढ़ा सलटने का उपाय ढूँढ़ रहा था।

मगर बूढ़ी पर इस ब्रह्मास्त्र का कोई असर नहीं हुआ। उसने दो टूक जवाब दिया, "भाई, रुपए तो मैं आपको नहीं दूँगी। आपके साथ मेरा लेन-देन चलनेवाला नहीं। अब आप कहते हैं कि डिराफ रख लूँगा, तो रख लीजिए। मेरा भाग्य तो आप नहीं ले लेंगे? मैं बेटे से कहती हूँ—रे बेटा, अब जो डिराफ भेजोगे उसे डाकपीन साहब रख लेंगे। कह देना सरकार को कि दो हजार माँगते हैं, तब डिराफ देंगे।"

तो कह रहा था कि बूढ़ी को हराना बहुत कठिन है। उसके भीतर जो शक्ति है, वह सीधे धरती से आई है; कीचड़ से, मिट्टी से, धूल से, सिर पर के भारी बोझ से, मालिक-मुख़्तार की गालियों और फ़ज़ीहतों से। बूढ़ी को परास्त करना बहुत मुश्किल है।

गोपालपुर गाँव की पश्चिमी सीमा पर ख़ुशीलाल मंडल की झोंपड़ी है। मिथिला का कोई भी गाँव जिस तरह का हो सकता है, गोपालपुर भी वैसा ही था। जिस तरह गाँव की बाहरी सीमा पर शूद्र बसते हैं, उसी तरह वहाँ भी था। फ़र्क़ सिर्फ़ यही था कि अशोक का गाँव बाभनों का गाँव था और ख़ुशीलाल का गाँव भूमिहारों का गाँव। अंतर था तो इतना जितना चुप्पी और शोर में होता है। ख़ुशीलाल कभी-कभी बोलता है, "लाला का लटपट, बाभन का हाला; भुइंहार की चुप्पी बाद में बुझाला।" लेकिन आप कभी उस गाँव जाते तो सिर्फ़ यही फ़र्क़ नहीं दिखता। फ़र्क़ और भी थे। गोपालपुर गाँव के किसी शूद्र की झोंपड़ी पर खढ़ (फूस की छौनी) नहीं था, जिसे मुहावरे में घर पर खढ़ होना कहते हैं। ऐसी एक भी झोंपड़ी नहीं थी, जिसे घर कहा जा सके। बीसवीं शताब्दी बेचैनी से बीत रही थी; मगर उस गाँव का एक भी शूद्र अभी तक मैट्रिक पास नहीं कर सका था। गाँव में पाँच सौ घर थे। तक़रीबन दो सौ भूमिहर थे और उनके सेवार्थ क़रीब तीन सौ शूद्र। आप सब ठीक ही तो कहते हैं ग्लोबल विलेज। वे सचमुच ग्लोबल विलेज के बाशिंदे थे। गोपालपुर मौजा के खतियान में, जमाबंदी बही में किसी शूद्र का खाता नहीं था। वे सब पृथ्वी-ग्राम के वासी थे और ठाकुरों के ख़रीदे हुए ग़ुलाम थे। अब यह बात अलग है कि वह गाँव भी मिथिला में ही था और कुछ अति उत्साही बंधु मंचों पर, भाषणों में, कविताओं में उन शूद्रों को भी मैथिल कहा करते।

ख़ुशीलाल के तीन बेटे थे। तीनों बाहर रहते थे। ठाकुरों के परदेस में रहनेवाले कमाऊ पूतों और दामादों के यहाँ वे घरेलू नौकर थे। बड़ा बेटा विद्रोही निकला। चंद्रानन के बहनोई के घर से भागकर वह हरियाणा चला गया। वह गया तो उधर ही रह गया। उसका गाँव छूट गया। ख़ुशीलाल ने पंचायत में साफ़ कह दिया कि उस बेटे से मेरा कोई लेना-देना नहीं है।

समय बदल रहा था। गाँव बदल रहा था। लेकिन ख़ुशीलाल का समय इतनी मंथर गति से बदल रहा था कि उसके लिए यह विश्वास करना कठिन था कि समय सचमुच बदल रहा है। उसने भैंस ज़रूर ख़रीदी, मगर उसकी हालत नहीं सुधरी। दूध वह ठाकुरों को दिया करता। वे पैसे नहीं, अनाज देते थे। अगर कभी पैसे देते तो वे कपड़े-लत्ते और दवा-दारू पर ख़र्च हो जाते। उसके लिए कुछ भी बदला नहीं था; समय ठहर-सा गया था। उसके लिए कोई शताब्दी न तो आ रही थी और न जा रही थी।

आपको भी मालूम होगा कि लाचारी कई समस्याओं का समाधान होती है। बहन की चिट्ठियाँ आतीं। ख़ुशीलाल सोचता—कहाँ से दूँगा? बहन ही तो है, चमड़ी तो नहीं उधेड़ लेगी! बहन का आदमी आता। ख़ुशीलाल कहता, "मेरी हालत तो देख ही रहे हो। बहन से कहना थोड़ा धीरज रखे। ज़िंदा रहा तो चुकता कर ही दूँगा। नहीं तो ले जाओ भैंस खोलकर। लेकिन बहन से कहना ख़ुशी अब बाल-बच्चों समेत गया। हमारा कोई और आसरा भी तो नहीं।''

और इस बार जब समदिया यह कहने आया कि बृहस्पतिवार को बूढ़ी अपने बेटे-बहू के साथ क़बुलापाती संपन्न कराने आ रही है और पैसे नहीं मिले तो भैंस खोलकर ले जाएगी; तो संवाद सुनते ही ख़ुशीलाल के घर में मातम-सा छा गया और रोना-धोना शुरू हो गया। ख़ुशीलाल की बीवी अपनी तक़दीर को कोसने लगी। दोनों छोटी बेटियाँ ज़ार-बेज़ार रोने लगीं। अड़ोस-पड़ोस के लोग अचंभे में पड़ गए, पता नहीं क्या बात है। वे आए और ख़ुशीलाल को ही खरी-खोटी सुनाकर चले गए। ठाकुरों के चेहरों पर मुस्कान खेल रही थी।

अशोक दस तारीख़ को आनेवाला था, मंगल के दिन। नौ तारीख़ आते-आते पूरे ज़ोर-शोर से चलनेवाली तैयारी पूरी हो गई थी। सब एकदम फिट। छागल-पाठी और चाँदी की आँख से लेकर धरमराज का झोला छाप बटुआ तक बनकर तैयार था। मंगल के रोज़ भोर से ही आँगन चमकने लगा। मकान को झाड़-पोंछकर साफ़ कर दिया गया था। आँगन को तीन-तीन बार लीपा गया था। अशोक दस-ग्यारह बजे रात को आनेवाला था। समझ लीजिए कि वह रात छुतहरू मरर के आँगन में दीपावली की रात बनकर उतरी थी। साँझ बीतते-न-बीतते जिस घर-आँगन में बूढ़ा-बूढ़ी खाकर सो जाते; अँधेरा और सन्नाटा पूरी रात सन्न-सन्न करते होते, उसी घर-आँगन में आधी रात के वक़्त चार-चार लालटेनों को जलता देख पूरे गाँव के कुत्ते टोह लेने पहुँच गए थे—आज बात क्या है? गाँव के कुत्ते परदेसी अशोक को पहचानते नहीं थे और उन्हें उसके गाँव आने की सूचना नहीं थी, यह स्वाभाविक ही था। उस गाँव में भी कुत्ते, कुत्ते ही थे और आदमी, आदमी।

ग्यारह बजे के आसपास फ़ोन की घंटी अचानक टनटनाने लगी। पूरे घर में खलबली मच गई। अरे! आधी रात को फ़ोन। किसका फ़ोन होगा? कहाँ से? किसने किया होगा? एक ग्रामीण ने कहा अशोक ही का होगा। सहरसा से किया होगा। गाड़ी से उतरकर सोचा होगा पहले फ़ोन ही कर ले। बूढ़ी चिंतित हो गई। गोपाल पहुँचा या नहीं? जीप ठीक कर ली या नहीं? स्टेशन पर अशोक से उसकी भेंट हुई या नहीं?

बूढ़े ने फ़ोन उठाया। सचमुच, फ़ोन अशोक का ही था। लेकिन फ़ोन वह सहरसा से नहीं,

दिल्ली से कर रहा था। ''अरे, दिल्ली से ? आए नहीं ? क्यों ? अरे बाप ! यहाँ तो सब तैयारी हो चुकी है। एह, ऐसा भी कहीं हुआ है ? जिसका क़बुला है, वही न रहे तो पूजा कैसी ? अभी तक ऐसा हुआ तो नहीं। तुम जब आ जाओ तभी होगा, क्या कहते हो ? नहीं ? अच्छा, ठीक है। हाँ, सब हो जाएगा। बहू से कहना गुरुवार को उपवास कर ले।'' पूरे घर-आँगन का उत्साह पल भर में फीका पड़ गया। अशोक नहीं आ रहा है। उसे काम पड़ गया। दिल्ली में सरकारी ज़मीन पर उसकी दुकान थी। उसे हटाने का आदेश हुआ था। दूसरी दुकान उसे मिल भी गई थी। मगर वह सोच रहा था जब तक चलती है, चलने दे। यहाँ दुकान पुरानी और जमी हुई थी। यहाँ की बिक्री का मुक़ाबला नई जगह कहाँ से कर सकेगी। लेकिन प्रशासन का हुक्म था कि दस तारीख़ तक नहीं हटती तो पुलिस हटा देगी। पुलिस के हटाने से बरबादी होती। इसलिए वह ख़ुद हटाना चाह रहा था। दुकान को नई जगह स्थापित करना उसके लिए अधिक ज़रूरी था। क़बुला चढ़ाने का विकल्प तो था, पर दुकान हटाने का कोई विकल्प नहीं था।

अब समस्या थी कि यह होगा कैसे ? अशोक आएगा नहीं और बूढ़ा-बूढ़ी जाकर क़बुला चढ़ा आएँगे ? ऐसा भी कहीं हुआ है ? और कहीं हुआ हो या नहीं, यहाँ यह होकर रहा। इसके दो कारण थे। एक तो यह अशोक का हुक्म था और दूसरे बूढ़ी को अपने भाई से पाँच हज़ार रुपए वसूलने थे। बूढ़ी मान गई। और जब अक्खड़ और ज़िद्दी बुढ़िया तैयार हो गई तो फिर इसे होने से कौन रोक सकता था ?

ख़ुशीलाल मन-ही-मन प्रार्थना कर रहा था, ''हे बाबा धरमराज ! कृपा करो, कोई ऐसा चक्कर चलाओ कि ये सब न आ सकें।'' समूचे टोले में अशोक जैसे लक्ष्मी-पात्र के आने का हर्ष था। मांस-भात के भोज का उछाह था। सिर्फ़ ख़ुशीलाल ही इस पराभव से बचना चाहता था।

लेकिन उसकी परीक्षा की घड़ी आ ही गई। आख़िरी संवाद आया कि अशोक तो गाँव आया नहीं, लेकिन बूढ़ा-बूढ़ी आकर क़बुला ज़रूर चढ़ाएँगे। ख़ुशीलाल की बची-खुची उम्मीद भी जाती रही। अशोक आता तो बचने की उम्मीद भी थी। अब ?

ख़ुशीलाल ने दो काम किए। सबसे पहले तो उसने अपने दरवाज़े से भैंस खोल ली और सकुन ठाकुर के यहाँ जाकर बाँध दी। सकुन ठाकुर को मामले का अंदाज़ा था। फिर भी पूछा, ''क्या रे ख़ुशिया, क्या बात है ?'' ख़ुशीलाल कलपने लगा, ''रक्षा कीजिए मालिक ! डाकिनी बहन आ रही है। मेरी संपत्ति वह नहीं छोड़ेगी।'' सकुन ठाकुर हँसने लगे।

दूसरा काम उसने यह किया कि गाँव से लापता हो गया।

बूढ़ी नियत समय पर आई। वह जीप रिज़र्व करके आई थी। पूरे टोले में हर्ष की लहर दौड़ गई। सभी बूढ़े-पुराने आ-आकर नाना पुराण निगमागम करने लगे। लड़के-बच्चे ख़ुशी में ताली पीटते, लड़ते-झगड़ते, शोर मचाते जमा हो गए। पूरे टोले के लोग, घर-परिवार के सभी अपनी इस समर्थ बेटी के स्वागत में होली के अबीर की तरह उड़ने लगे।

भगत-भगतिया सभी पहुँच चुके थे। ख़ूब रहा। मृदंग की मतवाली थाप पर पान चढ़ा; परीक्षा हुई; धरमराज आए; काली-कमला-ब्रह्म सब आए, बलि दी गई और भोज-भात की तैयारी होने लगी। तब बूढ़ी ने एलान किया जिन तीन छागर-पाठियों की बलि दी गई है; उनमें से दो तुम लोग रख लो, चावल-दाल-तेल-मसाला जो लेती आई हूँ सो भी रख लो; भोज-भात करो। हम लोग बूढ़े हुए, घर-द्वार देखनेवाला भी कोई नहीं, इसलिए अब हम लौट जाएँगे।

दूसरा एलान बूढ़ी ने यह किया कि ''ख़ुशिया भारी गलाकट है, बेईमान है, डाकू है, बाप का हत्यारा है। वह बेईमान मेरे रुपए धारता है। क़रार

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

के मुताबिक़ लौटाए नहीं। इसलिए मैं उसकी भैंस खोल ले जाऊँगी।''

इतना बड़ा गाँव, इतना बड़ा समाज! फिर यह कोई मुश्किल बात नहीं थी कि बूढ़ी को पता न चले कि ख़ुशिया ने भैंस कहाँ बाँध रखी है। उसे पता चल गया था।

बूढ़ी सकुन ठाकुर के दरवाज़े पर गई। चुनचुन और घूरन साथ थे। सकुन ठाकुर ने कहा, ''इस तरह क्यों करती है, अनरिया? ख़ुशिया तो तुम्हारा भाई ही है!''

बूढ़ी कहने लगी, ''करूँगी नहीं मालिक! भाई है तो रहे। यह ऐसे वह ऐसे। करूँगी क्यों नहीं?''

रही पाँच हज़ार की बात, तो बूढ़ी फ़ौज को हराने वाला कलेजा रखती थी; सकुन ठाकुर को हराना कौन बड़ी बात थी! फिर इस बात का भी क्या ठिकाना कि सकुन ठाकुर ख़ुशिया की तरफ़ से लड़ रहा था या इस घटनाक्रम से अपना मनोरंजन कर रहा था?

पूरे गाँव में हल्ला हो गया बूढ़ी ख़ुशिया की भैंस खोलकर लिए जा रही है। ख़ुशीलाल जी, अब? मालिक के खूँटे पर भैंस बाँधने से क्या हुआ? भागने-छिपने से क्या हुआ?

ख़ुशीलाल पश्चिम टोले के दक्षिणी छोर पर एक दुसाध के घर में छिपा हुआ था। उसका सी.आई.डी. चौकन्ना था। उसे सारी ख़बरें मिल रही थीं।

उसके सी. आई. डी. ने अब आख़िरी ख़बर उसे दी, तो वह बीच घर में सिर पर हाथ धरे बैठा था! टप्...उसकी आँख से आँसू की एक बड़ी बूँद धरती की छाती पर गिरी।

उसने सिर उठाया। आँखें डबडबाई हुई थीं। उसने सी. आई. डी. की ओर देखा। उसके देखने में देखने—जैसी कोई चीज़ नहीं थी। वह शून्य को चीरना था। ख़ुशीलाल बोला, ''धुः। अब क्या? चलता हूँ...।''

सिर्फ़ दिनभर का भूखा था ख़ुशीलाल, पर लगता था जनम भर का भूखा हो। प्यास दिन भर की थी, पर जनम-जनम की लगती थी। कमज़ोरी दिनभर की थी, पर लगती थी जैसे जनम भर की हो। धीरे-धीरे क़दम उठाता, हरेक क़दम पर काँपता, फिर भी अगला क़दम उठाने के लिए अपने को मज़बूत करता ख़ुशीलाल जाकर बहन के आगे खड़ा हो गया। बहन सकुन ठाकुर के यहाँ से भैंस खोलकर विदा हो रही थी।

नंगी देह। गमछा पहने। गले में काली बद्धी (डोर)। सबके सब बाल-सिर के, छाती के, मूँछ के झक सफ़ेद। हौले-हौले अपने शरीर को जबरन खींचता, रास्ते पर बढ़ता यह नरकंकाल! क्या यह ख़ुशिया है? हाँ, ख़ुशिया ही तो है! बूढ़ी अवाक् टुकुर-टुकुर देखती रह गई। एकटक। स्तब्ध।

ख़ुशीलाल हिला। बहन के आगे जाकर झुका; बोला, ''ठहरो, ज़रा पाँव छूने दो!''

उसकी आँख से आँसू की एक और मोटी बूँद टप से धरती पर गिरी।

बूढ़ी के जैसे अचानक बोल फूटे, ''ख़ुशिया रे! अरे तुम इतने बूढ़े हो गए रे! तीन ही साल में तुम्हारी यह दशा हो गई! तुम मुझसे भी अधिक बूढ़े!'' बूढ़ी ने ख़ुशीलाल को अपनी बाँहों में जकड़ लिया।

हिंदी गद्य कविताएँ

प्रेमशंकर रघुवंशी

याद

जाने क्यों याद आ रही वह पायगा (गौशाला) जहाँ छिपकर मिले थे पहले पहल हम। तब न तो छिपकर मिलने का अर्थ जानते थे...न छिपकर मिलने की वजह...हम तो मिल भर रहे थे उसी तरह जिस तरह कि देखा करते थे कक्का को झुनिया से छिपकर मिलते हुए उन दिनों...।

मुझे याद है अब भी कि हम बहुत कम पहना करते थे उन दिनों। उन दिनों उसी धज में छिपकर मिले थे शायद। तब कुछ भी करना-धरना समझ में नहीं आ रहा था हमें, तो एक-दूसरे के हाथ थामे ज़ोर-ज़ोर से दो एकम दो का पहाड़ा पढ़ने लगे थे हम...कि तभी बैलों को हाँकते पायगा में दाख़िल हुए कक्का...और छिपकर मिलते हुए देखकर ज़ोर से डाँटा था हमें...। तब हमें कँपकँपी लगने लगी थी इसलिए...कि हम...समझ ही नहीं पा रहे थे उनकी डाँट का मतलब!

आज जाने क्यों याद आ रही है तुम्हारी, तो तुम मेरे मन में पायगा-सी महक रही हो...और...दोनों तटों को छूती हुई गाँव की नदी बहने लगी है अंदर...और...अमराइयों में बौरों की झालरों के बीच कोयलों के सहगान हो रहे हैं!

पता नहीं कहाँ हो तुम! लेकिन लरिकाई वाला हमारा वह गाँव तुम्हें भी याद तो आता होगा... ख़ासकर इन दिनों जबकि हमारे गाँव की गली-कूचों में बाज़ार मुस्तैदी से फैल रहे हैं...और पाल-चौपाल तक दुकान में तब्दील होने लगी हैं...!

1936 में जन्मे प्रेमशंकर रघुवंशी के अब तक 10 काव्य-संग्रह, 2 कथा-संग्रह, 2 समीक्षा-ग्रंथ और 4 बच्चों की पुस्तकें प्रकाशित हैं। राज्य साहित्य अकादमी, हिंदी साहित्य सम्मेलन और आर्यभाषा संस्थान से पुरस्कृत। संपर्क : प्रताप कॉलोनी, चाल के पीछे, हरदा (म.प्र.)-461331

संदूक़चा

रखा है पहाड़-सा ख़ूब बड़ा संदूक़चा ओसारे में। बैठते हैं घर आए पाहुने जिस पर। सोते दोपहर में दादाजी...कभी-कभी रात में भी और ख़ाली रहने पर झबरा (कुत्ता) भी। सूना नहीं रहता संदूक़चा-अंदर से भी रहा आता भरा-भरा...हर वक़्त!

परदादा परलोक गए तो संदूक़चा वैसा का वैसा छोड़ गए। जो दादा का हुआ...तब उसके अंदर घोड़े की जीन, बैलों की रमझूल, टूटी मूठों, खंतों के साथ दादी की चक्की के मानी टूटे पाट वग़ैरह

धरे होते। घँटुरियाँ, टापरी, ढोने, गिरमें रखे होते उसमें...गटापारचा की माला भी।

दादा के देखते–देखते रख दिए पिता ने फिरंगियों के ज़माने के कुर्की वाले नोटिस और खेतों के खसरा खतौनी के नक़्शे उसमें। रख दिए पिता ने गाँव में हर साल खेली जानेवाली रामलीला की पोशाकें, पोथियाँ और मुखौटे वहाँ, जो साल में एक मरतबा ही निकाले जाते और हर साल की लीला के बाद के टूटे तीर-कमान के साथ जस–के–तस रख दिए जाते। कपड़े में बँधी चिट्ठियों के साथ आज़ादी के गीत गा चुकी कुछ उम्मीदें भी रखी हैं उसी में। उसी में रखे हैं टूटे गेंती–फावड़े, खुरपी–हँसिए, कुल्हाड़ी-हथौड़ों के टुकड़े...और रंग–बिरंगे पत्थर जिन्हें हाथ में लेते ही फूटने लगती एक साथ इतिहास की ध्वनि तरंगें संदूक़चे से!

अबकी दशहरे पर ख़ाली किया गया संदूक़चा तो पूरा–का–पूरा ओसारा भर गया अटाले से। जहाँ म्यूज़ियम में रखी चीज़ों की तरह लग रही थीं चीज़ें जिन्हें खिलौने मानकर देख रहे बच्चे...कि तभी कुछ चीज़ें छाँटकर फिर रख दीं संदूक़चे के कोने में जिनमें हल बख्खर के दतुएं–पाँस, सेल–पराने,...नाड़ी–बरत वग़ैरह शामिल हैं। रख दिए पत्नी ने भी अपनी भजन मंडली के झाँझ–मँजीरे, ढोलक और सींकों की झाड़ुएँ एक तरफ़...एक तरफ़ रख दिए अनुज ने अपनी पार्टी के भड़कीले नारों के पोस्टर और गचकुंडी एक साथ...। अनुज वधू ने बाल–बाड़ी की स्लेट–पट्टी... !

अबकी छाँट–छाँटकर अपना–अपना इतिहास भरा था सबने और बेटी ने बेटरी से चलनेवाले घर–गिरस्थी के खेल–खिलौने...और पाठशाला में गुरु जी द्वारा बनवाए भाई–चारे के पोस्टर, गणतंत्र दिवस के संदेश और सूत्र वाक्यों की तख़्तियाँ... ! और...और बेटे ने रखा है धारदार वर्तमान; इस नीयत से कि तनिक भी ग़लत बयानी पर उतारू होगा इतिहास, तो वह घर के भूगोल की चिंता किए बग़ैर रेत देगा गर्दन और लटका देगा मगरी पर बर्बरीक की तरह उसे ताकि वह आनेवाली प्रत्येक पीढ़ी को आँखों देखा हाल सुनाने हर वक़्त मौजूद रहे।

आज दोपहर यूँ ही आ लेटा संदूक़चे पर तो सुना कि ऊपर का ढक्कन कुछ बोल रहा है। वह नीचे के ढक्कन को सुना रहा है आपबीती और नीचे का ढक्कन भी सवाल–जवाब में लीन है। सुनता रहा ध्यान से वार्ता उनकी; जिनमें पेड़ होने वक़्त की कितनी ही यादें हैं उन्हें कि कैसे–कैसे फुदकती थीं गिलहरियाँ उन पर...। कब कब शेर की दहाड़ें सुनते ही दिन दिनभर उदास बैठे रहते थे उनकी छुगनी तक भयभीत बंदर! कि दिन में कितनी–कितनी बार उनकी पींड से अपनी देह रगड़ा करती थीं नील गायें...कि नालों

से पानी पीकर तीसरे प्रहर दिन तक किस तरह भरी रहती थी उनकी छाँव में हिरन, चीतल, बारहसिंगों की गुठान...और चील, कौओं, बाज़ों के घोंसलों को कितने जतन से सँभाले रखते थे गोद में वे...! और कितने-कितने मगन रहते थे चेनुओं के साथ चिरोरियाँ करते हर मौसम में...कि तभी जंगल की आदिम गंध छोड़ती सिसकियाँ सुनाई दीं उनकी...तो देखा कि वे एक दूजे के आँसू पोंछते हुए उन दिनों की अपनी निर्मम हत्या को याद कर रहे हैं, जब उन्हें पहाड़ से काटकर बढ़ई के आँगन में सुलाकर सरेआम टुकड़े किए जा रहे थे और आरियों से चीरकर पटिया-पटिया की जा रही थीं देह...!

पेड़ से संदूक़चा होने तक की एक-एक दास्तान सुनाता संदूक़चा आज भी एक धरोहर की तरह विराजमान है घर में और आज भी लोक गायक हरबोले की तरह याद है वन से लेकर जन की हरेक हलचल उसे...जहाँ अंकुरण के साथ से ही करुण के साथ हरेक रस का अवतरण होता रहा उसके सामने और घर की मान मर्यादा के उतार-चढ़ाव पर हर बार हँसता, रोता, खिलखिलाता और उदास होता आया है वह...और उस पर बैठने वाला जब तब अपने मन में उठनेवाली ज्ञात-अज्ञात भाव तरंगों पर तबले की तरह एक न एक बार ज़रूर बजाता है उसे और वह भी हरेक में अपनी सामाजिकता की गमक उठाता सबके साथ संगत देने हर वक़्त अनुगूँजित होता रहता है!

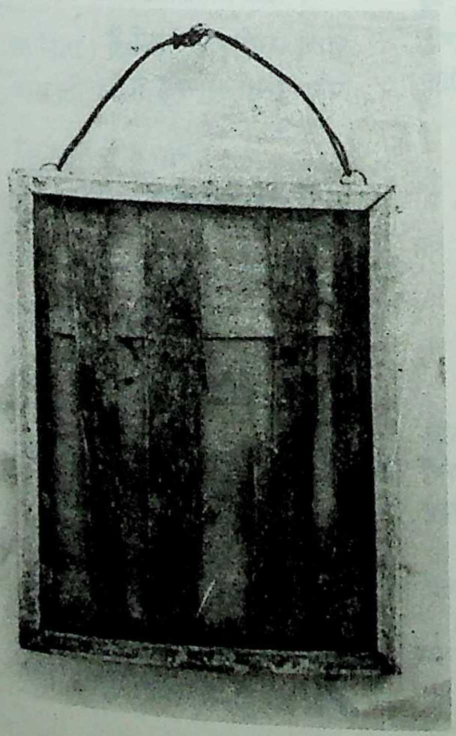

हिंदी कविता

सुधेश

ग़ज़ल

स्वप्न कुछ पीछे पड़े हैं,
आँख में आकर अड़े हैं

मिले वे नित हाथ जोड़े
ऐन मौक़े पर भिड़े हैं।

हँसी उनकी चाँदनी है
दाँत मैले हैं सड़े हैं।

वे विचारों में खुले हैं
द्वार दिल के पर भिड़े हैं।

साधना तो सिर्फ़ तिकड़म
सिद्धि के झंडे उड़े हैं।

आजकल अख़बार में हैं
इतिहास में मुर्दे पड़े हैं।

नाम छाया का नहीं है
ताड़ से ऊँचे बड़े हैं।

हाथ उनके आसमाँ हैं
पाँव सत्ता में गड़े हैं।

कवि सुधेश का चर्चित खंडकाव्य है *निर्वासन*। संपर्क : ए-34, न्यू इंडिया अपार्टमेंट्स, रोहिणी, सेक्टर-9, नई दिल्ली-110085

राजेंद्र स्वर्णकार

रात बीत गई

रात बीत गई, निकला दिन
पगडंडी के कंकड़ गिन

झाँसा चपत दाग़ा, दुनिया ने
कुछ तो तुझे दिया लेकिन

खा कोड़े चुपचाप, आदमी!
क्यूँ घोड़े ज्यूँ हा-हिन-हिन

भोज शेष भालों का, पहले
छक तो लें ये कीलें-पिन

हिंदी-राजस्थानी, अंग्रेज़ी कवि राजेंद्र स्वर्णकार की *रूई मांयीं सूई* और *आईनों में देखिए* पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : गिराणी सोनारों का मोहल्ला
बीकानेर-334005 (राज.)
फ़ोन : 0151-2203369
मो. : 0151-3105729

खुले घाव मँडराएँगी रे
कई मक्खियाँ भिन-भिन-भिन

नाच! नचाए जितना क़िस्मत
धाकड़ ता धाकड़ धिन-धिन

बहता दरिया

बाहर बहता दरिया रख
भीतर पानी ठहरा रख

अँधेरे से भरे हुए
घर में गहन-उजेरा रख

दौलत माल-ख़ज़ाने पर
सूरदास का पहरा रख

निगरानी में कौओं की
चिड़िया! रैन-बसेरा रख

स्याह रात के सिरहाने
उजला सपन-सवेरा रख

छील-काट सारा जंगल
सर इक बिरछ घनेरा रख

क़ासिद! अपने झोले में
अब तो इक ख़त मेरा रख

रंग बाँट दे तू सारे
इक; राजेंद्र! सुनहरा रख

अजय प्रकाश

चालीस की उम्र का आदमी

चालीस की उम्र का आदमी जल्दी
मज़ाक़ पसंद नहीं करता
चालीस की उम्र का आदमी गंभीर
हो जाता है
चालीस की उम्र का आदमी बहुत-सी
बात पसंद नहीं करता

युवा कवि। संपर्क : द्वारा
रेश चंद श्रीवास्तव, 487/2/8
-1, रामानंद नगर, अल्लापुर,
इलाहाबाद

चालीस की उम्र का आदमी सीढ़ियाँ
चढ़ते वक़्त हाँफने लगता है
चालीस की उम्र का आदमी राष्ट्रगान
का मायने समझता है
चालीस की उम्र का आदमी रोटी का
मतलब समझता है
चालीस की उम्र का आदमी दिवंगत
आत्मा की शांति के लिए ईमानदारी
से दो मिनट मौन खड़ा रहता है
चालीस की उम्र का आदमी बहुत तेज़
नहीं भागता
चालीस की उम्र का आदमी बच्चों-सा
नहीं मचलता
चालीस की उम्र का आदमी
बुक्का फाड़कर नहीं रोता
चालीस की उम्र का आदमी तोते-सा
नहीं चहकता।

आनंद संगीत

गृहिणी

रात वह एक रात
फ़रिश्ते सब वे सितारे
समवेत अपने टिमकते ओप में
सो चुके होंगे

होगी वही किंतु होती हुई होगी
एक जो गृहिणी
की देह तपती
तेज़ बुख़ार में
देह के भीतर
और आर-पार चीसती
दुखद गूँज में,
खंडित पुकार में
रात की धीमी-धीमी
आती निमग्न रफ़्तार के साथ-साथ

1956 में जन्मे आनंद संगीत की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : 66, सिंधी कॉलोनी, पंजवाणी भवन, गुमानपुरा, कोटा 324007

अँधेरे के छिद्रों में
धूसर स्वप्न भी वे
इसी भाँति जागते-

सर्द लौ में काँपती-सी देह उसकी
तनिक ज्यों सन्निपात
में सोती वह जागती रहती
उनींदी रात भर

बच्चे गहरी साँसों
में कि उनकी बंद पलकों
में मधुर स्वप्नों के निर्झर

पुरुष भी जागता अंततः कब तक
जागता रहता
स्त्री व नींद के दूसरे छोर पर
खर्राटों की स्वप्निल
दुष्कृत लय में गिरा अनुपस्थित हुआ बोझिल

और यूँ सोचते और जागते
सन्नाटे में
नवजात विस्तीर्ण में यूँ
समुज्ज्वल सुबह हुई
सुबह के सौ-सौ काम
चिड़ियों की पहली
दीप्त गुंजार के बीच
कराह की पंखुड़ियाँ झड़ चुकी थीं
जैसे ताप था ही नहीं
या किसी पिछली सदी की
भली-भूली वह घटना-सी
कि उठी गृहिणी
सुखपूर्वक स्मरण-चक्र में
स्वतः-स्फूर्त जागी वह पूर्णतः
और हर बार की भाँति
और भी पुनः-पुनः जागी!

स्त्रियाँ वे स्त्रियाँ

स्त्रियाँ होती हैं कुशल और कर्मठ
देर रात तक किचन आदि में
अतिव्यस्त, धीर
और देर रात तक जागतीं
और भी देर तक रात
किसी भी मौसम में
पति की उम्मीद तथा प्रतीक्षा
करती हैं,
सार्थक करती हैं
वे स्त्रियाँ
बच्चों को सुलाने
के श्रम फिर खेल के बाद!

बहुत कम सोती हैं स्त्रियाँ
बिना अलार्म के
भोर में उठ जातीं–
उन्हें बहुत कम अंधकार व नींद मिलती है!

बच्चे हैं,
पति है,
और सुबह का एक और श्रम–चक्र!

सब कुछ निबेरकर
एक और अलसाई दोपहर
में वे लौटतीं
स्त्रियाँ
उसे और समुज्ज्वल प्रतीक्षा में गँवा देती हैं!

उनके पास
बहुत कम समय होता है,
तुष्टि या कराह में
अस्मिता के रिक्त गौरव में
विश्राम में
उसे वे नष्ट नहीं करतीं!

स्त्रियाँ वे स्त्रियाँ
पतियों के भीतर छुपकर रहतीं
किसी दिन या किसी रात
बच्चों की सिक्त किलकारी में

घरों और छत के नीचे
चाँद की नाव के भीतर
चाँद के जबड़े में फँसी हुईं
मरती भी नहीं हैं,
वरन् बार-बार वहीं
अपनी नीरव निजत्वहीनता में
वापस
तथा अनंत काल तक जीती हैं!

मैंने अपनी पत्नी को क्या दिया

मैंने अपनी पत्नी को
क्या दिया?

बरस बीत गए
शिकायत के मुनासिब अवसर
हज़ार आए
वहीं मेरी नींद के कच्चे पंख थे
कातरता थी

नींद-नींद
के ही खेल में
प्रच्छन्न मेघ की भाँति
बच्चे बड़े होते गए

चीज़ें और अचरज
अटारी में छुपे अब थे

और मेघ एक दिन
कभी-कभी बरसते

मैंने अपनी पत्नी
को तरलता में आता हुआ
मुक़म्मल घर नहीं दिया

सुबह दी
व्यस्तताएँ ढेर
सभी मुझ पर और बच्चों पर निसार
मैंने उसे
अथक-सी अनिर्वचनीय व्यस्तता
और ग़लत क़िस्म का अँधेरा दिया

नींद का रोशन चकत्ता रात
देर रात गिरता था

उम्मीद और अपेक्षा का रोग
एक और था
यहाँ सुख की नुमाइश नहीं आती हुई
नहीं आती थी

मैंने अपनी पत्नी
को सबसे कम नींद और धूप दी

अवरुद्ध जगत की चौंध में नहीं जाना था

विस्मित सिसकी आती थी
हर बार वक़्त-बेवक़्त

आकंठ आहत होती थी

हिंस्र नाख़ूनों से
वह खरोंच देती थी आँखें

घूमने के अंदर-बाहर
यायावरी के
मौक़े अनेकानेक आए

मैंने अपनी कविता
के समारोह में उसे
अपनी पत्नी को विस्तीर्ण
टहलते हुए आने की
उत्सवित और झूठी जगह नहीं दी

यहाँ भी अचरज था हम सबका
सुख था
और प्राय: अनुपस्थित रहता था!

राग तेलंग

1963 में जन्मे राग तेलंग के तीन कविता-संग्रह : *शब्द गुम हो जाने के ख़तरे, मिट्टी में नमी की तरह, बाज़ार से बेदख़ल* प्रकाशित । संपर्क : जी-4, फ़ॉरच्यून एनक्लेव, सर्वधर्म, कोलार रोड, भोपाल-462042 (म.प्र.)

छाता

छाते जितनी ही बड़ी चाहिए मुझे दुनिया
छाते जितना काफ़ी है मेरे लिए आसमान
छाते जितनी बारिश से बचना है मुझे
छाते जितनी लंबी-चौड़ी हैं मेरी इच्छाएँ
छाते जितने हल्के हैं मेरे स्वप्न

छाते जितना चाहिए संतोष
छाते जितनी ही चाहिए मुझे सुरक्षा
छाते के जैसा खुलना सीखना है मुझे
छाते के जैसा ही बनूँगा किसी के लिए मैं
छाते जैसे हों मेरे दोस्त
छाते जैसा ही चाहिए प्यार का अहसास
छाते के जैसा ही बनाऊँगा ख़ुद को
छाते जैसा हो मेरा नाम और काम
छाते जैसा हो सब कुछ।

आओ !

मैं तुम्हारी आवाज़ के सागर में गोते लगाना चाहता हूँ
चाहता हूँ तुम्हारे घने बालों का साया
सूरज की तपती धूप से मुझे बचाते हुए चले हर दोपहर
मैं गुलमोहर की पत्तियों-सा झड़ जाना चाहता हूँ तुम्हारे ऊपर
मैं सराबोर कर दूँगा ओस बनने के अहसास से तुम्हें एक दिन
मैं तुम्हारे हाथ को थामकर चक्कर लगाना चाहता हूँ अक्ष के इर्द-गिर्द
मेरे साथ चलने की हामी भर दो मैं तुम्हारा चाँद हो जाऊँगा मेरी पृथ्वी
मैं तुम्हारी आँखों में छुपे सतरंगी इंद्रधनुष की कमान बनना चाहता हूँ
तुम्हारे पास से गुज़रती हवा में घुलकर फैली महक का नाम होना चाहता हूँ मैं
मैं तुमको अपने लिए समेट लेना चाहता हूँ हमेशा के लिए
चाहता हूँ तुम्हें जड़ों के लिए ज़रूरी मिट्टी में समाई नमी की तरह
आओ मेरे पास मेरा सर्वस्व उकेर लो अपने भीतर
मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में हूँ प्रिये!

ऑफ़ द रिकॉर्ड

इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है कि
मेरे लिए खाना बनाते वक़्त
कितनी बार रोटी की भाप से
जले हाथ मेरी पत्नी के
कोई रिकॉर्ड नहीं है इस बात का कि
जो सब्ज़ी उस दिन सबसे अच्छी बनाई थी उसने

उसमें नमक, मिर्च, हल्दी, धनिया का क्या अनुपात था
उस दिन जब मेहमान खाने पर आए तब खाना अच्छा ही बनेगा
इस बात की कोई गारंटी नहीं थी
फिर भी जब खाने की सबने तारीफ़ की
पत्नी को नहीं मिला कोई पुरस्कार, कोई तोहफ़ा
उलटे सिर्फ़ मेहमानों का शुक्रिया अदा किया मैंने उस दिन

बेवक़्त जब उसने हड़बड़ी में
मेरे दोस्तों के लिए बनाया खाना
उस दिन हम औरतों की बेवक़ूफ़ी पर चुटकुलेबाज़ी कर रहे थे
शर्मिंदगी ज़रा भी होती तो सोचते
हमारी तमाम गालियाँ
हमारी माँ-बहनों से शुरू होकर उन्हीं तक क्यों ख़त्म होती हैं

जिस दिन उसका जन्मदिन था
उस दिन जान-बूझकर मैंने
उसके पुराने दिनों की याद नहीं दिलाई उसे और
उस दिन भी वह पूरे घर को बुहारती रही सुबह-शाम
मैं अपनी चालाकी की दाद देता रहा ख़ुद को

सड़कों पर जब औरतों पर होती थी छींटाकशी और
उस वक़्त कोई एक झाँसी की रानी बनकर पलटकर पूछती
'तेरी माँ-बहन नहीं है क्या!'
ऐसे में ख़ुद को दोषी महसूस करना तो दूर
हक़ से दूसरा शिकार तलाश करते थे हमारे जैसे मर्द

फ़िल्मी हीरोइनों को जितने प्यार से देखा करता था
उतने के एक अंश बराबर भी लुटाता अपनी सावित्री पर
तो शायद इजाफ़ा ही होता किसी तरह का
ये जानते हुए भी
इस बात से अनजान बने रहने की एक्टिंग करता रहा मैं
और इस कविता में
यह सब स्वीकार करते हुए
मैं कोई अहसान नहीं कर रहा हूँ किसी पर

आए अब कोई जज और ताज़ीराते हिंद की
किसी दफ़ा के तहत मुझे सुनाए सज़ा
मैं अपने जैसे तमाम मर्दों की ओर से
इक़बाले जुर्म करता हूँ।

प्लास्टिक

काँच और धातु के
सारे नक़्क़ाशीदार बर्तनों को गलाकर
जाने कहाँ से सामने आ गया यह प्लास्टिक
हर आँच से बचते-बचाते

ये सारी की सारी ताज़ी हवा
अपने पारदर्शी थैले में बंद किए
कहाँ भागे चला जा रहा है प्लास्टिक

तमाम किताबों-तसवीरों के बाद अब
संसार के नक़्शे को भी मढ़ लिया प्लास्टिक ने
बहने लगा इसका समुद्र तो सारी ज़मीन पर

प्लास्टिक के पेड़, प्लास्टिक के फूल
प्लास्टिक के चेहरे, प्लास्टिक के रिश्ते,
प्लास्टिक की भाषा, प्लास्टिक की बोली
और तो और प्यार भी हुआ प्लास्टिक का
प्लास्टिक है सब प्लास्टिक

ये किस नए चाक पर आकार ले रही है दुनिया
ये कैसे पनप गया प्लास्टिक का समाज
हमारी ही आँखों के सामने

क्या यही सब हासिल होना था हमें
प्लास्टिक की कारीगरी से
लगता है रुकेगा नहीं इतने पर भी
सब कुछ के प्लास्टिक होने का सिलसिला

ख़ैर...
आगे जाएगा कहाँ तक यह
आख़िरी है तो यह प्लास्टिक ही
बहा ले जाएगी इसे भी एक दिन कोई वैसी ही हवा
कोई आँच दफ़न कर देगी इसे हमेशा के लिए
नहीं तो
तराश लेंगे हम
फिर कोई पत्थर का औज़ार और
खुरच देंगे प्लास्टिक के सब आकार।

कहीं किसी जगह

एक लड़की आनेवाले दिनों से बेख़बर खिलखिला रही होगी
एक लड़की घूरती नज़रों के अर्थ समझ-समझकर जवान हो चुकी होगी
एक लड़की प्रेमपत्र लिख रही होगी
एक लड़की को किसी बात का इंतज़ार होगा
एक लड़की जादू का खेल देख रही होगी
एक लड़की सिनेमा की हीरोइन जैसी बन रही होगी
एक लड़की के पास पैसे नहीं होंगे
एक लड़की आसमान में उड़ती रंगीन पतंगों को ताकती होगी
एक लड़की विदा हो रही होगी
एक लड़की उम्मीद से होगी
एक लड़की अपनी लड़की को अपनी माँ की सुनाई हुई कहानी सुना रही होगी
एक लड़की को कुछ याद आया होगा
एक लड़की जंगल में कुछ बीन रही होगी
एक लड़की को चूल्हे के धुएँ में कुछ सूझ नहीं रहा होगा
एक लड़की रोशनी की आस में होगी
एक लड़की पुराने दिन याद कर रही होगी
एक लड़की घरवालों से लड़ रही होगी
एक लड़की समझौता कर चुकी होगी
एक लड़की आख़िर में रो रही होगी
एक लड़की एक और लड़की से बात कर रही होगी
एक लड़की लड़का होने का ख़याल करती होगी
एक लड़की और साँवली हो रही होगी
एक लड़की को ख़ूब ग़ुस्सा आ रहा होगा
एक लड़की शीशे से दूर हट रही होगी
एक लड़की का रिश्तों पर से भरोसा उठ चुका होगा
एक लड़की सोते हुए अपनी सोची हुई दुनिया में होगी
एक लड़की अपने बारे में सोच रही होगी
एक लड़की पहेली सुलझा रही होगी
एक लड़की बाहर निकलने के लिए तैयार हो रही होगी
एक लड़की किसी नतीजे पर पहुँचने के क़रीब होगी।

शब्दों से

टेक्नोलॉजी के खोल में घुसे
शब्दों को बाहर निकालकर
एक मुठभेड़ के लिए तैयार करना है

वॉशिंग मशीन में डाले हुए कपड़ों की तरह
मुझे खँगालो शब्दों
मैं झटक देना चाहता हूँ
शब्दों के अर्थों पर सदियों से जमी भ्रम की धूल

तो चलो मुझे निचोड़ लो शब्दों
मैं सिकुड़कर तुम्हारे भीतर वास करना चाहता हूँ
मैं पता दर पता यात्रा करना चाहता हूँ ई-मेल के द्वारा
कि दूसरी ओर पहुँचूँ शब्दशः
अपने मूल स्वरूप में रचा हुआ

मैं शब्द के लिए इलेक्ट्रॉनिक रूप में तब्दील होकर
कंप्यूटर की हार्ड डिस्क में व्यायाम करना चाहता हूँ
ताकि निकलूँ और सबल होकर
अपने फैलाव के लिए

ओ! मेरे शब्दों के फ़ोंट
न बदलो नित नए रूप
मेरी समझ की आकृति में ढलो
मैं तुम्हें ढाल बनाना चाहता हूँ

अपनी भाषा के लिए
जो लड़ी जा रही है लड़ाई
मैं उसे जीतना चाहता हूँ
आधुनिक युग के शब्दों को साथ लेकर।

बहुत भीड़ में

अब साईकिल की घंटी की
आवाज़ की कोई औक़ात नहीं है दोस्त!
ये हॉर्न का ज़माना है, प्लीज़ के साथ
इसलिए ऐसी अपेक्षा है तुमसे कि
जब भी गुज़रो भीड़ से
एक गुज़ारिश करो सबसे कि
तुम्हारी तरफ़ फेंकी जा रही
उपेक्षा की तमाम नज़रों के बावजूद
तुम्हें थोड़ी-सी जगह दी जाए सफ़र में
ये बात
कविता में भी उतनी ही लागू होती है कवि!
जितनी सड़क पर।

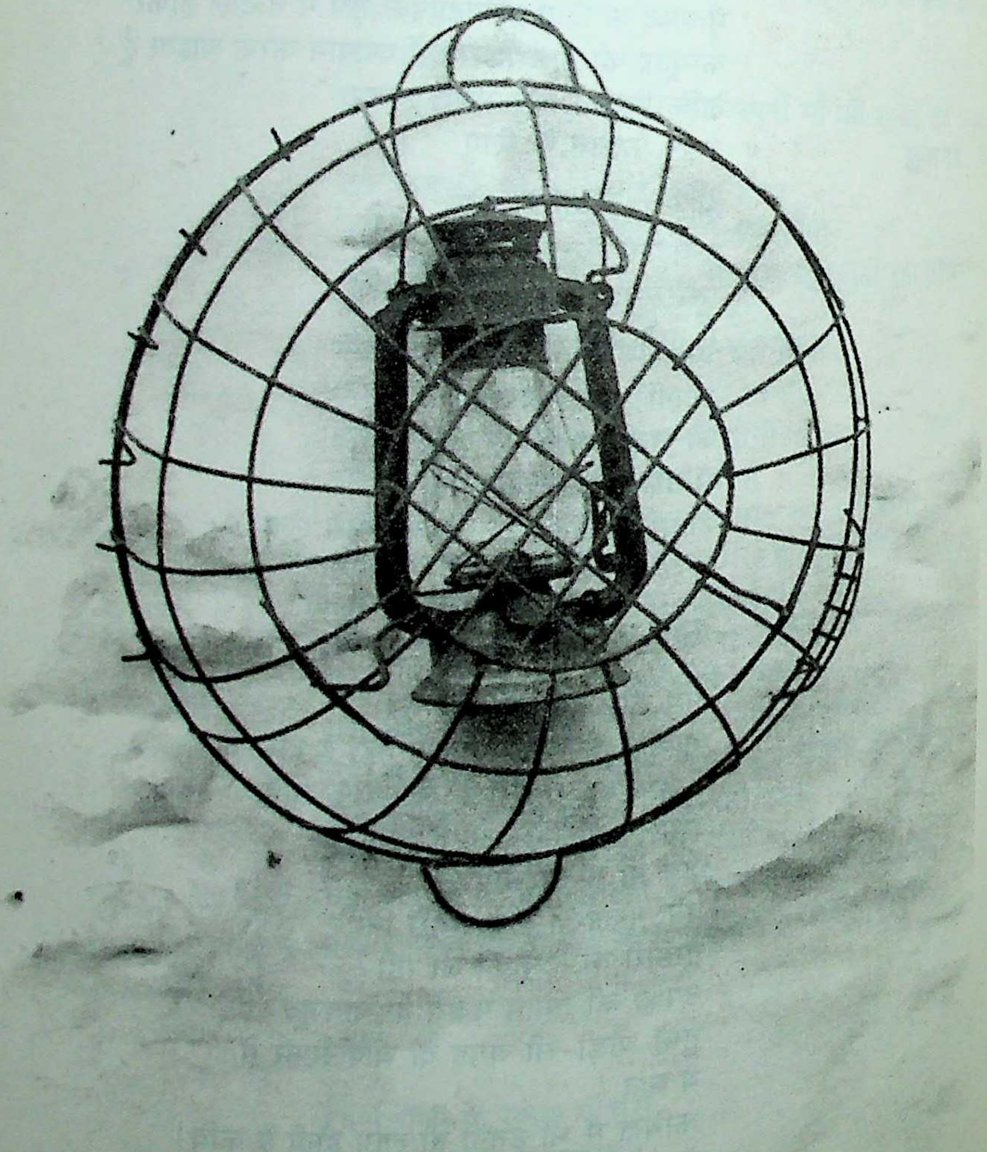

बी. एल. माली 'अशांत'

बात और कहानी का अंतर्संबंध

कहानी के संबंध में साहित्य समालोचना के मनीषियों ने चिंतन-मनन कर यह बात कही है कि कहानी का उद्‌भव पश्चिम के देशों में हुआ है और कहानी का इस बात से कोई सीधा संबंध नहीं है। कहानी अंग्रेज़ी शब्द 'शॉर्ट स्टोरी' का साहित्यिक रूप है। इन विद्वानों के कथन को लगभग सब लोगों ने स्वीकार किया है। इसीलिए यह बात फैल गई कि कहानी अंग्रेज़ी 'शॉर्ट स्टोरी' का ही रूप है। लगभग सभी भाषाओं के विद्वानों ने अपने साहित्य ग्रंथों में भी इस बात का उल्लेख किया है। हिंदी साहित्य में भी यह बात पुरज़ोर रूप में स्वीकार की गई है। राजस्थानी साहित्य के इतिहास लेखकों ने भी इस बात का अनुसरण किया है। परंतु कहानी पर चिंतन करते समय यह बात स्पष्ट रूप से हमारे चिंतन के लिए प्रस्तुत होती है कि कहानी बिना बात के नहीं बनती है। यह भी नहीं है कि बात से कहानी का कोई सीधा या टेढ़ा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध न हो। कहानी पहले एक बात है फिर कोई कहानी। कहानी के निर्माण के लिए बात तत्त्व का होना अति आवश्यक है। बात के धरातल पर ही कहानी रची जाती है। बिना बात के न तो कहानी रची जाती है और न बात। बात कहानी और बात दोनों का घर है। कहानी को बात से अलग रखने की यह व्याख्या एक अधूरी व्याख्या है तथा यह एक व्यर्थ क्रिया प्रतीत होती है।

राजस्थान का साहित्य बात साहित्य भरा-पूरा है। 'कह रे चकवा बात' एक कथन मात्र नहीं है। इसमें बात की व्याख्या है। चकवा-चकवी के क़िस्से क़िस्सागोई से अधिक गंभीर और चिंतनशील है। सरस है। उसमें साहित्य के अपने मानदंड अंकित हैं। बात में कहानी का बीज है। लोक मन इन बातों के मिठास और गुणभंडार के कारण ही बातों का रसिया बना है। इसीलिए यह साहित्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोगों की ज़ुबान पर रहा है। इस साहित्य को किसी प्रकाशक की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। साहित्य अकादमियों ने इन्हें कुछ एकत्र करवाकर कुछ ग्रंथ प्रकाशित किए हैं। परंतु अभी विपुल मात्रा में यह साहित्य अप्रकाशित है तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्मृतियों में व्याप्त है। राजस्थान का बात साहित्य विश्व की धरोहर है। संभवतः जब 'शॉर्ट स्टोरी' का जन्म भी नहीं हुआ होगा, उस समय यह एक विशाल आकार में, समृद्ध रूप में

बी. एल. माली 'अशांत' का जन्म 1948 में हुआ। इनकी कहानी-संग्रह, उपन्यास, नाटक, आलोचना की कई पुस्तकें प्रकाशित। राजस्थान साहित्य अकादमी से पुरस्कृत। संपर्क : 3/343, मालवीय नगर, जयपुर 302017 (राज.)
अनु. स्वयं

विश्व के सामने आ चुका होगा। जब 'शॉर्ट स्टोरी' की रचना हो रही होगी, उस समय संभवतः पश्चिम के विद्वानों को बात साहित्य का अधिक ज्ञान नहीं होगा। संभवतः उन विद्वानों को भी इस साहित्य का ज्ञान नहीं होगा जो कहानी विधा पर चिंतन कर रहे होंगे या चिंतन प्रक्रिया में होंगे। इस अपूर्ण व्याख्या के संभवतः ये ही कारण रहे हैं। अगर उन लोगों का बात साहित्य का गहन अध्ययन होता तो संभवतः वे मनीषी इस तरह की अविचारित व्याख्या नहीं करते। बिना बात का कथन नहीं करते तथा उन्हें प्रभावित बनाने के कर्म नहीं करते।

ज्ञान का आकार और प्रकार बहुआयामी और विशाल है। कोई भी व्यक्ति और कोई भी विद्वान इस विशाल ज्ञान से परिचित होने की बात नहीं कह सकता। अज्ञान एवं अपरिचय का अँधेरा विषय की व्याख्या को प्रभावित करता है। संभवतः पश्चिम, इस बात साहित्य से अपरिचित रहा होगा। संभवतः उसने बात साहित्य के धरातल को गहराई तक नहीं देखा होगा। अगर देखा भी होगा तो बात की अर्थ संरचना और शब्द संरचना उसकी समझ में नहीं आई होगी। अभिव्यक्ति के प्रतीकों को वह समझ नहीं पाया होगा। बात में रस होता है। संभवतः वह रस उसके अंतस तक इन्हीं अभावों के कारण नहीं पहुँचा होगा। इसी कारण वे बात के मर्म से अपरिचित रह गए। अर्थ से अज्ञात रह गए। यही कारण है कि उनका कथन संपूर्णता नहीं ले सका। वे बात के भूगोल को नहीं समझ सके तथा उसकी बनावट को वे भली-भाँति नहीं समझ सके। आदमी जितना समझता है उतना ही बोलता है। असल में 'शॉर्ट स्टोरी' कहानी से पहले की एक बात है।

अंग्रेज़ी शब्द और अंग्रेज़ बात के अस्तित्व में आने के बहुत बाद में आए हैं। चूँकि अंग्रेज़ी शब्द नए थे; अतः साहित्य मनीषियों ने उनकी मीमांसा की। लेकिन कहानी के संबंध में मूल बात साहित्य के विद्वानों के चिंतन से परे रही। आधुनिक साहित्य चिंतको ने अपनी व्याख्या अपने आधुनिक अध्ययन पर आधारित रखी है। प्राचीन साहित्य में उनकी न तो पहले कोई विशेष रुचि थी और न आज कोई ऐसी रुचि वे रखना चाहते हैं। यही कारण था कि वे इन तथ्यों को समझ नहीं सके। उनके पास मात्र एक शब्द है—'नई व्याख्या'। इसी कारण वे यह भूल गए कि क्या कहानी फ़क़त कहानी है। या कोई और बात है। कहानी के अवयव क्या हैं ? वह कहाँ जन्मी व उसका आदिरूप क्या है ? उसकी यात्रा के पड़ाव क्या हैं ? यह कहानी कब बनी ? इन तत्त्वों की व्याख्या ज़रूरी है। देखा जाए तो कहानी कोई आड़ी-टेढ़ी गली नहीं है जिसमें हरिमिच, मेहंदी, रूख, डांखला, भाटा-टींढा, हीरा-मोती, हँसी-व्यंग, आस्वाद-आनंद, दुख-दरद, शरीर-रोमांस, सेक्स-उपभोग आदि जगह-जगह हाथों में कहानी लिए खड़े हों। कहानी कोरी शरीर की हड्डी नहीं है, उस पर मांस भी होता है। रूप भी होता है, भाव भी होते हैं। संवेदना भी उकेरी मिलती है। कहानी कोई बिना तत्त्व की रचना नहीं है, जिसमें पहली कड़ी बाद में और बाद व बीच वाली कड़ी पहले और बाद में जहाँ चाहे वहाँ रख दी जाए। कहानी बात की बेटी है। बात कहानी की माँ है। बिना बीज के सृष्टि नहीं बनती है। बिना बीज के बात नहीं फलती और बिना बीज के कहानी भी नहीं फलती है। पश्चिम के विद्वानों ने इस बात को कहानी के भीतर देखा या नहीं देखा, यह तो वे चिंतन-पुरुष ही बता सकते हैं। परंतु यह बात स्पष्ट रूप से सुविचारित ढंग से चिंतन के लिए प्रस्तुत की जा सकती है कि उन्होंने बात के रूप और बात के रंग को भली-भाँति गहरे में उतरकर नहीं देखा। संभवतः उनका बात साहित्य से अच्छा परिचय नहीं रहा। बात को उन्होंने नहीं पढ़ा। बात को उन्होंने जाना नहीं। बिना जाने हुए बात कहना एक अविचारित कथन तो हो सकता है, वह सुविचारित, संपूर्ण

कथन नहीं हो सकता। वह अपूर्ण कथन हो सकता! ऐसे कथन साहित्य में भ्रम सृजित करते हैं। और एक अविचारित बात को काग़ज़ की नाव की भाँति चला देते हैं। जिन विद्वानों ने बात साहित्य का गहन अध्ययन किया है, वे विद्वान उनकी बात से सहमति नहीं रखते हैं। हो सकता है आधुनिक व्यामोह में वे विद्वान हाशिये पर हों परंतु उनका कथन अध्ययन पर आधारित है।

कथन का अध्ययन से सीधा संबंध होता है। शेष सबका अप्रत्यक्ष संबंध। शेष का बिना अवशेष के प्रयोग साहित्यिक जड़ता को जन्म देता है। ऐसे कथन से बात नहीं बनती। अध्ययन-अनुशीलन के बिना कथन नहीं गढ़े जाते। इस प्रक्रिया में ही नहीं आते। सर्व स्वीकृत कथन का निर्माण बात के गर्म, मर्म और संपूर्ण परिवेश को पढ़-जानकर ही हो सकता। तथ्य को समझने के लिए गंभीर अध्ययन और गंभीर चिंतन अत्यंत आवश्यक है। विषय निरूपण के लिए बहुत गंभीर अध्ययन के अतिरिक्त सूक्ष्म गंभीर चिंतन भी चाहिए। बिना अध्ययन और चिंतन के विषय की व्याख्या करना तथ्य को बिना समझे बात कहना है। कहानी के संबंध में ऐसा ही चिंतन वर्षों से साहित्य जगत में तैरता देखने को मिलता है। लगता है, लोग इस संबंध में बात को समझकर बात कहना ही नहीं चाहते। उन्हें बहुत जल्दी है। वर्तमान अध्ययन की यह त्रासदी है।

धरती पर बात साहित्य का अथाह भंडार है। और बात! भाँति-भाँति की। शब्द-संयोजन ऐसा कि लोग अचरज करें। ऐसे शब्द ऐसे प्रयोग आज के रचनाकार के परिचय से ही बाहर हैं। बात साहित्य संसार के लिए साहित्यिक आश्चर्य है। इस आश्चर्य का अध्ययन किए बिना और इस अचरज के तत्त्वों की व्याख्या के बिना कहानी की व्याख्या का अर्थ भली-भाँति समझा जा सकता है। और ऐसी व्याख्या का मूल्यांकन भी भली-भाँति किया जा सकता है जो रचनाकार आज 'प्रयोगवाद' के शब्द जाल में भ्रमित हुए प्रयोग की बात कर रहे हैं, उन्हें अपना चेहरा इस साहित्य में एक बार अवश्य देखना चाहिए। सेक्स और शरीर की बड़ी-बड़ी बातें लिखकर प्रसिद्धि पाने के लिए कई लेखक हाथ-पैर पटक रहे हैं। उन्हें इसका मंत्र लेना चाहिए। यह शुद्ध मंत्र बात साहित्य के पास है। कितनी ही कहानियों का धरातल उन्हें इस बात साहित्य में मिलेगा। इन विषयों का सुंदर स्वस्थ और सौम्य निरूपण इन्हें बात साहित्य में मिलेगा। इससे परिचित हो जाने के बाद उन्हें अपनी ऐसी कहानियों के लिखने का मन ही नहीं करेगा। वे यहाँ कहानी की संस्कृति से परिचित हो सकेंगे। कहानी की एक संस्कृति होती है और बात की भी एक संस्कृति होती है। लेखक संस्कृतिविहीन भौंडा आदमी नहीं होता। पैराग्राफ़ साहित्य संस्कृति का एक सजीव चित्रांकन है। असंस्कृत और संस्कृतविहीन साहित्य साहित्य नहीं होता। आधुनिक भटके हुए लेखकों को यह समझ लेना चाहिए।

साहित्य वस्त्र है, वह निर्वस्त्र नहीं होता। उसके शरीर सुंदर और प्रेमपूर्वक होते हैं; साहित्य शास्त्र है। यह शस्त्र नहीं है। यह शाश्वत है। साहित्य शब्दों का मात्र बिलोवना नहीं है, इसमें धरती की रंग-बिरंगी संस्कृति की सरसता है। इसमें धरती की बात है, उसकी बात का इसमें संकलन है। धरती बात का घर है। धरती शब्द का घर है और धरती रचना का घर है। धरती का रूप साहित्य है। कहानी और बात तो इस सुंदरतम रूप की तूलिकाएँ हैं। रचना का घर अलग है और छपने का घर अलग। छपना अलग है। रचना अलग है। छपने की लीला व्यवसायिकता की व्याख्या करती है। इस लीला को समाज जानता है और साहित्यिक समालोचक भी इस लीला प्रक्रिया से अनजान नहीं हैं। अर्थहीन बातों को स्वीकार नहीं किया जा सकता है जो छपता है, वह सब साहित्य नहीं होता। यही बहुत बड़ा और गहरा कारण है कि इस सदी में आते-आते

रचनाकारों की भद्द उड़ चुकी है। सौ करोड़ की जनता के लिए बड़े-से-बड़े रचनाकार की पुस्तक की कितनी प्रतियाँ छपती हैं, इसका ख़ुलासा नहीं किया जाना चाहिए। इशारे में लोक और लोग दोनों समझते हैं। इसके उपरांत भी रचनाकार अपनी ग़लती मानने को तैयार नहीं है। वे आलतू-फ़ालतू बातें करते सुनाई पड़ते हैं। झूठा थूक बिलोते दिखाई पड़ते हैं। क्या हो गए रचनाकार? इस विषय पर चिंतन करना बहुत ज़रूरी है। पुस्तकें बिकती नहीं। कोई पढ़ता नहीं। यह स्थिति कैसे हुई? कौन हैं इस स्थिति के निर्माता? इसका प्रत्युत्तर लेखकों को अपने भीतर ढूँढ़ना चाहिए। बात आज भी आदमी सुनता है, कहानी आज भी लोग नहीं सुनते। क्यों? यह आत्मचिंतन का विषय है। बिना सोचे-समझे और गुणे लिखना और लेखकीय अनीत करना है। इस दुरूह स्थिति के बड़े कारण हैं। फ़तवे पढ़ने से बात नहीं बनती। आज भी कोई बात कहता है, तो चलते आदमी के पैर थम जाते हैं। कहानी में बात नहीं है, इसलिए तो इससे लोग परे हटते जा रहे हैं। जिन लेखकों ने बात लिखी है, वे चर्चित हैं। बेचारे विजयदान देथा ने कौन-सी कहानी लिखी है!

आदमी एक बात है। धरती पर बातें ही चली हैं। बातें ही चलेंगी। बात तो उसकी बातों की कहानी है। ऐसी कहानी कि आदमी पढ़े तो दंग रह जाए। ऐसे शब्द और ऐसे शब्द प्रयोग कि आदमी अपने भीतर बोले। ऐसे शब्द प्रयोगों से अनभिज्ञ आज का कहानीकार कहानी नहीं लिखता, बात नहीं लिखता; इसीलिए तो वह लोक स्वीकृत नहीं हो पाया है। जिन लोक लेखकों ने उन्हें लिखा, उन्हें सुना, पढ़ा तो वे लोग चर्चित हैं। उन्हें पढ़कर विद्वान गहरे चिंतन से भर गए। इन बातों पर साहित्य अकादेमी पागल हो गई। इन पर अपने सर्वोच्च पुरस्कार दे डाले। 'बात कहानी ही है'—इस तथ्य को साहित्य अकादेमी (दिल्ली) ने अपने सर्वोच्च पुरस्कार देने के साथ स्वीकृत किया है। असल में जो बात, जो लोक शब्द-रचना लोग कंठों से काग़ज़ पर उतरी है, वैसी एक रचना आज के लेखकों के पास नहीं है। ऐसी रचना वे सात जन्मों में नहीं रच सकते। लोग कंठों से लेकर जनभाषा में रची हुई इन रचनाओं की रचना अजब है। इन बातों में जो साहित्यिक संरचना है, सत है; वह कहानी में आज के लेखक के सात जन्म तक नहीं आ पाएँगे। लेखक अपने आपको सँभालें। वे अपने भीतर पहले एक लोक के रचनाकार को रचें, और फिर रचना करें। उन्हें कहानी के बीज को समझना चाहिए। बात कहानी का बीज है। कहानी की कूख है बात। बात कहानी की माँ है। बेटी माँ से बहुत कुछ सीखती है। परंतु लगता है, यह बेटी पागल है। अगर कहानी बात से सीखती, तो कहानी की बात अलग होती। लगता ऐसा है कि यह बेटी माँ से जन्मते ही बिछुड़ गई। यह 'माँ-बिछुवा' आज की कहानी की त्रासदी है।

बिना बात के कहानी नहीं बनती है। बात होती है तो ही कहानी कथी जाती है, रची जाती है। कथन और रचन ही कथाकार और रचनाकार पैदा करते हैं जो लोग बिना बात के कहानी लिखते हैं, वे कथाकार और रचनाकार से अलग हैं। समाज इनकी परवाह नहीं करता। यही कारण है कि साहित्य और समाज इनके साहित्य से मुँह फेरकर खड़ा है। एक रेवड़ बनाकर चलना साहित्य कर्म का अंग नहीं है। इस गैलाई (पागलपन) की बात को समाज लिखेगा। असल में, ये लेखक न तो कहानीकार हैं और न कोई और 'कार'। ये तो 'कारू' हैं, जिनके पहले लोक एक शब्द लगाता है—कमीण यानी माँग कर खानेवाली प्रजाति! इस प्रजाति में एक वाम परिवर्तन आया है। आजकल यह खोसकर भी खाने लगी है। माँगकर खाना इनका परंपरागत कार्य है।

रचना ओप हैं वीभत्सता नहीं है। समाज की ओप इससे बढ़ती है। समाज में प्रकाश बढ़ता

प्रकाशता है समाज! परंतु गैलाई के गेले) अलग हैं! समाज अँधेरा नहीं ओढ़ता, र वह प्रकाश की तरफ़ खिंचा चला आता आदमी की इस जीवन प्रक्रिया में इसीलिए रचनाएँ अपनी साख गँवा चुकी हैं। ऐसे भूत की भाँति आज बोतल में बंद हैं। वे हो गए हैं, समाज स्वीकार्य नहीं। साहित्य बात दूर है।

कहानी के साथ बहुत पागलपन हुआ है। भाँति बात में बात कहने का सलीक़ा होता उसी भाँति कहानी में कहानी कथन का का होता है। इस सलीक़े से अपरिचित विहीन लोग जब कहानी लिखने लग तो कहानी बहुत पीड़ा के भीतर से गुज़री। पीड़ा को इन लेखकों ने आज तक नहीं जाना। पथभ्रष्ट विधा को भी भ्रष्ट कर देते हैं। इन्होंने कहानी की काया को खाया है। उसके कपड़े उतारे हैं। पता नहीं बोतली खोल में वे क्या बोल रहे हैं, किसी को कुछ पता नहीं है। असल में ये रेवड़ के वृष (मैंढ़े) हैं। और जाने कौन-कौन! जिन लोगों ने कहानी के सलीक़े को समझा है, समाज ने उन्हें अपनाया है।

कहानी लेखन कलाबाज़ी नहीं है। कहानी की बात न्यारी है। बात खारी लगे तो माफ़ करना। परंतु नाटकबाज़ी नहीं है कहानी। एक साहित्यिक कुचमाद नहीं है। बात कहानी का मर्म है। दोनों के रूप अलग-अलग, वस्त्र अलग-अलग परंतु शरीर एक है। जीव एक है। दोनों एक-दूसरे की जीव-जड़ी है। कहानी पहले बात है, फिर कहानी। कहानी और बात की यही रचना है।

रतनलाल शांत

पानी

टूरिस्ट सेंटर से हमने कोई ऑटो या टैक्सी नहीं ली। हम नगर बस सेवा की एक बस में बैठे। हम नहीं चाहते थे कि मुहल्ले में किसी को हमारे आने की ख़बर हो। बस ने हमें सड़क के किनारे छोड़ा और हम चुपके से अपनी गली में गए। दूरा* ने दुपट्टा सिर पर से खींचकर भौंहों तक उतारा। दुपट्टे का दूसरा किनारा बाएँ हाथ में पकड़कर नाक पर रखा और उसमें मुँह छिपा लिया। मैंने सिर पर टोपी पहनी। टोपी मैं इसीलिए साथ लाया था। मैंने अपनी पढ़नेवाली ऐनक आँखों पर रखी। हम एक-दूसरे से बात किए बग़ैर और दाएँ-बाएँ देखे या झाँके बग़ैर जब अपने घर को जानेवाली छोटी गली पर पहुँचे तो उधर देखा भी नहीं। वहाँ से मुड़े और रशीद के घर की ओर चले। हमारी कोशिश थी कि हमारे क़दम जल्दी से उठें कि हमें कोई पहचान न ले। यह सच था कि गत दस वर्ष में अपने इस मुहल्ले और गली से दूर गुज़ारा हुआ एक-एक क्षण मुझे चुभता रहा था, मेरा कलेजा पानी बनकर जैसे मेरे मुँह तक आ रहा था। मेरे भीतर इस समय कोई मुझे कह रहा था, ''आवाज़ दो कि ए मेरे मुहल्ले-गली के भाइयो और बहनो! मैं हूँ तुम्हारा किशनलाल, किशन जी, किश्ना, आज दस साल बाद लौटा हूँ। नीचे आ जाओ। मुझे गले लगाओ, नहीं तो मैं इस गली में फट जाऊँगा, बम की तरह...'' पर मैं चुप रहा, बड़ी मुश्किल से जैसे अपनी पदचाप को ज़ंजीरों में बाँध दिया।

और दूरा...वह सिर नीचे किए जैसे रोती जा रही थी। कितने समय से मैं इसे समझाता रहा था कि श्रीनगर जाएँ और वहाँ अपने मकान को देख आएँ कि किस हाल में पड़ा है। हमेशा उसका एक ही जवाब होता, ''मेरे लिए वह उसी रात फुँक गया जिस रात हमें सब कुछ छोड़कर वहाँ से भागना पड़ा। अब मैं मानती हूँ कि हम वहाँ कभी रहे ही नहीं।''

फिर वह क्षण आया जब हमने रशीद के बारे में सुना। दूरा का तो चैन ही लुट गया। मैं उलझन में कुछ सोच ही नहीं पा रहा था कि क्या किया जाए तो वह बोली, ''काश मैं उड़के तसलीमा के पास जा पाती!'' इसने मुहल्ले या घर की ज़रा भी बात नहीं की।

में जन्मे रतनलाल शांत
कविता, आलोचना एवं
-अनुवादित पुस्तकें
।सोवियत लैंड नेहरू,
हिंदी निदेशालय से
।संपर्क: 904, सुभाष
जम्मू 180005

---

* दूरा—'दुलारी' का लघु रूप।

हर बार केवल इतना बोलती कि मुझे तसलीमा के पास पहुँचा दो। और इस समय हम तसलीमा के पास जा रहे थे। वह नज़र उठाकर और कुछ भी, किसी आने-जानेवाले को भी नहीं देख रही थी। कोई हमारा जाना-पहचाना मिला भी नहीं। शाम हो रही थी।

हम आँगन के द्वार में प्रविष्ट हुए तो सबसे पहले तसलीमा को देखा। वह बरामदे में बैठी जाने किस सोच में डूबी थी। हमें देखा पर कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखाई। हम जब उसके सामने जाकर खड़े हुए तो धीरे से खड़ी हुई। उसकी आँखों के गिर्द काले गड्ढे पड़े थे, बाल खुरदुरे और उलझे थे। वह मुझे देखकर सिर को दुपट्टे से ढक लिया करती थी, पर इस समय उसे मेरी उपस्थिति का भान ही नहीं था। मुँह भाव-शून्य था। न अचरज था ना कोई उत्सुकता।

दूरा ने तसलीमा को भींच लिया और कराह पड़ी, ''तसलीमा! यह कैसी गाज गिरी रे... !'' तसलीमा मूर्तिवत खड़ी रही। मुझे ऐसे देखती जैसे मैं शीशे का बना होऊँ और वह मेरे पार कुछ देख रही हो। मैं भीतर तक काँप गया।

इतनी देर में अम्मा जी, रशीद और शफ़ीक आ गए। तसलीमा ने दूरा का हाथ पकड़ लिया और कुछ कहे-सुने बग़ैर ऊपर अपने कमरे में ले जाने लगी। दूरा चुपचाप उसके पीछे हो ली, जैसे मंत्रबद्ध हो।

मैं उनके पीछे सीढ़ियाँ चढ़ने लगा।

रशीद, अम्मा जी और शफ़ीक हमारे पीछे आए और मुझसे पूछते-पाछते रहे कि हम कब आए, जम्मू से सुबह कब चले, रास्ते में कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई, आना था तो फ़ोन क्यों नहीं किया, दिनभर के सफ़र में कुछ खाया-पिया या नहीं...तीनों हमसे मशीनवत बात करते रहे और तसलीमा दूरा का हाथ पकड़े उसे देखती रही, अनिमेष। तसलीमा का यह रूप देखकर मैं सकते में आ गया था और सिर्फ़ हाँ या ना में ही बोलता रहा। मेरी साँस घुटने लगी। रफ़ीक की अचानक मौत जो अभी तक केवल दूर का अनुमान थी, अब आँखों के सामने का सच थी, यमदूत की तरह अभी भी कमरे में घूमता सच, हर चेष्टा को हर आवाज़ को लपकता और भींचता।

फिर चुप्पी छा गई।

तभी तसलीमा की आवाज़ उभरी, गुफ़ा में अधनींदी सिंहनी-सी। दूरा को ज़ोर से झटक दिया और डाँटती-सी आवाज़ में पूछा, ''क्यों कल तुमने कहा था रफ़ीक को खाना खिलाके भेज दूँगी, फिर वहीं सो गया क्या?''

सुनकर सब बेचैन हो गए और लगा कि तसलीमा की बात टालना चाहते हैं पर बेबस हैं। अम्मा जी मुश्किल से कुछ शब्द बोल पाईं, ''क्यों री दूरा! तू कैसी है, बताया भी नहीं कि बहू के क्या हुआ। शादी पर हम आ नहीं सके तो क्या नाराज़ हो?'' मैं समझ गया कि अम्मा की यह असामयिक बात सिर्फ़ गंभीर हो रहे माहौल को हल्का करने के लिए की गई थी।

तसलीमा ने ठहाका मारा। शफ़ीक से बोली, ''तू भी बुद्धू का बुद्धू रहा, शफ़ीका! चल टॉर्च लेके इन्हें घर का रास्ता दिखा। गाज गिरे इस बिजली पर।''

कहकर कभी फ्रॉक पर हाथ फेरने लगी, कभी अपने बालों पर और कभी खिड़की से बाहर झाँकने लगी। मैंने रशीद की ओर देखा उसका सिर लटक गया था। अम्मा जी दीवार से पीठ टिकाए छत की ओर एकटक देख रही थीं। दूरा मुश्किल से रोना रोके हुए थी और सिर्फ़ तसलीमा को देख रही थी। सब चुप थे। शफ़ीक ने तसलीमा का हाथ पकड़ा, जाने उससे क्या कहा। उसे तुरंत बग़ल के कमरे में ले गया।

मैंने देखा जब भी हम रफ़ीक के अकाल मरने की बात छेड़ते ये बात टालते। सिर्फ़ रशीद एक बार बोला, ''यही ख़ुदा चाहता था।'' और कोई कुछ नहीं!

हमारी रात जागते हुए गुज़री। मेरी और दूरा की आँखों के सामने ग्यारह साल पहले का दृश्य

था, जब रफ़ीक छह बरस का था और शफ़ीक आठ का। हमारे घर की सीढ़ियाँ चढ़ते उतरते दोनों भाई, मेरा हाथ पकड़कर आँगन में ले जाते कि उनके साथ क्रिकेट खेलूँ। छुटका रफ़ीक देर रात तक दूरा के साथ लगा रहता कि मैं आपकी 'हैल्प' करूँगा। किचन में जाकर दूध माँग लेता और वहीं खड़ा पी जाता कि मम्मी (तसलीमा) को ख़बर न हो। वह बेचारी तो पुकार कर और दूध पिलाने के लिए बुला-बुलाकर हार जाती, पर उसकी नहीं सुनता। कभी शाम को हमारे बिस्तरे में ऊँघने लगता और सो जाता। फिर मैं गोदी में उठाकर यहाँ ले आता। विगत दस-बारह वर्ष का अलगाव, इस क्षण फ़िल्मी दृश्य की तरह हमारी आँखों में सिमट आया था। इस कमरे की खिड़की से हमारा मकान साफ़ दिखता था। यहाँ कोई ऊँचा बोलता तो हम उधर सुन लेते। एक क्षण मुझे यह ख़याल आया कि खिड़की खोलकर अपने मकान को जी भर देख लूँ, पर अगले ही क्षण फिर छह साल का रफ़ीक हमारे सामने उचक-उछल रहा था, अपार ख़ुशी में समा नहीं रहा कि हम उसके कमरे में बिस्तरे में सो रहे हैं।

दूरा बोली, "याद है उस दिन पौ फटते ही दौड़ा आया। हमारा दरवाज़ा ज़ोर से खटखटाने लगा। हमें जगाया कि आज से तो रोज़े शुरू हुए पर आप लोग सहरी* खाने उठे क्यों नहीं...पहले दिन रोज़े से रहने का कितना उत्साह होता था बच्चों में...पता नहीं आज भी बच्चे ऐसे ही होंगे...जन्माष्टमी के व्रत पर दोनों भाई मेरी किचन को घेरे रहते, पहले इन्हीं को खट्टे सेब और बैंगन के पकोड़े खिलाने पड़ते..." एक-एक शब्द बोलते हुए वह पछता-सी रही थी..."कहते हैं अब अच्छा काम कर रहा था। रशीद ने दुकान उसी को दे रखी थी। बड़ा तेज़ बच्चा था। पढ़-लिख भी रहा था और दुकान भी चला रहा था..."

मैंने दूरा को चेताया, "दूरा। यहाँ हालात नॉर्मल नहीं। हमें यहाँ क्या करना है?"

जवाब देने के लिए जैसे वह तैयार बैठी थी, "देख रहे हो। तसलीमा को आघात पहुँचा है। और क्या होगा बेचारी को! मुझे लगता है मुझे कुछ समय इसके पास रहना चाहिए!"

जम्मू से हम, रफ़ीक की मौत की ख़बर सुनकर बिना आगा-पीछा सोचे चल पड़े थे। न दूरा को कश्मीर से विरक्ति और न मुझे जाने न जाने की उलझन ही रोक सकी थी।...

धूप निकली थी और हमारा दरवाज़ा कोई खटखटा रहा था। शफ़ीक चाय के दो कप लिए खड़ा था। वह चाय रखकर बिना कुछ बोले कमरे से निकल गया। उसके मुख पर वही गंभीरता थी जो कल रात हमने देखी थी।

मैंने दूरा को ध्यान दिलाया, "तुमने देखा, यह शफ़ीक कितना बदला-बदला-सा लगता है!" तभी अब्दुल रशीद आया और बोला, "उठो किशन जी! चल भाभी, तैयार हो जाओ। अभी आपको तुलमूल** ले चलता हूँ। जल्दी चलते हैं और जल्दी लौट आते हैं।"

सुनकर मैं दूरा को और वह मुझे देखने लगी। यह वक़्त है भला तुलमूल जाने का? हम यहाँ इसीलिए आए हैं? पर रशीद ने हमारी एक भी नहीं सुनी। गाड़ी निकाली। हम घर से चल दिए और अम्मा जी या तसलीमा किसी को भी ख़बर नहीं रही। मैं सोच में पड़ गया कि आख़िर बात क्या है कि रशीद ने हमें घर से अल्लसुबह ही निकाल दिया।...

रास्ते में दूरा ने उससे पूछ ही लिया, "यह क्या जिम्मेवारी तुमने उठा ली कि कश्मीर लौटते ही सबसे पहले हमें तुलमूल ले चलो।"

---

* सहरी–रोज़े के दिनों में सूर्योदय से पहले का भोजन।

** तुलमूल : गाँव जहाँ प्रसिद्ध क्षीरभवानी का मंदिर है।

रशीद चुप था। नज़रें दूर रास्ते पर जमाए हुए, तेज़ गति से गाड़ी चलाता रहा। दूरा को, जो पिछली सीट पर बैठी थी, उत्तर दिया, ''लगता था एक-एक शब्द मुँह से निकालते हुए ख़ुद से जूझ रहा था, रुक-रुककर बोला, ''तुम बड़ी सीधी हो भाभी...मुमकिन है कि हम लोग यह सोच रहे हों कि बस तुम अबकी आए तो आए, दोबारा यहाँ इसी बहाने न लौट आओ।'' कहकर रशीद के होंठों पर हल्की-सी मुस्कान फैली और मेरी तरफ़ शरारती नज़रें फेरी। मुझे ग़ुस्सा आ रहा था—रशीद ने पहले तो हमें घर से निकाल दिया और अब दिखावटी बुद्धिमानी से शब्द जोड़-जोड़कर बातें बना रहा है। मैं स्वयं को रोक न पाया और बोला, ''यह 'हम लोग' क्या होता है? यों कहो कि हम कश्मीरी मुसलमान तुम कश्मीरी पंडितों के लौट आने से ख़ुश नहीं...''

रशीद के होंठों पर वही मुस्कान फिर फैली, जिसमें मुझे चालाकी और बेबसी दोनों दिखाई दी। कल रात मिलने से इस समय तक उसके होंठ पहली बार यों मुस्कुराए थे।

मुझसे आँखें मिलाए बग़ैर वह बोला, ''अब जो तुम समझ ही गए तो मुझे और समझाने की क्या ज़रूरत है?'' पर फिर दूरा से बोला, ''भाभी! ऐसा हो सकता है। हम लोग ऐसा सोच सकते हैं। पर हम लोग कभी यह नहीं सोचेंगे कि आपके कुछ तीरथ जैसे तुलमूल पर्वत और शंकराचार्य* असुरक्षित रहें जिससे आप वहाँ आ जा नहीं सकें।''

मैं ग़ुस्से में था ही। मैं उससे बोला, ''सच कहना ऐसा सोचने का तुम्हारा अधिकार रहा क्या? हमसे तो यहाँ लौट आने का अधिकार कब का छीन लिया गया है।''

वह मेरी ओर ऐसे देखने लगा जैसे कह रहा हो, ''कृपया इतना सच मत बोलो।'' मैंने इशारे में उससे कहा चलो आगे देखो। गाड़ी कहीं ठोकना नहीं।

थोड़ी देर बाद उसने पीछे मुड़कर दूरा से पूछा, ''तुम्हें उसी रफ़ीक की क़सम है भाभी सच बोलना, इन दस सालों में कितनी बार तुम्हारा मन किया कि कहीं नहीं तो तुलमूल जाऊँ?''

यह देखकर कि इस सवाल से दूरा चौंक उठी है, जैसे उसके मन में बैठा चोर पकड़ लिया गया हो, रशीद ठठाकर हँस पड़ा।

''भाभी! मैं तुम्हें नहीं जानता क्या? रही बात किशन जी की, इसे जाने दो, इसकी तो मैं एक-एक नस जानता हूँ कि कब क्या सोच रहा है।'' और फिर हँस पड़ा।

रशीद बार-बार हँसता रहा, देखकर मुझे अच्छा लगा। मैं उससे बोला, ''चल छोड़! मैं भी तेरी एक-एक अंतड़ी गिनकर बता सकता हूँ।''

''अरे चुप भी हो जाओ! भगवान, बचाना! अंतड़ियाँ, नसें...! अरे इतने अंतराल के बाद मिले हो तो इसी बोली में बात करोगे?'' दूरा को और खिझाने के लिए हम दोनों ने हाथों पर हाथ मारकर ठहाका मारा।

फिर चुप्पी छाई। रशीद जो अभी हिमानी की तरह पिघलने लगा था, पत्थर बन गया। हम नगीन बाग़ पहुँच गए। मैंने और दूरा ने फिर कोई बात चलाने की कोशिश की पर वह जाने किस सोच में घिर गया था। सिर्फ़ आँ-हाँ करता रहा और गाड़ी चलाता रहा।

नसीम बाग़ पहुँचकर जब उसने गाड़ी दाहिने 'तेल बल' की तरफ़ मोड़ी तो मैं अचानक जाग-सा गया, मैंने उससे झट से पूछा, ''उस तरफ़ कहाँ जाने लगे?'' दूरा को उस रास्ते का कुछ ज्ञान नहीं था, पर मुझे देखकर वह भी हैरान थी।

रशीद कुछ नहीं बोला। बस गाड़ी चलाता गया। चार-पाँच मिनट बाद गाड़ी सड़क के एक

---

* पर्वत—श्रीनगर में 'हारीपर्बत' पर बना शारिका चक्रेश्वरी का तीर्थ। शंकराचार्य–श्रीनगर में पहाड़ी पर स्थित ऐतिहासिक शिवमंदिर। डल–श्रीनगर की प्रसिद्ध साफ़ पानी की झील।

और खड़ी की, इंजिन बंद कर दिया और गाड़ी से बाहर आ गया। हमारा दरवाज़ा खोलकर हमसे भी नीचे उतरने को कहा, "यहाँ थोड़ा सुस्ता लेते हैं!"

दूरा के मुँह पर अचरज साफ़ देखा जा सकता था। वह दाएँ-बाएँ देखकर समझने की कोशिश कर रही थी कि हम किस जगह रुके हैं। यह डल झील का एक निर्जन किनारा था।

"घबराओ नहीं भाभी। तुलमूल भी ले जाऊँगा।"

हम पास ही घास पर बैठ गए। हमारे सामने 'डल' मैली-कुचैली चादर-सी बिछी थी। जैसे उदासी में डूबी। पानी के ऊपर मैली चिकनी तह जमी थी, जैसी मैंने पहले कभी देखी नहीं थी। मैंने देखा पानी में बुड़क-बुड़क-सी आवाज़ आ रही थी और बुलबुले उभरकर फूट रहे थे, जैसे मैंने बचपन में 'शिहिलटेंग' के पास दलदली जगह में देखे थे।

मेरे मन में सैकड़ों प्रश्न कौंधने लगे। यह डल को क्या हो गया है? या फिर यह डल का कोई नगण्य कोना है। यहाँ पानी साफ़ हो या कीचड़, इसका क्या असर उधर मुख्य डल पर पड़ सकता है? वहाँ डल निर्मल शीशा है। सैकड़ों बार मैंने डल का वही रूप देखा है; वही चित्र मेरे मन पर खिंचा है। कभी मैं किसी से कोई गंभीर बहस करता होता तो मैं हठात् कह उठता कि मेरे मन का यही चित्र मेरा सही चित्र है। सुनने वाला मुँह फेर लेता वैसे कह रहा हो, "रहने भी दो। ख़ुद अपनी प्रशंसा नहीं करते!"

मैं भोला-सा उसे देखता जैसे कह रहा होऊँ, "तुम्हारी भी प्रशंसा कर रहा हूँ!"

पर यह चिकनी तह, यह बुड़कते बुलबुले, यह मंगोल काई*, यह दलदल...यह कौन-सी डल है? सुना है कि मंगोल काई बहुत तेज़ी से फैलती है...सोचते-सोचते मैं कहाँ से कहाँ पहुँच गया।

हम जहाँ थे वहाँ से बाईं तरफ़ 'ज़बरवन' की पहाड़ी और 'महादेव' की चोटी दोनों बादलों की लोई में लिपटे खड़े थे जैसे मुझ पर धीमे-धीमे हँस रहे थे।

"ज़बरवन ओ महादेव? तुम ज़ोर से एक बार ठहाका ही मारो कि मैं अपनी इन बेवक़ूफ़ उलझनों से बाहर आ जाऊँ और समझदारी की बात करूँ।" मेरे हृदय की आवाज़ थी पर होंठों तक आते-आते लौट गई।

या फिर यह रशीद हँस रहा था, "क्यों तूने समझा कि मैंने तुम्हारा अपहरण कर लिया है?...किशना! मुझे माफ़ करना, मैं पगला गया हूँ। बेसिर-पैर की बोले जा रहा हूँ...क्या करूँ यार, तसलीमा की तरह मुझे भी रफ़ीक की भ्रांति होती है...मेरा भी दिल रो पड़ता है...कभी सड़क पार करते हुए दिखता है कभी गली में भागते..."

मैंने ख़ुद को झटके से सामान्य किया। उसके कंधे पर हाथ रखकर बोला, "तूने हमें सुबह-सवेरे घर से बाहर क्यों निकाल लिया? हम जम्मू से तुमसे मिलने आए हैं, तसलीमा को देखने आए हैं। हमें कश्मीर छोड़े दस साल से ज़्यादा अरसा हो गया, तूने कैसे अटकल लगाई कि हम तुलमूल जाने के लिए आए होंगे?"

लगता था कि दूरा भी यही बोलने वाली थी। "भाईजान। कल रात से हमें लग रहा है कि आग में झोंके गए हैं...यह दुख सहन नहीं हो रहा...हमें लगता है कि आज ही जम्मू लौट जाएँ...तसलीमा का हाल देखकर दिल पर जैसे छुरियाँ चलती हैं।...भाईजान! तसलीमा बेजान पत्थर बनकर रह गई है।"

रशीद पत्थर-कंकड़ उठा-उठाकर डल के पानी में फेंक रहा था। कंकड़ से मंगोल काई के बीच में छेद हो जाता, पर शीघ्र ही काई की असंख्य हरी कनियाँ सिमटकर छेद को बराबर

---

* दलदल या खड़े (साफ़) पानी पर तेज़ी से जमते, फैलते हरे बीजों जैसी काई।

कर देतीं। रशीद उसी जगह कंकड़ से निशाना लगा रहा था जैसे छेद करके मंगोल को तोड़ने और छेद को भर देने में उसके और मंगोल के बीच मुक़ाबला लगा हो।

तीस साल से मैं जिस फक्कड़, लापरवाह, कड़े दिलवाले रशीद को जानता था, जो बेबात का झगड़ा मोल लेता था, शील, अश्लील, मोटा, भद्दा बोलकर सामनेवाले का मुँह बंद कर देता, वही इस वक़्त गर्म तवे पर रखी बर्फ़ की सिल की तरह चुपचाप गलता पिघलता नज़र आ रहा था।

मेरा दिल भी रो रहा था पर मैंने उसे कड़ा करके कहा, “रशीदा! घर की हालत देखो...तुझे कैसे भी ढाँढ़स बँधाना है...कौन जानता था कि ऐसी आँधी आएगी और हम इसमें यों घिर जाएँगे कि हमारी जड़ें ही उखड़ जाएँगी...”

थोड़ी देर बाद वह बोला—जैसे मेरे शब्द जाँच रहा हो, मेरी हर बात तौलकर समझ रहा हो, “मैं तो सब कुछ देख-समझ रहा था...मुझे सब कुछ पहले से मालूम था...मैंने इसीलिए रफ़ीक को अपने दामन में छिपा रखा था...पर आख़िर मेरी पलक झपक ही गई और वह खिसक गया...”

पश्चाताप से रशीद बेहाल था। उसका मुँह लटक गया था, भौंहें सिमट रही थीं। उसकी आँखें ज़मीन पर केंद्रित थीं। बिना हिले फिर बोला, “रफ़ीक कब का घर से भाग चुका होता, उसी दोस्त लड़के के साथ पर...जाने वही हुआ होता तो उसके लिए अच्छा हुआ होता...हमारे लिए भी...”

आँखें ऊपर उठाकर जैसे शून्य में वह हदें खोजने लगा जहाँ रफ़ीक खोजा जा सकता था...बोला, “मरना था ही उसे...पर जाता किसी पहाड़ पर, किसी जंगल में छिपते-भागते...उसकी लाश भी न मिलती...उसकी माँ को कोई चोट न पहुँचती, कोई पीड़ न सालती...”

वातावरण भारी होता जा रहा था, लगता था डल का यह वीरान किनारा और गहरी ख़ामोशी में लिपट गया है। मुझसे पहले दूरा सचेत होने लगी। उसने रशीद को यह कहकर झिंझोड़ डाला, “अरे तसलीमा की दुर्दशा देखो...उसे इस सबसे बाहर कौन निकालेगा? तुम न हों तो डॉक्टर के पास कौन ले जाएगा उसे?...सुनो, इसे दिल्ली ले चलते हैं, वहाँ सही इलाज होगा और ठीक हो जाएगी।”

फिर जैसे वह ख़ुद से बोल रही थी, “इसने मान रखा है कि रफ़ीक हमारे घर में है...यह भूल गई है कि हम लोग इतने दिनों से उस घर में ख़ुद नहीं रह रहे...मेरी सुनो, इसे कभी हमारे मकान में ले चलो, वहाँ हर कमरे में घुमा दो। जब किसी को वहाँ देखेगी नहीं तो रो पड़ेगी शायद दर्द छँट जाए...” एक ही साँस में कई सुझाव देकर लगा कि दूरा को ख़ुद अचकचा लग रहा है। वह मेरी ओर देखने लगी कि मैं उसका समर्थन करूँ। रशीद भी ख़ुद से बोलने लगा, “कुछ नहीं, कुछ नहीं होगा उसका...यह तुमसे ही नहीं, सब मिलने वालों से ऐसे ही बोलती है। रफ़ीक के उस यार से भी कहती है कि अकेले क्यों आए, कल उसे अपने साथ लाना...”

मैंने कहा, “तुझे उस लड़के को ठीक से समझाना चाहिए—क्या कहते हैं कि उसे विश्वास में लेना चाहिए...यह सब कुछ डॉक्टर को बता देना चाहिए...कई बार ऐसा भी होता है कि कोई वैसी ही नई घटना पुराने सदमे से बाहर निकाल लेने में मदद करती है...अच्छा, मुझे उस लड़के से मिला देना...”

सुनकर रशीद चौकन्ना हो गया और खड़ा हो गया, “नहीं। बिलकुल नहीं। तुम उससे मिल नहीं सकते। मैं तुम्हें उससे मिलने नहीं दूँगा...” बोलते-बोलते वह झल्लाया और मुश्किल से ख़ुद को क़ाबू करने के उद्देश्य से डल के उस वीरान तट पर चहलक़दमी करने लगा। फिर मेरे सामने रुककर खड़ा हुआ, “सुनो किशन! तू अन्यथा न समझना। पर मैं, आज सुबह सिर्फ़

उसी की वजह से तुम्हें घर से बाहर खींच लाया। आज कोई तुम्हें हमारे घर में देख लेता तो ख़बर उसे पहुँच जाती।..."

मैं आश्चर्य से रशीद को देखने लगा। वह पेड़ से लटक रहे पत्ते की तरह थरथरा रहा था। वह वहीं ज़मीन पर बैठा। इशारे से मुझसे पानी माँगने लगा। यह देखकर मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। मेरा भी संतुलन डगमगाने लगा और मैं पानी लेने डल झील की तरफ़ जाने लगा। मैं अपना हाथ कीचड़ में डालने वाला ही था कि दूरा ने मेरे पीछे आवाज़ं दी, "भरे पानी की बोतल गाड़ी में रखी है।"

रशीद बैठ गया, जैसे दिल का दौरा पड़ा हो उसे। वह छटपटाने लगा। एक घूँट पानी पीकर हाथ से हमें इशारा किया कि आश्वस्त हो जाओ...मैं ठीक हूँ। फिर लंबी साँस लेकर बोला, "उस दिन रफ़ीक अकेला था दुकान पर। अचानक उसका यही दोस्त आया दौड़ता-हाँफता और कहा कि मिलिट्री वाले मेरे पीछे पड़े हैं, मुझे छिपने को जगह दो। रफ़ीक ने दुकान के अंदर एक जगह पर फ़र्श का तख़्ता हटाया और लड़के को तहख़ाने के कोटर में उतार दिया। फिर ढक कर उसे क़ालीन से ढाँप दिया और काउंटर पर जाकर पैसे गिनने का नाटक करने लगा। शीघ्र ही मिलिट्री आ गई पर रफ़ीक ने ज़रा भी विचलित न होकर दुकान में किसी के घुस आने से साफ़ इनकार किया। मिलिट्री ने दुकान की तलाशी ली पर उन्हें कहीं कुछ पता नहीं चला। वे दाएँ-बाएँ की दुकानों में लड़के को खोजने लगे। मिलिट्री का अफ़सर हमारी दुकान पर शटर के सामने बैठा रफ़ीक से बातें करने लगा। रफ़ीक भी उससे सामान्य बातचीत में लग गया। अफ़सर सिगरेट निकालकर निश्चिंत बैठा पीने लगा। बाक़ी सिपाही चारों तरफ़ बिखर गए थे...कि अचानक गोली चली और अफ़सर की जाँघ में लग गई। फिर क्या था। बाहर से सिपाहियों ने धड़ाधड़ फ़ायरिंग की। अफ़सर कुर्सी से लुढ़क गया था और दर्द से कराह रहा था। रफ़ीक की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। वह अफ़सर को घायल हुआ देख काउंटर से बाहर आया और अफ़सर के पास झुक गया। अचानक उसे भी गोली लगी और वह वहीं गिर पड़ा। फ़ायरिंग से दुकान तबाह हो गई और देखते देखते आग लग गई..."

"और रफ़ीक का वह दोस्त? उस बेचारे का क्या हुआ? वह तो आग में जलकर राख हो गया होगा?" मैंने पूछा।

"हाँ, सब लोग वैसा ही समझ रहे थे।...पर वह भाग गया था...कैसे, यह किसी की समझ में नहीं आया..." फिर एकदम गंभीर होकर रशीद बोला, "वही लड़का अब हमारे घर आता है, चोरी-छिपे, वक़्त-बेवक़्त और तसलीमा से बात करके जैसे कोई राज़ उगलवाने की कोशिश करता है..."

"अरे! तसलीमा से? उस बेचारी को अपनी कुछ ख़बर नहीं। उससे क्या भला उगलवाना चाहता है?" मैं आश्चर्यचकित था। ग़ुस्सा भी हो रहा था।

"कहता है कि रफ़ीक ने मिलिट्री के अफ़सर को इशारे से बताया कि लड़का अंदर छिपा बैठा है। इसलिए उसने तहख़ाने का ढक्कन ज़रा-सा उठाकर वहीं से गोली चलाई जो अफ़सर की जाँघ में जा लगी..."

"असंभव... ग़लत..." मेरे मुँह से अचानक निकला, "उसे मरवाना होता तो अपनी दुकान में शरण क्यों देता? दोस्त था उसका..." उस लड़के ने कई बार रफ़ीक को अपने साथ ले जाने की कोशिश की थी, पर यह नहीं गया। तब से इस पर शक करता रहा...बस बिलावजह...पर ख़ुदा और रसूल जानते हैं कि रफ़ीक बेगुनाह था...!"

दूरा बेचैन थी...वह बार-बार उठती फिर ख़ुद को बस में कर लेती। फिर कह ही डाला, "वह तो बेचारा अमानत दे गया जिस पर शक करता

रहा पर अब बेचारी तसलीमा के ज़ख़्म कुरेदने क्यों जाता है ?''

''एक मुसीबत हो तो टालें! अब सोचता होगा कि मिलिट्री वाले हमें शह दे रहे हैं...वो भी तो हमें छोड़ते नहीं। उनके जासूस हमारे घर को घेरे रहते हैं।'' रशीद बोला।

''तसलीमा रफ़ीक के दोस्त को बोलती क्या होगी ?'' दूरा के यह पूछने पर मुझे ग़ुस्सा आ गया। यह इतना भी नहीं समझती कि तसलीमा भला क्या बोल—बता सकती है। पर रशीदा ने दूरा को पूर्ववत जवाब दिया, ''वो बड़े अपनेपन से लड़के से बात करती है...अरे लड़के को यह परेशानी तो नहीं कि तसलीमा का हाल क्या है, क्या नहीं...वह तो सिर्फ़ अपने मतलब की बात जानना चाहता है...उस वक़्त हम सब गुमसुम बैठे रहते हैं और ख़ुदा से दुआ करते हैं कि तसलीमा लड़के की हाँ में हाँ न मिलाए।''

सुनकर हम दोनों की व्याकुलता बढ़ी। रशीद ज़मीन पर बैठा बेमन से घास उखाड़कर डल के ऊपर फेंकता जाता था, और घास 'मंगोल' पर ढेर के ढेर जमा हो रही थी। थोड़ी देर बाद बोला, ''कभी देर रात गए आता है तो किसी सुबह नमाज़ बाग से पहले ही घर में घुस पड़ता है। हमें जगाकर तसलीमा से बातें करने लगता है। किसी दिन ख़ुद नहीं आता और किसी लड़के को भेजता है...हम किसी अनजान लड़के को आता देखकर सहम जाते हैं, उसे आने से रोक भी नहीं सकते, हमारी हिम्मत ही नहीं कि उसे पूछें क्यों आए हो या क्यों इस बीमार औरत को परेशान कर रहे हो। मुझे यह भली-भाँति मालूम है कि किसी दिन लड़के के तुरंत बाद मिलिट्री हमारे घर में आ धमकेगी और हमारे मुहल्ले पर छापा पड़ेगा...''

यह सुनकर मैं सचेत हो गया कि मैं कहाँ हूँ और मुझे क्या बोलना-सुनना चाहिए और क्या नहीं। मैं उठ खड़ा हुआ, दूरा को हल्के से हिलाया। वह भी खड़ी हो गई। मैंने अपने चारों ओर टोहती नज़र से देखा कि कहीं कोई हमें देख तो नहीं रहा। पर यह डल का एक सूना किनारा था। दूर सड़क पर गाड़ियाँ दौड़ रही थीं—या निशात बाग़ की दिशा में या नसीम बाग़ की ओर। रशीद भी अनमना-सा खड़ा हुआ और हम वहाँ से लौट पड़े।

गाड़ी में वैसी ही चुप्पी फिर छाई, जैसी तब थी जब हम आज सुबह रशीद के घर से चले थे। इस समय भी हमीं बात छेड़ते और रशीद हूँ-हूँ कहकर फिर चुप्पी में खो जाता। आती बार मैंने देखा था कि जाने-पहचाने बाज़ार, सड़क से गुज़रते हुए दूरा कभी आह भरकर रह जाती तो कभी संतुष्ट दिखती कि जैसे दशकों बाद फिर इन बाज़ारों को अपनी आँखों से देखने का अवसर पाकर आभार व्यक्त कर रही हो कि तब तो ये सब हमारे भी थे पर अब हमारे लिए पराए हैं! अब जो फिर इन्हीं बाज़ारों से लौट रहे हैं तो जैसे सब पीछे छूट रहा है पर कोई दुख नहीं जैसे कुछ दिखाई नहीं दे रहा।...

गाड़ी अपनी गली में प्रविष्ट हुई। मोड़ पर पहुँचे तो रशीद ने अपने घर को जा रही गली की ओर न मोड़कर गाड़ी को हमारे घर की गली की तरफ़ मोड़ दिया। हमें इस अचानक हरकत से हैरान देखकर हमारे सवाल करने से पहले वह दूरा से बोला, ''भाभी! तुमसे वादा है मेरा कि तुलमूल ज़रूर लेकर जाऊँगा। पर्बत भी और शंकराचार्य भी...पर इस वक़्त मुझे माफ़ करना...'' कहते-कहते रशीद हमें हमारे घर ले गया। जेब से चाबियाँ निकालीं और हमारे गेट का मोटा ताला खोला। मुझे लगा हमारे ख़ामोश पड़ोस में पिछले दस साल में पहली बार कोई गाड़ी घर के गेट के सामने रुकी होगी या किसी घर का बाहरी गेट खोला गया होगा। गेट खोलने से किरीच-क्रीच की आवाज़ निकली और शून्य में गूँज गई। दूर के एक दो मकान की, जिनमें कोई-कोई रह रहा होगा, खिड़कियाँ खुलीं, उत्सुक लोग उचक-उचककर देखने लगे। मैं गाड़ी के

बाहर खड़ा यह समझने की कोशिश कर रहा था कि रशीद ने हमें यहाँ क्यों ला खड़ा किया, वह यह सब क्यों कर रहा है। जाने दूरा का हाल क्या था, पर मैं कुछ डर भी गया...दस साल त्यागे घर के सामने इस तरह खड़ा कर दिया गया था इसलिए। जैसे रशीद मेरा घर यों अचानक अघोषित देशकाल में खोलकर कोई अवैध काम कर रहा था। मुझे लगा दोषी मैं हूँ, मैंने स्वयं जाने-अनजाने कोई संकेत दिया होगा कि अपने मकान को देखना चाहता हूँ। पर क्या रशीद हमें अपने मकान के पिछवाड़े में बने उस रास्ते से हमारे घर में जाने को नहीं कह सकता था? दोनों घरों के पिछवाड़े में साझी दीवार को बीच में तोड़कर एक दरवाज़ा बनाया गया था, जिससे हम हमेशा एक-दूसरे के यहाँ आते-जाते। यह हमें अपने आगे के गेट से प्रवेश क्यों करा रहा है? मेरा डर बढ़ रहा था। क्षणभर मुझे लगा मेरे पास-पड़ोस में हमारे जैसे ख़ाली परित्यक्त घर नहीं, बल्कि सैंकड़ों काली बंदूक़ों का जंगल उग आया है और हमको कुसमय इस जंगल में घुसते हुए पकड़ा जाएगा।

दूरा गाड़ी से बाहर निकली ही नहीं थी। वह अंदर बैठी धीमे-धीमे रो रही थी।

घर की हालत बिलकुल वैसी थी जैसी मैं विगत दस साल से अनुमान लगाता रहा था...हमारे आँगन और लॉन में आदमी के क़द से ऊँची घास उग आई थी।

रशीद ने गाड़ी का दरवाज़ा खोला और हाथ पकड़कर दूरा को बाहर निकाला। वह उसे गेट के अंदर ले गया, जैसे वह दस दिन से भूखी और बीमार थी। बरामदे पर पहुँची, फिर आगे क़दम बढ़ा न सकी। वहीं धसक कर बैठ गई।

रशीद मुझसे कहने लगा, ‘‘अभी मैं सिर्फ़ किचन और एक कमरा साफ़ करवाता हूँ, सिर्फ़ ग्राउंड फ़्लोर पर, फिर धीरे-धीरे मकान की मरम्मत शुरू करवा देता हूँ।...तुम लोग रहोगे तो हमारे ही मकान में, पर कभी चाहो तो यहाँ आकर सँभालना, समेटना, सुधारना चालू रख सकते हो। कल-परसों बंदों को काम पर लगा देता हूँ। शफ़ीक बाज़ार से ज़रूरी सामान ले आता रहेगा।’’

वह बिना रुके बोलता जा रहा था, जैसे मुझे बोलने देना ही न चाहता हो। मैं मासूम बच्चे की तरह उसे सुन रहा था। मेरी सोच का सारा संतुलन ही बिगड़ता नज़र आ रहा था...मैं क्या बोलूँ मेरी समझ में ही नहीं आ रहा था...हमने शायद अनजाने में भी कभी यहाँ आने की इच्छा नहीं जताई तो फिर यह हमें यहाँ क्यों ले आया? इस बार जो हम पति-पत्नी कश्मीर आए तो कहीं अवचेतन में भी मकान को देखने या इसमें रहने की संभावना तलाशने का विचार नहीं था। जम्मू से चले तो सिर्फ़ एक ही ख़याल हमें हाँक रहा था, कैसे भी रशीद और तसलीमा के पास पहुँच जाते और बस...

रशीद हमसे बोला, ‘‘तुम यहीं रुक जाओ। मैं आता हूँ।’’ वह जाने लगा। मैं दूरा को और वह मुझे अबूझ नज़रों से देखने लगे। जैसे हमें किसी अनजाने द्वीप पर छोड़ा जा रहा था, जहाँ हमें अपना-सा कुछ नहीं लग रहा। हमारी हालत उन जंगली-जानवरों के जैसी थी, जिन्हें ईमानदारी और हमदर्द पुलिसवाले, कपटी स्मगलर शिकारियों के चंगुल से ज़िंदा पकड़कर बचा तो लेते हैं पर फिर अनजान पराए जंगलों में छोड़ आते हैं। वे जानवर भी मेरी तरह कनफ़्यूज़ हो जाते होंगे कि हमें पकड़ा क्यों गया था और अब यहाँ छोड़ा क्यों जा रहा है?...

रशीद मुड़ ही रहा था तो मैंने उसके बाज़ू को धर लिया, ‘‘सुनो, रशीदा! इस वक़्त हमें यहाँ कुछ नहीं करना...तुमसे मरम्मत कराने को किसने कहा?’’

दूरा भी अनायास बोल पड़ी, ‘‘घर से मैं चली तो दरवाज़े-खिड़कियाँ भी पूरी बंद नहीं कीं। मकान मालकिन से इतना भर कह आई हूँ कि दो-तीन दिन में कश्मीर से लौट आएँगे...’’

रशीद मुड़कर हमारे सन्मुख हो गया। अब यह पत्थर नहीं था न बर्फ़ की शिला-सा ठंडा। वह हल्के से मुस्काया, मेरे कंधे पर अपना हाथ रखा। फिर दीनता से बोलने लगा, ''दस साल बाद मुझसे मिलने आए हो। अब मेरे लिए इतना-सा भी नहीं कर सकते ?'' जवाब पाने का इंतज़ार करता मेरी ओर देखने लगा।

मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि मैं उसके लिए क्या कर सकता हूँ। दूरा डरी हुई हिरनी की तरह अपने चारों तरफ़ के निर्जीव माहौल को आँखें फाड़-फाड़कर देख रही थी। जैसे मुझसे कह रही हो, ''नहीं। हम यहाँ नहीं रहेंगे...यह अब हमारा घर नहीं रहा...यह सब उसी दिन ख़त्म हो गया...इस घर में रचे-बने हमारे सारे रिश्ते ख़त्म हैं...नहीं, मैं अपने छूटे घर को देखकर मचल नहीं रही...मैं यहाँ नहीं रहूँगी...देखो, तुम ललचा न जाना... !''

रशीद हम दोनों को समझाता हुआ-सा बोल रहा था, ''देखो, तुम अपने घर में रहोगे। यहाँ तुम्हें कोई कुछ नहीं कह सकता, तुम पर कोई शक भी नहीं कर सकता...दो-चार दिन बाद मैं तसलीमा को यहाँ ले आऊँगा...भाभी, तुम्हीं ने तो कहा उसे यहाँ ले आओ...सुनो, तसलीमा की ख़ातिर तुम्हें यहाँ रहना होगा...उसकी रूखी-सूखी पलकों को फिर से आँसुओं के पानी से तर करना है और यह तुम्हीं कर सकती हो...अपनेपन से, स्नेह से भाभी...आँखों से पानी ग़ायब हो गया है यहाँ...पानी भी स्नेह भी...पर...'' वह जैसे ख़ुद से बोल रहा हो, वे शब्द जिनका अर्थ वह ख़ुद नहीं जानता, दोहरा रहा हो, जैसे शब्द चबा रहा हो। कभी मेरी तरफ़ तो कभी दूरा की तरफ़ देखते हुए।

दूरा कुछ समझ नहीं रही थी। वह निरीह-सी मेरी ओर देख रही थी जैसे कह रही हो, ''मैं क्या कहूँ ? तुम्हीं इससे कहो...''

रशीद ने हमारे सामने सवाल उछाल दिया था। वह जवाब की प्रतीक्षा किए बग़ैर हमारे आँगन को पार करता हुआ मकान के पिछवाड़े चला गया, जहाँ से साँझे दरवाज़े से वह उस पार अपने घर जा सकता था।

दो-चार मिनट हम दोनों खड़े रहे, अवाक्। वह आया, गेट फिर खोला, गाड़ी हमारे आँगन में ले आकर, गेट पर अंदर से ताला लगा दिया।

आज हम दस साल बाद अपने प्रिय, पर छूटे हुए घर के साए में खड़े थे। हम खोए से थे कि अब हमें क्या करना है।

दूरा मेरी ओर देख रही थी। उसकी मौन आँखें मुझसे पूछ रही थीं कि हमें क्या करना है ?

मैं कभी दूरा को कभी अपने घर को तो कभी घर के पीछे रशीद और तसलीमा के घर को देख रहा था और हवा में अपने मन का सवाल उछाल रहा था कि पानी की बहुतायत वाले इस शहर में ग़ायब पानी को हम कहाँ ढूँढ़ें।

तभी मैंने देखा तसलीमा अपने कमरे की खिड़की से देख रही है, जैसे हमारे आँगन में अपनी खोजती नज़रों से कुछ ढूँढ़ रही है और हमें देखते हुए भी देख नहीं रही।

दूरा कभी उसे कभी मुझे तो कभी अपने पराए घर को देख रही है...

एस. आर. हरनोट

चश्मदीद

कोर्ट नंबर एक। बाहर-भीतर और दिनों की अपेक्षा ज़्यादा भीड़। ख़ूब चहल-पहल। आगे की चार-पाँच पंक्तियों की कुर्सियाँ काले कोटधारियों से भरी हुई। अभी भी कई वकील और दूसरे लोग भीतर आते और बीच-बीच में ख़ाली कुर्सियों पर बैठ जाते। कई लोग कोर्ट हॉल के दरवाज़े के बाहर इस चाह में खड़े थे कि उन्हें भी भीतर जाने का मौक़ा मिल जाए। सभी के मन में आज का मुक़दमा सुनने की तीव्र जिज्ञासा थी। अभिसाक्षी और प्रतिवादी पक्ष के वकील अपनी-अपनी जगह पर बैठे बहस की तैयारी में मग्न दिख रहे थे।

जज महोदय जैसे ही भीतर पधारे हॉल में बैठे सभी वकील और दूसरे लोग खड़े हो गए। न्यायगद्दी पर विराजमान होते हुए उन्होंने सभी का अभिवादन स्वीकार किया। उनका व्यक्तित्व अत्यंत आकर्षक था। सिर के अधिकतर बाल काले थे। चेहरे पर ग़ज़ब का तेज़। हल्की मूँछें। आँखों पर नज़र का चश्मा उनके व्यक्तित्व को और भी निखार रहा था। दोनों हाथों की उँगलियों में कई सोने की अँगूठियाँ जिनमें ग्रह निवारण के क़ीमती नग जिनसे साफ़ लगता कि जज साहब अपने भाग्य के प्रति कुछ अतिरिक्त रूप से सतर्क रहते हैं। उम्र पचास के आसपास, पर कोई अनुमान लगाने लगे तो चालीस से एक वर्ष भी ज़्यादा न बता पाए।

रीडर ने मामले की फ़ाइल उनके सामने प्रस्तुत की। जैसे ही उन्होंने केस का टाइटल पढ़ा चेहरे के पूर्व भाव तबदील होने लगे। मानो किसी विशेष स्वाद से चेहरे पर रंगत आ गई हो। अपने को गंभीर बनाए रखने की दृष्टि से उन्होंने एक गहरी साँस लेते हुए एक साथ फ़ाइल के कई पन्ने उलट-पलट दिए। फिर आँखों पर से चश्मा उतारा। भरी नज़र न्यायालय-दीर्घा में डाली। पता नहीं क्यों आगे की कुर्सियों पर बैठे सभी वकीलों के चेहरे पर पसरे भाव को देखकर उन्हें लगा कि वे कोर्ट में न होकर किसी सर्कस हॉल में आए हैं और तमाशे का बेसब्री से इंतज़ार कर रहे हैं। चश्मा पुनः आँखों पर चढ़ाया और केस आरंभ करने का आदेश दिया।

चपरासी मुश्किल से लोगों को इधर-उधर हटाता दरवाज़े तक गया और ज़ोर से पुकारना शुरू किया, "कुमारी सुमना...बनाम कैलाश...उर्फ़ काकू हाज़िर हो...!"

एस.आर. हरनोट का जन्म 1955 में हुआ। इनके कई कहानी-संग्रह, उपन्यास और अनूदित पुस्तकें प्रकाशित। कई संस्थानों से पुरस्कृत एवं सम्मानित। संपर्क : ओम भवन, मोरले बैंक एस्टेट, निगम विहार शिमला-171002 (हि.प्र.) फ़ोन-0177-2625092

उसकी आवाज़ बाहर कम, भीतर ज़्यादा गूँजी। सभी की निगाहें दरवाज़े की तरफ़ उठ गईं। ये नज़रें साधारण नहीं थीं न ही सहज। मन में उमड़ते-घुमड़ते कई विचारों के मिश्रित द्वंद्वों की तल्ख़ उनमें थी।

काकू बाहर से नहीं आया। वह मध्य में कहीं अपने विधायक पिता के पास बैठा था। शायद किसी की नज़र उन पर नहीं गई। वह ऐसे उठकर चल दिया जैसे कोई पुरस्कार लेने मंच पर जा रहा हो। अपराधी जैसे कोई भाव उसके चेहरे पर नहीं थे। माथे और कान पर झूलते बाल। छाती पर क़मीज़ के दो बटन खुले हुए। भीतर पहनी बनियान के ऊपर से सोने की चेन बाहर निकली हुई। हल्की नीली जीन की पैंट और मोटे सिर वाले जूते...जिनकी खड़खड़ाहट कई पल दीर्घा में भीड़ और दीवारों से टकराती रही। चेहरे पर अजीब-सा नशा। लाल—डरावनी-सी आँखें। उच्छृंखलता और उद्दंडता जिनमें नाचती हुई।

जिस किसी ने उसको मन की आँखों से देखा उसने जान लिया कि यह सब एक ओढ़ा हुआ बनावटी यथार्थ है...नंगे पहाड़ पर बर्फ़ जैसा... जिसका अस्तित्व सूरज निकलने तक बचा रहता है। या फिर दो-चार टुकड़े बादल आने तक...वे आए कि बर्फ़ की स्वर्णिम, श्वेत आभा उड़न छू...। उसका विधायक पिता जो हॉल में है...शायद पिता नहीं है। उसके भीतर बाप की सत्ता भी नहीं है। न तो उस जैसा कोई स्नेह और न अधिकार। होता तो जिस जुर्म के लिए बेटे पर मुक़दमा चल रहा है, उसकी शर्म-हया तो चेहरे पर होती। मन—आँखों पर विधायक होने का आवरण जो चढ़ा है...राजनीति भीतर पसरी है। नस-नस में... ख़ून के साथ अफ़ीम के नशे की तरह।

इस बीच टीन की छत पर ज़ोर की टनटनाहट हुई। दरवाज़े के साथ दीवार से नीचे बारीक मिट्टी झड़ती रही। कुछ देर छत पर बंदरों का एक-दूसरे पर आक्रमण चलता रहा। एक बंदर खिड़की से भीतर घुसने लगा तो चपरासी ने उसे भगा दिया। ऐसा वहाँ रोज़ ही होता। इसके सभी अभ्यस्त भी थे।

सभी ने काकू पर उड़ती-सी नज़र डाली। लेकिन स्थायित्व तो दहलीज़ पर बना था। कुमारी सुमना के भीतर आने की राह पर।

सुमना के कानों में आवाज़ गर्म तेल की तरह पड़ी। अपना ही नाम ख़ंजर की तरह मन में गड़ गया। लकड़ी के बेंच से ऐसे उठी मानो साँप छू गया हो। साथ ही उसका बापू भी उठ गया। पाँव में एक अजीब-सी थरथराहट। काँपती टाँगें...जैसे अब गिरा कि तब। कोई उसके मैले-से कुरते और सदरी के बीच से हाथ डालकर छाती पर रखता तो जानता कि भीतर दिल मशीन की तरह तेज़ी से धड़क रहा था। लाठी के सहारे उसने मुश्किल से अपने शरीर का संतुलन बनाया। कंधे पर झोला ठीक किया और भीड़ के मध्य रास्ता बनाते सुमना को सहारा देते भीतर ले गया। साथ दो महिलाएँ भी थीं। भीतर सुमना का बापू और महिलाएँ पीछे रह गईं। सुमना को चपरासी ने कटघरे तक पहुँचाया। बूढ़े बाप ने कुर्सियों के मध्य एक जगह टटोली और बैठ गया। पीछे दोनों महिलाएँ खड़ी हो गईं। किसी ने उनकी तरफ़ ध्यान नहीं दिया।

कटघरे तक वकील और दूसरे लोग सुमना का आँखों-ही-आँखों में पीछा करते रहे। वहाँ पहुँचकर वह चुपचाप खड़ी हो गई। हॉल में बैठे लोगों की अनगिनत आँखें उस पर केंद्रित हो गई थीं। कई प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष बलात्कार के परिदृश्यों के साथ। जैसे वह गाँव की ग़रीब, असहाय और मासूम लड़की न होकर किसी प्रदर्शन के लिए लाई गई कोई चीज़ हो।...कठपुतली जैसी। एक क्षण में ही उन आँखों ने पता नहीं कितनी बार उसे निर्वसन कर दिया...। समाज के उन न्याय-रक्षकों की आँखों में सिनेमा की तरह अनेकों परिदृश्य उमड़ रहे थे...जैसे वे किसी कोर्ट में नहीं बल्कि सिनेमा हॉल में बैठ 'केवल बालिग़ों के लिए' फ़िल्म देख रहे हों।

जज महोदय ने एक सरसरी निगाह सुमना पर डाली। उन्हें लगा जैसे एक छोटा-सा गाँव उस लड़की के साथ कटघरे में खड़ा हो गया हो। उलझे हुए बाल...जैसे कई महीनों से धोए ही न हों। कई लटें माथे से गालों पर गिरती-पड़ती। शर्मसार आँखें। जैसे तमाम दुनिया की लज्जा उनमें समा गई हो। सिर पर ओढ़ी मैली-सी चुनरी। मुरझाया हुआ चेहरा। सूखे फटे होंठ। पीड़ाओं से लदे-भरे। उन्हें मिट्टी और गोबर की गंध अपनी तरफ़ आती महसूस हुई...जैसे वे किसी न्यायगद्दी पर नहीं बल्कि गाँव के किसी खेत की मुंडेर पर बैठे हों।

कार्यवाही शुरू हो गई। भीतर गहरा सन्नाटा पसर गया था। प्रतिवादी पक्ष का वकील अपनी जगह से उठा। लंबा काला चोगा सँभाला और सुमना के पास जाकर खड़ा हो गया।...परमदत सहाय नाम था उसका। उसकी चाल में एक अनोखी-सी कशिश थी, मानो वह मंच पर किसी फैशन शो की नुमाइश में आया हो। आँखों में अजीब-सा नशा। चेहरे पर बेढंगी-सी मुस्कान मानो किसी अश्लील दृश्य पर चलते-चलते नज़र पड़ गई हो। बलात्कार और हत्या जैसे संगीन मामलों का माहिर वकील। अभियुक्तों को बरी करवाने की विशेषज्ञता। दूर-दूर तक उसे ऐसे मामलों में पैरवी के लिए बड़े लोग और राजनीतिज्ञ ले जाया करते...क्योंकि उसकी जितनी फ़ीस थी शायद ही कोई भला आदमी दे पाता। वह क़ानूनी दाँव-पेंचों के साथ कई दूसरी तिकड़में भी भिड़ा लिया करता जिससे ऐसे मामले अपने पक्ष में करना उसके लिए दाएँ हाथ का खेल हो जाता। जजों तक को मुँह-माँगी रक़में देने में भी वह न हिचकिचाता।

कोर्ट में बैठे सभी वकील और दूसरे लोग वर्तमान प्रभाव क्षेत्र में आने लगे थे। वे जानते थे कि जब वकील सहाय सुमना से पूछताछ करेंगे तो कई जीवंत रोमांचकारी परिदृश्य सामने उभरने लगेंगे। ऐसे क्षण बार-बार कहाँ आते हैं। हालाँकि वे सभी इस सच्चाई से वाक़िफ़ थे कि जब ऐसे अपराध होते हैं तो वे प्रत्यक्षदर्शियों के सामने नहीं होते। गाँव या शहर के लोगों के सामने नहीं होते। लेकिन क़ानून तो गवाही माँगता है। सबूत माँगता है...इसीलिए एक बार फिर सुमना के साथ वही सब कुछ होगा...लेकिन आज अकेले में नहीं...सभी के सामने...जज के सामने... वकीलों की मौजूदगी में...उसके अपने बापू के समक्ष...उसके कपड़े बारी-बारी उतारे जाएँगे... उसे निपट नंगा कर दिया जाएगा...जिस शर्म और लज्जा को वह बचपन से लेकर जवानी तक सँभालती-सहेजती रही उसके चिथड़े-चिथड़े किए जाएँगे। आज जैसे उस कृत्य का भागीदार काकू न होकर बीसियों लोग होंगे...पर यह सब लोग क़ानून की सीमाओं में... क़ानून की मान्यताओं के बीच...अधिकृत तौर पर...

और अब यही सब कुछ शुरू हो गया था। कितने अनोखे प्रश्न...अश्लील...बेबुनियाद... सुमना बेचारी सिर झुकाए खड़ी थी। चुपचाप। सिर का दुपट्टा आँखों पर से नीचे तक सरक आया था। आँखों से अविरल आँसुओं की धारा बहती जा रही थी। पर वकील सहाय के प्रश्नों की चौंध के बीच उसकी सिसकियाँ गुम होती गईं। उसने किसी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। जैसे उसकी ज़ुबान ही बंद हो गई थी। वह सोच रही थी कि काश! वह सीता होती तो धरती माँ को पुकारती और वह फट जाती। उसमें समाकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देती। पर वह जानती है...वह सुमना है। ग़रीब और असहाय हरिजन की बेटी। इकलौती।

कोई उसके बापू को कुर्सी के बीच उकड़ूँ बैठे देखता तो जानता कि वह किस तरह एक जीती-जागती देह से मोटे पत्थर की तरह फर्श पर गड़ गया था।

वकील सहाय ने इस मामले को नया मोड़ दे दिया। चुनाव नज़दीक था। वकील की दलील थी कि कैलाश के पिता विधायक गणेश दत्त

सत्तारूढ़ पार्टी के हैं इसीलिए कुछ शरारती तत्त्वों ने कई विपक्षी नेताओं के झाँसे में आकर उनकी छवि बिगाड़ने के लिए ही यह मामला गढ़ा है। इसके लिए एक गँवार, असहाय और हरिजन की ग़रीब लड़की को ढाल बनाया गया है। जितने भी गवाह पेश किए उन्होंने इस घटना के बारे में अनभिज्ञता ज़ाहिर कर दी। केवल सुनी-सुनाई बातों पर ही उन्होंने गवाही दी। कोई प्रत्यक्षदर्शी नहीं था।

आश्चर्य था कि जिन लोगों ने इस मामले को पंचायत से लेकर कोर्ट तक पहुँचाया था वही आज पीछे हट गए थे। कुछ महिलाएँ और गाँव के लोग चश्मदीद भी थे। इनमें जो कुछ प्रभावी लोग शामिल थे उन्हें पार्टी की तरफ़ से कई पुरस्कार और ओहदे बाँट दिए गए थे। मसलन जिस डॉक्टर ने सुमना की मेडिकल रिपोर्ट दी थी उस रिपोर्ट को बदलने के एवज़ में मुख्य चिकित्सा अधिकारी बना दिया गया था। जिस पुलिस निरीक्षक ने चालान बदलकर कोर्ट में पेश किया उसे पदोन्नत करके मुख्यमंत्री की सुरक्षाटीम का इनचार्ज बना दिया गया। गाँव की महिला मंडल की प्रधान जिसने प्रारंभ में इस मामले की पुरज़ोर आवाज़ उठाई उसे चुप रहने के लिए पुरस्कार बतौर ज़िला महिला कल्याण मोर्चे की महासचिव नियुक्त कर दिया गया था। और जो दो-चार दूसरे लोग इसमें शामिल थे उन्हें भी उनकी हैसियत के मुताबिक़ दाना-पानी दे दिया गया था। जो एक-दो गाँव की महिलाएँ सुमना के साथ आती-जाती थीं वे भी गवाही के दिन अपने-अपने मायके चली गई थीं।

सुमना कहीं नीचे धँसती चली जा रही थी। आँखें बंद किए हुए वह अपने साथ हुए कुकृत्य की चश्मदीद उन दुर्भाग्यपूर्ण क्षणों में खो गई। उसके मस्तिष्क में वे दृश्य घूमने लगे थे।

कितना बुरा दिन था वह। गाँव में महिला मंडल के नए भवन का शिलान्यास विधायक को करना था। अगली बार वह अपने बेटे को टिकट दिलवाने के चक्कर में था, इसीलिए जहाँ जाता अपने बेटे को भी साथ ले जाया करता। उस दिन भी वह साथ था। बेटे की कारगुज़ारियाँ अच्छी नहीं थीं। करतूतें धेले की भी नहीं थीं। बाप तो बख़ूबी परिचित था। जानता था कि बेटा कितना होनहार है। पर अपने सिक्के को खोटा कौन कहे! जमा दो भी न कर सका। जितने दिन स्कूल में काटे, मास्टरों की नाक में दम किए रहा। चार बार इम्तिहान दिया पर निकला ही नहीं। पिता ने फिर उसे एक पेट्रोल पंप ले दिया।

पहले सोचा था कि बेटे को ख़ूब पढ़ाकर डॉक्टर या अफ़सर बना देंगे। पर बीस-बाईस साल तक जो बेटे की करतूतें रहीं उससे उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया था कि बेटा राजनीति में ही फ़िट है। पढ़ना-लिखना वैसे भी अब उन्हें बेवक़ूफ़ों का काम लगने लगा था। ख़ुद भी आठवीं फ़ेल थे पर राजनीति की सारी परीक्षाएँ बख़ूबी पास करते गए। अब नज़रें राज्यसभा पर लगी थीं।

सुमना के अम्मा-बापू उस दिन गाँव में नहीं थे। घर में वह अकेली थी। पहले भी वह कितनी ही बार अकेली रही पर कोई डर-डराव नहीं। अपना गाँव। अपने लोग।...जलसा समाप्त हुआ। विधायक तो लौट आया पर बेटा वहीं रहा। अब प्रधान उसकी आवभगत कैसे न करता। होने वाला विधायक जो ठहरा। साँझ हुई तो मन की बात प्रधान जी को बता दी। प्रधान जी को तो इंतज़ाम करना ही था। उसने सोचा-विचारा। पहली नज़र सुमना के परिवार पर ही गई। वैसे भी गाँव-बेड़ में ऊँची जात वालों की आँखें ग़रीब दलितों की ज़मीन और बहू-बेटी पर ही लगी रहती है। सोचा कि अपना न सही विधायक के बेटे का भी भला हो जाए।

देर रात तक दोनों ख़ूब खाते-पीते रहे और फिर सुमना के घर की तरफ़ हो लिए।

सुमना के पास एक किन्नौरी काला कुत्ता था। नाम था शेरू। साँझ ढलते ही उसने उसे साँक़ल में बाँध दिया था। गाँव में कुछ दिनों से

बाघ का डर हो गया था। प्रधान को यह मालूम था कि वह आज अकेली ही है। उसने जब आवाज़ लगाई तो वह सो चुकी थी। सुमना ने ज्यों ही पहचाना, दरवाज़ा खोल दिया। वह तो उसकी इज़्ज़त अपने बापू की तरह करती थी। डर की तो कोई बात ही न थी। शेरू भौंकता रहा। सुमना तो उसी पर ग़ुस्सा होती गई कि प्रधान जैसे इज़्ज़तदार आदमी पर वह भौंकता ही जा रहा है। पर उसे क्या पता कि इस घने अँधेरे में वह बाघ कुत्ते के लिए नहीं बल्कि आदमी के रूप में उसे ही झपट लेगा।

दरवाज़ा खुलते ही विधायक का बेटा उस पर बाघ की तरह ही टूट पड़ा। वह चीख़ती-चिल्लाती रही पर किसी ने मदद नहीं की। अब प्रधान की जीभ भी लार टपकाने लगी थी पर सुमना का रोना-धोना उन्हें वहाँ से भागने को विवश कर गया।

उनका घर वीराने में था। थोड़ी देर बाद जब महिला मंडल की प्रधान ने चीख़ना-चिल्लाना सुना तो वह लोगों को लेकर वहाँ पहुँच गई। सुमना का हाल देखकर वह हैरान रह गई। मुश्किल से सँभाला था सुमना को। दूसरे दिन बात आग की तरह फैल गई। महिला मंडल की प्रधान नहीं चाहती थी कि केस दब जाए। वह एक तीर से दो शिकार करना चाहती थी।

सुमना के अम्मा-बापू जब लौटे तो बेटी की हालत देखकर दंग रह गए। उनकी एक ही तो बेटी थी। वह अपने आपको कोस रहे थे कि उन्होंने क्यों उसे अकेला छोड़ा। पर होनी को कौन टाल सकता था। सुमना का बापू इस मामले को वहीं पर ख़त्म करना चाहता था। अपनी ग़रीबी के कारण वह विधायक से कैसे लड़ता। पर महिला मंडल की प्रधान तथा कुछ दूसरे लोगों ने उसकी बात नहीं मानी। इस अत्याचार के ख़िलाफ़ आगे तक लड़ने का संकल्प किया था। ताज़ी घटना थी इसीलिए पूरा गाँव साथ हो गया। इस तरह एक विश्वास उस लुटे हुए घर और सुमना के बापू के दिल में भी जाग गया था कि इस पाप के लिए सज़ा मिलनी ही चाहिए।

इस मामले को पुलिस तक ले जाया गया। एफ. आई. आर. पुलिस को मजबूरन दर्ज तो करनी पड़ी लेकिन उन्होंने कार्यवाही केवल काग़ज़ों पर ही की और चालान कोर्ट में पेश कर दिया। सुमना को सरकार की ओर से एक सरकारी वकील भी दे दिया गया था।

सुमना चुपचाप कहीं अतीत में खोई रही। पक्ष, प्रतिपक्ष के बीच कितनी देर बहस चली, सुमना को नहीं पता। उसने जब भी कटघरे में अपने आपको खड़ा हुआ महसूस किया तो लगता रहा कि वह निपट नंगी है। लोग, क़ानून की रक्षा करनेवाले वकील और जज सभी तमाशबीन हैं। उसने कटघरे के ऊपर की लकड़ी को पूरे ज़ोर से पकड़ रखा था। इतने ज़ोर से कि उनसे ख़ून बहने लगा था। उसके हाथों को किसी ने नहीं देखा। उसके मन को किसी ने महसूस नहीं किया। उसकी पीड़ाओं को किसी ने नहीं जाना।

अब फ़ैसला होना था। विधायक और उसका बेटा प्रसन्न थे। वे तमाम लोग भी जो क़िसी-न-किसी तरह से उनके क़रीब थे। जिस तरह गवाहियाँ उनके पक्ष में हुई, साफ़ था कि फ़ैसला उन्हीं के हक में दिया जाना है।

...और उसी क्षण एक अप्रत्याशित घटना घटी। एक काला कुत्ता हाँफता हुआ कोर्ट हॉल में पहुँचा। उसका इस तरह भीतर आना सभी को आश्चर्य में डाल गया। बाहर तो कई आवारा कुत्ते घूमते रहते हैं लेकिन इस तरह कोई भीतर ही आ जाए तो अनहोनी जैसी बात थी। भीतर पहुँचते ही उसने सुमना की तरह हामी भरी। सुमना ने सिर उठाया। उसे देखकर हैरान रह गई। अचानक मुँह से निकला, ''...शेरू!'' वह नीचे उतरकर उसे जी भर प्यार करना चाहती थी। शेरू बावला-सा हो गया। उसकी तरफ़ उछलता, कूदता। कटघरे की लकड़ियों के बीच से ऊपर चढ़ता और पाँव से उन्हें कुरेदता और

अपने हाव-भाव से कुछ बोलता—जैसे सुमना को सांत्वना दे रहा हो कि उसके साथ भले ही और कोई न हो, लेकिन वह तो उसके साथ है। इस स्नेह और अपनेपन की भाषा केवल वही समझ सकती थी, बाक़ी लोगों के लिए तो वह भीतर एक परेशानी का कारण हो गया था।

दूसरे पल शेरू पीछे मुड़ा। उसकी आँखों में स्नेह की जगह ख़ून उतर आया। वह उसका दूसरा ही रूप था। किसी को पता न चला कि कैसे उसने दूसरे कटघरे में खड़े कैलाश के ऊपर छलाँग लगा दी। ऊँचाई ज़्यादा होने के कारण वह उस तक न पहुँच पाया। पहुँच जाता तो उसके लीथरे-लीथरे कर देता।

अब कोर्ट का परिदृश्य पूरी तरह बदल गया था। जो लोग कुर्सियों पर बैठे थे वे खड़े हो गए। यहाँ तक कि जज महोदय भी खड़े-खड़े आश्चर्य से देखते रहे। किसी को कुछ समझ नहीं आ रहा था कि इस स्थिति से कैसे निपटा जाए। शेरू ने अपने नाख़ूनों से नीचे बिछी दरी और कटघरे की लकड़ी को बुरी तरह से छिल दिया। वह पीछे हटता और फिर कैलाश की तरफ़ उछल जाता।

सुमना ने ही इस स्थिति को सँभाला था। उसने हल्की-सी डाँट लगाई तो शेरू उसकी ओर आ गया। पर आँखों में आग और पंजों में आक्रोश पसर गया था।

तीन-चार सुरक्षाकर्मी हाथों में डंडे लेकर भीतर पहुँचे लेकिन जज साहब ने उन्हें रोक दिया। उनके अपनी सीट पर बैठते ही सभी अपनी-अपनी कुर्सियों पर बैठ गए।

कुत्ते की इन हरकतों को देखकर जज साहब की उत्सुकता जागी। उन्होंने सुमना से सीधा प्रश्न किया था, ''कुत्ता तुम्हारा है क्या?''

हल्का-सा सिर हिलाकर उत्तर दिया था सुमना ने, ''जी...।''

''कितने सालों से तुम्हारे पास है?''

''जी...तीन सालों से।''

जज साहब कुछ देर चुप रहे। प्रतिवादी पक्ष का वकील कुछ कहने के लिए उठा था लेकिन जज ने रोक दिया। उसे बैठना पड़ा।

कुत्ता इस बीच एक बार फिर कैलाश की तरफ़ लपका। उसके बाद भीड़ में बैठे उसके साथियों की तरफ़ भौंकता रहा। फिर पीछे कुर्सियों के बीच बैठे सुमना के बापू के पास चूँ...चूँ करता आया। दो-चार पल बैठा और पुनः सुमना के पास कटघरे के साथ बैठ गया।

''जब यह घटना घटी तो वह कहाँ था।''

प्रश्न सुनते ही वकील फिर उठा लेकिन जज साहब ने उसे बिठा दिया। उसका चेहरा उतर गया था। माथे पर आया पसीना पोंछता हुआ वह कुढ़कर रह गया। दूसरे कटघरे में खड़े विधायक के बेटे के हाल देखने वाले थे। जो कभी किसी बुरे-से-बुरे काम करते न घबराया हो उसके लिए एक मामूली-सा कुत्ता तेंदुआ बनकर भीतर चला आया था।

जज ने दोबारा वही सवाल सुमना से पूछा। सुमना ने आँखें ज़मीन पर गड़ा ली थी। वह इस स्थिति में नहीं थी कि बार-बार अपने अतीत की नुमाइश करे। लेकिन उत्तर तो देना ही था।

''जी मैंने उसे बाँध दिया था। क्योंकि गाँव में बाघ का डर था।''

जज साहब ने सुना तो कुछ देर गंभीर रहे। एक नज़र दूसरे कटघरे में डाली। सोचा होगा कि जंगल के बाघ से कुत्ता तो बच गया पर आदमीनुमा बाघ से वह अपने आपको न बचा सकी।

अब सुमना के सब्र का बाँध टूट गया था। उसकी आँखें बरस गईं। कोर्ट हॉल सिसकियों से भर गया। भीतर उपस्थित सभी की आँखों में रोमांच और आश्चर्य की जगह नमी थी। तड़प थी। दर्द और दया का मिला-जुला अहसास। अब सुमना किसी को अपनी बेटी की तरह तो किसी को बहन की तरह लगने लगी थी।

प्रतिवादी का वकील घबरा गया। जज साहब कुछ देर चुपचाप कुछ सोचते रहे। फिर उन्होंने भीड़ पर नज़र डाली। उनमें कैलाश का विधायक पिता भी बैठा था। दोनों की नज़रें मिलीं। आँखों के इस मिलन के साथ ही फ़ैसला अगली तारीख़ के लिए टाल दिया गया।

कुत्ता एक बार फिर कैलाश की तरफ़ लपका। सुमना ने हल्की-सी डाँट लगा दी। उसे डर था कि पुलिसवाले कहीं उसे पीटकर घायल न कर दें।

जज साहब जैसे ही उठे अचानक कुत्ते ने भौंकते हुए उनकी तरफ़ छलाँग लगाई। लेकिन लकड़ी की दीवार की ऊँचाई ज़्यादा थी जिसे फाँदकर उन तक पहुँचना संभव नहीं था। वे उसकी पहुँच से बहुत ऊपर थे। कुत्ते के आक्रमण पर उन्होंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की और चुपचाप निकल गए। कुत्ता उस तरफ़ लगातार भौंकता रहा। इस बार सुमना की डाँट का भी उस पर कोई असर न हुआ।

नीरजा माधव

हाकिम

झिंगे बँसहटा पर लेटकर आसमान की ओर मुँह उठाए हाकिम गा रहा था, "गोरकी पतरकी रे, मारे करेजवा में..." साँझ का सूरज ढलने को था। पास ही भूमि पर बैठी उसकी पत्नी कौसिलिया रात के खाने के लिए चावल बीन रही थी। पति को अपनी ही रौ में गाता देख उसने पूछा, "क्या आज उधरै से चढ़ा के आए हो?"

"अरे नाहीं मोर गोरकी पतरकी हम तो...।" उसने चारपाई पर पड़े-पड़े ही कौसिलिया की ओर घूमकर अपना चेहरा फ़िल्मी अंदाज़ में उसके कंधे पर टिका दिया था।

"हटो, इस उमिर में मसखरी सूझ रही है।" कृत्रिम लाज से उसे झटकते हुए वह बोली थी।

"अभी तो मैं जवान हूँ...अभी तो मैं...।" वह दूसरा गाना गाने लगा था।

"दूर से ही बास आ रही है और तुम गवनई गा गा के बात टाल रहे हो?" कौसिलिया ने चावल में रेंगते ढोले को चुटकी में पकड़ कर एक ओर फेंकते हुए उसे तिरछी नज़र से देखा था।

"तोरी नज़रिया कटार, वो रानी मेरी...।" वह फिर अलापने लगा। उसकी ज़ुबान लड़खड़ा रही थी।

"काहे इतनी पीते हो कि दिमागै न काम करे?" उसने अल्युमिनियम की परात में चावल फटकते हुए कहा था।

"तुमको देखकर तो बड़े-बड़ों का दिमाग चल जाए।"

"चार लड़िका की माई पर क्या किसी का दिमाग चलेगा?" वह हँसी थी। पान और सुरती से काले पियराए दाँत होंठों के बीच उभर आए थे।

"मान लो आ ही जाए तो... ?"

"तुम्हारी तरह दारू पीकर कोई बौराया होगा तब न?"

"सब बौराया है रे पगली। पूरा देस। सरकार ने सबको दारू पीने की छूट दी है। बड़े लोग और अफसर बरांडी वाईन पीते हैं, और गरीब लोग ठर्रा और...।"

"अच्छा, अच्छा, बस करो।"

"सच रे, जगह-जगह सरकारी ठेके पर दारू बिक रही है। लाइसेंस के लिए मारामारी तक होवे है। तू क्या समझती है कि स्वर्ग से देवता लोग उतरकर पीने आते हैं? राम जी को चढ़ाई जावे

नीरजा माधव का जन्म 1962 में हुआ। इनके चार कहानी-संग्रह, तीन उपन्यास और एक कविता-संग्रह प्रकाशित।

संपर्क : द्वारा डॉ. बेनी माधव,
मधुबन, एस. ए. 14/96, एन.
एस. सारंगनाथ कॉलोनी,
सारनाथ, वाराणसी।
दूरभाषा : (0542) 2595344

हुँ : अरे तेरा ध्यान किधर है, दारू की ध्यान इधर है।''

मस्ती में हाकिम ने दोनों हाथों से कौसिलिया का चेहरा पकड़कर अपनी ओर घुमाया था।

''छिः, आज बहुत बास आ रही तुम्हारे मुँह से।'' उसने अपने आँचल को नाक पर सटा लिया।

''आज बहुत सड़ गई थी लास। बदबू के मारे एक पैडिल मारना भी दुसुवार हो रहा था। ऊपर से फूलकर गुब्बारा। न जाने कब का मरा था ससुरा? सगड़ी खिसकने का नाम ही न ले रही थी।''

''अच्छा, तो इसीलिए कसकर जमा लिए हो?''

''नूरी नहीं रानी, लैला...लैला...बिलकुल झक्क...पन्नी काटा और गटागट नीचे। तब जाकर हाथ पैर काबू में आया।''

''कहाँ का था बेचारा?'' वह मुँह घुमाकर उसी के सामने बैठ गई थी।

''पता ही होता तो इस हाकिम का क्या काम? उसके घर वाले किरिया-करम करते, दसवाँ-तेरही करते और लोग पूड़ी काटते। तब आज तेरे घर में यह चावल थोड़े ही बनता। एक पिड़िया ली या नमक मिर्ची की चटनी और रोटी खाकर पानी पीना पड़ता।'' उसने गर्व से मुट्ठी में चावल उठाकर धीरे-से ओसाया था।

''सब ऊपर वाला भेजता है। भात और गोस आज नसीब होना था इसलिए भेज दिया एक लावारिस लास।''

''बड़ा कच्चा धंधा है रे कौसिलिया। कभी-कभी दो-तीन मिल जाती है तो कभी एक्को नहीं।''

''टट्टी-पेसाब नहीं न साफ कर रहे हो। किसी को अंतिम किरिया करके उलटे पुन्न कमा रहे हो।'' कौसिलिया ने दर्शन समझाया था।

''हाँ वारिस वाली लासों के तो घर-परिवार वाले रहते हैं सगड़ी के पीछे-पीछे, लेकिन लावारिसों को गंगा जी में ढकेलते समय थोड़ा दुख होता है। पता नहीं किस खानदान का होगा? अमीर है कि गरीब?...बेचारा न जाने क्या-क्या सोच कर घर से निकला होगा और कैसे-कैसे परान निकला? उस पर से चीर-फाड़ और दो गज कायदे का कफन भी नहीं। हाकिम की सगड़ी और गंगा मइया की गोदी। बेचारा...।''

वह पुनः सीधा लेट गया था।

''अच्छा, आज तक तुम चार-पाँच सौ लास तो गंगा जी में फेंक ही चुके होगे?''

कौसिलिया ने अपना हाथ खटिया की पाटी पर रख दिया।

''हाँ, इतने तो हो ही चुके होंगे।'' उसने आसमान की ओर ताकते हुए जवाब दिया।

''छिः रे, कैसे लोग गंगा जल पीते हैं? अगर जान जाएँ कि इतनी लासें इसमें फेंकी गई हैं तो कोई छुए न। पीना तो दूर।''

''क्या मुड्ढों जैसी बकती हो। गंगा मइया सबको तारती हैं। गंगा जल में कभी कीड़े ना पड़े हैं, चाहे जितने बरस रख लो। इतना महातम है माई का और तुम छिः-छिः कर रही हो। लासें क्या उसी में पड़ी रहती हैं एक जगह? अरे जंतु-जनावर खा-पी जाते हैं। बचा-खुचा बह बहाकर गंगा सागर चला जाता होगा।''

''हे माई, दोख-पाप माफ करो। गलती से मुँह से निकल गया।'' कौसिलिया ने अपने दोनों हाथों में आँचल थामकर माथे से लगाया था।

''गुदरी-बो कब आई है?'' उसने पूछा।

''अभी, दुपहर में उसका बाप पहुँचा गया। नइहर का नसा उतर गया होगा। कहती है इनकी बीमारी सुनकर चली आई। हुँः बियाई है गुदरी को...कलेजा फाट रहा था...।''

कौसिलिया अपनी प्लास्टिक की झुग्गी की ओर देखकर बड़बड़ाई थी।

''जाने दो, जब से चेत जाए तभी से। आखिर परानी है न उनका।'' हाकिम ने समझाया था। उसे मालूम था कि सास-बहू एक दूसरे को

देखना भी नहीं चाहतीं। आए दिन घर के काम-काज को लेकर किच-किच होती रहती है। गुदरी के महीनों से बीमार पड़ जाने के कारण यह झगड़ा और बढ़ गया था। अकेले हाकिम की सगड़ी और लाशों की ढुलाई से घर का ख़र्च पूरा नहीं पड़ रहा था। कौसिलिया चाहती थी कि गुदरी-बो घर के काम-काज के अलावा बाँस की फल्टी चीरकर झँपिया, दउरी भी बीने, पर गुदरी-बो इसके लिए तैयार नहीं होती थी।

''बरधा हैं क्या हम जो दिनभर कोल्हू में नाध दो और हम पेरते रहें, डोलते रहें। हमहूँ हाड़-माँस से बनी हैं।'' उसने टका-सा जवाब सास को पकड़ा दिया।

''बरधा नाहीं साँड़ हो साँड़ तुम। छुट्टा...इधर-उधर मुँह मारो पर धेला का काम न करो।'' कौसिलिया ने तिलमिलाकर पलटवार किया।

''जगह-जगह मुँह मारी न हो, इसीलिए सबको वैसे ही...''

गुदरी-बो की बात पूरी भी नहीं हो पाई थी कि कौसिलिया ने क्रोध में आकर उसका बाल पकड़कर ज़मीन पर गिरा दिया था और पीठ पर एक लात जमाते हुए बोली थी, ''दिन रात सुत-सुत के गुदरिया को बीमार कर दिया और मुँह हमसे मरवा रही है सवत। बोल...। तोरे बाप के साथ मुँह मारे थे कि तोरे भाई के साथ?''

''एक बार नहीं, सौ बार, हजार बार कहूँगी। टी.वी. देखने के बहाने दलपत की कोठरिया में नहीं जाती। सटसट के बैठती हो तो सबकी आँख फूट जाती है?'' किसी तरह उसने अपना बाल छुड़ाया था और जूड़ा बनाते हुए बोली थी। साड़ी सिर से गिरकर अस्त-व्यस्त हो गई थी। मुँह से झाग निकल रहा था। आसपास की झुग्गियों से छोटे बड़े नग्न-अर्धनग्न मैले-कुचैले बच्चे और औरतें तमाशा देखने खड़ी हो गई थीं। हाकिम अपनी सगड़ी लेकर पोस्ट मार्टम हाउस गया था। लाशों के रहमोकरम पर ही उसके घर में चूल्हा जलता था। कुछ देर सास-बहू के बीच केशा-केशी का खेल देखने के बाद तमाशाई महिलाओं में से दो-चार ने मिलकर दोनों को अलग किया था।

कौसिलिया सहानुभूति पाने के लिए बिलख पड़ी थी, ''देखा, पंचों! कौन-कौन मुसीबत उठाकर अपने बुढ़ौती के लिए गुदरी को पाला। चार ठो पहिले ही ख़तम हो गए। ओझा सोखा, डीह, सबके थान पर माथा पटकी तब जाके गुदरी हमारे अँचरा में आया, यही दिन खातिर...।'' वह आँखों पर आँचल रख सुबक रही थी। आँसू नहीं बह रहे थे, पर पुकार में दम था। लयबद्ध दुख बाहर आ रहा था। गुदरी-बो अपने अपमान से तिलमिलाकर भीतर चली गई थी। टिन के बक्से की धम्म-धम्म से अनुमान हो गया था कि वह मायके जाने की तैयारी कर रही है।

''हे मल्लुआ...मल्लुआ रेऽऽ...।'' कौसिलिया ने पड़ोस की झुग्गी के पास फ़ुटपाथ पर अन्य बच्चों के साथ खेल रहे अपने छोटे बेटे को आवाज़ लगाई थी।

''हाँ मम्मी।'' बोलकर मल्लू फिर खेलने में व्यस्त हो गया।

''अरे जिनगी भर गुदरी माई कहा और मल्लुआ की मम्मी हो गई तुम तो।'' हाकिम ने चारपाई पर लेटे-लेटे चुटकी काटी।

''अब हम रंगरेजिन तो हैं नहीं कि बैग टाँगे, चप्पल पहने टप-टप रंगरेजी बोलें। लड़का है, सुना है और लोगों को कहते...। फिर टीवियो में तो सब अपने माई बाऊ को इसी नाम से पुकारते हैं।'' कौसिलिया ने सफ़ाई प्रस्तुत की।

''लेकिन हम तो बाऊए रह गए। चलो इससे छोटा आएगा तो हमें भी कुछ अंगरेजी में बुलाएगा।'' हाकिम ने मज़ाक़ किया।

''भक्क, बूढ़ा सुग्गा राम राम।'' कौसिलिया लजा उठी थी।

''अरे मर्द साठा में पाठा। अभी तो हम चालीस पूरे किए हैं।'' हाकिम ने अपनी मूँछों पर ताव दिया।

"मुर्दा ढोवत-ढोवत घट्ठा पड़ गया, खाल सूख गई और बनते हो जवान मुस्टंडा। अरे, खाना-पीना अच्छा रहता तो कोई बात भी थी। घी-दूध देहीं लगता है ठर्रा-दारू से शरीर बनेगा? कलेजा-फुँकवा है ये सब। रोज नक्काबोर चढ़ा लोगे तो बन जाओगे नवाब के नाती। बस बतकही से।" कौसिलिया ने मुँह बिचकाया था और पुनः मल्लुआ को आवाज़ दी, "अरे हरे मल्लुआ हरामजादा, काहे नाहीं आता रे!"

"हाँ माई बोल...।" वह हाँफता-दौड़ता आकर पास में खड़ा हो गया। कौसिलिया को और क्रोध आ गया था, "कभी मम्मी तो कभी माई। रोज़ चोला बदलता है पतुरिया की तरह। नासपीटा कहीं का।...जो जाके सगड़ी मंदिर वाले पोखरा में धो ले आवो। झझक आ रही है। रात में उस पर सोते नहीं बनेगा। न जाने कितने दिन की सड़ी लास लाद लिए थे।"

"अच्छा मम्मी।" मल्लू माँ की डाँट से सँभल गया था। सगड़ी ले जाने के नाम पर प्रसन्न हो उठा था। इसी बहाने अपने साथियों को उस पर बैठाकर चलाने का मज़ा आएगा। वह अपनी ढीले जाँघिया को ऊपर खिसकाता सगड़ी की ओर दौड़ पड़ा था।

"और सुन, महारानी को बोल दे कि मसाला पीस लें और आकर चाउर ले जाएँ। बीन-चोन के तैयार कर दिया है।" कौसिलिया ने अपनी कोठरी की ओर संकेत किया।

"भउजी से?" मल्लू ने पूछा तो कौसिलिया बेबात उखड़ पड़ी, "नाहीं, हमारी माई से।"

मल्लू झुग्गी के दरवाज़े से ही भउजी को माई का संदेश दे तीर की तरह फ़ुटपाथ पर खड़ी सगड़ी की ओर बढ़ा था। नंग-धड़ंग, नाक बहाते, बदन खुजलाते दर्जन भर बच्चे शोर मचाते हुए सगड़ी पर बैठने की होड़ में जुट गए थे। शहर का बाहरी छोर होने के कारण इधर भीड़-भाड़ कम होती थी। मल्लुआ अभिमान के साथ सगड़ी की सीट पर बैठकर पैडिल पर पैर मारने की कोशिश करने लगा था। इस प्रयास में कभी वह अपने निचले शरीर को इधर टेढ़ा करता, कभी उधर। कुछ साथियों ने पीछे से सगड़ी को धक्का दिया था तो वह चलने लगी थी। बच्चों का एक झुंड उस पर बैठा था और दूसरा बैठने के लालच में उसके पीछे-पीछे दौड़ रहा था। मल्लुआ धीरे-धीरे सगड़ी खींचकर पोखरे की ओर जा रहा था।

"कहाँ चली महारानी?" कौसिलिया ने एकाएक गुदरी-बो को बग़ल वाली झुग्गी की ओर जाते देख जल-भुनकर पूछा था।

"ऐसे ही।" उसने भी उसी स्वर में जवाब दिया।

"साँझ बेला चौकड़िया मारना है कि कुछ मुँह तक जाने के लिए रिन्हायेगा भी? मल्लुआ नहीं कहा है? मसाला पीस के गोस और चाउर रीन्ह डाल। डाकटर गुदरी को बहुत देर खाली पेट रहने से मना किए हैं।"

"पहुँचते चूल्हा में झोंक दो। इत्ती दूर से आकर तुरंतै भरसाँय में जाना तो हमसे नहीं सपरेगा।" गुदरी-बो का टका-सा जवाब कौसिलिया को नीचे से ऊपर तक बेध गया था।

हाकिम ने सुना तो सँभालने की कोशिश की, "अतनी मेहनत से कमाकर आदमचिन्नी का चाउर और खस्सी का गोस लाया हूँ। उस पिलइया से बनवाकर काहें सब चौपट करवा रही हो। तुम्हारे हाथ में जो बात है वो...।"

"हाँ, हाँ, जिनगी भर हम तो चूल्हा-फूँकने के लिए हइए हैं।" वह नाराज़गी के साथ उठी थी और झुग्गी के भीतर चली गई थी।

हाकिम ने तकिए को मोड़कर अपने सिर के नीचे रख लिया। दोहरी होने के कारण उसमें पीली मटमैली-सी रूई का थक्का बाहर निकल आया था। तेल और धूल की परतों में खोल का रंग छिप गया था। रूई को फटे स्थान से पुनः भीतर डालते हुए उसने करवट बदली थी और अब मुँह फ़ुटपाथ

पर बनी अपनी झुग्गी के साथ अनेक झुग्गियों की ओर कर लिया था। नशे में शाम और सुंदर लग रही थी। झुग्गियों में मिट्टी के तेल की ढिबरी और लालटेनें जल गई थीं। उनकी मद्धिम पीली रोशनी में जीवन-व्यापार चल रहा था। कहीं बिना छीले ही आलू के मोटे-मोटे फाँक पँहसुल से काटे जा रहे थे तो कहीं बड़े परात में आटा माड़ रहे तन का हिलना-डुलना झुग्गी की दीवारों पर परछाईं के रूप में किसी विचित्र जीव का आभास करवा रहे थे। ज़्यादातर मर्द झुग्गियों के बाहर चारपाई पर लेटे नशे में धुत्त थे या फिर रिरियाते बच्चों को अपने आसपास लिए डाँट-फटकारकर चुप करा रहे थे। बीच-बीच में खैनी और बीड़ी की ख़ुराक भी लेते जा रहे थे। तन पर नाम मात्र के कपड़े, ताकि सभ्य दुनिया में नंगे न कहलाएँ। आधी शक्ति जब पेट की आग बुझाने के लिए दूसरी आग धधकाने की कोशिश कर रही हो तो रोते रिरियाते बच्चे गाली मार खाते बाप की अमानत हो जाते थे। यह स्वाभाविक श्रम विभाजन था। इसके अलावा तो सारे विभाजन मारपीट और ज़ोर-ज़बरदस्ती वाले थे। पितृसत्ता हावी थी उस पर।

दलपत अपनी झुग्गी के बाहर ब्लैक एंड ह्वाइट टी.वी. देख रहा था। सड़क के ऊपर से गुज़रते बिजली के तार में कँटिया फेंककर वह टी.वी. का कनेक्शन जोड़ लेता था। और देर रात तक कार्यक्रम देखता था। सुबह काम पर जाने से पहले वह तार को उतार लेता था ताकि फँसने-फँसाने का झंझट न रहे। इस समय भी औंधी रखी गई बाल्टी के ऊपर टी.वी. चल रहा था। आसपास दर्जन भर बच्चे और औरतें एक-दूसरे को धकियाते-मुकियाते टी.वी. पर आ रहे चित्र को देखने का प्रयास कर रहे थे। गुदरी-बो भी उन्हीं के बीच बैठी थी। दलपत अपनी निखहरी खटिया पर लेटा था। बीच-बीच में वह ज़ोर से डाँटकर सबको चुप कराता।

"गौं से रहो सब लोग नहीं तो बंद कर देंगे।" पल भर के लिए एक सन्नाटा-सा खिंच जाता लेकिन अगले ही क्षण फिर वही दबी-दबी-सी भनभनाहट और शोर।

हाकिम लेटे-लेटे यह सब तमाशा देख रहा था। भीड़ में टी.वी. का चित्र तो नहीं दिखाई पड़ रहा था लेकिन आवाज़ उस तक भी पहुँच रही थी। झुग्गियों वाली इस मलिन बस्ती में बस यही एक टी.वी. था।

"ऐऽऽ हाकिम कौन है?" एक वर्दीधारी पुलिस की आवाज़ सुनाई पड़ी थी। दलपत ने लपककर टी.वी. बंद कर दिया था।

"जी साहब, उधर लेटा है।" दलपत ने इशारा किया। उन सबको मालूम था कि रात-बिरात कभी भी पुलिस वाले हाकिम को ढूँढ़ने या बुलाने आ जाते थे। कभी अपने क्षेत्र में दुर्घटना में मरे व्यक्ति का शव पोस्ट मार्टम हाउस तक पहुँचाने, तो कभी काउंटर किए गए बदमाश की लाश ढोने के लिए।

पुलिस वाले के पहुँचने से पहले ही हाकिम अपनी खटिया पर उठकर बैठ गया था। शुरू-शुरू में सिपाहियों को देखकर वह अदब से खड़ा हो जाया करता था। शराब उतारने का धंधा इन्हीं सिपाहियों के कारण ही चौपट हो गया था। आए दिन वसूली और नोच-खसोट से तंग आकर उसने सगड़ी ख़रीद ली थी। पहले ही दिन वह थाने के सामने से गुज़र रहा था तो दरोगा ने उसे पुकारा था, "ओएऽऽ सगड़ी!"

"जी बाबू जी!" वह हाथ जोड़े खड़ा हो गया था।

"चल, यह लाश लाद और ले जाकर पोस्ट मार्टम...।"

"लेकिन बाबू जी हम अकेले?" वह डर गया था। लाश के ऊपर मक्खियाँ भिनक रही थीं। दरोगा जी की नाक पर रूमाल सटी थी लेकिन उसका तो बदबू के मारे बुरा हाल था।

"अकेले क्या तुझे यह खा जाएगा?" दूसरे सिपाही ने डाँटा था।

"नहीं बाबू जी, जैसे इसके घर वाले... ।" वह संकोच में बोल उठा।

"लावारिस है लावारिस। झाड़ी में पड़ी थी। चल जल्दी कर।"

"बाबू जी हम गरीब मनई... ।" वह गिड़गिड़ा उठा। उसे अंदर से कँपकँपी छूट गई थी। जाड़े के दिन में पसीने की बूँदें चुहचुहा आई माथे पर। रीढ़ की हड्डी में जैसे झुनझुनी-सी हो रही थी।

"सौ रुपए का हरा नोट दे दूँ तो तेरा डर खतम हो जाएगा न?"

"नाहीं बाबू जी, वो बात है कि मेरी घरवाली... ।"

"साले, बड़े हरामी होते हैं सब। मौक़ा ताड़ते हैं। चल डेढ़ सौ ले लेना। सरकार इससे ज़्यादा लेने पर हमारी नौकरी खा जाएगी। चल, जल्दी कर।"

डेढ़ सौ रुपए का नाम सुन उसकी आँखों में चमक आ गई थी। कई-कई दिनों तक मेहनत करने और चोरी-छिपे शराब बेचने पर भी उसके पास इतने रुपए एक साथ नहीं जुट पाते थे, और यहाँ कुछ ही दूर पर लाश पहुँचा देने के डेढ़ सौ। नाक पर अँगोछा कसकर बाँध लिया था उसने और लाश को लादे चल पड़ा था पोस्टमार्टम हाउस की ओर। पीछे-पीछे पुलिस का एक आदमी दूरी बनाए साईकिल से चल रहा था। रह-रहकर पीछे रखी लाश को सोचकर हाकिम की पिंडलियाँ काँपने लगतीं, पर अंटी में खुँसे डेढ़ सौ रुपए उसे सहारा दे रहे थे।

लाश उतारते ही वहाँ पहले से ही उपस्थित दूसरे सिपाही ने उसे पकड़ लिया था।

"ऐ सगड़ी वाले...एक लाश ले जानी है।"

"कहाँ?" वह पूछ बैठा।

"गंगा जी में... । और कहाँ ले जाओगे?" सिपाही हँस पड़ा था।

"अकेले साहब?"

"तब क्या दो-चार लोगों के साथ?"

"नहीं साहब, हमें वापस जाना बहुत जरूरी है।"

वह दुर्गंध से उकता गया था। कुछ हद तक भयभीत भी। बचपन में बुढ़िया माई मरी थी तो वह कई रातें सो नहीं सका था। रात-रात भर बड़बड़ाता रहता था। बुढ़िया माई दाँत खोले खड़ी है। डरा रही है, बुला रही है... । और भी न जाने क्या-क्या? ओझा को दिखाया गया था। उन्होंने बताया था कि भूत का मेलान कर दिया है पट्टीदारों ने। बहुत ख़र्च हुआ तब जाकर उसकी जान बची थी। मुर्गा और शराब चढ़ाया गया। सूअर के छौने की बलि दी गई थी।

"अरे यार ले जा। दो सौ रुपए के साथ एक पाउच का दाम हम अपनी ओर से देंगे।" सबसे वसूली करनेवाला व्यक्ति उसकी चापलूसी कर रहा था।

दो सौ रुपए और पाउच का प्रलोभन कम न था। वह तैयार हो गया था। आज लक्ष्मी माता कृपालु हो गईं थीं। दो घंटे में ही साढ़े तीन सौ रुपए और पाउच। सगड़ी बहुत शुभ है उसके लिए। उसने सोचा था।

"हाकिम हो तुम?" पुलिस वाला उसकी खटिया के पास आ गया तो वह अपने बीते दिनों से बाहर निकल आया था। खटिया से खड़े होते हुए उसने पूछा, "क्या बात है? दारोगा जी बुलावे हैं क्या?"

"हाँ। चलो अभी।"

"अभी तो हम सहर से आय रहे हैं साहब। शरीर जवाब दे गया है। कल सुन लेंगे।"

"नहीं, ज़रूरी काम है। इसी समय बुलाया है।"

"नहीं साहब टेम नहीं है।"

"ज़्यादा दारू चढ़ा लिए हो क्या?"

"अपनी पीता हूँ साहब, दूसरे की नहीं।"

"स्साले अब ज़बान भी लड़ाता है?" पुलिस वाला नया आया था शायद। गुर्रा उठा।

‘‘हे साहेब, ई धौंस दूसरे को दिखाइएगा। हाकिम किसी का गुलाम नहीं।’’ वह धम्म से खटिया पर बैठ गया।

‘‘अरे यार हाकिम, तू बड़े काम की चीज़ हो। चलो, चलो, एक ठो लाश आई है थाने पर। बस उसको ठिकाने पहुँचा कर चले आना माई–बाप।’’ दूसरे सिपाही ने उसने मनाने का नाटक किया था।

‘‘आप कह रहे हो साहब तो चले चलते हैं। लेकिन बड़े साहब से कह देना कि चार सौ से नीचे बात नहीं करेंगे।’’ हाकिम अपनी शर्त रखते हुए चलने के लिए उठ खड़ा हुआ था।

‘‘हम लोगों की नोकरिया खा जाओगे क्या माई बाप। सरकार इस काम के लिए देती है दो सौ रुपइया और हम चार सौ अपने पाकेट से देंगे क्या?’’ सिपाही ने हँसते हुए अपनी स्थिति साफ़ की थी।

‘‘अरे साहब, बड़ा–बड़ा लोगन का पाकेट आप लोग चिक्कन कर देते हैं। हम गरीब को दे देंगे तो पाप होगा?’’

हाकिम ने झुग्गी की ओर मुँह करके कौसिलिया को बताया था, ‘‘अरे, हम जरा जा रहे हैं थाने तक। बड़े साहब बुलाए हैं। थोड़ी देर में आ जाएँगे। तब तक खाना पकाके रखियो।’’

‘‘पैदल जाओगे? सगड़ी तो मल्लुआ ले गया है पोखरी पर धोने।’’ भीतर से कौसिलिंया की आवाज़ आई थी।

‘‘उधरै से ले लूँगा।’’ और तेज़ क़दम बढ़ाता पुलिस वालों के साथ हो लिया था।

सगड़ी लेकर थाने पर पहुँचा तो बड़े दरोगा साहब बेसब्री से उसकी राह देख रहे थे।

‘‘आओ हाकिम, जल्दी करो भाई। यहाँ तो रहना मुहाल हो गया है।’’ बड़े साहब ने मोटा–सा तौलिया अपने मुँह से सटाते हुए कहा।

‘‘अरे साहब, ई तो बिलकुल सड़ गई है! पाँच सौ से एक पैसा कम नहीं साहेब।’’ उसने लापरवाही से बड़े साहब की ओर देखा था और एक कोने में जाकर कान पर खुँसी बीड़ी सुलगाने लगा था।

‘‘क्या? अब तक चार सौ था, और अब पाँच सौ माँग रहे हो? अँधेर है क्या?’’ पहले वाला सिपाही गुर्राया।

‘‘साहब हम तो पहिले ही कहे थे कि हमार शरीर आज साथ नहीं दे रहा। आप किसी और से तय कर लीजिए। हमारा बेटवा गुदरिया भी कई महीने से बीमार चल रहा है। उसकी दवा ले आने जाना था अभी।’’ हाकिम ने जाने की मुद्रा बनाई थी।

‘‘ब्लैकमेल कर रहा है स्साला हमको।’’

छोटे दरोगा ने अपने बूट से ज़मीन पर ठोकर मारकर धूल उड़ाई थी। बल्ब की पीली रोशनी में सफ़ेद कपड़े में पंचनामा करके बँधी लाश के ऊपर काली–काली मक्खियाँ भिनक रही थीं।

‘‘आप किसी और सगड़ी वाले को बुला लीजिए साहब।’’ वह चलने के लिए मुड़ा था।

‘‘तुम्हें मालूम है कि इस इलाक़े में और कोई सगड़ी वाला यह काम करने को तैयार नहीं होगा इसीलिए रंग मार रहे हो हम पुलिस वालों से!’’ पहले वाला सिपाही फट पड़ा। बहुत देर से वह हाकिम के नाज़–नख़रे सह रहा था।

‘‘तुम चुप रहो मि. राम। ऐ चौकीदार, मेरी मेज़ के बग़ल में कल छापे में बरामद हुई जो अंग्रेज़ी वाइन है, उसमें से एक बोतल ले आओ। हाकिम को दे दो। सही बात है, इतनी सड़ी लाश वह कैसे ले जाएगा? थोड़ा सुरूर रहेगा तो जल्दी पहुँच जाएगा।’’ बड़े दारोग़ा ने अपने चौकीदार को निर्देश दिया था और हाकिम को पुचकारने लगे थे, ‘‘देखो, हाकिम, हमारी भी मजबूरी समझो। हम नियम से बाहर नहीं जा सकते। ये चार सौ रख लो। इसमें भी हम दो सौ रुपए आपस में चंदा इकट्ठा करके दे रहे हैं तुम्हें। सरकार को क्या ख़बर कि हाकिम अब दो सौ नहीं, चार सौ–पाँच सौ माँगता है?’’

‘‘रोज़ नहीं न चार–पाँच सौ माँगते हैं। जब कोई मरेगा तब न?’’ अंग्रेज़ी शराब को ढिठाई

ने पुलिस वालों के सामने ही गले से नीचे उतारते हुए हाकिम हँसा था।

"तुम तो मनाते होगे कि रोज़ ऐसे ही कोई मरे, सड़े-गले, कीड़े बिलबिलाएँ, ताकि तुम्हारा दाम और बढ़े।" एक कांस्टेबिल कहते हुए हँसा था।

"राम राम साहब, ऐसा काहे सोचूँ मैं। हमारे भी बाल-बच्चे हैं। काहे ऐसी बात सोचूँगा। ऐसा अभाग किसी के साथ क्यों होवे साहब कि मरते वखत उसके पास कोई न रहे। न नसीब हो नौ मन लकड़ी न ढाई गज कफन। मरने के बाद भी दुर्गति।" लाश को सगड़ी पर लादते हुए हाकिम ने कहा था और उछलकर सीट पर बैठ गया। पैसा पहले ही अंटी में खोंस चुका था।

"चल भइया, तोहरो काम ख़तम हो। वाह रे विधाता, तुहरो खेल निराला है।"

सगड़ी चल पड़ी थी पोस्ट मार्टम हाउस की ओर।

"दुनिया से जानेवाले जाने चले जाते हैं कहाँ...।" पैडिल मारते हुए हाकिम गा रहा था। नशा उसे अपनी गिरफ़्त में ले रहा था। वह लाश के साथ एकतरफ़ा बातचीत कर रहा था।

"क्या करम किए थे भइया कि अंतिम समय तोहरे साथ कोई नहीं रे।...चल अच्छा, हाकिम है न? तुम्हारा बेड़ा पार। कुछ देर छेनी-हथौड़ी की चोट खा लो फिर गंगा मइया की गोदी में आराम से सो जाना। मेहरारू को तो पतै नहीं होगा। वो चवन्नी भर का टिकुली और सेनुर लगाए तुम्हारा रस्ता देख रही होगी और तुम लदे हो हाकिम के सगड़ी पर। वाह भइया वाह! मुँह चोराए भाग आए संसार से!...बेटी बेटा हैं कि नहीं तुम्हारे।...कोई बीमार तो नहीं ना? दवा दारू दे के आए होते हाकिम के पास। दारू तो अपने पास अभी थोड़ी-सी है। पीएगा?...कभी चखा था कि नहीं बे? नेमी धरमी रहे होगे तो क्या जानो सवाद?...पता नहीं...। एक बार तो एक नेमी-धरमी बेचारा रेलगाड़ी के गुसलखाना में मर गया था। वो भी मेरी ही सगड़ी पर लद के आया था। पोस्ट मार्टम घर तक। बाद में लड़के रोते-कलपते आएँ लाश लेने। हमने तो बहुत लजवाया रे। बूढ़े बाप को अहमदाबाद से अकेले रेलगाड़ी में चढ़ा दिए और कोई चिंता नहीं कि कैसे पहुँचेंगे घर तक? वो भी बीमार बुजुर्ग बाप? बुढ़ौती का शरीर कब दगा दे जाए भइया, कौन जानता है? दगा तो जवान दे जाएँ बुढ़वा का क्या? अब तुम ही जवान हो कि बूढ़े मैं क्या जानूँ?...चलो लदे रहो मेरी सगड़ी पर। कम-से-कम जवान होगे तो बाप के कंधे पर तो नहीं चढ़ोगे न?"

वह बड़बड़ाता जा रहा था और रात गहराती जा रही थी। सड़क पर लोग आ जा रहे थे। स्ट्रीट लाइट में सड़क के दोनों ओर बने पक्के घरों के बाहर लॉन में लोग कुर्सियाँ लगाए बैठे थे। गर्मी और सर्दी के बीच का मौसम था। रास्ते में उस डॉक्टर का घर भी पड़ा था जिसकी दवा वह गुदरी को कर रहा था। डॉक्टर ने बताया था कि गुदरी का लीवर ख़राब हो गया है। तेल-मसाला या भारी चीज़ से परहेज था। जवानी में ये सब बीमारी। बेचारा गुदरी...। हाकिम ने एक बार ठिठककर सोचा था कि गुदरी की दवा ख़रीद ले इसी समय। पर मुर्दा लेकर किसी के दरवाज़े पर रुकना उचित नहीं लगा था। फिर संतरी तो मारकर चौपट ही कर देता उसे। बड़ी-बड़ी मूँछें रखे डॉक्टर का संतरी बिलकुल जमराज लगता है। उसे नहीं जाना जमराज के पास अभी। लौटते में दवा ले लेगा वह। उसने पाँव तेज़ी से चलाए थे पैडिल पर। ठंडी हवा के झोंके ने एक बार फिर नशे में डूबे उसके मन को आनंदित कर दिया था। वह अलापने लगा था, "एही ठइयाँ झुलनी हेरानी हो दइया...।"

"अरे हे हाकिम...हाकिम हो...।" पीछे-पीछे साईकिल से हाँफते हुए दलपत पुकार रहा था।

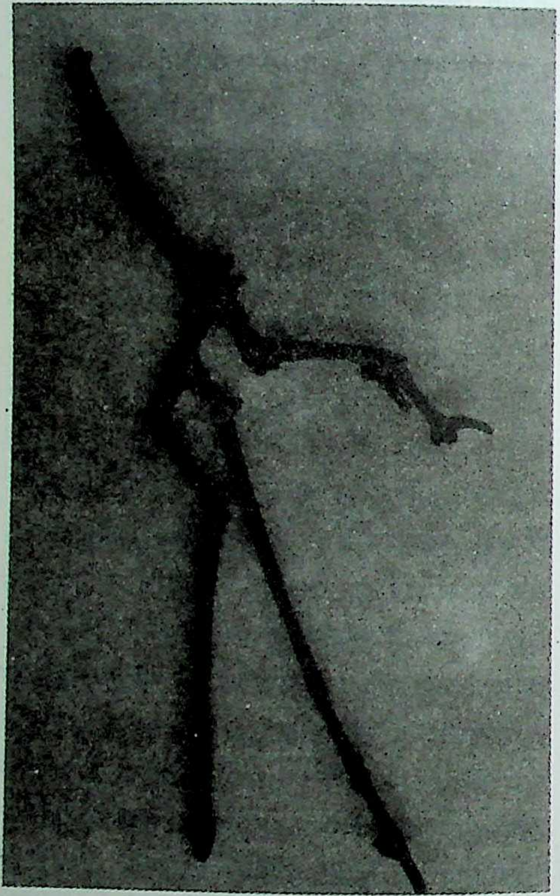

"क्या है दलपत?" हाकिम ने सगड़ी रोक ली थी। पीछे आ रहा पुलिस वाला गुर्राया था, "क्या नाटक कर रहे हो जी? ज़्यादा चढ़ गई है क्या? चलो जल्दी।"

"अरे हाकिम, गुदरी की हालत ख़राब हो रही है। शायद चुपके से गोस खा लिया। मारे उल्टी और दस्त के बुरा हाल है। ख़ून भी दिखाई दिया है मुँह से।" दलपत घबराया हुआ था। हाकिम का नशा काफ़ूर हो गया था। वह सगड़ी से उतर पड़ा था।

"ऐ...ए...यहाँ सड़ा मुर्दा लेकर क्या बहस कर रहे हो। बढ़ो जल्दी आगे।" एक मकान मालिक गुर्राया था।

"छि: छि: बड़े बदतमीज़ हैं सब भाई! साँस लेना दूभर हो गया है। सगड़ी लेकर जाते क्यों नहीं जी?" दूसरे घर से आवाज़ आई थी।

"साहब, आप दूसरी सगड़ी कर लीजिए। मेरे लड़के की हालत ख़राब है। मैं जाऊँगा।" हाकिम साथ चल रहे पुलिस वाले से गिड़गिड़ाया था।

"अरे, अब इस जगह से मैं दूसरी सगड़ी कैसे करूँ? पैसा पूरा तुम ले चुके हो और दूसरी सगड़ी अब मैं खोजूँ। तब तक मुर्दे को यहाँ कॉलोनी वाले रहने देंगे?"

हाकिम ने एक बार अपनी अंटी में खुँसे रुपयों पर हाथ लगाया था दूसरी सगड़ी कर लेने के लिए, लेकिन अगले ही पल दवा का ख़र्च याद आया था तो उसने हाथ हटा लिया था। जल्दी से सगड़ी पर चढ़कर पैडिल मारने लगा था। उसकी आँखें पोस्ट मार्टम हाउस की ओर देख रही थीं और उधर झुग्गी में गुदरी की आँखें शून्य में टँगी थीं।

के. एम. मालती

समकालीन हिंदी-मलयालम कहानी : स्त्री विमर्श

वर्तमान भारतीय साहित्य में होनेवाली बहसों में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ स्त्री और दलित विमर्श के कारण आया है। साहित्य के क्षेत्र में अब महिलाओं की उपस्थिति को कोई अनदेखा नहीं कर सकता। महिला लेखन ने आज भारतीय साहित्य के केंद्र बिंदु से होकर मुख्यधारा में ही जगह बना ली है। हिंदी और मलयालम दोनों भाषाओं की महिला कहानीकार अपने परिवेश के प्रति सचेत रहती हैं। वर्तमान जीवन के अनुभवों से उभरनेवाली सच्चाइयों को इन रचनाकारों ने निडरता के साथ अपनी कहानियों का विषय बनाया है। इनकी कहानियों में आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा के साथ ही आत्मसजगता का चरमोत्कर्ष भी देखने को मिलता है। वर्तमान समाज और जीवन के प्रति पैनी नज़र रखनेवाली इन रचनाकारों की कहानियों की विशेषता उनकी अपनी संवेदनशीलता है। वर्तमान दौर में इन दोनों भाषाओं में स्त्री चेतना से जुड़ी, स्त्री मुक्ति और अस्मिता की पहचान के संघर्ष की महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिखी गई हैं।

यहाँ समकालीन हिंदी और मलयालम कहानियों में स्त्री रचनाकारों की चुनी हुई कहानियों पर विचार करने की कोशिश कर रही हूँ। स्त्री की अस्मिता का सवाल एक मौजूदा सवाल है। हिंदी में कृष्णा सोबती की *मित्रो मरजानी* स्त्री मुक्ति और अस्मिता की पहचान की कहानी के रूप में हमारे सामने आई। मित्रो को आदर्श का मोह नहीं। समाज या ईश्वर से वह डरती नहीं। नारी के लिए तब तक चले आए सारे बिंबों को चुनौती देनेवाली मित्रो पाठकों को सोचने के लिए मजबूर कर रही थी। कृष्णा सोबती की *ऐ लड़की* में मातृत्व भावना मुख्य विषय के रूप में है। माँ बनना स्त्री का अपना अधिकार है। माँ सदाजीवी होती है। ''अपनी समरूपा उत्पन्न करना माँ के लिए बड़ा महत्त्वकारी है। पुण्य है। बेटी के पैदा होते ही माँ सदाजीवी हो जाती है। वह कभी नहीं मरती। हो उठती है वह निरंतरा। वह आज भी है, कल भी रहेगी। माँ से बेटी तक...अगली से भी अगली। वही सृष्टि का स्रोत है।'' सोबती जी की 'सिक्का बदल गया' कहानी की शाहनी हवेली में

1948 में जन्मी के. एम. मालती की समीक्षात्मक आलेख की तीन पुस्तकें प्रकाशित। मलयालम हिंदी में परस्पर अनुवाद। संपर्क : नीलगंगा, 8, साईं नगर, वर्धा-442001 (महा.)

अकेली हो गई है। बूढ़ी शाहनी को घर से निकालने के लिए थानेदार दाऊद खाँ के नेतृत्व में पटवारी और अन्य लोग आए। शाहनी अपने व्यक्तित्व के वैभव को बनाए रखते हुए हवेली के बाहर निकलती है। शाहनी ऐसी नारी है जो समाज की निष्ठुरता और स्वार्थ की शिकार है। फिर भी वह झुकती नहीं। मन्नू भंडारी की 'रानी माँ का चबूतरा' कहानी की गुलाबी अपने शराबी पति को घर से निकाल देती है और मेहनत करके बच्चों को पालती है। वह किसी के आगे हाथ नहीं पसारती। गाँव की अन्य औरतों की तरह रानी माँ के चबूतरे पर जाकर दुखड़ा रोने के लिए हमेशा वह नहीं जाती। गुलाबी को लोग चुड़ैल, कर्कश और बुरी समझते हैं। लेकिन वह भली औरत है। वह बच्चों को पालने के लिए मज़दूरी करनेवाली माँ है। मन्नू जी की 'संख्या के पार' कहानी एक विधवा माँ की कहानी है। प्रमिला की विधवा माँ किसी के साथ भाग जाती है। प्रमिला के लालन-पालन की ज़िम्मेदारी आजी और बाबा पर आ जाती है। एक बार जब प्रमिला की माँ अपनी बेटी को देखने आती है तो बाबा उसे अंदर घुसने नहीं देता। वह लौट जाती है। प्रमिला के मन में अपनी माँ को देखने की लालसा तो है लेकिन खुलकर प्रकट नहीं कर सकती। एक दिन कॉलेज से लौटी तो प्रमिला ने देखा कि पीछे भंडार-घर में ज़मीन पर चटाई पर माँ और आजी आमने-सामने बैठी रो रही हैं। प्रमिला अपनी माँ की छाती से लग जाती है। बाबा के आने की आवाज़ से वह काँपने लगती है। बिलकुल अप्रत्याशित रूप से एक हज़ार रुपए का चेक बाबा ने प्रमिला की माँ के सामने फेंक दिया था। प्रमिला की माँ, बेटी को बाँहों से भरकर अपनी मुट्ठी में बंद पसीजा और मिसमिसाया-सा पाँच रुपए का नोट प्रमिला के हाथ में थमाकर झटके से बाहर चली जाती है। संतान और माँ-बाप के रिश्ते आज टूटते दीख पड़ते हैं। मन्नू भंडारी की 'तीसरा हिस्सा', निरूपमा सेवती की 'विमोह', मेहरून्निसा परवेज़ की 'टहनियों पर धूप', मृणाल पांडे की 'दोपहर में मौत', राजी सेठ की 'समांतर चलते हुए' जैसी कहानियाँ रिश्तों की दूरी और अलगाव व्यक्त करती हैं। सूर्यबाला की 'निर्वासित' कहानी के दोनों बेटे अपने माँ-बाप को बाँट लेते हैं। उनकी 'बाऊजी और बंदर' कहानी में यही सवाल उठाया गया है कि क्या उम्र आदमी को इतना गया-गुज़रा बना देती है कि परिवार ही उसकी उपयोगिता पर शक करने लगे ? बहू अपने ससुर को फालतू समझती है। कहानी का बाऊ जी अपने ही बेटे के यहाँ बंदरों को भगाने का हथियार मात्र रह गया है। कुसुम अंसल की 'स्पीडब्रेकर' कहानी की 'मैं' महसूस करती है कि यह जीवन कुछ भी नहीं, समझौता है जो हमने कर लिया है। ''कितने हस्ताक्षर हैं जो हम करते आए...शादी...बच्चे, घर सब कुछ कभी-कभी लगता है, इन सब हस्ताक्षरों के बीच या अब तक के रास्ते पर चलने के प्रयास में जो कष्ट मिले हैं, उनका बदला ले डालें अपने सारे बीते हुए जीवन का हिसाब माँगें, पर किससे...? परिस्थितियों से ? या...उन मजबूरियों से जो हम पर लदती गईं। ख़ैर, अब ज़िंदगी स्पीडब्रेकर के पास आ रुकी है, धीरे चले तो मंज़िल से जा मिले।'' ममता कालिया ने नारी जीवन के विविध पक्षों को सूक्ष्मता के साथ पहचाना है। उनकी 'आपकी छोटी लड़की' कहानी कभी-कभी जीवन की परिस्थितियों से उपेक्षा की शिकार बननेवाली प्रतिभाशाली लड़कियों की कहानी है। पति-पत्नी के आपसी शक को लेकर लिखी गई कहानी है 'पीली लड़की'। ममता जी की 'इक्कीसवीं सदी' कहानी में दिखाया गया है कि आदमी दिन-ब-दिन कितना असुरक्षित होता जा रहा है। कमल कुमार की 'औरत और पोस्टर' कहानी हिंसा के आतंक को भोगने के लिए अभिशप्त औरत की कहानी है। कहानीकार का संकेत उस ओर है जहाँ बनिया वृत्तिवाली सरकार

ने सिनेमा के अर्थ तंत्र को हिंसा और सेक्स के [illegible] जोड़कर अपने लिए काला धन कमाने का ज़रिया बनाया और नई पीढ़ियों की धमनियों में इस धीमें ज़हर को प्राणवायु की तरह घोल दिया है। उनकी 'खोखल' कहानी में दिनेश की पत्नी सोचती है कि "क्यों वह अपने मन, आत्मा और शरीर के विभाजन में जीती रही। क्यों उसका जीवन व्यावहारिक ज़रूरतों की स्वीकृति मात्र बनकर रह गया।" सच के झूठ को नकार पाने की कोशिश से भयभीत धीरे-धीरे वह इस अलमारी में सजी जिल्दों के बीच में एक जिल्द, एक खोखल ही तो रह गई। यह बाहरी तड़कभड़क के बीच अपने को अकेली महसूस करनेवाली औरत की कहानी है।

युवा कथा लेखिका नीलाक्षी सिंह की 'उस बरस के मौसम' कहानी में डॉ. अंतरा मलिक एक ऐसी माँ है जो मानती है, "बच्चों की डॉक्टर होना एक बात है, बच्चे की माँ होना दूसरी। बच्चे को डॉक्टर बनकर नहीं पाला जा सकता है। उसे माँ बनकर पालना पड़ेगा। स्टेथेस्कोप से टटोलकर नहीं, हाथों से महसूस कर पता लगाना होता है तबीअत का मिज़ाज" अविवाहित डॉ. अंतरा मलिक ने अनाथालय से बच्चे को गोद लिया था। उल्लेखनीय है कि आज स्त्री ने मातृत्व की क्रांतिकारी स्थापना की है।

विवाह और प्रेम की अवधारणाओं में बदलाव आ चुका है। मंजुल भगत की 'बानो', मृदुला गर्ग की 'अदृश्य' कहानी की वीणा, निरुपमा सेवती की 'निराकरण' की सुनीता, चित्रा मुद्गल की 'अभी भी' की शिल्पा, कमलकुमार की 'कैटलिस्ट' की नारी सब ऐसे स्त्री पात्र हैं जो चेहरा विहीन, व्यक्तित्व विहीन पुरुषों के विरोध में हैं। ये नारी पात्र स्त्री होने के कारण स्वयं को अपराधी महसूस करने की अपेक्षा आत्मसम्मान और आत्मगौरव के साथ स्थितियों का सामना करती हैं। संध्या गुप्ता की 'बंदनवार' कहानी की रुचि सवाल उठाती है, 'क्या औरत को जीवन जीने का भी हक नहीं।' राजी सेठ की कहानियों में संबंधों की टूटन, व्यक्ति के छोटे-छोटे अनुभवों और अनजान दर्द को रेखांकित करने का प्रयास है। 'अंधे मोड़ से आगे' कहानी की नायिका अपने पति सुरजीत से तलाक लेकर अपने बॉस मिश्रा के साथ रहती है। लेकिन बार-बार उसको अपने पुराने पति के साथ के अनुभव कचोटते हैं और उसे इस बात से अफ़सोस भी होता है कि उसके पति ने बिना किसी एतराज के उसे तलाक दे दिया। मिश्रा के साथ उसके संबंध का परिणाम था उसका गर्भ जिसे डॉक्टर से वह रेप का केस बताती है। यह रिश्तों के तनाव की कथा है। मृदुला गर्ग की 'तुक' कहानी में दिखाया गया है कि अलग-अलग दृष्टियों के होते हुए भी किस तरह नारी अपने प्रेम और संवेदना के कारण पति से बँधी रहने के लिए मजबूर रह जाती है। उनकी 'रुकावट' कहानी प्रेम और यौन दृष्टिकोण में आए परिवर्तन को व्यक्त करनेवाली कहानी है। 'कितनी क़ैदें' कहानी की मीना नशीली पदार्थों के सेवन और बलात्कार की शिकार होने से अपने वैवाहिक जीवन में सहज नहीं हो पाती। 'दुनिया का क़ायदा' कहानी में खोखले संबंधों का खुला चित्रण है। घर की बहू के मर जाने पर सास अड़ोस-पड़ोस की औरतों के साथ रोती-कलपती है। बीच-बीच में अपने बेटे के लिए दूसरी बहू ढूँढ़ने की चर्चा भी करती है। यह तो दुनिया का क़ायदा है। 'शहर के नाम' कहानी में 'मैं' का मानना है कि प्यार का मतलब ख़ुद को देना है, जिस्म हरगिज़ नहीं जब कि उसके चारों ओर प्यार की जो बात की जाती है उसका मतलब जिस्म से है। "मैं क्या सिर्फ़ जिस्म हूँ? जिस्म तो घर है मेरा। मैं उसके अंदर ही रहती हूँ। मैं उस आत्मा को लोगों में बाँटना चाहती थी। घर ही उनके हवाले कर देती तो आत्मा कहाँ रहती?" सारा राय की 'झींगुर' कहानी के शेखर को आज की नौकरीपेशा ज़िंदगी की बदहवासी से जूझने का परिचय नहीं। उसने अपनी मर्ज़ी से रिनी के

साथ शादी भी की दो साल तक रिनी के घर वह रहता रहा। फिर एक दिन सुनने में आया कि रिनी शेखर को छोड़ रही है। यह बात शहर के वातावरण में किसी गंध की तरह फैल गई। अपने मित्र विमल के पूछने पर शेखर ने सोच को शब्दों में उतारा, ''वह अब भी मुझे चाहती है...हमारे बीच कुछ नहीं बिगड़ा। उसने सिर्फ़ रहने की जगह बदल ली है...।'' रिश्तों में आई दरारों को अनदेखा करने की यह प्रवृत्ति विशेषकर पुरुषों में ज़्यादा है। चित्रा मुद्गल की 'मामला आगे बढ़ेगा अभी' कहानी की मेमसाहब कहती है, ''मुझे तो बस कहने भर को घर मिला है। यह सारी मौज़-मस्ती तो वक़्त काटने की है...साहब कहने को हसबैंड हैं और मैं कहलाने को बीवी...'' पति कहलाने वाले पुरुष की कमज़ोरियों को पत्नी इसलिए सहन करती है कि उसे बस ऐशो-आराम से मतलब है। आपसी अंतरंगता का सवाल ही उनके जीवन में उठता नहीं।

युवा पीढ़ी के सामने विवाह संस्था का कोई मूल्य नहीं है। वह 'लिव इन' या 'लिव टुगेदर' वाली पंक्ति में खड़ी है। जीवन की ज़िम्मेदारी से थके स्त्री-पुरुष आज के भारतीय समाज के लिए भी चुनौती है। परंपरागत मान्यताओं के साथ इन नई मान्यताओं के संघर्ष को महिला कहानीकारों ने बड़ी बारीकी से चित्रित किया है। उषा महाजन की 'एंटीक', नीलाक्षी सिंह की 'उस बरस के मौसम', रश्मि कुमार की 'मन ना भए दस बीस' जैसी कहानियों में बदलती यौन संकल्पनाओं की ओर संकेत करती हैं। 'एंटीक' की गोगी शादी की संस्था में विश्वास न रखनेवाली नारी है। वह केवल 'लिव इन रिलेशन' में विश्वास करती है, लेकिन समाज उसको पूर्ण रूप से स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। गोगी के लिए पुरानी पीढ़ी के प्रेम के जो आदर्श थे अब एंटीक बनकर रह गए हैं। 'सड़क की लय' में परंपरागत भारतीय मूल्य और अमरीकी जीवन से प्रभावित नारी के जीवन मूल्यों के बीच की टकराहट है। रिश्तों के टूटने के बाद कहानी की अंशुल नारीवाद की हिमायत करती है जहाँ मर्द जात के प्रति कड़वाहट भर गई है और एक उग्र नारीवादी बनकर यह कड़वाहट सारे समाज में फैलाने का बीड़ा उठा लेती है। 'अपने अपने कुरुक्षेत्र' में कृष्णा अग्निहोत्री दिखाती है कि ऐसा घिनौना चक्र आज चल रहा है कि रिश्तों की अहमियत और महत्त्व को बड़ी सरलता से कुचल रहा है। रिश्तों की प्रकृति कितनी मटमैली और धूमिल हो जाती है, इस यथार्थ का विस्तार पुत्र रवि और पिता विकास दोनों से संबंध बनाए रखनेवाली युवती विधवा विजय के माध्यम से कृष्णा अग्निहोत्री को यौन उच्छृंखलता का पर्याय मानना ग़लत है।

स्त्री लेखन विषम वैवाहिक संबंधों के प्रामाणिक नमूने प्रस्तुत करता है। साथ ही स्त्री की त्रासदी को, उसके प्रति किए जानेवाले अन्याय को खुलकर दिखाता है। नमिता सिंह की 'बंतो', सूर्यबाला की 'सुनंदा छोकरी की डायरी' ऐसी कहानियाँ हैं जहाँ स्त्री होने के कारण अपने ही घर में अलग और अकेली रह जानेवाली 'बंतो' और सुनंदा जैसी मासूम निरीह लड़कियों की वाणी को मुखरित किया गया है। अपने पिता के साथी, पियक्कड़ बलवीरा के हाथों पिता ने ही बंतो को अनजाने ही सौंप दिया था। जिस बलवीरा को यमदूत जैसा आते देखकर बंतो अंदर कमरे में बैठी रहती थीं उसी के हाथों सौंप दिया। पहले तो माँ भी उसे बलवीरा के सामने न आने देती थी। वह कहती कि 'नशेड़ी और जुआड़ियों का कोई भरोसा नहीं होता।' बलवीरा के साथ साईकिल पर बैठकर वह आई थी तो अपना दिल पीछे से ख़ाली कर आई थी। एकदम ख़ाली दिल और रीता दिमाग़ लेकर आई थीं वह। बाद में बलवीरा की मौत की ख़बर के वक़्त भी उसका दिमाग़ वैसा ही रीता था...एकदम चुप। उसकी आँखें हमेशा की तरह सूनी थीं...शून्य में

कहीं टिकने का आधार खोजती हुई। लेकिन जैसी निरीह, ग़रीब युवतियों को हमारे समाज कहीं टिकने का अधिकार दिया है क्या?

जया जादवानी की 'मैसेंजर' कंप्यूटरी रिश्तों पर लिखी कहानी है। कंप्यूटर से झूठे वादों की लेन-देन जारी है जो उनके लिए टाइमपास मात्र है। इन झूठे वादों पर विश्वास रखनेवालों का धोखा खाना मामूली-सी बात है। ऐसे ही एक पात्र का कहना है, "जिसे तुम लोग प्रेम कहते या समझते हो; वह हमारी आत्मा के अँधेरे में से रोशनी की तरह फूटता है जिसके प्रकाश में हम खुद को, सबको पहचानना सिखाते हैं।" चर्चित कहानीकार मधु काँकरिया के लिए हर रचना जीवन के पक्ष में एक चीख़ होती है। खुले जीवन की चुनौतियों को स्वीकार करने का साहस रखनेवाली मधु की 'और अंत में ईशु', 'चूहे को चूहा ही रहने दो', 'लेकिन कॉमरेड' जैसी कहानियाँ वनवासियों के दुख, भीतर के हाहाकार और जीवन की विद्रूपताओं को दर्ज करने की गहरी उद्विग्नता भी है। रश्मि कुमार की 'मन न भए दस बीस' कहानी की सुजाता पत्रकार है। सुजाता मानती है कि औरत होना हमारी सीमा नहीं है। इसे वह सुखद सच्चाई मानती है। विशेषता मानती है। उसका मानना है कि आज के भौतिकवादी युग में निजी संबंधों की भी कोमल भावनाएँ तभी बची रह पाती हैं जब व्यक्ति रिश्तों की आर्थिक आकांक्षा की कसौटी पर खरा उतरे। अन्यथा अपने ही परिवार में उसका मोल दो कौड़ी का हो जाता है। जया जादवानी की 'आख़िरी बार से पहले', की नायिका और शरद सिंह की 'तीली तीली आग' की प्रीतो ऐसी नारी पात्र हैं जो अपना अकेलापन और उदासी मन पसंद पुरुषों से बाँटना चाहती हैं। अर्चना वर्मा का 'नेपथ्य', अलका सरावगी का 'यह भी सच है, वह भी सच है', शरद सिंह की 'शाम को देखूँगा' जैसी कहानियों में स्त्री का पहला संकट, अपनी अस्मिता को पाने का संकट मुखरित है। संबंधों की बारीक पड़ताल करने में चतुर गीतांजलिश्री की 'प्राइवेट लाइफ़' कहानी आधुनिक युवती के अपने तरीक़े से उन्मुक्त और स्वच्छंद जीवन जीने के अंतर्द्वंद्वों और संकल्पों से जूझने की कहानी है। विवाह, परंपरा और परिवार सबके प्रति उसके मन में विद्रोह की भावना है।

औरतों के विरुद्ध हिंसा के मामलों में सबसे जघन्य अपराध बलात्कार है। जीवन के हर क्षेत्र में स्त्री बलात्कार की शिकार हो जाती है। चित्रा मुद्गल की 'जब तक बिमलाएँ जीवित हैं' एक सशक्त कहानी है। यौन उत्पीड़न और बलात्कार की शिकार बनी अपनी बेटी से जघन्य, क्रूर व्यवहार करनेवाले अत्याचारियों के प्रति अपना प्रतिशोध लेनेवाली माँ बिमला एक ऐसी माँ है जिसकी ज़रूरत आज अधिक संख्या में समाज को है। बिमला की बेटी के साथ कुछ मर्द-जानवरों ने अनर्थ किया था और बाद में बस्ती से लगते सफ़ेदा के घने जंगल में अधमरी-सा छोड़ दिया था। कहानी की बिमला जैसी औरतों के रहने से समाज में नई शक्ति और स्फूर्ति आ सकती है। कहानी का अंत इन्हीं वाक्यों से होता है, "जब भी उससे मिलती हूँ, नई शक्ति और स्फूर्ति से भर उठती हूँ। सोचती हूँ, समाज में जब तक बिमलाएँ हैं, औरत की अस्मिता और अधिकार से वंचित नहीं रह सकती...न कोई उसे वंचित कर सकता है।" ग्रामीण अंचल की कामकाजी, नौकरी-पेशा, श्रमजीवी महिलाओं की स्थिति शहरी युवतियों से भिन्न है। 'हम भारत की नारी हैं, फूल नहीं चिनगारी हैं कि याद दिलानेवाली स्त्री है बिमला।' घरेलू हिंसा का सबसे क्रूरतम चेहरा तब सामने आता है जब घरों में लड़कियाँ मानसिक शारीरिक शोषण के साथ-साथ यौन शोषण की भी शिकार होती हैं। औरत चाहे सवर्ण हो या दलित, स्वतंत्र नहीं है। सभी ग़ुलाम हैं। दरअसल स्त्रियों के साथ सबसे बड़ी त्रासदी उनका स्त्री होना है। चित्रा मुद्गल

की 'लकड़बग्घा', 'अभी भी', मैत्रेयी पुष्पा की 'पगला गई है भगवती', 'छुटकारा' जैसी कहानियाँ समकालीन समाज में विधवाओं की स्थिति, उनके दुखभरे जीवन और समस्याओं का गहराई के साथ चित्रण करती हैं।

कहीं-कहीं आर्थिक रूप से कमज़ोर होने के कारण विषम परिस्थितियों में पड़कर औरतें वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर हो जाती हैं। चित्रा मुद्गल की 'फ़ातिमाबाई कोठे पर नहीं रहती' कहानी स्त्री जीवन के इस पहलू से जुड़ी समस्याओं को हमारे सामने रखती है। यह कहानी इस सत्य का उद्घाटन करती है कि किस प्रकार वेश्यावृत्ति और कॉलगर्ल्स के व्यवसाय में पड़कर स्त्री समाज पुरुष के शोषण और अपमान का शिकार हो रहा है। चित्रा मुद्गल की 'लकड़बग्घा' कहानी में स्त्रियों की स्वतंत्रता और अधिकार की माँग को उठाया है। परंपरागत यातना और नई परिकल्पना के धुँधलके में संघर्ष करती हुई स्त्री आज अपने नए स्वरूप को गढ़ने की कोशिश कर रही है। मगर इस कोशिश में वह जीवन की जटिलताओं, विसंगतियों और अंतर्विरोधों से भी टकरा रही है। सूर्यबाला की 'भुक्खड़ की औलाद' कहानी के बैजनाथ को अपनी औरत की बीमारी से ज़्यादा दुख भैंस के बह जाने से होता है। बैजनाथ पारिवारिक ममता और मानवीय संवेदना को अनदेखा करने के बावजूद जीवन के दारुण परिणामों से बच नहीं पाता। आर्थिक विपन्नता इसका मुख्य बिंदु है। उर्मिला शिरीष की 'रंगमंच' कहानी समाज में बहुओं पर हो रहे अत्याचार और उत्पीड़न की कहानी है जिसमें एक बहू को जला दिया जाता हैं और पुलिस में उसके बयानों को बदलवाने की क़वायद सारा परिवार करता है। इस तरह समकालीन हिंदी कहानी में महिला कहानीकारों ने आधुनिक भारतीय पितृसत्तात्मक पारिवारिक सामाजिक संरचना पर करारा प्रहार किया है। समकालीन कथा परिदृश्य में महिला कहानीकारों की भूमिका अपना विशिष्ट महत्व रखती है।

मलयालम कहानीकार

स्त्री की समस्याओं को पहचानने वाली मलयालम की लेखिकाएँ उन समस्याओं के प्रति अपना रोष कहानियों में रेखांकित करती हैं। भारतीय संदर्भ में मानवीयता से जुड़े नारीवाद के पक्ष में आवाज़ उठानेवाली माधविकुट्टी, सारा जोसफ़, पी. वत्सला, ग्रेसी, अषिता, सी. एस. चंद्रिका, गीता हिरण्यन, के. पी. सुधीरा, सितारा, प्रिया जैसी लेखिकाएँ समाज के प्रति सख़ प्रतिबद्धता के साथ सृजन प्रक्रिया में लगी रहनेवाली हैं। मौजूदा व्यवस्था की विसंगतियों को झेलने लायक़ धैर्य और ताक़त रखनेवाली स्त्री-पात्र उनकी कहानियों में हैं। मलयालम कहानीकार माधविकुट्टी अपनी कहानियों में आज की भारतीय नारी की बेचैनी, अरमान और अत्मिक खोज को उनके बोध और अबोध के स्तरों में देखने की कोशिश करती हैं। वे मानती हैं कि पुरुष के प्रति नारी का आकर्षण और प्रेम की पूर्णता पाने की उसकी प्यास एक सहज सत्य है। जब उसे ऐसा प्यार नहीं मिलता और उसे जब पता चलता है कि पुरुष को उसके नारी शरीर से ही लगाव है तो यह नारी में घुटन भरता है। उनकी चर्चित कहानी 'पक्षी की गंध' में सभी आकर्षणों के पीछे छिपे डरावने ख़तरों को पहचाननेवाली ग़ारी का चित्र है। उनके लिए बाहरी दुनिया से भी अधिक घटनाएँ आंतरिक दुनिया में घटित होती हैं। उन्होंने दिखाया है कि कुछ स्त्रियाँ ग़ुलाम बनकर जीना पसंद करती हैं क्योंकि वे जीवन यापन के लिए यांत्रिक रूप में अपनी स्वतंत्र इयत्ता को खोकर ग़ुलाम बन जाती हैं। माधविकुट्टी की 'स्वतंत्र जीवी', 'अरूणाचलम की कहानी', 'गलियारे के आईने', 'धोखा' जैसी कहानियाँ प्रेम को केंद्र में रखकर स्त्री-पुरुष संबंधों पर लिखी गई हैं 'स्वतंत्र जीवी' कहानी की लड़की का प्रेम संबंध एक शादी-

प्रोफ़ेसर के साथ है। केवल साढ़े चार घंटे, नाम से होटल के कमरे में बिताने के बाद बाहर निकलते वक़्त लड़की उन बच्चों के बारे में सोच रही थी जिन्हें उस आदमी से कभी मिलने की संभावना ही नहीं थी। वह जानती है कि न कभी वह माँ बन पाएगी और न वह कभी माँ कहलाएगी। उस पुरुष के मन में यही विचार था कि उनका आपसी रिश्ता बाहर किसी को मालूम न हो, इसकी भनक लड़की को हो गई थी। 'धोखा' कहानी की लेडी डॉक्टर लगातार दो दिनों की ड्यूटी के बाद तीसरे दिन, रात को (अपने पचासवें जन्मदिन की वह रात थी) क़रीब साढ़े ग्यारह बजे जब अपने घर पहुँचती है तब उसने जो दृश्य देखा, वह अचंभित करनेवाला था। उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं रहा। जो पति फ़ोन पर उससे लगातार रात में न जागते रहने की बात कर रहा था, स्वास्थ्य का ख़याल रखने का उपदेश दे रहा था, आराम करने की ज़रूरत पर बल दे रहा था, वह अपने ही घर में, अपने कमरे में, अपने बिस्तर पर किसी लड़की के साथ लेटा था। कहानी की लेडी डॉक्टर को लगा कि पूरी दुनिया उसे धोखा दे रही है। माधविकुट्टी मानती है कि स्त्री को पुरुषों की दासी नहीं होना चाहिए। उनको अपना निर्णय स्वयं लेना है। मृदुला गर्ग के समान माधविकुट्टी की कहानियों का मूल स्वर व्यंग्य और आत्मविश्लेषण है। वे कहती हैं, ''पुरुष को दाँत से भींचकर ख़ून पीना फ़ेमिनिज़्म नहीं है। मेरी ऐसी सोच क़तई नहीं। ख़ुद स्त्री सोचने और कार्य करने में सक्षम है। यही उसको साबित करना चाहिए।''

सारा जोसफ़ मानती हैं कि परिवार भी कभी पीड़ा का कारण हो सकता है। लेकिन वे कभी भी परिवार संस्था को तोड़ने के पक्ष में नहीं हैं। अपनी 'अशोका' कहानी में पुरुष सत्ता के घेरे से जूझनेवाली स्त्री का असली रूप सीता, मंदोदरी और शूर्पणखा के माध्यम से दिखाया है। कहानी में सीता और मंदोदरी के सामने राम और जयंत का व्यक्तित्व बिलकुल हल्का फीका-सा दिखता है। भारतीय समाज में स्त्री के प्रति सोच का दायरा क्या है ? अधिकतर भारतीय स्त्रियाँ बेटी, माँ और पत्नी की भूमिका में निरंतर हिंसा की शिकार होती हैं। स्त्री कभी कम दहेज़ लेने के कारण और कभी अधिक दहेज़ पाने के लालच में पीटी जाती है। इन सबके बावजूद वे मुँह नहीं खोलतीं क्योंकि इसे सहन करने की आदत उन्हें विरासत में मिली है। सारा जोसफ़ की 'आन मेरी की शादी' दहेज़ और अमीरी के खोखलेपन पर लिखी व्यंग्य कहानी है। उनकी 'पापी चबूतरा' चर्चित कहानी है जिसमें पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री की शोचनीय स्थिति पर प्रकाश डालती है। उनका विचार है कि वर्तमान स्त्री में उन स्थितियों को ललकारने की शक्ति मौजूद है। अपने समय और समाज के सच से मुठभेड़ करने का ख़तरा उठाने को हरदम तैनात रहनेवाली सारा जोसफ़ समाज के पीड़ित, उपेक्षित दलित और सांप्रदायिकता से अलग रहनेवाले इंसान के पक्ष में लिखती हैं।

मलयालम की सशक्त कहानीकार पी. वत्सला 'ढलती धूप, सुनहरी धूप' कहानी-संग्रह के प्रारंभ में लिखती हैं, ''स्त्री स्वयं ग़ुलामी अपना लेती है। वह ख़ुद मान लेती है कि वह उपभोग की वस्तु है। वह स्नेह करुणा और कर्मलीनता का प्रतिरूप है। यह जानकारी उसे सबसे पहले अर्जित करनी चाहिए।'' उनकी 'चक्र', 'विद्याधरन' जैसी कहानियों में वर्तमान समाज की जटिलताओं और बदलती संवेदनाओं पर प्रकाश डाला गया है। 'विद्याधरन' का बूढ़ा पचास वर्ष बाद अपनी पत्नी से मिलने जाता है। लेकिन खाना परोसते हुए भी पत्नी-पति के मुँह की ओर नहीं देखती है। कहीं स्त्रियाँ ससुराल की यातनाओं को अपनी नियति मानकर बिना प्रतिरोध किए चुपचाप सहती हैं। कहीं स्त्रियाँ विवाहित होते हुए भी अकेलेपन की त्रासदी झेलती हैं।

मलयालम कथा लेखिका ग्रेसी ने कहा है कि अपने गाँव में बचपन में लड़की-लड़कों में कोई अंतर उन्हें महसूस नहीं हुआ था। नाव चलाने और मछली पकड़ने में लड़कों के साथ मिलकर वह जाया करती थी। लेकिन जब गाँव से बाहर आई तो बाहरी दुनिया में स्त्रियों के साथ समाज का रवैया देखकर ही, उसे जानकर ही अनुभवों का यह परिणाम निकला कि ग्रेसी मलयालम की ख़ास लेखिका निकलीं। जीवन और समाज से मिलनेवाली वेदना और उसकी पहचान से ही इन्हें लिखने की प्रेरणा मिलती है। उनकी 'पांचाली', 'छिपकलिया जन्म' (गौली जन्मम्), 'ओरोता और प्रेत' (ओरोतयुम् प्रेतङलुम), 'पागल फूल' (भ्रांतन पूक्कळ), 'देहली लाँघती पार्वती' (पड़ियिरडिप्पोया पार्वती), 'शून्यता से घायल होने के पहले' जैसी कहानियों में स्त्री

मुक्ति के प्रश्न उठाए गए हैं। पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था के अंदर सिमटी हुई विवाह, प्रेम, परिवार, मातृत्व जैसी संस्थाओं में उभरनेवाली चुनौतियों को इन्होंने वाणी दी है।

अषिता की 'आत्मसार' (पोरुल) कहानी असल में स्त्री-पुरुष के मानसिक मिलाप और आत्मा से जुड़े अंतरंग सार बन जाता है जब सदाशिव पहचान लेता है कि उसके सामने जो खड़ी है वह सचमुच शिव की पार्वती ही है। अषिता की 'दुनिया की दरारें' (लोकत्तिन्नु विलाविडवुकळ) कहानी की अभिरामी को लगता है कि उसके अपने अंदर अनेक अभिरामी मौजूद हैं। उसने देखा कि मन और शब्द के बीच में दरार है। शब्द और कर्म के बीच में भी। जीवन क्या होना चाहिए, लेकिन वास्तव में जीवन क्या है इस जानकारी ने ही बड़ी बंनने की आकांक्षा अभिरामी में जगाई थी। अभिरामी की यादें जब से बनीं रहीं तब से उसके माँ-बाप आपस में तर्क करते, धोखा खाते, धोखा देते और झूठ बोलते ही जा रहे थे। अषिता की 'चाँदनी के देश में' (निलाविंटे नाट्टिल) पागलख़ाने की चौकीदारी से सेवानिवृत्त आदमी की आर्थिक विपन्नता से अनुभूत पीड़ा की कहानी है। चौकीदार सेवा के अंतिम दिन में अपने घर जाने के बदले पागल तोमस को सेल में बंद करते-करते पीछे-पीछे उसी सेल में अपने को भी बंद रखता है।

गीता हिरण्यन जीवन को गंभीर रूप में न देखकर उसे सरल-सहज रूप में देखा करती थी। कहानियों में हँसी की लहरें फैलानेवाली गीता हिरण्यन ने मलयालम कथा जगत में अपना विशिष्ट स्थान बनाया। 'सृजन के नुसख़े' (कुछ रचनातंत्रड़ळ), 'उण्णिक्कुट्टन की माँ के दिन' (उण्णिक्कुट्टंटे अम्मयुडे दिवसाडळ), 'अँधेरे की फड़फड़ाती पंखों की आवाज़' (इरूट्टिंटे चिरकडियोच्चकळ), 'असंगठिता' (असंगठिता)—कहानियाँ उनकी चर्चित कहानियाँ हैं। हमारे यहाँ सौंदर्य का विरोध कभी नहीं रहा। विरोध दरअसल सौंदर्य के बाज़ारीकरण और व्यवसायिकता का है। महिलाओं को व्यापार की वस्तु बनाए जाने का है। गीता हिरण्यन की 'असंगठिता' कहानी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

स्त्री के सतीत्व की खोज में लगी कहानीकार के. पी. सुधीरा की 'अनाथ मूर्तियाँ' (अनाथशिल्पाडळ), 'रास्ते किनारे के छायादार पेड़' (वषियरिकिले तणल्मराडळ), 'श्राद्ध' (श्राद्धम) ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें वर्तमान जीवन की बदलती संवेदनाओं को उभारा गया है। 'रास्ते किनारे के छायादार पेड़' की सेतुलक्ष्मी चित्रा मुद्गल की कहानी की बिमला की याद दिलाती है। सुधीरा की 'आगमन' (अरैवल) कहानी में ऊँचे ओहदों के साथ पति-पत्नी के संबंध में पड़नेवाली दरारों के चित्र हैं। 'ख़ून का निशान' कहानी में उन्होंने दिखाया है कि पारिवारिक जीवन का असंतोष कैसे स्त्री को ईर्ष्यालु बना देता है। कहानी का पात्र शिवानी एक ऐसी नारी के रूप में पाठकों के हृदय में बनी रहती हैं। चंद्रमती, सी. एस. चंद्रिका, सितारा, प्रिया, इंदु मेनोन—ये सब ऐसी लेखिकाएँ हैं जो वर्तमान का यथार्थ पाठकों के सामने अपनी कहानियों के ज़रिए प्रस्तुत करती हैं। स्त्री की साहसपूर्ण भूमिका और संघर्षपूर्ण चुनौतियों को इन कहानीकारों ने जीवंत रूप दिया है। ज़िंदगी की जटिलताओं को, उसकी सच्चाइयों को व्यक्त करनेवाली ये लेखिकाएँ पुरुष सत्तात्मक समाज में अकेली और असहाय रहनेवाली स्त्री की मुक्ति के पक्ष में लेखनी चलाती हैं। इन महिला कहानीकारों की कहानियों में पुरुष समाज द्वारा शोषित स्त्री का आक्रोश मुखरित है। बहुत से मिथक जो समाज ने स्त्री के लिए रचे हैं उन्हें निर्भय होकर, बिना किसी अपराधबोध के, तोड़ने में ये लेखिकाएँ सफल हो गई हैं।

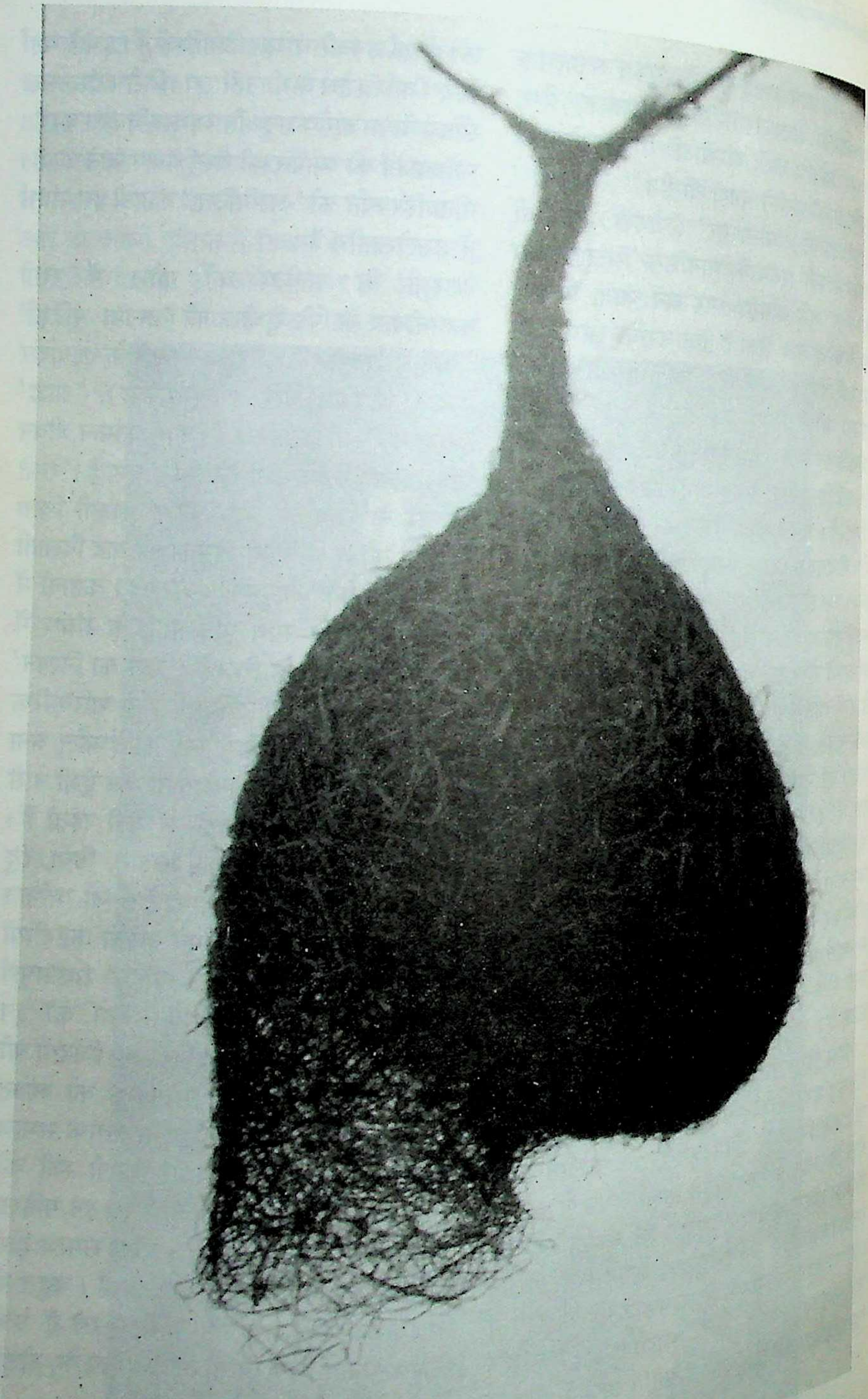

विजयराघव रेड्डी

मानवतावाद और असमिया काव्य-साहित्य

मानव, मानवता, मानव संबंध, मानव मूल्य/मानवीय मूल्य, मानवीय आदर्श, मानवीय वास्तविकता, मानव संस्कृति आदि शब्द और इनसे संबंधित संकल्पनाओं से हमारे समाज का पहले से वास्ता था। लेकिन मानवतावाद, मानव संसाधन, मानवाधिकार आदि ऐसे शब्द हैं जो बाद में उदित संकल्पनाओं के लिए हमारी भाषाओं में निर्मित किए गए हैं।

'मानवता' शुरू से भारतीय दार्शनिक चिंतन का अंग रहा है। हमारे दार्शनिकों की चिंतनपरक दृष्टि न केवल आदर्शवादी थी अपितु उनकी दृष्टि सीमा विशाल और सार्वभौमिक रही। विश्व मानवता भी हमारे दार्शनिक चिंतन का अभिन्न अंग रहा था। नहीं तो 'वसुधैव कुटुंबकम्' और 'सर्वे जनो सुखिनो भवंतु', जैसी उक्तियाँ हमारे वाङ्मय में प्रकट नहीं हुई होतीं। इन उक्तियों को प्रतिपादित करते हुए शास्त्रीय भाषाएँ कहलाने वाली संस्कृत जैसी हमारी प्राचीन भाषाओं एवं समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं का साहित्य भरा पड़ा है। इस दृष्टि से मानवता भारतीय साहित्य में अंतर्लीन है। लेकिन मानवतावाद हमारे यहाँ नवागत हैं। जब किसी शब्द के साथ 'वाद' जुड़ जाता है, वह विशिष्ट बन जाता है, विशिष्ट संदर्भ में उसे समझना व समझाना पड़ता है। वह शास्त्र (A system h thought) बन जाता है और शास्त्रीय दृष्टिकोण से उस पर विचार शुरू हो जाता है। अब हम 'मानवतावाद' का अंग्रेज़ी शब्द 'ह्यूमनिज़्म' के समानार्थी के रूप में प्रयोग कर रहे हैं। मानवतावाद को भारतीय दार्शनिक चिंतन में विद्यमान मानवता दृष्टिकोण से अलगाते हुए यह कहा जा रहा है कि मानवतावाद यूरोपीय नवजागरण काल की उपज है जिसने कला, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, न्याय और सामाजिक जीवन को प्रभावित किया है। इसका प्रभाव पहले इटली पर पड़ा। इटालियन साहित्य के माध्यम से अन्य यूरोपीय भाषाओं के साहित्य का इसका असर पड़ा। भारतीय नवजागरण काल में भारतीय साहित्य ने अंग्रेज़ी के माध्यम से इसे ग्रहण किया। इसलिए आधुनिक कालीन भारतीय साहित्य में ही मानवतावाद का दिग्दर्शन होता है। आधुनिक काल से पहले

तेलुगु-हिंदी के प्रख्यात अनुवादक और लेखक विजयराघव रेड्डी का जन्म 1938 में हुआ। इनकी लगभग बीस पुस्तकें प्रकाशित। केंद्रीय हिंदी निदेशालय से सम्मानित। संपर्क : विजय विलासम, 3-13-1/10, श्री निवासपुरम, रामंतपुर, हैदराबाद 500013

के भारतीय साहित्य में हम लोकोपकारवादी विचारधारा को पाते हैं। वह मानवतावादी विचारधारा से भिन्न हैं। मानवतावादी चिंतकों ने मानवतावाद के भी कई भेद-प्रभेद कर जैसे—1. नैतिक मानवतावाद, 2. धार्मिक मानवतावाद, 3. निरीश्वरवादात्मक मानवतावाद, 4. विधर्मी या अधर्मी मानवतावाद, 5. वैज्ञानिक मानवतावाद, 6. प्रकृतिवादी मानवतावाद, 7. लौकिक मानवतावाद, 8. समाजवादी मानवतावाद, और 9. विरोधी मानवतावाद अध्ययन व अध्यापन में अनेक पेचीदगियाँ पैदा की हैं। हम उन पेचीदगियों में न जाकर इस पर विचार करेंगे कि विशेषणों से मुक्त मात्र मानवतावाद की मान्यताएँ क्या हैं? बाद में मानवतावाद और भारतीय 'मानवता' विचारधारा में जो मूलभूत अंतर है उन पर विचार कर आगे असमिया काव्य ने मानवतावाद को किस प्रकार स्वीकार किया है, उस पर सोदाहरण विवरण प्रस्तुत करेंगे।

मानवतावाद की मान्यताओं को हम कुछ इस प्रकार सूचीबद्ध कर सकते हैं—

1. मानव जीवन की समस्याओं को केंद्र में रखते हुए उनके विवेचन-विश्लेषण के साथ उनके निवारण के मार्ग सुझाते हुए अंततोगत्वा विश्व में मानव को सर्वोच्च स्थान दिलाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना।
2. मानवतावाद ज्ञान प्राप्ति की नियत की आवश्यकता को स्वीकारता है। ज्ञान ज्ञान के लिए है, इस सिद्धांत को नकारते हुए मानव की ज़रूरतों की पूर्ति के कार्यों में ज्ञान के अनुप्रयोग की आवश्यकता पर बल देता है। अर्थात् मानवतावाद ज्ञान को साधन के रूप में स्वीकार करता है न कि साध्य।
3. मानवतावाद मानव प्रकृति के उस सकारात्मक पक्ष पर बल देता है जो प्रेम, मैत्री, दया, करुणा, सहयोग और प्रगति में व्यक्त होता है। नकारात्मक पक्ष वाली उस प्रवृत्ति पर बल नहीं देता जो कठोरता, स्वार्थ या आक्रमणशीलता में व्यक्त होता है।
4. मानवतावाद कलाओं को मानव केंद्रित मानता है और कलात्मक अनुभूति एवं सृजनशीलता को मानवीय वास्तविकता के अंग मानता है।
5. मानवतावाद मानव सत्ता, उसकी स्वतंत्र संकल्प-शक्ति और कर्तव्य पर बल देता है। उसका मानना है कि मानव विश्व की सभी वस्तुओं के मूल्यांक हैं और वह ख़ुद अपने भाग्य का नियामक है। अपने भविष्य की प्रणाली के चुनाव में तथा उसको रूपायित करने में मानव सर्वस्वतंत्र है। मानवतावाद के केंद्र में मानव है, ईश्वर नहीं। इसलिए कहा जाता है कि यह मानव केंद्रित कहलाता है न कि ईश्वर केंद्रित।
6. मानवतावाद मानव की विश्वसनीयता और उसके उज्ज्वल भविष्य पर विश्वास रखता है।
7. मानवतावाद इस पृथ्वी से परे अन्यत्र, कहीं जीवन पर विश्वास नहीं करता। वह धर्म, किसी दैवी शक्ति, स्वर्गिक आनंद, भाग्यवादी दृष्टिकोण और छिछोरा आशावाद पर विश्वास नहीं रखता। वह स्वतंत्र और न्याय संगति समाज पर विश्वास रखता है जहाँ मानव अपने सर्वांगीण चरित्र का पूर्णतः विकास कर सके।

कुछ लोगों के विचार में मानवतावाद का विवेक पर आधारित होना अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में उनका मानना है कि जो तर्कणावादी (Rationalist) नहीं है, वह मानवतावादी नहीं हो सकता। लेकिन इनसे भिन्न विचार रखनेवाले कहते हैं कि मानवतावाद की प्रधान्यता विवेक (तर्कण) की तुलना में सहजानुभूति पर होनी

चाहिए। उनका कहना है कि मानव संस्कृति के इतिहास में बहुत से ऐसे दार्शनिक, कलाकार और साधक हुए हैं जिन्हें अवश्य ही मानवतावादी कहा जा सकता है यद्यपि उनका दृष्टिकोण तर्कणावादी नहीं, वरन् रहस्यवादी था।

मानवतावाद और आदर्शवाद के परस्पर संबंधों पर विचार करते हुए कुछ आलोचकों ने कहा कि प्रत्येक मानवतावादी आशावादी होता है। लेकिन इससे भिन्न विचार रखनेवाले कहते हैं कि यह कोई ज़रूरी नहीं है कि हर मानवतावादी, आशावादी ही हो क्योंकि अस्तित्ववादी दर्शन के कुछ प्रतिनिधि मानवतावादी तो हैं लेकिन उन्हें आशावादी नहीं कहा जा सकता।

कुछ विचारकों के मत में मानवतावाद और लोकतंत्र परस्पर आश्रित हैं। एक-दूसरे को परिपुष्ट करता है। मानवतावाद धर्म से परे है। वह मानव संबंधों को धर्म से ऊँचा मानता है। उनके मत के अनुसार अगर मानवतावाद को विकसित करना है तो धर्मांधता से मुक्त होना है। रूढ़िवादिता के बंधनों को तोड़ना होगा। लिंगविवक्षा को छोड़ना होगा।

भारतीय चिंतन में जो मानवता है, जिसे अंग्रेज़ी में Humanitarianism और फिर हिंदी में उसके लिए लोकोपकारवाद नाम से पारिभाषिक शब्द गढ़ लिया गया है, उससे और मानवतावाद के परस्पर संबंधों पर भी विचारकों ने विवेचन किया है। वे कहते हैं, पहला भावुकता पर ज़ोर देता है तो दूसरा ज्ञान संपन्नता पर। पहला समष्टि सामाजिकता पर और दूसरा व्यक्ति पर बल देता है। पहला आदर्शवादी है तो दूसरा यथार्थवादी। पहला नैतिकता और धार्मिकता (धर्म) से संबंधित है तो दूसरा विज्ञान से। पहला आदर्शवादी एवं नैतिकवादी तथा धर्मपरायण होने के कारण पुराने, पारंपरिक नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों को स्वीकार करते हुए उनके प्रचार के लिए वकालत करता है। इसी प्रकार सार्वभौमिक भातृत्व (वसुधैव कुटुंबकम्) और अहिंसा, सहिष्णुता, सेवाभाव आदि को स्वीकारते हुए उसकी वकालत करता है।

मानवतावाद जो पाश्चात्य अवधारणा से संबंध रखता है उसे भारतीय अवधारणा वाली मानवता से अलग कर देते हैं तो हमारा सारा प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य मानवतावाद से भिन्न माना जाएगा। तब उस पर लोकोपकारवादी साहित्य का लेबल लगाना पड़ेगा। यही भारतीय चिंतन और पाश्चात्य चिंतन का तक़ाज़ा है। भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति के अंतर को द्योतित करता है। दक्षिण पूर्व एशिया के जाने-माने भावशास्त्री एस. तकदीर अलीसजबाना ने पाश्चात्य संस्कृति को प्रोग्रेसिव कल्चर और एशियाई संस्कृति को एक्सप्रेसिव कल्चर के नाम से अभिहित कर यह कहा कि पश्चिम का दृष्टिकोण भौतिकवादी है। एशिया का आध्यात्मवादी है। (इस पर मैंने अन्यत्र विस्तार से चर्चा की है)[1] पाश्चात्य चिंतन विश्लेषणात्मक है, तो भारतीय चिंतन संश्लेषणात्मक है। मेरे विचार में भारतीय साहित्य को मानवतावादी और लोकोपकारवादी नाम से विभाजित कर अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं है। पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण कर भारतीय वास्तविकता को तिलांजलि देकर भारतीय परिवेश पर पाश्चात्य परिवेश को आरोपित करते हुए जो साहित्य लिखा गया है, उसे छोड़कर शेष साहित्य में मानवता की विचारधारा, 'सर्वे जनो सुखिनौ भवंतु' वाला चिंतन अंतर्लीन होकर अजस्र धारा के रूप में प्रवाहित है।

---

[1] डॉ. विजय राघव रेड्डी (2004) तेलुगु और असमिया की शब्दावली : तुलना का संदर्भ-भाषा, अंक सितंबर-अक्तूबर केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली तथा महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा द्वारा 15-17 सितंबर 2004 को कन्याकुमारी में 'हिंदी साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन एवं मूल्यांकन संगोष्ठी में'' भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में बोड़ो समूह की भाषाओं का साहित्य' विषय पर प्रस्तुत आलेख।

उपर्युक्त विवेचन के परिपार्श्व में वर्तमान आलेख में मैंने मानवतावादी विचारकों की दृष्टिकोण से असमिया कविता के परिप्रेक्ष्य में उसके प्रतिपादन पर विचार करने का एक छोटा-सा और विनम्र प्रयास किया है। समयाभाव के कारण मैं असमिया काव्य प्रवृत्तियों पर चर्चा न कर केवल उन बिंदुओं पर सोदाहरण प्रकाश डालूँगा जो मानवतावादी विचारधारा की सीमा (Purview) में आते हैं।

बाबरी मस्जिद की घटना को लेकर धर्मांधता का विरोध करते हुए तथा दैवी शक्ति को नकारते हुए 'समीर तांती' अपनी लंबी कविता 'ईश्वर ने कहा' (अनुवादक-दिनकर कुमार) में यों कहते हैं : *मैं देवता या संन्यासी-किसी के लिए नहीं हूँ / प्रार्थना या क़ुर्बानी-किसी के लिए नहीं हूँ / तीर्थयात्रा या जुलूस-किसी के लिए नहीं हूँ / जो बच्चे आने के लिए राह देख रहे हैं / अयोध्या की मिट्टी में / उनके लिए तलाश रहा हूँ घर / वह कहाँ रहेगा मंदिर या मस्जिद में / या किसी गुमनाम शरणार्थी शिविर में / मैं अंधा होकर देख रहा हूँ अकेले / ईश्वर ने कहा!*

कवि ने अंतिम पंक्ति में कहा, ''दैवी शक्ति अगर कोई भी हो, तो वह अंधी है।''

'चंद्रकुमार अग्रवाल' मानव की महत्ता की प्रशंसा में अपनी कविता मानवबंधन में यों कहते हैं : *मनुष्य ही ईश्वर है, मनुष्य ही में दैवत्व है / और किसी में दैवत्व नहीं है / करो उसकी पूजा और चढ़ाओ भेंट। / गाओ तो उसकी महानता को लिए।*

एक दूसरी कविता 'विनबरगी' में कवि कहते हैं कि ''सभी पदार्थों का सिरमौर मनुष्य है। वह पृथ्वी को आनंदमय और स्वर्गधाम में बदल देना चाहते हैं; सभी असमानताओं, गंदगी तथा बुराइयों को दूर करते हुए।''

'मोइ विप्लवी मोइ तांडवी' कविता में एक प्रसिद्ध कवि अंबिका राय चौधरी समाज में पद, मर्यादा व ओहदे के वास्ते चल रही आपाधापी पर यों दुख प्रकट करते हैं : *लालसा पदवी, प्रतिष्ठा और अधिकार की / निगल रही है मनुष्य की मानवता को; / पददलित कर रही है आत्मा को / यौन आवेग तीव्रतर होकर / मनुष्य को पागल कर रहा है।*

एक और बहुचर्चित कविता 'मैं स्वतंत्रता का राजकुमार' में अंबिका राय चौधरी यों उद्घोष करते हैं : *मैं हूँ आज़ादी का राजकुमार / गुलामी की ज़ंजीरों को तोड़ डालूँगा / हिमालय की अबोधता को दूर कर लाऊँगा प्रकाश / सारी अवांछति सांसारिक वांछाओं को भस्मीभूत कर दूँगा / अपने देश को शांति सोपानों पर रख दूँगा।*

मनुष्य की अदम्य शक्ति का बखान करते हुए अमूल्य राय चौधरी ने अपनी कविता 'अंधकार का हाहाकार' (अनु. कृष्ण नारायण प्रसाद मागध) में यों कहा : *मैं पृथ्वी पुत्र, माटी का पुतला / धरती पर डग बढ़ाता हुआ / वास्तविकता की विकृत विपत्ति से ढँका / मेरी प्रतिकृति है / उस अँधेरे पथ पर बढ़ते ही जाना / अकेले अकेले।*

ज्ञानपीठ पुरस्कार ग्रहीता वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य निराशा में डूबी मानवता में आशा ज्योति जगाते हुए अपनी कविता 'खोल देगा प्रेम का द्वार' (अनु. चित्र महंत) में कहते हैं : *कहीं तो शांति है दोस्त, कहीं तो है प्रेम भी / कहीं से अकस्मात् / पाताल फोड़कर निकलेगी मंदाकिनी, / आशा है, आशा है अब भी / लक्ष्मण के आने का; डाल से चूकर पत्तियाँ / चैत में हो गईं मृत्मयी / तभी नंगी डालियों में चिन्मयी पत्तियाँ पुनः फूट चुकी हैं, लौट आई हैं, पुनः वह भगोड़ी कोयल।*

'प्रार्थना' कविता (अनु. कृष्ण नारायण प्रसाद, मागध) में 'नवकांत बरुआ ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगाते और मनुष्य के भोलेपन पर तरस खाते हुए व्यंग्य बाण संधान करते हुए ईश्वर को आख़िर ''X'' करार कर देते हैं। जैसे कुछ पंक्तियाँ देखिए : *ईश्वर ईश्वर / ईश्वर की*

तरह शून्य, ईश्वर / मंदिर के अगरू-धूप की / आड़ में है तुम्हारा वास।/... विविधालंकृत कर तुम्हारे गात्र / मानव ने ही तुम्हें किया है महान / तुम्हें बड़ा बनाते-बनाते मानव / स्वयं बन गया है बौना।/...हाय रे भोला मानव / और मानव के अबोध ईश्वर / तुम हो / मात्र 'प्रिमिटिव' मानव की अनुर्वर कल्पना / एक जीवित कुसंस्कार / मानव के बर्बर दिनों की दुखद स्मृति / ...फिर भी / तुम नहीं हो, कहने को साहस नहीं हमारा।/...ईश्वर / आख़िर क्या हो तुम / बीज गणित के मात्र "X"

होमेन बरगोहाईं अपनी कविता 'स्मृति' (अनु. कृष्ण नारायण मागध) में मनुष्य में निहित शक्ति व सामर्थ्य की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि : *यह मौन मृत्यु-लीला प्रकृति का प्राचीन नियम है / मैं ही हूँ मात्र उसका कठिन उद्धत व्यतिक्रम / मौत के अमोघ हाथ जब मुझे करते हैं स्पर्श / मेरे हृदय से निकलता है एक क्रुद्ध प्रतिवाद।*

तीर्थ स्थानों पर पानी के कुंडों में नहाते श्रद्धालु भक्तों को केंद्र में रखकर उदयकुमार शर्मा अपनी कविता 'उत्तर' (अनु. चित्र महंत) में व्यंग्य करते हैं कि : *कितने पानी में नहाने से मनुष्य बन सकता है देवता / क्या तुम उसका माप जानते हो / पुरोहित के पास आकर पूछा था / कुछ तितलियों ने।*

हिंदुओं के पुनर्जन्म विचार पर चोट करते हुए अपनी दीर्घ कविता 'इंफ़र्नो'[2] में दो वर्ष (अनु. नवारुण वर्मा) में कवि नवकांत बरुआ यों कहते हैं : *मैं तो पड़ा हूँ परेशानी में, इस हिंदू को लेकर / मैं तो चाहता था इसे पहले ही वलय में छोड़ जाना / क्योंकि मैंने सुना है, इसके देश के लोगों का विचार है / आत्मा दुनिया में बार-बार आती है और चली जाती बार-बार / कभी केंचुआ बनकर, कभी बनकर जानवर।*

---

[2] दांते कृत डिवाइन कॉमेडी काव्य।

ब्रह्मस्वरूप शर्मा

सूचना तकनीकी की आपेक्षता में साहित्य

सामाजिकता की प्रासंगिकता में व्यक्ति-जीवन में साहित्य की उपयोगिता प्रत्येक काल-खंड में विचार का विषय रही है। यह विचार उपयोगिता की भिन्न अवधारणाओं, स्थापनाओं और स्वरूपों को भी स्पष्ट करता रहा है। उपयोगिता को उसकी व्यापकता, संपूर्णता और प्रभावात्मकता में गहराने से स्पष्ट होगा कि व्यक्ति और समाज के बहुस्तरीय अंतर्संबंध उसमें समाहित हो जाते हैं। व्यक्ति-जीवन में आनंद की सत्ता का लोप भी उसमें हो जाता है। उपयोगिता के नकार में वास्तविकता की अवहेलना ही नहीं, सत्य-स्वीकृति से भी पलायन है। विचारणीय बिंदु उपयोगिता की स्थूलता नहीं, वांस्तविकता की सूक्ष्मता है। सत्य-भाष्य के भिन्न प्रयासों में साहित्य-रचना भी एक प्रयास है और इस प्रयास में ही साहित्य का सामाजिक-वास्तव अंतर्निहित हैं। जब सत्य-भाष्य के भिन्न साधन समान क्षमताओं से वास्तविकताओं को अर्थाते हैं तब सद्य प्रभावक साधन प्राय: अधिक सार्थक सिद्ध होता है। तुलनात्मकता प्रभावात्मकता की कोटियों को परिभाषित कर सकती है, साधन विशेष की विशिष्टता को नकार नहीं सकती। तुलनात्मक दृष्टि से साहित्य की सद्य सामाजिक प्रभावात्मकता विज्ञान, शास्त्रों, ललित कलाओं, तकनीकी शिक्षण-प्रशिक्षण आदि से कम हो सकती है किंतु अपनी मूल्यवत्ता में वह अपेक्षाकृत अधिक गुरुता, गंभीरता और निरंतरता समाहित किए होती है। वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियाँ सामाजिकता को जिस तीव्रता, व्यापकता, संक्रामकता और गुणात्मकता से प्रभावित करती हैं उतनी साहित्यिक उपलब्धियाँ नहीं। ललित कलाओं की प्रभावात्मकता भी साहित्य से अधिक ही आँकी जा सकती है। कारण स्पष्ट हैं। साहित्य मूलतः जीवन-मूल्य अन्वेषक, विश्लेषक, साधक और उपासक होता है और मूल्य प्रकृति में विवादास्पद होते हैं। उन्हें स्पष्टतर, ग्राह्य, सार्थक, प्रभावक और स्वीकार्य होकर समाज में प्रतिष्ठित होने में समय लगता है। तकनीकी उपलब्धियों से प्रतिस्पर्धा न करते हुए भी साहित्य निहित जीवन-मूल्य सामाजिकता की निरंतरता में व्यक्ति-जीवन अभीष्ट का आकलन करते रहते हैं।

1942 में जन्मे ब्रह्मस्वरूप शर्मा जी की सात पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें *हिंदी साहित्य और परिवेश, आँखों देखा अंडमान* उल्लेखनीय हैं। संपर्क : फ़्लैट 52, जे. डी. एम. अपार्टमेंट्स, प्लॉट-11, सेक्टर-5, द्वारका, नई दिल्ली-110075
फ़ोन : 25084951

पिछले दो-तीन दशकों से सूचना तकनीकी की उपलब्धियाँ संसार को गहनतर सघनतर और व्यापकतर रूप में प्रभावित कर रही हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो-तीन दशकों में औद्योगिकी, बाद के दो-तीन दशकों में राष्ट्रीय-सामाजिक चेतना, उसके बाद के कुछ वर्षों में वैश्वीकरण के सार्थक प्रयासों से भिन्न समाजों में बदलते परिवेश में मानव-मूल्यों की चेतना गहराई है। सामाजिकों की सोच में परिवर्तन आया है। फलस्वरूप साहित्य के स्थापित प्रतिमानों में भी अंतर आता गया है। आज एक सामान्य सामाजिक साहित्यकार से व्यक्ति और उसके परिवेश के संदर्भ में मानवीयता के भिन्न पक्षों पर तार्किकता से विचार करने की अपेक्षा करता है। वह तथाकथित स्थापित आदर्शों, मर्यादाओं और नियमों को सम सामयिकता में आँकने की अपेक्षा करता है। यह स्वीकारते हुए भी कि साहित्य का प्रभाव सूचना तकनीकी की भाँति सद्यप्रभावी नहीं होता, वह साहित्य को सामाजिकता-प्रभावी रूप में देखना चाहता है। पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंगों की समसामयिकता में व्यंजना चाहता है। साहित्य में कलात्मकता का प्रश्न पहले भी था और आज भी है। इस कलात्मकता की उपयोगिता की व्याख्या पहले से अब कहीं जटिलतर है। सूचना तकनीकी इस अर्थ में आज साहित्य के लिए एक चुनौती है। सद्य प्रभावात्मकता का आग्रह साहित्य के स्वरूप को भी बदल रहा है। दूरदर्शन के लिए लिखे जा रहे धारावाहिकों ने आकाशवाणी के लिए लिखे जा रहे और लिखे गए रेडियो नाटक, फ़ीचर, झलकी, रिपोर्ताज़, कहानी आदि साहित्य-विधाओं को भी पीछे छोड़ दिया है। साहित्य में नई विधाओं का आविर्भाव चिंता का विषय नहीं। चिंता का विषय साहित्य में अपेक्षाकृत गंभीरता का अभाव है। विवाद के लिए पर्याप्त अवसर होते हुए भी आकाशवाणी और दूरदर्शन जैसे प्रसार माध्यमों के लिए उपलब्ध कराई गई सामग्री को साहित्य के अंतर्गत नहीं लिया जा सकता। सूचना और मनोरंजन का आधिक्य साहित्य अपेक्षित गंभीरता को बाधित करता है। उन माध्यमों के लिए लिखना अपना एक महत्त्वपूर्ण कार्य हो सकता है, साहित्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली भी हो सकता है। साहित्य-गंभीरता और प्रभावात्मकता की कसौटी द्रुतगामिता नहीं, मूल्योपासना है। जीवन-मूल्य ही साहित्य-सृजन की विषय-वस्तु रहेंगे।

सूचना तकनीकी के इस युग में साहित्य निहित जीवन-मूल्यों को भी द्रुतगामिता के संदर्भ में विचारना होगा। इस विचार में हमारी मानसिकता भी अवश्य बाधित होगी। संस्कारों की जो अवधारणा रही है, उसमें कहीं झटका लग सकता है। सद्य प्रभावात्मकता और अपेक्षित गंभीरता में तालमेल नहीं भी हो सकता। यद्यपि तकनीकी उपलब्धियाँ वैज्ञानिक सिद्धियों का ही परिणाम होती हैं तथापि अपनी द्रुतगामी प्रभावात्मकता में वे जीवन-मूल्यों को प्रभावित करती हैं। जीवन-मूल्यों में यह परिवर्तन इतना सहज, स्वाभाविक, अनायास और अलक्षित होता है कि निर्णीत स्थितियाँ, अवस्थाएँ और व्यवस्थाएँ विवादास्पद बन जाती हैं। साहित्य में सृजनात्मकता इन्हीं विवादास्पद स्थितियों में उभरती है। तकनीकी में परिवर्तन सामाजिकता के स्वरूप में परिवर्तन का हेतु बनता है और यह हेतु जीवन-मूल्यों को प्रभावित करता है। सूचना तकनीकी की उपलब्धियों ने पिछले दो-तीन दशकों में सामाजिकता में क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं। फलस्वरूप संस्कारों, सोच और संस्कृति में परिवर्तन आए हैं। ये परिवर्तन पीढ़ियों के अंतर से भिन्न हैं। पीढ़ियों की सोच में अंतर बाह्य स्थितियों से इतना प्रभावित नहीं होता जितना निश्चित जीवन-मूल्यों में गहरी आसक्ति से किंतु सूचना तकनीकी की उपलब्धियों से उभरा यह अंतर जीवन-वास्तविकताओं को ही विवादास्पद बना रहा है। इन उपलब्धियों से समाज का जो स्वरूप उभर रहा है वह जीवन-मूल्यों को विकृत

कर रहा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि कहीं विकृतियाँ लक्षित भी हो रही हैं, तो वे हमारी दृष्टि दोष का ही परिणाम हैं। इस संदर्भ में विचारणीय बिंदु जीवन-मूल्यों में परिवर्तन का नहीं, परिवर्तित जीवन-मूल्यों में उभर रही मानवता का है।

यह कहना भ्रामक है कि सूचना तकनीकी के प्रभाव से मानवता कुप्रभावित हो रही है। सच तो यह है कि आज मानवता अपने सघनतर, घनिष्ठतर और उदात्त रूप में उभर रही है। जटिलतर सामाजिकता में मानवीय संवेदनाएँ नित्य नए रूप धारण कर रही है। लिजलिजी भावुकता से मुक्त साहित्यकार परिवेश की सघनता में इन संवेदनाओं को अपेक्षाकृत अधिक वैचारिकता में उभार रहे हैं। रसात्मकता का आग्रह कम हुआ है। कलात्मकता के रूढ़िवादी प्रतिमान भी शेष हो रहे हैं। विषयवस्तु प्रतिपादन में सैद्धांतिकता शिथिल हुई है। दूसरी ओर कोरी मनोवैज्ञानिकता, निर्वैयक्तिकता और अस्तित्ववाद भी लुप्त हो रहे हैं। आज साहित्यकार व्यक्ति और समाज के अंतर्संबंधों को अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशीलता में उभार रहे हैं। तार्किकता के कारण सतही तौर पर लगता है कि साहित्यकार की संवेदनशीलता शिथिल हो रही है। सूचना तकनीकी के नित्य नवीन गंभीर प्रभाव से तीव्रतर परिवर्तित सामाजिक परिवेश में मानवीय संवेदनाएँ भी सूक्ष्मतर, जटिलतर और तीक्ष्णतर होती जाती हैं। इन स्थितियों में मानव-मूल्यों का आकलन भी सद्य प्रस्तुत प्रश्नों के आधार पर ही हो सकता है। मानवीय विकारों, आचारों और अपेक्षाओं से संवेदनाओं को विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। परंपरागत आचारों के निर्वाह में आए व्यवधान मूल्य-संक्रमणता के परिणाम हैं। सूचना तकनीकी और साहित्य में पारस्परिक विरोध नहीं अपितु मैत्री है। पिछले दो-तीन दशकों के साहित्य विशेषतः कहानियों और उपन्यासों में भावुकता के प्रति विद्रोह उभरा है। इस विद्रोह में मानवीयता अधिक सजगता, सतर्कता और मूल्यवत्ता में उभरी है। मानवीय संवेदनाएँ काल, देश और परिवेश की प्रतिच्छाया में उभरती हुई भी वैश्वीकरण की अवधारणाओं के प्रतिकूल नहीं। आज व्यक्ति का व्यक्तित्व केवल लक्षित स्थितियों से ही नहीं, अलक्षित स्थितियों से भी निर्मित हो रहा है। वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं में सूचना तकनीकी साहित्य को मानवीय संवेदनाओं के संदर्भ में गंभीर रूप में प्रभावित कर रही है।

सूचना तकनीकी सत्य को पाने, अर्थाने और गहराने के लिए जिन साधनों, उपकरणों और मानकों का उपयोग करती है, वे साहित्य से भिन्न हैं। यह भिन्नता प्रयोगों, प्रक्रियाओं और माध्यमों में भी भिन्नता ला देती है। परंपरा प्राप्त सत्य जब इन भिन्नताओं में आँका जाता है तब रागात्मकता व्यथितं होती है। यद्यपि यह व्यथा अपनी धारणाओं के विपरीत घटित वस्तु स्थितियों का परिणाम है तथापि प्रस्तुत परिणाम विचारणीय अवश्य है। सभ्य सामाजिकता रागात्मकता की उपेक्षा नहीं कर सकती। रागात्मकता की शून्यता में सत्य साधना महत्तर होकर भी सहज नहीं हो सकती। सामाजिंकता सामान्य को ही वरेण्य मानकर सार्थकता प्राप्त करती है। नितांत बौद्धिकता वैज्ञानिकता और शास्त्रीयता हो सकती है किंतु सामाजिकता इनके साथ रागात्मकता की अपेक्षा भी करती है। नितांत बौद्धिकता से अर्जित सत्य सामाजिकता का सहज प्राप्य नहीं बन पाता। यह सहजता उसे रागात्मकता से ही प्राप्त होती है। आज सूचना तकनीकी से उपलब्ध सत्य इस सहजता की अपेक्षा करता है। साहित्य अपनी रागात्मकता में उसे शनैः शनैः सामान्य और सहज बना भी रहा है। साहित्य-विधाओं में आ रहा परिवर्तन इसका साक्षी है। किसी भी प्रक्रिया को सहज और सामान्य होने में समय लगता है। सत्य-संधान की तकनीकी सूचनागत प्रक्रियाएँ रागात्मकता की विरोधी नहीं, पूर्व धारणाओं के कारण वे हमें विरोधी-सी प्रतीत

ती हैं। वैज्ञानिकता हमारी रागात्मकता को भावित अवश्य करती है। संवेदनाओं में आया र संवेदनाओं की स्थितियों, स्वरूपों और ों में परिवर्तन करता है, उन्हें शेष नहीं करता। स्तुत जटिलतर सामाजिकता में सूचना तकनीकी की उपलब्धियाँ हमारी रागात्मकता को प्रभावित करती हमारी संवेदनाओं में परिवर्तन ला रही हैं। न्हें शेष नहीं कर रहीं।

सूचना तकनीकी की उपलब्धियों ने हमारे सौंदर्य बोध को प्रभावित करते हुए साहित्य विषयक सोच को भी परिष्कृत किया है। सुपठित, सुसंस्कृत और शिष्ट सामाजिक ही नहीं, साधारण एवं सामान्य शिक्षित नागरिक भी आज साहित्यकार से अपेक्षा करता है कि वह जीवन को उसकी वास्तविकताओं में चित्रित करे। आनंद की अवधारणा में भी परिवर्तन आया है। मनोरंजन विनोद तक सीमित न रहकर चित्त परिष्कार तक विस्तृत हुआ है। तथाकथित ग्राम्यत्व में नगरीय संस्कृति ने घुलकर रुचियों को परिष्कृत किया है। पौराणिक प्रतिमान आज भी सौंदर्य-बोध जागृत करते हैं किंतु समसामयिकता की चेतना शून्य नहीं होती। कहना होगा कि सूचना तकनीकी जहाँ जीवन-मूल्यों को आंदोलित कर रही है वहीं सौंदर्य-बोध को भी तीक्ष्णतर कर रही है। निरंतर परिवर्तित सामाजिक परिवेश में ये जीवन-मूल्य नई सौंदर्य चेतना में उभर रहे हैं। अपने परिवेश में विशिष्ट चरित्रों के माध्यम से जीवन-स्थितियों को उकेरता साहित्यकार विश्व घटित व्यापारों की व्यापकता में जीवन-मूल्यों का रूपायन करता है। सौंदर्य-बोध और सौंदर्य-चेतना को यदि अंतश्चेतना एवं बाह्य स्थितियों दोनों की अंतरंगता में लें तो विदित होगा कि बाह्य परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में मानव जीवन की एक भव्यतर कल्पना है। वैश्वीकरण की अवधारणा और तत्संबंधी प्रयासों में उदात्त जीवन-मूल्यों का आग्रह निहित है। वह आग्रह सौंदर्य चेतना को परिष्कृत करते हुए मानवता को नए आयाम दे रहा है। आज साहित्य में शाश्वत का आग्रह प्राचीनता-प्रसंगों में नहीं, समसामयिकता के संदर्भों में उभर रहा है। साहित्यकार अतीत के मोह से मुक्त होकर समसामयिकता में मानवता को उकेरते हुए भविष्य का मार्ग प्रशस्त कर रहा है।

सूचना तकनीकी के इस युग में ही नहीं, औद्योगिक क्रांति के दौरान भी साहित्य के अस्तित्व पर संदेह व्यक्त किए गए। कभी कविता, कभी कहानी, कभी साहित्य की अन्य विधाओं के संदर्भ में साहित्य को जीवन-वास्तविकताओं से जूझने में असमर्थ पाया गया। इस प्रकार के संदेह उन्हीं विचारकों और चिंतकों ने व्यक्त किए जो भाव-जगत की सत्ता को ही संदेहास्पद मानते हैं अथवा विचारों को भावों से श्रेष्ठतर मानते हैं। विज्ञान और शास्त्रों को वास्तविकता दर्शक और साहित्य को नितांत कल्पनाशील मानने से इस प्रकार की भ्रांतियाँ होती हैं। भाव जगत कल्पना की सत्ता को नहीं नकारता। भाव में कल्पना निहित है किंतु यह कल्पना वास्तविकता-प्रस्फुटित है, वायवीय नहीं। वायवीयता को साहित्य में कभी सराहा नहीं गया। साहित्य में कल्पना सृजनात्मकता को उभारती है। वह वास्तविकता को परिवेश की प्रासंगिकता में नवीनतम रूप में प्रस्तुत करती है। साहित्य के उपकरण निश्चित ही विज्ञान और शास्त्रों से भिन्न हैं। प्रस्थान बिंदु से गंतव्य तक पहुँचने के उनके मार्ग भी भिन्न हैं; उपलब्धियाँ भिन्न हैं किंतु मानव-कल्याण ही अंततः उनका उद्देश्य है। विज्ञान में विनाशकारी यंत्रों, उपकरणों और शास्त्रों में विकास विरोधी विचारों का समावेश हो सकता है किंतु साहित्य में कलुषिता के लिए अवसर नहीं। परिवेश, प्रसंग और आग्रहवश यदि कहीं यह कलुषिता आ भी जाती है तो वह सदैव निंदनीय रहती है। साहित्य में बीभत्स भी अंततः सौंदर्य में परिणित होता है। वैचारिकता में भावात्मकता की स्वीकृति

रसात्मकता, रागात्मकता और रमणीयता की स्वीकृति है और यह स्वीकृति ही मानवता को सांसारिकता में प्रतिष्ठित करती है। सूचना तकनीकी भावात्मकता को नए संदर्भों और प्रसंगों में गहराकर साहित्य को नए अर्थ प्रदान कर रही है।

सामाजिकता के संदर्भ में साहित्य की उपयोगिता पर सूचना तकनीकी की क्रांति से पूर्व भी प्रश्न उठाए जाते रहे हैं। विज्ञान और शास्त्रों की समकक्षता में साहित्य को स्वीकारने में प्राय: संकोच रहा है। महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में साहित्य में प्राय: ऐसे विद्यार्थी ही प्रवेश लेते रहे हैं जो सूचना तकनीकी, प्रौद्योगिकी, प्रबंधन, चिकित्सा ही नहीं, भौतिकी, रसायन, वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र आदि जैसे विज्ञान विषयों और वाणिज्य में अपने को कुशल सिद्ध नहीं कर सके हैं। इससे पूर्व भी कला संकाय के अन्य अनेक विषयों में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ विद्यार्थी ही प्रवेश पाते रहे हैं। साहित्य के विभागों में यदि कुछ प्रवीण विद्यार्थी मिल भी जाते हैं तो वे भाषा-शिक्षण, अनुवाद, पत्रकारिता या दूतावासों में अपना स्थान खोजते हैं। भारत में अंग्रेज़ी का महत्त्व उसके साहित्य के कारण नहीं, भाषा के कारण है। अंग्रेज़ी साहित्य का विद्यार्थी साहित्य-शिक्षण और साहित्य-अनुसंधान में अपना इतना उज्ज्वल भविष्य नहीं देखता जितना भाषा-शिक्षण में। संप्रति सूचना तकनीकी और प्रबंधन मेधावियों को आकर्षित कर रहे हैं। बड़े-बड़े उद्योगों, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों, शोध संस्थानों, कार्यालयों आदि में ही नहीं, भिन्न स्थानों के नित्य के छोटे-बड़े कामों में कंप्यूटर का निरंतर बढ़ता उपयोग सूचना को वैज्ञानिकता और शास्त्रीयता प्रदान कर ज्ञान के नए क्षितिज खोल रहा है। सूचना अब उपकरण नहीं, स्वयं सिद्ध ज्ञान है, विज्ञान है। वह हेतु नहीं, परिणाम है। सूचना तकनीकी की व्यापकता, विशालता और सार्वभौमिक प्रभावात्मकता से आतंकित होने के स्थान पर हमें उसके संदर्भ में साहित्य की सत्ता की समीक्षा करनी है।

यह मानव प्रकृति है कि परंपरा, पूर्वपरता और निरंतरता से किंचित् भिन्न यदि कुछ दीख पड़ता है या होता है तो हम उस भिन्न को सहज स्वीकार नहीं पाते। परिवर्तन के प्रत्येक चरण में प्रथम दृष्टया हमें स्वाभाविक अस्वाभाविक प्रतीत होता है। परिवर्तन को भी हम उसकी स्वाभाविकता में तभी स्वीकार पाते हैं जब वह हमारे दैनंदिनी जीवन की आवश्यकता बन जाता है। सूचना तकनीकी के इस युग में हम अपने भाव-बोध को परिवेश की प्रासंगिकता में भली-भाँति आंक नहीं पा रहे हैं। फलस्वरूप रागात्मकता प्रस्तुत वास्तविकताओं में संदेहास्पद प्रतीत हो रही है। साहित्य में उभर रही वास्तविकताएँ परिवेश की प्रतिच्छायाएँ हैं और वे हमारी परिष्कृत सौंदर्य-चेतना की प्रतीति हैं। यह हम सूचना तकनीकी के आतंक में भली-भाँति लक्षित नहीं कर रहे। सूचना तकनीकी की व्यापकता से रागात्मकता शेष नहीं हो रही अपितु नए भाव-बोधों में उभर रही है। रागात्मकता व्यक्ति-जीवन की अशेष आवश्यकता है। वह सामाजिकता का अपरिहार्य अंश है, निर्विवाद धर्म है। व्यक्ति की वैयक्तिकता रागात्मकता से ही संपन्नता पाती है। यही रागात्मकता उसे सामाजिकता से युक्त करती है। व्यक्ति-व्यक्ति के अंतर्संबंधों में यही रागात्मकता प्रवाहित रहती है। सामाजिकता के सूत्र इसी रागात्मकता से दृढ़तर होते हैं। भिन्न उपकरणों, साधनों और माध्यमों की उपलब्धता में परिवेशगत परिवर्तन होते रहते हैं, सामाजिकता भिन्न आयामों, स्वरूपों और परिभाषाओं में उभरती रहती है किंतु इनसे रागात्मकता शेष नहीं होती। रागात्मकता व्यक्ति-मन प्रवाहित जीवन-धारा है, उसकी सत्ता का प्रमाण है। सूचना तकनीकी की सापेक्षता में पिछले दो दशकों में हमारी रागात्मकता अपेक्षाकृत अधिक जीवंतता, सजीवता सबलता और सार्थकता में उभरी है।

हमारी वैश्वीकरण की चेतना अधिक परिष्कृत हुई है।

सूचना तकनीकी ज्ञान का विस्तार है, साहित्य ज्ञान का भावगत अध्ययन है। ज्ञानोपलब्धि सामाजिकता के संदर्भ में ही जीवनोपयोगी होती है। साहित्य का प्रतिपाद्य ही व्यक्ति-जीवन है। ज्ञान और भाव व्यक्ति और समाज पारस्परिक संबद्धता में ही अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं, पृथकता नहीं। कोरा ज्ञान मात्र बौद्धिक व्यायाम है और लिजलिजी भावुकता नितांत आत्मरोदन। इधर न व्यक्ति समाज की सत्ता को नकार सकता है और न ही समाज व्यक्ति-अस्तित्व की अवहेलना कर सकता है। सूचना तकनीकी मात्र यांत्रिक उपलब्धि नहीं, रागात्मकता में विलीन होकर सामाजिकता को सौष्ठव प्रदान करती है। सूचना तकनीकी की उपलब्धियों से प्रबंधन में जो कौशल आया है उससे सामाजिकता ही नए आयामों में नहीं उभरी है, व्यक्ति की सोच और उसके जीवन-दर्शन में भी अंतर आया है। ज्ञान-विस्तार से प्रभावित भावात्मकता ने साहित्य-सृजन के नए क्षितिज दर्शाए हैं, साहित्य-अध्ययन और मूल्यांकन की समझ को गहराया है। भिन्न साधनों की सापेक्षता में रागात्मकता के भिन्न स्तर साहित्य विषयक रुचि को परिष्कृत करते जीवन-मूल्यों में आस्था को गहरा रहे हैं। परिवेश-परिवर्तन में जीवन-मूल्यों की चेतना कुंठित नहीं हुई है अपितु उसमें तीक्ष्णता आई है। आज रागात्मकता और बौद्धिकत्ता विपरीत ध्रुवों में नहीं पहचानी-परखी जाती अपितु साधनों की सापेक्षता में उनमें समन्वय खोजा जाता है। जीवन को उसकी सर्वांगीणता में विचारना इस समन्वयात्मकता का हितकर परिणाम है।

भारत में साहित्य-सृजन जीविकोपार्जन का साधन नहीं रहा है। अपवादस्वरूप कुछ साहित्यकारों ने साहित्य-सृजन से अर्थोपार्जन किया है। साहित्य का पठन-पाठन भी अर्थोपार्जन का आकर्षक क्षेत्र नहीं रहा। साहित्य की उपयोगिता विषयक संदेह प्रायः अर्थोपार्जन की दृष्टि से ही उठाए जाते हैं। सामाजिकता, व्यक्तित्व विकास, सांस्कृतिक चेतना और राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में जीवन मूल्य परिष्कार के संदर्भ में जिस सम्यक् दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह साहित्य से ही प्राप्त होती है। ज्ञान-विज्ञान की भिन्न शाखाएँ सामाजिकता, मानव-सभ्यता-विकास, औद्योगिकी आदि की विशिष्ट शाखा एवं क्षेत्र को लेकर विकसित होती हैं। साहित्य मानवता को उसकी सर्वांगीणता में ग्रहण करता है। जीवन मूल्यों की चिंता साहित्यकार ही करता है। उसका सृजन जीवन मूल्यों को रूपायित करता है। व्यक्ति अपने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में ज्ञात-अज्ञात रूपों में उन जीवन मूल्यों से ही संचालित होता है। वे उसे धरोहर रूपों में पूर्वज साहित्यकारों, दार्शनिकों एवं चिंतकों से मिले होते हैं। निस्संदेह वैज्ञानिक एवं तकनीकी उन्नति सामाजिक जीवन को अधिकाधिक सुविधा संपन्न बनाती है किंतु उस संपन्नता में मानवता का संरक्षण जीवन मूल्य ही करते हैं। ये जीवन मूल्य हमें साहित्य से मिले होते हैं। सुविधा-संपन्नता जीवन मूल्यों में निखार लाती है। उन्हें सामाजिक सापेक्षता में अधिकाधिक ग्राह्य बनाती है। भौतिकता और आध्यात्मिकता में प्रतिद्वंद्विता और विरोध दर्शाकर कुछ विचारक व्यक्ति-जीवन में विडंबनाएँ उत्पन्न कर देते हैं। भौतिकता और आध्यात्मिकता दो ध्रुव नहीं, दो कोण हैं। इन कोणों की रेखाएँ भिन्न होते हुए भी उनका उद्गम बिंदु एक है। सूचना तकनीकी की व्यापकता से साहित्य के अस्तित्व को कोई संकट नहीं। उसकी सापेक्षता में उसका स्वरूप निखर ही रहा है, विकृत नहीं हो रहा। हमारे समस्त प्रयत्न मानवता को संपन्नतर बनाने हेतु होते हैं। सूचना तकनीकी और साहित्य अपनी विशिष्टताओं में इस दिशा में ही अग्रसर हैं। वे परस्पर प्रतिद्वंद्वी नहीं, सहयोगी एवं सहभागी हैं।

बिपिन बिहारी मिश्र

वाटरलु के अवसान पर

कड़क हाकिम की दोनों आँखें बाज पक्षी की तरह सजग और तीक्ष्ण हैं। पूरे ज़िले में कहीं एक पत्ता भी खड़कता है, तो उनके दोनों कान खड़े हो जाते हैं। दुर्नीति, कालाबाज़ारी, जुआ-चोरी की गंध और महक उनकी नाक में पहले ही दस्तक दे देती हैं। थोड़ा-सा भी सूराख़ मिलते ही झपट लेते, बाँध कर घसीटते हुए थाने ले आते। बस फिर क्या पूरे ज़िले में हलचल मच जाती। सभी दंग। जहाँ सारे अख़बार प्रशंसा के पुल बाँधते रहते, वहीं सहकर्मियों का दिल ईर्ष्या से भर उठता।

इससे पहले इस तरह के ज़िला पुलिस प्रमुख को कभी देखा नहीं गया था, और ना ही सुना गया था ऐसा बड़े बुजुर्गों का कहना था। उनके साथ जुटे हैं ज़िलाधिकारी, 'संगच्छद संबध्वज, संबोमनासि जानंथ' वाणी में दीक्षित होकर यह दोनों बैलों की जोड़ी ख़ूब तेज़ गति से शासन को खींच लिए जा रहे थे। दुर्नीति की ख़बर अपने आप चलकर उनके पास पहुँच जाती। कहाँ चोरी का सिमेंट पहुँचा, कहाँ चीनी छुपाई गई है, कहाँ से लोहे के सरिए बाहर भेजे गए आदि आदि। ज़्यादा से ज़्यादा गुप्त संदेश देकर दूसरों को जड़ से उखाड़ फेंकने की होड़ में लगे लोगों का फ़ायदा यह दोनों उठा रहे हैं।

चारों तरफ़ एक ही ख़बर फैल रही है कि कड़क हाकिम ज़िद में अड़े हैं कि ज़िले से सारे अपराधियों को उखाड़ फेंकेंगे। काला बाज़ार को ख़त्म कर देंगे। ज़िले में चोरी-डकैती बंद करा देंगे। आएँ चाहे जितनी भी बाधाएँ, धमकी भरी चिट्ठियाँ, कोई परवाह नहीं। सुमेरू पहाड़ की तरह बैठे हैं दोनों अटल, अविचलित, शांत, स्थिर।

उस दिन एक गोपनीय ख़बर पहुँची। लंबी चिट्ठी। साथ में एक नक़्शा। सुंदर लिखावट में एक अपरिचित संवाददाता ने भेजी है पक्की ख़बर। महाजन नरिदास के घर में चोरी का सोना मौजूद है। सिर्फ़ ओड़िशा ही नहीं, बिहार, बंगाल के चोर-डाकू इन्हें सोना बेचते हैं। पर वह है छुपा रुस्तम। जैसा बाहर से दिखता है, वैसा वह है नहीं। दिखने में मज़दूर की तरह, मैला अँगोछा, कंधे पर डाले रहता है, खाता है बासी रोटी और नमक, पर सोने के कमरे की अलमारी ज़रा खिसकाकर देखिए वहाँ कितनी बड़ी टनल!

ओड़िया साहित्यकार बिपिन बिहारी मिश्र के दस कहानी-संग्रह पाँच उपन्यास प्रकाशित। ओड़िया साहित्य आकादमी तथा अन्य कई पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : राज्य पुलिस मुख्यालय, कटक (ओड़िशा)

अनु. सुजाता शिवेन का जन्म 1962 में हुआ। हिंदी-ओड़िया में परस्पर अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : 49-बी, रानी विला गणेश नगर II एक्सटेंशन, गली नं. II, शकरपुर, दिल्ली-110092

और फिर एक कमरा। बिलकुल पक्की ख़बर दी है संवाददाता ने। इतना सोना मिलेगा कि तराज़ू का काँटा भी टेढ़ा हो जाएगा।

हाकिम कुछ पल चुप बैठे रहे। ऐसे मौक़े को हाथ से क्यों जाने दें? अख़बार की आधी जगह तो बस यही ख़बर ले लेगी। दुष्ट समालोचकों का मुँह हमेशा के लिए काला पड़ जाएगा। सौ वोल्ट-सी दिखनेवाली नौकरी रातों-रात हज़ार वोल्ट का प्रकाश देने लगेगी। बस युद्ध का आयोजन करना होगा। सही सेनापति चुन लेने पर युद्ध फ़तह समझो। ज़िलाधिकारी को फ़ोन मिलाया। ख़ूब धीमे और इशारे से बात समझाई। बहरे का भाई बहरा, इशारों को ठीक-ठाक समझ गया। कमर कसकर 'युद्धं देही' की पुकार करते ज़िलाधिकारी महोदय तशरीफ़ ले आए। पीछे और दो तीन गुर्गे भी थे। किलो का किलो जब सोना मिलना है, तो आयकर विभाग को भी क्यों ना मालूम हो? और केंद्रीय आबकारी विभाग? वे भी आएँ। मित्र रेशों की सामरिक सेना ने जैसे जर्मनी के ऊपर चारों तरफ़ से आक्रमण किया था, ठीक उसी तरह सारे विभागों का आक्रमण दुष्ट, पापी, पातमी नरिदास के ऊपर होगा। वह जानेगा और साथ ही जानेगा सारा ज़िला कि ज़िले के किसी भी कोने पर एक पत्ता भी गिरे तो हाकिम के कान में बम का धमाका होता है। अरे ओ दुर्नीतिग्रस्त अपराधियों, सावधान हो जाओ!

सदर महकमे से चालीस मील दूर उस गाँव की तरफ़ कूच किया एक विराट जुलूस, पुलिस जीप पर लिखे हुए 'पुलिस' शब्द पर गोंद लगाकर काग़ज़ चिपका दिया गया। आक्रमण होगा अचानक, चुपके से, ताकि अपराधी हतप्रभ रह जाए। सभी बिरजा देवी के मंदिर तक पहुँच गए। वहाँ गाड़ी खड़ी की गई। बात को और भी गुप्त रखने के लिए किसी ने लुंगी पहन ली तो किसी ने सिर पर पगड़ी बाँध ली। बरसात का दिन था। खेतों की मेंड़ के सहारे चलना होगा। जूता पहनकर कैसे जाया जाए? सौ सबने ख़ाली पाँव चलना शुरू किया। बिना टॉर्च जलाए चलते हुए गाँव में पहुँचकर अचानक मकान को घेर लेना होगा। सबसे पहले ज़िलाधिकारी और उनके पीछे एक लाइन से बाक़ी थे। अँधेरी रात थी। दबे पाँव सभी चल रहे थे। अचानक 'धप' की आवाज़ हुई। सेनापति गिर गए थे। मेंड़ को काटकर मुगुरा (मछली पकड़ने का एक प्रकार का जाल) बनाया है किसी दुष्ट गँवार ने। एक लाल-बत्ती लगा नहीं सकता था? सिर मुँडाते ही ओले पड़ने लगे। पर ज़िलाधिकारी की इसमें कोई ग़लती नहीं है। कीचड़ भरे रास्ते में सावधानी न बरतें तो आफ़त का आना निश्चित है। यूँ भी ऐसे खेतों की मुँडेर पर गाँव वाले भी अकसर गिर जाते हैं तो फिर हम शहरवासियों की क्या बिसात। इस तरह के सांत्वना भरे शब्दों की फुसफुसाहट सुनकर ज़िलाधिकारी आश्वस्त हुए। इसी तरह फिसलते सँभलते अपने सहकर्मियों के साथ वह गाँव की सीमा पर जा पहुँचे।

नरिदास के परिवार में सदस्य कम ही थे। मध्यवयस्का पत्नी, ग्यारह साल का लड़का, पाँच साल की लड़की, बूढ़े दादा जी और रसोइया, नौकर, बनिहार मिलाकर दो-चार प्राणी और थे। दादा जी ने ही पाल-पोसकर इतना बड़ा किया। हाथ में बही-खाता पकड़ाया और महाजनी सिखाई। उद्योगी बालक सब कुछ जल्दी सीख गया। दादा जी को विद्या में ठीक उसी तरह पछाड़ दिया जिस तरह अर्जुन ने भीष्म को पीछे छोड़ दिया था।

आसपास के साठ गाँवों में अपनी तरह के वही एक परोपकारी व्यक्ति हैं। किसी की बेटी का ब्याह है, किसी को ज़मीन ख़रीदनी है, किसी को कोर्ट-कचहरी करना है तो ऐसे और अनेक शुभ काम नरिदास के रहते कभी रुक नहीं सकते थे। खुले हाथ वे ऋण देते। सोना गहना बंधक रखकर 15 प्रतिशत सूद पर क़र्ज़ा देना तो दुनिया का नियम है, और फिर उन्होंने ऐसा किया तो क्या पाप किया?

वे साठ गाँव उनकी उँगली की गिनती में थे। ती हुई आग को जलाकर, क़ानून के अंधेपन का फ़ायदा उठाकर, वे जब चाहें रुपए के कृत्रिम अभाव की सृष्टि कर सकते हैं। और फिर ऐसे ज़रूरतमंद, बेबस और गरजू इंसानों को ऋण देकर सहायता करते हैं। इस सारे बंदोबस्त के चलते हर दिन उनके यहाँ लक्ष्मी का आगमन होता रहता है।

उस दिन रात आठ बजे अपना नित्य कर्म निपटाकर चिकट भरा अँगोछा पहनकर नरिदास बरामदे में बैठकर माला जप रहे थे कि अचानक कुछ अपरिचित व्यक्तियों ने घेर लिया। बिना विचलित हुए नरिदास ने उन सबका परिचय पूछा, "मैं ज़िलाधिकारी और यह हैं ज़िला पुलिस अध्यक्ष" यही उत्तर मिला उन्हें। इतने बड़े-बड़े लोगों का पाँव उन जैसे ग़रीब की झोंपड़ी पर पड़ा, इसके लिए दास ने कृतज्ञता जताई। सम्मानित हाकिमों के परिदर्शन के चलते सारा इलाक़ा गौरवान्वित हुआ ऐसा विनीत मत भी व्यक्त किया। घर के सारे दरवाज़े तुरंत खोलने का आदेश दिया। गोदाम वह ख़ुद खोलने जा रहे थे, पर हाकिम तो सारी ख़बर लेकर आए थे, समय बर्बाद क्यों करें? सीधे शयनकक्ष की तरफ़ बढ़ चले। वहाँ पहुँचकर अलमारी हटाने का आदेश दिया। यह क्या अलमारी के पीछे है एक टनल? घुटनों के बल रेंगकर दोनों सेनापति अंदर घुस गए। उनके पीछे चले रामभक्त हनुमान। सच में ही मिट्टी के अंदर एक अँधेरी कोठरी बड़े यत्न से बनाई गई है। पक्की चट्टान को छह इंच खोदते ही सोना निकलेगा। ख़बरिया ने पहले से ही बता दिया है, तो फिर देर किस बात की? लाओ संबल लाओ खोदो। दुम-दाम, ठन-ठान का शब्द चारों ओर गूँजने लगा। पसीने की परवाह किसे है? दोनों हाकिम कोने में खड़े होकर आँखें फाड़े देख रहे हैं कि अब माल निकला कि तब निकला। छह इंच खुदा, सात इंच खुदा करते-करते आसपास एक फ़ुट का गड्ढा खुद गया। पत्थर की बुत बने डरे सहमे नरिदास खड़े हैं कि हथकड़ी अब पड़ी की तब पड़ी। पर माल है कहाँ? खुदाई अनवरत चल रही है। ईंट, सफ़ेद पत्थर, काले पत्थर इस तरह के खनिज पदार्थों की ढेरी लगती जा रही है पर सोना है कहाँ?

"कहाँ रखे हो सोना?" साहब गरजे। "हुज़ूर लंका में हरिनाम! जीवन में पीतल भी नहीं देखा हूँ। सोना कहाँ से पाऊँगा?" नरिदास हाथ जोड़कर बोले। सभी को बाहर भेजकर दोनों हाकिमों ने आपस में विचार-विमर्श किया। यह साधारण गँवई महाजन क्या खाकर हमसे टक्कर लेगा? तू डाल-डाल तो हम पात-पात। जाओ जाकर सारे घर की तलाशी लो—आदेश दे दिया गया। अधीनस्थ सभी कर्मचारी यहाँ आने से पहले मिशन की जोश में आधा-अधूरा खाकर दौड़े चले आए थे। पर यहाँ आकर जो निराशा हाथ लगी, तो जोश ठंडा पड़ गया। अब उन्हें भूख सताने लगी थी। पर हुक्म तो हुक्म है। मरता क्या ना करता हुक्म पाते ही सभी अपने काम में जुट गए। हनुमान के पहली बार लंका दर्शन के समय हुए कांड की पुनरावृत्ति होने लगी। खाट पलटकर, बिस्तर, चटाई फेंककर, दीवार की फ़ोटो उखाड़कर पूरे कमरों की छानबीन की गई। बार-बार हाकिम हुक्म देते जा रहे हैं, पर कहाँ? कैसा दुर्योग है? एक टुकड़ा सोने का भी कहीं नामोनिशान नहीं है।

डेढ़ घंटे की कसरत पर पानी फिरने वाला है अब तो। उधर अष्टमी का चाँद आसमान पर चमकने लगा है। लौटना होगा। बैठक में सभी एकत्रित हुए। अचानक लकड़ी की अलमारी पर हाकिम की नज़र पड़ गई। उसे खिसकाने का आदेश दिया। शंका का समाधान तुरंत हो गया। परिश्रम सार्थक हुआ। अलमारी के पीछे है एक और कमरा। उस पर पुराने ज़माने का बड़ा-सा लोहे का ताला लगा हुआ है।

''अच्छा, तो असली चीज़ यहाँ छुपाकर रखी गई है, और हम अब तक इधर-उधर ढूँढ़ रहे थे।'' थानेदार बाबू ने मत व्यक्त किया। ''खोलो खोलो जल्दी खोलो।'' आदेश दिया गया। संदेह तब और गहरा हो गया जब नरिदास ने कहा कि चाबी नहीं मिल रही है। पाँच मिनट दिए गए चाबी ढूँढ़ने के लिए। और उसके बाद ताला काटने का आदेश। लंबी आरी लेकर तीन सिपाही आधे घंटे की कसरत के बाद ताले को काट पाए। अब दरवाज़ा खुला, अंदर घना अँधेरा व्याप्त था। बिजिन जापान की धरती पर जिस तरह जनरल मैक आर्थर ने क़दम रखा था, ठीक उसी तरह ज़िलाधिकारी कमरे के अंदर घुस गए। उनसे थोड़ी दूरी बनाए रखकर ज़िला पुलिस प्रमुख अंदर घुसे। चार-छह टॉर्च लाइटें एक साथ जलीं। कमरा सीलन की गंध से भरा था। छत तक पुआल का ढेर। चार-छह बाँस पुआल के अंदर घुसेड़े गए। दो-तीन मिनट की मेहनत के बाद चार-पाँच कठोर चीज़ों पर बाँस का अगला भाग टकराया। पुआल को हटाकर देखा तो छह-सात ईंट के टुकड़े मिले। मिशन जहाँ से शुरू हुआ था वहीं आकर ख़त्म हो गया।

''पुआल ही रखे थे तो ताला क्यों लगाया था?'' हाकिम बिगड़कर बोले। नरिदास हाथ जोड़कर बोले, ''हुज़ूर मुझसे यही एक ग़लती हो गई। उसके लिए आप जो सज़ा मुझे देना चाहें दीजिए, सिर झुकाकर मैं सह लूँगा।''

छान-बीन का काम अब ख़त्म हुआ। जीवन में पहली बार दोनों हाकिमों ने वाटरलु क्या होता है यह जाना। प्रत्यागमन हुआ फिर वही कीचड़ भरे मेंड़ो के रास्ते से। भूख का मारा जुलूस सब डिविज़नल मुख्यालय पहुँचते ही कुछ पेट पूजा करके घटना को भूल जाने की कोशिश करने लगे।

उधर विजयी नरिदास ने रक्षाकवच को सँभालकर रखा। अपने नाम से ख़ुद ही दरख़ास्त की और दरख़ास्त करने के बाद पूरी सतर्कता बरती। जब एक बार बड़े-बड़े अधिकारी आकर ख़ाली हाथ लौट जाएँगे तो फिर छोटे-मोटे अधिकारी क्या खाकर उनसे भिड़ने की जुर्रत करेंगे भला?

हिंदी कविता

सुधांशु उपाध्याय

जिस्म

हमारे ख़्वाब हमें
इस तरह बदलते हैं
हमारी नींद में रास्ते कई
निकलते हैं!

ज़बां पे लफ़्ज़ कोई
आके तैर जाता है
हमारा जिस्म
कहीं जाके
लौट आता है
हमारी आँख पे–
आके ठहर गया मौसम
हमारे जिस्म में
जंगल कई उछलते हैं!

सभी दिशाएँ यहीं
आके बैठ जाती हैं
तड़प के बिजलियाँ
बादल में
पैठ जाती हैं
हमारे हाथ पे
आके ठकर गया पानी
हमारे जिस्म में
सागर कई मचलते हैं!

यहीं पे टूट के
गिरते हैं रोज़ ही तारे
यहीं पे
लौट के आते हैं
रोज़ बंजारे
कई हैं मोड़
गलियाँ हैं और सड़कें हैं
हम अपने जिस्म में
बहुत दूर तक टहलते हैं!

दो कविता-संग्रह *समय की ज़रूरत है यह* और *पुल कभी ख़ाली नहीं मिलते* के रचयिता सुधांशु उपाध्याय का जन्म 1954 में हुआ। नवगीत में रुचि।
संपर्क : 'देवगंगोत्री', ए-1, पत्रकार कॉलोनी, इलाहाबाद-211001
फ़ोन-(0532)-2622652

यहीं से आग
लपकती है आसमानों में
नहीं हैं
खिड़कियाँ
लेकिन यहाँ मकानों में
हमारे कपड़े
बहुत पुराने हैं
हम अपने जिस्म
मगर रोज़ ही बदलते हैं!

इससे ज़्यादा

कुछ पाना, कुछ खोना हो
और किसी का होना हो,
इससे ज़्यादा और भला क्या!

घर में गुड़ की चाय बने
सबकी ऐसी राय बने
आँगन में हो धूप ज़रा-सी
नहीं रहे गौरैया प्यासी
चेहरों पर मुस्कान लजीली
थोड़ी हो दालान लजीली
उसका हँसना ऐसा हो
जैसे बिखरा सोना हो,
इससे ज़्यादा और भला क्या!

खेतों में पुरवाई हो
फ़सलों में अँगड़ाई हो
बादल पानी लेकर आएँ
नई कहानी लेकर आएँ
बीच लहर में नाव चले
धीरे-धीरे छाँव चले
उड़ते छींटे, नदी किनारे
पाँव चाँद का धोना हो,
इससे ज़्यादा और भला क्या!

छोटी गहरी नींदें हों
सपने हों, उम्मीदें हों
पंखों में आकाश भरा हो

उड़ने का अहसास भरा हो
कुछ अपनों का साथ रहे
सिर पर कोई हाथ रहे
भीड़-भाड़ में एक महकता
मुस्काता-सा कोना हो,
इससे ज़्यादा और भला क्या!

ख़तरा हो तो जोश भी हो
झाड़ी में ख़रगोश भी हो
डाली-डाली फूल भरे हों
बच्चों के मन हरे-हरे हों
तालों में लहराती लहरें
आँखों में बलखाती लहरें
जहाँ कहीं हो रात उतरती
वहाँ धूप का बोना हो,
इससे ज़्यादा और भला क्या!

नदी-नदी में नाव ज़रूरी
अब तो है बदलाव ज़रूरी
चोटों का प्रतिकार ज़रूरी
खुलकर है इनकार ज़रूरी
हर चेहरे पर चमक रहे
फूल-फूल में गमक रहे
कोई सपना फटे नहीं
सीना और पिरोना हो,
इससे ज़्यादा और भला क्या!

कविता है

हँसते पत्ते, पकते फल
झुकी डाल में कविता है
सिर पर ईंट
गोद में बच्चा
सधी चाल में कविता है!

नींद हो तो
सपने भी हों
कहने को कुछ अपने भी हों
गीली लकड़ी

धुआँ, पसीना
जली दाल में कविता है!

जल हो तो
जलपरी भी हो
मौसम की मसखरी भी हो
नाव, सफ़र
लहर पर फूल
खुले पाल में कविता है!

छूना हो तो
हटना भी हो
ख़ुद का थोड़ा बँटना भी हो
मछली-तड़प
जाल-मछुआरे
नदी-ताल में कविता है!

उमर बढ़े
तो प्यार बढ़े
आँगन का कचनार बढ़े
माँ के सिर के
उजले बाल
और बाल में कविता है!

चाँद हँसे तो
रात नाचें
कानों पर आ बात नाचें
बच्चे छुएँ
तितलियाँ भागें
इसी ख़याल में कविता है!

कुछ सोचिए

हो रहा है क्या मियाँ
कुछ सोचिए
लापता होने लगी हैं चिट्ठियाँ
कुछ सोचिए!

धूप है लेकिन
यहाँ आती नहीं

कुछ किताबें शब्द हैं पाती नहीं
सो रही हैं पेड़ पर क्यों पत्तियाँ
कुछ सोचिए
फूल पर आती नहीं क्यों तितलियाँ
कुछ सोचिए!

बेवजह कुछ भी
नहीं अब हो रहा
शोर सन्नाटा यहाँ पर बो रहा
कुछ नहीं कहतीं लहर से किश्तियाँ
कुछ सोचिए
दूर पानी से पड़ी हैं मछलियाँ
कुछ सोचिए!

देखिए क्या हो
रहा है इस शहर में
नीम का हर पेड़ डूबा है ज़हर में
क्यों नमक हैं माँगती ये सब्ज़ियाँ
कुछ सोचिए
क्यों घरों में बुझ रही हैं बत्तियाँ
कुछ सोचिए!

साथ हमने चाय पी
कुछ बात की
भूख में भी चाँद वाली रात की
हो गया क्या अब हमारे दरमियाँ
कुछ सोचिए
बेवजह भी काँपती हैं उँगलियाँ
कुछ सोचिए!

एक चंदन-सी
महकती प्यास थी
बहुत छोटी थी मगर कुछ ख़ास थी
क्यों हवा में गूँजती हैं फब्तियाँ
कुछ सोचिए
और क्यों भारी हैं माशा-रत्तियाँ
कुछ सोचिए!

दस्तकें ही दस्तकें हैं
द्वार अब मिलते नहीं

चुप्पियों का दौर है, त्योहार अब मिलते नहीं
क्यों घरों में तैरती हैं चुप्पियाँ
कुछ सोचिए
बाप से क्यों डर रही हैं बच्चियाँ
कुछ सोचिए!

बताओ क्या करती!

ख़ाली घर था
रात उतरती
और खड़ा शैतान,
बताओ क्या करती!

हँसते हुए
गाल में गड्ढे
और ज़िंदगी खाई में
ख़ुद को ढूँढ़ रही थी
कब से
अपनी ही परछाईं में
हिचकी लेती हुई अंतड़ियाँ
गोद में नन्ही जान,
बताओ क्या करती!

बिन सपनों की
आँखों वाली
एक नदी थी प्यासी
भूख-प्यास से
जूझ रहा था
भीतर का संन्यासी
तालु से संवाद जीभ का
घर में नहीं पिसान,
बताओ क्या करती!

सूखी लकड़ी
मन के भीतर
टूट रही थी सालों से
पानी तो-
रिसता था लेकिन

रिसता केवल छालों से
कब तक बचता नदी किनारे
ढहता हुआ मकान,
बताओ क्या करती!

मंज़िल कोई-
नहीं मगर
चलना ही चलना था
हमें दूध की-
नियति मिली थी
और उबलना था
आवाज़ों में
पिघला शीशा
झेल रहे थे कान,
बताओ क्या करती!

भटक रही थी
अपने भीतर
तंग बहुत-सी गलियों में
सारे रिश्ते
टूट चले थे
पानी और मछलियों में
एक मुश्त था
क़र्ज़ कपारे
क़िस्तों में भुगतान,
बताओ क्या करती!

घर कहाँ गया

घर में इतनी चीज़ें हैं
चीज़ों में घर कहाँ गया?

दादी, अम्मा, आँगन, चश्मा
उबटन, चोटी, तेल, सरौता
खिड़की, चाँद, ढलकता आँचल
पिछवाड़े आने का न्यौता
धूप, किताबें, बच्चे, फूल
ऐसा मंज़र कहाँ गया?

मेले–ठेले, मिलना–जुलना
पान–गिलौरी, मिसरी–पानी
सीढ़ी पर टकराना, बचना
झूठी–मूठी एक कहानी
एक फूँक में दर्द भगा दे
जादू–मंतर कहाँ गया ?

लेना–देना, आटा, चीनी
आना–जाना किसी बहाने
फूल फेंककर बात बढ़ाना
नदियाँ, लहरें, नाव, तराने
रोज़ उतरता चाँद यहीं पर
आज उतरकर कहाँ गया ?

बातें, क़समें, शिकवे, कुट्टी
सुबह, पसीना, हींग, रसोई
गालों पर बेसन के टीके
और हाथ में गीली लोई
घड़ी, कलाई, चूड़ी, उँगली
कंधों पर सर कहाँ गया ?

खुली छतों पर फैला गेहूँ
दरी बिछाकर पास बुलाना
देर रात में खुलती खिड़की
दबे पाँव से घर में आना
ग़लती पर झुक जाती आँखें
प्यारा–सा डर कहाँ गया ?

खुलते पिंजरे, तोता–मैना
चावल के कुछ बिखरे दाने
भरी कटोरी, आते पाखी
आकर बैठ रहे सिरहाने
चिड़िया चलती है पैरों से
चिड़ियों का पर कहाँ गया ?

प्यार लिख रहे

शब्द सभी बीमार दिख रहे
लिखने को हम–
फूल लिख रहे, गंध लिख रहे, प्यार लिख रहे !

यह दुनिया है
इस दुनिया में
तरह तरह के लोग भरे हैं
तरह तरह की
ख़ुशी यहाँ है
तरह तरह के रोग भरे हैं
जहाँ जहाँ पर धूप बची है
वहाँ वहाँ बारूद बिछी है
उँगली से हम
अंतरिक्ष में
एक नहीं सौ बार लिख रहे !

महानगर हैं
उनके भीतर
छोटे-छोटे कई नगर हैं
ऊँचे घर में
बौने रहते
घर के भीतर ढेरों घर हैं
तिनकों जैसी हँसी टूटती
ऐसी ज़ालिम हँसी छूटती
बाज़ारों में
घर दिखते हैं
घर को हम बाज़ार लिख रहे !
बूढ़ी साँसें
खेतों में हैं
बेटा दिल्ली लौट गया
सपनों का
तूफ़ान चला था
सब कुछ लूट-खसोट गया
ज़िंदा हैं तो साँस बेचकर
पानी मिलता प्यास बेचकर
बढ़ी नदी है
बस्ती डूबी
नाव, लहर, पतवार लिख रहे !
कुछ भी कहना-
सुनना मुश्किल
इतना ज़्यादा शोर यहाँ
बुझे हुए दिन

ख़ाली रातें
और काग़ज़ी भोर यहाँ
पाँवों से लिपटे हैं पहिए
चलते रहिए–चलते रहिए
कटी उँगलियाँ
उखड़े बाज़ू
लेकिन हम तलवार लिख रहे!

चौथे घर में मंगल

बढ़ती उमर
पिता पर क़र्ज़
माँ की बिकती पायल है
तितली उड़ना–
भूल गई है
चौथे घर में मंगल है!

एक दाँत है बहुत दिनों से
रह रह टीस रहा
एक बर्फ़ का सागर जैसे
उसको पीस रहा,
रात अँधेरी चाँद खोजती
चाँद सोचती है
गालों पर उगते–मुरझाते
फूल नोचती है
बटन टाँकती, काज बनाती
सूई चुभोती है
हँसने की कोशिश है करती
लेकिन बहता काजल है!

वह सपनों को देख–देख के
सपना भूल गई
इतनी बार दिखाया, चेहरा
अपना भूल गई,
उसकी बाँहें उठतीं तो
बादल झुक आते थे
रूठ गई तो उसको
ढेरों फूल मनाते थे

सालों से वह जूझ रही
बिस्तर की सिलवट से
झीलों की यादों में
अब तो सूखा बादल है !

भीतर से वह फटती जाती
बाहर चादर सीती
कम पानी में मछली जैसे
थोड़ा-थोड़ा जीती,
फूलों को वह पानी देती
भीतर आग समेटे
कहाँ-कहाँ तक हो आती वह
घर में लेटे-लेटे
ऐसी चिड़िया जिसको-
उसके पंख नहीं मिलते
पेड़ों के मन बुझे हुए हैं
बूढ़ी होती कोंपल है !

वह चलती तो दाएँ-बाएँ
फूल महकते थे
उसकी आँखों में झिलमिल
आकाश चहकते थे,
उसको कहते सोन परी
फूलों की रानी थी
पूरे घर की प्यास सँजोए
मीठा पानी थी
गालों की हड्डी है उभरी
आँखें खोई-सी
उसके भीतर जाने-
कैसा उगता जंगल है !

कवि शिवशंकर मिश्र का जन्म 1944 में हुआ। इनकी कविता, गीत, नाटक, आलोचना की कई पुस्तकें प्रकाशित। मैथिली और भोजपुरी में भी लिखते हैं। संपर्क : 327/बी, कडरू, राँची-834002 (झारखंड) फोन-0651-234076

शिवशंकर मिश्र

असंभावनाएँ

असंभावनाएँ तुम्हें आतंकित नहीं करतीं ?
तुम्हें डरातीं नहीं ? अकेले में भी ?
तुम्हें कभी कोंचतीं नहीं ?

या तुम उदास नहीं हो जाते हो इसी तरह
कई बार, कारण-अकारण ?

तुम्हारे कान जो सुनते हैं भूल क्यों जाते हैं ?
तुम्हारी आँखें जो देखती हैं सब
बतातीं क्यों नहीं ? या यही कि...
क्या है जो
तुम्हारे जबड़ों में अटका रहता है रोज़-रोज़
माँस के एक सफ़ेद टुकड़े की तरह ?
और तुम न चबा पाते हो
न ही उसे निगल पाते हो ?

दीवारें इतनी छोटी हो गईं, नज़दीक आ गईं
लेकिन घर में ही
तुम इतना अलग, अकेले कैसे होते गए ?
अपने ही चेहरे और नाम से ख़ारिज होते हुए ?
एक बारीक सूराख़ में क़ैद हो गए तुम भी
कैसे-कैसे ?
पता नहीं चलता और तब भी साँसें चलती रहती हैं
तुम चलते रहते हो
लगातार, अविश्राम...
और पहुँचते नहीं कभी कहीं किसी रोज़ या
आते नहीं लौटकर
कभी अपने घर ?

क्यों तुम अपनी ही कोई ख़ुशी न बाँट पाते हो
न ही उसे बचा पाते हो ?
असंभावनाएँ तुम्हें आतंकित नहीं करतीं कभी
तुम्हें डरातीं नहीं ? अकेले में भी ?

क्यों ऐसा हो गया है

क्यों ऐसा हो गया है मेरे भाई
कि जो आज नज़र आता है
कल नज़र नहीं आया ?

क्यों लगता है यही हमें हर बार
कि जो आज नज़र आता है

एकदम नहीं होगा वैसा
जो कल नज़र आएगा ?

कि हमारा कल
हर बार हमें धोखा दे जाता है
कि हमारा कोई भी आज
हमारा अपना नहीं होता
और हर बार जो बीता हम पर
जो सहा हमने या
जिया-किया जो
अपनी ओर से, कि अपना मानकर-
उनमें कुछ था नहीं हमारा ?

हमारे हाथ-पाँव तक
उन्होंने अपने झोले में भर लिए
हमारे दिल-जिगर भी
अपने शौक़ पर ख़र्च कर दिए
उन्होंने हमें पैदा भी नहीं होने दिया
और हमारे ही दोस्तों को नशा सुँघाकर
यह एलान करवाया
कि हमारी ज़िंदगी कामयाब थी
कि हम उम्र भर जिए थे ?

हम बोलना चाहते हैं, पर बोल नहीं सकते
जो बोलते हैं
वह नहीं होता जो चाहते हैं बोलना
और इसी तरह हर बार
कुछ और ही होता है जो तुम सुनते हो
ख़ुद मेरे मुँह की बात
मेरे कानों तक पहुँच नहीं पाती
न मेरे दिल की आवाज़
मेरे मुँह के बराबर में
कभी सीधी ही हो पाई !

ऐसा नहीं है कि हम बहुत डर गए हैं
ऐसा भी नहीं है कि हम कोई दो लोग
मिलकर
किसी बात को दुहरा नहीं सकते
हुआ है यह कि
हमारी भाषा में अब दरारें आ गई हैं

हमारे शब्दार्थ में
अब बड़े-बड़े सूराख़ बन गए हैं
और हमारी
सारी क्रियाएँ निष्प्रयोजन हो गई हैं
ख़ुद हमारे लिए
इस तरह कि
समर्पण और अभियान में अंतर कुछ रहा नहीं
मौत और जश्न में फ़र्क़ कुछ बचा नहीं!

कि हमारी आपत्ति अब
उनकी ज़रूरतों के आधीन हो गई है
कि हमारा विरोध अब
उनसे सहयोग करता है सिर्फ़
कि हमारी सारी हाय-हाय उनको और निरंकुश बनाती है!

शैलेय

दृष्टि

सरल हवा में ही ली जा सकती है
साँस

एक फूल सूखकर भी
समूची धरती में बिखर जाना चाहता है

बच्चे की कुशलता के लिए
एक माँ
सर्जरी तक आ जाती है
विहँसती हुई

लू के बावजूद
बंद नहीं हो जाती खिड़कियाँ
एक पानीदार पर्दा टाँग दिया जाता है

दृश्य से महत्त्वपूर्ण है
दृष्टि

एक नाक का बंद हो जाना
समूचे आदमी का
दम घुट जाना कभी नहीं होता

शैलेय की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। संपर्क : द्वारा श्री दीपक खुल्वे, नैनीताल बैंक, नगला, पंतनगर, ऊधमसिंह नगर, उत्तरांचल

कहते हैं इस बस में हिचकोले नहीं लगते

बस की जिस सीट पर मैं बैठा हुआ हूँ
बैठी होंगी
कितनी ही सवारियाँ इस सीट पर

बच्चे—
चंचल आँखों से बाहर कुलाँचते
नवोढ़ाएँ—पति और प्रकृति के प्रेम में डूबी
रोज़गारी लोग—
जेबों की कोरें कुरेदते अनमने
बूढ़े—
खिड़की थोड़ा खोल खाँस खँगालते

सबके
अपने-अपने हिचकोले हैं
थिर है तो सीट

तो क्या
इस बस को कभी कोई हिचकोला नहीं आता?

नहीं आता तो
इतना ख़ुश क्यों है वह कबाड़ी
जो हर आती-जाती हुई बस को अंततः
ठेले पर चढ़ा हुआ महसूस कर रहा है

शायद
इस सड़क पर कबाड़ी ही है
जिसके लिए
ज़िंदगी का दूसरा नाम हिचकोला है
और जिसके पास कोई सीट नहीं है।

दुनिया

फ़ोन का बिल अकसर लंबा चला जाता है
मतलब भर का बोला करूँ
यह कहती है मेरी बीवी जो
शायद ही कभी ख़ुद चुप रहती हो

यार बरगद होते हैं
ये शाखाओं से भी फोड़ लेते हैं जड़ें

लेकिन
वक़्त कोई जंगल तो नहीं कि
जितना चाहे फैलता चला जाए आदमी
और फिर
पैसों के पेड़
जब सुमित्रानंदन पंत को नहीं मिले
तो मेरी क्या बिसात

लेकिन फ़ोन अगर हटा दूँ
तो क्या
और भी छोटा नहीं हो जाएगा मेरा घर?

अब देखो न,
अकाल पर बातें हुईं तो
देशभर के अघाते गोदाम याद आए
बाढ़ पर बातें हुईं तो
चील से उड़ते जहाज़ याद आए
प्यार पर बातें हुईं तो
युद्ध के ख़िलाफ़ तरतीब सूझने लगी

हाँ, मानता हूँ कि
घर की ज़रूरतों में कुछ भी कम नहीं किया जा सकता
पर
आदमी के जीने को विचार भी तो चाहिए।

जनार्दन मिश्र

कठिन है

बहुत कठिन है रास्ता
बहुत कठिन है समय

यदि चूकने लग जाए हथियार
और अँगूठा दिखाकर भागने लगे समय
तो कौन होगा हमारी इच्छाओं में पहरेदार की तरह
खड़ा
कि अडिग रहे हमारा विश्वास
अटूट रहे हमारा रिश्ता

कम कठिन नहीं है किसी के साथ अपने संबंधों को निभा पाना
जैसे बहुत कठिन है हर साँस के लिए खुली हवा का होना

1957 में जन्मे जनार्दन मिश्र के दो कविता-संग्रह और एक कहानी-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : संकटमोचन नगर, नई पुलिस लाइन, आरा-802301
फ़ोन-06182-224603

ऐसे में बहुत ही कठिन है पेड़ों से ऑक्सीजन को
बचा पाना
दो जून की रोटी/सिर छिपाने के लिए थोड़ी-सी छाँह
और दुख की पसरी परतों में/किसी कोंपल का फूटना
और भी कठिन है।

पक रही है खिचड़ी

शुरू से जैसे पकती आई है
पक रही है खिचड़ी
कभी धीमी
कभी तेज़
आँच पर

पता नहीं कब तक पकेगी
या जलेगी
चूल्हे पर
ईंधन
कल के लिए बचा रहेगा
या ख़त्म हो जाएगा
चूल्हे में आग/ज़िंदा रहेगी, या बुझ जाएगी
बेचारी खिचड़ी भी नहीं जानती होगी
नहीं जानती वह/अपने भीतर का ज्ञात-अज्ञात
भीतर का मसाला
गंध
और स्वाद
कि क्या होगा हश्र, कौन-सा मुक़ाम
खिचड़ी बनाने वाला ही सब कुछ जानता होगा
जो न जानती है
खिचड़ी

ऐसे में खिचड़ी से बिलकुल अलग
समय की आँच पर पक रहा है
कोई घात-प्रतिघात
उम्मीद में
कभी धू-धूकर/कभी फफककर
कभी गर्म वाष्प के सहारे/बाहर और भीतर के तापमान को समेटकर
पकाई जा रही है खिचड़ी/और खिचड़ी बनाने वाले की
इच्छाओं के विरुद्ध/एक साथ पक रही हैं/कई-कई ज़िंदगी।

श्रीकृष्ण कुमार त्रिवेदी

प्रभु, हे प्रभु, महाप्रभु !

दूर,
कहीं दूर, बहुत दूर,
सैकड़ों प्रकाश वर्ष दूर
से आ रहे क्षीण संकेतों ने
वैज्ञानिकों की आशा को
पुनर्जीवन दिया है।
विश्व भर के मानवतावादी वैज्ञानिकों!
हमारी शुभकामना है
कि तुम्हें सफलता मिले
अपने उद्देश्य में,
और तुम खोज निकालो
कोई और ग्रह
या उपग्रह
जहाँ रहती हो
और रह सके
सुरक्षित मानवता
विषाद के विषदंतों से,
हिंसा की आत्मघाती कुचालों से,
अशांति के भूस्खलनों से...

हे प्रभु,
इन वैज्ञानिकों की सहायता करना,
इनको लक्ष्य तक पहुँचाना,
वहाँ
जहाँ सचमुच मनुष्य रहते हों
साथ ही
एक काम और करना—
जन्म न देना
उन लोगों को
किसी भी योनि में वहाँ
जिन्होंने
खोदी हैं जड़ें जंगलों की,
नंगा किया है पहाड़ों को,

कृष्ण कुमार त्रिवेदी की रचनाएँ अनेक पत्रिकाओं में प्रकाशित।
संपर्क : द्वीपांतर, लाल बहादुर शास्त्री मार्ग, फतेहपुर-212601 (उ.प्र.)

विषाक्त किया है नदियों का जल,
महाभारत रचे हैं तुम्हारे नाम पर,
बार-बार धोखा दिया है तुम्हें,
और चरित्र हनन किया है मानवता का...

ऐसा करके ही
सुरक्षित कर पाओगे
तुम अपना ईश्वरत्व,
शांति से बैठ सकोगे
एक क्षण
बुढ़ापे में।

अतः सावधान रहना प्रभु,
बचना प्रभु, पिछली ग़लतियों से।
सँभलो प्रभु,
सुधरो प्रभु,
हे प्रभु, महाप्रभु!

श्रीकांत उपाध्याय

नदी

सुविधाएँ बड़ी सपाट होती हैं
रौनक़ नहीं होती उन लोगों के चेहरों पर
चमक-दमक जैसी कोई बात नहीं होती उनमें
तेज़ प्रताप का सवाल ही नहीं
बिलकुल उथली नदी होती हैं सुविधाएँ
छिछले पानी की एक परतवाली नदी
कोई भी पार कर रहा है नदी
झुंड के साथ कोई भी उतर रहा है नदी
कोई भी रचनाकार अपनी किसी रचना के
लोकार्पण समारोह की भव्यता की गर्वीली स्मृतियाँ लिए
पानी में चलता हुआ निकल रहा है उस पार
कोई भी पुरस्कृत कवि नदी को तिरस्कृत करता हुआ
पा रहा है अपने गाँव की ओर का किनारा
ऐसा नहीं होता था पहले
नदियाँ भी इतनी नहीं घटती थीं तब

कवि श्रीकांत उपाध्याय का जन्म 1938 में हुआ। संपर्क : 20/3, शिंदे नगर, बावधन, एन. डी. ए. रोड, पुणे-411021
फ़ोन-(020)-22952238

उनमें बहाव बने रहते थे
चढ़ाव-उतार होते थे
कुंड हुआ करते थे
कुंडों में घातक निषेध बसा करते थे
पानी पर घूमते भागते कुएँ हुआ करते थे
और भी भयानक वर्जनाएँ हुआ करती थीं नदी के भीतर
उतरने के निश्चित घाट-वाट होते थे
हर कोई हर कहीं कर नहीं सकता था नदी पार
चाहे वाल्मीकि हों चाहे व्यास या कालिदास

तब नदियों से ही विनम्र होकर पूछा जाता था :
देवियो, मेरी यह रचना लोकार्पण पर्व के योग्य है भी
या नहीं ?
मैं अमुक रचना पर पुरस्कार अंगीकार करने की पात्रता
रखता भी हूँ या नहीं ?
अब कोई किसी से नहीं पूछता
स्वयंभू क्यों पूछेगा किसी से
स्वयंप्रभा किसी से परामर्श नहीं लेती

अपनी नदी से पूछना मूर्खता के सिवा और है क्या
नदियों को रचनाकार के व्यक्तिगत मामलों में हस्तक्षेप
करने का अधिकार क्यों दिया गया था ?
क्यों दिया गया था नदियों को इतना मान-सम्मान ?

कुछ नदियाँ तो कभी-कभी रचनाकार को पुरस्कार के लिए
अयोग्य घोषित कर देती थीं और नदियों का आदेश
शिरोधार्य कर रचनाकार ससम्मान पुरस्कार वापस कर आता था
नदियों की अध्यक्षता में मानवेतर लोक को अर्पित की
जाती थीं रचनाएँ
नदियाँ किसी को कोई पुरस्कार नहीं देती थीं।
न ही पुरस्कार के लिए किसी को अपनी संस्तुति भेजती थीं
नदियाँ—सदानीरा नदियाँ कहती थीं :
रचना स्वयं पुरस्कार होती है।

नेपाली कविता

शांति छेत्री

धूप की ओर

धूप नहीं सिर्फ़ कुहासा
शायद उस पार
है कुछ धूप!

लंबी क़तार में खड़ी
काली चींटियों की तरह
सुगबुगाती गुमसुम हम
उसी धूप की आस में।

हमारी ज़मीन
ज़मीन के हम सब
नज़ारा पर अलग-अलग
कब तक?

कैसे पूछूँ माँ से
वह झल्लाती और चिल्लाती
शायद सदियों से
उस धूप के लिए!

नन्ही-सी वह
दौड़ती आई
छोड़कर सब खेलों को
ज़िद करती चलने को

उँगली पकड़े बिन पूछे
चीरती गई वह कुहासे को
घूँघट खिसकने लगे
वह थिरकने लगी

क़तारे हिलने लगीं
बढ़ने लगीं आगे
था क्या कहीं कुहासा?
पहुँच गई वह धूप में
हमारे साथ
हमारे लिए
एक अलग नज़ारा लिए!

शांति छेत्री का जन्म 1948 में हुआ। इनकी नेपाली में कविता, कहानी, निबंध की पाँच पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : 'चंद्रलोक', आरीथाङ्, गांतोक-737101 (पू. सिक्किम)
फ़ोन-03592-226845

आठ टुकड़े

सपनें
तुम्हारे, मेरे
बढ़ गए हैं, कहीं
अलग-थलग लेकिन
मानना पड़ेगा
बन गए, वो देखो तो
कविताएँ!

कल्पनाएँ,
तुम्हारी और मेरी
अनेक लेकिन इधर-उधर
उड़ रही हैं
देखो तो, बनकर
वे तितलियाँ!

हम लोग
हो गए हैं भरोसे
अनजान में
आधार भी नए-पुरानों के ही
देखो तो, मुड़कर ज़रा
वट-पीपल के पेड़ों की तरह!

वे लोग
आते हैं स्मृति बनकर
सपनों की आस में
विपनों के साथ
शायद बनना है हमें
खड़े-खड़े ही
मूक-दर्शक!

समय, ढेर सारे
आ-जा रहे हैं
युग-युगांतर
उसी तरह
सूरज-चाँद बनकर
छूना होगा ख़ुश होकर
बोलते आशीर्वाद!

हिमकण
हीरों के कण
पहली पंक्ति के
झिलमिला रहे हैं
दिल के अंदर
सोचो तो ज़रा
प्रेरणा बनकर!

बादल
शरद् के
खड़े हैं
रंगीन होते हुए
सुनते संगीत
देखो तो, ऊपर की ओर
वो अतीत!

CC-0. In Publi Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पुष्पपाल सिंह

स्वतंत्रचेता स्त्री की कहानियाँ

जनवरी 1972 के *कहानी* (सं. श्रीपत राय) नववर्षांक में मृदुला गर्ग की 'कितनी क़ैदें' कहानी पुरस्कृत हुई थी जिसने उन्हें कथा में एक प्रतिष्ठा दी थी, तब से लेकर अद्यतन उन्होंने कहानी-लेखन निरंतरता में किया है। 1975 में प्रथम कथा-संग्रह *कितनी क़ैदें* से लेकर *मेरे देश की मिट्टी अहा* तक उन्होंने लंबी कहानी-यात्रा तय की है। हाल ही में उन्हें व्यास सम्मान से सम्मानित किया गया है।

मृदुला गर्ग का लेखन उन्हें एक स्त्रीवादी लेखिका की छवि प्रदान करता है किंतु समग्र रूप में उनकी कहानियों का पुनर्पाठ यह प्रस्थापित करता है कि कहानियों का मुख्य स्वर स्त्रीवादी विमर्श रचता हुआ भी जीवन के वृहत्तर संदर्भों को विश्लेषित कर सकने की श्लाघ्य सामर्थ्य रखता है। ये कहानियाँ महिला-लेखन के प्रचलित मुहावरे और वृत्त से बाहर जाकर देश, समाज और संस्कृति के गंभीर प्रश्नों से भी सीधे-सीधे मुठभेड़ कर एक गंभीर और नया विमर्श रचती हैं। इन कहानियों के पुनर्पाठ के पश्चात् जो कुछ निष्कर्ष प्रथम प्रतिक्रिया के रूप में सामने आते हैं उन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है—

आठवें दशक के प्रारंभ से ही, जब नारीवादी विमर्श कथा में इतनी मुखरता और प्रमुखता से नहीं आया था, मृदुला गर्ग की कहानियाँ स्त्री-स्वातंत्र्य का प्रश्न बहुत स्वाभाविक और निराडंबर ढंग से उठाती हैं, वाचाल हुए बिना।

नारी के स्वतंत्र अस्तित्व और अस्मिता की पक्षधरता में उठाए गए प्रश्न समाज के सभी वर्गों की स्त्री के संदर्भ में उठाए गए हैं—कुलीन, मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय नारी, सभी उनकी लेखनी की ज़द में हैं।

मृदुला गर्ग के लेखन की यह छवि रही है कि वह शहराती या नगरीय जीवन से संबंधित है किंतु संपूर्णता में कहानियों का पाठ इसे नकारता हुआ सिद्ध करता है कि जितने अधिकार से उन्होंने नागरीय जीवन पर लिखा है, उतने ही अधिकार से ग्रामीण जीवन पर भी, और मज़े की बात यह है कि उनका देखा गाँव क्षेत्र विशेष का नहीं है—कहीं कर्नाटक का गाँव है, कहीं राजस्थान का और कहीं पश्चिमी उत्तर प्रदेश का।

कहानी के जाने-माने आलोचक, 1941 में जन्मे पुष्पपाल सिंह की कई आलोचना पुस्तकें प्रकाशित। केंद्रीय हिंदी निदेशालय से पुरस्कृत। संपर्क : 63, केसर बाग, पटियाला 147001

मृदुला गर्ग की कहानियों की चिंता के केंद्र में स्त्री-मुक्ति की कामना है। पुरुष वर्चस्ववादी समाज में नारी को जो प्रताड़ना युगों से सहनी पड़ी है, इन कहानियों की नारी न केवल प्रदत्त स्थितियों का विरोध करती है अपितु अपने को स्वतंत्र रूप से स्थापित करने की क्षमता और सामर्थ्य से युक्त है। न वह किसी प्रकार की बेचारगी में रहती है और न ही किसी प्रकार का दया-भाव स्वीकार्य है। इन कहानियों की नारी स्त्री-पुरुष संबंधों में किसी भी प्रकार के छद्म को बर्दाश्त नहीं करती है, इसलिए उसकी कथनी और करनी में एक प्रकार का खुलापन और निश्छलता है। *संगति-विसंगति* के दो खंडों में मृदुला गर्ग की एक कम 80 कहानियाँ संकलित हैं।

स्त्री-स्वातंत्र्य का विमर्श रचती इन कहानियों का पहला सरोकार विवाह-संस्था को पुनर्परिभाषित करता है। दांपत्य संबंधों की दरकन और टूटन पर तो नई कहानी के समय में भी लिखा जा रहा था, यहाँ विवाह-संस्था के प्रति एक आक्रोश भाव दबे और प्रच्छन्न रूप में था किंतु आठवें दशक तक आते-आते इस विद्रोह ने एक खुला रूप ले लिया। मृदुला गर्ग के लेखन के शुरुआती दौर में ही उनकी नायिकाओं ने विवाह-संस्था के बेमानी हो जाने, उसमें स्त्री की स्वतंत्रता के बाधित होने की भावना को ही अभिव्यक्ति नहीं दी अपितु प्रदत स्थितियों को नकारते हुए अपने व्यक्तित्व का पूरी तरह स्वतंत्र रूप में स्थापित करने का मनोबल और निर्णय दर्शाया है। इस दृष्टि से उनकी 'एक और विवाह', 'अगर यों होता', 'तुक', 'हरी बिंदी', 'ग्लेशियर से', 'कितनी क़ैदें', 'मेरा', 'मिज़ाज', 'तीन किलो की छोरी', 'मीरा नाची' आदि कहानियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। पढ़-लिखकर स्त्री ने जब अपने अधिकारों और सामाजिक स्थिति पर विचार किया तो उसे लगा कि विवाह-संस्था उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को बुरी तरह लील रही है। पाश्चात्य जगत के चिंतकों की तत्संबंधी खुली दृष्टि ने भी उसे प्रभावित किया, तभी अपने विचारों की संपुष्टि में वह बरट्रेंड रसले प्रभृति विचारकों के संदर्भ देती है। विवाह से बेहतर है मुक्त प्रेम, जो बासी होने पर फेंका जा सकता है। विवाह तब करना चाहिए जब पुरुष को उसके बिना सब अर्थहीन मालूम पड़े। और स्त्री उसके बिना भी पूर्ण समर्पण को व्यग्र हो, तभी वास्तविक ऐक्य हो सकता है। 'एक और विवाह' की नायिका कोमल को इस बात से एतराज़ है कि उसका भावी पति मदन उसके गुणों की तारीफ़ कुछ इस प्रकार कर रहा है, जैसे वह किसी कंपनी का शेयर हो। न ही उसे बिना उसकी इच्छा की परवाह किए चुंबन ही पसंद है। वह इस बात से क्षुब्ध है कि उसका पति उसकी इच्छाओं का सम्मान किए बिना किसी उत्पाद-कमॉडिटी की तरह उसका इस्तेमाल कर रहा है। प्रथम रात्रि के प्रथम मिलन को जब कोमल एक उत्सव के रूप में मनाने का उपक्रम करती है तो अगली सुबह पति की यह टिप्पणी "वाह, तुम तो अमेरिकन स्त्रियों को मात करती हो", उसे हतप्रभ कर जाती है। ऐसा नहीं है कि मृदुला गर्ग की कहानियों की स्त्री अपने को भारतीय आदर्शों के महिमामंडन से गौरवान्वित कर पति नामक जीव में बुराइयाँ ही तलाशे और अपना पक्ष यूँ ही संपुष्ट करती रहे, वह तो वस्तुस्थिति के स्वीकार के साहस से परिपूर्ण है, 'तुक' की नायिका में इस स्वीकार का साहस कहानी के प्रारंभ में उद्घोषणा बनकर आता है, "अपने बारे में दो बातें पहले ही आपको बतला दूँ। पहली यह कि मैं उन बेवक़ूफ़ औरतों में से हूँ जो अपने पति को प्यार करती हैं। या कहना चाहिए कि मैं ही एक बेवक़ूफ़ औरत हूँ, जो अपने पति को प्यार करती है। मेरी शादी को छह महीने हो चुके और इस बीच मैं बहुत-सी शादी-शुदा औरतों से मिल चुकी हूँ। अपने सिवा मुझे कोई औरत नहीं मिली, जो अपने पति को

से चाहती हो।" वस्तुतः भारतीय दांपत्य विषय में उसकी सोच यह है, "पति का उनके लिए एक स्थिति है, जिसके भीतर कुछेक स्थितियाँ पैदा होती हैं, जैसे बच्चे का घर का होना, घर में ढेरों काम होना और तरह के जोड़ों के साथ सामाजिक होना। पति का होना उनके लिए एक का व्यवसाय है, जिसके माध्यम से उन्हें और व्यस्तता, दोनों मिलते हैं। इस संदर्भ में आते हैं रमेश बक्षी जिन्होंने लगभग इन्हीं में विवाह संस्था को नकारा है। आठवें की दांपत्य पर रचित अधिसंख्यक में विवाह-संस्था को इसी रूप में देखा है। व्यवस्थित विवाह द्वारा मनोनुकूल साथी मिलने की कचोट और दुख इस स्वतंत्रचेता के लिए एक अपनी तरह की पीड़ा है, से' की मिसेज़ दत्ता सोचती है, "हर के लिए मुनासिब नहीं है कि वह अपने एक चौथाई दिमाग़ वाले आदमी से शादी उम्र भर उसके कहे जुमले दुहराती हुई जो उसने बासी किताबों से चुराए ...श्यामला कहती थी। विवाह की इन के आलोक में जीती हुई यह नारी और दांपत्य के बीच में डूबती-उतराती ऊभ-होती रहती है। आत्मिक मिलन से ही वह तृप्ति मानती है, इसलिए पति के सान्निध्य नहीं अपितु प्रेमी के सान्निध्य में वह तोष और पाती है। 'तुक' की नायिका की 'देह' मन न मिलने के कारण हर रात के बाद इसी 'पिटी-सी' पड़ी रहती है।

मृदुला गर्ग की कहानियों की नारी उस दांपत्य तीव्र विरोध करती है जो केवल शरीर-स्तर रह जाता है, मन के मेल को वह तन के से अधिक तरजीह देती है। मन की इसी की तलाश में वह दांपत्येतर प्रेम के क्षेत्र में होती है। बिना किसी पाप-बोध के। यौन-का पारंपरिक माप उसके लिए बेमानी है। वह जानती है, दोनों सच हैं। शरीर कभी नगण्य हो उठता है, कभी बहुत प्रबल, क्योंकि यह न वासना है, न भक्ति और न दोस्ती। उसने हल्की मुस्कुराहट के साथ सोचा, आजकल हम प्रेम के नाम से इतना कतराने क्यों लगे हैं। साफ़ बात यह है कि यह प्रेम है।" 'अवकाश' की यह नायिका इसी प्रकार प्रेम और दांपत्य के बीच डूबती-उतराती है। प्रेम की ओर बढ़ती नायिका के पैरों में दांपत्य रुकावट और झिझक तो डालता है किंतु बेड़ी का रूप वह नहीं ले पाता। वह प्यार के साथ-साथ विवाह को भी जीती है। 'अगर यों होता' की मधुर जिनसे प्रेम की स्थिति में इसी द्वंद्व को जीती हुई प्रेमी के सान्निध्य में ही वास्तविक प्रेम की अनुभूति करती है, उसका चुंबन ही उसे 'प्रथम चुंबन' के समान प्रिय लगता है किंतु दांपत्य का दायित्व-बोध उसे 'बेरी के लिए खाँसी की दवा लेने' के लिए रोक लेता है (लगता है *चितकोबरा* उपन्यास के बीज इस कहानी में हैं।) वस्तुतः यह स्त्री "थोपे हुए मूल्यों से बरी होकर अपने तरीक़े से जी पाना ही असली जीवन" मानती है (स्थगित कल) वही दांपत्य उसके लिए काम्य है जिसमें उसके स्वतंत्र अस्तित्व की स्वीकृति है। 'एक और विवाह', 'ग्लेशियर से', 'हरी बिंदी', 'मिज़ाज' आदि कहानियाँ इन स्थितियों को बारंबार, नए-नए तर्कों और संदर्भों में उठाती हैं। 'हरी बिंदी' का अजनबी उसे इसीलिए प्रिय लगता है कि वह उसके जीवन में अनावश्यक रूप से अपनी पैठ बनाने की चेष्टा नहीं करता। "उसे लगा, जीवन में पहली बार ऐसे इंसान के साथ बैठी है, जो यह नहीं जानना चाहता है कि उसके पति हैं या नहीं, और हैं तो क्या काम करते हैं।"

'कितनी क़ैदें' मृदुला गर्ग की एक चर्चित और सृजन के स्तर पर एक मुश्किल कहानी है। यह एक मनोग्रंथि-पीड़िता युवती की कहानी है जिसका कॉलेज के दिनों में साथी लड़कों द्वारा

बलात्कार हुआ था किंतु विवाह के बाद पति के साथ काम-संबंधों में वह पूरी तरह निष्क्रिय, ठंडी औरत बनी रहती है। उसकी यह ग्रंथि तब खुलती है जब कोयना बाँध में भूचाल की भयंकर त्रासदी घटती है और यह नवविवाहिता मीना अपने पति मनोज के साथ लिफ़्ट में घिरी बंद रह जाती है। लिफ़्ट में घबराकर बदहवासी में वह जब हिस्टीरिया के रोगी के समान अनियंत्रित व्यवहार करती है तो पति मनोज से तड़ातड़ चाँटे खाकर वह पूरी कामोत्तेजना में आ जाती है।

अपना कामावेग थम जाने पर वह पति को अपने उस अतीत की घटनाओं एवं परिस्थितियों से परिचित कराती है जिनके कारण वह इस 'ठंडी स्थिति' तक पहुँची है। अतीत का यह वर्णन परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व को जीते समाज का बहुत अच्छा परिचय देता हुआ अत्यधिक 'मॉड' जीवन जीते हुए एक ऐसे 'हिप्पी-समाज' से परिचित कराता है जो नारी को इतनी आज़ादी देता है कि क्लब, चरस, भाँग की गोली तथा अन्य नशीली दवाओं का सेवन उनके लिए सामान्य बात है। इस बिंदु पर प्राय: 32-33 वर्ष बाद भी कहानी अपनी प्रासंगिकता नहीं खोती है। उन स्थितियों के प्रति एक जुगुप्सा भाव जगाती कहानी मीना को अपनी उस ग्रंथि से मुक्त होने का अवसर देती है। माँ-बाप की कठोर प्रताड़ना और 'दंड-विधान' में जीवन जीती मीना अपने शरीर के प्रति पूरी तरह संवेदन-शून्य हो गई थी किंतु क़ोयना बाँध के भूचाल के अनुभवों में ज़मीन से 60-70 फ़ुट नीचे लिफ़्ट में ही वह अपनी इस क़ैद से मुक्ति पाती है। इस क़ैद से तो मीना मुक्ति पा जाती है किंतु उसके पति का उसके अतीत से परिचय क्या उसे स्वाभाविक दांपत्य जीवन जीने देगा, क्या फिर मीना 'कितनी क़ैदों' में नहीं घिर जाएगी—इसी प्रश्न पर कहानी का अंत होता है।

मृदुला गर्ग अपनी इन कहानियों में विवाह संस्था का विरोध इस धरातल पर भी करती है कि विवाह स्त्री की स्वतंत्रता को तो लीलता ही है, वह प्रेम की रोमानियत, 'रोमांस', को भी भर देता है। रोमांस, प्रेम की पुलक, कितनी जीवन-दायिनी हो सकती है, इसकी साक्ष्य बनकर आई है कहानी 'साठ साल की औरत' जिसमें वृद्धावस्था की देहरी पर पहुँचे प्रेमी एक अरसे बाद, 21 वर्ष के अंतराल पर मिलते हैं और प्रेम के उसी अहसास को जीने की उत्कट लालसा और कथ्य पर कुछ बहुत उम्दा कहानियाँ सत्येन कुमार, रवींद्र कालिया, प्रियंवद, गोविंद मिश्र आदि ने लिखी हैं, मृदुला गर्ग की यह कहानी भी इसी प्रकार की एक यादगार कहानी है। 'रुकावट', 'जिजीविषा', 'मीरा नाची', 'तीन किलो की छोरी' आदि कहानियों में भी वे विभिन 'स्त्री-प्रश्नों' से टकराती हैं, किंतु जिस कहानी की चर्चा का लोभ-संवरण इस प्रसंग में नहीं हो पा रहा है वह है 'मेरा' जिसमें दांपत्य और संतान के निर्णय के विषय में नारी की निजता, स्वतंत्रता के प्रश्न को बार-बार सशक्त रूप में उठाया गया है। यद्यपि कहानी के शिल्प में थोड़ी कमी है, उसमें कसाव उतना नहीं है—विवाह-प्रसंग, महेंद्र और मीना के मिलन प्रसंगों के अनावश्यक विवरण प्रभावांविति में बाधक से हैं, कहानी को अनावश्यक विस्तार देते हुए उसकी तिग्मिता (इंटोसिटी) को कम करते हुए किंतु फिर भी संतान को इस संसार में लाना है या नहीं, गर्भपात कराना है या नहीं—इसके निर्णय की भूमिका में महेंद्र का अपनी इच्छा को सर्वोपरि मानना उसे खलता है। जब डॉक्टर गर्भपात को स्त्री का निज का मामला बताता है तो मानो मीता के हाथ में निर्णय की भरी बंदूक़ आ जाती है। वह गर्भपात न कराने का निर्णय पति महेंद्र और स्वयं की माँ के विरोध में जाकर लेती है क्योंकि बच्चा उसे सिर्फ़ 'मेरा' और 'मेरा' लगता है। गर्भपात न कराने का निर्णय उसे बहुत-बहुत सुकून देता है, "उस शांति में निष्क्रियता नहीं निर्णय झलक रहा है। तुष्टि का ऐसा भाव है, जो

तारोही के मुख पर दुर्गम चोटी पर पहुँच रे पर खिल आता होगा।" उसमें एक निर्द्वंद्व तता इस निर्णय से आती है।

मुझे अपनी जड़ों से मत काटिए, "यह मकान गा तो मुझे लगेगा, हाँ मेरे देश में मेरा नाम रक्षित है। अपनी तरफ़ खींचेगा यह हर पल झे। वरना समझ लीजिए, एक तरह से मैं मर गा।" संपन्नता-वैभव के उस स्वर्ग में रहते हुए 'उर्फ़ सैम' की ज़िंदगी वहाँ रहते अनेक भारतीयों की ज़िंदगी का अक्स बनकर आती है। 'छत पर दस्तक' कहानी एक दूसरे कोण से सांस्कृतिक रूपांतरण और विरूपीकरण की इस समस्या को बड़े दर्द के साथ उठाती है। बेटे के पास भारत से आई माँ यह देखकर भौंचक है कि उसका बेटा कैसे पूरी तरह अमेरिकन जीवन-शैली और सभ्यता-संस्कृति में ढल गया है, "नहीं, उसके पति अमेरिकन नहीं थे, न उसके भीतर रत्ती भर अमेरिकन ख़ून था। यही तो मज़े की बात थी। इस देश में भरा-पूरा जवान आदमी, मिनट भर में हिंदुस्तानी से अमेरिकन बन जाता है। माँ-बाप की नागरिकता, सदियों की विरासत, ख़ून और नस्ल, सब धरे रह जाते हैं और आदमी बिना गर्भ में आए, बिना मदद या परवरिश, नया जन्म ले लेता है। शरीर का चोला तक नहीं उतारता, ज़िंदा का ज़िंदा...। डरा-सहमा, पूरे एक देश को बाप मानकर, उसका हुक्म बजाता हुआ उसकी ज़हनियत जा नहीं पाती।" माँ को अपने बेटे का अपार्टमेंट माचिस की डिब्बियों से बने बहुमंज़िला मकान जैसा लगता है। "ऊँचा, ख़ूबसूरत, सवाल-जवाब में ख़रा, बाहर इतना खुला और भीतर एकदम क़ैदख़ाना।" वहाँ के जीवन में वृद्धों के जीवन में व्याप गए सन्नाटे को ऊपर के तल पर रहते वृद्ध उससे जुड़ती इस माँ के स्नेह-संबंध की ठक-ठक आवाज़ के सहारे बहुत कुशलता से उकेरा गया है। माँ को एक बड़ा करारा झटका तब लगता है, जब वह बेटा भारत में अकेली रहती माँ को वहीं वापिस उसके एकांत में धकेल देने की ठानता है। कहानी बड़ी गहरी संवेदना से हमारे समाज के इस बदलाव का रेखांकन करती है।

वृद्धावस्था भारतीय समाज व्यवस्था में एक राजरोग बनती जा रही है—इस समस्या पर हिंदी में बहुत सशक्त कहानियों की रचना हुई है। 'संगति-विसंगति' में भी 'अलग-अलग कमरे', 'उधार की हवा', 'बाँसफल', 'बर्फ़ बनी बारिश' तथा 'छत पर दस्तक' कहानियों में इस कथ्य को अलग-अलग कोणों से उठाया गया है। मृदुला गर्ग की इन कहानियों की विशेषता यह है कि यहाँ भी उनका नारीवादी दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट रूप में सामने आता है, उनकी वृद्धाएँ बेचारी नहीं हैं, उनके पास निर्णय की क्षमता है, पति के बिना संसार में अकेले खड़े होने का दम-ख़म है—'बाँसफल' और 'छत पर दस्तक' की वृद्धा माताएँ इस दृष्टि से बहुत प्रभावित करती हैं।

मृदुला गर्ग की कहानियों में कर्नाटक, राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गाँव भी अपनी पूरी धड़कन के साथ उपस्थित हैं। 'दुनिया का क़ायदा' में पश्चिमी उत्तर प्रदेश, 'टुकड़ा-टुकड़ा आदमी', 'पोंगल पोली' में बेलापुर (कर्नाटक), 'करार' में जोधपुर-जैसलमेर (राजस्थान) के किसान-मज़दूरों की ज़िंदगी में झाँकते हुए उनके दुख-दर्द से गहरी संपृक्ति और भाषा से गहरी पहचान इन कहानियों की ख़ूबी है। इसी प्रकार जब वे समाज के निम्नवर्ग, ग़रीबी रेखा से नीचे जीते पात्रों की ज़िंदगी में झाँकती हैं तो उससे भी पूरा तादात्म्य कर कहानियों को बुना गया है। भूख और ग़रीबी, रेल में चलते बच्चों का ठंडे की बोतलें बेचना, बाइयों का जीवन—इन सब पर 'क्षुधा-पूर्ति', 'उसका विद्रोह', 'मौत में मदद', 'नहीं', 'विलोम' कहानियों में साधिकार लिखा गया है। अपराध जगत, डाकू-जीवन पर भी 'बेनक़ाब' जैसी कहानी मिलती है। कहानीकार के वृहतर अनुभव-वृत्त का परिचय देती दिल्ली में हुए

सिख विरोधी दंगों पर दो कहानियाँ 'अगली सुबह' तथा '31 दिसंबर की रात 1984' इस संग्रह में आती हैं। दोनों ही कहानियाँ अमानवीय स्थितियों के प्रति पुरज़ोर ढंग से खड़ी होती हैं।

इस समीक्षा के माध्यम से मैं एक और प्रश्न उठाना चाहता हूँ जिस का उत्तर मेरे ज़ेहन में भी स्पष्ट नहीं है। इधर हिंदी के बहुत सारे कहानीकार अपनी रचनाओं को समग्रता में एक या दो जिल्दों में प्रकाशित करा रहे हैं। प्रश्न यह है कि अपनी सारी कहानियों को एकत्र रूप में देने-देखने का लोभ तो बहुत बड़ा है, क्या लेखक अपनी कमज़ोर कहानियों को ऐसे संग्रहों से अलग रखकर पाठक को एक अतिरिक्त बोझ से बचा नहीं सकता। यहाँ भी कुछ कमज़ोर कहानियाँ संकलित हुई हैं यथा—प्रथम खंड में 'अंधकूप में चिराग़', दूसरे खंड में 'वितृष्णा', 'विनाशदूत' आदि। यह तर्क प्रभावी नहीं बनता कि रचनाकार के लिए उसकी प्रत्येक रचना मूल्यवान होती है, कहीं-न-कहीं रचनाकार भी अपना पहला आलोचक होता है। आख़िर मृदुला गर्ग ने भी अपने प्रथम कहानी-संग्रह 'झुटपुटा' कहानी को किसी विवेक से ही छोड़ा है—कुछ अन्य कमज़ोर रचनाओं को छोड़ देने से समग्रता में कहानीकार की छवि और भी बेहतर रूप में सामने आई।

अंत में 'दो शब्द' कहानी के शिल्प और अभिव्यक्ति के संबंध में भी समग्रता में कहानियों का यह पाठ आश्वस्ति देता है कि मृदुला गर्ग की कहानी-कला में निरंतर विकास दिखाई देता है और बाद की कहानियों में आकर जो खिलंदड़-सा कथा-अंदाज़ जिसमें लोक-कथा-कथन शैली, कुछ-कुछ फ़ंतासी का अंदाज़ लिए व्यंग्य, स्त्री-पुरुष संबंधों पर अपने विचारों की अभिव्यक्ति का बेबाक और खुला अंदाज़, भाषा में नया रचाव, कहानी को कथा-रिपोर्ताज़ की शैली में ढालने की कला, आदि गुण कहानी को एक नई समृद्धि देते हैं।

चर्चित कहानी-संग्रह :

संगति-विसंगति (पार्ट-1; पार्ट-2) : मृदुला गर्ग; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; 2004; 800 रुपए

खगेंद्र ठाकुर

सदी के प्रश्नों पर सोचने का मतलब

चिंतन करना, वह भी सामाजिक या राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय प्रश्नों पर समय की गति से उपजे और समय की गति को प्रभावित करनेवाले प्रश्नों पर, जो असल में सदी के प्रश्न समझे जाएँ, बड़ा ही आवश्यक और मुश्किल काम है। ऐसे चिंतन की हमारे देश में लंबी और समृद्ध परंपरा है। लेकिन आज के युग में ऐसा चिंतन करना जितना ज़रूरी है, उससे ज़्यादा मुश्किल है। वर्तमान के ज्वलंत प्रश्नों पर चिंतन करने की ज़रूरत और मुश्किल दोनों ही इसलिए और बढ़ जाती हैं कि आज का शासक वर्ग दुनिया के पैमाने पर आम लोगों के लिए सोचने-विचारने की प्रक्रिया को कुंद कर देने और बंदकर देने का संगठित अभियान अनेक प्रकार से चला रहा है। एक भयानक अपराधकर्मी और एक पुलिस प्रधान की साँठ-गाँठ देखकर एक भला आदमी परेशान होकर सोचने लगता है कि ऐसा क्यों है? तो उसका एक शुभचिंतक मित्र उसे कहता है—तुम इतना सोचते क्यों हो? सोचना ही झंझट की जड़ है। इसीलिए तुलसीदास ने मध्यकाल

ने ही कह दिया—'सबसे भले मूढ़ जिनहिं न व्यापै जगत गति।' जगत-गति जिनको प्रभावित नहीं करती, वे परम सुखी लोग होते हैं। यों आम लोगों की ओर से अथवा शासक वर्ग से अलग या उसके विकल्प की दृष्टि से सोचना ख़तरनाक काम भी है, शासक-वर्ग के लिए यह ख़तरे का स्रोत है। इसीलिए हर युग में शासक वर्ग ने मनुष्य की चेतना को शिथिल बनाए रखने का अभियान चलाया है। राजनीतिक दृष्टि से आज जनतंत्र का युग है। ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिकता और आधुनिक युग का निर्माण जनता की ऐतिहासिक शक्ति से हुआ है। इस ऐतिहासिक शक्ति को विघटित करने के अनेकविध उपाय आज वित्तीय पूँजी के शासक, संचालक, व्यापारी और विचारक सभी कर रहे हैं, ताकि परिवर्तन के इतिहास का अंत हो जाए और शोषण का इतिहास निर्बाध क़ायम रहे। समस्त उत्तर आधुनिक चिंतन का यही उद्देश्य है। लेकिन इस एक ध्रुवीय विश्व में भी सब कुछ उन्हीं के हिसाब से नहीं चल रहा है। परिवर्तन के लिए सोचा भी जा रहा है और संघर्ष भी जारी है।

हिंदी की विशेषता है कि वह आज भी साम्राज्यवाद और नव-उपनिवेशवाद के समग्र प्रतिरोध की भाषा है और हिंदी के लेखक इस भाषा को अपने सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चिंतन से समृद्ध कर रहे हैं। ऐसे लोगों में जितेंद्र भाटिया प्रमुख हैं। पिछले कुछ वर्षों में उन्होंने जो सोचा-समझा और लिखा है, उसने हिंदी-पाठकों का ध्यान ही नहीं खींचा उनको बौद्धिक रूप में समृद्ध भी किया। उल्लेखनीय यह भी है कि जितेंद्र भाटिया जाने-माने कहानीकार हैं और रचनात्मक विधा के लेखकों में समय के गंभीर प्रश्नों पर सोचने-विचारने और लिखने की प्रवृत्ति कम होती है। कहानीकार जितेंद्र भाटिया एक कुशल विचारक के रूप में सामने आए हैं। हाल ही में उनके ऐसे लेखों का संग्रह *सदी के प्रश्न* नाम से प्रकाश में आया है। यह पुस्तक अपनी विषय-वस्तु, विषय के विवेचन की वस्तुपरकता, सहजता और वैज्ञानिकता के कारण महत्त्वपूर्ण, पठनीय और संग्रहणीय है। पुस्तक की सामग्री केवल चिंतन से नहीं, गंभीर अध्ययन से प्राप्त हुई है और विचारों, तथ्यों एवं तर्कों के टकराव के कारण प्रश्नों का विवेचन एवं प्रतिपादन धारदार एवं रोचक हो गया है। गंभीर प्रश्नों का विवेचन रोचक भी हो, यह विषय और भाषा पर अधिकार के माध्यम से सिद्ध होता है। जितेंद्र भाटिया ने अपने सामने प्रस्तुत प्रश्नों से संबंधित विषय का व्यापक अध्ययन किया है और एक कुशल रचनात्मक लेखक होने के नाते भाषा पर उनका अधिकार है ही। भाटिया ने इस पुस्तक में असल में आज के नव-उपनिवेशवाद की हरकतों का अध्ययन विज्ञान, तकनीकी, भूमंडलीकरण, उदारीकरण, बाज़ार की भूमिका, ऊर्जा की समस्या, पेट्रोलियम का महत्त्व, जनसंस्कृति और साहित्य, तीसरी दुनिया आदि से जुड़े प्रश्नों पर, भारत और तीसरी दुनिया की स्वतंत्रता, विकास और संस्कृति की दृष्टि से विचार किया है। भूमंडलीकरण और उदारीकरण यानी नव उपनिवेशवाद के पक्षधर विचारकों के द्वारा फैलाए गए भ्रामक और ग़लत विचारों की काट इस पुस्तक के लेखों में प्रस्तुत की गई है। सदी के ये प्रश्न असल में बीसवीं सदी के वैज्ञानिक तकनीकी विकास, आर्थिक-राजनीतिक विकास और सोवियत संघ के विघटन के बाद के दौर में साम्राज्यवाद के वर्चस्ववादी अभियान से उभरे हैं, लेकिन ये प्रश्न हमें इक्कीसवीं सदी में भी परेशान कर रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे। इक्कीसवीं सदी के अभी गत पाँच वर्षों में कोई नया प्रश्न नहीं उठाया है।

जितेंद्र भाटिया के साफ़-सुथरे चिंतन में भी एकाध स्थल पर मुझे ऐसा महसूस हुआ कि वे वैचारिक रूप से ठसक गए हैं, जैसे, उन्होंने सवाल उठाया है—'वह कौन-सा बिंदु है जहाँ

से आगे विज्ञान मानव-कल्याण के सर्वोपरी उद्देश्य को दरकिनार कर उपभोक्ता संस्कृति का एक भ्रष्ट हिस्सा बन जाता है और उसे इस पतनशील-अंजाम तक पहुँचाने में किन शक्तियों का हाथ है!' यदि भाटिया पूँजीवाद के चरित्र का विश्लेषण करते तो प्रश्न इस तरह उनके सामने नहीं आता। विज्ञान उपभोक्ता संस्कृति का अंग कभी नहीं बनता। एक लेख में भाटिया ने ठीक ही तो लिखा है कि विज्ञान और टेक्नोलॉजी पर भी पूँजीपतियों ने क़ब्ज़ा कर रखा है और यह उन्होंने नोट किया है कि अब आवश्यकता आविष्कार की जननी नहीं है। यह कथन पूरा होता है इस यथाबोध से कि आज आविष्कार आवश्यकता का जनक है। पूँजी उधर ही भागती है, जिधर मुनाफ़ा ज़्यादा होता है। ऐसे उत्पादन को उपभोक्ता चाहिए और कुछ नहीं। देखने की ज़रूरत यह है कि बाज़ार की शक्तियाँ क्या करती हैं? पूरे मानव-समाज को पतन की इस अवस्था तक पहुँचाने का काम बाज़ार की शक्तियाँ करती हैं। बाज़ार की शक्तियाँ वही हैं, जिनके हाथों में उत्पादन का स्वामित्व है, जहाँ जाकर मुनाफ़ा संचित होता है। उपभोक्ता संस्कृति वास्तव में पूँजीवादी संस्कृति है।

भाटिया ने यह अनेक स्थलों पर स्पष्ट किया है कि टेक्नोलॉजी के विकास और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के भयानक बढ़ाव से आज भी दुनिया में कैसे विषमता पैदा हुई है। कंप्यूटर सॉफ़्टवेयर का दुनिया का सबसे बड़ा अमरीकी सेठ बिल गेट की कुल संपत्ति डेढ़ सौ देशों की सम्मिलित आय या जी. डी. पी. से भी अधिक है। अमेरिका के 358 खरबपतियों के पास जितनी संपत्ति है, उतनी आज की दुनिया की आधी आबादी के पास भी नहीं है। एक सौ बहुराष्ट्रीय कंपनियों का आपसी व्यापार वास्तव में अंतरराष्ट्रीय व्यापार है, उसमें कोई दूसरा घुस नहीं सकता।

उदारीकरण के प्रसंग में यह वाक्य ध्यान देने योग्य है। लेखक ने बड़े सही ढंग से यह स्पष्ट किया है कि, "इसी (इस्ट इंडिया कंपनी) के आधुनिक अवतार (बहुराष्ट्रीय कंपनी) जब आज़ाद देश के समूचे विकास को अपने अंतरराष्ट्रीय ब्रांडों का मोहताज बना डालने की ग़रज़ से उदारीकरण का सबक हमारे गले से उतारते हैं तो हम इस प्रक्रिया को 'आर्थिक आज़ादी' कहकर पुकारते हैं। जब दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कंपनियों को दुनिया की अविकसित परंतु संभावनाशील मंडियों में घुसने के एकतरफ़ा अवसर प्रदान किए जाते हैं तो इसे आर्थिक उदारीकरण कहा जाता है। फ्रांस के समाजशास्त्री स्टीफ़ेन गॉडफ़ी के हवाले से कहा गया है कि वैश्वीकरण की ताज़ा प्रवृत्तियों के चलते इस दुनिया में ज्ञान के निजीकरण का संकट सबसे बड़ा है। इस निजीकरण का संबंध पेटेंट से है। अब वैज्ञानिक शोध भी व्यापारिक ज़रूरत के उत्पाद से जुड़ गया है। आज साठ प्रतिशत शोध दुनिया में व्यापारिक उत्पाद भी ज़रूरत से बँधे हुए हैं।

उपर्युक्त तथ्यों और राजनीतिक, आर्थिक, व्यापारिक और बौद्धिक प्रक्रिया में जन संस्कृति के बारे में सोचना तभी संभव हो सकता है, जब उपर्युक्त प्रक्रिया का विरोध करने के लिए जनता की ऐतिहासिक शक्ति को जागृत और सक्रिय करें। इस आवश्यकता को जितेंद्र भाटिया ने तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत किया है। लेखक धन्यवाद के पात्र हैं।

चर्चित पुस्तक :
सदी के प्रश्न : जितेंद्र भाटिया; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2004; 120 रुपए

1937 में जन्मे आलोचक खगेंद्र ठाकुर के कई आलोचनात्मक निबंध-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : क्षितिज, जनशक्ति कॉलोनी, पथ संख्या-24, पटना-800024

सुरेश पंडित

तप्त रेगिस्तान में पानी की तलाश

भारत भारती के कवि मैथिलीशरण गुप्त ने कभी लिखा था, ''राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है। कोई कवि बन जाए सहज संभाव्य है।'' उनका यह उद्‌गार कदाचित् राम के प्रति उनके अनन्य समर्पण भाव को प्रकट करता है और आज का तर्कजीवी पाठक उनकी इस अंध आस्था को सिरे से ख़ारिज कर सकता है लेकिन वह इस सच्चाई से मुँह नहीं मोड़ सकता कि समकालीन बिहार का सच किसी को भी लेखक अवश्य बना सकता है। यह सच इतना विभीषक है कि न आँख मूँदकर आप इससे छुटकारा पा सकते हैं न खंब ठोककर इससे दो-दो हाथ कर सकते हैं। दलितों-पिछड़ों का शोषण, सामंती संस्कार, भूमि संघर्ष, लूटमार, जातिवादी गिरोहबंदी और भ्रष्टाचार का पर्याय बना बिहार किस क़दर एक शांतिप्रिय आम नागरिक का जीना दूभर किए हुए है इसका अंदाज़ा बिना स्वयं अनुभव किए नहीं लगाया जा सकता। घर-परिवार के सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए जब वह वस्तुस्थिति से रूबरू होता है तो उसे धरती और आकाश घूमते नज़र आते हैं और सारे सिद्धांत, आदर्श धूल चाटते दिखाई देते हैं। तभी तो आख्यानकार जाबिर हुसेन को कहना पड़ता है, ''मैंने कब कहा कि मैं कहानियाँ लिखता हूँ मैं तो बस अपने आसपास जो कुछ देखता हूँ, महसूस करता हूँ वही लिख देता हूँ। मेरे किरदार मेरी उन अनगिनत लड़ाइयों की खोज और उपज हैं जो दशकों से बिहार के गाँवों में लड़ी गई, बल्कि आज भी लड़ी जा रही हैं। मैंने यह भी कब कहा कि मेरे पास गाँवों के दुखों का इलाज है। मैं तो बस अपने किरदारों के यातनापूर्ण सफ़रनामे का एक अदना-सा साक्ष्य मात्र हूँ। एक साक्ष्य जो कभी अपने किरदारों की रूह में उतर जाता है और कभी किरदार ही जिसकी रूह का हिस्सा बन जाते हैं।''

अपनी रूह का हिस्सा बने कुछ ऐसे ही किरदारों की आपबीती को समेटकर सुरेंद्र स्निग्ध ने जिस महागाथा की रचना की है उसका नाम है *छाड़न*। इसकी पृष्ठभूमि है बिहार प्रदेश के उत्तरी सीमांचल को स्पर्श करता कोसी नदी का वह प्रवाह स्थल जो सहरसा और पूर्णिया ज़िले के संपूर्ण भू-भाग को अपनी परिधि में लपेटे रखता है। दरभंगा के पूर्वांचल में एक इंच भी ज़मीन ऐसी नहीं है जहाँ कभी कोसी नदी ने क्रीड़ा न की हो। सहरसा और पूर्णिया के इसी छाड़न में बसे गाँवों के लोगों का आज़ादी से पहले से लेकर आज तक का दिन-प्रतिदिन बदलते हुए भी न बदलता इतिहास ही इस उपन्यास की कथावस्तु का तानाबाना बुनता है।

इसकी शुरुआत होती है 1925 से जब महात्मा गांधी का दौरा पूर्णिया ज़िले में होता है और एक तेज़ चुंबक का खिंचाव ज़िले के दूर-दराज़ के गाँव, ढाणियों से लोगों को अपनी ओर खींच लाता है। उनके असहयोग आंदोलन की आँधी सारे राज्य को अपनी पकड़ में ले लेती है। तभी भवानीपुर में कहीं से अवतरित होता है सागरमल। कहते हैं किसी ने उसे हँसते नहीं देखा। पर यह ज़रूर देखा लोगों ने कि ख़ाली हाथों आकर भी वह थोड़े अर्से में ही सेठ बन बैठा था। हाथ ख़ाली थे पर मन तो ख़ाली नहीं था। उसमें भरी थी झूठ, प्रलोभन, धूर्तता और तिकड़मबाज़ी। बस इसी पूँजी के बल पर वह बन गया था एक खांडसारी मिल का मालिक। अंग्रेज़ों की दिन-रात चापलूसी और दीन-हीन गाँववासियों के शोषण के कारण वह नछत्तर मालाकार की आँखों की किरकिरी बन गया। नछत्तर अंग्रेज़ों और

उनके दलालों के ख़िलाफ़ अपनी अलग तरह की लड़ाई लड़ रहा था। अंग्रेज़ अफ़सर उसके नाम से ही पीपल के पुराने पत्तों की तरह काँपने लगते थे। वह कुछ ही दिनों में उस इलाक़े की एक जीवित किंवदंती बन गया था। आख़िर एक रात बिजली रानी की नौटंकी देखते सागरमल को नछत्तर के लोग उठा ले जाते हैं और उसका सिर काटकर धड़ को वहीं पटक जाते हैं।

चनिया और अरजुनमां डांसर की प्रेम कहानी भी अंततः एक त्रासदी में बदल जाती है क्योंकि ज़मींदार जग्गन सिंह का सिपाही डोमीसिंह उन दोनों को प्यार करते रंगे हाथ एक बस बिट्टी में पकड़ लेता है। अरजुनमां की गाँव वाले बुरी तरह से ठुकाई करते हैं जिससे वह बाद में पागल होकर मर जाता है और चनिया को उसके पति गुद्दर के पास भेज देते हैं जो अब डकैत बन चुका है। वह उसे गर्भवती पाकर मौत के घाट उतार देता है। सुकनी का दस बीघा खेत जग्गन सिंह उसके पिता नेपाली को झाँसा देकर अपने नाम लिखवा लेता है। पहले उसका पिता मरता है और फिर बूढ़ा पति। वह विधवा हो जाती है और गाँव छोड़कर कहीं चली जाती है। पर लौटती है आज़ादी मिलने के कई साल बाद और नक्सलपंथियों की किसान सभा की पहल पर अपना खेत वापिस पा लेती है। आज़ादी के बाद राजनीतिक दलों के समतावादी समाज के निर्माण, सामाजिक न्याय प्रदान करनेवाले व्यवस्था और आमूलचूल परिवर्तन व समग्र क्रांति के आदर्शों का किस तरह धीरे-धीरे कुरूपीकरण हुआ है, कैसे स्वार्थी, अवसरवादी, पेशेवर अपराधियों ने राजनीति की आड़ लेकर अपने घिनौने इरादों को पूरा करने की मुहिम चला रखी है इस सबका क्रमशः किंतु विस्तार से दिया गया रोज़नामचा इस किताब के पन्नों पर मय तफ़सील के दर्ज है। इसमें वर्णित प्रत्येक घटना और उससे जुड़े पात्र बिहार के अतीत और वर्तमान को हूबहू रूपांकित करते दिखाई देते हैं।

बादो सिंह सी. पी. आई. का नेता है। मुँह में लाल सलाम के साथ हाथ में क्रांति का परचम थामे हुए है। पर भूमिपतियों से समझौता कर सुकनी ब्लैकमेल करने से बाज़ नहीं आता। वह कहता है, ''हम शिवसिंह या दूसरे मझौले क़िस्म के ज़मींदारों से लड़ाई नहीं करना चाहते। हम ज़ोर-ज़ुल्म के ख़िलाफ़, शोषण के ख़िलाफ़ और उचित मज़दूरी के लिए अपनी आवाज़ भर उठाना चाहते हैं।'' नामी डकैत बुट्टन से मिलकर वह ज़मींदार शिवसिंह को नक्सलपंथियों से बचाने के नाम पर पैसा ऐंठने की कोशिश करता है। बुट्टन बादो सिंह के ज़रिए सी.पी.आई. का सहारा ले एक ओर अपनी आपराधिक कार्रवाइयाँ जारी रखता है और दूसरी ओर सुकनी के खेत में ज़बर्दस्ती अपनी झोंपड़ी डाल लेता है। सुकनी जब किसान सभा के द्वारा इस ग़ैर क़ानूनी क़ब्ज़े को हटाने के लिए चेतावनी दिलवाती है तो वह वहाँ कहीं से बजरंगबली की मूर्ति चुराकर ले आता है और उसकी स्थापना कर देता है। इससे गाँव के भी कुछ लोग उसके साथ हो जाते हैं। पर जब वह ज़मींदार शिवसिंह से चंदा न मिलने पर रात को उसी के घर डकैती डालता है और उसके बेटे की बहू से बलात्कार करता है तो गाँव की औरतें इस अपमान को सहन नहीं कर पातीं। पुलिस के डर से बंसबिट्टी में छिपे बुट्टन को वे बाहर निकाल चाक़ू, दराँत व गँड़ासों से टुकड़े-टुकड़े कर देती हैं। पहला वार बलात्कार पीड़िता पप्पू सिंह की बहू करती है। पुलिस के आने पर सभी औरतें एक स्वर में कहती हैं, ''बुट्टन को हम सबने मिलकर मारा है।'' पर औरतों का यह सामूहिक प्रतिकार कोई पहली घटना नहीं है। आज़ादी से पहले भी नछत्तर को तलाशते अंग्रेज़ सिपाही जब इनके घरों में घुसते थे तो ये अपनी-अपनी मिट्टी की हाँडियों से न केवल उनका सिर फोड़ देती थीं बल्कि उनका मुँह भी काला कर देती थीं।

इसी तरह राजाराम सिंह, रामजन मरड़, सिर गोविन मंडल, शिबल सिंह सरीखे सभी भूमिहरों

का चरित्र प्रायः एक जैसा है। जातीय भिन्नता इनके शोषण व अत्याचार के तौर-तरीक़ों में कोई भेदभाव नहीं पैदा करती। औरत ख़ोरी इनके लिए आदत नहीं हैसियत की प्रतीक है। पहले अंग्रेज़ों और बाद में सत्तारूढ़ राजनेताओं की चापलूसी करना इनकी आचार संहिता का एक अनिवार्य अंग रहा है। लेकिन इनके अत्याचारों का प्रतिकार भी जनता के बीच से ऊपर उठते लोगों द्वारा ही होता रहा है। सरकारें तो इन आपराधिक चरित्रों की सहायता से ही बनती/बदलती हैं। इसलिए वे इनके विरुद्ध कोई कारगर क़दम नहीं उठाती। पुलिस और प्रशासन को नौकरी बजानी होती है सो वे भी निष्पक्ष कार्रवाई करने का आश्वासन तो देते हैं पर करते वही हैं जो सरकारें चाहती हैं ऐसे में ज़ाहिर है जनता को अपने हितों की देखभाल स्वयं ही करनी होती है। नछत्तर मालाकार जिस तरह धमदाहा और भवानीपुर के इलाक़े के अन्याय के ख़िलाफ़ एक नायक के रूप में विख्यात होता है उसी तरह सोहन शर्मा ढोलबज्जा, लोआलग्राम और रूपौली के दक्षिण-पश्चिम इलाक़ों के बीच नायक बन जाता है। पर नछत्तर जहाँ अंग्रेज़ों और उनके दलालों को ठीक करता है वहीं सोहन शर्मा नए भूमिपतियों को ठिकाने लगाने के काम को अंजाम देता है।

इस तरह सारा उपन्यास कोसी के छाड़न की बीती व्यथा-कथा, भविष्य की त्रासदी और वर्तमान की अपंग, असहाय व्यवस्था पर से परदा उठाता है। यह एक ऐसे अंतहीन तप्त मरुस्थल की दुःस्वप्न यात्रा है जिसमें मर्मांतक पीड़ा के अलावा कोई अन्य अनुभव नहीं प्राप्त किया जा सकता। सागर मल्ल, रामजन, शिव सिंह, जग्गन सिंह का अंत हो जाने के बावजूद यहाँ के लोगों की वेदना का अंत नहीं होता। उनकी जगह अखिलेश मंडल, प्रलयंकार सिंह, डायमंड सिंह और चुनमुन यादव ले लेते हैं। वे भी चले जाएँगे तो कुछ दूसरे चेहरे आ जाएँगे। जातिवाद, अगला-पिछड़ा और अल्पसंख्यक-बहुसंख्यकवाद के जो विषवृक्ष वोट बटोरने के लिए राजनीतिक दलों ने बोए हैं उनकी जड़ें ज़मीन की जितनी गहराई में पसर रही हैं उतनी ही विषैली गंध पर्यावरण में फैल रही है। सुरेंद्र स्निग्ध जैसे दर्जनों कथाकार लगातार ऐसी कथाएँ लिखते रहें तो भी वे इन इलाक़ों के सच को शायद ही पूरा दिखा पाएँ।

चर्चित उपन्यास :

छाड़न : सुरेंद्र स्निग्ध; पुस्तक भवन, नई दिल्ली 110045; 2005; 175 रुपए

सुपरिचित शिक्षाविद् एवं समीक्षक। संपर्क : 383 स्कीम नं.2, लाजपत नगर, अलवर-301001, फ़ोन-0144-700512

रामबक्ष

कुछ समय बाद

प्रस्तुत कहानी-संग्रह पढ़ने के बाद यह निस्संकोच रूप से कहा जा सकता है कि देवेंद्र चौबे कहानी लिख सकते हैं। आजकल कई लोग कहानीनुमा कुछ ऐसा लिख डालते हैं, जो कहानी लिख ही नहीं सकते। हालाँकि उनके लेखन न केवल छप जाते हैं, वरन् पत्र-पत्रिकाओं में इतना स्थान घेर लेते हैं कि उनमें से कहानियाँ ढूँढ़कर पढ़ने में बड़ी मशक़्क़त करनी पड़ती है।

कहानी की बुनियादी शर्त है—दूसरे की ज़िंदगी में दिलचस्पी और तीसरे को सुनाने की आकुलता। जितना कुछ आप दूसरों के बारे में

जानेंगे उतने ही उत्साह से तीसरे को सुनाने की बेचैनी बढ़ेगी। इस आदिम आकांक्षा और योग्यता के बिना कहानी की रचना संभव नहीं है। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो हम कह सकते हैं कि देवेंद्र कथा कहने में रस लेते हैं, बातें कहते जाते हैं और इस क्रम में ऐसा बतरस बना लेते हैं, जिससे उनका लेखन पठनीयता के दायरे में आ जाता है। यहाँ यह कहना भी समीचीन होगा कि महान विचारों से कहानी नहीं बनती। छोटी-छोटी बातें भी यदि आप उमंग और उत्साह, चिंता और बेचैनी से सुनाने लगेंगे तो कहानी बन जाएगी। इसलिए हम उम्मीद कर सकते हैं कि आगे चलकर देवेंद्र कुछ बढ़िया कहानियाँ लिख डालेंगे।

यह तो उनका पहला कहानी-संग्रह है। जैसा कि होता है, सारी कहानियाँ कहीं-न-कहीं पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी हैं तथा प्रशंसा पा चुकी हैं। कहानी-संग्रह में किसी भी अप्रकाशित रचना का न होना एक प्रचलित और क्षम्य अपराध है। हालाँकि यह खटकने वाली बात है, परंतु जब सब करते हैं तो चलता है।

पहले संग्रह में भारतीय शिक्षित मध्यवर्ग के पास बचपन के, किशोरावस्था के कुछ अछूते, नए, विचित्र अनुभव होते हैं; कई टेढ़ी-मेढ़ी अजीब-सी मानव-मूर्तियों से लुट-पिटकर, बच-बचाकर वे यहाँ तक पहुँचे हैं; उन सबको एक बार कहकर लेखक कुछ हल्का होना चाहता है। इस रस्म का निर्वाह भी सब करते हैं। कहानी में कुछ 'अर्थ' नहीं है, नया तो कुछ भी नहीं है, फिर भी जब तक इसकी अभिव्यक्ति नहीं हो जाती, तब तक वे 'नया' भी कुछ नहीं कह सकते। यह छूटा हुआ, बीता हुआ यथार्थ होता है, इसके बीत जाने का अपना रोमांस है, उसमें से स्वयं के सुरक्षित निकल आने का संतोष भी है। यह स्वयं को उलटने-पलटने का, पहचानने का, अपनी जड़ों को तलाशने का प्रयास है। यह भी क्षम्य श्रेणी में ही आता है। इसे विशेषाधिकार मानकर पढ़ लेना चाहिए। इस उम्मीद में कि...उत्तर कथा, छोटे-छोटे सपने, मठियवाघाट, दूसरा आदमी जैसी कहानियों को इसी रूप में पढ़ना चाहिए। इनकी समस्या यह है कि इनका यथार्थ छूटा हुआ है। इस यथार्थ से लेखक का सर्जनात्मक रिश्ता नहीं है। बस इसके प्रति एक चिंता, करुणा और दयाभाव जैसा कुछ है।

आज की कहानी की या कहें संपूर्ण लेखन की एक और समस्या है और वह इस संग्रह में भी है। वह है लोकप्रिय भावों और विचारों की अभिव्यक्ति। कुछ बातें होती है, जिन्हें हमारा मीडिया कहता है। पढ़े-लिखे, सभ्य, समझदार, संवेदनशील लोगों को कहते रहना चाहिए। इससे आपकी छवि एक अच्छे, संवेदनशील, भावुक, न्यायप्रिय व्यक्ति की बनी रहती है। रहनी भी चाहिए। ऐसी बातें जब भी रचना में आती हैं तो हम झट पहचान लेते हैं कि यह हमारे 'समय' की रचना है। हम जान जाते हैं कि लेखक अच्छी-अच्छी बातों की कितनी चिंता करता है! कितना सोचता है कि 1764 के बाद आज छोटे मियाँ की ज़मीन सुरक्षित नहीं है, कि युद्ध राष्ट्राध्यक्षों की अपनी लिप्सा का नतीजा है, इसका कोई तर्क नहीं है, कि सिपाही तो ख़राब है ही, उसे होना ही चाहिए, कि कोई मंत्री या नेता तो सपने में भी अच्छा नहीं बन सकता। कितनी सारी अच्छी और मानवीय बातें इन कहानियों में आती हैं। जब भी ये आती हैं तब कहानी के कथ्य को कमज़ोर और लेखक की छवि को 'बड़ा' बना डालती हैं। ये सब बातें सही होती हैं, ग़लत कुछ नहीं होती, परंतु कहानी में इन्हें 'पुष्ट' किया जाना चाहिए था, जबकि ये सब एक 'तर्क' के रूप में इस्तेमाल होती हैं। इस्तेमाल लेखक अपने लिए करता है, करे। इनसे कहानी से कोई लेना-देना नहीं है।

यदि सिर्फ़ कहानी की दृष्टि से देखा जाए तो 'अपनी-अपनी लड़ाई', 'पराया रिश्ता'। 'सज़ा' और 'युद्ध' जैसी कहानियाँ पाठक के मर्म को

छूती हैं। 'एक व्यस्त शहर की कहानी' कला, कथ्य और लेखकीय निर्लिप्तता की दृष्टि से इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी है। इसे पढ़ते हुए काशीनाथ सिंह की एक अद्‌भुत कहानी याद आ जाती है, जिसमें एक फ़ौजी छुट्टी लेकर उन वर्जित पाँच दिनों में घर आ जाता है और माँ बेचैन है। देवेंद्र यदि चाहते तो इस 'सैनिक' और उस 'औरत' को इतनी बेरुख़ी से नहीं दिखाते। यदि ऐसा होता तो कहानी और भी बेहतर होती। अनजाने ही सही, कहानी एक अद्भुत बिंदु को छूती है। अपनी-अपनी लड़ाई का आरंभिक हिस्सा अद्‌भुत है, परंतु अंत में बुढ़िया को नाहक भीख मँगवाकर भावुकता की सृष्टि करनी चाही है। लेखक को थोड़ा निर्मम और किंचित् निर्लिप्त भी रहंना चाहिए।

'सज़ा' कहानी चाहे जितनी प्रशंसित हो, यह सोवियत संघ के विघटन के बांद लिखी हुई प्रतीत होती है। यदि पहले लिख ली जाती, तो अद्‌भुत होती। हाँ, यदि इसका अर्थ-विस्तार किया जाता, तथा वर्तमान साम्यवादी दलों कीं कार्य पद्धति पर लेखक कुछ टिप्पणी करता, उसकी रचनात्मक चिंता वहाँ तक जाती, तो कोई बात होती। बीती बातों पर अब क्या बात करें? और कितनी करें। फिर भी प्रस्तुत कहानी-संग्रह पठनीय तो है ही, कुछ विचारणीय और संग्रहणीय भी है।

चर्चित कहानी-संग्रह :

कुछ समय बाद : देवेंद्र चौबे; अमरसत्य प्रकाशन, दिल्ली; 2004; 125 रुपए

के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : सी-1 ए, शिव शक्ति, 8 रेजीडेंसी रोड, जोधपुर-342011

ज्ञान चतुर्वेदी

फ़ैंटेसी लिखने के ख़तरे

व्यंग्य का अत्यंत पैना हथियार है फ़ैंटेसी; परंतु कठिनाई यह भी है कि यह न केवल दुधारी तलवार है, वरन् इसका हत्था तक ऐसा पैना होता है कि ठीक से न वापरा जाए, तो इस्तेमाल करनेवाले के हाथों को लहूलुहान कर सकता (डालता) है। एक छोटी-सी रचना में भी फ़ैंटेसी को कुशलता से साध पाना कठिन होता है। प्राय: आप चूक-चूक जाते हैं। फ़ैंटेसी के उपादान इकट्ठा करते-करते आप सपाटबयानी और अभिधा का इतना कबाड़ पैदा कर डालते हैं कि मूल विचार उसके तले न केवल ग़ायब हो सकता है, वरन् निष्प्राण भी। यही कारण है कि हिंदी व्यंग्य में अच्छी फ़ैंटेसी रचनाएँ पढ़ने को आप तरस जाते हैं। परसाई जी ने सर्वाधिक कौशल से फ़ैंटेसी का प्रयोग किया है। पौराणिक मिथकों का जितना सटीक तथा कलापूर्ण प्रयोग उन्होंने व्यंग्य के लिए किया है, वह न केवल दुर्लभ है, वरन् एक 'बेंचमार्क' भी, कि जिससे आप बहुत से अन्य लेख़कों के ऐसे प्रयासों को नाप सकते हैं। शरद जोशी ने 'तिलिस्म' नामक व्यंग्य-संग्रह में कुछ बेहद अच्छे फ़ैंटेसी व्यंग्य, लतीफ घोंघी ने भी कुछ छोटी-छोटी फ़ैंटेसी रचनाएँ लिखी हैं, जो हिंदी व्यंग्य के विरल फ़ैंटेसी-संसार को अपनी तरह से समृद्ध करती हैं।

परंतु जब आप उपन्यास जैसे बड़े कैनवास पर फ़ैंटेसी रचना चाहते हैं, तब तो यह और भी कठिन हो जाता है। तलवार की धार पर चलना कह लो या कि पतले तारों पर। हर क़दम पर चूकने का ख़तरा और चूके, तो नीचे सँभालने का कुछ भी नहीं। सीधे मुँह के बल। फ़ैंटेसी

और व्यंग्य को आद्योपांत निभा पाना एक ऐसा 'टॉल ऑर्डर' है कि जिससे कभी व्यंग्य-उपन्यास लिखने की कोशिश की है, वही इस 'बिवाई' की पीर को समझ सकता है। अब इसी कठिनाई को यदि दोगुना करना हो तो आप पौराणिक और मिथकीय चरित्रों का समय या स्थान की फ़ैंटेसी लिखने का बीड़ा उठा लीजिए। लोकजीवन में बचपन से मस्तिष्क तथा सोच पर अमिट छाप की भाँति स्थापित तथा मान्य (और जित भी) पौराणिक संदर्भों में जब कोई लेखक फ़ैंटेसी और व्यंग्य का रचना-संसार खड़ा करने की कोशिश करता है, तब वह एक बेहद कठिन तथा जोखिम का रास्ता चुन रहा होता है। ऐसा करने के लिए आपको अपनी परंपराओं, संस्कृति तथा समझ के प्रति अतिरिक्त सतर्क रहकर रचना होता है। फिर यह भय तो ख़ैर रहता ही है कि फ़ैंटेसी करते हुए आप कहीं फूहड़ और बचकाना न हो जाएँ, जिसकी आशंका ऐसी रचनाओं में बहुत रहती है। मैंने शुरू में ही अपने हथियार से ख़ुद लहूलुहान होने की बात की है। तो इतने सारे ख़तरे। विष्णु नागर ने ये सारे ख़तरे उठाए हैं अपने नए उपन्यास *आदमी स्वर्ग में* में। वे अपनी कविताओं और व्यंग्य रचनाओं के ज़रिये पहले ही एक मान्य क़द तथा स्थान बना चुके हैं। सो उनके उपन्यास से यदि उम्मीदें कदाचित् ज़्यादा ही हो जाएँ, तो यह पाठक या आलोचक की ज़्यादती नहीं कही जाएगी। फिर उनके उपन्यास को (व्यंग्य) फ़ैंटेसी में बना पाकर तो सजग पाठक अत्यंत आशा से इस उपन्यास को पढ़नेवाला है। ज़ाहिर है कि ऐसा ही होगा। फिर? क्या पाठक की आशाएँ इस हद तक पूरी होंगी? यह प्रश्न। और एक प्रश्न यह कि क्या विष्णु नागर फ़ैंटेसी, उपन्यास तथा व्यंग्य के इस कठिन रास्ते पर चलकर अंततः कहीं पहुँच पाए या नहीं? वे किस हद तक सफल रहे और कहाँ-कहाँ चूके—यह तो विशद विश्लेषण का विषय हो जाएगा, जिसकी गुंजाइश इस छोटी-सी टिप्पणी में शायद नहीं है। फिर भी स्वर्ग को लेकर एक ऐसी मायावी-मोहपूर्ण तसवीर सारे ही धर्मों ने बनाई है कि वह चकित भी करती है, मोहित भी, लालायित भी और भ्रमित भी। और स्वर्ग एक ऐसा मिथक है, जो सबसे अधिक जाना-पहचाना है। बहुत अपने-से तथा बेहद परिचित मिथकों को लेकर फ़ैंटेसी रचने के अपने ही ख़तरे होते हैं। विष्णु नागर जब स्वर्ग को अपनी फ़ैंटेसी का केंद्र बनाते हैं, तब ख़तरे (तथा ज़िम्मेदारियाँ) इसी कारण और बेहद बढ़ जाते/ जाती हैं। ऐसी रचना में व्यंग्य के सारे 'मेटाफ़र' आपको उन जगहों से उठाने हैं, जो सदियों से मानव मन की एकदम जानी-पहचानी-सी जगहें हैं। पाठक कभी स्वर्ग गया नहीं है, परंतु मानो स्वर्ग की गली-गली से वाक़िफ़ है। और इसी स्वर्ग में विष्णु नागर के उपन्यास का नायक गेंदमल सेठ पहुँच गया है। व्यंग्य यह है (और ख़ूब है, तथा बहुत ख़ूब हो सकता था) कि गेंदमल सेठ का स्वर्ग का अपना एक 'कॉन्सेप्ट' है, 'परसेप्शन' है और उसके बिना उसे असली स्वर्ग भी नक़ली तथा असहनीय प्रतीत हो रहा है। धरती का आदमी लाख स्वर्ग की बातें करे और उस स्वर्ग की कल्पनाएँ करे, जिसका ज़िक्र आदमी, अपने ही द्वारा रचित किताबों में करता रहा हो—परंतु तिकड़मी जीवन जीनेवाले व्यक्ति का स्वर्ग अंततः तिकड़म के जीवन में होता है। गेंदमल ने सारा जीवन तिकड़म और जुगाड़ में बिताया है। उन्होंने चींटियों के बिल पर नियमपूर्वक आटा भी यदि भुरका है या फिर समय-समय पर ब्राह्मणों को भोजन खिलाया है, तो यह सारा धार्मिक खटकरम भी तिकड़म के तहत ही किया है। वे धरती पर बहुतायत से पाए जानेवाले इस तरह के तिकड़मी संप्रदाय के प्रतिनिधि चरित्र हैं। मृत्योपरांत जब वे स्वर्ग पहुँचते हैं तो बेहद बेचैन रहते हैं और तब तक बेचैन रहते हैं जब तक कि वे तिकड़म का अपना एक स्वर्ग वहाँ खड़ा नहीं कर लेते। और फिर उनका 'यह स्वर्ग' कैसे असली स्वर्ग को नरक में तब्दील कर डालता है—उपन्यास इसकी कथा कहने

की कोशिश करता है। यह कोशिश कहीं तो सफल है कहीं बेहद सपाट है, कहीं सप्रयास तथा सिंथेटिक है, तो कहीं-कहीं बेहद सुंदर कविता है। वहीं पर यह त्रासदी भी है कि कहीं-कहीं बेहद जल्दबाज़ी में निष्कर्ष स्थापित करने की नाकाम कोशिश की गई है। जहाँ कहीं-कहीं चुटीला विट है, कहीं-कहीं बेहद चुटीली व्यंग्य टिप्पणियाँ हैं वहीं पर कहीं-कहीं शैली तथा कथ्य के स्तर पर भयंकर दोहराव भी है। इन सबका मिला-जुला असर यह बनता है कि उपन्यास का समग्र प्रभाव बड़ा डायल्यूट-सा बन पड़ा है।

लघुकथा, छोटी कहानियाँ, लंबी कहानियाँ और उपन्यास यदि सतह पर देखें, तो हैं तो कथा प्रस्तुत करने के माध्यम ही। अंततः कहानियाँ ही हैं ये सब। पर बात क्या इतनी ही सरल है? काश कि होती। ऐसा है नहीं। और इसी कारण उपन्यास एक लंबी कहानी या लंबी व्यंग्य कथा मात्र नहीं है, बल्कि उससे बहुत अलग तथा बहुत आगे बहुत कुछ है। उपन्यास अपनी तकनीक, सौंदर्यशास्त्र, अप्रोच तथा निर्वाह के स्तर पर कहानी कहने की एक अलग ही विधा है। यह बात तब और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि जब आप स्वर्ग जैसा विराट कैनवास लेकर उस पर जीवन के बड़े प्रश्नों की एक बड़ी तसवीर रखने की कोशिश कर रहे हों। ऐसी थीम किसी भी रचनाकार के सामने एक बहुत बड़ी चुनौती बनकर सामने आती है। पर यहाँ *आदमी स्वर्ग में* की दिक़्क़त यह है कि ऐसी चुनौती का सामना उपन्यासकार मानो बहुत मन से नहीं कर रहा। विशेष तौर पर उपन्यास का उत्तरार्ध निराश करता है और अंत तो बेहद निराश। अमेरिका में बस जाने और न्यूयार्क में बँगला इत्यादि की गेंदमलजी की इच्छा को यदि भारतीय नवधनिकों की इसी तरह की लालसा पर व्यंग्य के तौर पर यह अंत देने की कोशिश में उपन्यास का अंत इतना सायास, अचानक तथा सिंथेटिक बन पड़ा है कि वह न तो चौंकाता है, न उपन्यास की थीम को किसी ऊँचाई या निष्कर्ष पर पहुँचाता है और न ही वह सजग पाठक की उस लंबी पठन यात्रा का ठीक-ठाक-सा अंत बन पाता है कि जो उपन्यास का अंतिम पन्ना पढ़कर देर तक ज़ेहन में रहनेवाली तृप्ति का अहसास दे। उपन्यास बीच-बीच में (विशेष तौर पर शुरू के पेजों में) अटक-अटककर चलता है। शुरुआत के इन पेजों में गेंदमल जी स्वर्ग में लगातार बारी-बारी से कई प्राणियों से साक्षात्कार करते हैं और इस तरह स्वर्ग को समझने की कोशिश कर रहे हैं। टॉयलेट प्रसंग, गधा प्रसंग, सजने में इंस्पेक्टर द्वारा पीछा किए जाने का प्रसंग, चींटा प्रसंग, धनसू प्रसंग आदि ऐसे ही प्रसंग हैं, जो अपने आपमें, अलग-अलग, स्वतंत्र रूप में ठीक-सी व्यंग्य रचनाएँ बनती हैं, परंतु आपस में गुंफित होकर समग्र रूप में वे किसी भी मुक़म्मल प्रभावी कहानी का निर्माण नहीं करतीं। स्वर्ग ही उनको जोड़ने वाला तागा है, जो मज़बूत भी हो सकता था, पर यहाँ पर कमज़ोर-सा तागा है; पर इन्हीं प्रसंगों में विष्णु नागर जब माँ-बेटे के प्रसंग में माँ और बेटे के खेल की बात करते हैं, तब वे अद्‌भुत हैं—कविता का गद्य में इतना सुंदर प्रयोग है कि देखते ही बनता है। इसी प्रकार सेठ जी के मरने के बाद उनके शयनकक्ष में लटकी गेंदमल की तसवीर के टूट जाने और फिर बाद में हट जानेवाले प्रसंग में भी विष्णु नागर बेहद प्रभावी हैं। परंतु, अन्यथा इन अन्य प्रसंगों में एक 'प्रेडिक्टेबल पैटर्न' सा बनता है कि गेंदमल जी से गधा, चिड़िया, महिला, प्रौढ़ा, ग़रीब दलित आदि (बारी बारी से) आकर मिलते हैं और मानो व्यंग्य पैदा करने का प्रयास करते हैं। इस प्रयास के दौरान कहानी लगभग रुक-सी जाती है। उपन्यास की तकनीक यहीं तो (फुटकर) कहानी या व्यंग्य से अलग होनी चाहिए। इस उपन्यास में यह इस तरह से है नहीं, जैसी कि विष्णु नागर जैसे बड़े रचनाकार से चाही जाती है, (या जाएगी)।

तो समग्र उपन्यास अंततः कैसा कहा जाना चाहिए?

अपनी उपरोक्त सीमाओं में (और उनके बावजूद) *आदमी स्वर्ग में* पठनीय तथा एकदम नई ज़मीन पर खड़ा होने के कारण उल्लेखनीय उपन्यास बन पड़ा है। स्वर्ग को देखने की एक दृष्टि यह भी हो सकती है और यह दृष्टि एक सक्षम व्यंग्यकार की हो सकती है जो विष्णु नागर निःसंदेह हैं ही।

चर्चित उपन्यास :

आदमी स्वर्ग में : विष्णु नागर; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 150 रुपए

ज्ञान चतुर्वेदी चर्चित व्यंग-रचनाकार। संपर्क : ए-40, अलकापुरी, भोपाल, मो. 9303131964

ओम भारती

मैं किसी मेकअप में नहीं

मैं किसी मेकअप में नहीं
बचपन के कपड़े पहन के सामने हूँ
कुछ देर के लिए इतिहास और
कुछ देर के लिए पुरखों से बात करता
और लौट के देखता तो जीवित एक बहुत

यह कवितांश जाने-माने कवि लीलाधर मंडलोई के नए संकलन *काल बाँका तिरछा* से लिया गया है। यह मुश्किल दौर, जिसमें प्रचुर उत्पादन के कारण कविताओं का पहाड़ या कबाड़ हर कहीं नज़र आ जाता है, यह कवि बोलता है, *एकदम अलग सुर में / कि इतनी सारी के बीच वह एकदम अलग* आवाज़ के साथ, और इस तरह कि पहचाना जा रहा है। जबकि 'घर और जीवन अब एक बाज़ार' और 'दुनिया भरने लगी बोतलबंद पानियों से', वह सच-को-सच की तरह अपनी रचना में उतारता है। स्वस्थ जीवन-मूल्यों को विनष्ट करने पर आमादा बाज़ारी पूँजीवाद के निरंकुश रोड रोलर तले कुचली जा रही हिंदुस्तानी सरज़मीं पर आज भी यदि *पराजयों के ऐन बीच हम देख रहे हैं / प्रतिरोध का स्वप्न* तो यह मुमकिन किया है ऐसे ही कवियों ने, जो अपनी परिवर्तनकामी चेतना और पक्षधरता बिना किसी लाग-लपेट के, पूरी तासीर के साथ व्यक्त कर रहे हैं। सही अनुपातबोध एवं निष्पक्षता के साथ मंडलोई समसामयिक यथार्थ की तीव्रता को, जीवन के छवि-वैविध्य को, उसके एक नए अनुवाद को अपनी कविता में दर्ज करते चलते हैं। जहाँ उन्हें उनके अंतःकरण में धड़कते छिंदवाड़ा-वनांचल की माटी ने दिए हैं अछूते ख़याल की कविता के रोपे, वहीं एक सुचिंतित क़िस्म की तैयारी भी उन्होंने अपने कवि-कर्म के लिए की है। यह तैयारी उस स्वतः स्फूर्तता को सँवारने की है, जो कविता में होती ही है।

'खखरे का टोप', 'पुकारते तासे की डगर', 'मनुहार', 'इतनी क़ीमती हँसी चोखेलाल की', 'तोड़ल बच्चे और दुकान', 'आपको क्यूँ नहीं दीखता', 'अमर कोली', ये सारी कविताएँ उन लोगों को कैसी लगेंगी, जो हमारे अस्तित्व-बहिष्कृत आदिवासियों-ग्रामीणों की पोशाकों और तौर-तरीक़ों को कविता तो क्या, मखौल का मामला भी नहीं मानते। इस वाक़ई विचलित करती वास्तविक़ताओं में रमी कविताई में जिन चरितों की सृष्टि है, वे मौजूदा दौर की कविताई में कुछ नया-नवेला, अदेखा लेकर आए हैं। समकालीनता को संपन्न बनाती चरित्र-समृद्धता यहाँ है। वे हादसे या शौक़ के बनाए कवि नहीं हैं। कविता लिखने को वे रस्मे दुनिया, मौक़ा या दस्तूर भर नहीं मानते हैं। बहुत मामूली को ग़ैर

नूली बुलंदी देते हुए वे कविता का नायकत्व उन्हें सौंपे हुए हैं जिन्हें परिधि से परे रखने में ही कुलीन कला और जीवन ने अपना वर्गीय हित रखा है। हाशिये की धूल-धक्कड़ में लथपथ साधारणता ही मंडलोई के लिए सुंदरतम, सजीवतम काव्य-तत्त्व की हैसियत पा लेती है, कविता की स्वाभाविक ज़मीन और लिखने का मक़सद हो जाती है। वे स्वयं के साथ-साथ उन उत्पीड़ितों को भी उन्हीं की बाहरी-भीतरी बनक में जीते हैं, कोई आवाज़ भी नहीं होती जिनकी, जिनके लिए उम्र भर रेंगते रहने की सज़ा है जीना, यह साबित करते हुए कि वे उनसे न्यारे नहीं हैं, उनके अपने ही हैं। कवि नरेश सक्सेना की आवरण-टीप कहती है कि 'लीलाधर मंडलोई की कविता धरती की ही नहीं आकाश की दरारों के बारे में भी सोचती है और अपनी आस्था के आयाम को उद्घाटित करती है, जहाँ एक चींटी भी अपदस्थ कर सकती है ईश्वर को क्योंकि ईश्वर के भरोसे कवि छोड़ नहीं सकता यह दुनिया। अनायास नहीं है कि शोषितों के प्रति उसकी गहरी प्रतिबद्धता क्रांति को एक सहज और अनिवार्य परिणति के रूप में देखती है।...निरी गद्यात्मकता का जोखिम उठाकर भी कवि का आवेग हमें उन स्थलों तक ले जाना चाहता है, जहाँ यह साफ़ मुद्दे की तात्कालिकता रूप को नहीं वस्तु को बदलने की है।'

इस संग्रह से गुज़रते हुए मुझे लगा कि बचपन के कपड़े यानी निश्छलता पहने एक वयस्क, मुक्त-कंठ रचना-समय जीती यह कविता इसकी देह तथा आत्मा, अंतर्वस्तु व संरचना, पाठ और फलक, रूप एवं छंद मानो हमारे अब तक के काव्य-कलाप से बाहर की प्राप्ति और प्रस्तुति है। गहरी रात की परतों को चीरती एक साफ़ और प्यारी आवाज़, दूर से आता हुआ एक संगीत इसमें एक अबूझ आकर्षण की तरह भरा हुआ लगता है। यदि लीलाधर मंडलोई के सृजन-साँचे या ढाँचे को आप क़रीब से बाँचें तो यक़ीनी तौर पर वे अपने आसपास पसरती सियाही के कुल रक़बे पर चश्मेबीना, तीक्ष्ण दृष्टि रखनेवाले रचनाकार हैं। वे मौजूदा दौर व लोगों के दैनिक जीवन-बर्ताव और संस्कृति-विवेक की तटस्थ छानबीन करते हैं। गड्ड-मड्ड चीज़ों को तरतीब में खोलना, और धो-पोंछकर कविता की नई साँसों-सा उन्हें प्रतिष्ठित कर देना उनके हुनर का हिस्सा है। वास्तव की भीतरी तहों में घुसकर जानने-समझने-बखानने का उनका निजी नाजो-अंदाज़ है। एक लोकधर्मी और बहुत सगा लगता सरोकार उनकी असली ताक़त है।

उनके पिछले कविता-संग्रहों *घर घर घूमा, रात-बिरात,* एवं *मगर एक आवाज़*—के साक्ष्य से कहा जा सकता है कि मंडलोई की कविता अपनी जड़ों से जुड़ने की चिंता के कारण परिचित परिवेश में रच-बसकर ही संभव होती है। नतीजतन वह एक ऐसी तरल और पारदर्शी कविता है जो शब्द-सत्ता को सार्थक बनाती है, और मानवीय रागात्मकता और जीवन-ऊष्मा का क्षय नहीं होने देती। हमारे स्वातंत्र्योत्तर उत्तर-औपनिवेशिक समाज के दोगलेपन का मोटा पलस्तर उखाड़ने के लिए लीलाधर मंडलोई सूक्ष्म व्यंग्य की हल्की फुहार और कड़ी मार, दोनों को ही औज़ार बनाते हैं। उनकी शिल्पसजग सृजनशीलता इन दो बिंदुओं के बीच के लंबे 'स्पान' को, विसंगतियों पर कुठार चलाने के साहस और कौशल के साथ लगातार भरती, समृद्ध करती है। अमूमन जो हमारे नज़दीक होता/हो रहा होता है, उसे तत्क्षण नहीं पकड़ पाते हम। वह पहुँच में होकर भी मुट्ठी में आता नहीं है। प्रतिबद्ध कवि अपनी वैचारिक पुष्टता और परिप्रेक्ष्य के बूते फ़िलहाल का बारीक़ अवलोकन और उतना ही रचनात्मक इस्तेमाल कर लेता है। मंडलोई की मनोभूमि और मनोरचना अपने अनुकूल काव्य-उपकरण और आख्यान-प्रविधि ही नहीं, आस्वाद के सहज स्रोत और तल भी चुन लेती है। स्थानिक प्रकृति और स्मृति

की भूमिका यहाँ बड़ी है, अहम् भी है। उनकी बहुवस्तुग्राही स्मृति बरसों बरस बाद विस्मृत-व्यतीत में लौटती है तब भी इतनी हरी, कि लगता है, यह विगत कल नहीं है, अपितु आज ही है। तभी वह एक ओझल होते जा रहे संसार के अंतिम झरनों का सिसकता शोकगीत बना पाती है, और बहुत दबे हुए विपन्न को भी स्वाभिमान में उठी इतनी सुंदर ग्रीवा के साथ उपस्थित कर देती है। उनकी यादों की बेमोल मंजूषा से बाहर आते प्रायः दरिद्र और अनिकेतन कल की कुल कथा भी इतनी जीवित है कि *बात आज की चोखी और दादी का क़िस्सा नहीं* में अतिरेक की गुंजाइश कहाँ।

फिर, मंडलोई का यह स्वीकारना कि 'मैं कविता लिखता हूँ या फिर एक टिप्पणी', दरअसल यह जताना भी है कि कवि-कर्म आज के काल तथा बीहड़ में अपने तमाम दायित्व ओढ़ने-बिछाने-उठाने को तत्पर है। कविता एक सार्थक टिप्पणी हो, और पूर्ण होने के भ्रम से बचा उसका कवितापन भी बचा रहे, यह चुनौती आसान नहीं है। अपने आलोचनात्मक संवेदन और कविता की संवेदना के मध्य के तनाव को एक धजा बना लेना सबके बस का नहीं है।

कविता में कथा-यात्रा के संग-संग नगण्य-सी लगती चीज़ों में काव्यार्थ खोज लेने में मंडलोई का सानी नहीं। वे प्रकृति के पास जाते हैं, और जो देखते हैं, अनुभव करते हैं, जिसकी चाहत करते हैं, एवं जिसका गुम हो जाना दर्ज करते हैं, उसको ही बखानने का प्रयास उनका होता है। फिर, व्यापक अर्थ में वे आधुनिक प्रभुत्वशाली सौंदर्यबोध के बरक्स एक नया जवाब, टकराव की ख़ूबसूरती का एक विस्तार-पटल भी सजा हुआ देखना चाहते हैं। मर्दजात की ग़ुलामी नामंज़ूर थी जिसे वह कस्तूरी, और उससे भी बढ़कर, बेटियों से क्षमायाचना स्त्री-विमर्श की सशक्त रचना है। ये दोनों कविताएँ एक विरल धूसर रंग लिए हुए हैं।

अपनी अभिव्यक्ति के वेग-आवेग एवं उत्कर्ष के लिए पहले से आजमायी गई भाषा के विद्यमान रूपों से अलहदा एक काव्य-भाषा सिरजने का प्रयास भी मंडलोई के यहाँ देखा जा सकता है। इस लिहाज से *दीवाना कबीर*, *हथकड़ियों को खोलने का हुनर*, *इस नामुराद दाएँ के बग़ैर* : प्रभृति कविताएँ चिह्नित की जा सकती हैं। इन रचनाओं का हिंदुस्तानी मिज़ाज, रचाव और बहाव दिलकश है। वरना वैश्वीकरण की जलवायु ने एक अनुवादित हिंदी या प्रायोजित हिंगलिश की बेशरम फ़सलें इधर ऐसी लहलहा दी हैं कि बहुतांश तो उसे ही चरने में मशग़ूल हैं, संप्रेषणीयता की चिंता तो उसे व्यापती ही नहीं। मंडलोई शब्दों के शिकारी नहीं, निज मुहावरे के लिए उनके तिलिस्म और तेवर को जीने की इच्छा से चालित शिल्पी ज़रूर हैं। इसलिए उर्दू नज़्म की रिश्तेदार लगती सतरें उनके यहाँ सहज ही आ जाती हैं। उनकी शैली की निजता अब आकार पा चुकी है। जीवन की सच्ची तसवीर बनाती एक अभिनव आत्मीय भाषा और विरल दृश्यपरकता उनकी पंक्तियों की पारदर्शिता में प्राण पिरो देती है।

सच के कालविद्ध और पदार्थमय अवयव दृढ़ मांसपेशियों समेत हैं यहाँ। शैथिल्य की भी वहाँ जगह नहीं, क्योंकि वह प्रतिरोध की पुकार ही है। एक सतर्कता एवं अनन्यता के साथ वे वर्तमान को अपनी कविता में उसके अर्थजल सहित आमद करते हैं। उनकी कविता का चेहरा त्वचा की झुर्रियाँ या ढीलापन छुपाने के दबाव में नहीं है। भविष्य जब अँधेरे में है और कमज़ोर है ताक़त न्याय की, मानो वह एक मोर्चे पर तैनात हैं, एक क़ायदे की जंग में।

चर्चित कविता-संग्रह :
काल बाँका तिरछा : लीलाधर मंडलोई; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 150 रुपए

कवि-आलोचक ओम भारती के पाँच संकलन प्रकाशित हैं। संपर्क : 221/9, साकेत नगर, भोपाल-462024

सत्यकाम

अपने लोग

ग्ला कथाकार सुचित्रा भट्टाचार्य की महाकथा *अपने लोग* में जो डुबकी लगाई उससे एक महीने बाद आज निकल पाया हूँ। नहीं कि मैं एक ही साँस में सारा उपन्यास गया। ऐसे में तो दम ही फूल जाता। इस के लंबे ट्रैक पर थम-थमकर यात्रा करनी है। इस तरह के उपन्यास का यदि रस करना है तो इसका क़िस्तों में रोज़ थोड़ा-आस्वादन करना चाहिए।

टेलीविज़न सीरियलों के आगमन के बाद भी बड़े उपन्यास लिखे जा रहे हैं, यह संतोष ही बात नहीं है, भविष्य का संकेत है कि त्य और टेलीविज़न सब साथ-साथ रहेंगे। भय कि टेलीविज़न साहित्य और ख़ासतौर कथा साहित्य को खा जाएगा अल्पजीवी हुआ है। भारत में वृहदाकार उपन्यास जाते रहे हैं और अभी भी लिखे जा रहे हैं। असल में, उपन्यास का लोक से सीधा संबंध जिस समाज में लोक स्पंदित होता रहेगा उपन्यास भी फलता-फूलता रहेगा। जहाँ संघर्षरत होगी वहाँ उपन्यास फुनगता रहेगा। लोकाचार को जीवित रखने का सशक्त है। इसीलिए तीसरी दुनिया के देशों में अभी ज़िंदा ही नहीं है—नए-नए रूप कार कर रहा है। उपन्यास या साहित्य की भी विधा की 'मौत' वहाँ होती है जहाँ 'विकसित' और 'उत्तर आधुनिक' रहते हैं। बंगाल में भी उपन्यास के पाठक मात्रा में मौजूद हैं वरना सुचित्रा भट्टाचार्य पृष्ठों का उपन्यास लिखने का साहस नहीं पातीं।

टेलीविज़न सीरियलों की घटिया, उबाऊ और दिशा में भटकाने वाली कहानी के बरक्स यदि *अपने लोग* की कहानी को रखा जाए तो सुकून होगा कि हमारे पास कहानी की कमी नहीं है। 'अपने लोग' एक उत्कृष्ट 'टेलीविज़न कथा' है जिसमें सोप ओपेरा की तरह कई अंतर्धाराएँ और अंतर्कथाएँ हैं। इस उपन्यास की संरचना में फ़िल्म की संरचना और शिल्प का इस्तेमाल किया गया है। दृश्यों की शिफ़्टिंग बिलकुल सिनेमा शैली में की गई है। मैं कथा और पटकथा के नज़रिये से इस उपन्यास को आँकने का प्रयास कर रहा हूँ क्योंकि इसे पढ़ते ही लगा कि अरे, इस पर तो बेहतरीन सीरियल बन सकता है। इसके लिए इसकी कथा तोड़नी भी नहीं पड़ेगी, बस इसे दृश्यों में बाँटना होगा। उपन्यास में वर्णित कथा में कोई नयापन नहीं है पर उसे परोसा बिलकुल नए अंदाज़ में गया है। यही इस उपन्यास की ख़ासियत है। जीवंत पात्र इस उपन्यास की जान हैं। इंद्रानी, तितिर, डॉक्टर शिवसुंदर और तूफ़ान कुछेक ऐसे पात्र हैं जो पाठक को उपन्यास से बाँधकर रखते हैं। इंद्रानी इस कथा की मुख्य डोर है और उसी के सहारे उपन्यास-पतंग आसमान में तैरता और गोते लगाता रहता है। जैसे यह डोर टूटती है उपन्यास भी ख़त्म हो जाता है। एक स्त्री के जीवन संघर्ष को नए अंदाज़ और तेवर के साथ प्रस्तुत किया गया है। समस्याएँ कुछ पुरातन हैं कुछ आधुनिक पर इसे रुचिकर ढंग से पेश किया गया है। इंद्रानी की बेटी तितिर कहानी के ताने-बाने को ताने रखती है।

डॉ. शिवसुंदर की कथा आदर्श कथा है। समाज कैसा है और कैसा होना चाहिए—यही बताने के लिए डॉ. शिवसुंदर की कथा रची गई है। डॉ. शिवसुंदर का संघर्ष प्रेरणादायी है। उनका सेवक तूफ़ान भी दिल को छूता है। कहानी नहीं

बताऊँगा, जो पढ़े सो जाने। चलिए, थोड़ा संकेत दे देता हूँ ताकि आप इस उपन्यास को पढ़ने के लिए उत्सुक हों। यह एक बड़े घर में पसरे सन्नाटे की कथा है। यह एक ऐसे संयुक्त परिवार की कथा है जिसमें लोग साथ रहकर भी अलग-अलग हैं। यह एक घर को तोड़कर फ़्लैट बनाने की कथा है। यह धन के पीछे भागनेवालों की कथा है। यह नक्सलबाड़ियों की कथा है। यह भारतीय राजनीति के पतन की कथा है। यह विभाजन के बाद की सबसे बड़ी त्रासदी मस्जिद ध्वंस की कथा है। यह देश में फैल रहे सांप्रदायिक ज़हर की कथा है। कुल मिलाकर यह उपन्यास आधुनिक राष्ट्रीय रूपक है। पर इतना सब कुछ बटोरने के बावजूद कथा बिखरी नहीं है। लगता है मानो कोई पनिहारिन अपने सिर पर घड़े के ऊपर घड़ा रखे जा रही है। ग़ज़ब का संतुलन है इस उपन्यास में, बिलकुल वैसा ही संतुलन जैसा नट में होता है, जैसा सिर पर घड़ा रखकर थाली पर नाचने वाली लोक नृत्यांगनाओं में होता है। एक टूटते घर की कहानी, एक स्त्री के दुख की कहानी, उपभोक्तावाद में डूबे एक डॉक्टर की कहानी, प्यारी-सी बेटी की कहानी, बौड़म बाप की कहानी, देश की समस्याओं की कहानी, सब मिलकर इस उपन्यास को रंग-बिरंगा, मनोरंजक और चटक बनाते हैं।

यह उपन्यास पूरे समाज, समुदाय और राष्ट्र के बारे में, अपने बारे में सोचने की खुराक देता है। कथाकार के पास विज़न भी है और आज के माहौल में इसकी प्रस्तुति का चातुर्य भी। अगर फ़िल्मी दुनिया की कृतियों से तुलना करूँ तो इसकी तुलना 'लगान' और 'मुन्ना भई एम. बी. बी. एस.' से करना चाहूँगा जो मनोरंजक और लोकप्रिय होने के साथ एक संदेश छोड़ता है। अपने राष्ट्र को पीछे मुड़कर देखने, उससे प्रेरणा ग्रहण करने और आज की मौजूदा स्थिति और ख़ुद पर व्यंग्य करने का साहस बटोरना मज़बूत कलेजे का काम है। *अपने लोग* लिखना भी मज़बूत कलेजे का काम है। सुचित्रा जी को उनकी इस सफल कृति के लिए साधुवाद!

इस उपन्यास को पढ़ने का अवसर और सुख मुझे सुशील गुप्ता की मेहनत के परिणामस्वरूप मिला है, इसलिए मैं सबसे पहले उन्हें अच्छे अनुवाद के लिए बधाई देता हूँ। अनुवादकों की भूमिका को अभी तक पूरा सम्मान और प्रतिष्ठा नहीं मिली है। इसीलिए अच्छे अनुवादक मिलते नहीं। अनुवाद को बहुत कम लोगों ने पेशा बनाया है। पर सुशील गुप्ता जैसे अनुवादक भारतीय साहित्य की सीमा को वृहतर बनाने का प्रयास कर रहे हैं जो श्लाघनीय है। बस दो शब्द बार-बार खटके 'बंदा' और 'हस्बेमामूल'। बंदा शब्द इसलिए कि यह पंजाबी का शब्द है। इसके लिए बाङ्ला पृष्ठभूमि में 'बंदा' अटकता-खटकता-सा लगता है। 'हस्बेमामूल' को हिंदी में लाने की छटपटाहट क्यों? अभी शरण कुमार लिंबाले का उपन्यास *नरवानर* पढ़ रहा था। उसमें भी यही शब्द 'हस्बेमामूल'; वहाँ अनुवादक सुशील गुप्ता नहीं हैं। लगता है राधाकृष्ण प्रकाशन में कोई अनुवादकों को संशोधित करनेवाला 'हस्बेमामूल' प्रेमी बैठा है। उनसे अनुरोध है कि हिंदी को संस्कृत की क्लिष्टता से बचाने के प्रयास में फ़ारसी की क्लिष्टता में डालने का प्रयास न कीजिए, हालाँकि तमाम टेलीविज़न चैनलों पर इसका रिवाज चल गया है।

चर्चित उपन्यास :

अपने लोग : सुचित्रा भट्टाचार्य; अनु. सुशील गुप्ता; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली; 2004; 500 रुपए

आलोचना की कई पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : हिंदी विभाग, मानविकी विद्यापीठ, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110068, फ़ोन : 29533534

पाठांतर

वैसे तो कमल कहानी और उपन्यास लिखने में सिद्धहस्त हैं ही। लेकिन समकालीन भारतीय साहित्य मई-जून 2005 की 'रचना-भूमि' में 'संताल और उनकी दुनिया' पढ़कर पता चला कि वह लेख लिखने में भी कम कुशल नहीं हैं। आदिवासियों के जीवन पर लिखना इसलिए दुष्कर हो जाता है कि आदिवासी जीवन का साहित्य एक ही जगह पर उपलब्ध नहीं रहता, उसे खोज कर लिखने और वह भी एक ग़ैर आदिवासी लेखक के लिए बहुत ही मुश्किल कार्य होता है।

जो जानकारियाँ आदिवासियों के बारे में और इनमें भी केवल संतालों के विषय में उनकी सहृदयता, उनका सीधापन आदि सचमुच प्रकृति के समान निश्छल और निष्कपट है। कमल ने अपने लेख में उनके बारे में जो सूचनाएँ दी हैं वे काफी रोचक, ज्ञानवर्द्धक और मेरे जैसे पाठकों के लिए सर्वथा नवीन हैं। एक अच्छे लेख के लिए उन्हें बधाई।

डॉ. तुलसी राव, झारखंड

प्रतिक्रिया विलंब से भिजवाने के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ क्योंकि यह अंक मुझे विलंब से उपलब्ध हुआ है। नई प्रतिभाओं को आपने समुचित स्थान देकर इसकी उपयोगिता को बढ़ाया है। इस अंक में जहाँ त्रिलोचन, कमलेश्वर, विश्वनाथ त्रिपाठी, रमेश उपाध्याय तथा महेश कटारे जैसे समर्थ एवं वरिष्ठ साहित्यकारों को पढ़ने का आनंददायी अवसर मिलता है वहीं रमेश प्रजापति जैसे युवा रचनाकार की कविताओं ने मुझे बेहद प्रभावित किया है। इन कविताओं को पढ़कर मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि रमेश प्रजापति का कवि अनुभवों की भट्ठी में तपा हुआ है।

राजकुमार आत्रेय, कुरुक्षेत्र

जो काम आप कर रहे हैं उसकी शुरुआत नेहरू जी के ज़माने में हुई थी। उड़िया कवि डॉ. मायाधर मानसिंह की एक कविता 'छाबिश जानुआरी' का रूपांतरण भी प्रभाकर माचवे ने किया था। और श्रीमती अमृता प्रीतम की पंजाबी कविता 'नवीं सवेर' का रूपांतरण 'नया सवेरा' डॉ. हरिवंश राय बच्चन ने किया था। 1990 ई. छठे विश्व रामायण सम्मेलन में माचवे जी मॉरीशस में हमारे साथ थे।

दृष्टिगोचर अंक में लगभग सभी कहानियाँ अच्छी हैं। सिंधी कहानी 'नर्स' और 'वॉक आउट' ज़्यादा अच्छी लगीं। कविताएँ कुछ उत्तम और कुछ औसत दर्ज़े की नज़र आईं। हमारे संगी साथी कविताएँ तो लिख रहे हैं किंतु छंद ज्ञान का अभाव जगह-जगह दिखाई देता है।

पंजाबी अनूदित कविताओं में सुतिंदर सिंह नूर, रामसिंह चाहल, परमिंदर सोढी और सुखजीत की रचनाओं ने प्रभावित किया। नूतन साखरदांडे, संजीव वेरेंकर, सुदेश लोटलीकर और प्रेम रंजन अनिमेष की कविताएँ भी मन को भा गईं। प्रत्यूष गुलेरी द्वारा वर्णित सेहरे घोड़ियाँ और मांगलिक गीत का रिवाज पंजाबी में भी रहा है।

भगवानदास ऐजाज़, नई दिल्ली

समकालीन भारतीय साहित्य का अंक 119 अपने फ़ीचर 'अनुवाद का अनुभव' के कारण चर्चा में रहेगा। आमुख में आपने भी कुछ कहा। फ़ीचर में अनुवाद कार्य से जुड़े कई विशेषज्ञों ने भी अपनी सुनाई और फिर कुछ अनूदित कृतियाँ भी पढ़ने को मिलीं। विशेष मित्रा फुकन की कहानी 'बोहाग'। आमुख में आपके द्वारा व्यक्त विचार 'अब भारतीय भाषाओं में अनुवाद बड़ी छलाँग लगाने की स्थिति में है' को पूर्व पीठिका के रूप में ग्रहण करते हुए मैं कुछ कहना चाहूँगा।

यह लिखते हुए काफ़ी खेद होता है कि इन अनुवादों में अनुवादकों की फ़ंतासी कथ्य के साथ कब, कितने प्रपंच करती है यह आमतौर पर अलक्षित ही रह जाता है। उदाहरण के तौर पर उक्त अंक में प्रकाशित अनूदित कहानी 'बोहाग' को ही ले सकते हैं। असमिया समाज के साथ प्रायः दस वर्षों के अपने संबंध के आधार पर मैं उक्त अनुवाद की असफलता की ओर आपका ध्यान आकर्षित कर अपनी बात स्पष्ट करना चाहूँगा।

मित्रा फुकन की कहानी के प्रस्तुत अनुवाद का शीर्षक लिप्यंतरण में बरती गई लापरवाही का शिकार हो गया है। रोमन में शब्द Bohag असमिया में ब'हाग पढ़ा जाएगा, बोहाग कभी नहीं। इस अनुवाद में ब'हाग ही बोहाग नहीं हुआ है बिहु, बीहू हो गया है और रंगाली बिहु रोंगाली बीहू हो गया है। इसमें बिहु तली (बिहु का नृत्यांगन) को बीहू टोली कहा गया है। आगे भूपेन हज़ारिका के एक गीत का संदर्भ आया है।* रोमन (संभवतः) लिपि से देवनागरी में अंतरित यह गीत पूरा-का-पूरा बेमानी हो गया है। गीत के नीचे छपे उसके हिंदी अनुवाद के साथ मूल गीत की संगति बिठाने की मेरी चेष्टा सर्वथा व्यर्थ गई।

मेरी समझ से समय आ गया है जब अनूदित कृतियों की समीक्षा भी आरंभ की जाए। शिल्प और सांस्कृतिक परिवेश दोनों ही दृष्टियों से।

अजयेंद्रनाथ त्रिवेदी, गुवाहाटी

समकालीन भारतीय साहित्य पत्रिका का रजत जयंती वर्ष का मई-जून अंक प्राप्त हुआ। इसके पूर्व कुछ अंक यहाँ इंदौर में पुस्तक प्रदर्शनी में ख़रीदे थे। निश्चय ही पत्रिका उत्कृष्ट कोटि की है और पढ़ने की भूख तृप्त करनेवाली है। 'अनुवाद का अनुभव' पाठक के लिए नया अनुभव है। कविताएँ सभी अच्छी हैं। कृष्णा वास की 'अधूरी चिट्ठी', यश मालवीय की 'गीत के हर अंतरे में साँस बोना' भीतर गहरे छू गईं। यह पत्रिका साहित्य को समृद्ध करने वाली है।

पुष्पारानी गर्ग, इंदौर

'अनुवाद का अनुभव' पढ़ना मेरे लिए व्यक्तिगत रूप से एक अनूठे अनुभव से गुज़रना है। "...अज्ञात प्रदेश...नो मेन्स लैंड। हर एक अनुवादक को इस 'नो मेन्स लैंड' में से गुज़रना होता है सही मात्रा में अनुवादक की परीक्षा होती है...लेकिन इतना रोमांच शायद ही कहीं और हों।"...अपर्णा वेलणकर के ये चंद भाव ही अनुवाद की कई तिलस्मी राहों को अचानक ही हमारे सामने रोशन कर जाते हैं।

निरुपमा दत्त की यादें तो बस लाजवाब लगीं। कौन न मर जाए इस 'मरने के शौक़ पे'।

श्याम बिहारी महतो की कहानी 'समर्पण' की भाषा उस इलाक़े की ख़ास ताज़गी लिए हुए है। सभी कहानियाँ अच्छी हैं। लेकिन 'बोहाग' (मित्रा फुकन) तो वाक़ई अनूठी है। समकालीन भारतीय साहित्य का यह मई-जून 2005 अंक भी संग्रहणीय बन गया है। आपकी पूरी टीम को साधुवाद।

कमल, जमशेदपुर

आपको बधाई, क्योंकि सारी सामग्री विविध प्रकार की होते हुए भी पठनीय और प्रासंगिक भी है। उदाहरणार्थ आरंभ में ही विभिन्न भाषाभाषी अनुवादकों के अनुभवों के साथ पंजाबी कवयित्री निरुपमा दत्त की 'यादें' भी हैं, जो बहुत कुछ सोचने-समझने के लिए प्रेरणा देती हैं। इसके बाद प्रकाशित सभी कहानियाँ भी मैंने पढ़ ली हैं और मुझे प्रसन्नता है कि उनके चयन में आपने कथा एवं शिल्प आदि के वैविध्य का पूरा ध्यान

---

* मित्रा फुकन की यह कहानी असमिया नहीं बल्कि अंग्रेज़ी भाषा में लिखी गई है। हमने भूलवश इसे असमिया कहानी लिख दिया—संपादक।

हुआ है, साथ ही स्तर की दृष्टि से भी कहीं कोई समझौता नहीं किया है।

पत्र लंबा न हो जाए, इसलिए मैं अंक में प्रकाशित कविताओं के बारे में कोई टिप्पणी नहीं कर रहा, पर आलेखों के बारे में निश्चित रूप से यह कहना चाहूँगा कि वे पर्याप्त स्तरीय हैं और विभिन्न विषयों के विविध आयामों को उजागर करने में समर्थ हैं। इसी तरह इस अंक की पुस्तक-समीक्षाएँ भी वास्तव में पुस्तकों की मूल्यांकन-समीक्षाएँ हैं, मात्र उनकी परिचयात्मक रूप रखने वाली टिप्पणियाँ नहीं।

तो ये थीं मेरी पाठकीय प्रतिक्रियाएँ। अंत में दो बातें ग्राहकों और लेखकों की ओर से भी। पहली यह कि ग्राहक शुल्क के रूप में मनीऑर्डर और ड्राफ़्ट के अलावा स्थानीय चेक भी अस्वीकार न किए जाएँ और लेखकों की रचनाएँ टंकित न होने की स्थिति में साफ़ लिखी होने पर (हस्तलिखित भी) विचारणीय समझी जाएँ।*

डॉ. वीरेंद्र सक्सेना

समकालीन भारतीय साहित्य के मई-जून अंक में 26वें पृष्ठ की 11वीं पंक्ति के अंत में उर्दू के 'तरई मुशायरे' के स्थान पर तरही होना चाहिए न कि तरई। कृपया उच्च स्तर की इस पत्रिका में प्रूफ़ की त्रुटियाँ साफ़-साफ़ रखें।

महाराजसिंह ज्ञान, रायबरेली, उ.प्र.

अनुक्रम में व्यंग्य-विनोद वर्तमान स्थिति पर ख़ूब चिंता व्यक्त की है। व्यंग्य-विनोद दोयम दर्जे पर क्यों डाल दिया गया, मेरी समझ में नहीं आता। संपादकीय के तुरंत बाद हर पत्रिका में मैं पहले कहानी-कविता को टटोलता हूँ। पर इस अंक में दो लेखों ने मुझे पहले पढ़ने को बाध्य कर दिया। भट्ट जी का लेख गुदगुदाने के साथ-साथ व्यंग्य-विनोद के प्रति गंभीर भी बनाता है। दिनकर जी सचमुच में अग्निपुरुष थे—आवेग से परिपूर्ण। उस समय देश को 'आग' की आवश्यकता भी थी। अब कैसा विकट समय चल रहा है जिसे न आग चाहिए, न शांति, बस पैसा चाहिए।

इस पत्रिका में कहानियाँ दो हिस्सों में क्यों विभाजित की जाती रही हैं, पता नहीं। पहले भाग की कहानी 'तूफ़ान' बहुत अच्छी लगी...जैसे सुनामी का कहर मेरी आँखों के सामने से गुज़र गया। 'यंबरज़ल' और 'इनामी' भी कथ्य और क़िस्सागोई के कारण पसंद रहीं। हिंदी की दोनों कहानियाँ भी अच्छी हैं।

दूसरे भाग में सुनील गंगोपाध्याय जी की लिलिथ की विचित्र कहानी ख़ूब पसंद आई। दिलचस्प दौड़...सिकुड़ती नौकरियों और केंद्र सहित सभी अख़बारों द्वारा वर्तमान स्टाफ़ की वेतन भत्तों की अदायगी का रोना रोया जाता रहा हो, तो यही होना है। 'सिंहासन बत्तीसी' देश में व्याप्त भ्रष्टाचार की सही तसवीर पेश करती है। 'मेहनत' का पाठ पढ़ाती राजस्थानी कहानी 'झूला' भी अच्छी रचना है।

भवानी सिंह, जयपुर

जुलाई-अगस्त 2005 समकालीन भारतीय साहित्य के पृष्ठ 37 पर प्रकाशित उर्दू कहानी 'इनामी' फ़ज़ले हसनैन द्वारा प्रकाशित, मुझे अच्छी लगी।

दूसरी उर्दू कहानी तरन्नुम रियाज़ की है, 'यंबरज़ल' जिसने मुझे आकर्षित किया।

वीरभान 'वीर', नई दिल्ली

समकालीन भारतीय साहित्य संपूर्ण भारतीय साहित्य के दर्पण जैसी पत्रिका है। अकेले इसी के माध्यम से भारतीय साहित्य की समकालीनताओं से परिचय हो जाता है। लेकिन

---

* हम ग्राहक शुल्क स्थानीय चेक के माध्यम से भी लेते हैं—संपादक

मई–जून 2005 के अंक में डॉ. रमेशकुंतल मेघ का लेख 'अंतर्ज्ञानानुशासन का बहुरूपदर्शी' जटिलता, गूढ़ता और कृत्रिम शब्दावली तथा अनुवाद की असंप्रेषणीयता के कारण चूँचूँ का मुरब्बा बन गया है। आज से तीस वर्ष पहले लेखक के गुरु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनकी इस 'हिंदी' की अनुवाद करने की चुनौती पाठकों को दी थी जिसका उत्तर आज तक नहीं मिला। तकनीकी शब्दावली का 'हिंदी अनुवाद' उतना बनावटी गढ़ा हुआ और दुर्भेद्य है कि अच्छे-अच्छे पंडित भी पनाह माँगते हैं।

डॉ. कृष्ण चंद्र गुप्त, मुज़फ़्फ़र नगर

अंक 119 के 'आमुख' से पता चला कि 'बोहाग' कहानी भी इस अंक में है। पढ़ा कि—कहानी की नायिका अपने प्रथम प्यार को छोड़कर दूसरे से शादी करती है। प्रथम प्यार भावना प्रधान है। जीवन में सिर्फ़ भावुकता से काम नहीं चलता। कर्म क्षेत्र में यदि जीवन साथी कंधे-से-कंधा मिलाकर कार्य नहीं करता और प्रगति में सहयोग नहीं देता तो जीवन असफल हो जाता है। कहानी लेखिका धन्यवाद की पात्र है कि उन्होंने 'बोहाग' वसंत के मौसम में अपनी विशिष्ट भाषा शैली में ज़ोरदार ढंग से नायिका की पक्षधरता और औचित्य को प्रस्तुत किया है। लेखिका मित्रा फुकन अपने उद्देश्य में सफल है।

प्रारंभ में 'अनुवाद का अनुभव' देकर अच्छा कार्य हुआ है। अनुवाद करना कोई सरल काम नहीं है लेकिन मैं अनुवादक अपर्णा वेलणकर से आंशिक रूप से सहमत हूँ। अनुवादक को 'मूल पुस्तक की आत्मा की गहराइयों में प्रवेश करना चाहिए।' यह आत्मा क्या है ? मेरी समझ में नहीं आया।

विष्णुस्वरूप श्रीवास्तव, म.प्र.

अंकों की गुणवत्ता में उत्तरोत्तर वृद्धि आह्लाद का विषय है। मार्च–अप्रैल 2005 के अंक में इक्कीस भाषाओं के अकादेमी द्वारा पुरस्कृत कथाकारों का वक्तव्य अपनी मूल भाषा के सरोकारों के प्रति उनकी प्रतिबद्धता दर्शाता है। अनुवादों के माध्यम से साहित्य के वृहतर समुदाय से हमारा परिचय होता है। भिन्न-भिन्न भूमियों में सृजित विविध भाव-बोध की रचनाओं को लक्ष्य भाषा में उपलब्ध कराने में अनुवादकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। मई–जून 2005 के अंक में उनके वक्तव्य से अनुवाद कला की बारीकियों एवं व्यावहारिक कठिनाइयों का बोध होता है। 'मूल्यांकन' स्तंभ के अंतर्गत स्तरीय विद्वानों द्वारा पुस्तकीय समीक्षा के माध्यम से पत्रिका की पठनीय सामग्री में और विविधता आई है। इन समस्त अंकों में प्रभूत मात्रा में संग्रहणीय वैचारिक लेख, कविता, कहानी, संस्मरण आदि प्रकाशित हुए हैं जिनका सीमित स्थान में उल्लेख संभव नहीं है, फिर भी कुछ रचनाओं का नामोल्लेख अवश्य करना चाहूँगी। कहानियों में 'अमृत-मंथन' अनूठी है। संवेदनहीनता का दौर है सही, किंतु यह कहानी तो उसको भी पार कर जाती है। देवेंद्र सिंह की 'पोसपूत' की मुस्म्मात का दृढ़ चरित्र प्रभावी है।

मित्रा फुकन की कहानी 'बोहाग' की नायिका प्रेम को नवीन ढंग से परिभाषित करती है, यह बदलाव का सूचक है। 'वर्सल' कहानी का मधु विद्रोही युवा पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है, जो सड़ी-गली परंपरा का ढोल गले में लटकाने को तैयार नहीं है।

अंक 117 में गोपीचंद नारंग का आलेख 'मंटो पुनर्पाठ की भूमिका' मंटो को सही परिप्रेक्ष्य में देखने का आधार तैयार करता है। विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा लिखित नामवर जी के ऊपर संस्मरण, आज के एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति से जुड़े अनेक प्रसंगों को उद्घाटित करता है। आपके संपादकीय में वैविध्य है, किंतु वह कुछ और विस्तृत होता तो उठाए गए विषय के साथ न्याय हो पाता। कविताओं में कुछ ही प्रभावित करती हैं जैसे सुतिंदर सिंह नूर की कविता।

विद्या सिंह, देहरादून

है। इसीलिए इतनी स्मृतियाँ हैं। स्मृतियाँ हीं बदलती, उन्हें समाज बदलता है। वे और काल सापेक्ष हैं। *मनुस्मृति* यदि जड़ता में है तो उसे समय बदल देगा। यह जल्द हो उतना ही अच्छा पर एक दस्तावेज़ के रूप में उसका महत्त्व होगा। भारतीय समाज में ही आर्य समाज आंदोलन रहा है, उसने *मनुस्मृति* को नहीं *मनुस्मृति* को न मानना, उसे बदलने की है।

संस्कृत सिर्फ़ वेद, उपनिषद्, पुराण, आरण्यक, ग्रंथ, स्मृति आदि का जखीरा भर नहीं हमारे व्यावहारिक ज्ञान आयुर्वेद, भूगोल, भाषा-विज्ञान, ज्योतिष, राजनीति, दर्शन आदि का वाहक भी है। हमारे साहित्य का सबसे श्रेष्ठ और बड़ा भंडार है ही। हमारा काव्यशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र में है। संस्कृत साहित्य सिर्फ़ क्लासिक्स या साहित्य से नहीं भरा है। शूद्रक का नूतन नाटक *मृच्छकट्टिकम्* उसी का अंश विशाख दत्त का नाटक *मुद्राराक्षस* भी। ये नाटक राजाओं-महाराजाओं की प्रेमकथा ही नहीं हैं, उनके प्रमुख पात्र भी आम है। लौकिक संस्कृत उतनी ही जीवंत रही अन्य प्राचीन भाषाएँ।

और हिंदी में दादी-पोती जैसा संबंध है। मूल संस्कृत में लिखनेवाले अनेक कारों ने हिंदी में लिखा तो हिंदी वालों ने में लिखा। इसका एक उत्तम उदाहरण महावीर प्रसाद द्विवेदी है। द्विवेदी जी ने से हिंदी में अनुवाद किया। *भामिनी* का उनका अनुवाद स्तरीय माना जाता संस्कृत कविताओं का संकलन *सुमनः* से प्रकाशित हुआ था। इस संकलन में : सामाजिक नवजागरण और प्रकृति की कविताएँ हैं। नागार्जुन और जानकी- शास्त्री ने संस्कृत में रचना की।

संस्कृत में कविता, खंड-काव्य, और आलोचना ग्रंथ तो लिखे ही जा रहे हैं बल्कि ग़ज़ल, दोहा जैसा रूप भी रचना-व्यवहार में लाया जा रहा है। कविता के विषय में सिर्फ़ प्रकृति नहीं, भगत सिंह और राम प्रसाद बिस्मिल जैसे क्रांतिकारी, किसान और मजूर भी हैं। एक ओर हास्य व्यंग्य है तो दूसरी ओर गंभीर रचना और आलोचना है।

आज संस्कृत साहित्य का दिशा-संकेतक क्या है ? यह खंड उसी का उत्तर देता है। न इसे प्रतिनिधि संकलन मनवाने का हमारा दावा है, न ही ऐसा कोई यत्न हमने किया है। आधुनिक संस्कृत साहित्य में नई सोच, नई संवेदना के लिए उतनी ही जगह है जितनी अन्य भाषाओं में। यही हम सामने लाना चाहते थे। इसमें कितनी सफलता मिली, यह तो पाठक समुदाय ही बताएगा।

संस्कृत साहित्य के इस खंड के अतिरिक्त हमने प्रेमचंद का दीर्घ साक्षात्कार विशेष रूप से संयोजित किया है। हिंदी के निर्माताओं में से एक शिवपूजन सहाय का प्रेमचंद पर लिखा संस्मरण उसी की कड़ी है।

पिछली सदी के अंतिम दशक में तेलुगु उपन्यासों की स्थिति पर डॉ. सर्राजु ने विचार किया है। हमारा प्रयत्न है कि अकादेमी द्वारा स्वीकृत 24 भाषाओं में प्रकाशित आलोचना को एक मंच पर लाया जाए ताकि आलोचना के अखिल भारतीय स्वरूप का अंदाज़ा हो सके। यह लेख उसी दिशा में किया गया प्रयत्न है।

हिंदी कहानीकारों की तीन पीढ़ियों के कथाकारों—रमाकांत श्रीवास्तव, लीलाधर मंडलोई (*स्मृति* इनकी पहली कहानी है) तथा रमेश प्रजापति की कहानियाँ शीर्ष कथाकार अमरकांत की रचना के साथ प्रकाशित हो रही हैं। बढ़ती उम्र और ख़राब स्वास्थ्य के बावजूद अमरकांत जी ने हमें कहानी भेजी, हम उनके कृतज्ञ हैं।

पुस्तक समीक्षा को हमने हमेशा की तरह विविधतापूर्ण बनाए रखने की कोशिश की है।

अंक जैसा भी लगे, हमें पत्र ज़रूर लिखें।

शुभकामनाओं सहित,

—अरुण प्रकाश

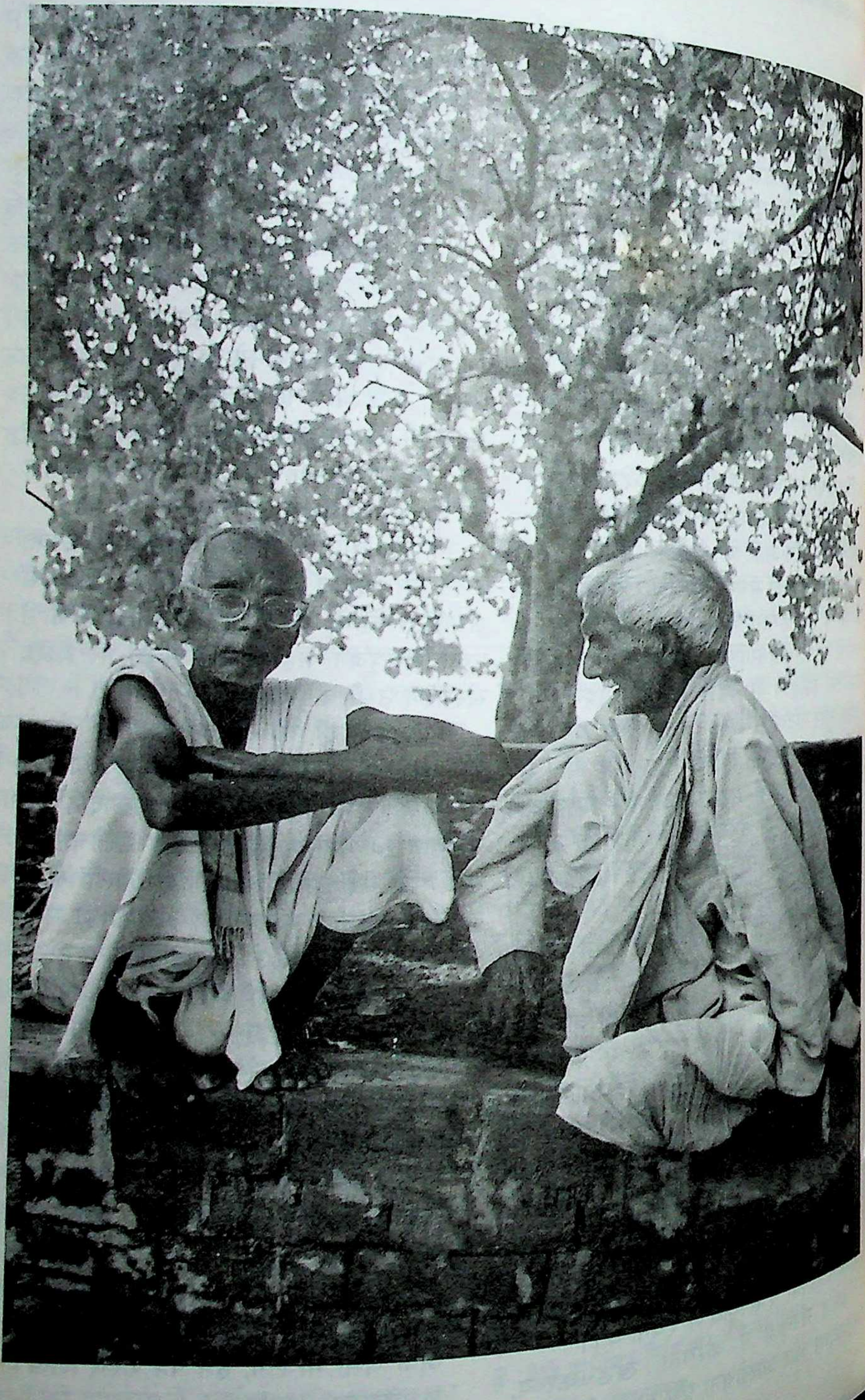

प्रेमचंद

हमारा उद्देश्य जनमत को शिक्षित करना है

कथा-सम्राट प्रेमचंद की कहानियाँ, उपन्यास यहाँ तक कि बाल-कथाओं से हिंदी पाठकों का अतिपरिचय रहा है। जो कम पढ़ा गया, उसे पाठकों तक पहुँचाने की हमारी इच्छा रही है। पिछले अंक में आपने उनका लिखा यात्रा-वृत्तांत पढ़ा था। इस बार प्रस्तुत हैं उनके साक्षात्कार।

यह चार अलग-अलग साक्षात्कारों को संयुक्त कर बनाया गया है। प्रारंभ से पहला हिस्सा पं. बनारसी दास चतुर्वेदी के पत्र-साक्षात्कार का है। इसके उत्तर प्रेमचंद ने 3 जून, 1930 को दिए थे। दो और पत्र-साक्षात्कार डॉ. इंद्रनाथ मदान के हैं जिनके उत्तर प्रेमचंद ने क्रमशः 7 सितंबर 1934 तथा 26 दिसंबर 1934 को भेजे थे। 26 दिसंबर वाला साक्षात्कार अंग्रेज़ी में था। आख़िरी हिस्सा हमने लिया है साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित 'प्रेमचंद रचना चयन' से। श्री रा. टिकेकर ने यह साक्षात्कार मराठी पत्रिका 'प्रतिभा' के लिए किया था। इस साक्षात्कार की शैली वर्णनात्मक भी थी, इसलिए इसका संपादन किया गया ताकि सारे साक्षात्कार एकरूप लगें। आश्चर्यजनक बात यह है कि ये साक्षात्कार अलग-अलग व्यक्तियों ने लिए पर प्रश्न दुहराए नहीं गए। —*संपादक*

बनारसीदास चतुर्वेदी*

चतुर्वेदी : आपने गल्प लिखना कब प्रारंभ किया?

प्रेमचंद : मैंने 1907 में गल्प लिखना शुरू किया। सबसे पहले 1908 में मेरा *सोज़े-वतन* जो पाँच कहानियों का संग्रह था, ज़माना प्रेस से निकला था, पर उसे हमीरपुर के कलेक्टर ने मुझसे जलवा डाला था। उनके ख़याल में वह विद्रोहात्मक था, हालाँकि तब से उसका अनुवाद कई संग्रहों और पत्रिकाओं में निकल चुका है।

चतुर्वेदी : अपनी कौन-कौन-सी गल्प आपको सर्वोत्तम लगती हैं?

प्रेमचंद : इस प्रश्न का जवाब देना कठिन है। दो सौ से ऊपर गल्पों में कहाँ चुनूँ, लेकिन स्मृति से काम लेकर लिखता हूँ—(1) बड़े घर की बेटी, (2) रानी सारंधा, (3)

---

* 3 जून, 1930 को लिखे पत्र के आधार पर

नमक का दारोगा, (4) सौत, (5) आभूषण, (6) प्रायश्चित्त, (7) कामना-तरु, (8) मंदिर और मस्जिद, (9) घासवाली, (10) महातीर्थ, (11) सत्याग्रह, (12) लांछन, (13) सती, (14) लैला, (15) मंत्र।

'मंज़िले-मक़्सूद' नामक उर्दू कहानी बहुत सुंदर है। कितने ही मुसलमान मित्रों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है, पर अभी तक उसका अनुवाद नहीं हो सका। अनुवाद में भाषा-सारल्य ग़ायब हो जाएगा।

चतुर्वेदी : आपकी लेखन-शैली पर देशी या विदेशी किन-किन गल्प-लेखकों की रचना का प्रभाव पड़ा है ?

प्रेमचंद : मेरे ऊपर किसी विशेष लेखक की शैली का प्रभाव नहीं पड़ा। बहुत कुछ पं. रतननाथ दर लखनवी और कुछ डॉ. रवींद्रनाथ ठाकुर का असर पड़ा है।

चतुर्वेदी : आपको अपने ग्रंथों से, रचनाओं से क्या मासिक आय हो जाती है ?

प्रेमचंद : आय की कुछ न पूछिए। पहले की सब किताबों का अधिकार प्रकाशकों को दे दिया। 'प्रेम-पचीसी', 'सेवा-सदन', 'सप्त-सरोज', 'प्रेमाश्रम', 'संग्राम' आदि के लिए एकमुश्त तीन हज़ार रुपए हिंदी पुस्तक एजेंसी ने दिया। 'नव-निधि' के लिए शायद अब तक दो सौ रुपए मिले हैं। 'रंगभूमि' के लिए अठारह सौ रुपए दुलारेलाल ने दिए। और संग्रहों के लिए सौ-दो-सौ मिल गए। 'कायाकल्प', 'आज़ाद-कथा', 'प्रेम-तीर्थ', 'प्रेम-प्रतिमा', 'प्रतिज्ञा' मैंने ख़ुद छापा, पर अभी तक मुश्किल से 600 रुपए वसूल हुए हैं, और प्रतियाँ पड़ी हुई हैं। फुटकर आमदनी लेखों से शायद 25 रुपए माहवार हो जाती है, मगर इतनी भी नहीं होती। मैं अब 'हंस' और 'माधुरी' के सिवा कहीं लिखता ही नहीं। कभी-कभी 'विशाल भारत' और 'सरस्वती' में लिखता हूँ, बस! हाँ, अनुवादों से भी अब तक शायद दो हज़ार से अधिक न मिला होगा। आठ सौ रुपए में 'रंगभूमि' और 'प्रेमाश्रम' दोनों का अनुवाद दे दिया था। कोई छापनेवाला ही न मिलता था।

चतुर्वेदी : हिंदी में गल्प-साहित्य की वर्तमान प्रगति के विषय में आपके क्या विचार हैं ?

प्रेमचंद : हिंदी में गल्प-साहित्य अभी अत्यंत प्रारंभिक दशा में है। कहानी लिखने वालों में सुदर्शन, कौशिक, जैनेंद्र कुमार, 'उग्र', प्रसाद, राजेश्वरी यहीं नज़र आते हैं। मुझे जैनेंद्र और 'उग्र' में मौलिकता और बाहुल्य के चिह्न मिलते हैं। प्रसाद जी की कहानियाँ भावात्मक होती हैं, 'रीयलिस्टिक' नहीं; राजेश्वरी अच्छा लिखते हैं, मगर बहुत कम। सुदर्शन जी की रचनाएँ सुंदर होती हैं, पर गहराई नहीं होती और कौशिक जी अक्सर बात को बेज़रूरत बढ़ा देते हैं। किसी ने अभी तक समाज के किसी विशेष अंग का विशेष रूप से अध्ययन नहीं किया। 'उग्र' ने किया, मगर बहक गए। मैंने कृषक समाज को लिया, मगर अभी कितने ही ऐसे समाज पड़े हैं जिन पर रोशनी डालने की ज़रूरत है। साधुओं के समाज को किसी ने स्पर्श तक नहीं किया। हमारे

यहाँ कल्पना की प्रधानता है, अनुभूति की नहीं। बात यह है कि अभी तक साहित्य को हम व्यवसाय के रूप में नहीं ग्रहण कर सके। मेरा जीवन तो आर्थिक दृष्टि से असफल है और रहेगा। 'हंस' निकालकर मैंने किताबों की बचत का भी वारा-न्यारा कर दिया। यों शायद इस साल चार-छः सौ मिल जाते, पर अब आशा नहीं।

र्वेदी : आपकी रचनाओं का अनुवाद किन-किन भाषाओं में हुआ?

मचंद : मेरी रचनाओं का अनुवाद मराठी, गुजराती, उर्दू, तमिल भाषाओं में हुआ है। सबका नहीं। सबसे ज़्यादा उर्दू में, उसके बाद मराठी में। तमिल और तेलुगु के कई सज्जनों ने मुझसे आज्ञा माँगी जो मैंने दे दी। अनुवाद हुआ या नहीं, मैं नहीं कह सकता। जापानी में तीन-चार कहानियों का अनुवाद हुआ है, जिसके महाशय सब्बरवाल ने मुझे अभी कई दिन हुए 50 रुपए भेजे हैं। मैं उनका आभारी हूँ। दो-तीन कहानियों का अंग्रेज़ी में अनुवाद हुआ है, बस।

र्वेदी : आपकी आकांक्षाएँ क्या-क्या हैं?

मचंद : मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने-भर को मिल ही जाता है। मोटर और बँगले की हविश मुझे नहीं। हाँ, यह ज़रूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्च कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही हो। मुझे अपने दोनों लड़कों के विषय में कोई बड़ी लालसा नहीं है। यही चाहता हूँ कि वे ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादे के हों। विलासी, धनी, ख़ुशामदी संतान से मुझे घृणा है। मैं शांति से बैठना भी नहीं चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ-न-कुछ करते रहना चाहता हूँ। हाँ, रोटी-दाल और तोला-भर घी और मामूली कपड़े मयस्सर होते रहें।

इंद्रनाथ मदान*

मदान : आप अपने बचपन की स्मृतियों को किस रूप में प्रस्तुत करेंगे?

प्रेमचंद : अपने घर की मेरी बचपन की स्मृतियाँ बिलकुल साधारण हैं, न बहुत सुखी, न बहुत उदास। मैं आठ साल का था, तभी मेरी माँ नहीं रहीं। उसके पहले की मेरी स्मृतियाँ बहुत धुँधली हैं। कैसे मैं बैठा अपनी बीमार माँ को देखता रहता था, जो उतनी ही मुहब्बती और मौक़ा पड़ने पर उतनी ही कठोर थी, जितनी कि सब अच्छी माँएँ होती हैं।

मदान : आप अपने प्रारंभिक लेखन-कार्य के बारे में बताएँ। आपने कब और कैसे लिखना शुरू किया और उर्दू से हिंदी में किस प्रकार आए?

प्रेमचंद : मैंने उर्दू साप्ताहिकों में और फिर मासिकों में लिखना शुरू किया। लिखना मेरे लिए बस एक शौक़ की चीज़ थी। मुझे सपने में भी ख़याल न था कि मैं आख़िरकार एक दिन लेखक बनूँगा। मैं सरकारी मुलाज़िम था और अपनी छुट्टी के वक़्त लिखा

---

* इस अंग्रेज़ी साक्षात्कार के अनुवादक हैं अरुण प्रकाश।

करता था। उपन्यासों के लिए मेरे अंदर एक न बुझनेवाली भूख थी जो कुछ मेरे हाथ लगता, मैं चट कर जाता। उसमें कोई भले-बुरे का चुनाव करने की तमीज़ मेरे अंदर न थी। मेरा पहला लेख सन् 1901 में और मेरी पहली किताब सन् 1903 में छपी। इस साहित्य-रचना से मुझे अपने अहंकार की तुष्टि के अलावा और कुछ न मिलता था। पहले मैं समसामयिक घटनाओं पर लिखता रहा। 1914 में दूसरों ने मेरी कहानियों के अनुवाद किए और वे हिंदी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। फिर मैंने हिंदी सीख ली और 'सरस्वती' में लिखने लगा। उसके बाद मेरा 'सेवा-सदन' निकला और मैंने अपनी नौकरी छोड़ दी और स्वतंत्र साहित्यिक जीवन बिताने लगा।

मदान : क्या आपके जीवन में कोई प्रणय-प्रसंग घटित हुआ?

प्रेमचंद : नहीं, मेरा किसी से कोई प्रणय नहीं हुआ। ज़िंदगी बहुत उलझानेवाली थी और रोटी कमाना इतना कठिन काम था कि उसमें रोमांस के लिए जगह न थी। कुछ बहुत छोटे-छोटे मामले थे, जैसे कि सबके होते हैं, पर मैं उन्हें प्रेम नहीं कह सकता।

मदान : स्त्री के संबंध में आपका आदर्श क्या रहा है?

प्रेमचंद : स्त्री का मेरा आदर्श त्याग है, सेवा है, पवित्रता है, सब-कुछ एक में, मिला-जुला त्याग जिसका अंत नहीं, सेवा सदैव सहर्ष और पवित्रता ऐसी कि कोई कभी उस पर उँगली न उठा सके।

मदान : अपने दांपत्य जीवन के रोमांस तथा अन्य कुछ तथ्यों के बारे में कुछ बताएँ।

प्रेमचंद : मेरे दांपत्य जीवन में रोमांस जैसी कोई चीज़ नहीं, बिलकुल साधारण ढंग की चीज़ है। मेरी पहली स्त्री का देहांत 1904 में हुआ। वह एक अभागी स्त्री थी, तनिक भी सुदर्शन नहीं, और यद्यपि मैं उससे संतुष्ट नहीं था, तो भी बिना शिकवा-शिकायत निभाए चल रहा था, जैसे कि सब पुराने पति करते हैं। जब वह मर गई तो मैंने एक बाल-विधवा से विवाह किया और उसके साथ का.फ़ी सुखी हूँ। उसमें कुछ साहित्यिक अभिरुचि भी आ गई है और वह कभी-कभी कहानियाँ लिखती है। वह एक निडर, साहसी, समझौता न करनेवाली, सीधी-सादी स्त्री है, दोष की सीमा तक दायित्वशील और अत्यधिक भावुक। वह असहयोग-आंदोलन में शरीक़ हुई और जेल गई। मैं उसके साथ सुखी हूँ। ऐसी कोई चीज़ उससे नहीं माँगता जो वह नहीं दे सकती। टूट भले जाए, पर आप उसे झुका नहीं सकते।

मदान : ज़िंदगी आपके लिए क्या रही है? क्या आर्थिक दृष्टि से आप संतुष्ट रहे हैं?

प्रेमचंद : ज़िंदगी मेरे लिए हमेशा काम रही है—काम, काम, काम! मैं जब सरकारी नौकरी में था, तब भी अपना सारा समय साहित्य को देता था। मुझे काम करने में मज़ा आता है। पस्ती के क्षण आते हैं जब पैसे की समस्या आ खड़ी होती है, वरना मैं अपने भाग्य से बहुत संतुष्ट हूँ, अपने प्राप्य

से अधिक मुझे मिला। आर्थिक दृष्टि से मैं असफल हूँ, व्यवसाय मैं नहीं जानता और तंगी से मुझे कभी छुटकारा नहीं मिलता। मैं कभी पत्रकार नहीं रहा, लेकिन परिस्थितियों ने मुझे ज़बरन बनाया और जो कुछ मैंने साहित्य में कमाया था, जो कि बहुत नहीं था, सब पत्रकारिता में गँवा दिया।

मदान : आप अपनी रचनाओं के कथानक कैसे बुनते हैं ?

मचंद : कथानक मैं इस दृष्टि से बुनता हूँ कि मानव-चरित्र में जो कुछ सुंदर है, मर्दाना है, वह उभरकर सामने आ जाए। यह एक उलझी हुई प्रक्रिया है। कभी इसकी प्रेरणा किसी व्यक्ति से मिलती है, या कभी किसी घटना से या किसी स्वप्न से, लेकिन मेरे लिए ज़रूरी है कि मेरी कहानी का कोई मनोवैज्ञानिक आधार हो। मैं मित्रों के सुझावों का सदैव सहर्ष स्वागत करता हूँ।

मदान : आपके पात्रों का स्रोत क्या है ?

मचंद : मेरे अधिकांश चरित्र वास्तविक जीवन से लिए गए हैं, और उन्हें काफ़ी अच्छी तरह पर्दे में ढक दिया गया है। जब तक किसी चरित्र का कुछ आधार वास्तविकता में न हो, तब तक वह छाया-सा अनिश्चित रहता है और उसमें विश्वास पैदा करने की ताक़त नहीं आती।

मदान : आपकी काम करने की पद्धति क्या है? क्या आप नियमित लेखन-कार्य करते हैं ?

मचंद : मैं रोमां रोलाँ की तरह नियमित रूप से काम करने में विश्वास करता हूँ।

र्वेदी : क्या 'गोदान' के नाम से आपका नया उपन्यास प्रकाशित होने वाला है ?

प्रेमचंद : हाँ, मेरा *गोदान* जल्दी ही प्रेस में जा रहा है। यह लगभग छः सौ पृष्ठों का होगा।

26 सितंबर 1934 *

मदान : आप अपनी किन कृतियों को सर्वोत्तम रचना मानते हैं।

प्रेमचंद : मेरे ख़याल से *रंगभूमि* मेरी सबसे अच्छी रचना है।

मदान : क्या यह सच है कि आपके हर उपन्यास में एक आदर्श चरित्र होता है ?

प्रेमचंद : हाँ! मेरे हर उपन्यास में एक आदर्श चरित्र होता है जिसमें मानवीय विफलताएँ और गुण दोनों होते हैं। लेकिन वास्तव में यह वह आदर्श चरित्र ही होता है। उपन्यास *प्रेमाश्रम* में प्रेमशंकर का चरित्र ऐसा ही है तो *रंगभूमि* में सूरदास का। इसी तरह उपन्यास *कायाकल्प* में चक्रधर का चरित्र है तो *कर्मभूमि* में अमरकांत का।

मदान : आपने कुल मिलाकर कितनी कहानियाँ लिखी हैं। क्या कुछ कहानियाँ अप्रकाशित भी हैं ?

प्रेमचंद : मेरी कहानियों की कुल संख्या 250 के आसपास होगी। मेरी कोई भी कहानी अप्रकाशित नहीं है।

मदान : क्या आप स्वीकार करेंगे कि विश्व के कुछ लेखकों ने आपको प्रभावित किया है।

प्रेमचंद : हाँ, मैं टॉल्स्टॉय, विक्टर ह्यूगो तथा रोमां रोलाँ से प्रभावित रहा हूँ और जहाँ तक कहानियों की बात है मैं सबसे पहले रवींद्रनाथ से प्रभावित हुआ हूँ।

मदान : क्या आपने कभी गंभीरता से नाटक लिखने की कोशिश की ? अगर ऐसा है तो क्या आपको इसमें सफलता मिली ?

प्रेमचंद : मैंने नाटक के बारे में कभी गंभीरता से कोशिश नहीं की। मैंने एक-दो कथानक ज़रूर बनाए जो मुझे लगता है कि इनका उपयोग नाटक में बेहतर किया जा सकता है। अगर मंचन नहीं हुआ तो नाटक का महत्त्व ख़त्म हो जाता है। भारत में, विशेषकर हिंदी और उर्दू नाटकों के लिए मंच नहीं है। मंच के नाम पर जो है वो पारसी रंगमंच है जिसे देख मुझे भय लगता है। और फिर मैं कभी नाटक की तकनीक और मंच कौशल के संपर्क में भी नहीं आ सका, इसलिए मेरे नाटक सिर्फ़ पढ़ने लायक रह गए थे। मैं ख़ुद ही उपन्यासों तक क्यों नहीं सीमित रखूँ जब कि उसमें मुझे चरित्रों को नाटक के मुकाबले अधिक उद्घाटित करने का अवसर मिलता है इसलिए मैंने अपने विचार के प्रसार के लिए उपन्यास को तरजीह दी है। मुझे अभी भी उम्मीद है कि मैं एक-दो नाटक लिख सकूँगा। जहाँ तक उनकी वित्तीय सफलता का संबंध है तो हिंदी हो या उर्दू नाटक की सफलता किसी-किसी को मिलती है। आप जोड़-तोड़ कर सकते हैं लेकिन वित्तीय स्वतंत्रता किसी तरह हासिल नहीं कर सकते। हमारी जनता में पुस्तकें ख़रीदने की ललक नहीं है। कारण है कि पुस्तक के प्रति उपेक्षा भाव, कुंद बुद्धि, बौद्धिक सुस्ती से भी हम ग्रस्त हैं।

मदान : सिनेमा में आपका अनुभव कैसा रहा। क्या सिनेमा के क्षेत्र में लेखक अपने लिए स्थान बना सकता है ?

प्रेमचंद : सिनेमा में साहित्यिक व्यक्ति के लिए कोई जगह नहीं होती। मैं इस क्षेत्र में इसलिए आया ताकि मैं कुछ आर्थिक निश्चिंतता प्राप्त कर सकूँ। परंतु अब मैं देख रहा हूँ कि वह मेरा भ्रम था और मैं अब फ़िलहाल साहित्य में वापस जा रहा हूँ। वास्तव में मैंने साहित्य के क्षेत्र में अपना योगदान कभी बंद नहीं किया क्योंकि वह मेरे जीवन का उद्देश्य रहा है। सिनेमा मेरे लिए वैसे ही है जैसे वकालत। हाँ, यह थोड़ा अधिक स्वस्थ है।

मदान : क्या आप आज़ादी के आंदोलन में कभी जेल गए ?

प्रेमचंद : मैं कभी जेल नहीं गया। मैं सक्रिय संघर्ष वाला व्यक्ति नहीं हूँ। मेरे लेखन ने सत्ताधीशों को कई बार चोट पहुँचाई है। मेरी दो-एक किताबों पर बंदिश भी लग गई थी।

मदान : क्या आप क्रांति के ज़रिए समाज में परिवर्तन लाने में विश्वास रखते हैं ?

प्रेमचंद : मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। हमारा उद्देश्य जनमत को शिक्षित करना है। शांतिपूर्ण उपाय की विफलता से ही क्रांति होती है। मेरे लिए आदर्श समाज वह है जो सबको समान अवसर दे। कोई भी सामाजिक व्यवस्था प्रगति नहीं कर सकती यदि वह हर व्यक्ति को ऊपर नहीं उठाती। क्रांति हमें किस दिशा में ले जाएगी इस पर अभी भी संदेह है। वह है शायद सबसे घटिया प्रकार की तानाशाही, जिसमें सभी व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं का अंकुश लग जाए, की तरफ़ ले जाए। मैं बतलाना तो चाहता हूँ लेकिन तोड़फोड़ कर नहीं।

अगर मुझे थोड़ा अंदाज़ा हो जाए कि विध्वंस ही स्वर्ग का रास्ता है तो मैं विध्वंस करने से हिचकूँगा नहीं।

मदान : तलाक़ के बारे में आप क्या सोचते हैं। क्या आपको लगता है कि वैवाहिक समस्या का हल तलाक़ है ?

प्रेमचंद : सर्वहारा वर्ग में तलाक़ आम बात है। केवल तथाकथित उच्चवर्ग में ही इस समस्या ने आम रूप ले लिया है। सफल विवाह भी समझौता और आत्मसमर्पण का मिला-जुला रूप होता है। अगर एक दंपति ख़ुश रहना चाहता है तो उन्हें एक दूसरे के लिए गुंजाइश बनानी पड़ेगी लेकिन ऐसे भी लोग हैं जो सर्वोत्तम परिस्थितियों में भी ख़ुश नहीं रह सकते। यूरोप और अमेरिका में तलाक़ असामान्य बात नहीं है जब कि वहाँ सगाई और मुक्त मेलजोल आम चीज़ है। स्त्री को या पुरुष दांपत्य में झुकना पड़ता है, मैं इससे इनकार करता हूँ कि दोष सिर्फ़ पुरुषों का होता है स्त्रियाँ भी समस्या खड़ा करती हैं और शिकवे शिकायत करती रहती हैं। तलाक़ दांपत्य संबंधी समस्याओं का निश्चित हल नहीं है तो मैं इस समाज पर जबरन लादने के विरुद्ध हूँ। हाँ ऐसे भी मामले होते हैं जहाँ तलाक़ अनिवार्य हो जाता है लेकिन मेरे ख़याल से बेमेल होना और कुछ नहीं है तुनकमिज़ाजी है। क्षमता पर आधारित समाज इन सब चीज़ों के लिए कोई जगह नहीं होती हैं।

मदान : क्या आपको किसी दैविक शक्ति के अस्तित्व पर विश्वास है ?

प्रेमचंद : पहले मैं दैविक शक्ति पर विश्वास किया करता था पर वह सुविचारित मामला नहीं था। वह पारंपरिक विश्वास के रूप में था। पर अब वह विश्वास दरकता जा रहा है। यह ठीक है कि ब्रह्मांड के पीछे किसी का हाथ है लेकिन मुझे नहीं लगता कि इसका संबंध और महत्त्व हमारे अस्तित्व से है।

श्री रा. टिककेर*

प्रेमचंद : अब आप जो चाहे प्रश्न करें, मैं उत्तर दूँगा। यह सुविधाजनक रहेगा न ?

टिकेकर : उपन्यास लिखने के लिए आपने आरंभ कैसे किया? इसकी प्रेरणा आपको कैसे और कब मिली ?

प्रेमचंद : हाँ, बचपन में मैंने देवकीनंदन खत्री के ग्रंथ पढ़े थे। इसके अतिरिक्त पं. रतननाथ धर** की भी पुस्तकों का अध्ययन किया। ऐसा कह सकते हैं कि मुझे इनसे प्रेरणा मिली। इन दोनों लेखकों का प्रभाव मेरे मन पर अधिक हुआ। पं. रतननाथ धर को उर्दू उपन्यास का प्रणेता कहना चाहिए। 'फ़िसाना-ए-आज़ाद' नाम के 1200 पृष्ठ के महाग्रंथ की उन्होंने रचना की, जिसके चार खंड हैं। इस ग्रंथ का वैशिष्ट्य हास्य-विनोद में निहित है। देवकीनंदन खत्री का नाम लेते ही उनके लेख के 27 खंड 'वेब्सटर' डिक्शनरी के समान मेरी आँखों को दिखने लगते हैं। कितना प्रचंड कार्य उन्होंने किया। देखिए, 'तिलिस्म होशरुबा', 'बोसतां-ए-ख़्याल' आदि किताबें उर्दू में अनुवाद कीं। ये अत्यंत

---

* मराठी पत्रिका 'प्रतिभा' : अंक 4, 1935

** रतननाथ सरशार का मूल नाम

लोकप्रिय तो हैं ही, साथ ही आश्चर्य, कुतूहल को भी उत्पन्न करनेवाली हैं।''

टिकेकर : लेकिन, मुंशी जी, इस उपन्यास या लेखन का विषय क्या है? इधर के लोगों के हिंदी व उर्दू-भाषा के विषय में अज्ञात को देखकर कृपया आप हँसिए नहीं।

प्रेमचंद : पं. रतननाथ धर को बचपन में लखनऊ व इलाहाबाद आदि के नवाबों के अंत:पुर में रहने का मौक़ा मिला। वहाँ की अज्ञात लेकिन रोमांचक बातें बाहर आईं। उस समय इस प्रकार के साहित्य को ही अधिक महत्त्व मिला। नवाब रहते कैसे हैं, ज़मींदारों का व्यक्तिगत जीवन कैसा होता है, आदि बातों के बारे में आम लोगों में बिलकुल अज्ञान था। इसके अतिरिक्त ज़मींदारों व नवाबों के आर्थिक वर्चस्व के कारण लोगों में इनके बारे में जानने का कौतूहल भी अधिक था। इसलिए रतननाथ के लेखन को सर्वत्र चाहा व सराहा गया और देवकीनंदन के 27 खंडों से अजब जादू हुआ। उस फ़ारसी ग्रंथ की आपको कुछ तो जानकारी है क्या?

टिकेकर : 'अरेबियन नाइट्स' या 'अजब ऐने महाल' की तरह का ही देवकीनंदन जी का अनुवाद होगा?

प्रेमचंद : अरे, नहीं-नहीं। 'अरेबियन नाइट्स' तो 'तिलिस्म होशरुबा' के आगे कुछ भी नहीं। उसकी अजीब प्रकार की कल्पना भी आप नहीं कर सकते।

टिकेकर : महायुद्ध शुरू होने तक उन्होंने कोई उपन्यास नहीं लिखा है और छोटी-छोटी कहानियाँ लिखते रहे। उसका कारण?

प्रेमचंद : पहली बात तो यह है कि इन सात सालों में. मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं था इस कारण शिक्षक का काम छोड़कर मैंने निरीक्षक का काम माँगा। फिर मुझे सदैव बाहर घूमना पड़ा। फिर उपन्यास के लिए आवश्यक एकाग्रता व शांति मुझे कहाँ से मिलती? कारण यह हुआ कि रवींद्रनाथ टैगोर की बहुत-सी हिंदी में अनुवादित कहानियाँ मैंने पढ़ीं। मुकुट, राजर्षि आदि का परिणाम मेरे मन पर प्रभावकारी हुआ और फिर मैंने वैसी ही छोटी-छोटी कहानियाँ लिखने का निश्चय किया।''

उनके राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक विचार कैसे हैं और वे कैसे-कैसे बने, इस विषय में उन्हीं के शब्दों में जानकारी यहाँ प्रकाशित है।

टिकेकर : प्रचलित समाज-व्यवस्था के विषय में उन्हें क्या लगता है? समाज सुधार के लिए उनकी क्या सम्मति है? हिंदू समाज में विवाह विच्छेद होना चाहिए या नहीं?

प्रेमचंद : अभी तक इस विषय पर मेरा कोई निश्चित विचार नहीं है, पर मुझे ऐसा लगता है कि विवाह विच्छेद की परिपाटी से समाज का नुक़सान अधिक होगा। उससे थोड़े से फ़ायदे हैं। नहीं है, ऐसी बात नहीं है, परंतु मुझे ऐसा लगता है कि सब मिलाकर हानि की ही अधिक संभावना है।

टिकेकर : पर विवाह विच्छेद का प्रश्न आपने अपने किसी उपन्यास में उपस्थित नहीं किया होगा?

प्रेमचंद : नहीं, इस प्रश्न को मैंने स्पर्श नहीं किया।

केकर: फिर अंतर्जातीय विवाह के संबंध में आपको क्या लगता है ?

चंद: यह प्रश्न चाहे जिसका हो, सुख प्राप्ति का ध्येय लेकर चलता है। प्रेम में जाति और वर्ग की सीमाएँ नहीं हैं। अपनी जाति में या संबंध में विवाह करना चाहिए, यह संकुचित रूढ़ि समाप्त करके इसका स्वरूप व्यापक बनाया जाना चाहिए...

केकर: मगर मुंशी जी, आपने 'रंगभूमि' में राजपूत का ईसाई युवती से विवाह नहीं करवाया। काल्पनिक उपन्यासों में भी अंतर्जातीय विवाह कराने के लिए आप तैयार नहीं हैं, फिर... ?

चंद: हाँ, ठीक है। अंतर्जातीय विवाह होना चाहिए, ऐसा करते समय जिन संस्कृति के लोगों का समावेश मैं उसमें नहीं करता, हिंदू और ईसाई संस्कृति के दंपति कभी भी सुखी नहीं होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। इसीलिए 'रंगभूमि' में राजपूत और ईसाई का विवाह नहीं हो सका।

केकर: मेरे प्रत्यक्ष परिचय में कई हिंदू ईसाई दंपति बहुत सुखी हैं। आपका मत मैं पक्का समझूँ क्या ?

चंद: दोनों ही संस्कृतियाँ इस प्रकार विरोधी हैं, तब उनका संयोग सुखमय नहीं होगा।

केकर: आपके उपन्यासों के या कहानियों के दृश्य और पात्र काल्पनिक होते हैं या वास्तविक ? आपके लेखन-कार्य का हेतु क्या है ? आदर्श जीवन को सम्मुख रखने के ध्येय से आप लिखते हैं या नहीं ?

चंद: वैसे कहा जाए, जो प्रत्येक लेखक ध्येयवादी है और मैं भी इस नियम के लिए अपवाद नहीं हूँ। मेरे लेखन में यथार्थ रेखांकन बहुत होगा, तो भी आदर्श जीवन के नमूने मैंने बहुत सारे लिए हैं।

टिकेकर : अच्छा, तो फिर आपकी आदर्श सृष्टि में हमें क्या दिखाई पड़ेगा ? संयुक्त प्रांत का प्रश्न आपने अपने उपन्यास के कथानकों में लिया होगा। ज़मींदार और उसके किसान परिवारों का संबंध आपकी सृष्टि में कैसा होगा ?

प्रेमचंद : आप जिस प्रकार से कह रहे हैं, उसके अनुसार मेरी सृष्टि में ज़मींदार रहेगा ही नहीं। धीरे-धीरे उसका हृदय-परिवर्तन करके किसान के पास सारी ज़मीन का अधिकार आ जाएगा। ऐसा समाज निर्मित होना चाहिए, यह मेरा ध्येय उपन्यासों में समय-समय पर व्यक्त हुआ है। महात्मा जी जिस प्रकार से कहते हैं, उस प्रकार 'चेज ऑफ़ हार्ट' पर मेरा ज़ोर है। यह मेरा मत है कि ज़बर्दस्ती से किसी भी प्रकार का परिवर्तन लाने के बजाए प्रेम से ही हमारा परिवर्तन होना चाहिए। इसलिए ज़मींदार स्वयं ही ज़मीन पर से अपना अधिकार छोड़ दें तो फिर झगड़ा रहा कहाँ ?

टिकेकर : आप तो गाँधी-पक्षीय भाषा बोलने लगे। गाँधी जी के सभी सिद्धांत आपको मान्य हैं क्या ?

प्रेमचंद : मैं कम्युनिस्ट हूँ मगर मेरा कम्युनिज़्म बिलकुल भिन्न प्रकार का है।

टिकेकर : कम्युनिज़्म कहने पर इस शब्द का अर्थ एक ही है। गाँधी जी का कम्युनिज़्म, इंग्लैंड का कम्युनिज़्म, रशियन कम्युनिज़्म—उसके ऐसे प्रकार बिलकुल नहीं हो सकते। बल्कि प्रेम का संदेश फैलानेवाले आप ज़मींदारों को बदलने की आशा रखते

हैं, ऐसी स्थिति में आपको कम्युनिस्ट कैसे कहा जाए?

प्रेमचंद : क्यूँ भला मेरा कम्युनिज़्म इस प्रकार है ? हमारे समाज में ज़मींदार साहूकार, यह किसान का शोषण करनेवाला समाज बिलकुल रहेगा ही नहीं।

टिकेकर : वकीलों को प्रेमचंद के संसार में रहने के लिए जगह नहीं, ब्राह्मण भी उन्हें निरुपयोगी लगते हैं। संयुक्त प्रांत में आप एक ब्राह्मण द्रोही लेखक हैं, इस प्रकार अनेक सनातनी लेखक आपको पहचानते हैं। वकील, ब्राह्मण, ज़मींदार, साहूकार, डॉक्टर आपकी सृष्टि में कौन-कौन प्राणी रहेंगे ?

प्रेमचंद : परंतु डॉक्टर समाज में आवश्यक है।

टिकेकर : (हँसते हुए) क्या आप बचपन से बीच-बीच में बीमार रहते हैं ? ऐसे अनेक वर्ष नहीं बीते होंगे, जब आपकी तबीयत बिलकुल ठीक रही होगी ?

प्रेमचंद : क्यों, हँस क्यों पड़े ?

टिकेकर : इसलिए आपकी सृष्टि में डॉक्टरों की आवश्यकता लगती है। फिर आपने अपने उपन्यासों में वकीलों और ब्राह्मणों की ख़बर ली होगी। मगर डॉक्टर पर आपने टीका-टिप्पणी नहीं की होगी।

प्रेमचंद : वैसा कुछ नहीं। मगर अधिकांश में आप जो कहते हैं, वह सत्य है।

वकील और ब्राह्मण, इनकी मैंने अच्छी ख़बर ली है, मगर कुछ प्रसंगों में डॉक्टरों के धनलोभ पर भी मैंने कटाक्ष किया है, पर बहुत ही कम। वकीलों और ब्राह्मणों में व्यंग्य चित्र मैंने बहुत निकाले हैं।

टिकेकर : अच्छा, अब आपके उपन्यासों के किसानों के वर्णन किस प्रकार के हैं ? उनके चित्र आपने किस प्रकार के निकाले हैं ?

प्रेमचंद : एक विशेष कारण से मैंने किसानों के दोष दिखाए। उनके दुर्गुणों का चित्रण मैंने जान-बूझकर टाल दिया है।

टिकेकर : माफ़ कीजिए मुंशी जी, इस प्रकार की मुलाक़ातों में बहुत सारे वैयक्तिक विचार आ जाते हैं, पर उन्हें टालना संभव नहीं होता। आपके इस उत्तर से क्या मैं समझूँ कि आपका बचपन और युवावस्था का बहुत सारा समय किसान के घर में बीता है ? आप भी ख़ुद क्या किसान ही थे ?

प्रेमचंद : मेरा बचपन गाँव में ही बीता और 1907 से 1914 के सात वर्षों में मैं गाँव-गाँव घूमता रहा, इसलिए मुझे किसानों के प्रति आत्मीयता अनुभव होती है। उनके सुखदुख में मैं समरस हो सकता हूँ, इसका भी यही कारण है।

शिवपूजन सहाय

प्रेमचंद जी के संस्मरण

हिंदी के प्रारंभिक निर्माताओं में गद्यकार शिवपूजन सहाय का नाम आदर के साथ लिया जाता है। उन्हें हिंदी संसार 'शिवजी' के नाम से जानता था। हिंदी गद्य के इस अप्रतिम शैलीकार की क़लम से प्रेमचंद पर संस्मरण पढ़ना पाठकों को अनूठा ही नहीं, प्रीतिकार भी लगेगा। —संपादक

बीसवीं सदी की दूसरी बीसी का श्रीगणेश असहयोग-आंदोलन के साथ हुआ था। मैं उस आंदोलन के वेग में बहकर कलकत्ता पहुँचा। वहाँ हिंदी पुस्तक एजेंसी की दुकान में, जो उस समय हरिसन रोड और चित्तरंजन पथ के संगम के पास थी, प्रेमचंद जी के सर्वप्रथम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मेरे साहित्यिक गुरु पंडित ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने उनके सामने मुझे *मारवाड़ी सुधार* संपादक के रूप में पेश किया था। उन्होंने अपने प्रथम कहानी-संग्रह *सप्तसरोज* की एक प्रति मुझे आशीर्वाद-स्वरूप देने की कृपा की।

पहली भेंट एक आकस्मिक घटना थी। दूसरी बार उनके साथ घनिष्ठता बढ़ाने का सुयोग मिला लखनऊ में, जब मैं *मतवाला-मंडल* से *माधुरी* के संपादकीय विभाग में गया। कुछ दिनों बाद वे भी *माधुरी* के संपादक होकर आए। श्री दुलारेलाल भार्गव ने कृपापूर्वक पत्रिका के अतिरिक्त कुछ पुस्तकों के संशोधन का काम भी मुझे दिया। पहले *एशिया में प्रभात* और *भवभूति* की कॉपियाँ मिलीं। सौभाग्यवश भार्गव जी मेरी सेवा से संतुष्ट हुए और मुझे प्रेमचंद जी के सुप्रसिद्ध उपन्यास *रंगभूमि* की पांडुलिपि प्राप्त हुई, जो पहले से भार्गव जी के पास आ चुकी थी।

मैं सहम गया। *सप्तसरोज, सेवा सदन* और *प्रेमाश्रम* कलकत्ता में पढ़ चुका था—साहित्य-जगत में उनकी जो स्तुति-चर्चा होती रहती थी, उसकी भी धाक मेरे दिल पर काफ़ी थी। मैं उनकी कृतियों और कीर्ति-कथाओं से तो परिचित था, पर उनके नित्य दर्शनों से वंचित! मैंने यह भी सुना था कि वे पहले उर्दू में कहानी या उपन्यास लिख जाते हैं, फिर किसी हिंदी के जानकार से नागराक्षरों में लिखवाते हैं। पर जब *रंगभूमि* की कॉपी मिली, मेरे आश्चर्य और आनंद का ठिकाना न रहा। सारी कॉपी प्रेमचंद जी की ही लिखी हुई थी। दो मोटी जिल्दों में ख़ासा एक बड़ा पोथा,

छोटे-छोटे अक्षर, घनी लिखावट, कहीं काट-छाँट नहीं; मानो पूरी पुस्तक एक साँस में लिखी गई हो!

भार्गव जी की गंगा पुस्तकमाला की पुस्तकों का संपादन जिन नियमों के अनुसार होता है, उन नियमों को मैं जान चुका था; क्योंकि भार्गव जी के संपादकत्व के कारण *माधुरी* में भी उन्हीं नियमों का पालन करना पड़ता था। जब मैं *रंगभूमि* की कॉपी पढ़ने लगा, नियमों का ध्यान छूट गया, मन रीझकर भाषा की बहार लूटने लगा। पचासों पन्ने उलट जाने के बाद अचानक उत्तरदायित्व का ज्ञान होता, फिर पीछे लौटकर नियमों की पाबंदी करनी पड़ती। कुछ हिंदी शब्दों की लिखावट में भूल मिलती थी और कुछ के उपयुक्त प्रयोग में भी। वाक्यावली और वर्णन शैली तो गंगा की धारा-सी स्वच्छ और सवेग थी। बँधे नियमों के अनुसार कुछ अक्षर बदलने पड़े। कुछ मात्राएँ इधर-उधर हुईं, कुछ प्रसंगानुकूल यथोचित शब्द चस्पां किए गए। प्रेस-कॉपी तैयार हो गई। भार्गव जी ने देखकर पास किया। छपाई के काम में हाथ लगा।

उसी समय प्रेमचंद जी का शुभागमन हुआ। प्रथम दर्शन में ही मेरे चित्त पर उनके हृदय की महत्ता की सत्ता स्थापित हो गई। ख़ास तौर से उनकी सुविधा के लिए 'लाटूश रोड' में एक नया मकान लिया गया था। इसी में श्री मैथिलीशरण गुप्त भी लगभग एक-डेढ़ मास ठहरे थे—किसी वयोवृद्ध कुटुंबी की चिकित्सा करा रहे थे। *माधुरी* का संपादन विभाग भी अमीनाबाद पार्क के गंगा पुस्तकमाला कार्यालय से उठकर उसी मकान में चला गया। वह अमीनाबाद से थोड़ी ही दूर था। रास्ते में भार्गव जी का मकान पड़ता था और पंडित बदरीनाथ भट्ट का भी। उन दिनों पंडित कृष्णबिहारी मिश्र जी *माधुरी* के संपादकीय विभाग में थे। प्रेमचंद जी, मिश्र जी और भट्ट जी का जब समागम होता था, हँसी के फव्वारे आकाश चूमने लगते थे।

मिश्र जी की रईसी हँसी सामने की मेज़ पर ही उछलती थी और प्रेमचंद जी का ठहाका ऊँची छत से टकराकर खिड़कियों की राह पर निकल जाता था—भट्ट जी की हँसी उसे पकड़ न पाती थी। दिल खोलकर तीनों हँसते थे।

कितनी ही संध्या अमीनाबाद पार्क में हरी घास पर बैठे बीतीं—पार्क के एक कोने में उस कचालू-रसीले वाले की दुकान पर, जहाँ ताल्लुकेदरों और रईसों की मोटरें भी खड़ी होती थीं दही-बड़े और मटर की कितनी ही दावतें हुईं— *रंगभूमि* में 'सूरदास' का स्वांग रचने वाले प्रकृत व्यक्ति की सच्ची कहानियों पर कितने ही कहकहे उड़े—जितने दिन लखनऊ में रहे, बड़े सुखावह दिन बीते।

जब कभी *माधुरी*—संपादक पंडित रूपनारायण पांडेय जी और प्रोफेसर दयाशंकर दुबे—जो उन दिनों लखनऊ-विश्वविद्यालय में थे—पहुँच जाते, प्रेमचंद जी की हँसी की ख़ासी टक्कर लेते; और एक बार तो कविवर गुप्त जी के संपर्क से मुंशी अजमेरी जी भी पहुँच गए, जिन्होंने तरह-तरह की हँसी हँसकर प्रेमचंद जी के अट्टहास का दम तोड़ दिया। पंडित कृष्णबिहारी जी यह पूछे बिना न रह सके—"आज दोनों मुंशी हँसी के दंगल में भिड़े। आख़िर कौन चित हुआ?" प्रेमचंद जी नुमाइशी हँसी हँसते हुए पहले ही बोल उठे—"मैं पीठ के बल नहीं, (मूं) मुँह के बल गिरा।" इस पर ख़ूब कहकहा मचा।

उस समय पंडित शांतिप्रिय द्विवेदी भी उसी कार्यालय में थे। हम दोनों साथ ही रहते थे। शांतिप्रिय जी उन दिनों ख़ूब हँसा-हँसाया करते थे। पंडित कृष्ण बिहारी जी की चुहलें और प्रेमचंद जी के चुटकुले—दोनों का रंग निराला होता। मिश्र जी कभी-कभी हिंदी के अनूठे दोहे सुनाते और प्रेमचंद जी उर्दू के लासानी लतीफ़े। उनका अट्टहास सुनकर कार्यालय के कर्मचारी उन्हें एकटक देखने लग जाते। शांतिप्रिय जी को दोनों ही महारथी बहुत प्यार करते थे और उनसे दिल

बहलाते थे। छुट्टी के दिन प्रेमचंद जी से मिलने पर 'शिरनी' ज़रूर मिलती थी। कार्यालय में पान उन्हीं का चलता था। घर पर बराबर ड़ी पीते रहते थे। चिलम शायद ही कभी ठंडी थी। तंबाकू ख़ुशबूदार ख़ुद ख़रीद लाते थे। 'सखुन-तकिया' सुनकर मिश्र जी के भी हास का फव्वारा फूट पड़ता था।

लखनऊ के दंगे के बाद मैं पुनः *मतवाला*- (कलकत्ता) में आ गया। कभी-कभी -पत्री होती रही—विशेषतः उस समय, जब प्रेस और हिंदी पुस्तक एजेंसी के मासिक स तरंग का मैं संपादन करने लगा। चिट्ठियों ता उस समय ख़ूब बँधा जब वे *माधुरी* के थे और बनारस में उनके सरस्वती प्रेस प्रबंध-भार ग्रहण करने के लिए श्री लाल वर्मा मालवीय के निमित्त मैं पत्र- र कर रहा था। उस समय मैं भी काशी में र लहेरियासराय (बिहार) के 'पुस्तक ' का साहित्यिक कार्य-संपादन कर रहा था; और कई पुस्तकें सरस्वती प्रेस में भी छपती थीं। उन दिनों श्री गुरुराम विश्वकर्मा 'विशारद'—जो प्रेमचंद जी के गाँव के पड़ोसी थे और उनको 'भैया' कहा करते थे—प्रेस के प्रबंधक थे और जो उक्त वर्मा जी के हट जाने के बाद पुनः उसी स्थान पर रहे।

लखनऊ चले जाने के पहले प्रेमचंद जी जब तक घर पर रहे, नित्य इक्के से प्रेस आया करते थे। मैं भी 'भंडार' की पुस्तकों की देख-रेख के लिए प्रायः नित्य ही प्रेस में जाता था। कंपनीबाग (मैदागिन पार्क) के पूरबी छोर पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा है और पश्चिमी छोर पर सड़क के किनारे सरस्वती प्रेस था। पुराना मकान अँधेरा, गंदा—बड़ी रद्दी हालत थी प्रेस की। रोज़ ही वे प्रेस की फ़िक्र में परेशान रहते थे। मेरे हाथ में 'भंडार' का जो काम था, उसमें से जितना उनका प्रेस सहूलियत से कर सकता था, उतना तो मैं दे ही देता था और भी परिचितों से काम दिलवाता था। किंतु प्रेस और हाथी का पेट दोनों बराबर।

पोसाता न था। चिंता-चक्र चल ही रहा था कि वे लखनऊ चले गए। तब प्रवासीलाल जी की बात छिड़ी। मैं भी बीच में पड़ा। लिखा-पढ़ी होते-होते बात तय हो गई।

वर्मा जी प्रेस को मध्यमेश्वर से उठाकर मृत्युंजय महादेव रोड पर ले गए। स्वनामधन्य कलाविद् श्री रायकृष्णदास जी का एक नया मकान था। वह प्रेस के लिए बड़ा शुभ एवं लाभप्रद सिद्ध हुआ। कम-से-कम प्रेस की ओर से प्रेमचंद जी निश्चिंत हो गए। वर्मा जी के काम से संतुष्ट भी रहे। एक सुयोग्य मनुष्य के साथ संबंध स्थापित कराने में सहायक होने के कारण मुझ पर भी अत्यधिक स्नेह रखते थे। यदि लखनऊ से कभी एक दिन के लिए भी आते तो तुरंत प्रेस का आदमी मुझे बुलाने पहुँच जाता। एक बार तो वर्मा जी की नियुक्ति के समय लखनऊ से सीधे मेरे मकान पर आ धमके। उस समय मैं काल-भैरव की चौमुहानी पर रहता था और वर्मा जी भी मेरे पड़ोसी थे। प्रेमचंद जी ने किसी प्रकार का संदेह या असमंजस नहीं प्रकट किया; खुले दिल से वर्मा जी को अपनाया। जाते समय बनारसी पान का चौघड़ा मुँह में लेते हुए कहने लगे—"आज सुख की नींद सोऊँगा, बड़ा भारी बोझ उतर गया, प्रेस बला हो गया था।"

जब वे लखनऊ में ही थे, तब *हंस* निकालने का आयोजन होने लगा। श्री जयशंकर प्रसाद जी ने *हंस* का नामकरण किया और प्रेमचंद जी की स्वीकृति लेकर वर्मा जी ने उसके प्रकाशन का श्रीगणेश कर दिया। प्रेमचंद जी लखनऊ से ही कहानियाँ और टिप्पणियाँ भेजा करते थे। किंतु प्रसाद जी की योजना के अनुसार *हंस* में केवल दो ही स्तंभ रह सके—'मुक्ता-मंजूषा' और 'नीर-क्षीर-विवेक'। प्रसाद जी की स्कीम में कहानियों की प्रधानता नहीं थी। पर प्रेमचंद के संपादकत्व में तो कहानियों की ही प्रधानता हो सकती थी; अतएव *हंस* बहुत दिनों तक कथा-साहित्य का ही मुखपत्र रहा। *हंस* के साथ एक इतिहास लगा है।

काशी में जब प्रसाद और प्रेमचंद एकत्र होते, तब मानो ठहाकेबाजी की होड़-सी लग जाती है। रायकृष्णदास जी के शब्दों में—'हिंदी-संसार के दो अनोखे ठहाकेबाज़—प्रसाद और प्रेमचंद!' दोनों दिल खोलकर हँसते। बनारस-कोतवाली के पिछवाड़े नारियल बाज़ार में प्रसाद जी की लगभग सवा सौ वर्ष पुरानी दुकान है—जर्दा-सुरती-सुँघनी की। उसके सामने के तख़्ते पर प्रसाद जी की साहित्यगोष्ठी जमती थी। उस समय हिंदी संसार का कौन ऐसा साहित्य महारथी था जो तख़्तपोश पर कुछ देर न बैठा हो। प्रेमचंद जी ने प्रसाद जी के एक ऐतिहासिक नाटक पर अपने *हंस* में लिख दिया था—'गड़े मुर्दे उखाड़ना' इत्यादि। पर उसके बाद ही जब दोनों मिले, तब पहले की तरह खुले दिल से ही हँसे-बोले। किसी के दिल में कोई मैल नहीं। बात-बात में खिलखिलाते और उनके ज़ोरदार ठहाके सुनकर बग़ल की अटारियों से अप्सराओं की मृदु, मंद, मधुर खिलखिलाहट भी गूँज उठती।

जब काशी में प्रेमचंद जी ने पहले-पहल सरस्वती प्रेस खोला, तब मैं भी काशी में ही रहता था। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पास वाले मैदागिन पार्क के पश्चिमोत्तर कोने पर एक छोटे-से मकान में प्रेस खुला। छोटे-से खुले ओसारे में ऑफ़िस था। लखनऊ के बाद वहीं उनके दर्शन होते रहे। मैं बराबर उनकी सेवा में पहुँचा करता। शाम को प्रेस में दिनभर की आमदनी का हिसाब जोड़ा जाता। कर्मचारियों को रोज़ कुछ-न-कुछ देना ही पड़ता। सबकी माँग रोज़ पूरी नहीं होती थी। किंतु प्रेमचंद जी सबके सामने आमदनी का हिसाब रख देते और कहते, इतने पैसों में तुम्हीं लोग अपने और मेरे लिए ब्योंत कर दो, मुझे पान-तंबाकू और इक्का भाड़ा भर देकर बाक़ी आपस में बाँट लो। उनको हँसते-हँसते ऐसा कहते सुनकर सब कर्मचारी भी हँसने लगते। फिर रुपया चाहनेवाले अठन्नी पर और अठन्नी माँगने वाले चवन्नी पर ही

नता से संतोष करते। जिस दिन मज़दूरों की पूरी हो जाती, उस दिन प्रेमचंद जी बहुत हो जाते थे। अपने कर्मचारियों से उनकी सहानुभूति थी। श्रमिक वर्ग के लिए अपनी ओं में उन्होंने जो सद्भाव प्रदर्शित किए हैं, की बोलचाल और व्यवहारों में भी प्रत्यक्ष पड़ते थे। ज़रूरतमंद के सामने वे अपनी तों को भूल जाते थे।

कर्मचारियों को पैसे दे चुकने के बाद वे खुचे पैसे लेकर मैदागिन से चौक चले। कई बार मैं भी उनके साथ उधर गया। चौतरा पहुँचकर एक ढोली पान ख़रीदते। तमोली उनका मोदी था। उसी से रोज़ ढोली। वह भी अच्छी चुनकर देता। छाते को कंधे सीधा रखकर उसके पिछले छोर में रूमाल ढोली लटका लेते और पिछले छोर में तंबाकू की पोटली। कभी-कभी पैसे कम जाते तो अपने गाँव का इक्का खोजते हुए कुछ दूर पैदल ही चल पड़ते या पिसनहरिया तक ही किसी इक्के पर जाकर, आगे फिर गाँव तक पैदल चलते थे। इस कठिनाई का वर्णन प्रेस में बैठे-बैठे हँस-हँसकर किया करते थे। किसी दिन कहते कि अरदली बाज़ार या बहना पुल तक पैदल जाने के बाद गाँव का इक्का मिला था। एक बार कपड़े का फ़ीतेदार जूता ख़रीदा तो उसकी एड़ी दबाकर चप्पलनुमा बना ली और कहने लगे कि एड़ीदार जूते से पैदल चलने में कष्ट होता था, इसलिए उसे चप्पल कर दिया। प्रेस की आर्थिक दशा से वे चिंतित हो रहते थे, पर उनके स्वाभाविक अट्टहास में कोई अंतर नहीं पड़ता था।

कुछ दिनों बाद सरस्वती-प्रेस जब मृत्युंजय महादेव के पास एक बड़े फाटक के अंदर प्रशस्त भवन में चला गया, तब आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ। मुद्रणकला विशेषज्ञ श्री प्रवासीलाल वर्मा उस समय प्रेस के प्रबंधक थे। उन्हीं दिनों

मासिक *हंस* और साप्ताहिक *जागरण* का प्रकाशन प्रेमचंद जी के संपादकत्व में चल रहा था। दोनों पत्रों में प्राय मेरी रचनाएँ छपती थीं मेरे लिखे 'क्षणभर' (व्यंग्य-विनोद) पर ख़ूब हँसा करते थे। मैं काल-भैरव के पास रहता था और बहुधा प्रेस में जाया करता था। मैंने देखा कि प्रेमचंद जी अपने आश्रितों पर सदैव कृपालु रहे। इसीलिए प्रेस मज़दूर भी उनका बड़ा लिहाज़ करते। किसी के अपराध पर भी वे क्रोध करने के बदले हँसते ही थे। बहुत दिनों तक उनके संपर्क का सौभाग्य रहा, अनेक प्रसंगों पर उनकी उदारता और सहृदयता देखने के सुयोग मिले, पर कभी उन्हें क्रोध करते देखा ही नहीं। साधारण बोलचाल में भी वे सूक्तियाँ कह जाते थे। एक दफ़ा कहा था—"ग़ुस्सा पी जाने पर आबे-हयात (अमृत) बन जाता है।" उनके लेखों की तो बात ही क्या, उनकी चिट्ठियों में भी सूक्तियाँ मिल जाती हैं।

उनकी धर्मपत्नी श्रीमती शिवरानी देवी जी का एक गल्प-संग्रह सरस्वती प्रेस से निकला था। उसकी भूमिका उन्होंने मुझसे लिखवाई। उनका सहज स्नेह उत्साहवर्द्धक था। वे स्वयं दूसरों की लिखी कहानियों का संग्रह तैयार करने लगे तो उसमें मेरी भी एक कहानी रख दी। वे लेख लिखने के लिए विषय भी बतलाते थे।

कभी-कभी प्रेस में बैठे-ही-बैठे लेखादि का संशोधन करते, संपादकीय टिप्पणियाँ लिखते और पत्रोत्तर देते। किंतु अधिकतर ये काम घर से ही करके लाते थे। प्रेस में लिखते समय देखा कि बड़ी तेज़ी से लेखनी चलती, मगर कहीं काटने या बदलने की नौबत नहीं आती। जान पड़ता था कि लेखनी सजग होकर विचारधारा के साथ बेधड़क चल रही है। साप्ताहिक के लिए अग्रलेख भी एक साँस में लिख डालते। देश और समाज की सभी समस्याओं पर वे बड़े ठोस और निर्भीक विचार प्रकट करते थे। कोई क्षेत्र उनकी लेखनी से अछूता न बच सका।

बीच में एक-डेढ़ साल मैं काशी से बाहर रहा, यद्यपि आने-जाने का संबंध बना रहा। उस अवधि में *गंगा* मासिक पत्रिका का संपादक रहा। जब कहानी के लिए प्रेमचंद जी को पत्र लिखा, स्पष्ट उत्तर मिला कि "आप मेरे *हंस* के लिए मुफ़्त लिखा करते हैं, इसलिए मैं राजा (*गंगा*-संचालक बनैली राज्य के कुमार कृष्णानंद सिंह) की पत्रिका के निमित्त मुफ़्त नहीं लिखूँगा, काफ़ी पुरस्कार दिलवाइए।" मैं परिस्थिति देखकर चुप रह गया क्योंकि जब मैं *माधुरी* के संपादकीय विभाग में था, तब प्रेमचंद जी को फ़ी पेज चार रुपए के हिसाब से पुरस्कार दिया जाता था। उतना पुरस्कार देकर उनकी कहानी लेना *गंगा* ने पसंद नहीं किया, यद्यपि *भारत-भारती* की समालोचना लिखने पर प्रोफेसर रामदास गौड़ को फ़ी पेज पाँच रुपए के हिसाब से पुरस्कार दिया गया था।

गंगा का संपादन कार्य छोड़कर मैं फिर काशी चला आया। अब तक प्रेमचंद जी भी *माधुरी* को छोड़कर काशी आ गए थे। इस बार उन्होंने 'मुक्तामंजूषा' का भार मुझे सौंपा और यथासाध्य पुरस्कार देना भी स्वीकृत किया; क्योंकि मैं बेकार था। बेकारी में उनके प्रेस से बड़ी सहायता मिली—पारिश्रमिक के रूप में ही सही। कभी-कभी हँसी में कह भी देते थे—"आप बेकार हैं, मैं निराकार हूँ!"

सरस्वती प्रेस में घंटों बैठकबाज़ी होती थी। पान की गिलौरियों का दौर चलता रहता था। लखनऊ के विचित्र पान की चर्चा करते हुए ख़ूब हँसा करते थे—अपने मशहूर 'सखुन-तकिया' की बौछारों से लखनवी पान का ख़ूब सम्मान करते थे। ख़ुद कहते भी थे—"मेरा यह 'तकिया-कलाम' तो उर्दू साहित्य गोष्ठी का प्रसाद है। गनीमत है कि बोलने की तरह लिखने में यह नहीं टपक पड़ता। कहीं किसी के ख़त में लिखा जाए तो दोनों की मिट्टी ख़राब हो।"

अपने प्रेस की पुस्तकों के विज्ञापनों के लिए वे बहुत दिनों से एक साप्ताहिक पत्र निकालने का इरादा कर रहे थे। 'पुस्तक-मंदिर' (काशी)

द्वारा प्रकाशित शुद्ध साहित्यिक *जागरण* जब मेरे संपादकत्व में छह महीने तक पाक्षिक निकलकर बंद हो गया, तब उन्होंने अपने संपादकत्व में उसे साप्ताहिक रूप में निकालना शुरू किया। तब मेरे साथ और अधिक घनिष्ठता बढ़ी। प्रेस में काफ़ी देर तक वे भी बैठते थे और मैं भी वहीं बैठकर अख़बार पढ़ता या प्रूफ़ करेक्शन करता। प्रेस में मेरी कोई नौकरी न थी, कुछ-न-कुछ साहित्यिक काम करते रहने का व्यसन तो था ही। सबसे बड़ा लाभ था उनका सत्संग।

उनकी बातचीत से कोई-न-कोई नई बात रोज़ सीखने को मिल जाती थी—नया मुहावरा, नई शैली, कोई नया शब्द, कोई नई युक्ति वा उक्ति। बोलने लगते थे जो ज़बान लड़खड़ाती न थी और चूकती भी न थी। उर्दू के पंडित थे, हिंदी के गढ़ में बचपन से रहते आए। अध्ययन और अनुभव भी कम नहीं। क़लम उठाते ही मँजी भाषा की धारा चल पड़ती।

उनकी चिट्ठी भी कहानी का मज़ा देती थी। कभी-कभी पोस्टकार्ड की दस-बीस लाइनों में ही बड़े-बड़े सिद्धांत और तत्त्व-महत्त्व की बातें कह जाते थे, बीच में कहीं मधुर विनोद का पुट भी धर देते थे। कमाल की लेखनी-शैली थी। पढ़ने लगने पर मालूम होता था कि लेखक की लेखनी कहीं साँस न लेकर सरपट दौड़ी जा रही है और मन अनायास उसके पीछे लगा चला जाता है।

जागरण के लिए प्रति सप्ताह अग्रलेख और संपादकीय नोट, *हंस* के लिए भी प्रतिमास वही, कभी-कभी एक कहानी भी, अन्य पत्रों की माँग पूरी करने के लिए कम-से-कम महीने में एक-दो कहानी ज़रूर, उपन्यास लिखने का सिलसिला अलग।

हंस और *जागरण* में बराबर घाटा ही रहा, पुस्तकें काफ़ी बिकती न थीं। हिंदी के प्रकाशकों से कुछ मिलता न था! *भारत-भारती* के बराबर उनकी किसी पुस्तक के संस्करण न हुए। बल्कि हिंदी वालों से उर्दू वाले कहीं अधिक गुणग्राहक निकले, क्योंकि उनकी उर्दू-पुस्तकों का बाज़ार पंजाब में बहुत अच्छा था, ऐसा वे स्वयं कहा करते थे। प्रसिद्ध मुसलमान नेता मौलाना मुहम्मद अली एक उर्दू साप्ताहिक *हमदर्द* दिल्ली से निकालते थे। उसमें प्रेमचंद जी की कहानियाँ प्रायः छपा करती थीं। उनको पुरस्कार के रूप में प्रति कहानी एक गिनी मिलती थी। वह गिनी मखमली 'केस' में पार्सल से आती थी। उन दिनों गिनी का क्या दाम था, मुझे याद नहीं, पर कई बार मैंने गिनी देखी थी। हिंदी-पत्रों से मिले पुरस्कार पर वे हँसकर चुप रह जाते थे।

हिंदी के प्रकाशकों से ऊबकर वे एक बार सिनेमा की दुनिया में भी गए थे। परंतु बंबई से लौटकर वे विचित्र कहानियाँ सुनाकर हँसा-हँसाया करते थे। उस दुनिया के उनके अनुभव सुनकर मनोरंजन तो होता ही था, पर घृणा भी होती थी। वहाँ के रहस्यों और अनुभवों को सुनाकर उन्होंने प्रसाद जी को भी ख़ूब हँसाया था। विनोद का सुअवसर वे कभी चूकते नहीं थे। एक बार हनुमान जी की पूजा में अध्यापक रामदास गौड़ के घर गए थे तो गौड़ जी से कहने लगे, ''आपका घर सचमुच अजायबघर है, जिसमें हनुमान जी तो रहते ही हैं, भूत-प्रेत भी रहते हैं।''

अंतिम दिनों में तो प्रसाद जी का और उनका लगभग रोज़ का साथ रहा। वे काशी में बेनिया बाग के पास रहते थे। प्रतिदिन प्रातः-संध्या दोनों महारथी साथ-साथ बेनिया पार्क में टहला करते थे। चहलक़दमी के साथ साहित्यिक चर्चा भी होती चलती थी। वे प्रसाद जी के सामने ही उनकी भाषा पर अपने विचार स्पष्ट व्यक्त कर देते थे और प्रसाद जी हँसते-मुस्कुराते सुन भी लेते थे। दोनों साहित्य-सम्राटों के मतभेद कभी आपस में टकराए ही नहीं। दोनों जहाँ मिल बैठते, उनकी बातें सुनने से जी न भरता!

प्रेमचंद की ख़ूबियाँ कोई कहाँ तक बखानेगा! उनकी स्मृतियाँ जैसी सुखदायिनी हैं, वैसी ही दिलदर्द को कुरेदने वाली भी।

राजेंद्र मिश्र

टूटा पिंजरा

पराधीन सुख सपनेहुँ नाहिं। इस समाज में शील, सौंदर्य, वैदुष्य, धन एवं वैभव तथा चरित्र को अधिक तरजीह नहीं मिलती और न ही दुराचार पर क्रोध आता है! ऐसी जो मूल्यांकन पद्धति है, वह बड़ी विचित्र है। समाज स्वार्थ के अनुकूल अवसर के ताक में रहता है। यदि स्वार्थ सिद्धि भी हो जाए तो कपट मिश्रित असत्य भी बेहतर है, यदि स्वार्थ सिद्धि न हो तो स्नेह, उदार आदि गुण भी बेकार ही हैं।

पिता के घर के बाहरी चबूतरे पर बैठकर फटी पोशाक को सिलती हुई वंदना सोच रही थी कि अकस्मात् ही उसे फटकार से भरी आवाज़ सुनाई पड़ी।

"अरी वंदना! कितनी देर इंतज़ार करूँ? मानो पर्वत उठा रही हो! छोटा-सा काम भी तुम निपटा नहीं पाती?"

"आई पिताजी! यह फटा-चिटा धागों से सिलने के बाद भी अच्छा नहीं लग रहा है।"

"सुन लिया, सुन लिया। ज़्यादा उपदेश मत दे। जल्दी-जल्दी सूई चला।"

कमल के पत्तों पर ओस की बूँदों की तरह आँसू की लड़ियाँ वंदना की आँखों के कोणों से गिरने लगीं। वंदना अपने अतीत को याद करती हुई सोचती है, "मैंने क्या अपराध किया है? अरे! हवन करने से भी क्या दोनों हाथ जल जाते हैं? पिताजी तो भाभी जी को बहुत स्नेह करते हैं। उसकी कुशलता के लिए कितने चिंतित रहते हैं? छुपाकर मिठाई लाते हैं। आख़िर किस सबब से मुझ अभागिन को स्नेह नहीं करते? क्या विधवा होने के कारण सर्वगुण विहीन हो गई हूँ?"

इसी बीच पिताजी की पदचाप सुनाई पड़ी। वंदना जल्दी से उठकर द्वार पर आ गई, कपड़ा पिता को देकर उपेक्षा भरी निगाहों से देखती हुई अंदर चली आई।

पिता के जाते ही फिर वह चिंता में डूब गई। अपने कमरे में बिस्तर पर लेटी हुई पिछली बातें याद करने लगी। एक साल में क्या नहीं हो गया? वंदना ने अपने विवाह को टालने के लिए क्या-क्या नहीं किया। लेकिन बेटी के मन की उसके पिता ने एक भी नहीं सुनी। दोनों हाथों में हल्दी लगवाकर उसे ससुराल भेज

कवि एवं कथाकार
मिश्र की दो पुस्तकें
हुई हैं। साहित्य
तथा राष्ट्रपति पुरस्कार
सम्मानित। संपर्क : शन्नो
, न्यू शिवालिक हाउस,
कॉलोनी, लोअर समर
, शिमला 171005 (हि.प्र.)
अजय कुमार मिश्र

दिया। यद्यपि वंदना का पति गुणहीन, कम पढ़ा-लिखा था लेकिन उसका व्यवहार अच्छा था। बी. ए. पास वंदना ने भाग्य का खेल मानकर ससुराल में अपनी जगह बनाने की भरसक कोशिश की।

दो-तीन महीने में ही वह सभी की आँखों का तारा हो गई। जन्म से ही शहरी जीवन में पल-बढ़कर भी उसने पति के घर में अनेक दुलारे नामों से पुकारे जाने का अनुभव प्राप्त किया। धरती की तरह सभी दुखों को अपने भीतर दबाकर पति की ख़ुशी में ही अपनी दुनिया मानने लगी। लेकिन निष्ठुर यमराज की आँखों में वंदना का सुख खटक रहा था। एक दिन उसके पति को पके हुए गेहूँ के खलिहान में चूहे के बिल को मिट्टी के ढेलों से ढकते हुए जहरीले साँप ने काट लिया। पति की इलाज के अभाव में मृत्यु हो गई।

तब से उसके जीवन में सुख-शांति के दिन नहीं लौटे। सगे-संबंधियों ने वंदना के भाग्य को धिक्कारा तथा क़िस्मत का खेल मानकर सब हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ गए। लेकिन वंदना के लिए सुख मृगमरीचिका की तरह हो गया। माता के आग्रह से वह मायके लाई गई लेकिन वहाँ भी वह माँ को छोड़कर किसी अन्य की लाडली नहीं बन पाई। भाभी उसे दूध की मक्खी की तरह समझती रही। भाई भी उसको सुख में खलल डालनेवाली मानता है। पिता भी उसको दुर्भाग्यशालिनी तथा कुल नाश करनेवाली मानते हैं।

कमरे में माँ ने प्रवेश किया। उसको देखते हुए वंदना खड़ी हो गई। माँ चुपचाप खड़ी होकर वंदना की पीठ पर कोमल हथेली रखकर बेटी के साथ ही सोफ़े पर बैठ गई।

''बेटी! तुमने बल्ब भी नहीं जलाया? यह क्या है? अंधकार से अंधकार उत्पन्न होता है और प्रकाश से प्रकाश।''

''माँ! मुझे इन सबकी अपेक्षा नहीं है।''

''बेटी! जानती हूँ। परंतु अंधकार में विलीन होकर तुम क्या करना चाहती हो? उजाले को पाने का प्रयास करो। तुम बी. ए. पास हो। क्या तुमने गीता का यह वाक्य नहीं पढ़ा कि इस आत्मा को दुखी नहीं करना चाहिए।''

''माँ! मेरा जीवन अंधकार से घिरा हुआ दुखी है। यह अंधकार कभी भी सूर्योदय नहीं देखेगा माँ!'' इस प्रकार रुँधे कंठ से बोलती हुई वंदना बिस्तर पर अचेतन-सी हो गई। बहुत समय तक माँ उसको सहलाती हुई वहीं खड़ी रही।

जूते की आवाज़ से ही वह समझ गई कि पिताजी आ रहे हैं। आते ही वह तूफ़ान-सा उत्पन्न कर देते थे। ''वंदना कहाँ है, सारा दिन वह क्या करती है? कहाँ है। विधुभूषण? अरे! बहू ने कुछ खाया कि नहीं? हे सौभाग्यवती! मेरे कपड़े हैंगर पर टाँग दो। हे भगवान! इस घर में सभी स्वतंत्र हैं। कौन किसकी सुनता है? जवाब की अपेक्षा कौन करता है? मेरे कपड़े मैले पड़े हैं। लेकिन कौन धोबी को दे?''

इस समय भी वही सब बोलते हुए वंदना के कमरे के पास आ गए। माँ-बेटी की अस्पष्ट बातचीत सुनकर और कमरे में अँधेरा देखकर उनका पारा चढ़ गया। चिल्लाते हुए गैलरी से बरामदे तथा बरामदे से गैलरी तक चहलक़दमी शुरू कर दी। उनकी चीत्कार सुनकर उनकी पत्नी कमरे से बाहर आई और कुछ क्रोधित होकर बोली, ''बूढ़े हो गए हो फिर भी बोलने की तमीज़ नहीं है। यह क्या बकवास कर रहे हो? वंदना ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है। वह बेचारी तो ख़ुद ही मुसीबत के सागर में डूबी है। क्या इसीलिए ही उसे यहाँ लाए हो?''

पत्नी की फटकार सुनकर उन्होंने अपमानित महसूस किया और उनकी क्रोध की अग्नि और अधिक भड़क उठी। वंदना पर आरोप लगाकर बोले, ''जब से यह यहाँ आई है, घर की हँसी ग़ायब हो गई है। कितनी बार मैंने समझाया-बेटी! कभी रामायण पढ़ो। गीता का पारायण

गाओ। तुलसीदास या मीरा के कुछ भजनों को नक़ल करो। हमलोग संस्कार विहीन या नीची जाति के नहीं हैं। हम तुम्हारा पुनर्विवाह संस्कार करने में समर्थ नहीं हैं। ऐसी स्थिति में व्रत, उपवास और धर्माचरण के द्वारा ही जीवन यापन किया जा सकता है। परंतु यह अभागिन कुछ नहीं करती।''

"अगर उपदेशों की पिटारी ख़त्म हो चुकी हो तो चुप हो जाओ। थोथा चना तो घना बजता ही है, जानती हूँ। लेकिन गरजते बादल बरसते नहीं।" उपेक्षा से वंदना की माँ ने कहा।

"तुम मूर्ख हो, तभी तो इस बिल्ली को शेरनी बना रही हो। अपने प्रयासों का अच्छा फल भी देखोगी।" ग़ुस्से से कहते हुए घर से बाहर चले गए।

वंदना ने उठकर बल्ब जलाया। पिता की बातें सुन-सुनकर उसके घाव हरे हो गए। किस लिए उन्हें पुत्री अच्छी नहीं लगती है? शुरू से ही कन्या को बोझ समझते हैं। यह अनेक विद्याओं के पंडित हैं। सरकारी कार्यालय में अनेक वर्षों तक सेवा करने के बाद तथा सैकड़ों अनुभूतियों को अनुभव करने के बाद सेवानिवृत्त हुए हैं। परिपक्व बुद्धि वाले हैं यह, धिक्कार है! फिर भी ऐसी हृदयहीनता?

गाँव के लोकगीत की कुछ पंक्तियाँ वंदना को याद आती है : *प्रति क्षण स्नेह रूपी तेल से भरे हुए पुत्र घर के दीपक होते हैं / कन्याएँ दिन में उगे हुए तारें हैं जो सूर्य / निकलने पर ग़ायब हो जाते हैं! / हे तात! और लड़के फल के रसों को खाकर / पुष्ट हुए पिंजरे के तोते के समान हैं / लेकिन कन्याएँ घर के पेड़ की चिड़ियों की तरह उड़ती हैं! / अन्न, धन, सुंदर संतान, पुत्र आदि सभी के आभूषण होते हैं / हे तात! कन्याएँ देव प्रसाद के समान हैं / जो धन के द्वारा शिक्षित की जाती हैं!*

"सच है। मैं भी नाम मात्र के लिए शेष रह जाऊँगी।" वंदना शेफाली पुष्प की तरह गर्म आँसू रूपी फूलों को छोड़ती हुई सोचती है, "अरे! किस गुण से पुरुष विद्वान होते हैं? क्या धर्म ग्रंथों में जो पढ़ा जाता है वह जीवन में भी आचरण किया जाता है? किस निगाह से पिता मुझे देखते हैं? किस हृदय से मुझे अनुभूत करते हैं। या किस विवेक ज्ञान से मुझे उपदेश देते हैं? पिता भाभी के सुखों की कितनी चिंता करते हैं और मुझे शापित पत्थर बनी अहिल्या की तरह समझते हैं? भस्म हुए मेरे सुख-संसार को तनिक भी याद नहीं करते? आख़िर क्यों? क्या मेरे अंदर चेतना नहीं है? क्या मेरी अधिक सुख की या भोग की इच्छा नहीं है? मेरी भी गोद में कोई किलकारी मारे! मेरे भी वक्षस्थल में दूध की गंगा धीरे-धीरे बहे। मेरा भी कोई जीवन का सूत्रधार हो जिसके वक्ष पर सिर रखकर मैं भी अपने अतीत को भूल जाऊँ। वह सब कुछ मेरी भी तमन्ना है जो भाभी की है। लेकिन पिता उसके सामने मेरी चिंता नहीं करते।"

विधवा हो गई हूँ, इसमें मेरा क्या अपराध है? विधाता के द्वारा यह जीवन जीने के लिए दिया गया है। कष्ट से गुज़र-बसर करती हूँ। मेरा क्या अपराध है जो मुझ असहाय को छोड़कर शीघ्र ही मुझे अमंगलकारी विधवा करार कर भाग गया। मेरे सुख महल को भस्म करके गायब होकर क्या उसने अपराध नहीं किया? क्या पति के वियोग में भी जीवित रहते हुए कुंती ने अपराध किया, दुर्गावती ने गुनाह किया, देवी इंदिरा ने अपराध किया? क्या पुनर्विवाह मेरे लिए पापकारक सिद्ध होगा पुण्य-जन्य नहीं? आँधी से ध्वस्त कुटिया को सभी फिर से व्यवस्थित करते हैं। गंदे पानी को स्वच्छ कर के पीते हैं। रूग्ण शरीर को दवाओं के उपचार से स्वस्थ बनाते हैं तो क्या वैधव्य ही असाध्य रोग है?

न जाने कब और कैसे आँखें लग गईं। माता भोजन के लिए ज़रूर आई। लेकिन पीड़ा से जर्जर पुत्री को गाढ़ी निद्रा में सोते हुए देखकर बिना कुछ कहे चली गई।

मध्य रात्रि में वंदना की आँखें अपने आप खुल गईं। कार्तिक महीने की रात ठंडी होती ही है। आँगन से लगे बरामदे की रस्सी पर कंबल आदि ऊनी कपड़े रखे हैं, ऐसा वंदना को याद आया। अच्छा, वहाँ से एक चादर ले ली जाए नहीं तो नींद नहीं आएगी, सोचकर जैसे ही वह बरामदे में आई वैसे ही भाभी के कमरे से लगातार बाहर निकलती हुई सीत्कार की आवाज़ कान के पर्दे को फाड़ने लगी! न चाहते हुए भी वह कुछ समय तक मूर्ति की तरह वहीं खड़ी रही। फिर अचानक ही भाभी का कमरा शांत हो गया।

वंदना बिना पैरों की आहट किए अपने कमरे में आ गई। लेकिन यह क्या? पिता इस समय भी नहीं सोए? माँ के साथ कुछ बातचीत कर रहे हैं। उसके मन में आया—कहीं माँ मेरे भविष्य के बारे में ही पिता के चरणों में अनुनय-विनय न कर रही हो। उनकी बातें सुननी चाहिए। धीरे-से वंदना कमरे के पास पहुँच गई और सुनने लगी।

"भाग्यशालिनी! मैं बूढ़ा हो गया हूँ, यह सोचकर तुमने सब कुछ भुला दिया! कभी पानी के लिए भी नहीं पूछती हो।"

"क्यों झूठ बोलते हो! बच्चे बड़े हो गए हैं और विवाहिता पुत्री दो बार गमन कर चुकी है। घर में बहू आ गई है। क्या अब भी सब कुछ पत्नी को ही करना चाहिए?"

"अरे सुनो! बेटी, बेटे और बहू को नहीं जानता। मेरे लिए तो तुम्हें ही सब कुछ करना है। कब तक अपना हाथ फैलाऊँ। मैं तुम्हें अपने हृदय की संवेदनशीलता दिखाऊँ।"

हँसती हुई माँ बोली, "भोग के लिए लालायित तुम्हारे हृदय को समझती हूँ! अरे भले आदमी! हरि नाम को स्मरण करने का समय आ गया है।"

"होगा। वह तो ब्रह्मांड बेला में करूँगा ही। क्षण भर इधर तो...।"

इसके बाद वंदना सुन नहीं सकी। उसने सब कुछ समझ लिया। सब कुछ उसे पहिए की तरह घूमता-सा दिखाई दिया। बासठ वर्षीय पिता की भोग इच्छा ने उसके अधैर्य रूपी वृक्ष को अचानक ही गिरा दिया।

यही ज्ञानी पुरुष मुझे उपदेश देता है। वंदना दुखपूर्वक सोचती है। बुढ़ापे में भी जिसकी लिप्सा शांत नहीं हुई वही मुझ बीस वर्षीया को तपस्विनी के रूप में देखना चाहता है। हे करुणावरुणालय! तुम ही निहारो। अपने द्वारा बनाए गए पुरुष नाम के इन मिट्टी के खिलौनों को! न यह मेरा पिता है और न मैं इनकी बेटी! अपने भविष्य पथ का निर्माण मुझे स्वयं ही करना है। सहृदया माँ पुनर्विवाह के लिए मुझसे कई बार कहती हैं। मेरा सहपाठी जयदेव अब भी मेरा हाथ माँगता है। उसके साथ रहते हुए पत्नी धर्म का पालन करते हुए मैं लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण को प्राप्त करूँगी।

जैसे-तैसे वह बिस्तर पर लेटी। लेकिन आँखों में आँसुओं से भरी हुई पलकों को बंद करने पर भी तथा सोने का प्रयास करने पर भी सो नहीं पाई। विचारों की उठा-पटक ने धारणा शक्ति को कमज़ोर बना दिया।

वंदना किसी दैवी वाणी को सुनने का अहसास करती है। "उठो कल्याणी! टूटा हुआ पिंजरा है ये पिता का घर। इसे छोड़ो। जयदेव तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। अरे वंदना बेटी! पुत्र की कामना के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता है। अपनी कामना के लिए पुत्र प्रिय होता है। तुम्हारे पिता में तुम्हारे प्रति आत्मीयता नहीं है। कुमारी होने पर भी तुम बोझ थी। इस समय भी तुम उसके लिए बोझ ही हो। इसलिए हे सारिके! इस टूटे हुए पिंजरे को छोड़ दो और नीले आकाश मंडल में विचरण करो। वहीं है जीवन। वहीं है तुम्हारा अभिलक्षित सहचर। वहीं है तुम्हारा चिर इच्छित कल्पना का साम्राज्य।"

वंदना धीरे-से उठी। चादर शरीर पर रखकर सोती हुई माता को द्वार से ही नमन करके बंद दरवाज़े को खोलकर वह पक्षीहीन रात के अँधेरे में गुम हो गई।

बनमाली विश्वाल

सुखराम की सुखनिद्रा

आज राजभवन में एक विशेष सभा का आयोजन है। प्रदेश के राज्यपाल सुखराम को मृत्योपरांत श्रेष्ठ किसान पुरस्कार प्रदान करेंगे। जनता तथा अख़बारों में सुखराम की अकाल मृत्यु के बारे में बड़ी चर्चा है। इस चर्चा ने न केवल देश बल्कि विदेशों में भी राजनैतिक रूप धारण कर लिया और उस उग्र रूप को शांत करने के लिए राज्य सरकार की यह योजना किसी घड़ियाली आँसू की तरह ही लग रही थी।

सरकार ने उसके जीते जी किसानों के रोज़गार के विषय में चिंता नहीं जताई, आज वह सुखराम के मरने के बाद उसके लिए श्रेष्ठ कृषक पुरस्कार से नवाजेगी इसका क्या राज़ है? हक़ीक़त में हुकूमत सुखराम के मरने के राज़ पर पर्दा डालना चाहती है। लेकिन इस प्रकार की बड़ी ख़बर का राज़ कैसे छुपाया जा सकता है? इस विषय में तो सब लोग जानते ही हैं।

रोज़ी–रोटी के मायने में सुखराम एक अदना–सा किसान था। मध्य प्रदेश के किसी गाँव में उसका घर था। खेती ही उसकी मुख्य आजीविका थी। दो जून की रोटी के लिए लालायित वह अपने खेतों की साल में दो बार बोआई करता था। उससे ही उसके परिवार का लालन–पालन मुमकिन होता था। सुखराम के पास अन्न उपजाने की ज़मीन बड़ी सीमित थी। इसलिए वह जो भी उपजाता था, उससे उसके परिवार का गुज़र–बसर बहुत ही मुश्किल से हो पाता था।

लेकिन धन–अन्न का संचयन कभी भी संभव नहीं होता था। वह अपनी बेटी की शादी के लिए प्रायः गाँव के धनाढ्यों तथा महाजनों से ऋण लेकर काम चला रहा था। बाद में वह अपनी उपज को बाज़ार में बेचकर क़र्ज़ चुकाता था।

उसने दूसरे वर्ष अपने खेत में चना, पटोल आदि की खेती की थी। उसके खेत में कई तरह की फल–सब्ज़ियों, अनाज की अच्छी फ़सल हो सकती थी, फिर भी पिछले साल टमाटर की आकाश छूती क़ीमत को देखकर उसने इस वर्ष टमाटर की ही खेती की। न केवल उसने बल्कि उस गाँव के सभी खेतिहरों ने टमाटर की खेती की। खाद के इस्तेमाल से खेत में टमाटर की पैदावार भरपूर हुई। जैसे–जैसे टमाटर पक रहे थे वैसे–वैसे सुखराम का मन फूला

कृत के कवि तथा कहानी–
। संस्कृत व्याकरण के
। दो कविता–संग्रह, एक
हानी–संग्रह। उत्तर प्रदेश
कृत अकादमी से पुरस्कृत।
: राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान,
नाथ झा परिसर, आज़ाद
, इलाहाबाद 211002
(उ.प्र.)

नु. अजय कुमार मिश्र

नहीं समा रहा था। पिछले साल टमाटर की क़ीमत बीस रुपए प्रति किलो थी। यह भी बीस रुपए किलो बिकेगा। और नहीं तो पंद्रह रुपए होंगे ही। उससे भी बड़ा फ़ायदा होगा। इस वर्ष छोटी लड़की की शादी करेंगे। शायद बिना क़र्ज़ के ही शादी का काम निपट जाएगा।

अंत में वह समय आ ही गया जिसका बहुत दिनों से इंतज़ार था। सुखराम पके टमाटरों को चुनकर तथा टोकरी में भरकर बाज़ार में ले गया। सुखराम बाज़ार में टमाटरों की ख़रीद-फ़रोख़्त की स्थिति देखकर भौंचक्का रह गया। टमाटर की क़ीमत सिर्फ़ दो रुपए प्रति किलो ही थी! बाज़ार में सभी जगह टमाटर ही टमाटर दिख रहे थे। पूरा बाज़ार ही लाल हो गया। वैसी स्थिति में बेचारा सुखराम फ़ैसला लेने में असमर्थ हो गया। वह तो कुल पाँच सौ किलो टमाटर बेचने के लिए लाया था।

बीस रुपए के हिसाब से बेचूँगा तभी तो दस हज़ार रुपए मिलेंगे। लेकिन यहाँ तो हालात ही कुछ और है। प्रति किलो दो रुपए ही मिलेंगे। मात्र एक हज़ार रुपए होंगे। इससे घर के ख़र्च और पुत्री की शादी कैसे होगी। लेकिन क्या किया जाए? टमाटर तो एक प्रकार की सब्ज़ी है जो यदि आज नहीं बिकेगा तो ख़राब हो जाएगा। इसलिए किसी भी तरह बेचकर ही जाना चाहिए। नहीं तो बहुत घाटा होगा।

हाय! भाग्य का खेल! बाज़ार में टमाटरों की अधिकता के कारण दो रुपए के हिसाब से भी ग्राहक लेने को राज़ी नहीं हैं। ऐसी स्थिति में जो बड़े साहूकार थे वे खेतिहरों की मजबूरी का जी भरकर फ़ायदा उठाने में जुट गए। ''एक रुपए किलो यदि बेचोगे तो हम लोग ही सब्ज़ी मंडी के सभी टमाटरों को ख़रीद लेंगे।'' ऐसा किसानों को उन्होंने कहा। सुनकर सुखराम की आँखों से झर-झर आँसू बहने लगे। क्या किया जाए, वह निर्णय नहीं ले सका। एक भी कृषक ने उस मूल्य से बेचना शुरू नहीं किया। लेकिन सुखराम जो अपने घर से जलपान करने के लिए पाँच रुपए लाया था, उससे ज़हर ख़रीदा। गाड़ी में बैलों को जोतकर घर की ओर चल दिया। लौटते वक़्त ही अपने गाँव के नज़दीक राजपथ पर बैलों को गाड़ी से अलग कर दिया। उसके बाद गाड़ी पर रखे सभी टमाटरों को पागल की तरह सड़क पर ही इधर-उधर फेंकने लगा। उसके बाद उनके ऊपर बैठकर बाज़ार से ख़रीदा हुआ ज़हर पी लिया। फिर वह जो सोया सो सोया ही रह गया। फिर नहीं उठा। शरीर के ख़ून-पसीने को बहाकर उसने जो कमर-तोड़ मेहनत से अर्जित किया उसके ऊपर सोकर चिर निद्रा में विलीन हो गया। उससे उसे कुछ आत्मतोष मिला होगा। सुखराम को जीते जी कभी सुख की निद्रा का मौक़ा मिला होगा या नहीं लेकिन मरने के बाद उसे सुकून ज़रूर हासिल हुआ। उसके ऊपर मरने के बाद सरकार की ओर से यह एलान। लगता है हयात में स्थित उसकी रूह ने भी सद्गति प्राप्त की होगी।

केशवचंद्र दास

महान

अशोक शरारती है। पढ़ाई में उसका मन नहीं है। उसमें स्थिरता का भाव कभी नहीं आता। वह हमेशा चलता-फिरता रहता है। इधर-उधर घूमता है। प्रतिदिन उसके नाम से शिकायत आती हैं। सभी उसकी शिकायत करते हैं। और कुछ तो उसे पीट देते हैं। कई तरह से उसकी शिकायत करते हैं, ''यह चंड है...दुर्दंड है...।'' घर में उसकी माता अकेली है। वह अशोक के चाल-चलन को लेकर हमेशा दुखी रहती है। एक बार उसने कहा, ''अशोक! तुम्हारी चिंता में पिता स्वर्गवासी हो गए। फिर भी तुममें बदलाव नहीं हो रहा है? कब तक मैं तुम्हारी शिकायत सुनूँगी?''

लेकिन अशोक पर इन बातों का असर नहीं होता। इसलिए माँ चिंतित रहती है।

''समय सार रहित है। परिश्रम बेकार है। प्रयास विफल है। उपाय निरर्थक है। स्नेह मूल्य रहित है। अशोक अज्ञानी है।''

उस दिन गाँव के विद्यालय में अचानक शोर सुनाई दिया। लोग इकट्ठे हो गए। सब दुखी थे। शिक्षक अचानक बीमार हो गए। ख़ून की उल्टी होने लगी। लेकिन सभी देखते रहे। किसी के मुँह से कोई आवाज़ नहीं निकली। गाँव में कोई अस्पताल नहीं है। और न ही कोई वैद्य। अस्पताल गाँव से बहुत दूर है। किसी ने अस्पताल ले जाने का साहस नहीं दिखाया। इसी तरह दिन बीतते जा रहे थे।

शिक्षक बहुत बीमार हैं। अशोक पुराना छात्र है। उसके मन में दया नहीं है, और ना ही समझ। फिर भी वह बोला, ''हे श्रीमान! मैं ही आपको अस्पताल ले जाऊँगा।''

सभी ने उसका मज़ाक़ उड़ाया। अशोक दुखी हुआ। फिर भी निर्भीक भाव से बोला, ''मैं ही इनको अकेला अस्पताल लेकर जाता हूँ। किसी की सहायता की ज़रूरत नहीं है।''

अशोक ने शिक्षक को अस्पताल पहुँचा दिया और डॉक्टर से अच्छी तरह जाँच करने का अनुरोध किया। तब अशोक के व्यवहार से शिक्षक हैरान रह गए।

रात बड़ी गहरी थी। शिक्षक का स्वास्थ्य लगातार ख़राब होता गया। परेशानी अधिक बढ़ गई। उन्होंने फिर ख़ून की उल्टी की। अस्पताल का फ़र्श ख़ून से रंग गया। वहाँ की नर्स ने यह देखकर अशोक को डाँटा। अशोक ने नम्रता से कहा, ''आप परेशान न हों यह सब मैं साफ़ कर दूँगा।''

केशवचंद्र दास का जन्म 1955 में हुआ। इनके 11 उपन्यास, दो कहानी-संग्रह, पाँच कविता-संग्रह प्रकाशित। संस्कृत के अलावा ओड़िया और अंग्रेज़ी में भी लेखन। उड़िया साहित्य अकादमी तथा दिल्ली संस्कृत अकादमी से पुरस्कृत। संपर्क : अध्यक्ष, न्याय दर्शन विभाग, जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी (ओड़िशा)

सन् 1968 में जन्मे अजय कुमार मिश्र की दो पुस्तकें प्रकाशित हैं। संपर्क : राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, 56/57, इंस्टीट्यूशनल एरिया, जनकपुरी, नई दिल्ली 110058 फ़ोन: 22719247

उसी क्षण अशोक ने अपनी अंजुलि से ख़ून को साफ़ कर दिया। पीड़ित शिक्षक आश्चर्यचकित हो गए। लेकिन अशोक की प्रशंसा करने के लिए उनके मुँह में कोई शब्द नहीं था। उनके नेत्रों से केवल आँसू गिरे। वह मरने को इच्छुक थे।

अशोक ने अपने कपड़े से सब साफ़ करके डॉक्टर से अनुरोध किया, ''डॉक्टर साहब... ये शिक्षक असहाय हैं। इस समय इनकी सहायता कीजिए।'' उसी समय शिक्षक मरनासन्न हो गए। अशोक को देखकर वह कुछ आश्वस्त थे। लेकिन अचानक सब कुछ समाप्त हो गया। शिक्षक की आँखों से धीरे-से आँसू टपके। और आँखें उसी प्रकार खुली रह गईं। उसी समय डॉक्टर ने निर्देश दिया, ''इसे बाहर रखो।''

सेवक ने वैसा ही किया और चुपचाप वह मरे हुए शिक्षक के हाथ से अँगूठी चुराने लगा। लेकिन अशोक ने देख लिया और उससे झगड़ कर अँगूठी ले ली। और उस अँगूठी को बेचकर शिक्षक को घर ले आया।

रात घनघोर थी। फिर भी अशोक सवारी से शव लेकर आया। सभी जगह यह ख़बर पहुँच गई। शोर मचा। लोगों के विचार में अशोक फिर भी दुष्ट ही रहा।

अशोक तब से चिंतित रहता है। आँखों में उदार शिक्षक चमकता है और उसकी करुण दशा। किसी ने भी उसकी दशा को नहीं देखा। केवल अशोक साक्षी है। वही उसका बचा हुआ विश्वास है। वही अंतिम पुत्र है।

तब से अशोक गाँव में सभी की सहायता करता है। सभी की विपत्ति का समाधान करता है। न धन देता है और न सोचता है। और न ही कुछ गुप्त विचार करता है और न ही साथ में भोजन करता है। केवल साहस देता है। परिश्रम के लिए तत्पर रहता है। काम के लिए आगे आता है।

अशोक न ख़ास पढ़ा-लिखा है और न ही अधिक धन कमाने में समर्थ है। लोगों के विचार में वह जो भी हो, माता की स्नेहधारा में वह सेवापरायण... कर्तव्यप्रेमी... आत्मा से महान है।

संस्कृत कविता

राधावल्लभ त्रिपाठी

चूल्हा

पेट में भूख है भूख की आग भड़कने पर।
कुछ पकाने के लिए चूल्हा जलाओ॥

यह ठिठुरती सर्दी का मौसम कष्ट देता है
गर्मी के लिए कहीं चूल्हा जलाओ॥

अँधेरा शरीर को जकड़ कर आलंगित कर रहा है।
उसको चमकाने के लिए कहीं चूल्हा जलाओ॥

जिसकी सरहद पर हम इकट्ठे खाना पकाते थे।
उस ग़ायब हुए चूल्हे को जलाओ॥

जिसमें हमेशा रोटी सेंकी जाती है।
लोगों के घर में वह चूल्हा जलता रहे॥

कुत्ते की दुम

प्रकृति से जो टेढ़ी है और गोल बनी है
सप्रयत्न सीधी नली के भीतर लगातार रखी गई।
स्नेहपूर्वक साल भर दबाई और ढोयी भी गई
कुत्ते की वह दुम मगर कैसे सीधी हो?

हाथ में लठ लिए पुरुष को देखकर
शरीर को झुकाकर 'क्याङ्' की आवाज़ करता हुआ।
प्रतिद्वंद्वी के व्यूह में झंडे की तरह तेज़ी से ऊपर उठकर
कुत्ते की वह पूँछ विजेता के रूप में फैल जाती है।

मालिक जो तिनके की तरह अन्न का दाना देता है
उसको सामने देखते हुए और पैरों को झुकाते हुए।
लेकिन श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, असहाय, ग़रीबी, दया से
कुत्ते की वही दुम धरती पर झूलने लगती है॥

राधावल्लभ त्रिपाठी की संस्कृत, हिंदी और अंग्रेज़ी में लगभग [illegible] पुस्तकें प्रकाशित। साहित्य अकादेमी तथा रामकृष्ण संस्कृत पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर म.प्र.

अनु. अजय कुमार मिश्र

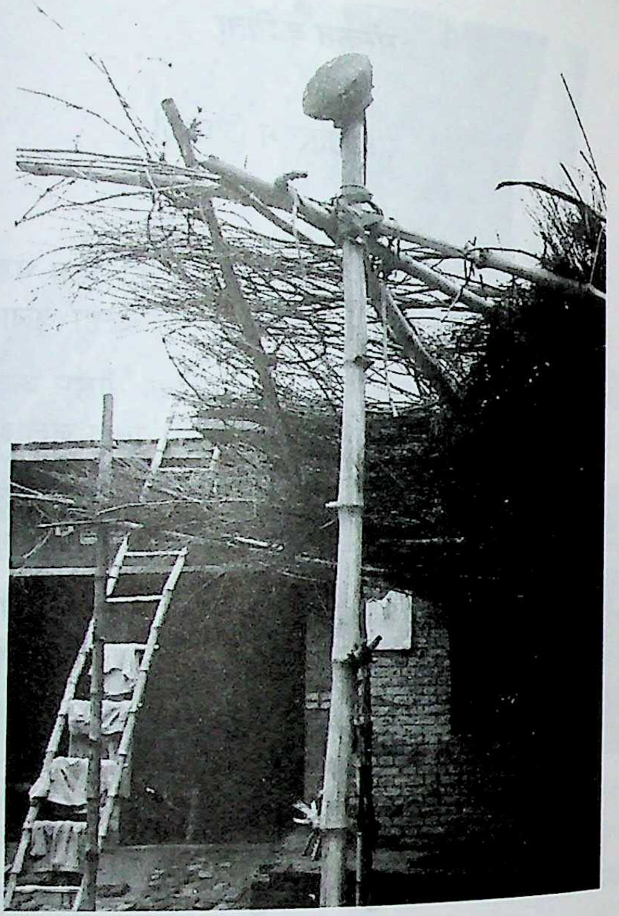

रामकरण शर्मा

अरे! पागल भेड़िये

अरे! पागल भेड़िये! तुम पागल हो, पेट भरने के लिए
इस गुफा में पैर कभी मत रखना।
तुम तो तुम ही हो, वह नहीं, यह जानते हो?
जगा देगा वह क्या तुम यह जानते हो!

जन्मजात है लूटने की तुम्हारी आदत
रात में चुपचाप चोरों की तरह कमज़ोरों की हत्या करते हो।
यह बकरी के बच्चों की गुफा नहीं, बकरों की बस्ती है
यहाँ पर उन्मत्त हाथी को भी दमित करनेवाला शेर सोता है॥

अरे, मित्र! मैं समझता हूँ कि तुम भूखे हो, तुम्हें मांस चाहिए
क्या वह तुम्हें उन लाशों से नहीं मिलेगा!
बेकार में ही ख़ूबसूरत खरगोश के बच्चों की जान लेते हो
क्या सुंदरता ही तुम्हारी दुश्मन है?

1927 में जन्मे रामकरण शर्मा के संस्कृत में कई कविता-संग्रह तथा उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। राष्ट्रपति सम्मान तथा साहित्य अकादेमी से पुरस्कृत। संपर्क : 63, विज्ञान विहार, दिल्ली-110092

अनु. अजय कुमार मिश्र

तुम्हारी हिंसक प्रवृत्ति की क्या कोई सीमा है
सुना है हम लोगों ने कि तुम्हारी आत्मा मर चुकी है।
यह सब छोड़कर आगे बढ़ो और प्रसन्न होओ
इस पाप रूपी अग्नि को छोड़ और स्वर्ग का उपभोग कर।

तुम्हारा विनाशकाल आ गया है।
ग़ुस्साई कोयल अब जाग गई है।
तुमने जितने भी पाप किए हैं
शीघ्र ही ख़त्म हो जाएँगे वे।

अभी भी तुम्हारी कोई हानि नहीं होगी
यदि अपने सब पापों को मान लो।
कान पकड़कर कसम खाओ कि
अब ऐसा कभी नहीं होगा॥

तुम ज़िंदा रहकर भी मरे समान हो
तुम्हें धिक्कार है, तुम्हारे उन दोस्तों को धिक्कार है।
जिन्होंने अभागे नन्हे बच्चों, हज़ारों औरतों की हत्या की
वे नरक भोगेंगे।

अरे! यमराज के मुंशी! तुम्हारा यह धर्म सभी जानते हैं
समर में मृत शक्तिशाली धनुर्धारी जन्नत को पाता है।
लूटने को इच्छुक भेड़ियों की एकता के द्वारा
अपनी पुण्यराशि को समाप्त कर कहाँ जाएँ॥

धर्म, ज्ञान, तप तथा देवत्व सभी में होते हैं
ये दुर्जन के घरों में घुसने पर।
उनके द्वारा क़ैद कर लिए जाने पर भी
सारे संसार को कलंकित करते हैं॥

ईश्वर के रूप इंसानों के घरों, पुस्तकालयों को
विध्वंस करने के बावजूद तुम संतुष्ट नहीं हुए!
सदियों से अपनी-अपनी डफली बजाने की जंग में
चुन-चुनकर निर्मम नरसंहार से मन नहीं भरा!

अरे नीच, आतंकवादी, धरती पर बोझ सुन मेरी बात
इस संसार में तुम्हारा अब कोई साथी नहीं रहा
उन्हें नरक में जाकर ढूँढ़ो॥

आतंकवाद का ख़ात्मा हो। जल, थल, नभ में हो अमन चैन
क्रोधित शिव दुश्मनों की विशाल सेना को जड़ से उखाड़ फेंकें।

सबको आह्लादित करनेवाला, सौम्य रूप हमें सुख शांति दे
सारा विष पीनेवाले नीले कंठ रमणीयता का सचार करें॥

रमाकांत शुक्ल

तुम्हारा भारत रोता है!

रेलों में भीख माँगते बच्चे
दया उत्पन्न कर देनेवाले वस्त्रविहिन।
गालियों से पोषित, अपमान से तुष्ट
इस चिंता से तुम्हारा भारत रोता है।

अख़बारों में रोज़ाना बलात्कारियों की
शर्मनाक राक्षसी करतूतों को देखते और पढ़ते हुए।
हत्या, अगवा आदि ख़बरों से भरे समाचारों से
तुम्हारा भारत रोता है।

कहीं पर रोगों के अंधकारों से दुख देनेवाले समाचारों
कहीं पर रोगों के महाकष्टों से घिरे।
रोज़ाना रिश्वत के काले कारनामों से भरे
तुम्हारा भारत रोता है।

दहेज़ लोलुप निंदित लालचियों के द्वारा
मनुष्य रूपी करोड़ों राक्षसों के हाथों
जलाई जाती हुई ललनाओं को देखकर दुख से
तुम्हारा भारत रोता है।

चकलाघर के आँगन में पायलों की खनक से
नृत्य आदि कर्मों से ग़ुलाम बनाकर
ग़रीबी की गाथा ऊँचे स्वर में गाई जाती है
उस व्यथा से भरा तुम्हारा भारत रोता है।

जहाँ अंगरक्षक के द्वारा आदमी मारा जाता है
जहाँ प्रहरी इंसान की रक्षा करने में नाकाम है।
जहाँ संत लुटेरे और हिंसक हैं
वह भारत रोता है।

उच्च शिक्षा को पाकर भी युवा वर्ग जहाँ
रोज़गार हासिल करने लायक़ नहीं होता।
रोज़ी-रोटी की तलाश में कहीं भी भटकता है
वह भारत रोता है।

1940 में जन्मे रमाकांत शुक्ल के कई कविता-संग्रह तथा संस्कृत नाटक प्रकाशित हुए हैं। उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : रमालय, आर-6 वाणी विहार, नई दिल्ली-110059

अनु. अजय कुमार मिश्र

दुख है, तय करनेवाले कर्मचारी ख़ुद
जहाँ अपने घर में बिना सूचना के रखते हैं
काला धन और अकूत सोने का ख़ज़ाना
वह भारत रोता है।

जनार्दन प्रसाद पांडेय 'मणि'

अरे मित्र! यज्ञ कैसे संपन्न होगा!

इस बिजली से आलोकित नाश के लिए
संसार में क्या कल्पना की जाएगी!
जब तक संसार में सभी जगह
ज्ञान का दीपक नहीं जलेगा!

अरे मित्र! तुम्हारे प्रेम रागों का यज्ञ कैसे संपन्न होगा
जबकि संसार में ईर्ष्या, दुमुँहापन रात-दिन सिखाया जाता है।

यदि यह समता हम लोगों के सपनों से बाहर आती है
संसार में राजा कितने दिन तक ग़रीबी दूर करने की इच्छा जताता रहेगा!

अपनी यात्रा में यदि मैंने नहीं तुम्हें छुआ, तुम्हारे मन को नहीं साधा,
क्या इस संसार में फिर भी मेरी प्रशंसा नहीं करोगे!

पृथ्वी पर सुबह का आह्वान तब तक रोज़ कवि करेगा
जब तक संसार में दिल के तल में मांगलिकता अँगड़ाई लेती रहेगी।

भले ही आंदोलन हो या ज़माना दुश्मन बन जाए
जब तक है जीवन इस संसार में 'मणि' सत्य के लिए कोशिश करेगा।

प्रसाद पांडेय 'मणि' का
1962 में हुआ। इनके कई
काव्य-संग्रह प्रकाशित
हैं। राष्ट्रपति सम्मान तथा
कई सम्मान प्राप्त हुए हैं।
: राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान,
झा परिसर, आज़ाद
इलाहाबाद-211001

अजय प्रकाश मिश्र

हर्षदेव माधव

ख़ून

बचपन में चोट से घायल हुआ
तब
ख़ून की बहती रौ देखी।
दूसरे दिन
ख़ून का छोटा-सा दरिया
सोए हुए इंसानों का दुर्घटनाग्रस्त
शरीर देखकर

गुजराती, हिंदी, अंग्रेज़ी
नाटककार, संपादक
माधव का जन्म 1954
कई पुस्तकें प्रकाशित।
: एन-12, हीरामोती
सिद्धि कॉम्प्लेक्स के
गुलाब-सोप फ़ैक्टरी-
चाँद खेड़ा, गाँधी नगर
(गुज.)

अजय कुमार मिश्र

समझा
रक्त संचार की क़ीमत।

एक बार मैं गया था हॉस्पिटल
वहाँ
ख़ून के फ़ुक़दान से
दम तोड़ते लोगों को देखकर
मेरे ख़ून में
शैथल्य का अहसास हुआ।
लेकिन—
बाहर आकर देखा
कि
चौराहे पर
ख़ून के प्यासे
दो सज्जन आपस में भिड़े थे
और हाथा-पाई में जुटे थे।
कोई रक्त के अभाव में मरता है
तो कोई ख़ून पीने के लिए ही जीता है।

एक बार रास्ते में तुम टकरा गईं
उस वक़्त
मेरे ख़ून में
गुलमोहर का पुष्कल गुच्छ प्रफुल्लित हुआ।
मेरे ख़ून में
बरसाती नदी समा गई।
मेरे ख़ून में
दीपकराग के सुनने से
रोम रोम में
दीपक प्रज्ज्वलित हो उठा।

चौराहे पर
जैसे पुलिस के हाथों के इशारों से
गाड़ी थम जाती है
वैसे—
रक्त का संचार ठंडा...
तब
सूरज अवसान की ओर था

शरीर रूपी घोंसले में
रक्त के संचार का
दूसरा नाम है
जीवन!

सागर कुमार

कारीगर

बड़ी मेहनत से ईश्वर बनाता है
एक कारीगर।
हाथों में है इनके इंद्रजाल
हाथों में है इनके जादू
और बनाते हैं वे ताजमहल जैसे कमाल,
शाहजहाँ ने तो ज़िंदगी भर में कभी बैठकर
एक मटका भी नहीं बनाया होगा,
उसे कभी रंगा भी न होगा।

पर देखो इस अजीब दुनिया को,
कहते हैं ये लोग
ताजमहल है शाहजहाँ का कमाल
दिन-रात करते हैं ये दीन कारीगरी,
पर लूट लेते हैं सब कुछ
आज्ञा देने वाले ये कामचोर।

एक ग़रीब कारीगर का महत्त्व नहीं जानते हैं ये लोग,
एक श्रमिक का महत्त्व नहीं जानते हैं ये लोग।
तो न जाने कैसे पूजते हैं
दुनिया को बनाने वाले उस कारीगर को!
उस ईश्वर को!

कुमार का जन्म 1990 में
। अभी 10वीं कक्षा के छात्र
संपर्क : ई-6, डवलपमेंट
क्लेव, राव तुलाराम मार्ग,
बेसकैंप के पीछे, दिल्ली
-10

स्वयं

अजय कुमार मिश्र

आधुनिक संस्कृत कविता

संस्कृत भाषा के आधुनिक कालखंड के समय-निर्धारण की दिशा में पद्मभूषण बलदेव उपाध्याय, अभिराज राजेंद्र मिश्र, राधावल्लभ त्रिपाठी तथा जयशंकर त्रिपाठी ने कुछ पहल तो की है लेकिन यह कोई सुव्यवस्थित नहीं लगता है। इसकी वैज्ञानिक स्थापना अभी इसलिए भी ज़रूरी है कि संस्कृत भाषा की आधुनिक कविता ऊर्जस्वी तथा विपुल होते हुए भी आज बिखरी पड़ी है। जब तक इन्हें इतिहास के सूत्र में आबद्ध नहीं किया जाएगा तब तक इस युग के विषय में कुछ ख़ास ठोस ढंग से नहीं कहा जा सकता। संस्कृत कवि/समीक्षक भी नॉस्टॉल्जिया से पूरी तरह नहीं उबर पाए हैं। औपनिवेशिक हुक़ूमत ने हमारी भाषा और संस्कृति की जिस अक्षुण्ण कड़ी को गुमनाम किया है, उसकी तलाश और स्थापना तत्परता के साथ ज़रूरी है। ब्रितानी सत्ता की यह ख़ासियत रही है कि जब वह किसी मुल्क को तोड़ना या ग़ुलाम बनाना चाहती है तो वहाँ की भाषा तथा साहित्य को नकार वहाँ की संस्कृति को विखंडित कर देती है क्योंकि भाषा संस्कृति का अंतः साक्ष्य होता है। इस औपनिवेशिक दाँव से अभी हम पूरी तरह निजात भी नहीं पाए हैं कि ग्लोबलाइजेशन के बहाने फिरंगी फिर से सांस्कृतिक आक्रमण करने के लिए हिंदुस्तानी अदब पर घात लगाए बैठे हैं।

ग़ौरतलब है कि पाश्चात्य जगत में रोमांटिक कवियों का समय 1757-1821 ई. के आसपास ठहरता है जिनके प्रतिनिधि कवि विलियम ब्लैक, विलियम वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज शेली तथा कीट्स आदि हैं जबकि हिंदी भाषा का छायावादी काल (रोमांटिक एज) बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध (1916-1936 ई.) माना गया है। इनमें सुमित्रानंदन पंत, रामवृक्ष बेनीपुरी, महादेवी वर्मा, महाप्राण निराला तथा जयशंकर प्रसाद आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। यहाँ वैष्णव काल की ऐतिहासिक तथा इसकी दार्शनिक चेतना से साफ़ है कि इस भक्ति आंदोलन की धारा का उत्स स्थल *भगवद्गीता* ही थी जिससे इसके कवि/संत निंबार्काचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य आदि ने अपने आपको अनुप्राणित किया था। (सच्चिदानंद भट्टाचार्य / ए डिक्शनरी ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री, 1967 ई.)। इन आचार्यों ने यज्ञ के स्थान पर अपने उपास्यदेव

की भक्ति के द्वारा ही मुक्ति प्राप्ति को अधिक श्रेयस्कर माना और इसमें जाँत-पाँत को भी कोई जगह नहीं मिली। कालांतर में वैष्णव धर्म ने देशी भाषाओं में साहित्य के विकास में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसकी पुष्टि जयदेव, विद्यापति, चंडीदास, मीराबाई, तुलसीदास, कृत्तिवास तथा शंकरदेव आदि की रचनाओं से भी होती है। *भगवद्गीता* के साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत कविता में तो यह धारा हज़ारों साल पहले प्रस्फुटित हो चुकी थी।

ब्रितानी प्राच्यविदों का नज़रिया भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा साहित्य पर प्रशासनिक तथा कूटनीतिक शोषण का अधिक था। इसी फ़लसफ़े के तहत संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद भी शुरू हुआ। विलियम जोन्स और कोलब्रुक ने मिलकर हिंदू धर्मशास्त्र *मनुस्मृति* का डाइजेस्ट ऑफ़ हिंदू लॉ (1791 ई.) नाम से किताब लिखी। इतना ही नहीं हॉलहेड ने भी संस्कृत व्याकरण (1778 ई.) पर अंग्रेज़ी में पुस्तक लिखी। भारतीय क़ानून और दर्शन को समझने के लिए वाराणसी में जोनाथन डंकन ने संस्कृत कॉलेज (1799 ई.) की स्थापना की। भारतीय भूगोल को समझने के लिए भी *मेघदूत* (कालिदास) का तर्जुमा किया गया। लेकिन इस *विलायत-रिटर्न सामग्री* की चर्चा पर थोड़ी बारीक़ी से सोचने-समझने की ज़रूरत है। ग़ौरतलब है कि प्राचीनकाल में सांस्कृतिक तथा व्यापारिक रिश्तों के ज़रिए जितना मज़बूत और व्यापक वैदेशिक संबंध क़ायम हुआ, वह रिश्ता मध्यकाल तक आते-आते थोड़ा लड़खड़ा-सा गया। प्राचीन काल में जहाँ सिल्करूट तथा नालंदा विश्वविद्यालय सदृश अनेक शैक्षणिक/सांस्कृतिक संस्थाओं ने इसमें इज़ाफ़ा किया वहीं सामंती तथा अनेक रूढ़ि व्यवस्थाओं ने मध्यकालीन अर्थव्यवस्था को कृषि प्रधान बनाकर वैदेशिक संबंध के दायरों को छोटा कर दिया। मध्यकालीन यूरोप का इतिहास भी तो *वार एंड सेक्स* के नाम से जाना जाता है। ऐसी स्थिति में हिंदुस्तान का पाश्चात्य दुनिया से तथा पश्चिमी देशों का भारत से अलग-थलग पड़ जाना स्वाभाविक था। पाश्चात्य जगत संस्कृत भाषा तथा इसके विविध विपुल महत्त्वों को भूल चुका था। लेकिन दाराशिकोह संपादित *उपनिषदों* का एक फ़ारसी अनुवाद *बेर्नियें* जब यूरोप ले गया और उसके आधार पर ही दू पेंर ने सन् 1801 ई. में इसका लैटिन, ग्रीक और फ़ारसी मिश्रित अनुवाद प्रस्तुत किया तो सारे यूरोप द्वारा संस्कृत भाषा तथा इसके साहित्य पर फिर से क़वायद शुरू कर दी गई। फलतः पाश्चात्य प्राच्यविदों की विविध टोलियों द्वारा संस्कृत भाषा तथा साहित्य में निहित ज्ञान-विज्ञान को अपनी-अपनी भाषाओं तथा तर्कों के माध्यमों से पूरे ज़माने में जाने-अनजाने फैलाया गया। यह तथ्य अलग है कि संस्कृत पंडित भी इस प्राच्य विद्या को अपने कठिन शैक्षणिक तपस्या, लगन तथा समर्पण के बल पर सर्वदा जीवंत एवं प्रवाहमान बनाए रखने का प्रयास करते रहे। लेकिन साथ-ही-साथ यह भी ध्यान रहे कि इस *विलायत रिटर्न-सामग्री* को भारतीयता की कसौटी पर भी पूरी तरह कसने की ज़रूरत है ताकि विदेशी विद्वानों की कुछ चूक तो कुछ उनके खोटे मन की भी जाँच-पड़ताल हो सके। प्राच्य और पश्चिम काव्यशास्त्र तथा भाषा विज्ञान के उम्दा विद्वान गोपीचंद नारंग ने बड़ा जायज़ लिखा है कि "पाश्चात्य चिंतन का रवैया एशियाई बौद्धिक उपार्जनों के साथ जैसा रहा है और जिन कारणों से रहा है, उस पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। एशियाई बौद्धिक उपार्जन उनके लिए कोई अस्तित्व ही नहीं रखते; यह वैचारिक बेईमानी शताब्दियों से चली आ रही है। यह इसलिए भी दुखद है कि इस प्रकार मानवीय चिंतन का जो इतिहास सामने आता है, वह पक्षपातपूर्ण और एकांगी रह जाने के लिए अभिशप्त है।" (*संरचनावाद उत्तर-*

संरचनावाद एवं प्राच्य काव्यशास्त्र*, पृ. 282, साहित्य अकादेमी, दिल्ली, 2000 ई.)।

अंग्रेज़ी भाषा में संस्कृत भाषा के इतिहास से हुई किताबों में रचनाओं के विश्लेषण की अपेक्षा ऐतिहासिक छानबीन का पलड़ा ही अधिक भारी मालूम पड़ता है। ज़ाहिर सी बात है कि अधिकांश महत्वपूर्ण इस भाषा की किताबें विदेशी विद्वानों ने ही लिखी हैं और वे दूसरे देशों के इतिहास के साथ छेड़छाड़ करने में माहिर हैं। संस्कृत साहित्य में अनेक अच्छी विविध विधाओं की कविताएँ लिखी जा रही हैं लेकिन साहित्य के बाज़ार में उनका ठीक ढंग से न पहुँच सकने के कारण इन पर यथोचित ढंग से चर्चा नहीं हो पा रही है। फिर भी इस तथ्य को फिर से विश्लेषित करने की ज़रूरत है कि राजा राममोहन राय जिन्होंने कई उपनिषदों का अनुवाद भी किया। अंततः उन्हें भी संस्कृत भाषा को निरर्थक तथा धूर्तता का जनक क्यों मानना पड़ा? (अमल बोस, संपादक, *राममोहन राय : द मैन एंड हिज़ वर्क्स*, 1933 ई.)। इतना ही नहीं स्वामी वेदाचलम द्वारा संचालित *तनित्तियामिल त्यागम्* (1916 ई.) नामक संस्कृत विरोधी आंदोलन की भी तहक़ीक़ात की ज़रूरत है। इसी प्रसंग में डॉ. भीमराव अंबेडकर का विद्यालय जीवन का वह क्षण भी ध्यातव्य है जब संस्कृत शिक्षक ने उन्हें संस्कृत पढ़ाने में आना-कानी की थी। (निरंजन कुमार सिंह, शशिकुमार शर्मा, राम जन्म शर्मा तथा अनिरूद्ध राय, संपादक, *त्रिविधा*, एन. सी. ई. आर. टी. 1980 ई.)।

संस्कृत भाषा की आधुनिक संस्कृत बानगी की तफ़्तीश से साफ़ है कि इस विधा ने अपने परंपरागत तथा अभिजात्यीय रुझान में थोड़ी तब्दीली की है जिसमें बिंब विधान तथा शैली की सरलता भी है। इसका मुआएना उत्तर आधुनिकतावादी विचारधारा सर्जनात्मक आज़ादी तथा साहित्यिक निरंकुशता के ढीले पड़ते गाँठ के मायने में भी किया जा सकता है। इसके पहले पुनर्जागरण के प्रभाव से भी हिंदुस्तानी अन्य अदब की तरह ही संस्कृत तराने ने भी अपने आपको और तरोताज़ा तथा समीचीन बनाया। फलतः इसके भाषिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक चिंतन के तौर-तरीक़े में भी सम-सामयिक साहित्यिक फ़लसफ़े तथा सिद्धांतों को जाने-अनजाने समाने की पूरी गुंजाइश बनी। इस संदर्भ में यह याद रहे कि रूस के *रूपवादी* अनेक विद्वानों ने बहुत सारे गवेषणात्मक कार्य किए। लेकिन जीते जी उन्हें कोई मान्यता नहीं मिल सकी। बाद में वही तथ्य संरचनावादी विचार को ईजाद करने में मील का पत्थर साबित हुआ। अतः इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता है कि आज का उत्तर आधुनिकतावादी का सिद्धांत भी प्राच्य काव्य शास्त्र/दर्शन/इतिहास के पन्नों से कोई ख़ास दूरी का रिश्ता न रखता हो क्योंकि इस सिद्धांत के अनेक लक्षण संस्कृत के क्लासिकल साहित्य/मीमांसा में भी तलाशे जा सकते हैं। वस्तुतः इसमें कुछ हद तक लुसिये गोल्डमान के साहित्यिक समाजशास्त्रीयता की विश्वधर्मिता भी झलकती है।

उत्तर आधुनिकतावादी प्रतिनिधि विद्वान सॉस्युअर ने लिखा है कि सिग्निफ़ाइड तथा सिग्निफ़ाइर का इस्तेमाल शब्द और अर्थ मानव मन/मनोविज्ञान पर आधृत है। अतः शब्दार्थ का काल-इतिहास तथा संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में नवार्थ की स्थापना जायज़ मानी जा सकती है। संस्कृत भाषा की आधुनिक कविता कुछ हद तक अपना तार इन संदर्भों से भी जोड़ती नज़र आती है। ग़ौरतलब है कि नैयायिकों ने भी माना है कि शब्द और अर्थ में कोई निश्चयात्मक रिश्ते नहीं होते हैं बल्कि रीति-परंपरा से इसका अर्थ निर्धारण होता रहता है। पाश्चात्य पाठकवादी आलोचना के तत्त्व इम्प्लाइड रीडर तथा इंफ़ॉर्म्ड रीडर के संदर्भ भारतीय काव्यशास्त्र के तत्त्व सहृदय सामाजिक के अर्थ के आस-पास ठहरता दिखता है। उत्तर आधुनिकतावादी केंद्रीयता के स्थान पर बहुलतावाद को अधिक समीचीन ठहराया

है। संस्कृत भाषा की आधुनिक कविता ख़ासकर स्वतंत्रता संग्राम कालीन कविताएँ देश के प्रति भाग से स्वतंत्रता के विविध मुद्दों/आयामों को लगातार उठा रही थीं, जिस औपनिवेशिक सत्ता के विद्रोहात्मक ज्वाला की अग्निकुंड कमोबेश सभी क्षेत्रों में गर्भित थीं जिसमें संस्कृत पत्रिकाएँ आग में घी का काम कर रही थीं। सच तो यह है कि ये कविताएँ/पत्रिकाएँ राजनैतिक दृष्टि की अपेक्षा बौद्धिक दृष्टि से बहुत पहले आज़ाद हो चुकी थीं जो ऑलथूसे के साहित्य चिंतन स्वायत्त सामाजिक शक्ति को भी पुष्ट करता है। यह तथ्य अलग है कि उत्तर आधुनिकतावादी के हिसाब से राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति आदि की भावनाएँ एकतंत्रवादी दमनपरक ताक़तों का हथकंडा बन जाता है। लेकिन यह विचार ब्रितानी सत्ता के संदर्भ में ही समीचीन है।

महाकवि कालिदास का *मेघदूत* गीतिकाव्य अभिजात्यीय/सामंती श्रृंगार की कमनीयता के बोझ से थोड़ा दबा लगता है। लेकिन इसमें देशज सभ्यता एवं संस्कृति की आंचलिक तथा स्थानीय वर्णन भी सटीक मिसाल माना जा सकता है। इसका कारण यह भी है कि इसमें भौगोलिक, प्राकृतिक तथा क्षेत्रगत स्त्री/पुरुष के हाव-भाव तथा मनोविज्ञान का बड़ा ही सजीव ख़ाका खींचा गया है। अंग्रेज़ों ने तो इसका तर्जुमा बतौर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति तथा भौगोलिक परिवेश को समझने के लिए भी किया। समसामयिक अनेक संस्कृत कविता यथा *रेवाभद्रपीठम्* तथा *शकटारम्* (दोनों रेवा प्रसाद द्विवेदी) उत्तर उपनिवेशवादी तत्त्व क्षेत्रीयता का सटीक मिसाल माना जा सकता है। पहली रचना में मध्यप्रदेश की नर्मदा नदी, वहाँ की भौगोलिक सुषमा तथा जन-जीवन की घटा पढ़ते ही बनती है। मज़े की बात है कि इसमें क्षेत्रीय शब्दों को भी संस्कृत भाषा के साथ गूँथा गया है— *नारीणां वसनानि यत्र लहँगा, चोली, सशाटी शिरो/भूषायै ननु रेखड़ी गुणशतैः केशेषु सन्नद्धता* ॥ उसी प्रकार राधावल्लभ त्रिपाठी ने भी प्रगति के नाम पर

था स्थानीय
सकता है।
भौगोलिक,
हाव-भाव
त्राका खींचा
और भारतीय
क परिवेश
मसामयिक
ाभद्रपीठम्
वेदी) उत्तर
क मिसाल
मध्यप्रदेश
षुषमा तथा
है। मजे
भी संस्कृत
ां वसनानि
नु रेखड़ी
ी प्रकार
नाम पर

-चौड़ी विकास योजनाएँ तथा नर्मदा जैसी नदियों पर बाँध योजनाओं के बहाने कारी मानवीय हस्तक्षेप के ज़रिए शोषण/ चार तथा क्षेत्रीयतावाद को अंकित किया -*अवरुद्ध च रिक्ता च गह्वरे चैव यंत्रिता/विशीर्य याता न भविष्यामि नर्मदा* ॥ (*नर्मदा-*)। अशोक कुमार शुक्ल ने भी *पर्यावरण-*(2004 ई.) में ध्वनि, पर्यावरण, प्रकृति, भूमि, जल तथा नाना सामाजिक प्रदूषणों संस्कृत कविताओं के माध्यम से उठाकर भाषा के बिंब/कथ्य को सर्वजनिन बनाने भरसक प्रयास किया है। *श्रृंगेरीशतकम्* (1999 ई., सूर्यमणि रथ) भी समसामयिक है जिसमें शारदापीठ की ऐतिहासिकता के साथ अच्छी बन पड़ी है। इसी दृष्टि *वनमाला* कविता-संग्रह (2000 ई. वेम्पटि शास्त्री) भी पठनीय हो सकता है। म.प्र. शास्त्री तैलंग की रचना *उपशल्यशंसनम्* (1935 ई.) ऐसे तो अंग्रेज़ी का रोमांटिक काव्य बंध लिए लगता है। लेकिन इसमें कीचड़ से धान रोपती औरतें और समय-समय पर द्वारा अपने नौनिहालों को स्तनपान कराया और फिर कमरतोड़ काम में जुट जाना लाठी लिए किसानों द्वारा भेड़-बकरियों चराए जाने का वर्णन जहाँ लोक संस्कृति सामाजिक चेतना को दर्शाता है वहीं लिक और सांस्कृतिक भावना को भी करता है—*अमूः कृषकयोषितः कलम-नारत/ प्रसंगसलिलांतरस्थितिविकारिपाद-*। ओगेटि परीक्षित शर्मा ने भी मांझी तथा संस्कृत गीत लिखा है। *कर्णाटराजतरंगिणी* नाथ मिश्र) में वटवृक्ष के नीचे भगवतकथा आयोजन का चित्रण भी आंचलिक संस्कृति ही उजागृत करता है—*वटवृक्षतले नित्यं भक्तिपरायणाः / शुश्रुषुः श्रद्धया पुण्यां भागवतीं कथां*। वेंकट राघवन ने भी नदी किनारे की प्राकृतिक तथा भौगोलिक छटा का जो वर्णन किया है उसमें आंचलिकता है लेकिन उत्तर आधुनिकतावादी विरोधी तत्त्व महाकाव्यता का अभाव है। कवि द्वारा जल के बिना नदी के आसपास की ख़ूबसूरती की अर्थहीनता भी संस्कृत कविता की सादगी भरी अर्थ गंभीरता तथा नए उपमा को भी तलाशती नज़र आती है—*किं वेतैः सकलैश्च कश्चन न चेदंतस्तटिन्यां रसः*। (*संस्कृतप्रतिभाः* 2, 1970 ई.)। त्रिपाठियमुनेश चातक ने भी अपनी रचना *गंगागरिमाकाव्यम्* (1982 ई.) में गंगा के हावभाव का बड़ा ही मनोरम मानवीकरण किया है। कवि का मानना कि वन में उगे हुए मनोरम कीचकों के नाद से सम्मिश्रित तुम्हारी (गंगा) चंचल तरंग मालाओं की ध्वनियाँ जब हृदय को सद्यः उल्लसित तथा उमंगित कर जाती हैं तो वह क्षण किन्नरों के प्रसिद्ध सहगान को भी मानो फीका कर जाता है—*उल्लासयंति हृदयं तरसेतिमन्ये/व्यर्थीभवत् प्रथितकिन्नरयुग्मगानम्* ॥

जानकीजीवनम् (1988 ई.) में राजेंद्र मिश्र ने सीता निर्वासन प्रसंग को भी उठाया है। इसमें भक्ति भावना के साथ आम जीवन/लोक व्यवहार/जन गीतों की छाया है। कवि ने सीता के बचपन का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह (सीता) मनोनुकूल बातों से अनुरंजन करनेवाली थी जो सखियों के साथ माटी की चक्की बनाकर झूठ-मूठ की मिट्टी (अन्न) पीसने की बाल सुलभ मनभावन खेल से अंतःपुर के जनों का मनोरंजन करती रहती थी—*क्वचिद् विनिर्माय मृदा घरट्टकं समं वयस्याभिरभीष्टरंजिनी/मृषैव मृत्प्रेषणकर्म-लीलया कुतूहलं सा विदधेऽवरोधिणाम्* ॥ यहाँ आंचलिक एवं देशज संस्कृति की बड़ी सहज और सजीव झाँकी मिलती है। उसी प्रकार मिथिला प्रदेश की कुमारियों द्वारा मिट्टी के एक लोंदे में ढेर सारे जौ (एक तरह का अन्न) के दाने का बोया जाना और (उनको) लगातार सिंचन क्रिया द्वारा पाल-पोसकर उसके अंकुरित रूप को केशपाश की

तरह उगाया जाना संस्कृत कविता को आंचलिक अभिव्यक्ति देता है। उन्हीं कुमारियों द्वारा मिठास भरा कजली गानों का प्रसंग भी बड़ा प्रासंगिक है— *जगुर्मनोज्ञां कजरी-मुपोषिताः परिभ्रमंत्यो गृहतो गृहम्मुदा* ॥ (वही)। संस्कृत कविता के लब्धप्रतिष्ठ कवि रमाकांत शुक्ल का भी मन ग्रामीण परिवेश तथा आंचलिक छटा को याद कर मचल उठता है। गाँव में हरीतिमा की चादर बिछाए लहलहाते खेतों में अन्न/फल-फूलों का अधनंगे बच्चों द्वारा सीटी बजा-बजाकर रखवाली करना, बाँसवाड़ी में किलकोर मारती चिड़ियों की दस्तक से निद्रामग्न रात्रि की आँखें खुलना, महुआ (महुवे) की मादक गंध से मदमस्त पुलिंद अप्सराओं के ठुमकों से वासंतिक वातावरण का संतृप्त हो जाने का मनभावन दृश्य वाक़ई में मन को शहर के खींचातानी के माहौल से अकस्मात् रम्य गाँवों की ओर ही खींचता नज़र आता है— *चटुल-विहङ्गसमुत्सारणपटु-कृषकडिंभनिकुटंबम् / परिणतशस्यमवति मंचोपरि मुखवाद्यं प्रतिसंध्यम् / स्मृतिमवतरति शैशवं चरितं तत्खलु चिंतयो मे/अयि मम भारतभूमे* ॥ (*भारत-जनताऽहम्*, 2003 ई.)। *प्रदूषण-समस्या* (*गीतांजलिः*, 2004 ई.) में कपिल द्विवेदी ने विविध प्रकार के प्रदूषणों की चर्चा की है और पेड़-पौधों की महत्त्वता बताते हुए उनकी तुलना भगवान शिव से की है क्योंकि जिस प्रकार शिव ने ज़हर पीकर जगत को अमृत प्रदान किया था। उसी प्रकार प्रकृति/वनस्पति भी कार्बनडाइ-ऑक्साईड रूपी ज़हर का पान कर ऑक्सीजन रूपी अमृत को प्राणिमात्र के लिए सुलभ कराता है— *इमे निपीय कार्बनं, समुद्गिरंति आक्सिजन/ शिवस्य रूपधारिणः, विषाशनाः सुधाप्रदाः* ॥ यहाँ संस्कृत कविता का बदलता तेवर तथा नूतन उपमा की सटीकता भी ध्यातव्य हैं।

उत्तर आधुनिकतावादी समाज पीड़ित/पिछड़े वर्ग के साथ है। इस मायने में राधावल्लभ त्रिपाठी तथा हर्षदेव माधव भी प्रतिनिधि कवि माने जा सकते हैं। त्रिपाठी जी मानते हैं कि घोर अत्याचार तथा शोषण से दमित आम जनता की आवाज़ आज कोई सुननेवाला नहीं है जबकि आज़ादी के पचास साल गुज़रने वाले हैं— *कोऽयं समाजवादः प्रगतिर्वा कीदृशी सेयम्* ॥ (*जनता-लहरी*)। इस पाश्चात्य चिंतन के महत्त्वपूर्ण तत्त्व नारीवादी भावना का अंकन राजेंद्र मिश्र की कविताओं में भी पढ़ा जा सकता है। भट्ट मथुरानाथ, जगन्नाथ पाठक तथा राजेंद्र मिश्र ने भी संस्कृत ग़ज़ल को एक नई पहचान दी है जो भाषा शैली की दृष्टि में महत्त्व का परिवर्तन माना जा सकता है। बनमाली विश्वाल की एक बिंबीय कविता गुच्छ *वैलेनटाइन डे संदेश* (2000 ई.) उत्तर आधुनिकतावादी विरोधी विचार महाकाव्यता का खंडन करती है तथा दरबारी/सामंती शृंगार से लोक धरातल की तरफ़ भी झुकता नज़र आता है। प्रस्तुत रचना की कमोबेश सारी पंक्तियाँ युवक/युवतियों के हृदय पटल पर दस्तक देती दिखती हैं। वस्तुतः कालिदास का मेघदूत शृंगार की गंभीर कमनीयता और लावण्यता अट्टालिकाओं तथा कुबेर के सामंतवादी चाकचिक्य से भी चमत्कृत लगता है। आज महाकाव्य या महान दार्शनिक परंपरा को इसलिए भी चुनौती दी जा रही है क्योंकि उत्तर आधुनिकतावादी के हिसाब से इस सर्वसत्तात्मक फ़लसफ़ा की आड़ में औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी तंत्रों को ख़ूब फलने-फूलने का मौक़ा मिला है जिसमें विकेंद्रात्मक तथा जनमानस के विषय-वस्तु/बिंब/कथ्य/रूपक तथा उपमा आदि को तरजीह न देना ज़ाहिर-सी बात है। संस्कृत भाषा की अन्योक्तिशैली में पशु-पक्षी तथा वन्य जीव आदि के ज़रिए व्यवस्था पर कटाक्ष तथा नाना व्यंगों का ताना-बाना बुना जाना भी आज की संस्कृत कविता की ख़ासियत है। बच्चूलाल अवस्थी के प्रबंधान्योक्ति में कुत्ते, उल्लू, बैल, रासभ तथा घोड़े आदि पात्रों के माध्यम से आसपास की विषय वस्तुओं/विडंबनाओं को उठाया जाना

न साहित्यिक सिद्धांत के मायने में महत्त्व लगता है। म.म. मथुरा प्रसाद दीक्षित ने भी कितांगिणी में खटमलों को छात्रों के ख़ून चूसने से मना किया है। इसमें युवावर्ग के /उपेक्षा के भाव भी समाहित लगते हैं— रे त्कुण:! रक्तपानचतुरो मायाविनामग्रणी स्वान् परिहाय शोणितयुतानन्नयानरान् शोषय। वल्लभ त्रिपाठी ने *परिवर्तन* में भी गलियों भौंकते कुत्तों तथा आधी रात में दूर से आती यारों की ख़ौफ़नाक तथा मनहूस आवाज़ भी स्कृत कविता को एक नया बिंब देता है। उनकी सरी कविता *जीवनवृक्ष* में एक आम आदमी का नितांत एकाकीपन, फिर भी उसकी अदम्य जीविषा का वर्णन जीवन के एक नए अर्थ उपमान को ढूँढ़ता है— *स्थास्याम्यहमेकाकी स्थाणु: प्रेतवने यथा/नग्नो निष्प्रभशाखाश्च भूतमनोरथ:* (*संधानम्*, पृ. 10)। यहाँ पाठी जी ने सार्त्र के *अस्तित्ववादी सिद्धांत* के रिये से 'स्थाणु' शब्द का बड़ा ही ललित प्रासंगिक प्रयोग किया है। 'स्थाणु' जहाँ शान निवासी शिव के रूप को अभिव्यक्त ता है वहीं दूसरा अर्थ ठूँठ जीवन की नीरसता/वेदनहीनता/अस्तव्यस्तता/एकाकीपन भी न के अनुरूप ही लगता है। लोभी चूहे लोहे के बने अन्नागार में घुसकर छककर (अनाज) का खाया जाना और अपने हाशा मोटापे के कारण उसमें ही फँसकर की अकाल मृत्यु का होना भी आज की स्था में व्याप्त बेईमानी/चोरी/अनैतिकता के य में बहुत कुछ कह जाता है— *निर्गन्तुं न क तत्र निधनं तद्धान्यभाण्डे गत:॥* (श्री राजन, *लोभदशकम्*, 2003 ई.)। राजेंद्र मिश्र कविता में भी मौत का ख़ौफ़नाक दृश्य, संध्या के प्रत्यक्ष साक्ष्य तथा रेत की भीत टँगी ज़िंदगी भी ज़िंदगी को निराश नहीं कर —*मणिकर्णिकाघट्टे दिष्ट्या स्थितोऽहम्/ दृते सर्वैः स्निग्धैश्च्युतोऽहम्॥ स्वप्ने मया किञ्चिद्दातु प्रतिज्ञातम्। आजीवनं तस्मात्प्रेतैर्वृतोऽहम्॥* (*श्रुतिम्भरा*, पृ. 74, 1989 ई.)। केशवचंद्र दास की कविताओं में भी जीवन की शून्यता और अप्रासंगिकता के तल्ख़ी स्वर सुने जा सकते हैं। लेकिन उन्होंने जीवन की अर्थवत्ता को भी कोई कम महत्त्व नहीं दिया है— *निधिभवनस्य/अलिन्दे यथा श्रूयते भौतिकतास्वर:/ विक्षिप्तदीनतासु च/चीत्करोति/शैलकल्पक्षपा/ कमहं श्राविविष्यामि/प्रसूतिकाव्यथां मम?* (ईशा., पृ. 4, 1991 ई.)। दास ने अपनी दूसरी कविता मार्ग: (अंधस्रोत:, 2004 ई.) में मनुष्य जाति द्वारा प्राकृतिक/पर्यावरण संस्कृति के इंक्रोचमेंट के बहाने इंसान के एकाकीपन, उसकी भौतिकता तथा शहरी जीवन की भाग-दौड़ को भी प्रस्तुत किया है। हरीतिमा की दोस्ती से कोसों दूर बेचारा पत्थर चाँदनी से नहाकर भी अपने आप से बड़ा परेशान तथा दुखी है। नदी के होंठ सूर्ख़-मुर्झाई घास चूसने के लिए मजबूर है। ऐसी स्थिति में जल प्रदूषण का होना स्वभाविक है— *तथा सति-पाषाणोऽवगाहते/विश्वासदुग्धेषु/सरिदधरे/ अरुणायते/दग्धतृणतति:।* कवि द्वारा पत्थरों में संवेदनशीलता तथा घास आदि उपमा के माध्यम से जीवन प्रेम की नीरसता को उठाया जाना भी ग़ौरतलब है। हर्षदेव माधव ने भी छोटे-छोटे मनभावन आम संस्कृत शब्दों के माध्यम से बहु अर्थव्यापी तथा सटीक बातों को कहा है। उनकी कविताओं में *हाइकू* तथा *शिजो* जैसे पाश्चात्य छंदों की अधिकता है। माधव जी ने अपनी परछाईं को बैलगाड़ी और पैरों को उस गाड़ी को खींचते बैल की तुलना कर जहाँ संस्कृत उपमा/बिंब को आंचलिक बनाया है वहीं भाषा की अभिजात्यीय प्रभाव की जगह जन संस्कृति का भी अंकन किया है। साथ-ही-साथ इन्हीं पैरों को काँटे से उपमा देकर उस देह और समय के दार्शनिक रिश्तों की भी तलाश की है— *थुवरसदृशोहस्ती स्त:/मम शरीरस्य/ उषरभुवि/अयं हस्तोऽस्ति अग्नि:/हस्ताय स्वाहा अलकनंदा* (*अलकनंदा*, 1990 ई.) भट्ट

मथुरानाथ शास्त्री ने भी संस्कृत कविता में दोहा, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय तथा कवित्त जैसे ब्रजभाषा छंदों का प्रयोग किया है। इसके अलावा *पत्रकाव्यम्* (1994 ई., सत्यव्रत-शास्त्री) तथा *प्रेमपत्रनामकं महाकाव्यम्* (1976 ई., प. कृष्णचंद्र चतुर्वेदी) जैसी कविताएँ भी ध्यातव्य हैं। इनमें पहली रचना में संस्कृत दोहा, छप्पय तथा कुंडलिया का भी इस्तेमाल हुआ है। रामकरण शर्मा, राजेंद्र मिश्र तथा त्रिपाठी भास्कराचार्य ने भी उत्तर आधुनिकतावादी तत्त्व क्षेत्रीयता/आँचलिक भाषा/बोली का समावेश संस्कृत कविता में किया है। राजेंद्र मिश्र की कविता में कजरी, नकटा तथा सोहर जैसे लोकगीतों का भी प्रभाव है। ज़ाहिर सी बात है कि इनमें आँचलिक तथा ग्रामीण परिवेश का सरोकार साफ़ झलकता है। उन्होंने अपने नग्मों में आहत मर्मस्थल तथा अकेलापन को बड़े जीवंत ढंग से प्रस्तुत किया है—*लोकानुरागमूलं लोकाभिशापशूलम्/शीर्षे निधाय सर्वं जीवामि भूतलेऽहम्*। (*मृद्वीका*, 1985 ई.)। इमसें उर्दू *ग़ज़ल* की छाया देखी जा सकती है। यही कारण है कि उनकी संस्कृत *ग़ज़लों* में *रदीफ़* तथा *काफ़िये* का तालमेल अच्छा बन पाया है। इतना ही नहीं इन्होंने संस्कृत लोरी भी लिखी है जिसमें जीवन के नए उमंग तथा उत्साह के तरंग भी हिलोर मारती दिखती है—*समुत्थाप्यतां नूतनभित्ति-र्निपात्यतां प्राचीना चासौ/विधीयतामभिनवनिर्माणं/जीवतुतरां प्रियो में वत्सः*। (मधुपर्णी, पृ. 132, 2000 ई.) पाश्चात्य शैली की कविता सॉनेट के तर्ज पर भी आज अनेक संस्कृत कविताएँ लिखी जा रहीं हैं जिनमें वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य का नाम भी विशेष रूप से गिनाया जा सकता है। उसी प्रकार *मेघदूतोत्तरं* (*गीतनाट्य*, श्री भि. वेलणकर, 1968 ई.) जैसे *ओपेरा* संस्कृत काव्य भी लिखे गए हैं। नार्गाजुन (बैजनाथ मिश्र) ने भी बड़ा अच्छा मज़ाक़ करते अपनी कविता डालराः में लिखा है कि डालर के बल पर विमान यात्री के साथ जूँ भी योगिनी बन जाती हैं।

आज की संस्कृत कविता में कवि ने अपने कथ्य भाव को अभिव्यक्त करने के लिए जिन शब्दों/बिंबों/उपमाओं/उपमेयों तथा रूपकों आदि का प्रयोग किया है उनमें दिव्यात्मक तथा अभिजात्यीय ताने-बाने की जगह देशज तथा आम जीवन की विषय-वस्तु अधिक गुंफित हैं। *भागीरथी* (गोविंद चंद्र पांडेय, 2000 ई.) में कवि खिड़कियों के काँचों/शीशों पर बारिश की बूँदों के टकराने की तुलना जन्नत में रहनेवाले देवताओं के मुक्ताहारों से टूटे मणियों से करना बड़ा सजीव तथा नया लगता है—*स्फुरंति वातायन-काचमागताः क्वणंति वर्षाग्रशुभोदविंदवः/स्त्रजोऽन्वनर्घास्त्रुटिता दिवौकसां पतंति मुक्तामण्योऽन्यथा कथम् ॥* (पृ. 64)। राजेंद्र मिश्र के हिसाब से देवदारू की टहनियों पर सफ़ेद बर्फ़स्तवक वैसे ही लटक जाते हैं मानो दिग्वधूटिय आकाश जैसे दरिया में नहा रहे हों। पेड़ों पर बंदर अपने अंग-प्रत्यंग सिकोड़ कर बोधित्त्व की मुद्रा में बैठ जाते हैं। भुक्खड़ मरियल कुत्ते भी अपनी पूँछ पिछली टाँगों में घुसाए, लड़खड़ाते हुए कूड़ेदान में खोजने लगते हैं अपने दाना-पानी—*स्नान्तीभिरायतनभस्तटिनीजलेषु प्राच्यादिदिग्वलयमञ्जुलकामिनीभिः। शोषाय देवतरूसानुषु लंबमानाः पिंडा लसंति तुहिनस्य सिताञ्च-लाभाः ॥* (*अरण्यानी*, 1994 ई.)। ई-मेल की तलवार की धार पर दो दिलों का खोजता रिश्ता भी संस्कृत कविता में नयापन लिए लगता है—*अन्विष्यामि न प्राप्नोमि, प्रिये! तव 'इ-मेल' सङ्केतम्* ॥ 44 ॥ (बनमाली विश्वाल, *वैलेंटाइन-डे संदेश*, 2000 ई.)। उसी प्रकार बुलेट प्रूफ तथा *श्वेतवस्त्र* के नूतन प्रयोग के माध्यम से हर्षदेव माधव ने भी राजनीति पर कटाक्ष करते हुए शब्द और अर्थ का नूतन प्रयोग किया है—*बुलेट प्रूफ वहिनानि श्वेतवस्त्राणि शांतिः शांतिः इति जल्पंति* (*गांधि*, 2000 ई.)। श्रीधर भास्कर वर्णेकर ने भी *श्रमगीता* में श्रम जैसे आधिभौतिक अर्थ को आधि-अध्यात्मिक/धार्मिक अर्थों में

कर उत्तर आधुनिकतावादी शब्द और अर्थ भाव को पुष्ट किया है। उसी प्रकार से सने खेत में श्रमिकों का कीचड़ रूपी धूसरित काया की पावनता तथा श्रेष्ठता से अधिक वंदनीय माना जाना भी छटा देता है। साथ-ही-साथ इसमें देशज आंचलिक भाव का भी स्पंदन है— *प्रशाम्यन् क्षेत्रे पङ्कलिप्ततनुर्हि यः/स वंद्योऽश्रमिणः स्माङ्कितनोरणि।* कवि ने यह भी जायज़ है कि मेहनतक़श मज़दूरों का पसीना गंगा/ के जल से अधिक पाक-साफ़ तथा है—*न तद् बिभर्ति पावित्रयं गाङ्गं वा जलम्*(वही)। राधावल्लभ त्रिपाठी मानते देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना से बेहतर खलिहानों में जुटे पामर/श्रमिक टोलियों पर जमे पसीनों की राहत रूह मेघ ही है। (*जनतालहरी*)। त्रिपाठी जी की कविता में भी छत्तीसगढ़ क्षेत्र की बारिश की रोपाई में लोकचेतना तथा क्षेत्रीयता भरी पड़ी हैं, जिनमें राजनीतिक भी है—*अवतीर्णा इमा वर्षाष्छत्तीस-ले। सहतेऽरितं धरासम्पातं वृक्षसंततिः जनैः सद्यः शासनेऽधिकृता यथा॥* (*दूर्वा,* पृ. 28, 29)। वेंकट राघवन ने को इस बात के लिए आगाह किया वे हवा के बहकावे में आकर एक-दूसरे से टकराने की कोशिश न करें क्योंकि दावानल में उनका समग्र वनस्पति ही जलकर राख हो जाएगा— *निश्शेषं स वः कुलमहो सर्व निमेषादिदम्॥* (प्रतिभा, 8.2, 1970 ई.)। कवि ने इसमें का मानवीकरण कर आज भी राजनीतिक नज़रिया 'फूट डालो और ' नीति को बड़े सार्थक रूप में प्रस्तुत है। सांप्रतिक अर्थवत्ता को इतने सहज से इतने गंभीर रूप में लिखा जाना आधुनिकतावादी शब्दार्थ की अनिश्चयात्मकता कुछ हद तक माना जा सकता है जो प्राच्य काव्यशास्त्र में अर्थ सौष्ठव के आसपास घूमता नज़र आता है। क्षेत्रीयता तथा सांस्कृतिक चित्रण की दृष्टि से *हरयाणादर्शनम्* (1997 ई., नारायण शास्त्री) भी पठनीय है।

उत्तर आधुनिकतावादी पीड़ित समाज की वकालत करता है। नागार्जुन भी मानते हैं कि किसान/मज़दूर/युवावर्ग की पीठ पर ही संसद भवन की नींव टिकी है। फिर भी वे भूख, फटेहाली, लाचारी तथा बेबसी के माहौल से ही संतप्त हैं— *कृषकाणां श्रमिकाणां यूनां श्रुत्क्षाम-कंठानाम्/पृष्ठे जठरे शिरसि च भारत भवनं मया दृष्टम्।* (*भारत भवनम्*)। मंजुल पयंक पंतुल ने भी सामाजिक विषमता को लेकर संस्कृत कविता को एक नई आवाज़ दी है। इनकी कविताओं में भी उत्तर आधुनिकतावादी चिंतन समाज के कमज़ोर वर्ग की हितैषी भावना पढ़ी जा सकती है— *उदरज्वालया अन्यो दग्धः/पशुवत् वीभत्सं म्रियते!* (मञ्जुलमयङ्कपंतुल सागरिका 1.1)। *दरिद्रनारायणशतकम* तथा *रुक्मिणीहरणम्* रचनाएँ भी जाति-पाँति के भेदभाव का विरोध करती हैं। दलित मेहनतक़श वर्ग को लेकर भगवंतशरण ने भी अच्छी रचना लिखी है— *जर्जरिण्या जनन्याः / शुष्कमञ्चलम्।* (*सागरिका* 3.4)। राजेंद्र मिश्र को अट्टालिकाओं से अधिक चिंता झोंपड़ियों में रहनेवाली आम जनता की है। वस्तुतः कवि ने पके फलों की जगह कच्ची फलियों को अधिक तरजीह देना जायज़ माना है— *होलाऽनलं समिन्धय बंधो! शनैः शनैः॥* (*मत्तवारणी,* अप्रकाशित)।

हरिदत्त पालीवाल निर्भय की कविताओं में भी विद्रोह के तल्ख़ी स्वर हैं। उन्होंने अकाल से जूझ रहे भारतीय जनमानस का वर्णन करते लिखा कि यह मुल्क एक नंगा आदमी की तरह बन गया है और यूरोप रूपी गिद्ध का यह शिकार हो गया है। उनके हिसाब से हिंदुस्तान वस्तुतः श्मशान के समान ही दिखता है — एकं

तन्मृतनग्नाङ्गं निष्प्रच्छदमातपशीतम्। योरप-गृध्राणामेककवलमहह रक्तच्युतिदिग्धाम्। (*शङ्खनादः*, पृ. 180)। यहाँ औपनिवेशिक आर्थिक शोषण तथा अत्याचार का बड़ा यथार्थपूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया गया है। *इंदिरा जीवनम्* (*इंदिरा-राजीव जीवनम्*, 1997 ई.) में गोस्वामी बलभद्र प्रसाद ने प्रियदर्शनी के व्यक्तित्व के अलावा आपातकालीन राजनीतिक घटनाओं, विश्वनाथ प्रताप सिंह तथा चंद्रशेखर का भी ज़िक्र किया है। कपिल द्विवेदी ने भी अपने गीत *इंदिरा-गौरवम्* (*गीतांजलि*, 2004 ई.) में इंदिरा गाँधी को ग़रीबों/दलितों का मसीहा माना है— *मातृभूरक्षणे दत्तशक्तिः सदा/दीनहीनोन्नति सक्तचेताः शुभा* ॥ 1965 ई. में हिंदुस्तान-पाकिस्तान युद्ध की सजीव चर्चा *पूनाहोर्सविजयः* (1997 ई., कैप्टन रामभगत शर्मा) महाकाव्य में भी पढ़ा जा सकता है जिस युद्ध में पूराहोर्स रेजिमेंट ने पाक सेना के दाँत खट्टे किए थे। पद्मश्री कपिलदेव द्विवेदी ने भी गीतिका *कार्गिल-हुतात्मभ्यः श्रद्धाञ्जलिः* (*गीतांजलिः* 2004 ई.) में लिखा है कि भारत माता की अस्मिता पर जब भी ख़तरा मँडराया है हिंदुस्तानी युवा-युवतियों तथा बूढ़ों ने भी अपनी जान की बाज़ी लगाने में कहीं कोई कोताही नहीं की है— *छात्रा युवत्यो युवकाश्च वृद्धाः/सज्जा भवेयुः रणभूमिहेतोः* ॥ यह तथ्य सच है कि हिंदुस्तान-पाकिस्तान के बँटवारे के मामलों को लेकर संस्कृत साहित्य में बहुत ही कम लिखा गया है। लेकिन निर्भय जी का मानना है कि आज़ादी रूपी शिशु ने जन्म तो लिया लेकिन उसकी ही माँ ने उसके सर को काट दिया। *भारतदिग्दर्शन* (वैद्य सत्यनारायण शास्त्री) में भी हिंदुस्तान-पाकिस्तान बँटवारे (1947 ई.) में भारतभूमि पर मचे हिंदू-मुस्लिम दंगे का बड़ा मार्मिक चित्रण है। प्रस्तुत महाकाव्य की नायिका भारतमाता का होना संस्कृत काव्यशास्त्रीय बंधन के टूटते मिसाल माने जा सकते हैं जो उत्तर आधुनिकतावादी विचार धारा का पोषक-परिवर्तन माने जा सकते हैं। उमाशंकर शर्मा ने भी सवर्णों द्वारा दलितों के शोषण और अत्याचार के ख़िलाफ़ बड़ी तीख़ी कविता लिखी है— *युक्तं गोरो यदि न मनुते श्रोत्रियं श्वादिकं यद्/वर्णश्रेष्ठाः! अपरमफलं रोचते किं भवद्भ्यः?* (*विश्व-संस्कृतम्*, अगस्त, 1967 ई.)। कवि आगे लिखता है कि चांडाल जो मैला ढोता है, उन्हें गाँव से कोसों दूर ही रखा जाता है और सार्वजनिक भोजन/जल स्थलों पर जाने की मनाही के कारण वे गंदा पानी ही पीने के लिए बाध्य हैं। कवि कटाक्ष हुए करते लिखता है कि वे मानव हैं अथवा हिंदुत्व के नाम पर कलंक- *ग्रामाद् दूरे यमदिशि वसन् प्रेतभूमेः सकाशं/श्चाण्डालो वा नरपशुरयं हिंदुभाले कलङ्कः* (*अस्पृश्यतांतनिवैदितम्*, *षोडशी*, पृ. 58, 1992 ई.)। रामकरण शर्मा ने भी आज के पति-पत्नी के बीच खींचातानी से घुटते रिश्ते का भावांकन बड़े यथार्थ ढंग से किया है—*क्रौञ्चमिथुनमेव यतः जिघासु सततं परस्परं द्वेष्टि/तत्र कविः किं कवयेन्मूर्धानं वा स्वयं हन्यात्?* (*वीणा*, 2000 ई.)। श्रीनिवास रथ ने सांस्कृतिक विडंबना का अंकन करते हुए लिखा है कि हम भौतिक स्तर से उत्थान कर सांस्कृतिक विरासत को भूल गए हैं। कवि ने संस्कृति के विनाश के प्रतीक कैक्टस के पेड़ में नए उपमान के साथ नूतन तथा समीचीन अर्थ का गुंफन किया है।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ऐसी अनेक मारक और धारदार कविताएँ बौद्धिकता के यज्ञकुंड में समिधा संग्रहीत कर ब्रितानी सत्ता को निरंतर चुनौती दे रही थी। साथ-ही-साथ तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का भी भंडाफोड़ कर रही थीं। वस्तुतः इनमें भगवतशरण उपाध्याय के राष्ट्रवादी तत्त्व जन, भूमि तथा संस्कृति के कारक तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के आधुनिकतावादी विचार—इतिहासबोध, इह-लौकिक मंगल कामना तथा व्यक्तिपरक कल्याण की जगह सामूहिक भाव के लक्षण भी मौजूद

संस्कृत भाषा की आधुनिक कविताओं में उपर्युक्त दोनों विद्वानों के क्रमशः राष्ट्रीयता तथा आधुनिकतावादी भाव निमंजित हैं। पेंटागन का आतंकवाद, कारगिल का युद्ध, स्तान-पाकिस्तान का मामला, शोषित तथा कश वर्ग की मनोव्यथा और सांप्रदायिक भाव से लेकर सामाजिक तथा राजनैतिक का अंकन बड़े मुखर रूप से पढ़े जा सकते इनमें जाने-अनजाने उत्तर आधुनिकतावादी तत्व भी उभर कर सामने आए हैं।

यह तथ्य अलग है कि इस युग में अनेक भी कविताएँ लिखी गईं जो अंग्रेज़ी सत्ता जी भर चाटुकारिता करती हैं। इनमें महारानी क्टोरिया से जुड़ी स्तुति परक कविताओं की लता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी अंग्रेज़-परक कविता संकलन *मानसोपायनम्* का दन कर डाला। लेकिन सत्ता प्रतिरोधी ओं का ही पलड़ा भारी था। आज भी सत्ता गामिनी कविताएँ लिखीं जा रही हैं। लेकिन पाठक समाज में वे समादृत नहीं हैं।

महायोगी अरविंद की कविता *भवानी भारत* भारतीय जनमानस को काफ़ी झकझोरा था। कलकत्ता पुलिस द्वारा इसकी इकलौती लिपि ज़ब्त कर लिए जाने के कारण इसकी व्याकरण संबंधी अशुद्धियों का परिमार्जन हो सका था। *बंदीमंदिरम्* (1936 ई., आचार्य वल्लभ शास्त्री) तथा *पंजरबद्ध* (अप्पा राशिवडेकर) परतंत्र भारतमाता की व्यथा का चित्रण करती हैं। अप्पाशास्त्री जी हैं—*शुक सुवर्णमयस्तव पञ्जरो/न खलु एष विभाव्यताम्।* बाद में मैथिली शरण ने इसका हिंदी अनुवाद भी किया। (*सरस्वती*, अगस्त 1911 ई.)। तिलक को राजद्रोह में 22 जुलाई 1908 ई. को सश्रम वास भी दिया गया। इसके ख़िलाफ़ शास्त्री जी ने अपनी कविता *तिलक-यस्य कारागृहः निवासः* (*संस्कृत चंद्रिका*, अगस्त 1908) में साफ़ लिखा है कि तिलक के हाथों में ये हथकड़ियाँ आभूषण की तरह अलंकृत हो रही थीं—*निगडं दूषणमित्यमु तव/अपरं स तथापि भूषणं।* भगतसिंह की फाँसी की घटना ने भी उन्हें काफ़ी व्यथित किया।

एक ओर जहाँ अप्पाशास्त्री जी जैसे गरम रुख़ के कवि स्वतंत्रता संग्राम में बौद्धिक चिनगारी इकट्ठा कर रहे थे वहीं दूसरी ओर गाँधीवादी विचारधारा के समर्थक कर्णवीर नागेश्वर राव ने भी खादी को विषय बनाकर *श्रीः* (पौष, 1941 ई.) नामक पत्रिका में कविता लिखी। *मुद्गलदूत* (म. म. रामावतार शर्मा) में भी राष्ट्रहित की बात न सोचनेवाले नेता को जमकर कोसा गया है—*व्यर्थं क्षिप्त्वा भरतवसुधाद्रव्यकोटिः स कीटो/ देशप्रेमोल्बण भणितिभिर्नाशयामास विद्याम्।* (*अर्वाचीन संस्कृतम्*, 15 जनवरी 1997)। जिस तरह आर. क्रिप्लिंग ने अपनी कविता में नस्लवादी पूर्वाग्रह, साम्राज्यवाद, सैन्यवाद तथा राजसी आडंबर के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई। उसी प्रकार वामनराव जोशी पुराणिक ने भी *स्वदेशहित-चिंतनम्* (*मित्र गोष्ठी*, 1906 ई.) के ज़रिए उठाया। *भारतीयमितिवृत्तम्* (म.म. रामावतार शर्मा) में भी आचार्य द्विवेदी के हिसाब से आधुनिकता का बोध है। रामशंकर अवस्थी ने जलियाँवाला बाग़ कांड (*आहुतिः स्वातंत्रययज्ञे*, 1999 ई.) का वर्णन करते हुए लिखा है कि वहाँ इतना रक्तपात हुआ था कि वहाँ की माटी ख़ून से सन गई थी—*गुलिकाः बुभुजिरेऽ-गाणितनरा/रूधिरमञ्जितासीत् धरा।* प्रस्तुत संग्रह में ही ओ 'डायर वध कांड, सुभाषचंद्र तथा गाँधी जी के बलिदान भी पठनीय हैं। कवि अवस्थी ने लिखा है कि नेता जी के अदम्य उत्साह को देखकर हिटलर भी भौंचक रह गया था—*हिटलर-श्चकितोऽभवद् दृष्ट्वा रणोत्साहं* ॥ 5 ॥ *आजाद चंद्रशेखर* (2002 ई., कविरत्न कृष्ण सेमवाल), *कुँवरसिंहउवाच* (2003 ई., रामकरण शर्मा) तथा *वीराग्रणीः भगतसिंह* (2003 ई.,

ओम प्रकाश ठाकुर) भी ध्यातव्य है। अठारह सर्गों तथा ग्यारह सौ पैंतीस श्लोकों में रचित *चंद्रशेखर महाकाव्यम्* (सत्य नारायण शास्त्री) में क्रांतिकारी आज़ाद के अदम्य विद्रोही भावना की झाँकी प्रस्तुत की गई है। *भगत सिंह चरितामृतम्* (1976 ई., चूनीलाल सूदन) में भी भगत सिंह के जीवन के नाना प्रसंगो का ज़िक्र है। कवि लिखता है कि जब भगत सिंह को फाँसी के वक़्त चेहरे को ढकने की बात कही गई तो उन्होंने यह कहते हुए साफ़ इनकार कर दिया कि मैं चोर या डाकू नहीं हूँ और मैंने स्वार्थ के लिए वध भी नहीं किया है। अतः मेरा मुँह नहीं ढका जाए— *अनर्हाः सर्वथावस्तुं तादृशाच्छादनानि च* ॥ 295 ॥ (वही)। *श्रीसुभाषचरितम्* (त्रिगुणानंद शुक्ल, 1996 ई.), *श्रीसुभाषचरितम्* (1963 ई., वि. के. छत्रे) तथा *श्रीगुरु गोविंदचरितम्* (1967 ई., सत्यव्रत शास्त्री) भी पठनीय है। आचार्य शंकर के व्यक्तित्व को लेकर रचित महाकाव्य *श्री शङ्कराचार्यचरितम्* (2003 ई., निगमबोध तीर्थ) भी उल्लेखनीय है।

महात्मा गाँधी को लेकर भी अनेक कविताएँ लिखी गई हैं। इनमें *महात्मा विजयः, गाँधीचरितशतककाव्यम्* (व्रजानंद), *गाँधीनिवार्णकाव्यम्* (शंभु शर्मा), *सत्याग्रह नीतिकाव्यम्* (सत्य देव वाशिष्ठ), *गाँधीशतश्लोकी* (गणपति चंद्र), *पञ्चवटी राष्ट्रसभापतिगौरवम्* (लक्ष्मी नारायण), (केशि राजु वेंकटनसिंह अप्पाराव) तथा सात खंडों में विरचित *महापुरुषसङ्कीर्तनम्* (धर्मदेव विद्यामार्तण्ड) भी महत्त्व के हैं। शिव गोविंद त्रिपाठी ने *गाँधीगौरवम्* में गाँधी जी को राष्ट्रीय तथा हिंदू-मुस्लिम एकता की संयोजक कड़ी माना है— *एको हि रामोऽथ मुहम्मदो वा/द्वावेव नित्यं हृदि संजपामः।* उसी प्रकार *गाँधीगाथा* (मधुकर शास्त्री) भी महत्त्व की है। वटुकनाथ शास्त्री खिस्ते ने भी अपनी *कवितास्तवक कल्लोलिनी* (1987 ई.) में तकरीबन एक सौ

छोटी-छोटी संस्कृत कविताओं में विविध को प्रस्तुत किया है। इसके *व्यक्तित्वतरङ्गा* में तिलक, महात्मा गाँधी तथा मालवीय जी को भी शब्दांजलि दी गई है। उन्होंने गाँधी के व्यक्तित्व को हिंदुस्तान का मस्तक माना है— *गाँधी भारत-भूमिभालतिलकः सोऽयं कथं वर्ण्यताम्,* ॥11॥ (*महात्मागाँधी,* पृ. 162)। महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व परक शताधिक कविताओं (संस्कृत एवं अनूदित) के आकलनार्थ *संस्कृत साहित्यमां महात्मा गाँधी* (प्रधान संपादक गौतम पटेल तथा संपादक हर्षदेव माधव) भी दुर्लभ सामग्री मानी जा सकती है। उसी प्रकार विनोबा भावे के भूदान यज्ञ से जुड़ी कहानी का अंकन *भूदानयज्ञगाथा* (गणपति शंकर शुक्ल) कविता भी पठनीय है। साथ-ही-साथ *राष्ट्रपतिराजेंद्रप्रशस्ति* (विष्णुकांत झा), *श्रीजवाहरवसंतसाम्राज्यम* (जयराम शास्त्री), *जवाहरचिंतम्* (श्री राम वेलणकर) भी ग़ौरतलब है। विख्यात दार्शनिक तथा भारत के पूर्व राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन अनुशसित संस्कृत पंडित श्री भि. वेलणकर की कवितावली *जवाहर-चिंतनम्* (1966 ई.) भी महत्त्व की कविता है। नेहरू जी के समाजवादी विचारधारा के विषय में कवि लिखता है— *समाजवादे स्वरूपभङ्गाः/अधस्तलचरी तात्त्विकगङ्गा/उपरि चञ्चला विभततरङ्गाः* ॥ *भागीरथी-दर्शन* (1998 ई., गोस्वामी बलभद्र प्रसाद शास्त्री) तथा *भाति मे भारतम्* (2003 ई., रमाकांत शुक्ल) भगत सिंह तथा सुभाषचंद्र बोस सदृश अनेक सपूतों की शहादत को नमन करती है। *लेनिनशतकम्, भारत* [illegible] (दोनों नागार्जुन) तथा *लेनिनामृतम्* (पद्म शास्त्री) सामाजिक चेतना तथा भारतीय जनमानस की मनोव्यथा को उजागृत करती है। शिवदत्त शर्मा ने भी आर्या छंद में रचित *चर्चामहाकाव्यम्* में गोस्वामी तुलसीदास, भारतेंदु हरिश्चंद्र, गोपीनाथ कविराज, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, मथुरानाथ भट्ट, देशरत्न राजेंद्र प्रसाद तथा वैज्ञानिक सी. वी. रमन के साथ युगपुरुष कालमार्क्स तथा नारी-शिक्षा का वर्णन प्रस्तुत किया है। पूर्व प्रधान मंत्री इंदिरा गाँधी के व्यक्तित्व को लेकर *प्रियदर्शनी-इंदिरा* (1984 ई., प्रबोध कुमार मिश्र) तथा *इंदिरा प्रियदर्शनी गीतिकाव्य* (संवत्, 2041 ई., दुलीचंद ज्योतिषा-चार्य) नामक रचनाएँ भी प्रकाश में आई हैं। *जवाहर-तरङ्गिणी* (1972 ई., एस. बी. वर्णेष्कर) कृति भी पूर्व प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के उदात्त चरित का बखान करती है। इसमें मूल का अंग्रेज़ी अनुवाद भी छपा है। इतना ही नहीं रमाकांत शुक्ल के हिसाब से भी पसीने से लथपथ भारतीय मज़दूरों तथा किसानों की कमरतोड़ मेहनत से भारतमाता का शरीरावयव चमत्कृत तथा हर्षातिरेक से प्रफुल्लित है— *कर्षकैः कार्मिकैः स्विन्नगात्रैर्युतं शरीरावयव*॥ (*भाति मे भारतम्,* 1998 ई.)। *शकटारकाव्यम्* (रेवा प्रसाद द्विवेदी) तथा *तैलावलिः प्लवमाना* (रामकरण शर्मा) क्रमशः नेल्सन मंडेला के कारा जीवन से लेकर उनके मुक्ति पर्यंत की घटना तथा खाड़ी युद्ध के दौरान समुद्र में फैले तेल के बलबूते पर की गई घातक राजनीति का हवाला प्रस्तुत करती है। परमाणु युद्ध की विभीषिका का अंकन श्रीनिवास रथ की कविता *शांतिवाचनम्* में भी पढ़ी जा सकती है। *प्रणम्याः कारगीलवीराः* (कारगिल विशेषांक, दूर्वा) भी बड़ा हृदयस्पर्शी है। कवि बनमाली विश्वाल की कविता *कारगिल संघर्षः* (1993 ई.) में भी हिंदुस्तान-पाकिस्तान के युद्ध में शहीद सिपाहियों की लाश को देखकर आसमान में गिद्धों का जमावड़ा वास्तव में मन को दहला देता है— *हिमेऽपि ज्वलंति चिताः/शहीदानामुभय देशस्य/धूमोपरि नभस्युड्डीयंते/गृध्राः इत स्ततः।* *कार्गिल विजय* (2003 ई. शशिनाथ झा) में भी पाकिस्तान की भर्त्सना की गई है। कवि भी मानता है कि बांग्ला देश के बनते ही पाकिस्तान कश्मीर पर अपना निशाना साधना शुरू कर दिया है— *काश्मीरं हि पृथक्कृत्य ग्रहीतुं प्रति वाञ्छन्ति* ॥ कपिल देव पांडेय तो

हिंदुस्तान की ज़मीन सूई की नोंक के बराबर भी दुश्मन के हाथों जाने देने को तैयार नहीं हैं— *सोढुं न शक्यो निजराष्ट्रभूमेः/ सूच्य-ग्रभागेऽपि पराधिकारः* ॥ (2003, *नमांसि कार्गिलाद्याहवेहुतात्मभ्यः*), *भारतमाता ब्रूते* (2003, हरिनारायण दीक्षित) कश्मीर की घाटी में गोली की ख़ौफ़नाक आवाज़ और असह्य ग़रीबी तथा उत्पीड़न का भी अंकन करती है— *शुभं न शंसन्ति भुशुण्डि शब्दाः । कश्मीर घाटीषु निशाम्यमानाः ।* *संसदभवनो पर्यातंकवादाक्रमण* (हरिश्चंद्र रेणापुरकर), *नरमेधः* (मधुसूदन पेन्ना), *विधेर्होमो निषधानले* (रेवा प्रसाद द्विवेदी) तथा *मित्र हेऽमेरिका* (इच्छाराम द्विवेदी प्रणव) में क्रमशः भारतीय संसद तथा अमेरिका के पेंटागन पर आतंकवादी घटना की भर्त्सना की गई है। अंतिम कविता आतंकवाद को फैलाने में अमेरिका को ही ज़िम्मेदार मानती है। आतंकवाद का मुँहतोड़ जवाब देने के लिए कपिल द्विवेदी ने शिव के तांडव रूप रुद्र स्वरूप की कल्पना की है— *आतंकवादस्य विनाशनाय/रुद्र-स्वरूपं वरणीयमेव* ॥ 10 ॥ (*गीतांजलि*; पृ. 55, 2004 ई.) *आतंकवादशतकम्* (1992 ई., भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी) भी आतंकवाद को फलने-फूलने में जितना पंजाब राज्य तथा पड़ोसी देश को ज़िम्मेदार माना है, उतना ही इस मुल्क की सरकारी व्यवस्था को भी— *कदाचित् प्रसन्नो विपन्नं प्रदेशे समायाति मूर्त्यघनाच्छाकामः* ॥ 1 ॥ दीपक घोष की कविता *राजनीतिलीलामृतम्* (1999 ई.) भी समसामयिक है।

संस्कृत भाषा की आधुनिक कविता पर भी अभिजात्यीय या दरबारी प्रभाव का आक्षेप नहीं लगाया जा सकता। *अवस्करहरणम्* (1951 ई., *पद्य पुष्पांजलि*, सुब्रह्मण्य अय्यर) में मल ढोने की प्रथा की निंदा की गई है— *प्रविभ्राणाश्शुद्धिं प्रतिपदमयी येमलारा/नमस्कार्या नित्यां भुवि नरकविद्रावणचणाः ।* उसी प्रकार उमाशंकर शर्मा की *कृषक* (*अस्पृश्यतांतर्निवेदितम्, षोडशी,* 1992 ई.) नामक कविता भी किसान समाज की त्रासदी का अंकन करती है। रामकरण शर्मा ने तो *हालिके वंदे* में ज़मींदारी व्यवस्था के हड़कंप को भूखे-प्यासे कमरतोड़ मेहनत में जुटे बैल पर छाए आतंक के माध्यम से प्रस्तुत किया है जिसमें ग्रामीण परिवेश के साथ उपमा की नूतनता तथा क्षेत्रीय बिंब में सामाजिक यथार्थ को उजागर किया गया है। हरिदत्त पालीवाल निर्भय ने भी नारी समाज की उपेक्षा तथा भूख से व्याकुल बच्चों की दशा पर घोर दुख जताया है— *कणहेतोः शिशवोऽतिदुःखिता परिवृत्ता जगतः स्थितिर्निहि* (*अमृतलता* 2.2)। *जनतालहरी, रोटिकालहरी, अद्यापिलहरी, मृत्तिकालहरी* तथा *धरित्रीदर्शनलहरी* (सभी राधावल्लभ त्रिपाठी) में विविध विद्रोहों के बिगुल सुने जा सकते हैं। *नगरे गृधा* (2000 ई.) में त्रिपाठी जी ने घोर आतंक, शोषण, अन्याय तथा विपदा का सूचक गिद्ध को प्रतीक बनाकर शहरी जीवन में व्याप्त लूट-खसोट तथा भाव शून्यता को इंगित किया है— *नगरे गृधाः संख्यातीता स्वैरमिमे आहिण्डंते/नगराद् बर्हिश्च गृधाः संति विषण्णाः श्मशाने ते।* यहाँ उत्तर उपनिवेशवादी विमर्श का लक्षण जीवन के समस्त वीभत्सता का अनासक्ति से मुआयना तथा उनका सामना करना भी देखा जा सकता है। उनकी कविता में एक आम गृहस्थ की रसोई या मज़दूरों की रोटियों की ख़ुशबू भी निकलती है। उनके हिसाब से रसोईघर में स्वामिनी अन्नब्रह्म को स्वीकार करती मानों अन्नपूर्णा देवी ही लगती हैं— *पलाण्डुच्छेदने निर्गतं नयनयोर्लावण्यमयं वाष्पजलम् सहैव चैव विच्छुरितं मधुरंमधुरं स्मितं तथोएठयोः अन्नब्रह्म साकारयन्ती॥* (*संपलव*, पृ. 65, 2000 ई.)। लब्ध प्रतिष्ठ कवि अभिराज राजेंद्र मिश्र भी इस बात को लेकर बड़े चिंतित हैं कि इस मुल्क के कुछ लोग राष्ट्र की मुख्यधारा के भटककर देशद्रोही प्रवृत्ति के हो गए हैं। ऐसी स्थिति में सिंधु नदी का ख़ून की दरिया में तब्दील होना लाज़मी है— *केन सप्त*

सर्वं रक्तरञ्जितं कृतम्। (भारतीय कविता में राष्ट्रीय चेतना 2000 ई.)। मिश्र जी ने ठीक ही लिखा है कि आज की मानवता धर्म, जाति तथा [illegible] आदि के नाम पर बँट गई है तथा विघटनकारी ताकत ने इन मुद्दों को अपना हथकंडा बना लिया है। पढ़ा-लिखा समाज आज नेताओं के हाथों हो गया है तथा राष्ट्रीय पक्षी मोर के महत्त्व को कुत्ते ने हथिया लिया है— *मनुजेषु महार्घो जननेता/ संप्रति कुक्कुरः पशुश्रेष्ठः॥* (*नमोनमः*)। इससे बढ़कर और क्या दुख की बात हो सकती है कि हिंदुस्तान रूपी बग़ीचे की हर शाख़ पर उल्लुओं का ही जमघट है— *उद्याने यस्मिन् सांद्रतेरो/ प्रतिशाखामुभूको वलगंते* ॥ (वही)। मिश्र जी ने *वसंतसेना* नाम की लंबी कविता में राम, कृष्ण, शिशुपाल तथा रावण के द्वारा नारी समाज के प्रति की गई चूकों का भी अंकन किया है। इनका यह कथन उत्तर उपनिवेशवादी नारीवादी चिंतन के आसपास माना जा सकता है। राधावल्लभ त्रिपाठी को भी जगद्गुरु शंकराचार्य द्वारा सतीप्रथा का समर्थन किया जाना थोड़ा भी रास नहीं आता है। वैधव्य के भार से बोझिल नारी जीवन को लेकर भी कवि तल्ख़ी से आवाज़ उठाता नज़र आता है— *इति समर्थयते खलु येन सा व्रजतु शास्त्रमिदं तु रसातलम्* ॥ यद्यपि शंकरदेव अवतरे ने अपनी कवितास्तवक *नारी गीतम्* (1985 ई.) में समग्र रूप से नारी को ही विषय वस्तु बनाया है। लेकिन इसमें विलास/शृंगार की छटा ही अधिक है जिससे इसे अधिक यथार्थवादी/अद्यतन सोच का नहीं माना जा सकता है। आज के संस्कृत कवियों का भी ध्यान दलित साहित्य की ओर गया है। लेकिन इस दिशा में अभी और बहुत अधिक लिखने की ज़रूरत है। *दलितोदयः* (1996 ई., हीरालाल शुक्ल) नामक कविता स्तवक भी इस दिशा में एक अच्छा प्रयास माना जा सकता है जिसकी कथा वस्तु दलित गुरु घासी दास के व्यक्तित्व पर आधारित है। कवि लिखता है कि उनका व्यक्तित्व इतना आकर्षक तथा लोकप्रिय था कि इनका गीत घर-घर में लोकप्रिय था— *गृहे गृहे वाऽपि मुखे मुखे वा/सन्नामपांथस्य च गीतानि/पांशीति गीति-प्रथितानि लोके/पूर्वं जगौ सोऽमरदासदेवः॥* *स्मृति-तरङ्गम्* (मधुकर गोविंद माईणकर) तथा *ध्वस्त कुसुमम्* (स्वामिनाथन) शोकपरक कविता भी ध्यातव्य है। सुकवि वेंपटि कुटुंबशास्त्री की अप्रकाशित रचना *कुंती* (कवि सम्मेलन, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, 2004 ई.) भी कुंती व्यथा का बड़ा यथार्थ शब्दांकन प्रस्तुत करती है। नारी व्यथा विषयक ये दोनों कविताएँ पाश्चात्य शैली की कविता रेखा चित्र मानी जा सकती है। हर्षदेव माधव ने भी ऐसी अनेक रेखा चित्र कविताएँ लिखी हैं। लेकिन यह भी याद रहे कि मिश्र जी आज के तथाकथित नारी आंदोलन पर कटाक्ष करने में भी कहीं कोई कोताही नहीं की है। मज़े की बात है कि पत्नी के महिला आंदोलन में जुटे रहने के कारण उनके पति को रसोईघर में ओवरटाईम भी करना पड़ता है— *पतयः पचंति किल महानसे/पत्न्यश्च समाजोद्धारता* ॥ 6 ॥ लेकिन *अपराजितवधू* (2000 ई., पूर्णचंद शास्त्री) एक ऐसी ज्वलंत नारी समस्या को उठाती है जिसमें पति अपनी पत्नी और बच्चे को निःसहाय छोड़कर किसी और औरत के साथ अपनी दुनिया बसा लेता है।

हर्षदेव माधव की रचना व्यवस्था की मरम्मत से अधिक उसके आमूल परिवर्तन में विश्वास करती है। यही कारण है कि उनकी कविताओं में भी राधावल्लभ त्रिपाठी की तरह ही विद्रोह के बड़े मारक स्वर सुने जा सकते हैं— *जयते गगने नूतनः सूर्यः, विनाशाद् रच्यते वसंतसौंदर्यम्/ ध्वंसावशेषाद् आनीयते जीवनस्पंदनम्/शुन्यात् सृज्यते नवं मानचित्रम्* (*मनसो नैमिषारण्यम्,* 2003 ई.)।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की कविता *कथमहं नास्तिकः, कान्यकुब्जलीलामृतम्* तथा *सूर्यग्रहण* भी सामाजिक विषमता, जातिवाद,

छद्म धार्मिकता तथा नारी समस्याओं को प्रस्तुत करती हैं। कान्यकुब्ज समाज की दहेज़ लोलुपता की पराकाष्ठा महाप्राण निराला की हिंदी कविता *सरोज स्मृति* में बड़े साफ़ शब्दों में पढ़ा जा सकता है। *जामाता दशमोग्रह* (2000 ई., प्रफुल्ल कुमार मिश्र) में घर में आए दामाद से उत्पन्न विपन्न पारिवारिक स्थिति का अंकन है— *श्वसुरस्य कोषः शून्यः/श्वश्रु क्लांता महानसे/ श्यालिश्यालौ सेवाक्लांतौ/जामाता दशमो ग्रहः* ॥ 2 ॥ श्री एस. सुंदरराजन को भी इसका बड़ा दुख है कि दहेज़ प्रथा के कारण आज औरत अग्नि वेदी पर चढ़ा दी जाती है— *निषिच्य तैलमनिना तमाशु निर्दय दह ॥ (संस्कृत मंजरी,* अक्तूबर 1993 मार्च, 1994)। खेतिहर समाज के दुख-दर्द तथा नाना पीड़ाओं का मुआयना *तपस्विकृषीवलम्* (2000, हरिहर शर्मा आर्य) में बड़ा सजीव लगता है। इसमें आंचलिकता तथा जन संस्कृति भी झलकती है। ग़ौरतलब है कि आज की संस्कृत कविताएँ श्रम महत्त्व पर भी लिखी जा रही हैं। इस मायने में *श्रमप्रशंसा* (1951 ई., *पद्यपुष्पांजलि,* सुब्रह्मण्य अय्यर) *तथा श्रमशीकर प्रतानैः* (2003, कपिल देव पांडेय) भी पठनीय है जो उत्तर आधुनिकतावादी शब्दार्थ के मायने में महत्त्व की लगती है। *वैलेंटाइन डे संदेश* जैसे नए बिंब को संस्कृत कविता में बड़े सजीव रूप से उतारने वाले कवि बनमाली विश्वाल ने भी *बालश्रमिकः* (1999 ई.) में बाल समस्या को उठाया है जिस मायने में संस्कृत कविता अभी थोड़ी पीछे लगती है— *बालश्रमिकार्थं वत/अद्यापि सुरक्षितं/मुष्ट्याघातं स्वार्थान्धस्य निर्ममस्य निर्दयस्वामिनः । समाजेऽस्मिन्*। त्रिपाठी भास्कराचार्य ने *रिंगो हाइको* पाश्चात्य शैली में जो प्राकृतिक सुषमा का चित्रण किया है वह भी पढ़ते ही बनता है— *अत्रत्याः पक्षिणः शिलीमुखनिकरा मृगाश्चरंतः । पृष्टाः संतः क्षणं न किञ्चन जगदुः स्थिताः हसंतः* 3/ 9। *(साकेतसौरभम्)।*

पूर्व सावरकर चरितम् (2004 ई., कुँवर नरेंद्र प्रताप सिंह) में स्वातंत्र्य वीर दामोदर विनायक सावरकर के व्यक्तित्व का रेखांकन किया गया है। कवि मानता है कि सावरकर जब इंग्लैंड प्रवास में थे तो उन्हें हिंदुस्तान के उद्यानों के फूलों की सुगंध, आम के पेड़ों के फलदायी स्नेहिल छाया तथा खिलखिलाते गुलाब के फूलों की ख़ुशबू का ख़ूब अहसास होता था। इसमें आंचलिकता/क्षेत्रीयता भी झलकती है– *उपवन–सुमन–सुगंधम्/सहकाराणाञ्च वत्सलां छायाम्/सम्फुल्लंस्थल–पदमम्/तत्रत्यंतत् स्मराम्य खिलम्* ॥ 55 ॥ (वही)। उसी प्रकार श्री सुंदरराजन ने अपनी अन्योक्ति काव्य *अन्यापदेशकाव्यानि* (2003 ई.) में पशु–पक्षियों के मार्फ़त अनेक सामाजिक तथा राजनीतिक कटाक्षों/व्यंगों को प्रस्तुत किया है। कवि लिखता है कि वसंत ऋतु में आम के पेड़ पर नव पल्लवों के आनंद के लिए कोयल उन्हें घेर लेती हैं, उसकी मंजरियों पर भौंरे भी मँडराते रहते हैं, चीटियों का काफ़िला भी उन्हें आलंगित कर लेता है। इतना ही नहीं लोग उसके नन्हे से फल (टिकोरों) को तोड़ने के लिए पत्थर के टुकड़े भी मारते रहते हैं और उस वसंत के जाते ही आम्रवृक्ष का जीवन फिर से एकाकी हो जाता है—*आम्र त्वं नवपल्लवं स्वदितृभिः तामं पिकैर्वारितः/क्लिष्टं त्वामुपजीविनो विदधते कष्टं वसंतागमे* ॥ 6 ॥ (वही)। इतना ही नहीं मेहनक़श कृषक समाज द्वारा रात-दिनकर पेड़–पौधों का लगाया जाना फिर भी उनके हरे–भरे शाखाओं/पंखुड़ियों पर फल–फूल का न आना भी कवि को बड़ा दुख पहुँचता है— *वर्षाद्विर्षमनेकमागतगतं दृष्टं न पुष्पं फलम्* ॥ 27 ॥ (वही)। वन लताओं की विडंबना ही है जो सूखे पेड़ पर ही अपने अस्तित्व के रक्षार्थ आधृत हैं जबकि वहाँ अनेक हरे–भरे पेड़ भी हैं। वस्तुतः कवि की इस भावना में नारी समाज की मारक दहेज़ प्रथा तथा सामाजिक विवशता भी झलकती है।

हर्षदेव माधव द्वारा किसानों के रात-दिन मेहनत तथा उस परिश्रम के अवयवों के ताने-बाने का उनके शरीर अंगों में रूपायित किया जाना भी संस्कृत कविता की पारंपरिक लीक से हटकर एक नया प्रयोग लगता है— *कृषीवलः/पुरुषार्थो हलेन युञ्जते/प्रारब्धं बीजेन सह वपति/हृदयं जलेन सिञ्चति/दुःखानि कृतृणैः सह कृंतति/ आस्येन सह स्वप्नान् प्ररोहयति/तस्य नतस्कंध-योंस्ति/देशस्य श्वस्तनसूर्योदयः* (*निष्क्रांताः सर्वे,* 1997 ई., कृषीवलः, पृ. 130)। जनमानस का अस्पताल में फटेहाली की स्थिति का वर्णन संस्कृत कविता की ओर लोकोन्मुखी बनाता है साथ-ही-साथ समसामयिक भी *पुरतोयमोऽस्ति/ पश्चादस्ति दूर्भाग्यम् / दक्षिणपार्श्वे दौर्बल्यं/ वामपार्श्वे दीनता / उपरि गगनस्य विविक्तं/ नीचैर्मार्गाभावः / परितोऽस्ति चिकित्सकानां धनलोभः* (वही, *रुग्णालयः,* पृ. 152)

संस्कृत कविता में नए बिंब/विषय के कवि हर्षदेव माधव ने भी *जापानी हाइकु स्टाइल* में संस्कृत की छोटी-छोटी कविताओं के ज़रिए समाज में व्याप्त बड़ी-बड़ी दुर्व्यवस्थाओं का अंकन किया है। मिसाल के तौर पर देश में व्याप्त कामचोरी व्यवस्था के विषय में ही लिया जाए—*आसंदी रिक्ता कार्यालये/शरीरं रूग्णं राष्ट्रस्य* ॥313॥ (2000 ई., *ऋषेः क्षुब्धे चेतसि*)। सत्यव्रत शास्त्री, रसिक बिहारी, रेवा प्रसाद द्विवेदी, जोशी तथा कृष्ण लाल सदृश अनेक कवियों ने भी उत्कृष्ट रचनाएँ लिखी हैं। जगन्नाथ पाठक जी का संस्कृत ग़ज़ल संग्रह *कापिशायिनि* जैसी कालजयी रचना के विषय में क्या कहना ? बच्चू लाल अवस्थी का ओजस्वी कविता-संग्रह *प्रतानिनि* (1996, संपादक, अभिराज राजेंद्र मिश्र) भी अनुपम है। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री की चर्चा के बिना संस्कृत की आधुनिक कविता अधूरी-सी लगती है। दार्शनिक अंदाज़ की छोटी-छोटी कविताओं का संग्रह *नीरवझरः* (1999 ई., रवींद्र कुमार पंडा) भी पठनीय है। प्रशस्यमित्र शास्त्री का कविता-संग्रह *नर्मदा* (1997 ई.) तल्ख़ी सटायरों का गुच्छ है जिसका विषय वस्तु जितना नवीन है उतना ही प्रासंगिक भी लगता है। कवि इक्कीसवीं सदी की कुरूपता, सामाजिक भेदभाव तथा ग़रीबों की दुर्दशा के विषय में लिखा है—*श्वानो गच्छति कारयाने/मार्जारः पर्यङ्के शेते/किंतु निर्धनो मानवबालः/बुभुक्षितो रोदनं विधत्ते।* (*एकविंशी शताब्दी समायाति,* पृ. 103)। *परिहास-शतकम्* (1992 ई., प्रयागदत्तः चतुर्वेदी) में भी अनेक उपहासों का चित्रण है। लेकिन यह चुटकुलानुमा कुछ अधिक होने के कारण इसमें थोड़ा तल्ख़ी भाव कुछ ख़ास नहीं बन पड़ा है। *दोषशतकम्* (1993 ई., भुवनेश्वर कर) में समसामयिक अनेक व्यवस्थापरक दोषों का वर्णन है। शिक्षा जगत में फैले भ्रष्टाचार के विषय में कवि लिखता है—*शिक्षा विभाग-परिदर्शकमंडलानां/कार्यालयेषु बत कर्मकराः कियंतः/कार्यं यथासमयमैव न संविधाय नीतिच्युता गुरुगणां परितापयंति* ॥ 31 ॥

त्रिपाठी भास्कराचार्य का कविता-संग्रह *अजाशती* (2002 ई.) कहने को तो वन्य जीव-जंतुओं की कथाओं का ताना-बाना मात्र लगता है। लेकिन संस्कृत कविता के बिंब में इन जीवों के हाव-भाव तथा मनोविज्ञान का विश्लेषण जहाँ संस्कृत भाषा के अभिजात्यीय प्रभाव को पीछे छोड़ता नज़र आता है वहीं प्रतीकों की दार्शनिकता में जीवन-दर्शन के अनेक आरबिट्री लेकिन सार्थक अर्थ भी जड़ित हैं। पूरी कविताओं का केंद्र बिंदु बेचारी एक लँगड़ी बकरी है जो जंगल में शाम के वक़्त अपने काफ़िले से भटक जाती है। जंगल के सभी मांसाहारी जानवरों की निगाहें उस पर ही टिकी हैं। लेकिन शेर द्वारा उसकी प्राण रक्षा का आश्वासन सुनकर सभी जानवर उसके सामने भीगी बिल्ली की तरह दुम हिलाते हैं और अंततः शेर के आदेश से वह बकरी हाथी की पीठ पर चढ़कर खाते-पीते बाइज़्ज़त अपने घर पहुँचवा दी जाती है—*हरेः शिरोधार्यवचांसि*

सादरं/निशम्य तां सङ्कटकात-रामजाम्/कराग्रनिः श्रेणिबलान्निजोपरि द्विपः/समारोप्य ययौ शनैःशनैः इसका हिंदी अनुवाद भी ललित तथा सरल माना जा सकता है— *राजाज्ञा सुनकर हाथी ने/सीढ़ी सी मृदुल सूँड़ कर ली/दुखिया को ऊपर बिठा लिया/फिर हौले पकड़ी गाँव की गली* कवि ने बाल साहित्य के बहाने सामाजिक/राजनीतिक/निजी जीवन में मचे छीना-झपटी को तो इसमें दर्शाया ही है साथ-ही-साथ मुल्क के शासक के नैतिक/राजनैतिक दायित्वों तथा नारीवादी चिंतनों पर भी प्रकाश डाला है। इसमें समाज के नारी समुदाय या कमज़ोर वर्ग के ख़िलाफ़ हब्शी/घोर अत्याचारी व्यवहार भी झलकता है। इनकी प्रसादिक संस्कृत शैली पर हिंदी मुहावरों का प्रभाव देखा जा सकता है। मिसाल के तौर पर— *निधाय पाणौ निजदेह-जीवितो* (फिर भी प्राण हथेली पर), *झटित्य-सावप्यपलायतोच्छलन्* (तो वह भी हुआ रफ़ू चक्कर) तथा *प्रमोदिताच्छागलिका व्यचिन्तयद्* (मन में फूटते बताशों से) आदि देखा जा सकता है।

कई भारतीय तथा पाश्चात्य भाषाओं की कविताओं का भी संस्कृत में तर्जुमा गया है। इनमें *अस्ताचलीयम्* (1991 ई., गोविंद चंद्र पांडेय) बहुचर्चित इसलिए भी माना जा सकता है क्योंकि इसमें बारह विदेशी कवियों की सत्तावन कविताएँ छपीं हैं। इनमें मिल्टन, ब्लैक, कीट्स, शेली तथा वर्ड्सवर्थ आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। दीपक घोष ने भी *संस्कृत-कवींद्ररवींद्रसङ्गीतम्* में रवींद्रनाथ की कविताओं का संस्कृत अनुवाद किया है। एल. ओ. दोशी तथा हरिहर त्रिवेदी ने भी *आङ्ग्लरोमाञ्चम्* अनुवाद है। *विद्यापतिशतकम्* (काशीनाथ मिश्र) में भी विद्यापति के सौ पदों का बड़ा ही ललित पद्यानुवाद है। कई समसामयिक संस्कृत पत्रिकाएँ अनूदित संस्कृत साहित्य को समय-समय पर पाठक तक पहुँचाती रही हैं। *संस्कृतमंजरी* में रामप्रसन्न भट्टाचार्य अनूदित रवींद्रनाथ टैगोर की कविताओं को *श्रीरवींद्र-काव्यकुसुमाञ्जलि* नामक विशेषांक के नाम से प्रकाशित करवाया। जशवंती दवे ने भी छोटी-छोटी गुजराती कविताओं का संस्कृत अनुवाद *सेतुबंधः-2* (2004 ई.) में किया है। इनमें हरींद्र दवे की गुजराती कविता का संस्कृत अनुवाद गाँधी जी के जन्म दिवस के विषय में पढ़ते ही बनता है। *अद्य गान्धिमहात्मनः जन्मदिवसः/अवकाश-दिवसः श्च/कियत् शीघ्रं व्यतीतः दिवसः/यथा गान्धिमहात्मनः जीवनम्।* (पृ. 79)। पिछले साल ही भारतीय भाषाओं की माइटोकोंड्रिया साहित्य अकादेमी द्वारा *शृङ्गार-पद्यावलिः* (2003 ई.) नामक एक बहुत ही श्लाघ्य संस्कृत अनुवाद प्रकाशित हुआ है। इसके अनुवादक ए. भी. सुब्रह्मण्यम् ने तमिल भाषा (*कुरुनटोकैय*) की दो सौ शृंगारिक कविताओं का संस्कृत अनुवाद कर इनका अंग्रेज़ी तर्जुमा भी किया है। संस्कृत भाषा में इन कविताओं का भावार्थ भी पठनीय है। वस्तुतः इसे एक बहुआयामी संस्करण भी माना जा सकता है।

गीतांजलि (रवींद्रनाथ टैगोर) का संस्कृतानुवाद एन. गोपाल पिल्लै, कामिनी कुमार अधिकारी तथा पुल्लेल श्री रामचंद्र ने भी क्रमशः 1969 ई., 1961 (खृष्टाब्द) तथा 1962 ई. में किया है। इनमें दूसरे अनुवाद में *गीतांजलि* का देवनागरी अक्षर भी छपा है। पं. मोतीलाल पुष्कर ने भी शायर इक़बाल की शायरी का *इक़बाल काव्य दर्शनम्* (1984 ई.) के नाम से अच्छा तर्जुमा प्रस्तुत किया है। मिसाल के तौर पर *सारे जहाँ से अच्छा/हिंदोस्तां हमारा/हम बुलबुले हैं इसकी/यह गुलिस्तां हमारा* का संस्कृत अनुवाद— *देशः/शुक-जगतीतले विशिष्टो/हिंदोस्तान— सारिकाः वय च/ह्युद्यानमस्ति स नः* पढ़ा जा सकता है। षरड्डी मल्लिकार्जुन ने भी कबीर के सौ दोहों का बड़ा ही ललित संस्कृत पद्यानुवाद *सटीक कबीरदासशतकम्* (1988 ई.) नाम से

किया है। कबीर की पंक्ति— *जाति न पूछो साध की/पूछ लीजिए ज्ञान / मोल करो तलवार का / पड़ा रहन दो म्यान* का संस्कृत अनुवाद— *प्रष्टव्या साधु जातिर्न/पृच्छेज्ज्ञानं महात्मनः/खड्गस्य क्रयणं कार्य/कोशोपेक्षां हि कुर्वता* मिसाल के तौर पर पढ़ा जा सकता है। अनुवादक के द्वारा यत्र-तत्र संस्कृत साहित्य से जुड़ी प्रस्तुत दोहा-परक टीका-टिप्पणी भी बड़ी ज्ञानवर्धक लगती है। उमाशंकर शर्मा ने भी कबीर की साखियों का *कबीर साखी* (1981 ई.) के नाम से मूल के साथ संस्कृत अनुवाद किया है। आर. श्रीहरि ने भी तेलुगु रचना *फ़िरदौसी* (2000 ई., पद्यभूषण गुराम जोसउआ) का चार सर्गों में बड़ा ही अच्छा संस्कृत अनुवाद किया है। उसी प्रकार प्रेम नारायण तथा श्री रंगाधर षड़ंगी ने भी क्रमशः तुलसीदास की अवधी रचना *कवितावली* (2000 ई.) तथा *सुंदरकांडम्* (2002 ई.) का मनभावन संस्कृत अनुवाद किया है। मावेलिक्करा अच्युतन् ने भी मलयालम से संस्कृत भाषा में *उज्जयिनी* (2004 ई.) नाम से तर्जुमा किया है। रीतिकालीन लब्धप्रतिष्ठ कवि बिहारी की ब्रज भाषा में लिखित *सतसई* का भूदेव शर्मा दीक्षित ने *आनंद-कंद काव्यम्* (2003 ई.) के नाम से अनुवाद किया है। इसमें मद्यपान वर्णन का संस्कृत पद्यानुवाद भी ललित तथा हृदयग्राही है— *रूपे सुधासवे पीते मद्यपाने स्पृहैव न/चष न मोष्ठ-योर्लग्नं नेत्रे प्रियानेव* ॥479॥ (वही)

राधावल्लभ त्रिपाठी ने भी राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त की चर्चित हिंदी रचना पंचवटी का संस्कृत काव्यानुवाद (1998 ई.) किया है।

ग़ालिब की कृति *दीवाने ग़ालिब* का जगन्नाथ पाठक ने बड़ी बारीकी तथा सहजता से *ग़ालिब-काव्यम्* के नाम से संस्कृत पद्यानुवाद किया है। इसमें इहलौकिक मनुष्य/समाज/राजनीति/आपसी दाँवपेंच/व्यवस्थाओं के नाना विकृत आयामों के प्रति आक्रोश/चिंता/अफ़सोस के भाव अभिव्यक्त किए गए हैं— *राज्ञो घट्टं विलपति, शांतिवनं वर्तते विषीददिव। शक्तिस्थलमनुताम्यति दर्श दर्श निज देशम्।*

संस्कृत वाङ्गमय में ऐसी अनेक ओजस्विनी कवयित्रियाँ हैं जिनकी रचनाएँ समय के गर्त में कवलित हो गई हैं। इसके पीछे समाज का पितृसत्तात्मक होना या कई और भी कारण हो सकते हैं। लेकिन इन लेखिकाओं की ऊर्जस्विता इससे भी झलकती है कि इनकी कृतियों का श्लोकांश या नाम संस्कृत दिग्गजों द्वारा अपने काव्य/समीक्षा प्रसंगों में उद्धृत किए गए हैं। इनमें सुभद्रा, मारूला, शीला, भट्टारिका, विज्जिका, इंदुलेखा, फल्गुहस्तिनी तथा विकटनितंबा आदि के नाम भी महत्त्व के लगते हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश आज की समीक्षा क्षितिज पर इनका नाम धुँधला-सा गया है या गुमनाम है। वेदों में भी उषस तथा अदिति सदृश देवी सूचक नाम हाशिए पर ही हैं। जबकि संस्कृत कवयित्रियों की अजस्र धारा भी संस्कृत भाषा को प्राचीनतम से आधुनिकतम कड़ी तक सशक्त रूप से जोड़ती है। उत्तर आधुनिकतावादी नारीवादी सोच के ज़रिए ही सही लेकिन इस अनालोचित पक्ष को उजागृत करने की नितांत आवश्यकता है। अन्यथा पाठक समाज संस्कृत कविता से तक़रीबन आधी पीढ़ी से अनभिज्ञ हो जाएगा।

Gurukul Kangri University Library Haridwar-249404

आचार्य मम्मट ने शब्द विचार की चर्चा में विज्जिका (दूसरा नाम कार्णाटी विजया) के श्लोक को प्रस्तुत किया है। *सुभाषितावली* (वल्लभदेव) में सुभद्रा के एक श्लोक का उल्लेख है। राजशेखर ने भी इसकी बड़ी प्रशंसा की है। इसी पुस्तक में फल्गुहस्तिनी के दो तथा मोरिका के चार पद्यों को भी संकलित किया गया है। धनददेव ने मरूला का उल्लेख सुशीला, विज्जा तथा मोरिका कवयित्रियों के साथ किया है।

अमर सिंह (उदयपुर का राजा) की पत्नी देवकुमारिका ने *वैद्यनाथ-प्रसाद-प्रशस्ति* काव्य लिखा। यह काव्य साहित्य तथा इतिहास के बीच एक मज़बूत कड़ी लगता है। मधुरवाणी

तंजौर नरेश रघुनाथ के राज्याश्रय में सुशोभित थीं। इन्होंने रामकथा के आधार पर काव्य लिखा है। लेकिन दुर्भाग्यवश इसके मात्र पंद्रह सौ पद्य ही प्राप्त होते हैं। इनके ही समकालीन रामभद्रांबा ने *रघुनाथाभ्युदय* नामक काव्य में तंजौर के राजा रघुनाथ के चरित का बखान किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह भी बड़े ही महत्त्व की कृति है।

तिरूमलांबा (विजय नगर) की कृति *वरदांबिकापरिणयचंपू* राजा अच्युतदेव तथा रानी वरदांबिका के परिणय प्रसंग को गूँथती है। प्रस्तुत रचना विजय नगर साम्राज्य का सांस्कृतिक तथा राजनैतिक इतिहास का एक अच्छा दस्तावेज़ माना जा सकता है। गंगादेवी (14वीं शताब्दी) ने भी *मधुराविजयम* (दूसरा नाम *वीरकंपरायचरितम्*) में विजय नगर के पराक्रमी शासक वुक्का के ऐश्वर्य तथा पराक्रम को आबद्ध किया है। इनमें पदों की कमनीयता की वजह से संगीतात्मकता भी सुनी जा सकती है। आज के साहित्य समाज में भी जो *प्लेगेरिज़्म* की समस्या है। इसके विषय में कवयित्री गंगादेवी कई सौ साल पहले पर्दाफ़ाश करती लिखती हैं कि रचनाओं की चोरी कर लेखक बहुत दिनों तक ज़िंदा नहीं रह सकता— *चौर्यार्जितेन काव्येन कियद्दीव्यति दुर्जनः/आहार्यरागो न चिरं रुचिरः कृत्रिमोपलः।* हमें यह भी याद रहे कि *वैदिक काल* में मैत्रेयी, गार्गी तथा लोपामुद्रा सदृश अनेक विदूषियों का भी पदार्पण हुआ जिन्होंने वैदिक ॠषियों के साथ सार्थक शास्त्रार्थ भी किया था।

संस्कृत भाषा के आधुनिक युग की कवयित्रियों में पंडिता क्षमाराव, नलिनी शुक्ला, पुष्पा दीक्षित, उमा देशपांडे, वेदकुमारी घई, मृदुला शर्मा, सावित्री देवी शर्मा, मिथिलेश कुमारी तथा प्रवेश सक्सेना आदि के नाम भी चर्चा के लायक़ लगते हैं।

क्षमाराव ने अनेक काव्यों का सृजन किया जिनमें गाँधी जी के व्यक्तित्व को लेकर रचित *सत्याग्रहगीता, उत्तरसत्याग्रहगीता* तथा *उत्तरजयसत्याग्रहगीता* बहुचर्चित हैं। पुष्पा दीक्षित के कविता-संग्रह *अग्निशिखा* की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं— *इयमग्निशिखा ज्वलिता सहसैव कथंऽहृदये/निशितैस्तव दृष्टिशरैः सकलं शकली क्रियते।* वेदकुमारी घई ने *गांधिवर्यस्य स्वप्नस्तु पूर्णो भवेत* (*संस्कृत मञ्जरी*, अक्तूबर 1993 मार्च 1994) कविता में हिंदुस्तान में व्याप्त भाषिक, धार्मिक तथा अन्य समसामयिक सवालों को उठाया है। वास्तव में आज मंदिरों और मस्जिदों में धर्म के नाम पर नंगा नाच हो रहा है— *धर्म स्थानेषु हिंसाग्नि दर्ह्यते शस्यश्यामला रक्त रंञ्जिताः।* मेहनतक़श मज़दूर किसान को दो जून की रोटी तक नहीं मिल पाती है। लड़कियाँ अपनी बुनियादी शिक्षा से वंचित हैं, महिलाएँ ठीक इलाज के अभाव में समय से पहले ही अपना दम तोड़ देती हैं। ग़रीबों को भी उचित दवा और रहने का ठौर-ठिकाना नहीं मिलता— *कृषक शिशुभिरूदरपूर्तिः प्राप्त च चेत्/श्रमिक बाला यदि शिक्षया वंचिता/जीर्ण-शीर्ण कुटीरे हि यदि रोगिणी/ग्राम्यवनिता चिकित्साविरहिता मृता* (वही)। यहाँ उत्तर आधुनिकतावादी नारीवादी भावना भी झलकती है। मृदुला शर्मा इस तथ्य की जमकर वकालत करती हैं कि हिंदुस्तान की माटी में पला-बढ़ा प्रत्येक आदमी भारतमाता की ही संतान है। किसी प्रकार का ख़ून-ख़राबा हिंदुस्तानी आवाम के साथ ही ख़ून ख़राबा है— *नो हिंदूरक्तमस्ति नो रक्त हि यावनम्/त्वं बुध्यसे कथन्न मानवीयमस्ति तत्॥* (*कस्य रक्तमेदमस्ति, संस्कृत मञ्जरी*, अक्तूबर 1993 मार्च 1994)। सावित्री देवी शर्मा ने भी *राजते भारतम्* (वही) में भारतीय संस्कृति के समन्वित स्वरूप का भावांकन किया है। *जयतु जयतु मम भारतदेश* (वही, मिथिलेश कुमारी) में भारतीय तिरंगे को हमेशा लहराते रहने की कामना की गई है। *अर्चनम्* (वही, उमा देशपांडे) भी अच्छी कविता है। प्रवेश सक्सेना की कविता कविता स्तवक है। प्रवेश सक्सेना की कविता *स्वतंत्रतासेनानिनं श्रीनंद वंदे वीरं मुक्तिनायकम्*

निगमम् (2003 ई.) भी चर्चा के लायक़ ती है। शहरी जीवन की छीना-झपटी तथा जीवन का नैराश्य इनकी अन्य कविता में पढ़ी सकती है—*संबंधाः निर्बंधाश्च भूताः मुख्य-बंधनम्/वहति नास्मिन् प्रस्तर-नगरे प्रेम्णः सुरं निझरम्॥* (*महतीयं विडंबना, राष्ट्रदेवता,* 112, 2001 ई.)

संस्कृत कविता की सुदीर्घ वैदिक वाङ्मय की धड़कनों को आज के प्रसंग में भी अनुप्राणित करने की बड़ी ज़रूरत है क्योंकि अमेरिका से निकलनेवाली लब्धप्रतिष्ठ पत्रिकाएँ *ग्राँटा* और कर जिन्होंने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अपने स्वर्ण जयंती विशेषांक के माध्यम से यह मिथक फैलाने का प्रयास किया है कि आज के भारतीय साहित्य में सआदत हसन मंटो सदृश इक्के-दुक्के साहित्यकारों की रचनाओं को यदि छोड़ दिया जाए तो हम पाते हैं कि आज के हिंदुस्तानी अदब में कोई भी राष्ट्रीय स्तर की रचना नहीं है। यदि हम समय के साथ सजग न हुए तो कुछ समय के बाद उनका यही मिथक ही ठीक लगने लगेगा। *ग्लोबलाइजेशन* की आड़ में जो पाश्चात्य सांस्कृतिक तथा आर्थिक आक्रमण की तैयारी चल रही है, उसके ख़िलाफ़ भी भारतीय साहित्य को एक जुट होना होगा क्योंकि भाषाशास्त्री एंड्र्यू डेली ने अपने हाल में छपी किताब *लौंग्येज इन डेंजर* में साफ़ लिखा है कि 'अपनी भाषा को बचाना इसलिए अनिवार्य है, क्योंकि दूसरी भाषाओं में हम कितने ही निष्णात हो जाएँ, वे हमारी सभ्यता और संस्कृति की रक्षा नहीं कर सकतीं। स्वयं की मौलिकता को बनाए रखना है तो आपको अपनी भाषा सीखनी और पढ़नी होगी।' उत्तर आधुनिकतावादी का सिद्धांत शब्द और अर्थ के कोई निश्चयात्मक पहलू पर कोई ख़ास पहल करता नहीं दिखता है। इससे चिंतन के वातायन के आयामों तथा नैन्तर्य में ज़रूर थोड़ा इज़ाफ़ा हुआ है। लेकिन भाषा का जो सांस्कृतिक महत्त्व है उसके हिसाब से शब्दार्थ संधान की भी आवश्यकता है। यह अदना-सा आलेख संस्कृत भाषा की आधुनिक कविता तथा उत्तर *आधुनिकतावादी* रिश्तों के तफ़्तीश की दिशा में एक छोटी-सी पहल है। वाक़ई में प्रस्तुत आलेख का मक़सद संस्कृत अदब के कुछ आधुनिक तरानों के ताने-बाने की तहक़ीक़ात करना है ताकि इस भाषा तथा साहित्य की रचनाधर्मिता तथा ओझल होते इसके अस्तित्व के मिथक/चुनौती का माक़ूल जवाब भी थोड़ा खोजा जा सके। लेकिन यहाँ यह भी साफ़ कर देना जायज़ होगा कि प्रस्तुत लेख संस्कृत भाषा की आधुनिक कविता की झाँकी मात्र है जिस वजह से और कई उम्दा तथा कालजयी रचनाओं को इसमें जगह नहीं मिल पाना लाज़मी ही है।

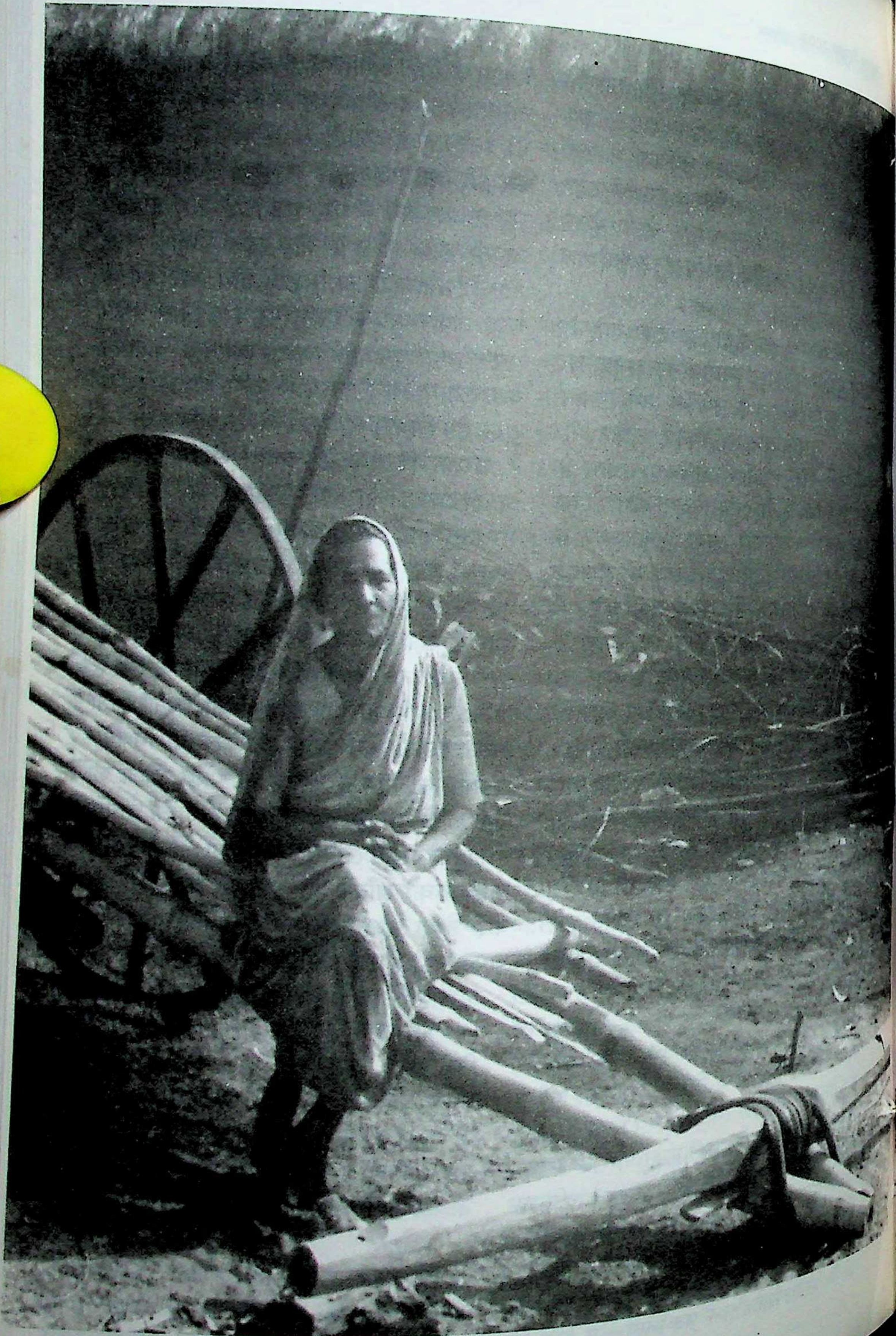

आशा पांडे

रामायण की स्त्रियाँ

यह तो निर्विवाद सत्य है कि भारतीय समाज में नारी का स्थान सदैव एक-सा नहीं रहा। परिवर्तित परिस्थितियों और वातावरण के अनुसार उसकी स्थिति में भी अनेक परिवर्तन हुए। यही नहीं, नारीत्व का मापदंड भी देशकाल व समयानुसार बदलता रहा है। आज के युग में स्त्रियों में विद्युत की-सी चपलता, शास्त्रों की तीक्ष्णता तथा गरुड़ एवं वायु की गति का अनुसरण उनके अपेक्षित गुण माने जाएँगे, लेकिन रामायण में महर्षि अगस्त्य राम से कहते हैं कि आपकी पत्नी इन सब दोषों से रहित है। सच तो यह है कि भारतीय साहित्य में नारी की निंदा और प्रशंसा दोनों ही बातें पाई जाती हैं और महर्षि बाल्मीकि का रामायण भी इसका अपवाद नहीं है। अयोध्याकांड में दशरथ स्पष्टत: कह रहे हैं कि स्त्रियों को धिक्कार है क्योंकि वे शठ और स्वार्थपरायणा होती हैं, लेकिन वे पुन: कहते हैं कि मैं सारी स्त्रियों के लिए ऐसा नहीं कह सकता, केवल भरत की माता की निंदा करता हूँ।

रामायण के आरंभ में ही कलियुग की नारियों के बारे में लिखा है कि वे वेश्याओं की तरह सुंदर बनने के लिए सदा शृंगार में ही लगी रहेंगी। वे अपने पति की बात न मानकर सदा पराए घर में डेरा डाले रहेंगी। दुष्ट स्वभाव की वे नारियाँ दुष्ट पुरुषों को ही चाहेंगी। मैली-कुचैली रहकर स्वच्छंद विचरेंगी। वे कठोर और झूठी बात बोलेंगी। कलि के आने पर अधिकांश स्त्रियाँ वाचाल होंगी।

स्पष्ट है कि रामायणकालीन नारी का स्वच्छंद विचरना और वाचाल अच्छा नहीं माना जाता था। अनुसूया जी सीता से कहती हैं कि जो अपने पति पर भी शासन करती है, वे काम के अधीन चित्तवाली असाध्वी स्त्रियाँ इस प्रकार पति का अनुसरण नहीं करती। उन्हें गुण-दोषों का ज्ञान नहीं होता, अत: वे इच्छानुसार इधर-उधर विचरती रहती हैं। मिथिलेश कुमारी! ऐसी नारियाँ अवश्य ही अनुचित कर्म में फँसकर धर्म से भ्रष्ट हो जाती हैं और संसार में उन्हें अपयश की प्राप्ति होती है। कुशनाभ की कन्याएँ वायुदेव से कहती हैं कि हम पितृमती कन्याएँ हैं, स्वच्छंद विचरण करनेवाली नहीं। इस लोक में पिता आदि के द्वारा जो कन्या जिस पुरुष को अपने धर्म के अनुसार जल से संकल्प करके दे दी जाती

रचनाकार आशापांडे का
1953 में हुआ। इनकी
और शोध की
हिंदी-अंग्रेज़ी में
हुई हैं। मानव संसाधन
मंत्रालय द्वारा पुरस्कृत।
: 1-बी, हुडको प्लेस,
नई दिल्ली 110049

थी वह मरने के बाद परलोक में भी उसी की स्त्री होती थी।

रामायण में नारियों के बाल विवाह का उल्लेख नहीं है। सीता विवाह के समय 'समुपस्थित यौवना' थी। विवाह में दहेज़ देना आवश्यक नहीं था फिर भी पिता अपनी इच्छा और सामर्थ्यानुसार कन्या को कन्याधन (दहेज़) देता था। नारियों की शिक्षा-दीक्षा का भी उचित प्रबंध किया जाता था। कुशनाभ की कन्याएँ संगीत शास्त्र में निष्णात थीं तथा नैतिक शिक्षा का व्यावहारिक प्रयोग करती थीं। राजकुमारी सीता को राजधर्म एवं नारी धर्म की शिक्षा प्रदान की गई थी। वानरराज बाली की पत्नी तारा अत्यंत विदुषी और प्राणियों की गति के विषय में जानती थी। कुमारी कन्याओं का महत्त्व मंगल उत्सवों एवं शुभ-अवसरों पर विशेष रूप से हुआ करता था। स्त्रियाँ देशकाल को जाननेवाली तथा उचित बात कहनेवाली होती थीं।

रामायण में स्त्रियों के आदर्श के साथ-साथ उनके प्रति सामाजिक शिष्टाचार भी सम्यक रूपेण वर्णित है। संभवतः इसीलिए महात्मा पुरुष स्त्रियों के साथ कभी कठोर व्यवहार नहीं करते थे।

समाज में नारी को माता, भगिनी या पत्नी के रूप में सम्मान प्राप्त था। रामायण में मातृ-भक्ति दृष्टव्य है। राम अपनी माता से कहते हैं कि मैं बिना पिता के कहे भी तुम्हारी आज्ञा से ही वन चला जाऊँगा। माता को ही सबसे बड़ा गुरु माना गया है। सभी धार्मिक कार्यों तथा सामाजिक उत्सवों में पत्नी का साथ होना आवश्यक था। राजा दशरथ ने महामुनि का पत्नी के साथ ही बड़े आदरपूर्वक सत्कार किया और रानियों के साथ ही यज्ञ की दीक्षा ली। सभी शास्त्रीय कर्मों, वैदिक कर्मों तथा श्रुतियों में स्त्रियाँ पुरुषों से अभिन्न मानी गई हैं। बाली की मृत्यु पर तारा विलाप करती हुई कहती है कि आपने युद्धरूपी यज्ञ का अनुष्ठान करके श्री राम के बाण रूपी जल से मुझ पत्नी के बिना अकेले ही अवभृथ स्नान कैसे कर लिया?

नारी मनोरंजन का साधन भी थी और पुरुष के साथ बराबर मनोविनोद में प्रवृत्त भी होती थी। लंका में प्रवेश करने के बाद रावण के अंतःपुर में हनुमान ने देखा कि अनेक सुंदर स्त्रियाँ आधी रात बीत जाने पर मधुपान में मद और निद्रा के वशीभूत हो उस समय गाढ़ी नींद में सो गई थीं। लक्ष्मण ने जो दृश्य देखा उसमें दिव्य आभूषणों और मालाओं से अलंकृत युवतियाँ सुग्रीव को चारों ओर से घेर कर खड़ी थीं। वानरराज सुग्रीव की पत्नी तारा जब लक्ष्मण के साथ बात करती है जो मधुपान के कारण उसकी नारी सुलभ लज्जा निवृत्त हो गई थी। अशोक वाटिका में विहार करते समय जैसे देवराज इंद्र शची को सुधापान कराते हैं, उसी प्रकार श्री राम ने अपने हाथों से पवित्रपेय मधु लेकर सीता जी को पिलाया।

समाज का एक वर्ग नारी की कमाई पर जीनेवाला भी था। राम सीता को जब अपने साथ वन ले जाने के लिए नहीं तैयार होते तब वह उन्हें धिक्कारते हुए कहती है कि हे राम! आप मुझे औरत की कमाई खानेवाले नट की भाँति दूसरों के हाथ में सौंपना चाहते हैं। रामायण में रूप से आजीविका चलानेवाली और सरस वचन बोलनेवाली स्त्रियों का स्पष्ट उल्लेख है। समाज में गणिकाएँ और नर्तकियाँ होती थीं जो अत्यंत चतुर और रूपवती होती थीं। गणिकाएँ समय-समय पर राज्य के हित में ही सहायक होती थीं। महाराज रोमपाद अपने राज्य में ऋष्यशृंग ऋषि को गणिकाओं की सहायता से ही ले आए थे। इनको हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। राजा रोमपाद ने इन्हें ऋष्यशृंग के पास सत्कारपूर्वक भेजा था।

नारी को वस्तु रूप में माने जाने के कुछ उदाहरण भी प्राप्त हो रहे हैं। रावण बाली से कहता है कि हे वानरराज! स्त्री, पुत्र, नगर, राज्य, भोग वस्त्र और भोजन इन सभी वस्तुओं पर हम दोनों का साझे का अधिकार होगा। ब्रह्मा ने अहिल्या को धरोहर के रूप में महर्षि गौतम के

में सौंपा था। स्त्री दान को सर्वश्रेष्ठ दान गया है। अनेक स्थलों पर राजाओं ने किसी सिद्धि के लिए पुत्रियों का विवाह किसी व्यक्ति के साथ किया है जैसे अंगपाद रोमपाद द्वारा अपनी पुत्री शांता का विवाह शृंग ऋषि के साथ किए जाने पर राज्य में वृष्टि का संकट टल गया। सीता को प्राप्त का एकमात्र शुल्क वीर्य (वीरता) था। तृणबिंदु महर्षि पुलस्त्य से प्रार्थना करते कि वे उनकी कन्या को स्वयं प्राप्त हुई भिक्षा रूप में ग्रहण कर लें। राम द्वारा सीता का का उदाहरण भी इस प्रसंग में देखा जा है।

रामायण में नारीत्व की गरिमा पतिव्रत धर्म पालन करने में ही कही गई है। महिषी सीता को बताती है कि जो स्त्रियाँ पति द्वारा सदा सम्मानित होकर भी संकट में पड़ने उसका आदर नहीं करती हैं, वे इस संपूर्ण में 'असती' (दुष्टा) के नाम से पुकारी हैं। दुष्टा स्त्रियों का यह स्वभाव होता है पहले तो वे पति के द्वारा यथेष्ट सुख भोगती जब वह थोड़ी-सी भी विपत्ती में पड़ती उस पर दोषारोपण करती हैं और उसका छोड़ देती हैं। जो झूठ बोलनेवाली, विकृत करनेवाली, दुष्ट पुरुषों से संसर्ग रखनेवाली, के प्रति सदा हृदयहीनता का परिचय देने-, कुलटा, पाप के ही मनसूबे बाँधने वाली छोटी-सी बात के लिए भी क्षणमात्र में पति ओर से विरक्त हो जानेवाली हैं, वे सबकी असती या दुष्टा कही गई हैं। उत्तम कुल, हुआ उपकार, विद्या, भूषण आदि का दान संग्रह पति के द्वारा स्नेहपूर्वक अपनाया । यह सब कुछ दुष्टा स्त्रियों के हृदय को में नहीं कर पाता है, क्योंकि उनका चित्त स्थित होता है। इसके विपरीत जो सत्य, , शास्त्रों की आज्ञा और कुलोचित ओं में स्थित रहती हैं, उन साधवी स्त्रियों के लिए एकमात्र पति ही धरम पवित्र और सर्वश्रेष्ठ देवता है। पति चाहे गुणवान हो या गुणहीन, धर्म का विचार करनेवाली नारियों के लिए वह प्रत्यक्ष देवता है। कौशल्या से कहते हैं कि स्त्री के जीते जी उसका पति ही उसके लिए देवता और ईश्वर के समान है। यहाँ तक कि जो स्त्री अन्यान्य देवताओं की वंदना और पूजा से दूर रहती है, वह भी केवल पति की सेवामात्र से उत्तम स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेती है। अत: पत्नी को चाहिए कि वह पति के प्रिय एवं हित साधन में तत्पर रहकर सदा उसकी सेवा ही करे, यही स्त्री का वेद और लोक में प्रसिद्ध नित्य (सनातन) धर्म है। नारियों के लिए इस लोक और परलोक में एकमात्र पति ही सदा आश्रय देनेवाला है। पिता, पुत्र, माता, सखियाँ तथा अपना यह शरीर भी उसका सच्चा सहायक नहीं है।

तपस्विनी अनुसूया सीता से कहती हैं कि अपने स्वामी नगर में रहे या वन में, भले हों या बुरे, जिन स्त्रियों को वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान अभ्युदयशाली लोकों की प्राप्ति होती है। पति बुरे स्वभाव का, मनमाना बर्ताव करनेवाला अथवा धनहीन ही क्यों न हो, वह उत्तम स्वभाव वाली नारियों के लिए श्रेष्ठ देवता के समान है। हे विदेहराजनंदिनि! मैं बहुत विचार करने पर भी पति से बढ़कर कोई हितकारी बंधु नहीं देखती। अपनी की हुई तपस्या के अविनाशी फल की भाँति वह इस लोक में और परलोक में सर्वत्र सुख पहुँचाने में समर्थ होता है। सीता के अनुसार नारी का गुरु भी पति ही होता है; क्योंकि स्त्री के लिए तो पति ही देवता है, पति ही बंधु है और पति ही गुरु है इसलिए उसे प्राणों की बाज़ी लगाकर भी विशेष रूप से पति का प्रिय बनना चाहिए। वह कहती है कि मेरे पति यदि अनार्य तथा जीविका के साधनों से रहित होते तो भी मैं बिना किसी दुविधा के इनकी सेवा में लगी रहती। स्त्री के लिए पति सेवा के अतिरिक्त किसी दूसरे तप का विधान नहीं है। सत्यवान की पत्नी

सावित्री पति की सेवा करके ही स्वर्गलोक में पूजित हो रही हैं। उन्हीं के समान बर्ताव करनेवाली आप (अनुसूया देवी) ने भी पति की सेवा के प्रभाव से ही स्वर्गलोक में स्थान प्राप्त कर लिया है। रावण की मृत्यु पर विलाप करते हुए उसकी पत्नियाँ कहती हैं कि हे राक्षसेंद्र! आपने पतिव्रता और गुरुजनों की सेवा करनेवाली बहुत-सी स्त्रियों को विधवा बना दिया था, उन्हीं कुलीन स्त्रियों के शाप से आज आप शत्रुओं द्वारा मार डाले गए हैं। यह सत्य है कि पतिव्रता स्त्रियों के आँसू पृथ्वी पर गिरकर व्यर्थ नहीं जाते। पति के बिना पत्नी किसी प्रकार के मनोरंजन में भाग नहीं ले सकती है। लंका पहुँचने पर हनुमान सोचते हैं कि भामिनी सीता श्री रामचंद्र जी से अलग होकर न तो सो सकती है, न भोजन कर सकती है, न श्रृंगार एवं अलंकार धारण कर सकती हैं।

रामायण में पति की मृत्यु के कई प्रसंग हैं लेकिन पति की चिता के साथ पत्नी के सती हो जाने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। रावण के शव दाह का विस्तृत वर्णन प्राप्त है। जहाँ पर शव के साथ रावण की रानियाँ भी रोती-पीटती पालकी के पीछे-पीछे जाती हैं और रावण के दाह-संस्कार के उपरांत लोग रावण की स्त्रियों को नगर लौट जाने के लिए कहते हैं। अन्य भी कई प्रसंग हैं जैसे—दशरथ की मृत्यु, बालि की मृत्यु इत्यादि जहाँ उनकी पत्नियाँ उनके साथ सती नहीं होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रामायणकालीन समाज में विधवा उपेक्षिता न थी। दशरथ की विधवा रानियों ने सम्मानित जीवन बिताया। बालि की पत्नी तारा विलाप करती हुई कहती है कि अपने वीर स्वामी, द्वारा सेवित चिता की शय्या पर शयन करना ही मेरे लिए सर्वथा योग्य है, लेकिन वास्तव में वह सती नहीं होती और सम्मानपूर्ण जीवन बिताती है। राम-रावण युद्ध का कारण भी रावण की विधवा बहन शूर्पणखा के सम्मान की रक्षा के लिए हुआ था। उसके विधवा होने पर रावण ने उसे परितुष्ट एवं संतुष्ट किया तथा उसकी सुरक्षा का समुचित प्रबंध किया। यद्यपि कुंभीनसी का राक्षस मधु ने बलपूर्वक अपहरण किया था, फिर भी मधु के वध के लिए उद्यत अपने भाई रावण को रोकती हुई वह कहती है कि यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो आज यहाँ मेरे पति का वध न कीजिए क्योंकि कुल बंधुओं के लिए वैधव्य के समान दूसरा कोई भय नहीं बताया जाता। वैधव्य ही नारी के लिए सबसे बड़ा भय और सबसे महान संकट है।

इतना सब होते हुए भी पति के बिना नारी दीन हो जाती है। बालि की मृत्यु पर तारा विलाप करती हुई कहती है कि मैंने कभी दीनतापूर्ण जीवन नहीं बिताया था, ऐसे महान् दुख का सामना नहीं किया था, परंतु आज आपके बिना मैं दीन हो गई, अब मुझे अनाथ की भाँति शोक-संताप से पूर्ण वैधव्य जीवन व्यतीत करना होगा। मेरे महाभाग पति देव कवि सिंह बाली के नष्ट हो जाने पर मुझे पुत्र से, राज्य से तथा अपने इस जीवन से भी क्या प्रयोजन है? पतिहीन नारी भले ही पुत्रवती और धनधान्य से समृद्ध भी हो, किंतु लोग उसे विधवा ही कहते हैं। यह सब सोचकर तारा पति के समीप बैठकर आमरण अनशन करने का निश्चय करती है। सीता राम से कहती है कि यह बात तो आपने ही हमें बताई थी कि पति के जीवित रहते हुए पतिव्रता स्त्री उससे अलग रहकर जीवित नहीं रह सकेगी। यहाँ तक कहा गया है कि यदि किसी कारणवश पत्नी के जीवित रहते पति की मृत्यु हो जाए तो वह पत्नी के दोष से होता है। पति का कोई भी कृत्य क्षम्य है। एक और तो भगवान राम ने यह जानते हुए भी कि सीता निर्दोष है, उनका परित्याग किया था और दूसरी ओर लक्ष्मण सीता से कहते हैं कि देवि! आप सदा श्री रघुनाथ जी को हृदय में रखकर पतिव्रत्य का अवलंबन करें। ऐसा करने से आपका परम कल्याण होगा। जब श्री राम सीता से पुनः इनकी शुद्धता प्रमाणित करने के लिए शपथ कराने का विचार करते हैं तो

तेजस्वी महर्षि बाल्मीकि राम द्वारा भेजे दूतों से कहते हैं कि ऐसा ही हो। लोगों का हो। श्री रघुनाथ जी जो आज्ञा देते हैं, सीता करेगी, क्योंकि पति स्त्री के लिए देवता है। भी यही मानती है कि स्वामी ही स्त्री के सबसे बड़ा देवता है और केवल पत्नी ही पति के भाग्य का अनुसरण करती है। विपरीत रामायण में ही हमें कैकेयी का उदाहरण मिलता है जिसने पति की पूर्ण करके रामायण के कथानक को एक दूसरा रूप प्रदान कर दिया। यहाँ पर एक स्त्री ने शक्ति का प्रयोग कैसे किया। यह द्रष्टव्य है और इस संदर्भ में स्त्री के लिए अबला विशेषण का प्रयोग उचित नहीं माना जा सकता।

निस्संदेह रामायण नारी को पुरुष की तुलना निर्बल मानता है। संभवतः इसके कारण प्रायः शूद्र, तपस्वी, संन्यासी, वृद्ध, रोगी तथा का एक साथ उल्लेख किया गया है। यहाँ अपहरण का कोई प्रसंग नहीं मिलता, नारियों अपहरण के ही प्रसंग हैं। रावण द्वारा अपमानित पर ब्रह्मर्षि कन्या तपस्विनी वेदवती दुखी कहती है कि स्त्री अपनी शारीरिक शक्ति किसी पापाचारी पुरुष का वध नहीं कर सकती। द्वारा बलात्कार किए जाने पर रंभा अपने नलकूबर से कहती है कि नारी अबला है, उसमें पुरुष के बराबर शारीरिक बल होता, इसलिए उस दुष्ट से मैं अपनी रक्षा न सकी। सीता के लिए अबला तथा रंभा और के लिए भीरू विशेषण का प्रयोग भी गया है। लंका प्रवेश के समय बाधा डाले पर महावती हनुमान उसे स्त्री समझकर ही पर अधिक क्रोध नहीं करते हैं। और उसके होने के कारण ही हनुमान को उस पर दया आ जाती है। स्वयं शूर्पणखा भी यही कहती है कि उसके नारी होने के कारण ही राम ने वध नहीं किया। शत्रुघ्न को मंथरा के क्रोध में भरा हुआ देखकर भरत उनसे कहते हैं कि मायामयी सीता का वध करने को उद्यत इंद्रजित से हनुमान कहते हैं कि स्त्रियों को मारने वाले जिस लोक को जाते हैं, तू भी मर कर उसी अधम लोक को जाएगा। विश्वामित्र जब राम से ताड़का का वध करने को कहते हैं, तब श्रीराम उनसे कहते हैं कि यह अपने स्त्रीस्वभाव के कारण रक्षित है, अतः मुझे इसे मारने में उत्साह नहीं है।

रामायण में ऐसे प्रसंग भी हैं जहाँ विशेष परिस्थितियों में स्त्रीवध किया भी गया है। विश्वामित्र राम को समझाते हैं कि नरश्रेष्ठ! तुम स्त्रीहत्या का विचार करके इसके प्रति दया न दिखाना। एक राजपुत्र को चारों वर्णों के हित के लिए स्त्रीहत्या भी करनी पड़े तो कर लेनी चाहिए। सुना जाता है कि पूर्वकाल में विरोचन की पुत्री मंथरा सारी पृथ्वी का नाश कर डालना चाहती थी। उसके इस विचार को जानकर इंद्र ने उसका वध कर डाला। प्राचीनकाल में शुक्राचार्य की माता तथा भृगु की पतिव्रता पत्नी त्रिभुवन को इंद्र से शून्य कर देना चाहती थी। यह जानकर भगवान विष्णु ने उनको मार डाला। इन्होंने तथा अन्य बहुत से महामनस्वी पुरुष प्रवर राजकुमारों ने पापचारिणी स्त्रियों का वध किया है। दैत्यों को आश्रय देने के कारण भगवान विष्णु द्वारा भृगुपत्नी का सिर काटे जाने का उल्लेख भी रामायण में है।

रामायणकालीन समाज में बहुपत्नी प्रथा प्रचलित थी। राजा दशरथ की अनेक रानियाँ थीं। राजा सागर की केशिनी और सुमति नाम की दो पत्नियाँ थी। रावण की बहुत-सी पत्नियाँ तो थी हीं। जिस दिन रावण महिष्मतपुर पहुँचा उस दिन हैदयराज अर्जुन अपनी अनेक पत्नियों के साथ जलक्रीड़ा कर रहा था। श्री राम भरत से कहते हैं कि गुरुजनों का अपनी अभीष्ट स्त्रियों और प्रिय पुत्रों पर सदा अधिकार रहता है। एक पत्नी व्रतधारी श्री राम के विषय में भी सीता कहती हैं कि मैं तो समझती हूँ कि आप नियमानुसार पिता की आज्ञा का पालन करके

अपने व्रत को पूर्ण करने के पश्चात् जब वन से लौटेंगे, तब निर्भय एवं सफल मनोरथ हो विशाल नेत्रोंवाली बहुत-सी सुंदरियों के साथ विवाह करके उनके साथ रमण करेंगे। वानरराज बाली की बहुत-सी भार्याएँ थीं।

रामायण के अनुसार पति अपनी स्त्री के लिए इहलोक और परलोक में भी स्पृहणीय है। इस जगत् में जो स्त्री अपने बुद्धिमान पति के द्वारा मनाई जाती है, वह कुल स्त्री कहलाने योग्य नहीं है। स्पष्टत: कैकेयी को आदर्शनारी नहीं माना गया है। कैकेयी के इस दुष्कृत्य का कारण नारी का चंचल स्वभाव माना गया है। महर्षि अगस्त्य श्री राम से कहते हैं कि हे रघुनंदन! सृष्टिकाल से लेकर अब तक स्त्रियों का प्राय: यही स्वभाव रहता आया है कि यदि पति सम अवस्था में है अर्थात् धन-धान्य से संपन्न, स्वस्थ एवं सुखी हैं तो वे उसमें अनुराग रखती हैं, परंतु यदि वह विषम अवस्था में पड़ जाता है, तब उसे त्याग देती हैं।

स्त्रियों के स्वभाव के विषय में लक्ष्मण सीता से कहते हैं कि हे मिथिलेश कुमारी! ऐसी अनुचित और प्रतिकूल बातें मुँह से निकालना स्त्रियों के लिए आश्चर्य की बात नहीं हैं, क्योंकि इस संसार में नारियों का ऐसा स्वभाव बहुधा देखा जाता है। इसी प्रकार की बात महोदर भी रावण को समझाते हुए कहता है कि हे राजन! पतिहीन सीता इच्छा न रहने पर भी इस तरह धोखे में पड़कर इन प्रलोभनों द्वारा आपके वश में हो जाएगी। जब सीता अपने पति को मरा हुआ सुनेगी, तब आशाओं को त्यागकर स्त्री जाति की स्वाभाविक चपलतावश वह आपके अधीन हो जाएगी। रावण की मृत्यु पर उसकी पत्नियाँ विलाप करती हुई कहती हैं कि यद्यपि आपके लिए शोक करना व्यर्थ हैं फिर भी स्त्री स्वभाव के कारण हमारी बुद्धि शोक सिंधु में डूब रही है।

संभवत: इन्हीं सब कारणों से जब भी संतानोत्पत्ति के लिए यज्ञ किया गया है या तपस्या द्वारा वर माँगा गया है तो वह पुत्र प्राप्ति के लिए ही है कन्या के लिए नहीं। दशरथ ने पुत्र की कामना से ही यज्ञ कराया था। सुभाली अपनी पुत्री से कहता है कि "बेटी! सम्मान की इच्छा रखनेवाले सभी लोगों के लिए कन्या का पिता होना दुख का ही कारण होता है, क्योंकि यह पता नहीं चलता कि कौन और कैसा पुरुष कन्या को वरण करेगा? माता के, पिता के और जहाँ कन्या दी जाती है, उस पति के कुल को भी कन्या सदा संशय में डाले रहती है। बाल्मीकि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि नारी के लिए पति, पुत्र, पिता-भाई के अतिरिक्त कोई चौथा सहारा नहीं है। नारी स्वयं किसी का सहारा नहीं बन सकती। तारा हनुमान से कहती है कि आपको यह समझना चाहिए कि पुत्र के वास्तविक बंधु पिता और चाचा ही हैं, माता नहीं।"

रामायण के इन उद्धरणों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय स्त्रियोचित गुणोंवाली, नारीत्व के मापदंड पर खरी उतरने वाली नारियाँ ही आदरणीया थीं। स्वभावत: कोमल नारी परिस्थितियों द्वारा पराश्रयी बनी। हिंदू संस्कृति ने नारी की धारित्री सदृश सहनशीलता, उत्सर्ग, कर्तव्यपालन, करुणा आदि की शिक्षा दी और एकनिष्ठ पति प्रेम और भक्ति में ही उसकी चरमगति बताई। सीता, कौशल्या, अनुसूया आदि आदर्श नारियाँ बनीं, कैकेयी मंथरा और शूर्पणखा निंदनीया। अनुसूया सीता से कहती है कि जो तुम्हारे समान लोक-परलोक को जाननेवाली साधवी स्त्रियाँ हैं, वे उत्तर गुणों से मुक्त होकर पुण्यकर्मों में संलग्न रहती हैं, अत: वे दूसरी पुण्यात्माओं की भाँति स्वर्गलोक में विचरण करेंगी। अतः तुम इसी प्रकार अपने इन पतिदेव श्री रामचंद्र जी की सेवा में लगी रहो, सतीधर्म का पालन करो, पति को प्रधान देवता समझो और प्रत्येक समय उनका अनुसरण करती हुई अपने स्वामी की सहधर्मिणी बनो, इससे तुम्हें सुयश और धर्म दोनों की प्राप्ति होगी। ये उपदेश और अपेक्षाएँ केवल सीता से ही नहीं अपितु संपूर्ण नारी जाति से ही हैं।

सारा जोसेफ़

दोनों ओर से मजबूर

गाड़ी खड़खड़ाने लगी तो ओवर ब्रिज के ऊपर से छह-सात लड़के लड़कियाँ बेतहाशा दौड़ते नज़र आए। प्लेटफ़ॉर्म को कँपाते हुए वे सीढ़ियाँ उतर आए।

"अरे, रोको...रोको यार!"—आगेवाला बरमूडा पहना लड़का घबराहट के साथ पुकार उठता था। उसका नाम यदु है। पीछे-पीछे कृष्ण कुमार, जीना, फरीदा, पार्वती, जेनसन, अमित और माधव—सब मेडिकल कॉलेज के छात्र हैं। जब तक वे प्लेटफ़ॉर्म में पहुँचे, गाड़ी रफ़्तार पकड़ चुकी थी। यात्री हैरान हो रहे थे कि पता नहीं बच्चे क्या हरकत कर बैठेंगे? लेकिन इतने में सबके सब गाड़ी के अंदर पहुँच चुके थे। सिर्फ़ जेनसन को अंदर खींच लेना पड़ा था। यात्रियों ने एक साथ राहत की साँस ली। बच्चे पराए हैं तो क्या हुआ, जान पर आ पड़ती है तो अपने पराए सब बराबर।

छलाँग लगाकर अंदर आए बच्चे दरवाज़े और शौचालय के बीच एक-दूसरे के कंधे से लगकर हाँफते रहे। बीच-बीच में हँसी के दौर भी फूटते थे। उनकी तीखी मीठी हँसी और गरम साँसों ने डिब्बे को हिलाकर रख दिया।

"तूने यह कैसा ज़ोर लगाया यार, लगता है मेरे हाथ की चूल निकल आई।" जेनसन ने हाथ झटककर यदु से शिकायत की।

"अगर मैं ज़ोर न लगाता तो मालूम पड़ता!"

"होता क्या?"

"होता बस इतना कि तेरे पैर के दो टुकड़े गाड़ी के नीचे जाते।"

"बाप रे!" जेनसन ने लंबी साँस ली। हाथ-पैरों के साथ सही-सलामत घर पहुँचो तो भी पापा ग़ुस्सा होते हैं, अब बिना हाथ-पैर के..."

बच्चे ठहाका मारते हुए डिब्बे के अंदर चले। डिब्बे में ख़ूब जगह थी। सीधे तिरछे जैसा चाहो बैठा जा सकता था। लेटने के लिए भी जगह थी। सब बड़े ख़ुश हुए।

"तेरी वजह से देरी हुई, लड़कियों से फ़ुरसत मिले तब न?" थैले बर्थ के ऊपर रखते हुए पार्वती ने यदु को दोष दिया।

"यह भी क्या बात हुई? क्या मैं ही...?"

''सॉरी यार, मगर तेरी तरह दर्जनों लड़कियों को और कौन पटाता है ?''

''यू...यस, यही बात है, जब तक तुम अपनी सभी लाइन कनेक्ट करो तब तक इंतज़ार करना मुश्किल है।'' माधव ने पार्वती को सहारा दिया।

''इसका नाम है जलन।'' जेनसन ने अपनी राय दी।

''सोलह हज़ार तक की अनुमति है, गो अहेड मेन।'' अमित ने यदु का साथ दिया।

''करेक्ट।'' यदु ने अमित से हाथ मिलाकर कहा।

डिब्बे के दूसरे लोग भी बच्चों की बातचीत में दिलचस्पी लेने लगे।

''देख यदु, सेकेंड सेमस्टर की अनुषा के साथ तेरा तो सचमुच का चक्कर था न ?''

''उस मोटी का क्या हुआ ?'' जीना ने पूछा।

''उसे मैंने मुझसे ज़्यादा ज़िम्मेदार एक के हवाले कर दिया।''

''बहुत अच्छा किया।'' माधव ने पीठ थपकाकर उसको दाद दी।

अबकी बार फरीदा तक ज़ोर से हँस उठी।

''नहीं, नहीं, तू मत हँस, कहीं मोती झर गए तो! बटोरने के लिए मुझे ही तो पीछे-पीछे आना पड़ेगा न!'' माधव ने फरीदा को चिढ़ाया।

''तुम ही क्यों ?'' पार्वती ने माधव को छेड़ने का मौक़ा हाथ से जाने नहीं दिया।

''नैचुरली, यह काम तो मेरे ही ज़िम्मे पड़ेगा न ?'' ज्यों ही माधव ने यह कहा सबके हाथ एक साथ माधव की पीठ पर पड़े और सब ठठा उठे।

डिब्बे के अंदर जो गंभीर प्रकृति के थे, उनकी भौंहें टेढ़ी हो गईं। उन्हें बच्चों की नादानी बिलकुल अच्छी नहीं लग रही थी। काले पर्दे के अंदर फरीदा का चेहरा लज्जा के मारे लाल हो रहा था। उसने हाथ से ढँक कर अपनी हँसी छिपाई, कहीं सचमुच मोती न झरें। अब छेड़े जाने की फरीदा की बारी थी। माधव ने उसकी नक़ल उतारी कि पहली बार लाश को देखा तो फरीदा कैसे उलटे पाँव भागी थी, किस तरह लड़कियों के छात्रावास के शौचालय से सिकुड़ी-सिमटी बैठी चार दिनों के बाद उसे पकड़कर लड़कियाँ प्रोफेसर के सामने लाई थीं, और कैसे अल्ला की क़सम खाते हुए कि वह मैयत को नहीं छुएगी, वह फिर बेहोश हो गई थी।

जो लोग चेहरे पर सख़्ती के साथ अकड़कर बैठे थे, वे भी अब बच्चों के खेल से ख़ुद को अलग न रख सके। कई लोग फरीदा को देखकर हँसने लगे। बच्चों का उत्साह बढ़ गया। सबका ध्यान उनकी ओर जो था।

एक के बाद एक पटाखों की लड़ी की तरह मज़ाक़ फूटने लगे। क्रिकेट, सिनेमा, कार, वेब-साइट, एम. टी. वी., बरगर, अरनोल्ड ष्वासनेगर बातचीत के विषय बदलते रहे। यदु ने अपने गाँव के नाम के अनुरूप ष्वासनेगर के नाम का शब्दानुवाद करके उसे आरंगोटुकरा शिवशंकर बना दिया और बच्चों ने तालियों के साथ इस प्रस्ताव को पारित कर दिया कि आगे ऐसे कठिन नामों का शब्दानुवाद करके बताना काफ़ी है।

कृष्ण कुमार उर्फ़ किच्चु इस दल का अपेक्षाकृत ख़ामोश और सौम्य लड़का था। बच्चों के इस खेल में उसकी भागीदारी अपने सफ़ेद दाँतों को बाहर प्रकट करते हुए हँसने मात्र की थी।

वैसे भी गाड़ी मरियल घोड़े की तरह हाँफती-रेंगती आगे बढ़ रही थी और अब अनंत तक पसरे खेतों के बीच वह अचानक रुक गई।

थोड़ी देर के लिए बच्चे ख़ामोश हो गए और एक-दूसरे के ऊपर गिरते-पड़ते वे खिड़की से बाहर देखते रहे।

खेतों की सीमाओं पर अंधकार उतर आया था। आसमान धुँधला गया था। आख़िरी चिड़िया भी अकेली, नीड़ की ओर लौट रही थी। ख़ुशमिज़ाज दिलों में भी उदासी भर देनेवाला मौन दूर तक फैला था। नज़दीक कहीं भी कोई इंसान नज़र नहीं आ रहा था।

बच्चों ने उठकर दरवाज़े से बाहर झाँका। गाड़ी यहाँ क्यों रुकी? सभी दरवाज़ों से लोग बाहर झाँक रहे थे। दस पंद्रह मिनट गुज़रे, मगर गाड़ी नहीं चली।

बच्चे द्वार पर बैठ गए। माहौल को हल्का करने के लिए वे गाने लगे। फ़िल्म अभिनेता कलाभवन मणि के गाए लोकगीतों को वे तालियों की संगत के साथ गाने लगे तो कुछ लोगों ने डिब्बे के अंदर की विरक्तता से मुक्ति की आशा में उस ओर ध्यान दिया। जब अमित ने गाया कि 'मेरी बेटी को छोड़ न जाना रे वेलायुधा', तब [illegible] और माधव ने मिलकर खेत के उस पार को इशारा करके ज़ोर से वेलायुध को पुकारा। ऐसा लगा कि चुभती ठंडी हवा में एक-दूसरे से सटकर बैठे उन लड़के-लड़कियों को गाड़ी की देरी बिलकुल परेशान नहीं कर रही है। लेकिन यात्रियों में कइयों को बच्चों की इस नादानी से चिढ़ हो रही थी।

गाड़ी की देरी का कारण लोग अपने-अपने ढंग से व्याख्यायित कर रहे थे। क्रॉसिंग है, एक मालगाड़ी आ रही है, उसके जाने के बाद ही चल जाएगी। अब मलाबार क्षेत्र में डबल लाइन का अभाव और मलाबार के प्रति रेलवे की भेद नीति चर्चा का विषय बना। बच्चों ने इस संवाद में दिलचस्पी नहीं दिखाई। किसी ने कहा कि क्रॉसिंग के लिए ऐसी जगह पर गाड़ियाँ नहीं रुकती, यह कोई और मामला है। शायद लाइन में कुछ गड़बड़ी है, या पता नहीं इंजन ही ख़राब हो गया। इंजन की मरम्मत का सवाल है तो समझो हम फँसे। कालिकट से नया इंजन लाना पड़ेगा। राम जाने वहाँ ख़ाली इंजन है भी या नहीं।

"या अल्ला!" फरीदा हड़बड़ा कर उठी। "वक़्त पर नहीं पहुँची तो मार डालेंगे अब्बाजान।" गाड़ी की देरी की बात उनकी समझ में नहीं आएगी। गाड़ी से उतरते ही फ़रमान निकालेंगे—आज से तेरी पढ़ाई बंद। रास्ते में भी जी भर गालियाँ देंगे। जब जब गाड़ी देर से आती है फरीदा ऐसे ही रोती रहती है।

जीना और पार्वती को मालूम है कि फरीदा के घरवाले दक़ियानूस हैं। फरीदा के अब्बा अब भी सोचते हैं कि बेटी को डॉक्टरी पढ़ने के लिए भेजकर उन्होंने ग़लती की। अम्मी की राय तो अब्बा से अलग होती ही नहीं। फरीदा के लिए कई रिश्ते आ चुके हैं। चाचा डॉ. मुहम्मद हुसैन हर बार फरीदा की शादी को टाल देता है। उन्हीं की मदद से फरीदा एंट्रेंस टेस्ट पास करके मेडिकल कॉलेज में भर्ती हुई थी। लेकिन बेटी के बारे में सोचकर फरीदा के माँ-बाप की आँतें जलती हैं। अंदर आग धधकने लगती है, तो साढ़े पाँच की गाड़ी में पहुँचती बेटी के इंतज़ार में अब्बाजान चार बजे से ही स्टेशन पर इंतज़ार करने लगते हैं। हर पल बेटी की पढ़ाई के लिए राज़ी होने की अपनी मूर्खता पर जल-भुनकर वे स्टेशन में दाएँ-बाएँ टहलते रहते हैं। आती-जाती हर गाड़ी में वे फरीदा को ढूँढ़ते हैं और उसे न देखकर ग़ुस्से से पागल हो जाते हैं। फरीदा रुआँसी आवाज़ में अल्ला से दुआ माँगने लगी।

"मैं देख आता हूँ।" किच्चु बोला। वह गाड़ी से नीचे कूदकर आगे बढ़ा। बाक़ी बच्चे उसे देखते रहे। चमगादड़ों का एक झुंड किच्चु के सिर के ऊपर से फुर्र से निकल गया और वह डरकर पीछे मुड़ा।

"चमगादड़ हैं रे, डरपोक कहीं का! जा जल्दी देख आ।" जेनसन बोल उठा।

"हम सड़क के पास होते तो बस या टैक्सी पकड़ सकते थे।" पार्वती बोली। उसका घर स्टेशन से दूर है। पहले फरीदा, फिर किच्चु और जीना। बाक़ी पाँचों के स्कूटर स्टेशन की पार्किंग एरिया में हैं। देर होने पर चार स्कूटर पार्वती के स्कूटर का पीछा करते हैं।

"गुड्स गाड़ी पटरी से उतर गई, हमारी गाड़ी अभी नहीं जाएगी।" किच्चु वापस आया।

"या अल्ला!" फरीदा की बेचैनी बढ़ी।

लोग गाड़ी से उतरने और खेत से होकर तेज़ी से आगे बढ़ने लगे। खेत के पार जो पगडंडी है वह मुख्य सड़क तक जाती है। वहाँ से बस पकड़ सकते हैं।

"क्या करेंगे?" लड़के आपस में सलाह करने लगे। सबने फरीदा की ओर देखा। फरीदा बस में जाने से डरती है, क्योंकि अब्बा ग़ुस्सा करेंगे।

"पता नहीं यह गाड़ी कब चलेगी। हम बस में जाएँगे।" माधव ने फ़ैसला सुनाया। बच्चे थैले लेकर निकले। खेत को पार करने में बीस मिनट लगे। पार्वती और जीना ऊँची एड़ीवाली चप्पल पहनकर मेंड पर से बड़ी कठिनाई से चल रहे थे। लड़कों ने उनके थैले भी अपने कंधों पर लटकाए।

सड़क पर बड़ी भीड़ थी। पहली बस आई लेकिन वे उसके निकट तक भी नहीं पहुँच पाए। दूसरी बस में किसी तरह धक्कम-धुक्की करके अंदर पहुँच गए और लड़कियों को सुरक्षा प्रदान करने की कोशिश में जेनसन और यदु को दूसरे यात्रियों के ताने भी ख़ूब सुनने पड़े। बस में सवार सभी मर्दों पर शत्रु की तरह निगाह रखते हुए लड़के लड़कियों को घेर कर खड़े रहे।

तय किया गया कि किच्चु फरीदा को उसके घर पहुँचा देगा और फरीदा के चाचा किच्चु को अपनी कार में घर छोड़ देंगे।

किसी तरह भीड़ के बीच से गोता लगाकर फरीदा और किच्चु उतरे। फरीदा को ऐसा लगा कि किसी बड़ी मुसीबत की ओर उसके क़दम पड़ रहे हैं। सब ओर अंधकार और सन्नाटा छाया हुआ था, कहीं आदमी का नामोनिशान नहीं था।

"क्या इस वक़्त यहाँ पावर कट होता है?" किच्चु ने पूछा।

फरीदा जानती थी कि रात के इस वक़्त एक लड़के के साथ उसे कोई देख लेगा तो ग़ज़ब हो जाएगा। इसलिए यह दिखाने के लिए कि वह लड़के के साथ नहीं चल रही, फरीदा किच्चु से हटकर चल रही थी। किच्चु को अपने सवाल का जवाब नहीं मिला। 'तंगलुप्पा' के मज़ार की दाईं ओर वाली पगडंडी उन्हें नारियल के उस बागान तक ले जाएगी जिसको पार कर फरीदा अपनी मंज़िल पर पहुँचेगी। पगडंडी में उतरते ही किच्चु ने अपनी पेन टॉर्च जलाई। दोनों ओर झुंड-झुंड केतक के पौधे पल रहे थे। कहीं कोई साँप-वाँप न हो।

"या अल्ला! मेरे अब्बा अब भी स्टेशन में खड़े होंगे।" किच्चु के पेन टॉर्च की फीकी रोशनी ने फरीदा को अपने अब्बा के हाथ की छह बैटरियोंवाली टॉर्च की याद दिलाई। अब उसके पैर ज़मीन पर नहीं पड़ रहे थे। फरीदा के पीछे दौड़कर किच्चु भी नारियल के बागान तक पहुँचा।

"यह लहरों की आवाज़ है न?" किच्चु मुग्ध होकर पूछ बैठा। धुँधलके में चुपचाप खड़े सैकड़ों नारियल के पेड़। पैरों को धँसानेवाला सफ़ेद रेत। नारियल के पेड़ों के बीच से झाँकनेवाला सागर। और तट पर पछाड़ खाकर बेहाल होनेवाली लहरें।

"वाह! यहाँ तो चाँदनी रात में आना चाहिए।" इस जगह ने किच्चु को मोहित कर लिया था। लेकिन फरीदा के दिमाग़ पर इस वक़्त कुछ नहीं चढ़ रहा था। जितना जल्दी हो सके वह अपने घर पहुँचना चाहती थी। और कभी होता तो किच्चु सीधे सागर की ओर दौड़ता और लहरों में उछल-कूद करता। किच्चु ने बार-बार फरीदा के भाग्य की सराहना की।

बागान से होकर वे दस क़दम ही चले होंगे कि अचानक एक घबराए हुए मनुष्य की चीख़ सुनकर दोनों चौंक उठे। वह क्रंदन एक बार फिर सुनाई दिया, मगर बीच में कट गया। बच्चे सहमकर चारों ओर देखने लगे। सहसा अंधकार और घना हो उठा। नारियल के पेड़ों के बीच लोगों के दौड़ने की आवाज़ आई। दोनों मुड़कर पीछे भागे। लेकिन पगडंडी में उतरने के पहले वे पकड़े गए। कई टॉर्चों का तीखा प्रकाश उनके चेहरे पर पड़ा। किसी ने डॉ. मुहम्मद हुसैन का नाम लिया। प्रकाश बुझ गया। फरीदा ने किच्चु को अपने पीछे छिपाया।

"यह कौन है?"

फरीदा के जवाब मिलने के पहले ही किसी ने किच्चु का कॉलर पकड़ा। किच्चु ने उसकी पकड़ से बचने की कोशिश की तो उसने अपनी पकड़ मज़बूत की और उसका दम घुटने लगा।

"क्या नाम है तेरा?"

किच्चु के गले में अपना नाम अटक गया।

"इमरान, इसका नाम इमरान है?" फरीदा ने कहा।

"कौन इमरान?"

"चाचा की बीवी के भाई। यह कोयिलांडी से हमारे घर आ रहा है।"

"इस वक़्त यहाँ कैसे?"

"गाड़ी देर से पहुँची।"

"तो फिर दौड़े क्यों?" बच्चों ने जवाब नहीं दिया।

"बोल!", किसी ने फरमान निकाला।

"डर के मारे!"

"चलो।"—बच्चे आगे बढ़े। कुछ दूर तक उन लोगों ने दोनों का पीछा किया।

"ज़िंदगी चाहते हो तो भाग जाओ, मुड़कर देखना मत।"

दोनों दौड़ने लगे। रेत में धँसते पैरों ने रुकावट डाली। पैरों में उलझनेवाले कपड़े ने फरीदा को बार-बार गिरा दिया। फरीदा को अपने साथ खींचकर दौड़ते वक़्त किच्चु ने एक बार मुड़कर देखा। वे सब वहीं खड़े थे।

भागते-भागते दम घुटने लगा तो बच्चे रुक गए। उनके पीछे सहमे खड़े नारियल के पेड़ों और डरानेवाली परछाइयों के सिवा और कोई

नहीं था। पत्ते निःशब्द थे, हवा निश्चल थी। सिर्फ़ दोनों के हाँफने की आवाज़ें आ रही थीं।

“कौन रोया होगा?” दम लेते हुए फरीदा ने सवाल किया। किच्चु चुप रहा।

“वह—क्या कोई मारा गया?” फरीदा ने दबी आवाज़ में पूछा। किच्चु सहमकर चारों ओर देखने लगा। सागर, आसमान, नारियल के पेड़, रेत सब कुछ काले पड़ चुके थे।

फरीदा ने किच्चु का हाथ कस कर पकड़ा। “क्या उसमें जीवन बाक़ी होगा?” किच्चु चौंक उठा। हो सकता है वह अब भी ज़िंदा है। नारियल के पेड़ों के बीच एक आदमी का छटपटाना मानों उन्होंने अपने मन में देख लिया। खुले घाव से ख़ून बह रहा है, नाड़ी स्पंदन कम होता जा रहा है और हृदय की धड़कन भी बंद हो रही है।

“चलकर देखते है।” किच्चु वापस जाने को तैयार हुआ।

“डोंट बी सिल्ली!” फरीदा ने उसे रोका। “अभी-अभी हम उनके हाथ से बाल-बाल बचे। देखो वह रहा मेरा घर।” फरीदा ने इशारा किया। किच्चु ने देखा, फरीदा का घर हज़ार कोस दूर था। वहाँ तक पहुँचने के लिए कितनी देर दौड़ना पड़ेगा? लोग अपने घरों से बाहर निकलते हैं। कौन जाने वह वापस अपने घर पहुँच पाएगा या नहीं। घर के अंदर भी कौन सुरक्षित है? मिट्टी और पत्थर का ही तो है, तोड़ा जा सकता है।

मौत से लड़नेवाला वह कौन होगा? युवक, या बूढ़ा? या अपने पिता जैसा कोई अधेड़? देर होने पर फरीदा के अब्बा की तरह किच्चु के पिता भी बेचैन हो जाते हैं। वे स्टेशन पर इंतज़ार करते हैं। स्कूटर किच्चु ही चलाएगा। पिताजी पीछे बैठेंगे। उनके दोनों हाथ किच्चु के कंधों पर होंगे। किच्चु ने अपने पिताजी के हाथों की गर्मी महसूस की।

“कोई हमारा पीछा कर रहा है!” फरीदा ने किच्चु का हाथ पकड़ा। मुड़कर देखने का साहस नहीं था। रेत में पैर धँस जाते थे। पीछा करनेवाले अनेक हैं। दाएँ-बाएँ और आगे-पीछे अनेक पैर उनको घेर रहे हैं। चारों तरफ़ से क़दमों की आहट आ रही है। जान बचाने के लिए दोनों भागने लगे। मुड़कर देखो तो डरावनी परछाइयाँ, रुक जाओ तो मौत का सन्नाटा। किस ओर दौड़ें? सुरक्षा किस तरफ़ है? फरीदा को आश्चर्य हो रहा था कि घर तक पहुँचने में इतनी दूरी कैसे? या उसे दिशा भ्रम हो गया?

बच्चों के लिए एक क़दम भी आगे बढ़ना मुश्किल हो गया और दोनों सागर तट पर निढाल हो गए और पानी की गोद में मुँह रखकर लेटे रहे। बड़ी देर बाद फरीदा की ठंडी उँगलियों ने किच्चु को छुआ। “क्या वह मर गया होगा?” उसने पूछा।

“हाँ।” किच्चु ने जवाब दिया। थोड़ी देर तक वे लहरें गिनते रहे।

अचानक किच्चु पूछ बैठा, “मान लो इनकी जगह दूसरे गुट के लोग हो तो! तब क्या होता?” एक छोटी लहर आह-सी उन्हें सहला गई।

“मैं उनको तुम्हारा असली नाम बता देती। तुम्हारी पहचान...”

एक बड़ी लहर आई। दुखद हँसी के साथ अपने पिता को याद कर किच्चु ने मन-ही-मन कहा, “इस बार फरीदा हार जाएगी, है न पिताजी?” बचपन में इलाज के सिलसिले में किच्चु का ख़तना कराया गया था। अब कौन-सी पहचान उसे बचाएगी?

पोन्कुन्नम वर्की

काली टोपी

आम जनता को उस मुक़द्दमे ने बहुत आकर्षित किया था। उसका फ़ैसला सुनने के लिए न्यायालय में भीड़ जमी हुई थी। जज ने अपना फ़ैसला सुनाया—अपराधी को फाँसी।

भीड़ चौंक उठी।

न्यायालय में जज के सामने खड़े कुट्टन का दिल धक से काँप उठा। क्षणभर के लिए उसके कानों में कुछ गूँजता रहा।

पुलिस के सिपाही उसे जेल की ओर ले गए। रास्ते में खड़े जान-पहचान के लोगों की ओर वह कातर दृष्टि से देखता रह गया। यह आख़िरी दर्शन है, आगे वह उन्हें देख नहीं सकेगा, यह उसे मालूम था। मरणासन्न व्यक्ति जैसे अपने चारों ओर खड़े लोगों की ओर निहारता-ताकता है, वैसे उसने रास्ते पर खड़े परिचित लोगों की ओर निगाह डाली।

अपराध दंड के प्रति क्षमाशील होने को तैयार है। किंतु निरपराधी का अंतःकरण सज़ा के सामने दुखी होता है, प्रतिषेध प्रकट करता है।

क़ानून के प्रति सविनय अवज्ञा का वह समय था। भाषण सुनने के लिए मैदान में एकत्र हुए हज़ारों की आवेशपूर्ण भीड़ में सभा निरोध-आदेश लेकर आया हुआ एक हेड कॉन्स्टेबल फँस गया था। कॉन्स्टेबल के सामने प्रतिशोध दिखाने की क्या ज़रूरत थी? पर हुआ ऐसा ही। जनता ने हेड कॉन्स्टेबल को चारों तरफ़ से घेर लिया, कई लोगों ने मिलकर उसे ठोंक दिया। निर्दोष हेड कॉन्स्टेबल की मृत्यु हो गई। उस भारी भीड़ में एक व्यक्ति पुलिस के हाथ लगा। वह था कुट्टन। हेड कॉन्स्टेबल के विरोध में अपनी छोटी उँगली तक नहीं उठाई थी कुट्टन ने। लेकिन गवाह और सबूत सब तैयार हुए। कुट्टन फाँसी के तख़्ते की प्रतीक्षा में है।

एक दिन कुट्टन चिंतामग्न 'कंडेस सेल' में बैठा हुआ था। वह बोर्ड उन्होंने लाकर लटका दिया। कुट्टन के फाँसी पर चढ़ने के दिन और समय की सूचना देनेवाला बोर्ड। कुट्टन की अब चार दिन की ज़िंदगी है। चार दिन और चार रात।

जैसे विस्तृत नीलाकाश में बिजली कौंधती है और विलीन होती है, उसी प्रकार सरकार के नियम बनते-बिगड़ते जा रहे थे। एक दिन फाँसी की सज़ा बंद कर दी गई।

लयालम कहानीकार, नाटककार कुन्नम वर्की का जन्म 1908 हुआ। इनकी लगभग 30 कें प्रकाशित।

समीक्षक, अनुवादक एन. कुट्टन पिल्लै का जन्म 1935 हुआ। इनकी 34 पुस्तकें शित। उत्तर प्रदेश हिंदी न, आंध्र प्रदेश हिंदी दमी से पुरस्कृत। संपर्क : , स्टेट बैंक ऑफ़ इंडिया नी, गांधी नगर, हैदराबाद 00080

जेल के अधिकारियों ने कुट्टन को भी इसकी सूचना दे दी। मृत्यु के झूले में झूलते उस अपराधी को शांति मिली।

''बदले में बीस साल यहाँ बिताने पड़ेंगे!'' जेलर ने कहा।

कुट्टन के विरोध करने पर भी कुछ फ़ायदा नहीं हुआ। सौंदर्यपूर्ण संसार उसे फिर मिलेगा। यह सोचकर कुट्टन आश्वस्त हो उठा।

सेंट्रल जेल—उपद्रवी अपराधियों के मार्जन का स्थान तो है ही! वहाँ कई मकान तथा काम-धंधे सीखने की सुविधाएँ हैं। पर प्रत्येक अपराधी के सम्मुख लगभग चार कुंजियाँ, ऊँची सीधी दीवारें, पृथक्-पृथक् सेल, पहरेदार, जेल-लुंगी, हथकड़ी-बेड़ियाँ, टोपी, कोड़े आदि भी।

एक बार जेल के अधिकारियों ने कुट्टन के पास से एक पुस्तक खोज निकाली—एक उपन्यास। उस कारण चार दिन का राशन और वह पुस्तक उसे खो देनी पड़ी। और एक बार उन लोगों ने उसके पास दो बीड़ी के टुकड़े पाए। उसका दंड कुट्टन को भोगना पड़ा।

एक दिन एक हेड वार्डन और दो अन्य वार्डन कुट्टन के पास आकर एक काली टोपी आगे बढ़ाते हुए बोले, ''देखो, इसे सिर पर धारण कर लो।''

''नहीं, मेरी लाल टोपी ठीक है।'' उस काली टोपी की ओर नफ़रत भरी दृष्टि से देखते हुए कुट्टन ने विरोध के स्वर में कहा।

काली टोपी चोरी के अपराधियों के लिए है। चोर को विज्ञापित करनेवाली काली टोपी पहनकर अपने को अपमानित करने के लिए वह तैयार नहीं था।

''तुम नहीं पहनोगे? ऐसी बात?'' वार्डन ने प्रश्न किया।

''मैं तो हत्यारा हूँ न? मुझे यह काली टोपी क्यों?'' कुट्टन ने पूछा।

''तू क़ानून की बोलता?'' हेड वार्डन को ग़ुस्सा आया। वह आगे बोलता गया, ''तुझे काली टोपी पहननी होगी, यह हमारा इरादा है। तू चोर नहीं, यही बात? दिखा देंगे कि काली टोपी पहनेगा कि नहीं।'' हेड वार्डन चल दिया।

मैं चोर नहीं हूँ, यह तर्क प्रस्तुत करना कुट्टन के लिए उतना सरल नहीं था। पहले एक वकील के यहाँ वह नौकरी कर चुका था। वकील की बेटी सावित्री उससे प्रेम करने लगी थी। इस अपराध पर वकील ने कुट्टन को नौकरी से निकाल दिया था। राह ख़र्च के लिए पैसे के अभाव में ख़ाली हाथ निकल पड़ते कुट्टन को सावित्री ने अपना हार भेंट किया था। हार लेकर निकले कुट्टन को चोरी के अपराध में पुलिस ने पकड़ा था। इस प्रकार सात महीने वह जेलवास कर चुका था।

चोरी के अपराध पर सेंट्रल जेल में दंड मुक्त अपराधी के लिए यह ज़रूरी था कि दूसरे किसी भी अपराध पर दंड भोगने आए, काली टोपी पहन ले।

उस दिन रात को असह्य दाँत दर्द से वह परेशान था। यातनाओं से भरे बीस लंबे वर्ष! इस लंबी अवधि पर विचार करते हुए उसका हृदय दग्ध हो रहा था। वह सोचने लगा, मैं इकत्तीस साल का हूँ। बीस साल का सख़्त दंड। बीच में नहीं मरा तो इक्यावन में दंड मुक्त हो जाऊँगा। चाँदनी में छोड़े मुर्ग़े के समान मैं बाहर निकल पड़ूँगा। तब घर कहाँ? देश कहाँ? बाल पका बुड्ढा। एक कौड़ी तक न मिलनेवाला यह कारावास। अब काली टोपी पहनने को भी बाध्य। मरूँ तो भी यह टोपी पहनना मेरे लिए संभव नहीं। दाँत दर्द सिर खा रहा है। कैसी यातना है। फाँसी पर चढ़ गया होता तो कितना अच्छा था। इस यातना से बेहतर है मृत्यु।

किसी-न-किसी प्रकार कुट्टन ने रात काट ली। दाँत दर्द के मारे कपोल सूज गया, बोलने में असमर्थ। सवेरे की कंजी (पका हुआ पानी सहित चावल, जो जेल में अपराधियों को दिया जाता है) तक उसने छोड़ दी। पुस्तकों की जिल्द-

[illegible] करने के स्थान पर वह रोज़ काम पर जाता था। आज काम पर न जाने की कुट्टन ने ठान ली। वार्डन ने आकर, क़ैदियों को कामों पर लगाने के लिए बुला लिया।''

''आज मुझसे कुछ नहीं होगा। मेरा दाहिना कपोल फटा जा रहा है। ज्वर भी चढ़ गया है।'' अपनी हथेली से कपोल को थामे उसने कातर स्वर में कहा।

प्रधान वार्डन आया। वह कुट्टन को सुपरिंटेंडेंट के पास ले गया। वे दूसरी मंज़िल में एक सुंदर मेज़ के सामने बैठे थे।

पंखे की हवा के कपोल का स्पर्श करते ही उस दीन को अतिशय आराम मिला। सुपरिंटेंडेंट कोई फ़ाइल पलट रहे थे। फ़ाइल से आँखें उठाते हुए उन्होंने प्रधान वार्डन से पूछा, ''यही है कुट्टन?''

''यस सर।''

''क्यों रे! तू काली टोपी नहीं पहनेगा?'' सुपरिंटेंडेंट ने प्रश्न किया। कुट्टन ख़ामोश खड़ा रहा। वह बहुत कुछ कहना चाहता था।

''तू नहीं पहनेगा काली टोपी?'' सुपरिंटेंडेंट ने फिर पूछा।

कुट्टन इस प्रश्न पर भी ख़ामोश खड़ा रहा। सुपरिंटेंडेंट को ग़ुस्सा चढ़ गया। वे आगे बोले, ''रे, तुझी से पूछ रहा हूँ! तेरी जीभ उतर गई?''

''लो! काली टोपी।''

उन्होंने वार्डन को आदेश दिया। वार्डन ने काली टोपी कुट्टन की तरफ़ आगे बढ़ाई। तीक्ष्ण दृष्टि से सुपरिंटेंडेंट ने कुट्टन से कहा, ''लेकर पहन ले सिर पर।''

तब भी वह शांत खड़ा रहा। सुपरिंटेंडेंट बोलते गए, ''सिर पर रख ले। चोर रास्कल! रे, टोपी लेकर सिर पर रख!''

सुपरिंटेंडेंट की आज्ञा न माननेवाला क़ैदी सचमुच दुर्भाग्यवान है।

''ले जाकर कोड़े लगाओ इसे।'' दाँत पीसते हुए उन्होंने आज्ञा दी। ''बारह कोड़े लगा दो।'' वार्डन उसे कोड़े लगाने ले गया।

''निश्चय ही मैं चोर नहीं हूँ। हूँ तो भी अब तो केवल हत्यारा हूँ। यह काली टोपी पहनने से पहले मर जाना अच्छा है।'' वह बार-बार इसी प्रण पर टिका रहा। साथी क़ैदियों ने उसकी हँसी उड़ाई। उनमें से एकाध ने कुट्टन से पूछा, ''क्यों ज़िद पकड़ते हो? एक बार जेल में आ

गए तो फिर उनका आदेश मानकर चलना होगा। क्या तुम मूर्ख हो ?''

''नहीं पहनना जी, काली टोपी। हत्यारों के लिए लाल टोपी है। इन बदमाशों का क़ानून मुर्दाबाद।''

और लोगों ने दूसरा पक्ष लिया। इस प्रकार यह काली टोपी उनकी बातचीत का प्रकरण बन गई।

वहाँ काली टोपी वाले कई हैं। पर काली टोपी धारण करना उनमें से किसी को पसंद नहीं। काम पर लगते समय उसे वे छिपाकर रखते। उनमें से कइयों के लिए यह चोरी जीवन की प्रथम भूल थी। काली टोपी ने सदा के लिए उन पर चोर की मुहर लगा दी। चोरी का अपराधी अपने अपराध को एक छल के अतिरिक्त कभी चोर की संज्ञा पसंद नहीं करेगा।

काली टोपीवाले के प्रति किसी के मन में आदर नहीं, उसका कोई मित्र भी नहीं होता।

कुट्टन दुबारा सुपरिंटेंडेंट के पास पहुँचाया गया। वार्डन के हाथ की काली टोपी की ओर इशारा करते हुए इस बार भी सुपरिंटेंडेंट ने कहा, ''अरे, बिना किरकिरी के, इस टोपी को उठाकर सिर पर रख ले। हाँ, जल्दी कर।''

''मालिक!'' गद्गद् कंठ से कुट्टन ने कहा, ''मैं लाल टोपी पहन लूँगा। मुझे काली टोपी... ।''

''क्या कहा ? तू काली टोपी नहीं पहनेगा, यही ?''

''मैं हत्या के अपराध पर... ।''

''छी, रास्कल! वार्डन इसे ले जाकर बाँध रखो और सख़्त दंड दो। तीन दिन तक सिर्फ़ नमक मिला चावल दो। देखूँ यह पहनेगा कि नहीं।''

पैर की अँगूठी मात्र पृथ्वी पर टिकाए और आबद्ध हाथों को आकाश की ओर उठाए प्रतिदिन कम-से-कम चार घंटे का महायज्ञ। वह दृश्य ऐसा था मानो आकाश की ओर उड़ने के लिए कटिबद्ध कोई अपने पैरों की अँगूठी मात्र का पृथ्वी पर सहारा लिए खड़ा हो।

काली टोपी वालों ने कुट्टन पर व्यंग्य-परिहास किया। उनमें से किसी का दर्शन तक उसे असह्य था। एक दिन चार-पाँच वार्डनों ने मिलकर उसे हथकड़ी-बेड़ियाँ पहनाईं और ज़बर्दस्ती उसके सिर पर काली टोपी पहना दी। वह टोपी घंटे भर के लिए अगर सिर पर नहीं रही तो सुपरिंटेंडेंट साहब के लिए बेइज़्ज़ती की बात होगी। कुट्टन के लिए हाथ-पाँव हिलाना तक संभव नहीं था। उसे लगा कि भारी पहाड़ जैसा अपमान उसके माथे पर लग गया है। हाथ-पाँव के स्वतंत्र होते ही उसने काली टोपी उठाकर दूर फेंक दी।

उस दिन बिस्तर बिछाने के लिए सेल का फ़र्श साफ़ करते समय उसकी दृष्टि एक अँगूठी पर पड़ी। चमचमाती सोने की अँगूठी। पिशाच बनकर उसे सतानेवालों की उस अँगूठी को दीवार के बाहर फेंक देने के लिए एक-दो बार वह तैयार हुआ। लेकिन उसने ऐसा नहीं किया।

दूसरे दिन एक वार्डन कुट्टन के सेल में भाग आया। उसका मुख देखते ही कुट्टन को उसके आने का कारण मालूम हुआ।

''मेरी अँगूठी मिली ?'' वार्डन ने पूछा।

उस काली टोपी वाले के प्रति उसकी आदर भावना बढ़ गई।

अगले दिन जब सुपरिंटेंडेंट परेड के लिए आए तब कुट्टन के माथे पर टोपी नहीं थी। वे अत्यंत क्रुद्ध हुए। उस दिन चार-पाँच वार्डनों ने मिलकर कुट्टन की ख़ूब मरम्मत की।

काली टोपी पहने बिना उसका जीना दूभर हो गया। उसे सिर पर रखना उसे पसंद नहीं था। दोनों पक्ष परेशान थे।

सिर पर काले धब्बे वाली एक बिल्ली काली टोपी वालों के कमरे में बहुधा आया करती थी। कभी-कभी वह बिल्ली कुट्टन के समीप भी पहुँचती थी। कुट्टन के मन में उसके प्रति बिलकुल प्रेम नहीं था। उसके सिर का काला धब्बा काली टोपी की प्रतीति कराता था। एक दिन कुट्टन किसी गहरी चिंता से डूबा बैठा था।

उस बिल्ली का उसके पास कोई काम नहीं था। पूँछ उठाती हुई तथा अपने बदन को कार घुमाती हुई वह कुट्टन के पास पहुँची। श स्वर भरते हुए उसने उसकी एड़ी चाट ली। अनियंत्रित क्रोध से उठकर कुट्टन ने उसके ट पर एक लात मारी। 'भठ्ठ' शब्द के साथ ह दीवार से जा टकराकर गिर पड़ी। फिर कभी ह काली टोपी वाली बिल्ली कुट्टन के पास हीं आई।

कुट्टन को बराबर भोजन नहीं मिलता था, ब्जी नहीं मिलती थी, तेल नहीं होता था, एक बीड़ी फूँकने तक की सुविधा नहीं थी। दंडित हो उसे अलग सेल में पड़े रहना पड़ता था। फिर भी काली टोपी की आवश्यकता वह अनुभव नहीं करता था।

वर्कशॉप में कुट्टन काम कर रहा था। वार्डनों का एक दल उसके पास पहुँच गया। सुपरिंटेंडेंट निरीक्षण के लिए आ रहे हैं। बिना टोपी के कुट्टन को रहने नहीं देना है। अपनी पूरी ताक़त लगाकर उन लोगों ने कुट्टन के सिर पर टोपी लगा दी। सुपरिंटेंडेंट के जाने के बाद कुट्टन चाहे उसे निकाल दे, उन्हें विरोध नहीं। कुट्टन के सिर पर टोपी लगी है। उसके मित्र मुख मोड़कर हँस रहे थे। उस टोपी के लगते ही बड़ा वज़नी लगा-सा उसका मुख झुक गया।

जेल देखने आए कुछ रिश्तेदारों सहित सुपरिंटेंडेंट साहब उस क्षेत्र में घूम रहे थे। वे अकेले रह गए, उनके रिश्तेदार दृश्यों को कुतूहलवश देखते हुए आ रहे थे। टोपी के भार से आनत अपने मुख को ज़रा उठाए कुट्टन ने चारों ओर देखा। सुपरिंटेंडेंट उसकी ओर आ रहे थे। उनका आगमन आज उसे प्रिय लगा। आदर भाव से कुट्टन खड़ा हो गया। सिर पर काली टोपी उसे बेबस कर रही थी। सुपरिंटेंडेंट ने कुट्टन के प्रति परिचय भाव व्यक्त किया। वे उसके बिलकुल समीप आ गए। कुट्टन का हाथ, सँभालकर रखे हुए पुरस्कार के साथ ऊपर उठा। वह उस अफ़सर के वक्षस्थल की ओर लपका। एक-दो क्षण! वह काली टोपी वाला कृतार्थ हुआ।

शिथिल हो गिर पड़े सुपरिंटेंडेंट के वक्षस्थल की ओर उसने वह काली टोपी उतारकर पटक दी। फ़ोन हिलने लगे। वह क़ैदी पुलिस के सिपाहियों से घिर गया। वे भय-विह्वल खड़े थे। हाथ आगे बढ़ाते हुए कुट्टन बोला, "नहीं, आप लोगों के प्रति मेरे मन में वैमनस्य नहीं है। हाथकड़ी डालनी है तो डालिए।"

हत्यारे कुट्टन को नेक आदमी बनना था, पर दुबारा वह हत्यारा बना।

वह सोच रहा था, इकत्तीस, इकत्तीस और बीस मिलकर इक्यावन इसके लिए और बीस। इक्यावन और बीस इकहत्तर। सत्तर की आयु! अब मेरी मिट्टी यहीं पर है। मैं इसी मिट्टी में।"

एक दिन हठी हो आए कुट्टन ने वार्डन से कहा, "अब कमरे में प्रवेश करने की मेरी इच्छा नहीं है।" सेल के सम्मुख शांत भाव से वह बैठ गया। वार्डनों के ज़रिए समाचार पाकर जेलर कुट्टन के समीप आया। वह अविचल रहा। मित्र का-सा भाव दिखाते हुए जेलर ने कहा, "कुट्टन, यह कैसा भाव है? कमरे में जाओ।"

एक अभ्युदयकांक्षी का-सा स्नेह भरा स्वर था वह। कुट्टन निःशब्द था। लगभग बीस वार्डनों सहित खड़े जेलर ने फिर कहा, "छी कुट्टन, उठो।"

तुरंत मुख उठाए जेलर को देख कुट्टन बोला, "मेरी इच्छा नहीं।" वह शब्द बहुत वज़नदार था। सत्तर साल तक जेल काटने के लिए बाध्य एक व्यक्ति का हृदय उस वाक्य में प्रतिध्वनित हो रहा था। एक हत्यारे का जड़वत् हृदय उसमें प्रतिबिंबित था। जीवन से अब विशेष प्रयोजन नहीं, इस बात से अवगत एक असंतुष्ट का दृढ़ निश्चय उसमें स्पष्ट गूँज रहा था। जीवन के प्रति निर्णय लेने में कोई क़ानून उसे भयभीत एवं संत्रस्त नहीं कर सका। वह फिर बोला, "मेरी इच्छा नहीं।"

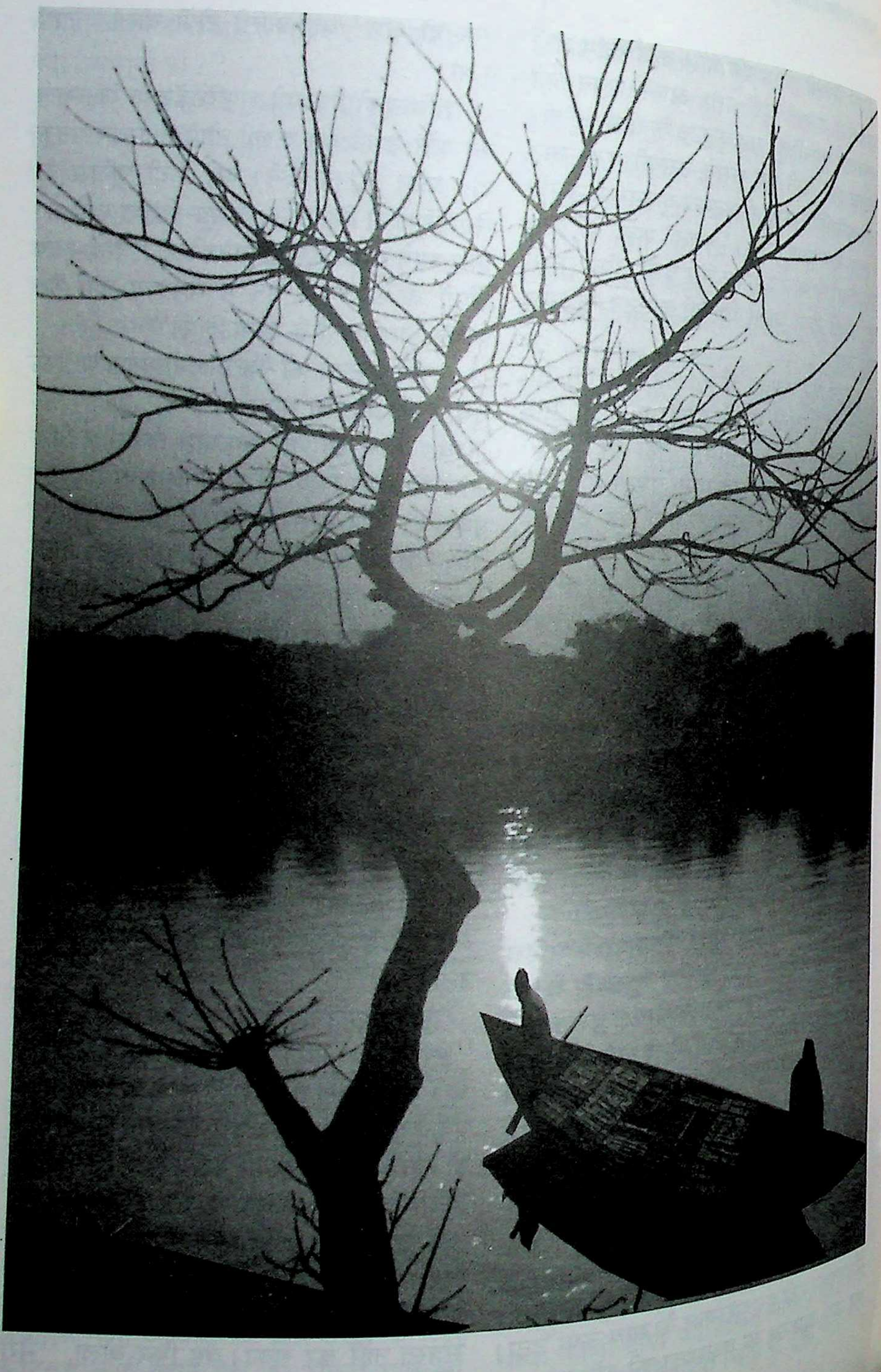

मंगत बादल

कितना पानी

"सब कुछ नकली! बनावटी! बेहूदा! विदेशी मुद्रा कमाने के लालच में अपनी संस्कृति का भौंडा प्रदर्शन! क्या कर रहे हैं ये लोग? कहाँ जाएँगे?" धीरे-धीरे बड़बड़ा रहा था पीटर। उम्र कोई पैंसठ-छियासठ वर्ष। ब्रिटिश नागरिक। नामी-गिरामी फ़ोटोग्राफ़र। पहले भी जैसलमेर आ चुका है परंतु इस बार 'मरु-महोत्सव' में आया है! उत्सव का आज दूसरा दिन है। कल ही केंद्रीय पर्यटन मंत्री ने इस 'त्रि-दिवसीय उत्सव' का उद्घाटन किया था। उद्घाटन के अवसर पर थोड़ा नाच-गाना और फिर ऊँट दौड़ हुई। ऊँटों के कई करतब भी दिखलाए गए। पगड़ी बाँधने की प्रतियोगिता हुई। रात को सांस्कृतिक कार्यक्रम के नाम पर जो नाच-गाने हुए उन सब में व्यावसायिकता की गंध थी। अब 'मरु सुंदरी' प्रतियोगिता है। पीटर को सब कुछ कृत्रिम लग रहा था। किसी खिलौने में जैसे चाबी भर दी गई हो वैसा ही कुछ लग रहा था। जो लोग पहली बार भारत आए थे उन्हें यह कार्यक्रम रोचक लग रहा था। बड़े मनोयोग से देख रहे थे किंतु पीटर...पीटर तो चालीस-बयालीस वर्ष पीछे चला गया।

उन दिनों जैसलमेर पर्यटन के नक़्शे में नहीं उभरा था। आज की भाँति तब यहाँ न तो हेरिटेज होटल थे और न ही ऐसी चमक-दमक। पारस्परिक व्यवहार पर बाज़ारवाद हावी नहीं था। जो भूले-भटके पर्यटक इधर आ जाते उनका हार्दिक स्वागत किया जाता, न कि जेबें काटने का प्रयत्न। शहर में भी ऐसी चहल-पहल नहीं थी। सूना-सूना और उदास शहर जैसे अभी-अभी ज़मीन की खुदाई से निकला हो। 'सोनार क़िले' का गत वैभव उसके पीलेपन में अब भी चमक उठता था जो सैलानियों के हृदय में गहरे तक टीस उठता था। लोग इस क़िले को देखते और एक उदास गीत जैसे हृदय के तार झिंझोड़ देता है वैसे ही इसकी यादें लिए लौट जाते। लोक कलाकार भी थे जो उस वक़्त गाँवों में रहते थे। होली, दिवाली, गणगौर या किसी 'तीज-त्योहार' पर या किसी मेले के अवसर पर स्वयं पहुँचकर अपनी-अपनी कलाओं का प्रदर्शन करते। लोग प्रसन्न होकर अपनी औक़ात के अनुसार इन्हें पुरस्कार भी देते। लोग भी इन कलाओं के जानकार थे और क़द्रदान भी। किसी सेठ या ठाकुर के घर में विवाह, बच्चे के नामकरण या

किसी अन्य ख़ुशी के अवसर पर इन कलाकारों को बुलाने का रिवाज भी आम था। वैसे आम लोग भी किसी ख़ुशी के अवसर पर इन्हें बुला लिया करते थे। कलाकारों को ऐसे अवसरों पर जो भी कुछ प्राप्त होता था प्रसन्नता पूर्वक ले लेते थे। आज की भाँति कलाकारों में आपाधापी और गलाकाट स्पर्धा नहीं थी। कला और कलाकारों का संरक्षण लोक करता था राज्य नहीं। ये कलाकार पहले गाँवों में एकांत में बैठकर कला साधना करते थे। कुछ चालू क़िस्म के लोग और कुछ इनकी आवश्यकताएँ इन्हें शहरों की ओर खींच लाईं। विदेशियों तथा टीवी चैनलों के सामने इन कलाकारों को प्रस्तुत कर बिचौलियों ने तो हाथ रंग लिए किंतु इनके हालात नहीं बदले।

पीटर थॉमसन और श्रीमती मारिया थॉमसन दो महीने का वीजा लेकर भारत आए हैं। दोनों ही प्रकृति प्रेमी। लंदन में टेम्स नदी के किनारे घर। पीटर ने भाँति-भाँति के प्राकृतिक दृश्यों के फ़ोटो खींचकर बहुत नाम और दाम कमाया। भारत की ऐतिहासिक इमारतों, भाँति-भाँति के लोगों और यहाँ की भिन्न-भिन्न संस्कृति के दृश्यों के छायाचित्र लेकर वह संसार को अपनी कला से चमत्कृत करना चाहता था। श्रीमती मारिया थॉमसन स्कूल में अध्यापिका थी। उसकी रुचि समाजशास्त्र में थी। वह ग्रामीण भारतीय समाज पर कोई पुस्तक लिखना चाहती थी। इसीलिए वे दिल्ली, आगरा, जयपुर, जोधपुर घूमते-घूमते जैसलमेर पहुँचे हैं। भारत दोनों को ही ख़ूब पसंद आया है।

जैसलमेर स्टेशन पर अधिक चहल-पहल नहीं थी। अधिकतर यात्री तो स्थानीय हैं। कोई दो-चार यात्री यदि नए भी हैं तो उनकी आँखों में नए स्थान के प्रति कोई उत्साह या जिज्ञासा नहीं दिखलाई देती। जो लोग यहाँ अपने व्यापार के सिलसिले में आते हैं उनकी नज़रें यहाँ की प्रकृति की ओर नहीं जाती। स्टेशन पर एक-दो कुली भी खड़े हैं। वे गोरी चमड़ी वालों को देखकर अच्छी दिहाड़ी की आशा में उनकी ओर बढ़े किंतु पीटर को हिंदी बोलते देख समझ गए कि चिड़िया आसानी से जाल में फँसने वाली नहीं है। पीटर ने उनसे ‘मोल-भाव’ कर ‘मरु-महल’ होटल चलने को कहा। शहर स्टेशन से लगभग एक-डेढ़ मील दूर था। कुलियों को सामान उठवाकर पीटर दंपति चारों ओर प्रकृति को निहारते हुए उनके पीछे-पीछे चल पड़े। न कहीं हरियाली न कोई वृक्ष! इस वीराने में आकर बसने की मनुष्य के मन में कैसे आई? चारों ओर रेत, धोरे और सन्नाटा साँय-साँय कर रहे थे। पानी का कहीं नामोनिशान नहीं। कैसे रहते हैं यहाँ लोग? इनका रहन-सहन कैसा है? ये प्रश्न उनके मन में बराबर उठ रहे थे।

उन्होंने देखा शहर में न कोई भाग-दौड़ न ही रौनक! जीवन जैसे यहाँ आकर ठहर गया हो। उन्हें लंदन का दैनिक जीवन स्मरण हो आया। इतनी भाग-दौड़ कि साँस लेने की फ़ुरसत नहीं मिलती। पता नहीं इतने लोग कहाँ से आते हैं और कहाँ जाते हैं? शहर भरा-पूरा-सा लगता है। पीटर दंपति को लगा कि जीवन यहाँ ठहर कर विश्राम कर रहा है। हालाँकि जैसलमेर ज़िला मुख्यालय है किंतु आबादी इतनी कम!

पीटर ने एक जीप किराए पर ली तथा मारिया के साथ बैठकर एक कार्यक्रम बनाकर ड्राईवर को समझा दिया। ड्राईवर उनकी योजनानुसार उन्हें अलग-अलग गाँवों में ले गया। उन्होंने वहाँ घोर ग़रीबी देखी किंतु उनके मन में एक ऐसा दृढ़ विश्वास भी देखा जो उनके जीवन में ताज़गी भर देता था। पीटर गाँवों में जाकर जब ग़रीब लोगों और उनकी ग़रीबी के चित्र लेता तो उसे बराबर यही लगता कि ये लोग तन से बेशक ग़रीब हैं किंतु मन के धनी हैं। इनका जीवन सीधा-सादा है। ये अधिक महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं पालते। भगवान में गहरे विश्वास के कारण ही ये लोग सुखी और प्रसन्नचित्त रहते हैं। ये लोग

तो नहीं किंतु सुख जैसे चारों ओर बिछा और तो और यहाँ पानी जैसी अनिवार्य दुर्लभ है। औरतें तीन-तीन, चार-चार सिर पर पानी के घड़े उठाकर लाती हैं। डेढ़ या दो सौ फुट गहरे। पानी खींचते-हाथ लंबे हो जाते हैं। पानी भी कहीं तो जैसा, जिसे बिराइया पानी कहते हैं। आदमी यदि इस पानी को पी ले तो मर जाए। को 'खारा और मीठा' पानी मिलाकर जाता है। वर्षा ऋतु में लोग अपने-घरों में बनी कुंडों में पानी एकत्र कर लेते उसे घी की तरह व्यय करते हैं।

वर्षा का कोई भरोसा नहीं। दो-तीन वर्षों लगातार वर्षा न होना आम बात है। कई तो लगातार सात-सात अकाल पड़े हैं तब वर्ष की उम्र के बच्चे तो यह भी नहीं कि वर्षा क्या होती है! पीटर ने घरों में मांडणो', काल्पनिक देवी-देवताओं के ख़ूब लिए। लोक कलाओं का इन झोंपड़े सरीखे में अक्षय भंडार देखकर पीटर चकित हो यहाँ गाँव में बच्चों के खेलने के लिए न तो के मैदान और न ही 'चिल्ड्रन पार्क' हैं बच्चे तो बच्चे होते हैं वे कहीं भी किसी से खेल लेते हैं। पीटर को अधिक तब हुआ जब उसने देखा कि इस घोर में रहनेवाले बच्चे भी मछली और समुद्र खेल, खेल रहे हैं। घेरा बनाकर बच्चे गा रहे "हरा समंदर! गोपी चंदर! बोल मेरी मछली पानी!" बच्चों के घेरे के बीच में खड़ी आठ वर्ष की लड़की कभी टखनों, कभी कभी कमर को हाथ लगाकर कहती, पानी! इतना पानी!"

आई पीटर को! क्या जानते हैं ये लोग और मछली के विषय में? अभाव का मानव मन को इसी भाँति सांत्वना है। यही तो है 'क्षतिपूर्ति' का सिद्धांत। पानी पर्यायवाची 'जीवन' भी है। उसे कोई यहाँ आकर ही समझ सकता है। पानी का मूल्य कितना है या पानी कितना अमूल्य है, ये लोग ही बता सकते हैं। पीटर को एक बुजुर्ग ने बतलाया कि मनुष्य को नहाने के लिए केवल सवा सेर पानी का प्रयोग करना चाहिए। एक दिन में सवा सेर से अधिक पानी से नहाने पर पाप लगता है। पीटर इस बात को सुनकर ख़ूब हँसा। उसने पाप-पुण्य की परिभाषा पर पुनर्विचार किया। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक की कल्पना तो उसके देश में भी की गई है। वहाँ के लोग स्वर्ग में गुनगुनी धूप की कल्पना करते हैं जहाँ बैठकर व्यक्ति सारे दिन धूप स्नान कर सकता है। उनके स्वर्ग में सूर्य सदा चमकता रहता है लेकिन यहाँ के अनुसार स्वर्ग में ठंडी-ठंडी हवाएँ चलती हैं। हरियाली और मीठे पानी के झरने हैं। अपने अभावों की पूर्ति मानव अपनी कल्पना से कैसे कर लेता है, पीटर ने सोचा। स्वर्ग-नरक यदि कहीं हैं भी तो वे इसी धरती पर हैं। यहाँ से हटकर भला हो भी कहाँ सकते हैं?

पीटर थॉमसन देश-विदेश घूम चुका था किंतु यहाँ की सांस्कृतिक और प्राकृतिक विशेषताएँ देखकर तो दंग रह गया। कश्मीर, उत्तर प्रदेश, पंजाब, हिमाचल की हरियाली देखी थी अब जैसलमेर में आकर थार रेगिस्तान देख रहा है। सूरज प्रातःकाल से ही तपने लगता है जैसे यहाँ के लोगों को तपा-तपाकर पक्का कर रहा हो। दूर-दूर तक जहाँ तक नज़रें जाती हैं रेत ही रेत, धोरे ही धोरे। कोई ऊँचा तो कोई नीचा धोरा। नज़रें पसार कर देखने से लगता है ज्यों समुद्र में लहरें उठ रही हों। सच भी यही है कि यह थार समुद्र है! रेत का समुद्र! थोड़ी-सी हवा चलते ही धोरे अपनी स्थिति बदल लेते हैं। आँधी चलने पर तो ऊँचे वाला धोरा नीचा और नीचे वाला ऊँचा हो जाता है। समुद्र में जैसे लहर उठती है, फिर उससे ऊँची और ऊँची। इसी तरह तो हैं ये रेत के धोरे। खार समुद्र की भाँति लहलहाता थार समुद्र। न कहीं हरियाली न कोई वृक्ष। बस

कोरी-कोरी रेत। बहुत चित्र लिए उसने धोरों के! फ़िल्म भी बनाई। कभी उदित होते सूर्य के तो कभी धोरों के पीछे अस्त होते सूर्य के चित्र लिए। वह थार की इस अमूल्य धरोहर को कैमरे में क़ैद कर, लंदन वासियों के सामने प्रस्तुत कर उन्हें चमत्कृत करना चाहता था। मारिया ने ख़ूब काम किया। नई-नई जानकारियाँ एकत्र की। उन्होंने देखा कि दुनिया जब इतनी उन्नति कर चुकी है ये लोग अब भी आदिम युग में जी रहे हैं लेकिन हर भाँति अपने हाल में प्रसन्न!

ज्येष्ठ माह के शुक्ल पक्ष की दशमी, किंतु वर्षा का अभी तक नाम नहीं। यहाँ दिन में तो सूरज जैसे अंगारे बरसाता है लेकिन रातें सुहावनी हो जाती हैं। पीटर ने आज की रात्रि धोरों पर बिताने का कार्यक्रम बनाया। उसने होटल मालिक से संपर्क कर एक ऊँटनी मँगवाई और आवश्यक सामान लेकर दोनों चल पड़े। चलते समय होटल मालिक ने उसे हिदायत दी कि वह अधिक दूर न जाएँ क्योंकि यहाँ के मौसम का क़तई विश्वास नहीं किया जा सकता। गर्मी के मौसम में कब आँधी आ जाए कहा नहीं जा सकता। वे चल पड़े। दूधिया रात! साँय-साँय करती एक जादू-सा फैला रही थी! सभी दिशाओं में नीरवता का साम्राज्य था। ऐसे वातावरण में बातें करते हुए पीटर और मारिया को लग रहा था कि वे प्रकृति की नीरवता को भंग कर जैसे कोई गुनाह कर रहे हैं। नीरवता के कोरे काग़ज़ पर उनका वार्तालाप जैसे कोई कथानक की रचना कर रहा था। यह उन दोनों के लिए नया अनुभव था। मन में एक उत्साह और शांति जैसे अपने पंख समेटकर धीरे-धीरे नीचे उतर रहे थे। वे चुपचाप ऊँटनी को आगे बढ़ाते रहे। ऊँटनी भी अपनी मस्ती में चलती रही। जब उन्हें चलते लगभग दो घंटे हो गए तो पीटर ने साँडनी को बिठा लिया। साँडनी की पिलाण (काठी) उतारकर उसी से उसे बाँध दिया। अपना सामान लेकर वे एक धोरे के शिखर पर जा बैठे। ऊपर से चाँदनी बरस रही थी नीचे ठंडी-ठंडी बालू। पीटर और मारिया को लंदन के शोर-शराबे से अलग यह जीवन इतना सुखद और प्रिय लगा कि वे धोरों पर बच्चों की तरह कलाबाजियाँ करने लगे। एक-दूसरे के पीछे दौड़ते, पकड़ते उन्हें अनुभव हो रहा था जैसे संसार में वे दो प्राणी ही हों—आदम और हव्वा! इस अनुभव को सहेजने के लिए पीटर और मारिया ने ख़ूब चित्र लिए। अचानक उन्हें लगा कि जैसे चाँदनी पर कोई कालिख पोत रहा है। उन्होंने आकाश की ओर देखा। चाँद पर धुआँ-सा छाता जा रहा था। उसे उत्तर की ओर से घटाएँ उमड़कर आती दिखलाई पड़ीं। लेकिन ये घटा नहीं बल्कि आँधी उमड़ी चली आ रही थी। उन्होंने शीघ्रता से सामान समेटा और ऊँटनी की ओर दौड़े लेकिन ऊँटनी कहीं चली गई थी। थोड़ी देर में रेत के बवंडर उठने लगे। अँधेरा छा गया। कहीं पर कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ रहा था। वे अनुमान करके एक दिशा की ओर बढ़ने लगे किंतु शीघ्र ही पीटर को विचार आया कि इस प्रकार वे भटक जाएँगे। सोने से वे रेत में दब जाएँगे। यही सोचकर वे बैठ गए। थोड़ी देर में जब उन पर रेत चढ़ने लगती तो खड़े होकर जगह बदल लेते। इतनी ज़ोर की आँधी उन्होंने पहले कभी नहीं देखी थी। सनसनाती हवा मन में दहशत पैदा कर रही थी। मुँह पर जैसे कोई रेत की पोटलियाँ भर-भरकर मार रहा हो। आँखें मींचे दोनों एक-दूसरे का हाथ पकड़े बैठे रहे। कंठ, नाक, कान रेत से भर गए। वे सुबह की प्रतीक्षा कर रहे थे।

सूर्योदय के साथ-साथ आँधी कुछ धीमी पड़ने लगी। दस बजे तक रुक गई। सूरज चमकने लगा। सूरज की किरणें रेत से भरे शरीरों पर सूइयों की तरह चुभ रही थी। पसीने की चिपचिपाहट शरीर को खा रही थी। पीटर और मारिया ने देखा कि आँधी ने यहाँ का भूगोल ही बदल दिया। पीटर सोचने लगा कि उसे किस दिशा में बढ़ना चाहिए। वह कुछ नहीं समझ पा

था। दरअसल वे दिग्भ्रमित हो चुके थे। पीटर ने सूर्य की ओर मुँह करके दिशाओं का अनुमान लगाया और फिर मारिया का हाथ पकड़ एक दिशा की ओर बढ़ने लगा। सूरज धीरे-धीरे सिर पर आ रहा था। उनके पास पानी भी अब एक बोतल ही बचा था जिसे मंज़िल तक पहुँचने तक बचाए रखना ज़रूरी था। "यदि गलत दिशा की ओर बढ़ रहे हैं तो?" यह सोचते ही भय की झुरझुरी उसके शरीर में फैल गई। डर के काले नाग ने मन में फन उठाकर फुफकार किया। उसके पैर डगमगाए किंतु चेहरे पर कोई भाव न आने दिया। कहीं मारिया डर न जाए? उन्हें कोई ऐसा चिह्न नहीं दिखलाई पड़ा जिससे वे अनुमान लगा लें कि सही दिशा की ओर बढ़ रहे हैं। अंततः मारिया ने पूछ ही लिया, "पीटर! क्या हम सही चल रहे हैं?"

"लग तो ठीक ही रहा है।" अपने भय को दबाकर पीटर ने कहा, "फिर देखो!" और मौन हो गया।

भरी दोपहर। धोरे भट्टी की तरह तप रहे थे। पैर ज़मीन पर पड़ते ही लग रहा था जैसे गर्म तवे में धर दिया हो। दोनों पसीने से नहाए हुए। मारिया की स्थिति बुरी थी। दोनों के होंठ सूखकर पपड़ा गए थे। थोड़ी-थोड़ी देर में दोनों बोतल मुँह से लगाकर होंठ गीले कर लेते। थोड़ा-सा पानी बचा है जिसे संकट से उबरने तक बचाए रखना है। मारिया की आँखें जबरन बंद हो रही थीं। वह एक दिशा की ओर देखकर चिल्लाई, "पीटर, वो देखो! हरे-हरे पेड़! उधर चलो! वहाँ ठंडी छाया और पानी मिलेगा।" पीटर उधर देखकर फीकी हँसी हँसा, "पगली! इस थार में कहाँ हैं पेड़? ये तो मृग मरीचिका है! पानी के भ्रम में लोग भाग-भाग कर मर जाते हैं। तुम धैर्य रखो। ऊँटनी घर की ओर ही गई है। उसे अकेला देख, लोग हमें ज़रूर ढूँढ़ने आएँगे!" एक झूठा आश्वासन देते-देते पीटर हाँफ उठा।

"क्यों मज़ाक़ करते हो? वह देखो कितना पानी! सागर-सा लहरा रहा है। सच कह रही थी वह लड़की—हरा समंदर...हरा समंदर!" कहकर मारिया ज़ोर-ज़ोर से पागलों की तरह हँसने लगी। उसका चेहरा देखकर पीटर डर गया। उसे लगा कोई अनहोनी होनेवाली है किंतु अब किया भी क्या जा सकता है?

मारिया को जिस दिशा में वृक्ष दिखलाई पड़ रहे थे, ताबड़तोड़ भाग पड़ी। उसे पकड़ने पीटर भी उसके पीछे दौड़ा। मारिया थोड़ी दूर तो दौड़ी लेकिन फिर गिर पड़ी। आँखें ऊपर चढ़ गईं। मुँह से फेन निकलने लगे। सारा शरीर गर्म रेत से भर गया। पीटर ने उसे तत्काल उठाकर मुँह से पानी की बोतल लगा दी। मारिया ने आँखें खोलीं और पीटर की ओर देखकर बड़बड़ाने लगी, "देखो पीटर! इस बार टेम्स में कितना पानी आया है। आह! पानी ही पानी!" इतना कहकर पीटर की गोदी में ही बेहोश हो गई। पीटर उसे अपने कंधे पर उठाकर थोड़ी दूर तो चला फिर थककर बैठ गया। उसने मारिया का सिर अपनी गोद में रख लिया। उस पर भी अब धीरे-धीरे बेहोशी छाने लगी। अचानक उसे जीप के इंजिन की घरघराहट सुनाई पड़ी। उसमें कुछ हिम्मत आ गई। धोरे पर खड़ा होकर वह ज़ोर-ज़ोर से जीप की ओर हाथ हिलाने लगा। फिर थककर "पानी-पानी" कहकर बेहोश मारिया के पास बैठ गया।

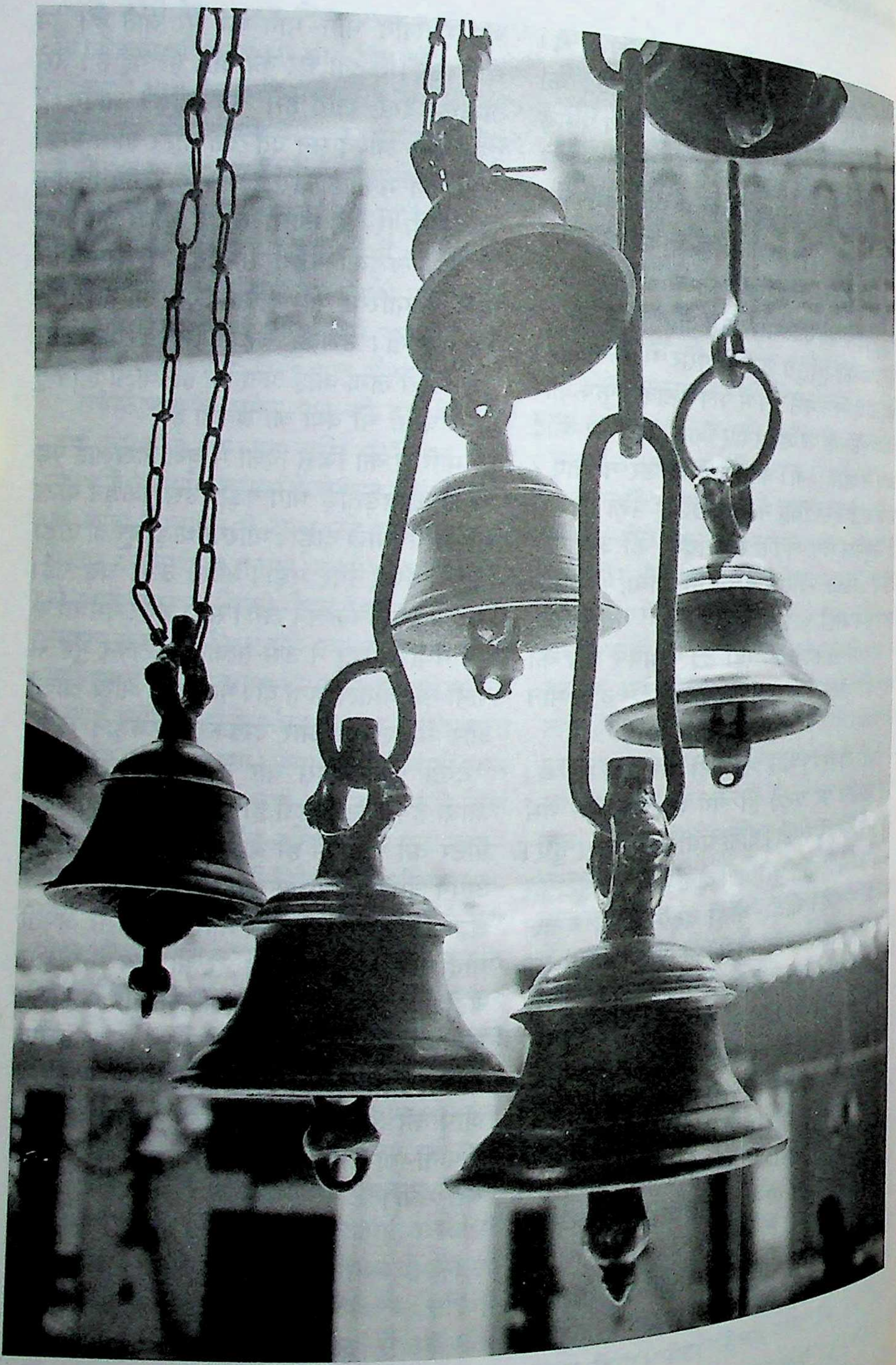

तेलुगु कविता

के. शिवा रेड्डी

एक और सुबह

तड़के को कॉफ़ी का स्वाद लेते हुए
नेरूदा की कविताओं के
किसी-न-किसी अनुच्छेद को
स्मरण करना आनंदमय है।
यह उसी क्षण नई ज़िंदगी में
प्रवेश करने जैसा है
मन और शरीर हल्का बन
सुबह के पहले कुहरे में आसानी से
विलीन हो जाता है
सभी घरों के आगे भिन्न रंगों के पत्ते गिरकर
ख़ूबसूरत क़लमकारी में रूपायित होती है
एक गृहिणी कमर में हाथ रख
उनींदापन और आलस्य को झाड़ू लगा रही है।
पौधे, पेड़ और फूलों पर दयापन-सा
पतला कुहरा ठहर गया,
शायद सुबह को सब कुछ
अपनी स्वाभाविक कठोरता खोकर
बड़े शान से मृदुल बन जाता है
गृहिणियों, बच्चों, पिल्लों और चिड़ियों की
पहली जागृत सुंदरता चकित करने वाला है।
हम बिस्तरों पर पिघलकर और भाप छोड़
तालाबों की तरह कोमलता से हिलते हैं
वे हाथ हमारे आँगन को
साफ़ करने के लिए बढ़ रहे हैं
कुछ रंगोली बनाकर चले जाते हैं और
कुछ चाबुक लेकर निकलते हैं।
तब तक हम दाडिम के पेड़ के पास
इकट्ठे हो जाते हैं,
सर्दी की आग, हाथ-पाँव, चेहरे को तापित कर
हम में आग का स्वागत करते हैं।
किसी माँ ने उँगली से
आसमान में छेद किया होगा।

लुगु के कवि के. शिवा रेड्डी
का जन्म 1943 में हुआ। इनके
16 कविता-संग्रह प्रकाशित हैं।
मोहना ओ मोहना साहित्य
अकादेमी से पुरस्कृत। संपर्क :
16-2-740/75/40, वी. के.
नगर, गड्डी अन्नारम, हैदराबाद
500 660

अनु. संतोष अलेक्स

मुट्ठी को कसकर धीमा रोता हुआ
एक सुंदर बच्चा हमारे सिर के ऊपर प्रकट होगा।
यदि दुनिया के सारे कवि
सुबह की बेला पर एक कविता लिखेंगे
फिर भी यह अनछुआ, अनसूँघा
विलक्षण और मोहक रहेगा।
पूरा शरीर एक छोटी-सी
कविता में सिकुड़कर आगे बढ़ेगा
जो कोई भी हो, उसे अंजुली भर पानी लेकर
ज़िंदगी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित कर जीना है।

रात

आँखें मौजूद हैं
देखो मत।
औज़ार भी मौजूद है
उठो मत।
पाँव की सेवा करो।
लोग भी मौजूद हैं
लेकिन चीज़ों से भी बदतर।

कविता लिखने के लिए

कविता लिखने के लिए कुछ भी नहीं चाहिए
न बड़ा उद्योग न भव्य कार्यान्वयन

काफ़ी है एक आवाज़, सरसरी दृष्टि, अक्षर, पैर
गिरता पत्ता, घास की नोंक, गति, चिटकना
वह धनुष तोड़ना काफ़ी है जिससे माथे से आवाज़ निकलती है

तुम्हारी कानी उँगली को थामकर चलनेवाला
नन्हा काफ़ी है

ज़रा लड़की के चेहरे को देखो
उसकी आँखें और हिचकनेवाले पाँव

कविता को लिखने के लिए कुछ भी नहीं चाहिए
केवल तुम, काफ़ी है यदि तुम ज़िंदा हो।

पीढ़ी दर पीढ़ी

पिछवाड़े में
तीन साल का एक छोकरा
भय से संदिग्ध होकर खड़ा है

अंदर
उसकी माँ बर्तन माँजने में
मशग़ूल है
और दूर कहीं उसका बाप
शायद पत्थर तोड़ रहा होगा

वह भी
इस उम्र में
उसी प्रकार खड़ा रहा
यहाँ नहीं
बल्कि किसी अन्य पिछवाड़े में।

कड़ी

वर्तमान
उच्चरित या अनुच्चरित
बिना शब्द के या बुरे शब्द के हों
इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता
वर्तमान मायने रखता है
यह मेरे और दुनिया के बीच की कड़ी है

मैं अभिव्यक्तियों द्वारा अपने को पहचानता हूँ
बनाना और तोड़ना
सब कुछ वहीं सन्निहित है
टूटी हुई सड़क
पंक्तिबद्ध हज़ारों लॉरियों में लदा है
संग्रह की गई अभिव्यक्तियाँ जो
वाहक के साथ एक ही गति में हैं, वही वर्तमान है।

पहला व्यक्ति पहाड़ियों को आवाज़ों की अभिव्यक्तियों द्वारा
उड़ाता है
दूसरा झलकों द्वारा फूलों से संवाद करता है
तीसरा प्यार को उजागर करता है

सौम्य होंठों के ठंडल से।
मैं वर्तमान को बाँधूँगा
उच्चरित या अनुच्चरित,
वर्तमान मायने रखता है,
यह मेरे और दुनिया के बीच की प्रमुख कड़ी है।

शायद

सौ, दो सौ या तीन सौ फ़ुट नीचे
कहीं धरती के भीतर हमारे लिए अदृश्य होकर
पानी छिपा हुआ है
यह हमारे चेहरों पर पड़ता है!
तब तक हमारा झुलसा हुआ चेहरा
क्षण भर में सुकून महसूस करता है
उत्साही बन, पानी-सा ठंडा, मुस्कान से शांत बहता हुआ
जो कहीं अनजाना पड़ा था सतह पर प्रकट होता है
धरती काँपती है, शरीर सपनों की चमक से प्रतिक्रिया देता है

हम अपनी हथेली को अंदर की ओर मोड़ते हैं
दो आँखों को छोटे गोलाकार बर्तनों में बदलकर
पंक्ति दर पंक्तियों में खड़े होते हैं
सुकुमार प्यारा पैर काँटेदार तार को पार कर आगे बढ़ता है

आगे और आगे, खड़े रहो और
अपने हाथों को बढ़ाओ
जलाशय को जीभ से छुओ
हम जान से चमकते हैं
वर्षा ऋतु की पहली बौछार के लिए
लालायित...

अब तक जो अनजाना अनदेखा था
वास्तविक बन जाता है और
शुद्ध साफ़ पानी जिसमें हमारी
परछाई दिखती है
कंपायमान होकर बहता है, ध्यानमग्न हो...
शायद कविता भी!

मैथिली कविता

नारायणजी

वसंत आ रहा है

वसंत आ रहा है
सोयी इच्छा को चूमने
अंग-अंग में भरने मुस्कुराहट
और वह मगन
कि पतझड़ आ रहा है

सलहेस[1] को चढ़ाए गए
आवाँ में पकाए गए घोड़े ने
दिन को आँच नहीं लगाई
धूप को नहीं किया संतप्त
गले में अटके कौर के लिए
कहाँ बना पानी का कभी भरोसा
चाक चलाते हाथों की ताक़त

वसंत आ रहा है
फिर लग जाएँगी सूखी पत्तियों की ढेरियाँ
आवाँ में पकेंगे बरतन
बग़ैर क़ीमत की
जलती आग मुक्त हँसी हँसेगी

वसंत आ रहा है
और वह मगन
कि पतझड़ आ रहा है।

कच्ची माटी रूपांतरित होती है

गाँव से बाहर
चौड़ी सड़क जाती है
सड़क के दोनों ओर घनी अमराई है
अमराई जहाँ अंत पाती है
सड़क मुड़ जाती है

मैथिली कवि नारायणजी का जन्म 1956 में हुआ। इनके दो कविता-संग्रह मैथिली में तथा एक अनूदित प्रकाशित। संपर्क : घोघरडीहा, मधुबनी-842402 (बिहार)

अनु. स्वयं

---

[1] मिथिलांचल का एक लोक देवता।

मुड़ी सड़क से
पगडंडी निकलती है
पगडंडी पकड़कर जाने पर
बाँसबाड़ी मिलती है
सूखी पत्तियों की ढेरी रहती है

आगे कुम्हार का टोला है
पगडंडी कुम्हार के टोले को जाती है
जहाँ हड्डी उगे लोग रहते हैं
चाक चलता है
कच्ची माटी रूपांतरित होती है
प्रार्थनाओं में।

मराठी कविता

सुरेश कुसूंबीवाल

गाँधी

उसकी तसवीर को छूकर
मुझे अकसर महसूस होता कि
मैं बरगद की बग़ल में खड़ा हो सकता हूँ

उसकी तसवीर को छूकर
मुझे अकसर लगता है कि
अगर हम चाहें तो
तोड़ सकते हैं
चक्रव्यूह

उसकी तसवीर को छूकर
मुझे अकसर लगता है कि
शक्ति भुजाओं में नहीं
इरादों में होती है

उसकी तसवीर को छूकर
मुझे अकसर लगता है कि
मनुष्य के होने का अर्थ
सिर्फ़ मैथून नहीं हो सकता

सुरेश कुसूंबीवाल का जन्म 1954 में हुआ। इनका एक कविता-संग्रह *खोल दो खिड़कियाँ* प्रकाशित है। संपर्क : रामेश्वर नगर, भुसावल-425201, जि. जलगाँव, (महा.)

उसकी तसवीर को छूकर
मुझे अकसर लगता है कि
अभी खोलना है
वह तहख़ाना
जहाँ क़ैद है प्रकाश

उसकी तसवीर को छूकर
मुझे अकसर लगता है कि
उग रही है
नर्म घास
मेरी हथेलियों में

उसकी तसवीर को छूकर
मुझे अकसर लगता है कि
मैं बनकर बादल
बरस सकता हूँ
और, रेगिस्तान को बना सकता हूँ
उद्यान

उसकी तसवीर को छूकर
मुझे अकसर लगता है कि
मुझे पी लेनी चाहिए
सारी बारूद
सारा विष, ताकि
उग सके
हर आँगन में फूल रंगबिरंगे, और
बनी रहे धरती उर्वरा

मनुष्य होने का मतलब

मनुष्य होने का मतलब है
अपने पाँवों पर खड़े होना
और, हाथों से सिर्फ़ हाथों का काम लेना

मनुष्य होने का मतलब है
अपनी रोटी बाँटकर खाना
और, ख़ुश होना

मनुष्य होने का मतलब है

ख़ुद सीढ़ी बनना
और, दूसरों को आगे बढ़ाना

मनुष्य होने का मतलब है
निरीह ख़रगोश को लोमड़ी से बचाना
और, गांडीव उठाना

मनुष्य होने का मतलब है
विकर्ण होना
और, कौरवों का विरोध हस्तिनापुर में करना

मनुष्य होने का मतलब है
आततायी की नंगी तलवार रोकना
और, गर्भस्थ परीक्षित को बचाना

मनुष्य होने का मतलब है
दधीचि बनना
और, मानव मात्र पर प्रेम करना।

डोगरी कविता

विजय वर्मा

श्रीकृष्ण

घर लौटते हुए
रास्ते में
बनती हुई इमारत के पास
भरी दोपहरी में
फटी हुई ओढ़नी की ओट में
एक टोकरी में
खेलते हुए बच्चे को देखकर
मैं ठिठक गया
किलकारियाँ भरते इस बच्चे में
तत्काल मुझे
श्रीकृष्ण की झलक मिली
अवाक् रह गया मैं।
किंतु!
यह परिदृश्य दूसरा था

1962 में जन्मे विजय वर्मा के एक कविता-संग्रह सहित चार पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : समाचारवाचक अनुवादक (डोगरी) समाचार सेवा प्रभाग, आकाशवाणी, नई दिल्ली

अनु. केवल गोस्वामी का जन्म 1940 में हुआ। चार कविता-संग्रह प्रकाशित। पंजाबी, डोगरी से हिंदी अनुवाद। संपर्क : जे-363, सरिता विहार, नई दिल्ली 110044

शीघ्र ही
मेरी भावनाओं पर
लग गया प्रश्न चिह्न
देखा जब
उसकी जननी
देवकी और वासुदेव को
गैंती और फावड़ा चलाते
पसीने से लथपथ।

यह श्रीकृष्ण
मौत से डरे हुए कंस की
सलाख़ों के भीतर
पैदा हुई
माँ-बाप की आठवीं संतान नहीं थी,
स्वतंत्र भारत में
स्वतंत्रता को भोगते
माँ-बाप की तीसरी संतान थी
जिसमें से एक
वहीं मिट्टी में लोट-पोट हो रही थी
और दूसरी खंदक में फिसलती हुई।

यह वासुदेव
यमुना पार करने के लिए नहीं
कर्तव्य की नदी पार करने
अपने श्रीकृष्ण को
दोनों बेटियों सहित
पाठशाला भेजने के लिए
कामरत थे देवकी के संग!

इनका कंस!
यह व्यवस्था थी
जहाँ चार हाथों के काम के बदले
नहीं मिलती
दो जून की भर पेट रोटी पर्याप्त
कपड़ा तन ढाँपने को।
ठेकेदारी-मेटदारी
इनके हिस्से की कमाई को
कुतर कुतर कर देती है इन्हें

इसलिए
इन श्रीकृष्ण के अधरों पर
दूध मलाई नहीं
शहद की बूँद लगी चूसनी है
एक भ्रामक क्रिया लगातार।

इन श्रीकृष्ण को
माखन चोरी का ज्ञान नहीं
इनकी झोंपड़ी से
बरसों पहले चुरा लिया था
किसी ने
इनके हिस्से का दूध।

इन श्रीकृष्ण पर
शेषनाग के फन की छाया नहीं
एक फटी ओढ़नी की ओट है
यमुना की लहर
नहीं आती इनके चरण स्पर्श को
कभी-कभार
इर्द-गिर्द उड़ती धूल
छू लेती है पैरों को।

ये देवकी वासुदेव
सहमे हुए नहीं,
बंदी नहीं
स्वतंत्र हैं पसीना बहाने के लिए
अपने श्रीकृष्ण की
टोकरी की ओर निहार कर
आश्वस्त हैं
दिहाड़ी कमाते हुए
इस आशा से
कि जग का उद्धार
उनके श्रीकृष्ण
संभव है
आरंभ करें अपने ही घर से
और जीवन के
इस महाभारत में विजयी हों वे।

स्वर्ण जयंति

राजधानी के कुछ भिखारी
राजपथ पर चलते-चलते
जा पहुँचे
विजय चौक के समारोह में
यह स्वतंत्रता की स्वर्ण जयंति थी
आलीशान जश्न!
नृत्य मग्न लोगों को देखकर
उनकी आँखों में भी
आ गई चमक।
किंतु
बहुत देर तक
जब उन्हें नसीब नहीं हुआ
अन्न का एक दाना,
थोड़ी जूठन,
तो जान गए वे
यह कुछ और ही है
शादी-ब्याह तो नहीं ही है
जहाँ मिले उन्हें भी
थोड़ा बचा-खुचा।
बेमन से
आज़ादी के गीत सुनते हुए
उसी रास्ते वे लौट गए
जहाँ इन गीतों की
इन धुनों की
प्रतिध्वनियाँ न पहुँचे
भूख का यह सफ़र
ना मालूम
आज़ादी के किस पड़ाव पर रुके।

मधुमक्खी

गुलदाउदी के फूलों का शहद
अभी शेष नहीं हुआ
क्योंकि
एक नन्हा-सा बच्चा

अभी भी
बड़ी शिद्दत से
चूस रहा है फूल।
उसकी आँखों में
तिरोहित होती भूख-संतुष्टि,
आच्छादित हो रही है एक साथ।
आकर्षित होता हूँ मैं
मधुमक्खी की ओर
जो फूलों के अंबार से
शहद के कूजे
ढोते-ढोते नहीं थकती।
न जाने क्यों
इधर नहीं बुहारी
कई दिनों से!
दूसरे ही क्षण
भिनभिनाती
एक क्रुद्ध मधुमक्खी
अपनी उपस्थिति दर्ज करते हुए
शरीर को छूती हुई
निकल जाती है
जैसे कह रही हो
विस्मृत नहीं किया मैंने
इन फूलों को
किंतु अब
वितृष्णा होती है
संचित करते हुए शहद
क्योंकि
सेवन कर मेरा संचित शहद
आदमी उगल रहा है
ज़हर
सिर्फ़ ज़हर हर कहीं।

सरहदें

क्षत-विक्षत पंखों से
एक मैना।
फड़फड़ाती हुई आ बैठी मुँडेर पर

जिसका तोता
युद्ध में गोली का शिकार हो गया था।
ना मालूम
किसकी गोली, किस ओर से
चीरती हुई निकल गई
और लोथ गिरी सरहद पर।
मैना के छितराए पंखों से
रक्त की बूँदें टपकती हैं
टप, टप, टप
भुरभुरी मिट्टी लील जाती है,
दो चार दस बूँदें रक्त
नहीं आता जो किसी सरहद के दायरे में।
सहमी हुई मैना
सोच रही है
क्यों आई मैं
जंगल छोड़कर बस्ती में, जहाँ
आदमी पगला गया है
सरहदों के जंजाल से घिरा,
मासूम तोतों की बोली
कब तक
इसकी करनी पर पर्दा डालेगी?
मैं नहीं जाऊँगी
इनके आँगन में
संभव है
क़ैद हो जाऊँ पिंजरे में
ये सब पिंजरों के हाथी हैं
इनकी सोच
ग़ुलामों और पागलो जैसी है।
भले ही
क्षत-विक्षत हैं मेरे पंख
फिर भी
चारों ओर खुला आकाश है
प्रकृति की ओढ़नी है
हरी-भरी
गुनगुनी, माँ की गोद जैसी
यहाँ कोई भेदभाव नहीं,
सीमाएँ या बंधन।

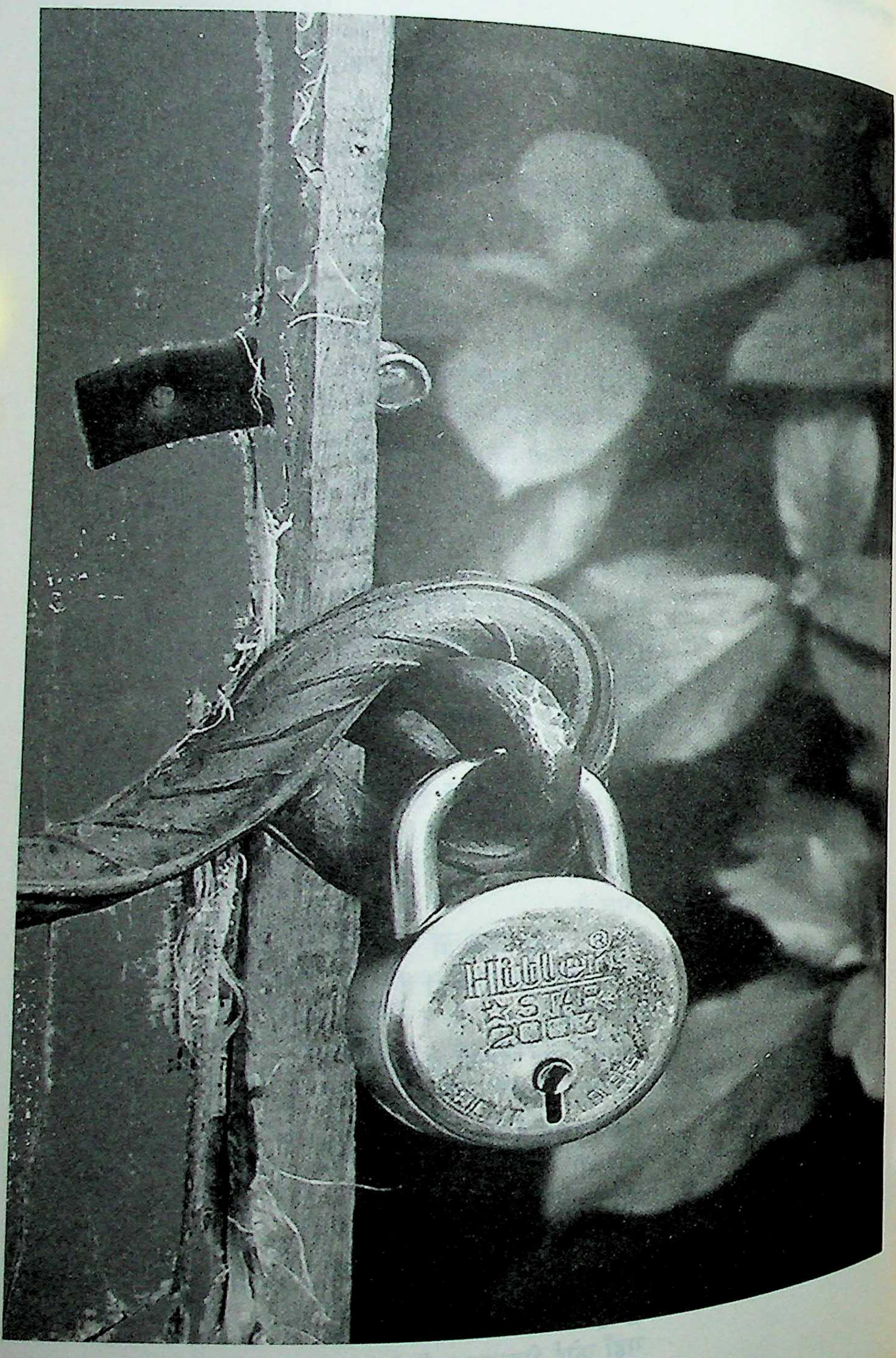
Hitler's
STAR
2003

धर्मवीर भारती के पत्र

पुष्पा भारती

15.12.57/साढ़े 7 बजे सायं

गाड़ी चलने के पहले जब पान की तलाश में हम गए थे तो मैंने तुमसे कहा था कि...पहली बार मैं न जाने कौन-सी प्रौढ़ता अनुभव करने लगा हूँ।...गाड़ी चलने के बाद मुझे नींद आ गई। मैं नहीं जानता कब सिरहाने अटैची पर रखा हुआ रजनीगंधा की मालाओं का पूरा पैकेट धक्के से मेरे माथे पर आ गिरा। मेरी नींद खुल गई और मुझे बिलकुल ध्यान नहीं था कि यह ट्रेन है—मैंने धीमे से अपने माथे पर अपने हाथ यों रखे कि कोई अंजलि रजनीगंधा के फूलों की मिलेगी—पर नहीं—वहाँ केवल वे मालाएँ थीं जो ट्रेन में धक्के से माथे पर आ गिरी थीं।

और उसके बाद नींद नहीं आई। ट्रेन की भयानक धड़धड़ के बीच केवल एक ध्वनि मुझे सुनाई पड़ रही थी, रजनीगंधा की अगणित ताज़ी कलियों का झरझर गिरना...उलझे रूखे केशों से फिसलती हुई कलियाँ सिमटे आँचल के खुलते छोरों से गिरती हुई कलियाँ, बेले की उभरी राशियों की मध्यवर्ती गहराई से झरती कलियाँ, और उन कलियों के मंद मर्मर की लय पर अंधकार में घुलता हुआ एक मींड़ की तरह काँपता—अस्पष्ट, अदृश्य जिस्म! वह स्वर बाहर कहीं से नहीं आ रहा था—तेरे तन के अंदर वह जैसे कणकण, रोम-रोम में बिंधा हुआ था।

लगता है जैसे नियति ने निर्णय ले लिया है। गहरा, अटल, अमिट! और लगता है जैसे आज से सब कुछ इसीलिए है कि वह निर्णय चरितार्थ हो, किसी अगले जन्म-जन्मांतर या अज्ञात भविष्य में नहीं वरन् इसी जन्म में! हमारे पार्थिव और मानसिक अस्तित्व दो नहीं हो सकते। उनके अलग होते ही विकृति और कायरता पनपती है। रजनीगंधा के झरते हुए फूलों ने उस दिन यही कहा था—और मैं उससे प्रतिश्रुत हूँ।

समय की इस नदी के धूमिल प्रवाह के किनारे बैठकर मैं प्रतीक्षारत हूँ। इंतज़ार कर रहा हूँ। कभी मैंने इसे आशीर्वाद दिया था कि घाट के पत्थरों को छोड़कर बह जाओ। वह अब स्थगित है। अब तो प्रतीक्षा कर रहा हूँ। समय का प्रवाह अगर वस्तुओं को मुझ तक नहीं लाता तो मुँह लटकाकर शाम को किनारे से उदास लौट आने का इरादा अब नहीं है। समय के प्रवाह को उलटने का

पुष्पा भारती का जन्म 1935 में हुआ। इनकी आधुनिक साहित्य बोध, रोमांचक सत्य कथाएँ, धर्मवीर भारती की साहित्य साधना उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। संपर्क : 5, शाकुंतल, साहित्य सहवास, बांद्रा (पूर्व), मुंबई

हौसला रखता हूँ। और आज तक जिसका इरादा किया, उसे अधूरा नहीं छोड़ा।

मेरी एक कविता थी जिसमें एक घर की छाया मुझसे कहती है, ''लौटोगे अपनी हर यात्रा के बाद यहीं!'' वही अब मैं कहता हूँ। तुम्हें या जिसे, जो यात्रा करनी हो, कर ले, अंत में यहीं लौटना है, यहीं लौटना है!

16.12.57

अभी स्टेशन जाकर एक एक्सप्रेस डिलीवरी लिफ़ाफ़ा डालकर लौटा हूँ। कालका मेल जा चुकी थी। बंबई मेल जाने वाली थी। शिक्षायतन में ख़त पहुँचा होगा।

कालका मेल जिससे मैं आया था—आज 4 घंटे लेट पहुँचा। अतः सुबह की गोष्ठी में शामिल नहीं हो सका। शाम की गोष्ठी में बेहद इंतज़ार था मेरा। नहाते, कपड़े बदलते शाम की गोष्ठी का समय हो गया। गया उसमें। गोष्ठी ख़त्म होते-होते सात बज गए। सर्दी आजकल यहाँ कल्पनातीत है। कलकत्ते से यहाँ की कल्पना ही नहीं हो सकती। ख़ैर। लौट कर साढ़े सात बजे ख़त लिखा। स्टेशन जाकर छोड़ना इस सर्दी में मरणांतक कष्ट था। पर जाना था और छोड़ना ही था। बेचारा रामस्वरूप स्टेशन तक चलने को राज़ी हुआ। वहाँ मालूम हुआ बॉम्बे मेल की डाक बँध गई है। अब गाड़ी में ही छोड़ना होगा और बॉम्बे मेल है दो घंटे लेट। क्या करें? इतने में आर.एम.एस. के एक बहुत पुराने सहपाठी दिखे। उन्होंने ख़त लिया। उसमें एक्सप्रेस डिलीवरी का टिकट लगवाया। और कहा आप जाएँ। जो आदमी आर.एम.एस. का यहाँ से जा रहा है, वही इसका सारा प्रबंध कर देगा। उन्होंने आश्वासन दिलाया कि सोमवार की शाम को यह यथास्थान पहुँच जाएगा।

मैंने रास्ते में ही मुग़लसराय में ख़त छोड़ा होता—पर गाड़ी इतनी लेट पहुँची थी कि वहाँ भी छोड़ने से कोई लाभ नहीं था। फिर आर.एम.एस. जाना भी कठिन था।

इस समय रात के ग्यारह बजे हैं। शमशेर बहादुर सिंह, शंभूनाथ सिंह और तमाम लोग आए थे। अभी-अभी गए हैं।

इतना लिखते-लिखते बेहद गहरी नींद आ गई और मैं बिना बिजली बुझाए ही सो गया। न कोई सपना, न कोई ख़याल! क्या सुबह तीन बजे भी आज किसी ने मुझे याद नहीं किया! लगता है रविवार को ख़ूब थककर सोई हो। हाँ सुनो, कल रात बड़ा मज़ा आया। उस गोष्ठी में—थोड़ी देर बाद श्यामलता जी और उनकी दीदी—डॉ. कंचन लता सब्बरवाल—हॉल में आईं और मंच के सामने से होती हुई महिलाओं में जाकर बैठ गईं। थोड़ी देर बाद मैं उठकर हॉल के बाहर जहाँ तमाम लोग निकलकर टहल रहे थे। मैं भी निकलकर टहलने लगा। थोड़ी देर बाद वे दोनों भी निकलीं और बिलकुल सामने से होती हुईं जाकर अपनी गाड़ी के पास खड़ी हो गईं। मैंने ऐसा दिखाया गोया मैं जानता ही नहीं—पहचानता ही नहीं—आराम से टहलता रहा, पान खाता रहा, लोगों से प्रेमपूर्वक बातें करता रहा। थोड़ी देर बाद देखा कि राजेंद्र यादव उनके पास खड़े बातें कर रहे हैं। मैं मन ही मन हँसता रहा। बताओ, एक झूठ छिपाने के लिए सौ झूठ कल्पित करने से क्या लाभ? अंत में जब मैं नहीं ही गया तो उन्होंने राजेंद्र यादव को वहाँ भेजा। यादव मुझे बुला ले गया। तब उन्होंने इसकी बेहद शिकायत की कि वे दो बार सामने से गुज़रीं तब भी मैं उनसे मिलने क्यों नहीं आया, एक बार उन्होंने संकेत भी दिया, आदि-आदि।

मन में तो आया कि कह दूँ... पर कुछ सोच कर चुप रह गया। कहने लगीं, मैं तो आप से जी खोलकर लड़ना चाहती थी, आपको इसीलिए छेड़ कर ख़त भी लिखा पर आपने तो तुरंत हथियार डाल दिए—मैंने सिर्फ़ इतना ही कहा, ''मैंने लड़ने की आदत छोड़ दी है।'' बस! यह

कैसे बताता कि लड़ने की सारी क्षमता बचाकर रख रहा हूँ क्योंकि जानता हूँ एक दिन मुझे लड़ना पड़ेगा—पता नहीं किससे किससे—जब नीलकमल मंडित बेले की सुगंध भरी राशियाँ जो मेरी हैं, केवल मेरी, केवल मेरी, केवल मेरी—वे छौने को झूलने लगेंगी, उस दिन बकौल Prospice के—I have been a fighter all my life so one fight more, the best and the last...इसीलिए अब किसी से इधर-उधर लड़ाई करता नहीं घूमता। योद्धा की सिद्धि एक लक्ष्य और उस एक लक्ष्य के भी निश्चित बिंदु को जाने बिना गहन शून्य में निरुद्देश्य छोड़े गए तीर की तरह कहाँ तक भटकूँगा? क्यों भटकूँगा? न! रजनीगंधा के नशीले संगमरमरी फूलों से गुँथे तेज़ नुकीले फूल तीर की तरह पैठता जाऊँगा—पहले अगस्त्य पुष्पों जैसे पाँवों में, उनमें से होता हुआ सीधे वेतसलता के अंजलिबद्ध गुलाबों तक, और वहाँ से तन के कण-कण में, मन के प्रत्येक स्पंदन में—प्रत्येक श्वास प्रश्वास में—प्रत्येक क्षण में—क्योंकि कण-कण क्षण-क्षण मैं ले चुका हूँ—सब मेरा है, निर्बंध, बाधाहीन मेरा है मेरा! केवल मेरा! शेष जो भी है वह मुझमें होकर है, मुझसे परे नहीं है! मुझे छोड़कर नहीं है!

मैंने कई बार तुम्हें बताया है पुस्सन—कि अकसर हमारी ममता के चरम उद्‌बुद्ध क्षणों में हम न जाने कितने संबंधों की विविध प्रकृतियों का मिला-जुला स्वाद पाते हैं और उनकी व्याख्या करना चाहें तो कहते हैं इसमें वात्सल्य भी है—करुणा भी है, सख्य भी है, प्रीति भी है और... पर एक अनुभूति और भी होती है—जहाँ राग की समस्त प्रवृत्तियाँ, उनके नाम रूप-मात्र आवरण लगते हैं और यह कहना कि यह भावना अमुक है अमुक है—या अमुक और अमुक का मिश्रण है, यह सब केवल उस भावना को आवरण से ढँकना या पोशाकें पहनाना है। कहीं न कहीं ये सारे आवरण निरर्थक लगने लगते हैं और हमारा अस्तित्व इनका तिरस्कार कर देता है। और उस गहन अनुभूति के अत्यंत तीव्र पीड़क क्षण में केवल एक वस्तु शेष रहती है, इन सब

आवरणों से परे जो हम हैं—वास्तव में—मूलभूत रूप हमारा जो इन समस्त सांसारिक रिश्ते बनने के पहले था और इन समस्त सांसारिक रिश्तों के टूटने के बाद भी रहेगा। ये रिश्ते तो हमने होश सँभालने के बाद बनाए—हम तो उसके पहले भी थे (और यह जो हम हैं—इन सबके परे 'वह' केवल आत्मा नहीं है—वह एक सुनिश्चित अस्तित्व है जिसमें हमारी सारी चेतना प्रक्रिया हमारे जिस्म के कण-कण रोम-रोम से गुँथी हुई है—दोनों अलग नहीं है—एक हैं—एकमेक) तो यह जो हमारा अस्तित्व है मन और तन को अपने में एक करके घुलाए हुए—बराबर तो वह अस्तित्व सांसारिक रिश्तों, रागात्मक संबंधों की परिधि में घूमता रहता है, वह उनकी सीमाएँ हैं, माँ का, पुत्र का, बहन का, भाई का, हाँ, पति और पत्नी का भी, पर कहीं वह इन समस्त सीमाओं को उठाकर एक ओर रख देता है—और हमारा संपूर्ण अस्तित्व निर्बंध रूप से इसके किसी संपूर्ण अस्तित्व के सीमाहीन रूप में एकाकार हो जाता है। अगर नहीं भी एकाकार होता तो भी हम यदि यह अनुभव भी करते हैं कि एक संपूर्ण सीमाहीन अस्तित्व—सारे सांसारिक संबंधों के परे, वात्सल्य के परे, करुणा के परे, मैत्री और प्रीति के परे, दांपत्य भाव के भी परे, हर क्षण हमारे साथ चल रहा है—तो मन में जाने कैसा अदम्य उत्साह जाने कैसा उल्लास भर जाता है!...सांख्य में पढ़ता था कि पहले समस्त सृष्टि में मात्र शून्य था, दो तत्त्व पुरुष और प्रकृति के सामंजस्य से अकस्मात् फूल खिल गए, नदियाँ बहने लगीं, धूप जगमगाने लगी, चाँद उग आया, रजनीगंधा फूलने लगी... ग़ौर करो पुस्सन—'पुरुष' को उसने किसी भी सांसारिक संबंधों वाली संज्ञा से अभिहित नहीं किया—और दूसरे तत्त्व को भी उसने किसी नाम रूप में बाँधकर केवल 'प्रकृति' कहा—नारी भी नहीं—केवल प्रकृति! (क्योंकि नारी में कुछ जन्मजात दुर्बलताएँ होती हैं और इसीलिए उस दिन जब तुमने पूछा था कि यह क्या मुझे मालूम नहीं—तुम बार-बार क्यों बताते हो? क्यों पूछते हो? तो मैंने कहा था इसलिए कि after all you are a woman!) पर पता नहीं क्यों उस दिन जब तमसाच्छन्न नीरवता को झकोरती हुई अगणित रजनीगंधा की कलियाँ झरझर केशों से, आँचल में से, वेतसलता के गुलाबों के अंतराल से—गिरने लगीं उस क्षण जैसे एक ग्रंथि और खुल गई—तुम नारी भी नहीं रहीं, प्रकृति—मात्र प्रकृति—(शक्ति आद्यरूपिणी)

Now, do you remember that strange poem–whose few lines you picked up and read out and I was astonished to find that these were the very lines that charmed me...

"These were not real. This only was real, beyond all surmise of why and how: her questioning thighs enfolding their own response, her body's warm agony charged with oblivion her final kiss...

Can I forget all this..."

...No, I can not forget, never, never! लौटते समय जिस दिन मैं आ रहा था, बड़ा बाज़ार क्षेत्र के भयंकर ट्रैफ़िक जैम में फँसी हमारी गाड़ी—और उस अनंत प्रवाह के बीच स्थिरता का वह क्षण—and not only thighs but the whole existence (body and soul and all) questioning and questioning and enfolding in their own response...

यह अपनी प्रतिक्रियाओं से दूसरे के व्यक्तित्व को चारों ओर से आच्छादित कर लेने की बात भी कैसी अजीब है। मुख से एक शब्द नहीं, कभी-कभी जिस्म में भी कोई हरकत नहीं—यहाँ तक कि आँखों की चमक और ओंठों का स्पंदन भी नहीं—फिर भी एक व्यक्तित्व दूसरे को धूम्रवलय की तरह घेर लेता है। जकड़ लेता है। कस लेता है।

और मैं प्रतिक्षण अपने को पिया हुआ, कसा हुआ अनुभव करता हूँ...तो इसमें अस्वाभाविक क्या है?

हिंदी कविता

गंगाप्रसाद विमल

लोग

(i)

अकेले अकेले देखता हूँ मैं लोगों को
अपने एकांत से उनके एकांत में

वे अकेले ही ठेलते हैं वक़्त
झेलते हैं प्रारब्ध
अकेले ही सहते हुए अपना एकांत
वे पूरा करते हैं कर्म चक्र
वहीं से फिर शुरू हो जाता है वर्तमान
अतीत में तब्दील होता हुआ।

अकेले ही पाता हूँ भीड़
कई अकेलों का समूह
वे समूह तक तो सामूहिक होते हैं और
तत्काल फिर अकेले
वे जानते हैं एकदम सच की तरह
कुछ है जो भीड़ को नहीं
उन्हें ही जीना है मर मर कर

जैसे वे अकेले आए हैं अकेले अंधकार से
वैसे ही बिला जाएँगे वे
अकेले अंधकार में।

(ii)

उन कईयों को जानता था मैं एक से
यानी एक की तरह ही थे वे
एक ही तरह से सज्जित
अपने एकाकीपन से लज्जित

उनकी पोशाकें अभिन्न
सोच-विचार अभिन्न
वे एक ही तरह से लड़ते थे सबसे
लड़ते थे तो कहते थे दुश्मन
मरते थे तो परम सत्ता

गंगाप्रसाद विमल का जन्म 1939 में हुआ। इनके 12 कहानी-संग्रह, सात कविता-संग्रह, चार उपन्यास और अनेक पुस्तकें प्रकाशित। कई संस्थाओं से सम्मानित। संपर्क : 112, साउथ [illegible] अपार्टमेंट्स, कालका जी, नई दिल्ली 110019

हारते थे तो दुम दबा स्वीकारते थे प्रभुता
जब कुछ नहीं होता
तो वे मानते थे सब कुछ

वे मेरी सदी में आए
मेरे पैदा होते ही
बने मेरे अभिन्न
आत्मीय थे सभी के

माना उन्होंने सबको
सब सही ही छले गए
कहते गए कुछ नहीं
जब भी लौटेंगे
वे फिर कईयों की तरह लौटेंगे
फिर फिर जाने के लिए

ऐसा अटूट है उनका एकपन
लौटने और जाने की
निश्चिति से अभिशप्त...

(iii)

पंक्तिबद्ध हैं वे
अभिशप्त
सब कुछ छिपाए हुए पोशाक से
बस सिर्फ़ दीखते हैं तो उनके गले
पंक्तिबद्ध आते हैं वे
कटवाते हुए अपने गले
धड़ धड़ गिरते हैं फिर
पंच तत्त्व में मिलने के लिए

वे आते ही इस ख़ातिर हैं कि
तलवार वार करती रहे
कभी कहीं विराम न हो
अविराम वे कटते रहें
चलती रहे सृष्टि

अकेले कटते हैं वे
अकेले अकेले खटकर
देखो देखो उन्हें भीड़ में
वे पैदा हुए हैं कटने के लिए

व्यवस्थाएँ उन्हें काटती हैं सत्ताएँ
सत्ताएँ स्थापित होने के लिए
मजबूर हैं उन्हें काटने के लिए
और मजबूर हैं इसके अलावा
कटना ही नियति है....

(iv)

आजकल उन्हें पाता हूँ भीड़ में
उत्सव में देखता हूँ उनके मातमी भय
बेपरवाह वे अपने शत्रु की
पूजा में व्यस्त हैं धर्ममंडलियों में

उकताए उनके चेहरे
चमत्कार के इंतज़ार में
बेहद झुके विनम्र
झरता है उनका ग़ुस्सा हर उच्चारण में
वे ज़ोरों से

तालियाँ पीट गा रहे हैं टेक
जानते हुए यह आख़िरी नहीं
उन्हें तब तक दुहराना पड़ेगा
जब तक शत्रु आश्वस्त न हो जाए
कि अब केवल धकियाने से
ज़मींदोज़ हो सकेंगे वे

वे उत्सवों में खपते हैं और
मरते भी उत्सवों में हैं

उनकी अंतिम यात्राएँ
दूसरों के लिए बनती हैं
उत्सव
भीड़ भरे
जहाँ नए रंगरूट
जगह ले रहे हैं...

(v)

कामनाओं ने उन्हें मारा
मारा जन्म ने
ग़रीबी ने मारा बाज़ार में

मरने के लिए जन्मे वे
पलते हुए मरे
हर हाल में मरना ही था उन्हें
इसलिए भी मरे

मरते सब हैं पर वे
कुछ ख़ास थे अपने मामूलीपन में
दूसरों को औज़ारों के
एकदम अनुकूल थे इतने
वे मरने के लिए बने थे ठोस
औज़ार तो ढीलमढाम थे
न भी चलते वे ज़रूर मरते
दुनिया के बम निर्माता ख़ुश हैं वे
मरते ही हैं बिना बम चले

वे मरते हैं अपने यहाँ दूसरों की
ज़मीन पर
दरिद्रता की प्रयोगशालाओं के निर्माता
बढ़ा रहे हैं जगह
वे भी बढ़ रहे हैं संस्था में
बढ़ ही रहे हैं घटनाक्रम
मरने के...

सदानंद साही

कुएँ

पृथ्वी के अंतःकरण की तरलता के
आख्यान थे

वे हमारी प्यास बुझाते थे
अंतःकरण की गहनता और शीतलता का भान कराते थे

धीरे-धीरे सूखते गए
मुहल्ले के कूड़ेदान बने वे

अब भठाए जा रहे हैं कुएँ

अंतःकरण का आयतन संक्षिप्त[1] था
अब संक्षिप्त से संक्षिप्ततर होता जा रहा है।

सदानंद साही जी की रचनाएँ, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : वी डी ए फ़्लैट्स, एच 2/3, नरिया, बी. एच. यू. वाराणसी-221005

---

[1] मुक्ति बोध की पंक्ति

शेष मिलने पर

चिट्ठियों में कुशल-क्षेम लिखने और पूछने के बाद
कुछ तात्कालिक रूप से ज़रूरी बातें लिख लेने के बाद
ऐसा क्या कुछ बच जाता है
जिसके लिए लिखना पड़ता है
'शेष मिलने पर'

ऐसा क्या कुछ उमड़ता-घुमड़ता है कि हम
लिख ही डालते हैं
तीन शब्दों का महाकाव्य!

ज़रूरी नहीं कि मिलने पर
ठीक-ठीक वे ही बातें याद रहें
और कह दी जाएँ
और कहीं याद रह गईं वे ही शेष बातें
और मिलने पर कह भी दी गईं
तो भी ज़रूरी नहीं कि
फिर आगे कहने के लिए
कुछ शेष न बचे

ज़रूरी यह भी नहीं कि
मिलने पर हम कुछ कहें ही
संभव है हम मिलें तो
केवल मौसम के बारे में कुछ बेख़ास बातें करते रहें
या फूलों और रंगों के बारे में यों ही कुछ बोलें या कहें
या फिर यह भी संभव है
कि मिलने पर न कुछ बोलें न कुछ कहें
बैठकर पीते रहें चाय
और उठकर चल दें चुपचाप
यह सोचते हुए कि शेष बातें कह लेंगे
फिर मिलने पर

तमाम ज़रूरी बातें लिख लेने के बाद
यह जो बचा रह जाता है
बेख़ास-सा शेष
इसमें फिर से मिलने की हसरत भी है
और उम्मीद भी

इसी उम्मीद की रोशनी में
झलकता है वह आदमी
जो तमाम आपा-धापी मारपीट के बावजूद
शेष रह गया है।

कृष्ण कुमार रत्तू

अकाल में मृत्युभोज

इन दिनों—
आमंत्रण का मौसम है।
धरती पर तपता है,
थार का दरिया
नंगे पाँव हैं, हम सब
अकाल में मृत्युभोज पर जाते हुए।
ऊँचे उड़ते बादलों के पीछे
कौन है, वो—
जो हंस सबको नियंत्रण कर रहा है
जानते हो ?
रूठ गया है—
इधर मेघ का आना
तरस गई है, पूरी ढ़ाणी बूँद-बूँद पानी को
लगता है—
पृथ्वी आत्महत्या कर रही है।
तब तो बरसोगे, आँसुओं के बहाने,
तुम इतने निरीह और बेगाने क्यों हो गए हो।
कभी तो बरसो,
उजाड़ बियाबान में उदास हैं, चेहरे
रेत का दरिया है, तपता हुआ
कोई झाड़ी नहीं
अबाबील नहीं
दूर तक छितरी हुई आकृतियाँ भी नहीं
किसके साए को
अपना कहें—
इन दिनों
बहुत कुछ ख़त्म हो जाता है
तपते महीनों में,

हिंदी-पंजाबी के रचनाकार कृष्ण कुमार रत्तू का जन्म 1954 में हुआ। इनके कई उपन्यास, कहानी-संग्रह तथा कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : 9/850, मालवीय नगर, जयपुर 302017

बहुत कुछ ख़त्म हो जाता है,
जो लौटता नहीं है
जो सिर्फ़ याद रहता है
और कहूँ तो
याद भी क्या?
अब बस इतना-सा है
रेत में बिना परछाई
सब कुछ दफ़न-सा हो जाता है
हर वर्ष—
आमंत्रण होते हैं—
धूप और रेत के
फ़सल बिना ख़ाली खेत के
कोई नहीं जानता
पिछले वर्ष क्या हुआ था आगे क्या होगा
क्योंकि जानते हैं सब लोग
लाल, पीले, नीले, हरे रंगों
में मालूस हैं
अंतिम रस्म में
वो नहीं जानते
यह तो हर वर्ष आती है
परंतु तपती धूप में
उड़ती बालू में
मृत्युभोज का आमंत्रण प्राप्त होना
कैसा होता है
वे नहीं जानते
इन दिनों
वे क्यों ज़िंदा हैं?
इस तपती दोपहर में
अलसाए हुए
डरे हुए, सहमे हुए
रेत है, तपती है, उड़ती है
और बहुत कुछ को
इन दिनों
अपने साथ दफ़न कर लेती—
इस तरह चलता है सिलसिला
सरकारी आश्वासन की तरह
पचास वर्षों से नहीं

शताब्दियों से है, यह दास्तां
क्यों नहीं तुम कहते
इन दिनों अकाल है
और अकाल में मृत्युभोज वर्जित है
मैं जानता हूँ
तुम यह नहीं करोगे,
क्योंकि तुम देवताओं के प्रकोप से डरते हो
और रेत में सड़ते हो,
इन दिनों।

अशोक शाह

बरखवा ओनिये भुलाई

पानी के ऊपर मचलती हुई मछली की तरह
ओस से पटी सुबह की दूब पर
उछलती हुई गेंद की तरह
रात भर सुगंध बिखेर भोर में
धरती पर गिरती हुई रातरानी के फूल की तरह
बहती हुई हवा की तरह
पकती हुई फ़सल की तरह
हँसती हुई बच्ची की तरह

विदा हो गई जीवन की उमंग
मन को बासी कर गई

ऑक्सीजन भरी हवा
और हवा भरी गेंद के साथ
तब पूछते थे ढेर सारे प्रश्न
और रोज़ दुनिया बदल देते थे
मास्टर साहब के एक-एक शब्द
हमीं थे तब दुनिया के सबसे बड़े जानकार
सूरज को सीधा चलने और
वर्षा को दूर जाकर बरसने की सलाह देते थे—
'एक पईसा की लाई
बुढ़िया गाल में चोराई
बरखा ओनिये भुलाईं'

गुम हो गई वे ऋतुएँ जिनमें
खुले पहाड़ की तरह हँसते थे पिता

अशोक शाह का जन्म 1964 में हुआ। कविता एवं कहानियों की चार पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : डी-एक्स बी-2, चार इमली, भोपाल-462016 (म.प्र.)

अलकनंदा की तरह खिलखिलाती थी माँ
जब नीम के दातुन थे
बथुए का साग था
सुवास बिखेरती बनती हुई गोभी की सब्ज़ी थी
दिवाली का उत्साह और दशहरा की भक्ति थी

बड़े-बड़े पेड़ों से उतरती
धूप सेंकती सुबहें थीं
गुली-डंडा के दिन थे
रामलीला की रातें थीं
हरेक शाम की अपनी कुछ बातें थीं
पहरे पर आसमान था
जागती हुई ज़मीन थी।

भीड़ भरी बस में चढ़ते धकियाते
विदा हो गई जीवन की वह उमंग
एक पैर पायदान पर
दूसरे को छोड़ती सड़क पर।

दे दो पानी

ऐ घुमड़ते मेघ
थमकर थोड़ा बरस जाते
मेरे कहने से भी

छोटा किंतु परिग्रहों से मुक्त,
मैं भी हूँ जीव इसी धरती का
जिसके गुरुत्वाकर्षण के आँगन में
तुम डोलते हो इधर-उधर
जिनकी संघनित ऊष्मा से तुम पैदा हुए
ये सारे वृक्ष मेरे ही परिजन हैं

जानते हैं ये भी
इनकी और तुम्हारी जड़ें एक ही हैं
एक ही है वह तत्त्व जो तुममें
उड़ रहा है पंख बनकर
और दौड़ रहा है इनकी रगों में रस बनकर

ज़्यादा ऊँचे पर मत जाओ
पाँव तुम्हारे धरती में ही हैं
जानता हूँ तुम बरसोगे ही

इसके पहले कि कोई राजा-रानी
मंदिर पहुँचे और करे स्वांग
और पहन लें अपने माथे पर मुकुट की तरह
जीवन के प्राकृतिक अधिकार
फिर वृक्षों के पत्ते और किसानों के माथे से
स्वेद पोंछने का रचे प्रपंच
बरस जाओ ना, मेरे कहने से भी

अपना पानी मुझको दे दो
मेरा पानी तुम रख लो।

शैलेंद्र कुमार त्रिपाठी

एक अदद

मेरी अपनी छाया से
मैं कितना डरता
कौन जानता।
एक अदद कवि क्या कर सकता
कितना मरता
कौन जानता।
जनता है तो बेचारी है,
जनता है तो लाचारी है,
तीसमार खाँ, सबके सब हैं
जनता है, तो बीमारी है
कौन जानता।
क़लम कहीं पर कुछ लिख जाती
दिखना था कुछ, कुछ दिख जाती
पन्ने-पन्ने पाती-पाती—
यहाँ वहाँ फिर कहाँ न जाती
कौन जानता।

1965 में जन्मे शैलेंद्र कुमार त्रिपाठी की चार समीक्षा तथा तीन संपादित पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : 18, नीचू बँगला, हिंदी भवन परिसर, हिंदी भवन, शांतिनिकेतन 731235, पं. बंगाल

तीन बच्चे

स्कूल से आते हैं बच्चे;
लौटने के बाद स्कूल से
एक खेत में चला जाता है

दूसरा खेलने चला जाता है
तीसरा आराम करता है
आराम करने वाला भाग्य विधाता है
खेलने वाला फेल होकर भी देश-देश खेल रहा है
तीसरा अभी भी खेत में है

कविता

नहीं महज है,
तुम समझे थे बहुत सहज है
कविता लिखना।
सभी दिशाएँ भावहीन हैं
एक-एक के तीन-तीन हैं
गति यति तुक विराम मात्रा से
शब्द सभी हो रहे दीन हैं।
देश उगा है हर कंधे पर;
हर कोई अपने धंधे पर,
राम राज्य लाने को रावण
लंका में बैठा मलीन है।
बने मक़बरे आदर्शों के
क्या कर सकते
आकृतियों में संस्कारों का भाव भरे
कब किसे ग़रज़ है?
घोर तमस में सविता लिखना
कहाँ सहज है।
नहीं महज है
तुम समझे थे बहुत सहज है
कविता लिखना।

कष्ट

पीछे देखने पर
नहीं होता कष्ट।
योग्य अधिक योग्य
पंक्ति में हैं खड़े
मुझसे हैं बहुत वे बड़े।
नहीं मिला, अवसर उन्हें आगे जाने का।

कष्ट है फिर भी मुझे
देखता जब कभी आगे
बढ़ गए हैं जो अभागे
भ्रष्ट जन, रक्तबीजों की तरह
किस तरह, यह कष्ट है
और प्रश्न भी।

ज्योतिकृष्ण वर्मा

अस्तित्व

बहुत सँभालकर
कुछ मज़दूरों ने
उतारा था उस मूर्ति को
चबूतरे से
जिसकी ऊँचाई
अब कम हो चली थी;
आदेश मिला था उन्हें
चबूतरे को कुछ और ऊँचा करके
दोबारा उस मूर्ति को
वहीं स्थापित करने का
ऐसी कितनी ही मूर्तियाँ
और धँस चुकी इमारतें
अब तक
ऊँची कर चुके थे वे
छोटे लोग!

मुट्ठी भर

गगनचुंबी इमारतें
पसरी हैं शहर में
और
इंतज़ार है जिन्हें
अपने हिस्से के
मुट्ठी भर आसमाँ का
रह रहे वो

अब भी
झोंपड़ियों में।

तुम

मीठी लगती है
कोयल की कूक
और चाँदनी
शीतल

जैसे छेड़ते हों
ख़ामोश बयार को
बादल

जैसे डाले हो डेरा
नीले आसमाँ में
इंद्रधनुष

बल खाती नदी
मानो बहा ले जाती है
फ़िक्र को दूर
किसी वीरान जंगल में

जब साथ होती हो
तुम।

अभिधा

आँखों-आँखों में
ख़ामोश रहकर
करते थे बातें
हम, तुम कितनी।
और समझ लेते थे
बातें अनकही भी
दांपत्य के इतने बरस बाद
भूल गए हम
मौन की भाषा
याद रह गई
सिर्फ़ अभिधा।

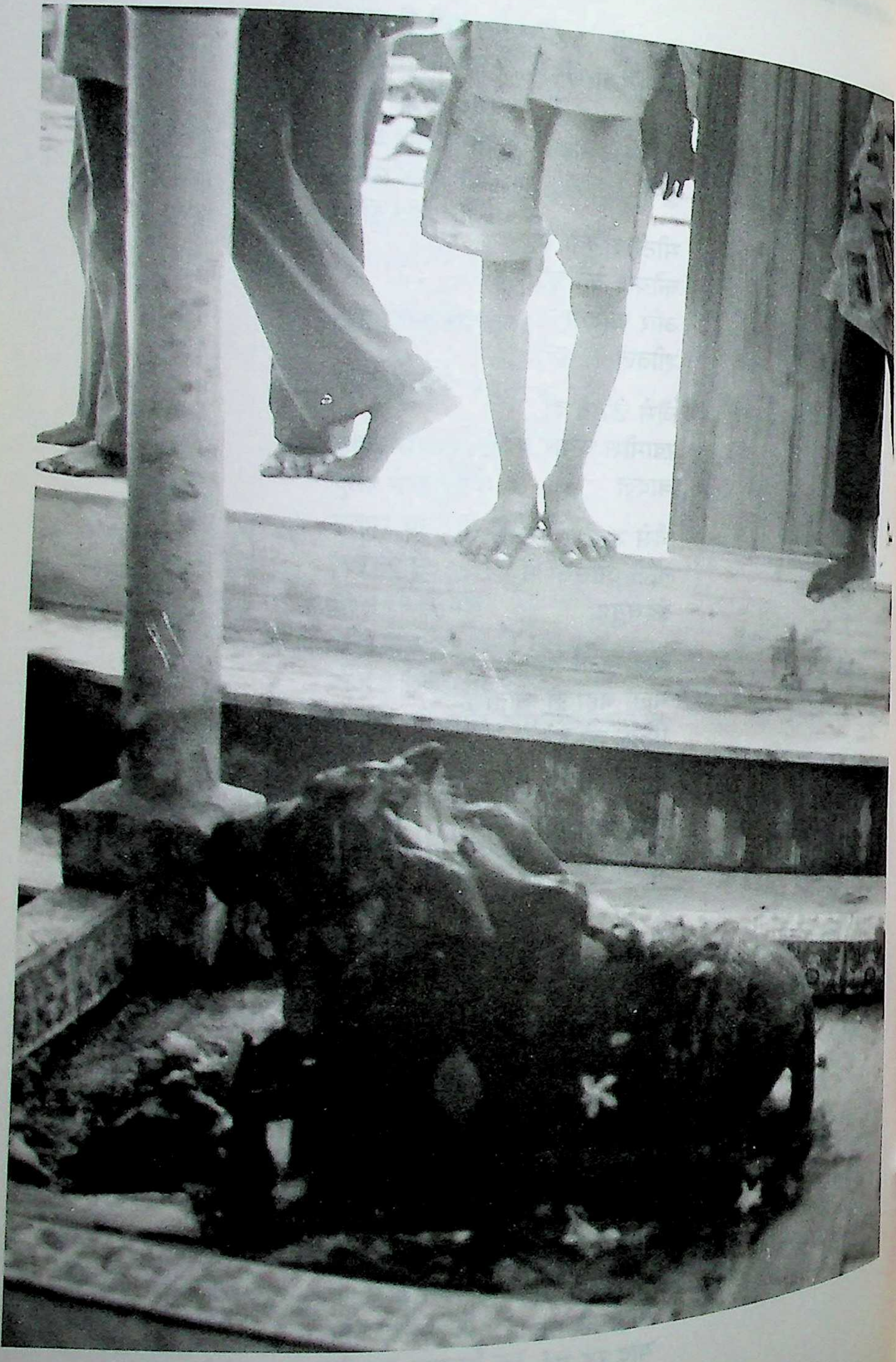

डॉ. आर. एस. सर्राजु

अंतिम दशक के तेलुगु उपन्यास

आर. एस. सर्राजु का जन्म 1958 में हुआ। तीन आलोचना और अनुवाद पुस्तकें प्रकाशित। मानव संसाधन विकास मंत्रालय से पुरस्कृत। संपर्क: रीडर, हिंदी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद-500046

विश्व की आर्थिक, राजनैतिक स्थितियों से लेकर विभिन्न प्रदेशों की विशेष प्रादेशिक समस्याओं तक, व्यक्तियों की आकांक्षाओं से लेकर सामाजिक जीवन की चेतना के विकास के विभिन्न चरणों तक पिछले दस वर्षों में आंध्र के सामाजिक जीवन में संपन्न कई परिणामों का चित्रण अंतिम दशक के तेलुगु उपन्यास में हुआ है। व्यक्ति से लेकर समाज तक सारी चेतना को नियंत्रित करनेवाले अनेक आयामों को इसी दशक में अभिव्यक्त किया गया। इस क्रम में दबी पड़ी जनता की अनेक श्रेणियाँ स्वतंत्र रूप से सोचने लगीं। इसके पहले जनता की ये श्रेणियाँ व्यापक राजनैतिक आचरण या सामाजिक आदर्शों के विविध स्तरों से जुड़ी हुई थीं। अब आंध्र समाज की विस्मृत और तिरस्कृत इन श्रेणियों में 1990 के बाद अपने अस्तित्व की चेतना जागी। आंध्र की पिछड़ी हुई इन श्रेणियों में; इससे पहले व्यापक अस्तित्व में अपना अस्तित्व खोई इन श्रेणियों में, अपने आपको प्रस्तुत करने की प्रबल इच्छा दिखाई देती है। फलतः तेलुगु उपन्यास के इस दशक में जनता का हर वर्ग अपनी और अपने प्रदेश की समस्याओं को अभिव्यक्त करने लगा। भूमंडलीकरण के कारण आंध्र के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों के जीवन में द्रुतगति से परिणमन संपन्न हो रहा है। आंध्र के लघु अस्तित्व इस परिणमन के क्रम में अपनी बहुलताओं की आवाज़ सुनाते हुए, अपने महत्त्व को स्पष्ट करते हुए आगे बढ़ रहे हैं।

इस क्रम में अंतिम दशक में प्रकाशित तेलुगु उपन्यास को नारीवादी उपन्यास, दलित उपन्यास, प्रादेशिक विशेषताओं को अभिव्यक्त करनेवाले उपन्यास, (बोलियों में लिखित) ऐतिहासिक उपन्यास, मार्क्सवादी क्रांतिकारी जीवन को चित्रित करनेवाले उपन्यास, आदिवासी जीवन-चित्रण करनेवाले उपन्यास, मध्यवर्गीय जीवन, प्रेम और सुकुमार संवेदनाओं का चित्रण करनेवाले उपन्यास, स्वतंत्रता आंदोलन की पृष्ठभूमि में लिखित उपन्यास और विज्ञान गल्प आदि उप-शीर्षकों के अंतर्गत रख सकते हैं। प्रकाशन वर्ष की दृष्टि से देखें तो कुछ उपन्यासों का प्रकाशन इस कालावधि के पूर्व ही पत्र-पत्रिकाओं में हो चुका था। फिर भी स्वतंत्र उपन्यास के रूप में ऐसे उपन्यासों का प्रथम मुद्रण इस कालावधि (1991-

2000) में होने के कारण उनको भी विश्लेषण के लिए स्वीकार किया गया है।

महिलाओं के जीवन की समस्याओं को लेकर, पितृसत्तात्मक; पुरुषवादी दमन का विश्लेषण करते हुए इस कालावधि में उपन्यासों का प्रणयन हुआ है। बचपन से नारियों के जीवन को नियंत्रित करनेवाली जो स्थिति परिवार और समाज में दिखाई देती है; उसके प्रति आक्रोश और विरोध व्यक्त करते हुए लेखिका वोल्गा ने अपनी क़लम उठाई। *आकाशंलो सगम (आसमान में आधा)* इनका उल्लेखनीय उपन्यास है। *सहजा* में पुरुष सत्तावादी समाज में विवाह के बाद नारी के जीवन में आनेवाले परिणामों का चित्रण किया है। भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले पतियों के अनुरूप पत्नियों के द्वारा अपनाए जानेवाले समझौते के रास्तों का चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। *मानवी* में पुरुषवादी पितृसत्तात्मक समाज के विरुद्ध नारी का आक्रोश, नारी की मानवतापूर्ण बनने की आकांक्षा की अभिव्यक्ति इस उपन्यास में हुई है। *कन्नीटिकेरटाल वेन्नल (आँसुओं के लहरों की चाँदनी)* इस पुरुष समाज को मनुष्यों का समाज बनाने के आशय से लिखित उपन्यास है। इस उपन्यास की विशेषता यह है कि इसमें सर्वप्रथम विश्व की फ़िल्मी दुनिया का परिचय आंध्र के पाठकों को दिया गया है। *गुलाबीलु (गुलाब)* पर्यावरण की चेतना, अंतर्राष्ट्रीय द्रव्यनिधि (आई. एम. एफ.) विश्व बैंक, नवीन आर्थिक नीतियाँ, विकसित, विकासशील, अल्प-विकसित राष्ट्रों का प्रस्ताव दिखाई देता है।

आंध्र के नारीवादी उपन्यासों को नया मोड़ देनेवाले उपन्यास हैं, अरुणा के द्वारा लिखित *एल्लि* और *नीली*। वास्तव में एक बृहद उपन्यास का ही प्रकाशन *एल्लि* और *नीली* नामों से दो भागों में हुआ है। प्रथम भाग *एल्लि* के प्रकाशन के बाद चार साल बाद *नीली* नाम से दूसरे भाग का प्रकाशन हुआ। यह उपन्यास एक दलित नारीवादी उपन्यास है। यह धारणा शुरू से प्रचलित थी कि नारीवाद सिर्फ़ शहरी मध्यवर्गीय परिवारों तक ही सीमित रह गया है और समाज के सभी वर्गों की स्त्रियों, मुख्य रूप से दलित स्त्रियों के प्रति ध्यान नहीं दिया जा रहा है। नारियों की समस्याओं में यद्यपि विश्वजनीनता दिखाई देती है फिर भी विशेष राजनैतिक परिस्थितियों में किन्हीं प्रदेशों, देशों, जातियों, धर्मों और वर्णों से संबंधित विविधताओं को समझे बिना;सभी स्त्रियों की समस्याओं को एक ही दृष्टि से एक ही प्रकार की समस्याओं के रूप में देखना सही नहीं है। इसी समझ के बल पर प्रथम दलित नारीवादी उपन्यास के रूप में *एल्लि* का प्रकाशन हुआ है। उच्च और मध्यवर्गीय नारियों की तुलना में दलित स्त्रियों की समस्या अत्यंत पीड़ादायक होती है। इसी कथ्य का प्रतिपादन इस उपन्यास में हुआ है। मालच्चिमी, वाणी, पारोती, दुरगा, एल्लि, नीली आदि नारी पात्रों का चित्रण कई आयामों से इन उपन्यासों में किया गया है। *एल्लि* के माध्यम से स्पष्ट किया गया है कि नारी को पराधीन नहीं रहना चाहिए और *नीली* के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि नारियों को स्वयं निर्णय लेने के अधिकार के बल पर सिर उठाकर जीना चाहिए।

आमे अडविनि जयिंचिंदि गीतांजलि द्वारा लिखित नारीवादी उपन्यास है; जिसमें परिवार व्यवस्था, जाति, लिंग, मानव-संबंध, नैतिक मूल्य-इन सबका समाज-मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। स्त्री-पुरुष संबंधों के बीच फैले हुए अमानवीय अंशों की चर्चा करते हुए मानव व्यवहार और प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में सक्रिय सामाजिकता की खोज इस उपन्यास में की गई है। उपन्यास की नायिका 'संध्या' मानव संबंधों और अमानवीय संबंधों के कारण मानसिक क्षोभ का अनुभव करती है। फिर भी वह नकारात्मक दृष्टि नहीं अपनाती है। सुस्पष्ट समझ के बल पर वह अपने परिवार पर पितृसत्तात्मक व्यवस्था की छायाओं को पहचानती

है और एक डॉक्टर के रूप में समाज के लिए उपयोगी ढंग से अपने लक्ष्यों का निर्धारण कर लेती है। दलित और पीड़ित स्त्रियों की मानसिक समस्याओं को दूर करने के लिए मानसिक स्वास्थ्य केंद्र शुरू करती है। हिप्नोटिज़्म और साइकियाट्री का समन्वय करते हुए लोगों के सामने विभिन्न प्रदर्शनों के बल पर नारी-चेतना जागृत करने का प्रयास करती है और अंततः मार्क्सवादी समझ के साथ काम करनेवाली नारी मुक्ति संस्था में सदस्यता लेती है और अपने लक्ष्य में नए मूल्यों को जोड़ती है।

गीता लक्ष्मी द्वारा लिखित उपन्यास है जिसमें गीता नाम की नारी को केंद्र में रखकर धोखा खानेवाली नारी के रूप में गीता के जीवन-संघर्ष का चित्रण किया गया है। मुख्य रूप से नारी का स्वाभिमान, त्याग और प्रेम की शक्ति का परिचय इस उपन्यास के द्वारा मिलता है।

कुंतीपुत्रिका शारदा अशोकवर्धन द्वारा लिखित उपन्यास है। इसमें कुछ विशेष परिस्थितियों में श्रीधर नीलिमा से शादी करने से इनकार करता है और नीलिमा समाज के सामने सिर नहीं झुकाती और बेटी को जन्म देती है। नीलिमा की शादी पवन से होती है। दोनों मिलकर बेटी का पालन-पोषण करते हैं। इस समाज में विवाह के बिना कोई माँ बनना नहीं चाहती लेकिन यदि किन्हीं परिस्थितियों में कोई लड़की माँ बन जाती है तो उसका जीवन संघर्षपूर्ण हो जाता है और नीलिमा का जीवन इसी संघर्ष का प्रतीक है।

मळ्ळी तेल्लवारिंदि (फिर सवेरा हुआ), वासिरेड्डी सीतादेवी द्वारा लिखित उपन्यास है। उपन्यास की सुंदरम्मा बंध्या स्त्री नहीं है। उसकी छह संतान हैं। अपनी संतान के लिए वह निरंतर श्रम करती है और उसके भविष्य के लिए तड़पती है, अंततः वृद्धों के आश्रम में आकर कहती है कि मेरा अपना कोई नहीं है। मैं बंध्या हूँ। *नन्नुवेळ्ळिपोनीरा (मुझे जाने दो रे)* के. रामलक्ष्मी द्वारा लिखित उपन्यास है जिसमें अमेरिका में रहनेवाले पुत्र का परिवार माँ सुंदरम्मा की उपेक्षा

करता है। उनकी उपेक्षा और व्यवहार से माँ सुंदरम्मा पीड़ा का अनुभव करती है, फिर भारत वापस आने के लिए तैयार हो जाती है।

मनसुन मनसै (दिल का दिल बनकर) बी. कामेश्वरी द्वारा लिखित उपन्यास है। जिसमें मध्यवर्गीय महिलाओं के जीवन में आनेवाले वास्तविक परिणमनों के प्रति ध्यान देते हुए, स्त्री-पुरुष संबंधों में आनेवाले वांछनीय और अवांछनीय, पारंपरिक और आधुनिक, शुभ और अशुभ परिणामों का चित्रण किया गया है। मध्यवर्गीय जीवन संकट में पड़ गया है। सम्मिलित परिवार टूट गए हैं। पीढ़ियों के बीच व्यवधान बढ़ गया है। नौकरी करनेवाली विवाहित और अविवाहित महिलाएँ तरह-तरह की समस्याओं का सामना कर रही हैं। माँ-बाप, सास-ससुर, रिश्तेदार, मित्र, सांस्कृतिक विरासत, अधिकार आदि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से महिलाओं के जीवन पर प्रभाव दिखा रहे हैं। जाति, धर्म, दहेज़, सुंदरता, ओहदा, उपभोक्ता आदि मध्य-वर्गीय व्यक्तियों में उथल-पुथल मचा रहे हैं। मानव संबंधों में बेचैनी का पालन-पोषण, विवाह, प्रेम, दांपत्य जीवन ये सब प्रबंध-शास्त्र की सीमाओं में आ गए हैं। अब परिवार की समस्याओं के संदर्भ में उठनेवाली शिकायतों को लेकर नई परिभाषा सामने आने लगी कि 'मैनेज' कर लेना चाहिए। इसी दृष्टि के बल पर इस उपन्यास में वर्तमान मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन और नारी समस्याओं को देखने का प्रयास किया गया है।

आकाशंलो विभजन रेखलु लेवु (आसमान में विभाजक रेखाएँ नहीं हैं)—डॉ. सुजाता रेड्डी द्वारा लिखित उपन्यास में स्त्री-पुरुष संबंधों को भिन्न दृष्टि से समीक्षा करने का प्रयास किया गया है। क्या इस दुनिया में सिर्फ़ पुरुष ही अधिकार चलाते हुए स्त्री को पीड़ित कर रहा है? इस प्रश्न के उत्तर की खोज में स्त्रियों पर पुरुष के और पुरुषों पर स्त्री के अत्याचारों का चित्रण किया गया है। आजकल नारीवाद के नाम पर देश और विदेश के विचारों के आलोक में व्यक्तित्वों को प्रभावित करते हुए अतिवादी दृष्टि से सामने आनेवाले और वास्तविकता से दूर विचारों की समीक्षा इस उपन्यास में की गई है। स्त्री और पुरुष दोनों के बीच में समानता, स्वेच्छा और समरसतापूर्ण सहजीवन होना चाहिए। इसके बल पर ही दुनिया, देश और समाज में शांति फैलेगी, लोगों को सुख मिलेगा और मानव का अस्तित्व बना रहेगा। पुरुष के लिए स्त्री और स्त्री के लिए पुरुष की ज़रूरत है। उनके मध्य आपसी प्रेम और मित्रता हो। प्रकृति विरुद्ध विचारधारा मनुष्य की उन्नति और उसके अस्तित्व को ख़तरे में डालती है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष संबंधों को सकारात्मक दृष्टि से इस उपन्यास में देखा गया है। इन नारीवादी उपन्यासों के अतिरिक्त सी. सुजाता द्वारा लिखित *सुप्त भुजंगालु (सुप्त भुजंग)*, मल्लादि सुब्बम्मा द्वारा लिखित *कांति किरणालु (रोशनी की किरण)*, *वंशांकुरम* विवेच्य अवधि के अन्य नारीवादी उपन्यास हैं। *सुंदर स्वप्नम (सुंदर सपना)* गोविंदराजु सीतादेवी द्वारा लिखित उपन्यास है; जिसमें तीन पीढ़ियों का नारियों की कहानी के माध्यम से परिवर्तनशील जीवन की स्थितियों का रेखांकन किया गया है।

दलित जीवन को समस्याओं को कथावस्तु के रूप में स्वीकार करने के बाद तेलुगु उपन्यास साहित्य को व्यापकता मिली। ख़ुद दलित रचनाकार अपने जीवन के अनुभव और अपनी समझ के बल पर उपन्यास लिखने लगे और अपना आक्रोश उपन्यासों के माध्यम से व्यक्त करने लगे। दूसरी ओर दलितेतर उपन्यासकारों ने भी दलित जीवन को कथावस्तु के रूप में स्वीकार करते हुए दलितों की चेतना को चित्रित करने का प्रयास किया है। वर्ण व्यवस्था की जड़ों की खोज आर्थिक और राजनैतिक संरचना

समझने का प्रयास, सामाजिक और धार्मिक विचारधारा की भूमिका, उपेक्षा और शोषण के विरुद्ध दलितों की आवाज़ और उनका आक्रोश आदि ने इस दशक के तेलुगु दलित उपन्यास साहित्य को आधार प्रदान किया। बच्चों से लेकर बड़ों तक, नारियों से लेकर पुरुषों तक, कृषकों से लेकर कर्मचारियों तक वर्णव्यवस्था के कारण दलित कई स्तरों पर दबाव का अनुभव कर रहे हैं। इस दबाव और अपमान के विरोध की विभिन्न पद्धतियों का चित्रण विशेष रूप से इन उपन्यासों में किया गया है।

इस दिशा में चिलिकूरि देवपुत्र द्वारा लिखित *पंचमम, अद्दमुलो चंदमामा।* जी. कल्याणराव द्वारा लिखित *अंटारानिवसंतम,* जी. मोहनराव द्वारा लिखित *खाकीबतुकुलु* उल्लेखनीय हैं।

पंचमम में स्पष्ट किया गया है कि रोज़गार या शिक्षा के क्षेत्र में आरक्षण के नाम पर दो-चार लोगों को स्थान दिलाने मात्र से दलितों का जीवन नहीं सुधरेगा। दलितों में सामूहिक चेतना की आवश्यकता है। *अद्दमुलो चंदमामा (आईने में चंद्रमा)* में लैंड सीलिंग क़ानून और बची हुई ज़मीन का बँटवारा आदि का चित्रण किया गया है। बेचैन जनता में आशाओं को जागृत करने और चुनावों में मतदाता दलितों पर असर डालने के अतिरिक्त इन योजनाओं का कोई लाभ नहीं है। ज़मीन से जुड़ी दलित समस्याओं के बल पर इस उपन्यास के कथ्य का निर्माण हुआ है। अनंतपुरम ज़िले के किसी छोटे गाँव में रहनेवाले ग़रीब महर (माला) जाति के 'चिन्नोडू' का ज़मीन के लिए तड़प का चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। सरकारी काग़ज़ात के मिलने के बावजूद अपनी ज़मीन में वह पाँव नहीं रख पाता। अंततः संघर्ष में ही वह समाप्त हो जाता है।

अंटरानिवसंतं (अछूत वसंत) जी. कल्याण राव द्वारा लिखित महाकाव्यात्मक उपन्यास है जिसमें नेल्लूर, कडपा और प्रकाशम ज़िलों के मध्य में स्थित 'वेन्नलदिन्ने' नामक गाँव से शुरू होकर आवलपाडू गाँव में समाप्त होनेवाले छह पीढ़ियों के दलित महर (माला) जाति के इतिहास के विभिन्न आयामों का व्यापक चित्रण किया गया है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों के सामाजिक परिणमन की प्रक्रिया और महरों की बस्ती पर उसके प्रभाव का चित्रण इस उपन्यास का कथ्य है। भारतीय भाषाओं में दलित जीवन का इस तरह से व्यापक चित्रण करने का यह प्रथम प्रयास है। पहली पीढ़ी के पति-पत्नी एर्रेंकडु-लिंगालु; दूसरी पीढ़ी के एल्लन्ना-सुभद्रा; तीसरी पीढ़ी के शिवय्या-शशिरेखा; चौथी पीढ़ी के रूबेन-रूत; पाँचवीं पीढ़ी के इम्मानियेलु-मेरीसुवार्ता; छठी पीढ़ी के जेस्सी-रूबी—इन छह पीढ़ियों के दलित जीवन का चित्रण इस उपन्यास में सशक्त रूप में किया गया है।

खाकी बतुकुलु जी. मोहनराव का उपन्यास है जिसमें पुलिस के जीवन की पीड़ाओं का व्यापक चित्रण किया गया है। तेलुगु साहित्य में ही नहीं भारतीय साहित्य में भी अब तक इस प्रकार के उपन्यास का सृजन नहीं हुआ है। आम लोगों के लिए अपरिचित पुलिस के जीवन का अंदर और बाहर से अनुभव करने के बाद; उसके सभी पक्षों का चित्रण मोहनराव ने किया है। यह पुलिस की दुर्बलता, उसका आक्रोश, उस पर दमन, परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर उनका दबकर रह जाना; कुल मिलाकर पुलिस कॉन्स्टेबल के जीवन का समग्र चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। जनतंत्र को बचानेवाली पुलिस व्यवस्था में जनतांत्रिक दृष्टि का समाप्त हो जाना; पुलिस को क्रूर बनानेवाले अधिकारियों का व्यवहार आदि का चित्रण भी इसमें किया गया है। इस उपन्यास का प्रधान पात्र प्रकाशम है। 1940 में ब्रिटिश राज में पुलिस कॉन्स्टेबल के रूप में जीवन यात्रा प्रारंभ करता है। 1975 के आपातकाल में नौकरी से इसको हटाया जाता है। प्रकाशम दलित है—जो पुलिस कॉन्स्टेबल की नौकरी से अपना जीवन प्रारंभ करता है।

एक दलित युवक के रूप में भी प्रकाशम की पीड़ा का चित्रण इसमें हमें दिखाई देता है।

इन उपन्यासों के अतिरिक्त दलित उपन्यासकारों द्वारा लिखित उपन्यासों में नासरय्या के द्वारा लिखित— *पोरूबाटा (संघर्ष का पथ)*, *मदिग पल्ले (चमारों की बस्ती)* विवेच्य काल में उल्लेखनीय उपन्यास हैं जिसमें भूस्वामियों के अत्याचारों और दलित जातियों में विकसित चेतना का चित्रण किया गया है। *सांवय्या चट्टबु* कालुव मल्लय्या द्वारा लिखित उपन्यास है, जिसमें आंध्र प्रदेश के तेलंगाना इलाक़े के ग्रामीण और शहरी जीवन में संपन्न परिवर्तनों के साथ दलितों की समस्याओं का विशेष चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में स्वातंत्र्योत्तर दलित पीढ़ी की शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा और शिक्षा प्राप्त करते समय सामना करनेवाले संघर्ष का चित्रण हुआ है। *कक्का* वेमुल एल्लय्या द्वारा लिखित दलित उपन्यास है जिसमें तेलंगाना की बोली में दलित जीवन के संघर्ष का चित्रण किया गया है। यह उपन्यास ऐसी विशुद्ध बोली में लिखा गया है कि इसको समझना ख़ुद तेलुगु भाषा-भाषी के लिए भी कठिन हो जाता है।

दलितेतर उपन्यासकारों ने भी दलित जीवन का चित्रण करते हुए उपन्यासों का प्रणयन किया है, जिनमें डॉ. मुदिगोंडा सुजाता रेड्डी द्वारा लिखित *संकेळ्ळु तेगायि*, गोपराजु नागेश्वर राव का *दंडेम मीदिचिलकलु*, डॉ. केशव रेड्डी का *चिवरि गुडिसे*, उल्लेखनीय है। *संकेळ्ळु तेगायि (ज़ंजीरे टूट गईं)* उपन्यास में नारायण निम्न जाति का युवक है। अपनी जाति के पेशे में उसकी रुचि नहीं थी। शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा से वह शहर आता है। क्रमशः परिचित व्यक्तियों की सहायता से अपने अनुभवों के बल पर धीरे-धीरे जाति के बंधनों को तोड़ते हुए एक नागरिक के रूप में विकसित होता है। वह उन आंदोलनों में विश्वास नहीं रखता जो हिंसा को प्रेरित करते हैं और किसी प्रकार का हल प्रस्तुत नहीं करते हैं। नारायण का विश्वास है कि श्रम और साधना के बल पर ज़ंजीरों के बंधनों को काटा जा सकता है। *चिवरि गुडिसे (आख़िरी झोंपड़ी)* में अनुसूचित जनजाति के मन्नु गाड्डु नामक व्यक्ति के जीवन संघर्ष का चित्रण किया गया है। *दंडेम मीदि चिलकलु* परिवर्तनशील परिस्थितियों में भी अपरिवर्तित आचार-व्यवहारों और दलित और पिछड़े हुए वर्गों में उभरी हुई नई चेतना और समाज में फैलती जा रही अशांति का चित्रण किया गया है।

अंतिम दशक तक आते-आते आंध्र प्रदेश की राजनीति में काफ़ी परिवर्तन हुआ। जनता के नए वर्गों में नई शक्तियाँ बलवती होती गईं और शासक वर्गों में ये शक्तियाँ जुड़ गई हैं। इसलिए शासन करनेवाले वर्गों में विभिन्न समूहों के बीच सत्ता प्राप्त करने के लिए जहाँ एक ओर संघर्ष होने लगा वहाँ दूसरी ओर नक्सलवादी आंदोलन का भी प्रभाव आंध्र के जनजीवन पर दिखाई देता है।

महीधर राममोहन राव द्वारा लिखित *ज्वाला तोरणम* उपन्यास में गाँव में फैले हुए सामंती संबंध, जाति-भेद, नारियों पर दमन, अधिकार लोलुपता आदि के ख़िलाफ़ चलनेवाले, राष्ट्रीय आंदोलन की धारा के समानांतर आंध्र के एक गाँव के संघर्ष और आंदोलनों का चित्रण किया गया है। साठ साल पहले के आंध्र प्रदेश की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों का परिचय देते हुए उसमें प्रगतिशील व्यक्तियों की भूमिका को इस उपन्यास में स्पष्ट किया गया है।

बतुकु पुस्तकम (जीवन की किताब) कालुव मल्लया द्वारा लिखित उपन्यास है, जिसमें आंध्र प्रदेश के तेलंगाना इलाक़े के पिछले पचास वर्षों के ग्रामीण राजनैतिक, सामाजिक जीवन के परिणमन के विभिन्न आयामों का चित्रण किया गया है। *उत्कळम (उत्कल)* ए. अप्पलनायुडु

द्वारा लिखित उपन्यास है जिसमें कलिंग आंध्र का आंध्र के श्रीकाकुलम और विशाखापत्तनम ज़िले के इलाक़ों की ज़मींदारीकाल से लेकर वर्तमान काल तक की कहानी कही गई है। लगभग साठ दशकों के एक ही परिवार से संबंधित चार पीढ़ियों के व्यक्तियों की कहानी इस उपन्यास में है। अंग्रेज़ों का शासन, उनके प्रतिनिधि के रूप में सामंती राजाओं, ज़मींदारों का शासन, कांग्रेस के नेतृत्व में स्वतंत्रता आंदोलन, स्वातंत्र्योत्तर युग में शोषण की स्थिति, उसकी प्रतिक्रिया में श्रीकाकुलम में नक्सलवादी आंदोलन का व्यापक चित्रण इस उपन्यास में है।

अन्नलु (भाई) पुलुगु श्रीनिवास द्वारा लिखित उपन्यास है जिसमें तेलंगाना प्रदेश के वारंगल और करीमनगर ज़िले के सीमावर्ती स्थानों की पृष्ठभूमि में 1990 में संपन्न तेलंगाना आंदोलन के सभी आयामों का चित्रण किया गया है।

वेकुवपूलू (सुबह के फूल) एस. जतिन कुमार द्वारा लिखित उपन्यास है जिसमें सातवें दशक में आंध्र प्रदेश में 1967 में; शुरुआत श्रीकाकुलम आंदोलन के प्रभाव के अधीन उभरे हुए आंदोलन, विद्यार्थियों का आंदोलन, नागरिकों के अधिकारों के लिए आंदोलन, आदि का चित्रण किया गया है; जिनमें विद्यार्थियों ने उत्साह के साथ भाग लिया था। वे इस समाज को बदलने की ज़िम्मेदारी अपनी भुजाओं पर लेते हुए पढ़ाई और जीवन का त्याग कर क्रांतिकारी आंदोलन का हिस्सा बन गए थे।

अतडु (वह) अल्लूं राजय्या द्वारा लिखित उपन्यास है जिसमें कोयले की खदानों में काम करनेवाले कोमरय्या की मृत्यु मालिकों की लापरवाही से होती है।

चलपति ज़िंदाबाद में रायसम वेंकटरामय्या द्वारा लिखित राजनैतिक व्यंग्यात्मक उपन्यास है। इस उपन्यास का प्रधान पात्र चलपति एक व्यक्ति नहीं; एक व्यवस्था का प्रतिनिधि पात्र है। वह आम समाज में असाधारण व्यक्तित्व वाला व्यक्ति है। वह लोगों को धक्का देते हुए, पाँवों से कुचलते हुए आगे बढ़ता जाता है। एक आम आंध्र के आदमी में अंतर्निहित कमज़ोर सुप्त चेतना को बाहर लाकर, हर पल पैसा कमाने के बारे में सोचनेवाले व्यक्ति के रूप में, चलपति नामक पात्र का चित्रण करते हुए रचनाकार ने आज के राजनीतिक जीवन की विडंबनाओं को प्रस्तुत किया है।

रिग्गिग, कोम्मी रेड्डी विश्वमोहन रेड्डी द्वारा लिखित उपन्यास जिसमें विश्व में बड़े जनतंत्र के रूप में ख्याति प्राप्त भारत की चुनावों की व्यवस्था की कमज़ोरियों को दिखाते हुए चुनाव की प्रक्रिया के खोखलेपन का चित्रण किया गया है।

आंध्र प्रदेश में मद्यपान के विरुद्ध आंदोलन चला। इसी पृष्ठभूमि पर लिखित उपन्यास *अगम्य गम्यम* में उपन्यासकार चावा शिवकोटी ने शराब के व्यापार की दुनिया का चित्रण किया है जिसमें सिर्फ़ पैसे की ही प्रधानता होती है। मंत्री, पुलिस, न्यायव्यवस्था सबको अपने हाथों में लेकर शराब के सम्राट जनता की सेवा करने के लिए तैयार हो जाते हैं और राजनीतिक नेता बन जाते हैं। शराब की कंपनियाँ चलानेवाला एलतापि सत्ती नामक व्यक्ति अंततः सत्यनारायण के रूप में परिवर्तित हो जाता है। *पुलिजूदम* शक्ति द्वारा लिखित उपन्यास है, जिसमें शराब विरोधी आंदोलन का चित्रण किया गया है। आंदोलन की पृष्ठभूमि, आंदोलन के विकास की दिशाएँ, सरकार का दमन, कम्यूनिस्ट, सी. पी. आई., सी. पी. एम. पार्टियों की भूमिका आदि का व्यापक चित्रण इस उपन्यास में किया गया है।

पुनर्वासम ए. अप्पल नायडु द्वारा लिखित उपन्यास में आदिवासी आंदोलन की पृष्ठभूमि में आदिवासियों को पहाड़ों से नीचे लाकर पुनः मैदानों में कॉलोनी बनवाकर बसाने की प्रक्रिया का चित्रण किया गया है। पुनः बसाने की प्रक्रिया में सरलीकृत आर्थिक नीतियों के आलोक में

आई. टी. डी. ए. (समीकृत आदिवासी विकास प्राधिकरण) की स्थापना करना और कुछ कल्याणकारी योजनाओं को लागू करना और इन योजनाओं के खोखलेपन आदि का चित्रण इस उपन्यास में किया गया है।

अडवितल्लि (जंगल की माँ) पुलुगु श्रीनिवास द्वारा लिखित उपन्यास है। जिसमें आदिवासी गोंड नेता कोमुरम भीम की पत्नी सोमबाई और एक पत्रकार के जीवन का चित्रण किया गया है।

रेगड़ि वित्तुलु चंद्रलता द्वारा लिखित उपन्यास है। जिसको हम तेलुगु उपन्यास के इस दशक की उपलब्धि मान सकते हैं। इस उपन्यास का संबंध कृषक जीवन से है। लेखिका इस उपन्यास के माध्यम से मनुष्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक उत्पादन की चेतना को जागृत करने की दिशा में प्रेरणा देती है। इस उपन्यास में आंध्र में प्रचलित बोलियों का भी प्रयोग किया गया है। इस उपन्यास में न केवल कृषक और मिट्टी के संबंध का चित्रण हुआ है बल्कि प्रवासीय जीवन की समस्याओं का भी चित्रण हुआ है।

मध्यवर्गीय जीवन और प्रेम और सुकुमार संवेदनों का चित्रण करनेवाले उपन्यास भी इस दशक में लिखे गए हैं। इस श्रेणी के उपन्यासकारों में नवीन का नाम उल्लेखनीय है, जिनके नौ उपन्यासों का प्रकाशन इस कालावधि में हुआ है। *करुणा, दागुड्डमूतलु, मौन रागालु, प्रत्यूषा, तीरनिदाहम, चीकटि मूसिन एकांतमुलो, अंतः स्रवंति मनोरण्यम, दृक्कोणालू* विवेच्य अवधि में प्रकाशित नवीन के उपन्यास हैं। नवीन के उपन्यासों की विशेषता यह है कि वे अपने उपन्यासों में पात्रों का चित्रण मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में करते हैं।

अन्नल्लारा ना तप्पेमिटि के. रामलक्ष्मी द्वारा लिखित उपन्यास है जिसमें कुछ ऐसे मनुष्यों का चित्रण किया गया है, जिनको समाज में जीवनयापन करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। *मुत्यालपल्लकी,* गोविंदराजु सीतादेवी द्वारा लिखित उपन्यास है। जिसमें दादा के सपने को पोता मुरलीधर मोतियों की पालकी में बैठाकर पूरा करता है। *प्रेम बंधम* डॉ. वासा प्रभावति द्वारा लिखा गया उपन्यास है। इसमें वर-वधु का चयन बचपन में ही किया जाता है। लेकिन परवर्ती जीवन में उनके बड़े होने के बाद समस्याएँ उठती हैं।

अपर्णा गोविंदराजु सीतादेवी द्वारा लिखित उपन्यास है। जिसमें मध्यवर्गीय जीवन में रहनेवाली असंतृप्ति व अपनी आर्थिक सीमाओं से परे इच्छाओं के कारण उत्पन्न होनेवाली समस्याओं का चित्रण किया गया है। *मिस मधुमती* उन्हीं के द्वारा लिखित उपन्यास है। इसमें वधु के चयन में परिवार के बड़े लोगों के हस्तक्षेप से उत्पन्न होनेवाली समस्याओं और जीवन साथी के चयन में युवक-युवतियों की राय, सही मित्रता का मूल्य आदि का चित्रण किया गया है।

पट्नम वच्चिन पल्ले, भूपाल द्वारा लिखित उपन्यास है। उपन्यास, कहानी और पत्र लेखन- इन तीनों विधाओं का मिश्रण करते हुए भूपाल ने इस उपन्यास लेखन में नया प्रयोग किया है।

अवनिलो हरिविल्लू उन्नव विजयलक्ष्मी द्वारा लिखित उपन्यास है जिसमें व्यक्तियों के जीवन पर अर्थव्यवस्था के पड़नेवाले प्रभावों का चित्रण किया गया है। किसी पराए घर में ग़ुलाम के रूप में काम करते हुए जीवन बितानेवाले व्यक्ति के व्यक्तित्व में स्थान लेनेवाला भय, निरुत्साह आदि का चित्रण भी इस उपन्यास में किया गया है।

शुभोदय, उन्नव विजयलक्ष्मी का ही उपन्यास है। इसमें स्वतंत्रता पूर्व के वंदेमातरम आंदोलन से लेकर आज तक के बीते हुए काल में संपन्न परिवर्तनों का चित्रण किया गया है।

उषोदयम भी उन्नव विजयलक्ष्मी का उपन्यास है। इसका प्रणयन मानसिक प्रदूषण को दूर करने के आशय से किया गया है और इसकी विषय-वस्तु में ग्रामीण विकास की योजनाओं को स्थान दिया गया है।

तिज्ञा नीलिमकु पेळ्ळि अय्यिंदि, (नीलिमा शादी हो गई) इन्हीं के द्वारा लिखित इस के अन्य उपन्यास हैं।

नू-चीकटी (मैं और अँधेरा), तपन (तड़प), भट्ल वेणुगोपाल द्वारा लिखित उपन्यास 'तपन' में हमारे देश में आजकल विवाह स्था के पतन हो जाने का चित्रण किया गया द घोस्ट काकानी चक्रपाणि और गोविंदराज धर द्वारा लिखित उपन्यास है। इसमें व्यापार दृष्टि से साहित्य लेखन करनेवाले लेखक नहीं, घोस्ट लेखकों से लिखवाकर अपने से छपवाकर पैसे कमाने और सच्चे रचनाकारों शोषण करने का चित्रण किया गया है।

गु उपन्यास साहित्य के अंतिम दशक में कोंडा विश्वनाथ शास्त्री के अंतिम और त्वपूर्ण उपन्यास इल्लू *(घर)* का प्रकाशन । इस उपन्यास में स्पष्ट किया गया है कि कुछ लोगों के लिए रहने का स्थान है और लोगों के लिए ज़रूर कमाने योग्य संपत्ति इस दुनिया में व्यापार के संबंध बलवती होते रहे हैं। ऐसी स्थिति में आवास स्थान भी बन जाता है और मूल्य बदल जाते हैं।

लू पोदलु *(सरकंडे की झाड़ियाँ)* पोलाप्रगड़ लक्ष्मी द्वारा लिखित महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। में आंध्रेतर असमी समाज के जीवन का किया गया है। 1977–1985 के मध्य असमी आंदोलन और असमी लोगों के कृतिक जीवन का चित्रण इस उपन्यास में गया है।

दशक के अंतिम तेलुगु उपन्यासों में एस. राम रेड्डी द्वारा लिखित *काड़ी* जोन्नवित्तुलु राम चंद्र मूर्ति द्वारा लिखित *वलसादेवरा* खनीय हैं। *काड़ी* में स्पष्ट किया गया है परिवर्तनशील जीवन के साथ बदलने वाला ही जीवन में जीत हासिल कर सकता पूड़ि मारुति राव द्वारा लिखित *एर्र सीता (लाल सीता)* इस कालावधि में लिखित उपन्यास है। बलिवाड़ा कांता राव के लघु-उपन्यास *चैत्र पर्वम, तेल्ला कलुवा, देवुळ्ळ देशम, लव इन गोवा, अजंता-एल्लोरा,* इस कालावधि में प्रकाशित हुए हैं। *चैत्र पर्वम* और *तेल्ला कलुवा* में नारी जीवन की पीड़ा का चित्रण किया गया है। *देवुळ्ळ देशम* और *लव इन गोवा* गोवा की पृष्ठभूमि में लिखित लघु उपन्यास हैं। इसी अवधि में बलिवाड़ा कांताराव का उपन्यास *मरो राजशेखर चरित्र,* जी. एस. चलम द्वारा लिखित *रेवु* प्रकाशित हुए हैं।

तेलुगु उपन्यास साहित्य के अंतिम दशक में प्रकाशित ऐतिहासिक उपन्यासों में मुदिगोंडा शिव प्रसाद द्वारा लिखित *चंद्रकला,* सत्या वाड़ा इंदिरा देवी द्वारा लिखित *अमृत वर्षेणी* उल्लेखनीय हैं। *चंद्रकला* उपन्यास में तेरहवीं सदी के काकतीय साम्राज्य के उत्थान और पतन का चित्रण किया गया है। द्वितीय प्रताप रुद्र के जीवन पर आधारित इस उपन्यास में वनचर संस्कृति का चित्रण विशेष रूप से किया गया है। जंगलों को सुरक्षित रखने और पर्यावरण में संतुलन बनाए रखने के संदेश के साथ-साथ यह संदेश दिया गया है कि शोषण, पीड़ा, दीनता आदि समाज से दूर हों।

क्रतुवु के. के. मेनन द्वारा लिखित एंब्रियो ट्रांसप्लांटेशन पर आधारित विज्ञान-गल्प है। संतान को जन्म देने के संदर्भ में चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में संपन्न प्रयोग और जैव विज्ञान के क्षेत्र में संपन्न नवीन अनुसंधानों को आधार बनाकर इस उपन्यास का प्रणयन किया गया है। यदि पति में संतान को जन्म देने की शक्ति नहीं है, तो किसी अज्ञात पुरुष के वीर्य से चिकित्सकों की देख-रेख में स्त्री को गर्भधारण कराकर माँ बनने का मौक़ा देना आज अनुसंधानों के फलस्वरूप हो रहा है। लेकिन मृत स्त्री के गर्भ से अंडों को बाहर निकालकर उनको ज़िंदा रखने के लिए शीतलीकरण करके लगभग एक वर्ष

के बाद, दूसरी स्त्री के गर्भ में पुनःस्थापित कर स्वस्थ शिशु को इस दुनिया में ले आना आज तक असाधारण विषय ही रहा। इस प्रकार के असामान्य प्रयोग के बल पर भारतीय वैज्ञानिकों की अंतर्जातीय ख्याति पाने की कल्पना के बल पर यह उपन्यास लिखा गया है। इस उपन्यास में रमेश, प्रमीला, डॉ. इंदिरा, डॉ. गोविंदराज प्रधान पात्र हैं। यह उपन्यास सिर्फ़ वैज्ञानिक प्रयोगों तक ही सीमति नहीं है। एंब्रियो ट्रांसप्लांटेशन के संदर्भ में इस महान् कार्य में योग देनेवाले कुछ व्यक्तियों के राग-विराग; हृदय की आर्द्रता आदि का चित्रण भी इसमें किया गया है। व्यक्ति के अहं और अकेलेपन के कारण उत्पन्न होनेवाले मानसिक संघर्ष इत्यादि उपन्यास के मनोवैज्ञानिक आयाम को भी दर्शाते हैं।

आइदु हंसुलु डॉ. वी. चंद्रशेखर राव द्वारा लिखित उत्तर-आधुनिक उपन्यास है। इसमें एक शताब्दी की स्थिति और गति को देखनेवाले पाँच हंसों द्वारा अत्यंत आधुनिक शिल्प में कहानी कही गई है। पिछली सदी का प्रारंभ एक महान् स्वप्न से हुआ था। इसके पहले यह विश्वास लोगों में था कि अपरिचित न्याय और सफलता को प्राप्त करने का एक पथ विश्वमानव के सामने है। लेकिन शताब्दी के अंत होने से पहले ही यह स्वप्न टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया था। आइडियोलॉजी खो देनेवाला बुद्धिजीवी वर्ग तूफ़ान में फँस जाता है। अब मनुष्य के सामने बचा है विश्व मानव अधिकारों से संबंधित सिद्धांत मात्र। यदि यह कहें कि बुर्जुआ जनतंत्र के द्वारा पूँजीवाद के ग़ुलामी करवा सकते हैं तो मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी अविश्वास भरी नज़रों से देखेंगे। चारों ओर फैली हुई दरिद्रता और जीवन की विकृतियों को देखने पर निराशा होती है और क्रोध होता है। सभी रुग्णताओं का केंद्र शहर ही बन जाता है। अब हमें महान् कथन नहीं चाहिए। इस उपन्यास की कथा का प्रारंभ भविष्य में होता है। एक नदी के किनारे स्वप्न देखनेवाली स्त्री की कहानी इस उपन्यास में कही गई है। इस उपन्यास में हंस, पक्षी, मनुष्य सब मिलकर सहजीवन बिताते हैं और पक्षी मनुष्यों की तरह इतिहास की बात करने लगते हैं। इस उपन्यास में भाषा नए द्वार खोलती है। हंसों की क्वैक-क्वैक की आवाज़ें संकेत बन जाती हैं। इस उपन्यास में पक्षी मनुष्य बन जाता है और मनुष्य पक्षी। सब मैजिक रियलिज़्म बन जाता है। तेलुगु उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में यह उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। पूरी शताब्दी की स्थिति और गति के साथ समाज के सभी वर्गों की आकांक्षाएँ, आशा, निराशाओं का प्रतिफलन इस उपन्यास में हुआ है। तेलुगु उपन्यास साहित्य की इस दशाब्दी की उपलब्धि के रूप में इस उपन्यास को स्वीकार किया जा सकता है।

अमरकांत

फूलरानी

अभी कुछ समय पहले, उस छोटे-से शहर में, गर्मी का प्रकोप बढ़ने के साथ, एक वेश्या को गंगा-स्नान का विचार सूझा। किंतु ठहरिए, यहाँ ध्यान देने की बात है कि अब यह 'शब्द' एक तरह से अप्रासंगिक हो गया है, और राष्ट्रीय विचार की अनेक पत्र-पत्रिकाएँ तथा प्रबुद्ध व्यक्ति शुद्ध, सभ्य हिंदी में संस्कृतिकर्मी की तरह दूसरा ही नामकरण इस्तेमाल करते हैं। सच पूछिए तो अक्षम संकल्पों के चलते, आज सब कुछ गड्ड-मड्ड हो गया है और हर जगह वे पुराने मोहल्ले अजीब ढंग से बदलकर सिकुड़ गए हैं। अब इस रूप में, वहाँ एक उपायहीन निर्धनता की काली छाया में, एक उजाड़ मनहूसियत पसर गई है और भौंडी नवीनता के साथ अब भी वही पुराना खेल!

इस देश में सभी नदियाँ मोक्षदायिनी मानी गई हैं, परंतु जहाँ गंगा है, बात ही अलग है। गर्मी में तो पवित्र उत्साह और भी बढ़ जाता है। कई मामलों में यह छोटा-सा शहर अनन्य कई नगरों से भिन्न नहीं है। ट्रैफ़िक पुलिस-विहीन सड़कों पर ट्रकों, बसों, कारों, स्कूटरों की बेतहाशा दौड़। धूल-धक्कड़ और पेट्रोल—धुआँ के झोंके तथा हड़हड़-भड़भड़ की दिल-धड़क आवाज़ें। सफ़ाई-कर्मियों की एक हड़ताल वहाँ भी चल रही थी उन दिनों यानी जगह-जगह कूड़ों के अंबार। और भी कई उल्लेखनीय बाते हैं, जैसे उस मामूली शहर में भी बरसाती घास की तरह अनगिनत दल भी पैदा हो गए हैं और सभी पुतले जलाने के क्रांतिकारी कार्य में अकसर व्यस्त रहते हैं।

नाम फूलरानी है उसका। वह साठ की उम्र पार कर ढलान पर कुछ और नीचे सरक गई है। आज तो वह भूतपूर्व है लेकिन कभी अभूतपूर्व भी थी। लंबा, स्वस्थ शरीर, साफ़ रंग, कुछ-कुछ चग्घड़ चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखें, मर्दानी आवाज़, बोली, बात का सलीक़ा तथा संगीत-नृत्य का कौशल। उस समय के सबसे मशहूर उस्ताद मास्टर मस्ताना से ही उसने उक्त कलाओं की शिक्षा ग्रहण की थी। वह धनी-मानी और रईसों के घर शादी-ब्याह के शुभ अवसरों पर भी बुलाई जाती तथा मिलनी और विदाई की रस्म के समय भैरवी, भजन, ठुमरी, दादरा, ग़ज़ल, पुरुबी आदि के गायन से सबको ख़ुश कर देती। और उस समय सबकी आँखों में आँसू आ

जाते, जब वह विदाई के वक़्त हृदयस्पर्शी करुण स्वर में निम्नलिखित मुबारक गीत प्रस्तुत करती—

दुल्हनिया पिया के घर को चली,
मुबारक हो, मुबारक हो।
दुल्हनिया बाबा का घर छोड़ चली
मुबारक हो, मुबारक हो।
दुल्हनिया अम्मा का आँचल छोड़ चली,
मुबारक हो, मुबारक हो।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कुछ समय तक यह सब चलता रहा, परंतु तत्पश्चात् इस मार्केट का हुलिया बिगड़ता गया। धीरे-धीरे शौक़ीन सामंत, रईस और क़द्रदान परिदृश्य से ग़ायब होते गए और उनकी जगह अजीब बेढंगे, अधकचरे, अर्ध-उज्जड़ लोगों ने ले ली, जिनके पास किसी सभ्य, बारीक़ शौक़ के लिए फ़ुरसत ही न थी। न कलात्मक संगीत और नृत्य के लिए और न ही बात-व्यवहार तथा मधुर लच्छेदार सम्भाषण के लिए ही। वे तेज़ी से आते जैसे गाड़ी छूटनेवाली हो और एक छद्म मुस्कुराहट के साथ बुड़-बुड़ बोलते, ''इस जनता के युग में कोई जनता वाली चीज़ हो जाए...सिनेमा की कोई चटपटी, फड़कती चीज़...दिल पर फ़ौरन कुछ चल जाए! भई, वह पुराना, घराऊँ आऽ आऽ आऽ नहीं...''

यही समय था, जब एक साफ़-सुथरे समाज के निर्माण के सिलसिले में कुछ घोषणाओं को लागू करने की प्रक्रिया आरंभ हुई, जिसकी प्रगति उस लद्दू घोड़े की दशा को प्राप्त हुई, जो आगे चलने से इनकार कर दे। परिणामस्वरूप न इधर के रहे न उधर के यानी त्रिशंकु की तरह बीच में निराधार घूमती छटपटाती ज़िंदगियाँ, जो न ऊपर जा सकीं और न ही पहले की अपनी ज़मीन ही पा सकीं।

फूलरानी के यहाँ दो जुड़वा बेटियाँ पैदा हुईं और जब वे बड़ी हुईं तो समय काफ़ी बदल चुका था। आरंभ में उसने यही सोचा था कि यदि बेटी हुई तो मास्टर मस्ताना के योग्य पुत्र मास्टर मदन मस्ताना से ही उसको शिक्षा दिलवाई जाएगी। लेकिन अब तो सभी बची-खुची कोठेवालियों के यहाँ शास्त्रीय संगीत और नृत्य का पूरी तरह बहिष्कार हो चुका था और उनकी जगह सिनेमा के सस्ते गानों और नाचों का प्रवेश हो गया था। यहाँ तक कि फूलरानी को भी मजबूर होकर यह नया ढर्रा अपनाना पड़ा।

वह समय भी आया, जब हर कोठे और ऐसे हर घर में आशा और उत्साह की हवा बहने लगी। बात यह है कि एक ख़ुशख़बरी तेज़ी से फैली कि सबको एक-एक घर मिलेगा, सिलाई की मशीन मिलेगी, कढ़ाई-बुनाई सीखने सिखाने का पक्का इंतज़ाम होगा, उनकी संतान की शिक्षा की पूरी व्यवस्था होगी और इस पेशे को छोड़कर समाज की मुख्य धारा में शामिल होने और सम्मानजनक स्वावलंबन के लिए मासिक आर्थिक सहायता भी प्राप्त होगी। फूलरानी ने भी इस नई परिस्थिति में अपने लिए और अपनी संतान के लिए बहुत कुछ सोचा तथा सुंदर सपने देखे। परंतु इंतज़ार में आँखें पथरा गईं, उम्मीद की धड़कनें थककर सुस्त पड़ गईं, दिल डूबने लगा और जो कुछ हुआ, उससे एक आधा-अधूरा प्रतिबंध लग गया, जिसके नीचे छद्म और नाटक चलने लगा।

इस कथा के अनेक आयाम हैं, पर सबका सार-संक्षेप यह कि फूलरानी अपनी दोनों बेटियों को शिक्षा नहीं दिला सकी, और न कोई अन्य स्वावलंबी काम। दिन-पर-दिन गिरती आर्थिक अवस्था में रास्ता सिर्फ़ वही बचा था जो पहले से चला आ रहा था। आरंभ में तत्कालीन सिनेतारिका 'कुक्कू' के स्टाइल पर नाच और गाने पेश किए जाते रहे। परंतु समय बीतने के साथ सामूहिक नृत्य आदि की नक़ल शुरू हुई। समूह के नाम पर दो जुड़वा बहने ही थीं और उनका अप्रशिक्षित प्रस्तुतिकरण भी विचित्र था। उछल-कूद और धमाधम—कभी माइकल जैक्सननुमा भी। गानों में भी 'यह लड़की, वह लड़का' के

पश्चिमी संगीत के अनुकरण की खींच-। यह सब करते-करते कमाई घटती गई। बढ़ती गई और साथ में पाउडर-पुते चेहरे भोथरापन भी।

फूलरानी असफल अधेड़ावस्था को पार करके और उपेक्षित वृद्धावस्था में पहुँच चुकी। उसके नियंत्रण में कुछ भी नहीं रहा। संगीत-और नृत्य-कला उसके अंदर ही कहीं डूब थी। अब तो उसने कुछ कहना भी बंदकर था, यद्यपि लड़कियों के शुरुआती दिनों में कसर अपने पुराने अच्छे दिनों का बखान करने थी, जिस पर वे दोनों नाक-भौं सिकोड़कर उगलने लगती, "अम्मा, तुम्हें क्या हो गया तुम देखती नहीं कि ज़माना किधर जा रहा। हमेशा वही रट-साड़ी, सलीक़ा, पक्का गाना, क़द्रदान! अब कहाँ हैं वे सब? सब घास चले गए। अब तो उन आरामतलब रईसों जगह सूट-बूट में रहनेवाले मेहनती, नए आ गए हैं। वे ग़ज़ल-सज़ल, भजन-भैरवी मीलों दूर रहते हैं। उर्दू-सुर्दू को पास भी नहीं देते। वे गिटपिट अंग्रेज़ी हैलो-करते हैं, अमेरिका-विलायत घूमते हैं, जहाँ हैं, सबसे अच्छे होटलों में ठहरते हैं...वहीं कुछ उन्हें मिल जाता है...।"

छबीली आक्रामक ढंग से, फर्राटे से बोल थी। फूलरानी को कोई जवाब न सूझा और फक चेहरे से बड़ी-बड़ी आँखें निकालकर बेटी को देखने लगी। तभी दूसरी बेटी अपनी बहन के समर्थन में बोल उठी, "अम्मा, तुम सोचो, कोठा-वोठा तो सड़ियल है, जिसे घटिया लोगों को छोड़ कोई नहीं। इसे तो, मुफ़्त की शाबासी लेने के लिए भी नहीं मानती। आज साड़ी-जम्पट को कौन पूछता है? हाय अम्मा, तुमने हमारे कुछ नहीं किया। तुम पुराने ज़माने की हमारे सामने न किया करो। सब झूठा है। पास तो पैसा-रुपया, गहना कुछ भी नहीं है। इज़्ज़त वाला काम तो छोड़ो, पर तुमने हमें थोड़ा-बहुत पढ़ा दिया होता और धन से मदद की होती तो इस काम में भी चमक जाते। तब पतली, ख़ूबसूरत पैंट और नए डिज़ाइन का ऊँचा टॉप, ऊँची हील वाली सैंडिल पहनकर बड़े-बड़े होटलों में जाते, ख़ूबसूरत सड़कों पर निकलते, जहाँ नए क़िस्म की ख़ूबसूरती का ख़ूब स्वागत होता है..."

रंगीली इस सीमा तक उत्तेजित हो गई कि अश्रुपात से ही उसे मुक्ति मिली। छबीली ने भी आँखें पोंछते हुए फिर कहा, "हाँ अम्मा, बाहर पैसा बरस रहा है और हम ऐसे अभागे हैं कि कुछ भी नहीं कर पाते! अब भी तुम क्यों नहीं सोचती-समझती? इस घर के मर्द भी निखट्टू हैं...कोई काम-धाम भी नहीं करते, बाहर कहीं दलालों के साथ नशे में डूबे रहते हैं। यहाँ दलाली के काम में भी क्यों रखा है? इसके ऊपर साल में एक बार दो-चार को पकड़ कोतवाली ले जाया जाता है, कुछ दिनों तक नाटक चलता है, फिर जैसा था वही होने लगता है। एक दिन यहाँ भी आ धमका था एक। मैंने कह दिया, 'नाच-गाना की शिक्षा दी जाती है।' मुस्कुराकर बोला, 'साइनबोर्ड लगवा लो नहीं तो जेल की चक्की चलानी पड़ेगी।'" "अम्मा, घबराओ नहीं किसी तरह कुछ पैसों का इंतज़ाम करो, फिर देखो, हम क्या करते हैं...तुमको रानी का सुख देंगे..."

दिन-पर-दिन फूलरानी का शरीर कमजोर होता गया था। बाँहों का चमड़ा ढीला होकर झूलने लगा और चेहरे पर भी झुर्रियाँ दिखाई देने लगीं। कभी-कभी ऊँघते समय उसे लगता कि जल्दी ही वह पुराना समय फिर आ जाएगा—पुरानी रौनक, पुरानी क़द्रदानी, जब संगीत और नृत्य की इज़्ज़त होगी। उसे आधी नींद में ही उत्साह आ जाता और आँखें खोलकर चारों ओर देखने लगती। लेकिन यह सब क्षणिक ही था। वस्तुतः अभावों के बढ़ने से कई समस्याएँ बढ़ीं और घर में तथा बाहर भी लड़ाई-झगड़े होने

लगे। चीख़-चिल्लाहटें भी। कभी-कभी बीच में मनहूस सन्नाटा।

गर्मी के मौसम में एक और परेशानी। अब ऊपर फूलरानी के कोठे पर पानी चढ़ता ही नहीं। अन्य कोठों का भी यही हाल था। बात यह है कि उस मोहल्ले में दूसरे इज़्ज़तदार व्यवसाय या नौकरी करनेवाले लोग भी रहते थे, जिन्होंने अपने-अपने मकान के ऊपर कई मंज़िलें बनवा ली थीं, जिससे रोशनी तथा हवा में रुकावट आ ही गई थी, मोटर लगवाने से ग़रीब कोठेवालियों के घर में पानी भी धीमे-धीमे सिर्फ़ सुबह आधे घंटे तक ही चढ़ता।

पानी बंद होने पर आफ़त मच जाती। आख़िर पानी होने से कौन-सा कार्य संपन्न होगा? नीचे, कुछ आगे की तरफ़ एक नीचा नल था, जिससे नौ बजे तक ही पानी आता। लेकिन वहाँ भी भीड़ लग जाती और चाँय-चाँय शुरू हो जाती। छबीली और रंगीली भी नीचे पहुँचकर मोर्चा जमा देतीं, लेकिन दो-तीन 'युद्ध' के बाद ही कुछ पानी ऊपर पहुँचा पातीं। लेकिन कितने से चाय बने, कितने से खाना? कितने से कौन कितना नहाए और इस सड़ी गर्मी में कितना पीने के लिए रखा जाए? नहाना क्या, फूलरानी के लिए एक छोटी-सी बल्टिया में कुछ पानी दे दिया जाता कि हाथ-पाँव धोकर कुल्ला-वुल्ला कर ले। वह जल-भुनकर चीख़ने लगती, ''तुम लोग स्वार्थी हो, स्वार्थी, स्वार्थी।'' बेटियाँ भी हाथ फेंक-फेंक कर चिल्लाने लगतीं।

एक दोपहर के बाद उसने कमरे में सोते हुए सपना देखा कि वह एक नदी के किनारे खड़ी है और ख़ूब हर-हर ठंडी हवा चल रही है। वह मुँह खोलकर हवा को पी रही है। कितना ठंडा लग रहा है, जैसे वह बर्फ़मलाई खा रही हो। अचानक उसकी नींद भंग हो गई और वह हड़बड़ा कर उठी। वह पसीने से तर-ब-तर थी और ज़ोर की प्यास लगी थी उसे। पास में ही नीचे मिट्टी की एक छोटी सुराही थी, जिसमें थोड़ा-सा पानी बचा था, गिलास में डाला तो वह आधा से कुछ अधिक था। वह हकर-हकर सब पी गई। कुछ धरान हुआ तो गिलास रख कर सपने के बारे में सोचने लगी।

इसी समय उसके दिमाग़ में वह विचार कौंधा था। हाँ, क्यों नहीं वह गर्मी में रोज़ सुबह नदी तक चली जाए समय भी कटेगा, ठंडी हवा मिलेगी और नहाना भी हो जाएगा। सभी खिच-खिच से छुट्टी! यह सब सोचकर वह अत्यधिक ख़ुश हुई और इसकी सूचना लड़कियों को भी दे दी।

''यह क्या पलंजर लेकर बैठ गई। बदन में दम नहीं और चली गंगा नहाने! अम्मा, यह सब न करो, मैं कल से तुम्हारे लिए नहाने का पूरा पानी ला दूँगी...'' छबीली ने मना किया।

''उलटा ही समझती हो तुम हर बात। हर काम बेढंगा करती हो। तुम ने हम लोगों के नाम भी इतने रद्दी रखे हैं। छबीली, रंगीली—ये सड़े नाम पता नहीं किस गली में पड़े मिल गए तुम्हें। कोई नए नाम नहीं मिले तुम्हें? हर चीज़ पुरानी, अब गंगा नहाने की सूझी है! जाओ, तुम जानो तुम्हारा काम जाने।''

जिस दिन वह सुबह के अँधेरे में नदी के लिए रवाना हुई, मौसम बड़ा सुहावना था। ऊपर आकाश खुला और साफ़। मंद-मंद शीतल हवा के झोंके। ऐसा लगा कि अब उसका सभी दुख-दारिद्र्य दूर हो जाएगा। गली से ही लोग मिलने लगे। वे दूसरे मोहल्लों के थे और इधर से ही गुज़र रहे थे। सचमुच अधिक दूर नहीं चलना पड़ा, फिर भी आदत न होने के कारण दिक़्क़त होने लगी और पैर के पंजों में दर्द। लेकिन हवा सुख दे रही थी और वह चलती रही, चलती गई।

गली से निकलकर कुछ दूर चलने पर तो स्त्री-पुरुष, किशोरों, नौजवानों तथा अपनी-अपनी माँ के साथ चलनेवाले बच्चों की भीड़ भी मिलने लगी। कई अधेड़ और बुज़ुर्ग धीमी, नकियाई

गुनगुन आवाज़ में रामायण की कोई चौपाई अथवा ईश्वर-नाम का जाप करते जा रहे थे। कई स्त्रियाँ डोलची लेकर चल रही थीं, जिसमें छोटी-सी लुटिया, फूल तथा पूजा के अन्य सामान भी थे।

गंगा-किनारे आकर, उसने ऐसी स्फूर्ति का अनुभव किया, मानो वह अभी जवान हो और शरीर में कोई तकलीफ़ भी न हो। मन हुआ कि ख़ूब तेज़ी से चले अथवा किसी एकांत में बैठकर भैरवी का आलाप करे। वह सिर चारों ओर घुमाकर देख रही थी और नाक से गहरी साँस खींचकर जल का स्पर्श करके आती हुई हवा को अपने फेफड़ों में भर रही थी। अहा, इतनी भीड़, चहल-पहल, ख़ुशी और पवित्रता!

स्नान के पश्चात् बदलने वाले कपड़े किनारे रखकर उसने गंगा जल में उस जगह प्रवेश किया, जहाँ स्त्रियों का समूह स्नान कर रहा था। सब कुछ कितना शीतल और प्यारा! ख़ुशी और एक अनजान डर से उसका शरीर थरथरा रहा था। जब हिम्मत लौटी तो उसने कमर भर पानी में पहली डुबकी लगाई। एक अभूतपूर्व दिव्य अनुभूति! किसी भी नदी में स्नान करने का उसका यह पहला अनुभव था। आह, कितना सुख! इसकी तो उसने कल्पना भी नहीं की थी। पहले क्यों नहीं आई यहाँ? कितनी प्यारी होती है नदी! वह सबको सुख देती है। अमीर, ग़रीब, दुखिया, अपाहिज किसी को भी दुत्कारती नहीं। सबको बुलाती है, सबका स्वागत करती है। वह मन-ही-मन 'गंगा मैया, गंगा मैया' जपने लगी। उसने ख़ूब डुबकियाँ लगाईं, जब तक उसका मन भर नहीं गया।

धोया हुआ गीला कपड़ा लेकर जब वह घर लौटी तो थकान के बावजूद ख़ुश थी। उसने आते ही लड़कियों को विस्तार से बताया, लेकिन वे कुछ देर तक सुनती रहीं, फिर मुँह बिचका कर वहाँ से खिसक गईं। लेकिन उसके उत्साह-उमंग में कोई कमी नहीं आई और उसके आश्चर्य की उस वक़्त सीमा न रही, जब न मालूम कहाँ

से उसके कंठ से एक भूले हुए भजन की पंक्ति फूटकर गुनगुनाहट के रूप में निकलने लगी, ''कुछ लेना न देना, मगन रहना...''

दिनभर वह अपने ख़यालों में ही व्यस्त रही। रात में उसे देर तक नींद नहीं आई और वह विभिन्न रागों में उनके बोलों को बारी-बारी से गाती-गुनगुनाती रही आलाप के साथ। उसका अंतिम गायन था जैजैवंती में, जिसका बोल था, 'सुंदर श्याम दरस की आशा।' उसने ख़ूब गाया-गुनगुनाया और आलापा। बीच-बीच में गला फँस जाता अथवा वह थककर चुप हो जाती। साँस फूलने लगती। किंतु कुछ रुककर फिर शुरू कर देती। दुख और हताशा में कला-अभ्यास तथा उसकी स्मृतियाँ अकस्मात् कहीं गुम हो जाती हैं; परंतु यह स्थिति दूर होते ही सब कुछ याद आने लगता है, लुप्त स्वर-सरस्वती प्रकट होकर लहराने लगती है। वह पहले की ही तरह आलाप को स्वेच्छा से हर दिशा में ले जाकर कलात्मक ऊँचाइयों पर पहुँच गई। फिर तो आनंद के सागर में भी डुबकी लगाने लगी। और अंततः उसका कंठ अवरुद्ध हो गया तथा 'सुंदर श्याम दरस की आशा, नैनन आन बसी', पंक्ति, अश्रु-निर्झर के रूप में झुर्रीदार कपोलों से बह चली।

उसकी स्नान-यात्रा जारी रही। वह रोज़ सुबह, उसी समय निकल जाती तथा स्नानार्थियों की छोटी-बड़ी भीड़ के सहारे तट पर पहुँच जाती। स्नान का ऐसा सुख उसे पहले कभी नहीं मिला था। शरीर और आत्मा की जब तृप्ति हो जाती, तभी जल से बाहर निकलती। तब उसके कंठ से किसी भजन की पंक्तियाँ स्वतः ही किसी सोते की तरह फूट पड़ती, 'प्रभु जी, मेरे अवगुन चित ना धरो' अथवा 'मेरे तो गिरिधर गोपाल...'

कितने सुख से उसके दिन बीत रहे थे! वह फिर संगीत की गुनगुनाहटों से भर गई। उसकी बेटियों को यह सब अच्छा तो न लगता, लेकिन घर में पहले से अब अधिक शांति थी, इसलिए उन्होंने बोलना छोड़ दिया। हाँ, जब तक वह बाहर रहती, पानी के लिए उसकी चीख़-चिल्लाहट सुनने को नहीं मिलती। घर में भी वह किसी बात के लिए ज़िद्द नहीं करती और न ही अब पुराने उबाऊ क़िस्सों तथा फ़ालतू उपदेशों से परेशान ही करती। वह किसी बात पर मुस्कुरा देती या एकांत में बैठकर संगीत में खोई रहती।

एक दिन जब वह स्नान के बाद घर-वापसी के रास्ते पर कुछ आगे बढ़ी थी कि पीछे से एक तेज़ पतली आवाज़ हवा में गूँज उठी, ''अरे, सत्तर चूहे खाकर, भगतिन बनके कहाँ चली?'' ऐसा लगा कि कोई छोकरा, जिसकी घाँटी न फूटी हो, किसी को पुकार कर पूछ रहा हो। फूलरानी अपने में मगन थी, इसलिए उसे ऐसा नहीं लगा कि कोई उसी के लिए कह रहा है। वह सिर झुकाकर पहले की तरह चलती रही। वहाँ भीड़ नहीं थी, आगे बाईं तरफ़ दो बुज़ुर्ग माथे पर चंदन का टीका लगाए बातें करते हुए जा रहे थे। उन्होंने बस सिर उठाकर इधर-उधर लापरवाही से देखा फिर पहले की तरह बातों में मगन हो गए।

कुछ ही क्षणों बाद एक वैसी ही आवाज़ फिर आई। अब फूलरानी ने आशंकित होकर दाईं तरफ़ की झाड़ी की ओर सिर घुमाकर देखा, मगर आवाज़ उधर से आने पर भी वहाँ तो कोई भी नहीं था। डर से उसका दिल तेज़ी से धड़कने लगा था। क़दम भी शक्ति-सीमा में और तेज़ पड़ते लगे। बीच-बीच में वह पीछे देख लेती। जब वैसी आवाज़ फिर सुनाई नहीं पड़ी तो वह आश्वस्त होती गई और उसकी चाल सामान्य हो गई। होगा कोई, उससे क्या मतलब? यहाँ उसे जानता भी कौन है?

अगले दिन वैसा कुछ नहीं हुआ तो वह प्रसन्न हो गई। ज़रूर उसे भ्रम हो गया था, उसने सोचा। परंतु तीसरे दिन फिर वैसा ही हुआ तो वह बेहद भयभीत हो गई। उसने पीछे मुड़कर देखा तो कुछ ही दूरी पर छह-सात छोकरों का एक छोटा-सा झुंड मँडराता हुआ आ रहा था। उसके देखने पर उन्होंने अपने मुखड़े दूसरी तरफ़ घुमा लिए। वह घबराकर तेज़ चलने लगी, जैसे भागना चाहती हो, परंतु पैर लड़खड़ाकर एक-दूसरे से टकराने लगे और वह गिरते-गिरते बची। इसके पश्चात्

वे फिर समवेत स्वर में चिल्ला पड़े, ''सत्तर चूहे खाइके बिलार भई भगतिन।''

वह घूमकर देखती तो वे चुप होकर मुँह फेर लेते। वह तेज़ चलने की कोशिश करती तो वे भी कुछ तेज़ चलकर पास आ जाते। वे आपस में मज़ाक़ करते, हँस कर तालियाँ बजाते और बीच-बीच में वही फिकरा उछाल देते। उस समय कोई भीड़ नहीं थी, काफ़ी स्नानार्थी तो पहले ही निकल गए थे। आकाश में सूरज-देवता और भी ऊपर चढ़ गए थे और हवा भी अभी से गरम होने लगी थी। वह पसीने से तर-बतर रुआँसी हो गई। उसने क्या बिगाड़ा है इनका? उसे अचानक ग़ुस्सा आ गया और वह पीछे घूमकर थर-थर काँपती हुई चिल्ला पड़ी, ''तुम्हें शर्म नहीं आती?''

छोकरे सहम कर रुक गए। उन्होंने कुछ दूर भागने का नाटक भी किया। जब वह पुनः अपने रास्ते पर तेज़ी से चलने लगी तो वे तालियाँ बजाकर ज़ोर से हँस पड़े। फिर वही फिकरा। एकदम निकट अन्य कोई नहीं था। वह अपनी समझ से भाग रही थी। लेकिन कुछ ही देर में एक ढेला आकर उसकी पिंडली में लगा। 'हाय अम्मा', वह रुआँसी आवाज़ में चीख़ पड़ी। लड़खड़ा कर सँभल तो ज़रूर गई, लेकिन आगे चला नहीं गया तो झुककर हाथ पिंडली के ऊपर सहलाने लगी। साथ में आँखों से अनचाहे आँसू गिरने लगे।

इसी समय, उधर ही से अपने घर से ड्यूटी पर जाता हुआ एक पुलिस का सिपाही निकला। यह सब देखकर उसने दौड़ाया तो छोकरे नौ-दो ग्यारह हो गए। उसने सहारा देकर फूलरानी को सीधा खड़ा किया और कुछ दूर तक ले गया।

''आप कौन हैं, कहाँ जाएँगी? ये क्यों परेशान कर रहे हैं आपको?''

''नहीं जानती...भैया छोड़ दो, मैं चली जाऊँगी...दूर नहीं है।'' उसके मुँह से आवाज़ बहुत धीमी आ रही थी। चेहरा गर्मी की लाली तथा डर और हताशा की कालिमा से विवर्ण होकर डरावना हो गया था।

जब वह किसी तरह घर में पहुँचकर चारपाई पर बैठकर कराहने लगी तो दोनों लड़कियाँ ''क्या है, क्या है'', कहती हुए तेज़ी से आईं। फूलरानी ने बुदबुदाकर कुछ बताया, फिर उससे बोला नहीं गया और आवाज़ मुँह के अंदर ही गुम हो गई।

''कहाँ चोट लगी, लेटो देखती हूँ। रंगीली, दूसरे कमरे में ताखा पर बाम रखा है, जल्दी लेती आओ एक पट्टी भी...''

छबीली ने उसे लिटाया और साड़ी हटाकर घाव देखने लगी लेकिन फूलरानी को शरीर से अधिक मन पर चोट पहुँची थी। उसका चेहरा सफ़ेद पड़ गया था, जैसे शरीर में ख़ून ही न हो। उसका दिल डूब रहा था। पिंडली पर सूजन, नीलापन और रक्त देखकर छबीली भय से क्रोध में चिल्लाने लगी, ''बताओ कौन था, किसने उन छोकरों को सिखाया था...मैं रिपोर्ट करूँगी, उसका मुँह नोच लूँगी। मैं सड़क पर चिल्लाऊँगी जुलूस निकालूँगी...। मैंने मना किया था, लेकिन ज़िंदगी में तुमने किसी का कहना माना भी है? अब हौसला पूरा न हो गया तुम्हारा? वह ज़रूर तुम्हारा कोई जाना-पहचाना है। बताओ कौन है वह?''

फूलरानी भावहीन, दिशाहीन आँखों से उसे देख रही थी। उसके होंठ बोलने के लिए फड़फड़ाए।

छबीली का ग़ुस्सा कम नहीं हुआ, ''क्या तुम अपने पाप कटाकर स्वर्ग जाना चाहती हो? वहाँ भी तुमको कौन पूछेगा? वहाँ भी तुम्हारे लिए कोई जगह न होगी। सबसे बड़ा स्वर्ग यह अपना घर है, चुपचाप यहीं पड़ी रहो, कल से नहाने-वहाने न जाना...हाँ?''

रंगीली बाम और पट्टी लेकर आ गई। लेकिन फूलरानी थी कहाँ? उसने इस बार भी लड़कियों का कहना नहीं माना। दोनों छाती पीटकर रो पड़ी, ''हाय अम्मा, अब हमारा क्या होगा?''

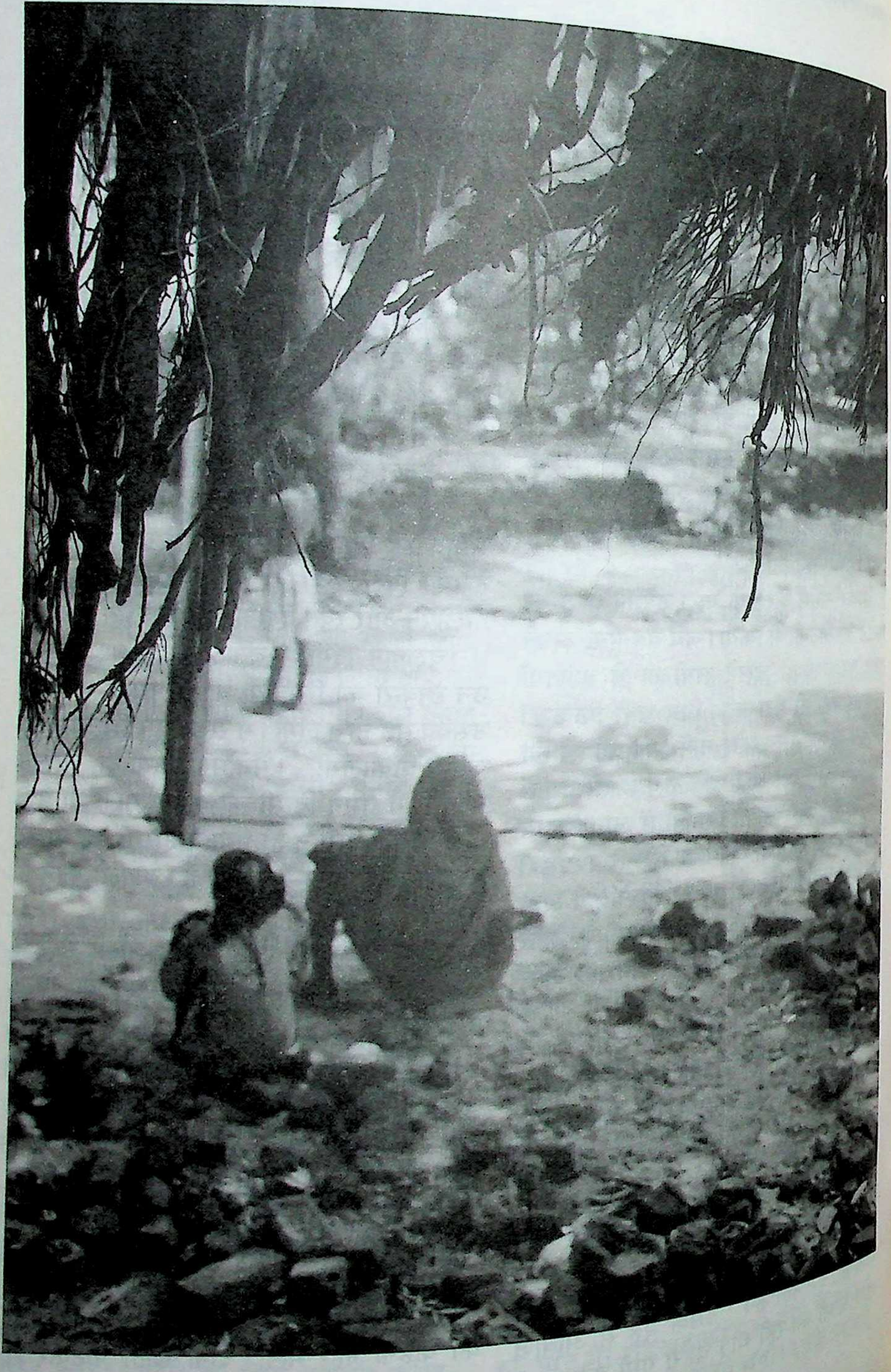

रमाकांत श्रीवास्तव

महोत्सव

जब इज़्ज़त दाँव पर लगी हो तो त्याग तो करना ही पड़ता है। हिंदुस्तान की परंपरा और फिर ठाकुर की आन! रहा सवाल बजट का तो सारा देश ही क़र्ज़े में डूबा हुआ है। इस डूब के विरोध में तो कोई मेधा पाटकर भी आंदोलन नहीं कर रही है बल्कि इसके उलटे, पड़ोसी श्रीवास्तव जी कहते हैं कि यह तो राष्ट्रीय नीति है और विश्व की नई अर्थव्यवस्था का आधार है। अपना प्रांत भी ओवर ड्राफ़्ट की डिसेंट्री झेल रहा है। प्रोफेसर चौहान देख रहे थे कि ख़ुद श्रीवास्तव जी अपने परिचितों को क़र्ज़ लेने के लिए बढ़ावा देते हैं। वे कहते हैं कि लोग क़र्ज़ नहीं लेंगे तो बैंक क्या झक मारेंगे! वे सभी को समझाते हैं कि चकाचक ज़िंदगी केवल पुश्तैनी रईसों का अधिकार नहीं है। ख़ुद उनके घर की कितनी ही चीज़ें क़र्ज़ के दम पर क़िश्तों में ख़रीदी गई हैं। प्रोफेसर चौहान यह भी देख रहे थे कि बैंक फ़ाइनैंस करने को तैयार बैठे हैं और कंपनियाँ दाँत निपोरे दरवाज़े पर खड़ी हैं। पूरा आ़लम दालमंडी का है। पैसा फेंको और चुन लो। चौहान जी को कार भी तो श्रीवास्तव जी ने ही ख़रीदवाई है। वे अपने बैंक के ब्रांच मैनेजर हैं इसलिए चौहान जी को कार लोन फटाफट स्वीकृत हो गया था। दस हज़ार की छूट और एक मोबाइल फ़ोन की गिफ़्ट पाकर वे गद्गद् थे। कभी-कभार महीने के हिसाब-किताब का तनाव उनके चेहरे पर झलकता ज़रूर था लेकिन फिर तुरंत ही कार की चमक उनके चेहरे पर छा जाती। कॉलेज कैंपस में जब उनकी गाड़ी प्रवेश करती तो उन्हें अपने प्रोफेसर होने के सच्चे गौरव का बोध होता। उन्हें लगता कि कार में बैठते ही उनके ज्ञान की गरिमा पर एक पानी चढ़ जाता जो उनके व्यक्तित्व को चमका देता है। जब उनके सहयोगी यादव जी ने उन्हें बतलाया कि जिस कंपनी की कार उन्होंने ख़रीदी थी उसी कंपनी के सहयोग से दैनिक प्रभात ने गरबा महोत्सव का सुपर-डुपर आयोजन किया है तो उन्हें लगा था कि समाज की तरक़्क़ी में उनका भी कुछ योगदान है।

दैनिक प्रभाव ने पिछले दस सालों में ही दूसरे अख़बारों की लगभग ऐसी-वैसी कर डाली थी। दस साल पहले प्रांत की राजधानी में जब मोदी एंड मोदी ने अख़बार लांच किया था तब दूसरे जमे-

हिंदी रचनाकार रमाकांत श्रीवास्तव के कविता-संग्रह, कहानी-संग्रह और आलोचना पुस्तकें प्रकाशित। कई पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : 209, दाऊचौरा, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)

जमाए अख़बारों को यह गुमान भी नहीं था कि उसके मालिक योगेंद्र जी का लक्ष्य क्या है तब अन्य पत्रों ने पत्रकारिता के विराट जगत में नवागत का स्वागत किया था। दैनिक लोक चेतना के संपादक ने तो कहा था कि योगेंद्र जी उनकी बिरादरी में शामिल हो रहे हैं इससे पत्रकारिता से जुड़े लोगों का क़द बढ़ गया है। तब उन्हें यह मालूम नहीं था कि प्रभाव औरों के लिए अंधकार फैला देगा।

बड़े उद्योगपति योगेंद्र जी की अकूत संपत्ति के सहारे पले-बढ़े अख़बार की हैसियत और ताक़त दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती गई। यहाँ तक कि सरकारी-ग़ैरसरकारी विज्ञापनों में से आधे प्रभाव को मिलते और आधे में बाक़ी अख़बारों के पेट भरते। राजधानी से शुरू हुआ अख़बार अब तीन प्रांतों से बारह संस्करणों में प्रकाशित होने लगा। योगेंद्र जी को भी पत्रकारिता का ऐसा चस्का लगा कि वे इस दुनिया में ही ज़्यादा रहने लगे थे। अन्य धंधों को देखने के लिए मैनेजरों की कमी नहीं थी। व्यवसाय की दुनिया में बेशक पैसा और पावर था पर यहाँ प्रजातंत्र के चौथे खंभे होने का ग्लैमर और बुद्धिजीवी होने की छवि थी। समाज के हर वर्ग से मैत्री भी ख़ास तौर से उन राजनीतिज्ञों से थी, जिनके पास पहले काम के सिलसिले में जाना होता था। कभी-कभी तो फरियादी की हैसियत से हाज़िरी भी बजानी पड़ती थी। अब मंत्री-संत्री उन्हें अपना पथ प्रदर्शक कहते। अख़बारी दुनिया की शान भी कुछ अलग है। उद्घाटन समारोहों और परिसंवादों में बजती तालियों में उन्हें हमेशा शराब जैसा नशा महसूस होता।

दैनिक प्रभात के प्रबंधकों ने दो ऐसे काम किए जिन्हें कोई भी समझदार व्यापारी करता। पहला तो यह कि अख़बार को रंगीन बनाया जो उन दिनों औरों की हैसियत के बाहर की चीज़ थी। साथ-साथ अख़बार की पृष्ठ संख्या बढ़ा दी और क़ीमत घटा दी। पाठकों को लगा कि कम क़ीमत में अधिक सामग्री मिल रही है तो ग्राहक संख्या में घनघोर वृद्धि हुई। हालाँकि बढ़ी हुई पृष्ठ संख्या में उन्हें विज्ञापन पढ़ने को मिलते। उनका दूसरा काम भी जायज था। साथ ही वह दूसरों को सुविधा प्रदान करनेवाला भी था। उन्होंने पहले से जमे-जमाए अख़बारों के अनुभवी पत्रकारों को अधिक वेतन देकर अपने यहाँ मुलाजिम रख लिया। कौन कहेगा कि यह ग़लत था? योगेंद्र जी की राय भी कि वे योग्य व्यक्तियों को अपेक्षित सम्मान देना जानते हैं। अन्य अख़बार के संपादकों को यह ज़रूर लगा कि अनाड़ियों को क़ायदे का पत्रकार उन्होंने बनाया और जब वे किसी लायक़ हुए तो उन्हें प्रभात ले उड़ा। इसलिए भी उन्हें दुख हुआ कि लोगों ने बरसों के स्नेह संबंध तोड़ दिए। कुल जमा, बाज़ार में बने रहने के लिए सबके टाँके उधड़े जा रहे थे।

इधर चार साल से प्रभात ने नवदुर्गा पर्व के अवसर पर गरबा महोत्सव का आयोजन शुरू किया। दो साल में ही कार्यक्रम क्लिक हो गया। राजधानी में आयोजन की धूम मच जाती और उसी दफ़्तर से अख़बार में विज्ञापन की बरसात हो जाती। दूसरे अख़बार चाहकर भी ऐसा नहीं कर पाते। नंगा नहाए तो निचोड़े क्या? यह कार्यक्रम का पाँचवा वर्ष है। स्पॉन्सर करनेवाली कंपनियों का योगदान और टी. वी. कलाकारों की चमक। हर दिन कोई-न-कोई मंत्री भी जुगनू की तरह टिमकता। पूजा शुरू होने के दो महीने पहले से ही इस क़दर धुआँधार प्रचार हुआ कि सारे शहर को लगने लगा कि इस साल यदि गरबा नाच में हिस्सा नहीं लिया तो जीवन अकारथ हो जाएगा।

प्रोफेसर चौहान इस नज़ारे को देखकर पिछले कई दिनों से अपनी पॉलिसी पर विचार करते रहे हैं। क्रांति तो हो नहीं रही है। ख़्वामख़्वाह लोगों को गरिया कर अपना दुश्मन बनाने से क्या मिलेगा? घंटा! बेहतर यही है कि त्योहारों

के आगमन पर सांस्कृतिक क़िस्म के गुडी-गुडी लेख लिखे जाएँ। मानिनी सुंदरी के कटाक्ष जैसे। ललित निबंध के झिलमिलाते परदे से कुछ विद्रोही मुद्रा में मीठी मार कर दो, बस। संस्कृति भी हो गई और विद्रोह भी हो गया। चाँदी के गिलास से आचमन कर लिया और उसी में दारू भी पी ली। ललित निबंध में सब सध जाता है। अख़बार के दीपावली विशेषांक के लिए वे कुछ ऐसा ही लिखने का सोच रहे थे। अब समय ज़रा भी नहीं बचा। इस काम को निपटाना ही है इसीलिए आज वे जल्दी लौट आए थे। पत्नी ने पूछा, "बड़ी जल्दी आ गए? तबीअत तो ठीक है?''

"तबीअत को क्या होगा! और इतनी जल्दी भी नहीं आया हूँ यार। सवा तीन बज रहे हैं। अरे भाई विभागाध्यक्ष हूँ, चपरासी नहीं।'' उन्होंने टाई की नॉट ढीली करते हुए कहा, ''चाय पिलाओ तो कुछ पढ़ने-लिखने का सिलसिला जमाऊँ।''

कपड़े बदलकर, सिगरेट सुलगाकर चाय पीते हुए इत्मीनान भरे क्षणों का उन्होंने पूरा आनंद लिया। अधमुँदी आँखों से खिड़की के बाहर झुक आई बोगेनवेलिया के फूलों के उस पार बगीचे के फूलों को देखा। गेंदे और ज़ीनिया ने बगीचे में उजाला-सा फैला दिया है। चाय पीकर ऐश ट्रे में सिगरेट रगड़कर वे उठे और अपने कमरे में चले गए। पूरी तल्लीनता से वे अपने लेख की सिनॉप्सिस बनाते रहे। उनका काम पूरा हुआ ही था जब वंदना ने घर में तूफ़ान की तरह प्रवेश किया, ''मम्मी...मम्मी...पापा जी कहाँ हैं?''

''अरे साँस तो ले ले। कोई आफत आई है!''

ग्यारहवीं में पढ़नेवाली लड़की बच्ची की तरह उछलती हुई बोली, ''मम्मी...मम्मी मैं गरबा नाच में हिस्सा लूँगी। पापा कहाँ हैं?''

मम्मी लाड़ भरी नज़रों से बिटिया को देख रही थी और बिटिया की उम्र बढ़ने के बजाय प्रतिक्षण घट रही थी मंदिरा बेदी की तरह। यदि मम्मी ने उसका हाथ ना पकड़ा होता तो वह इतनी छोटी हो गई होती कि टी.वी. स्क्रीन में घुस जाती। वह पैर पटकते हुए बोली, ''हूँ...हूँ मम्मी बताओ ना पापा कहाँ हैं...मम्मी!''

''अरे पगला गई है। पापा अपने कमरे में हैं। लिख रहे हैं।''

बिटिया अभी भी मंदिरा बेदी थी। उसने बस्ता और टिफ़िन बॉक्स सोफ़े पर पटके और पापा के पास पहुँच कर उनकी कुर्सी का हत्था पकड़कर कहा, ''पापा...पापा ना, गरबा नाच का ज़ोरदार प्रोग्राम होनेवाला है। मैं उसमें हिस्सा लूँगी। हाँ बोलो ना पापा!''

चौहान जी ने बिटिया के ठुनकने का मज़ा लिया और नक़ली गंभीरता से कहा, ''ये कौन-सा प्रोग्राम है और तुम्हें क्यों हिस्सा लेना है?''

''पापा वो...ना प्रभात पेपर वालों का बहुत बड़ा प्रोग्राम होनेवाला है। आपने विज्ञापन देखा होगा। वहाँ गरबा महोत्सव हो रहा है। पंद्रह दिन की ट्रेनिंग देंगे वो लोग, फिर ना नौ दिन गरबा नाच होगा। पापा...वो ना, सीरियल है ना 'दो सास तीन बहू' उसके तीन कलाकार आ रहे हैं। सोनू निगम को भी बुलाने का चल रहा है और पापा...वो चुम्मा ले ले यहाँ वहाँ डांस वाली रोहिणी भी आनेवाली है।'' बिटिया की साँस फूल रही थी। पापा अभी भी सोच भरी मुद्रा में थे। पर मम्मी ने तुरंत कहा, ''कोई ज़रूरत नहीं है इस भगदड़ में शामिल होने की। जाने कैसे-कैसे लोग गरबा के बहाने घुसेंगे।''

नहीं मम्मी, वहाँ तो बड़ा पारिवारिक माहौल रहेगा। देखिए ना, मैं पैम्फ़्लेट लाई हूँ। वो खन्ना अंकल की लड़की है ना रीना...मेरी क्लासफ़ेलो, उसने तो फ़ॉर्म भी भर दिया है। उसी ने मुझको यह पैम्फ़्लेट दिया है।

मम्मी ने पैम्फ़्लेट लिया और एक नज़र डालते ही कहा, ''एक हज़ार रुपया...गरबा की एंट्री फ़ीस! रहने दो ये सब! पढ़ाई-लिखाई अलग चौपट होगी।''

''पढ़ाई मैं कवर कर लूँगी मम्मी...प्रॉमिस। और पापा...श्रीवास्तव अंकल की लड़की नमिता और उसका भाई पप्पू भी गरबा में जाएँगे।''

श्रीवास्तव जी का नाम आते ही मम्मी-पापा सोच में पड़ गए। बिटिया ने फ़ौरन भाँप लिया और बोली, ''कई प्राइज़ भी रखे गए हैं मम्मी...और लक्की ड्रॉ भी है हीरो होंडा मोटर बाइक का।''

ज़माना ही बुरा है। बच्चों के कारण कई बार माँ-बाप किस क़दर दिक़्क़त में पड़ जाते हैं। चौहान दंपति के लिए अब गंभीरता से सोचना ज़रूरी हो गया। मिसेस श्रीवास्तव ने पिछले महीने ही एक क़ीमती साड़ी ख़रीद कर दिक़्क़त में डाल रखा है। वैसे पति-पत्नी सज्जन हैं। उठना-बैठना है। आपसी व्यवहार भी इतना अच्छा है कि एक-दूसरे के बच्चों के जन्मदिन और मैरेज एनीवर्सरी याद रखते हैं। बिना भूले ग्रीटिंग काड्र्स और गिफ़्ट का आदान-प्रदान होता है। जब इतना नज़दीकी रिश्ता है तो स्टेटस भी बनाए रखना पड़ता है।

उसी शाम चौहान सपत्नी श्रीवास्तव जी के घर गए। ख़ूब बैठक जमी। इस बीच मिसेस चौहान ने जो साड़ी ख़रीदी थी, इस मौक़े पर पहनकर दिखला दी गई। ''कितनी सुंदर है बहन जी...और आप पर तो ख़ूब फब रही है''...कहकर मिसेस श्रीवास्तव ने उनका दिल ख़ुश कर दिया। भई, कुछ भी कहो। चाहती तो है मुझको, मिसेस चौहान ने मन-ही-मन कहा कोई और होती तो जल-भुन जाती। श्रीवास्तव जी ने भी चौहान जी को मस्त कर दिया। ''बहुत दिन हो गए अपने को बैठे हुए, आइए दो-दो पैग हो जाए'' कहकर उन्होंने रॉयल चैलेंज की बोतल खोली। यही ब्रांड तो चौहान जी की ख़ास पसंद है। दोनों भीतर के कमरे में जम गए। शेरो-शायरी का दौर भी चला और प्रसन्न मन यह निष्कर्ष निकाला गया कि तरीक़े से जीना तो कायस्थ और ठाकुर ही जानते हैं। इस बीच मिसेस चौहान ने मिसेस श्रीवास्तव से सारी जानकारी ले ली थी। गरबा में शामिल होना है तो फ़ॉर्म भरकर जल्दी फ़ीस दे देना अच्छा है। बड़ा रश है। वैसे तो कई जगह गरबा के आयोजन हो रहे हैं लेकिन प्रभात का आयोजन तो प्रेस्टीजियस है ना। ख़र्च ज़रूर है पर बच्चे कम-से-कम अपनी संस्कृति को तो समझेंगे। और बहन जी, कुछ दिन तो बच्चे टी.वी. पर बिकनी पहनकर कूल्हे मटकाने वाले नाच ना देखकर लहँगा-चुन्नी वाले नाच में शामिल होंगे। मिसेस श्रीवास्तव ने बतलाया कि एक बार उन्होंने स्कूल में समूह नृत्य में हिस्सा लिया था। मिसेस चौहान ने डांस तो नहीं किया था पर एक बार गाने में इनाम जीता था। हाय...बहन जी, कभी सुनाया नहीं आपने।...तो भई, आपने भी कब नाच कर दिखाया।...ठीक है...बच्चों की शादी में नाचेंगे-गाएँगे। पक्का...प्रॉमिस!

दो पैग के नशे में राव को चौहान जी की पत्नी बहुत सुंदर लगी। मन ख़ुश हो तो दिलदारी भी उठान पर होती है। तय किया गया कि पूरी शान से त्योहार मनाएँगे। जब इज़्ज़त दाँव पर लगी हो तो त्याग तो करना ही होगा। हिंदुस्तान की परंपरा और फिर ठाकुर की आन। बिटिया गरबा में हिस्सा लेगी और अपन चुम्मा गर्ल के कार्यक्रम का टिकट लेंगे।...अब हो ही जाए। क्यों...क्या बोलती तू।...आप भी ना...बस।

कुछ तकलीफ़ तो हुई पर दोनों पड़ोसियों ने मिल-बाँटकर मामला फिट कर लिया। कभी चौहान जी की कार का इस्तेमाल होता और कभी श्रीवास्तव जी की कार का। कभी तीनों बच्चे ऑटो में चले जाते। हालाँकि दोनों लड़कियों को इस बात पर सख़्त एतराज़ है कि उन्हें बच्चा कहा जाए। पर माँ-बाप को क्या कहें। वे लड़कियों की वयस्कता से जुड़े ख़तरों को जानते हुए भी उन्हें बच्ची ही मानना चाहते थे! कभी-कभी उनमें से कोई रिहर्सल के दौरान भी वहाँ रुक जाते। इसमें लड़कियों को एतराज़ नहीं था

क्योंकि ऐसा तो और भी कुछ पालक कर रहे थे। जब वे आपस में बातें करते तो जागरूकता, प्रसन्नता और चिंता के भावों का कुहरा छा जाता। उस कुहरे में डाँडिया नाचते लड़के-लड़कियाँ ढँक जाते और सब कुछ गड्ड-मड्ड हो जाता। कार्यक्रम के लिए गायक दल अहमदाबाद से आनेवाला था पर साउंड ट्रैक मँगा लिया गया था इसलिए प्रशिक्षण बहुत अच्छा चल रहा था। रिहर्सल के दौरान आयोजक किशोरों और जवानों के बीच थोड़े-थोड़े अंतर से अंकल-आंटीनुमा प्रतिभागियों को रख देते। इससे उन्हें निश्चिंतता रहती। इतना बड़ा एरिना बना था कि सब पर निगाह रखना मुश्किल था। अंकल-आंटी इसलिए उत्साहित थे कि उन्हें लग रहा था कि उनकी चर्बी घट रही थी।

"पहले तो मिसेस चौहान पिनपिना रही थीं अब एकदम हवा में उड़ रही हैं। इनकी यही आदत बस, मुझे अच्छी नहीं लगती। लड़की के लिए ढाई हज़ार की ड्रेस बनवा रही हैं।'' मिसेस श्रीवास्तव ने भुनभुनाते हुए कहा।

"अच्छा! बड़ा ख़र्च कर रहे हैं। प्रोफेसरों को तो बोनस-वोनस नहीं मिलता।'' श्रीवास्तव जी थोड़े गंभीर हुए तो उनके माथे पर बल पड़ गए। उन्हें मालूम था कि बातचीत किस तरफ़ जा रही है।

कुछ क्षण चुप्पी रही फिर मिसेस श्रीवास्तव बोलीं, ''ड्रेस तो रीता और राकेश के लिए भी बनवानी है या ख़रीदनी है। वहाँ तो सभी हिस्सा लेनेवाले ज़ोरदार तैयारी कर रहे हैं।''

"हूँऽऽ...तभी रेडीमेड गारमेंट्स वालों के इन दिनों ख़ूब विज्ञापन आ रहे हैं। लगता है इस कार्यक्रम की शुरुआत किसी कपड़ा व्यापारी ने की होगी।'' श्रीवास्तव जी ने अख़बार मोड़कर गोद में रख लिया और चाय का घूँट भरकर बोले, ''देखो, कौन क्या बनवा रहा है इस पर ध्यान मत दो।''

''मैं औरों की बात नहीं कर रही हूँ पर पड़ोस का ख़याल तो रखना पड़ता है। लड़की बार-बार कह रही है कि उसे भी वैसी ही ड्रेस बनवानी है। इज़्ज़त का सवाल भी तो है।''

''ऐसा! तो फिर बनने दो बढ़िया कपड़े। पड़ोसी धर्म तो निभाना ही पड़ेगा।'' श्रीवास्तव जी ने बजट पारित कर दिया।

''आप तो हर बात मज़ाक़ में लेते हैं। पर मिसेस चौहान को पता चले। अपन भी किसी से कम हैं क्या? हाँ नईं तो!''

बस रंग अलग था बाक़ी सब कुछ वैसा ही रखा गया। उसी दुकान से वैसा ही कपड़ा लिया गया। उसी दर्ज़ी से वैसा ही डिज़ाइन बनवाया गया। हर जगह दोनों माएँ और बेटियाँ साथ-साथ गईं। जब ड्रेस सिल गई और ट्रायल के बतौर दोनों लड़कियों ने ड्रेस पहनकर बतलाई तो ओ माँऽऽ..., हाय राम ऽ...क्यूट लग रही हैं। लवलीऽऽ...एकदम बहनें लग रही हैं ना, वग़ैरह का आदान-प्रदान हुआ। मन का मैल धुल गया और दिल आईने की तरह चमकने लगे। मिसेस चौहान फिर बहन जी हो गईं!

प्रभात के गरबा महोत्सव ने धूम मचा दी। अष्टमी का दिन तो बेहद ख़ास था। आठ बजे रात से गरबा नाच का फ़ाइनल शो होना था जिसके लिए पचास प्रतिभागी चुने गए थे। इस फ़ाइनल में बेस्ट थ्री का चयन होना था। दोनों परिवार के बच्चे इस ग्रुप में शामिल थे। गरबा फ़ाइनल के बाद नौ बजे से जो कार्यक्रम होने वाले थे उनमें हिट आइटम था रोहिणी यानी चुम्मा गर्ल का। उसके गाने 'चुम्मा ले ले यहाँ वहाँ, दिल में आए जहाँ जहाँ' की सीडी की इस साल रिकॉर्ड तोड़ बिक्री हुई थी।

भीड़ की संभावना को देखकर दोनों परिवार साढ़े सात बजे कार्यक्रम स्थल पर पहुँच गए थे। पंडाल से काफ़ी पहले पार्किंग की व्यवस्था थी। कई स्थानों पर बेरीकेट्स और बड़ी संख्या में सिक्योरिटी गार्ड्स देखकर चौहान जी ने कहा, ''क्या बात है भई? बड़ा इंतज़ाम है।''

चौहान जी की बिटिया ने कहा, ''अंकल सुना है कि दो दिनों से यहाँ कुछ लोगों ने हुल्लड़ मचाने की कोशिश की है। आज तो बहुत भीड़ होगी शायद इसीलिए इतना इंतज़ाम किया गया है।''

कार्यक्रम स्थल पहुँचकर बच्चे एरिना की तरफ़ चले गए जहाँ गरबा होना था। वहाँ तक जाने के लिए उन्हें पास दिए गए थे। चौहान और श्रीवास्तव दो सौ रुपए की टिकट वाले ब्लॉक में पहुँचकर स्टेज की सीध में पहली पंक्ति में बैठ गए। उनके आगे बेरीकेट्स के पार केवल वी. आई. पी. ब्लॉक था और थोड़ा बाएँ हटकर एरिना जिसमें गरबा नाच होना था।

''बड़ा ताम-झाम है यार!'' श्रीवास्तव जी ने नज़रें चारों तरफ़ दौड़ाई। ''और इन्होंने तो ढेर से वॉलेंटियर्स और सिक्योरिटी वाले रखे हैं।''

आठ बजते ना बजते ख़ासी भीड़ हो गई। श्रीवास्तव जी ने एक तरफ़ इशारा करके अपनी पत्नी को बतलाया, ''वो देखो योगेंद्र जी।'' वी. आई. पी. ब्लॉक में सबसे आगे के सोफ़े पर योगेंद्र जी बैठे थे। साथ में दो गनमैन। वे कान पर मोबाइल लगाए हुए उठे और स्टेज की तरफ़ बढ़ गए। दोनों गनमैन अंगरक्षक की तरह पीछे-पीछे हो लिए।

आज के मुख्य अतिथि राज्य के संस्कृति मंत्री थे। वे समय पर आ गए! सभी को इस बात का आश्चर्य था क्योंकि वे राज्य के लेट-लतीफ़ नं.1 माने जाते हैं। योगेंद्र जी ने उन्हें गुलदस्ता भेंट किया। मंत्री जी उन्हें शुभकामनाएँ दी और ख़ुशी ज़ाहिर की कि इस आयोजन के माध्यम से योगेंद्र जी देश की संस्कृति का विकास कर रहे हैं। गरबा शुरू हुआ तो मंत्री जी भी संकोच पूर्वक थोड़ा-सा भटके। ख़ूब तालियाँ बजी।

गरबा ख़त्म होते ही मुख्य कार्यक्रम शुरू हुआ। संचालन करने के लिए इंदौर से उद्घोषक आए थे। स्मार्ट और ख़ूबसूरत लड़का और वैसी ही सुंदर युवती। वे एक-दूसरे का हाथ पकड़े, दौड़ते-दौड़ते मंच पर आए। हाथ उठाकर उन्होंने कहा, ''हैलोऽ...नमस्कार...आदाब।'' लोगों ने तालियाँ बजाईं। लड़की ने फ़्लाइंग किस उछाले। लड़के ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा, ''हम कहाँ आ गए? इतनी सुंदर लड़की किस उछाल रही है...एंड देयर इज़ नो रिएक्शन! क्या हो गया है लोगों को! ये कैसा शहर है भाई!''

लोगों को लगा कि शहर की नाक कटी जा रही है। अपनी ग़लती सुधारते हुए लोगों ने तुरंत सीटियाँ बजाईं और टी.वी. कार्यक्रम के दर्शकों की तरह हाथ हिलाकर चिल्लाए होऽऽ...। पर शायद अब भी कुछ क़सर रह गई थी। इस बार लड़की ने कहा, ''अभी अभी यहाँ बहुत बढ़िया डाँडिया नाच हुआ है। मैं देख रही हूँ कि इस शहर में भी सुंदर-सुंदर लड़कियाँ हैं फिर भी यहाँ लोगों को ठीक से सीटी मारना नहीं आता! कमऑन फ़ोक्स...सुंदर लड़कियों के नाम पर तालियाँ ही बजाइए।''

इस बार तालियों में ज़ोर आया और सीटियाँ भी ख़ूब बजीं। अब जाकर उद्घोषकों को संतोष हुआ...''थैंक्यू...थैंक्यू...अब लगा कि इस शहर में भी जोश है। तो दोस्तो...अब आप भूल जाइए कि आपकी उम्र क्या है। अब आप केवल जवान हैं तो लीजिए जवानों की महफ़िल में जवानों का नाच-गाना। सबसे पहले आपके ही शहर के 'कैक्टस म्यूजिक ग्रुप' के कलाकारों का डांस।''

तेज़ रिद्म में नाच शुरू हुआ और गायक ने गाते-गाते कहा, ''कम ऑन...आप भी साथ दीजिए।'' दर्शकों में कुछ लोग अपनी जगह पर खड़े होकर नाचने लगे और तालियों से ताल देने लगे। श्रीवास्तव जी की बग़ल में बैठे अधेड़ सज्जन ने खड़े होकर सीटी बजाई। अब तक उस पर एनाउंसर लड़की की इस बात का असर होने लगा था कि अपनी उम्र को भूल जाना है। उसने थोड़ा-सा नाचने की कोशिश भी की लेकिन उसकी बग़ल में बैठे उसके दोस्त ने उसे बैठा लिया। अग़ल-बग़ल के लोगों ने मज़ा लिया

कहा, "हो जाए...हो जाए।" इस बीच वास्तव जी भी जोशिया गए थे। उन्होंने भी टी बजाने की कोशिश की पर बज नहीं पाई। के पीछे बैठे जवान लड़के ने उनसे कहा, अंकल ऐसे नहीं...ये देखिए ऐसे।" उसने दार सीटी मारी और खड़े होकर थिरकने या। श्रीवास्तव जी ने फिर से कोशिश की और स बार सीटी बज गई। उन्होंने ख़ुश होकर कहा, कॉलेज में पढ़ते समय प्रैक्टिस थी।" मिसेस श्रीवास्तव ने उनसे कहा, "ऐंऽऽ क्या कर रहे हैं।" पर जिस लाड़ भरी नज़र से उन्होंने पति को देखा था उससे लग रहा था कि पति की यह हरकत उन्हें अच्छी लगी है।

चौहान जी ने अब जाकर ग़ौर किया कि श्रीवास्तव जी ने कपड़े उनके मुक़ाबले आधुनिक ढंग के पहन रखे हैं। उनकी पत्नी ने भी उनसे मैचिंग करती हुई ड्रेस पहन रखी है। उन्होंने मन-ही-मन सोचा साली प्रोफेसरी ज़िंदगी का मज़ा आधा कर देती है।

पहले तीन आइटम कुछ ख़ास नहीं थे। लग रहा था कि मेन आइटम तक पहुँचने के लिए माहौल गर्म करने की यह कोशिश है। चौहान जी को लगा कि माहौल कुछ ज़्यादा ही गर्म हो गया है। कसकर भीड़ थी और पीछे ख़ासा हल्ला हो रहा था। वे उठे और उन्होंने कहा, "मैं कुछ लेकर आता हूँ।"

आइसक्रीम और कुरकुरे की फ़रमाइश हुई। स्टॉल तक जाने के लिए दूसरी तरफ़ के गेट से जाना था। उधर जाते हुए उन्होंने देखा कि वॉलेंटियर्स और भीड़ के बीच कुछ गरमा-गरमी चल रही है। पीछे के लोग धक्का-मुक्की करके डेढ़ सौ और दो सौ के ब्लॉक में आने की कोशिश कर रहे थे। चौहान जी को वापस अपनी सीट तक आने में थोड़ी दिक़्क़त हुई। अब तक पचास रुपए की टिकट वाले कुछ दर्शक दो सौ रुपए के ब्लॉक में आ गए थे। बीच में लगी लोहे की जाली एक जगह से तोड़ी जा चुकी थी। कुछ कुर्सियाँ भी हवा में उछाली गईं थीं। प्रभात के कार्यकर्ता और सिक्योरिटी गार्ड्स परेशान लग रहे थे। अपनी सीट पर पहुँचकर उन्होंने आइसक्रीम और चिप्स के पैकेट फ़रमाइश करनेवालों के हाथ में सौंपे और कहा, "लगता है आज यहाँ हुल्लड़बाज़ी होगी।"

श्रीवास्तव जी ने चारों तरफ़ नज़र डालते हुए कहा, "हाँ यार लग तो रहा है।" फिर थोड़ी हिम्मत बटोर कर कहा, "थोड़ी देर और देखते हैं। शायद भीड़ को कंट्रोल कर लें ये लोग।"

जल्दी ही दो सौ रुपए की टिकट का अभिजात्य ख़त्म हो गया। इन लोगों के आसपास भी काफ़ी लोग जमा हो गए थे। पीछे से रह-रहकर भीड़ के धक्के की लहर आ रही थी। चौहान जी के भीतर का प्रोफेसर चौकन्ना हो गया। कुछ गड़बड़ ज़रूर है। जिस तरह के लौंडों-लपाड़ों का झुंड यहाँ घुस आया था उनके इरादे ही ग़लत लग रहे थे। उन्होंने अपनी पत्नी से कहा, "यहाँ तो गड़बड़ लग रही है। हम लोगों को समय रहते यहाँ से निकल जाना चाहिए। वो...देखो...कुछ लोग तो जाने भी लगे हैं।"

श्रीवास्तव जी ने भी उनकी बात का समर्थन किया साथ में लड़कियाँ हैं भई। ये लोग उठकर जब तक बाहर आए तब तक कई अन्य दर्शक भी बाहर आने लगे थे। अपनी गाड़ी की तरफ़ बढ़ते हुए उन्होंने सुना कि भीतर की आवाज़ें बढ़ गई थीं। सीटियाँ बज रही थीं। इतनी ज़्यादा सीटियों की कल्पना भी उद्घोषकों ने नहीं की थी। वे लगातार निवेदन कर रहे थे, "आप लोग शांति से बैठिए। कुछ ही देर में आपके सामने आएगी...चुम्मा गर्ल।"

अपनी कार की तरफ़ बढ़ते हुए श्रीवास्तव जी ने ग़ौर किया कि पुलिसवाले बाहर ही बाहर मँडरा रहे थे जैसे भीतर के हुल्लड़ से उन्हें कुछ लेना-देना ही नहीं है। रवाना होते हुए उन्होंने चौहान जी से कहा, "लगता है असली गरबा महोत्सव अब शुरू होगा।"

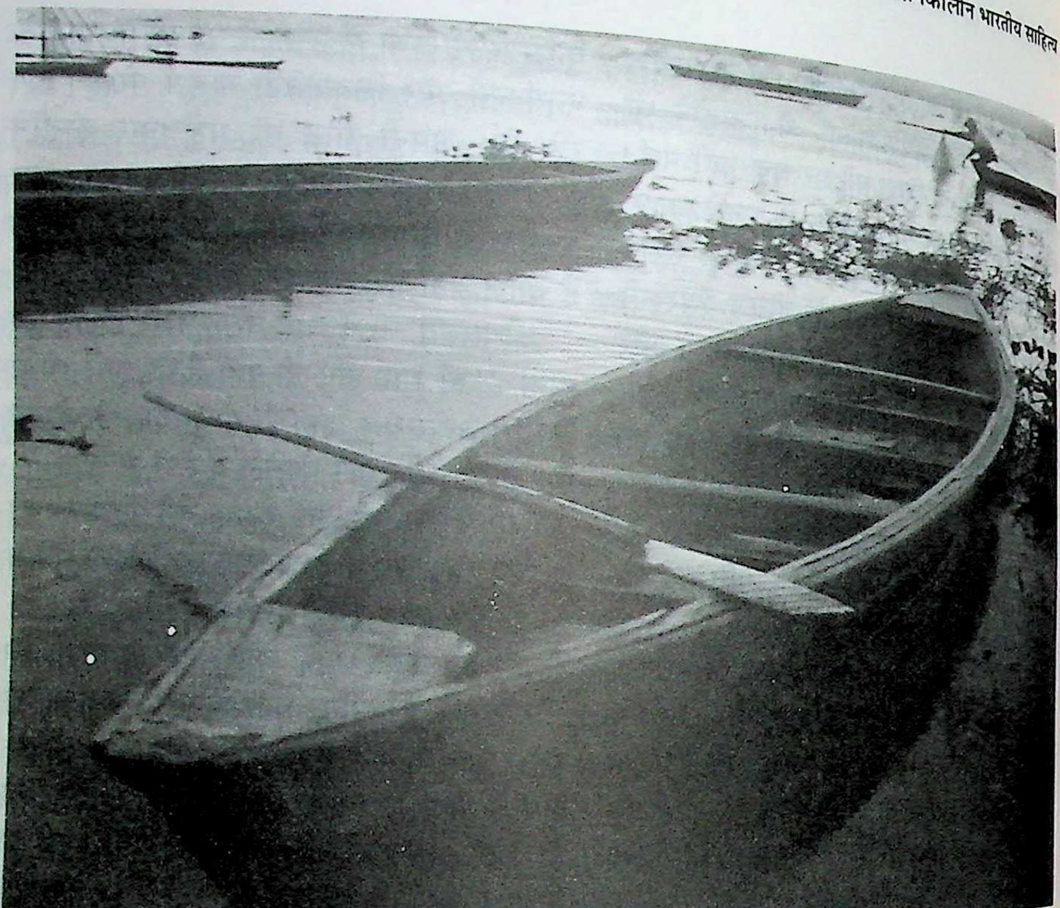

वी. आई. पी. गेट से जो आदमी बाहर आया था उसके सीने पर प्रभात का आई. कार्ड लगा था। उसके चेहरे पर घबराहट थी। यह प्रभात के सहसंपादक शर्मा जी थे। बाहर गेट के पास कुर्सियाँ डालकर आराम की मुद्रा में बैठे सिपाहियों से कुछ दरियाफ़्त करने के बाद वे हड़बड़ाए हुए कॉफ़ी स्टॉल में कुर्सी पर इत्मीनान से बैठकर कॉफ़ी सुड़कते टी. आई. के पास पहुँचकर बोले, ''चलिए साहब, चलकर थोड़ा सँभालिए। कार्यक्रम में लोग हुल्लड़ मचा रहे हैं।''

टी. आई. ने कॉफ़ी का घूँट भरते हुए शर्मा जी की तरफ़ देखा ज़रूर पर कहा कुछ नहीं। उसे किसी बात की जल्दी नहीं थी। शर्मा जी फिर गिड़गिड़ाए, ''आप सिपाहियों को जल्दी भेजिए साहब। पचास रुपए की टिकट वाले जाली तोड़कर दो सौ की टिकट के ब्लॉक में घुस आए हैं। कुर्सियाँ फेंक रहे हैं।''

''ऐसा है साहब, प्रोग्राम आप कर रहे हैं। आपने ख़ुद अपने सिक्योरिटी वाले रखे हैं। आपके पचासों तो कार्यकर्ता ड्रेस मारकर इंतज़ाम अली बने घूम रहे हैं। आप लोग ही सँभालिए। अरे भाई...कोशिश तो कीजिए।''

शर्मा जी कुछ क्षणों तक उसे देखते रहे फिर बदहवास जल्दी-जल्दी लौटे। टी. आई. उठते-उठते बुदबुदाया, पिछवाड़े दम नहीं और सुंगरियों को न्यौता दे रहे हैं। वह पूरे इत्मीनान के साथ पान ठेले की तरफ़ बढ़ गया।

गेट के पास खड़े सिपाहियों से शर्मा जी बोले, ''आप लोग भीतर चलकर सँभालिए।''

पुलिसवालों ने कहा, ''हमको तो इसी गेट पर रहने के लिए कहा गया है। वैसे साब, आप लोग नंगी-पुंगी औरतों का ऐसा कार्यक्रम काय तो रखते हैं!''

शर्मा जी समझ नहीं पाए कि पुलिसवाले ने अपनी मजबूरी ज़ाहिर की थी या उनका मज़ाक़

कर रहे हैं।
खे हैं। आपके
इंतज़ाम अली
भालिए। अरे

खते रहे फिर
आई. उठते-
और सुंगरियों
नान के साथ

र्मा जी बोले,
ए।”
तो इसी गेट
साब, आप
र्यक्रम काय

लिसवाले ने
नका मज़ाक़

था। वे इतना समझ गए कि यहाँ कोशिश बेकार है तो वे तेज़ी से वी. आई. पी. में बैठे योगेंद्र जी के पास पहुँचे और स्थिति का बयान किया।

“हूँऽऽ!” योगेंद्र जी का चेहरा कठोर हो । उन्होंने पीछे मुड़कर देखा। हुल्लड़ वाले कुर्सियों पर बैठे लोगों के आगे खड़े लोहे की जाली को हिला रहे थे और रहे थे, “चुम्मा गर्ल को भेजो।” टिकट कर आए दर्शक या तो खीझ रहे थे या बाहर जाने लगे थे। योगेंद्र जी ने दाँत और नाक से साँस छोड़ते हुए कहा हूँऽऽ!” सोफ़े से उठकर थोड़ा बग़ल में जाकर मोबाइल पर मुख्यमंत्री के बेडरूम का डायल किया, “नमस्कार...योगेंद्र बोल रहा मैं ठीक हूँ पर यहाँ मेरे प्रोग्राम में हुड़दंग हो है।”

....

“मैं जानता हूँ...ये दैनिक जनचेतना वाले रहे हैं।”

....

“पुलिस है पर कुछ कर नहीं रही है। हाँ...कोई टी. आई. वर्मा है।”

“उससे कहा गया है पर वो कुछ कर नहीं है। लगता है उसे फ़िक्स कर दिया गया ।”

.....

“बहुत जल्दी कुछ कीजिए वरना मेरी इज़्ज़त जाएगी। आप तो आई. जी. को ऑर्डर दें यहाँ जो भी हैं वो इस वक़्त मुझे बॉस समझ काम करें। कुछ और सिपाही भी वाइए...फ़ौरन।”

“अरे नहीं...ऐसी क्या बात है...थैंक्यू... ...।”

योगेंद्र जी के आवेग भरे चेहरे पर इत्मीनान भाव झलका। उन्होंने शर्मा जी से कहा, कार्यक्रम ज़ारी रखो। और अपने वॉलेंटियर्स कहो कि परिवार वाले दर्शकों को सुरक्षापूर्वक निकालें।”

शर्मा जी कुछ कहने को हुए तो वे फिर बोले, “पब्लिक को बाहर जाने दो और इन हुल्लड़बाज़ों को रहने दो। उन्हें करने दो मनमानी...हाँ हाँ करने दो।”

दस मिनट ही गुज़रे थे कि डी. एस. पी. रैंक के एक अफ़सर ने वी. आई. पी. गेट से प्रवेश किया। उसके पीछे घबराया हुआ-सा टी. आई. भी था। अफ़सर सीधे योगेंद्र जी के पास पहुँचकर बोला, “सर आदेश दें। क्या करना है?”

“आप इन्हें देख रहे हैं।” योगेंद्र जी ने हुल्लड़बाज़ समूह की ओर देखे बिना, आँखों से इशारा भर किया। ये इरादतन हुल्लड़ करने के लिए यहाँ घुसे हैं। किसी के द्वारा भेजे गए हैं।

टी. आई. ने उत्साह दिखलाया, “सिपाहियों को अंदर बुलवाकर पिटाई करवा दूँ।”

“अभी तक झक मार रहे थे? सी. एम. नाराज़ हैं आपसे।” अफ़सर फिर योगेंद्र जी से बोला, “सर, हमको आदेश मिला है कि आपके निर्देशानुसार काम करें। कहिए क्या करना है?”

“इन्हें सबक सिखाना है पर मुझे अपना मेन आइटम करना ही है। ये लोग उसी आइटम में ज़्यादा हल्ला करेंगे। उस आइटम के ख़त्म होते ही इनकी मरम्मत होनी चाहिए। तब तक हमारे गेस्ट और दर्शक भी बाहर चले जाएँगे। मैंने इस काम के लिए अपने आदमी लगा रखे हैं।”

पुलिस अधिकारी बाहर चले गए। इधर एनाउंस किया गया, “आप लोग कृपया शांत रहिए। बहुत जल्दी मंच पर होगा आज का धमाका यानी चुम्मा गर्ल का दिलफ़रेब डांस। पर इसके पहले आपसे मुख़ातिब हैं आपके शहर के कलाकार।”

इस आइटम के दौरान हुल्लड़बाज़ों ने ख़ूब कुर्सियाँ उछालीं पर वे यह नहीं देख पाए कि इस बीच प्रभात के सिक्योरिटी गार्ड और वॉलेंटियर्स चारों तरफ़ फैल गए थे। स्टेज के सामने भी गार्ड्स खड़े हो गए। दूर-दूर रहकर लेकिन नज़रों से छिपे रहते हुए एक घेरा पुलिस वालों ने बना लिया था। वे इधर-उधर कुर्सियों

पर बैठ गए थे और अपने डंडों पर प्यार से हाथ फेर रहे थे।

आख़िर चुम्मा गर्ल मंच पर आई। हर गेट पर खड़े पुलिसवाले, चाय-कॉफ़ी स्टॉल वाले और पान ठेलेवाले भीतर आ गए। चुम्मा गर्ल का सी. डी. सबने देखा था। बूढ़े-बच्चे सभी जानते थे कि इस डांस में उसने कुल जमा छह इंच कपड़े पहने थे। पर मंच पर नाचने के लिए उसने कुछ ज़्यादा कपड़े पहन रखे थे—क़रीब दस इंच। अपने नितंबों के झटकों और स्तनों की हलचल से वह माहौल में आग लगा रही थीं। पुलिसवाले एक-दूसरे को धकियाते हुए अश्लील इशारे कर रहे थे। हुल्लड़बाज़ सीटी मार रहे थे और कुर्सियों पर मटक रहे थे। कुछ लड़कों ने शर्ट उतार दी थीं और उन्हें हवा में लहरा रहे थे।

चुम्मा गर्ल का आइटम ख़त्म हुआ। मंच की लाइट ऑफ़ हुई और हुल्लड़बाज़ों पर पीछे से डंडों की मार पड़ी। उन्हें इस आइटम का गुमान ही नहीं था। वे हड़बड़ाकर इधर-उधर भागे पर दाएँ-बाएँ भी सिक्योरिटी गाड्र्स ने उन्हें घेर रखा था। कुछ लोग उनसे बचकर गेट तक पहुँचे तो पुलिसवालों ने डंडे फटकार कर उन्हें भीतर खदेड़ दिया। स्टेज की तरफ़ सिक्योरिटी गार्ड इतनी संख्या में थे कि उधर जाने की किसी की हिम्मत नहीं थी। तीनो गेट से पुलिसवाले भीतर आ रहे थे। उन्होंने चारों तरफ़ से एक घेरा डाल लिया था। उनके चेहरों पर कुछ ऐसा भाव था जैसा अच्छा नाश्ता सामने देखकर किसी के चेहरे पर होता है। प्रभात के वॉलेंटियर्स की पिटाई से बचकर जो उनके पास पहुँचते उन्हें ख़ालिस पुलिसिया मार पड़ती। अब डी. एस. पी. और टी. आई. भी अंदर आ गए थे। टी. आई. ने दहाड़कर कहा, ''कोई भी साला भागकर ना जाने पाए।''

हुड़दंगियों में कुछ तो बिलकुल अनाड़ी थे। शायद वे पहली बार ऐसा कुछ कर रहे थे। ऐसे कुछ लोग रिरिया रहे थे, ''हमको छोड़ दो साहब। हम तो चुपचाप कार्यक्रम देख रहे थे।''

''असली डाँडिया देखकर साले पिनपिना रहे हैं।'' टी. आई. ने हँसकर कहा, ''लगाओ सालों को।''

कइयों के हुलिए बिगड़ गए थे। वे कराहते हुए अपनी चोटें सहला रहे थे। सिक्योरिटी वालों ने ऊधम मचाने वालों के तीन-चार लीडरों को पहले से पहचान लिया था। उन्हें टी. आई. के सामने पेश किया गया। उनमें से एक उघारे बदन था। चुम्मा गर्ल के डांस के समय वह भी क़मीज़ उतारकर लहरा रहा था। बाद में उसे दुबारा पहनने का मौक़ा नहीं मिला और अब तो भगदड़ में क़मीज़ कहाँ गई उसे पता ही नहीं था। टी. आई. ने उसके बालों को पकड़कर झटका और माँ की गाली देकर उसकी पीठ पर एक घूँसा जड़ा। मार खानेवाला बिलबिला गया तो उसके साथी ने थोड़ा अकड़कर कहा, ''ये सरासर ज़ुल्म है। हम विधान सभा में प्रश्न...''

अभी वह वाक्य पूरा नहीं कर पाया था कि एक झन्नाटेदार झापड़ उसके गाल पर पड़ा, ''वहाँ जब सवाल उठाएगा तब उठाना। अभी तो ये बतला कि हुल्लड़ मचाने का क्या मिला है तुझको?''

होंठों से बहते ख़ून को पोंछकर उसने कहा, ''हम तो केवल सीटी मार रहे थे साहब। पर वो तो कई लोग मार रहे थे।''

''और कुर्सी तेरा बाप फेंक रहा था!'' इस बार डी. एस. पी. का थप्पड़ पड़ा।

इस कुटाई के दृश्य से घबराकर तीन-चार लड़के आगे आकर बोले, ''सर हमको छोड़ दीजिए। हमको तो ये लोग यह कहकर साथ ले आए कि चलो तुम लोगों को प्रोग्राम दिखलाएँगे।''

''और चाय-नाश्ता भी करवाने के लिए कहा था।'' एक चिड़ीमार ब्रांड पिनपिनाकर बोला।

''किसने कहा था? हाँ...हाँ...बतलाना किसने कहा था...'' टी.आई. ने उसकी क़मीज़ का कॉलर पकड़कर अपनी ओर खींचा तो वह किकियाने लगा, ''मेरे को मत मारो साब। मैं तो

गया। येई बोला था...ये और ये।'' उसने -तीन लोगों की तरफ़ इशारा किया।

कोई और रास्ता ना देखकर पिटनेवालों ने हथियार डाल दिए। उन्होंने कहा, ''हमने मजबूरी किया सर। हम सब कुछ बतला रहे हैं।''

अब तक योगेंद्र जी वहीं आ गए थे। उनके एकदम सन्नद्ध। उन्होंने ग़ौर से लोगों को देखा। उनकी आँखों में लोहा था। सामने पचास-साठ जवान लौंडे थे। उनकी नज़र दो-तीन बड़ी उम्र के आदमियों के चेहरों पर टिक गई। खाए-घिसे चेहरे। यही होंगे असली करामाती।

वॉलेंटियर्स और पुलिसवालों के घेरे में यह समूह भेड़ों के सहमे रेवड़ की तरह लग रहा था। योगेंद्र जी ने हाथ उठाकर इशारा किया तो इस तरफ़ घुमाकर तीन-चार स्पॉट लाइट्स जलाई गईं। उनके दूसरे इशारे पर दो कैमरामैन अपने वीडियो कैमरों के साथ उपस्थित हो गए।

''तुम लोग बैठ जाओ।'' योगेंद्र जी ने ठंडी सपाट आवाज़ में कहा। लोग कुर्सियों पर बैठने लगे तो टी.आई. ने घुड़का, ''कुर्सियों पर नहीं, ज़मीन पर बैठो।''

''नहीं...नहीं कुर्सियों पर बैठने दीजिए'', योगेंद्र जी ने कहा। लोग डरते-डरते बैठने लगे। टी.आई. फिर टर्राया, ''साहब को थैंक्स दो।'' मरी-मरी आवाज़ में थैंक्यू हुआ।

''आप बैठिये सर।'' डी.एस.पी. ने योगेंद्र जी के लिए कुर्सी खींची पर उन्होंने मना कर दिया। वे लोगों के ठीक सामने, सीने पर हाथ बाँधकर खड़े हो गए और बोले, तुम लोगों ने एक महत्त्वपूर्ण आयोजन में हुल्लड़ किया है। बेहतर है कि सही-सही उगल दो कि तुम लोगों ने किसके कहने पर ऐसा किया...वरना...मैं दो काम करूँगा। योगेंद्र जी ने कुछ क्षण चुप रहकर सामने बैठे लोगों के चेहरों पर सरसरी निगाह डाली, ''एक तो यह कि तुम लोगों को पुलिस में दे दूँगा पर उसके पहले सबके कपड़े उतरवा कर उस एरिना में नचवाऊँगा। और इसकी वीडियोग्राफ़ी होगी।''

पुलिस वालों ने एक-दूसरे की ओर देखा। उनकी आँखों में प्रशंसा का भाव था। हुड़दंगियों में कम उम्र के लौंडों के चेहरों पर भय की लहर दौड़ गई। कुछ ज़्यादा घबराए लड़कों ने तीन-चार लोगों की ओर इशारा करके कहा, ''ये लोग हमको हल्ला मचाने के लिए साथ लेकर आए थे। कह रहे थे पुलिस कुछ नहीं करेगी।''

योगेंद्र जी ने कैमरावालों को कैमरा ऑन करने का इशारा किया और उन ख़ास चेहरों पर आँखें गड़ा दीं। आँखों में हिंसक चमक थी, ''कमऑन ...बोलो वरना शुरू करवाता हूँ स्पेशल कार्यक्रम। तुम लोग हाय-हाय करोगे और बाक़ी लोग सीटी मारेंगे।''

''जी हम लोगों को जनचेतना वालों ने भेजा है।''

''हूँऽऽ... बोलते रहो।''

''कहा था कि पचास-साठ लोगों को ले जाकर हुल्लड़ मचाना है। टिकट और चाय-नाश्ते का इंतज़ाम किया था उन्होंने।''

''पैसे कितने मिले थे तुम लोगों को ?'' योगेंद्र जी की आवाज़ में गुर्राहट थी।

''पाँच हज़ार रुपए।''

''किसने दिए।''

....

''बोल हरामज़ादे...बोल, किसने दिये थे रुपए ?'' योगेंद्र जी को उनके मुलाजिमों और पुलिस वालों ने आश्चर्य से देखा। उनके चेहरे के ताप ने उनकी संभ्रांत मुद्रा की परत को पिघला दिया था।

''जी जनचेतना के सहायक संपादक गिरीश जी ने दिए थे। और...और इनको साथ में भेजा है।'' बोलने वाले ने एक लपोझन्ना क़िस्म के आदमी की तरफ़ इशारा किया। उसका चेहरा ऐसी फ़ोटो की तरह था जिसमें दाईं तरफ़ से देखने पर प्रीति जिंटा की शक्ल नज़र आती है पर बाईं तरफ़ से देखने पर अमरीश पुरी का चेहरा दिखलाई देता है। उस चेहरे पर विनम्रता

और काइंयापन का अजब मिश्रण था। क्षण भर में दीन-हीन और क्षण भर में हरामी दिखलाई देने की क्षमता उसमें थी। वह चेहरा इस भ्रम को तोड़ता था कि कई चेहरे केवल राजनेताओं और अफसरों के होते हैं।

योगेंद्र जी ने उसे दिलचस्पी से देखा और पूछा, ''तुम वहाँ स्टाफ़ में हो ? क्या करते हो ?''

''जी मैं स्टोर में क्लर्क हूँ। सर, मैं बहुत छोटा कर्मचारी हूँ। मजबूरी में करना पड़ा।''

''हूँऽऽ!''

योगेंद्र जी मुड़े और कुछ दूर हटकर उन्होंने मोबाइल पर जनचेतना के प्रधान संपादक का नंबर डायल किया। उधर से आवाज़ आई, ''हैलोऽ योगेंद्र जी। नमस्कार... इस वक़्त।''

''हाँ भारद्वाज, ज़रूरी था कि मैं आपको आगाह कर दूँ कि आपका बुरा वक़्त शुरू हो गया है।''

''जी...मैं समझा नहीं!''

सभी के कान योगेंद्र जी की बातचीत की ओर लगे थे। एकदम ख़ामोशी छाई थी।

''आपने जो भाड़े के टट्टू भेजे थे मेरे कार्यक्रम में हुल्लड़ मचाने के लिए, उन्होंने सब उगल दिया है। कल मैं इसकी सीडी मुख्यमंत्री को दिखलाऊँगा।''

कुछ क्षणों की चुप्पी रही फिर भारद्वाज की आवाज़ आई, ''योगेंद्र जी कहीं कुछ ग़लतफ़हमी हुई है।''

''चोप्प साले, तुझे तो मज़ा नहीं चखाया तो मेरा नाम योगेंद्र सिंह नहीं! तूने मेरा प्रोग्राम नहीं बिगाड़ा है...तूने मेरे बिजनेस पर चोट की है।''

''योगेंद्र जी लैंग्वेज प्लीज़। क्या आप शराफ़त की...''

''शराफ़त शरीफ़ों के साथ बरती जाती है चोट्टे।'' योगेंद्र जी की साँस उत्तेजना में फूल रही थी। थोड़ा बहुत कमा के तू ये तो समझ गया होगा पैसा हरामीपन किए बग़ैर नही कमाया जा सकता। तू हरामीपन में मुझसे बहुत छोटा पड़ेगा। मैंने इतना बड़ा एम्पायर यूँ ही नहीं खड़ा किया है। तेरी तो मैं...मैं...और जिन पुलिसवालों को तूने खिलाया-पिलाया हैं उनके भी वंबू करवाता हूँ।''

योगेंद्र जी अपनी साँस पर क़ाबू पाने के लिए रुके। टी.आई. ने गरदन इधर-उधर की और धीरे-से हाथ पीछे ले जाकर अपना पिछवाड़ा सहलाया फिर सिर खुजलाने लगा।

''आज सो ले भारद्वाज, कल से मैं तेरी नींद हराम कर दूँगा। तू अभी मुझे जानता नहीं है।''

''सुनिए तो... योगेंद्र जी...'' पर योगेंद्र जी ने मोबाइल का स्विच बंद कर दिया और वापस अपनी जगह पर लौट आए। उनका चेहरा लाल भभूका हो रहा था। उन्होंने लौंडों-लपाड़ों से कहा, ''अब तुम लोग भागो। जो जितनी जल्दी इस कैंपस से बाहर निकलेगा वो मार से बच जाएगा।'' फिर मुड़कर उन्होंने सिक्योरिटी वालों और पुलिसवालों से कहा, ''दौड़ाओ सालों को और पीटो!''

लोग दड़भड़-दड़भड़ भागे और पीछे से उनकी पिटाई शुरू हुई। किसी की चप्पल रह गई तो कोई हड़बड़ा कर गिरा और पिटा। कोई अपनी मोटरसाईकिल स्टार्ट करते-करते दो डंडे खा गया तो कोई अपने को बचाते-बचाते उँगलियाँ तुड़वा बैठा। कुछ ही मिनटों में मैदान साफ़ हो गया।

दो-तीन दिन तक लगातार श्रीवास्तव जी और चौहान जी सारे अख़बार पलटते रहे ताकि जान सकें कि उस दिन क्या हुआ ? पर उस घटना के विषय में कहीं कोई सुग-बुग नहीं हुई। केवल दैनिक प्रभात ने अपने गरबा महोत्सव में हिस्सा लेने वालों और सहयोग देने वालों को आधे पृष्ठ पर धन्यवाद ज्ञापित किया था।

लीलाधर मंडलोई

स्मृति

वह एक सीलन भरा गलियारा था। चीज़ें एक दमघोंटू गंध में डूबी थीं। वह गंध अमूमन श्मशान घाट पर होती है। लकड़ी की छत पर पंखा फड़फड़ा रहा था। उससे निकलती कर्कश ध्वनि से लग रहा था, मानो वह जीने की भरसक कोशिश में है। वहाँ की हर वस्तु पर पीली बुझी-सी रोशनी का एकाधिकार था। जैसे कोई चटख पीला रंग एक लंबी उम्र के बाद बूढ़ा और जीवन से हताश हो उठा हो। गलियारे की खिड़की के बाहर हनुमान का एक उजाड़-सा दिखनेवाला छोटा-सा मंदिर था, जो धसक रहे चबूतरे पर 'मढ़िया' अधिक लग रहा था, जिसमें हनुमान मन से विराजे हों ऐसा संकेत कम और जबरिया कार्रवाई का अहसास ज़्यादा था। जगह-जगह मकड़ी के जाले थे। उनमें मरे हुए कीड़े अब तक लटके थे। उखड़ रही दीवारों पर छिपकलियों की गश्त थी और इधर-उधर तिलचट्टे भाग-दौड़ रहे थे। बाहर मई की उमस थी और भीतर एक ऐसा ठंडापन था जो गोश्त को छूने से जागता था।

इसी गलियारे को पार कराते हुए मैं एक छोटी-सी कोठरी में मानो फेंक दिया गया। इसमें लोहे का मज़बूत दरवाज़ा था। सलाख़ें मोटी थीं और उस पर झूल रहा ताला पुराने ज़माने का था। कोई एक या डेढ़ सेर का या उससे अधिक। पीछे कोई आठ या दस गज़ की ऊँचाई पर एक रोशनदान था जिसमें से किसी दरख़्त की बूची शाखा झाँक रही थी। उस शाखा में कुछ नई फुनगियों के फूटने का भरोसा था। फ़र्श पर हाथ का बुना एक मोटा काला धुस्स कंबल था, जिसमें कोई ऐसी गंध थी जिसे मैंने पहली बार जाना। कुछ-कुछ वैसी कि उसमें लोगों को अंतिम समय में घसीटा गया हो। तब...जब वे ज़ख़्मों से भरे हुए थे। कोठरी में पेशाब करने के लिए एक नाली थी और बदबू ने जैसे कोठरी को घेर लिया था। एक बाल्टी थी जिसमें पानी तल को छू रहा था बस इतना...।

बाहर कुछ फुसफुसाहटें थीं और फ़ोन निर्जीव पड़ा था। मुझे सहसा लगा वे दोनों अभी भी गलियारे में थे। मैंने देखा वे मेज़ पर झुके हुए, कुछ काग़ज़ों पर दस्तख़त कर रहे थे या कि किसी का 'डेथ वारंट' गोद रहे थे। बीच-बीच में वे जब हँसते थे तो निचाट क्रूरता का बोध होता था। बग़ल वाली कोठरी में कोई सिसक रहा

1953 में जन्मे लीलाधर मंडलोई के तीन कविता-संग्रह, दो बाल कहानी-संग्रह प्रकाशित। संपर्क: ए-2492, नेताजी नगर नई दिल्ली 110023

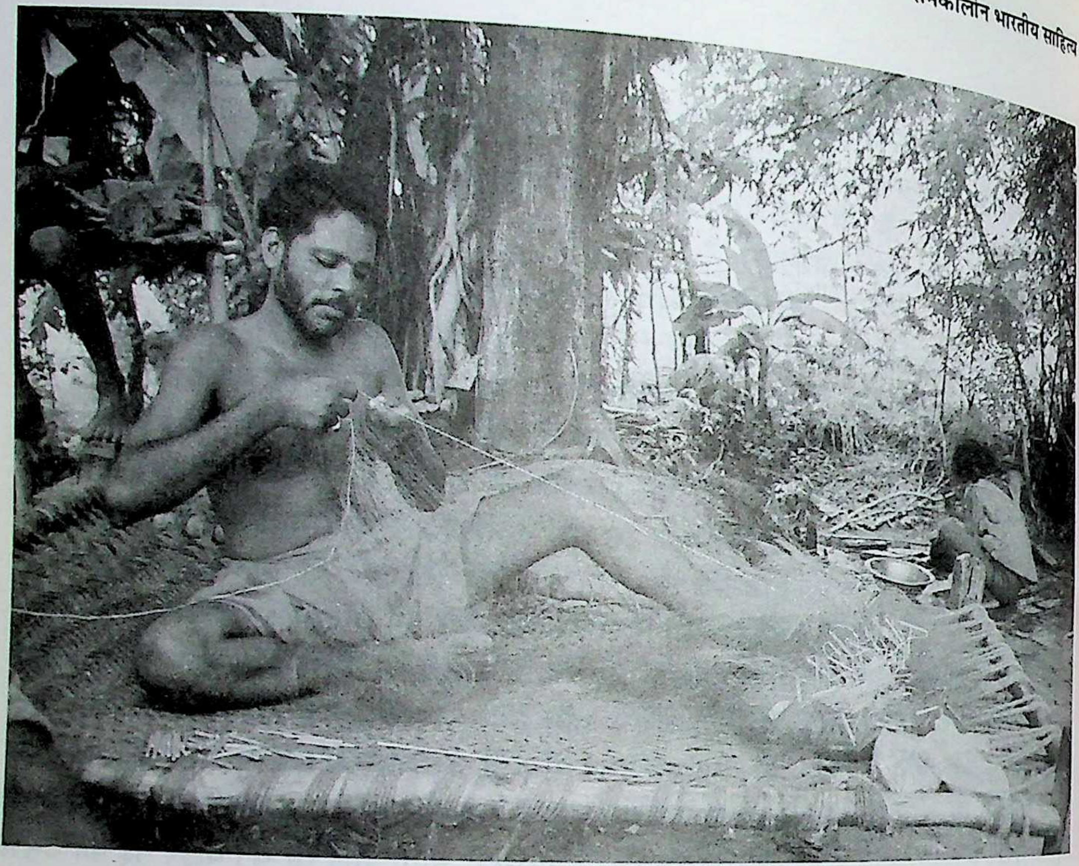

था। उसे प्यास लगी थी और कुछ सुन नहीं रहा था। मेरी देह से पसीने की धाराएँ बह रही थीं और पोंछने को कोई कपड़ा न था। मेरा रूमाल और क़मीज़ बाहर जमा हो चुके थे। कुछ और वस्तुएँ जिनकी मुझे ज़रूरत न थी। लेकिन कपड़े के किसी टुकड़े के लिए मैं परेशान था। अंदर कोई पंखा न था और रोशनदान से आनेवाली हवा कहीं दूर जा छिपी थी। मुझे लगा बाजू से उठ रही पानी की गुहार में, मैं शामिल हो गया था। लेकिन मुझमें पानी माँगने की इच्छा न हुई या कहें हिम्मत। लगा कोई सुनेगा नहीं और अगर पसीजा भी तो सीख़चों के बाहर से जर्मन के किसी पिचके गिलास से पानी गिराएगा और हँसेगा। जैसा कि बंबइया फ़िल्मों का एक ही दृश्य मेरे मन में अंकित है और लाख कोशिशों के बाद हटता नहीं। इसी बीच मुझे सुनाई दी थी चिड़िया की आवाज़ और फिर चुप्पी। मैंने देखा मरे हुए उजाले में मेरी परछाईं ठीक-ठीक उभर रही थी।

दोपहर में जब मुझे घेरा गया। मैं एक किताब में डूबा था, जिसे ज़ब्ती के समय उन्होंने फेंक दिया था। वे कमरे को देर तक घूरते रहे थे। उनकी आवाज़ें एकाएक रौबदार हो उठी थीं। तब मेरे मन में विचार उठा था कि वे गृहस्थ नहीं रहे होंगे। उनके बच्चे न होंगे। न पत्नियाँ। लेकिन उनकी माताओं के बारे में सोचते हुए मैं ठिठक गया था। सोचने की कोई व्यवस्थित लय न थी, अतः वह टूट चुकी थी। मुझे याद नहीं कि क्या घट रहा था और क्या पूछा जा रहा था। मेरे पास उन सवालों का शायद जवाब न था। मैं एक रोबोट जैसा अनुभव कर रहा था, जिसका रिमोट उनके पास था। लेकिन मैं उनके मनमुआफ़िक़ न था। वे मेरे हाथों में रंग खोज रहे थे, और आँखों, चेहरे और कपड़ों पर। वे उन काग़ज़ों को पढ़ रहे थे जिन पर अंकित भाषा उनकी समझ से परे थी। वे डायरी पढ़ रहे थे जिनमें सिर्फ़ पते थे या टेलीफ़ोन नंबर। वे कुछ खोज रहे थे जो उन्हें मिल नहीं रहा था। किसी ने

कहा, "समय चाहिए।" कोई और बोला, "बात नहीं बन रही।" उनमें से एक ने कहा, जो शायद बड़ा अफ़सर था, "क़ब्ज़े में ले लो।"

इसके बाद मैं दूसरी जगह था। जहाँ ढेर-सी कुर्सी थी। एक भव्य इमारत, जिसमें नीचे कई कमरे थे, बीच-बीच में बेंच जिन पर लुटे-पिटे चेहरे थे। भय में डूबे हुए। वहीं मुझे बिठा दिया गया। आसपास सब अजनबी। उनकी साँसें रुकी हुई थीं। मैंने गला साफ़ किया। सामने कूलर से मुश्किल आधा गिलास पानी हलक़ में उड़ेला और इधर-उधर देखने लगा। घर की याद का झोंका आया लेकिन मैंने उसे रोक दिया और दीवार पर टँगी एक तसवीर देखने लगा। वह शायद वन विभाग का पोस्टर था। उसमें कुछ हाथी थे और एक बाघ जो दुबका हुआ दीख रहा था। मुझे लगा भीतर जैसे हँसी की कोई लहर हो। मुझे सहसा दफ़्तर का दृश्य याद आया और कुछ लोग...। मेरे भीतर कुछ भी व्यवस्थित न था। न किसी की स्मृति, न घटना की याद और न ही वह जो घट रहा था इस समय। दो घंटे तक सिर्फ़ बैठा रहा मैं...। वहाँ कुछ नहीं घटा। न पूछताछ, न बातचीत। बस किसी एक काग़ज़ पर हस्ताक्षर और बस...अबूझ आतंक। शायद जो घट रहा था उसे वे ही जानते थे। बाहर कुछ कुत्ते भौंक रहे थे जिन्हें मैं साफ़ सुन रहा था। कुत्तों का भौंकना अंदर की आवाज़ों में जज़्ब हो गया था। मैं समझ नहीं पा रहा था कि सब कुछ इतना रहस्यमय था। चीज़ें जब रहस्य के आवरण में होती हैं, तब उत्कंठा, बेचैनी, संदेह और भय घेरते हैं। कुछ भी अधिक देर तक स्थायी नहीं होता। वैसा ही मेरे साथ घट रहा था। मन अनेक दिशाओं में भाग रहा था। लेकिन कुछ था जो ताक़त सौंप जाता था। मुझे तब सहसा पिता के अभिन्न दोस्त 'चोखेलाल' का जुमला याद आया, जो वे संकटों के बीच दोहराते थे...'नॉट फ़िक्र चोखेलाल'। उनका चेहरा, उस पर ऐंठी हुई मूँछें मुझे याद हो आईं। मैं कुछ तरल हुआ और भीतर कोई बोल उठा, "नॉट फ़िक्र"।

धीरे-धीरे अँधेरा घिरने लगा था। कुत्ते अब और ज़ोर से भौंक रहे थे। वे दोनों आए और मुझे एक गाड़ी में बिठा दिया। सामने दोनों बैठे और गाड़ी चल पड़ी। गाड़ी जिन रास्तों से गुज़र रही थी, उन्हें मैं जानता था। सब कुछ आम दिनों-सा सामान्य था। सिवा उस गाड़ी के भीतर के माहौल के, जिसमें मैं जकड़ा हुआ था। गाड़ी की आवाज़ बेसुरी थी। हॉर्न का बोलना उससे अधिक...। मैं जैसे कोई लय ढूँढ़ रहा था। कोई खो गया सुर...। सम पर आने की चेष्टा...कि इसी बीच एक गाड़ी एक झटके से रुकी। वह एक साधारण-सा होटल था। वे दोनों मुझे उसमें ले गए। उन्होंने कहा, "जल्दी कुछ खा लो।" दोपहर से हालाँकि कुछ खाया न था फिर भी भूख जैसे मरी हुई थी। उनका कुछ खाने का आग्रह ऐसे लहजे में था कि मुझे उन बकरों की याद हो आई, जिन्हें बक़रीद से महीनों पहले खिला-पिला कर तैयार किया जाता है, क़ुर्बानी के लिए...। उनके आग्रह पर मुझे हँसी आ रही थी और मैं उसे रोक रहा था...। असमंजस में था—मैं इस व्यवहार पर। इसी बीच कहीं दूर से माँ की कही बात सुनाई पड़ी, "लड़ना है तो भूखे रहकर नहीं, बल्कि ताक़त जुटाकर। और वह पहले अन्न से आती है।" मैंने कुछ सोचा और कुछ निवाले गले से उतारता रहा। क्या था थाली में और क्या नहीं, मुझे ठीक-ठीक याद नहीं। वॉश बेसिन में हाथ धोते हुए मैंने सामने लगे शीशे में अपना चेहरा देखा। वह मेरा अपना ही था। और धुँधला नहीं हुआ था...। मैं हाथ बढ़ाकर नल बंद करने लगा और मुझे अपनी उँगलियों में कंपन का अनुभव हुआ। लेकिन उँगलियों की पकड़ कम नहीं हुई थी...बस कोई अजनबीयत थी जो आसपास पसरी हुई थी। मैं उससे तो नहीं होटल से बाहर आ गाड़ी में बैठ गया था। उसमें से पेट्रोल की गंध आ रही थी, अब कुछ ज़्यादा ही साफ़, जिसे मैं पहचान रहा

था। सामने कोई बीड़ी पी रहा था, लगा वह मैं हूँ और गाड़ी चल पड़ी... ।

मैं दिन भर जो घटा, उसमें अटका हुआ था कि नज़दीक ही कुछ सरसराया और बिल में ग़ायब हो गया। एकाएक ध्यान टूटा। मैं उसी जगह कोठरी में था, जहाँ वे छोड़ गए थे। बिल की तरफ़ कौन सरका और बिला गया, मालूम नहीं। लेकिन मुझे कई चेहरे याद आए...जो कहीं बिला गए थे... । मुझे प्यास की तलब हुई, कुछ ज़्यादा ही। जैसे हलक़ सूख रहा हो। सहसा एक बेहूदा ख़याल उठा। 'किंगफ़िशर' और 'आह्लाद'। वैसे किसी एक के साथ रहते हुए भी तुम लड़ाई के लिए तैयार होते तो। अधिक साफ़ देखनेवाले। काले रंगों को पकड़ने में माहिर। मैं सचमुच कुछ पकड़ना चाहता था और लड़ना...इसी बीच बिल की तरफ़ से फिर कोई आवाज़ आई। हाँ...वही सरसराहट। शायद मृत्यु...या उसका डर... । या उसका कोई रूप... । या कि...कोई झूठ... । हाँ वही...क्योंकि सच तो एक डरा हुआ मेमना है। रोज़-रोज़ हलाक़ होता... ।

जाने कब से मैं यहीं खड़ा था। टहलने की इच्छा हुई।...नहीं स्मृतियों से मुक्त होने की। मैं टहलने को हुआ तो याद आया कि चप्पलें बाहर उतरवा ली गई थीं। फ़र्श पर रेत थी और मिट्टी के कण। कई दिनों से झाड़ू न लगी थी। तलवों में रेत-मिट्टी चुभ उठे थे। लेकिन मैं टहल रहा था कोठरी के भीतर। दीवारों को पढ़ता हुआ। पलस्तर झड़ चुका था। नीचे से ईंटें झाँक रही थीं, जो भूरी उदास थीं। नाली के आसपास के इलाक़े में काई फैल रही थी... । लगा मैं किसी पुराने ज़माने का बाशिंदा हूँ अभी तक क़ैदी और न्याय की प्रतीक्षा में... । मेरा टहलना जारी था। मैं वक़्त पाटना चाहता था और थकना... । पिंडलियाँ दुखने लगी थीं... । कंधे का दर्द जाग उठा था...मुझे यह अच्छा लगा कि मेरा ध्यान दर्द पर होगा और वह सब याद करने से बच जाऊँगा, जिससे बचना ज़रूरी था... । ये प्रचलित हृदयाघात के आम नुस्ख़े से बेहतर विकल्प था। लेकिन दर्द के बीच भी विचार उठते हैं, सो मैं डॉक्टर के बदले एक बढ़िया वकील के बारे में सोच रहा था। पहले मुझे उसकी पोशाक याद आई और उसी रंग में जज की। न्याय देने दिलानेवालों की पोशाक का काला रंग मुझे सच कहूँ तो यथार्थवादी लगा और क्रूर... । पर अब यही मेरे लिए सुनिश्चित हो गया था... । काला धुस्स रंग...बचपन में कोयले की अँधेरी खदान से लेकर बाहर की उजली दुनिया में आदर्श जगहों पर फैला काला रंग... । मुझे एक काली फ़ाइल याद आई। कुछ काली इबारतें... । काली धाराएँ जो दंड संहिता में बिना पूर्व जाँच के चेंप दी जाती हैं। वे चेंपी जा रही होंगी... । जाने कल कौन साथ होगा... । कोई वकील, जो ज़रूर कर लिया गया होगा... । किसने की होगी यह पहल... । यह सब सोच ही रहा था कि बिजली गुल और मैं जहाँ था, वहीं रुक गया... । वहाँ से बाईं तरफ़ घूमा और रोशनदान वाली दीवार की तरफ़ चलने लगा... । उजाले के अहसास की एक पट्टी थी लेकिन फीकी... । मैंने दीवार को टटोला कि कोई चुभती हुई चीज़ न हो और पीठ टिका दी... । दीवार ठंडी थी जो पीठ को भली लगी... । पसीना बह रहा था, सो मैं पीठ रगड़ने लगा। मैं पीठ में उठ रही खुजली के विरुद्ध था कि दीवार के, कह नहीं सकता। वक़्त कितना हुआ होगा पता नहीं, पर लगा मैं एक लंबी रात के अँधेरे में था। चलते हुए थका और निढाल... । सो सच कहूँ तो दीवार मुझे भाई की तरह लगी... ।

बिजली लौटी न थी और बाहर सब पहले से अधिक शांत था...कोई चिड़िया रोशनदान से बाहर... । किसी शाखा पर बोल रही थी... । यक़ीनन यह सुबह का संकेत नहीं कुछ और था... । मैंने पीठ ठीक की। पाँव पसारे। बाएँ हाथ को सर के नीचे रखा और आँखें मूँद लीं। मेरी बंद आँखों में कोई अब भी जाग रहा था।

अंजना वर्मा

सौदा

जाड़ों के दिन थे। एक खपरैल मकान के आँगन की दीवार की नोनी लगी ईंटें जगह-जगह से झड़-झड़कर अपना अस्तित्व खो चुकी थीं और दीवार में कई जगह छेद बन गए थे। इसी आँगन के एक कोने में गुनगुनी पीली धूप रुमाल की तरह बिछी हुई थी, जहाँ खटोला लगाकर रामऔतार की बीवी ने अपनी गोद की बेटी को सुला दिया था। वह आराम से धूप में सो रही थी। रामऔतार की बीवी आँगन के बाहर चापाकल पर बर्तन धोने चली गई थी। बच्ची के पास एक लाल कलगी वाला सफ़ेद मुर्ग़ा चर रहा था। इसी के भरोसे उसने अपनी बिटिया छोड़ी थी कि वह रखवाली करेगा। आँगन की दीवार जगह-जगह से टूटी थी, फिर भी कोई भीतर घुसने का दुस्साहस नहीं कर सकता था। कोई अनजाना व्यक्ति घुस जाता तो वह मुर्ग़ा अपनी चोंच से इस तरह प्रहार करता कि वह वापस लौट जाता। लड़ाई करते हुए इसकी मुद्राएँ देखते ही बनती थीं। गर्दन के बाल खड़े हो जाते और गर्दन इस तरह कड़ी हो जाती जैसे नाग का फन हो। वही नाग का ग़ुस्सा जैसे डस लेने पर उतारू हो। एक बार मैदान में उतर गया तो जान की परवाह नहीं। दुश्मन चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो। उसकी हिम्मत से बड़ा नहीं हो सकता था। गली में इस मुर्ग़े के क़िस्से फैले हुए थे।

इसलिए कोई रामऔतार के आँगन में नहीं जाता था। यदि जाना ज़रूरी हुआ तो पहले बाहर से ही ताक-झाँक करता कि मुर्ग़ा कहाँ है। कहीं आसपास तो नहीं कि चुपके से आकर पैर में झपट्टा मार दे। इसलिए पहले रामऔतार की बीवी को पुकारना पड़ता था। रामऔतार के आँगन में क़दम रखनेवाले कम ही होते थे जो नहीं जानते थे और हठात् भीतर चले जाते उन्हें मुर्ग़े का अप्रत्याशित आक्रमण सहना पड़ता था। रामऔतार की बीवी को इस छोटे से मुर्ग़े पर उतना ही विश्वास था जैसे किसी को अपने पालतू कुत्ते पर होता है। उसे अपने दोनों बच्चों जितेंद्र और रिंकी पर भी उतना विश्वास नहीं था कि वे अपनी छोटी बहन मुनिया का ख़याल रखेंगे। वह जानती थी कि यदि बच्चे को उन दोनों पर छोड़ दे तो बच्चा अकेला भगवान के भरोसे ही रह जाएगा। जितेंद्र को लट्टू नचाने या कंचे खेलने से ही छुट्टी नहीं होगी और रिंकी तो किसी-

हिंदी कवयित्री एवं कथाकार अंजना वर्मा का जन्म 1954 में हुआ। इनके दो कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : कृष्णटोला, ब्रह्मपुरा, मुजफ़्फ़रपुर 842003

किसी बात के लिए ठुनकती हुई उसी के चली आएगी। ऐसे में इन दोनों में से किसी बच्ची को नहीं छोड़ा जा सकता था। इन आदमी के बच्चों से भला वह पक्षी था, पर कुछ देर के लिए मुनिया को छोड़ा जा सकता था। इसीलिए मुनिया जब सो रही होती तो वह एक मुट्ठी दाना चारपाई के पास बिखेर देती और अपने काम-काज में लग जाती। इस तरह मुर्ग़ा मुनिया की रखवाली करता। उसके साथ की मुर्ग़ियाँ भी सुरक्षित थीं। वह मुर्ग़ा बिल्ली से भी जूझने का कलेजा रखता था।

बच्चों ने उसे 'लाल कलगी' कहना शुरू कर दिया था। सफ़ेद रोओं वाले उस सुंदर मुर्ग़े के सिर पर लाल कलगी बहुत सजती थी। उसे जो एक बार देख लेता वह ईश्वर की कला को सराहे बिना नहीं रह सकता था। एक बार लाल कलगी अपनी मुर्ग़ियों के साथ चर रहा था। तभी दबे पैर बिल्ली आई। पर वह मुर्ग़े के पास नहीं गई। उसने बड़े सधे हुए अंदाज़ में चुपचाप एक मुर्ग़ी को दबोच लिया। लाल कलगी की सतर्क आँखों ने तुरंत देख लिया। इसके पहले कि बिल्ली मुर्ग़ी को लेकर भागती वह उस पर टूट पड़ा। उसकी चोंच और पंजे के वारों को झेलना बिल्ली के लिए आसान नहीं हुआ। वह मुर्ग़ी को छोड़कर भाग गई। मुर्ग़ी की चिचियाहट सुनकर जितेंद्र और रिंकी दौड़े आए। रामऔतार की बीवी भी डंडा लिए आई। सब अपने मुर्ग़ा-मुर्ग़ी को बचाने में जुट गए। मुर्ग़ी तो इस लड़ाई में अधमरी हो ही चुकी थी। लाल कलगी भी कुछ घायल हो गया था। लेकिन बच्चों को ख़ूब मज़ा आया था यह लड़ाई देखकर। उनका सीना गर्व से फूल गया था। पड़ोसी भी जुट आए थे। वे मुर्ग़े की बहादुरी को देखकर हैरान थे। रामऔतार की बीवी सोच रही थी कि आज मुर्ग़ी बच गई, नहीं तो अंडा देनेवाली मुर्ग़ी आज ख़त्म हो जाती। वह तुरंत अधमरी मुर्ग़ी के उपचार में जुट गई। बच्चे प्यार से लाल कलगी को गोद में उठाकर सहलाने लगे थे। रिंकी दौड़कर कटोरे में पानी ले आई। बिल्ली ने जगह-जगह से लाल कलगी को नोच लिया था। वह उसके पंख नुचे शरीर का ख़ून धोने में लग गई। लाल कलगी ज़ोर-ज़ोर से हाँफ रहा था।

इस घटना के बाद से मुहल्ले भर में लाल कलगी अपनी बहादुरी के लिए और भी मशहूर हो गया था। लोगों के दिल में उसका डर अब और अधिक हो गया। अब पड़ोस की औरतों ने अपने बच्चों को मना कर दिया कि वे उसके घर में खेलने न जाएँ। क्या पता वह ख़ूबसूरत और ख़तरनाक मुर्ग़ा मासूम बच्चों की आँखें ही फोड़ डाले? पड़ोस की औरतें अब रामऔतार की बीवी के मन में भी मुर्ग़े का डर बैठा देना चाहती थीं। उसकी पड़ोसन हबीबन जब किसी काम से उसके यहाँ गई तो उसने बाहर से ही उसे पुकारा। फिर तो खड़ी-खड़ी बातें करती रही। जब चलने लगी तो सहसा रुक कर बड़ी-बड़ी आँखों की पुतलियाँ अग़ल-बग़ल घुमाती हुई धीमी आवाज़ में बोली, जैसे कोई बहुत बड़ा रहस्य खोल रही हो, "सुनो, तुम्हारा वह मुर्ग़ा कहाँ है?"

"यही कहीं होगा!" रामऔतार की बीवी ने लापरवाही से कहा।

"देखो उस पर विश्वास मत करना। आख़िर है तो जानवर ही? क्या पता मुनिया को ही नोच ले?" हबीबन बोली।

रामऔतार की बीवी मुस्कुरा पड़ी और उसने हाँ में हाँ मिला दिया। पर भीतर-ही-भीतर उसे विश्वास था कि लाल कलगी ऐसा कभी नहीं कर सकता है—औरतें चाहे जो बोलें।

गली में सब रामऔतार की क़िस्मत से रश्क करने लगे थे। क्या क़िस्मत है इसकी! पहले एक मामूली रिक्शावाला था। रिक्शा चलाने में उसे इतनी कमाई हुई कि उसने अपना रिक्शा ख़रीद लिया। अब कई रिक्शों का मालिक बन बैठा है। वह कभी दीन रिक्शावालों में से नहीं रहा जो रिक्शा खींचते-खींचते यक्ष्मा के शिकार हो जाते हैं। दवा के लिए भी पैसे नहीं जुटते।

यह बड़ा ख़ुशक़िस्मत है कि जिस काम में हाथ डालता है उस काम में उसे फ़ायदा-ही-फ़ायदा होता है। अब एक अदना मुर्ग़ा ख़रीदा तो वह भी किसी अलसेशियन से कम नहीं निकला। वाह रे वाह!

पिछले साल रामऔतार की बहन आई थी। कई सालों के बाद भाई के घर आना हुआ था। भाई के किराए का खपरैल मकान देखते ही चेहरा खिल गया। हुलसकर आँगन में घुस गई। फिर तो इस लाल कलगी ने ख़ूब स्वागत किया। घबराकर वह चिल्लाने लगी, ''भाभी भाभी!'' हल्ला सुनकर रामऔतार की बीवी दौड़ी आई। उसने जब मुर्ग़े को पकड़ लिया तो उसका आक्रमण थमा। इस घटना के बाद से मुर्ग़े का डर उसके मन में ऐसा समा गया कि वह आँगन में कभी अकेली नहीं बैठी। हालाँकि मुर्ग़े ने जब उसे घर के अन्य लोगों के साथ खाते-पीते उठते-बैठते देखा तो पहचान गया। लेकिन रामऔतार की बहन का भय दूर नहीं हुआ। जितेंद्र और रिंकी विश्वास दिलाने की कितनी भी कोशिश करते सारी कोशिश बेकार जाती। जितेंद्र कहता, ''बुआ यह नहीं काटेगा! यह देखो मैंने इसे पकड़ रखा है।'' और वह उसे पकड़कर गोद में ले लेता। पकड़े जाने पर वह कितना सीधा और प्यारा लगता था। परंतु रामऔतार की बहन ने कभी मुर्ग़े पर विश्वास नहीं किया। जब वह अपनी ससुराल लौटने लगी तो भाभी से बोली, ''भाभी! अब जब तक मुर्ग़ा रहेगा मैं तुम्हारे यहाँ नहीं आऊँगी। मुझे भगाने के लिए ही शायद तुमने इसे पाल रखा है।'' रामऔतार की बीवी ननद की इस बात का क्या जवाब देती? मुस्कुराकर रह गई।

लाल कलगी जब सीना निकालकर बाँग देता था तो देखते ही बनता था। जितेंद्र और रिंकी को लगता कि उनके मुर्ग़े जैसा मुर्ग़ा किसी के पास नहीं है। वे उसे दूसरे मुर्ग़ों से लड़ाने की योजना बनाते रहते। जितेंद्र के साथियों के पास भी मुर्ग़े थे। वे लाल कलगी को छोटा दिखाने के लिए अपने मुर्ग़ों की तारीफ़ शुरू कर देते। अनवर कहता, ''मेरा मुर्ग़ा चितकबरा है। ऐसा सुंदर चमकता है कि पूछो मत!''

उदित नारायण क्यों चुप रहता? वह कहता, ''और मेरा मुर्ग़ा लाल है और ख़ूब तगड़ा।''

जितेंद्र को भी तैश आ जाता, ''अरे तुम्हारे मुर्ग़ों की ऐसी-तैसी।''

उसे दिन-रात लट्टू नचाने की आदत थी। हथेली पर लट्टू नचाते हुए कहता, ''ठीक? दोनों से लगाता हूँ बाज़ी—तेरे चितकबरे से भी और तेरे लाल से भी। बोल लगाता है बाज़ी? चल ला अपने मुर्ग़े और लड़ाकर देख ले मेरे शेर से।'' यह सुनकर दोनों कन्नी काट जाते। वे जानते थे कि उनके मुर्ग़े लाल कलगी से टक्कर नहीं ले सकते हैं। ऊपर से चाहे वे सब लाल कलगी को जितना भी छोटा दिखाने की कोशिश करें। भीतर-भीतर उनका मन कहता कि काश! उनके पास भी एक ऐसा तंदुरुस्त और खिलौने-सा सुंदर मुर्ग़ा होता।

उस दिन रामऔतार की बीवी इत्मीनान से बैठी रगड़-रगड़कर बर्तन साफ़ कर रही थी। लकड़ी के चूल्हे पर चढ़े हुए बर्तन जल्दी साफ़ भी नहीं होते। जाड़े का छोटा दिन खाना पकाते और खाते ही बीत जाता है। उसमें तीन छोटे बच्चों को देखना। जितेंद्र तो स्वयं अपना सब काम कर लेता है। लेकिन रिंकी अपना काम नहीं कर पाती हैं। उसे भी देखना ही पड़ता है। मुनिया में ही तो उसका सारा समय निकल जाता है। रसोई और बच्चों में वह दिन-भर फँसी रह जाती है। अभी तो वह खाना बनाकर उठी थी और फिर उसे मुनिया की मालिश करनी पड़ी। उससे छूटी तो देखा कुछ पुराने अल्युमीनियम के कालिख लगे बर्तन उसके द्वारा माँजे जाने के इंतज़ार में हैं। इनसे भी निपट ही ले। फिर उसे बर्तन धोने बैठ जाना पड़ा। बर्तन माँजते हुए उसका दिमाग़ अपने पैसों पर चला गया। इधर वह मुर्ग़ी के अंडे बेचकर पैसा जमा कर रही थी। उसे इस बात की संतुष्टि थी कि उसका

चालू व्यापार बढ़ रहा है। वह मुर्ग़ियों की संख्या बढ़ाने की योजना बनाने लगी। होंठों से बुदबुदाती हुई मिट्टी सनी उँगलियों पर अपने जमा किए पैसे जोड़ने लगी। सहसा उसे महसूस हुआ कि मुनिया काफ़ी देर से अकेली थी। जितेंद्र तो गली के लड़कों के साथ लट्टू नचाने में मशग़ूल था और रिंकी ज़मीन पर लकीर खींचकर गोटी खेल रही थी। उसने बर्तन माँजते हुए चिल्लाकर पूछा, "अरी ओ रिंकी! मुनिया को अकेली छोड़ दिया?"

"नहीं, लाल कलगी वहाँ है।" रिंकी ने खेलते हुए जवाब दिया।

रामऔतार की बीवी ने बेचैन होकर कहा, "जाओ, ज़रा जाकर मुनिया को देख आओ।"

लेकिन जब उसकी बात सुनकर भी वह खेलना छोड़कर देखने नहीं गई तो उसने जल्दी-जल्दी बर्तन खँगाले। घबराई हुई लंबे-लंबे क़दम डालती जब आँगन में पहुँची तो उसने लाल कलगी को वहाँ देखा। देखकर थोड़ी आश्वस्त हुई। परंतु उस मुर्ग़े का ही क्या भरोसा? कहीं उसी ने बच्चे को नुकसान न पहुँचाया हो? उसे हबीबन की बात याद आई। उसने चारपाई पर झुककर मुनिया को ग़ौर से देखा। उसके चेहरे पर कोई खरोंच का दाग़ नहीं था। मुनिया मीठी नींद में सो रही थी। एक नज़र मुर्ग़े पर डाली। लाल कलगी पास में ही झाड़ियों में से कुछ खोद-खोदकर खा रहा था। रामऔतार की बीवी के होंठ अनायास मुस्कुरा उठे—सच! ऐसा मुर्ग़ा जिस पर अपने बच्चों से अधिक विश्वास किया जा सकता था! उसकी सारी घबराहट दूर हो चुकी थी। वह शांत होकर बर्तन सँभालने लगी।

आज पहली जनवरी थी। आपस में सभी नव वर्ष की शुभकामनाओं का आदान-प्रदान कर रहे थे। चारों ओर घना कुहरा छाया हुआ था। ठंड भी काफ़ी थी। नए साल की पहली तारीख़ इस कोहरे और ठंड के कारण सबको और भी प्यारी लग रही थी। आज के दिन सब अपनी-अपनी ख़ुशियाँ जुटाने में व्यस्त थे। हर घर में कोई-न-कोई पकवान पक ही रहा था। क़साई और मुर्ग़े बेचने वालों को दम मारने की फ़ुर्सत न थी। सभी जैसे सामिष भोजन करने का ही संकल्प ले चुके थे। इसके बिना नए साल की ख़ुशी अधूरी रहती। रामऔतार की पड़ोसन हबीबन सवेरे-सवेरे अपने दो मुर्ग़े बेच चुकी थी। रामऔतार की घरवाली रोज़ की तरह बर्तन माँजने नल पर पहुँची तो हबीबन पानी भर रही थी। उसने बताया कि उसने चालीस-चालीस के दो मुर्ग़े बेचे। रामऔतार की बीवी को सुनने की फ़ुर्सत नहीं थी। मुनिया रो रही थी। किसी तरह रिंकी सँभाले हुए थी। उस पर वह अधिक देर तक बच्चे को नहीं छोड़ सकती थी। तभी रामऔतार का साथी सुखलाल आया। वह चुपचाप बर्तन धोती रही। सुखलाल ने कहा, "भाभी! अपना मुर्ग़ा बेचोगी? आज नए साल के दिन साग-पात खाना नहीं सुहाता।" बर्तन रगड़ती हुई वह बोली, "ले लो। पर क्या दोगे? हबीबन का मुर्ग़ा चालीस में बिका है अभी। मेरे मुर्ग़े को तो जानते ही हो कैसा है?" सुखलाल ने कहा, "कहने की ज़रूरत नहीं। मैंने देखा है। ये लो पचास। अब तुमसे क्या मोल-भाव करना?"

उसने अपनी जेब से एक कड़ा पचास का नोट निकाला। रामऔतार की बहू हाथ में लगी मिट्टी धोकर फट् से उठी और आँगन में गई। लाल कलगी चर रहा था। उसने सहज भाव से बुलाया, "आ...आ...ती...ती...ती...ती...ती।"

लाल कलगी आज्ञाकारी बालक की तरह उसके पास आ गया। रामऔतार की बीवी को उसके पीछे दौड़-भाग भी नहीं करनी पड़ी। फिर उसने उसे पकड़कर सुखलाल के हवाले कर दिया। वह उसके हाथ से पचास का नोट लेकर आँचल के कोने में बाँधती हुई बर्तन धोने चली गई।

रमेश प्रजापति

जीभ कटा लड़का

स्कूल की छुट्टी थी। बड़ी सुहावनी हवा चल रही थी। मैं अपने चार-पाँच मित्रों के साथ, बहुत दिनों से गाँव के बाहर बंजर पड़े खेत में, गुल्ली-डंडे के खेल में मस्त था। खेल अपने पूरे शबाब पर था, तभी यकायक एक लड़का आकर मुझसे बोला, ''तुम्हारे पिताजी मिट्टी का तेल लाने को कह रहे हैं।'' मैं चिड़चिड़ाता हुआ खेल बीच में ही छोड़कर घर की तरफ़ भाग लिया।

मुझे तेल अपने गाँव की 'सरकारी सस्ते गल्ले की दुकान' से लाना था, जो गाँव की रंजिश के चलते पास ही क़सबे में चली गई थी। क़सबा गाँव से एक-डेढ़ मील दूर है। क़सबे तक जाने के दो रास्ते हैं। एक वह जिस पर रिक्शा, ताँगा, साईकिल चलते हैं, जिसे हम पक्की सड़क वाला रास्ता कहते हैं। दूसरा वह जिससे हमारे दादा-परदादा झट से पैदल चलकर नमक तक भी ले आते थे। इस रास्ते में एक राजबाहा और एक आम का बड़ा-सा बाग़ पड़ता है, जिसे हम कच्चा रास्ता बोलते हैं।

आसमान के चरागाह में खिलंदरी करते बादल सूरज से आँख-मिचौली खेल रहे थे। हम दो-चार लड़के खेतों के बीच लड़खड़ाती पगडंडियों पर खेलते-कूदते, क़सबे से मिट्टी का तेल लाने के लिए भागे जा रहे थे क्योंकि आकर फिर गुल्ली-डंडा जो खेलना था।

क़सबे का पहला नुक्कड़ आ गया। हमने देखा कि एक पेड़ की छाँव के नीचे ढेर स्त्रियों, बच्चों और बड़े-बूढ़ों की भीड़ लगी थी। जिज्ञासापूर्वक हम भीड़ को चीरते हुए आगे निकल आए। आगे आकर हमने देखा कि वहाँ एक बाज़ीगर अपने करतबों में तल्लीन था। उसका एक लड़का, जिसके मुँह से ख़ून टपक रहा था, धरती पर पड़ा हाथ-पैर पटक रहा था। हमने ग़ौर से देखा उसकी जीभ कटी हुई थी।

बाज़ीगर ज़ोर-ज़ोर से बोल रहा था, ''यहाँ खड़े सभी माँ, बहनों, बच्चों और भाइयों से मेरी हाथ जोड़कर इल्तिज़ा है कि कोई भी अपनी जगह से ना हिले। अपने पैर ज़मीन में गड़ाए रखें, नहीं तो मेरे बेटे की जान चली जाएगी। यदि किसी ने भी भूल से अपने पैरों के नीचे की मिट्टी को छोड़ा तो मेरा बेटा ऐसे ही तड़प-तड़पकर दम तोड़ देगा और तुम्हें भी चक्कर-वक्कर आने लगे तो फिर मुझे दोष मत देना।''

रमेश प्रजापति की कविताएँ एवं कहानियाँ, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क :
सी-10/6, यमुना विहार, दिल्ली 110053

बाज़ीगर का इतना कहना था कि वहाँ खड़ी भीड़ आपस में फुसफुसाती हुई आश्चर्यचकित-सी जड़वत हो गई। मुझे अब मिट्टी का तेल लाने की कोई जल्दबाज़ी नहीं थी। यह सब जो हो रहा था हमने पहली बार देखा था। हम सब गुमसुम खड़े उस जीभ कटे लड़के को देख रहे थे जो धरती पर पड़ा हुआ था।

बाज़ीगर ने फिर आवाज़ लगाई, ''सायबान! मेरे बेटे की जान तुम सबके हाथों में है। यदि तुम सब मिलकर मेरे बेटे के वास्ते, पीर बाबा के नाम पर कम-से-कम इक्कीस रुपए दोगे तो शायद मेरा बेटा ठीक हो जाएगा।''

बाज़ीगर के हाथों में अब एक कूट का गंदा-सा बड़ा कटोरा था। वह बार-बार भीड़ की गोलाई में चक्कर लगा रहा था।

किसी ने चवन्नी, किसी ने अठन्नी तो एक या दो ने रुपया तक दिया। इतना कुछ देने के बावजूद बाज़ीगर के पास दस या बारह रुपए ही इकट्ठे हुए।

बाज़ीगर ने फिर आवाज़ लगाई, ''सायबान! इक्कीस रुपए पूरे नहीं हुए हैं, पीर बाबा की इमदाद पूरी नहीं हुई है, मेरा बेटा दर्द से तड़प रहा है।'' वह जीभ कटा लड़का और ज़ोर-ज़ोर से हाथ पैर पटकने लगा। हम सब डरे-सहमे से खड़े हुए लड़के को देख रहे थे। बाज़ीगर अपनी मैली-कुचैली चादर धरती पर बिछाकर बोला, ''जो पैसे पास होते हुए भी मेरे बेटे की जान के वास्ते नहीं देगा, उसके साथ कुछ भी हो सकता है जैसे...उसकी जेब कट सकती है, उसको ख़ून की उल्टियाँ आ सकती हैं। वग़ैरह-वग़ैरह।''

वहाँ खड़े लोग डरे हुए थे जिसकी जेब में जो पैसे थे उसमें से निकालकर कुछ पैसे उसकी मैली-सी चादर पर चुपचाप डाल दिए।

उन सबको रुपए-पैसे डालते देखकर मैंने भी आव देखा न ताव अपने कुर्ते की जेब में हाथ डाला और माँ का दिया हुआ, मिट्टी का तेल लाने के लिए दस रुपए का नोट निकालकर उसकी चादर पर फेंक दिया और लड़के के ठीक होने का इंतज़ार करने लगा।

वह लड़का अब धीरे-धीरे ज़मीन पर लेटा हाथ-पैर हिला रहा था। उसके मुँह से बहता ख़ून भी सूखता जा रहा था।

बाज़ीगर के पास अब इक्कीस रुपए की जगह लगभग तीस–चालीस रुपए हो गए थे। बाज़ीगर के चेहरे पर मुस्कान फैल गई थी। वह जल्दी–जल्दी उन रुपए–पैसों को उसी मैली–सी चादर में बाँध रहा था। पास में ही ज़मीन पर पड़ा उसका जीभ कटा लड़का बिलकुल शांत मुद्रा में लेटा हुआ था।

बाज़ीगर ने दूसरी चादर से उस लड़के को ढक दिया। कुछ क्षण बाद वह लड़का... ''जय पीर बाबा की'', ''जय उस्ताद की'' कहता हुआ उठ खड़ा हुआ।

खेल ख़त्म हो गया, धीरे–धीरे वहाँ जमा हुई भीड़ अब छँटने लगी। मैं बहुत घबराया हुआ था। हम वहाँ से मिट्टी का तेल लाने के लिए चल पड़े। मेरे साथ के लड़के मुझ पर हँस रहे थे। बहुत देर बाद उनके हँसने का माजरा मेरी समझ में आ रहा था। मैं अपना दस रुपए का नोट बाज़ीगर को दे चुका था, जो माँ ने तेल लाने के लिए मुझे दिया था।

मेरे मन में तरह–तरह के प्रश्न उठ रहे थे। ''अब तेल कैसे आएगा? घर जाकर क्या बताऊँगा?''

मैं घबराया हुआ इसी सोच में उलझा हुआ था। जो लड़के मेरे साथ आए थे, उन सब ने मिट्टी का तेल ले लिया था। मैं ख़ाली कनस्तर लिए उनके साथ आ रहा था। पिता जी के डर से पैर घर की तरफ़ नहीं बढ़ रहे थे।

आते समय हम पगडंडियों से नहीं सीधे आम के बाग़ की तरफ़ को आ रहे थे। रास्ते में हमने देखा कि एक मैली–सी लुंगी बाँधे भारी–भरकम आदमी, डंडे से एक लड़के को पीट रहा था।

पिटने वाला लड़का हाथ जोड़कर गिड़गिड़ा रहा था, ''बाबूजी मैंने आम नहीं तोड़े हैं, मेरे पास तो एक भी आम नहीं है, चाहे मेरी तलाशी ले लो।'' पिटने वाले लड़के के हाथ में एक पत्थर की स्लेट थी। आम तोड़नेवाले लड़के खेतों के बीच से भागे जा रहे थे। परंतु डंडे वाला आदमी उस लड़के को एक साथ कितनी ही माँ–बहन की भद्दी गालियाँ दे रहा था और पिटाई करता जा रहा था।

वास्तव में उस लड़के ने आम नहीं तोड़े थे। वह तो क़सबे से स्लेट लेकर हमारे आगे–आगे आ रहा था। यह सब हमने अपनी आँखों से देखा था।

गाँव की तरफ़ से आते हुए कुछ लोगों ने उस बाग़ के रखवाले को समझाया। मैं उस लड़के की पिटाई देखकर और ज़्यादा डर गया था। मेरा हलक़ (गला) सूखा जा रहा था। पिटाई वाले लड़के के हाथ से स्लेट गिर गई थी। उसकी कनपटी से ख़ून बह रहा था। वह खेत की नाली के पास पड़ा कराह रहा था।

मैं बहुत घबराया हुआ उन लड़कों के साथ गाँव तक आ गया। मैं घर न जाकर घेर में ही रुक गया। घेर में मेरे बाबा जी मिट्टी के बर्तनों को पीट–पीटकर बड़ा और साफ़–सुथरा कर रहे थे। मैंने डरते हुए बाबा जी को बाज़ीगर वाली घटना सुनाई। इसी बीच पिता जी भी घर से आ गए थे। बाबा जी और पिता जी ने बैठाकर मुझे समझाया।

बाबा जी बता रहे थे कि किस तरह से ये बाज़ीगर नज़रबंद करके लोगों को उल्लू बनाकर बड़ी चतुराई से रोज़ी–रोटी कमाते हैं। मैं सहमा–सा बैठा उन सब बातों को सुन रहा था जो मुझे दुनियादारी समझाने के लिए बताई जा रही थी।

पिताजी ने मेरे डर को भाँप लिया, और अचानक अपनी जेब से दस रुपए का नोट निकालकर मुझे देते हुए मुस्कुरा कर बोले, ''कल जाकर मिट्टी का तेल ले आना।''

तब जाकर मेरी जान में जान आई।

परंतु उस रात मैं कभी बाज़ीगर के तो कभी उस स्लेट वाले लड़के के बारे में सोच रहा था जो बिना वजह आम तोड़ने के लिए पिट रहा था। न जाने कब मुझे नींद ने अपनी गोद में बैठा लिया। स्वप्नों ने मेरे मस्तिष्क के कैनवास पर चित्र टाँकने शुरू कर दिए।

एक स्वप्न में मैंने देखा कि एक स्लेट वाला लड़का जो बिना आम तोड़े ही पिट रहा है और मैं जीभ कटा असहाय–सा ज़मीन पर पड़ा हाथ–पैर पटक रहा हूँ।

सुषमा भटनागर

उर्दू की देहरी पर रखा चिराग़

'उर्दू पर खुलता दरीचा' डॉ. गोपीचंद नारंग के समय-समय पर लिखे लेखों का वृहद् संग्रह है जिसमें उनके आलोचक रूप के साथ उनके भाषाशास्त्री और अनुसंधानकर्ता रूप का गहरा परिचय मिलता है। उर्दू साहित्य पर वे लेखक पिछले पचास वर्ष से लिखते आए हैं। हिंदी में भी उनके लेख और पुस्तकें प्रकाशित होती रही हैं। हिंदी पाठक उन्हें अमीर ख़ुसरों संबंधी अभूतपूर्व खोज के लिए विशेष रूप से सराहते रहे हैं। 'अमीर ख़ुसरो का हिंदवी काव्य', नामक उनकी पुस्तक हिंदी के उद्गम और विकास का एक महत्त्वपूर्ण संकेतक है।

'उर्दू पर खुलता दरीचा' अपने शीर्षक के कारण उर्दू साहित्य का अदृश्य दृश्य भले ही प्रतीत हो पर यह पुस्तक केवल उर्दू साहित्य का ख़बरनामा नहीं है। उर्दू शायरी, कहानी और उपन्यास पर 600 पृष्ठों में बहुत विस्तार से उर्दू साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षरों पर विस्तृत लेख संग्रहीत हैं। कविता में मीर, ग़ालिब, फ़ैज़, इक़बाल तो गल्प में मंटो, बेदी, इंतज़ार हुसैन और गुलज़ार जैसे जाने-माने उर्दू के बड़े नामों के साथ कबीर और प्रेमचंद भी पूरे सम्मान के साथ दर्ज हैं। मीर और ग़ालिब की 'सूर-सूर तुलसी ससि' वाली शैली को पीछे छोड़ते हुए इसमें प्रत्येक रचनाकार को उसकी अपनी दुनिया में समझकर समझाया गया है। इस खंड को उर्दू साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण पुल कहा जा सकता है। वस्तुतः यह पुस्तक खिड़की खोलने के अलावा पुल बनाने का भी गंभीर प्रयास है।

प्रेमचंद के कथा साहित्य पर बात करते हुए लेखक ने बहुत निर्भीक होकर कुछ बातें कही हैं, ''अधिकतर हिंदी भाषी उर्दू के प्रेमचंद से अनभिज्ञ हैं और बहुसंख्य उर्दू भाषी हिंदी के प्रेमचंद में कोई जिज्ञासा नहीं रखते। ...अभी तक कोई ऐसी उत्तम आलोचनात्मक कृति नज़र नहीं आती जो प्रेमचंद के उर्दू-हिंदी व्यक्तित्व से पूरी निष्पक्षता एवं विद्वत्तापूर्ण वस्तुनिष्ठता के साथ न्याय करती हो।''

दुर्भाग्य की बात है कि प्रेमचंद शताब्दी वर्ष में लिखी यह टिप्पणी उनकी 125 वीं जयंती के वर्ष में भी उतनी ही सच है। उर्दू और हिंदी रचनाकार, विचारक प्रेमचंद के बीच खड़ी की गई यह

समीक्षक एवं अनुवादक सुषमा भटनागर का जन्म 1951 में हुआ। वेदना के नए आयाम, नई कविता में प्रेम-संबंध इनकी प्रकाशित कृतियाँ है। संपर्क : एफ-85, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली 110016

अभेद्य दीवार संकट पैदा कर सकती है, किसी षड्यंत्र का कारक बन सकती है।

पुस्तक पर लौटें तो उर्दू पर खुलने वाली इस खिड़की की महत्ता इसकी दिशा और कोण में निहित है। यह दरीचा इस अंदाज़ से खुलता है कि उससे पुरवैया और पछवा दोनों के झोंके ताज़गी से भर देते हैं। यहाँ खिड़की से अधिक चिराग़ का बिंब उभरता है। चिराग़ यानी दीप, उर्दू की देहरी पर रखा दीप जो उसके द्वार पार की दिशाओं और पीछे के अँधेरे को रौशन करता है। पश्चिम दिशा के आलोक को प्राची की दीपशिखा से जोड़ता है। 'सैद्धांतिकी एवं समीक्षा' खंड में लेखक का सिद्धांत रसवादी पक्ष उजागर होता है। संरचनावाद और उत्तर संरचनावाद, इतिहासवाद और नव-इतिहासवाद, आधुनिकता-वाद और उत्तर आधुनिकतावाद जैसे गरिष्ठ विषयों पर संकलित उनके लेख गहरी गवेषणापरक एवं समावेशी दृष्टि का परिचय देते हैं। 'संस्कृत भाषा दर्शन संरचनावादी एवं उत्तर-संरचनावादी चिंतन' नामक उनका लेख उनकी प्रसिद्ध पुस्तक से लिया गया है जिसके लिए डॉ. नारंग को साहित्य अकादेमी के पुरस्कार से विभूषित किया गया था। प्राच्य अध्ययन के नाम पर भारत की बौद्धिक संपदा किस तरह 'कोहिनूर' की तरह हज़म की गई यह स्वतंत्र अध्ययन का विषय है। इस लेख में क्रमबद्ध रूप में यह प्रतिपादित किया गया है कि जिस विखंडनवाद का सेहरा आज देरीदा के सिर बाँध कर उनकी बलैया ली जा रही हैं, उस सेहरे में बौद्ध तार्किकों के वैचारिक विमर्श की लड़ियाँ जगमगा रही हैं। आज पश्चिम में भाषिक विमर्श की जो चाशनी तैयार की गई है, इस लेख में मानो उसके तार गिन लिए गए हैं। यह लेख हो अथवा अन्य लेख, शैली की विशेषता यह है कि दुरूह दुर्बोध सिद्धांतों को खोलकर रख दिया गया है जो कि प्रायः सैद्धांतिक विश्लेषण का मुहावरा नहीं होता। प्रश्न यह है कि उस सिद्धांत-कथन का क्या लाभ जहाँ हर वाक्य पर मूल पाठ को साथ रखकर पढ़ने की इच्छा बनी रहे।

पुस्तक का सबसे समृद्ध अंश 'सैद्धांतिकी एवं समीक्षा' माना जाएगा। उर्दू के शायरों और गल्पकारों पर लिखे गए लेख हिंदी के उर्दू-प्रेमी पाठकों के लिए अवश्य रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक हैं पर आज का जागृत पाठक पुस्तक के तीसरे खंड के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट होगा, उससे तदाकर होगा। डॉ. गोपीचंद नारंग का सबसे बड़ा अवदान यही है कि अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य में गहरी पैठ होने के कारण उन्होंने पश्चिम की अद्यतन सैद्धांतिक चर्चाओं और वैचारिक विमर्श के लिए एकाधिक वातायन खोले। इस दृष्टि से यह संचयन 'उर्दू पर खुलता दरीचा' होने के साथ-साथ उर्दू हिंदी के लिए खुलता गवाक्ष या कि खिड़की भी है। अपनी पुस्तक 'संरचनावाद और उत्तर संरचनावाद तथा प्राच्य काव्य-शास्त्र' के माध्यम से उन्होंने एक ऐसी खिड़की खोली कि हम पुरबियों की भी इज़्ज़त अफ़ज़ाई हुई। हिंदी साहित्य के अध्येताओं ने जब-जब, 'पश्चिम की उक्ति नहीं, गीता है गीता है' का वाचन किया उन्हें पश्चगामी कहकर उनकी खिल्ली उड़ाई गई। ख़ुशी की बात है कि इस बार उर्दू के विद्वान की ओर से यह संकेत मिला है।

सिद्धांत और सैद्धांतिक विमर्श डॉ. नारंग के प्रिय विषय रहे हैं। भाषा-विज्ञान के विशेषज्ञ होने के नाते वे अद्यतन साहित्यिक आंदोलनों के अग्रदूत भी रहे हैं। परंतु स्यादवादी दृष्टिकोण के हामी होने के कारण वे किसी स्कूल के पुरोधा बनकर अड़कर खड़े नहीं हुए। स्वयं लेखक के शब्दों में—"पहली बात तो ये है कि मैं मावा दे जदीद[1] तो क्या, किसी भी चीज़ का 'इमाम' नहीं हूँ...। उर्दू अदब में सबसे ख़राब चक्कर यही है कि हम लोगों को इमाम बना लेते हैं फिर उसमें कीड़े डालते हैं।...मेरी हैसियत चिंतन

वाले और सवाल उठानेवाले की है। ये मेरा ज़ेहनी लगाव है।''

हिंदी-उर्दू को जोड़नेवाली इस खिड़की से महत्त्वपूर्ण झाँकी ओझल है जिसकी कमी पाठकों को महसूस होगी। डॉ. गोपीचंद को वर्षों के अथक प्रयास के पश्चात् बर्लिन राष्ट्रीय संग्रहालय में श्प्रिंगर संग्रह में अमीर ख़ुसरो की हस्तलिखित पांडुलिपि हस्तगत हुई । इस संग्रह में हिंदी के आदि कवि की हिंदवी लिखी पहेलियाँ मिलती हैं। इस संग्रह को पुस्तक का रूप देते हुए डॉ. नारंग ने 'अमीर ख़ुसरो का हिंदवी काव्य' में एक नहीं दो-दो उपयोगी भूमिकाएँ लिखी हैं। यह खोज हिंदी कविता के लिए खिड़की नहीं सदर दरवाज़ा है। स्थान अभाव के कारण इस खोज का कोई नमूना इस दीर्घ संग्रह में नहीं मिलता। अच्छा होता कि इन भूमिकाओं के कुछ अंश किसी रूप में इस पुस्तक में दे दिए गए होते ताकि कबीर के साथ अमीर ख़ुसरो नज़र आते।

उर्दू से अनूदित इस पुस्तक में एक अच्छा लक्षण यह है कि अनेक लेखों के लिप्यंतरण करके कठिन शब्दों को हिंदी अनुवाद दे दिया गया है। हिंदी भाषा-भाषी प्रमाता उर्दू लिपि पढ़ने का जब तक पूर्ण अभ्यास करें, यह शैली भी सहायक हो सकती है। आज तक उर्दू शायरी इसी तरह पढ़ी-सराही जाती रही है। यदि उर्दू गद्य भी इस अंदाज़ में सामने आए तो मूल का प्रवाह और आस्वाद अक्षुण्ण बना रहेगा।

चर्चित पुस्तक :

उर्दू पर खुलता दरीचा : डॉ. गोपीचंद नारंग; वाणी प्रकाशन, अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली-110002; 595 रुपए

उत्तर आधुनिकता

जीवन सिंह

नागफणी का जंगल

समकालीन हिंदी कहानी-संसार में आँखों देखी पर ख़ासा ज़ोर देकर कहानी लिखने की कला में निपुण हरियश राय का *नागफनी के जंगल में* पहला उपन्यास है। उपन्यासकार ने इसे भी घटना स्थलों को अपनी आँखों देखकर और उत्पीड़ितों की आपबीती सुनकर-जानकर एक ऐसी बहस का रूप प्रदान किया है, जिसमें पाठक स्वयं शामिल होकर, क्रूर एवं हिंसक स्थितियों के प्रति अपनी सोच निर्मित कर सके। दरअसल, पिछले पंद्रह-बीस वर्षों में भारतीय समाज—ख़ासकर हिंदी क्षेत्रों की जनता का 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के नाम पर जिस तरह का सांप्रदायिक विभाजन करने का कुचक्र लगातार चलाया गया है और इसमें एक विशेष सत्तासीन वर्ग की भी खुली भागीदारी रही है; वह न केवल भारतीय समाज के भविष्य के लिए अशुभ संकेत है बल्कि वर्तमान के लिए भी बेहद गंभीर चिंता और बेचैन करनेवाली असह्य स्थिति है। कैसी क्रूर विडंबना है कि इक्कीसवीं सदी के आगमन पर भी आदमी की मध्यकालीन पहचानों से उसको निजात नहीं मिल पाई है। हमें झूठा सपना दिखलाया जा रहा है कि 2020 तक भारत यह हो जाएगा, भारत वह हो जाएगा। भारतीय समाज में भीतर-भीतर सुलग रही घृणा की आग से भारत बच जाएगा, तभी तो कुछ होगा। इस उपन्यास को पढ़कर जाना और माना जा सकता है कि 'संस्कृति' और 'धर्म' के नाम पर हम एक भीषण और भयावह बारूद के ढेर पर बैठे हुए एक विभाजित समाज के नागरिक हैं। बहरहाल।

इस उपन्यास की अंतर्वस्तु का संबंध 2002 में गुजरात में, सत्ता की शह से घटित उस सांप्रदायिक नरसंहार से है, जिसमें एक धर्म विशेष के निरपराध लोगों को इसलिए मारा और उजाड़ा गया कि वे एक बड़े धार्मिक समुदाय से भिन्न, अपनी धार्मिक स्वाधीनता की ज़िंदगी जीने में विश्वास रखते थे। इसी भिन्न धार्मिक समुदाय का एक चरित्र है—यूनिवर्सिटी प्रोफ़ेसर के. एम. पोथीवाला। इनकी इमेज़ यूनिवर्सिटी में एक प्रोग्रेसिव मुसलमान की है। इनके द्वारा फ़िज़िक्स पढ़ाए जाने और वैज्ञानिक चेतना से प्रभावित नई आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने से इनकी जीवन-दृष्टि में बुनियादी तौर पर रूपांतरण हो गया है। ये इस्लाम मतावलंबी अवश्य हैं, लेकिन क़तई कठमुल्ले नहीं। यहाँ तक कि न नमाज पढ़ते हैं न कभी रोज़ा रखते हैं। इनके घर की औरतें भी बुरका नहीं ओढ़तीं। इसके बावजूद मुसलमानों में व्याप्त कठमुल्लेपन को दूर करने और उनकी आधुनिक शिक्षा से जोड़ने के लिए वे सतत प्रयत्नशील रहते हैं। देशभक्त और त्यागी इतने बड़े कि अमरीका में नौकरी और वहाँ का ग्रीन कार्ड मिल जाने पर भी शिकागो की एक नन के मात्र इतना कहने पर कि, ''आपकी ज़रूरत इस समय भारत में है, आपको वहीं वापस जाकर अपने देश के लिए काम करना चाहिए''—वे असमंजस में पड़ गए थे और पत्नी आदि के विरोध के बावजूद अपने आदर्शवाद के कारण भारत लौट आए थे। यह वाकया 1972 का है। सुननेवालों को इसके ऊपर आसानी से विश्वास नहीं होता कि एक मुसलमान, देशभक्ति का ऐसा उदाहरण पेश कर सकता है, जैसा हज़ारों हिंदू भी सामान्यतया नहीं कर पाते। कभी भारतेंदु ने कुछ मुसलमान भक्त कवियों को लक्ष्य करके कहा था, ''इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिक हिंदू वारिए।'' ऐसे ही हैं बीसवीं-इक्कीसवीं सदी के फ़िज़िक्स के प्रोफ़ेसर के. एम. पोथीवाला। इनके त्याग और देशप्रेम के ऊपर कितने ही हिंदुओं को न्यौछावर किया जा सकता है। लेकिन, दुर्भाग्य है कि इनके मुसलमान परिवार में पैदा होने मात्र से, सांप्रदायिक घृणा फैलाने वाले गिरोह ने इनको भी नहीं बख़्शा। पहले इनको ही परिवार के साथ मौत के घाट उतारने का प्रयास किया, जब इससे ये बचकर निकल गए तो इनके घर को पूरी तरह उजाड़ दिया।

अद्‌भुत बात यह है कि के. एम. पोथीवाला के जीवन की यह व्यथा-कथा काल्पनिक न होकर एक जीवित एवं सच्चे चरित्र की कहानी है। इसमें बस नाम भर बदला हुआ है। उपन्यासकार ने बड़ौदा यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर जे. एस. बंदूकवाला को अपनी रचना में के. एम. पोथीवाला नाम दे दिया है। सांप्रदायिक सोच और व्यवहार वाले लोगों की दुनिया में कदाचित् इस तरह के देशप्रेम का प्रमाण ढूँढ़े ही मिले। वहाँ तो इसके विपरीत, अमरीका को जन्नत मानकर, वहाँ जाकर बसने की होड़ मची हुई है। देश का उच्च और मध्यवर्ग रोज़ाना भगवान से यही मनौतियाँ माँगता है कि उनके सुपुत्र-सुपुत्रियाँ अपना देश छोड़कर अमरीका में जाकर बस जाएँ। इधर पोथीवाला जैसे महान व्यक्तित्व हैं, जो अपने अमरीका में बसे घर को स्वयं उजाड़कर, देशप्रेम की रौ में यहाँ उजड़ने के लिए आ जाते हैं। वैसे, आज के आदर्शशून्य खोखलेपन को देखकर विश्वास नहीं होता कि बुरे-से-बुरे समय में भी कहीं किसी कोने में ही सही, अच्छाई भी बची रहती है। बहरहाल, यह शत-प्रतिशत सच है, जिसे हरियश राय ने अपने उपन्यास *नागफनी के जंगल में* की विषयवस्तु के रूप में चुन लेने का सही उपक्रम किया है।

इस उपन्यास की ख़ासियत इसकी चरित्र-प्रस्तुति में है, जिसके इर्द-गिर्द एक समय-पृष्ठ का क्रूर-हिंसक घटनाचक्र घूमता है। यहाँ लेखक ने चरित्र को स्वयं गढ़ने की कोशिश नहीं की है, वरन् वह जैसा है, वैसा ही उसे प्रस्तुत करने का

स किया है। एक आधुनिक और सेक्युलर न एवं व्यवहार करनेवाले व्यक्ति की आज से बड़ी मुश्किल यही है कि वह दोनों तरफ़ दुर्घटनाओं का शिकार बनाया जाता है। एक न धर्म स्थिति को, स्वधर्म में भी कोई जगह हीं होती। गांधी जी स्वधर्मी की गोली का ही शाना बने थे। इसी तरह पोथीवाला भी स्वधर्म की कट्टरताओं, कठमुल्लेपन व दक़ियानूसीपन का खुला विरोध करते हैं, इस वजह से वहाँ भी तवार' कर दिए जाते हैं। हिंदुओं के लिए तो वे विधर्मी हैं ही। उनकी आधुनिकता, जो परंपराशून्य नहीं है, उनके जीवन के लिए अभिशाप बन जाती है। क्योंकि वे मज़हब के तरों के ख़िलाफ़ लोगों के आगाह करते हैं। अमरीका से लौटकर जब वे गुजरात के बड़ौदा शहर में आते हैं तो मुसलमान होने की वजह से कोई हिंदू उनको किराए पर मकान नहीं देता। वे पास के आजवा गाँव में अपने रहने का जुगाड़ करते हैं। यह समय 1972-73 ई. का है, जब कि वहाँ किसी तरह का स्पष्ट सांप्रदायिक तनाव दिखाई नहीं देता था। बहरहाल, सच तो यह है कि सदियों से एक साथ रहते हुए भी हिंदू-मुसलमानों की सामाजिक संरचनाओं, मान्यताओं और संस्कारों के स्तर पर एक गहरे और अंदरूनी तनाव की स्थिति, सामूहिक स्तर पर शायद ही कभी दूर हुई हो। इस परिस्थिति को तभी मिटाया जा सकता है, जब कि आर्थिक और सामाजिक दोनों ही स्तरों पर दोनों समुदायों के बीच रिश्तों के स्तर की आवाजाही हो। जब तक ऐसा करने और होने की दिशा में सामाजिक सक्रियता को बढ़ावा नहीं मिलेगा, तब तक आधुनिकता, सेक्युलरिज़्म और लोकतंत्र को ठोस आधार प्राप्त नहीं हो सकेगा। पोथीवाला स्वयं इस दिशा में भी अग्रणी हैं। उनको इस बात पर कोई उज्र नहीं होता, जब उनकी बेटी अफरोज़ एक हिंदू युवक से विवाह करने का निर्णय करती है। वे बेटी के फ़ैसले का समर्थन करते हैं।

नागफनी के जंगल में की संरचना पूरी तरह विमर्शात्मक है। गुजरात में वो भी सांप्रदायिक नरसंहार के बाद की स्थितियों को देखते हुए इसमें शिक्षक पोथीवाला, उनका पुत्र साजिद, पुत्री अफरोज़ और उनके छात्र विपुल, निलेश व अविनाश उनके ऊपर विमर्श करते हैं, जिसके बीच से पोथीवाला का सोच एवं तदनुरूप आचरण ख़ासतौर से उभरकर प्रत्यक्ष होता है। यह संयोगमात्र नहीं है कि स्वयं पोथीवाला 'विमर्श' नाम की संस्था बनाकर उसके बैनर तले सामाजिक-शैक्षिक कार्यों को अंजाम देते हैं, जिससे मुसलमानों की मध्यकालीन रूढ़िवादी चेतना को आधुनिक स्वरूप प्रदान किया जा सके। इस तरह यहाँ पोथीवाला का चरित्र उन सांप्रदायिक दुर्भावनाओं तथा दुष्प्रचार की काट बनता है, जो आमतौर पर हमारे देश में मुसलमानों के विरुद्ध जान-बूझकर फैलाई जाती हैं और सांप्रदायिक राजनीति से देश की एकता और एकसूत्रता पर प्रहार कर उसे तोड़ने की परिस्थिति बनाकर सत्ता को हासिल करने की कोशिशें की जाती हैं। सांप्रदायिकता, संलयन से नहीं, विखंडन से सत्ता पर क़ब्ज़ा जमाती है। उसकी प्रकृति है विखंडन, जो संलयन की ताक़तों को निरंतर बदनाम कर 'संस्कृति' के नाम पर रूढ़िवाद का खुला पोषण करती हैं। इसके विपरीत वामपंथी राजनीति में आर्थिक स्तर पर वर्ग-धारणा के यथार्थ का विश्लेषण करते हुए सामाजिक-सांस्कृतिक संलयन की संरक्षा की जाती है। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित है कि विश्व-मानव जाति की अस्तित्व-प्रकृति समान है। प्रकृति के यहाँ कोई भेद नहीं। देश, समाज, जाति, भाषा-समूह, धर्म-संप्रदाय आदि विभेद मनुष्यकृत हैं, प्राकृतिक नहीं हैं। रचनात्मकता के संरक्षण और संवृद्धि के उद्देश्य से प्रकृति ने किंचित् लिंग-भेद अवश्य किया है। यही सोच है जो अपने समय के मानवीय संबंधों को विशुद्ध मानवीय स्तर पर देखता है, उसके किसी सामाजिक या

धार्मिक स्वरूप के आधार पर नहीं। इस उपन्यास के विमर्श में भाग लेनेवाले सभी प्रमुख पात्रों की सोच और व्यवहार में यही एकसूत्रता है जो प्रो. के. एम. पोथीवाला जैसे मुस्लिम चरित्र की चिंताओं से विपुल, निलेश और अविनाश को सूत्रबद्ध करती है। इस तरह यह उपन्यास एक भिन्न तरह के आधुनिक होते हुए समाज का अक्स भी हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। देखने की बात है कि इसका खलनायक उपन्यास में इनसे सीधे-सीधे कहीं नहीं टकराता। छल-कपट, धोखा, विश्वासघात, मिथ्या प्रचार और कानाफूसी उसके मुख्य अस्त्र-शस्त्र हैं। यह खलनायक निरंतर एक अतार्किक निंदा-अभियान जारी रखता है और भिन्न-धर्मियों की संपत्ति पर नज़र रखता है, जिससे 'स्वधर्मियों' के मन में प्रलोभन का विकार हमेशा जागृत रहे। यह सब इस उपन्यास में किसी 'पात्र' के रूप में सामने नहीं आता। रिपोर्ताज की शैली में पूरा उपन्यास लिखा गया है।

उपन्यास में चाहे छोटी-ही सही, वह दूसरी तसवीर भी साफ़-साफ़ उभरती है, जो नृशंस सांप्रदायिक गिरोह की आततायी तसवीर से भिन्न है। पूरा गुजराती हिंदू समाज कभी भी सांप्रदायिक नहीं हुआ। उस समय भी नहीं, जब कि सत्ताधारी दल का मुख्यमंत्री अपनी सत्ता की ताक़त से यह नादिरशाही काम कर रहा था। उस अंधकारपूर्ण समय में भी अनेक लोग थे, जो अपनी जान जोखिम में डालकर मुसलमानों को बचा रहे थे। शाहपुर कैंप के हालात देखते हुए जब विपुल ने पास खड़े एक बुजुर्ग से पूछा कि वे इस कैंप में कैसे आए? तो उसने अपने पड़ोसी नगीन भाई के बारे में बतलाते हुए कहा कि, "हम लोगों ने कभी नहीं सोचा कि ये लोग हिंदू हैं और हम मुसलमान। जब भीड़ आई और शोर बढ़ने लगा तो नगीन भाई ने भाँप लिया कि मामला संगीन है। उन्होंने हमें छत पर भेज दिया। हम अपनी छत से उनकी छत पर चले गए। तीन दिन तक हम लोग उनकी छत पर रहे। जब कैंप खुला तो नगीन भाई कहने लगे कि ख़तरा अब बहुत ज़्यादा है। बेहतर होगा कि हम लोग कैंप में चले जाएँ और वे हमें अपनी मारुति वैन में यहाँ इस कैंप में छोड़ गए। उन्होंने हमारी ख़ातिर अपनी जान जोखिम में डाली।" वैसे कहने के लिए यह कैंप पीड़ितों के लिए राहत शिविर के रूप में खोला गया था किंतु इसके हालातों का विवरण बतलाता है कि यह किसी यातना-शिविर से कम नहीं था। यह बिलकुल वैसी ही बात है कि 'कुतिया से जलेबियों की रखवाली कराई जाए।' जो लोग मुसलमानों को पहचान-पहचानकर उनको लूटकर उनका क़त्लेआम कर रहे थे, उनकी चालाकी देखिए कि वे ही दुनिया को दिखाने के लिए शाहपुर जैसे राहत शिविर भी लगा रहे थे। इनमें राहत किस तरह की थी। इसे उपन्यासकार की रिपोर्ट में पढ़ा जा सकता है, "इस कैंप में केवल चार बाथरूम हैं। पाँच हज़ार लोग हैं इस कैंप में। छोटा-सा पांडाल है। बाथरूमों की सफ़ाई तक नहीं हो रही। लोग नरक जैसी स्थितियों में रह रहे हैं। डिहाइड्रेशन, टायफ़ायड और मलेरिया जैसी बीमारियाँ फैल रही हैं।" वस्तुतः जब हत्यारों को ही जीवन बचाने का काम दे दिया जाए तो इसके अलावा और क्या हो सकता है?

गनीमत है कि कभी भी पूरा समाज सांप्रदायिक विग्रह का शिकार नहीं होता। इंसानियत हर समय बची रहती है। बढ़ती हुई वैज्ञानिक चेतना और आधुनिक शिक्षा का थोड़ा-बहुत असर भी समाज पर होता है। तभी तो जब पोथीवाला की लड़की अफरोज़ ने एक हिंदू पटेल लड़के से विवाह करने का प्रस्ताव किया तो लड़के वालों ने कोई हील-हुज्जत नहीं की। विपुल ने जब पूछा कि उस लड़के के परिवार वालों ने मुस्लिम लड़की को स्वीकार कर लिया तो निलेश ने बतलाया कि, "हाँ कर लिया है। यही तो सुखद है और सबसे अच्छी बात तो यह है कि इस माहौल में

पटेल परिवार ने पोथीवाला का साथ नहीं छोड़ा। बहुत बड़ी बात है यह।'' वस्तुतः हिंदू-मुस्लिम एकता का यदि कोई ठोस विकल्प है तो यही है। बाक़ी विकल्प कभी भी अपनी राह बदलकर रुख मोड़ सकते हैं। किसी भी समाज के अलगाव के बुनियादी आधार दो ही होते हैं—एक है रक्त-संबंध का सामाजिक आधार, दूसरा है उत्पादन संबंधों का आर्थिक आधार। इन दोनों तरह के रिश्तों पर साथ-साथ काम होना चाहिए। वामपंथी आंदोलन की सबसे बड़ी कमज़ोरी और बाधा यही रही है कि उसने जितना ज़ोर उत्पादन-संबंधों पर दिया है, उतना सामाजिक संरचना को निर्मित करनेवाले रक्त संबंधों पर नहीं। इस उपन्यास में पोथीवाला की बेटी अफरोज़ से एक हिंदू पटेल युवक का वैवाहिक रिश्ता, इसी दिशा की ओर ले जानेवाला शुभ संकेत है। मध्यकाल में इस काम की शुरुआत अकबर जैसे सम्राटों ने राजपूतों से रिश्ता क़ायम करके की थी, लेकिन दोनों ओर के समुदायों में वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि की बेहद कमी होने के कारण, यह रिश्ता 'राजनीतिक व्यवहार' का अंग बनकर रह गया था। सामाजिक व्यवहार का हिस्सा नहीं बन सका था। इस संदर्भ में सबसे दुखद प्रसंग यही है कि हमारी आधुनिक शिक्षा भी, इस तरह के मध्यकालीन और जड़ संस्कारों को नहीं तोड़ सकी है। दरअसल, किसी तरह की रुग्णता और जड़ता का उपचार जब तक राजनीतिक स्तर पर किया जाता रहेगा, तब तक उसका पूरा उपचार संभव नहीं हैं। हमको उसका उपचार सामाजिक-आर्थिक स्तरों पर भी करने की आवश्यकता है। इस उपन्यास में सामाजिक स्तर पर किए जानेवाले रूपांतरण की दिशा में जो संकेत किया गया है, वह समस्या के समाधान का एक विकल्प भी है।

एक महत्त्वपूर्ण विमर्श, जिसे उपन्यासकार ने इस उपन्यास के अंतिम 19वें परिच्छेद में उठाया है, जो पोथीवाला के आदर्शवादी व्यवहार की सीमाओं को उजागर करता है। वह है—भारतीय समाज को समग्रता में देखकर उसके समग्र रूपांतरण के लिए प्रयत्न करना। हम सुविधा के लिए उसके एक अंग की दुरुस्ती के लिए काम कर सकते हैं लेकिन यह न भूलें कि शरीर का स्वास्थ्य उसकी समग्रता पर निर्भर करता है। इस उपन्यास में भी यह समग्रता अकेले पोथीवाला या उनके सहयोगी उमर अंसारी से नहीं बनती, यह तभी बनती है जब कि इसमें विपुल, अविनाश और निलेश भी शामिल होते हैं और वह अफरोज़ के हिंदू युवक से विवाह करने की सीमा तक आगे बढ़ जाती है। वास्तविकता यही है कि इस समस्या की जड़ में केवल हिंदू-मुस्लिम समस्या नहीं है। इसकी जड़ में हमारे लोकतंत्र का आधार वह पूँजीवादी व्यवस्था है जो शोषण-उत्पीड़न को जारी रखने और उसके साम्राज्यवादी विस्तार को अंजाम देने के लिए कभी कृत्रिम विभेदों को मिटाने की दिशा में कोई सकारात्मक क़दम नहीं उठाती। अन्यथा पोथीवाला तो भारत में हर सूरत में बने रहने की ज़िद पर अड़े रहेंगे, किंतु उनकी औलादें अमरीका लौट जाने में थोड़ी-सी भी देर नहीं लगाएँगी। यह आकस्मिक नहीं है कि वे अपने बेटे मीर को अमरीका जाने से नहीं रोक पाते।

चर्चित उपन्यास :

नागफनी के जंगल में : हरियश राय; आधार प्रकाशन, पंचकूला; हरियाणा; 2004; 150 रुपए

जीवन सिंह के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 1/14 अरावली विहार, अलवर (राज.), फ़ोन : 0144-2360288

डॉ. एच. बालसुब्रह्मण्यम

फ़ंतासी नहीं, ज़मीनी सच्चाई

एक पत्ता थरथरा उठा और *गूँगी घंटियाँ* इन दो कविता-संग्रहों के बाद कवि राजेंद्र नागदेव ने शून्य को चक्रवात-सा घुमाकर वैश्वीकरण, धार्मिक उन्माद और बाज़ारवादी अपसंस्कृति के विरुद्ध एक ज़बर्दस्त मुहिम छेड़ दिया है। इसमें संग्रहीत तैंतीसों कविताओं में कवि नागदेव का कालाग्नि रुद्र-सरिस तीखा तेवर देखते ही बनता है।

हाँ; शून्य का चक्रवात-सा घूमना कोई मामूली बात नहीं है। शून्य क्या है ? शून्य न तो नकारात्मक तत्त्व है न रिक्तता का पर्याय ही। वास्तविकता की कुल उपस्थिति का मूल है शून्य; यह संपूर्ण सार्वभौम सत्य है। बौद्धों के अनुसार शून्य ज्ञान की पराकाष्ठा है; इसके बिना न तो ज्ञान संभव है न ही ज्ञान का संप्रेषण। गिरीश पांडे का एक हाइकू देखिए— *जब तक अनंत भी बिखरकर / शून्य नहीं हो जाता / वह ईश्वर भी नहीं होता।* दरअसल शून्य महामौन है—स्वर से भी अधिक शक्तिशाली और अर्थ की अनंत संभावनाओं से परिपूर्ण। कवि ने ऐसे ऊर्जावान शून्य पर चेतना केंद्रित कर काव्य-साधना की है, अतएव इन कविताओं में अर्थ मौन के गर्भ से फूट रहे हैं।

क्या शून्य बेवजह चक्रवात-सा घूम पड़ा ? 'बेवजह' कविता में महानगर मुंबई के 'चाल' में नौ साल की वह लड़की 'नल' देवता के सामने बाल्टी लेकर क्या बेवजह बैठी है ? बड़ी देर की प्रतीक्षा के बाद भी पानी न आए तो बेवजह ही तो बैठी है! यह क्या ? अचानक नल का नागदेव फुफकार उठा और बाल्टी का शून्य उस फुफकार से घूमने लगा। लड़की के दिल में भी शून्य तीव्र गति से घूमता गया और इधर कवि के हृदय का शून्य चक्रवात-सा घूमने लगा।

नौ साल की वह लड़की भी एक प्रतीक है—उस स्त्री-जाति का जो युगों-युगों से शोषण का शिकार है। घर में दस जनों के होते हुए भी पनिहारिन उसी को बनना पड़ता है चाहे चार कोस चलकर जल ढोकर लाए चाहे पाताल चीरकर पानी ले आए। यह हमारे देश की नारियों की नियति है।

बाल्टियों में चक्रवात-सा घूमता है शून्य
बार बार नल छींकता है
बार बार नल खाँसता है
थककर उठने को होती
हताश लड़की
कितनी बार फाँसता है
अजीब हालत है।
न रुकने देता है,
न चलने देता है।

धर्म की दुहाई देते हुए कामाख्या देवस्थान के प्रांगण पर निरीह बकरे पर घातक प्रहार कवि की संवेदना को झंकृत कर देता है। कैसा दारुण दृश्य! बलि के पत्थर पर दो टुकड़ों में बँट जाने के लिए अभिशप्त निरपराध बकरे का सिर धड़ से अलग होकर धराशायी होते समय भी मिट्टी की नमी से शायद घास को अंतिम बार तलाशता-सा गिर पड़ा है—और उसके माथे का कुमकुम रक्त में बदल जाता है। कवि जीवनदी ब्रह्मपुत्र से पूछता है— *ब्रह्मपुत्र! / क्या कभी इस अत्याचार पर पीड़ा हुई तुम्हें ? / क्या कभी ऐसा नहीं लगा / कि बहुत कुछ करुणा विहीन / घट रहा है तुम्हारे तट पर / जिसे ध्वस्त होना चाहिए।*

शुरू से ही इस कवि की ईश्वर से पटती नहीं। 'मैं नहीं कहूँगा' शीर्षक कविता में देखिए— *जिस दिन एक बच्चा / सड़क पार करते हुए / पंचसितारा होटल से लौटती / नशे में धुत्त / किसी गाड़ी से / मर जाएगा कुचलकर / मैं नहीं कहूँगा / हे ईश्वर! इस अबोध बच्चे की आत्मा*

को / शांति प्रदान करना / — मेरे अंदर उस वक़्त / ख़ंजर पर / एक अबोध बच्चे की हत्या के जुर्म में / मुक़दमा चल रहा होगा।

कविता-संग्रह के प्रायः प्रत्येक पन्ने पर कवि ने हिंसा, धर्मांधता और आतंकवाद से क्षत-विक्षत मानवता का बीभत्स चित्र खींचा है। यदि धड़ से मुंड को, कंधे से भुजा को और कलाई से उँगलियों को अलग करने की पैशाची क्रीड़ा आए दिन चलती रहेगी तो उसका चित्रण भी ख़ौफ़नाक होगा ही। रोंगटे खड़े करनेवाले इन घिनौने दृश्यों को देख-देखकर कवि भी लगता है संवेदन 'शून्य' हो गया है—यहाँ 'शून्य' रिक्तता का नहीं पूर्णता का पर्याय है। दर्द के हद से गुज़र जाने की स्थिति!

आतंकवाद के हर प्रहार को कवि अपने सीने में महसूस करता है—*एक घोड़ा दौड़ता हुआ / निकल गया अभी-अभी / शरीर के आर-पार / और मेरा शरीर / क्षत-विक्षत पड़ा है / कई टुकड़ों में बँटा हुआ / इस घोड़े की लगाम जिन हाथों में है / वे हाथ पहचानने में क्यों नहीं आते?*

वे हाथ पहचानने में तो आते हैं, किंतु उनके *नाखून / पंजों की तरह सत्ता तक जाते थे। इसीलिए लोगों ने उस दिन / दोपहर के ठीक दो बजे / भरे बाज़ार में ख़ून होते हुए / देखा तो था / लेकिन स्वयं अपने ही ऊपर / 'आपरेशन गंगाजल' कर लिया / बिना भागलपुर गए अपने ही घर में।*

'सुनो न्यूटन!' कविता में कवि वैज्ञानिक न्यूटन को उस कुनबे का परिचय देता है जो साथ-साथ हँसता-रोता है, साथ-साथ सोता-जागता है और उस परिवार के साथ एक परिंदा भी होता है। अचानक एक दिन क्या हुआ, *परिंदे की आँखें ढूँढ़ रही हैं बच्चे का नन्हा हाथ / जो कल तक उसे दाना चुगाया करता था। हाय! वह हाथ चूल्हे के पास कटा पड़ा है / और उँगलियों में / अनखाई रोटी अब भी फँसी है /... परिंदा लुढ़के हुए सिर में / उन आँखों को ढूँढ़ रहा है / जो न जाने किस भाषा में / रोज़ उससे बतियाती थीं।*

अपने धर्म के प्रति मोह और पराए धर्म के प्रति द्वेष इंसान को हैवान बना देता है—*जड़ से काट दी गई कहीं पर / किसन भाई की टाँग / और अनवर की आँखों में / त्रिशूल गड़ा हुआ है / यह आँख और वह टाँग / जो चढ़ा दी गई है / अल्लाह या ईश्वर के नाम / वह आख़िर इनका करेगा क्या / बता सकता है तो बताए कोई।*

यह दहशत एक शहर या किसी एक प्रदेश तक सीमित नहीं है—*दहशत भरी गलियाँ अहमदाबाद की / जमशेदपुर कोलकाता मुंबई / दिल्ली गोरखपुर और ग्वालियर के सपनों में / प्रेतों की तरह चली आती हैं / और माँस के लोथड़ों / और लहू के फव्वारों को / मुँह मारकर चली जाती हैं बार बार / वापस लौट लौटकर आने के लिए।* हाँ, अभी हाल में वापस लौटीं तो लंदन के मेट्रो में और केयरो के थिएटर में माँस के लोथड़े छितर पड़े और लहू के फव्वारे फूट पड़े।

मानवता के मूल्यों के प्रति मीडिया की घोर उपेक्षा पर कटाक्ष—'वह कोई घटना नहीं थी' कविता में। एक सिद्ध कवि का निधन हो गया। संवाददाता की क़लम इस घटना को दर्ज के लिए हिली तो थी, पर बेचारा लाचार था। क्योंकि—*पर इतना सच्चा था चेहरा / की अख़बार की परंपरा में / फ़िट नहीं होता था।*

नागदेव की कविता में बच्चा है, नारी है और कबाड़ी भी है—*एक मामूली-सा कबाड़ी! महज़ बैठ कर टीन के कनस्तर को पीट-पीटकर सपाट कर रहा है / छोटी-मोटी चीज़ों को तोड़ रहा है जोड़ रहा है / सात-गुणा-पाँच की झुग्गी के बाहर / फ़ुटपाथ पर कबाड़ी / इतिहास में दूसरों से / अपना भविष्य निचोड़ रहा है।*

भिलाई से तीस साल पहले भागकर केरल में जीविका चला रहा अनंतराम अपना नाम तो बताता है, पर अपना उपनाम बताने से कतराता है—*अजीब व्यथा है अनंतराम की / उपनाम की लिपि को लोग डिकोड करते हैं / फिर पढ़ते हैं / और अनंतराम के लिए / मनुष्यों से इतर / चौपायों की नस्ल गढ़ते हैं।*

'हम पिंजड़ों में बंद तोते' लीक से हटी कविता है जिसमें कवि सुनहरे भारतवर्ष के बेड़े के गर्क होने का कारण तलाशता है। *कुछ दक्ष लोग आए / कंधे पर उनके भारी ग्रंथ थे / वे आते रहे / पाइड पाइपर ऑफ़ हैमलिन की तरह / करते रहे सम्मोहित / और हम मंत्रमुग्ध / उनके पीछे पिंजड़े में चले गए /...हम लोग बोल सकते थे अपनी बोली / बोलने लगे उनकी / धीरे-धीरे अपनी बोली / हम भूल गए।*

संग्रह की सशक्त कविता है 'शरीर विज्ञान संग्रहालय'। अजीब फ़ंतासी की तरह बुनी यह कविता इक्कीसवीं सदी की ज़मीनी सच्चाई है। कवि बच्चों को शरीर विज्ञान संग्रहालय ले जाता है जहाँ कटे हुए सिरों, हाथ-पाँवों, स्तनों और आँखों की पुतलियों के नमूने रखे हैं। इसलिए ले जाता है कि इक्कीसवीं सदी के बच्चों को इन्हें तोड़ने-जोड़ने का प्रशिक्षण लेना होगा ताकि वे सेकेंड से भी इतने छोटे हिस्से में जीवित शरीरों को क़साई की छुरी बनकर काट सकें। क्योंकि वे लोग बच्चों को ही तो पकड़कर यह ट्रेनिंग देते हैं।

इस वक़्त तो मेरे बच्चो! / तुम बस जोड़ों की बारीकियों को समझ लो / ताकि जीवित शरीर के जोड़ों को / कम-से-कम समय में खोल सको / सीखो कि कंधे से भुजा, कलाई से हथेली / घुटने से पाँव को / किस तरह काटा जाए। कवि कहता है कि इक्कीसवीं सदी के बच्चे को मन की यह दृढ़ता और हाथों की यह सफ़ाई अर्जित करनी होगी कि पलक झपकने की देर में औरत के पेट से भ्रूण निकाल ले और भ्रूण व औरत दोनों को एक ही झटके में मार डाले। वध करने की कला में अभी से पारंगत होना आवश्यक है, क्योंकि युद्ध भूमि में समय नष्ट करने के लिए सोचने-विचारने के लिए व्यर्थ का समय नहीं मिलेगा, न ही सोचने के लिए दिमाग़ होगा। *खेल के नियमों के तहत / तुम्हें पागल बनना होगा / युद्ध के मैदान में / तुमसे तुम्हारे सारे अधिकार छीन लिए जाएँगे / सिर्फ़ विक्षिप्त होने के अधिकार को छोड़कर।*

यह कोई फ़ंतासी नहीं है, इक्कीसवीं सदी की ज़मीनी सच्चाई है—नित्य ही प्रातःकाल समाचार-पत्र के पन्नों में दर्शन देनेवाली सच्चाई, छोटे पर्दे पर चौबीसों घंटे सातों दिन फन फैलाकर फुफकार रही सच्चाई।

चर्चित कविता-संग्रह :

चक्रवात-सा घूमता है शून्य : राजेंद्र नागदेव; राजसूर्य प्रकाशन, डी-2/41, गांवड़ी एक्सटेंशन, भजनपुरा, दिल्ली-53; 2005; 100 रुपए

डॉ. एच. बाल सुब्रह्मण्यम का जन्म 1932 में हुआ। तमिल, मलयाळम्, हिंदी, संस्कृत और अंग्रेज़ी भाषा में अनुवाद तथा भाषा विज्ञान में कार्य। संपर्क : 776, पॉकेट 5, मयूर विहार फ़ेज़-1, दिल्ली-110091, फ़ोन नं. 22752624

जे. एल. रेड्डी

अनुवादक की विडंबना

अनुवाद एक विश्वव्यापी विराट साहित्यिक कर्म तथा अत्यंत श्रमसाध्य होने पर भी सर्वथा अप्रशंसित ही रहता है। विडंबना यह है कि अनुवादक के महत्त्व को तो स्वीकार किया जाता है पर उसे उसका प्राप्य नहीं दिया जाता। अनुवादक दो भाषाओं के बीच सांस्कृतिक सेतु का काम करता है और दो समाजों के बीच भावात्मक एकता स्थापित करता है। विश्व साहित्य के विकास में सदा से ही उसने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अनेक भाषा-भाषी

जों को प्रेरित और पुनर्जीवित किया है। कृष्ट अनुवाद सृजनात्मक लेखन की कोटि क पहुँच जाता है और महत्त्व की दृष्टि से मौलिक रचना के बाद दूसरा स्थान उसी का होता है क्योंकि अनुवाद वही काम करता है, जो मौलिक रचना करती है। अनुवाद का क्षेत्र बहुत व्यापक है। ज्ञान की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ तथा सर्जनात्मक साहित्य की सभी विधाएँ इसकी परिधि में आती हैं। अनुवादक को कितने प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है, इसकी जानकारी अधिक लोगों को नहीं है। चूँकि शब्द अपनी भाषा के सांस्कृतिक संभार को वहन करते हैं इसलिए साहित्य का अनुवाद संस्कृति के अनुवाद के समान होता है जो निश्चय ही सरल नहीं है। सभी भाषाओं की अपनी जटिलताएँ होती हैं, चाहे वे भाषाएँ मौखिक या अविकसित ही क्यों न हों। अभिव्यक्ति का वैदग्ध्य किसी भी भाषा का एकाधिकार नहीं होता। सफल अनुवाद के लिए शब्द-चयन का कौशल और विविध अर्थध्वनियों को व्यंजित करने की क्षमता अपेक्षित है। इसके अलावा उसे अपने पाठक को भी आश्वस्त करते हुए चलना पड़ता है। अच्छे अनुवादक के लिए जो शर्तें रखी जाती हैं, वे मौलिक लेखन के लिए ज़रूरी शर्तों से कम कठोर नहीं होतीं। तेलुगु के अनुवाद-चिंतक चमल्लु रामचंद्र रेड्डी ने ये शर्तें इस प्रकार बताई हैं, "अनुवादक अपनी भाषा में निष्णात हो, समस्त भाषा-सामर्थ्य का उसे सही बोध हो, भाषा का समस्त वैविध्य उसके लिए हस्तामलकवत हो और भाषा के चमत्कार तथा उसके चित्र-विचित्र प्रयोग उसकी जिह्वा पर रचे-बसे हों। आप कहेंगे कि ये सब शेखचिल्ली के सपने हैं।"

शेखचिल्ली के सपने ही क्यों न हों, अनुवादक को ये शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं। तभी वह अपने काम में सफल हो सकता है। प्रसिद्ध अनुवाद चिंतक रेनशे पिग्गियोली का कथन है—"अनुवादक से अपेक्षित बहुविध प्रतिभा के कारण एक महान अनुवादक का आविर्भाव एक महान समालोचक के आविर्भाव से भी विरल होता है और जैसा कि सभी जानते हैं, ऐसे समालोचन को पाना एक महान कवि को पाने से भी अधिक कठिन होता है।"

इसके अलावा अनुवाद का न कोई अंतिम रूप होता है, न वह कभी अनुवादक या पाठक को पूरा संतोष ही दे पाता है। इस कारण इसे निष्फल प्रयास तक कहा गया है। ऐसे 'निष्फल प्रयास' के प्रति समर्पित होना ही शायद अनुवादक की नियति है। सोचा जाए तो अनुवाद की अपूर्णता के संबंध में चाहे कोई कुछ भी कहे, संसार के व्यवहारिक कार्यों के लिए उसका महत्त्व निर्विवाद है।

आज के युग में अनुवाद की आवश्यकता बहुत बढ़ गई है। इस युग को 'अनुवाद युग' तक कहा जाता है। भारत जैसे बहुभाषी देश के लिए इसका महत्त्व स्वयंसिद्ध है। देश की स्वतंत्रता के बाद भारतीय भाषाओं में आदान-प्रदान की प्रवृत्ति बढ़ी है। भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के बाद जहाँ एक ओर अपनी भाषा और साहित्य के प्रति सम्मान भावना बढ़ी है, वहाँ दूसरी ओर अन्यान्य भाषाओं में जो साहित्य लिखा जा रहा है, उसे जानने-समझने की उत्कंठा भी बढ़ी है। राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर साहित्य तथा ज्ञान-विज्ञान के आदान-प्रदान को बड़े पैमाने पर बढ़ाने की आवश्यकता के अतिरिक्त देश की राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के स्वीकृत हो जाने के बाद देश में अनुवादकों की आवश्यकता अप्रत्याशित रूप से बढ़ी है। समय की माँग के अनुरूप बड़ी संख्या में योग्य और प्रशिक्षित अनुवादकों को तैयार करना अनिवार्य हो गया है।

अनुवाद कला की प्रोन्नति के प्रति समर्पित डॉ. गार्गी गुप्त वर्तमान युग में अनुवाद तथा अनुवादक के महत्त्व को और उनसे जुड़ी मौलिक समस्याओं को भली-भाँति समझती थीं और इन समस्याओं के समाधान के लिए कटिबद्ध थीं।

वे मानती थीं कि निरंतर बढ़ते अंतर्भाषाई संबंधों के इस युग में मौलिक लेखन के साथ-साथ, बल्कि उससे भी अधिक अनुवाद कार्य को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। अनुवाद और अनुवादक को अभी तक समुचित सामाजिक महत्त्व और साहित्यिक मान्यता नहीं मिली, अनुवाद के भी सिद्धांत होते हैं, उसकी भी कोई प्रविधि होती है, इस बात तक को बहुत लोग नहीं जानते, यह सोचकर उनको बहुत पीड़ा होती थी। वास्तविकता यह है कि पश्चिम में अनुवाद का सैद्धांतिक विवेचन 17वीं शताब्दी से ही आरंभ हो गया था, जब कि हमारे यहाँ यह अभी नया-नया ही है और जो हो रहा है, उसका आधार प्रायः अंग्रेज़ी पुस्तकें ही हैं।

अनुवाद गार्गी जी के लिए एक मिशन था, जीवन का लक्ष्य था, जो उनको सदा प्रेरित और उत्तेजित रखता था। अपने इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर उन्होंने 1964 में 'अनुवाद परिषद्' की स्थापना की थी। परिषद् का मुख्य उद्देश्य था, भारत के अनुवादकों के लिए एक उचित मंच की स्थापना करके उनके परस्पर संवाद की व्यवस्था करना, उनके अनुभव तथा कौशल का मूल्यांकन करना, बड़ी संख्या में प्रशिक्षित अनुवादक तैयार करना, अनुवादक को उचित प्रोत्साहन, पारिश्रमिक तथा साहित्यिक सम्मान दिलवाना, अनुवादकों की प्रगति तथा कठिनाइयों को विज्ञापित करना और अनुवाद को एक विशिष्ट अनुशासन के रूप में विकसित होने के लिए आवश्यक परिस्थितियों के निर्माण में योगदान देते हुए अनुवाद के नाम पर व्याधि की तरह तेज़ी से फैल रही उत्तरदायित्वहीन कार्यवाहियों को हतोत्साहित करना।

परिषद् ने समय-समय पर अनुवाद संबंधी कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन किया है, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों का आयोजन किया है तथा अनुवाद के सिद्धांत तथा विज्ञान पर मौलिक लेखन को प्रोत्साहित करने के लिए 'नातालि पुरस्कार', स्तरीय अनुवादों को बढ़ावा देने के लिए 'द्विवागीश पुरस्कार' तथा 'अनुवाद-श्री' पुरस्कार हर वर्ष देती रही है। अनुवादकों को पुरस्कृत करने की योजना भारत में इस परिषद् ने ही सबसे पहले आरंभ की थी। इसके अतिरिक्त परिषद् ने अनुवाद कला के संवर्धन और विकास के उद्देश्य से 'भारतीय अनुवाद न्यास' नाम से एक न्यास की भी स्थापना की है। गार्गी जी के निधन के बाद परिषद् 'डॉ. गार्गी गुप्त स्मृति व्याख्यान माला' का भी आयोजन कर रही है।

परिषद् का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य है— अनुवाद के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष पर विचार प्रस्तुत करनेवाली त्रैमासिक पत्रिका 'अनुवाद' का प्रकाशन जो कम-से-कम हिंदी में अनुवाद से संबद्ध पहली पत्रिका है। गार्गी जी अंत तक बड़ी दक्षता के साथ इस पत्रिका का संपादन करती रहीं।

गार्गी जी एक व्यक्ति से बढ़कर एक संस्था बन गई थीं। 'अनुवाद परिषद्' द्वारा उन्होंने अनुवादकों को सनाथ बनाया, उनकी पीठ थपथपाकर उनमें आत्मविश्वास जगाया, उनके काम को गरिमा दी, उनको प्रेरणा, प्रोत्साहन और सहयोग दिया और आत्मीय स्नेह दिया। उनके जीवन काल में 'आशा दीप' बिल्डिंग का उनका फ़्लैट देशभर के अनुवादकों के महापरिवार के लिए सचमुच का आशादीप बना हुआ था।

आलोच्य पुस्तक 'अनुसृजन' गार्गी जी के पचहत्तरवें जन्म दिवस पर उनके स्मृति-ग्रंथ के रूप में परिषद् द्वारा प्रस्तुत की गई है। पाँच खंडों में विभाजित इस पुस्तक में गार्गी जी के अनुवाद चिंतन को, अनुवाद की दशा और दिशा संबंधी उनकी अनेक गहरी चिंताओं को, अनुवाद के स्वरूप, प्रक्रिया और शिल्प पर तथा उसकी समस्याओं पर केंद्रित उनकी कई प्रतिनिधि रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। गार्गी जी ने अनुवाद-शास्त्र के अपने व्यापक अध्ययन के आधार पर अनुवाद के तत्वों,

कठिनाइयों, कसौटियों तथा अनेक व्यावहारिक ओं को लेकर समय-समय पर निबंध लिखे हैं, 'अनुवाद' में अनेक संपादकीय लिखे हैं, कई पुस्तकों का संपादन किया है, उनकी भूमिका लिखी है, और प्रतिष्ठित अनुवादकों-साहित्यकारों से साक्षात्कार किए हैं। इसके अलावा उन्होंने इटालियन तथा अंग्रेज़ी से सहज प्रवाहपूर्ण भाषा में अनुवाद भी किए हैं। अनेक प्रकार की उनकी रचनाओं में से चुनी हुई रचनाओं का यह प्रतिनिधि संकलन है। पुस्तक के आरंभ में सुलेखचंद गुप्त, गीता गुप्त तथा शुचिता मीतल् द्वारा प्रस्तुत गार्गी जी का संक्षिप्त जीवन-परिचय है जो उनके जुझारू और बहु-आयामी व्यक्तित्व का अंतरंग परिचय देता है।

अनुवाद संबंधी-निबंधों से युक्त पुस्तक के प्रथम खंड में और 'अनुवाद' के 17 संपादकियों से युक्त द्वितीय खंड में गार्गी जी ने अनुवाद की प्रविधि, स्वरूप, स्तर, निष्ठा आदि से संबद्ध समस्याओं और उनके समाधान को लेकर विस्तार से चर्चा की है।

तीसरे खंड में अनुवादक परिचय के अंतर्गत मध्ययुगीन प्रसिद्ध तिब्बती अनुवादक और बौद्धधर्म के उन्नायक लोत्सावा मोर्पा के जीवन तथा अनुवाद-कर्म का परिचय, अनुवादक अमृता प्रीतम से एक मुलाक़ात तथा डॉ. आरसु द्वारा गार्गीजी से लिया गया एक साक्षात्कार संकलित हैं। चौथे खंड में परिषद् द्वारा प्रकाशित चार पुस्तकों की गार्गी जी की भूमिकाएँ हैं और पाँचवें खंड में गार्गी जी द्वारा सुग्राह्य भाषा में अनूदित एक तिब्बती लोककथा तथा तीन इतालवी कहानियाँ संकलित हैं।

प्राचीन भारतीय अनुवाद परंपरा के अपने अनुसंधान के आधार पर गार्गी जी का मानना है कि प्राचीन संस्कृत व्याकरण साहित्य में 'अनुवाद' शब्द आवृत्ति अथवा व्याख्यात्मक आवृत्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है और भाषा टीकाओं को ही हम एक प्रकार से आधुनिक अनुवादों का पूर्वरूप मान सकते हैं। वे कहती हैं कि हमारे यहाँ अनुवाद को सृजन का अनुसृजन ही माना गया है। इसी से अनुवाद को स्वतंत्र कला मानकर उस पर विचार करने की आवश्यकता हमारे प्राचीन साहित्याचार्यों ने नहीं मानी। आधुनिक अर्थों में अनुवाद अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना के साथ तत्कालीन आवश्यकताओं के कारण आरंभ हुआ था। यही कारण है कि संस्कृत में अनूदित कृतियों का अभाव है।

उनके अनुसार अनुवाद में अर्थ का जितना महत्त्व होता है, उतना ही महत्त्व शुद्ध और सुग्राह्य भाषा का भी होता है। उनके अनुसार अनुवाद श्रेष्ठ तभी बन सकता है जब वह मूलभाषा से किया जाए। क्योंकि अनुवाद से अनुवाद करने में मूल का भाव कुछ घट जाता है या कभी-कभी ग़लत भी हो जाता है। पूर्णतः शाब्दिक और पूर्णतः स्वतंत्र अनुवाद पद्धतियों में वे मध्यम-मार्ग को उपयुक्त मानती हैं।

हिंदी के प्रति उनमें गहरा प्रेम था। उनका विश्वास था कि हिंदी राष्ट्रव्यापी है और उसमें भारतीयता पलती है। हिंदी के माध्यम से भारतीय भाषाओं को जोड़ने की एक महत्वाकांक्षी योजना भी उनके मन में थी। देश को एक गौरवशाली राष्ट्र बनाना है, तो उसे विदेशी शासन से मुक्त कराना पर्याप्त नहीं होगा, उसे विदेशी भाषा के प्रभाव से भी छुटकारा दिलाना होगा, ऐसा उनका विश्वास था। हिंदी को एकमात्र राजभाषा घोषित कर उसको उसका वैधानिक और नैतिक स्थान देने की बजाय अनिश्चित काल तक के लिए अंग्रेज़ी को सह-भाषा के रूप में मान्यता देने का परिणाम यह हुआ है कि प्रशासकीय कामों में अंग्रेज़ी मुख्य राजभाषा हो गई है और हिंदी केवल अनुवाद की भाषा। आम भारतवासी अपनी बात को अपनी भाषा में अभिव्यक्त कर सके ऐसी व्यवस्था नहीं हो पाई है, इस विडंबना के प्रति गार्गी जी ने अनेक प्रकार से अपना तीव्र क्षोभ व्यक्त किया है।

अंग्रेज़ी से हिंदी में जो प्रशासनिक अनुवाद हो रहा है, उससे भी वे संतुष्ट नहीं थीं। वे लिखती हैं कि वह हिंदी इतनी दुरूह होती है कि उसे समझने के लिए अंग्रेज़ी की जानकारी अनिवार्य हो जाती है। इससे सरकारी शब्द कोशों पर आधारित एक कृत्रिम, निरर्थक और निरुपयोगी हिंदी जन्म ले रही है। वे उचित ही मानती है कि अनुवादी हिंदी की दुरूहता के पीछे मौलिक चिंतन का अभाव है और इस अभाव के फलस्वरूप आज हिंदी अंग्रेज़ी की छाया बन गई है और हमारा देश अनुवाद का देश बनता जा रहा है। उनका मानना है कि जब हिंदी में मौलिक चिंतन होने लगेगा, तभी वह हर दृष्टि से समृद्ध हो सकेगी। वे यह भी मानती हैं कि अंग्रेज़ी के साथ-साथ फ्रेंच, जर्मन आदि विश्व की अन्य संपन्न भाषाओं के माध्यम से भी ज्ञान लेना हमारे लिए आवश्यक है।

द्रविड़ भाषियों के हिंदी विरोध के प्रसंग में गार्गी जी ने केवल एक कारण का उल्लेख किया है और उसकी विस्तृत चर्चा की है। उनके अनुसार वह कारण है—आर्यों की तुलना में रामायण काल से चली आ रही द्रविड़भाषियों की सांस्कृतिक, वैज्ञानिक तथा भाषिक उच्चता।

वास्तव में हिंदी का विरोध दक्षिण में केवल तमिलनाडु तक ही सीमित था और आज भी है। इस विरोध के पीछे तमिलनाडु की अनेक जटिल राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ हैं, जिनकी ओर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि तमिल भाषियों का अपनी भाषा पर अभिमान उनके हिंदी विरोध का एक आनुषंगिक कारण मात्र है।

पुस्तक में अनुवाद सिद्धांतों की अनेक प्रकार से चर्चा है, भारत में अनुवाद और अनुवादक की उपेक्षित स्थिति को लेकर व्यथा है, तथा उस स्थिति में सुधार के मार्गों की खोज है और कुछ कर गुज़रने का संकल्प है। समय-समय पर लिखे गए इन स्वतंत्र निबंधों तथा संपादकीय आलेखों में अनुवाद संबंधी गार्गी जी के विचारों तथा उनकी अनेक चिंताओं की सहज पुनरावृत्ति हुई है। उनके विचारों से असहमत होने की संभावना अधिक नहीं। भारत में अनुवाद कला को उच्चतर बनाने के प्रति उनकी निष्ठा और अनुवादक को उसका प्राप्य दिलाने के लिए उनकी व्यग्रता सराहनीय है।

गार्गी जी के प्रेरक व्यक्तित्व तथा उनकी अनुवाद-साधना का परिचय देनेवाली यह पुस्तक अनुवाद में रुचि रखनेवालों के लिए निश्चय ही उपयोगी है।

चर्चित पुस्तक :

अनुसृजन : (डॉ. गार्गी गुप्त स्मृति अनुवाद-ग्रंथ): गार्गी गुप्त; भारतीय अनुवाद परिषद्, 24 स्कूल लेन, बंगाली मार्केट, नई दिल्ली; 2004; 500 रुपए

जे. एल. रेड्डी का जन्म 1940 में हुआ। कई उपन्यासों तथा कहानियों का तेलुगु से हिंदी अनुवाद प्रकाशित। साहित्य अकादेमी के अनुवाद पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : बी-193, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

कुहू चानना

स्त्री की निगाह से दो उपन्यास

उषाकिरण खान के उपन्यास *हसीना मंज़िल* की कथा चूड़ीवाली सकीना की कहानी के माध्यम से उसके वर्तमान और अतीत के बीच से खुलती है। लहठी (लाख की चूड़ी) बनाने के लिए लाख पिघलाती सकीना अकेली औरत के संघर्ष एवं संताप, भय और चिंताओं का मूर्तिमान रूप

है। वह तमाम दिन मेहनत करके भी किसी तरह त्र निर्वाह योग्य पैसा कमाती है। माँ के दूसरे ति अब्बा के साथ रहकर, उठते-बैठते जो कुछ कौशल आत्मसात किया वही जीवनाधार बनाया। इसके लिए उसकी चेतना उनके लिए दुआओं से भरी है। बच्चों को अकेले रहकर पालती पति-परित्यक्ता स्त्री की तकलीफ़ पतिवंती जैनब से तुलना करने पर सहज ही सामने आ जाती है और सकीना की मुश्किलों का नया पन्ना खोलती है, "जैनब की पीठ पर मरद है, उसको क्या तकलीफ़, उसे कौन टोकेगा। राही बटोही कोई कुछ नहीं कहता। सकीना पर शहरी शोहदे फब्तियाँ कसेंगे तो उसे कौन बचाएगा। इसीलिए तो सकीना यह कठिन अगियाया हुआ काम करती है।" (पृ. 8) स्त्री-जीवन की व्यवस्था पुरुष और परिवार की परंपरा और उसके समाज स्वीकृत रूप से जुड़ी हुई है। अकेली औरत सकीना को बाहर निकलकर काम करने की सुविधा और सुरक्षा नहीं है और न ही कोई सहारा।

स्मृतियों के सहारे अतीत में उतरती हुई सकीना का अम्मा के साथ गुज़रा बचपन उसके साथ चलता हुआ लहठी बनाने वाले परिवार की कहानी खोलता है और इसी के द्वारा विभाजनपूर्व के हिंदू-मुस्लिम संबंधों और सामाजिक व्यवहारों को उजागर करता चलता है। पुश्तैनी पेशे के कारण जुड़े पुराने संपर्कों-संबंधों का खुलासा होता है। संकेत मिलता है कि तात्कालिक जीवन में जहाँ परस्पर जुड़ाव के ताने-बाने से सामाजिकता का रचाव होता था वहीं समाज के अंतरंग में व्याप्त दुराव भी छुआछूत के रूप में विद्यमान था। व्यक्ति की कथा समाज और काल की चाल से गूँथी रहती है। इसी से चौधरी की मृत्यु पर दोनों अम्मा शंकित होती हैं, 'अचानक क्या हो गया वो तो दूसरा गांधी बाबा था। कहीं किसी ने...।' (पृ. 10) लहेरिया सराय में स्वतंत्रता संघर्ष के दिनों में सुराजी कवियों और कलाकारों की एक अलग ही दुनिया उभरी थी। उपेंद्र महारथी और कवि यात्री (नागार्जुन) की स्मृति और हसीना की आँखों का कलाकृतियों में अंकन एक गहरी विश्वासोत्पादकता से जुड़कर उपन्यास की कथा का सत्य का स्पर्श दे देता है। सामाजिक वातावरण में ऐसी एक सुरक्षा बनी थी कि स्त्रियाँ निडर भाव से बाहर निकलने लगी थीं।

लगन के दिन सकीना की कमाई और अतिरिक्त व्यस्तता के दिन रहते हैं। बूढ़ा उसमान आ पहुँचा है और सकीना की अम्मा की कहानी—ग्रामांचल की प्रीतिमयी व्यतीत प्रेम-गाथा—स्मृति में उभरकर कथा के गठन में, बीते दिनों की कड़वी-मीठी स्थितियों को खोलने लगती है। साधारण लोगों को देश-विभाजन किस तरह तोड़ गया, नवल प्रेम की स्थितियों में ऊभचूभ होते उसमान और हसीना उसकी मिसाल बने। पूर्वी पाकिस्तान गया उसमान, बांग्लादेश बनने के बाद बदली परिस्थितियों में अपने दूसरे परिवार के मार-काट में ख़त्म हो जाने के बाद, सर्वस्व लुट चुकने के अहसास के साथ वापस आया तो इधर भी उसने जीवन-जगत के बदल जाने का ही अनुभव किया।

इस उपन्यास में कथा की गति में स्मृति बड़ा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। जैनब की स्मृति के माध्यम से पति के दुबई जाने के लिए सकीना द्वारा गहने बेचने की बात सामने आती है और समद द्वारा प्रवंचित सकीना के अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ने की बात की। धोखे से सब कुछ छीनकर ले जानेवाले पति के दूसरे विवाह से उत्पन्न पीड़ा को सकीना चुपचाप पीती है, और घोर दुर्दिन में भी अपने व्यक्तित्व की दृढ़ता से अस्तित्व का संघर्ष चलाकर बच्चों को पालती-पढ़ाती है। एक ओर कहानी में हसीना के दुख की तसवीर है और दूसरी ओर सकीना के कष्ट की गाथा। जिस पुरुष प्रधानता से हसीना की पीड़ा उत्पन्न हुई है, उसी से सकीना की तबाही भी। सकीना ने अपना अस्तित्व स्वयं गढ़ा और

सँभाला है तो हसीना को उसकी बहन अपना पति देकर उबारती है।

इस उपन्यास के द्वारा लेखिका बदले समय में पुरुष के साथ स्त्री के सामाजिक और आर्थिक संबंधों की पड़ताल तो करती ही है संबंधों के बाह्यस्वरूप और ताने-बाने के बीच बहती भावधारा को भी व्यंजित करती चलती है। हसीना के प्रति गहरे अनुराग के साथ ही परंपरा को स्वतः प्राप्त अधिकार की भावना के कारण, पाकिस्तान जाने से इनकार से उत्पन्न अवरोध को रौंदते हुए कठोरतापूर्वक सब कुछ छीन ले जाने और गर्भिणी पत्नी को छोड़ जाने की परस्पर विरोधी सूक्ष्म वृत्तियों का चित्रण मिलता है। जीवन में मौत का घनघोर तांडव देखने—जवान बेटे, बहू, नाती-पोतों की आँखों के सामने हत्या—पर भी लहेरियासराय लौटा उसमान सुंदरी प्रथमा पत्नी की कामना में विह्वल हो पछताता है। अनेक दृश्य चित्र उसकी स्मृति में फिरते हैं। द्विधा विभक्त चित्त में अपराधबोध भरा रहता है। स्त्री-पुरुष संबंध का एकरूप है मदीना और उसके पति का एकात्मभाव जहाँ अविरोधी वृत्ति से वह अपना पति बहन को दे देती है और चुभन कणमात्र भी कहीं नहीं दिखता। एक रूप है सकीना और उसके पति के संबंध का—वे एक-दूसरे से जुड़ नहीं पाते और 'पानी पर छह-छह करते तेल की भाँति' अलग-थलग बने रहते हैं। अंततः यही बेगानापन उन्हें एक-दूसरे से काट देता है।

पिता-पुत्री के संबंध का एक अनूठा स्वर भी इसमें आरंभ से अंत तक चलता है। वही इस पूरी कथा के बीच अनुस्यूत है। कथा के सारे आयाम उसी के मध्य आकार पाते हैं। उसमान पहले पृष्ठ से अंत तक सकीना के साथ अंत तक कथा को उद्‌घाटित करता बना रहता है। पुत्री को सहारा देते हुए भी वह अव्यक्त बना रहता है तथा पुश्तैनी कारीगरी का वैशिष्ट्य बेटी को सौंपकर कृतकार्य होता है। कथा का पुराव, कहीं चौधरी की बूढ़ी विधवा, कहीं उसमान की स्मृति, कभी सकीना से उसके वार्तालाप से अतीत की गुंजलक खुलकर होता है, कभी कमरू की क्रिया-कलापों से वर्तमान में घटित होता है। एक सुंगठित रचाव के साथ कहानी सारे सूत्रों को गूँथकर सहज गति से प्रवहमान रहती है। न कहीं नक़लीपन, न कृत्रिम भाषा क्षेत्र विशेष की दैनंदिन भाषा, अपनी निजी पहचान के साथ स्वयं ही सरकती-सी, कथा के सारे विस्तार और गूढ़ पक्ष खोलती जाती है। वह लहठी के नए नमूनों से चलकर बढ़ते व्यापार से गुज़रती है और मिथिला समाज के जानकी पुरस्कार तक जाती हुई दुकान तक पहुँचकर 'हसीना मंज़िल' बन जाती है। लहेरी जाति क्या है? आदि सभी प्रश्नों के उत्तर मिलते हैं और कथा उसमान की प्रत्याशित मृत्यु में समाप्त होती है।

मानवीय प्रेम और घृणा की अभिव्यक्ति करनेवाले इस उपन्यास में मैथिली भाषा के शब्दों, स्थानीय क्रिया व्यवहारों, लहेरियों के आचार-व्यवहार, जीवनक्रम, व्यापार एवं भावलोक की सहज सरल अभिव्यंजना मिलती है। हजामिन, मचिया, करनफूल, सोनहुला बाला, बुचवा, नक्खी जैसे अनेकानेक शब्द तथा वाक्यों का ख़ास विन्यास उपन्यास को विश्वसनीयता प्रदान करते हैं। स्त्री जीवन के संघर्ष और दुख-दर्द पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक जैसे होते हुए भी अलग तरह से जिए जाते हैं। उपन्यास पठनीय है; जीवन के एक पक्ष को कोमल संस्पर्श के साथ व्यक्त करता है तथा कठिन परिस्थितियों के बीच भी मानवीय गरिमा बनाए रखने की कहानी कहने से प्रेरक भी।

आज भारतीय समाज जिस संक्रमण के दौर से गुज़र रहा है उसके अनेक आयाम हैं। मूल्यक्षरण या कहे मूल्य परिवर्तन की इस स्थिति का प्रभाव पारिवारिक जीवन पर भी पड़ रहा है। कमलिनी कौल का उपन्यास *तृषिता* इन्हीं स्थितियों का

अंकन करता है। आज पारिवारिक संबंध स्वार्थ, स्वेच्छाचार और व्यक्तिवादी उपभोगवृत्ति के चलते विशृंखल हो उठे हैं। संतान के लिए माता-पिता मात्र अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति का साधन भर होकर रह गए हैं। इस उपन्यास में कई परिवारों का अंकन किया गया है। इनकी आंतरिक संरचना और वातावरण भिन्न-भिन्न हैं, किंतु लगभग सभी इस बदले हुए जीवन-सोच के प्रभाव से आहत होते हैं।

पाल दंपति अत्यंत सुलझे हुए व्यक्तित्व वाले पति-पत्नी हैं। वे एक-दूसरे को भली-भाँति जानते समझते हैं। उनका एकमात्र पुत्र शरद विदेश जाता है शिक्षा हेतु, किंतु शादी करके वहीं बस जाता है। सूचना ज्योत्स्ना के लिए घातक हो जाती है और वह बीमार पड़ जाती है। जैसे-तैसे इस आघात से निकलती है कि पौत्र जन्म की सूचना के साथ ही दूसरा आघात लगता है बच्चे के नामकरण के सदंर्भ में। संतान से प्राप्त उपेक्षा माता-पिता के मर्म की चोट बन जाती है। श्यामली जोगलेकर को भी उसकी पुत्री क्षमा ऐसे ही आघात पहुँचाती है। वह भी माता की इच्छा के विरुद्ध विजातीय लक्ष्य से विवाह कर लेती है। लक्ष्य के माता-पिता को भी बेटे की शादी का अरमान था। निर्मला की एक स्त्री अस्पताल में अपने पति की चिकित्सा करा रही है। अपने पुत्रों के आचरण की वीभत्सता को वह जिस तरह उजागर करके ज्योत्स्ना को सांत्वना देती है, उसे संतति के व्यवहार का कुरूप उदाहरण ही कहा जा सकता है। ये सारे उदाहरण समाज में ढेरों की शकल में मौजूद हैं। लेखिका इनकी मानसिकता की बीच-बीच में व्याख्या भी करती चलती है। सेठ परिवार की कथा उपन्यास में काफी दूर तक चलती है।

इस उपन्यास की मुख्य कथा पाल परिवार की ही है। असामान्य व्यवहार की ओर उन्मुख ज्योत्स्ना पति की प्रेमिका में वात्सल्य की क्षतिपूर्ति खोजती है। वह पूनम को अपने पति से विवाह की केवल अनुमति ही नहीं देती अपितु हेमंत को विवश भी करती है कि पूनम को परिवार में स्थान देने को तैयार हो जाए। ज्योत्स्ना के चरित्र का यह पक्ष उपन्यास को अविश्वसनीय बनाता है और उपन्यास की संभाव्यता पर भी चोट करता है।

सामान्यतः उपन्यास की भाषा संस्कृत शब्दावली से ओतप्रोत है। एक ठोस कृत्रिमता इस भाषा के कारण सारे उपन्यास को आवृत्त कर लेती है। जहाँ कहीं साधारण बोलचाल की भाषा का प्रयोग मिलता है, वहीं अभिव्यक्ति प्रवाह और प्रभाव में कुछ अंक प्राप्त करती है, अन्यथा कृति की क्षमता और प्रवाह दोनों ही नष्ट होते हैं। इसी प्रकार उपन्यास का अंत भी विचित्र-सा लगता है। कई प्रकार से हेमंत को छलनेवाली पूनम, जो उसकी पत्नी की मृत्यु का एक बड़ा कारण भी है, हेमंत को सहज ही स्वीकार्य हो जाती है।

सेठ परिवार धनाढ्य व्यवसायी परिवार है। उनके लिए धन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चीज़ है। बच्चे भी यही सीखते हैं। माता-पिता का अतिरिक्त लाड़ उन्हें उच्छृंखल, निरंकुश, दुर्वाक और स्वेच्छाचारी बना देता है। वे माता-पिता को धन ऐंठने का साधन मात्र समझते हैं तथा निर्द्वंद्व भाव से मनमर्ज़ी का जीवन जीते हैं। रोके-टोके जाने पर माँ के साथ अभद्रतापूर्वक व्यवहार करते हैं। उद्दंड पुत्र-पुत्रियाँ माँ और पिता किसी का सम्मान नहीं करते, दुर्वचन कहते हैं और गालियाँ देते हैं। सेठ नरेंद्रनाथ अत्यंत उग्र स्वभाव का अहंकारी आत्मसंयमहीन व्यक्ति है। अमिता सेठ भी अहंकारिणी धनमद में डूबी स्त्री है। सदैव अपने धन का प्रदर्शन करने को तैयार रहती है। बेटियों और बेटे का अनाचारपूर्ण, मर्यादाविहीन जीवन दोनों को अत्यधिक कष्ट पहुँचाता है, किंतु दुर्व्यवहारी उद्दंड संतान को किसी प्रकार नियंत्रित नहीं कर पाते। उनके स्वैराचार के सम्मुख लाचार हैं। आज समाज में

ऐसी स्थितियों में अनेक परिवार घिरे हुए हैं। लालिमा और नीलिमा अपनी-अपनी तरह से निरंकुश जीवन व्यतीत करते हुए अंततः उसके दुष्परिणामों तक पहुँचती हैं। बेटा निरुपम समय रहते सँभल जाता है।

एक अन्य परिवार है पूनम का जो बेटी होने की सज़ा लगातार भुगतती है। परिवार के सदस्य सदैव उसे लांछित और अपमानित करते रहते हैं। कदाचित् परिवार का स्नेहहीन व्यवहार ही उसे अपने से बड़ी उम्र के सहकर्मी हेमंत की ओर उन्मुख कर देता है। हेमंत न केवल उम्र में बड़ा है बल्कि विवाहित भी है। वह एक पुत्र का पिता है। हेमंत के सारे चरित्र से यह बात मेल नहीं खाती। पात्रों का चरित्र-चित्रण इस उपन्यास का एक अन्य कमज़ोर पक्ष है। सारे पात्र या तो अच्छे हैं या बहुत बुरे। उनके चरित्रों का विकास नहीं होता। जीवन के उतार-चढ़ाव से वे अप्रभावित ही बने रहते हैं। यह रचना अरुचिकर तो नहीं है, अपाठ्य भी नहीं है, किंतु थोपी हुई वैचारिकता और पूर्वाग्रहपूर्ण जीवन दृष्टि के कारण, पाठक से अतिरिक्त धैर्य एवं एकाग्रता का आग्रह अवश्य करती है।

चर्चित उपन्यास :

हसीना मंज़िल : उषाकिरण खान; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2005; 100 रुपए

तृषिता : कमलिनी कौल; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; 2004; 225 रुपए

कुहू चानना के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : डी-23, लाजपत नगर-I, दूसरी मंज़िल, नई दिल्ली

सुरेंद्र स्निग्ध

अव्यक्त रिश्तों का ताज़ादम ताप

आज की हिंदी कविता को जिन कुछ वयस्क कवियों ने नई पहचान दी है, उनमें ओम भारती का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। समकालीन हिंदी कविता की रूढ़ियों को यह कवि अपने ढंग से तोड़ रहा है। आज के जीवन की जटिलताओं और संश्लिष्टताओं को ओम भारती की कविताएँ मुखर और विश्वसनीय अभिव्यक्ति प्रदान कर रही हैं। इन जटिलताओं और संश्लिष्टताओं का विश्लेषण जितना कठिन है उतना ही कठिन है इनकी कविताओं का विश्लेषण। वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद और बाज़ार की ओर खुलनेवाली खिड़कियों ने हमारे जीवन का समीकरण बदल दिया है। ओम भारती की कविताएँ इस समीकरण का खुलासा करती हैं और पाठकों को सचेत करती हैं और इससे जूझने के लिए और नया प्रतिरोध विकसित करने के लिए उन्हें तैयार करती हैं।

ओम भारती कविताओं की अंतर्वस्तु का चयन बहुत सचेत होकर करते हैं। सजग भी। यही कारण है कि शिल्प के निर्धारण में भी ये महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करने लगते हैं। *वह छठवाँ तत्त्व* का कवि चीज़ों को निकट से जानने, चुनने और अपनी संवेदना का काव्य-तत्त्व में विघटन को मज़बूती प्रदान करते हैं। कच्ची और कोरी भावुकता के बाहुल्य से मुक्त हैं इनकी कविताएँ—यहाँ तक कि प्रेम कविताएँ भी। कविताएँ ऊपर से बहुत ही ठोस तथा ठोकी-बजाई-सी लगती हैं। लेकिन, इस ठोसपन के भीतर कवि की संवेदनाएँ तथा कोमल भावनाएँ तरलता से सतत् प्रवहमान हैं।

समकालीन हिंदी कविता की दुनिया में बहुत कम लोग हैं, जो ओम भारती की कविताओं से तादात्म्य स्थापित करते हैं—*उस अजानी जगह में भी लोगों ने / कम थे वे हालाँकि / पहचान लिया मुझे / कभी नहीं देखा रू ब रू उन्होंने / पर मेरा चेहरा मुझसे भी बेहतर पहचानते थे।* कवि शब्दों के चुनाव से लेकर उसमें नई अर्थ-छवियाँ भरने तक में सचेत हैं—*अपने लिए अपने जहिन शब्दों का ओवरकोट / इस तरह बनाता हूँ मैं, और आप भी / और इतना बड़ा, महिन और गझिन / कि छुप जाएँ, छुपी रहें उसमें / अपनी ये रोज़ की क़मीज़ और पतलुन।*

ओम भारती की कविताएँ आज की हिंदी कविता के बड़बोलेपन से बचती हुई, एक सहज, प्यारा और विश्वसनीय काव्य-संसार रचती हैं—*यह स्वेटर / इस स्वेटर को छुओ तो लगता है / अव्यक्त रिश्तों का ताज़ादम ताप / इसके ऊन में नहीं कोई ऊनता / इसके फंदों में घुस सकें / नहीं इतने तेज़ किसी जाड़े के नाख़ून / इस आण्विक संरचना में आवि दूध / मेरठ से दिल्ली की राह के घुमाव / इसके रोओं में / यात्रा के / दोरसा-दुस्सह तनाव-ताव / इसके डिज़ाइन में हवा की हिलोरों की छाप / जैसे कंधे पर स्वेटर नहीं / झुलाता हूँ एक और इहलोक।*

स्त्रियों के श्रम से ही यह दुनिया इतनी ख़ूबसूरत और प्यार भरी बनी है। देखिए—*मशीनों ने नहीं, एक संपूर्ण स्त्री ने रचा है उसे / स्त्री जो घुमाती आ रही है / पृथ्वी के समय का कालचक्र / पत्थरों से चिप्स तक जो ढोती आ रही हैं जन्मों को / जीवन का अविच्छिन्न तार / यह उसका सृजन नहीं / संतति है उसकी / नहीं, नहीं, उसी का साक्षात है / और इसलिए अनस्वर!*

प्रेम की उदात्तता का एक और रूप—*मैं रुक गया आकाश कुछ पल एक बारात के साथ / जहाँ आतिशबाज़ी चल रही थी / हज़ारों उत्पलों से उछल रहे थे रंग /—लौटते हुए इस तरह मैं तुम्हारे पास से / लौटा ले जाता था स्वयं को / फिर-फिर तुम्हारे ही पास।*

ओम भारती के यहाँ वर्ष का जुलाई माह बार-बार कविताओं में आता है। कई-कई रंगों में। कई-कई रूपों में। कई बार तो नई ऐंद्रिकता के साथ।

> *यात्रा में छब्बीस दिसंबर का ख़त्म सफ़र*
> *कि एक जुलाई लपक लेती है उसे।*

और—

> *जुलाई के सालभर बाद आती है जुलाई*
> *मेघों की चिंघाड़ दोगुनी कर देने*
> *मिट्टी को फ़सल का वर देने।*

या—

> *जुलाई के स्वरों को पकड़ना चाहता हूँ*
> *जैसे तितलियाँ पराग।*

और—

मेरी कविता पर चढ़ा है जुलाई का आकाश

फिर—

काग़ज़ की, न, न, न, जुलाई की नाव

ध्यान देने की बात है कि कवि अपनी जन्म-तिथि सन् 1948 की पहली जुलाई बतलाते हैं। सन् 1993 में इनका दूसरा काव्य-संकलन आता है—'इस तरह गाती है जुलाई'।

ओम भारती ने कई तरह की नौकरियाँ की हैं। मैकेनिकल इंजिनियरिंग में बी.ई. (ऑनर्स) किया है। फिर, संस्कृत में विशारद की डिग्री। मध्य प्रदेश सिंचाई विभाग में नौकरी और अंततः बैंकिंग सेवा में। इस क्रम में इंदौर, भोपाल, जबलपुर, भिलाई, बिलासपुर, रायगढ़, डभरा, सिंगरौली और सतना जैसी जगहों पर सेवाएँ दीं। स्वाभाविक रूप से जगहों का यह परिवर्तन, अलग-अलग जगहों की बोली-वाणी और संस्कृतियों की विविधता इनकी कविताओं में तरह-तरह की रंग छवियाँ उपस्थित करती हैं।

> *जितना बाहर से भोपाल, भोपाल के भीतर*
> *आता हुआ*

उतना भीतर से भोपाल, भोपाल से बाहर जाता
हुआ
सरकारी नक्शों में बर्रों के छत्ते-सा बढ़ रहा
है भोपाल
आप भी देख सकते हैं,
छत्ते के बाहर तक, दूर तक बर्रें।

और—

भीतर के भीतर रह गए हैं फतेहाबाद, अहमदाबाद, जहाँगीराबाद, शाहजहाँनाबाद, सुल्तानाबाद, वग़ैरह और वग़ैरह बाद।

अब भोपाल के बाद में, नाम से, नया कोई बाद नहीं, क्या जो बाहरी आबादी है, वहाँ कोई बस्ती आबाद नहीं?

वैश्वीकरण, उदारीकरण और खुला बाज़ार की नीतियों पर कवि की दृष्टि बहुत साफ़ है।

आरती सजाओ, आओ, गाओ, बलिहारी जाओ
परदेसी प्रभुओं की पूँजी के निवेश पर
दूर दृश्य देखने में लीन रहो छिन्न जनो
रिमोट से राज उन्हें करने दो देश पर

'निरापद' शीर्षक कविता में संसदीय प्रणाली में विश्वास रखनेवाले कम्युनिस्टों पर कवि की टिप्पणी देखिए— *बेवक़ूफ़ो, मत डरो हम निगाह रखते हैं उनपर / और तुम हारी निगाह को जानते हो / और देखो, अनुभव से काम लो / कम्युनिस्ट अच्छे दोस्त होते हैं / अहिंसक, संसदीय कम्युनिस्ट / वफ़ादार होते हैं गाँठो उन्हें / उनकी दोस्ती का लाभ लो / कम्युनिस्ट कवि अच्छे होते हैं / उनकी कविता को भ्रष्ट करो / उनसे बहस करो उन्हीं की भाषा में / उनकी भाषा को भ्रष्ट करो।*

ओम भारती की कविताओं में बच्चे भी हैं, चिड़िया भी। समकालीन हिंदी कविता के मन-मिज़ाज के नहीं हैं ये।

जाएँगे वे बहुत आगे हमसे
वे जाएँगे ज़रूर, मगर कब और किस तरह
कहाँ ले जाएगा हाँककर बाज़ार उन्हें
किधर घसीट लेगा उनको व्यर्थ करता समय यह
मिलियन-मिलियन डॉलर का ग्लोबल वक़्त
बच्चों का।

आज का जीवन संश्लिष्टताओं के चलते गद्यमय हो गया है। इसकी अभिव्यक्ति के चलते ओम भारती की कई कविताएँ गद्यगंधी हो गई हैं। कवि की यह अलग विशेषता है—अलग पहचान भी।

कवि के पास आधुनिक टेक्नोलॉजी की बड़ी शब्द संपदा है, लेकिन वे याद किए जाएँगे उन कविताओं के लिए जो संवेदनाओं से लिखी गई हैं, सायास गढ़ी गई कविताओं से नहीं। मसलन— *चाहता था कहना कि मैं तुम्हें / बहुत प्यार करता हूँ / मैंने कहा— तबीयत अब ठीक है न तुम्हारी— / कोई अवरोध न था, हिचक न थी / रूँधा भी नहीं था गला / ज़ुबान सहज पलटती थी और नर्म भी / होंठ खुलते थे ख़ुद ब ख़ुद / शब्दों का टोटा न तुम्हें था न मुझे— / फिर भी हम ठिठके रहे / अजनबी चुप्पी में / सोचकर कि सब कुछ तो कह डाला।*

इसी अजनबी चुप्पी में बहुत कुछ कहती हैं ओम भारती की कविताएँ।

चर्चित कविता-संग्रह :

वह छठवाँ तत्त्व : ओम भारती; अमर सत्य प्रकाशन, प्रीत विहार, दिल्ली; 2004; 125 रुपए

सुरेंद्र स्निग्ध के आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : सी-6/1 प्रोफेसर्स क्वार्टर्स, सैदपुर कैंपस, राजेंद्र नगर, पटना-800016 (बिहार)

पाठांतर

अंक 120 में प्रकाशित कहानियों पर प्रतिक्रिया देना चाहता हूँ। उर्दू की तीन कहानियाँ प्रस्तुत अंक में हैं और सैय्यद मुहम्मद अशरफ़ की 'तूफ़ान' तथा फ़ज़्ले हसनैन की 'इनामी' में क्षीण होती मानवीय संवेदनाओं के निरूपण का प्रयास है जबकि तरन्नुम रियाज़ की 'यंबरज़ल' समकालीन कश्मीर के हालात को चित्रित करता है। एक असहज अंत के बावजूद 'यंबरज़ल' एक परिपक्व कहानी है। जबकि 'तूफ़ान' में आरंभिक कुछ पृष्ठ वर्णनों की अधिकता के दोष से ग्रसित हैं। हालाँकि इस कहानी का मध्य, अंत और निष्कर्ष अपेक्षाकृत सुगठित है। अगर लय की बात करें तो 'इनामी' इनमें सर्वश्रेष्ठ है और इसके कथाकार अपने कथा उद्देश्य में सर्वाधिक सफल रहे हैं।

जिस भावबोध में मदन सैनी की कहानी 'झूला' लिखी गई है उस भावबोध के निरूपण में वे असफल रहे हैं। वे एक बात भूल गए कि कहानी में लेखक अपनी तरफ़ से क्यों कुछ कहे। जबकि उनकी पूरी कहानी में लेखक का वक्तव्य ही हावी रहा है। यह अंक की सबसे कमज़ोर कहानी कही जा सकती है।

हिंदी की चार कहानियाँ इस बार दी गई हैं। जिसमें सुशांत सुप्रिय की 'पिता के नाम' तथा सुभाष पंत की 'इक्कीसवीं सदी की एक दिलचस्प दौड़' ही स्तरीय हैं। वहीं 'सिंहासन बत्तीसी भाग-2' की लेखिका तथ्यों और वर्णनों के जंगल में पाठकों को भुला देती हैं। दूसरी तरफ़ कहानी में अति बौद्धिकता का भौंडा प्रदर्शन खलता है। वहीं राजेंद्र राजन के 'रिज़र्व फ़ॉरेस्ट' का प्रस्तुतिकरण दोषपूर्ण है। कहानी के अंत में यदि रेंज ऑफ़िसर के मुख से भाषण दिलवा कर जंगल बचाने की अपील करवाना ही था तो आरंभ में टी.डी. की दरख़्वास्त के लिए अनपढ़ हीरानंद की मजबूरी दिखाकर पाठक के मन में दया उपजाने की ज़रूरत क्या थी?

सुनील गंगोपाध्याय की कहानी 'आदिम नारी' इस अंक की उपलब्धि भी है और सर्वश्रेष्ठ भी। स्त्री विमर्श प्राच्य प्रतीकों का कथा विन्यास में प्रयोग तथा सबसे अलग स्थापित करते हैं। यदि पात्रों के गठन, उनकी सशक्तता की बात की जाए तो सुनील दा की कहानी में उल्लिखित 'लिलिथ' के सामने बाक़ी आठ कथाओं के पात्र कहीं नहीं टिकते। पर कथा के विकास क्रम में सृष्टिकर्ता, जिसकी भूमिका में शायद लेखक स्वयं हैं, ने आदम के लिए हव्वा रच दिया पर लिलिथ के लिए कोई आदम का प्रतिरूप नहीं रचा। क्या यह लेखक की पुरुषवादी मानसिकता नहीं है? दूसरी तरफ़, क्या संभोग में विपरीत रति को ही लिलिथ के विद्रोह का कारण बनाना ज़रूरी था जैसा कि लेखक ने बनाया है?

क़िस्सागोई के मामले में सुनील दा के साथ-साथ सुशांत सुप्रिय एवं सुभाष पंत भी उल्लेखनीय रहे हैं। सुशांत ने अपनी कहानी में एक छोटे कैनवस पर ही पत्र रूप में वो सारी बातें कह दी हैं जो कथा के माध्यम से वे कहना चाहते हैं। पर इसी विचार को लेकर कई कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं या लिखी जा रही हैं और सुशांत निरंतर नए प्रयोग करनेवाले कहानीकार हैं अतः कथावस्तु की नवीनता के अभाव में वे कमतर या कम महत्त्वपूर्ण हो गए हैं।

आशुतोष झा, के-2/205, ट्यूब कॉलोनी, पो. बारीडीह, जमशेदपुर, झारखंड-831017

अंक 121 जिसका मुख्य फ़ोकस कथाकार प्रेमचंद पर केंद्रित है, वास्तव में अपनी किन्हीं विशेष रचनाओं के कारण संग्रहणीय है। आपने 12 पृष्ठीय स्वयं प्रेमचंद द्वारा वर्ष 1935 में अपनी पत्रिका 'हंस' के लिए लिखा गया आलेख तथा साहित्यकार हृदयेश का आत्म वृत्तांत इस अंक

में समाहित करके हम पाठकों पर बड़ा ही उपकार किया है क्योंकि ये रचनाएँ संबंधित रचनाकारों की सघन अनुभूतियों के सजीव बिंबों के दर्शन हमें कराती हैं। संदर्भित अंक की सबसे अधिक संवेदनशील व जीवंत रचना रतनलाल शांत की कश्मीरी कहानी 'पानी' है। कश्मीरी विस्थापन विषयक रचनाएँ यथा कविता, कहानी तथा निबंधों के रूप में पहले भी पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने को मिली थीं। परंतु शांत की यह कहानी हृदय की अतल गहराइयों को स्पर्श करने में पूरी तरह से सफल रही है। अपने ही देश में विस्थापन भोग रहे नागरिकों का ऐसा विद्रूप स्वरूप, घनी पीड़ा, हृदय विदारक आशंकाएँ परंतु फिर भी अपने पूर्वजों की धरती तथा पैतृक घरों को एक बार देखने की उत्कट ललक आदि का ऐसा सजीव वर्णन अन्यत्र नहीं मिला है।

प्रकाशित कविताएँ बिलकुल प्रभावित नहीं कर सकी हैं। राग तेलंग की 'कहीं किसी जगह' शीर्षक कविता ने तो हमें आश्चर्य में ही डाल दिया है। यह कविता पत्रिका के स्तर की क़तई नहीं है।

पत्रिका के सभी चित्रों ने हमें बहुत प्रभावित किया है। रचना के भावों के अनुसार चित्रों का गेटअप बड़ा ही सुहावना-सा लगता है।

कृष्ण दत्त तिवारी, बर्रा-7, कानपुर 27

खगेंद्र ठाकुर के आलेख 'कालिदास की कुल्हाड़ी' (*समकालीन भारतीय साहित्य* अंक 120) से विदित हुआ कि कालिदास किसी राजकुमार के समकालीन थे, इसी तरह मीरा कांत के नाटक 'श्रूयते न तु दृश्यते' में रघुवंश ग्रंथ के कवि कालिदास को चंद्रगुप्त, विक्रमादित्य तथा श्रीलंका के राजा कुमारदास के समकालीन बताया गया है (*समकालीन भारतीय साहित्य* अंक 110), इतिहास की पुस्तकों के अनुसार गुप्तवंश के चंद्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' का शासनकाल 375-414 ईस्वी बताया जाता है, चंद्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के 101 वर्ष पश्चात् कुमारदास सन् 515 में श्रीलंका का राजा बना और उसने कुल नौ वर्ष राज किया (श्री कावेरी शोध संस्थान उज्जैन की शोध समवेत त्रैमासिक पत्रिका वॉल्यूम 7, संयुक्तांक 3 और 4 अक्तूबर-दिसंबर 2003 एवं जनवरी-मार्च 2004, पृष्ठ 14 तथा सूर्यनारायण व्यास का लेख 'कालिदास की समाधि'), इतिहास की पुस्तकें बताती हैं कि कालिदास ने रघुवंश, मेघदूत, कुमारसंभव आदि की रचना चंद्रगुप्त द्वितीय के समय की, अतः चंद्रगुप्त की मृत्यु के समय तक कालिदास प्रौढ़ावस्था में पहुँच चुके होंगे। अतः कालिदास का कुमारदास के राजत्वकाल में बतलाना असत्य प्रतीत होता है। आश्चर्य है अभी तक अधिकांश लेखकों की नज़र में कालिदास कृत ज्योतिर्विदाभरण ग्रंथ (अध्याय 22/10) नहीं आया है जिसमें कवि ने स्वयं लिखा है वह विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक था। यह विक्रमादित्य 57 ईस्वी पूर्व मालव संघ के 180 लघु राजाओं में श्रेष्ठ होने के कारण पूज्य हुआ था (ज्योति, अध्याय 22/9)। इसके विपरीत हम देखते हैं कि इतिहासकारों ने उज्जैन के राजा विक्रमादित्य का मुकुट गुप्तवंश के चंद्रगुप्त द्वितीय जिसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी, को पहना कर रखा हुआ है।

इतिहास की एक आश्चर्यभूत घटना यह भी है कि विक्रमादित्य की मृत्यु के समय पाटलिपुत्र के सिंहासन पर पुष्यमित्र आरूढ़ हुआ था— राज्य विक्रमोंजात समाप्तिमगमत्तदां। पुष्यमित्रे राज्यपदं प्राप्ते समभवत्तदा॥ (भविष्य पुराण)। इस तरह इतिहासकारों द्वारा निर्धारित पुष्यमित्र का शासन काल (185-149) भी असत्य सिद्ध होता है।

अपने देश में अपना राज होने पर भी कालिदास और विक्रमादित्य के काल की सत्यता की जाँच कौन इतिहासकार करेगा, कुछ ज्ञात नहीं।

प्रेमसिंह नेगी, ग्राम व पो. किमसार, वाया भृगुखाल, पौड़ी गढ़वाल 246121

मकालीन भारतीय साहित्य का 120वाँ अंक ता। रचनाओं का चयन और संपादन प्रशंसनीय । 'बिंदु' और 'स्वर' प्रयोग की दृष्टि से पत्रिका की भाषा-नीति भी वंदनीय है। मैंने पूरा अंक ावधानीपूर्वक पढ़ा है। मुश्किल से एक भूल कड़ में आई। उर्दू कहानी 'यंबरज़ल' में जम्हाईयाँ' और 'भाईयों' तथा राजस्थानी कहानी झूला' में भी 'भाईयों' शब्द-प्रयोग की आवृत्ति अखरी। व्याकरण के नियमानुसार एकवचन रूप में जिन शब्दों के पीछे "ई/ ी" या "ऊ/ ू" की दीर्घ मात्रा हो, उनके बहुवचन रूप में वह मात्रा ह्रस्व हो जाती है, जैसे—दवाई, नाली, लाठी, भालू, आँसू आदि शब्दों के बहुवचन रूप 'दवाइयाँ-दवाइयों, नालियाँ-नालियों, लाठियाँ-लाठियों, भालुओं, आँसुओं' आदि हो जाएँगे। इसी नियम से 'जम्हाइयाँ' और 'भाइयों' शब्द का प्रयोग ही उचित था।

खगेंद्र ठाकुर की 'कालिदास की कुल्हाड़ी' समसामयिक संदर्भों में सृजनधर्मियों को आत्ममंथन की प्रेरणा देती है। अलका पाठक की कहानी 'सिंहासन बत्तीसी भाग-2' साहित्यिक-पौराणिक संदर्भों के साथ-साथ लोक-संग्रह की दृष्टि से भी अभिभूत करनेवाली रचना है। इसमें प्रतीकात्मक रूप से अपने समय के सत्य को बख़ूबी प्रकट किया गया है। कहानी में प्रयुक्त एक कहावत की ओर ध्यान दिलाना चाहूँगा। पृष्ठ 170 पर 'रंग चोखा ही आया। हींग लगी न फिटकरी।' में 'हींग' के स्थान पर 'हल्दी' शब्द आना चाहिए। हल्दी और फिटकरी के मेल से ही लाल रंग आता है। वैसे कहा गया है कि, 'रूढ़ि शास्त्रात् बलीयसी' यानी लोक-परंपरा शास्त्र से भी बढ़कर कहे और लोक में 'हल्दी' के स्थान पर 'हींग', 'हरड़' और 'गुड़' शब्द भी प्रचलित हैं। इसके बावजूद कहानी के प्रभाव में कहीं भी शिथिलता नज़र नहीं आती।

डॉ. मदन सैनी, रामपुरिया जैन कॉलेज, बीकानेर, राजस्थान

समकालीन भारतीय साहित्य अंक 120 के संपादकीय में आपने बाल साहित्य आलोचना के मुद्दे को हल्के से ही सही, रेखांकित तो किया। उसके लिए मेरी ओर से धन्यवाद स्वीकार करें। दरअसल हिंदी के बड़ों के लेखक-आलोचक बाल साहित्य को हाथ नहीं लगाते। सिर्फ़ कहते हैं कि उसकी क्या आलोचना लिखें। दो वर्ष पहले हिंदी के एक आलोचक ने हिंदी के एक बड़े अख़बार में उस वर्ष प्रकाशित हिंदी की पुस्तकों की समीक्षा की। लेख के अंत में लिख दिया कि खेद है कि आलोच्य वर्ष के दौरान कोई बाल उपन्यास प्रकाशित नहीं हुआ जबकि उस वर्ष पाँच अच्छे बाल उपन्यास प्रकाशित हुए थे। मेरे पास हिंदी में बाल साहित्य पर शोध कार्य करनेवालों के पत्र आते हैं और मेरे शोध प्रबंध तथा मेरी बाल साहित्य की आलोचनात्मक पुस्तकों की जानकारी माँगते हैं। इसके बाद उनका क्या होता है, पता नहीं? लेकिन जो शोधार्थी दिल्ली आते हैं और मिलते हैं, उनसे जब मैं पूछता हूँ कि आपने कितना बाल साहित्य पढ़ डाला है तो वे कुछ भी उत्तर नहीं दे पाते। केवल बाल साहित्य के प्रकाशकों के नाम पूछते हैं जिनसे कुछ पुस्तकें ख़रीद सकें। विश्वविद्यालयों द्वारा शोध के लिए बाल साहित्य के जो विषय स्वीकृत किए जाते हैं, उन पर कोई टिप्पणी नहीं करना चाहता और शोध के मार्ग-दर्शकों (गाइड्स) पर तो कुछ न कहना ही उचित होगा। लगता है इसी कारण लोग रीडर बनने के लिए डिग्री पाने का जुगाड़ कर लेते हैं। और उनका शोध प्रबंध प्रकाशित नहीं होता। मैं समझता हूँ हिंदी में लगभग सौ लोग देश भर में बाल साहित्य पर शोध कार्य कर चुके हैं। पर उस तरह की कोई किताब नज़र नहीं आती। आपको एक बार पुनः धन्यवाद।

हरेकृष्ण देवसरे, 102, एम आई जी, ब्रज विहार, ग़ाज़ियाबाद 201011, उ.प्र.

अंक 119 एवं 120 एक साथ प्राप्त हुए। एक साथ दो अंक प्राप्त होने का कारण तो नहीं जानता पर जो हुआ अच्छा हुआ। क्योंकि एक लंबे समय से *समकालीन भारतीय साहित्य* पढ़ता चला आ रहा हूँ और इसका हर अंक पढ़ने का इच्छुक रहता हूँ। विलंब से ही सही अंक पढ़ने को मिले इसके लिए आभार। अंक 119 में 'साहित्य रूपक' के अंतर्गत अनुवाद पर विभिन्न लेखकों के 'अनुभवों' से साक्षात्कार हुआ। यह रोचक एवं सराहनीय रहा। अनुवाद प्रक्रिया पर इस तरह का यह कथन रूपक मुझे पढ़ने को मिला। इसी तरह के अन्य रूपक अन्य विधाओं (विषयों) पर दिए जा सकते हैं। निरूपमा दत्त की यादें पढ़कर आनंदित हुआ। लेखिका ने आत्मघात का प्रयास किया और बच जाने पर ख़ुद पर हँसी। ऐसी आत्म-रचना भी पहली बार पढ़ने को मिली।

अंक 120 तो और अधिक मौलिक/सार्थक है। इसीलिए कि इसमें एक तो आमुख ही हास्य-व्यंग्य पर केंद्रित है और फिर विनोद भट्ट का 'हास्य मेरा पहला प्रेम' जैसा शोधरपरक आलेख ने इस अंक को सार्थक कर दिया है। आलेख पढ़कर हास्य-व्यंग्य पर गंभीर जानकारियाँ प्राप्त हुईं। लेखक और अनुवादक को बधाई।

सतीश जायसवाल के साथ मिज़ोरम की यात्रा करके भी आनंद प्राप्त हुआ। सतीश जी के अन्य यात्रा वृत्तांत इसके पहले भी पढ़ चुका हूँ। यात्रा कराने के साथ 'वे दर्शन' से भी परिचय कराते हैं और मुझे यही उनके लेखन शैली की विशेषता लगती है।

बहुत दिनों के बाद श्याम कश्यप की एक साथ कई कविताएँ पढ़ने को मिलीं। श्याम कश्यप के गद्य लिखने के ढंग से पूर्व परिचित हूँ। उनकी कविताएँ कम ही पढ़ पाया हूँ पर इस अंक की कविताओं को पढ़कर उर्दू शब्दों से मिश्रित उनकी भाषा अच्छी लगी। इसमें सहज, स्वाभाविक प्रवाह है जो मेरी समझ से अच्छी कविता का गुण है। 'फ़क़ीरों की ज़िद' और 'राग फ़क़ीरी' दिलचस्प है। विंध्य क्षेत्र में वे रह चुके हैं शायद इसीलिए विंध्यावटी के वन और अमरकंटक के दृश्य उनकी कविताओं में दिखाई देते हैं।

अन्य रचनाओं में खगेंद्र ठाकुर का 'कालिदास की कुल्हाड़ी' और रवि श्रीवास्तव का 'मुझसे पहली-सी मोहब्बत' पसंद आए। पत्रिका का बदला हुआ स्वरूप और नई तरह की सामग्री स्वागत योग्य है।

संतोष खरे, 7 राजेंद्र नगर, सतना, म.प्र.

हास्य-व्यंग्य पर विनोद भट्ट का आलेख अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। कहानियाँ सभी बहुत अच्छी हैं। आपने पिछले अंक में उर्दू के कई व्यंग्यकारों के लेख भी छापे थे। इससे इस विधा के प्रति आपकी रुचि तथा चिंता साफ़ ज़ाहिर होती है।

फ़ज़्ले हसनैन, ए-7, पत्रकार कॉलोनी, अशोक नगर, इलाहाबाद-211001

समकालीन भारतीय साहित्य अंक 120 सामग्री-वैविध्य एवं आकर्षक साज-सज्जा से युक्त है। प्रतीक्षा सार्थक हुई। कहानी 'आदिम नारी' प्रतिक्रिया हेतु उद्वेलित करती है। आदम, लिलिथ द्वारा समानता की माँग के प्रश्न को हँसकर टाल देता है। प्रश्न इतना महत्त्वहीन भी नहीं है। आदम द्वारा हव्वा के स्वीकार एवं लिलिथ की प्रताड़ना द्वारा कहानीकार यह संदेश प्रेषित करता प्रतीत होता है कि जो नारी "एक भरोसो एक बल..." की भाँति पति परमेश्वर के प्रति समर्पित हो जाती है, उसकी समस्त चिंता मिट जाती है। सच है 'सब तें भले मूढ़, जिन्हें न व्यापै जगत गति'। जयप्रकाश कर्दम का आलेख 'दलित विमर्श बनाम गांधी' विचारोत्तेजक है। सुभाष पंत की कहानी अच्छी लगी। 'सत्तू' की पक्षधरता

बहाने कवि उपेंद्र कुमार ने शासन सत्ता एवं वस्था पर करार व्यंग्य किया है।

द्या सिंह, 77, प्रकाश विहार, धर्मपुर, हरादून-248001

ुख भारतीय भाषाओं एवं साहित्य की प्रतिनिधि त्रिका *समकालीन भारतीय साहित्य* का जुलाई-गस्त 2005 अंक। निस्संदेह इसमें समवेत रूप पूरे भारत की आत्मा मुखर है। आख़िर कला-ाहित्य ही तो किसी देश की आत्मा होती है। विगत कुछेक अंकों से नए-नए स्तंभ यथा सिद्ध अनुवादकों के वक्तव्य, भाषण, साक्षात्कार, वत्सर, स्मृति तर्पण, पाठांतर और प्रभावक चित्रांकन/रेखांकन ने इसकी पाठकीयता में अपेक्षित अभिवृद्धि की है। पाठांतर तो मेरी राय में सृजन की ही एक महत्त्वपूर्ण प्रकीर्ण विधा है। इस संदर्भ में इसी अंक की पृ. सं. 90 का समापन अंक अवलोकनीय है।

कहानी-खंड में इनामी की करुणासिक्त निश्छल उदात्तता, आतंकवाद की पीड़ा को करती 'यंबरज़ल', भ्रष्ट माफ़िया तंत्र से अनवरत जूझते रेंज अफ़सर अरुण (अरुण फ़ॉरेस्ट) और स्वप्नभंग को बुनती मार्मिक कहानी (सूरज/ ूला) ने बहुशः झकझोरा है। बिब्लिकले मिथ के ताने-बाने से निर्मित 'आदिम नारी' वर्तमान नारी आंदोलन के अंतर्गत समानाधिकार की माँग पर तलस्पर्शी टिप्पणी है।

नवीन स्थापनाओं तथा सूचनाओं से परिपुष्ट डॉ. कुमार विमल का स्मृति-लेख 'दिनकरीय ोध' साहित्य का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है।

लाशनाथ तिवारी, नवरतन, मुहल्ला-भट्ठा, पूर्णिया, बिहार-854391

तक मैं धारणा बनाऊँ कि अगला अंक ऐसा गा तब तक आप एकदम नया विन्यास, नई सामग्री लेकर मेरी धारणा को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। अंक 120 दो-तीन दिन पहले मिला। विनोद भट्ट का हास्य रस पर मज़ेदार आलेख पढ़ा। कितने आयाम हैं हास्य के—हँसी-हँसी में लिखा यह लेख बेहद गंभीर फिर भी हास्य रस को भरपूर है ''कविरे पावे ना तार जीवन चरिते'' पृ. 120 राजेंद्र उपाध्याय—में 'कविरे' नहीं रवींद्रनाथ की पंक्ति है। कवि के (कवि का) पावे न तार जीवन चरिते—कवि की उसके जीवन चरित में तुम नहीं पा सकते हो पृ. 82—मेरे गाँव की दरिया की अंतिम पंक्तियाँ—अक्षरों के मध्यम विरमता है या विचरता है या विलमता है 'विरयता'—शायद कोई शब्द नहीं है।

अंक चित्रकला की दृष्टि से एक अलग पाठांतर है। इतने बढ़िया अंक के लिए आपको सहयोगियों समेत बधाई।

रामशंकर द्विवेदी, 1260, नया राम नगर, उरई-285001

पत्रिका का 119वाँ अंक पढ़ा। 'अनुवाद का अनुभव' बड़ा ही सार्थक प्रयास लगा। यदि हमें राष्ट्र को प्रेम और एकता की अटूट डोर में बाँधना है तो उसके लिए सभी भारतीय भाषाओं में परस्पर अनुवाद के माध्यम से संपर्क और घनिष्ठता बढ़ाना काफ़ी अहम सिद्ध होगा। साहित्यिक अनुवाद में कृति की पठनीयता और रस को बनाए रखने के लिए कृति के शब्दशः अनुवाद की जगह सुयोग्य अनुवादक द्वारा भावानुवाद पर बल दिया जाना चाहिए। साहित्यिक अनुवाद के द्वारा विविध भारतीय भाषाओं के बीच सेतु बनाते लोगों को समाज और शासन द्वारा उचित प्रोत्साहन भी दिए जाने की ज़रूरत है।

इस अंक की अन्य रचनाओं में 'बोहाग' कहानी मन मोह गई—प्रेम के प्रति आधुनिक नारी के दृष्टिकोण को लेकर रची गई एक उत्कृष्ट कहानी है यह। सुतिंदर सिंह नूर की कविताओं में

131402

आम जीवन के अनुभवों को बड़ी ख़ूबसूरती से कविता में ढाला गया है। कृष्णा बासु की कविता 'नाम दो अग्नि परीक्षा...' विचारोत्तेजक है।

केशवेंद्र कुमार 'केशव', सिऊरी रेलवे स्टेशन, पश्चिम बंगाल

समकालीन भारतीय साहित्य का सितंबर-अक्तूबर 2005 अंक पढ़ा। प्रेमचंद का 'दक्षिण भारत में हमारी हिंदी प्रचार यात्रा' का वृत्तांत अहिंदी क्षेत्र में हिंदी प्रचार की रुचि को रेखांकित करता है। हृदयेश का आत्म वृत्तांत 'मेरे भीतर शहर' उनके वैचारिक आत्म स्वीकृति का अच्छा वृत्तचित्र है। ब्रह्मस्वरूप शर्मा का लेख 'सूचना तकनीकी की सापेक्षता में साहित्य' यथार्थपरक है जो वास्तविकता को चिह्नित करता है। विजयराघव रेड्डी का मानवतावाद और असमिया काव्य साहित्य तथा के. एम. मालती का समकालीन हिंदी मलयालम कहानी—स्त्री विमर्श स्त्री चेतना से नज़दीक से जुड़ा है। एस. आर. हरनोट की 'चश्मदीद', रतनलाल की 'पानी', शुभ्रा सान्याल की 'मातृवियोग' तथा स्वराजव्रत सेनगुप्त की 'पण्य तरणी की कुलीन कन्या' कहानियाँ पसंद अ ईं। सुधांशु उपाध्याय, शिवशंकर मिश्र, प्रेमशंकर रघुवंशी, राग तेलंग, आनंद संगीत की कविताएँ अच्छी हैं।

राधेलाल बिजधावने, ई-8/73, भरत नगर, शाहपुरा, भोपाल-462039

प्रारंभ के अंक (आपके संपादकत्व के) कुछ शिथिल से लगे किंतु अंक संख्या 116 से पत्रिका की तेजस्विता देखते-पढ़ते बनती है। सामग्री के चयन ने आपकी वस्तुपरकता की छाप दिखाई देती है। कभी-कभी कोई दुर्बोध रचना भी आ गई है। शायद लेखक के नाम के कारण। उदाहरणार्थ रमेश कुंतल मेघ का ले
'अंतर्ज्ञानानुशासन का बहुरूपदर्शी' को ले सक
हैं। लेखक की कठिनाई यह है कि वह सोच
अंग्रेज़ी में है और लिखता हिंदी में है। दुबों
समानार्थक गढ़ना उसकी प्रवृत्ति है। जिस
बहुत पहले 'आलोचना' पत्रिका में यशदेव श
ने एक पूरा लेख लिखा था। संदर्भित लेख
एक शब्द गढ़ा गया है, 'आलोचिंतना' जिस
व्युत्पत्ति का कोई पता नहीं। आ+लोच्, लोच
लोचना तो होता है आ+लोचिंतना नहीं हो
आलोचनात्मक चिंतन सही होता; किंतु वह स
हो जाता। सरलता लाना लेखक का उद्देश्य
नहीं है।

परशुराम शुक्ल 'विरही', देवीपुरम, भारत
विद्यालय मार्ग, शिवपुरी, म.प्र. 473551

120वें अंक में प्रकाशित कहानियाँ जहाँ मानव
संवेदना की संवाहक हैं, वहीं देशकाल की
से पुराने एवं नए जीवन मूल्यों का उद्घाटन
करती हैं। चाहे वे हिंदी की कहानी हो, उर्दू
हों या राजस्थानी की 'इनामी' और 'झू
कहानियाँ कलेवर की दृष्टि से लघु होते हुए
मानवीय संवेदनाओं को झंझोड़ देती हैं।
करुणा, दया और प्रेम की अनूठी व्यंजना हुई
'झूला' का कारुणिक अंत किसी भी सह
पाठक की आँखें नम करने में कसर नहीं छोड़
कविताएँ भी स्तरीय थीं किंतु राजस्थानी
अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित कवियों की
कविताएँ छपी हैं, उनसे तो निराशा ही मिली
कविताएँ क्षणिकाएँ कही जा सकती हैं। ख
ठाकुर और 'कालिदास की कुल्हाड़ी' को
करता हूँ।

आशीष पाठक, अमर भवन, परदेशियों
बगीची, रानी बाज़ार, पो भरतपुर, राज.

GURUKUL KANGRI LIBRARY

Date

Acc 10-7-08

Class

Cat

Tag

Fil

E

Any

Checked

Entered in Database

Signature with Date